श्रीहरिः

श्रीबादरायण-वेदव्यासविरचितं—

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम् ।



टीकाकार

पाण्डेय रामतेज शास्त्री



पण्डित-पुस्तकालय, काशी ।

1206
ग
22/3

❀ श्रीकृष्णः शरणं मम ❀

श्रीबादरायण-वेदव्यासविरचितं-

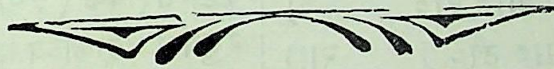
श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम् ।



साहित्य-शास्त्रि

पं० रामतेजपाण्डेयेन संस्कृतम् ।



प्रकाशक

पण्डित-पुस्तकालय

राजादरवाजा, काशी ।

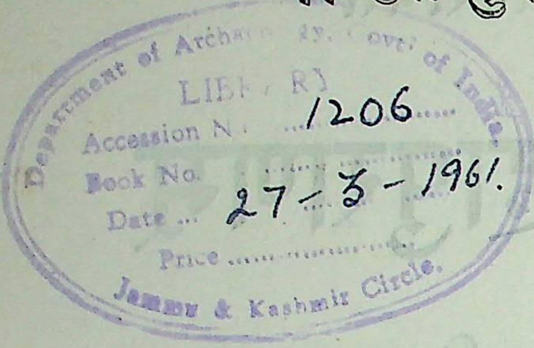


१९५२

पुस्तक-प्राप्तिस्थान—

पण्डित-पुस्तकालय, राजादरवाजा,

बनारस ।



मुद्रक—

१ से ९ स्कन्ध तक
ह० माधव सप्रे
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबर, बनारस ।

१० से १२ स्कन्ध तक
मेवालाल गुप्त
बम्बईप्रिंटिंग काटेज,
बाँसफाटक, बनारस ।

आत्मनिवेदन

मेरे मुरलीमनोहर !

तुम सचमुच बड़े ही नटखट और बड़े अद्भुत लीलाधारी हो। प्रतिक्षण-प्रतिपल नित्य नयी लीला करते रहना ही मानों तुम्हारा धन्धा है। तुम्हारी लीलाओंको इन्द्र सहस्र नयन पाकर भी पूर्णरीतिसे नहीं देख सके। शेष भगवान सहस्र मुखसे भी आपको नहीं बखान पाये। सूर्यदेव अगणित रश्मियोंसे निहार-निहारकर तुम्हें खोजते हैं, पर तुम्हारा पता नहीं पाते। आकाशमण्डलके अरबों-खरबों तारे अपलक नयनोंसे तुम्हें देखनेके लिए टकटकी लगाये रहते हैं। पर क्या वे देख पाते हैं, उँहूँ। अपनी उत्ताल तरंगें उछाल-उछालकर समुद्र तुम्हारे ही लिए तो हाहाकार किया करता है, पर क्या तुम उसे मिले, नहीं। ये द्रुतगामिनी नदियें पहाड़ोंको फोड़ती, मैदानोंमें विकरालरूपसे जल-स्रावन उपस्थित करतीं और शस्यश्यामला वसुन्धराकी छाती चीरती हुई कहाँ भागी जा रही हैं, तुम्हारा ही पादप्रक्षालन करनेके लिए तो? किन्तु क्या वे तुम्हारे चरणोंको पा सकीं, कहो कि नहीं। एक ओर इन महाशक्तियोंकी तुम्हारे लिए यह विकलता दिखायी देती है, तुम्हारी एक झाँकी पानेके लिए वे अपना सर्वस्व लुटाये दे रही हैं, किन्तु तुम मानों उनकी यह बेचैनी देख-देखकर उन्हें और भी शक्तिप्रदर्शनका अवसर देनेके लिए उनसे दूर—बहुत दूर भागते जाते हो। दूसरी ओर गोपियों-की छछिया भर छाँछपर ताताथेईका नाच नाचते हो। शरद्पूर्णिमाकी सुहावनी विभावरीमें वंशीकी तान छेड़ और व्रजवधूटियोंको बुलाकर रास रचाते हो। तनिक-सा अंगराग (चन्दन) पाकर कुबरीके जन्मजात कूबरको लुप्त करके उसे संसारकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी बनाते और उसके साथ विलास करते हो। जन्म-जन्मान्तरके पापी कंसका वध करके उसे अपनेमें लय करते हो। शिशुपालकी गालियें खाते हो। जरासन्धके भयसे भागकर मथुरासे द्वारका जाते हो। यह सब लीलायें तो उस समयकी हुईं, जब धरातलपर कलिका आगमन नहीं हुआ था।

इस कराल कलिकालमें भी तुम साँवलसाह बनकर नरसी भगतकी हुण्डा सकारते हो। धन्ना भगतकी गायें चराते हो। तुलसीदासकी हठपर मुरली छिपाकर धनुर्धारी राम बनते हो। काली कमलीवाले ग्वाले बनकर सूरदासको सहारा देते हो। मैं कहाँ तक गिनाऊँ। मुझसे अधिक—बहुत अधिक तो तुम स्वयं जानते होंगे। आखिर यह सब क्या है मेरे स्वामी! ऊपर जितने लोगोंकी मैंने चर्चा चलायी है, वे सभी अद्भुत शक्तिशाली थे। उनमें आपके प्रति असाधारण अनु-राग था। वे आपके श्रीचरणोंमें अपना तन-मन धन सब कुछ निछावर कर चुके थे। लेकिन मैं? मैं तो अपनेमें कुछ भी तत्त्व नहीं देखता। हाँ, देखता हूँ अपने अन्तस्तलमें कमजोरियोंका अखण्ड भण्डार। संसारके साधारण जीव भी यदि कहीं कोई अपनी दुर्बलता देखते हैं तो लड़भिड़कर उसे बलपूर्वक उखाड़ फेंकते हैं, लेकिन एक मैं हूँ कि जो अपनी पहाड़ जैसी त्रुटियाँ देखता हूँ।—और यह भी देखता हूँ कि वे मेरा सर्वनाश किये दे रही हैं, पर मैं उन्हें नहीं दूर करता। बल्कि उन्हें गलेसे लगाये हुए हूँ। कुछ समझमें नहीं आता कि इनके कारण मेरी क्या गति होगी। यह बात भी नहीं है कि मैं इनसे उदासीन हूँ। अपनी शक्तिभर इनसे सतत युद्ध करता रहता हूँ। किन्तु मेरी अपेक्षा मेरी कमजोरियोंमें बहुत बल है। मेरे क्षणिक भावावेश वश यदि वे तनिक देरके लिए दब जाती हैं तो मैं प्रसन्न होकर यह समझ बैठता हूँ कि मैंने उनपर विजय पा ली। लेकिन कुछ ही समय बाद जैसे

अपार शक्तिका संग्रह करके वे मुझपर धावा बोल देती हैं और मैं उनके आक्रमणसे ध्वस्त-त्रस्त होकर फिर ज्योंका त्यों हो जाता हूँ। मेरा विजयगर्व क्षण भरमें छूमन्तर हो जाता है। बस, उसी समय थोड़ी देरके लिए तुम याद आते हो और तुम्हारी असंख्य मायामयी लीलायें आँखोंके आगे नाच जाती हैं। उतने समयके लिए मैं आत्मविभोर हो जाता हूँ। उस समय यह अनुभव होने लगता है कि मेरी कमजोरियाँ भी तुम्हारी लीला है, मैं भी तुम्हारी लीला हूँ, तुम्हारी लीलाके साथ मेरा द्वन्द्व भी लीला है और मेरा पराजय, पश्चात्ताप, जल्पना-कल्पना सब कुछ तुम्हारी लीला ही है।—और इन्हीं अनन्त और अपार लीलाओंमें तुम भी कहीं न कहीं छिपे बैठे हो। तब ऐसा विश्वास होने लग जाता है कि तुम्हारी इन लीलाओंको देखते-देखते कभी न कभी तुम भी दिखायी दे जाओगे। इसी भरोसे मैं अपने इस पामर तनका बोझ ढो रहा हूँ और तुम जो करनेको प्रेरित करते हो, सो चुपचाप करता चलता हूँ। आजसे ठीक दस वर्ष पहले भी मैंने इसी प्रकार तुम्हारे श्रीचरणोंमें अपने आँसुओं-के फूल बखेरे थे। जिनसे तुम मुझपर दाहिन-दयाल हो गये और श्रीमद्भागवतकी टीका और इसके प्रकाशनका काम सौंपा। यह महान् काम देखकर अन्तरात्मा सिहर उठी। कमजोरियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं, बोलीं—"तुम्हारे सरीखा अधम प्राणी श्रीमद्भागवतकी टीका क्या करेगा? तुममें योग्यता ही क्या है? जिसपर वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य और श्रीधरस्वामी जैसे अवतारी पुरुष टीका करके भी 'नेति-नेति' कहते चले गये। उसकी टीका तुम करने चले हो?" तर्क अकाट्य थे। इस कारण साहस जवाब देने लगा। किन्तु न जाने किस अलक्षित शक्तिने पुनः प्रेरणा दी कि 'अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भगवद्गुणगानका सबको समान अधिकार है। जैसे माता-पिता अपने अबोध बालककी बेमतलब तोतली बोली सुनकर भी गद्गद हो जाते हैं, वैसे ही तुम्हारे लिखे अनमिल और बेअर्थकी बातोंको भी घटघटवासी भगवान प्रेमकी दृष्टिसे देखेंगे।" सच कहता हूँ नाथ! इस प्रेरणासे मुझमें एक चमत्कारपूर्ण बल आगया और मैंने अत्यल्प समयमें ही इस विश्ववन्द्य महापुराणकी टीका कर डाली और प्रकाशित कर दिया। न जाने इसमें कौन-सी विशेषता देखकर विद्वानोंकी मण्डली गद्गद हो गयी। भगवद्भक्त श्रोता आनन्दविभोर हो गये। कुछ सड़ियल प्रकाशक इसका प्रचार और प्रसार देखकर जलने लगे और उन्होंने नाक कटाकर असगुन मनानेके मंसूबे बाँधे और किये भी। किन्तु इसकी अविहत धारा किसीके रोके नहीं रुकी और इसके संस्करणपर संस्करण होते गये। बहुत दिनोंसे कितने ही मित्रोंका आग्रहपूर्ण उलाहना आ रहा था कि श्रीमद्भागवत भा० टी० का पत्राकारस्वरूप अधिकांश कथाकार पण्डितोंके ही कामका होता है। घरमें पाठ करने या बाँचनेके समय सब लोग इसके खुले पन्ने नहीं सम्हाल पाते। क्रम बिगड़ जाता है तो लगानेमें कठिाई होती है। पन्ने प्रायः खो जाते हैं तो पोथी ही खण्डित हो जाती है। इसलिए श्रीमद्भागवतमहापुराणका एक सजिल्द संस्करण होना बहुत आवश्यक है। मैं भी चाहता था कि लोगोंकी यह इच्छा पूर्ण हो। किन्तु युद्धजनित कठिनाइयों-के कारण चिरकाल तक मित्रोंकी माँग पूर्ण करनेमें असमर्थ रहा। इधर कुछ ऐसा बानक बन गया कि जिससे आज मेरी और मेरे मित्रोंकी वह आकांक्षा पूर्ण हो गयी और आज मैं 'श्रीमद्भागवत भा० टी० सजिल्द' गद्गद हृदयसे आपके पावन श्रीचरणोंसे अर्पण कर रहा हूँ, प्राणाधार!—

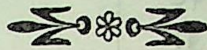
मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर। तेरा तुझको सौंपते, का लागत है मोर॥

महाशिवरात्रि
संवत् २००८

अकिञ्चन किङ्कर—
—रामतेज शास्त्री

श्रीहरि:

श्रीमद्भागवतस्थ-विषयानुक्रमणिका



चतुर्थ स्कन्ध

सप्तम स्कन्ध

अष्टम स्कन्ध

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

एकादश स्कन्ध

इति श्रीमद्भागवतस्थविषयानुक्रमणिका ।



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम् ।

प्रथमोऽध्यायः

सच्चिदानंदरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे । तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ॥१॥

यं प्रव्रजंतमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ॥
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥२॥

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम् । कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत् ॥३॥

शौनक उवाच

अज्ञानध्वांतविध्वंसकोटिसूर्यसमप्रभ । सूताख्याहि कथासारं मम कर्णरसायनम् ॥४॥
भक्तिज्ञानविरागाप्तो विवेको वर्धते महान् । मायामोहनिरासश्च वैष्णवैः क्रियते कथम् ॥५॥
इह घोरे कलौ प्रायो जीवश्चासुरतां गतः । क्लेशाक्रान्तस्य तस्यैव शोधने किं परायणम् ॥६॥
श्रेयसां यद्भवेच्छ्रेयः पावनानां च पावनम् । कृष्णप्राप्तिकरं शश्वत्साधनं तद्वदाधुना ॥७॥
चिंतामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसंपदम् । प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुंठं योगिदुर्लभम् ॥८॥
प्रीतिः शौनक चित्ते ते ह्यतो वच्मि विचार्य च । सर्वसिद्धांतनिष्पन्नं संसारभयनाशनम् ॥९॥
भक्त्यौघवर्धनं यच्च कृष्णसंतोषहेतुकम् । यदहं तेऽभिधास्यामि सावधानतया शृणु ॥१०॥

हरिः ॐ ॥ जो श्रीकृष्णचन्द्र सत्, चित् और आनन्दके रूप हैं । जो इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, पालन और संहारके कारण हैं । जो अपनी आराधना करनेवालोंके दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंको दूर कर देते हैं, उनको हम प्रणाम करते हैं ॥१॥ शुकमुनिकी वंदना—जिनका उपनयन-संस्कार भी नहीं हो पाया था, उसी समय सब सांसारिक कर्मोंको त्यागकर जो घरसे निकल पड़े । तब पुत्रके वियोगसे व्याकुल व्यासदेवने 'पुत्र ! पुत्र !!' ऐसा कहकर पुकारा और आस-पासके वृक्षोंने मारे प्रेमके व्यासजीके कथनका उत्तर दिया, सब प्राणियोंके अन्तरात्मारूप उन शुकमुनिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ एक समयकी बात है—नैमिषारण्यक्षेत्रमें बुद्धिमान् सूतजीको प्रणाम करके कथारूपी अमृतका स्वाद लेनेमें चतुर शौनकने कहा—॥३॥ अज्ञान-अन्धकारको नष्ट करनेमें करोड़ों सूर्यके समान प्रभाशाली हे सूत ! मुझे आप कोई ऐसी कथा सुनाइये कि जिससे मेरे श्रवणपुट आनन्दित हो उठें ॥४॥ जिससे भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यपूर्ण विचार बढ़ें और विष्णुभक्तोंके मोहपाशका नाश हो ॥५॥ हे प्रभो ! इस घोर कलियुगमें जीव मनुष्यसे राक्षस बनकर विविध प्रकारके दुःख झेलता है । ऐसी दशामें उसके दुःख दूर करनेका क्या उपाय है ॥६॥ आप मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये, जो सबसे अच्छा तथा सबसे पवित्र हो और वह शीघ्र भगवान कृष्णचन्द्रको प्राप्त करा सके ॥७॥ क्योंकि चिन्तामणि मनचाही अभिलाषा पूर्ण करता और कल्पवृक्ष स्वर्गकी सम्पत्ति है, किन्तु गुरु प्रसन्न होकर योगियोंको भी दुर्लभ वैकुण्ठधाम प्राप्त करा देता है ॥८॥ श्रीसूतजी बोले—हे शौनक ! तुम्हारे हृदयमें प्रेम है । इस वास्ते मैं तुम्हें सब सिद्धान्तोंका निचोड़, सांसारिक भयनाशक, भक्तिवर्धक और भगवानको प्रिय उपाय बतलाऊँगा, सुनो ॥९॥१०॥

कालव्यालमुखग्रासत्रासनिर्णाशहेतवे । श्रीमद्भागवतं शास्त्रं कलौ कीरेण भाषितम् ॥११॥
एतस्मादपरं किंचिन्मनःशुद्ध्यै न विद्यते । जन्मांतरे भवेत्पुण्यं तदा भागवतं लभेत् ॥१२॥
परीक्षिते कथां वक्तुं सभायां संस्थिते शुके । सुधाकुंभं गृहीत्वैव देवास्तत्र समागमन् ॥१३॥
शुकं नत्वाऽवदन्सर्वे स्वकार्यकुशलाः सुराः । कथासुधां प्रयच्छस्व गृहीत्वैव सुधामिमाम् ॥१४॥
एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम् । प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम् ॥१५॥
क्व कथा क्व सुधा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान् । ब्रह्मरातो विचार्यैवं तदा देवान्जहास ह ॥१६॥
अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम् । श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा ॥१७॥
राज्ञो मोक्षं तथा वीक्ष्य पुरा धाताऽपि विस्मितः । सत्यलोके तुलां बद्ध्वाऽतोलयत्साधनान्यजः ।१८।
लघून्यन्यानि जातानि गौरवेण इदं महत् । तदा ऋषिगणाः सर्वे विस्मयं परमं ययुः ॥१९॥
मेनिरे भगवद्रूपं शास्त्रं भागवतं कलौ । पठनाच्छ्रवणात्सद्यो वैकुंठफलदायकम् ॥२०॥
सप्ताहेन श्रुतं चैतत्सर्वथा मुक्तिदायकम् । सनकाद्यैः पुरा प्रोक्तं नारदाय दयापरैः ॥२१॥
यद्यपि ब्रह्मसंबंधाच्छ्रुतमेतन्महर्षिणा । सप्ताहश्रवणविधिः कुमारैस्तस्य भाषितः ॥२२॥

शौनक उवाच

लोकविग्रहमुक्तस्य नारदस्यास्थिरस्य च । विधिश्रवे कुतः प्रीतिः संयोगः कुत्र तैः सह ॥२३॥

सूत उवाच

अत्र ते कीर्तयिष्यामि भक्तियुक्तं कथानकम् । शुकेन मम यत्प्रोक्तं रहः शिष्यं विचार्य च ॥२४॥

कलिमें कालरूपी भयानक सर्पके मुखसे निकलनेके लिए शुकदेवजीने श्रीमद्भागवत नामके एक स्वतंत्र शास्त्रकी रचना की है ॥११॥ मनको पवित्र करनेके लिए इससे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है। जिस प्राणीके जन्म-जन्मान्तरका पुण्य उदय होता है, तब उसे श्रीमद्भागवत सुननेकी इच्छा होती है ॥१२॥ जब राजा परीक्षितको यह पवित्र कथा सुनानेके लिए शुकदेव सभाभूमिमें जाकर बैठे तो देवता अमृत-का कलश लिए हुए आ पहुँचे ॥१३॥ अपना मतलब साधनेमें चतुर देवताओंने शुकमुनिको प्रणाम करके कहा—'हे भगवन्! आप यह अमृत भरा कलश ले लें और इसके बदले हमें भागवतका कथा-रूपी अमृत पिलावें ॥१४॥ इस तरह राजाको आप यह अमृत पिलाकर अमर कर दें और हम यह भागवतरूपी अमृत पियें' ॥१५॥ यह सुनकर उन महर्षि शुकदेवने सोचा—'कहाँ भगवानकी दिव्य कथा और कहाँ यह तुच्छ अमृत! कहाँ काँचका टुकड़ा और कहाँ मणि!' यह सोच वे देवताओंकी ओर निहारकर हँसने लगे ॥१६॥ अन्तमें उन्होंने देवताओंको अनधिकारी समझकर यह अमृत नहीं ही दिया। इसीसे कहा जाता है कि श्रीमद्भागवतकी पुनीत कथा देवताओंको भी दुर्लभ है ॥१७॥ श्रीशुकदेवके मुखसे भागवतकी कथा सुन तथा महाराज परीक्षितको मुक्त होते देखकर ब्रह्माजीको बड़ा आश्चर्य हुआ था। तब सत्यलोकमें जाकर उन्होंने विज्ञानके तराजूपर मुक्तिके और-और साधनोंको एक पलड़ेपर रखा और दूसरे पलड़ेपर केवल श्रीमद्भागवतकी कथा रखी। उस तुलाके निर्णयानुसार इस कथाकी अपेक्षा अन्य साधन हल्के पड़ गये और इसका गौरव सबसे बढ़कर रहा। इससे उस समय सब ऋषियोंको बड़ा विस्मय हुआ था ॥१८॥१९॥ तभीसे उन मुनियोंने श्रीमद्भागवतशास्त्रको भगवानका साक्षात् स्वरूप माना है। इसका अध्ययन और श्रवण वैकुण्ठप्राप्तिका आनन्द देता है ॥२०॥ पूर्वकालमें दयालु सनकादि मुनियों-ने नारदको इसकी महिमा बताते हुए कहा था कि 'श्रीमद्भागवतका सप्ताह सुन लेनेसे ही प्राणी मुक्त हो जाता है' ॥२१॥ यद्यपि ब्रह्माजीके मुखसे नारदजीने इसका माहात्म्य सुना था, किन्तु सप्ताह-श्रवण-विधि उन्होंने सनकादि मुनियों ही से सुनी ॥२२॥ शौनकने सूतजीसे कहा—'हे भगवन्! सांसारिक झगड़ोंसे अलग और एक घड़ीसे अधिक कहीं भी न टिकनेवाले नारद मुनिको सप्ताह सुननेकी विधि जाननेका अवसर क्योंकर मिला और सनकादिकोंसे वे कहाँ मिले?' ॥२३॥ सूतजी बोले—हे प्रिय

एकदाऽपि विशालायां चत्वार ऋषयोऽमलाः । सत्संगार्थं समायाता ददृशुस्तत्र नारदम् ॥२५॥

कुमारा ऊचुः

कथं ब्रह्मन्दीनमुखः कुतश्चिन्तातुरो भवान् । त्वरितं गम्यते कुत्र कुतश्चागमनं तव ॥२६॥

इदानीं शून्यचित्तोऽसि गतवित्तो यथा जनः । तदेवं मुक्तसंगस्य नोचितं वद कारणम् ॥२७॥

नारद उवाच

अहं तु पृथिवीं यातो ज्ञात्वा सर्वोत्तमामिति । पुष्करं च प्रयागं च काशीं गोदावरीं तथा ॥२८॥

हरिक्षेत्रं कुरुक्षेत्रं श्रीरंगं सेतुबंधनम् । एवमादिषु तीर्थेषु भ्रममाण इतस्ततः ॥२९॥

नापश्यं कुत्रचिच्छर्म मनःसंतोषकारकम् । कलिनाऽधर्ममित्रेण धरेयं बाध्यतेऽधुना ॥३०॥

सत्यं नास्ति तपः शौचं दया दानं न विद्यते । उदरंभरिणो जीवा वराकाः कूटभाषिणः ॥३१॥

मंदाः सुमंदमतयो मंदभाग्या ह्युपद्रुताः । पाषंडनिरताः संतो विरक्ताः सपरिग्रहाः ॥३२॥

तरुणीप्रभुता गेहे श्यालको बुद्धिदायकः । कन्याविक्रयिणो लोभाद्दंपतीनां च कल्कनम् ॥३३॥

आश्रमा यवनै रुद्धास्तीर्थानि सरितस्तथा । देवतायतनान्यत्र दुष्टैर्नष्टानि भूरिशः ॥३४॥

न योगी नैव सिद्धो वा न ज्ञानी सत्क्रियो नरः । कलिदावानलेनाद्य साधनं भस्मतां गतम् ॥३५॥

अट्टशूला जनपदाः शिवशूला द्विजातयः । कामिन्यः केशशूलिन्यः संभवंति कलाविह ॥३६॥

एवं पश्यन्कलेर्दोषान्पर्यटन्नवनीमहम् । यामुनं तटमापन्नो यत्र लीला हरेरभूत् ॥३७॥

तत्राश्चर्यं मया दृष्टं श्रूयतां तन्मुनीश्वराः । एका तु तरुणी तत्र निषण्णा खिन्नमानसा ॥३८॥

शौनक ! इस प्रसंगमें मैं तुम्हें एक भक्तिपूर्ण कथा सुनाऊँगा, जिसको श्रीशुकदेवजीने मुझे अपना प्रिय शिष्य समझकर बतलाया था ॥२४॥ एक समय सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चारों ऋषि विशाला नगरीमें सत्संग करनेको एकत्रित हुए। उसी समय उन लोगोंने नारदको भी वहीं आते देखा ॥२५॥ नारदको विचित्र दशामें देखकर सनकादिकोंने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपका मुँह सूखा हुआ क्यों है ? आप चिन्तित क्यों दिखाई पड़ते हैं ? आप बड़ी तेजीसे कहाँ भागे जा रहे हैं और आते कहाँसे हैं ? ॥२६॥ इस समय आपका हृदय इस प्रकार व्यग्र दिखाई पड़ता है कि जैसे किसीका सर्वस्व लुट गया हो । आप जैसे त्यागीका इस तरह व्याकुल होना उचित नहीं मालूम पड़ता । आप अपनी व्यग्रताका कारण बतलाइए ॥२७॥ नारद बोले—मैं पृथ्वीको सर्वोत्तम लोक समझकर यहाँ आया और यहाँके पुष्कर, प्रयाग, काशी, गोदावरी, हरिक्षेत्र, कुरुक्षेत्र, श्रीरंग, सेतुबन्ध आदि तीर्थोंमें घूमता रहा ॥२८॥२९॥ लेकिन यहाँ मैंने कहीं भी वह आनन्द नहीं पाया, जिससे हृदयको शान्ति मिलती । अधर्मके साथी कलिने समस्त पृथ्वीमंडलको अपने वशमें कर लिया है और वह सबको बुरी तरह सता रहा है ॥३०॥ इस समय यहाँ न सत्य है और न तप, न शौच, न दया और न दान ही दिखाई देता है । सब प्राणी अपना पेट भरनेके लिए झूठ बोलते हैं ॥३१॥ वे आलसी, मूर्ख, अभागे और दुखी हैं । पाखंडी लोग अपनेको सज्जन कहते हैं और विरक्त लालची हो रहे हैं ॥३२॥ गृहस्थोंके यहाँ स्त्रियोंकी प्रभुता चलती है । घरके मालिकका साला मंत्री बना बैठा है । लोभवश लोग अपनी लड़की बेचते हैं । स्त्री-पुरुषमें सदा लड़ाई होती रहती है ॥३३॥ अच्छे-अच्छे आश्रमोंपर यवनोंका कब्जा हो गया है । तीर्थों, नदियों तथा देव-मंदिरोंको दुष्टोंने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है ॥३४॥ इस समय यहाँ न कोई योगी, न सिद्ध और न ज्ञानी ही दिखाई देता है । किसी क्रियावान् पुरुषका दर्शन भी मिलना कठिन है । कलिरूपी अग्निने सभी अच्छे साधनोंको भस्म कर दिया है ॥३५॥ यहाँके प्रजाजन अन्न बेचते हैं, ब्राह्मण वेद बेचते हैं और स्त्रियाँ रूप बेचती हैं । कलिकालमें इन दुराचारोंकी बढ़ती होती जा रही है ॥३६॥ इस प्रकार कलिके अगणित दोषोंको देखता और इधर-उधर भ्रमण करता हुआ मैं यमुनातटपर वृन्दावनमें जा पहुँचा, जहाँ भगवान्ने मनोहर लीला की थी ॥३७॥ हे मुनियो !

वृद्धौ द्वौ पतितौ पार्श्वे निःश्वसन्तावचेतनौ । शुश्रूषंती प्रबोधंती रुदती च तयोः पुरः ॥३९॥
दशदिक्षु निरीक्षंती रक्षितारं निजं वपुः । वीज्यमाना शतस्त्रीभिर्बोध्यमाना मुहुर्मुहुः ॥४०॥
दृष्ट्वा दूराद्गतः सोऽहं कौतुकेन तदंतिकम् । मां दृष्ट्वा चोत्थिता बाला विह्वला चाब्रवीद्वचः ॥४१॥

बालोवाच

भो भो साधो क्षणं तिष्ठ मच्चिन्तामपि नाशय । दर्शनं तव लोकस्य सर्वथाऽघहरं परम् ॥४२॥
बहुधा तव वाक्येन दुःखशांतिर्भविष्यति । यदा भाग्यं भवेद्भूरि भक्तस्य दर्शनं तदा ॥४३॥

नारद उवाच

कासि त्वं काविमौ चेमा नार्यः काः पद्मलोचनाः । वद देवि सविस्तारं स्वस्य दुःखस्य कारणम् ॥४४॥

बालोवाच

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ । ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ ॥४५॥
गङ्गाद्याः सरितश्चेमा मत्सेवार्थं समागताः । तथापि न च मे श्रेयः सेवितायाः सुरैरपि ॥४६॥
इदानीं शृणु मद्वार्तां सचित्तस्त्वं तपोधन । वार्ता मे विततास्त्यस्ति तां श्रुत्वा सुखमावह ॥४७॥
उत्पन्ना द्राविडे साऽहं वृद्धिं कर्णाटके गता । क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥४८॥
तत्र घोरकलेर्योगात्पाखंडैः खंडितांगका । दुर्बलाऽहं चिरं जाता पुत्राभ्यां सह मंदताम् ॥४९॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी । जाताऽहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु सांप्रतम् ॥५०॥
इमौ तु शयितावत्र सुतौ मे क्लिश्यतः श्रमात् । इदं स्थानं परित्यज्य विदेशं गम्यते मया ॥५१॥
जरठत्वं समायातौ तेन दुःखेन दुःखिता । साऽहं तु तरुणी कस्मात्सुतौ वृद्धाविमौ कुतः ॥५२॥
त्रयाणां सहचारित्वाद्वैपरीत्यं कुतः स्थितम् । घटते जरठा माता तरुणौ तनयाविति ॥५३॥

मैंने वहाँ एक विचित्र बात देखी। एक युवती स्त्री मन मारकर बैठी हुई थी ॥३८॥ उसके पास ही दो बूढ़े मूर्छित होकर लम्बी-लम्बी साँसें लेते पड़े थे। वह अकेली तरुणी उन बूढ़ोंकी सेवा करती, उन्हें धैर्य बँधाती और दुखी होकर उनके समक्ष रोती-कलपती थी ॥३९॥ रह-रह कर वह अपनी रक्षा करनेवाले किसी सहायककी अपेक्षा करती जाती थी। उस स्त्रीके आस-पास सैकड़ों स्त्रियाँ बैठी उसकी सेवा करतीं और समझा-बुझा रही थीं ॥४०॥ दूर ही से यह हाल देखकर कौतुकवश मैं भी वहाँ जा पहुँचा। मुझे देखकर वह तरुणी उठी और विह्वल होकर कहने लगी—॥४१॥ हे साधो ! क्षण भर ठहर जाइए और मेरी चिन्ता दूर कर दीजिए। आप-जैसोंका दर्शन सब पाप नष्ट कर देता है ॥४२॥ आपकी बातोंसे मेरा दुःख दूर हो जायगा। जब किसीके सुकृतका उदय होता है, तभी आपसरीखे पुरुषोंका दर्शन मिलता है ॥४३॥ नारदने पूछा—तुम कौन हो ? ये कमलनयनी स्त्रियाँ कौन हैं ? हे देवि ! तुम अपने दुःखका कारण बताओ ॥४४॥ स्त्री बोली—'मैं भक्ति हूँ और ये दोनों मेरे पुत्र—ज्ञान-वैराग्य हैं, जो बूढ़े हो गये हैं ॥४५॥ ये गंगा आदि नदियाँ मेरी सेवाके लिए आई हैं। इन देवियों और देवताओंकी सेवासे भी मेरा कल्याण होता नहीं दिखाई देता ॥४६॥ हे तपोधन ! आप अपनेको शान्त करके मेरा वृत्तान्त सुनें। मेरी रामकहानी बड़ी लम्बी-चौड़ी है, उसे सुनकर आप सुखी हों ॥४७॥ मैं भक्ति हूँ। मैं द्रविड़-देशमें उत्पन्न हुई, कर्नाटकमें बढ़ी और महाराष्ट्र तथा गुजरातमें बूढ़ी हो गई ॥४८॥ घोर कलिके कारण पाखण्डियोंने मेरे टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं। इसीसे मैं और मेरे बेटे बहुत समयसे दुर्बल रहते आ रहे थे ॥४९॥ किन्तु वृन्दावनमें आनेसे मैं स्वरूपवती और तरुणी स्त्री हो गयी। अब सब प्रकारसे मेरा रूप सुन्दर है ॥५०॥ किन्तु मेरे बेटे ज्ञान-वैराग्य थकावटसे यहाँ लेट गये हैं। मैं यहाँसे किसी दूसरे देशको चली जाना चाहती हूँ ॥५१॥ मेरे बच्चे बूढ़े हो गये हैं, यह असाधारण दुःख मुझे व्याकुल किये है। समझमें नहीं आता कि यहाँ मैं युवती और मेरे बेटे बूढ़े क्यों हो गये ॥५२॥ जब हम तीनों एक साथ यहाँ आये, तब ऐसी विषमता क्योंकर उपस्थित हुई ? यदि माता बूढ़ी हो और बच्चे जवान हों तो

अतः शोचामि चात्मानं विस्मयाविष्टमानसा। वद योगनिधे धीमन् कारणं चात्र किं भवेत् ॥५४॥

नारद उवाच

ज्ञानेनात्मनि पश्यामि सर्वमेतत्तवानघे। न विषादस्त्वया कार्यो हरिः शं ते करिष्यति ॥५५॥

सूत उवाच— क्षणमात्रेण तज्ज्ञात्वा वाक्यमूचे मुनीश्वरः।

नारद उवाच— शृणुष्वावहिता बाले युगोऽयं दारुणः कलिः ॥ ५६ ॥

तेन लुप्तसदाचारो योगमार्गस्तपांसि च। जना अघासुरायंते शाठ्यदुष्कर्मकारिणः ॥५७॥

इह संतो विषीदंति प्रहृष्यंति ह्यसाधवः। धत्ते धैर्यं तु यो धीमान् स धीरः पंडितोऽथवा ॥५८॥

अस्पृश्याऽनवलोक्येयं शेषभारकरी धरा। वर्षे वर्षे क्रमाज्जाता मंगलं नापि दृश्यते ॥५९॥

न त्वामपि सुतैः साकं कोऽपि पश्यति सांप्रतम्। उपेक्षिताऽनुरागांधैर्जर्जरत्वेन संस्थिता ॥६०॥

वृन्दावनस्य संयोगात्पुनस्त्वं तरुणी नवा। धन्यं वृन्दावनं तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च ॥६१॥

अत्रेमौ ग्राहकाभावान्न जरामपि मुंचतः। किंचिदात्मसुखेनेह प्रसुप्तिर्मन्यतेऽनयोः ॥६२॥

भक्तिरुवाच

कथं परीक्षिता राज्ञा स्थापितो ह्यशुचिः कलिः। प्रवृत्ते तु कलौ सर्वसारः कुत्र गतो महान् ॥६३॥

करुणापरेण हरिणाऽप्यधर्मः कथमीक्ष्यते। इमं मे संशयं छिंधि त्वद्वाचा सुखिताऽस्म्यहम् ॥६४॥

यदि पृष्टस्त्वया बाले प्रेमतः श्रवणं कुरु। सर्वं वक्ष्यामि ते भद्रे कश्मलं ते गमिष्यति ॥६५॥

यदा मुकुंदो भगवान् क्ष्मां त्यक्त्वा स्वपदं गतः। तद्दिनात्कलिरायातः सर्वसाधनबाधकः ॥६६॥

दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणं गतः। न मया मारणीयोऽयं सारंग इव सारभुक् ॥६७॥

एक बात भी है, लेकिन माता जवान और बेटे बूढ़े हों तो क्या कहा जायगा ॥५३॥ मैं अपने विषयमें बराबर यही सोचती हूँ कि ऐसा क्यों हुआ? हे योगनिधे! इसका जो कुछ कारण हो, आप बताइए ॥५४॥ नारदने कहा—मैं ज्ञानदृष्टिसे देखता हूँ कि ऐसा क्यों हुआ? हे निष्पापे! तुम विषाद न करो। नारायण सब भला करेंगे ॥५५॥ सूतजी कहते हैं—क्षणमात्रमें उस घटनाका सब कारण जानकर नारदने भक्तिसे कहा—हे बाले! तुम सावधान होकर सुनो, यह दारुण कलियुग है ॥५६॥ इसलिए संसारसे सदाचार लुप्त हो गया है। सभी लोगोंने योग-मार्ग और तपस्या त्याग दी है। लोग विविध दुष्कर्म करके अघासुर बन गये हैं ॥५७॥ कलिके राजमें सज्जन दुःख उठाते और दुष्ट मौज करते हैं। ऐसे समय भी जो धैर्य धारण करता है, उसे ही धैर्यशाली या पण्डित कह सकते हैं ॥५८॥ यह अस्पृश्य और अनवलोकनीय पृथ्वी वर्ष-वर्ष शेषभगवानके मस्तकका बोझ बनती जा रही है। किसी तरह इसका कल्याण होता नहीं दीखता ॥५९॥ इस समय कोई तुम्हें और तुम्हारे पुत्रोंकी ओर निहारता भी नहीं। वासनासे अन्धे संसारियोंने तुमको एकदम त्याग दिया था। इसीसे तुम (बुढ़िया) हो गयी थीं ॥६०॥ लेकिन इस वृन्दावनमें आकर तुम तरुणी हो गई हो। यह वृन्दावन धन्य है, जहाँ भक्ति अहर्निशि नाचती रहती है ॥६१॥ यहाँ इन (ज्ञान-वैराग्य) का कोई ग्राहक नहीं है। इसीसे ये दोनों अपना बुढ़ापा नहीं छोड़ते। हाँ, यहाँ इनकी आत्माको कुछ सुख अवश्य मिला है, इसीसे सो गये हैं ॥६२॥ भक्तिने कहा—यदि ऐसा था तो महाराज परीक्षितने इस दुष्ट कलिको यहाँ रहने ही क्यों दिया। इसके आनेपर सबका पराक्रम कहाँ चला गया? वे नारायण भी इस तरह अधर्मकी वृद्धि क्यों देख रहे हैं? आप मेरे इन सन्देहोंको दूर करिए। आपकी बातोंसे मुझे बड़ा आनन्द मिल रहा है ॥६३॥६४॥ नारद बोले—हे बाले! यदि तुम मुझसे पूछ ही रही हो तो प्रेमके साथ सुनो। हे भद्रे! मैं तुमको सब रहस्य बतलाऊँगा, जिससे तुम्हारा सब संशय दूर हो जायगा ॥६५॥ जिस दिनसे भगवान् भूमंडलको त्यागकर अपने साकेतलोकको चले गये, उसी दिन सब साधनोंमें बाधा पहुँचानेवाला कलि यहाँ आ धमका ॥६६॥ दिग्विजयके प्रसङ्गमें महाराज परीक्षितने इसे पकड़ा था। लेकिन उस समय यह दीन बनकर उनके शरणागत

नारद उवाच

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना। तत्फलं लभ्यते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात् ॥६८॥
एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत्सारनीरसम्। विष्णुरातः स्थापितवान्कलिजानां सुखाय च ॥६९॥
कुकर्माचरणात्सारः सर्वतो निर्गतोऽधुना। पदार्थाः संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषा यथा ॥७०॥
विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने। कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ॥७१॥
अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः। तेऽपि तिष्ठंति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥७२॥
कामक्रोधमहालोभतृष्णाव्याकुलचेतसः। तेऽपि तिष्ठंति तपसि तपःसारस्ततो गतः ॥७३॥
मनसश्चाजयाल्लोभाद्दंभात्पाखंडसंश्रयात्। शास्त्रानभ्यसनाच्चैव ध्यानयोगफलं गतम् ॥७४॥
पंडितास्तु कलत्रेण रमंते महिषा इव। पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ॥७५॥
न हि वैष्णवता कुत्र संप्रदायपुरःसरा। एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारः स्थले स्थले ॥७६॥
अयं तु युगधर्मो हि वर्तते कस्य दूषणम्। अतस्तु पुण्डरीकाक्षः सहते निकटे स्थितः ॥७७॥

सूत उवाच

इति तद्वचनं श्रुत्वा विस्मयं परमं गता। भक्तिरूचे वचो भूयः श्रूयतां तच्च शौनक ॥७८॥

भक्तिरुवाच

सुरर्षे त्वं हि धन्योऽसि मद्भाग्येन समागतः। साधूनां दर्शनं लोके सर्वसिद्धिकरं परम् ॥७९॥
जयति जगति माया यस्य कायाधवस्ते वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि ॥८०॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखंडे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भक्तिनारदसमागमो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

हो गया। इसीसे महाराजने सोचा कि जब यह अपने समक्ष दीन बन गया है, तब क्यों मारें ॥६७॥ फिर जो फल तपस्या, योग और समाधिसे भी सुलभ नहीं था, वह कलिमें केवल भगवान्के गुण गानेसे प्राप्त हो जाता है ॥६८॥ इसमें यदि ज्ञान-वैराग्य न सध सके तो भी भक्तिकी साधनासे प्राणी मुक्त हो जाता है। इन सुविधाओंको देखकर ही राजा परीक्षितने कलिकी स्थापना कर दी थी ॥६९॥ किन्तु प्राणियोंके कुकर्मोंसे इस समय उनका सब पराक्रम भाग गया है। सभी पदार्थ संसारमें वैसे ही असार हो गये हैं, जैसे बिना भूसीके बीज पृथ्वीमें बोनेपर नहीं उगते ॥७०॥ ब्राह्मण पेट भर अन्नकी लालचसे घर-घर भगवान्के गुण गाने लगे, इससे कथाका महत्त्व जाता रहा ॥७१॥ बड़ेसे बड़े पापी, नास्तिक और नारकीजन तीर्थके पुरोहित बन बैठे, इससे तीर्थोंका महत्त्व नहीं रहा ॥७२॥ काम, क्रोध, लोभ और तृष्णासे व्याकुल पाखण्डी भी वक्ता बन गए, इससे कथाका सार नष्ट हो गया ॥७३॥ मनको न जीतकर दम्भ तथा पाखण्डका आश्रय लेने और भली-भाँति अभ्यास न करनेसे ध्यान तथा योगका बल क्षीण हो गया ॥७४॥ आज पण्डितनामधारी जीव भैंसेकी तरह स्त्रियोंके साथ विहार करते हैं। वे पुत्र उत्पन्न करनेमें जितने निपुण हैं, उतने मुक्ति साधनेमें नहीं ॥७५॥ संप्रदायके अनुकूल आचरण करनेवाली वैष्णवता कहीं नहीं दीखती। इससे सभी वस्तुओंका सार नष्ट हो गया है ॥७६॥ जब यह युगका ही धर्म है, तब किसको दोष दिया जाय। इसीसे भगवान् यह सब अनर्थ देखते हुए भी चुप हैं ॥७७॥ सूतजी बोले—हे शौनक! नारदकी बातें सुनकर भक्तिको बड़ा विस्मय हुआ और उसने जो कहा, सो सुनिए ॥७८॥ वह बोली—आप धन्य हैं और मेरे भाग्यसे ही यहाँ आये हैं। क्योंकि सत्पुरुषोंका दर्शन सब सिद्धियें प्रदान करता है ॥७९॥ फिर जिसने संसारकी माया जीत ली है, जिसने शरीरपर प्रभुता प्राप्त कर ली है, जिसका वचन मानकर बालक ध्रुवपदको प्राप्त हो गया, सब प्रकारके गुणोंसे पूर्ण उन नारदमुनिको मैं प्रणाम करती हूँ ॥८०॥ इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे साहित्य-शास्त्रि—पं० रामतेजपाण्डेयकृत भाषानुवादे श्रीभागवत-माहात्म्ये भक्ति-नारद-समागमो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारद उवाच

वृथा खेदयसे बाले अहो चिंतातुरा कथम् । श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति ॥१॥
द्रौपदी च परित्राता येन कौरवकश्मलात् । पालिता गोपसुंदर्यः स कृष्णः क्वापि नो गतः ॥२॥
त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका । त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ॥३॥
सत्यादित्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ । कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्यकारिणी ॥४॥
इति निश्चित्य चिद्रूपः सद्रूपां त्वां ससर्ज ह । परमानन्दचिन्मूर्तिं सुंदरीं कृष्णवल्लभाम् ॥५॥
बद्ध्वांजलिं त्वया पृष्टं किं करोमीति चैकदा । त्वां तदाऽऽज्ञापयत्कृष्णो मद्भक्तान्पोषयेति च ॥६॥
अङ्गीकृतं त्वया तद्वै प्रसन्नोऽभूद्धरिस्तदा । मुक्तिं दासीं ददौ तुभ्यं ज्ञानवैराग्यकाविमौ ॥७॥
पोषणं स्वेन रूपेण वैकुंठे त्वं करोषि च । भूमौ भक्तिविपोषाय छायारूपं त्वया कृतम् ॥८॥
मुक्तिं ज्ञानं विरक्तिं च सह कृत्वा गता भुवि । कृतादिद्वापरस्यांतं महानंदेन संस्थिता ॥९॥
कलौ मुक्तिः क्षयं प्राप्ता पाखंडामयपीडिता । त्वदाज्ञया गता शीघ्रं वैकुंठं पुनरेव सा ॥१०॥
स्मृता त्वयाऽपि चात्रैव मुक्तिरायाति याति च । पुत्रीकृत्य त्वयेमौ च पार्श्वे स्वस्यैव रक्षितौ ॥११॥
उपेक्षातः कलौ मंदौ वृद्धौ जातौ सुतौ तव । तथापि चिंतां मुंच त्वमुपायं चिन्तयाम्यहम् ॥१२॥
कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने । तस्मिंस्त्वां स्थापयिष्यामि गेहे गेहे जने जने ॥१३॥
अन्यधर्मास्तिरस्कृत्य पुरस्कृत्य महोत्सवान् । तदा नाहं हरेर्दासो लोके त्वां न प्रवर्तये ॥१४॥
त्वदन्विताश्च ये जीवा भविष्यंति कलाविह । पापिनोऽपि गमिष्यंति निर्भयं कृष्णमंदिरम् ॥१५॥

नारदजी बोले—हे बाले ! व्यर्थ दुखी न होओ । तुम इतनी चिन्ता क्यों करती हो ? श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंका स्मरण करो, तुम्हारे सब कष्ट टल जायँगे ॥ १ ॥ जिन्होंने पापी कौरवोंसे द्रौपदीको बचाया था, जिन्होंने गोपसुन्दरियोंकी रक्षा की थी, वे भगवान कहीं चले नहीं गये हैं ॥२॥ तुम तो उनकी प्राणोंसे भी प्रिय भक्ति हो । तुम्हारे बुलानेपर भगवान् नीचोंके घर भी चले जाया करते हैं ॥३॥ सत्ययुग, द्वापर और त्रेतामें ज्ञान और वैराग्य मुक्तिके साधक माने जाते थे, लेकिन कलियुगमें भक्ति ही प्राणीको ब्रह्मसे मिलाती है ॥४॥ इसीसे तो उन चिद्रूपधारी और परम आनन्दस्वरूप भगवानने तुम जैसी सद्रूपा सुन्दरी और कृष्ण-प्रेयसीकी सृष्टि की है ॥५॥ एक बार तुमने भगवानसे पूछा था—मैं क्या करूँ ? तब उन्होंने कहा था कि तुम मेरे भक्तोंकी रक्षा करो ॥६॥ तुमने भगवानकी बात मान ली, इससे वे बहुत प्रसन्न हुए । तभीसे उन्होंने मुक्तिको तुम्हारी दासी तथा ज्ञान और वैराग्यको पुत्र बनाकर तुम्हारे साथ कर दिया ॥७॥ तुम अपने सच्चे स्वरूपसे वैकुंठके भक्तोंकी रक्षा करती और भूलोकके भक्तोंकी रक्षा करनेको तुमने छायारूप धारण किया है ॥८॥ अब मुक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यको अपने साथ लेकर तुम भूमण्डलमें आयी हो । कलिमें पाखंडियोंके पाखण्डरोगसे पीडित मुक्ति यहाँसे नष्ट होकर फिर वैकुंठको लौट गयी ॥९॥१०॥ अब भी वह तुम्हारे स्मरण करनेपर यहाँ आ जाती है । इन ज्ञान-वैराग्यको तुमने अपना पुत्र बनाकर अब भी अपने साथ रखा है ॥११॥ कलियुगमें लोग ज्ञान और वैराग्यकी उपेक्षा करते हैं । इसीसे ये बेचारे इस तरह शिथिल और वृद्ध हो गये हैं । फिर भी तुम निश्चिन्त रहो, मैं कोई उपाय सोचता हूँ ॥१२॥ हे वरानने ! कलियुगके समान और कोई युग नहीं है । मैं इसी कलि-युगमें तुमको घर-घर और प्राणी-प्राणीके हृदयमें स्थापित करूँगा ॥१३॥ और सब कर्मोंको त्यागकर मैं उत्साहके साथ तुम्हारा प्रचार करूँगा । मैं संसारमें फिर एक बार तुम्हें न चमका दूँ तो भगवानका भक्त नहीं ॥१४॥ इस युगमें जो भक्तिमान् होंगे, वे पापी होते हुए भी निर्भयभावसे वैकुण्ठलोकको

येषां चित्ते वसेद्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी । न ते पश्यंति कीनाशं स्वप्नेऽप्यमलमूर्तयः ॥१६॥
न प्रेतो न पिशाचो वा राक्षसो वा सुरोऽपि वा । भक्तियुक्तमनस्कानां स्पर्शने न प्रभुर्भवेत् ॥१७॥
न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा । हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः ॥१८॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते । कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः ॥१९॥
भक्तिद्रोहकरा ये च ते सीदंति जगत्त्रये । दुर्वासा दुःखमापन्नः पुरा भक्तिविनिंदकः ॥२०॥
अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः । अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा ॥२१॥

सूत उवाच

इति नारदनिर्णीतं स्वमाहात्म्यं निशम्य सा । सर्वांगपुष्टियुक्ता च नारदं वाक्यमब्रवीत् ॥२२॥

भक्तिरुवाच

अहो नारद धन्योऽसि प्रीतिस्ते मयि निश्चला । न कदाचिद्विमुंचामि चित्ते स्थास्यामि सर्वदा ॥२३॥
कृपालुना त्वया साधो मद्बाधा ध्वंसिता क्षणात् । पुत्रयोश्चेतना नास्ति ततो बोधय बोधय ॥२४॥

सूत उवाच

तस्या वचः समाकर्ण्य कारुण्यं नारदो गतः । तयोर्बोधनमारेभे कराग्रेण विमर्दयन् ॥२५॥
मुखं संयोज्य कर्णान्ते शब्दमुच्चैः समुच्चरन् । ज्ञान प्रबुध्यतां शीघ्रं रे वैराग्य प्रबुध्यताम् ॥२६॥
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्मुहुर्मुहुः । बोध्यमानौ तदा तेन कथञ्चिच्चोत्थितौ बलात् ॥२७॥
नेत्रैरनवलोकन्तौ जृम्भन्तौ सालसावुभौ । बकवत्पलितौ प्रायः शुष्ककाष्ठसमाङ्गकौ ॥२८॥
क्षुत्क्षामौ तौ निरीक्ष्यैव पुनः स्वापपरायणौ । ऋषिश्चिन्तापरो जातः किं विधेयं मयेति च ॥२९॥

पयान करेंगे ॥१५॥ जिनके हृदयमें भक्ति सदा विद्यमान रहती है, वे पवित्र प्राणी स्वप्नमें भी यमराजका मुख नहीं देखते ॥१६॥ जिनके हृदयमें भक्ति रहती है, उन प्राणियोंको प्रेत, पिशाच, राक्षस तथा देवता कोई भी नहीं सता सकता ॥१७॥ तपस्या, वेद, ज्ञान और कर्मकाण्ड, इनमेंसे किसीसे भी भगवान प्रसन्न नहीं होते। वे तो एकमात्र भक्तिसे प्रसन्न होते हैं। इस विषयमें प्रमाण वृजकी गोपियाँ हैं ॥१८॥ अनेक जन्मके पुण्य उदय होनेपर हृदयमें भक्ति जागती है और कलिके पामर प्राणियोंको भगवानके पास पहुँचानेवाली भक्ति ही है ॥१९॥ जो लोग भक्तिसे द्रोह करते हैं वे स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल, त्रिलोकीमें दुखी रहते हैं। भक्तिके निन्दक दुर्वासाको कितना कष्ट झेलना पड़ा था? ॥२०॥ व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ और कथाका कहना-सुनना, ये सब भक्तिके सामने तुच्छ हैं। केवल भक्ति ही मुक्ति-साधनके लिए पर्याप्त है ॥२१॥ सूतजी कहते हैं—इस प्रकार नारदके मुखसे अपनी महिमा सुनकर भक्तिके अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रफुल्लित हो गये। वह नारदसे बोली—अहो नारद ! तुम धन्य हो। मेरेमें तुम्हारी अटल श्रद्धा है। मैं कभी भी तुमको नहीं छोड़ूँगी—सर्वदा तुम्हारे हृदयमें विराजूँगी ॥२२॥२३॥ हे साधो ! तुमने कृपा करके एक क्षणमें मेरा दुःख दूर कर दिया, किन्तु मेरे बेटे अभी भी अचेत ही पड़े हैं। आप इनको किसी तरह सचेत करिए ॥२४॥ भक्तिकी बातें सुनकर करुणासे नारदका हृदय भर आया और वे अपने हाथों ज्ञान-वैराग्यका शरीर दबाते हुए उन्हें होशमें लानेकी चेष्टा करने लगे ॥२५॥ वे उन दोनोंके कानमें मुँह लगाकर जोर-जोरसे कहने लगे—हे ज्ञान ! जागो। हे वैराग्य ! होशमें आओ ॥२६॥ तदनन्तर वेद-वेदान्तके पुनीत मंत्रोंका उच्चारणकर और गीताका पाठ करके उन्होंने उन दोनोंको सचेत करनेकी चेष्टा की, तब वे किसी तरह कुनमुनाये ॥२७॥ लेकिन तब भी उनकी आँखें नहीं खुलीं, वे पड़े जँभाइयाँ लेते रहे। क्योंकि उनपर आलस्यका जोर था। बगुलेके पंखकी तरह उनके बाल सफेद थे और उनके अंग-प्रत्यंग सूखकर लकड़ी हो गये थे ॥२८॥ भूखके मारे शक्तिहीन थे ही। इतनी चेष्टा करनेपर उन्होंने कुछ आँखें खोलीं, किन्तु फिर सो गये। नारद सोचने

अहो निद्रा कथं याति वृद्धत्वं च महत्तरम्। चिन्तयन्निति गोविन्दं स्मारयामास भार्गव ॥३०॥
व्योमवाणी तदैवाभून्मा ऋषे खिद्यतामिति। उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः ॥३१॥
एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर। तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः ॥३२॥
सत्कर्मणि कृते तस्मिन् सनिद्रा वृद्धतानयोः। गमिष्यति क्षणाद्भक्तिः सर्वतः प्रसरिष्यति ॥३३॥
इत्याकाशवचः स्पष्टं तत्सर्वैरपि विश्रुतम्। नारदो विस्मयं लेभे नेदं ज्ञातमिति ब्रुवन् ॥३४॥

नारद उवाच

अनयाऽऽकाशवाण्यापि गोप्यत्वेन निरूपितम्। किं वा तत्साधनं कार्यं येन कार्यं भवेत्तयोः ॥३५॥
क्व भविष्यन्ति सन्तस्ते कथं दास्यन्ति साधनम्। मयात्र किं प्रकर्तव्यं यदुक्तं व्योमभाषया ॥३६॥

सूत उवाच

तत्र द्वावपि संस्थाप्य निर्गतो नारदो मुनिः। तीर्थं तीर्थं विनिष्क्रम्य पृच्छन्मार्गे मुनीश्वरान् ॥३७॥
वृत्तान्तः श्रूयते सर्वैः किञ्चिन्निश्चित्य नोच्यते। असाध्यं केचन प्रोचुर्दुर्ज्ञेयमिति चापरे ॥३८॥
मूकीभूतास्तथान्ये तु कियन्तस्तु पलायिताः। हाहाकारो महानासीत्त्रैलोक्ये विस्मयावहः ॥३९॥
वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैर्विबोधितम्। भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा ॥४०॥
उपायो नापरोऽस्तीति कर्णे कर्णेऽजपज्जनाः। योगिना नारदेनापि स्वयं न ज्ञायते तु यत् ॥४१॥
तत्कथं शक्यते वक्तुमितरैरिह मानुषैः। एवमृषिगणैः पृष्टैर्निर्णीयोक्तं दुरासदम् ॥४२॥
ततश्चिन्तातुरः सोऽथ बदरीवनमागतः। तपश्चरामि चात्रेति तदर्थं कृतनिश्चयः ॥४३॥
तावद्ददर्श पुरतः सनकादीन्मुनीश्वरान्। कोटिसूर्यसमाभासानुवाच मुनिसत्तमः ॥४४॥

लगे कि अब हम क्या करें ॥२९॥ कैसे इनकी निद्रा दूर हो! इनका बुढ़ापा भी असाधारण है। हे शौनक! तब नारदने भगवानका स्मरण करानेकी चेष्टा की ॥३०॥ उसी समय आकाशवाणी हुई—हे नारद! तुम खेद मत करो। तुम्हारा उद्योग सफल होगा ॥३१॥ इनके कल्याणार्थ तुम अच्छे-अच्छे कार्य करो। उन अच्छे कामोंको तुम्हें सज्जनजन बतायेंगे ॥३२॥ तुम्हारे सत्कर्मसे इन दोनोंकी निद्रा और बुढ़ौती दोनों चली जायगी और भक्तिका सब ओर प्रसार हो जायगा ॥३३॥ इस आकाशवाणीको सब लोगोंने सुना। नारदको यह सोचकर बड़ा विस्मय हुआ कि मैंने सत्कर्म करनेकी बात क्यों नहीं सोची ॥३४॥ वे फिर सोचने लगे कि आकाशवाणीने भी गोल-मोल बात कही है। आखिर वह कौन-सा सत्कर्म है, जिसको करनेसे इनका काम बन सकता है ॥३५॥ वे सन्त मुझे कहाँ मिलेंगे और वह साधन मुझे क्योंकर बतायेंगे। अब मैं क्या करूँ, जिससे आकाशवाणीकी बात सच हो ॥३६॥ सूतजी कहते हैं—तब नारद उनको वहीं छोड़कर निकल पड़े और प्रत्येक तीर्थमें भ्रमण करते हुए एक-एक मुनिसे उनके कल्याणकी बात पूछने लगे ॥३७॥ उनकी बातें तो सब लोग ध्यानसे सुनते थे, पर कोई निश्चयात्मक उत्तर नहीं देता था। किसीने ज्ञान-वैराग्यके कल्याणका उपाय असाध्य कहा और किसीने दुःसाध्य बतलाया ॥३८॥ कुछ लोग यह वृत्तान्त सुनकर चुप रह गये और कुछ सुनते ही भाग खड़े हुए। इस घटनासे तीनों लोकोंमें हाहाकार मच गया ॥३९॥ सभी लोग आपसमें बातें करते हुए कहते थे कि जब वेद-वेदान्तोंका घोष और गीताका पाठ करनेपर भी ज्ञान और वैराग्य नहीं जागे, तब कोई दूसरा उपाय हो ही नहीं सकता। ब्रह्मर्षि नारद जब कोई उपाय नहीं सोच सके, तब भला और कोई क्या कर सकता है ॥ ४० ॥ ४१ ॥ नारदने जिन-जिन ऋषियोंसे इस विषयमें परामर्श किया, वे या तो चुप रह गये या उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी ॥४२॥ तब चिन्ताकुल होकर वे बदरीनारायण चले गये और उन्होंने निश्चय किया कि मैं उन तीनोंके कल्याणार्थ तप करूँगा ॥४३॥ इसी समय उन्होंने करोड़ों सूर्यके समान तेजस्वी सनकादि मुनियोंको अपने समक्ष उपस्थित देखकर कहा—॥४४॥

नारद उवाच

इदानीं भूरिभाग्येन भवद्भिः सङ्गमोऽभवत् । कुमारा ब्रुवतां शीघ्रं कृपां कृत्वा ममोपरि ॥४५॥
भवन्तो योगिनः सर्वे बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः । पञ्चहायनसंयुक्ताः पूर्वेषामपि पूर्वजाः ॥४६॥
सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तनतत्पराः । लीलामृतरसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविनः ॥४७॥
हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः । अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न बाधते ॥४८॥
येषां भ्रूभङ्गमात्रेण द्वारपालौ हरेः पुरा । भूमौ निपतितौ सद्यो यत्कृपातः पुरं गतौ ॥४९॥
अहो भाग्यस्य योगेन दर्शनं भवतामिह । अनुग्रहस्तु कर्तव्यो मयि दीने दयापरैः ॥५०॥
अशरीरगिरोक्तं यत्तत्किं साधनमुच्यताम् । अनुष्ठेयं कथं तावत्प्रब्रुवन्तु सविस्तरम् ॥५१॥
भक्तिज्ञानविरागाणां सुखमुत्पद्यते कथम् । स्थापनं सर्ववर्णेषु प्रेमपूर्वं प्रयत्नतः ॥५२॥

कुमारा ऊचुः

मा चिन्तां कुरु देवर्षे हर्षं चित्ते समावह । उपायः सुखसाध्योऽत्र वर्तते पूर्व एव हि ॥५३॥
अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः । सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः ॥५४॥
त्वयि चित्रं न मन्तव्यं भक्त्यर्थमनुवर्तिनि । घटते कृष्णदासस्य भक्तेः संस्थापना सदा ॥५५॥
ऋषिभिर्बहवो लोके पन्थानः प्रकटीकृताः । श्रमसाध्याश्च ते सर्वे प्रायः स्वर्गफलप्रदाः ॥५६॥
वैकुण्ठसाधकः पन्थाः स तु गोप्यो हि वर्तते । तस्योपदेष्टा पुरुषः प्रायो भाग्येन लभ्यते ॥५७॥
सत्कर्म तव निर्दिष्टं व्योमवाचा तु यत्पुरा । तदुच्यते शृणुष्वाद्य स्थिरचित्तः प्रसन्नधीः ॥५८॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ते तु कर्मविसूचकाः ॥५९॥
सत्कर्मसूचको नूनं ज्ञानयज्ञः स्मृतो बुधैः । श्रीमद्भागवतालापः स तु गीतः शुकादिभिः ॥६०॥

हे कुमारगण ! बड़े भाग्यसे आप मिल गये । आप मेरेपर कृपा करके कोई उपाय बताइए ॥४५॥ आप लोग योगी, बुद्धिमान् और बहुश्रुत हैं । आप नित्य पाँच ही वर्षके रहते हैं, फिर भी पूर्वजोंके पूर्वज हैं ॥४६॥ आपलोग सदा वैकुण्ठमें रहते, भगवान्के गुण गाया करते, भगवान्का लीलामृतरस पीकर उन्मत्त रहते और भगवान्की कथाएँ कहना-सुनना ही आपकी जीवनचर्या है ॥४७॥ आपके मुखसे सदा 'हरिःशरणम्' ऐसी पवित्र वाणी निकलती रहती है । यही कारण है कि कालकी आज्ञाकारिणी वृद्धावस्था भी आपको कष्ट नहीं दे पाती ॥४८॥ आपके भ्रूभंगमात्रसे उस समय भगवान्के द्वारपाल भूलोकमें आ गिरे थे और आप लोगोंकी कृपा होते ही वे फिर अपने पदपर पहुँच गये ॥४९॥ अहो ! बड़े भाग्यसे आज आपके दर्शन हुए । मुझ दीनपर आप दया करें । क्योंकि दीनोंपर दया करना आपका स्वभाव है ॥५०॥ उस समय आकाशवाणीने जो कहा है, वह कौनसा सत्कर्म है ? यह विस्तारके साथ मुझे बताइए ॥५१॥ भक्ति-ज्ञान-वैराग्यको मैं किस तरह सुखी कर सकूँगा और किस तरह संसारके सभी वर्णोंमें उनका संचार होगा ॥५२॥ यह सुनकर सनकादि कुमार कहने लगे—हे देवर्षे ! तुम प्रसन्न होओ । इस विषयमें तो एक सुख-साध्य उपाय पहिलेहीसे निश्चित हो चुका है ॥५३॥ हे नारद ! तुम धन्य हो, इसीसे तो विरागियोंके शिरोमणि माने जाते हो । तुम सर्वदासे भगवद्भक्तोंके अग्रणी और योगियोंमें साक्षात् सूर्य रहे हो ॥५४॥ भक्तिका इस तरह अनुसरण करना तुम्हारे लिए कोई विस्मयकी बात नहीं है । भक्तका तो यह कर्तव्य ही है कि वह प्राणी-प्राणीके हृदयमें भक्तिकी स्थापना करनेकी चेष्टा करता रहे ॥५५॥ प्राचीन महर्षियोंने बहुतेरे मार्ग बताये हैं, किन्तु वे मार्ग परिश्रमसाध्य तथा स्वर्गमात्र फल देनेवाले हैं ॥५६॥ वैकुण्ठका साधक मार्ग तो गुप्त ही है । उसका उपदेश करनेवाले पुरुष बड़े भाग्यसे मिलते हैं ॥५७॥ आकाशवाणीने जिस सत्कर्मका निर्देश किया है, अब मैं उसे कहता हूँ । तुम अपना चित्त स्थिर करके अपनी बुद्धिको स्वच्छ कर लो, तब सुनो ॥५८॥ द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्यायज्ञ तथा तपोयज्ञ आदि कर्मकाण्डके सूचक अनेक यज्ञ हैं ॥५९॥ लेकिन इन यज्ञोंमें सत्कर्मका

भक्तिज्ञानविरागाणां तद्घोषेण बलं महत्। व्रजिष्यति द्वयोः कष्टं सुखं भक्तेर्भविष्यति ॥६१॥
प्रलयं हि गमिष्यन्ति श्रीमद्भागवतध्वनेः। कलेर्दोषा इमे सर्वे सिंहशब्दाद् वृका इव ॥६२॥
ज्ञानवैराग्यसंयुक्ता भक्तिः प्रेमरसावहा। प्रतिगेहं प्रतिजनं ततः क्रीडां करिष्यति ॥६३॥

नारद उवाच

वेदवेदान्तघोषैश्च गीतापाठैः प्रबोधितम्। भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा ॥६४॥
श्रीमद्भागवतालापात्तत्कथं बोधमेष्यति। तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे ॥६५॥
छिन्दन्तु संशयं ह्येनं भवन्तोऽमोघदर्शनाः। विलम्बो नात्र कर्तव्यः शरणागतवत्सलाः ॥६६॥

कुमारा ऊचुः

वेदोपनिषदां साराज्जाता भागवती कथा। अत्युत्तमा ततो भाति पृथग्भूता फलाकृतिः ॥६७॥
आमूलाग्रं रसस्तिष्ठन्नास्ते न स्वाद्यते यथा। स भूयः सम्पृथग्भूतः फले विश्वमनोहरः ॥६८॥
यथा दुग्धे स्थितं सर्पिर्न स्वादायोपकल्पयते। पृथग्भूतं हि तद्गव्यं देवानां रसवर्धनम् ॥६९॥
इक्षूणामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्य तिष्ठति। पृथग्भूता च सा मिष्टा तथा भागवती कथा ॥७०॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनाय प्रकाशितम् ॥७१॥
वेदान्तवेदसुस्नाते गीताया अपि कर्तरि। परितापवति व्यासे मुह्यत्यज्ञानसागरे ॥७२॥
तदा त्वया पुरा प्रोक्तं चतुःश्लोकसमन्वितम्। तदीयश्रवणात्सद्यो निर्बाधो बादरायणः ॥७३॥
तत्र ते विस्मयः केन यतः प्रश्नकरो भवान्। श्रीमद्भागवतं श्राव्यं शोकदुःखविनाशनम् ॥७४॥

सूचक एकमात्र ज्ञानयज्ञ ही है। उस ज्ञानयज्ञमें शुक आदि मुनियोंने श्रीमद्भागवतकी कथा कही है ॥६०॥ इस कथाके घोषसे भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यको बड़ा बल मिलेगा और उनका कष्ट दूर हो जायगा ॥६१॥ श्रीमद्भागवतकी ध्वनिसे कलिके दोष उसी तरह भाग जायँगे, जैसे कि सिंहका गर्जन सुनकर भेड़िये भाग खड़े होते हैं ॥६२॥ भागवतका कीर्तन करनेसे ज्ञान-वैराग्यके साथ प्रेम-रसकी धारा बहाती हुई भक्ति संसारके प्रत्येक घर और प्रत्येक प्राणीके हृदयमें किलोलें करती हुई खेलेगी ॥६३॥ नारदने कहा—जब वेद और वेदान्तके घोष और गीतापाठ करनेपर भी वे दोनों नहीं जागे ॥६४॥ तब श्रीमद्भागवतकी कथा कहनेसे कैसे जाग जायँगे? क्योंकि उसकी कथाओंके श्लोक-श्लोक और पद-पदमें वेदका अर्थ समाया हुआ है ॥६५॥ आप लोग कृपा करके मेरे इस संशयको भी दूर कर दीजिए। क्योंकि आप लोगोंका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता, आप शरणागत-वत्सल हैं ॥६६॥ सनकादि मुनि बोले—वेद और उपनिषदोंके सारभागसे भागवत-कथाकी उत्पत्ति हुई है। इसीसे वह वेदों तथा उपनिषदोंके उत्तम फलकी तरह देदीप्यमान होती रहती है ॥६७॥ जैसे ईखमें मूलसे लेकर अग्रभाग पर्यन्त रस रहता है, पर वह उसमें रहकर उतना अच्छा नहीं लगता, जितना अलग होकर मीठा लगता है ॥६८॥ जैसे दूधमें रहनेवाले घीका स्वाद अज्ञात रहता है, किन्तु दूधसे अलग होकर वह मनुष्योंको कौन कहे देवताओं तकका रसवर्धक हो जाता है ॥६९॥ जैसे ऊँखके भीतर चीनी रहती है, किन्तु उनमेंसे अलग होकर ही वह अपना स्वाद प्रकट करती है। यही बात भागवतके भी विषयमें है। पहले वेदों और उपनिषदोंमें श्रीमद्भागवत समाया हुआ था। उसका सुस्वाद तभी प्रकट हुआ, जब ऋषियोंने उनमेंसे निकालकर अलग कर लिया ॥७०॥ यह श्रीमद्भागवत नामक पुराण वेदसम्मत है। भक्ति तथा ज्ञान-वैराग्यकी स्थापना करनेके लिए ही इसका प्रकाशन किया गया है ॥७१॥ वेद और वेदान्तके विशेषज्ञ एवं गीताके रचयिता महामुनि व्यासजी जब अज्ञान-सागरमें गोते खाने लगे थे ॥७२॥ तब तुम्हींने तो केवल चार श्लोकोंमें उन्हें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी थी, जिसके सुनते ही व्यासजीका अज्ञान दूर हो गया था ॥७३॥ मेरी समझमें नहीं आता कि अपने बताये हुए पथपर ही तुम्हें संशय

नारद उवाच

यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः श्रेयस्तनोति भवदुःखदवार्दितानाम् ।
निःशेषशेषमुखगीतकथैकपानाः प्रेमप्रकाशकृतये शरणं गतोऽस्मि ॥७५॥
भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥७६॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये कुमारनारदसंवादो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ।

नारद उवाच

ज्ञानयज्ञं करिष्यामि शुकशास्त्रकथोज्ज्वलम् । भक्तिज्ञानविरागाणां स्थापनार्थं प्रयत्नतः ॥ १ ॥
कुत्र कार्यो मया यज्ञः स्थलं तद्वाच्यतामिह । महिमा शुकशास्त्रस्य वक्तव्यो वेदपारगैः ॥ २ ॥
कियद्भिर्दिवसैः श्राव्या श्रीमद्भागवती कथा । को विधिस्तत्र कर्तव्यो ममेदं ब्रुवतामितः ॥ ३ ॥

कुमारा ऊचुः

शृणु नारद वक्ष्यामो विनम्राय विवेकिने । गङ्गाद्वारसमीपे तु तटमानन्दनामकम् ॥ ४ ॥
नानाऋषिगणैर्जुष्टं देवसिद्धनिषेवितम् । नानातरुलताकीर्णं नवकोमलवालुकम् ॥ ५ ॥
रम्यमेकान्तदेशस्थं हेमपद्मसुसौरभम् । यत्समीपस्थजीवानां वैरं चेतसि न स्थितम् ॥ ६ ॥
ज्ञानयज्ञस्त्वया तत्र कर्तव्यो ह्यप्रयत्नतः । अपूर्वरसरूपा च कथा तत्र भविष्यति ॥ ७ ॥
पुरःस्थं निर्बलं चैव जराजीर्णकलेवरम् । तद् द्वयं च पुरस्कृत्य भक्तिस्तत्रागमिष्यति ॥ ८ ॥

क्यों हो रहा है और मुझसे इस तरह पूछते हो मानो कुछ जानते ही नहीं ॥७४॥ नारदजी कहने लगे—जिनका दर्शन संसार-रूपी ज्वालासे दग्ध प्राणियोंके सब अशुभोंको दूर करके कल्याण करता, उन श्रीशेषभगवानके मुखसे यह कथा प्रकट हुई है। ऐसी दिव्य कथारूपी सुधाका पान करके संसारमें उसका प्रचार करनेवाले भगवान वेदव्यासकी मैं शरण हूँ ॥७५॥ अनेक जन्मोंके पुण्यसे सज्जनोंका साथ होता है और तभी अज्ञानजनित मोह और मदरूपी अन्धकार दूर होता तथा ज्ञानरूपी सूर्यका उदय होता है ॥७६॥ इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखंडे साहित्य-शास्त्रि—पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां श्रीभागवत-माहात्म्ये कुमारनारदसंवादो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

नारदजी कहने लगे—हे कुमारगण ! मैं पूर्ण प्रयत्न करके भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यकी स्थापना करनेके निमित्त श्रीशुकमुनिके कहे हुए शास्त्रका कथारूपी उज्ज्वल ज्ञानयज्ञ करूँगा ॥१॥ अब आप हमको यह बताइए कि यह कहाँ किया जाय ? जिससे आप वेदपारगामी महर्षि मुझे शुकशास्त्रकी महिमा सुना सकें ॥ २ ॥ श्रीमद्भागवतकी कथा कितने दिनोंमें सुननी चाहिए और इसके सुननेका कौन-सा विधि-विधान है। यह सब आप कृपा करके मुझे बतला दीजिए ॥३॥ सनकादि मुनि बोले—हे नारद ! तुम जैसे विनयी और विवेकशीलको मैं श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी सब बातें बता दूँगा। तुम सावधान मनसे सुनो। गंगाद्वार (हरिद्वार) के पास एक आनन्दतट है ॥४॥ वहाँ बहुतसे ऋषि, देवता तथा सिद्ध निवास करते हैं। वहाँ विविध प्रकारके वृक्ष और लताओंकी झुरमुट बन गयी है और नवीन तथा मुलायम बालू बिखरी पड़ी रहती है ॥५॥ वह प्रदेश बड़ा रमणीक और एकान्त है। वहाँ पास ही खिले हुए सुवर्णकमलकी सुगन्धि छायी रहती है। उस स्थानके आस-पास रहनेवाले जीवोंके हृदयमें वैरभाव नहीं रहता ॥६॥ तुम प्रेमसे उसी जगह अपना ज्ञानयज्ञ करो। वहीं अपूर्व रसपूर्ण श्रीमद्भागवतकी कथा हो ॥७॥ वृद्धावस्थाके कारण जीर्ण शरीर उन ज्ञान और वैराग्यको आगे करके भक्ति अपने-

यत्र भागवती वार्ता तत्र भक्त्यादिकं व्रजेत् । कथाशब्दं समाकर्ण्य तत्त्रिकं तरुणायते ॥ ९ ॥

सूत उवाच

एवमुक्त्वा कुमारास्ते नारदेन समं ततः । गङ्गातटं समाजग्मुः कथापानाय सत्वराः ॥१०॥
यदा यातास्तटं ते तु तदा कोलाहलोऽप्यभूत् । भूर्लोके देवलोके च ब्रह्मलोके तथैव च ॥११॥
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः । धावन्तोऽप्याययुः सर्वे प्रथमं ये च वैष्णवाः ॥१२॥

भृगुर्वसिष्ठश्च्यवनश्च गौतमो मेधातिथिर्देवलदेवरातौ ।
रामस्तथा गाधिसुतश्च शाकलो मृकण्डुपुत्रात्रिजपिप्पलादाः ॥१३॥
योगेश्वरौ व्यासपराशरौ च छायाशुको जाजलिजह्नुमुख्याः ।
सर्वेऽप्यमी मुनिगणाः सहपुत्रशिष्याः स्वस्त्रीभिराययुरतिप्रणयेन युक्ताः ॥१४॥

वेदान्तानि च वेदाश्च मन्त्रास्तन्त्राः समूर्तयः । दशसप्तपुराणानि षट्शास्त्राणि तथाययुः ॥१५॥
गङ्गाद्याः सरितस्तत्र पुष्करादिसरांसि च । क्षेत्राणि च दिशः सर्वा दण्डकादिवनानि च ॥१६॥
नगादयो ययुस्तत्र देवगन्धर्वदानवाः । गुरुत्वात्तत्र नायातान्भृगुः सम्बोध्य चानयत् ॥१७॥
दीक्षिता नारदेनाथ दत्तमासनमुत्तमम् । कुमारा वन्दिताः सर्वैर्निषेदुः कृष्णतत्पराः ॥१८॥
वैष्णवाश्च विरक्ताश्च न्यासिनो ब्रह्मचारिणः । मुखभागे स्थितास्ते च तदग्रे नारदः स्थितः ॥१९॥
एकभागे ऋषिगणास्तदन्यत्र दिवौकसः । वेदोपनिषदोऽन्यत्र तीर्थान्यत्र स्त्रियोऽन्यतः ॥२०॥
जयशब्दो नमःशब्दः शङ्खशब्दस्तथैव च । चूर्णलाजाप्रसूनानां निक्षेपः सुमहानभूत् ॥२१॥
विमानानि समारुह्य कियन्तो देवनायकाः । कल्पवृक्षप्रसूनैस्तान् सर्वांस्तत्र समाकिरन् ॥२२॥

आप वहाँ आ उपस्थित होगी ॥८॥ क्योंकि जहाँ कहीं भी नारायणकी कथा होती रहती है, वहाँ भक्ति जा पहुँचती है । उसकी कथाके शब्द सुनते ही वे तीनों तरुण हो जायँगे ॥९॥ सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! इस प्रकार सब विधान बतलाकर वे चारों कुमार श्रीमद्भागवतके कथारूपी अमृतको पीनेके लिए नारदके साथ-साथ गंगातटकी ओर चले ॥१०॥ जिस समय ये लोग गंगा-तटपर पहुँचे तो भूलोक, देवलोक और ब्रह्मलोक तकमें कोलाहल मच गया ॥११॥ श्रीमद्भागवतरूपी अमृतका पान करनेको लोलुप सभी देवता, मनुष्य और ब्रह्मलोकवासी दौड़ पड़े । विशेष करके वे लोग और भी उत्सुक हो उठे, जो पक्के वैष्णव थे ॥१२॥ भृगु, वशिष्ठ, च्यवन, देवल, देवरात, गौतम, मेधातिथि, परशुराम, विश्वामित्र, शाकल, मार्कण्डेय, अत्रिपुत्र दुर्वासा, पिप्पलाद, ॥१३॥ योगेश्वर व्यास तथा पराशर, छायाशुक, जाजलि और जह्नु आदि सभी मुनिपुत्रों, शिष्यों तथा स्त्रियोंके साथ बड़े प्रेमसे चलकर वहाँ आये ॥१४॥ इसके अतिरिक्त सभी वेद, वेदान्त, वेदोंके मन्त्र, तंत्र, सत्रह पुराण और छहों शास्त्र मूर्तिमान् हो-होकर वहाँ आये ॥१५॥ गंगा आदि नदियाँ, पुष्कर आदि सरोवर, सभी पुण्यक्षेत्र, दसों दिशाएँ और दण्डकादि वन, ॥१६॥ पर्वत तथा सभी देवता और दानव वहाँ आ उपस्थित हुए । जो लोग अपना बड़प्पन सोचकर नहीं गये थे तो भृगुमुनि उनको भी समझा-बुझाकर बुला लाये ॥१७॥ वहाँपर आये हुए सभी लोग उस यज्ञके यजमान नारदके दिये हुए उत्तम आसनोंपर जा बैठे । नारदने उन सनकादि चारों कुमारोंकी वन्दना की और सब कृष्णभगवानमें मन लगाकर बैठे ॥१८॥ वैष्णव, विरक्त, संन्यासी और ब्रह्मचारीगण आगे बैठे और सबके आगे नारदजी स्वयं विराजे ॥१९॥ एक ओर ऋषि लोग, दूसरी ओर देवता, एक ओर वेद और उपनिषद, एक ओर तीर्थ और एक तरफ स्त्रियाँ बैठीं ॥२०॥ चारों ओरसे जय-शब्द, नमःशब्द और शंखशब्दका घनघोर घोष उच्चरित होने लगा और गुलाल, धानका लावा तथा फूल बरसाया जाने लगा ॥२१॥ कितनेही बड़े-बड़े देवता विमानपर चढ़कर आकाश-मंडलसे कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥२२॥ सूतजी कहते हैं—

सूत उवाच

एवं तेष्वेकचित्तेषु श्रीमद्भागवतस्य च। माहात्म्यमूचिरे स्पष्टं नारदाय महात्मने ॥२३॥

कुमारा ऊचुः

अथ ते वर्ण्यतेऽस्माभिर्महिमा शुकशास्त्रजः। यस्य श्रवणमात्रेण मुक्तिः करतले स्थिता ॥२४॥
सदा सेव्या सदा सेव्या श्रीमद्भागवती कथा। यस्याः श्रवणमात्रेण हरिश्चित्तं समाश्रयेत् ॥२५॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः। परीक्षिच्छुकसंवादः शृणु भागवतं च तत् ॥२६॥
तावत्संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतेऽज्ञानतः पुमान्। यावत्कर्णगता नास्ति शुकशास्त्रकथा क्षणम् ॥२७॥
किं श्रुतैर्बहुभिः शास्त्रैः पुराणैश्च भ्रमावहैः। एकं भागवतं शास्त्रं मुक्तिदानेन गर्जति ॥२८॥
कथा भागवतस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे। तद्गृहं तीर्थरूपं हि वसतां पापनाशनम् ॥२९॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च। शुकशास्त्रकथायाश्च कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३०॥
तावत्पापानि देहेऽस्मिन्निवसन्ति तपोधनाः। यावन्न श्रूयते सम्यक्छ्रीमद्भागवतं नरैः ॥३१॥
न गङ्गा न गया काशी पुष्करं न प्रयागकम्। शुकशास्त्रकथायाश्च फलेन समतां नयेत् ॥३२॥
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्। पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम् ॥३३॥
वेदादिर्वेदमाता च पौरुषं सूक्तमेव च। त्रयी भागवतं चैव द्वादशाक्षर एव च ॥३४॥
द्वादशात्मा प्रयागश्च कालः संवत्सरात्मकः। ब्राह्मणाश्चाग्निहोत्रं च सुरभिर्द्वादशी तथा ॥३५॥
तुलसी च वसन्तश्च पुरुषोत्तम एव च। एतेषां तत्त्वतः प्राज्ञैर्न पृथग्भाव इष्यते ॥३६॥
यश्च भागवतं शास्त्रं वाचयेदर्थतोऽनिशम्। जन्मकोटिकृतं पापं नश्यते नात्र संशयः ॥३७॥

हे शौनक! इस तरह जब सब लोग सावधान हो गये, तब सनकादि कुमारोंने नारदजीको स्पष्टरूपसे श्रीमद्भागवतका माहात्म्य सुनाना प्रारम्भ किया ॥२३॥ कुमार बोले—हे नारद! अब मैं तुम्हें श्रीमद्भागवत नामक शुकशास्त्रकी महिमा सुनाऊँगा। जिसके सुनते ही मुक्ति हथेलीमें आ उपस्थित होती है ॥२४॥ इसीसे मैं कहता हूँ कि इस कथाको सदा सुनता-सुनाता रहे। इसके सुननेमात्रसे भगवान हृदयमें आ विराजते हैं ॥२५॥ इस श्रीमद्भागवतमें कुल अठारह हजार श्लोक और बारह स्कन्ध हैं। इसमें राजा परीक्षित और शुकमुनिका संवाद है। तुम इस भागवतको सुनो ॥२६॥ मनुष्य अज्ञानवश तबतक इस संसारचक्रमें चक्कर काटता रहता है, जब तक श्रीमद्भागवत नहीं सुनता ॥२७॥ बहुतसे भ्रममें डालनेवाले शास्त्रों और पुराणोंके सुननेसे क्या लाभ? मुक्तिदान करनेकी सामर्थ्य रखनेके कारण अकेला श्रीमद्भागवत-शास्त्र ही सर्वोपरि होकर गरज रहा है ॥२८॥ जिस घरमें नित्य श्रीमद्भागवतकी कथा होती है, वह घर तीर्थके समान होता है और जो उस घरमें रहते हैं, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥ हजारों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ श्रीमद्भागवतकी सोलहवीं कलाको भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥३०॥ हे तपस्वियो! तभीतक मनुष्यके शरीरमें पाप निवास करते हैं, जबतक वह श्रीमद्भागवतकी कथा नहीं सुनता ॥३१॥ गंगा, गया, काशी, पुष्कर तथा प्रयाग-यात्राका पुण्य भी श्रीमद्भागवत-श्रवणके पुण्यकी बराबरी नहीं कर सकता ॥३२॥ इसलिए यदि आप लोग सबसे उत्तम गति प्राप्त करना चाहें तो श्रीभागवतका आधा या चौथाई श्लोक ही अपने मुखसे पढ़ा करें ॥३३॥ यह भागवत वेदका आदि, वेदकी माता, पुरुषसूक्त, ऋग्, यजुः और सामवेद तथा 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' महामंत्र है ॥३४॥ यही द्वादशात्मा सूर्य, प्रयाग, संवत्सरात्मक काल, ब्राह्मण, अग्निहोत्र, कामधेनु और द्वादशी तिथि है ॥३५॥ यही तुलसी, वसन्त ऋतु और पुरुषोत्तम मास है। तत्त्वज्ञानी विद्वान् इनमें और श्रीमद्भागवतमें कोई अन्तर नहीं समझते ॥३६॥ जो मनुष्य नित्य अर्थके साथ श्रीमद्भागवतको बाँचता है तो उसके करोड़ों जन्मके पातक नष्ट हो जाते हैं। इसमें

श्लोकार्धं श्लोकपादं वा पठेद्भागवतं च यः । नित्यं पुण्यमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः ॥३८॥
उक्तं भागवतं नित्यं कृतं च हरिचिन्तनम् । तुलसीपोषणं चैव धेनूनां सेवनं समम् ॥३९॥
अन्तकाले तु येनैव श्रूयते शुकशास्त्रवाक् । प्रीत्या तस्यैव वैकुण्ठं गोविन्दोऽपि प्रयच्छति ॥४०॥
हेमसिंहयुतं चैतद्वैष्णवाय ददाति च । कृष्णेन सह सायुज्यं स पुमाँल्लभते ध्रुवम् ॥४१॥
आजन्ममात्रमपि येन शठेन किञ्चिच्चित्तं विधाय शुकशास्त्रकथा न पीता ।
चाण्डालवच्च खरवद्वत तेन नीतं मिथ्या स्वजन्म जननीजनिदुःखभाजा ॥४२॥
जीवच्छवो निगदितः स तु पापकर्मा येन श्रुतं शुककथावचनं न किञ्चित् ।
धिक् तं नरं पशुसमं भुवि भाररूपमेवं वदन्ति दिवि देवसमाजमुख्याः ॥४३॥
दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्भागवतोद्भवा । कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते ॥४४॥
तेन योगनिधे धीमन् श्रोतव्या सा प्रयत्नतः । दिनानां नियमो नास्ति सर्वदा श्रवणं मतम् ॥४५॥
सत्येन ब्रह्मचर्येण सर्वदा श्रवणं मतम् । अशक्यत्वात्कलौ बोध्यो विशेषोऽत्र शुकाज्ञया ॥४६॥
मनोवृत्तिजयश्चैव नियमाचरणं तथा । दीक्षां कर्तुमशक्यत्वात्सप्ताहश्रवणं मतम् ॥४७॥
श्रद्धातः श्रवणे नित्यं माघे तावद्धि यत्फलम् । तत्फलं शुकदेवेन सप्ताहश्रवणे कृतम् ॥४८॥
मनसश्चाजयाद्रोगात्पुंसां चैवायुषः क्षयात् । कलेर्दोषबहुत्वाच्च सप्ताहश्रवणं मतम् ॥४९॥
यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना । अनायासेन तत्सर्वं सप्ताहश्रवणे लभेत् ॥५०॥
यज्ञाद्गर्जति सप्ताहः सप्ताहो गर्जति व्रतात् । तपसो गर्जति प्रोच्चैस्तीर्थान्नित्यं हि गर्जति ॥५१॥

कुछ भी संशय नहीं है ॥३७॥ जो प्राणी नित्य इसके आधे या चौथाई श्लोकको भी पढ़ता है तो उसे राजसूय और अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥३८॥ नित्य भागवतकी कथा कहना, भगवानका स्मरण और तुलसीकी आराधना तथा गौकी सेवा करना, इन सबका पुण्य समान है ॥३९॥ अन्त समयतक जो मनुष्य श्रीमद्भागवतकी कथा सुनता रहता है तो उसे स्वयं नारायण बड़े प्रेमसे वैकुण्ठ-धाम प्रदान करते हैं ॥४०॥ जो मनुष्य सुवर्णके सिंहासनपर श्रीमद्भागवतकी पुस्तक रखकर किसी वैष्णव भक्तको दान देता है, वह प्राणी साक्षात् कृष्णभगवानकी सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करता है ॥४१॥ जिस शठने जीवनमें एक बार भी प्रेमपूर्वक श्रीमद्भागवतरूपी अमृत नहीं पिया तो मानो उसने चाण्डाल और गधेके समान अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया और वह अपनी माताको कष्ट देनेके लिए ही संसारमें उत्पन्न हुआ ॥४२॥ स्वर्गके ब्रह्मादिक देवता कहते हैं कि जिस पापीने कभी श्रीशुकदेवकी कही हुई भागवतकी कथा नहीं सुनी तो वह जीता हुआ भी मुर्देके समान है। ऐसे पुरुषको धिक्कार है। वह पृथ्वीका बोझ बनकर अपना जीवन बिताता है ॥४३॥ वैसे तो श्रीमद्भागवतकी कथा दुर्लभ ही है। जब करोड़ों जन्मके उपार्जित पुण्य उदय होते हैं, तब यह कथा सुननेको मिलती है ॥४४॥ अतएव हे योगनिधे! हे धीमन्! प्रयत्न करके भी यह कथा सुननी चाहिए। इसके सुननेमें दिनोंका कोई नियम नहीं है। जब मनुष्य चाहे तब इसे सुन सकता है ॥४५॥ सत्य और ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके सदा यह कथा सुननी चाहिए। सत्य और ब्रह्मचर्य व्रत धारण करनेकी सामर्थ्यके अभाव होनेपर शुकदेवजीने विशेष व्यवस्था बतायी है ॥४६॥ केवल सात दिनके लिए मनकी वृत्तियोंको जीतना, इसके सभी नियमोंका पालन करना तथा दीक्षा ग्रहण करना संभव है, इसीसे सप्ताहश्रवणकी विधि कही गयी है ॥४७॥ श्रद्धापूर्वक पूरे माघ मासमें श्रीमद्भागवत सुननेसे जो फल प्राप्त होता है, वही फल सप्ताह सुननेसे भी मिलता है। ऐसा शुकदेवजीने कहा है ॥४८॥ चंचल मनका जीतना असंभव समझकर और प्राणियोंके विविध प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त होनेके कारण नित्य आयु छीजती रहनेसे एवं कलिके अगणित दोषोंको देखकर ही सप्ताह सुननेको कहा गया है ॥४९॥ जो फल तपस्या, योग तथा समाधिसे भी नहीं प्राप्त हो सकता, वह सप्ताह सुननेसे अनायास प्राप्त हो जाता है ॥५०॥ सप्ताह

योगाद्गर्जति सप्ताहो ध्यानाज्ज्ञानाच्च गर्जति । किं ब्रूमो गर्जनं तस्य रे रे गर्जति गर्जति ॥५२॥

शौनक उवाच

साश्चर्यमेतत्कथितं कथानकं ज्ञानादिधर्मान् विगणय्य साम्प्रतम् ।
निःश्रेयसे भागवतं पुराणं जातं कुतो योगविदादिसूचकम् ॥५३॥

सूत उवाच

यदा कृष्णो धरां त्यक्त्वा स्वपदं गन्तुमुद्यतः । एकादशं परिश्रुत्याप्युद्धवो वाक्यमब्रवीत् ॥५४॥

उद्धव उवाच

त्वं तु यास्यसि गोविन्द भक्तकार्यं विधाय च । मच्चित्ते महती चिन्ता तां श्रुत्वा सुखमावह ॥५५॥
आगतोऽयं कलिर्घोरो भविष्यन्ति पुनः खलाः । तत्सङ्गेनैव सन्तोऽपि गमिष्यन्त्युग्रतां यदा ॥५६॥
तदा भारवती भूमिर्गोरूपेयं कमाश्रयेत् । अन्यो न दृश्यते त्राता त्वत्तः कमललोचन ॥५७॥
अतः सत्सु दयां कृत्वा भक्तवत्सल मा व्रज । भक्तार्थं सगुणो जातो निराकारोऽपि चिन्मयः ॥५८॥
त्वद्वियोगेन ते भक्ताः कथं स्थास्यन्ति भूतले । निर्गुणोपासने कष्टमतः किञ्चिद्विचारय ॥५९॥
इत्युद्धववचः श्रुत्वा प्रभासेऽचिन्तयद्धरिः । भक्तावलम्बनार्थाय किं विधेयं मयेति च ॥६०॥
स्वकीयं यद्भवेत्तेजस्तच्च भागवतेऽदधात् । तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ॥६१॥
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः । सेवनाच्छ्रवणात्पाठाद्दर्शनात्पापनाशिनी ॥६२॥
सप्ताहश्रवणं तेन सर्वेभ्योऽप्यधिकं कृतम् । साधनानि तिरस्कृत्य कलौ धर्मोऽयमीरितः ॥६३॥

यज्ञसे प्रबल बनकर सिंहके समान गर्जता है, सप्ताह व्रतसे गर्जता है और सप्ताह सभी तीर्थोंसे गर्जता रहता है ॥५१॥ सप्ताह योगसे गर्जता है, यह ज्ञान तथा ध्यानसे भी गर्जता है। अरे कहाँ तक कहें, संसारके सभी सुकर्मोंसे श्रेष्ठ बनकर सप्ताह गर्जता रहता है ॥५२॥ इतनी कथा सुनकर शौनकने सूतजी-से कहा—हे महाप्रज्ञ ! आपने यह अद्भुत कथा सुनायी। यह सप्ताह क्या ज्ञान-ध्यान आदि धर्मोंको ठुकराकर सर्वोपरि बना बैठा है ? तब तो सब कल्याणोंका भण्डार और योगियोंको भी पथ-प्रदर्शक यह भागवत-पुराण आप हमें अवश्य सुनाइए ॥५३॥ सूतजी कहने लगे—हे शौनक ! जब कृष्ण भगवान इस पृथ्वीको त्यागकर अपने साकेतलोकको जाने लगे, तब एकादश स्कन्धमें कहे हुए ज्ञानको सुनकर उद्धवने श्रीकृष्णचन्द्रजीसे कहा—॥५४॥ हे गोविन्द ! तुम तो आज भक्तोंका काम पूरा करके अपने लोकको जा रहे हो, किन्तु मेरे मनमें एक बड़ी चिन्ता समायी हुई है। उसे सुनकर आप सुखी हों ॥५५॥ वह संशय यह है कि अब कलियुग आनेवाला है, जिसमें दुष्टोंकी बढ़ती होगी। उनके संगसे जब सज्जन लोग भी दुष्ट हो जायँगे ॥५६॥ तब असह्य भारसे दबकर यह गोरूपा पृथ्वी किसकी शरणमें जायगी ? हे कमललोचन ! आपके सिवा इसकी रक्षा करनेवाला और कोई भी तो नहीं दीखता ॥५७॥ अतएव सज्जनोंपर दया करके आप मत जाइए। हे भक्तवत्सल ! आप चिन्मय और निराकार होते हुए भी साकार होकर आये हैं ॥५८॥ आपके वियोगजनित दुःखको सहन करते हुए आपके भक्त भला संसारमें कैसे रहेंगे। वे बेचारे आपके इस सगुण स्वरूपको त्यागकर निर्गुण स्वरूपकी आराधना करनेमें कष्टका अनुभव करेंगे। इस बातपर भी आप विचार करें ॥५९॥ उद्धवकी यह बात सुनकर प्रभासक्षेत्रमें बैठे हुए भगवान सोचने लगे कि अपने भक्तोंकी सहायताके लिए मैं क्या करूँ ॥६०॥ ऐसा सोचकर उन्होंने अपना समस्त तेज श्रीमद्भागवतमें स्थापित कर दिया और प्रच्छन्नरूपसे श्रीमद्भागवतरूपी महासमुद्रमें प्रविष्ट हो गये ॥६१॥ इसीसे भागवत साक्षात् भगवानकी प्रत्यक्ष वर्तमान वाङ्मयी मूर्ति माना गया है। इसकी सेवा, इसका श्रवण और इसका दर्शन सभी पापोंको नष्ट कर देता है ॥६२॥ यही कारण है कि कलियुगमें योग, यज्ञ आदि और-और साधनोंको अलग करके सप्ताह-श्रवणको ही प्रधानता दी गयी है और इस युगमें यही सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया

दुःखदारिद्र्यदौर्भाग्यपापप्रक्षालनाय च । कामक्रोधजयार्थं हि कलौ धर्मोऽयमीरितः ॥६४॥
अन्यथा वैष्णवी माया देवैरपि सुदुस्त्यजा । कथं त्याज्या भवेत्पुम्भिः सप्ताहोऽतः प्रकीर्तितः ॥६५॥

सूत उवाच

एवं नगाहश्रवणोरुधर्मे प्रकाश्यमाने ऋषिभिः सभायाम् ।
आश्चर्यमेकं समभूत्तदानीं तदुच्यते संशृणु शौनक त्वम् ॥६६॥
भक्तिः सुतौ तौ तरुणौ गृहीत्वा प्रेमैकरूपा सहसाऽऽविरासीत् ।
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे नाथेति नामानि मुहुर्वदन्ती ॥६७॥
तां चागतां भागवतार्थभूषां सुचारुवेषां ददृशुः सदस्याः ।
कथं प्रविष्टा कथमागतेयं मध्ये मुनीनामिति तर्कयन्तः ॥६८॥
ऊचुः कुमारा वचनं तदानीं कथार्थतो निष्पतिताधुनेयम् ।
एवं गिरः सा ससुता निशम्य सनत्कुमारं निजगाद नम्रा ॥६९॥

भक्तिरुवाच

भवद्भिरद्यैव कृतास्मि पुष्टा कलिप्रणष्टापि कथारसेन ।
क्वाहं तु तिष्ठाम्यधुना ब्रुवन्तु ब्राह्मचा इदं तां गिरमूचिरे ते ॥७०॥
भक्तेषु गोविन्दसरूपकर्त्री प्रेमैकधर्त्री भवरोगहन्त्री ।
सा त्वं च तिष्ठस्व सुधैर्यसंश्रया निरन्तरं वैष्णवमानसानि ॥७१॥
ततोऽपि दोषाः कलिजा इमे त्वां द्रष्टुं न शक्ताः प्रभवोऽपि लोके ।
एवं तदाज्ञावसरेऽपि भक्तिस्तदा निषण्णा हरिदासचित्ते ॥७२॥
सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेषा ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ॥७३॥

है ॥६३॥ दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य आदि पापोंको धोने और काम तथा क्रोधको जीतनेके लिए कलियुगमें एक यही धर्म कहा गया है ॥६४॥ भगवानकी वैष्णवी मायाको तो देवता लोग भी नहीं त्याग सकते, तब संसारके पामरजन भला किस तरह उससे छुटकारा पा सकते हैं। यही सब सोचकर सप्ताहश्रवणका विधान बनाया गया है ॥६५॥ सूतजी बोले—इस तरह ऋषियोंकी उस बड़ी सभामें जब शुकदेवके कहे हुए सप्ताहश्रवणरूपी धर्मका प्रतिपादन किया गया तो उस समय एक विस्मयजनक घटना घट गयी। उसे तुम ध्यान देकर सुनो, मैं कहता हूँ ॥६६॥ सप्ताह-विधान समाप्त होते ही वह प्रेमरूपिणी भक्ति तरुणावस्थाको प्राप्त अपने दोनों पुत्रों ज्ञान और वैराग्यको साथ लिये श्रीकृष्ण, गोविन्द, हरे, मुरारे, नाथ आदि नामोंका बार-बार उच्चारण करती हुई वहाँ जा पहुँची ॥६७॥ सुन्दर वेष धारण किये और भागवतके अर्थोंकी भूषणस्वरूपा भक्तिको वहाँके सभी सदस्योंने एक साथ देखा। उसे देखकर सब लोगोंको विस्मय हुआ कि यह यहाँ किस तरह हम लोगोंके बीचमें आगयी ॥६८॥ सनकादि मुनियोंने कहा—श्रीमद्भागवतकी कथाका अर्थ सुनकर ही इन तीनोंको चेतना आ गयी है। इस प्रकार कुमारोंकी उक्ति सुनकर अपने पुत्रोंके साथ आयी हुई भक्तिने नम्र होकर कहा—॥६९॥ यद्यपि कलिने हमको नष्ट ही कर डाला था, फिर भी आपके कथारसने हमें परिपुष्ट कर दिया है। अब आप लोग यह बताइए कि हम कहाँ रहें? यह सुनकर सनकादिकोंने कहा—॥७०॥ ओ भगवानकी प्रत्यक्ष मूर्ति और एकमात्र प्रभुप्रेमको धारण करके भवरोगको हरनेवाली भक्ति! तू धैर्य धारण करनेवाले भगवद्भक्तोंके हृदयमें सदा निवास कर ॥७१॥ ऐसा करनेसे कलिके दोष तुझे नहीं सता पायेंगे। सनकादिकोंकी इस प्रकार आज्ञा पाते ही भक्ति भक्तोंके पुनीत हृदयोंमें जा बैठी ॥७२॥ समस्त संसारके वे निर्धन भी

३

ब्रूमोऽद्य ते किमधिकं महिमानमेवं ब्रह्मात्मकस्य भुवि भागवताभिधस्य ।
यत्संश्रयान्निगदिते लभते सुवक्ता श्रोतापि कृष्णसमतामलमन्यधर्मैः ॥७४॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये भक्तिकष्टनिवर्तनं तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

सूत उवाच

अथ वैष्णवचित्तेषु दृष्ट्वा भक्तिमलौकिकीम् । निजलोकं परित्यज्य भगवान् भक्तवत्सलः ॥ १ ॥
वनमाली घनश्यामः पीतवासा मनोहरः । काञ्चीकलापरुचिरोल्लसन्मुकुटकुण्डलः ॥ २ ॥
त्रिभङ्गललितश्चारुकौस्तुभेन विराजितः । कोटिमन्मथलावण्यो हरिचन्दनचर्चितः ॥ ३ ॥
परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः । आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च ॥ ४ ॥
वैकुण्ठवासिनो ये च वैष्णवा उद्धवादयः । तत्कथाश्रवणार्थं ते गूढरूपेण संस्थिताः ॥ ५ ॥
तदा जयजयारावो रसपुष्टिरलौकिकी । चूर्णप्रसूनवृष्टिश्च मुहुः शङ्खरवोऽप्यभूत् ॥ ६ ॥
तत्सभासंस्थितानां च देहगेहात्मविस्मृतिः । दृष्ट्वा च तन्मयावस्थां नारदो वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

अलौकिकोऽयं महिमा मुनीश्वराः सप्ताहजन्योऽद्य विलोकितो मया ।
मूढाः शठा ये पशुपक्षिणोऽत्र सर्वेऽपि निष्पापतमा भवन्ति ॥ ८ ॥
अतो नृलोके ननु नास्ति किञ्चिच्चित्तस्य शोधाय कलौ पवित्रम् ।
अघौघविध्वंसकरं तथैव कथासमानं भुवि नास्ति चान्यत् ॥ ९ ॥
के के विशुद्ध्यन्ति वदन्तु मह्यं सप्ताहयज्ञेन कथामयेन ।
कृपालुभिर्लोकहितं विचार्य प्रकाशितः कोऽपि नवीनमार्गः ॥१०॥

धन्य हैं, जिनके हृदयमें नारायणकी भक्ति विराजमान रहती है। क्योंकि भगवान भी अपने भक्तोंकी भक्तिमयी डोरमें बँध जाते और अपना साकेत लोक त्यागकर उनके हृदयमें आ विराजते हैं ॥७३॥ इस ब्रह्मस्वरूप श्रीमद्भागवतकी महिमाको हम कहाँ तक कहें। इस दिव्य कथाको कहनेवाला और श्रोता दोनों ही श्रीकृष्णचन्द्रके समान दिव्यरूप हो जाते हैं। इसके सामने और सब धर्म तुच्छ हैं ॥७४। इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखंडे श्रीभागवतमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

सूतजी कहते हैं कि अपने भक्तोंके हृदयमें अलौकिक भक्ति देख और अपना लोक त्यागकर वे वनमाली, घनश्याम और पीत-वसनधारी भगवान मनोहरवेषसे सुसज्जित हो, कमरमें क्षुद्रघण्टिका बाँधे, सुन्दर मुकुट तथा कुण्डल धारण किये, त्रिभंगी छवि धारे, मनोहर कौस्तुभसे सुशोभित होकर करोड़ों कामदेवको अपनी शोभासे परास्त करते हुए, सारे शरीरमें श्रीखंड चन्दन लगाये, परमानन्द चिन्मूर्ति, मुरलीधर नारायण भी अपने भक्तोंके निर्मल हृदयोंमें आकर विराजमान हो गये ॥१-४॥ वैकुण्ठ धाममें रहनेवाले उद्धव आदि भक्त भी प्रच्छन्नरूपसे भागवतकी दिव्य कथाको सुननेके निमित्त वहाँ आ उपस्थित हुए थे ॥ ५ ॥ उस समय बार-बार चारों ओरसे भक्तिरसको पुष्ट करनेवाली गंभीर ध्वनि सुनाई दे रही थी। आकाशसे कुमकुम और पुष्पोंकी वृष्टि हो रही थी। शंख और भेरीका शब्द सुनाई पड़ रहा था ॥ ६ ॥ उस सभामें बैठे सभी लोग अपनी देह और गेह (घर) की भी सुधि भूले बैठे थे। इस प्रकारकी तन्मयावस्था देखकर नारदजी बोले—॥ ७ ॥ हे मुनीश्वरों ! आज मैंने इस सप्ताह-महायज्ञकी अलौकिक महिमा देखी। जो मूढ़ तथा शठ प्राणी थे वे—और कहाँ तक कहें—यहाँके पशु-पक्षी भी मुझे परम पुनीत होते दीख रहे हैं ॥ ८ ॥ अतएव मेरा यह विश्वास है कि मनःशुद्धिके लिए कलियुगमें इससे पवित्र और कोई भी कार्य नहीं है। पापोंको नष्ट करनेके लिए इस कथाके समान और कोई कथा नहीं

कुमारा ऊचुः

ये मानवाः पापकृतस्तु सर्वदा सदा दुराचाररता विमार्गगाः ।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥११॥
सत्येन हीनाः पितृमातृदूषकास्तृष्णाकुलाश्चाश्रमधर्मवर्जिताः ।
ये दाम्भिका मत्सरिणोऽपि हिंसकाः सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१२॥
पञ्चोग्रतापच्छलछद्मकारिणः क्रूराः पिशाचा इव निर्दयाश्च ये ।
ब्रह्मस्वपुष्टा व्यभिचारकारिणः सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१३॥
कायेन वाचा मनसापि पातकं नित्यं प्रकुर्वन्ति शठा हठेन ये ।
परस्वपुष्टा मलिना दुराशयाः सप्ताहयज्ञेन कलौ पुनन्ति ते ॥१४॥

अत्र ते कीर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् । यस्य श्रवणमात्रेण पापहानिः प्रजायते ॥१५॥
तुङ्गभद्रातटे पूर्वमभूत्पत्तनमुत्तमम् । यत्र वर्णाः स्वधर्मेण सत्यसत्कर्मतत्पराः ॥१६॥
आत्मदेवः पुरे तस्मिन् सर्ववेदविशारदः । श्रौतस्मार्तेषु निष्णातो द्वितीय इव भास्करः ॥१७॥
भिक्षुको वित्तवाँल्लोके तत्प्रिया धुन्धुली स्मृता । स्ववाक्यस्थापिका नित्यं सुंदरी सुकुलोद्भवा ॥१८॥
लोकवार्तारता क्रूरा प्रायशो बहुजल्पिका । शूरा च गृहकृत्येषु कृपणा कलहप्रिया ॥१९॥
एवं निवसतोः प्रेम्णा दम्पत्यो रममाणयोः । अर्थाः कामास्तयो राजन्न सुखाय गृहादिकम् ॥२०॥
पश्चाद्धर्माः समारब्धास्ताभ्यां सन्तानहेतवे । गोभूहिरण्यवासांसि दीनेभ्यो यच्छतः सदा ॥२१॥
धनार्धं धर्ममार्गेण ताभ्यां नीतं तथापि च । न पुत्रो नापि वा पुत्री ततश्चिन्तातुरो भृशम् ॥२२॥

है ॥ ९ ॥ अब आपलोग कृपा करके मुझे यह बताइए कि इस कथामय सप्ताहयज्ञसे कौन-कौन प्राणी शुद्ध होते हैं । आप लोग कृपालु हैं । अतएव लोकोपकारकी भावनाको हृदयमें रखकर आप महात्माओं-ने और कोई नवीन मार्ग भी निर्धारित किया है ? ॥१०॥ सनकादि मुनियोंने कहा—कलियुगके पापी, दुराचारी, कुमार्गगामी, क्रोधी, कुटिल और कामी मनुष्य भी सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥११॥ मिथ्याभाषी, पिता-माताको कष्ट देनेवाले, लालची, आश्रमधर्मसे पराङ्मुख, पाखण्डी, इर्ष्यालु और सिंहक जीव भी इस सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥१२॥ जो कपटी संसारको दिखानेके लिए पंचाग्नि तापते हैं ऐसे तथा पिशाचके समान निर्दयी प्राणी ब्राह्मणोंका धन खानेवाले, पापी-व्यभिचारी भी इस सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥१३॥ जो शठ शरीर, मन तथा वचन द्वारा नित्य पाप ही किया करते हैं, ऐसे परधनोपजीवी और अपने मलिन मनमें विविध प्रकारकी दूषित भावनाओंको धारण करनेवाले अधमजन भी इस सप्ताहयज्ञसे पवित्र हो जाते हैं ॥१४॥ इस विषयमें मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा । जिसे सुननेसे प्राणियोंके पाप छूट जाते हैं ॥१५॥ तुङ्गभद्रा नदीके तटपर एक उत्तम नगर बसा हुआ था । उसमें रहनेवाले सभी प्राणी वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेवाले और सदाचारी थे ॥१६॥ वेदोंके ज्ञाता, श्रौत तथा स्मार्त कर्मोंमें निपुण, दूसरे सूर्यके समान तेजस्वी आत्मदेव नामके एक ब्राह्मण भी उसी नगरमें निवास करते थे ॥१७॥ वे बेचारे भिक्षावृत्तिसे अपनी जीविका चलाते थे । उनकी स्त्रीका नाम था धुन्धुली । धुन्धुली अच्छे कुलमें उत्पन्न, बड़ी सुन्दरी किन्तु हठीली और और हर तरह अपनी बात रखनेवाली स्त्री थी ॥१८॥ वह सदा व्यर्थके संसारी झगड़ोंमें लगी रहनेवाली क्रूर नारी थी । वह बातें बहुत ज्यादा करती और घर-गृहस्थीका संभाल भी अच्छी तरह करती थी । किन्तु लड़ाई-झगड़ा उसे विशेष पसन्द था ॥१९॥ बहुत समय तक वे दोनों प्रेमपूर्वक जीवन-यापन करते रहे । उनके पास जो कुछ धन था और उनकी जो कामनायें थीं, वे उन्हें सुख न देकर दुःख ही दे रही थीं । क्योंकि वे सन्तानहीन थे ॥२०॥ कुछ दिन बाद उन्होंने धर्मकार्य करना आरम्भ किया । अब वे गरीबोंको गौ, पृथ्वी, सुवर्ण तथा वस्त्रदान देने लगे ॥२१॥ ऐसा करते हुए उन्होंने अपने घरकी

एकदा स द्विजो दुःखाद् गृहं त्यक्त्वा वनं गतः। मध्याह्ने तृषितो जातस्तडागं समुपेयिवान् ॥२३॥
पीत्वा जलं निषण्णस्तु प्रजादुःखेन कर्षितः। मुहूर्तादपि तत्रैव संन्यासी कश्चिदागतः ॥२४॥
दृष्ट्वा पीतजलं तं तु विप्रो यातस्तदन्तिकम्। नत्वा च पादयोस्तस्य निःश्वसन् संस्थितः पुरः ॥२५॥

यतिरुवाच

कथं रोदिषि विप्र त्वं का ते चिन्ता बलीयसी। वद त्वं सत्वरं मह्यं स्वस्य दुःखस्य कारणम् ॥२६॥

ब्राह्मण उवाच

किं ब्रवीमि ऋषे दुःखं पूर्वपापेन सञ्चितम्। मदीयाः पूर्वजास्तोयं कवोष्णमुपभुञ्जते ॥२७॥
मद्दत्तं नैव गृह्णन्ति प्रीत्या देवा द्विजातयः। प्रजादुःखेन शून्योऽहं प्राणांस्त्यक्तुमिहागतः ॥२८॥
धिग्जीवितं प्रजाहीनं धिग्गृहं च प्रजां विना। धिग्धनं चानपत्यस्य धिक्कुलं सन्ततिं विना ॥२९॥
पाल्यते या मया धेनुः सा वन्ध्या सर्वथा भवेत्। यो मया रोपितो वृक्षः सोऽपि वन्ध्यत्वमाश्रयेत् ॥३०॥
यत्फलं मद्गृहायातं तच्च शीघ्रं विनश्यति। निर्भाग्यस्यानपत्यस्य किमतो जीवितेन मे ॥३१॥
इत्युक्त्वा स रुरोदोच्चैस्तत्पार्श्वं दुःखपीडितः। तदा तस्य यतेश्चित्ते करुणाभूद्गरीयसी ॥३२॥
तद्भालाक्षरमालां च वाचयामास योगवान्। सर्वं ज्ञात्वा यतिः पश्चाद्विप्रमूचे सविस्तरम् ॥३३॥

यतिरुवाच

मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं बलिष्ठा कर्मणो गतिः। विवेकं तु समासाद्य त्यज संसारवासनाम् ॥३४॥
शृणु विप्र मया तेऽद्य प्रारब्धं तु विलोकितम्। सप्तजन्मावधि तव पुत्रो नैव च नैव च ॥३५॥

आधी सम्पत्ति बाँट दी। फिर भी बहुत दिनों तक न उनके कोई पुत्र हुआ और न कन्या ही हुई। इससे उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ॥२२॥ अन्तमें वह ब्राह्मण मनमें दुखी होकर जंगलमें चला गया। दोपहरका समय हो गया था। अतएव पानीके लिए वह एक सरोवरके समीप जा पहुँचा ॥२३॥ पानी पीकर वह सन्तानके अभाव-जनित क्लेशको सोचता हुआ एक स्थानपर बैठ गया। थोड़ी ही देर बाद एक संन्यासी घूमता-फिरता वहाँ आ पहुँचा ॥२४॥ जब संन्यासी भी पानी पीकर एक स्थानपर बैठ गया तो ये ब्राह्मणदेवता धीरेसे उसके पास गये और उसके चरणोंका स्पर्श करते रोते हुए सामने बैठ गये ॥२५॥ संन्यासीने पूछा—विप्रदेव ! तुम रो क्यों रहे हो ? तुम्हें कौन-सी चिन्ता व्यग्र किये हुए है ? तुम तुरन्त मुझे अपने दुःखका कारण कह सुनाओ ॥२६॥ ब्राह्मणने कहा—क्या बताऊँ भगवान् ! यह अपने पूर्वजन्मके किये हुए पापोंका फल है। मेरे पितर गरम श्वास लेकर गरम आँसुओंका जल पीते हैं ॥२७॥ देवता और ब्राह्मण मेरे दिये हुए दानको प्रेम-पूर्वक नहीं ग्रहण करते। महाराज ! मैं सन्तानके अभावजनित दुःखको सोचकर संसारसे उदासीन हो गया हूँ और प्राण त्यागनेके लिए यहाँ आया हूँ ॥२८॥ मेरा विश्वास है कि सन्ततिहीन होकर जीना व्यर्थ है, सन्तान-हीनको धिक्कार है और सन्तान-हीन कुलको भी अनेकशः धिक्कार है ॥२९॥ मेरी तो यह दशा है कि यदि मैं गैया पालता हूँ तो वह भी मेरे घर पहुँचकर बाँझ हो जाती है। मैं अपने हाथसे जो वृक्ष लगाता हूँ, उसमें फल नहीं लगते ॥३०॥ मैं फूल अपने घर लाता हूँ, वह जल्द खराब हो जाता है। इस प्रकार मुझ अभागे और सन्तान-हीनका जीना व्यर्थ है ॥३१॥ ऐसा कहकर मारे दुःखके वह ब्राह्मण बड़े जोरोंसे रोने लगा। उसकी ऐसी करुणा-जनक अवस्था देखकर संन्यासीको बड़ी दया आयी ॥३२॥ उसने अपनी योग-दृष्टिसे ब्राह्मणके भाग्यलेखको पढ़ा और सब वृत्तान्त जानकर वह विस्तारके साथ कहने लगा। वह बोला—हे ब्राह्मणदेवता ! तुम इस अज्ञानको छोड़ो। कर्मकी गति बलवती होती है। अपने हृदयमें विवेकको स्थान देकर इन संसारकी वासनाओंको त्याग दो ॥३३॥३४॥ सुनो विप्रदेव ! अभी मैंने तुम्हारे प्रारब्धकी रेखा देखी है। सात जन्म तक तुम्हें पुत्रका मुख देखनेको नहीं मिलेगा ॥३५॥ और

सन्ततेः सगरो दुःखमवापाङ्गः पुरा तथा। रे मुञ्चाद्य कुटुम्बाशां संन्यासे सर्वथा सुखम् ॥३६॥

ब्राह्मण उवाच

विवेकेन भवेत् किं मे पुत्रं देहि बलादपि। नो चेत्त्यजाम्यहं प्राणांस्त्वदग्रे शोकमूर्च्छितः ॥३७॥
पुत्रादिसुखहीनोऽयं संन्यासः शुष्क एव हि। गृहस्थः सरसो लोके पुत्रपौत्रसमन्वितः ॥३८॥
इति विप्राग्रहं दृष्ट्वा प्राब्रवीत् स तपोधनः। चित्रकेतुर्गतः कष्टं विधिलेखविमार्जनात् ॥३९॥
न यास्यसि सुखं पुत्राद्यथा दैवहतोद्यमः। अतो हठेन युक्तोऽसि ह्यर्थिनं किं वदाम्यहम् ॥४०॥
तस्याग्रहं समालोक्य फलमेकं स दत्तवान्। इदं भक्षय पत्न्या त्वं ततः पुत्रो भविष्यति ॥४१॥
सत्यं शौचं दया दानमेकभक्तं तु भोजनम्। वर्षावधि स्त्रिया कार्यं तेन पुत्रोऽतिनिर्मलः ॥४२॥
एवमुक्त्वा ययौ योगी विप्रस्तु गृहमागतः। पत्न्याः पाणौ फलं दत्त्वा स्वयं यातस्तु कुत्रचित् ॥४३॥
तरुणी कुटिला तस्य सख्यग्रे च रुरोद ह। अहो चिन्ता ममोत्पन्ना फलं चाहं न भक्षये ॥४४॥
फलभक्षेण गर्भः स्याद्गर्भेणोदरवृद्धिता। स्वल्पभक्षं ततोऽशक्तिर्गृहकार्यं कथं भवेत् ॥४५॥
दैवाद्धाटी व्रजेद्ग्रामे पलायेद्गर्भिणी कथम्। शुकवन्निवसेद्गर्भस्तं कुक्षेः कथमुत्सृजेत् ॥४६॥
तिर्यक् चेदागतो गर्भस्तदा मे मरणं भवेत्। प्रसूतौ दारुणं दुःखं सुकुमारी कथं सहे ॥४७॥
मन्दायां मयि सर्वस्वं ननान्दा संहरेत्तदा। सत्यशौचादिनियमो दुराराध्यः स दृश्यते ॥४८॥
लालने पालने दुःखं प्रसूतायाश्च वर्तते। वन्ध्या वा विधवा नारी सुखिनी चेति मे मतिः ॥४९॥

फिर संतानके लिए दुःख करनेकी आवश्यकता ही क्या है। सन्ततिसे महाराज सगरको कितने कष्ट झेलने पड़े थे। अतएव अब तुम कुटुम्बकी आशा छोड़कर त्यागवृत्ति धारण करो। त्यागमें सब प्रकारसे सुख ही सुख है ॥३६॥ इसपर ब्राह्मणने फिर कहा—मुझे विवेककी आवश्यकता नहीं है। आप जैसे बने, प्रयत्न करके मुझे एक पुत्र दीजिये। नहीं तो शोकसे मूर्छित होकर मैं आपके सामने ही अपने प्राण त्याग दूँगा ॥३७॥ पुत्रादिके सुखसे हीन यह संन्यास (त्याग) मार्ग भी सूखा ही रहता है और पुत्र-पौत्र आदिसे परिपूर्ण गृहस्थी सब तरहसे सरस रहती है ॥३८॥ इस प्रकार ब्राह्मणका आग्रह देखकर संन्यासीने कहा—देखो, विधाताके लेखको मेटनेसे महाराज चित्रकेतुको कितना कष्ट सहना पड़ा था। ॥३९॥ जब विधाता ही वाम है, तब तुम पुत्र पाकर भी सुखी नहीं हो सकोगे। लेकिन इस समय तुम स्वार्थसे बावले होकर हठ कर रहे हो, तब मैं क्या कहूँ ॥४०॥ अन्तमें ब्राह्मणका अतिशय आग्रह देखकर संन्यासीने उसको एक फल देते हुए कहा—इसे ले जाकर तुम्हारी पत्नी और तुम खालो। इससे तुम्हें एक अति निर्मल पुत्र प्राप्त होगा ॥४१॥ हाँ, अपनी पत्नीको समझा देना कि वह एक वर्ष तक सच बोले, सदा पवित्र रहे, गरीबोंपर दया करे, कुछ दान देती रहे, दिन-रातमें केवल एकबार खाय, इससे उसे अति सुन्दर पुत्र प्राप्त होगा ॥४२॥ ऐसा कहकर वह योगी एक ओर चला गया और ब्राह्मण देवता अपने घर आपस चले आये। वह फल उन्होंने पत्नीको दे दिया और स्वयं कहीं चले गये॥४३॥ उनकी कुटिल पत्नी वह फल लेकर अपनी सखीसे रोती हुई कहने लगी—हे सखी! मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मैं तो यह फल नहीं खाऊँगी ॥४४॥ यह फल खानेसे गर्भ रह जायगा। गर्भ रहनेसे उदर्य अग्नि मन्द पड़ जायगी, जिससे भोजन कम होगा। भोजन कम होनेसे कमजोरी आ जायगी। तब भला घरका काम कैसे होगा ॥४५॥ संयोगवश यदि गाँवमें आग लग गयी तो उस गर्भके बोझसे दबी हुई मैं भागकर कैसे अपने प्राण बचाऊँगी। गर्भ भी सुग्गेकी तरह मेरे पेटमें बैठा रहेगा, वह न मालूम कैसे बाहर निकलेगा ॥४६॥ बाहर निकलते समय यदि तिरछा हो गया तब तो मैं मरही जाऊँगी और सुनती हूँ कि लड़का होते समय स्त्रीको बड़ा दुःख होता है। सो मेरे जैसी सुकुमार स्त्री उस दुःखको क्योंकर सहेगी ॥४७॥ यदि मैं सौरीमें जा बैठूंगी तो इधर मेरी ननद मेरा सर्वस्व हड़प लेगी। और फिर संन्यासीका बताया सत्य-शौच आदि नियम भी तो बड़ी कठिनाईसे निभेगा ॥४८॥ मान लो, किसी तरह लड़का हो गया तो उसका लालन-पालन करना भी तो असाधारण क्लेशका

एवं कुतर्कयोगेन तत्फलं नैव भक्षितम् । पत्या पृष्टं फलं भुक्तं भुक्तं चेति तयेरितम् ॥५०॥
एकदा भगिनी तस्यास्तद्गृहं स्वेच्छयाऽऽगता । तदग्रे कथितं सर्वं चिन्तेयं महती हि मे ॥५१॥
दुर्बला तेन दुःखेन ह्यनुजे करवाणि किम् । साब्रवीन्मम गर्भोऽस्ति तं दास्यामि प्रसूतितः ॥५२॥
तावत्कालं सगर्भेव गुप्ता तिष्ठ गृहे सुखम् । वित्तं त्वं मत्पतेर्यच्छ स ते दास्यति बालकम् ॥५३॥
षाण्मासिको मृतो बाल इति लोको वदिष्यति । तं बालं पोषयिष्यामि नित्यमागत्य ते गृहे ॥५४॥
फलमर्पय धेन्वै त्वं परीक्षार्थं तु साम्प्रतम् । तत्तदाचरितं सर्वं तथैव स्त्रीस्वभावतः ॥५५॥
अथ कालेन सा नारी प्रसूता बालकं तदा । आनीय जनको बालं रहस्ये धुन्धुलीं ददौ ॥५६॥
तया च कथितं भर्त्रे प्रसूतः सुखमर्भकः । लोकस्य सुखमुत्पन्नमात्मदेवप्रजोदयात् ॥५७॥
ददौ दानं द्विजातिभ्यो जातकर्म विधाय च । गीतवादित्रघोषोऽभूत्तद्द्वारे मङ्गलं बहु ॥५८॥
भर्तुरग्रेऽब्रवीद्वाक्यं स्तन्यं नास्ति कुचे मम । अन्यस्तन्येन निर्दुग्धा कथं पुष्णामि बालकम् ॥५९॥
मत्स्वसायाश्च प्रसूतायां मृतो बालस्तु प्रवर्तते । तामाकार्य गृहे रक्ष सा तेऽर्भं पोषयिष्यति ॥६०॥
पतिना तत्कृतं सर्वं पुत्ररक्षणहेतवे । पुत्रस्य धुन्धुकारीति नाम मात्रा प्रतिष्ठितम् ॥६१॥
त्रिमासे निर्गते चाथ सा धेनुः सुषुवेऽर्भकम् । सर्वाङ्गसुन्दरं दिव्यं निर्मलं कनकप्रभम् ॥६२॥
दृष्ट्वा प्रसन्नो विप्रस्तु संस्कारान् स्वयमादधे । मत्वाऽऽश्चर्यं जनाः सर्वे दिदृक्षार्थं समागताः ॥६३॥

काम है। मेरा तो विश्वास है कि बाँझ या विधवा स्त्री सब तरहसे सुखी रहती है ।।४९।। ऐसीही बहुतेरी कुतर्कनायें कर-करके उसने वह फल नहीं खाया और जब पतिने पूछा तो कह दिया 'हाँ, मैंने फल खा लिया' ।।५०।। कुछ दिन बाद एक रोज उसकी बहिन उसके घर आयी। उसने उससे अपनी चिन्ताकी सारी बातें कह दीं और कहा—।।५१।। बहन ! मैं इस दुःखसे बड़ी दुखी हूँ कि अभी तो मैंने झूठ-मूठ अपने पतिसे कह दिया है कि मैंने फल खा लिया और गर्भ धारण हो गया है। लेकिन जब समय पूरा हो जायगा, तब क्या जवाब दूँगी। इसी दुःखसे मैं निर्बल होती जा रही हूँ। अब तुम्हीं बताओ कि मैं क्या करूँ ? बहन बोली—तुम घबड़ाओ नहीं, मेरा भी महीना चढ़ा हुआ है। मेरे जो लड़का होगा, उसे मैं तुम्हें दे दूँगी ।।५२।। तब तक तुम गर्भवती बनकर आनन्दसे अपने घर बैठी रहो। समय आनेपर मेरे पतिको तुम कुछ धन दे देना। वह तुम्हें अपना बालक दे देगा ।।५३।। वह और लोगोंको यह कहकर समझा देगा कि गर्भ छ महीनेका होकर गिर गया। जो बच्चा तुम्हें मैं दूँगी, रोज तुम्हारे घर आकर उसे पाल भी दूँगी ।।५४।। तब तक तुम वह फल गैयाको खिला दो। देखें तो वह गाभिन होती है या नहीं। बहिनके कथनानुसार धुन्धुलीने वह फल गैयाको खिला दिया। अबसे उसकी बहन जैसा कहती, वह वैसा ही करती थी ।।५५।। समय आनेपर धुन्धुलीकी बहिनके पुत्र हुआ और चुपकेसे उसका पति वह बालक धुन्धुलीको दे गया ।।५६।। थोड़ी देर बाद धुन्धुलीने अपने पतिको घरमें बुलाकर कहा कि बड़े आनन्दके साथ मेरे पुत्र उत्पन्न हो गया। जिस किसीने भी आत्मदेवके घर पुत्रकी उत्पत्तिका समाचार सुना, वह गद्गद हो गया ।।५७।। आत्मदेवने बड़े हौसलेके साथ बालकका जातकर्म-संस्कार किया और ब्राह्मणोंको बहुत-कुछ दान दिया। उनके दरवाजेपर तरह-तरहके बाजे बजने लगे और पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ आकर सोहर गाने लगीं ।।५८।। कुछ क्षण बाद धुन्धुलीने अपने पतिसे कहा कि मेरे स्तनसे दूध नहीं उतरता। दूसरेके दूधसे क्योंकर काम चलेगा—बच्चा कैसे पलेगा ? ।।५९।। सो एक काम करो, मेरी बहनके कुछ ही दिन पहले एक लड़का होकर मर गया है। तुम जाकर उसे बुला लाओ। वह तुम्हारे बच्चेको मजेमें पाल लेगी ।।६०।। पुत्रकी रक्षाके निमित्त उन्होंने वैसा ही किया। धुन्धुलीने अपने बेटेका धुन्धुकारी नाम रक्खा ।।६१।। इसके तीन महीने बाद उस गौसे भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक सब अंगोंसे सुन्दर, दिव्य, निर्मल और स्वर्ण-सदृश तेजस्वी था ।।६२।। आत्मदेव उस बालकको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने हाथों उसका

भाग्योदयोऽधुना जात आत्मदेवस्य पश्यत । धेन्वा बालः प्रसूतस्तु देवरूपीति कौतुकम् ॥६४॥
न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापि विधियोगतः । गोकर्णं तं सुतं दृष्ट्वा गोकर्णं नाम चाकरोत् ॥६५॥
कियत्कालेन तौ जातौ तरुणौ तनयावुभौ । गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी धुन्धुकारी महाखलः ॥६६॥
स्नानशौचक्रियाहीनो दुर्भक्षी क्रोधवर्धितः । दुष्परिग्रहहर्ता च शवहस्तेन भोजनम् ॥६७॥
चौरः सर्वजनद्वेषी परवेश्मप्रदीपकः । लालनायार्भकान् धृत्वा सद्यः कूपे न्यपातयत् ॥६८॥
हिंसकः शस्त्रधारी च दीनान्धानां प्रपीडकः । चाण्डालाभिरतो नित्यं पाशहस्तः श्वसङ्गतः ॥६९॥
तेन वेश्याकुसङ्गेन पैत्र्यं वित्तं तु नाशितम् । एकदा पितरौ ताड्य पात्राणि स्वयमाहरत् ॥७०॥
तत्पिता कृपणः प्रोच्चैर्धनहीनो रुरोद ह । वन्ध्यत्वं तु समीचीनं कुपुत्रो दुःखदायकः ॥७१॥
क्व तिष्ठामि क्व गच्छामि को मे दुःखं व्यपोहयेत् । प्राणांस्त्यजामि दुःखेन हा कष्टं मम संस्थितम् ॥७२॥
तदानीं तु समागत्य गोकर्णो ज्ञानसंयुतः । बोधयामास जनकं वैराग्यं परिदर्शयन् ॥७३॥
असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः । सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाञ्ज्वलतेऽनिशम् ॥७४॥
न चेन्द्रस्य सुखं किञ्चिन्न सुखं चक्रवर्तिनः । सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥७५॥
मुञ्चाज्ञानं प्रजारूपं मोहतो नरके गतिः । निपतिष्यति देहोऽयं सर्वं त्यक्त्वा वनं व्रज ॥७६॥

संस्कार किया । नगरके लोगोंने जब गौके गर्भसे मनुष्य-बालककी उत्पत्तिका समाचार सुना तो सब उसे देखनेको दौड़े ॥६३॥ वे लोग बच्चेको देखकर कहते थे कि इस समय आत्मदेवका भाग्य चमका हुआ है, जो गौके गर्भसे उन्होंने इतना सुन्दर बालक पाया है । ईश्वरकी लीला तो देखो—वह बालक बिल्कुल देवताके समान है ॥६४॥ संयोगसे किसीको गौके गर्भसे पुत्र होनेका रहस्य नहीं ज्ञात हो सका । उस बच्चेके सारे अंग मनुष्यके सदृश थे, किन्तु कान गौके समान थे । गौके सदृश कान देखकर आत्मदेवने उसका 'गोकर्ण' नाम रक्खा । ६५॥ कुछ काल बाद धुन्धुकारी और गोकर्ण दोनों युवा हुए । उनमें गोकर्ण बड़ा पण्डित और ज्ञानी हुआ । लेकिन धुन्धुकारी बड़ा दुष्ट निकला ॥६६॥ वह न कभी स्नान करता और न छूतछातका ख्याल रखता । जहाँ जो पाता खा लेता । उसके क्रोधका तो ठिकाना ही नहीं था । वह बुरे-बुरे दान लेता और मुर्देके हाथपर दिया हुआ पिण्ड आदि लेकर खा जाता था ॥६७॥ वह चोर था । वह सब लोगोंसे डाह करता और दूसरोंके घर फूँकता फिरता था । वह खेलनेके लिये पड़ोसके बालकोंको बुला ले जाता और कुएँमें ढकेल देता था ॥६८॥ हिंसा करना उसका नित्य नियम था । जब देखो तभी हथियार बाँधे इधर-उधर घूमा करता था । गरीबों और अन्धोंको वह विशेष सताया करता । हाथमें पाश लिये प्रायः दो-चार चाण्डालोंके साथ ही लोग उसे देखते थे ॥६९॥ अन्तमें वह एक वेश्याके फेरमें फँस गया और घरमें जो कुछ पूँजी थी, सब उसे दे दी । एक दिन उसने माँ-बापको मार-पीटकर घरके सब बर्तन भी ले जाकर उसी वेश्याके हवाले कर दिये ॥७०॥ धनसे हीन हो उसका पिता बहुत दुखी होकर रोने लगा और अब उसे यह ख्याल हुआ कि दुखदायी पुत्र होनेकी अपेक्षा अपुत्र ही रह जाना कहीं अच्छा था ॥७१॥ अब मैं कहाँ रहूँ, कहाँ जाऊँ और कौन मेरे इस महादुःखको नष्ट करेगा ! इस दुःखसे मैं अपने प्राण त्याग दूँगा । मेरेपर बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है ॥७२॥ उसी समय ज्ञानी गोकर्णने आकर अपने दुःखी पिताको सान्त्वना देते हुए वैराग्यपथका प्रदर्शन किया ॥७३॥ उन्होंने कहा—पिताजी ! यह संसार असार, दुःखका मूर्तिमान् स्वरूप और अज्ञानमें डालनेवाला है । कौन किसका लड़का है, कौन किसका धन है और कौन किससे स्नेह करता है ? संसारकी इस महाअग्निशालामें सब लोग अपने आप जलते रहते हैं ॥७४॥ यहाँ न इन्द्रको सुख मिलता है और न चक्रवर्ती राजाको । वास्तवमें यदि सुख किसीको प्राप्त हो सकता है तो एकान्तजीवी विरक्त मुनिको ॥७५॥ अब तुम पुत्रस्नेहके अज्ञानको छोड़ो । यदि इस अज्ञानके चक्करमें पड़े रहोगे तो तुम्हें अन्तमें नरकगामी भी होना पड़ेगा । एक न एक दिन यह शरीर तो नष्ट होगा ही । इस

तद्वाक्यं तु समाकर्ण्य गन्तुकामः पिताब्रवीत् । किं कर्तव्यं वने तात तत्त्वं वद सविस्तरम् ॥७७॥
अन्धकूपे स्नेहपाशे बद्धः पङ्गुरहं शठः । कर्मणा पतितो नूनं मामुद्धर दयानिधे ॥७८॥

गोकर्ण उवाच

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥७९॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान् सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥८०॥
एवं सुतोक्तिवशतोऽपि गृहं विहाय यातो वनं स्थिरमतिर्गतषष्टिवर्षः ।
युक्तो हरेरनुदिनं परिचर्ययासौ श्रीकृष्णमाप नियतं दशमस्य पाठात् ॥८१॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये विप्रमोक्षो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

सूत उवाच

पितर्युपरते तेन जननी ताडिता भृशम् । क्व वित्तं तिष्ठति ब्रूहि हनिष्ये लत्तया न चेत् ॥ १ ॥
इति तद्वाक्यसन्त्रासाज्जनन्या पुत्रदुःखतः । कूपे पातः कृतो रात्रौ तेन सा निधनं गता ॥ २ ॥
गोकर्णस्तीर्थयात्रार्थं निर्गतो योगसंस्थितः । न दुःखं न सुखं तस्य न वैरी नापि बान्धवः ॥३॥

वास्ते तुम यह सब झमेला त्यागकर वनमें चले जाओ ॥७६॥ गोकर्णकी बातें सुनकर ब्राह्मण उसके लिए तैयार हो गया और कहा—बेटे ! वनमें जाकर मुझे क्या करना होगा, सो विस्तारके साथ कहकर समझा दो ॥७७॥ हे दयानिधे ! मैं अज्ञानरूपी अन्धे कुएँमें गिरा पड़ा हूँ । स्नेहकी रस्सीसे मेरे हाथ-पैर बँधे हुए हैं । इसलिए मैं अपनेको कुछ करने-धरनेमें असमर्थ और पंगु समझ रहा हूँ और यह भी समझता हूँ कि यह सब मेरे कर्मोंका फल है । अब तुम जैसे बने मेरा उद्धार करो ॥७८॥ गोकर्णने पितासे कहा—पिताजी ! आप अस्थि, मांस और रुधिरसे व्याप्त इस शरीरका अभिमान छोड़कर पुत्र-स्त्री आदिकी ममता त्याग दीजिए। इस संसारको क्षणभंगुर समझिए और भक्तिमें निष्ठा रखते हुए वैराग्यभाव धारण करिए ॥७९॥ सदा सच्चे धर्मका पालन कीजिए । सांसारिक धर्मों (रवाजों)-को ठोकर मारिए । सज्जनोंका आदर करिए । कामजनित अभिलाषाओंसे मुँह मोड़िए । औरोंके गुण-दोषकी विवेचनाके चक्करमें न पड़िए । प्राणीमात्रकी सेवाका पुनीत व्रत धारण किये हुए भगवत्कथा-रूपी अमृतमय रसका पान करिए ॥८०॥ इस प्रकार अपने पुत्रके सुन्दर उपदेश सुनकर आत्मदेवको ज्ञान हो गया । जिससे उनकी बुद्धि स्थिर हो गयी और साठ वर्षकी अवस्थामें घर-द्वार छोड़कर वनको चले गये । वहाँ वे प्रतिदिन भगवानकी आराधना करते हुए श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धका पाठ किया करते थे । अन्तसमयमें देह त्यागकर आत्मदेव भगवानके दिव्य लोक श्रीवैकुण्ठधामको चले गये ॥ ८१ ॥ इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीभागवतमाहात्म्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

सूतजी कहने लगे—हे शौनक ! घरसे पिताके चले जानेपर एक दिन धुन्धुकारीने अपनी माताको बुरी तरह पीटा और पूछा कि बताओ, घरकी दौलत कहाँ रखी है ? अगर न बताओगी तो लातोंसे मार-मारकर तुम्हारे प्राण ले लूँगा ॥ १ ॥ घरकी सारी सम्पत्ति तो वह दुष्ट पहले ही उड़ा चुका था । अब बाकी बचा ही क्या था जो बताती । लेकिन वह यह भी तो नहीं कह सकती थी कि धन नहीं है । क्योंकि यह कहनेपर उस दुष्टको विश्वास ही नहीं होता और वह इसी तरह रात-दिन सताता रहता । ऐसा सोचकर उसकी माता धुन्धुली एक रातको उठी और कुएँमें कूद पड़ी । इस तरह मरकर वह सदाके लिए पुत्रके दुःखसे छूट गयी ॥ २ ॥ योगी गोकर्ण तीर्थयात्राके लिए निकल पड़े ।

धुन्धुकारी गृहेऽतिष्ठत्पञ्चपण्यवधूवृतः । अत्युग्रकर्मकर्ता च तत्पोषणविमूढधीः ॥४॥
एकदा कुलटास्तास्तु भूषणान्यभिलिप्सवः । तदर्थं निर्गतो गेहात्कामान्धो मृत्युमस्मरन् ॥५॥
यतस्ततश्च संहृत्य वित्तं वेश्म पुनर्गतः । ताभ्योऽयच्छत्सुवस्त्राणि भूषणानि कियन्ति च ॥६॥
बहुवित्तचयं दृष्ट्वा रात्रौ नार्यो व्यचारयन् । चौर्यं करोत्यसौ नित्यमतो राजा ग्रहीष्यति ॥७॥
वित्तं हृत्वा पुनश्चैनं मारयिष्यति निश्चितम् । अतोऽर्थगुप्तये गूढमस्माभिः किं न हन्यते ॥८॥
निहत्यैनं गृहीत्वार्थं यास्यामो यत्र कुत्रचित् । इति ता निश्चयं कृत्वा सुप्तं सम्बद्धय रश्मिभिः ॥९॥
पाशं कण्ठे निधायास्य तन्मृत्युमुपचक्रमुः । त्वरितं न ममारासौ चिन्तायुक्तास्तदाभवन् ॥१०॥
तप्ताङ्गारसमूहाँश्च तन्मुखे हि विचिक्षिपुः । अग्निज्वालातिदुःखेन व्याकुलो निधनं गतः ॥११॥
तं देहं मुमुचुर्गर्ते प्रायः साहसिकाः स्त्रियः । न ज्ञातं तद्रहस्यं तु केनापीदं तथैव च ॥१२॥
लोकैः पृष्टा वदन्ति स्म दूरं यातः प्रियो हि नः । आगमिष्यति वर्षेऽस्मिन् वित्तलोभविकर्षितः ॥१३॥
स्त्रीणां नैव तु विश्वासं दुष्टानां कारयेद् बुधः । विश्वासे यः स्थितो मूढः स दुःखैः परिभूयते ॥१४॥
सुधामयं वचो यासां कामिनां रसवर्धनम् । हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम् ॥१५॥
संहृत्य वित्तं ता याताः कुलटा बहुभर्तृकाः । धुन्धुकारी बभूवाथ महान् प्रेतः कुकर्मतः ॥१६॥
वात्यारूपधरो नित्यं धावन् दशदिशोऽन्तरम् । शीतातपपरिक्लिष्टो निराहारः पिपासितः ॥१७॥

उन्हें न कोई दुःख था न सुख । न कोई उनका शत्रु था और न मित्र ॥ ३ ॥ अब धुन्धुकारी पाँच-पाँच वेश्याओंको घरमें लाकर रहने लगा । बड़े-बड़े उग्र कर्म करना ही उसका धंधा था । वेश्याओंको खिलाने-पहनानेमें ही उसकी बुद्धि चकरायी रहती थी ॥ ४ ॥ एक दिन उन वेश्याओंने कुछ आभूषणोंके लिए उससे आग्रह किया । तब वह कामान्ध मृत्युकी भी पर्वाह न करता हुआ रातको चोरी करनेके लिए घरसे निकला ॥ ५ ॥ जहाँ कहीं जिस तरह धन मिल सका लाकर उसने उन कुलटाओंको विविध प्रकारके वस्त्राभूषण प्रदान किये ॥ ६ ॥ जब वेश्याओंने देखा कि यह चोरी करके बहुत-सा धन ले आया है तो एक रातको सब एकत्र होकर आपसमें विचार करने लगीं कि यह दुष्ट नित्य चोरी करता है । किसी न किसी दिन राजदूतों द्वारा अवश्य पकड़ा जायगा ॥ ७ ॥ ऐसी परिस्थितिमें राजा इससे सब धन छीन लेगा और मार भी डालेगा । तब धन हजम करनेके लिए चुपचाप यदि इसे हमीं लोग मार डालें तो क्या हर्ज है ॥ ८ ॥ इसे मार और यह सब धन लेकर हम लोग और कहीं चली चलेंगी । ऐसा निश्चय करके उन पाँचों वेश्याओंने उसे रस्सियोंसे कसकर बाँधा और गलेमें फाँसी लगाकर उसे मारनेका प्रयत्न करने लगीं ॥९॥ लेकिन न मालूम क्यों, जल्दी उसके प्राण नहीं निकले । इससे उनको बड़ी घबड़ाहट हुई ॥१०॥ और कोई उपाय न देखकर वे आगकी जलती लुआठी ले-लेकर उसके मुँहमें ठूँसने लगीं । उस आगकी ज्वालासे जब धुंधुकारीको विशेष कष्ट हुआ, तब व्याकुल होकर उसने प्राण त्याग किया ॥ ११ ॥ इसके बाद उन स्त्रियोंने उसका मृत शरीर एक गढ़ेमें डाला और ऊपरसे मिट्टी डालकर पाट दिया । इस गुप्त रहस्यको और कोई भी नहीं जान सका ॥१२॥ पास-पड़ोसके लोगोंने धुन्धुकारीको न देखकर पूछा तो उन्होंने कह दिया कि मेरे प्राणपति बाहर गये हैं । धनकी विशेष आवश्यकता आ पड़ी थी, इस वास्ते परदेश चले गये हैं । वे इसी वर्ष किसी महीनेमें लौटेंगे । समझदारोंको चाहिये कि ऐसी कुलटा स्त्रियोंपर कभी भी विश्वास न करें । जो मूर्ख इनपर विश्वास करता है, उसे बड़ी-बड़ी तकलीफें उठानी पड़ती हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥ क्योंकि इन स्त्रियोंकी बातें अमृतके सदृश मीठी होती हैं, जिससे कामियोंके हृदयमें गुदगुदी-सी पैदा हो जाती है । किन्तु इनका हृदय छुरेकी धारके समान तीक्ष्ण होता है, जो अवसर पाते ही वार कर बैठता है ॥ १५ ॥ अन्तमें वे स्त्रियाँ धुंधुकारीका सब धन लेकर दूसरे प्रेमियोंके पास चली गयीं । उधर धुन्धुकारी अपने किये हुए कुकर्मोंके कारण बहुत बड़ा प्रेत हुआ ॥१६॥ अब वह बवंडरका रूप धारणकर नित्य दसों दिशाओंमें

न लेभे शरणं क्वापि हा दैवेति मुहुर्वदन् । कियत्कालेन गोकर्णो मृतं लोकादबुध्यत ॥१८॥
अनाथं तं विदित्वैव गयाश्राद्धमचीकरत् । यस्मिंस्तीर्थे तु संयाति तत्र श्राद्धमवर्तयत् ॥१९॥
एवं भ्रमन् स गोकर्णः स्वपुरं समुपेयिवान् । रात्रौ गृहाङ्गणे स्वप्तुमागतोऽलक्षितः परैः ॥२०॥
तत्र सुप्तं स विज्ञाय धुन्धुकारी स्वबान्धवम् । निशीथे दर्शयामास महारौद्रतरं वपुः ॥२१॥
सकृन्मेषः सकृद्धस्ती सकृच्च महिषोऽभवत् । सकृदिन्द्रः सकृच्चाग्निः पुनश्च पुरुषोऽभवत् ॥२२॥
वैपरीत्यमिदं दृष्ट्वा गोकर्णो धैर्यसंयुतः । अयं दुर्गतिकः कोऽपि निश्चित्याथ तमब्रवीत् ॥२३॥

गोकर्ण उवाच

कस्त्वमुग्रतरो रात्रौ कुतो यातो दशामिमाम् । किं वा प्रेतः पिशाचो वा राक्षसोऽसीति शंस नः ॥२४॥

सूत उवाच

एवं पृष्टस्तदा तेन रुरोदोच्चैः पुनः पुनः । अशक्तो वचनोच्चारे संज्ञामात्रं चकार ह ॥२५॥
ततोऽञ्जलौ जलं कृत्वा गोकर्णस्तमुदैरयत् । तत्सेकहतपापोऽसौ प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥२६॥

प्रेत उवाच

अहं भ्राता त्वदीयोऽस्मि धुन्धुकारीति नामतः । स्वकीयेनैव दोषेण ब्रह्मत्वं नाशितं मया ॥२७॥
कर्मणो नास्ति संख्या मे महाज्ञाने विवर्तिनः । लोकानां हिंसकः सोऽहं स्त्रीभिर्दुःखेन मारितः ॥२८॥
अतः प्रेतत्वमापन्नो दुर्दशां च वहाम्यहम् । वाताहारेण जीवामि दैवाधीनफलोदयात् ॥२९॥
अहो बन्धो कृपासिन्धो भ्रातर्मामाशु मोचय । गोकर्णो वचनं श्रुत्वा तस्मै वाक्यमथाब्रवीत् ॥३०॥

चक्कर काटता रहता। उसे सर्दी, गर्मी, भूख और प्यासकी भयानक यंत्रणायें सहनी पड़ती थीं ॥१७॥ उसको कहीं भी कोई आश्रय नहीं मिलता था। वह बार-बार 'हा दैव' पुकारा करता। कुछ दिनों बाद गोकर्णने लोगोंसे सुना कि धुन्धुकारी मर गया है ॥ १८ ॥ उसे अनाथ समझकर गोकर्णने गयामें जाकर उसकी मुक्तिके लिए श्राद्ध किया। तभीसे वे जिस किसी तीर्थमें जाते तो उसकी मुक्तिके लिए श्राद्ध-तर्पण आदि करते थे ॥ १९ ॥ कुछ समय बाद घूमते-फिरते अपने नगरमें आये। लोगोंको उनके आनेकी कुछ भी खबर नहीं लगी और रातको वे जाकर अपने घरके आँगनमें सो गये ॥२०॥ अपने भ्राता गोकर्णको सोते देखकर प्रेतरूपी धुन्धुकारी आधी रातको वहाँ आया और अपना बड़ा भयानक रूप दिखाकर उनको डराने लगा ॥२१॥ वह क्षणमें मेढ़ा, क्षण भरमें हाथी, फिर भैंसा, फिर इंद्र, फिर अग्नि और क्षण ही में मनुष्य बन जाता था ॥ २२ ॥ इस प्रकार उलट-फेरकी परिस्थिति देखकर धैर्यशाली गोकर्णने सोचा कि अवश्य यह कोई दुर्दशामें पड़ा हुआ जीव है। ऐसा निश्चय करके वे बोले-॥ २३ ॥ इस तरह अतिशय उग्र रूप धारण करनेवाले तुम कौन हो ? इस सुनसान रात्रिके समय तुम्हारी ऐसी दशा क्यों हो रही है ? तुम कोई प्रेत हो, पिशाच हो या राक्षस हो ? जो हो, मुझे साफ-साफ बताओ ॥ २४ ॥ सूतजी कहते हैं—इस प्रकार भ्राताके प्रश्न सुनकर वह प्रेत जोर-जोरसे रोने लगा। वह कुछ बोलना चाहता था, पर जबान ही नहीं खुलती थी। इस वास्ते उसने संकेतसे जो बना सो कहा ॥२५॥ इसपर गोकर्णने अञ्जलीमें जल लेकर उसके ऊपर डाला, उससे उसके सब पाप नष्ट हो गये और वह बोलने लगा ॥२६॥ प्रेतने कहा—मैं धुन्धुकारी नामक तुम्हारा भाई हूँ। मैंने अपने ही कुकर्मोंसे अपना ब्राह्मणत्व खो दिया था ॥ २७ ॥ अज्ञानमें पड़कर मैंने कितने कुकर्म किये हैं, उनका गिनना भी असंभव है। मैंने अगणित प्राणियोंकी हिंसा की थी। अन्तमें उन कुलटा स्त्रियोंने दारुण कष्ट देकर मुझे मार डाला ॥ २८ ॥ यही कारण है कि मैं इस दुर्दशाको प्राप्त होकर प्रेतयोनिमें पड़ा हुआ हूँ। जब कभी भाग्य प्रबल होता है तो थोड़ी-सी हवा पीनेको मिल जाती है ॥ २९ ॥ हे कृपाके समुद्र ! हे मेरे उपकारी बन्धु ! आप मुझे शीघ्र इस संकटसे

गोकर्ण उवाच

त्वदर्थं तु गयापिण्डो मया दत्तो विधानतः । तत्कथं नैव मुक्तोऽसि ममाश्चर्यमिदं महत् ॥३१॥
गयाश्राद्धान्न मुक्तिश्चेदुपायो नापरस्त्विह । किं विधेयं मया प्रेत तत्त्वं वद सविस्तरम् ॥३२॥

प्रेत उवाच

गयाश्राद्धशतेनापि मुक्तिर्मे न भविष्यति । उपायमपरं कश्चित्त्वं विचारय साम्प्रतम् ॥३३॥
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य गोकर्णो विस्मयं गतः । शतश्राद्धैर्न मुक्तिश्चेदसाध्यं मोचनं तव ॥३४॥
इदानीं तु निजं स्थानमातिष्ठ प्रेत निर्भयः । त्वन्मुक्तिसाधकं किञ्चिदाचरिष्ये विचार्य च ॥३५॥
धुन्धुकारी निजस्थानं तेनादिष्टस्ततो गतः । गोकर्णश्चिन्तयामास तां रात्रिं न तदध्यगात् ॥३६॥
प्रातस्तमागतं दृष्ट्वा लोकाः प्रीत्या समागताः । तत्सर्वं कथितं तेन यज्जातं च यथा निशि ॥३७॥
विद्वांसो योगनिष्ठाश्च ज्ञानिनो ब्रह्मवादिनः । तन्मुक्तिं नैव तेऽपश्यन् पश्यन्तः शास्त्रसञ्चयान् ॥३८॥
ततः सर्वैः सूर्यवाक्यं तन्मुक्तौ स्थापितं परम् । गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा ॥३९॥
तुभ्यं नमो जगत्साक्षिन् ब्रूहि मे मुक्तिहेतुकम् । तच्छ्रुत्वा दूरतः सूर्यः स्फुटमित्यभ्यभाषत ॥४०॥
श्रीमद्भागवतान्मुक्तिः सप्ताहं वाचनं कुरु । इति सूर्यवचः सर्वैर्धर्मरूपं तु विश्रुतम् ॥४१॥
सर्वेऽब्रुवन् प्रयत्नेन कर्तव्यं सुकरं त्विदम् । गोकर्णो निश्चयं कृत्वा वाचनार्थं प्रवर्तितः ॥४२॥
तत्र संश्रवणार्थाय देशग्रामाज्जना ययुः । पङ्ग्वन्धवृद्धमन्दाश्च तेऽपि पापक्षयाय वै ॥४३॥
समाजस्तु महाञ्जातो देवविस्मयकारकः । यदैवासनमास्थाय गोकर्णोऽकथयत्कथाम् ॥४४॥

छुड़ाइए । उनकी बातें सुनकर महर्षि गोकर्णने कहा—॥ ३० ॥ मैंने तुम्हारे उद्धारके लिए विधिपूर्वक गया-श्राद्ध किया है, फिर भी तुम मुक्त नहीं हुए ? यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥३१॥ जब गया-श्राद्धसे भी तुम्हारी मुक्ति नहीं हुई, तब और कोई उपाय नहीं है । अब हे प्रेत ! तुम्हीं बताओ कि मैं क्या करूँ ? तुम अपने छुटकारेका उपाय विस्तारके साथ कहो ॥ ३२ ॥ प्रेतने उत्तर दिया कि सैकड़ों गया-श्राद्ध करनेपर भी मेरी मुक्ति नहीं हो सकेगी । इसके सिवाय अब आप और कोई उपाय सोचिये ॥३३॥ उसकी बातें सुनकर गोकर्णको बड़ा विस्मय हुआ और कहा—जब सैकड़ों गया-श्राद्ध करनेपर भी तुम मुक्त नहीं हो सकते तो तुम्हारा मुक्त होना असंभव है ॥३४॥ इस समय तो तुम निर्भय होकर अपनी जगहपर जा बैठो । तुम्हारी मुक्ति साधनेके लिए मैं और कोई यत्न सोचूँगा ॥३५॥ यह सुनकर धुन्धुकारी वहाँसे अपने स्थानको चला गया और गोकर्ण सारी रात उसके निस्तारका उपाय सोचते रहे ॥३६॥ सबेरे लोगोंको गोकर्णके आनेकी बात मालूम हुई तो बहुतसे लोग आ गये । गोकर्णने रातको जो घटना घटी थी, वह सब हाल कह सुनाया ॥३७॥ बड़े-बड़े विद्वान्, योगी, ज्ञानी और ब्रह्मज्ञानी भी शास्त्रोंका आलोडन करके उसकी मुक्तिका कोई उपाय नहीं बता सके ॥३८॥ तब सब लोगोंने सलाह दी कि आप श्रीसूर्यदेवसे इस विषयमें पूछ-ताछ करें । इससे संभव है कि वे कोई उपाय बता दें । उसी समय गोकर्णने अपने योगबलसे सूर्यभगवानके रथको रोक दिया और स्तुति करते हुए कहने लगे—॥३९॥ हे जगत्के साक्षी सूर्यभगवान ! हम आपको प्रणाम करते हैं । आप कृपा करके मेरे भ्राता धुन्धुकारीके निस्तारका कोई उपाय बता दीजिए । यह सुनकर स्पष्ट वाणीमें सूर्य भगवान् बोले—॥४०॥ श्रीमद्भागवतसे उसकी मुक्ति हो सकती है—तुम सप्ताह बाँचो । इस तरह सूर्यभगवानकी बात सुनकर सब लोगोंने श्रीमद्भागवतको धर्मका रूप समझा ॥४१॥ और गोकर्णसे कहा कि तुम प्रयत्न करके यही कार्य करो । और धर्माचरणोंकी अपेक्षा यह उपाय सरल भी है । गोकर्ण इस कार्यको करनेका पक्का निश्चय करके सप्ताह बाँचनेको उद्यत हुए ॥४२॥ उनके सप्ताह-पारायणको सुननेके लिये उस देश और आस-पासके गाँववाले एकत्र हो गये । उनमें पंगु, अन्धे, मूर्ख और विद्वान् सभी प्रकारके लोग थे । वे सब अपने पाप नष्ट करनेके लिए इस ज्ञानयज्ञमें उपस्थित हुए थे ॥४३॥ उस समय

स प्रेतोऽपि तदायातः स्थानं पश्यन्नितस्ततः । सप्तग्रन्थियुतं तत्रापश्यत्कीचकमुच्छ्रितम् ॥४५॥
तन्मूलच्छिद्रमाविश्य श्रवणार्थं स्थितो ह्यसौ । वातरूपी स्थितिं कर्तुमशक्तो वंशमाविशत् ॥४६॥
वैष्णवं ब्राह्मणं मुख्यं श्रोतारं परिकल्प्य सः । प्रथमस्कन्धतः स्पष्टमाख्यानं धेनुजोऽकरोत् ॥४७॥
दिनान्ते रक्षिता गाथा तदा चित्रं बभूव ह । वंशैकग्रन्थिभेदोऽभूत्सशब्दं पश्यतां सताम् ॥४८॥
द्वितीयेऽह्नि तथा सायं द्वितीयग्रन्थिभेदनम् । तृतीयेऽह्नि तथा सायं तृतीयग्रन्थिभेदनम् ॥४९॥
एवं सप्तदिनैश्चैव सप्तग्रन्थिविभेदनम् । कृत्वा स द्वादशस्कन्धश्रवणात्प्रेततां जहौ ॥५०॥
दिव्यरूपधरो जातस्तुलसीदाममण्डितः । पीतवासा घनश्यामो मुकुटी कुण्डलान्वितः ॥५१॥
ननाम भ्रातरं सद्यो गोकर्णमिति चाब्रवीत् । त्वयाहं मोचितो बन्धो कृपया प्रेतकश्मलात् ॥५२॥
धन्या भागवती वार्ता प्रेतपीडाविनाशिनी । सप्ताहोऽपि तथा धन्यः कृष्णलोकफलप्रदः ॥५३॥
कम्पन्ते सर्वपापानि सप्ताहश्रवणे स्थिते । अस्माकं प्रलयं सद्यः कथा चेयं करिष्यति ॥५४॥
आर्द्रं शुष्कं लघु स्थूलं वाङ्मनःकर्मभिः कृतम् । श्रवणं विदहेत्पापं पावकः समिधो यथा ॥५५॥
अस्मिन् वै भारते वर्षे सूरिभिर्देवसंसदि । अकथाश्राविणां पुंसां निष्फलं जन्म कीर्तितम् ॥५६॥
किं मोहतो रक्षितेन सुपुष्टेन बलीयसा । अध्रुवेण शरीरेण शुकशास्त्रकथां विना ॥५७॥
अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पात्रं मूत्रपुरीषयोः ॥५८॥
जराशोकविपाकार्तं रोगमन्दिरमातुरम् । दुष्पूरं दुर्धरं दुष्टं सदोषं क्षणभङ्गुरम् ॥५९॥

इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी कि जिसे देखकर देवताओंको भी विस्मय हुआ । जब गोकर्ण आसनपर बैठकर कथा बाँचने लगे तो वह प्रेत भी इधर-उधर देखता हुआ वहाँ आया । उसने वहाँ सात गाँठका एक बाँस गड़ा हुआ देखा ॥४४॥४५॥ उसकी सबसे निचली गाँठमें घुसकर वह भी कथा सुननेको बैठ गया । क्योंकि वह शरीरी न होकर वायुस्वरूप था । अतएव उस बाँसके भीतर घुस गया ॥४६॥ गोकर्ण एक वैष्णव ब्राह्मणको मुख्य श्रोता बनाकर प्रथम स्कन्धसे भागवतकी कथा कहने लगे ॥४७॥ सायंकालको जब गोकर्णने उस दिनकी कथा समाप्त की तो एक विचित्र घटना घटी । वहाँपर एकत्रित सब लोगोंके देखते-देखते उस बाँसकी एक गाँठ अपने आप चटक गयी ॥४८॥ इसी तरह दूसरे दिनकी शामको दूसरी और तीसरे दिनकी शामको तीसरी गाँठ चटकी ॥४९॥ इस रीतिसे सातवें रोजकी शामको सातवीं गाँठ भी चटक गयी । बारहों स्कन्ध श्रीमद्भागवतकी कथा सुनकर उस प्रेतने अपनी प्रेतता त्याग दी ॥५०॥ अब वह दिव्य रूप धारण किये, तुलसीकी माला और पीला वस्त्र पहने, श्याम स्वरूप धारण किये, मुकुट और कुण्डलसे सुशोभित होकर गोकर्णके समक्ष आया ॥५१॥ उसने अपने भ्राताको दण्डवत् प्रणाम किया और कहा—भाई ! तुमने कृपा करके मुझे इस पापी प्रेतदेहसे मुक्त कर दिया ॥५२॥ यह भागवतकी कथा धन्य है कि जिससे प्रेतकी पीड़ा भी नष्ट हो जाती है । यह सप्ताह भी धन्य है कि जिसको सुननेसे प्राणीको कृष्ण-लोक प्राप्त होता है ॥५३॥ जिस समय प्राणी सप्ताह सुननेको बैठता है तो संसारके सभी पातक यह सोचकर थरथर काँपने लगते हैं कि यह अभी हम लोगोंका नाश कर देगा ॥५४॥ इसे सुननेवालोंके शुष्क, लघु, स्थूल एवं वचन, मन तथा कर्मसे किये हुए सभी तरहके पाप वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे कि आग ईंधनको जलाकर भस्म कर देती है ॥५५॥ इस भारतवर्षकी देवसमितियोंमें बड़े-बड़े विद्वानोंने यह कह दिया है कि जो लोग श्रीमद्भागवतकी कथा नहीं सुनते, उनका जन्म व्यर्थ है ॥५६॥ जिसने अज्ञानवश श्रीमद्भागवतकी कथा नहीं सुनी तो इस परिपुष्ट, बलवान् तथा विनाशशील शरीरकी रक्षा करते रहना व्यर्थ है ॥५७॥ इस शरीरमें हड्डियें खम्भे और नसें बन्धन हैं । इसके ऊपर मांस और रक्तका पलस्तर है । इसके ऊपर चमड़ेका ओहार पड़ा हुआ है और यह मल-मूत्रका दुर्गन्धित पात्र है ॥५८॥ यह शरीर वृद्धावस्था तथा शोकसे सदा दुखी रहता है । रोगोंका तो मंदिर ही है । इसमें सदा घबराहट भरी रहती

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्तं शरीरमिति वर्णितम् । अस्थिरेण स्थिरं कर्म कुतोऽयं साधयेन्न हि ॥६०॥
यत्प्रातः संस्कृतं चान्नं सायं तच्च विनश्यति । तदीयरससम्पुष्टे काये का नाम नित्यता ॥६१॥
सप्ताहश्रवणाल्लोके प्राप्यते निकटे हरिः । अतो दोषनिवृत्त्यर्थमेतदेव हि साधनम् ॥६२॥
बुद्बुदा इव तोयेषु मशका इव जन्तुषु । जायन्ते मरणायैव कथाश्रवणवर्जिताः ॥६३॥
जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम् । चित्रं किमु तदा चित्तग्रन्थिभेदः कथाश्रवात् ॥६४॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि सप्ताहश्रवणे कृते ॥६५॥
संसारकर्दमालेपप्रक्षालनपटीयसि । कथातीर्थे स्थिते चित्ते मुक्तिरेव बुधैः स्मृता ॥६६॥
एवं ब्रुवति वै तस्मिन् विमानमागमत्तदा । वैकुण्ठवासिभिर्युक्तं प्रस्फुरद्दीप्तिमण्डलम् ॥६७॥
सर्वेषां पश्यतां भेजे विमानं धुन्धुलीसुतः । विमाने वैष्णवान् वीक्ष्य गोकर्णो वाक्यमब्रवीत् ॥६८॥

गोकर्ण उवाच

अत्रैव बहवः सन्ति श्रोतारो मम निर्मलाः । आनीतानि विमानानि न तेषां युगपत्कुतः ॥६९॥
श्रवणं समभागेन सर्वेषामिह दृश्यते । फलभेदः कुतो जातः प्रब्रुवन्तु हरिप्रियाः ॥७०॥

हरिदासा ऊचुः

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः । श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम् ॥७१॥
फलभेदस्ततो जातो भजनादपि मानद । सप्तरात्रमुपोष्यैव प्रेतेन श्रवणं कृतम् ॥७२॥

है । यह कभी पूर्ण नहीं होने आता । इसकी बड़ी कठिनाईसे रक्षा होती है । यह सदा दूषित रहता है । यह दोषोंसे पूर्ण रहता और क्षण भरमें नष्ट हो जाता है ॥५९॥ अन्तमें यह कीड़ों-मकोड़ोंके पेटका आहार बनता या जलकर भस्म हो जाता है । यह है इस शरीरकी दशा । ऐसी अवस्थामें इस अनित्य शरीरसे नित्य मुक्तिके लिए कर्म क्यों न किया जाय ॥६०॥ सबेरे जो अन्न खाया जाता, वह शामको नष्ट हो जाता है । तब अन्नके रससे पुष्ट होनेवाले इस शरीरकी नित्यता क्योंकर हो सकती है ? ॥६१॥ सप्ताहका श्रवण करनेसे इस लोकमें ही भगवान श्रोताके समीप आ जाते हैं । अतएव दोषोंकी निवृत्तिके लिए यही सर्वोत्तम साधन है ॥६२॥ जैसे पानीके बुलबुले और जन्तुओंमें मच्छड़ आदि जन्तु मरनेके लिए ही उत्पन्न होते हैं । उसी तरह भगवानकी कथा न सुननेवाले केवल मरनेके लिए जन्म लेते हैं ॥६३॥ जब एक जड़ और सूखे बाँसकी गाँठें चटक सकती हैं, तब कथा सुननेसे चित्त-में पड़ी हुई संशयकी गाँठोंका चटककर टूट जाना क्या असम्भव है ? ॥६४॥ सप्ताह सुननेसे हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं । सब प्रकारके संशय निवृत्त हो जाते हैं और मनुष्यके सभी (असत्) कर्मविधायक पाप नष्ट हो जाते हैं ॥६५॥ संसाररूपी कीचड़को धोनेमें निपुण इस कथारूपी तीर्थमें चित्त जैसे उत-रता है, वैसे ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है । यह पण्डितोंका कथन है ॥६६॥ वह इस तरह कह ही रहा था कि इतनेमें एक दिव्य विमान वहाँ आ उपस्थित हुआ । उसपर वैकुण्ठधामके निवासी भक्तगण विराजमान थे और उस विमानसे एक विशेष प्रकारका दीप्ति-मंडल निकल रहा था ॥६७॥ वहाँके सब लोगोंके देखते-देखते धुन्धुकारी उस विमानपर जा बैठा । इसके अनन्तर गोकर्णने उन विमानवाहक भक्तोंसे कहा—॥६८॥ हे भगवानके भक्तों ! इस स्थानपर मेरे बहुतसे श्रोता बड़े पुनीत हृदयके हैं, तब क्या कारण है कि जो इस तरह भेद-भाव किया जाता है अर्थात् इन सबको त्यागकर आप लोग अकेले धुन्धुकारीको ही क्यों विमानपर बैठाकर बैकुण्ठ ले जाना चाहते हैं ? कृपा करके आप लोग मुझे इसका कारण बताइए ॥६९॥ यहाँके सब लोगोंने समानभावसे कथा सुनी है, तब फल-भेद क्यों किया जाता है ? आप लोग मुझे इसका कारण बताइए ॥७०॥ उन भगवद्भक्तोंने उत्तर दिया—इसमें सन्देह नहीं कि कथा सब लोगोंने सुनी है, पर इसके समान मनन और लोगोंने नहीं किया है ॥७१॥ इसीसे यह फल-भेद किया जा रहा है । दूसरे हे मानद ! इसने भजन भी असाधारण किया है । सात दिन तक

मननादि तथा तेन स्थिरचित्ते कृतं भृशम् । अदृढं च हतं ज्ञानं प्रमादेन हतं श्रुतम् ॥७३॥
सन्दिग्धो हि हितो मन्त्रो व्यग्रचित्तो हतो जपः । अवैष्णवो हतो देशो हतं श्राद्धमपात्रकम् ॥७४॥
हतमश्रोत्रिये दानमनाचारं हतं कुलम् । विश्वासो गुरुवाक्येषु स्वस्मिन्दीनत्वभावना ॥७५॥
मनोदोषजयश्चैव कथायां निश्चला मतिः । एवमादि कृतं चेत्स्यात्तदा वै श्रवणे फलम् ॥७६॥
पुनः श्रवान्ते सर्वेषां वैकुण्ठे वसतिर्ध्रुवम् । गोकर्ण तव गोविन्दो गोलोकं दास्यति स्वयम् ॥७७॥
एवमुक्त्वा ययुः सर्वे वैकुण्ठं हरिकीर्तनाः । श्रावणे मासि गोकर्णः कथामूचे तथा पुनः ॥७८॥
सप्तरात्रवतीं भूयः श्रवणं तैः कृतं पुनः । कथासमाप्तौ यज्जातं श्रूयतां तच्च नारद ॥७९॥
विमानैः सह भक्तैश्च हरिराविर्बभूव ह । जयशब्दा नमःशब्दास्तत्रासन् बहवस्तदा ॥८०॥
पाञ्चजन्यध्वनिं चक्रे हर्षात्तत्र स्वयं हरिः । गोकर्णं तु समालिङ्ग्याकरोत्स्वसदृशं हरिः ॥८१॥
श्रोतॄनन्यान् घनश्यामान् पीतकौशेयवाससः । किरीटिनःकुण्डलिनस्तथा चक्रे हरिः क्षणात् ॥८२॥
तद्ग्रामे ये स्थिता जीवा आश्वचाण्डालजातयः । विमाने स्थापितास्तेऽपि गोकर्णकृपया तदा ॥
प्रेषिता हरिलोके ते यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥८३॥
गोकर्णेन स गोपालो गोलोकं गोपवल्लभम् । कथाश्रवणतः प्रीतो निर्ययौ भक्तवत्सलः ॥८४॥

निराहार रहकर इस प्रेतने कथा सुनी है ॥७२॥ और चित्त स्थिर करके इसने उस सुनी हुई कथाका मनन भी किया है । क्योंकि शास्त्र कहता है कि बिना दृढ़ हुआ ज्ञान, प्रमादसे सुनी हुई कथा, ॥७३॥ संदिग्ध मंत्र, व्यग्र चित्तसे किया हुआ जप तथा वैष्णवविहीन देशमें अपात्र द्वारा कराया हुआ श्राद्ध व्यर्थ हो जाता है । वेदाभ्याससे हीन विप्रको दिया हुआ दान और अनाचारयुक्त कुल नष्ट हो जाता है । गुरुके वचनपर विश्वास, अपने मनमें दीनताकी भावना, मानसिक दोषोंपर विजय और कथा सुनते समय मनका निश्चल रखना आदि नियम यदि ठीक हों, तभी कथा सुननेसे लाभ होता है । यदि मन चंचल रहा तो कथा सुननेसे कोई लाभ नहीं । दृष्टान्त—एक था घुन और उसकी स्त्री घुनिन । दोनोंमें बड़ा प्रेम था । एक दिन घुनिन घुनको कहानी सुनाने लगी । घुन 'हाँ हूँ' न करके घुननेके काममें व्यस्त रहा । कुछ देर बाद घुनिनने झुँझलाकर कहा—अजी, मैं कितने प्रेमसे कहानी कहती हूँ, लेकिन तुम हो जो सुनते ही नहीं । घुन बोला—तुम कहती चलो । मैं घुनता भी रहूँगा और सुनता भी । घुनिन बोली—सुनोगे क्या पत्थर ? मन तो तुम्हारे पास एक ही है । उससे या तो घुनो या मेरी कहानी सुनो । दोनों कदापि नहीं हो सकता । यही बात यहाँ भी है । या तो भगवानकी कथा सुन लो या विषयोंका चिन्तन करो । दोनों कैसे होगा ? ॥७४-७६॥ ऐसी कथा सुननेसे प्राणीको अवश्य वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है । हे गोकर्ण ! तुमको भगवान गोलोक प्रदान करेंगे ॥७७॥ ऐसा कह-कर वे सभी पार्षद वैकुण्ठधाम चले गये । श्रावणके महीनेमें गोकर्णने फिर उसी तरह श्रीमद्भागवतके सप्ताहका पारायण किया ॥७८॥ और सात दिन तक फिर श्रोताओंने उसे सुना । हे नारद ! कथा समाप्त होनेपर क्या हुआ, सो सुनो ॥७९॥ अनेक विमानों और अपने भक्तोंके साथ भगवान स्वयं वहाँ प्रकट हो गये । उनके प्रकट होते ही चारों ओरसे जयशब्द और नमःशब्द उच्चरित होने लगा ॥८०॥ भगवानने स्वयं हर्षसे अपना पांचजन्य शंख बजाया और गोकर्णको छातीसे लगाकर भगवानने अपने समान कर लिया ॥८१॥ वहाँ उपस्थित सभी श्रोताओंको भगवानने क्षण भरमें श्यामस्वरूप, पीतकौशे-यवसन और किरीट-कुण्डलधारी बनाकर अपने ही समान कर लिया ॥८२॥ उस गाँवमें जो कुत्ते तथा चाण्डाल आदि नीच प्रकृतिके लोग थे, उनको भी भगवानने गोकर्णकी कृपासे विमानमें बैठा लिया और उनको भी उन्होंने अपने उस दिव्य लोकमें भेज दिया, जहाँ योगीजन जाते हैं । कथा सुननेसे प्रसन्न गोपाल भगवान स्वयं भी गोकर्णको अपने साथ लिये हुए गोपोंके प्रिय गोलोकको चले गये ॥८३॥८४॥ जिस तरह त्रेतामें सब अयोध्यावासी श्रीरामचन्द्रके साथ साकेतलोक चले गये थे,

अयोध्यावासिनः पूर्वं यथा रामेण सङ्गताः । तथा कृष्णेन ते नीता गोलोकं योगिदुर्लभम् ॥८५॥
यत्र सूर्यस्य सोमस्य सिद्धानां न गतिः कदा । तं लोकं हि गतास्ते तु श्रीमद्भागवतश्रवात् ॥८६॥

ब्रूमोऽत्र ते किं फलवृन्दमुज्ज्वलं सप्ताहयज्ञेन कथासु सञ्चितम् ।
कर्णेन गोकर्णकथाक्षरो यैः पीतश्च ते गर्भगता न भूयः ॥८७॥
वाताम्बुपर्णाशनदेहशोषणैस्तपोभिरुग्रैश्चिरकालसञ्चितैः ।
योगैश्च संयान्ति न तां गतिं वै सप्ताहगाथाश्रवणेन यान्ति याम् ॥८८॥

इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः । पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः ॥८९॥

आख्यानमेतत्परमं पवित्रं श्रुतं सकृद्वै विदहेदघौघम् ।
श्राद्धे प्रयुक्तं पितृतृप्तिमावहेन्नित्यं सुपाठादपुनर्भवं च ॥९०॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये गोकर्णमोक्षवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

कुमारा ऊचुः

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामः सप्ताहश्रवणे विधिम् । सहायैर्वसुभिश्चैव प्रायः साध्यो विधिः स्मृतः ॥१॥
दैवज्ञं तु समाहूय मुहूर्तं पृच्छ्य यत्नतः । विवाहे यादृशं वित्तं तादृशं परिकल्पयेत् ॥२॥
नभस्य आश्विनोर्जौ च मार्गशीर्षः शुचिर्नभाः । एते मासाः कथारम्भे श्रोतॄणां मोक्षसूचकाः ॥३॥
मासानां विप्र हेयानि तानि त्याज्यानि सर्वथा । सहायाश्चेतरे तत्र कर्तव्याः सोद्यमाश्च ये ॥४॥
देशे देशे तथा सेयं वार्ता प्रेष्या प्रयत्नतः । भविष्यति कथा चात्र आगन्तव्यं कुटुम्बिभिः ॥५॥

उसी तरह इस समय भी इस गाँवके सब लोग श्रीकृष्णभगवानके साथ योगियोंको भी दुर्लभ गोलोकको चले गये ॥ ८५ ॥ जिस लोक तक सूर्य, चन्द्रमा और सिद्धजनोंकी भी गति नहीं होती। सो श्रीमद्भागवतकी कथा सुननेसे वे लोग उसी दिव्यलोकको प्राप्त हुए ॥८६॥ इस सप्ताह-यज्ञकी उज्ज्वल कथाओंके सुननेसे होनेवाले फलोंको मैं और कहाँ तक कहूँ। जिन लोगोंने अपने कानोंसे गोकर्णकी कथाओंको सुना, वे सभी लोग फिर लौटकर गर्भमें नहीं आये अर्थात् मुक्त हो गये ॥८७॥ केवल जल, वायु, तथा पत्ते खाकर देह सुखाते हुए घोर तप करके पुण्यसंचय करनेवाले तपस्वियों और योगियोंको भी जो गति नहीं प्राप्त होती, वह शुभ गति केवल सप्ताहकी कथा सुननेसे प्राप्त हो जाती है ॥८८॥ चित्रकूटमें रहनेवाले शांडिल्य मुनीश्वर भी ब्रह्मानन्दमें लीन होकर इस पुनीत इतिहासको पढ़ा करते हैं ॥८९॥ यह कथानक बड़ा पवित्र है। एक बार भी इसका श्रवण कर लेनेसे प्राणी अपना पाप-समूह भस्म कर देता है। श्राद्धमें यदि इसका पाठ किया जाता तो पितर तृप्त होते हैं और नित्य इसका पाठ करनेसे मुक्ति मिल जाती है ॥९०॥ इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीभागवत-माहात्म्ये 'सामयिकी' भाषाटीकायां गोकर्णोपाख्यानवर्णनं नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

सनकादि कुमार बोले—हे नारद ! अब मैं तुम्हें सप्ताह-श्रवण-विधि बताऊँगा। यदि श्रोताके कुछ सहायक हों और कुछ धन भी हो तो बहुत सरल है ॥१॥ श्रोता ज्योतिषीको बुलाकर यत्नके साथ उससे सप्ताहके लिए उत्तम मुहूर्त्त पूछे। विवाहमें जितना धन खर्च होता है, उतनेका प्रबन्ध करे ॥२॥ भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, आषाढ़ और श्रावण, ये छ महीने कथा सुननेवालोंको मोक्ष प्रदान करनेकी सूचना देते हैं ॥३॥ भद्रा, व्यतीपात, दग्ध आदि योग यदि आ पड़ें तो उन्हें त्याग दे। इस कार्यके लिए सब तरहसे उत्तम दिनोंको ही चुनना चाहिए ॥४॥ सप्ताहयज्ञकी सूचना हर देशमें भेजकर कहला देना चाहिए कि अमुक स्थानपर श्रीमद्भागवतकी कथा होगी। आप लोग अपने कुटुम्बियोंके साथ पधारें। जो लोग भगवानकी कथा तथा नारायणके गुणगानसे दूर रहते हैं। ऐसे

दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः । स्त्रियः शूद्रादयो ये च तेषां बोधो यतो भवेत् ॥६॥
देशे देशे विरक्ता ये वैष्णवाः कीर्तनोत्सुकाः । तेष्वेव पत्रं प्रेष्यं च तल्लेखनमितीरितम् ॥७॥
सतां समाजो भविता सप्तरात्रं सुदुर्लभः । अपूर्वरसरूपैव कथा चात्र भविष्यति ॥८॥
श्रीभागवतपीयूषपानाय रसलम्पटाः । भवन्तश्च तथा शीघ्रमायात प्रेमतत्पराः ॥ ९ ॥
नावकाशः कदाचिच्चेद्दिनमात्रं तथापि तु । सर्वथागमनं कार्यं क्षणोऽत्रैव सुदुर्लभः ॥१०॥
एवमाकारणं तेषां कर्तव्यं विनयेन च । आगन्तुकानां सर्वेषां वासस्थानानि कल्पयेत् ॥११॥
तीर्थे वापि वने वापि गृहे वा श्रवणं मतम् । विशाला वसुधा यत्र कर्तव्यं तत्कथास्थलम् ॥१२॥
शोधनं मार्जनं भूमेर्लेपनं धातुमण्डनम् । गृहोपस्करमुद्धृत्य गृहकोणे निवेशयेत् ॥१३॥
अर्वाक्पञ्चाहतो यत्नादास्तीर्णानि प्रमेलयेत् । कर्तव्यो मण्डपः प्रोच्चैः कदलीखण्डमण्डितः ॥१४॥
फलपुष्पदलैर्विष्वग्वितानेन विराजितः । चतुर्दिक्षु ध्वजारोपो बहुसम्पद्विराजितः ॥१५॥
ऊर्ध्वं सप्तैव लोकाश्च कल्पनीयाः सविस्तरम् । तेषु विप्रा विरक्ताश्च स्थापनीयाः प्रबोध्य च ॥१६॥
पूर्वं तेषामासनानि कर्तव्यानि यथोत्तरम् । वक्तुश्चापि तदा दिव्यमासनं परिकल्पयेत् ॥१७॥
उदङ्मुखो भवेद्वक्ता श्रोता वै प्राङ्मुखस्तदा । प्राङ्मुखश्चेद्भवेद्वक्ता श्रोता चोदङ्मुखस्तदा ॥१८॥
अथवा पूर्वदिग्ज्ञेया पूज्यपूजकमध्यतः । श्रोतॄणामागमे प्रोक्ता देशकालादिकोविदैः ॥१९॥
विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत् । दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽतिनिःस्पृहः ॥२०॥
अनेकधर्मविभ्रान्ताः स्त्रैणाः पाखण्डवादिनः । शुकशास्त्रकथोच्चारे त्याज्यास्ते यदि पण्डिताः ॥२१॥
वक्तुः पार्श्वे सहायार्थमन्यः स्थाप्यस्तथाविधः । पण्डितः संशयच्छेत्ता लोकबोधनतत्परः ॥२२॥

सभी लोगों तथा शूद्र आदिको भी बुलाकर कथा सुनावे, जिससे उनको भी ज्ञान प्राप्त हो ॥५।६॥ देश-विदेशमें जो विरक्त और वैष्णव भगवत्कीर्तनके प्रेमी हों तो उनके पास ऐसा पत्र भेजे ॥७॥ जैसे—अमुक स्थानपर सज्जनोंका दुर्लभ समवाय एकत्र होगा और अपूर्व रसमयी भगवत्कथा होगी ॥८॥ श्रीभागवतरूपी अमृतपानके लोलुप आप सज्जन भी शीघ्र आ जायँ ॥९॥ यदि आपको सातों दिनके लिए अवकाश न मिले तो केवल एक ही दिनके लिए चले आइए । लेकिन आइए अवश्य । क्योंकि ऐसा अवसर बड़ी कठिनाईसे हाथ आता है ॥१०॥ इस तरह विनयपूर्वक उन सज्जनोंको निमन्त्रित करे । अपने यहाँ आये हुए मेहमानोंको रहनेके लिए स्थान ठीक कर दे ॥११॥ कोई तीर्थ-स्थान हो, वन हो अथवा घर ही हो, जहाँ प्रशस्त जगह मिल सके, उसी विस्तृत स्थानको कथाके लिए नियत करे ॥१२॥ उस स्थानको शुद्ध करे, झाड़ू आदि देकर साफ करे, गोबर या माटीसे लिपवा दे और गेरू-चूना आदिसे उसे अलंकृत करे । घरका और-और सामान कथा-स्थलसे हटाकर घरके एक कोनेमें रख दे ॥१३॥ पाँच दिन पहले ही कथा-स्थानके आसन (बिछौने) ठीक कर ले । जहाँ कथा होनेको हो, वहाँ एक ऊँचा मण्डप बनवावे और उसको केलेके खम्भे आदिसे अलंकृत कर दे ॥१४॥ उसे फल, फूल और पत्ते आदिसे सजावे और चारों ओरसे कनात लगवा दे । कथा-मण्डपके चारों ओर कीमती ध्वजायें लगा दे ॥१५॥वेदीके ऊपरी भागमें सात विस्तृत मंच बनवावे और उनपर ब्राह्मणों और साधुओंको प्रार्थना करके बैठावे ॥१६॥ पहले आगन्तुक साधु-ब्राह्मणोंके लिए आसनका प्रबन्ध करके कथा बाँचनेवालेके लिए दिव्य आसनका निर्माण करे ॥१७॥ वक्ता उत्तरमुख और प्रधान श्रोता पूर्वमुख करके बैठे अथवा वक्ता पूर्वमुख और श्रोता उत्तरमुख बैठे ॥१८॥ इन दोनों पूज्य-पूजकोंके बीचमें पूर्वदिशा मानना भी कालके अभिज्ञ पण्डितोंने शास्त्रमें बताया है ॥१९॥ वक्ता ऐसा होना चाहिए जो त्यागी, वैष्णव, ब्राह्मण, वेदशास्त्रका ज्ञाता, उदाहरण देनेमें चतुर, धैर्यशाली और निस्पृह हो ॥२०॥ जो अनेक कर्मोंमें भ्रान्तबुद्धि हो गये हों, स्त्रीगामी हों, पाखण्डी हों वे यदि विद्वान् हों तो भी शुक-शास्त्रकी कथा कहनेके अधिकारी नहीं हो सकते ॥२१॥ वक्ताके समीप सहायताके लिए उसीके समान

वक्त्रा क्षौरं प्रकर्तव्यं दिनादर्वाग्व्रताप्तये । अरुणोदयेऽसौ निर्वर्त्य शौचं स्नानं समाचरेत् ॥२३॥
नित्यं संक्षेपतः कृत्वा सन्ध्याद्यं स्वं प्रयत्नतः । कथाविघ्नविघाताय गणनाथं प्रपूजयेत् ॥२४॥
पितॄन् संतर्प्य शुद्धयर्थं प्रायश्चित्तं समाचरेत् । मण्डलं च प्रकर्तव्यं तत्र स्थाप्यो हरिस्तथा ॥२५॥
कृष्णमुद्दिश्य मन्त्रेण चरेत्पूजाविधिं क्रमात् । प्रदक्षिणनमस्कारान् पूजान्ते स्तुतिमाचरेत् ॥२६॥
संसारसागरे मग्नं दीनं मां करुणानिधे । कर्ममोहगृहीताङ्गं मामुद्धर भवार्णवात् ॥२७॥
श्रीमद्भागवतस्यापि ततः पूजा प्रयत्नतः । कर्तव्या विधिना प्रीत्या धूपदीपसमन्विता ॥२८॥
ततस्तु श्रीफलं धृत्वा नमस्कारं समाचरेत् । स्तुतिः प्रसन्नचित्तेन कर्तव्या केवलं तदा ॥२९॥
श्रीमद्भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि । स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे ॥३०॥
मनोरथो मदीयोऽयं सफलः सर्वथा त्वया । निर्विघ्नेनैव कर्तव्यो दासोऽहं तव केशव ॥३१॥
एवं दीनवचः प्रोच्य वक्तारं चाथ पूजयेत् । सम्भूष्य वस्त्रभूषाभिः पूजान्ते तं च संस्तवेत् ॥३२॥
शुकरूप प्रबोधज्ञ सर्वशास्त्रविशारद । एतत्कथाप्रकाशेन मदज्ञानं विनाशय ॥३३॥
तदग्रे नियमः पश्चात्कर्तव्यः श्रेयसे मुदा । सप्तरात्रं यथाशक्त्या धारणीयः स एव हि ॥३४॥
वरणं पञ्चविप्राणां कथाभङ्गनिवृत्तये । कर्तव्यस्तैर्हरेर्जाप्यं द्वादशाक्षरविद्यया ॥३५॥
ब्राह्मणान् वैष्णवांश्चान्यांस्तथा कीर्तनकारिणः । नत्वा सम्पूज्य दत्ताज्ञः स्वयमासनमाविशेत् ॥३६॥
लोकवित्तधनागारपुत्रचिन्तां व्युदस्य च । कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेत्फलमुत्तमम् ॥३७॥
आसूर्योदयमारभ्य सार्धत्रिप्रहरान्तकम् । वाचनीया कथा सम्यग्धीरकण्ठं सुधीमता ॥३८॥

एक विद्वान और बैठावे, जो संशयका निवारण करने योग्य हो और लोगोंको भली-भाँति समझा सके ॥२२॥ वक्ता कथा प्रारम्भ करनेके एक दिन पहले ही हजामत बनवा ले और प्रति दिन अरुणोदयके पहले ही शौचसे निवृत्त होकर स्नान कर ले ॥२३॥ हर रोज सन्ध्या आदि नित्य-कर्म करनेके अनन्तर कथाके विघ्नोंको दूर करनेके लिए गणेशजीकी पूजा करे। २४॥ प्रतिदिन पितरोंका तर्पण करके शुद्धिके लिए प्रायश्चित्त करे। कथास्थानपर ही एक मण्डल बनावे, जिसके बीचमें भगवान कृष्णचन्द्रको स्थापना करे ॥२५॥ वैदिक तथा पौराणिक मंत्रोंसे भगवानकी पूजा करके प्रदक्षिणा, नमस्कार तथा स्तुति करे ॥२६॥ और प्रार्थना करे कि हे करुणानिधे! इस संसार-सागरमें डूबे हुए मुझ गरीबका आप उद्धार करिए। कर्मरूपी ग्राहने मेरे सारे शरीरको जकड़ लिया है, मुझे इस संसाररूपी सागरसे उबारिए ॥२७॥ इसके अनन्तर प्रयत्न-पूर्वक श्रीमद्भागवतकी भी पूजा करके विधि-विधानसे धूप-दीप प्रदान करे ॥२८॥ तदनन्तर श्रीफलको आगे रखकर नमस्कार करे और प्रसन्न चित्तसे स्तुति करे ॥२९॥ यह श्रीमद्भागवत प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण ही है। हे नाथ! मैंने भव-सागरसे मुक्ति पानेके लिए ही आपकी शरण गही है ॥३०॥ हे केशव! हमारे इस मनोरथको आप निर्विघ्न-भावसे सर्वथा सफल करिएगा। क्योंकि मैं आपका दास हूँ ॥३१॥ इस प्रकार दीनता भरी बातें कहकर वक्ताको वस्त्र और आभूषण आदिसे अलंकृत करके पूजन तथा स्तुति करता हुआ कहे—॥३२॥ हे शुकरूप! हे ज्ञानदाता और सब शास्त्रोंमें विशारद! इस कथाको कहकर आप मेरा अज्ञान दूर करिये ॥३३॥ इसके बाद अपने कल्याणार्थ वक्ताके समक्ष सप्ताहयज्ञका व्रत ले और सात दिनों तक यथाशक्ति उन नियमोंका पालन करे ॥३४॥ कथामें किसी प्रकारकी विघ्न-बाधा न आने पावे, इसलिए पाँच ब्राह्मणोंका वरण करे। वे ब्राह्मण 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मंत्रका जप करें ॥३५॥ ब्राह्मणों, वैष्णवों तथा भगवन्नाम कीर्तन करनेवालोंको नमस्कार करके पूजन करे और जब वे आज्ञा दें, तब आसनपर बैठे ॥३६॥ जो मनुष्य कथा सुनते समय पुत्र, स्त्री, धन तथा गृहसम्बन्धी किसी बातकी तरफ ध्यान न देता हुआ एकमात्र कथामें मन लगाकर शुद्ध बुद्धिसे कथा सुनता है, उसे उत्तम फल प्राप्त होता है ॥३७॥ सूर्योदयसे साढ़े तीन पहरतक

कथाविरामः कर्तव्यो मध्याह्ने घटिकाद्वयम् । तत्कथामनु कार्यं वै कीर्तनं वैष्णवैस्तदा ॥३९॥
मलमूत्रजयार्थं हि लघ्वाहारः सुखावहः । हविष्यान्नेन कर्तव्यो ह्येकवारं कथार्थिना ॥४०॥
उपोष्य सप्तरात्रं वै शक्तिश्चेच्छृणुयात्तदा । घृतपानं पयःपानं कृत्वा वै शृणुयात्सुखम् ॥४१॥
फलाहारेण वा भाव्यमेकभुक्तेन वा पुनः । सुखसाध्यं भवेद्यत्तु कर्तव्यं श्रवणाय तत् ॥४२॥
भोजनं तु वरं मन्ये कथाश्रवणकारकम् । नोपवासो वरः प्रोक्तः कथाविघ्नकरो यदि ॥४३॥
सप्ताहव्रतिनां पुंसां नियमाञ्छृणु नारद । विष्णुदीक्षाविहीनानां नाधिकारः कथाश्रवे ॥४४॥
ब्रह्मचर्यमधःसुप्तिः पत्रावल्यां च भोजनम् । कथासमाप्तौ भुक्तिं च कुर्यान्नित्यं कथाव्रती ॥४५॥
द्विदलं मधु तैलं च गरिष्ठान्नं तथैव च । भावदुष्टं पर्युषितं जह्यान्नित्यं कथाव्रती ॥४६॥
कामं क्रोधं मदं मानं मत्सरं लोभमेव च । दम्भं मोहं तथा द्वेषं दूरयेच्च कथाव्रती ॥४७॥
वेदवैष्णवविप्राणां गुरुगोव्रतिनां तथा । स्त्रीराजमहतां निन्दां वर्जयेद्यः कथाव्रती ॥४८॥
रजस्वलान्त्यजम्लेच्छपतितव्रात्यकैस्तदा । द्विजद्विड्वेदबाह्यैश्च न वदेद्यः कथाव्रती ॥४९॥
सत्यं शौचं दयां मौनमार्जवं विनयं तथा । उदारमानसं तद्वदेवं कुर्यात्कथाव्रती ॥५०॥
दरिद्रश्च क्षयी रोगी निर्भाग्यः पापकर्मवान् । अनपत्यो मोक्षकामः शृणुयाच्च कथामिमाम् ॥५१॥
अपुष्पा काकवन्ध्या च वन्ध्या या च मृतार्भका । स्रवद्गर्भा च या नारी तया श्राव्या प्रयत्नतः ॥५२॥
एतेषु विधिना श्रावे तदक्षयतरं भवेत् । अत्युत्तमा कथा दिव्या कोटियज्ञफलप्रदा ॥५३॥
एवं कृत्वा व्रतविधिमुद्यापनमथाचरेत् । जन्माष्टमीव्रतमिव कर्तव्यं फलकाङ्क्षिभिः ॥५४॥

बुद्धिमान वक्ता मन्द स्वरसे अच्छी तरह कथा बाँचे ॥३८॥ दोपहरके समय केवल दो घड़ी विश्राम करे और वक्ता जो कथा कहे, कीर्तन करनेवाले वैष्णव उन्हींका अनुसरण करते हुए कीर्तन करें ॥३९॥ श्रोताको चाहिए कि मलमूत्रपर काबू रखनेके लिए स्वल्प भोजन करे । दिन रातमें केवल एक बार खीर खाय ॥४०॥ यदि सामर्थ्य हो तो सात दिनतक उपवास करके ही कथा सुने या घी-दूध पीकर आनन्दपूर्वक कथा सुने ॥४१॥ ऐसा न हो सके तो फलाहार करके या एक बार भोजन करके ही कथा सुने । तात्पर्य यह कि जिससे किसी प्रकारका कष्ट न हो, वैसा कोई नियम बाँध ले ॥४२॥ अच्छा तो यह हो कि भोजन करके ही कथा सुने । यदि उपवाससे कथामें विघ्न होनेकी संभावना हो तो उपवास करना ठीक नहीं है ॥४३॥ हे नारद ! अब तुम कथा सुननेवालोंके नियम सुनो । जो लोग वैष्णवदीक्षा नहीं लिए हुए हैं, ऐसे लोगोंको कथा सुननेका अधिकार नहीं है ॥४४॥ श्रोता सप्ताहयज्ञके समय ब्रह्मचर्य-से रहे, चारपाई पर न सोवे, पत्तलमें भोजन करे और प्रतिदिन जब कथा समाप्त हो जाय तभी भोजन करे ॥४५॥ कथा-व्रती दाल, मधु, तेल तथा कोई गरिष्ठ अन्न न खाय; और ऐसी वस्तु भी न ग्रहण करे, जो भावसे दूषित और जूठा हो ॥४६॥ कथाका व्रती सात दिन तक क्रोध, मद, मान, मत्सर, लोभ, दम्भ, मोह तथा द्वेषको दूर रक्खे ॥४७॥ कथाका व्रती वेद, वैष्णव, गुरु, गोसेवक, स्त्री, राजा तथा महात्माओंकी निन्दा न करे । (लहसुन, प्याज, गाजर, शहद, मसूर आदि निषिद्ध अन्न तथा कोई ऐसी वस्तु जो भगवानको अर्पण न की गयी हो, न खाय) ॥४८॥ रजस्वला स्त्री, म्लेच्छ, पतित, अधम, ब्राह्मण-द्वेषी और वेदविहित नियमोंसे पृथक् रहनेवाले लोगोंसे संभाषण न करे ॥४९॥ व्रती सत्य, शुचिता, दया, मौन, कोमलता, विनयभाव आदि सद्गुणोंका संग्रह करे और अपने हृदयको उदार बनाये रहे ॥५०॥ दरिद्र, कामी, रोगी, अभागा, पापी, निपूता और मोक्षकी अभिलाषा रखने-वाला प्राणी इस कथाको अवश्य सुने ॥५१॥ जिसके रज ही न आता हो वह अपुष्पा, वन्ध्या, काक-वंध्या (केवल एक सन्तानवाली), जिसके बच्चे होकर मरजाते हों (मृतवत्सा) तथा जिसका गर्भ ही गिर जाता हो (स्रवद्गर्भा) ऐसी स्त्री इस कथाको अवश्य सुने ॥५२॥ ये लोग यदि विधिसे इस कथाको सुनें तो उन्हें अक्षय फल प्राप्त हो । क्योंकि यह कथा अतिशय उत्तम, दिव्य और करोड़ों यज्ञोंका फल

अकिञ्चनेषु भक्तेषु प्रायो नोद्यापनाग्रहः । श्रवणेनैव पूतास्ते निष्कामा वैष्णवा यतः ॥५५॥
एवं नगाहयज्ञेऽस्मिन् समाप्ते श्रोतृभिस्तदा । पुस्तकस्य च वक्तुश्च पूजा कार्यातिभक्तितः ॥५६॥
प्रसादतुलसीमाला श्रोतृभ्यश्चाथ दीयताम् । मृदङ्गतालललितं कर्तव्यं कीर्तनं ततः ॥५७॥
जयशब्दं नमःशब्दं शङ्खशब्दं च कारयेत् । विप्रेभ्यो याचकेभ्यश्च वित्तमन्नं च दीयताम् ॥५८॥
विरक्तश्चेद्भवेच्छ्रोता गीता वाच्या परेऽहनि । गृहस्थश्चेत्तदा होमः कर्तव्यः कर्मशान्तये ॥५९॥
प्रतिश्लोकं तु जुहुयाद्विधिना दशमस्य च । पायसं मधु सर्पिश्च तिलान्नादिकसंयुतम् ॥६०॥
अथवा हवनं कुर्याद्गायत्र्या सुसमाहितः । तन्मयत्वात्पुराणस्य परमस्य च तत्त्वतः ॥६१॥
होमाशक्तौ बुधो हौम्यं दद्यात्तत्फलसिद्धये । नानाच्छिद्रनिरोधार्थं न्यूनताधिकतानयोः ॥६२॥
दोषयोः प्रशमार्थं च पठेन्नामसहस्रकम् । तेन स्यात्सफलं सर्वं नास्त्यस्मादधिकं यतः ॥६३॥
द्वादश ब्राह्मणान् पश्चाद्भोजयेन्मधुपायसैः । दद्यात्सुवर्णं धेनुं च व्रतपूर्णत्वहेतवे ॥६४॥
शक्तौ पलत्रयमितं स्वर्णसिंहं विधाय च । तत्रास्य पुस्तकं स्थाप्यं लिखितं ललिताक्षरम् ॥६५॥
सम्पूज्यावाहनाद्यैस्तदुपचारैः सदक्षिणम् । वस्त्रभूषणगन्धाद्यैः पूजिताय यतात्मने ॥६६॥
आचार्याय सुधीर्दत्त्वा मुक्तः स्याद्भवबन्धनैः । एवं कृते विधाने च सर्वपापनिवारणे ॥६७॥
फलदं स्यात्पुराणं तु श्रीमद्भागवतं शुभम् । धर्मकामार्थमोक्षाणां साधनं स्यान्न संशयः ॥६८॥

कुमारा ऊचुः

इति ते कथितं सर्वं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि । श्रीमद्भागवतेनैव भुक्तिमुक्ती करे स्थिते ॥६९॥

प्रदान करनेवाली मानी गयी है ॥५३॥ इसके अनन्तर फलाभिलाषी श्रोता इस महाव्रतका उसी प्रकार उद्यापन करे, जैसे कि जन्माष्टमीव्रतका उद्यापन किया जाता है ॥५४॥ दरिद्र और भगवद्भक्तके लिए प्रायः उद्यापन करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि भगवानके भक्त कथा सुननेमात्रसे पवित्र हो जाते हैं और उन्हें किसी प्रकारके फलकी अभिलाषा भी नहीं रहती ॥५५॥ इस तरह जब यह सप्ताह-यज्ञ समाप्त हो जाय, तब सभी श्रोता भक्तिके साथ श्रीमद्भागवतकी पुस्तक तथा वक्ता दोनोंका पूजन करें ॥५६॥ पूजनके अनन्तर वक्ता सभी श्रोताओंको प्रसाद और तुलसीकी माला प्रदान करे। तत्पश्चात् कीर्तन करनेवाले लोग मृदंग आदि बजाते हुए कीर्तन करें ॥५७॥ सब लोग एक स्वरमें जयशब्द तथा नमःशब्द-का उच्चारण करें और शंख बजावें। वहाँपर आये हुए ब्राह्मणों और याचकोंको यजमान धन तथा अन्न प्रदान करे। श्रोता यदि विरक्त हो तो कथासमाप्तिके दूसरे दिन गीताका पाठ करे और गृहस्थ हो तो कर्मकी शान्तिके लिए हवन करे ॥५८॥५९॥ दशम स्कन्धके प्रत्येक श्लोकका उच्चारण करता हुआ विधवत् हवन करे। खीर, शहद, घी तथा तिल-यव आदि अन्न हवनसामग्रीमें होना चाहिए ॥६०॥ यदि दशमके श्लोकोंसे हवन न कर सके तो मनको भली-भाँति सावधान करके गायत्रीमन्त्रसे ही हवन करे। क्योंकि भागवत गायत्रीमन्त्रमय है ॥६१॥ श्रोता यदि हवन करनेमें असमर्थ हो तो हवनकी सामग्रियाँ किसी ब्राह्मणको दान दे दे। इस यज्ञमें अज्ञातरूपसे हुई विविध त्रुटियोंको दूर करने तथा न्यूनाधिकताकी पूर्तिके लिए और दोषोंको शान्त करनेके निमित्त विष्णुसहस्रनामका पाठ करे। इससे यज्ञसम्बन्धी समस्त कार्य सफल हो जाते हैं। क्योंकि विष्णुसहस्रनामसे बढ़कर कोई वस्तु है ही नहीं ॥६२॥६३॥ यह सब करनेके बाद बारह ब्राह्मणोंको मधु तथा खीर खिलावे और व्रतपूर्तिके लिए सुवर्ण-की गौ प्रदान करे ॥६४॥ यदि सामर्थ्य हो तो तीन पल सुवर्णका सिंहासन बनवाकर उसपर सुन्दर अक्षरोंमें लिखी हुई भागवतकी पोथी रखे ॥६५॥ आवाहन आदि विधान करता हुआ विविध प्रकारके उपचारोंसे पूजन करे। फिर संयतचित्त हो आचार्यकी वस्त्र, भूषण और चन्दन आदिसे पूजा करके उसे वह पोथी और स्वर्णमय सिंहासन प्रदान करे। ऐसा करनेवाला प्राणी संसारके सभी बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥६६॥६७॥ और तभी श्रीमद्भागवत सुनना फलदायक होता है और उस श्रोताके

सूत उवाच

इत्युक्त्वा ते महात्मानः प्रोचुर्भागवतीं कथाम् । सर्वपापहरां पुण्यां भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम् ॥७०॥
शृण्वतां सर्वभूतानां सप्ताहं नियतात्मनाम् । यथाविधि ततो देवं तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥७१॥
तदन्ते ज्ञानवैराग्यभक्तीनां पुष्टता परा । तारुण्यं परमं चाभूत्सर्वभूतमनोहरम् ॥७२॥
नारदश्च कृतार्थोऽभूत्सिद्धे स्वीये मनोरथे । पुलकीकृतसर्वाङ्गः परमानन्दसम्भृतः ॥७३॥
एवं कथां समाकर्ण्य नारदो भगवत्प्रियः । प्रेमगद्गदया वाचा तानुवाच कृताञ्जलिः ॥७४॥

नारद उवाच

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवद्भिः करुणापरैः । अद्य मे भगवाँल्लब्धः सर्वपापहरो हरिः ॥७५॥
श्रवणं सर्वधर्मेभ्यो वरं मन्ये तपोधनाः । वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद्यस्य लभ्यते ॥७६॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवति वै तत्र नारदे वैष्णवोत्तमे । परिभ्रमन् समायातः शुको योगेश्वरस्तदा ॥७७॥

तत्रााययौ षोडशवार्षिकस्तदा व्यासात्मजो ज्ञानमहाब्धिचन्द्रमाः ।
कथावसाने निजलाभपूर्णः प्रेम्णा पठन् भागवतं शनैः शनैः ॥७८॥
दृष्ट्वा सदस्याः परमोरुतेजसं सद्यः समुत्थाय ददुर्महासनम् ।
प्रीत्या सुरर्षिस्तमपूजयत्सुखं स्थितोऽवदत्संशृणुतामलां गिरम् ॥७९॥

श्रीशुक उवाच

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥८०॥

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चारों ही पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है ॥६८॥ सनकादि कुमारोंने कहा— इस प्रकार मैंने तुम्हें श्रीभागवतकी सब विधि बता दी। अकेले भागवतसे ही भुक्ति और मुक्ति दोनों ही प्राप्त हो जाती हैं ॥६९॥ सूतजी कहते हैं—उन महात्माने इस प्रकार माहात्म्यका वर्णन करनेके अनन्तर श्रीमद्भागवतकी वह कथा कहना प्रारम्भ किया जो सप्ताह सुननेवालोंके सब पापोंको हरनेवाली, पवित्र तथा भुक्ति-मुक्ति प्रदान करनेवाली है। इसके पश्चात् उन सब लोगोंने पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवानकी स्तुति की ॥७०॥७१॥ कथा समाप्त होनेपर ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति वृद्धावस्था त्यागकर युवा हो गये। वे शरीरसे भी भलीभाँति परिपुष्ट हो गये थे। जिससे वे तीनों सबको भले लगने लगे ॥७२॥ नारदजी भी अपना मनोरथ सिद्ध देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उनके अङ्ग-प्रत्यंग पुलकित हो उठे और उन्हें अपार आनन्दका लाभ हुआ। भगवानके अद्वितीय भक्त नारद यह कथा सुनकर परम आनन्दित हुए और प्रेमसे गद्गद वाणीमें हाथ जोड़कर इस प्रकार स्तुति करने लगे-'मैं धन्य हूँ। आप दयालु महानुभावोंने हमपर बड़ी कृपा की। आज सब पाप करनेवाले साक्षात् विष्णुभगवान मानों मुझे मिल गये ॥७३-७५॥ हे तपोधनों! हम तो कथा-श्रवणको सब धर्मोंसे श्रेष्ठ मानने लग गये हैं। क्योंकि कथाश्रवणसे वैकुण्ठवासी भगवान प्राप्त हो जाते हैं' ॥७६॥ सूतजीने कहा-वैष्णवश्रेष्ठ नारदजी जब इस प्रकार स्तुति कर रहे थे, उसी समय योगेश्वर शुकदेवजी महाराज इधर-उधर भ्रमण करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥७७॥ शुकमुनि सोलह वर्षकी अवस्थाके बालक और ज्ञानरूपी महासमुद्रके चन्द्रमा थे। वे कथासमाप्तिको अपना महालाभ समझकर मन्द स्वरसे धीरे-धीरे भागवतका पाठ कर रहे थे ॥७८॥ उन परम तेजस्वी मुनिको देखते ही सब सदस्य उठकर खड़े हो गये और उनको एक उच्च आसन प्रदान किया। नारदजीने भी बड़े आनन्दके साथ उनकी पूजा की। आसनपर बैठकर शुकदेवजी बोले-'सज्जनो! आप लोग मेरी

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥८१॥
श्रीमद्भागवतं पुराणतिलकं यद्वैष्णवानां धनं यस्मिन् पारमहंस्यमेवममलं ज्ञानं परं गीयते ।
यत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं तच्छृण्वन् प्रपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥८२
स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः । अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित् ॥८३॥

सूत उवाच

एवं ब्रुवाणे सति बादरायणौ मध्ये सभायां हरिराविरासीत् ।
प्रह्लादबल्युद्धवफाल्गुनादिभिर्वृतः सुरर्षिस्तमपूजयच्च तान् ॥८४॥
दृष्ट्वा प्रसन्नं महदासने हरिं ते चक्रिरे कीर्तनमग्रतस्तदा ।
भवो भवान्या कमलासनस्तु तत्रागमत्कीर्तनदर्शनाय ॥८५॥
प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया चोद्धवः कांस्यधारी
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया रागकर्तार्जुनोऽभूत् ।
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयसुकराः कीर्तने ते कुमारा
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया व्यासपुत्रो बभूव ॥८६॥
ननर्त मध्ये त्रिकमेव तत्र भक्त्यादिकानां नटवत्सुतेजसाम् ।
अलौकिकं कीर्तनमेतदीक्ष्य हरिः प्रसन्नोऽपि वचोऽब्रवीत्तत् ॥८७॥
मत्तो वरं भाववृताद् वृणुध्वं प्रीतः कथाकीर्तनतोऽस्मि साम्प्रतम् ।
श्रुत्वेति तद्वाक्यमतिप्रसन्नाः प्रेमार्द्रचित्ता हरिमूचिरे ते ॥८८॥

पुनीत वाणी सुनं । हे रसिक भावुको ! वेदरूपी कल्पवृक्षसे टपके हुए और शुकके मुखसे निकले अतएव अमृत-रससे ओत-प्रोत और रसके भाण्डारस्वरूप इस श्रीमद्भागवतरूपी फलके रसका आप बार-बार पान करें ॥७९॥८०॥ राग-द्वेष-विहीन सज्जनोंके लिए भागवत प्रपंचशून्य उत्तम धर्म है। इसकी सारी बातें कल्याण-कारिणी तथा दैहिक, दैविक और भौतिक, इन तीनों तापोंका उन्मूलन करनेवाली हैं। महामुनि व्यासके बनाये हुए श्रीमद्भागवतको सुननेकी इच्छा रखनेवाले सन्तोंके हृदयमें तुरन्त भगवान आ विराजते हैं। संसारमें इसके सिवाय भला क्या कोई और ऐसा मार्ग है कि जिससे भगवान इतने शीघ्र प्राप्त हो सकें ॥८१॥ यह श्रीमद्भागवत पुराणोंका सिरताज और वैष्णवोंका सर्वोत्तम धन है। इसमें परमहंसता प्रतिपादन करनेवाले उज्ज्वल ज्ञानका वर्णन है। इसमें भक्ति और ज्ञान-वैराग्यके साथ-साथ निष्काम कर्मका आविष्कार है। इसको प्रेमके साथ सुनने, पढ़ने और विचारनेसे मनुष्य अनायास भवसागरसे छुटकारा पा जाता है ॥८२॥ स्वर्गलोक, सत्यलोक, कैलास तथा वैकुण्ठ, कहीं भी यह रस नहीं मिल सकता। इसलिए हे भाग्यवानों ! तुम मन लगाकर यह रस पियो। इसे कभी भी छोड़ो नहीं ॥८३॥ सूतजी कहने लगे–'शुकमुनि सभामें ऐसा कह ही रहे थे, इसी समय प्रह्लाद, बलि, उद्धव और अर्जुन आदि भक्तोंको लिए हुए भगवान प्रगट हो गये। नारदजीने उनकी भली भाँति पूजा की ॥८४॥ जब प्रसन्न होकर भगवान एक उत्तम आसनपर आसीन हो गये, तब जितने भी भक्त वहाँ एकत्र थे, वे सब उनके आगे कीर्तन करने लगे। कीर्तन देखनेके लिए पार्वतीको साथ लिये शंकरजी और ब्रह्माजी भी वहाँ आये ॥८५॥ प्रह्लादने अपने हाथमें खड़ताल लिया, उद्धवने झाँझ सम्हाला, नारदने वीणा ली और गानविद्यामें निपुण अर्जुन गाने लगे। देवराज इन्द्र मृदंग बजाने और सनकादि चारों कुमार भगवानकी जयजयकार करने लगे। सबके आगे व्यासपुत्र शुकमुनि अपनी सरस रचना द्वारा भाव बताने लगे ॥८६॥ इस महासमारोहके बीच भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य ये तीनों भावोन्मत्त होकर नाच रहे थे। यह अलौकिक कीर्तन देखकर भगवान बहुत

नगाहगाथासु च सर्वभक्तैरेभिस्त्वया भाव्यमिति प्रयत्नात् ।
मनोरथोऽयं परिपूरणीयस्तथेति चोक्त्वान्तरधीयताच्युतः ॥८९॥
ततोऽनमत्तच्चरणेषु नारदस्तथा शुकादीनपि तापसांश्च ।
अथ प्रहृष्टाः परिनष्टमोहाः सर्वे ययुः पीतकथामृतास्ते ॥९०॥
भक्तिः सुताभ्यां सह रक्षिता सा शास्त्रे स्वकीयेऽपि तदा शुकेन ।
अतो हरिर्भागवतस्य सेवनाच्चित्तं समायाति हि वैष्णवानाम् ॥९१॥
दारिद्र्यदुःखज्वरदाहितानां मायापिशाचीपरिमर्दितानाम् ।
संसारसिन्धौ परिपातितानां क्षेमाय वै भागवतं प्रगर्जति ॥९२॥

शौनक उवाच

शुकेनोक्तं कदा राज्ञे गोकर्णेन कदा पुनः । सुरर्षये कदा ब्राह्मैश्छिन्धि मे संशयं त्विमम् ॥९३॥

सूत उवाच

आकृष्णनिर्गमात्त्रिंशद्वर्षाधिकगते कलौ । नवमीतो नभस्ये च कथारम्भं शुकोऽकरोत् ॥९४॥
परीक्षिच्छ्रवणान्ते च कलौ वर्षशतद्वये । शुद्धे शुचौ नवम्यां च धेनुजोऽकथयत्कथाम् ॥९५॥
तस्मादपि कलौ प्राप्ते त्रिंशद्वर्षगते सति । ऊचुरूर्जे सिते पक्षे नवम्यां ब्रह्मणः सुताः ॥९६॥
इत्येतत्ते समाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ । कलौ भागवती वार्ता भवरोगविनाशिनी ॥९७॥
कृष्णप्रियं सकलकल्मषनाशनं च मुक्त्येकहेतुमिह भक्तिविलासकारि ।
सन्तः कथानकमिदं पिबतादरेण लोके हि तीर्थपरिशीलनसेवया किम् ॥९८॥

प्रसन्न हुए और कहने लगे—॥८७॥ आप लोगोंने मुझे अपने प्रेमरूपी पाशमें जकड़ लिया है। इस समय आपके इस कथा-कीर्तनसे मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। भगवानकी यह वाणी सुनकर वे सभी भक्त गद्‌गद हो गये और प्रेमविह्वल होकर भगवानसे कहने लगे—॥८८॥ हे हमारे हृदय-सम्राट् ! हम आपसे यही वर माँगते हैं कि प्रेमी भक्तजन जहाँ कहीं भी शुकमुनिके इस उत्तम आख्यानको कहते सुनते रहें तो आप वहाँ अवश्य उपस्थित हो जाया करें। आप हमारे इस मनोरथको पूर्ण कर दें। भगवान भी 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये ॥८९॥ इसके अनन्तर नारदने वहाँपर आये हुए शुक आदि तपस्वियोंका चरणस्पर्श करके प्रणाम किया और सब लोग प्रसन्न हो तथा अपना अज्ञान गवाँ और इस कथारूपी अमृतको पी-पीकर अपने आश्रमोंको लौटे ॥९०॥ उस समय शुकमुनिने अपने कहे हुए शास्त्र द्वारा भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य तीनोंकी रक्षा की थी। इसी वास्ते भगवान भागवतकी आराधना करनेवाले वैष्णव भक्तोंके हृदयमें शीघ्र ही आ विराजते हैं ॥९१॥ दरिद्रता और विविध दुखःरूपी ज्वरसे जलते हुए, मायारूपिणी कराल पिशाचिनीसे दले-मले एवं बार-बार संसाररूपी समुद्रमें गोते खानेवाले लोगोंके लिए श्रीमद्‌भागवत सिंहके समान गर्जता रहता है ॥९२॥ शौनकने सूतजीसे पूछा—हे महाराज ! यह कथा शुकदेवने महाराज परीक्षितसे, गोकर्णने भाईके उद्धारके लिए जनसाधारणसे और सनकादि कुमारोंने नारदजीसे कब कही ? कृपया आप मेरे इस प्रश्नका समाधान कर दें ॥९३॥ सूतजी बोले—'हे शौनक ! भगवान जब धरतीको त्यागकर गोलोक चले गये और कलिने आकर तीस वर्षतक राज भोग लिया, तब शुकदेवने भाद्रपदकी नवमी तिथीको यह कथा महाराज परीक्षितको सुनाना आरम्भ किया था ॥९४॥ कथा सुनकर परीक्षितके परमधाम चले जाले जानेके दो सौ वर्ष बाद गोकर्णने आश्विन शुक्ल नवमीको यह कथा बाँची ॥९५॥ इसके भी तीस वर्ष बाद कार्तिक शुक्ल नवमीको सनकादि मुनियोंने नारदजीको यह कथा सुनायी ॥९६॥ हे अनघ (पापशून्य) ! आपने मुझसे जो कुछ पूछा, मैंने कह

स्वपुरुषमपि वीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले ।
परिहर भगवत्कथासु मत्तान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम् ॥९९॥
असारे संसारे विषयविषसङ्गाकुलधियः क्षणार्धं क्षेमार्थं पिबत शुकगाथातुलसुधाम् ।
किमर्थं व्यर्थं भो व्रजत कुपथे कुत्सितकथे परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने ॥१००॥
रसप्रवाहसंस्थेन श्रीशुकेनेरिता कथा । कण्ठे सम्बध्यते येन स वैकुण्ठप्रभुर्भवेत् ॥१०१॥
इति च परमगुह्यं सर्वसिद्धान्तसिद्धं सपदि निगदितं ते शास्त्रपुञ्जं विलोक्य ।
जगति शुककथातो निर्मलं नास्ति किञ्चित्पिब परसुखहेतोर्द्वादशस्कन्धसारम् ॥१०२॥
एतां यो नियततया शृणोति भक्त्या यश्चैनां कथयति शुद्धवैष्णवाग्रे ।
तौ सम्यग्विधिकरणात्फलं लभेते याथार्थ्यान्न हि भुवने किमप्यसाध्यम् ॥१०३॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये श्रवणविधिकथनं नाम षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

समाप्तमिदं श्रीमद्भागवतमाहात्म्यम्

हरिः ॐ तत्सत्

सुनाया । कलियुगमें श्रीमद्भागवतकी कथा संसाररूपी रोग दूर कर देनेवाली अनोखी बूटी है ॥९७॥ हे सज्जनों ! तीर्थोंमें विशेष चक्कर काटनेसे क्या लाभ ! तुमलोग कृष्णभगवानको प्रिय, सब पातक नष्ट करनेवाले, मुक्तिके निमित्त कारण और भक्तिकी विलासभूमिस्वरूप भागवतके कथारसको आदरके साथ पियो—सांसारिक स्वार्थोंके चक्करमें पड़े रहनेसे कोई लाभ नहीं है ॥९८॥ यमराज हाथमें पाश लिये अपने दूतोंको देखकर उनके कानमें कहते हैं कि देखो, भागवतकी कथा सुनकर मस्त रहनेवाले जीवोंके पास तुम कभी मत जाना । क्योंकि मैं संसारके और-और जीवों-पर ही हुकूमत कर सकता हूँ, भगवानके भक्तोंपर नहीं ॥९९॥ ओ विषयरूपी विष पीकर व्याकुल चित्त-वाले लोगों ! आत्मकल्याणके लिये तुम विशेष नहीं, केवल आधे क्षण शुकमुनिकी दी हुई इस अनुपम सुधाको पी लिया करो । ओ भाई ! व्यर्थ क्यों बुरे रास्ते जा रहे हो ? इस भागवतकी निपुणताके साक्षी तो स्वयं महाराज परीक्षित हैं कि जिन्होंने केवल सात दिन इसे सुनकर मुक्ति प्राप्त कर ली थी ॥१००॥ रसकी धारामें विराजमान श्रीशुकमुनिकी कही हुई इस कथाको जो मनुष्य कण्ठस्थ कर लेता है, वह वैकुण्ठलोकका अधिकारी बन जाता है ॥१०१॥ इसलिए परम गुप्त, सब सिद्धान्तोंसे सिद्ध एवं शास्त्रोंको टटोलकर कहे हुए द्वादशस्कन्धात्मक कथारसका पान करो । क्योंकि शुकभगवानकी कथाके समान निर्मल वस्तु संसारमें कोई भी नहीं है ॥१०२॥ जो प्राणी नियमसे भक्तिपूर्वक इस कथाको सुनता और वैष्णवोंके आगे कहता है तो वे वक्ता तथा श्रोता दोनों ही इस अच्छे विधानका पालन करनेके कारण उत्तम फल प्राप्त करते हैं । उनके लिए फिर संसारमें कोई कार्य असाध्य नहीं रह जाता ॥१०३॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे श्रीमद्भागवतमाहात्म्ये साहित्य-शास्त्रि—पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां श्रवणविधिकथनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीका सहितम्।

प्रथमस्कन्धः

—:०:—

अथ प्रथमोऽध्यायः

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।१।।
धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।।२।।

दोहा—नारायण तव चरणयुग, प्रणवौं बारम्बार। जेहि ते उपजै विमल बुधि, हटै हियेको भार ।।१।।
जानत हौं मैं पतित हौं, तबहुँ तुम्हारी आस। त्यागत नाहीं निलज मन, होत न नेक उदास ।।२।।
मेरी ओर निहारिए, हे नारायण देव। कैसो हूँ हूँ आपको, मत कुछ करिए भेव ।।३।।
कबलों रूठे रहहुगे, सोचि मोरि तकसीर। एक दिन बाँहैं गहहुगे, देखि नैनको नीर ।।४।।
हमसों तुम्हरे बहुत हैं, तुम सम हमरे नाहिं। यही सोचि मन बिकल है, लोटत पाँयन माँहिं ।।५।।
हे करुणाकर ! हे सुघड़ ! जगपति ! जगदाधार। अब जनि बेर लगावहू, बेगि करो निस्तार ।।६।।
सो०—तव पदरज धरि शीश, रचहुँ भागवतको तिलक। कृपा करहु जगदीश, होय सिद्ध मम कामना ।।१।।

(महामुनि व्यासजीने अनेक पुराणों और शास्त्रोंको रच डाला। फिर भी उनका चित्त शान्त नहीं हुआ। एक दिन वे मन मारे सरस्वती नदीके तीर बैठे हुए थे। इसी समय नारदजी आ गये। उन्होंने उनकी व्याकुलताका कारण समझकर श्रीमद्भागवतकी रचना करनेका उपदेश दिया।) श्रीमद्भागवतको प्रारम्भ करते समय आनेवाली विघ्न-बाधाओंको दूर करनेके लिए भगवान्का स्मरण करते हुए व्यासदेव मंगलाचरण करते हैं—जिन भगवान्के द्वारा इस संसारकी सृष्टि, स्थिति और संहार होता है। जो आकाशादि कार्यों तथा हारमें पड़े डोरेके समान खपुष्प आदिमें भी रहते हैं, जो मिट्टी तथा सोने आदिमें कारणरूपसे और घट-कुण्डल आदिमें कार्यरूपसे रहा करते हैं। जो सर्वज्ञ और ज्ञानके रूप हैं। जिस वेदमें बड़े-बड़े ज्ञानी भी चकरा जाते हैं, वह वेद जिन्होंने अपनी इच्छा-मात्रसे ब्रह्मदेवको दे डाला था। जिस प्रकार मृग सूर्यकी किरणोंको जल समझ बैठता और भ्रमवश बहुतसे प्राणी जलको काँच आदि समझकर उसे सच मान लेते हैं। इसी तरह बहुतेरे प्राणी देह, इन्द्रिय और देवतारूप तथा सत, रज और तमोगुणके योगसे बनी हुई इस सृष्टिको अज्ञानवश सत्य मानकर इसीमें लिपट जाते हैं, इस अज्ञानान्धकारको जो अपने तेजसे नष्ट कर देते हैं, उन नारायणको शिष्योंके साथ-साथ हम प्रणाम करते हैं ।।१।। इस श्रीमद्भागवतमें द्वेषशून्य, सन्तोंके जानने योग्य, आडम्बरविहीन अर्थात् निष्कामरूपसे ईश्वरके आराधनरूप धर्मका निरूपण किया जायगा। इस धर्मसे सब तरह सबका कल्याण होगा। दैहिक, दैविक तथा भौतिक, ये तीनों प्रकारके ताप समूल नष्ट हो जायँगे और परम आनन्द प्राप्त होगा। महामुनि शुकदेवजीके कहे हुए श्रीमद्भागवतके रहते

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥३॥

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः । सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ ४ ॥
त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः । सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥ ५ ॥

ऋषय ऊचुः

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ । आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ॥६॥
यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः । अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः ॥७॥
वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात् । ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥८॥
तत्र तत्राञ्जसायुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम् । पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥९॥
प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः । मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः ॥१०॥
भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः । अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया ॥
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां येनात्मा सम्प्रसीदति ॥११॥
सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः । देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥१२॥
तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम् । यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च ॥१३॥

आत्मोद्धारके लिए अन्य शास्त्रोंको खोजनेकी क्या आवश्यकता ? अन्य शास्त्रोंसे यदि ईश्वरकी प्राप्ति होती भी है तो बड़े विलम्बसे होती है । किन्तु इस शास्त्रको जो पुण्यात्मा सज्जन प्रेमके साथ सुननेकी इच्छा करते हैं तो उसी समय भगवान् उनके हृदयमें आ विराजते हैं ॥२॥ हे भक्तिमान् रसिको ! वेदरूपी कल्पवृक्षसे टपके और शुकमुनिके मुखसे निकले एवं अमृतरससे ओत-प्रोत इस भागवतरूपी रसको तुम तब तक पीते रहो, जबतक कि मुक्ति न प्राप्त हो जाय ॥३॥ एक समय शौनकादि ऋषियोंने नैमिषारण्य क्षेत्रमें हजार वर्षोंमें समाप्त होनेवाला एक महायज्ञ प्रारम्भ किया । *सामयिकी टिप्पणी*—एक बार शौनकादि ऋषियोंने ब्रह्माजीसे कहा कि हे ब्रह्मन् ! हमको कोई तप करने योग्य स्थान बताइए । इस पर ब्रह्माने एक चक्र उठाकर फेंका और उन ऋषियोंसे कहा—यह चक्र जहाँ जाकर रुक जाय, तुम उसी स्थानको तप करने योग्य समझो । इसपर ब्रह्माको प्रणामकर वे ऋषि उसके पीछे-पीछे चले और जहाँ वह रुका, वहीं तप करने लगे । इसीसे उस स्थान का 'चक्रतीर्थ' अथवा 'नैमिषारण्य' यह नाम पड़ा ॥४॥ एक दिन वे मुनि प्रातःकालीन अग्निहोत्र-विधि समाप्त कर बैठे हुए सूतके समीप गये और बड़े आदरके साथ पूछने लगे—॥५॥ (प्रथम प्रश्न) हे पुण्यात्मन् ! आपने समस्त इतिहासों, पुराणों और शास्त्रोंको पढ़ा और दूसरोंको सुनाया भी है ॥६॥ उन इतिहासों, पुराणों और शास्त्रोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ एकमात्र वेदव्यास तथा कतिपय सर्वज्ञ ऋषि ही थे ॥७॥ भगवान् व्यासकी कृपासे आप उन इतिहासादिकोंको अच्छी तरह जासते हैं। प्रेमी शिष्यसे गुरुजन गुप्त बातें भी नहीं छिपाते ॥८॥ अतएव हे आयुष्मन् ! आपने उन शास्त्रोंमें मनुष्योंके कल्याणार्थ जो बातें सुनी-समझी हों, वह हम लोगोंको बतलाइए ॥९॥ क्योंकि कलियुगमें लोग बड़े आलसी, अल्पायु, मन्दबुद्धि और विविध प्रकारके रोग-शोकसे पीड़ित रहते हैं ॥१०॥ वैसे तो उनके उद्धारके लिए बहुतेरे शास्त्र बतलाये गये हैं, जो सब सुनने योग्य हैं । लेकिन आप हमको उन शास्त्रोंका वह सारांशभर सुनाइए जो कि आपने अपनी बुद्धिसे निकाला हो और जिसके सुननेसे हम श्रद्धालुओंकी आत्मा प्रसन्न हो । आपका कल्याण हो । आपको यह सब गुप्त बातें भी मालूम हैं कि जगत्पति भगवान्ने कौनसा कार्य करनेके निमित्त वसुदेव और देवकीके घर जन्म लिया था । (द्वितीय प्रश्न) हे अंग ! सुननेके लिए उत्सुक हम श्रोताओंको आप उनका पवित्र चरित्र सुनाइए । क्योंकि उन महाप्रभुका अवतार प्राणियोंके कल्याण और समृद्धिके

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् । ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥१४॥
यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः । सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥१५॥
को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः । शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम् ॥१६॥
तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः । ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः ॥१७॥
अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः । लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ॥१८॥
वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे । यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥१९॥
कृतवान् किल वीर्याणि सह रामेण केशवः । अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः ॥२०॥
कलिमागतमाज्ञाय क्षेत्रेऽस्मिन् वैष्णवे वयम् । आसीना दीर्घसत्रेण कथायां सक्षणा हरेः ॥२१॥
त्वं नः सन्दर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम् । कलिं सत्त्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम् ॥२२॥
ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि । स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः ॥२३॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

व्यास उवाच

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः । प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

लिए ही हुआ था ॥११॥१२॥१३॥ विवश भावसे भी मनुष्य जिसका नाम लेकर इस घोर संसार-सागरको पार कर जाता है, जिसके नामसे भय भी भय खाता है ॥१४॥ जिन भगवान्‌की चरण-शरण ग्रहण करनेके कारण शान्तचित्त मुनिजन दर्शनमात्रसे प्राणियोंको पवित्र कर देते हैं। वैसे पवित्र तो गङ्गाजी भी करती हैं, लेकिन जब उनके जलका स्पर्श होता है तब—और ऋषियोंके दर्शन ही से वह काम हो जाता है ॥१५॥ पवित्र आत्मावाले योगी भी जिन भगवान्‌के उत्तम कार्योंकी सराहना करते हैं, तब आत्मशुद्धिकी अभिलाषा रखनेवाला ऐसा कौन प्राणी होगा, जो भगवानके कलिमल-नाशक यशको न सुनेगा—सभी सुनेंगे और प्रेममें सुनेंगे ॥१६॥ (तृतीय प्रश्न) अतएव जो कौतूहलवश अपनी कलाओंसे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि रूप धारण करते और नारदादि बड़े-बड़े योगियोंने जिनकी विश्वसृष्टि आदि गाथा गायी है, उन 'नारायण' के उदार कर्मोंको आप हम श्रद्धालुओंको अवश्य सुनाइए ॥१७॥ (चतुर्थ प्रश्न) हे बुद्धिमान सूत ! जो परमेश्वर जगत्‌का पालन करनेके लिए अपनी मायासे मत्स्य-कूर्म आदि अवतारोंको धारण करते हैं, उनकी अवतारसम्बन्धिनी कथाओंको आप हमें सुनायें ॥१८॥ उन जगदीश्वरकी महिमामयी कथाको बार-बार सुनकर भी हम तृप्त नहीं होने आते। क्योंकि उनका चरित्र रसिक श्रोताओंको उत्तरोत्तर अधिकसे अधिक स्वादिष्ट लगता जाता है ॥१९॥ (पञ्चम प्रश्न) माया-मानुष-रूप धारण करनेवाले उन जनार्दनने बलरामके साथ धरातलमें आकर मानव शक्तिसे परे गोवर्धन उठाने आदि जिन महान् कार्योंको किया था, वह सब आप हम लोगोंको सुनाइए ॥२०॥ यदि आप कहें कि आप सरीखे कर्मयोगी मुनियोंको यह लम्बी कथा सुननेका अवकाश कैसे मिलेगा तो सुनिए-दुष्ट कलिके आगमनकी वार्ता सुनकर ही हमने इस नैमिषारण्यमें सहस्रवर्षीय यज्ञ प्रारम्भ किया है। इसलिए भगवान्‌की कथा सुननेका मुझे बहुत अधिक अवकाश है ॥२१॥ जिस तरह समुद्रको पार करनेके लिए चतुर नाविकोंकी आवश्यकता होती है, इसी तरह हमको कराल कालरूपी समुद्रको पार करनेके लिए आप सरीखे विद्वान् और तत्त्वदर्शी नाविककी आवश्यकता थी। भाग्यवश आप मिल भी गये ॥२२॥ (छठाँ प्रश्न) हे सूत ! अब जब कि धर्मरक्षक, ब्राह्मण-भक्त, धर्मात्मा एवं योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने वास्तविक रूपको प्राप्त होकर इस धरातलसे चले गये हैं, तब धर्म बेचारा किसकी शरणमें गया है ? ॥२३॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

(इस दूसरे अध्यायमें सूतजीने शौनकादि मुनियोंके प्रश्न करनेपर उनको भगवान्‌का महत्त्व

सूत उवाच

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥२॥
यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥३॥
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥४॥
मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् । यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥५॥
स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे । अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ॥६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः । जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥७॥
धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥८॥
धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते । नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥९॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥१०॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥११॥
तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया । पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥१२॥

बताया है) व्यासजी कहते हैं—उन ब्राह्मणोंके ऐसे प्रश्न सुनकर रोमहर्षके पुत्र (उग्रश्रवा नामके) सूत बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने उनके प्रश्नोंकी सराहना की और उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥ १ ॥ सूतजी गुरुदेव शुकमुनिकी वन्दना करते हुए कहते हैं—'उपनयनसंस्कार होनेके पहले ही संसारको असार समझ और संन्यासव्रत लेकर वनको जाते हुए जिन शुकमुनिको पुत्रवियोग-जनित क्लेश सहनेमें असमर्थ व्यासने "पुत्र ! पुत्र !! पुत्र !!!' ऐसा कहकर पुकारा तो शुकको अपनी ही आत्मा समझनेवाले वृक्षोंने प्रतिध्वनिरूपसे उत्तर दिया, योगबलसे सब प्राणियोंके हृदयमें प्रवेश करनेवाले उन गुरुवर शुकमुनिको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥ जिन्होंने दुस्तर संसाररूपी सागरको पार करनेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए आत्मस्वरूप एवं वेदोंके सारस्वरूप गोपनीय श्रीमद्भागवत नामक पुराण कहा, मुनियोंके भी गुरु उन व्यासपुत्र शुकदेवकी मैं शरणमें हूँ ॥ ३ ॥ शुकदेव बोले—नारायण (कृष्ण) और मनुष्योंमें श्रेष्ठ नर (अर्जुन) और देवी सरस्वतीको प्रणाम करनेके बाद किसी ग्रंथकी कथा कहनी चाहिए ॥ ४ ॥ हे ऋषियों ! आप लोगोंने बहुत अच्छा प्रश्न किया है । इसके उत्तरसे संसारका कल्याण होगा। क्योंकि आपने चित्तको प्रसन्नता प्रदान करनेवाला श्रीकृष्णविषयक प्रश्न किया है ॥ ५ ॥ मनुष्योंके लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है कि जिससे 'नारायण' में अहैतुकी भक्ति जागृत हो और आत्मा भलीभाँति प्रसन्न हो ॥ ६ ॥ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें भक्ति करते ही वैराग्य और उसके साथ-साथ फलेच्छारहित ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥ जिस धर्मके भली-भाँति पालन करनेपर भी भगवान् कृष्णचन्द्रकी पुनीत कथाओंमें श्रद्धा न उपजै तो उस धर्मका पालन करना व्यर्थ है । क्योंकि उसके निमित्त किया हुआ परिश्रम एकदम कोरा रह जाता है ॥ ८ ॥ जो धर्म मोक्षसाधनके लिए किया जाता है, उससे धनकी प्राप्ति नहीं हो सकती और हो भी तो वह उस धर्मका फल नहीं हो सकता । उसी तरह धर्मका फल काम नहीं है । कामका फल इन्द्रियकी प्रसन्नता नहीं है, बल्कि कामका वास्तविक फल जीवन है । सबका सार यह निकला कि जितनेसे जीवन चल सके, उतना ही (विषयवासनारूप) कामका सेवन करना चाहिए—अधिक नहीं । जीवनका फल तत्त्वज्ञानकी इच्छा होना है—स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए कर्म करना नहीं ॥ ९ ॥१०॥ तत्त्वज्ञानी लोग इसीको तत्त्व कहते हैं । उसी तत्त्वको उपनिषदका अर्थ विचारनेवाले ज्ञानी ब्रह्म, वैष्णव परमात्मा और भक्त भगवान् कहते हैं ॥११॥ उसपर श्रद्धा रखनेवाले ऋषि वेदान्त आदिके सुननेसे प्राप्त ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तिके द्वारा उस तत्त्वको अपने ही में देख लेते

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः। स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥१३॥
तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥१४॥
यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्। छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥१५॥
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः। स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥१६॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः। हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥१७॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया। भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१८॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये। चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥१९॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः। भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥२०॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥२१॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा। वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥२२॥

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः ॥२३॥

पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयीमयः। तमसस्तु रजस्तस्मात्सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२४॥
भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्। सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह ॥२५॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ। नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥२६॥

हैं—उन्हें इधर-उधर नहीं भटकना पड़ता ॥१२॥ अतएव हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! वर्णाश्रम-विभागके नियमानुसार भली-भाँति आचरित धर्मका फल एकमात्र भगवान्को सन्तुष्ट करना है ॥१३॥ इससे आत्म-कल्याण चाहनेवाले प्राणीका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने मनको एकाग्र करके नित्य भक्तोंका पालन-पोषण करनेवाले भगवान्का यश सुने, उनके गुण गावे, उनके स्वरूपका ध्यान धरे और उन्हींकी उपासना करे ॥१४॥ जब बड़े-बड़े विद्वान् ज्ञानी भगवान्के ध्यानरूपी खड्गसे अहंकारके ग्रंथिस्वरूप कर्मको काट फेंकते हैं, तब भला उन भगवान्की कथामें कौन विश्वास नहीं करेगा—सब करेंगे ॥१५॥ हे विप्रो ! पवित्र तीर्थोंका सेवन और सन्तोंकी सेवा करनेसे श्रद्धालु तथा श्रवणेच्छु श्रोताके हृदयमें भगवान्की कथा सुननेकी रुचि उत्पन्न होती है ॥१६॥ पवित्र श्रवण-कीर्तन और सज्जनोंके मित्र भगवान् भी अपनी कथा सुननेवाले भक्तोंके हृदयमें विराजमान होकर उनकी सभी विषयवासनाओंको नष्ट कर देते हैं ॥१७॥ जब उनकी वासनायें नष्ट हो जाती हैं, तब नित्य भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेसे पुनीत चरित्रवाले भगवान्में कभी भी नष्ट न होनेवाली भक्ति उत्पन्न होती है ॥१८॥ उस समय उस प्राणीके हृदयमें बसनेवाले रजोगुण, तमोगुण तथा काम-क्रोध आदि शत्रु दब जाते और इन दुष्टोंसे छूटा हुआ मन सतोगुणमें स्थित होकर सुखी हो जाता है ॥१९॥ इस तरह भक्तियोगके द्वारा जिसका मन प्रसन्न हो जाता है, उसी मुक्तसंग भक्तको भगवान्का तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ॥२०॥ इस प्रकार अपने आपमें ईश्वरका साक्षात्कार हो जानेसे चित् और जड़ात्मक हृदयग्रंथि खुल जाती है, उसके संभव-असंभवादि सभी संशय नष्ट हो जाते और संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण कर्म भी क्षीण हो जाते हैं ॥२१॥ अतएव विद्वान् लोग चित्तको प्रसन्न करनेवाली विष्णुकी भक्ति बड़े प्रेमसे करते हैं ॥२२॥ सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं। इन गुणोंसे युक्त हो एक ही परमात्मा इस संसारके पालन, सृष्टि और संहारकार्यमें विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव इन तीन नामोंको धारण करता है। किन्तु उसमें विष्णु ही से मनुष्योंका कल्याण होता है ॥२३॥ जैसे पृथिवीसे उत्पन्न काष्ठ द्वारा धूम और उस धूमसे कर्मसाधक अग्नि उत्पन्न होता है, उसी तरह तमोगुण और रजोगुणसे सत्त्वगुण प्रकट होता है, जो ब्रह्मका प्रकाश है ॥२४॥ इसीसे मुनियोंने पहले शुद्ध, सत्त्वगुणसंयुक्त विष्णुकी ही सेवा की है। अब भी विष्णुभगवानके भक्तोंके जो अनुगामी होते हैं, वे आनन्दित रहते हैं ॥२५॥ मुक्तिके इच्छुक

रजस्तमःप्रकृतयः समशीला भजन्ति वै। पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्यप्रजेप्सवः ॥२७॥
वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥२८॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः। वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥२९॥
स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया। सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः ॥३०॥
तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव। अन्तःप्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः ॥३१॥
यथा ह्यवहितो वह्निर्दारुष्वेकः स्वयोनिषु। नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान् ॥३२॥
असौ गुणमयैर्भावैर्भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मभिः। स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुङ्क्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥३३॥
भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः। लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

सूत उवाच

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः। सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥ १ ॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः। नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥ २ ॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः। तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥ ३ ॥

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥४॥

लोग अन्य देवताओंकी निन्दा न करते हुए रुद्र आदि भयंकर देवताओंको छोड़कर शान्तस्वरूप विष्णुकी मूर्तियोंको ही भजते हैं ॥ २६ ॥ लक्ष्मी (ऐश्वर्य) तथा सन्तान चाहनेवाले और रुद्रादिक देवताओंके समान स्वभाववाले रजोगुणी और तमोगुणी मनुष्य पितर, भूत तथा शिवादिक देवताओंकी आराधना करते हैं ॥२७॥ वेद विष्णु ही की आराधनाके लिये हैं। यज्ञोंसे भी विष्णु ही का आराधन होता है। योग तथा कर्मकाण्ड भी विष्णुका ही आराधन करनेकी शिक्षा देते हैं ॥२८॥ ज्ञानशास्त्र, तप, धर्मशास्त्र और गति (स्वर्गादिप्राप्तिफल) भी विष्णुकी ही आराधनाके द्योतक हैं ॥२९॥ उन्हीं विष्णुभगवानने प्राचीन समयमें कार्यकारणरूपिणी अपनी गुणमयी मायासे इस संसारको रचा है। किन्तु विष्णुभगवान स्वयं निर्गुण हैं ॥३०॥ चैतन्य-शक्तिसे वृद्धिको प्राप्त वे विष्णुभगवान मायासे उत्पन्न गुणोंके भीतर प्रवेश करके सगुणके सदृश जान पड़ते हैं ॥३१॥ जैसे एक ही अग्नि अनेक काष्ठोंमें रहनेसे अनेक भाँतिका जान पड़ता है, वैसे ही ईश्वर विभिन्न प्राणियोंमें रहनेके कारण अनेक प्रकारका मालूम होता है ॥३२॥ वे विष्णु अपने ही बनाये हुए प्राणियोंमें प्रवेशकर भूत, सूक्ष्म, इन्द्रिय और मन आदि गुणमय भावोंसे उनके गुण अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गन्धादिकोंका भोग करते हैं ॥३३॥ लीलावतारोंमें अनुरक्त लोककर्ता विष्णु सत्त्वगुणसे लोकोंकी रक्षा करते और समय-समयपर देवता, पशु, पक्षी और मनुष्यादिकोंके रूपसे अवतार लेते हैं ॥३४। इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

(तीसरे अध्यायमें भगवानके अवतारों और गुणोंका वर्णन है) सूतजी बोले—श्रीविष्णुभगवानने पहले लोकोंको रचनेकी इच्छासे महत्तत्त्व और अहंकारादिकोंसे उत्पन्न सोलह कलाका पुरुषरूप ग्रहण किया ॥ १ ॥ योगनिद्राका विस्तार करके जलमें सोते हुए विष्णुके नाभिस्थित कमलसे प्रजापति ब्रह्मा उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ उन्हीं विष्णुके अंगोंसे संसारका विस्तार कल्पित किया गया। वही भगवानका सत्त्वगुणमय शुद्धस्वरूप है ॥ ३ ॥ हजारों चरण, जंघा, बाहु और मुखोंसे अद्भुत, हजारों

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥५॥
स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः। चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम् ॥६॥
द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महीम्। उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः सौकरं वपुः ॥७॥
तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः। तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ॥८॥
तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी। भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः ॥९॥
पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥१०॥
षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया। आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥११॥
ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत। स यामाद्यैः सुरगणैरपात्स्वायम्भुवान्तरम् ॥१२॥
अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः। दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥१३॥
ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः। दुग्धेमामौषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥१४॥
रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे। नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ॥१५॥
सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्। दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥१६॥
धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च। अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया ॥१७॥
चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम्। ददार करजैर्वक्षस्येरकां कटकृद्यथा ॥१८॥

मस्तक, श्रवण, नेत्र तथा नासिकासे युक्त तथा हजारों मुकुट, वस्त्र और कुण्डलोंसे शोभित इस रूपको योगीजन अपनी ज्ञानदृष्टिसे देखते हैं ॥ ४ ॥ यही विविध अवतारोंका प्रवेशस्थान और विकाररहित बीज है, उन्हींके अंश ब्रह्मा तथा अंशांश मरीचि आदिकों द्वारा देवता, पशु, पक्षी और मनुष्य आदि-की सृष्टि होती है ॥ ५ ॥ उन्हीं 'विष्णु' देवताने पहले सनत्कुमार अवतारमें ब्राह्मण होकर अत्यंत कठिन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था ॥ ६ ॥ यज्ञेश विष्णुने संसारकी सृष्टिके निमित्त रसातलमें प्रविष्ट पृथ्वीको वापस लानेके लिये दूसरे अवतारमें वाराहरूप धारण किया था ॥ ७ ॥ उन्हीं भगवान-ने तीसरा नारद अवतार लेकर पञ्चरात्र शास्त्रको कहा था, जिससे प्राणियोंको कर्मोंके बन्धनसे मुक्ति मिलती है ॥ ८ ॥ उन्होंने चौथे अवतारमें धर्मकी मुक्ति नामवाली स्त्रीसे नर-नारायण ऋषि होकर बुद्धि शान्त करनेवाला कठिन तप किया ॥ ९ ॥ उन्होंने ही पाँचवें अवतारमें कपिलमुनि होकर आसुरि नामक ब्राह्मणसे जन्म लेकर समयवश नष्ट तत्त्वसमूहका निर्णय करनेवाला सांख्यशास्त्र कहा ॥ १० ॥ छठें अवतारमें अत्रिके पुत्र दत्तात्रेय होकर उन्होंने अत्रिकी स्त्री अनसूयाको वर दिया तथा अलर्क, प्रह्लाद और यदु आदि पुरुषोंसे आत्मज्ञान कहा ॥ ११ ॥ सातवें अवतारमें वे रुचिकी स्त्री याकूतीमें यज्ञावताररूपसे उत्पन्न हुए। उन्होंने ही याम आदि देवताओं समेत स्वायंभुव मन्वन्तरका पालन किया ॥१२॥ आठवें अवतारमें वे विद्वानोंको सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ परमहंस-मार्ग दिखलानेके लिये नाभिकी स्त्री मेरुदेवीमें ऋषभदेव नामसे उत्पन्न हुए ॥१३॥ हे विप्रों! ऋषियोंके प्रार्थना करनेसे नवाँ पृथु अवतार हुआ। उन पृथुने इस पृथ्वीसे औषध और अन्नादिक दुहा। इससे पृथु अवतार बड़ा सुन्दर माना गया है ॥१४॥ चाक्षुष मन्वन्तरके समय प्रलयसमुद्रमें उन्होंने मत्स्या-वतार ग्रहण किया था, जिसमें पृथ्वीरूपी नावपर सब वस्तु लादकर उन्होंने वैवस्वत मनुकी रक्षा की थी ॥१५॥ जब देवता और दैत्य समुद्र मथने लगे, तब ग्यारहवे अवतारमें विष्णुभगवान्ने कच्छपरूप-धारणकर अपनी पीठपर मन्दराचल पर्वत धारण किया ॥१६॥ उनका बारहवाँ अवतार धन्वन्तरिरूप-से हुआ और तेरहवें अवतारमें उन्होंने मोहिनीरूपसे दैत्योंको मोहित करके देवताओंको अमृत पिलाया ॥१७॥ चौदहवाँ नृसिंह अवतार धारण करके भगवान्ने अपने नखोंसे दैत्योंके राजा हिरण्यकशिपुको उसी तरह फाड़ डाला, जैसे चटाई बनानेवाला कारीगर एरका (सींक) नामक तृणको फाड़ देता है ॥१८॥

पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः। पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥१९॥
अवतारे षोडशमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान्। त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥२०॥
ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्। चक्रे वेदतरोःशाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥२१॥
नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया। समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥२२॥
एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी। रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥२३॥
ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धो नाम्ना जिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥२४॥
अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु। जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥२५॥
अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥२६॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः। कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ॥२७॥
एते चांशकलाःपुंसःकृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥२८॥
जन्म गुह्यं भगवतो य एतत्प्रयतो नरः। सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद्विमुच्यते ॥२९॥
एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः। मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥३०॥
यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले। एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः ॥३१॥
अतः परं यदव्यक्तमव्यूढगुणव्यूहितम्। अदृष्टाश्रुतवस्तुत्वात्स जीवो यत्पुनर्भवः ॥३२॥
यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा। अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ॥३३॥
यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः। सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥३४॥

पन्द्रहवाँ वामन अवतार लेकर वे बलिके यज्ञमें गये और उससे स्वर्गका अधिकार छीन लेनेकी इच्छा करते हुए उन्होंने तीन पैर पृथ्वी माँगी ॥१९॥ सोलहवें अवतारमें ब्राह्मणोंसे वैर करनेवाले राजाओंको देखते हुए उन्होंने क्रुद्ध होकर पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रिय-विहीन किया ॥२०॥ सत्रहवें अवतारमें वे सत्यवतीके उदरसे पराशरजीके द्वारा व्यासरूपमें उत्पन्न हुए और मनुष्योंकी अल्पबुद्धि देख वेदरूपी वृक्षके शाखास्वरूप पुराणोंको रचा ॥२१॥ तदनन्तर देवकार्य साधन करनेके लिए उनका अठारहवाँ रामावतार हुआ। उन श्रीरामजीने सेतुबन्ध आदि कार्य किये ॥२२॥ उन्नीसवें और बीसवें अवतारमें यदुवंशियोंमें जन्म लेकर उन्होंने बलभद्र और श्रीकृष्णरूपसे पृथ्वीका भार उतारा ॥२३॥ कलियुगके प्रबल होनेपर दैत्योंको मोहमें डालनेके लिये वे जिनराजके पुत्र होकर बुद्धरूपसे कीकट देश (गयाप्रान्त) में उत्पन्न होंगे ॥२४॥ कलिके अन्तमें राजाओंके चोर जैसे कर्मकारी हो जानेपर वे विष्णुयश नामक ब्राह्मण द्वारा कल्किरूपमें उत्पन्न होंगे ॥२५॥ हे द्विजो ! जैसे कभी भी जल न सूखनेवाले जलाशयसे हजारों छोटी-छोटी नहरें निकल जाती हैं, वैसे ही सत्त्वगुणस्वरूप विष्णुके ही असंख्य अवतार होते हैं ॥२६॥ ऋषि, देवता और प्रजापति सहित पराक्रमी मनुपुत्र ये सब विष्णु ही के अंश हैं ॥२७॥ उपर्युक्त सभी अवतार परमेश्वरके अंश और कला हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् नारायण ही हैं। प्रत्येक युगमें वे दैत्योंसे विकल संसारको सुखी करते हैं ॥२८॥ जो मनुष्य पवित्र होकर भगवान्‌के इस जन्म-चरित्रका सायंकालके समय कीर्तन करता है, वह सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥२९॥ चैतन्यात्मक तथा अरूप (निर्गुण) भगवान्‌का यह रूप महदहंकारादि मायाके गुणोंसे आत्माके स्थानमें बनाया गया है ॥३०॥ जैसे आकाशमें मेघसमूह तथा पवनमें पृथ्वीकी धूलि निर्बुद्धि प्राणियोंको आकाश और पवनरूप जान पड़ती है, उसी तरह निर्बुद्धियोंको आत्मामें शरीर भासमान होता है ॥३१॥ इस स्थूल शरीरके अतिरिक्त जो सूक्ष्म शरीर है, वह अप्रकट है। क्योंकि वह कर-चरणादिकोंसे रहित रहता है ॥३२॥ माया द्वारा आत्मामें कल्पित स्थूल और सूक्ष्म दोनों स्वरूप जब श्रवण तथा मननादि उपायों द्वारा ज्ञानसे प्रतिषिद्ध हो जाते हैं, तब जीव ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हो जाता है ॥३३॥ जब यह ईश्वरकी माया शान्त हो जाती अर्थात् ज्ञान हो जाता है, तब जीव ब्रह्मस्वरूप

एवं जन्मानि कर्माणि ह्यकर्तुरजनस्य च। वर्णयन्ति स्म कवयो वेदगुह्यानि हृत्पतेः ॥३५॥

स वा इदं विश्वममोघलीलः सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥३६॥
न चास्य कश्चिन्निपुणेन धातुरवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः।
नामानि रूपाणि मनोवचोभिः सन्तन्वतो नटचर्यामिवाज्ञः ॥३७॥
स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया सन्तततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥३८॥
अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे।
कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं न यत्र भूयः परिवर्त उग्रः ॥३९॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥४०॥
निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत्। तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ॥४१॥
सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्। स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥४२॥
प्रायोपविष्टं गङ्गायां परीतं परमर्षिभिः। कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ॥४३॥
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः। तत्र कीर्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसः ॥४४॥
अहं चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्। सोऽहं वः श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथामति ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

हो जाता और परमानन्दस्वरूप अपनी महिमामें पूजित होता है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोगोंका कथन है ॥३४॥ इस प्रकार उन अन्तर्यामी एवं अकर्ताके वेदोंमें गुप्त कर्म तथा उन जन्मरहितके जन्मका विद्वान् लोग वर्णन करते हैं ॥३५॥ सफल लीलाधारी वह ईश्वर इस संसारकी रचना, पालन तथा संहार करता है और इसमें आसक्त नहीं होता। प्राणियोंमें छिपा हुआ, स्वाधीन एवं छहों गुणोंका स्वामी वह ईश्वर दूरसे इन्द्रियोंका विषय भोगता है। कोई भी आत्मज्ञानहीन प्राणी संसारके विधाता तथा मन, रूप और वचनसे नामोंका विस्तार करनेवाले ईश्वरकी लीलाको तर्कादिकोंकी निपुणतासे नहीं जान सकता। जैसे किसी नटकी लीलाको मूर्ख मनुष्य नहीं समझ सकता ॥३६॥३७॥ वही मनुष्य उन चक्रपाणि परमात्माके स्वरूपको जान पाता है, जो निरन्तर सरल स्वभावसे उनके चरण-कमलोंका गन्ध सूँघता रहता है ॥३८॥ आप लोग धन्य हैं। क्योंकि सब लोकोंके स्वामी विष्णुमें आप सब भाँतिसे अपना मन लगाये हैं। ऐसा करनेसे प्राणीका भयंकर जन्म-मरण नहीं होता ॥३९॥ जिसमें विष्णुका चरित्र है, ऐसे वेदसदृश इस भागवतपुराणको भगवान् वेदव्यासने बनाया है ॥४०॥ धनदायक तथा कल्याणकारक यह पुराण आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ अपने पुत्र शुकदेवजीको वेदव्यासने संसारके कल्याणार्थ पढ़ाया था ॥४१॥ उन शुकदेवजीने सब वेद और इतिहासोंके निकाले हुए इस सारांशको अन्न-जल छोड़कर गङ्गाके किनारे बैठे और महर्षियोंसे घिरे राजा परीक्षितको सुनाया था। धर्म तथा ज्ञानादि समेत श्रीकृष्णजीके अपने धाम (वैकुण्ठ) चले जानेपर ॥४२॥४३॥ कलिके नेत्रहीन लोगोंके लिये यह भागवतपुराणरूपी सूर्य्य उदित हुआ है। हे विप्रो! जब बड़े तेजस्वी शुकदेवजी भागवत कह रहे थे ॥४४॥ तब मैं भी वहाँ गया था और उनके अनुग्रहसे वहाँ बैठकर मैंने जो सुना है, वही अपनी बुद्धिके अनुसार आप लोगोंको सुनाऊँगा ॥४५॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

व्यास उवाच

इति ब्रुवाणं संस्तूय मुनीनां दीर्घसत्रिणाम्। वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत् ॥१॥

शौनक उवाच

सूत सूत महाभाग वद नो वदतां वर। कथां भागवतीं पुण्यां यदाह भगवाञ्छुकः ॥२॥
कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना। कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ॥३॥
तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ् निर्विकल्पकः। एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥४॥
दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः ॥५॥
कथमालक्षितः पौरैः सम्प्राप्तः कुरुजाङ्गलान्। उन्मत्तमूकजडवद्विचरन् गजसाह्वये ॥६॥
कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह। संवादः समभूत्तात यत्रैषा सात्वती श्रुतिः ॥७॥
स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्। अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम् ॥८॥
अभिमन्युसुतं सूत प्राहुर्भागवतोत्तमम्। तस्य जन्म महाश्चर्यं कर्माणि च गृणीहि नः ॥९॥
स सम्राट् कस्य वा हेतोः पाण्डूनां मानवर्धनः। प्रायोपविष्टो गङ्गायामनादृत्याधिराट्श्रियम् ॥१०॥
नमन्ति यत्पादनिकेतमात्मनः शिवाय हानीय धनानि शत्रवः।
कथं स वीरः श्रियमङ्ग दुस्त्यजां युवैषतोत्स्रष्टुमहो सहासुभिः ॥११॥

(चौथे अध्यायमें भागवतकी रचनाका कारण वर्णित है) व्यासजी कहते हैं—बहुत दिनों तक यज्ञ करनेवाले मुनियोंके मध्य कथा कहते हुए सूतजीकी प्रशंसा करके वृद्ध तथा मुनियोंमें प्रधान ऋग्वेदी शौनकजी बोले ॥१॥ शौनकजीने कहा—हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ एवं महाभाग सूतजी ! श्रीशुकदेवजीने जो पवित्र कथा कही हो, वह आप हमसे कहें ॥२॥ किस युगमें, किस स्थानमें और किस लिये यह कथा प्रवृत्त हुई और किसके द्वारा प्रेरित होकर व्यासमुनिने श्रीमद्भागवतसंहिता बनायी ? व्यासके पुत्र शुकदेव बड़े योगी तथा समदर्शी थे। इसीसे उनमें भेदभाव नहीं था। वे एकमात्र विष्णु ही में अपनी बुद्धि लगाये रहते थे और मायाकी निद्रासे जागते हुए महाज्ञानी होकर भी मूढ़के सदृश जान पड़ते थे ॥३॥४॥ एक बार भागकर आगे जाते हुए नग्न शुकदेवजीको देखकर जलक्रीड़ा करती हुई देवियोंने वस्त्र नहीं पहिना और पीछे जाते हुए वस्त्रधारी भी व्यासजीको देखकर लज्जावश उन्होंने अपने वस्त्रोंको पहन लिया। यह देखकर जब व्यासमुनिने उनसे पूछा, तब अप्सराओंने कहा—तुम्हारे मनमें स्त्री तथा पुरुषका भेद है और तुम्हारे पुत्र पवित्रदृष्टि श्रीशुकदेवजीके मनमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है ॥५॥ ऐसे उन्मत्त, बावले और मूर्खकी तरह कुरु-जाङ्गल आदि देशोंमें विचरते श्रीशुकदेवजीको हस्तिनापुरके पुरवासियोंने कैसे पहचाना ? ॥६॥ हे तात ! पाण्डुवंशमें उत्पन्न राजर्षि परीक्षितका श्रीशुकमुनिके साथ कैसे वार्तालाप हुआ, जिसमें यह भगवत्कथा प्रवृत्त हुई ? ॥७॥ क्योंकि गृहस्थोंके गृहोंमें उनके आश्रमोंको पवित्र करते हुए महामुनि श्रीशुकदेवजी गाय दुही जानेके समय-तक ही ठहरते थे ॥८॥ हे महाभाग सूतजी ! अभिमन्युपुत्र परीक्षितको मुनियोंने उत्तम विष्णुभक्त कहा है, इसलिये बड़े आश्चर्य भरे उनके जन्म और कर्म हमसे कहिये ॥९॥ पाण्डुवंशियोंका गौरव बढ़ानेवाले चक्रवर्ती परीक्षित् किस कारण राज्यलक्ष्मीका अनादरकर और अन्न-जल छोड़कर गङ्गाजीके किनारे मरनेके लिये बैठे थे ॥१०॥ हे सूतजी ! अपने कल्याणके लिये शत्रु लोग धन देकर जिन परीक्षित्के चरण रखनेकी चौकीको प्रणाम किया करते थे, उस युवा वीर राजाने कैसे प्राणों समेत

शिवाय लोकस्य भवाय भूतये य उत्तमश्लोकपरायणा जनाः ।
जीवन्ति नात्मार्थमसौ पराश्रयं मुमोच निर्विद्य कुतः कलेवरम् ॥१२॥
तत्सर्वं नः समाचक्ष्व पृष्टो यदिह किञ्चन । मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात् ॥१३॥

सूत उवाच

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये । जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥१४॥
स कदाचित्सरस्वत्या उपस्पृश्य जलं शुचि । विविक्तदेश आसीन उदिते रविमण्डले ॥१५॥
परावरज्ञः स ऋषिः कालेनाव्यक्तरंहसा । युगधर्मव्यतिकरं प्राप्तं भुवि युगे युगे ॥१६॥
भौतिकानां च भावानां शक्तिह्रासं च तत्कृतम् । अश्रद्दधानान्निःसत्त्वान्दुर्मेधान् ह्रसितायुषः ॥१७॥
दुर्भगांश्च जनान् वीक्ष्य मुनिर्दिव्येन चक्षुषा । सर्ववर्णाश्रमाणां यद्दध्यौ हितममोघदृक् ॥१८॥
चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् । व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥१९॥
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः । इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥२०॥
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः । वैशम्पायन एवैक निष्णातो यजुषामुत ॥२१॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत्सुमन्तुर्दारुणो मुनिः । इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥२२॥
त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा । शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यैर्वेदास्ते शाखिनोऽभवन् ॥२३॥
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा । एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥२४॥
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा । कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥२५॥
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् । वेदार्थं च समुद्धृत्य भारते प्रोक्तवान्मुनिः ॥२६॥
एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां श्रेयसि द्विजाः । सर्वात्मकेनापि यदा नातुष्यद्धृदयं ततः ॥२७॥

कठिनतासे त्याग करने योग्य लक्ष्मीको छोड़नेकी इच्छा की ? ॥११॥ श्रीविष्णुके भक्त संसारके कल्याण तथा लोगोंकी भलाईके लिये जीते हैं—वे अपने लिये नहीं जीते। तब राजा परीक्षित्ने क्यों संसारसे नाता तोड़कर दूसरोंका उपकार करनेवाले शरीरको छोड़ा था ? ॥१२॥ मैंने जो कुछ आपसे पूछा है, वह हमसे कहिये। क्योंकि मैं आपको वैदिक-विषय छोड़ अन्यत्र वाणीके विषयमें चतुर मानता हूँ ॥१३॥ सूतजी बोले—तीसरी चतुर्युगीके द्वापरमें वसुकी तनया सत्यवतीसे पराशर मुनिके वीर्य द्वारा विष्णुके अंशसे योगी व्यास उत्पन्न हुए थे। एक बार सरस्वती नदीके जलमें नहाकर पवित्र व्यासजी सूर्योदयके समय एकान्तमें अकेले बैठ गये ॥१४॥१५॥ भूत और भविष्यके ज्ञाता व्यासदेवने गुप्त वेगवाले काल द्वारा किये युगके धर्मोंमें उलट-पलट देख और पृथ्वीपर युग-युगमें कालके द्वारा की हुई प्राणियोंकी शक्तिकी न्यूनता और श्रद्धा तथा धैर्य्यरहित, दुर्बुद्धि, अल्पायु और दुर्भाग्य मनुष्योंको दिव्य-दृष्टिसे देखकर वेदव्यासने सब वर्णों तथा आश्रमोंके हितका विचार किया ॥१६॥१७॥१८॥ ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और आग्नीध्र इन चारोंके करने योग्य वैदिक कर्म तथा प्रजाओंके लिये पवित्रकारक यज्ञ निरन्तर होते रहनेके लिये उन्होंने एक वेदके चार भाग कर दिये ॥१९॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चारों वेदोंके उन्होंने चार विभाग किये। इतिहास और पुराण पाँचवाँ वेद माना गया ॥२०॥ सो महर्षि पैल ऋग्वेदी, जैमिनि सामवेदी और वैशम्पायन यजुर्वेदके अभ्यासी हुए ॥२१॥ अथर्ववेदके ज्ञाता क्रूर सुमन्तु मुनि हुए। इतिहास-पुराणके ज्ञाता मेरे पिता रोमहर्षण हुए ॥२२॥ उन ऋषियोंने भी अपने-अपने वेदके अनेक विभाग किये। कुछ समय बाद वे वेद शिष्य, प्रशिष्य और उनके शिष्यों द्वारा अनेक शाखाओंमें विभक्त हो गये ॥२३॥ तदनन्तर जिस तरह वेदोंको स्वल्पबुद्धि मनुष्य भी पढ़ सकें, इस भाँति सरल ग्रंथ भगवान् व्यासजीने बना दिया ॥२४॥ स्त्री, शूद्र और द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्योंमें से अधम मनुष्योंको वेद सुननेका अधिकार नहीं है। उनका स्वार्थ साधने

नातिप्रसीदद्धृदयः सरस्वत्यास्तटे शुचौ । वितर्कयन् विविक्तस्थ इदं प्रोवाच धर्मवित् ॥२८॥
धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः । मानिता निर्व्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥२९॥
भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः । दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥३०॥
तथापि बत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः । असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥३१॥
किं वा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः । प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युतप्रियाः ॥३२॥
तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः । कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥३३॥
तमभिज्ञाय सहसा प्रत्युत्थायागतं मुनिः । पूजयामास विधिवन्नारदं सुरपूजितम् ॥३४॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

सूत उवाच

अथ तं सुखमासीन उपासीनं बृहच्छ्रवाः । देवर्षिः प्राह विप्रर्षिं वीणापाणिः स्मयन्निव ॥१॥

नारद उवाच

पाराशर्य महाभाग भवतः कच्चिदात्मना । परितुष्यति शारीर आत्मा मानस एव वा ॥२॥
जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महदद्भुतम् । कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥३॥
जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म सनातनम् । अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥४॥

व्यास उवाच

अस्त्येव मे सर्वमिदं त्वयोक्तं तथापि नात्मा परितुष्यते मे ।
तन्मूलमव्यक्तमगाधबोधं पृच्छामहे त्वात्मभवात्मभूतम् ॥५॥

तथा ज्ञानरहित लोगोंका कल्याण करनेके लिए व्यासदेवने दया करके महाभारत इतिहास रचा । जिसमें सब वेदोंका तात्पर्य उन महामुनिने कहा था ॥२५॥२६॥ हे द्विजों ! यह सब कहनेपर भी प्राणियोंके हितमें सब प्रकारसे तत्पर रहनेवाले व्यासजीका हृदय जब प्रसन्न नहीं हुआ, तब सरस्वती नदीके पवित्र तटपर एकान्तमें बैठे कुछ उदासीन मन धर्मज्ञ श्रीव्यासजी अपने मनमें सोचने लगे—॥२७॥२८॥ नियमको धारण करके मैंने वेद, गुरु और अग्नियोंकी निष्कपट बुद्धिसे सेवा की और उनकी आज्ञा मानी है ।२९॥ महाभारतके व्याजसे मैंने वेदोंका अर्थ भी बताया है, जिसमें स्त्री और शूद्रादिकोंके भी धर्मादिका निदर्शन है ॥३०॥ तथापि ब्रह्मचर्यसे अत्यन्त उत्तम मेरा जीवात्मा अप्रसन्नसा जान पड़ता है ॥३१॥ हाँ, विष्णुभक्तोंके धर्म मैंने अधिकतासे नहीं निरूपित किये । क्योंकि विष्णु परमहंसों-के प्रिय हैं और परमहंस विष्णुको प्रिय हैं ॥३२॥ इस प्रकार अपनेको न्यून मानकर खिन्न व्यासजीके उस आश्रमपर श्रीनारदजी आ गये, जिसका वर्णन हम पहले कर आये हैं ॥३३॥ देववंद्य नारदजीको आया देख व्यासजी उठ खड़े हुए और उनका विधिपूर्वक पूजन किया ॥३४॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

(इस अध्यायमें व्यास-नारदका संवाद वर्णित है) सूतजी बोले—इसके बाद समीप बैठे हुए उन ब्रह्मर्षि व्यासजीसे हाथमें वीणा लिये हुए यशस्वी देवर्षि नारद मंद-मंद मुसकुराते हुए कहने लगे ॥ १ ॥ नारदजी बोले—हे पराशरात्मज ! आपका शारीरिक चित्त और आत्मा प्रसन्न तो है ? ॥ २ ॥ आपने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है । क्योंकि आपने धर्मादिकोंसे परिपूर्ण महाभारत-की रचना की है ॥ ३ ॥ आपने सनातन परब्रह्मका विचार किया और उसे पाया भी है । तथापि हे प्रभो ! आप अपनेको अकृतार्थ समझते हैं ? ॥ ४ ॥ व्यासजी बोले—आपने जो कहा है, वह सब सच है । तथापि मेरा चित्त प्रसन्न नहीं है । उसका कारण ब्रह्मासे उत्पन्न, गंभीर ज्ञानवान् तथा अव्यक्त

स वै भवान् वेद समस्तगुह्यमुपासितो यत्पुरुषः पुराणः ।
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥६॥
त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी ।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥७॥

नारद उवाच

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् । येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥८॥
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्तिताः । न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥९॥
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः ॥१०॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥११॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥१२॥
अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥१३॥
ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मतिर्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥१४॥

आपसे मैं पूछता हूँ ॥ ५ ॥ क्योंकि आप सब गुप्त वस्तु भी जानते हैं। आपने उन पुराणपुरुषकी उपासना की है, जो कार्य-कारणके स्वामी हैं और मनहीसे मायाके गुणों द्वारा संसारकी रचना, पालन और संहार करते हैं—फिर भी उनमें आसक्त नहीं होते ॥६॥ आप तीनों लोकोंमें घूमते हुए सूर्यकी तरह सर्वदर्शी और प्राणवायुकी तरह सबकी बुद्धिकी बातें जानते हैं। इस कारण परब्रह्मका योगसे अभ्यास करनेवाले तथा वेदब्रह्मका स्वाध्याय करनेसे शुद्धबुद्धि आप मुझमें जो भी न्यूनता हो, उसे कहिये ॥ ७ ॥ नारदजीने कहा—आपने महाभारत आदिमें सब कुछ कहा, पर भगवानका निर्मल यश नहीं वर्णन किया। जिस धर्मादिके ज्ञानसे भगवान न प्रसन्न हों, मैं उस ज्ञानको तुच्छ मानता हूँ ॥ ८ ॥ हे मुनिवर्य ! जिस प्रकार धर्मादिक वस्तुओंको आपने कहा है, वैसी विष्णुकी महिमा आपने नहीं गायी है ॥ ९ ॥ जो विचित्र पदवाला वचन संसारको पवित्र करनेवाले विष्णुका यश न कहे, उसे विद्वान् लोग काकतीर्थ कहते हैं। क्योंकि उसमें ब्रह्मस्थानको प्राप्त हंसरूपी योगी लोग प्रेम नहीं करते ॥१०॥ वही वचन मनुष्योंके पापोंको दूर करता है, जिसमें अशुद्धियाँ भी हों पर प्रत्येक श्लोकमें विष्णुके यशसंयुक्त नाम हों और जिनको साधु लोग सुनते कहते और गान करते हों। ❀ दृष्टान्त ❀ एक अपढ़ महात्मा थे। किसीके द्वारा उन्होंने विष्णुस्तुतिके कुछ श्लोक सुनकर कंठ कर लिये थे और उन्हींको बड़े प्रेमसे गाकर अपने भगवानको रिझाया करते थे। उनके आश्रमपर एक दिन एक विद्वान् सन्त आ गये। उन्होंने उनके अशुद्ध श्लोक सुनकर टोका। अपढ़ सन्तने तो कुछ ध्यान नहीं दिया, पर भगवानको यह बात बहुत अखरी और उन्होंने विद्वान् सन्तको स्वप्नमें फटकारकर कहा कि अब कभी ऐसा न करना। मैं भावका भूखा हूँ—शुद्ध श्लोकका नहीं। 'भाव कुभाव अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू' ॥११॥ विष्णुभक्तिसे रहित ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञान भी नहीं शोभित होता। फिर ईश्वरको असमर्पित सकाम कर्मका क्या कहना ॥१२॥ अतएव हे महाभाग ! यथार्थ बुद्धि, पवित्र यश, सत्यमें परायण और व्रतोंको धारनेवाले आप समस्त बन्धनोंसे छूटनेके लिये समाधि द्वारा विष्णुके चरित्रोंका स्मरण करिये ॥ १३ ॥ इसके अतिरिक्त प्राणी जो कुछ भी कहनेकी इच्छा करता है, उससे कल्पित

जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः ।
यद्वाक्यतो धर्म इतीतरः स्थितो न मन्यते तस्य निवारणं जनः ॥१५॥
विचक्षणोऽस्यार्हति वेदितुं विभोरनन्तपारस्य निवृत्तितः सुखम् ।
प्रवर्तमानस्य गुणैरनात्मनस्ततो भवान्दर्शय चेष्टितं विभोः ॥१६॥
त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्कोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥१७॥
तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा ॥१८॥
न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः ॥१९॥
इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः ।
तद्धि स्वयं वेद भवाँस्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवतः प्रदर्शितम् ॥२०॥
त्वमात्मनाऽऽत्मानमवेह्यमोघदृक् परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय तन्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥२१॥
इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥२२॥
अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ।
निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥२३॥

नाम-रूप द्वारा भेदभरी दृष्टिवाले मनुष्यकी बुद्धि पवनसे ताडित नौकाके समान कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती ॥१४॥ स्वभावतः प्रवृत्तिमार्गमें निरत पुरुषको धर्मके लिये निन्दित प्रवृत्तिमार्गकी शिक्षा देना बड़े व्यतिक्रमका कार्य है। जिस वाक्यसे साधारण श्रेणीका अल्पबुद्धि मनुष्य निवृत्तिमार्गका उपदेश ग्रहण करे, यही मुख्य धर्म है। प्रवृत्तिमार्ग मुख्य नहीं है, यह भी मैं नहीं मानता ॥१५॥ चतुर पुरुषोंका कर्तव्य है कि अनन्त प्रभाववाले विष्णुभगवानके आनन्दस्वरूपको सब कर्म त्यागकर जानें। अतएव आप सगुण विष्णुभगवानका चरित्र कहिये ॥१६॥ अपना धर्म छोड़कर भक्ति द्वारा विष्णुके चरण-कमलका भजन करता हुआ अपक्वबुद्धि प्राणी यदि भक्तिसे किसी प्रकार अलग भी हो जाय और चाहे जिस जातिमें उत्पन्न हो, उसका अकल्याण नहीं होता। भक्ति न करनेवाले मनुष्यको अपने धर्मसे भी कुछ फल नहीं मिलता ॥१७॥ विद्वान् पुरुषको उस परमानन्दके लिए यत्न करना चाहिए, जो ऊपर और नीचे घूसते हुए प्राणियोंको नहीं मिलता। क्योंकि विषय-सुख तो गंभीर वेगवान् काल द्वारा सुख-दुःखके समान सर्वत्र बिना यत्नके भी मिलता ही रहता है ॥१८॥ विष्णुसेवी मनुष्य प्रवृत्तिमार्गमें स्थित पुरुषके समान कभी जन्म-मरणादिक बंधनको नहीं प्राप्त होता। विष्णुके चरणोंकी प्राप्तिका उपाय करता हुआ वह फिर उसे नहीं छोड़ना चाहता। क्योंकि वह विष्णुचरणोंकी प्राप्तिके अनुपम स्वादमें रम जाता है ॥१९॥ यह समस्त संसार विष्णु ही में है, किंतु विष्णु इस संसारसे पृथक् हैं। उन्हींसे इस संसारका पालन, संहार और उत्पत्ति होती है। इस बातको आप भी जानते हैं। फिर भी मैंने आपको संकेत कर दिया है ॥२०॥ हे व्यासजी! आप अपनेको संसारके हितके लिये स्वयं उत्पन्न और जन्मरहित परमात्माका अंश जानें और विष्णुके चरित्र वर्णन करें ॥२१॥ विद्वानोंने मनुष्योंकी तपस्या, शास्त्र, उत्तम यज्ञ, उत्तम कथन और दानकी यही सार्थकता कही है, जिसमें विष्णुके चरित्रका वर्णन हो ॥२२॥ मैं पहले कल्प अर्थात् पूर्व जन्ममें कुछ वेदवादी मुनियोंकी दासीका पुत्र था और वर्षामें एक

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रूषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ॥२४॥
उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥२५॥
तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥२६॥
तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत्सदसत्स्वमायया पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥२७॥
इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम् ।
सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा ॥२८॥

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः । श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च ॥२९॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम् । अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥३०॥
येनैवाहं भगवतो वासुदेवस्य वेधसः । मायानुभावमविदं येन गच्छन्ति तत्पदम् ॥३१॥
एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम् । यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् ॥३२॥
आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत । तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥३३॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः । त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥३४॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम् । ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम् ॥३५॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयासकृत् । गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥३६॥

स्थानपर निवास करनेवाले योगियोंकी सेवा करनेके लिए बालकपनहीमें नियुक्त हो गया था ।।२३।। उस समय भी मैं इन्द्रियोंको वशमें करके चञ्चलता छोड़ और खेलोंको त्यागकर उन महात्माओंकी आज्ञामें रहता और मितसंभाषण करता था । इससे मेरे ऊपर उन समदर्शी महापुरुषोंने बड़ी दया की ।।२४।। मैंने उनकी आज्ञासे एक बार उनका जूँठन भोजन किया था, इससे मेरा पाप नष्ट होकर चित्त शुद्ध हो गया तथा ईश्वरके भजनमें मेरी रुचि हुई ।।२५।। वे महापुरुष नित्य मनोहर कृष्णचरित्र गाते थे । उनकी दयासे मैंने भी उसे सुना । श्रद्धासे उसको सुनते-सुनते विष्णुभगवानमें मेरी प्रीति हुई ।।२६।। इस प्रकार जब विष्णुमें मेरा प्रेम हो गया, तब मेरी बुद्धि उनमें दृढ़ हुई और उसी क्षण मैं इस स्थूल-सूक्ष्ममय शरीर और अपने अज्ञानसे परमात्मस्वरूपको अपनेमें कल्पित मानने लगा ।।२७।। इस तरह शरद् और वर्षाऋतु भर उन महात्मा मुनियोंने विष्णुका निर्मल यश कहा । उसको सुनते-सुनते मेरेमें रजोगुण और तमोगुण नाश करनेवाली भक्ति उत्पन्न हुई ।।२८।। तब पापरहित, विनीत, प्रेमी, श्रद्धावान् तथा जितेन्द्रिय मुझ अनुचर बालकसे बहुत गुप्त ज्ञान जो साक्षात् विष्णुने कहा था, उसे उन दीनदयालु मुनियोंने चलते समय कहा ।।२९।।३०।। इसीसे मैंने उन भगवान् वासुदेवकी वह महिमा जानी, जिसके जाननेसे मनुष्य उनके समीप पहुँच जाते हैं ।।३१।। हे ब्रह्मन् ! तीनों तापोंकी औषधि वह कर्म कहा गया है, जो सबके स्वामी परब्रह्मको अर्पण किया जाय ।। ३२ ।। हे सुव्रत ! जिस पदार्थसे रोग उत्पन्न होता है, वही पदार्थ रोग नहीं दूर कर सकता । किन्तु दूसरे पदार्थोंमें अनुपानरूपसे मिलकर वही पदार्थ रोगको दूर कर देता है ।।३३।। इसी तरह सब कर्म मनुष्योंके जन्म-मरणके कारण हैं और वे ही परब्रह्ममें अर्पण करनेसे जन्म-मरणकी निवृत्ति करनेमें समर्थ होते हैं ।।३४।। यदि विष्णुको प्रसन्न करनेके लिए कर्म किया जाता है तो भक्ति समेत ज्ञान स्वयं उत्पन्न हो जाता है ।।३५।। भगवान्की शिक्षासे ही मनुष्य कर्म करते हैं, वे श्रीकृष्णजीके गुण और नामोंको कहते

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥३७॥
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्। यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥३८॥
इमं स्वनिगमं ब्रह्मन्नवेत्य मदनुष्ठितम्। अदान्मे ज्ञानमैश्वर्यं स्वस्मिन् भावं च केशवः ॥३९॥
त्वमप्यदभ्रश्रुत विश्रुतं विभोः समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम्।
आख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे व्यासनारदसंवादे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

सूत उवाच

एवं निशम्य भगवान्देवर्षेर्जन्म कर्म च। भूयः पप्रच्छ तं ब्रह्मन् व्यासः सत्यवतीसुतः ॥१॥

व्यास उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिस्तव। वर्तमानो वयस्याद्ये ततः किमकरोद्भवान् ॥२॥
स्वायम्भुव कया वृत्त्या वर्तितं ते परं वयः। कथं चेदमुदस्राक्षीः काले प्राप्ते कलेवरम् ॥३॥
प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम। न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः ॥४॥

नारद उवाच

भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टृभिर्मम। वर्तमानो वयस्याद्ये तत एतदकारषम् ॥५॥
एकात्मजा मे जननी योषिन्मूढा च किङ्करी। मय्यात्मजेऽनन्यगतौ चक्रे स्नेहानुबन्धनम् ॥६॥
सास्वतन्त्रा न कल्पासीद्योगक्षेमं ममेच्छती। ईशस्य हि वशे लोकोयोषा दारुमयी यथा ॥७॥
अहं च तद्ब्रह्मकुले ऊषिवाँस्तदवेक्षया। दिग्देशकालाव्युत्पन्नो बालकः पञ्चहायनः ॥८॥

और स्मरण करते हैं। *टिप्पणी* यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ अर्थात् तुम जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो और जो तपस्या करते हो, उसको मुझे अर्पण कर दो। भगवद्गीतामें यही भगवान्का उपदेश है ॥३६॥ हे भगवान् वासुदेव! आपको प्रणाम है। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणको भी नमस्कार है ॥३७॥ जो मनुष्य इन मूर्तियोंके नामसे मन्त्रमूर्तिवाले और रूपरहित यज्ञपुरुषका पूजन करता है, वही उत्तम ज्ञानी होता है ॥३८॥ हे ब्रह्मन्! अपने विषयका उपदेशकर्ता जानकर साक्षात् भगवान्ने ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान और अपनेमें प्रेम मुझे दिया है ॥३९॥ हे बहुश्रुत! तुम भी विष्णुभगवानका वह चरित्र कहो, जिससे विद्वानोंकी जिज्ञासा समाप्त होती और जिससे दुःखोंसे बार-बार क्लेशित चित्तवाले मनुष्योंके दुःखकी शान्ति हो जाती है ॥४०॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेय-कृत'सामयिकी'भाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

(इस अध्यायमें नारदजी अपने पूर्वजन्मका हाल कहते हैं) सूतजी बोले–हे ब्रह्मन्! नारदजीका जन्म और कर्म सुनकर सत्यवतीके पुत्र भगवान् व्यासजीने फिर नारदजीसे पूछा ॥१॥ व्यासजी बोले—आपको ज्ञानका उपदेश करनेवाले योगी लोग जब चले गये, तब उस बाल्यावस्थामें आपने क्या किया? हे स्वायंभुव! आपने किस जीविकासे युवावस्था व्यतीत की और काल प्राप्त होनेपर कैसे शरीर छोड़ा? ॥३॥ हे सुरसत्तम! यह काल सबको भुलानेवाला है, तब उसने आपके पहले कल्पके स्मरणको क्यों नहीं भुलाया? ॥४॥ नारदजी बोले–मुझको ज्ञानोपदेश करनेवाले भिक्षुक लोग जब चले गये, तब उस बाल्यकालमें मैंने क्या किया, सो सुनिए ॥५॥ अपनी माताके मैं ही एक बालक था, इससे स्त्री तथा मूढ़ दासी माताने अनन्य गति मुझ पुत्रमें ही स्नेहबन्धन किया था ॥६॥ वह मेरा कल्याण चाहती थी, पर परवश थी। इससे कुछ करनेमें समर्थ नहीं हुई। क्योंकि कठपुतली नाइ समस्त संसार ईश्वरके वश है ॥७॥ दिशा, देश और कालको न जाननेवाला मैं पाँच वर्षका बालक

एकदा निर्गतां गेहाद्दुहन्तीं निशि गां पथि । सर्पोऽदशत्पदा स्पृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥ ९ ॥
तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः । अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥१०॥
स्फीताञ्जनपदाँस्तत्र पुरग्रामव्रजाकरान् । खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥११॥
चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजद्रुमान् । जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविताः ॥१२॥
चित्रस्वनैः पत्ररथैर्विभ्रमद्भ्रमरश्रियः । नलवेणुशरस्तम्बकुशकीचकगह्वरम् ॥१३॥
एक एवातियातोऽहमद्राक्षं विपिनं महत् । घोरं प्रतिभयाकारं व्यालोलूकशिवाजिरम् ॥१४॥
परिश्रान्तेन्द्रियात्माहं तृट्परीतो बुभुक्षितः । स्नात्वा पीत्वा ह्रदे नद्या उपस्पृष्टो गतश्रमः ॥१५॥
तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आस्थितः । आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थं यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥१६॥
ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा । औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥१७॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः । आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥१८॥
रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम् । अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव ॥१९॥
दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि । वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ॥२०॥
एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम् । गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव ॥२१॥
हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्न मां द्रष्टुमिहार्हति । अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥२२॥

अपनी माताकी देखरेखमें उस ब्राह्मणवंशमें जीवनके दिन बिताता रहा ॥८॥ एक दिन रातमें गऊ दुहनेके लिये घरसे निकली हुई मेरी माताको, पैरसे दबकर कालसे प्रेरित साँपने काट खाया ॥९॥ उसको भक्तोंके कल्याणकामी ईश्वरकी दया मानते हुए मैंने उत्तर दिशाको प्रस्थान कर दिया ॥१०॥ वहाँ बड़े समृद्ध देश, राजधानी, गाँव, गोकुल, रत्नादिकोंके उत्पत्तिस्थानवाले ग्राम, किसानोंके ग्राम, पर्वतोंके किनारेके ग्राम, फुलवारी, जंगल और बगीचोंको लाँघ–॥११॥ हाथियोंने जहाँ वृक्षोंकी शाखाओंको तोड़ डाला था, ऐसे सोने-चाँदी आदि धातुओंकी खानोंसे विचित्र पर्वत और उत्तम जलवाले तड़ाग और देवसेवित उन छोटे-छोटे जलाशयों, विचित्र शब्दवाले पक्षियोंके शब्दों तथा गूँजते हुए भ्रमरोंकी शोभासे युक्त नरकुल, बाँस, कुश और कीचकसंज्ञक बाँसोंसे दुर्गम तथा साँप, उल्लू और शृगालियोंका स्थान होनेसे बड़े भयंकर उस भारी जंगलको मैंने अकेले ही पहुँचकर देखा। * टिप्पणी * कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः । जिन बाँसोंमें छेद होते हैं और वायुके भर जानेपर बजने लगते हैं, उनको कीचक कहते हैं ॥१२॥१३॥१४॥ मेरी इन्द्रियाँ और शरीर थक गया था। प्यास तथा भूख सता रही थी। इसलिये मैंने नदीके कुण्डमें नहाकर जल पिया और अपनी थकावट दूर की ॥१५॥ उस मानवहीन जंगलमें एक पीपल वृक्षके नीचे बैठकर मैं अपनी बुद्धिसे अपने हृदयमें स्थित परमात्माका जैसा स्वरूप सुना था, वैसा ध्यान करने लगा ॥१६॥ भक्तिके भावावेशमें चित्तसे भगवानके चरणकमलका ध्यान करते-करते मारे उत्कण्ठाके आँसुओंसे भरे हुए नेत्रवाले मेरे हृदयमें धीरे-धीरे विष्णुभगवान आ विराजे ॥१७॥ हे मुने ! प्रेमकी अधिकतासे मेरे रोमाञ्च हो आया और मैं परमानन्दको प्राप्त हो गया। उस आनन्दके प्रवाहमें लीन होकर मेरा अपने-परायेका ज्ञान जाता रहा ॥१८॥ विष्णुभगवानका जो रूप शोक दूर करनेवाला और मेरे मनको प्रिय था, उसको एकाएक गायब देखकर मैं विकल और अप्रसन्न-सा हो गया और मेरे चित्तकी वृत्ति ध्यानसे अलग हो गयी ॥१९॥ उसको फिर देखनेकी इच्छासे अपने हृदयमें मन स्थित करके देखते हुए भी नहीं देखा और अतृप्त एवं आतुर-सा हो गया ॥२०॥ इस प्रकार निर्जन वनमें अथक प्रयत्न करते हुए मुझसे—जिसको वाणी नहीं कह सकती ऐसे ईश्वरने—मेरा शोक दूर करते हुए गम्भीर और मधुर वचन कहे ॥ २१ ॥ वे बोले—इस जन्ममें आप मुझको देखने योग्य नहीं हैं। क्योंकि जिनके काम-क्रोध आदि

सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ । मत्कामः शनकैः साधु सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् ॥२३॥
सत्सेवया दीर्घया ते जाता मयि दृढा मतिः । हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥२४॥
मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् । प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥२५॥

एतावदुक्त्वोपरराम तन्महद्भूतं नभोलिङ्गमलिङ्गमीश्वरम् ।
अहं च तस्मै महतां महीयसे शीर्ष्णावनामं विदधेऽनुकम्पितः ॥२६॥
नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः ॥२७॥

एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः । कालः प्रादुरभूत्काले तडित्सौदामनी यथा ॥२८॥
प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् । आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत्पाञ्चभौतिकः ॥२९॥
कल्पान्त इदमादाय शयानेऽम्भस्युदन्वतः । शिशयिषोरनुप्राणं विविशेऽन्तरहं विभोः ॥३०॥
सहस्रयुगपर्यन्त उत्थायेदं सिसृक्षतः । मरीचिमिश्रा ऋषयः प्राणेभ्योऽहं च जज्ञिरे ॥३१॥
अन्तर्बहिश्च लोकाँस्त्रीन् पर्येम्यस्कन्दितव्रतः । अनुग्रहान्महाविष्णोरविघातगतिः क्वचित् ॥३२॥
देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्मविभूषिताम् । मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥३३॥
प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः । आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥३४॥
एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः । भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम् ॥३५॥
यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः । मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति ॥३६॥

मल नहीं नष्ट हुए रहते, ऐसे कुयोगियोंको मैं मुश्किलसे देख पड़ता हूँ ॥२२॥ हे अनघ ! एक बार जो रूप तुम्हें दिखाया गया है, सो इसलिये कि तुम्हारा मुझमें प्रेम था । मुझमें प्रेम करनेवाला मनुष्य धीरे-धीरे सब कामनायें छोड़ देता है ॥२३॥ बहुत दिनों तक महात्माओंकी सेवासे मुझमें तुम्हारी दृढ़ बुद्धि पैदा हुई है । अतएव यह निन्दित लोक त्यागकर तुम मेरे पार्षद होओगे ॥२४॥ मुझमें लगी हुई बुद्धि कभी भी नष्ट नहीं होती । दूसरे कल्पमें भी मेरी दयासे तुमको इस जन्मका स्मरण बना रहेगा ॥२५॥ यह कहकर आकाशमें जिनकी मूर्ति थी, वह प्रसिद्ध और अद्भुत ईश्वर चुप हो गये और मैंने उन बड़ोंसे भी बड़े ईश्वरको सिर झुकाकर प्रणाम किया ॥२६॥ लज्जा छोड़कर अनन्तभगवानके गुप्त नामोंको पढ़ते तथा उनके कल्याणकारी चरित्रोंको स्मरण करते हुए मैंने समस्त पृथ्वीकी परिक्रमा की और प्रसन्न मन होकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ मद तथा मत्सरसे रहित हो गया ॥२७॥ हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार कृष्णमें मग्नबुद्धि, असक्त तथा निर्मल चित्त मेरे समक्ष एकाएक बिजलीकी चमकके समान मृत्यु आ उपस्थित हुई ॥२८॥ विष्णुभगवानने जब मुझे वह शुद्ध सत्त्वमय तथा पार्षदशरीर दिया तब प्रारब्ध कर्मका समाप्तिसूचक मेरा पंचभूतात्मक अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाशनिर्मित शरीर नष्ट हो गया ॥२९॥ कल्पान्तमें त्रिलोकीका संहारकर एकार्णव जलमें शयन करनेके इच्छुक विष्णुके श्वासके साथ मैं भी उनके भीतर समा गया ॥३०॥ सहस्रयुग बाद उठकर संसारको रचनेके इच्छुक ब्रह्माके प्राणोंसे मरीचि आदि ऋषि और मैं उत्पन्न हुआ ॥३१॥ उन महाविष्णुकी दयासे सर्वत्र गमन करनेवाला मैं अखण्डित ब्रह्मचारी हूँ और त्रिलोकीके भीतर-बाहर जहाँ चाहूँ, वहाँ घूमता हूँ ॥३२॥ षड्ज आदि स्वरस्वरूप ब्रह्मसे सुशोभित और उन्हीं ईश्वरकी दी हुई वीणाको बजाता तथा विष्णुकी कथाको गाता हुआ मैं विचरता हूँ ॥३३॥ विष्णुके चरित्रोंको गाते समय मेरे चित्तमें सुन्दर यश और पवित्र चरणवाले भगवान् शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं ॥३४॥ विषयभोगकी इच्छासे चञ्चल चित्तवाले पुरुषोंके लिये बार-बार विष्णुचरित्रका वर्णन संसाररूपी समुद्रमें जहाजके समान माना गया है ॥३५॥ जिस प्रकार काम और लोभसे नष्ट मन विष्णुकी सेवासे शान्त हो जाता है, वैसा यम-नियम आदि

सर्वं तदिदमाख्यातं यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ । जन्मकर्मरहस्यं मे भवतश्चात्मतोषणम् ॥३७॥

सूत उवाच

एवं सम्भाष्य भगवान्नारदो वासवीसुतम् । आमन्त्र्य वीणां रणयन् ययौ यादृच्छिको मुनिः ॥३८॥
अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः । गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत् ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे व्यासनारदसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

शौनक उवाच

निर्गते नारदे सूत भगवान् बादरायणः । श्रुतवाँस्तदभिप्रेतं ततः किमकरोद्विभुः ॥१॥

सूत उवाच

ब्रह्मनद्यां सरस्वत्यामाश्रमः पश्चिमे तटे । शम्याप्रास इति प्रोक्त ऋषीणां सत्रवर्धनः ॥२॥
तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीखण्डमण्डिते । आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ॥३॥
भक्तियोगेन मनसि सम्यक्प्रणिहितेऽमले । अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम् ॥४॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥५॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो विद्वाँश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥६॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥७॥
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् । शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिः ॥८॥

द्वारा योगसाधनसे नहीं शान्त होने आता ॥३६॥ हे अनघ ! मेरे जन्म-कर्मका रहस्य और आपके मनको प्रसन्न करनेवाला उपाय जो आपने मुझसे पूछा था, सो सब मैंने कह सुनाया ॥३७॥ सूतजी बोले—इस प्रकार वसुकी कन्या सत्यवतीके पुत्र व्यासजीसे संभाषणकर और उनसे आज्ञा लेकर बीणाको बजाते हुए परोपकारी नारद मुनि चले गये ॥३८॥ वे देवर्षि नारद धन्य हैं, जो वीणापर विष्णुका यश गाते और स्वयं प्रसन्न होते हुए इस दुःखी संसारको आनन्दित करते रहते हैं ॥३९॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां व्यासनारदसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

(इस अध्यायमें अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदीके सौ पुत्रोंके मरणका वृत्तान्त कहा जायगा ।) शौनक बोले–हे सूत ! नारदजीके चले जानेपर उनका आशय सुनकर भगवान् वेदव्यासजीने क्या किया ? ॥ १ ॥ सूतजी बोले—ब्रह्मनदी सरस्वतीके पश्चिम तटपर शम्याप्रास नामसे प्रसिद्ध ऋषियोंके ब्रह्म-विचारको बढ़ानेवाला एक आश्रम है ॥ २ ॥ बदरी अर्थात् बेरके वृक्षसमूहसे सुशोभत उस आश्रममें व्यासजी बैठे और जलसे आचमनकर उन्होंने स्वयं ध्यान किया ॥ ३ ॥ भक्तियोगसे निर्मल मनके निश्चल होनेपर उन्होंने प्रथम पुरुष ईश्वर और उसके आश्रित मायाको देखा ॥ ४ ॥ जिस मायासे मोहित और तीनों गुणोंसे अलग भी जीव अपनेको त्रिगुणस्वरूप मानता और उससे किया हुआ अनर्थ कर्तापन आदिको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ विष्णुके भक्तियोगको न जाननेवाले संसारियोंके लिये विद्वान् वेदव्यासने अनर्थको शान्त करनेवाला श्रीमद्भागवत बनाया ॥६॥ जिसको प्रेमके साथ सुननेसे मनुष्यके हृदयमें परम पुरुष श्रीकृष्णजीमें शोक, मोह और भयको दूर करनेवाली भक्ति उत्पन्न होती है ॥७॥ उन व्यासमुनिने श्रीमद्भागवतसंहिता बना और शुद्ध करके निवृत्तिमार्गमें लगे हुए अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको पढ़ाया ॥ ८ ॥ शौनकजी बोले—कहीं किसीसे भी स्नेह न करनेवाले, निवृत्तिमार्गमें रत

शौनक उवाच

स वै निवृत्तिनिरतः सर्वत्रोपेक्षको मुनिः। कस्य वा बृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥९॥

सूत उवाच

आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥१०॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥११॥
परीक्षितोऽथ राजर्षेर्जन्मकर्मविलापनम्। संस्थां च पाण्डुपुत्राणां वक्ष्ये कृष्णकथोदयम् ॥१२॥

यदा मृधे कौरवसृञ्जयानां वीरेष्वथो वीरगतिं गतेषु।
वृकोदराविद्धगदाभिमर्शभग्नोरुदण्डे धृतराष्ट्रपुत्रे ॥१३॥
भर्तुः प्रियं द्रौणिरिति स्म पश्यन् कृष्णासुतानां स्वपतां शिरांसि।
उपाहरद्विप्रियमेव तस्य जुगुप्सितं कर्म विगर्हयन्ति ॥१४॥
माता शिशूनां निधनं सुतानां निशम्य घोरं परितप्यमाना।
तदारुदद्बाष्पकलाकुलाक्षी तां सान्त्वयन्नाह किरीटमाली ॥१५॥
तदा शुचस्ते प्रमृजामि भद्रे यद्ब्रह्मबन्धोः शिर आततायिनः।
गाण्डीवमुक्तैर्विशिखैरुपाहरे त्वाऽऽक्रम्य यत्स्नास्यति दग्धपुत्रा ॥१६॥
इति प्रियां वल्गुविचित्रजल्पैः स सान्त्वयित्वाच्युतमित्रसूतः।
अन्वाद्रवद्दंशित उग्रधन्वा कपिध्वजो गुरुपुत्रं रथेन ॥१७॥
तमापतन्तं स विलक्ष्य दूरात् कुमारहोद्विग्नमना रथेन।
पराद्रवत्प्राणपरीप्सुरुर्व्यां यावद्गमं रुद्रभयाद्यथार्कः ॥१८॥

उन आत्मज्ञानी शुकदेव मुनिने किसलिए इतनी बड़ी संहिताका अभ्यास किया? ॥९॥ सूतजी बोले—क्रोध तथा अहङ्कारसे रहित आत्मज्ञानी मुनिजन विष्णुकी फलाशारहित भक्ति करते हैं। क्योंकि विष्णुमें ऐसे ही गुण हैं ॥१०॥ विष्णुके चरित्रोंसे प्रसन्नबुद्धि और नित्य विष्णुभक्तप्रिय श्रीशुकदेवजीने यह बड़ी भारी कथा पढ़ी थी ॥११॥ अब मैं राजर्षि परीक्षित्का जन्म, कर्म, मुक्ति और पाण्डुके पुत्रोंके महाप्रस्थानका वृत्तान्त कहता हूँ। क्योंकि इसी प्रकार धीरे-धीरे श्रीकृष्णजीकी कथाका क्रम आयेगा ॥१२॥ जब महाभारतके युद्धमें कौरव और पांडववंशके वीर वीरगति (मृत्यु) को प्राप्त हुए और भीमसेनने अपनी गदासे धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनकी जंघायें तोड़ डालीं ॥१३॥ तब अश्वत्थामा-ने द्रौपदीके सोते हुए पुत्रोंके मस्तक यह समझकर काट डाले कि दुर्योधनको इससे प्रसन्नता होगी, परन्तु दुर्योधनको यह प्रिय नहीं था। क्योंकि ऐसे निन्दित कर्मकी विद्वान् लोग निन्दा करते हैं ॥१४॥ अपने लड़कोंकी मृत्यु सुनकर उनकी माता द्रौपदी बहुत विकल हुई और आँसुओं भरे नेत्रोंवाली द्रौपदी जब रोने लगी, तब उसको समझाते हुए अर्जुनने कहा—॥१५॥ हे भद्रे! उस आततायी तथा अधम ब्राह्मण अश्वत्थामाका मस्तक मैं अपने गाण्डीव धनुष द्वारा चलाये हुए बाणोंसे काटकर तुम्हारे समीप लाऊँगा, जिसके ऊपर बैठकर तुम स्नान करोगी। इस तरह मैं तुम्हारा शोक दूर करूँगा ॥१६॥ इस प्रकार सुन्दर और विचित्र वचनोंसे अपनी प्यारी द्रौपदीको समझाकर—जिनके श्रीकृष्णजी मित्र और सारथी थे—वे उग्र धनुर्धारी अर्जुन कवच पहन और रथपर चढ़कर गुरु-पुत्र अश्वत्थामाके पीछे दौड़े ॥१७॥ अर्जुनको दूरसे अपनी ओर आते देखकर बालघाती अश्वत्थामा कम्पित हृदय हो प्राण बचानेकी इच्छासे रथपर चढ़कर जहाँतक जा सका, वहाँ तक भागा। जैसे शिवजीके भयसे सूर्य्य भागे थे। * कथान्तर * शिवजीने विद्युन्माली नामक भक्तको सोनेका विमान दिया था। उसने उसपर चढ़कर विमानकी दीप्तिसे रात्रिका लोप कर डाला और सूर्यने अपने तेजसे उसका विमान गिरा दिया। यह सुनकर जब शिवजी क्रोधित हुए तब सूर्य भागे और रुद्रकी क्रूर दृष्टिसे जलते हुए

यदाशरणमात्मानमैक्षत श्रान्तवाजिनम् । अस्त्रं ब्रह्मशिरो मेन आत्मत्राणं द्विजात्मजः ॥१९॥
अथोपस्पृश्य सलिलं सन्दधे तत्समाहितः । अजानन्नुपसंहारं प्राणकृच्छ्र उपस्थिते ॥२०॥
ततः प्रादुष्कृतं तेजः प्रचण्डं सर्वतोदिशम् । प्राणापदमभिप्रेक्ष्य विष्णुं जिष्णुरुवाच ह ॥२१॥

अर्जुन उवाच

कृष्ण कृष्ण महाभाग भक्तानामभयङ्कर । त्वमेको दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ॥२२॥
त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः । मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि ॥२३॥
स एव जीवलोकस्य मायामोहितचेतसः । विधत्से स्वेन वीर्येण श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२४॥
तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया । स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥२५॥
किमिदं स्वित्कुतो वेति देवदेव न वेद्मयहम् । सर्वतोमुखमायाति तेजः परमदारुणम् ॥२६॥

श्रीभगवानुवाच

वेत्थेदं द्रोणपुत्रस्य ब्राह्ममस्त्रं प्रदर्शितम् । नैवासौ वेद संहारं प्राणबाध उपस्थिते ॥२७॥
नह्यस्यान्यतमं किञ्चिदस्त्रं प्रत्यवकर्शनम् । जह्यस्त्रतेज उन्नद्धमस्त्रज्ञो ह्यस्त्रतेजसा ॥२८॥

सूत उवाच

श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं फाल्गुनः परवीरहा । स्पृष्ट्वापस्तं परिक्रम्य ब्राह्मं ब्राह्माय सन्दधे ॥२९॥
संहत्यान्योन्यमुभयोस्तेजसी शरसंवृते । आवृत्य रोदसी खं च ववृधातेऽर्कवह्निवत् ॥३०॥
दृष्ट्वास्त्रतेजस्तु तयोस्त्रींल्लोकान् प्रदहन्महत् । दह्यमानाः प्रजाः सर्वाः सांवर्तकममंसत ॥३१॥
प्रजोपप्लवमालक्ष्य लोकव्यतिकरं च तम् । मतं च वासुदेवस्य सञ्जहारार्जुनो द्वयम् ॥३२॥

काशीमें गिरे। वे ही सूर्य 'लोलार्क' नामसे प्रसिद्ध हैं ॥१८॥ जब उसके घोड़े थक गये और द्रोणाचार्य्यके पुत्र अश्वत्थामाने अपना कोई रक्षक नहीं देखा, तब उसने ब्रह्मास्त्रको अपना रक्षक जाना ॥१९॥ और जलसे आचमन तथा ध्यान करके ब्रह्मास्त्रको धनुषपर चढ़ाया। यद्यपि वह उसका लौटाना नहीं जानता था, तथापि प्राणसंकट प्राप्त होनेपर उसने ब्रह्मास्त्रको चला ही दिया ॥ २०॥ इससे सब दिशाओंमें प्रचण्ड तेज व्याप्त हो गया। प्राणोंकी आपत्ति देखकर अर्जुनने कृष्णसे कहा ॥२१॥ अर्जुन बोले—हे भक्तोंको अभयदान देनेवाले महाभाग कृष्ण ! जन्म-मरणके तापसे जलते हुए मनुष्योंके क्लेशनाशक एक तुम्हीं हो ॥२२॥ प्रकृतिसे परे, साक्षात् ईश्वर और आदि पुरुष तुम्हीं हो। चैतन्यशक्तिसे मायाको अलग करके केवल परमात्मस्वरूपमें तुम स्थित रहते हो ॥२३॥ वही तुम मायासे मोहित चित्तवाले जीवलोकका अपने पराक्रमसे धर्मादिकोंके फलस्वरूप कल्याण करते हो ॥२४॥ तुम्हारा अवतार पृथ्वीका भार हरनेकी इच्छासे हुआ है और अपने भक्तों और कुटुम्बियोंके बार-बार ध्यानके लिये है ॥२५॥ हे देवदेव ! सब ओरसे प्रकाशित यह बड़ा कठिन तेज क्या है और कहाँसे आ रहा है ? इसको मैं नहीं जानता ॥२६॥ श्रीभगवान् बोले—प्राणसंकटके समय यह अश्वत्थामाका चलाया हुआ ब्रह्मास्त्र है। अश्वत्थामा इस अस्त्रको लौटाना नहीं जानता ॥२७॥ इस अस्त्रको शान्त करनेवाला दूसरा अस्त्र नहीं है। इस कारण इस अस्त्रका तेज अस्त्रविद्या जाननेवाले तुम अपने अस्त्रके तेजसे नष्ट करो ॥२८॥ सूतजी बोले—भगवान्‌का वचन सुनकर शत्रुवीरोंको नष्ट करनेवाले अर्जुनने आचमन करके श्रीकृष्णजीकी प्रदक्षिणा की और उस ब्रह्मास्त्रके लिये अपने ब्रह्मास्त्रका सन्धान किया ॥२९॥ बाणोंसे घिरे हुए दोनों ब्रह्मास्त्रोंके तेज आपसमें टकरा और पृथ्वीको घेरकर सूर्य्य तथा अग्निके समान वृद्धिको प्राप्त हुए ॥३०॥ तीनों लोक जलाते हुए अर्जुन और अश्वत्थामाके उन ब्रह्मास्त्रोंका वह महातेज देख और उससे जलते हुए सब लोगोंने उसे प्रलयकालका अग्नि समझा ॥३१॥ संसारको नष्ट करनेवाले उस उपद्रवको देखकर श्रीकृष्णजीकी सम्मतिसे अर्जुनने दोनों अस्त्रोंको

तत आसाद्य तरसा दारुणं गौतमीसुतम् । बबन्धामर्षताम्राक्षः पशुं रसनया यथा ॥३३॥
शिबिराय निनीषन्तं दाम्ना बद्ध्वा रिपुं बलात् । प्राहार्जुनं प्रकुपितो भगवानम्बुजेक्षणः ॥३४॥
मैनं पार्थार्हसि त्रातुं ब्रह्मबन्धुमिमं जहि । योऽसावनागसः सुप्तानवधीन्निशि बालकान् ॥३५॥
मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम् । प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥३६॥
स्वप्राणान् यः परप्राणैः प्रपुष्णात्यघृणः खलः । तद्वधस्तस्य हि श्रेयो यद्दोषाद्यात्यधः पुमान् ॥३७॥
प्रतिश्रुतं च भवता पाञ्चाल्यै शृण्वतो मम । आहरिष्ये शिरस्तस्य यस्ते मानिनि पुत्रहा ॥३८॥
तदसौ वध्यतां पाप आततायात्मबन्धुहा । भर्तुश्च विप्रियं वीर कृतवान् कुलपांसनः ॥३९॥
एवं परीक्षता धर्मं पार्थः कृष्णेन चोदितः । नैच्छद्धन्तुं गुरुसुतं यद्यप्यात्महनं महान् ॥४०॥
अथोपेत्य स्वशिबिरं गोविन्दप्रियसारथिः । न्यवेदयत्तं प्रियायै शोचन्त्या आत्मजान् हतान् ॥४१॥

तथाऽऽहृतं पशुवत्पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥४२॥

उवाच चासहन्त्यस्य बन्धनानयनं सती । मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥४३॥
सरहस्यो धनुर्वेदः सविसर्गोपसंयमः । अस्त्रग्रामश्च भवता शिक्षितो यदनुग्रहात् ॥४४॥
स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते । तस्यात्मनोऽर्धं पत्न्यास्ते नान्वगाद्वीरसूः कृपी ॥४५॥
तद्धर्मज्ञ महाभाग भवद्भिर्गौरवं कुलम् । वृजिनं नार्हति प्राप्तुं पूज्यं वन्द्यमभीक्ष्णशः ॥४६॥

समेट लिया ॥३२॥ तब क्रूर अश्वत्थामाके समीप जाकर क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले अर्जुनने उसको पशुके समान रस्सीसे बाँध लिया ॥३३॥ शत्रुको रस्सीसे बाँधकर ले जानेके इच्छुक अर्जुनसे श्रीकृष्णजीने क्रुद्ध होकर कहा—॥३४॥ हे पार्थ ! इस अधम ब्राह्मणको मार दो, इसकी रक्षा न करो। क्योंकि इसने रातमें सोये हुए निरपराध बालकोंको मारा है ॥३५॥ मद्यादिसे मत्त, असावधान, ग्रहादिके आवेशसे उन्मत्त, सोते हुए बालक, स्त्री, उद्यमरहित, शरणागत, जिसका रथ टूट गया हो उसे और डरे हुए शत्रुको धर्मज्ञ पुरुष नहीं मारते ॥३६॥ जो निर्दय तथा दुष्ट मनुष्य दूसरेके प्राणोंसे अपनी रक्षा करता है, उसका मारना ही उस पुरुषका कल्याण करना है। क्योंकि उस दोषसे मनुष्य नरकगामी होता है ॥३७॥ मेरे समक्ष तुमने द्रौपदीसे प्रतिज्ञा की है कि हे मानिनि ! जिसने तुम्हारे पुत्रोंको मारा है, मैं उसका सिर लाऊँगा ॥३८॥ अतएव यह तुम्हारे बन्धुओंका घातक आततायी तथा पापी है। अतएव इसे मारना ही चाहिए। हे वीर ! नीच अश्वत्थामाने अपने स्वामी दुर्योधनका भी प्रिय नहीं किया है ॥३९॥ सूतजी बोले—श्रीकृष्णजीने इस प्रकार कहकर अर्जुनके धर्मकी परीक्षा की और मारनेके लिये कहा, किन्तु उसने यद्यपि पुत्रोंको मारा था, तथापि अर्जुनने गुरुके पुत्र अश्वत्थामाको मारनेकी इच्छा नहीं की ॥४०॥ तदनन्तर जिनके प्यारे श्रीकृष्ण सारथी थे, ऐसे अर्जुनने अपने स्थानपर आकर मरे हुए पुत्रोंके लिए बिलखती हुई प्यारी द्रौपदीके समक्ष अश्वत्थामाको खड़ा कर दिया ॥४१॥ अपने नीच कर्मसे नीचा मुख किये, पशुके समान रस्सीमें बँधे और अपकारी गुरुपुत्र अश्वत्थामाको दयासे देखकर सुन्दर स्वभाववाली द्रौपदीने प्रणाम किया ॥४२॥ अश्वत्थामाको बाँधकर लाना असह्य मानती हुई द्रौपदीने कहा—इसको छोड़ दो, छोड़ दो। क्योंकि ब्राह्मण सब प्रकारसे गुरु होता है ॥४३॥ गुप्तमन्त्र समेत धनुर्वेद और अस्त्र चलाने तथा खींच लेनेवाला समस्त अस्त्रसमुदाय आपने जिन द्रोणाचार्यकी दयासे सीखा था ॥४४॥ वही द्रोणाचार्य पुत्ररूपसे हमारे समक्ष वर्तमान हैं और उनके शरीरका अर्धभाग स्त्री कृपी भी अभी है। क्योंकि वीर पुत्रवाली कृपी पतिके साथ सती नहीं हुई थी ॥४५॥ अतएव हे महाभाग ! हे धर्मज्ञ ! गुरुके वंशको आपसे दुःख न मिलना चाहिये। वह तो सदैव पूजने और प्रणाम करने

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता। यथाहं मृतवत्सार्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः ॥४७॥
यैः कोपितं ब्रह्मकुलं राजन्यैरजितात्मभिः। तत्कुलं प्रदहत्याशु सानुबन्धं शुचार्पितम् ॥४८॥

सूत उवाच

धर्म्यं न्याय्यं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्। राजा धर्मसुतो राज्ञ्याः प्रत्यनन्दद्वचो द्विजाः ॥४९॥
नकुलः सहदेवश्च युयुधानो धनञ्जयः। भगवान् देवकीपुत्रो ये चान्ये याश्च योषितः ॥५०॥
तत्राहामर्षितो भीमस्तस्य श्रेयान् वधः स्मृतः। न भर्तुर्नात्मनश्चार्थे योऽहन्सुप्ताञ्शिशून् वृथा ॥५१॥
निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः। आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव ॥५२॥

श्रीकृष्ण उवाच

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः। मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥५३॥
कुरु प्रतिश्रुतं सत्यं यत्तत्सान्त्वयता प्रियाम्। प्रियं च भीमसेनस्य पाञ्चाल्या मह्यमेव च ॥५४॥

सूत उवाच

अर्जुनः सहसाऽऽज्ञाय हरेर्हार्दमथासिना। मणिं जहार मूर्धन्यं द्विजस्य सहमूर्धजम् ॥५५॥
विमुच्य रशनाबद्धं बालहत्याहतप्रभम्। तेजसा मणिना हीनं शिबिरान्निरयापयत् ॥५६॥
वपनं द्रविणादानं स्थानान्निर्यापणं तथा। एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधो नान्योऽस्ति दैहिकः ॥५७॥
पुत्रशोकातुराः सर्वे पाण्डवाः सह कृष्णया। स्वानां मृतानां यत्कृत्यं चक्रुर्निर्हरणादिकम् ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे द्रौणिनिग्रहो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

योग्य है ॥४६॥ जिस तरह पुत्रोंके मरनेसे दुःखित मैं आँसुओंसे युक्त मुख होकर बार बार रोती हूँ, वैसे इसकी माता पतिव्रता गौतमी (कृपी) न रोवे ॥४७॥ जो अज्ञानी राजे ब्राह्मणवंशको क्रुद्ध करते हैं तो शोकाकुल विप्रवंश परिवार समेत उनके वंशको भस्म कर देता है ॥४८॥ सूतजी बोले—हे द्विजो ! धर्मसंयुत, नीति समेत, दयायुक्त, सत्य तथा महान् रानी द्रौपदीके वचनकी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने प्रशंसा की ॥४९॥ और नकुल, सहदेव, युयुधान, अर्जुन, देवकीनन्दन श्रीकृष्णजी तथा अन्य जो पुरुष और स्त्रियाँ वहाँ थीं, उन्होंने भी द्रौपदीजीके कथनकी प्रशंसा की ॥५०॥ केवल क्रुद्ध भीमने अलबत्ते कहा कि अश्वत्थामाको मारना ही उचित है। क्योंकि इसने न अपने और न अपने स्वामी दुर्योधनके भलेके लिये व्यर्थ हमारे सोते हुए पुत्रोंको मार डाला है ॥ ५१ ॥ द्रौपदी तथा भीमके वचन सुनकर चतुर्भुज श्रीकृष्णजी अर्जुनका मुख देखकर बोले ॥५२॥ श्रीभगवान्ने कहा—नीच भी ब्राह्मण मारने योग्य नहीं होता और आततायी वधके योग्य है, ये दोनों बातें मैंने ही कही हैं। तुम इन दोनोंका पालन करो ॥५३॥ प्यारी द्रौपदीको समझाते हुए तुमने जो प्रतिज्ञा की है, उसको पूर्ण करते हुए भीमसेन, द्रौपदी तथा मुझको जो प्रिय हो वही करो ॥ ५४ ॥ सूतजी बोले—अर्जुनने श्रीकृष्णजीके मनकी बात जानकर अश्वत्थामाके मस्तकका मणि बालों समेत निकाल लिया ॥ ५५ ॥ तेज एवं मणिरहित, बालकोंकी हत्यासे कान्तिहीन और रस्सीमें बँधे हुए अश्वत्थामाको खोलकर अपने निवासस्थानसे बाहर निकाल दिया ॥५६॥ केश काट लेना, धन ले लेना और स्थानसे निकाल देना ही नीच ब्राह्मणोंका वध है और किसी तरहसे शारीरिक दण्डका विधान ब्राह्मणके लिए नहीं है ॥५७॥ तब द्रौपदी तथा पुत्रशोकसे दुःखित सब पाण्डवोंने मरे हुए अपने बच्चोंका दाह-निर्हरण आदि कार्य सम्पन्न किया ॥५८॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

सूत उवाच

अथ ते सम्परेतानां स्वानामुदकमिच्छताम् । दातुं सकृष्णा गङ्गायां पुरस्कृत्य ययुः स्त्रियः ॥१॥
ते निनीयोदकं सर्वे विलप्य च भृशं पुनः । आप्लुता हरिपादाब्जरजःपूतसरिज्जले ॥२॥
तत्रासीनं कुरुपतिं धृतराष्ट्रं सहानुजम् । गान्धारीं पुत्रशोकार्तां पृथां कृष्णां च माधवः ॥३॥
सान्त्वयामास मुनिभिर्हतबन्धूञ्छुचार्पितान् । भूतेषु कालस्य गतिं दर्शयन्नप्रतिक्रियाम् ॥४॥
साधयित्वाजातशत्रोः स्वं राज्यं कितवैर्हृतम् । घातयित्वासतो राज्ञः कचस्पर्शक्षतायुषः ॥५॥
याजयित्वाश्वमेधैस्तं त्रिभिरुत्तमकल्पकैः । तद्यशः पावनं दिक्षु शतमन्योरिवातनोत् ॥६॥
आमन्त्र्य पाण्डुपुत्रांश्च शैनेयोद्धवसंयुतः । द्वैपायनादिभिर्विप्रैः पूजितैः प्रतिपूजितः ॥७॥
गन्तुं कृतमतिर्ब्रह्मन् द्वारकां रथमास्थितः । उपलेभेऽभिधावन्तीमुत्तरां भयविह्वलाम् ॥८॥

उत्तरोवाच

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते । नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥९॥
अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो । कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम् ॥१०॥

सूत उवाच

उपधार्य वचस्तस्या भगवान् भक्तवत्सलः । अपाण्डवमिदं कर्तुं द्रौणेरस्त्रमबुध्यत ॥११॥
तर्ह्येवाथ मुनिश्रेष्ठ पाण्डवाः पञ्च सायकान् । आत्मनोऽभिमुखान्दीप्तानालक्ष्यास्त्राण्युपाददुः ॥१२॥
व्यसनं वीक्ष्य तत्तेषामनन्यविषयात्मनाम् । सुदर्शनेन स्वास्त्रेण स्वानां रक्षां व्यधाद्विभुः ॥१३॥
अन्तस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः । स्वमायया्ऽऽवृणोद्गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे ॥१४॥

(भगवानके द्वारा गर्भस्थित परीक्षितका ब्रह्मास्त्रसे रक्षा करनेका वृत्तान्त) सूतजी बोले—इसके बाद जलके इच्छुक मरे हुए अपने वंशवालोंको गंगामें जलदान देनेके लिये श्रीकृष्णजी तथा सब पाण्डव स्त्रियोंको आगे करके चले ॥१॥ उन्होंने जल दिया और विलाप करके विष्णुके चरणकमलोंकी धूलिसे पवित्र गङ्गामें स्नान किया ॥२॥ वहाँ बैठे हुए भाइयों समेत युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, पुत्रशोकसे विकल गान्धारी, कुन्ती और द्रौपदी आदिको मुनियों तथा श्रीकृष्णजीने, जिनका यत्न नहीं है, प्राणियोंपर उस कालकी गति दिखलाते हुए समझाया ॥३॥४॥ कपटी दुर्योधनादिसे हरा हुआ राज्य युधिष्ठिरको दिला और द्रौपदीके बाल पकड़नेसे नष्ट आयु दुष्ट राजाओंका नाश कराके युधिष्ठिरके द्वारा उत्तम सामग्रीयुक्त तीन अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न कराके कृष्णने इन्द्रके समान उनका पवित्र यश दसों दिशाओंमें फैलाया ॥५-६॥ तब पूज्य व्यास आदि ब्राह्मणोंसे सम्मानित सात्यकी तथा उद्धव समेत श्रीकृष्णजी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आदिसे पूछकर द्वारकाको जानेकी इच्छासे रथपर बैठे। उसी समय उन्होंने सामने दौड़कर आती हुई और भयसे विकल परीक्षित्की माता उत्तराको देखा ॥७॥८॥ उत्तरा श्रीकृष्णजीकी प्रार्थना करती हुई बोली—हे देवदेव, हे जगत्पते, हे महायोगिन् ! मेरी रक्षा कीजिये। आपके सिवाय दूसरेको इस संसारमें मैं अपना भय छुड़ानेवाला नहीं देखती। यहाँ तो लोग एक दूसरेके प्राणघाती हो रहे हैं। हे ईश, हे विभो ! वह देखिये। तप्तलौहमय बाण मेरी ओर आ रहा है। हे नाथ ! यह बाण चाहे मुझे जला दे, परन्तु मेरे गर्भका नाश न करे ॥९॥१०॥ सूतजी बोले—उसका वचन सुनकर भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्णजीने समझ लिया कि पाण्डुवंशका नाश करनेके लिए अश्वत्थामाने इसे चलाया है ॥११॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! उसी समय पाँचों पाण्डवोंने सामनेसे आते हुए पाँच बाणोंको देखकर अपने अस्त्रोंको सम्हाला ॥१२॥ श्रीकृष्णजीने अपने आश्रित पाण्डवोंका दुःख देखकर सुदर्शन चक्रसे उन भक्तोंकी रक्षा की ॥१३॥ सब प्राणियोंके अन्तर्यामी और योगेश्वर कृष्णने पाण्डवोंके

यद्यप्यस्त्रं ब्रह्मशिरस्त्वमोघं चाप्रतिक्रियम्। वैष्णवं तेज आसाद्य समशाम्यद् भृगूद्वह ॥१५॥
मा मंस्था ह्येतदाश्चर्यं सर्वाश्चर्यमयेऽच्युते। य इदं मायया देव्या सृजत्यवति हन्त्यजः ॥१६॥
ब्रह्मतेजोविनिर्मुक्तैरात्मजैः सह कृष्णया। प्रयाणाभिमुखं कृष्णमिदमाह पृथा सती ॥१७॥

कुन्त्युवाच

नमस्ये पुरुषं त्वाऽऽद्यमीश्वरं प्रकृतेः परम्। अलक्ष्यं सर्वभूतानामन्तर्बहिरवस्थितम् ॥१८॥
मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्। न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥१९॥
तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥२०॥
कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च। नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥२१॥
नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने। नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२२॥

यथा हृषीकेश खलेन देवकी कंसेन रुद्धातिचिरं शुचार्पिता।
विमोचिताहं च सहात्मजा विभो त्वयैव नाथेन मुहुर्विपद्गणात् ॥२३॥
विषान्महाग्नेः पुरुषाददर्शनादसत्सभाया वनवासकृच्छ्रतः।
मृधे मृधेऽनेकमहारथास्त्रतो द्रौण्यस्त्रतश्चास्म हरेऽभिरक्षिताः ॥२४॥

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥२५॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्। नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥२६॥
नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये। आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः ॥२७॥

सन्तानकी रक्षा करनेके लिए स्वयं उत्तराके उदरमें प्रवेश करके अपनी मायासे गर्भको घेर लिया ॥१४॥ हे भृगूद्वह! यद्यपि वह ब्रह्मशिर अस्त्र अमोघ तथा प्रतिक्रियारहित था, तथापि वैष्णव-तेजमय सुदर्शनचक्रके सामने वह शान्त हो गया ॥१५॥ समस्त आश्चर्यमय कर्म करनेवाले ईश्वरके विषयमें यह आश्चर्यकी बात न मानो। वही ईश्वर मायादेवीके द्वारा इस संसारकी सृष्टि, पालन और संहार करता है ॥१६॥ ब्रह्मास्त्रसे बचे हुए अपने पुत्रों और द्रौपदी सहित कुन्तीने यात्राके लिये तैयार श्रीकृष्णजीसे कहा ॥१७॥ कुन्ती बोली—प्रकृतिसे परे आप ईश्वर और आदिपुरुषको मैं प्रणाम करती हूँ। जो आप सब प्राणियोंके भीतर और बाहर स्थित हैं, तथापि देख नहीं पड़ते ॥१८॥ मायारूपी आवरणसे छिपे हुए अनन्त आपको भक्तियोगका रहस्य न जाननेवाली मैं प्रणाम करती हूँ। नाट्य करनेवाले नटके समान देहाभिमानी पुरुषको आप नहीं देख पड़ते ॥१९॥ निर्मल चित्तवाले मुनियों तथा परमहंसोंको भक्तियुक्त करनेके लिये अवतार लेनेवाले आपको हम स्त्रियाँ भला कैसे देख सकती हैं? ॥२०॥ देवकीनन्दन आप कृष्णजीको मेरा प्रणाम है। नन्दगोपके पुत्र और गोविन्दको मैं नमस्कार करती हूँ ॥२१॥ जिनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ था, उन आपको प्रणाम है। कमलोंकी माला पहननेवाले आपको प्रणाम है। कमलके समान नेत्र तथा कमलके समान चरणोंवाले आपको नमस्कार है ॥२२॥ हे हृषीकेश! जैसे दुष्ट कंस द्वारा बहुत दिनोंतक कारागृहमें रुद्ध देवकीको तुमने छुड़ाया था। हे विभो! वैसे ही लड़कों समेत शोकसे विकल मुझको तुम्हींने बार-बार विपत्तियोंसे छुड़ाया है ॥२३॥ हे हरे! विषसे, अग्निसे, हिडिम्बादिक राक्षसोंके दर्शनसे, द्यूतसे, वनवासके क्लेशसे, प्रत्येक युद्धमें अनेक महारथियोंके अस्त्रसे और अभी-अभी अश्वत्थामाके अस्त्रसे आपने हमारी रक्षा की है ॥२४॥ हे जगद्गुरो! हम लोगोंपर वैसी विपत्तियाँ सदैव आती रहें। जिससे उन विपत्तियोंमें आपका वह दर्शन होता रहे, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है ॥२५॥ उत्तम कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, शास्त्र और लक्ष्मीसे जिसका गर्व बढ़ा रहता है, ऐसा पुरुष भक्तोंको दर्शन देनेवाले आपके नामको लेनेके भी योग्य नहीं होता, दर्शन तो बहुत दूर है ॥२६॥ भक्त ही आपके सर्वस्व धन हैं, गुणोंकी वृत्तिसे रहित, आत्माराम और कैवल्यपति आपको प्रणाम

मन्ये त्वां कालमीशानमनादिनिधनं विभुम् । समं चरन्तं सर्वत्र भूतानां यन्मिथः कलिः ॥२८॥

न वेद कश्चिद्भगवँश्चिकीर्षितं तवेहमानस्य नृणां विडम्बनम् ।
न यस्य कश्चिद्दयितोऽस्ति कर्हिचिद् द्वेष्यश्च यस्मिन् विषमा मतिर्नृणाम् ॥२९॥

जन्म कर्म च विश्वात्मन्नजस्याकर्तुरात्मनः । तिर्यङ्नृषिषु यादःसु तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३०॥

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद् या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥३१॥

केचिदाहुरजं जातं पुण्यश्लोकस्य कीर्तये । यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम् ॥३२॥

अपरे वसुदेवस्य देवक्यां याचितोऽभ्यगात् । अजस्त्वमस्य क्षेमाय वधाय च सुरद्विषाम् ॥३३॥

भारावतारणायान्ये भुवो नाव इवोदधौ । सीदन्त्या भूरिभारेण जातो ह्यात्मभुवार्थितः ॥३४॥

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः । श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥३५॥

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥३६॥

अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः ।
येषां न चान्यद्भवतः पदाम्बुजात्परायणं राजसु योजितांहसाम् ॥३७॥

के वयं नामरूपाभ्यां यदुभिः सह पाण्डवाः । भवतोऽदर्शनं यर्हि हृषीकाणामिवेशितुः ॥३८॥

है ॥ २७ ॥ आपको मैं आदि-अन्त रहित, ईश्वर, काल और सर्वत्र समान बर्ताव करनेवाला समदर्शी मानती हूँ। क्योंकि आप ही ऐसे हैं, जिनसे प्राणियोंमें परस्पर कलह होता है ॥२८॥ हे भगवन् ! मनुष्योंके समान आचरण करनेवाले आपको जो करनेकी इच्छा होती है, उसको कोई नहीं जानता। आपके न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। तथापि आपमें मनुष्योंकी बुद्धि विषम होती है ॥२९॥ हे विश्वात्मन् ! जन्म न लेनेवाले आपका पशु, मनुष्य, ऋषियों तथा जलजन्तुओंमें जो जन्म है और अकर्ता आपका जो कर्म है, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक है ॥३०॥ आपने जब दहीके पात्र आदि तोड़नेका अपराध किया और यशोदाने बाँधनेकें लिये रस्सी सम्हाली, तब आँसुओंसे भरे अंजनयुक्त नेत्रोंसे शोभित मुखको नीचे करके भयकी भावनासे खड़े होनेपर आपकी जो दशा हुई थी, वह मुझे मोहित करती है। क्योंकि जिससे भय भी भय खाता है, उन आपको भय कैसे हुआ ? ॥३१॥ कुछ लोग जन्मरहित भी आपका यदुवंशमें जन्म युधिष्ठिरके यशके लिए ही हुआ है, ऐसा कहते है। जैसे कि मलयपर्वतके यशके लिये ही उसपर चन्दनका जन्म होता है ॥३२॥ कितने लोग कहते हैं कि अजन्मा आपका वसुदेवजीकी स्त्री देवकीकी कोखसे जन्म उनके प्रार्थना करनेपर तथा संसारके कल्याणार्थ और दैत्योंको मारनेके लिये हुआ है ॥ ३३ ॥ कोई यह कहते हैं कि अतिशय भारसे पीड़ित समुद्रमें स्थित नौकाके समान पृथ्वीका भार उतारनेके लिये ब्रह्माजीके प्रार्थना करनेपर आप उत्पन्न हुए हैं ॥३४॥ कुछ लोगोंका कथन है कि अज्ञान, काम और कर्मसे दुःखित लोगोंके सुनने तथा स्मरण करने योग्य चरित्र करनेकी इच्छासे ही संसारमें आपका अवतार होता है ॥३५॥ जो मनुष्य निरन्तर आपका चरित्र सुनते, गाते, कहते तथा स्मरण करते है और जो दूसरे द्वारा कहे आपके चरित्रका अनुमोदन करते हैं, वे पुरुष जन्म-मरणकी बाधा शान्त करनेवाले तुम्हारे चरणारविन्द शीघ्र ही देखते हैं ॥३६॥ हे प्रभो ! आप हम प्रेमी तथा अनुगामी लोगोंको क्यों छोड़ना चाहते हैं ? राजाओंको दुःख देनेवाले हम लोगोंको आपके चरणारविन्दके सिवा अन्य गति नहीं है ॥३७॥ इन्द्रियोंके स्वामी जीवके न रहनेसे जैसे नाम और रूप कुछ नहीं रह जाता, ऐसे ही जब आपके दर्शन ही नहीं होंगे तो यदुवंशियों समेत पाण्डवोंको प्रसिद्धि तथा ऐश्वर्यसे

नेयं शोभिष्यते तत्र यथेदानीं गदाधर । त्वत्पदैरङ्किता भाति स्वलक्षणविलक्षितैः ॥३९॥
इमे जनपदाः स्वृद्धाः सुपक्वौषधिवीरुधः । वनाद्रिनद्युदन्वन्तो ह्येधन्ते तव वीक्षितैः ॥४०॥
अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे । स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥४१॥
त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् । रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥४२॥
श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥४३॥

सूत उवाच

पृथयेत्थं कलपदैः परिणूताखिलोदयः । मन्दं जहास वैकुण्ठो मोहयन्निव मायया ॥४४॥
तां बाढमित्युपामन्त्र्य प्रविश्य गजसाह्वयम् । स्त्रियश्च स्वपुरं यास्यन् प्रेम्णा राज्ञा निवारितः ॥४५॥
व्यासाद्यैरीश्वरेहाज्ञैः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा । प्रबोधितोऽपीतिहासैर्नाबुध्यत शुचार्पितः ॥४६॥
आह राजा धर्मसुतश्चिन्तयन् सुहृदां वधम् । प्राकृतेनात्मना विप्राः स्नेहमोहवशं गतः ॥४७॥
अहो मे पश्यताज्ञानं हृदि रूढं दुरात्मनः । पारक्यस्यैव देहस्य बह्व्यो मेऽक्षौहिणीर्हताः ॥४८॥
बालद्विजसुहृन्मित्रपितृभ्रातृगुरुद्रुहः । न मे स्यान्निरयान्मोक्षो ह्यपि वर्षायुतायुतैः ॥४९॥
नैनो राज्ञः प्रजाभर्तुर्धर्मयुद्धे वधो द्विषाम् । इति मे न तु बोधाय कल्पते शासनं वचः ॥५०॥
स्त्रीणां मद्धतबन्धूनां द्रोहो योऽसाविहोत्थितः । कर्मभिर्गृहमेधीयैर्नाहं कल्पो व्यपोहितुम् ॥५१॥
यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम् । भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति ॥५२॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे कुन्तीस्तुतिर्युधिष्ठिरानुतापो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

क्या लाभ होगा ? ॥३८॥ हे गदाधर ! वज्रांकुशादि चिह्नोंसे चिह्नित आपके चरणोंसे विभूषित पृथ्वी जैसी इस समय शोभित है, वैसी आपके चले जानेपर शोभित न होगी ॥३९॥ ये वन, पवत, नदी, समुद्र तथा समस्त ऐश्वर्यसंयुत देश आपको देखकर ही बढ़ते हैं और विविध अन्न तथा लतायें फलकर पकती हैं ॥४०॥ हे विश्वेश, हे विश्वात्मन् और विश्वमूर्ते ! पाण्डवों तथा यदुवंशियोंमें मेरे दृढ़ स्नेहपाशको काटिये ॥४१॥ हे मधुपते ! अन्य विषयोंको छोड़कर मेरी बुद्धि वैसे ही आपमें बार-बार प्रीति करे जैसे गङ्गाजी अपना प्रवाह समुद्रमें पहुंचाती हैं ॥४२॥ हे अर्जुनके मित्र, वैरी राजाओंको जलानेवाले, पूर्णप्रभाव भगवन् ! हे गऊ, ब्राह्मण और देवताओंका दुःख हरनेको अवतार लेनेवाले गोविन्द, योगेश्वर, अखिलगुरो ! आपको प्रणाम है ॥४३॥ सूतजी कहते हैं—कुन्तीने मधुर पदोंसे जब इस प्रकार श्रीकृष्णजीकी महिमाकी प्रशंसा की, तब अपनी मायासे मोहित करते हुए श्रीकृष्णजी मन्द-मन्द मुसकाने लगे ॥४४॥ कुन्ती तथा सुभद्रा आदि अन्य स्त्रियोंसे "बहुत अच्छा" कहकर वे हस्तिनापुर चले। वहाँसे अपने नगर द्वारकाको जाते हुए श्रीकृष्णजीको राजा युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे मना किया ॥४५॥ ईश्वरी लीलाको जाननेवाले व्यासादिक मुनियों तथा अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्णजीके द्वारा इतिहासोंसे समझाये जानेपर भी शोकसंतप्त युधिष्ठिर कुछ नहीं समझ सके ।।४६॥ हे विप्रों ! अविवेक भरे चित्तसे स्नेह और मोहके वशीभूत होकर धर्मराजके पुत्र युधिष्ठिरने स्वजनोंके वधकी बात विचारते हुए कहा—॥४७॥ बड़े आश्चर्यकी बात है ! दुष्ट चित्तवाले मेरे हृदयका अज्ञान तो देखिये कि कुत्ता तथा सियारोंके भोजनस्वरूप शरीरके लिये मैंने बहुत अक्षौहिणी सेनाका नाश कर डाला ॥४८॥ मैं बालक, ब्राह्मण, सम्बन्धी, मित्र, चाचा, भाई और गुरुको मारनेवाला पातकी हूँ। मेरा लाखों बरसमें भी नरकसे उद्धार न होगा ॥४९॥ राजाको धर्मयुद्धमें शत्रुओंको मारनेसे पाप नहीं होता, यह शिक्षावाक्य मुझको समझानेके लिये समर्थ नहीं है ॥५०॥ मैंने जिनके बन्धुओंको मार डाला है, ऐसी स्त्रियोंके द्रोहसे जो पाप हुआ है, उसे मैं गृहस्थाश्रमके कर्मोंसे दूर करनेमें समर्थ नहीं हूँ ॥५१॥ जैसे कीचड़ कीचड़से और मदिरापानसे किया

नवमोऽध्यायः

सूत उवाच

इति भीतः प्रजाद्रोहात्सर्वधर्मविवित्सया । ततो विनशनं प्रागाद्यत्र देवव्रतोऽपतत् ॥१॥
तदा ते भ्रातरः सर्वे सदश्वैः स्वर्णभूषितैः । अन्वगच्छन् रथैर्विप्रा व्यासधौम्यादयस्तथा ॥२॥
भगवानपि विप्रर्षे रथेन सधनञ्जयः । स तैर्व्यरोचत नृपः कुबेर इव गुह्यकैः ॥३॥
दृष्ट्वा निपतितं भूमौ दिवश्च्युतमिवामरम् । प्रणेमुः पाण्डवा भीष्मं सानुगाः सह चक्रिणा ॥४॥
तत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षयश्च सत्तम । राजर्षयश्च तत्रासन्द्रष्टुं भरतपुङ्गवम् ॥५॥
पर्वतो नारदो धौम्यो भगवान् बादरायणः । बृहदश्वो भरद्वाजः सशिष्यो रेणुकासुतः ॥६॥
वसिष्ठ इन्द्रप्रमदस्त्रितो गृत्समदोऽसितः । कक्षीवान् गौतमोऽत्रिश्च कौशिकोऽथ सुदर्शनः ॥७॥
अन्ये च मुनयो ब्रह्मन् ब्रह्मरातादयोऽमलाः । शिष्यैरुपेता आजग्मुः कश्यपाङ्गिरसादयः ॥८॥
तान् समेतान्महाभागानुपलभ्य वसूत्तमः । पूजयामास धर्मज्ञो देशकालविभागवित् ॥९॥
कृष्णं च तत्प्रभावज्ञ आसीनं जगदीश्वरम् । हृदिस्थं पूजयामास माययोपात्तविग्रहम् ॥१०॥
पाण्डुपुत्रानुपासीनान् प्रश्रयप्रेमसङ्गतान् । अभ्याचष्टानुरागास्रैरन्धीभूतेन चक्षुषा ॥११॥
अहो कष्टमहोऽन्याय्यं यद्यूयं धर्मनन्दनाः । जीवितुं नार्हथ क्लिष्टं विप्रधर्माच्युताश्रयाः ॥१२॥
संस्थितेऽतिरथे पाण्डौ पृथा बालप्रजा वधूः । युष्मत्कृते बहून् क्लेशान् प्राप्ता तोकवती मुहुः ॥१३॥

हुआ दोष मदिरासे दूर नहीं हो सकता, वैसे ही एक जीवहत्याका पाप जीवहत्यायुक्त यज्ञोंसे शुद्ध नहीं हो सकता ॥५२॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी' भाषाटीकायां युधिष्ठिरानुतापो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

(कृष्णकी स्तुति और भीष्मपितामहके उपदेशोंका वर्णन) सूतजी बोले—इस प्रकार प्रजाके द्रोहसे भयभीत युधिष्ठिरजी सब प्रकारके धर्मोंको जाननेकी इच्छासे कुरुक्षेत्र गये, जहाँ कि भीष्मपितामह शरशय्यापर पड़े थे ॥१॥ उस समय सब भाई सोनेसे शोभित तथा उत्तम घोड़ोंसे युक्त रथों द्वारा उनके साथ चले और व्यास तथा धौम्य आदि महर्षि भी उनके पीछे-पीछे गये ॥ २ ॥ हे विप्रर्षे! जब अर्जुन समेत श्रीकृष्ण रथपर चढ़कर चले तो ऐसे शोभित हुए, जैसे गुह्यकोंके साथ कुबेर शोभित होते हैं ॥३॥ वहाँ स्वर्गसे पृथ्वीपर गिरे हुए देवताके समान पृथ्वीमें पड़े भीष्मपितामहको छोटे भाइयों तथा श्रीकृष्ण समेत पाण्डवोंने प्रणाम किया ॥४॥ हे सत्तम! उसी समय सब ब्रह्मर्षि भरतपुङ्गव भीष्मको देखनेके लिये वहाँ आये हुए थे ॥५॥ उन ब्रह्मर्षियोंके नाम यह हैं-पर्वत, नारद, धौम्य, भगवान व्यास, बृहदश्व, भरद्वाज, शिष्यों समेत परशुराम, वशिष्ठ, इन्द्रप्रमद, त्रित, गृत्समद, असित, कक्षीवान्, गौतम, अत्रि, विश्वामित्र और सुदर्शन ॥६॥७॥ हे ब्रह्मन्! शुकदेव आदि और भी निर्मल विचारके ऋषि तथा शिष्यों समेत कश्यप-बृहस्पति आदि ऋषि भी आये हुए थे ॥८॥ एक साथ ही आये हुए उन सब महापुरुषोंको देखकर देश-कालके विभागको जाननेवाले वसुओंमें श्रेष्ठ और धर्मज्ञ भीष्मने मनसे तथा वचनसे सबका सत्कार किया ॥९॥ मायासे शरीर धारण करनेवाले, हृदयमें स्थित तथा जगदीश्वरस्वरूप सामने बैठे हुए श्रीकृष्णजीका उनकी महिमा जाननेवाले भीष्मने पूजन किया ॥१०॥ विनय तथा प्रेमसे आकर समीप बैठे हुए पाण्डुपुत्रोंको भीष्मजीने प्रेमके आँसुओंसे पूर्ण नेत्रोंसे देखकर कहा—॥११॥ हे धर्मपुत्रों! यह बड़े कष्ट और अनीतिकी बात है कि विप्र, धर्म और श्रीकृष्णजीके आश्रित होकर भी तुम कुछ दुखी हो। तुमको क्लेश न होना चाहिये ॥१२॥ अतिरथी पाण्डुके मर जानेपर छोटे पुत्रोंवाली वधू कुन्तीने तुम लोगोंके लिये बहुत

सर्वं कालकृतं मन्ये भवतां च यदप्रियम् । सपालो यद्वशे लोको वायोरिव घनावलिः ॥१४॥
यत्र धर्मसुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः । कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥१५॥
न ह्यस्य कर्हिचिद्राजन् पुमान् वेद विधित्सितम् । यद्विजिज्ञासया युक्ता मुह्यन्ति कवयोऽपि हि॥१६॥
तस्मादिदं दैवतन्त्रं व्यवस्य भरतर्षभ । तस्यानुविहितोऽनाथा नाथ पाहि प्रजाः प्रभो ॥१७॥
एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् । मोहयन्मायया लोकं गूढश्चरति वृष्णिषु ॥१८॥
अस्यानुभावं भगवान् वेद गुह्यतमं शिवः । देवर्षिर्नारदः साक्षाद्भगवान् कपिलो नृप ॥१९॥
यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् । अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥२०॥
सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः । तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥२१॥
तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् । यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात्कृष्णो दर्शनमागतः ॥२२॥
भक्त्याऽऽवेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् । त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः २३॥

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षतां कलेवरं यावदिदं हिनोम्यहम् ।
प्रसन्नहासारुणलोचनोल्लसन्मुखाम्बुजो ध्यानपथश्चतुर्भुजः ॥२४॥

सूत उवाच

युधिष्ठिरस्तदाकर्ण्य शयानं शरपञ्जरे । अपृच्छद्विविधान् धर्मानृषीणां चानुशृण्वताम् ॥२५॥
पुरुषस्वभावविहितान् यथावर्णं यथाश्रमम् । वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणान् ॥२६॥
दानधर्मान् राजधर्मान्मोक्षधर्मान् विभागशः । स्त्रीधर्मान् भगवद्धर्मान् समासव्यासयोगतः ॥२७॥

क्लेश झेले हैं ॥१३॥ आपलोगोंके विरुद्ध जो कुछ हुआ, वह सब मैं कालसे प्रेरित मानता हूँ। क्योंकि इन्द्रादि लोकपालों समेत समस्त संसार उस कालके ही वशमें है, जैसे कि पवनके वशमें मेघसमुदाय रहता है ॥१४॥ जहाँपर धर्मपुत्र राजा हों, गदा हाथमें लिये भीमसेन हों, अस्त्र लिये अर्जुन तथा उनका गाण्डीव धनुष हो और मित्र श्रीकृष्ण हों, वहाँ भी विपत्ति ? ॥१५॥ हे राजन् ! कालकी इच्छाको कभी कोई मनुष्य नहीं जान पाता। उसको जाननेकी इच्छासे विद्वान् भी मोहित हुए देखे जाते हैं ॥१६॥ अतएव हे भरतर्षभ, हे नाथ, हे प्रभो ! यह सुख-दुख आदि ईश्वरकी लीला समझकर उसके अनुवर्ती होते हुए आप अपनी अनाथ प्रजाकी रक्षा कीजिये ॥१७॥ साक्षात् आदिपुरुष नारायण ये श्रीकृष्णजी अपनी मायासे संसारको मोहित करते हुए यदुवंशियोंमें गुप्तरूपसे विचरते हैं ॥ १८ ॥ इनका गुप्त प्रभाव भगवान् शिवजी जानते हैं। हे नृप ! देवर्षि नारद और साक्षात् भगवान् कपिलमुनि भी जानते हैं ॥१९॥ जिन श्रीकृष्णजीको तुम प्रिय मित्र, अत्यन्त उपकारी और मामाके पुत्र मानते हो और जिनको तुमने विश्वासवश दूत, सारथी तथा मंत्री बनाया है ॥२०॥ सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वय, अहंकाररहित तथा राग-द्वेष-शून्य उन श्रीकृष्णजीमें उच्च-नीच कर्मसे की हुई मतिकी विषमता नहीं है ॥२१॥ तथापि हे भूप ! अपने भक्तोंपर उनकी दया तो देखिये कि प्राणोंको छोड़ते समय मुझको साक्षात् श्रीकृष्णजीने आकर दर्शन दिया है ॥२२॥ इन श्रीकृष्णजीमें भक्तिपूर्वक मन लगाकर वचनसे उन्हींका नाम जपता हुआ योगी शरीर छोड़कर संसारके बन्धनस्वरूप कर्मोंसे छूट जाता है ॥२३॥ जबतक मैं यह शरीर न छोड़ूँ, तबतक प्रसन्न हास्य तथा रक्तनेत्रोंसे शोभित मुखकमलवाले, ध्यानगम्य और चतुर्भुज देवदेव श्रीकृष्णजी प्रतीक्षा करें अर्थात् मेरे सामने उपस्थित रहें ॥२४॥ सूतजी बोले—यह वचन सुनकर युधिष्ठिरजीने शरशय्यापर सोते हुए भीष्मजीसे ऋषियोंके समक्ष अनेक प्रकारके धर्मोंको पूछा ॥ २५ ॥ और भीष्मपितामहने साधारण मनुष्योंके धर्म, वर्णों तथा आश्रमोंके धर्म, वैराग्य और अनुरागकी उपाधियोंसे निवृत्ति तथा प्रवृत्ति मार्गका वर्णन किया ॥ २६ ॥ उन्होंने अलग-अलग दानधर्म, राजधर्म और मोक्ष-धर्मोंको कहा। स्त्रियोंके धर्म तथा वैष्णवधर्मोंका संक्षेप तथा विस्तारसे वर्णन किया ॥ २७॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च सहोपायान् यथा मुने । नानाख्यानेतिहासेषु वर्णयामास तत्त्ववित् ॥२८॥
धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः । यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः ॥२९॥
तदोपसंहृत्य गिरः सहस्रणीर्विमुक्तसङ्गं मन आदिपूरुषे ।
कृष्णे लसत्पीतपटे चतुर्भुजे पुरःस्थितेऽमीलितदृग्व्यधारयत् ॥३०॥
विशुद्धया धारणया हताशुभस्तदीक्षयैवाशु गतायुधव्यथः ।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिविभ्रमस्तुष्टाव जन्यं विसृजञ्जनार्दनम् ॥३१॥

भीष्म उवाच

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ॥३२॥
त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥३३॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥३४॥
सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य ।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥३५॥
व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या ।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥३६॥
स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः ॥३७॥

हे मुने ! तत्त्वज्ञानी भीष्मपितामहने अनेक प्रकारके इतिहासों द्वारा यत्नसमेत धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षका कथन किया ॥ २८ ॥ इस प्रकार भीष्मके धर्म कहते-कहते वह उत्तरायण समय प्राप्त हुआ, जिस समयको इच्छामृत्यु चाहनेवाले योगीजन चाहते हैं ॥२९॥ उस समय चुप हो और नेत्रकी टकटकी बाँधकर भीष्मने आगे स्थित, पीतपटसे सुशोभित, आदिपुरुष तथा चतुर्भुज श्रीकृष्णजीमें अपना मुक्तसङ्ग मन लगाया ॥३०॥ जिनका ध्यान करनेसे अमङ्गल नष्ट हो जाता है, उन श्रीकृष्णजीको देखते ही उनकी अस्त्रजनित पीड़ा जाती रही और सब इन्द्रियोंकी वृत्तिका भ्रम भी लुप्त हो गया। उस समय भीष्मपितामहने अपना शरीर छोड़ते हुए श्रीकृष्णजीकी स्तुति की ॥३१॥ उन्होंने कहा—परमानन्दको प्राप्त, देवताओंमें श्रेष्ठ तथा सबसे अधिक तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णजीके चरणोंमें मेरी कामनारहित बुद्धि समर्पित है। जो श्रीकृष्ण कभी-कभी विहारके लिये उस मायाको स्वीकार करते हैं, जिससे संसारमें जीवन तथा मरण होता है ॥३२॥ त्रिलोकीमें सबसे सुन्दर, श्याम तमालके समान नीलवर्ण, सूर्य्यकी किरणोंके समान पीतंवसन पहने, अलकावलीसे ढके मुखकमलवाले शरीरको धारण किये और अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा निष्काम प्रेम हो ॥३३॥ युद्धके समय घोड़ोंके खुरोंकी धूलिसे धूमिल, इधर-उधर छितराये केशोंसे व्याप्त, पसीनेकी बूँदसे शोभितमुख तथा मेरे पैने बाणोंकी मारसे जिनकी त्वचा कट गई थी ऐसे शोभित कचवाले श्रीकृष्णजीसे मेरा मन प्रेम करे ॥३४॥ मित्र अर्जुनका वचन सुनकर शीघ्र ही अपनी तथा शत्रुओंकी सेनाके बीचमें रथ खड़ा करके स्थित होनेवाले, शत्रुओंकी सेनाकी आयुको दृष्टिहीसे पीनेवाले और अर्जुनके मित्र श्रीकृष्णजीमें मेरा स्नेह हो ॥३५॥ दूर खड़ी सेनाके मुखके समान आगे स्थित भीष्म आदिको देखकर दोष-बुद्धिसे अपने कुटुम्बियोंको मारनेसे निवृत्त होनेको इच्छुक अर्जुनकी कुबुद्धिको जिन श्रीकृष्णजीने आत्मज्ञानसे हर लिया था, उन परमपुरुषके चरणोंमें मेरा प्रेम हो ॥३६॥ जो श्रीकृष्ण

शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे ।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥३८॥
विजयरथकुटुम्ब आत्ततोत्रे धृतहयरश्मिनि तच्छ्रियेक्षणीये ।
भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम् ॥३९॥
ललितगतिविलासवल्गुहासप्रणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥४०॥
मुनिगणनृपवर्यसङ्कुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम् ।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा ॥४१॥
तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम् ।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः ॥४२॥

सूत उवाच

कृष्ण एवं भगवति मनोग्दृष्टिवृत्तिभिः । आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तःश्वास उपारमत् ॥४३॥
सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले । सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ॥४४॥
तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः । शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ॥४५॥
तस्य निर्हरणादीनि सम्परेतस्य भार्गव । युधिष्ठिरः कारयित्वा मुहूर्तं दुःखितोऽभवत् ॥४६॥

अपनी प्रतिज्ञाको छोड़ मेरी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये रथसे नीचे उतर तथा रथका पहिया लेकर हाथीको मारनेके लिये सिंहके सदृश सामने चले, तब पृथ्वी काँपने लगी और उसी संभ्रममें उनके काँधेका दुपट्टा पृथ्वीमें गिर गया था। * कथान्तर * महाभारतके युद्धमें श्रीकृष्णजीने यह प्रतिज्ञा की थी कि युद्धमें मैं अस्त्र नहीं उठाऊँगा। तब भीष्मपितामहने एक दिन यह प्रतिज्ञा की कि मैं आज श्रीकृष्णजीको अस्त्र ग्रहण कराऊँगा। इसलिये उस दिन उन्होंने ऐसी भयंकर बाण-वर्षा की, जिससे कृष्ण विकल-से हो रथका चक्र लेकर भीष्मको मारने दौड़े। भीष्मपितामह कहते हैं कि यह सब आपने मेरी प्रतिज्ञाको पूरी करनेके लिये ही किया था ॥३७॥ तब मैंने अपने पैने बाणोंसे मारा। जब उनका कवच कट गया, तब उनके शरीरसे रुधिर बहने लगा। फिर भी श्रीकृष्ण मुझको मारनेके लिये वेगसे मेरे सामने बढ़े। वे मुकुन्द भगवान् मेरी गति हों ॥३८॥ कुटुम्बके समान अर्जुनके रथकी रक्षा करनेवाले, चाबुक लिये और घोड़ोंकी रस्सी पकड़े तथा उस समयकी शोभासे देखने योग्य उन भगवान् श्रीकृष्णमें मुझ मृत्यु चाहनेवालेका प्रेम हो, जिनको देखकर इस युद्धमें मरे हुए अगणित प्राणी उन्हींके रूपको प्राप्त हो गये ॥३९॥ उत्तम गति, पवित्र लीला, सुन्दर हास्य तथा प्रेमपूर्वक देखनेसे जिन गोपियोंका बड़ा आदर किया गया है, उन्मादसे अन्ध होकर श्रीकृष्णजी द्वारा किये हुए गोवर्धन-धारण आदि कर्मोंकी लीला करके वे गोपियाँ श्रीकृष्णजीके रूपमें मिल गयीं ॥४०॥ धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें जिन्होंने मुनिगणों तथा श्रेष्ठ राजाओंसे परिपूर्ण सभामें मुनियोंके देखने योग्य पूजन पाया था, वे सब लोकोंकी आत्मा श्रीकृष्ण मेरे नेत्रोंके सामने हैं, मेरा भाग्य धन्य है ॥४१॥ अपने रचे हुए प्रत्येक प्राणियोंके हृदय और प्रत्येक नेत्रोंमें अनेक-से मालूम होते हुए एक सूर्यके समान स्थित इन अजन्मा श्रीकृष्णजीके चरणोंमें भेद और मोहसे रहित होकर मैं प्राप्त हो गया हूँ ॥४२॥ सूतजी बोले—इस प्रकार परमात्मा श्रीकृष्णभगवानमें मन, वचन तथा दृष्टिकी वृत्तियोंसे प्रविष्ट हो भीतर श्वास खींचकर भीष्मपितामह सदाके लिए शान्त हो गये ॥४३॥ भीष्मको उपाधिरहित ब्रह्ममें प्राप्त जानकर सब लोग चुप हो गये, जैसे कि संध्याके समय पक्षी चुप हो जाते हैं ॥४४॥ उस समय देवताओं तथा मनुष्यों द्वारा बजाये हुए नगाड़े बजने लगे और राजाओंके सध्यमें जो साधु थे, वे उनकी प्रशंसा करने लगे और आकाशसे फूलोंकी वृष्टि होने लगी ॥४५॥ हे भार्गव ! उन मुक्त भीष्मके दाह आदि संस्कार कराके युधिष्ठिर थोड़ी देर दुःखित हुए ॥ ४६ ॥

तुष्टुवुर्मुनयो हृष्टाः कृष्णं तद्गुह्यनामभिः । ततस्ते कृष्णहृदयाः स्वाश्रमान् प्रययुः पुनः ॥४७॥
ततो युधिष्ठिरो गत्वा सहकृष्णो गजाह्वयम् । पितरं सान्त्वयामास गान्धारीं च तपस्विनीम् ॥४८॥
पित्रा चानुमतो राजा वासुदेवानुमोदितः । चकार राज्यं धर्मेण पितृपैतामहं विभुः ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे युधिष्ठिरराज्यप्रलम्भो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

शौनक उवाच

हत्वा स्वरिक्थस्पृध आततायिनो युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
सहानुजैः प्रत्यवरुद्धभोजनः कथं प्रवृत्तः किमकारषीत्ततः ॥१॥

सूत उवाच

वंशं कुरोर्वंशदवाग्निनिर्हृतं संरोहयित्वा भवभावनो हरिः ।
निवेशयित्वा निजराज्य ईश्वरो युधिष्ठिरं प्रीतमना बभूव ह ॥२॥
निशम्य भीष्मोक्तमथाच्युतोक्तं प्रवृत्तविज्ञानविधूतविभ्रमः ।
शशास गामिन्द्र इवाजिताश्रयः परिध्युपान्तामनुजानुवर्तितः ॥३॥

कामं ववर्ष पर्जन्यः सर्वकामदुघा मही । सिषिचुः स्म व्रजान् गावः पयसोधस्वतीर्मुदा ॥४॥
नद्यः समुद्रा गिरयः सवनस्पतिवीरुधः । फलन्त्योषधयः सर्वाः काममन्वृतु तस्य वै ॥५॥
नाधयो व्याधयः क्लेशा दैवभूतात्महेतवः । अजातशत्रावभवञ्जन्तूनां राज्ञि कर्हिचित् ॥६॥
उषित्वा हास्तिनपुरे मासान् कतिपयान् हरिः । सुहृदां च विशोकाय स्वसुश्च प्रियकाम्यया ॥७॥
आमन्त्र्य चाभ्यनुज्ञातः परिष्वज्याभिवाद्य तम् । आरुरोह रथं कैश्चित्परिष्वक्तोऽभिवादितः ॥८॥

और मुनिलोग प्रसन्न होकर श्रीकृष्णजीकी स्तुति करने लगे। तदनन्तर श्रीकृष्णजीके चरणमें मनको लगाये हुए वे सब अपने-अपने आश्रमोंको चले गये ॥४७॥ तदनन्तर श्रीकृष्णजी तथा युधिष्ठिरने हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र तथा तपस्विनी गान्धारीको समझाया ॥ ४८ ॥ धृतराष्ट्रकी आज्ञा और श्रीकृष्णजीके कहनेसे राजा युधिष्ठिर पिता तथा पितामहों द्वारा पालित राज्यका धर्मपूर्वक शासन करने लगे ॥४९॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषा-टीकायां युधिष्ठिरराज्यप्रलम्भनो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

(भगवान कृष्णके द्वारिकापुरी जानेका वृत्तान्त) शौनकजी बोले—अपना धन हड़पनेके इच्छुक दुर्योधनादिक आततायी लोगोंको मारकर धर्मराज युधिष्ठिर बन्धुवधके दुःखसे व्यथित हो राज्यको भोगते हुए भाइयों समेत कैसे रहे और उसके बाद उन्होंने क्या किया? ॥१॥ सूतजी बोले—वंशके दावानलसे जले कुरुवंशको पुनः अङ्कुरित करके संसारको उत्पन्न करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण राज्यसिंहासनपर युधिष्ठिरको बिठाकर बहुत प्रसन्न हुए ॥२॥ भीष्म तथा श्रीकृष्णजीका कथन सुनकर विज्ञानसे नष्टभ्रम युधिष्ठिरजीने अपने भाइयों द्वारा सेवित तथा श्रीकृष्णके आश्रित होकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका इंद्रके समान पालन किया ॥३॥ युधिष्ठिरके राजा होनेपर प्रजाकी इच्छानुसार मेघ बरसते थे। पृथ्वी सब मनोरथ पूर्ण करती थी और बड़े थनवाली गायें अपने रहनेके स्थानोंको दूधसे सींचती थीं। नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति तथा लताओं समेत औषधियाँ प्रत्येक ऋतुमें फूलतीं और प्राणियोंके दैविक, दैहिक तथा भौतिक क्लेश और मानसी पीड़ा तथा शारीरिक रोग शान्त करती रहती थीं ॥ ४–६ ॥ मित्रोंका शोक दूर करने तथा सुभद्राको प्रसन्न

सुभद्रा द्रौपदी कुन्ती विराटतनया तथा । गान्धारी धृतराष्ट्रश्च युयुत्सुर्गौतमो यमौ ॥९॥
वृकोदरश्च धौम्यश्च स्त्रियो मत्स्यसुतादयः । न सेहिरे विमुह्यन्तो विरहं शार्ङ्गधन्वनः ॥१०॥
सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः । कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥११॥
तस्मिन्न्यस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् । दर्शनस्पर्शसंलापशयनासनभोजनैः ॥१२॥
सर्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः । वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥१३॥
न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते । निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥१४॥
मृदङ्गशङ्खभेर्यश्च वीणापणवगोमुखाः । धुन्धुर्यानकघण्टाद्या नेदुर्दुन्दुभयस्तथा ॥१५॥
प्रासादशिखरारूढाः कुरुनार्यो दिदृक्षया । ववृषुः कुसुमैः कृष्णं प्रेमव्रीडास्मितेक्षणाः ॥१६॥
सितातपत्रं जग्राह मुक्तादामविभूषितम् । रत्नदण्डं गुडाकेशः प्रियः प्रियतमस्य ह ॥१७॥
उद्धवः सात्यकिश्चैव व्यजने परमाद्भुते । विकीर्यमाणः कुसुमै रेजे मधुपतिः पथि ॥१८॥
अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः । नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१९॥
अन्योन्यमासीत्सञ्जल्प उत्तमश्लोकचेतसाम् । कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां सर्वश्रुतिमनोहरः ॥२०॥

स वै किलायं पुरुषः पुरातनो य एक आसीदविशेष आत्मनि ।
अग्रे गुणेभ्यो जगदात्मनीश्वरे निमीलितात्मन्निशि सुप्तशक्तिषु ॥२१॥
स एव भूयो निजवीर्यचोदितां स्वजीवमायां प्रकृतिं सिसृक्षतीम् ।
अनामरूपात्मनि रूपनामनी विधित्समानोऽनुससार शास्त्रकृत् ॥२२॥

करनेके लिये कुछ महीनेतक हस्तिनापुरमें रहकर श्रीकृष्ण युधिष्ठिरजीसे आज्ञा ले और उनको प्रणामकर रथपर चढ़े। कुछ लोगोंने उनको छातीसे लिपटाकर प्रणाम किया ॥७।८॥ सुभद्रा, द्रौपदी, कुन्ती तथा विराट्की कन्या उत्तरा, गान्धारी, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, गौतम, नकुल और सहदेव ॥९॥ भीम, धौम्य और सत्यवती आदि स्त्रियाँ श्रीकृष्णजीके वियोगको नहीं सह सकीं—सब लोग विकल हो गये ॥१०॥ सत्संगसे जिसका दुष्ट संग छूट जाता है, ऐसा ज्ञानी पुरुष सत्संग नहीं छोड़ना चाहता। सज्जनोंसे प्रतिपादित और एक बार सुना हुआ भी जिनका यश रुचिकारक होता है ॥११॥ तब दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप, सोना, बैठना और साथ-साथ भोजन हो जानेपर उन श्रीकृष्णजीमें संलग्न-बुद्धि युधिष्ठिर आदि भगवानके वियोगको कैसे सह पाते ? ॥१२॥ श्रीकृष्णजीके साथ-साथ जिनका मन भी चला जा रहा था, ऐसे स्नेहपाशमें बँधे हुए वे लोग पलक न मूँदकर विकल नेत्रोंसे उन्हें देखते हुए अधीर हो रहे थे ॥१३॥ जब श्रीकृष्णजी महलोंसे बाहर निकले, तब द्रौपदी आदि स्त्रियोंने उत्कण्ठाके कारण टपकते हुए आँसुओंको इसलिये नेत्रों ही में रोक लिया कि अशकुन न होने पाये ॥१४॥ प्रस्थानके समय मृदङ्ग, शंख, नगाड़ा, वीणा, पणव, गोमुख, ढोल तथा घण्टा आदि बाजे बजने लगे ॥१५॥ प्रेम तथा लज्जापूर्वक हँसकर निहारनेवाली कुरुवंशी स्त्रियाँ उन्हें देखनेकी इच्छासे मन्दिरोंके ऊपर चढ़ गयीं और उन्होंने श्रीकृष्णजीके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा की ॥१६॥ रत्नदण्डयुक्त तथा मोतियोंकी झालरसे सुशोभित श्रीकृष्णका श्वेत छत्र उनके प्रिय मित्र अर्जुनने पकड़ा ॥ १७ ॥ उद्धव तथा सात्यकीने चित्रित चँवर ग्रहण किया। मार्गमें उनके ऊपर बराबर फूल बरस रहे थे। उस समय श्रीकृष्णजी बहुत शोभित हुए ॥१८॥ जहाँ-तहाँ ब्राह्मणोंके सत्य आशीर्वाद सुन पड़े, जो कि निर्गुणके योग्य न होकर उस समय सगुणके योग्य थे ॥१९॥ श्रीकृष्णमें रत चित्तवाली हस्तिनापुरकी स्त्रियोंका आपसमें मनोहर वार्तालाप हुआ ॥२०॥ वे कहतीं—ये गुणोंके क्षोभ तथा प्रपञ्चसे रहित, अपने स्वरूपमें स्थित अद्वितीय पुरुष हैं और प्रलयके समय जिस ईश्वरमें सब जीव लीन हो जाते हैं, वे ही पुराण पुरुष ये श्रीकृष्णभगवान हैं ॥ २१ ॥ नाम-रूपरहित अपनी आत्मामें नाम-रूप स्थापित करनेकी इच्छा रखते हुए उन्हीं शास्त्रप्रवर्तक ईश्वरने

१०

स वा अयं यत्पदमत्र सूरयो जितेन्द्रिया निर्जितमातरिश्वनः ।
पश्यन्ति भक्त्युत्कलितामलात्मना नन्वेष सत्त्वं परिमार्ष्टुमर्हति ॥२३॥
स वा अयं सख्यनुगीतसत्कथो वेदेषु गुह्येषु च गुह्यवादिभिः ।
य एक ईशो जगदात्मलीलया सृजत्यवत्यत्ति न तत्र सज्जते ॥२४॥
यदा ह्यधर्मेण तमोधियो नृपा जीवन्ति तत्रैष हि सत्त्वतः किल ।
धत्ते भगं सत्यमृतं दयां यशो भवाय रूपाणि दधद्युगे युगे ॥२५॥
अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलमहो अलं पुण्यतमं मधोर्वनम् ।
यदेष पुंसामृषभः श्रियः पतिः स्वजन्मना चंक्रमणेन चाश्चति ॥२६॥
अहो बत स्वर्यशसस्तिरस्करी कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत्प्रजाः ॥२७॥
नूनं व्रतस्नानहुतादिनेश्वरः समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुर्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः ॥२८॥
या वीर्यशुल्केन हृताः स्वयंवरे प्रमथ्य चैद्यप्रमुखान् हि शुष्मिणः ।
प्रद्युम्नसाम्बाम्बसुतादयोऽपरा याश्चाहृता भौमवधे सहस्रशः ॥२९॥
एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं निरस्तशौचं बत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात्पुष्करलोचनः पतिर्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ॥३०॥
एवंविधा गदन्तीनां स गिरः पुरयोषिताम् । निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौ हरिः ॥३१॥

अपनी कालशक्तिसे प्रेरित सृष्टि करनेकी इच्छावाली तथा अपने अंशभूत जीवोंको मोहनेवाली प्रकृतिको ग्रहण किया ॥२२॥ इस संसारमें प्राणोंको जीतनेवाले जितेन्द्रिय विद्वान् जिनके चरणको उत्कण्ठावश निर्मल चित्तसे देखते हैं; वे ही ये श्रीकृष्णजी हैं और ये ही बुद्धिको शुद्ध करनेमें समर्थ हैं ॥२३॥ हे सखि ! वेदों तथा नारदपञ्चरात्र आदि ग्रन्थोंमें उन शास्त्रोंको बनानेवाले जिनकी सत्य गाथाका गान करते हुए कहते हैं कि जो एक ईश्वर अपनी लीलासे संसारको रचता, पालन करता तथा संहार करता है, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होता, वही ये श्रीकृष्ण भगवान हैं ॥२४॥ जब तमोगुणी राजे अधर्मसे केवल अपने प्राणोंका पालन करते हैं, तब ये ही श्रीकृष्णजी प्रजापालनके लिये प्रत्येक युगमें सत्त्वगुणसे रूपोंको धारण करके सत्य, ऐश्वर्य, सत्यप्रतिज्ञा, दया और यशका लोकमें विस्तार करते हैं ॥२५॥ अहो ! यदुवंशी बड़ी प्रशंसाके योग्य हैं, जिनका पुरुषोंमें श्रेष्ठ ये लक्ष्मीके पति विष्णुजी अपने जन्मसे सत्कार करते हैं और मधुवन (मथुरा) भी अति पवित्र है, जिसका अपने गमनसे सत्कार करते हैं ॥२६॥ बड़े आश्चर्यकी बात है कि स्वर्गके यशको तिरस्कार करनेवाली द्वारका भी पृथ्वीको पवित्र करती है। क्योंकि इस द्वारकाके लोग दयासे प्रेरित और मुसकान संयुत दृष्टिवाले अपने पति श्रीकृष्णजीको नित्य देखते हैं ॥२७॥ हे सखि ! इनकी स्त्रियोंने व्रत, स्नान तथा हवन आदिसे दूसरे जन्मोंमें ईश्वरका पूजन किया है, जिससे श्रीकृष्णजीको पति पाकर उनके अधरामृतको पीती हैं, जिनकी इच्छासे व्रजकी स्त्रियाँ मोहित हो गयी थीं ॥२८॥ स्वयम्वरमें शिशुपाल आदि बलवान् राजाओंको जीतकर पराक्रमरूपी मूल्यसे लाई गई रुक्मिणी, जाम्बवती तथा नाग्नजिती आदिक स्त्रियाँ और भौमासुरका वध करके जो हजारों स्त्रियाँ लायी गई हैं ॥२९॥ वे स्वतन्त्रतारहित तथा अपवित्र स्त्रीका जन्म अति उत्तम कर रही हैं। क्योंकि पारिजात आदि लाकर उनके हृदयको आनन्द देते हुए कमललोचन श्रीकृष्णजी उन स्त्रियोंके घरसे कभी भी नहीं निकलते ॥३०॥ ऐसे वचन कहनेवाली हस्तिनापुरकी स्त्रियोंकी मुसकानसमेत दृष्टिसे प्रशंसा करते हुए श्रीकृष्णजी चले

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः । परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात्प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम् ॥३२॥
अथ दूरागताञ्छौरिः कौरवान् विरहातुरान् । सन्निवर्त्य दृढं स्निग्धान् प्रायात्स्वनगरीं प्रियैः॥३३॥
कुरुजाङ्गलपाञ्चालान् शूरसेनान् सयामुनान् । ब्रह्मावर्तं कुरुक्षेत्रं मत्स्यान् सारस्वतानथ ॥३४॥
मरुधन्वमतिक्रम्य सौवीराभीरयोः परान् । आनर्तान् भार्गवोपागाच्छ्रान्तवाहो मनाग्विभुः ॥३५॥
तत्र तत्र ह तत्रत्यैर्हरिः प्रत्युद्यतार्हणः । सायं भेजे दिशं पश्चाद्गविष्ठो गां गतस्तदा ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने दशमोऽध्यायः ॥१०॥

अथैकादशोऽध्यायः

सूत उवाच

आनर्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धाञ्जनपदान् स्वकान् । दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव ॥१॥
स उच्चकाशे धवलोदरो दरोऽप्युरुक्रमस्याधरशोणशोणिमा ।
दाध्मायमानः करकञ्जसम्पुटे यथाब्जखण्डे कलहंस उत्स्वनः ॥२॥
तमुपश्रुत्य निनदं जगद्भयभयावहम् । प्रत्युद्ययुः प्रजाः सर्वा भर्तृदर्शनलालसाः ॥३॥
तत्रोपनीतबलयो रवेर्दीपमिवादृताः । आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा ॥४॥
प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा । पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥५॥
नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं विरिञ्चवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम् ।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं न यत्र कालः प्रभवेत्परः प्रभुः ॥६॥

गये ॥३१॥ शत्रुओंसे सशंक युधिष्ठिर श्रीकृष्णजीकी रक्षाके लिये स्नेहसे हाथी, घोड़े, रथ और पैदलकी चतुरङ्गिणी सेना साथ कर दी ॥ ३२ ॥ इसके बाद दूरतक आये हुए तथा वियोगसे दुःखी बड़े प्रेमी कौरवोंको कृष्णजी लौटाकर उद्धवादिकों समेत अपनी द्वारकापुरीको चल दिये ॥ ३३ ॥ कुरु, जाङ्गल, पाञ्चाल, शूरसेन, यामुन, ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र, मत्स्य और सारस्वत देशोंको लाँघकर—॥३४॥ हे भार्गव ! निर्जल देश, अल्पोदक देश तथा सौवीर और आभीर देशके उस पारवाले देशोंको लाँघ कुछ थके हुए घोड़ोंवाले श्रीकृष्णजी द्वारकाके समीपवर्ती देशोंमें पहुँचे ॥ ३५ ॥ उन देशोंमें वहाँके रहनेवाले लोगोंसे भेंट करके सायंकालमें रथसे उतरकर पृथ्वीमें बैठे और जलाशयके समीप जाकर श्रीकृष्णजीने सन्ध्योपासन किया ॥३६॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥१०॥

(इस अध्यायमें भगवानके द्वारकापुरीमें पहुँचकर निवास करनेका वृत्तान्त वर्णित है) सूतजी बोले—द्वारकाके हरे-भरे देशोंमें जा और वहाँके निवासियोंका दुःख दूर करते हुए श्रीकृष्णजीने शंख बजाया ॥१॥ दोनों हाथोंके मध्यमें बजाया जाता हुआ भीतर श्वेत रंगवाला शंख श्रीकृष्णजीके ओठोंकी लालीसे लाल होकर बहुत शोभित हुआ, जैसे लाल कमलोंके मध्य बोलता हुआ हंस हो ॥२॥ संसारको भय देनेवाला वह शब्द सुनकर स्वामी श्रीकृष्णजीके दर्शनकी इच्छावाले सब प्रजाजन मिलनेके लिये गये ॥३॥ जैसे लोग सूर्यके समक्ष आदरसे दीप देते हैं, वैसे ही प्रजाने सदैव अपने लाभसे पूर्णकाम तथा आत्माराम श्रीकृष्णजीको भेंट समर्पण किया ॥४॥ जैसे पितासे पुत्र बोलते हैं, वैसे ही सबके मित्र तथा रक्षा करनेवाले श्रीकृष्णजीके प्रति प्रेमसे प्रसन्न मुखवाले प्रजाजन हर्षसे गद्गद वचन बोले—॥५॥ हे नाथ ! इस संसारमें उत्तम गति चाहनेवाले पुरुषोंके लिये शरण तथा ब्रह्मा, नारद और इन्द्र जिनको प्रणाम करते हैं, ऐसे तुम्हारे चरणकमलको हमलोग सदैव प्रणाम करते हैं। क्योंकि ब्रह्मादिकोंका प्रभु काल भी भगवानकी शरणमें चले जानेवालोंका कुछ नहीं बिगाड़ सकता

भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता ।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥७॥
अहो सनाथा भवता स्म यद्वयं त्रैविष्टपानामपि दूरदर्शनम् ।
प्रेमस्मितस्निग्धनिरीक्षणाननं पश्येम रूपं तव सर्वसौभगम् ॥८॥
यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून्मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया ।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत ॥९॥

इति चोदीरिता वाचः प्रजानां भक्तवत्सलः । शृण्वानोऽनुग्रहं दृष्ट्या वितन्वन् प्राविशत्पुरीम् ॥१०॥
मधुभोजदशार्हार्हकुकुरान्धकवृष्णिभिः । आत्मतुल्यबलैर्गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ॥११॥
सर्वर्तुसर्वविभवपुण्यवृक्षलताश्रमैः । उद्यानोपवनारामैर्वृतपद्माकरश्रियम् ॥१२॥
गोपुरद्वारमार्गेषु कृतकौतुकतोरणाम् । चित्रध्वजपताकाग्रैरन्तः प्रतिहतातपाम् ॥१३॥
सम्मार्जितमहामार्गरथ्यापणकचत्वराम् । सिक्तां गन्धजलैरुप्तां फलपुष्पाक्षताङ्कुरैः ॥१४॥
द्वारि द्वारि गृहाणां च दध्यक्षतफलेक्षुभिः । अलंकृतां पूर्णकुम्भैर्बलिभिर्धूपदीपकैः ॥१५॥
निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वसुदेवो महामनाः । अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुतविक्रमः ॥१६॥
प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः । प्रहर्षवेगोच्छ्वशितशयनासनभोजनाः ॥१७॥

॥६॥ हे विश्वभावन ! तुम हम लोगोंका कल्याण करो, तुम्हीं माता, मित्र, पति और पिता हो। तुम्हीं हमलोगोंके उत्तम गुरु और सर्वप्रधान देवता हो। तुम्हारा अनुसरण करनेसे हमलोग अपनेको कृतार्थ समझते हैं ॥७॥ देवताओंको भी कठिनाईसे दृष्टिगोचर होनेवाले मन्द मुसकान और अवर्णनीय शोभायुक्त आपके मुखकमलको देखकर हम अपनेको सनाथ समझते हैं ॥८॥ हे कमलनेत्र ! जब कभी आप पाण्डवोंके यहाँ हस्तिनापुर तथा वृजवासियोंसे मिलनेके लिए मथुरा अथवा किसी मित्रसे मिलने कहीं चले जाते हैं, तब मेरा एक क्षण करोड़ वर्षके समान लम्बा होकर बड़ी कठिनाईसे बीतता है। हे अच्युत ! आपके वियोगमें मेरी वह दशा हो जाती है, जो सूर्यास्त हो जानेपर अन्धकाराच्छन्न संसारकी होती है ॥९॥ भक्तवत्सल भगवान अपनी प्रजाकी ऐसी सरस बातें सुनते और अपनी दृष्टिसे प्रेम प्रकाश करते हुए पुरीमें प्रविष्ट हुए ॥१०॥ जहाँ मधु, भोज, दाशार्ह, अर्ह और कुकुरवंशके बड़े-बड़े वीर उस नगरीकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त थे। वे सब कृष्णके ही समान वीर थे। वे उसी तरह चौकसीके साथ द्वारिकाकी रक्षा करते थे, जैसे नागगण नागलोक (भोगवती पुरी) की रक्षा करते हैं ॥११॥ जिस नगरीके भीतर-बाहर सब ऋतुओंमें फूलने-फलनेवाले वृक्षों, लताकुंजों, उद्यानों, उपवनों, आरामों (बागों) के साथ खिले हुए कमलपुष्पोंसे भरे बड़े-बड़े सरोवर विद्यमान थे ॥१२॥ जिस नगरीके सदर फाटकों, प्रत्येक घरके दरवाजों और मार्गोंमें वहाँके निवासियोंने कौतुकवश विविध प्रकारके तोरण लगा रखे थे, चित्र-विचित्र ढंगकी ध्वजा और पताकायें फहरायी गयी थीं, उनकी इतनी अधिकता थी कि जिससे मार्गमें धूप नहीं लगती थी—सारी सड़कपर छाया हो गयी थी ॥१३॥ उस नगरीकी लम्बी-चौड़ी सड़कें साफ-सुथरी थीं। उनसे कम चौड़े रास्ते और बाजारकी गलियाँ सुगंधित जलोंसे छिड़काव करके विविध प्रकारके फल, पुष्प, अक्षत और दूबके दलोंसे सजायी गयी थीं ॥१४॥ द्वारिकाके प्रत्येक दरवाजेपर भरे हुए कलश रखे थे और मंगलके लिए कसोरोंमें दही, अक्षत, फल (नारियल) गुड़ तथा धूप-दीप आदि सामग्री भर-भरकर रखी हुई थी ॥१५॥ महामनस्वी वसुदेव, अद्भुत पराक्रमी बलराम, प्रद्युम्न और जाम्बवतीके बेटे साम्ब आदिने जब सुना कि श्रीकृष्ण हस्तिनापुरीसे यहाँ आ गये हैं तो मारे खुशीके शयन-आसन-भोजन आदि छोड़कर

वारणेन्द्रं पुरस्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः। शङ्खतूर्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः॥
प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः॥१८॥
वारमुख्याश्च शतशो यानैस्तद्दर्शनोत्सुकाः। लसत्कुण्डलनिर्भातकपोलवदनश्रियः ॥१९॥
नटनर्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः। गायन्ति चोत्तमश्लोकचरितान्यद्भुतानि च ॥२०॥
भगवाँस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्। यथाविध्युपसङ्गम्य सर्वेषां मानमादधे ॥२१॥
प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः। आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः ॥२२॥
स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि। आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम् ॥२३॥
राजमार्गं गते कृष्णे द्वारकायाः कुलस्त्रियः। हर्म्याण्यारुरुहुर्विप्र तदीक्षणमहोत्सवाः ॥२४॥
नित्यं निरीक्षमाणानां यदपि द्वारकौकसाम्। न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥२५॥
श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्। बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदांबुजम् ॥२६॥
सितातपत्रव्यजनैरुपस्कृतः प्रसूनवर्षैरभिवर्षितः पथि।
पिशङ्गवासा वनमालया बभौ घनो यथार्कोडुपचापवैद्युतैः ॥२७॥
प्रविष्टस्तु गृहं पित्रोः परिष्वक्तः स्वमातृभिः। ववन्दे शिरसा सप्त देवकीप्रमुखा मुदा ॥२८॥
ताः पुत्रमङ्कमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः। हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः ॥२९॥

॥१६॥१७॥ सर्वश्रेष्ठ हाथी और मंगलमयी वस्तुयें लिये हुए ब्राह्मणोंको आगे करके शंख, तुड़ही आदि बाजे बजाते और ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मंत्रोंका पाठ कराते—॥१८॥ मारे प्रेमके हड़बड़ी मचाते रथोंपर सवार हो-होकर चल पड़े। हजारों वेश्यायें अलग भगवानको देखनेकी उत्सुकतावश विविध प्रकारकी सवारियोंपर चढ़कर चलीं। कानोंमें लटकते हुए कुण्डलोंसे उनके कपोल और मुखकी शोभा देखते ही बनती थी ॥१९॥ नट (नौ रसोंका अभिनय करनेमें चतुर) नर्तक (नाचनेवाले) गायक, सूत (पुराणोंकी कथा कहनेवाले) मागध (वंशावली जाननेवाले) और वन्दीजन (समयानुकूल बातें कहनेवाले) पुनीत चरित्र भगवान् कृष्णचन्द्रके अद्भुत चरित्रोंको गाते हुए चले ॥२०॥ जब ये लोग भगवान्के समक्ष पहुँचे तो वे उन सभी बन्धुओं और अनुगामी पुरवासियोंसे बड़े प्रेमके साथ विधिवत् मिले और उन्होंने सबका सम्मान किया ॥२१॥ झुककर प्रणाम, आलिंगन, हाथसे स्पर्श, मुसकराहट युक्त अवलोकन आदि उपायोंसे उन्होंने वहाँपर गये हुए चाण्डालसे लेकर क्षत्रिय-ब्राह्मणों तकको गद्गद कर दिया और जिसने जो वर चाहा सो मिला ॥२२॥ भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र गुरुजनों और सपत्नीक वृद्ध ब्राह्मणोंके आशीर्वादात्मक वाक्य सुनते हुए अपने बान्धवोंके साथ द्वारिकामें प्रविष्ट हुए ॥२३॥ हे शौनक! जब भगवान् द्वारिकाके विशाल राजमार्गसे चलने लगे तो उनको देखनेकी अभिलाषासे वहाँकी स्त्रियाँ अपनी-अपनी अटारियोंपर चढ़ गयीं ॥२४॥ यद्यपि वे स्त्रियाँ नित्य भगवानका दर्शन करती रहती थीं, फिर भी उन शोभाधामकी शोभाको निरख-निरखकर उनकी आँखें नहीं अघाती थीं ॥२५॥ फिर भगवान भी ऐसे-वैसे नहीं थे—उनके हृदयमें लक्ष्मीका निवास था। उनका सुघड़ मुख सबकी आँखोंको सौन्दर्यरूपी अमृत पिलानेका कटोरा था। उनकी भुजाओंमें लोकपालोंका निवास था और उनका चरण-कमल उनके भक्तोंका निवासस्थान था ॥२६॥ श्वेत छत्र और व्यजनसे मंडित होते हुए भगवान् चल रहे थे। रास्तेमें बराबर उनके ऊपर पुष्पोंकी वृष्टि होती जाती थी। यदि मेघके ऊपर सूर्यबिम्ब हो और उसके बगल दो चन्द्रमा हों, उनके चारों ओर नक्षत्र चमक रहे हों और बीचमें एक दूसरेके अभिमुख मिले हुए दो धनुष हों और उनके बीचमें बिजली स्थिर होकर बैठी हो तो उनके लिए उपयुक्त उपमा हो सकती है ॥२७॥ इसके बाद वे अपने घरमें पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही माताओंने दौड़कर उन्हें अपनी छातीसे लगा लिया और भगवानने देवकी आदि माताओंकी वन्दना की ॥२८॥ उन्होंने अपने बेटे कृष्णको गोदमें बैठा लिया। मारे स्नेहके

अथाविशत्स्वभवनं सर्वकाममनुत्तमम् । प्रासादा यत्र पत्नीनां सहस्राणि च षोडश ॥३०॥

पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतं विलोक्य सञ्जातमनोमहोत्सवाः ।
उत्तस्थुरारात्सहसाऽऽसनाशयात् साकं व्रतैर्व्रीडितलोचनाननाः ॥३१॥

तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयोर्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात् ॥३२॥

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।
पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥३३॥

एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मनामक्षौहिणीभिः परिवृत्ततेजसाम् ।
विधाय वैरं श्वसनो यथानलं मिथो वधेनोपरतो निरायुधः ॥३४॥

स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया । रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥३५॥

उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहासव्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम् ।
सम्मुह्य चापमजहात्प्रमदोत्तमास्ता यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः ॥३६॥

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम् । आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं यतोऽबुधः ॥३७॥

एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः । न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥३८॥

उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली। हर्षसे उनकी आत्मा आकुल-सी हो गयी और उन्होंने अपने आनन्द-जनित आँसुओंसे कृष्णभगवानको तर कर दिया॥ २९॥ इसके बाद वे सभी आवश्यक वस्तुओंसे सजे-सजाये घरमें सोलह हजार पटरानियोंको प्रसन्न करनेके लिए गये॥३०॥ भगवानकी रुक्मिणी आदि पत्नियोंने जब भगवानको परदेशसे लौटे हुए देखा तो तुरन्त अपने-अपने आसनसे निगाह नीची किये उठ खड़ी हुईं। उसी समय उनका प्रोषितपतिका नायिकाका व्रत भी समाप्त हो गया। * टिप्पणी * शास्त्रमें लिखा है—'क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका॥ अर्थात् जिस स्त्रीका पति परदेश गया हो, वह खेले-कूदे नहीं, शरीरका सँवार-शृङ्गार न करे, किसी सभामें सम्मिलित न हो, मेला-तमाशा देखने न जाय, हँसे नहीं, पराये घर न जाय' ॥३१॥ पतिको अपनी ओर आते देखकर वे गंभीर भाववाली स्त्रियाँ पहले आत्मा द्वारा उनसे मिलीं, बादमें दृष्टिसे और उसके बाद जब और निकट आये और पुत्रोंको हृदयसे लगाने लगे, तब वे भी मिलीं। यद्यपि उन्होंने रोकनेकी बहुत चेष्टा की, फिर भी उनकी आँखोंसे आँसूकी कुछ बूँदें टपक ही पड़ीं। हे शौनक! इतना आँसू आ तो गया, पर इसके लिए वे बहुत लज्जित हुईं ॥३२॥ यद्यपि भगवान सदा एकान्तमें उनके पास ही रहते थे, फिर भी वे उन स्त्रियोंके लिए पद-पदपर नवीन लगते थे। जब कि चंचला लक्ष्मी भी उनके चरणोंको नहीं छोड़तीं, तब भला और कौन स्त्री उनके चरणोंको त्याग सकती है॥३३॥ इस प्रकार पृथ्वीके भारभूत, अगणित अक्षौहिणियों युक्त अतएव प्रभावशाली एवं दुष्ट राजाओंको आपसमें ही लड़ाकर उन्होंने उसी प्रकार मरवा डाला, जैसे वायु दो बाँसोंको रगड़कर उनमें आग पैदा कराके उनको जला डालती है। लेकिन स्वयं उन्होंने शास्त्रको छुआ तक नहीं॥३४॥ ऐसे नारायण अपनी मायावश इस संसारमें अवतार लेकर उन स्त्रियोंके साथ साधारण मनुष्यके समान विहार करने लगे॥३५॥ जिन स्त्रियोंके गंभीर आशयकी सूचना देनेवाली मन्द मुसकराहट तथा लज्जाभरी चितवनकी मारसे घायल होकर कामदेव भी मोहित हो गया और मारे लाजके अपना धनुष फेंक दिया, वे स्त्रियाँ भी अपने कपटपूर्ण हाव-भावोंसे जिन श्रीकृष्णचन्द्रजीकी इन्द्रियोंको विचलित करनेमें समर्थ नहीं हुईं ॥३६॥ उन्हीं असंग श्रीकृष्णचन्द्रको यह नीच संसार अपने समान विषयी समझता है! क्योंकि वह मूर्ख तो अपने ही सदृश उनको भी व्यापारमें लगा हुआ देखता है॥३७॥ उन ईश्वरकी सबसे बड़ी ईश्वरता यही है कि वे प्रकृतिके साथ

तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः । अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे श्रीकृष्णद्वारकाप्रवेशो नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

शौनक उवाच

अश्वत्थाम्नोपसृष्टेन ब्रह्मशीर्ष्णोरुतेजसा । उत्तराया हतो गर्भ ईशेनाजीवितः पुनः ॥१॥

तस्य जन्म महाबुद्धेः कर्माणि च महात्मनः । निधनं च यथैवासीत्स प्रेत्य गतवान् यथा ॥२॥

तदिदं श्रोतुमिच्छामो गदितुं यदि मन्यसे । ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः ॥३॥

सूत उवाच

अपीपलद्धर्मराजः पितृवद्रञ्जयन् प्रजाः । निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृष्णपादाब्जसेवया ॥४॥

सम्पदः क्रतवो लोका महिषी भ्रातरो मही । जम्बूद्वीपाधिपत्यं च यशश्च त्रिदिवं गतम् ॥५॥

किं ते कामाः सुरस्पार्हाः मुकुन्दमनसो द्विजाः । अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥६॥

मातुर्गर्भगतो वीरः स तदा भृगुनन्दन । ददर्श पुरुषं कश्चिद्दह्यमानोऽस्त्रतेजसा ॥७॥

अङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरत्पुरटमौलिनम् । अपीच्यदर्शनं श्यामं तडिद्वाससमच्युतम् ॥८॥

श्रीमद्दीर्घचतुर्बाहुं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् । क्षतजाक्षं गदापाणिमात्मनः सर्वतोदिशम् ॥९॥

रहते हुए भी उसके सुख-दुःख आदि गुणोंमें नहीं फँसते। जैसे कि आनन्द आदि सद्गुण आत्मामें ही रहते हैं और बुद्धि आत्माके आश्रित रहकर भी उस आनन्दके पासतक नहीं पहुँच पाती ॥३८॥ उनकी महिमाको न जानती हुई वे मूढ़ स्त्रियाँ उन नारायणको स्त्रैण और अपने वशीभूत समझती थीं। जैसे कि डाँवाडोल रहनेवाली बुद्धि ईश्वरको नहीं समझ पाती ॥३९॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां एकादशोऽध्यायः ॥११॥

(इस अध्यायमें राजा परीक्षितके जन्मका विवरण है) इतनी कथा सुनकर शौनक सूतजीसे कहने लगे—अश्वत्थामाके चलाये हुए महातेजस्वी ब्रह्मास्त्रसे भगवान कृष्णने उत्तराका नष्टप्राय गर्भ बचा लिया था ॥१॥ उस गर्भसे उत्पन्न महाबुद्धिमान् और महात्मा राजा परीक्षितके कार्योंका वर्णन करते हुए हमें यह बताइए कि उनकी मृत्यु कैसे हुई ? वे किस तरह स्वर्गवासी हुए ? ॥२॥ यदि आप कहना उचित समझते हों तो मैं यह सुनना चाहता हूँ। हे भगवन् ! जिन राजा परीक्षितको स्वयं श्रीशुकदेवजीने ज्ञानोपदेश किया था—उनका चरित्र सुननेकी मेरी प्रबल इच्छा है ॥३॥ श्रीसूतजी बोले—श्रीकृष्णचन्द्रजीके चरणकमलोंकी आराधना करते और सब बातोंसे निस्पृह महाराज युधिष्ठिर अपने पिताके ही समान प्रजाको प्रसन्न रखते हुए उनका पालन करते थे ॥४॥ यद्यपि उनके पास अतुलित धनराशि थी, बड़े-बड़े यज्ञ करके स्वर्गलोकी प्राप्तिका अधिकार भी उनको मिल ही चुका था, राजरानी द्रौपदी थी, चार-चार वीर भाई थे, समस्त जंबूद्वीपपर प्रभुता थी और स्वर्ग-मर्त्य-पाताल तीनों लोकोंमें फैला हुआ यश था ॥५॥ किन्तु हे शौनक ! एकमात्र नारायणमें मन लगाये हुए उन पाण्डवोंको इन सम्पत्तियोंसे उसी तरह कुछ आनन्द नहीं मिल सका, जैसे भूखे मनुष्यके सामने हार-चन्दन रख दिये जायँ और वे उसे न रुचें ॥६॥ हे शौनक ! जब महाराज परीक्षित अपनी माताकी कोखमें थे और किसी अस्त्रके तेजसे जले जा रहे थे, तभी उन्होंने एक ऐसे पुरुषको देखा ॥७॥ जिसकी दर्शनयोग्य आकृति थी। केवल अंगूठे भर उसकी लम्बाई-चौड़ाई थी। उसके माथेपर स्वर्णमय मुकुट शोभित हो रहा था। श्याम शरीर था और उसपर पीताम्बर शोभायमान हो रहा था ॥८॥ उसके सुन्दर-सुन्दर और लम्बे-लम्बे चार हाथ थे। तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल कानोंमें

परिभ्रमन्तमुल्काभां भ्रामयन्तं गदां मुहुः। कौमोदकीमतिश्रेष्ठां भक्तरक्षणतत्परम् ॥१०॥
अस्त्रतेजः स्वगदया नीहारमिव गोपतिः। विधमन्तं सन्निकर्षे पर्यैक्षत क इत्यसौ ॥११॥
विधूय तदमेयात्मा भगवान्धर्मगुग् विभुः। मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥१२॥
तत सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये। जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥१३॥
तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः। जातकं कारयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥१४॥
हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान्। प्रादात्स्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् १५
तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम्। एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ कुरूणां पौरवर्षभ ॥१६॥
दैवेनाप्रतिघातेन शुक्ले संस्थामुपेयुषि। रातो वोऽनुग्रहार्थाय विष्णुना प्रभविष्णुना ॥१७॥
तस्मान्नाम्ना विष्णुरात इति लोके बृहच्छ्रवाः। भविष्यति न सन्देहो महाभागवतो महान् ॥१८॥

युधिष्ठिर उवाच

अप्येष वंश्यान् राजर्षीन् पुण्यश्लोकान्महात्मनः। अनुवर्तिता स्विद्यशसा साधुवादेन सत्तमाः ॥१९॥

ब्राह्मणा ऊचुः

पार्थ प्रजाविता साक्षादिक्ष्वाकुरिव मानवः। ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यथा ॥२०॥
एष दाता शरण्यश्च यथा ह्यौशीनरः शिविः। यशो वितनिता स्वानां दौष्यन्तिरिव यज्वनाम् ॥२१॥
धन्विनामग्रणीरेष तुल्यश्चार्जुनयोर्द्वयोः। हुताश इव दुर्धर्षः समुद्र इव दुस्तरः ॥२२॥
मृगेन्द्र इव विक्रान्तो निषेव्यो हिमवानिव। तितिक्षुर्वसुधेवासौ सहिष्णुः पितराविव ॥२३॥

झूल रहे थे। उसकी लाल-लाल आँखें थीं। वह अपने हाथमें आगकी उल्का सरीखी गदा लिये उसे घुमाता हुआ उनके चारों ओर चक्कर लगा रहा था ॥९॥१०॥ उनके देखते-देखते उस वीर पुरुषने अपनी गदासे ब्रह्मास्त्रजनित तेजको शान्त करते हुए और समीपसे देखा तो गर्भ-स्थित शिशु राजा परीक्षितने सोचा कि आखिर यह कौन है ? ॥११॥ धर्मके रक्षक और सर्वव्यापी नारायणने उस घातक तेजको शान्त कर दिया और जब परीक्षितके जन्मका समय आ गया तो भगवान गर्भसे गायब हो गये ॥१२॥ तदनन्तर जब सभी ग्रह अनुकूल और सब गुणोंके सूचक थे और लग्न भी शुभ थी, उसी समय पाण्डुवंशके रक्षक परीक्षित जन्मे ॥१३॥ उस समय परम प्रसन्न धर्मराज युधिष्ठिरने धौम्य और कृपाचार्य आदि ऋषियोंको बुलाकर पुण्याहवाचन और उस बालकका जातकसंस्कार कराया ॥१४॥ ब्राह्मणोंको सुवर्ण, भूमि, गाँव, हाथी, घोड़े और सुस्वादु भोजन दिये गये ॥१५॥ उन प्रसन्न ब्राह्मणोंने विनयी राजा युधिष्ठिरसे कहा—'हे पुरुवंशशार्दूल ! दैवी कोपसे आपके विशुद्ध कुलका संहार हो जानेपर आपके पवित्र कुलपर कृपा करके भगवानने यह पुत्र दिया है ॥१६॥१७॥ इसीसे इसका 'विष्णुरात' यह नाम रखना उचित होगा। यह बालक संसारमें बड़ा यशस्वी और असाधारण भगवद्भक्त होगा ॥१८॥ विप्रोंकी बातें सुनकर राजा युधिष्ठिरने कहा—'क्या सचमुच यह बालक संसारमें अपने यशका विस्तार करके 'महान्' कहलायेगा ? और क्या वास्तवमें यह हमारे वंशजोंके समान ही यशस्वी और महात्मा होगा ? हे सज्जनों ! क्या मैं विश्वास करूँ कि यह अपनी प्रशंसामयी कीर्तिसे मेरे पूर्वजोंके पथका अनुसरण करेगा ? ॥१९॥ यह सुनकर ब्राह्मण बोले—हे पार्थ ! यह बालक साक्षात् मनुपुत्र महाराज इक्ष्वाकुके समान प्रजापालक और दशरथपुत्र रामचन्द्रके समान सत्यप्रतिज्ञ तथा ब्राह्मणभक्त होगा ॥२०॥ यह बड़ा दानी और शरणागत-प्रतिपालक होगा और राजा भरतके समान अपनी जातिवालोंका विस्तार करेगा ॥२१॥ यह दोनों अर्जुनों (एक आपके भ्राता और दूसरे सहस्त्रबाहु) के समान धनुर्धारियोंमें अग्रणी होगा। यह अग्निके समान तेजस्वी तथा दुर्धर्ष और समुद्रके समान दुस्तर होगा ॥२२॥ यह सिंहके समान बलवान, हिमवानकी तरह सज्जनोंका

पितामहसमः साम्ये प्रसादे गिरिशोपमः । आश्रयः सर्वभूतानां यथा देवो रमाश्रयः ॥२४॥
सर्वसद्गुणमाहात्म्य एष कृष्णमनुव्रतः । रन्तिदेव इवोदारो ययातिरिव धार्मिकः ॥२५॥
धृत्या बलिसमः कृष्णे प्रह्लाद इव सद्ग्रहः । आहर्तैषोऽश्वमेधानां वृद्धानां पर्युपासकः ॥२६॥
राजर्षीणां जनयिता शास्ता चोत्पथगामिनाम् । निग्रहीता कलेरेष भुवो धर्मस्य कारणात् ॥२७॥
तक्षकादात्मनो मृत्युं द्विजपुत्रोपसर्जितात् । प्रपत्स्यत उपश्रुत्य मुक्तसङ्गः पदं हरेः ॥२८॥
जिज्ञासितात्मयाथात्म्यो मुनेर्व्याससुतादसौ । हित्वेदं नृप गङ्गायां यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम् ॥२९॥
इति राज्ञ उपादिश्य विप्रा जातककोविदाः । लब्धोपचितयः सर्वे प्रतिजग्मुः स्वकान् गृहान् ॥३०॥
स एष लोकविख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः । गर्भदृष्टमनुध्यायन् परीक्षेत नरेष्विह ॥३१॥
स राजपुत्रो ववृधे आशु शुक्ल इवोडुपः । आपूर्यमाणः पितृभिः काष्ठाभिरिव सोऽन्वहम् ॥३२॥
यक्ष्यमाणोऽश्वमेधेन ज्ञातिद्रोहजिहासया । राजाऽलब्धधनो दध्यावन्यत्र करदण्डयोः ॥३३॥
तदभिप्रेतमालक्ष्य भ्रातरोऽच्युतचोदिताः । धनं प्रहीणमाजह्रुरुदीच्यां दिशि भूरिशः ॥३४॥
तेन सम्भृतसम्भारो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः । वाजिमेधैस्त्रिभिर्भीतो यज्ञैः समयजद्धरिम् ॥३५॥
आहूतो भगवान् राज्ञा याजयित्वा द्विजैर्नृपम् । उवास कतिचिन्मासान् सुहृदां प्रियकाम्यया ॥३६॥

सेव्य, पृथ्वीके समान क्षमावान् तथा माता-पिताके समान सहनशील होगा ॥२३॥ यह ब्रह्माके समान साम्यवादी, शिवके समान भोला यानी शीघ्र प्रसन्न होनेवाला और विष्णुके समान सबका आश्रयदाता होगा ॥२४॥ यह कृष्णभगवानकी तरह सभी अच्छे गुणोंका केंद्र, रन्तिदेवके समान उदार और महाराज ययातिकी नाईं धर्मात्मा होगा ॥२५॥ यह धैर्यमें बलि और सत्याग्रहमें प्रह्लादके समान होगा। गुरुजनोंका आदर करता हुआ यह तीन अश्वमेध यज्ञ करेगा ॥२६॥ अपने वीर्यसे यह राजर्षि (जनमेजय) आदि पुत्रोंको उत्पन्न करेगा और बुरे मार्गपर चलनेवालोंको कठोर दण्ड देगा। गोरूपधारिणी पृथ्वी तथा वृषभरूपधारी धर्मको सतानेवाले कलिको भी यह अपनी मुट्ठीमें कर लेगा ॥२७॥ अन्तमें एक द्विजपुत्रके द्वारा प्रेरित तक्षक नागके काटनेपर यह भगवानका स्मरण करता हुआ वैराग्य धारण करके मरेगा ॥२८॥ आत्मज्ञानकी जिज्ञासा करनेपर व्यासपुत्र श्रीशुकदेवमुनिसे इसे ज्ञान प्राप्त होगा और गङ्गामें यह अपनी देह त्यागकर भगवानके निर्भय लोकको जायगा ॥२९॥ इस प्रकार उन जातकशास्त्रके निपुण पण्डितोंने धर्मराज युधिष्ठिरको सब बातें बता दीं और उनके द्वारा पूजित होकर वे अपने-अपने आश्रमोंको लौट गये ॥३०॥ वह बालक गर्भमें देखे पुरुषका ध्यान करता हुआ हरएक मनुष्यकी परीक्षा करता था कि 'यह वही तो नहीं है, जिसे मैंने गर्भमें देखा था।' इसीसे परीक्षित नामसे लोकमें विख्यात हुआ ॥३१॥ युधिष्ठिर आदि गुरुजनों द्वारा पालित वह राजपुत्र इस तरह जल्दी-जल्दी बढ़ने लगा, जैसे शुक्लपक्षका चन्द्रमा बढ़ता है ॥३२॥ इसके अनन्तर अपने सजातीयोंके वधजनित पातकको दूर करनेकी अभिलाषासे महाराज युधिष्ठिरने ऐसा अश्वमेध यज्ञ करनेका विचार किया, जिसमें प्रजापर कर लगाकर जुटाया हुआ धन न खर्च करना पड़े और यज्ञके लिए आवश्यक धन भी किसी और युक्तिसे प्राप्त हो जाय ॥३३॥ धर्मराजका अभिप्राय समझकर श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुन-भीम आदिको उत्तर दिशामें उस जगह भेजा, जहाँ कि मरुतके यज्ञमें प्राप्त सुवर्णके पात्र आदिको ब्राह्मणोंने फेंक दिया था। उस धनको बटोरकर वे लोग ले आये और अपने भ्राताको दिया ॥३४॥ सजातीयोंके वधजनित पापसे भयभीत महाराज युधिष्ठिरने उसी धनसे यज्ञके सब सामान जुटाये और तीन अश्वमेध यज्ञ करके भगवानकी आराधना की ॥३५॥ इस अवसरपर धर्मराजने श्रीकृष्णचन्द्रको फिरसे बुलाया और वे ब्राह्मणोंके साथ आये और उन्होंने यज्ञकार्य सम्पन्न कराया। अपने

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः कृष्णया सह बन्धुभिः । ययौ द्वारवतीं ब्रह्मन् सार्जुनो यदुभिर्वृतः ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने परीक्षिज्जन्माद्युत्कर्षो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम् । ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तयावाप्तविवित्सितः ॥१॥

यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः । जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥२॥

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः । धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥३॥

गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी । अन्याश्च जामयः पाण्डोर्ज्ञातयः ससुताः स्त्रियः ॥४॥

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्वा इवागतम् । अभिसङ्गम्य विधिवत्परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥५॥

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः । राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥६॥

तं भुक्तवन्तमासीनं विश्रान्तं सुखमासने । प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां च शृण्वताम् ॥७॥

युधिष्ठिर उवाच

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् । विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥८॥

कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम् । तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥९॥

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥१०॥

प्रियजनोंको प्रसन्न करनेके लिए वे कई महीने हस्तिनापुरमें ठहरे ॥३६॥ इसके बाद राजा युधिष्ठिर तथा द्रौपदीसे अनुमति लेकर अर्जुन तथा यादवोंके साथ अपनी द्वारकापुरीको लौट गये ॥३७॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

(तेरहवें अध्यायमें विदुरके तीर्थयात्रामें जानेका वृत्तान्त है) सूतजी कहने लगे–हे शौनक ! तीर्थयात्रामें विदुरने जब मैत्रेयके मुखसे यह समाचार सुना कि भगवान् परमगतिको प्राप्त हो गये तो वे सारा वृत्तान्त जाननेकी इच्छासे हस्तिनापुरीको वापस चले आये ॥१॥ विदुरने मैत्रेयसे जितने प्रश्न किये थे, उतनेहीसे उन्हें पूर्ण शान्ति मिल गयी और भगवान्के चरणोंमें भक्ति हो आयी। जिससे फिर उन्होंने मैत्रेयसे और कुछ भी नहीं पूछा ॥२॥ जब विदुरजी हस्तिनापुरी पहुँचे तो हे शौनक ! भ्राताओं समेत धर्मराज युधिष्ठिर, धृतराष्ट्र, युयुत्सु, सूत, शारद्वत, पृथा (कुन्ती) ॥३॥ गान्धारी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी तथा अपने परिवारकी स्त्रियाँ अपने बाल-बच्चों सहित ॥४॥ मारे हर्षके इस तरह दौड़ पड़ीं मानों किसीके मृत शरीरमें फिरसे प्राण आ गया हो। सब लोग विदुरके पास जा तथा गले लगकर मिले और प्रणाम किया ॥५॥ बहुत दिनोंतक विरहवेदना सहनेके बाद उन्हें देखकर कितने ही लोग आँसू बहाने लगे। राजा युधिष्ठिरने उनका विधिवत् पूजन किया ॥६॥ जब वे स्नान और भोजन आदि नित्यकृत्यसे निवृत्त होकर उत्तम आसनपर बैठ गये, तब राजा युधिष्ठिर विनयावत होकर कहने लगे। वहाँ बैठे सभी लोग उनकी बातोंको सुन रहे थे ॥७॥ युधिष्ठिरने कहा–जिस तरह कि पक्षी अपने बच्चोंको पंखमें छिपाकर बड़े प्रेमसे उनका पालन-पोषण करते हैं, उसी तरह अपने पक्षपातसे हमारा पालन करनेवाले आप हमको भूल तो नहीं गये थे ? आपहीने तो हमारी माता और हमलोगोंको विष-अग्नि आदि विविध प्रकारकी विपत्तियोंसे बचाया था। आप इतने दिनोंतक पृथ्वीमंडलमें घूमते हुए किस तरह अपना काम चलाते थे और पृथ्वीतलके किन-किन तीर्थोंमें आपने भ्रमण किया ? ॥ ८ ॥ ९ ॥ आप जैसे भगवद्भक्त तो

अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः । दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्यां सुखमासते ॥११॥
इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत्समवर्णयत् । यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम् ॥१२॥
नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम् । नावेदयत्सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः ॥१३॥
कञ्चित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम् । भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां प्रीतिमावहन् ॥१४॥
अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु । यावद्दधार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥१५॥
युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम् । भ्रातृभिर्लोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ॥१६॥
एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया । अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ॥१७॥
विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत । राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥१८॥

स्वयं तीर्थस्थान हैं। वे अपने मनमन्दिरमें नारायणको बैठाये हुए सब तीर्थोंको भी वास्तविक तीर्थ बनाते चलते हैं ॥१०॥ हमारे सुहृद् यादवगण-जो कृष्ण भगवानको ही अपना देवता मानते हैं—अपनी पुरीमें सुखी हैं ? आपने उन लोगोंको कहीं देखा या उनके विषयमें किसीसे कुछ सुना है ? ॥११॥ इस प्रकार युधिष्ठिरके पूछनेपर विदुरने इस यात्राप्रसंगमें जो घटनायें घटी थीं, उनका सब हाल कह सुनाया। केवल यदुवंशियोंके विनाशकी बात नहीं कही ॥१२॥ क्योंकि वह वृत्तान्त बड़ा अप्रिय और दुःसह था और दयालु विदुर पाण्डवोंको यदुवंशियोंके नष्ट हो जानेका समाचार सुनकर विकल होते नहीं देखना चाहते थे ॥१३॥ इस तरह पूर्णरूपसे सत्कार पाते और अपने ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्रके कल्याणार्थ उन्हें ज्ञानोपदेश देते हुए देवताकी तरह कुछ दिनोंतक हस्तिनापुरमें ही रहे ॥१४॥ यदि यह प्रश्न किया जाय कि शूद्र होकर विदुरने धृतराष्ट्रको ज्ञानोपदेश कैसे किया तो इसका उत्तर यह है कि शूद्रवर्णमें उत्पन्न विदुर साक्षात् यमराज थे। माण्डव्य ऋषिके शापसे सौ वर्षोंके लिए जब यम शूद्र हो गये तो उतने दिनों तक अर्यमाने यमलोकका कार्यभार अपने ऊपर ले लिया था। * कथान्तर * कहीं कुछ चोर चोरी कर रहे थे। इतनेमें वहाँ राजाके भृत्य (पुलिसवाले) पहुँच गये। चोर उन्हें देखकर भागे और सिपाहियोंने उनका पीछा किया। वे भागते-भागते माण्डव्य ऋषिके आश्रमपर जा पहुँचे। वहाँ जब उन सिपाहियोंने चोरोंको पकड़ा तो उनके साथ महर्षि माण्डव्यको भी पकड़ लिया और राजाके पास ले आये। राजाने मामलेपर विचार करके उन सबको सूलीकी सजा दे दी। जब राजाको मालूम हुआ तब उन्होंने महर्षि माण्डव्यको सूलीसे उतरवाकर उनसे अपनी भूलकी क्षमा माँगी । माण्डव्य कुपित होकर यमराजके पास जा पहुँचे और उनसे पूछा–'क्यों यमराज ! तुमने हमको सूलीपर क्यों चढ़ाया ?' यमराजने कहा—'लड़कपनमें आपने एक फतिंगेको कुशकी नोकपर रखकर मार डाला था। इसीसे आपको यह दण्ड मिला है।' यह सुनकर मांडव्य बोले–'मैंने तो बाल्यकालमें अज्ञानवश वह भूल कर डाली थी, जिसके लिए तुमने मुझे इतना कठोर दण्ड दिया है। इस अपराधसे तुम शूद्र हो जाओगे' ॥१५॥ इधर युधिष्ठिर इतना बड़ा राज्य पा और अपने कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाले पौत्र (परीक्षित) और लोकपालोंके समान बलवान् भ्राताओंको देखकर बड़े प्रसन्न थे ॥१६॥ अब वे लोग राज-कार्यमें इतने लीन हो गये कि उन्हें तन-बदनकी सुधि नहीं रही। क्योंकि पहले तो धन और प्रभुता प्राप्त करना ही कठिन होता है और वह यदि किसी तरह मिल जाय तो उसको सम्हालना उससे भी कठिन होता है। इसी कारण पाण्डव अपने राज्यको इतनी कठिनाईसे प्राप्त करके उसके सम्हालनेमें व्यग्र हो गये और उधर कराल काल चुपचाप उनकी आयुके दिनोंपर डाका डालने लगा ॥१७॥ विदुरको यह बातें मालूम हो गयी थीं। क्योंकि वे तत्त्वज्ञानी थे और तत्त्वज्ञानी कभी किसीमें आसक्त होकर लापर्वाह नहीं होता। इसीसे उन्होंने एकान्तमें धृतराष्ट्रसे मिलकर कहा—हे राजन्! अब इस मोह-मायाके जंजालको त्यागकर भाग निकलिये। क्योंकि बहुत बड़ा भय सिरपर आना ही चाहता

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो । स एव भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥१९॥
येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि । जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः ॥२०॥
पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः । आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥२१॥
अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान् । भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥२२॥
अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः । हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत् ॥२३॥
तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः । परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥२४॥
गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः । अविज्ञातगतिर्जह्यात्स वै धीर उदाहृतः ॥२५॥
यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् । हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥२६॥
अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् । इतोऽर्वाक्प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ॥२७॥

एवं राजा विदुरेणानुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधितो ह्याजमीढः ।
छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिम्नो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा ॥२८॥
पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।
हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षं मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः ॥२९॥

है ॥१८॥ हे प्रभो ! जिसका प्रतीकार किसी तरह भी नहीं किया जा सकता, वही सर्वशक्तिसम्पन्न काल हम लोगोंपर आ रहा है ॥१९॥ यह प्राणीको क्षणभरमें उसके अतिशय प्रिय प्राणोंसे भी पृथक् कर देता है, तब धन-धामकी बात ही क्या है ॥२०॥ तुम्हारे पिता, सम्बन्धी, पुत्र आदि सभी हितैषियोंको इस कालने मार डाला । तुम्हारी आयु बहुत-कुछ बीत गयी और तुम्हारी आत्मापर बुढ़ौतीने अधिकार जमा लिया है । इस दशामें भी तुम अबतक पराये घरमें पड़े टुकड़े तोड़ रहे हो ? ॥२१॥ ओह ! प्राणीको अपने जीवनकी आशा कितनी प्रिय होती है, जिसके चक्करमें पड़कर आप एक दरवानकी तरह पड़े-पड़े (अपने पुत्रघाती) भीमके हाथोंका अन्न खा रहे हैं ॥२२॥ आप लोगोंने जिन्हें नष्ट करनेके विचारसे लाक्षागृहमें भेजकर आगमें जला डालना चाहा, जिनको विष देनेका आयोजन किया, जिनकी स्त्रीको नंगी करके नचाने और जाँघपर बैठानेकी चेष्टा की गयी, जिनकी जमीन और धन लूट लिया, उनके दिये अन्नको खाकर जीना किस कामका ! ॥२३॥ इस तरह आप यद्यपि अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए यह दैन्य (बेहयाई) भोग रहे हैं, फिर भी बुढ़ापेके द्वारा जीर्ण वस्त्रके समान आपका शरीर क्षीण होता जा रहा है । इसलिए अब आप सावधान हो जाइए ॥२४॥ जो मनुष्य यश-धन आदिसे रहित शरीरपर ममता नहीं रखता और अहंभावको त्यागकर मरनेके बाद जीव कहाँ जाता है, इस बातको न जानता हुआ खुशी-खुशी इसे त्याग देता है, वही धीर (सावधान) कहा जाता है ॥ २५ ॥ जो प्राप्त ज्ञानसे अथवा किसी विज्ञजनके उपदेशसे अपने मनको वशमें करके हृदयमें नारायणकी सुन्दर मूर्तिको विराजमानकर और घर-द्वारकी मोह-माया त्यागकर अलग हो जाते हैं, वे ही मनुष्योंमें श्रेष्ठ मनुष्य गिने जाते हैं ॥२६॥ मैं आपको मनुष्योंमें श्रेष्ठ बननेकी सलाह नहीं देता, बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि आप चुपचाप यहाँसे उत्तर दिशाको चल दीजिए । क्योंकि आनेवाला समय बड़ा कराल होगा । वह मनुष्योंके धैर्य-दया आदि सद्गुणोंको लुप्त कर देगा ॥२७॥ आजमीढ़वंशज और अन्धे धृतराष्ट्र अपने लघु भ्राता विदुरकी बातें सुनकर चौकन्ने हो गये । उन्होंने घरवालोंके मोहरूपी दृढ़ बन्धनको तोड़ डाला और भ्राताके बताये मार्गपर चलनेके लिए घरसे बाहर निकल पड़े ॥२८॥ पतिको जाते देखकर सुबलकी पुत्री पतिव्रता गान्धारी भी उनके साथ संन्यासियोंको आनन्द देनेवाले हिमालयकी ओर वैसे ही चल पड़ी, जैसे कोई वीर बड़ी प्रसन्नताके साथ संग्रामभूमिकी ओर जाता हो ॥२९॥ उधर प्रातःकालके समय धर्मराज युधिष्ठिर उठे । शौचादिसे निवृत्त होकर उन्होंने संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्म किया । ब्राह्मणोंको नमस्कार करके

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्निर्विप्रान्नत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः ।
गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय न चापश्यत्पितरौ सौवलीं च ॥३०॥
तत्र सञ्जयमासीनं प्रपच्छोद्विग्नमानसः । गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥३१॥
अम्बा च हतपुत्राऽऽर्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत् । जानासि चेत्कथय नः कृपया वेत्थ वै ऋषे॥३२॥
अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया । आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥३३॥
पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् । अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥३४॥

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्शितः । आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥३५॥
विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना । अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥३६॥

सञ्जय उवाच

नाहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन । गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥३७॥
अथाजगाम भगवान्नारदः सहतुम्बुरुः । प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्निव ॥३८॥

युधिष्ठिर उवाच

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्व गतावितः । अम्बा वा हतपुत्राऽऽर्ता क्व गता च तपस्विनी ॥३९॥
कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः । सर्वज्ञः सर्वगो धीमान्नारदोऽज्ञाननाशकः ॥४०॥
अथाबभाषे भगवान्नारदो मुनिसत्तमः । मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ॥४१॥
लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः । स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥४२॥

तिल, सुवर्ण और गौ आदि दान दिया। इसके बाद गुरुजनों (धृतराष्ट्र तथा गांधारी आदि) को प्रणाम करनेके लिए उनके घरमें गये तो उन्हें वहाँ नहीं देखा ॥ ३० ॥ वहींपर बैठे हुए संजयसे उन्होंने बड़ी घबड़ाहटके साथ पूछा—हे गवल्गणके पुत्र संजय ! हमारे तात तथा दोनों नेत्रोंके अन्धे धृतराष्ट्र, जिनके बेटे मार डाले गये हैं वह माता गांधारी और हमारे चाचा विदुर कहाँ गये ? ॥३१॥ बेटोंके मरनेसे दुखी महाराज मुझ मन्दबुद्धिपर किसी प्रकारकी आशंका करके (कि मैंने जन्म भर इनका बुरा सोचा है, ऐसा न हो कि मेरे साथ भी कोई दुर्व्यवहार किया जाय) वे गंगामें तो नहीं डूब गये ? ॥३२॥३३॥ पिता पाण्डुके मर जानेपर उन्हीं दोनोंने तो हमलोगोंकी रक्षा की थी। इस प्रकारके दयालु वे दोनों सज्जन यहाँसे कहाँ चले गये ? ॥३४॥ स्नेहातिरेक और स्वामीके वियोगसे व्याकुल संजय अपने प्रभु (धृतराष्ट्र) के विषयमें कोई उत्तर न देकर चुप रह गये ॥३५॥ कुछ देर बाद संजयने हाथसे आँखोंका आँसू पोंछा और अपने स्वामी धृतराष्ट्रके चरणोंका स्मरण करते हुए वे धर्मराज युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहने लगे—॥३६॥ हे कुलनन्दन ! मैं आपके पिता-माताके सदृश पूज्य धृतराष्ट्र तथा गांधारीके विषयमें कुछ नहीं जानता कि वे कहाँ चले गये। इसका मुझे कुछ भी पता नहीं है। उन महात्माओंने तो मुझे लूट ही लिया—विना कहे-सुने मुझे अकेला छोड़कर दोनों न जाने कहाँ चले गये। इसी समय श्रीनारदजी महाराज वीणा झनकारते हुए वहाँ आ पहुँचे। अपने भ्राताओंके साथ महाराज युधिष्ठिरने उनका स्वागत-सत्कार किया ॥३७॥३८॥ तदनन्तर बड़ी व्याकुलताके साथ महाराज युधिष्ठिर नारदजीसे कहने लगे—हे भगवन् ! मेरे माता-पिता गांधारी और बड़े महाराज धृतराष्ट्र न मालूम यहाँसे कहाँ चले गये। ऐसी अवस्थामें आप ही मेरे पथप्रदर्शक हो सकते हैं और आप ही बता सकते हैं कि वे इस समय कहाँ हैं ॥३९॥४०॥ यह सुनकर श्रीनारदजी बोले—'हे राजन् ! तुम किसीके विषयमें शोक न करो। क्योंकि समस्त संसारके अधिपति नारायण ही हैं ॥४१॥ ये सभी लोकपाल उन्हींके बलसे बलिका वहन कर रहे हैं। वे ही महाप्रभु दूर-दूरके

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाः स्वदामभिः । वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥४३॥
यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह । इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥४४॥
यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् । सर्वथा हि न शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥४५॥
तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः । कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥४६॥
कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिक । कथमन्याँस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥४७॥
अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् । फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥४८॥
तदिदं भगवान् राजन्नेक आत्माऽऽत्मनां स्वदृक् । अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥४९॥
सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः । कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥५०॥
निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते । तावद्यूयमवेक्षध्वं भवेद्यावदिहेश्वरः ॥५१॥
धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया । दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥५२॥
स्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् । सप्तानां प्रीतये नाम्ना सप्तस्रोतः प्रचक्षते ॥५३॥
स्नात्वानुसवनं तस्मिन् हुत्वा चाग्नीन् यथाविधि । अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः॥५४॥
जितासनो जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः । हरिभावनया ध्वस्तरजःसत्त्वतमोमलः ॥५५॥

प्राणियोंको एकत्रकर मिलाप कराते और वे ही वियोग भी करा देते हैं ॥४२॥ जैसे कि बैल आदि बड़े-बड़े पशु नाथकी पतली रस्सीमें बँधकर अपने स्वामीकी इच्छानुसार बोझा ढोते हैं, ठीक इसी तरह उनकी वाणी (वेद) के विधिनिषेधरूपी रस्सीमें बँधकर यह समस्त संसार उन्हींकी इच्छानुसार चलता है ॥४३॥ जिस तरह किसी खिलाड़ीके खिलौनोंका संयोग-वियोग खिलाड़ीकी इच्छापर निर्भर रहता है, उसी तरह इस जगत्के जीवोंका संयोग-वियोग नारायणकी इच्छापर अवलम्बित रहा करता है ॥४४॥ यदि तुम संसारके किसी प्राणीको जीवरूपसे नित्य या शरीररूपसे अनित्य समझते हो तो तुम भ्रममें हो। क्योंकि न यह नित्य है और न अनित्य। नित्यका कभी नाश नहीं हो सकता और अनित्यका नाश अनिवार्य है। इस वास्ते तुम उन लोगोंके विषयमें शोक मत करो ॥४५॥ हे राजन्! तुम यह सोचकर कि मेरे बिना वे कैसे जियेंगे, इस अज्ञानमूलक शोकको त्याग दो ॥४६॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशके संयोगसे बना हुआ यह शरीर काल, कर्म और गुणके अधीन है। तब भला यह किसी दूसरे प्राणीकी रक्षा कैसे कर सकता है? जिस मनुष्यको अजगर निगल गया हो, वह किसी दूसरे प्राणीकी सहायता किस प्रकार कर सकेगा? ॥ ४७ ॥ बिना हाथवाले (गाय-बैल आदि जीव) हाथवालोंके और बिना पैरवाले (घास-अन्न आदि) चौपाये (पशुओं) के और बहुत छोटे-छोटे जीव (जो सूक्ष्मदर्शक यंत्रसे ही देखे जा सकते हैं) उन बिना पैरवाले (तृण आदि) के आहार हैं। सबका मतलब निकला कि 'जीवहि जीव अधार।' ॥४८॥ हे राजन्! उपर्युक्त सभी प्रकारके प्राणियोंसे भरा हुआ यह संसार अपने आप प्रकाशित होनेवाले भगवानका ही स्वरूप है। यह तो मायाके कारण एक होता हुआ भी अनेक दीखता है। सो तुम आत्मज्ञानसे अपनी अन्तर्दृष्टिको विमल करके उस परमपुरुषको देखो ॥४९॥ हे महाराज! वे ही परमपुरुष और सब संसारी प्राणियोंके जीवनदाता कृष्ण आज पृथ्वीपर देवद्वेषी दैत्योंका विनाश करनेको अवतरे हैं ॥५०॥ उन्होंने देवताओंका काम समाप्त कर दिया है। कुछ काम (यदुवंशियोंका नाश) बाकी है, वे उसीके लिए रुके हुए हैं। जब तक वे यहाँ हैं, तुम भी प्रतीक्षा करो ॥५१॥ हाँ, महाराज धृतराष्ट्र अपनी पतिव्रता पत्नी गांधारीके साथ-साथ हिमवान्की घाटियोंपर विद्यमान ऋषियोंके आश्रमकी ओर गये हैं ॥५२॥ जिस स्थानसे भगवती जाह्नवी (गंगाजी) की सात धारायें निकलकर सप्तर्षियोंको प्रसन्न करती हैं, उस तीर्थको 'सप्तस्रोत' तीर्थ कहते हैं ॥५३॥ उसी सप्तस्रोतमें वे त्रिकाल स्नान तथा विधिवत् अग्निहोत्रकर केवल जल पीते और सब वासनाओंका शमन करके शान्त मनसे निवास करते हैं ॥५४॥ उन्होंने

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् । ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥५६॥
ध्वस्तमायागुणोदर्को निरुद्धकरणाशयः । निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः ॥५७॥
तस्यान्तरायो मैवाभूः संन्यस्ताखिलकर्मणः । स वा अद्यतनाद्राजन् परतः पञ्चमेऽहनि ॥५८॥
कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति । धृतराष्ट्रस्य मोक्षः स्याज्ज्ञानेन विदुरस्य च ॥५९॥
दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोटजे । बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनुवेक्ष्यति ॥६०॥
विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन । हर्षशोकयुतस्तस्माद्गन्ता तीर्थनिषेवकः ॥६१॥
इत्युक्त्वाथारुहत्स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः । युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः ॥६२॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे नैमिषीयोपाख्याने त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

सूत उवाच

सम्प्रस्थिते द्वारकायां जिष्णौ बन्धुदिदृक्षया । ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥१॥
व्यतीताः कतिचिन्मासास्तदा नायात्ततोऽर्जुनः । ददर्श घोररूपाणि निमित्तानि कुरूद्वहः ॥२॥
कालस्य च गतिं रौद्रां विपर्यस्तर्तुधर्मिणः । पापीयसीं नृणां वार्तां क्रोधलोभानृतात्मनाम् ॥३॥
जिह्मप्रायं व्यवहृतं शाठ्यमिश्रं च सौहृदम् । पितृमातृसुहृद्भ्रातृदम्पतीनां च कल्कनम् ॥४॥

एकासनव्रत धारण करके श्वासोंको जीत लिया है और अपनी छहों इन्द्रियोंको वशमें करके भगवानके भजन द्वारा सत, रज, तम इन तीन गुणोंके विकारोंको नष्ट कर डाला है ॥५५॥ आत्मज्ञान द्वारा मन और बुद्धिको एकत्रकर अपनी बुद्धिको उन्होंने ब्रह्ममें उसी तरह मिला दिया है, जैसे कोई योगी घटाकाशको महाकाशमें मिला देता है ॥५६॥ उन्होंने नेत्र आदि सभी इन्द्रियों तथा मनको अपने वशमें कर लिया है । आहार-विहारसे उनकी इच्छा निवृत्त हो चली है और मायाके गुणोंसे छुटकारा पाकर वे स्थाणु (खम्भे) की तरह निश्चलभावसे बैठे रहते हैं ॥५७॥ हे राजन् ! उनके इस सराहनीय उद्योगमें आप विघ्न न डालियेगा । वे आजसे पाँचवें दिन अपना शरीर त्याग देंगे और वह कलेवर भस्म हो जायगा ॥ ५८ ॥ यदि आप यह सोचें कि उनके चले जानेपर मैं माता गांधारीको समझा-बुझाकर यहाँ ले आऊँगा तो यह भी नहीं होनेका । क्योंकि जब गार्हपत्य अग्नि द्वारा उसके पतिका शरीर तथा कुटिया जल जायगी, तब बाहर बैठी हुई उनकी साध्वी पत्नी गांधारी उसी आगमें पतिके साथ सती हो जायगी ॥५९॥ यदि आप विदुरको लौटानेकी बात सोचें तो वह भी नहीं होनेका । क्योंकि जब विदुरको अपने भ्राताकी सद्गतिका वृत्तान्त मालूम होगा, तब वे हर्ष और शोकयुक्त मनसे तीर्थाटन करनेको निकल पड़ेंगे ॥६०॥६१॥ ऐसा कहकर नारद अपनी वीणा बजाते हुए आकाशमार्गसे स्वर्ग चले गये और उनके कथनानुसार धर्मराज युधिष्ठिरने अपने हृदयका शोक दूर कर दिया ॥६२॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

(इस अध्यायमें भगवान कृष्णके परमधाम जानेकी बात युधिष्ठिरको ज्ञात होगी) सूतजी कहने लगे—हे शौनक ! कुछ समय बाद अर्जुन अपने प्रियबन्धु कृष्णभगवानको देखने, उनका समाचार जानने और भगवान क्या कर रहे हैं अथवा क्या करना चाहते हैं, यह मालूम करनेके लिए द्वारकापुरी गये ॥१॥ कृष्णसखा अर्जुनको गये कई महीने बीत गये, तब भी वे लौटकर नहीं आये और इधर महाराज युधिष्ठिर विविध प्रकारके भयानक अशकुन देखने लगे ॥ २ ॥ उनके देखते-देखते विचित्र ढंगसे समयकी गतिविधि बदल गयी । लोगोंकी प्रवृत्ति पापकी ओर झुकने लगी और क्रोध, लोभ तथा असत्यमय व्यवहार होने लगा ॥३॥ संसारी लोगोंके सभी लौकिक और पारलौकिक

निमित्तान्यत्यरिष्टानि काले त्वनुगते नृणाम् । लोभाद्यधर्मप्रकृतिं दृष्ट्वोवाचानुजं नृपः ॥५॥

युधिष्ठिर उवाच

सम्प्रेषितो द्वारकायां जिष्णुर्बन्धुदिदृक्षया । ज्ञातुं च पुण्यश्लोकस्य कृष्णस्य च विचेष्टितम् ॥६॥
गताः सप्ताधुना मासा भीमसेन तवानुजः । नायाति कस्य वा हेतोर्नाहं वेदेदमञ्जसा ॥७॥
अपि देवर्षिणाऽऽदिष्टः स कालोऽयमुपस्थितः । यदाऽऽत्मनोऽङ्गमाक्रीडं भगवानुत्सिसृक्षति ॥८॥
यस्मान्नः सम्पदो राज्यं दाराः प्राणाः कुलं प्रजाः । आसन् सपत्नविजयो लोकाश्च यदनुग्रहात् ॥९॥
पश्योत्पातान्नरव्याघ्र दिव्यान् भौमान् सदैहिकान् । दारुणान् शंसतोऽदूराद्भयं नो बुद्धिमोहनम् १०
ऊर्वक्षिबाहवो मह्यं स्फुरन्त्यङ्ग पुनः पुनः । वेपथुश्चापि हृदय आराद्दास्यन्ति विप्रियम् ॥११॥
शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना । मामङ्ग सारमेयोऽयमभिरौति ह्यभीरुवत् ॥१२॥
शस्ताः कुर्वन्ति मां सव्यं दक्षिणं पशवोऽपरे । वाहांश्च पुरुषव्याघ्र लक्षये रुदतो मम ॥१३॥
मृत्युदूतः कपोतोऽयमुलूकः कम्पयन्मनः । प्रत्युलूकश्च कुह्वानैरनिद्रौ शून्यमिच्छतः ॥१४॥
धूम्रा दिशः परिधयः कम्पते भूः सहाद्रिभिः । निर्घातश्च महाँस्तात साकं च स्तनयित्नुभिः ॥१५॥
वायुर्वाति खरस्पर्शो रजसा विसृजंस्तमः । असृग्वर्षन्ति जलदा बीभत्समिव सर्वतः ॥१६॥
सूर्यं हतप्रभं पश्य ग्रहमर्दं मिथो दिवि । ससंकुलैर्भूतगणैर्ज्वलिते इव रोदसी ॥१७॥
नद्यो नदाश्च क्षुभिताः सरांसि च मनांसि च । न ज्वलत्यग्निराज्येन कालोऽयं किं विधास्यति॥१८॥

व्यवहार कपटपूर्ण हो गये और ठगहारी मिली मित्रता होने लगी । लोग माता-पिता और भाईसे लड़ने लगे । पति-पत्नीमें भी कलह होने लगा ॥४॥ इस प्रकारके भीषण निमित्तों और लोभ आदि अधर्ममें लोगोंको प्रवृत्त होते देखकर युधिष्ठिर अपने लघु भ्राता भीमसे कहने लगे—॥५॥ मैंने अर्जुनको भगवान कृष्णचन्द्रसे मिलने और उनका हाल-चाल लेनेके लिए द्वारकापुरी भेजा था ॥ ६ ॥ हे भीमसेन ! तुम्हारे भाईको गये सात महीने हो गये, लेकिन वे अबतक नहीं लौटे और न कोई समाचार ही भेजा । मैं बड़ी घबड़ाहटमें पड़ा हूँ और यह नहीं सोच पाता कि वे क्यों नहीं लौटे ॥७॥ देवर्षि नारदने जिसकी चर्चा की थी, कहीं वही समय तो नहीं आ उपस्थित हुआ कि जिस समय भगवान इस क्रीड़ाभूमिको त्याग कर परमधामको जानेवाले हैं ॥८॥ भगवान कृष्णचन्द्रजीकी ही दयासे हमको यह विशाल सम्पत्ति, राज्य, गये हुए प्राण, स्त्री, परिवार और सन्तानकी प्राप्ति हुई थी । उन्हींकी दयासे हमने शत्रुपर विजय प्राप्त की और उन्हींके अनुग्रहसे अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न करानेवाले उद्योगी मनुष्य मिल गये थे ॥९॥ हे नरश्रेष्ठ ! देखो तो, हमारे समीप आकाश, भूमि, पृथ्वी तथा समस्त प्राणियोंपर विविध प्रकारके उत्पात दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ १० ॥ मेरी बायीं जाँघ, बायीं आँख और बायीं भुजा फड़क रही है । हृदयमें कँपकँपी उठ रही है । इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि शीघ्र ही कोई अमंगलसूचक घटना घटेगी ॥११॥ सियारिनें मुँहसे आग उगलती उगते हुए सूर्यकी ओर मुँह करके रोती हैं । कुत्ते निर्भीकभावसे मेरे सम्मुख आकर रोया करते हैं ॥१२॥ हे भीम ! गौ आदि उत्तम पशु मेरी बायीं ओरसे निकलते हैं और गधे-सुअर आदि पशु दहिनी बगलसे गुजरते हैं । हे पुरुषपुङ्गव ! मैं अपने वाहनों (हाथी-घोड़े आदि) को भी रोते देखता हूँ ॥१३॥ मृत्युके दूतस्वरूप कबूतर, उल्लू तथा कौवे आदि इतना बोलते हैं कि मानों ये अपने अमंगलमय शब्दोंसे समस्त विश्वको नष्ट कर डालेंगे ॥१४॥ सब दिशायें धूमिल दीखती हैं और उनके किनारे अग्निमयी परिधि दीख रही है । वह परिधियें सब दिशाओंको मानों समेटे ले रही हैं । वनों और पर्वतों समेत पृथ्वी काँप रही है । बिना मेघके ही घनघोर गर्जनके साथ वज्रपात होता है ॥१५॥ धूलिमिश्रित वायु बहती हुई अँधेरा कर देती है और मेघ बीभत्स दृश्य उपस्थित करते हुए रुधिर वर्षा करते हैं ॥१६॥ सूर्यकी प्रभा नष्ट-सी हो रही है, ग्रह जैसे आपसमें लड़ रहे हैं और पृथ्वीसे लेकर आकाशतक आगकी लपटें-सी दीख पड़ती हैं ॥१७॥ सभी नद और नदियें तथा तड़ाग और

न पिबन्ति स्तनं वत्सा न दुह्यन्ति च मातरः । रुदन्त्यश्रुमुखा गावो न हृष्यन्त्यृषभा व्रजे ॥१९॥
दैवतानि रुदन्तीव स्विद्यन्ति ह्युच्चलन्ति च । इमे जनपदा ग्रामाः पुरोद्यानाकराश्रमाः ।
भ्रष्टश्रियो निरानन्दाः किमघं दर्शयन्ति नः ॥२०॥
मन्य एतैर्महोत्पातैर्नूनं भगवतः पदैः । अनन्यपुरुषश्रीभिर्हीना भूर्गतसौभगा ॥२१॥
इति चिन्तयतस्तस्य दृष्टारिष्टेन चेतसा । राज्ञः प्रत्यागमद्ब्रह्मन् यदुपुर्याः कपिध्वजः ॥२२॥
तं पादयोर्निपतितमयथापूर्वमातुरम् । अधोवदनमब्बिन्दून्सृजन्तं नयनाब्जयोः ॥२३॥
विलोक्योद्विग्नहृदयो विच्छायमनुजं नृपः । पृच्छति स्म सुहृन्मध्ये संस्मरन्नारदेरितम् ॥२४॥

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिदानर्तपुर्यां नः स्वजनाः सुखमासते । मधुभोजदशार्हार्हसात्वतान्धकवृष्णयः ॥२५॥
शूरो मातामहः कच्चित्स्वस्त्यास्ते वाथ मारिषः । मातुलः सानुजः कच्चित्कुशल्यानकदुन्दुभिः ॥२६॥
सप्त स्वसारस्तत्पत्न्यो मातुलान्यः सहात्मजाः । आसते सस्नुषाः क्षेमं देवकीप्रमुखाः स्वयम् ॥२७॥
कच्चिद्राजाहुको जीवत्यसत्पुत्रोऽस्य चानुजः । हृदीकः ससुतोऽक्रूरो जयन्तगदसारणाः ॥२८॥
आसते कुशलं कच्चिद्ये च शत्रुजिदादयः । कच्चिदास्ते सुखं रामो भगवान् सात्वतां प्रभुः ॥२९॥
प्रद्युम्नः सर्ववृष्णीनां सुखमास्ते महारथः । गम्भीररयोऽनिरुद्धो वर्धते भगवानुत ॥३०॥
सुषेणश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः । अन्ये च कार्ष्णिप्रवराः सपुत्रा ऋषभादयः ॥३१॥
तथैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः । सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥३२॥

लोगोंके मन क्षुभित हो रहे हैं। आग घी डालनेपर भी नहीं जलती। मालूम नहीं कि यह कराल काल क्या करना चाहता है ॥१८॥ बछड़े दूध नहीं पीते, गौवें दुहने नहीं देतीं और आँखोंसे आँसू बहाती हुई रोती रहती हैं। वृषभ (साँड़) गौओंके झुण्डमें प्रसन्न नहीं दीखते ॥१९॥ मन्दिरोंमें पधराये हुए देवता रोते हैं। उनके शरीरसे पसीना बहता है और वे अपने स्थानसे चलायमान-से दीखते हैं। शहरों, गाँवों, नगरके बगीचों, खानों और मुनियोंके आश्रमोंकी शोभा नष्ट-सी होती दीखती है और संसारके सभी प्राणी दुखी दिखायी पड़ते हैं। पता नहीं कि विधाता हमको कौन दुःख दिखाना चाहता है ॥२०॥ इन उत्पातोंको देखकर मैं तो समझता हूँ कि इस हतभागिनी पृथ्वीपर अब उन सर्वोत्तम पुरुष भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमल नहीं हैं ॥ २१ ॥ सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! युधिष्ठिर इस प्रकारकी तर्कनायें कर ही रहे थे कि इतनेमें द्वारकापुरीसे लौटे अर्जुन उनके समक्ष आ उपस्थित हुए ॥२२॥ वे आते ही बड़ी आतुरताके साथ जैसा पहले कभी नहीं किये थे—बड़े भ्राताके चरणोंमें गिर पड़े और नीचा मुख करके नेत्रोंसे जल बहाने लगे ॥२३॥ अर्जुनकी श्रीविहीन दशा देखकर युधिष्ठिर घबड़ा उठे। वे नारदकी बातोंका स्मरण करते हुए पूछने लगे। उसी समय उनके और भाई तथा सुहृद् एकत्र हो गये ॥२४॥ युधिष्ठिरने पूछा—क्यों भाई ! द्वारकापुरीके निवासी और हमारे सगे-सम्बन्धी मधु, भोज, दशार्ह, अर्ह, सात्वत, अन्धक और वृष्णिकुलके सब यादव तो अच्छी तरहसे हैं ?॥२५॥ मेरे माननीय मातामह शूरसेन और अपने भ्राता समेत मेरे मामा वासुदेव तो सकुशल हैं ?॥ २६ ॥ वसुदेवकी पत्नी देवकी और उसकी बहनें तो अच्छी तरह हैं ? मेरे मामाकी पत्नियें तो सानन्द हैं ? ॥२७॥ जिनका नालायक बेटा (कंस) था, वे उग्रसेन और उनके छोटे भाई देवक, हृदीक और उनके पुत्र कृतवर्मा तथा भगवान् कृष्णचन्द्रके भाई जयन्त, गद तथा सारण तो सकुशल हैं ? ॥२८॥ और शत्रुजित् आदि यादव तो कुशलसे हैं ? सात्वतवंशियोंके प्रभु भगवान बलराम तो अच्छी तरह हैं ? ॥२९॥ समस्त यादवोंमें महारथी प्रद्युम्न तो आनन्दसे हैं ? युद्धमें बड़े वेगसे लड़नेवाले अनिरुद्ध तो सकुशल हैं ? ॥३०॥ भगवान कृष्णचन्द्रके पुत्र सुषेण, चारुदेष्ण, साम्ब तथा ऋषभ आदि अपनी सन्तानों समेत अच्छे हैं न ? ॥३१॥ इसी तरह भगवानके अनुचर सुनन्द, नन्द, श्रुतदेव तथा उद्धव आदि तो अच्छे हैं ?

अपि स्वस्त्यासते सर्वे रामकृष्णभुजाश्रयाः । अपि स्मरन्ति कुशलमस्माकं बद्धसौहृदाः ॥३३॥
भगवानपि गोविन्दो ब्रह्मण्यो भक्तवत्सलः । कच्चित्पुरे सुधर्मायां सुखमास्ते सुहृद्वृतः ॥३४॥
मङ्गलाय च लोकानां क्षेमाय च भवाय च । आस्ते यदुकुलाम्भोधावाद्योऽनन्तसखः पुमान् ॥३५॥
यद्बाहुदण्डगुप्तायां स्वपुर्यां यदवोऽर्चिताः । क्रीडन्ति परमानन्दं महापौरुषिका इव ॥३६॥

यत्पादशुश्रूषणमुख्यकर्मणा सत्यादयो द्व्यष्टसहस्रयोषितः ।
निर्जित्य संख्ये त्रिदशाँस्तदाशिषो हरन्ति वज्रायुधवल्लभोचिताः ॥३७॥
तद्बाहुदण्डाभ्युदयानुजीविनो यदुप्रवीरा ह्यकुतोभया मुहुः ।
अधिक्रमन्त्यङ्घ्रिभिराहृतां बलात् सभां सुधर्मां सुरसत्तमोचिताम् ॥३८॥

कच्चित्तेऽनामयं तात भ्रष्टतेजा विभासि मे । अलब्धमानोऽवज्ञातः किं वा तात चिरोषितः ॥३९॥
कच्चिन्नाभिहतोऽभावैः शब्दादिभिरमङ्गलैः । न दत्तमुक्तमर्थिभ्य आशया यत्प्रतिश्रुतम् ॥४०॥
कच्चित्त्वं ब्राह्मणं बालं गां वृद्धं रोगिणं स्त्रियम् । शरणोपसृतं सत्त्वं नात्याक्षीः शरणप्रदः ॥४१॥
कच्चित्त्वं नागमोऽगम्यां गम्यां वासत्कृतां स्त्रियम् । पराजितो वाथ भवान्नोत्तमैर्नासमैः पथि ॥४२॥
अपि स्वित्पर्यभुङ्क्थास्त्वं सम्भोज्यान् वृद्धबालकान् । जुगुप्सितं कर्म किञ्चित्कृतवान्न यदक्षमम् ४३
कच्चित्प्रेष्ठतमेनाथ हृदयेनात्मबन्धुना । शून्योऽस्मि रहितो नित्यं मन्यसे तेऽन्यथा न रुक् ४४

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे युधिष्ठिरवितर्को नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

॥ ३२ ॥ श्रीकृष्णचन्द्र तथा बलरामकी भुजाओंके आश्रयमें रहनेवाले सभी द्वारिकावासी तो अच्छी तरह हैं ? हम लोगोंसे इतना प्रेम बढ़ानेवाले वे लोग मंगलकामना करते हुए कभी हमारा स्मरण करते हैं ? ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणभक्त और भक्तवत्सल भगवान कृष्णचन्द्र भला अपने सुहृद्जनोंके साथ अपनी सुधर्मा नामकी राजसभामें बैठते हैं ? ॥ ३४ ॥ बलराम-के साथ-साथ भगवान कृष्ण संसारके कल्याणार्थ जगत्के प्राप्त अधिकारोंका पालन करते और उनकी समृद्धिके लिए चेष्टा करते हुए अभी संसार ही में हैं न ? ॥३५॥ उनके भुजदण्डसे ही सुरक्षित होकर तो सब यदुवंशी जगत्पूज्य बनकर विष्णुभगवानके पारिषदोंके समान परमानन्द प्राप्त करते हुए द्वारका-में निवास करते हैं ॥३६॥ जिनके चरणकमलोंकी सेवाके बलसे स्वर्गके देवताओंको भी परास्त करके सत्यभामादिक सोलह हजार स्त्रियें भगवानके आशीर्वादसे पारिजातादिक सम्पदाओंका उपभोग करती हैं, जो इन्द्राणीको ही प्राप्त हो सकती थीं ॥३७॥ जिनके भुजदण्डकी महिमासे यादव वीर सब तरहसे निर्भय होकर देवताओं द्वारा सेवित सुधर्मा नामकी देवसभाको छीन लाये और आज वे उसे अपने पैरोंसे रौंद रहे हैं, वे नारायण तो अच्छी तरह हैं ? ॥३८॥ हे तात ! तुम तो अच्छी तरह रहे ? लेकिन तुम तो उदास मालूम पड़ते हो। ऐसा ज्ञात होता है कि मानो कहीं अपमानित हो गये हो। तुम वहाँ इतने अधिक समयतक क्यों ठहर गये ? ॥३९॥ किसीने तुम्हारे साथ कोई कटु व्यवहार तो नहीं किया है ? या कोई कठोर वाक्य कहकर किसीने तुम्हें दुखी तो नहीं कर दिया है ? या किसीको आशा देकर कि 'मैं तुम्हें अमुक वस्तु दूँगा' ऐसा वादा करके तुम उसे नहीं दे सके हो ? ॥४०॥ शरणमें आये हुए ब्राह्मण, बालक, गौ, वृद्ध, रोगी या स्त्रीको तो तुमने नहीं त्याग दिया है ? अशरणको शरण देना तो तुम्हारा स्वभाव था ॥४१॥ तुमने किसी अगम्य स्त्रीके साथ गमन तो नहीं किया है या किसी आदरणीया स्त्रीका अनादर कर दिये हो ? तुम रास्तेमें किसी सम बलवाले अथवा अपनेसे हीन बलवाले शत्रुसे परास्त तो नहीं हो गये हो ? ॥४२॥ तुम किसी वृद्ध अथवा बालकको—जिसको खिलाकर स्वयं भोजन करना चाहिये था—त्यागकर पहले खुद तो नहीं खा लिये हो ? या कि कोई निषिद्ध कर्म कर गुजरे हो ? अथवा अभक्ष्य भोजन तो नहीं कर लिये हो ? ॥४३॥ अथवा हम लोग अपने

पञ्चदशोऽध्यायः

सूत उवाच

एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञा विकल्पितः । नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥१॥
शोकेन शुष्यद्वदनहृत्सरोजो हतप्रभः । विभुं तमेवानुध्यायन्नाशक्नोत्प्रतिभाषितुम् ॥२॥
कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनाऽऽमृज्य नेत्रयोः । परोक्षेण समुन्नद्धप्रणयौत्कण्ठ्यकातरः ॥३॥
सख्यं मैत्रीं सौहृदं च सारथ्यादिषु संस्मरन् । नृपमग्रजमित्याह बाष्पगद्गदया गिरा ॥४॥

अर्जुन उवाच

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा । येन मेऽपहृतं तेजो देवविस्मापनं महत् ॥५॥
यस्य क्षणवियोगेन लोको ह्यप्रियदर्शनः । उक्थेन रहितो ह्येष मृतकः प्रोच्यते यथा ॥६॥

यत्संश्रयाद् द्रुपदगेहमुपागतानां राज्ञां स्वयंवरमुखे स्मरदुर्मदानाम् ।
तेजो हृतं खलु मयाभिहतश्च मत्स्यः सज्जीकृतेन धनुषाऽधिगता च कृष्णा ॥७॥
यत्सन्निधावहमु खाण्डवमग्नयेऽदामिन्द्रं च सामरगणं तरसा विजित्य ।
लब्धा सभा मयकृताद्भुतशिल्पमाया दिग्भ्योऽहरन्नृपतयो बलिमध्वरे ते ॥८॥
यत्तेजसा नृपशिरोऽङ्घ्रिमहन्मखार्थं आर्योऽनुजस्तव गजायुतसत्त्ववीर्यः ।
तेनाहृताः प्रथमनाथमखाय भूपा यन्मोचितास्तदनयन् बलिमध्वरे ते ॥९॥

परम प्रियतम भगवान श्रीकृष्णचन्द्रसे तो सदाके लिए वियुक्त नहीं हो गये हैं ? यदि इनमेंसे कोई बात न हुई होती तो तुम इतने उदास कभी न दिखाई देते ॥४४॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

(संसारमें कलिका प्रवेश देखकर युधिष्ठिरका स्वर्गगमन) सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! इस प्रकार विविध भाँतिसे अपने बड़े भ्राता युधिष्ठिरके पूछनेपर भी अर्जुन कुछ उत्तर नहीं दे सके। क्योंकि वे भगवान कृष्णचन्द्रके वियोगसे बहुत अधिक दुखी थे ॥१॥ शोकसे उनका मुख और हृदय दोनों ही सूख रहे थे। वे एकमात्र अपने प्रभु नारायणका मन ही मन ध्यान करते जाते थे। चेष्टा करनेपर भी वे कुछ नहीं बोल सके ॥२॥ बड़ी देर बाद उन्होंने किसी तरह अपने आँसुओंको रोका। बहते हुए आँसुओंको हाथसे पोंछा और भगवानके वियोग-जनित उत्कण्ठासे व्याकुल होते हुए ॥३॥ भगवानकी हितैषिता, मित्रता, सम्बन्ध तथा प्रेमवश करनेवाले सारथित्व तथा दूतत्व आदि गुणोंका स्मरण करते हुए अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरसे इस तरह कहने लगे। उस समय भी उमड़ते हुए आँसुओंके आवेगसे उनकी वाणी गद्गद हो रही थी ॥ ४ ॥ अर्जुन बोले—हे महाराज ! मेरे बन्धुरूप भगवान कृष्णचन्द्रने हमें लूट लिया—देवताओंको भी विस्मित करनेवाले मेरे तेजका उन्होंने अपहरण कर लिया है ॥५॥ क्षण भरके लिये भी जिनका वियोग हो जानेपर मुझे सारा संसार ऐसा सूना मालूम पड़ने लगता था, जैसे प्राणविहीन मृतक शरीर ॥ ६ ॥ जिनके बलसे मैंने राजा द्रुपदके यहाँ स्वयंवरमें पहुँचकर वहाँ आये हुए कामी राजाओंका तेज हर लिया, धनुष चढ़ाकर मछली बींध दी और सबको परास्त करके द्रौपदीको प्राप्त कर लिया ॥७॥ जिनकी कृपासे मैंने देवताओंके साथ-साथ इन्द्रको भी जीता और खांडव वन अग्निको दे दिया । इसके अतिरिक्त मयदानवकी बनाई अद्भुत कलापूर्ण राजसभा भी प्राप्त कर ली। जिनके प्रतापसे आपके राजसूय यज्ञमें संसारके सभी राजे उपहार ले लेकर आये थे ॥८॥ जिनके प्रतापसे दस हजार हाथीका बल रखनेवाले जरासन्धको आपके लघु भ्राता भीमने मारा और उसके कैदमें पड़े हुए राजाओंको मुक्त किया। वे भी राजे आपके राजसूय यज्ञमें

पत्न्यास्तवाधिमखक्लृप्तमहाभिषेकश्लाघिष्ठचारुकबरं कितवैः सभायाम् ।
स्पृष्टं विकीर्य पदयोः पतिताश्रुमुख्या यस्तत्स्त्रियोऽकृत हतेशविमुक्तकेशाः ॥१०॥
यो नो जुगोप वनमेत्य दुरन्तकृच्छ्राद् दुर्वाससोऽरिविहितादयुताग्रभुग्यः ।
शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः ॥११॥

उपहार ले-लेकर आये थे ॥९॥ उस समय दुष्ट दुःशासन आदि धूर्त आपकी पत्नी द्रौपदीको भरी सभामें नंगी करनेके लिए उसके उन पवित्र केशोंको पकड़कर ले आये थे, जो कि राजसूय यज्ञमें अभिषेकके समय वेदमंत्रोंसे अभिषिक्त किये गये थे। उस द्रौपदीने अपने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए जिन भगवानके चरणोंकी वन्दना की थी। उन्हींकी कृपासे मैंने उन दुष्टोंको मार उनकी स्त्रियोंको राँड़ बना दिया। आज वे अपना केश-पाश खोले वैधव्यव्रत भोग रही हैं ॥१०॥ जिन भगवान कृष्णचन्द्रने शत्रुओं द्वारा भेजे हुए परम क्रोधी और दस हजार शिष्योंको साथ लिये भोजनके निमित्त आये हुए दुर्वासा मुनिके शापसे हम लोगोंको बचाया था। उन्हींने तो बटलोईमें बचे उस थोड़ेसे शाकको खा लिया था, जिससे अपने शिष्योंको साथ लिये नदीपर स्नान करनेके लिए गये हुए दुर्वासा मुनि और उनके शिष्य अपने ही को नहीं, समस्त विश्वको तृप्त समझ लिये थे और उनकी भूख एक दम शान्त हो गयी थी।
* कथान्तर * एक बार महर्षि दुर्वासा दुर्योधनके यहाँ गये। उसने उनका अच्छी तरह आतिथ्य-सत्कार किया। इससे मुनिराज दुर्वासा बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दुर्योधनसे कहा—'वत्स! मैं तुम्हारे सत्कारसे बहुत प्रसन्न हूँ—तुम वर माँगो।' इसपर दुर्योधनने सोचा—मौका अच्छा है। इनके ही शापसे पाण्डवोंका नाश करा दूँ और कहा—'भगवन्! युधिष्ठिर हमारे कुलमें सबसे श्रेष्ठ हैं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि एक दिन आप अपने दसों हजार शिष्योंको साथ लिये हुए उनके यहाँ पहुँचकर उनके अतिथि बनें। लेकिन इस बातका ख्याल रखें कि द्रौपदीको भूखी न रहना पड़े। इसलिए आप ऐसे मौके पर जायँ, जब सब पाण्डव और द्रौपदी भी भोजनकर चुकी हो।' एक दिन दुर्वासा ठीक वैसे ही समय अपने दस हजार शिष्योंके साथ महाराज युधिष्ठिरके आश्रमपर जा पहुँचे। उस समय ये सब लोग राज्यसे निकलकर वनमें ही रह रहे थे। महाराज युधिष्ठिरने बड़े आदरके साथ उनका स्वागत किया। कुछ देर बाद वे अपने शिष्योंके साथ नदीमें स्नान करने चल दिये। उधर द्रौपदीको बड़ी चिन्ता हुई कि अब क्या करें। द्रौपदीने सूर्यभगवानकी कृपासे एक सिद्धस्थाली (बटलोई) प्राप्त कर ली थी। उसमें यह विशेषता थी कि उसमें एक बार जो चीज बन जाय तो उतने ही सामानसे चाहे कितने ही खानेवाले जुट जायँ—सबका काम चल जाता था। लेकिन यह विशेषता तभीतक रहती थी, जबतक द्रौपदी भोजन नहीं करती थी। उसके भोजन कर लेनेके बाद फिर उस दिन कुछ नहीं हो सकता था। सो वह तो भोजन करके पात्रको माँज-धोकर रख चुकी थी, तब दुर्वासा महाराज पधारे। ऐसी परिस्थितिमें बड़ी दीनताके साथ उसने भगवान कृष्णचन्द्रका स्मरण किया। उस समय भगवान द्वारकामें रुक्मिणी महारानीकी गोदमें बैठाकर उनका श्रृङ्गार कर रहे थे। द्रौपदीकी करुणाभरी टेर सुनते ही उन्होंने रुक्मिणीकी गोदसे उतार दिया और किसीसे कुछ कहे-सुने बिना ही युधिष्ठिरके आश्रमको दौड़ आये। यहाँ पहुँचकर सीधे द्रौपदीके पास जा पहुँचे। द्रौपदीने सब हाल कह सुनाया। इसपर भगवानने नहा—'सखी! मुझे भी बड़ी भूख लगी है। पहले तुम मुझे कुछ खिला दो।' द्रौपदी लज्जित होकर कहने लगी—'प्रभो! मैंने नहीं खाया था, तबतक तो पर्याप्त भोजन था। लेकिन अब तो मैं भी खा-पी चुकी हूँ। अब इस गरीबकी कुटियामें कुछ भी नहीं है।' जब भगवानने बहुत आग्रह किया तो चली गयी और खाली पात्रको लाकर सामने रख दिया। संयोगसे बटलोईके गलेमें थोड़ा-सा साग लगा रह गया था। भगवानने कहा—'हमें वही दे दो।' अब द्रौपदीने वह साग निकालकर भगवानको देते हुए कहा—'इससे विश्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों।' भगवानने उसे खा लिया और भीमको बुलाकर कहा—'तुम जाकर दुर्वासा और उनके शिष्योंको भोजन करनेके लिए शीघ्र बुला लाओ।' जब भीम उन्हें बुलाने गये, उसके पहले ही उन लोगोंका पेट भर चुका था। इसलिए फिर खानेसे अजीर्ण

यत्तेजसाथ भगवान् युधि शूलपाणिर्विस्मापितः सगिरिजोऽस्त्रमदान्निजं मे ।
अन्येऽपि चाहममुनैव कलेवरेण प्राप्तो महेन्द्रभवने महदासनार्धम् ॥१२॥
तत्रैव मे विहरतो भुजदण्डयुग्मं गाण्डीवलक्षणमरातिवधाय देवाः ।
सेन्द्राः श्रिता यदनुभावितमाजमीढ तेनाहमद्य मुषितः पुरुषेण भूम्ना ॥१३॥
यद्बान्धवः कुरुबलाब्धिमनन्तपारमेको रथेन ततरेऽहमतीर्यसत्त्वम् ।
प्रत्याहृतं बहु धनं च मया परेषां तेजास्पदं मणिमयं च हृतं शिरोभ्यः ॥१४॥
यो भीष्मकर्णगुरुशल्यचमूष्वदभ्रराजन्यवर्यरथमण्डलमण्डितासु ।
अग्रेचरो मम विभो रथयूथपानामायुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छत् ॥१५॥
यद्दोष्षु मा प्रणिहितं गुरुभीष्मकर्णद्रौणित्रिगर्तशलसैन्धवबाह्लिकाद्यैः ।
अस्त्राण्यमोघमहिमानि निरूपितानि नो पस्पृशुर्नृहरिदासमिवासुराणि ॥१६॥
सौत्ये वृतः कुमतिनाऽऽत्मद ईश्वरो मे यत्पादपद्ममभवाय भजन्ति भव्याः ।
मां श्रान्तवाहमरयो रथिनो भुविष्ठं न प्राहरन्यदनुभावनिरस्तचित्ताः ॥१७॥
नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥१८॥

हो जानेके भयसे वे भाग खड़े हुए थे ॥११॥ जिनके प्रतापसे मैंने संग्रामभूमिमें भगवान शंकरजीको भी विस्मयमें डाल दिया और उन्होंने मुझे अपना अस्त्र प्रदान किया था। इनके सिवाय और-और लोकपालोंने भी उन्हींकी कृपासे मुझे अपने अस्त्र-शस्त्र दिये थे और यहाँ तक हुआ कि मैं अपने इसी विनाशशील शरीरसे देवराज इन्द्रके भवनतक चला गया और वहाँ मुझे इन्द्रभगवानका आधा आसन बैठनेके लिए मिला ॥ १२ ॥ जब मैं स्वर्गमें विचर रहा था, उसी समय गाण्डीवके लक्षणों युक्त मेरे भुजदण्डोंको देखकर दैत्योंको मारनेके लिए उद्यत इन्द्र आदि समस्त देवता भगवान कृष्णचन्द्रकी कृपासे ही मेरे अधीन हो गये थे। हे आजमीढ़ युधिष्ठिर ! आज उन भगवानने मुझे ठग लिया—वे मुझको छोड़कर चले गये ॥ १३ ॥ जिन भगवानका एकमात्र बन्धु मैं कुरुकुलरूपी अपार समुद्रको एक रथपर बैठकर पार कर गया, शत्रुओंके पाससे बहुतेरा धन छीन लाया और बड़े-बड़े राजाओंके मस्तकसे उनके मणिमय मुकुट उतार लिये, आज वे नारायण मुझे धोखा दे गये ॥ १४ ॥ जिन्होंने भीष्म, कर्ण, द्रोण तथा शाल्व जैसे अगणित वीरोंसे मण्डित सेनाके बीचमें मेरा रथ पहुँचा दिया और अपनी दृष्टिमात्रसे उन सब वीरोंकी आयु, उनके मन और उनके तेजको हरकर उन्हें अकिंचन बना दिया था, आज वे दयालु भगवान मुझे धोखा दे गये ॥ १५ ॥ गुरु द्रोण, भीष्मपितामह, कर्ण, अश्वत्थामा, त्रिगर्त, शल्य, सैन्धव तथा बाह्लीक आदि देशोंके वीर राजाओंके हाथों छोड़े हुए अमोघ अस्त्र भी जिनकी कृपासे उसी तरह मेरे शरीरको नहीं छू पाते थे, जैसे भगवद्भक्तोंपर दैत्योंके अस्त्र काम नहीं करते, वे भगवान आज हमको त्यागकर चले गये ॥ १६ ॥ हाय, मुझ कुमतिने उन नारायणको सारथी बनाया कि भक्तलोग इस संसारके मायाजालसे छुटकारा पानेके लिए जिनके चरणोंका भजन करते हैं। एक समय युद्धभूमिमें मेरे घोड़े थक गये थे। इस कारण मैं रथपरसे नीचे उतर पड़ा, किन्तु उन्हीं भगवानके प्रभावसे खड़े कर्ण आदि वीरोंने मुझे नहीं मारा ॥१७॥ हे नरदेव ! गंभीर और सुन्दर मुसकानके साथ किये गये भगवानके परिहासवाक्यों तथा समय-समय पर 'हे अर्जुन ! हे पार्थ ! हे मित्र ! हे कुरुनन्दन !' आदि मर्मस्पर्शी सम्बोधनोंका स्मरण करते ही हृदयमें कोलाहल मचने लग जाता है ॥ १८ ॥ सोते, बैठते, घूमते, भोजन करते अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करते समय उन्हें अपनी बराबरीका अपना अभिन्न मित्र समझकर प्रायः मैं मखौल करता हुआ कह बैठता था—'हाँ मित्र ! तुम सच्चे हो।' लेकिन उन महाप्रभुने मेरे ऐसे-ऐसे अपराधोंको उसी तरह

शय्याऽऽसनाटनविकत्थनभोजनादिष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः ।
सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥१९॥
सोऽहं नृपेन्द्र रहितः पुरुषोत्तमेन सख्या प्रियेण सुहृदा हृदयेन शून्यः ।
अध्वन्युरुक्रमपरिग्रहमङ्ग रक्षन् गोपैरसद्भिरबलेव विनिर्जितोऽस्मि ॥२०॥
तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते सोऽयं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं भस्मन् हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥२१॥
राजंस्त्वयाभिपृष्टानां सुहृदां नः सुहृत्पुरे । विप्रशापविमूढानां निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः ॥२२॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् । अजानतामिवान्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥२३॥
प्रायेणैतद्भगवत ईश्वरस्य विचेष्टितम् । मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः ॥२४॥
जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः । दुर्बलान् बलिनो राजन्महान्तो बलिनो मिथः ॥२५॥
एवं बलिष्ठैर्यदुभिर्महद्भिरितरान् विभुः । यदून् यदुभिरन्योन्यं भूभारान् सञ्जहार ह ॥२६॥
देशकालार्थयुक्तानि हृत्तापोपशमानि च । हरन्ति स्मरतश्चित्तं गोविन्दाभिहितानि मे ॥२७॥

सूत उवाच

एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् । सौहार्देनातिगाढेन शान्ताऽऽसीद्विमला मतिः ॥२८॥
वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यानपरिबृंहितरंहसा । भक्त्या निर्मथिताशेषकषायधिषणोऽर्जुनः ॥२९॥
गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि । कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत्प्रभुः ॥३०॥

चुपचाप सह लिया। जैसे मित्र मित्रका और पिता पुत्रका कसूर सह लेता है ॥ १९ ॥ हे नृपेन्द्र ! केवल उन दीनानाथके न रहनेसे मेरा हृदय सूना-सा हो रहा है। हे अङ्ग ! मैं भगवानकी स्त्रियोंको अपने साथ लिये आ रहा था। रास्तेमें कुछ दुष्ट ग्वालोंने आकर मुझे उसी तरह परास्त कर दिया, जैसे कोई पुरुष स्त्रीको पराजित कर दे ॥ २० ॥ मेरे हाथमें वही गांडीव धनुष था, वे ही अमोघ बाण थे, वही रथ था, वे ही घोड़े थे और मैं वही रथी था कि जिसके सामने बड़े-बड़े राजे अपने मस्तक झुका देते थे, किन्तु एकमात्र उन जगदीश्वरके न रहनेसे ये सब उसी तरह बेकार हो गये, जैसे सस्वर वेदमंत्रोंके साथ राखमें किया हुआ हवन, किसी ठगके हाथमें गया हुआ धन अथवा ऊसर जमीनमें बोया हुआ बीज बेकार हो जाता है ॥ २१ ॥ हे राजन् ! आपने द्वारकाके जिन सम्बन्धियों अथवा मित्रोंका कुशल-क्षेम पूछा है, वे सब एक ब्राह्मणके शापसे मतवाले हो गये थे ॥ २२ ॥ उन सबने जाकर मदिरा पी, उसका नशा चढ़ा तो एक-दूसरेको न पहचानते हुए सब आपसमें ही कट मरे। उनमें कुल चार या पाँच मनुष्य जीवित बचे हैं ॥ २३ ॥ मैं तो समझता हूँ कि यह भी उन्हीं भगवानका काम है। क्योंकि वे ही आपसमें प्राणियोंको मरवा डालते और चाहते हैं तो आपसमें ही पालन भी करा देते हैं ॥ २४ ॥ जिस तरह जलमें रहनेवाले बड़े-बड़े जन्तु छोटे-छोटे जन्तुओंको खा जाते हैं। ठीक इसी तरह संसारमें भी बलवान निर्बलको खा जाता है और जो बड़े बली होते हैं, वे आपसमें लड़-भिड़कर समाप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥ इसी प्रकार उन सर्वव्यापी भगवानने उन बलवान यदुवंशियोंको दूसरे बलवान यदुवंशियोंके ही द्वारा मरवाकर पृथ्वीका बोझ कम कर दिया ॥ २६ ॥ देश-कालके लिए उचित एवं अर्थगर्भित और मनके तापको दूर करनेवाले भगवानके वचनोंका स्मरण करनेसे बरबस मेरा मन उनकी ओर खिंच जाता है ॥ २७ ॥ सूतजी कहते हैं—'हे शौनक ! इस तरह भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंका स्मरण करने तथा अत्यन्त गाढ़ प्रेम होनेके कारण अर्जुनकी बुद्धि निर्मल और शान्त हो गयी ॥ २८ ॥ भगवान कृष्णचन्द्रके चरणोंका स्मरण करके भक्ति द्वारा उन्होंने अपने सभी मानसिक विकारोंको दूर कर दिया और उनकी बुद्धि दर्पणकी तरह स्वच्छ हो गयी ॥ २९ ॥ उस समय संग्रामभूमिमें भगवानने उनको जो गीताका ज्ञानोपदेश दिया था, वह

विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः । लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥३१॥
निशम्य भगवन्मार्गं संस्थां यदुकुलस्य च । स्वःपथाय मतिं चक्रे निभृतात्मा युधिष्ठिरः ॥३२॥
पृथाप्यनुश्रुत्य धनञ्जयोदितं नाशं यदूनां भगवद्गतिं च ताम् ।
एकान्तभक्त्या भगवत्यधोक्षजे निवेशितात्मोपरराम संसृतेः ॥३३॥
ययाहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः । कण्टकं कण्टकेनेव द्वयं चापीशितुः समम् ॥३४॥
यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः । भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥३५॥
यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः ।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत ॥३६॥
युधिष्ठिरस्तत्परिसर्पणं बुधः पुरे च राष्ट्रे च गृहे तदात्मनि ।
विभाव्य लोभानृतजिह्महिंसनाद्यधर्मचक्रं गमनाय पर्यधात् ॥३७॥
स्वराट् पौत्रं विनयिनमात्मनः सुसमं गुणैः । तोयनीव्याः पतिं भूमेरभ्यषिञ्चद्गजाह्वये ॥३८॥
मथुरायां तथा वज्रं शूरसेनपतिं ततः । प्राजापत्यां निरूप्येष्टिमग्नीनपिबदीश्वरः ॥३९॥
विसृज्य तत्र तत्सर्वं दुकूलवलयादिकम् । निर्ममो निरहङ्कारः संछिन्नाशेषबन्धनः ॥४०॥

समयकी चपेट, कामोंकी झंझटें तथा तामसिक गुणोंकी तीव्रताके कारण भूल गया था। उसको उन्होंने फिरसे मनन करके प्राप्त कर लिया ॥ ३० ॥ ज्ञानके उदयसे उनको ब्रह्मका साक्षात्कार हो गया। जिससे उनका हार्दिक द्वैतभाव नष्ट हो गया। ज्ञानमें लीन होनेसे उनकी अविद्या नष्ट हो गयी और सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके कार्य भी नष्ट हो गये। जब सब भ्रमोंका भण्डारस्वरूप द्वैतभाव दूर हो गया, तब संशयकी उत्पत्ति कैसे हो सकती थी ? संशय (भ्रम) के अभावमें शोक भी नष्ट हो गया (तात्पर्य यह कि जबतक मनुष्यको द्वैतका भ्रम रहता है, तभी तक वह यह मेरा हिस्सा है, वह उसका हिस्सा है आदि तरह-तरहके उपद्रव बने रहते हैं। जब किसी पुण्यबलसे मनुष्यको ज्ञान होकर मेरा-तेराका भ्रम नष्ट हो जाता है, तब किसी प्रकारसे शोक-मोह नहीं हो सकता।) ॥ ३१ ॥ उधर युधिष्ठिरने जब अर्जुनके मुखसे भगवानकी परमधामयात्रा और यदुवंशियोंके विनाशका सन्देश सुन लिया, तब अपनी मनोवृत्तियोंको एकत्र करके उन्होंने स्वर्गलोक चले जानेका ही विचार दृढ़ किया ॥ ३२ ॥ कुन्तीने जैसे ही अर्जुन द्वारा भगवानके देहत्याग और यदुवंशियोंके संहारका वृत्तान्त सुना, तैसे ही वह भगवानकी एकान्त भक्तिमें लीन हो गयी और नारायणमें ही अपना मन लगाकर संसारसे पृथक् हो गयी (मर गयी अथवा जीवन्मुक्त हो गयी) ॥ ३३ ॥ भगवानने जिस यादव शरीरसे पृथ्वीका भार उतारा था, जैसे कंटकसे कंटक निकाला जाता है, उस यदुवंशी शरीरको त्याग भी दिया। क्योंकि सब जगत्के प्रभु उन श्रीकृष्णके लिए वह यादव शरीर और विभु शरीर दोनों ही समान थे ॥ ३४ ॥ जिस तरह भगवान नटके समान समय-समयपर मत्स्य, कूर्म और वाराह आदिका शरीर धारण करके उसे त्याग दिया करते हैं, उसी तरह उन्होंने जिस शरीरसे पृथ्वीका भार उतारा था, उसे भी त्याग दिया ॥ ३५ ॥ जिस समय भगवानने इस भूमण्डलको त्यागा, उसी समय मूढ़ प्राणियोंके हृदयमें अधर्मका मूल कारण कलि उत्पन्न हो गया ॥ ३६ ॥ विज्ञ युधिष्ठिरने जब देखा कि नगर, राष्ट्र, घर-घर तथा प्रत्येक प्राणीके हृदयमें लोभ-कपट आदिके रूपमें कलि प्रवृत्त हो रहा है, तब स्वर्गारोहणकी तैयारी करने लग गये ॥ ३७ ॥ और उन्होंने अपने सर्वगुणसम्पन्न परीक्षित्को समुद्रमेखलामयी पृथ्वीके राजसिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया ॥ ३८ ॥ इसके बाद महाराज युधिष्ठिरने अनिरुद्धके पुत्र वज्रको मथुराके राज्यपर अभिषिक्त करके उन्हें सूरसेन वंशवालोंका सम्राट् बना दिया। तदनन्तर उन ईश्वर (सर्वस्व त्यागनेमें समर्थ युधिष्ठिर) ने प्राजापत्य यज्ञ किया और अग्नियोंको अपनी आत्मामें आश्रय दिया ॥ ३९ ॥ सभी उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण त्यागकर वे ममता और अहंकाररहित हो गये। इस तरह सभी सांसारिक बन्धनोंसे उन्होंने अपना पिण्ड छुड़ा लिया ॥ ४० ॥ उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियोंका

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राणं इतरे च तम् । मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत् ॥४१॥
त्रित्वे हुत्वाऽथ पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः । सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥४२॥
चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मुक्तमूर्धजः । दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥४३॥
अनवेक्षमाणो निरगादशृण्वन् बधिरो यथा । उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः ।
हृदि ब्रह्म परं ध्यायन्नावर्तेत यतो गतः ॥४४॥
सर्वे तमनु निर्जग्मुर्भ्रातरः कृतनिश्चयाः । कलिनाऽधर्ममित्रेण दृष्ट्वा स्पृष्टाः प्रजा भुवि ॥४५॥
ते साधुकृतसर्वार्था ज्ञात्वाऽऽत्यन्तिकमात्मनः । मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ॥४६॥
तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे । तस्मिन्नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ॥४७॥
अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः । विधूतकल्मषाः स्थानं विरजेनात्मनैव हि ॥४८॥
विदुरोऽपि परित्यज्य प्रभाते देहमात्मवान् । कृष्णावेशेन तच्चित्तः पितृभिः स्वक्षयं ययौ ॥४९॥
द्रौपदी च तदाऽऽज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् । वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥५०॥

यः श्रद्धयैतद्भगवत्प्रियाणां पाण्डोः सुतानामिति सम्प्रयाणम् ।
शृणोत्यलं स्वस्त्ययनं पवित्रं लब्ध्वा हरौ भक्तिमुपैति सिद्धिम् ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे पाण्डवस्वर्गारोहणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

व्यापार मनके अधीन कर दिया और उस मनको प्राणमें मिलाकर प्राणको अपान वायुके हवाले कर दिया। उस अपान वायुको मृत्युके हाथ सौंप दिया और उस मृत्युको उन्होंने अपने शरीरके साथ लगा दिया ॥४१॥ उन्होंने शरीरको सत्त्वादि तीनों गुणोंमें, तीनों गुणोंको अविद्यामें, अविद्याको जीवमें और जीवको अविनाशी ब्रह्ममें लीन कर दिया ॥४२॥ और वल्कल वसन पहिने, भोजन त्यागे, मौन धारण किये, केशोंको खोले, मूर्ख, पागल अथवा पिशाचके समान अपना आकार बनाये हुए महाराज युधिष्ठिर। इधर-उधर नहीं देखते और किसीकी कुछ नहीं सुनते हुए उस उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े, जिधर इनके अन्यान्य विवेकशील पूर्वज जा चुके थे। उस समय उनका ध्यान एकमात्र ब्रह्ममें लगा हुआ था। वे उस दिशाको चल दिये, जहाँ जानेसे मनुष्य फिर इस संसारमें नहीं आता ॥ ४३ ॥ इसके अनन्तर संसारके सभी प्राणियोंपर अधर्मके साथी कलियुगकी छाया पड़ते देखकर भीम आदि भ्राता भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ सब तरहसे पूर्णकाम पाण्डव मन ही मन एकमात्र शरणदाता भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलका ध्यान करने लगे ॥ ४६ ॥ भगवानका ध्यान करनेसे नारायणके चरणोंमें उनका अनुराग बढ़ा, जिससे उनकी बुद्धि निर्मल हो गयी और वे भगवानको ही अपना सर्वस्व समझने लगे ॥ ४७ ॥ इस प्रकार सभी विकारोंसे रहित हो जानेपर वे अपनी रजोगुण-रहित आत्मा द्वारा उस उत्तम गतिको प्राप्त हुए, जो विषयवासनामें आसक्त प्राणियोंके लिए दुर्लभ ही है ॥ ४८ ॥ उधर विदुर तीर्थाटन करते हुए प्रभासक्षेत्र पहुँचे और वहीं देह त्यागकर भगवान कृष्ण-चन्द्रमें मन लगाये अपने पितरोंके साथ बैकुण्ठधामको प्राप्त हुए ॥ ४९ ॥ द्रौपदीने जब देखा कि मेरे पतिगण मेरी ओर कुछ ध्यान न देकर अपनी गतिका उपाय कर रहे हैं तो उसने भी अपना मन भगवानके चरणोंमें लगा दिया और उन्हींका ध्यान करती हुई परम धामको चली गयी ॥ ५० ॥ पाण्डवोंके महाप्रयाणकी इस पुनीत, मंगलमयी और भक्तोंकी प्रिय गाथाको जो प्राणी श्रद्धाके साथ सुनता है, उसे भगवानकी भक्तिरूपिणी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां पंचदशोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

षोडशोऽध्यायः

सूत उवाच

ततः परीक्षिद् द्विजवर्यशिक्षया महीं महाभागवतः शशास ह।
यथा हि सूत्यामभिजातकोविदाः समादिशन् विप्र महद्गुणस्तथा ॥१॥
स उत्तरस्य तनयामुपयेम इरावतीम्। जनमेजयादींश्चतुरस्तस्यामुत्पादयत्सुतान् ॥२॥
आजहाराश्वमेधाँस्त्रीन् गङ्गायां भूरिदक्षिणान्। शारद्वतं गुरुं कृत्वा देवा यत्राक्षिगोचराः ॥३॥
निजग्राहौजसा वीरः कलिं दिग्विजये क्वचित्। नृपलिङ्गधरं शूद्रं घ्नन्तं गोमिथुनं पदा ॥४॥

शौनक उवाच

कस्य हेतोर्निजग्राह कलिं दिग्विजये नृपः। नृदेवचिह्नधृक् शूद्रः कोऽसौ गां यः पदाहनत् ॥५॥
तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्। अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ॥६॥
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः। क्षुद्रायुषां नृणामङ्ग मर्त्यानामृतमिच्छताम् ॥७॥
इहोपहूतो भगवान्मृत्युः शामित्रकर्मणि। न कश्चिन्म्रियते तावद्यावदास्त इहान्तकः ॥८॥
एतदर्थं हि भगवानाहूतः परमर्षिभिः। अहो नृलोके पीयेत हरिलीलामृतं वचः ॥९॥
मन्दस्य मन्दप्रज्ञस्य वयो मन्दायुषश्च वै। निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः ॥१०॥

सूत उवाच

यदा परीक्षित्कुरुजाङ्गले वसन् कलिं प्रविष्टं निजचक्रवर्तिते।
निशम्य वार्तामनतिप्रियां ततः शरासनं संयुगशौण्डिराददे ॥११॥

(राजा परीक्षितका भूमि और धर्मसे मिलना) श्री सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कहने लगे—परम भगवद्भक्त महाराज परीक्षित जन्म-कर्म दोनोंसे श्रेष्ठ और विद्वान् ब्राह्मणोंकी सम्मतिके अनुसार पृथ्वीका शासन करने लगे ॥ १ ॥ उन्होंने महाराज उत्तर (अपने मामा) की पुत्री ज्ञानवतीके साथ अपना विवाह किया। जिससे जनमेजय आदि चार पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ २ ॥ कुछ समय बाद उन्होंने कृपाचार्यको गुरु बनाकर गंगाके तटपर तीन अश्वमेध यज्ञ किये। जिसमें देवताओंने प्रत्यक्ष होकर बलि ग्रहण किया और उसमें सम्मिलित लोगोंको बहुत बड़ी दक्षिणा दी ॥ ३ ॥ इसके अनन्तर वे दिग्विजय करनेको निकले। एक जगह उन्होंने राजाके वेशमें शूद्ररूप धारण किये कलिको पकड़ा। वह एक गाय और बैलको पैरोंसे मार रहा था ॥ ४ ॥ इसपर शौनकने कहा—उस दिग्विजयके प्रसंगमें राजा परीक्षितने उसे क्यों पकड़ा ? राजाका रूप धारण किये हुए वह शूद्र कौन था, जो गौको लात मार रहा था ? ॥ ५ ॥ यदि इस कथामें भगवान या भगवानके भक्तोंकी कोई बात ज्ञात हो सकती हो तो आप कहिए। व्यर्थकी बकवास करके आयुके पवित्र क्षणोंको व्यतीत करनेसे क्या लाभ ? ॥ ६ ॥ ७ ॥ हे अंग ! संसारके अल्पायु किन्तु सत्यके खोजी मनुष्योंके कल्याणार्थ यमराजको हमने पशुबलि बनाकर इस यज्ञमें बुला लिया है। वह यमराज जबतक यहाँ रहेंगे, तबतक इस यज्ञभूमिपर कोई भी नहीं मरेगा ॥ ८ ॥ इसी वास्ते बड़े-बड़े ऋषियोंने उनको बुला लिया है कि जिससे संसारके सब मनुष्य नारायणकी लीलासे ओत-प्रोत अमृतमय वचन सुन सकें ॥ ९ ॥ जगत्के अज्ञानी, मन्दबुद्धि और अल्पायु प्राणियोंकी रातका समय सोनेमें और दिन व्यर्थके कामोंमें बीत जाता है। इसलिए आप भगवानके गुण गाइये ॥ १० ॥ सूतजी बोले—हे शौनक ! महाराज परीक्षित जब कुरुजांगलदेशमें थे, तभी उन्होंने सुना कि मेरे

स्वलङ्कृतं श्यामतुरङ्गयोजितं रथं मृगेन्द्रध्वजमाश्रितः पुरात् ।
वृतो रथाश्वद्विपपत्तियुक्तया स्वसेनया दिग्विजयाय निर्गतः ॥१२॥
भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून् । किम्पुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम् १३॥
तत्र तत्रोपशृण्वानः स्वपूर्वेषां महात्मनाम् । प्रगीयमानं च यशः कृष्णमाहात्म्यसूचकम् ॥१४॥
आत्मानं च परित्रातमश्वत्थाम्नोऽस्त्रतेजसः । स्नेहं च वृष्णिपार्थानां तेषां भक्तिं च केशवे ॥१५॥
तेभ्यः परमसन्तुष्टः प्रीत्युज्जृम्भितलोचनः । महाधनानि वासांसि ददौ हारान्महामनाः ॥१६॥
सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्यवीरासनानुगमनस्तवनप्रणामम् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ॥१७॥
तस्यैवं वर्तमानस्य पूर्वेषां वृत्तिमन्वहम् । नातिदूरे किलाश्चर्यं यदासीत्तन्निबोध मे ॥१८॥
धर्मः पदैकेन चरन् विच्छायामुपलभ्य गाम् । पृच्छति स्माश्रुवदनां विवत्सामिव मातरम् ॥१९॥

धर्म उवाच

कच्चिद्भद्रेऽनामयमात्मनस्ते विच्छायासि म्लायतेषन्मुखेन ।
आलक्षये भवतीमन्तराधिं दूरेबन्धुं शोचसि कञ्चनाम्ब ॥२०॥
पादैर्न्यूनं शोचसि मैकपादमात्मानं वा वृषलैर्भोक्ष्यमाणाम् ।
आहो सुरादीन् हतयज्ञभागान् प्रजा उत स्विन्मघवत्यवर्षति ॥२१॥

राजमें कलि घुस आया है। इस अप्रिय समाचारको सुनते ही उस युद्धवीर राजाने अपना धनुष-बाण सम्हाला ॥ ११ ॥ वे श्यामवर्णके घोड़ोंवाले सुन्दर रथपर बैठ गये और अगणित रथ, घोड़े, हाथी तथा पैदल सेना साथ लिये हुए दिग्विजय करनेके विचारसे चल पड़े ॥ १२ ॥ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर, इन चारों दिशाओंके समुद्रतटपर विद्यमान भद्राश्व, केतुमाल, भारत और उत्तरकुरु नामके देशोंको विजय करके वहाँके राजाओंसे कर ग्रहण किया ॥ १३ ॥ रास्तेके सभी देशोंमें वे वहाँवालोंके मुखसे अपने महामहिम पूर्वजों तथा भगवान कृष्णका माहात्म्य सुनते जाते थे ॥ १४ ॥ वहाँ ही उन्होंने यह वृत्तान्त भी सुना कि अश्वत्थामा अपने ब्रह्मास्त्रसे मुझे माताकी कोखमें ही जला डालना चाहता था, पर भगवानने बचा लिया। भगवानपर उनके पूर्वज पाण्डवों और यदुवंशियोंका कितना गाढ़ स्नेह था, यह बात भी मालूम हो गयी ॥ १५ ॥ यह पुनीत कथानक सुनकर उन्हें बड़ा आनन्द आया और मारे प्रेमके उनके नेत्र विकसित हो गये। वार्ता सुनानेवालोंको उन्होंने बहुत-सा धन, वस्त्र और हार प्रदान किया ॥ १६ ॥ किसीसे उन्होंने भगवानके पाण्डवोंके सारथी होने, सभापति बनने, अनुचर बनने, मित्रता निभाने, रातको वीरासनसे पहरा देने, पीछे-पीछे चलने और स्तुति तथा प्रणाम करनेका भी वृत्तान्त सुना। जिससे भगवान कृष्णके चरणोंमें उनकी अटल श्रद्धा हो गयी ॥ १७ ॥ इस प्रकार अपने पूर्वजोंका पदानुसरण करते हुए कुछ ही समय बाद महाराज परीक्षितके सामने एक विस्मय-जनक घटना घटी, वह सुनो ॥ १८ ॥ राजाने देखा कि केवल एक पैरसे लँगड़ा-लँगड़ाकर चलता हुआ वृषभरूपधारी धर्म एक रोती हुई गाय जिसका बच्चा खो गया हो, ऐसी माताके समान उदास गोरूप-धारिणी पृथ्वीके पास जाकर पूछने लगा—॥ १९ ॥ 'हे भद्रे ! तुम अच्छी तरह तो हो ? लेकिन तुम तो उदास दिखायी देती हो ! तुम्हारा मुँह कुछ कुम्हलाया-सा है ! मुझे तो मालूम पड़ता है कि तुम्हारे हृदयमें कोई असह्य पीड़ा उठ रही है। हे माता ! तो क्या तुम्हारा कोई शुभचिन्तक बन्धु कहीं दूर चला गया है, जिसके लिए बिलख रही हो ? ॥ २० ॥ याकि मेरे तीन पैर टूट गये हैं, इसलिए तुम उदास हो ? अथवा शूद्रगण आगे चलकर तुम्हारेपर शासन करेंगे, यह सोचकर रो रही हो ? या देवताओंका यज्ञभाग छिना जा रहा है, इस वास्ते विकल हो ? या समयपर जल न बरसनेसे दुखी

अरक्ष्यमाणाः स्त्रिय उर्वि बालान् शोचस्यथो पुरुषादैरिवार्तान् ।
वाचं देवीं ब्रह्मकुले कुकर्मण्यब्रह्मण्ये राजकुले कुलाग्र्यान् ॥२२॥
किं क्षत्रबन्धून् कलिनोपसृष्टान् राष्ट्राणि वा तैरवरोपितानि ।
इतस्ततो वाशनपानवासःस्नानव्यवायोन्मुखजीवलोकम् ॥२३॥
यद्वाम्ब ते भूरिभरावतारकृतावतारस्य हरेर्धरित्रि ।
अन्तर्हितस्य स्मरती विसृष्टा कर्माणि निर्वाणविलम्बितानि ॥२४॥
इदं ममाचक्ष्व तवाधिमूलं वसुन्धरे येन विकर्शितासि ।
कालेन वा ते बलिनां बलीयसा सुरार्चितं किं हृतमम्ब सौभगम् ॥२५॥

धरण्युवाच

भवान् हि वेद तत्सर्वं यन्मां धर्मानुपृच्छसि । चतुर्भिर्वर्तसे येन पादैर्लोकसुखावहैः ॥२६॥
सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् । शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिःश्रुतम् ॥२७॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः । स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥२८॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः । गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥२९॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः । प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित् ३०

प्रजाका क्लेश तुम्हें दुखी किये हुए है ? ॥ २१ ॥ हे पृथ्वी ! वर्तमान समयमें पुरुष अपनी स्त्रियोंकी और पिता अपने पुत्रोंकी रक्षा नहीं करते और उन स्त्री-पुत्रोंको मनुष्यभक्षी दैत्योंके समान निर्दयी पुरुष सता रहे हैं । इसीसे तुम व्याकुल हो ? आज वेदवाक्य दुराचारी ब्राह्मणोंके अधीन हैं और उत्तम ब्राह्मण भी राजाओंकी गुलामी कर रहे हैं, क्या इसीसे तुम्हें दुःख हो रहा है ? ॥ २२ ॥ आज कलिकी चपेटमें पड़े क्षत्रियाधम राज्यकार्यसे विमुख होकर प्रजाकी कमाईसे अपनी बासनायें पूर्ण करते हुए राज्यकी शक्तिको नष्ट कर रहे हैं । वे अपनी प्रजाकी रक्षा करनेकी अपेक्षा तामस भोजन, मद्यपान, सुन्दर और भड़कीले वस्त्र, सुगन्धित जलसे स्नान और मैथुनको श्रेष्ठ समझते हैं । उन्हींके कुकर्मोंको तो तुम नहीं सोच रही हो ? ॥ २३ ॥ अथवा हे माता ! तुम्हारे भारको हरनेके लिए आये हुए नारायण यहाँसे चले गये हैं और तुम उनके सराहनीय कार्योंका जिनको सोचनेसे मोक्षका आनन्द मिलता है—स्मरण करती हुई उनके वियोगमें रो रही हो ? हे वसुन्धरे ! तुम्हारे हृदयमें जो वेदना हो और जिसके कारण तुम इस तरह दुखी हो, वह सब बात हमें कह सुनाओ । हे अम्ब ! सबसे प्रबल कलिकालने तो तुम्हारा सौभाग्य नहीं छीन लिया है ? ॥ २४ ॥ पृथ्वी बोली—हे धर्म ! तुम हमसे जो-जो बातें पूछ रहे हो, वह सब तुम्हें मालूम है । जिन भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके प्रतापसे तुम्हारे तप, दया, शौच और सत्यरूपी चार पैर थे, उनसे संसारके लोगोंका कल्याण होता था ॥ २५ ॥ २६ ॥ जिन नारायणमें सत्य, शौच, दया, क्षमा, दया, सन्तोष, कोमलता, शम (मनकी निश्चलता) दम (बाह्य इन्द्रियोंकी स्थिरता) समता, पराये अपराधोंको क्षमा कर देना, उदासीनता, शास्त्रविचारणा—॥ २७ ॥ आत्मज्ञान, विरक्ति (तृष्णाका अभाव) ऐश्वर्य (सबको अपने नियन्त्रणमें रखनेकी शक्तिसे सम्पन्न होना) शौर्य (संग्राममें उत्साह रखना) तेज (प्रभाव) बल (कौशल) स्मृति (कर्तव्य-अकर्तव्यका अनुसंधान कर लेना) स्वतन्त्रता, कौशल (प्रत्येक कार्यमें निपुणता), सौन्दर्य, धैर्य, मार्दव (कोमल स्वभाव) ॥ २८ ॥ प्रागल्भ्य (अतिशय प्रतिभावान् होना) प्रश्रय (विनय) शील (सुस्वभाव) मनसे ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा होनेवाले कर्मोंके निर्णयमें पटु होना, भग (भोगोंका अधिकारी होना) गांभीर्य (घबड़ाहटका अभाव) स्थैर्य (अचंचलता) आस्तिक्य (श्रद्धा) कीर्ति (यश) मान (पूज्यत्व) और यह सब होनेपर भी गर्वका अभाव होना आदि—॥ २९ ॥ ये तथा इनके अतिरिक्त भी जिनमें कभी नष्ट न होनेवाले अगणित गुणगण विद्यमान

तेनाहं गुणपात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम्। शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम् ॥३१॥
आत्मानं चानुशोचामि भवन्तं चामरोत्तमम्। देवान् पितॄनृषीन्साधून्सर्वान् वर्णांस्तथाऽऽश्रमान् ॥
ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥३३॥
तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः श्रीमत्पदैर्भगवतः समलङ्कृताङ्गी।
त्रीनत्यरोच उपलभ्य ततो विभूतिं लोकान् स मां व्यसृजदुत्स्मयतीं तदन्ते ॥३४॥
यो वै ममातिभरमासुरवंशराज्ञामक्षौहिणीशतमपानुददात्मतन्त्रः।
त्वां दुःस्थमूनपदमात्मनि पौरुषेण सम्पादयन् यदुषु रम्यमबिभ्रदङ्गम् ॥३५॥
का वा सहेत विरहं पुरुषोत्तमस्य प्रेमावलोकरुचिरस्मितवल्गुजल्पैः।
स्थैर्यं समानमहरन्मधुमानिनीनां रोमोत्सवो मम यदङ्घ्रिविटङ्किताया: ॥३६॥
तयोरेवं कथयतोः पृथिवीधर्मयोस्तदा। परीक्षिन्नाम राजर्षिः प्राप्तः प्राचीं सरस्वतीम् ॥३७॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे पृथ्वीधर्मसंवादो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

सूत उवाच

तत्र गोमिथुनं राजा हन्यमानमनाथवत्। दण्डहस्तं च वृषलं ददृशे नृपलाञ्छनम् ॥१॥
वृषं मृणालधवलं मेहन्तमिव बिभ्यतम्। वेपमानं पदैकेन सीदन्तं शूद्रताडितम् ॥२॥

रहा करते थे-॥ ३० ॥ गुणोंके एकमात्र पात्र और लक्ष्मीके पति उन नारायणसे शून्य और पापमें निरत संसारके प्राणियोंको देखकर मैं रो रही हूँ ॥ ३१ ॥ अपने आपको, तुमको, देवताओं, पितरों, ऋषियों, साधुओं, वर्णों और आश्रमोंपर पापी कलिकी छाया पड़ती देखकर मैं दुखी हो रही हूँ ॥ ३२ ॥ जिनकी कृपादृष्टिको प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादिक देवता अपनेको भगवानके हाथों सौंपकर बहुत समयतक घोर तप किया करते थे और लक्ष्मीजी भी कमलवनकी सुन्दर निवासभूमि त्यागकर जिनके चरणोंकी सुन्दरतामें अनुरक्त होकर उनकी सेवामें निरत रहा करती थीं-॥ ३३ ॥ कमल, कुलिश, अंकुश, केतु आदि सुन्दर चिह्नोंसे अङ्कित भगवानके जिन चरणकमलोंसे मुझे त्रिलोकीमें सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति प्राप्त हुई थी, जिसपर मैं गर्व करती थी, आज उन नारायणके चरण अब यहाँ नहीं रहे और उनके अभावमें मेरी वह शोभा भी नहीं रही ॥ ३४ ॥ जिन्होंने असुरवंशी राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाओंको मारकर मेरे सिरसे बड़े भारी बोझको उतार दिया और तुमको भी दो पैरोंसे हीन देखकर तुम्हारे चारों पैर ठीक करते हुए यदुवंशियोंमें सुन्दर कलेवर धारण किया था-॥ ३५ ॥ जिन्होंने अपने प्रेमपूर्ण दृष्टिपात, मीठी मुसकान और मधुर वार्तालापसे सत्यभामादिकका भी गर्व खर्व कर दिया था, जिनके चरणोंकी रजसे सुशोभित होकर मैं पुलकायमान हो गयी थी, उन पुरुषोत्तम नारायणके वियोगको भला कौन सह सकता है ? ॥ ३६ ॥ जब पूर्ववाहिनी सरस्वती नदीके तटपर पृथ्वी और धर्म आपसमें इस तरह बातचीत कर रहे थे, उसी समय राजर्षि परीक्षित उस स्थानपर जा पहुँचे ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी'-भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(राजा परीक्षितका कलिको कैद करना) सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! वहाँपर राजा परीक्षितने देखा कि एक बैल और एक गाय खड़ी है और राजाका वेष धारण किये हुए शूद्र उन दोनोंको बुरी तरह पीट रहा है ॥ १ ॥ वह बैल मृणालके समान श्वेत वर्णका था। उसके केवल एक

गां च धर्मदुघां दीनां भृशं शूद्रपदाहताम्। विवत्सां साश्रुवदनां क्षामां यवसमिच्छतीम् ॥३॥
पप्रच्छ रथमारूढः कार्तस्वरपरिच्छदम्। मेघगम्भीरया वाचा समारोपितकार्मुकः ॥४॥
कस्त्वं मच्छरणे लोके बलाद्धंस्यबलान् बली। नरदेवोऽसि वेषेण नटवत्कर्मणाऽद्विजः ॥५॥
कस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना। शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् वधमर्हसि ॥६॥
त्वं वा मृणालधवलः पादैर्न्यूनः पदा चरन्। वृषरूपेण किं कश्चिद् देवो नः परिखेदयन् ॥७॥
न जातु पौरवेन्द्राणां दोर्दण्डपरिरम्भिते। भूतलेऽनुपतन्त्यस्मिन् विना ते प्राणिनां शुचः ॥८॥
मा सौरभेयानुशुचो व्येतु ते वृषलाद्भयम्। मा रोदीरम्ब भद्रं ते खलानां मयि शास्तरि ॥९॥
यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साध्व्यसाधुभिः। तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः ॥१०॥
एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः। अत एनं वधिष्यामि भूतद्रुहमसत्तमम् ॥११॥
कोऽवृश्चत्तव पादांस्त्रीन् सौरभेय चतुष्पद। मा भूवंस्त्वादृशा राष्ट्रे राज्ञां कृष्णानुवर्तिनाम् ॥१२॥
आख्याहि वृष भद्रं वः साधूनामकृतागसाम्। आत्मवैरूप्यकर्तारं पार्थानां कीर्तिदूषणम् ॥१३॥
जनेऽनागस्यघं युञ्जन् सर्वतोऽस्य च मद्भयम्। साधूनां भद्रमेव स्यादसाधुदमने कृते ॥१४॥
अनागःस्विह भूतेषु य आगस्कृन्निरङ्कुशः। आहर्तास्मि भुजं साक्षादमर्त्यस्यापि साङ्गदम् ॥१५॥
राज्ञो हि परमो धर्मः स्वधर्मस्थानुपालनम्। शासतोऽन्यान् यथाशास्त्रमनापद्युत्पथानिह ॥१६॥

पैर बाकी रह गया था (बाकी तीन टूट चुके थे)। उसीके सहारे खड़ा-खड़ा वह काँप रहा था और मारे भयके मूतता जाता था। कामधेनु भी विशेष दीन होकर खड़ी थी। शूद्र उसे पैरसे मार रहा था। उसका बच्चा पहले ही गायब हो चुका था। वह बिल्कुल दुबली हो रही थी। उसके नेत्रोंसे आँसू बह रहे थे। भूखसे व्याकुल होकर वह चारा चाहती थी ॥ २ ॥ ३ ॥ राजर्षि परीक्षितने उसे देखते ही रथ रोक दिया और धनुष चढ़ाकर उस स्वर्णभूषाधारी शूद्रसे मेघ-सी गंभीर वाणीमें पूछा—॥ ४ ॥ एक नटकी तरह राजाका वेष बनाये हुए कर्मसे चांडाल तू कौन है, जो मेरे राजमें आकर इस बेचारी-को व्यर्थ पीट रहा है? ॥ ५ ॥ गांडीवधनुर्धारी अर्जुन और भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके चले जानेपर निरपराध जीवको इस एकान्तमें सतानेवाला तू मेरा अपराधी है। मैं तुझे मार डालूँगा। उस दुष्टसे इतना पूछकर राजा बैलसे कहने लगे—मृणालके समान श्वेतवर्ण और तीन पैरोंसे रहित वृषभका रूप धारण करके केवल एक पैरसे चलनेवाले तुम कोई देवता हो, जो इस तरह दुःख झेलकर हमको दुखी कर हो? ॥ ६ ॥ ७ ॥ पुरुवंशियोंके भुजदण्डसे सुरक्षित देशमें किसी बड़े क्लेशके बिना तुम जैसे प्राणियोंके नेत्रसे आँसू नहीं गिर सकते ॥ ८ ॥ ओ सौरभेय! तू अब इस शूद्रसे मत डर। हे माता! तुम भी मत रोओ, दुष्टोंको दण्ड देनेवाले मुझ परीक्षितके रहते तुम्हें रोना नहीं चाहिए ॥ ९ ॥ जिस राजाके राज्यमें सज्जन दुर्जनों द्वारा सताये जाते हैं, उस मतवाले राजाकी कीर्ति आयु और ऐश्वर्य सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥ दुखियोंका दुःख दूर करना राजाका परम धर्म है। इसलिए प्राणियोंको कष्ट देनेवाले इस दुष्ट शूद्रको मैं मार ही डालूँगा ॥ ११ ॥ हे चतुष्पद वृषभ! तुम्हारे तीन पैरोंको किसने काट डाला है? भगवान कृष्णके भक्त राजाओंके राज्यमें तुम्हारे जैसा दुखी तो कोई दीखा ही नहीं ॥ १२ ॥ हे वृषभ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मुझे बताओ कि किसने तुम्हारा रूप बिगाड़कर उन पुनीत विचारवाले पाण्डवोंकी उज्ज्वल कीर्तिमें धब्बा लगाया है ॥ १३ ॥ यदि तुम सोचो कि इस प्रबल शत्रुके सामने मैं इसकी निन्दा कैसे करूँ तो यह मत सोचो। क्योंकि निरपराध जीवोंको दुःख देनेवाले सभी जीव मुझसे डरते हैं और दुष्टोंका दमन करनेसे सज्जनोंका भला ही होता है ॥ १४ ॥ मेरे राज्यमें यदि कोई देवता भी किसी निरपराध प्राणीको सता रहा हो तो मैं जड़से उसका हाथ कटवा डालूँगा। तब औरोंके विषयमें क्या कहना है ॥ १५ ॥ शास्त्रके बताये पथपर चलनेवाली प्रजाका पालन करना राजाका सर्वश्रेष्ठ धर्म है और उसका यह परम कर्तव्य हो

धर्म उवाच

एतद्वः पाण्डवेयानां युक्तमार्ताभयं वचः । येषां गुणगणैः कृष्णो दौत्यादौ भगवान् कृतः ॥१७॥
न वयं क्लेशबीजानि यतः स्युः पुरुषर्षभ । पुरुषं तं विजानीमो वाक्यभेदविमोहिताः ॥१८॥
केचिद्विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः । दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम् ॥१९॥
अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः । अत्रानुरूपं राजर्षे विमृशस्व मनीषया ॥२०॥

सूत उवाच

एवं धर्मे प्रवदति स सम्राड् द्विजसत्तम । समाहितेन मनसा विखेदः पर्यचष्ट तम् ॥२१॥

राजोवाच

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् । यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥२२॥
अथवा देवमायाया नूनं गतिरगोचरा । चेतसो वचसश्चापि भूतानामिति निश्चयः ॥२३॥
तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः । अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसङ्गमदैस्तव ॥२४॥
इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं निर्वर्तयेद्यतः । तं जिघृक्षत्यधर्मोऽयमनृतेनैधितः कलिः ॥२५॥
इयं च भूर्भगवता न्यासितोरुभरा सती । श्रीमद्भिस्तत्पदन्यासैः सर्वतः कृतकौतुका ॥२६॥
शोचत्यश्रुकला साध्वी दुर्भगेवोज्झिताधुना । अब्रह्मण्या नृपव्याजाः शूद्रा भोक्ष्यन्ति मामिति ॥२७॥
इति धर्मं महीं चैव सान्त्वयित्वा महारथः । निशातमाददे खड्गं कलयेऽधर्महेतवे ॥२८॥

जाता है कि जो शास्त्रमार्ग त्यागकर लोगोंको सतानेका उपक्रम बाँधते हों, उनको दण्ड दे ॥ १६ ॥ वृषरूपधारी धर्मने राजासे कहा—आप जैसे पाण्डववंशी राजाओंका यह धर्म ही है कि वे दुखियोंको अभयदान देकर सान्त्वना दें । आपके पूर्वजोंके इन्हीं सद्‌गुणोंपर मुग्ध होकर तो साक्षात् श्रीकृष्ण-भगवानने सारथी और दूत आदिका काम किया था ॥ १७ ॥ हे राजन् ! हमको यह नहीं मालूम कि यह कौन पुरुष हमको सताता है और मेरे दुखी होनेसे आप जैसे सुजन भी दुखी होते हैं । क्योंकि लोगोंकी तरह-तरहकी बातें सुननेसे ही हम भ्रममें पड़ गये हैं ॥ १८ ॥ बहुतेरे योगीजन कहते हैं कि प्राणी अपने सुख-दुःखका स्वयं कारण होता है । कोई दूसरा किसीको नहीं सताता (आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः) । कुछ लोग भाग्यको दोष देते हैं । कुछ लोग कर्मको सुख-दुःखका कारण कहते और कुछ लोग स्वभावको ही सुख-दुःखका निमित्त बताते हैं ॥ १९ ॥ इसलिए मैं तर्क द्वारा न उसे मनोगोचर कर पाता हूँ और न वह वचनगोचर ही हो सकता है । अतः आप स्वयं उसको खोजिए, जो हमें दुःख देता है ॥ २० ॥ सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! इस प्रकार धर्मकी बातें सुनकर राजा परीक्षितने अपना मन एकाग्र करके कुछ देरतक विचार किया । इसके बाद प्रसन्न होकर राजा कहने लगे—॥ २१ ॥ हे धर्मज्ञ ! तुम वृषरूप धारण किये हुए साक्षात् धर्म ही हो और जान-बूझकर उस अधर्मीको नहीं बताते । क्योंकि अधर्म करनेवाले प्राणीका स्थान बतानेवाला भी अधर्मीका साझेदार हो जाता है ॥ २२ ॥ अथवा जैसा तुम कह रहे हो भगवान्‌की मायाकी गति अलक्ष्य होती है, उसे कोई मन तथा वचनसे भी देख नहीं सकता । यह निश्चित है ॥ २३ ॥ तप, शौच, दया और सत्य, ये तुम्हारे चार पैर थे । जिनमेंसे तीनको स्मय, संग और मद, इन तीन अधर्मके अंशोंने तोड़ डाला है ॥ २४ ॥ हे धर्म ! अब सत्यरूपी केवल एक पैर तुम्हारा बचा हुआ है । सो असत्यके आश्रयसे बढ़ा हुआ यह कलि तुम्हारे उस एक पैरको भी तोड़ डालना चाहता है ॥ २५ ॥ और यह पृथ्वी जिसके भारको भगवान्‌ने स्वयं उतार दिया था और इसकी गोदमें चारों ओर भ्रमण करके विविध प्रकारके कौतुक किये थे, जिससे यह सब तरहसे मंगलमयी हो गयी थी ॥ २६ ॥ वही साध्वी पृथ्वी आज त्यक्तपतिका अभागिनी स्त्रीके समान आँखोंसे आँसू ढालती हुई इसलिए विलाप कर रही है कि भविष्यमें नृपवेशधारी शूद्र इसे भोगेंगे ॥ २७ ॥ धर्म और पृथ्वीको इस तरह

तं जिघांसुमभिप्रेत्य विहाय नृपलाञ्छनम्। तत्पादमूलं शिरसा समगाद्भयविह्वलः ॥२९॥
पतितं पादयोर्वीक्ष्य कृपया दीनवत्सलः। शरण्यो नावधीच्छ्लोक्य आह चेदं हसन्निव ॥३०॥

राजोवाच

न ते गुडाकेशयशोधराणां बद्धाञ्जलेर्वै भयमस्ति किञ्चित्।
न वर्तितव्यं भवता कथञ्चन क्षेत्रे मदीये त्वमधर्मबन्धुः ॥३१॥
त्वां वर्तमानं नरदेवदेहेष्वनुप्रवृत्तोऽयमधर्मपूगः।
लोभोऽनृतं चौर्यमनार्यमंहो ज्येष्ठा च माया कलहश्च दम्भः ॥३२॥
न वर्तितव्यं तदधर्मबन्धो धर्मेण सत्येन च वर्तितव्ये।
ब्रह्मावर्ते यत्र यजन्ति यज्ञैर्यज्ञेश्वरं यज्ञवितानविज्ञाः ॥३३॥
यस्मिन् हरिर्भगवानिज्यमान इज्यात्ममूर्तिर्यजतां शं तनोति।
कामानमोघान् स्थिरजङ्गमानामन्तर्बहिर्वायुरिवैष आत्मा ॥३४॥

सूत उवाच

परीक्षितैवमादिष्टः स कलिर्जातवेपथुः। तमुद्यतासिमाहेदं दण्डपाणिमिवोद्यतम् ॥३५॥

कलिरुवाच

यत्र क्वचन वत्स्यामि सार्वभौम तवाज्ञया। लक्षये तत्र तत्रापि त्वामात्तेषुशरासनम् ॥३६॥
तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि। यत्रैव नियतो वत्स्य आतिष्ठंस्तेऽनुशासनम् ॥३७॥

सूत उवाच

अभ्यर्थितस्तदा तस्मै स्थानानि कलये ददौ। द्यूतं पानं स्त्रियः सूना यत्राधर्मश्चतुर्विधः ॥३८॥

आश्वासन देकर उन महारथी राजा परीक्षितने उस अधर्मके मूल कारण कलिको मार डालनेके लिए अपना तीक्ष्ण खड्ग उठाया ॥ २८ ॥ कलिने जब देखा कि महाराज मुझे मार ही डालेंगे, तब उसने वह राजवेष त्याग दिया और भयसे काँपता हुआ उनके पैरोंपर माथा रखकर रोने लगा ॥ २९ ॥ जब दीनवत्सल राजाने देखा कि अब यह दीन हो गया है, तब उन्होंने उसे मारनेका विचार त्याग दिया और हँसते हुए वे कहने लगे—॥ ३० ॥ अर्जुनके वंशवाले राजाओंके समक्ष हाथ जोड़ देनेवालों (शरणागतों) को कुछ भी भय नहीं रह जाता। लेकिन आजसे तुम फिर कभी मेरे राजमें न दिखायी देना। क्योंकि तुमको अधर्म प्रिय है ॥ ३१ ॥ जब तुम यहाँके राजाओंके शरीरमें घर कर लोगे तब लोभ, असत्य, चोरी, दुराचार, स्वधर्मत्याग, असंगल, कपट, कलह और पाखण्ड-रूपी विविध प्रकारके अधर्म आ धमकेंगे ॥ ३२ ॥ हे अधर्मके मित्र ! हमारे देशमें जहाँ लोग विविध प्रकारके यज्ञ कर करके नारायणकी पूजा करते हैं, सत्य और धर्मको अपना सर्वश्रेष्ठ नेता समझकर उसका अनुसरण करते हैं, वहाँ तुम्हारा अस्तित्व किसी तरह वांछनीय नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥ जिस देशमें यज्ञमूर्ति नारायणकी नित्य पूजा होती है और वे नारायण सबकी सब तरहकी इच्छायें पूर्ण करते हुए उनका कल्याण करते हैं और जहाँके निवासियोंके हृदयोंमें बाहर-भीतर रहनेवाली वायुके समान वे भगवान विराजमान रहते हैं, वहाँ तुम कैसे रह सकोगे ? ॥ ३४ ॥ सूतजी कहते हैं— हे शौनक ! हाथमें तलवार लिये यमराजके समान भयावने बनकर खड़े परीक्षितकी यह आज्ञा सुनकर कलि थर-थर काँपने लगा ॥ ३५ ॥ कलि बोला—हे चक्रवर्तिन् ! ऐसी दशामें तो मैं जहाँ कहीं भी रहूँगा, वहीं धनुष-बाण धारण किये आपको देखूँगा अर्थात् ऐसा कौन देश है, जहाँ आपका राज नहीं है। तब मैं जाऊँ कहाँ ? ॥ ३६ ॥ हे धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरपति ! आप मुझे वह स्थान बताइए कि जहाँ मैं आपका अनुशासन मानता हुआ नित्य निवास कर सकूँ ॥ ३७ ॥ सूतजी कहते हैं—उसकी प्रार्थना करनेपर राजाने कलिके लिए ये चार स्थान नियत किये। जैसे—जुआ, मद्यपान, वेश्यालय और

पुनश्च याचमानाय जातरूपमदात्प्रभुः । ततोऽनृतं मदं कामं रजो वैरं च पञ्चमम् ॥३९॥
अमूनि पञ्च स्थानानि ह्यधर्मप्रभवः कलिः । औत्तरेयेण दत्तानि न्यवसत्तन्निदेशकृत् ॥४०॥
अथैतानि न सेवेत बुभूषुः पुरुषः क्वचित् । विशेषतो धर्मशीलो राजा लोकपतिर्गुरुः ॥४१॥
वृषस्य नष्टांस्त्रीन् पादांस्तपः शौचं दयामिति । प्रतिसन्दध आश्वास्य महीं च समवर्धयत् ॥४२॥
स एष एतर्ह्यध्यास्त आसनं पार्थिवोचितम् । पितामहेनोपन्यस्तं राज्ञारण्यं विविक्षता ॥४३॥
आस्तेऽधुना स राजर्षिः कौरवेन्द्रश्रियोल्लसन् । गजाह्वये महाभागश्चक्रवर्ती बृहच्छ्रवाः ॥४४॥
इत्थम्भूतानुभावोऽयमभिमन्युसुतो नृपः । यस्य पालयतः क्षोणीं यूयं सत्राय दीक्षिताः ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे कलिनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

सूत उवाच

यो वै द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टो न मातुरुदरे मृतः । अनुग्रहाद्भगवतः कृष्णस्याद्भुतकर्मणः ॥१॥
ब्रह्मकोपोत्थिताद्यस्तु तक्षकात्प्राणविप्लवात् । न सम्मुमोहोरुभयाद्भगवत्यर्पिताशयः ॥२॥
उत्सृज्य सर्वतः सङ्गं विज्ञाताजितसंस्थितः । वैयासकेर्जहौ शिष्यो गङ्गायां स्वं कलेवरम् ॥३॥
नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् । स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥४॥
तावत्कलिर्न प्रभवेत्प्रविष्टोऽपीह सर्वतः । यावदीशो महानुर्व्यामाभिमन्यव एकराट् ॥५॥

प्राणियोंके वधका स्थान ॥ ३८ ॥ जब उसने और स्थान माँगा, तब राजाने कलिको सुवर्णमें भी स्थान दे दिया। सुवर्णके देनेसे उसे असत्य, मद, काम, रजोगुण और वैरके स्थान अपने आप प्राप्त हो गये ॥ ३९ ॥ अधर्मसे जायमान कलिने परीक्षितके दिये हुए इन्हीं पाँच स्थानोंमें अपना डेरा डाला और राजाकी आज्ञाओंका पालन करता हुआ रहने लगा ॥ ४० ॥ इस वास्ते जो लोग आत्मोन्नति करना चाहते हों वे अनृत, मद, काम, राग, वैर, मद्यपान, वेश्या, द्यूत आदि कार्योंमें कभी भी प्रवृत्त न हों। धर्मात्मा राजा अपनी प्रजाका पथप्रदर्शक स्वामी होता है। इसलिये उसे कलिके फन्दोंमें न फँसनेकी विशेष चौकसी रखनी चाहिये ॥ ४१ ॥ इसके अनन्तर राजाने पृथ्वी और धर्मको ढाढ़स बँधाकर धर्मके तप, शौच और दयाके जो तीन पैर नष्ट हो चुके थे, उन्हें फिरसे जोड़ा ॥ ४२ ॥ इस समय वनको जानेके लिए उद्यत अपने पितामह महाराज युधिष्ठिर द्वारा अर्पित राजसिंहासनपर बैठकर महाराज परीक्षित इस भूमण्डलका शासन कर रहे हैं ॥ ४३ ॥ वे राजर्षि परीक्षित दसों दिशाओंमें अपनी कीर्तिका प्रसार करते हुए चक्रवर्ती होकर हस्तिनापुरीमें निवास करते हैं। कुरुवंशी राजाओंमें जो तेज होना चाहिए, वह उनमें विद्यमान है ॥ ४४ ॥ अभिमन्युके पुत्र महाराज परीक्षित्की यह महिमा है कि उनके सुखदायक राज्यकालमें तुमलोग बहुत लम्बे समयमें पूर्ण होनेवाले यज्ञकी दीक्षा लिये हुए हो ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(शृङ्गी ऋषिका महाराज परीक्षितको शाप देना) सूतजी शौनकसे कहते हैं—हे शौनक ! माताके उदरमें अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे झुलसकर भी जो अद्भुत कर्मशील राजा परीक्षित कृष्णचन्द्रकी कृपासे नहीं मरा– ॥ १ ॥ और अपना तन-मन-धन सर्वस्व भगवानको अर्पण करके वह राजा तक्षकके द्वारा अपनी मृत्यु जानकर भी विचलित नहीं हुआ ॥ २ ॥ किन्तु ब्राह्मणका शाप मिल जानेपर उसने समस्त संसारसे नाता तोड़ करके पूर्ण ज्ञान प्राप्तकर गंगाजीमें अपना शरीर त्याग दिया ॥ ३ ॥ भगवानकी पवित्र कथाओंको प्रेमसे सुननेवाले लोग अन्त समयमें भी भगवानके चरणकमलोंका ही ध्यान करते रहते हैं। इसीसे उस समय भी उनको किसी प्रकारकी घबड़ाहट नहीं होती ॥ ४ ॥ जबतक

यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम् । तदैवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥६॥
नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् । कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥७॥
किं नु बालेषु शूरेण कलिना धीरभीरुणा । अप्रमत्तः प्रमत्तेषु यो वृको नृषु वर्तते ॥८॥
उपवर्णितमेतद्वः पुण्यं पारीक्षितं मया । वासुदेवकथोपेतमाख्यानं यदपृच्छत ॥९॥
या याः कथा भगवतः कथनीयोरुकर्मणः । गुणकर्माश्रयाः पुम्भिः संसेव्यास्ता बुभूषुभिः ॥१०॥

ऋषय ऊचुः

सूत जीव समाः सौम्य शाश्वतीर्विशदं यशः । यस्त्वं शंससि कृष्णस्य मर्त्यानाममृतं हि नः ॥११॥
कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान् । आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥१२॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥१३॥

को नाम तृप्येद्रसवित्कथायां महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुर्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः ॥१४॥
तन्नो भवान् वै भगवत्प्रधानो महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
हरेरुदारं चरितं विशुद्धं शुश्रूषतां नो वितनोतु विद्वन् ॥१५॥
स वै महाभागवतः परीक्षिद्येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।
ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ॥१६॥

महाराज परीक्षितने राज्य किया, तबतक भगवानके परमधाम चले जानके बाद ही आया हुआ कलि संसारमें अधर्मका विस्तार करनेमें असमर्थ रहा ॥ ५ ॥ ६ ॥ उस सम्राट्ने पापी कलिको इसीलिए मार नहीं डाला था कि इस युगमें यदि किसी पुनीत कार्यका संकल्पमात्र किया जाय तो वह सिद्ध हो जाता है और पाप तभी सिद्ध होते हैं, जब वे मन, वचन और शरीरसे किये जायँ। केवल सोचनेसे उनका फल नहीं भोगना पड़ता ॥ ७ ॥ इसीसे उन्होंने उसके साथ द्वेषभाव नहीं रखा। क्योंकि कलि अधीर लोगोंके लिए वीर और धैर्यवान् पुरुषोंके समक्ष स्वयं भयभीत रहता था। वह प्रमादी लोगोंके समक्ष समझदार बनकर भेड़ियेके समान प्रहार करता था ॥ ८ ॥ हे शौनक! मैंने आप लोगोंके प्रश्नानुसार महाराज परीक्षित और श्रीकृष्णचन्द्रका पुनीत चरित्र वर्णन करके आप लोगोंको सुनाया ॥ ९ ॥ सब शास्त्रोंका सार यही है कि अपना कल्याण चाहनेवाले लोगोंको चाहिए कि वे भगवानकी जिन-जिन कथाओंको सुनें तो उनका आदर करते हुए उन्हींके अनुसार चलनेकी चेष्टा करें ॥ १० ॥ इसपर वे ऋषि बोले—हे सूत! तुम अगणित वर्षोंतक जीते रहो। क्योंकि तुमने हम लोगोंको भगवानका जो विमल यश सुनाया है, वह हम मर्त्यलोकनिवासी मनुष्योंके लिए अमृतके समान है (इससे इस जन्म-मरणरूपी संसारके बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है) ॥ ११ ॥ इस अविश्वसनीय कर्म (यज्ञ) में लगे हुए हम मलीन मनवाले लोगोंको आप भगवानका कथारूपी मधुर अमृत पिला रहे हैं ॥ १२ ॥ भगवद्भक्तोंके क्षणमात्रके समागमको मैं स्वर्ग और मोक्षके तराजूपर भी तौलना नहीं चाहता। फिर संसारकी विनाशशील संपत्तियोंकी तो बात ही क्या है ॥ १३ ॥ कौनसा ऐसा रसिक पुरुष होगा, जो महात्माओंके भी आराध्यदेव 'नारायण' की उन कथाओंसे तृप्त हो सके कि शिव और ब्रह्मा भी जिनके गुणोंका पार नहीं पासके हैं ॥ १४ ॥ हे विद्वन्! आप भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ माने जाते हैं। अतएव आप हमको महात्माओंके सेव्य नारायणका पुनीत चरित सुनाइए। क्योंकि हम लोग बड़े प्रेमके साथ उसे सुननेके लिए उत्सुक हैं ॥ १५ ॥ वे महाबुद्धिमान् महाराज परीक्षित शुकमुनिके दिये हुए जिस ज्ञानसे देह त्यागकर अपवर्ग नामक भगवानके चरणोंको प्राप्त कर सके

तन्नः परं पुण्यमसंवृतार्थमाख्यानमत्यद्भुतयोगनिष्ठम् ।
आख्याह्यनन्ताचरितोपपन्नं पारीक्षितं भागवताभिरामम् ॥१७॥

सूत उवाच

अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः ।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानयोगः ॥१८॥
कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य ।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः ॥१९॥
एतावतालं ननु सूचितेन गुणैरसाम्यानतिशायनस्य ।
हित्वेतरान् प्रार्थयतो विभूतिर्यस्याङ्घ्रिरेणुं जुषतेऽनभीप्सोः ॥२०॥
अथापि यत्पादनखावसृष्टं जगद्विरिञ्चोपहृतार्हणाम्भः ।
सेशं पुनात्यन्यतमो मुकुन्दात् को नाम लोके भगवत्पदार्थः ॥२१॥
यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥२२॥
अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भिराचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान् ।
नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणस्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः ॥२३॥
एकदा धनुरुद्यम्य विचरन्मृगयां वने । मृगाननुगतः श्रान्तः क्षुधितस्तृषितो भृशम् ॥२४॥
जलाशयमचक्षाणः प्रविवेश तमाश्रमम् । ददर्श मुनिमासीनं शान्तं मीलितलोचनम् ॥२५॥

॥ १६ ॥ वह ज्ञान हम लोगोंको भी आप साफ-साफ बताइए। क्योंकि परीक्षितके लिए कहे गये उस ज्ञानमें भगवानका चरित्र भी सम्मिलित रहता है, जिससे वह भक्तोंको विशेष प्रिय लगता है ॥ १७ ॥ यह सुनकर सूतजी बोले—हे शौनक! आप लोगोंके चरणोंकी सेवा करनेसे हम विलोमज (क्षत्रिय पिताके संसर्ग द्वारा ब्राह्मणी माताके गर्भसे उत्पन्न) होते हुए भी अपनेको धन्य समझते हैं। क्योंकि आप जैसे सज्जनोंके साथ वार्तालाप करनेसे ही नीच कुलमें उत्पन्न होनेसे होनेवाली अन्तःकरणकी ग्लानि नष्ट हो जाती है ॥ १८ ॥ फिर उन अनन्तभगवान श्रीकृष्णका नाम जिनमें अनन्त शक्ति है और महान् गुण हैं, उनको जपनेवाले पुरुषोंके साथ यदि सत्संग करनेका अवसर मिल जाय, तब भला हीन कुलमें उत्पन्न होनेका दोष दूर होनेमें क्या कठिनाई आ सकती है ॥ १९ ॥ जिन भगवानके सदृश या उनसे बढ़कर गुणवान त्रिलोकीमें और कोई है ही नहीं, उनकी महिमाको कोई कहाँतक गावेगा। बस इतने ही से समझ लें कि ब्रह्मा आदि कितने ही चाहनेवालोंको ठुकराती हुई लक्ष्मीजी जाकर उन्हीं न चाहनेवाले नारायणके चरणरजको माथे चढ़ाती हैं ॥ २० ॥ जिनके चरणनखसे निकला जल शिव और ब्रह्मासमेत समस्त जगत्को पवित्र करता है, उन भगवानके सम्मुख भला और कौन श्रेष्ठ हो सकता है ॥ २१ ॥ जिन भगवानका अनुराग करके धैर्यशाली लोग अपनी देह तककी सुधि-बुधि भूलकर अन्तिम परमहंस पदपर पहुँच जाते हैं, जहाँ अहिंसा और उपशम स्वाभाविक धर्म हो जाते हैं ॥ २२ ॥ हे सूर्यसदृश तेजस्वी महर्षियों! आप लोगोंके प्रश्नानुसार जहाँतक मेरी बुद्धि पहुँच सकेगी, मैं भगवानका पवित्र चरित्र सुनाऊँगा। जैसे विस्तृत आकाशमंडलमें पक्षीगण अपनी सामर्थ्य भर उड़ते हैं, कोई पूरे आकाशको नापनेकी सामर्थ्य नहीं रखता। उसी तरह विद्वान् लोग भी अपनी पहुँच तक भगवानके गुण गाते हैं ॥ २३ ॥ अब महाराज परीक्षितके शापकी वार्ता सुनाते हुए सूतजी कहते हैं—एक दिन महाराज परीक्षित धनुष-बाण लेकर आखेट (शिकार) करनेके लिए वनको गये। एक मृगके पीछे-पीछे वे बहुत दूर निकल गये। जिससे उन्हें बड़ी थकावट और भूख-प्यास लगने लगी ॥ २४ ॥ उस जगह कहीं कोई जलाशय न देखकर वे एक ऋषिके आश्रममें घुस गये।

प्रतिरुद्धेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिमुपारतम् । स्थानत्रयात्परं प्राप्तं ब्रह्मभूतमविक्रियम् ॥२६॥
विप्रकीर्णजटाच्छन्नं रौरवेणाजिनेन च । विशुष्यत्तालुरुदकं तथाभूतमयाचत ॥२७॥
अलब्धतृणभूम्यादिरसम्प्राप्तार्घ्यसूनृतः । अवज्ञातमिवात्मानं मन्यमानश्चुकोप ह ॥२८॥
अभूतपूर्वः सहसा क्षुत्तृड्भ्यामर्दितात्मनः । ब्राह्मणं प्रत्यभूद्ब्रह्मन्मत्सरो मन्युरेव च ॥२९॥
स तु ब्रह्मऋषेरंसे गतासुमुरगं रुषा । विनिर्गच्छन्धनुष्कोट्या निधाय पुरमागमत् ॥३०॥
एष किं निभृताशेषकरणो मीलितेक्षणः । मृषासमाधिराहोस्वित्किं नु स्यात्क्षत्रबन्धुभिः ॥३१॥
तस्य पुत्रोऽतितेजस्वी विहरन् बालकोऽर्भकैः । राज्ञाघं प्रापितं तातं श्रुत्वा तत्रेदमब्रवीत् ॥३२॥
अहो अधर्मः पालानां पीव्नां बलिभुजामिव । स्वामिन्यघं यद्दासानां द्वारपानां शुनामिव ॥३३॥
ब्राह्मणैः क्षत्रबन्धुर्हि द्वारपालो निरूपितः । स कथं तद्गृहे द्वाःस्थः सभाण्डं भोक्तुमर्हति ॥३४॥
कृष्णे गते भगवति शास्तर्युत्पथगामिनाम् । तद्भिन्नसेतूनद्याहं शास्मि पश्यत मे बलम् ॥३५॥
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो वयस्यानृषिबालकान् । कौशिक्याप उपस्पृश्य वाग्वज्रं विससर्ज ह ॥३६॥
इति लङ्घितमर्यादं तक्षकः सप्तमेऽहनि । दङ्क्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम् ॥३७॥

वहाँ उन्होंने देखा कि वे ऋषि आँखें मूँदे शान्तभावसे बैठे हैं ॥ २५ ॥ उन्होंने अपनी इन्द्रियों, प्राण, मन और बुद्धिको वशमें करके जगत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंसे आगे तुरीयावस्थाको प्राप्त हो ब्रह्ममें लीन (समाधिस्थ) होकर बैठे हैं। उनमें किसी प्रकारका विकार नहीं है ॥ २६ ॥ उनकी जटा खुलकर छितराई हुई है और वे काले मृगका चर्म धारण किये हुए हैं। इस प्रकार ध्यानपरायण मुनिको देखकर राजाने उनसे पीनेके लिए जल माँगा। क्योंकि मारे प्यासके उनकी तालू सूख रही थी ॥ २७ ॥ कुछ देरतक खड़े रहनेपर भी जब राजाको न आसन मिला और न अर्घ्यका ही सत्कार प्राप्त हुआ। इससे राजाने अपनेको अपमानित समझा और उन्हें क्रोध आ गया ॥ २८ ॥ भूख और प्याससे दुखी राजा उस ब्राह्मण (शमीक) का उत्कर्ष नहीं सह सके। इसलिए उनके हृदयमें ईर्ष्या और क्रोध दोनों उत्पन्न हो गया ॥ २९ ॥ अब वे ऐसे स्थानपर रहना अनुचित समझकर लौट पड़े। चलनेपर न जाने उनके मनमें क्या विचार उठा, जिससे उन्होंने अपने धनुषके अग्रभागसे एक मरा साँप उठाया और उसे महर्षि शमीकके गलेमें डाल दिया ॥ ३० ॥ इस विचारसे उन्होंने उसे उनके गलेमें डाला था कि देखें ये सचमुच समाधि लगाये हैं या हमको देख हमारा आतिथ्य-सत्कार करनेसे बचनेके लिए यह ढोंग किये बैठे हैं। ऐसा करके राजा वहाँसे चल पड़े और अपने नगरको वापस आये ॥ ३१ ॥ कुछ देर बाद महर्षि शमीकके तेजस्वी पुत्र शृङ्गीने—जो आश्रमके बालकोंके साथ खेल रहा था—कुछ लड़कोंसे अपने पिताके अपमानित होनेका समाचार सुना। इससे क्रुद्ध होकर वह बोला—॥ ३२ ॥ प्रजासे कर लेकर मोटे बने हुए इन राजाओंका अधर्म तो देखो। मेरे पिताके प्रति इसका दुर्व्यवहार उसी तरहका है, जैसे बलि खानेवाले कौए बलि प्रदान करनेवालेको ही विष्ठा या मूत्रसे अपवित्र कर दें या कि स्वामीके अन्नसे पला हुआ सेवक अथवा द्वारकी रक्षाको नियुक्त कुत्ता स्वामी ही पर गुर्राने लगे ॥ ३३ ॥ स्वामीस्वरूप ब्राह्मणोंने इन क्षत्रियोंको (कुत्तेके समान) द्वारपाल बनाकर खड़ा कर दिया है। तब भला वह पवित्र बर्तनमें रखे पदार्थको स्वेच्छासे कैसे खा सकता है ? उसे तो उस ग्रासपर ही सन्तोष करना पड़ेगा, जो उसके आगे फेंक दिया जाता है ॥ ३४ ॥ उत्पथगामी दुष्टोंपर शासन करनेवाले भगवान कृष्णचन्द्रके परलोक चले जानेपर इन दुष्टोंने वह मर्यादा तोड़नेकी ठान ली है। आज मैं स्वयं इसे दण्ड देता हूँ। तुम लोग मेरा बल देखो ॥ ३५ ॥ आँखें लाल करके अपने समवयस्क ऋषिपुत्रोंसे ऐसा कहकर उस ब्राह्मण-बालकने कौशिकी नदीके जलसे आचमन किया और अपने वज्ररूपी वचनका प्रहार करता हुआ वह इस प्रकार कहने लगा—॥ ३६ ॥ इस तरह मर्यादाका उल्लंघन करनेवाले उस कुलांगार राजाको आजके

ततोऽभ्येत्याश्रमं बालो गले सर्पकलेवरम् । पितरं वीक्ष्य दुःखार्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥३८॥
स वा आङ्गिरसो ब्रह्मन् श्रुत्वा सुतविलापनम् । उन्मील्य शनकैर्नेत्रे दृष्ट्वा स्वांसे मृतोरगम् ॥३९॥
विसृज्य पुत्रं पप्रच्छ वत्स कस्माद्धि रोदिषि । केन वा ते प्रतिकृतमित्युक्तः स न्यवेदयत् ॥४०॥

निशम्य शप्तमतदर्हं नरेन्द्रं स ब्राह्मणो नात्मजमभ्यनन्दत् ।
अहो बतांहो महदद्य ते कृतमल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः ॥४१॥
न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं सम्मातुमर्हस्यविपक्वबुद्धे ।
यत्तेजसा दुर्विषहेण गुप्ता विन्दन्ति भद्राण्यकुतोभयाः प्रजाः ॥४२॥
अलक्ष्यमाणे नरदेवनाम्नि रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः ।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्यत्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत्क्षणात् ॥४३॥
तदद्य नः पापमुपैत्यनन्वयं यन्नष्टनाथस्य वसोर्विलुम्पकात् ।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते पशून् स्त्रियोऽर्थान् पुरुदस्यवो जनाः ॥४४॥
तदाऽऽर्यधर्मश्च विलीयते नृणां वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः ।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां शुनां कपीनामिव वर्णसङ्करः ॥४५॥

धर्मपालो नरपतिः स तु सम्राड् बृहच्छ्रवाः । साक्षान्महाभागवतो राजर्षिर्हयमेधयाट् ।
क्षुत्तृट्श्रमयुतो दीनो नैवास्मच्छापमर्हति ॥४६॥
अपापेषु स्वभृत्येषु बालेनापक्वबुद्धिना । पापं कृतं तद्भगवान् सर्वात्मा क्षन्तुमर्हति ॥४७॥

सातवें दिन मेरे द्वारा प्रेरित तक्षक नाग काट लेगा, जिससे वह मर जायगा ॥ ३७ ॥ इसके अनन्तर वह अपने आश्रमपर आया और पिताके गलेमें मरा सर्प देखा तो दुखी होकर जोर-जोरसे रोने लगा ॥ ३८ ॥ अंगिराके पुत्र महर्षि शमीकने पुत्रका रोदन सुना तो उनकी समाधि भंग हो गयी। धीरे-धीरे आँखें खुलीं तो उन्होंने अपने गलेमें मरा हुआ सर्प पड़ा देखा ॥ ३९ ॥ उसे फेंककर महर्षि अपने पुत्रसे कहने लगे कि तू रो क्यों रहा है? क्या किसीने कोई अपराध किया है? वह बालक सरल स्वभावसे सब वृत्तान्त बता गया ॥ ४० ॥ शापका हाल सुनकर महर्षि शमीक बड़े दुखी हुए। उन्होंने अपने बेटेके शापका समर्थन नहीं किया और कहा—'अरे अज्ञानी बालक! तूने बड़ा भारी पाप कर डाला—एक साधारणसे अपराधपर तूने राजाको बहुत बड़ी सजा दे दी ॥ ४१ ॥ ओ कच्ची बुद्धिके बालक! विष्णुके समान प्रभावशाली राजाको तुझे साधारण मनुष्य नहीं समझना चाहिए था। फिर एक ऐसे राजाको मनुष्य समझना तो बड़ी भारी गलती करना है, जिसके प्रभावसे अगणित प्रजा सुख पा रही हो ॥ ४२ ॥ जब वह विष्णुभक्त राजा नहीं रहेगा तो सेनाविहीन राजाकी तरह यह प्रजा चोरों और डाकुओंसे लुट जायगी—लोग इसे अनाथ पाकर मनमाने ढंगसे सताने लग जायँगे ॥ ४३ ॥ स्वामीके नष्ट हो जानेपर प्रजामें जब चोरोंकी संख्या बढ़ जायगी तब लोगोंका धन, पशु और स्त्रियाँ गायब होने लगेंगी। दुखी प्रजा आपसमें कटे-मरेगी और लोग एक-दूसरेको बुरा-भला कहेंगे, इसका सारा पाप हम लोगोंके मत्थे पड़ेगा ॥ ४४ ॥ राजाके अभावमें शास्त्रोक्त वर्णाश्रमकी व्यवस्था नष्ट हो जायगी और आर्यधर्म लुप्त हो जायगा। लोग कुत्तों और बन्दरोंकी तरह काम-वासनामें आसक्त हो जायँगे और सारी प्रजा वर्णसंकर हो जायगी ॥ ४५ ॥ राजा परीक्षित बड़े यशस्वी और धर्मात्मा सम्राट् हैं। वे असाधारण भगवद्भक्त हैं और उन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी किया है। उस समय वे बेचारे भूख, प्यास और थकावटसे व्यग्र थे और मैं उनका आतिथ्य-सत्कार नहीं कर सका। मालूम होता है इसी कारण उन्होंने ऐसा किया। कुछ भी हो बेटे! उनको हमारी तरफसे शाप तो किसी तरह दिया ही नहीं जा सकता था ॥ ४६ ॥ इसके अनन्तर वे महर्षि भगवानसे प्रार्थना करते हुए कहने लगे—हम शुद्ध आत्मावाले ऋषियोंमेंसे इस तुच्छ-

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि । नास्य तत्प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥४८॥
इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः । स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाघं तदचिन्तयत् ॥४९॥
प्रायशः साधवो लोके परैर्द्वन्द्वेषु योजिताः । न व्यथन्ति न हृष्यन्ति यत आत्माऽगुणाश्रयः॥५०॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे श्रीकृष्णद्वारकाप्रवेशो नामाष्टादशोऽध्यायः १८

अथैकोनविंशोऽध्यायः

सूत उवाच

महीपतिस्त्वथ तत्कर्म गर्ह्यं विचिन्तयन्नात्मकृतं सुदुर्मनाः ।
अहो मया नीचमनार्यवत्कृतं निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि ॥१॥
ध्रुवं ततो मे कृतदेवहेलनाद् दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात् ।
तदस्तु कामं त्वघनिष्कृताय मे यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा ॥२॥
अद्यैव राज्यं बलमृद्धकोशं प्रकोपितब्रह्मकुलानलो मे ।
दहत्वभद्रस्य पुनर्न मेऽस्तु पापीयसी धीर्द्विजदेवगोभ्यः ॥३॥
स चिन्तयन्नित्थमथाशृणोद्यथा मुनेः सुतोक्तो निर्ऋतिस्तक्षकाख्यः ।
स साधु मेने न चिरेण तक्षकानलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् ॥४॥
अथो विहायेममपुं च लोकं विमर्शितो हेयतया पुरस्तात् ।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान उपाविशत्प्रायममर्त्यनद्याम् ॥५॥

बुद्धि बालकने यह बहुत बड़ा पाप कर डाला है। हे भगवान! आप इसे क्षमा करिएगा ॥ ४७ ॥ क्योंकि भगवानके भक्तजन समर्थ होते हुए भी किसीके द्वारा तिरस्कृत होकर, ठगे जानेपर, शाप पाकर, उठाकर फेंक दिये जाने और मार डाले जानेपर भी अपराधीपर प्रहार नहीं करते ॥ ४८ ॥ पुत्रके किये हुए अपराधसे वे महर्षि बड़े दुखी हुए। यद्यपि राजाने भी उनका बहुत बड़ा अपमान किया था, किन्तु उसपर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया ॥ ४९ ॥ क्योंकि सज्जन लोग औरोंके द्वारा झंझटमें डाल दिये जानेपर भी उससे न दुखी होते हैं और न प्रसन्न। उनकी आत्मा सुख-दुखके झमेलेसे पृथक् रहती है ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामायिकी'भाषाटीकायां विप्रशापोपलम्भनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(राजा परीक्षितका भागवत सुननेके लिए गंगातटपर जाना) सूतजी कहते हैं—वहाँसे चले जानेपर स्वयं राजा परीक्षितको अपने किये हुए उस निन्दनीय कर्मपर पछतावा होने लगा। अपने आपको धिक्कारते हुए वे कहने लगे कि मैंने उन निरपराध और गूढ़ नेत्रवाले महर्षिके साथ एक अनार्य और नीचके समान बहुत बुरा व्यवहार किया ॥ १ ॥ मैंने जो एक देवता सदृश विप्रकी अवहेलना करनेका इतना बड़ा पाप किया है, इसका मुझे शीघ्र ही कोई न कोई दण्ड मिलना चाहिए। इसके सिवाय पापकी निष्कृतिका और कोई उपाय ही नहीं है। यदि सजा मिल जाय तो फिर मेरे द्वारा कोई ऐसा ओछा काम नहीं होगा ॥ २ ॥ यदि आज ही उस ब्राह्मणके कोपसे उठी हुई अग्निज्वाला मेरा राज्य, सेना और खजाना आदि जलाकर भस्म कर दे तो बहुत अच्छा हो। जिससे मैं फिर कभी इस तरह किसी ब्राह्मण, देवता और गौको सतानेका साहस न करूँगा ॥ ३ ॥ महाराज परीक्षित् एकान्तमें बैठे हुए इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि इतनेमें महर्षि शमीकका भेजा हुआ उनका शिष्य आया और उसने शापसम्बन्धी सब हाल कह सुनाया और कहा कि आजके सातवें रोज तक्षक साँपके काटनेसे तुम्हारी मृत्यु होगी। यह संवाद सुनकर उन्होंने इस शापको भी अच्छा ही समझा ॥ ४ ॥ अब उन्होंने भगवानके चरणोंकी सेवाको ही सबसे उत्तम कार्य माना और नारायणके

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान् कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥६॥
इति व्यवच्छिद्य स पाण्डवेयः प्रायोपवेशं प्रति विष्णुपद्याम् ।
दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभावो मुनिव्रतो मुक्तसमस्तसङ्गः ॥७॥
तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥८॥
अत्रिर्वसिष्ठश्च्यवनः शरद्वानरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मवाहौ ॥९॥
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो भारद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।
मैत्रेय और्वः कवषः कुम्भयोनिर्द्वैपायनो भगवान्नारदश्च ॥१०॥
अन्ये च देवर्षिमहर्षिवर्या राजर्षिवर्या अरुणादयश्च ।
नानार्षिसङ्घान् पुरतः समेतानभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ॥११॥
सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।
विज्ञापयामास विविक्तचेता उपस्थितोऽग्रेऽभिगृहीतपाणिः ॥१२॥

राजोवाच

अहो वयं धन्यतमा नृपाणां महत्तमानुग्रहणीयशीलाः ।
राज्ञां कुलं ब्राह्मणपादशौचाद्दूराद्विसृष्टं बत गर्ह्यकर्म ॥१३॥
तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥१४॥

चरणोंसे निकली गंगाके तटपर जा बैठे और उन्होंने यह संकल्प कर लिया कि अब मैं मरणकाल पर्यन्त यहीं रहूँगा ॥ ५ ॥ जो गंगा और तुलसीदल भगवानके चरणरजसे मिश्रित होनेके कारण सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है और जिसकी पुनीत धारा सभी लोकपालों और लोकोंको बाहर-भीतर सब तरफसे पवित्र करती है, मरनेको उद्यत भला कौन प्राणी ऐसा होगा, जो उसका सेवन न करना चाहेगा ॥ ६ ॥ इस प्रकार गंगाकी गोदमें बैठकर अनशन व्रत करते हुए संसारके सब झमेलोंसे पृथक् हो मन एकाग्र करके वे नारायणके चरणकमलका ध्यान करने लगे ॥ ७ ॥ इसके अनन्तर बहुतसे प्रभावशाली मुनि अपने शिष्योंको साथ लिये तीर्थाटनके ब्याजसे वहाँ जा पहुँचे। ऐसे महामहिमामय मुनियोंकी तीर्थयात्रा एक बहाना ही कही जायगी। क्योंकि ऐसे-ऐसे सज्जन तो तीर्थोंको भी पवित्र करते हैं—स्वयं तो सदा पवित्र रहते ही हैं ॥ ८ ॥ ऋषियोंमें अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अंगिरा, पराशर, विश्वामित्र, परशुराम, उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मवाह ॥ ९ ॥ देवल, मेधातिथि, आर्ष्टिषेण, भारद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, अगस्त्य और व्यास मुख्य थे ॥ १० ॥ इनके अतिरिक्त बहुतसे देवर्षि और अरुण आदि राजर्षि वहाँ एकत्र हो गये। राजाने उन सबका पूजन करके मस्तक झुका-झुकाकर प्रणाम किया ॥ ११ ॥ जब वे लोग आनन्दके साथ अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, तब राजाने एक बार फिर सबको प्रणाम करते हुए हाथ जोड़कर सबके समक्ष अपना विचार प्रकट किया ॥ १२ ॥ राजा बोले—आज मैं जगत्के सब राजाओंकी अपेक्षा अपनेको धन्य समझता हूँ। सो इसलिए कि आप जैसे महात्माओंने मेरेपर अनुग्रह करके मुझे अपना दर्शन दिया है। वास्तवमें तो राजे लोग दूर फेंके हुए ब्राह्मणोंके पादप्रक्षालित जलके समीप बैठनेके भी अधिकारी नहीं होते। फिर मैंने तो बहुत ही निन्दित कर्म किया है ॥ १३ ॥ अपने घर-द्वार और

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥१५॥
पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥१६॥
इति स्म राजाध्यवसाययुक्तः प्राचीनमूलेषु कुशेषु धीरः।
उदङ्मुखो दक्षिणकूल आस्ते समुद्रपत्न्याः स्वसुतन्यस्तभारः ॥१७॥
एवं च तस्मिन्नरदेवदेवे प्रायोपविष्टे दिवि देवसङ्घाः।
प्रशस्य भूमौ व्यकिरन् प्रसूनैर्मुदा मुहुर्दुन्दुभयश्च नेदुः ॥१८॥
महर्षयो वै समुपागता ये प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः।
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम् ॥१९॥
न वा इदं राजर्षिवर्य चित्रं भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥२०॥
सर्वे वयं तावदिहास्महेऽद्य कलेवरं यावदसौ विहाय।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥२१॥
आश्रुत्य तदृषिगणवचः परीक्षित्समं मधुच्युद् गुरु चाव्यलीकम्।
आभाषतैनानभिनन्द्य युक्तं शुश्रूषमाणश्चरितानि विष्णोः ॥२२॥

स्त्री-पुत्रमें ही मन लगाये हुए मुझ पापीको पापसे मुक्त करनेके लिए साक्षात् नारायणने ही ब्राह्मणके शाप बनकर मेरे ऊपर कृपा की है। यदि ऐसा न होता तो भला मैं दुनियावी झमेलोंको कैसे त्याग पाता और मेरी आत्माको शान्ति कैसे मिलती ॥ १४ ॥ अतएव अपनी शरणमें आये हुए मुझ पापीको आप लोग तथा श्रीगंगाजी दयादृष्टिसे देखकर समझें। तब ब्राह्मण द्वारा प्रेरित कपटवेषधारी तक्षक आकर भले ही मुझे काट ले, इसकी चिन्ता नहीं है। अब आप लोग विष्णुभगवानकी पुनीत कथायें कहें ॥ १५ ॥ आप मुझे यही आशीर्वाद दें कि मैं जिस किसी भी योनिमें जाऊँ तो उन भगवानके चरणोंमें मेरा अनुराग बना रहे और अच्छे-अच्छे लोगोंका साथ होता रहे। आप ब्राह्मणोंको मैं फिर प्रणाम करता हूँ ॥ १६ ॥ इस प्रकार निश्चय करके राजाने राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयपर डाल दिया और स्वयं गङ्गाके दक्षिण तटपर कुशाओंके सिरेको पूर्वमुख करके स्वयं उत्तरमुख होकर बैठे ॥ १७ ॥ जब राजा परीक्षित इस प्रकार अनशन व्रतका संकल्प करके गङ्गातटपर आ विराजे तो आकाशमें देवताओंने आकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और दुंदुभी बजाते हुए उनपर फूलोंकी वर्षा की ॥ १८ ॥ वहाँपर जितने महर्षि एकत्रित थे, उन्होंने भी साधु-साधु कहकर राजाके विचारका अनुमोदन किया और प्राणिमात्रपर दया दिखानेवाले वे ऋषिजन उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥ १९ ॥ हे राजर्षिश्रेष्ठ! परम कृष्णभक्त आप जैसे राजाओंका ऐसा करना कोई नयी बात नहीं है। अभी अधिक समय नहीं हुए, आपके पूर्वज पाण्डवोंने भी भगवानकी प्रीतिके लिये अपना राज्यसिंहासन त्याग दिया था ॥ २० ॥ राजासे ऐसा कहकर वे ऋषि आपसमें बातें करते हुए कहने लगे—हम सब लोग आज इसीलिए यहाँ एकत्रित हुए हैं कि यह धर्मात्मा राजा अपने इस कलेवरको त्यागकर ऐसे लोकको जानेवाला है, जो रोग और शोकसे रहित है। सो जबतक यह आनन्दपूर्वक परमधामको चला नहीं जायगा, तबतक हमलोग भी यहाँ ठहरेंगे ॥ २१ ॥ राजा परीक्षित ऋषियोंकी यह मीठी और सच्ची बातें सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और भगवानका चरित्र सुननेकी इच्छासे

समागताः सर्वत एव सर्वे वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठे ।
नेहाथवामुत्र च कश्चनार्थ ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् ॥२३॥
ततश्च वः पृच्छयमिमं विपृच्छे विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।
सर्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं शुद्धं च तत्रामृशताभियुक्ताः ॥२४॥
तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः ।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः ॥२५॥
तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपादकरोरुबाह्वंसकपोलगात्रम् ।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णसुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम् ॥२६॥
निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसमावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च ।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम् ॥२७॥
श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन ।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यस्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम् ॥२८॥
स विष्णुरातोऽतिथय आगताय तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार ।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका महासने सोपविवेश पूजितः ॥२९॥
स संवृतस्तत्र महान्महीयसां ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः ।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दुर्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः ॥३०॥

उन्होंने उन ऋषियोंका अभिनन्दन (सराहना) करते हुए इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥ जिस तरह सत्यलोकमें चारों वेद मूर्तिमान रहते हैं, उन्हींके समान आप लोग यहाँ एकत्रित हो गये हैं। परोपकारके सिवाय आप लोगोंका इहलोक और परलोकमें कहीं भी और कोई काम नहीं है ॥ २३ ॥ अतएव आप लोगोंसे मैं यह पूछता हूँ कि हे विप्रो ! आप लोग एकमत होकर मुझे बतावें कि जो प्राणी मरनेकेलिए तैयार बैठा हो, उसे क्या करना चाहिए। इस विषयमें जो पवित्र कर्तव्य माना गया हो, उसे आप हमसे कहें ॥ २४ ॥ इसपर वे ऋषि यज्ञ, योग, तप और दान आदिकी चर्चा करते हुए आपसमें शास्त्रार्थ करने लगे। शीघ्र कोई निर्णय ही नहीं होने आता था। इसी समय आत्मज्ञानसे प्रसन्न महर्षि व्यासके पुत्र श्रीशुकदेवजी वहाँ आ पहुँचे। उनका अवधूत जैसा वेष था। (टिप्पणी) जिसको पागल या अकर्मण्य समझकर तिरस्कारपूर्वक जनसाधारण त्याग देते हैं, वह अवधूत कहा जाता है। बहुतेरे बालक उनके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे और भलीभाँति देखनेसे भी इस बातका पता नहीं चलता था कि उनका कौन-सा वर्ण और कौन-सा आश्रम है ॥ २५ ॥ उनकी सोलह वर्षकी अवस्था थी। उनके पैर, हाथ, घुटने, भुजदण्ड, जंघा, कपोल आदि सभी सुन्दर थे। सुन्दर और बड़ी-बड़ी आँखें थीं। ऊँची नासिका थी। सुन्दर मुखपर सुन्दर भौंहें थीं। शंखके समान मनोहर उनका गला था ॥ २६ ॥ उनकी दोनों जत्रुयें (हँसलियें) छिपी हुई थीं। चौड़ी और ऊँची छाती थी। घुमावदार नाभि थी। पेटियें पड़ा हुआ सुन्दर उदर था। वे कोई वस्त्र नहीं पहने थे। सिरके खुले हुए केश मुँहपर छितराये हुए थे। लम्बी-लम्बी भुजायें थीं ॥ २७ ॥ उनके शरीरकी कान्ति यद्यपि श्याम वर्णकी थी, फिर भी अपने अवयवोंकी शोभा और मधुर मुसकानसे सबको और विशेष करके स्त्रियोंको बहुत सुन्दर लग रहे थे। उन गूढ़ तेजस्वी मुनिको देखते ही उनकी महिमाको जाननेवाले महर्षि तुरन्त अपने-अपने आसनसे उठ खड़े हुए ॥ २८ ॥ उस विष्णुभक्त राजा परीक्षितने ज्यों ही उनको देखा, त्यों ही मस्तक झुका मानस पूजन करके अपनेको ही उनके अर्पण कर दिया। अब उनके पीछे-पीछे दौड़नेवाले स्त्री-बच्चे तथा अज्ञ प्राणी लौट गये और शुकमुनि भलीभाँति पूजित होकर एक ऊँचे आसनपर जा बैठे ॥ २९ ॥ शुकमुनि जब देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षिसमुदायके बीचमें बैठे तो ऐसे मालूम पड़ने लगे मानो मंगल-शुक्र

प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिर्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ॥३१॥

परीक्षिदुवाच

अहो अद्य वयं ब्रह्मन् सत्सेव्याः क्षत्रबन्धवः । कृपयातिथिरूपेण भवद्भिस्तीर्थकाः कृताः ॥३२॥
येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः । किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः ॥३३॥
सान्निध्यात्ते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि । सद्यो नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः ३४॥
अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः । पैतृष्वस्रेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः ॥३५॥
अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् । नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥३६॥
अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् । पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥३७॥
यच्छ्रोतव्यमथो जाप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो । स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ॥३८॥
नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् । न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥३९॥

सूत उवाच

एवमाभाषितः पृष्टः स राज्ञा श्लक्ष्णया गिरा । प्रत्यभाषत धर्मज्ञो भगवान् बादरायणिः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां प्रथमस्कन्धे शुकागमने एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

हरिः ॐ तत्सत्

आदि ग्रहोंके बीचमें चन्द्रमा विराजमान हों ॥ ३० ॥ जब शुकमुनि अच्छी तरह बैठ गये, तब भगवद्भक्त राजा परीक्षितने फिर एक बार उन्हें मस्तक नवाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बड़ी कोमलताके साथ कहा—॥ ३१ ॥ हे विप्र ! आपने अतिथिरूपसे पधारकर जो कृपा की है, इससे हम अधम क्षत्रिय भी अपनेको धन्य समझते हैं ॥ ३२ ॥ जिनका केवल स्मरण कर लेनेसे लोगोंके घर पवित्र हो जाते हैं, वे महात्मा यदि स्वयं पधारकर दर्शन, चरणस्पर्श, पादप्रक्षालन और आसन प्रदान करनेका अवसर दे दें, तब फिर क्या कहना है ॥ ३३ ॥ हे महायोगिन् ! आपके पास पहुँच जानेसे बड़े-बड़े पातक तत्काल नष्ट हो जाते हैं। जैसे विष्णुके समक्ष दैत्यगण पहुँचते ही लुप्त हो जाया करते हैं ॥ ३४ ॥ पाण्डवोंके प्रिय श्रीकृष्णचन्द्र आज उन्हीं पाण्डवोंके वंशज इस परीक्षितपर प्रसन्न हो गये हैं ॥ ३५ ॥ यदि वे न प्रसन्न हुए होते तो स्वयं पूर्णकाम होकर याचकोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले आप जैसे अव्यक्तगतिवाले पुरुषका दर्शन हम जैसे मरनेके लिए तैयार व्यक्तिको कैसे हो सकता ? ॥ ३६ ॥ अतएव योगियोंके परमगुरु आपसे मैं यह पूछना चाहता हूँ कि मरनेके लिए उद्यत मनुष्यका क्या कर्तव्य है ? ॥३७॥ उसे जो सुनना, जपना, कोई कार्य करना, किसीका स्मरण या भजन करना आदि कर्तव्य हो और जो करना उचित हो, वह आप हमको बताइए ॥ ३८ ॥ आपका दर्शन फिर मिलना दुर्लभ है । क्योंकि आप गृहस्थोंके घर गौ दुहनेके समय भर भी नहीं ठहरते ॥ ३९ ॥ सूतजी कहते हैं—इस प्रकार बड़ी कोमल वाणी द्वारा पूछनेपर धर्मज्ञ श्रीशुकमुनि राजा परीक्षितसे कहने लगे ॥४०॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे प्रथमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां शुकागमनं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

॥ समाप्तोऽयं प्रथमस्कन्धः ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्

द्वितीयस्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितो नृप । आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥१॥
श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः । अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥२॥
निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः । दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥३॥
देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि । तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥४॥
तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥५॥
एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया । जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥६॥
प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः । नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥७॥
इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् । अधीतवान्द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥८॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया । गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥९॥

ॐ नमः श्रीमते नारायणाय । (भगवानकी ध्यानविधि और नारायणका विराट् स्वरूप)
श्रीशुकमुनि महाराज परीक्षितसे बोले—हे राजन् ! तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही उत्तम है । इससे संसारके प्राणियोंका परम कल्याण होगा । बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी लोग भी ऐसे ही शंका-समाधानको उत्तम समझते हैं ॥ १ ॥ हे राजेन्द्र ! वैसे तो लोगोंको बहुतेरी बातें सुनने और कहनेको रहती हैं, लेकिन जो गृहस्थ आत्मतत्त्वको नहीं जान सकते, उनका जीवन व्यर्थ ही बीत जाता है ॥ २ ॥ वे रातको सोकर या मैथुन करके गुजार देते और दिन धन जुटाने या अपने बाल-बच्चोंके भरण-पोषणमें गँवा डालते हैं ॥ ३ ॥ अपने शरीर, अपने बेटे और अपनी स्त्री, इन आत्मीयोंकी सेनाको मरते देखकर भी वे उन्हींमें लौलीन रहते हैं—वे सब कुछ देखकर भी नहीं देखते (अर्थात् उनका नाश देख उससे लाभ उठाकर अपना जीवन सफल करनेका कोई उपाय नहीं सोचते) ॥ ४ ॥ इसलिए हे भारत ! जो लोग अभय होनेकी इच्छा रखते हों, उन्हें चाहिए कि वे सबकी आत्मामें विराजमान रहनेवाले भगवानका गुण सुनें, उनके पुनीत चरित्रोंका गान करें और उन्हींका ध्यान धरें ॥ ५ ॥ सांख्य तथा योग, इन दोनों शास्त्रोंने यही निर्णय किया है कि मनुष्यजन्मकी सफलता इसीमें है कि वह श्रद्धापूर्वक अपने धर्मका पालन करे, जिससे अन्तसमयमें नारायणका स्मरण हो सके ॥ ६ ॥ बहुतसे ब्रह्मनिष्ठ मुनि भी विधि और निषेधके पचड़ेसे अलग होकर भगवानका गुण गानेमें ही आनन्द पाते हैं ॥ ७ ॥ यह भागवतनामक पुराण वेदप्रतिपादित है । द्वापर युगके लगते ही मैंने इसे अपने पिता श्रीव्यासदेवसे पढ़ा था ॥ ८ ॥ यद्यपि पहले निर्गुण ब्रह्मकी ओर ही मेरा झुकाव था, किन्तु उत्तम गुणपूर्ण भगवान कृष्णचन्द्रकी लीलायें सुनकर बरबस मेरा मन इधर खिंच आया । मैंने श्रीपिताजीके मुखसे जो आख्यान सुना था ॥ ९ ॥ उसे आज मैं आपको सुनाऊँगा । क्योंकि आप बड़े पुरुषार्थी हैं ।

तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान् । यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती ॥१०॥
एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् । योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥११॥
किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह । वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥१२॥
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः । मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम् ॥१३॥
तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः । उपकल्पय तत्सर्वं तावद्यत्साम्परायिकम् ॥१४॥
अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः । छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ॥१५॥
गृहात्प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः । शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत्कल्पितासने ॥१६॥
अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् । मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥१७॥
नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः । मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥१८॥
तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा । मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥१९॥

उस आख्यानपर श्रद्धा रखकर जो लोग ध्यानके साथ उसे सुनते हैं तो उनके हृदयमें भगवानकी ओर ले जानेवाली सद्बुद्धि उत्पन्न हो जाती है ॥ १० ॥ जो संसारके दुःखोंसे दुःखी हों और सब तरहसे निर्भय हो जानेकी इच्छा रखते हों, उनके लिए यह उत्तम मार्ग है । हे राजन् ! विरक्त, मुमुक्षु और ज्ञानीजनोंको भगवानके नामका कीर्तन करना ही परम कल्याणदायक बताया गया है ॥ ११ ॥ 'मेरी तो बहुत थोड़ी-सी आयु शेष रह गयी है' यह सोचकर आप हताश न हों । क्योंकि प्रमादी पुरुषकी आयुके अगणित वर्ष व्यर्थ बीत जाते हैं। जो प्राणी पश्चात्तापपूर्वक यह सोचकर कि 'मेरी आयु व्यर्थ बीत रही है'—क्षणभर भी आत्मकल्याणका कोई उपाय करता है तो उसका जीवन सफल हो जाता है ॥ १२ ॥ पूर्व समयमें एक खट्वांग राजा हो गये हैं। उनकी सारी आयु बीत गयी थी। केवल एक मुहूर्त बाकी रह गया था। सो उतने ही समयमें वे सब कुछ त्यागकर भगवानके समीप पहुँच गये थे। (कथान्तर) राजा खट्वांग बड़े प्रतापी राजा थे। सब तरफ उनकी धाक जमी हुई थी। यहाँ तक कि देवता लोग भी उनका सम्मान करते और कभी-कभी उनसे सहायता लिया करते थे। एक बार देवताओं और दैत्योंमें गहरी लड़ाई छिड़ गयी तो महाराज खट्वांगने ही जाकर उन दुष्टोंका सामना किया और अन्तमें उन्हें पराजित करके देवताओंको विजय दिलायी। इससे देवताओंने प्रसन्न होकर राजासे कहा—'इस विजयके उपलक्ष्यमें आप हमसे कोई वर माँगिए।' इसपर राजा बोले—'पहले आप हमको यह बताइए कि अब मेरी आयु कितनी बाकी है ?' देवताओंने सहमते हुए कहा—'आयु तो आपकी अब केवल दो घड़ी शेष है।' यह सुनकर राजा खट्वांग विमानपर चढ़कर तुरन्त अपने राजमें आये और सारा राज-पाट दान देकर अपने आपको उन्होंने भगवानके चरणोंमें अर्पित कर दिया और मुक्त हो गये ॥ १३ ॥ हे राजन् ! आपके जीवनके तो अभी पूरे सात दिन बाकी हैं। इसलिए अबसे आप अपने निस्तारका उपाय करिए ॥ १४ ॥ प्रत्येक समझदार पुरुषका यह कर्तव्य है कि जब अन्तकाल आ उपस्थित हो, तब वह निर्भय होकर त्यागरूपी शस्त्रसे स्त्री-पुत्र-धन आदिकी सभी अभिलाषाओंका बन्धन काट फेंके ॥ १५ ॥ और घरसे बाहर निकलकर किसी पुनीत तीर्थमें स्नानकर जहाँ भीड़-भाड़ न हो, ऐसे किसी एकान्त और पवित्र स्थानमें विधिवत् आसन लगाकर बैठे ॥ १६ ॥ वहाँ वह शुद्ध मनसे परब्रह्म प्रणव (ॐकारका) ध्यान करे और प्राणायामसे मनको वशमें लावे ॥ १७ ॥ वह बुद्धिको सारथी बनाकर मनके द्वारा अपनी इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे मोड़े और अन्तमें मनको बुद्धि ही के द्वारा काबूमें करके भगवानमें लगावे ॥ १८ ॥ इसके बाद मनको शान्त करके नारायणके एक-एक अंगोंका ध्यान करे। इस प्रकार सब विषयोंसे पराङ्मुख मनको भगवानमें लगाकर फिर और कुछ न सोचे। जहाँपर पहुँचकर मनको परम आनन्दकी प्राप्ति हो, उसे ही नारायणका परमधाम समझे ॥ १९ ॥

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः । यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ॥२०॥
यस्यां सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः । आशु सम्पद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ॥२१॥

राजोवाच

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन्धारणा यत्र सम्मता । यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः । स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया ॥२३॥
विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम् । यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत् ॥२४॥
आण्डकोशे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते । वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥२५॥

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेरूरुद्वयं वितलं चातलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥२७॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥२८॥
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।
नासत्यदस्रौ परमस्य नासे घ्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥२९॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत्पतङ्गः पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यमापोऽस्य तालू रस एव जिह्वा ॥३०॥

मनुष्यको चाहिए कि धैर्य धारण करके रजोगुण और तमोगुणके चक्करमें पड़े हुए मनको ऐसी पुनीत धारणाके द्वारा अपने वशमें लावे कि जो उसके विकारोंको नष्ट कर सके ॥ २० ॥ क्योंकि ऐसी धारणा करते-करते आत्मकल्याण चाहनेवाले प्राणीको भगवानका भक्तिरूपी योग प्राप्त हो जाता है ॥ २१ ॥ राजाने कहा—'हे ब्रह्मन् ! अब आप हमको यह बताइए कि भगवानकी वह धारणा किस प्रकार की जाती है और किस तरह वह मनका मल हरती है ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि प्राणी पहले आसन जीते (अर्थात् एक स्थानपर देरतक बैठनेका अभ्यास करके ऐसा बन जाय कि चाहे कितनी ही देर बैठना पड़े, जी नहीं ऊबे) तब श्वास जीते, फिर संग (स्त्री-पुत्र आदिकी आसक्ति) को जीते। इसके बाद इन्द्रियोंको वशमें करे। तदनन्तर अपनी बुद्धिद्वारा मनको विराट् रूप नारायणमें लगावे ॥ २३ ॥ उन भगवानका विराट्स्वरूप स्थूल शरीर है। जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान समस्त विश्व दिखायी देता है ॥ १४ ॥ नारायणके इस पृथिवी, जल, तेज आदि सात आवरणोंवाले शरीरके भीतर जो विराट् भगवान् विराजते हैं, वे ही धारणाके विषय हैं ॥ २५ ॥ पाताल-लोक उनके पाँवकी पौली है, पाँवका अगला और पिछला भाग रसातल लोक है। दोनों गुल्फभाग महातल लोक और उन नारायणकी दोनों जाँघें तलातल लोक हैं ॥ २६॥ उनके दोनों घुटने सुतल लोक हैं। उनके घुटनोंके नीचेका हिस्सा वितललोक, उसका ऊपरी भाग अतललोक, जघनभाग महातल और उनकी नाभि नभस्तल लोक है ॥ २७ ॥ उनका उरःस्थल स्वर्ग, ग्रीवा महर्लोक, मुख जनलोक, ललाट तपोलोक और सिर सत्यलोक है ॥ २८ ॥ इन्द्र आदि देवता उनकी भुजा, दिशायें कान, शब्द श्रोत्र, दोनों अश्विनीकुमार नासिका, गंध नाक और अग्नि मुख है ॥ २९॥ आकाश उनके नेत्रोंकी पुतलियाँ, सूर्य नेत्र, रात-दिन पलकें, ब्रह्मपद भौंहें, कटाक्ष जल एवं तालु तथा रस उनकी जीभ है

छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरी च माया दुरन्तसर्गो यदपाङ्गमोक्षः ॥३१॥
व्रीडोत्तरोष्ठोऽधर एव लोभो धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठः ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घाः ॥३२॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा गतिर्वयः कर्म गुणप्रवाहः ॥३३॥
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान् वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च स चन्द्रमाः सर्वविकारकोशः ॥३४॥
विज्ञानशक्तिं महिमामनन्ति सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम् ।
अश्वाश्वतर्युष्ट्रगजा नखानि सर्वे मृगाः पशवः श्रोणिदेशाः ॥३५॥
वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः ।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरःस्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः ॥३६॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः ॥३७॥
इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते ।
सन्धार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् ॥३८॥
स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे महापुरुषसंस्थानुवर्णने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

॥ ३० ॥ वेद उनका सिर, यम दाढ़, स्त्री-पुत्र आदिकी ममता दाँत, हास्य माया और सृष्टि ही उनकी पलकोंका गिरना है ॥ ३१ ॥ ऊपरका होंठ उनकी लज्जा, नीचेका होंठ लोभ, धर्म स्तन, अधर्म पीठ, शिश्न (गुप्त इन्द्रिय) प्रजापति, मित्रावरुण वृषण, समुद्र पेट और पर्वत उनकी हड्डियें है ॥ ३२ ॥ नदियाँ उन विराट् भगवानकी नाड़ी हैं । वृक्षसमूह उनके रोयें, वायु श्वास, समय गति और संसार ही उनका कर्म है ॥ ३३ ॥ हे कुरुवर्य ! उन विराट् नारायणके केश मेघोंके समूह, दोनों संध्यायें वस्त्र, अव्यक्त ब्रह्म उनका हृदय और चन्द्रमा मन है ॥ ३४ ॥ महत्तत्त्व उनका चित्त, रुद्र अहंकार, हाथी, घोड़े, ऊँट, नख और सभी वनजन्तु उनके श्रोणिदेश हैं ॥ ३५ ॥ सभी उनकी कारीगरीके नमूने हैं । स्वयंभू मनु उनकी बुद्धि, मनुष्य निवासभूमि, गंधर्व उनके छहों स्वर और स्मृतियाँ तथा दैत्योंकी सेना ही उनका बल है ॥ ३६ ॥ ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय भुजा, वैश्य जाँघें, शूद्र उनके दोनों पैर और नाना प्रकारके द्रव्यात्मक यज्ञ ही उनके कर्म हैं ॥ ३७ ॥ इस तरह मैंने तुम्हें उस दिव्य बिराट् पुरुषके शरीर और उसके अवयवोंका भेद कह सुनाया । नित्य जो प्राणी अपनी बुद्धिके बलसे मनको इन नित्य नारायणमें लगाये रहता है तो फिर उसे कुछ करना शेष नहीं रह जाता ॥ ३८ ॥ मनुष्यको चाहिए कि वह उन सत्य और आनन्दके निधानका ही भजन करे और किसीमें न फँसे । क्योंकि उनके अतिरिक्त किसी और वस्तु या अन्य देवतामें मन लगानेसे उलझनें बढ़ती ही जायँगी और अन्तमें आत्माका पतन भी हो सकता है ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत-'सामयिकी'भाषाटीकायां महापुरुषसंस्थानुवर्णने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टिर्यथाप्ययात्प्राग्व्यवसायबुद्धिः ॥१॥
शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः ।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्मायामये वासनया शयानः ॥२॥
अतः कविर्नामसु यावदर्थः स्यादप्रमत्तो व्यवसायबुद्धिः ।
सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः ॥३॥
सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैर्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥४॥
चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् कस्माद्भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥५॥
एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥६॥
कस्तां त्वनादृत्य परानुचिन्तामृते पशूनसतीं नाम युञ्ज्यात् ।
पश्यञ्जनं पतितं वैतरण्यां स्वकर्मजान् परितापाञ्जुषाणम् ॥७॥

(सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति) श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षितसे कहने लगे—हे राजन्! जो धारणा मैंने आपको बतायी है, उसीके अनुसार ब्रह्माजीने प्रलयकालमें अपनी नष्ट स्मरणशक्तिको फिरसे प्राप्त करके पहले ही के समान इस संसारकी सृष्टि की थी ॥ १ ॥ हे राजन्! संसारके साधकगण अपनी बुद्धिको उस परब्रह्ममें न लगाकर नाममात्रके लिए धारणा करते हैं और वेदमार्गप्रतिपादित यज्ञ-यागादिमें फँसकर स्वर्ग आदि लोकोंकी अभिलाषा करने लग जाते हैं। यद्यपि वे उससे स्वर्ग आदि लोकोंको प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन उन्हें अखण्ड मोक्षसुख नहीं प्राप्त होता ॥ २ ॥ अतएव समझदार मनुष्यको चाहिए कि वह नामरूपात्मक पदार्थोंमें उतना ही लोभ रखे, जितनेसे उसका (शारीरिक) कार्य चल जाय, विशेष आसक्ति न रखे। यही व्यवसायात्मिका बुद्धि कहलाती है। यदि योंही किसी तरह काम चल सके तो संसारकी मायामें परिश्रम करता हुआ व्यर्थ प्रयत्न न करे ॥ ३ ॥ पृथ्वी जैसी शय्याके रहते और शय्याका प्रपंच क्यों किया जाय ? जब भुजाओंसे तकियेका काम लिया जा सकता है, तब दूसरी तकियाकी क्या आवश्यकता ? जब कि अंजली विद्यमान है, तब और किसी पात्रका क्या प्रयोजन ? जब कि दसों दिशायें वस्त्रका काम दे सकती हैं, तब कपड़ोंका प्रबन्ध काहेके लिए किया जाय ॥ ४ ॥ रास्तोंमें क्या फटे-पुराने चीथड़े नहीं पड़े रहते ? क्या माँगनेपर वृक्ष भिक्षा नहीं दे सकते ? क्या जलकी नदियें सूख गयी हैं ? क्या संसारकी सभी गुफायें छिंक गयी हैं ? क्या भगवान अपने शरणागत लोगोंकी रक्षा नहीं करते ? उत्तर मिलेगा कि यह सब होता है। यदि यह सब होता है तो फिर बड़े बड़े विद्वान् लोग भी धनके मदसे मतवाले मूर्खोंकी सेवकाई क्यों करते हैं ॥ ५ ॥ इस प्रकार अपने मनको समझाकर उसे बता दे कि वह सबसे प्रिय वस्तु नारायणको समझे और सब लालसाओंका दमन करके एकमात्र उन्हींका भजन करे। क्योंकि इस संसारके मायाजालका अन्त वहीं होता है ॥ ६ ॥ पशुओंको छोड़कर मनुष्य भला ऐसा कौन होगा, जो इतनी सुन्दर और इतनी पुनीत धारणाको त्यागकर तुच्छ और कमीनी विषयवासनामें मन लगावेगा ? और जब कि वह देख रहा है कि विषयके भक्त वैतरणी नदीमें

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥८॥
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥९॥
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धरमम्लानलक्ष्म्या वनमालयाऽऽचितम् ॥१०॥
विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकैर्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलैर्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥११॥
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणयाऽवतिष्ठते ॥१२॥
एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत् पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत् परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा ॥१३॥
यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः ।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत ॥१४॥
स्थिरं सुखं चासनमाश्रितो यतिर्यदा जिहासुरिममङ्ग लोकम् ।
काले च देशे च मनो न सज्जयेत् प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥१५॥
मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥१६॥

पड़े अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं, तब क्यों विषयका सेवन करेगा ? ॥७॥ कुछ लोग अपनी धारणाके अनुसार अपने शरीरके हृदयरूपी आकाशमें शंख, चक्र, गदा और पद्मको धारण किये प्रादेशमात्र (बालिश्त भर) के भगवानको देखते हैं। जिनका प्रसन्न मुखमण्डल है, कमलके सदृश सुन्दर और बड़ी-बड़ी आँखें हैं, कदमके फूलकी केसरकी नाईं पीत वस्त्र है, कीमती रत्नोंका जड़ाऊ सुवर्णमय बिजायठ है और उनके माथेपर झलकता हुआ सुन्दर किरीट और कानोंमें कुण्डल है। उसमें भी उत्तम रत्न जड़े हुए हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥ विकसित कमलकर्णिकाके ऊपर पैर रखे हुए वे खड़े हैं। उनके गलेमें कौस्तुभ तथा श्रीवत्स एवं रत्नमय हार पड़ा है और ताजे फूलोंकी बनी वनमाला सुशोभित हो रही है ॥ १० ॥ उनकी कमरमें करधनी, उँगलियोंमें अंगूठी, पैरोंमें नूपुर, हाथोंमें कंकण आदि पड़े हैं। चिकने, साफ-सुथरे और भौंरों जैसे काले केश उनके मुखकी शोभाको और भी बढ़ाये दे रहे हैं। इनके अतिरिक्त उनकी मन्द-मन्द मुसकान अलग अपनी निखार दिखा रही है ॥११॥ उनकी भौंहोंके संकेतसे ऐसा मालूम होता है कि वे अपने इस भक्तपर पूर्ण कृपा किये हैं। विविध प्रकारकी महत्त्वपूर्ण तथा लीलायुक्त हँसीसे हँसते हुए रसभरी आँखोंसे निहार रहे हैं। इस प्रकारके परमेश्वरका ध्यान साधक प्राणी तबतक करता रहे, जबतक कि धारणाके द्वारा मन अपने वशमें न हो जाय ॥ १२ ॥ इसके बाद अपनी बुद्धिसे उन नारायणके एक-एक अङ्गका ध्यान करे और जिन-जिन अङ्गोंका ध्यान करके जीतता जाय, उन्हें त्यागकर और-और अवयवोंको ध्यानमें लाता और त्यागता जाय। यह साधना बुद्धिको शुद्ध करनेके लिए है ॥ १३ ॥ इस प्रकार जबतक कि नारायणका भक्तियोग न प्राप्त हो जाय, तबतक सदा अपने नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर नित्य महाप्रभुके इस स्थूल शरीरका ध्यान करता रहे ॥ १४ ॥ वह योगी जब इस शरीर तथा इस संसारको त्यागना चाहे तो आनन्दसे एक आसनपर बैठ जाय और देश-कालमें मन न लगाकर अपने वशमें करे और उस मनके द्वारा प्राणोंको काबूमें लाये ॥ १५ ॥ तदनन्तर मनको अपनी निश्चयात्मिका बुद्धिके

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे ।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥१७॥
परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे ॥१८॥
इत्थं मुनिस्तूपरमेद् व्यवस्थितो विज्ञानदृग्वीर्यसुरन्धिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य गुदं ततोऽनिलं स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जितक्लमः ॥१९॥
नाभ्यां स्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मादुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी स्वतालुमूलं शनकैर्नयेत ॥२०॥
तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्तार्धमकुण्ठदृष्टिर्निर्भिद्य मूर्धन् विसृजेत्परं गतः ॥२१॥
यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद्विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥२२॥
योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥२३॥

द्वारा वशमें करके उसे क्षेत्रज्ञमें मिला दे। फिर उस क्षेत्रज्ञको शुद्ध ब्रह्ममें मिलाकर 'अहं ब्रह्मास्मि—मैं स्वयं ब्रह्म हूँ।' इस ऐक्यकी स्थितिको प्राप्त करके कर्मोंसे पृथक् हो जाय ॥ १६ ॥ जहाँपर देवताओंका परम प्रभु काल, सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति भी कुछ नहीं कर-धर सकती । क्योंकि आत्मासे पृथक् कोई वस्तु नहीं है, यह सोचकर सबको त्यागनेकी इच्छा रखनेवाले लोग देहादिकी ममता त्यागकर सर्वपूज्य एकमात्र विष्णुभगवानके चरणोंको ही क्षण-क्षण अपने हृदयमें बसाते तथा और किसी वस्तुसे स्नेह नहीं करते हुए केवल नारायणके चरणोंको ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥ इस तरह ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त होकर मुनिको चाहिए कि वह अपने पैरकी एँड़ीसे गुदा (मूलाधार) को बन्द करके अपने प्राणवायुको आधार (चतुर्दल) से ऊपर ले जाय। फिर क्लेशको जीत करके नाभि-आदि छ स्थानोंमें विभक्त कर—॥ १९ ॥ उस वायुको नाभि (मणिपूरक नाड़ी) में रोके। फिर उसे ब्रह्म-नाड़ीके द्वारा हृदय (अनाहतचक्र) में ले जाय। वहाँसे उसे कण्ठके नीचे विद्यमान विशुद्धिचक्रमें स्थिर करे। इसके अनन्तर मनको वशमें करके अपनी बुद्धिसे कोई ऐसा उपाय करे कि जिससे वह वायु विशुद्धिचक्रसे कहीं अलग न जा सके। फिर उसे धीरे-धीरे विशुद्धिचक्रके नीचे रहनेवाले अपने तालुप्रदेशमें ले जाय ॥ २० ॥ तालुप्रदेशसे उस वायुको भौंहोंके बीचमें विद्यमान आज्ञाचक्रमें ले जाय। उस समय दोनों कान, दोनों नेत्र, नासिकाके दोनों छिद्रों और मुख, इन सातों मार्गोंको बन्द करके आधे मुहूर्त भर दृष्टिको निश्चल करके ठहरे और उस वायुको ब्रह्मरंध्रमें ले जाकर छोड़े और तब अपने शरीर तथा इंद्रियोंको त्यागे ॥ २१ ॥ यदि साधक ब्रह्मलोक जानेकी इच्छा रखता हो अथवा स्वर्गीय देवताओंके उस लोकको जाना चाहता हो, जो देवताओंका क्रीड़ास्थान है और जहाँ अणिमा-महिमा आदि आठों सिद्धियें सदा विद्यमान रहती हैं और जिस ब्रह्मलोकमें गुणोंका समुदाय विद्यमान रहता है। उसे चाहिए कि वह शरीर त्यागते समय अपने मन और अपनी इन्द्रियोंको न त्यागे, बल्कि शरीर त्यागकर उन लोकोंका सुख भोगनेके लिए इनको अपने साथ ही लेता जाय ॥ २२ ॥ क्योंकि योगियों-की गति तीनों लोकोंमें बाहर-भीतर सर्वत्र है। वे तो महर्लोक आदि तथा ब्रह्माण्डके बाहर भी जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि जिन लोगोंकी आत्मा लिंगशरीर होकर वायुमें मिल जाती है और उपासना, तप, अष्टांग योग तथा ज्ञानमें रत रहनेवाले योगियोंको जो गति प्राप्त होती है, वह कर्म-

वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा ।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥२४॥
तद्विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोरणीयसा विरजेनात्मनैकः ।
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति कल्पायुषो यद्विबुधा रमन्ते ॥२५॥
अथो अनन्तस्य मुखानलेन दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ।
निर्याति सिद्धेश्वरजुष्टधिष्ण्यं यद् द्वैपरार्ध्यं तदु पारमेष्ठ्यम् ॥२६॥
न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नार्तिर्न चोद्वेग ऋते कुतश्चित् ।
यच्चित्ततोदः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात् ॥२७॥
ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भयस्तेनात्मनापोऽनलमूर्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्मयो वायुमुपेत्य काले वाय्वात्मना खं बृहदात्मलिङ्गम् ॥२८॥
घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं रूपं तु दृष्ट्या श्वसनं त्वचैव ।
श्रोत्रेण चोपेत्य नभोगुणत्वं प्राणेन चाकूतिमुपैति योगी ॥२९॥

मार्गियों (यज्ञ आदिमें लगे रहनेवालों) को नहीं प्राप्त होती ॥ २३ ॥ आकाश तथा ज्योतिर्मय ब्रह्मलोक-के मार्गसे सुषुम्ना नाड़ी द्वारा जानेवाला विशुद्ध प्राणी पहले अग्निदेवताके पास पहुँचता है । उसके बाद और ऊपर विद्यमान भगवानके शिशुमारचक्र (नाभि) में पहुँचता है ॥ २४ ॥ हे राजन् ! सूर्य आदि देवताओंका आश्रय और समस्त विश्वके नाभिस्वरूप उस शिशुमारचक्रको ,पार करके वह अपने अकेले लिंगशरीरसे बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियोंके आदरणीय महर्लोकमें जा पहुँचता है, जहाँ कि एक-एक कल्पकी आयु भोगनेवाले दीर्घजीवी भृगु आदि मुनि निवास करते हैं ॥ २५ ॥ प्रलयकालमें जब वह भगवानके मुखकी आगसे यह विश्व जलता देखता है, तब दो परार्ध पर्यन्त स्थिर रहनेवाले और सिद्धोंसे सेवित ब्रह्मलोकको चला जाता है ॥ २६ ॥ उस लोकमें न शोक है, न बुढ़ापा रहती है, न मौत रहती है, न कोई वेदना सताती है और न किसी प्रकारका भय ही वहाँ रहता है । किन्तु वहाँ भी भगवानके ध्यानकी महिमा न जाननेवाले प्राणियोंको मानसिक कष्ट होता ही है । उस ब्रह्मलोक-में पहुँचे हुए लोगोंकी तीन गतियें होती हैं—जो अपने पुण्यबलसे वहाँ पहुँचे रहते हैं, वे कल्पान्तरमें अपने पुण्यबलकी न्यूनाधिकतासे भोगके अधिकारी होते हैं । जो हिरण्यगर्भ आदिकी उपासनाके बलसे वहाँ पहुँचते हैं तो ब्रह्माके साथ-साथ वहाँसे मुक्त हो जाते हैं और जो नारायणके उपासक होते हैं, वे अपनी इच्छासे ब्रह्माण्डका भेदन करके श्रीवैकुण्ठधाममें जा पहुँचते हैं ॥ २७ ॥ अब यह बताते हैं कि वह भगवद्भक्त ब्रह्माण्डका भेदन किस प्रकार करता है—इसके बाद वह अपने लिंगशरीरसे पृथिवी आदिमें मिलकर निर्भय हो पृथ्वीरूपसे जलतत्त्वमें जा मिलता है । फिर धीरे-धीरे वह ज्योतिर्मय हो वायुमें मिलकर समय आनेपर बृहत् आत्मलिंगमें मिल जाता और उसके द्वारा भोग भोगता है । (टिप्पणी) परमात्माके आश्रित प्रकृतिके किसी एक अंशसे महत्तत्त्व बनता है । उसके कुछ अंशसे अहंकार, अहंकारके कुछ अंशसे शब्दतन्मात्रा, उसके कुछ अंशसे स्पर्शतन्मात्रा, उसके द्वारा वायु, उसके कुछ अंशसे रूपतन्मात्रा और उससे तेज, तेजके कुछ अंशसे रसतन्मात्रा और उससे जल, उसके कुछ अंशसे गंध और गंधतन्मात्रासे पृथिवीकी रचना होती है । पृथ्वीकी तन्मात्राओंके मेलसे चतुर्दशभुव-नात्मक विराट् पुरुषका शरीर बनता है। वह शरीर पचास करोड़ योजनतक फैला है । उसके अंशको ही पृथ्वी कहते हैं । इसका प्रथम आवरण एक करोड़का है । कुछ लोग इसे भी पचास ही करोड़ योजनका मानते हैं । इसके अनन्तर जल आदिके परिपक्व अंश उसके आवरणको दसगुना बढ़ा देते हैं । इन दस आवरणोंमें आठवाँ प्रकृतिआवरण व्यापक है । इन्हीं आवरणोंके भेदनका प्रकरण बताया गया है ॥ २८ ॥ ऐसी अवस्थामें योगी अपने घ्राणसे गंध, जीभसे रस, आँखसे रूप, त्वचासे पवन,

स भूतसूक्ष्मेन्द्रियसन्निकर्षं मनोमयं देवमयं विकार्यम् ।
संसाद्य गत्या सह तेन याति विज्ञानतत्त्वं गुणसन्निरोधम् ॥३०॥
तेनात्मनाऽऽत्मानमुपैति शान्तमानन्दमानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः स वै पुनर्नेह विषज्जतेऽङ्ग ॥३१॥
एते सृती ते नृप वेदगीते त्वयाभिपृष्टे ह सनातने च ।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः ॥३२॥
न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह । वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥३३॥
भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया । तदध्यवस्यत्कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥३४॥
भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः । दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥३५॥
तस्मात्सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥३६
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे पुरुषसंस्थावर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

कानसे शब्द और प्राणसे सभी इन्द्रियोंके कार्योंका उपभोग करता है ॥ २९ ॥ इस तरह स्थूल तथा सूक्ष्म प्राणियोंके अतिक्रमणकी बात बताकर सबके आवरणस्वरूप अहंकारकी प्राप्ति और उसके द्वारा महदादिकी प्राप्तिका मार्ग बताते हुए कहते हैं कि वह अहंकारको त्यागकर तीन प्रकारका माना गया है—तामस, राजस और सात्त्विक । सो तामस अहंकारसे जड़के सूक्ष्माणु उत्पन्न होते हैं, राजस अहंकारसे बाहर मुखवाली दसों इन्द्रियें और सात्त्विक अहंकारसे मन और इन्द्रियके देवता उत्पन्न होते और वे समय पाकर अपने-अपने अहंकारोंमें लीन हो जाते हैं। इनमें प्राणियोंको सूक्ष्म इन्द्रियोंका तामस तथा राजस लयस्थान, जो मनोमय तथा देवमय होता है वह सात्त्विकमें जा मिलता है। इस प्रकारकी गतिसे वह प्राणी अहंकारके साथ-साथ विज्ञानतत्त्व अर्थात् महत्तत्त्वको प्राप्त हो जाता है। इसके बाद अवसर पाकर वह उस स्थानमें पहुँच जाता है, जहाँ कि सब गुणोंका लय होता है ॥ ३० ॥ हे राजन्! ऐसी अवस्थाको प्राप्त होकर प्राणी अपने आपमें ही आनन्द प्राप्त करता और जब सब उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं तो उस परमानन्दस्वरूप परमात्माके पास पहुँच जाता है कि जहाँसे फिर लौटना नहीं पड़ता ॥ ३१ ॥ हे राजन्! तुम्हारे पूछनेपर मैंने तुमको ये सनातन मार्गके दो रास्ते बताये हैं (एक यह कि जिससे प्राणी ब्रह्मरंध्रसे प्राणका विसर्जन करके मुक्त होता है और दूसरा यह कि मनुष्य जिस किसी लोकको प्राप्त होना चाहे, उसके अनुसार प्रयत्न करे।) ये दोनों मार्ग वेदके बताये हुए हैं। किसी समय ब्रह्मदेवने भगवान्की आराधना की थी, तब स्वयं भगवानने उन्हें बताया था ॥ ३२ ॥ यद्यपि संसारसे निस्तार पानेके अनेक उपाय मुनियोंने बताये हैं, किन्तु इससे उत्तम मार्ग और कोई नहीं है। क्योंकि इस मार्गपर चलनेसे भगवान्का भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। ॥ ३३ ॥ ऐसा मैं इसलिए कहता हूँ कि ब्रह्माजीने एकाग्र चित्तसे तीन बार वेदोंका पर्यालोचन करके इसी मार्गको प्रशस्त पाया था। क्योंकि इससे परमात्मामें श्रद्धा उत्पन्न हो जाया करती है ॥ ३४ ॥ अतएव हे राजन्! प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह सब तरहसे, सब स्थानोंपर और सब समय प्राणियोंके हृदयमें विराजनेवाले तथा बुद्धि आदि अनुमापक लक्षणोंयुक्त भगवानका यश सुने, उनके गुण गावे और एकमात्र उन्हींका ध्यान धरे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ सज्जनोंके आत्मास्वरूप नारायणके कथारूपी अमृतको जो लोग अपने श्रवणपुटसे पीते रहते हैं, वे अपने विषयरूपी विषसे दूषित अन्तःकरणको पवित्र करके अपने आपको भी पवित्र कर लेते और अन्तमें भगवानके चरणोंको प्राप्त कर लिया करते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे पं० रामतेजपांडेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां पुरुषसंस्थावर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवमेतन्निगदितं पृष्टवान् यद्भवान्मम । नृणां यन्म्रियमाणानां मनुष्येषु मनीषिणाम् ॥१॥
ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम् । इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥२॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम् । वसुकामो वसून् रुद्रान् वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् ॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान् । विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान् संसाधको विशाम्
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत् । प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ ॥५॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान् स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम् । आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥६॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् । विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम् ॥७॥
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन् पितॄन् यजेत् । रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान् ॥८॥
राज्यकामो मनून्देवान्निर्ऋतिं त्वभिचरन् यजेत् । कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम् ॥९॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥१०॥
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः । भगवत्यचलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥११॥
ज्ञानं यदा प्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रमात्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात् ॥१२॥

(भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना और भगवद्भक्तिकी प्रधानता)
श्रीशुकदेव कहते हैं कि हे राजन् ! आपने हमसे मरणोन्मुख प्राणीका कर्तव्य पूछा था सो मैंने विद्वान् मनुष्योंके मरणसमयका कर्तव्य कह सुनाया ॥१॥ अब सकाम मनुष्योंकी कामनापूर्तिका साधन बताते हैं-जो लोग ब्रह्मवर्चस्वी (वेदविषयक विद्वान्) होना चाहते हों, वे ब्रह्माकी पूजा करें । जो अपनी इन्द्रियोंको निपुण बनाना चाहते हों, वे इन्द्रदेवकी पूजा करें और जो लोकसन्तति चाहते हों, वे दक्ष आदि प्रजापतियोंकी आराधना करें ॥ २ ॥ इसी तरह शोभाके इच्छुक दुर्गाकी, तेजकी इच्छावाले सूर्यकी, धन चाहनेवाले अष्टवसुओंकी और बलको चाहनेवाले शंकरकी पूजा करें ॥ ३ ॥ अन्नादिको चाहनेवाले अदितिको, स्वर्गके अभिलाषुक देवताओंकी, राज्यके इच्छुक विश्वेदेवकी और देशकी प्रजाका कल्याण तथा स्वतंत्रता चाहनेवाले साध्योंकी पूजा करें ॥ ४ ॥ लम्बी आयु चाहनेवाले अश्विनीकुमारों की, पुष्टि चाहनेवाले पृथ्वीकी और प्रतिष्ठा चाहनेवाले आकाश तथा पृथ्वी दोनोंकी पूजा करें ॥ ५ ॥ रूप चाहनेवाले गंधर्वोंकी, श्री चाहनेवाले उर्वशी अप्सराकी और सबपर प्रभुता चाहनेवाले ब्रह्माजीकी आराधना करें ॥ ६ ॥ यशोऽर्थी यज्ञकी, धनार्थी वरुणकी, विद्यार्थी शिवकी और पत्नीका इच्छुक पार्वतीजीकी पूजा करे ॥ ७ ॥ धर्मकी अभिलाषावाले विष्णुभगवानकी, पुत्र चाहनेवाले पितरोंकी और बाधाओंको दूर करनेकी इच्छा रखनेवाले लोग यज्ञों तथा तेज चाहनेवाले मरुतोंकी पूजा करें ॥ ८ ॥ राज्य प्राप्त करनेकी इच्छावाले मनुओंकी, पालन करनेवाले मनुष्योंकी, किसीको मारनेकी इच्छावाले निर्ऋति (राक्षस) की, भोगके इच्छुक चन्द्रमाकी, वैराग्य चाहनेवाले परम पुरुष नारायणकी आराधना करें ॥ ९ ॥ वैराग्य अथवा सब कामनाओंको एक साथ पूरा करने तथा मोक्षकी अभिलाषावाले लोग प्रबल भक्तियोग द्वारा पूर्ण पुरुष भगवानकी आराधना करें ॥ १० ॥ उपर्युक्त अनेक देवताओंको पूजनेवालोंके भी हृदयमें भगवद्भक्तोंका सत्संग करनेसे एक उत्तम अटल भाव (भक्ति) उत्पन्न हो जाता है, जो समस्त कल्याणोंमें श्रेष्ठ और सब लाभोंका लाभ है ॥ ११ ॥ जब कि भगवानकी पुनीत कथाओंके सुननेसे हृदयमें ऐसा ज्ञान उपजता है जिससे सत् , रज, तम और इन तीनों गुणोंसे जायमान राग-द्वेषादिका समूह नष्ट

शौनक उवाच

इत्यभिव्याहृतं राजा निशम्य भरतर्षभः। किमन्यत्पृष्टवान् भूयो वैयासकिमृषिं कविम् ॥१३॥
एतच्छुश्रूषतां विद्वन् सूत नोऽर्हसि भाषितुम्। कथा हरिकथोदर्काः सतां स्युः सदसि ध्रुवम् ॥१४॥
स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः। बालक्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे ॥१५॥
वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः। उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥१६॥
आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया ॥१७॥
तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥१८॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥१९॥

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥२०॥
भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥२१॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥२२॥

हो जाता है और उसके साथ-साथ मनको प्रसन्न करनेवाली विरक्ति उत्पन्न होती है और महात्माओं द्वारा समर्थित मोक्षमार्गकी कुंजीसदृश भक्तियोग भी इसीसे उपलब्ध हो जाता है, तब भला शान्त चित्तवाला कौनसा ऐसा मनुष्य होगा जो भगवानकी कथाओंपर आस्था न करे ॥ १२ ॥ यह सुनकर शौनक बोले—'इस तरह शुकमुनिकी बात सुनकर भरतवंशके शार्दूल महाराज परीक्षितने व्यासके पुत्र शुकदेवसे फिर क्या पूछा ? ॥ १३ ॥ हे विद्वान् सूत ! सुननेके इच्छुक हम श्रोताओंको आप यह गाथा अवश्य सुनाइये। आप सरीखे सज्जनोंकी मण्डलीमें भगवानसम्बन्धी कथाओंके अतिरिक्त और भला चर्चा ही किस बातकी चल सकती है ॥ १४ ॥ पाण्डववंशी, परम वैष्णव और महारथी राजा परीक्षितने संसारके और-और खेलोंको त्यागकर बच्चोंके खेलवाड़के समान कृष्णपूजारूप खेलको अपनाया था ॥ १५ ॥ और व्यासके पुत्र तथा कृष्णभगवानके अद्वितीय भक्त श्रीशुकमुनि भी उनको मिल गये। जहाँ ऐसे सज्जनोंका समागम होता है, वहाँ भगवद्गुणोंकी कथायें होती ही हैं ॥ १६ ॥ प्रातःकालके समय उदय होकर और सायंकालको अस्त होते हुए सूर्यभगवान दिन-दिन प्राणियोंकी आयु हरते जाते हैं। ऐसी दशामें भगवानके गुणोंकी चर्चाके सिवाय और काममें जो समय बीतता है, वह व्यर्थ ही जाता है ॥ १७ ॥ यदि कहो कि जीवित रहना ही मानव-जीवनका फल है तो क्या वृक्ष नहीं जीते, लोहारकी भाथी क्या साँस नहीं लेती, गाँवके पशु क्या नहीं खाते और मैथुन नहीं करते ? ॥१८॥ जिसके कानोंमें कभी नारायणकी पुनीत कथाओंकी ध्वनि नहीं गूँजती, उसे कुत्ते, सुअर, ऊँट तथा गदहा ही समझना चाहिए ॥ १९ ॥ जो कर्णपुट महान् विक्रमशाली नारायणकी कथा नहीं सुनते, उन्हें कर्णपुट न कहकर दीवारकी बिल समझना चाहिए। जो जीभ भगवानका यश नहीं गाती, उसे मेढककी जीभके सदृश जानना चाहिए ॥२०॥ जो मस्तक नारायणके समक्ष न झुके तो किरीट और मुकुटसे सुशोभित होते हुए भी उस मस्तकको भारमात्र समझना चाहिए। जो हाथ नारायणकी पूजाके लिए आगे नहीं बढ़ें तो सोनेके कंकणसे अलंकृत होनेपर भी उन्हें मुर्देके हाथ समझना उचित है ॥२१॥ जो आँखें नारायणकी पुनीत प्रतिमाओंका निरीक्षण नहीं करतीं, उन्हें मोरपंखोंकी आँख समझे और जो पैर भगवानके पवित्र तीर्थोंकी यात्राके लिए आगे नहीं बढ़ते, उन्हें पैर न समझकर पेड़ समझना चाहिए ॥ २२ ॥ जो मनुष्य कभी भगवद्भक्तोंके चरणकी धूल अपने मस्तकपर नहीं चढ़ाता तो उसे जीता-जागता मुर्दा समझना चाहिए। जो मनुष्य श्वास लेते हुए भी तुलसीकी सुगन्धि नहीं सूँघता

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥२३॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥२४॥
अथाभिधेह्यङ्ग मनोऽनुकूलं प्रभाषसे भागवतप्रधानः ।
यदाह वैयासकिरात्मविद्याविशारदो नृपतिं साधु पृष्टः ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

सूत उवाच

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः । उपधार्य मतिं कृष्ण औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥१॥
आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु । राज्ये चाविकले नित्यं विरूढां ममतां जहौ ॥२॥
पप्रच्छ चेममेवार्थं यन्मां पृच्छथ सत्तमाः । कृष्णानुभावश्रवणे श्रद्दधानो महामनाः ॥३॥
संस्थां विज्ञाय संन्यस्य कर्म त्रैवर्गिकं च यत् । वासुदेवे भगवति आत्मभावं दृढं गतः ॥४॥

राजोवाच

समीचीनं वचो ब्रह्मन् सर्वज्ञस्य तवानघ । तमो विशीर्यते मह्यं हरेः कथयतः कथाम् ॥५॥
भूय एव विवित्सामि भगवानात्ममायया । यथेदं सृजते विश्वं दुर्विभाव्यमधीश्वरैः ॥६॥
यथा गोपायति विभुर्यथा संयच्छते पुनः । यां यां शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिः परः पुमान् ।
आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च ॥७॥

तो उसे श्वास लेता हुआ मुर्दा समझे ॥ २३ ॥ भगवानका नामोच्चारण करते समय जो हृदय द्रवीभूत न हो जाय, आँखोंमें आँसू न आयें और सारा शरीर पुलकित न हो उठे तो उसे जीवित शरीर न समझकर पत्थरका पुतला समझना चाहिए ॥ २४ ॥ हे सूत ! आपने अब तक हमारे मनके अनुकूल बातें कहीं, किन्तु अब यह बतलायें कि उस अद्वितीय भगवद्भक्त परीक्षितने क्या पूछा और व्यासदेवके पुत्र एवं विद्याविशारद शुकदेवने क्या उत्तर दिया ? ॥ २५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(राजा परीक्षितका सृष्टिसम्बन्धी प्रश्न) सूतजी कहने लगे—हे शौनक ! व्यासदेवके पुत्र शुकमुनिकी यह तत्त्वज्ञानात्मक बातें सुनकर राजा परीक्षितने भगवान कृष्णचन्द्रमें ही अपनी बुद्धि लगा दी–उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि एकमात्र नारायणकी ही आराधनासे मेरा निस्तार हो सकता है ॥ १ ॥ यह सद्विवेक उत्पन्न होनेपर उन्होंने अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, पशु, धन, भाई-बन्धु और राज्यपर जो कुछ ममता थी, उसे हटा लिया ॥ २ ॥ हे सज्जनों ! अभी आप लोगोंने जो प्रश्न हमसे किये हैं, ये ही प्रश्न राजा परीक्षितने श्रीशुक मुनिसे किये थे । क्योंकि उस महामनस्वी राजाके हृदयमें नारायणके गुण सुननेकी श्रद्धा जागृत हो उठी थी ॥ ३ ॥ राजा परीक्षितने जब अपनी मृत्युको समीप समझ लिया तब उन्होंने धर्म, अर्थ तथा कामका प्रतिपादन करनेवाले कर्मोंको त्याग दिया और अपनी बुद्धिको सब ओरसे समेटकर नारायणमें लगा दिया ॥ ४ ॥ इसके बाद शुकमुनिसे बोले—'हे अनघ ! आप सर्वज्ञ हैं । आपकी बातें बहुत अच्छी हैं और जैसे-जैसे आप भगवानकी दिव्य कथाओंको कहते चलते हैं, वैसे-वैसे मेरे हृदयका अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट होता जाता है ॥ ५ ॥ इस वास्ते मैं आपसे फिर भी पूछ रहा हूँ कि वे भगवान अपनी मायासे बड़े-बड़ों द्वारा दुर्ज्ञेय विश्वकी रचना कैसे करते हैं ॥ ६ ॥ वे बहुशक्तिशाली नारायण

नूनं भगवतो ब्रह्मन् हरेरद्भुतकर्मणः । दुर्विभाव्यमिवाभाति कविभिश्चापि चेष्टितम् ॥८॥
यथा गुणांस्तु प्रकृतेर्युगपत्क्रमशोऽपि वा । बिभर्ति भूरिशस्त्वेकः कुर्वन् कर्माणि जन्मभिः ॥९॥
विचिकित्सितमेतन्मे ब्रवीतु भगवान् यथा । शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परस्मिंश्च भवान् खलु १०

सूत उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा गुणानुकथने हरेः । हृषीकेशमनुस्मृत्य प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे ॥११॥

श्रीशुक उवाच

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥१२॥
भूयो नमः सद्वृजिनच्छिदेऽसतामसम्भवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे ॥१३॥
नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥१४॥
यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१५॥
विचक्षणा यच्चरणोपसादनात् सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।
विदन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमास्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१६॥

खेलवाड़ करते हुए किस प्रकार इस विश्वका पालन और संहार करते हैं। फिर वे इस एक ही जगत्से अनेक जगत् किस तरह बना डालते हैं ॥ ७ ॥ हे ब्रह्मन् ! अद्भुत कर्म करनेवाले उन नारायणके कर्तव्योंका जानना बहुत कठिन है। क्योंकि बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी भी उसे जाननेका उपाय करके सफल नहीं हुए हैं ॥ ८ ॥ वे अकेले परमात्मा प्रकृतिके गुणोंका अनुसरण करते हुए एक साथ अथवा क्रम-क्रमसे अनेक जन्म लेकर बहुतसे कामोंको किस प्रकार सम्पन्न करते हैं ? ॥ ९ ॥ आप कोई ऐसा उपदेश दीजिये कि जिससे मेरा यह संशय निवृत्त हो जाय। क्योंकि आप वेदोंके बड़े निपुण ज्ञाता हैं और वेदान्तमें भी आपकी असाधारण गति है ॥ १० ॥ सूतजी कहते हैं—'इस प्रकार राजा परीक्षितके पूछनेपर शुकदेवने मनही मन श्रीकृष्णभगवानका स्मरण किया और उनका गुणगान करना प्रारम्भ कर दिया' ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेव बोले—'इस प्रपंचात्मक संसारकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेके लिए सत्त्वादि तीनों गुणोंसे तीन शक्तियें (ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप) ग्रहण करनेवाले, अन्तर्यामी और अज्ञेय पन्थवाले उन परम पुरुष परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥ जो नारायण सज्जनोंके पापोंको नष्ट कर देते, दुष्टोंका संहार करते और जो जिस रूपसे उनको पूजता है, उसे उसी रूपसे सिद्धि प्रदान करते हैं। परमहंसाश्रममें स्थित रहनेवाले मनुष्य बार-बार जिस तत्त्वको खोजा करते हैं, वे भगवान उन खोजियोंको वह तत्त्व स्वयं प्रदान करते हैं, ऐसे नारायणको मैं एक बार फिर नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥ भक्तोंके प्रतिपालक, भक्तिसे पराङ्मुख लोगोंके लिए दुर्ज्ञेय और सम्पत्तिमें जिनके बराबर या जिनकी अपेक्षा श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है, ऐसे स्वयं प्रकाशमान और तेजमें रमण करनेवाले भगवानको नमस्कार है ॥ १४ ॥ जिनके नामका कीर्तन, जिनके रूपका स्मरण, जिनका दर्शन, जिनकी वन्दना, जिनका यशश्रवण और जिनकी पूजा तुरन्त पापोंको नष्ट कर देती है, उन मंगलमयी कीर्तिवाले नारायणको मेरा पुनः पुनः नमस्कार है ॥१५॥ विवेकशील मनुष्य जिनके चरणोंका भजन करके अपनी अन्तरात्माके द्वारा इहलोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंको त्यागकर

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१७॥

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥१८॥

स एष आत्माऽऽत्मवतामधीश्वरस्त्रयीमयो धर्ममयस्तपोमयः ।
गतव्यलीकैरजशङ्करादिभिर्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम् ॥१९॥

श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥२०॥

यदङ्घ्र्यभिध्यानसमाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः ।
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥२१॥

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत्किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम् ॥२२॥

भूतैर्महद्भिर्य इमाः पुरो विभुर्निर्माय शेते यदमूषु पूरुषः ।
भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे ॥२३॥

नमस्तस्मै भगवते व्यासायामिततेजसे । पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥२४॥

अनायास ब्रह्मगतिको प्राप्त कर लेते हैं, उन मंगलमय यशवाले नारायणको मेरा नमस्कार है ॥ १६ ॥ बड़े-बड़े दानी, यशस्वी, मनस्वी और मंगलमय मंत्रके ज्ञाता लोग भी अपना शुभाशुभ कर्मफल उनको अर्पण किये बिना सुखी नहीं होते, उन मंगलमय चरित्रवाले नारायणको मेरा नमस्कार है ॥ १७ ॥ किरात (भील) हूण (वैदेहक पुरुषसे पुल्कसी स्त्रीमें उत्पन्न) आंध्र (ब्राह्मणीमें वैश्यके संसर्गसे जायमान पुत्र वैदेहक कहलाता है, उस वैदेहकका पुत्र आंध्र कहा जाता है) पुलिन्द (निष्ठ्यसे किराती-में उत्पन्न सन्तान), पुल्कस (चांडालका पुत्र) आभीर (ब्राह्मण द्वारा आम्बष्ठकी कन्यासे उत्पन्न सन्तान) कंक, यवन तथा खस, इनके अतिरिक्त नीच जातिके पुरुष भी जिनकी शरणमें जाकर पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वसमर्थ भगवानको बारम्बार प्रणाम है ॥ १८ ॥ आत्मज्ञानियोंके प्रभु, त्रयीमय, धर्ममय, तपोमय और ब्रह्मा तथा शिव आदिके निष्कपटभावसे आराधना करनेपर भी जिनका स्वरूप नहीं जाना जाता, वे नारायण मेरेपर प्रसन्न हों ॥ १९ ॥ वे लक्ष्मीपति, यज्ञपति, अन्धक-वृष्णि तथा भक्तोंके स्वामी, प्रजापति, बुद्धिपति, लोकपति, पृथ्वीपति और सब आपत्तियोंसे बचानेवाले नारायण हमपर प्रसन्न हों ॥ २० ॥ जिनके चरणोंका ध्यान करके ज्ञानीजन अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेते और उस शुद्धबुद्धिसे आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेते और अपनी रुचिके अनुसार सगुण-निर्गुण आदि भेदसे जिनके विविध गुण गाते हैं, ऐसे मुकुन्द भगवान हमपर प्रसन्न हों ॥ २१ ॥ कल्पके आदिमें ब्रह्माके हृदयमें जिन्होंने सृष्टि करनेकी पवित्र बुद्धि उत्पन्न की और ब्रह्माके ही मुखसे जिन नारायणके द्वारा प्रेरित सरस्वती (वेदके रूपमें) प्रकट हुई, ज्ञान प्रदान करनेवालोंमें श्रेष्ठ वे भगवान मेरेपर प्रसन्न हों ॥ २२ ॥ जो बड़े-बड़े प्राणियोंके शरीरोंको बनाकर अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें निवास करते और जो षोडशात्मा होकर सोलह (ग्यारह इन्द्रियाँ और पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश तथा वायु इन पाँचों) गुणोंका उपभोग करते हैं, वे नारायण मेरी वाणीको अलंकृत कर दें (अर्थात् मैं जो कुछ कहूँ वह सरल, सरस और भावमय हो । श्रोता प्रेमके साथ उसे सुनें) ॥ २३ ॥ उन अमित तेजस्वी व्यास मुनिको भी नमस्कार है कि जिनके मुखकमलसे निकले हुए ज्ञानमय आसवको वैशम्पायन आदि

एतदेवात्मभू राजन्नारदाय विपृच्छते । वेदगर्भोऽभ्यधात्साक्षाद्यदाह हरिरात्मनः ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

नारद उवाच

देवदेव नमस्तेऽस्तु भूतभावन पूर्वज । तद्विजानीहि यज्ज्ञानमात्मतत्त्वनिदर्शनत् ॥१॥
यद्रूपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो । यत्संस्थं यत्परं यच्च तत्तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥२॥
सर्वं ह्येतद्भवान् वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः । करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥३॥
यद्विज्ञानो यदाधरो यत्परस्त्वं यदात्मकः । एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्ममायया ॥४॥
आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम्। आत्मशक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः ॥५॥
नाहं वेद परं ह्यस्मिन्नापरं न समं विभो । नामरूपगुणैर्भाव्यं सदसत्किञ्चिदन्यतः ॥६॥
स भवानचरद् घोरं यत्तपः सुसमाहितः । तेन खेदयसे नस्त्वं पराशङ्कां प्रयच्छसि ॥७॥
एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्वज्ञ सकलेश्वर । विजानीहि तथैवेदमहं बुद्ध्येऽनुशासितः ॥८॥

सौम्य भक्तोंने बड़े प्रेमके साथ पिया था ॥ २४ ॥ हे राजन् ! तुमने जो प्रश्न किया है, इसी बातको श्री नारदजीने अपने पिता श्रीब्रह्माजीसे पूछा था । चारों वेदोंको हृदयंगम किये हुये ब्रह्माजीने यही श्रीमद्भागवतकी कथा कही थी और ब्रह्माको साक्षात् विष्णुभगवान्ने सुनायी थी ॥ २५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(सृष्टिका क्रम) पिछले अध्यायमें कह आये हैं कि नारदने ब्रह्माजीसे प्रश्न किया था और चतुराननने उनके प्रश्नोंका उचित उत्तर दिया था । सो प्रश्न करते हुए नारदजी अपने पिता ब्रह्माजीसे कहते हैं—हे देवदेव ! हे भूतभावन और सबके पूर्वज ! आपको प्रणाम है । आप हमें ज्ञानका साधन बताइए और वह साधन ऐसा हो कि जिससे आत्मतत्त्व जाना जा सके ॥ १ ॥ प्रत्यक्ष तौरसे तो यह विश्व ही आत्मज्ञानका साधन हो सकता है । इस वास्ते उसीके विषयमें प्रश्न करते हुए कहते हैं—उस तत्त्वका जो रूप हो, उसका जो आश्रय हो, जिसने उसकी रचना की हो, जिसमें उसका लय होता हो, वह जिसके अधीन हो और वह जिस प्रकारका हो, आप हमको यथार्थरूपसे उसका तत्त्व बताइये ॥ २ ॥ आप यह तो कह ही नहीं सकते कि मैं नहीं जानता । क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं । आप ही भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी हैं । यह समस्त विश्व हाथपर रखे हुए आँवलेके समान आपको दिखायी दे रहा है और आपही ने अपने विशेष ज्ञानसे इसका निश्चय किया है ॥ ३ ॥ अस्तु, और बातोंको जाने दीजिए, पहले आप यही बताइए कि आपको यह ज्ञान कहाँसे प्राप्त हुआ ? आपके किसके सहारे टिके हुए हैं ? आप किसके अधीन हैं ? आपका स्वरूप कौन-सा है ? मेरे ख्यालसे तो आप ही स्वतंत्र परमेश्वर हैं और आप अकेले अपनी शक्तिसे इस चराचर जगत्की रचना करते हैं ॥ ४ ॥ और आप अपनी शक्तिसे उनका पालन भी करते हैं, किन्तु निरन्तर सृष्टि और पालनका कार्य करते रहनेपर भी आप थकते नहीं । जैसे कि मकड़ी अपनी ही शक्तिसे सब कुछ करती-धरती है, वही दशा आपकी भी है ॥ ५ ॥ हे विभो ! मैं तो इस विश्वमें आपसे उत्तम, मध्यम तथा अधम और किसीको नहीं देखता । इस जगत्में कितनी ही वस्तुयें कितने ही जीव सत्, असत्, स्थूल तथा सूक्ष्मके रूपमें दीख रहे हैं । मैं नहीं समझता कि आपके अतिरिक्त उनका रचयिता और कोई भी हो सकता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार सर्वगुणसम्पन्न होते हुए भी आपने जो घोर तपस्या की, इससे हमको भ्रम होता है और हृदयमें यह शंका उठती है कि क्या आपके सिवाय कोई दूसरा ईश्वर भी है, जो आपसे भी बड़ा है ? ॥ ७ ॥ हे सर्वज्ञ और हे सर्वेश्वर ! मैंने आपसे

ब्रह्मोवाच

सम्यक्कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् । यदहं चोदितः सौम्य भगवद्वीर्यदर्शने ॥९॥
नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः । अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥१०॥
येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् । यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः ॥११॥
तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि । यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् ॥१२॥
विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया । विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥१३॥
द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥१४॥
नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः । नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः ॥१५॥
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः । नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ॥१६॥
तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूटस्थस्याखिलात्मनः । सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ॥१७॥
सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः । स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥१८॥

जो कुछ पूछा है, उसका ऐसा उत्तर देते हुए हमको समझाइए कि जिससे मैं आपके बतानेपर सब बातें समझ लूँ ॥ ८ ॥ नारदकी बातोंसे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी बोले—हे वत्स ! तुम्हारा सन्देह और प्रश्न बहुत सुन्दर है । और इस वास्ते यह बहुत सुन्दर बात है कि तुम हमको नारायणका गुणगान करनेके उत्तम धर्ममें प्रवृत्त कर रहे हो ॥ ९ ॥ हे नारद ! जैसा कि तुम मुझे कह रहे हो सो तुम्हारा कहना भी झूठ नहीं है । क्योंकि मुझसे भी परे कोई है और उसीसे मुझे सृष्टि करनेकी सामर्थ्य मिली है, यह तुमको मालूम ही नहीं है ॥ १० ॥ जिसने अपने तेजसे इस विश्वको प्रकाशित किया है, मैं उसीके प्रकाशसे इसे सृष्टिरूपमें अभिव्यक्त करता हूँ । जैसे कि ये सूर्य, चन्द्र तथा तारे किसी दूसरेके ही तेजसे तेजोमय दीखते हैं, उसी तरह मैं भी हूँ । इसमें मेरा निजी पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है (वेद भी कहता है—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ अर्थात् न सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा और तारे । यह बिजली और आग भी नहीं चमकती । ये सब उन्हीं तेजोमय नारायणके तेजसे चमकते हैं)॥११॥ उन भगवान्‌को मैं नमस्कार करता और उन्हीं वासुदेवका ध्यान करता हूँ कि जिनकी दुर्जय मायाके कारण लोग मुझे जगद्गुरु कहते हैं । उनको नमस्कार है (यह पहले ही कह आये हैं कि जब भगवान् चाहते हैं तो अपनी मायाके वशवर्ती होकर संसारकी रचना करते हैं । रचनाके पहले ही नारायणकी नाभिके कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मासे ही सृष्टि प्रारम्भ होती है । इसीसे वे जगत्गुरु कहे जाते हैं)॥ १२ ॥ यद्यपि यह माया स्वयं कुछ करती नहीं, फिर भी उन नारायणसे लज्जित होती हुई यह हम लोगोंको मोहित कर लेती है, जिससे हम दुर्बुद्धि लोग स्वयं कर्ता बनकर डींग मारने लगते और कहते हैं कि 'यह हमारा है, यह तुम्हारा है, मैंने यह किया, वह किया' इत्यादि ॥ १३ ॥ इस तरह 'हमसे भी परे कोई ईश्वर है' यह बताकर नारदके 'यदधिष्ठानं' आदि प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहते हैं—द्रव्य (उपादानरूप महाभूत) कर्म (जन्मका निमित्त) काल, स्वभाव और जीव, ये सब कुछ वे नारायण ही हैं । उनसे पृथक् और कोई भी नहीं है ॥ १४ ॥ सभी वेद नारायणपरक हैं । सब देवता नारायणके ही अंगसे उत्पन्न हुए हैं । सभी स्वर्ग आदि लोक नारायणपरक हैं और यह सभी नारायणकी प्राप्तिके साधन हैं ॥ १५ ॥ योग प्राणायाम आदि चित्तको एकाग्र करके नारायणकी प्राप्तिके साधक हैं,-ज्ञान साध्य होनेके कारण नारायणपरक है और मोक्ष उस ज्ञानका फल है, इस वास्ते वह भी नारायणपरक ही है ॥ १६ ॥ उन सर्वदर्शी, निर्विकार और सबके आत्मारूपी प्रभुकी प्रेरणासे ही मैं सृष्टि करता हूँ और उन्होंने स्वयं मेरी सृष्टि की थी ॥१७॥ यदि यह कहो कि 'तब यह ईश्वर और जीव-का विभाग कैसे हो गया' तो सुनो-निर्गुण होकर सर्वव्यापक उन नारायणके सत्त्व, रज और तम, ये

कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः । बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥१९॥
स एव भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेभिरधोक्षजः । स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः ॥२०॥
कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया । आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ॥२१॥
कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः । कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥२२॥
महतस्तु विकुर्वाणाद्रजःसत्त्वोपबृंहितात् । तमःप्रधानस्त्वभवद् द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः ॥२३॥
सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्त्रिधा । वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा ।
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो ॥२४॥
तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः । तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृदृश्ययोः॥२५॥
नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत्स्पर्शगुणोऽनिलः । परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ॥२६॥
वायोरपि विकुर्वाणात्कालकर्मस्वभावतः । उदपद्यत तेजो वै रूपवत्स्पर्शशब्दवत् ॥२७॥
तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम् । रूपवत्स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात् ॥२८॥
विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत् । परान्वयाद्रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः ॥२९॥
वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश । दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः ॥३०॥

तीन गुण हैं। इनको नारायणकी माया स्थिति, सृष्टि और संहारकार्य करनेके लिए अपने साथ समेट लिया करती है ॥ १८ ॥ ये ही तीनों गुण, पाँच महाभूत और इन्द्रिय देवताओंके आश्रय बनकर वास्तवमें सर्वदा मुक्त रहनेवाले जीवको देह तथा इन्द्रिय आदिका अभिमानी बनाकर बाँध लिया करते हैं ॥ १९ ॥ हे ब्रह्मन् ! मेरे नारायण इन्हीं तीनों गुणोंसे सबको भरमाते और अपनी गतिको स्वयं देखते हुए सब विश्वके और मेरे प्रभुपदपर आसीन हैं ॥ २० ॥ अब सृष्टि करनेका प्रकार बताते हुए कहते हैं—वे मायाके ईश अपनी मायासे एकसे अनेक रूप धारण करते हुए काल, कर्म और स्वभावको स्वीकार करते और इन्हींके अनुकूल चलते हैं॥ २१ ॥ उन परम पुरुषकी अधीनतामें रहनेवाले कालसे गुणोंमें भेदभाव उत्पन्न हुआ। उनके स्वभावसे परिणाम (एक रूपको त्यागकर रूपान्तर प्राप्त करना) उत्पन्न हुआ और जीवके अदृष्ट कर्मोंसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई ॥२२॥ महत्त्वके विकारसे रजोगुण तथा सतोगुणकी वृद्धि होती है और उससे तमोगुणप्रधान द्रव्य-क्रियात्मक सृष्टि होती है ॥ २३ ॥ इसी वस्तुको अहंकार कहते हैं। उस अहंकारके तीन भेद हैं—वैकारिक, तैजस और राजस। उन तीनोंमें तीन प्रकारकी शक्तियें अन्तर्हित रहती हैं। जैसे द्रव्यशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति। द्रव्यशक्ति पृथ्वी जल आदि पाँच महाभूतोंका संचालन करती है। क्रियाशक्ति इन्द्रियोंपर प्रभुत्व रखती और ज्ञानशक्ति प्राणियोंको देवताओंकी ओर ले जाती है ॥२४॥ उनमेंसे तामस अहंकारके विकारसे आकाशकी सृष्टि हुई। आकाशका मात्रागुण शब्द है, वही शब्द द्रष्टा और दृश्यका लक्षण बताता है। जैसे किसीने किसीसे 'हाथी हाथी' कहा। अब दूसरा व्यक्ति जिसने कभी हाथी नहीं देखा है, उसके 'हाथी हाथी' कहनेका कोई मतलब नहीं समझ सकता, जबतक कि वह हाथीको अपनी आँखोंसे देख न ले। वह देखेगा तभी उसे हाथीका लक्षण ज्ञात होगा ॥ २५ ॥ आगे चलकर आकाशके विकारसे स्पर्शगुणयुक्त वायुकी उत्पत्ति हुई। आकाशके संयोगसे वायुमें शब्द उपजा। वही प्राण और ओजयुक्त बलके लक्षणोंसे लक्षित होने लगा ॥ २६ ॥ फिर वायुके विकार और काल, कर्म तथा स्वभावसे रूपवान् तथा शब्द और स्पर्शगुण-युक्त तेजकी उत्पत्ति हुई ॥ २७ ॥ तेजके विकारसे रसात्मक जलकी उत्पत्ति हुई। वह जल आकाश आदिके संयोगसे रूप, स्पर्श और शब्दगुणसम्पन्न हुआ ॥ २८ ॥ उस जलके विकारसे गन्धवती पृथिवी उत्पन्न हुई। आकाश आदिके संसर्गसे इसमें रस, स्पर्श और रूप, ये गुण आये ॥ २९ ॥ वैकारिक (सात्त्विकाहंकार) से मन तथा दस वैकारिक देवता उत्पन्न हुए। जैसे—दिशा, वायु, सूर्य,

तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन् । ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणस्तु तैजसी ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः ॥३१॥
यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः । यदायतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम ॥३२॥
तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्तिचोदिताः । सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्ह्यदः ॥३३॥
वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् । कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥३४॥
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः । सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान् ॥३५॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः । कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥३६॥
पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः । ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥३७॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः । हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥३८॥
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात् । मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥३९॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः । जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥४०॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् । पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान् ॥४१॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः । स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ४२
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

प्रचेता, अश्विनी-कुमार (ये पाँचों क्रमशः श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राणेन्द्रियके स्वामी हैं), अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र (विष्णु), मित्र तथा प्रजापति (ये पाँच क्रमशः वाणी, हाथ, पाँव, गुदा और लिंगके अधिष्ठाता हैं) ॥ ३० ॥ तेजके विकारसे दस इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं । क्योंकि ज्ञानशक्ति (बुद्धि) और क्रियाशक्ति (प्राण) ये दोनों तैजस अहंकारके ही कार्य हैं । इसीसे ज्ञानक्रियाकी विशेषरूपा इन्द्रियाँ भी तैजस अहंकारसे जायमान हुई हैं । वे इन्द्रियाँ ये हैं—कान, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्य, हाथ, पैर, गुदा और लिंग ॥ ३१ ॥ जब ये महदादि भाव अलग-अलग रहकर शरीरकी रचना नहीं कर सके ॥ ३२ ॥ तब भगवान्की शक्तिसे प्रेरित होकर सत् और असत् इन दोनों प्रधान गुणोंके भाव एकमें मिलकर समष्टि और व्यष्टि-आत्मक दो प्रकारके शरीर बने ॥ ३३ ॥ तब हजारों वर्ष बाद जलमें पड़े हुए उस अचेतन अण्डको काल, कर्म तथा स्वभावकी प्रधानता देकर परमात्माने जीवित किया ॥ ३४ ॥ उसके बाद स्वयं परमात्मा उस अण्डको फोड़कर बाहर निकला । उसके हजारों ऊरु, हजारों पैर, हजारों आँखें, हजारों मुख और हजारों मस्तक थे ॥ ३५ ॥ इसके बाद विद्वानोंने उसीके अंगोंसे सब लोकोंकी कल्पना की । ऊरुसे नीचे पैर तकके अङ्गोंसे अतलसे लेकर पातालतकके सातों लोकों तथा जाँघसे ऊपरके अवयवोंसे पृथिवी आदि सात लोकोंकी उत्पत्ति हुई ॥ ३६ ॥ उस परम पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, बाहुदण्डसे क्षत्रिय, दोनों ऊरुओंसे वैश्य और दोनों पाँवोंसे शूद्र उत्पन्न हुए ॥ ३७ ॥ उस महात्माके दोनों पाँवोंसे भूर्लोक, नाभिसे भुवर्लोक, हृदयसे स्वर्गलोक और छातीसे महर्लोककी रचना हुई ॥ ३८ ॥ उसकी ग्रीवासे जनलोक, दोनों स्तनोंसे तपलोक और मस्तकसे सत्यलोककी रचना हुई । इन लोगोंकी अपेक्षा ब्रह्मलोक (वैकुण्ठ) सनातन है । उसका कभी भी विनाश नहीं होता ॥ ३९ ॥ उस परम पुरुषकी कमरसे अतललोक, दोनों ऊरुओंसे वितललोक, दोनों घुटनोंसे तललोक और जाँघोंसे तलातल लोककी सृष्टि हुई । दोनों गुल्फोंसे महातल लोक, एँड़ियों और पैरकी पौलीसे रसातल लोक बना ॥ ४० ॥ ४१ ॥ पैरोंसे भूलोक, नाभिसे पाताललोक और मस्तकसे स्वर्लोककी कल्पना हुई ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिको' भाषाटीकायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः । हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च ॥१॥
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने । अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः ॥२॥
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी । कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाशशब्दयोः ।
तद्गात्रं वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनम् ॥३॥
त्वगस्य स्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि । रोमाण्युद्भिज्जजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः ॥४॥
केशश्मश्रुनखान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम् । बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणाम् ॥५॥
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च । सर्वकामवरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ॥६॥
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः । पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिर्वृतेः ॥७॥
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद । हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः ॥८॥
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः । नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः ॥९॥
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च । उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ॥१०॥
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च । विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम् ॥११॥
अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः । सुरासुरनरा नागाः खगा मृगसरीसृपाः ॥१२॥

ब्रह्माजी बोले—विराट्रूपधारी उस महापुरुषके मुखसे वचन और अग्नि, त्वचा आदि अवयवोंसे गायत्री आदि छन्द और सात धातु तथा उनकी जिह्वासे हव्य (देवताओंका अन्न) कव्य (पितरोंके उपयुक्त अन्न) अमृत (देवता तथा पितरोंको अर्पण करके शेष बचा अन्न) और सभी रसोंकी उत्पत्ति हुई ॥ १ ॥ उनकी घ्राणेन्द्रियसे जगत्के समस्त प्राणियोंके प्राण, सामान्य तथा विशेष प्रकारके गन्ध और दोनों अश्विनीकुमार उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ उनके नेत्रोंसे रूप, तेज, द्युलोक और सूर्य उत्पन्न हुए । उनके कान दसों दिशाओं, नक्षत्र, आकाश और शब्दके जनक हुए । उनका शरीर सभी वस्तुओंके सारांश और सौन्दर्यका केन्द्र बना ॥ ३ ॥ उनकी त्वचा स्पर्श, वायु और सभी यज्ञोंका उत्पत्तिस्थान हुआ । उनके रोम सब वृक्षजातिके जनक हुए, जिनसे कि यज्ञके कार्य सम्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥ उनके केश मेघके, उनकी दाढ़ी-मूछ बिजलीके, हाथ-पैरके नाखून शिला और लोहके उत्पत्ति-स्थान हुए । उनके हाथ सबका कल्याण करनेवाले लोकपालोंके जन्मदाता हुए ॥ ५ ॥ भगवान्के विक्रम (चलना-फिरना) से भूर्भुवः स्वः ये तीन लोक, क्षेम (पाये हुए धन आदिकी रक्षा) और शरण (भयसे बचानेवाले) का आश्रय हुआ । उन नारायणके चरण सभी कामनाओं और वरके आधार हुए ॥ ६ ॥ भगवान्का उपस्थ (लिंग) जल, वीर्य, सृष्टि, मेघ, प्रजापति तथा सन्तानप्राप्तिके लिए किये जानेवाले सम्भोगसे जायमान आनन्दका जनक हुआ ॥ ७ ॥ उनकी गुदा यम, मित्र (देवताविशेष) मलत्याग, हिंसा, अकल्याण और नरकका उत्पत्तिस्थान हुआ ॥ ८ ॥ उन भगवान्का पृष्ठभाग पराजय,अधर्म और तमोगुणका आश्रय हुआ । उनकी नाड़ियें नदियों और नदोंकी आश्रय हुई और उनकी हड्डियें संसारके पर्वतोंका आश्रय बनीं ॥ ९ ॥ उनका उदर अन्न आदि प्रधान रसों, सभी समुद्रों और प्राणियोंके पोषणका उत्पत्तिस्थान हुआ । उनका हृदय मनका जन्मदाता हुआ ॥ १० ॥ उन परब्रह्मकी आत्मा धर्म, हमारा (ब्रह्माका) तुम्हारा (नारदका) सनकादि कुमारों, शिव, तत्त्वज्ञान और सत्त्व गुणका आश्रय हुई ॥११॥ यहाँतक 'सहस्रशीर्षा पुरुष' इस पुरुषसूक्तके वैदिक मंत्रका अर्थ बता चुके । अब 'पुरुष एवेदं' का अर्थ बताते हुए ब्रह्माजी नारदसे कहते हैं कि 'हम, तुम, शिव, तुम्हारे ज्येष्ठ

गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षोभूतगणोरगाः । पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्राश्चारणा द्रुमाः ॥१३॥
अन्ये च विविधा जीवा जलस्थलनभौकसः । ग्रहर्क्षकेतवस्तारास्तडितः स्तनयित्नवः ॥१४॥
सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् । तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥१५॥
स्वधिष्ण्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ । एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥१६॥
सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् । महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ॥१७॥
पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः । अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु ॥१८॥
पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः । अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रतः ॥१९॥
सृती विचक्रमे विष्वङ् साशनानशने उभे । यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ॥२०॥
यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रियगुणात्मकः । तद् द्रव्यमत्यगाद्विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन् ॥२१॥
यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः । नाविदं यज्ञसम्भारान् पुरुषावयवादृते ॥२२॥
तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः । इदं च देवयजनं कालश्चोरुगुणान्वितः ॥२३॥
वस्तून्योषधयः स्नेहा रसलोहमृदो जलम् । ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ॥२४॥

भ्राता सनकादि मुनि, देवता, दैत्य, मनुष्य, हाथी, पक्षी, मृग आदि वनजन्तु, सर्प ॥१२॥ गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, रक्षोगण, भूतगण, सर्प, पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण और वृक्ष आदि ॥ १३ ॥ विविध प्रकारके जल, स्थल तथा आकाशचारी ग्रह, नक्षत्र, विद्युत् तथा मेघ आदि ॥ १४ ॥ ये सब और भूत, भविष्य तथा वर्तमान नारायणके ही अधीन हैं। उन्होंने अपने विशालरूपसे इस विश्वको घेर रक्खा है ॥ १५ ॥ जैसे सूर्यमंडल अपने भीतर-बाहर सब तरफ प्रकाश फैलाता है, उसी तरह वह विराट् पुरुष अपने आपको प्रकाशित करता हुआ जगत्के सब प्राणियोंतक प्रकाश पहुँचाता है ॥ १६ ॥ अब ईश्वरकी नित्यता बताते हुए पुरुषसूक्तके 'उतामृतत्वस्येशानो' इस वैदिक मंत्रका अर्थ बताते हैं। वह विराट् पुरुष मृत्यु और अन्न अर्थात् कर्मफलको पार कर गया है, इस वास्ते वह अमृतत्व (मोक्षरूप निजानन्द) अभय, इन दोनोंका स्वामी है। इसी कारण उसकी अलंघनीय महिमा गायी जाती है ॥ १७॥ जो लोग उसके अधीन रहते हैं, उन्हें बन्धन और मोक्ष दोनों ही समय-समयपर वह परम पुरुष स्वयं प्रदान करता रहता है। यह बतानेके लिए पुरुष-सूक्तके 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि' इस वैदिक मंत्रका अर्थ बताते हुए कहते हैं—ये भूर्लोक आदि सभी लोक और इसके निवासी उसके पाँवोंमें स्थित हैं और उसके तीन मस्तकोंमें क्रमसे अमृत, क्षेम और अभय विद्यमान रहा करते हैं॥ १८ ॥ पूर्व कल्पमें भी सन्तानहीन नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और यति, इनके आश्रम तीनों लोकके बाहर थे और ब्रह्मचर्यव्रतहीन गृहस्थाश्रमी त्रिलोकीके भीतर विद्यमान थे ॥ १९ ॥ वह जगत्पूज्य परमात्मा दक्षिण और उत्तर इन दोनों मार्गों-पर चलता था। दक्षिण मार्गका मतलब है अविद्या (सर्वार्थमय कर्म) मार्ग। विद्या (साधन और उपासनारूपी) मार्ग ऐसा है कि जिसपर चलनेसे सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति होती है और इसी मार्ग (विद्या) से मोक्ष होता है। वह परमात्मा इन दोनों मार्गोंको पार कर गया था॥ २० ॥ उस परमात्मासे यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ और उसीसे इन्द्रिय और सत्त्वादि तीनों गुणोंसे युक्त एक विराट् पुरुष जायमान हुआ। वही ईश्वर कहलाया। वह ईश्वर उस विश्व, अपने शरीर और अण्डसे भी निकल गया। जैसे मण्डलके मध्यमें रहनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे सर्वत्र प्रकाश पहुँचाता हुआ अन्तमें अपने मण्डल और विश्वको लाँघ जाता है ॥ २१ ॥ जब मैं उस महात्माकी नाभिसे उत्पन्न कमलके गर्भसे उत्पन्न हुआ, तब मैंने उस पुरुषके विराट् शरीरके सिवाय और कुछ नहीं देखा। उस समय मुझे पशु-यूप आदि यज्ञके सामान भी नहीं दिखाई दिये ॥ २२ ॥ और कुछ न पाकर मैंने उस परम पुरुषके अवयवोंसे यज्ञके पशु (छाग आदि) यूपके लिये वृक्ष, कुश, जिसपर मैं बैठा हूँ यह यज्ञस्थान और विविध गुणयुक्त कालकी रचना की ॥ २३ ॥ उनके अतिरिक्त अनेक

नामधेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च । देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च ॥२५॥
गतयो मतयः श्रद्धा प्रायश्चित्तं समर्पणम् । पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया ॥२६॥
इति सम्भृतसम्भारः पुरुषावयवैरहम् । तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥२७॥
ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव । अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सुसमाहिताः ॥२८॥
ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे । पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् ॥२९॥
नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् । गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥३०॥
सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः । विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ॥३१॥
इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि । नान्यद्भगवतः किंचिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥३२॥

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥३३॥
सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः ।
आस्थाय योगं निपुणं समाहितस्तं नाध्यगच्छं यत आत्मसम्भवः ॥३४॥
नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।
यो ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगाद्यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः ॥३५॥

वस्तुयें जैसे पात्र-व्रीहि आदि औषधि, घी आदि स्नेह, मधुर अम्ल आदि रस, लोह, मिट्टी, जल, यजुर्वेद तथा सामवेदकी ऋचायें और चातुर्होत्र (अध्वर्यु आदि चार होताओंसे सम्पन्न होनेवाले) कर्मकी सृष्टि की ॥ २४ ॥ तभी मैंने यज्ञोंके ज्योतिष्टोम आदि नाम, स्वाहाकार आदि मंत्र, दक्षिणा, ब्रह्मचर्य आदि व्रत, अग्नि आदि देवताओंका अनुक्रम, बौधायन आदि कर्मपद्धतिके ग्रंथ और अनुष्ठान करनेके प्रकारकी सृष्टि की ॥ २५ ॥ और विष्णुकी गति, देवताओंके ध्यान, प्रायश्चित्त (यज्ञमें आये विघ्नोंको दूर करनेवाले कर्म) और किये हुए समस्त कर्मोंको भगवदर्पण करनेका विधान, इन सबको मैंने उसी परमपुरुषके अवयवोंसे बनाया ॥ २६ ॥ जब मैं इन सब सामग्रियोंको बना चुका, तब मैंने उन्हीं सब सामग्रियोंसे उसी यज्ञस्वरूप परम पुरुष ईश्वरकी पूजा की ॥ २७ ॥ मेरे बाद तुम्हारे भाई नौ (मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ और दक्ष) प्रजापतियोंने इन्द्र आदि देवताओंके रूपमें व्यक्त और अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियातीत नारायणकी पूजा की ॥ २८ ॥ तदनन्तर समय-समयपर और ऋषियों, पितरों, देवताओं, दैत्यों और मनुष्योंने भी इन्हीं यज्ञोंके द्वारा उस महापुरुषकी आराधना की ॥ २९ ॥ उन नारायणमें ही यह समस्त विश्व विद्यमान है, जिन्होंने स्वयं त्रिगुणातीत होकर भी सृष्टिके आदिमें मायाके अगणित गुणोंको अपना लिया था ॥ ३० ॥ उन्हींकी आज्ञासे मैं सृष्टि करता हूँ, उन्हींकी इच्छासे शिवजी सृष्टिका संहार करते हैं और वे मायापति स्वयं विष्णुरूप धारण करके इस सृष्टिका पालन करते हैं ॥ ३१ ॥ हे तात ! उस परमपुरुषके विषयमें तुमने हमसे जो कुछ पूछा, मैंने कह सुनाया । कार्य-कारणात्मक यह संसार अथवा भावी संसार भी उन नारायणसे पृथक् नहीं है । जो कुछ है, सब उन्हींसे है ॥ ३२ ॥ मैंने नारायणको अपने उत्कण्ठापूर्ण हृदयमें बैठा लिया है । इसलिए हे अङ्ग ! मेरी वाणी झूठ नहीं होती, मेरा मन बुरे मार्गपर नहीं जाता और मेरी इन्द्रियाँ भी असत् पथपर नहीं चलतीं ॥ ३३ ॥ लेकिन यद्यपि मैं वेदमय हूँ, पूर्ण तपस्वी और सभी प्रजापतियोंका पूज्य तथा अधिपति हूँ । योगपथका अवलम्बन करके मैंने बड़ी निपुणताके साथ चित्तको स्थिर करके उस परमपुरुषको खोजा, पर उस परमपिताको नहीं पा सका कि जिससे मेरा जन्म हुआ था ॥ ३४ ॥ शरणागत जनोंके भवबन्धन काटनेवाले, मंगलदायक और सुसेव्य उन नारायणके चरणोंको मैं प्रणाम करता हूँ कि जो स्वयं अपनी

नाहं न यूयं यद्दतां गतिं विदुर्न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं विनिर्मितं चात्मसमं विचक्ष्महे ॥३६॥
यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः । न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥३७॥
स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः । आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च
विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम् । सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥३९॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः । यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥४०॥
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः ॥४१॥
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च ।
स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला नृलोकपालास्तललोकपालाः ॥४२॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः ।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितॄणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः ।
अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः ॥४३॥
यत्किञ्च लोके भगवन्महस्वदोजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत् ।
श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम् ॥४४॥

मायाके वैभवको उसी तरह नहीं जान सके जैसे आकाश स्वयं अपने विस्तारका अन्त नहीं पाता। तब भला हम जैसे लोग उन्हें और उनकी मायाके प्रपंचको कैसे जान सकते हैं ॥ ३५ ॥ उनकी वास्तविक गतिको न हम, न तुम लोग और न शिवजी ही जान सके, तब भला और देवता क्या जान पायेंगे ? उनकी मायासे विमुग्धबुद्धि होकर हम लोग अपनी-अपनी समझके अनुसार उनका वर्णन करते हैं ॥ ३६ ॥ हम लोग जिनके अवतारोंकी गाथायें गाया करते हैं, किन्तु भलीभाँति जिन्हें नहीं जान पाते, उन नारायणको नमस्कार है ॥ ३७ ॥ वही आदि पुरुष कल्प-कल्पमें अपनी मायासे अपने ही में सृष्टि, पालन और संहारकार्य किया करता है ॥ ३८ ॥ वह ईश्वर विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है, वह सबकी अन्तरात्मामें विद्यमान रहता है और सन्देह आदिसे रहित होकर स्थिर है अर्थात् उसमें चचलता नहीं है। वह सत्यरूप, आदि-अन्तसे रहित, गुणहीन, नित्य और अद्वैत है ॥ ३९ ॥ हे नारद ! मुनि लोग भी उसे तब जान पाते हैं जब उनकी देह, इन्द्रियाँ तथा मन शान्त रहता है। अशान्त पुरुषके हृदयमें भी यद्यपि उस महापुरुषकी ज्योति जागती रहती है, फिर भी दुष्टोंकी विविध तर्कनाओंसे वह प्रकाश लुप्त हो जाता है ॥ ४० ॥ उसका प्रथम अवतार पुरुष है। काल, स्वभाव, सत् और असत् (अर्थात् कार्य-कारणात्मिका प्रकृति) ये उसकी शक्तियें हैं। द्रव्य (महाभूत), अलंकार सत्त्वादिगुण, इन्द्रियाँ, समष्टि शरीर तथा विराट्, स्वराट्, स्थावर और जंगम यह व्यष्टि शरीर ही उस परमपुरुषके कार्य हैं ॥ ४१ ॥ हम (ब्रह्मा) शिव, विष्णुभगवान्, ये दक्षआदि प्रजापति, नारद आदि देवर्षि, स्वर्गलोकके पालक, खगलोकपालक, नरलोकपालक, तल तथा पाताललोकपालक ॥ ४२ ॥ गंधर्व, विद्याधर और चारणोंके रक्षक, यक्ष-राक्षस और सर्पलोकके पालक अथवा समस्त श्रेष्ठ ऋषि, पितर, दैत्यपति, सिद्धोंके स्वामी तथा प्रेत-पिशाच-भूत-कूष्माड (भृङ्गी आदि) जलजन्तु, मृग तथा पक्षियोंके अधिपति उनकी विभूति हैं ॥ ४३ ॥ हे भगवन् ! और कहाँतक कहें, संसारमें जितने भी तेजयुक्त, ओजस्वी, बलवान्, सुन्दर, लज्जावान्, क्षमावान्, विभूतिसम्पन्न, बुद्धिमान्, अद्भुत वर्णयुक्त, रूपवान् तथा अरूपवान् जीव हैं, वे सब उस परमात्माकी विभूति हैं

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकषायशोषाननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच

यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रत्क्रौडीं तनुं सकलयज्ञमयीमनन्तः ।
अन्तर्महार्णव उपागतमादिदैत्यं तं दंष्ट्रयाद्रिमिव वज्रधरो ददार ॥१॥
जातो रुचेरजनयत्सुयमान् सुयज्ञ आकूतिसूनुरमरानथ दक्षिणायाम् ।
लोकत्रयस्य महतीमहरद्यदार्तिं स्वायम्भुवेन मनुना हरिरित्यनूक्तः ॥२॥
जज्ञे च कर्दमगृहे द्विज देवहूत्यां स्त्रीभिः समं नवभिरात्मगतिं स्वमात्रे ।
ऊचे ययाऽऽत्मशमलं गुणसङ्गपङ्कमस्मिन् विधूय कपिलस्य गतिं प्रपेदे ॥३॥
अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो दत्तो मयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः ।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः ॥४॥
तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे आदौ सनात्स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत् ।
प्राक्कल्पसम्प्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं सम्यग्जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन् ॥५॥

॥ ४४ ॥ हे ऋषे ! मैं उस महापुरुषके उन प्रधान-प्रधान गुणोंका वर्णन करूँगा कि जिनको बड़े-बड़े ऋषि गाते हैं। तुम उसके उन सुन्दर चरित्रोंको प्रेमके साथ अपने कानोंसे सुनो। क्योंकि उनके सुननेसे गन्दी बातें सुनते-सुनते कानोंमें जो दोष आ गया रहता है—वह नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

ब्रह्माजी कहते हैं—हे नारद ! जब भगवानने पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञके उपकरणों युक्त वाराह (सूकर) का रूप धारण किया तो उन्होंने समुद्रतलमें उस आदि दैत्य हिरण्याक्षको पाकर अपने दाँतोंसे इस तरह चीर डाला, जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे पर्वतोंको काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया था ॥ १ ॥ जब वे रुचिनामक प्रजापतिकी पत्नी आकूतिके उदरसे उत्पन्न हुए, तब उनका सुयज्ञ नाम पड़ा। उन्होंने अपनी दक्षिणा नामकी भार्यासे सुयम नामके देवताओंको उत्पन्न किया। आगे चलकर जब वे इन्द्र कहलाये और उन्होंने तीनों लोकोंका संकट हर लिया, तब स्वायंभुव मनुने उनका 'हरि' नाम कर दिया ॥ २ ॥ हे द्विज ! जब वे कर्दम प्रजापतिकी पत्नी देवहूतीके कर्मसे नौ बहिनोंके साथ उत्पन्न हुए, तब उनका कपिल नाम पड़ा। उन्होंने अपनी माता (देवहूती) को ब्रह्मविद्या (सांख्यशास्त्र) का उपदेश दिया। जिससे उसने अपनी आत्माके उन पापोंको दूर कर दिया कि जिनसे आत्मामें गुणोंका संगरूपी कीचड़ लगा रहता है। उसने उसी शरीरसे सब विकारोंको दूर कर दिया और मुक्त हो गयी ॥ ३ ॥ किसी समय महर्षि अत्रिने भगवानसे पुत्र माँगा। भगवानने प्रसन्न होकर कहा—'मैं अपनेको पुत्ररूपमें आपको सौंपता हूँ। इससे जब उनके घरमें भगवान जन्मे, तब उनका 'दत्त' नाम पड़ा। उनके चरणकमलकी धूलिसे पवित्र होकर यदु और हैहय (कार्तवीर्य) आदि कितने ही राजे ऐहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंको पूर्ण करनेवाली योगरूपी सम्पत्ति प्राप्त कर लिये थे ॥४॥ लोकसृष्टिकी अभिलाषासे मैंने जो पहले उग्र तपस्या की थी, उसे भगवदर्पण कर दिया। जिससे वे भगवान सनत्कुमार, सनक, सनन्दन और सनातन इन चार रूपोंसे

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नर इति स्वतपःप्रभावः ।
दृष्ट्वाऽऽत्मनो भगवतो नियमावलोपं देव्यस्त्वनङ्गपृतना घटितुं न शेकुः ॥६॥
कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।
सोऽयं यदन्तरमलं निविशन् बिभेति कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत ॥७॥
विद्धः सपत्न्युदितपत्रिभिरन्ति राज्ञो बालोऽपि सन्नुपगतस्तपसे वनानि ।
तस्मा अदाद् ध्रुवगतिं गृणते प्रसन्नो दिव्याः स्तुवन्ति मुनयो यदुपर्यधस्तात् ॥८॥
यद्वेनमुत्पथगतं द्विजवाक्यवज्रविप्लुष्टपौरुषभगं निरये पतन्तम् ।
त्रात्वार्थितो जगति पुत्रपदं च लेभे दुग्धा वसूनि वसुधा सकलानि येन ॥९॥
नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनुर्यो वै चचार समदृग्जडयोगचर्याम् ।
यत्पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः ॥१०॥
सत्रे ममास भगवान् हयशीरषाथो साक्षात्स यज्ञपुरुषस्तपनीयवर्णः ।
छन्दोमयो मखमयोऽखिलदेवतात्मा वाचो बभूवुरुशतीः श्वसतोऽस्य नस्तः ॥११॥
मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः ।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥१२॥
क्षीरोदधावमरदानवयूथपानामुन्मथ्नताममृतलब्धय आदिदेवः ।
पृष्ठेन कच्छपवपुर्विदधार गोत्रं निद्राक्षणोऽद्रिपरिवर्तकषाणकण्डूः ॥१३॥

अवतरे और पूर्वकल्पोंमें नष्ट आत्मज्ञानको फिर इस कल्पमें जागृत करते हुए उपदेश दिया ॥५॥ दक्षकी पुत्री और यमराजकी धर्मपत्नी मूर्तिके गर्भसे भगवान नर और नारायण इन दो स्वरूपोंसे अवतार लिये। उन नर-नारायणकी तपस्याको भंग करनेके लिए कामदेवकी सेनाकी उर्वशी आदि अप्सरायें गयीं, किन्तु उनकी तपस्याके प्रभावसे उत्पन्न अपने ही सदृश स्त्रियोंको देखकर वे उनका तपोभंग नहीं कर सकीं ॥ ६ ॥ कुशल इन्द्रियनिग्रही शिव अपनी सरोष दृष्टिसे कामको जलानेमें समर्थ हो गये, पर अपने आपको भस्म करते रहनेवाले क्रोधको भस्म करनेमें वे भी असमर्थ ही रहे। वह क्रोध भी उन नारायणकी अन्तरात्मामें घुसते डरता था, तब भला कामदेव उनपर अपना प्रभाव कैसे डाल सकता? ॥७॥ राजा उत्तानपादके पुत्र ध्रुव बाल्यकालमें ही अपनी विमाताके वाग्बाणसे बिंधकर तपस्या करनेके वास्ते वनको चले गये थे। सो उन नारायणने उस भजनानन्दी बालकको वह ध्रुवपद प्रदान किया कि ऊपरके भृगु आदि और नीचेके सप्तर्षि आज भी उनकी स्तुति करते हैं ॥ ८ ॥ जब ऋषियोंके विनय करनेपर वे कुमार्गगामी राजा वेनके पुत्र होकर अवतरे। तब ब्राह्मणोंके वचनरूपी वज्रसे नष्टपौरुष, नष्टसम्पत्ति तथा नरकके अधिकारी उस राजा वेनकी रक्षा करके अपना पुत्र (पुं नामके नरकसे रक्षा करनेवाला) नाम सार्थक किया और जगत्के कल्याणार्थ उन्होंने इस पृथ्वीसे विविध प्रकारके अन्न आदि द्रव्योंको दुहा ॥ ९ ॥ वे ही नारायण राजा नाभिकी मेरुदेवी नामकी पत्नीके गर्भसे समदर्शी ऋषभ होकर अवतरे और आत्मदर्शन द्वारा इन्द्रियोंको अपने वशीभूतकर सब विषयवासनाओंका परित्यागकर जड़योग (नित्य समाधि) का साधन किया। जिसको बड़े-बड़े ऋषि परमहंस पद कहते हैं ॥ १० ॥ वे ही भगवान मेरे (ब्रह्माके) यज्ञमें सुवर्णसदृश देदीप्यमान हयग्रीवके रूपमें प्रकट हुए थे। उस समय उनकी नासिकासे छन्दोमय, यज्ञमय, यज्ञ द्वारा पूजित होनेवाले सभी देवता और उनकी आत्मायें उत्पन्न हुईं ॥ ११ ॥ युगके अन्तसमयमें भावी वैवस्वत मनुने मत्स्यरूपमें प्रकट भगवानका दर्शन किया था। वे मत्स्यभगवान पृथ्वीके अवलम्ब और जगत्के समस्त जीवोंके आश्रयरूप थे। मेरे मुखसे निकले हुए वेदोंको लेकर वे उस महाभयंकर प्रलयजलधिमें आनन्दके साथ विचरते थे ॥ १२ ॥ जब देवता और दानव अमृतप्राप्तिके निमित्त क्षीरसमुद्रको मथ

त्रैविष्टपोरुभयहा स नृसिंहरूपं कृत्वा भ्रमद्भ्रुकुटिदंष्ट्रकरालवक्त्रम्।
दैत्येन्द्रमाशु गदयाभिपतन्तमाराद्रूरौ निपात्य विददार नखैः स्फुरन्तम् ॥१४॥
अन्तःसरस्युरुबलेन पदे गृहीतो ग्राहेण यूथपतिरम्बुजहस्त आर्तः।
आहेदमादिपुरुषाखिललोकनाथ तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय ॥१५॥
श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेयश्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः।
चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्माद्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार ॥१६॥
ज्यायान् गुणैरवरजोऽप्यदितेः सुतानां लोकान् विचक्रम इमान् यदथाधियज्ञः।
क्ष्मां वामनेन जगृहे त्रिपदच्छलेन यच्ञामृते पथि चरन् प्रभुभिर्न चाल्यः ॥१७॥
नार्थो बलेरयमुरुक्रमपादशौचमापः शिखा धृतवतो विबुधाधिपत्यम्।
यो वै प्रतिश्रुतमृते न चिकीर्षदन्यदात्मानमङ्ग शिरसा हरयेऽभिमेने ॥१८॥
तुभ्यं च नारद भृशं भगवान् विवृद्धभावेन साधुपरितुष्ट उवाच योगम्।
ज्ञानं च भागवतमात्मसतत्त्वदीपं यद्वासुदेवशरणा विदुरञ्जसैव ॥१९॥
चक्रं च दिक्ष्वविहतं दशसु स्वतेजो मन्वन्तरेषु मनुवंशधरो बिभर्ति।
दुष्टेषु राजसु दमं व्यदधात्स्वकीर्तिं सत्ये त्रिपृष्ठ उशतीं प्रथयंश्चरित्रैः ॥२०॥

रहे थे, तब भगवानने कूर्म (कच्छप) अवतार लेकर मन्दर पर्वतको अपनी पीठपर रोका था। जब वह विशाल पर्वत उनकी पीठपर रुका हुआ देवता और दैत्योंके हाथों जोरोंसे घुमाया जा रहा था तो उसकी रगड़से जैसे उनकी पीठकी खुजली मिट रही थी॥ १३॥ देवताओंके महाभय दूर करनेवाले नारायणने जब नृसिंह अवतार लिया था। उस समय मारे क्रोधके उनकी भृकुटी घूम रही थी और उनका मुख बड़ा ही भीषण दीखता था। दैत्यपति हिरण्यकशिपु गदा लेकर उनपर झपटा ही था कि नृसिंहभगवानने उसे अपनी जाँघोंके बीच दाब लिया और अपने तीखे नखोंसे उसकी छाती फाड़ डाली। जिससे वह छटपटाकर मर गया॥ १४॥ किसी समय एक गजराजको एक बलवान ग्राहने पैर पकड़कर घसीटा। उस समय बहुत व्यथित होकर वह अपनी सूँड़में एक कमलका पुष्प लेकर करुणापूर्ण वाणीमें बोला—हे आदिपुरुष! हे समस्त जीवोंके स्वामी! हे पवित्र नाम! हे मंगलमय! आप मेरी रक्षा करें॥ १५॥ उस शरणार्थीकी आर्त वाणी सुनकर श्रीहरिभगवान गरुड़पर चढ़कर दौड़ आये और चक्रसे ग्राहका मुख फाड़ तथा हाथोंसे पकड़कर गजराजको उबारा ॥१६॥ द्वादश सूर्योंमें यज्ञके अधिष्ठाता नारायण यद्यपि अवस्थामें सबसे छोटे थे, किन्तु गुणमें श्रेष्ठ थे। क्योंकि उन्होंने वामन अवतारमें राजा बलिसे तीन पैर पृथ्वी माँगकर तीनों लोक और चौदहों भुवनों-को नाप लिया था। (यदि पूछो कि इतने बड़े पराक्रमी और यशस्वी होते हुए भी भगवानने यह दुर्बलताका काम क्यों किया तो इसका उत्तर यह है कि) धर्ममार्गपर चलनेवाला राजा भी माँगनेके सिवाय और किसी उपायसे पदच्युत नहीं किया जा सकता—इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था॥ १७॥ बलिके कुलगुरु शुक्राचार्यने यद्यपि राजा बलिको वैसा दान देनेसे रोका, किन्तु उस मनस्वी राजाने गुरुकी बात भी टाल दी और दान दे ही डाला और वामनभगवानके चरणजलको अपने माथे चढ़ाया। जब भगवान तीनों लोक और चौदहों भुवन नाप लिये, फिर भी साढ़े तीन पैरमें कुछ जमीन कम पड़ी तब राजा बलिने उसे पूरा करनेके लिए माथा झुकाकर अपना शरीर ही उनको अर्पण कर दिया। इस अलौकिक त्यागका उन्हें यह फल मिला कि वे देवताओंके भी स्वामी माने जाने लगे॥ १८॥ हे नारद! वे ही भगवान एक समय तुम्हारे उज्ज्वल भक्तिभावको देख तथा बड़े प्रसन्न होकर हंसके रूपमें अवतरे थे और तुमको उन्होंने आत्मज्ञान प्रदान करनेवाला ज्ञान और भक्ति योग प्रदान किया था कि जिसे केवल उनके अनन्य भक्त ही पा सकते हैं और कोई नहीं॥१९॥ और-और

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्तिर्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति ।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके ॥२१॥
क्षत्रं क्षयाय विधिनोपभृतं महात्मा ब्रह्मध्रुगुज्झितपथं नरकार्तिलिप्सु ।
उद्धन्त्यसाववनिकण्टकमुग्रवीर्यस्त्रिःसप्तकृत्व उरुधारपरश्वधेन ॥२२॥
अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश इक्ष्वाकुवंश अवतीर्य गुरोर्निदेशे ।
तिष्ठन् वनं सदयितानुज आविवेश यस्मिन् विरुध्य दशकन्धर आर्तिमार्च्छत् ॥२३॥
यस्मा अदादुदधिरूढभयाङ्गवेपो मार्गं सपद्यरिपुरं हरवद्दिधक्षोः ।
दूरे सुहृन्मथितरोषसुशोणदृष्ट्या तातप्यमानमकरोरगनक्रचक्रः ॥२४॥
वक्षःस्थलस्पर्शरुग्णमहेन्द्रवाहदन्तैर्विडम्बितककुब्जुष ऊढहासम् ।
सद्योऽसुभिः सह विनेष्यति दारहर्तुर्विस्फूर्जितैर्धनुष उच्चरतोऽधिसैन्ये ॥२५॥
भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥२६॥
तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकायास्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः ।
यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा उन्मूलनं त्वितरथार्जुनयोर्न भाव्यम् ॥२७॥

मन्वन्तरोंमें भगवान दसों दिशाओंमें अपने प्रभावरूपी सुदर्शन चक्रका तेज फैलाते और अपने पुनीत कार्योंसे सुन्दर कीर्तिका विस्तार करते हुए मनुके रूपमें विराजमान रहते और सारी त्रिलोकी, यहाँ तक कि सत्य लोकके भी दुष्ट राजाओंको दण्ड देते हैं ॥ २० ॥ वे ही भगवान संसारके महारोगियोंका अपने नामसे ही रोग दूर करते हुए धन्वन्तरिरूपमें अवतरे थे। वे कीर्तिके मूर्तिमान् स्वरूप थे और उनकी मरणविहीन लम्बी आयु थी। किसी समय दैत्योंने उनका यज्ञभाग छीन लिया था, किन्तु अपने प्रबल प्रतापसे उन्होंने उसे फिरसे प्राप्त कर लिया और आयुर्वेदशास्त्रके तो मानो प्रवर्तक ही ठहरे ॥ २१ ॥ जब जगत्का विनाश करनेके लिये विधाताने ऐसे राजाओंकी बढ़ती कर दी कि जो नरककी यातनाके अधिकारी थे। जिन्होंने अच्छा मार्ग त्याग दिया और ब्राह्मणोंको भी सताना आरम्भ कर दिया था। उस समय वे अतुलित बलधारी परशुरामके रूपमें अवतरे और उन्होंने तीक्ष्ण धारवाले अपने फरसेसे एक सौ इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियविहीन किया ॥ २२ ॥ हम लोगोंपर कृपालु वे मायापति नारायण अपनी कलाओंके साथ-साथ इक्ष्वाकुवंशमें राम होकर अवतरेंगे। उस समय पिताकी आज्ञा मानकर अपने भ्राता लक्ष्मण तथा पत्नी सीताके साथ वनको चले जायँगे और दशकन्धर रावणसे शत्रुता ठानेंगे ॥ २३ ॥ जब राम रावणसे लड़नेके लिए लंकापर चढ़ाई करनेको चलेंगे तो बीचमें समुद्र आयेगा। उस समय सीताका स्मरण करके कुपित शंकरकी तरह अपनी लाल-लाल आँखोंसे उसकी ओर निहारेंगे। जिससे सारे समुद्रका जल खौलने लगेगा—मगर, सर्प और नक्र झुलसने लगेंगे और समुद्र थर-थर थर-थर काँपने लगेगा और बड़े विनीत भावसे वह उनको रास्ता दे देगा ॥ २४ ॥ भगवान रामचन्द्र विशाल वाहिनीके बीचमें खड़े होकर ज्योंही अपने धनुषका टंकोर करेंगे, उसी समय वह रावण कि—जिसने अपने पराक्रमसे इन्द्रके ऐरावतके दाँत तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे और वे टुकड़े सब दिशाओंमें बिखरकर सभी दिशाओंको उज्वल कर दिये थे अतएव अधिक अभिमानी जो रावण सबको हँसता था, उसकी उस हँसीके साथ-साथ राम उसके प्राणोंको भी ले बीतेंगे ॥ २५ ॥ वे ही नारायण राक्षसोंसदृश राजाओंकी सेनाके अत्याचारसे दुःखिनी पृथ्वीका दुःख दूर करनेके लिए अपने बड़े भ्राता बलरामके साथ-साथ अवतार लेंगे और साधारण जनोंसे अज्ञेय ऐसे-ऐसे कार्य करेंगे कि जिससे उनकी महिमाका विस्तार होगा और इसीसे स्पष्ट हो जायगा कि वे ईश्वर हैं ॥ २६ ॥ यदि वे ईश्वर न होते तो भला एक तीन महीनेका बालक पूतना जैसी विकराल राक्षसीको कैसे मारता,

यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीथान् पालाँस्त्वजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या ।
तच्छुद्धयेऽतिविषवीर्यविलोलजिह्वमुच्चाटयिष्यदुरगं विहरन् ह्रदिन्याम् ॥२८॥
तत्कर्मदिव्यमिव यन्निशि निःशयानं दावाग्निना शुचिवने परिदह्यमाने ।
उन्नेष्यति व्रजमतोऽवसितान्तकालं नेत्रे पिधाप्य सबलोऽनधिगम्यवीर्यः ॥२९॥
गृह्णीत यद्यदुपबन्धममुष्य माता शुल्वं सुतस्य न तु तत्तदमुष्य माति ।
यज्जृम्भतोऽस्य वदने भुवनानि गोपी संवीक्ष्य शङ्कितमनाः प्रतिबोधिताऽऽसीत् ॥३०॥
नन्दं च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशाद्गोपान् बिलेषु पिहितान्मयसूनुना च ।
अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण लोकं विकुण्ठ उपनेष्यति गोकुलं स्म ॥३१॥
गोपैर्मखे प्रतिहते व्रजविप्लवाय देवेऽभिवर्षति पशून् कृपया रिरक्षुः ।
धर्तोच्छिलीन्ध्रमिव सप्त दिनानि सप्तवर्षो महीध्रमनघैककरे सलीलम् ॥३२॥
क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन ।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य ॥३३॥
ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः ।
अन्ये च शाल्वकपिबल्वलदन्तवक्त्रसप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः ॥३४॥

एक पैरके फेंकनेसे शकटासुरको कैसे उलट देता और घुटनोंके सहारे रेंगते-रेंगते बड़े ऊँचे यमलार्जुनको टाँगोंके बीचमें फँसाकर कैसे उखाड़ डालता ॥ २७ ॥ यमुनाका विषैला जल पीकर मरे हुए व्रजके पशुओं और ग्वालबालोंको अपनी कृपापूर्ण दृष्टिसे निहारकर ही कैसे जीवित कर देता । वे ही कृष्ण जलको शुद्ध करनेके लिए खेलते-खेलते यमुनाजीमें कूदकर लपलपाती जीभोंवाले और महाविषैले (कालिया) सर्पको वहाँसे निकालकर ही दम लेंगे ॥ २८ ॥ उनके इन कर्मोंको लोग दिव्य (अमानुषी) कर्म कहेंगे । एक बार ग्रीष्म ऋतुमें वनोंमें आग लग जायगी और समस्त व्रजवासियोंके प्राण संकटमें पड़ जायँगे, उस समय बलरामके साथ श्रीकृष्णजी सबकी आँखें मुँदवाकर क्षणभरमें वह संकट टालकर व्रजका उद्धार कर लेंगे ॥ २९ ॥ एक समय यशोदा कृष्णको बाँधने चलेंगी, उस समय वह जिन जिन रस्सियोंसे बाँधना चाहेगी वे सब छोटी पड़ती जायँगी । एक समय जँभाई लेते समय यशोदा कृष्णके मुखमें तीनों लोकों और चौदहों भुवनोंको देखकर चकरा जायगी और उसी समय उसे भगवान्‌की महिमाका ज्ञान हो जायगा ॥ ३० ॥ वे कृष्ण वरुणके पाशमें बँधे हुए नन्दको छुड़ायेंगे । मय दानवके पुत्र व्योमासुरकी चपेटमें पड़े हुए ग्वाल-बालोंको भी वे छुड़ायेंगे और दिन भर कठिन परिश्रम करके रातमें सोते हुए सभी गोकुलनिवासियोंको वैकुण्ठधाममें पहुँचा देंगे ॥ ३१ ॥ जब वहाँके गोप इन्द्रके वार्षिक यज्ञका विरोध करके गोवर्धनकी पूजा करने लगेंगे, तब इन्द्र सारे वृजको बहा देनेके विचारसे घनघोर वृष्टि करेंगे । उस समय केवल सात वर्षकी अवस्थावाले भगवान कृष्णचन्द्र उन ग्वालबालों और व्रजके पशुओंको बचानेके लिए गोवर्धन पर्वतको एक कठफुल्लेकी तरह अपने हाथों उठा लेंगे और पूरे सात दिनतक उसे उसी तरह लिये रहेंगे ॥ ३२ ॥ आधी रातके समय जब चन्द्रदेव अपनी उज्ज्वल किरणोंसे सारे संसारको गौर वर्णका ओहार ओढ़ाते रहेंगे, उस समय श्रीकृष्णभगवान रासक्रीड़ा करनेके विचारसे सुन्दर पदविन्यासयुक्त एवं हृदयस्पर्शी आलाप लेकर गीत गावेंगे, जिसे सुनकर कामसे बेहाल हो सारी व्रजवधूटियाँ उनके पास दौड़ जायँगी । उसी अवसरपर कुबेरका अनुचर शंखचूड़ उन गोपियोंको चुरानेके विचारसे वहाँ पहुँचेगा और भगवान उसका मस्तक काट गिरावेंगे ॥ ३३ ॥ उसके अतिरिक्त प्रलम्ब, खर (धेनुकासुर), बकासुर, केशी, अरिष्ट, कंसके पहलवान, कुवलयापीड हाथी, कंस, यवन, कुज (नरकासुर) और पौण्ड्रक, शाल्व, कपि (द्विविद बन्दर)

ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः काम्बोजमत्स्यकुरुकैकयसृञ्जयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलभीमपार्थव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥३५॥
कालेन मीलितधियामवमृश्य नृणां स्तोकायुषां स्वनिगमो बत दूरपारः ।
आविर्हितस्त्वनुयुगं स हि सत्यवत्यां वेदद्रुमं विटपशो विभजिष्यति स्म ॥३६॥
देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः ।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् ॥३७॥
यर्ह्यालयेष्वपि सतां न हरेः कथाः स्युः पाखण्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः ।
स्वाहा स्वधा वषडिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेर्भगवान् युगान्ते ॥३८॥
सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः ।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या मायाविभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः ॥३९॥
विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि ।
चस्कम्भ यः स्वरंहसास्खलता त्रिपृष्ठं यस्मात्त्रिसाम्यसदनादुरुकम्पयानम् ॥४०॥
नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये ।
गायन् गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥४१॥
येषां स एव भगवान्दययेदनन्तः सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वसृगालभक्ष्ये ॥४२॥

बल्वल, दन्तवक्त्र, सप्तोक्ष, शंबर, विदूरथ तथा रुक्मी ॥ ३४ ॥ अथवा काम्बोज, मत्स्य, कुरु, कैकय और सृञ्जय आदि जो भी राजे हाथमें धनुष-बाण लेकर संग्रामभूमिमें उतरेंगे, उन सबको बलराम, भीम, अर्जुनसे मरवा तथा कितनोंको अपने हाथों मारकर अपने वैकुण्ठ धामको भेज देंगे ॥ ३५ ॥ बहुत समय बाद जब संसारके अल्पायु मनुष्योंकी बुद्धि कुण्ठित हो जायगी और उनके लिए वेदोंका समझना कठिन हो जायगा, तब वे ही नारायण व्यासरूपमें सत्यवतीके गर्भसे जन्म लेकर वेदरूपी वृक्षकी अनेक शाखायें और उपशाखायें बनाकर उसके कई भाग कर देंगे (जिससे वह सरल हो जायगा) ॥ ३६ ॥ वेदमार्गपर आस्था रखकर दैत्यों द्वारा किये गये सत्कर्मों और मय दानवके प्रयत्नसे जब भीतर ही भीतर उनका बल बढ़ जायगा तो वे सब लोगोंको नष्ट करने लगेंगे। ऐसी अवस्थामें भगवान उनकी बुद्धिको भ्रममें डालनेवाला बहुत ही सुन्दर वेष बनाकर बुद्ध अवतार लेंगे और बहुतसे उपधर्मोंका वर्णन करेंगे (ऐसा करनेसे दैत्य लोग वैदिक धर्म त्यागकर अधर्मके मार्गपर चलने लगेंगे और अपने आप उनका नाश हो जायगा) ॥ ३७ ॥ जब सज्जनोंके घरोंमें भी नारायणके गुण नहीं गाये जायँगे, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ये तीनों ही पाखण्डी हो जायँगे और जगत्के सभी राजे शूद्र हो जायँगे और स्वाहा, स्वधा तथा वषट्कारका शब्द भी कहीं नहीं सुनाई देगा तब युगके अन्तमें भगवान कल्किरूपमें अवतरेंगे और भयानक कलिका शासन करेंगे ॥ ३८ ॥ सृष्टिकार्यमें तप, मैं (ब्रह्मा) कर्दम आदि ऋषि, मरीचि आदि नौ प्रजापति, ये उन नारायणकी विभूति हैं। इसी तरह पालनकार्यमें—विष्णु, धर्म, यज्ञ, मनु, देवता और राजे उनकी विभूति हैं। संहारकार्यमें—अधर्म, शिव, सर्प और दैत्यगण, ये महाशक्तिशालिनी विभूतियाँ हैं ॥ ३९ ॥ जो विद्वान् पृथ्वीके परमाणुओंको गिननेमें समर्थ हो चुके थे, वे भी नारायणके गुणोंकी गणना करनेमें असमर्थ ही रहे। जिन्होंने प्रबल वेगसे काँपते हुए सत्यलोक तकको अपने वशमें कर लिया और जो सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंपर विजय प्राप्त करके त्रिगुणातीत हो गये थे, उनके गुणोंको गिनना कोई साधारण बात है? ॥ ४० ॥ इन महापुरुषका अन्त न मैं पा सका और न तुमसे भी बड़े-बड़े मुनिजन ही पा सके। यहाँ तक कि हजार मुखवाले शेषभगवान रात-दिन इनका गुण गाते हुए भी उनका पार नहीं पा रहे हैं ॥ ४१ ॥ यदि आप कहें कि जब कोई उनका पार नहीं पाता तो लोग मुक्त कैसे होते हैं? तो

वेदाहमङ्ग परमस्य हि योगमायां यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः ।
पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च प्राचीनबर्हिर्ऋभुरङ्ग उत ध्रुवश्च ॥४३॥
इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधिरघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः ।
मान्धात्रलर्कशतधन्वनुरन्तिदेवा देवव्रतो बलिरमूर्त्तरयो दिलीपः ॥४४॥
सौभर्युतङ्कशिबिदेवलपिप्पलादसारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः ।
येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्तपार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतदेववर्याः ॥४५॥
ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः ।
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥४६॥
शश्वत्प्रशान्तमभयं प्रतिबोधमात्रं शुद्धं समं सदसतः परमात्मतत्त्वम् ।
शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना ॥४७॥
तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद्विदुरजस्रसुखं विशोकम् ।
सध्र्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतिं जह्युः स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्रः ॥४८॥
स श्रेयसामपि विभुर्भगवान् यतोऽस्य भावस्वभावविहितस्य सतः प्रसिद्धिः ।
देहे स्वधातुविगमेऽनुविशीर्यमाणे व्योमेव तत्र पुरुषो न विशीर्यतेऽजः ॥४९॥

सुनिए—वे करुणागार नारायण जिनपर दया करते हैं और वे दयाभाजन भक्त यदि छलशून्य मन, वचन और कर्मसे एकमात्र नारायणके हो जाते हैं तो भगवानकी उस दुस्तरमायाको पार कर जाते हैं। फिर कुत्ते और सियारोंके भोजनस्वरूप इस तुच्छ शरीरपर उनकी ममता नहीं रह जाती ॥ ४२ ॥ मायाके भीतरी रहस्यसे अनजान होते हुए भी बहुतसे लोग यह जानते ही हैं कि माया क्या वस्तु है। उन जाननेवालोंमें हम, तुम, शिव, प्रह्लाद, स्वायंभुव मनु, उनकी पत्नी शतरूपा, उनके बेटे-बेटियाँ, प्राचीनबर्हि, राजा वेनके पिता, अंग और ध्रुव ॥ ४३ ॥ इक्ष्वाकु, ऐल (पुरूरवा) मुचुकुन्द, जनक, गाधि, रघु, अंबरीष, सगर, गय, नहुषके बेटे ययाति, मांधाता, अलर्क, शतधनु, अनु, रन्तिदेव, देवव्रत (भीष्म), बलि, अमूर्तरय (काम ?) और दिलीप-॥ ४४ ॥ सौभरि, उत्तंक, शिबि, देवल, पिप्पलाद, सारस्वत, उद्धव, पराशर, भूरिषेण और इनके अतिरिक्त विभीषण, हनुमान, उपेन्द्रदत्त (शुक) पार्थ, ऋष्टिषेण तथा श्रुतदेव ॥ ४५ ॥ ये ही लोग भगवानकी मायाको जानते हैं। इनके सिवाय अगणित स्त्री, शूद्र, हूण, शबर, तिर्यक्जातिके पापी जीव भी अद्भुत गतिवाले उन नारायणके बताये मार्गसे चलते हुए उनकी भक्ति करते हैं तो इस कराल देवमायाको पार कर जाते हैं, तब उनके विषयमें क्या कहना है कि तो भगवानके यशको सुनते और मनको सब तरफसे समेटकर भगवानमें लगाये रहते हैं ॥ ४६ ॥ भगवानका वह कौनसा स्वरूप है कि जिसमें मन लगाकर लोग देवमायासे निस्तार पाते हैं ? सुनिए—वह स्वरूप ऐसा है कि जहाँ मनके पहुँचनेपर परम शान्ति मिलती है, वहाँ किसी प्रकारका भय नहीं रह जाता, वहाँ एकमात्र ज्ञानरसका स्वाद मिलता है—वह ज्ञान सदा शुद्ध रहता है, वहाँ अच्छे-बुरे कामका भेदभाव नहीं रहता, वहाँ केवल आत्मतत्त्वकी झाँकी होती रहती है, वहाँपर बहुतेरे कारकों (काम करनेवालों) द्वारा किये जानेवाले न काम हैं और न उनका फल ही है। इन्द्रियोंसे केवल ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती रहती है। वहाँ पहुँच जानेपर माया लज्जित होकर अपने आप खिसक जाती है ॥ ४७ ॥ उस परम पुरुषका वही स्थान है, जिसे बड़े-बड़े मुनिजन नित्य सुखस्वरूप, शोकरहित एवं ब्रह्म कहते हैं। जो लोग उनमें अपना मन लगाकर कृतार्थ हो जाते हैं, उन्हें फिर कुछ करना-धरना शेष नहीं रह जाता। वे उनमें मन लगाकर अपना कर्तापन वैसे ही त्याग देते हैं। जैसे कि कूप खुदकर तैयार हो जानेपर फावड़े, कुदाल आदिकी आवश्यकता नहीं रह जाती ॥ ४८ ॥ क्योंकि वे नारायण ही तो सब प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंका फल देते

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः । समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात्सदसच्च यत् ॥५०॥
इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् । सङ्ग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु ॥५१॥
यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति । सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय ॥५२॥
मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः । शृण्वतः श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति ॥५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मनारदसंवादे सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

राजोवाच

ब्रह्मणा चोदितो ब्रह्मन् गुणाख्यानेऽगुणस्य च । यस्मै यस्मै यथा प्राह नारदो देवदर्शनः ॥१॥
एतद्वेदितुमिच्छामि तत्त्वं वेदविदां वर । हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः ॥२॥
कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि । कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥३॥
शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् । कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥४॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् । धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥५॥
धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति । मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा ॥६॥
यदधातुमतो ब्रह्मन्देहारम्भोऽस्य धातुभिः । यदृच्छया हेतुना वा भवन्तो जानते यथा ॥७॥

हैं और वे ही सबका स्वभाव समझ तथा सब सत्कर्मोंका पर्यालोचन करके उसीके अनुसार निर्णय करते हैं। संसारके साधारण प्राणी देहकी धातुओंके क्षीण हो जानेपर देहको त्याग देते हैं, फिर भी आकाशतत्त्व को नहीं त्याग पाते। इस प्रकार वे अजन्मा पुरुष देहके साथ जन्म लेते हैं, पर देहके साथ नष्ट न होकर लोगोंके सत्कर्मोंका फल देते रहते हैं॥ ४९ ॥ हे तात ! वे विश्वभावन भगवान इस तरहके हैं। मैंने जो बताया है, वह बहुत संक्षेपमें है। भगवानके आगे सत्-असत् या कार्य-कारण कुछ भी नहीं रह जाता॥ ५० ॥ इस भागवतशास्त्रको भगवानने मुझे सुनाया था, उसे मैं आज तुम्हें सुना रहा हूँ। यह विभूतियोंका विशाल संग्रह है। तुम इसे अपनाकर इसका विस्तार करो॥ ५१ ॥ जिस प्रकार इसके कहने-सुननेसे भविष्यमें लोग भगवानकी भक्ति करें, ऐसा दृढ़ निश्चय करके तुम उन महाप्रभुकी लीलाओंका सुन्दर ढंगसे वर्णन करो। क्योंकि भक्तिरसके बिना उस महान् तत्त्वका परिज्ञान नहीं हो सकता॥ ५२ ॥ जो लोग श्रद्धापूर्वक ईश्वरकी लीलाके साथ-साथ मायाका वर्णन करते या सुनते रहते हैं तो मायाके फेरमें उनकी आत्मा नहीं पड़ती॥ ५३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे सप्तमोऽध्यायः॥ ७ ॥

(राजाका श्रीमद्भागवतसम्बन्धी प्रश्न) राजा परीक्षितने श्रीशुकमुनिसे कहा—'हे भगवन् ! ब्रह्माजीकी प्रेरणासे देवदर्शी नारदने किस-किससे उन गुणातीतके गुणोंका गान किया ? ॥ १ ॥ हे वेदज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मुनिराज ! मैं इस बातको जानना चाहता हूँ। क्योंकि अद्भुत पराक्रमशाली उन नारायणकी कथायें सबका कल्याण करती हैं॥ २ ॥ हे महाभाग ! आप हमें कोई ऐसा उपाय बताइए कि जिससे मैं निखिल विश्वके आत्मास्वरूप भगवानमें अपना निःसंग मन लगाकर इस कलेवरको त्याग दूँ॥ ३॥ जो लोग श्रद्धाके साथ नित्य भगवानकी लीलाओंको सुनते रहते हैं तो बहुत थोड़े दिनोंमें ही नारायण उनके हृदय-मंदिरमें जा विराजते हैं॥ ४ ॥ वे प्रेमी श्रोताओंके कर्णपथसे हृदयकमलपर जाकर उस प्राणीके सब पापोंको उसी तरह नष्ट कर देते हैं, जैसे शरद् ऋतु पानीका मैलापन दूर कर देती है॥ ५॥ इस तरह जिसके पाप धुल जाते हैं, वह फिर कभी भी श्रीकृष्णभगवानके चरणोंको नहीं छोड़ता और फिर उसे वैसे ही कोई क्लेश नहीं होता जैसे कोई पथिक लम्बा रास्ता तै करके घर पहुँच जानेपर सुखी होता है॥ ६ ॥ हे ब्रह्मन् ! वास्तवमें इस जीवका पृथिवी-जल आदि पाँच महा-

आसीद्यदुदरात्पद्मं लोकसंस्थानलक्षणम् । यावानयं वै पुरुष इयत्तावयवैः पृथक् ॥
तावानसाविति प्रोक्तः संस्थावयववानिव ॥८॥
अजः सृजति भूतानि भूतात्मा यदनुग्रहात् । ददृशे येन तद्रूपं नाभिपद्मसमुद्भवः ॥९॥
स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः । मुक्त्वाऽऽत्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः ॥१०॥
पुरुषावयवैर्लोकाः सपालाः पूर्वकल्पिताः । लोकैरमुष्यावयवाः सपालैरिति शुश्रुम ॥११॥
यावान् कल्पो विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते । भूतभव्यभवच्छब्द आयुर्मानं च यत्सतः ॥१२॥
कालस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वी बृहत्यपि । यावत्यः कर्मगतयो यादृशीर्द्विजसत्तम ॥१३॥
यस्मिन् कर्मसमावायो यथा येनोपगृह्यते । गुणानां गुणिनां चैव परिणाममभीप्सताम् ॥१४॥
भूपातालककुब्व्योमग्रहनक्षत्रभूभृताम् । सरित्समुद्रद्वीपानां सम्भवश्चैतदोकसाम् ॥१५॥
प्रमाणमण्डकोशस्य बाह्याभ्यन्तरभेदतः । महतां चानुचरितं वर्णाश्रमविनिश्चयः ॥१६॥
अवतारानुचरितं यदाश्चर्यतमं हरेः । युगानि युगमानं च धर्मो यश्च युगे युगे ॥१७॥
नृणां साधारणो धर्मः सविशेषश्च यादृशः । श्रेणीनां राजर्षीणां च धर्मः कृच्छ्रेषु जीवताम् ॥१८॥
तत्त्वानां परिसंख्यानं लक्षणं हेतुलक्षणम् । पुरुषाराधनविधिर्योगस्याध्यात्मिकस्य च ॥१९॥

भूतोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि उनसे देहकी रचना होती है। यह कार्य बिना किसी प्रयोजनके होता है या कर्म आदिके द्वारा यह सब होता है, इस बातको आप भलीभाँति जानते हैं। सो हमको भी बताइए ॥ ७ ॥ जिनके उदरसे सब लोकोंकी रचनाका मूल कारण उत्पन्न हुआ, उन परमेश्वरने अपने ही परिमित अवयवोंसे युक्त लौकिक पुरुषोंकी रचना की या उनमें कुछ अन्तर रहा ? यदि दोनों (परम पुरुष और लौकिक पुरुष) एक ही तरहके रहे तो फिर ईश्वरमें विशेषता ही क्या रह गई ॥८॥ जिनकी कृपासे समग्त प्राणियोंके नियन्ता श्री ब्रह्माजी सब जीवोंकी सृष्टि करते हैं और उन्हीं नारायणकी कृपारूपी नाभिकमलसे जायमान ब्रह्माजीने उनके स्वरूपको देख पाया था ॥ ९ ॥ विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले वे मायापति भगवान अपनी मायाको त्यागकर जहाँ और जिस रूपमें रहते हों, सो बताइए ॥ १० ॥ मैंने सुना है कि उसी परम पुरुषके अवयवोंसे सब लोकों और लोकपालोंकी सृष्टि हुई है। और उन्हीं लोकों और लोकपालोंसे उसके अवयव बने हैं ॥ ११ ॥ इसलिए आप हमको यह बताइए कि कल्प क्या वस्तु है और विकल्प किसे कहते हैं ? कालका अनुमान किस तरह किया जाता है ? भूत, भविष्य और वर्तमानकालका अनुमान कैसे होता है और स्थूलदेहधारी मनुष्य, पितर और देवताओंकी आयुका क्या प्रमाण है ? ॥ १२ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! हमको आप कालकी सूक्ष्म गति और बृहत् गति बताइए और यह भी बताइए कि कर्मकी कितनी गतियें हैं और उनका स्वरूप क्या है ॥ १३ ॥ जो लोग सत्त्वादि गुणोंके फलसे देवादि रूप प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे गुणी जीवोंमेंसे कौन जीव कितने पुण्यों या पापोंके फलसे, किस कर्मके समुदायसे कैसे देवादि भावोंको प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥ पृथ्वी, पाताल, दिशायें, आकाश, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप आदि कैसे उत्पन्न हुए ? उत्पत्तिके पहले ये कहाँ थे ॥ १५ ॥ इस महान् अण्डकोशका बाहर और भीतरसे कितना विस्तार है। मरीचिकर्दम आदि बड़े-बड़े ऋषियोंका आचार-व्यवहार कैसा था और वर्णधर्मका तत्त्व निर्धारण कैसे होता है ॥ १६ ॥ अतिशय विस्मयजनक भगवानके अवतारोंके चरित्र, युग और युगका परिमाण बताइए और यह भी बताइए कि किस युगमें किस धर्मका मान होता है ॥ १७ ॥ जनसाधारणका सामान्य और विशेष धर्म, विविध प्रकारके व्यवसाय करनेवालोंका धर्म, अच्छे राजाओंके धर्म और आपत्तिमें पड़े हुए लोगोंके क्या धर्म हैं, सो आप हमें बताइए ॥ १८ ॥ प्रकृति आदि समस्त तत्त्वोंकी संख्या, उनका स्वरूप और कार्य-कारण वश उनमें जो उलट-फेर होते हों, वह भी बताइए। देवपूजनकी विधि, आध्यात्मिक योग और अष्टाङ्ग योगकी भी

योगेश्वरैश्वर्यगतिर्लिङ्गभङ्गस्तु योगिनाम् । वेदोपवेदधर्माणामितिहासपुराणयोः ॥२०॥
सम्प्लवः सर्वभूतानां विक्रमः प्रतिसंक्रमः । इष्टापूर्तस्य काम्यानां त्रिवर्गस्य च यो विधिः ॥२१॥
यश्चानुशायिनां सर्गः पाखण्डस्य च सम्भवः । आत्मनो बन्धमोक्षौ च व्यवस्थानं स्वरूपतः ॥२२॥
यथाऽऽत्मतन्त्रो भगवान् विक्रीडत्यात्ममायया । विसृज्य वा यथा मायामुदास्ते साक्षिवद्विभुः २३
सर्वमेतच्च भगवन् पृच्छते मेऽनुपूर्वशः । तत्त्वतोऽर्हस्युदाहर्तुं प्रपन्नाय महामुने ॥२४॥
अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः । परे चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम् ॥२५॥
न मेऽसवः परायन्ति ब्रह्मन्ननशनादमी । पिबतोऽच्युतपीयूषमन्यत्र कुपिताद् द्विजात् ॥२६॥

सूत उवाच

स उपामन्त्रितो राज्ञा कथायामिति सत्पतेः । ब्रह्मरातो भृशं प्रीतो विष्णुरातेन संसदि ॥२७॥
प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम् । ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते ॥२८॥
यद्यत्परीक्षिदृषभः पाण्डूनामनुपृच्छति । आनुपूर्व्येण तत्सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे प्रश्नविधिर्नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

विधि आप मुझे बतावें ॥ १९ ॥ बड़े-बड़े योगियोंकी अणिमा-महिमा आदि सिद्धियोंके सहारे अर्चिष्मान् आदि लोकोंकी गति, योगियोंके लिंगशरीरका नाश, ऋग्-यजुः आदि वेद, आयुर्वेद आदि उपवेद, धर्म-शास्त्र, इतिहास तथा पुराणोंका जो स्वरूप हो, वह कृपा करके आप हमको बताइए ॥ २० ॥ जगत्के सब प्राणियोंका प्रलय, उनकी स्थिति, महाप्रलय, वैदिक कर्म, स्मार्त (स्मृतिशास्त्रोक्त) कर्म और धर्म अर्थ तथा कामकी पूर्तिके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंकी क्या विधि है ? ॥ २१ ॥ उपाधिरहित जीवोंके धर्म, उनकी सृष्टि, पाखंडियोंकी उत्पत्ति, आत्माका बन्धन तथा मोक्ष और जीवका बन्धन और मोक्षसे पृथक् स्थिति कैसे होती है ? ॥ २२ ॥ और यह भी बताइए कि वे स्वतन्त्र भगवान् अपनी मायाके साथ किस प्रकार खेलवाड़ करते हैं और प्रलयकालमें वे सर्वव्यापक नारायण एक साक्षीकी तरह अकेले कैसे शेष रह जाते हैं ॥ २३ ॥ हे भगवन् ! मुझ शरणागतके प्रश्नोंका आप समाधान करें। क्योंकि हे महामुने ! अच्छी तरहसे आप ही इन सब बातोंको समझा सकते हैं ॥ २४ ॥ जिस तरह श्रीब्रह्माजी सब शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, उसी तरह आप भी सर्वज्ञ हैं। आपके सिवाय और लोग तो गतानुगतिक ढंगसे पूर्वजोंकी बतायी पुरानी पद्धतियोंपर ही चलते जाते हैं ॥ २५ ॥ यदि आप कहें कि तुम एक तो कुछ खा-पी नहीं रहे हो, इससे कमजोरी आ गयी होगी। दूसरे ब्राह्मणके शापकी चिन्ता व्यग्र किये होगी। ऐसी दशामें इतने प्रश्नोंका विस्तृत उत्तर कैसे सुन सकोगे तो हे ब्रह्मन् ! भगवानके गुणरूपी अमृतका पान करते रहनेसे अनशनके कारण मेरे प्राण नहीं निकलेंगे। हाँ, कुपित ब्राह्मणके शापसे मेरे प्राण भले ही निकल जायँ, लेकिन मैं उससे डरता नहीं हूँ ॥ २६ ॥ सूतजी कहते हैं—इस प्रकार उस विष्णुभक्त राजा परीक्षितके पूछनेपर ब्रह्मपरायण महर्षि शुकदेव बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि मैं आपके प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ ॥ २७ ॥ इसके बाद उन्होंने भागवत नामक महापुराण कहना प्रारम्भ किया। जो महापुराण ब्रह्मकल्पमें भगवानने ब्रह्माजीसे कहा था ॥ २८ ॥ पाण्डववंशमें श्रेष्ठ महाराज परीक्षितने जो कुछ पूछा था, उन सब बातोंको क्रमशः कहकर समझाने लगे ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी' भाषाटीकायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः। न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा ॥१॥
बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया। रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥२॥
यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः। रमेत गतसम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥३॥
आत्मतत्त्वविशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम्। ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीकव्रतादृतः ॥४॥

स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तां नाध्यगच्छद्दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत् ॥५॥
स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ॥६॥
निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः ॥७॥
दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः।
अतप्यत स्माखिललोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः ॥८॥

(श्रीमद्भागवतका आरम्भ) श्रीशुकदेव कहने लगे—हे राजन्! आत्मा अनुभव रूप है। सो जीवका देहसम्बन्ध उस आत्माकी मायाके बिना नहीं हो सकता। जैसे स्वप्न देखनेवाला मनुष्य जबतक जागृत अवस्थाकी सब बातें भूलकर मनरूपी मायामें नहीं लिपटता, तबतक उससे स्वप्नमें देहादिका सम्बन्ध नहीं होता ॥ १ ॥ उस बहुरूपिणी मायाके कारण यह संसार भी बहुत तरहका दिखायी देता है, जिससे प्राणी सत्त्वादि गुणोंके फेरमें पड़कर शरीरको 'मैं' और संसारको 'मेरा' करके मानने लगता है ॥ २ ॥ लेकिन जब वह प्राणी अपने आपमें मस्त होकर परमानन्दका अनुभव करने लगता है, तब प्रकृति और पुरुषके परे होकर 'मैं' और 'मेरा' रूप अज्ञानको त्यागकर मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥ आपका प्रश्न है कि परमेश्वर जब स्वयं भी देहसम्बन्ध धारण करके साधारण देही बन जाता है, तब उसकी भक्ति करनेसे मोक्ष कैसे मिलेगा? सो सुनिये—वह परमात्मा जीवको तत्त्वज्ञान करानेके ही निमित्त देही बनता है। वह संसारसे असत्यका आवरण हटाकर लोगोंको सत्यका दर्शन कराता और अपना नित्य स्वरूप प्रकट करता है। लोग व्रत और तपस्या करके उसकी आराधना करते हैं। और जीव तो अज्ञानरूपसे देहका सम्बन्ध पाये ही रहता है। यही कारण है कि वह ईश्वरकी समता नहीं कर सकता और उस देहधारी ईश्वरका भजन करनेसे उसे मुक्ति मिल जाती है ॥ ४ ॥ आदिदेव ब्रह्माजी सबके गुरु थे, जब भगवानके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए तो बहुत दिनोंतक उस कमलपर ही बैठे रहे। इसके बाद उस कमलकी जड़को खोजनेके लिए पानीमें डुबकी लगा गये। बहुत कुछ उद्योग करनेपर भी जब पता नहीं पाये, तब फिर अपनी जगहपर आ बैठे और सोचने लगे कि अब सृष्टि किस प्रकार करें, किन्तु उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा ॥ ५ ॥ इसी समय उन्होंने जलमें दो अक्षरोंका एक शब्द दो बार उच्चरित होते सुना। जिसका मतलब था—'तप करो—तप करो।' क्योंकि हे राजन्! यह तपस्या ही निर्धनोंका धन है ॥ ६ ॥ यह शब्द सुनकर ब्रह्माजी यह वाक्य कहनेवालेको चारों ओर खोजने लगे, लेकिन वे उसे नहीं देख पाये। तब अपने स्थान (कमल) पर बैठकर उन्होंने उस वाक्यपर विचार किया और जैसे किसीकी आज्ञापालन करते हुए वे तपस्यामें लीन हो गये ॥ ७ ॥ उन्होंने वायुके वेग और मनको रोक लिया। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियोंको वशमें कर लिया और महान् तपस्वी ब्रह्माजी समस्त लोकोंको तपानेवाला उग्रतम तप

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥९॥
प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः ।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥१०॥
श्यामावदाताः शतपत्रलोचनाः पिशङ्गवस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।
सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः ।
प्रवालवैदूर्यमृणालवर्चसः परिस्फुरत्कुण्डलमौलिमालिनः ॥११॥
भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।
विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥१२॥
श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगायपादयोः करोति मानं बहुधा विभूतिभिः ।
प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगैर्विगीयमाना प्रियकर्म गायती ॥१३॥
ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः स्वपार्षदमुख्यैः परिसेवितं विभुम् ॥१४॥
भृत्यप्रसादाभिमुखं दृगासवं प्रसन्नहासारुणलोचनाननम् ।
किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं पीताम्बरं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥१५॥
अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं वृतं चतुःषोडशपञ्चशक्तिभिः ।
युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ॥१६॥

करने लगे। इस तरह देवताओंके एक हजार वर्षतक वे तप करते रहे ॥ ८ ॥ बहुत दिनों तपस्या करनेके बाद भगवान्ने ब्रह्माजीको अपना वैकुण्ठलोक दिखाया। उस लोकमें लोगोंको न किसी प्रकारका क्लेश था, न भय था और न अज्ञान था। वहाँके सभी निवासी आत्मज्ञानी थे और देवता लोग भी उस लोककी सराहना कर रहे थे ॥ ९ ॥ भगवानके उस वैकुण्ठलोकमें रजोगुण और तमोगुणका कुछ भी प्रभाव नहीं था। एकमात्र सतोगुण विराज रहा था। वहाँके लोगोंपर समयका भी कोई असर नहीं होता था। यहाँ तक कि भगवान्की माया भी वहाँ विवश पड़ी थी। यह सब इसलिए था कि वहाँ भगवान्के असाधारण भक्त और उनके पार्षद निवास करते थे ॥ १० ॥ वहाँके सब निवासी श्यामवर्णके थे। कमलके सदृश उनके सुन्दर नेत्र थे। वे पीतवस्त्र पहने थे। उनके मुखकी कान्ति बड़ी ही मनोहर थी। सबके चार हाथ थे। सबके गलेमें चमचमाते हुए मणियोंके हार पड़े थे। सब लोग असाधारण तेजस्वी थे। सबके कानोंमें कुण्डल झूल रहे थे और सबके मस्तकपर किरीट देदीप्यमान हो रहा था ॥ ११ ॥ वह लोक बिजली और बादलोंसे परिपूर्ण आकाशकी तरह सुशोभित था। क्योंकि अगणित महात्माओंके प्रभाशाली विमान उस लोकमें मँडराया करते थे और बहुतेरी सुन्दरियाँ इधर-उधर भ्रमण करती दिखायी दे रही थीं ॥ १२ ॥ उस लोकमें श्री (सम्पत्ति) रूपवती होकर विविध विभूतियोंसे नारायणके चरणोंकी पूजा करती हुई झूलेपर बैठी-बैठी भगवानके उत्तम गुणोंको गा रही थी और वसन्त ऋतुके साथी भौंरे भगवती लक्ष्मीके गलेमें पड़ी पुष्पमालाकी सुगन्धिके लोभवश मँडराते हुए गुंजार करके हरिप्रिय भक्तोंके गायनका अनुसरण कर रहे थे ॥ १३ ॥ ब्रह्माने वहाँ पहुँचकर श्रीपति, जगतपति और यज्ञपति नारायणका दर्शन किया। उस समय सुनन्द-नन्द आदि उनके मुख्य पार्षद सुन्दर सामग्रियोंसे उनका पूजन कर रहे थे ॥ १४ ॥ और स्वयं नारायण अपने सेवकोंके प्रसन्न मुखको देखते हुए उनपर अपने कमनीय नयनोंकी सुधा उँडेल रहे थे। उनके मस्तकपर किरीट और कानोंमें कुण्डल पड़ा हुआ था। उनके चार भुजायें थीं। वे पीताम्बर पहने हुए थे और भगवती लक्ष्मी उनकी छातीसे चिपटी हुई थीं ॥ १५ ॥ नारायण एक उत्तम आसनपर आसीन थे। पच्चीसों

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुतान्तरो हृष्यत्तनुः प्रेमभराश्रुलोचनः ।
ननाम पादाम्बुजमस्य विश्वसृग् यत्पारमहंस्येन पथाधिगम्यते ॥१७॥
तं प्रीयमाणं समुपस्थितं तदा प्रजाविसर्गे निजशासनार्हणम् ।
बभाष ईषत्स्मितशोचिषा गिरा प्रियः प्रियं प्रीतमनाः करे स्पृशन् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग्वेदगर्भ सिसृक्षया । चिरं भृतेन तपसा दुस्तोषः कूटयोगिनाम् ॥१९॥
वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम् । ब्रह्मञ्छ्रेयःपरिश्रामः पुंसो मद्दर्शनावधिः ॥२०॥
मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् । यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ॥२१॥
प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्मविमोहिते । तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ ॥२२॥
सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः । बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥२३॥

ब्रह्मोवाच

भगवन् सर्वभूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् । वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥२४॥
तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम् । परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः ॥२५॥
यथाऽऽत्ममायायोगेन नानाशक्त्युपबृंहितम् । विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना२६
क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते । तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥२७॥

तत्त्व अपने अतुलित ऐश्वर्य और आये हुए मेहमानोंके साथ बैठे हुए थे । फिर भी अपने आपमें ही वे आनन्दित हो रहे थे ॥ १६ ॥ उनको देखते ही आनन्दातिरेकसे ब्रह्माजीकी अन्तरात्मा गील-गीली हो गयी । शरीर रोमांचित हो उठा और मारे प्रेमके उनकी आँखोंमें आँसू छलछला आये । ऐसी दशामें आत्मविभोर होते हुए उन्होंने भगवानके उन चरणोंकी वन्दना की, जो परमहंसव्रत धारण करके ज्ञान-मार्गसे प्राप्त हो सकते हैं ॥ १७ ॥ अपनी ही इच्छानुसार सृष्टिकार्यके लिए नियुक्त ब्रह्माजी-को इस प्रकार स्तुति करते देखकर भगवान बड़े प्रसन्न हुए और अपने हाथोंसे उनका स्पर्श करते तथा अपनी मन्द मुसकराहटसे सब दिशाओंको प्रकाशित करते हुए बोले ॥ १८ ॥ भगवानने कहा—'हे वेदगर्भ ब्रह्मन् ! तुमने सृष्टिकी अभिलाषासे बहुत दिनोंतक उग्र तपस्या करके मुझे खूब प्रसन्न किया है । दूषित विचारवाले लोग मुझे इस प्रकार प्रसन्न नहीं कर सकते ॥ १९ ॥ अब मुझसे अपना इच्छित वर माँगो । क्योंकि योगियोंको मेरे दर्शन पर्यन्त ही प्रयास करना पड़ता है । मेरा दर्शन पा जानेके बाद फिर उन्हें किसी बातकी कमी नहीं रह जाती ॥ २० ॥ यह मेरी इच्छाका ही प्रभाव है कि तुम मेरा यह लोक देख सके हो और मेरी घोषणाको सुनकर ही तुमने ऐसी दुष्कर तपस्या की थी ॥ २१ ॥ उस समय जब तुम सृष्टिकार्यकी योजना बनानेमें व्यग्र हो उठे थे, तब मैंने ही तुम्हें तप करनेका उपदेश दिया था । हे निष्पाप ! तप मेरा हृदय है और मैं तपस्याकी आत्मा हूँ ॥ २२ ॥ तपसे ही मैं जगत्की सृष्टि करता हूँ, तपसे इसका संहार करता हूँ और तपसे ही इस विश्वका पालन भी करता हूँ । तप मेरा सबसे प्रबल पराक्रम है ॥ २३ ॥ ब्रह्माजी बोले—'हे भगवन् ! यद्यपि आप प्रधानरूपसे सबकी बुद्धिमें बैठे-बैठे अपने अकुण्ठित ज्ञान द्वारा सबके मनकी बातें जानते हैं ॥ २४ ॥ फिर भी हे नाथ ! मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मैं किसी तरह आप अरूपके स्थूल और सूक्ष्मरूपको जान लूँ ॥ २५ ॥ विविध प्रकारकी शक्तियोंसे संघटित विश्वका जिस तरह आप संहार, सृजन और पालन करते और स्वयं ब्रह्मा आदिका रूप धारणकर सबपर अनुग्रह करते हुए क्रीडायें करते हैं ॥ २६ ॥ हे अमोघसंकल्प ! जैसे कि मकड़ी जालेका विस्तार करती, उसीमें, क्रीडा करती और जब चाहती तो जालेको अपने पेटमें ही समेटकर रख लेती है । ऐसा ही कार्य आपका भी है । हे माधव ! आप मुझे वह ज्ञान दीजिए, जिससे मैं आपके इन कामोंको समझ

भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः । नेहमानः प्रजासर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥२८॥
यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः प्रजाविसर्गे विभजामि भोजनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः ॥२९॥

श्रीभगवानुवाच

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् । सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥३०॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः । तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥३१॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् । पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥३२॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि । तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥३३॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु । प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥३४॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा ॥३५॥
एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना । भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥३६॥

श्रीशुक उवाच

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् । पश्यतस्तस्य तद्रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥३७॥
अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः । सर्वभूतमयो विश्वं ससर्जेदं स पूर्ववत् ॥३८॥

सका ॥ २७ ॥ हे भगवन् ! आपने मुझे जैसे सिखाया है, उसीके अनुसार मैं चौकसीसे प्रजाकी सृष्टि करूँगा। अब मैं आपके तत्त्वोंका ज्ञान इस वास्ते प्राप्त करना चाहता हूँ कि जिससे सृष्टिकार्य करते-करते मैं अहंकार आदिके बन्धनोंमें न बँध सकूँ ॥ २८ ॥ हे स्वामिन् ! आपने सांसारिक मित्रोंके समान अपना मित्र समझकर मेरा सम्मान किया है। सो मैं प्रजाकी सृष्टि करते समय बिना घबड़ाहटके कर्मानुसार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट आदि भेदोंसे जबतक सृष्टिकार्य करूँ तबतक मुझमें यह मद उत्पन्न न हो कि मैं अज हूँ ॥ २९ ॥ नारायण बोले—मेरा विज्ञान (अनुभवात्मक ज्ञान) युक्त ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) बड़ा गूढ़ और गोपनीय है। भक्ति और उसके अंगोंके साथ मैं उसे आज तुमको बताऊँगा ॥ ३० ॥ मैं जो हूँ, जो मेरी सत्ता है, मेरे जो गुण और कर्म हैं—मेरी कृपासे उन सबका तत्त्वज्ञान तुमको हो जायगा ॥ ३१ ॥ सृष्टिके पूर्वमें एकमात्र मैं ही था। उस समय स्थूल या सूक्ष्म और कोई भी वस्तु नहीं थी और सृष्टिका संहार हो जानेपर जो शेष रह जाता है, वह भी मैं ही हूँ ॥ ३२ ॥ जिससे जगत्के वास्तविक अर्थका पता लगता है और बिना जिसकी कृपाके हृदयमें रहते हुए भी उस ज्ञानका साक्षात्कार नहीं होता, उसे तुम मेरी माया समझो। जैसे कि जल आदिमें एकसे अनेक चन्द्रमा दीखते हैं और जैसे कि राहु ग्रहमण्डलमें रहता हुआ भी नहीं दीखता, वह दिखायी तब पड़ता है जब ग्रहण लग जाता है। उसी तरह माया वैसे दृष्टिगोचर नहीं होती। वह तो कार्य होनेपर ही दीखती है ॥ ३३ ॥ जैसे कि भौतिक पदार्थों और ऊँच-नीच सभी प्राणियोंमें पंच-महाभूत प्रविष्ट होते हैं अथवा पहलेहीसे विद्यमान रहनेके कारण प्रविष्ट नहीं भी होते। इसी प्रकार जगत्के सभी जीवोंमें मैं रहता हूँ और नहीं भी रहता। ऐसी मेरी सत्ता है ॥ ३४ ॥ तत्त्वज्ञानकी अभिलाषा करनेवालेको आत्माके विषयमें इतना ही जानना रहता है कि अन्वय (अर्थात् कार्यमें कारणरूपसे विद्यमान रहनेवाला) और व्यतिरेक (कारणकी अवस्थासे पृथक् रहनेवाला) भावसे सदा सबमें विद्यमान रहनेवाला परम तत्त्व ही ईश्वर है ॥३५॥ तुम अपना मन एकाग्र करके मेरे मनका अनुसरण करो। ऐसा करनेसे तुम किसी भी कल्पकी विविध सृष्टियोंको करते हुए इस बातका अभिमान नहीं कर सकोगे कि मैं ही सब कुछ करने-धरनेवाला हूँ ॥ ३६ ॥ श्रीशुकदेव कहते हैं—हे राजन् ! वे अजन्मा नारायण सब प्राणियोंके स्रष्टा ब्रह्माको इस प्रकार उपदेश देकर उनके देखते ही देखते अन्तर्धान हो गये ॥ ३७ ॥ इस प्रकार उपदेश देकर अन्तर्धान होनेवाले जनार्दनको हाथ

प्रजापतिर्धर्मपतिरेकदा नियमान् यमान् । भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत्स्वार्थकाम्यया ॥३९॥
तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः । शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥४०॥
मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महामुनिः । महाभागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ॥४१॥
तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् । देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान् यन्मानुपृच्छति ॥४२॥
तस्मा इदं भागवतं पुराणं दशलक्षणम् । प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूतकृत् ॥४३॥
नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप । ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामिततेजसे ॥४४॥
यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात्पुरुषादिदम् । यथाऽऽसीत्तदुपाख्यास्ये प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वितीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः । मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः ॥१॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् । वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ॥२॥
भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः । ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः ॥३॥
स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः । मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः ॥४॥

जोड़कर प्रणाम किया और जैसे और-और कल्पोंमें जगत्की सृष्टि की थी, वैसी ही इस कल्पमें भी की ॥ ३८ ॥ समस्त प्रजाके शुभचिन्तक ब्रह्मा सबके कल्याणकी इच्छासे अहिंसा तप आदि यम-नियमोंका पालन करने लग गये ॥ ३९ ॥ उनके पुत्रोंमें सर्वश्रेष्ठ पुत्र श्रीनारद अपने पिताकी सेवा करते हुए शील, सदाचार और इन्द्रियदमन आदि क्रियाओंसे ॥ ४० ॥ वे महामुनि और परम भगवद्भक्त नारद उन मायापति विष्णुकी मायाको जाननेकी इच्छासे बराबर अपने पिताकी सेवा करते हुए उन्हें प्रसन्न करते रहे ॥ ४१ ॥ किसी समय समस्त जगत्के प्रपितामह और अपने पिता ब्रह्माजीसे श्रीनारदने ठीक यही बात पूछी थी, जो तुम आज मुझसे पूछ रहे हो ॥ ४२ ॥ तब परम प्रसन्न होकर ब्रह्माजीने अपने पुत्रको भगवानके मुखसे निःसृत और दस लक्षणोंसे युक्त श्रीमद्भागवत महापुराण कह सुनाया ॥ ४३ ॥ इसके बाद उन नारदजीने सरस्वती नदीके तटपर बैठकर परब्रह्मका ध्यान करनेवाले असाधारण तेजस्वी व्यासजीको वह कथा सुनायी ॥ ४४ ॥ तुम्हारा यही प्रश्न है न कि उस विराट् पुरुषसे इस जगत्की रचना कैसे हुई ? मैं तुम्हारे इस तथा और-और प्रश्नोंका भी उत्तर उसी श्रीमद्भागवतके द्वारा दूँगा ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(भागवतके दसों लक्षण) पिछले अध्यायमें कह आये हैं कि ब्रह्माजीने नारदको दस लक्षणोंसे युक्त श्रीमद्भागवत पुराण सुनाया । अब उन्हीं दसों लक्षणोंका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं। वे ये ही दस लक्षण हैं—सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशकी अनुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय ॥ १ ॥ दसवें लक्षण आश्रयकी विशेष शुद्धिके लिए ही यहाँ नौ लक्षण बताये गये हैं। महात्मा लोग श्रुतिके अर्थोंसे समय-समयपर इसकी पुष्टि करते आये हैं ॥ २ ॥ भूत (अर्थात् आकाश, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, गंध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और उनकी) मात्रा (यानी शब्द एवं इन्द्रिय आदि और धी अर्थात् महान् एवं अहंकार) तथा गुणोंकी कमी-बेशीके अनुसार ब्रह्माजीने जो सृष्टि की, वह 'सर्ग' कहलाया । और उस विराट् पुरुषके पुरुषार्थसे जो चराचर जगत्की सृष्टि हुई, उसका 'विसर्ग' नाम पड़ा ॥ ३ ॥ भगवानका विजयी होकर स्थित रहना ही 'स्थान' कहा गया । उनकी कृपा 'पोषण' कहलायी । जिनपर वे कृपा करते हैं, उन मन्वन्तरा-

अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्तिनाम् । पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपबृंहिताः ॥५॥
निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः । मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥६॥
आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते । स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते ॥७॥
योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः । यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः ॥८॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे । त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥९॥
पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः । आत्मनोऽयनमन्विच्छन्नपोऽस्राक्षीच्छुचिः शुचीः १०
तास्ववात्सीत्स्वसृष्टासु सहस्रपरिवत्सरान् । तेन नारायणो नाम यदापः पुरुषोद्भवाः ॥११॥
द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च । यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥१२॥
एको नानात्वमन्विच्छन् योगतल्पात्समुत्थितः । वीर्यं हिरण्मयं देवो मायया व्यसृजत्त्रिधा ॥१३॥
अधिदैवमथाध्यात्ममधिभूतमिति प्रभुः । अथैकं पौरुषं वीर्यं त्रिधाभिद्यत तच्छृणु ॥१४॥
अन्तःशरीर आकाशात्पुरुषस्य विचेष्टतः । ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥१५॥
अनुप्राणन्ति यं प्राणाः प्राणन्तं सर्वजन्तुषु । अपानन्तमपानन्ति नरदेवमिवानुगाः ॥१६॥

धिपतियोंका सच्चा धर्म 'मन्वन्तर' कहा जाता है । कर्मोंका विस्तार 'ऊति' कहलाता है ॥ ४ ॥ नारायणके अवतारोंके चरित्र और उनका अनुसरण करनेवाले अगणित प्राणियोंकी विविध प्रकारकी जो गाथायें गायी गयी हैं, उन्हें 'ईशानुकथा' कहते हैं ॥५॥ अपनी समस्त शक्तियोंके साथ परमात्माके योगनिद्रामें लीन हो जानेपर जब सब लय हो जाता है तो उस अवस्थाको लोग लय अथवा 'निरोध' कहते हैं । प्राणी जब ज्ञानको भी त्यागकर ब्रह्मके समान हो जाता है, उस दशाको 'मुक्ति' कहते हैं ॥ ६ ॥ जिससे इस जगत्की सृष्टि होती है, अन्तमें जहाँ जाकर यह लय हो जाती है और जिसके द्वारा यह प्रकाशित होती है उस परब्रह्मको, जो परमात्मा नामसे प्रसिद्ध है—'आश्रय' कहते हैं ॥ ७ ॥ वह आश्रयरूप आध्यात्मिक परमात्मा ही जब नेत्र, हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंसे युक्त रहता तो आधिदैविक पुरुष अर्थात् जीव कहलाता है । फिर वही परमात्मा जब नेत्र आदिके अधिष्ठाता सूर्य आदिके रूपमें परिणत होकर एकसे अनेक हो जाता है, तब वह आधिभौतिक अर्थात् देह कहलाता है ॥ ८ ॥ इन दोनोंमेंसे किसी एकके बिना दूसरेको नहीं जान सकते । ऐसी दशामें जो तीनों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आश्रयोंके भेदोंको जानता है, उसको स्वाश्रय आत्मा कहते हैं ॥ ९ ॥ अब उस विराट् पुरुषसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका प्रकार बताते हैं । उस अण्डको फोड़कर जब वह परम पुरुष बाहर आया, तब अपने रहनेकी जगहके लिए सबसे पहले उसने अपनी आत्मासे ही जलकी सृष्टि की ॥ १० ॥ उस जलमें हजारों वर्ष रहनेके कारण उसका 'नारायण' (नर अर्थात् पुरुषसे उत्पन्न जल नार कहलाया । वह नार जिसका घर बना, वह नारायण) कहा गया ॥ ११ ॥ द्रव्य (उपादान कारण) कर्म (निमित्त) काल, स्वभाव और इन सबका उपभोग करनेवाला जीव, ये सब उस परम पुरुष नारायणके ही अनुग्रहसे विद्यमान रहते हैं (क्योंकि इनमें कुछ करने-धरनेकी शक्ति नारायणसे ही आती है) और उसकी कृपा नहीं रह जाती, तब ये सभी नष्ट हो जाते हैं ॥ १२ ॥ उसी एक पुरुषने जब एकसे अनेक होनेकी इच्छा की, तब उसने अपने गर्भरूप शरीरको ही जीव, इन्द्रिय और देवता इन तीन रूपोंमें विभक्त कर दिया ॥ १३ ॥ उस एक पुरुषकी ही शक्ति अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव—इन तीन रूपोंमें कैसे विभक्त हुई इसका विवरण सुनिए ॥ १४ ॥ उस पुरुषने जब और भी चेष्टा की तो उस शरीरस्थ आकाशसे ओज (इन्द्रियशक्ति) के साथ-साथ मनःशक्ति, देहशक्ति अर्थात् बल उत्पन्न हुआ । इस शक्त्यात्मक सूक्ष्मरूपसे सूत्रनामके प्राणोंकी उत्पत्ति हुई ॥ १५ ॥ वही प्राण सब प्राणियोंके शरीरमें रहकर जो चेष्टायें करता है तो शरीरकी इन्द्रियाँ भी राजाके सेवककी तरह उसका अनुसरण करती हैं । जब प्राण अपनी (चेष्टा) को त्याग देता है तो इन्द्रियाँ भी निश्चेष्ट ही

प्राणेन क्षिपता क्षुत्तृडन्तरा जायते प्रभोः । पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥१७॥
मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते । ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥१८॥
विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः । जले वै तस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥१९॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति । तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥२०॥
यदात्मनि निरालोकमात्मानं च दिदृक्षतः । निर्भिन्ने ह्यक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः॥२१॥
बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः । कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः ॥२२॥
वस्तुनो मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीतताम् । जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः ।
तत्र चान्तर्बहिर्वातस्त्वचा लब्धगुणो वृतः ॥२३॥

हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया । तयोस्तु बलमिन्द्रश्च आदानमुभयाश्रयम् ॥२४॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम् । पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः २५
निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः । उपस्थ आसीत्कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥२६॥
उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम् । ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥२७॥
आसिसृप्सोः पुरः पुर्या नाभिद्वारमपानतः । तत्रापानस्ततो मृत्युः पृथक्त्वमुभयाश्रयम् ॥२८॥

जाती हैं ॥१६॥ उस परम प्रभुने जब प्राणोंका संचालन किया तो भूख-प्यास उत्पन्न हुए। भूख-प्यास उत्पन्न होनेसे जब उसे खाने-पीनेकी इच्छा हुई, तब मुख बना ॥१७॥ मुखके बाद जीभका अधिष्ठान तालु उत्पन्न हुआ। इसके बाद जीभ बनी। जीभसे रस बना और उसके देवता वरुण बने। उपर्युक्त तालु-जिह्वा आदिके अधिष्ठाता चार देवता हुए ॥ १८ ॥ जब उस परमपुरुषने बोलनेकी इच्छा की, तब वचन और उसके देवता अग्नि उत्पन्न हुए। वे नारायण बहुत समयतक इस जलमें ही पड़े रहे ॥ १९ ॥ जब वायु (प्राणवायु) बड़े वेगसे चलने लगा और जलमेंसे उसके निकलनेके लिए कोई रास्ता नहीं मिला और उसे कष्ट होने लगा, तब दो नासिकायें उत्पन्न हुईं। सो गंध वहन करनेवाले वायु उसके देवता माने गये और गंध आदि विषयको ग्रहण करनेवाली घ्राण इन्द्रिय बनी ॥ २० ॥ जब उसने अपने चारों ओर घोर अन्धकारका साम्राज्य देखा और उसे अपने आपको देखनेकी इच्छा हुई, तब नेत्र उत्पन्न हुए। उससे सूर्य देवता उत्पन्न हुए और रूपदर्शन उनका विषय हुआ ॥ २१ ॥ जब ऋषिगण वैदिक मंत्रोंसे उसका संबोधन करने लगे और उन वाक्योंको सुननेके लिए उसकी इच्छा हुई, तब उसके कान उत्पन्न हुए थे। उन्हींके द्वारा शब्द सुनाई देने लगा ॥२२॥ जब जगत्‌की वस्तुओंकी कोमलता, कठिनता, हल्कापन, भारीपन, गरमी या ठंढक जाननेकी इच्छा हुई तब उस परम पुरुषके त्वचा इन्द्रिय उत्पन्न हुई और उसमें रोयें उपजे। उनके देवता वृक्ष उस त्वचाके बाहर उत्पन्न हुए और भीतर स्पर्शगुणको लेकर वायु देवता विराजमान हुए ॥ २३ ॥ जब उसे विविध प्रकारके कार्य करनेकी इच्छा हुई, तब उसके दो भुजाएँ उत्पन्न हुईं। इन्द्र उनके देवता हुए और आदान (लेना) प्रदान (देना) उनका गुण हुआ ॥ २४ ॥ जब उसे गतिकी अभिलाषा हुई, तब पैर उत्पन्न हुए। उन पैरोंके साथ-साथ अधिष्ठातारूपसे विष्णुभगवान स्वयं रहने लगे। उनकी गतियोंसे ही सम्पन्न होनेवाले यज्ञके लिए हव्य आदि उत्पन्न हुए थे ॥२५॥ जब उसे प्रजा (सन्तानप्राप्ति) रूप अमृत सदृश आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा हुई, तब शिश्न (लिंग) उत्पन्न हुआ और उसके प्रजापति देवता हुए। इन शिश्न और उपस्थ (प्रजापति) में स्त्रीसंभोगका गुण विद्यमान था ॥ २६ ॥ जब उसे धातु (अन्न आदि) का मल त्यागनेकी अभिलाषा हुई, तब पायु इन्द्रिय उत्पन्न हुई। उस पायुके मित्र देवता हुए और उसका उत्सर्ग कार्य हुआ ॥ २७ ॥ जब उस परम पुरुषकी एक देहसे देहान्तरमें जानेकी अभिलाषा हुई, तब नाभि उत्पन्न हुई और वहाँ ही अपान वायुका निवास हुआ। उसीसे कलेवर-त्याग अर्थात् मृत्यु

आदित्सोरन्नपानानामासन् कुक्ष्यन्त्रनाडयः । नद्यः समुद्राश्च तयोस्तुष्टिः पुष्टिस्तदाश्रये ॥२९॥
निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत । ततो मनस्ततश्चन्द्रः सङ्कल्पः काम एव च ॥३०॥
त्वक्चर्ममांसरुधिरमेदोमज्जास्थिधातवः । भूम्यप्तेजोमयाः सप्त प्राणो व्योमाम्बुवायुभिः ॥३१॥
गुणात्मकानीन्द्रियाणि भूतादिप्रभवा गुणाः । मनः सर्वविकारात्मा बुद्धिर्विज्ञानरूपिणी ॥३२॥
एतद्भगवतो रूपं स्थूलं ते व्याहृतं मया । मह्यादिभिश्चावरणैरष्टभिर्बहिरावृतम् ॥३३॥
अतः परं सूक्ष्मतममव्यक्तं निर्विशेषणम् । अनादिमध्यनिधनं नित्यं वाङ्मनसः परम् ॥३४॥
अमुनी भगवद्रूपे मया ते अनुवर्णिते । उभे अपि न गृह्णन्ति मायासृष्टे विपश्चितः ॥३५॥
स वाच्यवाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् । नामरूपक्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥३६॥
प्रजापतीन्मनून्देवानृषीन् पितृगणान् पृथक् । सिद्धचारणगन्धर्वान् विद्याध्रासुरगुह्यकान् ॥३७॥
किन्नराप्सरसो नागान् सर्पान् किम्पुरुषोरगान् । मातृ रक्षःपिशाचाँश्च प्रेतभूतविनायकान् ॥३८॥
कूष्माण्डोन्मादवेतालान् यातुधानान् ग्रहानपि । खगान्मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन्नृप सरीसृपान्३९
द्विविधाश्चतुर्विधा येऽन्ये जलस्थलनभौकसः । कुशलाकुशला मिश्राः कर्मणां गतयस्त्विमाः ॥४०॥

उत्पन्न हुई। (बहुतसे विद्वानोंका कहना है कि यदि नाभिमें प्राण और अपान दोनों वायु बँध जाते हैं तो मृत्यु हो जाती है। यह बात सर्वप्रसिद्ध है) ॥ २८ ॥ जब उसे अन्न-पानकी अभिलाषा हुई तो उदर और अँतड़ियोंकी नाड़ियें उत्पन्न हुईं। इनमें उदर अधिष्ठाता है, अँतड़ियाँ इन्द्रियरूपसे अन्नसंग्रह करती हैं और नाड़ियें पेय पदार्थोंका संग्रह करती हैं। उन्हींसे नदी, समुद्र, तुष्टि और पुष्टि भी उत्पन्न हुई ॥ २६ ॥ जब उसे अपनी मायाके विशेष पर्यालोचनकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तब हृदय उत्पन्न हुआ। उसी हृदयसे मन, चन्द्रमा, संकल्प और काम (विषय) उत्पन्न हुए ॥ ३० ॥ त्वक् (मोटी चमड़ी) चर्म (त्वक्के ऊपर रहनेवाली पतली झिल्ली) मांस, रुधिर, मेद, मज्जा और हड्डी, ये सात धातुयें, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये आकाशात्मक हैं अर्थात् पृथ्वी-जल आदिके द्वारा ही इनका पोषण होता है ॥ ३१ ॥ सभी इन्द्रियाँ गुणात्मक हैं यानी गुण ही इनका स्वभाव है और विषयोंकी ओर इनका विशेष झुकाव रहता है। शब्दादि गुण अहंकार आदिसे उत्पन्न होते हैं। मन सब प्रकारके विकारोंका स्वरूप है और बुद्धि विशेष ज्ञानका स्वरूप है ॥ ३२ ॥ हे राजन्! यह मैंने उस विराट् पुरुषका स्थूल रूप बतलाया। यह रूप बाहर-बाहर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति इन आठ आवरणोंसे आवृत है ॥ ३३ ॥ इसके बाद मैं तुम्हें भगवानका वह अतिशय सूक्ष्म स्वरूप बताऊँगा, जो अव्यक्त, विशेषणशून्य, आदि-मध्य-अन्तरहित (सदा एकसे रहनेवाले) और मन तथा वाणीके परे हैं ॥ ३४ ॥ (केवल भक्तिके लिए) भगवानके इन दोनों रूपोंका वर्णन मैंने तुमसे किया है। बड़े-बड़े विद्वान् इन दोनोंको मायामय समझकर इनको भगवानका स्वरूप माननेसे इनकार करते हैं ॥ ३५ ॥ (वास्तवमें तो वे भगवान इन्द्रियातीत और सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं, पर) वे नारायण ब्रह्मा आदि होकर वाच्य-वाचक भावसे इस जगत्की सृष्टि करते हैं। वे वाचकभावसे रूप भी ग्रहण करते हैं। वे अपनी मायासे प्रेरित होकर ही सकर्मा बनते हैं, वास्तवमें अकर्मक ही हैं ॥ ३६ ॥ वे ही प्रजापति, मनु, देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, चारण, गंधर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष-॥ ३७ ॥ किन्नर, अप्सरा, नाग, सर्प, किम्पुरुष, उरग, सप्तमाता, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रेत, विनायक, ॥ ३८ ॥ कूष्माण्ड, उन्मादकारी ग्रह, वेताल, यातुधान (दैत्य), ग्रह, पक्षी, सिंह आदि वनजन्तु, वृषभ, अश्व आदि पशु, वृक्ष, सर्प आदि ॥ ३९ ॥ तथा स्थावर-जंगमात्मक ये दो तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, ये चार प्रकारके जीव तथा जल, स्थल एवं आकाशमें विचरनेवाले जीव पुण्य-पापमिश्रित कर्मोंके अनुरूप उनकी जो उच्च-नीच-मध्य गतियें होती हैं, सो उन

सत्त्वं रजस्तम इति तिस्रः सुरनृनारकाः । तत्राप्येकैकशो राजन् भिद्यन्ते गतयस्त्रिधा ।
यदैकैकतरोऽन्याभ्यां स्वभाव उपहन्यते ॥४१॥
स एवेदं जगद्धाता भगवान्धर्मरूपधृक् । पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः ॥४२॥
ततः कालाग्निरुद्रात्मा यत्सृष्टमिदमात्मनः । सन्नियच्छति कालेन घनानीकमिवानिलः ॥४३॥
इत्थंभावेन कथितो भगवान् भगवत्तमः । नेत्थंभावेन हि परं द्रष्टुमर्हन्ति सूरयः ॥४४॥
नास्य कर्मणि जन्मादौ परस्यानुविधीयते । कर्तृत्वप्रतिषेधार्थं माययाऽऽरोपितं हि तत् ॥४५॥
अयं तु ब्रह्मणः कल्पः सविकल्प उदाहृतः । विधिः साधारणो यत्र सर्गाः प्राकृतवैकृताः ॥४६॥
परिमाणं च कालस्य कल्पलक्षणविग्रहम् । यथा पुरस्ताद् व्याख्यास्ये पाद्मं कल्पमथो शृणु ॥४७॥

शौनक उवाच

यदाह नो भवान् सूत क्षत्ता भागवतोत्तमः ।
चचार तीर्थानि भुवस्त्यक्त्वा बन्धून् सुदुस्त्यजान् ॥४८॥

कुत्र कौषारवेस्तस्य संवादोऽध्यात्मसंश्रितः । यद्वा स भगवांस्तस्मै पृष्टस्तत्त्वमुवाच ह ॥४९॥
ब्रूहि नस्तदिदं सौम्य विदुरस्य विचेष्टितम् । बन्धुत्यागनिमित्तं च तथैवागतवान् पुनः ॥५०॥

सबको वे परम पुरुष स्वयं बनाते हैं ॥ ४० ॥ उनमें भी एक-एक करके सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके भेदानुसार देवता, मनुष्य और नारकी ये तीन गतियें विभक्त हो जाती हैं। इन तीनोंमेंसे जब दो गुण प्रबल हो जाते तो स्वभाव बदल देते हैं। जैसे किसी मनुष्यका राजस स्वभाव है। लेकिन यदि सतोगुण या तमोगुण प्रबल हो जाय तो वह मनुष्य अपने राजस स्वभावको त्यागकर सतोगुणी या तामसी हो जा सकता है ॥ ४१ ॥ वे ही भगवान तिर्यगादि रूपसे इस विश्वकी स्थापना और उसका पालन करते हुए धर्मरूपसे इसका पोषण भी करते रहते हैं ॥ ४२ ॥ इसके बाद जब वे चाहते तो कालाग्निरूप धारण करके अपनी बनायी सृष्टिका उसी तरह संहार कर देते हैं, जैसे वायु मेघोंको उड़ाकर नष्ट कर देता है ॥ ४३ ॥ उन सर्वश्रेष्ठ नारायणका यह स्वरूप मैंने तुम्हें बताया। लेकिन बड़े-बड़े विद्वान् उन परम पुरुष भगवानके इस स्वरूपको सही नहीं मानते ॥४४॥ क्योंकि इस विश्वके जन्म और कर्मके विषयमें वे ईश्वरका कार्य नहीं समझते और श्रुति भी ईश्वरको जगत्का कर्ता नहीं कहती। क्योंकि उनको उस परम पुरुषमें कर्तृत्व लाना अभीष्ट नहीं है। उनका तो यह विचार है कि ईश्वरकी मायाने ही इस जगत्को प्रकाशित किया है ॥४५॥ यह मैंने ब्रह्माका कल्प और विकल्प उदाहरणके तौरपर थोड़ेमें कह दिया। कल्पमें प्राकृत महदादि तत्त्वोंकी सृष्टि होती है और अवान्तर कल्पमें वैकृत स्थावर आदिकी सृष्टि होती है। यह साधारण विधान है (अर्थात् सभी कल्पोंमें इसी प्रकार सृष्टिका कार्य चला करता है) ॥ ४६ ॥ कालका सूक्ष्म और स्थूलरूप, कल्पका लक्षण और अवान्तर कल्पको मैं आगे चलकर (तृतीय स्कन्धमें) बताऊँगा। अब तुम पद्मकल्पकी बात सुनो ॥ ४७ ॥ इतनी कथा सुनकर शौनकने कहा—'हे सूत! जो आपने हमसे कहा था कि भगवद्भक्त विदुर अपने प्रिय और कठिनाईसे छोड़े जाने योग्य बन्धुओंको त्यागकर पृथ्वीतलके विविध तीर्थस्थानोंका भ्रमण करते रहे ॥ ४८ ॥ तब उनसे मैत्रेयका साक्षात्कार कहाँ हो गया, जहाँ इन आध्यात्मिक विषयोंपर उनमें बात-चीत हुई? अथवा विदुरके पूछनेपर मैत्रेयने किस तरह उन्हें ज्ञानोपदेश दिया ॥ ४९ ॥ हे सौम्य! आप मुझे विदुरका चरित्र बताइए और यह भी कहिए कि उन्होंने अपने भाइयोंको क्यों त्याग दिया

सूत उवाच

राज्ञा परीक्षिता पृष्टो यदवोचन्महामुनिः । तद्वोऽभिधास्ये शृणुत राज्ञः प्रश्नानुसारतः ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कन्धेऽष्टादशसाहस्र्यां संहितायां
पुरुषसंस्थानुवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

हरिः ॐ तत्सत्

था । और त्याग देनेपर भी वे फिर उनके पास क्यों वापस गये ॥ ५० ॥ सूतजी बोले—राजा परीक्षितके पूछनेपर महामुनि शुकने जो उत्तर दिया था, सो मैं तुम्हें बताऊँगा । राजाके प्रश्नानुसार उन बातोंको ध्यानके साथ सुनो ॥ ५१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वितीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी'भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

॥ समाप्तोऽयं द्वितीयस्कन्धः ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्

तृतीयस्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवमेतत्पुरा पृष्टो मैत्रेयो भगवान् किल । क्षत्त्रा वनं प्रविष्टेन त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत् ॥१॥
यद्वा अयं मन्त्रकृद्वो भगवानखिलेश्वरः । पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् ॥२॥

राजोवाच

कुत्र क्षत्तुर्भगवता मैत्रेयेणास सङ्गमः । कदा वा सह संवाद एतद्वर्णय नः प्रभो ॥३॥
न ह्यल्पार्थोदयस्तस्य विदुरस्यामलात्मनः । तस्मिन् वरीयसि प्रश्नः साधुवादोपबृंहितः ॥४॥

सूत उवाच

स एवमृषिवर्योऽयं पृष्टो राज्ञा परीक्षिता । प्रत्याह तं सुबहुवित्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥५॥

श्रीशुक उवाच

यदा तु राजा स्वसुतानसाधून् पुष्णन्नधर्मेण विनष्टदृष्टिः ।
भ्रातुर्यविष्ठस्य सुतान् विबन्धून् प्रवेश्य लाक्षाभवने ददाह ॥६॥
यदा सभायां कुरुदेवदेव्याः केशाभिमर्शं सुतकर्म गर्ह्यम् ।
न वारयामास नृपः स्नुषायाः स्वास्रैर्हरन्त्याः कुचकुङ्कुमानि ॥७॥

श्रीहरिः । (उद्धवसे विदुरकी भेंट) श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे परिपूर्ण अपना घर त्यागकर वनको गये हुए विदुरने मैत्रेयसे पूछा—॥ १ ॥ सब प्राणियोंके प्रभु, षड्गुणैश्वर्यशाली भगवान श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारे पूर्वज पाण्डवोंके मंत्री थे । एक बार प्रसंगवश उन्हें हस्तिनापुरी जाना पड़ा तो वे पौरवेन्द्र दुर्योधनके यहाँ न ठहरकर दरिद्र विदुरके घर ठहरे थे । क्योंकि उन्होंने विदुरको अपना समझ लिया था ॥ २ ॥ राजा परीक्षितने पूछा—हे भगवन्! विदुरसे महर्षि मैत्रेय कहाँ मिले और उन दोनोंमें बातचीत कहाँपर हुई ? आप मुझे यह वृत्तान्त बताइए ॥ ३ ॥ उन विशेषज्ञ मैत्रेयसे पवित्र चित्तवाले विदुरका प्रश्न कुछ मामूली प्रश्न न रहा होगा । इन दोनोंका प्रश्नोत्तर अवश्य कोई विशेषता रखता होगा ॥ ४ ॥ सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! राजा परीक्षितके इस प्रकार पूछनेपर बहुज्ञ शुकदेव बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने राजासे कहा—अच्छा सुनिए—॥ ५ ॥ श्रीकृष्णने दुर्योधनका घर क्यों त्यागा था, पहले इसी प्रश्नका उत्तर देते हैं । अन्धे राजा धृतराष्ट्रने जब अधर्मसे अपने बेटोंको तो प्रोत्साहन दिया और अपने छोटे भाईके असहाय पुत्रोंको लाक्षागृह (लाखके बने घर) में भेजकर जला डाला ॥ ६ ॥ जब कुरुपति युधिष्ठिरकी धर्मपत्नी

द्यूते त्वधर्मेण जितस्य साधोः सत्यावलम्बस्य वनागतस्य ।
न याचतोऽदात्समयेन दायं तमो जुषाणो यदजातशत्रोः ॥८॥
यदा च पार्थप्रहितः सभायां जगद्गुरुर्यानि जगाद कृष्णः ।
न तानि पुंसाममृतायनानि राजोरु मेने क्षतपुण्यलेशः ॥९॥
यदोपहूतो भवनं प्रविष्टो मन्त्राय पृष्टः किल पूर्वजेन ।
अथाह तन्मन्त्रदृशां वरीयान् यन्मन्त्रिणो वैदुरिकं वदन्ति ॥१०॥
अजातशत्रोः प्रतियच्छ दायं तितिक्षतो दुर्विषहं तवागः ।
सहानुजो यत्र वृकोदराहिः श्वसन् रुषा यत्त्वमलं बिभेषि ॥११॥
पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो गृहीतवान् स क्षितिदेवदेवः ।
आस्ते स्वपुर्यां यदुदेवदेवो विनिर्जिताशेषनृदेवदेवः ॥१२॥
स एष दोषः पुरुषद्विडास्ते गृहान् प्रविष्टो यमपत्यमत्या ।
पुष्णासि कृष्णाद्विमुखो गतश्रीस्त्यजाश्वशैवं कुलकौशलाय ॥१३॥
इत्यूचिवांस्तत्र सुयोधनेन प्रवृद्धकोपस्फुरिताधरेण ।
असत्कृतः सत्स्पृहणीयशीलः क्षत्ता सकर्णानुजसौबलेन ॥१४॥
क एनमत्रोपजुहाव जिह्मं दास्याः सुतं यद्बलिनैव पुष्टः ।
तस्मिन् प्रतीपः परकृत्य आस्ते निर्वासयतामाशु पुराच्छ्वसानः ॥१५॥

और उस राजकी अभिषिक्त राजमहिषी द्रौपदीको उनके पुत्रोंके बीच सभामें लाकर उसे नंगी करना चाहा, उस समय भी अन्धे राजाने उन दुष्टोंको नहीं रोका। यद्यपि उसकी पतोहू द्रौपदी करुण स्वरसे विलापकर रही थी और उसकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बह रही थी ॥ ७ ॥ जब सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिरका कपटद्यूतके बहाने सब कुछ छीन लिया गया और वे घर-द्वार त्यागकर वनवासी हो गये। उसके बहुत दिन बाद पूर्वनिश्चित बातोंके अनुसार जब उन्होंने धृतराष्ट्रसे अपना हिस्सा माँगा तो उस अज्ञानी और बेटोंके पक्षपाती राजाने उन सीधे-सादे युधिष्ठिरको कुछ नहीं दिया ॥ ८ ॥ युधिष्ठिरके भेजे हुए जगद्गुरु कृष्णने कौरवोंकी सभामें अमृतमय उपदेश दिया, किन्तु उस स्वार्थी राजाने उनकी बातोंको कुछ भी महत्त्व नहीं दिया। क्योंकि उसका सब पुण्य नष्ट हो चुका था ॥ ९ ॥ जब धृतराष्ट्रने कुछ सलाह-बात करनेके लिए विदुरको अपने घर बुलाया, तब वे उनके यहाँ गये। मंत्रणा-विचक्षण विदुरने वहाँ जो कुछ कहा था, उसको बड़े-बड़े मंत्रणाशास्त्री 'विदुरनीति' कहते हैं ॥ १० ॥ उन्होंने कहा—उन त्यागी, तुम्हारे असह्य अपराधोंको सहनेवाले और शत्रुहीन युधिष्ठिरको तुम उनका हिस्सा दे डालो। क्योंकि वह भीमरूपी सर्प अपने भाइयोंके साथ रहता हुआ गंभीर श्वास ले रहा है और तुम उससे बहुत डरते हो ॥ ११ ॥ यदि आप यह सोचें कि भीम जैसे-जैसे मेरे बहुतसे लड़के हैं तो यह भी समझ रखिए कि भगवान कृष्णचन्द्रने उन पाण्डवोंको अपनाय लिया है। कृष्ण साधारण मनुष्य नहीं हैं, बल्कि ब्राह्मणोंके भी देवता हैं। वे अपनी द्वारकापुरीमें रहते हुए सभी यदुवंशियोंके भी पूज्य माने जाते हैं। उन्होंने अपने पराक्रमसे भूमण्डलके सभी राजाओंको परास्त कर दिया है ॥ १२ ॥ यदि आप कहें कि दुर्योधन नहीं मानता तो उस परम पुरुष कृष्णके द्वेषी दुर्योधनको आप अपने घरमें घुसा हुआ एक प्रबल दोष ही समझिए। ऐसे अभागेको आप अपना पुत्र समझकर उसका पालन करते हैं ? अरे, भगवानका द्वेष करनेके कारण उसकी श्री नष्ट हो गयी है। अपने कुलका कल्याण करनेके लिए आप उस साक्षात् अमंगलमूर्तिको तुरन्त त्याग दीजिए ॥ १३ ॥ विदुरके ऐसा कहनेपर दुर्योधन मारे क्रोधके तमतमा उठा और उसके होंठ फड़कने लगे। उसके भाई और साथी कर्ण, दुःशासन और शकुनी भी क्रुद्ध हो गये। उन सबने इनका घोर तिरस्कार किया ॥ १४ ॥ दुर्योधन

स इत्थमत्युल्बणकर्णबाणैर्भ्रातुः पुरो मर्मसु ताडितोऽपि ।
स्वयं धनुर्द्वारि निधाय मायां गतव्यथोऽयादुरु मानयानः ॥१६॥
स निर्गतः कौरवपुण्यलब्धो गजाह्वयात्तीर्थपदः पदानि ।
अन्वाक्रमत्पुण्यचिकीर्षयोर्व्यां स्वधिष्ठितो यानि सहस्रमूर्तिः ॥१७॥
पुरेषु पुण्योपवनाद्रिकुञ्जेष्वपङ्कतोयेषु सरित्सरःसु ।
अनन्तलिङ्गैः समलङ्कृतेषु चचार तीर्थायतनेष्वनन्यः ॥१८॥
गां पर्यटन्मेध्यविविक्तवृत्तिः सदाऽऽप्लुतोऽधःशयनोऽवधूतः ।
अलक्षितः स्वैरवधूतवेषो व्रतानि चेरे हरितोषणानि ॥१९॥
इत्थं व्रजन् भारतमेव वर्षं कालेन यावद्गतवान् प्रभासम् ।
तावच्छशास क्षितिमेकचक्रामेकातपत्रामजितेन पार्थः ॥२०॥
तत्राथ शुश्राव सुहृद्विनष्टिं वनं यथा वेणुजवह्निसंश्रयम् ।
संस्पर्धया दग्धमथानुशोचन् सरस्वतीं प्रत्यगियाय तूष्णीम् ॥२१॥
तस्यां त्रितस्योशनसो मनोश्च पृथोरथाग्नेरसितस्य वायोः ।
तीर्थं सुदासस्य गवां गुहस्य यच्छ्राद्धदेवस्य स आसिषेवे ॥२२॥
अन्यानि चेह द्विजदेवदेवैः कृतानि नानायतनानि विष्णोः ।
प्रत्यङ्गमुख्याङ्कितमन्दिराणि यद्दर्शनात्कृष्णमनुस्मरन्ति ॥२३॥

बोला—'इस कुटिल दासीपुत्रको यहाँ किसने बुलाया ? यह जिसके टुकड़ोंपर पला है, उसीके विरुद्ध षड्यंत्र रचता हुआ शत्रुओंका साथ देता है, इसका सर्वस्व छीन लिया जाय और यह अभागा खाली हाथों इस देशसे निर्वासित कर दिया जाय ॥ १५ ॥ अपने भ्राता धृतराष्ट्रके समक्ष इस प्रकारकी कठोर बातें कानोंके रास्ते विदुरके हृदयमें जाकर बाणके समान लगीं । फिर भी भगवानकी मायाका महत्त्व समझकर उन्होंने स्वयं अपना धनुष-बाण उसके द्वारपर रख दिया और प्रसन्नताके साथ निर्वासनके पहले ही वहाँसे निकल पड़े ॥१६॥ हस्तिनापुरीसे चलकर कौरवोंका पुण्यबल प्राप्त किये हुए विदुर नारायणके उन पुनीत तीर्थोंका भ्रमण करनेको निकल पड़े, जहाँ भगवान ब्रह्मा-रुद्र आदि हजारों रूपोंसे विराजमान थे ॥ १७ ॥ अनेक नगर, पवित्र उपवन, पहाड़, लताकुञ्ज, पंकहीन जल, नदी, सरोवर और अगणित आकारकी मूर्तियोंवाले तीर्थोंमें वे विचरने लगे । इस प्रकार भूमण्डलमें भ्रमण करते और विदुर पवित्र रीतिसे किसी तरह जीविका सम्पादन करते हुए प्रत्येक तीर्थमें नहाते, भूमिमें सोते और शरीरका कोई सँवार-सिंगार नहीं करते थे । अवधूतके समान उनकी वेष-भूषा थी, इसलिए उन्हें कोई नहीं पहचान सकता था और वे बराबर नारायणको प्रसन्न करनेके निमित्त विविध प्रकारके व्रत करते रहते थे ॥ १८ ॥ १९ ॥ इस ढंगसे भारतवर्ष भरमें भ्रमण करते-करते विदुर जब प्रभासक्षेत्रमें पहुँचे, तबतक महाराज युधिष्ठिर शत्रुओंको परास्त करके भगवान कृष्णकी मंत्रणाके अनुसार समस्त भूमण्डलका शासन करने लगे थे ॥ २० ॥ वहाँ ही उन्होंने सुना कि उनके सभी सगे-सम्बन्धी स्पर्धावश आपसमें वैसे ही लड़ मरे जैसे बाँसके जंगलमें आपसमें दो डालोंकी रगड़से आग उत्पन्न होकर सारे वनको जला डालती है । यह दुःखद समाचार सुनकर उनको बहुत खेद हुआ और चुपचाप वे वहाँसे सरस्वती नदीकी ओर चल दिये ॥ २१ ॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने त्रित, शुक्र, मनु, पृथु, अग्नि, असित, वायु, सुदास, गौ, स्वामिकार्तिकेय और श्राद्धदेवके बनाये इन ग्यारह पुनीत तीर्थोंका अवगाहन किया ॥ २२ ॥ इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे ब्राह्मणों, देवताओं और ऋषियों द्वारा निर्मित नारायणके उन मन्दिरोंका अवलोकन किया, जिनके ऊपर चक्रचिह्न

ततस्त्वतिव्रज्य सुराष्ट्रमृद्धं सौवीरमत्स्यान् कुरुजाङ्गलांश्च ।
कालेन तावद्यमुनामुपेत्य तत्रोद्धवं भागवतं ददर्श ॥२४॥
स वासुदेवानुचरं प्रशान्तं बृहस्पतेः प्राक्तनयं प्रतीतम् ।
आलिङ्ग्य गाढं प्रणयेन भद्रं स्वानामपृच्छद्भगवत्प्रजानाम् ॥२५॥
कच्चित्पुराणौ पुरुषौ स्वनाभ्यपाद्मानुवृत्त्येह किलावतीर्णौ ।
आसात उर्व्याः कुशलं विधाय कृतक्षणौ कुशलं शूरगेहे ॥२६॥
कच्चित्कुरूणां परमः सुहृन्नो भामः स आस्ते सुखमङ्ग शौरिः ।
यो वै स्वसॄणां पितृवद्ददाति वरान् वदान्यो वरतर्पणेन ॥२७॥
कच्चिद्वरूथाधिपतिर्यदूनां प्रद्युम्न आस्ते सुखमङ्ग वीरः ।
यं रुक्मिणी भगवतोऽभिलेभे आराध्य विप्रान् स्मरमादिसर्गे ॥२८॥
कच्चित्सुखं सात्वतवृष्णिभोजदाशार्हकाणामधिपः स आस्ते ।
यमभ्यषिञ्चच्छतपत्रनेत्रो नृपासनाशां परिहृत्य दूरात् ॥२९॥
कच्चिद्धरेः सौम्य सुतः सदृक्ष आस्तेऽग्रणी रथिनां साधु साम्बः ।
असूत यं जाम्बवती व्रताढ्या देवं गुहं योऽम्बिकया धृतोऽग्रे ॥३०॥
क्षेमं स कच्चिद्युयुधान आस्ते यः फाल्गुनाल्लब्धधनूरहस्यः ।
लेभेऽञ्जसाधोक्षजसेवयैव गतिं तदीयां यतिभिर्दुरापाम् ॥३१॥
कच्चिद् बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः ।
यः कृष्णपादाङ्कितमार्गपांसुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः ॥३२॥

विराजमान था और उनका दर्शन करनेसे श्रीकृष्णभगवानका स्मरण हो आता था ॥ २३ ॥ इसके अनन्तर सुराष्ट्र (सोरठ-गुजरात), समृद्ध सौवीर, मत्स्य, कुरु, जांगल आदि देशोंमें घूमते हुए वे यमुनातटपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने परमभगवद्भक्त उद्धवको देखा ॥ २४ ॥ भगवान कृष्णचन्द्रके अनुचर, परम शान्त और देवगुरु बृहस्पतिके पुराने नीतिशास्त्री शिष्य उद्धवको विदुरने मारे प्रेमके छातीसे लगा लिया और उनसे अपने कुटुम्बियों तथा भगवान कृष्णकी प्रजाका कुशल-क्षेम पूछते हुए कहा—॥ २५ ॥ 'वे कृष्णचन्द्र और बलराम तो अच्छी तरहसे हैं, जो ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे मनुष्य रूपमें अवतरे हैं ? वे अपनी की हुई प्रतिज्ञाके अनुसार पृथ्वीका दुःख दूर करके आनन्दपूर्वक शूरसेन ही के घर रहते हैं न ? ॥ २६ ॥ हमारे पूज्य और हम कुरुवंशियोंके पूज्य सुहृद वसुदेव तो अच्छी तरहसे हैं ? जो अपनी बहिनके पतियोंको तृप्त करते हुए विविध प्रकारके वरदान देते ही रहते हैं ॥ २७ ॥ हे प्रिय उद्धव ! यादवोंके सेनापति वीर प्रद्युम्न तो सकुशल हैं ? जिन कामदेवको रुक्मिणीने पूर्वजन्ममें ब्राह्मणोंकी आराधना करके इस जन्ममें पुत्ररूपमें भगवान द्वारा प्राप्त किया है ॥ २८ ॥ सात्त्वत, वृष्णि, भोज और दाशार्ह 'शी यादवोंके स्वामी महाराज उग्रसेन तो अच्छी तरहसे हैं ? वे तो उस समय प्राण जानेके भयसे राज्यसिंहासन पानेकी आशाको एकदम त्याग चुके थे । किन्तु भगवान कृष्णचन्द्रने फिरसे उनका अभिषेक किया था ॥ २९ ॥ हे सौम्य ! भगवानके ही सदृश सुन्दर और रथियोंके अग्रगामी साम्ब तो सकुशल हैं ? जो पूर्वजन्ममें पार्वतीके पुत्र स्वामिकार्तिकेय थे और इस जन्ममें व्रतधारिणी जाम्बवतीके उदरसे उत्पन्न हुए हैं ॥३०॥ और वे युयुधान (सात्यकि) तो अच्छी तरह हैं, जिन्होंने अर्जुनसे धनुर्वेदका रहस्य जाना है और भगवान कृष्णकी सेवा करके उनकी दुष्प्राप्य नीति-रीतिको भली-भाँति समझ लिया है ॥ ३१ ॥ श्वफल्कके पुत्र विद्वान् पूतात्मा और भगवद्भक्त अक्रूर तो सानन्द हैं ? जो अक्रूर कंस द्वारा कृष्णको लानेके लिए व्रजमें भेजे गये,

कच्चिच्छिवं देवकभोजपुत्र्या विष्णुप्रजाया इव देवमातुः ।
या वै स्वगर्भेण दधार देवं त्रयी यथा यज्ञवितानमर्थम् ॥३३॥
अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः ।
यमामनन्ति स्म ह शब्दयोनिं मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ॥३४॥
अपिस्विदन्ये च निजात्मदैवमनन्यवृत्त्या समनुव्रता ये ।
हृदीकसत्यात्मजचारुदेष्णगदादयः स्वस्ति चरन्ति सौम्य ॥३५॥
अपि स्वदोर्भ्यां विजयाच्युताभ्यां धर्मेण धर्मः परिपाति सेतुम् ।
दुर्योधनोऽतप्यत यत्सभायां साम्राज्यलक्ष्म्या विजयानुवृत्त्या ॥३६॥
किं वा कृताघेष्वघमत्यमर्षी भीमोऽहिवद्दीर्घतमं व्यमुञ्चत् ।
यस्याङ्घ्रिपातं रणभूर्न सेहे मार्गं गदायाश्चरतो विचित्रम् ॥३७॥
कच्चिद्यशोधा रथयूथपानां गाण्डीवधन्वोपरतारिरास्ते ।
अलक्षितो यच्छरकूटगूढो मायाकिरातो गिरिशस्तुतोष ॥३८॥
यमावुतस्वित्तनयौ पृथायाः पार्थैर्वृतौ पक्ष्मभिरक्षिणीव ।
रेमात उद्दाय मृधे स्वरिक्थं परात्सुपर्णाविव वज्रिवक्त्रात् ॥३९॥
अहो पृथापि ध्रियतेऽर्भकार्थे राजर्षिवर्येण विनापि तेन ।
यस्त्वेकवीरोऽधिरथो विजिग्ये धनुर्द्वितीयः ककुभश्चतस्रः ॥४०॥

तो वहाँ प्रेमवश अधीर होकर भगवानके चरणोंसे अंकित धूलिमें लोटने लगे थे ॥ ३२ ॥ देवक नामके भोजवंशी राजाकी पुत्री और देवमाता अदितिके समान आराधनीया भगवान कृष्णचन्द्रकी माता देवकी तो सुखसे हैं । जिन्होंने अपने गर्भमें त्रिलोकीनाथको उसी तरह धारण किया था जैसे साम, ऋक् और यजु, इन तीनों वेदोंकी त्रयी यज्ञोंके अर्थोंको अपने उदरमें धारण किये रहती है ॥ ३३ ॥ वे अनिरुद्ध तो अच्छी तरहसे हैं, जो सात्वतवंशी यादवोंके कामधेनु हैं और जिनको लोग शब्दशास्त्र (व्याकरण) का आचार्य मानते हैं। जिन्होंने चित्त, अहंकार और बुद्धिके चौथे अधिदेव ब्रह्माके तत्त्वको जान लिया है । (चित्त, अहंकार, बुद्धि और मन, अन्तःकरणके इन चारों भेदोंके क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध अधिष्ठाता माने जाते हैं ।) ॥ ३४ ॥ इनके अतिरिक्त हृदीक, सत्यभामाके पुत्र, चारुदेष्ण और गद आदि तो सुखसे रहते हैं ? जिन्होंने और सब बातोंको भूलकर एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रमें अपना-अपना मन लगा रखा है ॥ ३५ ॥ अब पाण्डवोंका कुशलक्षेम पूछते हुए विदुर उद्धवसे कहते हैं—जो अर्जुन और कृष्णकी सहायतासे धर्मसेतुका परिपालन कर रहे हैं। जिनकी राजसभामें पहुँच और उनकी विजयश्रीको देखकर दुर्योधन मन ही मन जल उठा था, वे युधिष्ठिर तो कुशलसे हैं ॥ ३६ ॥ जो भीम अपराधियों-पर सर्पके समान क्रोध किया करते थे, क्या उन्होंने वह वैरभाव भुला दिया ? जब वे अपनी गदा सम्हालकर विचित्र प्रकारके पैंतरे बदलते हुए युद्धभूमिमें उतरते थे तो वह भूमि भी उनका बोझा सहनेमें असमर्थ हो जाती थी ॥ ३७ ॥ रथियों और सेनापतियोंमें यशस्वी उन अर्जुनके सब सत्रु समाप्त हो गये, जिन्होंने किरातवेषधारी शंकरभगवानको अपने प्रचण्ड बाणोंकी वर्षासे ढाँककर प्रसन्न कर लिया था ॥ ३८ ॥ पृथाके दोनों पुत्र नकुल और सहदेव तो अच्छी तरहसे हैं जिनको अर्जुन, युधिष्ठिर और भीम पलकोंसे आवृत आँखोंके समान सम्हाले रहते हैं । वे दुष्ट दुर्योधनसे अपना हिस्सा छीनकर आनन्दसे खेलते-कूदते हैं न ? जैसे गरुड़ने इन्द्रके मुखसे अमृत छीन लिया था ॥ ३९ ॥ वह पतिव्रता कुन्ती भी अभी जीवित है न ? जिसने अपने पतिदेवके गुजर जानेपर भी बेटोंके लिए अपनी प्राणरक्षा कर रखी थी । उसके पति पाण्डु भी साधारण वीर नहीं थे, उन्होंने अकेले रथपर सवार

सौम्यानुशोचे तमधःपतन्तं भ्रात्रे परेताय विदुद्रुहे यः।
निर्यापितो येन सुहृत्स्वपुर्या अहं स्वपुत्रान् समनुव्रतेन ॥४१॥
सोऽहं हरेर्मर्त्यविडम्बनेन दृशो नृणां चालयतो विधातुः।
नान्योपलक्ष्यः पदवीं प्रसादाच्चरामि पश्यन् गतविस्मयोऽत्र ॥४२॥
नूनं नृपाणां त्रिमदोत्पथानां महीं मुहुश्चालयतां चमूभिः।
वधात्प्रपन्नार्तिजिहीर्षयेशोऽप्युपैक्षताघं भगवान् कुरूणाम् ॥४३॥
अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय कर्माण्यकर्तुर्ग्रहणाय पुंसाम्।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं परो गुणानामुत कर्मतन्त्रम् ॥४४॥
तस्य प्रपन्नाखिललोकपानामवस्थितानामनुशासने स्वे।
अर्थाय जातस्य यदुष्वजस्य वार्तां सखे कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति भागवतः पृष्टः क्षत्त्रा वार्तां प्रियाश्रयाम्। प्रतिवक्तुं न चोत्सेह औत्कण्ठ्यात्स्मारितेश्वरः ॥१॥
यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः। तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया ॥२॥

हो और केवल धनुष-बाण साथ लेकर चारों दिशाओंको जीत लिया था ॥ ४० ॥ हे सौम्य ! मैं तो अब उस पतित धृतराष्ट्रके विषयमें दुखी हूँ कि जिसने मरे हुए महाराज पाण्डुके पुत्रोंसे शत्रुता ठानकर उनकी मृत आत्माके साथ द्रोह किया और उसने मेरे सरीखे शुभचिन्तक भ्राताको भी लड़कोंका पक्ष लेकर अपने नगरसे निर्वासित कर दिया ॥ ४१ ॥ यदि आप कहें कि उनकी क्रूरताको जानते हुए भी आप दुखी क्यों होते हैं तो बात यह है कि मैं उन भगवानकी कृपासे उनकी महिमा देखते हुए निश्चिन्त होकर अज्ञातरूपसे आनन्दपूर्वक विचर रहा हूँ, जो अपनी मायासे मनुष्योंकी चित्तवृत्तियों-को चक्करमें डाल देते हैं ॥ ४२ ॥ (यदि आप कहें कि जब ऐसा था, तब भगवानने पाण्डवोंको वनवास और अपने कैद होने आदिका मौका ही क्यों दिया, उन कौरवोंको पहले ही क्यों नहीं मार डाला तो बात यह है कि) इन कौरवोंके अतिरिक्त विद्यामद, धनमद और कुलमदसे मतवाले बने हुए जो राजे अपनी विशाल सेनाका संचालन करते हुए पृथ्वीको कँपाते रहते थे, उनका नाश करके सब कष्ट दूर करनेके अभिप्रायसे वे नारायण कौरवोंके अपराधोंकी उपेक्षा कर रहे थे ॥ ४३ ॥ यदि ऐसा न होता तो उन अजन्माको भी जन्म लेना और कर्तापनसे पृथक् होते हुए भी काम करना क्यों अभीष्ट होता ? उन्होंने कुमार्गियोंका नाश और संसारके प्राणियोंको काममें लगानेके विचारसे ही अवतार लिया था ॥ ४४ ॥ हे मित्र ! अपनी शरणमें आये हुए लोकपालों और अनुशासन माननेवाले प्राणियों-के कल्याणके लिए ही वे यदुकुलमें जन्म लिये थे। तुम उन पुनीत कीर्तिवाले भगवान कृष्णचन्द्रका ही हाल बताओ (क्योंकि मेरे तो वे ही सबसे बड़े तीर्थ हैं) ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(उद्धवका भगवानकी बाललीलाका वर्णन करना) श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कहते हैं— 'हे राजन् ! इस प्रकार अपने परम स्नेही भगवानका वृत्तान्त पूछनेपर असाधारण भक्त उद्धव तत्काल कोई जवाब नहीं दे सके। क्योंकि भगवानका स्मरण आ जानेसे उनका कण्ठ रुद्ध हो गया था ॥ १ ॥ क्योंकि पाँच वर्षकी अवस्थामें ही एक बार जब माताने सबेरे कलेवा करनेके लिए उद्धवको बुलाया

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः । पृष्टो वार्तां प्रतिब्रूयाद्भर्तुः पादावनुस्मरन् ॥३॥
स मुहूर्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् । तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥४॥
पुलकोद्भिन्नसर्वाङ्गो मुञ्चन्मीलद्दृशा शुचः । पूर्णार्थो लक्षितस्तेन स्नेहप्रसरसम्प्लुतः ॥५॥
शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः । विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन् ॥६॥

उद्धव उवाच

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह । किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥७॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि । ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ॥८॥
इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढा एकारामाश्च सात्वताः । सात्वतामृषभं सर्वे भूतावासममंसत ॥९॥
देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः । भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ ॥१०॥
प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् । आदायान्तरधाद्यस्तु स्वबिम्बं लोकलोचनम् ॥११॥
यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥१२॥

तो झूठ-मूठ जिन भगवानकी पूजामें लगे रहनेसे उन्होंने भोजन करना पसन्द नहीं किया था ॥ २ ॥ तब जीवनभर उनकी साक्षात् सेवामें रहकर भला उन नारायणका वृत्तान्त पूछनेपर तुरन्त कैसे उत्तर दे पाते । उनके चरणोंका स्मरण आ जानेपर उनका विह्वल हो जाना स्वाभाविक ही था ॥ ३ ॥ भगवानके चरणस्मरणरूपी अमृतमें सराबोर होकर वे क्षणभर चुप रहे और उनका मन तीव्र भक्तिके अथाह समुद्रमें डुबकियें लगाता रहा ॥ ४ ॥ उनके रोंगटे-खड़े हो गये । आँखें ढँप गयीं और उनसे अविरल अश्रुधारा बहने लगी । स्नेहाधिक्यके कारण वे अपने आपमें मस्त हो रहे थे । ऐसी दशामें विदुरने उद्धवको कृतकृत्य समझा (क्योंकि इस महानन्दकी प्राप्तिके लिये ही तो योग, तप, जप और तीर्थाटन आदि किये जाते हैं) ॥ ५ ॥ इसके बाद धीरे-धीरे वे भगवानके लोकसे अपना मन मानव लोकमें लाये और आँखें पोछकर कुछ विस्मित जैसे होकर विदुरसे कहने लगे ॥ ६ ॥ उद्धव बोले— 'जब वे कृष्णरूपी सूर्य अस्त हो गये और कालरूपी महासर्पने हमें और हमारे घर-बारको निगल लिया, तब फिर उन सुनसान घरोंका क्या हाल बताऊँ ॥ ७ ॥ मैं तो कहूँगा कि संसार अभागा है और यदुवंशी तो और भी अभागे हैं कि नित्य उनके साथ रहकर भी वे उनको पहचान नहीं सके (उनकी समझमें यह नहीं आया कि ये साक्षात् नारायण हैं) । जैसे क्षीरसमुद्रसे उत्पन्न चन्द्रमाको वहाँकी मछलियें एक जलजीवमात्र समझकर रह गयीं, उन्हें नहीं मालूम पड़ा कि ये अमृतराशि हैं ॥ ८ ॥ (अभाग्यसे ही वे यदुवंशी उनको नहीं पहचान सके । ज्ञानकी सामग्रीका अभाव उनमें नहीं था । क्योंकि—) वे औरोंके मनकी बातें जान जाते और सब कार्योंमें निपुण थे । उनकी चित्तवृत्तियें शान्त थीं । यह सब होते हुए भी वे उन लीलाधारी नारायणको केवल यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ मनुष्य ही समझ सके ॥ ९ ॥ उनमेंसे बहुतोंने मायावश उनको अपना सगा-सम्बन्धी यादवमात्र समझा और शिशुपाल आदि दुष्टोंने दुष्टतावश उनसे वैर साधकर जन्मभर उनकी निन्दा ही की । यह तो कहिए कि उन दुष्टोंकी बातोंसे भगवानमें मन लगाये हुए हम भक्तोंका मन भ्रममें नहीं पड़ सका, बाकी उनके सहवासी तो एकदम मूढ़ ही हो गये थे ॥ १० ॥ (तो वे भगवान् आखिर क्या हैं, सुनिए—) जिन लोगोंने किसी प्रकारकी तपस्या नहीं की थी, उनको भी इतने दिनोंतक वे अपनी सुन्दर शोभा दिखाकर अन्तर्धान हो गये और उनके नेत्रोंकी वह ज्योति भी मानो अपने साथ ही लेते गये ॥ ११ ॥ मनुष्योंके समान लीला करने योग्य, स्वयं अपने आपको विस्मयमें डालनेवाले, सौभाग्य तथा समृद्धिके परम पदस्वरूप और भूषणोंको भी भूषित करनेवाले एवं योगमायाके बलसे कल्पित कमनीय अवयवोंको उन्होंने जगत्के प्राणियोंको दिखाया

यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः ।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातुरर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत ॥१३॥
यस्यानुरागप्लुतहासरासलीलावलोकप्रतिलब्धमानाः ।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः ॥१४॥
स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः ॥१५॥
मां खेदयत्येतदजस्य जन्मविडम्बनं यद्वसुदेवगेहे ।
व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं पुराद् व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः ॥१६॥
दुनोति चेतः स्मरतो ममैतद्यदाह पादावभिवन्द्य पित्रोः ।
ताताम्ब कंसादुरुशङ्कितानां प्रसीदतं नोऽकृतनिष्कृतीनाम् ॥१७॥
को वा अमुष्याङ्घ्रिसरोजरेणुं विस्मर्तुमीशीत पुमान् विजिघ्रन् ।
यो विस्फुरद्भ्रूविटपेन भूमेर्भारं कृतान्तेन तिरश्चकार ॥१८॥
दृष्टा भवद्भिर्ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः ।
यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग्योगेन कस्तद्विरहं सहेत ॥१९॥
तथैव चान्ये नरलोकवीरा य आहवे कृष्णमुखारविन्दम् ।
नेत्रैः पिबन्तो नयनाभिरामं पार्थास्त्रपूताः पदमापुरस्य ॥२०॥

था—॥ १२ ॥ धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें जिन लोगोंने उनका अनूप रूप देखा था, उनके नेत्र तृप्त हो गये थे । आज तीनों लोकोंके प्राणी विधातामें उस बिम्बके सदृश एक नवीन संसारको निर्माण करनेका कौशल नहीं देख पाते (उनका विश्वास है कि ब्रह्माजी अब चाहे कितनी ही निपुणता क्यों न खर्चें, किन्तु वह भव्य आकृति अब हम लोगोंको दृष्टिगोचर नहीं करा सकते—बना ही नहीं सकते) ॥ १३ ॥ जिनकी सुन्दरता और अनुरागमें सराबोर होकर हास्य-विनोदयुक्त विविध प्रकारके कौतुकपूर्ण अवलोकन करके व्रजवधूटियाँ एक प्रकारके गर्वका अनुभव कर रही थीं, आज वे मानों अपने प्रियतमके चले जानेपर अपनी सुधि-बुधि खो बैठी हैं। इसलिए उनका काम अधूरा ही रह गया है ॥ १४ ॥ (तो उन्होंने ऐसा रूप क्यों दिखाया सो सुनिए–) उन दयालु परम पुरुषने जब अपने ही शान्त स्वरूपोंका अशान्त स्वरूपों (दैत्यों) द्वारा दमन होते देखा तो वे अजन्मा होते हुए भी अपने महान् अंशसे उसी प्रकार अवतरे, जिस तरह वनके काठसे आग उत्पन्न हो जाती है ॥ १५ ॥ मुझे तो यह सोचकर दुःख होता है कि इतने प्रबल पराक्रमी साक्षात् नारायण अजन्मा होते हुए भी वसुदेवके घरमें जन्म लिये, शत्रु (कंस) के भयसे व्रजमें जा बसे और कालयवन आदि शत्रुओंके भयसे अपना नगर छोड़कर भागे ॥ १६ ॥ जब मैं भगवानकी उस बातका स्मरण करता हूँ तो मेरा चित्त और भी दुखी हो जाता है कि जब उन्होंने अपने माता-पिताको प्रणाम करके कहा था—'हे पिता ! हे माता ! हम लोग कंससे अत्यन्त भयभीत आप लोगोंकी अभिलषित सेवा नहीं कर सके सो आप हम पर अप्रसन्न न होइएगा ।' ॥ १७ ॥ संसारमें भला ऐसा कौन पुरुष है कि जो उनके चरणकमलकी धूलिकी सुगन्धि पाकर उसे भूल सके और जिनकी फड़कती हुई भृकुटियोंने ही काल बनकर भूमिका भार दूर कर दिया था ॥ १८ ॥ यह बात तो आप लोगोंने भी देखी थी कि धर्मराजके राजसूय यज्ञमें शिशुपालने श्रीकृष्णसे कितना प्रबल द्वेष किया था । फिर भी उन नारायणने उसे वह गति दी कि ज्ञान द्वारा जिसे प्राप्त करनेके लिए योगीजन भी लालायित रहा करते हैं । ऐसे महापुरुषका वियोग भला कौन सह सकता है ? ॥ १९ ॥ इसी प्रकार महाभारत युद्धमें जो वीर भगवानके

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥२१॥
तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान्नो विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम् ।
तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये न्यबोधयद्देव निधारयेति ॥२२॥
अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥२३॥
मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रमंसे सुनाभायुधमापतन्तम् ॥२४॥
वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने । चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ॥२५॥
ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता । एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत् ॥२६॥
परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः । यमुनोपवने कूजद्द्विजसंकुलिताङ्घ्रिपे ॥२७॥
कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् । रुदन्निव हसन्मुग्धबालसिंहावलोकनः ॥२८॥
स एव गोधनं लक्ष्म्या निकेतं सितगोवृषम् । चारयन्ननुगान् गोपान् रणद्वेणुररीरमत् ॥२९॥

मुखारविंदका अवलोकन करते हुए पाण्डवोंके अस्त्रोंसे मारे गये, वे लोग भी भगवानके परमपदको प्राप्त हो गये ॥ २० ॥ वे त्रिलोकीनाथ ऐसे थे कि विश्वभरमें न कोई उनके समान था और न कोई उनसे बढ़कर ही था। परमानन्दस्वरूपिणी सम्पत्तिको पाकर वे पूर्णकाम हो चुके थे और पुराने-पुराने राजे भी कर लिये हुए उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते थे। उस समय उनके मुकुटमें लगी किरीटमें टकरानेसे जो एक प्रकारकी ध्वनि निकलती थी, उससे ऐसा मालूम पड़ता था कि मानों वे किरीटें उन जनार्दनकी स्तुति कर रही थीं ॥ २१ ॥ ऐसे महापुरुष जब एक सेवककी तरह सिंहासनासीन उग्रसेनको 'हे देव ! यह बात ऐसी है, आप इसपर विचार करें।' ऐसा कहते थे, वह बात सोचकर मुझे तो बड़ी ग्लानि होती है (कि इतना बड़ा सामर्थ्यशाली व्यक्ति जो अपनी भृकुटीके संकेतसे सैकड़ों राजोंको बना-बिगाड़ सकता था, वह एक राजाकी इस प्रकार सेवकाई करता रहा) ॥ २२ ॥ (लेकिन मेरा तो विश्वास है कि नारायणने अपनी कृपालुतावश ही ऐसा किया था, उनकी कृपालुताका कोई ठिकाना है ?) देखो न, वह दुष्टा बकी (पूतना) उन्हें मारनेके लिए अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर आयी और उन्हें अपना दूध पिला ही दिया। ऐसी दुष्टता करने-पर भी (केवल माताका वेष धारण करने कारण) उसे माताके योग्य गति प्राप्त हुई। ऐसी दशामें ऐसे दयालु प्रभुको छोड़कर हम भला और किसकी शरणमें जायँ ॥ २३ ॥ मैं तो उन असुरोंको भी भगवद्भक्त ही समझता हूँ। क्योंकि वे भी क्रोधवश सदा उनका ध्यान किया करते थे। फिर संग्रामभूमिमें वे भी तो गरुड़पर सवार होकर आते हुए नारायणका दर्शन करते थे (जब उनका दर्शन मिल गया, तब भला असुर या पापी कौन रह जायगा ?) ॥ २४ ॥ (अब भग-वानके अन्तर्धान होनेकी गाथा गाते हुए संक्षेपमें उनका चरित्र वर्णन करते हैं—) जब कंसने वसुदेव और देवकीको कारागारमें बन्द कर दिया था तो ब्रह्माकी प्रार्थना करनेपर वे पृथ्वीका भार उतारनेके लिए उस कारागारमें ही जन्मे ॥ २५ ॥ और कंसके भयसे भयभीत पिताके साथ वे व्रजको चले गये। वहाँ अपने तेजको छिपाये हुए ग्यारह वर्षतक रहे ॥ २६ ॥ वे वहाँ ग्वाल-बालोंके साथ यमुनातटपर जहाँ विविध भाँतिके पक्षी बोलते थे, उन वनों और उपवनोंमें विविध प्रकारके कौतुक किया करते थे ॥ २७ ॥ व्रजमें बाललीला दिखाते हुए वे कभी रोते, कभी हँसते और कभी वीर बनकर सिंहकी तरह विहार करते थे ॥ २८ ॥ जब कुछ बड़े हुए तो शोभा आदि सम्पत्तियोंकी खान-स्वरूप वहाँकी गौओंको चराने और वंशी बजा-बजाकर सब ग्वाल-बालोंको आनन्दित करने लगे

प्रयुक्तान् भोजराजेन मायिनः कामरूपिणः । लीलया व्यनुदत्तांस्तान् बालः क्रीडनकानिव ॥३०॥
विपन्नान् विषपानेन निगृह्य भुजगाधिपम् । उत्थाप्यापाययद्गावस्तत्तोयं प्रकृतिस्थितम् ॥३१॥
अयाजयद्गोसवेन गोपराजं द्विजोत्तमैः । वित्तस्य चोरुभारस्य चिकीर्षन् सद्व्ययं विभुः ॥३२॥
वर्षतीन्द्रे व्रजः कोपाद्भग्नमानेऽतिविह्वलः । गोत्रलीलातपत्रेण त्रातो भद्रानुगृह्णता ॥३३॥
शरच्छशिकरैर्मृष्टं मानयन् रजनीमुखम् । गायन् कलपदं रेमे स्त्रीणां मण्डलमण्डनः ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

उद्धव उवाच

ततः स आगत्य पुरं स्वपित्रोश्चिकीर्षया शं बलदेवसंयुतः ।
निपात्य तुङ्गाद्रिपुयूथनाथं हतं व्यकर्षद् व्यसुमोजसोर्व्याम् ॥१॥
सान्दीपनेः सकृत्प्रोक्तं ब्रह्माधीत्य सविस्तरम् । तस्मै प्रादाद्वरं पुत्रं मृतं पञ्चजनोदरात् ॥२॥
समाहुता भीष्मककन्यया ये श्रियः सवर्णेन बुभूषयैषाम् ।
गान्धर्ववृत्त्या मिषतां स्वभागं जह्रे पदं मूर्ध्नि दधत्सुपर्णः ॥३॥
ककुद्मतोऽविद्धनसो दमित्वा स्वयंवरे नाग्नजितीमुवाह ।
तद्भग्नमानानपि गृध्यतोऽज्ञाञ्जघ्नेऽक्षतः शस्त्रभृतः स्वशस्त्रैः ॥४॥

॥ २९ ॥ राजा कंसके द्वारा भेजे हुए अनेक दैत्योंको उन्होंने इस तरह मार डाला, जैसे बच्चे खिलौने फोड़ डालते हैं ॥ ३० ॥ कालिया नागके विष मिले जलको पीकर मरे हुए गौओं और गोपालोंको उन्होंने जिला दिया और कालियाको भगाकर जब वह जल विषविहीन कर लिया तब गौओंको पिलाया ॥ ३१ ॥ इन्द्रकी पूजामें जो बहुत-सा धन खर्च होता था, उसको गोवर्धनकी पूजामें लगाते हुए गोपराज नन्द तथा अन्यान्य ब्राह्मणोंसे उन्होंने गौओंकी पूजा करायी। इस तरह उस धनका उन्होंने सदुपयोग कराया ॥ ३२ ॥ हे भद्र ! जब इन्द्र कुपित होकर घोर वर्षा करते हुए व्रजवासियोंको व्यथित कर दिये, तब उन्होंने इन्द्र और ग्वाल-बालोंपर अनुग्रह करके उस गोवर्धन पर्वतको एक छतरीकी तरह उठा लिया और सभी व्रजवासियोंको बचा लिया ॥ ३३ ॥ शरत्कालीन चन्द्रमाकी किरणोंसे जब रात्रि साफ तथा उजली हो रही थी, तब उन्होंने सुन्दर गीत गाते हुए व्रजवधूटियोंके साथ रास रचाकर आनन्दलाभ किया था ॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उद्धव कहने लगे—इसके अनन्तर अपने माता-पिताका कल्याण करनेके लिए बलदेवके साथ-साथ वे मथुरापुरीमें आये और शत्रुसमुदायके स्वामी कंसको वेगसे ऊँचे सिंहासनसे जमीनमें खींच लिया और मार डाला ॥ १ ॥ तदनन्तर गुरु सानन्दीपनिके पास जाकर विद्या पढ़ने लगे। वे बुद्धिमान इतने थे कि गुरुजी एक बार जो बात कह देते, वह इनके हृदयमें बैठ जाती थी। इस तरह विस्तारके साथ उन्होंने वेदका अध्ययन किया और गुरुके मरे हुए बेटेको यमराजके यहाँसे वापस लाकर गुरुदक्षिणा दी ॥ २ ॥ राजा भीष्मककी पुत्री रुक्मिणीकी शोभासे आकर्षित होकर शिशुपाल आदि जो राजे विवाहके निमित्त वहाँ गये थे, उनके देखते-देखते उनके मस्तकपर पैर रखकर गांधर्ववृत्तिके अनुसार वे रुक्मिणीको हर लाये ॥ ३ ॥ सात बड़े-बड़े बैलोंको नाथकर और उनके दमनसे वहाँके सभी राजाओंका मान भंग करते हुए उन्होंने स्वयंवरमें नाग्नजितीको प्राप्त कर लिया। फिर भी लोभवश जो राजे उनसे लड़ने आये, उन अज्ञानियोंको अपने शस्त्रोंसे मार गिराया और

प्रियं प्रभुर्ग्राम्य इव प्रियाया विधित्सुराच्छंद् द्युतरुं यदर्थे।
वज्र्याद्रवत्तं सगणो रुषान्धः क्रीडामृगो नूनमयं वधूनाम् ॥५॥
सुतं मृधे खं वपुषा ग्रसन्तं दृष्ट्वा सुनाभोन्मथितं धरित्र्या।
आमन्त्रितस्तत्तनयाय शेषं दत्त्वा तदन्तःपुरमाविवेश ॥६॥
तत्राहृतास्ता नरदेवकन्याः कुजेन दृष्ट्वा हरिमार्तबन्धुम्।
उत्थाय सद्यो जगृहुः प्रहर्षव्रीडानुरागप्रहितावलोकैः ॥७॥
आसां मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु योषिताम्। सविधं जगृहे पाणीननुरूपः स्वमायया ॥८॥
तास्वपत्यान्यजनयदात्मतुल्यानि सर्वतः। एकैकस्यां दश दश प्रकृतेर्विबुभूषया ॥९॥
कालमागधशाल्वादीननीकै रुन्धतः पुरम्। अजीघनत्स्वयं दिव्यं स्वपुंसां तेज आदिशत् ॥१०॥
शम्बरं द्विविदं बाणं मुरं बल्वलमेव च। अन्यांश्च दन्तवक्त्रादीनवधीत्कांश्च घातयत् ॥११॥
अथ ते भ्रातृपुत्राणां पक्षयोः पतितान्नृपान्। चचाल भूः कुरुक्षेत्रं येषामापततां बलैः ॥१२॥
सकर्णदुःशासनसौबलानां कुमन्त्रपाकेन हतश्रियायुषम्।
सुयोधनं सानुचरं शयानं भग्नोरुमूर्व्यां न ननन्द पश्यन् ॥१३॥
कियान् भुवोऽयं क्षपितोरुभारो यद्द्रोणभीष्मार्जुनभीममूलैः।
अष्टादशाक्षौहिणिको मदंशैरास्ते बलं दुर्विषहं यदूनाम् ॥१४॥

अपने शरीरमें तनिक भी चोट नहीं लगने दी ॥ ४ ॥ वे यद्यपि परम स्वतन्त्र थे, फिर भी अपनी प्रियतमा सत्यभामाको प्रसन्न करनेके निमित्त स्वर्गलोकको गये और वहाँसे पारिजातका पौधा लेकर चल पड़े। स्त्रियोंके अधीन इन्द्र जब क्रुद्ध होकर अपने दलबलके साथ उनसे लड़ने आये तो श्रीकृष्णने उनको मार भगाया ॥ ५ ॥ जब भौमासुर अपने शारीरिक बलसे आकाशको भी निगले जा रहा था तो उन्होंने उसे संग्रामभूमिमें मार डाला। अपने मरे हुए बेटोंको देखकर पृथ्वीने कृष्णभगवानको अपने घर बुलाया। उस समय उन्होंने राज्यका शेषभाग भौमासुरके बेटे भगदत्तको दे दिया। तब अन्तःपुरमें गये। वहाँ भौमासुरके द्वारा हरकर लायी हुई बहुत-सी मनुष्यों और देवताओंकी कन्यायें कैद थीं। उन कन्याओंने जैसे ही दुखियोंके सहायक भगवानकी वह मनोहर मूर्ति देखी, उसी समय वे उनपर मुग्ध हो गयीं। भगवानने भी उठकर, हर्ष, लज्जा और अनुरागमिश्रित अवलोकनसे उनको आनन्दित करते हुए सबका पाणिग्रहण कर लिया ॥६॥७॥ भगवान केवल मुहूर्त भर उन स्त्रियोंके घरोंमें रहे। इसके बाद अपनी मायासे एकसे अनेकरूप होकर उन्होंने उन सबके साथ विधिवत् विवाह कर लिया ॥ ८ ॥ प्रकृतिका विस्तार करनेकी इच्छासे उन्होंने उनमें एक-एक स्त्रीसे दस-दस बालक उत्पन्न किये। वे भी कृष्णहीके समान सुन्दर और बलवान् थे ॥ ९ ॥ समय-समयपर कालयवन, जरासन्ध आदिने उनपर चढ़ाई भी की, लेकिन उन्होंने अपने कौशलसे दूसरे लोगों (मुचुकुन्द-भीम आदि) के द्वारा उन्हें मरवा डाला। क्योंकि भगवानने अपना तेज उन्हें दे दिया था। शंबर, द्विविद, लवणासुर, मुर, बल्वल एवं दन्तवक्त्र आदि दुष्टोंमेंसे बहुतोंको दूसरोंके द्वारा समाप्त करा दिया और कुछको अपने हाथों मार डाला ॥ १० ॥ ११ ॥ इनका वध करनेके अनन्तर कुरुक्षेत्रमें तुम्हारे भतीजोंके पक्षमें जुटे हुए उन बहुतसे राजाओंको मरवाया कि जिनकी प्रबल सेनासे भूमि डगमगा रही थी ॥ १२ ॥ इसके बाद कर्ण, दुःशासन, शकुनी आदिकी कुमंत्रणासे नष्टश्री और नष्ट आयुवाले दुर्योधन तथा उसके साथियोंको समाप्त कराया। दुर्योधनकी जाँघ टूट गयी थी और वह मरा हुआ पृथ्वीपर पड़ा था—फिर भी भगवान्के जीको सन्तोष नहीं हुआ ॥ १३ ॥ वे सोच रहे थे कि द्रोणाचार्य-भीष्मपितामह और अर्जुन जैसे वीरोंसे ओत-प्रोत पाण्डवों और कौरवोंकी विशाल सेनाका संहार करा देनेसे ही क्या पृथ्वीका बोझ हट गया? अभी तो यदुवंशियोंकी अठारह अक्षौहिणी सेना इसकी छातीपर सवार ही है

मिथो यदैषां भविता विवादो मध्वामदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां वधोपाय इयानतोऽन्यो मय्युद्यतेऽन्तर्दधते स्वयं स्म ॥१५॥

एवं सञ्चिन्त्य भगवान् स्वराज्ये स्थाप्य धर्मजम् । नन्दयामास सुहृदः साधूनां वर्त्म दर्शयन् ॥१६॥
उत्तरायां धृतः पूरोर्वंशः साध्वभिमन्युना । स वै द्रौण्यस्त्रसंछिन्नः पुनर्भगवता धृतः ॥१७॥
अयाजयद्धर्मसुतमश्वमेधैस्त्रिभिर्विभुः । सोऽपि क्ष्मामनुजै रक्षन् रेमे कृष्णमनुव्रतः ॥१८॥
भगवानपि विश्वात्मा लोकवेदपथानुगः । कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमास्थितः॥१९॥
स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया । चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥२०॥
इमं लोकममुं चैव रमयन् सुतरां यदून् । रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥२१॥
तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् । गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ॥२२॥
दैवाधीनेषु कामेषु दैवाधीनः स्वयं पुमान् । क विस्रम्भेत योगेन योगेश्वरमनुव्रतः ॥२३॥
पुर्यां कदाचित्क्रीडद्भिर्यदुभोजकुमारकैः । कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मतकोविदाः ॥२४॥
ततः कतिपयैर्मासैर्वृष्णिभोजान्धकादयः । ययुः प्रभासं संहृष्टा रथैर्देवविमोहिताः ॥२५॥
तत्र स्नात्वा पितॄन्देवानृषींश्चैव तदम्भसा । तर्पयित्वाथ विप्रेभ्यो गावो बहुगुणा ददुः ॥२६॥
हिरण्यं रजतं शय्यां वासांस्यजिनकम्बलान् । यानं रथानिभान् कन्या धरां वृत्तिकरीमपि ॥२७॥

॥ १४ ॥ मैं अकेले रहकर तो यही उपाय कर सकता हूँ कि इनकी बुद्धि भ्रष्ट कर दूँ। ये मदिरा पी-पीकर मतवाले हो जायँ और आँखें लालकर आपसमें ही लड़ मरें। समय पाकर मैं स्वयं भी अन्धर्धान हो जाऊँ। इसके सिवाय और कोई उपाय ही नहीं है ॥ १५ ॥ इस प्रकारकी योजना बनाकर उन्होंने अपने राज्यसिंहासनपर धर्मराज युधिष्ठिरको बैठा दिया और अपने मित्रों एवं सुहृदोंको सन्मार्ग दिखाते हुए आनन्दित करते रहे ॥ १६ ॥ अभिमन्युने उत्तराके गर्भमें पुरुवंशका जो सूत्र स्थापित किया था, उसे अश्वत्थामाने नष्ट कर डालना चाहा, पर भगवानने उसे बचा लिया ॥ १७ ॥ इसके बाद उन्होंने युधिष्ठिरसे तीन अश्वमेध यज्ञ कराये। युधिष्ठिर भगवान कृष्णकी मंत्रणाका अनुसरण करते और अपने भ्राताओंके साथ पृथिवीकी रक्षा करते हुए सुखसे रहने लगे ॥१८॥ वे नारायण विश्वात्मा होकर भी अलौकिक और वैदिक प्रथाओंका अनुसरण करते हुए अनासक्त भावसे सांख्यशास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार द्वारिकापुरीमें रहकर अपनी इच्छायें पूर्ण करने लगे ॥१९॥ वे स्नेह और मुस्कराहट मिली चितवन तथा अमृत सदृश मीठी वाणी एवं अपने पुनीत आचरण और अपने शोभाधाम शरीरसे यादवोंके इहलोक और परलोकको सम्हालते हुए रहने लगे। वे रात्रिके समय थोड़ी देरके लिए अपनी स्त्रियोंको भी आनन्दित करनेका अवसर निकालते थे ॥ २० ॥ २१ ॥ बहुत वर्षोंतक इस प्रकार आनन्द करते-करते धीरे-धीरे उनका मन गृहस्थीके झमेलेसे हटने लगा और हृदयमें वैराग्यका उदय हुआ ॥ २२ ॥ जो भगवान सब प्रकारसे स्वतंत्र थे और उनकी इच्छायें भी उनके वशीभूत थीं, उनको भी जब वैराग्यकी आवश्यकता प्रतीत हुई, तब सब प्रकारसे परतंत्र और भाग्याधीन कामना-वाले संसारी जनोंमें भला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो भगवानका भजन करता हुआ वैराग्य सम्पादन करनेकी चेष्टा न करेगा ॥ २३ ॥ किसी समय सभी यादव और भोजवंशी लड़के द्वारकापुरीमें खेल रहे थे। उन लोगोंने किसी मुनिको क्रुद्ध कर दिया। भगवानका अभिप्राय जाननेवाले उन मुनिराज-ने उन बालकोंको शाप दे दिया ॥ २४ ॥ इसके कुछ महीने बाद सब यादव दैवसे प्रेरित हो खुशी-खुशी अपने-अपने रथोंपर सवार होकर प्रभासक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ २५ ॥ वहाँ उन्होंने स्नान किया और उसी तीर्थके जलसे पितरोंका तर्पण करके ब्राह्मणोंको भोजन कराया और बहुतसी गौवें दान दीं ॥ २६ ॥ इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुतसा सोना, चाँदी, शय्या, कपड़े, मृगचर्म, कम्बल, बहुतेरी

अन्नं चोरुरसं तेभ्यो दत्त्वा भगवदर्पणम् । गोविप्रार्थासवः शूराः प्रणेमुर्भुवि मूर्धभिः ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

उद्धव उवाच

अथ ते तदनुज्ञाता भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम् । तया विभ्रंशितज्ञाना दुरुक्तैर्मर्म पस्पृशुः ॥१॥
तेषां मैरेयदोषेण विषमीकृतचेतसाम् । निम्लोचति रवावासीद्वेणूनामिव मर्दनम् ॥२॥
भगवान् स्वात्ममायाया गतिं तामवलोक्य सः । सरस्वतीमुपस्पृश्य वृक्षमूलमुपाविशत् ॥३॥
अहं चोक्तो भगवता प्रपन्नार्तिहरेण ह । बदरीं त्वं प्रयाहीति स्वकुलं संजिहीर्षुणा ॥४॥
अथापि तदभिप्रेतं जानन्नहमरिन्दम । पृष्ठतोऽन्वगमं भर्तुः पादविश्लेषणाक्षमः ॥५॥
अद्राक्षमेकमासीनं विचिन्वन्दयितं पतिम् । श्रीनिकेतं सरस्वत्यां कृतकेतमकेतनम् ॥६॥
श्यामावदातं विरजं प्रशान्तारुणलोचनम् । दोर्भिश्चतुर्भिर्विदितं पीतकौशाम्बरेण च ॥७॥
वाम ऊरावधिश्रित्य दक्षिणाङ्घ्रिसरोरुहम् । अपाश्रितार्भकाश्वत्थमकृशं त्यक्तपिप्पलम् ॥८॥
तस्मिन्महाभागवतो द्वैपायनसुहृत्सखा । लोकाननुचरन् सिद्ध आससाद यदृच्छया ॥९॥
तस्यानुरक्तस्य मुनेर्मुकुन्दः प्रमोदभावानतकन्धरस्य ।
आश्रृण्वतो मामनुरागहाससमीक्षया विश्रमयन्नुवाच ॥१०॥

सवारियाँ, रथ, हाथी, कन्यायें और जीविका सम्पादन करने योग्य भूमि दानमें दी ॥ २७ ॥ इसके अनन्तर उन्होंने बहुतेरे स्वादिष्ट अन्न भगवदर्पण करके उन लोगोंको खिलाया और गौवों तथा ब्राह्मणों-को पृथ्वीमें मस्तक झुकाकर उन वीरोंने प्रणाम किया ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीय-स्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(विदुर-उद्धव संवाद) इस प्रकार दान-धर्म करनेके बाद ब्राह्मणोंकी आज्ञासे उन लोगोंने भोजन किया और पीठीकी बनी मदिरा पी। थोड़ी देर बाद सब नशेमें चूर हो गये। उनका ज्ञान नष्ट हो गया और आपसमें एक दूसरेकी पोल खोलते हुए मर्मघाती बातें कहने लगे ॥१॥ उस मदिरा-के नशेमें वे सब यादव आपसमें ही लड़ पड़े और जैसे वनके बाँसोंकी रगड़से आग उत्पन्न हो जाती और सारे वनको जला डालती है, उसी तरह शाम होते-होते वे सब लड़कर कट मरे ॥ २ ॥ भगवान-ने जब अपनी मायाकी यह गति देखी तो सरस्वती नदीके तटपर चले आये और उसके जलसे आचमन करके एक पीपलके वृक्षतले बैठ गये ॥ ३ ॥ मुझे तो उन शरणागत दुःखहारी भगवानने द्वारिका-में ही कह दिया था कि 'तुम यहाँसे बदरिकारण्यको चले जाओ।' ॥ ३ ॥ हे अरिन्दम ! यद्यपि मैं उनका संहारात्मक अभिप्राय समझता था, फिर भी उनके चरणोंका वियोग सहनेमें असमर्थ होकर मैं उनके पीछे-पीछे चला गया ॥ ४ ॥ ५ ॥ उनको खोजते-खोजते मैं सरस्वती नदीके तटपर पहुँचा तो देखा कि वे नदीके तीर मैदानमें अकेले आसन लगाये बैठे थे ॥ ६ ॥ उस समय भी उनका उसी तरह श्याम किन्तु तेजस्वी शरीर था, आँखें लाल थीं, सतोगुणमयी आकृति थी, चार भुजायें थीं और उनके शरीरपर पीताम्बर लहरा रहा था। इन्हीं सबको देखकर मैं उन्हें पहचान सका ॥ ७ ॥ वहाँ वे अपनी बाँयीं जाँघपर दहना पैर रखकर उस पीपलके नये पेड़के सहारे बैठे थे। उनमें न किसी प्रकारकी दुर्बलता थी और न किसी विषय-सुखकी अभिलाषा थी ॥ ८ ॥ इसी समय व्यासके सम्बन्धी अथवा मित्र श्रीमैत्रेय ऋषि भी अपने मनसे इधर-उधर घूमते-फिरते वहाँ जा पहुँचे ॥ ९ ॥ उस समय भगवान जैसे मेरा क्लेश दूर करते तथा प्रेम और मुसकराहट मिली आँखोंसे निहारते हुए

श्रीभगवानुवाच

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते ददामि यत्तद् दुरवापमन्यैः ।
सत्रे पुरा विश्वसृजां वसूनां मत्सिद्धिकामेन वसो त्वयेष्टः ॥११॥
स एष साधो चरमो भवानामासादितस्ते मदनुग्रहो यत् ।
यन्मां नृलोकान् रह उत्सृजन्तं दिष्ट्या ददृश्वान् विशदानुवृत्त्या ॥१२॥
पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं यत्सूरयो भागवतं वदन्ति ॥१३॥
इत्यादृतोक्तः परमस्य पुंसः प्रतिक्षणानुग्रहभाजनोऽहम् ।
स्नेहोत्थरोमा स्खलिताक्षरस्तं मुञ्चञ्छुचः प्राञ्जलिराबभाषे ॥१४॥
को न्वीश ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन् भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥१५॥
कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम् ।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः स्वात्मन् रतेः खिद्यति धीर्विदामिह ॥१६॥
मन्त्रेषु मां वा उपहूय यत्त्वमकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः ।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्तस्तन्नो मनो मोहयतीव देव ॥१७॥
ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम् ।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्तर्वदाञ्जसा यद् वृजिनं तरेम ॥१८॥

बोले और आनन्दातिरेकके कारण गर्दन झुकाये भगवानके प्रेमी भक्त मैत्रेय और हम उनकी बातें सुनने लगे ॥ १० ॥ नारायणने हमसे कहा—'हे उद्धव ! तुम्हारे मनकी सब बातोंको मैं जानता हूँ। पूर्वजन्ममें तुम वसु थे और मुझे पानेके लिए विश्वसृजन और वसुयज्ञसे तुमने मेरी आराधना की थी। इसलिए मैं तुम्हें वह वस्तु देता हूँ कि जिसे और लोग बड़ी कठिनाईसे प्राप्त कर सकते हैं ॥ ११ ॥ अब तक तुम्हारे जितने जन्म हुए थे, उनमें तुम्हारा यह जन्म अन्तिम है। क्योंकि इसमें तुमने मेरी कृपा प्राप्त कर ली है। इस वास्ते तुम और भी भाग्यशाली हो कि जब मैं इस लोकको त्यागनेकी इच्छासे यहाँ एकान्तमें आ बैठा हूँ, तब एकान्त भक्तिसे तुमने मेरा दर्शन पा लिया है ॥ १२ ॥ आजके बहुत दिनों पहले जब कि सृष्टिका आरम्भ हो रहा था, तब मैंने यह बात अपनी नाभिके कमलसे उत्पन्न श्रीब्रह्माजीको बतलायी थी, तब वे मेरी लीलाओंका ज्ञान प्राप्त करके मेरी महिमाको समझ सके थे' ॥ १३ ॥ जब उन्होंने इस प्रकार मेरा आदर करते हुए मेरी ओर कृपादृष्टि करके निहारनेकी दया की तो स्नेहातिरेकके कारण मेरे रोंगटे खड़े हो गये, गला भर आया, मेरी आँखोंमें आँसू छलछला आये और हाथ जोड़कर मैं कहने लगा—॥ १४ ॥ हे ईश ! आपके चरणोंकी सेवा करनेवाले प्राणियोंको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनमेंसे कौनसा पदार्थ अप्राप्त रह जाता है। फिर भी हे भूमन् ! मुझे इनमेंसे कुछ नहीं चाहिए। क्योंकि मैं तो एकमात्र आपके चरणोंकी सेवा करना चाहता हूँ ॥ १५ ॥ जिसको कोई अभिलाषा नहीं है, फिर भी वह विविध प्रकारके काम कर रहा है। जो अजन्मा होकर भी जन्म लेता है। जो अपनी जान बचानेके लिए किलेमें घुसता और शत्रुके भयसे भागता है। जो कालका प्रभु होता हुआ भी हजारों स्त्रियोंसे ब्याह करता है, ऐसे आप नारायणकी लीलाको देखकर बड़े-बड़े विद्वानोंकी बुद्धि चकरा जाती है ॥ १६ ॥ इतने विचक्षण और आत्मज्ञानी होते हुए भी आप जब कोई बात आती थी तो सलाह करनेके लिए मुझे एकान्तमें बुलाते थे और भ्रमित बुद्धिवाले एक साधारण मनुष्यकी तरह पूछ-ताछ करते थे। हे देव ! उन बातोंको सोचकर मेरा मन मोहमें पड़ जाता है ॥ १७ ॥ हे स्वामिन् ! अपने रहस्यको प्रकाशित करनेवाले

इत्यावेदितहार्दाय मह्यं स भगवान् परः। आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥१९॥

स एवमाराधितपादतीर्थादधीततत्त्वात्मविबोधमार्गः।

प्रणम्य पादौ परिवृत्य देवमिहागतोऽहं विरहातुरात्मा ॥२०॥

सोऽहं तद्दर्शनाह्लादवियोगार्तियुतः प्रभो। गमिष्ये दयितं तस्य बदर्याश्रममण्डलम् ॥२१॥

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः। मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवादुपाकर्ण्य सुहृदां दुःसहं वधम्। ज्ञानेनाशमयत्क्षत्ता शोकमुत्पतितं बुधः ॥२३॥

स तं महाभागवतं व्रजन्तं कौरवर्षभः। विश्रम्भादभ्यधत्तेदं मुख्यं कृष्णपरिग्रहे ॥२४॥

विदुर उवाच

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते।

वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णोर्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति ॥२५॥

उद्धव उवाच

ननु ते तत्त्वसंराध्य ऋषिः कौषारवोऽन्ति मे। साक्षाद्भगवताऽऽदिष्टो मर्त्यलोकं जिहासता ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेर्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः।

क्षणमिव पुलिने यमस्वसुस्तां समुषित औपगविर्निशां ततोऽगात् ॥२७॥

राजोवाच

निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजेष्वधिरथयूथपयूथपेषु मुख्यः।

स तु कथमवशिष्ट उद्धवो यद्धरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः ॥२८॥

उस उत्तम ज्ञानको सम्पूर्णरूपसे आपने किस ब्रह्माको बतलाया था ? यदि हो सके तो आप उसे हमको भी बताइए। उसे सुनकर मैं अनायास सांसारिक कष्टोंसे छुटकारा पा जाऊँगा ॥ १८ ॥ इस प्रकार बड़ी व्याकुलताके साथ जब मैंने भगवानसे विनती की, तब उन्होंने मुझे अपनी सर्वोच्च स्थितिका हाल बताया ॥ १९ ॥ इस तरह जब मैंने उनके चरणोंकी आराधना की, तब उन्होंने मुझे अपने तत्त्वज्ञानका मार्ग बता दिया। इसके बाद मैंने उनके चरणोंको प्रणाम किया, उनकी प्रदक्षिणा की और उनके वियोगसे विरहातुर होकर यहाँ चला आया ॥ २० ॥ हे प्रभो ! मैं अन्तसमयमें उनका दर्शन पा जानेसे प्रसन्न और वियोगके कारण दुखी हूँ। अब मैं उनके प्रिय बदरिकाश्रमको चला जाऊँगा ॥ २१ ॥ जहाँ कि साक्षात् नर-नारायणने ऋषिके रूपमें विराजमान रहते हुए लोककल्याणार्थ बहुत दिनोंतक सरल और कठोर दोनों तरहकी तपस्यायें की थीं ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—उद्धवके मुखसे स्वजनोंके संहारका वृत्तान्त सुनकर विदुरको बड़ा विषाद हुआ, किन्तु उन्होंने अपने ज्ञानबलसे उसे शान्त कर लिया ॥ २३ ॥ हे कौरवश्रेष्ठ ! जब उद्धव बदरिकारण्य जानेके लिए तैयार हो गये, तब विदुरने विश्वस्तभावसे उनको कृष्णके परिवारका मुख्य समझकर कहा—॥ २४ ॥ 'हे उद्धव ! भगवानने उस समय आपको अपना रहस्य प्रकाशित करनेवाला जो ज्ञान दिया था, क्या आप उसे बता सकते हैं ? क्योंकि भगवानके सेवकोंका काम ही यही रहता है। वे भगवद्भक्तोंका प्रयोजन साधन करनेके लिए ही विचरते रहते हैं ॥ २५॥ उद्धव बोले—'हे विदुर ! जब कि भगवान इस मर्त्यलोकको त्यागनेकी इच्छासे सरस्वती नदीके तटपर बैठे हुए थे, तब उन्होंने तुम्हारे आराध्य गुरु मैत्रेयके सामने मुझे उपदेश दिया था। इसलिए आप जो कुछ जानना चाहें, उन्हींसे समझ लीजिएगा' ॥ २६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार विदुरके साथ बातचीत करनेसे उद्धवका

श्रीशुक उवाच

ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः । संहृत्य स्वकुलं नूनं त्यक्ष्यन् देहमचिन्तयत् ॥२९॥
अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम् । अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः ॥३०॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः । अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥३१॥
एवं त्रिलोकगुरुणा सन्दिष्टः शब्दयोनिना । बदर्याश्रममासाद्य हरिमीजे समाधिना ॥३२॥
विदुरोऽप्युद्धवाच्छ्रुत्वा कृष्णस्य परमात्मनः । क्रीडयोपात्तदेहस्य कर्माणि श्लाघितानि च ॥३३॥
देहन्यासं च तस्यैवं धीराणां धैर्यवर्धनम् । अन्येषां दुष्करतरं पशूनां विक्लवात्मनाम् ॥३४॥
आत्मानं च कुरुश्रेष्ठ कृष्णेन मनसेक्षितम् । ध्यायन् गते भागवते रुरोद प्रेमविह्वलः ॥३५॥
कालिन्द्याः कतिभिः सिद्ध अहोभिर्भरतर्षभ । प्रापद्यत स्वःसरितं यत्र मित्रासुतो मुनिः ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विदुरोद्धवसंवादे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

द्वारि द्युनद्या ऋषभः कुरूणां मैत्रेयमासीनमगाधबोधम् ।
क्षत्तोपसृत्याच्युतभावशुद्धः पप्रच्छ सौशील्यगुणाभितृप्तः ॥१॥

सन्ताप बढ़ गया। उन विश्वमूर्ति नारायणकी कथारूपी सुधासे उनका हृदय आप्लावित हो गया और उस रातको यमुना-तटपर क्षणभरके समान बिताकर सबेरे बदरिकारण्यकी ओर चल पड़े ॥२७॥ इसपर राजा परीक्षित बोले—हे भगवन्! जब कि बड़े-बड़े महारथी वृष्णि और भोजवंशी यादव वीर आपसमें लड़कर मर मिटे और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवके भी स्वामी कृष्णभगवानको भी अपना मानव कलेवर त्यागना पड़ा, तब भला ये उद्धव कैसे बचे रह गये? ॥ २८ ॥ श्रीशुकदेवजी राजाके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहने लगे—हे राजन्! मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि भगवानकी स्वयं यह इच्छा थी कि किसी तरह पृथ्वीका यह बोझ भी उतर जाय। उन्होंने अपनी इच्छासे ब्रह्मशापके बहाने सारे कुलका संहार करा दिया और अपने शरीरको भी त्यागनेकी बातपर विचार करने लगे ॥ २९ ॥ और उन्होंने सोचा कि मेरे न रहनेपर मेरे ज्ञानका प्रसार करनेकी शक्ति आत्म-ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ उद्धवमें ही है (और कोई भी उसका सदुपयोग नहीं कर सकेगा) ॥ ३० ॥ उद्धव मुझसे कुछ भी कम नहीं हैं। क्योंकि कामिनी-कांचन आदि विषयोंसे उनका मन चलायमान नहीं होता। इससे यही अच्छा होगा कि ये मेरे उपदेशोंका प्रचार करते हुए यहीं रहें ॥ ३१ ॥ इसी अभिप्रायसे त्रिलोकीके गुरु और शब्दब्रह्मके प्रभु नारायणने उनको अपना सब मन्तव्य बता दिया और भगवानके आदेशानुसार उद्धव बदरिकाश्रममें जाकर समाधि लगा करके भगवानकी आराधना करने लगे ॥ ३२ ॥ विदुर भी तब उद्धव द्वारा सुने परमात्मा श्रीकृष्णके उस लीलाविग्रह द्वारा किये गये स्तुत्य कार्योंका वर्णन और धैर्यधारियोंके धैर्यको बढ़ानेवाला तथा पाशविक प्रकृतिवाले साधारण प्राणियोंके लिए अत्यन्त दुष्कर कार्योंको सोचकर विकल हो गये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ जब भगवद्भक्त उद्धव चले गये तो भगवान कृष्णके मुँहसे निकले हुए उनके आत्मज्ञानसम्बन्धी उपदेशोंका स्मरण करके विदुर रोने लगे ॥ ३५ ॥ इसके बाद वे सिद्ध भक्त विदुर भी यमुनातटसे चल दिये और कई दिनों बाद गंगाजीके तटपर उस जगह जा पहुँचे, जहाँ कि मित्राके पुत्र महर्षि मैत्रेय रहा करते थे ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ विदुर गंगाके द्वारपर विराजमान

विदुर उवाच

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ॥२॥
जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवादधर्मशीलस्य सुदुःखितस्य ।
अनुग्रहायेह चरन्ति नूनं भूतानि भव्यानि जनार्दनस्य ॥३॥
तत्साधुवर्यादिश वर्त्म शं नः संराधितो भगवान् येन पुंसाम् ।
हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूते ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ॥४॥
करोति कर्माणि कृतावतारो यान्यात्मतन्त्रो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यथा ससर्जाग्र इदं निरीहः संस्थाप्य वृत्तिं जगतो विधत्ते ॥५॥
यथा पुनः स्वे ख इदं निवेश्य शेते गुहायां स निवृत्तवृत्तिः ।
योगेश्वराधीश्वर एक एतदनुप्रविष्टो बहुधा यथाऽऽसीत् ॥६॥
क्रीडन् विधत्ते द्विजगोसुराणां क्षेमाय कर्माण्यवतारभेदैः ।
मनो न तृप्यत्यपि शृण्वतां नः सुश्लोकमौलेश्चरितामृतानि ॥७॥
यैस्तत्त्वभेदैरधिलोकनाथो लोकानलोकान् सह लोकपालान् ।
अचीक्लृपद्यत्र हि सर्वसत्त्वनिकायभेदोऽधिकृतः प्रतीतः ॥८॥
येन प्रजानामुत आत्मकर्मरूपाभिधानां च भिदां व्यधत्त ।
नारायणो विश्वसृडात्मयोनिरेतच्च नो वर्णय विप्रवर्य ॥९॥

उन अगाध ज्ञानवाले महर्षि मैत्रेयके पास जाकर भगवानके ध्यानसे अपना भाव शुद्ध करके और सुशीलता आदि गुणोंसे युक्त होकर पूछने लगे ॥ १ ॥ विदुर बोले—हे भगवन्! इस संसारके सब लोग सुख प्राप्त करने अथवा आये हुए दुःखको दूर करनेके लिए तरह तरहके कर्म करते हैं। लेकिन कभी-कभी तो ऐसा होता है कि उन्हीं सुखके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे असह्य दुःख उठाना पड़ जाता है। इस वास्ते इस संसारमें जो करने योग्य कर्म हो, वह आप हमको बताइए ॥ २ ॥ भाग्यवश जो लोग भगवान कृष्णचन्द्रसे विमुख होकर तरह तरहके अधर्म करते और दुःख उठाते हैं, ऐसे लोगोंपर कृपा करनेके लिए ही भगवानके भव्य भक्त इस संसारमें विचरते रहते हैं ॥ ३ ॥ इसलिए हे साधुवर्य! आप हमको वह मार्ग बताइए, जिससे भगवान प्राणियोंके भक्तियुक्त हृदयमें आ बसें और उन्हें वेदों तथा पुराणोंसे प्रमाणित आत्मज्ञान प्रदान करें ॥ ४ ॥ जिस तरह ब्रह्मा-विष्णु-शिव और स्वतंत्र भगवानने पुरुषरूपसे अवतार लिया हो, उन्होंने जो-जो कार्य किये हों, पहले जिस प्रकार उन्होंने निरीह भावसे इस संसारकी सृष्टि की हो, फिर उसके लिए जीविकाका जो प्रबन्ध किया हो, वह सब वृत्तान्त आप हमको बताइए ॥ ५ ॥ अन्तमें वे योगेश्वर जिस तरह इस विश्वको समेटकर अपने हृदयरूपी आकाशमें रख और अपने कर्म त्यागकर अपनी योगमायामें शयन करते हों और फिर इस जगत्की सृष्टि करके जिस तरह एकसे अनेक हो जाते हों, मुझे वह सब वृत्तान्त बताइए ॥ ६ ॥ वे मत्स्य, कच्छप तथा वराह आदि अवतार लेकर लीलायें करते हुए देवताओं, गौओं और ब्राह्मणोंके कल्याणार्थ जो कार्य करते हों मुझे बताइए। क्योंकि पुण्यात्माओंमें शिरोमणि-स्वरूप उन भगवानके चरितरूपी अमृतका सदैव श्रवण करते रहनेपर भी मन तृप्त नहीं होने आता ॥ ७ ॥ लोकपतियोंके भी लोकपति वे महाप्रभु जिन तत्त्वोंके भेदसे लोकालोक पर्वतके आगेवाले भागों-को बनाये हों और जहाँ जिस तरहके जीव रहते हों, उन जीवोंके जो भेद उपभेद हों, जो वहाँ कार्य होते हों और जो जिसके आश्रित रहते हों, मुझे यह सब वृत्तान्त बताइए ॥ ८ ॥ उन्होंने जिस प्रकार

परावरेषां भगवन् व्रतानि श्रुतानि मे व्याससुखादभीक्ष्णम् ।
अतृप्नुम क्षुल्लसुखावहानां तेषामृते कृष्णकथामृतौघात् ॥१०॥
कस्तृप्नुयात्तीर्थपदोऽभिधानात् सत्रेषु वः सूरिभिरीड्यमानात् ।
यः कर्णनाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेहरतिं छिनत्ति ॥११॥
मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्यसुखानुवादैर्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥१२॥
सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः ।
हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ॥१३॥
ताञ्छोच्यशोच्यानविदोऽनुशोचे हरेः कथायां विमुखानघेन ।
क्षिणोति देवोऽनिमिषस्तु येषामायुर्वृथावादगतिस्मृतीनाम् ॥१४॥
तदस्य कौषारव शर्मदातुर्हरेः कथामेव कथासु सारम् ।
उद्धृत्य पुष्पेभ्य इवार्तबन्धो शिवाय नः कीर्तय तीर्थकीर्तेः ॥१५॥
स विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे कृतावतारः प्रगृहीतशक्तिः ।
चकार कर्माण्यतिपूरुषाणि यानीश्वरः कीर्तय तानि मह्यम् ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

स एवं भगवान् पृष्टः क्षत्त्रा कौषारविर्मुनिः । पुंसा निःश्रेयसार्थेन तमाह बहु मानयन् ॥१७॥

जीवोंके स्वभाव, उनके कर्म, उनका स्वरूप, उनके नामभेद बनाये हों, हे विप्रवर्य ! आप हमको यह सब बातें बताइए ॥ ९ ॥ हे भगवन् ! मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके व्रत श्रीव्यासदेवके मुखसे बारबार सुना है । उनसे मुझे बहुत कम आनन्द मिलता है और उन्हें सुनकर मैं तृप्त भी हो चुका हूँ । लेकिन कृष्णभगवानके कथारूप अमृतको पान करते-करते भी तृप्ति नहीं होने आती ॥ १० ॥ उन पुनीत चरणोंवाले भगवान कृष्णचन्द्रकी उस कथासे भला किसे तृप्ति हो सकती है कि आप लोगोंके समाजमें नारद आदि भी जिसकी सराहना किया करते हैं । जिस पुरुषके कानोंमें वह कथा पहुँचती है, उसकी घर-बारसम्बन्धी सारी आसक्ति दूर हो जाती है ॥ ११ ॥ आपके मित्र श्रीवेदव्यासने भगवानके गुणोंको बखाननेके लिए ही महाभारतकी रचना की थी । उसमें सांसारिक सुखोंकी बातें बताते-बताते उन्होंने भगवानकी कथाकी ओर ही लोगोंकी बुद्धि खींची है ॥ १२ ॥ जिस श्रद्धालु पुरुषकी बुद्धि भगवत्कथाकी ओर बढ़ जाती है तो अपने आप उसके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । उस वैराग्यावस्थामें भगवानके चरणोंका स्मरण होता है, जिससे तुरन्त उसके सब संकट कट जाते हैं ॥ १३ ॥ मैं तो उन अज्ञानियों और नारायणकी महिमा जानकर भी उनकी कथासे विमुख रहनेवाले प्राणियोंके विषयमें सोचा करता हूँ । क्योंकि काल व्यर्थकी बकवास करने, इधर-उधर घूमने और तरह-तरहकी बातें सोचते ही सोचते उनकी आयुको क्षीण करता रहता है ॥ १४ ॥ अतएव हे मैत्रेय ! इस विश्वका कल्याण करनेके लिए आप हमको सब कथाओंका सारस्वरूप नारायणकी कथा सुनाइए । जैसे कि भौंरा सब पुष्पोंका रस पीता है, उसी तरह सब शास्त्रों और कथाओंका रस पीकर आप हमको कृष्णकथाका रस पिलाइये ॥ १५ ॥ क्योंकि उन नारायणने इस विश्वकी सृष्टिके पालन आदि कार्य सम्पन्न करनेके लिए ही अवतार लिया था । उसके बाद उन्होंने साधारण पुरुषोंकी शक्तिके बाहरके जो कार्य किये हों, उन्हें आप हमको बताइए ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार विदुरके पूछनेपर मैत्रेय मुनिने उनके प्रश्नोंका बड़ा आदर किया । क्योंकि इन प्रश्नोत्तरोंसे संसारके लोगोंका बड़ा

मैत्रेय उवाच

साधु पृष्टं त्वया साधो लोकान् साध्वनुगृह्णता । कीर्तिं वितन्वता लोके आत्मनोऽधोक्षजात्मनः ॥१८॥
नैतच्चित्रं त्वयि क्षत्तर्बादरायणवीर्यजे । गृहीतोऽनन्यभावेन यत्त्वया हरिरीश्वरः ॥१९॥
माण्डव्यशापाद्भगवान् प्रजासंयमनो यमः । भ्रातुः क्षेत्रे भुजिष्यायां जातः सत्यवतीसुतात् ॥२०॥
भवान् भगवतो नित्यं सम्मतः सानुगस्य च । यस्य ज्ञानोपदेशाय मादिशद्भगवान् व्रजम् ॥२१॥
अथ ते भगवल्लीला योगमायोपबृंहिताः । विश्वस्थित्युद्भवान्तार्था वर्णयाम्यनुपूर्वशः ॥२२॥
भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः । आत्मेच्छानुगतावात्मानानामत्युपलक्षणः ॥२३॥
स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद् दृश्यमेकराट् । मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥२४॥
सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका । माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः ॥२५॥
कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षतः । पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥२६॥
ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात्कालचोदितात् । विज्ञानात्माऽऽत्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः ॥२७॥
सोऽप्यंशगुणकालात्मा भगवद्दृष्टिगोचरः । आत्मानं व्यकरोदात्मा विश्वस्यास्य सिसृक्षया ॥२८॥
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणादहंतत्त्वं व्यजायत । कार्यकारणकर्त्रात्मा भूतेन्द्रियमनोमयः ॥२९॥

उपकार हो सकता था ॥ १७ ॥ मैत्रेय बोले—'महाशय ! आपने संसारी जनोंपर दया करके हमसे बहुत ही सुन्दर प्रश्न किये हैं। ऐसा करके आपने अपना और भगवद्भक्तोंकी कीर्तिका विस्तार ही किया है ॥ १८ ॥ हे व्यासके पुत्र विदुर ! आपके लिए यह कोई विस्मयकी बात नहीं है, जो आपने सर्वतोभावेन भगवान कृष्णचन्द्रको अपनाया है। आपसे ऐसी ही आशा की जा सकती थी ॥ १९ ॥ यदि आप कहें कि यदि ऐसा है तो मैं शूद्र क्यों हुआ और लोगोंकी दयापर मुझे क्यों निर्भर रहना पड़ा, तो बात यह है कि महर्षि मांडव्यके शापसे आप (यमराज) सत्यवतीके बेटे व्यासदेवके वीर्यसे दासीकी कोखसे जन्मे हैं, वास्तवमें आप शूद्र नहीं, प्रजाके शासक साक्षात् यमराज हैं ॥ २० ॥ और आप तो साक्षात् देवकीनन्दन कृष्ण और उनके भक्तोंके परम प्रिय हैं। तभी तो परलोक जाते समय भगवान मुझे तुमको उपदेश देनेका आदेश दे गये थे ॥ २१ ॥ अब मैं तुम्हें भगवानकी लीला तथा उनकी योगमाया द्वारा बने हुए इस विश्वकी उत्पत्ति और स्थितिका सारा हाल बताता हूँ ॥ २२ ॥ सृष्टिके पूर्व विश्वस्वरूप वे परमपिता परमेश्वर तथा जीवोंके आत्मरूप वे सर्वव्यापक भगवान अकेले ही थे। उस समय न कोई दर्शक था और न कोई दृश्य था। जगत्की विविध बुद्धियें भी उसका निराकरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकती थीं। वे अपनी इच्छाका अनुसरण करते थे ॥ २३ ॥ उस समय अकेले वे ही द्रष्टा थे। अकेले रहनेके कारण उन्हें कोई भी दृश्य नहीं दिखायी पड़ता था। उनकी सभी शक्तियें सोयी हुई थीं। इस वास्ते उन्होंने अपना अस्तित्व नहीं समझ पाया था, किन्तु उस समय भी वे देखते सब कुछ थे। नारायणकी वह सत् तथा असत्को देखनेवाली दृष्टिशक्ति ही माया कहलायी और उसी मायाने इस जगत्की रचना को ॥ २४ ॥ २५ ॥ इसके बाद उन सर्वव्यापी परमात्माने उस गुणमयी मायामें अपना अंशस्वरूप चिदाभासरूपी वीर्य डाला ॥ २६ ॥ कालकी प्रेरणावश उस अव्यक्त मायासे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई। इसके अनन्तर उस विज्ञानात्माने अपनी देहमें बीजरूपसे विद्यमान विश्वको प्रकट करते हुए अंकुरित किया ॥ २७ ॥ फिर वे ही अंश (चिदाभास) गुण (उपादान) और काल (उनको क्षुभित करनेवाले) स्वरूप भगवान उस महत्तत्त्वके दृष्टिगोचर हुए और उन्होंने इस विश्वकी सृष्टि करनेके निमित्त अपना भी दूसरा रूप बनाया ॥ २८ ॥ इसके बाद उस महत्तत्त्वके विकृत होनेसे अहंतत्त्व (अहंकार) की रचना हुई। वह अहंतत्त्व कार्य (अध्यात्म) कारण (अधिदैव) का आधार हुआ। क्योंकि वह

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा । अहंतत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत् ।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥३०॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च । तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥३१॥
कालमायांशयोगेन भगवद्वीक्षितं नभः । नभसोऽनुसृतं स्पर्शं विकुर्वन्निर्ममेऽनिलम् ॥३२॥
अनिलोऽपि विकुर्वाणो नभसोरुबलान्वितः । ससर्ज रूपतन्मात्रं ज्योतिर्लोकस्य लोचनम् ॥३३॥
अनिलेनान्वितं ज्योतिर्विकुर्वत्परवीक्षितम् । आधत्ताम्भो रसमयं कालमायांशयोगतः ॥३४॥
ज्योतिषाम्भोऽनुसंसृष्टं विकुर्वद्ब्रह्मवीक्षितम् । महीं गन्धगुणामाधात्कालमायांशयोगतः ॥३५॥
भूतानां नभआदीनां यद्यद्भव्यावरावरम् । तेषां परानुसंसर्गाद्यथासंख्यं गुणान् विदुः ॥३६॥
एते देवाः कला विष्णोः कालमायांशलिङ्गिनः । नानात्वात्स्वक्रियानीशाः प्रोचुः प्राञ्जलयोविभुम् ।

देवा ऊचुः

नमाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।
यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरु संसारदुःखं बहिरुत्क्षिपन्ति ॥३८॥
धातर्यदस्मिन् भव ईश जीवास्तापत्रयेणोपहता न शर्म ।
आत्मँल्लभन्ते भगवंस्तवाङ्घ्रिच्छायां सविद्यामत आश्रयेम ॥३९॥

भूतेन्द्रिय मनोमय था अर्थात् इनके विकार उसमें विद्यमान थे ॥ २९ ॥ इसीसे वह अहंकार तीन प्रकारका माना गया—वैकारिक, तैजस और तामस। इनमेंसे वैकारिक अहंतत्त्वसे मन बना। इसी कारण सब देवता भी वैकारिक (सात्त्विक अहंकारके कार्य) कहलाये। वे ही देवता इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हुए और उन्हींके द्वारा शब्द आदि अर्थ प्रकट हुए ॥ ३० ॥ सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तैजस (राजस अहंकार युक्त) ही मानी गयीं और तामस अहंकार सूक्ष्म शब्दका जनक हुआ और उसी शब्दसे उन नारायणका लिंगस्वरूप आकाश उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥ तदनन्तर काल (क्षोभक) माया और अंश (चिदाभास) के योगसे भगवानके द्वारा दृश्यमान उस आकाशसे अपने आप उत्पन्न स्पर्शका रूपान्तर करके वायु बनाया गया ॥ ३२ ॥ आकाशके साथ मिलकर उस असाधारण बलवान वायुने तन्मात्रात्मक रूपकी रचना की। इसके बाद उसीने लोकका नेत्रस्वरूप ज्योति (तेज) बनायी ॥ ३३ ॥ उस परमात्माके दृष्टिगोचर होते हुए तेजने अपना रूप बदलकर काल, माया (उपादान) का अंश (चिदाभास और वायु) के योगसे रसमय जलकी सृष्टि की ॥ ३४ ॥ फिर उसी परमात्माकी देख-रेखमें उसने तेज, काल, माया और अंशके योगसे गंधगुणात्मिका पृथिवीकी सृष्टि की ॥ ३५ ॥ हे भव्य (विदुर) ! इनके बाद जितने कार्य हुए, उन कार्यों और अगले कारणोंके संसर्गसे क्रमशः बहुतसे गुण उत्पन्न हुए। (जैसे—आकाशका एकमात्र शब्द गुण और वायुका स्पर्शगुण जब आकाशसे मिल जाता है तब शब्द उत्पन्न होता है। इसी तरह जब आकाश, वायु और तेज ये तीनों मिल जाते हैं तब रूपकी रचना होती है इत्यादि) ॥ ३६ ॥ महदादि तत्त्व के अभिमानी सभी देवता उन नारायणके अंशके ही प्रतीक माने गये। उन सबकी समानता थी, वे एक न होकर अनेक थे। इसीलिए वे अपना-अपना काम करनेमें समर्थ नहीं हुए। ऐसी दशामें वे सब देवता हाथ जोड़कर भगवानसे कहने लगे—॥ ३७ ॥ हे देव ! हमलोग आपके चरणकमलोंको प्रणाम करते हैं। आपके चरणसरोज दुखियोंके दुःखरूपी आतपसे बचानेके लिए आतपत्र (छतरी) का काम करते हैं। बड़े-बड़े योगी-यती उन्हींकी छायामें बैठकर अनायास अपने दुःखोंको दूर उठा फेंकते हैं ॥ ३८ ॥ हे पिता ! दैहिक, दैविक और भौतिक, इन तीनों तापोंसे झुलसते हुए संसारके प्राणी जबतक आपके चरणकमलकी छाया नहीं पाते, तबतक कदापि सुखी नहीं होते। क्योंकि उसे पानेपर मनुष्यको ज्ञानका

मार्गन्ति यत्ते मुखपद्मनीडैश्छन्दःसुपर्णैर्ऋषयो विविक्ते।
यस्याघमर्षोदसरिद्वरायाः पदं पदं तीर्थपदः प्रपन्नाः ॥४०॥
यच्छ्रद्धया श्रुतवत्या च भक्त्या सम्मृज्यमाने हृदयेऽवधाय।
ज्ञानेन वैराग्यबलेन धीरा व्रजेम तत्तेऽङ्घ्रिसरोजपीठम् ॥४१॥
विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमार्थे कृतावतारस्य पदाम्बुजं ते।
व्रजेम सर्वे शरणं यदीश स्मृतं प्रयच्छत्यभयं स्वपुंसाम् ॥४२॥
यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम्।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम् ॥४३॥
तान् वै ह्यसद्वृत्तिभिरक्षिभिर्ये पराहृतान्तर्मनसः परेश।
अथो न पश्यन्त्युरुगाय नूनं ये ते पदन्यासविलासलक्ष्म्याः ॥४४॥
पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥४५॥
तथापरे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥४६॥
तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म।
सर्वे वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं न शक्नुमस्तत्प्रतिहर्तवे ते ॥४७॥

प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। ॥ ३९ ॥ यही कारण है कि बड़े-बड़े ऋषि आपके पुनीत चरणोंकी शरणमें जाकर आपके मुखकमलरूपी नीड (घोंसले) में रहनेवाले वेदरूपी पक्षियोंके सहारे अपने शान्त मनमें आपके पदकी खोज करते हैं। जहाँसे निकली हुई सुरनदी गंगाजी पद-पदकी भूमिको तीर्थस्थान बना चुकी हैं। (तात्पर्य यह निकला कि गंगाजीका सेवन करनेकी अपेक्षा आपके चरणोंकी आराधना करना अधिक लाभदायक है) ॥ ४० ॥ आपके जिन चरणोंको श्रद्धाके साथ अपने हृदयमें रखकर हमलोग वैराग्यबल प्राप्त करके धैर्यशाली बन सकें और आपकी श्रवणपूर्विका भक्तिके द्वारा शुद्ध किये हुए अपने हृदय द्वारा ध्यान करते हुए हम उन चरणोंतक पहुँच सकें (हमको ऐसा ज्ञान दीजिए) ॥ ४१ ॥ हे नाथ ! इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संयमके लिए ही आपका अवतार हुआ है, हम आपके उन चरणोंकी शरणमें प्राप्त हुए हैं। क्योंकि स्मरण-मात्रसे आपके चरणकमल अपने भक्तोंको अभय (मोक्ष) दे देते हैं ॥ ४२ ॥ जिनको भूलकर लोग अपने नाशवान देह और शरीरको दुराग्रह वश अपना समझने लगते हैं और नित्य अपने शरीरमें ही रहनेवाले आपके चरणोंको दूर समझते हैं। सो हमको आप ऐसी बुद्धि दें, जिससे हम आपके चरणोंका भजन बराबर करते रहें ॥ ४३ ॥ हे परेश ! तुच्छ विषयोंमें मन लगाये हुए लोग केवल बाहरी तड़क-भड़क देखनेवाली इन्द्रियों द्वारा अपने मनको अन्तःकरणसे बाहर कर देते हैं, इसीसे वे अपने मनमें ही रहनेवाले आपके पदन्यासविलासकी शोभायुक्त चरणोंको नहीं देख पाते (तब भला उनका प्रेम हो तो कैसे हो) ॥ ४४ ॥ हे देव ! आपकी कथारूपी सुधाका पान करके जिन लोगोंने बढ़ी हुई भक्तिसे अपना अन्तःकरण निर्मल कर लिया है, ये वैराग्यबल युक्त ज्ञान प्राप्त करके अनायास वैकुण्ठलोकको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४५ ॥ इनके अतिरिक्त बहुतसे लोग समाधि (चित्तकी एकाग्रता) के बलसे बलवती प्रकृतिको जीतकर धैर्य धारण करते हुए आपसमें लीन हो जाते हैं, किन्तु उनको इसके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है। किन्तु जो लोग आपके चरणोंकी सेवा करके मोक्ष प्राप्त करते हैं, उन्हें इतना श्रम नहीं उठाना पड़ता ॥ ४६ ॥ (इस प्रकार स्तुति करके अब अपने मतलब-

यावद्बलिं तेऽज हराम काले यथा वयं चान्नमदाम यत्र ।
यथोभयेषां त इमे हि लोका बलिं हरन्तोऽन्नमदन्त्यनूहाः ॥४८॥
त्वं नः सुराणामसि सान्वयानां कूटस्थ आद्यः पुरुषः पुराणः ।
त्वं देव शक्त्यां गुणकर्मयोनौ रेतस्त्वजायां कविमादधेऽजः ॥४९॥
ततो वयं सत्प्रमुखा यदर्थे बभूविमात्मन् करवाम किं ते ।
त्वं नः स्वचक्षुः परिदेहि शक्त्या देव क्रियार्थे यदनुग्रहाणाम् ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

ऋषिरुवाच

इति तासां स्वशक्तीनां सतीनामसमेत्य सः । प्रसुप्तलोकतन्त्राणां निशाम्य गतिमीश्वरः ॥१॥
कालसंज्ञां तदा देवीं बिभ्रच्छक्तिमुरुक्रमः । त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् ॥२॥
सोऽनुप्रविष्टो भगवांश्चेष्टारूपेण तं गणम् । भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् ॥३॥
प्रबुद्धकर्मा दैवेन त्रयोविंशतिको गणः । प्रेरितोऽजनयत्स्वाभिर्मात्राभिरधिपूरुषम् ॥४॥

की बात बताते हुए कहते हैं–) हे नारायण ! हे आदिपुरुष !! आपने हम सबको सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके मेलसे संसारकी सृष्टि करनेके लिए बनाया है । लेकिन परस्पर-विरुद्ध स्वभाव होनेके कारण हमको आपने जिस लिए बनाया था, उस कार्यको पूर्ण नहीं कर पाते और आपकी लीलाको सम्पन्न करनेकी आवश्यक सामग्रियें जुटाकर आपको अर्पण करनेमें अपनेको हम लोग असमर्थ पाते हैं ॥ ४७ ॥ हे अज ! समय-समयपर हम आपके लिए जो बलि लाकर अर्पण करते हैं, जिस प्रकार हम लोग अन्न खाते हैं, जिस तरह संसारी लोग अन्नात्मक बलि निवेदन करते हैं और हमारे-आपके दोनोंके बलिको पहुँचाते हुए लोग आपके प्रदान किये हुए नेत्र द्वारा रचित भवनमें रहकर ये सभी जीव निर्विघ्न भावसे उस अन्नको खाते हैं (वह मैं देखना चाहता हूँ, इसलिए आप हमको नेत्र प्रदान करें) ॥ ४८ ॥ आप ही हमारे कार्य और आदि कारण हैं । क्योंकि वास्तवमें आप ही कूटस्थ (विकारशून्य) अधिष्ठाता और पुरातन पुरुष हैं । हे देव ! आपने अजन्मा होते हुए भी सत्त्वादि तीनों गुणों और जन्मादि कर्मोंकी करणभूत योनि (कारणभूत शक्ति माया) में सबसे पहले आपने वीर्य डाला है ॥ ४९ ॥ हे आत्मदेव ! उसी शक्ति (माया) में ही महदादि तत्त्व और हम लोग जिस कार्यके लिए उत्पन्न हुए हैं तो आप हीं बताइए कि ऐसी परिस्थितिमें हम आपका कौनसा कार्य करें ? यदि आप कहें कि 'सृष्टि करो' तो हम लोगोंको आप अपना चक्षुस्वरूप ज्ञान और अपनी शक्ति प्रदान करिए । क्योंकि आपके दिये हुए ज्ञान क्रिया और शक्तिसे ही हमलोग सृष्टिका कार्य सम्पन्न कर सकेंगे अन्यथा नहीं ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'-भाषाटीकायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(विराट् शरीरकी उत्पत्ति ।) मैत्रेय कहते हैं—'हे विदुर ! इस प्रकार नारायणने जब अपनी महदादि शक्तियोंमें परस्पर मतभेदकी स्थिति देखी और विश्वके रचनासम्बन्धी कार्यसे सबको उदासीन पाया ॥ १ ॥ तब भगवानने अपने-अपने कार्यके लिए प्रेरित करनेवाली उस कालसंज्ञक प्रकृति और अपनी शक्ति तथा तेईस (महदादि सात प्रकृतियें और उनके सोलह विकार) तत्त्वोंको साथ लेकर उनमें प्रविष्ट हो गये ॥ २ ॥ उन देवताओंके शरीरमें प्रविष्ट होकर नारायणने अपनी क्रियाशक्तिसे उन तेईसों तत्त्वोंको भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगा दिया और उन देवताओंके सोते हुए कर्मोंको जगाया और उन्हें कार्यमें लगाया ॥ ३ ॥ अब जब उन तेईसों तत्त्वोंकी क्रियाशक्ति जागृत हो गयी तो ईश्वरकी

परेण विशता स्वस्मिन्मात्रया विश्वसृग्गणः। चुक्षोभान्योन्यमासाद्य यस्मिँल्लोकाश्चराचराः ॥५॥
हिरण्मयः स पुरुषः सहस्रपरिवत्सरान्। आण्डकोश उवासाप्सु सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥६॥
स वै विश्वसृजां गर्भो देवकर्मात्मशक्तिमान्। विबभाजात्मनाऽऽत्मानमेकधा दशधा त्रिधा ॥७॥
एष ह्यशेषसत्त्वानामात्मांशः परमात्मनः। आद्योऽवतारो यत्रासौ भूतग्रामो विभाव्यते॥८॥
साध्यात्मः साधिदैवश्च साधिभूत इति त्रिधा। विराट् प्राणो दशविध एकधा हृदयेन च ॥९॥
स्मरन् विश्वसृजामीशो विज्ञापितमधोक्षजः। विराजमतपत्स्वेन तेजसैषां विवृत्तये ॥१०॥
अथ तस्याभितप्तस्य कति चायतनानि ह। निरभिद्यन्त देवानां तानि मे गदतः शृणु॥११॥
तस्याग्निरास्यं निर्भिन्नं लोकपालोऽविशत्पदम्। वाचा स्वांशेन वक्तव्यं ययासौ प्रतिपद्यते ॥१२॥
निर्भिन्नं तालु वरुणो लोकपालोऽविशद्धरेः। जिह्वयांशेन च रसं ययासौ प्रतिपद्यते ॥१३॥
निर्भिन्ने अश्विनौ नासे विष्णोराविशतां पदम्। घ्राणेनांशेन गन्धस्य प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥१४॥
निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः। चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥१५॥
निर्भिन्नान्यस्य चर्माणि लोकपालोऽनिलोऽविशत्। प्राणेनांशेन संस्पर्शं येनासौ प्रतिपद्यते ॥१६॥
कर्णावस्य विनिर्भिन्नौ धिष्ण्यं स्वं विविशुर्दिशः। श्रोत्रेणांशेन शब्दस्य सिद्धिं येन प्रपद्यते ॥१७॥
त्वचमस्य विनिर्भिन्नां विविशुर्धिष्ण्यमोषधीः। अंशेन रोमभिः कण्डूं यैरसौ प्रतिपद्यते ॥१८॥

प्रेरणासे सर्वप्रथम उन्होंने अपने-अपने अंशोंसे अधिपुरुष (विराट् शरीर) की रचना की ॥ ४ ॥ जब वे परमपुरुष अपनी शक्तिके साथ उन विश्वसृज्रोंमें प्रवृष्ट हुए तो उन तेईस तत्त्वोंका समुदाय अपने कुछ अंशोंसे ही क्षुभित हुआ—सम्पूर्णरूपसे नहीं क्षुभित हुआ। उतने ही अंशमें चराचर लोक स्थित था ॥ ५ ॥ वह हिरण्मय विराट् पुरुष समस्त जीवों और प्राणियोंके साथ पूरे एक हजार वर्षतक अण्ड-कोष (ब्रह्माण्ड) में बैठा हुआ जलमें पड़ा रहा ॥ ६ ॥ तत्त्वोंके गर्भ उस विराट् पुरुषने अपनी देव-शक्तिसे अपने हृदयमें स्थित चैतन्यरूप एक भेद और कर्मशक्तिसे प्राणरूपी दस भेद और आत्मिक, दैविक तथा भौतिक ये तीन भेद किये ॥ ७ ॥ यह विराट् पुरुष ही समस्त प्राणियोंकी आत्मा है। सर्वप्रथम इसीका अवतार हुआ है। इसी कारण इसमें ही सब प्राणियोंका समुदाय दृष्टिगोचर होता है ॥ ८ ॥ वह विराट् पुरुष आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन्द्रियोंके सहित रहनेके कारण तीन प्रकार और प्राणोंके दस भेद (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय तथा इन पाँचोंकी पाँच वृत्तियों) से दस प्रकारका हो गया ॥ ९ ॥ उन विश्वस्रष्टाओंकी बातोंका स्मरण करके उस विराट् पुरुषने अपने तेज (चित्शक्ति) से इस बातपर विचार किया कि मुझे आगे क्या करना है, जिससे विविध वृत्तियोंमें जागृति उत्पन्न हो ॥ १० ॥ इस प्रकार आलोचना करते हुए उस परम पुरुषसे देवताओंके कुछ निवासस्थान उत्पन्न हुए। अब उनके भेद सुनो—॥ ११ ॥ जब उस विराट् पुरुषका मुख उत्पन्न हुआ तो अपने अंश और वचनके साथ लोकपाल अग्निने उसमें अपना आवास बनाया। वही जीव कहलाया और वचनकी उत्पत्ति उसीसे हुई ॥ १२ ॥ जब उस विराट् पुरुषके तालु उत्पन्न हुआ तो वरुणदेव अपने जिह्वारूपी अंश-के साथ उसमें जा विराजे। उसीसे रसकी उत्पत्ति हुई ॥ १३ ॥ जब उस विराट्के दो नासिकायें उत्पन्न हुईं तो उनमें दोनों अश्विनीकुमार जा डटे। वे अपने प्राणशक्तिरूपी अंशको अपने साथ लिये गये थे। उसीसे गंधकी उत्पत्ति हुई ॥ १४ ॥ जब उस विराट्की आँखें उत्पन्न हुईं तो उनमें नेत्ररूपी अंशको लिए हुए लोकपालक सूर्यदेवता जा विराजे, जिससे रूपोंको देखनेकी शक्ति उपजी ॥ १५ ॥ जब उसके शरीरमें त्वगिन्द्रिय (चमड़ी) उत्पन्न हुई तो वायुदेव अपने प्राणरूपी अंशको अपने साथ लिये हुए उसमें जा बसे। इसीसे स्पर्शकी उत्पत्ति हुई ॥ १६ ॥ जब उस परम पुरुषके कान उत्पन्न हो गये तो दिग्देवता श्रोत्ररूपी अंशको साथ लिये हुए उसमें बस गये। जिससे शब्दोंका ज्ञान हुआ ॥ १७ ॥ जब उसकी त्वचामें छिद्र उत्पन्न हुए तो औषधिदेवता अपने रोमरूपी अंशके साथ-

मेढ्रं तस्य विनिर्भिन्नं स्वधिष्ण्यं क उपाविशत् । रेतसांशेन येनासावानन्दं प्रतिपद्यते ॥१९॥
गुदं पुंसो विनिर्भिन्नं मित्रो लोकेश आविशत् । पायुनांशेन येनासौ विसर्गं प्रतिपद्यते ॥२०॥
हस्तावस्य विनिर्भिन्नाविन्द्रः स्वर्पतिराविशत् । वार्तयांशेन पुरुषो यया वृत्तिं प्रपद्यते ॥२१॥
पादावस्य विनिर्भिन्नौ लोकेशो विष्णुराविशत् । गत्या स्वांशेन पुरुषो यया प्राप्यं प्रपद्यते ॥२२॥
बुद्धिं चास्य विनिर्भिन्नां वागीशो धिष्ण्यमाविशत् । बोधेनांशेन बोधव्यप्रतिपत्तिर्यतो भवेत् ॥२३॥
हृदयं चास्य निर्भिन्नं चन्द्रमा धिष्ण्यमाविशत् । मनसांशेन येनासौ विक्रियां प्रतिपद्यते ॥२४॥
आत्मानं चास्य निर्भिन्नमभिमानोऽविशत्पदम् । कर्मणांशेन येनासौ कर्तव्यं प्रतिपद्यते ॥२५॥
सत्त्वं चास्य विनिर्भिन्नं महान्धिष्ण्यमुपाविशत् । चित्तेनांशेन येनासौ विज्ञानं प्रतिपद्यते ॥२६॥
शीर्ष्णोऽस्य द्यौर्धरा पद्भ्यां खं नाभेरुदपद्यत । गुणानां वृत्तयो येषु प्रतीयन्ते सुरादयः ॥२७॥
आत्यन्तिकेन सत्त्वेन दिवं देवाः प्रपेदिरे । धरां रजःस्वभावेन पणयो ये च ताननु ॥२८॥
तार्तीयेन स्वभावेन भगवन्नाभिमाश्रिताः । उभयोरन्तरं व्योम ये रुद्रपार्षदां गणाः ॥२९॥
मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह । यस्तून्मुखत्वाद्वर्णानां मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः॥३०॥
बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः । यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥३१॥
विशोऽवर्तन्त तस्योर्वोर्लोकवृत्तिकरीर्विभोः । वैश्यस्तदुद्भवो वार्तां नृणां यः समवर्तयत् ॥३२॥
पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषा धर्मसिद्धये । तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥३३॥

साथ उसमें निवास किये। जिससे खुजलाहट उत्पन्न हुई ॥ १८ ॥ जब उस परम पुरुषके मेढ्र (लिंग) उत्पन्न हुआ तो प्रजापति देवता वीर्यरूपी अंशको अपने साथ लिये-दिये उसमें जा विराजे । जिससे आनन्द (विषयसुख) की उत्पत्ति हुई ॥ १९ ॥ इसके बाद उस पुरुषके शरीरमें गुदा उत्पन्न हुई, जिसमें अपने पायुरूपी अंशके साथ मित्रदेवता विराजमान हुए। उसीसे जलत्यागके मार्गकी उत्पत्ति हुई ॥ २० ॥ जब उसके दो हाथ उत्पन्न हुए तो स्वर्गके अधिपति इन्द्र अपने वार्तारूपी अंशको लिए उनमें जा विराजे । इसीसे जीविकाके निमित्त व्यापारकी उत्पत्ति हुई ॥२१॥ जब उसके दो पैर उपजे तो उनमें लोकपति विष्णु अपने गतिरूपी अंशके साथ रहने लगे । इसीसे चलने-फिरनेकी क्रिया उत्पन्न हुई ॥ २२ ॥ जब उसके बुद्धि उत्पन्न हुई तो अपने बोधांशके साथ बृहस्पति उसमें जा विराजे । उन्हींसे प्राणियोंमें ज्ञानकी उत्पत्ति हुई॥२३॥ इसके बाद हृदय उत्पन्न हुआ तो चन्द्रमा देवता अपने मनरूपी अंश-को साथ लिये हुए उसमें रहने लगे । इसीसे संकल्प-विकल्प अथवा कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार उत्पन्न हुआ ॥२४॥ जब आत्मा उत्पन्न हुई तो अपने कर्मरूपी अंशको साथ लिये हुए अभिमान (रुद्र) देवता उसमें जा विराजे । इसीसे अहंभावयुक्त कर्तव्य उत्पन्न हुआ ॥२५॥ जब उसके अन्तःकरण उत्पन्न हुआ तो चित्तरूपी अंशको साथ लिये हुए क्षेत्रज्ञ देवता उसमें जा विराजे। उसीसे विज्ञान उत्पन्न हुआ ॥ २६ ॥ उस विराट् पुरुषके मस्तकसे स्वर्ग, पैरोंसे पृथिवी और नाभिसे आकाश उत्पन्न हुआ। जिससे स्वर्ग, पृथिवी और आकाशमें सत्त्वादि गुणोंके परिणामस्वरूप उत्पन्न देवता और दैत्य देखे जाते हैं ॥ २७ ॥ सतोगुणकी अधिकताके कारण देवता और रजोगुणकी अधिकतासे मनुष्य पृथ्वी-लोकको प्राप्त किये ॥ २८ ॥ तमोगुणकी अधिकतासे पृथ्वी और स्वर्ग इन दोनोंके बीच भगवानकी नाभि आकाशमण्डलमें शिवके गण भूत-पिशाच जाकर रहने लगे ॥ २९ ॥ उस परम पुरुषके मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए। मुखसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हें प्रधानता मिली और वे सब वर्णोंके गुरु माने गये ॥ ३० ॥ उस विराट् पुरुषके बाहुओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए। ये उत्पन्न होकर चारों वर्णोंपर आये संकटसे रक्षा करनेके काममें लगे ॥३१॥ वैश्योंकी उत्पत्ति उस परमपुरुषके ऊरुओंसे हुई। इन्होंने अपने व्यवहारकौशलसे संसारके समस्त मनुष्योंकी जीविकाका सम्पादन किया ॥ ३२ ॥ सेवाधर्मको सार्थक करनेके लिए भगवानके पाँवोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। नारायण इनके सेवाकार्यसे बहुत प्रसन्न होते

एते वर्णाः स्वधर्मेण यजन्ति स्वगुरुं हरिम्। श्रद्धयाऽऽत्मविशुद्ध्यर्थं यज्जाताः सह वृत्तिभिः ॥३४॥
एतत्क्षत्तर्भगवतो दैवकर्मात्मरूपिणः। कः श्रद्दध्यादुपाकर्तुं योगमायाबलोदयम् ॥३५॥
अथापि कीर्तयाम्यङ्ग यथामति यथाश्रुतम्। कीर्तिं हरेः स्वां सत्कर्तुं गिरमन्याभिधासतीम् ॥३६॥

एकान्तलाभं वचसो नु पुंसां सुश्लोकमौलेर्गुणवादमाहुः।
श्रुतेश्च विद्वद्भिरुपाकृतायां कथासुधायामुपसम्प्रयोगम् ॥३७॥

आत्मनोऽवसितो वत्स महिमा कविनाऽऽदिना। संवत्सरसहस्रान्ते धिया योगविपक्वया ॥३८॥
अतो भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी। यत्स्वयं चात्मवर्त्मात्मा न वेद किमुतापरे ॥३९॥
यतोऽप्राप्य न्यवर्तन्त वाचश्च मनसा सह। अहं चान्य इमे देवास्तस्मै भगवते नमः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणं मैत्रेयं द्वैपायनसुतो बुधः। प्रीणयन्निव भारत्या विदुरः प्रत्यभाषत ॥१॥

विदुर उवाच

ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः। लीलया चापि युज्येरन्निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥२॥
क्रीडायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीडिषान्यतः। स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥३॥

हैं ॥ ३३ ॥ ये चारों वर्ण अपने-अपने धर्मके अनुसार श्रद्धापूर्वक अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिए अपने गुरु विष्णुभगवानकी आराधना करते हैं। क्योंकि ये लोग अपनी-अपनी वृत्तिके साथ उस परमपुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ३४ ॥ हे विदुर ! काल, कर्म और स्वभावशक्ति-सम्पन्न उन भगवानकी योगमायाके बलसे परिपूर्ण उस विराट् पुरुषके स्वरूपका भली-भाँति निरूपण करनेकी हिम्मत भला कौन कर सकता है ? ॥ ३५ ॥ फिर भी हे प्रिय विदुर ! जैसा कि मैंने अपने गुरुजनोंके मुखसे सुना है और जहाँ तक मेरी बुद्धिकी पहुँच होगी तो और-और बातोंसे दूषित वाणीको पवित्र करनेके लिए मैं भगवानका गुणगान करूँगा ॥ ३६ ॥ (केवल वाणीको पवित्र करना ही उद्देश्य नहीं है। यदि कोई प्राणी उनकी महिमा जाने विना भी उनके गुण कहता या सुनता है तो उसे भी अवश्य मोक्ष मिल जाता है। क्योंकि) उन भगवानका गुणानुवाद वचनको तो पुनीत करता ही है, साथ-साथ एकाग्रमन करके उनका गुण गानेवालेको मोक्षलाभ भी हो जाता है ॥ ३७ ॥ योगसे परिपक्व बुद्धि द्वारा हजार वर्ष तपस्या करके भी ब्रह्माजीने उनका स्वरूप जान पाया या नहीं, इसमें सन्देह ही है ॥ ३८ ॥ इससे कहना पड़ता है कि माया मायावियोंको भी भ्रममें डाल देती है। मायाके अधिपति नारायण भी अपनी मायाका ओर-छोर नहीं पाते, तब औरोंके विषयमें क्या कहा जा सकता है ॥३९॥ उनके ज्ञानके लिए चेष्टा करनेमें प्रवृत्त वाणी भी मनके साथ-साथ उनतक पहुँचे बिना ही लौट आती है। क्योंकि बड़ी कठिनाईसे उनका ज्ञान प्राप्त होता है। केवल मन और वाणी ही नहीं, बड़े-बड़े ऋषि और अहंकारके अधिष्ठाता रुद्र और विविध इन्द्रियोंके अधिपति देवता भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाते ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(विदुरके प्रश्न) श्रीशुकदेव कहते हैं—इस प्रकार कहते और मैत्रेयको प्रसन्न करते हुए व्यासके पुत्र और विज्ञ विदुर बड़ी कोमल वाणीमें बोले—॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! उन अविकारी, निर्गुण और चिन्मात्र प्रभुके गुणों और उनके कर्मोंका रहस्य एवं उनकी लीलाओंको भला किस तरह जाना जा सकता है ? ॥ २ ॥ (यदि आप कहें कि बच्चोंके खेलकी तरह उनके सब काम होते हैं तो यह बात भी

अस्राक्षीद्भगवान् विश्वं गुणमय्याऽऽत्ममायया। तया संस्थापयत्येतद्भूयः प्रत्यपिधास्यति ॥४॥
देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः। अविलुप्तावबोधात्मा स युज्येताजया कथम् ॥५॥
भगवानेक एवैष सर्वक्षेत्रेष्ववस्थितः। अमुष्य दुर्भगत्वं वा क्लेशो वा कर्मभिः कुतः ॥६॥
एतस्मिन्मे मनो विद्वन् खिद्यतेऽज्ञानसङ्कटे। तन्नः पराणुद विभो कश्मलं मानसं महत् ॥७॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थं चोदितः क्षत्त्रा तत्त्वजिज्ञासुना मुनिः। प्रत्याह भगवच्चित्तः स्मयन्निव गतस्मयः ॥८॥

मैत्रेय उवाच

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते। ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम् ॥९॥
यदर्थेन विनामुष्य पुंस आत्मविपर्ययः। प्रतीयत उपद्रष्टुः स्वशिरश्छेदनादिकः ॥१०॥
यथा जले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत्कृतो गुणः। दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनो नात्मनो गुणः ॥११॥
स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया। भगवद्भक्तियोगेन तिरोधत्ते शनैरिह ॥१२॥
यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ। विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः ॥१३॥

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा ॥१४॥

मनमें नहीं बैठती। क्योंकि) एक बालकका दूसरेके साथ खेलनेको प्रवृत्त होनेमें भी कोई न कोई कामना रहती है (फिर वह चाहे मनोरंजन ही क्यों न हो)। लेकिन वे लीलाधारी तो सदा स्वयं तृप्त और सब विषयोंसे निवृत्त रहते हैं। ऐसी दशामें वे किसी दूसरेके साथ खेलनेकी इच्छा क्यों और कैसे करेंगे ?॥ ३ ॥ आपने ही तो कहा है कि उन भगवानने अपनी गुणमयी मायासे इस विश्वकी रचना की है। वही माया इसका संस्थापन करती है और अन्तमें संहार भी वही करेगी ॥ ४ ॥ फिर भी सब बातोंका ज्ञान रखनेवाला और पूर्णज्ञानी यह जीव—जो साक्षात् ब्रह्मका स्वरूप है—अविद्याके फेरमें फँस जाता है। क्योंकि देश, काल, अवस्था, अपने और पराये किसीके द्वारा भी इसका ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ संसारके सब जीवोंमें भोक्तारूपसे तो वे भगवान ही विराजमान हैं। जब ऐसा है तो यह जीव दुर्भाग्यमें क्यों पड़ता है और अपने कर्मोंसे ही इसे कष्ट क्यों होता है ?॥ ६ ॥ हे विद्वन् ! इस अज्ञानसंकटमें पड़कर मेरा मन बड़ा दुखी हो रहा है। हे विभो ! आप किसी तरह मेरे इस मानसिक महाकष्टको दूर करिए। श्रीशुकमुनि कहते हैं–इस प्रकार उन तत्त्वजिज्ञासु विदुरके पूछनेपर मुनि मैत्रेय अपने ज्ञानकी प्रौढ़ताको दिखाते हुए आश्चर्यहीनभावसे बोले ॥ ७ ॥ ८ ॥ मैत्रेयने कहा—भगवानकी माया अगम्य है। वहाँतक तर्ककी पहुँच नहीं होती। इसलिए यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि वह नित्यमुक्त परम पुरुष स्वयं अविद्याके बन्धनमें बँधता है या कि दीनताके कारण उसे बँधना पड़ता है ॥ ९ ॥ मेरा तो विश्वास है कि जैसे स्वप्नमें यद्यपि सिर कटता नहीं, लेकिन स्वप्न देखनेवाला समझता है कि सचमुच मेरा सिर कट गया। इसी प्रकार अविद्याके कारण जीव अपनेको बन्धनमें पड़ा समझने लगता है, वास्तवमें तो वह नित्य मुक्त ही है ॥ १० ॥ जैसे कि जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें ही कम्पनधर्म आता है, आकाशस्थित चन्द्रमामें नहीं। ठीक उसी तरह झूठ-मूठका दैहिक धर्म जीवमें ही आता है, ईश्वरमें नहीं ॥ ११ ॥ वह माया शम-दम आदि निवृत्तिपरक धर्मोंका आचरण करनेसे, भगवानकी कृपासे अथवा भक्तियोग द्वारा धीरे-धीरे अपने आप गायब हो जाती है ॥ १२ ॥ जब अन्तर्यामी परमात्मामें मनुष्यकी इन्द्रियाँ निश्चलभावसे लग जाती हैं तो सभी कष्ट वैसे ही अपने आप नष्ट हो जाते हैं। जैसे सोते हुए मनुष्यका स्वप्न जागते ही नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥ भगवानका गुणानुवाद सुननेमात्रसे मनुष्यके सब क्लेश नष्ट हो जाते हैं। फिर यदि उसे ध्यानपूर्वक सुनकर पूर्ण श्रद्धाके साथ उनके चरणोंकी

विदुर उवाच

संछिन्नः संशयो मह्यं तव सूक्तासिना विभो । उभयत्रापि भगवन्मनो मे सम्प्रधावति ॥१५॥
साध्वेतद् व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः । आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः ॥१६॥
यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः । तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥१७॥
अर्थाभावं विनिश्चित्य प्रतीतस्यापि नात्मनः । तां चापि युष्मच्चरणसेवयाहं पराणुदे ॥१८॥
यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः । रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः ॥१९॥
दुरापा ह्यल्पतपसः सेवा वैकुण्ठवर्त्मसु । यत्रोपगीयते नित्यं देवदेवो जनार्दनः ॥२०॥
सृष्ट्वाग्रे महदादीनि सविकाराण्यनुक्रमात् । तेभ्यो विराजमुद्धृत्य तमनु प्राविशद्विभुः ॥२१॥
यमाहुराद्यं पुरुषं सहस्राङ्घ्र्यूरुबाहुकम् । यत्र विश्व इमे लोकाः सविकासं समासते ॥२२॥
यस्मिन् दशविधः प्राणः सेन्द्रियार्थेन्द्रियस्त्रिवृत् । त्वयेरितो यतो वर्णास्तद्विभूतीर्वदस्व नः ॥२३॥
यत्र पुत्रैश्च पौत्रैश्च नप्तृभिः सह गोत्रजैः । प्रजा विचित्राकृतय आसन् याभिरिदं ततम् ॥२४॥
प्रजापतीनां स पतिश्चक्लृपे कान् प्रजापतीन् । सर्गांश्चैवानुसर्गांश्च मनून्मन्वन्तराधिपान् ॥२५॥
एतेषामपि वंशांश्च वंशानुचरितानि च । उपर्यधश्च ये लोका भूमेर्मित्रात्मजासते ॥२६॥
तेषां संस्थां प्रमाणं च भूर्लोकस्य च वर्णय । तिर्यङ्मानुषदेवानां सरीसृपपतत्रिणाम् ॥
वद नः सर्गसंव्यूहं गार्भस्वेदद्विजोद्भिदाम् ॥२७॥

सेवा की जाय तो फिर क्या कहना है' ॥ १४ ॥ यह सुनकर विदुर बोले—'हे विभो ! आपके सयुक्तिक उपदेशसे मेरा सारा संशय दूर हो गया। अब ईश्वरकी स्वतंत्रता और जीवकी परतंत्रता-के विषयमें मेरा मन संशयशून्य हो गया है ॥ १५ ॥ और आपने जो यह दर्शाया कि जीवको जो विविध प्रकारके द्वन्द्वोंका सामना करना पड़ता है, उसमें माया ही कारण है और कोई नहीं। वह भी ठीक ही है ॥ १६ ॥ इस संसारमें दो ही प्रकारके लोग सुखी रहते हैं—एक तो अत्यन्त मूर्ख और दूसरा अतिशय बुद्धिमान्। बीचवाले लोगोंको बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है ॥ १७ ॥ वास्तवमें इस संसारमें कोई अर्थ नहीं सधता, लेकिन भ्रमवश मेरी यह धारणा हो गयी थी कि इससे बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है। सो वह धारणा भी आपके चरणोंकी सेवासे दूर हो जायगी ॥ १८ ॥ उन कूटस्थ और मधु दैत्यके द्वेषी नारायणकी आराधनासे उनके चरणोंमें तीव्र प्रेम जागृत होता है और उस प्रेम द्वारा संसारके सभी कष्ट अनायास दूर हो जाते हैं ॥ १९ ॥ स्वल्पतपवाले लोगोंको नारायणके पथका प्रदर्शन करनेवाले सन्तोंकी सेवाका अवसर बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है, जिसमें नित्य देवदेव भगवानका गुणगान होता रहता है ॥ २० ॥ जिन महाप्रभुने पहले विकारयुक्त इन तत्त्वादिकोंकी सृष्टि की, उसके बाद उन्हींके अंशोंसे वे विराट्में समा गये ॥ २१ ॥ जिनको तत्त्वज्ञानी लोग हजार हाथ-पैर और हजार ही घुटनेवाला कहते हैं। जिनके विशाल शरीरमें समस्त विश्व समाया हुआ है ॥ २२ ॥ जिनमें इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और उनके देवता तथा आपके बताये दस प्राण विद्यमान हैं, आप हमें उन्हीं परमेश्वरकी विभूतियोंका विस्तार बताइए ॥ २३ ॥ उनकी जिन विभूतियोंमें पुत्र, पौत्र, नाती तथा गोत्रज आदि विविध आकृति की प्रजायें विद्यमान हैं और उन्हींके द्वारा इस विश्वका विस्तार हुआ है ॥ २४ ॥ प्रजापतियोंके भी पति उन ब्रह्माने किन प्रजापतियों, नौ प्रकारके सर्गों और उनके भेद अनुसर्गों, मनुओं और मन्वन्तरा-धिपतियोंको बनाया ॥ २५ ॥ हे मित्राके आत्मज ! आप हमें उनके वंशों और उनमें होनेवाले पुरुषोंके कार्योंको बताइए और ऊपर-नीचेके उन लोगोंका भी वर्णन करिए, जहाँ कि वे लोग रहते हों ॥ २६ ॥ उन सब लोकों तथा भूलोकका विस्तार और प्रमाण क्या है ? तिर्यक्, मनुष्य, देवता, सर्प, पक्षी तथा गर्भज, स्वेदज, गर्भ-स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्रकारके प्राणियोंकी उत्पत्तिका क्रम क्या है ?

गुणावतारैर्विश्वस्य सर्गस्थित्यप्ययाश्रयम् । सृजतः श्रीनिवासस्य व्याचक्ष्वोदारविक्रमम् ॥२८॥
वर्णाश्रमविभागांश्च रूपशीलस्वभावतः । ऋषीणां जन्मकर्मादि वेदस्य च विकर्षणम् ॥२९॥
यज्ञस्य च वितानानि योगस्य च पथः प्रभो । नैष्कर्म्यस्य च सांख्यस्य तन्त्रं वा भगवत्स्मृतम्३०
पाखण्डपथवैषम्यं प्रतिलोमनिवेशनम् । जीवस्य गतयो याश्च यावतीर्गुणकर्मजाः ॥३१॥
धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तान्यविरोधतः । वार्ताया दण्डनीतेश्च श्रुतस्य च विधिं पृथक् ॥३२॥
श्राद्धस्य च विधिं ब्रह्मन् पितॄणां सर्गमेव च । ग्रहनक्षत्रताराणां कालावयवसंस्थितिम् ॥३३॥
दानस्य तपसो वापि यच्चेष्टापूर्तयोः फलम् । प्रवासस्थस्य यो धर्मो यश्च पुंस उतापदि ॥३४॥
येन वा भगवांस्तुष्येद्धर्मयोनिर्जनार्दनः । सम्प्रसीदति वा येषामेतदाख्याहि चानघ ॥३५॥
अनुव्रतानां शिष्याणां पुत्राणां च द्विजोत्तम । अनापृष्टमपि ब्रूयुर्गुरवो दीनवत्सलाः ॥३६॥
तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः । तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते ॥३७॥
पुरुषस्य च संस्थानं स्वरूपं वा परस्य च । ज्ञानं च नैगमं यत्तद्गुरुशिष्यप्रयोजनम् ॥३८॥
निमित्तानि च तस्येह प्रोक्तान्यनघ सूरिभिः । स्वतो ज्ञानं कुतः पुंसां भक्तिर्वैराग्यमेव वा ॥३९॥
एतान्मे पृच्छतः प्रश्नान् हरेः कर्मविवित्सया । ब्रूहि मेऽज्ञस्य मित्रत्वादजया नष्टचक्षुषः ॥४०॥

आप हमको यह सब विस्तारके साथ बतावें ॥ २७ ॥ भगवान अपने गुणावतारोंमें जैसे सृष्टि, स्थिति और पालन करते हों आप हमको उनका उदार पराक्रम सुनाइए ॥ २८ ॥ उनके रूप, शील और स्वभाव-के अनुसार वर्ण तथा आश्रमोंका विभाग, ऋषियोंका जन्म-कर्म और वेदोंके विभागोंका वर्णन करिए ॥ २९ ॥ यज्ञोंके विस्तारका क्रम, निष्कर्म ज्ञानके समर्थक सांख्ययोगका मार्ग और भगवानने जो मार्ग बताया हो, सो भी बताइए । पाखण्डियोंके प्रवृत्तिरूपी मार्गमें जो विषमता हो, प्रतिलोम विवाह आदि जितने ढंगके होते हों और गुण तथा कर्मोंके अनुसार जीवकी जो-जो गतियें होती हों, उन्हें आप हमको बताइए ॥ ३० ॥ ३१ ॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके जो परस्पर विरोधशून्य निमित्त हों, उन्हें और वाणिज्यव्यवसाय, अर्थशास्त्रोक्त तथा दण्डनीतिपूर्ण एवं शास्त्रप्रतिपादित राजधर्म भी बताइए ॥ ३२ ॥ फिर हे ब्रह्मन् ! श्राद्धविधि, पितरोंके निस्तारका उपाय तथा कालचक्रमें गृह, नक्षत्र और ताराओंकी स्थितिको बताइए ॥ ३३ ॥ दान, तप, इष्ट (देवताओंका पूजात्मक यज्ञ-याग) आपूर्त (बावली, कुएँ, तालाब आदि बनाने) का क्या फल होता है ? परदेशमें मनुष्यका क्या कर्तव्य होता है और किसी आपत्तिके आ जानेपर क्या करना चाहिए ? ॥ ३४ ॥ हे अनघ (पूतात्मन्) ! यह सब बतानेके बाद मुझे यह बताइए कि कौन-सा कार्य किया जाता, जिससे धर्मके मूल कारण नारायण प्रसन्न होते हैं और कैसे मनुष्योंपर उनकी विशेष कृपा रहती है ? यह बात भी हमको अच्छी तरह बताइए ॥ ३५ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! अपने अनुयायी शिष्यों और पुत्रोंको दयालु गुरुजन बिना पूछे भी बहुत-सी बातें बता दिया करते हैं ॥ ३६ ॥ हे भगवन् ! मैं यह भी जानना चाहता हूँ कि जिन तत्त्वों-को आपने बताया है, उनका प्रलय कै तरहका होता है । फिर प्रलय हो जानेपर जो पुरुष शेष रहकर सोता है, उसकी सेवा कौन करता है और वह जागकर जब सृष्टिकार्यमें लग जाता है तो उसकी जगहपर सोने कौन लगता है ? ॥ ३७ ॥ इस पुरुष अर्थात् जीवका क्या तत्त्व है ? परमा-त्माका क्या स्वरूप है ? और जीव तथा ईश्वर, इन दोनोंमें एक भी प्राप्त करा देनेवाला उपनिषदोंमें कहा हुआ वह कौनसा ज्ञान है, जो इन दोनोंको गुरु और शिष्यकी तरह ठीक रास्तेपर चलाता रहता है ॥ ३८ ॥ हे अनघ (पापरहित) ! विद्वानोंने उस ज्ञानका सम्पादन करनेके लिए जो साधन बताये हों, वह आप हमसे कहिए । यह जाननेकी भी मेरी इच्छा है कि बिना किसी गुरुकी शरणमें गये अपने आप मनुष्यके हृदयमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति कैसे जाग जाती है ॥ ३९ ॥ हे भगवन् ! मैंने आपसे जो बहुतसे प्रश्न किये हैं, उनका एकमात्र हेतु है भगवान्के कर्मोंको जानना । आप कृपा करके मुझ नासमझ और अविद्याके कारण नष्ट नेत्रवाले (अन्धे) मित्रको यह सब बातें बता दीजिए ॥ ४० ॥

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ। जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

स इत्थमापृष्टपुराणकल्पः कुरुप्रधानेन मुनिप्रधानः।
प्रवृद्धहर्षो भगवत्कथायां सञ्चोदितस्तं प्रहसन्निवाह ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

सत्सेवनीयो बत पूरुवंशो यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः।
बभूविथेहाजितकीर्तिमालां पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥१॥
सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं महद्गतानां विरमाय तस्य।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं यदाह साक्षाद्भगवानृषिभ्यः ॥२॥
आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं सङ्कर्षणं देवमकुण्ठसत्त्वम्।
विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥३॥
स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं यं वासुदेवाभिधमामनन्ति।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीषदुन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ॥४॥
स्वर्धन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापैरुपस्पृशन्तश्चरणोपधानम्।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः सप्रेमनानाबलिभिर्वरार्थाः ॥५॥
मुहुर्गृणन्तो वचसानुरागस्खलत्पदेनास्य कृतानि तज्ज्ञाः।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेकप्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ॥६॥

हे अनघ! जीवोंको अभयदान देनेका जो पुण्य होता है सो सब वेद यज्ञ, तप तथा दान आदि उसके षोडशांशकी भी बराबरी नहीं कर सकते ॥ ४१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं–पुराणोंके मूर्तिमान् स्वरूप महर्षि मैत्रेय कुरुवंशियोंमें प्रधान विदुरके इस प्रकार प्रश्न पूछनेपर बड़े प्रसन्न हुए और हँसकर बोले— ॥४२॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां तृतीयस्कंधे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

(ब्रह्माकी उत्पत्तिका वृत्तान्त) मैत्रेय कहने लगे—यह पुरुवंश धन्य है कि जिसमें धर्मराज युधिष्ठिर सरीखे भगवद्भक्त हो गये हैं। तुम भी उन्हींके समान कीर्तिशाली हो और भगवानके गुणानुवाद सुन-सुनकर उसे सदा नवीन करते रहते हो ॥१॥ तुम्हारी इस सराहनीय श्रद्धासे मैं बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ और थोड़ेसे सुखकी आशासे महान् क्लेशोंको झेलनेवाले संसारीजनोंके दुःख दूर करनेके लिए अब मैं तुम्हें श्रीमद्भागवत महापुराणकी कथा सुनाऊँगा, जिसे साक्षात् भगवान्ने ऋषियोंको सुनाया था ॥ २ ॥ एक बार ज्ञानिशिरोमणि बलरामजीको पाताल लोकमें बैठे देखकर बलरामके लघुभ्राता किन्तु गुणोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्रके तत्त्वोंको जाननेकी इच्छासे सनकादि मुनियोंने भगवानसे पूछा— ॥ ३ ॥ अपनी आत्माको ही अपना आश्रय माननेवाले परमानन्दस्वरूप वासुदेव भगवानको ध्यानमें लाकर और सर्वश्रेष्ठ मानकर पूजा करते हुए और नारायणको अपने मनमन्दिरमें बैठाये सनत्कुमार आदिके कल्याणार्थ अपनी आँखोंको कुछ उघारते हुए बलरामसे मुनियोंने पूछा ॥ ४ ॥ गंगाजलसे आर्द्र (गीली) जटाओंसे उस कमलका कि जिसको नागकन्यायें प्रेमके साथ विविध सामग्रियोंसे वरप्राप्तिके लिये पूजती रहती हैं और जो भगवानका चरणोपधान (पावँपोश) है, उसका स्पर्श

प्रोक्तं किलैतद्भगवत्तमेन निवृत्तिधर्माभिरताय तेन ।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः सांख्यायनायाङ्ग धृतव्रताय ॥७॥
सांख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेऽन्विताय पराशरायाथ बृहस्पतेश्च ॥८॥
प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो मुनिः पुलस्त्येन पुराणमाद्यम् ।
सोऽहं तवैतत्कथयामि वत्स श्रद्धालवे नित्यमनुव्रताय ॥९॥
उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्यन्निद्रयामीलितदृङ् न्यमीलयत् ।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः ॥१०॥
सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः ।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः ॥११॥
चतुर्युगानां च सहस्रमप्सु स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या ।
कालाख्ययाऽऽसादितकर्मतन्त्रो लोकानपीतान्ददृशे स्वदेहे ॥१२॥
तस्यार्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेरन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यंस्तदाभिद्यत नाभिदेशात् ॥१३॥

करते हुए वे तत्त्वज्ञानी ऋषिगण अनुरागपूर्ण वाणीसे भगवानका गुणानुवाद गा रहे थे। वे सब उन संकर्षण भगवानके समक्ष उपस्थित हुए कि जिनके मस्तकपर किरीटके सदृश उत्तम-मणि-परिपूर्ण हजार फण जगमगा रहे थे ॥५॥६॥ मैत्रेय विदुरसे कहते हैं—हे अङ्ग विदुर! उन परम भगवान बलरामने यह श्रीमद्भागवतकी कथा निवृत्तिधर्मपरायण और धर्मव्रती सनत्कुमारके पूछनेपर उन्हींसे कही थी। फिर सनत्कुमारने सांख्यायनको यह कथा सुनायी ॥ ७ ॥ परमहंस व्रतके सर्वश्रेष्ठ व्रती उन सांख्यायन ऋषिने नारायणकी अनन्त विभूतियोंका वर्णन करते हुए अपने भक्त पराशर और बृहस्पतिसे कही ॥ ८ ॥ उन दयालु पराशरने पुलस्त्यके मुखसे निःसृत यह आदि पुराण मुझसे कहा था। हे वत्स! उस पुराणको आज मैं तुम जैसे श्रद्धालु और नित्यके अनुगामीसे कह रहा हूँ। *कथान्तर*—ऊपर 'पुलस्त्यके मुखसे निःसृत' यह वाक्य आ चुका है। इसपर एक आख्यान है। किसी समय राक्षसोंने पराशरके पिताको मारकर खा लिया। जिससे पराशर मुनिको बड़ा क्रोध आया और वे वहाँसे भागते हुए राक्षसोंके यज्ञमें पहुँचे और राक्षसोंको एक साथ नष्ट कर देना चाहा। लेकिन वसिष्ठने समझा-बुझाकर उन्हें शान्तकर दिया। अपने पुत्रोंके बच जानेसे पुलस्त्य मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने पराशरको यह आशीर्वाद दिया कि जितने पुराणोंको मैं जानता हूँ, तुम उन सबके वक्ता होओगे ॥९॥ इस प्रकार बलरामके द्वारा भक्तसम्प्रदायकी प्रवृत्ति'बतलाकर भगवानकी विभूतिका वर्णन करनेके लिए अब ब्रह्माकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बताते हुए कहते हैं—जब कि यह विश्व समुद्रमें निमग्न था, तब भगवानने अपने खुले हुए नेत्रोंको भी मूँद लिया। उस समय वे अकेले थे और शेषनागकी शय्यापर शयन कर रहे थे। उन्होंने मायाका खेलवाड़ त्याग दिया था। इस वास्ते सब क्रियायें भी बन्द हो गयी थीं और उस समय वे अपने आपमें ही आनन्दित हो रहे थे ॥ १० ॥ उन्होंने अपने शरीरमें ही परमाणुस्वरूप महदादि तत्त्वोंको समाविष्ट कर लिया और अपनी कालात्मिका शक्तिको इस वास्ते प्रेरित करते थे कि वह समयपर हमको जगा दे। वे अपने अधिष्ठानस्वरूप उस जलमें इस तरहसे रह रहे थे, जैसे कि अग्नि काष्ठमें अपनी शक्तिको छिपाये बैठा रहता है ॥ ११ ॥ चारों युग एक-एक हजार बार व्यतीत होगये, तबतक वे योगनिद्राके वशीभूत होकर सोते रहे। इसके अनन्तर अपने ही द्वारा प्रेरित अपनी कालात्मिका शक्तिके द्वारा उन्हें बहुतसे काम मिल गये। तब वे उठे और उन्होंने अपने ही शरीरमें लीन विविध लोकोंको देखा ॥ १२ ॥ जब लोकसृष्टिके निमित्त उनकी दृष्टि सूक्ष्म बातों

स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधनेन ।
स्वरोचिषा तत्सलिलं विशालं विद्योतयन्नर्क इवात्मयोनिः ॥१४॥
तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम् ।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ॥१५॥
तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायामवस्थितो लोकमपश्यमानः ।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रश्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥१६॥
तस्माद्युगान्तश्वसनावघूर्णजलोर्मिचक्रात्सलिलाद्विरूढम् ।
उपाश्रितः कञ्जमु लोकतत्त्वं नात्मानमद्धाविददादिदेवः ॥१७॥
क एष योऽसावहमब्जपृष्ठ एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु ।
अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैतदधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ॥१८॥
स इत्थमुद्वीक्ष्य तदब्जनालनाडीभिरन्तर्जलमाविवेश ।
नार्वाग्गतस्तत्खरनालनालनाभिं विचिन्वंस्तदविन्दताजः ॥१९॥
तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं विचिन्वतोऽभूत्सुमहांस्त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ॥२०॥
ततो निवृत्तोऽप्रतिलब्धकामः स्वधिष्ण्यमासाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो न्यषीददारूढसमाधियोगः ॥२१॥

की ओर गयी और कालका अनुसरण करनेवाले रजोगुणने भी कुछ जोर मारा, तब सूक्ष्म अर्थका आविर्भाव करनेका विचार उनकी नाभिसे उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥ वही नारायणका सूक्ष्म अर्थ जीवोंके भाग्यको जगानेवाले कालकी प्रेरणासे सहसा पद्मकोषके स्वरूपमें उठा । उसके तेजसे वह विशाल जलराशि तथा उस कमलको उत्पन्न करनेवाले नारायण भी देदीप्यमान हो उठे ॥ १४ ॥ और वे विष्णुभगवान अपने उत्पन्न किये हुए सब गुणोंके परिचायक उस कमलमें अंशरूपसे प्रविष्ट हो गये । वही अंश उस कमलसे विधाता (ब्रह्मा) के रूपमें उत्पन्न हुआ । वे ब्रह्मा स्वयं वेदमय थे और उन्होंने अपने उत्पन्न करनेवाले पिताको नहीं देख पाया था, इस वास्ते वे स्वयंभू भी कहलाये ॥ १५ ॥ वे संसारको न देखते हुए उसी कमलकी पँखुड़ियोंपर बैठे-बैठे अपनी गर्दन घुमाते हुए अपने नेत्रोंको खोलनेको चेष्टा करने लगे । ऐसी दशामें चारों दिशाओंमें ताकनेके कारण उनके चार मुख हुए ॥ १६ ॥ वे आदिदेव उस प्रलयकालीन वायुके झोंकोंसे उठती हुई ऊँची-ऊँची तरंगोंमें उत्पन्न उस कमलपर ही यद्यपि बैठे थे, फिर भी उसे नहीं जान सके कि यह क्या है । और कहाँ तक कहें, वे स्वयं अपनेको नहीं समझ सके कि मैं क्या हूँ—कौन हूँ ॥ १७ ॥ अब वे इस बातकी तर्कना करने लगे कि इस कमलकी पीठपर बैठा हुआ मैं कौन हूँ और यह अकेला कमल कहाँसे उत्पन्न हुआ है । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि जिसके सहारे यह कमल टिका हुआ है, उसका कोई आधार अवश्य है ॥ १८ ॥ इस प्रकार विचार करके ब्रह्माजी उस कमलदण्डके सहारे धीरे-धीरे जलमें उतरे । उस खुरदुरे कमलनालको थाम्हें हुए वे जलमें नीचे उतरते और उसकी जड़को खोजते चलते थे । बहुत समय तक उन्होंने उसे खोजा, लेकिन नहीं पाया ॥ १९ ॥ उस घोर अन्धकारमें वे इसी तरह अपने (पिता) को खोजते रहे । खोजते-खोजते चातुर्मास लक्षणात्मक सौ वर्ष व्यतीत हो गये और उन्हें वह स्थान नहीं प्राप्त हो सका, जहाँसे उस कमलकी उत्पत्ति हुई थी ॥ २० ॥ जब इतना उद्योग करनेपर भी अभिलाषा नहीं पूर्ण हुई, तब वे ब्रह्मदेव फिर लौट पड़े और कमलपर आकर बैठ गये । अब उन्होंने धीरे-धीरे श्वासको चढ़ा लिया, अपनी चित्तवृत्तियोंको चारों ओरसे समेट लिया और समाधिस्थ हो गये

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाभिप्रवृत्तयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातमपश्यतापश्यत यन्न पूर्वम् ॥२२॥
मृणालगौरायतशेषभोगपर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्नद्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ॥२३॥
प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्यवनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ॥२४॥
आयामतो विस्तरतः स्वमानदेहेन लोकत्रयसङ्ग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां कृतश्रियापाश्रितवेषदेहम् ॥२५॥
पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गैरभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दुमयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ॥२६॥
मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत्कुण्डलमण्डितेन ।
शोणायितेनाधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्र्वा ॥२७॥
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा स्वलङ्कृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चानन्तधनेन वत्स श्रीवत्सवक्षःस्थलवल्लभेन ॥२८॥

॥ २१ ॥ पूरे सौ वर्ष बाद उनको योगसिद्धि प्राप्त हुई और उसके साथ ही आत्मज्ञान भी हुआ । ऐसी अवस्थामें जिसको पहले वे खोजकर भी नहीं पा सके थे, वह अपने आप उनके हृदयमें अवभासित होने लगा ॥ २२ ॥ उन्होंने देखा कि उस प्रलयकालीन समुद्रके जलमें मृणाल (कमलकी जड़ भँसीड़) के समान श्वेत सर्पोंकी शय्यापर एक अकेला पुरुष सो रहा है । उसके माथेपर उन्हीं शय्यावाले सर्पोंके फण छाया किये हुए हैं और उन फणोंकी मणियें उस स्थानको आलोकित किये हुए हैं ॥ २३ ॥ उस सोये हुए पुरुषका मरकत मणिके पर्वतको तिरस्कृत करनेवाला श्याम शरीर था, सायंकालीन मेघकी पीली और चमकीली छटाको तिरस्कृत करनेवाला पीला वस्त्र था, अगणित स्वर्णशृङ्गोंको लज्जित करनेवाला किरीट उसके मस्तकपर था, रत्नों, जलकी धाराओं, ओषधियों और कुसुमसमूहोंको लजानेवाली वनमाला उसके गलेमें पड़ी थी और वेणुदण्डको लज्जित करनेवाले उसके हाथ-पैर थे ॥ २४ ॥ वह अपनी देहकी लम्बाई-चौड़ाईमें ही तीनों लोकोंका संग्रह किये हुए था । विचित्र प्रकारके दिव्य आभूषण और वस्त्र वह धारण किये हुए था । यद्यपि वह स्वयं सुन्दर था, उसके उस लावण्यमय शरीरको आभूषणोंकी आवश्यकता नहीं थी । फिर भी आभूषणोंके पड़ जानेसे उसकी अनुपम छटा दीख रही थी । ऐसे दिव्य पुरुषको ब्रह्माजीने अपने हृदयमें विराजमान देखा ॥ २५ ॥ अपनी-अपनी अभिलषित कामनाओंको पूर्ण करनेकी इच्छासे बहुत लोग वैदिक पद्धतिसे उसका पूजन कर रहे थे और वह उनपर कृपा करके अपने कमल सरीखे कोमल चरणोंको उठाकर उनको स्पर्श करनेका अवसर देता जाता था । उन पैरोंकी उँगलियोंके नखोंकी द्युतिसे ऐसा मालूम पड़ता था कि उस पुरुषका चरण कमल है और उसकी उँगलियें पँखुड़ियाँ हैं ॥ २६ ॥ वह अपनी मीठी मुसकानसे सभी दुखियोंका दुःख हर रहा था । कानोंमें पड़े कुण्डल झूल रहे थे । एक वर्णके उसके दोनों अधर अलग अपनी निखार दिखा रहे थे । उसकी सुन्दर नाक और मनोहर भौंहें बरबस मनको खींच लेती थीं और वह अपनी पूजा करनेवालोंका उचित सम्मान करता चल रहा था ॥ २७ ॥ वह कदम्बपुष्पके केसरकी तरह पीले वस्त्रोंसे सुशोभित था । उसके नितम्बपर मेखला (करधनी) पड़ी थी । श्रीवत्समणिसे सुशोभित वक्षःस्थलपर मूल्यवान् हार पड़ा था, जिससे

परार्ध्यकेयूरमणिप्रवेकपर्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रमहीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम् ॥२९॥
चराचरौको भगवन्महीध्रमहीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम् ।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्गमाविर्भवत्कौस्तुभरत्नगर्भम् ॥३०॥
निवीतमाम्नायमधुव्रतश्रिया स्वकीर्तिमय्या वनमालया हरिम् ।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः परिक्रमत्प्राधनिकैर्दुरासदम् ॥३१॥
तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोजमात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता नातः परं लोकविसर्गदृष्टिः ॥३२॥
स कर्मबीजं रजसोपरक्तः प्रजाः सिसृक्षन्नियदेव दृष्ट्वा ।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्यमव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां न ज्ञायते भागवते गतिरित्यवद्यम् ।
नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि ॥१॥

उसकी कान्ति और भी कमनीय हो रही थी ॥ २८ ॥ अब एक बड़े भारी चन्दन वृक्षसे उपमा देते हुए कहते हैं कि जिसमें बेशकीमती उत्तम मणि जड़े हुए थे। ऐसे अङ्गदसे अलंकृत उसके भुजदण्ड उस महान् चन्दनवृक्षकी शाखाके समान थे। उस पुरुषके मूल (आदि कारण) का पता नहीं था और महान् चन्दनवृक्षकी जड़का भी पता नहीं लगता था। यदि वह महापुरुष भुवनरूपी वृक्षका अधिपति था तो चन्दनवृक्ष भी संसारके समस्त वृक्षोंका मुखिया माना जाता था। जैसे चन्दनवृक्षकी शाखाओं-प्रशाखाओंमें बड़े-बड़े सर्प लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार वह परम पुरुष भी सर्पोंसे संवेष्टित था ॥ २९ ॥ वही महापुरुष जगत्के समस्त चराचर जीवोंका निवासस्थान था। वह समस्त पर्वतोंका जनक था और सर्पराजको मित्र बनाकर उसीपर शयन कर रहा था, समुद्रके जलमें अपने आपको छिपाये था, सैकड़ों सुमेरु आदि स्वर्णशृङ्ग पर्वत उसके किरीट बने हुए थे और वह कौस्तुभरूपी रत्नका उत्पादक था ॥ ३० ॥ उसके कण्ठमें कीर्तिरूपी वनमाला विराजमान थी और वेदरूपी भौंरे उसके चारों ओर मँडरा रहे थे। इस प्रकारके समवायसे जो शोभा उत्पन्न हुई थी, उससे वह परमपुरुष और भी सुशोभित हो रहा था। सूर्य, चन्द्रमा, वायु और अग्नि आदि जो अपने तेजसे तीनों लोकोंको प्रकाशित किया करते हैं, वे सब उसके पास तक नहीं पहुँच सकते थे। फिर भी उसकी परीक्षा करनेके लिए उसके चारों ओर पहरा दे रहे थे। जिससे सुदर्शनचक्र आदि अस्त्रोंकी भी पहुँच वहाँ तक नहीं हो पाती थी ॥ ३१ ॥ इस प्रकारके नारायणको जैसे ही ब्रह्माजीने देखा, उसी समय विविध प्रकारके जीवोंकी सृष्टि करनेकी दृष्टि खुल गयी और तत्काल उन्होंने उस परम पुरुषके नाभिरूपी सरोवरसे उत्पन्न उस कमलको, उसपर बैठे हुए अपने आपको, महाजलराशिको, वायु और आकाशको देखा ॥ ३२ ॥ इसके बाद रजोगुण युक्त ब्रह्माजीने सृष्टि करनेकी इच्छा करके लोकसृष्टिके मूल कारणस्वरूप नाभिसे उत्पन्न कमल आदिकी ओर निहारा और अव्यक्त मार्गवाले उन भगवानमें मन लगाकर उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ब्रह्माजी कहने लगे—हे भगवन्! बहुत दिनों तक आराधना करनेके बाद आज मैं आपको

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय ।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम् ॥२॥
नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपमानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ॥३॥
तद्वा इदं भुवनमङ्गल मङ्गलाय ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम् ।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं योऽनादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैः ॥४॥
ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात्स्वपुंसाम् ॥५॥
तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥६॥
दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये ।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत् ॥७॥

जान सका। देहधारी जीवोंमें यह एक बहुत बड़ा दोष है कि वे आपकी गतिको नहीं समझ पाते। किन्तु एकमात्र आपको जाननेमें ही मानवजीवनकी सार्थकता है। क्योंकि आपके सिवाय और कुछ है ही नहीं—जो कुछ है सब आप ही हैं। जो नेत्रोंसे दृष्टिगोचर हो रहा है, उसे हम शुद्ध नहीं कह सकते। क्योंकि आप ही तो माया और गुणोंसे विकृत होकर अनेक रूपमें दिखायी देते हैं॥ १ ॥ यदि आप कहें कि अभी तुम भी तो मुझे अच्छी तरह नहीं जान सके हो—जो यह मेरा स्वरूप देख रहे हो यह भी मायामय है, मेरा वास्तविक और सत्य स्वरूप तो निर्गुण ब्रह्म है। तो मैं कहूँगा कि आपकी चित्शक्तिके बलसे जायमान और नित्य प्रकाशमय आपका यह स्वरूप—जिसे अपने भक्तोंपर कृपा करके आपने ही प्रकट किया है, यही सैकड़ों अवतारोंका बीज है और इसीके नाभिकमलरूपी भवनसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ॥ २ ॥ हे परमपुरुष! आपका अप्रतिहत तेज सर्वत्र छाया हुआ है। इसीसे आपमें कोई भेदभाव नहीं है। आपका स्वरूप आनन्दमय है। आपके उस रूपके परे और कुछ मुझे दिखायी ही नहीं देता। जो कुछ है केवल आपका रूप ही है। यह सोचकर ही मैंने आपके इस स्वरूपके हाथों अपनेको सौंप दिया है। मेरे ख्यालसे तो आपका यह स्वरूप विश्वसे पृथक् रहता हुआ भी भूतात्मक विश्वकी उत्पत्तिका मूल कारण है॥ ३ ॥ हे भुवनमंगल! आपने हम जैसे अनन्य उपासकोंका कल्याण करनेके लिए ही ध्यानमें अपना यह अनूप रूप दिखाया है। आप अपने अव्यक्त और पूर्ण पुरुषमें मन लगाकर भजन करनेवाले हम भक्तोंको अपना वास्तविक स्वरूप न दिखाकर सोपाधि स्वरूप दिखाते हुए धोखा तो देंगे नहीं, तब मैं आपको वही अनादि ब्रह्म न मानूँ तो मानूँ क्या? हे भगवन्! हम आपको प्रणाम करते हैं। हाँ, कुछ लोग ऐसे भी अवश्य हैं जो बुरी संगतिमें पड़कर तरह-तरहके कुतर्क करते हुए आपके इस स्वरूपमें दोष निकालेंगे॥ ४ ॥ जो सज्जन वेदरूप वायुके झोकोंसे उड़ाकर लाये हुए आपके चरणसरोजकी सुगन्धिको सूँघते और परम श्रद्धाके साथ आपके चरणोंकी शरण गहते हैं तो हे नाथ! आप उन अपने भक्तोंके हृदयकमलसे कभी भी नहीं हटते—अर्थात् सदा विराजमान रहते हैं॥ ५ ॥ संसारी लोगोंको धन, गेह और सगे-सम्बन्धी आदिका शोक तभी तक घेरे रहता है और विविध आकांक्षायें, विविध प्रकारके पराजय और विपुल लोभ तभी तक सताते हैं, जबतक कि प्राणीको दुःखके कारणस्वरूप उन सब वस्तुओंमें ममता बनी रहती है और वह आपके अभयदायक चरणोंकी शरणमें नहीं आ जाता॥ ६ ॥ अभाग्य वश जिनकी मति मारी गयी है, वे ही लोग सब अमंगलोंके विनाशक आपके कथाश्रवण आदि प्रसंगोंसे अपनी इन्द्रियोंको विमुख रखते हैं। वे तनिकसे कामजनित सुखके लिए लोभविवश हो [च]ारों और दीन बने गिड़गिड़ाते फिरते हैं और विविध प्रकारके अनर्थ

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः शीतोष्णवातवर्षैरितरेतराच्च ।
कामाग्निनाच्युत रुषा च सुदुर्भरेण सम्पश्यतो मन उरुक्रम सीदते मे ॥८॥
यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थमायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत् ।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसङ्क्रमेत व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था ॥९॥
अह्न्यापृतार्तकरणा निशि निःशयाना नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः ।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥१०॥
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥११॥
नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारैराराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥१२॥
पुंसामतो विविधकर्मभिरध्वराद्यैर्दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च ।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्ध्रियते न यत्र ॥१३॥
शश्वत्स्वरूपमहसैव निपीतभेदमोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै ।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीलारासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय ॥१४॥

करते रहते हैं, जिससे उनको सदा अमंगलका ही सामना करना पड़ता है ॥ ७ ॥ वे बेचारे भूख, प्यास तथा वात, पित्त और कफ इन तीनों धातुओंसे दुखी रहते हैं। शीत, उष्ण, वायु और वर्षा आदि तरह तरहकी उपाधियोंसे वे व्याकुल रहते हैं। कामरूपी अग्नि और असीम क्रोध अलग उन्हें पछाड़े रहता है। हे उरुक्रम! इन दुखियोंको देखकर मेरे हृदयको बड़ा क्लेश होता है ॥ ८ ॥ हे स्वामिन्! जब तक प्राणी अपने देहादिको आपसे भिन्न मानता हुआ इन्द्रियोंकी विषयरूपिणी मायाको बलवती समझता रहेगा, तबतक उसे इस दुःखपूर्ण संसारसे छुटकारा नहीं मिल सकता। उसे दुःखोंके समूह घेरे ही रहेंगे। क्योंकि वह अपने किये हुए कामोंका फल भोगनेके लिए लालायित रहेगा ॥ ९ ॥ यदि कहें कि अच्छा, यह सब झंझटें तो संसारके मूढ़ प्राणियोंके ही सिर मँडराती हैं। तब विवेकशील प्राणी भक्ति क्यों करें? तो मैं कहूँगा कि हे देव! जो दिन भर विषयमें लीन इन्द्रियवाले रहते और रातको सोते समय विवध प्रकारके मन्सूबे बाँधते रहनेके कारण जिन्हें नींद नहीं आती, जिनको भाग्यवश बार-बार कार्य करनेपर भी सफलता नहीं मिलती, ऐसे ऋषि भी भगवद्भक्तोंके सत्संगसे विमुख रहकर संसारी आवागमनके चक्करमें पड़े ही रह जाते हैं ॥ १० ॥ हे नाथ! आप सच्चे भक्तियोगसे पुनीत हृदयमें आकर विराजते हैं। हे सर्वगुणसम्पन्न! आप उनके सुने हुए मार्गोंके अनुसार चलते हैं और वे अपने मनसे जिन-जिन रूपोंका ध्यान करते हैं, तो आप कृपा करके उन्हीं उन रूपोंमें उनके समक्ष प्रगट होते हैं ॥ ११ ॥ हे देव! आप उन सकाम प्राणियोंके विविध उपचारोंसे किये गये पूजन द्वारा उतना नहीं प्रसन्न होते, जितना कि सब प्राणियोंपर दया करके सबका उपकार करनेमें तत्पर प्राणियोंपर प्रसन्न होते हैं। क्योंकि आप तो जगत्के सब प्राणियोंके शुभचिन्तक बनकर सबकी अन्तरात्मामें निवास करते हैं ॥ १२ ॥ आप वासनाके भिखारी लोगोंके सकाम पूजनोंसे नहीं प्रसन्न होते। इसीसे उनके कार्योंका उत्तम फल नहीं होता। वे सकाम पुरुष चाहे बड़ेसे बड़ा यज्ञ करें, दान दें, उग्र तप करें और कठिन व्रतका पालन करें, लेकिन उनसे कुछ लाभ नहीं होता और इसके विपरीत जो लोग निष्कामभावसे आपकी आराधना करते हुए अपना सर्वस्व आपको अर्पण कर देते हैं तो उनका अनिष्ट नहीं होता—कुछ न कुछ उत्तम फल लाता ही है ॥ १३ ॥ आप अपने नित्य विद्यमान रहनेवाले स्वरूपसे सब प्रकारके भेदोंका भ्रम दूर कर देते हैं। आप ही ज्ञानके अवतार हैं और आप ही परमपुरुष हैं। मैं आपको

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥१५॥

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम् ।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहस्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ॥१६॥

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥१७॥

यस्माद्बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्यमध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत् ।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समानस्तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम् ॥१८॥

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनिष्वात्मेच्छयाऽऽत्मकृतसेतुपरीप्सया यः ।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेहस्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय ॥१९॥

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या निद्रामुवाह जठरीकृतलोकयात्रः ।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन् ॥२०॥

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योगनिद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥२१॥

प्रणाम करता हूँ। इस विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहारके एकमात्र आप ही निमित्त कारण हैं और इन कार्योंको सम्पन्न करनेवाली आपकी मायाका सह विलास भी आपहीसे होता है। इसीसे हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ १४ ॥ आपके विविध अवतारोंमें जो विविध प्रकारके कौतुक हुए हैं, उनका स्मरण करता हुआ जो प्राणत्यागके अवसरपर विवशभावसे भी नाम ले लेता है तो वह अपने अनेक जन्मोंके पापोंको उसी समय त्यागकर आवरणविहीन परब्रह्मके लोकको प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥ इस विश्वरूपी महान् वृक्षके अधिष्ठाता आपके केवल एक पैरसे ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपी तीन शाखायें उपजीं और उन प्रत्येक शाखाओंमेंसे कितनी ही उपशाखायें निकलीं और वे मरीचि-मनु आदि नामोंसे बढ़ीं। ऐसे भुवनरूपी वृक्ष आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १६ ॥ इस प्रकार भगवानके गुणावतारसम्बन्धी विस्तारकी स्तुति करके उनके कालस्वरूपको नमस्कार करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—यह संसार अपने स्वार्थमें मतवाला होकर तरह-तरहके दूषित कर्म करता है। ऐसे प्राणियोंको अपने बताये मार्गपर लाकर जो बलवान पुरुष उनके बार-बारके जीवन-मरणकी आशाको तत्काल काट फेंकता है, ऐसे हे कालस्वरूप भगवान ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ १७ ॥ और लोगोंकी बात जाने दीजिये, मैं स्वयं जब आपके समस्त लोकोंसे नमस्कृत सत्यलोकमें था तो मुझे आपसे भय लगता था और आपके पास पहुँचनेके लिए मैंने बहुत वर्षोंतक उग्र तपस्या की थी। हे यज्ञादि कर्मोंके अधिष्ठाता ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ १८ ॥ अब समय-समयपर की हुई भगवानकी अवतारलीलाओंका उल्लेख करते हुए कहते हैं—अपनी इच्छासे तिर्यग् आदि योनिमें जन्म लेकर अपने बनाये हुए धर्मसेतुकी मर्यादाका पालन करनेके लिए जिन्होंने विविध प्रकारके कौतुक किये थे, विषयसुखके अनिच्छुक उन पुरुषोत्तमको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ॥ १९ ॥ अब प्रत्यक्ष विद्यमान मूर्तिको प्रणाम करते हुए कहते हैं—जो सदा जागरूक रहते हुए भी अपने उदरमें समस्त विश्वको स्थापित करके शेषशय्यापर यह दिखाते हुए प्रलयकालीन समुद्रकी ऊँची-ऊँची तरंगोंवाले जलमें शयन करते रहे कि संसारके अज्ञजन किस प्रकार सोते हैं ॥ २० ॥ जिसके नाभिकमलरूपी भवनसे तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेके निमित्त मेरी उत्पत्ति हुई। संसारको अपने उदरमें बसानेवाले और योगनिद्राके अन्तमें विकसित

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन ।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ ॥२२॥
एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या यद्यत्करिष्यति गृहीतगुणावतारः ।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम् ॥२३॥
नाभिह्रदादिह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः ।
रूपं विचित्रमिदमस्य विवृण्वतो मे मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः ॥२४॥
सोऽसावदभ्रकरुणो भगवान् विवृद्धप्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन् ।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं माध्व्या गिरापनयतात्पुरुषः पुराणः ॥२५॥

मैत्रेय उवाच

स्वसम्भवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः । यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत् ॥२६॥
अथाभिप्रेतमन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः । विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा ॥२७॥
लोकसंस्थानविज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः । तमाहागाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

मा वेदगर्भ गास्तन्द्रीं सर्ग उद्यममावह । तन्मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान् ॥२९॥
भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम् । ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान् ॥३०

नेत्रोंसे अवलोकन करनेवाले परमेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २१ ॥ इस प्रकार स्तुति करनेके बाद ब्रह्माजी प्रार्थना करते हैं—हे नारायण ! जिस ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे आप इस विश्वको सुखी करते हों, आप अपने उसी ज्ञान और ऐश्वर्यको मेरी बुद्धिमें भी भर दें। जिससे मैं उसी तरह सृष्टिकार्य करनेमें समर्थ हो सकूँ, जैसे कि पहलेके कल्पोंमें समर्थ हो सका था। आपसे निहोरा मैं इस वास्ते करता हूँ कि समस्त जगत्के सुहृद् एकमात्र आप ही हैं और प्रणत जनोंपर आप तुरन्त कृपा करते हैं ॥ २२ ॥ हे शरणागतवरदायक ! आप अपनी शक्ति लक्ष्मीके साथ जो गुणावतार ग्रहण करते हैं और जो-जो कार्य करते हैं, सो आपके भरोसे जब मैं सृष्टिकार्य करने लगूँ तो आप मेरे मनमें ऐसा कुछ भाव भर दीजिए कि जिससे मैं सृष्टिमें विषमता आदि भेदभावके पापोंकी चपेटमें न पड़ सकूँ ॥ २३ ॥ जिस महापुरुषके नाभिकमलसे मैं विज्ञान-शक्तिके द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, उसमें अनन्त-शक्ति-सम्पन्न परमपिताके जब विचित्र रूपोंका विस्तार करने लगूँ तो जो मेरे पास वैदिक वाणीका भण्डार है, वह वेद मुझे भूल न जाय ॥२४॥ इस तरह सृष्टिकार्य करते समय जगत्का कल्याण करनेके लिए परम-दया-सम्पन्न बनकर आप बड़े प्रेमके साथ मुस्काते और अपने नेत्रोंको थोड़ा विकसित करते हुए अपनी शेषशय्यासे ही उठकर समय-समय पर मीठी वाणी बोलते हुए मेरा खेद दूर करते रहिएगा ॥ २५ ॥ इस प्रकार ब्रह्माजीकी स्तुतिका वर्णन करनेके अनन्तर मैत्रेय बोले—'हे विदुर ! ब्रह्माजी अपने जनकको इस तरह तप, विद्या (उपासना) और समाधि (चित्तकी एकाग्रता) से प्रसन्न करके शान्त हो गये। वे उस समय थक-से गये थे ॥ २६ ॥ ब्रह्माका अभिप्राय समझकर भगवान उस प्रलयकालीन भयंकर जलराशिको देखनेसे खिन्न ब्रह्मासे कहने लगे ॥ २७ ॥ लोककी स्थितिके विज्ञानको न समझ सकनेके कारण खिन्न ब्रह्माजीसे जैसे उनका दुःख दूर करते हुए भगवान बोले—॥ २८ ॥ हे वेदगर्भ ! तुम इस विषादजनित आलस्यको दूर करके अपने सृष्टिकार्य में लग जाओ। तुम जिस वस्तुके लिए हमसे प्रार्थना करते हो, उसे मैंने पहले ही से ठीक कर दिया है ॥ २९ ॥ अब तुम फिर तपस्यामें लग जाओ और मेरा ध्यान करते रहो। हे ब्रह्मन् ! इस तपस्या और ध्यानसे तुम अपने हृदयमें ही सब लोकोंको स्पष्ट रीतिसे देख लोगे ॥ ३० ॥

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः । द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन्मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥३१॥
यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम् । प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम् ॥३२॥
यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः । स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति ॥३३॥
नानाकर्मवितानेन प्रजा बह्वीः सिसृक्षतः । नात्मावसीदत्यस्मिंस्ते वर्षीयान्मदनुग्रहः ॥३४॥
ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयांस्त्वां रजोगुणः । यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥३५॥
ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम् । यन्मां त्वं मन्यसेऽयुक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः ॥३६॥
तुभ्यं मद्विचिकित्सायामात्मा मे दर्शितोऽबहिः । नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः ॥३७॥
यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् । यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥३८॥
प्रीतोऽहमस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया । यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं मानुवर्णयन् ॥३९॥
य एतेन पुमान्नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत् । तस्याशु सम्प्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः ॥४०॥
पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगसमाधिना । राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ॥४१॥
अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि । अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ॥४२॥
सर्ववेदमयेनेदमात्मनाऽऽत्माऽऽत्मयोनिना । प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते ॥४३॥

मैत्रेय उवाच

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः । व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥९॥

हे ब्रह्मन् ! जब तुम भक्तियुक्त होकर अपने चित्तको एकाग्र कर लोगे तो मुझे अपनी आत्मामें और लोकमें मुझे व्याप्त देखोगे ॥ ३१ ॥ जब कोई प्राणी मुझे सब प्राणियोंमें उसी तरह विद्यमान देखने लगता है जैसे लकड़ीमें आग रहती है तो उसी समय वह अपने पापोंको त्याग देता है अर्थात् पाप फिर उस प्राणीमें रह ही नहीं जाते ॥ ३२ ॥ जब प्राणी अपनी आत्माको सत्त्वादि गुण तथा तत्त्वोंसे परे और मुझमें लगा हुआ समझता है, तभी वह मुक्त होता है ॥ ३३ ॥ विविध प्रकारके कर्मोंका विस्तार करते हुए तुम जब बहुत-सी प्रजाओंकी सृष्टि करते रहोगे तो तुम्हारी आत्माको कोई कष्ट नहीं होगा । तुम्हारेपर मेरी बड़ी दया है और तुमने अपना मन मुझमें लगा दिया है, इस वास्ते प्रजाकी सृष्टिका कार्य करते हुए भी पापी रजोगुण तुम्हें अपने बन्धनमें नहीं बाँध सकेगा ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ क्योंकि तुम मुझे पृथिव्यादि पंचमहाभूत, इन्द्रिय, सत्त्वादि गुणों तथा अहंकारसे पृथक् मानते हो, इसीसे आज तुमने प्राणियोंके लिए दुर्विज्ञेय मेरे स्वरूपको देख पाया है ॥ ३६ ॥ और फिर उस समय जब तुम कमलनालके सहारे चलते हुए उसके मूलभागको खोज रहे थे, तब मैंने तुम्हारी अन्तरात्माके भीतर ही तुम्हें अपना दर्शन दिया था ॥ ३७ ॥ हे अङ्ग ! तुमने मेरे अभ्युदयसे अंकित मेरी प्रगाढ़ स्तुति की है और तपस्यामें तुम्हारी बड़ी निष्ठा है । इसीसे तुम्हारेपर मेरी बड़ी कृपा है ॥ ३८ ॥ तुमने सृष्टिकार्य करनेकी इच्छासे गुणमय रूपमें दिखलायी पड़ते हुए भी निर्गुणरूपमें वर्णन करते हुए मेरी स्तुति की है । इस कारण मैं तुम्हारेपर प्रसन्न हूँ । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ३९ ॥ जो पुरुष नित्य इस स्तोत्रसे मेरी स्तुति करके मुझे भजता है तो सब कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ मैं ईश्वर उसपर बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाता हूँ ॥ ४० ॥ पूर्त, तप, यज्ञ, दान और समाधि द्वारा सिद्ध मोक्षरूपी फलात्मक जितने भी कार्य हैं, उन सबका एकमात्र उद्देश्य मुझे प्रसन्न करना है । यही सब तत्त्वज्ञानियोंका मत है ॥ ४१ ॥ हे ब्रह्मन् ! मैं अहंकारोपाधियुक्त जीवोंकी आत्मा और प्रियतमोंका भी प्रियतम हूँ । इस लिए वह जिसके लिए लालायित रहता है, उसे पानेके लिए मुझसे प्रेम करे ॥ ४२ ॥ यह तो तुम जानते ही हो कि तीनों लोक बीजरूपसे सदा विद्यमान रहते हैं, सो किसीकी अपेक्षा न करके तुम प्रजाओंकी पहले कल्पोंके समान सृष्टि करो ॥ ४३ ॥ मैत्रेय कहते हैं—प्रधान पुरुषोंके प्रभु कमलनाभ नारा-

दशमोऽध्यायः

विदुर उवाच

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः। प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः ॥१॥
ये च मे भगवन् पृष्टास्त्वय्यर्था बहुवित्तम। तान् वदस्वानुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान् ॥२॥

सूत उवाच

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः। प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव ॥३॥

मैत्रेय उवाच

विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः। आत्मन्यात्मानमावेश्य यदाह भगवानजः ॥४॥
तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यदधिष्ठितः। पद्ममम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम् ॥५॥
तपसा ह्येधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया। विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद्वायुं सहाम्भसा ॥६॥
तद्विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यदधिष्ठितम्। अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत् ७
पद्मकोशं तदाऽऽविश्य भगवत्कर्मचोदितः। एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा ॥८॥
एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहृतः। धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ ॥९॥

विदुर उवाच

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणा। कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन् यथा वर्णय नः प्रभो ॥१०॥

यरण जगत्की सृष्टि करनेवाले ब्रह्माको इस प्रकार समझा-बुझाकर अन्तर्धान होगये ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(सृष्टिके दस भेद) विदुर बोले—हे मैत्रेय ! अब आप हमको यह बताइए कि जब भगवान् ब्रह्माजीको समझाकर अन्तर्धान हो गये तो उन सर्वव्यापक ब्रह्माने कितने प्रकारकी दैहिकी या मानसी प्रजाकी सृष्टि की ॥ १ ॥ हे बहुज्ञ ! मैंने आपसे जो प्रश्न किये हैं, आप क्रमशः उनका उत्तर देते हुए मेरे सब सन्देहोंको दूर कर दीजिए ॥ २ ॥ इधर सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कहते हैं—हे भार्गव शौनक ! इस प्रकार विदुरके पूछनेपर मैत्रेय मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन प्रश्नोंको हृदयङ्गम करके कहने लगे—॥३॥ हे विदुर ! नारायणके आदेशानुसार ब्रह्माजीने अपने मनको एकाग्र करके दिव्य (देवताओंके) सौ वर्ष तक उग्र तप किया ॥ ४ ॥ इसके अनन्तर ब्रह्मा जिस कमलके ऊपर बैठे थे, उसे तथा जलको भी प्रलयकी वायुके वेगसे काँपते देखा ॥ ५ ॥ ऐसी दशामें अपने बढ़े हुए तप और आत्मामें रहनेवाले ज्ञान तथा विज्ञानके बलसे उन्होंने जलके साथ-साथ उस वायुको भी पी लिया ॥ ६ ॥ अब उन्होंने आकाश तक उठे हुए उस कमलको देखा और मन ही मन यह निश्चय किया कि मैं इस कमलसे ही प्रलयके गर्भमें पड़े हुए तीनों लोकोंकी सृष्टि करूँगा ॥ ७ ॥ इसके बाद नारायणकी प्रेरणासे वे उस कमलकोशके भीतर घुस गये और उस अकेले कमलके तीन खंड करके तीन लोक बना दिये। (यदि शंका करें कि उस एक कमलसे भला तीन लोक कैसे बन सका तो सुनिए—) वह कमल इतना विशाल था कि उससे चतुर्दश लोकके अतिरिक्त भी कितने ही लोक बनाये जा सकते थे ॥ ८ ॥ बस, इन्हीं तीनों लोकोंके जीवोंकी रचनामें सारी विशेषतायें भरी हुई हैं। (यदि यह कहा जाय कि आखिर ब्रह्मा भी तो एक जीव ही हैं, फिर उनमें और ब्रह्मलोकके जीवोंमें कोई विशेषता क्यों नहीं मानी गयी तो इसका उत्तर यह है कि) ब्रह्माजी निष्काम कर्मके मूर्तिमान् फल हैं। इसी कारण सत्यलोक और महःप्रभृतिलोक और उनके निवासी वे ही रहते हैं, जो उपर्युक्त तीनों लोकोंमें जैसा सुकर्म-दुष्कर्म किये रहते हैं, उनका फल भोगनेके लिए वहाँ जाते हैं। इसीसे सब विशेषता तीन ही लोकोंमें मानी जाती है ॥ ९ ॥ यह सुनकर विदुर बोले—हे मैत्रेय ! जो आप उन अद्भुत कर्म करनेवाले नारायणका काललक्षणात्मक

मैत्रेय उवाच

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः । पुरुषस्तदुपादानमात्मानं लीलयाऽसृजत् ॥११॥
विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया । ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥१२॥
यथेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम् । सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः ॥१३॥
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः । आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ॥१४॥
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः । भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ॥१५॥
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः । वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ॥१६॥
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभो । षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ॥१७॥
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः । सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ॥१८॥
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः । उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ॥१९॥
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः । अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ॥२०॥

स्वरूप बतला रहे थे, उसीको थोड़ा विशदरूपमें बताइए कि कालकी कल्पना कैसे होती है और उसका सूक्ष्म और स्थूल स्वरूप क्या है ? ॥ १० ॥ मैत्रेय कहने लगे—सत्त्वादि गुणोंका महदादि परिणाम और उसका कार्य ही काल कहलाता है, वह काल स्वयं विशेषताशून्य है। वह अप्रतिष्ठित है और कहीं भी उसका अन्त नहीं है। उस परम पुरुष परमात्माने कालरूपी निमित्त कारणको लेकर क्रीडाके लिए अपनेही को विश्वरूपमें सृजन किया है ॥ ११ ॥ इसके पूर्व विष्णुमायाने इस विश्वका संहार कर दिया था और विश्वकी तन्मात्रा ब्रह्मके स्वरूपमें लीन हो गयी थी। उसीको उन अव्यक्त मूर्तिवाले नारायणने कालको निमित्त बनाकर फिरसे प्रकाशित कर दिया ॥ १२ ॥ यह विश्व जैसा इस समय है, वैसा ही इसके पहले था और आगे भी ऐसा ही रहेगा। इसमें प्राकृत (प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाला छः) और वैकृत (विकृतिसे उत्पन्न मनुष्य आदि जीव) भेदसे नौ प्रकारकी सृष्टियाँ होती हैं। दसवीं सृष्टिमें वह परम पुरुष स्वयं रहता है ॥ १३ ॥ काल, द्रव्य और गुण इन तीनोंसे तीन प्रकारका प्रलय भी होता है (ऊपर जो नौ प्रकारकी सृष्टि बतला आये हैं, उनमेंसे पहली सृष्टि उस परम पुरुष द्वारा गुणोंके विद्यमान महत् लक्षणात्मकसे होती है ॥ १४ ॥ द्वितीय सृष्टि अहंकारकी होती है। जिससे द्रव्य, ज्ञान और क्रियाकी उत्पत्ति हुआ करती है। तीसरी सृष्टिमें वायु आदि (सूक्ष्म) भूत उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टि द्रव्यशक्तिमती है और इससे पंचमहाभूत जायमान होते हैं ॥ १५ ॥ इसी प्रकार चतुर्थ सृष्टिसे ज्ञानक्रियात्मक इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। पंचम सृष्टिसे वैकारिक ज्ञानशक्ति सम्पन्न और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंकी उत्पत्ति होती है ॥ १६ ॥ छठीं सृष्टिसे अन्धकार उपजता है जो अज्ञानका जन्मदाता है। ये मैंने छः प्रकारकी प्राकृत सृष्टियोंका वर्णन किया। अब वैकृत सृष्टिका हाल बताता हूँ। सुनो—॥ १७ ॥ ऊपर जो सृष्टियें बतायी गयी हैं, वे सब भगवानकी रजोगुणात्मक-लीलास्वरूपिणी हैं। सातवीं मुख्य सृष्टिमें छ प्रकारके वृक्षोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १८ ॥ जैसे—वनस्पति (बिना फूलके फल देनेवाले वृक्ष जैसे गूलर आदि) ओषधि (बोये जानेपर पके फल देकर समाप्त हो जानेवाले धान आदि) लता (किसीके सहारे ऊपर चढ़नेवाली) त्वक्सार (जिनके छिलकेमें ही तत्त्व रहता है जैसे बाँस-बेंत आदि) वीरुध (यह भी लता ही के सदृश होती है, किन्तु इसे ऊपर लसनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती जैसे जूही आदि) और द्रुम (जो फूलनेके बाद फले जैसे आम आदि) ये छहों प्रकारके वृक्ष पृथ्वीके भीतरसे अपना आहार ऊपरको खींचते हैं। इनमें चेतनाशक्ति नहीं दीखती। इनके भीतर स्पर्शशक्ति प्रबल होती है और देश-कालकी अवस्थाके अनुसार इनमें विविध प्रकारके परिणाम भी लक्षित होते रहते हैं ॥ १९ ॥ आठवीं सृष्टिसे तिर्यक् (पक्षी) योनिके जीवोंकी उत्पत्ति होती है। जिनके कुल अट्ठाईस भेद होते हैं। जैसे—अविद (स्तनादि ज्ञानशून्य) भूरितमस (केवल अपने आदरकी जानकारी

गौरजो महिषः कृष्णः सूकरो गवयो रुरुः । द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ॥२१॥
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा । एते चैकशफाः क्षत्तः शृणु पञ्चनखान् पशून् ॥२२॥
श्वा सृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ । सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥२३॥
कङ्कगृध्रवटश्येनभासभल्लूकबर्हिणः । हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ॥२४॥
अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् । रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥२५॥
वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम । वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ॥२६॥
देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः । गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥२७॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः । दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥२८॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान्मन्वन्तराणि च । एवं रजःप्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः ।
सृजत्यमोघसङ्कल्प आत्मैवात्मानमात्मना ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

अथैकादशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा । परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥१॥
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत् । कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः ॥२॥

रखनेवाले) घ्राणज्ञ (नाकसे सूँघकर समझनेवाले) हृदि अवेदी (विशेष अनुसन्धान करनेमें असमर्थ) ॥ २० ॥ गौ, बकरी, भैंस, हिरन, गवय, रुरु (मृगविशेष), भेंड़ा, भेंड़ी और ऊँट ये नौ प्रकारके पशु दो खुरवाले होते हैं ॥ २१ ॥ गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर, शरभ और चमरी, ये छ पशु एक खुरवाले हैं। हे विदुर ! अब मैं तुम्हें पाँच नखवाले पशु बताता हूँ। सुनो ॥ २२ ॥ कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरहा, शल्लक (स्याही), सिंह, बन्दर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि तथा कंक (कड़ाकुल), गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भालू, मोर, हंस, सारस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि पशु-पक्षी पंचनख हैं। (ऊपर गिनाये मगर आदि जन्तु और कंक आदि पक्षी सब मिलाकर अट्ठाईस प्रकारके तिर्यक् योनिके जन्तु होते हैं) ॥ २३ ॥ २४ ॥ हे विदुर ! उलटे सोनेवाले मनुष्योंकी नवीं सृष्टि मानी गयी है। ये मनुष्य अधिक रजोगुणात्मक तथा कर्मशील होते हैं और दुःखको भी सुख मानते हैं ॥ २५ ॥ हे विदुर ! ये तीनों ही सृष्टियाँ वैकृत हैं। देवताओंकी सृष्टि भी वैकृत सृष्टिके ही अन्तर्गत है, किन्तु सनत्कुमार आदिकी सृष्टि उभयात्मक (प्राकृत-वैकृतात्मक) है। क्योंकि ये देवता और मनुष्य दोनों ही नामोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ २६ ॥ देवसृष्टि आठ प्रकारकी है। जैसे—देव, पितर, असुर, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, चारण, भूत, प्रेत, पिशाच, सिद्ध, विद्याधर तथा किम्पुरुष आदि। हे विदुर ! ब्रह्माजीकी सृष्टिके ये ही दस भेद हैं ॥ २७ ॥ २८ ॥ अब मैं वंशों और मन्वन्तरोंका वर्णन करूँगा। प्रत्येक कल्पके आदिमें अव्यर्थ-विचारशील स्वयंभू नारायण रजोगुणके आधारसे अपने आपको ही विविध आकृतियोंमें व्यक्त करते हुए सृष्टिकार्य करते हैं ॥२९॥
इति श्रीमद्भागवते तृतीयस्कंधे 'सामयिकी' भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(मन्वन्तरादि कालकी परिमिति) मैत्रेय बोले—हे विदुर ! पूर्वोक्त महत्तत्त्वादिकोंका अन्तिम अंश परमाणु कहलाता है (उसके आगे किसी तरह भी अंशविभाग नहीं किया जा सकता। अर्थात् अतिशय सूक्ष्म अंश परमाणु कहा जाता है) वे ही बहुतसे परमाणु जब एकत्रित हो जाते हैं तो लोग भ्रममें पड़कर उन अनेक परमाणुओंको एक समझने लगते हैं ॥ १ ॥ जिस पदार्थका अतिशय

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम । संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः ॥३॥
स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् । सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान् ॥४॥
अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः । जलार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात् ॥५॥
त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः । शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥६॥
निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः । क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च ॥७॥
लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिकाः । ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम् ॥८॥
द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः । स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम् ॥९॥
यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे । पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद ॥१०॥
तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम् । द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि ॥११॥
अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः । संवत्सरशतं नॄणां परमायुर्निरूपितम् ॥१२॥
ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत् । संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः ॥१३॥
संवत्सरः परिवत्सर इडावत्सर एव च । अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते ॥१४॥

सूक्ष्म अंश परमाणु होता है। वही पदार्थ जब अत्यन्त स्थूल अवस्थाको पहुँच जाता तो 'परम महान्' कहाने लगता है। उस परम महान्में किसी विशेषता या भेदकी गुंजाइश नहीं रहती। इससे कहना पड़ता है कि यह विश्व ही 'परम महान्' है॥ २॥ जैसे परमाणु स्थूल-सूक्ष्म होता है, उसी तरह काल भी स्थूल, सूक्ष्म और मध्यम माना जाता है। वह अव्यक्त रहता हुआ भी सब व्यक्त पदार्थोंका भोग करता है और सभी पदार्थोंमें व्याप्त रहता है॥ ३॥ जो काल प्रपंचकी परमाणु अवस्थाका भोग करता है, उस कालको परमाणु कहते हैं। और जो काल पूर्ण अवस्थाका भोग करता है, उसे परम महान् कहते हैं (अर्थात् सूर्य जितने समयमें परमाणुदेशको पार करता है, उतने समयको परमाणु काल कहते हैं और जितने समयमें द्वादशराश्यात्मक भुवनकोशको लाँघता है, उस कालको परम महान् कहते हैं।)॥ ४॥ दो परमाणुओंका एक 'अणु' और तीन अणुओंका 'त्रसरेणु' होता है। वह त्रस-रेणु झरोखेके भीतर जानेवाली सूर्यकी किरणोंमें दिखायी देता है। वह बराबर ऊपर ही ऊपर उड़ता रहता है—पृथ्वीपर नहीं गिरता॥ ५॥ तीन त्रसरेणुओंके भोग करनेवाले कालको 'त्रुटि' कहते हैं और सौ त्रुटियोंका भोगकाल 'वेध' कहलाता है। तीन वेधके भोगकालको 'लव' कहते हैं॥ ६॥ तीन लवका एक 'निमेष' तीन निमेषका एक 'क्षण' पाँच क्षणकी एक 'काष्ठा' और पंद्रह काष्ठाओंका एक 'लघु' होता है॥ ७॥ पन्द्रह लघुओंकी एक 'नाडिका' होती है। दो नाडियोंका एक 'मुहूर्त' और छ या सात घड़ियोंका एक पहर होता है॥ ८॥ छ पल ताम्रका इस प्रकारका एक पात्र बनावे, जिसमें प्रस्थ भर पानी अँट सके। उस पात्रकी पेंदीमें बीचोबीच एक ऐसा छेद करे, जिसमें एक मासे सोनेकी चार अंगुल लम्बी सलाई घुस जाय। उस छेदसे जितनी देरमें एक प्रस्थ पानी निकल जाय, उतने समयको नाड़ी (घड़ी या दण्ड) कहते हैं॥ ९॥ आठ याम (प्रहर) की एक दिन और रात होती है। अर्थात् चार प्रहरका दिन और चार पहरकी रात। ऐसे पन्द्रह दिन-रातोंका एक पक्ष होता है। जिसके 'शुक्ल' और 'कृष्ण' दो भेद होते हैं॥ १०॥ दो पक्षोंका एक महीना होता है। इस तरह मनुष्योंका एक महीना पितरोंके एक दिन-रातके समान होता है। दो महीनोंकी एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओंका एक अयन होता है। वह अयन दो प्रकारका होता है—उत्तरायण और दक्षिणायन॥ ११॥ दो अयन (एक वर्ष) देवताओंके एक दिनरातके समान होता है। बारह महीनोंका एक वर्ष होता है। मनुष्योंकी परमायु सौ वर्षकी मानी गयी है॥ १२॥ ग्रह (चन्द्र-शनि आदि) नक्षत्र (अश्विनी-भरणी आदि) और तारा (साधारण तारिका) के मण्डलमें रहते हुए सूर्य परमाणुसे लेकर वर्ष भरके समय तक इस भुवनकोशका चक्कर लगाते रहते हैं॥ १३॥ हे विदुर! संवत्सर भी पाँच प्रकारके होते हैं—संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर अनुवत्सर और

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः ।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वंस्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय ॥१५॥

विदुर उवाच

पितृदेवमनुष्याणामायुः परमिदं स्मृतम् । परेषां गतिमाचक्ष्व ये स्युः कल्पाद्बहिर्विदः ॥१६॥
भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु । विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा ॥१७॥

मैत्रेय उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् । दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम् ॥१८॥
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् । संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च ॥१९॥
संध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः । तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते ॥२०॥
धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते । स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता ॥२१॥
त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम् । तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक् ॥२२॥
निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते । यावद्दिनं भगवतो मनून् भुञ्जंश्चतुर्दश ॥२३॥
स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साधिकां ह्येकसप्ततिम् । मन्वन्तरेषु मनवस्तद्वंश्या ऋषयः सुराः ॥
भवन्ति चैव युगपत्सुरेशाश्चानु ये च तान् ॥२४॥
एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः । तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः ॥२५॥

वत्सर ॥ १४ ॥ हे संसारी जनों ! जो सृष्टिके कार्यकी शक्तियोंको अपनी कलात्मिका शक्तिसे कार्यमें प्रवृत्त करते हुए बराबर आकाशमें चलते रहते और मनुष्योंके अज्ञानको दूर करते हैं । तुम विविध सामग्रियें जुटाकर यज्ञ करते हुए उन महाभूतस्वरूप और पंचसंवत्सरप्रवर्तक सूर्यभगवानकी पूजा करो ॥ १५ ॥ इसपर विदुर बोले—पितरों, देवताओं और मनुष्योंकी परमायु आपने बतायी । अब हमको उन लोगोंकी गति बताइए, जो ज्ञानी इस कल्प (तथा त्रिलोकी) के बाहर और-और लोकोंमें रहते हैं ॥ १६ ॥ आप अच्छी तरह कालकी गतिको जानते हैं । सभी धैर्यशाली लोग अपनी योगदृष्टिसे समस्त विश्वको देख लेते हैं ॥ १७ ॥ मैत्रेयने कहा—हे विदुर ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि, ये चार युग हैं । देवताओंके बारह हजार वर्षोंमें युगसंध्या और संध्यांश सहित ये चारों युग बीत जाते हैं ॥ १८ ॥ देवताओंके चार हजार वर्षका सत्ययुग होता है । इस सत्ययुगके आदि और अन्तका परिमाण चार-चार सौ वर्षका होता है । देवताओंके तीन हजार वर्षका त्रेता युग होता है । इसके आदि-अन्तका समय तीन-तीन सौ वर्षका होता है । देवताओंके दो हजार वर्षका कलियुग होता है और इसके आदि-अन्तका परिमाण सौ-सौ वर्षका माना जाता है ॥ १९ ॥ ऊपर संध्या (युगके आदिमें) और संध्यांश (युगके अन्त) के जितने सौ वर्ष बताये गये हैं, उनके बीचका समय युगका होता है । समयके विशेषज्ञ उन्हीं समयोंमें अपने धार्मिक कार्योंको सम्पन्न करते हैं ॥ २० ॥ सत्ययुगमें धर्मके चारों चरण विद्यमान रहते हैं । अतएव इस युगके सभी लोग पूर्ण धर्मात्मा होते हैं । युगधर्मके अनुसार प्रत्येक युगमें धर्मके एक-एक चरण कम होते जाते हैं ॥ २१ ॥ त्रिलोकोंके बाहर महर्लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त देवताओंकी हजार चतुर्युगियोंसे ब्रह्माका एक दिन होता और इतने ही समयकी रात भी होती है । हे तात विदुर ! इस रातमें ही ब्रह्माजी सोते हैं ॥ २२ ॥ रात बीतनेपर ब्रह्माजी उठकर अपना सृष्टिकार्य प्रारम्भ करते हैं । ब्रह्माजीके एक दिनमें चौदह मनु अपना कार्यकाल समाप्त कर लेते हैं ॥ २३ ॥ उन चौदह मनुओंमें प्रत्येक मनुका कार्यकाल इकहत्तर चतुर्युगीसे भी कुछ अधिक समयका होता है । प्रत्येक मन्वन्तरमें मनु, मनुके वंशज राजे, सप्तर्षि, देवराज इन्द्र और उनके अनुयायी गंधर्व ये सब एक साथ उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥ तीनों लोकोंमें ब्रह्माजीके प्रतिदिनके सृजनकार्यमें यही क्रम

मन्वन्तरेषु भगवान् बिभ्रत्सत्त्वं स्वमूर्तिभिः । मन्वादिभिरिदं विश्वमवत्युदितपौरुषः ॥२६॥
तमोमात्रामुपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः । कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये ॥२७॥
तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः । निशायामनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम् ॥२८॥
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या सङ्कर्षणाग्निना । यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ॥२९॥
तावत्त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः । प्लावयन्त्युत्कटाटोपचण्डवातेरितोर्मयः ॥३०॥
अन्तः स तस्मिन् सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः । योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः ॥३१॥
एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः । अपेक्षितमिवास्यापि परमायुर्वयःशतम् ॥३२॥
यदर्धमायुषस्तस्य परार्धमभिधीयते । पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते ॥३३॥
पूर्वस्यादौ परार्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् । कल्पो यत्राभवद्ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः ॥३४॥
तस्यैव चान्ते कल्पोऽभूद्यं पाद्ममभिचक्षते । यद्धरेर्नाभिसरस आसील्लोकसरोरुहम् ॥३५॥
अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्यापि भारत । वाराह इति विख्यातो यत्रासीत्सूकरो हरिः ॥३६॥
कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते । अव्याकृतस्यानन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः ॥३७॥
कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः । नैवेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिनाम् ॥३८॥

चालू रहता है और उनकी इस सृष्टिमें प्राणी अपने-अपने कर्मके अनुसार तिर्यक्, मनुष्य, पितर तथा देवताओंकी योनिमें जन्म लेते हैं ॥ २५ ॥ प्रत्येक मन्वन्तरमें भगवान सत्त्वगुणका आश्रय लेकर अपनी मूर्तिसे ही मनु आदिके रूपमें अवतार लेकर अपने पुरुषार्थका प्रदर्शन करते हुए जगत्की रक्षा करते हैं ॥ २६ ॥ दिनके बाद रातके समय ब्रह्माजी कुछ तमोगुणका अंश ग्रहण करके सृष्टिकार्य रोककर सो जाते और उस समय कालशक्तिकी प्रेरणासे यह समस्त विश्व उन ब्रह्मामें ही लीन हो जाता है ।२७। ऐसी अवस्थामें जब कि सूर्य और चन्द्रमा नहीं रहते तो उस घोर अन्धकारके समय भूर्लोक आदि तीनों लोक भी उन्हीं भगवानमें लीन हो जाते हैं ॥ २८ ॥ उस समय शेषभगवानके मुँहसे निकली हुई आगकी ज्वालामें तीनों लोक जलने लग जाते हैं। उस ज्वालासे संतप्त होकर महर्लोकके निवासी भृगु आदि मुनि महर्लोकसे जनलोकको चले जाते हैं ॥ २९ ॥ उस जलते हुए त्रिभुवनमें कल्पान्तके समय समुद्र बढ़ जाता और वायु बड़े वेगसे चलने लगती है। तब वायुमें प्रबल झोंकोंसे उठती हुई समुद्रकी ऊँची-ऊँची तरंगें त्रिलोकीको डुबा देती हैं ॥ ३० ॥ उस समय योगनिद्राके वशीभूत होकर भगवान उस जलके भीतर शेषशय्यापर शयन करते रहते हैं और जनलोकवासी भृगु आदि मुनि उनकी स्तुति करने लग जाते हैं ॥ ३१ ॥ ब्रह्मदेवकी वह सौ वर्षकी सबसे लम्बी आयु भी दिन-रातके पेटमें पड़कर व्यतीत हो जाती है ॥ ३२ ॥ ब्रह्माकी आधी आयु 'परार्ध' कहलाती है। सो पहला परार्ध बीत चुका, अब दूसरा परार्ध विद्यमान है ॥३३॥ प्रथम परार्धके पहले ब्रह्मकल्प नामका एक महाकल्प हुआ था। जिसमें उत्पन्न ब्रह्मा वेदके मूर्तिमान् स्वरूप थे, इसलिए वे 'शब्दब्रह्म' कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥ उस ब्रह्मकल्पके बाद पाद्मकल्प हुआ। जिसमें नारायणके नाभिसरोवरसे विश्व-सृष्टिका भण्डारस्वरूप कमल उत्पन्न हुआ था ॥ ३५ ॥ हे विदुर ! यह मैंने तुम्हें द्वितीय कल्पकी बात बतायी, जिसे वाराह कल्प कहते हैं। इसमें भगवानने वाराह (सूअर) अवतार लिया था ॥ ३६ ॥ इस प्रकार कालके अनुसार सृष्टि और आयुका परिमाण बताकर अब कालके परिमाण रहित तत्त्वोंका वर्णन करते हैं—यह समय द्विपरार्ध कहलाता है। यह विकाररहित, अनन्त और अनादि है। यह जगत्के आत्मास्वरूप भगवान्का केवल एक निमेषमात्र है ॥ ३७ ॥ यद्यपि काल सब कुछ करनेकी सामर्थ्य रखता है, फिर भी उन असीम और परिपूर्ण नारायणपर इनका कोई वश नहीं चलता। इसकी पहुँच कामिनी-कांचन तथा देह-देहकी ममतामें मरने-पचनेवाले मनुष्यों तक ही सीमित रहती है ॥ ३८ ॥

विकारैः सहितो युक्तैर्विशेषादिभिरावृतः । आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः ॥३९॥
दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् । लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः ॥४०॥
तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् । विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

इति ते वर्णितः क्षत्तः कालाख्यः परमात्मनः । महिमा वेदगर्भोऽथ यथास्राक्षीन्निबोध मे ॥१॥
ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत् । महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः ॥२॥
दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत । भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत् ॥३॥
सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः । सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः ॥४॥
तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः । तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥५॥
सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः । क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुमुपचक्रमे ॥६॥
धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः । सद्योऽजायत तन्मन्युः कुमारो नीललोहितः ॥७॥
स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः । नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो ॥८॥

सोलह विकारों और आठ प्रकृतियोंसे बने इस ब्रह्माण्डका विस्तार पचास करोड़ योजन है और उत्तरोत्तर दसगुने अधिक बड़े पृथिवी आदि सात आवरणोंसे आवृत है ॥ ३९ ॥ यह विशाल ब्रह्माण्ड उन परमपुरुष परमात्मामें परमाणुके सदृश दिखाई देता है और उनके शरीरमें ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड भरे पड़े हैं ॥ ४० ॥ उस परमात्माको लोग सब कारणोंके कारण विष्णुभगवान, परम धाम (तेज) और अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म कहते हैं ॥ ४१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(सृष्टिका विस्तार) मैत्रेय बोले—हे विदुर! इस तरह मैंने कालस्वरूप परमात्माकी महिमाका वर्णन किया। अब मैं यह बताऊँगा कि वेदगर्भ ब्रह्माने सृष्टिका कार्य कैसे सम्पन्न किया ॥ १ ॥ पहले उन्होंने पाँच अविद्यावृत्तियोंकी सृष्टि की। जैसे—तम अर्थात् स्वरूपाप्रकाश, मोह (देहादिकी अहंकारबुद्धि) महामोह (भोगेच्छा) तामिस्र (अभिलषित भोगोंके न प्राप्त होनेपर क्रोध) अन्धतामिस्र (भोग तथा भोगके साधनोंके नष्ट हो जानेपर अपने आपको ही मृतक समझ लेनेकी भावना) इनमें भी पहले अन्धतामिस्रकी ही रचना हुई ॥ २ ॥ किन्तु इस पापमयी सृष्टिको देखकर उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने फिर भगवानका ध्यान करके अपना मन पवित्र किया और तब और-और वस्तुओंकी रचना की ॥ ३ ॥ इस सिलसिलेमें ब्रह्माने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार इन चार ऋषियोंको उत्पन्न किया। ये सभी पूर्ण ब्रह्मचारी थे ॥ ४ ॥ उन्हें उत्पन्न करनेके बाद ब्रह्माने उन सबसे कहा—हे पुत्रों! तुम लोग सन्तान उत्पन्न कर-करके प्रजाकी सृष्टि करो। लेकिन ये लोग जन्मसे ही मोक्षके अभिलाषी और भगवानके भक्त थे। इसलिए इन्होंने सन्तानकी उत्पत्ति और प्रजाकी सृष्टिके कार्यसे अनिच्छा प्रकट की ॥ ५ ॥ अपनी आज्ञाकी अवहेलना करनेवाले पुत्रों द्वारा इस प्रकार तिरस्कृत होनेपर ब्रह्माको बड़ा क्रोध आया। किन्तु उन्होंने क्रोधको रोकना चाहा ॥ ६ ॥ यद्यपि अपनी बुद्धिसे उन्होंने क्रोधको रोकनेकी चेष्टा की, लेकिन वह रुका नहीं और उनकी भौंहोंके मध्यभागसे नीललोहितके रूपमें प्रकट हो ही गया ॥७॥ देवताओंके पूर्वज नीललोहित (भगवान शिव) रोने लगे और उन्होंने कहा—'हे ब्रह्मन्! आप मेरा नामकरण करिए और मेरे रहनेका स्थान

इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन् । अभ्यधाद्भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते ॥९॥
यदरोदीः सुरश्रेष्ठ सोद्वेग इव बालकः । ततस्त्वामभिधास्यन्ति नाम्ना रुद्र इति प्रजाः॥१०॥
हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही । सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे ॥११॥
मन्युर्मनुर्महिनसो महाञ्छिव ऋतध्वजः । उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः ॥१२॥
धीर्वृत्तिरुशनोमा च नियुत्सर्पिरिलाम्बिका । इरावती सुधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र ते स्त्रियः ॥१३॥
गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः । एभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः ॥१४॥
इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवान्नीललोहितः । सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः ॥१५॥
रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत् । निशाम्यासंख्यशो यूथान् प्रजापतिरशङ्कत ॥१६॥
अलं प्रजाभिः सृष्टाभिरीदृशीभिः सुरोत्तम । मया सह दहन्तीभिर्दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः ॥१७॥
तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम् । तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान् ॥१८॥
तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् । सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥१९॥

मैत्रेय उवाच

एवमात्मभुवाऽऽदिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम् । बाढमित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम् ॥२०॥
अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे । भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः ॥२१॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥२२॥
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः । प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥२३॥

बताइए ॥८॥ उनकी बातें सुनकर ब्रह्माजी बोले—तुम रोओ नहीं । मैं शीघ्र ही तुम्हारा नामकरण करके तुम्हारे रहनेका स्थान बताता हूँ ॥ ९ ॥ हे सुरश्रेष्ठ ! क्योंकि तुम जन्मते ही बच्चोंकी तरह उद्वेगके साथ रोने लगे थे । इसलिए तुम्हें लोग 'रुद्र' कहेंगे ॥ १० ॥ हृदय, इन्द्रियाँ, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा तथा तप, इनको मैंने पहलेहीसे तुम्हारे रहनेके लिए बना रखा है ॥ ११ ॥ रुद्रके सिवाय तुम्हारे ये ग्यारह नाम भी होंगे—मन्यु, मनु, महिनस, महान्, शिव, ऋतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत ॥ १२ ॥ हे रुद्र ! धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा, दीक्षा और रुद्राणी, ये ग्यारह तुम्हारी स्त्रियें होंगी ॥ १३ ॥ तुम मेरे बताये नाम, स्थान और स्त्रियोंको अंकीकार करके बहुतसी प्रजाओंकी सृष्टि करो । क्योंकि तुम प्रजापति हो ॥ १४ ॥ ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर रुद्रभगवानने अपने ही सदृश बलवान, आकृतिमान (नीललोहितत्वको लिये हुए) और (तीक्ष्ण) स्वभावकी सन्तानोंको उत्पन्न किया ॥ १५ ॥ रुद्रके द्वारा उत्पन्न अगणित रुद्रगण जब चारों ओरसे संसारको ही हड़पने लगे, तब ब्रह्माजीको संशय हुआ और उन्होंने रुद्रसे कहा—॥ १६ ॥ हे सुरश्रेष्ठ ! तुम ऐसी प्रजा न उत्पन्न करो। ये तो अपने डरावने नेत्रोंसे मुझे और मेरी सृष्टिको जैसे भस्म किये देती हैं ॥ १७ ॥ तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम जाकर तप करो । उससे सबको सुख मिलेगा और तपोबलसे तुम वैसे ही विश्वकी सृष्टि करनेमें समर्थ होओगे, जैसा कि पहले किया था ॥ १८ ॥ इसके अतिरिक्त सर्वोत्कृष्ट ज्योतिष्मान् और घट-घटमें रहनेवाले नारायण भी तपस्या द्वारा ही सुगमतासे प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १९ ॥ मैत्रेय बोले—इस प्रकार ब्रह्माकी आज्ञा सुनकर रुद्रभगवानने वाणीपति ब्रह्माकी परिक्रमा की और तप करनेके लिए वनको चले गये ॥ २० ॥ इसके बाद भगवानकी शक्तिसे सम्पन्न ब्रह्माजी फिर सृष्टिकार्य करनेका विचार करने लगे और उनके शरीरसे ये दस पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २१ ॥ मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद ॥२२॥ इनमें ब्रह्माजीकी गोदसे नारद, अँगूठेसे दक्ष प्रजापति, श्वाससे वसिष्ठ, त्वचासे भृगु, हाथसे क्रतु—॥ २३ ॥

पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोॠषिः । अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥२४॥
धर्मः स्तनाद्दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम् । अधर्मः पृष्ठतो यस्मान्मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥२५॥
हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात् । आस्याद्वाक्सिन्धवो मेढ्रान्निर्ऋतिः पायोरघाश्रयः २६
छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः । मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत् ॥२७॥
वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः । अकामां चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम् ॥२८॥
तमधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः । मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात्प्रत्यबोधयन् ॥२९॥
नैतत्पूर्वैः कृतं त्वद्य न करिष्यन्ति चापरे । यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः ॥३०॥
तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो । यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते ॥३१॥
तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा । आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ॥३२॥
स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन् । प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा ।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद्विदुस्तमः ॥३३॥
कदाचिद् ध्यायतः स्रष्टुर्वेदा आसंश्चतुर्मुखात् । कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा॥३४॥
चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रमुपवेदनयैः सह । धर्मस्य पादाश्चत्वारस्तथैवाश्रमवृत्तयः ॥३५॥

विदुर उवाच

स वै विश्वसृजामीशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत् । यद्यद्येनासृजद्देवस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥३६॥

नाभिसे पुलह, कानोंसे पुलस्त्य ऋषि, मुखसे अंगिरा, नेत्रोंसे अत्रि और मनसे मरीचि उत्पन्न हुए ॥ २४ ॥ ब्रह्माजीके दहिने स्तनसे धर्म उत्पन्न हुआ, जिसमें नारायणका निवास रहता है । उनकी पीठसे अधर्मकी उत्पत्ति हुई और अधर्मसे संसारको भयभीत करनेवाली मृत्युका जन्म हुआ ॥ २५ ॥ ब्रह्माजीके हृदयसे कामदेव, भौंहोंसे क्रोध, निचले होंठसे लोभ, मुखसे वाणी, लिंगसे समुद्र और उनकी गुदासे पापोंके केन्द्र राक्षस उत्पन्न हुए ॥ २६ ॥ उन चतुराननकी छायासे कर्दम प्रजापति उत्पन्न हुए, जो देवहूतिके पति थे । उनके मन और उनकी देहसे समस्त विश्व उत्पन्न हुआ ॥ २७ ॥ इसके बाद ब्रह्माजीने सरस्वती नामकी एक सुन्दरी कन्याकी सृष्टि की । उसके मादक सौन्दर्यसे ब्रह्माजीका मन चलायमान हो गया और वे उसे कामभावसे चाहने लगे ॥ २८ ॥ इस प्रकार अधर्मकी ओर झुकते देखकर मरीचि आदि उनके पुत्रोंने प्रेमके साथ समझाते हुए कहा—'हे पिता ! अपनी पुत्रीके साथ इस प्रकार कामुकताका व्यवहार न कभी किसीने किया है और न करेगा ॥ २९ ॥ ॥ ३० ॥ हे जगद्गुरो ! इस प्रकारका निन्दित कर्म बड़े-बड़े तेजस्वियोंको भी कलंकित कर देता है । फिर आप तो सबके पिता हैं । संसारके सभी प्राणी आपके चरित्रका अनुगमन करते हैं और इसीसे उनका कल्याण होता है । जिसने अपनी शक्तिसे इस विश्वकी रचना की है, उन महामहिम भगवानको प्रणाम है । आप अपने धर्मकी रक्षा करें ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ सामने उपस्थित अपने पुत्रोंकी बात सुनकर ब्रह्माजीको बड़ी लज्जा आयी और उन्होंने मारे लाजके अपना वह शरीर त्याग दिया । उसको सब दिशाओंने कुहासेके रूपमें ग्रहण कर लिया, जो आज भी विद्यमान है ॥ ३३ ॥ उसके बहुत दिनों बाद ब्रह्माजी यह सोचने लगे कि ये सभी लोक किस प्रकार वैसे बना दिये जायँ, जैसे कि पूर्व कल्पमें थे ॥ ३४ ॥ उसी समय उनके चारों मुखोंसे चारों वेद, उपवेद, ऋत्विजोंके कर्म, यज्ञ-याग, नीतिशास्त्र, धर्मके चारों चरण एवं वृत्तियों सहित चारों आश्रम उत्पन्न हो गये ॥३५॥ विदुर बोले—हे तपोधन मैत्रेय ! उन विधाताने वेद आदिकी जिस तरह उत्पत्ति की, वह वृत्तान्त तो आपने बताया । अब हमको यह बताइए कि उनके किस मुखसे किस वस्तुकी उत्पत्ति हुई

मैत्रेय उवाच

ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः । शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात् ॥
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः । स्थापत्यं चासृजद्वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः ॥३८॥
इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः । सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥३९॥
षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात्पुरीष्यग्निष्टुतावथ । आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम् ॥४०॥
विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च । आश्रमांश्च यथासंख्यमसृजत्सह वृत्तिभिः ॥४१॥
सावित्रं प्राजापत्यं च ब्राह्मं चाथ बृहत्तथा । वार्ता सञ्चयशालीनशिलोञ्छ इति वै गृहे ॥४२॥
वैखानसा बालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने । न्यासे कुटीचकः पूर्वं बह्वोदो हंसनिष्क्रियौ॥४३॥
आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च । एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य दह्रतः ॥४४॥
तस्योष्णिगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः । त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः ॥
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत् । स्पर्शस्तस्याभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः ॥४६॥

॥३६॥ मैत्रेयने कहा—हे विदुरजी ! ब्रह्माजीके पूर्व मुखसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शस्त्र (होताके द्वारा किये जानेवाले कर्म), अध्वर्युओंके कर्तव्य कर्म, स्तुतियोग्य ऋचाओंका समुदाय, उद्गाताओंके गाने योग्य मंत्रों और प्रायश्चित्तात्मक ब्राह्म कर्म उत्पन्न हुए ॥ ३७ ॥ उनके दक्षिण मुखसे आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र), धनुर्वेद (आयुधविद्या), गान्धर्व (गायन) विद्या और स्थापत्य (विश्वकर्माका शास्त्र) कर्म उत्पन्न हुआ ॥ ३८ ॥ इतिहास (महाभारत) पञ्चम वेद माना जाता है। उसे और पुराणोंको ब्रह्माजीने अपने चारों मुखोंसे उत्पन्न किया ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार उनके पूर्वमुखसे षोडशी और उक्थ, दक्षिण मुखसे पुरीषी (अर्थात् नयन) तथा अग्निनष्टोम, पश्चिम मुखसे आप्तोर्याम तथा अतिरात्र और उत्तर मुखसे वाजपेय तथा गोसव नामके यज्ञविशेष उत्पन्न हुए ॥ ४० ॥ इसी तरह ब्रह्माजीने क्रमशः पूर्व आदि अपने चारों मुखोंसे विद्या (शुचिता) दान (दया) तप एवं सत्य, धर्मके इन चारों चरणों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास वृत्तियों समेत इन चार आश्रमोंको उत्पन्न किया ॥ ४१ ॥ इसके बाद उन्होंने अपने पूर्व आदि चारों मुखोंसे चार प्रकारका ब्रह्मचर्य जैसे—सावित्र (उपनयनके दिनसे तीन दिनतक गायत्रीका अध्ययन करनेके लिये तीन दिनका अनुष्ठान), प्राजापत्य (एक वर्षतक वेदाध्ययनपूर्वक रखा जानेवाला ब्रह्मचर्य व्रत), ब्राह्म (वेदाध्ययन-कालतक किया जानेवाला ब्रह्मचर्य व्रत) और बृहत् (आजन्म पालन किया जानेवाला ब्रह्मचर्य व्रत) और चार प्रकारकी गृहस्थवृत्तियें—वार्ता (शास्त्रोक्त कृषि आदि जीविकाके कार्य), संचय (यज्ञ-याग आदि करानेका कार्य),शालीन (अयाचित वृत्ति), शिलोञ्छ (फसल कटनेके बाद खेतमें गिरे हुए दानोंको चुनना) ये वृत्तियें उत्पन्न हुईं ॥ ४२ ॥ इसी तरह वानप्रस्थियोंके भी चार भेद बनाये। जैसे–बैखानस (बिना जोते-बोये उपजे अन्नोंपर जीवन-निर्वाह करनेवाले), बालखिल्य (नवीन अन्न प्राप्त होनेपर पूर्वसंचित अन्नको त्याग देनेवाले), औदुम्बर (सबेरे जिस दिशापर दृष्टि पड़े, उधर ही से अन्न या फल-मूल लाकर जीवनयापन करनेवाले), फेनप (अपने आप गिरे हुए फल आदिपर जीविका चलानेवाले)। ये चार संन्यासवृत्तियें भी ब्रह्माजीके चारों मुखोंसे उत्पन्न हुई हैं। जैसे—कुटीचक (अपने आश्रम कर्मको प्रधान मानकर तदनुसार आचरण करनेवाले), बह्वोद (कर्मकी अपेक्षा ज्ञानको प्रधान माननेवाले), हंस (ज्ञानके अभ्यासमें तत्पर) और निष्क्रिय (तत्त्वज्ञान प्राप्त किये हुए) ॥ ४३ ॥ इसी तरह ब्रह्माजीके मुखोंसे आन्वीक्षिकी (अध्यात्मशास्त्र), त्रयी (स्वर्ग आदि फल देने और धर्म, अर्थ तथा कामको पूर्ण करनेवाली विद्या), वार्ता (जीविका सम्पादन करनेवाली विद्या), दण्डनीति (शासन कार्यको बतानेवाली विद्या) तथा भूर्भुवःस्वः आदि व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं। इसी प्रकार ब्रह्माजीके हृदयरूपी आकाशसे प्रणव (ओंकार), उनके रोयेंसे उष्णिक्, त्वचासे गायत्री, मांससे त्रिष्टुप्, स्नायुसे अनुष्टुप्, अस्थिसे जगती, मज्जासे पंक्ति और प्राणोंसे बृहती नामके छन्दकी उत्पत्ति

ऊष्माणमिन्द्रियाण्याहुरन्तस्था बलमात्मनः । स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः ॥४७॥
शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परः । ब्रह्मावभाति विततो नानाशक्त्युपबृंहितः ॥४८॥
ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे । ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम् ॥४९॥
ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव । अहो अद्भुतमेतन्मे व्यापृतस्यापि नित्यदा ॥५०॥
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम् । एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा ॥५१॥
कस्य रूपमभूद् द्वेधा यत्कायमभिचक्षते । ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥५२॥
यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् । स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः ॥
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे । स चापि शतरूपायां पञ्चापत्यान्यजीजनत् ॥५४॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत । आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति सत्तम ॥५५॥
आकूतिं रुचये प्रादात्कर्दमाय तु मध्यमाम् । दक्षायादात्प्रसूतिं च यत आपूरितं जगत् ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप । भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः ॥१॥

हुई । इसी रीतिसे 'क' से 'म' तक स्पर्श (कादयो मावसनाः स्पर्शाः) संज्ञक अक्षर ब्रह्माके जीवसे और 'अ आ' आदि स्वरके अक्षर उनके शरीरसे उत्पन्न हुए ॥ ४४–४६ ॥ उनकी इन्द्रियोंसे 'श ष स ह' ऊष्मासंज्ञक अक्षर उत्पन्न हुए । उनके ही बलसे 'य र ल व' ये अन्तःस्थसंज्ञक वर्ण उत्पन्न हुए । उन प्रजापतिके विहारसे निषाद, ऋषभ, गान्धार आदि सात (संगीतात्मक) स्वर अक्षर उत्पन्न हुए ॥४७॥ हे तात ! यह मैंने तुम्हें उस व्यक्त और अव्यक्त ब्रह्माकी शब्दमूर्तिका क्रम बताया । वैखरीरूपसे व्यक्त और प्रणवरूपसे अव्यक्त उन ब्रह्माजीको उस परिपूर्ण तथा सर्वशक्तिमान् परब्रह्मका बोध बना रहता है ॥ ४८ ॥ हे विदुर ! उन ब्रह्माने पूर्वकथित नीहारात्मक शरीरको त्यागकर दूसरा शरीर धारण किया और फिर सृष्टिकार्य करनेका विचार करने लगे । पहले उन्होंने जिन महाशक्तिमान् मरीचि, वसिष्ठ आदि ऋषियोंकी सृष्टि की थी, वे सृष्टिका विस्तार नहीं कर सके ॥ ४९ ॥ उन्होंने सोचा कि यद्यपि मैं नित्य सृष्टिके विस्तारकी चेष्टा करता रहता हूँ, फिर भी उसका संतोषजनक विस्तार नहीं होता ॥ ५० ॥ यह प्रजा जो नहीं बढ़ रही है, मैं समझता हूँ कि इसमें दैव बाधा डाल रहा है । दैवके विषयमें वे इस प्रकार झींक ही रहे थे ॥ ५१ ॥ इसी समय ब्रह्माजीका शरीर दो भागोंमें विभक्त हो गया और उन दोनों भागोंसे एक स्त्री और एक पुरुष, इनका जोड़ा उत्पन्न हो गया ॥ ५२ ॥ उसमें पुरुष स्वायम्भुव मनु और स्त्री उनकी रानी शतरूपा हुई ॥ ५३ ॥ अब मैथुनधर्म द्वारा प्रजा बढ़ने लगी । स्वायम्भुव मनुने शतरूपासे पाँच सन्तानें उत्पन्न कीं ॥ ५४ ॥ जिनमें दो पुत्र और तीन कन्यायें थीं । जिनके नाम थे—प्रियव्रत, उत्तानपाद, आकूति, देवहूति और प्रसूति ॥ ५५ ॥ स्वायम्भुव मनुने आकूतिका मरीचि प्रजापति, देवहूतिका कर्दम प्रजापति और प्रसूतिका दक्ष प्रजापतिके साथ विवाह कर दिया । जिनकी उत्पन्न की हुई सन्तानोंसे सारा संसार भरा हुआ है ॥ ५६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(वाराहभगवानके अवतारकी कथा) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! महर्षि मैत्रेयके मुखसे इस परम पुनीत कथाको सुनकर भगवान कृष्णकी कथाके रसिक विदुरने पूछा—॥ १ ॥

विदुर उवाच

स वै स्वायम्भुवः सम्राट्प्रियः पुत्रः स्वयम्भुवः । प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने ॥२॥
चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम । ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ ॥३॥
श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः ।
यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥४॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम् ।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट ॥५॥

मैत्रेय उवाच

यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायम्भुवो मनुः । प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भमभाषत ॥६॥
त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद् वृत्तिदः पिता । अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत् ॥७॥
तद्विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु । यत्कृत्वेह यशो विष्वगमुत्र च भवेद्गतिः ॥८॥

ब्रह्मोवाच

प्रीतस्तुभ्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीश्वर । यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनार्पितम् ॥९॥
एतावत्यात्मजैर्वीर कार्या ह्यपचितिर्गुरौ । शक्त्याप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः ॥१०॥
स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः । उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज ॥११॥
परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप । भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति ॥१२॥
येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः । तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम् ॥१३॥

हे महामुनि मैत्रेय ! ब्रह्माके प्रिय पुत्र और सम्राट् स्वायम्भुव मनुने प्रिय पत्नी शतरूपाको पानेके अनन्तर क्या किया ? ॥ २ ॥ आप हमें सर्वप्रथम उन राजर्षि और भगवद्भक्त राजा स्वायम्भुव मनुका चरित्र सुनाइए। क्योंकि मेरी उनपर अपार श्रद्धा है ॥ ३ ॥ बहुत दिनोंतक परिश्रम करके विद्यार्जन करनेवाले विद्वानोंकी विद्याकी सार्थकता इसीमें है कि वे भगवद्भक्तोंकी पुनीत गाथाओंको कहें-सुनें। इसीसे संसारका भला होता है और बड़े-बड़े कवि भी उन्हींकी सराहना करते हैं। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—विनीत और नारायणके चरणोंके उपधान (आश्रय=तकिया) स्वरूप भगवद्भक्त विदुरकी बातें सुनकर मैत्रेय मुनि गद्गद हो गये । भगवानकी कथाके प्रति उमंग उमड़ पड़ा और शरीरमें रोमांच हो आया। ऐसी विह्वल दशामें वे बोले—॥ ४ ॥ ५ ॥ स्वायम्भुव मनु और शतरूपाका जन्म और विवाह हो जानेके अनन्तर मनुने हाथ जोड़कर श्री ब्रह्माजीसे कहा—॥ ६ ॥ आप ही सब प्राणियोंके जन्मदाता और वृत्ति देनेवाले पिता हैं। फिर भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि मैं किस तरहसे आपकी प्रजाकी सेवा कर सकता हूँ ॥ ७॥ आपको प्रणाम है। आप मुझे बताइये कि अपनी शक्तिभर मैं उनका क्या उपकार करूँ, जिससे संसारमें मुझे यश मिले और परलोकमें सद्गति प्राप्त हो ॥ ८ ॥ ब्रह्माजी बोले—हे प्रिय पुत्र ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं इसलिए तुमपर प्रसन्न हूँ कि तुमने निष्कपट भावसे मुझसे आज्ञा माँगी है और अपने आपको मेरे हाथों सौंप दिया है ॥ ९ ॥ हे वीर ! सन्तानका एकमात्र कर्तव्य है कि वह बड़ी नम्रता और लगनके साथ अपने गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करे ॥ १० ॥ अब तुम इस शतरूपासे अपने ही सदृश गुणवान सन्तान उत्पन्न करके धर्मपूर्वक पृथ्वीका शासन करो और यज्ञों द्वारा भगवानकी आराधना करते रहो ॥ ११ ॥ प्रजाकी रक्षा ही मेरी सबसे बड़ी सेवा होगी और तुम्हारे इस कार्यसे नारायण भी प्रसन्न हो जायँगे ॥ १२ ॥ यज्ञस्वरूप जनार्दन भगवान जिनपर नहीं प्रसन्न होते, उनका कोई काम

मनुरुवाच

आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयमरिसूदन । स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो ॥१४॥
यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि । अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम् ॥१५॥

मैत्रेय उवाच

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथासन्नामवेक्ष्य गाम् । कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम् ॥१६॥
सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता । अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः ।
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे ॥१७॥
इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ । वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः ॥१८॥
तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत । गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत् ॥१९॥
मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह । दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा ॥२०॥
किमेतत्सौकरव्याजं सत्त्वं दिव्यमवस्थितम् । अहो बताश्चर्यमिदं नासाया मे विनिःसृतम् ॥२१॥
दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः । अपि स्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः ॥२२॥
इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः । भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः ॥२३॥
ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान् । स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः ॥२४॥
निशम्य ते घर्घरितं स्वखेदक्षयिष्णु मायामयसूकरस्य ।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन् स्म ॥२५॥

नहीं बनता । नारायणको प्रसन्न न रखना अपनी आत्माका ही तिरस्कार करना है ॥ १३ ॥ इसपर मनु बोले—हे पापनाशन ! हम आपकी आज्ञा पालन करनेको उद्यत हैं । किन्तु आप हमारे और हमारी प्रजाके रहनेका कोई स्थान तो बताइए ॥ १४ ॥ क्योंकि अभी तो वह सारी पृथ्वी जलमग्न है, जहाँ जगत्के सब जीव रहा करते थे । आप कृपा करके इसके उद्धारका कोई उपाय बताइए ॥ १५ ॥ मैत्रेय कहते हैं—मनुकी बातें सुनकर ब्रह्माजी विचार करने लगे । उन्होंने योगदृष्टिसे देखा तो वास्तवमें सारी पृथ्वीको जलमें मग्न पाया । अब वे यह सोचने लगे कि मैं किस उपायसे इस पृथ्वीका उद्धार करूँ ॥ १६ ॥ फिर वे विचार करने लगे कि नारायणने हमें सृष्टि करनेकी आज्ञा तो दे दी, किन्तु मेरे सृष्टिकार्यके पहले ही से पृथ्वी जलमें डूबी हुई है, अब क्या किया जाय ॥ १७ ॥ अन्तमें उन्होंने यही निश्चय किया कि मैं जिनके हृदयसे प्रकट हुआ हूँ, वे ही नारायण कोई रास्ता निकालेंगे । हे अनघ विदुर ! वे इस प्रकारका सोच-विचार कर ही रहे थे कि एकाएक उनकी नासिकासे एक छोटा-सा वराह निकल पड़ा । वह अंगूठे भर लम्बा था ॥ १८ ॥ हे भारत ! यह एक विचित्र बात हुई कि ब्रह्माजीके देखते-देखते वह आकाशमें स्थित वराहशिशु हाथीके बराबर हो गया ॥ १९ ॥ अब मरीचि आदि विप्रों, सनत्कुमार आदि कुमारों और मनुके साथ विद्यमान ब्रह्मा वह शूकरस्वरूप देखकर विचार करने लगे कि—॥ २० ॥ वराहरूपमें यह कौन-सा दिव्य प्राणी मेरे समक्ष उपस्थित है । और सबसे अधिक विस्मयकी बात तो यह है कि यह मेरी नासिकासे उत्पन्न हुआ है ॥ २१ ॥ और फिर जब यह पैदा हुआ तब अंगूठे बराबर था, किन्तु हमारे देखते-देखते यह चट्टान जैसा लम्बा-चौड़ा हो गया । मुझे भुलावेमें डालनेके लिए कहीं वे यज्ञपुरुष भगवान ही तो नहीं इस रूपमें अवतरे हैं ! ॥ २२ ॥ ब्रह्माजी अपने पुत्रोंके साथ इस प्रकारकी तर्कनायें कर ही रहे थे कि वे यज्ञपुरुष भगवान एक बड़े पर्वत सरीखे बृहत्काय होकर गरजने लगे ॥ २३ ॥ उन नारायणके गर्जनसे सभी दिशायें गूँज उठीं । जिससे ब्रह्माजी और मरीचि आदि महर्षि बड़े प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥ अपने खेदको दूर करनेवाले उन नारायणके उस मायामय वराहवपुकी गर्जना सुनकर जन, तप और सत्यलोकके निवासी ऋषि,

तेषां सतां वेदवितानमूर्तिर्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम् ।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश ॥२६॥
उत्क्षिप्तवालः खचरः कठोरः सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक् ।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्र ईक्षाज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः ॥२७॥
घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन् क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः ।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्यामुद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत्कम् ॥२८॥
स वज्रकूटाङ्गनिपातवेगविशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान् ।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्तश्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ॥२९॥
खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप उत्पारपारं नृपते रसायाम् ।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ॥३०॥
स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां स उत्थितः संरुरुचे रसायाः ।
तत्रापि दैत्यं गदयाऽऽपतन्तं सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥३१॥
जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं स लीलयेभं मृगराडिवाम्भसि ।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥३२॥
तमालनीलं सितदन्तकोट्या क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाङ्ग ।
प्रज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकैर्विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम् ॥३३॥

यजुः और सामवेदके मंत्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥२५॥ वेदों द्वारा स्तूयमान वराह भगवान अपना गुणानुवाद सुनकर एक बार और गरजे। फिर देवताओंके कल्याणार्थ मतवाले हाथीके समान झूमते हुए वे उस प्रलयकालीन जलराशिमें घुस पड़े ॥ २६ ॥ जलमें घुसते समय उनकी पूँछ ऊपरको उठी हुई थी। वे जैसे आकाशमें उड़ रहे थे। उनके शरीरका लोम कठोर हो रहा था और चमड़ी खुरदुरी-सी थी। उनके दोनों दाँत उज्ज्वल थे और अपने खुरसे जैसे वे आकाशमण्डलके बादलोंको ठुकरा रहे थे। उनके नेत्र चमक रहे थे। पृथ्वीका उद्धार करनेवाले नारायण उस शूकरशरीरमें भी बड़े सुन्दर लग रहे थे ॥ २७ ॥ वे उस समय अपनी नाकसे सूँघ-सूँघकर पृथ्वीका पता लगा रहे थे। शूकर-रूपधारी वे यज्ञपुरुष यद्यपि कठोर थे और उनकी दृष्टि भी कराल मालूम पड़ती थी। फिर भी वहाँपर विद्यमान विप्रोंको उन्होंने बड़ी सौम्य दृष्टिसे देखा और जलमें घुस गये ॥ २८ ॥ जिस समय वे पानीमें कूदे तो ऐसा जान पड़ा कि मानों उस समुद्रका पेट फट गया है और जलके हिलोरका जो कोलाहल उठा, उससे मालूम पड़ा कि मानों वह अपना तरंगरूपी हाथ उठाकर चिल्ला रहा है कि 'हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा करो—मुझे बचाओ' ॥ २९ ॥ वे वराहभगवान अपने खुररूपी खुरपेसे समुद्रके जलको चीरते हुए अपार समुद्र तलमें चले गये और वहाँ उन्होंने उस पृथ्वीको देखा, जिसे सब प्राणियोंका आधार समझकर योगनिद्रामें शयन करते समय उन्होंने अपने उदरमें धारण किया था ॥ ३० ॥ अब उन्होंने पृथ्वीको अपने दोनों दाँतोंपर उठा लिया और रसातलसे ऊपरकी ओर चले। उस समय भी वे बड़े सुन्दर लग रहे थे। उसी समय उन्होंने हिरण्याक्ष दैत्यको अत्यन्त क्रुद्धभावसे हाथमें गदा लिये अपनी ओर आते देखा ॥ ३१ ॥ उसे अपने मार्गमें रुकावट डालते देखकर उन्हें बड़ा क्रोध आया और वाराह भगवानने उस महाबली दैत्यको उस जलमें ही इस तरह खेल-खेलमें मार डाला, जैसे सिंह हाथीको मार डालता है। उसके शरीरसे निकले हुए रुधिरसे भगवानका गण्डस्थल और मुख लाल हो गया। उस समय वे ऐसे लग रहे थे, जैसे कोई बड़ा भारी हाथी गेरूकी धरती खोदकर खड़ा हो ॥ ३२ ॥ हे अंग विदुर! तमालके सदृश नील शरीरवाले वे वाराहभगवान अपने सुश्वेत दाँतोंपर पृथ्वीको उठाये हुए दिखायी दिये। उस समय उनको साक्षात् नारायण जानकर वे सभी ऋषि हाथ

ऋषय ऊचुः

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥३४॥
रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥३५॥
स्रुक्तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नासयोरिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम् ॥३६॥
दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते ॥३७॥
सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धिस्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः ॥३८॥
नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवताद्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावितज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥३९॥
दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता विराजते भूधर भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥४०॥
त्रयीमयं रूपमिदं च सौकरं भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥४१॥

जोड़कर वैदिक मंत्रोंके सदृश वाक्योंसे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३३ ॥ वे सब एक स्वरसे बोले—हे अजित ! आपकी जय हो । हे वेदत्रयरूपधारिन् ! आपकी जय हो । हे यज्ञभावन ! आपकी जय हो । आपके लोमछिद्रोंमें सभी यज्ञ समाये हुए हैं । पृथ्वीका उद्धार करनेके लिए सूकररूप धारण करनेवाले हे परमपुरुष ! आपको नमस्कार है ॥ ३४ ॥ हे देव ! आपके इस यज्ञमय स्वरूपको संसारके पामर प्राणी नहीं जान सकते । आपकी त्वचा छन्द है । रोम कुश हैं । आँखें घी है और आपके चार चरण होताओंके चारों कर्म हैं ॥ ३५ ॥ आपका मुख स्रुक् है । आपके दोनों नथुने स्रुवा हैं । आपका उदर इडा (यज्ञीय भक्षणपात्र) है । आपके दोनों कान चमस और ग्रह (सोमपात्र) हैं । मुख प्राशित्र (ब्रह्मभागपात्र) है । आपका भोजन ही अग्निहोत्र है ॥ ३६ ॥ आपका यह अवतार लेना ही दीक्षाकार्य है । आपकी ग्रीवा उपसद (तीन प्रकारकी इष्टि) है । आपके दोनों दाँत ही प्रायणीय (दीक्षाके बादकी इष्टि) और उदयनीय (यज्ञसमाप्तिकी इष्टि) है । आपकी जीभ ही प्रवर्ग्य (प्रत्येक उपसदके आदिमें किया जानेवाला महावीर नामक यज्ञ) है । आपका सिर ही सभ्य (होमहीन अग्नि) तथा आवसथ्य (उपासनासम्बन्धी अग्नि) है और आपके पंच प्राण ही चिति (इष्टिका-चयन कर्म) हैं ॥ ३७ ॥ हे देव ! आपका वीर्य ही सोम रस है । आपकी बाल्य-युवा प्रभृति अवस्थायें ही प्रातः सवन आदि कर्म हैं । आपके शरीरकी त्वचा, मांस आदि सात धातुयें ही अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम नामकी सात यज्ञसंस्थायें हैं । आपके शरीरकी संधियाँ ही द्वादशाह आदि बहुतसे यज्ञोंके समूह हैं । आप स्वयं सर्वयज्ञमय हैं । आपके शरीरके बन्धन ही इष्टियाँ हैं ॥ ३८ ॥ आप ही सब मंत्र, देवता, द्रव्य, क्रतु, साधारण यज्ञ तथा क्रिया हैं । वैराग्य, भक्ति तथा योग द्वारा चित्तकी एकाग्रतासे जो ज्ञान प्राप्त होता है, आप उसके साक्षात् स्वरूप हैं । आप ज्ञान प्रदान करनेवाले गुरु हैं । आपको हमारा बारबार प्रणाम है ॥ ३९ ॥ आपके दाँतोंके अग्रभागमें स्थित पर्वतोंयुक्त पृथिवी ऐसी लगती है, जैसे वनसे निकलते हुए किसी मतवाले हाथीके दाँतोंपर पुरइनके पत्तों समेत कमलिनी रखी हो ॥ ४० ॥ आपके दाँतोंपर विराजमान

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥४२॥
कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥४३॥
विधुन्वता वेदमयं निजं वपुर्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभिर्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥४४॥
स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैष ते यः कर्मणां पारमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम् ॥४५॥

मैत्रेय उवाच

इत्युपस्थीयमानस्तैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः । सलिले स्वखुराक्रान्त उपाधत्तावितावनिम् ॥४६॥
स इत्थं भगवानुर्वी विष्वक्सेनः प्रजापतिः । रसाया लीलयोन्नीतामप्सु न्यस्य ययौ हरिः ॥४७॥
य एवमेतां हरिमेधसो हरेः कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः ।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति ॥४८॥
तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम् ॥४९॥

भूमण्डलसे सुशोभित आपका यह वराहरूप उस कुलाचल पर्वतके सदृश मालूम पड़ता है कि जिसपर मेघोंका मण्डल मँडरा रहा हो ॥ ४१ ॥ हे नाथ ! आप समस्त संसारके पिता हैं और यह पृथिवी आपकी स्त्री होनेके कारण सब प्राणियोंकी माता है। जगत्के जीवोंकी स्थितिके लिए आप पृथिवीको स्थापित करें। हम लोग आप और इस पृथिवीको प्रणाम करते हैं। जिस तरह अरणीपर अग्निकी स्थापना की जाती है, उसी तरह आपने इस पृथ्वीमें अपना तेज स्थापित कर दिया है ॥ ४२ ॥ हे स्वामिन् ! आपके अतिरिक्त भला और कौन ऐसा था, जो पाताल लोकसे इस पृथिवीके उद्धारका साहस करता ? और फिर आपका ऐसा करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि आप स्वयं आश्चर्यमय हैं। जिसने अपनी मायासे इस विशाल विश्वको उत्पन्न कर दिया, उसके लिए पातालसे पृथिवीको उबार लेना कोई बड़ी बात नहीं है ॥ ४३ ॥ आप अपने इस वेदस्वरूप शरीरको फड़फड़ाते हैं तो आपके बालोंके अग्रभागसे उड़कर पानीकी छोटी-छोटी बूँदें आकर हमारे ऊपर गिरती हैं। उन बूँदोंसे हम तथा जनलोक और तपलोकके निवासी अपनेको पवित्र मान रहे हैं ॥४४॥ हे नारायण ! जो आपकी अपार लीलाओंका पार पानेकी चेष्टा करता है, वह मूर्ख है। क्योंकि आपकी योगमायाके सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे सारा विश्व मोहान्धकारमें पड़ा रहता है। आप ही उसका कल्याण करें तो करें ॥ ४५ ॥ मैत्रेय मुनि कहते हैं कि इस प्रकार उन ऋषियोंकी स्तुति सुनते हुए वाराहभगवानने अपने खुरसे क्षुभित जलपर उस पृथ्वीको रख दिया ॥४६॥ विष्वक्सेन और प्रजापति वाराहभगवानने कौतुकवश लायी हुई उस भूमिको जलके ऊपर स्थापित कर दिया और अन्तर्धान हो गये ॥ ४७ ॥ जो लोग भगवानमें बुद्धि लगाकर प्रेमके साथ नारायणकी इस पुनीत गाथाको सुनते अथवा सुनाते हैं, तो वे जनार्दनभगवान शीघ्र ही उनके मनमें आ विराजते और वह प्राणी अपने आपमें एक अलौकिक प्रकाशका साक्षात्कार करने लग जाता है ॥ ४८ ॥ सभी कामनाओं-को पूर्ण करनेमें समर्थ उन नारायणके प्रसन्न हो जानेपर फिर कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। अतएव उनसे अपनी तुच्छ इच्छायें पूर्ण करनेके लिए प्रार्थना नहीं ही करे। जो लोग अनन्य भावसे उनका भजन करते हैं तो वे स्वयं उनकी अन्तरात्मामें बैठे हुए उन प्राणियोंको सबसे उत्तम गति प्रदान करते

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्पुराकथानां भगवत्कथासुधाम् ।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो विरज्येत विना नरेतरम् ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे वराहप्रादुर्भावानुवर्णने त्रयोदशोऽध्यायः १३

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितां हरेः कथां कारणसूकरात्मनः ।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलिर्न चातितृप्तो विदुरो धृतव्रतः ॥१॥

विदुर उवाच

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ हरिणा यज्ञमूर्तिना । आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ॥२॥
तस्य चोद्धरतः क्षोणीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया । दैत्यराजस्य च ब्रह्मन् कस्माद्धेतोरभून्मृधः ॥३॥

मैत्रेय उवाच

साधु वीर त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः । यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविशातनीम् ॥४॥
ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयार्भकः । मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम् ॥५॥
अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णित पुराः । ब्रह्मणा देवदेवेन देवानामनुपृच्छताम् ॥६॥
दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम् । अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता ॥७॥
इष्ट्वाग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम् । निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम् ॥८॥

दितिरुवाच

एष मां त्वत्कृते विद्वन् काम आत्तशरासनः । दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः ॥९॥

हैं (जो तुच्छ कामनाओंसे कहीं ऊँचे दर्जेकी होती है) ॥ ४९ ॥ पशुके सिवाय भला ऐसा कौन समझदार मनुष्य होगा, जो इस सर्वश्रेष्ठ और मुक्तिदायिनी कथाको सुनकर भी इससे पराङ्मुख हो सकेगा ? ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'-भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

(दितिके गर्भधारणका वृतान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि महर्षि मैत्रेयके मुखसे इस प्रकार वराहभगवानकी सुन्दर गाथा सुनकर भी विदुरको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने हाथ जोड़कर फिर उनसे पूछा—॥ १ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! मैंने सुना है कि उन्हीं यज्ञमूर्ति वराहभगवानने हिरण्याक्ष नामके दैत्यको मारा था ॥ २ ॥ अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि पातालगत पृथ्वीका उद्धार करते समय भगवानके साथ उस दैत्यराजका युद्ध कैसे हो गया ॥ ३ ॥ यह सुनकर मैत्रेय बोले—हे वीर ! आपने भगवानके अवतारसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत अच्छी कथा पूछी है। इससे मनुष्योंको मृत्युकी फाँसीसे भी छुटकारा (मोक्ष) मिल सकता है ॥ ४ ॥ क्योंकि राजा उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने बाल्य-कालमें ही नारद मुनिके मुखसे सुनी हुई भगवत्कथाके प्रतापसे मृत्युके माथेपर पैर रखकर ध्रुवलोकको प्राप्त कर लिया था ॥ ५ ॥ जिस कथाको तुम पूछ रहे हो, उसीको किसी समय देवताओंने श्रीब्रह्मा-जीसे पूछा था और ब्रह्माजीने उन्हें जो इतिहास बताया था, वही मैं तुमसे कह रहा हूँ ॥ ६ ॥ हे विदुर ! दक्षप्रजापतिकी पुत्री दितिने एक बार सन्ध्याके समय कामातुर होकर अपने पति और मरीचि-के पुत्र कश्यपसे सन्तानोत्पत्तिके निमित्त सम्भोग करनेकी प्रार्थना की ॥ ७ ॥ उस समय महर्षि कश्यप हवन करके अपनी अग्निशालामें बैठे थे। सूर्यभगवान अस्त हो रहे थे और वे समाधिस्थ होकर नारायणके ध्यानमें मग्न थे ॥ ८ ॥ इसी समय दितिने कहा—'हे विद्वन् ! जैसे कोई मस्त हाथी कदलीके

तद्भवान्दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः । प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्तामनुग्रहम् ॥१०॥
भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः । पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते ॥११॥
पुरा पिता नो भगवान्दक्षो दुहितृवत्सलः । कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक् ॥१२॥
स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं सन्तानभावनः । त्रयोदशाददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः ॥१३॥
अथ मे कुरु कल्याण कामं कञ्जविलोचन । आर्तोपसर्पणं भूमन्नमोघं हि महीयसि ॥१४॥
इति तां वीर मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम् । प्रत्याहानुनयन् वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम् ॥१५॥
एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु यदिच्छसि । तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः ॥१६॥
सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् । व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथार्णवम् ॥१७॥
यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि । यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ॥१८॥
यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः । वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा ॥१९॥
न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि । अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः ॥२०॥
अथापि काममेतं ते प्रजात्यै करवाण्यलम् । यथा मां नातिवोचन्ति मुहूर्तं प्रतिपालय ॥२१॥
एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना । चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह ॥२२॥
एतस्यां साध्वि सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः । परीतो भूतपर्षद्भिर्वृषेणाटति भूतराट् ॥२३॥

वृक्षको हिला दे, ठीक उसी तरह धनुर्धारी कामदेव आपके साथ सम्भोग करनेके लिए मुझे बेचैन कर रहा है ॥ ९ ॥ अतएव अपनी सौतोंकी सन्तानरूपिणी समृद्धिको देखकर मन ही मन जलती हुई मुझ नारीको पुत्रदान देकर आप क्षमा करें ॥ १० ॥ आप सरीखे पतिके द्वारा सन्तति-प्राप्तिरूपी यशको प्राप्त करके स्त्रियाँ सभी लोकोंमें सराहनीय मानी जाती हैं ॥ ११ ॥ आजके बहुत दिनों पहले मेरे दयालु पिता—जो हम सब बहनोंपर बड़ा स्नेह रखते थे—उन्होंने एक बार हम सबको अलग-अलग बुलाकर पूछा था कि तुम किसके साथ विवाह करना चाहती हो ? ॥ १२ ॥ अन्तमें हम लोगोंका मानसिक विचार जानकर उन्होंने हम तेरहों बहनोंका विवाह आपके साथ इस वास्ते कर दिया कि जिससे सन्तानकी वृद्धि हो। हम सबका शील-स्वभाव आपहीके सदृश था। हे कंजलोचन ! अब मेरी कामना पूर्ण करके आप मेरा कल्याण करिए। आप जैसे महान् पुरुषोंकी शरणमें जानेसे किसीको निराश नहीं होना पड़ता। मैत्रेय कहते हैं—हे विदुर ! उस कामातुरा और दीन बनकर गिड़गिड़ाती हुई दितिको सान्त्वना देते हुए महर्षि कश्यपने कहा—॥ १३–१५ ॥ हे भीरु ! तुम घबड़ाओ नहीं। मैं अभी तुम्हारी इच्छा पूर्ण किये देता हूँ। जिसकी बदौलत अर्थ-धर्म तथा काम इन तीनोंकी सिद्धि होती है, उस पत्नीकी बात माननेसे भला कौन इनकार कर सकता है ? ॥ १६ ॥ गृहस्थ पुरुष स्त्री ही की सहायतासे ब्रह्मचर्य आदि आश्रमियोंको अन्नादिसे सहायता देकर इस दुःखपूर्ण संसारसागरसे पार उतर जाता है। जैसे लोग जहाजके द्वारा समुद्रको पार कर जाते हैं ॥१७॥ हे मानिनि ! कल्याणकामी लोग स्त्रीको पुरुषकी अर्धाङ्गिनी कहते हैं और उसीपर गृहस्थीका सारा बोझ डालकर निश्चिन्त हो जाते हैं ॥ १८ ॥ अन्य आश्रमी लोग इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ नहीं होते, किन्तु गृहस्थाश्रमी अपनी गृहिणीके सहारे उन इन्द्रियोंको इस तरह परास्त कर देता है-जैसे किलेका अधिपति राजा चोर-डाकुओंको मार भगाता है ॥१९॥ हे गृहेश्वरी (घरकी मालकिन) ! हम तुम्हारे उपकारोंसे उऋण नहीं हो सकते, चाहे जीवनभर उद्योग क्यों न करते रहें। हम ही नहीं, बड़े-बड़े गुणग्राही लोग भी तुम्हारी समानता नहीं कर सकेंगे ॥ २० ॥ फिर भी मैं तुम्हारी इच्छाको अभी पूर्ण कर सकता हूँ। लेकिन यह समय उपयुक्त नहीं है। इस समय ऐसा करनेसे लोग हमारी निन्दा करेंगे। इस वास्ते तुम क्षणभर ठहर जाओ ॥ २१ ॥ यह बेला बड़ी कराल है। इस समय घोर राक्षस विचरते दिखायी देते हैं। इसी समय रुद्रभगवानके अनुचर भूत-प्रेत भी निकलते हैं ॥ २२ ॥ इसी सन्ध्याके समय भूतोंके राजा भगवान शिवजी अपने गणोंको साथ ले नन्दीपर सवार होकर

श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्रविकीर्णविद्योतजटाकलापः ।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते ॥२४॥
न यस्य लोके स्वजनः परो वा नात्यादृतो नोत कश्चिद्विगर्ह्यः ।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धामाशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम् ॥२५॥
यस्यानवद्याचरितं मनीषिणो गृणन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः ।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत्स्वयं पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम् ॥२६॥
हसन्ति यस्याचरितं हि दुर्भगाः स्वात्मन् रतस्याविदुषः समीहितम् ।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैः श्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम् ॥२७॥
ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला यत्कारणं विश्वमिदं च माया ।
आज्ञाकरी तस्य पिशाचचर्या अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

सैवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया । जग्राह वासो ब्रह्मर्षेर्वृषलीव गतत्रपा ॥२९॥
स विदित्वाथ भार्यायास्तं निर्बन्धं विकर्मणि । नत्वा दिष्टाय रहसि तयाथोपविवेश ह ॥३०॥
अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः । ध्यायञ्जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ॥३१॥
दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत । उपसङ्गम्य विप्रर्षिमधोमुख्यभ्यभाषत ॥३२॥

दितिरुवाच

मा मे गर्भमिमं ब्रह्मन् भूतानामृषभोऽवधीत् । रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याकरवमंहसम् ॥३३॥

विचरते हैं ॥ २३ ॥ श्मशानभूमिसे उठे बवण्डर द्वारा उड़ाई हुई धूलि उनकी जटामें सनी रहती और उनकी देहमें भस्म रमी रहता है। सोने सरीखा उनका शरीर है। वे तुम्हारे देवर हैं। अपने सूर्य, चन्द्र तथा अग्निरूपी तीन नेत्रोंसे वे हम सबको देख रहे हैं। संसारमें उनका न कोई अपना है और न पराया। न वे किसीसे विशेष प्रेम करते हैं और न किसीसे द्वेष। अनेकानेक व्रतों द्वारा हमलोग उनकी आराधना करके उस सम्पत्तिको प्राप्त करना चाहते हैं कि जिसे उन्होंने निर्माल्य समझकर दूर फेंक दिया है ॥ २४ ॥ २५ ॥ संसारके विवेकशील पुरुष अपनी अविद्यारूपी ग्रन्थिको काटनेके निमित्त उनके गुणोंको गाया करते हैं। यद्यपि वे सर्वेश्वर और सज्जनोंके गतिदायक हैं। फिर भी वे पिशाच जैसा अपना व्यवहार रखते हैं ॥ २६ ॥ जो अभागे उन आत्माराम शंकरभगवानके गूढ़ चरित्रोंको नहीं समझ पाते, वे ही उनकी निन्दा करते हुए कुत्तेके भोजनस्वरूप इस शरीरको आत्मा मान बैठते और विविध प्रकारके वस्त्र, माल्य, सुगन्धि तथा आभूषणोंसे सजाते हैं ॥ २७ ॥ ब्रह्मा आदि बड़े-बड़े देवता जिनके बनाये हुए नियमोंका पालन करते हैं, जो इस जगत्के मूल कारण हैं और माया जिनकी आज्ञामें रहनेवाली किंकरी है, वे अपना आचरण पिशाचों सदृश रखते हैं। ओह ! उन परमेश्वरकी लीला अतर्क्य है ॥ २८ ॥ मैत्रेय कहते हैं—हे विदुर ! इस तरह कश्यपजीने बहुत-कुछ समझाया, पर कामदेवसे विकल दितिने एक न माना और निर्लज्ज वेश्याके समान उसने उन ब्रह्मर्षिकी धोती पकड़ ली ॥ २९ ॥ उन्होंने अपनी पत्नीका असामयिक तथा कुत्सित कार्यके लिए ऐसा दुराग्रह देखकर होनीको नमस्कार किया और एकान्तमें जाकर उसके साथ रमण किया ॥ ३० ॥ इसके बाद उन्होंने आचमन तथा प्राणायाम किया और मौन होकर नारायणका ध्यान करते हुए गायत्रीमंत्रका जप करने लगे ॥ ३१ ॥ दिति भी अपनी इस करनीपर बहुत लज्जित हुई। वह महर्षि कश्यपके समीप गयी और आँखें नीचे करके कहने लगी—॥ ३२ ॥ हे ब्रह्मन् ! अब आप ऐसा कुछ करिए कि जिससे रुद्रभगवान मेरे इस गर्भका वध न कर सकें। क्योंकि मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे । शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे ॥३४॥
स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः । व्याधस्याप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः ॥

मैत्रेय उवाच

स्वसर्गस्याशिषं लोक्यामाशासानां प्रवेपतीम् । निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्यामाह प्रजापतिः ॥३६॥

कश्यप उवाच

अप्रायत्यादात्मनस्ते दोषान्मौहूर्तिकादुत । मन्निदेशातिचारेण देवानां चातिहेलनात् ॥३७॥
भविष्यतस्तवाभद्रावभद्रे जाठराधमौ । लोकान् सपालांस्त्रींश्चण्डि मुहुराक्रन्दयिष्यतः ॥३८॥
प्राणिनां हन्यमानानां दीनानामकृतागसाम् । स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु ॥३९॥
तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवाँल्लोकभावनः । हनिष्यत्यवतीर्यासौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक् ॥४०॥

दितिरुवाच

वधं भगवता साक्षात्सुनाभोदारबाहुना । आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद्ब्राह्मणाद्विभो ॥४१॥
न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च । नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः ॥४२॥

कश्यप उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् । भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात् ॥४३॥
पुत्रस्यैव तु पुत्राणां भवितैकः सतां मतः । गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम् ॥४४॥
योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः । निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलमनुवर्तितुम् ॥४५॥

॥ ३३ ॥ मैं उन रुद्रभगवानको प्रणाम करती हूँ जो सर्वश्रेष्ठ उग्र, भक्तोंकी इच्छाको पूर्ण करने और दुष्टोंको दण्ड देनेवाले एवं क्रोधके मूर्तिमान् रूप हैं ॥ ३४ ॥ हमारी बहिन सतीके पति और महान् दयालु श्रीशिवजी मेरेपर प्रसन्न हों। स्त्रियोंपर तो निर्दयी बहेलिये भी दया करते हैं तब भला वे क्यों न दया करेंगे ॥ ३५ ॥ मैत्रेय कहते हैं—उस समय दिति अपनी सन्तानकी कल्याणकामना करती हुई थर-थर काँप रही थी। जब महर्षिका संध्याकालीन नियम समाप्त हो गया, तब दितिसे बोले—॥ ३६ ॥ हे कोपने ! गर्भधारणके समय एक तो तुम्हारा मन अपवित्र था, दूसरे वह संध्याका समय था। फिर मेरी आज्ञाका तुमने उल्लंघन किया और रुद्र आदि देवताओंका अपमान किया है ॥ ३७ ॥ इसलिए ओ अभागिन ! तेरे जो दो पुत्र होनेवाले हैं, वे दोनों ही बड़े अधम होंगे। वे अपनी दुष्टतासे तीनों लोकों और लोकपालोंको बार-बार रुलायेंगे ॥ ३८ ॥ वे निरपराध और दीन-हीन प्राणियोंको मारेंगे और परायी स्त्रियोंको जबर्दस्ती हर ले जाया करेंगे। इससे सभी महात्मा उनसे नाराज हो जायेंगे ॥३९॥ ऐसी दशामें समस्त जगत्के प्रभु और सब प्राणियोंके पालक नारायण स्वयं अवतार लेंगे और उन दोनोंको इस तरह मार डालेंगे, जैसे इन्द्र वज्र द्वारा पर्वतोंको छिन्न-भिन्न कर देते हैं ॥ ४० ॥ दिति बोली—हे ब्रह्मन् ! यदि सुदर्शनचक्रधारी और लम्बी बाहुवाले साक्षात् नारायणके हाथों उनका वध हो तो ठीक है। लेकिन किसी क्रुद्ध ब्राह्मणके शापसे उनकी मृत्यु न हो ॥४१॥ क्योंकि ब्राह्मणोंके शापसे मरा हुआ प्राणी जीवमात्रके भयका कारण बन जाता है। उसपर नारकीय जीव भी दया नहीं करते। वह जिस किसी भी योनिमें जाता है तो वहाँवाले उसका तिरस्कार करते हैं ॥ ४२ ॥ अपराध तो तुम्हारा बहुत बड़ा है, किन्तु एक तो तुम्हें शीघ्र अपनी गलती मालूम हो गयी और उसपर तुमने पश्चात्ताप कर लिया है, दूसरे भगवानके हाथों वधकी बात जानकर भी तुमने उनपर श्रद्धा दिखायी है, तीसरे रुद्रभगवान और मेरा सम्मान किया है। इन कारणोंसे—॥ ४३ ॥ तुम्हारे पुत्र (हिरण्यकशिपु) के जो पुत्र होंगे, उनमें एक पुत्र बड़ा सज्जन होगा। लोग भगवानके यशके साथ-साथ उसका भी यश गायेंगे ॥ ४४ ॥ जैसे कि मटमैले सोनेको लोग तपा, पीट और रगड़कर शुद्ध करते हैं, उसी तरह संसारके प्राणी निर्वैरता आदि साधनों द्वारा अपना सुधार करते

यत्प्रसादादिदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम्। स स्वदृग्भगवान् यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा ॥४६॥
स वै महाभागवतो महात्मा महानुभावो महतां महिष्ठः।
प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभाविताशये निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति ॥४७॥
अलम्पटः शीलधरो गुणाकरो हृष्टः परर्द्ध्या व्यथितो दुःखितेषु।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता नैदाघिकं तापमिवोडुराजः ॥४८॥
अन्तर्बहिश्चामलमब्जनेत्रं स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम्।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम् ॥४९॥

मैत्रेय उवाच

श्रुत्वा भागवतं पौत्रममोदत दितिर्भृशम्। पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद्विदित्वाऽऽसीन्महामनाः ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे दितिकश्यपसंवादे चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

प्राजापत्यं तु तत्तेजः परतेजोहनं दितिः। दधार वर्षाणि शतं शङ्कमाना सुरार्दनात् ॥१॥
लोके तेन हतालोके लोकपाला हतौजसः। न्यवेदयन् विश्वसृजे ध्वान्तव्यतिकरं दिशाम् ॥२॥

देवा ऊचुः

तम एतद्विभो वेत्थ संविग्ना यद्वयं भृशम्। न ह्यव्यक्तं भगवतः कालेनास्पृष्टवर्त्मनः ॥३॥

हुए तुम्हारे पोतेका अनुकरण करेंगे ॥ ४५ ॥ जिनकी कृपासे नारायणमय होकर यह संसार सुखी होता है, वे आत्मदर्शी परमात्मा तुम्हारे पौत्रकी अनन्यदृष्टि (भगवद्भक्ति) से प्रसन्न होंगे ॥ ४६ ॥ तुम्हारा पौत्र असाधारण भक्त, महात्मा, महाप्रभावशाली और परम महान् होगा। वह भक्ति-योगसे अपना हृदय शुद्ध करके नारायणमें मन लगावेगा और उसका सारा देहाभिमान नष्ट हो जायगा ॥ ४७ ॥ वह परम वैरागी होगा। उसका स्वभाव बड़ा अच्छा होगा। वह दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्न और दुखी देखकर दुखी होगा। संसारमें उसका कोई शत्रु न रहेगा। वह उसी तरह सबका शोक दूर करेगा, जैसे ग्रीष्म ऋतुकी गर्मीको चन्द्रमा हर लेता है ॥ ४८ ॥ वह तुम्हारा पौत्र भक्तोंकी इच्छानुसार अवतार लेनेवाले, कमलनयन तथा किरीट और कुण्डलसे सुशोभित वदनारविन्द-वाले लक्ष्मीयुक्त भगवानको भीतर अपने हृदयमें और बाहर अखिल विश्वमें देखता रहेगा ॥ ४९ ॥ मैत्रेय कहते हैं—हे विदुर ! अपने पतिके मुखसे पुत्रोंका भगवानके हाथों मरण तथा पौत्रके भगवद्भक्त होनेकी बात सुनकर दिति बहुत प्रसन्न हुई ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(जय-विजयको सनकादि ऋषियोंका शाप) मैत्रेय बोले—हे विदुर ! प्रजापति कश्यपका वह तेज (वीर्य) शत्रुनाशक था। उसे दिति इस विचारसे सौ वर्षतक अपने गर्भमें ही रक्खे रही कि वह सन्तति उत्पन्न होकर देवताओंसे कष्ट न पाने लगे ॥ १ ॥ इससे संसारको प्रकाश प्रदान करनेवाले सूर्यनारायण और चन्द्रमाका प्रकाश नष्ट हो गया। सभी लोकपालोंका तेज मन्द पड़ गया। सभी दिशाओंमें फैले हुए महान् अन्धकारको देखकर देवता घबड़ा उठे और उन्होंने ब्रह्माजीके पास जाकर निवेदन किया—॥ २ ॥ हे विभो ! इस अन्धकारका कारण आप ही समझ सकते हैं। हमलोग तो इससे बहुत घबड़ा गये हैं। आप इसका रहस्य जान सकते हैं। क्योंकि आपसे कुछ छिपा नहीं है ॥३॥

देवदेव जगद्धातर्लोकनाथशिखामणे । परेषामपरेषां त्वं भूतानामसि भाववित् ॥४॥
नमो विज्ञानवीर्याय माययेदमुपेयुषे । गृहीतगुणभेदाय नमस्तेऽव्यक्तयोनये ॥५॥
ये त्वानन्येन भावेन भावयन्त्यात्मभावनम् । आत्मनि प्रोतभुवनं परं सदसदात्मकम् ॥६॥
तेषां सुपक्वयोगानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् । लब्धयुष्मत्प्रसादानां न कुतश्चित्पराभवः ॥७॥
यस्य वाचा प्रजाः सर्वा गावस्तन्त्येव यन्त्रिताः । हरन्ति बलिमायत्तास्तस्मै मुख्याय ते नमः ॥८॥
स त्वं विधत्स्व शं भूमंस्तमसा लुप्तकर्मणाम् । अदभ्रदयया दृष्ट्या आपन्नानर्हसीक्षितुम् ॥९॥
एष देव दितेर्गर्भ ओजः काश्यपमर्पितम् । दिशस्तिमिरयन् सर्वा वर्धतेऽग्निरिवैधसि ॥१०॥

मैत्रेय उवाच

स प्रहस्य महाबाहो भगवान् शब्दगोचरः । प्रत्याचष्टात्मभूर्देवान् प्रीणन् रुचिरया गिरा ॥११॥

ब्रह्मोवाच

मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः । चेरुर्विहायसा लोकाँल्लोकेषु विगतस्पृहाः ॥१२॥
त एकदा भगवतो वैकुण्ठस्यामलात्मनः । ययुर्वैकुण्ठनिलयं सर्वलोकनमस्कृतम् ॥१३॥
वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः । येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम् ॥१४॥
यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवान् शब्दगोचरः । सत्त्वं विष्टभ्य विरजं स्वानां नो मृडयन् वृषः ॥१५॥
यत्र नैःश्रेयसं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः । सर्वर्तुश्रीभिर्विभ्राजत्कैवल्यमिव मूर्तिमत् ॥१६॥

हे देवताओंके देवता ! हे जगत्के पालनकर्ता ! हे समस्त लोकपालोंके शिरोमणि ! आप ऊँच और नीच सभी प्राणियोंके मनोगत भावोंको भलीभाँति जानते हैं ॥ ४ ॥ विज्ञान ही आपका बल है । मायासे आपने ब्रह्माका रूप धारण किया है । आप रजोगुणी हैं । आपकी उत्पत्तिका हाल किसीको भी नहीं ज्ञात है । हम आपको प्रणाम करते हैं ॥ ५ ॥ जो लोग निष्कामभावसे भक्ति द्वारा समस्त सदसदात्मक लोकोंको धारण करनेवाले आपकी आराधना करते हैं। उन प्राण और इन्द्रियोंको जीतने और आपकी कृपा प्राप्त करनेवाले लोगोंकी कहीं भी पराजय नहीं होती ॥ ६ ॥ ७ ॥ जिनकी वाणीमें सारी प्रजा ऐसे बँधी हुई है, जैसे डोरसे गायें बँधी रहती हैं । संसारके सभी लोग आपको सर्वश्रेष्ठ मानकर आपकी पूजा करते हैं । आपको प्रणाम है ॥ ८ ॥ हे भगवन् ! इस समय अन्धकारके कारण दिन-रातका पता न लगनेसे संसारके सभी कर्म लुप्त हो गये हैं । अब आप ही अपनी असाधारण कृपासे उन दीनोंका दुख दूर करके उनकी रक्षा करें ॥ ९ ॥ वह देखिए, प्रजापति कश्यपका स्थापित दितिका गर्भ सब दिशाओंमें अँधेरा फैलाता हुआ ऐसा बढ़ रहा है जैसे ईंधन पाकर आग बढ़ती है ॥१०॥ मैत्रेय कहते हैं—हे महाबाहो विदुर ! देवताओंकी बात सुनकर वेदान्तके ज्ञाता ब्रह्माजी मुस्कराये और उन देवताओंको अपने सुन्दर भाषणसे प्रसन्न करते हुए कहने लगे—॥ ११ ॥ हे देवताओं ! पहले मैंने तुम्हारे पूर्वज सनकादि ऋषियोंको अपने मनसे उत्पन्न किया था । वे किसी बातकी इच्छा न रखते हुए निस्पृहभावसे स्वर्गसे उतरे और इधर-उधरके लोकोंमें विचरने लगे ॥ १२ ॥ एक बार वे लोग विशुद्धात्मा नारायणके सराहनीय वैकुण्ठलोकमें जा पहुँचे ॥ १३ ॥ वहाँके रहनेवाले सभी लोग नारायणके ही समान सुन्दर और गुणवान थे और निष्कामभावसे धर्मपूर्वक भगवानकी आराधना कर रहे थे ॥ १४ ॥ उस वैकुण्ठधाममें वेदान्तवेद्य, शुद्धसतोगुणी और धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप आदि पुरुष नारायण भी हम भक्तोंको आनन्दित करते हुए रहते हैं ॥ १५ ॥ वैकुण्ठधाममें नैःश्रेयस नामका एक अत्यन्त मनोहर वन है, जिसमें सबकी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाले वृक्ष लगे हुए हैं। उनपर सब ऋतुओंकी छटा छायी रहती है और सब ऋतुओंके फूल-फल लदे रहते हैं । इन कारणोंसे

वैमानिकाः सललनाश्चरितानि यत्र गायन्ति लोकशमलक्षपणानि भर्तुः।
अन्तर्जलेऽनुविकसन्मधुमाधवीनां गन्धेन खण्डितधियोऽप्यनिलं क्षिपन्तः ॥१७॥
पारावतान्यभृतसारसचक्रवाकदात्यूहहंसशुकतित्तिरिबर्हिणां यः।
कोलाहलो विरमतेऽचिरमात्रमुच्चैर्भृङ्गाधिपे हरिकथामिव गायमाने ॥१८॥
मन्दारकुन्दकुरबोत्पलचम्पकार्णपुन्नागनागकुलाम्बुजपारिजाताः।
गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणेन तस्या यस्मिंस्तपः सुमनसो बहु मानयन्ति ॥१९॥
यत्सङ्कुलं हरिपदानतिमात्रदृष्टैर्वैदूर्यमारकतहेममयैर्विमानैः।
येषां बृहत्कटितटाः स्मितशोभिमुख्यः कृष्णात्मनां न रज आदधुरुत्स्मयाद्यैः ॥२०॥
श्रीरूपिणी क्वणयती चरणारविन्दं लीलाम्बुजेन हरिसद्मनि मुक्तदोषा।
संलक्ष्यते स्फटिककुड्य उपेतहेम्नि सम्मार्जतीव यदनुग्रहणेऽन्ययत्नः ॥२१॥
वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु प्रेष्यान्विता निजवने तुलसीभिरीशम्।
अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्रमुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्ग यच्छ्रीः ॥२२॥
यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादाच्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारास्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त ॥२३॥

वह वन साक्षात् मोक्षका द्वार ज्ञात होता है ॥ १६ ॥ वहाँ अगणित विमानचारी देवता अपनी स्त्रियोंके साथ विचरते हुए आते और संसारके पापोंको दूर करनेवाले नारायणके यश गाते रहते हैं। उस समय वे नारायणके गुणगानमें इतने मग्न हो जाते हैं कि जलमें विकसित, मकरन्दभरी वासन्ती लताकी मस्त सुगन्धिसे चित्तके चंचल हो जानेपर भी वे उस सुगन्धित वायुकी उपेक्षा करते हुए भगवानका भजन करते ही रहते हैं ॥ १७ ॥ जिस समय वहाँके सुरभित पुष्पोंपर गुंजारते हुए भौंरे मानों भगवानके गुण गाने लगते हैं तो वहाँके कबूतर, कोयल, सारस, चकवा, पपीहा, हंस, सुए, तीतर और मोर आदि पक्षी थोड़ी देरके लिए जैसे मौन हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि वहाँके पक्षी भी नारायणके गुणों-को सुनकर आनन्दित होते हैं ॥ १८ ॥ मन्दार, कुन्द, कुरबक, उत्पल (कोईं) चम्पा, अड़उल, पुन्नाग, नागकेशर, बकुल (मौलसिरी) कमल और पारिजात आदि विविध प्रकारके फूल यद्यपि असाधारण सुगन्धिसम्पन्न होते हैं, फिर भी वे सब फूल तुलसीकी तपस्याका आदर इस वास्ते करते हैं कि भगवानको उसकी सुगन्धि विशेष प्रिय है ॥ १९ ॥ वहाँके लोगोंमें भगवानके चरणोंको नमस्कार करने मात्रसे इतनी दृढ़ भक्ति जागृत हो उठी है कि वैदूर्य, मरकत और सुवर्णके बने विमानोंपर बैठी बड़े-बड़े नितम्बवाली सुरसुन्दरियोंके हास-विलासका भी उनपर कोई असर नहीं होता ॥ २० ॥ जिनकी कृपाको प्राप्त करनेके लिए लोग यत्नशील रहते हैं, वे लक्ष्मीजी नारायणके उस भव्य भवनमें अपने पाँवोंके नूपुर झनकाती और हाथके लीलाकमलको डोलाती फिरती हैं। उस समय दीवारोंमें लगी स्फटिकपर उनकी परछायीं पड़नेसे ऐसा ज्ञात होता है कि मानो लक्ष्मीजी झाड़ू लगा रही हैं ॥ २१ ॥ हे अंग! वे लक्ष्मीजी अपनी सखियोंके साथ-साथ उस बावलीके पास जाकर तुलसीदलसे नारायणकी पूजा करती हैं, जिसके तटमें मूँगे और मोती जड़े हैं। पूजा करते-करते जलमें पड़े प्रतिबिम्बमें अपने सुन्दर केशपाश और ऊँची नासिकायुक्त कमनीय मुखको निहारकर वे यह सोचने लगती हैं कि यदि भगवान इसे एक बार चूम लें तो इसका सौन्दर्य सार्थक हो जाय ॥ २२ ॥ ब्रह्माजी कहते हैं—हे देवताओं! जो लोग संसारकी ऐसी बातोंमें फँसे रहते हैं कि जिनसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है तो वे लोग नारायणके पापनाशक गुणोंको नहीं सुनते। जिसका परिणाम यह होता है कि वे उस वैकुण्ठधामको न जाकर सदा अज्ञानान्धकारमें पड़े रहते और अन्तमें नरकगामी

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानं च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र ।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य सम्मोहिता विततया बत मायया ते ॥२४॥
यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः ।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुरागवैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृताङ्गाः ॥२५॥
तद्विश्वगुर्वधिकृतं भुवनैकवन्द्यं दिव्यं विचित्रविबुधाग्र्यविमानशोचिः ।
आपुः परां मुदमपूर्वमुपेत्य योगमायाबलेन मुनयस्तदथो विकुण्ठम् ॥२६॥
तस्मिन्नतीत्य मुनयः षडसज्जमानाः कक्षाः समानवयसावथ सप्तमायाम् ।
देवावचक्षत गृहीतगदौ परार्ध्यकेयूरकुण्डलकिरीटविटङ्कवेषौ ॥२७॥
मत्तद्विरेफवनमालिकया निवीतौ विन्यस्तयासितचतुष्टयबाहुमध्ये ।
वक्त्रं भ्रुवा कुटिलया स्फुटनिर्गमाभ्यां रक्तेक्षणेन च मनाग्रभसं दधानौ ॥२८॥
द्वार्यतयोर्निविविशुर्मिषतोरपृष्ट्वा पूर्वा यथा पुरटवज्रकपाटिकायाः ।
सर्वत्र तेऽविषमया मुनयः स्वदृष्ट्या ये सञ्चरन्त्यविहता विगताभिशङ्काः ॥२९॥
तान् वीक्ष्य वातरशनांश्चतुरः कुमारान् वृद्धान्दशार्धवयसो विदितात्मतत्त्वान् ।
वेत्रेण चास्खलयतामतदर्हणांस्तौ तेजो विहस्य भगवत्प्रतिकूलशीलौ ॥३०॥
ताभ्यां मिषत्स्वनिमिषेषु निषिध्यमानाः स्वर्हत्तमा ह्यपि हरेः प्रतिहारपाश्याम् ।
ऊचुः सुहृत्तमदिदृक्षितभङ्ग ईषत्कामानुजेन सहसा त उपप्लुताक्षाः ॥३१॥

होते हैं ॥ २३ ॥ जो लोग उस मानवयोनिको—जिसे हम लोग भी चाहते हैं, जिसमें तत्त्वज्ञान, सदाचार आदि प्राप्त करनेकी सुविधा रहती है—उस उत्तम योनिको पाकर भी भगवानको नहीं भजते तो कहना पड़ेगा कि उनपर भगवानकी मायाका प्रभाव पड़ा रहता है। जिससे वे भ्रममें पड़ जाते हैं ॥ २४ ॥ उस पुनीत धाममें तो वे ही लोग पहुँच पाते हैं, जो भगवानकी भक्तिमें मग्न होकर यम-नियम आदि साधनोंसे परे हो जाते हैं। जिनके सद्‌गुणोंका आदर हमलोग भी करते हैं, सामूहिकरूपसे आपसमें नारायणका गुण गाते-गाते जिनके नेत्रोंसे अश्रु धारायें प्रवाहित होने लगती हैं और सारा शरीर पुलकायमान हो जाता है ॥ २५ ॥ हे देवगण ! वे सनकादि मुनि अपने योगमायाबलसे उस धाममें पहुँचकर बड़े प्रसन्न हुए। क्योंकि वह विश्वपिताका पावन निवासस्थान था। सब भुवनोंके लोग उसकी बन्दना कर रहे थे। अगणित देवताओंके चित्र-विचित्र विमान अपनी-अपनी प्रभाका विस्तार किये हुए थे ॥ २६ ॥ वहाँ पहुँचकर नारायणके दर्शनोंकी उत्कण्ठावश वे छ ड्योढ़ियोंकी शोभापर कुछ भी दृष्टिपात न करते हुए सीधे सातवीं ड्योढ़ीपर जा पहुँचे। वहाँ उन्हें पहरेपर दो द्वारपाल मिले। उन द्वारपालोंके चार-चार भुजायें थीं। उन दोनोंकी अवस्था एक-सी थी। दोनों गदा धारण किये थे और कीमती केयूर, कुण्डल तथा किरीट आदिसे उनका वेष बड़ा सुन्दर लग रहा था ॥ २७ ॥ वे कण्ठसे पैरतक लटकनेवाली ऐसा वनमाला पहने थे, जिसपर मतवाले भौंरे गूँज रहे थे। उनकी श्याम भुजाओंके मध्यमें विराजमान सुन्दर मुख, उनकी भौंहें और नासिका कुछ फड़कते-से दीख रहे थे और आँखें लाल हो गयी थीं। इससे उनके क्रुद्ध होनेका लक्षण मालूम पड़ रहा था ॥ २८ ॥ वे मुनिगण जैसे कि छ फाटकोंमें बिना पूछे-ताछे घुस आये थे, उसी प्रकार इस सातवें फाटकके भीतर भी जाने लगे। क्योंकि वे समस्त भुवनवण्डलको समान दृष्टिसे देखते थे, इसलिए उनको कहीं भी रोक-टोक नहीं थी ॥ २९ ॥ उन परम प्राचीन किन्तु देखनेमें पाँच वर्षके मालूम पड़नेवाले और आत्मज्ञानी सनकादिकोंको इस तरह बेधड़क भीतर घुसते देखकर भगवानके विरुद्ध स्वभाववाले उन दोनों द्वारपालोंने उनके तेजकी उपेक्षा और उनका उपहास करते हुए अपनी छड़ीसे उनको रोक दिया ॥ ३० ॥ परम पूजनीय वे ऋषिगण देवताओंके देखते-देखते

मुनय ऊचुः

को वामिहैत्य भगवत्परिचर्ययोच्चैस्तद्धर्मिणां निवसतां विषमः स्वभावः ।
तस्मिन् प्रशान्तपुरुषे गतविग्रहे वां को वाऽऽत्मवत्कुहकयोः परिशङ्कनीयः ॥३२॥
न ह्यन्तरं भगवतीह समस्तकुक्षावात्मानमात्मनि नभो नभसीव धीराः ।
पश्यन्ति यत्र युवयोः सुरलिङ्गिनोः किं व्युत्पादितं ह्युदरभेदि भयं यतोऽस्य ॥३३॥
तद्वाममुष्य परमस्य विकुण्ठभर्तुः कर्तुं प्रकृष्टमिह धीमहि मन्दधीभ्याम् ।
लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या पापीयसस्त्रय इमे रिपवोऽस्य यत्र ॥३४॥
तेषामितीरितमुभाववधार्य घोरं तं ब्रह्मदण्डमनिवारणमस्त्रपूगैः ।
सद्यो हरेरनुचरावुरु बिभ्यतस्तत्पादग्रहावपततामतिकातरेण ॥३५॥
भूयादघोनि भगवद्भिरकारि दण्डो यो नौ हरेत सुरहेलनमप्यशेषम् ।
मा वोऽनुतापकलया भगवत्स्मृतिघ्नो मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः ॥३६॥
एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः ।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः ॥३७॥
तं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुम्भिस्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिववायुलोलच्छुभ्रातपत्रशशिकेसरशीकराम्बुम् ॥३८॥

उन द्वारपालों द्वारा रोक दिये गये, जिससे उनके अतिशय प्रिय नारायणके दर्शनमें बाधा पड़ी तो उन्हें कुछ क्रोध आगया और उनकी आँखें लाल हो गयीं ॥ ३१ ॥ मुनियोंने कहा—मुझे रोकनेवाले तुम कौन हो ? यह दरबार तो ऐसा है कि जहाँ नारायणकी पूर्ण आराधना करके ही कोई पदाधिकारी हो सकता है और भगवानके आराधक समदर्शी हो होंगे। फिर समझमें नहीं आता कि यहाँपर विषमता क्योंकर उपस्थित हुई कि किसीको तो तुम जाने देते हो किसीको नहीं, और फिर उन परम-शान्त और विरोधभावरहित नारायणके द्वारपर शंकाका समावेश तो हो ही नहीं सकता ॥३२॥ जिनके उदरमें समस्त विश्व समाया हुआ है, उसे विद्वान् लोग घटाकाशको महाकाशमें लीनके समान भेद-शून्य समझते हैं। ऐसी दशामें देववेश धारण किये हुए तुम दोनोंने उन नारायणके यहाँ भी पहरा देकर भय उपस्थित कर दिया है ? ॥ ३३ ॥ यद्यपि आप बैकुण्ठनाथके अनुचर हैं, फिर भी आपका सुधार होना आवश्यक है। इसलिए आपके कल्याणार्थ हम यह सोच रहे हैं कि आप यह लोक छोड़कर ऐसे लोकमें जाकर रहिए, जहाँ कि भेदभावयुक्त पापियोंके लिए काम, क्रोध और लोभ, इन तीनों रिपुओंका प्राबल्य हो ॥ ३४ ॥ उनकी ऐसी बातें और अस्त्र-शस्त्रसे भी अनिवार्य घोर ब्रह्मशाप सुनकर डरते हुए वे दोनों अति कातरभावसे उन कुमारोंके पैरोंपर गिर पड़े और कहने लगे—॥ ३५ ॥ हे तपस्वियों ! हम जैसे पापियोंको आपने यह उचित दण्ड दिया है। इससे आप सरीखे देवताओंके अपमानका पाप शान्त हो जायगा। अब इसके लिए पछताइएगा नहीं। हाँ, इतना आप अवश्य कर दें कि मैं अपने पापोंके प्रभावसे चाहे कितना भी नीचे गिरूँ, किन्तु हमारे हृदयमें वह मोह न उत्पन्न हो कि जिससे हमें नारायणका स्मरण भी न हो सके ॥ ३६ ॥ उधर भक्तवत्सल भगवानको जैसे ही मालूम हुआ कि मेरे अनुचरोंने उन महापुरुषोंका अपमान कर दिया है तो लक्ष्मीके साथ-साथ नारायण तुरन्त उन नंगे पैरोंसे दौड़े कि जिनको बड़े-बड़े मुनि सदा खोजा करते हैं ॥ ३७ ॥ वहाँके लोगोंने देखा कि जैसे ही भगवान आये, उसी समय उनके अनुचर छत्र-पादुका आदि ले आये। जिस ब्रह्मका साक्षात्कार एकमात्र समाधिसे होता है, उसको उन मुनियोंने अपने नेत्रोंके सम्मुख खड़े देखा। उस समय उनके दोनों बगल हंसके सदृश श्वेत व्यजन चल रहे थे और उनसे ठण्डी हवा निकल रही थी। चन्द्रमाके सदृश श्वेत छत्रके नीचे इतनी ठंढक थी, जैसे उसमें लगी

कृत्स्नप्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोककलया हृदि संस्पृशन्तम् ।
श्यामे पृथावुरसि शोभितया श्रिया स्वश्चूडामणिं सुभगयन्तमिवात्मधिष्ण्यम् ॥३९॥
पीतांशुके पृथुनितम्बिनि विस्फुरन्त्या काञ्च्यालिभिर्विरुतया वनमालया च ।
वल्गुप्रकोष्ठवलयं विनतासुतांसे विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जम् ॥४०॥
विद्युत्क्षिपन्मकरकुण्डलमण्डनार्हगण्डस्थलोन्नसमुखं मणिमत्किरीटम् ।
दोर्दण्डषण्डविवरे हरता परार्ध्यहारेण कन्धरगतेन च कौस्तुभेन ॥४१॥
अत्रोपसृष्टमिति चोत्स्मितमिन्दिरायाः स्वानां धिया विरचितं बहुसौष्ठवाढ्यम् ।
मह्यं भवस्य भवतां च भजन्तमङ्गं नेमुर्निरीक्ष्य नवितृप्तदृशो मुदा कैः ॥४२॥
तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥४३॥
ते वा अमुष्य वदनासितपद्मकोशमुद्वीक्ष्य सुन्दरतराधरकुन्दहासम् ।
लब्धाशिषः पुनरवेक्ष्य तदीयमङ्घ्रिद्वन्द्वं नखारुणमणिश्रयणं निदध्युः ॥४४॥
पुंसां गतिं मृगयतामिह योगमार्गैर्ध्यानास्पदं बहु मतं नयनाभिरामम् ।
पौंस्नं वपुर्दर्शयानमनन्यसिद्धैरौत्पत्तिकैः समगृणन् युतमष्टभोगैः ॥४५॥

कुमारा ऊचुः

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः ।
यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः पित्रानुवर्णितरहा भवदुद्भवेन ॥४६॥

मोतियोंकी झालरोंसे जलकी नन्हीं-नन्हीं बूँदें गिर रहीं थीं ॥ ३८ ॥ वहाँपर विद्यमान सब लोगोंको प्रसन्न करनेमें तत्पर, गुणोंके धाम, स्नेह भरे नेत्रोंसे सबके हृदयमें गुदगुदी पैदा करते हुए भगवानको निहारकर वे ऋषिगण निहाल हो गये । उनके श्याम और विशाल वक्षःस्थलमें लक्ष्मीजी विराजमान थीं । उनकी शोभासे वे सब लोकोंके शिरोमणिस्वरूप अपने बैकुण्ठलोकको सुशोभित कर रहे थे ॥ ३९ ॥ अपने स्थूल नितम्बके पीताम्बरके ऊपर चमकती हुई करधनी पहने थे । उनके गलेमें वनमाला पड़ी हुई थी, जिसकी सुगन्धिसे मुग्ध होकर भौंरे गुञ्जार रहे थे । उनके हाथोंमें सुन्दर खडुए पड़े थे । वे एक हाथ गरुड़के कन्धेपर रखे थे और दूसरे हाथमें लीलकमल लिये हुए हिला रहे थे ॥ ४० ॥ अपनी चमकसे बिजलीको भी मात करनेवाले कुण्डल उनके कानोंमें थे, जिससे कपोलोंकी शोभा देखते ही बनती थी । उनकी ऊँची और सुन्दर नासिका थी । उनके माथेपर मणिजड़ित किरीट सुशोभित था । दोनों भुजाओंके बीच कन्धेपर बहूमूल्य हार और वक्षःस्थलमें कौस्तुभ मणि अलग विराजमान था ॥ ४१ ॥ उनकी उस कामनीय कान्तिको देखकर सनकादि भक्तोंने सोचा कि लक्ष्मीजी अपनी शोभापर व्यर्थ डींग मार रही हैं । वास्तवमें नारायणके सौन्दर्यमें उनका सौन्दर्य लुप्त हो गया है । ब्रह्माजी कहते हैं—हे देवताओ ! हमारे, श्रीशंकरजी और आप जैसे भक्तोंके उपकारार्थ अवतार लेनेवाले उन नारायणको देखकर वे मुनिजन गद्‌गद हो गये और नेत्रोंसे बार-बार वह छवि निहारकर भी तृप्त नहीं होने आये ॥ ४२ ॥ उनके कमल सरीखे नेत्रों और चरणारविन्दके मकरन्दसे मिश्रित तुलसीकी वायुको सूँघनेसे पूर्ण ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी उनका मन और तन क्षुभित हो उठा ॥ ४३ ॥ वे लोग उन नारायणके श्यामकमलदल सदृश और कुन्दके समान मन्द मुसकान युक्त मुख देखकर सफल-मनोरथ होते हुए रक्तमणिके सदृश देदीप्यमान उनके चरणोंको देखकर ध्यानमग्न हो गये ॥ ४४ ॥ जो जो लोग योगमार्गसे उनके तत्त्वकी जिज्ञासामें लीन रहते हुए ध्यानरत रहते और इस मार्गको ही उनकी प्राप्तिकी कुंजी बताते हैं, उन नयनाभिराम तथा अणिमादि सिद्धियोंके आस्पदस्वरूप और पुरुषरूपधारी उन परमेश्वरको प्रत्यक्ष देखकर वे मुनिजन उनकी स्तुति करने लगे ॥ ४५ ॥ वे बोले-

तं त्वा विदाम भगवन् परमात्मतत्त्वं सत्त्वेन सम्प्रति रचयन्तमेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगैरुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मुनयो विरागाः ॥४७॥
नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किन्त्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः ॥४८॥
कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः ॥४९॥
प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नम इद्विधेम योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे जयविजययोः सनकादिशापो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच

इति तद् गृणतां तेषां मुनीनां योगधर्मिणाम्। प्रतिनन्द्य जगादेदं विकुण्ठनिलयो विभुः ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ तौ पार्षदौ मह्यं जयो विजय एव च। कदर्थीकृत्य मां यद्वो बह्वक्रान्तामतिक्रमम् ॥२॥

हे अनन्त! यद्यपि आप जगत्के सब जीवोंमें विराजमान रहते हैं, फिर भी जिनकी अन्तरात्मा दूषित रहती है उनको आपकी झाँकी नही मिलती। वैसे तो आजके बहुत वर्षों पहले ही मेरे पिता श्रीब्रह्माजीने मुझे आपके स्वरूपका उपदेश दे दिया था और हमने अपने कानों द्वारा उस उपदेशको सुनकर अपने हृदयमें आपके कमनीय स्वरूपको अंकित कर लिया था। किन्तु आपके प्रत्यक्ष दर्शन तो आज ही हुए हैं ॥ ४६ ॥ हे भगवन्! बड़े-बड़े वीतराग और विवेकी ऋषि-मुनि दृढ़भक्ति तथा योग आदि उपायोंके द्वारा अपने हृदयमें ही जिस गूढ़ तत्त्वकी खोज किया करते हैं, वह परमतत्त्व आप ही हैं। मेरा विश्वास है कि आप ही उनपर कृपा करके उनके हृदयमें जाकर स्थित होते और उन्हें सन्तुष्ट करते हैं ॥ ४७ ॥ हे अङ्ग! जो लोग आपके चरणोंकी शरण प्राप्तकर एवं आपके कथामृतको पीकर तृप्त हो चुके हैं, आपके पुनीत यशका रस जाननेमें निपुण वे विवेकशील प्राणी तो मुक्तिको भी तुच्छ समझते हैं। तब भला वे इन्द्रादिपदको भी क्या समझेंगे ॥ ४८ ॥ हे नारायण! आजके पहले हमसे कोई भी अपराध नहीं बन पड़ा था, किन्तु आज आपके भक्तोंको शाप देकर हम बहुत बड़ा अपराध कर गुजरे हैं। अस्तु, इस महापापके कारण यदि हमको बार-बार नरकमें भी जन्म लेना पड़े तो कोई चिन्ताकी बात नहीं, किन्तु मेरा मन भौंरेकी तरह आपके चरणकमलमें लीन रहे। आपकी अनुकम्पासे हम सदा आपके गुण गाते हुए तुलसीकी तरह आपके चरणोंका ध्यान करते रहें ॥ ४९ ॥ हे विपुलकीर्तिशाली नारायण! आपने अपना जो यह सुन्दर स्वरूप प्रकट किया है, उसका दर्शन करनेसे हम अपने आपको धन्य समझते हैं। पापियोंको इस दिव्य स्वरूपका दर्शन नहीं प्राप्त हो सकता। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(जय-विजयका वैकुण्ठधामसे पतन) ब्रह्माजी कहते हैं—उन भक्तियोगके योगियोंकी बातें सुनकर वैकुण्ठवासी और सर्वव्यापक भगवानने इस प्रकार कहा—ये दोनों मेरे पार्षद जय और विजय हैं। लेकिन आज इन लोगोंने (होनहारके फेरमें पड़कर) मेरा कुछ भी ख्याल न करते हुए आपके साथ जो व्यवहार किया है, वह सर्वथा अनुचित था ॥ १ ॥ २ ॥

यस्त्वेतयोर्धृतो दण्डो भवद्भिर्मामनुव्रतैः । स एवानुमतोऽस्माभिर्मुनयो देवहेलनात् ॥३॥
तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे । तद्धीत्यात्मकृतं मन्ये यत्स्वपुम्भिरसत्कृताः ॥४॥
यन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि । सोऽसाधुवादस्तत्कीर्तिं हन्ति त्वचमिवामयः ॥५॥
यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिश्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥६॥
यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुं सद्यःक्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति ॥७॥
नाहं तथाद्मि यजमानहविर्विताने श्च्योतद्घृतप्लुतमदन् हुतभुङ्मुखेन ।
यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोऽनुघासं तुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः ॥८॥
येषां बिभर्म्यहमखण्डविकुण्ठयोगमायाविभूतिरमलाङ्घ्रिरजः किरीटैः ।
विप्रांस्तु को न विषहेत यदर्हणाम्भः सद्यः पुनाति सहचन्द्रललामलोकान् ॥९॥
ये मे तनूर्द्विजवरान्दुहतीर्मदीया भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या ।
द्रक्ष्यन्त्यघक्षतदृशो ह्यहिमन्यवस्तान् गृध्रा रुषा मम कुषन्त्यधिदण्डनेतुः ॥१०॥
ये ब्राह्मणान्मयि धिया क्षिपतोऽर्चयन्तस्तुष्यद्धृदः स्मितसुधोक्षितपद्मवक्त्राः ।
वाण्यानुरागकलयाऽऽत्मजवद् गृणन्तः सम्बोधयन्त्यहमिवाहमुपाहतस्तैः ॥११॥

आप नारायणके भक्तोंने उनकी इस करनीका दण्ड दिया है, मैं उससे सहमत हूँ। क्योंकि आप लोगोंका इन्होंने अपमान किया था॥ ३॥ मैं ब्राह्मणोंको अपना पूज्य मानता हूँ और इसीसे आप लोगोंका निहोरा कर रहा हूँ। मेरे सेवकोंने आपका तिरस्कार किया है, इस लिए मैं ही उस अपराधका उत्तरदायी हूँ॥ ४॥ यदि कोई सेवक कोई अपराध कर गुजरता है तो साधारणतया पूछा जाता है कि यह किसका सेवक है। अन्तमें उसका मालिक भी लांछित होता है। वह लांछना मालिककी कीर्तिको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे श्वेतकुष्ठ चमड़ेको चौपट कर देता है॥५॥ मैं विकुण्ठ कहलाता हूँ। जिसका अमृत सदृश उज्ज्वल यश सुनकर जगत्के चाण्डाल तक तर जाते हैं और वह यश मुझे आप लोगोंके द्वारा ही प्राप्त हुआ है। ऐसी दशामें आपके विपरीत आचरण करनेवाले मैं अपने हाथ (जैसे प्रिय व्यक्ति) को भी काट डालूँगा॥ ६॥ मेरा विश्वास है कि आप लोगोंकी सेवासे ही मुझे यह बल प्राप्त हुआ है कि मेरे पैरोंकी धूल से समस्त जगत्का पाप धुल जाता है। और यद्यपि मैं उसकी तरफसे विरक्त रहता हूँ फिर भी वह लक्ष्मी मेरे पीछे पड़ी रहती है कि जिसकी एक झाँकीके लिए ब्रह्मादि देवता विविध प्रकारके नियमोंका साधन करते हैं॥ ७॥ यज्ञमें यजमान द्वारा अग्निको घीसे तर चरु-पुरोडाश आदि हव्यका हवन करनेपर मैं उतना तृप्त नहीं होता, जितना कि निष्काम बुद्धिसे कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे प्रसन्न होता हूँ (क्योंकि ब्राह्मण ही मेरे मुख हैं)॥ ८॥ और फिर जिनके पुनीत चरणरजको मैं अपने माथे चढ़ाता हूँ, तब संसारमें ऐसा कौन प्राणी है जो उन ब्राह्मणोंका अपमान करेगा। और मैं यद्यपि अखण्ड योगमायारूपी विभूतिको धारण किये रहता हूँ, फिर भी मेरे चरणोंका जल शिवजी तथा समस्त लोकोंको पवित्र करता है॥ ९॥ जो लोग कामधेनु गौ तथा साक्षात् मेरे शरीरसदृश ब्राह्मणोंका अपनी भेदबुद्धि वश अपमान करते हैं तो मैं उनके हृदयमें निवास नहीं करता।—और उन पापान्ध प्राणियोंको गृध्रसरीखे यमराजके दूत सर्पके सदृश क्रुद्ध होकर अपने वज्र सरीखे चंचुओंसे नोच-चोथ डालते हैं॥ १०॥ जो लोग कठोर भाषण करनेवाले ब्राह्मणको भी मेरा स्वरूप समझकर मुसका देते हैं और उनसे इस तरह बातें करते हैं जैसे बाप-बेटे आपसमें वार्तालाप करते हैं तो मैं उनके वशीभूत हो जाता हूँ॥ ११॥ इन

तन्मे स्वभर्तुरवसायमलक्ष्मणौ युष्मद्व्यतिक्रमगतिं प्रतिपद्य सद्यः।
भूयो ममान्तिकमितां तदनुग्रहो मे यत्कल्पतामचिरतो भृतयोर्विवासः ॥१२॥

ब्रह्मोवाच

अथ तस्योशतीं देवीमृषिकुल्यां सरस्वतीम्। नास्वाद्य मन्युदष्टानां तेषामात्माप्यतृप्यत ॥१३॥
सतीं व्यादाय शृण्वन्तो लघ्वीं गुर्वर्थगह्वराम्। विगाह्यागाधगम्भीरां न विदुस्तच्चिकीर्षितम् ॥१४॥
ते योगमाययाऽऽरब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्। प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः ॥१५॥

ऋषय ऊचुः

न वयं भगवन् विद्मस्तव देव चिकीर्षितम्। कृतो मेऽनुग्रहश्चेति यदध्यक्षः प्रभाषसे ॥१६॥
ब्रह्मण्यस्य परं दैवं ब्राह्मणाः किल ते प्रभो। विप्राणां देवदेवानां भगवानात्मदैवतम् ॥१७॥
त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव। धर्मस्य परमो गुह्यो निर्विकारो भवान्मतः ॥१८॥
तरन्ति ह्यञ्जसा मृत्युं निवृत्ता यदनुग्रहात्। योगिनः स भवान् किंस्विदनुगृह्येत यत्परैः ॥१९॥

यं वै विभूतिरुपयात्यनुवेलमन्यैरर्थार्थिभिः स्वशिरसा धृतपादरेणुः।
धन्यार्पिताङ्घ्रितुलसीनवदामधाम्नो लोकं मधुव्रतपतेरिव कामयाना ॥२०॥
यस्तां विविक्तचरितैरनुवर्तमानां नात्याद्रियत्परमभागवतप्रसङ्गः।
स त्वं द्विजानुपथपुण्यरजःपुनीतः श्रीवत्सलक्ष्म किमगा भगभाजनस्त्वम् ॥२१॥
धर्मस्य ते भगवतस्त्रियुग त्रिभिः स्वैः पद्भिश्चराचरमिदं द्विजदेवतार्थम्।
नूनं भृतं तदभिघाति रजस्तमश्च सत्त्वेन नो वरदया तनुवा निरस्य ॥२२॥

दोनोंने अपने स्वामीका (मेरा) अभिप्राय समझे बिना ही यह अपराध कर डाला है और इनको अपनी करनीका दण्ड भी मिल गया है। अब आप इतनी कृपा और कर दीजिए कि ये अपने पापोंका फल भोगकर शीघ्र मेरे पास वापस आ जायँ॥ १२॥ ब्रह्माजी कहते हैं—नारायणकी उन पवित्र और मंत्रसदृश कमनीय बातोंको सुनकर वे ऋषि यद्यपि बहुत क्रुद्ध थे, फिर भी शान्त हो गये॥ १३॥ भगवानकी वह वाणी छोटीसी थी, किन्तु उसमें गंभीर अर्थ भरा हुआ था और सुनकर भलीभाँति विचार करनेसे भी जल्दी थाह नहीं लग रहा था कि नारायणने वह बात कहकर उन लोगोंका अभिनन्दन किया या निन्दा की है॥ १४॥ अन्तमें उस वाणीको स्तुतिपरक ही समझकर प्रसन्न मनसे वे ऋषि बोले। उस समय उनको रोमांच हो आया था और जैसे उनकी प्रभुताको समझते हुए वे कहने लगे–॥ १५॥ हे भगवन्! हे देव! समस्त संसारके अध्यक्ष होते हुए भी आपने जो यह कहा कि 'आपने बड़ी कृपा की' इसका मतलब मैं नहीं समझ सका॥ १६॥ हे प्रभो! आप ब्राह्मणभक्त हैं और ब्राह्मणोंको आप सर्वश्रेष्ठ देवता मानते हैं। लेकिन सच तो यह है कि आप उन देवताओंके भी देवतास्वरूप ब्राह्मणोंके एकमात्र देवता और उनकी आत्मा हैं॥ १७॥ आपके द्वारा सनातनधर्मकी उत्पत्ति होती है और आपके अवतारशरीरोंसे ही उनकी रक्षा भी होती है। धर्मके गोप्य और विकार-शून्य तत्त्व आप ही हैं॥१८॥ जब कि विरक्तजन एकमात्र आपकी कृपासे ही भवसागर पार कर जाते हैं, तब क्या आपको किसीकी कृपाकी आवश्यकता हो सकती है?॥ १९॥ वह लक्ष्मीजी प्रतिक्षण जिसकी सेवामें मग्न रहती हैं, जगत्के लोलुप प्राणी जिनके चरणरजको बड़े प्रेमसे माथे चढ़ाते हैं। संसारके पुण्यात्माजन आपके चरणोंमें तुलसी-दलकी मालायें अर्पण करते हैं। और यद्यपि सदा आपकी शुश्रूषामें लगी रहती हैं॥ २०॥ और यद्यपि वे अपनी पुनीत परिचर्यासे आपका अनुसरण करती रहती हैं, फिर भी आप उनका विशेष ख्याल न करके अपने भक्तोंपर ही दाहिन-दयाल रहते हैं। यद्यपि आप सभी सम्पत्तियोंके निधान हैं, फिर भी आप अपनेको ब्राह्मणोंकी ही कृपासे महत्त्वशाली कहते हैं। यह केवल जगत्को शिक्षा देनेका ढंग है॥ २१॥ हे नारायण! ब्राह्मणों और देवताओंका उपकार

न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहात्मगोपं गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन ।
तर्ह्येव नङ्क्ष्यति शिवस्तव देव पन्था लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम् ॥२३॥
तत्तेऽनभीष्टमिव सत्त्वनिधेर्विधित्सोः क्षेमं जनाय निजशक्तिभिरुद्धृतारेः ।
नैतावता त्र्यधिपतेर्बत विश्वभर्तुस्तेजः क्षतं त्ववनतस्य स ते विनोदः ॥२४॥
यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते वृत्तिं नु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्बिषेण ॥२५॥

श्रीभगवानुवाच

एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः संरम्भसम्भृतसमाध्यनुबद्धयोगौ ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशु यो वः शापो मयैव निहितस्तदवैत विप्राः ॥२६॥

ब्रह्मोवाच

अथ ते मुनयो दृष्ट्वा नयनानन्दभाजनम् । वैकुण्ठं तदधिष्ठानं विकुण्ठं च स्वयंप्रभम् ॥२७॥
भगवन्तं परिक्रम्य प्रणिपत्यानुमान्य च । प्रतिजग्मुः प्रमुदिताः शंसन्तो वैष्णवीं श्रियम् ॥२८॥
भगवाननुगावाह यातं माभैष्टमस्तु शम् । ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ॥२९॥
एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा । पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते ॥३०॥

करनेके लिए आप अपनेमेंसे रजोगुण और तमोगुणको दूर करके तीनों गुणों तथा अपनी सतोगुणमयी मूर्तिमे अवतार लेते और इस चराचर जगत्का उपकार करते हैं। हे दीनानाथ! धर्म ही आपका वास्तविक स्वरूप है। तप, शौच और दया, ये तीन उस धर्मस्वरूपके चरण हैं ॥२२॥ यदि आप समस्त कुलोंमें उत्तम ब्राह्मणकुलकी रक्षा और सत्कार न करते तो आपके द्वारा प्रचलित की हुई जगत्का कल्याण करनेवाली वैदिक मर्यादा ही लुप्त हो जाती और संसारके साधारण लोग देव-ब्राह्मणोंका आदर न करते। क्योंकि संसार तो गतानुगतिक है। जैसा बड़े लोग करते हैं, उसी प्रकार छोटे लोग भी करते रहते हैं ॥ २३ ॥ और आपको वह (वेदमार्गका नाश) अभीष्ट नहीं है। जिस समय संसारमें ऐसे दुष्टोंकी प्रबलता हो जाती है कि जो आपके उस पुरातन धर्ममार्गपर आधात पहुँचाते हैं तो आप अपनी सत्त्वमयी मूर्तिसे अवतार लेकर उनका नाश कर देते हैं। ऐसी दशामें आपका ब्राह्मणोंको प्रणाम करना उचित ही है। धर्मकी रक्षाके निमित्त उनको प्रणाम करनेसे आपके प्रतापमें कुछ भी न्यूनता नहीं आती। यह भी आपकी एक लीला है ॥ २४ ॥ हे स्वामिन्! आपके इन दोनों सेवकोंको हमने जो दण्ड दिया है, आप चाहें तो उसका समर्थन करें या इनकी और पदोन्नति कर दें, मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। और यदि आप मेरे शापप्रदानको अपराध समझें तो जो दण्ड चाहें हमको दीजिए, वह भी हमें अंगीकार होगा ॥ २५ ॥ उन ऋषियोंकी बात सुनकर सान्त्वना देते हुए नारायण बोले—आप घबड़ायँ नहीं, ये दोनों सेवक (जय-विजय) राक्षसी योनिमें जन्म लेकर शीघ्र ही मेरे समीप वापस आ जायँगे। ये उस योनिमें जाकर मेरे साथ प्रबल शत्रुताका बर्ताव करेंगे। शत्रुताके आवेशमें ये बराबर मेरा स्मरण करते रहेंगे। इनको एक प्रकारसे मेरे चिन्तनकी समाधि-सी लग जायगी। हे ब्राह्मणों! इनको आपने जो शाप दिया है, इसे मेरी इच्छाके अनुकूल ही समझिए ॥२६॥ ब्रह्माजी कहते हैं—इसके बाद उन मुनियोंने नारायणका वह नयनाभिराम और तेजस्वी रूप तथा उनका वह दिव्य वैकुण्ठलोक देखकर—॥ २७ ॥ उनकी परिक्रमा की, भगवानको प्रणाम किया और उनसे अनुमति माँगी। तदनन्तर नारायणका गुण गाते हुए वे लोग वहाँसे विदा होगये ॥ २८ ॥ मुनियोंके चले जानेपर नारायणने अपने दोनों सेवकोंको बुलाकर कहा—'तुम घबड़ाओ नहीं। तुम्हारा कल्याण हो। यद्यपि मैं उनके उस शापस्वरूप ब्रह्मतेजको नष्ट कर सकता हूँ, लेकिन मैं ऐसा करना नहीं चाहता। क्योंकि उस शापसे मैं सहमत हूँ ॥ २९ ॥ इस शापका संकेत तो तुम्हें उसी समय मिल

मयि संरम्भयोगेन निस्तीर्य ब्रह्महेलनम्। प्रत्येष्यतं निकाशं मे कालेनाल्पीयसा पुनः ॥३१॥
द्वाःस्थावादिश्य भगवान् विमानश्रेणिभूषणम्। सर्वातिशयया लक्ष्म्या जुष्टं स्वं धिष्ण्यमाविशत्॥३२॥
तौ तु गीर्वाणऋषभौ दुस्तराद्धरिलोकतः। हतश्रियौ ब्रह्मशापादभूतां विगतस्मयौ ॥३३॥
तदा विकुण्ठधिषणात्तयोर्निपतमानयोः। हाहाकारो महानासीद्विमानाग्र्येषु पुत्रकाः ॥३४॥
तावेव ह्यधुना प्राप्तौ पार्षदप्रवरौ हरेः। दितेर्जठरनिर्विष्टं काश्यपं तेज उल्बणम् ॥३५॥
तयोरसुरयोरद्य तेजसा यमयोर्हि वः। आक्षिप्तं तेज एतर्हि भगवांस्तद्विधित्सति ॥३६॥
विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः ॥॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः। ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ॥१॥
दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी। पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥२॥
उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः। दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥३॥
सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः। सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ॥४॥

गया था, जब मेरे योगनिद्रामें लीन रहनेके समय लक्ष्मीजी मेरे पास आरही थीं और तुमने उनको रोक दिया था ॥ ३० ॥ राक्षसी योनिमें प्राप्त होकर क्रोधयोगके द्वारा शीघ्र ही तुम इस ब्रह्मशापकी अवधिको समाप्त कर लोगे और फिर मेरे पास लौट आओगे ॥ ३१ ॥ इस प्रकार अपने द्वारपालोंको समझा-बुझाकर नारायण विमान-पुञ्जसे विभूषित और सर्वोत्कृष्ट शोभायुक्त अपने भवनमें गये ॥३२॥ वे द्वारपाल ब्रह्मशापके कारण नारायणके लोकसे भ्रष्ट हो गये, तत्काल उनका सौन्दर्य विलीन होगया और सारा गर्व खर्व होगया ॥ ३३ ॥ ब्रह्माजी कहते हैं—हे पुत्रो (देवताओं) ! जिस समय नारायणके वे दोनों सेवक वैकुण्ठधामसे गिरने लगे, उस समय विमानोंपर बैठे हुए देवताओंमें हाहाकार मच गया ॥ ३४ ॥ वे ही दोनों (जय-विजय) भगवानके प्रधान सेवक इस समय कश्यपके तेजोमय वीर्य द्वारा दितिके गर्भमें आगये हैं ॥ ३५ ॥ उन्हीं दोनों दैत्योंके तेजसे तुम लोगोंका तेज दब गया है और यही नारायणकी इच्छा है। इसमें कुछ उलट-फेर नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥ जो भगवान समस्त विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं, जो जगत्के जीवोंके आदि पुरुष हैं, योगीजन भी जिनकी अनुल्लंघनीय मायाका पार नहीं पाते, वे ही त्रिलोकीनाथ नारायण हम लोगोंका कल्याण करेंगे। इस विषयमें हम लोगोंके विशेष सोचने-विचारनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुका जन्म और उनकी विजययात्रा) महर्षि मैत्रेय विदुरसे कहते हैं—देवताओंने जब इस प्रकार ब्रह्माजीकी बातें सुनीं तो उनकी शंका निवृत्त होगयी और वे लोग वहाँसे अपने स्वर्गलोकको लौट पड़े ॥ १ ॥ उधर दितिने अपने पति कश्यपके मुखसे जब भावी पुत्रोंकी प्रकृतिका हाल सुना तो उसे बड़ी बेचैनी हुई। अन्तमें सौ वर्ष पूर्ण होजानेपर उस साध्वीके गर्भसे एकसाथ दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ उनकी उत्पत्तिके समय आकाश, पृथ्वी और स्वर्गमें संसारको व्याकुल करनेवाले तरह-तरहके उत्पात हुए ॥ ३ ॥ पहाड़ों समेत पृथ्वी डगमगाने लगी।

ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः । उन्मूलयन्नगपतीन् वात्यानीको रजोध्वजः ॥५॥
उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे । व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ॥६॥
चुक्रोश विमना वार्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः । सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥७॥
मुहुः परिधयोऽभूवन् सराह्वोः शशिसूर्ययोः । निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ॥८॥
अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् । सृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः ॥९॥
सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम् । व्यमुञ्चन् विविधावाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥१०॥
खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् । खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन् वरूथशः ॥११॥
रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन् खगाः । घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत ॥१२॥
गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः । व्यरुदन्देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम् ॥१३॥
ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः । अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ॥१४॥
दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातानतत्तत्त्वविदः प्रजाः । ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ॥१५॥
तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ । ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव ॥१६॥

दसों दिशाओंमें आगकी लपटें उठती दिखायी पड़ने लगीं । उल्कापातके साथ-साथ बिजली गिरने लगी और आकाशमें सहसा केतुका उदय होगया ॥ ४ ॥ फूत्कारका घनघोर शब्द करती और शरीरको झुलसती हुई हवा जोरोंसे चलने लगी । धूलभरे बवंडर चलकर बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करने लगे ॥ ५ ॥ चारों ओरसे घटायें घिर आयीं । बिजली चमकने लगी । सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह छिप गये और इतना अन्धकार छा गया कि कुछ दिखायी ही नहीं देता था ॥ ६ ॥ समुद्र जैसे क्रुद्ध होकर ऊँची-ऊँची तरंगें उछालने लगा और उसके उदरमें रहनेवाले मगर-मत्स्य आदि जीव क्षुभित हो उठे । कुएँ, बावली और नदियोंमें बाढ़-सी आ गयी और कमलदल मुरझा गये ।। ७ ॥ सूर्य और चन्द्रको ग्रहण लग गया और उनके चारों ओर मण्डल दिखायी पड़ने लगा । आकाशकी कन्दराओंमें घनघोर गर्जन होने लगा और पर्वतकी कन्दराओंसे गड़गड़ाहटकी ध्वनि सुनायी देने लगी । जैसी ध्वनि रथ चलनेपर होती है ॥ ८ ॥ अपने मुखसे आग उगलती हुई सियारिनें बीच गाँवमें आकर रोने लगीं । सियारों और उल्लुओंकी ध्वनि सुनाई देनेलगी ॥ ९ ॥ गावोंके कुत्ते इकट्ठे हो और गर्दनें उठा-उठाकर तरह-तरहसे रोने और भोंकने लगे ॥ १० ॥ हे विदुर ! झुण्डके झुण्ड गदहे अपने कर्कश स्वरोंसे मिट्टी खोदने और एक विचित्र प्रकारका शब्द कर करके इधर-उधर भागने लगे ॥ ११ ॥ उन गधोंका कोलाहल सुनकर भयभीत पक्षी अपना-अपना घोंसला छोड़-छोड़ कर रोते हुए भाग निकले । अपने स्थानोंमें बँधे अथवा वनोंमें चरते हुए पशु मारे भयके मल-मूत्र त्यागने लगे ॥ १२ ॥ गौवें भयभीत होगयीं और दुहनेपर उनके थनसे रक्त निकलने लगा । मेघ मवादकी वर्षा करने लगे । मन्दिरोंमें स्थापित देवता रोने लगे और बिना वायुके ही वृक्ष उखड़-उखड़कर गिरने लग गये ॥ १३ ॥ शनि, मंगल आदि क्रूर ग्रह गुरु-बुध आदि सौम्य ग्रहोंका अतिक्रमण करके और वक्री हो-होकर आपसमें ही लड़ने लगे ॥ १४ ॥ इन भयानक उत्पातोंको देख-देखकर इनका कारण न समझनेवाली प्रजा घबड़ाकर यह सोचने लगी कि अब प्रलय हो जायगा । केवल ब्रह्माके पुत्र सनकादि मुनि इस उपद्रवोंसे भयभीत नहीं हुए । क्योंकि वे इसका रहस्य जानते थे ॥ १५ ॥ उधर लोहेके समान कठोर शरीरवाले वे दोनों आदि दैत्य अपना पौरुष प्रगट करते हुए पहाड़के समान बढ़ने लगे ॥ १६ ॥ अन्तमें वे इतने बढ़ गये कि उनके सुनहले किरीट आकाशको छूने लगे । उनका शरीर इतना मोटा होगया कि दिशायें भरी हुई जान पड़ने लगीं । चलते समय जब उनका एक-एक पैर पड़ता तो पृथ्वी काँपने लगती थी । उनके भुजदण्डमें सोनेके बिजायठ पड़े थे और कमरमें सोने ही की चमकीली करधनी पड़ी थी,

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभिर्निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः ॥१७॥
प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत ।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥१८॥
चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च। वशे सपालाँल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥१९॥
हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् । गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ॥२०॥
तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् । वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ॥२१॥
मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् । भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः ॥२२॥
स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् । सेन्द्रान्देवगणान् क्षीबानपश्यन् व्यनदद् भृशम् २३
ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिःस्वनम् । विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ॥२४॥
तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ॥२५॥
स वर्षपूगानुदधौ महाबलश्चरन्महोर्मीञ्छ्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरीमासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः ॥२६॥
तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन् प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचवज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ॥२७॥

जिसकी चमकसे सूर्य भी पराजित-से हो रहे थे ॥ १७ ॥ उन दोनों यमज (जुडुआ) पुत्रोंमेंसे जो पहले पैदा हुआ, महर्षि कश्यपने उसका नाम हिरण्यकशिपु और पिछले पुत्रका हिरण्याक्ष नाम रखा ॥ १८ ॥ हिरण्यकशिपुमें अपने बाहुबल और ब्रह्माजीके वरदानसे तीनों लोकों और लोकपतियोंको अपने वशमें कर लिया। क्योंकि उसे किसी तरह भी न मरनेका वरदान मिल गया था, जिससे वह उद्धत हो रहा था ॥ १९ ॥ उसका प्रिय छोटा भाई हिरण्याक्ष सदा उसे प्रसन्न रखता था। एकदिन वह हाथमें गदा लिये लड़नेके अभिप्रायसे किसी संग्राम करनेवाले प्रतिद्वन्द्वीको खोजता हुआ स्वर्गलोकमें जा पहुँचा ॥ २० ॥ चलते समय उसके पैरोंमें पड़े सुनहले नूपुर बज रहे थे, गलेमें वैजयन्ती माला पड़ी थी और कन्धेपर बड़ी-सी गदा विराजमान थी। उस महाबलवान् दैत्यको—॥ २१ ॥ जो असाधारण वीर, ब्रह्माके वरदानसे अभिमानी, निर्भय एवं उद्दण्ड था—उसको आते देखकर सभी देवता मारे डरके उसी तरह छिप गये, जैसे गरुड़को देखकर सर्प छिपजाते हैं ॥ २२ ॥ अपने तेजसे देवताओंको छिपा समझकर उसने यह जान लिया कि ये सभी देवता कमजोर हैं। अब वह जोर-जोर गरजकर देवताओंको ललकारने लगा ॥ २३ ॥ तदनन्तर वह महाबलवान् दैत्य स्वर्गलोकसे लौट पड़ा और मतवाले हाथीके समान मस्त होकर समुद्रमें कूद गया। समुद्रमें उसके कूदनेपर वरुणदेवके सभी सैनिक—मत्स्य कच्छप आदि जलजीव—घबड़ा उठे। उस समय मारे भयके जैसे उनकी बुद्धि ही नष्ट हो गयी। यद्यपि उस दैत्यने उन्हें मारा-पीटा नहीं, फिर भी उसके तेजसे ही व्याकुल होकर वे लोग भाग खड़े हुए ॥ २४॥ २५ ॥ वह महाबली राक्षस बहुत वर्षों तक उस समुद्रमें ही हवाके झोंकेसे उठती हुई ऊँची-ऊँची तरंगोंपर अपनी लौहमयी गदा पटकता हुआ विचरता रहा। हे तात (विदुर) ! वहाँसे वह वरुणकी विभावरीपुरीमें गया ॥ २६ ॥ वहाँ दैत्योंके लोक पातालका पालन करनेवाले और जलजन्तुओंके अधिपति वरुणसे भेंट हुई। उन्हें देखकर उपहास करते हुए उसने प्रणाम किया और एक नीच मनुष्यकी तरह मुसकराकर कहा—हे अधिराज ! आप यह राजमहल छोड़कर युद्ध करनेके लिए मैदानमें आजाइये ॥ २७ ॥ हे वरुण ! तुम लोकपाल, जलके प्रभु और वीरोंका गर्व खर्व करनेवाले असाधारण वीर हो। तुमने अपने प्रचण्ड बाहुबलसे सब

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।
विजित्य लोकेऽखिलदैत्यदानवान् यद्राजसूयेन पुरायजत्प्रभो ॥२८॥
स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन् स्वया धिया व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम् ॥२९॥
पश्यामि नान्यं पुरुषात्पुरातनाद्यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ॥३०॥
तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षदिग्विजये सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः ।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदाद्रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥१॥
ददर्श तत्राभिजितं धराधरं प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥२॥
आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता ।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः सुराधमासादितसूकराकृते ॥३॥

लोकोंके दैत्यों और दानवोंको परास्त करके राजसूय यज्ञ भी कर लिया है ॥ २८ ॥ इस प्रकार गर्वभरे वचन सुनकर यद्यपि वरुणदेवको क्रोध आ गया था, फिर भी अपनी विवेकशक्तिसे क्रोधको दबाकर उस दैत्यसे उन्होंने कहा—'हे दैत्यराज ! अब तो मैं लड़ाई-झगड़ेसे अलग हो चुका हूँ ॥ २९ ॥ उन पुरातन पुरुष नारायणके सिवाय मैं संसारमें और किसी ऐसे वीरको नहीं देखता, जो संग्रामभूमिमें तुम्हारा मुकाबला कर सके । हे असुरेन्द्र ! एकमात्र वे नारायण ही तुम्हारी इच्छा पूर्ण करके तुम्हें प्रसन्न कर सकेंगे । क्योंकि तुम्हारे सदृश बड़े-बड़े वीर भी उनके पौरुषकी सराहना किया करते हैं ॥ ३० ॥ इस लिए तुम शीघ्र उनके पास जाओ । वे तुम्हारा अभिमान दूर करके तुम्हें रणभूमिमें सुला देंगे और उस समय बहुतसे कुत्ते चारों ओर तुम्हारे शवको घेर लेंगे । क्योंकि वे सज्जनोंपर कृपा करके समय-समयपर तुम जैसे उद्धतोंका नाश करनेके लिए ही अवतार लिया करते हैं ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षदिग्विजयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(हिरण्याक्ष और वराहभगवानका युद्ध) मैत्रेय कहते हैं—हे विदुर ! वरुणदेवकी बातें सुनकर उस अभिमानी और महामनस्वी वीरने यों ही उड़ा दिया । उससे उसे किसी प्रकारकी घबराहट नहीं हुई और नारदके मुखसे नारायणकी निवासभूमिका पता लगाकर वह बड़े वेगसे रसातल-लोकको चला गया ॥ १ ॥ वहाँ उसने अपने दाँतोंकी नोकपर पृथ्वीको रखे हुए ऊपरकी ओर आते वराहके रूपमें नारायणको देखा । उनको देखकर उस दैत्यने मखौल करते हुए कहा—'वाह ! यह विचित्र वनजन्तु मिला ।' और उस समय नारायणकी लाल-लाल आँखोंके तेजसे उसका तेज मन्द पड़ गया ॥ २ ॥ क्षण भर बाद वह फिर बोला—ओ सूकररूप धारण करनेवाले देवधाम ! तू इस पृथ्वीको यहीं छोड़ दे । इसे तो ब्रह्माजीने हम पाताललोकनिवासियोंको अर्पित किया है । ओ

त्वं नः सपत्नैरभवाय किं भृतो यो मायया हन्त्यसुरान् परोक्षजित्।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥४॥
त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्षण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम्।
बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥५॥
स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरैर्दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम्।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः ॥६॥
तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिःस्वनोऽब्रवीद्गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम् ॥७॥
स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे विन्यस्य तस्यामदधात्स्वसत्त्वम्।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनैरापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ॥८॥
परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं महागदं काञ्चनचित्रदंशम्।
मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे ॥९॥

श्रीभगवानुवाच

सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा युष्मद्विधान्मृगये ग्रामसिंहान्।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥१०॥
एते वयं न्यासहरा रसौकसां गतह्रियो गदया द्राविवितास्ते।
तिष्ठामहेऽथापि कथञ्चिदाजौ स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ॥११॥
त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः।
संस्थाप्य चास्मान् प्रमृजाश्रु स्वकानां यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः ॥१२॥

नासमझ! मेरे सामने तू इसे लेकर नहीं जा सकेगा। अब तेरा कुशल नहीं है ॥ ३ ॥ हमारे शत्रु देवताओंने हमारा विनाश करनेके लिए ही क्या तुझे पाला-पोसा है? और तू अपने मायाबल (कपट) से दैत्योंको मारना चाहता है? तेरेमें केवल मायाका बल है। पुरुषार्थ तो एक प्रकारसे है ही नहीं। अरे मूढ़! आज मैं तेरा वध करके अपने सगे-सम्बन्धियोंका शोक दूर करूँगा ॥ ४ ॥ यदि मैं अपनी गदाके प्रहारसे तेरा मस्तक चूर्ण न कर दूँगा तो तेरे लिए पूजनकी सामग्रियें जुटानेवाले ये देवता और ऋषि किस तरह निर्मूल होंगे—तेरे जीवित रहते तो इनका हौसला बढ़ा ही रहेगा ॥ ५ ॥ उस दुष्टके कटु वचन सुनकर भगवानको बड़ा क्रोध आया और वे अपने लम्बे दाँतोंपर पृथ्वी उठाये हुए जलके भीतरसे निकल आये ॥ ६ ॥ अब उस राक्षसने जलसे निकलकर बाहर जाते हुए शूकरभगवानका पीछा किया और कहने लगा—'तुम जैसे निर्लज्ज जीव प्रबल शत्रुके सामनेसे भागनेके सिवाय और कर ही क्या सकते हैं?' उसके इन कटु वचनोंको सुनकर देवताओंने भगवानपर फूल बरसाये और ब्रह्माजीने उनकी स्तुति की ॥७॥८॥ इसके बाद भयभीत देवताओंका भय दूर करनेके लिए भगवान परम क्रोधाकुल होकर हँसते हुए उस दैत्यसे बोले—॥ ९ ॥ तुम्हारा कथन सत्य है। सचमुच हमलोग जंगली हैं और जंगलमें रहकर तुम जैसे कुत्तोंको खोजा करते हैं। ओ पापी! तेरे जैसे मरनेको उद्यत दुष्टोंकी बकवादपर वीर लोग ध्यान नहीं देते ॥१०॥ इसमें सन्देह नहीं कि तुम्हारी गदाकी मारसे हमलोग भाग खड़े हुए। इस प्रकार असमर्थ होते हुए भी हम तुम्हारे समक्ष खड़े हैं। बलवान् शत्रुसे वैर मोल लेकर भला कोई भागकर कहाँ बचेगा? ॥११॥ इसलिए अब तुम मुझे मारकर अपने सजातीयोंका शोकाश्रु पोंछ दो। जो अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता, उसे संसार मूर्ख समझता है ॥ १२ ॥ इस प्रकार

मैत्रेय उवाच

सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् । आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ॥१३॥
सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः । आसाद्य तरसा दैत्यो गदयाभ्यहनद्धरिम् ॥१४॥
भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि । अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम् ॥१५॥
पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः । अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदम् ॥१६॥
ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः । आजघ्ने स तु तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत् ॥१७॥
एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च । जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥१८॥

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाऽऽहताङ्गयोः क्षतास्रवघ्राणविवृद्धमन्य्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥१९॥
दैत्यस्य यज्ञावयवस्य मायागृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।
कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृतः स्वराट् ॥२०॥
आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान् सहस्रणीर्जगाद नारायणमादिसूकरम् ॥२१॥

ब्रह्मोवाच

एष ते देव देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम् । विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ॥२२॥
आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः । अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ॥२३॥
मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम् । आक्रीड बालवद्देव यथाऽऽशीविषमुत्थितम् ॥२४॥
न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः । स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत ॥२५॥
एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो । उपसर्पति सर्वात्मन् सुराणां जयमावह ॥२६॥
अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् । शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम् ॥२७॥

भगवानके धिक्कारने और मखौल करनेपर हिरण्याक्ष इस तरह क्रुद्ध हुआ जैसे विषधर सर्प । मारे क्रोधके उसकी सब इन्द्रियाँ क्षुभित हो गयीं और आवेशमें आकर उसने भगवानपर कर ही तो दिया गदाका प्रहार ॥ १३ ॥ १४ ॥ उसने भगवानकी छातीपर गदा चलायी थी, जिसे जरासा तिरछे होकर उन्होंने उसका वार बेकार कर दिया । अब वह गदा घुमाता हुआ पैतरे बदलने लगा और भगवान क्रुद्ध होकर उसपर झपट पड़े ॥ १५ ॥ १६ ॥ और उसपर अपनी गदा चला दी, जिसे उसने अपनी गदाकी मारसे बचा लिया । इस तरह बहुत समय तक वे दोनों आपसमें गदाबाजी करते रहे ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ गदायुद्धके विचित्र दाँव-पेच करके वे एक दूसरेको मार रहे थे और दोनोंहीके शरीरसे रुधिरकी धारा बहने लगी थी । पृथ्वीके लिए युद्ध करते हुए नारायण और हिरण्याक्षके उस भयानक युद्धको देखनेके लिए बहुतसे ऋषियोंके साथ ब्रह्माजी वहाँ जा पहुँचे । ब्रह्माने उस मदोन्मत्त और असाधारण पराक्रमी दैत्यको देखकरके सूकर भगवानसे कहा—हे देव ! यह दैत्य आपके शरणागत भक्तों, देवताओं और ब्राह्मणोंका अपराधी है । यह उन्हें भय देता है—मारता है । मैंने इसे वरदान दे दिया था, जिससे उद्धत होकर यह अपने ही समान किसी बलवानको खोजता हुआ सभी लोकोंमें घूमता रहता है ॥१९-२३ ॥ इसलिए इस गर्वीले, निरंकुश और मायावी सर्पके साथ आप बच्चोंकी तरह खेलवाड़ न करें । संध्या समय पाकर यह और भी बलवान न हो जाय, इसके पहले ही आप इसे मार डालें ॥२४॥२५॥ हे सर्वात्मन् ! लोकोंको नष्ट कर देनेवाली सन्ध्या आनेके पहले ही आप इसे समाप्त करके देवताओंको विजयश्री प्रदान कर दीजिए । अभी अभिजित नामका एक योग है । इस योगमें ही

दिष्टया त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम्। विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि॥२८॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षयुद्धेऽष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः। प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत्॥१॥
ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम्। जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः॥२॥
सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात्। विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत्॥३॥
स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम्। मानयन् स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन्॥४॥
गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते। मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चास्मरद्विभुः॥५॥
तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम्।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां तत्रास्मासन् स्वस्ति तेऽमुं जहीति॥६॥
स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम्।
विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन्॥७॥
करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव। अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम्॥८॥
पदा सव्येन तां साधो भगवान् यज्ञसूकरः। लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम्॥९॥
आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि। इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन् व्यनदद् भृशम्॥१०॥
तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान् समवस्थितः। जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम्॥११॥

आप हम लोगोंका कल्याण करनेके लिए इसे मार गिराइए॥ २६॥ २७॥ जय-विजयको शाप देते समय आपने जो दयादृष्टि की थी, इसीसे आप स्वयं मृत्यु बनकर इसके समक्ष पहुँच गये हैं। अब इसे मारकर आप संसारको सुखी करें॥ २८॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे 'सामयिकी'भाषा-टीकायां तृतीयस्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

(वाराहभगवानके हाथों हिरण्याक्षका वध) मैत्रेय बोले—'सूकरभगवान श्रीब्रह्माजीका निष्कपट वाक्य सुनकर मुस्कराये और उनकी ओर निहारकर उनकी बात स्वीकार कर ली। तदनन्तर सामने विद्यमान उस दैत्यके कंधेपर उन्होंने गदाका प्रहार किया॥ १॥ २॥ इसी समय हिरण्याक्षने अपनी गदा चलाकर उनके प्रहारको व्यर्थ कर दिया और भगवानके हाथोंसे गदा छूटकर गिर पड़ी। यह एक विचित्र घटना घट गयी। यद्यपि उस समय भगवान निहत्थे थे, वह चाहता तो भगवानपर प्रहार कर सकता था, लेकिन युद्धधर्मकी रक्षा करते हुए उसने ऐसा नहीं किया॥ ३॥ ४॥ जब वह गदा छूटकर गिरी तो देवताओंमें हाहाकार मच गया, किन्तु भगनानने ऐसे अवसरपर हिरण्याक्षके उस धार्मिक विचारका सम्मान करते हुए सुदर्शन चक्रका स्मरण किया। उसी समय भगवानकी महिमा जाननेमें असमर्थ देवता भगवानसे कहने लगे—'आपका कल्याण हो, आप इस दैत्यको मारनेमें समर्थ हैं'॥ ५॥ ६॥ उस दैत्यने जब हाथमें सुदर्शन चक्र लिये भगवानको खड़े देखा तो क्रोधसे उसकी सब इन्द्रियाँ अधीर हो उठीं और वह जोरसे साँस लेता हुआ दाँतोंसे होंठ काटने लगा। इसके बाद अपनी लाल-लाल आँखोंसे जैसे जलता हुआ 'अब तुम मर जाओगे।' यह कहकर गदासे भगवानपर प्रहार कर दिया॥ ७॥ ८॥ लेकिन भगवानने देखते-देखते उस गदाको अपने बायें पैरसे दाब दिया और बोले-'हे दैत्य! यदि तुम इस युद्धमें जीतनेकी अभिलाषा रखते हो तो हाथमें शस्त्र ग्रहण करो।' भगवानकी यह बात सुनकर उसने फिर उनपर गदाका प्रहार किया और बड़े जोरसे

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः। नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥१२॥
जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम्। यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन् यथा ॥१३॥
तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं चकास दन्तः ख उदीर्णदीधिति।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्त्रमुज्झितम् ॥१४॥
वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत्।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना नदन् प्रहृत्यान्तरधीयतासुरः ॥१५॥
तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः। नाकम्पत मनाक् क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥१६॥
अथोरुधाऽसृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ। यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ॥१७॥
प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन्। दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥१८॥
द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः। वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत् ॥१९॥
गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ। दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः॥२०॥
बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः। आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः ॥२१॥
प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत्। सुदर्शनास्त्रं भगवान् प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ॥२२॥
तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः। स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक् प्रसुस्रुवे ॥२३॥
विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम्। रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ॥२४॥
तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः। करेण कर्णमूलेऽहन् यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥२५॥

गरजने लगा। लेकिन वाराहभगवानने उस गदाको हाथसे ही पकड़ लिया ॥ ९-११ ॥ और उसे वापस देने लगे। इस तरह कई बार प्रहार करनेपर भी वह कुछ नहीं कर सका तो उसने अपने पौरुषकी हीनता समझी। फिर भी उसने भगवानके हाथसे गदा वापस नहीं ली। अब उसने अङ्गारेकी तरह चमकते हुए एक तीन शाखावाला त्रिशूल उठाकर भगवानपर चला दिया ॥ १२ ॥ १३ ॥ किन्तु भगवानने ऊपर उठे हुए उस त्रिशूलको अपने सुदर्शन चक्रसे काट गिराया। अब उस दैत्यने अतिशय कुपित होकर भगवानकी छातीमें मुक्का मारा और लोगोंके देखते-देखते गायब हो गया। किन्तु हे विदुर! हिरण्याक्षके मुष्टिप्रहारसे भगवान हिले भी नहीं। जैसे हाथीको कोई फूलकी मालासे मारे और उसे न मालूम पड़े ॥ १४-१६ ॥ अब उस दैत्यने उन मायापतिपर विविध प्रकारकी मायाका प्रयोग किया, जिसे देखकर सब लोगोंने समझा कि अब प्रलय हो जायगा। भयानक आँधी चलने लगी। धूल-गुबारसे सब दिशायें भर गयीं और पत्थरके बड़े-बड़े टुकड़े उड़-उड़कर गिरने लगे। आकाशमें भयानक घटा घिर आयी। जिसमें सभी नक्षत्र छिप गये और उस घनघटासे पीब, केश, रक्त, विष्ठा, मूत्र और हड्डियोंकी वर्षा होने लगी ॥ १७-१९ ॥ बड़े-बड़े पहाड़ अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर रणांगणमें उतर आये। और केश खोले हुए नंगी राक्षसियाँ हाथमें त्रिशूल लिये इधर-उधर दौड़ती दीखने लगीं। अगणित यक्ष-राक्षस 'मरो-काटो' की आवाज लगाते हुए जुट गये। क्षणभरमें भगवानने अपने सुदर्शन चक्र द्वारा वह आसुरी माया नष्ट कर दी। उसी समय सहसा दिति (हिरण्याक्षकी माता) का हृदय धड़कने और स्तनोंसे रुधिर बहने लगा और उसे अपने पति कश्यपकी बात याद आगयी। उधर जब हिरण्याक्षने देखा कि उसकी मायाको सुदर्शनने नष्ट कर दिया तो वह किटकिटाकर भगवानपर झपटा और उनकी छतीमें कई मुक्के मारे। अवसर पाकर भगवानने उसकी कनपटीमें एक मुक्का मारा। इस मारसे वह दैत्य लड़खड़ाता हुआ कुछ दूर जा गिरा। उसकी आँखें बाहर निकल आयीं। हाथ-पैर ढीले हो गये। गरदन लटक गयी और उसका प्राणपक्षी उड़ गया। उस समय ऐसा मालूम पड़ रहा था कि जैसे वायुके झोंकसे कोई बड़ासा पर्वत धराशायी हो गया हो

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥२६॥
क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम्।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता अहो इमां को नु लभेत संस्थितिम् ॥२७॥
यं योगिनो योगसमाधिना रहो ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया।
तस्यैष दैत्यापसदः पदाहतो मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ॥२८॥
एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम्। पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ॥२९॥

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुदस्त्वत्पादभक्त्या वयमीश निर्वृताः ॥३०॥

मैत्रेय उवाच

एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं स सादयित्वा हरिरादिसूकरः।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ॥३१॥
मया यथानूक्तमवादि ते हरेः कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम्।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ॥३२॥

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम्। क्षत्ताऽऽनन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज ॥३३॥
अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम्। उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः ॥३४॥
यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम्। क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद् द्रुतम् ॥३५॥
तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः। कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥३६॥

॥ २०—२६ ॥ उस कराल दाँतोंवाले और असाधारण तेजस्वी दैत्यको भूमिमें पड़ा देखकर ब्रह्मादि सभी देवता एकत्र हो गये और आपसमें कहने लगे कि 'संसारमें ऐसा कौन भाग्यशाली है, जिसे इस प्रकार भगवानके हाथों मुक्ति मिल सके। बड़े-बड़े योगी योगसमाधि द्वारा एकान्तमें बैठकर दुर्गुणोंसे छुटनेके लिए जिसका ध्यान करते हैं, उन्हीं कमललोचन नारायणका मुख देखते हुए इसने शरीर त्याग किया है। वास्तवमें ये दोनों (हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु) भगवानके पार्षद हैं। ब्राह्मणके शापसे ये इस दुर्गतिको प्राप्त हुए हैं। कुछ जन्मोंके बाद ये फिर अपनी पूर्व अवस्थाको प्राप्त हो जायेंगे। इसके बाद वे देवता वराहभगवानकी स्तुति करते हुए बोले-'हे हरे! आप ही सब यज्ञोंके विस्तारस्वरूप हैं। इसलिए हम आपको नमस्कार करते हैं। सब लोकोंका मर्म भेदन करनेवाला यह दैत्य आपके हाथों मर गया। आपके चरणकमलकी भक्तिसे हमलोग अतिशय आनन्दको प्राप्त हुए। अबतक जो कुछ हुआ, बहुत अच्छा हुआ। मैत्रेय मुनि कहते हैं—'हे विदुर! इस प्रकार देवताओंकी स्तुति सुन और उनका सम्मान करके भगवान अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार मैंने तुम्हें हिरण्याक्षवधका वृत्तान्त कह सुनाया॥ २७-३२ ॥ सूतजी कहते हैं-हे शौनक! मैत्रेयके मुखारविन्दसे भगवानका यह अनुपम चरित्र सुनकर परमभगवद्भक्त विदुर आनन्दित हुए। उन्हें आनन्द क्यों न होता, जब कि साधारण भगवद्भक्तोंका गुणगान सुननेसे आत्मा गद्गद हो जाती है, तब साक्षात् भगवानके चरित्र सुननेसे महान् आनन्द प्राप्त होना ही चाहिए। जिन भगवानने ग्राहके कराल मुखमें पड़े हुए गजको ध्यान करते ही छुड़ा दिया था, उन सुखसे आराध्य नारायणकी आराधना भला कौन नहीं करेगा। इस पुनीत कथानकको जो कहता, सुनता या इसका मनन करता है

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः ॥३७॥
एतन्महापुण्यमलं पवित्रं धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे हिरण्याक्षवधो नाम एकोनविंशोऽध्यायः।

विंशतितमोऽध्यायः

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते स्वायम्भुवो मनुः । कान्यन्वतिष्ठद् द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥१॥
क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् । यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति ॥२॥
द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः । सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः ॥३॥
किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया । उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥४॥
तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः । आपो गाङ्गा इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः ॥५॥
ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः । रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥६॥
एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः । भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥७॥

सूत उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः ॥८॥

विदुर उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् । किमारभत मे ब्रह्मन् प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ॥९॥

तो वह ब्रह्मवधजनित पातकसे भी छुटकारा पा जाता है ॥ ३३-३७ ॥ यह भगवच्चरित परमपुनीत, धनदायक, यशोदाता और कीर्ति बढ़ानेवाला है । जो बराबर इसका श्रवण करते हैं तो अन्तकालमें भगवान उन्हें अपने स्वरूपमें मिला लेते हैं ॥ ३८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(सृष्टिके विस्तारका क्रम) इतनी कथा सुननेके बाद शौनकने श्रीसूतजीसे पूछा–'स्वायम्भुव मनु जब इस पृथ्वीपर आ गये, तब उन्होंने किन-किन उपायोंसे सृष्टि की । विदुरजी भगवान कृष्णचन्द्रजीके अभिन्न मित्र थे । उन्हीं भगवानके लिए उन्होंने अपने पापी भ्राताओं (दुर्योधन आदि) को त्याग दिया था ॥ १ ॥ २ ॥ द्वैपायन व्यासके पुत्र होनेके कारण विदुर महिमामें व्यासके समान ही हैं । क्योंकि वे अपना तन-मन-धन सर्वस्व भगवानको सौंपे हुए हैं । इस प्रकार उन असाधारण भगवद्भक्त विदुरने इसके बाद मैत्रेयसे कौनसा कथानक पूछा ॥३॥४॥ हे सूत ! उन दोनोंके सत्संगमें ऐसी-ऐसी कथायें आयी होंगी, जो मनुष्योंके पापोंको इस तरह धो बहाती हैं जैसे गंगाजल । आप हमें उन कथाओंको सुनाइए। संसारमें भला कौन ऐसा रसिक होगा, जो भगवानके लीलामृतका श्रवण करनेसे तृप्त हो सके । शौनकादि मुनियोंके इन प्रश्नोंको सुनकर सूतजीने अपनी अध्यात्मशक्ति भगवानमें लगा दी और कहने लगे–'सुनिए ॥५॥६॥ हे ऋषियों ! वराहरूपधारी नारायणका चरित्र सुनकर विदुरको बड़ा आनन्द आया । फिर उन्होंने मैत्रेयसे पूछा–'हे महामुनि मैत्रेय ! ब्रह्माजीने मारीच

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः । ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ॥१०॥
सद्वितीयाः किमसृजन् स्वतन्त्रा उत कर्मसु । आहोस्वित्संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन् ॥११॥

मैत्रेय उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च । जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद् गुणत्रयात् ॥१२॥
रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् । जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि पञ्चशः ॥१३॥
तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् । संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥१४॥
सोऽशयिष्टाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः । साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ॥१५॥
तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति । सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराट् ॥१६॥
सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये । लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥१७॥
ससर्जच्छायया विद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः । तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः ॥१८॥
विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् । जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥१९॥
क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः । मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः ॥२०॥
देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत । अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥२१॥
देवताःप्रभया या या दीव्यन् प्रमुखतोऽसृजत् । ते अहार्षुर्दवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥२२॥
देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान् । त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे ॥२३॥
ततो हसन् स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः । अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥२४॥

आदि प्रजापतियोंकी सृष्टि करनेके बाद क्या किया ? उन मारीच आदि ऋषियों और महाराज स्वायंभुव मनुने ब्रह्माजीके आदेशानुसार जगत्की सृष्टि किस प्रकार की । स्त्रियोंके साथ रहते हुए सृष्टि की या अकेले ही ? वे एक साथ मिलकर सृष्टिकार्य करते थे या अलग रहकर ? ॥ ८–११ ॥ मैत्रेय बोले—'जो तर्कनाशक्तिके परे है, उस दैव द्वारा भगवानसे क्षुब्ध होकर प्रधान उत्पन्न हुआ और उससे महत्तत्त्वकी रचना हुई । महत्तत्त्वसे सत्त्व, रज और तम गुणत्रयात्मक अहंकार जायमान हुआ । उस अहंकारने पंच महाभूतादि तत्त्वोंकी रचना की । किन्तु वे सब अकेले रहकर सृष्टिकार्य सम्पन्न करनेमें असमर्थ रहे । अतएव उन सबने मिलकर ब्रह्माडकी सृष्टि कर दी । वह ब्रह्म-अण्ड हजार वर्षतक पानीमें पड़ा रहा और उसीमें भगवान आ बसे । एक वर्षतक भगवान भी उसमें विराजमान रहे । इसके बाद उन विराट् पुरुषकी नाभिसे कमल और कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई ॥ १२—१६ ॥ उन ब्रह्माजीने भगवानकी अधीनतामें रहकर नामरूपादिके क्रमसे इस लोककी स्थितिका निर्माण किया । उन्होंने सबसे पहले अपनी छायासे तामिस्र, अंधतामिस्र, तम, मोह और महातम नामक पाँच प्रकारकी अविद्याओं-की सृष्टि की । इसके बाद उनको अपना तमोमय शरीर पसन्द नहीं आया, इसलिए उसे उन्होंने त्याग दिया और वही शरीर रात्रिके रूपमें परिणत हो गया । उसे यक्षों और राक्षसोंने अपना लिया । वे यक्ष-राक्षस भूख-प्याससे व्याकुल होकर ब्रह्माको ही खानेके लिए दौड़ पड़े । किन्तु उनमें आपसमें ही मतभेद था । कुछकी सलाह थी कि इन्हें खा लिया जाय और कुछ कहते थे नहीं, इनकी रक्षा नहीं की जाय । ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्माजीने भयभीत होकर कहा—'हे यक्षों और राक्षसो ! तुम सब मेरी सन्तान हो । अतएव मुझे खाओ नहीं, बल्कि मेरी रक्षा करो । तुममेंसे जिन्होंने मुझे 'जक्षध्वम्' अर्थात् खा जाओ' यह राय दी है, वे यक्ष और जिन्होंने 'मा रक्षत—इनकी रक्षा न की जाय' यह सलाह दी है, वे राक्षस कहलायेंगे ॥ १७–२० ॥ इसके अनन्तर ब्रह्माजीने अपनी प्रभासे देवताओंकी सृष्टि की । जब ब्रह्माजीने उस प्रभाको भी त्याग दिया तो वह दिन हो गयी और उसे देवताओंने अपनाय लिया । इसके बाद ब्रह्माने अपनी कमरके अगले हिस्सेसे स्त्री-लम्पट असुरोंको बनाया । जब

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् । अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥२५॥
पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः । ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥२६॥
त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः । त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥२७॥
सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः । विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ॥२८॥
तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् । काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ॥२९॥
अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् । सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ॥३०॥
गूहन्तीं व्रीडयाऽऽत्मानं नीलालकवरूथिनीम् । उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे सम्मुमुहुः स्त्रियम् ॥३१॥
अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः । मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति ॥३२॥
वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् । अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन् कुमेधसः ॥३३॥
कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि । रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे ॥३४॥
या वा काचित्त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव । उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ॥३५॥

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम् ।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः ॥३६॥

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम् । प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥३७॥
प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना । कान्त्या ससर्ज भगवान् गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥३८॥
विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम् । त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ॥३९॥
सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा । दिग्वाससो मुक्तकेशान् वीक्ष्य चामीलयद् दृशौ ॥४०॥

वे असुर कामके वशमें हुए तो ब्रह्माके ही साथ मैथुन करनेको दौड़ पड़े। अब ब्रह्माजी भयभीत होकर भाग खड़े हुए। वे वहाँसे नारायणकी शरणमें जा पहुँचे और उनकी स्तुति करके कहने लगे—'हे परमात्मन्! मैंने आपकी आज्ञानुसार प्रजाकी सृष्टि की और अब वह प्रजा मेरे ही साथ मैथुन करना चाहती है ॥ २१-२६ ॥ ऐसी परिस्थितिमें एकमात्र आप ही मुझ दुखियाका दुःख दूर करके दुष्टोंका दमन कर सकते हैं।' यह सुनकर नारायणने ब्रह्मासे कहा—'जब ऐसा है तो तुम अपना यह शरीर त्याग दो।' इसपर उन्होंने अपना वह शरीर त्याग दिया ॥ २७ ॥ २८ ॥ अब ब्रह्माजीका वह शरीर सायंकालीन संध्यारूपिणी एक सुन्दरी स्त्रीके रूपमें परिणत हो गया। उस मतवाले नेत्रों, सुन्दर नासिका, सुन्दर दाँतों, पीन स्तनों और मन्द मुस्कराहट युक्त सन्ध्यासुन्दरीको नूपुरोंकी झनकार करके चलती देखकर वे सभी असुर आपसमें कहने लगे—'अहो! इसका कितना मनोहर स्वरूप है! इसमें कितना धैर्य है! इसमें यौवन किस तरह छलक रहा है! इस प्रकार तरह-तरहकी तर्कनायें करके वे दुर्बुद्धि असुर उस सुन्दरीके और समीप चले गये और पूछने लगे—॥ २९-३३ ॥ हे कदलीके खंभे सदृश जाँघोंवाली सुन्दरी! तुम कौन और किसकी कन्या हो? यहाँ क्यों घूम रही हो? तुम्हारे रूपको देखकर हमारी बुरी गति हो रही है ॥ ३४ ॥ अस्तु, ये सब प्रश्न बेकार हैं। तुम कोई भी हो, बड़े भाग्यसे तुम्हारे दर्शन मिले हैं। तुमने अपने असाधारण सौन्दर्यसे मेरे मनको गेंद बना लिया है और तुम उससे खेल रही हो। हे सुन्दरी! तुम्हारे पैर एक जगह नहीं टिकते। इस प्रकार कन्दुकक्रीडा करते रहनेसे तुम्हारी पतली कमरको तकलीफ हो रही होगी।' इस प्रकार उन मूर्ख असुरोंने उस सायंकालीन संध्याको स्त्री समझकर बड़े आग्रहके साथ अपनाय लिया ॥ ३५-३७ ॥ एक समय ब्रह्माने हँसकर अपनी असाधारण कान्तिसे गंधर्वों और अप्सराओंकी सृष्टि की। अब उन्होंने अपने उस दीप्यमान शरीरको भी त्याग दिया। वह शरीर चन्द्रमाकी चाँदनीके समान चमक रहा था। उसको विश्वावसु आदि गंधर्वोंने ग्रहण कर लिया ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ इसके बाद ब्रह्माजीने आलस्यसे नंगे-धड़ंगे और केश

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः । निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ॥४१॥
ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः । साध्यान् गणान् पितृगणान् परोक्षेणासृजत्प्रभुः॥४२॥
त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे । साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ॥४३॥
सिद्धान् विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् । तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम् ॥४४॥
स किन्नरान् किम्पुरुषान् प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः । मानयन्नात्मनाऽऽत्मानमात्माभासं विलोकयन्॥४५
ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना । मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ॥४६॥
देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया । सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ॥४७॥
येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे । सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः ॥४८॥
स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः । तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥४९॥
तेभ्यः सोऽत्यसृजत्स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान् । तान्दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥५०॥
अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम् । प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन् साकमन्नमदामहे ॥५१॥
तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना । ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः ॥५२॥
तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः । यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥५३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

खोले हुए भूतों-पिशाचोंकी सृष्टि की। उनको नंगे और केश खोले हुए देखकर ब्रह्माजीने अपनी आँखें मूँद लीं। अब ब्रह्माजीने अपना वह जृम्भणशरीर त्याग दिया, उसे उन भूतों-पिशाचोंने ग्रहण कर लिया। ब्रह्माजीके उस शरीरसे ही निद्रा और इन्द्रियोंकी ग्लानिकी उत्पत्ति हुई ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ब्रह्माजीने एक बार अपनेको बलवान् समझकर अदृश्यरूपसे पितरों और साध्यगणोंकी सृष्टि कर दी। इसके बाद ब्रह्माजीने जिस शरीरका त्याग किया, उसे पितरों और साध्यगणोंने ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि कर्मकाण्डी लोग साध्यों और पितरोंको हव्य-कव्य प्रदान करते हैं ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ इसके अनन्तर ब्रह्माजीने अपनी अन्तर्धानशक्तिसे सिद्धों और विद्याधरोंकी सृष्टि की। उन लोगोंने भी ब्रह्माजीका शरीर अंगीकार कर लिया। कुछ काल बाद ब्रह्माने अपने प्रतिबिम्बसे किम्पुरुषोंकी रचना की। उन्होंने भी ब्रह्माजीके त्यागे हुए शरीरको स्वीकार किया। वे किन्नर और किम्पुरुष एकसाथ प्रातःकालके समय ब्रह्माजीका गुण गाते हैं ॥ ४४–४६ ॥ एक बार ब्रह्माजी बड़ी चिन्तामें पड़े सो रहे थे। एकाएक उन्हें क्रोध आ गया और उसी कोधमें उन्होंने अपने शरीरको त्याग दिया ॥ ४७ ॥ उस देहसे जिन जीवोंकी सृष्टि की वे अहि, सर्प और नागनामसे विख्यात हुए। एक बार ब्रह्माजीने अपनेको कृतकृत्य समझकर मनसे मनुओंकी सृष्टि की। उन्होंने उन मनुओंको अपना पौरुष शरीर प्रदान कर दिया। इसके बाद ब्रह्माजीके द्वारा उत्पन्न वे गंधर्व आदि प्राणी ब्रह्मा-जीकी प्रशंसा करने लगे। वे बोले—'हे ब्रह्मन्! इस जगत्‌की सृष्टि करके आपने बहुत ही अच्छा किया। इस मनुसर्गमें अग्निहोत्र आदि सभी क्रियायें बड़े अच्छे ढंगसे चल रही हैं। इसलिए हम लोग देवताओंके साथ रहकर अन्न खा रहे हैं।' कुछ काल बाद ब्रह्माजीने अपने तप, योग और समाधिसे ऋषियोंकी सृष्टि की। उनको क्रम-क्रमसे उन्होंने समाधि योग-तप-ज्ञान-वैराग्य युक्त अपनी देहका एक-एक भाग प्रदान कर दिया ॥ ४७–५३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

विदुर उवाच

स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः । कथ्यतां भगवन् यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥१॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै । यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥२॥
तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता । पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ ॥३॥
तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः । ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ॥४॥
रुचिर्यो भगवान् ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः । यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम् ॥५॥

मैत्रेय उवाच

प्रजाः सृजेति भगवान् कर्दमो ब्रह्मणोदितः । सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्राणां समा दश ॥६॥
ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः । सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ॥७॥
तावत्प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे । दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥८॥
स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् । स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम् ॥९॥
किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् । श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनः स्पर्शस्मितेक्षणम् ॥१०॥
विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः । दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षः श्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥११॥
जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः । गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः १२

(महर्षि कर्दमजीकी तपस्या और उनको भगवानका वर देना) महर्षि विदुरजी कहते हैं—हे भगवन् ! अब आप मुझे स्वायम्भुव मनुके परम माननीय वंशकी कथा सुनायें। जिसमें मैथुनधर्म अर्थात् स्त्री-पुरुष-संयोगके द्वारा प्रजा वृद्धिको प्राप्त हुई थी ॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! एक बार आपने कहा था कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रत तया उत्तानपादने सातों द्वीपोंकी पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन किया और उनकी देवहूति नामकी पुत्री कर्दम प्रजापतिकी स्त्री हुई ॥ २ ॥ ३ ॥ यमादि सभी योगलक्षणोंवाली देवहूतिसे महायोगी कर्दमजीने कितनी सन्तानोंकी उत्पत्ति की? उनका वह पवित्र चरित्र आप हमें सुनाइए। मुझे वह सुननेकी बड़ी प्रवल कामना है ॥ ४ ॥ ऐसे ही भगवान् रुचि प्रजापति तथा ब्रह्माजीके पुत्र दक्षने भी मनुकी कन्याओंका पाणिग्रहण करके उनसे किस तरह सन्तानोंको उत्पन्न किया ? ॥ ५ ॥ श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे विदुर ! 'तुम प्रजाकी उत्पत्ति करो' इस तरह ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर कर्दमजीने सरस्वती नदीके तटपर दस हजार वर्षतक कठोर तप किया ॥ ६ ॥ तब कर्दमजी अपनी समाधि सहित क्रियायोगके द्वारा शरणागतवरदायक श्रीहरिकी अतिशय भक्तिपूर्वक आराधना करने लग गये ॥ ७ ॥ हे विदुर ! सत्ययुगके आरम्भमें उनकी तपस्यासे प्रसन्न भगवान् कमलनयन विष्णुने अपने वेदप्रतिपादित शब्दब्रह्मस्वरूपसे मूर्तिके रूपमें प्रकट होकर उनको दर्शन दिया ॥८॥ उन भगवान्का वह स्वरूप सूर्यके सदृश निर्मल तथा तेजोमय था। उनके गलेमें श्वेत कमल तथा कुमुदकी माला पड़ी थी। उनका मुखकमल चिकनी तथा नीली अलकोंसे सुशोभित हो रहा था। उनके कटिप्रदेशमें विमल वस्त्र था। सिरपर किरीट, कानोंमें कुण्डल और हाथोंमें शंख तथा गदा आदि आयुध विराज रहे थे। वे अपने एक हाथमें क्रीडाके लिए श्वेत कमल लिए थे। उनकी मधुर मुसकान भरी चितवन चित्त चुराये लेती थी। उनके चरणकमल गरुड़जीके कन्धोंपर थे। वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न तथा कौस्तुभमणि था। भगवानकी इस भव्य मूर्तिका दर्शन करके कर्दमजीको बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने अपनेको आप्तकाम समझ पृथ्वीपर लोटकर साष्टांग प्रणाम किया एवं स्वतःसिद्ध अपने प्रसन्नचित्तसे अतिशय प्रेमपूर्वक हाथ जोड़कर मधुर वाणीमें इस प्रकार स्तुति

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः सांसिध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भिराशासते योगिनो रूढयोगाः ॥१३॥
ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्युः ॥१४॥
तथा स चाहं परिवोढुकामः समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥१५॥
प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥१६॥
लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥१७॥
न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ॥१८॥
एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षयाद्वितीययाऽऽत्मन्नधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे यथोर्णनाभिर्भगवन् स्वशक्तिभिः ॥१९॥
नैतद्बताधीश पदं तवेप्सितं यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया लसत्तुलस्या तनुवा विलक्षितः ॥२०॥

करने लगे ॥ ९–१२ ॥ कर्दमजीने कहा—हे स्तुत्य प्रभो ! बड़े-बड़े योगसिद्ध योगी अनेक योनियोंमें जन्म ले-लेकर जिनके दर्शनकी कामना किया करते हैं, उन्हीं अखिलसत्त्वसमूहरूपी आपका दर्शन करके आज हमें अपने नेत्रोंका फल मिल गया ॥ १३ ॥ जिनकी बुद्धि आपकी मायासे भ्रान्त हो जाती है, वे ही तनिकसे विषयसुखके लिये संसारसागरके लिए नौकासदृश आपके चरणकमलोंकी आराधना करते हैं। हे ईश ! उन्हें आप वह विषयसुख देते हैं, जो नरकमें भी उपलब्ध हो सकते हैं ॥ १४ ॥ हे प्रभो ! उन्हीं सकाम पुरुषोंकी भाँति मैं दुरात्मा भी अपने अनुरूप स्वभाव तथा अर्थ, धर्म एवं कामकी प्राप्ति करानेवाली स्त्री पानेकी इच्छासे कल्पवृक्षकी नाईं सब कामनायें पूर्ण करनेवाले आपके चरणकमलोंकी शरणमें प्राप्त हुआ हूँ ॥ १५ ॥ हे सर्वेश्वर ! जैसे नाना प्रकारकी कामनाओंके अधीन यह लोक आप प्रजापतिके वचनरूपी डोरीसे पशुकी भाँति बँधा हुआ है। वैसे ही हे शुद्धधर्ममूर्ते ! मैं भी उसीका अनुगमन करता हुआ कालरूपी आपको बलि अर्पण करता हूँ ॥१६॥ हे प्रभो ! आपके भक्त विषयासक्त लोगों तथा पशुके समान उनका अनुसरण करनेवाले मेरे जैसे कर्मजडोंको कुछ भी न गिनकर आपके चरणरूपी छत्रकी त्रितापनाशिनी छायाके सहारे आपसमें आपके गुणगानरूपी मधुर अमृतको पीते हुए अपने क्षुधा-पिपासा आदि देहधर्मोंको शान्त किया करते हैं ॥ १७ ॥ हे प्रभो ! साक्षात् ब्रह्म जिसकी धुरी है, अधिकमास समेत तेरह महीने जिसके अरे हैं, तीन सौ साठ दिन जिसकी जोड़ें है, छः ऋतु जिसकी नेमि हैं, जिसमें अनन्त क्षण-पलरूपी पत्तके समान धार हैं और तीन चतुर्मास जिसके आधारचक्र हैं, वह चराचर जगत्की आयुका छेदन करके घूमनेवाला अत्यन्त वेगवान् संवत्सररूपी कालचक्र आपके भक्तोंकी आयु क्षीण नहीं कर पाता ॥ १८ ॥ हे भगवन् ! जैसे मकड़ी स्वयं जालेको फैलाती, उसकी रक्षा करती और अन्तमें स्वयं उसे निगल लेती है वैसे ही आप अकेले जकत्की रचना करनेके निमित्त अपनी योगमायाको स्वीकार करके उससे अभिव्यक्त अपनी सत्त्वादि शक्तियों द्वारा स्वयं इस जगत्की रचना, पालन तथा संहार किया करते हैं ॥ १९ ॥ हे अधी-

तं स्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपादसरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥२१॥

ऋषिरुवाच

इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभस्तमाबभाषे वचसामृतेन ।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ॥२२॥

श्रीभगवानुवाच

विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् । यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥२३॥
न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् । भवद्विधेष्वतितरां मयि संगृभितात्मनाम् ॥२४॥
प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विख्यातमङ्गलः । ब्रह्मावर्तं योऽधिवसञ्छास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥२५॥
स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया । आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥२६॥
आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम् । मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥२७॥
समाहितं ते हृदयं यत्रेमान् परिवत्सरान् । सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ॥२८॥
या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति । वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसाऽऽत्मनः ॥२९॥
त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः । मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥३०॥
कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान् । मय्यात्मानं सह जगद् द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम् ॥

श्वर ! आप हम भक्तोंको जो पञ्चभूतोंके कार्यरूपी विषयसुख देते हैं, वे मायिक हैं । अतएव आपको इष्ट नहीं हैं । फिर भी आपकी कृपासे वे हमें मिलें, जिससे हम देव, ऋषि तथा पितृ-ऋणसे उऋण हों । क्योंकि आपने इस समय हमें अपनी तुलसीमालाविमण्डित मायामयी सगुणमूर्तिकी झाँकी दी है । इसलिए हमें भोग और मोक्ष दोनों ही अपेक्षित हैं ॥ २० ॥ हे नाथ ! जो अपने स्वरूपमात्रसे सब क्रियाओंसे रहित किन्तु अपनी मायाके द्वारा सारे जगत्का व्यवहार चलाते हैं और थोड़ी-सी उपासना करनेवालेपर भी सब कामनाओंकी वर्षा करते रहते हैं । उन आपके नमनीय चरणकमलोंको मैं पुनःपुनः नमस्कार करता हूँ ॥ २१ ॥ श्री मैत्रेय ऋषि कहते हैं—इस प्रकार कर्दमजीके निष्कपट भावसे स्तुति करनेपर जिनकी भ्रूकुटि मुसकानभरी चितवनसे चञ्चल हो रही थी, वे गरुड़जीके कन्धेपर विराजमान भगवान उनके प्रति अमृतमयी वाणीमें बोले ॥ २२ ॥ श्रीभगवानने कहा—जिसके निमित्त तुमने अपने सब नियमोंका पालन करते हुए मेरी उपासना की है, तुम्हारे हृदयके उस भावको जानकर मैंने पहलेहीसे उसके लिए प्रबन्ध कर रखा है ॥ २३ ॥ हे प्रजापते ! मेरी आराधना कभी निष्फल नहीं होती, तब भी जिनका चित्त सर्वदा मुझमें ही लीन रहता है, उसे तुम सरीखे महात्माओंकी की हुई उपासनाका तो और भी विशेष फल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ प्रजापति ब्रह्माजीके पुत्र साक्षात् स्वायम्भुवमनुकि जिनका सुयश सर्वत्र विख्यात है, इस समय सार्वभौम सम्राट् हैं । वे ब्रह्मावर्तमें रहते हुए सात समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका शासन कर रहे हैं ॥ २५ ॥ हे विप्र ! वे परम धर्मात्मा महाराज स्वायम्भुव मनु अपनी महारानी शतरूपाके साथ परसों तुम्हें देखनेके निमित्त यहाँ आयेंगे ॥ २६ ॥ हे प्रभो ! वे ही अपनी श्यामलोचना तथा नवयौवना, शील एवं सद्गुणसम्पन्ना कन्याको, जो अपने अनुरूप वरकी खोजमें है, उसके योग्य पति समझकर आपको अर्पण करेंगे ॥ २७ ॥ विगत दस हजार वर्षोंमें तुम्हारा अन्तःकरण बहुत एकाग्र रहा है । अतएव हे ब्रह्मन् ! वह राजकन्या तुम्हें शीघ्र वरकर तुम्हारी समुचित सेवा करेगी ॥ २८ ॥ वह तुम्हारे वीर्यको अपने गर्भमें धारण करके उससे नौ कन्याएँ उत्पन्न करेगी । तदनन्तर तुम्हारी उन कन्याओंमें मरीचि आदि ऋषिगण अपने वीर्यको आधान करेंगे ॥ २९ ॥ तुम भी मेरी वेदरूपिणी आज्ञाका भलीभाँति पालन करनेसे शुद्धचित्त होकर अपने सब कर्मोंका फल मुझे अर्पण करके मुझे ही प्राप्त होओगे ॥ ३० ॥ सब जीवोंपर दया करते

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने । तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥३२॥

मैत्रेय उवाच

एवं तमनुभाष्याथ भगवान् प्रत्यगक्षजः । जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्यां परिश्रिताद् ॥३३॥

निरीक्षतस्तस्य ययावशेषसिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः ।
आकर्णयन् पत्ररथेन्द्रपक्षैरुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम ॥३४॥

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः । आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ॥३५॥

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् । आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥३६॥

तस्मिन् सुधन्वन्नहनि भगवान् यत्समादिशत् । उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥३७॥

यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः । कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥३८॥

तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम् । पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥३९॥

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः । सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥४०॥

मत्तद्विजगणैर्घुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम् । मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम् ॥४१॥

कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः । कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥४२॥

कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः । सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम् ॥४३॥

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः । गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥४४॥

हुए सबको अभयदान दे और ज्ञानसम्पन्न होकर तुम अपने आपको और सम्पूर्ण जगत्को मुझमें तथा मुझको अपनेमें स्थित देखोगे ॥ ३१ ॥ हे महामुने ! मैं भी अपने अंशस्वरूप कलासे तुम्हारे वीर्य द्वारा तुम्हारे क्षेत्र देवी देवहूतिके गर्भसे अवतार लेकर सांख्यशास्त्र रचूँगा ॥ ३२ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! इस प्रकार कर्दमजीसे कह तथा इन्द्रियोंके अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होनेवाले श्रीहरि सरस्वती नदीके उस बिन्दुसर तीर्थसे अपने लोकको लौट गये ॥ ३३ ॥ जिनके सिद्धमार्ग अर्थात् वैकुण्ठमार्गकी, जप-तप आदि साधनों द्वारा सिद्ध योगीजन प्रशंसा करते हैं, वे श्रीहरि कर्दमजीके देखते-देखते गरुड़जीके पक्षों द्वारा उच्चारण किये गये एवं सुननेमें स्पष्ट सामगान और उसकी आधार-स्वरूपा ऋचाओंको सुनते हुए अपने लोकको चले गये ॥ ३४ ॥ उन शुद्धस्वरूप श्रीभगवानके चले जानेके बाद कर्दम ऋषि भगवानके बताये समयकी प्रतीक्षा करते हुए बिन्दुसरोवरपर ही रहने लगे ॥ ३५ ॥ हे धनुर्धरश्रेष्ठ विदुरजी ! उधर मनुजी भी अपनी राजमहिषीके साथ सुवर्णजटित रथपर आरूढ़ हो तथा उसपर अपनी कन्याको भी चढ़ाकर पृथ्वीपर विचरते हुए, जो दिन भगवानने बताया था, उसी दिन परम शान्तमूर्ति महर्षि कर्दमजीके आश्रमपर जा पहुँचे ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ अपने शरणागत भक्त कर्दमऋषिके प्रति अतिशय दयार्द्र होनेपर भगवानके नेत्रोंसे जहाँ आँसुओंकी बूँदें गिरी थीं, वह सरस्वती नदीसे घिरा हुआ तथा स्वास्थ्यप्रद एवं अमृतके समान स्वादु जलसे भरा होनेके कारण महर्षिगणसे सेवित बिन्दुसर नामक पवित्र तीर्थ विद्यमान है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ वह सुन्दर वृक्ष और मनोहर लताओंसे घिरा है, विविध भाँतिकी बोली बोलनेवाले तथा पवित्र पक्षी निवास करते हैं । सभी ऋतुओंके फल और पुष्परूपी सम्पत्तिसे सम्पन्न वनराजिसे अलंकृत है ॥ ४० ॥ वह विविध मतवाले पक्षियोंसे सेवित, मत्त भ्रमरोंसे गुञ्जायमान, उन्मत्त मयूररूपी नटोंके नाट्यसे सुशोभित एवं मत्त कोकिलकी कुहू-कुहू ध्वनिसे कूजित हो रहा था ॥ ४१ ॥ कदम्ब, चम्पक, अशोक, करंज, बकुल, असन, कुन्द, मन्दार, कुटज एवं सालके पौधोंसे वह अतिशय शोभायमान था ॥ ४२ ॥ वहाँ कारण्डव (जलकौए) बत्तक आदि जलचारी पक्षी, हंस, कुररपक्षी, जलकुक्कुट, सारस, चक्रवाक तथा चकोर आदि पंछी नाना प्रकारकी मनोहर बोली बोल रहे थे ॥ ४३ ॥ हरिण, शूकर, स्याही, नीलगाय, हाथी, लंगूर, सिंह, वानर, नकुल एवं कस्तूरीमृग आदि वन्य पशुओंसे वह आश्रम व्याप्त था ॥ ४४ ॥

प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः । ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन् हुतहुताशनम् ।।४५।।
विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम् । नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
तद्‌व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ।।४६।।
प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् । उपसंश्रित्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ।।४७।।
अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः । सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया ।।४८।।
गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः । स्मरन् भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ।।४९।।
नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते । वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी।।५०।।
योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् । रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ।।५१।।
न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् । विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ।।५२।।
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः । विकर्षन् बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ।।५३।।
तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः । भगवद्रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः ।।५४।।
अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः । शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति ।।५५।।
अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः । तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ।।५६।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे एकविंशतितमोऽध्यायः ।।२१।।

संसारके सर्वप्रथम मनुने अपनी कन्याके साथ उस पवित्र तीर्थमें पहुँच और अग्निहोत्रसे निवृत्त होकर विराजमान कर्दममुनिको देखा ।। ४५ ।। वे चिरकालतक उग्र तप करनेके कारण परमतेजस्वी शरीरसे शोभायमान हो रहे थे और भगवानकी प्रेमभरी चितवनके दर्शन एवं उनके द्वारा उच्चरित कर्णामृतरूपी मधुर वचनोंके सुननेसे बहुत दुर्बल नहीं दीखते थे ।। ४६ ।। उनका शरीर लम्बा था, नेत्र कमलदलकी भाँति विशाल और सुन्दर थे, उनके सिरपर जटाएँ सुशोभित थीं और वे कमरमें चीरवस्त्र पहने थे। देखनेमें वे ऐसे जान पड़ते थे कि जैसे बिना सानपर चढ़ा मूल्यवान मणि मलिन दीखता है ।। ४७ ।। महाराज स्वायम्भुव मनुको उन्होंने अपने आश्रममें आकर प्रणाम करते देख भलीभाँति आशीष देनेके बाद उनका यथोचित सामग्रीसे सत्कार किया ।। ४८ ।। तदनन्तर जब राजा मनु उनकी पूजा पाकर स्वस्थचित्त हो आसनपर बैठ गये। तब कर्दममुनिने भगवानकी आज्ञाका स्मरण करके उन्हें मधुर वाणीसे प्रसन्न करते हुए कहा—।। ४९ ।। 'हे देव ! आप भगवानकी साक्षात् पालनशक्ति हैं। आपका पृथिवीतलपर इस प्रकार विचरण करना सज्जनोंकी रक्षा तथा दुष्टोंके संहारार्थ ही होता है ।। ५० ।। भिन्न-भिन्न कार्योंके लिए सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म तथा वरुण आदिका जो रूप धारण किया करते हैं, उन विष्णुस्वरूप आपको मेरा नमस्कार है ।। ५१ ।। यदि आप जयदायक एवं मणिगणविमण्डित रथपर सवार होकर अपने प्रचण्ड धनुषकी टङ्कोर करते और उस रथकी घर्घराहटसे दुष्टोंको डराते हुए अपनी सेनाके चरणोंसे रौंदे भये भूमण्डलको कँपाते हुए अपनी बड़ी भारी सेनाके साथ पृथिवीतलमें सूर्यकी नाईं न विचरें तो भगवानकी बतायी हुई वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाको दस्युगण नष्ट-भ्रष्ट कर डालें ।। ५२—५४ ।। और विषयलोलुप एवं निरंकुश जीव सर्वत्र अधर्म फैला दें। यदि आप निश्चिन्त होकर सो जायँ तो सारा संसार दुराचारियोंकी चपेटमें पड़कर सदाके लिए नष्ट हो जाय ।। ५५ ।। तथापि हे वीर ! आप किस कार्यविशेषसे यहाँ पधारे हैं—यह मेरी जिज्ञासा है। आपकी आज्ञाको मैं निष्कपटभावसे मानूँगा ।। ५६ ।। इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायामेकविंशतितमोऽध्यायः ।। २१ ।।

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम् । सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥१॥

मनुरुवाच

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया । छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥२॥
तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात् । हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥३॥
अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः । रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः॥४॥
तव सन्दर्शनादेव छिन्ना मे सर्वसंशयाः । यत्स्वयं भगवान् प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः॥५॥
दिष्ट्या मे भगवान् दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् । दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम्॥६॥
दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् । अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः ॥७॥
स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम । श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने: ॥८॥
प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम । अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः॥९॥
यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् । अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥१०॥
तत्प्रतीच्छ द्विजाग्र्येमां श्रद्धयोपहृतां मया । सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु ॥११॥
उद्यतस्य पि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते । अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥१२॥
य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते । क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः ॥१३॥

(देवहूति तथा कर्दम प्रजापतिका विवाह-समारोह) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! अपने सब गुण तथा कर्मोंकी श्रेष्ठताका वर्णन सुन महाराज मनुने कुछ सकुचाकर त्यागी कर्दममुनिसे कहा ॥ १ ॥ मनु कहने लगे—हे मुने ! भगवान ब्रह्माजीने अपनी रक्षाके निमित्त तप, विद्या एवं योगसे युक्त और विषयोंमें अनासक्त ब्राह्मणोंको अपने मुखसे उत्पन्न किया है ॥ २ ॥ फिर उन सहस्रपाद भगवानने आप सबकी रक्षाके लिये अपनी सहस्रों बाहुओंसे हम क्षत्रियोंको प्रकट किया है। इसीसे ब्राह्मण उनके हृदय तथा क्षत्रिय शरीर कहे जाते हैं ॥ ३ ॥ इस तरह एक ही शरीरसे सम्बद्ध रहनेके कारण अपनी-अपनी तथा एक-दूसरेकी रक्षा करनेवाले उन ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके प्रभु श्रीहरि ही हैं । वे सम्पूर्ण कार्य-कारणस्वरूप होकर भी निर्विकार हैं ॥ ४ ॥ आज आपके दर्शनसे ही मेरे सब संशय निवृत्त हो गये । क्योंकि आपने स्वयं प्रजापालक राजाओंके धर्मोंका बड़े प्रेमसे वर्णन किया है ॥ ५ ॥ अजितेन्द्रिय पुरुषोंको आपका दर्शन दुर्लभ रहता है । मेरा बड़ा भाग्य है, जो मुझे आपका दर्शन मिला । मैं आपके चरणोंकी पुनीत रज अपने माथे चढ़ा सका—यही मेरा परम सौभाग्य है ॥ ६ ॥ मेरे भाग्यसे आपने मुझे राजधर्मोंकी शिक्षा दी, सो देकर मुझपर बड़ी कृपा की और मैंने भी प्रारब्धका उदय होनेके ही कारण आपकी पवित्र वाणी कान खोलकर हृदयंगम की है ॥ ७ ॥ हे ऋषिराज ! जिसका चित्त पुत्रीस्नेहवश चिन्ताग्रस्त हो रहा है, ऐसे मुझ दीनकी प्रार्थनाको आप कृपापूर्वक सुनें ॥ ८ ॥ प्रियव्रत और उत्तानपादकी बहिन यह मेरी कन्या अवस्था, शील तथा गुण आदिमें अपने समान पतिकी इच्छुक है ॥ ९ ॥ नारदजीके मुखसे इसने जबसे आपके शील, विद्या, रूप, अवस्था तथा गुणोंका बखान सुना है तभीसे इसने आपहीको अपना पति बनानेका निश्चय कर लिया है ॥ १० ॥ हे द्विजवर्य ! श्रद्धापूर्वक समर्पण की हुई मेरी कन्याको आप स्वीकार करें । यह गृहस्थोचित सभी कार्योंके योग्य है ॥ ११ ॥ स्वयं जो भोग आकर उपस्थित हो जाय, उसका निरादर करना किसी विरक्त पुरुषके भी योग्य नहीं है, फिर विषयासक्त पुरुषकी क्या बात है ? ॥ १२ ॥ जो प्राणी स्वयं उपस्थित भोगका एक बार अनादर करके फिर किसी कृपण पुरुषसे

अहं त्वाश्रृणवं विद्वन् विवाहार्थं समुद्यतम् । अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे ॥१४॥

ऋषिरुवाच

बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा । आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ॥१५॥

कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः ।
क एव ते तनयां नाद्रियेत स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥१६॥
यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमानाद्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ॥१७॥
तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाममसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥१८॥
अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे ।
अतो धर्मान् पारमहंस्यमुख्यान् शुक्लप्रोक्तान् बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥१९॥
यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते ।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥२०॥

मैत्रेय उवाच

स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाष आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम् ।
धियोपगृह्णन् स्मितशोभितेन मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः ॥२१॥

सोऽनुज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम् । तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः॥२२॥

उसकी याचना करता है तो उसका विस्तृत सुयश नष्ट हो जाता और दूसरोंके तिरस्कारसे मानभंग भी हो जाता है ॥ १३ ॥ हे विद्वन् ! मैंने लोगोंसे सुना है कि आप विवाह करनेको तैयार हैं। अतएव गृहस्थाश्रमको स्वीकार करने पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले आप मेरी कन्याको स्वीकार करें। मैं इसे आपको अर्पण करता हूँ ॥ १४ ॥ कर्दमऋषिने कहा—ठीक है, मैं सचमुच विवाह करना चाहता हूँ। आपने भी अभी इस कन्याका किसी दूसरे वरके लिए वाग्दान नहीं किया है। अतएव दोनोंका यह समुचित विवाह-संस्कार होगा ॥ १५ ॥ हे राजन् ! वेदोक्त विधिके अनुसार आप जो मुझे कन्यादान देना चाहते हैं सो आपका संकल्प पूर्ण हो। अपनी कान्तिसे लक्ष्मीजीको भी लज्जित करनेवाली आपकी कन्याका कौन पुरुष आदर न करेगा ॥ १६ ॥ अपने महलकी छतपर खेलते समय चरणके नूपुरोंकी झनकार करती तथा कन्दुकक्रीडाके कारण चपलनयन तुम्हारी जिस कन्याको देखकर विश्वावसु गन्धर्व मुग्धचित्त होकर अपने विमानसे गिर पड़ा था, उस रमणीरत्नके स्वयं आकर प्रार्थना करनेपर भी कौन ऐसा समझदार पुरुष होगा, जो न मानेगा ? यह कन्या साक्षात् स्वायम्भुव मनुकी प्रिय पुत्री और राजा उत्तानपादकी प्रिय भगिनी है। जिन्होंने श्रीलक्ष्मीजीके चरणोंकी उपासना नहीं की है, उन्हें इसका दर्शन नहीं मिल सकता ॥ १७ ॥ १८ ॥ अतएव यह साध्वी जबतक मेरा वीर्य धारण किये रहेगी, उतने समयतक मैं इसके साथ रहूँगा। उसके बाद मैं संन्यास लेकर भगवान विष्णुके कहे ज्ञानप्राप्तिके मुख्य कारणस्वरूप शम-दमादि अहिंस्र धर्मोंके आचरणको ही बड़ा मानूँगा ॥ १९ ॥ जिनके द्वारा इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति हुई और जिनमें यह लीन हो जाता तथा जिनके सहारे यह स्थित है, वे प्रजापतियोंके प्रभु श्रीअनन्त ही मुझे सबसे अधिक मान्य हैं ॥ २० ॥ मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! यह कहकर कर्दम ऋषि चुप हो गये और भगवानका चिन्तन करने लगे। उस समय उनके मुखपर ऐसी अलौकिक मुस्कराहट थी कि जिसे देखकर देवहूति रीझ गई ॥ २१ ॥ रानी शतरूपा और राजकुमारी देवहूतिका स्पष्ट अभिप्राय समझकर मनु महाराजने प्रसन्नतापूर्वक

शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान् । दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् २३
प्रत्तां दुहितरं सम्राट् सदृक्षाय गतव्यथः । उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ॥२४॥
अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन् बाष्पकलां मुहुः । आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः ॥२५॥
आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः । प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥ २६ ॥
उभयोऋर्षिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः । ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः ॥२७॥
तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम् । गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ॥२८॥
बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता । न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ॥२९॥
कुशाः काशास्त एवासन्छश्वद्धरितवर्चसः । ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान् यज्ञमीजिरे ॥३०॥
कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान्मनुः । अयजद्यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम् ॥३१॥
बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विश्य समावसत् । तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥३२॥
सभार्यः सप्रजः कामान् बुभुजेऽन्याविरोधतः । सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः ।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन् हरेः कथाः ॥३३॥
निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायम्भुवं मनुम् । यदा भ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥३४॥
अयातयामास्तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः । शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ३५॥
स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् । वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥३६॥
शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः । भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥३७॥

कर्दम ऋषिको बेटी ब्याह दी ॥ २२ ॥ रानीने बड़ी प्रसन्नतासे आभूषण, वस्त्र और गृहस्थीकी विविध वस्तुएँ बेटी-दामादको दहेजमें दीं ॥ २३ ॥ योग्य वरको कन्या-दान कर देनेसे राजा सर्वथा निश्चिन्त हो गये। भावी विरहसे व्याकुल राजा मनुने देवहूतिको हृदयसे लगाकर बेटी-बेटी-कहकर इतने आँसू बहाये कि उसका मस्तक भींग गया ॥ २४ ॥ २५ ॥ कर्दम ऋषिसे अनुमति लेकर अपनी रानी और साथियों समेत महाराज मनु, सरस्वती नदीके तटोंपर बने हुए शान्त तथा शिष्ट मुनियोंके आश्रमोंको देखते हुए अपनी राजधानीको चल दिये ॥ २६ ॥ २७॥ महाराज मनुके आगमनकी खबरसे प्रसन्न प्रजाने ब्रह्मावर्तसे बाहर आकर गाजे-बाजेके साथ उनकी अभ्यर्थना की ॥२८ ॥ यहाँपर धन-जनसे सम्पन्न बर्हिष्मती नामकी नगरी है। यहाँ शरीरको झाड़नेपर वराहभगवानकी देहसे जो रोएँ झड़ गये थे, वही कुश और काश हो गये थे। उनके द्वारा ऋषियोंने राक्षसोंका पराभव करके विष्णुभगवानके प्रीत्यर्थ यज्ञ किया था ॥ २९ ॥ ३० ॥ वराह-रूपधारी भगवानकी कृपासे पृथ्वी प्राप्त हो जानेपर मनु महाराजने भी कुश और काशका बर्हि (आसन) बिछाकर यज्ञ द्वारा विष्णुभगवानको प्रसन्न किया था (इसी कारण यह नगरी बर्हिष्मती नामसे प्रसिद्ध हुई) ॥ ३१ ॥ मनु महाराज अपनी नगरीमें जाकर पहलेकी तरह त्रितापनाशक महलोंमें आरामसे रहने और अपनी स्त्री तथा सन्तानके साथ धर्माचरण करते हुए सुखमय जीवन बिताने लगे ॥ ३२ ॥ यद्यपि वहाँ सबेरे अप्सराओं समेत गन्धर्व आकर राजाका गुण-गान किया करते थे, फिर भी मनु महाराज मन लगाकर भगवानकी ही कथा सुनते रहते थे ॥ ३३ ॥ उन्हें प्राप्त तो सभी सुख-सामग्री थी, परन्तु वे इतने संयमी थे कि संसारमें रहते हुए भी उससे बेलाग बने रहे ॥ ३४॥ वे समयको व्यर्थ नहीं जाने देते थे, सदा वे भगवानका चिन्तन करते रहते और उनकी कथा सुनते सुनाते रहते थे ॥ ३५ ॥ यही करते-करते उनकी कई चतुर्युगियाँ बीत गईं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंको उन्होंने जीत लिया था ॥ ३६ ॥ जो भगवानकी शरण ले चुका है उसे शारीरिक रोग, मानसिक चिन्ताएँ, वज्रपात

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान् । नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ॥३८॥
एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् । वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा । नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥१॥
विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च । शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ॥२॥
विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् । अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥३॥
स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् । दैवाद्गरीयसः पत्युराशासानां महाशिषः ॥४॥
कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया । प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाऽब्रवीत् ॥५॥

कर्दम उवाच

तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः शुश्रूषया परमया च भक्त्या ।
यो देहिनामयमतीव सुहृत्स्वदेहो नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ॥ ६ ॥
ये मे स्वधर्मनिरतस्य तपःसमाधिविद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः ।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान् दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ॥ ७ ॥
अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भविभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्मदोहान्दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृप विक्रियाभिः ॥८॥

आदि, शीतोष्ण प्रभृति द्वन्द्व और शत्रु-चोर आदि भी नहीं सता सकते ॥ ३७ ॥ लोक-हित-चिन्तक मनु महाराजने ऋषियोंके पूछनेपर सम्पूर्ण वर्णों और आश्रमोंके कल्याणार्थ विविध धर्मोंका निरूपण किया था ॥ ३८ ॥ यहाँतक आदिराज मनुके महत्त्वपूर्ण चरित्रका वर्णन हुआ । अब उनकी बेटी देवहूतिकी सन्ततिका हाल सुनिए ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'-भाषाटीकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

(प्रजापति कर्दम और देवहूतिकी केलि) मैत्रेयजी कहते हैं कि माता-पिताके लौट जानेपर, पतिके अभिप्रायको समझ लेनेमें कुशल देवहूति कर्दम ऋषिकी सेवा-शुश्रूषा उसी प्रकार सदा प्रेमसे करने लगी, जिस प्रकार भवानीने शङ्करजीकी सेवा की थी ॥ १ ॥ नम्रतापूर्ण व्यवहार, पवित्रता, गौरव, संयम, एकचित्तता और मधुरवाणीसे देवहूति अपने पतिकी सेवा करती थी ॥ २ ॥ उसने मनोविकार, कपट, द्वेष, लोभ, पाप और मदसे बची रहकर बड़ी सावधानी और लगनसे सेवा करके कर्दम ऋषिको सन्तुष्ट कर लिया ॥ ३ ॥ देवर्षि कर्दम ऐसे प्रतापी थे कि वे कर्मकी रेखाको भी मेट सकते थे । उनसे देवहूतिको अलौकिक सुख पानेकी आशाएँ थीं ॥ ४ ॥ बहुत समय बीत जानेपर देवर्षिश्रेष्ठ कर्दमने एक बार देवहूतिकी सेवा-टहल और व्रतचर्या करते रहनेके कारण दुर्बल देख प्रसन्न होकर गद्गद वाणीसे कहा ॥ ५ ॥ कर्दमजी बोले—हे प्रिये ! तुमने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ मेरी परिचर्या की है । प्राणियोंको अपनी देहपर बड़ी ममता होती है, किन्तु तुमने मेरी सेवा करते-करते अपनी देहको भी गला दिया है, इस कारण मैं तुमपर बहुत सन्तुष्ट हूँ ॥ ६ ॥ जप-तप, समाधि, उपासना और योग (चित्तकी एकाग्रता) का साधन करके भगवान्की कृपासे मैंने जो विभूतियाँ प्राप्त की हैं, उनतक तुम्हारी पहुँच नहीं थी । किन्तु तुम्हारी सेवासे सन्तुष्ट होकर मैं तुम्हें वे विभूतियाँ दिखलाये देता हूँ, जिनमें न तो शोक है और न भय ॥७॥ सांसारिक भोग तो भगवान्के टेढ़ी भौंह करते ही नष्ट हो जाते

एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमायाविद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत्।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाऽऽह ॥ ९ ॥

देवहूतिरुवाच

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोगमायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्तः।
यस्तेऽभ्यधायि समयः सकृदङ्गसङ्गो भूयाद्गरीयसि गुणः प्रसवः सतीनाम् ॥१०॥
तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं येनैष मे कर्शितोऽतिरिरंसयाऽऽत्मा।
सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व ॥११॥

मैत्रेय उवाच

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः। विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ॥१२॥
सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम्। सर्वद्‌र्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ॥१३॥
दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम्। पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलङ्कृतम् ॥१४॥
स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः। दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम् ॥१५॥
उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक्पृथक्। क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः ॥१६॥
तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम्। महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः ॥१७॥
द्वाःसु विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत्। शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम् ॥१८॥
चक्षुष्मत्पद्मरागाग्र्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः। जुष्टं विचित्रवैतानैर्महार्हैर्हेमतोरणैः ॥१९॥
हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम्। कृत्रिमान्मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च ॥२०॥

हैं, किन्तु तुमने पातिव्रत-धर्मके प्रभावसे सिद्धि पाकर वह दिव्य वैभव प्राप्त कर लिया है, जो बड़े-बड़े राजाओंके लिए भी दुर्लभ है। तुम उसको भोगो ॥८॥ अपने पति कर्दम ऋषिको सम्पूर्ण योगमाया और उपासना-विधिमें कुशल देखनेसे देवहूतिकी सारी चिन्ताएँ जाती रहीं। उसने कनखियोंसे देखकर मुसकुराते हुए प्रीति और नम्रतासे पूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया ॥९॥ देवहूतिने कहा—हे पतिदेव ! आप योग और मायामें सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इससे सभी भोग दे सकते हैं। विवाहके समय आपने सन्तानोत्पत्ति होने तक गृहस्थाश्रममें रहनेकी जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी पूर्ति होनी चाहिए। उत्तम पति द्वारा सन्तानकी प्राप्ति ही स्त्रीके लिए सबसे बड़ा लाभ है। रतिकी इच्छासे मैं कृश और दीन हो गयी हूँ। आप मुझे—कामशास्त्रके अनुसार—ऐसी शिक्षा दें और उबटन, स्नान, खान-पानकी सामग्री तथा उपयुक्त भवनका भी प्रबन्ध कर दें, जिससे मैं आपके साथ सहवास करने योग्य हो जाऊँ ॥ १० ॥ ११ ॥ मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! अपनी प्रिय भार्या देवहूतिकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए महर्षि कर्दमने योगबलसे उसी समय इच्छागामी विमान बना दिया ॥ १२ ॥ उसमें मणियोंके खम्भे लगे हुए थे और सभी रत्न विद्यमान थे। उस विमानमें किसी वस्तुकी भी कमी नहीं थी। प्रत्येक ऋतुके अनुकूल सामग्रीका उसमें प्रबन्ध था। उसमें ध्वजा-पताकायें फहरा रही थीं ॥ १३ ॥ १४ ॥ उसमें रङ्ग-बिरङ्गी मालाएँ स्थान-स्थानपर टँगी हुई थीं, जिनपर भौंरे गुञ्जार कर रहे थे। उसमें बहुमूल्य रेशमी और सूती बिछौने बिछे हुए थे तथा विचित्र चँदोवे तने थे ॥ १५ ॥ वह विमान कई मञ्जिलोंका था और हर मञ्जिल बढ़िया पलँग, बिछौना तथा पंखे आदिसे सजा हुआ था ॥ १६ ॥ चित्र आदिसे उसकी सजावट की गई थी। उसमें नीलमकी फर्श थी और बैठनेके लिए मूँगेके चबूतरे बने हुए थे। देहलियाँ भी मूँगेकी ही थीं। किवाड़ोंमें हीरे जड़े हुए थे। उसमें इन्द्रनील मणिके गुम्बद थे, जिनपर सोनेके कलश रक्खे हुए थे ॥ १७ ॥ १८ ॥ उसकी दीवारें हीरेकी थीं और उनमें लाल जड़े रहनेसे ऐसा जान पड़ता था कि ये विमानके नेत्र हैं। उसमें सोनेके बन्दनवार बँधे हुए थे ॥ १९ ॥ जहाँ-तहाँ

विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गणाजिरैः । यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः ॥२१॥
ईदृग्गृहं तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा । सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत्कर्दमः स्वयम् ॥२२॥
निमज्ज्यास्मिन् ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह । इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं नृणाम् ॥२३॥
सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा । सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ॥२४॥
अङ्गं च मलपङ्केन संछन्नं शबलस्तनम् । आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ॥२५॥
सान्तःसरसि वेश्मस्थाः शतानि तत्र कन्यकाः । सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ॥२६॥
ता दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः । वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥२७॥
स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम् । दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः ॥२८॥
भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च । अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम् ॥२९॥
अथादर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम् । विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम् ॥३०॥
स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम् । निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम् ॥३१॥
श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया । हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम् ॥३२॥
सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा । पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम् ॥३३॥
यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम् । तत्र चास्ते सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः ॥३४॥
भर्तुः पुरस्तदात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा । निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ॥३५॥
स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत् । आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ॥३६॥

ऐसे उत्तम हंस तथा कबूतर बने हुए थे कि उन्हें असली समझकर सचमुचके हंस और कबूतर उनके पास बैठ-बैठकर बोलने लगते थे ॥ २० ॥ उस विमानमें उपयुक्त स्थलोंपर विश्रामागार, विहार-भूमि, शयन-मन्दिर, आँगन और खुले मैदान बने हुए थे। इस अद्भुत रचनाके देखनेसे विमानके निर्माता कर्दम ऋषिको भी विस्मय हुआ ॥ २१ ॥ ऐसे बढ़िया विमानको भी शरीर मलिन और कृश रहनेके कारण देवहूति उदासीके साथ देख रही थी। तब सबके मनकी बातको भाँप लेनेवाले कर्दमऋषिने कहा—ओ भीरु ! विष्णुभगवानके बनाये इस बिन्दुसरमें स्नान करके तुम विमानपर सवार हो जाओ। इस तीर्थमें स्नान करनेसे सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं ॥ २२ ॥ २३ ॥ कमलनयनी देवहूतिकी धोती मैली थी, बाल चिमट जानेसे लटें उलझ गई थीं, देहमें मैल जमा हुआ था और पयोधर शोभाहीन हो गये थे। पतिकी आज्ञा मानकर सरस्वती-तटवर्ती उस सरोवरमें गोता लगानेपर जलके भीतर ही ऐसी एक हजार तरुणियोंको देवहूतिने देखा, जिनकी देहसे कमलोंकी-सी सुगंधि निकल रही थी और जो विमानमें बैठी हुई थीं। वे सबकी सब देवहूतिको देखते ही हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई और हाथ जोड़कर कहने लगीं कि हम आपकी दासियाँ हैं। आज्ञा दीजिए, क्या करें ? तरुणियोंने उबटन, मालिश आदि करनेके पश्चात् देवहूतिको नहला-धुलाकर पहननेको नये-नये कपड़े और आभूषण दिये। उन्होंने षड्रस भोजन कराके पीनेको स्वादिष्ट आसब दिया ॥ २४–२९ ॥ अब देवहूतिने दर्पण देखा तो उसे दिखाई पड़ा कि वह साफ धोती और माला पहने हुए है, दासियाँ आदरपूर्वक मङ्गलाचार कर रही हैं, वह सोने और रत्नोंके हार पहने हुए है, हाथोंमें कड़े, पैरोंमें सुवर्णकी पायजेबें और कमरमें जड़ाऊ करधनी पहने है ॥ ३० ॥ ३१ ॥ उसके माथेमें कुङ्कुम और देहमें अङ्गराग लगा हुआ है। सुन्दर दाँतों, अच्छी भौंहों, प्रेम-पूर्ण चितवन, बड़ी-बड़ी आँखों और काली लटोंसे उसका मुखड़ा बड़ा सुन्दर मालूम पड़ता था ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ अब उसने ज्योंही प्राणनाथ कर्दम ऋषिका स्मरण किया, त्योंही दासियों सहित अपनेको उनके समीप पाया ॥३४॥ पतिकी यह योगशक्ति देखकर वह चकित हो गयी। हे विदुरजी ! कर्दम ऋषिने देखा कि देवहूति मङ्गलस्नान करके बढ़िया

विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम् । जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन् ॥३७॥
तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्यस्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥३८॥
तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्रद्रोणीस्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥३९॥
वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके । मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ॥४०॥
भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा । वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान् यथानिलः ॥४१॥
किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् । यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥४२॥
प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान् स्वसंस्थया । बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ॥४३॥
विभज्य नवधाऽऽत्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् । रामां निरमयन् रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत् ॥४४॥
तस्मिन् विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता । न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीच्येन सङ्गता ॥४५॥
एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः । शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक् ॥४६॥
तस्यामाधत्त रेतस्तां भावयन्नात्मनाऽऽत्मवित् । नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः ॥४७॥
अतः सा सुषुवे सद्यो देवहूतिः स्त्रियः प्रजाः । सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धयः ॥४८॥
पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदाऽऽलक्ष्योशती सती । स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ॥४९॥
लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया । उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलां शनैः ॥५०॥

वस्त्र पहननेसे नई दुलहिन-सी सुन्दर लगती है, वह चोली पहने हुए है और हजारों विद्याधरियाँ उसकी परिचर्याके लिए खड़ी हैं। उसे देखकर ऋषिने प्रेमवश हो उसे विमानमें बैठा लिया ॥ ३५—३७ ॥ अलुप्तमहिमावाली विद्याधारियोंसे सेवित प्रतापी कर्दम ऋषि विमानपर अपनी पत्नीके साथ ऐसे शोभित हुए, जैसे आकाशमें नक्षत्रोंके बीच चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ३८ ॥ सिद्धोंके आदरणीय कर्दम ऋषि इन स्त्रियोंके साथ उस विमानपर सवार होकर, मेरु पर्वतकी कन्दराओंमें बहुत समयतक विहार करते रहे। वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन चल रहा था और गङ्गाजीके प्रपातकी मनोहर ध्वनि सुनाई देती थी। इन्द्रप्रभृति लोकपालोंके विहारस्थल इसी पर्वतपर बने हुए थे। कर्दम ऋषिने अपनी भार्याके साथ देवताओंके उद्यान वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्रक, चैत्ररथ तथा मानस सरोवरमें विहार किया ॥ ३९ ॥ ४० ॥ कर्दम ऋषिका देदीप्यमान विमान चाहे जहाँ जा सकनेवाला और बड़ा मूल्यवान् था। इस वेगगामी विमानपर बैठकर कर्दम ऋषि सब विमानचारियोंसे आगे जाकर इच्छानुसार विचरते थे ॥ ४१ ॥ जिन्होंने भगवानके परम पावन चरणोंका आश्रय ले लिया है, उनके सारे सङ्कट कट जाते हैं, उन्हें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती ॥ ४२ ॥ नद-नदियों और प्रपात आदिसे आश्चर्यमय समस्त भूमण्डल अपनी पत्नीको दिखलाकर महायोगी कर्दम ऋषि फिर आश्रममें लौट आये ॥४३॥ नौ सन्तानें उत्पन्न करनेके इच्छुक कर्दम रतिके लिए उत्सुक देवहूतिके साथ वर्षोंतक विहार करते रहे, किन्तु उन्हें इतना अधिक समय पलभर-सा जान पड़ा ॥ ४४ ॥ उस बढ़िया विमानपर ऐसी अच्छी शय्या बिछी थी कि उसपर विहार करनेसे देवहूतिको समयका पता ही न चलता था कि कब बीत गया ॥ ४५ ॥ योगबल द्वारा अभीष्ट सामग्री उत्पन्न करनेमें समर्थ, कामकेलि-निरत दम्पतिको इस प्रकार रमण करते-करते सौ वर्षका समय क्षणभरकी भाँति बीत गया ॥ ४६ ॥ देवहूतिकी अनेक-सन्तान-विषयक इच्छा जानकर आत्मज्ञानी और योगशक्ति-सम्पन्न महर्षि कर्दमने वीर्यको नौ भागोंमें विभक्त करके गर्भाधान किया ॥४७॥ तदनुसार देवहूतिके गर्भसे शीघ्र सर्वाङ्गसुन्दरी नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। उनकी देहसे कमलकी-सी सुगन्धि निकलती थी। विवाहके समयकी प्रतिज्ञाके अनुसार अब कर्दम ऋषिको गृहस्थी छोड़नेके लिए उद्यत देखकर देवहूति बड़ी दुःखित हुई। लेकिन

देवहूतिरुवाच

सर्वं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् । अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥५१॥
ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः । कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥५२॥
एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो । इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ॥५३॥
इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः । अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे ॥५४॥
सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया । स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥५५॥
नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते । न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥५६॥
साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् । यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः । दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ॥१॥

ऋषिरुवाच

मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते । भगवाँस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्सम्प्रपत्स्यते ॥२॥
धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च । तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ॥३॥
स त्वयाऽऽराधितः शुक्लो वितन्वन्मामकं यशः । छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ॥४॥

उसने आँसुओंको रोककर हृदयकी वेदना प्रकट नहीं होने दी। वह नीचे मुँह करके पैरके अँगूठेसे जमीन खोदती हुई मुस्कुराकर धीरेसे मधुर वचन बोली ॥ ४८-५० ॥ देवहूतिने कहा—हे भगवन्! आप तो प्रतिज्ञा पूरी कर चुके, फिर भी मुझ शरणागतकी रक्षाका प्रबन्ध कर दीजिये ॥ ५१ ॥ आपके वनवासी हो चुकनेपर इन बेटियोंके विवाहका बोझ भी मेरे ही सिर आ पड़ेगा। उस दशामें (बेटियोंके अपनी-अपनी ससुराल चले जानेपर) मुझे ढाढ़स बँधानेको तो कोई चाहिए ॥ ५२ ॥ मेरा अब तकका समय विषय-सुख भोगनेमें बीत गया, मैं भगवानका भजन-भाव भी नहीं कर पायी ॥ ५३ ॥ आपके महत्त्वको न समझकर मैं आपके साथ क्रीड़ा करती रही। जो होना था सो तो हो चुका, परन्तु अब ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे मेरा बेड़ा पार हो जाय ॥ ५४ ॥ अविवेकके कारण अज्ञानियोंके साथ किया हुआ सम्पर्क बन्धनका कारण हो जाता है, किन्तु यदि वही सम्पर्क सज्जनोंसे किया जाय तो मोक्षका कारण होता है ॥ ५५ ॥ संसारमें आकर जिसने न तो धर्म-कर्म किया, न वैराग्यका अवलम्बन किया और न भगवानकी आराधना ही की, वह जीवित होता हुआ भी मुर्दा है ॥ ५६ ॥ मैं ऐसी ही हूँ। भगवानकी मायाने मुझे बेतरह ठग लिया था। तभी तो मैंने आप जैसे आत्मज्ञानीको प्राप्त करके भी मुक्ति पानेका उद्योग नहीं किया ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(कपिलका जन्म और कर्दम ऋषिका वनवास) मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! देवहूतिके ये वैराग्य-पूर्ण वचन सुनकर, विष्णुभगवानके कथनको स्मरण करके, कृपालु कर्दम ऋषिने देवहूतिसे कहा—॥ १ ॥ राजकुमारी ! तुम किसी बातकी चिन्ता न करो। तुम्हारा कल्याण होगा। इन्द्रियोंको वशमें रखकर स्वधर्मपालन और तप तथा दानके द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवानको भजो ॥ २ ॥ ३ ॥ ऐसा करनेपर वे तुम्हारे गर्भसे जन्म लेकर मेरा यश बढ़ावेंगे और तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर कृतकृत्य कर देंगे। मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! प्रजापति

मैत्रेय उवाच

देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः । सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम् ॥५॥
तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः । कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥६॥
अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः । गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ॥७॥
पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः । प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ॥८॥
तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम् । स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥९॥
भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् । तत्त्वसंख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥१०॥
सभाजयन् विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् । प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदमभ्यधात् ॥११॥

ब्रह्मोवाच

त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकतः । यन्मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान्मानद मानयन् ॥१२॥
एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः । बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ॥१३॥
इमा दुहितरः सभ्य तव वत्स सुमध्यमाः । सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ॥१४॥
अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि । आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि॥१५॥
वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया । भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने ॥१६॥
ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन् जटाः । हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ॥१७॥
एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः । अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति ॥१८॥
अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः । लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः॥१९

कर्दमके उपदेशको बड़ी श्रद्धासे सुनकर देवहूति भक्ति-भावके साथ भगवानको भजने लगी ॥ ५ ॥ इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर प्रजापति कर्दमके वीर्य और देवहूतिके गर्भ द्वारा मधुसूदन भगवान उसी प्रकार प्रगट हुए, जिस प्रकार रगड़ी गयी लकड़ियोंसे आग पैदा होती है ॥ ६ ॥ तब देवगण बाजे बजाने और आकाशसे पुष्पवृष्टि करने लगे, गन्धर्व गाने लगे और अप्सरायें नाचने लगीं ॥ ७ ॥ दिशाएँ निर्मल हो गयीं । जल स्वच्छ हो गया । सबके चित्त प्रफुल्लित हो उठे ॥ ८ ॥ कर्दम ऋषिके सरस्वती-तटवर्ती उस आश्रममें, मरीचि प्रभृति ऋषियोंके साथ ब्रह्माजी आ गये ॥ ९ ॥ हे विदुरजी ! संसारको तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके लिए कर्दम ऋषिके यहाँ भगवानने अवतार लिया है, यह जानकर ब्रह्माजी—भगवानकी इच्छाका हृदयसे अनुमोदन करते हुए प्रेमसे गद्गद होकर कर्दम ऋषिसे बोले ॥ १० ॥ ११ ॥ ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! मेरी आज्ञाका ठीक-ठीक पालनकर तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया है ॥१२॥ पुत्रको पिताकी आज्ञाका पालन करनेमें आगा-पीछा न करना चाहिए, यही सच्ची सेवा है ॥ १३ ॥ बेटा ! तुम्हारी ये सुन्दरी कन्याएँ इस सृष्टिकी वृद्धि अनेक प्रकारसे करेंगी ॥ १४ ॥ इससे अब तुम इनका विवाह शील-स्वभावमें अनुरूप इन मरीचि प्रभृति ऋषियोंके साथ कर दो । इससे संसारमें तुम्हारा यश फैलेगा ॥ १५ ॥ लोगोंके मनोरथ पूर्ण करनेके लिए तुम्हारे यहाँ स्वयं भगवानने कपिलके रूपसे स्वमायावश अवतार लिया है ॥ १६ ॥ फिर उन्होंने देवहूतिसे कहा—हे देवहूति ! तुम्हारे गर्भसे पुत्ररूपमें भगवान स्वयं अवतीर्ण हुए हैं । ये ज्ञान-विज्ञानका उपदेश देकर मुमुक्षुओंको कर्म-वासनासे मुक्त कर देंगे और तुम्हारे हृदयके पट खोल देंगे । तुम्हारा पुत्र सिद्धोंका शिरोमणि और तत्त्वज्ञानियों (सांख्याचार्यों) द्वारा सम्मानित होकर कपिल नामसे प्रसिद्ध होगा । ऐसे सुपुत्रकी माता होनेसे तुम्हारा बड़ा नाम होगा । मैत्रेयजी कहते हैं कि कर्दम और देवहूतिको इस प्रकार आश्वासन देकर पितामह ब्रह्माजी—नारद और सनक आदि कुमारोंके साथ—हंसकी सवारीसे सत्यलोक चले

मैत्रेय उवाच

तावाश्वास्य जगत्स्रष्टा कुमारैः सहनारदः । हंसो हंसेन यानेन त्रिधाम परमं ययौ ॥२०॥
गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः । यथोदितं स्वदुहितॄः प्रादाद्विश्वसृजां ततः ॥२१॥
मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये । श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ॥२२॥
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् । ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाप्यरुन्धतीम् ॥२३॥
अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते । विप्रर्षभान् कृतोद्वाहान् सदारान् समलालयत् ॥२४॥
ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम् । प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ॥२५॥
स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम् । विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ॥२६॥
अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः । कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ॥२७॥
बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना । द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥२८॥
स एव भगवानद्य हेलनं नगणय्य नः । गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः ॥२९॥
स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे । चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥३०॥
तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव । यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥३१॥

त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयद्धा सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोधवीर्यश्रिया पूर्त्तमहं प्रपद्ये ॥३२॥
परं प्रधानं पुरुषं महान्तं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥३३॥

गये। (विवाहके लिए मरीचि प्रमुख ऋषि यहीं रह गये) ॥ १७-२० ॥ अब प्रजापति कर्दमने ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार मरीचि प्रभृति ऋषियोंके साथ अपनी बेटियोंका विवाह कर दिया ॥ २१ ॥ उन्होंने महर्षि मरीचिके साथ कला, अत्रिके साथ अनसूया, अङ्गिराके साथ श्रद्धा, पुलस्त्यके साथ हविर्भू, पुलहके साथ गति, क्रतुके साथ क्रिया, भृगुके साथ ख्याति, वशिष्ठके साथ अरुन्धती और अथर्वाके साथ शान्तिका ब्याह कर दिया। इसी शान्तिकी सहायतासे यज्ञकी पूर्ति होती है। इन विवाहित ऋषियोंको दहेज देकर कर्दम प्रजापतिने सम्मानित किया ॥ २२-२४ ॥ अब ये ऋषि लोग सास-ससुरसे बिदा माँगकर हँसी-खुशीके साथ अपने-अपने आश्रमको चले गये ॥ २५ ॥ घरमें भगवानने अवतार लिया है, यह जानकर कर्दम प्रजापतिने एकान्तमें जाकर उन्हें प्रणाम किया और कहा—॥ २६ ॥ संसारमें अपनी करनीका फल भोगते हुए प्राणियोंके ऊपर देवताओंकी कृपा बड़ी देरमें होती है ॥ २७ ॥ योगी-यति लोग एकान्तमें बैठकर लगातार अनेक जन्मोंकी साधनाके पश्चात् भक्तियोग द्वारा चित्तको एकाग्र करके जिनके दर्शन पानेका यत्न किया करते हैं, वही भक्तवत्सल भगवान आप आज हमारी त्रुटियोंपर ध्यान न देकर, हम जैसे साधारण व्यक्तिके घरमें—अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने और भक्तोंका मान बढ़ाकर विवेकप्रधान सांख्यशास्त्रका प्रचार करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं ॥ २८-३० ॥ हे भगवन्! यद्यपि आप निर्गुण हैं तथापि भक्तोंको आपके जो चतुर्भुज आदि अलौकिक रूप रुचिकर हैं, उनको आप धारण कर लेते हैं ॥३१॥ तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी आपके चरणोंकी वन्दना किया करते हैं। ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, तत्त्वज्ञान, धर्म और लक्ष्मी इन षड्विध ऐश्वर्यसे आप परिपूर्ण हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ ३२ ॥ आप ही परमात्मा, प्रकृति, पुरुष (मायाके अधिष्ठाता) महत्तत्त्व, काल, त्रिविध अहङ्कार, लोक और लोकपाल हैं। सारा प्रपञ्च आपकी ही चेतनाशक्तिका खेल है। आप स्वाधीन शक्तिवाले और सर्वज्ञ हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ ३३ ॥

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां त्वयावतीर्णर्ण उताप्तकामः ।
परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन् विशोकः ॥३४॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके । अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने ॥३५॥
एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात् । प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने ॥३६॥
एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा । तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम् ॥३७॥
गच्छ कामं मया पृष्टो मयि संन्यस्तकर्मणा । जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज ॥३८॥
मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम् । आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥३९
मात्रे आध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् । वितरिष्ये यया चासौ भयं चातितरिष्यति ॥४०॥

मैत्रेय उवाच

एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः । दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ॥४१॥
व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः । निःसङ्गो व्यचरत्क्षोणीमनग्निरनिकेतनः ॥४२॥
मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसतः परम् । गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते ॥४३॥
निरहंकृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक् स्वदृक् । प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥४४॥
वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि । परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥४५॥
आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् । अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥४६॥
इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा । भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

मेरे यहाँ आपके अवतीर्ण होनेसे मैं तीनों ऋणोंसे उऋण हो गया, मेरे मनोरथ पूरे हो गये । मैं अब संन्यास लेकर हृदयमें आपका ध्यान करता हुआ दुनियाके रगड़ों-झगड़ोंसे बचकर विचरूँ—यही आपसे मेरी प्रार्थना है ॥ ३४ ॥ श्रीभगवानने उत्तर दिया—तुम्हारे यहाँ अवतार लेनेसे मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गई । मेरा वचन अन्यथा नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥ मेरा यह जन्म मुमुक्षु लोगोंको प्रकृति आदि तत्त्वोंका उपदेश देनेके लिए है । यह आत्मज्ञानका सांख्य मार्ग कालक्रमसे लुप्त-सा हो गया था । उसी मार्गको प्रवर्तित करनेके लिए मेरा यह अवतार है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ अब तुम जा सकते हो । दुर्जय मृत्युको निष्काम कर्मके द्वारा जीतकर मुक्ति पानेके लिए मेरा भजन करो ॥ ३८ ॥ मैं स्वयंप्रकाश, अन्तर्यामी और व्यापक हूँ । अपने आत्मामें ही एकाग्र मनसे मेरा भजन करते-करते सांसारिक क्लेशों-से छूटकर परमपद पा जाओगे ॥ ३९ ॥ माता देवहूतिको भी मैं आत्मज्ञानका उपदेश दूँगा जिससे उसके सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंकी वासना नष्ट हो जायगी और उसे मुक्ति मिल जायगी ॥ ४० ॥ मैत्रेयजी कहते हैं कि कपिलदेवजीके इस प्रकार समझानेपर महर्षि कर्दमने उनकी प्रदक्षिणा करके वनको प्रस्थान किया ॥ ४१ ॥ ये सब कुछ छोड़-छाड़कर मौन धारण करके विचरने लगे । ब्रह्ममें मनको लगा देनेसे उनका अहङ्कार जाता रहा, वे निर्द्वन्द्व और समदर्शी हो गये । आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे वे समुद्रकी भाँति गम्भीर और शान्त हो गये ॥ ४२–४४ ॥ इस प्रकार भगवानमें मनको निश्चल कर देनेसे उनके सारे बन्धन टूट गये और वे अपनेको सबमें, सबको भगवानमें और भगवानको आत्मामें देखने लगे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ समदर्शी हो जानेपर राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त हो जाने और हृदयमें भगवद्भक्तिका उद्रेक होनेसे उन्हें मुक्ति प्राप्त हो गई ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां चतुर्विशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

शौनक उवाच

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया। जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥१॥
न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम्। विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ॥२॥
यद्यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्माऽऽत्ममायया। तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ॥३॥

सूत उवाच

द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा। प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ॥४॥

मैत्रेय उवाच

पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया। तस्मिन् बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान् कपिलः किल ॥५॥
तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम्। स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः ॥६॥

देवहूतिरुवाच

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात्। येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥७॥
तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम्। सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥८॥
य आद्यो भगवान् पुंसामीश्वरो वै भवान् किल। लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥९॥
अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि। योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन् योजितस्त्वया ॥१०॥

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥११॥

मैत्रेय उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम्।
धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गतिर्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥१२॥

(कपिलदेवजीका माता देवहूतिसे भक्तिके लक्षणोंका वर्णन करना) शौनकजीने कहा—हे सूतजी ! आत्मतत्त्वका उपदेश देनेके लिए स्वयं भगवानने अजन्मा होकर भी सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक कपिलके रूपमें अवतार लिया था ॥ १ ॥ उन नररूपधारी योगिश्रेष्ठ कपिलजीके गुण सुननेसे मुझे तृप्ति नहीं होती। उन्होंने अपनी मायाके द्वारा जो लीलाएँ की हों, उनका वर्णन कीजिए ॥ २ ॥ ३ ॥ सूतजीने कहा—विदुरजीके आत्मविद्याविषयक प्रश्न करनेपर व्यासजीके मित्र मैत्रेयजीने कहा कि प्रजापति कर्दमके वनको चले जानेपर कपिलदेवजी अपनी माताके कल्याणके लिए, वहीं बिन्दुसरपर निवास करने लगे ॥ ४ ॥ ५ ॥ ब्रह्माजीके वचनोंका स्मरण करके देवहूतिने तत्त्वमार्गके पारदर्शी तथा निष्क्रिय अपने पुत्रसे कहा कि सांसारिक विषय-भोगोंसे मैं ऊब गयी हूँ, इस विषय-भोगकी ही बदौलत मैं भवसागरमें पड़ी हुई हूँ। अनेक जन्मोंके पश्चात् दुस्तर भव-सागरसे पार करनेके लिए तुम मुझे मिले हो। तुम आदिपुरुष साक्षात् भगवान हो। अज्ञानमें पड़े हुए लोगोंको मार्ग दिखानेके लिए सूर्यकी भाँति तुम्हारा जन्म हुआ है। प्राणियोंको तुम्हीं मोह-ममतामें फँसाते हो ॥६–१०॥ इसलिए मेरे इस अज्ञानको दूर कर दो। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ और तुम शरणागतरक्षक तथा भक्तोंके जन्म-मरण-रूप वृक्षकी जड़ काटनेवाले कुल्हाड़ी हो। मुझे प्रकृति और पुरुषका मर्म समझाओ। धर्मके ज्ञाताओंमें तुम श्रेष्ठ हो, तुमको नमस्कार है। मैत्रेयजी कहते हैं कि माता देवहूतिका मुक्ति-विषयक प्रश्न सुनकर तत्त्वज्ञानियोंको मोक्ष देनेवाले कपिलदेवजीने मुसकुराकर उत्तर दिया—हे माताजी ! मेरी समझसे तो

श्रीभगवानुवाच

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे । अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥१३॥
तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे । ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम् ॥१४॥
चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥१५॥
अहंममाभिमानोत्थैः कमलोभादिभिर्मलैः । वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥१६॥
तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् । निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥१७॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना । परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥१८॥
न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि । सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥१९॥
प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥२०॥
तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् । अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥२१॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् । मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥२२॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च । तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥२३॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः । सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥२४॥

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥२५॥
भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥२६॥

आध्यात्मिक योग ही प्राणियोंको मुक्ति मिलनेका उत्तम उपाय है ॥ ११–१३ ॥ उक्त योगमें सुख-दुःख आदि चित्तवृत्तियाँ सर्वथा नष्ट हो जाती हैं। मैं इस साङ्गोपाङ्ग योगका उपदेश ऋषियोंको पहले दे चुका हूँ, फिर भी तुम्हारे पूछनेपर उसका वर्णन दुबारा करता हूँ। मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है। शब्द आदि विषयोंमें मनके उलझे स्नेहसे जीव बन्धनमें पड़ा रहता है और वही मन भगवानकी ओर लग जाता है तो मुक्ति हो जाती है ॥ १४ ॥ १५ ॥ माया-ममतासे उत्पन्न काम-क्रोध-लोभ आदि मल न रहनेपर जब मन विशुद्ध हो जाता है, तब सुख-दुःख आदि मनकी वृत्तियाँ हट जानेपर साम्यावस्था प्राप्त हो जाती है ॥ १६ ॥ उस समय चित्तके ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त हो जानेपर साधकको शुद्धस्वरूप, अप्राकृत, भेद-रहित, स्वयंप्रकाश, परम सूक्ष्म, अखण्ड और उदासीन आत्माके दर्शन हो जाते हैं और प्रकृतिकी क्षीणताका भी ज्ञान हो जाता है ॥ १७ ॥ १८ ॥ भगवद्भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति पानेका दूसरा कल्याणप्रद मार्ग नहीं है। विवेकियोंने (विषयोंमें) आसक्तिको ही आत्माका प्रबल बन्धन माना है, किन्तु वही आसक्ति यदि सत्सङ्गमें परिणत हो जाय तो मोक्ष सुलभ हो जाता है ॥ १९ ॥ २० ॥ साधु (सज्जन) वही हैं जो सर्दी-गर्मी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंको सहते हैं, जो परमदयालु और लोकहितचिन्तक हैं तथा जो राग-द्वेषसे परे और शान्त स्वभावके हैं। वे अनन्य भावसे मेरी भक्ति करते हैं। मेरे लिए वे सब कुछ त्याग देते हैं। भाई-बन्धुओंका माया-मोह उनकी साधनामें विघ्न नहीं डाल सकता। वे मेरी ही कथाएँ सुनते-सुनाते रहते हैं। इन सज्जनोंको त्रिविध ताप नहीं सता सकते ॥ २१–२३ ॥ इन सज्जनोंमें वासनाका लेश भी नहीं रह जाता। हे माताजी, इन्हीं सज्जनोंकी सङ्गति करनी चाहिए। इनके सम्पर्कमें रहनेसे सभी विकार नष्ट हो जाते हैं ॥ २४ ॥ इनकी सङ्गति करनेसे मेरी कर्ण-सुखद पराक्रम-गाथाएँ सुननेको मिलती हैं। सत्सङ्गसे क्रमशः भगवानमें श्रद्धा, फिर प्रीति और उसके पश्चात् भक्ति उत्पन्न होती है। मेरी रचना (सृष्ट पदार्थों) का चिन्तन करते-करते प्राणी भक्ति करने लगता है, तब उसे ऐहिक और पारलौकिक

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥२७॥

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा । यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम् ॥२८॥
यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः । कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥२९॥
तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे । सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ॥३०॥

मैत्रेय उवाच

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः ।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥३२॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी । जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥३३॥

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥३४॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥३५॥
तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥३६॥
अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥३७॥

सुखोंकी ओरसे वैराग्य हो जाता है। तदनन्तर वह योगयुक्त होकर साधनाओं द्वारा चित्तवृत्तियोंका संयम करता है। शब्द आदि प्राकृतिक गुणोंसे पृथक् रहकर ज्ञान-वैराग्ययुक्त योगसे और मेरी भक्तिके द्वारा साधक इसी देहसे मुझे प्राप्त कर लेता है। देवहूतिने कहा—तुम्हारे मोक्षात्मक स्वरूपकी प्राप्ति किस प्रकारकी भक्ति द्वारा हो सकती है और मैं (स्त्रीजाति) कौन-सी भक्तिकी अधिकारिणी हूँ ॥२५-२८॥ हे मोक्षस्वरूप ! भगवत्प्राप्ति करानेवाले तत्त्वज्ञानोपयोगी जिस योगका तुमने वर्णन किया है, उसकी विधि बतलाओ। उसके कितने अङ्ग हैं ॥२९॥ मुझे ऐसा उपदेश दो, जिससे मुझ जैसी मन्द बुद्धिवाली स्त्री भी तुम्हारी कृपासे उस दुर्बोध सुखका अनुभव कर सके ॥३०॥ मैत्रेयजी कहते हैं कि माताके ये वचन सुनकर कपिलदेव बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रकृति आदि तत्त्वोंका निरूपण करनेवाले सांख्यशास्त्र, विस्तृत भक्ति और योगका उपदेश इस प्रकार किया ॥ ३१ ॥ कपिलभगवान बोले—शुद्ध सत्त्वमय भगवानमें इन्द्रियोंकी निष्काम वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं। ऐसी भक्ति मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। जठराग्नि जिस प्रकार खाये हुए अन्नको पचा डालता है, उसी प्रकार यह भक्ति लिङ्गशरीरको नष्ट कर देती है (लिङ्गशरीर नष्ट हुए बिना मुक्ति नहीं मिलती) ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ मेरे कुछ अनन्य भक्त तो इस भक्तिके सामने मुक्तितकको आदर नहीं देते, वे लोग एकत्र होकर बड़ी श्रद्धाके साथ मेरा गुण-गान किया करते हैं ॥ ३४ ॥ हे माताजी ! ऐसे ही भक्तोंको मेरे प्रसन्न-वदन, अरुण-नयन और वरदायक दिव्य रूपोंके दर्शन होते हैं और उन स्वरूपोंके साथ वे सादर बातचीत करते हैं ॥३५॥ मेरे सुन्दर अङ्गों, लीलाओं, हास-विलास, कृपा-कटाक्ष और सूक्तियोंसे भक्त लोग गद्गद होकर तन्मय हो जाते हैं, यद्यपि उन्हें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं रहती तथापि मेरी निष्काम भक्ति उन्हें मुक्त कर देती है ॥३६॥ यद्यपि उन्हें अणिमा

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥३८॥
इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम्। आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥३९॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम्। भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥४०॥
नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्। आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ॥४१॥
मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥४२॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः। क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥४३॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः। तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक्। यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥१॥
ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम्। यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥२॥
अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः। प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥३॥
स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः। यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥४॥
गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः। विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥५॥

आदि अष्टविध ऐश्वर्य और सत्यलोक आदिकी भोग-सम्पत्ति अभीष्ट नहीं होती—क्योंकि ऐसे लोग अविद्याके प्रपञ्चसे पार हो जाते हैं—तथापि वे मेरी निष्काम भक्तिके प्रभावसे उल्लिखित ऐश्वर्य और भोग-सम्पत्तिका उपयोग वैकुण्ठधाममें करते हैं ॥ ३७ ॥ जो लोग मुझे हृदयसे चाहते हैं और मुझीको आत्मा, सन्तान, सखा, मित्र, गुरु और अनुकूल भाग्य समझते हैं उन अनन्य भक्तोंपर कालचक्रका प्रभाव नहीं पड़ता ॥ ३८ ॥ जो मेरे अनन्य भक्त लोग इहलोक, परलोक, स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, पशु आदि सांसारिक वस्तुओंका परित्याग करके मुझ सर्वव्यापकको भजते हैं, उनको मैं भवसागरसे पार कर देता हूँ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ प्रकृतिपुरुषके अधिपति एवं समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मास्वरूप मुझ षडैश्वर्य ईश्वरके सिवाय और किसीकी भी सहायतासे मृत्युरूपी महाभयसे छुटकारा मिलना असंभव है ॥ ४१ ॥ मेरे ही भयसे हवा चलती है, सूर्य तपता है, मेघ बरसता है और आग जलती है। मेरे ही डरसे मौत अपना काम करती है। प्रकृति और पुरुषका नियन्ता मैं ही हूँ, प्राणियोंके तीव्र भयको मेरे सिवा और कोई दूर नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥ योगी लोग अपने कल्याणके लिए वैराग्य और भक्तियोगकी सहायतासे मेरी शरणमें आकर निर्भय हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ प्रबल भक्तियोगके द्वारा मुझमें मनको लगा देना ही संसारमें मोक्ष-प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

(सांख्यकी रीतिसे पदार्थोंकी उत्पत्ति) कपिलदेवजीने कहा—हे माताजी, अब मैं प्रकृति आदि तत्त्वोंके लक्षण बतलाता हूँ। उन्हें जान लेनेसे जीवात्मा मायाके गुणोंसे छूट जाता है ॥ १ ॥ अहङ्कारको दूर करने और जीवात्माकी मोक्ष-प्राप्तिके लिए मैं आत्मज्ञानका वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥ यह विश्व जिस पुरुषसे प्रकट होता है वह अनादि आत्मा (परमात्मा) स्वयंप्रकाश, चेतनामय, निर्गुण और प्रकृतिसे परे है ॥ ३ ॥ सूक्ष्म, दैवी, त्रिगुणात्मिका, स्वतःप्राप्त मायाको उस व्यापक पुरुषने जीवरूप होकर स्वेच्छासे ग्रहण किया है ॥ ४ ॥ प्रकृति-सृष्ट विविध पदार्थोंको देखकर जीवात्मा भ्रममें पड़

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् । कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥६॥
तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् । भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥७॥
कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः । भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥८॥

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम । ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥९॥

श्रीभगवानुवाच

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥१०॥
पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा । एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥११॥
महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः । तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥१२॥
इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः । वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥१३॥
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् । चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥१४॥
एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह । सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ॥१५॥
प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम् । अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः ॥१६॥
प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि । चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ॥१७॥
अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः । समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥१८॥
दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् । आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥१९॥
विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः । स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥२०॥
यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् । यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥२१॥

गया। कर्म तो प्रकृतिके गुणोंके खेल हैं, परन्तु यह जीवात्मा अपनेको ही उनका कर्ता समझता है। यद्यपि पुरुष (जीवात्मा) स्वाधीन, सुखात्मक, अकर्ता और द्रष्टामात्र है तथापि कर्तृत्वका अभिमान होनेसे ही यह जन्म-मरणके प्रवाहमें आ पड़ता है ॥ ५ ॥ ६ ॥ शरीर, इन्द्रियों और उनके अधिष्ठाता देवताओं (कार्य-कारणकर्तृत्व) का कारण प्रकृति ही है। सुख और दुःखका अनुभव उपाधियुक्त पुरुषको ही होता है ॥ ७ ॥ ८ ॥ देवहूतिने कहा—हे पुरुषोत्तम ! प्रकृति और पुरुष स्थूल-सूक्ष्म (सदसदात्मक) जगत्‌के कारण (जनक) हैं, उन दोनोंके लक्षण बतलाओ ॥ ९ ॥ कपिलदेवजीने उत्तर दिया—प्रकृति अथवा प्रधान तत्त्व त्रिगुणात्मक, अव्यक्त और कार्य-कारणात्मक है। वह विशेष धर्मोंसे रहित होनेपर भी उन धर्मोंका आधार माना जाता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, पायु (इन दस इन्द्रियों) मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त (इन चारों अन्तरिन्द्रियोंकी पहचान इनके कार्योंसे होती है) एवं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश (ये पञ्चमहाभूत हैं) तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द (ये पञ्चतन्मात्राएँ हैं)। ये सब मिलकर २४ तत्त्व हुए। ये चौबीसों तत्त्व प्रकृतिके कार्य हैं। इन तत्त्वोंको (प्रकृतिके) कार्यात्मक ब्रह्म भी कहते हैं ॥१०-१४॥ काल पचीसवाँ तत्त्व है। प्रकृतिकी एक अवस्थाको ही काल कहते हैं ॥ १५ ॥ कोई कोई पुरुष (ईश्वर) के पराक्रमको ही काल कहते हैं। कालके दो भेद हैं, (१) 'संहारक' और (२) 'उत्पादक'। अविवेकी जीवात्माको जिससे भय रहता है, वह संहारक काल है और जिसके कारण प्रकृतिको क्रियाशक्ति प्राप्त होती है वह उत्पादक काल है। इस प्रकार भगवान अपनी मायाके द्वारा पुरुषरूपसे प्राणियोंके भीतर और कालरूपसे बाहर वर्तमान हैं ॥ १६—१८ ॥ उपाधि-रहित पुरुषने जीवोंके प्राक्तन कर्मोंके अनुसार क्रियाशक्ति और प्रकृतिमें चैतन्यशक्ति रूप गर्भ स्थापित कर दिया, तब उससे प्रकाशमय महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥ महत्तत्त्वने अपने तेजसे प्रलयकालीन अन्धकारको हटाकर—अपनेमें सूक्ष्म

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः । वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥२२॥
महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् । क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥२३॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः । मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥२४॥
सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते । सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥२५॥
कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् । शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहंकृतेः ॥२६॥
वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत । यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः ॥२७॥
यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् । शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥२८॥
तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वमभूत्सति । द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥२९॥
संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च । स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक् ॥३०॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः । प्राणस्य हि क्रिया शक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥३१॥
तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् । शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥३२॥
अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च । तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥३३॥
भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च । प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥३४॥
नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः । स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ।३५।

रूपसे स्थित—विश्व (अहङ्कार आदि प्रपञ्च) को प्रकट कर दिया। वह महत्तत्त्व सत्त्वगुणप्रधान, स्वच्छ, राग-द्वेषरहित और भगवत्प्राप्तिका साधन है। उसको अधिभूत रूपमें महत्तत्त्व, अध्यात्मरूपमें चित्त और उपास्यरूपमें वासुदेव कहते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥ जैसे जल स्वभावतः निर्मल और मधुर होता है। किन्तु पृथ्वीके साथ संयोग होनेपर उसमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही चित्त स्वभावतः एक ही प्रकारका है। फिर भी भिन्न-भिन्न समयोंमें उसकी वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसलिए कभी चित्त निर्मल (भगवत्स्वरूप ग्रहण करने योग्य) कभी निर्विकार (लय और विक्षेपसे रहित) और कभी शान्त (राग-द्वेष आदिसे रहित) रहता है ॥ २२ ॥ महत्तत्त्वमें विकार होनेपर सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका क्रियाशक्तिमय अहङ्कार उत्पन्न हुआ ॥२३॥ इस त्रिविध अहंकारसे मन तथा पञ्चमहाभूतों और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई ॥ २४ ॥ भूतों, इन्द्रियों और मनके प्रवर्त्तक अहङ्कारको ही सङ्कर्षण और अनन्त कहते हैं ॥ २५ ॥ देवतारूपसे कर्तृत्व, इन्द्रियरूपसे करणत्व और भूतरूपसे कार्यत्व अहङ्कारका लक्षण है अथवा सत्त्व, रज और तम गुणके सम्पर्कसे अहङ्कारमें यथाक्रम शान्ति, भयानकता और मूढ़ता रहती है ॥ २६ ॥ सात्त्विक अहङ्कारके विकारयुक्त होनेपर मनरूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ। इसका कार्य सङ्कल्प करना है। जिनके द्वारा इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं ॥ २७ ॥ मनको अनिरुद्ध भी कहते हैं, यह इन्द्रियोंका अधिपति है। यह नीले कमलकी भाँति श्याम वर्णका है। योगी लोग इसे बड़ी कठिनतासे वशमें कर पाते हैं ॥२८॥ राजस अहङ्कारमें विकृति होनेपर बुद्धितत्त्वकी उत्पत्ति हुई। यह तत्त्व पदार्थोंका ज्ञान विशेषरूपसे कराता और इन्द्रियोंका सहायक है। सन्देह, मिथ्याज्ञान, निश्चय, स्मृति और निद्रा बुद्धिके ही पृथक्-पृथक् कार्य हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥ इस राजस अहङ्कारसे ही इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं, क्रियाशक्ति प्राणके अधीन है और प्राण राजस अहङ्कारका कार्य है ॥ ३१ ॥ विकारयुक्त तामस अहङ्कारसे आकाशकी उत्पत्ति हुई। शब्द उसका गुण है और उसे ग्रहण करनेवाली इन्द्रियका नाम श्रोत्र है ॥ ३२ ॥ यह शब्दके अर्थको द्योतित करता और वक्ताका ज्ञान कराता है। शब्दका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है ॥ ३३ ॥ प्राणियोंको स्थान देना, पदार्थोंके भीतर-बाहर व्याप्त रहना तथा प्राण, इन्द्रियों और मनको आश्रय देना आकाशका कार्य है ॥ ३४ ॥ आकाश-तत्त्वमें विकार होनेपर वायुकी उत्पत्ति हुई। स्पर्श उसका गुण है और त्वगिन्द्रिय उसको ग्रहण करती

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च । एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥३६॥
चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः । सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥३७॥
वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरिताद्भूत् । समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥३८॥
द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च । तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥३९॥
द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् । तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥४०॥
रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् । रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥४१॥
कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा । भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥४२॥
क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् । तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥४३॥
रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् । गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥४४॥
करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् । द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥४५॥
भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् । सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥४६॥
नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते । वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥४७॥
तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते । अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥४८॥
परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात् । अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥४९॥

है । कोमलता, कठोरता और सरदी-गरमी आदिका ज्ञान स्पर्शसे ही होता है ॥ ३५ ॥ वृक्ष आदिको हिलाना-डुलाना, घास आदिको एकत्र कर देना, गन्धयुक्त वस्तुको घ्राणेन्द्रियतक पहुँचाना, शीत और उष्ण पदार्थोंको त्वगिन्द्रियके पास और शब्दको श्रोत्रेन्द्रियके पास पहुँचाना तथा सारी इन्द्रियोंको सञ्चालित करना वायुका कार्य है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ हे माताजी, वायुतत्त्वमें विकार होनेपर तेज (अग्नि) की उत्पत्ति हुई । रूप उसका गुण है, जिसको चक्षु इन्द्रिय ग्रहण करती है ॥ ३८ ॥ पदार्थोंके आकारका बोध कराना, उनके आश्रित होकर रहना और वस्तुओंमें तद्रूपसे प्रतीत होना तेजका लक्षण है । (यदि रूप वस्तुका आकार धारण न करे तो वह दिखलायी ही न दे । इसीलिए वस्तुओंमें रूपकी तदाकारता मानी जाती है) प्रकाश देना, अन्न पकाना, ठण्डसे रक्षा करना, पदार्थोंको सुखाना और भूख-प्यासको उत्पन्न करना तेजके कार्य हैं ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तेजतत्त्वमें विकार होनेपर जलतत्त्व उत्पन्न हुआ । रस उसका गुण है, जिसको रसनेन्द्रिय ग्रहण करती है ॥ ४१ ॥ वैसे रस तो एक ही है, किन्तु भिन्न-भिन्न भौतिक पदार्थोंके योगसे कसैला, मीठा, तीता, कडुआ और खट्टा आदि अनेकविध हो जाता है। भिगोना, पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, जीवन-शक्तिका संचार करना, प्यास बुझाना, वस्तुको नरम करना, उष्णताको दूर करना और कुआँ-बावली आदिके जलको खर्च होते रहनेपर भी बार-बार भरते रहना, ये जलके कार्य हैं ॥ ४२ ॥ ॥ ४३ ॥ जलतत्त्वके विकृत होनेपर उससे पृथ्वीतत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसका गुण गन्ध है । उसे घ्राणेन्द्रिय ग्रहण करती है ॥ ४४ ॥ गन्ध एक प्रकारकी होनेपर भी पदार्थोंके सम्पर्कमें आनेसे सुगन्धित, दुर्गन्धित, उग्र (लहसुन-प्याजकी गन्ध), भीनी (कमलकी महक) और खट्टापन लिये हुए होती है । प्रतिमा आदिके द्वारा भगवानकी साकारताका निरूपण करना, बिना किसी सहारेके स्थित रहना, जल आदिको धारण करना, आकाश आदिकी भिन्नता प्रकट करना और प्राणियों तथा उनके पुंस्त्व आदि गुणोंको प्रकाशित करना पृथ्वीकी वृत्तियाँ हैं ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ जिस इन्द्रियसे शब्दका ग्रहण होता है, उसका नाम 'श्रोत्र' है । स्पर्शगुणको ग्रहण करनेवाली 'त्वगिन्द्रिय' है । जिस इन्द्रियसे रूपका ग्रहण होता है, उसे 'चक्षु' इन्द्रिय कहते हैं । रसगुणको ग्रहण करनेवाली 'रसनेन्द्रिय' और गन्धगुणको ग्रहण करनेवाली 'घ्राणेन्द्रिय' है ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ कार्य और कारणका पारस्परिक सम्बन्ध होनेसे

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै। कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥५०॥
ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम्। उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥५१॥
एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः। तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥५२॥
हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात्। तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥५३॥
निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्। वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोऽतो घ्राण एतयोः ॥५४॥
घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः। तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः॥५५॥
निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः। तत ओषधयश्चासञ्छिश्नं निर्बिभिदे ततः ॥५६॥
रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै दम्। गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥५७॥
हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट्। पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ॥५८॥
नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम्। नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥५९॥
क्षुत्पिपासे तत स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत्। अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयात्मन उत्थितम् ॥६०॥
मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः। अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥६१॥
एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन्। पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥६२॥
वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट्। घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६३॥

कारणके गुण कार्यमें आ जाते हैं। इसीका यह परिणाम है कि पृथ्वीमें अपने गन्धगुणके अतिरिक्त अपने कारण-तत्त्वके (जल, तेज, वायु और आकाशके—रस, रूप, स्पर्श और शब्द) गुण भी पाये जाते हैं ॥ ४९ ॥ महत् अहंकार और पंचमहाभूत ये सातों तत्त्व जिस समय अलग-अलग थे, उसी समय ईश्वरने काल, कर्म और गुणसे युक्त होकर उक्त तत्त्वोंमें इसलिए प्रवेश किया कि उन सातोंसे अलग-अलग होनेके कारण सृष्टि-रचना नहीं हो सकती थी ॥ ५० ॥ ईश्वरसे संयुक्त होनेपर उनमें जब क्षोभ हुआ, तब उन संयुक्त तत्त्वोंसे एक अचेतन अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्डसे विराट् पुरुषकी उत्पत्ति हुई ॥ ५१ ॥ यह अण्ड 'विशेष' कहलाता है, यही भगवान्का रूप है और इसीमें विश्वका विस्तार है। वह अण्ड उत्तरोत्तर दसगुने जल आदिसे घिरा हुआ है और इन सबके चारों ओर प्रकृति-तत्त्वका आवरण है ॥ ५२ ॥ शक्तिशाली भगवानने जलमें स्थित उस तेजोमय अण्डकोशमें प्रविष्ट होकर उसमें अनेक छिद्र कर दिये ॥ ५३ ॥ सबसे पहले विराट् पुरुष (अण्ड) में मुख उत्पन्न हुआ, फिर मुखके अपने अधिष्ठाता अग्निके साथ वागिन्द्रिय उत्पन्न हुई। फिर नथुने उत्पन्न हुए और उनमें प्राण-वायुके साथ घ्राणेन्द्रियने प्रवेश किया ॥ ५४ ॥ इसके पश्चात् नेत्र-गोलक प्रकट हुए, इनमें अपने अधिष्ठाता सूर्यके साथ चक्षुइन्द्रियने प्रवेश किया। तब कर्ण-गोलक उत्पन्न हुए, उनमें अपनी अधिष्ठात्री दिशाओंके साथ श्रोत्रेन्द्रियने प्रवेश किया ॥ ५५ ॥ फिर रोमों समेत त्वगिन्द्रिय और दाढ़ी-मूँछ तथा केशोंकी उत्पत्ति हुई। इसके बाद इसकी अधिष्ठात्री उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् शिश्नइन्द्रिय प्रकट हुई ॥ ५६ ॥ अपने अधिष्ठाता जलके साथ वीर्यने उसमें प्रवेश किया। अब गुदा उत्पन्न हुई, उसमें अधिष्ठात्री औषधि मृत्युके साथ अपान वायुने प्रवेश किया ॥ ५७ ॥ फिर हाथ उत्पन्न हुए, उनमें अधिष्ठाता इन्द्रके साथ बलने प्रवेश किया। तब चरण उत्पन्न हुए, अधिष्ठाता विष्णुके साथ उनमें गति प्रविष्ट हुई ॥ ५८ ॥ इसके पश्चात् नाड़ियाँ उत्पन्न हुई, अधिष्ठात्री नदियोंके साथ इसमें रक्तने प्रवेश किया। अब उदर प्रकट हुआ, अपने अधिष्ठाता समुद्रके साथ इसमें क्षुधा-पिपासा प्रविष्ट हुई। फिर इसके हृदय उत्पन्न हुआ। उसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार अपने-अपने अधिष्ठाताओं—चन्द्रमा, ब्रह्मा, रुद्र और क्षेत्रज्ञके साथ प्रविष्ट हुए ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ये सब अधिष्ठाता देवता, सम्मिलित रूपमें प्रयत्न करनेपर भी जब विराट् पुरुषको न उठा सके (कार्यक्षम न कर सके ?)

अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्। श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६४॥
त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट्। रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६५॥
गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट्। हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६६॥
विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट्। नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६७॥
क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट्। हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६८॥
बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट्। रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥६९॥
चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा। विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥७०॥
यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः। प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥७१॥
तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया। भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥७२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेये तत्त्वसमाम्नाये षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः। अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥१॥
स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते। अहङ्क्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥२॥
तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः। प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥३॥

तब उसे उठानेके लिए पूर्वोक्त देवता इन्द्रियों समेत यथाक्रम अपने-अपने छिद्रमें प्रविष्ट हो गये ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ मुखमें वागिन्द्रिय (वाणी) के साथ अग्निके प्रवेश करनेपर भी विराट् पुरुष न उठा, तब वायु देवता घ्राणेन्द्रियके साथ नथुनोंमें प्रविष्ट हो गये। फिर भी विराट् पुरुषके न उठनेपर सूर्यदेवता चक्षुइन्द्रियके साथ नेत्र-गोलकोंमें प्रविष्ट हुए। इसपर भी जब विराट् पुरुष नहीं उठा, तब क्रमशः दिशाओंके साथ श्रोत्रेन्द्रियने कर्ण-गोलकोंमें, औषधिके साथ रोम आदिने त्वक्में, वीर्यके साथ जलने शिश्न इन्द्रियमें और अपान वायुके साथ मृत्युने गुदामें प्रवेश किया। इतनेपर भी जब विराट् पुरुष न उठा, तब बलके साथ इन्द्रने हाथोंमें, गतिके साथ विष्णुने चरणोंमें, रक्तके साथ नदियोंने नाड़ियोंमें और भूख-प्यासके साथ समुद्रने पेटमें प्रवेश किया। फिर भी विराट् पुरुष न उठा। फिर हृदयमें मन सहित चन्द्रमा, बुद्धि सहित ब्रह्मा और अहंकार सहित रुद्रके प्रविष्ट होनेपर भी विराट् पुरुष नहीं उठा, किन्तु हृदयमें सर्वश्रेष्ठ क्षेत्रज्ञके प्रविष्ट होते ही जलमेंसे विराट् पुरुष उठकर खड़ा हो गया ॥ ६३–७० ॥ जिस प्रकार प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सोये हुए प्राणीको बिना क्षेत्रज्ञकी सहायताके—जगानेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार अग्नि प्रभृति देवता भी क्षेत्रज्ञके बिना विराट् पुरुषको न उठा सके ॥ ७१ ॥ श्रवण-कीर्तन आदि रूप भक्ति, विषयोंसे वैराग्य, ज्ञान और अष्टाङ्ग योगकी सहायतासे एकाग्र हुई बुद्धि—इन सबके द्वारा प्रकृति और पुरुषकी भिन्नताका विचार करके शरीरमें ही क्षेत्रज्ञका चिन्तन करे ॥ ७२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

(पुरुष और प्रकृतिके विवेक द्वारा मोक्षप्राप्तिकी रीतिका निरूपण) कपिलदेवजीने कहा - हे माताजी ! जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यपर जलके विकारों (कीचड़ आदि) का प्रभाव देख पड़ता है सही, किन्तु वास्तविक सूर्यपर इनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार विकार, कर्तृत्व और गुणोंसे हीन होनेके कारण पुरुष—प्रकृतिके गुणोंसे सम्बद्ध होते हुए भी—वास्तवमें इन गुणों (सुख-दुःख आदि) के फलसे अलिप्त तथा अनासक्त ही रहता है ॥ १ ॥ प्रकृतिके गुणोंका संग हो जानेपर वही पुरुष, अहंकारवश अपनेमें कर्तृत्वका अभिमान करने लगता है ॥ २ ॥ इसी कारण

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥४॥
अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि । भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥५॥
यमादिभिर्योगपथैरभ्यसन् श्रद्धयान्वितः । मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च ॥६॥
सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः । ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा ॥७॥
यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः । विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥८॥
सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् । ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥९॥
निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः । उपलभ्यात्मनाऽऽत्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥१०॥
मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते । सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥११॥
यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते । स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ॥१२॥
एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः । स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ॥१३॥
भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया । लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहङ्क्रियः ॥१४॥
मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा । नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ॥१५॥
एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते । साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ॥१६॥

वह प्रकृतिजन्य कर्मदोषोंके द्वारा विवश होकर उत्तम, मध्यम, अधम, देव, मनुष्य, तिर्यक्-योनियोंमें जन्म लेता है ॥ ३ ॥ जिस प्रकार स्वप्नकी घटनाएँ निस्सार होती हैं, किन्तु उनको देखनेवाला उन घटनाओंके द्वारा सुख-दुःखका अनुभव किया करता है। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थ हैं तो असार, फिर भी पुरुष अविवेकवश उनमें उलझकर संसार-चक्रमें फँसा रहता है ॥ ४ ॥ प्रबल भक्तियोग और वैराग्यके द्वारा चित्तको धीरे-धीरे विषयोंकी ओरसे हटावे ॥ ५ ॥ श्रद्धापूर्वक यम-नियम आदिका अभ्यास करे, मेरी (परमेश्वरकी) निष्कपट भक्ति करे और मेरे गुणोंका निरन्तर श्रवण-कीर्तन-मनन किया करे ॥ ६ ॥ प्राणिमात्रको समदृष्टिसे देखे, वैर-भाव न रक्खे, आसक्तिसे बचा रहे, ब्रह्मचर्य और मौनव्रतका पालन करे, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे धर्म-कर्म करे ॥ ७ ॥ जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहे, आहार परिमित करे, मनन करनेकी आदत डाले, एकान्तवास किया करे, चित्तमें अशान्ति न आने दे, लोकहितचिन्तक, दयालु और धैर्यवान् बने ॥ ८ ॥ क्या पुत्र-कलत्र आदि और क्या शरीर, किसीपर ममता न रक्खे ॥ ९ ॥ प्रकृति और पुरुषका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करे जिससे बुद्धिकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ दूर हो जायँ और भेद-बुद्धि भी न रहे। ऐसा होनेपर उसी प्रकार आत्मदर्शन हो जाता है, जिस प्रकार आँखोंसे सूर्य देख पड़ता है ॥ १० ॥ आत्मदर्शन होते ही उपाधिरहित, अहंकारमें सद्रूपसे प्रतीत होनेवाले, मायाके अधिष्ठान, विश्व-प्रपञ्चके प्रकाशक एवं कार्य-कारणमें ओतप्रोत, परिपूर्ण ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे जलमें पड़े सूर्यके प्रतिबिम्बको दीवार इत्यादिपर प्रतिफलित देखनेसे द्रष्टाको वास्तविक सूर्यका ज्ञान हो जाता है वैसे ही आत्म-प्रतिबिम्ब रूप देह, इन्द्रिय और मनमें ब्रह्मप्रतिबिम्बवाला अहंकार लक्षित होता है और उस त्रिगुणमय अहंकारसे परमार्थ-ज्ञान-रूप आत्माका ज्ञान हो जाता है। सूक्ष्म पञ्चभूत, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकारके निद्रामें लीन हो जानेपर जो जागृत और निरहंकार बना रहता है, वही आत्मा है ॥ ११—१४ ॥ सुषुप्ति अवस्थामें ही विशुद्ध आत्माके दर्शन होते हैं। सुषुप्ति अवस्थामें नष्ट तो अहंकार ही होता है, परन्तु पुरुष अविवेकवश वैसे ही अपनेको नष्ट हुआ-सा समझने लगता है, जैसे कोई व्यक्ति धनका नाश हो जानेपर अपनेको नष्ट हुआ मानने लगता है। ऐसा विचारकर विवेकी पुरुष—अहंकारयुक्त कार्य-कारणके प्रकाशक और अधिष्ठानस्वरूप आत्माकी प्राप्ति कर लेता है ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥ देवहूतिने कहा—हे प्रभो ! जिस प्रकार पृथिवी और गन्ध तथा जल और रस अलग-अलग नहीं किये जा सकते, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुषको पृथक् नहीं किया

देवहूतिरुवाच

पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित् । अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो ॥१७॥
यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः । अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ॥१८॥
अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः । गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ॥१९॥
क्वचित्तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम् । अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते ॥२०॥

श्रीभगवानुवाच

अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना । तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥२१॥
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा । तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥२२॥
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् । तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥२३॥
भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः । नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥२४॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् । स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥२५॥
एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् । युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥२६॥
यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना । सर्वत्र जातवैराग्य आ ब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥२७॥
मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा । निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥२८॥
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा च्छिन्नसंशयः । यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥२९॥
यदा न योगोपचितासु चेतो मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्यादात्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

जा सकता। क्योंकि ये दोनों नित्य और अन्योन्याश्रित हैं ॥ १७ ॥ जब पुरुष निष्क्रिय है और कर्म-बन्धन उसे प्रकृतिके गुणोंसे प्राप्त है, तब उन गुणोंके रहते पुरुष मुक्त कैसे हो सकता है ? कहीं-कहीं ऐसा भी मालूम पड़ता है कि विवेक हो जानेसे आवागमनका फन्दा नष्टप्राय हो गया है, किन्तु प्रकृतिके गुणोंका नाश न होनेसे उसका आवागमन बना रहता है ॥ १८-२० ॥ कपिलदेवजीने कहा—हे माताजी ! चित्तको शुद्ध करके निष्काम कर्मकी कथा सुननेसे प्रबल हुई भक्ति, तत्त्वज्ञान, वैराग्य और समाधिके द्वारा धीरे-धीरे पुरुषसे प्रकृतिका सम्बन्ध उसी प्रकार छूट जाता है जिस प्रकार अरणिकाष्ठ अग्निको उत्पन्न करके स्वयं उसमें भस्म हो जाता है ॥ २१ ॥ प्रकृतिका उपयोग करनेसे उसके दोषोंका ज्ञान हो जानेपर जब उससे सम्बन्ध तोड़ लिया जाता है तब वह आत्मानन्दको प्राप्त पुरुषका कुछ नहीं बिगाड़ सकती ॥ २२ ॥ २३ ॥ स्वप्न देख रहे व्यक्तिको ही स्वप्नकी घटनाएँ चिन्तित कर सकती हैं, जागनेवालेपर उनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार विवेकी पुरुष जब मुझसे अपने चित्तको लगा देता है तब आत्मानन्दमें मग्न रहनेसे उसके ऊपर प्रकृतिका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता ॥ २४-२६ ॥ जन्म-जन्मान्तरसे अभ्यास करते-करते जब साधकको सब पदार्थोंसे ब्रह्मलोक आदिसे भी—वैराग्य हो जाता है और आत्मज्ञानके द्वारा उसके सब संशय दूर हो जाते हैं, तब मेरा भक्त होनेपर मेरी कृपासे उसे विवेकबुद्धि प्राप्त हो जाती है और उस दशामें उसे मेरा आश्रयस्थल—परमधाम कैवल्यपद—सहजमें मिल जाता है। लिङ्गशरीरका नाश हो जानेपर योगीको फिर संसारमें नहीं आना पड़ता ॥ २७-२९ ॥ सिद्ध पुरुषको साधना करते-करते अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन सिद्धियोंसे सिद्ध पुरुष अपने मार्गसे विचलित हो जाता है। यदि वह इन सिद्धियोंके मोहमें न फँसा तो उसे आत्यन्तिक गति मिलती है, जहाँ जन्म-मृत्युकी दाल नहीं गल सकती ॥३०॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी'-भाषाटीकायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे । मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥१॥
स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् । दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ॥२॥
ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा । मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥३॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः । ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥४॥
मौनं सदाऽऽसनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः । प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥५॥
स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् । वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथाऽऽत्मनः ॥६॥
एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम् । बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥७॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् । तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥८॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः । प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥९॥
मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः । वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥१०॥

(साधनानुष्ठानविधि) अष्टाङ्ग योग और उपाधियों युक्त स्वरूपका वर्णन करके कपिलदेवजीने कहा—हे माताजी ! योगके दो भेद हैं—(१) सबीज और (२) निर्बीज। जिस साधनासे मनको विशुद्ध करके निर्गुण आत्मस्वरूपमें लगाया जाता है, वह निर्बीज योग है। विशुद्ध मनसे भगवानका ध्यान करना ही सबीज योग है, अब मैं सबीज योगके लक्षण बतलाता हूँ । जिस विधिका अवलम्बन करनेसे विशुद्ध हुआ मन भगवानकी ओर प्रवृत्त हो जाता है ॥ १ ॥ दृढ़ताके साथ निष्काम भावसे वर्णों और आश्रमोंके धर्मका आचरण और निषिद्ध कर्मका परित्याग होता, जिसका अवलम्बन करनेसे यथालाभ-सन्तोषवृत्ति प्राप्त होती और आत्मज्ञानियोंके प्रति श्रद्धाभक्ति उत्पन्न होती तथा सकाम धर्म, अर्थ और कामसे निवृत्ति होती एवं मोक्षमें मन लगता है, वही सबीज योग है। जिस मार्गपर चलनेसे विशुद्ध परिमित भोजन (पेटके चार भागोंमेंसे दोकी पूर्ति अन्नसे करना और तीसरेकी पूर्ति जलसे करके चौथेको हवाके आने-जानेके लिए खाली रखना ही परिमित आहार है।) करने और सदा बाधारहित एकान्त स्थानमें रहनेकी प्रवृत्ति होती है, वही सबीज योग है ॥ २ ॥ ३ ॥ जिससे अहिंसा, सत्य और अस्तेयका पालन करने और आवश्यकता (शरीरनिर्वाह मात्र) से अधिक सामग्री न रखनेकी प्रवृत्ति होती, अष्टाङ्ग ब्रह्मचर्य, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तप, (कायिक वाचिक मानसिक) पवित्रता, वेदपाठ, भगवानका पूजन करने और आवश्यकतासे अधिक न बोलने (मौन) की रुचि होती, आसनकी साधनासे शरीरको स्थिर रखने, धीरे-धीरे प्राणवायुको वशमें करने (प्राणायाम) और विषयोंकी ओरसे इन्द्रियों समेत मनको लौटाकर मूलाधार आदि षट्चक्रोंमेंसे किसी एकमें मन और प्राणको स्थिर रखनेकी प्रवृत्ति होती है, वही सबीज योग है। भगवानकी लीलाओंका चिन्तन करने और भगवानसे लौ लगानेकी जिससे रुचि होती है, वही सबीज योग है ॥ ४–६ ॥ इन उपायों और अन्य व्रत आदिके आचरण द्वारा मनको धीरे-धीरे विषय-वासनासे हटाकर बुद्धिकी सहायतासे परमेश्वरकी ओर लगावे ॥ ७ ॥ पवित्र स्थानमें आसन डालकर उसपर इस तरह सीधे बैठे जिसमें कोई असुविधा न हो, तब प्राणायामका अभ्यास करे ॥ ८ ॥ पूरक (एक नथुनेसे हवा खींचना) कुम्भक (खींची हुई हवाको रोक रखना) और रेचक (रोकी हुई हवाको धीरे-धीरे बाहर निकालना) द्वारा अनुलोम-प्रतिलोम विधिसे प्राणायाम करके मनको ऐसा शान्त कर दे कि उसकी चञ्चलता जाती रहे ॥ ९ ॥ प्राणायाम सिद्ध हो जानेपर योगीका मन उसी प्रकार शीघ्र निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार वायु लगनेसे जल रही आगमें

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान् । प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥११॥
यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् । काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥१२॥
प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् । नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥१३॥
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् । श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥१४॥
मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया । परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥१५॥
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् । दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥१६॥
अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् । सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥१७॥
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् । ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥१८॥
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् । प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥१९॥
तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् । विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥२०॥

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥२१॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥२२॥

तपाये जानेपर सुवर्ण (धातु) का मैल दूर हो जाता है ॥ १० ॥ प्राणायामके द्वारा वात-पित्त-कफ आदि शारीरिक दोषोंको नष्ट कर दे, धारणा (वायुके साथ मनको स्थानविशेषमें स्थिर करने) के द्वारा पापोंको भस्म करे और प्रत्याहार (विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंको लौटाने) के द्वारा विषय-वासनाको हटावे और ध्यानके द्वारा राग-द्वेष आदिको नष्ट कर दे ॥ ११ ॥ इस प्रकार जब मन शुद्ध और स्थिर हो जाय, तब नाककी नोकपर दृष्टि जमाकर भगवानकी मूर्तिका ध्यान करे ॥ १२ ॥ उनके मुखमें मन्द मुसकान है, आँखोंमें सुर्खी है, शरीरका साँवला रङ्ग है और वे शंख-चक्र-गदा धारण किये तथा पीताम्बर पहने हैं। उनके हृदयमें श्रीवत्सका चिह्न शोभित है और कौस्तुभ मणि कण्ठकी शोभा बढ़ा रही है ॥ १३ ॥ १४ ॥ वे ऐसी वनमाला पहने हुए हैं, जिसपर भौंरे गूँज रहे हैं। वे बहुमूल्य हार, कड़े, किरीट, बिजायठ और नूपुर पहने हुए हैं। उनकी कमरमें करधनी पड़ी हुई है। ऐसे भगवान भक्तोंके हृदयकमलमें विराजते हैं। भगवानका रूप दर्शनीय, शान्तिमय और नयन तथा मनको तृप्तिप्रद है। भक्तोंपर उनकी कृपादृष्टि बनी रहती है। सारा संसार उनकी वन्दना करता है। उनकी अवस्था तरुण है। वे सदा भक्तोंका हित-चिन्तन किया करते हैं ॥ १५–१७ ॥ उनके गुण सर्वथा कीर्तनीय हैं। नल-युधिष्ठिर प्रभृति भी उन्हींकी कृपासे यशस्वी हुए हैं। जबतक मन लगा रहे तबतक ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर मूर्तिका ध्यान करता रहे ॥ १८ ॥ जिसकी जैसी भावना हो उसके अनुसार अन्तर्यामी भगवानके खड़े हुए, चलते-फिरते, बैठे या लेटे हुए और विविध लीलाएँ करते हुए रूपका ध्यान पवित्र हृदयसे करे ॥ १९ ॥ इस प्रकार भगवानकी सर्वाङ्गपूर्ण मूर्तिका ध्यान करनेके पश्चात् उनके एक-एक अङ्गका ध्यान करे (मतलब यह कि भगवानके सर्वाङ्गपूर्ण स्वरूपके ध्यानकी दृढ़ताके लिए उनके एक-एक अङ्गका ध्यान करना आवश्यक है) ॥ २० ॥ पहले भगवानके उस चरण-कमलका ध्यान करे जिसमें वज्र, अंकुश, ध्वज और कमलका चिह्न बना हुआ है। उस चरण-कमलके लाल-लाल नाखूनोंकी आभा भक्तोंके हृदयमें पड़नेसे वहाँका घना अन्धकार दूर हो जाता है ॥ २१ ॥ उस चरण-कमलके प्रक्षालन-जलसे वे गंगाजी निकली हैं। जिन्हें मस्तकपर धारण करनेसे शिवजीको शिवत्व प्राप्त हुआ है। भगवानके चरण-कमलका ध्यान करनेसे बड़े-बड़े पाप-पहाड़ टूट-फूट जाते हैं

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥२३॥
ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमानावोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमानकाञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम् ॥२४॥
नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य ध्यायेद् द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥२५॥
वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥२६॥
बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥२७॥
कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥२८॥
भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥२९॥
यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥३०॥
तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोरतापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं ध्यायेच्चिरं विपुलभावनया गुहायाम् ॥३१॥

॥ २२ ॥ फिर भवभय-भञ्जन भगवानकी उन पिंडलियोंका ध्यान करे, जिनको प्रजापति ब्रह्माजीकी माता और देवताओंकी वन्दनीया लक्ष्मीजी अपनी जाँघोंपर रखकर दबाया करती हैं ॥ २३ ॥ इसके पश्चात् भगवानकी उन बलिष्ठ जंघाओंका ध्यान करे, जो गरुड़पर सवारी करनेमें प्रधान सहायक हैं। फिर कटि-प्रदेशका ध्यान करे, जिसमें करधनी समेत पीताम्बर सुशोभित है ॥ २४ ॥ अब नाभिस्थलका ध्यान करे, जिसमें ब्रह्माण्ड स्थित है और जिससे ब्रह्माजीके उत्पत्तिस्थान सर्वलोकरूप कमलकी उत्पत्ति हुई है। फिर भगवानके स्तनोंका ध्यान करे, जिनपर हारकी उज्ज्वल किरणें पड़ रही हैं ॥२५॥ इसके पश्चात् वक्षःस्थलका ध्यान करे, जिसमें लक्ष्मीजीका निवास है और जो भक्तोंके मन तथा नेत्रोंके लिए आनन्दप्रद है। फिर कण्ठका ध्यान करे, जो कौस्तुभ मणिको शोभा प्रदान करता है ॥ २६ ॥ अब भगवानकी चारों भुजाओंका ध्यान करे, जिनमें पहने हुए कड़े समुद्र-मन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़ खानेसे चमकीले हो गये हैं। सब लोकपाल इन्हीं भुजाओंके भरोसे निर्भय रहते हैं। फिर भगवानके उस तेजोमय चक्रका ध्यान करे, जिसमें हजार दाँते हैं। इसके बाद उनके उज्ज्वल शंखका ध्यान करे ॥ २७ ॥ फिर भगवानकी गदाका स्मरण करे, जो शत्रुओंका संहार करके उनके रक्तसे लिप्त रहती है। अब भगवानकी वनमालाका ध्यान करे, जिसपर भौंरे गुञ्जार किया करते हैं। फिर निर्मल कौस्तुभ मणिका ध्यान करे ॥ २८ ॥ तब भक्तोंपर कृपा करनेके लिए अवतार लेनेवाले भगवानके मुखारविन्दका ध्यान करे। मकराकार कुण्डलोंके हिलने-डुलनेसे उनके कपोलोंपर आभा पड़ती है। उनकी नाक बड़ी सुन्दर है ॥ २९ ॥ घुँघराली अलकें उनके मुखड़ेके दोनों ओर बिखरी हुई हैं और भौंहें सुन्दर हैं। भगवानके नेत्र कमलके समान सुन्दर और मछलीकी भाँति बड़े-बड़े हैं और केश भौंरोंको भी लजानेवाले हैं ॥ ३० ॥ अब भक्तोंका भला करनेवाली भगवानकी मन्द मुस्कानयुक्त चितवनका ध्यान

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्रशोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥३२॥
ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोर्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥३३॥
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥३४॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥३५॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥३६॥
देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३७॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३८॥
यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते । अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥३९॥

करे। वह चितवन तीनों तापोंको दूर कर देती है ॥ ३१ ॥ फिर भगवानकी मुस्कुराहटका ध्यान करे। यह मुस्कुराहट संसारके शोकाश्रुओंको सोख लेती है। अब भगवानकी भौंहोंका ध्यान करे। भगवान्ने इन्हें मुनियोंकी रक्षा करने तथा कामदेवको मोहित करनेके लिए अपनी मायासे बनाया है ॥ ३२ ॥ फिर भगवानके हास्यका ध्यान करे। हँसते समय कुन्द सदृश दाँतोंपर नीचेके ओठकी आभा पड़नेसे वे लाल-लाल मालूम पड़ते हैं। इस हास्यकी ओर भक्तका मन बिना प्रयत्न किये आकृष्ट हो जाता है। हृदयाकाशमें स्थित भगवानका ऐसी लगनसे ध्यान करे कि चित्त तन्मय होकर चञ्चलता छोड़ दे ॥ ३३ ॥ ऐसा करनेपर भगवान्से लौ लग जाती है और भक्तिके कारण भक्तका हृदय पिघल जाता है। हर्षके कारण उसे रोमाञ्च हो आता और भगवद्दर्शनकी उत्सुकतासे उसकी आँखोंमें आनन्दाश्रु भर आते हैं। इस प्रकार आनन्द-गद्गद हो जानेपर भक्त धीरे-धीरे तन्मय हो जाता है। फिर कल्पित मूर्तिसे उसका चित्त हट जाता है। चित्तके निर्विषय और निराधार हो जानेसे वह उसी प्रकार तन्मय हो जाता है ॥३४॥ जिस प्रकार तेल-बत्ती न रहनेपर दीपकी लौ अपने मूल कारण (महाज्योति) में समा जाती है। इस दशामें देह आदिकी उपाधि न रह जानेसे उस अखण्ड आत्माके दर्शन होते हैं, जिसमें ध्याता और ध्येयका विभाग नहीं रहता। इस दशाको पहुँचा हुआ साधक योगाभ्याससे उत्पन्न, अविद्यारहित, अपने मनकी वृत्तियोंको प्रकृतिकी ओरसे हटाकर आत्मसाक्षात्कार हो जानेके कारण ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ अब विवेक हो जानेपर साधक अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदिके अभिमानका कर्ता अविद्याकल्पित अहङ्कारको ही समझने लगता है ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार नशेमें चूर व्यक्तिको यह ज्ञान नहीं रहता कि मेरा वस्त्र गिर गया अथवा बँधा हुआ है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त साधक यह भूल जाता है कि उसका शरीर आसनपर है या उठकर अन्यत्र चला गया है अथवा लौटकर फिर वहीं आ गया है। इस प्रकार जब उसे देहकी ही सुधि-बुधि नहीं है, तब सुख-दुःखका अनुभव रह ही कहाँ गया ॥ ३८ ॥ प्रारब्ध कर्म भोगनेके लिए ही वह इस समय देहको धारण किये रहता है। समाधि सिद्ध हो जानेपर योगीको अपने शरीर अथवा गृहस्थीके प्रपञ्चकी ममत्व-बुद्धि नहीं रहती। उक्त वस्तुओंको वह स्वप्नकी सामग्रीकी भाँति निःसार समझने लगता है। जैसे वित्त, सन्तान और मित्र आदिसे व्यक्तिकी सत्ता पृथक् रहती है, वैसे ही देह आदिसे आत्माको पृथक्

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात् । अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥४०॥
भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् । आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः॥४१॥
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥४२॥
स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते । योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ४३
तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् । दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेये साधनानुष्ठानं नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

देवहूतिरुवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च । स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥१॥
यथा सांख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते । भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः प्रभो ॥२॥
विरागो येन पुरुषो भगवन् सर्वतो भवेत् । आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥३॥
कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते । स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥४॥
लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुषश्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥५॥

मैत्रेय उवाच

इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः । आबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः ॥६॥

समझे ॥ ३९ ॥ देह आदिको आत्मा समझ बैठना भारी भूल है। जिस प्रकार जल रही लकड़ीसे धुवाँ निकलता और चिनगारियाँ निकलती हैं, परन्तु जलाने और प्रकाश देनेवाली आग पृथक् वस्तु है। उसी प्रकार देह आदिसे आत्मा अलग है। शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणसे आत्मा (जीव) पृथक् है और प्रकृतिका प्रवर्तक ब्रह्म आत्मासे पृथक् है ॥ ४० ॥ ४१ ॥ यह आत्मा और परमात्माका भेद अवास्तविक है। जिस प्रकार चतुर्विध प्राणियों—स्वेदज, उद्भिज, अण्डज और जरायुजमें पृथिवी आदि पञ्चतत्त्व व्याप्त रहते हैं। उसी प्रकार प्राणिमात्रमें अपनेको और अपनेमें प्राणिमात्रको अभिन्नरूपसे देखे ॥ ४२ ॥ जैसे लकड़ीके छोटी-बड़ी होनेसे आग भी तदाकार देख पड़ती है वैसे ही आत्मा भी देव-मनुष्य आदि शरीरोंसे सम्बद्ध होकर वैसा ही प्रतीत होने लगता है ॥ ४३ ॥ इसीलिए साधक बन्धनमें डालनेवाली भगवच्छक्ति-स्वरूप, प्रकृतिको भगवत्कृपासे अपने वशमें करके ब्रह्ममय हो जाते हैं ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायामष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

(भक्तियोग, कालकी शक्ति और संसारकी भीषणताका वर्णन) देवहूतिने कहा—हे भगवन् ! आपने सांख्यशास्त्रकी रीतिसे प्रकृति, पुरुष, और महत्तत्त्व आदिके यथार्थ लक्षण बतलाये। अब मुझे विस्तारके साथ भक्तियोगका उपदेश दीजिए ॥ १ ॥ २ ॥ जीवोंकी विविध योनियोंका वर्णन कीजिए। जिससे भलीभाँति वैराग्य उत्पन्न हो जाय। जिसके भयसे प्राणी सत्कर्ममें प्रवृत्त होता है, जो ब्रह्मा आदि देवताओंपर भी शासन करता है और जो आपका स्वरूप है, उस महाप्रतापी कालका भी वर्णन करिए। शरीर आदिमें ममत्वबुद्धि रखनेवाले और प्रवृत्तिमार्गपर चलते-चलते थक जानेवाले अविवेकी जनोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके लिए ही आपका जन्म हुआ है। योगविद्याको प्रकाशित करनेके लिए आप सूर्य-स्वरूप हैं ॥ ३-५ ॥ मैत्रेयजीने कहा कि हे विदुरजी ! माता देवहूतिकी बातें बड़े ध्यानसे सुनकर कपिलदेवजी दयाभावसे प्रेरित हो और प्रसन्न होकर बोले—हे माताजी ! फल और

श्रीभगवानुवाच

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥७॥
अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा । संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥८॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा । अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥९॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् । यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥१०॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥११॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् । अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥१२॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥१३॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः । येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥१४॥
निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा । क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥१५॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः । भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥१६॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया । मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥१७॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे । आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा ॥१८॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः । पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥१९॥

सङ्कल्पके भेदसे भक्तियोगमें अनेक शाखाएँ हो गई हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ जो क्रोधी व्यक्ति आत्मा और परमात्मामें भेदभाव रखता हुआ हिंसा, पाखण्ड और मात्सर्य (अनिष्ट-चिन्तन) से प्रेरित होकर मेरी (भगवानकी) भक्ति करता है, वह तामस भक्त है । उसके भी तीन भेद हैं, जैसे—दूसरेके विनाश (हिंसा) के लिए भक्ति करनेवाला अधम, पाखण्डसे प्रेरित होकर भक्ति करनेवाला मध्यम और मात्सर्यसे प्रेरित होकर भक्ति करनेवाला उत्तम तामस भक्त है ॥ ८ ॥ भेदबुद्धि रखकर विषय, यश और ऐश्वर्यकी कामनासे मूर्त्ति आदिके द्वारा मेरी भक्ति करनेवाला राजस भक्त है । यह भी तीन प्रकारका होता है । चन्दन-माला स्त्री आदि (विषय) की प्राप्तिके लिए भक्ति करनेवाला अधम, यशकी प्राप्तिके लिए भक्ति करनेवाला मध्यम और ऐश्वर्य पानेके लिए भक्ति करनेवाला उत्तम राजस भक्त होता है ॥ ९ ॥ भेदबुद्धि रखता हुआ जो व्यक्ति पापक्षयके निमित्त, ईश्वर-प्रीत्यर्थ और वेदविधिकी पूर्तिके लिए भक्ति करता है वह सात्त्विक भक्त क्रमशः अधम, मध्यम और उत्तम श्रेणीका भक्त है । (उल्लिखित रीतिसे नवधा भक्तिके नव-नव भेद करनेपर इक्यासी भेद होते हैं ।) ॥१०॥ निर्गुण भक्ति एक ही प्रकारकी होती है । मुझ सर्वान्तर्यामीके भक्तवत्सलता आदि गुणोंके सुनते ही निष्कामभावसे लगातार की जानेवाली भेद-बुद्धि-रहित भक्ति ही निर्गुण भक्ति है ॥११॥१२॥ भक्त लोग भक्तिके अतिरिक्त सालोक्य (मेरे लोकमें निवास), सार्ष्टि (मेरे ऐश्वर्यके तुल्य ऐश्वर्यका उपभोग), सामीप्य (मेरे साथ निवास), सारूप्य (मेरे तुल्य हो जाना) और सायुज्य (मुझमें मिल जाना) मुक्ति भी नहीं चाहते, फिर वे और किसी वस्तुकी इच्छा करने ही क्यों लगे ॥ १३ ॥ आत्यन्तिक भक्तियोग वह है, जिससे साधक गुणत्रय (सत्त्व, रज और तम) से अतीत होकर ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ १४ ॥ निष्काम होकर श्राद्ध आदि नित्य-नैमित्तिक कर्म करने, अवैदिक हिंसासे बचे रहकर पाञ्चरात्रकी विधिसे मेरा पूजन, चरण-स्पर्श, स्तवन और अभिवादन करने तथा प्राणिमात्रमें मेरी अनुभूति करनेसे साधकका चित्त मुझमें लग जाता है । धैर्य रखने, वैराग्यकी भावना करने, बड़े-बूढ़ों और सत्पुरुषोंका आदर-सत्कार करने, दीन-दुखियोंपर दयादृष्टि रखने, अपने सदृश शील-स्वभाववालोंसे स्नेहभाव रखने और यम-नियमोंका पालन करनेसे साधकका चित्त मुझमें लग जाता है, आत्मज्ञानप्रतिपादक ग्रन्थोंका अनुशीलन करने, हरिनाम-कीर्तन करने, हृदयमें छल-कपटको न आने देने, सत्पुरुषोंकी सङ्गतिमें रहने और देह आदिमें ममत्व-बुद्धि न रखनेसे साधकका चित्त मुझमें

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् । एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥२०॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा । तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥२१॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् । हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥२२॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः । भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥२३॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे । नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥२४॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् । यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥२५॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् । तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥२६॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् । अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥२७॥
जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे । ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥२८॥
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः । तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥२९॥
रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः । तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥३०॥
ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः । ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥३१॥
अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत् । मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥३२॥
तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः । मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥३३॥

लग जाता है। उल्लिखित रीतिसे आचरण करते-करते साधकका चित्त विशुद्ध हो जाता है ॥१५–१९॥ तब जैसे वायु गन्धको नाकके समीप पहुँचा जाता है, वैसे ही उपर्युक्त गुणोंका आश्रय लेनेसे साधकका चित्त भगवानके समीप पहुँच जाता है ॥२०॥ मैं प्राणिमात्रमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित हूँ। मेरे इस स्वरूपकी उपेक्षा करके जो मनुष्य केवल प्रतिमा-पूजन करते हैं, वे ढोंग रचते हैं ॥ २१ ॥ प्राणिमात्रमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित मेरी अवज्ञा करके मूर्खतावश मूर्तिकी ही पूजामें लगे रहना राखमें हवन करना है ॥ २२ ॥ जो अविवेकी मनुष्य आत्माको एकदेशी समझकर भेदबुद्धिके कारण दूसरोंसे द्वेष रखता है, उसके मनको शान्ति नहीं मिल सकती ॥ २३ ॥ हे माताजी ! जिसका हृदय राग-द्वेषसे कलुषित है, वह यदि उत्तमसे भी उत्तम सामग्रीके द्वारा मेरी पूजा करे तो भी मैं उसपर सन्तुष्ट नहीं होता ॥ २४ ॥ मनुष्य तबतक नित्य-नैमित्तिक कर्म करता हुआ मूर्ति द्वारा मेरी पूजा करे, जबतक उसे हृदयमें मुझ सर्वान्तर्यामीकी उपलब्धि न हो जाय ॥ २५ ॥ भेदबुद्धि रखनेवाले अविवेकीको मैं मृत्युरूप होकर आवागमनके चक्करमें डाल देता हूँ ॥ २६ ॥ मुझे सर्वान्तर्यामी जानकर भेदबुद्धिको हटा दे और आदर-सत्कार द्वारा सज्जनोंको दान द्वारा साधारण जनोंको तथा मैत्री द्वारा बराबरवालोंको सन्तुष्ट रक्खे। यही वास्तविक पूजा है। जड़ (पत्थर) की अपेक्षा चेतन (वृक्ष आदि) चेतनकी अपेक्षा श्वास लेनेवाले (कीट आदि) इनकी अपेक्षा विशेषरूपसे स्पर्शका अनुभव करनेवाले (कमल आदि), इनकी अपेक्षा ज्ञानवान्, विशेषरूपसे रसके अनुभवी (मछली आदि) जीव श्रेष्ठ हैं ॥ २७ ॥ २८ ॥ इनकी अपेक्षा विशेषरूपसे गन्धका अनुभव करनेवाले (भ्रमर आदि) इनकी अपेक्षा विशेषरूपसे शब्दका अनुभव करनेवाले (सर्प आदि) इनकी अपेक्षा रूपसे भेदको जाननेमें चतुर (कौवा आदि) और इनकी अपेक्षा नीचे-ऊपर दोनों ओर दाँतवाले जीव श्रेष्ठ हैं ॥ २९ ॥ चरण-रहित जीवोंकी अपेक्षा अनेक चरणोंवाले, उनकी अपेक्षा चौपाये, चौपायोंकी अपेक्षा दो पैरोंवाले (मनुष्य) और मनुष्योंमें भी चार वर्ण श्रेष्ठ हैं। इनमें भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणोंमें भी वेदपाठी, उसकी अपेक्षा वेदका अर्थज्ञ और उसकी अपेक्षा वेदोंके मर्मका जानकार विप्र श्रेष्ठ होता है ॥३०॥३१॥ उसकी अपेक्षा अपने आश्रमोचित कर्तव्यका पालन करनेवाला श्रेष्ठ है। उसकी अपेक्षा निष्काम भक्त श्रेष्ठ होता है ॥३२॥ उसकी अपेक्षा वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जिसने सारे कर्म उनका फल और शरीरतक मुझे अर्पण

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् । ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥३४॥
भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः । ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥३५॥
एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः । परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम् ॥३६॥
रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते । भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥३७॥
योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः । स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ३८
न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः । आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥३९॥
यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् । यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात्॥४०॥
यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह । स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥४१॥
स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः । अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥४२॥
नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः । लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतम् ॥४३॥
गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् । वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥४४॥
सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः । जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२९॥

कर रक्खा है ॥३३॥ वही व्यक्ति सर्वोपरि है । क्योंकि यह कर्तृत्वके अभिमानसे दूर और समदर्शी होता है। प्राणिमात्रके भीतर जीवरूपसे ईश्वरको विद्यमान जानकर सब प्राणियोंका आदर करे ॥ ३४ ॥ हे माताजी ! मैंने भक्तियोग और योगका वर्णन कर दिया । इनमेंसे किसी एकका अवलम्बन करनेसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ३५ ॥ क्या प्रकृति, क्या पुरुष और इनसे व्यतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब सर्वनियन्ता भगवानका स्वरूप है, इसीको दैव कहते हैं । जिसके कारण जीवोंको अनेक योनियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ३६ ॥ भगवानके पूर्वोक्त स्वरूपको काल भी कहते हैं । इसी कालके कारण वस्तुओंमें भिन्नता प्रतीत होती है । भेददृष्टि रखनेवालों और देह आदिमें ममत्वबुद्धिवालोंको इस कालसे ही भय होता है ॥ ३७ ॥ जो प्राणियोंमें प्रविष्ट होकर पञ्चमहाभूतों द्वारा संहार-कार्य किया करता है और जिसके कारण यज्ञ-याग आदिका फल मिलता है तथा जो जगत्‌को वशमें रखनेवाले ब्रह्मा आदिका भी अधिनायक है, वही सबका आधार है और उसीका नाम विष्णु है ॥ ३८ ॥ कालका न तो कोई मित्र है और न शत्रु, उसका कोई सगा-सम्बन्धी भी नहीं है । वह सजग होकर असावधान प्राणियोंमें प्रवेश करता और उनका अन्त कर डालता है ॥३९॥ कालके डरसे ही हवा चलती, सूर्य तपता, वर्षा होती, तारे चमकते, पेड़-पौधे और लता आदि यथासमय फूलते-फलते हैं ॥ ४० ॥ ॥ ४१ ॥ कालके ही डरसे नदी-नाले बहते, समुद्र मर्यादामें बने रहते, आग जलती, पर्वतों समेत पृथ्वी जलके ऊपर बनी रहती और आकाश प्राणियोंको स्थान देता है, कालके ही डरसे महत्तत्त्व (पृथ्वी आदि) सात आवरणोंवाले अपने शरीर (अहङ्कार) को (ब्रह्माण्डके रूपमें) फैलाता है तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश जगत्‌को उत्पन्न करते, पालते और उसका संहार करते रहते हैं । कालका तो न आदि है और न अन्त, किन्तु वह जन्म देनेवालोंका भी जन्मदाता और मृत्युका भी मृत्यु है ॥ ४२—४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायामेकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

कपिल उवाच

तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम्। काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ॥१॥
यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे। तं तं धुनोति भगवान् पुमाञ्छोचति यत्कृते ॥२॥
यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः। ध्रुवाणि मन्यते मोहाद् गृहक्षेत्रवसूनि च ॥३॥
जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत्। तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ॥४॥
नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति। नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥५॥
आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु। निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ॥६॥
सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना। करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥७॥
आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया। रहो रचितयाऽऽलापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ॥८॥
गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः। कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥९॥
अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान्। पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः स्वयम् ॥१०॥
वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः। लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ॥११॥
कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः। श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायञ्छ्वसिति मूढधीः ॥१२॥
एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा। नाद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥१३॥

(पापियोंकी अधोगतिका वर्णन) कपिलदेवजीने कहा—हे माताजी ! जैसे हवा बादलोंको उड़ा ले जाती है, फिर भी बादल वायुकी शक्तिको नहीं समझ पाते। वैसे ही (मायासे मोहित) प्राणी कालकी महिमाको समझनेमें असमर्थ रहते हैं। सुख पानेके लिए मनुष्य जिन वस्तुओंका संग्रह बड़े यत्नसे करता है, उनको यह प्रबल काल बातकी बातमें चौपट कर डालता है। उसके लिए मनुष्य पीछेसे पछतावा करता रह जाता है ॥ १ ॥ २ ॥ स्त्री, पुत्र, शरीर और धन-दौलत आदि वास्तवमें हैं तो नश्वर, परन्तु जीव अज्ञानवश इन्हें अविनाशी समझ बैठता है ॥ ३ ॥ जीव जिस-जिस योनिमें जन्म लेता है, उसी-उसीमें सांसारिक सुखोंमें फँस जानेसे वैराग्यकी बाततक नहीं सोच पाता ॥ ४ ॥ प्राणी नरककी घोर यातनाएँ सहनेपर भी देहको त्यागना नहीं चाहता—नरकमें मल-मूत्र आदि खाने-पीनेवाले कृमिको भी अपनी देहसे ममता हो जाती है ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ शरीर, स्त्री, पुत्र, घर-द्वार, पशु, बन्धु-बान्धव, धन-दौलत आदिकी ममतामें फँसकर प्राणी अपनेको कृतार्थ समझ लेता है। पुत्र-कलत्र आदिके पालन-पोषणकी चिन्तासे विकल होनेके कारण वह पापपर पाप किया करता है ॥ ७ ॥ कुलटा स्त्रियोंके मायाजाल (सम्भोग आदि) और मधुरभाषी बच्चोंकी बातोंमें ही वह अपना अहोभाग्य समझता है। गृहस्थीमें यद्यपि बहुत छल-कपट करने पड़ते और दुःख भोगने पड़ते हैं, फिर भी प्राणी उन दुःखोंको हटानेकी चेष्टामें ही सुख मान लेता है ॥ ८ ॥ ९ ॥ जिनका पालन-पोषण करनेसे हाथ तो कुछ लगता नहीं, उलटे दुर्गति होती है। उन्हींका पालन-पोषण करनेके लिए मनुष्य अज्ञानवश हिंसामूलक अनेक कार्य किया करता है। कुटुम्बियोंके भोजनसे बचे हुए टुकड़े भी उसे कठिनाईसे मिलते हैं ॥१०॥ जीविकाके लिए किये गये विविध उद्योगोंके बार-बार निष्फल हो जानेपर मनुष्य लालचमें पड़कर चोरी-चकोरी करने लग जाता है ॥ ११ ॥ परिवारके परिपालनार्थ वह अभागा जो उपाय करता है वही निष्फल हो जाता है, तब वह परिवारके पालनकी चिन्तासे गहरी साँसें लिया करता है ॥ १२ ॥ पालन-पोषण करनेमें उसके असमर्थ हो जानेपर स्त्री-पुत्र आदि उसका वैसे ही अनादर करने लगते हैं, जैसे किसान

तत्राप्यजातनिर्वेदो म्रियमाणः स्वयम्भृतैः । जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ॥१४॥
आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् । आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥१५॥
वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः । कासश्वासकृतायासः कण्ठे घुरघुरायते ॥१६॥
शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः । वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ॥१७॥
एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः । म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥१८॥
यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ । स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥१९॥
यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् । नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ॥२०॥
तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः । पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन् ॥२१॥

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितश्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ॥२२॥

तत्र तत्र पतच्छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः । पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम् ॥२३॥
योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः । त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ॥२४॥
आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः । आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा॥२५॥
जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने । सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥२६॥

बूढ़े बैलका तिरस्कार करता है ॥१३॥ पहले जिनको खिलाकर खाता था उन्हींका मुँहताज होने, बुढ़ापेसे कुरूप हो जाने और मौतके मुँहमें पैर लटकाये रहनेपर भी उसकी आँखें नहीं खुलतीं । चिन्ता और बुढ़ापेके कारण उसे रोग घेर लेते हैं। पाचन-शक्ति बिगड़ जानेसे भरपेट भोजन भी नहीं कर सकता । इससे वह किसी काम-काजके लायक नहीं रहता। इस दशामें अनादरके साथ घरवालोंके दिये हुए टुकड़ोंपर वह पालतू कुत्तेका-सा जीवन बिताता है ॥ १४ ॥ १५ ॥ ऊर्ध्वश्वास चलनेसे आँखें निकल आती हैं, नाड़ियोंकी गतिको कफ रोक देता है, खाँसने और साँस लेनेमें भी उसे बड़ा कष्ट होता है और कफ अटक जानेसे गलेसे घर-घर शब्द होने लगता है ॥ १६ ॥ मौतके फन्देमें फँसा हुआ, चिन्तित भाई-बन्धुओंके बीच लेटा हुआ वह प्राणी घरवालोंके बार-बार बुलानेपर भी क्लेशके मारे नहीं बोल पाता ॥ १७ ॥ इस प्रकार वह अभागा भाई-बन्धुओंको रोते-कलपते छोड़ और यम-यातना भोगकर सदाके लिए आँखें मूँद लेता है ॥ १८ ॥ उस समय भयावने दो यमदूतोंके आकर क्रोधपूर्ण दृष्टि द्वारा उसे डराने-धमकाने लगनेसे उसका मल-मूत्र निकल पड़ता है ॥ १९ ॥ वे यमदूत उसके गलेमें फन्दा डालकर यमपुरीतक उसी तरह घसीटते ले जाते हैं, जिस तरह अपराधीको राजकर्मचारी पकड़ ले जाते हैं ॥ २० ॥ दोनों यमदूतोंके घुड़कनेसे उसका दिल दहल जाता, वह मारे डरके थर-थर काँपने लगता और रास्तेमें उसे कुत्ते काट-काट खाते हैं। इस अवस्थामें पड़कर वह अपने पापोंका स्मरण करके पीडित होता है। भूख और प्यासका मारा हुआ वह प्राणी कड़ी धूप, दावानल और लू लगनेसे तप जाता है। तपे हुए बालुकामय मार्गपर चलनेमें उसके असमर्थ होनेपर यमदूत उसकी पीठपर कोड़े लगाकर आगे बढ़ाते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥ उस मार्गमें न तो कहीं पीनेको पानी मिलता और न विश्राम करनेको स्थान ही। इससे वह चलते-चलते थककर गिर पड़ता, बेहोश हो जाता किन्तु फिर भी उठकर उस अन्धकारमय यमपुरीके दुःखप्रद मार्गपर चलने लगता है। निन्नानवे हजार योजनकी दूरीको वह प्राणी दो-तीन मुहूर्तों (क्षणों) में ही तय कर लेता है। इतने ही समयमें उसकी सब दुर्दशा हो जाती है ॥ २३ ॥ २४ ॥ वहाँ उसे जलती हुई लकड़ियोंके बीचमें घेरकर जलाया अथवा झुलसाया जाता, कहींपर उसे अपने ही हाथसे अथवा दूसरेके हाथसे काटा हुआ अपना ही मांस खाना पड़ता है ॥ २५ ॥ गिद्ध और कुत्ते उसकी अँतड़ियाँ

कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम्। पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाम्बुगर्तयोः ॥२७॥
यास्तामिस्रान्धतामिस्रा रौरवाद्याश्च यातनाः। भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः॥२८
अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते। या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः ॥२९॥
एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा। विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥३०॥
एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम्। कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम् ॥३१॥
दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान्। भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः ॥३२॥
केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः। याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥३३॥
अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः। क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥३४॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने कर्मविपाको नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥१॥
कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्। दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ॥२॥
मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः। नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥३

नोच लेते तथा उसे साँप, बिच्छू और डाँस काटते हैं ॥ २६ ॥ उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग काटे-कूटे जाते, उसे हाथी आदिसे कुचलवाया जाता, पहाड़की चोटीसे ढकेला जाता, कहीं जलमें डुबाया और गड्ढोंमें दबा दिया जाता है ॥ २७ ॥ नरनारियोंको किसी भी अवस्थामें किये गये पापोंका फल तामिस्र, अन्धतामिस्र और रौरव आदि नरकोंकी यातनाओंके रूपमें भोगना पड़ता है ॥ २८ ॥ हे माताजी ! कुछ लोग तो नरक और स्वर्गको इसी लोकमें बतलाते हैं। क्योंकि इस लोकमें राजपुरुषोंके द्वारा चोर आदि नरककी यातनाएँ भोगते हुए प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं ॥ २९ ॥ चाहे परिवारवाला हो चाहे अकेला, उसे परिवार और देह आदि छोड़-छाड़कर परलोकमें अपनी करनीका फल भोगना पड़ता है, जिसका वर्णन पीछे हो चुका है ॥ ३० ॥ प्राणिमात्रसे वैर-विरोध ठानकर पाले हुए शरीरको छोड़ प्राणी पापोंकी गठरी लादकर अकेला ही नरकके कष्ट भोगता है ॥ ३१ ॥ जिसने अपने कुटुम्बका पालन करनेमें विविध पाप किये हैं, उसे नरकमें अपनी करनीका फल भोगना ही पड़ता है। जिसका सर्वस्व लुट गया हो, उस व्यक्तिको अपनी धन-दौलतकी चिन्ताके सिवा कुछ नहीं सूझता। उसीकी तरह पूर्वोक्त व्यक्ति शरीर छोड़ते समय कुटुम्बकी चिन्तासे अभिभूत रहनेके कारण ईश्वरसे पापोंके लिए क्षमा-प्रार्थना करना भूल जाता है। इसीसे उसपर पापोंका बोझ लदा रहता है ॥ ३२ ॥ जिसने कुटुम्बके भरण-पोषणके लिए पाप ही पाप किये हैं, उसे सबसे भीषण नरक—अन्धतामिस्र—की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं ॥ ३३ ॥ हे माताजी ! इस प्रकार वह पापी अपने पापोंके फलस्वरूप नरकके भयङ्कर कष्ट और श्वान-शूकर आदि योनियोंके क्लेश भोग चुकनेपर—पापोंके क्षीण हो जानेसे विशुद्ध हो जानेपर—फिर मनुष्य-योनि पाता है ॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

(राजसी गतिका वर्णन) कपिलदेवजीने कहा—कर्मोंका फल ईश्वरके अधीन है, इसलिए पूर्वजन्मके किये हुए अपने कर्मोंके अनुसार प्राणी पुरुषके वीर्यका आश्रय लेकर स्त्रीके उदर (गर्भाशय) में प्रविष्ट होता है ॥ १ ॥ एक रात्रिमें शुक्र (वीर्य) का मिश्रण होता है, पाँच रात्रियोंमें वह बुलबुलेकी तरह गोल हो जाता और दस दिनमें वह बेरकी तरह कड़ा हो जाता है। इसके पश्चात् वह या तो मांसपिण्डके रूपमें परिवर्तित हो जाता या तिर्यक् योनिमें हुआ तो अण्डा बन जाता है ॥ २ ॥ महीने

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः। षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥४॥
मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते। शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥५॥
कृमिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम्। मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥६॥
कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः। मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥७॥
उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः। आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥८॥
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे। तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम्।
स्मरन्दीर्घमनूच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ॥९॥
आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः। नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ॥१०॥
नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः। स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥११॥

जन्तुरुवाच

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयाऽऽत्तनानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम्।
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥१२॥
यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम्।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोधमातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥१३॥

भरमें सिर बनता, दो महीनेमें हाथ-पैर आदिका आकार बनता, तीन महीनेमें नाखून-रोम-हड्डी और लिङ्ग या योनिका छेद बन जाता है ॥ ३ ॥ चार महीनेमें सातों धातुएँ बन जातीं, पाँच महीनेमें भूख-प्यास लगने लगती, छः महीनेमें जब जरायु (झिल्ली) लपेट लेती है, तब बच्चा दाहनी कोखमें फिरने लगता है ॥ ४ ॥ मल-मूत्रसे परिपूर्ण गर्भाशयमें उसे विवश होकर रहना पड़ता है ॥ ५ ॥ यहाँपर उसकी वृद्धि माताके खाये-पिये अन्न-जल आदिके सारसे होती है। सुकुमार तो वह होता ही है, इसलिए (गर्भाशयमें स्थित) भूखे कृमि उसे काटते रहते हैं, जिससे पीड़ाके मारे बेहोश हो जाता है ॥ ६ ॥ माताके खाये हुए कडुवे, तीते, गरम, नमकीन, रूखे और खट्टे भोजनका रस लगनेसे उसकी देहभरमें चीटियाँ-सी चलने लगती हैं ॥७॥ यह जीव जरायुसे लिपटा और अँतड़ियोंसे घिरा रहता है। गर्भाशयमें बच्चेका सिर नीचेको और गर्दन समेत धड़ मुड़ा हुआ (कुण्डलाकार) रहता है ॥ ८ ॥ पिंजड़ेमें पड़े पक्षीकी तरह वह इतना पराधीन रहता है कि हाथ-पैर तक हिलाने-डुलानेमें समर्थ नहीं होता। पूर्वसंस्कारवश स्मरण-शक्ति आ जानेपर जन्म-जन्मान्तरके पापपुञ्जोंका स्मरण करके वह बेचैन हो जाता है ॥ ९ ॥ उसका दम घुटने लगता है। गर्भवासके समय जो भयङ्कर कष्ट मिलते हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। सातवें महीनेमें ज्ञानशक्ति आ जानेपर वह प्रसवीय पवनकी प्रेरणासे कम्पित होता रहता और एक स्थलपर उसी तरह स्थित नहीं रह पाता, जिस तरह विष्ठामें कृमि ॥ १० ॥ देहको ही आत्मा समझनेवाला सात धातुओंके बन्धनमें आबद्ध जीव गर्भवासके कष्टोंसे व्याकुल हो हाथ जोड़कर बड़ी नम्रतासे उस प्रभुकी स्तुति करने लगता है, जिसने उसे गर्भमें पहुँचाया है ॥ ११ ॥ जीव स्तुति करता है—हे भगवन्! संसारके भलेके लिए आप अपनी इच्छासे समय-समयपर अवतार लेते हैं, मेरे जैसे अधर्मीके लिए आप कर्मोंके अनुरूप गर्भवास आदिका प्रबन्ध करते हैं, किन्तु आपकी शरणमें चले जानेसे किसी प्रकारका भय नहीं रहता। मैं आपके शरणागत हूँ ॥ १२ ॥ गर्भाशयमें आकर मायामय पञ्चभूत (शरीर) इन्द्रियों और अन्तःकरणके चक्करमें पड़कर अपने पाप-पुण्य आदि कर्मोंके कारण मैं उस स्वरूपको भूल-सा गया हूँ। आप निर्विकार और उपाधिशून्य हैं। आपका ज्ञान अखण्ड है। भक्तोंके हृदयमें ही आप

यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम् ॥१४॥
यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन् सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥१५॥
ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देवस्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमानास्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ॥१६॥
देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु ॥१७॥
येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥१८॥
पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।
यत्सृष्टयाऽऽसं तमहं पुरुषं पुराणं पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ॥१९॥
सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया मिथ्यामतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥२०॥
यस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्य आत्मानमाशु तमसः सुहृदाऽऽत्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥२१॥

कपिल उवाच

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः । सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥२२॥

विराजमान रहते हैं, आपको मेरा प्रणाम है ॥ १३ ॥ मैं पाञ्चभौतिक शरीरसे सम्बन्ध रखनेपर भी वास्तवमें उससे बेलाग हूँ। इसीसे इन्द्रियों, सत्त्व आदि गुणों, शब्द आदि विषयों और चिदाभाससे भी मैं पृथक् ही हूँ। प्रकृति और पुरुषके नियन्ता महिमामय परम पुरुषको मेरा प्रणाम है ॥ १४ ॥ यह जीव जिसकी मायावश होकर—अपने कर्मोंके फल और प्रकृतिके लीलास्वरूप—संसारमें भटकता हुआ अनेक कष्ट झेलता है और अपने स्वरूप तकको भूल जाता है, उस ईश्वरकी कृपा बिना इसको स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १५ ॥ इसीसे हे प्रभो ! मैं आपकी शरणमें हूँ। जिसकी कृपासे जीवकी त्रैकालिक (भूत, भविष्य, वर्तमान) ज्ञानकी प्राप्ति होती है और जो जड़-चेतन सबमें अन्तर्यामीरूपसे रमा हुआ है—तीनों तापोंकी शान्तिके लिए—मैं उसकी शरण लेता हूँ ॥ १६ ॥ हे भगवन् ! रक्त और मल-मूत्रसे भरे हुए गर्भाशयमें - परायी देहके भीतर—पड़े रहनेसे मैं (जीव) जठराग्निमें पचकर बाहर निकलनेके लिए छटपटाता हुआ दिन गिना करता हूँ। भगवन् ! मुझे इस गड्ढेके बाहर कब निकालिएगा ? ॥ १७ ॥ हे प्रभो ! आपने मुझे गर्भस्थित जीवको भी ज्ञान देनेकी असीम कृपा की है। आपने जो मुझपर कृपा की है, उसीसे आप प्रसन्न हों। सिवा प्रणाम करनेके मैं और कौन-सी सेवाके द्वारा आपके इस उपकारका बदला चुका सकता हूँ ! ॥ १८ ॥ पशुयोनिके जीव अपने सुख-दुःखके अतिरिक्त और कुछ अनुभव नहीं कर पाते, किन्तु मैं तो आपके दिये हुए विवेक-बलसे शम-दम आदि साधनों द्वारा सम्पन्न हो आपके दर्शन पाता हूँ ॥ १९ ॥ आप अनादि हैं और भीतर-बाहर सर्वत्र वर्तमान हैं। हे देव ! गर्भवासके अनेक कष्टोंको भोगते रहना मुझे स्वीकार है, पर बाहर जाना स्वीकार नहीं। क्योंकि बाहर जाते ही जीवकी बुद्धिपर मायाका पर्दा पड़ जाता है, जिससे वह आवागमनके चक्करमें पड़ जाता है ॥ २० ॥ इसलिए मैं यहीं रहकर धैर्यपूर्वक बुद्धिकी सहायतासे शीघ्र संसारसे अपना उद्धार कर लूँगा—भगवानका भजन कर लेनेसे फिर मुझे बार-बार गर्भवासकी यन्त्रणाएँ न भोगनी पड़ेंगी ॥ २१ ॥ कपिलदेवजीने कहा—हे माताजी !

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक् शिर आतुरः । विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥२३॥
पतितो भुव्यसृङ्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते । रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ॥२४॥
परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः । अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥२५॥
शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते । नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥२६॥
तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः । रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ॥२७॥
इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च । अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः ॥२८
सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना । करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥२९॥
भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् । अहंममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ॥३०॥
तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् । योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥३१॥
यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः । आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥३२॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा । शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम् ॥३३॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु । सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥३४॥
न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥३५॥
प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः । रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः ॥३६॥

ऐसा निश्चय करके जीव गर्भमें बैठा स्तुति किया करता है। तब उस नीचेको मुँह किये पड़े जीवको प्रसवकारी वायु झटपट बाहर निकलनेको ठेल देता है ॥ २२ ॥ बाहर आते समय उसे बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। उस समय उसका सिर नीचेको रहता है, साँस रुँधी-सी रहती है और उसकी स्मरणशक्ति जाती रहती है ॥ २३ ॥ बाहर आकर वह रक्त और मूत्रमें मलके कृमिकी भाँति छटपटाता और ज्ञान न रहनेसे रोनेका ताँता लगा देता है ॥ २४ ॥ पालन करनेवाले माता-पिता नवजात शिशुके अभिप्रायको न समझनेसे जब वह रोने लगता तो दूध पिलाने लगते हैं, किन्तु वह अपना वास्तविक अभिप्राय प्रकट करनेमें असमर्थ रहता है कि मुझे इसकी नहीं, अमुक वस्तुकी आवश्यकता है। मैले-कुचैले खटमल आदिसे भरे बिस्तरेपर लेटे हुए उस शिशुकी नरम चमड़ीमें डाँस-मच्छर-खटमल आदि बड़े कीड़ेको छोटे कीड़ेकी भाँति काटते हैं तो वह रोने-चिल्लाने लगता है, परन्तु उसमें यह शक्ति नहीं कि वह अपने अङ्गोंको खुजला सके। यही नहीं, न तो वह स्वयं करवट बदल सकता और न उठ-बैठ सकता है ॥२५—२७॥ इस प्रकार बचपन और पौगण्डके क्लेशोंको भोग चुकनेपर जब वह युवावस्थामें पैर रखता है तब अभीष्ट वस्तुएँ न पाकर दुखी होकर लोगोंसे वैरविरोध करने लगता है। इस वैर-विरोधसे औरोंकी तो कुछ हानि नहीं होती, उसीका नाश होता है ॥ २८ ॥ २९ ॥ अविवेकी प्राणी पाञ्चभौतिक शरीरको आत्मा समझकर उसपर ममता किया करता है। देहपर ममता हो जानेके कारण आत्माकी उपेक्षा करके वह सारे काम केवल अपनी देहके लिए करता है। इसी कारण वह जन्म-मरणके फेरेमें पड़ा रहता है ॥३०॥३१॥ यदि प्राणी सन्मार्गसे भ्रष्ट हो शिश्नोदरपरायण दुर्जनोंकी कुसङ्गतिमें पड़कर कुमार्गपर चलने लगता है तो फिर नरकमें जा गिरता है ॥ ३२ ॥ कुसङ्गतिमें पड़नेसे सत्य, पवित्रता, दया, मौन (संयत भाषण), विवेक, सम्पत्ति, लज्जा, यश, सहनशीलता, इन्द्रियों और मनको वशमें रखना तथा उत्कर्ष आदि सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥३३॥ देहको ही सब कुछ समझनेसे दुर्जनोंको शान्ति नहीं मिलती, वे मूढ़ किसीके काम नहीं आते। वे तो स्त्रीके दास होते हैं। इसीसे उनकी दशा शोचनीय होती है। ऐसोंकी सङ्गति भूलकर भी न करे ॥३४॥ स्त्रियोंके पास उठने-बैठने और स्त्रैण पुरुषोंकी सङ्गति करनेसे बुद्धि कलुषित हो जाती और बन्धन दृढ़ हो जाते हैं। जब प्रजापति ब्रह्मा अपनी बेटीके रूपपर मोहित हो गये, तब वह मृगी बनकर भागी ॥ ३५ ॥ उस दशामें प्रजापतिने निर्लज्जतापूर्वक

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्। ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥३७॥
बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्। या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम् ३८
सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥३९॥
योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता। तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥४०॥
या मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम्। स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥४१॥
तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम्। दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ॥४२॥
देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्। भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥४३॥
जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः। तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥४४॥
द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा। तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥४५॥
यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा। तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥४६॥
तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः। बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥४७॥
सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया। मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने जीवगतिर्नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

मृगका रूप धारणकर उसका पीछा किया ॥ ३६ ॥ जब साक्षात् ब्रह्माजीका यह हाल हुआ तब उन्हींकी सृष्टिस्वरूप देवताओं, ऋषियों और मनुष्योंमें ऐसा कौन है, जिसके मनको स्त्रियोंने आकृष्ट न किया हो। (केवल नर-नारायणपर ही स्त्रियोंका वश नहीं चला) ॥ ३७ ॥ हे माताजी! स्त्रीरूपिणी मेरी मायाका बल तो देखिए। वह बड़े-बड़े दिग्विजयी शूरवीरोंका भ्रूविलास मात्रसे मान-मर्दन कर देती हैं ॥ ३८ ॥ मेरी भगवत्कृपासे जिसे आत्मस्वरूपका ज्ञान हो गया है और जो मोक्ष पानेका प्रयत्न कर रहा है, वह हर तरहसे स्त्रियोंके सम्पर्कको बचाता रहे। क्योंकि पुरुषके लिए स्त्री नरकका द्वार मानी गयी है ॥ ३९ ॥ सेवा करने आदिके बहाने स्त्री-रूपिणी माया पास आवे तो मुमुक्षु पुरुष उसे घास-फूससे छिपे हुए कुएँकी भाँति मृत्यु (अधःपात) का कारण समझे ॥ ४० ॥ पिछले जन्ममें शरीर त्यागते समय प्राणी स्त्रीका चिन्तन करनेसे अगले जन्ममें स्त्रीका ही शरीर पाकर अपने अज्ञानवश पुरुष पुरुष-रूप मेरी मायाको पुत्र, वित्त, गृह आदिका देनेवाला पति समझ लेता है। पति, सन्तान और गृह आदि माया ही है। जिसका परिणाम—प्राक्तन कर्मोंके अनुसार होनेवाली—मृत्यु है। जैसे—गाना सुनाकर शिकारी मृगके प्राण ले लेता है, वही काम यह माया करती है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ प्राणी लिङ्ग-शरीर द्वारा एक लोकसे दूसरे लोक (या एक योनिसे दूसरी योनि) में जाता और कर्मफल भोगता तथा अन्य कर्म किया करता है ॥ ४३ ॥ मुक्ति होनेपर ही जीवके लिङ्ग-शरीर ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, सूक्ष्म पञ्चभूत, मन और बुद्धिके समुदायका लय होता है और पाञ्चभौतिक (स्थूल) शरीरसे वह सुख-दुख आदिका अनुभव करता है। लिङ्गशरीर सहित स्थूल शरीरका कार्य करनेमें अशक्त हो जाना ही जीवकी मृत्यु और समर्थ होना जन्म है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ कमल, मोतियाबिन्द आदि रोगों द्वारा दूषित होनेपर जैसे इन्द्रियगोलक कार्य करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तो इन्द्रियाँ भी बेकाम हो जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके बेकाम हो जानेपर जीव भी विषयोंके अनुभव करनेमें असमर्थ हो जाता हैं। वैसे ही स्थूल देहमें विकार आ जानेपर लिङ्ग-शरीरका लुप्त हो जाना अनिवार्य है। जीवके कार्य करनेकी क्षमता और अक्षमताका दूसरा नाम जन्म-मरण है। वास्तवमें जीवके स्वरूपसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ ४६ ॥ इसलिए साधक पुरुष न तो मृत्युसे डरे, न दीनता दिखावे और न जीवनोपयोगी पदार्थोंके लिए हाय-हाय करे। जन्म-मरणके रहस्यको भलीभाँति समझ ले और निवृत्तिमार्गी हो जाय ॥ ४७ ॥ भक्ति, योग, वैराग्य और ज्ञानसे विशुद्ध बुद्धि

द्वात्रिंशोऽध्यायः

कपिल उवाच

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन् गृहे । काममर्थं च धर्मान् स्वान्दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ॥१
स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः । यजते क्रतुभिर्देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः ॥२॥
तच्छ्रद्धयाऽऽक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् । गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥३॥
यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः । तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ॥४॥
ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे । निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः ॥५॥
निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः । स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ॥६॥
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् । परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥७॥
द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते । तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ॥८॥
क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थभूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः ।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः ॥९॥
एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः ॥१०॥
अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् । श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ॥११॥
आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः । योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः ॥१२॥

द्वारा संसारको माया-कल्पित एवं नश्वर समझकर शरीरपर मोह-ममता न रक्खे ॥ ४८ ॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायामेकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

(सात्त्विक गति और पुनरागमनका वर्णन) कपिलदेवजीने कहा—जो व्यक्ति गृहस्थाश्रममें रहकर सकाम कर्मों (धर्म, अर्थ, काम) में ही उलझा रहता है, उसका उनसे कभी छुटकारा नहीं होता ॥ १ ॥ भगवद्भक्तिसे विमुख वह अविवेकी पुरुष यज्ञ-याग आदि द्वारा देवताओं तथा पितरोंकी श्रद्धापूर्वक आराधना करके चन्द्रलोकमें जाता और वहाँ सोमपान करता तथा पुण्य क्षीण होनेपर फिर संसारमें लौट आता है ॥ २ ॥ ३ ॥ प्रलयकालमें भगवानके शेषशायी हो जानेपर उन चन्द्रलोक प्रभृतिका भी लय हो जाता है; जो सकाम कर्मोंके फल-स्वरूप हैं ॥ ४ ॥ जो निष्काम भावसे कर्म करते हैं और निःसङ्ग रहकर ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करनेके कारण जिनका मन शान्त तथा शुद्ध हो गया रहता है, निवृत्तिमार्गावलम्बी ममतारहित और अहङ्कारशून्य वे मोक्षार्थी लोग सत्त्वगुणप्रधान कर्म करके सूर्य-द्वारा (अर्चिरादि मार्ग) से होकर चराचरके नियन्ता, जगत्के उपादान और निमित्त कारण-स्वरूप पूर्ण पुरुषको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ५–७ ॥ जो लोग हिरण्यगर्भको परमेश्वर समझकर भजते हैं, वे दो परार्द्धोंके बीतनेपर महाप्रलयकी स्थितितक ब्रह्मलोकमें रहते हैं ॥ ८ ॥ त्रिगुणमूर्ति ब्रह्माजी द्विपरार्ध कालतक शासन करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, इन्द्रियाँ, शब्द प्रभृति और अहङ्कार आदि सहित ब्रह्माण्डका संहार करनेके लिए जब परमेश्वरमें लीन हो जाते तब महाप्रलय हो जाता है। प्राणायाम आदिके द्वारा मनको वशमें करके जिन विरक्त साधकोंने ब्रह्मलोक प्राप्त कर लिया है, वे ब्रह्माजी (हिरण्यगर्भ) के साथ-साथ परमानन्दस्वरूप अविनाशी पुराणपुरुष परब्रह्मको प्राप्त करते हैं, इसके पहले नहीं। क्योंकि इससे पहले अभिमान उनका पिण्ड नहीं छोड़ता ॥ ९ ॥ १० ॥ हे माताजी ! तुम भक्तिभावसे उस परमेश्वरकी शरणमें जाओ, जो घट-घटमें व्याप्त हो रहा है और जिसकी महिमा सर्वविश्रुत है ॥ ११ ॥ कालरूप ईश्वरके द्वारा सत्त्व आदि गुणोंके परस्पर संयुक्त

भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा। कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ॥१३॥
स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना। जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ॥१४॥
ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च तेऽपि धर्मविनिर्मितम्। निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥१५॥
ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः। कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः॥१६॥
रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः। पितॄन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥१७॥
त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः। कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥१८॥
नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥१९॥
दक्षिणेन पथार्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते। प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः ॥२०॥
ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति। पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ॥२१॥
तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम्। तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥२२॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥२३॥
यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः। न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥२४॥
स तदैवात्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं समदर्शनम्। हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥२५॥
ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान्। दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥२६॥
एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः। युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥२७॥
ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्। अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥२८॥
यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट्। एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥२९॥

होनेपर मरीचि आदि योगीश्वर ऋषियों, योग-प्रवर्त्तक सनत्कुमार आदि महात्माओं तथा अन्यान्य सिद्धोंकी तो बात ही क्या, जड़-चेतनके विधाता स्वयं ब्रह्माजीको निष्काम कर्म करनेपर भी भेददृष्टि रखने और कर्तृत्वके अभिमानके कारण सृष्टिके आरम्भमें अपने अधिकारानुसार संसारमें आना पड़ता है ॥ १२–१४ ॥ यद्यपि इन सबको पुण्योपार्जित ऐश्वर्यका उपभोग प्राप्त होकर सगुण परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १५ ॥ नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको ही जो श्रद्धापूर्वक किया करते हैं, जिनके मनपर रजोगुणका अधिकार है और इन्द्रियाँ जिनके वशमें नहीं हैं, ऐसे गृहस्थाश्रमी लोग प्रतिदिन पितरोंकी आराधनामें तत्पर रहते हैं। जो धर्म, अर्थ और कामके साधक कार्योंमें उलझे रहनेसे भगवानका गुण-गान नहीं करते और जैसे शूकर अच्छी वस्तुओंको छोड़कर विष्ठाकी ओर दौड़ता है वैसे जो भगवत्कथामृतको छोड़कर व्यर्थकी बातोंमें फँसे रहते हैं, वे बड़े ही अभागे हैं ॥ १६–१९ ॥ गर्भाधानसे लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कारोंको विधिपूर्वक करते हुए ये लोग पितरोंके राजा अर्यमाके दक्षिण (धूम) मार्गसे पितृलोकको जाते हैं ॥ २० ॥ वहाँ पुण्योंके क्षीण होते ही देवता उन्हें पितृलोकके सुख-भोगके अधिकारसे च्युत कर देते हैं। तब वे इस लोकमें आते हैं ॥ २१ ॥ इसलिए हे माताजी ! तुम श्रद्धा-भक्तिसे भगवानका भजन करो। भगवानकी भक्ति करनेपर विषयोंसे वैराग्य होकर शीघ्र ही विवेक-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जिससे ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है ॥ २२ ॥ २३ ॥ भक्तका चित्त जब इन्द्रियोंका साथ न देकर रागद्वेषकी सीमाके पार जाकर भगवानमें लौलीन हो जाता है, तभी वह अपनेको परमानन्द स्वरूप मानकर निःसङ्ग, समदर्शी और स्वप्रकाशमय आत्माके दर्शन करता है ॥२४॥२५॥ द्रष्टा, दृश्य और दर्शनका साधन इत्यादि रूपसे भगवान भिन्नसे प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तवमें वे ज्ञानरूप और अद्वितीय हैं ॥ २६ ॥ संसारकी ओरसे पूर्ण निःसंगबुद्धि हो जाना ही योगीके समस्त योग-साधनका फल है ॥ २७ ॥ ज्ञानमय अद्वितीय निर्गुण ब्रह्म ही विषयोन्मुख इन्द्रियों द्वारा भ्रान्तिवश आकाश आदि और देव-मनुष्य आदिरूपसे प्रतीत होता है। वास्तवमें उल्लिखित पदार्थोंकी सत्ता ब्रह्मसे पृथक् नहीं है ॥ २८ ॥ जैसे महत्तत्त्व स्वरूपतः एक होकर भी अहङ्कार आदि रूपसे त्रिविध (सात्त्विक, राजस,

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः । समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या परिपश्यति॥३०॥
इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम् । येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥३१॥
ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः । द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥३२॥
यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः । एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ॥३३॥
क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः । आत्मेन्द्रियजयेनापि संन्यासेन च कर्मणाम् ॥३४॥
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि । धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥३५॥
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च । ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥३६॥
प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् । कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ॥३७॥
जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः । यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः॥३८॥
नैतत्खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् । न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ॥३९॥
न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे । नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि ॥४०॥
श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे । भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥४१॥
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम् । निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः ॥४२॥
य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् । यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च मे ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

तामस) पञ्चविध (पञ्चभूतोंके संयोगसे) और एकादशविध (दस इन्द्रियों और मनके साथ रहनेसे) तथा जीव शरीर और ब्रह्माण्डरूपसे अनेकविध प्रतीत होता है (वस्तुतः अहंकार आदि महत्तत्त्वसे पृथक् नहीं है) वैसे ही ज्ञान भी शब्द-स्पर्श आदि रूपसे अलग-अलग मालूम पड़ता है सही, किन्तु है एक ही। श्रद्धा, भक्ति, वैराग्य और निरन्तर योगाभ्याससे जब मन शान्त और विषयोंसे पृथक् हो जाता है, तब साधकको पूर्वोक्त ज्ञान-स्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होता है ॥ २९ ॥ ३० ॥ हे माताजी ! यह उस ज्ञानका स्पष्टीकरण है, जिसका फल ब्रह्मका साक्षात्कार है। इसीके द्वारा प्रकृति और पुरुषका तत्त्व समझमें आ सकता है ॥ ३१ ॥ उपासना चाहे निर्गुण (ज्ञानयोग) की हो चाहे सगुण (भक्ति-योग) की, दोनोंका फल भगवत्प्राप्ति ही है। अधिकारीभेदसे ही दो मार्ग प्रचलित हैं ॥ ३२ ॥ जैसे द्रष्टा एक ही वस्तुको अनेक इन्द्रियों द्वारा अनेक रूपोंमें—जैसे चीनीकी सफेदीको आँखसे, मिठासको जीभसे और स्पर्शको त्वगिन्द्रियसे अनुभव करता है, वैसे ही भगवान्‌के स्वरूपमें भेद न होनेपर भी उसकी प्राप्तिके लिए अधिकारीभेदसे शास्त्रोंमें अनेक उपाय बताये गये हैं ॥ ३३ ॥ कुआँ-बावली आदि खुदवाने, यज्ञ-योग आदि करने, दान-तप, वेदाध्ययन और वेदार्थका विचार करने तथा मन और इन्द्रियोंका निग्रह करने तथा ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्मका आचरण करने एवं अष्टाङ्गयोग और भक्तियोग करने तथा सकाम और निष्काम धर्मके पालन, आत्मचिन्तन और प्रबल वैराग्य आदि उपायोंसे सगुण, निर्गुण और प्रकाश-स्वरूप ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है ॥ ३४-३६ ॥ हे माताजी ! मैंने तुम्हें पूर्वोक्त चार प्रकारके भक्तियोगका और उस कालका स्वरूप बतला दिया। जिसकी शक्ति और गति समझमें नहीं आती तथा जो प्राणिमात्रके जन्म-मरणका आदि कारण है ॥ ३७ ॥ अविद्यामय कर्म करनेसे जीवको जिन विविध योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है, उनमें पहुँचनेपर उसको अपने स्वरूपतकका ज्ञान नहीं रह जाता। इन सब योनियोंका वर्णन भी मैंने कर दिया ॥ ३८ ॥ खल, उद्दण्ड, मन्दबुद्धि, नास्तिक या दुराचारी, पाखण्डी, लालची, गृहस्थीके जंजालमें फँसे हुए, श्रद्धाहीन और मेरे भक्तोंके विरोधीको इस तत्त्वज्ञानका उपदेश न दे ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इसके अधिकारी तो मेरे वे अनन्य भक्त हैं जो श्रद्धालु, नम्र, ईर्ष्या-द्वेष-हीन, प्राणिमात्रके हितैषी, सेवापरायण, विरक्त, शान्तचित्त, राग-द्वेष-हीन और निष्कपट हैं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ हे माताजी ! जो व्यक्ति मेरे दिये हुए उपदेशको श्रद्धापूर्वक

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥१॥

देवहूतिरुवाच

अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः ॥२॥
स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धिरात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥३॥
स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥४॥
त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादयस्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥५॥
यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥६॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥७॥

एकबार भी मत्परायण होकर सुनता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

(कपिलदेवजीके उपदेशसे देवहूतिको विवेक और जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति) मैत्रेयजी कहते हैं कि हे विदुरजी ! कपिलभगवानके उपदेश सुनते ही देवहूतिका सब माया-मोह जाता रहा। वे ज्ञानमार्गके प्रवर्तक कपिलदेवजीको प्रणाम करके इस प्रकार स्तुति करने लगीं—॥ १ ॥ देवहूतिने कहा—हे भगवन् ! आप कार्यकारणमात्रके बीजस्वरूप और गुणत्रयके नियन्ता हैं। पञ्चभूत, इन्द्रियाँ, शब्द आदि विषय और मन, ये सब आपके ही व्यक्त स्वरूप हैं। आप प्रलयकालमें शेषशय्यापर शयन किया करते हैं। आपके नाभि-कमलसे उत्पन्न स्वयं ब्रह्माजी भी आपका ध्यान करके ही रह गये, दर्शन उन्हें भी न मिले। आप सत्यसङ्कल्प हैं और आपकी शक्तियाँ अचिन्त्य और अनन्त हैं। सत्त्व-रज आदि गुणोंके प्रवर्तकरूपसे अपनी शक्तियोंको विभक्त करके निष्क्रिय होते हुए भी जीवोंको कर्मफल देनेके लिए आप विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किया करते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ प्रलयकालमें जो विशाल ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन करके बरगदके पत्तेपर लेटकर आनन्दके साथ पैरका अंगूठा चूसा करते हैं, उन्हीं आपको मैंने अपने उदरमें कैसे धारण किया ! यही मुझे आश्चर्य है ॥४॥ दुर्जनोंका दलन और सज्जनोंका पालन करनेके लिए आपने जिस प्रकार समय-समयपर वराह आदि अनेक अवतार धारण किये हैं, उसी प्रकार आपका यह कपिल-अवतार भी ज्ञानमार्गका उपदेश देनेके लिए है ॥ ५ ॥ जिनके नामका श्रवण-कीर्तन करने और भूले-भटके स्मरण कर लेनेमात्रसे चाण्डाल भी सोमयाग करनेका अधिकारी अर्थात् आदरणीय हो जाता है, तब उनके दर्शनसे होनेवाले लाभका तो कहना ही क्या है ॥ ६ ॥ पूर्वजन्ममें विधिपूर्वक तपश्चर्या, हवन और तीर्थयात्रा करने आदिके फलस्वरूप इस जन्ममें हरि-कीर्तनका उच्च अधिकार प्राप्त होता है, अतएव जिसकी जीभपर आपका नाम बना रहता है अर्थात् जो आपका भजन किया करता है, वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है। आप ही ब्रह्म, परम पुरुष और

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥८॥

मैत्रेय उवाच

ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान् । वाचाऽविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः ॥९॥

कपिल उवाच

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे । आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि ॥१०॥
श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः । येन मामभवं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः ॥११॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रदर्श्य भगवान् सतीं तामात्मनो गतिम् । स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥१२॥
सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक् । तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता ॥१३॥
अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान्कुटिलालकान् । आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ॥१४॥
प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् । स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि ॥१५॥
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः । आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ॥१६॥
स्वच्छस्फटिककुडयेषु महामारकतेषु च । रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥१७॥
गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः । कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम् ॥१८॥
यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः । वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ॥१९॥
हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम् । किञ्चिचकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा ॥२०॥

विष्णु हैं। बाह्य विषयोंसे मनके पृथक् हो जानेपर ही आपका चिन्तन किया जा सकता है, आपके कृपादृष्टि करनेपर ही जीवको जन्ममरणके चक्करसे छुटकारा मिलता है और आप ही वेदोंके प्रधान आधार हैं। हे भगवन्! मैं आपको प्रणाम करती हूँ॥ ७॥ ८॥ मैत्रेयजी कहते हैं कि हे विदुरजी! माता देवहूतिने जब इस प्रकार कपिलभगवानकी स्तुति की, तब माताके हितके लिए कपिलदेवजीने गम्भीरताके साथ कहा—॥ ९॥ हे माताजी! मेरे बतलाये हुए इस सहज मार्गपर चलनेसे तुम शीघ्र ही जीवन्मुक्त हो जाओगी॥ १०॥ ब्रह्मज्ञानी लोग मेरे मत (सांख्य) का समर्थन करते हैं। इसपर चलनेसे तुम मुक्त हो जाओगी। जो इस मतपर नहीं चलते, वे भवसागरमें डूबते-उतराते रहते हैं॥ ११॥ मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी! माता देवहूतिको पूर्वोक्त रीतिसे आत्मज्ञानका उपदेश दे और उनसे अनुमति लेकर कपिलदेवजी वहाँसे चले गये॥ १२॥ उनकी बतायी विधिके अनुसार एकाग्रचित्त होकर देवहूति सरस्वती-तटवर्ती बिन्दुसर आश्रममें योगाभ्यास करने लगी॥ १३॥ प्रतिदिन तीन-तीन बार स्नान करनेसे उनके घुँघराले केशोंकी लटें बँध गयीं, केश पीले पड़ गये, वल्कल पहनकर कठोर तपस्या करनेसे वे बहुत ही दुबली हो गयीं। प्रजापति कर्दमके गार्हस्थ्य आश्रममें वे सब सम्पत्तियाँ वर्तमान थीं, जो तपस्या और योगबलसे प्राप्त की जा सकती हैं। इस कारण उस आश्रमके लिए देवता भी ललचाते थे॥ १४॥ उस आश्रममें हाथीदाँतके पलँग थे, जिनपर सफेद साफ बिछौने बिछे हुए थे। सब सामान सोनेका था, सुवर्णके आसन (चौकियाँ) बिछे हुए थे, जिनपर नरम गद्दे पड़े थे। स्फटिक और मरकतकी दीवारोंपर सुन्दरियोंकी मूर्तियाँ बनी हुई थीं, जिनके हाथोंमें प्रकाशके लिए रत्न-प्रदीप थे। फूले हुए कल्पवृक्ष आदि देवद्रुम उस आश्रमकी वाटिकाकी शोभा बढ़ा रहे थे, वृक्षोंपर पक्षी बोलते और भ्रमर गुंजार करते थे॥ १५-१८॥ वाटिकाकी बावलीमें खिले कमलोंकी सुगन्धि लेती हुई देवहूतिके साथ यहीं कर्दम प्रजापति जल-विहार करते थे और गन्धर्व-किन्नर आदि उन्हें स्तुति (संगीत) से सुखी किया करते थे। इस सुखसामग्रीके लिए

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा । ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥२१॥
तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् । बभूवाचिरतो वत्से निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥२२॥
ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् । सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ॥२३॥
भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा । युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ॥२४॥
विशुद्धेन तदाऽऽत्मानमात्मना विश्वतोमुखम् । स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम् ॥२५॥
ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये । निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाऽऽप्तनिर्वृतिः ॥२६
नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा । न सस्मार तदाऽऽत्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः॥२७
तद्देहः परतःपोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् । बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ॥२८॥
स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् । दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ॥२९॥
एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम् । आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥३०॥
तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् । नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥३१॥
तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित् । स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता॥३२॥
कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात् । मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ॥३३॥
सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः । स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥३४॥

इन्द्रकी ललनाएँ भी लालायित रहती थीं। किन्तु देवहूतिको इसका त्याग करनेमें तनिक भी क्लेश नहीं हुआ। परन्तु पतिके वनवासी हो जानेपर जब पुत्र भी उनको छोड़कर चला गया, तब वे उस गौकी भाँति व्याकुल हो गयीं, जिसका बछड़ा मर गया हो॥ १९-२१॥ यद्यपि उन्हें तत्त्वज्ञान हो गया था, फिर भी उनके मुखपर पुत्र-वियोगकी छाया स्पष्ट झलकती थी। भगवान कपिलदेवका स्मरण करते-करते देवहूतिका चित्त ऐसी भरी-पूरी गृहस्थीसे हट गया और उनकी सारी वासनाएँ नष्ट हो गयीं॥ २२॥ कपिलदेवजीने जिस रूपका ध्यान करनेको कहा था, उस मधुर मुसकानयुक्त भगवानके अनुपम रूप और पृथक् पृथक् अवयवोंका ध्यान करते-करते भक्तियोग, दृढ़ वैराग्य और यथोचित पूजा आदिसे उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाले ज्ञानसे जब देवहूतिका मन शुद्ध हो गया, तब सर्वव्यापक मायातीत निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करते-करते उनकी बुद्धि स्थिर हो गयी और आत्म-परमात्म-विषयक भेदबुद्धि दूर हो जानेसे उनके कायिक-वाचिक-मानसिक क्लेश नष्ट हो गये तथा उन्हें आत्मानन्दका अनुभव होने लगा। नित्यप्रति समाधि लगी रहनेसे उनका सत्त्व आदि गुण-मूलक भ्रम दूर हो गया॥ २३-२६॥ सोकर उठे हुए व्यक्तिको जिस प्रकार स्वप्नकी घटनाओंका स्मरण नहीं रहता, उसी प्रकार ब्रह्मानन्दमें उन्हें अपने शरीर तककी सुधि नहीं रही॥ २७॥ कर्दम प्रजापतिकी नियुक्त किन्नरियाँ देवहूतिके खान-पानकी व्यवस्था करती थीं और योगाभ्यास करते रहनेसे उन्हें कोई मानसिक क्लेश था ही नहीं। इसी कारण उनका शरीर जर्जर होनेसे बचा रहा, परन्तु पूरी देख-भाल न करनेसे शरीरपर मैल जम गया था। इससे वे धुधुवाती आगकी तरह जान पड़ती थीं॥ २८॥ तपस्या और योगाभ्यास करती हुई देवहूति भगवानमें यहाँतक तन्मय रहती थीं कि उन्हें केशोंके उलझ जाने और शरीरपरसे वस्त्रके हट जानेकी भी सुधि न रहती थी॥ २९॥ उनके शरीरकी रक्षा तो प्रारब्ध कर्म (दैव) वश हो रही थी। इस प्रकार कपिलदेवजीके बतलाये हुए मार्गपर चलनेसे थोड़े ही समयमें देवहूतिको नित्यमुक्त आत्मस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी॥ ३०॥ जिस स्थानपर देवहूतिको सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह पुण्यक्षेत्र तीनों लोकोंमें सिद्धपद नामसे प्रसिद्ध हो गया। योग-साधना द्वारा छोड़ा हुआ उनका शरीर सिद्धसेवित सिद्धिदा नामकी नदीके रूपमें परिणत हो गया॥ ३१॥ ३२॥ मातासे आज्ञा लेकर योगीश्वर कपिल भगवान कर्दम प्रजापतिके आश्रम बिन्दुसरसे ईशान दिशामें पहुँचे और वहाँ समुद्र-तटपर रहकर त्रिलोकीकी शान्ति

आस्ते योगं समास्थाय सांख्याचार्यैरभिष्टुतः। त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै समाहितः ॥३५॥
एतन्निगदितं तात यत्पृष्टोऽहं तवानघ। कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ॥३६॥
य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम्।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां तृतीयस्कन्धे कापिलेयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

हरिः ॐ तत्सत्।

प्राप्त करानेके लिए योगाभ्यास कर रहे हैं। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, ऋषि, मुनि और सांख्यमतके बड़े-बड़े ज्ञाता उनकी स्तुति किया करते हैं ॥ ३३–३५ ॥ हे विदुरजी ! आपने हमसे जो कपिलदेवजी और देवहूतिका पवित्र संवाद पूछा था, वह हमने सुना दिया। कपिलदेवजीके उपदिष्ट इस आत्मयोगके रहस्यको जो व्यक्ति सुनता-सुनाता रहता है, उसकी भगवानसे लौ लग जाती और अन्तमें उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे तृतीयस्कन्धे पं० रामतेज-पाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

समाप्तोऽयं तृतीयस्कन्धः।



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्

चतुर्थस्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

मनोस्तु शतरूपायां तिस्रः कन्याश्च जज्ञिरे । आकूतिर्देवहूतिश्च प्रसूतिरिति विश्रुताः ॥१॥
आकूतिं रुचये प्रादादपि भ्रातृमतीं नृपः । पुत्रिकाधर्ममाश्रित्य शतरूपानुमोदितः ॥२॥
प्रजापतिः स भगवान् रुचिस्तस्यामजीजनत् । मिथुनं ब्रह्मवर्चस्वी परमेण समाधिना ॥३॥
यस्तयोः पुरुषः साक्षाद्विष्णुर्यज्ञस्वरूपधृक् । या स्त्री सा दक्षिणा भूतेरंशभूतानपायिनी ॥४॥
आनिन्ये स्वगृहं पुत्र्याः पुत्रं विततरोचिषम् । स्वायम्भुवो मुदा युक्तो रुचिर्जग्राह दक्षिणाम् ॥५॥
तां कामयानां भगवानुवाह यजुषां पतिः । तुष्टायां तोषमापन्नोऽजनयद् द्वादशात्मजान् ॥६॥
तोषः प्रतोषः सन्तोषो भद्रः शान्तिरिडस्पतिः । इध्मः कविर्विभुः स्वह्नः सुदेवो रोचनो द्विषट् ॥७॥
तुषिता नाम ते देवा आसन् स्वायम्भुवान्तरे । मरीचिमिश्रा ऋषयो यज्ञः सुरगणेश्वरः ॥८॥

श्रीहरिः ॥ (स्वायम्भुव मनुकी दो कन्याओंका वंशविस्तार) श्रीमैत्रेयजी कहने लगे—हे विदुर ! स्वायम्भुव मनुके शतरूपा नामकी पत्नीसे दो पुत्र और तीन कन्याएँ हुईं । वे आकूति, देवहूति और प्रसूति इन नामोंसे प्रसिद्ध थीं ॥ १ ॥ मनुजीने उनमेंसे भ्रातृमती आकूतिको शतरूपाकी अनुमति लेकर *पुत्रिकाधर्मके विधानसे रुचि नामक प्रजापतिके साथ ब्याह दिया ॥ २ ॥ ब्रह्मतेजस्वी भगवान रुचि प्रजापतिने ईश्वरका ध्यान करते हुए उससे एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न की ॥ ३ ॥ उनमें पुत्र साक्षात् यज्ञस्वरूपधारी विष्णुभगवान थे और कन्या भगवानसे कभी भी पृथक् न रहनेवाली लक्ष्मीजीकी उत्तम अंश 'दक्षिणा' थी ॥ ४ ॥ तब स्वायम्भुव मनु अतिशय प्रसन्न होकर अपनी पुत्रीके साथ उस परम तेजस्वी पुत्रको अपने घर ले आये और दक्षिणाको रुचिने अपनाय लिया ॥ ५ ॥ जब दक्षिणाको पतिकी कामना हुई तो उसे भगवान यज्ञ-पुरुषने ग्रहण कर लिया । इससे दक्षिणाको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ और यज्ञभगवानने भी प्रसन्न होकर उससे बारह पुत्र पैदा किये ॥ ६ ॥ जो तोष, प्रतोष, सन्तोष, भद्र, शान्ति, इडस्पति, इध्म, कवि, विभु, स्वह्न, सुदेव और रोचन—नामसे प्रसिद्ध थे ॥७॥ स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ये 'तुषित' देवता हुए।

---

* टिप्पणी—'अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ॥ अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भविष्यति ॥' अर्थात् यह बिना भाईकी भली प्रकार अलंकृत कन्या मैं तुम्हें देता हूँ । इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह मेरा पुत्र होगा । ऐसा कहकर कन्यादान करनेको पुत्रिकाधर्म कहते हैं ।

प्रियव्रतोत्तानपादौ मनुपुत्रौ महौजसौ । तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणामनुवृत्तं तदन्तरम् ॥९॥
देवहूतिमदात्तात कर्दमायात्मजां मनुः । तत्सम्बन्धि श्रुतप्रायं भवता गदतो मम ॥१०॥
दक्षाय ब्रह्मपुत्राय प्रसूतिं भगवान्मनुः । प्रायच्छद्यत्कृतः सर्गस्त्रिलोक्यां विततो महान् ॥११
याः कर्दमसुताः प्रोक्ता नव ब्रह्मर्षिपत्नयः । तासां प्रसूतिप्रसवं प्रोच्यमानं निबोध मे ॥१२॥
पत्नी मरीचेस्तु कला सुषुवे कर्दमात्मजा । कश्यपं पूर्णिमानं च ययोरापूरितं जगत् ॥१३॥
पूर्णिमासूत विरजं विश्वगं च परन्तप । देवकुल्यां हरेः पादशौचाद्याभूत्सरिद्दिवः ॥१४॥
अत्रेः पत्न्यनसूया त्रीञ्जज्ञे सुयशसः सुतान् । दत्तं दुर्वाससं सोममात्मेशब्रह्मसम्भवान् ॥१५॥

विदुर उवाच

अत्रेर्गृहे सुरश्रेष्ठाः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः । किञ्चिच्चिकीर्षवो जाता एतदाख्याहि मे गुरो ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

ब्रह्मणा नोदितः सृष्टावत्रिर्ब्रह्मविदां वरः । सह पत्न्या ययावृक्षं कुलाद्रिं तपसि स्थितः ॥१७
तस्मिन् प्रसूनस्तबकपलाशाशोककानने । वार्भिः स्रवद्भिरुद्घुष्टे निर्विन्ध्यायाः समन्ततः ॥१८
प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः । अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिलभोजनः ॥१९॥
शरणं तं प्रपद्येऽहं य एवं जगदीश्वरः । प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥२०॥
तप्यमानं त्रिभुवनं प्राणायामैधसाग्निना । निर्गतेन मुनेर्मूर्ध्नः समीक्ष्य प्रभवस्त्रयः ॥२१॥
अप्सरोमुनिगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः । वितायमानयशसस्तदाश्रमपदं ययुः ॥२२॥

मरीचि आदि सप्तर्षि तथा वे यज्ञनामक भगवान ही देवताओंके अधीश्वर इन्द्र हुए ॥ ८ ॥ मनुके प्रियव्रत और उत्तानपाद ये दोनों महातेजस्वी पुत्र थे । उन्हींके पुत्र-पौत्र तथा नातियोंने सारे मन्वन्तरका पालन किया ॥ ९ ॥ हे तात ! उन मनुजीने अपनी दूसरी कन्या देवहूति महर्षि कर्दमको ब्याही थी । उसके वंशके विषयमें प्रायः सब बातें तुमने मेरे मुखसे सुन ही ली हैं ॥ १० ॥ इसी तरह उन मनुने ब्रह्माजीके पुत्र दक्ष प्रजापतिको अपनी प्रसूति नामकी कन्या ब्याह दी । जिसकी बहुतेरी सन्तानें सारी त्रिलोकीमें फैली हुई हैं ॥ ११ ॥ हे विदुर ! मैंने कर्दमजीकी नौ कन्याओंका वृत्तान्त पहले वर्णन किया था । वे ब्रह्मर्षियोंकी नौ पत्नियाँ थीं । अब उनकी वंशपरम्पराका वर्णन करता हूँ ॥ १२ ॥ कर्दमजीकी पुत्री और महर्षि मरीचिकी पत्नी कलासे कश्यप तथा पूर्णिमा नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए । उन्हींकी सन्तानसे सारा जगत् भरा हुआ है ॥ १३ ॥ हे परन्तप ! पूर्णिमाके विरज और विश्वग नामके दो पुत्र और देवकुल्या नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई । वह श्रीहरिके पादप्रक्षालनसे गंगा हो गयी थी ॥ १४ ॥ अत्रिऋषिकी पत्नी अनुसूयाके श्रीविष्णु, महादेव और ब्रह्माजीके अंशसे उत्पन्न दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा नामके तीन अति यशस्वी पुत्र हुए ॥ १५ ॥ इतनी कथा सुनकर विदुरजीने पूछा—हे गुरो ! जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति तथा अन्त करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महादेव—इन तीन देवोंने किस अभिप्रायसे अत्रिमुनिके यहां जन्म लिया था ? यह मुझे बताइये ॥ १६ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहने लगे—जब ब्रह्माजीने ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महर्षि अत्रिको सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी, तब वे तपस्या करनेके लिए अपनी सहधर्मिणीके साथ ऋक्ष पर्वतपर चले गये ॥ १७ ॥ वहाँ निर्विन्ध्या नदीके प्रवाहित जलसे सब ओर शब्दायमान तथा फूलोंके गुच्छोंसे सुशोभित पलाश और अशोकके वनमें महामुनि अत्रि प्राणायामके द्वारा अपने चित्तको अपने वशमें करके सौ वर्षतक केवल हवा पीते हुए निर्द्वन्द्वभावसे एक ही पाँवपर खड़े रह गये ॥ १८ ॥ १९ ॥ और उस समय वे यह चिन्तन करते जाते थे कि जो सारे जगत्‌के ईश्वर हैं, हम उनकी शरणमें हैं, वे हमें अपने ही समान सन्तान दें ॥ २० ॥ प्राणायामरूप इन्धनके द्वारा प्रज्वलित अत्रिमुनिके मस्तकसे निकले और तीनों लोकोंको तपाते हुए अग्निको देखकर अप्सरा, मुनि, गन्धर्व, सिद्धि, विद्याधर तथा नागगणों द्वारा गीयमान गुणोंवाले ब्रह्मा, विष्णु और

तत्प्रादुर्भावसंयोगविद्योतितमना मुनिः । उत्तिष्ठन्नेकपादेन ददर्श विबुधर्षभान् ॥२३॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमावुपतस्थेऽर्हणाञ्जलिः । वृषहंससुपर्णस्थान् स्वैः स्वैश्चिह्नैश्च चिह्नितान् ।२४
कृपावलोकेन हसद्वदनेनोपलम्भितान् । तद्रोचिषा प्रतिहते निमील्य मुनिरक्षिणी ॥२५॥
चेतस्तत्प्रवणं युञ्जन्नस्तावीत्संहताञ्जलिः । श्लक्ष्णया सूक्तया वाचा सर्वलोकगरीयसः ॥२६॥

अत्रिरुवाच

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानैर्मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः ।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं वस्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः ॥२७॥
एको मयेह भगवान् विविधप्रधानैश्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम् ।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद् ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा त्रयस्ते विबुधर्षभाः । प्रत्याहुः श्लक्ष्णया वाचा प्रहस्य तमृषिं प्रभो ॥२९॥

देवा ऊचुः

यथा कृतस्ते सङ्कल्पो भाव्यं तेनैव नान्यथा । सत्सङ्कल्पस्य ते ब्रह्मन् यद्वै ध्यायति ते वयम् ॥३०॥
अथास्मदंशभूतास्ते आत्मजा लोकविश्रुताः । भवितारोऽङ्ग भद्रं ते विस्रप्स्यन्ति च ते यशः ॥३१॥
एवं कामवरं दत्त्वा प्रतिजग्मुः सुरेश्वराः । सभाजितास्तयोः सम्यग्दम्पत्योर्मिषतोस्ततः ॥३२॥
सोमोऽभूद्ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित् । दुर्वासाः शङ्करस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः ॥३३॥

महादेव—ये तीनों जगत्पति अत्रिमुनिके आश्रममें आ उपस्थित हुए ॥ २१ ॥ २२ ॥ उन तीनोंका एक साथ प्रादुर्भाव हुआ था, इस लिए मुनिका अन्तःकरण प्रकाशित हो उठा और एक ही पैरके सहारे खड़े-खड़े उन मुनिने अपने-अपने चिह्नोंसे सुशोभित अपनी दयादृष्टि तथा हास्य युक्त मुखकमलसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए तथा वृषभ, हंस एवं गरुड़पर आरूढ़ शङ्कर, ब्रह्मा और श्रीहरि—इन तीन देवोंको देख और पृथ्वीपर दण्डके समान लोट और प्रणाम करके उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पण की। उनके तेजसे चौंधियाये हुए अपने दोनों नेत्रोंको मूँद और चित्तको उनमें लगाकर सब लोकमें महान् उन त्रिदेवोंकी अतिशय मधुर और सुन्दर वाणीसे हाथ जोड़कर इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ २३—२६ ॥ श्रीअत्रिमुनिने कहा—हे देवताओं! आप मायाके भिन्न-भिन्न गुणों द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके लिये युग-युगमें विभिन्न देह धारण करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हाँ, कहिये मैंने आपमेंसे किस एक देवताका आवाहन किया था? ॥ २७ ॥ सन्तान-प्राप्तिके लिये मैंने केवल देवेश्वर भगवानका चिन्तन किया था। सो सब देहधारियोंके मनके भी अगोचर आप तीनों देवता यहाँ आ गये। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। आप लोग प्रसन्न होकर इसका कारण बतलाइये ॥ २८ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे समर्थ! अत्रिमुनिके वचन सुनकर वे तीनों देवता हँसे और उन्होंने उनसे बड़ी मधुर वाणीमें कहा ॥ २९ ॥ देवगण कहने लगे—हे ब्रह्मन्! तुम सत्यसंकल्प हो। तुमने जो संकल्प किया था, वही हुआ है। उसके प्रतिकूल कुछ भी नहीं हुआ। तुमने जिस 'जगदीश्वर' का ध्यान किया था, वह हमीं तीनों हैं ॥ ३० ॥ अतएव हे मुने! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे यहाँ हमारे ही अंशसे जायमान तीन जगद्विख्यात पुत्र होंगे। वे सब संसारमें तुम्हारे सुयशका विस्तार करेंगे ॥ ३१ ॥ इस तरह उन्हें अभिलषित वर देकर वे तीनों सुरेश्वर उन दम्पतियोंसे भली भाँति पूजित होकर उनके देखते-देखते अपने लोकोंको लौट गये ॥ ३२ ॥ महर्षि अत्रिके पुत्रोंमें ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे योगवेत्ता दत्तात्रेयजी और महादेवजीके अंशसे

श्रद्धा त्वङ्गिरसः पत्नी चतस्रोऽसूत कन्यकाः । सिनीवाली कुहू राका चतुर्थ्यनुमतिस्तथा ॥३४॥
तत्पुत्रावपरावास्तां ख्यातौ स्वारोचिषेऽन्तरे । उतथ्यो भगवान् साक्षाद्ब्रह्मिष्ठश्च बृहस्पतिः ॥३५॥
पुलस्त्योऽजनयत्पत्न्यामगस्त्यं च हविर्भुवि । सोऽन्यजन्मनि दह्राग्निर्विश्रवाश्च महातपाः ॥३६॥
तस्य यक्षपतिर्देवः कुबेरस्त्विडविडासुतः । रावणः कुम्भकर्णश्च तथान्यस्यां विभीषणः ॥३७॥
पुलहस्य गतिर्भार्या त्रीनसूत सती सुतान् । कर्मश्रेष्ठं वरीयांसं सहिष्णुं च महामते ॥३८॥
क्रतोरपि क्रिया भार्या वालखिल्यानसूयत । ऋषीन् षष्टिसहस्राणि ज्वलतो ब्रह्मतेजसा ॥३९॥
ऊर्जायां जज्ञिरे पुत्रा वसिष्ठस्य परन्तप । चित्रकेतुप्रधानास्ते सप्त ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥४०॥
चित्रकेतुः सुरोचिश्च विरजा मित्र एव च । उल्बणो वसुभृद्यानो द्युमाञ्छक्त्यादयोऽपरे ॥४१॥
चित्तिस्त्वथर्वणः पत्नी लेभे पुत्रं धृतव्रतम् । दध्यञ्चमश्वशिरसं भृगोर्वंशं निबोध मे ॥४२॥
भृगुःख्यात्यांमहाभागःपत्न्यांपुत्रानजीजनत् । धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम् ॥४३॥
आयतिं नियतिं चैव सुते मेरुस्तयोरदात् । ताभ्यां तयोरभवतां मृकण्डः प्राण एव च ॥४४॥
मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरा मुनिः । कविश्च भार्गवो यस्य भगवानुशना सुतः ॥४५॥
त एते मुनयः क्षत्तर्लोकान् सर्गैरभावयन् । एष कर्दमदौहित्रसन्तानः कथितस्तव ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य सद्यः पापहरः परः ॥४६॥
प्रसूतिं मानवीं दक्ष उपयेमे ह्यजात्मजः । तस्यां ससर्ज दुहितॄः षोडशामललोचनाः ॥४७॥

दुर्वासा उत्पन्न हुए। अब अंगिराऋषिकी सन्तानका वर्णन करता हूँ ॥ ३३ ॥ अंगिराऋषिकी पत्नी श्रद्धासे सिनीवाली, कुहू, राका तथा अनुमति ये चार कन्यायें उत्पन्न हुईं ॥ ३४ ॥ इनके अतिरिक्त उनके साक्षात् भगवान उतथ्यजी और ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पतिजी—ये दो पुत्र भी हुए, जिन्होंने स्वारोचिष मन्वन्तरमें प्रसिद्धि लाभ किया ॥ ३५ ॥ महर्षि पुलस्त्यजीने अपनी पत्नी हविर्भूसे अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवाको उत्पन्न किया। इन दोनोंमें अगस्त्यजी दूसरे जन्ममें जठराग्निके रूपमें उत्पन्न हुए ॥ ३६ ॥ विश्रवा मुनिकी पत्नी इडविडाके गर्भसे यक्षराज कुबेरका जन्म हुआ और उनकी कैकसी नामकी दूसरी स्त्रीसे रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण हुए ॥ ३७ ॥ हे महामते ! महर्षि पुलहकी परमसाध्वी स्त्री गतिने कर्मश्रेष्ठ, बरीयान् और सहिष्णु नामके तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ३८ ॥ इसी तरह क्रतुकी पत्नी क्रियाने वालखिल्य आदि साठ हजार ऋषियोंको उत्पन्न किया, जो ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहे थे ॥ ३९ ॥ हे परन्तप ! वसिष्ठजीके उनकी भार्या ऊर्जा अर्थात् अरुन्धतीसे चित्रकेतु आदि सात पुत्र हुए, ये ही सातों शुद्धचित्त ब्रह्मर्षि थे ॥ ४० ॥ उनके नाम ये थे—चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्बण, वसुभृद्यान और द्युमान्। इनके अतिरिक्त उनके शक्ति आदि अन्य पुत्र भी हुए थे ॥ ४१ ॥ चिति अथर्वणऋषिकी पत्नी थी। उसके गर्भसे तपोनिष्ठ दध्यङ् (दधीचि) नाम पुत्र हुआ, जो 'अश्वशिरा' के नामसे भी विख्यात था। अब भृगुवंशका वृत्तान्त सुनो ॥ ४२ ॥ महाभाग भृगुने ख्याति नामकी अपनी भार्यासे धाता और विधाता नामके दो पुत्र तथा भगवत्परायणा श्रीनामकी एक कन्या उत्पन्न की ॥ ४३ ॥ उन धाता तथा विधाताके साथ मेरु ऋषिने अपनी आयति और नियति नामकी कन्याएँ ब्याहीं। उनसे मृकण्ड और प्राण नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४४ ॥ उनमेंसे मृकण्डके मार्कण्डेय और प्राणके मुनिवर वेदशिराका जन्म हुआ। भृगुजीके एक कवि नामक पुत्र थे। उनके पुत्र भगवान उशना (शुक्राचार्य) थे ॥ ४५ ॥ हे विदुरजी ! इन सब मुनियोंने अपनी सन्तानसे सारी त्रिलोकीको परिपूर्ण कर दिया। यह मैंने तुम्हें कर्दमजीके दौहित्रोंकी सन्तानका वर्णन सुनाया। जो पुरुष श्रद्धापूर्वक इसका श्रवण करता है तो यह कथा उसके पापोंको तत्काल नष्ट कर देती है ॥ ४६ ॥ ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिसे मनुकी पुत्री प्रसूतिका विवाह हुआ था। उन्होंने उससे सोलह सुनयनी

त्रयोदशाददाद्धर्माय तथैकामग्नये विभुः। पितृभ्य एकां युक्तेभ्यो भवायैकां भवच्छिदे ॥४८॥
श्रद्धा मैत्री दया शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिः क्रियोन्नतिः। बुद्धिर्मेधा तितिक्षा ह्रीर्मूर्तिर्धर्मस्य पत्नयः ॥४९॥
श्रद्धासूत शुभं मैत्री प्रसादमभयं दया। शान्तिः सुखं मुदं तुष्टिः स्मयं पुष्टिरसूयत ॥५०॥
योगं क्रियोन्नतिर्दर्पमर्थं बुद्धिरसूयत। मेधा स्मृतिं तितिक्षा तु क्षेमं ह्रीःप्रश्रयंसुतम् ॥५१॥
मूर्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ॥५२॥
ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत्सुनिर्वृतम्। मनांसि ककुभो वाताः प्रसेदुः सरितोऽद्रयः ॥५३॥
दिव्यवाद्यन्त तूर्याणि पेतुः कुसुमवृष्टयः। मुनयस्तुष्टुवुस्तुष्टा जगुर्गन्धर्वकिन्नराः ॥५४॥
नृत्यन्ति स्म स्त्रियो देव्य आसीत्परममङ्गलम्। देवा ब्रह्मादयः सर्वे उपतस्थुरभिष्टवैः ॥५५॥

देवा ऊचुः

यो मायया विरचितं निजयाऽऽत्मनीदं खे रूपभेदमिव तत्प्रतिचक्षणाय।
एतेन धर्मसदने ऋषिमूर्तिनाद्य प्रादुश्चकार पुरुषाय नमः परस्मै ॥५६॥
सोऽयं स्थितिव्यतिकरोपशमाय सृष्टान् सत्त्वेन नः सुरगणाननुमेयतत्त्वः।
दृश्याददभ्रकरुणेन विलोकनेन यच्छ्रीनिकेतममलं क्षिपतारविन्दम् ॥५७॥

एवं सुरगणैस्तात भगवन्तावभिष्टुतौ। लब्धावलोकैर्ययतुरर्चितौ गन्धमादनम् ॥५८॥
ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ। भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥५९॥

कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ ४७ ॥ दक्ष प्रजापतिने उनमेंसे तेरह कन्यायें धर्मको, एक कन्या अग्निको, एक कन्या समस्त पितृगणोंको और एक संसारका संहार करनेवाले भगवान शंकरको अर्पण की ॥ ४८ ॥ श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, पुष्टि, तुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति—ये सब धर्मकी पत्नियें थीं ॥ ४९ ॥ उनमें श्रद्धासे शुभ, मैत्रीसे प्रसाद, दयासे अभय, शान्तिसे सुख, तुष्टिसे मोद, पुष्टिसे अहंकार, क्रियासे योग, उन्नतिसे दर्प, बुद्धिसे अर्थ, मेधासे स्मृति, तितिक्षासे क्षेम और ह्री (लज्जा) से प्रश्रय (विनय) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ सब गुणोंकी उत्पत्तिस्थान मूर्तिने ऋषिवर नर तथा नारायणको जन्म दिया। जिनके जन्मसे अतिशय आनन्दित होकर सारे जगत्ने प्रसन्नता प्रकट की। तब सबके मन, दिशा, वायु, नदी तथा पर्वत सभी प्रसन्न हुए थे ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ उस समय आकाशमें तूर्यघोष होने लगा। देवता फूलोंकी वर्षा करने लगे। मुनिगण प्रसन्न होकर स्तुति करने लगे। गन्धर्व और किन्नर भगवानका सुयश गाने लग गये ॥ ५४ ॥ अप्सराएँ नाचने लगीं। इस तरह उस समय बड़ा भारी मंगलसमारोह हुआ और ब्रह्मादिक सभी देवता स्तोत्रों द्वारा भगवानकी स्तुति करने लगे ॥ ५५ ॥ देवतालोग कहने लगे—जैसे आकाशमें मनुष्य विविध प्रकारके रूपोंकी कल्पना कर लेता है, वैसे ही जिन्होंने अपनी मायासे सम्पूर्ण जगत्को अनेकरूपसे अवलोकन करनेके निमित्त अपनेहीमें निर्माण किया है और जो इस समय धर्मके यहाँ ऋषिरूपसे अवतरे हैं, उन परमपुरुषको नमस्कार है ॥ ५६ ॥ जिनके तत्त्वका शास्त्रसे केवल अनुमान भर किया किया जाता है, वे भगवान लक्ष्मीजीके निवासस्थानस्वरूप कमलको भी नीचा दिखानेवाले अपने करुणामय नेत्रोंसे हम देवताओंकी ओर, जिन्होंने संसारकी मर्य्यादाके विघ्नोंकी शान्तिके लिए ही सतोगुणसे उत्पन्न किया है, वे निहारें ॥ ५७ ॥ हे तात! देवताओंके द्वारा इस तरह स्तुति किये जानेपर भगवानने उनकी ओर देखा और फिर उनसे पूजित होकर वे गन्धमादन पर्वतको चले गये ॥ ५८ ॥ भगवान हरिके अंशरूप वे नर तथा नारायण ही इस समय पृथ्वीका भार उतारनेके निमित्त कुरु और यदुकुल दोनों जगह, कुरुकुलमें 'अर्जुन' एवं यदुकुलमें 'कृष्ण' नामसे अवतार लिये हैं ॥ ५९ ॥

स्वाहाभिमानिनश्चाग्नेरात्मजाँस्त्रीनजीजनत् । पावकं पवमानं च शुचिं च हुतभोजनम् ॥६०॥
तेभ्योऽग्नयः समभवंश्चत्वारिंशच्च पञ्च च । त एवैकोनपञ्चाशत्साकं पितृपितामहैः ॥६१॥
वैतानिके कर्मणि यन्नामभिर्ब्रह्मवादिभिः । आग्नेय्य इष्टयो यज्ञे निरूप्यन्तेऽग्नयस्तु ते ॥६२॥
अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सौम्याः पितर आज्यपाः । साग्नयोऽनग्नयस्तेषां पत्नी दाक्षायणी स्वधा ॥६३॥
तेभ्यो दधार कन्ये द्वे वयुनां धारिणीं स्वधा । उभे ते ब्रह्मवादिन्यौ ज्ञानविज्ञानपारगे ॥६४॥
भवस्य पत्नी तु सती भवं देवमनुव्रता । आत्मनः सदृशं पुत्रं न लेभे गुणशीलतः ॥६५॥
पितर्यप्रतिरूपे स्वे भवायानागसे रुषा । अप्रौढैवात्मनाऽऽत्मानमजहाद्योगसंयुता ॥६६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

विदुर उवाच

भवे शीलवतां श्रेष्ठे दक्षो दुहितृवत्सलः । विद्वेषमकरोत्कस्मादनादृत्यात्मजां सतीम् ॥१॥
कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम् । आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत् ॥२॥
एतदाख्याहि मे ब्रह्मञ्जामातुः श्वशुरस्य च । विद्वेषस्तु यतः प्राणांस्तत्यजे दुस्त्यजान् सती ॥३॥

मैत्रेय उवाच

पुरा विश्वसृजां सत्रे समेताः परमर्षयः । तथामरगणाः सर्वे सानुगा मुनयोऽग्नयः ॥४॥
तत्र प्रविष्टमृषयो दृष्ट्वार्कमिव रोचिषा । भ्राजमानं वितिमिरं कुर्वन्तं तन्महत्सदः ॥५॥

अग्निदेवकी पत्नी स्वाहाने हविभक्षणशील अग्निके अभिमानी देवता पावक, पवमान तथा शुचि नामके तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ६० ॥ उससे पैंतालिस अग्नि उत्पन्न हुए। वही तीन पिता (पावक, पवमान और शुचि) तथा एक पितामह अर्थात् अग्नि सहित उनचास प्रकारका अग्नि माना जाता है ॥ ६१ ॥ वेदवादी लोग यज्ञकर्ममें जिन उनचास अग्नियोंके नाम लेकर आग्नेय याग करते हैं, यहाँ उन्हीं अग्नियोंसे उनका अभिप्राय है ॥ ६२ ॥ अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमप, आज्यप, साग्निक और निरग्निक—इन सब तरहके पितरोंकी पत्नी दक्षकी पुत्री स्वधा थी ॥ ६३ ॥ उन पितरोंसे स्वधाके धारिणी और वयुना नामकी दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं। वे दोनों ही ज्ञान-विज्ञानकी परगामिनी और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेमें समर्थ थीं ॥ ६४ ॥ श्रीमहादेवजीकी पत्नी सती थीं। जो सब तरहसे उनका अनुसरण करती थीं। किन्तु उनके गुण और शीलमें अपने अनुरूप कोई पुत्र नहीं उत्पन्न हुआ ॥ ६५ ॥ उन्होंने प्रौढ़ावस्था प्राप्त होनेके पहले ही अपने पिताको बिना किसी अपराधके शङ्करभगवानका विरोध करते देखकर क्रोधवश योगाग्निमें अपना शरीर भस्म कर डाला था ॥ ६६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(शिव और दक्षके वैरका विवरण) विदुरजीने पूछा—हे ब्रह्मन् ! पुत्रीवत्सल दक्षने अपनी कन्या सती और शीलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीमहादेवजीका इस प्रकार अनादर करके अपमान क्यों किया ? ॥ १ ॥ श्रीशिवजी तो चराचरके गुरु, निर्वैर, शान्तमूर्ति, आत्माराम तथा समस्त जगत्के परम इष्टदेव हैं। उनसे भला वैर कौन कर सकता है ? ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! उन ससुर और दामादमें ऐसा विद्वेष कैसे हो गया, जिसके कारण सतीने अपने दुस्त्यज प्राण त्याग दिये ? सो आप मुझे बतलाइए ॥ ३ ॥ मैत्रेयजी कहने लगे—हे विदुरजी ! पूर्वकालमें एक समय मरीचि आदि प्रजापतियोंके यज्ञमें सभी महर्षि, देवता, मुनि तथा अग्नि अपने अनुयायियोंके साथ एकत्रित हुए ॥ ४ ॥ तब सूर्यके समान तेजस्वी और अपनी कान्तिसे सारे सभा-

उदतिष्ठन् सदस्यास्ते स्वधिष्ण्येभ्यः सहाग्नयः । ऋते विरिञ्चं शर्वं च तद्भासाक्षिप्तचेतसः ॥६॥
सदसस्पतिभिर्दक्षो भगवान् साधु सत्कृतः । अजं लोकगुरुं नत्वा निषसाद तदाज्ञया ॥७॥
प्राङ्निषण्णं मृडं दृष्ट्वा नामृष्यत्तदनादृतः । उवाच वामं चक्षुर्भ्यामभिवीक्ष्य दहन्निव ॥८॥
श्रूयतां ब्रह्मर्षयो मे सहदेवाः सहाग्नयः । साधूनां ब्रुवतो वृत्तं नाज्ञानान्न च मत्सरात् ॥९॥
अयं तु लोकपालानां यशोघ्नो निरपत्रपः । सद्भिराचरितः पन्था येन स्तब्धेन दूषितः ॥१०॥
एष मे शिष्यतां प्राप्तो यन्मे दुहितुरग्रहीत् । पाणिं विप्राग्निमुखतः सावित्र्या इव साधुवत् ॥११॥
गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः । प्रत्युत्थानाभिवादार्हे वाचाप्यकृत नोचितम् ॥१२॥
लुप्तक्रियायाशुचये मानिने भिन्नसेतवे । अनिच्छन्नप्यदां बालां शूद्रायेवोशतीं गिरम् ॥१३॥
प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः । अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन् ॥१४॥
चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्न्रस्थिभूषणः । शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः ।
पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम् ॥१५॥
तस्मा उन्मादनाथाय नष्टशौचाय दुर्हृदे । दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

विनिन्द्यैवं स गिरिशमप्रतीपमवस्थितम् । दक्षोऽथाप उपस्पृश्य क्रुद्धः शप्तुं प्रचक्रमे ॥१७॥

भवनके अन्धकारको दूर करनेवाले दक्षप्रजापतिको वहाँ आये देख उनके तेजसे प्रभावित होकर ब्रह्मा और महादेवजीके अतिरिक्त और सब सदस्य अग्नियोंके सहित अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ ५ ॥ ६ ॥ इस तरह सब सभासदोंसे भली-भाँति सम्मानित होकर भगवान दक्ष लोकगुरु ब्रह्माजीको नमस्कार करके और उनकी आज्ञा पाकर अपने आसनपर बैठ गये ॥७॥ लेकिन महादेवजीको अपने आसनपर ही बैठे देख और इससे अपना अपमान समझकर दक्षप्रजापतिको उनका व्यवहार सहन नहीं हुआ और उन्होंने उनकी ओर टेढ़ी दृष्टिसे देख-देखकर उन्हें जलाते हुए कहा—॥ ८॥ हे सब देवता और अग्नियोंके सहित ब्रह्मर्षिगण ! आप मेरा कथन सुनें । मैं अज्ञान या मत्सरतासे कुछ नहीं कह रहा हूँ, बल्कि जो शिष्ट पुरुषोंका आचरण है उसीके विषयमें मेरा कथन है॥ ९ ॥ यह निर्लज्ज शिव सब लोकपालोंका सुयश नष्ट करनेवाला है। देखिये तो इस ढीठने सत्पुरुषोंके आचरित मार्गको भी कलंकित कर दिया है॥१०॥ साधुपुरुषके समान इसने मेरी सावित्रीके सदृश पावन कन्याका अग्नि तथा ब्राह्मणोंके समक्ष पाणिग्रहण किया है। अतएव यह मेरे शिष्यत्वको प्राप्त हो चुका है॥११॥ परन्तु इस बन्दर जैसे नेत्रवाले शिवने मेरी मृगनयनी कन्याका पाणिग्रहण करके जिसे उठकर प्रणामादि कर्तव्य था, सो उसने वाणीसे भी मेरा सत्कार नहीं किया। इसका यह आचरण किसी तरह भी ठीक नहीं है॥ १२॥ अहो ! जैसे कोई पुरुष शूद्रको वेदवाणी दे देता है, वैसे ही मैंने इच्छा न रहनेपर भी इस क्रियाभ्रष्ट, अपवित्र, अभिमानी एवं लोकमर्यादाका उल्लंघन करनेवालेको अपनी पुत्री दे दी॥ १३ ॥ देखो न, यह भयङ्कर प्रेतोंके निवासस्थान श्मशान आदिमें भूत-प्रेतोंसे घिरा उन्मत्तकी भाँति नङ्गा और बाल बखेरे कभी हँसता और कभी रोता हुआ घूमता है॥ १४ ॥ यह सदा अपने शरीरमें चिताकी भस्म लगाये रहता है। गलेमें प्रेतोंके मुण्डोंकी माला और अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें हड्डियोंके आभूषण पहने रहता है। इसका नाम तो शिव है, लेकिन वास्तवमें यह अशिव अर्थात् अमङ्गलरूप है। यह स्वयं मतवाला है और इसके जैसे मतवाले पुरुष ही इसको प्रिय हैं। यह प्रमथ और भूत आदि केवल तमोमय प्राणियोंका ही अग्रणी है। हाय ! मैंने ब्रह्माजीके कहनेसे इस उन्मत्त, अनाथ, शौचहीन और दूषित मनवाले मूढ़को अपनी भोली-भाली कन्या दे दी थी। श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी ! किसी तरह भी विरोध न करनेवालेकी भाँति चुपचाप बैठे हुए श्रीमहादेवजीकी इस तरह निन्दा करके दक्ष बड़े क्रोधके साथ जलका आचमन करके उन्हें शाप देनेको उद्यत हो गये॥ १५-१७॥

अयं तु देवयजन इन्द्रोपेन्द्रादिभिर्भवः । सह भागं न लभतां देवैर्देवगणाधमः ॥१८॥
निषिध्यमानः स सदस्यमुख्यैर्दक्षो गिरित्राय विसृज्य शापम् ।
तस्माद्विनिष्क्रम्य विवृद्धमन्युर्जगाम कौरव्य निजं निकेतनम् ॥१९॥
विज्ञाय शापं गिरिशानुगाग्रणीर्नन्दीश्वरो रोषकषायदूषितः ।
दक्षाय शापं विससर्ज दारुणं ये चान्वमोदंस्तदवाच्यतां द्विजाः ॥२०॥
य एतन्मर्त्यमुद्दिश्य भगवत्यप्रतिद्रुहि । द्रुह्यत्यज्ञः पृथग्दृष्टिस्तत्त्वतो विमुखो भवेत् ॥२१॥
गृहेषु कूटधर्मेषु सक्तो ग्राम्यसुखेच्छया । कर्मतन्त्रं वितनुते वेदवादविपन्नधीः ॥२२॥
बुद्ध्या पराभिध्यायिन्या विस्मृतात्मगतिः पशुः । स्त्रीकामः सोऽस्त्वतितरां दक्षो बस्तमुखोऽचिरात् २३
विद्याबुद्धिरविद्यायां कर्ममय्यामसौ जडः । संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनम् ॥२४॥
गिरः श्रुतायाः पुष्पिण्या मधुगन्धेन भूरिणा । मथ्ना चोन्मथितात्मानः सम्मुह्यन्तु हरद्विषः ॥२५॥
सर्वभक्षा द्विजा वृत्त्यै धृतविद्यातपोव्रताः । वित्तदेहेन्द्रियारामा याचका विचरन्त्विह ॥२६॥
तस्यैवं वदतः शापं श्रुत्वा द्विजकुलाय वै । भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम् ॥२७॥
भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः । पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥२८॥
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः । विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥२९॥
ब्रह्म च ब्राह्मणांश्चैव यद्यूयं परिनिन्दथ । सेतुं विधारणं पुंसामतः पाषण्डमाश्रिताः ॥३०॥

दक्षने कहा—यह देवताओंमें इन्द्र-उपेन्द्र आदि देवताओंके साथ यज्ञका भाग न पावे ॥ १८ ॥ उस सभामें उपस्थित सभासदोंने दक्षको बहुत रोका, किन्तु हे कुरुनन्दन ! वे श्रीमहादेवजीको शाप देकर अत्यन्त कुपित हो उस सभासे निकलकर अपने घर लौट गये ॥ १९ ॥ शिवजीको शाप देनेकी बात सुनकर श्रीशङ्करके अनुयायियोंमें अग्रणी नन्दीश्वरको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने दक्ष तथा उन ब्राह्मणोंको जिन्होंने दक्षके कुवाक्योंका अनुमोदन किया था, भयङ्कर शाप दे डाला ॥ २० ॥ नन्दीश्वर ने कहा—यह भेदबुद्धि और मूर्ख दक्ष जो इस मरणधर्मा शरीरपर अभिमान करके किसीसे भी द्रोह न करनेवाले श्रीशङ्करसे द्वेष मानता है, अतएव यह सदा तत्त्वज्ञानसे विमुख रहेगा ॥ २१ ॥ यह मूर्ख वेदवाक्योंसे भ्रान्त होकर विषयसुखकी इच्छासे कपटधर्ममय गृहस्थाश्रममें आसक्त होकर कर्मकाण्डमें ही सदा लौलीन रहता है ॥ २२ ॥ सदा इसकी बुद्धि अविद्याग्रस्त रहती है । इसलिए यह आत्मस्वरूपको भूला हुआ दक्ष अत्यन्त स्त्रीलम्पट हो जाय और शीघ्र इसका यह शापदायक मुख बकरेका मुख हो जाय ॥ २३ ॥ यह मूर्ख कर्ममयी अविद्याको ही विद्या समझता है । इसलिए यह और जो भगवान शङ्करका अपमान करनेवाले इस दुष्टके अनुयायी हैं, वे सभी जन्म-मरणरूपी संसारचक्रमें सर्वदा पड़े रहें ॥ २४ ॥ फलश्रुतिरूपी पुष्पोंसे सुशोभित वेदवाणीरूपिणी लतासे आच्छादित मनको लुब्ध करनेवाले कर्मफलरूपी गन्धसे इनके चित्त मुग्ध हो रहे हैं । अतएव ये शङ्करद्रोही जीव कर्ममार्गमें ही भटका करें ॥ २५ ॥ ये ब्राह्मण भक्ष्याभक्ष्यके विचारसे रहित केवल पेट पालनेके निमित्त विद्या, तप तथा व्रतादिका आश्रय लें और धन, शरीर एवं इन्द्रियोंमें ही सुख मानते हुए भिक्षुक होकर पृथिवीपर विचरते रहें ॥ २६ ॥ इस प्रकार नन्दीश्वरको ब्राह्मणकुलको शाप देते देखकर भृगुजीने बदलेमें उनको अतिशय दुस्तर ब्रह्मशाप दे डाला । भृगुजी बोले—शिवजीके भक्त और उन भक्तोंके अनुयायी सत् शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण करनेवाले तथा पाषण्डी हो जाय ॥ २७ ॥ २८ ॥ शौचहीन, बुद्धिहीन तथा जटा, भस्म एवं अस्थियोंको धारण करनेवाले ऐसे लोग शिवदीक्षा ग्रहण करें, जहाँ सुरा और आसव ही देवताओंके समान आदरणीय माना जाता है ॥ २९ ॥ ओह ! तुम जो मानवधर्मकी मर्यादाके रक्षक वेद तथा ब्राह्मणोंकी निन्दा

एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः । यं पूर्वे चानुसन्तस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्दनः ॥३१॥
तद्ब्रह्म परमं शुद्धं सतां वर्त्म सनातनम् । विगर्ह्य यात पाषण्डं दैवं वो यत्र भूतराट् ॥३२॥

मैत्रेय उवाच

तस्यैवं वदतः शापं भृगोः स भगवान् भवः । निश्चक्राम ततः किञ्चिद्विमना इव सानुगः ॥३३॥
तेऽपि विश्वसृजः सत्रं सहस्रपरिवत्सरान् । संविधाय महेष्वास यत्रेज्य ऋषभो हरिः ।।३४॥
आप्लुत्यावभृथं यत्र गङ्गा यमुनयान्विता । विरजेनात्मना सर्वे स्वं स्वं धाम ययुस्ततः ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दक्षशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः । जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे ॥१॥
यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना । प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत् ॥२॥
इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च । बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥३॥
तस्मिन् ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः । आसन् कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्न्यश्च सभर्तृकाः ॥४॥
तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम् । सती दाक्षायणी देवी पितुर्यज्ञमहोत्सवम् ॥५॥
व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः । विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥६॥

करते हो, इससे ज्ञात होता है कि तुम पाषण्डी हो गये हो ॥ ३० ॥ संसारमें यह वेदमार्ग ही कल्याणकारक तथा सनातनमार्ग है । हमारे पूर्व-पुरुष इसी मार्गपर चलते आये हैं और इसके प्रवर्तक भी साक्षात् विष्णुभगवान हैं ॥ ३१ ॥ तुमलोग परमविशुद्ध और सज्जनोंके सनातन मार्गका तिरस्कार करते हो । अतएव तुम उस पाषण्डमार्गमें जाओ, जहाँ कि तुम्हारे इष्टदेव भूतनाथ (शिवजी) रहते हैं ॥ ३२ ॥ मैत्रेयजीने कहा—हे विदुरजी ! इस प्रकार भृगुके शाप देनेपर भगवान शंकर कुछ अनमनेसे होकर वहाँसे अपने अनुयायियोंके साथ चल पड़े ॥ ३३ ॥ हे महाधनुर्धारी विदुरजी ! उधर उन प्रजापतियोंने भी, जिसमें सर्वश्रेष्ठ श्रीहरि ही उपास्य देव थे, ऐसे सहस्रवर्षीय यज्ञको समाप्तकर जहाँ गंगा और यमुनाका संगम हुआ है, उस प्रयागराजको चले गये । वहीं अवभृथस्नान किया और शुद्धचित्त होकर अपने-अपने स्थानोंको लौट गये ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(पिताके यज्ञोत्सवमें जानेके लिये सतीका आग्रह) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! इस प्रकार परस्पर मनमोटावका बर्ताव करते हुए उन ससुर और जामाताका बहुत समय बीत गया ॥ १ ॥ जब परमेष्ठी श्रीब्रह्माजीने दक्षको सब प्रजापतियोंके अधिपतिपदपर अभिषिक्त किया तो उनका गर्व और भी बढ़ चला ॥ २ ॥ अतएव उन्होंने शंकरादि ब्रह्मज्ञानियोंको यज्ञका भाग न दे और उनका तिरस्कार करके वाजपेय यज्ञ किया । तदनन्तर यज्ञोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिसव नामक यज्ञ आरम्भ कर दिया ॥ ३ ॥ उस यज्ञके उत्सवमें सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितृगण तथा देवता उनके द्वारा आमंत्रित होकर आये । उनके साथ उनकी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंके साथ वहाँ आयी हुई थीं ॥ ४ ॥ आकाशमार्गसे जाते हुए देवता दक्षयज्ञके विषयमें विविध प्रकारकी बातें करते जाते थे । उन्हींके मुखसे दक्षकुमारी सतीको अपने पिताके यहाँ यज्ञोत्सव होनेकी बात मालूम हुई ॥ ५ ॥ उन्होंने अपने निवासस्थानके समीप देखा कि सब ओर यक्ष-गन्धर्व आदि

दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः । पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥७॥

सत्युवाच

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।
वयं च तत्राभिसराम वाम ते यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥८॥
तस्मिन् भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकैर्ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदृक्षवः ।
अहं च तस्मिन् भवताभिकामये सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम् ॥ ९ ॥
तत्र स्वसॄर्मे ननु भर्तृसम्मिता मातृष्वसॄः क्लिन्नधियं च मातरम् ।
द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभिरुन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् ॥१०॥
त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम् ।
तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् ॥११॥
पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितोऽप्यलङ्कृताः कान्तसखा वरूथशः ।
यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥१२॥
कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते ।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥१३॥
तन्मे प्रसीदेदममर्त्यवाञ्छितं कर्तुं भवान् कारुणिको बतार्हति ।
त्वयाऽऽत्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा निरूपिता मानुगृहाण याचितः ॥१४॥

उपदेवोंकी सुन्दरी स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र, स्वच्छ कुण्डल और पदक धारण किये अपने-अपने पतियोंके साथ विमानपर बैठकर उस यज्ञोत्सवमें सम्मिलित होने जा रही हैं। उन्हें देखकर सतीने अति उत्सुक हो अपने पति भूतपति शंकरसे कहा ॥ ६ ॥ ७ ॥ सती कहने लगी—हे देव ! मैंने सुना है कि इस समय आपके श्वशुर दक्ष प्रजापतिके यहाँ बहुत बड़ा यज्ञोत्सव होने जा रहा है। देखिये तो सही, ये सब देवता वहाँ ही जा रहे हैं। यदि आप चाहें तो हम भी वहाँ चलें ॥ ८ ॥ ऐसे अवसरपर अपने बन्धु-बान्धवोंसे मिलनेके निमित्त अपने पतियोंके सहित मेरी भगिनियाँ वहाँ अवश्य आयी होंगी। मेरी भी इच्छा है कि आपके साथ वहाँ जाकर माता-पिताकी दी हुई भेंटें पाऊँ ॥ ९ ॥ अपनी पतिप्रिया बहिनों, मौसियों तथा ममतामयी माताके दर्शनार्थ मेरा चित्त बहुत दिनोंसे ललच रहा है। वहाँ अगणित महर्षियोंका रचा भया यज्ञोत्सव तथा आकाशमें उड़ती हुई ध्वजायें देखनेको मिलेंगी ॥ १० ॥ हे अज ! यद्यपि यह आश्चर्यपूर्ण त्रिगुणात्मक जगत् आपमें अपनी ही मायासे निर्मित होकर भासमान हो रहा है। फिर भी हे शंकरजी ! स्त्रीस्वभावके कारण मैं आपके तत्त्वसे अनभिज्ञ और दीन हूँ। अतएव मुझे अपनी जन्मभूमि देखनेकी बड़ी प्रबल अभिलाषा है ॥ ११ ॥ हे अजन्मा प्रभो ! देखिए तो, जिनका दक्षसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वे स्त्रियाँ भी आज भलीभाँति अलंकृत होकर अपने पतियोंके साथ झुण्डकी झुण्ड जा रही हैं। हे शितिकण्ठ ! उन जानेवाली स्त्रियोंके राजहंसके समान श्वेत विमानोंसे सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो रहा है ॥ १२ ॥ हे सुरश्रेष्ठ ! अपने पिताके यहाँ उत्सवका समाचार पाकर उसकी कन्याका मन उसमें सम्मिलित होनेके लिये क्यों न कलपेगा ? यदि आप यह कहें कि उन्होंने बुलाया नहीं है तो पति, गुरु और माता-पिता आदि सुहृद्गणके यहाँ बिना बुलाये भी जानेमें कोई हर्ज नहीं है ॥ १३ ॥ हे देव ! आप मुझपर प्रसन्न हों। आप बड़े दयालु हैं। अतएव मेरी इच्छा पूर्ण कर दें। आप ऐसे कारुणिक हैं कि परम ज्ञानी होकर भी आपने मुझे अपने आधे अंगमें स्थान दिया है। अतएव यह माँग स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत

ऋषिरुवाच

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन् सुहृत्प्रियः ।
संस्मारितो मर्ममिदः कुवागिषून् यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

त्वयोदितं शोभनमेव शोभने अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु ।
ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना ॥१६॥
विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः ।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥१७॥
नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया गृहान् प्रतीयादनवस्थितात्मनाम् ।
येऽभ्यागतान् वक्रधियाभिचक्षते आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥१८॥
तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता ।
स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिर्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥१९॥
व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतः प्रजापतेः प्रियाऽऽत्मजानामसि सुभ्रु सम्मता ।
अथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥२०॥
पापच्यमानेन हृदाऽऽतुरेन्द्रियः समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् ।
अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा पदं परं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥२१॥
प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे ।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा गुहाशयायैव न देहमानिने ॥२२॥

कीजिए ॥ १४ ॥ श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे विदुर ! अपनी प्रियाके इस प्रकार आग्रह करनेपर सुहृद्जनोंका प्रिय करनेवाले शिवजीको दक्षप्रजापतिके वे मर्मवेधी वाक्य स्मरण हो आये, जो उन्होंने सब प्रजापतियोंके समक्ष कहे थे । तदनन्तर वे हँसते हुए कहने लगे ॥ १५ ॥ श्रीशंकर भगवान् बोले—हे सुन्दरी ! तुमने जो यह कहा कि 'अपने बन्धुजनोंके घर बिना बुलाये भी जानेमें हर्ज नहीं है' सो ठीक है । किन्तु ऐसा करना तभी उचित है जब कि वे अतिशय बलवान् देहाभिमानजनित क्रोधके कारण दोषभरी दृष्टिसे न निहारते हों ॥ १६ ॥ हे देवि ! देखो—विद्या, तप, धन, परिपुष्ट शरीर, युवावस्था एवं उच्च कुल—ये छः सत्पुरुषोंके गुण माने जाते हैं । परन्तु ये ही गुण नीच पुरुषोंमें रहते हैं तो अवगुणके रूपमें परिणत हो जाते हैं । क्योंकि इनसे उनका अभिमान बढ़जाता और उनकी स्मृति तथा बुद्धि नष्ट हो जाती है । इसीसे वे मूर्ख महापुरुषोंकी महिमा नहीं देखते ॥ १७ ॥ अतएव जो लोग अपने घर आये हुए पुरुषोंको कुटिल बुद्धिसे भौं चढ़ा एवं रोष भरी दृष्टिसे ताकते हैं, ऐसे अव्यवस्थित चित्तवाले लोगोंके यहां बान्धवभावसे कभी भी न जाय ॥ १८ ॥ हे देवि ! शत्रुओंके द्वारा बाणोंसे विद्ध हो जानेपर इतना क्लेश नहीं होता, जितना कि अपने कुटिलबुद्धिवाले स्वजनोंके कुवाक्योंसे कष्ट होता है । क्योंकि बाणोंसे शरीरके छिन्न-भिन्न हो जानेपर मनुष्यके हृदयमें पीड़ा रहनेपर भी किसी तरह नींद आ सकती है, किन्तु दुष्टोंके कुवाक्योंसे मर्मस्थानके विद्ध हो जानेपर रात-दिन बेचैनी बनी रहती है ॥ १९ ॥ हे सुभ्रु ! मुझे ज्ञात है कि तुम परमोन्नतिको प्राप्त दक्षप्रजापतिकी कन्याओंमें सबसे अधिक प्रिय हो । फिर भी मेरे आश्रित रहनेके कारण तुम्हें अपने पितासे सम्मान नहीं मिल सकता । क्योंकि वे मुझसे बहुत द्वेषभाव रखते हैं ॥ २० ॥ सब जीवोंकी चित्तवृत्तियोंके साक्षीस्वरूप महापुरुषोंकी समृद्धिको देखकर जिसका हृदय तथा इन्द्रियाँ सन्तप्त हो उठती हैं, वह उनके पदको नहीं प्राप्तकर सकता । सभी दैत्य जैसे श्रीहरिसे द्वेष मानते हैं, वैसे ही वह मुझसे द्वेष मानते हैं ॥२१॥ हे सुमध्यमे !

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ॥२३॥
तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्दक्षो मम द्विट् तदनुव्रताश्च ये ।
यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मामनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः ॥२४॥
यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति ।
सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे उमारुद्रसंवादे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन् ।
सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवान्निष्क्रामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा ॥१॥
सुहृद्दिदृक्षाप्रतिघातदुर्मनाः स्नेहाद्रुदत्यश्रुकलातिविह्वला ।
भवं भवान्यप्रतिपूरुषं रुषा प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः ॥२॥
ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं शोकेन रोषेण च दूयता हृदा ।
पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान् प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः ॥३॥

यह ठीक ही है कि ज्ञानी लोगोंमें भी परस्पर 'सम्मुख जाना, नम्रता दिखाना तथा प्रणाम करना' आदि सत्कारोंका व्यवहार हुआ करता है। फिर भी वे सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान परमपुरुषको मनहीसे प्रणामादि किया करते हैं। वे देहाभिमानी पुरुषोंको अभिवादन नहीं करते ॥ २२ ॥ ज्ञानसम्पन्न अन्तःकरणका नाम 'वसुदेव' है। क्योंकि उसमें परमपुरुष अर्थात् ज्ञानरूप भगवान वासुदेवका साक्षात् अनुभव होता है। उस विशुद्ध चित्तमें बैठे हुए इन्द्रियातीत भगवान वासुदेवको ही मनसे मैं सदा अभिवादन करता रहता हूँ ॥ २३ ॥ अतएव हे वरोरु! जिसने प्रजापतियोंकी सभामें मुझ निरपराधका अत्यन्त कटुवचनोंसे तिरस्कार किया था, वह दक्ष यद्यपि तुम्हारे शरीरको उत्पन्न करनेवाला पिता है फिर भी मेरा शत्रु होनेके नाते तुम्हें उसे अथवा उसके अनुयायियोंको देखनेका विचार भी करना उचित नहीं है ॥ २४ ॥ यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। क्योंकि जब सुप्रतिष्ठित व्यक्तिको अपने आत्मीयजनोंसे अपमानित होना पड़ता है, तब वह तत्काल उनके मरणका कारण बन जाता है ॥ २५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेज-पाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(दक्षप्रजापतिके यज्ञमें सतीका अग्निप्रवेश) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी! इतना कहकर श्रीशंकरभगवान बलपूर्वक रोकने या जाने देनेमें दोनों ही तरह अपनी पत्नी सतीके देहत्यागकी सम्भावना देखकर चुप रह गये। सती भी कभी बन्धुजनोंको देखने जानेके अभिप्रायसे बाहर आतीं और कभी शंकरजीके रुष्ट होजानेकी आशंकासे लौट जाती थीं। इस तरह बारम्बार आने-जानेसे ऐसे मालूम होता था कि उन्होंने अपना दो रूप धारण कर लिया है ॥ १ ॥ सुहृदजनोंसे मिलनेकी बलवती इच्छापर धक्का लगनेसे वे बड़ी अनमनीसी हो गयीं और स्नेहवश अतिशय विह्वल हो आँसू बहाती हुई रोने लगीं। उस समय उनका शरीर कांपने लगा और जिनसे बढ़कर संसारमें और कोई भी पुरुष नहीं है, उन शंकरभगवानकी ओर वे इस तरह रोषपूर्ण दृष्टिसे देखने लगीं मानो उन्हें भस्मकर डालेंगीं ॥२॥ अन्तमें शोक तथा क्रोधसे खिन्न अन्तःकरण तथा स्त्री-स्वभावके कारण मूढ़बुद्धि सतीजी जिन सत्पुरुषोंके

तामन्वगच्छन्द्रुतविक्रमां सतीमेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः ।
सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः ॥४॥
तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुजश्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः ।
गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभिर्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः ॥५॥
आब्रह्मघोषोर्जितयज्ञवैशसं विप्रर्षिजुष्टं विबुधैश्च सर्वशः ।
मृद्दार्वयःकाञ्चनदर्भचर्मभिनिसृष्टभाण्डं यजनं समाविशत् ॥६॥
तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः ।
ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा ॥७॥
सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम् ।
दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा नादत्त पित्राप्रतिनन्दिता सती ॥८॥
अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ ।
अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा ॥९॥
जगर्ह सामर्षविपन्नया गिरा शिवद्विषं धूमपथश्रमस्मयम् ।
स्वतेजसा भूतगणान् समुत्थितान्निगृह्य देवी जगतोऽभिशृण्वतः ॥१०॥

श्रीदेव्युवाच

न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायनः प्रियस्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः ।
तस्मिन् समस्तात्मनि मुक्तवैरके ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत् ॥११॥

प्रिय भगवान शंकरने उन्हें प्रेमवश अपना आधा अंग दे डाला था, उन्हें त्यागकर लम्बी श्वास लेती हुई वे अपने पिताके यहाँ चल पड़ीं ॥ ३ ॥ उन सतीको शीघ्रताके साथ अकेली जाती देखकर शंकर-भगवानके मणिमान् और मद आदि हजारों अनुचर नन्दीश्वरको आगे करके अन्य पार्षदों और यक्षों सहित तुरन्त निर्भयतापूर्वक उनके पीछे-पीछे चल दिये ॥ ४ ॥ इन्होंने सतीजीको नन्दीश्वरपर चढ़ाया और मैना, गेंद, दर्पण, कमल, श्वेतछत्र, चँवर तथा माला आदि उनके खेल-कूदकी सामग्रियाँ तथा दुन्दुभी, शंख और बाँसुरी आदि गाने-बजानेका सामान सहेजकर वे उनके साथ चले ॥ ५ ॥ इस प्रकार चलकर सतीजी उस यज्ञमण्डपमें जा पहुँचीं, जहाँ वेदध्वनिके साथ यज्ञमें पशुओंकी बलि हो रही थी। जिसमें सब ओर ब्रह्मर्षि तथा देवता बैठे थे। जो मृत्तिका, सुवर्ण, दर्भ (कुश) तथा चर्मके पात्रोंसे पूर्ण था ॥ ६ ॥ वहाँ चहुँचनेपर यजमान दक्षने उनका तनिक भी आदर-सत्कार नहीं किया। यहाँ तक कि दक्षके भयसे, सतीकी माता और बहिनोंके सिवाय किसीने उनका आदर नहीं किया। हाँ, उनकी माता और बहिनोंने अलबत्ते आनन्दित हो प्रेमसे गद्गद कण्ठ होकर उन्हें बड़े आदरके साथ गले लगाया ॥ ७ ॥ किन्तु सतीजीने पितासे अपमानित होनेके कारण बहिनोंके कुशलप्रश्न तथा माता और मौसियोंके दिये हुए आसन और उपहारादिकी ओर निहारा भी नहीं ॥ ८ ॥ इस तरह उस यज्ञको श्रीशंकरजीके भागसे रहित देख तथा पिताके द्वारा किये हुए उनके अपमानका विचार करके उस यज्ञसभामें तिरस्कृत सर्वलोकेश्वरी देवी सतीको बड़ा क्रोध आया। उस समय उन्हें देखनेसे ऐसा ज्ञात होता था कि मानो वे अपने रोषसे सब लोकोंको भस्म कर डालेंगी ॥ ९ ॥ तदनन्तर देवी सती कर्ममार्गके अभ्याससे अति गर्वित तथा शिवद्रोही दक्षको मार डालनेके लिए उद्यत भूतगणोंको अपने तेजसे रोककर सब लोगोंको सुनाते हुए क्रोधके कारण लड़खड़ाती वाणीमें अपने पिता दक्षकी निन्दा करती हुई बोलीं ॥ १० ॥ सतीने कहा—हे पिता! जिनसे बढ़कर संसारमें कोई नहीं है और जिनका कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है, जो समस्त देहधारियोंके प्रिय

दोषान् परेषां हि गुणेषु साधवो गृह्णन्ति केचिन्न भवादृशा द्विज ।
गुणांश्च फल्गून् बहुलीकरिष्णवो महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघम् ॥१२॥
नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभिर्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥१३॥
यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥१४॥
यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभिर्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः ।
लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनस्तस्मै भवान्द्रुह्यति विश्वबन्धवे ॥१५॥
किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने ।
तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचैर्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम् ॥१६॥
कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥१७॥
अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिणः ।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते ॥१८॥
न वेदवादाननुवर्तते मतिः स्व एव लोके रमतो महामुनेः ।
यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक् स्व एव धर्मे न परं क्षिपेत्स्थितः ॥१९॥

आत्मा हैं, उन सर्वान्तरात्मा तथा वैरहीन शंकरभगवानसे तुम्हारे सिवा भला और कौन विरोध करेगा ? ॥ ११ ॥ हे द्विज ! कोई-कोई सज्जन दूसरोंके दोषोंको भी गुणकी दृष्टिसे देखते हैं, किन्तु तुम जैसे पुरुष ऐसे नहीं होते । जो लोग दूसरोंके तनिकसे गुणको भी बहुत करके मानते हैं, वे तो अत्यन्त महान् होते हैं । किन्तु खेद है कि तुमने ऐसे महात्मा शंकरभगवानपर भी दोषारोप किया ॥ १२ ॥ जो दुष्ट इस शवरूप शरीरको ही आत्मा मानते हैं, वे यदि महापुरुषोंसे सदा ईर्ष्या और उनकी निन्दा करें तो यह कोई विस्मयकी बात नही है । क्योंकि महापुरुषोंके चरणरजसे नष्ट तेजवालोंके लिए यही शोभाकी बात होती है ॥ १३ ॥ जिनका 'शिव' यह दो अक्षरोंका नाम एक बार भी ले लेनेसे मनुष्योंके सब पापोंको तुरन्त नष्ट कर देता है और कोई जिनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता । अहो ! उन पवित्रकीर्तिशाली शंकरभगवानसे तुम द्वेष करते हो ! अतएव तुम अवश्य अमङ्गलरूप हो ॥ १४ ॥ ब्रह्मानन्दका रस पीनेके इच्छुक महापुरुषोंके मनरूपी मधुकर जिनके चरणकमलोंका निरन्तर सेवन करते हैं और जो सकाम पुरुषोंकी सब कामनाएँ तत्काल पूर्ण कर देते हैं, उन विश्वबन्धु भगवान शिवसे तुम द्रोह करते हो ! ॥ १५ ॥ मैंने सुना है कि तुम कहा करते हो कि शिव नाममात्रके शिव हैं, उनका वेष अशिव अर्थात् अमङ्गलमय है । वे श्मशानोंमें जटा छितराये अपने शरीरमें श्मशानकी फूल-माला पहने और भस्म मले तथा मनुष्योंके कपालोंकी माला पहने पिशाचोंके संग रहते हैं, सो उनकी इस अशिवताको क्या ब्रह्मा आदि देवता नहीं जानते ? जो उनके चरणोंसे गिरे निर्माल्यको अपने मस्तकपर चढ़ाते हैं ॥ १६ ॥ मेरा तो विचार ऐसा है कि यदि धर्ममर्यादाको तोड़नेवाले पुरुष धर्मके रक्षक ईश्वरकी निन्दा करते हों तो यदि वश चले तो बरबस उनकी अमंगलमयी जीभ काट डाले या स्वयं अपने प्राण त्याग दे । यदि वह ऐसा भी न कर सके तो वहाँसे कान मूँदकर हट जाय । क्योंकि ऐसा करना ही उसका धर्म है ॥ १७ ॥ अतएव भगवान नीलकण्ठकी निन्दा करनेवाले तुमसे उत्पन्न इस शरीरको अब मैं नहीं रखूँगी । क्योंकि भूलसे खाये हुए अभक्ष्य वस्तुका वमन कर देना ही मनुष्यकी शुद्धिका उपाय कहा गया है ॥ १८ ॥ हे दक्ष ! जो महामुनि सदा अपने ही स्वरूपमें रमण करते रहते

कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं वेदे विविच्योभयलिङ्गमाश्रितम् ।
विरोधि तद्यौगपदैककर्तरि द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्च्छति ॥२०॥
मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता या यज्ञशालासु न धूमवर्त्मभिः ।
तदन्नतृप्तैरसुभृद्भिरीडिता अव्यक्तलिङ्गा अवधूतसेविताः ॥२१॥
नैतेन देहेन हरे कृतागसो देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना ।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गतस्तज्जन्म धिग्यो महतामवद्यकृत् ॥२२॥
गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मनाः ।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्ध्यहं व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम् ॥२३॥

मैत्रेय उवाच

इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन् क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक् ।
स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता निमील्य दृग्योगपथं समाविशत् ॥२४॥
कृत्वा समानावनिलौ जितासना सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः ।
शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ॥२५॥
एवं स्वदेहं महतां महीयसा मुहुः समारोपितमङ्कमादरात् ।
जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ॥२६॥

हैं, उनकी बुद्धि वेदके विधि-निषेधमय वचनोंमें नहीं रमती। आकाशविहारी देवता और पृथ्वीनिवासी मनुष्योंके सदृश ज्ञानी और अज्ञानियोंकी गति भिन्न-भिन्न प्रकारकी हुआ करती है। अतएव अपने धर्ममें स्थित पुरुष दूसरेकी निन्दा कभी भी न करे ॥ १९ ॥ प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूपी दोनों ही प्रकारके कर्म सत्य होते हैं। वेदमें इन दोनोंका विवेचन करके भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये उपयुक्त विधान बताया गया है। जैसे परस्परविरोधी होनेसे कर्ता उन दोनोंका एक साथ आचरण नहीं कर सकता, वैसे ही परमात्मा शंकरभगवानको इन दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारके कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ २० ॥ हे पिता! हमारा ऐश्वर्य अव्यक्त है। आत्मज्ञानी महात्माजन ही उसका सेवन कर सकते हैं। वैसा ऐश्वर्य तुम्हारे पास नहीं है। क्योंकि तुम्हारा ऐश्वर्य यज्ञशालामें ही रहता है और यज्ञके अन्नसे तृप्त होकर अपना पेट पालनेवाले धूममार्गी कर्मचारी उसकी स्तुति करते हैं। वे हमारे ऐश्वर्यकी प्रशंसा कभी भी नहीं करेंगे ॥ २१ ॥ शंकरभगवानका अपराध करनेवाले तुम्हारे शरीरसे उत्पन्न इस निन्दनीय शरीरसे अब मुझे कोई मतलब नहीं है। तुम्हारे सदृश दुष्ट पुरुषसे मेरा सम्बन्ध है, यह सोचकर मुझे लज्जा आती है। जो प्राणी महापुरुषोंका अपराधी हो, उसके जन्मको अनेकशः धिक्कार है ॥ २२ ॥ जब शिवजी तुम्हारे साथ मेरा सम्बन्ध दिखाते हुए हँसीमें मुझे दक्षकन्या कहकर बुलाते हैं, तब उनकी हँसीको भूलकर मुझे बड़ी ही लज्जा आती और बड़ा खेद होता है। अब मैं तुम्हारे शरीरसे उत्पन्न इस शवसदृश शरीरको तुरन्त त्यागे देती हूँ ॥ २३ ॥ श्रीमैत्रेयजी बोले—हे शत्रुओंको मारनेवाले विदुरजी! दक्षसे ऐसा कहकर देवी सतीजी मौन हो गयीं और जलका आचमनकर तथा पीली साड़ी ओढ़के पृथ्वीपर जा बैठीं और नेत्र मूँदकर योगाभ्यासमें प्रवृत्त हो गयीं ॥ २४ ॥ उन अनिन्दित सतीदेवीने आसन स्थिर करके प्राण और अपानवायुको समान किया, फिर उन दोनोंकी ऊर्ध्वगति करके उन्हें धीरे-धीरे नाभिचक्रसे ऊपर अपने हृदयदेशमें स्थित किया। तदनन्तर हृदयस्थित प्राणोंको बुद्धिके द्वारा कण्ठमार्गसे अपनी भ्रुकुटियोंके मध्यमें ले गयीं ॥ २५ ॥ इस तरह जिस शरीरको महापुरुषोंमें श्रेष्ठ शंकरभगवानने बड़े आदरके साथ बारम्बार अपनी गोदमें बैठाया था, उसे दक्षपर कुपित होनेके कारण त्यागनेकी कामनासे महामनस्विनी सतीने अपने

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम् ।
ददर्श देहो हतकल्मषः सती सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना ॥२७॥
तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्धाहेति वादः सुमहानजायत ।
हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी जहावसून् केन सती प्रकोपिता ॥२८॥
अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः ।
जहावसून् यद्विमताऽऽत्मजा सती मनस्विनी मानमभीक्ष्णमर्हति ॥२९॥
सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मधुक् च लोकेऽपकीर्तिं महतीमवाप्स्यति ।
यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां न प्रत्यषेधन्मृतयेऽपराधतः ॥३०॥
वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वासुत्यागमद्भुतम् । दक्षं तत्पार्षदा हन्तुमुदतिष्ठन्नुदायुधाः ॥३१॥
तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान् भृगुः । यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह ॥३२॥
अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा । ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः ॥३३॥
तैरलातायुधैः सर्वे प्रमथाः सहगुह्यकाः । हन्यमाना दिशो भेजुरुशद्भिर्ब्रह्मतेजसा ॥३४॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे सतीदेहोत्सर्गो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

भवो भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात् ।
स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभिर्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे ॥१॥

सम्पूर्ण अंगोंमें वायु तथा अग्निकी भावना की ॥ २६ ॥ इसके बाद अपने पति तथा जगद्गुरु शंकरभगवानके चरणकमलका ध्यान करती हुई निष्पाप सतीजीने और सबकी स्मृति भुला दी। ऐसा करनेसे उनका शरीर योगाग्निसे तुरन्त धधक उठा ॥ २७ ॥ यह विचित्र चरित्र देखनेवाले देवताओं-का आकाश और भूतलमें बड़ा भयानक हाहाकार मच गया। वहाँके सब लोग कहने लगे—'हाय हाय! महादेवजीकी प्रियतमा सतीने शरीर त्याग दिया। क्योंकि दक्षने उनको क्रुद्ध कर दिया था ॥ २८ ॥ हाय! सब चराचर जीव जिसकी प्रजा हैं, उस दुष्ट दक्षकी दुष्टता तो देखो, जिसके द्वारा तिरस्कृत होकर उसकी सर्वदाकी आदरपात्री उदारचित्तवाली सतीने अपने प्राण त्याग दिये ॥ २९ ॥ यह कुटिलहृदय और ब्राह्मणोंका द्रोही दक्ष संसारमें बड़ा अपयश पायेगा। क्योंकि इस शंकरद्रोही जीवने अपने अपराधसे प्राण त्यागनेको उद्यत अपनी कन्याको रोका भी नहीं!' ॥ ३० ॥ जब सब लोग इस तरह कह रहे थे, तभी सतीका वह अद्भुत प्राणत्याग देखकर शिवके सब पार्षद दक्षको मारनेके लिये अस्त्र-शस्त्र सम्हालकर दौड़ पड़े ॥ ३१ ॥ शिवगणोंके आक्रमणका वेग देखकर भगवान भृगुने यज्ञमें विघ्न पहुँचानेवालोंको नष्ट करनेवाले मन्त्र पढ़कर दक्षिणाग्निमें आहुति दी ॥ ३२ ॥ उन अध्वर्यु भृगुके आहुति डालते ही उसके प्रभावसे एक साथ हजारों 'ऋभु' नामके ऐसे देवता उस यज्ञकुण्डसे तत्काल प्रकट हो गये, जिन्होंने अपने तपके प्रभावसे बहुत-सा सोमरस पिया था ॥ ३३ ॥ ब्रह्मतेजसे तेजस्वी उन देवताओं द्वारा जलती हुई लकड़ियोंसे आक्रमण करनेपर गुह्यकोंके साथ सब प्रमथगण दिशा और विदिशाओंमें भाग गये ॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(वीरभद्र द्वारा दक्षके यज्ञका विध्वंस और दक्षवध) मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर! जब शंकरभगवानने नारदजीके मुखसे दक्षप्रजापति द्वारा तिरस्कृत सतीके मरण और ऋभुगणों द्वारा

क्रुद्धः सुदष्टौष्ठपुटः स धूर्जटिर्जटां तडिद्वह्निसटोग्ररोचिषम् ।
उत्कृत्य रुद्रः सहसोत्थितो हसन् गम्भीरनादो विससर्ज तां भुवि ॥२॥
ततोऽतिकायस्तनुवा स्पृशन्दिवं सहस्रबाहुर्घनरुक् त्रिसूर्यदृक् ।
करालदंष्ट्रो ज्वलदग्निमूर्धजः कपालमाली विविधोद्यतायुधः ॥३॥
तं किं करोमीति गृणन्तमाह बद्धाञ्जलिं भगवान् भूतनाथः ।
दक्षं सयज्ञं जहि मद्भटानां त्वमग्रणी रुद्र भटांशको मे ॥४॥
आज्ञप्त एवं कुपितेन मन्युना स देवदेवं परिचक्रमे विभुम् ।
मेने तदाऽऽत्मानमसङ्गरंहसा महीयसां तात सहः सहिष्णुम् ॥५॥
अन्वीयमानः स तु रुद्रपार्षदैर्भृशं नदद्भिर्व्यनदत्सुभैरवम् ।
उद्यम्य शूलं जगदन्तकान्तकं स प्राद्रवद् घोषणभूषणाङ्घ्रिः ॥६॥
अथर्त्विजो यजमानः सदस्याः ककुभ्युदीच्यां प्रसमीक्ष्य रेणुम् ।
तमः किमेतत्कुत एतद्रजोऽभूदिति द्विजा द्विजपत्न्यश्च दध्युः ॥७॥
वाता न वान्ति न हि सन्ति दस्यवः प्राचीनबर्हिर्जीवति होग्रदण्डः ।
गावो न काल्यन्त इदं कुतो रजो लोकोऽधुना किं प्रलयाय कल्पते ॥८॥

अपने पार्षदोंकी सेनाके भगाये जानेका वृत्तान्त सुना तो उन्हें बड़ा क्रोध आया ॥ १ ॥ रुद्रभगवानने अति क्रुद्धभावसे अपना ओंठ चबाते हुए विद्युत् तथा अग्निकी लपटकी भाँति देदीप्यमान अपनी जटासे एक बाल उखाड़ लिया और सहसा खड़े होकर गम्भीर अट्टहास करके हँसते हुए उस केशको पृथ्वीपर डाल दिया ॥ २ ॥ तत्काल उससे एक विशालकाय पुरुष उत्पन्न हो गया । उसका शरीर बड़ा लम्बा-चौड़ा था । वह अपनी ऊँचाईसे आकाशका स्पर्श कर रहा था । उसके हजार भुजाएँ थीं । मेघके समान उसका श्याम वर्ण था । सूर्यके समान देदीप्यमान उसके तीन नेत्र थे । उसकी विकराल डाढ़ें थीं और अग्निकी लपटोंके समान रक्तवर्णके केश थे । वह अपने गलेमें कपालोंकी माला पहने था और हाथोंमें विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण किये था ॥ ३ ॥ उसने हाथ जोड़कर शंकरभगवानसे पूछा—'हे प्रभो ! मैं क्या करूँ ?' तब भगवान भूतनाथ शिवने कहा—"ओ रुद्र ! तू मेरा अंश है । अतएव मेरे पार्षदोंमें अग्रणी है । तू तुरन्त जाकर दक्ष और उसके यज्ञको नष्ट कर दे" ॥ ४ ॥ क्रोधमें भरकर शंकरभगवानके ऐसी आज्ञा देनेपर वीरभद्रने देवाधिदेव शिवकी परिक्रमा की और उन्हें ऐसा मालूम पड़ने लगा कि मेरे वेगके समक्ष टिकनेवाला संसारमें कोई भी प्राणी नहीं है और मैं बड़ेसे-बड़े वीरका भी वेग सहनेमें समर्थ हूँ ॥ ५ ॥ तब अन्य रुद्रपार्षदोंसे अनुगत पार्षदप्रवर वीरभद्र शिवगणोंके गर्जना करनेपर स्वयं भी विकराल शब्दसे गर्जन करते हुए जगत्का अन्त करनेवाले मृत्युका भी अन्त करनेमें समर्थ एवं अतिशय कराल त्रिशूल हाथमें लिये हुए दक्षके यज्ञमण्डपकी ओर लपके । उस समय उनके चरणोंके आभूषण छम-छम करके बजते जा रहे थे ॥ ६ ॥ उधर दक्षके यहाँ यज्ञमण्डपमें बैठे हुए ऋत्विज, यजमान, सदस्य, ब्राह्मण तथा ब्राह्मणपत्नियाँ उत्तर दिशामें धूल उड़ती देखकर आपसमें विचार करने लगीं—'अरे ! यह अन्धकार क्यों होता जा रहा है ? मालूम पड़ता है कि यह धूलि है। किन्तु यह धूलि कैसे और कहाँसे आयी ? इस समय न तो आँधी है और न कहीं चोर ही दीखते हैं, क्योंकि अपराधियोंको कठोर दण्ड देनेमें समर्थ राजा प्राचीनबर्हि अभी जीवित है । गौओंके आनेका भी समय अभी नहीं हुआ है । तब यह धूलि कैसे आयी ? क्या अब संसारका प्रलय होनेको है ?'

प्रसूतिमिश्राः स्त्रियः उद्विग्नचित्ता ऊचुर्विपाको वृजिनस्यैष तस्य ।
यत्पश्यन्तीनां दुहितॄणां प्रजेशः सुतां सतीमवदध्यावनागाम् ॥९॥
यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः ।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजानुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक् ॥१०॥
अमर्षयित्वा तमसह्यतेजसं मन्युप्लुतं दुर्निरीक्ष्यं भ्रुकुट्या ।
करालदंष्ट्राभिरुदस्तभागणं स्यात्स्वस्ति किं कोपयतो विधातुः ॥११॥
बह्वेवमुद्विग्नदृशोच्यमाने जनेन दक्षस्य मुहुर्महात्मनः ।
उत्पेतुरुत्पाततमाः सहस्रशो भयावहा दिवि भूमौ च पर्यक् ॥१२॥
तावत्स रुद्रानुचरैर्मखो महान्नानायुधैर्वामनकैरुदायुधैः ।
पिङ्गैः पिशङ्गैर्मकरोदराननैः पर्याद्रवद्भिर्विदुरान्वरुध्यत ॥१३॥

केचिद्बभञ्जुः प्राग्वंशं पत्नीशालां तथापरे । सद आग्नीध्रशालां च तद्विहारं महानसम् ॥१४॥
रुरुजुर्यज्ञपात्राणि तथैकेऽग्नीननाशयन् । कुण्डेष्वमूत्रयन् केचिद्बिभिदुर्वेदिमेखलाः ॥१५॥
अबाधन्त मुनीनन्य एके पत्नीरतर्जयन् । अपरे जगृहुर्देवान् प्रत्यासन्नान् पलायितान् ॥१६॥
भृगुं बबन्ध मणिमान् वीरभद्रः प्रजापतिम् । चण्डीशः पूषणं देवं भगं नन्दीश्वरोऽग्रहीत् ॥१७॥
सर्व एवर्त्विजो दृष्ट्वा सदस्याः सदिवौकसः । तैरर्द्यमानाः सुभृशं ग्रावभिर्नैकधाद्रवन् ॥१८॥

॥ ७ ॥ ८ ॥ उधर प्रसूति अर्थात् दक्षपत्नी आदि स्त्रियोंने व्याकुल होकर परस्पर कहा—"दक्षप्रजापतिने अपनी सब कन्याओंके समक्ष बेचारी निरपराध सतीका बड़ा अपमान किया था, मालूम होता है कि यह उसी पापका फल है (जो ऐसे उत्पात दीख रहे हैं) ॥ ९ ॥ जो कल्पान्तके समय अपना जटाजूट खोलकर त्रिशूलकी नोकसे दिग्गजोंको उठा-उठाकर इधर-उधर फेंक देते हैं और मेघगर्जनकी भाँति विकराल अट्टहास करके दसों दिशाओंको कम्पित करते हुए अपने सशस्त्र हाथोंको ध्वजाओंके सदृश फैलाकर नाचते हैं। जिनकी भ्रुकुटियोंका विलास अतिशय असह्य होता है। जो अपनी भयानक दाढ़ोंसे तारागणोंको चूर्ण कर देते हैं, उन असह्यतेजस्वी और क्रोधमूर्ति शंकरजीको कुपित करके क्या विधाता भी सुखी रह सकता है ? ॥ १० ॥ ११ ॥ उस यज्ञशालामें बैठे सब लोग घबड़ाहट भरे नेत्रोंसे देखते हुए इस तरह परस्पर नाना प्रकारकी बतकही कर रहे थे कि इतनेमें आकाश और पृथिवीमें सब ओर परम सामर्थ्यशाली दक्षको भी भयभीत करनेवाले हजारों भयंकर उत्पात होते दीखने लगे ॥१२॥ हे विदुरजी ! इसी समय झपटकर आये हुए रुद्रके अनुचरोंने वह यज्ञमण्डप घेर लिया। वे सब विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे। उन शिवगणोंमेंसे कोई बौना, कोई पिंगल, कोई पीला और कोई मगरके समान पेट तथा मुखका था ॥ १३ ॥ उनमेंसे कितने गणोंने प्राग्वंश (यज्ञशालाके पूर्व तथा पश्चिमके खम्भोंपर पूर्व-पश्चिमकी ओर आड़ा करके रक्खा हुआ काष्ठ) तोड़ दिया, कितनोंने पत्नीशाला नष्ट-भ्रष्ट कर दी, कुछने यज्ञशालाके सामनेका मण्डप तथा मण्डपके आगेवाली हविर्धानी तथा कुछने यजमानगृह एवं भोजनागारको विध्वस्त कर डाला ॥ १४ ॥ कुछ गणोंने यज्ञके पात्र फोड़ डाले, कुछने अग्नि बुझा दी, कुछ शिवगणोंने यज्ञके कुण्डोंमें मूत दिया और कुछने वेदीकी सीमाके सूत्रोंको तोड़ डाला ॥ १५ ॥ कितनोंने मुनियोंको कष्ट देना आरम्भ कर दिया। कुछ गण स्त्रियोंको धमकाने लगे और कुछने अपने निकटसे भागते हुए देवताओंको बाँध लिया ॥१६॥ मणिमानने महर्षि भृगुको बाँधा। वीरभद्रने दक्षप्रजापतिको कैद किया और चण्डीशने पूषाको तथा नन्दीश्वरने भगदेवको पकड़ा ॥ १७ ॥ उस समय सब ऋत्विज्, सदस्य तथा देवता शंकरभगवानके पार्षदोंकी यह भयंकर लीला देख और उनके कंकड़-पत्थर फेंकनेसे अतिशय पीड़ित हो जैसे-तैसे वहाँसे भाग निकले

जुह्वतः स्रुवहस्तस्य श्मश्रूणि भगवान् भवः। भृगोर्लुलुञ्चे सदसि योऽहसच्छ्मश्रु दर्शयन् ॥१९॥
भगस्य नेत्रे भगवान् पातितस्य रुषा भुवि। उज्जहार सदःस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत् ॥२०॥
पूष्णश्चापातयद्दन्तान् कालिङ्गस्य यथा बलः। शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः ॥२१॥
आक्रम्योरसि दक्षस्य शितधारेण हेतिना। छिन्दन्नपि तदुद्धर्तुं नाशक्नोत्त्र्यम्बकस्तदा ॥२२॥
शस्त्रैरस्त्रान्वितैरेवमनिर्भिन्नत्वचं हरः। विस्मयं परमापन्नो दध्यौ पशुपतिश्चिरम् ॥२३॥
दृष्ट्वा संज्ञपनं योगं पशूनां स पतिर्मखे। यजमानपशोः कस्य कायात्तेनाहरच्छिरः ॥२४॥
साधुवादस्तदा तेषां कर्म तत्तस्य शंसताम्। भूतप्रेतपिशाचानामन्येषां तद्विपर्ययः ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दक्षयज्ञविध्वंसो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

अथ देवगणाः सर्वे रुद्रानीकैः पराजिताः। शूलपट्टिशनिस्त्रिंशगदापरिघमुद्गरैः ॥१॥
संछिन्नभिन्नसर्वाङ्गाः सर्त्विक्सभ्या भयाकुलाः। स्वयम्भुवे नमस्कृत्य कार्त्स्न्येनैतन्न्यवेदयन् ॥२॥
उपलभ्य पुरैवैतद्भगवानब्जसम्भवः। नारायणश्च विश्वात्मा न कस्याध्वरमीयतुः ॥३॥
तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि। क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥४॥

॥ १८ ॥ तब शंकरभगवानके पार्षदप्रवर वीरभद्रने हाथमें स्रुवा लेकर हवन करनेवाले भृगु ऋषिकी दाढ़ी-मूँछ उखाड़ ली। क्योंकि उन्होंने दक्षप्रजापतिकी सभामें अपनी मूँछ मटकाते हुए श्रीमहादेवजीकी हँसी उड़ायी थी ॥ १९ ॥ उन्होंने भगदेवको क्रोधके साथ पृथिवीपर गिराकर उनकी आँखें निकाल लीं। क्योंकि उन्होंने उस सभामें शंकरभगवानको बुरा-भला कहते हुए दक्षको नेत्रोंके इशारेसे उसकाया था ॥२०॥ महापराक्रमी वीरभद्रने पूषाके दाँत ऐसे उखाड़ लिये, जैसे बलरामजीने कलिंगराजके दाँत उखाड़े थे। क्योंकि जब दक्ष महेश्वरकी निन्दा कर रहा था, तब पूषा दाँत चियारकर हँसा था ॥२१॥ तदनन्तर वे दक्षको गिराकर छातीपर चढ़ बैठे और एक तीखी तलवारसे उसका गला काटने लगे, किन्तु बहुत कुछ प्रयत्न करनेपर भी वे उसे नहीं काट पाये ॥ २२ ॥ उन्होंने नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका उपयोग किया, फिर भी उसकी त्वचा न कटती देखकर वीरभद्रको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बहुत देरतक इस विषयमें विचार करते रह गये ॥ २३ ॥ तब उन पशुपति भगवान वीरभद्रने यज्ञमें पशुओंको गला घोंटकर मारनेका यन्त्र आदिके उपाय करके उसी युक्तिसे उस यजमान पशुरूपी दक्षका सिर उसके धड़से अलग कर डाला ॥ २४ ॥ उनके इस कर्मके प्रशंसक भूत, प्रेत और पिशाचादि वाह-वाह कहकर उनकी सराहना करने लगे और दक्षके सम्बन्धी आदि अन्य पुरुष हाहाकार मचाने लगे ॥ २५ ॥ इस प्रकार वीरभद्रने बहुत कुपित होकर उसे यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया और यज्ञशालाको भस्म करके वे अपने कैलास पर्वतको वापस चले गये ॥ २६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(सभी देवताओंका कैलासपर्वतपर एकत्रित होकर भगवान शङ्करकी स्तुति करना)

श्रीमैत्रेय कहते हैं—हे विदुरजी ! इस तरह भगवान रुद्रके पार्षदों द्वारा परास्त सब देवता उनके त्रिशूल, पट्टिश, खड्ग, गदा, परिघ तथा मुद्गर आदि आयुधोंसे सर्वाङ्गमें आहत होकर ऋत्विजों और सदस्योंके साथ भयसे व्याकुल होते हुए ब्रह्माजीके पास गये और उन्हें नमस्कार करके सारा वृत्तान्त कहा ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीब्रह्माजी और सबके अन्तरात्मास्वरूप नारायण यह भावी उत्पात पहलेहीसे जानते थे, इसीसे वे दक्षके यज्ञमें नहीं सम्मिलित हुए थे ॥ ३ ॥ सब वृत्तान्त सुनकर श्रीब्रह्माजीने

अथापि यूयं कृतकिल्बिषा भवं ये बर्हिषो भागभाजं परादुः ।
प्रसादयध्वं परिशुद्धचेतसा क्षिप्रप्रसादं प्रगृहीताङ्घ्रिपद्मम् ॥५॥
आशासाना जीवितमध्वरस्य लोकः सपालः कुपिते न यस्मिन् ।
तमाशु देवं प्रियया विहीनं समापयध्वं हृदि विद्धं दुरुक्तैः ॥६॥
नाहं न यज्ञो न च यूयमन्ये ये देहभाजो मुनयश्च तत्त्वम् ।
विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वा यस्यात्मतन्त्रस्य क उपायं विधित्सेत् ॥७॥
स इत्थमादिश्य सुरानजस्तैः समन्वितः पितृभिः सप्रजेशैः ।
ययौ स्वधिष्ण्यान्निलयं पुरद्विषः कैलासमद्रिप्रवरं प्रियं प्रभोः ॥८॥
जन्मौषधितपोमन्त्रयोगसिद्धैर्नरेतरैः । जुष्टं किन्नरगन्धर्वैरप्सरोभिर्वृतं सदा ॥९॥
नानामणिमयैः शृङ्गैर्नानाधातुविचित्रितैः । नानाद्रुमलतागुल्मैर्नानामृगगणावृतैः ॥१०॥
नानामलप्रस्रवणैर्नानाकन्दरसानुभिः । रमणं विहरन्तीनां रमणैः सिद्धयोषिताम् ॥११॥
मयूरकेकाभिरुतं मदान्धालिविमूर्च्छितम् । प्लावितैरक्तकण्ठानां कूजितैश्च पतत्त्रिणाम् ॥१२॥
आह्वयन्तमिवोद्धस्तैर्द्विजान् कामदुघैर्द्रुमैः । व्रजन्तमिव मातङ्गैर्गृणन्तमिव निर्झरैः ॥१३॥
मन्दारैः पारिजातैश्च सरलैश्चोपशोभितम् । तमालैः शालतालैश्च कोविदारासनार्जुनैः ॥१४॥
चूतैः कदम्बैर्नीपैश्च नागपुन्नागचम्पकैः । पाटलाशोकबकुलैः कुन्दैः कुरबकैरपि ॥१५॥

कहा—"हे देवताओं ! उन्नतिके इच्छुक पुरुषोंके लिए तेजस्वी महापुरुषोंका अपराध करना प्रायः कुशलताका हेतु नहीं होता ॥ ४ ॥ आपलोग यज्ञभागके अधिकारी भगवान शंकरको यज्ञभागसे वञ्चित करके उनका बड़ा भारी अपराध कर गुजरे हैं, फिर भी वे बहुत शीघ्र प्रसन्न हो जाया करते हैं। अतएव तुम सब शुद्ध चित्तसे उनके चरण पकड़कर उन्हें मनाओ ॥ ५ ॥ शंकरभगवानका हृदय दक्षके कटु वाक्योंसे पहले ही बिंध चुका था, तिसपर अब उनकी प्रियाका वियोग हो गया है। सो यदि तुम चाहते होओ कि वह यज्ञ फिरसे आरम्भ होकर पूर्ण हो जाय तो उनसे अपने अपराधके लिए क्षमा माँगो। नहीं तो यह यज्ञ ही नहीं, उनके कुपित होनेसे तो लोकपालों समेत ये सारे लोक नष्ट हो जायँगे ॥ ६ ॥ उन अतिशय स्वतन्त्र भगवान शंकरके तत्त्व तथा बल-वीर्यके प्रमाणको मैं, इन्द्र, तुम देवता लोग तथा अन्य मुनिगण आदि देहधारियोंमेंसे किसीको भी नहीं मालूम है। तब भला उन्हें शान्त करनेका उपाय कौन कर पायेगा ?" ॥ ७ ॥ इस प्रकार देवताओंसे कहकर भगवान ब्रह्माजी, पितर, सब प्रजापति तथा देवताओं सहित अपने लोकसे श्रीत्रिपुरारिके प्रियधाम पर्वतराज कैलासपर गये ॥ ८ ॥ वह पर्वत जन्म, ओषधि, तप, मन्त्र और योग आदिके अनेक उपायों तथा सिद्ध, देवता, किन्नर, गन्धर्व और अप्सरा आदिसे निरन्तर व्याप्त रहता है ॥ ९ ॥ चित्र-विचित्र धातुओं, अनेक प्रकारके वृक्षों, लता-गुल्मादि तथा भाँति-भाँतिके मृगगणोंसे घिरे विविध मणिमय शिखरोंसे युक्त वह पर्वत अतिशय रमणीक दीखता है ॥ १० ॥ वह कैलास निर्मल जलके अनेकों झरनों और बहुत-सी कन्दराओं एवं शिखरोंसे सुशोभित है और अपने प्रियतमोंके साथ विहार करती हुई सिद्धपत्नियोंका क्रीडास्थल बना रहता है ॥ ११ ॥ उसमें सब तरफ मोरोंका शोर, मदान्ध भौंरोंकी गुंजार, कोकिलाकी कूक और पक्षियोंकी चहचहाहट गूँजा करती है ॥ १२ ॥ वह पर्वत कल्पवृक्षोंकी ऊँची-ऊँची शाखाओंसे मानो विविध पक्षियोंको अपनी ओर बुलाता है, हाथियोंके चलने-फिरनेसे वह चलता-सा मालूम होता और झरनोंकी झनकारसे बोलता-सा प्रतीत होता है ॥ १३ ॥ उस पर्वतपर पारिजात, सरल, तमाल, शाल, ताल, कोविदार, असन और अर्जुनके वृक्ष विद्यमान हैं। अतएव वह सदा शोभायमान रहता है ॥ १४ ॥ इसी तरह आम, कदम्ब, नीप, नाग, पुन्नाग, चम्पक, पाटल, अशोक, बकुल, कुन्द, कुरवक, सुवर्णवर्णके शतदल कमल, अतिशय सुन्दर इलायची और मालतीकी

स्वर्णार्णशतपत्रैश्च वररेणुकजातिभिः । कुब्जकैर्मल्लिकाभिश्च माधवीभिश्च मण्डितम् ॥१६॥
पनसोदुम्बराश्वत्थप्लक्षन्यग्रोधहिङ्गुभिः । भूर्जैरोषधिभिः पूगै राजपूगैश्च जम्बुभि ॥१७॥
खर्जूराम्रातकाम्राद्यैः प्रियालमधुकेङ्गुदैः । द्रुमजातिभिरन्यैश्च राजितं वेणुकीचकैः ॥१८॥
कुमुदोत्पदकह्लारशतपत्रवनर्द्धिभिः । नलिनीषु कलं कूजत्खगवृन्दोपशोभितम् ॥१९॥
मृगैः शाखामृगैः क्रोडैर्मृगेन्द्रैर्ऋक्षशल्यकैः । गवयैः शरभैर्व्याघ्रै रुरुभिर्महिषादिभिः ॥२०॥
कर्णान्त्रैकपदाश्वास्यैर्निर्जुष्टं वृकनाभिभिः । कदलीखण्डसंरुद्धनलिनीपुलिनश्रियम् ॥२१॥
पर्यस्तं नन्दया सत्याः स्नानपुण्यतरोदया । विलोक्य भूतेशगिरिं विबुधा विस्मयं ययुः ॥२२॥
ददृशुस्तत्र ते रम्यामलकां नाम वै पुरीम् । वनं सौगन्धिकं चापि यत्र तन्नाम पङ्कजम् ॥२३॥
नन्दा चालकनन्दा च सरितो बाह्यतः पुरः । तीर्थपादपदाम्भोजरजसातीव पावने ॥२४॥
ययोः सुरस्त्रियः क्षत्तरवरुह्य स्वधिष्ण्यतः । क्रीडन्ति पुंसः सिञ्चन्त्यो विगाह्य रतिकर्शिताः ॥२५
ययोस्तत्स्नानविभ्रष्टनवकुङ्कुमपिञ्जरम् । वितृषोऽपि पिबन्त्यम्भः पाययन्तो गजा गजीः॥२६॥
तारहेममहारत्नविमानशतसङ्कुलाम् । जुष्टां पुण्यजनस्त्रीभिर्यथा खं सतडिद्घनम् ॥२७॥
हित्वा यक्षेश्वरपुरीं वनं सौगन्धिकं च तत् । द्रुमैः कामदुघैर्हृद्यं चित्रमाल्यफलच्छदैः ॥२८॥
रक्तकण्ठखगानीकस्वरमण्डितषट्पदम् । कलहंसकुलप्रेष्ठं खरदण्डजलाशयम् ॥२९॥

लताएँ, कुब्जक, मोगरा तथा माधवी आदिकी लतायें अलग उसकी शोभा बढ़ा रही हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ कटहर, गूलर, पीपल, पाकड़, बड़, हिंगु, भोजपत्र, ओषधियाँ, पूगीफल, बड़ी पूगी, जामुन, खजूर, आँवला, आम, प्रियाल, मधूक, इँगुर आदि विभिन्न वृक्षों तथा वेणु अर्थात् ठोस बाँस और कीचक अर्थात् पोले बाँसके वृक्षोंसे वह पर्वत बड़ा ही सुन्दर दीखता था ॥ १७ ॥ १८ ॥ उसके अनेक सरोवरोंमें कुमुद, उत्पल, कह्लार तथा शतपत्र आदि अनेक प्रकारके कमल खिले थे। उनमें मनोहर ढंगसे चहकते हुए पक्षियोंसे वह पर्वत बड़ा सुन्दर दीख रहा था ॥ १९ ॥ हरिण, वानर, शूकर, सिंह, रीछ, स्याही, नीलगाय, शरभ, बाघ, कृष्णमृग और भैंसे आदि जीवोंसे वह सब ओरसे परिपूर्ण हो रहा था ॥ २० ॥ उस पर्वतपर जहाँ-जहाँ कर्णान्त्र, एकपद, अश्वास्य, वृक और कस्तूरीमृग घूमा करते थे। वहाँके सरोवरतटोंपर लगे केलोंकी पंक्तियोंसे भी वे सुशोभित हो रहे थे ॥ २१ ॥ भगवती सतीके स्नान करनेसे जिसका जल परम पवित्र हो गया था, उस नन्दा नदीके कारण पर्वतराज सब ओरसे घिरा हुआ था। उन भगवान भूतभावनके कैलास पर्वतको देखकर देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २२ ॥ वहाँपर उन्होंने अतिशय रमणीक अलकापुरी और सौगन्धिक वन देखा, जिसमें सौगन्धिक नामके कमल खिले भये थे ॥ २३ ॥ अलकापुरीके बाहरकी ओर नन्दा तथा अलकनन्दा नामकी दो नदियाँ थीं। वे तीर्थपाद भगवान विष्णुकी चरणरजसे अतिशय पवित्र हो गयी थीं ॥२४॥ हे विदुरजी ! उन नदियोंमें रतिके कारण थकी देवांगनाएँ अपने निवासस्थान अर्थात् स्वर्गलोकसे आकर जलक्रीडा करतीं और उनमें स्नान करके अपने पतियोंपर उसका जल उछाला करती हैं ॥ २५ ॥ वहाँपर उन देवियोंके स्नानसे उनके कुचमें लगा भया कुंकुम छूटकर मिले हुए जलको वनके हाथी प्यास न रहनेपर भी हथिनियोंको पिलाते हुए स्वयं भी पीते हैं ॥ २६ ॥ चाँदी, सोने और महा-मणियोंके सैकड़ों विमानोंसे संकुलित और अनेक यक्षपत्नियोंसे सुशोभित होनेके कारण वह अलकापुरी विद्युत् तथा रंगबिरंगे बादलोंयुक्त आकाशके सदृश मालूम पड़ती है ॥ २७ ॥ तब वे सब देवता कुबेरकी उस अलकापुरीको पीछे छोड़कर सौगन्धिक वनमें गये, जो कल्पवृक्ष तथा चित्र-विचित्र फूल, फल तथा पत्तोंके कारण अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥ २८ ॥ कोकिल आदि पक्षियोंके कलरव तथा भौंरोंकी गुञ्जारसे परिपूर्ण और राजहंसोंको अतिशय प्रिय वह वन कमलकुसुममण्डित सरोवरोंसे

वनकुञ्जरसंघृष्टहरिचन्दनवायुना । अधि पुण्यजनस्त्रीणां मुहुरुन्मथयन् मनः ॥३०॥
वैदूर्यकृतसोपाना वाप्य उत्पलमालिनीः । प्राप्तं किम्पुरुषैर्दृष्ट्वा त आराद्ददृशुर्वटम् ॥३१॥
स योजनशतोत्सेधः पादोनविटपायतः । पर्यक्कृताचलच्छायो निर्नीडस्तापवर्जितः ॥३२॥
तस्मिन् महायोगमये मुमुक्षुशरणे सुराः । ददृशुः शिवमासीनं त्यक्तामर्षमिवान्तकम् ॥३३॥
सनन्दनाद्यैर्महासिद्धैः शान्तैः संशान्तविग्रहम् । उपास्यमानं सख्या च भर्त्रा गुह्यकरक्षसाम् ॥३४॥
विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम् । चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥३५॥
लिङ्गं च तापसाभीष्टं भस्मदण्डजटाजिनम् । अङ्गेन सन्ध्याभ्ररुचा चन्द्रलेखां च बिभ्रतम् ॥३६॥
उपविष्टं दर्भमय्यां बृस्यां ब्रह्म सनातनम् । नारदाय प्रवोचन्तं पृच्छते शृण्वतां सताम् ॥३७॥
कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि । बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया ॥३८॥

तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम् ।
सलोकपाला मुनयो मनूनामाद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥३९॥
स तूपलभ्यागतमात्मयोनिं सुरासुरेशैरभिवन्दिताङ्घ्रिः ।
उत्थाय चक्रे शिरसाभिवन्दनमर्हत्तमः कस्य यथैव विष्णुः ॥४०॥
तथापरे सिद्धगणा महर्षिभिर्ये वै समन्तादनु नीललोहितम् ।
नमस्कृतः प्राह शशाङ्कशेखरं कृतप्रणामं प्रहसन्निवात्मभूः ॥४१॥

अलंकृत था ॥ २९ ॥ वनैले हाथियोंके मस्तककी रगड़से घिसे हरिचन्दन वृक्षकी गन्धसे युक्त, मलयपवनके कारण वह वन बारम्बार यक्षपत्नियोंके मनोंको अत्यन्त मोहित कर रहा था ॥ ३० ॥ उस वनकी बावलियोंकी सीढ़ियाँ वैदूर्यमणिकी थीं। उनमें कमलोंकी पंक्तियाँ खिली भयी थीं। उन सरोवरोंपर कितने ही किम्पुरुष जी बहलानेके लिए आया करते थे। इस तरह उस सौगन्धिक वनकी शोभा निरखते हुए देवता कुछ और आगे बढ़े तो उन्हें एक वटवृक्ष दिखायी पड़ा ॥ ३१ ॥ वह वृक्ष सौ योजन ऊँचा तथा सब ओर पौन-पौन सौ अर्थात् पचहत्तर योजनतक अपनी लम्बी शाखाओंसे फैला था। उस वटवृक्षके चारों ओर निश्चल छाया विराज रही थी। उसमें किसी पक्षीका घोंसला भी नहीं था और उसके नीचे रहनेवालोंको आतपकष्ट नहीं हो पाता था ॥ ३२ ॥ हे विदुर! उस महायोगमय तथा मुमुक्षुओंके आश्रयणीय वटवृक्षके तले देवताओंने रोषविहीन कालकी भाँति शंकर-भगवानको बैठे देखा ॥ ३३ ॥ उन शान्तमूर्ति शंकरजीकी सनन्दन आदि शान्त सिद्धगण और यक्ष-राक्षसोंके अधिपति और उनके सखा स्वयं कुबेरजी सेवामें तत्पर थे ॥ ३४ ॥ समस्त जगत्के हितकारी श्रीशिवजी सारे जगत्के स्वामी हैं। अतएव प्रेमवश संसारका कल्याण करनेको विद्या, तप एवं समाधि आदि मार्गोंका आचरण किया करते हैं ॥ ३५ ॥ वे सन्ध्यासमयके मेघकी-सी कान्तियुक्त अपने शरीरपर भस्म, दण्ड, जटा तथा मृगचर्म आदि तपस्वियोंके योग्य चिह्न तथा चन्द्रमाकी कला धारण किये हुए थे ॥ ३६ ॥ उस समय कुशाके आसनपर विराजमान शंकरभगवान नारदजीके पूछनेपर सनातन ब्रह्मका उपदेश करते थे। उस समय अन्य सन्तजन भी एकाग्रचित्तसे उनका उपदेश सुननेमें लवलीन थे ॥३७॥ शंकरभगवान अपनी दायीं जाँघपर बायाँ चरण तथा बायें घुटने-पर हाथ रखे एवं कलाइयोंमें अक्षमाला धारण किये तर्कमुद्रासे सुशोभित हो रहे थे ॥३८॥ वे भगवान भूतनाथ बायीं भुजासे योगपट्टका आश्रय लेकर एकाग्रमनसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे। तब विचार-वानोंमें सर्वश्रेष्ठ शंकरभगवानको लोकपालों सहित मुनीश्वरोंने हाथ जोड़कर उनको प्रणाम किया ॥३९॥ उन्होंने देखा कि सब देवता और दैत्योंके अधिपति जिनके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं, उन महादेवजीने श्रीब्रह्माजीको उपस्थित देख आसनसे उठ तथा सिर झुकाकर इस तरह प्रणाम किया, जैसे वामनावतारके समय परमपूज्य विष्णुभगवानने कश्यपजीको अभिवादन किया था ॥ ४० ॥ उस समय

ब्रह्मोवाच

जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः । शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम् ॥४२॥
त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः । विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा ॥४३॥

त्वमेव धर्मार्थदुघाभिपत्तयै दक्षेण सूत्रेण ससर्जिथाध्वरम् ।
त्वयैव लोकेऽवसिताश्च सेतवो यान् ब्राह्मणाः श्रद्दधते धृतव्रताः ॥४४॥
त्वं कर्मणां मङ्गल मङ्गलानां कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।
अमङ्गलानां च तमिस्रमुल्बणं विपर्ययः केन तदेव कस्यचित् ॥४५॥
न वै सतां त्वच्चरणार्पितात्मनां भूतेषु सर्वेष्वभिपश्यतां तव ।
भूतानि चात्मन्यपृथग्दिदृक्षतां प्रायेण रोषोऽभिभवेद्यथा पशुम् ॥४६॥
पृथग्धियः कर्मदृशो दुराशयाः परोदयेनार्पितहृद्रुजोऽनिशम् ।
परान् दुरुक्तैर्वितुदन्त्यरुन्तुदास्तान् मा वधीद्दैववधान् भवद्विधः ॥४७॥
यस्मिन् यदा पुष्करनाभमायया दुरन्तया स्पृष्टधियः पृथग्दृशः ।
कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ॥४८॥
भवांस्तु पुंसः परमस्य मायया दुरन्तयास्पृष्टमतिः समस्तदृक् ।
तया हतात्मस्वनुकर्मचेतःस्वनुग्रहं कर्तुमिहार्हसि प्रभो ॥४९॥

भगवान नीलकण्ठके समीप जो अन्य सिद्ध तथा महर्षिजन बैठे हुए थे, उन सबके प्रणाम कर चुकनेके बाद श्रीब्रह्माजीने चन्द्रशेखर श्रीशंकरजीसे हँसते हुए इस प्रकार कहा ॥ ४१ ॥ श्रीब्रह्माजी कहने लगे— हे देव ! आप सारे संसारके स्वामी हैं । मैं आपको भली-भाँति जानता हूँ । आप इस संसारकी योनि-शक्ति अर्थात् प्रकृति और उसका बीज शिव यानी पुरुष इन दोनोंसे परे तथा भेदहीन सनातन ब्रह्म हैं ॥ ४२ ॥ हे भगवन् ! जैसे मकड़ी स्वयं जाल तानकर उसमें क्रीडा करती तथा अन्तमें अपनेहीमें समेट लेती है, वैसे ही आप भी अपने ही स्वरूप पुरुष तथा प्रकृतिसे संसारकी रचना, पालन तथा संहार किया करते हैं ॥ ४३ ॥ धर्म तथा अर्थ प्राप्त करानेवाले वेदकी रक्षा करनेको अपने ही तो दक्षको निमित्त बना करके यज्ञको प्रगट किया था । व्रतशील ब्राह्मण जिसका बड़ी श्रद्धासे पालन करते हैं, वह धर्म-मर्यादा भी तो आपहीकी निश्चित की हुई है ॥ ४४ ॥ हे मङ्गलमय महेश ! आप ही पुण्य कर्म करनेवालोंको स्वर्ग तथा मोक्षरूपी मङ्गलमय फल एवं पापकर्म करनेवालोंको नरकादि भयंकर गति प्रदान करते हैं । तब फिर कहीं-कहीं इस नियमके विपरीत बात होती क्यों देखी जाती है ? ॥ ४५ ॥ जो सत्पुरुषोंको अपनी अन्तरात्मा आपके चरणकमलोंमें समर्पित कर देते हैं, जो सब प्राणियोंमें आपको विराजमान देखते हैं, जो सब जीवोंको समान भावसे अपनेमें ही अध्यस्त मानते हैं, उन्हें क्रोध प्रायः पशुओंके समान अपने अधीन नहीं कर पाता ॥ ४६ ॥ भेदबुद्धि होनेके कारण कर्ममें ही जिनकी आस्था है, जिनका मन मैला है, जो दूसरोंका उत्कर्ष देखकर अहर्निश कुढ़ा करते हैं और जो अज्ञानी पुरुष अपने दुर्वचनों द्वारा दूसरोंके हृदयोंको विद्ध करते रहते हैं, उनपर विधाताकी मार पड़ती है । आप उन्हें नष्ट करनेका प्रयत्न न करें ॥ ४७ ॥ हे देव ! श्रीविष्णुभगवानकी प्रबल मायासे बुद्धि भ्रष्ट हो जानेपर भेददर्शी पुरुष जहाँ और जब साधुपुरुषोंका अपराध करते हैं, तब वे साधुजन सदा अपनी दयालुतासे उनपर कृपा ही करते रहते हैं । उस दुःखको दैवाधीन समझकर वे उनका अहित नहीं किया करते ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! आप सब कुछ जानते हैं, उन परमपुरुषकी दुरन्त माया आपकी बुद्धिका स्पर्श भी नहीं कर सकी है । अतएव जिनका मन उसके अधीन होकर कर्ममार्गमें आसक्त हो जाता है,

कुर्वध्वरस्योद्धरणं हतस्य भो त्वयासमाप्तस्य मनो प्रजापतेः।
न यत्र भागं तव भागिनो ददुः कुयज्विनो येन मखो निनीयते ॥५०॥
जीवताद्यजमानोऽयं प्रपद्येताक्षिणी भगः। भृगोः श्मश्रूणि रोहन्तु पूष्णो दन्ताश्च पूर्ववत् ॥५१॥
देवानां भग्नगात्राणामृत्विजां चायुधाश्मभिः। भवतानुगृहीतानामाशु मन्योऽस्त्वनातुरम् ॥५२॥
एष ते रुद्र भागोऽस्तु यदुच्छिष्टोऽध्वरस्य वै। यज्ञस्ते रुद्रभागेन कल्पतामद्य यज्ञहन् ॥५३॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे रुद्रसान्त्वनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता। अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति ॥१॥

श्रीमहादेव उवाच

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये। देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया ॥२॥
प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः। मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥३॥
पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक्। देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥४॥
बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः। भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुर्भृगुर्भवेत् ॥५॥

मैत्रेय उवाच

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम्। परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥६॥
ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः। भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः ॥७॥

उनपर कृपा करना आपका कर्तव्य है ॥ ४९ ॥ हे मननशील प्रभो ! आपके द्वारा विध्वस्त और अधूरा यह दक्षप्रजापतिका यज्ञ आप पूर्ण कर दें। जिसके निर्बुद्धि याजकोंने यज्ञभागके अधिकारी आपको यज्ञभागसे वञ्चित रक्खा, यद्यपि आपकी ही कृपासे सब यज्ञ सम्पन्न होते हैं। अब आप ऐसी कृपा करें कि जिससे यजमान दक्ष फिर जी जायँ। भगदेवको फिर नेत्र मिले, भृगुके दाढ़ी-मूँछ जम जाय और पूषाके दाँत फिर निकल आयें ॥ ५० ॥ ५१ ॥ हे मन्यो ! वीरभद्रके अस्त्र-शस्त्र तथा पत्थरोंकी वर्षासे जिन देवता तथा ऋत्विजोंके अंग-प्रत्यंग घायल हो गये हैं, वे आपकी कृपासे शीघ्र ही पुनः नीरोग हो जायँ ॥ ५२ ॥ हे रुद्रदेव ! यह यज्ञ पूर्ण हो जानेपर जो भी पदार्थ शेष बचेगा, वह आपका भाग होगा। हे यज्ञविध्वंसकारी महादेव ! आपके भागसे ही आज यह यज्ञ सम्पूर्ण हो जाय ॥५३॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी' भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

(दक्षके यज्ञका पूर्ण होना) मैत्रेयजी कहते हैं–हे महाबाहो विदुरजी ! ब्रह्माजीके स्तुति करनेके अनन्तर शंकरभगवानने प्रसन्नताके साथ हँसकर कहा, सुनो ॥ १ ॥ श्रीमहादेवजी कहने लगे—हे प्रजापते ! भगवानकी मायासे मोहित दक्ष सरीखे बालबुद्धिवाले मनुष्योंके अपराधको न मैं किसीसे कहता और न उसका स्मरण ही करता हूँ। उन्हें केवल सावधान करनेके लिए मैंने थोड़ा-सा दण्ड दे दिया था ॥ २ ॥ अच्छा, दक्षप्रजापतिका सिर जल गया है तो उसके बकरेका सिर लगा दिया जाय। भगदेव मित्रदेवताके नेत्रोंसे अपना यज्ञभाग देखें ॥३॥ पिसा हुआ अन्न खानेवाले पूषा देवता यजमानके दाँतोंसे अन्न खायँ तथा अन्य देवताओंके छिन्न-भिन्न अंग फिर दुरुस्त हो जायँ। क्योंकि उन्होंने यज्ञका शेष पदार्थ मेरा भाग नियत किया है ॥ ४ ॥ अध्वर्यु-ऋत्विक् आदिमेंसे जिनकी भुजाएँ टूट

विधाय कार्त्स्न्येन च तद्यदाह भगवान् भवः । सन्दधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥८॥
सन्धीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः । सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥९॥
तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः । शिवावलोकादभवच्छरद्ध्रद इवामलः ॥१०॥
भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः । औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया सम्परेतां सुतां स्मरन्॥११
कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः । शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥१२॥

दक्ष उवाच

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे दण्डस्त्वया मयि धृतो यदपि प्रलब्धः ।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥१३॥
विद्यातपोव्रतधरान् मुखतः स्म विप्रान् ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्राक् ।
तद्ब्राह्मणान् परम सर्वविपत्सु पासि पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥१४॥
योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां क्षितो दुरुक्तिविशिखैरगणय्य तन्माम् ।
अर्वाक् पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद् दृष्ट्याऽऽर्द्रया स भगवान् स्वकृतेन तुष्येत् ॥१५॥

मैत्रेय उवाच

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः । कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायर्त्विगादिभिः॥१६॥
वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः । पुरोडाशं निरवपन् वीरसंसर्गशुद्धये ॥१७॥

गयी हैं, वे अश्विनीकुमारकी भुजाओंसे और जिनके हाथ नष्ट हो चुके हैं वे पूषाके हाथोंसे अपना काम करें और भृगुऋषिके बकरेकी-सी दाढ़ी-मूँछें हो जायँ ॥ ५ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर! शंकरभगवानके वचन सुनकर सब लोग प्रसन्नचित्तसे 'साधु! साधु!' कहने लगे ॥ ६ ॥ तब सभी ऋषियों तथा सब देवताओंने श्रीमहादेवजीको उस यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये निमन्त्रित किया। सब लोग श्रीशंकर तथा ब्रह्माजीको साथ लेकर उसी यज्ञशालाको गये ॥ ७ ॥ वहाँपर श्रीमहादेवजीके कथनानुसार सब कार्य भलीभाँति सम्पन्न करके उन्होंने दक्षके धड़में यज्ञपशु अर्थात् बकरेका मस्तक जोड़ दिया ॥ ८ ॥ वह सिर जुड़ जानेपर शंकरभगवानकी दृष्टि पड़ते ही दक्ष तत्काल ऐसे जी उठे, जैसे सोकर उठे हों और उन्होंने अपने सामने श्रीशिवजीको उपस्थित देखा ॥ ९ ॥ पहले दक्षका हृदय शंकरद्रोहरूपी कालिमासे काला हो रहा था, वह उनका दर्शन करनेसे शरत्कालके सरोवरकी भाँति निर्मल हो गया ॥ १० ॥ उन्होंने श्रीशिवजीकी स्तुति करनेकी इच्छा की, किन्तु मृतकन्या (सती) का स्मरण हो आनेसे प्रेम तथा उत्कण्ठासे वे वैसा नहीं कर पाये ॥ ११ ॥ तदनन्तर प्रेमसे विह्वल होकर परम बुद्धिमान् दक्षप्रजापतिने अपना मन स्थिर किया और निष्कपट भावसे इस प्रकार स्तुति आरम्भ की ॥ १२ ॥ दक्ष बोले—हे भगवन्! मैंने आपका बहुत बड़ा अपराध किया था, उसके बदले दण्ड देकर आपने मुझपर बड़ी भारी कृपा की है। आप और श्रीविष्णुभगवान ब्राह्मणोंकी भी अवज्ञा नहीं करते, तब फिर व्रतशीलोंके विषयमें क्या कहना है ? ॥ १३ ॥ हे विभो! आपने वेद तथा आत्मतत्त्वकी रक्षा करनेके लिये ही सर्वप्रथम अपने मुखसे विद्या, तप तथा व्रत धारण करनेवाले ब्राह्मणोंकी रचना की थी। ग्वाला जैसे दण्ड लेकर गौओंकी रखवाली करता है, वैसे ही आप सब विपत्तियोंसे ब्राह्मणोंकी रक्षा किया करते हैं ॥ १४ ॥ आपके तत्त्वसे अनभिज्ञ मैंने भरी सभामें दुर्वचनरूपी बाणोंसे आपको बींधा था, किन्तु आपने उस अपराधको अकिंचन समझकर महापुरुषोंकी निन्दाके महान् अपराधके कारण अपनी कृपादृष्टिसे नरकादि अधोलोकोंमें गिरनेसे मुझे बचा लिया। अतएव आप अपनी उदारताके कारण ही मुझपर प्रसन्न हो जायँ ॥ १५ ॥ श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे विदुरजी! इस तरह शंकरभगवानसे अपना अपराध क्षमा कराके दक्षप्रजापतिने ब्रह्माजीके कहनेसे उपाध्याय, ऋत्विक् तथा अग्नियों सहित फिर अपना यज्ञकार्य आरम्भ किया ॥ १६ ॥ इस समय ब्राह्मणोंने यज्ञसम्पन्न करने

अध्वर्युणाऽऽत्तहविषा यजमानो विशाम्पते । धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥१८॥
तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश । मुष्णंस्तेज उपानीतस्तार्क्ष्येण स्तोत्रवाजिना ॥१९॥

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिचर्मव्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः ॥२०॥
वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदारहासावलोककलया रमयंश्च विश्वम् ।
पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः ॥२१॥

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः । प्रणेमुः सहसोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः ॥२२॥
तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः । मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम् ॥२३॥
अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः । यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम् ॥२४॥

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।
सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा गृणन् प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः ॥२५॥

दक्ष उवाच

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।
तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्यामास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥२६॥

और भूत-प्रेतादिके संसर्गकी शुद्धिके लिये विष्णुसम्बन्धी त्रिकपालनामक पुरोडाशका हवन किया ॥१७॥ हे विदुरजी ! वह पुरोडाशरूपी हवि हाथमें लेकर खड़े अध्वर्युके साथ यजमान दक्षने ज्यों ही शुद्धचित्तसे परायणका ध्यान किया, त्यों ही वे प्रभु अपने आप प्रकट हो गये ॥१८॥ भगवानने दसों दिशाओंको देदीप्यमान करनेवाले अपने तेजसे सब सभासदोंके नेत्र चौंधिया दिये । उस समय वे उन गरुड़पर सवार थे और उनके पंखोंसे वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि निकल रही थी ॥ १९ ॥ उनका श्याम वर्ण था, उनके कटिप्रदेशमें सुवर्णकी करधनी सुशोभित थी, उनके सिरपर सूर्यकी भाँति देदीप्यमान मुकुट विराज रहा था, उनका मुखकमल भौंरोंके सदृश नीली अलकावली तथा कान्तिमय कुण्डलोंसे सुशोभित था और वे अपनी सुवर्णभूषण-भूषित आठों भुजाओंमें शंख, पद्म, चक्र, बाण, धनुष, गदा, खड्ग तथा चर्म यानी ढाल धारण किये हुए फूले कनेरके वृक्षसरीखे दीखते थे ॥ २० ॥ उनके हृदयमें लक्ष्मीजी और गलेमें वनमाला सुशोभित थी । वे अपने उदार हास्य और लीलामय कटाक्षसे समस्त विश्वको आनन्दित कर रहे थे । उनके इधर-उधर अनेक पार्षद राजहंसके समान श्वेत व्यजन तथा श्वेत चँवर ढुला रहे थे और उनके सिरपर चन्द्रमाके समान धवल छत्र सुशोभित हो रहा था ॥ २१ ॥ भगवानको समक्ष आये देखकर ब्रह्मा, इन्द्र तथा महादेवजी आदि सब देवताओंने एकाएक उठकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २२ ॥ उस समय उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी और जिह्वा गद्गद हो गयी और उन्होंने तनिक विस्मित हो एवं श्रीअधोक्षजभगवानको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥२३॥ यद्यपि उन भगवानकी महिमाके निकट ब्रह्मादिकोंकी बुद्धि भी नहीं पहुँच पाती तो भी कृपापूर्वक शरीर धारण करके प्रकट भगवानकी वे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करने लग गये ॥२४॥ पहले दक्ष-प्रजापति पूजाकी उत्तम सामग्री हाथमें लेकर नन्द-सुनन्द आदि पार्षदोंसे घिरे हुए प्रजापतियोंके परम गुरु भगवान यज्ञेश्वरके निकट गये और अतिशय आनन्दित होकर बड़े विनीतभावसे इस प्रकार उनकी स्तुति करने लगे ॥२५॥ दक्ष बोले—हे भगवन् ! आप नित्य शुद्ध हैं, अपने स्वरूपमें आप बुद्धिकी जाग्रदादि सभी अवस्थाओंसे रहित, चिन्मात्र एक तथा अभय हैं । आप अपनी मायाका तिरस्कार करके सदा स्वतन्त्र रहते हैं, फिर भी लीलाके लिए उसे स्वीकार करके जीवभावको प्राप्त होकर साधारण

ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्कर्मण्यवग्रहधियो भगवन् विदामः।
धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदोव्यवस्थाः ॥२७॥

सदस्या ऊचुः

उत्पत्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्रव्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः।
द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥२८॥

रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥२९॥

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहृतात्मबोधा ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः।
नात्मन् श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं सोऽयं प्रसीदतु भवान् प्रणतात्मबन्धुः ॥३०॥

ब्रह्मोवाच

नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थभेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत्।
ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो मायामयाद् व्यतिरिक्तो यतस्त्वम् ॥३१॥

इन्द्र उवाच

इदमप्यच्युत विश्वभावनं वपुरानन्दकरं मनोदृशाम्।
सुरविद्विट्क्षपणैरुदायुधैर्भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥३२॥

अज्ञानी पुरुषके समान दीखने लग जाते हैं ॥ २६ ॥ ऋत्विजोंने कहा—हे निरञ्जन ! हे भगवन् ! हम-लोग रुद्रदेवके अंशरूपी नन्दीश्वरके शापवश आपका तत्त्व नहीं जान पाये। हमारी बुद्धि केवल कर्म-काण्डमें ही फँसी हुई है। जिसमें 'अमुक कर्मका अमुक देवता है' यह व्यवस्था की गयी है। उस धर्मके प्रवर्त्तक ऋक्, यजुः तथा साम इन तीन वेदों द्वारा प्रतिपादित 'यज्ञ' को ही हम आपका स्वरूप मानते हैं ॥ २७ ॥ सदस्य बोले—हे शरणदाता ! विविध प्रकारके क्लेशोंके कारण अतिशय दुर्गम और कालरूपी भयङ्कर सर्पसे अध्यस्त, नाना प्रकारके द्वन्द्वरूप गड्ढोंसे पूर्ण, खलजनरूपी वन्य पशुओंके भयसे आक्रान्त तथा शोकरूपी धधकते दावानलसे भयंकर तथा आश्रयविहीन संसारमार्गमें यदि अज्ञानी पुरुष विविध कामनाओंके वशीभूत होकर मृगतृष्णाके सदृश विषयोंके लिये देह-गेहका बहुत बड़ा भार सिरपर लादे जा रहे हैं, वे भला आपकी चरणशरणमें कब प्राप्त होंगे ? ॥ २८ ॥ रुद्रभगवान बोले—हे वरदायक ! इस संसारमें सब पुरुषार्थोंकी प्राप्तिके साधन तथा आसक्तिहीन मुनिजनोंके द्वारा अतिशय आदरपूर्वक पूजे जाने योग्य आपके चरणकमलोंमें दत्तचित्त रहनेसे यदि अज्ञानी लोग मुझे आचारभ्रष्ट कहते हैं तो कहा करें, आपके अत्यन्त अनुग्रहसे मैं उनके बकवासको कुछ नहीं समझता ॥२९॥ भृगुने कहा—हे परमात्मन् ! आपकी गहन मायाके कारण जिनका आत्मज्ञान नष्ट हो चुका है, अज्ञानरूपी निद्रामें सोये हुए वे ब्रह्मादिक शरीरी भी अपने रूपमें स्थित आपके सच्चे स्वरूपको अभीतक नहीं जान पाये। आप शरणागतोंके प्रिय आत्मा तथा बन्धु हैं। अतएव आप मुझपर प्रसन्न हों ॥ ३० ॥ ब्रह्माजी कहते हैं—हे प्रभो ! सब पदार्थोंका पृथक्-पृथक् ज्ञान रखनेवाली इन्द्रियोंके द्वारा पुरुष जो कुछ भी देखता है, वही आपका स्वरूप नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान, शब्दादि विषय तथा श्रोत्रादि इन्द्रियोंके आश्रयरूपी आप सब मायिक पदार्थोंसे पृथक् हैं ॥ ३१ ॥ इन्द्र बोले—हे अच्युत ! आपकी आठों भुजाओंमें देवद्रोहियोंको नष्ट करनेवाले आयुध विद्यमान रहते हैं। अतएव आपका यह

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।
तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥३३॥

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन् विचेष्टितं यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।
विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं न मन्यते स्वयमनुवर्ततीं भवान् ॥३४॥

सिद्धा ऊचुः

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।
तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं न निष्क्रामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥३५॥

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।
त्वामृतेऽधीश नाङ्गैर्मखः शोभते शीर्षहीनः कबन्धो यथा पूरुषः ॥३६॥

लोकपाला ऊचुः

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन दृश्यम् ।
माया ह्येषा भवदीया हि भूमन् यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः ॥३७॥

योगेश्वरा ऊचुः

प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो विश्वात्मनीक्षेन्न पृथग्य आत्मनः ।
अथापि भक्त्येशतयोपधावतामनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥३८॥

विश्वभावन स्वरूप हमारे मन तथा नेत्रोंको परम आनन्ददायक प्रतीत होता है ॥ ३२ ॥ यज्ञपत्नियोंने कहा—हे भगवन्! आपके पूजनके निमित्त ब्रह्माजीके द्वारा रचा हुआ यह यज्ञ शंकरभगवानने दक्षपर कुपित होनेके कारण नष्ट कर दिया था। हे यममूर्ते! श्मशानभूमिके सदृश उत्सवहीन उस यज्ञको आप अपने कमलनयनोंसे निहारकर पवित्र कर दीजिए ॥३३॥ ऋषि कहने लगे—हे भगवन्! आपकी लीला बड़ी अद्भुत है। क्योंकि आप सब कर्म करते हुए भी उससे असंग रहा करते हैं। अन्य लोग महान् वैभव पानेके लिए जिन लक्ष्मीजीकी उपासना किया करते हैं, वे स्वयं आपकी सेवामें निरत रहती हैं, तो भी आप कभी उनका मान नहीं करते ॥ ३४ ॥ सिद्धजन बोले—हे प्रभो! विविध प्रकारके क्लेशरूपी दावानलसे दग्ध हमारा मनरूपी हाथी अतिशय तृषित होकर आपकी कथारूपी निर्मल अमृत-नदीमें घुसकर उसमें गोता लगाये बैठा हुआ है। वहाँ जैसे ब्रह्मानन्दमें लीन हो जानेके कारण उसे न तो संसाररूपी दावानलका ही स्मरण रहता है और न वह उस नदीसे बाहर ही निकल पाता है ॥ ३५ ॥ यजमानपत्नियें बोलीं—हे ईश! आप अच्छे आये। मैं आपको प्रणाम करती हूँ। मुझपर आप प्रसन्न हों और हे लक्ष्मीपते! अपनी प्रिय लक्ष्मीजीके सहित आप हमारी रक्षा करें। हे यज्ञेश्वर! जैसे सिरके बिना मनुष्यका धड़ शोभित नहीं होता, उसी तरह आपके बिना सब अङ्गोंसे पूर्ण होनेपर भी यज्ञकी शोभा नहीं हुआ करती ॥ ३६ ॥ लोकपालोंने कहा—हे प्रभो! जिनकी सत्ताके कारण सारा जगत् प्रतीत हो रहा है, वे आप सबके अन्तःकरणोंके साक्षीस्वरूप हैं। मायिक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली इन नेत्रादि इन्द्रियोंसे क्या हम आपको कभी देख पाये हैं? हे भूमन्! हमें जो आप पाँच भूतोंसे अलग छठें जीवरूपमें दीखते हैं, यह भी आपकी माया ही है ॥ ३७ ॥ योगेश्वर बोले—हे प्रभो! जो प्राणी आप विश्वात्माको अपनेसे पृथक् नहीं देखते, उनसे अधिक प्रिय आपको कोई भी नहीं होता। फिर भी हे भक्तवत्सल! आपको अनन्यभक्तिके साथ भजनेवाले हमलोगोंपर आप कृपा करें ॥ ३८ ॥

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो बहुभिद्यमानगुणयाऽऽत्ममायया ।
रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये । निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च ॥४०॥

अग्निरुवाच

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।
तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥४१॥

देवा ऊचुः

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं त्वमेवाद्यस्तस्मिन् सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।
पुमान् शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः स एवाद्याक्ष्णोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥४२॥

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमंस्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥४३॥

विद्याधरा ऊचुः

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन् कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः ।
क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत् ॥४४॥

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।
त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥४५॥

जिसके गुण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके निमित्त विभिन्न रूप धारण करते हैं, उस अपनी मायाके बलसे आपने ब्रह्मा आदि अपने विविध रूप धारण किये हैं। लेकिन अपने स्वरूपमें आप भ्रमवश भासनेवाले सब गुणोंसे रहित हैं। इस प्रकारके आपको हमारा प्रणाम है ॥ ३९ ॥ ब्रह्माजी बोले—धर्मादिकी उत्पत्तिके निमित्त शुद्धसत्त्वका आश्रय लेनेवाले एवं जिनके स्वरूपको मैं तथा अन्य ब्रह्मादिक देवता भी नहीं जान पाते, उन निर्गुणरूप आपको प्रणाम है ॥ ४० ॥ अग्निदेवने कहा—जिनके तेजसे प्रज्वलित होकर मैं घृतमिश्रित हविको देवताओंके समीप पहुँचाता हूँ, उन 'आश्रावय' 'अस्तु' 'श्रौषट्' 'यज' 'ये यजामहे' तथा 'वषट्' इन पाँच मन्त्रोंसे भली-भाँति पूजित अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और साम, इन पाँच रूपोंयुक्त यज्ञरक्षक भगवान महापुरुषको मेरा प्रणाम है ॥ ४१ ॥ देवता बोले—हे देव ! पूर्वकल्पके अन्तमें आप आदिपुरुष ही अपना कार्यरूपी यह जगत् अपने उदरमें डालकर प्रलयकालके जलमें शेषनागकी सेजपर सोते हैं। सिद्धगण भी अपने हृदयमें आपके ही आध्यात्मिक स्वरूपका ध्यान करते हैं। वही आप आज हमारे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतएव हे प्रभो ! आप हम दासोंकी रक्षा करें ॥ ४२ ॥ गन्धर्व बोले—हे देव ! मरीचि आदि ऋषि तथा ये ब्रह्मा, इन्द्र एवं रुद्र आदि देवता आपके अंशके भी अंश माने जाते हैं। हे विभूमन् ! हे नाथ ! यह सारा विश्व जिनके खिलौनोंकी पिटारीके सदृश है, उन आपको हम सदा प्रणाम करते हैं ॥ ४३ ॥ विद्याधर कहने लगे—हे प्रभो ! मनुष्य, धर्मादि चार पदार्थोंकी प्राप्तिके साधनस्वरूप यह शरीर पाकर भी आपकी मायासे मोहित इस शरीरमें मैं तथा मेरापनका अभिमान करता है और वह दुर्बुद्ध अपने आत्मीयजनोंके उपेक्षा करनेपर भी असत् विषयोंकी लालसा किया करता है, किन्तु जो लोग आपके कथामृतका सेवन करते हैं, वे अपने अन्तःकारणका मोह त्याग देते हैं ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण कहते

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा।
स्तूयमानो नदँल्लीलया योगिभिर्व्युज्जहर्थ त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥४६॥
स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम्।
कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥४७॥

मैत्रेय उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्रावमर्शितम्। कीर्त्यमाने हृषीकेशे सन्निन्ये यज्ञभावने ॥४८॥
भगवान् स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक्। दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥४९॥

श्रीभगवानुवाच

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥५०॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज। सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ५१
तस्मिन् ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि। ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥५२॥
यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्। पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥५३॥
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥५४॥

मैत्रेय उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम्। अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत् ॥५५॥

हैं— हे भगवन्! आप स्वयं यज्ञ हैं, आप ही हवि, आप ही अग्नि और आप ही मन्त्र हैं, आप ही समिधा, कुशा तथा यज्ञके पात्र हैं। आप ही सदस्य, ऋत्विज, यजमान-दम्पति, देवता, अग्निहोत्र, स्वधा, सोम, घृत तथा बलिपशु हैं ॥ ४५ ॥ हे त्रयीमूर्ति! हे यज्ञक्रतु! आपने ही एक विशालकाय शूकरका रूप धारण करके योगियोंके द्वारा स्तूयमान होते और अत्यन्त गर्जन करते हुए लीलासे ही आपने इस पृथ्वीको अपनी डाढ़ोंपर उठाकर इस तरह जलसे बाहर निकाल लिया, जैसे कोई गजराज कमलिनीको उखाड़ लेता है ॥ ४६ ॥ हे यज्ञेश! जिनके नामका मनुष्योंके द्वारा कीर्तन करनेपर यज्ञके सब विघ्न दूर हो जाया करते हैं, उन आपको मेरा नमस्कार है। उस समय हमारे यज्ञरूपी सभी सत्कर्म नष्ट हो गये थे। अतएव हम आपके दर्शनके इच्छुक थे। सो अब आप हमपर प्रसन्न हों ॥४७॥ श्री मैत्रेयजी कहने लगे—हे भद्र! यज्ञरक्षक हृषीकेश भगवानकी इस तरह स्तुति हो चुकनेके बाद परम चतुर दक्षने रुद्रके पार्षद वीरभद्रके द्वारा विध्वंस किये हुए यज्ञको फिरसे आरम्भ कर दिया ॥ ४८ ॥ हे अनघ! सर्वान्तर्यामी तथा सर्वभोक्ता विष्णुभगवानने अपने त्रिकपाल पुरोडाशरूपी भागसे तृप्त होकर यज्ञको सम्बोधन करके कहा ॥ ४९ ॥ श्रीभगवान कहने लगे—हे दक्ष! सारे संसारका परम कारण, सबकी आत्मा, ईश्वर, साक्षी, स्वयंप्रकाश तथा भेदभावसे रहित मैं ही ब्रह्मा और शिव हूँ ॥ ५० ॥ हे द्विज! मैंने ही अपनी त्रिगुणात्मिका मायाका आश्रय लेकर जगत्की रचना, पालन तथा संहार करनेके कारण कर्मके अनुरूप ब्रह्मा, विष्णु और शिव, ये तीन नाम धारण कर रक्खे हैं ॥५१॥ अज्ञ जीव उस सर्वान्तर्यामी केवल तथा अद्वितीय ब्रह्ममें ही ब्रह्मा, शिव तथा अन्य सब जीवोंको भेदभावसे देखता है ॥ ५२ ॥ जैसे पुरुष अपने मस्तक और हाथ आदि अंगोंमें कभी 'ये अन्य हैं' ऐसी बुद्धि नहीं करता। वैसे ही मेरा भक्त सभी प्राणियोंमें अन्य बुद्धि नहीं किया करता ॥ ५३ ॥ हे ब्रह्मन्! जो वस्तुतः एक किन्तु कार्यभेदसे तीन रूपके हैं, उन ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवमें जो पुरुष कुछ भी भेदभाव नहीं रखता, वह शान्ति पाता है ॥ ५४ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार भगवानके आज्ञा देनेपर प्रजापतियोंके अधिपति दक्षने उनका यज्ञके द्वारा पूजन करके अङ्ग और प्रधान दोनों तरहसे सब देवताओंका पूजन किया ॥ ५५ ॥

रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः । कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि ।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः ॥५६॥
तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे । धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः ॥५७॥
एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम् । जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम ॥५८॥
तमेव दयितं भूय आवृङ्क्ते पतिमम्बिका । अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम् ॥५९॥
एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः । श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः ॥६०॥
इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् ।
यो नित्यदाऽऽकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद्धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दक्षयज्ञसन्धानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

सनकाद्या नारदश्च ऋभुर्हंसोऽरुणिर्यतिः । नैते गृहान् ब्रह्मसुता ह्यावसन्नूर्ध्वरेतसः ॥१॥
मृषाधर्मस्य भार्याऽऽसीद्दम्भं मायां च शत्रुहन् । असूत मिथुनं तत्तु निर्ऋतिर्जगृहेऽप्रजः ॥२॥
तयोः समभवल्लोभो निकृतिश्च महामते । ताभ्यां क्रोधश्च हिंसा च यद्दुरुक्तिः स्वसा कलिः ३
दुरुक्तौ कलिराधत्त भयं मृत्युं च सत्तम । तयोश्च मिथुनं जज्ञे यातना निरयस्तथा ॥४॥
संग्रहेण मयाऽऽख्यातः प्रतिसर्गस्तवानघ । त्रिः श्रुत्वैतत्पुमान् पुण्यं विधुनोत्यात्मनो मलम्॥५

तब एकाग्रचित्त होकर दक्षने भगवान शंकरका उनके भागसे पूजन किया। तदनन्तर उदवसानके कर्मसे सोमपायी एवं इतर देवताओंका भी पूजन किया। तत्पश्चात् ऋत्विजोंके साथ अवभृथस्नान किया ॥ ५६ ॥ तब जिन्हें अपने पुरुषार्थसे ही सब ऐश्वर्य प्राप्त था, उन दक्षप्रजापतिको सब देवता 'तुम्हारी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहे' ऐसा आशीर्वाद देकर स्वर्गलोकको पयान कर गये ॥ ५७ ॥ हे विदुर ! सुना जाता है कि दक्षकी कन्या सतीने अपना पूर्वशरीर इस तरह त्यागकर फिर हिमालयकी भार्या मेनाके गर्भसे जन्म लिया ॥ ५८ ॥ जैसे प्रलयकालमें लीन शक्ति फिर ईश्वरका आश्रय लेती है, वैसे ही अनन्यपरायण श्रीअम्बिका देवीने उस जन्ममें भी अपने एकमात्र आश्रय तथा प्रियतम भगवानशंकरको ही अपना पति चुना ॥ ५९ ॥ हे विदुर ! दक्षयज्ञका विध्वंस करनेवाले शिवजीका यह चरित्र मैंने बृहस्पतिजीके शिष्य परम भक्त श्रीउद्धवजीसे सुना था ॥ ६० ॥ हे विदुर ! श्रीशिवजीका यह पवित्र चरित्र यश तथा आयु बढ़ाने और पापपुञ्ज नष्ट करनेवाला है। जो पुरुष नित्य भक्तिभावसे इसका श्रवण तथा कीर्तन करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ६१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कंधे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(बालक ध्रुवका वनगमन) श्रीमैत्रेयजी कहने लगे—हे विदुर ! सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि तथा यति—ब्रह्माजीके ये बालब्रह्मचारी पुत्र गृहस्थ नहीं बने थे ॥ १ ॥ ब्रह्माजीके एक पुत्र अधर्मकी मृषा नामकी भार्या थी। हे शत्रुसूदन ! उसके दम्भनामका पुत्र और माया नामकी कन्या उत्पन्न हुई। उन दोनों पुत्र-कन्याको निर्ऋति ले गया। क्योंकि उसके कोई सन्तान नहीं हुई थी ॥ २ ॥ हे महामते ! इनसे लोभ तथा निकृति अर्थात् शठताकी उत्पत्ति हुई। उनसे क्रोध तथा हिंसा और उनसे कलह और दुरुक्तिकी उत्पत्ति हुई ॥ ३ ॥ हे साधुश्रेष्ठ ! दुरुक्तिसे कलिने भय तथा मृत्युको उत्पन्न किया। उन दोनोंके संयोगसे यातना तथा निरयका प्रादुर्भाव हुआ ॥ ४ ॥ हे अनघ ! संक्षेपमें मैंने

अथातः कीर्तये वंशं पुण्यकीर्तेः कुरूद्वह । स्वायम्भुवस्यापि मनोर्हरेरंशांशजन्मनः ॥६॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ शतरूपापतेः सुतौ । वासुदेवस्य कलया रक्षायां जगतः स्थितौ ॥७॥
जाये उत्तानपादस्य सुनीतिः सुरुचिस्तयोः । सुरुचिः प्रेयसी पत्युर्नेतरा यत्सुतो ध्रुवः ॥८॥
एकदा सुरुचेः पुत्रमङ्कमारोप्य लालयन् । उत्तमं नारुरुक्षन्तं ध्रुवं राजाभ्यनन्दत ॥९॥
तथा चिकीर्षमाणं तं सपत्न्यास्तनयं ध्रुवम् । सुरुचिः शृण्वतो राज्ञः सेर्ष्यमाहातिगर्विता ॥१०॥
न वत्स नृपतेर्धिष्ण्यं भवानारोढुमर्हति । न गृहीतो मया यत्त्वं कुक्षावपि नृपात्मज ॥११॥
बालोऽसि बत नात्मानमन्यस्त्रीगर्भसम्भृतम् । नूनं वेद भवान् यस्य दुर्लभेऽर्थे मनोरथः ॥१२॥
तपसाऽऽराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे । गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम् ॥१३॥

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्याः स दुरुक्तिविद्धः श्वसन् रुषा दण्डहतो यथाहिः ।
हित्वा मिषन्तं पितरं सन्नवाचं जगाम मातुः प्ररुदन् सकाशम् ॥१४॥
तं निःश्वसन्तं स्फुरिताधरोष्ठं सुनीतिरुत्सङ्ग उदूह्य बालम् ।
निशम्य तत्पौरमुखान्नितान्तं सा विव्यथे यद्गदितं सपत्न्या ॥१५॥
सोत्सृज्य धैर्यं विललाप शोकदावाग्निना दावलतेव बाला ।
वाक्यं सपत्न्याः स्मरती सरोजश्रिया दृशा बाष्पकलामुवाह ॥१६॥

तुम्हें प्रलयके कारणस्वरूप अधर्मका वंश सुना दिया । जो इसे तीन बार सुनता है, वह मनुष्य अतिशय पुण्यवान् हो जाता है और उसके चित्तकी सब मलिनता दूर हो जाती है ॥ ५ ॥ हे कुरुकुलनन्दन ! अब मैं भगवानके अंशसे उत्पन्न पवित्रकीर्ति महाराज स्वायम्भुव मनुके वंशका विस्तार बताता हूँ ॥ ६ ॥ रानी शतरूपाके पति महाराज स्वायम्भुवके प्रियव्रत तथा उत्तानपाद ये दो बेटे थे । ये दोनों ही भगवान वासुदेवकी कलासे उत्पन्न हुए थे । इस कारण वे सारे संसारकी रक्षामें तत्पर रहा करते थे ॥ ७ ॥ इनमें उत्तानपादके सुनीति तथा सुरुचि नामकी दो स्त्रियाँ थीं । सुरुचि राजाको विशेष प्रिय थी । जिसका पुत्र ध्रुव था, उस सुनीतिमें राजाका अनुराग बिल्कुल नहीं था ॥ ८ ॥ एक दिनकी बात है कि राजा उत्तानपाद सुरुचिके बेटे उत्तमको गोदमें लिये खेला रहे थे । उसी समय ध्रुवने भी गोदमें बैठनेकी इच्छा की, किन्तु राजाने उसका तनिक भी सम्मान नहीं किया ॥ ९ ॥ उस अत्यन्त गर्वीली रानी सुरुचिने सौतके पुत्र ध्रुवको राजाकी गोदमें बैठनेको उत्सुक देख राजाके समक्ष ही उससे ईर्ष्याके साथ कहा—॥ १० ॥ हे वत्स ! तू राजसिंहासनपर बैठनेका अधिकारी नहीं है । क्योंकि राजपुत्र होनेपर भी मैंने तुझे अपनी कोखमें नहीं धारण किया था ॥ ११ ॥ तू अभी बच्चा है, तू नहीं जानता कि तूने किसी दूसरी स्त्रीके गर्भसे जन्म लिया है । तब तू ऐसा दुर्लभ मनोरथ क्यों करता है ॥ १२ ॥ तुझे यदि राजसिंहासनकी अभिलाषा हो तो तपस्या करके परम-पुरुष नारायणकी उपासना कर और उनकी कृपासे फिर मेरे गर्भसे उत्पन्न हो ॥ १३ ॥ मैत्रेयजी कहते हैं—अपनी माताकी सौतके दुर्वचनोंसे विद्ध होकर दण्डाहत सर्पके सदृश क्रोधसे दीर्घ निःश्वास लेता हुआ बालक ध्रुव अपने पिताको चुपचाप सोच-विचारमें पड़ा छोड़कर रोता-रोता अपनी माताके पास चला गया ॥ १४ ॥ उस समय बालक ध्रुवके ओंठ फड़क रहे थे और वह सिसक-सिसककर रो रहा था । माता सुनीतिने झपटकर उसे गोदमें ले लिया । नागरिकोंके मुखसे अपनी सौतका कथन सुनकर उसे बड़ा कष्ट हुआ ॥ १५ ॥ अपनी सौतके वचनोंका स्मरण करके सुनीति दावानलसे दग्ध लताकी भाँति शोकसे सन्तप्त होकर मुरझा गयी । उसके कमलसदृश नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह

दीर्घं श्वसन्ती वृजिनस्य पारमपश्यती बालकमाह बाला ।
मामङ्गलं तात परेषु मंस्था भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तम् ॥१७॥
सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे यद् दुर्भगाया उदरे गृहीतः ।
स्तन्येन वृद्धश्च विलज्जते यां भार्येति वा वोढुमिडस्पतिर्माम् ॥१८॥
आतिष्ठ तत्तात विमत्सरस्त्वमुक्तं समात्रापि यदव्यलीकम् ।
आराधयाधोक्षजपादपद्मं यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा ॥१९॥
यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्वविभावनायात्तगुणाभिपत्तेः ।
अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम् ॥२०॥
तथा मनुर्वो भगवान् पितामहो यमेकमत्या पुरुदक्षिणैर्मखैः ।
इष्ट्वाभिपेदे दुरवापमन्यतो भौमं सुखं दिव्यमथापवर्ग्यम् ॥२१॥
तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम् ।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम् ॥२२॥
नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद् दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन ।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया ॥२३॥

मैत्रेय उवाच

एवं सञ्जल्पितं मातुराकर्ण्यार्थागमं वचः । सन्नियम्यात्मनाऽऽत्मानं निश्चक्राम पितुः पुरात् ॥२४॥
नारदस्तदुपाकर्ण्य ज्ञात्वा तस्य चिकीर्षितम् । स्पृष्ट्वा मूर्धन्यघघ्नेन पाणिना प्राह विस्मितः ॥२५॥

चली और वह अधीर होकर रोने लगी ॥ १६ ॥ उस दुखियाको अपने दुःखसमुद्रका अन्त नहीं दीखा। तब उसने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए अपने बालक ध्रुवसे कहा—बेटा! तू दूसरोंके लिये किसी तरह अमङ्गलकी बात न सोच। जो मनुष्य दूसरोंको दुःख देता है, उसे स्वयं उसका फल भोगना पड़ जाता है ॥ १७ ॥ तुम्हारी माता सुरुचिने जो कुछ कहा है, वह ठीक है। जिसे महाराज अपनी भार्या अथवा दासी माननेमें भी लज्जित होते हैं, तू उसी मुझ मन्दभागिनी माताके गर्भसे जनमा और उसीके स्तनोंका दूध पीकर पला है ॥ १८ ॥ हे तात! यदि तुझे उत्तमके सदृश राजसिंहासनपर बैठनेकी अभिलाषा हो तो तेरी सौतेली माताने जो यथार्थ बात कही है, तू द्वेषभाव छोड़कर उसीका पालन कर और श्रीअधोक्षज (विष्णु) भगवानके चरणकमलोंकी सेवा कर ॥ १९ ॥ देख बेटे! समस्त जगत्का पालन करनेको शुद्ध सत्त्वगुणमय शरीर धारण करनेवाले उन भगवानके चरणकमलोंकी आराधना करनेसे ही श्रीब्रह्माजीको वह सर्वोत्तम पद मिला है। मन और प्राणोंको जीतनेवाले मुनिजन भी उनकी वन्दना करते रहते हैं ॥ २० ॥ तुम्हारे दादा स्वायम्भुव मनुने भी एकाग्रचित्तसे उनका बहुत-सी दक्षिणायुक्त यज्ञोंके द्वारा यजन करके दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य भौम, दिव्य तथा मोक्ष इन तीन तरहके सुख प्राप्त किये थे ॥ २१ ॥ अतएव हे वत्स! मुमुक्षुजन जिनके चरणकमलोंके मार्गको सर्वदा खोजा करते हैं, तू भी उन्हीं भक्तवत्सल कृष्णभगवान श्रीहरिकी शरणमें चला जा और स्वधर्मपालनसे पवित्र अपने अनन्य भावनायुक्त चित्तमें उन पुरुषोत्तमको विराजमान करके उन्हींका ध्यान कर ॥ २२ ॥ हे पुत्र! मुझे तो उन कमलदलके सदृश नेत्रोंवाले भगवानको छोड़कर और कोई भी तेरा दुःख दूर करनेवाला नहीं दीखता। ब्रह्मादिकदेवताओं द्वारा ढूँढ़ी जानेवाली श्रीलक्ष्मीजी भी हाथमें कमल लिये सदा उसे खोजती रहती हैं ॥ २३ ॥ श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी! इस तरह अपनी माताका कामनापूर्ण करनेवाला वचन सुनकर ध्रुवने अपनी बुद्धिसे चित्त शान्त किया और पिताके नगरसे निकलकर बाहर चले आये ॥ २४ ॥ ध्रुवके गमनका

अहो तेजः क्षत्रियाणां मानभङ्गममृष्यताम्। बालोऽप्ययं हृदा धत्ते यत्समातुरसद्वचः ॥२६॥

नारद उवाच

नाधुनाप्यवमानं ते सन्मानं वापि पुत्रक। लक्षयामः कुमारस्य सक्तस्य क्रीडनादिषु ॥२७॥
विकल्पे विद्यमानेऽपि न ह्यसन्तोषहेतवः। पुंसो मोहमृते भिन्ना यल्लोके निजकर्मभिः ॥२८॥
परितुष्येत्ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः। दैवोपसादितं यावद्वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः ॥२९॥
अथ मात्रोपदिष्टेन योगेनावरुरुत्ससि। यत्प्रसादं स वै पुंसां दुराराध्यो मतो मम ॥३०॥
मुनयः पदवीं यस्य निःसङ्गेनोरुजन्मभिः। न विदुर्मृगयन्तोऽपि तीव्रयोगसमाधिना ॥३१॥
अतो निवर्ततामेष निर्बन्धस्तव निष्फलः। यतिष्यति भवान् काले श्रेयसां समुपस्थिते ॥३२॥
यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः। आत्मानं तोषयन् देही तमसः पारमृच्छति ॥३३॥
गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्। मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते ॥३४॥

ध्रुव उवाच

सोऽयं शमो भगवता सुखदुःखहतात्मनाम्। दर्शितः कृपया पुंसां दुर्दर्शोऽस्मद्विधैस्तु यः ॥३५॥
अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः। सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रयते हृदि ॥३६॥
पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे। ब्रूह्यस्मत्पितृभिर्ब्रह्मन्नन्यैरप्यनधिष्ठितम् ॥३७॥

समाचार सुन और 'ध्रुव क्या करनेको इच्छुक है' यह जानकर देवर्षि नारद ध्रुवके पास आये और उनके मस्तकपर अपना पाप-नाशक हाथ फेरते हुए कहने लगे—॥ २५ ॥ अहो ! मानभंग सहनेमें असमर्थ इन क्षत्रियोंका तेज कैसा अद्भुत है ? देखो, ध्रुव अभी बालक है, फिर भी इसे अपनी सौतेली माताके कटु वचन नहीं भाये ॥ २६ ॥ उन्होंने ध्रुवसे कहा—बेटे ! अभी तू खेल-कूदमें लगा रहनेवाला बच्चा है। अभी मुझे तो किसी बातसे तेरे अपमान या सम्मान होनेकी बात नहीं मालूम होती ॥ २७ ॥ यदि तुझको मान और अपमानका ख्याल हो तो भी मनुष्यके असन्तोषका कारण मोहके सिवाय और कुछ भी नहीं है। क्योंकि मनुष्य अपने कर्मोंके अनुसार इस लोकमें मान तथा अपमान अथवा सुख-दुःख आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके वशीभूत होता ही रहता है ॥ २८ ॥ अतएव हे तात ! भगवानकी विचित्र लीला समझकर भाग्यवश उसे सुख-दुःख या मान-अपमान जो भी प्राप्त हो, उसीमें सन्तुष्ट रहा करे ॥ २९ ॥ अब तू अपनी माताके उपदेशसे योगसाधनके द्वारा जिसे प्रसन्न करना चाहता है, मेरे विचारसे अजितेन्द्रिय पुरुषोंके निमित्त उस परमात्माकी आराधना करना बहुत टेढ़ा काम है ॥ ३० ॥ उसके सच्चे स्वरूपको तो बड़े-बड़े योगीजन अनेक जन्मतक असंग रहकर सुदृढ़ समाधियोगके द्वारा खोजकर भी नहीं जान पाते ॥ ३१ ॥ अतएव तू अपने घर लौट जा—तेरा हठ बेकार है। जब तेरे परमार्थ साधनेका समय अर्थात् वृद्धावस्था आवे, तब यह सब कर लेना—अभी नहीं ॥ ३२ ॥ 'दैवने जिसके लिये जो विधान रच दिया है, उसके अनुसार ही प्राणी सुख-दुःख भोगता है' इस विचारसे जो अपना अन्तःकरण सन्तुष्ट रखता है, वह पुरुष अज्ञानसागरसे पार हो जाता है ॥ ३३ ॥ प्रत्येक मनुष्यको चाहिए कि अपनेसे अधिक गुणवान पुरुषको देखकर प्रसन्न हो। गुणमें अपनेसे अधम पुरुषको देखकर उसपर दया करे। जो अपने समान गुणवाला हो, उससे मित्रताका भाव रक्खे। ऐसा करनेसे वह प्राणी कभी भी सन्तप्त नहीं होता ॥ ३४ ॥ ध्रुव बोले—हे भगवन् ! जो लोग सुख-दुःखके अधीन रहते हैं, उनके लिये आपने कृपा करके शान्तिका वह उपाय बतलाया है, जहाँ तक हम-जैसे अज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टि बड़ी कठिनाईसे पहुँच पाती है ॥ ३५ ॥ आपका उपदेश यद्यपि मेरे लिए बड़ा ही कल्याणकारक है। फिर भी अतिशय घोर क्षत्रियस्वभावके वशीभूत होनेके कारण मुझ दुर्विनीतके हृदयमें वह नहीं टिकने पाता। क्योंकि मेरा मन मेरी सौतेली माता सुरुचिके वाग्बाणोंसे विद्ध हो गया है। हे ब्रह्मन् ! मैं तो उस पदको पाना चाहता हूँ,

नूनं भवान् भगवतो योऽङ्गजः परमेष्ठिनः । वितुदन्नटते वीणां हितार्थं जगतोऽर्कवत् ॥३८॥

मैत्रेय उवाच

इत्युदाहृतमाकर्ण्य भगवान् नारदस्तदा । प्रीतः प्रत्याह तं बालं सद्वाक्यमनुकम्पया ॥३९॥

नारद उवाच

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते । भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥४०॥

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः । एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥४१॥

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि । पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ॥४२॥

स्नात्वानुसवनं तस्मिन् कालिन्द्याः सलिले शिवे । कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनःकल्पितासनः॥४३॥

प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् । शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ॥४४॥

प्रसादाभिमुखं शश्वत्प्रसन्नवदनेक्षणम् । सुनासं सुभ्रुवं चारुकपोलं सुरसुन्दरम् ॥४५॥

तरुणं रमणीयाङ्गमरुणोष्ठेक्षणाधरम् । प्रणताश्रयणं नृम्णं शरण्यं करुणार्णवम् ॥४६॥

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं पुरुषं वनमालिनम् । शङ्खचक्रगदापद्मैरभिव्यक्तचतुर्भुजम् ॥४७॥

किरीटिनं कुण्डलिनं केयूरवलयान्वितम् । कौस्तुभाभरणग्रीवं पीतकौशेयवाससम् ॥४८॥

काञ्चीकलापपर्यस्तं लसत्काञ्चननूपुरम् । दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥४९॥

पद्भ्यां नखमणिश्रेण्या विलसद्भ्यां समर्चताम् । हृत्पद्मकर्णिकाधिष्ण्यमाक्रम्यात्मन्यवस्थितम् ॥५०

जिसपर मेरे पूर्वज भी नहीं पहुँच पाये हैं। अतएव आप मुझे त्रिलोकीमें वह सर्वश्रेष्ठ पद पानेका कोई उत्तम मार्ग बतलाइये। आप साक्षात् भगवान ब्रह्माजीके बेटे हैं, इसीसे तो आप सूर्यके समान संसारके कल्याणार्थ वीणा बजाते त्रिलोकीमें घूमते रहते हैं ॥ ३६—३८ ॥ मैत्रेयजी बोले—ध्रुवके वचन सुनकर भगवान नारदजी बहुत प्रसन्न हुए और उस बालकसे बड़ी कृपापूर्वक यह वचन बोले ॥ ३९ ॥ नारदजीने कहा—बेटा! तेरी माताने तुझे जो मार्ग बताया है, वही तेरा कल्याण करेगा। तू मन लगाकर भगवान वासुदेवका भजन कर ॥ ४० ॥ जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप कल्याणके इच्छुक हों, उन्हें उनको पानेका उपाय केवल भगवानका पादसेवन ही है ॥ ४१ ॥ अतएव हे प्रिय! तेरा कल्याण हो। तू श्रीयमुनाजीके पवित्र तीरपर पुनीत मधुवनको चला जा, जहाँ निरन्तर श्रीहरि विद्यमान रहते हैं ॥ ४२ ॥ वहाँ श्रीकालिन्दीके पुनीत जलमें तीनोंकाल स्नान करके अपने नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर स्थिर आसनसे बैठना ॥ ४३ ॥ तब रेचक, कुम्भक और पूरक इस तीन प्रकारके प्राणायामोंसे अपने प्राण, इन्द्रिय तथा मनका मल धीरे-धीरे दूर करके शुद्ध चित्तसे परम गुरु भगवान वासुदेवका इस तरह ध्यान करना—॥ ४४ ॥ भगवानके मुख एवं नेत्र सदा अति प्रसन्न रहते हैं, उन्हें देखनेसे ऐसा ज्ञात होता है कि मानो वे वर देनेके लिये उद्यत हैं। उनकी नासिका, भौंहें और कपोल बड़े ही सुहावने हैं। वे सब देवताओंमें अत्यन्त सुन्दर हैं ॥ ४५ ॥ उनकी तरुण अवस्था है। उनके सभी अङ्ग बड़े सुडौल हैं। उनके ओष्ठ, नेत्र तथा अधर लाल हैं। वे अपने प्रणतजनोंको आश्रय देते हैं और अतिशय सुखदायक, शरणागतवत्सल एवं करुणाके पारावार (समुद्र) हैं ॥ ४६ ॥ उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न विराजमान है। उनका शरीर सजल जलधरके समान श्याम है। उनके गलेमें वनमाला सुशोभित है और वे अपनी चार भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हैं ॥४७॥ वे किरीट, कुण्डल, केयूर एवं कङ्कण आदि सभी आभूषणोंसे आभूषित हैं, उनके गलेमें कौस्तुभमणिकी अपूर्व आभा है और वे रेशमी पीताम्बर पहने रहते हैं ॥ ४८ ॥ उनकी कमरमें कञ्चनकी करधनी और उनके चरणोंमें सुनहले नूपुर सुशोभित हैं। उनका स्वरूप अत्यन्त दर्शनीय, शान्त एवं मन तथा नयनोंको आनन्दित करता है ॥४९॥ वे मणियोंके सदृश दमकते नखोंसे सुशोभित एवं भक्तजनों द्वारा

स्मयमानमभिध्यायेत्सानुरागावलोकनम् । नियतेनैकभूतेन मनसा वरदर्षभम् ॥५१॥
एवं भगवतो रूपं सुभद्रं ध्यायतो मनः । निर्वृत्या परया तूर्णं सम्पन्नं न निवर्तते ॥५२॥
जप्यश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज । यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् ॥५३॥

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।'

मन्त्रेणानेन देवस्य कुर्याद् द्रव्यमयीं बुधः । सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥५४॥
सलिलैः शुचिभिर्माल्यैर्वन्यैर्मूलफलादिभिः । शस्ताङ्कुरांशुकैश्चार्चेत्तुलस्या प्रियया प्रभुम् ॥५५॥
लब्ध्वा द्रव्यमयीमर्चां क्षित्यम्ब्वादिषु वार्चयेत् । आभृतात्मा मुनिः शान्तो यतवाङ् मितवन्यभुक् ५६
स्वेच्छावतारचरितैरचिन्त्यनिजमायया । करिष्यत्युत्तमश्लोकस्तद्ध्यायद्धृदयङ्गमम् ॥५७॥
परिचर्या भगवतो यावत्यः पूर्वसेविताः । ता मन्त्रहृदयेनैव प्रयुञ्ज्यान्मन्त्रमूर्तये ॥५८॥
एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् । परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्यया ॥५९॥
पुंसाममायिनां सम्यग्भजतां भाववर्धनः । श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम् ॥६०॥
विरक्तश्चेन्द्रियरतौ भक्तियोगेन भूयसा । तं निरन्तरभावेन भजेताद्धा विमुक्तये ॥६१॥
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः । ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्चितम् ॥६२॥
तपोवनं गते तस्मिन् प्रविष्टोऽन्तःपुरं मुनिः । अर्हितार्हणको राज्ञा सुखासीन उवाच तम् ॥६३॥

भलीभाँति पूजित अपने चरणकमलोंसे हृदयपद्मरूपी सिंहासनपर बैठकर सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान रहते हैं ॥ ५० ॥ इस तरह उन वरदायकोंमें श्रेष्ठ प्रभुका संयत चित्तसे ऐसा ध्यान करे मानो वे प्रेमपूर्वक मेरी ओर निहारते हुए मन्द-मन्द मुसका रहे हैं ॥ ५१ ॥ उन भगवानकी मङ्गलमयी मूर्तिका इस तरह सर्वदा चिन्तन करते-करते मन शीघ्र परमानन्दमें लीन हो जाता और वहाँसे फिर कभी नहीं लौटता ॥ ५२ ॥ हे राजपुत्र ! इस ध्यानके साथ-साथ उस समय जिस परम गुह्य मन्त्रका जप करना चाहिए, वह भी बतलाता हूँ । सुनो—सात रात्रि इस मन्त्रका जप करनेसे मनुष्य आकाशचारी सिद्धगणोंका दर्शन कर ले सकता है ॥ ५३ ॥ वह मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'। देश-कालके विभागके ज्ञाता तथा बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है कि वह इस मन्त्र द्वारा भगवानकी विविध सामग्रियोंसे पूजन करे ॥ ५४ ॥ साधकको चाहिये कि वह पवित्र जल, माला, जङ्गली मूल तथा फलादि, सुन्दर पत्र, पुष्प तथा भगवानको अतिशय प्रिय तुलसी आदिके द्वारा प्रभुकी पूजा करे ॥५५॥ यदि शिला आदिकी मूर्ति सुलभ हो तो उसमें, नहीं तो पृथ्वी या जल आदिमें ही भगवानकी सब सामग्रियोंसे पूजा कर ले। साधकका कर्तव्य है कि वह संयतचित्त, मननशील, शान्त, मौन तथा जङ्गली फल-मूलादिका स्वल्प आहार करनेवाला बने ॥ ५६ ॥ वे भगवान उत्तमश्लोक अपनी अचिन्त्य मायाको स्वीकारकर अपनी ही इच्छासे अवतार लेकर जो मनोहर चरित्र करते हैं, भक्त उनका मन-ही-मन ध्यान करता रहे ॥ ५७ ॥ उन भगवानकी पूजाके लिये जिन-जिन उपचारोंका उपयोग पहले बतलाया गया है, उन्हें मन्त्रमूर्ति भगवानको द्वादशाक्षर मन्त्रद्वारा अर्पित करे ॥ ५८ ॥ इस तरह मन, वाणी एवं शरीरसे भक्तिपूर्वक विविध सामग्रियों द्वारा मनमें स्थित भगवानकी पूजा करनेसे भावके बढ़ानेवाले श्रीभगवान निष्कपटभावसे भलीभाँति भजनेवाले पुरुषोंको उनकी इच्छानुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूपी श्रेय प्रदान करते हैं ॥ ५९ ॥ ६० ॥ यदि उपासक इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगोंकी इच्छा न रखे तो वह मोक्षप्राप्तिके लिये ही प्रेमपूर्वक भक्तियोग करता हुआ सर्वदा अनन्यभावसे भगवानका भजन करता रहे ॥ ६१ ॥ इस प्रकार नारदजीके उपदेश देनेपर राजकुमार ध्रुवने नारदजीकी परिक्रमा की, उन्हें प्रणाम किया और भगवानके चरणचिह्नोंसे पवित्र मधुवनको चले गये ॥ ६२ ॥ राजपुत्र ध्रुवके तपोवन चले जानेपर श्रीनारदजी राजा उत्तानपादके अन्तःपुरमें गये और राजाद्वारा यथायोग्य पूजित हो सुखपूर्वक आसनपर बैठकर उनसे बोले ॥६३॥

नारद उवाच

राजन् किं ध्यायसे दीर्घं मुखेन परिशुष्यता । किं वा न रिष्यते कामो धर्मो वार्थेन संयुतः ॥६४॥

राजोवाच

सुतो मे बालको ब्रह्मन् स्त्रैणेनाकरुणात्मना । निर्वासितः पञ्चवर्षः सह मात्रा महान् कविः॥६५॥

अप्यनाथं वने ब्रह्मन् मास्मादन्त्यर्भकं वृकाः । श्रान्तं शयानं क्षुधितं परिम्लानमुखाम्बुजम्॥६६॥

अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय । योऽङ्कं प्रेम्णाऽऽरुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः ॥६७॥

नारद उवाच

मा मा शुचः स्वतनयं देवगुप्तं विशाम्पते । तत्प्रभावमविज्ञाय प्रावृङ्क्ते यद्यशो जगत् ॥६८॥

सुदुष्करं कर्म कृत्वा लोकपालैरपि प्रभुः । एष्यत्यचिरतो राजन् यशो विपुलयंस्तव ॥६९॥

मैत्रेय उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं विश्रुत्य जगतीपतिः । राजलक्ष्मीमनादृत्य पुत्रमेवान्वचिन्तयत् ॥७०॥

तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् । समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम् ॥७१॥

त्रिरात्रान्ते त्रिरात्रान्ते कपित्थबदराशनः । आत्मवृत्त्यनुसारेण मासं निन्येऽर्चयन् हरिम् ॥७२॥

द्वितीयं च तथा मासं षष्ठे षष्ठेऽर्भको दिने । तृणपर्णादिभिः शीर्णैः कृतान्नोऽभ्यर्चयन् विभुम्॥७३

तृतीयं चानयन्मासं नवमे नवमेऽहनि । अब्भक्ष उत्तमश्लोकमुपाधावत्समाधिना ॥७४॥

चतुर्थमपि वै मासं द्वादशे द्वादशेऽहनि । वायुभक्षो जितश्वासो ध्यायन् देवमधारयत् ॥७५॥

पञ्चमे मास्यनुप्राप्ते जितश्वासो नृपात्मजः । ध्यायन् ब्रह्म पदैकेन तस्थौ स्थाणुरिवाचलः ॥७६॥

नारदजी कहने लगे—हे राजन्! तुम्हारा मुख सूख क्यों गया है ? तुम किस सोच-विचारमें पड़े हुए हो ? अर्थके सहित धर्म अथवा कामरूपी तुम्हारा पुरुषार्थ नष्ट तो नहीं हो गया है ॥ ६४ ॥ राजाने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं बड़ा ही स्त्रैण और निर्दयी हूँ । हाय ! मैंने अपना इतना चतुर पाँच वर्षका बालक उसकी माताके समेत घरसे बाहर निकाल दिया ॥ ६५ ॥ हे भगवन् ! थकानके कारण मलिन मुख-कमल और भूख-प्याससे आतुर होकर मार्गमें सोये हुए उस अनाथ बालकको वनमें भेड़िये तो न खा लेंगे ॥ ६६ ॥ मुझ स्त्रीपरवश (कामी) की दुष्टता तो देखो, वह नन्हासा बालक प्रेमसे मेरी गोदमें बैठना चाहता था, किन्तु मुझ पापीने उसका कुछ भी ख्याल नहीं किया ॥ ६७ ॥ श्रीनारदजी कहने लगे—हे राजन् ! तुम अपने बच्चेकी चिन्ता मत करो । उसके रक्षक भगवान हैं । तुम उसका प्रभाव नहीं जानते । उसका यश सारे संसारमें फैल जायगा ॥ ६८ ॥ वह समर्थ बालक लोकपालोंके द्वारा भी बड़ी कठिनतासे किये जाने योग्य कर्म करके शीघ्र तुम्हारे पास लौट आयेगा । उसके कारण तुम्हारा यश भी संसारमें बहुत विस्तृत होगा ॥ ६९ ॥ श्रीमैत्रेयजी बोले— हे विदुरजी ! देवर्षि नारदका वचन सुनकर महाराज उत्तानपाद राजलक्ष्मीका भी अनादर करके सर्वदा अपने पुत्रकी ही चिन्तामें लीन रहने लगे ॥ ७० ॥ उधर ध्रुवने भी मधुवनमें पहुँचकर कालिन्दीमें स्नान किया और उस रातको उपवास करके श्रीनारदजीके आदेशानुसार एकाग्रचित्तसे नारायणकी उपासनामें लग गये ॥ ७१ ॥ बालक ध्रुव प्रथम मासमें तीसरे-तीसरे दिन शरीरनिर्वाह भरके लिए कैथे और बेरके फल खाकर भगवानकी उपासना करते रहे ॥ ७२ ॥ दूसरे महीनेमें उन्होंने छः छः दिनके पश्चात् सूखकर अपने आप झड़े हुए तृण तथा पत्तोंका आहार करते हुए भगवानकी आराधना की ॥ ७३ ॥ तीसरे मास नौ-नौ दिनपर केवल जल पीकर समाधियोगके द्वारा भगवानकी उपासना करते हुए बिताया ॥ ७४ ॥ चौथे महीनेमें उन्होंने श्वासको जीत लिया और बारह-बारह दिन बाद केवल वायु पीते हुए ध्यानयोगके द्वारा भगवानकी आराधना की ॥ ७५ ॥ पाँचवें महीनेमें ध्रुवने श्वास जीतकर एकमात्र

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् । ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ॥७७॥
आधारं महदादीनां प्रधानपुरुषेश्वरम् । ब्रह्म धारयमाणस्य त्रयो लोकाश्चकम्पिरे ॥७८॥
यदैकपादेन स पार्थिवार्भकस्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीडिता मही ।
ननाम तत्रार्धमिभेन्द्रधिष्ठिता तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥७९॥
तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया ।
लोका निरुच्छ्वासनिपीडिता भृशं सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम् ॥८०॥

देवा ऊचुः

नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम् ॥८१॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्ययान्निवर्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम ।
यतो हि वः प्राणनिरोध आसीदौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा ॥८२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे ध्रुवचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।
सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः ॥१॥

परमब्रह्मका चिन्तन करते हुए खम्भेके समान निश्चल भावसे एक पाँवसे खड़े रहकर आराधना की ॥ ७६ ॥ उस समय ध्रुवजी अपना चित्त सब ओरसे हटाकर मन-ही-मन सब भूत और इन्द्रियोंके आश्रयस्थल श्रीहरिके स्वरूपका ध्यान करने लगे। अतएव उन्हें भगवानके सिवा और कुछ भी नहीं दृष्टिगोचर होता था ॥ ७७ ॥ जब ध्रुवने महदादि सब तत्त्वोंके आधार तथा प्रकृति और पुरुषके भी अधीश्वर परब्रह्मको अपने हृदयमें धारण किया तो तीनों लोक काँपने लगे ॥ ७८ ॥ जब वे अपने एक पैरके सहारे खड़े हुए, तब उनके अँगूठेसे दबकर आधी पृथ्वी झुक गयी। जिस तरह गजराजके चढ़नेपर नौका पद-पदपर दायीं और बायीं ओर डगमगाया करती है ॥ ७९ ॥ ध्रुवजी अपने इन्द्रियद्वार तथा प्राणोंको रोककर अनन्य बुद्धिसे विश्वात्मा भगवानका चिन्तन करने लगे। इससे सब जीवोंका श्वास-प्रश्वास रुक गया। लोकपालों सहित सब जीव अतिशय पीड़ित होकर विष्णुभगवानको शरणमें जा पहुँचे ॥ ८० ॥ देवताओंने कहा—हे भगवन्! सब लोकोंमें रहनेवाले सभी चराचर प्राणियों-का श्वास-प्रश्वास रुक गया है- इसका क्या कारण है, सो हम नहीं समझ सके। आप शरणागतोंके रक्षक हैं, अतएव अपनी शरणमें आये हुए हमलोगोंको इस महादुःखसे उबारिए ॥ ८१ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे देवगण! तुम मत डरो। उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने अपना चित्त मुझमें लीन कर दिया है। इसी कारण उसके प्राणनिरोधसे समस्त विश्वका प्राण रुका हुआ है। तुम सब अपने-अपने लोकोंको चले जाओ। मैं उस बालकको अभी उसकी दुष्कर तपस्यासे निवृत्त कर दूँगा ॥ ८२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(ध्रुवका भगवानसे वर पाकर घर लौटना) श्रीमैत्रेयजी कहने लगे—हे विदुरजी! इस तरह भगवानके कहनेसे निर्भय होकर सब देवता उन्हें प्रणाम करके स्वर्गलोकको चले गये। तब सहस्रशीर्षा भगवान भी गरुड़पर आरूढ़ होकर अपने भक्तको देखनेके

स वै धिया योगविपाकतीव्रया हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥२॥
तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिताववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत् ।
दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भकश्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन् ॥३॥
स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः ।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले ॥४॥
स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः ।
तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः ॥५॥

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥६॥
एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥७॥
त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।
तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥८॥
नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यमिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥९॥

लिये मधुवनकी ओर चले ॥ १ ॥ ध्रुवजी तीव्र योगाभ्यासके द्वारा एकाग्र की हुई अपनी बुद्धिसे अपने हृदयरूपी कमलकोशमें भगवानकी जिस विद्युत्की भाँति देदीप्यमान मूर्तिका ध्यान कर रहे थे, उसे सहसा विलीन देखकर वे घबड़ा उठे और तुरन्त आँखें खोलीं तो श्रीहरि उसी रूपमें उनके सामने खड़े देख पड़े ॥ २ ॥ उन भगवानके दर्शनसे कुतूहलमें पड़े हुए बालक ध्रुवने दण्डके समान पृथिवीपर लोटकर उन्हें प्रणाम किया और मानो वे नेत्रोंसे पी लेंगे, मुखसे चूम लेंगे तथा भुजाओंसे लपेट लेंगे—इस तरह प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥ बालक ध्रुव उनसे कुछ कहना चाहते थे, किन्तु किस प्रकार और क्या कहें—यह नहीं सूझता था । सर्वान्तर्यामी विष्णुभगवान उनके मनकी बात ताड़ गये और उन्होंने बड़ी कृपाके साथ अपना वेदमय शंख हाथ जोड़कर खड़े ध्रुवके कपोलमें छुआ दिया ॥ ४ ॥ उस शंखका स्पर्श होते ही ध्रुवको दिव्य वाणी प्राप्त हो गयी । तब उन्हें जीव और परमात्माके स्वरूपका निश्चय हो गया और जिनको भविष्यमें ध्रुवपद प्राप्त होनेवाला था, वे ध्रुवजी तत्काल जिनका पावन सुयश सर्वत्र विख्यात है, उन श्रीहरिकी बड़े भक्तिभावसे स्तुति करने लग गये ॥ ५ ॥ ध्रुवजीने कहा - जो सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर अपने तेजसे मेरी सोयी हुई वाणीको सजीव करते तथा कर, चरण, कर्ण एवं त्वचा आदि अन्य इन्द्रियोंको भी चेतनाशक्ति प्रदान करते हैं, उन आप परम पुरुषको प्रणाम है ॥ ६ ॥ हे भगवन् ! आप अकेले अपनी अनन्त गुणमयी मायाशक्तिके द्वारा महदादि सम्पूर्ण जगत्को रच और उसके इन्द्रियादि असत् गुणोंमें जीवरूपसे अनुप्रविष्ट होकर (एक होते हुए भी) अनेक दीखते हैं, जैसे विविध प्रकारके काष्ठमें अनुप्रविष्ट अग्नि अपनी उपाधियोंके अनुसार भिन्न-भिन्नरूपसे भासमान होता है ॥ ७ ॥ हे नाथ ! ब्रह्माजीने भी आपकी शरणमें जाकर आपके दिये ज्ञानके प्रभावसे ही जगत्को सोकर उठे हुएके समान देख पाया था । हे दीनबन्धो ! मुक्त पुरुषोंके भी आश्रय पाने योग्य आपके चरणोंको कोई कृतज्ञ पुरुष भला कैसे भूल सकेगा ? ॥ ८ ॥ जिनके संसर्गसे होनेवाला सुख नरकतुल्य योनिमें भी प्राप्त हो सकता

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥१०॥
भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो भूयादनन्त महतामलमलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥११॥
ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्दसौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥१२॥
तिर्यङ्नगद्विजसरीसृपदेवदैत्यमर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।
रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥१३॥
कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन् शेते पुमान् स्वदृगनन्तसखस्तदङ्के ।
यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्मगर्भे द्युमान् भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥१४॥
त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥१५॥
यस्मिन् विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्यमानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥१६॥

है, शवसदृश शरीरसे भोगे जाने योग्य उन विषयोंकी जो पुरुष इच्छा करते और जो जन्ममरणरूपी संसारसे छुड़ानेवाले कल्पवृक्षरूपी आपकी, मोक्षके सिवा किसी और ही कारणसे उपासना करते हैं, अवश्य ही उनकी बुद्धिको आपकी मायाने हर लिया है ॥ ९ ॥ आपके चरणोंका ध्यान करने अथवा आपके भक्तोंकी कथाएँ सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द मिलता है, वह अपने स्वरूपभूत ब्रह्ममें भी नहीं मिल पाता। फिर जिनको कालकी तलवार खण्डित कर डालती है, उन स्वर्गके विमानोंसे गिरे हुए पुरुषोंको तो वह मिल ही कैसे सकेगा ॥ १० ॥ अतएव हे अनन्त ! आपमें सर्वदा भक्तिभाव रखनेवाले शुद्धचित्त महापुरुषोंसे मेरा बारम्बार समागम हो, जिससे कि मैं आपके गुणोंके कथामृतको पीनेसे उन्मत्त होकर अतिउग्र एवं विविध प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण इस संसारको सुगमतासे पार कर जाऊँ ॥ ११ ॥ हे कमलनाभ ! आपके चरणकमलोंकी सुगन्धिमें जिनका मन संलग्न है, उन महापुरुषोंके साथ जो लोग सत्संग करते हैं, वे हे ईश ! अपने अत्यन्त प्रिय शरीर तथा इसके सम्बन्धी पुत्र, मित्र, गृह एवं स्त्री आदिका स्मरण भी नहीं कर पाते ॥ १२ ॥ हे अज ! पशु आदि तिर्यक्योनि, पर्वत, पक्षी, सरीसृप, देवता, दैत्य तथा मनुष्य आदिसे परिपूर्ण एवं महत्तत्त्वादि कार्य-कारणोंसे युक्त आपके इस स्थूल शरीरको ही मैं जानता हूँ। जिस तक वाणीकी गति ही नहीं है, उस आपके रूपको मैं नहीं जान सका हूँ ॥ १३ ॥ हे नाथ ! कल्पान्तके समय जो शेषजीके सखा स्वयंप्रकाश तथा परमपुरुष भगवान सारे संसारको अपने उदरमें लीन करके शेषशय्यापर सोते हैं तथा जिनके नाभिसिन्धुसे उत्पन्न सब लोकोंके उत्पत्तिस्थानस्वरूप सुवर्णमय कमलसे परम तेजस्वी ब्रह्माजी उत्पन्न हुए थे, उन आप परमेश्वरको मैं नमन करता हूँ ॥ १४ ॥ हे प्रभो ! आप जीवात्मासे भिन्न अर्थात् सब पुरुषोंसे उत्तम हैं। क्योंकि आप नित्यमुक्त, नित्यशुद्ध, चेतन, आत्मा, निर्विकार, आदि पुरुष, षडैश्वर्यसम्पन्न, तीनों लोकोंके अधिपति और अपनी दृष्टिसे बुद्धिकी अवस्थाओंको अखण्डरूपसे देखते हैं। संसारकी स्थितिके लिये ही आप यज्ञपुरुष श्रीविष्णुभगवानके रूपसे विराजमान हैं ॥ १५ ॥ जिनसे विद्या तथा अविद्या आदि विरुद्ध गतियोंयुक्त अनेक शक्तियाँ क्रम-क्रमसे प्रकट होती रहती हैं, मैं उन विश्वको उत्पन्न करनेवाले, एक, अनन्त, आद्य, आनन्दमात्र तथा

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्ममाशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमार्य भगवान् परिपाति दीनान् वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥१७॥

मैत्रेय उवाच

अथाभिष्टुत एवं वै सत्सङ्कल्पेन धीमता। भृत्यानुरक्तो भगवान् प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक। तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत ॥१९॥
नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति। यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ॥२०॥
मेढ्यां गोचक्रवत्स्थास्नु परस्तात्कल्पवासिनाम्। धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः ॥२१॥
प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः। षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः ॥२२॥
त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः। अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति ॥२३॥
इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः। भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि२४
ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्। उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः ॥२५॥

मैत्रेय उवाच

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम्। बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः ॥२६॥
सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम्। प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम् ॥२७॥

निर्विकार ब्रह्मकी शरणमें हूँ ॥ १६ ॥ हे भगवन् ! जो आपको पुरुषार्थकी मूर्ति समझते और निष्काम-भावसे सर्वदा आपका भजन किया करते हैं, उन भक्तोंके लिये राज्यादि भोगोंकी अपेक्षा पुरुषार्थस्वरूप आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति होना ही भजनका वास्तविक फल है। यही यद्यपि ठीक भी है तो भी गौ जैसे अपने तुरन्तके जन्मे बछड़ेको दूध पिलाती और व्याघ्रादिसे बचाती है, वैसे ही भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सदा विकल रहनेवाले आप हम-जैसे सकाम भक्तोंकी भी कामना पूर्ण करके उन्हें संसारसागरसे उबार लेते हैं ॥ १७ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! शुभसंकल्प तथा परम बुद्धिमान् ध्रुवजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर भक्तवत्सल भगवान उनकी प्रशंसा करते हुए इस तरह बोले ॥ १८ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे राजकुमार ! तुम्हारी जो इच्छा है, उसे मैं जानता हूँ। हे सुव्रत ! उसका मिलना यद्यपि कठिन है, फिर भी मैं तुम्हें वह पद दे रहा हूँ, तुम्हारा कल्याण हो ॥ १९ ॥ हे कल्याणके स्वरूप ! जो तेजोमय ध्रुवलोक आजतक किसीको भी नहीं मिला तथा जिसमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र विद्यमान हैं ॥ २० ॥ जो कल्पके अन्ततक रहनेवाले लोकोंसे भी अधिक कालतक रहनेवाला है और कोल्हूके चारों ओर घूमनेवाले बैलोंके समान नक्षत्र धर्म, अग्नि, कश्यप तथा शुक्र आदि वनवासी मुनिजन जिसकी प्रदक्षिणा करते हुए घूमते रहते हैं, वह ध्रुवलोक मैं तुमको देता हूँ ॥ २१ ॥ इस लोकमें भी तुम्हें राज्य दे देनेके बाद जब तुम्हारे पिता वनको चले जायँगे, तब तुम छत्तीस हजार वर्षतक बिना इन्द्रियशक्तिका ह्रास हुए धर्ममें स्थित रहकर पृथ्वीका राज्य करोगे ॥२२॥ जब तुम्हारा भाई उत्तम शिकारके प्रसंगमें मारा जायगा, तब उसकी माता सुरुचि पुत्र-प्रेमसे पागल होकर उसे ढूँढ़ती हुई दावानलमें जलकर मर जायगी ॥ २३ ॥ तुम मुझ यज्ञमूर्तिका बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले बहुत-से यज्ञोंसे यजन करोगे और इस लोकमें नाना प्रकारके उत्तम भोग भोगकर वृद्धावस्थामें मेरा स्मरण करोगे ॥ २४ ॥ तब तुम सब लोकोंके वन्दनीय तथा सप्तर्षिलोकसे भी ऊपर मेरे निजधामको प्राप्त होगे, जहाँ पहुँचनेपर प्राणीको फिर संसारमें लौटना नहीं पड़ता। मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार ध्रुवसे पूजित होकर गरुड़ध्वज भगवान अपना पद दे उस बालकके देखते-देखते अपने लोकको लौट गये ॥ २५ ॥ २६ ॥ इधर ध्रुवजी भी भगवानकी चरण-सेवासे

विदुर उवाच

सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरेर्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।
लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित् ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान् स्मरन् । नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥२९॥

ध्रुव उवाच

समाधिना नैकभवेन यत्पदं विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः ।
मासैरहं षड्भिरमुष्य पादयोश्छायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः ॥३०॥

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत । भवच्छिदः पादमूलं गत्वा याचे यदन्तवत् ॥३१॥
मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः । यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः ॥३२॥
दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक् । तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्रुजा ॥३३॥
मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि । प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम् ।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः ॥३४॥
स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत । ईश्वरात्क्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः ॥३५॥

मैत्रेय उवाच

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः ।
वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः ॥३६॥

अपनी संकल्पपूर्ति पाकर अपने नगरको लौट पड़े, किन्तु उस समय उनका चित्त कुछ अधिक प्रसन्न नहीं था ॥ २७ ॥ इतनी कथा सुनकर विदुरजीने पूछा—हे ब्रह्मन् ! मायापति भगवानका जो परमपद अत्यन्त दुर्लभ है, जो उनके चरणकमलोंकी उपासनासे ही प्राप्त हो सकता है, उस पदको एक ही जन्ममें प्राप्त करके भी पुरुषार्थके तत्त्वको जाननेवाले ध्रुवजीने अपनेको अकृतार्थ क्यों समझा ? ॥ २८ ॥ मैत्रेयजीने कहा—अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे विद्ध होकर ध्रुवजीने उसी बातका स्मरण करते हुए मुक्तिदाता श्रीहरिसे वर नहीं माँगा। इसीलिये उन्हें पछतावा हुआ ॥ २९ ॥ ध्रुवजीने सोचा—अहो ! जिस पदको ब्रह्मचर्यव्रतधारी सनन्दनादि सिद्धगण अनेक जन्मोंमें प्राप्त कर पाते हैं, उन्हीं भगवच्चरणोंकी छायाको मैंने छः मासमें ही प्राप्त कर लिया, किन्तु भेद-बुद्धिके कारण फिर मुझे उससे कोरा ही रह जाना पड़ा ॥ ३० ॥ अहो ! मुझ मन्दभाग्यकी मूर्खता तो देखो, मैंने संसार-पाशका छेदन करनेवाले प्रभुके चरणकमलोंमें पहुँचकर भी नाशवान् पदार्थ माँगा ॥ ३१ ॥ स्वर्ग-भोगके बाद इसकी अपेक्षा नीच गति पानेवाले देवताओंने मेरी भगवत्प्राप्तिरूपिणी उच्च स्थितिको न सह सकनेके कारण मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। इसीलिए मुझ मूर्खने नारदजीके इन वाक्योंकी 'अभी तुम बच्चे हो, मुझे तुम्हारे मान-अपमानका कोई कारण नहीं दीखता' सत्यता नहीं मानी ॥ ३२ ॥ जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्नमें अपने ही कल्पित सर्प-व्याघ्रादिसे डरता है वैसे ही आत्माके सिवाय किसी अन्य पदार्थके न होनेपर भी भगवानकी मायासे मोहित एवं भेद-बुद्धिवाला मैं अपने भाईको ही शत्रु मानकर द्वेषरूपी हार्दिक रोगसे सन्तापका अनुभव कर रहा हूँ ॥३३॥ जो बड़ी कठिनाईसे प्रसन्न होते हैं, संसारपाशको काटनेवाले उन विश्वात्मा श्रीहरिको प्रसन्न करके भी जैसे कोई मरणासन्न पुरुष व्यर्थ औषधि माँगता है वैसे ही मुझ अभागेने संसारको ही माँगा ॥ ३४ ॥ जैसे कोई निर्धन पुरुष सार्वभौम राजाको प्रसन्नकर उससे चावलोंके कण माँगे, वैसे ही मुझ क्षीणपुण्यने परमानन्ददायक भगवानसे मूर्खतावश केवल अपना राज्य माँगा ॥ ३५ ॥ मैत्रेयजी बोले—हे तात ! भगवान

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथाऽऽगतम् । राजा न श्रद्दधे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥३७॥
श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः । वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥३८॥
सदश्वं रथमारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम् । ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः ॥३९॥
शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः । निश्चक्राम पुरात्तूर्णमात्मजाभीक्षणोत्सुकः ॥४०॥
सुनीतिः सुरुचिश्चास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते । आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः ॥४१॥
तं दृष्ट्वोपवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात् । अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः ॥४२॥
परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्यां दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् । विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥४३॥
अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि शीतैर्नयनवारिभिः । स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः ॥४४॥
अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः । ननाम मातरौ शीर्ष्णा सत्कृतः सज्जनाग्रणीः ॥४५॥
सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् । परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा ॥४६॥
यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः । तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥४७॥
उत्तमश्च ध्रुवश्चोभावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ । अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्रौघं मुहुरूहतुः ॥४८॥
सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम् । उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता ॥४९॥
पयः स्तनाभ्यां सुस्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः । तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः ॥५०॥

कृष्णकी चरणरजके सेवक और अपने-आप प्राप्त वस्तुसे ही मनको सन्तुष्ट रखनेवाले तुम-जैसे लोग भगवानसे उनके दासत्वके सिवाय और कुछ नहीं माँगते ॥ ३६ ॥ उधर राजा उत्तानपादने, जैसे कोई मरा हुआ पुरुष फिर लौट आता है, वैसे ही जब अपने पुत्रके आगमनका समाचार सुना तो यह सोचकर 'मुझ भाग्यहीनका ऐसा भाग्य कहाँ है ?' राजाको जल्दी विश्वास ही नहीं हुआ ॥ ३७ ॥ किन्तु जब उनको देवर्षिके कथनका स्मरण आया, तब विश्वास हो गया और उन्होंने मारे हर्षके विह्वल होकर यह समाचार सुनानेवालेको एक अति मूल्यवान हार उपहार दे दिया ॥ ३८ ॥ तब पुत्रका मुख देखनेके लिये अति उत्कण्ठित होकर राजा ब्राह्मण, अपने कुलके बड़े-बूढ़े, मन्त्रिमण्डल तथा बन्धुओंसे घिरे हुए एक सुवर्णविमण्डित रथपर आरूढ़ हो वेदध्वनि तथा शंख-दुन्दुभी आदि बाजोंके घोषके साथ बड़ी जल्दी नगरके बाहर आये ॥ ३९ ॥ ४० ॥ राजा उत्तानपादकी रानियाँ सुनीति और सुरुचि उत्तमको साथ लेकर सुवर्णके आभूषणोंसे आभूषित हो और पालकियोंपर चढ़कर चलीं ॥ ४१ ॥ ध्रुवको राजोद्यानके पास देखकर महाराज उत्तानपाद तुरन्त रथसे उतर पड़े और बहुत समयसे मिलनेके लिए उत्कण्ठित रहनेके कारण पुत्रके पास आ, दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए श्रीहरिके चरणस्पर्शसे जिनके सब पाप नष्ट हो गये थे, उन ध्रुवजीको प्रेमातुरभावसे दोनों भुजाओंमें कसकर गले लगा लिया ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ इस प्रकार राजा उत्तानपादकी एक बहुत बड़ी कामना पूर्ण हो गयी। उन्होंने बार-बार पुत्रका माथा सूँघा और प्रेमातिरेकके कारण अपने शीतल आँसुओंसे भिगो दिया ॥ ४४ ॥ सज्जनोंके अग्रणी ध्रुवजीने अपने पिताके चरणोंकी वन्दना की और उनसे आशीर्वाद पाया। फिर कुशल-प्रश्नादि-से सम्मानित होनेके बाद उन्होंने दोनों माताओंको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ तब सुरुचिने अपने चरणोंमें झुके हुए बालक ध्रवको उठाकर हृदयसे लगा लिया और गद्गद वाणीसे 'चिरञ्जीवी रहो' ऐसा कहकर आशीर्वाद किया। जैसे जल अपने आप नीचेकी ओर बहता है उसी तरह मैत्री आदि गुणोंके कारण जिसपर भगवान प्रसन्न होते हैं, उसके आगे सब जीव नतमस्तक हो जाते हैं ॥ ४७ ॥ तदनन्तर उत्तम तथा ध्रुव दोनों भाई एक दूसरेसे अति प्रेमविह्वल होकर मिले। पारस्परिक अङ्गसङ्गसे दोनोंहीके शरीर पुलकित हो उठे और दोनोंके नेत्रोंसे आँसुओंकी अविरल अश्रु-धारा बह चली ॥ ४८ ॥ ध्रुवजीकी माता सुनीति अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्रके आलिङ्गनपूर्वक अङ्गसंस्पर्शसे आनन्दित होकर अपना सब सन्ताप भूल गयी ॥ ४९ ॥ हे वीर ! वीर पुत्रकी माता

तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा । प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः ॥५१॥
अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान् प्रणतार्तिहा । यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम्॥५२॥
लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः । आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम् ॥५३॥
तत्र तत्रोपसंक्लृप्तैर्लसन्मकरतोरणैः । सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः ॥५४॥
चूतपल्लववासःस्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः । उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः ॥५५॥
प्राकारैर्गोपुरागारैः शातकुम्भपरिच्छदैः । सर्वतोऽलंकृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः ॥५६॥
मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम् । लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम् ॥५७॥
ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः । सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥५८॥
उपजह्रुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः । शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥५९॥
महामणिव्रातमये स तस्मिन् भवनोत्तमे । लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्दिवि देववत् ॥६०॥
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः । आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः ॥६१॥
यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च । मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥६२॥
उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः । कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥६३॥

सुनीतिके स्तन नेत्रोंसे झरते हुए पुनीत आनन्दके आँसुओंसे भींग गये और उनसे दूधकी धारा बह चली ॥ ५० ॥ सभी पुरवासी उस समय महारानी सुनीतिकी सराहना करते हुए कहने लगे—माता ! तुम्हारा दुःख दूर करनेवाला बालक ध्रुव आजके बहुत दिन पहले खो गया था । सौभाग्यवश आज वह लौटा है । यह बालक बहुत कालतक इस भूमण्डलका पालन करेगा ॥ ५१ ॥ निःसन्देह तुमने शरणागतभयहारी भगवानकी उपासना की है, जिसका ध्यान धरनेवाले धैर्यशाली पुरुष परम दुर्जय मृत्युको भी परास्त कर देते हैं ॥ ५२ ॥ हे विदुरजी ! इस तरह सब लोगोंसे सत्कृत ध्रुवजीको भाई उत्तमके साथ एक हथिनीपर बैठाकर महाराज उत्तानपाद बड़े आनन्दके साथ सब पुरवासियों-से स्तूयमान होते हुए अपनी राजधानीमें प्रविष्ट हुए ॥ ५३ ॥ ध्रुवके आगमनके उपलक्ष्यमें सारा नगर मकराकृति बन्दनवारों तथा फल-फूलोंके गुच्छों युक्त कदली तथा पूगीफल आदिके पौधोंसे सजा हुआ था ॥ ५४ ॥ नगरके प्रत्येक द्वारपर आम्रपल्लवों, वस्त्रों, पुष्पमालाओं तथा मोतीकी लड़ियोंसे सुसज्जित एवं दीपकयुक्त जलके कलशोंकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ५५ ॥ अतिशय सुन्दर विमानोंके सुवर्णविमण्डित शिखरोंकी दीप्तिसे सुशोभित प्राकारों, राजद्वारों तथा महलोंके कारण वह सब ओरसे अति अलंकृत था ॥ ५६ ॥ उसके सब चौराहों, गलियों, अटारियों तथा मार्गोंको झाड़-बुहारकर उनपर चन्दन छिड़का गया था और जहाँ-तहाँ धानके लावे, चावल, पुष्प, फल, अक्षत और भेंटकी सामग्री रखी थी ॥ ५७ ॥ मार्गमें जाते हुए ध्रुवजीको देखकर सफलमनोरथ पुरनारियोंने जहाँ-तहाँ उनपर पीली सरसों, अक्षत, दही, जल, दूब, पुष्प एवं फलोंकी वर्षा करके उन्होंने बड़े वात्सल्यभावसे उन्हें विविध भाँतिसे सच्चे आशीर्वाद दिये । इस तरह नगरनारियोंके सुहावने और मनोहर गीत सुनते हुए ध्रुवजीने अपने पिताके राजभवनमें प्रवेश किया ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ तदनन्तर ध्रुवजी उत्तम मणियोंकी लड़ियोंसे जटित उस राजभवनमें अपने पिताके द्वारा लालन-पालनका अनुपम सुख भोगते हुए स्वर्गमें देवताओंके सदृश रहने लगे ॥ ६० ॥ उस राजभवनमें दूधके फेनसदृश श्वेत तथा कोमल शय्याएँ, हाथीदाँतके पलँग, सुनहले कामदार पर्दे, मूल्यवान् आसन एवं बहुतसी सोनेकी वस्तुएँ विद्यमान थीं ॥ ६१ ॥ उसकी स्फटिकमणि और महा-मरकतमणिमयी भीतोंमें प्रतिबिम्बित सुन्दरियोंके सहित अगणित मणिमय दीपक जल रहे थे ॥ ६२ ॥ महलके चारों ओर नानाप्रकारके कल्पद्रुमोंसे सुशोभित उद्यान विद्यमान थे, जिनमें पक्षियोंके जोड़ोंका

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः । हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राह्वसारसैः ॥६४॥
उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम् । श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम् ॥६५॥
वीक्ष्योढवयसं तं च प्रकृतीनां च सम्मतम् । अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥६६॥
आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः । वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम् ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे ध्रुवराज्याभिषेकवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः॥९॥

दशमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

प्रजापतेर्दुहितरं शिशुमारस्य वै ध्रुवः । उपयेमे भ्रमिं नाम तत्सुतौ कल्पवत्सरौ ॥ १ ॥
इलायामपि भार्यायां वायोः पुत्र्यां महाबलः । पुत्रमुत्कलनामानं योषिद्रत्नमजीजनत् ॥ २ ॥
उत्तमस्त्वकृतोद्वाहो मृगयायां बलीयसा । हतः पुण्यजनेनाद्रौ तन्मातास्य गतिं गता ॥ ३ ॥
ध्रुवो भ्रातृवधं श्रुत्वा कोपामर्षशुचार्पितः । जैत्रं स्यन्दनमास्थाय गतः पुण्यजनालयम् ॥ ४ ॥
गत्वोदीचीं दिशं राजा रुद्रानुचरसेविताम् । ददर्श हिमवद्द्रोण्यां पुरीं गुह्यकसङ्कुलाम् ॥ ५ ॥
दध्मौ शङ्खं बृहद्बाहुः खं दिशश्चानुनादयन् । येनोद्विग्नदृशः क्षत्तरुपदेव्योऽत्रसन् भृशम् ॥ ६ ॥
ततो निष्क्रम्य बलिना उपदेवमहाभटाः । असहन्तस्तन्निनादमभिपेतुरुदायुधाः ॥ ७ ॥
स तानापततो वीर उग्रधन्वा महारथः । एकैकं युगपत्सर्वानहन् बाणैस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ८ ॥

कलरव तथा मतवाले भौंरोंका गुञ्जार गूँज रहा था ॥ ६३ ॥ उन बगीचोंमें वैदूर्यमणिकी सीढ़ियोंसे सुशोभित अनेक बावलियें थीं । जिनमें लाल, नीले और श्वेतवर्णके कमल खिले थे और हंस, कारण्डव, चक्रवाक तथा सारस आदि पक्षी किलोलें कर रहे थे ॥ ६४ ॥ राजर्षि महाराज उत्तानपादने अपने पुत्रका जब अतिशय अद्भुत प्रभाव सुना और देखा तो उन्हें बड़ा अचम्भा हुआ ॥ ६५ ॥ और यह देखकर कि अब वे तरुणावस्थाके हो गये हैं और प्रजाका भी उनपर अनुराग बढ़ रहा है, तब अपने मन्त्रियोंकी सम्मतिसे राजाने ध्रुवका समस्त भूमण्डलके राज्यपदपर अभिषेक कर दिया ॥६६॥ तदनन्तर अपने आपको वृद्धावस्थामें प्राप्त देखकर महाराज उत्तानपाद आत्मस्वरूपका ध्यान करते हुए संसारसे विरक्त होकर वनको प्रस्थान किये ॥ ६७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेज-पाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(ध्रुवके भाई उत्तमका वध और ध्रुवका यक्षोंके साथ घमासान युद्ध) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! कुछ दिन बाद ध्रुवजीने प्रजापति शिशुमारकी पुत्री भ्रमिके साथ अपना विवाह किया । उससे उनके कल्प और वत्सर नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥ महाबलवान् ध्रुवकी दूसरी पत्नी वायुकी पुत्री इला थी । उस इलासे उनके उत्कल नामक पुत्र और स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा एक कन्या जन्मी ॥ २ ॥ उत्तमको कुमारावस्थामें ही हिमालय पर्वतपर मृगयाके प्रसंगमें एक बलवान यक्षने मार डाला । उनके साथ उनकी माता भी मर गयीं ॥३॥ जब ध्रुवने अपने भाईके मरनेका समाचार सुना तो क्रोध, असहिष्णुता तथा शोकसे व्याकुल हो एक विजयी रथपर सवार होकर यक्षोंकी राजधानी अलकापुरीपर चढ़ गये ॥४॥ वहाँ जाकर महाराज ध्रुवने उत्तर दिशाकी हिमालयकी घाटीमें रुद्रके अनुचर कुबेरजीके द्वारा पालित एवं यक्षोंसे भरी हुई अलकापुरी देखी ॥५॥ वहाँपर महाबाहु ध्रुवने आकाश तथा दिशा-विदिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए अपना गगनभेदी शंख बजाया । हे विदुरजी ! उस शंखकी ध्वनिसे घबड़ा-कर यक्षोंकी पत्नियाँ व्याकुल हो उठीं । उस शब्दको सहन न कर सकनेसे महाबलवान् यक्षशूरवीर विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये हुए नगरसे बाहर निकल आये ॥६॥७॥ तदनन्तर उन प्रचण्ड धनु-

ते वै ललाटलग्नैस्तैरिषुभिः सर्व एव हि । मत्वा निरस्तमात्मानमाशंसन् कर्म तस्य तत् ॥९॥
तेऽपि चामुममृष्यन्तः पादस्पर्शमिवोरगाः । शरैरविध्यन् युगपद् द्विगुणं प्रचिकीर्षवः ॥१०॥
ततः परिघनिस्त्रिंशैः प्रासशूलपरश्वधैः । शक्त्यृष्टिभिर्भुशुण्डीभिश्चित्रवाजैः शरैरपि ॥११॥
अभ्यवर्षन् प्रकुपिताः सरथं सहसारथिम् । इच्छन्तस्तत्प्रतीकर्तुमयुतानि त्रयोदश ॥१२॥
औत्तानपादिः स तदा शस्त्रवर्षेण भूरिणा । न उपादृश्यत च्छन्न आसारेण यथा गिरिः ॥१३॥
हाहाकारस्तदैवासीत्सिद्धानां दिवि पश्यताम् । हतोऽयं मानवः सूर्यो मग्नः पुण्यजनार्णवे ॥१४॥
नदत्सु यातुधानेषु जयकाशिष्वथो मृधे । उदतिष्ठद्रथस्तस्य नीहारादिव भास्करः ॥१५॥
धनुर्विस्फूर्जयन् दिव्यं द्विषतां खेदमुद्वहन् । अस्त्रौघं व्यधमद्बाणैर्घनानीकमिवानिलः ॥१६॥
तस्य ते चापनिर्मुक्ता भित्त्वा वर्माणि रक्षसाम् । कायानाविविशुस्तिग्मा गिरीनशनयो यथा ॥१७॥
भल्लैः संछिद्यमानानां शिरोभिश्चारुकुण्डलैः । ऊरुभिर्हेमतालाभैर्दोर्भिर्वलयवल्गुभिः ॥१८॥
हारकेयूरमुकुटैरुष्णीषैः महाधनैः । आस्तृतास्ता रणभुवो रेजुर्वीरमनोहराः ॥१९॥

हतावशिष्टा इतरे रणाजिराद्रक्षोगणाः क्षत्रियवर्यसायकैः ।
प्रायो विवृक्णावयवा विदुद्रुवुर्मृगेन्द्रविक्रीडितयूथपा इव ॥२०॥
अपश्यमानः स तदाऽऽततायिनं महामृधे कञ्चन मानवोत्तमः ।
पुरीं दिदृक्षन्नपि नाविशद् द्विषां न मायिनां वेद चिकीर्षितं जनः ॥२१॥

धीरी और महारथी ध्रुवने उन्हें समक्ष देखकर उनमेंसे प्रत्येकको तीन-तीन बाण मारकर एक साथ ही बींध दिया ॥ ८ ॥ यक्षोंने अपने मस्तकमें लगे उन बाणोंसे अपनेको परास्त समझा और ध्रुवके इस पराक्रमकी भूरि-भूरि सराहना की ॥ ९ ॥ तब लात खाये हुए सर्पकी भाँति ध्रुवजीका यह पराक्रम सहन न कर सकनेके कारण इसका प्रतिशोध (बदला) लेनेकी इच्छासे उन्होंने ध्रुवपर एक साथ दूने अर्थात् छः छः बाण चलाये ॥ १० ॥ उसके बाद उन तेरह अयुत १३०००० यक्षोंने ध्रुवजीसे बदला लेनेकी अभिलाषासे अतिशय क्रुद्ध होकर रथ और सारथिके साथ उनपर परिघ, खड्ग, प्रास, त्रिशूल, परश्वध, शक्ति, ऋष्टि, भुशुण्डी तथा विचित्र पङ्खोंवाले बाण बरसाये ॥ ११ ॥ १२ ॥ उस भयङ्कर शस्त्रवर्षासे आच्छादित ध्रुवजी एकाएक इस तरह अदृश्य हो गये, जैसे घोर वर्षाके समय पर्वत अलक्षित हो जाते हैं ॥ १३ ॥ अतएव आकाशमें स्थित होकर युद्ध देखनेवाले सिद्धगण भयङ्कर हाहाकार मचाते हुए कहने लगे—हाय-हाय ! आज उस यक्षसेनारूपी समुद्रमें यह मानवरूपी सूर्य डूब गया ॥ १४ ॥ इसी समय युद्धमें अपनी विजय माननेवाले यक्षोंके जयघोषके साथ ही महाराज ध्रुवका रथ इस तरह फिर प्रकट हो गया, जैसे कुहरेको दबाकर सूर्यभगवान निकल आयें ॥ १५ ॥ तब शत्रुओंके हृदयमें खेद उत्पन्न करते हुए ध्रुवजीने दिव्य धनुषका टङ्कोर किया और जैसे वायु मेघसमूहको छिन्न-भिन्न कर देता है, वैसे ही अपने बाणोंसे उनके सारे शस्त्रसमूहको नष्ट कर डाला ॥ १६ ॥ ध्रुवजीके धनुषसे छूटे हुए तीक्ष्ण बाण उन राक्षसोंके कवचोंको फोड़कर उनके शरीरमें इस तरह घुस गये, जैसे किसी समय इन्द्रके द्वारा छोड़े हुए वज्र पर्वतोंमें घुस गये थे ॥ १७ ॥ हे विदुरजी ! ध्रुवजीके बाणोंसे कटे हुए यक्षोंके सुन्दर और कुण्डलविमण्डित शिरोंसे, तालवृक्षके समान सुनहली जङ्घाओंसे, वलयविभूषित बाहुदण्डोंसे, हार, केयूर, मुकुट तथा महामूल्यमयी पगड़ियोंसे आच्छादित वह वीरोंके चित्तोंको उत्साहित करनेवाली रणभूमि बड़ी सुन्दर लगने लगी ॥ १८ ॥ ॥ १९ ॥ वीर क्षत्रिय ध्रुवजीके बाणोंसे मरे हुए यक्षोंके सिवाय जो और यक्षगण बचे थे, वे अङ्गभङ्ग हो जानेसे किसी सिंह द्वारा युद्धक्रीडामें परास्त गजराजकी भाँति रणभूमिसे भाग निकले ॥ २० ॥ नरवीर ध्रुवजीने जब देखा कि उस प्रशस्त रणभूमिमें कोई भी शत्रु हाथमें अस्त्र-शस्त्र लिये उनके

इति ब्रुवंश्चित्ररथः स्वसारथिं यत्तः परेषां प्रतियोगशङ्कितः ।
शुश्राव शब्दं जलधेरिवेरितं नभस्वतो दिक्षु रजोऽन्वदृश्यत ॥२२॥
क्षणेनाच्छादितं व्योम घनानीकेन सर्वतः । विस्फुरत्तडिता दिक्षु त्रासयत्स्तनयित्नुना ॥२३॥
ववृषू रुधिरौघासृक्पूयविण्मूत्रमेदसः । निपेतुर्गगनादस्य कबन्धान्यग्रतोऽनघ ॥२४॥
ततः खेऽदृश्यत गिरिर्निपेतुः सर्वतो दिशम् । गदापरिघनिस्त्रिंशमुसलाः साश्मवर्षिणः ॥२५॥
अहयोऽशनिनिःश्वासा वमन्तोऽग्निं रुषाक्षिभिः । अभ्यधावन् गजा मत्ताः सिंहव्याघ्राश्च यूथशः ॥२६॥
समुद्र ऊर्मिभिर्भीमः प्लावयन् सर्वतो भुवम् । आससाद महाह्रादः कल्पान्त इव भीषणः ॥२७॥
एवंविधान्यनेकानि त्रासनान्यमनस्विनाम् । ससृजुस्तिग्मगतय आसुर्या माययासुराः ॥२८॥
ध्रुवे प्रयुक्तामसुरैस्तां मायामतिदुस्तराम् । निशाम्य तस्य मुनयः शमाशंसन् समागताः ॥२९॥

मुनय ऊचुः

औत्तानपादे भगवांस्तव शार्ङ्गधन्वा देवः क्षिणोत्ववनतार्तिहरो विपक्षान् ।
यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमङ्ग मृत्युम् ॥३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

सामने नहीं खड़ा है, तब उनकी इच्छा यक्षोंकी राजधानी अलकापुरीको देखनेकी हुई । किन्तु बादमें उन्होंने यह सोचा कि कोई भी पुरुष मायावी शत्रुओंकी करतूत जान नहीं सकता और वे वह पुरी देखने नहीं गये ॥२१॥ सारथिसे भी यही कह चित्र-विचित्र रथपर आरूढ़ ध्रुवजी शत्रुओंके आक्रमण-की सम्भावनासे सावधान होकर बैठ गये । इसी समय उनको समुद्रकी गर्जनाकी भाँति प्रचण्ड वायु-का भयङ्कर शब्द सुनायी दिया और उन्होंने सब दिशाओंमें धूलि उड़ती देखी ॥२२॥ एक क्षणके भीतर सारा आकाशमण्डल मेघोंसे आच्छादित हो गया और उसमें सब ओर भयंकर गड़गड़ाहटके साथ बिजली कौंधने लगी ॥ २३ ॥ हे अनघ ! वे मेघ रुधिरकी धाराएँ, कफ, पीब, विष्ठा, मूत्र तथा चर्बी आदि अपवित्र वस्तु बरसाने और ध्रुवजीके समक्ष आकाशसे अगणित कबन्ध अर्थात् धड़ पृथ्वी-पर गिरने लगे ॥ २४ ॥ उन्होंने आकाशमें एक विशाल पर्वत देखा और सभी दिशाओंमें पत्थरों-की वर्षाके साथ आकाशसे गदा, परिघ, खड्ग तथा मूसल आदि बरसते देखे ॥ २५ ॥ श्रीध्रुवजीने देखा कि बिजलीके सदृश दीर्घ निःश्वास छोड़नेवाले सर्प अपनी रोषपूर्ण दृष्टिसे अग्निकी चिनगारियाँ निकालते आ रहे हैं और झुण्डके झुण्ड मतवाले हाथी, सिंह तथा व्याघ्र उनकी ओर बड़े वेगसे दौड़े आ रहे हैं ॥ २६ ॥ प्रलयकालीन जैसा भयंकर समुद्र अपनी उत्ताल तरंगोंसे सारी पृथ्वीको सब ओरसे डुबाता हुआ भीषण गर्जनके साथ उनकी ओर बढ़ा चला आ रहा है ॥ २७ ॥ इस प्रकार उन तीव्र-गतिवाले यक्षोंने अपनी आसुरी मायासे बहुतसे कौतुक दिखाये, जो अधीर पुरुषोंको भयभीत करनेमें समर्थ थे ॥ २८ ॥ 'ध्रुवजीपर असुरोंने अपनी दुस्तर माया फैलायी है'—यह समाचार सुनकर कुछ मुनि वहाँ आये और उन्होंने ध्रुवजीकी शुभ कामना की ॥ २९ ॥ मुनिजन बोले—हे महाराज उत्तान-पादके कुमार ! हे प्रिय ! जिनका नाम सुन और कीर्तन करके मनुष्य अनायास अतिशय दुस्तर मृत्युके मुखसे बाहर निकल जाते हैं, वे ही शरणागत भयहारी शार्ङ्गपाणि भगवान वासुदेव तुम्हारे शत्रुओंको नष्ट करें ॥ ३० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी'-भाषटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

निशम्य गदतामेवमृषीणां धनुषि ध्रुवः । सन्दधेऽस्त्रमुपस्पृश्य यन्नारायणनिर्मितम् ॥ १ ॥
सन्धीयमान एतस्मिन् माया गुह्यकनिर्मिताः । क्षिप्रं विनेशुर्विदुर क्लेशा ज्ञानोदये यथा ॥ २ ॥

तस्यार्षास्त्रं धनुषि प्रयुञ्जतः सुवर्णपुङ्खाः कलहंसवाससः ।
विनिःसृता आविविशुर्द्विषद्बलं यथा वनं भीमरवाः शिखण्डिनः ॥ ३ ॥
तैस्तिग्मधारैः प्रधने शिलीमुखैरितस्ततः पुण्यजना उपद्रुताः ।
तमभ्यधावन् कुपिता उदायुधाः सुपर्णमुन्नद्धफणा इवाहयः ॥ ४ ॥
स तान् पृषत्कैरभिधावतो मृधे निकृत्तबाहूरुशिरोधरोदरान् ।
निनाय लोकं परमर्कमण्डलं व्रजन्ति निर्भिद्य यमूर्ध्वरेतसः ॥ ५ ॥
तान् हन्यमानानभिवीक्ष्य गुह्यकाननागसश्चित्ररथेन भूरिशः ।
औत्तानपादिं कृपया पितामहो मनुर्जगादोपगतः सहर्षिभिः ॥६॥

मनुरुवाच

अलं वत्सातिरोषेण तमोद्वारेण पाप्मना । येन पुण्यजनानेतानवधीस्त्वमनागसः ॥७॥
नास्मत्कुलोचितं तात कर्मैतत्सद्विगर्हितम् । वधो यदुपदेवानामारब्धस्तेऽकृतैनसाम् ॥८॥
नन्वेकस्यापराधेन प्रसङ्गाद्बहवो हताः । भ्रातुर्वधाभितप्तेन त्वयाङ्ग भ्रातृवत्सल ॥९॥
नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् । यदात्मानं पराग्गृह्य पशुवद्भूतवैशसम् ॥१०॥

(महाराज स्वायम्भुव मनुका आकर ध्रुवजीको युद्धसे विमुख करना) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! ऋषियोंका यह कथन सुनकर महाराज ध्रुवने जलका आचमन किया और अपने धनुषपर श्रीनारायणका नारायणास्त्र चढ़ाया ॥ १ ॥ हे विदुरजी ! ज्ञानका उदय हो जानेपर जैसे अविद्यादि क्लेश नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही उस बाणके चढ़ाते ही यक्षोंकी फैलायी हुई सारी माया तत्काल नष्ट हो गयी ॥ २ ॥ उस नारायणास्त्रको धनुषपर चढ़ाते ही उससे राजहंसके पखनों जैसे सोनेकी नोकवाले अगणित तीक्ष्ण बाण निकले और जैसे मयूर केका शब्द करते हुए वनमें घुस जाते हैं, वैसे ही अतिशय भयानक वे बाण साँय-साँय शब्द करते हुए शत्रुकी सेनामें जा घुसे ॥ ३ ॥ उस युद्धमें उन तीक्ष्ण धारवाले बाणोंसे क्षत-विक्षत यक्ष गरुड़से छेड़े हुए सर्पोंके समान अत्यन्त कुपित होकर अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र उठाये इधर-उधरसे ध्रुवजीकी तरफ झपटे ॥ ४ । ध्रुवजीने अपनी ओर आते हुए उन यक्षोंको, जिनके बाहु, जंघा, कंधे तथा उदर आदि अंग-प्रत्यंग बाणोंसे कट-कुट गये थे, उस लोकमें भेज दिया जहाँ कि सूर्यमण्डलको वेधकर ऊर्ध्वरेता मुनिजन जाया करते हैं ॥ ५ ॥ इस तरह ध्रुवजीके द्वारा कितने ही निरपराध यक्षोंका वध होते देखकर ध्रुवके पितामह स्वायम्भुव मनुको उनपर बड़ी दया आयी और उन्होंने बहुतेरे ऋषियोंके साथ वहाँ जाकर अपने पौत्र ध्रुवजीसे कहा ॥ ६ ॥ स्वायम्भुव मनुने कहा—बेटा ! जिसके वशमें होकर तुमने इतने निरपराध यक्षोंको मारा है, उस क्रोधको अब दूर कर दो। पापी क्रोध नरकके द्वारसदृश है ॥ ७ ॥ हे तात ! तुमने जो इन निरपराध यक्षोंको मारना आरम्भ किया है, यह हमारे कुलके लिए उचित नहीं है और साधुजन भी ऐसे कर्मोंकी निन्दा किया करते हैं ॥ ८ ॥ हे प्रिय और भ्रातृवत्सल ! तुमने अपने भाईके मरणसे सन्तप्त होकर एक यक्षके अपराधी होनेपर अनेकोंको मार डाला है ॥ ९ ॥ इस जड़ शरीरको ही आत्मा समझकर इसके लिये पशुओंकी भाँति प्राणियोंको मारना भगवान

सर्वभूतात्मभावेन भूतावासं हरिं भवान् । आराध्याप दुराराध्यं विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥११॥
स त्वं हरेरनुध्यातस्तत्पुंसामपि सम्मतः । कथं त्ववद्यं कृतवाननुशिक्षन् सतां व्रतम् ॥१२॥
तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु । समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति ॥१३॥
सम्प्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः । विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१४॥
भूतैः पञ्चभिरारब्धैर्योषित्पुरुष एव हि । तयोर्व्यवायात्सम्भूतिर्योषित्पुरुषयोरिह ॥१५॥
एवं प्रवर्तते सर्गः स्थितिः संयम एव च । गुणव्यतिकराद्राजन् मायया परमात्मनः ॥१६॥
निमित्तमात्रं तत्रासीन्निर्गुणः पुरुषर्षभः । व्यक्providedाव्यक्तमिदं विश्वं यत्र भ्रमति लोहवत् ॥१७॥

स खल्विदं भगवान् कालशक्त्या गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
करोत्यकर्तैव निहन्त्यहन्ता चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या ॥१८॥

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः । जनं जनेन जनयन् मारयन् मृत्युनान्तकम् ॥१९॥

न वै स्वपक्षोऽस्य विपक्ष एव वा परस्य मृत्योर्विशतः समं प्रजाः ।
तं धावमानमनुधावन्त्यनीशा यथा रजांस्यनिलं भूतसङ्घाः ॥२०॥

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः । उभाभ्यां रहितः स्वस्थो दुःस्थस्य विदधात्यसौ ॥२१॥
केचित्कर्म वदन्त्येनं स्वभावमपरे नृप । एके कालं परे दैवं पुंसः काममुतापरे ॥२२॥

विष्णुकी भक्ति करनेवाले सज्जनोंका मार्ग नहीं हो सकता ॥ १० ॥ तुमने बाल्यकालमें ही बड़ी कठिनाईसे आराध्य और सब भूतोंके आश्रयस्थल भगवानकी सर्वभूतात्मभावसे आराधना करके उनके परम पदको पा लिया है ॥ ११ ॥ तुमने एकाग्र मनसे भगवानका ध्यान किया है, सब भक्तजन तुम्हारा सम्मान करते हैं और तुम सभी साधुजनोंके मार्गप्रदर्शक हो । यह सब होनेपर भी तुमने ऐसा निन्द्य कर्म क्यों किया ? ॥ १२ ॥ सहनशीलता, दया, मित्रता और समताका भाव रखनेसे ही सर्वात्मा भगवान प्रसन्न होते हैं ॥ १३ ॥ उन भगवानके प्रसन्न हो जानेपर पुरुष प्राकृत गुणों तथा जीवभावसे मुक्त होकर ब्रह्मपद पा लेता है ॥ १४ ॥ हे ध्रुव ! शरीर आदिके रूपसे परिणामको प्राप्त पञ्चभूतों द्वारा स्त्री और पुरुष उत्पन्न होते हैं और उन स्त्री-पुरुषोंके समागमसे ही अन्य स्त्री-पुरुषोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥ हे राजन् ! उन भगवानकी मायासे सत्त्वादि गुणोंमें न्यूनाधिकभाव होनेपर ही शरीरोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश होता है ॥ १६ ॥ हे पुरुषर्षभ ! निर्गुण परमात्मा तो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशमें निमित्तमात्र होता है । उसीके आश्रयसे कार्य-कारणरूपी सब प्रपञ्च चुम्बक और लोहेके समान घूमता रहता है ॥ १७ ॥ हे ध्रुव ! कालके क्रमसे गुणप्रवाहमें न्यूनाधिकता होती और भगवानकी शक्तिमें भी विषमता आ जाती है, उस शक्तिवैषम्यसे ही भगवान अकर्ता होते हुए भी जगत्को रचते और इसका संहार करते हैं । सच तो यह है कि उन सर्वव्यापक प्रभुकी लीला अचिन्तनीय है—कोई उसका पार नहीं पा सकता ॥ १८ ॥ हे ध्रुव ! वे कालरूपी अव्यय परमात्मा ही स्वयं अन्तरहित होकर भी इस जगत्का अन्त करते और अनादि होकर भी सबके आदि कारण माने जाते हैं । वे ही एक जीवसे दूसरे जीवकी उत्पत्ति कराते और वे ही एकसे दूसरेको मरवाकर उसका अन्त करते हैं ॥ १९ ॥ सारी प्रजामें समानभावसे अनुप्रविष्ट उन कालरूप परमात्माका कोई स्वपक्ष तथा परपक्ष नहीं होता, किन्तु जैसे वायुके चलनेपर रजःकण भी उसके साथ-साथ उड़ते रहते हैं, उसी तरह सम्पूर्ण जीव कर्मोंके अधीन होकर कालरूपी परमात्माका अनुगमन करते रहते हैं ॥ २० ॥ वे सर्वव्यापक भगवान कर्मबन्धनमें स्थित जीवकी आयुवृद्धि और क्षयका विधान करते हैं, किन्तु स्वयं इन दोनोंसे रहित तथा अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं ॥ २१ ॥ हे राजन् ! इन परमात्माको ही कोई अर्थात् मीमांसक लोग कर्म, चार्वाक स्वभाव, वैशेषिक काल, ज्योतिषी दैव और वात्स्यायनादि कामशास्त्री

अव्यक्तस्याप्रमेयस्य नानाशक्त्युदयस्य च । न वै चिकीर्षितं तात को वेदाथ स्वसम्भवम् ॥२३॥
न चैते पुत्रक भ्रातुर्हन्तारो धनदानुगाः । विसर्गादानयोस्तात पुंसो दैवं हि कारणम् ॥२४॥
स एव विश्वं सृजति स एवावति हन्ति च । अथापि ह्यनहङ्कारान्नाज्यते गुणकर्मभिः ॥२५॥
एष भूतानि भूतात्मा भूतेशो भूतभावनः । स्वशक्त्या मायया युक्तः सृजत्यत्ति च पाति च॥२६॥

तमेव मृत्युममृतं तात दैवं सर्वात्मनोपेहि जगत्परायणम् ।
यस्मै बलिं विश्वसृजो हरन्ति गावो यथा वै नसि दामयन्त्रिताः ॥२७॥
यः पञ्चवर्षो जननीं त्वं विहाय मातुः सपत्न्या वचसा भिन्नमर्मा ।
वनं गतस्तपसा प्रत्यगक्षमाराध्य लेभे मूर्ध्नि पदं त्रिलोक्याः ॥२८॥
तमेनमङ्गात्मनि मुक्तविग्रहे व्यपाश्रितं निर्गुणमेकमक्षरम् ।
आत्मानमन्विच्छ विमुक्तमात्मदृग् यस्मिन्निदं भेदमसत्प्रतीयते ॥२९॥
त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ ।
भक्तिं विधाय परमां शनकैरविद्याग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढम् ॥३०॥

संयच्छ रोषं भद्रं ते प्रतीपं श्रेयसां परम् । श्रुतेन भूयसा राजन्नगदेन यथाऽऽमयम् ॥३१॥
येनोपसृष्टात्पुरुषाल्लोक उद्विजते भृशम् । न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः ॥३२॥
हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतम् । यज्जघ्निवान् पुण्यजनान् भ्रातृघ्नानित्यमर्षितः ॥३३॥

काम कहा करते हैं ॥ २२ ॥ जिनके द्वारा महत्तत्त्वादि अनेक शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो अपने भी उत्पत्तिस्थान हैं, वे अव्यक्त तथा अप्रमेय परमात्मा क्या करना चाहते हैं ? इस बातको कोई नहीं जानता । तब स्वेच्छानुसार प्रकट स्वयं भगवानको भला कौन जान पायेगा ? ॥ २३ ॥ हे पुत्र ! इन कुबेरके सेवकोंने तुम्हारे भाईको नहीं मारा है । क्योंकि मनुष्यके जन्म तथा मरणका वास्तविक कारण तो एकमात्र दैव ही है ॥ २४ ॥ वे ही संसारको रचते, पालन करते और इसका संहार करते हैं, तो भी अहंकाररहित होनेके कारण वे उसके गुण और कर्मोंसे लिप्त नहीं होते ॥ २५ ॥ वे सब प्राणियोंके आत्मास्वरूप ईश्वर और रक्षक प्रभु ही अपनी मायाशक्तिसे युक्त होकर अखिल विश्वके जीवोंकी रचना, पालन तथा संहार करते रहते हैं ॥ २६ ॥ अतएव हे तात ! नाकमें नाथ पड़े हुए बैल जैसे अपने स्वामीका बोझ ढोते हैं, वैसे ही जगत्के रचयिता ब्रह्मादिक देवता जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं, संसारके आश्रय तथा दुष्टोंके लिये मृत्यु एवं भक्तोंके लिए अमृतस्वरूप उन श्रीहरिकी तुम शरण गहो ॥ २७ ॥ अपनी पाँच वर्षकी ही अवस्थामें तुम अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे विद्ध हो और अपना घर छोड़कर वनको चले गये थे । वहाँपर जिन हृषीकेशभगवानकी तपस्या द्वारा आराधना करके तुमने त्रिलोकीके भी ऊपर ध्रुवपद पाया है उन निर्गुण, अद्वितीय, अविनाशी, वैरभावरहित अपने अन्तःकरणमें स्थित एवं नित्ययुक्त परमात्माको अपनी अन्तर्दृष्टिके द्वारा ढूँढ़ो, जिनमें यह भेदभावमय सब प्रपञ्च मिथ्या प्रतीत हो रहा है ॥ २८ ॥ २९ ॥ ऐसा करनेसे प्रत्यगात्मा, आनन्दमात्र एवं सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान अनन्तमें तुम्हारी सुदृढ़ भक्ति होगी और उसके प्रभावसे तुम धीरे-धीरे 'मैं तथा मेरापन' के रूपमें दृढ़ताको प्राप्त अविद्यारूप ग्रन्थिको काट दोगे ॥ ३० ॥ अतएव हे राजन् ! जैसे औषधिसे रोग शान्त किया जाता है, वैसे ही भगवानके गुणोंका सर्वदा श्रवण करके तुम कल्याणमार्गके परम विरोधी इस क्रोधको शान्त कर लो । भगवान तुम्हारा कल्याण करें ॥ ३१ ॥ जिसके वशीभूत पुरुषसे सब लोगोंको क्लेश होता है, वह अभयका इच्छुक और बुद्धिमान पुरुष क्रोधके अधीन कभी भी न हो ॥ ३२ ॥ 'ये मेरे भाईके घातक हैं' यह सोच और क्रुद्ध होकर तुमने जो यक्षोंको मारा है, इससे तुम्हारे हाथों भगवान शंकरके सखा

तं प्रसादय वत्साशु सन्नत्या प्रश्रयोक्तिभिः । न यावन्महतां तेजः कुलं नोऽभिभविष्यति ॥३४॥
एवं स्वायम्भुवः पौत्रमनुशास्य मनुर्ध्रुवम् । तेनाभिवन्दितः साकमृषिभिः स्वपुरं ययौ ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

ध्रुवं निवृत्तं प्रतिबुद्ध्य वैशसादपेतमन्युं भगवान् धनेश्वरः ।
तत्रागतश्चारणयक्षकिन्नरैः संस्तूयमानोऽभ्यवदत्कृताञ्जलिम् ॥१॥

धनद उवाच

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ । यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥२॥
न भवानवधीद्यक्षान्न यक्षा भ्रातरं तव । काल एव हि भूतानां प्रभुरप्ययभावयोः ॥३॥
अहं त्वमित्यपार्था धीरज्ञानात्पुरुषस्य हि । स्वाप्नीवाभात्यतद्ध्यानाद्यया बन्धविपर्ययौ ॥४॥
तद्गच्छ ध्रुव भद्रं ते भगवन्तमधोक्षजम् । सर्वभूतात्मभावेन सर्वभूतात्मविग्रहम् ॥५॥
भजस्व भजनीयाङ्घ्रिमभवाय भवच्छिदम् । युक्तं विरहितं शक्त्या गुणमय्याऽऽत्ममायया ॥६॥

वृणीहि कामं नृप यन्मनोगतं मत्तस्त्वमौत्तानपदेऽविशङ्कितः ।
वरं वरार्होऽम्बुजनाभपादयोरनन्तरं त्वां वयमङ्ग शुश्रुम ॥७॥

कुबेरजीका बहुत बड़ा अपमान हुआ है ॥ ३३ ॥ इसलिए उन महापुरुषोंका तेज हमारे कुलको हानि न पहुँचावे, उसके पहले ही तुम उन्हें अपने विनम्र संभाषण और विनय आदि उपायोंसे मना लो ॥ ३४ ॥ हे विदुरजी ! स्वायम्भुव मनु इस प्रकार अपने पौत्र ध्रुवको समझा-बुझा और उनसे अभिवन्दित हो महर्षियोंके साथ अपने धामको लौट गये ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(ध्रुवको कुबेरजीका वरदान और उनको ध्रुवलोक प्राप्त होना) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! ध्रुवका क्रोध शान्त हो गया है और वे युद्धसे निवृत्त हो गये हैं, यह जानकर भगवान कुबेरजी यक्ष, चारण तथा किन्नरादिसे स्तूयमान होते हुए वहाँ आये और अपने सामने हाथ जोड़कर खड़े ध्रुवसे बोले ॥ १ ॥ कुबेरने कहा—हे क्षत्रियपुत्र ! तुमने अपने पितामहके उपदेशानुसार, जिनका त्यागना अत्यन्त कठिन था, उस वैरको त्याग दिया है । अतएव हे अनघ ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २ ॥ वस्तुतः न तो तुमने यक्षोंको मारा और न यक्षोंने तुम्हारे भाईको, क्योंकि सब जीवोंकी उत्पत्ति तथा नाशका कारण एकमात्र काल है ॥ ३ ॥ जिसके कारण बन्धन तथा दुःख आदि विपरीत अवस्थायें प्राप्त होती हैं, वह 'मैं—तू' आदि मिथ्याबुद्धिवाले मनुष्यको अज्ञानवश स्वप्नकी नाईं शरीर आदिमें आत्मत्वका अभिनिवेश होनेसे ही भासमान होती हैं ॥ ४ ॥ अतएव हे ध्रुव ! अब तुम जाओ, तुम्हारा कल्याण हो और संसारके स्थावर-जंगम सम्पूर्ण प्राणी जिनके स्वरूप हैं, जो इस दृश्यमान संसारकी उत्पत्ति आदिके लिये अपनी त्रिगुणात्मिका माया शक्तिसे युक्त होकर भी वास्तवमें गुणहीन हैं और जिनके चरणकमल सेवन करनेके योग्य हैं, उन संसारपाशसे मुक्त करनेवाले भगवान अधोक्षजको तुम सर्वभूतात्मभावसे भजो ॥ ५ ॥ ६ ॥ हे प्रिय ! हमने सुना है कि तुम सदा भगवान कमलनाभके चरणकमलोंके समीप रहते हो । अतएव तुम हमसे वर पानेके अधिकारी हो । हे महाराज उत्तानपादके

मैत्रेय उवाच

स राजराजेन वराय चोदितो ध्रुवो महाभागवतो महामतिः ।
हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ॥८॥

तस्य प्रीतेन मनसा तां दत्त्वैडविडस्ततः । पश्यतोऽन्तर्दधे सोऽपि स्वपुरं प्रत्यपद्यत ॥९॥
अथायजत यज्ञेशं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः । द्रव्यक्रियादेवतानां कर्म कर्मफलप्रदम् ॥१०॥
सर्वात्मन्यच्युतेऽसर्वे तीव्रौघां भक्तिमुद्वहन् । ददर्शात्मनि भूतेषु तमेवावस्थितं विभुम् ॥११॥
तमेवं शीलसम्पन्नं ब्रह्मण्यं दीनवत्सलम् । गोप्तारं धर्मसेतूनां मेनिरे पितरं प्रजाः ॥१२॥
षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं शशास क्षितिमण्डलम् । भोगैः पुण्यक्षयं कुर्वन्नभोगैरशुभक्षयम् ॥१३॥
एवं बहुसवं कालं महात्माविचलेन्द्रियः । त्रिवर्गौपयिकं नीत्वा पुत्रायादान्नृपासनम् ॥१४॥
मन्यमान इदं विश्वं मायारचितमात्मनि । अविद्यारचितस्वप्नगन्धर्वनगरोपमम् ॥१५॥

आत्मस्त्र्यपत्यसुहृदो बलमृद्धकोशमन्तःपुरं परिविहारभुवश्च रम्याः ।
भूमण्डलं जलधिमेखलमाकलय्य कालोपसृष्टमिति स प्रययौ विशालाम् ॥१६॥
तस्यां विशुद्धकरणः शिववार्विगाह्य बद्ध्वाऽऽसनं जितमरुन्मनसा हृताक्षः ।
स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद् ध्यायंस्तदव्यवहितो व्यसृजत्समाधौ ॥१७॥
भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्रमानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥१८॥

पुत्र ! तुम्हें इच्छा हो, वह वर मुझसे निःशंक होकर माँगो—मैं दूँगा ॥७॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! उन यक्षपति कुबेरके इस तरह वर माँगनेके लिए आग्रह करनेपर महाभागवत तथा परम बुद्धिमान् ध्रुवजीने उन भगवानके सर्वदा स्मरण होते रहनेका वर माँगा, जिसके सहारे मनुष्य अनायास यह दुस्तर अज्ञानान्धकार पार कर लेता है ॥ ८ ॥ तब इडविडासुवन भगवान कुबेरजी उन्हें प्रसन्नचित्तसे अविचल भगवत्स्मृतिका वर देकर उनके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये और ध्रुवजी भी अपने नगरको चले आये ॥ ९ ॥ अपने नगरमें रहते हुए वे द्रव्य, क्रिया तथा देवताओं द्वारा होनेवाले सब कर्मोंके फलदाता श्रीयज्ञपतिका बहुतेरे बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे यजन करने लगे ॥ १० ॥ इस तरह उन सर्वात्मा तथा सर्वरूप भगवानमें प्रबल प्रवाहयुक्त भक्तिभाव रखते हुए वे स्वयं संपूर्ण प्राणियोंमें उन सर्वव्यापक हरिको ही विराजमान देखने लगे ॥ ११ ॥ शीलसम्पन्न, ब्राह्मणभक्त, दीनवत्सल तथा धर्मकी मर्यादाके रक्षक उन ध्रुवजीको उनकी प्रजा पिताके समान मानती और उनका आदर करती थी। इस तरह विविध भाँतिके ऐश्वर्यभोगसे पुण्य और यज्ञादि कर्मोंके द्वारा पापका क्षय करते हुए ध्रुवजीने छत्तीस हजार वर्षतक शासन किया ॥ १२ ॥ १३ ॥ उन महात्मा ध्रुवने इस तरह संयतेन्द्रिय होकर अर्थ, धर्म तथा कामकी सिद्धि करानेवाले कई वर्षोंका समय बिताकर अन्तमें अपने पुत्रको राज्यासन प्रदान कर दिया ॥ १४ ॥ अविद्यारचित स्वप्न और गन्धर्वनगरके समान समस्त जगत्को अपनी आत्मामें ही मायासे रचा मान और यह समझकर कि शरीर, स्त्री. पुत्र, मित्र, सेना, सम्पत्तिसम्पन्न कोश, अन्तःपुर, सुरम्य विहारभूमि तथा समुद्र तकका भूमण्डल—ये सब कालके गालमें पड़े हुए हैं, वे बद्रिकाश्रमको चले गये ॥ १५ ॥ १६ ॥ वहाँ अलकनन्दा गङ्गाके जलमें स्नानकर शुद्धचित्त हो स्थिर आसनसे बैठे। उन्होंने प्राणोंको जीतकर मनके द्वारा इन्द्रियोंका दमन किया और अपना चित्त भगवानके विराट् स्वरूपमें लगा दिया। तब अविच्छिन्न रूपसे भगवानके उसी स्वरूपका चिन्तन करते-करते अन्तमें उसे भी छोड़कर वे अविचल समाधिमें लीन हो गये ॥ १७ ॥ तदनन्तर विष्णुभगवानका भक्तिभाव रखने और नेत्रोंमें बारम्बार आनन्दाश्रुकी बाढ़ आ जानेके कारण उनका हृदय द्रवीभूत हो गया। उनके

स ददर्श विमानाग्र्यं नभसोऽवतरद् ध्रुवः। विभ्राजयद्दश दिशो राकापतिमिवोदितम् ॥१९॥

तत्रानु देवप्रवरौ चतुर्भुजौ श्यामौ किशोरावरुणाम्बुजेक्षणौ।
स्थिताववष्टभ्य गदां सुवाससौ किरीटहाराङ्गदचारुकुण्डलौ ॥२०॥

विज्ञाय तावुत्तमगायकिङ्करावभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः।
ननाम नामानि गृणन् मधुद्विषः पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जलिः ॥२१॥

तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसं बद्धाञ्जलिं प्रश्रयनम्रकन्धरम्।
सुनन्दनन्दावुपसृत्य सस्मितं प्रत्यूचतुः पुष्करनाभसम्मतौ ॥२२॥

सुनन्दनन्दावूचतुः

भो भो राजन् सुभद्रं ते वाचं नोऽवहितः शृणु। यः पञ्चवर्षस्तपसा भवान् देवमतीतृपत् ॥२३॥

तस्याखिलजगद्धातुरावां देवस्य शार्ङ्गिणः। पार्षदाविह सम्प्राप्तौ नेतुं त्वां भगवत्पदम् ॥२४॥

सुदुर्जयं विष्णुपदं जितं त्वया यत्सूरयोऽप्राप्य विचक्षते परम्।
आतिष्ठ तच्चन्द्रदिवाकरादयो ग्रहर्क्षताराः परियन्ति दक्षिणम् ॥२५॥

अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित्। आतिष्ठ जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२६॥

एतद्विमानप्रवरमुत्तमश्लोकमौलिना। उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि ॥२७॥

मैत्रेय उवाच

निशम्य वैकुण्ठनियोज्यमुख्ययोर्मधुच्युतं वाचमुरुक्रमप्रियः।
कृताभिषेकः कृतनित्यमङ्गलो मुनीन् प्रणम्याशिषमभ्यवादयत् ॥२८॥

शरीरमें रोमाञ्च हो आया और देहाभिमानका ह्रास हो जानेके कारण उन्हें 'मैं ध्रुव हूँ' यह भी सुधि नहीं रह गयी ॥ १८ ॥ इसी समय ध्रुवने आकाशमण्डलसे एक अतिशय उत्तम विमान उतरते देखा, जो अपने प्रकाशसे उदय होते हुए चन्द्रमाकी भाँति दसों दिशाओंको प्रकाशित कर रहा था ॥ १९ ॥ उसमें दो श्रेष्ठ पार्षद गदाओंको लिये खड़े थे। उनके चार भुजाएँ थीं। उनका सुन्दर और श्याम शरीर था। उनकी किशोरावस्था थी और अरुण कमलके समान विशाल उनके नेत्र थे। वे सुन्दर वस्त्र तथा किरीट, हार, अङ्गद एवं महामनोहर कुण्डलादि आभूषणोंसे आभूषित थे ॥ २० ॥ उनको भगवान उत्तमश्लोकके पार्षद समझकर ध्रुवजी पूजा आदिका क्रम भूलकर सहसा उठ खड़े हुए और 'ये भगवानके पार्षदोंमें मुख्य हैं' यह जानकर उन्होंने श्रीमधुसूदनका नाम ले और हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ २१ ॥ इसके बाद भगवान कमलनाभके उन माननीय पार्षदों अर्थात् सुनन्द और नन्दने जिनका मन भगवान कृष्णचन्द्रके चरणकमलोंमें लीन था और जो हाथ जोड़े बड़ी नम्रतासे माथा झुकाये सामने खड़े थे, उन ध्रुवजीके समीप जाकर उनसे मुसकाते हुए कहा ॥ २२ ॥ सुनन्द और नन्द बोले—हे राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, तुम हमारी बातको सावधान मनसे सुनो। जिन भगवानको तुमने पाँच वर्षकी अवस्थामें ही प्रसन्न कर लिया था, हम उन्हीं निखिल जगत्के नियन्ता शार्ङ्गपाणि विष्णुभगवानके दूत हैं और तुम्हें उनके परमधामको ले जानेके लिए इस समय यहाँ आये हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥ जिसे कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता, तुमने वह विष्णुपद प्राप्त किया है। बड़े ज्ञानी सप्तर्षि भी उसे न पाकर केवल नीचेसे देखते रह जाते हैं। सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह, नक्षत्र और तारागण भी जिसकी सर्वदा प्रदक्षिणा किया करते हैं, उस परमपदको तुम प्राप्त हो चुके हो ॥ २५ ॥ हे प्रिय! तुम्हारे पितृगण अथवा और कोई भी जिस पदको आजतक नहीं प्राप्त कर पाया है, तुम विष्णुभगवानके उस जगद्वन्द्य परमपदपर विराजमान हो गये हो ॥ २६ ॥ इस श्रेष्ठ विमानको पुण्यकीर्ति-शिरोमणि श्रीविष्णुभगवानने भेजा है। हे आयुष्मन्! तुम इसपर बैठो ॥ २७ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—भगवान विष्णुके प्रधान पार्षदोंके इन अमृतमय वचनोंको सुनकर परम भगवद्भक्त ध्रुवजीने स्नान

परीत्याभ्यर्च्य धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च । इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥२९॥
तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम् । मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम् ॥३०॥
तदा दुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवादयः । गन्धर्वमुख्याः प्रजगुः पेतुः कुसुमवृष्टयः ॥३१॥
स च स्वर्लोकमारोक्ष्यन् सुनीतिं जननीं ध्रुवः । अन्वस्मरदगं हित्वा दीनां यास्ये त्रिविष्टपम् ॥३२॥
इति व्यवसितं तस्य व्यवसाय सुरोत्तमौ । दर्शयामासतुर्देवीं पुरो यानेन गच्छतीम् ॥३३॥
तत्र तत्र प्रशंसद्भिः पथि वैमानिकैः सुरैः । अवकीर्यमाणो ददृशे कुसुमैः क्रमशो ग्रहान् ॥३४॥
त्रिलोकीं देवयानेन सोऽतिव्रज्य मुनीनपि । परस्ताद्यद् ध्रुवगतिर्विष्णोः पदमथाभ्यगात् ॥३५॥

यद् भ्राजमानं स्वरुचैव सर्वतो लोकास्त्रयो ह्यनु विभ्राजन्त एते ।
यन्नाव्रजञ्जन्तुषु येऽननुग्रहा व्रजन्ति भद्राणि चरन्ति येऽनिशम् ॥३६॥

शान्ताः समदृशः शुद्धाः सर्वभूतानुरञ्जनाः । यान्त्यञ्जसाच्युतपदमच्युतप्रियबान्धवाः ॥३७॥
इत्युत्तानपदः पुत्रो ध्रुवः कृष्णपरायणः । अभूत्त्रयाणां लोकानां चूडामणिरिवामलः ॥३८॥
गम्भीरवेगोऽनिमिषं ज्योतिषां चक्रमाहितम् । यस्मिन् भ्रमति कौरव्य मेढ्यामिव गवां गणः ॥३९॥
महिमानं विलोक्यास्य नारदो भगवानृषिः । आतोद्यं वितुदञ्श्लोकान् सत्रेऽगायत्प्रचेतसाम् ॥४०

नारद उवाच

नूनं सुनीतेः पतिदेवतायास्तपःप्रभावस्य सुतस्य तां गतिम् ।
दृष्ट्वाभ्युपायानपि वेदवादिनो नैवाधिगन्तुं प्रभवन्ति किं नृपाः ॥४१॥

किया और नित्यके मङ्गलकृत्योंसे निवृत्त हो बदरिकाश्रमनिवासी मुनीश्वरोंको प्रणाम करके उनसे आशीर्वाद लिया ॥ २८ ॥ तदनन्तर उस श्रेष्ठ विमानकी प्रदक्षिणा और वन्दना करके उन्होंने पार्षदोंको प्रणाम किया और सुवर्णमय स्वरूप धारण करके उसपर चढ़नेको उद्यत हुए ॥२९॥ इसी समय उत्तानपाद-के पुत्र ध्रुवने देखा कि काल मूर्तिमान् होकर उनके सामने उपस्थित है। इस दशामें वे मृत्युके माथेपर पैर रखकर उस अद्भुत विमानपर आरूढ़ हुए ॥ ३० ॥ सब देवता दुन्दुभी, मृदंग, पणव आदि बाजे बजाने और गन्धर्व गाने लगे और आकाशसे फूल बरसने लगा ॥ ३१ ॥ स्वर्गधामको जाते समय ध्रुवजीको अपनी माता सुनीति याद आ गयी तब उन्होंने सोचा कि 'मैं अपनी दीन-हीन माताको यहीं छोड़कर दुर्गम स्वर्गलोकको अकेले ही जाऊँगा ?' ॥ ३२ ॥ उन्हें कुछ सोचमें पड़े देखकर देवश्रेष्ठ नन्द और सुनन्दने उनका विचार ताड़ लिया और उन्हें उनके भी आगे विमानपर बैठकर जाती हुई माता सुनीतिको दिखलाया ॥ ३३ ॥ इस विमान द्वारा ध्रुवजीने आगे बढ़कर सूर्य आदि ग्रहोंको देखा। मार्गमें जहाँ-तहाँ विमानोंपर बैठे हुए देवता लोग उनकी सराहना करते हुए फूल बरसाते जाते थे ॥ ३४ ॥ इस तरह उस दिव्य विमानपर आरूढ़ होकर ध्रुवगतिको प्राप्त करनेवाले ध्रुव तीनों लोकोंको पार करके सप्तर्षिमण्डलसे भी ऊपर भगवान विष्णुके परमधाममें जा पहुँचे ॥ ३५ ॥ वह धाम सब ओर अपने प्रकाशसे प्रकाशित रहता है। उसके आलोकसे तीनों लोक आलोकित रहते हैं। जीवोंपर निर्दयता करनेवाले पुरुष वहाँ नहीं जा पाते। जो निरन्तर शुभ कर्म करते रहते हैं, वे ही वहाँ पहुँचते हैं ॥ ३६ ॥ शान्त, समदर्शी, शुद्ध तथा सब प्राणियोंको प्रसन्न रखनेवाले प्राणी ही भगवान अच्युतके प्रिय बान्धव होकर उनके परमपदको सुगमतासे प्राप्त करते हैं ॥ ३७ ॥ इस तरह उत्तानपादके पुत्र और भगवत्परायण ध्रुवजी तीनों लोकोंके भी ऊपर उसकी निर्मल चूड़ामणिके सदृश जाकर विराजमान हो गये ॥ ३८ ॥ हे कुरुकुलनन्दन ! जैसे दौंरी चलानेके समय खम्भेके चारों ओर बैल घूमते हैं, वैसे ही उस ध्रुवलोकके सहारे ही यह गम्भीर वेगवाला ज्योतिश्चक्र सर्वदा घूमा करता है ॥ ३९ ॥ इसकी महिमा देखकर देवर्षि नारदने प्रचेताओंकी यज्ञशालामें वीणा बजाकर हरिगुण गाते हुए ये तीन श्लोक कहे थे ॥ ४० ॥ नारदजीने कहा—पतिपरायणा सुनीतिके पुत्र ध्रुवजीको उनके तपके प्रभावसे जो

य: पञ्चवर्षो गुरुदारवाक्शरैर्भिन्नेन यातो हृदयेन दूयता।
वनं मदादेशकरोऽजितं प्रभुं जिगाय तद्भक्तगुणैः पराजितम् ॥४२॥
य: क्षत्रबन्धुर्भुवि तस्याधिरूढमन्वारुरुक्षेदपि वर्षपूगैः।
षट्पञ्चवर्षो यदहोभिरल्पैः प्रसाद्य वैकुण्ठमवाप तत्पदम् ॥४३॥

मैत्रेय उवाच

एतत्तेऽभिहितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया। ध्रुवस्योद्दामयशसश्चरितं सम्मतं सताम् ॥४४॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वस्त्ययनं महत्। स्वर्ग्यं ध्रौव्यं सौमनस्यं प्रशस्यमघमर्षणम् ॥४५॥
श्रुत्वैतच्छ्रद्धयाभीक्ष्णमच्युतप्रियचेष्टितम् । भवेद्भक्तिर्भगवति यया स्यात्क्लेशसंक्षयः ॥४६॥
महत्त्वमिच्छतां तीर्थं श्रोतुः शीलादयो गुणाः। यत्र तेजस्तदिच्छूनां मानो यत्र मनस्विनाम् ॥४७॥
प्रयतः कीर्तयेत्प्रातः समवाये द्विजन्मनाम्। सायं च पुण्यश्लोकस्य ध्रुवस्य चरितं महत् ॥४८॥
पौर्णमास्यां सिनीवाल्यां द्वादश्यां श्रवणेऽथवा। दिनक्षये व्यतीपाते सङ्क्रमेऽर्कदिनेऽपि वा ॥४९॥
श्रावयेच्छ्रद्दधानानां तीर्थपादपदाश्रयः। नेच्छंस्तत्रात्मनाऽऽत्मानं सन्तुष्ट इति सिध्यति ॥५०
ज्ञानमज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात्सत्पथेऽमृतम्। कृपालोर्दीननाथस्य देवास्तस्यानुगृह्णते ॥५१॥

इदं मया तेऽभिहितं कुरूद्वह ध्रुवस्य विख्यातविशुद्धकर्मणः।
हित्वार्भकः क्रीडनकानि मातुर्गृहं च विष्णुं शरणं यो जगाम ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे ध्रुवचरितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

सद्गति प्राप्त हुई है, उसे भागवत धर्मोंके ज्ञाता वेदवादी मुनिगण भी नहीं प्राप्त कर सकते, फिर राजाओंका क्या कहना है? ॥ ४१ ॥ अपनी पाँच वर्षकी ही अवस्थामें ध्रुवने सौतेली माताके वाग्बाणोंसे मर्माहत हो और दुखी हृदयसे वनमें जाकर मेरे उपदेशके अनुसार आचरण करते हुए अपने भक्तोंके गुणगान द्वारा जीते जाने योग्य उन अजेय प्रभुको अपने अधीन कर लिया था ॥ ४२ ॥ अहो! अपनी पाँच-छः वर्षकी अवस्थामें ध्रुवने कुछ ही दिनोंमें विष्णुभगवानको प्रसन्न करके जो परमपद प्राप्त किया है, सो उनके द्वारा प्राप्त किये हुए पदको दूसरा कोई क्षत्रिय क्या अनेकों वर्षतक तप करके भी पानेकी आशा कर सकता है? ॥ ४३ ॥ श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी! तुमने मुझसे जो पूछा सो मैंने तुम्हें साधु पुरुषोंसे सम्मानित परम यशस्वी ध्रुवजीका सब चरित्र कह सुनाया ॥ ४४ ॥ यह (ध्रुवचरित्र सुननेवालेका) धन, यश और आयु बढ़ती तथा यह पवित्र एवं अत्यन्त पुनीत कथानक है। इतना ही नहीं, यह स्वर्ग तथा ध्रुवपद प्रदान करता और मनोज्ञ, प्रशंसनीय एवं पापनाशक है ॥ ४५ ॥ श्रीअच्युतभगवानके प्रिय भक्त ध्रुवके इस पवित्र चरित्रको श्रद्धाके साथ बार-बार सुननेसे भगवानकी भक्ति मिलती है, जिससे सब दुःख नष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥ यह ध्रुवचरित्र महत्त्व चाहनेवालोंको महत्त्व प्राप्त कराता है, इसे सुननेवालोंको शील आदि सद्गुण प्राप्त होते और इसके द्वारा तेज चाहनेवालोंको तेज और मनस्वियोंको मान प्राप्त होता है ॥४७॥ पवित्रकीर्ति ध्रुवजीके चरित्रका सबेरे और सायंकालको ब्राह्मणादि द्विजातियोंके समूहमें एकाग्रचित्तसे कीर्तन करना चाहिए ॥ ४८ ॥ भगवानके परम पवित्र चरणकमलोंका आश्रित जो पुरुष इसे पूर्णिमा, अमावास्या, द्वादशी, श्रवणनक्षत्र, तिथिक्षय, व्यतीपात, संक्रान्ति तथा रविवारके दिन श्रद्धालु पुरुषोंको सुनाता है, उसे यदि कोई भी इच्छा न रहे तो अपने आत्माके द्वारा आत्मामें ही संतुष्ट होना रूप महती सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ४९ ॥ ५० ॥ जो पुरुष भगवन्मार्गके मर्मसे अनभिज्ञ लोगोंको यह भगवद्विषयक अमृतरूप ज्ञान देता है, उस दीनवत्सल कृपालु मनुष्यपर देवता लोग भी दया करते हैं ॥५१॥ हे कुरुकुलनन्दन!

त्रयोदशोऽध्यायः

सूत उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितं ध्रुवस्य वैकुण्ठपदाधिरोहणम् ।
प्ररूढभावो भगवत्यधोक्षजे प्रष्टुं पुनस्तं विदुरः प्रचक्रमे ॥१॥

विदुर उवाच

के ते प्रचेतसो नाम कस्यापत्यानि सुव्रत । कस्यान्ववाये प्रख्याता कुत्र वा सत्रमासत ॥२॥
मन्ये महाभागवतं नारदं देवदर्शनम् । येन प्रोक्तः क्रियायोगः परिचर्याविधिर्हरेः ॥३॥
स्वधर्मशीलैः पुरुषैर्भगवान् यज्ञपूरुषः । इज्यमानो भक्तिमता नारदेनेरितः किल ॥४॥
यास्ता देवर्षिणा तत्र वर्णिता भगवत्कथाः । मह्यं शुश्रूषवे ब्रह्मन् कार्त्स्न्येनाचष्टुमर्हसि ॥५॥

मैत्रेय उवाच

ध्रुवस्य चोत्कलः पुत्रः पितरि प्रस्थिते वनम् । सार्वभौमश्रियं नैच्छदधिराजासनं पितुः ॥६॥
स जन्मनोपशान्तात्मा निःसङ्गः समदर्शनः । ददर्श लोके विततमात्मानं लोकमात्मनि ॥७॥
आत्मानं ब्रह्म निर्वाणं प्रत्यस्तमितविग्रहम् । अवबोधरसैकात्म्यमानन्दमनुसन्ततम् ॥८॥
अव्यवच्छिन्नयोगाग्निदग्धकर्ममलाशयः । स्वरूपमवरुन्धानो नात्मनोऽन्यं तदैक्षत ॥९॥
जडान्धबधिरोन्मत्तमूकाकृतिरतन्मतिः । लक्षितः पथि बालानां प्रशान्तार्चिरिवानलः ॥१०॥

जो अपनी बाल्यावस्थाके समय माताके घर और खिलौनोंको छोड़कर भगवान विष्णुकी शरणमें चले गये थे, जिनके कर्म सर्वत्र प्रसिद्ध और परम पवित्र हैं। उन ध्रुवजीका यह चरित्र मैं तुम्हें सुना चुका ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(ध्रुववंशका विस्तार तथा अंगका चरित्र) श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुने! मैत्रेयजीके द्वारा ध्रुवजीके विष्णुपद पानेका वृत्तान्त सुनकर जिनके हृदयमें विष्णुभगवानकी भक्तिका उद्रेक हो रहा था, वे विदुरजी फिर पूछने लगे ॥ १ ॥ विदुरजीने कहा—हे सुव्रत! वे प्रचेतागण कौन और किसके पुत्र थे? और वे किसके वंशज कहे जाते थे? और उन सबने कहाँ यज्ञ किया था? ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन्! जिन्होंने श्रीहरिकी पूजाविधिस्वरूप क्रियायोगका निरूपण किया है, भगवानका साक्षात् दर्शन प्राप्त करनेवाले उन नारदजीको मैं परम भगवद्भक्त समझता हूँ ॥ ३ ॥ आपके कथनसे ऐसा मालूम होता है कि जब प्रचेतालोग अपने धर्मका आचरण करते हुए भगवान यज्ञपुरुषका भजन करते थे, तभी भक्तिमान् नारदजीने उनका गुणगान किया था ॥ ४ ॥ हे ब्रह्मन्! उस स्थानपर देवर्षि श्रीनारदजीने जो-जो भगवच्चरित्रोंके वर्णन किये हों, वे सब मुझे कह सुनाइये। मुझे उन्हें सुननेकी बड़ी प्रबल अभिलाषा है ॥ ५ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी! महामना ध्रुवजीके पुत्र उत्कलने पिताके वनगमनके बाद उनके सार्वभौम सम्पत्ति तथा राजसिंहासनकी कुछ भी इच्छा नहीं की ॥ ६ ॥ वह जन्मसे ही शान्तचित्त, असंग, समदर्शी और सम्पूर्ण लोकोंमें अपने आत्माको और अपने आत्मामें सम्पूर्ण लोकोंको स्थित देखा करता था ॥ ७ ॥ अपने अखण्ड योगाग्निसे कर्मोंके संस्कार भस्मीभूत हो जानेसे वह सब भेदोंसे रहित, एकमात्र ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, सर्वव्यापक तथा निर्वाणस्वरूप ब्रह्मको ही अपनी आत्मा मानकर अपनी आत्माके सिवाय और कुछ नहीं देख पाता था ॥ ८ ॥ ९ ॥ वह मार्गमें जाते हुए लोगोंको जड़, अन्धे, बहिरे, उन्मत्त तथा मूकके समान जान पड़ता था, लेकिन वास्तवमें वह वैसा नहीं था। वह तो जिसकी लपटें शान्त हो गयी

मत्वा तं जडमुन्मत्तं कुलवृद्धाः समन्त्रिणः । वत्सरं भूपतिं चक्रुर्यवीयांसं भ्रमेः सुतम् ॥११॥
स्वर्वीथिर्वत्सरस्येष्टा भार्यासूत षडात्मजान् । पुष्पार्णं तिग्मकेतुं च इषमूर्जं वसुं जयम् ॥१२॥
पुष्पार्णस्य प्रभा भार्या दोषा च द्वे बभूवतुः । प्रातर्मध्यन्दिनं सायमिति ह्यासन् प्रभासुताः ॥१३॥
प्रदोषो निशिथो व्युष्ट इति दोषासुतास्त्रयः । व्युष्टः सुतं पुष्करिण्यां सर्वतेजसमादधे ॥१४॥
स चक्षुः सुतमाकूत्यां पत्न्यां मनुमवाप ह । मनोरसूत महिषी विरजान्नड्वला सुतान् ॥१५॥
पुरुं कुत्सं त्रितं द्युम्नं सत्यवन्तमृतं व्रतम् । अग्निष्टोममतीरात्रं प्रद्युम्नं शिबिमुल्मुकम् ॥१६॥
उल्मुकोऽजनयत्पुत्रान् पुष्करिण्यां षडुत्तमान् । अङ्गं सुमनसं ख्यातिं क्रतुमङ्गिरसं गयम् ॥१७॥
सुनीथाङ्गस्य या पत्नी सुषुवे वेनमुल्बणम् । यद्दौःशील्यात्स राजर्षिर्निर्विण्णो निरगात्पुरात् ॥१८
यमङ्ग शेपुः कुपिता वाग्वज्रा मुनयः किल । गतासोस्तस्य भूयस्ते ममन्थुर्दक्षिणं करम् ॥१९॥
अराजके तदा लोके दस्युभिः पीडिताः प्रजाः । जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः ॥२०॥

विदुर उवाच

तस्य शीलनिधेः साधोर्ब्रह्मण्यस्य महात्मनः । राज्ञः कथमभूद्दुष्टा प्रजा यद्विमना ययौ ॥२१॥
किं वांहो वेन उद्दिश्य ब्रह्मदण्डमयूयुजन् । दण्डव्रतधरे राज्ञि मुनयो धर्मकोविदाः ॥२२॥
नावध्येयः प्रजापालः प्रजाभिरघवानपि । यदसौ लोकपालानां बिभर्त्योजः स्वतेजसा ॥२३॥
एतदाख्याहि मे ब्रह्मन् सुनीथात्मजचेष्टितम् । श्रद्दधानाय भक्ताय त्वं परावरवित्तमः ॥२४॥

हैं, उस अग्निके सदृश गूढ़भावसे परम तेजस्वी था ॥ १० ॥ अतएव बड़े-बूढ़े और मन्त्रियोंने उसे मूर्ख तथा उन्मत्त समझकर उसके छोटे भाई वत्सरको, जो ध्रुवजीकी स्त्री भ्रमिका पुत्र था, राजा बनाया ॥ ११ ॥ उस वत्सरकी प्रियतमा भार्या स्वर्वीथिने पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु तथा जय नामके छ पुत्र पैदा किये ॥ १२ ॥ पुष्पार्णके प्रभा तथा दोषा नामकी दो स्त्रियें थीं। उन दोनोंमें प्रभाके प्रातः, मध्यन्दिन और सायं नामक तीन पुत्र हुए ॥ १३ ॥ और दोषाके प्रदोष, निशीथ तथा व्युष्ट–ये तीन पुत्र जायमान हुए। उनमें व्युष्टने अपनी भार्या पुष्करिणीसे सर्वतेजस् नामका एक पुत्र उत्पन्न किया ॥१४॥ सर्वतेजस्ने अपनी आकूति नामकी पत्नीसे चक्षुमनुको पुत्ररूपमें पाया। चक्षुमनुकी स्त्री नड्वलासे पुरु, कुत्स, त्रित, द्युम्न, सत्यवान्, ऋत, व्रत, अग्निष्टोम, प्रद्युम्न, शिबि तथा उल्मुक ये बारह बालक उत्पन्न हुए ॥१५॥१६॥ उल्मुककी पुष्करिणी नामकी स्त्रीसे अंग, सुमनस्, ख्याति, क्रतु, अंगिरस् तथा गय नामके छः श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १७ ॥ इसके बाद अंगकी पत्नी सुनीथासे क्रूरकर्मा वेन उत्पन्न हुआ। जिसकी दुष्टतासे ऊबकर राजर्षि अंग अपना नगरतक छोड़कर चले गये थे ॥ १८ ॥ हे विदुरजी ! वज्रके समान दुर्निवार वाक्योंवाले कुछ मुनीश्वरोंने कुपित होकर उस वेनको शाप दे दिया था और फिर वेनके मृत शरीरकी दाहिनी भुजाको मथा ॥ १९ ॥ इस तरह समस्त पृथ्वीके राजाहीन हो जानेसे चोर-डाकू जब सारी प्रजाको सताने लगे तो श्रीविष्णुभगवानके अंशसे सर्वप्रथम सम्राट् राजा पृथुका जन्म हुआ ॥ २० ॥ इनकी कथा सुनकर विदुरजीने कहा—हे ब्रह्मन् ! महाराज अंग तो बड़े शीलवान्, साधुस्वभाव, ब्राह्मणभक्त तथा महात्मा थे। उनके घरमें वेनके सदृश दुष्ट पुत्र कैसे जन्मा ? जिसके कारण राजा अंग ऊबकर नगरसे चले गये ॥ २१ ॥ धर्मके ज्ञाता मुनीश्वरोंने भी वेनमें ऐसा कौन ऐब देखा कि जिससे दमन करना ही कर्तव्य समझा और उस राजाको शापरूपी ब्रह्मदण्ड दे डाला ? ॥ २२ ॥ प्रजापालक राजाका तो यदि वह कोई अपराध भी कर गुजरे तो भी प्रजाको उसका तिरस्कार करना कर्तव्य नहीं है। क्योंकि वह अपने प्रभावसे इन्द्रादि सब लोकपालोंके तेजको धारण किये रहता है। २३ ॥ हे ब्रह्मन ! मुझ जैसे श्रद्धालु भक्तको सुनीथानन्दन वेनकी वह सब करनी सुनाइये, क्योंकि आप भूत-भविष्यत्की बातें जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं ॥ २४ ॥

मैत्रेय उवाच

अङ्गोऽश्वमेधं राजर्षिराजहार महाक्रतुम् । नाजग्मुर्देवतास्तस्मिन्नाहूता ब्रह्मवादिभिः ॥२५॥
तमूचुर्विस्मितास्तत्र यजमानमथर्त्विजः । हवींषि हूयमानानि न ते गृह्णन्ति देवताः ॥२६॥
राजन् हवींष्यदुष्टानि श्रद्धयाऽऽसादितानि ते । छन्दांस्ययातयामानि योजितानि धृतव्रतैः ॥२७॥
न विदामेह देवानां हेलनं वयमण्वपि । यन्न गृह्णन्ति भागान् स्वान् ये देवाः कर्मसाक्षिणः॥२८

मैत्रेय उवाच

अङ्गो द्विजवचः श्रुत्वा यजमानः सुदुर्मनाः । तत्प्रष्टुं व्यसृजद्वाचं सदस्यांस्तदनुज्ञया ॥२९॥
नागच्छन्त्याहुता देवा न गृह्णन्ति ग्रहानिह । सदसस्पतयो ब्रूत किमवद्यं मया कृतम् ॥३०॥

सदसस्पतय ऊचुः

नरदेवेह भवतो नाघं तावन्मनाक् स्थितम् । अस्त्येकं प्राक्तनमघं यदिहेदृक् त्वमप्रजः ॥३१॥
तथा साधय भद्रं ते आत्मानं सुप्रजं नृप । इष्टस्ते पुत्रकामस्य पुत्रं दास्यति यज्ञभुक् ॥३२॥
तथा स्वभागधेयानि ग्रहीष्यन्ति दिवौकसः । यद्यज्ञपुरुषः साक्षादपत्याय हरिर्वृतः ॥३३॥
तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद्यान् यान् कामयते जनः । आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः ॥३४॥
इति व्यवसिता विप्रास्तस्य राज्ञः प्रजातये । पुरोडाशं निरवपन् शिपिविष्टाय विष्णवे ॥३५॥
तस्मात्पुरुष उत्तस्थौ हेममाल्यमलाम्बरः । हिरण्मयेन पात्रेण सिद्धमादाय पायसम् ॥३६॥
स विप्रानुमतो राजा गृहीत्वाञ्जलिनौदनम् । अवघ्राय मुदा युक्तः प्रादात्पत्न्या उदारधीः॥३७॥

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! एक समयकी बात है, राजर्षि अंग अश्वमेध नामक महायज्ञ किये । उस यज्ञमें वेदवादी ऋत्विजोंके आवाहन करनेपर भी देवता लोग अपना यज्ञभाग लेनेके लिए नहीं आये ॥ २५ ॥ तब ऋत्विजोंने अतिशय विस्मित होकर अपने यजमान राजा अंगसे कहा—"हे राजन् ! हमारे हवन करनेपर भी देवता तुम्हारा हवि नहीं ग्रहण करते । हमें मालूम है कि तुम्हारी होमसामग्री पवित्र है, तुमने उसे बड़ी श्रद्धाके साथ एकत्र किया है तथा हमारे वेदमन्त्र भी ब्रह्मचर्य आदि व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके द्वारा प्रयुक्त किये जानेसे किसी तरह बलहीन नहीं हो सकते ॥ २६ ॥ २७ ॥ हमें तो ऐसी कोई बात नहीं दीख रही है कि जिससे देवताओंका तनिक भी तिरस्कार हुआ हो । फिर भी न जाने क्यों, कर्माध्यक्ष देवतालोग अपना भाग नहीं ग्रहण कर रहे हैं !" ॥ २८ ॥ श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे विदुरजी ! ऋत्विजोंके वाक्य सुनकर यजमान अङ्ग बहुत खिन्न हुए और उनकी आज्ञासे मौन भंगकर सदस्योंसे कहा—॥ २९ ॥ "हे सदस्यगण ! सब देवतालोग आवाहन करनेपर भी वशमें नहीं आते और न अपना भाग ही लेते हैं । इसलिए बतलाइये कि मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया है ?" ॥ ३० ॥ तब सदस्योंने कहा—हे राजन् ! इस समय तो तुमने कुछ भी अपराध नहीं किया है, किन्तु जिसके कारण तुम अपुत्री हो, तुम्हारे द्वारा पूर्वजन्ममें ऐसा एक अपराध अवश्य हो चुका है ॥ ३१ ॥ अतएव पहले तुम एक सत्संतानके पिता होनेका यत्न करो । तुम्हारा मंगल हो । वे भगवान यज्ञपति पुत्रकी कामनासे तुम्हारे द्वारा पूजित होनेपर तुम्हें पुत्र देंगे ॥ ३२ ॥ अतएव जब तुम सन्तानके लिये साक्षात् यज्ञपुरुष श्रीहरिको वरण करोगे, तभी देवता तुम्हारे द्वारा दिया हुआ आपका यज्ञभाग ग्रहण करेंगे ॥ ३३ ॥ भक्त जो वस्तु चाहता है, भगवान उसे वही पदार्थ देते हैं, दूसरा नहीं । जैसे उनकी आराधना की जाती है, वैसा ही फल भी मिलता है ॥ ३४ ॥ इस तरह राजाकी पुत्रप्राप्तिके निमित्त निश्चय करके ऋत्विजोंने पशुमें यज्ञरूपसे विराजमान रहनेवाले श्रीविष्णुभगवानकी आराधनाके निमित्त पुरोडाश अर्पण किया ॥३५॥ अग्निमें आहुतिके डालते ही अग्निकुण्डसे सुवर्णमय माला तथा निर्मल वस्त्रोंसे अलंकृत एक पुरुष प्रकट हुआ, वह सोनेके एक पात्रमें सिद्ध पायस लिये था ॥ ३६ ॥ ऋत्विजोंके कथनानुसार उदारबुद्धि

सा तत्पुंसवनं राज्ञी प्राश्य वै पत्युरादने। गर्भं काल उपावृत्ते कुमारं सुषुवेऽप्रजा ॥३८॥
स बाल एव पुरुषो मातामहमनुव्रतः। अधर्मांशोद्भवं मृत्युं तेनाभवदधार्मिकः ॥३९॥
स शरासनमुद्यम्य मृगयुर्वनगोचरः। हन्त्यसाधुमृगान् दीनान् वेनोऽसावित्यरौज्जनः॥४०
आक्रीडे क्रीडतो बालान् वयस्यानतिदारुणः। प्रसह्य निरनुक्रोशः पशुमारममारयत् ॥४१॥
तं विचक्ष्य खलं पुत्रं शासनैर्विविधैर्नृपः। यदा न शासितुं कल्पो भृशमासीत्सुदुर्मनाः ॥४२॥
प्रायेणाभ्यर्चितो देवो येऽप्रजा गृहमेधिनः। कदपत्यभृतं दुःखं ये न विन्दन्ति दुर्भरम् ॥४३॥
यतः पापीयसी कीर्तिरधर्मश्च महान्नृणाम्। यतो विरोधः सर्वेषां यत आधिरनन्तकः ॥४४॥
कस्तं प्रजापदेशं वै मोहबन्धनमात्मनः। पण्डितो बहु मन्येत यदर्थाः क्लेशदा गृहाः ॥४५॥
कदपत्यं वरं मन्ये सदपत्याच्छुचां पदात्। निर्विद्येत गृहान्मर्त्यो यत्क्लेशनिवहा गृहाः ॥४६॥

एवं स निर्विण्णमना नृपो गृहान्निशीथ उत्थाय महोदयोदयात्।
अलब्धनिद्रोऽनुपलक्षितो नृभिर्हित्वा गतो वेनसुवं प्रसुप्ताम् ॥४७॥
विज्ञाय निर्विद्य गतं पतिं प्रजाः पुरोहितामात्यसुहृद्गणादयः।
विचिक्युरुर्व्यामतिशोककातरा यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः ॥४८॥
अलक्षयन्तः पदवीं प्रजापतेर्हतोद्यमाः प्रत्युपसृत्य ते पुरीम्।
ऋषीन् समेतानभिवन्द्य साश्रवो न्यवेदयन् पौरव भर्तृविप्लवम् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

राजा अंगने वह पायस अपनी अञ्जलीमें ले लिया और उसे स्वयं सूँघकर बड़ी प्रसन्नतासे अपनी पत्नीको दे दिया ॥ ३७ ॥ पुत्रहीना रानीने वह पुत्रदायिनी खीर खाकर अपने पतिके सहवाससे गर्भ धारण किया और समय प्राप्त होनेपर उसकी कोखसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३८ ॥ वह बालक बाल्यकालसे ही अधर्मके वंशमें उत्पन्न अपने नाना मृत्युका अनुयायी था। अतएव वह अधार्मिक ही रहा ॥ ३९ ॥ सयाना होनेपर वह दुष्ट बालक हाथमें धनुष-बाण लेकर वनमें जाता और व्याधेके समान बेचारे भोले-भाले मृगोंको मारा करता था। उसे देखकर प्रजाजन 'अरे वेन आया ! वेन आया !' कहकर चिल्लाने लग जाते थे ॥ ४० ॥ वह वेन इतना क्रूर और निर्दयी था कि खेलके समय अनेक बालकोंको खेल-ही-खेलमें यज्ञपशुके समान बरबस मार डालता था ॥ ४१ ॥ अपने दुष्ट पुत्रकी दुष्टता देखकर राजा अंगने उसे बहुत समझाया-बुझाया। किन्तु वे उसे सुमार्गपर लानेमें समर्थ नहीं हुए। इसलिए उन्हें बड़ा क्लेश हुआ ॥ ४२ ॥ राजा मन-ही-मन कहने लगे—'जो गृहस्थ निपूते हैं, उन्होंने पूर्वजन्ममें अवश्य भगवानकी आराधना की होगी, तभी तो उन्हें कुपुत्रसे होनेवाले असह्य दुःखका अनुभव नहीं करना पड़ता ॥ ४३ ॥ जिसके कारण सब सुयश विलीन हो जाता है, मनुष्यको अधर्मका भागी बनना पड़ता है, सबसे विरोध हो जाता है, कभी भी दूर न होनेवाली मानसिक पीड़ा सहनी पड़ती है और घर दुःखका स्वरूप बन जाता है, उस मोहबन्धनमें डालनेवाले नाममात्रके पुत्रको ऐसा कौन बुद्धिमान प्राणी है, जो बहुत आदरकी दृष्टिसे देख सकेगा ? ॥ ४४ ॥ ॥ ४५ ॥ फिर भी शोकाकुल करनेवाले सुपुत्रकी अपेक्षा कुपुत्र ही अच्छा है। क्योंकि उससे घर दुःखमय हो जाता है और पुरुषको गृहस्थीसे वैराग्य हो जाता है ॥ ४६ ॥ हे विदुरजी ! इस तरह उदासीन भावसे एक दिन महाराज अंग आधीरातको वेनकी माताको गाढ़ निद्रामें सोती छोड़, किसीके भी जाने बिना अपने परम ऐश्वर्यपूर्ण घरको छोड़कर (न जाने कहाँ) चले गये। चिन्ताके कारण उस दिन उन्हें तनिक भी नींद नहीं आयी थी। ४७॥ दूसरे दिन जब यह खबर फैली कि महाराज अंग विरक्त होकर घरसे चले गये हैं तो सब प्रजाजन, पुरोहित, मन्त्री तथा सुहृद्गण अतिशय शोकाकुल होकर उनको खोजने लगे, जैसे कुयोगीलोग अपने हृदयमें छिपे नारायणको खोजते हैं ॥ ४८ ॥ हे विदुरजी ! जब वे अपने स्वामी-

चतुर्दशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः । गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम् ॥१॥
वीरमातरमाहूय सुनीथां ब्रह्मवादिनः । प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन् पतिं भुवः ॥२॥
श्रुत्वा नृपासनगतं वेनमत्युग्रशासनम् । निलिल्युर्दस्यवः सद्यः सर्पत्रस्ता इवाखवः ॥३॥
स आरूढनृपस्थान उन्नद्धोऽष्टविभूतिभिः । अवमेने महाभागान् स्तब्धः सम्भावितः स्वतः ॥४॥
एवं मदान्ध उत्सिक्तो निरङ्कुश इव द्विपः । पर्यटन् रथमास्थाय कम्पयन्निव रोदसी ॥५॥
न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् । इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥६॥
वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम् । विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः ॥७॥
अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत् । दारुण्युभयतो दीप्त इव तस्करपालयोः ॥८॥
अराजकभयादेष कृतो राजातदर्हणः । ततोऽप्यासीद्भयं त्वद्य कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम् ९
अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत् । वेनः प्रकृत्यैव खलः सुनीथागर्भसम्भवः ॥१०॥
निरूपितः प्रजापालः स जिघांसति वै प्रजाः । तथापि सान्त्वयेमामुं नास्मांस्तत्पातकं स्पृशेत्॥११॥
तद्विद्वद्भिरसद्वृत्तो वेनोऽस्माभिः कृतो नृपः । सान्त्वितो यदि नो वाचं न ग्रहीष्यत्यधर्मकृत् ॥१२॥

का कहीं भी पता नहीं पा सके तो निराश होकर राजधानीको लौटे और वहाँ एकत्रित ऋषियोंके समक्ष उन्होंने अपनी आँखोंमें आँसू भरकर राजा अंगके वियोगका वृत्तान्त बताया ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

(राजा वेनका वृत्तान्त) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! तब समस्त पृथ्वीमण्डलके पालक राजाके अभावमें मनुष्योंको पशुओंके समान आचरण करते देखकर संसारके शुभचिन्तक भृगु आदि वेदवादी मुनीश्वरोंने वीरमाता सुनीथासे सलाह लेकर मन्त्रियोंके सहमत न होनेपर भी वेनकाही भूमण्डलके राजपदपर अभिषेक कर दिया ॥ १ ॥ २ ॥ उस दुर्दण्ड वेनके राज्यासनपर आरूढ़ होनेका समाचार सुनकर सब दस्यु सर्पसे डरे हुए चूहोंकी भाँति तत्काल जहाँ-तहाँ गायब हो गये ॥ ३ ॥ राज्यसिंहासन पानेके बाद वेन आठों लोकपालोंके ऐश्वर्यमदसे उन्मत्त हो और अतिशय उद्दण्डतापूर्वक अपनेको सबसे बड़ा मानकर उन महाभाग मुनीश्वरोंका तिरस्कार करने लगा ॥ ४ ॥ इस तरह ऐश्वर्यमदसे अन्धा होकर राजा वेन निरंकुश गजराजकी तरह रथपर आरूढ़ हो पृथिवी तथा आकाशको जैसे कँपाता हुआ सर्वत्र विचरने लगा ॥ ५ ॥ उसने अपने राज्यमें यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि 'कोई भी द्विज कभी कोई यज्ञ, दान तथा हवन आदि न करे' इस तरह उसने सब धर्म-कर्म बंद कर दिये ॥ ६ ॥ दुराचारी वेनके ऐसे कुकर्म देख और प्रजापर संकट उपस्थित हुआ समझकर मुनीश्वरोंने कृपावश एक स्थानपर एकत्रित होकर आपसमें परामर्श करते हुए कहा—॥ ७ ॥ "अहो ! दो ओरसे जलती लकड़ीके बीचमें रहनेवाले पिपीलिकादि जीवोंके सदृश इस समय राजा तथा लुटेरे दोनोंहीसे संसारको एकाएक महाभय आ उपस्थित हुआ है ॥ ८ ॥ अराजकताके भयसे ही हमने इस वेनको योग्य न होनेपर भी राजा बनाया था। किन्तु अब उससे भी प्रजाको भय होने लगा है तो अब कैसे जीवोंको सुख मिले ? ॥ ९ ॥ दूधसे सर्पका पोषण करनेके समान अब इसका पोषण करना भी पोषणकर्ताके ही अनर्थका कारण बन गया। वास्तवमें सुनीथाके गर्भसे उत्पन्न यह वेन स्वभावतः दुष्ट है ॥ १० ॥ हमने तो इसे प्रजाका पालन करनेके लिए राजपदपर अभिषिक्त किया था, किन्तु यह उस प्रजाको ही नष्ट कर डालना चाहता है। फिर भी हम इसे समझावेंगे, जिससे इसके किये हुए पापोंका हमसे स्पर्श न होने पाये। हमने जान-बूझकर इस दुराचारी वेनको राजा बनाया था। अतएव यदि

लोकधिक्कारसन्दग्धं दहिष्यामः स्वतेजसा । एवमध्यवसायैनं मुनयो गूढमन्यवः ।
उपव्रज्याब्रुवन् वेनं सान्त्वयित्वा च सामभिः ॥१३॥

मुनय ऊचुः

नृपवर्य निबोधैतद्यत्ते विज्ञापयाम भोः । आयुःश्रीबलकीर्तीनां तव तात विवर्धनम् ॥१४॥
धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः । लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम् १५
स ते मा विनशेद्वीर प्रजानां क्षेमलक्षणः । यस्मिन् विनष्टे नृपतिरैश्वर्यादवरोहति ॥१६॥
राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः । रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ॥१७॥
यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः । इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः ॥१८॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः । परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने ॥१९॥
तस्मिंस्तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे । लोकाः सपाला ह्येतस्मै हरन्ति बलिमादृताः ॥२०॥
तं सर्वलोकामरयज्ञसंग्रहं त्रयीमयं द्रव्यमयं तपोमयम् ।
यज्ञैर्विचित्रैर्यजतो भवाय ते राजन् स्वदेशाननुरोद्धुमर्हसि ॥२१॥
यज्ञेन युष्मद्विषये द्विजातिभिर्वितायमानेन सुराः कला हरेः ।
स्विष्टाः सुतुष्टाः प्रदिशन्ति वाञ्छितं तद्धेलनं नार्हसि वीर चेष्टितुम् ॥२२॥

वेन उवाच

बालिशा बत यूयं वा अधर्मे धर्ममानिनः । ये वृत्तिदं पतिं हित्वा जारं पतिमुपासते ॥२३॥
अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम् । नानुविन्दन्ति ते भद्रमिह लोके परत्र च ॥२४॥

वह समझाने-बुझानेपर भी हमारी बात न मानेगा तो लोकके धिक्कारसे ही दग्ध इस दुष्टको हम अपने तेजसे भस्म कर डालेंगे ।" ऐसा विचारकर जिनका क्रोध गुप्त था वे मुनिजन राजा वेनके पास जा और उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए बोले ॥ १२ ॥ १३ ॥ मुनियोंने कहा—हे राजन् ! हम जो कुछ कहते हैं, वह ध्यान देकर सुनो । हे तात ! इससे तुम्हारी आयु, श्री, शक्ति और कीर्ति बढ़ेगी ॥ १४ ॥ देखो—मनुष्योंके द्वारा मन, वाणी, शरीर तथा बुद्धिसे आचरण किया गया धर्म निष्काम पुरुषोंको शोकरहित लोक तथा अनन्त मोक्षपद प्रदान कर देता है ॥ १५ ॥ अतएव हे वीर ! प्रजाका कल्याणरूपी वह धर्म तुम्हारे कारण नष्ट न होने पाये। क्योंकि उसके नष्ट होनेसे राजाका ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है ॥१६॥ हे राजन् ! दुष्ट मन्त्री तथा चोर आदिसे प्रजाकी रक्षा करता हुआ न्यायानुकूल कर लेनेवाला राजा इहलोक तथा परलोक दोनों जगह सुख पाता है ॥ १७ ॥ जिसके राज्य या नगरमें वर्णाश्रमधर्मोंका पालन करनेवाले पुरुषों द्वारा धर्मपालनसे भगवान यज्ञपुरुषका यजन होता है। हे महाभाग ! अपनी आज्ञाका पालन करानेवाले उस राजासे विश्वात्मा और भूतभावन भगवान प्रसन्न रहते हैं ॥ १८ ॥ १९ ॥ उन जगदीश्वरोंके भी ईश्वर नारायणके प्रसन्न होनेपर कौन वस्तु दुर्लभ रह सकती है ? इन्द्रादि लोकपालों सहित सभी लोकपाल तक आदरपूर्वक उसे भेंट देते हैं ॥ २० ॥ भगवान सब लोक, लोकपाल तथा यज्ञके स्वरूप हैं । वे वेदत्रयीरूप, द्रव्यरूप और तपोरूप हैं। हे राजन् ! जो लोग तुम्हारा उत्कर्ष करनेके लिये उनका विविध प्रकारके यज्ञोंसे यजन करते हैं तो तुम्हें उनके अनुकूल आचरण करना चाहिये ॥२१॥ यदि तुम्हारे राज्यमें ब्राह्मणादि द्विजोंके द्वारा यज्ञोंका अनुष्ठान किया जायगा तो श्रीहरिके कलास्वरूप देवतालोग बहुत प्रसन्न होकर तुम्हें अभिलषित फल देंगे । अतएव हे वीर ! तुम्हें देवताओंका तिरस्कार नहीं करना चाहिये ॥२२॥ वेनने कहा—तुम बड़े मूर्ख हो, तुमने अधर्मको ही धर्म मान लिया है । क्योंकि तुम अपने पालक मुझ राजाको त्यागकर जारतुल्य अन्य पति परमात्माका आराधन करते हो ॥२३॥ जो मूर्ख प्राणी राजारूपी परमेश्वरका तिरस्कार करते हैं, वे इहलोक और

को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी । भर्तृस्नेहविदूराणां यथा जारे कुयोषिताम् ॥२५॥
विष्णुर्विरिञ्चो गिरिश इन्द्रो वायुर्यमो रविः । पर्जन्यो धनदः सोमः क्षितिरग्निरपाम्पतिः ॥२६॥
एते चान्ये च विबुधाः प्रभवो वरशापयोः । देहे भवन्ति नृपतेः सर्वदेवमयो नृपः ॥२७॥
तस्मान्मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः । बलिं च मह्यं हरत मत्तोऽन्यः कोऽग्रभुक् पुमान् २८

मैत्रेय उवाच

इत्थं विपर्ययमतिः पापीयानुत्पथं गतः । अनुनीयमानस्तद्याच्ञां न चक्रे भ्रष्टमङ्गलः ॥२९॥
इति तेऽसत्कृतास्तेन द्विजाः पण्डितमानिना । भग्नायां भव्ययाच्ञायां तस्मै विदुर चुक्रुधुः ॥३०॥
हन्यतां हन्यतामेष पापः प्रकृतिदारुणः । जीवञ्जगदसावाशु कुरुते भस्मसाद् ध्रुवम् ॥३१॥
नायमर्हत्यसद्वृत्तो नरदेववरासनम् । योऽधियज्ञपतिं विष्णुं विनिन्दत्यनपत्रपः ॥३२॥
को वैनं परिचक्षीत वेनमेकमृतेऽशुभम् । प्राप्त ईदृशमैश्वर्यं यदनुग्रहभाजनः ॥३३॥
इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः । निजघ्नुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया ॥३४॥
ऋषिभिः स्वाश्रमपदं गते पुत्रकलेवरम् । सुनीथा पालयामास विद्यायोगेन शोचती ॥३५॥
एकदा मुनयस्ते तु सरस्वत्सलिलाप्लुताः । हुत्वाग्नीन् सत्कथाश्चक्रुरुपविष्टाः सरित्तटे ॥३६॥
वीक्ष्योत्थितान् महोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान् । अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद्भुवः ॥३७॥
एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतो दिशम् । पांसुः समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम् ॥३८॥

परलोकमें कहीं भी सुखी नहीं रहते ॥ २४ ॥ जैसे अपने पतिसे प्रेम न रखनेवाली कुलटा स्त्रीको जार-पुरुषमें प्रीति होती है, वैसे ही स्वामीके स्नेहसे रहित तुमलोगोंकी जिसमें इतनी भक्ति है, वह यज्ञ-पुरुष कौन है ? ॥ २५ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, मेघ, कुबेर, चन्द्रमा, पृथिवी, अग्नि तथा वरुण— ये तथा वर और शाप देनेमें समर्थ अन्य देवता भी राजाके शरीरमें विद्यमान रहते हैं । इसीसे राजा सर्वदेवमय माना जाता है ॥ २६ ॥ २७ ॥ अतएव हे विप्रगण ! तुम मत्सरता छोड़कर अपने सब कर्मोंद्वारा मेरा ही यजन करो—मुझे ही बलि अर्पण करो । मुझसे बढ़कर और कौन पुरुष अग्रपूजाका अधिकारी होगा ? ॥२८॥ श्रीमैत्रेयजी कहने लगे—इस तरह जिसकी बुद्धि विपरीत हो गयी थी, उस महापापी तथा कुमार्गगामी वेनने बार-बार नम्रतापूर्वक समझाने-बुझानेपर भी उसने मुनियोंकी प्रार्थनापर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । क्योंकि उसका पुण्य क्षीण हो गया था ॥२९॥ हे विदुरजी ! अपनेको पण्डित समझनेवाले उस वेनसे इस तरह अपमानित होनेपर तथा अपनी कल्याणकारिणी माँग व्यर्थ हुई देखकर वे सब ब्राह्मण उसपर बहुत कुपित हुए ॥ ३० ॥ वे बोले—"यह महापापी स्वभावतः बड़ा दुष्ट है । यदि यह जीवित रहा तो कुछ ही दिनोंमें सारे संसारको भस्म कर डालेगा । अतएव आप इसे मार डालिए ! मार डालिए ॥ ३१ ॥ यह दुराचारी कभी भी राजसिंहासनके योग्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह निर्लज्ज साक्षात् यज्ञपति श्रीविष्णुभगवानका निन्दक है ॥ ३२ ॥ अहो ! जिनकी कृपासे ऐसा ऐश्वर्य मिला, उन श्रीहरिकी पापी वेनको छोड़कर और कौन निन्दा कर सकेगा ?" ॥ ३३ ॥ इस तरह अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसे मारनेका विचार करके उन मुनीश्वरोंने भगवानकी निन्दा करनेसे हतप्राय राजा वेनको हुंकारमात्रसे भस्म कर दिया ॥३४॥ इस प्रकार उसका वध करनेके बाद जब वे मुनि अपने-अपने आश्रमको चले गये तो सुनीथा शोकाकुल होकर मन्त्रादिके बलसे पुत्रके शरीरकी रक्षा करने लग गयी ॥ ३५ ॥ एकदिन वे सब मुनीश्वर सरस्वती नदीके जलमें स्नान करके अग्निहोत्रसे निवृत्त होकर नदीके किनारे बैठे हुए हरिचर्चा कर रहे थे ॥ ३६ ॥ एकाएक सब लोगोंको भयभीत करनेवाले महान् उत्पात होते देखकर वे कह रहे थे—'पृथ्वीके अनाथ हो जानेसे उसे दस्युओंके हाथों पीड़ित तो नहीं होना पड़ गया !' ॥ ३७ ॥ वे सब मुनि ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उन्होंने

तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम् । भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम् ॥३९॥
चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम् । लोकान्नावारयन् शक्ता अपि तद्दोषदर्शिनः ॥४०॥
ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः । स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥४१॥
नाङ्गस्य वंशो राजर्षेरेष संस्थातुमर्हति । अमोघवीर्या हि नृपा वंशेऽस्मिन् केशवाश्रयाः ॥४२॥
विनिश्चित्यैवमृषयो विपन्नस्य महीपतेः । ममन्थुरूरुं तरसा तत्रासीद्बाहुको नरः ॥४३॥
काककृष्णोऽतिह्रस्वाङ्गो ह्रस्वबाहुर्महाहनुः । ह्रस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्धजः ॥४४॥
तं तु तेऽवनतं दीनं किं करोमीति वादिनम् । निषीदेत्यब्रुवंस्तात स निषादस्ततोऽभवत् ॥४५॥
तस्य वंशास्तु नैषादा गिरिकाननगोचराः । येनाहरज्जायमानो वेनकल्मषमुल्बणम् ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते निषादोत्पत्तिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

अथ तस्य पुनर्विप्रैरपुत्रस्य महीपतेः । बाहुभ्यां मथ्यमानाभ्यां मिथुनं समपद्यत ॥१॥
तद् दृष्ट्वा मिथुनं जातमृषयो ब्रह्मवादिनः । ऊचुः परमसन्तुष्टा विदित्वा भगवत्कलाम् ॥२॥

ऋषय ऊचुः

एष विष्णोर्भगवतः कला भुवनपालनी । इयं च लक्ष्म्याः सम्भूतिः पुरुषस्यानपायिनी ॥३॥

लोगोंका धन लूट-लूटकर इधर-उधर भागनेवाले चोरोंके कारण बड़ी धूलि उड़ती देखी ॥ ३८ ॥ उसे उन्होंने राजाके न रहनेपर लोगोंका धन लूटते और एक दूसरेको मारनेकी इच्छावाले लुटेरोंका उपद्रव समझकर अराजकतासे बलहीन तथा चौरप्राय लोगोंको उनका दोष देखनेवाले मुनीश्वरोंने सब तरहसे समर्थ होकर भी रोका नहीं ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तदनन्तर उन्होंने सोचा कि ब्राह्मण यदि समदर्शी तथा शान्तस्वभावका हो तो भी दीनजनोंकी उपेक्षा करनेके कारण उसका ब्रह्मतेज वैसे ही नष्ट हो जाता है। जैसे—फूटे घड़ेमेंसे जल बह जाता है ॥ ४१ ॥ राजर्षि अंगका वंश इस तरह समाप्त होने लायक नहीं है। क्योंकि इस वंशमें कितने ही अमोघ बलशाली और भगवत्परायण राजे हो चुके हैं ॥ ४२ ॥ ऐसा निश्चय करके उन मुनीश्वरोंने मरे हुए राजा वेनकी जाँघको बड़े जोरोंसे मथा। इस तरह मथनेपर उससे एक बौना मनुष्य जायमान हुआ ॥ ४३ ॥ वह पुरुष कौवेके समान काला था, उसके सारे अंग तथा उसकी भुजाएँ बहुत छोटी, नाक चपटी, नेत्र लाल और केश ताम्रवर्णके (लाल) थे ॥४४॥ जब उस पुरुषने अति दीन और नम्र होकर यह कहा कि 'मैं क्या करूँ ?' तब ऋषि बोले–'हे तात ! निषीद अर्थात् बैठे जा' अतएव वह निषाद हो गया ॥४५॥ उस पुरुषने जन्म लेकर दिवंगत राजा वेनके भयंकर पाप हर लिये थे। इसीसे उसके वंशधर वन तथा पर्वतोंके निवासी नैषाद यानी भील कहलाये ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(महाराज पृथुका जन्म और उनका राज्याभिषेक) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! इसके बाद जब फिर ब्राह्मणोंने मन्थन किया तो उस पुत्रहीन राजाकी भुजाओंसे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ इस तरह उत्पन्न वह जोड़ा देख और उसे भगवानकी कलासे उत्पन्न समझकर वे ब्रह्मवादी मुनीश्वर बोले ॥ २ ॥ ऋषिगण कहने लगे—यह पुरुष विष्णुभगवानकी जगत्को पालन करनेवाली कलासे प्रकटा है और यह स्त्री श्रीहरिसे कभी भी पृथक

अयं तु प्रथमो राज्ञां पुमान् प्रथयिता यशः । पृथुर्नाम महाराजो भविष्यति पृथुश्रवाः ॥४॥
इयं च सुदती देवी गुणभूषणभूषणा । अर्चिर्नाम वरारोहा पृथुमेवावरुन्धती ॥५॥
एष साक्षाद्धरेरंशो जातो लोकरिरक्षया । इयं च तत्परा हि श्रीरनुजज्ञेऽनपायिनी ॥६॥

मैत्रेय उवाच

प्रशंसन्ति स्म तं विप्रा गन्धर्वप्रवरा जगुः । मुमुचुः सुमनोधाराः सिद्धा नृत्यन्ति स्वःस्त्रियः ॥७॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गाद्या नेदुर्दुन्दुभयो दिवि । तत्र सर्व उपाजग्मुर्देवर्षिपितॄणां गणाः ॥८॥
ब्रह्मा जगद्गुरुर्देवैः सहासृत्य सुरेश्वरैः । वैन्यस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः ॥९॥
पादयोररविन्दं च तं वै मेने हरेः कलाम् । यस्याप्रतिहतं चक्रमंशः स परमेष्ठिनः ॥१०॥
तस्याभिषेक आरब्धो ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः । आभिषेचनिकान्यस्मा आजह्रुः सर्वतो जनाः ॥११॥
सरित्समुद्रा गिरयो नागा गावः खगा मृगाः । द्यौः क्षितिः सर्वभूतानि समाजह्रुरुपायनम् ॥१२॥
सोऽभिषिक्तो महाराजः सुवासाः साध्वलङ्कृतः । पत्न्यार्चिषालङ्कृतया विरेजेऽग्निरिवापरः ॥१३॥
तस्मै जहार धनदो हैमं वीरवरासनम् । वरुणः सलिलस्रावमातपत्रं शशिप्रभम् ॥१४॥
वायुश्च वालव्यजने धर्मः कीर्तिमयीं स्रजम् । इन्द्रः किरीटमुत्कृष्टं दण्डं संयमनं यमः ॥१५॥
ब्रह्मा ब्रह्ममयं वर्म भारती हारमुत्तमम् । हरिः सुदर्शनं चक्रं तत्पत्न्यव्याहतां श्रियम् ॥१६॥
दशचन्द्रमसिं रुद्रः शतचन्द्रं तथाम्बिका । सोमोऽमृतमयानश्वांस्त्वष्टा रूपाश्रयं रथम् ॥१७॥

न रहनेवाली लक्ष्मीजीका अवतार है ॥ ३ ॥ इस लिए यह पुरुष राजाओंमें सर्वप्रथम होगा और अपना सुयश स्थापित करेगा । यह महायशस्वी पृथु नामका राजा होगा ॥ ४ ॥ यह सुन्दर दाँतोंवाली, गुण और आभूषणोंको भी अभूषित करनेवाली एवं उत्तम कटिप्रदेशवाली अर्चि नामकी स्त्री इन पृथुको ही अपना पति चुनेगी ॥ ५ ॥ यह साक्षात् श्रीहरिका अंश ही संसारकी रक्षाके निमित्त अवतीर्ण हुआ है और यह देवी भगवानसे कभी भी पृथक् न रहनेवाली तथा, निरन्तर उन्हींकी सेवामें तत्पर साक्षात् लक्ष्मीजीका अवतार है ॥ ६ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! इस तरह पृथुके अवतार लेनेपर सब ब्राह्मण उनकी स्तुति करने लग गये । गन्धर्वश्रेष्ठ गाने लगे, सिद्धजन पुष्पोंकी वर्षा करने लगे और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ७ ॥ उस समय आकाशमें शंख, मृदंग तथा दुन्दुभी आदी बाजे बजने लगे तथा देवता ऋषि और पितरोंके समूह वहाँ आये ॥ ८ ॥ तब जगद्गुरु ब्रह्माजीने इन्द्रादि देवताओंके साथ आकर वेनतनय पृथुजीके दाहिने हाथमें विष्णुभगवानकी हस्तरेखाएँ तथा चरणोंमें कमलका चिह्न देखा तो उनको श्रीहरिका अंश समझा । क्योंकि जिस किसीके हाथमें अन्य रेखाओंसे न मिला हुआ चक्रका चिह्न विद्यमान रहता है, वह साक्षात् भगवानका अंश हुआ करता है ॥ ९ ॥ १० ॥ तदनन्तर वेदवादी ब्रह्माने महाराज पृथुसे अभिषेकका आयोजन किया और सब ओरसे अभिषेककी सामग्री जुटाई जाने लगी ॥ ११ ॥ उस समय नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, गौ, पक्षी, मृग, स्वर्ग, पृथिवी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंने उन्हें भाँति-भाँतिके उपहार दिये ॥ १२ ॥ इस प्रकार राज्याभिषिक्त होकर महाराज पृथुने सुन्दर वस्त्राभूषण धारण किये और नाना प्रकारके अलंकारोंसे सुसज्जिता अपनी प्रिया अर्चिके साथ दूसरे अग्निदेवके समान सुशोभित हुए ॥ १३ ॥ हे वीरवर विदुरजी ! उन्हें कुबेरने अति सुन्दर सुवर्णमय सिंहासन और वरुणने जिससे जलकी बूँदें चू रही थीं, इस तरह चन्द्रमाके सदृश श्वेत और प्रकाशमय छत्र अर्पण किया था ॥ १४ ॥ इसी तरह वायुने दो चँवर, धर्मने कीर्तिमयी माला, इन्द्रने सुन्दर मुकुट, यमने दमनशील दण्ड, ब्रह्माने देवमय कवच, सरस्वतीने सुन्दर हार, विष्णुभगवानने सुदर्शन चक्र, उनकी प्रियतमा लक्ष्मीजीने निश्चल सम्पत्ति, रुद्रने दस चन्द्रमाओंके चिह्नवाली तलवार, पार्वतीने सौ चन्द्रमाके चिह्नोंसे चिह्नित ढाल, चन्द्रमाने

अग्निराजगवं चापं सूर्यो रश्मिमयानिषून् । भूः पादुके योगमय्यौ द्यौः पुष्पावलिमन्वहम् ॥१८॥
नाट्यं सुगीतं वादित्रमन्तर्धानं च खेचराः । ऋषयश्चाशिषः सत्याः समुद्रः शङ्खमात्मजम् ॥१९॥
सिन्धवः पर्वता नद्यो रथवीथीर्महात्मनः । सूतोऽथ मागधो बन्दी तं स्तोतुमुपतस्थिरे ॥२०॥
स्तावकांस्तानभिप्रेत्य पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् । मेघनिर्ह्रादया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥२१॥

पृथुरुवाच

भोः सूत हे मागध सौम्य वन्दिँल्लोकेऽधुनास्पष्टगुणस्य मे स्यात् ।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां मा मय्यभूवन् वितथा गिरो वः ॥२२॥
तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलङ्करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः ।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः ॥२३॥
महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि ।
तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो जनावहासं कुमतिर्न वेद ॥२४॥
प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः । ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम् ॥२५॥
वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः । कर्मभिः कथमात्मानं गापयिष्याम बालवत् ॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अमृतमय अश्व, त्वष्टाने सुन्दर रथ, अग्निने सींगोंका बना हुआ दृढ़ धनुष, सूर्यने किरणरूपी बाण, पृथिवीने चरणका स्पर्श होते ही अभिलषित स्थानपर पहुँचा देनेकाले खड़ाऊँ, स्वर्गके अधिमानी देवताओंने नित्यप्रति होनेवाले पुष्पोंकी वर्षा, आकाशगामी देवताओंने नाचना, गाना, बजाना तथा अन्तर्धानकी अद्भुत शक्तियाँ, ऋषियोंने अमोघ आशीर्वाद, समुद्रने अपनेमें उत्पन्न शंख, इनके अतिरिक्त सातों समुद्र पर्वत तथा नदियोंने उन परम तेजस्वी राजा पृथुको रथका मार्ग दे दिया। तदनन्तर सूत, मागध तथा बन्दीजन उनकी स्तुति करनेके लिए आये ॥ १५-२० ॥ तब उन स्तुति करनेवाले बन्दीजन आदिकोंको उद्देश्य करके परम प्रतापी महाराज पृथुने प्रसन्नतापूर्वक मेघके समान गम्भीर वाणीसें इस प्रकार कहा ॥ २१ ॥ पृथु कहने लगे–हे सूत ! हे मागध ! हे सौम्य बन्दीजन ! यद्यपि अभीतक लोकमें मेरा कोई गुण प्रकट नहीं हुआ है, तब आपलोगों द्वारा की गयी मेरी यह स्तुति किन गुणोंके सहारे टिक सकती है ? मेरे विषयमें आप लोगोंका वचन व्यर्थ न होने पाये ॥ २२ ॥ अतएव हे मृदुभाषी बन्दीगण ! मेरे प्रच्छन्न गुणोंके प्रकट होनेपर ही आपलोग मेरी स्तुति करें। क्योंकि सभ्य पुरुष पवित्रकीर्ति भगवानका परम पवित्र गुणानुवादको छोड़कर तुच्छ मनुष्योंकी स्तुति नहीं करते ॥ २३ ॥ महान् गुणोंके धारण करनेमें समर्थ होकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष है, जो उनके न होनेतक केवल सम्भावना मात्रसे स्तुति करनेवालोंके द्वारा अपनी स्तुतिको प्रसन्न मनसे सुनेगा। क्योंकि 'इस प्राणीमें अमुक गुण विकसित हो जायँगे' ऐसी स्तुतिके द्वारा जो अपनेको बड़ा मान बैठता है, वह दुर्बुद्धि मनुष्य लोगों द्वारा किये जानेवाले अपने उपहासको नहीं समझ पाता ॥ २४ ॥ जैसे लज्जावान् उदार पुरुष अपने निन्दित पुरुषार्थकी चर्चाको बुरा समझते हैं, वैसे ही लोकविख्यात समर्थ पुरुष अपनी स्तुतिको अच्छा नहीं समझते ॥ २५ ॥ हे सूतगण ! हम अभी अपने श्रेष्ठ गुणोंके रहते हुए भी लोकमें अप्रसिद्ध हैं। फिर तुम लोगोंसे बच्चोंकी भाँति अपनी कीर्तिका बखान कैसे करावें ? ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं गायका मुनिचोदिताः। तुष्टुवुस्तुष्टमनसस्तद्वागमृतसेवया ॥१॥
नालं वयं ते महिमानुवर्णने यो देववर्योऽवततार मायया।
वेनाङ्गजातस्य च पौरुषाणि ते वाचस्पतीनामपि बभ्रमुर्धियः ॥२॥
अथाप्युदारश्रवसः पृथोर्हरेः कलावतारस्य कथामृतादृताः।
यथोपदेशं मुनिभिः प्रचोदिताः श्लाघ्यानि कर्माणि वयं वितन्महि ॥३॥
एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन्। गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम् ॥४॥
एष वै लोकपालानां बिभर्त्येकस्तनौ तनूः। काले काले यथाभागं लोकयोरुभयोर्हितम् ॥५॥
वसु काल उपदत्ते काले चायं विमुञ्चति। समः सर्वेषु भूतेषु प्रतपन् सूर्यवद्विभुः ॥६॥
तितिक्षत्यक्रमं वैन्य उपर्याक्रमतामपि। भूतानां करुणः शश्वदार्तानां क्षितिवृत्तिमान् ॥७॥
देवेऽवर्षत्यसौ देवो नरदेववपुर्हरिः। कृच्छ्रप्राणाः प्रजा ह्येष रक्षिष्यत्यञ्जसेन्द्रवत् ॥८॥
आप्याययत्यसौ लोकं वदनामृतमूर्तिना। सानुरागावलोकेन विशदस्मितचारुणा ॥९॥
अव्यक्तवर्त्मैष निगूढकार्यो गम्भीरवेधा उपगुप्तवित्तः।
अनन्तमाहात्म्यगुणैकधामा पृथुः प्रचेता इव संवृतात्मा ॥१०॥
दुरासदो दुर्विषह आसन्नोऽपि विदूरवत्। नैवाभिभवितुं शक्यो वेनारण्युत्थितोऽनलः ॥११॥

(बन्दीजनों द्वारा महाराज पृथुकी स्तुति होना) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी! महाराज पृथुके ऐसा कहनेपर उनके वचनामृतका सेवन करनेसे सन्तुष्ट गायकजन मुनियोंकी प्रेरणासे उनकी स्तुति करने लग गये ॥ १ ॥ वे कहे जो श्रेष्ठ देवता अपनी मायासे ही अवतार लिये हुए हैं, उनकी महिमाका वर्णन करनेमें हम समर्थ नहीं हैं। क्योंकि राजा वेनके शरीरसे उत्पन्न आपके पुरुषार्थकी बात आनेपर बृहस्पति आदि बुद्धिमानोंकी बुद्धिको भी चक्करमें डाल देती है ॥ २ ॥ तो भी जो भगवानके कलावतार तथा परम यशस्वी हैं, उन आप महाराज पृथुके कथामृतका आदर करते हुए हम मुनियोंकी प्रेरणासे उन्हींके उपदेशके अनुसार आपके प्रशंसनीय गुणोंका विस्तारके साथ वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥ धर्मकी रक्षा करनेवालोंमें श्रेष्ठ ये महाराज पृथु लोकको धर्ममें प्रवृत्त करके धर्ममर्यादाके रक्षक और उसके विरोधियोंको दण्ड देनेवाले होंगे ॥ ४ ॥ ये अकेले समय-समयपर दोनों लोकोंका हित साधनेके निमित्त सृष्टिरचना आदि कार्योंके लिए भिन्न-भिन्न लोकपालोंके अंशोंको अपने शरीरमें धारण कर लिया करेंगे ॥ ५ ॥ सब प्राणियोंके प्रति समानभाव रखनेवाले तथा सूर्यके सदृश तेजस्वी ये राजराजेश्वर कभी धनसञ्चय और कभी उसका व्यय करेंगे ॥ ६ ॥ जो लोग दीनोंपर दया करनेवाले महाराज पृथुकी अवहेलना करके इनकी आज्ञाका उल्लंघन करेंगे, उनके अपराधोंको भी ये पृथ्वीके सदृश क्षमाशील होते हुए सर्वदा सहन करेंगे ॥ ७ ॥ जब कभी मेघके न बरसनेपर प्रजाके प्राणसंकटकी घड़ी आ उपस्थित होगी तो ये राजवेषधारी भगवान इन्द्र होकर अनायास उनकी रक्षा कर लेंगे ॥ ८ ॥ ये अपने चन्द्रमासदृश मुखकी मनोहर मुसकान तथा अपने प्रेमपूर्ण दृष्टिपातसे सब लोकोंको सुखी करेंगे ॥ ९ ॥ जो अव्यक्तशील हैं जिनके कार्योंको कोई नहीं जान पाता, जिनके साधन अतिशय गम्भीर हैं और जिनका धन भली-भाँति सुरक्षित रहता है, जो अनन्त माहात्म्य और गुणोंके एकमात्र भण्डार हैं, ऐसे संयतचित्त ये महाराज पृथु सब तरह वरुणके सदृश होंगे ॥ १० ॥ वेनरूपी शमीकाष्ठसे उत्पन्न यह पृथुरूपी अनल अतिशय दुर्द्धर्ष एवं दुःसह है। यह सबके समीप रहते हुए भी बहुत दूरवर्तीकी भाँति है और किसी तरह इसका तिरस्कार नहीं हो सकता

अन्तर्बहिश्च भूतानां पश्यन् कर्माणि चारणैः। उदासीन इवाध्यक्षो वायुरात्मेव देहिनाम् ॥१२॥
नादण्ड्यं दण्डयत्येष सुतमात्मद्विषामपि। दण्डयत्यात्मजमपि दण्ड्यं धर्मपथे स्थितः ॥१३॥
अस्याप्रतिहतं चक्रं पृथोरामानसाचलात्। वर्तते भगवानर्को यावत्तपति गोगणैः ॥१४॥
रञ्जयिष्यति यल्लोकमयमात्मविचेष्टितैः। अथामुमाहू राजानं मनोरञ्जनकैः प्रजाः ॥१५॥
दृढव्रतः सत्यसन्धो ब्रह्मण्यो वृद्धसेवकः। शरण्यः सर्वभूतानां मानदो दीनवत्सलः ॥१६॥
मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्यामर्ध इवात्मनः। प्रजासु पितृवत्स्निग्धः किङ्करो ब्रह्मवादिनाम् ॥१७॥
देहिनामात्मवत्प्रेष्ठः सुहृदां नन्दिवर्धनः। मुक्तसङ्गप्रसङ्गोऽयं दण्डपाणिरसाधुषु ॥१८॥

अयं तु साक्षाद्भगवांस्त्र्यधीशः कूटस्थ आत्मा कलयावतीर्णः।
यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम् ॥१९॥
अयं भुवो मण्डलमोदयाद्रेर्गोप्तैकवीरो नरदेवनाथः।
आस्थाय जैत्रं रथमात्तचापः पर्यस्यते दक्षिणतो यथार्कः ॥२०॥
अस्मै नृपालाः किल तत्र तत्र बलिं हरिष्यन्ति सलोकपालाः।
मंस्यन्त एषां स्त्रिय आदिराजं चक्रायुधं तद्यश उद्धरन्त्यः ॥२१॥
अयं महीं गां दुदुहेऽधिराजः प्रजापतिर्वृत्तिकरः प्रजानाम्।
यो लीलयाद्रीन् स्वशरासकोट्या भिन्दन् समां गामकरोद्यथेन्द्रः ॥२२॥
विस्फूर्जयन्नाजगवं धनुः स्वयं यदाचरत्क्ष्मामविषह्यमाजौ।
तदा निलिल्युर्दिशि दिश्यसन्तो लाङ्गूलमुद्यम्य यथा मृगेन्द्राः ॥२३॥

॥ ११ ॥ सब प्राणियोंमें रहनेवाले प्राणवायुकी भाँति ये राजराजेश्वर अपने दूतोंके द्वारा सब जीवोंके बाहर-भीतरके कर्मोंको देखते हुए सर्वसाक्षी आत्माके सदृश उदासीन रहा करेंगे ॥ १२ ॥ ये सदा धर्म-मार्गमें स्थित रहते हुए अपने शत्रुके पुत्रको भी दण्डके योग्य होनेपर कोई दण्ड न देंगे और दण्डके योग्य होनेपर अपने पुत्रको भी दण्ड दिये बिना न रहेंगे ॥ १३ ॥ श्रीसूर्यभगवान मानसपर्वतके जितने प्रदेशोंमें अपना प्रकाश फैलाते हैं, उतने ही देशोंमें इन महाराज पृथुका निष्कण्टक राज्य होगा ॥ १४ ॥ ये अपनी चेष्टाओंसे सब लोकोंको आनन्दित करेंगे। अतएव इनके मनोरञ्जनात्मक आचरणके कारण ही प्रजा इनको 'राजा' कहा करेगी ॥ १५ ॥ ये बड़े ही दृढ़व्रत, सत्यपरायण, ब्राह्मणभक्त, गुरुके सेवक, शरणागतवत्सल, सब प्राणियोंके मानदाता और दीनोंपर कृपालु होंगे ॥ १६ ॥ ये परस्त्रियोंमें माताके समान भक्ति करेंगे, अपनी स्त्रीको ये अपने आधे अङ्गके सदृश समझेंगे, प्रजापर पिताके समान इनका प्रेम रहेगा और ये वेदवादियोंके सेवक होंगे ॥ १७ ॥ ये सब प्राणियोंको अपनी आत्माके समान प्रिय, सुहृदोंके आनन्दवर्धक, असंग पुरुषोंका संग करनेवाले तथा असाधुओंके लिये दण्डपाणि यमराजके समान कठोर होंगे ॥ १८ ॥ ये सत्त्व, रज, तम इन गुणोंके अधिष्ठाता और निर्विकार साक्षात् भगवान ही अपने अंशसे प्रकटे हैं, जिनमें पण्डितजन अविद्याके वशीभूत होकर नाना रूपसे प्रतीत होनेवाले जगत्को मिथ्यारूपसे देखते हैं ॥ १९ ॥ उदयाचलपर्वतपर्यन्त सारे भूमण्डलके रक्षक ये अद्वितीय वीर महाराज पृथु अपने विजयी रथपर आरूढ़ होकर हाथमें धनुष-बाण लिये समस्त भूमण्डलको सूर्यके समान दाहिनी ओरसे प्रदक्षिणा करेंगे ॥ २० ॥ तब इन्हें जहाँ-तहाँ सब लोकपालोंके सहित सब राजे बलि अर्पण करेंगे और इनका सुयश गाती हुई इनकी स्त्रियाँ इनको साक्षात् श्रीविष्णुभगवान समझेंगी ॥ २१ ॥ सब प्रजाओंको जीविका देनेवाले ये प्रजापालक राजाधिराज गोरूपधारिणी पृथ्वीको दुहेंगे और इन्द्रके सदृश अपने धनुषकी कोटिसे लीलापूर्वक सब पर्वतोंको चूर-चूर करते हुए सारी पृथ्वीको समतल कर देंगे ॥ २२ ॥ जब ये वनमें पूँछ उठाकर विचरनेवाले सिंहके सदृश अपने शत्रुओंके लिये दुःसह आजगव

एषोऽश्वमेधान् शतमाजहार सरस्वती प्रादुरभावि यत्र ।
अहारषीद्यस्य हयं पुरन्दरः शतक्रतुश्चरमे वर्तमाने ॥२४॥
एष स्वसद्मोपवने समेत्य सनत्कुमारं भगवन्तमेकम् ।
आराध्य भक्त्या लभतामलं तज्ज्ञानं यतो ब्रह्म परं विदन्ति ॥२५॥
तत्र तत्र गिरस्तास्ता इति विश्रुतविक्रमः । श्रोष्यत्यात्माश्रिता गाथाः पृथुः पृथुपराक्रमः ॥२६॥
दिशो विजित्याप्रतिरुद्धचक्रः स्वतेजसोत्पाटितलोकशल्यः ।
सुरासुरेन्द्रैरुपगीयमानमहानुभावो भविता पतिर्भुवः ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

एवं स भगवान् वैन्यः ख्यापितो गुणकर्मभिः । छन्दयामास तान् कामैः प्रतिपूज्याभिनन्द्य च ॥१॥
ब्राह्मणप्रमुखान् वर्णान् भृत्यामात्यपुरोधसः । पौराञ्जानपदान् श्रेणीः प्रकृतीः समपूजयत् ॥२॥

विदुर उवाच

कस्माद्दधार गोरूपं धरित्री बहुरूपिणी । यां दुदोह पृथुस्तत्र को वत्सो दोहनं च किम् ॥३॥
प्रकृत्या विषमा देवी कृता तेन समा कथम् । तस्य मेध्यं हयं देवः कस्य हेतोरपाहरत् ॥४॥
सनत्कुमाराद्भगवतो ब्रह्मन् ब्रह्मविदुत्तमात् । लब्ध्वा ज्ञानं सविज्ञानं राजर्षिः कां गतिं गतः ॥५॥

अर्थात् मेढ़े और बैलके सींगके बने धनुषका टङ्कोर करते हुए युद्धके लिए पृथ्वीतलमें विचरेंगे, तब इनके दुष्ट शत्रु सब दिशा-विदिशाओंमें छिप जाया करेंगे ॥ २३ ॥ जहाँसे सरस्वती नदी निकली है, वहाँपर ये सौ अश्वमेध यज्ञ करेंगे। अन्तिम यज्ञके अनुष्ठानके अवसरपर शतक्रतु इन्द्र इनका घोड़ा चुराकर भागेंगे ॥२४॥ ये अपने भवनके बगीचेमें भगवान सनत्कुमार नामके एक मुनीश्वरसे भेंट होनेपर उनकी भक्तिपूर्वक आराधना करके वह निर्मल ज्ञान प्राप्त करेंगे, जिससे परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाया करती है ॥ २५ ॥ इस तरह इनका पराक्रम सर्वत्र विख्यात हो जायगा, तब ये परमपराक्रमी महाराज पृथु जहाँ-तहाँ अपने ही चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाले वचन सुनेंगे ॥ २६ ॥ इस तरह जिनके शासनका कोई विरोध नहीं कर सकता, ऐसे ये राजराजेश्वर दसों दिशाओंको जीतकर और अपने तेजसे सब लोकोंके दुःखरूपी काँटेको निकालकर पृथ्वीके अधिपति बनेंगे। तब सब देवता और दैत्य इनके प्रभावका वर्णन किया करेंगे ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थ-स्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(राजा पृथुका पृथ्वीपर कुपित होना और पृथ्वी द्वारा उनकी स्तुति) श्रीमैत्रेयजी कहने लगे—हे विदुरजी ! इस तरह अपने गुण तथा कर्मोंके वर्णनसे उन बन्दीजनोंसे प्रशंसित होनेपर राजा पृथुने उनकी प्रशंसाकर और उन्हें वस्त्राभूषणादि इच्छित वस्तुएँ देकर प्रसन्न किया ॥ १ ॥ तब उन्होंने ब्राह्मणादि चारों वर्णों, सेवकों, मन्त्रियों, पुरोहितों, पुरवासियों, देशवासियों तथा सभी भिन्न-भिन्न व्यवसायियों और मंत्रियोंका सत्कार किया ॥२॥ विदुरजीने कहा—हे भगवन् ! जिस पृथ्वीको महाराज पृथुने दुहा था, उसने अनेक रूप धारण करनेमें समर्थ होते हुए भी गौका ही रूप क्यों धरा ? उसके दुहनेके समय बछड़ा कौन बना और उससे उन्होंने दुहा क्या था ?॥ ३ ॥ जो भगवती पृथ्वीदेवी पहले स्वभावतः ऊँची-नीची थीं, उन्हें समतल कैसे किया ? और देवराज इन्द्रने उनके यज्ञका घोड़ा क्यों चुराया ? ॥ ४ ॥ हे ब्रह्मन् ! अन्तअवस्थामें ब्रह्मज्ञानी श्रीसनत्कुमारजी ज्ञानोपदेश प्राप्त करके

यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवान् भगवतः प्रभो । श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम् ॥६॥
भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च । वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैन्यरूपेण गामिमाम् ॥७॥

सूत उवाच

चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति । प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत ॥८॥

मैत्रेय उवाच

यदाभिषिक्तः पृथुरङ्ग विप्रैरामन्त्रितो जनतायाश्च पालः ।
प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥९॥
वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ता यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः ।
त्वामद्य याताः शरणं शरण्यं यः साधितो वृत्तिकरः पतिर्नः ॥१०॥
तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।
यावन्न नङ्क्ष्यामह उज्झितोर्जा वार्तापतिस्त्वं किल लोकपालः ॥११॥

मैत्रेय उवाच

पृथुः प्रजानां करुणं निशम्य परिदेवितम् । दीर्घं दध्यौ कुरुश्रेष्ठ निमित्तं सोऽन्वपद्यत ॥१२॥
इति व्यवसितो बुद्ध्या प्रगृहीतशरासनः । सन्दधे विशिखं भूमेः क्रुद्धस्त्रिपुरहा यथा ॥१३॥
प्रवेपमाना धरणी निशाम्योदायुधं च तम् । गौः सत्यपाद्रवद्भीता मृगीव मृगयुद्रुता ॥१४॥
तामन्वधावत्तद्वैन्यः कुपितोऽत्यरुणेक्षणः । शरं धनुषि सन्धाय यत्र यत्र पलायते ॥१५॥
सा दिशो विदिशो देवी रोदसी चान्तरं तयोः । धावन्ती तत्र तत्रैनं ददर्शानूद्यतायुधम् ॥१६॥

वे राजर्षि किस गतिको पहुँचे ॥ ५ ॥ इनके अतिरिक्त जिन्होंने पृथुरूपसे पृथ्वीको दुहा था, ऐसे कीर्तिमान् भगवान् कृष्णके उस पृथु-अवतारसे सम्बद्ध जो और भी पवित्र चरित्र हों, वह सब आप मुझे सुनाइए। क्योंकि मैं आप और भगवान् श्रीकृष्णका अनुरक्त भक्त हूँ ॥ ६ ॥ ७ ॥ इतनी कथा सुनाकर श्रीसूतजी बोले—इस तरह भगवान् वासुदेवकी कथाके लिये विदुरजीसे प्रेरित होकर श्रीमैत्रेयजी उनकी सराहना करते हुए बड़े प्रसन्न मनसे बोले ॥ ८ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे प्रिय ! जब ब्राह्मणोंने पृथुका राज्याभिषेक करके उनसे कहा कि 'तुम जनताके रक्षक हो' तब पृथ्वीके अन्नहीन हो जानेके कारण भूखसे दुर्बल शरीरवाले प्रजाजनोंने आकर महाराज पृथुसे निवेदन किया—॥ ९ ॥ हे राजन् ! जैसे अपने खोतेमें रहनेवाले अग्निसे वृक्ष जल जाते हैं, वैसे ही हम आज अपने जठराग्निसे जले जा रहे हैं। आप हमें जीविकादान देनेवाले हमारे स्वामी और शरणागतोंके रक्षक हैं। अतएव अब हम आपकी शरणमें आये हैं ॥ १० ॥ आप सब लोकोंके रक्षक और हमें जीविका देनेमें समर्थ हैं। अतएव हे राजराजेश्वर ! हम अन्नके अभावमें मर न जायँ, उसके पहले ही आप हम क्षुधापीड़ितोंको अन्नदान देनेका यत्न करिए ॥ ११ ॥ श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ ! प्रजाका यह करुण-क्रन्दन सुनकर राजा पृथुने बहुत देरतक विचार किया, तब उन्हें पृथ्वीके अन्नहीन होनेका कारण ज्ञात हुआ ॥ १२ ॥ अपनी बुद्धिसे कारण समझ करके उन्होंने अपना धनुष उठाया और त्रिपुरनाशक भगवान् शंकरकी भाँति अत्यन्त क्रुद्ध होकर पृथ्वीको लक्ष्य करके धनुषपर बाण चढ़ाया ॥१३॥ इस प्रकार महाराज पृथुको शस्त्र सम्भाले देखकर पृथ्वी गौका रूप धारण करके काँपती हुई व्याधके भयसे भागती हुई हरिणीके समान बड़े वेगसे भागी ॥ १४ ॥ इधर महाराज पृथु क्रोधवश आँखें लाल किये और धनुषपर बाण चढ़ाये जहाँ-जहाँ पृथ्वी भागकर गयी, वहीं-वहीं उसके पीछे-पीछे भागते गये ॥ १५ ॥ दिशा-विदिशा, स्वर्ग-पृथ्वी तथा उनके बीचवाले अन्तरिक्षादिमें दौड़ती हुई पृथ्वी-

लोके नाविन्दत त्राणं वैन्यान्मृत्योरिव प्रजाः । त्रस्ता तदा निववृते हृदयेन विदूयता ॥१७॥
उवाच च महाभागं धर्मज्ञापन्नवत्सल । त्राहि मामपि भूतानां पालनेऽवस्थितो भवान् ॥१८॥
स त्वं जिघांससे कस्माद्दीनामकृतकिल्बिषाम् । अहनिष्यत्कथं योषां धर्मज्ञ इति यो मतः ॥१९॥
प्रहरन्ति न वै स्त्रीषु कृतागःस्वपि जन्तवः । किमुत त्वद्विधा राजन् करुणा दीनवत्सलाः ॥२०॥
मां विपाट्याजरां नावं यत्र विश्वं प्रतिष्ठितम् । आत्मानं च प्रजाश्चेमाः कथमम्भसि धास्यसि ॥२१॥

पृथुरुवाच

वसुधे त्वां वधिष्यामि मच्छासनपराङ्मुखीम् । भागं बर्हिषि या वृङ्क्ते न तनोति च नो वसु ॥२२॥
यवसं जग्ध्यनुदिनं नैव दोग्ध्यौधसं पयः । तस्यामेवं हि दुष्टायां दण्डो नात्र न शस्यते ॥२३॥
त्वं खल्वोषधिबीजानि प्राक् सृष्टानि स्वयम्भुवा । न मुञ्चस्यात्मरुद्धानि मामवज्ञाय मन्दधीः ॥२४॥
अमूषां क्षुत्परीतानामार्तानां परिदेवितम् । शमयिष्यामि मद्बाणैर्भिन्नायास्तव मेदसा ॥२५॥
पुमान् योषिदुत क्लीब आत्मसम्भावनोऽधमः । भूतेषु निरनुक्रोशो नृपाणां तद्वधोऽवधः ॥२६॥
त्वां स्तब्धां दुर्मदां नीत्वा मायागां तिलशः शरैः । आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ॥२७॥
एवं मन्युमयीं मूर्तिं कृतान्तमिव बिभ्रतम् । प्रणता प्राञ्जलिः प्राह मही सञ्जातवेपथुः ॥२८॥

धरोवाच

नमः परस्मै पुरुषाय मायया विन्यस्तनानातनवेऽगुणात्मने ।
नमः स्वरूपानुभवेन निर्धुतद्रव्यक्रियाकारकविभ्रमोर्मये ॥२९॥

देवीने सब जगह महाराज पृथुको हथियार साधे अपने पीछे आते हुए देखा ॥ १६ ॥ जैसे मनुष्योंको मृत्युसे कोई नहीं बचा पाता, वैसे ही पृथ्वीको सम्पूर्ण जगत्में वेनसुवन महाराज पृथुसे बचानेवाला कोई भी नहीं दीखा। तब भयके मारे दुःखित होकर वह फिर पीछे फिरी और महाभाग पृथुजीसे बोली—"हे धर्मज्ञ ! हे शरणागतवत्सल राजन् ! आप मेरी रक्षा करें। हे प्रभो ! आपने तो सब प्राणियोंकी रक्षा करनेका भार लिया है ॥ १७ ॥ १८ ॥ तब मुझ दुखिया और निरपराधिनीको आप मारना क्यों चाहते हैं ? इसके अतिरिक्त आप बड़े धर्मज्ञ भी कहलाते हैं, फिर मुझ स्त्रीका वध आप कैसे करेंगे ? ॥ १९ ॥ यदि स्त्रियोंसे कोई अपराध हो जाय तो साधारण जीव भी उन्हें नहीं मारते, फिर हे राजन् ! आपके समान दयालु और दीनवत्सल पुरुष तो कभी ऐसा नहीं कर सकते ॥ २० ॥ हे राजन् ! जिसमें अखिल विश्व समाया हुआ है, पृथ्वीरूप मुझ सुदृढ़ नौकाको नष्ट करके आप अपनी सारी प्रजाको कैसे जलपर स्थित कर पायेंगे ? ॥ २१ ॥ राजा पृथु बोले—"हे पृथ्वी ! तूने मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया है। तू यज्ञमें भाग लेती है, किन्तु उसके बदले हमें अन्नरूपी धन नहीं प्रदान करती। अतएव मैं अवश्य तेरा वध करूँगा ॥ २२ ॥ तू सदा चारा तो खाती है, किन्तु ओषधिरूप दूध नहीं दुहने देती। तेरी जैसी दुष्टाको दण्ड देनेमें कोई अपराध नहीं है ॥ २३ ॥ तेरी बुद्धि बड़ी मन्द है, तूने पूर्वकालमें ब्रह्माजीके द्वारा निर्मित औषधि तथा बीजोंको अपनेमें छिपा लिया है। अब मेरी कुछ भी चिन्ता न करके उन्हें तू अपने गर्भसे नहीं निकाल रही है ॥ २४ ॥ अतएव अब मैं अपने बाणोंसे तुझे छिन्न-भिन्न करके तेरे वधसे इन क्षुधातुर तथा दीन प्रजाजनोंका दुख दूर करूँगा। जो अधम जीव अपना ही प्रशंसक होता एवं अन्य प्राणियोंके प्रति निर्दय व्यवहार करता है वह पुरुष, स्त्री अथवा नपुंसक कोई भी हो राजाओंके लिये उसका मारना भी न मारनेके समान ही माना जाता है ॥ २५ ॥ २६ ॥ सो मायासे ही गौरूपधारिणी तुझ अतिशय अभिमानिनी एवं मदोन्मत्ताके टुकड़े-टुकड़े करके मैं अपने योगबलसे ही सब प्रजाको धारण करूँगा" ॥ २७ ॥ इस तरह कालके सदृश अत्यन्त क्रोधमयी मूर्ति धारण करनेवाले महाराज पृथुको प्रणाम करके पृथ्वी उनसे हाथ जोड़कर थर-थर काँपती हुई बोली ॥ २८ ॥ पृथ्वीने कहा—जो अपनी मायासे विविध प्रकारके शरीर धारण

येनाहमात्मायतनं विनिर्मिता धात्रा यतोऽयं गुणसर्गसङ्ग्रहः ।
स एव मां हन्तुमुदायुधः स्वराडुपस्थितोऽन्यं शरणं कमाश्रये ॥३०॥
य एतदादावसृजच्चराचरं स्वमायया ऽऽत्माश्रयया ऽवितर्क्यया ।
तयैव सोऽयं किल गोप्तुमुद्यतः कथं नु मां धर्मपरो जिघांसति ॥३१॥
नूनं बतेशस्य समीहितं जनैस्तन्मायया दुर्जयया ऽकृतात्मभिः ।
न लक्ष्यते यस्त्वकरोदकारयद्योऽनेक एकः परतश्च ईश्वरः ॥३२॥
सर्गादि योऽस्यानुरुणद्धि शक्तिभिर्द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मभिः ।
तस्मै समुन्नद्धनिरुद्धशक्तये नमः परस्मै पुरुषाय वेधसे ॥३३॥
स वै भवानात्मविनिर्मितं जगद्भूतेन्द्रियान्तःकरणात्मकं विभो ।
संस्थापयिष्यन्नज मां रसातलादभ्युज्जहाराम्भस आदिसूकरः ॥३४॥
अपामुपस्थे मयि नाव्यवस्थिताः प्रजा भवानद्य रिरक्षिषुः किल ।
स वीरमूर्तिः समभूद्धराधरो यो मां पयस्युग्रशरो जिघांससि ॥३५॥
नूनं जनैरीहितमीश्वराणामस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभिस्तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पृथुविजये धरित्रीनिग्रहो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

करते तथा अपने स्वरूपानुभवसे द्रव्य अर्थात् पञ्चभूत क्रिया और कारक यानी इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवतारूप तरंग तथा भँवरोंको शान्त कर दिया करते हैं, उन निर्गुणस्वरूप परमपुरुषको मेरा प्रणाम है ॥ २९ ॥ जिन जगद्रचयिता प्रभुने मुझे सब स्थावर-जंगम प्राणियोंके रहनेके लिये रचा है और जिनसे यह समस्त गुणमय सर्ग उत्पन्न हुआ है, अब वे ही स्वाधीन भगवान शस्त्र उठाकर मुझे मारनेके निमित्त उद्यत हैं तो अब मैं किसकी शरणमें जाऊँ ? ॥ ३० ॥ जिन्होंने कल्पके आरम्भमें अपने आश्रित अपनी अचिन्त्य मायासे यह चराचर जगत् रचा है और उस मायाहीके द्वारा जो इसका पालन करनेके लिये उद्यत हैं, वे ही धर्मगोप्ता भगवान कैसे मुझे मारनेको कटिबद्ध हैं ॥ ३१ ॥ जो एक होकर भी अनेक तथा ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उन श्रीभगवानने जो-जो चेष्टाएँ कीं और करायी हैं, उन्हें जिन लोगोंकी दृष्टि उनकी मायासे ढकी हुई है, वे असंयमी लोग नहीं ही जान सकते ॥ ३२ ॥ अतएव पञ्चभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठाता देवता तथा बुद्धि आदि अपनी जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करते हैं, ऐसे उत्पत्ति-संहार आदि परस्पर विरुद्ध शक्तियों युक्त परमपुरुष परमात्माको प्रणाम है ॥ ३३ ॥ हे विभो ! हे अज ! भूत, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणरूपी स्वनिर्मित जगत्की स्थितिके लिये वे ही आप आदिशूकररूप होकर मुझे जलके भीतर रसातलसे ले आये थे ॥ ३४ ॥ इस तरह जो एक समय वराहरूपसे पृथ्वीको धारण किये थे, वे ही आप अब पृथु होकर आये हैं और जलके ऊपर नौकारूपी मुझमें रहनेवाली प्रजाकी रक्षाके निमित्त मैंने दूध नहीं दिया। इस तनिकसे अपराधपर आप अपने तीव्र बाणोंसे मुझे मारना चाहते हैं ? ॥ ३५ ॥ जिनका चित्तरूपी मार्ग आप सरीखे ईश्वरोंकी मायाके प्रभावसे मोहित है, वे हम-जैसे जीव आपकी लीलाओंको नहीं जान सकेंगे। अतएव वीरोंके यशका विस्तार करनेवाले आप महाप्रभुको मेरा प्रणाम है ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत-'सामयिकी'भाषाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

इत्थं पृथुमभिष्टूय रुषा प्रस्फुरिताधरम् । पुनराहावनिर्भीता संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥ १ ॥
सन्नियच्छामि भो मन्युं निबोध श्रावितं च मे । सर्वतः सारमादत्ते यथा मधुकरो बुधः ॥ २ ॥
अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये ॥ ३ ॥
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान् पूर्वदर्शितान् । अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान् विन्दतेऽञ्जसा ॥ ४ ॥
ताननादृत्य यो विद्वानर्थानारभते स्वयम् । तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ॥ ५ ॥
पुरा सृष्टा ह्योषधयो ब्रह्मणा या विशाम्पते । भुज्यमाना मया दृष्टा असद्भिरधृतव्रतैः ॥ ६ ॥
अपालितानादृता च भवद्भिर्लोकपालकैः । चोरीभूतेऽथ लोकेऽहं यज्ञार्थेऽग्रसमोषधीः ॥ ७ ॥
नूनं ता वीरुधः क्षीणा मयि कालेन भूयसा । तत्र योगेन दृष्टेन भवानादातुमर्हति ॥ ८ ॥
वत्सं कल्पय मे वीर येनाहं वत्सला तव । धोक्ष्ये क्षीरमयान् कामाननुरूपं च दोहनम् ॥ ९ ॥
दोग्धारं च महाबाहो भूतानां भूतभावन । अन्नमीप्सितमूर्जस्वद्भगवान् वाञ्छते यदि ॥१०॥
समां च कुरु मां राजन् देववृष्टं यथा पयः । अपर्तावपि भद्रं ते उपावर्तेत मे विभो ॥११॥
इति प्रियं हितं वाक्यं भुव आदाय भूपतिः । वत्सं कृत्वा मनुं पाणावदुहत्सकलौषधीः ॥१२॥
तथा परे च सर्वत्र सारमाददते बुधाः । ततोऽन्ये च यथाकामं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥१३॥

(महाराज पृथुके द्वारा पृथ्वीदोहन) श्री मैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! काँपते अधर-पुटवाले महाराज पृथुकी इस प्रकार स्तुति करके पृथ्वीने भयभीत हो अपना मन विचारपूर्वक रोककर उनसे कहा—॥ १ ॥ "हे राजन् ! आप अपना क्रोध शान्त करें । जिससे मुझे अभयदान मिले । साथ ही आप मेरी यह बात सुनें । प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष भ्रमरके सदृश सभी जगहसे केवल सार भर ग्रहण करता है ॥ २ ॥ तत्त्वदर्शी मुनि इहलोक और परलोकमें मनुष्योंके कल्याणार्थ बहुतेरे उपाय निकाले और उन्हें काममें लाये हैं ॥ ३ ॥ उन पूर्वदर्शित उपायोंका जो पुरुष श्रद्धाके साथ भली-भाँति अवलम्बन करता है, वह बड़ी सरलतासे इच्छित फल पा लेता है ॥ ४ ॥ जो तार्किक पुरुष उनका आदर न करके अपने कल्पित उपायोंका आश्रय लेता है, उसके सभी उपाय और प्रयत्न बारम्बार निष्फल होते रहते हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जो ओषधियें रची थीं, उन्हें मैंने देखा कि यम-नियमादि नियमोंका उल्लंघन करनेवाले दुराचारी मनुष्य खा रहे हैं ॥ ६ ॥ सब लोकोंके रक्षक आप राजाओंने मेरा पालन तथा आदर करना छोड़ दिया है, इससे आज सब लोग चोरों-जैसे हो गये हैं । सो यज्ञकी रक्षाके लिये ही मैंने उन ओषधियोंको उदरस्थ कर लिया था ॥ ७ ॥ अधिक समय हो जानेसे वे ओषधियाँ मेरे उदरमें कुछ क्षीण-सी हो गयी हैं । आप पूर्वाचार्योंके बताये हुए उपायसे उन्हें निकाल लीजिये ॥ ८ ॥ हे महाबाहो ! हे सर्वप्राणिप्रतिपालक ! यदि आपको सब प्राणियोंका बल बढ़ानेवाले अन्नकी इच्छा हो तो हे वीर ! आप किसीको मेरा बछड़ा बनाइये, जिसके प्रेमसे मैं दुग्धरूपसे आपके अभिलषित पदार्थोंको देनेमें समर्थ होऊँ और फिर वह दूध रखने योग्य पात्र और किसी दुहनेवालेको भी खोजिए ॥९॥१० हे राजन् ! पहले आप मुझे समतल करिए, जिससे इन्द्रका बरसाया हुआ जल वर्षा ऋतुके बीत जानेपर भी सर्वत्र भरा रह सके । इससे आपका बड़ा कल्याण होगा" ॥ ११ ॥ इस तरह पृथ्वीके कहे प्रिय और हितकारी वचन मानकर राजा पृथुने स्वायम्भुव मनुको बछड़ा बनाया और अपने हाथरूपी पात्रमें उन्होंने पृथ्वीरूपिणी गौसे सब औषधियोंको दुह लिया ॥ १२ ॥ पृथुके सदृश विद्वान् सब पंडितजन सब जगहसे सार भाग ले लेते हैं । अतएव उनके दुहनेके बाद और सब लोगोंने पृथु द्वारा अपने वशीभूत की हुई उस पृथ्वीको अपनी-अपनी इच्छाके

ऋषयो दुदुहुर्देवीमिन्द्रियेष्वथ सत्तम । वत्सं बृहस्पतिं कृत्वा पयश्छन्दोमयं शुचि ॥१४॥
कृत्वा वत्सं सुरगणा इन्द्रं सोममदूदुहन् । हिरण्मयेन पात्रेण वीर्यमोजो बलं पयः ॥१५॥
दैतेया दानवा वत्सं प्रह्लादमसुरर्षभम् । विधायादूदुहन् क्षीरमयःपात्रे सुरासवम् ॥१६॥
गन्धर्वाप्सरसोऽधुक्षन् पात्रे पद्ममये पयः । वत्सं विश्वावसुं कृत्वा गान्धर्वं मधु सौभगम् ॥१७॥
वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्यं क्षीरमधुक्षत । आमपात्रे महाभागाः श्रद्धया श्राद्धदेवताः ॥१८॥
प्रकल्प्य वत्सं कपिलं सिद्धाः सङ्कल्पनामयीम् । सिद्धिं नभसि विद्यां च ये च विद्याधरादयः ॥१९॥
अन्ये च मायिनो मायामन्तर्धानाद्भुतात्मनाम् । मयं प्रकल्प्य वत्सं ते दुदुहुर्धारणामयीम् ॥२०॥
यक्षरक्षांसि भूतानि पिशाचाः पिशिताशनाः । भूतेशवत्सा दुदुहुः कपाले क्षतजासवम् ॥२१॥
तथाहयो दन्दशूकाः सर्पा नागाश्च तक्षकम् । विधाय वत्सं दुदुहुर्बिलपात्रे विषं पयः ॥२२॥
पशवो यवसं क्षीरं वत्सं कृत्वा च गोवृषम् । अरण्यपात्रे चाधुक्षन्मृगेन्द्रेण च दंष्ट्रिणः ॥२३॥
क्रव्यादाः प्राणिनः क्रव्यं दुदुहुः स्वे कलेवरे । सुपर्णवत्सा विहगाश्चरं चाचरमेव च ॥२४॥
वटवत्सा वनस्पतयः पृथग्रसमयं पयः । गिरयो हिमवद्वत्सा नानाधातून् स्वसानुषु ॥२५॥
सर्वे स्वमुख्यवत्सेन स्वे स्वे पात्रे पृथक् पयः । सर्वकामदुघां पृथ्वीं दुदुहुः पृथुभाविताम् ॥२६॥
एवं पृथ्वादयः पृथ्वीमन्नादाः स्वन्नमात्मनः । दोहवत्सादिभेदेन क्षीरभेदेन कुरूद्वह ॥२७॥

अनुरूप दुहा ॥ १३ ॥ हे साधुश्रेष्ठ ! तब ऋषियोंने बृहस्पतिको बछड़ा बनाकर अपने इन्द्रियरूपी पात्रमें वेदरूपी पवित्र दूध दुहा ॥ १४ ॥ स्वर्गके देवताओंने इन्द्रको बछड़ा बनाकर अपने सुवर्णमय पात्रमें अमृत, वीर्य अर्थात् मनोबल, ओज यानी इन्द्रियबल और बल अर्थात् शारीरिक बलरूपी दूध दुहा ॥ १५ ॥ दैत्यों और दानवोंने दैत्यपति प्रह्लादको बछड़ा बनाकर लोहेके पात्रमें सुरा और आसवरूपी दूध दुहा ॥ १६ ॥ सब गन्धर्वों और अप्सराओंने विश्वावसुको बछड़ा बनाकर कमलरूपी पात्रमें गान-सम्बन्धी मधुरता तथा सुन्दरतारूपी दूध दुहा ॥ १७ ॥ श्राद्धके अधिकारी देवता महाभाग पितरोंने अर्यमारूपी बछड़ेके द्वारा मिट्टीके कच्चे पात्रमें श्रद्धापूर्वक कव्यरूपी दूध दुहा ॥ १८ ॥ सभी सिद्धगणों तथा विद्याधरों आदिने कपिलदेवजीको बछड़ा बनाकर आकाशरूपी पात्रमें अष्टसिद्धि आदि विद्याओंको दुग्धरूपमें दुहा ॥ १९ ॥ इनके अतिरिक्त दूसरे मायावियोंने मयदानवको बछड़ा बना और शरीरको अन्तर्धान करके विचित्र रूप धारण करना आदि धारणामयी विद्याओंको दुहा ॥ २० ॥ इसी तरह सब यक्ष, राक्षस तथा भूत-पिशाच आदि मांसभक्षी योनियोंने भूतनाथ रुद्रभगवानको बछड़ा बनाकर अपने कपालरूपी पात्रमें रुधिरासवरूपी दूध दुहा ॥ २१ ॥ तथा अहि (बिना फनवाले सर्प) दन्दशूक (बिच्छू आदि काटनेवाले जीव) सर्प (फनवाले सर्प) और नागों (कद्रूकी सन्तान) ने तक्षकको बछड़ा बनाकर बिलरूपी पात्रमें विषरूपी दूध दुहा ॥ २२ ॥ इसी तरह सब पशुओंने नन्दीश्वरको बछड़ा बनाकर वनरूपी पात्रमें तृणरूपी दूध दुहा, बड़ी-बड़ी दाढोंवाले मांसभक्षी जीवोंने सिंहको बछड़ा बनाकर अपने शरीररूपी पात्रमें क्रव्यरूपी (कच्चा मांस) दूध दुहा । इसी तरह गरुड़जीको बछड़ा बनाकर पक्षियोंने चर (कीट-पतंगादि) और अचर (फलादि) पदार्थरूपी दूध दुह लिया ॥ २३ ॥ २४ ॥ वृक्षोंसे वटवृक्षको बछड़ा बनाकर विविध प्रकारका रसरूपी दूध दुहा और पर्वतोंने हिमालयको बछड़ा बनाकर अपने शिखररूपी पात्रोंमें गेरू आदि अनेक धातुरूपी दूध दुहा ॥ २५ ॥ इसी तरह सब प्राणियोंने जो बड़ा था, उसे बछड़ा बनाकर अपने पृथक्-पृथक् पात्रोंमें महाराज पृथुके द्वारा वशीभूत तथा सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पृथिवीसे अपना मनोरथ-रूपी दूध दुह लिया । हे कुरुनन्दन ! इस तरह पृथु आदि अन्नभक्षणशील प्राणियोंने दोहनपात्र तथा बछड़ोंकी विभिन्नतासे अपने-अपने अन्नरूप भिन्न-भिन्न दुग्धोंको उस पृथिवीसे दुहा ॥ २६ ॥ २७ ॥

ततो महीपतिः प्रीतः सर्वकामदुघां पृथुः । दुहितृत्वे चकारेमां प्रेम्णा दुहितृवत्सलः ॥२८॥
चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि राजराट् । भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः ॥२९॥
अथास्मिन् भगवान् वैन्यःप्रजानां वृत्तिदःपिता । निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः ॥३०॥
ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च । घोषान् व्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान्॥३१
प्राक्पृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना । यथासुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतोभयाः ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुविजयेऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

अथादीक्षत राजा तु हयमेधशतेन सः । ब्रह्मावर्ते मनोः क्षेत्रे यत्र प्राची सरस्वती ॥१॥
तदभिप्रेत्य भगवान् कर्मातिशयमात्मनः । शतक्रतुर्न ममृषे पृथोर्यज्ञमहोत्सवम् ॥२॥
यत्र यज्ञपतिः साक्षाद्भगवान् हरिरीश्वरः । अन्वभूयत सर्वात्मा सर्वलोकगुरुः प्रभुः ॥३॥
अन्वितो ब्रह्मशर्वाभ्यां लोकपालैः सहानुगैः । उपगीयमानो गन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ॥४॥
सिद्धा विद्याधरा दैत्या दानवा गुह्यकादयः । सुनन्दनन्दप्रमुखाः पार्षदप्रवरा हरेः ॥५॥
कपिलो नारदो दत्तो योगेशाः सनकादयः । तमन्वीयुर्भागवता ये च तत्सेवनोत्सुकाः ॥६॥
यत्र धर्मदुघा भूमिः सर्वकामदुघा सती । दोग्धि स्माभीप्सितानर्थान् यजमानस्य भारत ॥७॥
ऊहुः सर्वरसान्नद्यः क्षीरदध्यन्नगोरसान् । तरवो भूरिवर्ष्माणः प्रासूयन्त मधुच्युतः ॥८॥

तदनन्तर उन कन्यावत्सल महाराज पृथुने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली पृथिवीको अपनी पुत्री समझा ॥ २८ ॥ इसके बाद परम समर्थ महाराज पृथुने अपने धनुषके अग्रभागसे सब पर्वतोंको फोड़कर सारे भूमण्डलको समतल कर दिया ॥ २९ ॥ तब पिताके समान प्रजाको जीविका देनेवाले महाराज पृथुने सब पृथिवीपर जहाँ-तहाँ ग्राम, पुर, नगर, दुर्ग, भीलोंके रहने योग्य स्थान, पशुशालाएँ, छावनियाँ, खानें, किसानोंके गाँव और पर्वतोंकी तलैटीके गाँव बसाकर सबको यथायोग्य निवासस्थान प्रदान किया ॥ ३० ॥ ३१ ॥ राजा पृथुके पहले इस भूमण्डलपर कहीं भी पुरग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। तबतक सब लोग निर्भय होकर सुखपूर्वक जहाँ चाहते, तहाँ रहा करते थे ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी' भाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(राजा पृथुके यज्ञका घोड़ा चुरानेके कारण इन्द्रको मारनेके लिए कटिबद्ध होना और ब्रह्माजीके समझानेपर उनका यज्ञसे निवृत्त होजाना) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं– हे विदुरजी ! तदनन्तर पूर्ववाहिनी सरस्वती नदीके तटपर महाराज मनुके उस ब्रह्मावर्तक्षेत्रमें राजा पृथने सौ अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा ली ॥ १ ॥ तदनन्तर अपने ही अंशस्वरूप महाराज पृथुका महान् उद्योग देखकर इन्द्रको वह यज्ञमहोत्सव असह्य हो उठा ॥ २ ॥ उसमें सबके अन्तरात्मा तथा सबके गुरु साक्षात् यज्ञपति विष्णुभगवान, जिनकी कीर्ति गन्धर्व, मुनि तथा अप्सरायें गाती हैं। वे ब्रह्मा, महादेव अनुचरों और लोकपालोंके साथ आये थे ॥ ३ ॥ ४ ॥ अनेक सिद्ध, विद्याधर, दैत्य, दानव, गुह्यक, नन्द-सुनन्द आदि भगवानके मुख्य-मुख्य पार्षद और सर्वदा भगवानकी सेवाके लिये उत्सुक रहनेवाले कपिल, नारद, दत्तात्रेय तथा सनकादि योगेश्वर भी उनके यहाँ आये हुए थे ॥ ५ ॥६॥ हे भारत ! उस यज्ञमें यज्ञसामग्रियोंको प्रदान करनेवाली पृथिवीने कामधेनुका रूप धारण करके यजमानकी सब कामनायें पूर्ण कीं ॥ ७ ॥ नदियाँ दूध, दही, अन्न तथा गोरस आदि सब रसोंको बहाकर लाती थीं। जिनमें मधु चू

सिन्धवो रत्ननिकरान् गिरयोऽन्नं चतुर्विधम् । उपायनमुपाजह्रुः सर्वे लोकाः सपालकाः ॥९॥
इति चाधोक्षजेशस्य पृथोस्तु परमोदयम् । असूयन् भगवानिन्द्रः प्रतिघातमचीकरत् ॥१०॥
चरमेणाश्वमेधेन यजमाने यजुष्पतिम् । वैन्ये यज्ञपशुं स्पर्धन्नपोवाह तिरोहितः ॥११॥
तमत्रिर्भगवानैक्षत्त्वरमाणं विहायसा । आमुक्तमिव पाखण्डं योऽधर्मे धर्मविभ्रमः ॥१२॥
अत्रिणा चोदितो हन्तुं पृथुपुत्रो महारथः । अन्वधावत संक्रुद्धस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥१३॥
तं तादृशाकृतिं वीक्ष्य मेने धर्मं शरीरिणम् । जटिलं भस्मना च्छन्नं तस्मै बाणं न मुञ्चति ॥१४॥
वधान्निवृत्तं तं भूयो हन्तवेऽत्रिरचोदयत् । जहि यज्ञहनं तात महेन्द्रं विबुधाधमम् ॥१५॥
एवं वैन्यसुतः प्रोक्तस्त्वरमाणं विहायसा । अन्वद्रवदभिक्रुद्धो रावणं गृध्रराडिव ॥१६॥
सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्मा अन्तर्हितः स्वराट् । वीरः स्वपशुमादाय पितुर्यज्ञमुपेयिवान् ॥१७॥
तत्तस्य चाद्भुतं कर्म विचक्ष्य परमर्षयः । नामधेयं ददुस्तस्मै विजिताश्व इति प्रभो ॥१८॥
उपसृज्य तमस्तीव्रं जहाराश्वं पुनर्हरिः । चषालयूपतश्छन्नो हिरण्यरशनं विभुः ॥१९॥
अत्रिः सन्दर्शयामास त्वरमाणं विहायसा । कपालखट्वाङ्गधरं वीरो नैनमबाधत ॥२०॥
अत्रिणा चोदितस्तस्मै सन्दधे विशिखं रुषा । सोऽश्वं रूपं च तद्धित्वा तस्थावन्तर्हितः स्वराट् ॥२१॥

रहा था, ऐसे बड़े-बड़े वृक्ष भाँति-भाँतिके फल-फूल उत्पन्न कर रहे थे ॥ ८ ॥ उस यज्ञमें समुद्र बहुतेरी रत्नराशियाँ, पर्वतगण चार प्रकारके अन्न तथा लोकपालों सहित सब लोक विविध प्रकारके उपहार अर्पण करते थे ॥ ९ ॥ इस तरह जिनके स्वामी एकमात्र विष्णुभगवान ही थे, उन महाराज पृथुके इतने उत्कर्षको सहन न कर पानेके कारण भगवान इन्द्रने उसमें विघ्न डाल दिया ॥ १० ॥ जब महाराज पृथु अपने अन्तिम (सौवें) यज्ञसे भगवान यज्ञपतिकी आराधना कर रहे थे, तभी इन्द्र ईर्ष्यावश गुप्तरूपसे उनके यज्ञका घोड़ा चुराकर भागे ॥ ११ ॥ तब भगवान अत्रिने अधर्ममें ही धर्मका भ्रम उत्पन्न करनेवाले कवचके समान पाखण्डवेषको धारण करके आकाशमार्गसे अश्व लेकर शीघ्रतापूर्वक भागते हुए इन्द्रको देख लिया ॥ १२ ॥ उसी समय अत्रिमुनिकी प्रेरणासे राजा पृथुका महारथी पुत्र इन्द्रको मारनेके लिये अतिशय क्रोधपूर्वक दौड़ा और 'खड़ा रह !' ऐसा कहकर ललकारने लगा ॥ १३ ॥ लेकिन इन्द्र सिरपर जटाजूट और शरीरपर भस्म धारण किये थे। उनके इस वेषको देखकर पृथुकुमारने उन्हें धर्मात्मा पुरुष समझा। अतएव उनपर उसने कोई बाण नहीं छोड़ा ॥ १४ ॥ इस तरह इन्द्रका वध करनेसे पराङ्मुख राजकुमारको अत्रि ऋषिने फिर उनका वध करनेके निमित्त प्रेरित किया। वे बोले—"हे वत्स ! यज्ञमें विघ्न उपस्थित करनेवाले देवताधम इन्द्रको तुम अभी मार डालो" ॥ १५ ॥ अत्रि मुनिके ऐसा कहने-पर पृथुकुमार बहुत क्रुद्ध होकर आकाशमार्गसे जाते हुए इन्द्रके पीछे इस तरह दौड़ा, जिस तरह रावणके पीछे जटायु दौड़ा था ॥ १६ ॥ तब अतिशय स्वाधीन देवराज इन्द्र यज्ञके घोड़ेको और उस वेषको त्यागकर उसके सामने ही अन्तर्धान हो गये और वीर पृथुपुत्र यज्ञपशुको लेकर अपने पिताकी यज्ञशालामें वापस आया ॥ १७ ॥ हे विदुर ! उस राजपुत्रका अद्भुत पराक्रम देखकर महर्षियोंने उसका 'विजिताश्व' यह नाम रखा ॥ १८ ॥ हे विदुरजी ! तब वहाँ घोर अन्धकार उत्पन्न करके इन्द्रने छिपे-छिपे चपालसे युक्त यज्ञस्तम्भमें सोनेकी जंजीरसे बँधे घोड़ेका फिर हरण कर लिया। यज्ञ-पशुको बाँधनेके लिए जो खम्भा नियत होता है, उसे 'यूप' कहते हैं। यूपके आगे रखे हुए वलयाकार काष्ठको 'चषाल' कहते हैं ॥ १९ ॥ तदनन्तर अत्रिऋषिने आकाशमार्गसे शीघ्रतापूर्वक भागते हुए इन्द्रको फिर दिखाया। किन्तु उसने कपाल-खट्वांग लिये हुए इन्द्रके मार्गमें किसी तरहकी बाधा नहीं डाली ॥ २० ॥ तब अत्रिमुनिके उसकानेपर राजपुत्रने अतिशय क्रोधित होकर उसकी ओर बाण चलाया। यह परिस्थिति देखकर स्वाधीन देवता इन्द्र उस घोड़े तथा उस रूपको त्यागकर उस जगहसे

वीरश्चाश्वमुपादाय पितृयज्ञमथाव्रजत् । तदवद्यं हरे रूपं जगृहुर्ज्ञानदुर्बलाः ॥२२॥
यानि रूपाणि जगृहे इन्द्रो हयजिहीर्षया । तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गं खण्डमिहोच्यते ॥२३॥
एवमिन्द्रे हरत्यश्वं वैन्ययज्ञजिघांसया । तद्गृहीतविसृष्टेषु पाखण्डेषु मतिर्नृणाम् ॥२४॥
धर्म इत्युपधर्मेषु नग्नरक्तपटादिषु । प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु ॥२५॥
तदभिज्ञाय भगवान् पृथुः पृथुपराक्रमः । इन्द्राय कुपितो बाणमादत्तोद्यतकार्मुकः ॥२६॥

तमृत्विजः शक्रवधाभिसन्धितं विचक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमसह्यरंहसम् ।
निवारयामासुरहो महामते न युज्यतेऽत्रान्यवधः प्रचोदितात् ॥२७॥
वयं मरुत्वन्तमिहार्थनाशनं ह्वयामहे त्वच्छ्रवसा हतत्विषम् ।
अयातयामोपहवैरनन्तरं प्रसह्य राजन् जुहवाम तेऽहितम् ॥२८॥

इत्यामन्त्र्य क्रतुपतिं विदुरास्यर्त्विजो रुषा । स्रुग्घस्ताञ्जुह्वतोऽभ्येत्य स्वयम्भूः प्रत्यषेधत ॥२९॥
न वध्यो भवतामिन्द्रो यद्यज्ञो भगवत्तनुः । यं जिघांसथ यज्ञेन यस्येष्टास्तनवः सुराः ॥३०॥
तदिदं पश्यत महद्धर्मव्यतिकरं द्विजाः । इन्द्रेणानुष्ठितं राज्ञः कर्मैतद्विजिघांसता ॥३१॥
पृथुकीर्तेः पृथोर्भूयात्तर्ह्येकोनशतक्रतुः । अलं ते क्रतुभिः स्विष्टैर्यद्भवान् मोक्षधर्मवित् ॥३२॥
नैवात्मने महेन्द्राय रोषमाहर्तुमर्हसि । उभावपि हि भद्रं त उत्तमश्लोकविग्रहौ ॥३३॥

अन्तर्धान हो गये ॥ २१ ॥ तब वीर विजिताश्व यज्ञका घोड़ा लिये पिताकी यज्ञशालामें जा पहुँचे। उसी समय इन्द्रके निन्दनीय कापालिक वेषको मन्दबुद्धि पुरुषोंने अपनाय लिया ॥ २२ ॥ इस तरह अश्वहरणकी इच्छासे इन्द्रने जो-जो रूप धारण किया था, वे सब पापके खंड यानी चिह्न अर्थात् पाखण्ड कहे गये, क्योंकि संसारमें लोग खण्ड लिंग अर्थात् चिह्नको कहते हैं ॥ २३ ॥ इस तरह महाराज पृथुका यज्ञ नष्ट करनेके लिये इन्द्रने जिन्हें बारम्बार ग्रहण करके त्यागा था, उन पाखण्डपूर्ण, देखनेमें सुन्दर और बड़ी-बड़ी बातें बनानेवाले नग्न (जैन) तथा रक्तपट (बौद्ध) आदि वेषोंमें जो केवल उपधर्ममात्र होता है, भ्रमवश वही धर्म माना जाने लग गया। ऐसी भावना होनेसे मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः चक्करमें पड़ जाती है। ॥ २४ ॥ २५ ॥ इन्द्रकी इस चालबाजीका पता लगनेपर अत्यन्त पराक्रमी भगवान पृथुने अतिशय कुपित होकर अपना धनुष उठा लिया और इन्द्रपर छोड़नेके लिए बाणका संधान किया ॥ २६ ॥ क्रोधावेशके कारण जिनके रूपकी ओर देखना भी असंभव था तथा जिनका पराक्रम शत्रुके लिए असह्य था, उन राजा पृथुको इन्द्रका वध करनेके लिये उद्यत देखकर ऋत्विजोंने रोकते हुए कहा—"हे महामते ! यज्ञानुष्ठानके अवसरपर शास्त्रविहित यज्ञपशुके अतिरिक्त और किसीका भी वध करना उचित नहीं होता ॥ २७ ॥ सो हे राजन् ! जो आपके सुयशसे ही ईर्ष्यावश तेजोहीन होरहा है, उस कार्यमें विघ्न डालनेवाले आपके शत्रु इन्द्रका हम अमोघ मन्त्रों द्वारा आवाहन करते हैं और उसे बलपूर्वक अग्निमें होम देते हैं" ॥ २८ ॥ हे विदुरजी ! जब महाराज पृथुके ऋत्विजोंने ऐसी सम्मति करके अतिक्रोधपूर्वक इन्द्रका आवाहन किया। जब कि वे स्रुवा लेकर होम करनेको उद्यत हुए, तब ब्रह्माजीने वहाँ पहुँचकर उन्हें रोकते हुए कहा—॥ २९ ॥ "हे ऋत्विजों ! जिसको तुम इस यज्ञ द्वारा मार डालना चाहते हो, वह यज्ञनामका इन्द्र साक्षात् विष्णु-भगवानका स्वरूप है। तुम यज्ञद्वारा जिनकी पूजा करते हो, वे सब देवता उसीके अंग हैं। अतएव तुम्हें उसका वध करना उचित नहीं है ॥ ३० ॥ हे विप्रों ! देखो, राजा पृथुके यज्ञमें विघ्न उपस्थित करनेके निमित्त इन्द्रने धर्मका उच्छेदन करनेवाला कैसा बड़ा भारी पाखण्ड फैलाया है ? ॥ ३१ ॥ महाकीर्तिसम्पन्न महाराज पृथुका यह यज्ञ निन्यानबे यज्ञोंसे ही समाप्त हो जाय।" फिर उन्होंने राजासे कहा—"हे राजन् ! आप मोक्षधर्मके ज्ञाता हैं। अतएव भली भाँति किये हुए इतने ही यज्ञोंसे सन्तुष्ट हो जायँ ॥ ३२ ॥ आप तथा इन्द्र दोनों ही परम पवित्रकीर्ति एवं भगवान विष्णुके अवतार

मास्मिन् महाराज कृथाः स्म चिन्तां निशामयास्मद्वच आदृतात्मा ।
यद्ध्यायतो दैवहतं नु कर्तुं मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम् ॥३४॥
क्रतुर्विरमतामेष देवेषु दुरवग्रहः । धर्मव्यतिकरो यत्र पाखण्डैरिन्द्रनिर्मितैः ॥३५॥
एभिरिन्द्रोपसंसृष्टैः पाखण्डैर्हारिभिर्जनम् । ह्रियमाणं विचक्ष्वैनं यस्ते यज्ञध्रुगश्वमुट् ॥३६॥
भवान् परित्रातुमिहावतीर्णो धर्मं जनानां समयानुरूपम् ।
वेनापचारादवलुप्तमद्य तद्देहतो विष्णुकलासि वैन्य ॥३७॥
स त्वं विमृश्यास्य भवं प्रजापते सङ्कल्पनं विश्वसृजां पिपीपृहि ।
ऐन्द्रीं च मायामुपधर्ममातरं प्रचण्डपाखण्डपथं प्रभो जहि ॥३८॥

मैत्रेय उवाच

इत्थं स लोकगुरुणा समादिष्टो विशाम्पतिः । तथा च कृत्वा वात्सल्यं मघोनापि च सन्दधे ॥३९॥
कृतावभृथस्नानाय पृथवे भूरिकर्मणे । वरान् ददुस्ते वरदा ये तद्बर्हिषि तर्पिताः ॥४०॥
विप्राःसत्याशिषस्तुष्टाः श्रद्धया लब्धदक्षिणाः । आशिषो युयुजुः क्षत्तरादिराजाय सत्कृताः ॥४१॥
त्वयाऽऽहूता महाबाहो सर्व एव समागताः । पूजिता दानमानाभ्यां पितृदेवर्षिमानवाः ॥४२॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुविजय एकोनविंशतितमोध्यायः ॥१९॥

हैं । अतएव हे राजन् ! आपका कल्याण हो, आपको अपने ही स्वरूप इन्द्रके प्रति क्रोध करना उचित नहीं है ॥ ३३ ॥ हे महाराज ! आपका यह यज्ञ बिना विघ्न-बाधाके समाप्त नहीं हो पाया, इसके लिये आप कोई चिन्ता न करें । आप आदरपूर्वक हमारी बात मानें । क्योंकि जो पुरुष विधाताके बिगाड़े हुए कामको पूर्ण करनेका विचार करता है, उसका मन अत्यन्त क्रोधसे भरकर भयंकर मोहको प्राप्त हो जाता है ॥ ३४ ॥ सो इन यज्ञोंको आप बन्द कर दीजिए । इसके कारण इन्द्रके रचे पाखण्डोंसे धर्म नष्ट हो रहा है । यदि तुम यज्ञ न बंद करोगे तो यह धर्मका ह्रास किसी तरह नहीं रुकेगा । क्योंकि देवता बड़े दुराग्रही होते हैं ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! यदि इन्द्र तुम्हारे यज्ञसे द्रोह करेगा जो घोड़ेका चोर है, उनके रचे हुए जनताको मोहित करनेवाले इन पाखण्डोंसे लोकोंको मोहित होते हुए तो देखो ॥ ३६ ॥ हे वैन्य ! आप साक्षात् विष्णुभगवानके अंशज हैं । आपने दुष्ट राजा वेनके दुराचारसे धर्मको लुप्त होते हुए देखकर इस समय जनताके सामयिक धर्मकी रक्षा करनेके निमित्त उसके शरीरसे जन्म लिया है ॥ ३७ ॥ अतएव हे प्रजापते ! हे प्रभो ! आप अपने इस अवतारका उद्देश्य विचारकर भृगु आदि अन्य विश्वकी रचना करनेमें समर्थ मुनीश्वरोंका संकल्प पूर्ण करिए और अधर्म उत्पन्न करनेवाली इस प्रचण्ड तथा पाखण्डमार्गरूपिणी इन्द्रकी मायाका अन्त कीजिये" ॥ ३८ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! अखिल लोकके गुरु भगवान ब्रह्माजीके इस तरह उपदेश करनेपर राजा पृथुने वैसा ही किया और इन्द्रके साथ मित्रता कर ली ॥ ३९ ॥ महाराज पृथुने उस यज्ञके भाग प्राप्त करके प्रसन्न उन वरदायक देवताओंने अवभृथस्नानसे निवृत्त परम पराक्रमी महाराज पृथुको अभिलषित वर दिया ॥ ४० हे विदुरजी ! जिनके आशीर्वाद सदा सत्य होते आये हैं, उन ब्राह्मणोंने भी श्रद्धापूर्वक दक्षिणा और सत्कारसे सन्तुष्ट होकर आदिराज पृथुको आशीर्वाद देते हुए कहा—॥ ४१ ॥ "हे महाबाहो ! तुम्हारे आमंत्रणसे आये हुए हम पितर, देवता, ऋषि तथा मनुष्य आदि सब लोकोंका तुमने दान-मानसे भली भाँति सत्कार किया है" ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

विंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

भगवानपि वैकुण्ठः शाकं मघवता विभुः । यज्ञैर्यज्ञपतिस्तुष्टो यज्ञभुक् तमभाषत ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

एष तेऽकारषीद्भङ्गं हयमेधशतस्य ह । क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥
सुधियः साधवो लोके नरदेव नरोत्तमाः । नाभिद्रुह्यन्ति भूतेभ्यो यर्हि नात्मा कलेवरम् ॥ ३ ॥
पुरुषा यदि मुह्यन्ति त्वादृशा देवमायया । श्रम एव परं जातो दीर्घया वृद्धसेवया ॥ ४ ॥
अतः कायमिमं विद्वानविद्याकामकर्मभिः । आरब्ध इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते ॥ ५ ॥
असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे । अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः ॥ ६ ॥
एकः शुद्धः स्वयंज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः । सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्माऽऽत्मनः परः ॥ ७ ॥
य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः । नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥८॥
यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः । भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति ॥ ९ ॥
परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः । शान्तिं मे समवस्थानं ब्रह्म कैवल्यमश्नुते ॥१०॥
उदासीनमिवाध्यक्षं द्रव्यज्ञानक्रियात्मनाम् । कूटस्थमिममात्मानं यो वेदाप्नोति शोभनम् ॥११॥

भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः ।
दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु सूरयो न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः ॥१२॥

(महाराज पृथुको विष्णुभगवानका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त होना) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! इसके बाद इन्द्रसहित यज्ञके भोक्ता एवं यज्ञपति भगवान विष्णुने भी अति प्रसन्न होकर राजा पृथुसे कहा—॥ १ ॥ श्रीभगवान बोले—हे राजन् ! इन्द्रने तुम्हारे सौवें अश्वमेध यज्ञको भंग कर दिया है, किन्तु इस समय यह दीन बनकर तुमसे अपना अपराध क्षमा करना चाहता है। अब तुम इसे क्षमा कर दो ॥ २ ॥ हे राजन् ! जो श्रेष्ठ मनुष्य बुद्धिमान् तथा साधुस्वभावके होते हैं, वे संसारमें अन्य जीवोंसे द्रोह नहीं करते। क्योंकि यह दृश्यमान शरीर ही आत्मा नहीं है ॥ ३ ॥ यदि तुम्हारे सदृश लोग भी देवमायासे मोहित हो जाया करें तो कहना पड़ेगा कि बहुत दिनों तक की हुई गुरुजनोंकी सेवासे भी श्रममात्र फल मिला ॥ ४ ॥ अतएव बुद्धिमान् पुरुष इस शरीरको अविद्या, वासना तथा कर्मोंके निमित्त समझकर इसमें आसक्त नहीं हुआ करते। इस तरह जो पुरुष इस विनाशशील शरीरमें आसक्त नहीं होते, वे इससे उत्पन्न गृह, पुत्र तथा धन आदिमें भी किसी प्रकारकी ममता कैसे कर सकते हैं ? ॥ ५ ॥ ६ ॥ यह आत्मा एक, शुद्ध, स्वयंज्योति, निर्गुण, गुणोंका आश्रयस्थल, सर्वव्यापक, आवरणहीन, सबका साक्षी, अन्य आत्मासे रहित एवं शरीरादि मिथ्यात्माओं-से उत्तम है ॥ ७ ॥ जो पुरुष अपने भीतर विद्यमान आत्माको ऐसा जानता है, वह अपने शरीरमें रहकर भी अपने अन्तरात्मारूपी मुझमें स्थित रहनेके कारण कभी उसके विकारोंमें नहीं फँसता ॥ ८ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष कोई कामना न रखकर सर्वदा श्रद्धापूर्वक वर्णाश्रमधर्मों द्वारा मेरी आराधना करता है, उसका चित्त धीरे-धीरे पवित्र हो जाता है ॥ ९ ॥ इस तरह विषयोंसे पृथक् , सम्यग्दर्शी एवं शुद्धचित्त पुरुष मुझमें स्थित रहनारूप शान्तिको, जो ब्रह्म कैवल्यकी प्राप्ति है, उसे प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥ जो पुरुष द्रव्य, ज्ञान, क्रिया तथा मनके साक्षी एवं सबसे उदासीनकी भाँति रहनेवाले इस निर्विकार आत्माको जानता है, वही कल्याण प्राप्त करता है ॥ ११ ॥ हे राजन् ! पञ्चमहाभूत, इन्द्रियाँ इन्द्रियाभिमानी देवता तथा चेतन—इन सबके पृथक् और परिच्छिन्न लिंग-शरीरमें ही गुणोंके कार्य होते हैं, साक्षी आत्मापर इसका वश नहीं चलता। मुझमें दृढ़ प्रेम रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सुख-

समः समानोत्तममध्यमाधमः सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशयः ।
मयोपक्लृप्ताखिललोकसंयुतो विधत्स्व वीराखिललोकरक्षणम् ॥१३॥
श्रेयः प्रजापालनमेव राज्ञो यत्साम्पराये सुकृतात् षष्ठमंशम् ।
हर्तान्यथा हृतपुण्यः प्रजानामरक्षिता करहारोऽघमत्ति ॥१४॥
एवं द्विजाग्र्यानुमतानुवृत्तधर्मप्रधानोऽन्यतमोऽवितास्याः ।
ह्रस्वेन कालेन गृहोपयातान् द्रष्टासि सिद्धाननुरक्तलोकः ॥१५॥
वरं च मत् कञ्चन मानवेन्द्र वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभिर्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

स इत्थं लोकगुरुणा विष्वक्सेनेन विश्वजित् । अनुशासित आदेशं शिरसा जगृहे हरेः ॥१७॥
स्पृशन्तं पादयोः प्रेम्णा व्रीडितं स्वेन कर्मणा । शतक्रतुं परिष्वज्य विद्वेषं विससर्ज ह ॥१८॥
भगवानथ विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः । समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥१९॥
प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः । पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत्सताम् ॥२०॥
स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किञ्चनोवाच स बाष्पविक्लवो हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥२१॥
अथावमृज्याश्रुकला विलोकयन्नतृप्तदृग्गोचरमाह पूरुषन् ।
पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस उन्नते विन्यस्तहस्ताग्रमुरङ्गविद्विषः ॥२२॥

दुःखकी प्राप्तिमें किसी प्रकारके विकारभावको नहीं प्राप्त होते ॥ १२ ॥ अतएव हे वीर ! तुम उत्तम, मध्यम तथा अधम पुरुषोंमें समानभाव रखकर सुख-दुःखको समान समझो और इन्द्रिय तथा मनको जीतकर मेरे ही द्वारा उपस्थित किये हुए मन्त्री आदिके साथ सब लोकोंकी रक्षा करते रहो । १३ ॥ प्रत्येक राजाका कल्याण प्रजाका पालन करनेमें ही है। क्योंकि प्रजाका पालक राजा परलोकमें प्रजाके पुण्यका छठाँ भाग पाता है और यदि वह प्रजाकी रक्षा न करके केवल कर लेनेमें ही अपना कर्तव्य समझता है तो उसका रहा-सहा पुण्य भी क्षीण हो जाता है और अन्तमें उसे प्रजाके पापका फल भी भोगना पड़ जाता है ॥ १४ ॥ इस प्रकार यदि तुम उत्तम ब्राह्मणोंकी सम्मति लेकर अनासक्त भावसे अपने प्रधान धर्मका पालन करते हुए पृथ्वीकी रक्षा करोगे तो अल्पकालके बाद अपने घरपर आये हुए सिद्धोंका दर्शन करोगे और सब लोग तुमसे प्रसन्न रहेंगे ॥ १५ ॥ हे नरेन्द्र ! मैं तुम्हारे गुण तथा शीलको देखकर तुम्हारे गुणके अधीन हो गया हूँ । तुम मुझसे कोई अपना अभिलषित वर माँगो । मैं सदा समान भावसे रहनेवाले पुरुषोंको जितनी आसानीसे मिल जाता हूँ, वैसे किसी तप या योगसे नहीं मिलता" ॥ १६ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! उन सर्वलोकगुरु भगवानके ऐसा कहनेपर जगद्विजयी महाराज पृथुने उनकी आज्ञाको शिरोधार्य किया ॥ १७ ॥ फिर अपने कुछ खोटे कर्मसे लज्जित होकर चरणोंमें गिरे हुए इन्द्रको बड़े प्रेमसे आलिङ्गन करके उन्होंने अपने हृदयसे सारा द्वेषभाव दूर कर दिया ॥ १८ ॥ तदनन्तर महाराज पृथुके द्वारा पूजित और क्षण-क्षणमें वृद्धिको प्राप्त भक्तिभावने पृथुके हाथों पकड़े चरण-कमलवाले तथा साधुओंके सुहृत् कमल-दल-लोचन विष्णुभगवान वहाँसे जानेको उद्यत होकर भी पृथुपर कृपा करनेके लिये रुक गये और उनकी ओर दयाभरी दृष्टिसे निहारते रह गये, वे एकाएक जा नहीं सके ॥ १९ ॥ २० ॥ आदिराज महाराज पृथुने भी नेत्रोंमें जल भर आनेके कारण न तो भगवानका दर्शन कर पाया और न कण्ठ गद्गद हो जानेके कारण वे कुछ बोल ही सके । वे उनका कमनीय कान्तिसम्पन्न हृदयसे आलिङ्गन करके हाथ जोड़े चुपचाप खड़े रह गये ॥ २१ ॥ कुछ क्षण

पृथुरुवाच

वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद् बुधः कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकाणामपि सन्ति देहिनां तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥२३॥
न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥२४॥
स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥२५॥
यशः शिवं सुश्रव आर्यसङ्गमे यदृच्छया चोपशृणोति ते सकृत् ।
कथं गुणज्ञो विरमेद्विना पशुं श्रीर्यत्प्रवव्रे गुणसङ्ग्रहेच्छया ॥२६॥
अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलिर्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥२७॥
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ।
करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया ॥२८॥
भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ॥२९॥

बाद अपने नेत्रोंके आँसू पोंछ और अतृप्त नयनोंके समक्ष विराजमान, अपने चरणकमलोंसे पृथिवीका स्पर्श करनेवाले तथा अपने हाथका अग्रभाग गरुड़जीके ऊँचे कन्धेपर रखकर खड़े उन पुरुषोत्तम भगवानकी ओर देखते हुए वे कहने लगे ॥ २२ ॥ राजा पृथुने कहा—हे प्रभो ! आप वरदायक और ब्रह्मादिके भी प्रभु हैं। कोई भी विवेकशील पुरुष आपसे गुणोंके विकाररूपी शरीरमें अभिमान रखनेवाले पुरुषोंके भोगने योग्य विषयोंको, जो नारकी जीवोंको भी प्राप्य हो जाया करते हैं, कैसे माँगेगा ? अतएव हे मोक्षाधिपते परमेश्वर ! मैं आपसे विषयभोग नहीं माँगता ॥ २३ ॥ हे नाथ ! जहाँ महापुरुषोंके हृदयसे उनके मुख द्वारा बाहर निःसृत आपके चरणकमलका कीर्तिरूपी मकरन्द नहीं है, उस पदको मैं कभी नहीं पाना चाहता। बस, मैं तो यही वर चाहता हूँ कि आप मुझे दस सहस्र कान दें कि जिनसे मैं जी भरके आपके चरित्र सुन सकूँ ॥ २४ ॥ हे पुण्यकीर्तिमान् प्रभो ! महापुरुषोंके मुखसे निकले एवं आपके चरणकमल-मकरन्दके कणोंसे सुवासयुक्त वायु तत्त्वमार्गको भूले हुए पतित योगियोंकी स्मृतिको फिरसे जागृत कर दिया करता है। अतएव आपके सुयशसुधापानके अतिरिक्त हमें दूसरा वर नहीं चाहिए ॥ २५ ॥ हे सत्कीर्तिसम्पन्न ! सब प्रकारके सद्गुणोंकी प्राप्तिकी कामनासे जिसके सुननेका वरदान साक्षात् लक्ष्मीजीने माँगा था, उसी आपके मङ्गलमय सुयशको दैववश साधुसमाजमें एक बार सुन लेनेपर पशुके सिवाय भला कौन ऐसा गुणग्राही पुरुष होगा, जो उनसे उदासीन रह सकेगा ॥ २६ ॥ अतएव मैं भी लक्ष्मीजीके सदृश उत्सुक होकर सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ आप सर्वगुणधाम भगवानका भजन करता हूँ। लेकिन मुझे इस बातका भय है कि एक ही पतिकी होड़ करनेवाले तथा एकमात्र आपहीके चरणोंमें लीन हम दोनोंमें अर्थात् लक्ष्मी और मुझमें परस्पर झगड़ा न हो जाय ॥२७॥ हे जगदीश ! जगज्जननीभगवती लक्ष्मीजीके साथ मेरा वैमनस्य न हो। क्योंकि मैं भी आपकी सेवारूपी उन्हींके कर्मका उद्योग करनेका इच्छुक हूँ। लेकिन आप दोनोंपर कृपा करते हैं इसलिए दीनोंके तुच्छ कर्मको भी बहुत अधिक करके समझते हैं। अपने स्वरूपमें ही रमण करनेवाले आपको लक्ष्मीजीसे भी क्या होना जाना है ? ॥ २८ ॥ अतएव साधु पुरुष मायिक गुणोंके कार्यसे हीन आपका भजन करते हैं। हे भगवन् ! आपके चरणोंका

मन्ये गिरं ते जगतां विमोहिनीं वरं वृणीष्वेति भजन्तमात्थ यत् ।
वाचा नु तन्त्या यदि ते जनोऽसितः कथं पुनः कर्म करोति मोहितः ॥३०॥
त्वन्माययाद्धा जन ईश खण्डितो यदन्यदाशास्त ऋतात्मनोऽबुधः ।
यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम् ॥३१॥

मैत्रेय उवाच

इत्यादिराजेन नुतः स विश्वदृक् तमाह राजन् मयि भक्तिरस्तु ते ।
दिष्ट्येदृशी धीर्मयि ते कृता यया मायां मदीयां तरति स्म दुस्तराम् ॥३२॥
तत्त्वं कुरु मयाऽऽदिष्टमप्रमत्तः प्रजापते । मदादेशकरो लोकः सर्वत्राप्नोति शोभनम् ॥३३॥

मैत्रेय उवाच

इति वैन्यस्य राजर्षेः प्रतिनन्द्यार्थवद्वचः । पूजितोऽनुगृहीत्वैनं गन्तुं चक्रेऽच्युतो मतिम् ॥३४॥
देवर्षिपितृगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगाः । किन्नराप्सरसो मर्त्याः खगा भूतान्यनेकशः ॥३५॥
यज्ञेश्वरधिया राज्ञा वाग्वित्ताञ्जलिभक्तितः । सभाजिता ययुः सर्वे वैकुण्ठानुगतास्ततः ॥३६॥
भगवानपि राजर्षेः सोपाध्यायस्य चाच्युतः । हरन्निव मनोऽमुष्य स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥३७॥
अदृष्टाय नमस्कृत्य नृपः सन्दर्शितात्मने । अव्यक्ताय च देवानां देवाय स्वपुरं ययौ ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

———

स्मरण करनेके सिवा साधु-पुरुषोंका कोई और प्रयोजन तो हम नहीं पाते ॥ २९ ॥ हे भगवन् ! मैं आपका भजन करता हूँ। आपने जो मुझसे कहा कि 'वर माँगो' सो आपकी इस वाणीको भी मैं जगत्को मोहित करनेवाली मानता हूँ। यदि लोग वेदवाणीरूप डोरीसे बँधे न रहते तो वे मोहवश कर्मोंको ही क्यों करते ?॥ ३० ॥ हे ईश ! मानवसमाज स्वभावतः आपकी मायासे मोहित रहता है। अतएव वह मूढ़ अपने प्रिय आत्माको छोड़कर अन्य स्त्री-पुत्रादिकी ममतामें फँस जाता है। इसलिये पिता जैसे अपने पुत्रका कल्याण करता है, वैसे ही आप भी हमारे कल्याणार्थ प्रयत्न करें ॥ ३१ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—महाराज पृथुसे इस तरह वन्दित होकर सर्वसाक्षी भगवानने उनसे कहा—"हे राजन् ! मुझमें निरन्तर तुम्हारी भक्ति बनी रहे । यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने मुझमें इस प्रकार अपना चित्त लगा दिया है कि जिसके कारण पुरुष अनायास मेरी दुस्तर मायाको भी पार कर जाता है ॥ ३२ ॥ अतएव हे प्रजापते ! अब तुम सावधान मनसे मेरी आज्ञाका पालन करो। जो प्राणी मेरी आज्ञाओंका पालन करता है, उसका सर्वत्र मंगल ही मंगल होता है" ॥ ३३ ॥ श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी ! इस तरह महाराज पृथुके सार्थक वचनोंका आदरकर और उनसे पूजित होकर श्रीविष्णुभगवान राजा पृथुपर अनुग्रह करते हुए वहाँसे जानेको उद्यत हुए ॥ ३४ ॥ इसके बाद देवता, ऋषि, पितर, गंधर्व, सिद्ध, चारण, नाग, किन्नर, अप्सरा, मनुष्य तथा पक्षी आदि विविध प्रकारके जीव तथा भगवानके पार्षद ये सब लोग राजा पृथुके द्वारा भगवद्बुद्धिसे वाणी, धन तथा हाथ जोड़ना आदि शिष्टाचारोंसे भक्तिपूर्वक पूजित होकर अपने-अपने स्थानोंको लौट गये ॥ ३५ ॥ ॥ ३६ ॥ श्रीविष्णुभगवान भी उपाध्यायों सहित राजर्षि पृथुका चित्त चुराते हुए अपने धामको सिधारे ॥ ३७ ॥ तब महाराज पृथु अपना स्वरूप दिखाकर अन्तर्धान हुए देवताओंके भी देवता अव्यक्त भगवानको नमस्कार करके अपने नगरको प्रस्थान किये ॥३८॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेचतुर्थ-स्कन्धे भाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

———

एकविंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

मौक्तिकैः कुसुमस्रग्भिर्दुकूलैः स्वर्णतोरणैः । महासुरभिभिर्धूपैर्मण्डितं तत्र तत्र वै ॥१॥
चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्याचत्वरमार्गवत् । पुष्पाक्षतफलैस्तोक्मैर्लाजैरर्चिभिरर्चितम् ॥२॥
सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैः परिष्कृतम् । तरुपल्लवमालाभिः सर्वतः समलङ्कृतम् ॥३॥
प्रजास्तं दीपबलिभिः सम्भृताशेषमङ्गलैः । अभीयुर्मृष्टकन्याश्च मृष्टकुण्डलमण्डिताः ॥४॥
शङ्खदुन्दुभिघोषेण ब्रह्मघोषेण चर्त्विजाम् । विवेश भवनं वीरः स्तूयमानो गतस्मयः ॥५॥
पूजितः पूजयामास तत्र तत्र महायशाः । पौराञ्जानपदांस्तांस्तान् प्रीतः प्रियवरप्रदः ॥६॥
स एवमादीन्यनवद्यचेष्टितः कर्माणि भूयांसि महान् महत्तमः ।
कुर्वन् शशासावनिमण्डलं यशः स्फीतं निधायारुरुहे परं पदम् ॥७॥

सूत उवाच

तदादिराजस्य यशो विजृम्भितं गुणैरशेषैर्गुणवत्सभाजितम् ।
क्षत्ता महाभागवतः सदस्पते कौषारविं प्राह गृणन्तमर्चयन् ॥८॥

विदुर उवाच

सोऽभिषिक्तः पृथुर्विप्रैर्लब्धाशेषसुरार्हणः । बिभ्रत् स वैष्णवं तेजो बाह्वोर्याभ्यां दुदोह गाम् ॥९॥
को न्वस्य कीर्तिं न शृणोत्यभिज्ञो यद्विक्रमोच्छिष्टमशेषभूपाः ।
लोकाः सपाला उपजीवन्ति काममद्यापि तन्मे वद कर्म शुद्धम् ॥१०॥

(महाराज पृथुका अपनी प्रजाको उपदेश देना) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! महाराज पृथुके आगमनके उपलक्ष्यमें सारा नगर जहाँ-तहाँ मोतियोंकी लड़ियों, फूलोंकी मालाओं, रंग-बिरंगे वस्त्रों, सुवर्णमयी वन्दनवारों तथा अत्यन्त सुगन्धिमय धूपादिकोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ १ ॥ उसकी सब गलियाँ, चौक तथा सड़कें चन्दन और अगुरुके जलसे सींची हुई थीं । वह जहाँ-तहाँ रखे पुष्प, अक्षत, फल, जौके अङ्कुर, खील तथा दीपकादिसे पूजित था ॥ २ ॥ वह ठौर-ठौरपर रखे फल-फूलयुक्त कदलीस्तम्भों और पूगीफलके पौधोंसे बड़ा ही सुन्दर लग रहा था और सब ओर आम आदि वृक्षोंके कोमल पल्लवोंकी बन्दनवारोंसे अलंकृत था ॥ ३ ॥ महाराज पृथुके नगरमें आते ही दीपक, उपहार तथा विविध प्रकारकी मंगलमयी सामग्री लिये सब प्रजा और मनोहर कुण्डलोंसे शोभायमान कपोलवाली सुन्दरी कन्याएँ उनके समक्ष आयीं ॥ ४ ॥ तब गर्वविहीन वीरवर महाराज पृथु बन्दीजनोंके स्तुतिगान सुनते हुए शंख-दुन्दुभि आदि मांगलिक बाजोंके घोष तथा ऋत्विग्जनोंकी वेदध्वनिके साथ अपने महलमें प्रविष्ट हुए ॥ ५ ॥ मार्गमें जहाँ-तहाँ पुरवासियों एवं देशवासियोंसे पूजित हो परमयशस्वी पृथुने उन्हें बड़ी प्रसन्नतासे अभिलषित वर देकर प्रसन्न किया ॥ ६ ॥ पुनीत कर्मवाले और महानसे भी महान् महाराज पृथुने इसी तरह बहुतेरे कर्म करते हुए इस भूमण्डलका शासन किया । अन्तमें अपना पवित्र यश स्थापित करके परमपदगामी होगये ॥७॥ श्रीसूतजी कहते हैं—हे साधुप्रवर शौनकजी ! महाभगवद्भक्त विदुरजी राजा पृथुके समस्त गुणोंसे युक्त एवं गुणवान् पुरुषों द्वारा प्रशंसित विशाल यशका वर्णन करनेवाले श्रीमैत्रेयजीसे उनका सत्कार करते हुए बोले ॥ ८ ॥ विदुरजी कहने लगे—हे ब्रह्मन् ! ब्राह्मणोंके द्वारा अभिषिक्त होनेके समय जिन लोगोंने सब देवताओंसे भेंटकी सामग्री पायी थी और भुजाओंमें वैष्णव तेजको धारण करके उनसे पृथ्वीको दुहा था ॥ ९ ॥ जिनके इस पृथ्वीदोहनरूपी पराक्रमके उच्छिष्टभागसे सब राजे तथा लोकपालों सहित

मैत्रेय उवाच

गङ्गायमुनयोर्नद्योरन्तराक्षेत्रमावसन् । आरब्धानेव बुभुजे भोगान् पुण्यजिहासया ॥११॥
सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक् । अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः ॥१२॥
एकदाऽऽसीन्महासत्त्रदीक्षा तत्र दिवौकसाम् । समाजो ब्रह्मर्षीणां च राजर्षीणां च सत्तम ॥१३॥
तस्मिन्नर्हत्सु सर्वेषु स्वर्चितेषु यथार्हतः । उत्थितः सदसो मध्ये ताराणामुडुराडिव ॥१४॥
प्रांशुः पीनायतभुजो गौरः कञ्जारुणेक्षणः । सुनासः सुमुखः सौम्यः पीनांसः सुद्विजस्मितः॥१५॥
व्यूढवक्षा बृहच्छ्रोणिर्वलिवल्गुदलोदरः । आवर्तनाभिरोजस्वी काञ्चनोरुरुदग्रपात् ॥१६॥
सूक्ष्मवक्रासितस्निग्धमूर्धजः कम्बुकन्धरः । महाधने दुकूलाग्र्ये परिधायोपवीय च ॥१७॥
व्यञ्जिताशेषगात्रश्रीर्नियमे न्यस्तभूषणः । कृष्णाजिनधरः श्रीमान् कुशपाणिः कृतोचितः॥१८
शिशिरस्निग्धताराक्षः समैक्षत समन्ततः । ऊचिवानिदमुर्वीशः सदः संहर्षयन्निव ॥१९॥
चारु चित्रपदं श्लक्ष्णं मृष्टं गूढमविक्लवम् । सर्वेषामुपकारार्थं तदा अनुवदन्निव ॥२०॥

राजोवाच

सभ्याः शृणुत भद्रं वः साधवो य इहागताः । सत्सु जिज्ञासुभिर्धर्ममावेद्यं स्वमनीषितम् ॥२१॥
अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः । रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक् ॥२२॥

सब लोक इच्छानुसार जीवन धारण करते हैं, उन महाराज पृथुकी पवित्र कीर्तिको ऐसा कौन समझदार पुरुष है, जो न सुनेगा। अतएव आप उनके पवित्र कर्मोंका मुझसे अभी और वर्णन करें ॥ १० ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! महाराज पृथु गंगा-यमुनाके मध्यवर्ती (ब्रह्मर्षि) देशमें ही रहते हुए अपने पुनीत कर्मोंको क्षय करनेकी कामनासे प्रारब्धवश प्राप्त भोगोंको भोगने लगे ॥११॥ ब्राह्मणवंश तथा श्रीविष्णुभगवान जिनके कुलदेव थे, उन मनुष्योंके सिवाय शेष सातों द्वीपोंका वे अकेले ही निष्कण्टक शासन करते थे ॥ १२ ॥ हे साधुश्रेष्ठ ! एक समयकी बात है, महाराज पृथुने एक महासत्रकी दीक्षा ली। उस समय वहाँ देवता, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंका बहुत बड़ा जमाव हुआ ॥१३॥ उस समाजमें पूजनीय अभ्यागतोंका समुचित सत्कार करके महाराज पृथु उस सभाके बीचमें तारागणके मध्य उदित चन्द्रमाके समान उठकर खड़े हो गये ॥ १४ ॥ उनका शरीर ऊँचा था, भुजाएँ स्थूल तथा विशाल थीं, उनके शरीरका वर्ण गौर था और नेत्र कमलके समान अरुणवर्णके एवं विशाल थे। उनकी नासिका सुघड़ थी, मुख मनोहर था, स्वरूप अतिशय सौम्य था, कन्धे ऊँचे थे और दाँत मनोहर मुसकानसे पूर्ण थे ॥ १५ ॥ उनका वक्षःस्थल विशाल था, कटिप्रदेश स्थूल था और उदर वलियोंके कारण सुन्दर दीखता था। उनकी नाभि भँवरकी भाँति गहरी थी। जंघाएँ सुवर्णके सदृश दमकती थीं और चरणोंके पञ्जे ऊँचे थे ॥ १६ ॥ उनके केश सूक्ष्म, घुँघराले, काले-काले और चमकीले थे। उनकी ग्रीवा शंखके सदृश सुन्दर थी और वे दो महामूल्य वस्त्रोंमेंसे एक पहने और एक ओढ़े हुए थे ॥१७॥ यज्ञकी दीक्षा लिये रहनेके कारण उन्होंने अपने शरीरसे सब आभूषण उतारकर अलग कर दिया था, तो भी उनके शरीरकी शोभामें कुछ कमी नहीं आयी थी। उन्होंने अपने शरीरपर कृष्णमृगचर्म पहन रखा था और वे अपने हाथमें कुशा लिये हुए थे। इस तरह उचित कार्योंके करनेवाले महाराज पृथु बड़े श्रीसम्पन्न दीख रहे थे ॥ १८ ॥ अतिशय शीतल और स्नेहयुक्त नेत्रवाले उन महाराजने सब ओर देखकर संपूर्ण सभाको प्रसन्न करते हुए कहा—॥ १९ ॥ उनका भाषण बड़ा ही मनोहर और विचित्र पदोंसे युक्त, अतिशय मधुर, सुन्दर, गम्भीर तथा भ्रान्तिविहीन था। जैसे सबके उपकारार्थ वे अपना अनुभव प्रकट कर रहे थे ॥ २० ॥ राजा पृथुने कहा—हे सभ्यगण ! आप लोगोंका कल्याण हो। आप लोग जो यहाँ आये हुए हैं, मेरा कथन सुनें। साधु पुरुषोंके समक्ष धर्मके जिज्ञासुओंको अपने मनकी बात निवेदन कर देना आवश्यक होता है ॥ २१ ॥ इस लोकमें मुझे लोगोंने प्रजाका राजा

तस्य मे तदनुष्ठानाद्यानाहुर्ब्रह्मवादिनः । लोकाः स्युः कामसन्दोहा यस्य तुष्यति दिष्टदृक् २३
या उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् । प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥२४॥
तत् प्रजा भर्तृपिण्डार्थं स्वार्थमेवानसूयवः । कुरुताधोक्षजधियस्तर्हि मेऽनुग्रहः कृतः ॥२५॥
यूयं तदनुमोदध्वं पितृदेवर्षयोऽमलाः । कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ॥२६॥
अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदहसत्तमाः । इहामुत्र च लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नावत्यः क्वचिद्भुवः ॥२७॥
मनोरुत्तानपादस्य ध्रुवस्यापि महीपतेः । प्रियव्रतस्य राजर्षेरङ्गस्यास्मत्पितुः पितुः ॥२८॥
ईदृशानामथान्येषामजस्य च भवस्य च । प्रह्लादस्य बलेश्चापि कृत्यमस्ति गदाभृता ॥२९॥
दौहित्रादीनृते मृत्योः शोच्यान् धर्मविमोहितान् । वर्गस्वर्गापवर्गाणां प्रायेणैकात्म्यहेतुना ॥३०॥

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥३१॥
विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमानसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान् ।
यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते ॥३२॥
तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभिर्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः ।
अमायिनः कामदुघाङ्घ्रिपङ्कजं यथाधिकारावसितार्थसिद्धयः ॥३३॥

बना दिया है। सो मैं प्रजाको दण्ड देनेवाला, उसकी रक्षा करनेवाला, उसे आजीविका देनेवाला और उसको पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित रखनेवाला हूँ ॥ २२ ॥ अतएव कर्मोंके साक्षी भगवान जिनसे प्रसन्न होते हैं, उन पुरुषोंके लिये जो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले लोक ब्रह्मवादियोंके द्वारा बतलाये गये हैं, प्रजापालन करनेके कारण मुझे भी वे प्राप्त हों ॥ २३ ॥ जो राजा प्रजाको धर्ममार्गकी शिक्षा नहीं देता और उनसे कर ग्रहण करता है, वह राजा प्रजाके पापका भागी होता और अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाया करता है ॥ २४ ॥ अतएव हे प्रजागण ! अपने स्वामीस्वरूप मुझ राजाका परलोकमें हित करनेके लिये आप लोग दोषदृष्टिसे रहित होकर नारायणका चिन्तन करते हुए अपने धर्मका ही आचरण करते रहिये। मेरे ऊपर आप लोगोंकी यह बड़ी कृपा होगी ॥ २५ ॥ हे निर्मल-स्वभावके देवता, पितर तथा ऋषिगण ! आप मेरे कथनका अनुमोदन करें। क्योंकि कोई भी कर्म क्यों न हो, मरनेके बाद उसके कर्ता, शिक्षक तथा उसका अनुमोदन करनेवालेको समान फल प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ हे मेरे पूजनीय साधुश्रेष्ठगण ! कुछ महानुभावोंका मत है कि कर्मोंका फल देनेवाले एकमात्र भगवान यज्ञपति हैं। क्योंकि इहलोक तथा परलोकमें दोनों जगह कुछ स्थानविशेष तेजोयुक्त देखे जाते हैं ॥ २७ ॥ मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, राजर्षि प्रियव्रत तथा हमारे पिताके पिता महाराज अंग, इसी तरह ब्रह्मा, महादेव, प्रह्लाद तथा बलि आदि अन्य महापुरुषोंके मतमें सब कार्य श्रीविष्णुभगवानकी प्रेरणासे सम्पन्न होते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥ जो लोग अत्यन्त शोचनीय तथा धर्ममार्गसे विमुख रहते हैं, उन मृत्युके दौहित्र वेन आदिको छोड़कर प्रायः सभीके मतमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूपी चतुर्वर्ग, स्वर्ग और मोक्षके देनेवाले एकमात्र भगवान ही हैं ॥ ३० ॥ जिनके चरणोंकी सेवामें सर्वदा बढ़नेवाली प्रीति तपस्वियोंके विविध जन्मोंके सञ्चित मनोमलको इस तरह तत्काल नष्ट कर देती है, जिस तरह उन भगवानके चरणनखसे निकली हुई श्रीगंगाजी सब पापोंको हर लेती हैं ॥ ३१ ॥ उनके चरणका आश्रय लेनेवाला प्राणी सब मनोमलसे मुक्त हो और असंगताके ज्ञानसे विशेष बल प्राप्त करके फिर इस दुःखमय संसारचक्रमें नहीं पड़ा करता ॥ ३२ ॥ अतएव हे प्रजावर्ग ! सबको अपने अधिकारके अनुसार फल अवश्य प्राप्त होगा, यह सोचकर आप लोग जिनके चरण-कमल सब कामनाओंके दाता हैं, उन प्रभुको ही न्यायपूर्वक उपार्जित सामग्रियों, मन, वाणी तथा शरीरकी क्रियाओं

असाविहानेकगुणोऽगुणोऽध्वरः पृथग्विधद्रव्यगुणक्रियोक्तिभिः ।
सम्पद्यतेऽर्थाशयलिङ्गनामभिर्विशुद्धविज्ञानघनः स्वरूपतः ॥३४॥

प्रधानकालाशयधर्मसङ्ग्रहे शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम् ।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः ॥३५॥

अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम् ।
स्वधर्मयोगेन यजन्ति मामका निरन्तरं क्षोणितले दृढव्रताः ॥३६॥

मा जातु तेजः प्रभवेन्महर्द्धिभिस्तितिक्षया तपसा विद्यया च ।
देदीप्यमानेऽजितदेवतानां कुले स्वयं राजकुलाद् द्विजानाम् ॥३७॥

ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात् ।
अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥३८॥

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड् विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः ।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥३९॥

पुमाँल्लभेतानतिवेलमात्मनः प्रसीदतोऽत्यन्तशमं स्वतः स्वयम् ।
यन्नित्यसम्बन्धनिषेवया ततः परं किमत्रास्ति मुखं हविर्भुजाम् ॥४०॥

अश्नात्यनन्तः खलु तत्त्वकोविदैः श्रद्धाहुतं यन्मुख इज्यनामभिः ।
न वै तथा चेतनया बहिष्कृते हुताशने पारमहंस्यपर्यगुः ॥४१॥

एवं स्वधर्म-पालन द्वारा छल-कपट छोड़कर भजें ॥ ३३ ॥ वे निर्गुण भगवान ही—जो अपने स्वरूपसे विशुद्ध विज्ञानघन हैं—विविध प्रकारके द्रव्य, गुण, क्रिया तथा स्तोत्र आदिसे पूजित होनेपर अर्थ, आशय, लिंग तथा नामादिसे युक्त करते हैं ॥ ३४ ॥ वे सर्वव्यापक प्रभु स्वयं प्रकृति, काल, अन्तःकरण तथा वासनाओंके समूहरूपी शरीरमें चेतनभावको प्राप्त होकर, जैसे एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें उन्हींकी आकृतिके अनुरूप देखा जाता है, वैसे ही यज्ञादि क्रियाओंके फलसे विविध प्रकारके दीखते हैं ॥ ३५ ॥ अहो ! इस पृथिवीतलपर मेरे जो प्रजाजन यज्ञभोक्ताओंके भी अधीश्वर एवं सर्वगुरु भगवानका अपने वर्णाश्रमधर्मोंके द्वारा सर्वदा पूजन करते हैं, उनकी मुझपर असाधारण कृपा है ॥ ३६ ॥ अतुलित ऐश्वर्ययुक्त राजकुलसे प्रकट होनेवाला कोई तेज, सहनशीलता, तप तथा विद्यासे देदीप्यमान एवं एकमात्र विष्णुभगवानको ही अपना इष्टदेव माननेवाले ब्राह्मणोंके कुलपर कभी भी अपना प्रभाव न डाल पाये ॥ ३७ ॥ ब्रह्मादि महापुरुषोंके परम आराध्य, ब्राह्मणभक्त एवं पुराणपुरुष नारायणने भी सर्वदा इन ब्राह्मणोंके चरणोंकी वन्दना करके ही कभी भी दूर न होनेवाली लक्ष्मी तथा समस्त संसारको पवित्र करनेवाली कीर्ति पायी है ॥ ३८ ॥ अतएव जिसकी सेवासे अन्तःकरणोंमें स्थित स्वप्रकाश तथा ब्राह्मणोंके अतिशय प्रिय श्रीहरि बहुत प्रसन्न होते हैं । श्रीहरिके धर्मोंका ही आचरण करनेवाले आप लोगोंको भी उस ब्राह्मणकुलकी विनयपूर्वक सब तरहसे सेवा करना उचित है ॥ ३९ ॥ जिनकी सर्वदा सेवा करनेके कारण मनुष्य अपने आप स्वतः शुद्ध चित्तसे तत्काल अत्यन्त शान्ति प्राप्त करता है, उन ब्राह्मणोंके सिवाय और कौन देवताओंका मुख हो सकता है ? ॥ ४० ॥ सब उपनिषद् जिन्हें 'ज्ञानानन्दस्वरूप' बतलाते हुए एकमात्र जिनको ही सर्वश्रेष्ठ बताते हैं, वे भगवान अनन्त तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा पूजनीय इन्द्रादि देवताओंके नामसे ब्राह्मणोंके मुखमें श्रद्धाके साथ हवन किये पदार्थोंको जितने चावसे ग्रहण करते हैं, वैसे चेतनाशून्य अग्निमें होम

यद्ब्रह्म नित्यं विरजं सनातनं श्रद्धातपोमङ्गलमौनसंयमैः ।
समाधिना बिभ्रति सार्थदृष्टये यत्रेदमादर्श इवावभासते ॥४२॥
तेषामहं पादसरोजरेणुमार्या वहेयाधिकिरीटमायुः ।
यं नित्यदा बिभ्रत आशु पापं नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥४३॥
गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः ।
प्रसीदतां ब्रह्मकुलं गवां च जनार्दनः सानुचरश्च मह्यम् ॥४४॥

मैत्रेय उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं पितृदेवद्विजातयः । तुष्टुवुर्हृष्टमनसः साधुवादेन साधवः ॥४५॥
पुत्रेण जयते लोकानिति सत्यवती श्रुतिः । ब्रह्मदण्डहतः पापो यद्वेनोऽत्यतरत्तमः ॥४६॥
हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः । विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः ॥४७॥
वीरवर्य पितः पृथ्व्याः समाः सञ्जीव शाश्वतीः । यस्येदृश्यच्युते भक्तिः सर्वलोकैकभर्तरि ॥४८॥
अहो वयं ह्यद्य पवित्रकीर्ते त्वयैव नाथेन मुकुन्दनाथाः ।
य उत्तमश्लोकतमस्य विष्णोर्ब्रह्मण्यदेवस्य कथां व्यनक्ति ॥४९॥
नात्यद्भुतमिदं नाथ तवाजीव्यानुशासनम् । प्रजानुरागो महतां प्रकृतिः करुणात्मनाम् ॥५०॥
अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो । भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः ॥५१॥

किये हुए पदार्थोंको नहीं ग्रहण करते ॥ ४१ ॥ जिसमें यह सारा प्रपञ्च दर्पणमें दृश्यमान प्रतिबिम्बकी भाँति प्रतीत हो रहा है, उस नित्य, शुद्ध तथा सनातन वेदको जो श्रद्धा, तप, मङ्गलमय आचरण, मौन, संयम तथा समाधिके द्वारा परमार्थ वस्तुको जाननेके निमित्त धारण करते हैं, हे आर्यगण ! उन ब्राह्मणोंके चरण-कमलोंकी धूलिको मैं यावज्जीवन अपने मुकुटपर धारण करता रहूँ । क्योंकि उसको सर्वदा सिरपर धारण करनेवाले पुरुषके सब पाप तत्काल क्षीण हो जाते और उसमें समस्त गुण अपने-आप उपस्थित होते हैं ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ उस अखिल गुणधाम, शीलधन, कृतज्ञ तथा गुरुजनोंके आश्रयदाता पुरुषको सब सम्पत्तियाँ स्वयं वरण कर लेती हैं । अतः मैं यही चाहता हूँ कि ब्राह्मणकुल, गोवंश तथा अपने भक्तों समेत श्रीभगवान मेरेपर प्रसन्न होवें ॥ ४४ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! महाराज पृथुके ऐसा कहनेपर देवता, पितर तथा सब ब्राह्मणगण बहुत सन्तुष्ट हुए और सभी साधुजन प्रसन्न चित्तसे 'साधु-साधु' कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥ वे कहने लगे—'पत्रके कर्मसे पिता पुण्यलोकोंको प्राप्त होता है'—यह श्रुतिवाक्य ठीक ही है । क्योंकि वह पापी राजा वेन ब्राह्मणोंके शापसे नष्ट होकरके भी अपने पुत्र महाराज पृथुके प्रभावसे नरकके पार पहुँच गया है ॥ ४६ ॥ इसी तरह हिरण्यकशिपु भी भगवान-की निन्दा करनेसे नरकमें गिरनेको ही था, किन्तु अपने पुत्र भक्त प्रह्लादके प्रभावसे उसको पार कर गया ॥ ४७ ॥ हे पृथ्वीके पिता वीर पृथुजी ! आपकी सब लोकोंके एकमात्र प्रभु श्रीहरिमें ऐसी प्रौढ़ भक्ति है, अतएव आप अनन्त वर्षोंतक जीवित रहें ॥ ४८ ॥ हे पवित्रकीर्ते ! यह बड़े हर्षकी बात है कि आप ब्राह्मणोंके भक्त उत्तमश्लोकशिरोमणि भगवानकी कथाओंको व्यक्त किया करते हैं । आपके समान स्वामी पाकर आज हमने मानो श्रीभगवानको ही अपने स्वामीरूपमें पा लिया है ॥४९॥ हे नाथ ! अपने आश्रितोंको ऐसा उपदेश देना आपके लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । क्योंकि अपनी प्रजापर प्रेम करना दयामय महापुरुषोंका स्वभाव ही होता है ॥ ५० ॥ हे प्रभो ! हमलोग दैवनामक प्रारब्धकर्मके कारण ही विवेकभ्रष्ट होकर भटक रहे थे, सो आज आपने हमें इस अज्ञा-नान्धकारसे पार कर दिया ॥ ५१ ॥ अतएव जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपने तेजसे इस जगत्‌का

नमो विवृद्धसत्त्वाय पुरुषाय महीयसे । यो ब्रह्म क्षत्रमाविश्य बिभर्तीदं स्वतेजसा ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

जनेषु प्रगृणत्स्वेवं पृथुं पृथुलविक्रमम् । तत्रोपजग्मुर्मुनयश्चत्वारः सूर्यवर्चसः ॥१॥
तांस्तु सिद्धेश्वरान् राजा व्योम्नोऽवतरतोऽर्चिषा । लोकानपापान् कुर्वत्या सानुगोऽचष्ट लक्षितान् ॥२
तद्दर्शनोद्गतान् प्राणान् प्रत्यादित्सुरिवोत्थितः । ससदस्यानुगो वैन्य इन्द्रियेशो गुणानिव ॥३॥
गौरवाद्यन्त्रितः सभ्यः प्रश्रयानतकन्धरः । विधिवत्पूजयाञ्चक्रे गृहीताध्यर्हणासनान् ॥४॥
तत्पादशौचसलिलैर्मार्जितालकबन्धनः । तत्र शीलवतां वृत्तमाचरन्मानयन्निव ॥५॥
हाटकासन आसीनान् स्वधिष्ण्येष्विव पावकान् । श्रद्धासंयमसंयुक्तः प्रीतः प्राह भवाग्रजान् ॥६॥

पृथुरुवाच

अहो आचरितं किं मे मङ्गलं मङ्गलायनाः । यस्य वो दर्शनं ह्यासीद्दुर्दर्शानां च योगिभिः ॥७॥
किं तस्य दुलभतरमिह लोके परत्र च । यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवो विष्णुश्च सानुगः ॥८॥
नैव लक्षयते लोको लोकान् पर्यटतोऽपि यान् । यथा सर्वदृशं सर्व आत्मानं येऽस्य हेतवः ॥९॥
अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः । यद्गृहा ह्यर्हवर्याम्बुतृणभूमीश्वरावराः ॥१०॥

पालन करते हैं, उन बुद्धिको प्राप्त तथा सत्त्वगुण-सम्पन्न पूजनीय पुरुषोत्तमको मेरा प्रणाम है ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे भाषाटीकायामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

(महाराज पृथुको सनकादि मुनियोंका उपदेश) श्रीमैत्रेयजी कहने लगे—हे विदुरजी ! जब सब प्रजाजन महापराक्रमी राजा पृथुकी इस तरह स्तुति कर रहे थे, तभी सूर्यसदृश तेजस्वी सनकादि चार मुनीश्वर वहाँ आते दीखे ॥ १ ॥ अनुचरों सहित राजा पृथुने भी सब लोकोंको निष्पाप करनेवाली अपनी कान्तिसे देदीप्यमान उन सिद्धेश्वरोंको आकाशमार्गसे नीचे उतरते देखा ॥ २ ॥ जैसे कोई जीव लालायित होकर इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर चला जाता है, वैसे ही उनके दर्शनोंसे उनकी ओर बढ़ते हुए अपने प्राणोंको मानो रोकनेकी इच्छासे ही वे अपने अनुचरोंके साथ उठकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥ इसके बाद उनके गौरवसे कुण्ठितबुद्धि उन शिष्ट सम्राट्ने विनयवश गर्दन झुकाकर अर्घ्य तथा आसनादि स्वीकार करनेवाले उन मुनियोंकी विधिवत् अभ्यर्थना की ॥ ४ ॥ जिनके केशोंके जूड़ेपर मुनिका चरणोदक सिंचा भया था, उन महाराज पृथुने उन सदाचार-सम्पन्न पुरुषोंके आचरणका मानो आदर करनेके लिये वैसा ही आचरण करते हुए अतिशय प्रसन्न होकर अपने आश्रयमें स्थित अग्निके सदृश सुवर्णसिंहासनपर बैठे भगवान शंकरके अग्रज उन सनकादि मुनीश्वरोंसे श्रद्धा तथा संयमपूर्वक इस तरह कहा ॥ ५ ॥ ६ ॥ महाराज पृथु कहने लगे—हे मङ्गल-मूर्ते ! मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया है, जिनके कारण मुझे आप महानुभावोंका दर्शन प्राप्त हुआ, जो कि योगियोंको भी अतिशय दुर्लभ है ॥ ७ ॥ जिससे सब ब्राह्मण तथा अनुचरों समेत श्रीशंकरजी और विष्णुभगवान प्रसन्न हों, उसे इहलोक तथा परलोकमें कौन-सा पदार्थ दुर्लभ हो सकता है ॥ ८ ॥ जैसे दृश्य-प्रपञ्चके कारणस्वरूप सभी महत्तत्त्वादिगण अपने सर्वसाक्षी आत्माको नहीं जान पाते, वैसेही सब लोकोंमें विचरते रहनेपर भी आपको साधारण लोग नहीं देख सकते ॥ ९ ॥ जिन-लोगोंके घरोंमें आप सरीखे पूज्य पुरुषों द्वारा स्वीकार किये जाने योग्य जल, कुशासन, पृथ्वी, घरके स्वामी अथवा अन्य पुरुष हुआ करते हैं, वे साधुस्वभावके गृहस्थ पुरुष धनहीन होनेपर भी बड़े ही

व्यालालयद्रुमा वै तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः । यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः ॥११॥
स्वागतं वो द्विजश्रेष्ठा यद्व्रतानि मुमुक्षवः । चरन्ति श्रद्धया धीरा बाला एव बृहन्ति च ॥१२॥
कच्चिन्नः कुशलं नाथा इन्द्रियार्थार्थवेदिनाम् । व्यसनावाप एतस्मिन् पतितानां स्वकर्मभिः ॥१३॥
भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते । कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ॥१४॥
तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम् । सम्पृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत् १५
व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः । स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः ॥१६॥

मैत्रेय उवाच

पृथोस्तत्सूक्तमाकर्ण्य सारं सुष्ठु मितं मधु । स्मयमान इव प्रीत्या कुमारः प्रत्युवाच ह ॥१७॥

सनत्कुमार उवाच

साधु पृष्टं महाराज सर्वभूतहितात्मना । भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी ॥१८॥
सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः । यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥१९॥

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥२०॥
शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥२१॥
स श्रद्धया भगवद्धर्मचर्यया जिज्ञासयाऽऽध्यात्मिकयोगनिष्ठया ।
योगेश्वरोपासनया च नित्यं पुण्यश्रवःकथया पुण्यया च ॥२२॥

भाग्यवान होते हैं ॥ १० ॥ जो घर भगवद्भक्तोंके परम पवित्र चरणोदकसे रहित होते, वे सब सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होनेपर भी सर्पोंके निवासस्थानस्वरूप वृक्षोंके समान रहते हैं ॥ ११ ॥ हे द्विजपुंगव ! आप यहाँ तक आये, यही बड़ी प्रसन्नताकी बात है। धैर्यशील मुमुक्षुजन जिन महान् व्रतोंका श्रद्धाके साथ आचरण करते हैं, उन्हें आपने बाल्यकालसे ही धारण किया है ॥ १२ ॥ हे नाथ ! अपने कर्मोंके चक्करमें पड़कर हम इस संसारमें विविध प्रकारके क्लेश भोग रहे हैं, सो हम इन्द्रिय-परायण प्राणियोंके कल्याणका क्या कोई रास्ता है ? ॥ १३ ॥ हे भगवन् ! आपलोग अपनी आत्मामें ही रमण करते हैं, अतएव आपसे कुशल-प्रश्न करना उचित नहीं है। क्योंकि आपमें कुशल तथा अकुशलरूपिणी बुद्धिकी वृत्तियाँ रहती ही नहीं हैं ॥ १४ ॥ सो मैं आपके वचनोंमें विश्वास रखते हुए तपस्वियोंके सुहृद्स्वरूप आपसे यह पूछ रहा हूँ कि इस संसारमें मनुष्योंका कैसे सुगमताके साथ कल्याण हो सकता है ? ॥ १५ ॥ यह बात तो स्पष्ट ही है कि अजन्मा होकर भी सिद्धगणोंके रूपमें प्रकट होनेवाले आत्मज्ञानियोंके अन्तरात्मास्वरूप श्रीभगवान ही अपने भक्तोंपर कृपा करनेके लिये इस पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ १६ ॥ श्रीमैत्रेयजीने कहा—हे विदुरजी ! राजा पृथुके उन सारयुक्त, सुन्दर, परिमित और मीठे वचनोंको सुनकर श्रीसनत्कुमारजी मन्द-मन्द मुसकाते हुए प्रसन्नतापूर्वक बोले ॥ १७ ॥ सनत्कुमारजीने कहा—हे महाराज ! सब कुछ जानते हुए भी आपने सब प्राणियोंके कल्याणार्थ यह बड़ा अच्छा प्रश्न किया है। बहुत ठीक है, सज्जनोंकी बुद्धि ही ऐसी होती है ॥ १८ ॥ साधुजनोंका समागम श्रोता तथा वक्ता दोनोंहीको अभीष्ट होता है। क्योंकि उनके वाक्य और उनके प्रश्न दोनों ही सबके लिये कल्याणकारी होते हैं ॥ १९ ॥ हे राजन् ! श्रीमधुसूदन भगवानके गुणानुवादमें आपकी ऐसी नैष्ठिकी प्रीति है, जिसका प्राप्त होना बहुत कठिन है। वह अन्तःकरणके सभी वासनारूपी मलोंको नष्ट कर दिया करती है ॥ २० ॥ आत्माके अतिरिक्त देह-गेह आदि आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें अनासक्त रहना और अपनी अन्तरात्मा द्वारा निर्गुण ब्रह्ममें सुदृढ़ अनुराग रखना ही अच्छे विचारोंयुक्त शास्त्रोंमें मनुष्यके कल्याणका हेतु माना गया है ॥ २१ ॥ गुरु तथा शास्त्रके

अर्थेन्द्रियारामसगोष्ठ्यतृष्णया तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ।
विविक्तरुच्या परितोष आत्मन् विना हरेर्गुणपीयूषपानात् ॥२३॥
अहिंसया पारमहंस्यचर्यया स्मृत्या मुकुन्दाचरिताग्र्यसीधुना ।
यमैरकामैर्नियमैश्चाप्यनिन्दया निरीहया द्वन्द्वतितिक्षया च ॥२४॥
हरेर्मुहुस्तत्परकर्णपूरगुणाभिधानेन विजृम्भमाणया ।
भक्त्या ह्यसङ्गः सदसत्यनात्मनि स्यान्निर्गुणे ब्रह्मणि चाञ्जसा रतिः ॥२५॥
यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमानाचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा ।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥२६॥
दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो नैवात्मनो बहिरन्तर्विचष्टे ।
परात्मनोर्यद् व्यवधानं पुरस्तात् स्वप्ने यथा पुरुषस्तद्विनाशे ॥२७॥
आत्मानमिन्द्रियार्थं च परं यदुभयोरपि । सत्याशय उपाधौ वै पुमान् पश्यति नान्यदा ॥२८॥
निमित्ते सति सर्वत्र जलादावपि पूरुषः । आत्मनश्च परस्यापि भिदां पश्यति नान्यदा ॥२९॥
इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः । चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥३०॥
भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये । तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः ॥३१॥

वचनोंपर विश्वास रखनेसे, भागवत धर्मका आचरण करनेसे, अध्यात्म योगसे सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासासे, योगेश्वरोंकी उपासनासे, नित्यप्रति पवित्रकीर्ति श्रीहरिकी परम पावन कथाओंको सुननेसे, धन तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें ही सुख माननेवालोंकी मण्डलीमें प्रेम न करनेसे, अपने प्रिय पदार्थोंका संग्रह न करनेसे, भगवद्गुणरूपी अमृतका पान करनेके सिवा अन्य समय आत्मामें ही प्रसन्न रहते हुए एकान्तसेवनमें प्रेम रखनेसे, किसी जीवको कष्ट न देनेसे, परमहंसवृत्तिका आचरण करनेसे, भगवानका सदा स्मरण करते रहनेसे, भगवानके उत्तम चरित्ररूपी अमृतको पीनेसे, कोई इच्छा न रखकर यम-नियमोंका पालन करनेसे, कभी भी किसीकी निन्दा न करनेसे, किसी प्रकारकी चेष्टा न करने तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करने एवं श्रीहरिके श्रवणसुखदायक गुणोंको बारम्बार कहनेसे बढ़ती हुई भक्तिके प्रभावसे मनुष्य कार्य-कारणरूपी सब प्रपञ्चोंसे पृथक् हो जाता है और निर्गुण ब्रह्मरूपी आत्मामें अनायास उसकी प्रीति हो जाती है ॥ २२–२५ ॥ जब परब्रह्ममें ऐसी निश्चल प्रीति हो जाती है, तब वह गुरुभक्त पुरुष जीवके आश्रयरूपी अपने पाँच प्रकारकी अविद्यासे अन्तः-करणको ज्ञान-वैराग्यके द्वारा इस तरह निर्बीज करके दग्ध कर देता है, जैसे लकड़ीसे प्रकट अग्नि अपने आश्रयरूपी काष्ठको जला देता है ॥२६॥ इस तरह कर्माशयके दग्ध हो जानेपर सब कर्मबन्धनसे मुक्त पुरुष शरीरके बाहर-भीतर विद्यमान पदार्थोंको, जो पहले जीवात्मा तथा परमात्माके मध्य रहकर उनका भेद करते थे, नहीं देख पाता। जैसे स्वप्नमें देखे पदार्थोंको उसका अन्त हो जानेपर कोई नहीं देखता ॥ २७ ॥ क्योंकि पुरुष अन्तःकरणरूप उपाधिके रहते हुए ही आत्मा, इन्द्रियोंके विषय तथा इन दोनोंसे सम्बद्ध अहंकारको देख सकता है, और किसी तरह नहीं ॥२८॥ जैसे भेदके निमित्तस्वरूप जल आदिके रहते हुए ही पुरुष बिम्बरूप अपना और प्रतिबिम्बरूप दूसरेका भेद देख पाता है और समय नहीं देखता ॥ २९ ॥ जैसे जलाशयके तटपर उगे कुश आदि अपनी जड़ोंद्वारा जलाशयसे धीरे-धीरे जल खींचते हैं, वैसे ही विषय-चिन्तन करनेवाले पुरुषका मन चञ्चल होकर विषयासक्त इन्द्रियों द्वारा बुद्धिकी विचारशक्तिको हर लेता है ॥ ३० ॥ विचारशक्तिके नष्ट हो जानेपर पूर्वापरकी स्मृति लुप्त हो जाती है। स्मृतिके नष्ट हो जानेपर स्वरूपका ज्ञान नहीं रह जाता। इस प्रकार स्वरूपज्ञानके नष्ट हो जानेको ही विद्वान् लोग 'आत्माका नाश' कहते हैं ॥ ३१ ॥

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः । यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात् ॥३२॥
अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् । भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥३३॥
न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः । धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥३४॥
तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते । त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥३५॥
परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु । न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥३६॥

तत् त्वं नरेन्द्र जगतामथ तस्थुषां च देहेन्द्रियासुधिषणात्मभिरावृतानाम् ।
यः क्षेत्रवित्तपतया हृदि विष्वगाविः प्रत्यक् चकास्ति भगवांस्तमवेहि सोऽस्मि ॥३७॥
यस्मिन्निदं सदसदात्मतया विभाति माया विवेकविधुति स्रजि वाहिबुद्धिः ।
तं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्धतत्त्वं प्रत्यूढकर्मकलिलप्रकृतिं प्रपद्ये ॥३८॥
यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥३९॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरिषन्ति ।
तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥४०॥

मैत्रेय उवाच

स एवं ब्रह्मपुत्रेण कुमारेणात्ममेधसा । दर्शितात्मगतिः सम्यक्प्रशस्योवाच तं नृपः ॥४१॥

जिसके निमित्त अन्य सब पदार्थोंमें प्रीति होती है, उस अपने आत्मस्वरूपको भूल जानेके सदृश मनुष्यकी संसारमें और कोई स्वार्थहानि नहीं होती ॥ ३२ ॥ धन तथा इन्द्रियोंके विषयोंका सतत चिन्तन करनेसे मनुष्यके सब पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि इतनी चिन्ता करनेसे जीव ज्ञान-विज्ञानसे हीन होकर वृक्षादि योनियोंको पाता है ॥ ३३ ॥ अतएव अज्ञानरूपी घोर अन्धकारको पार करनेका इच्छुक पुरुष कभी भी विषयोंका संग न करे। क्योंकि यह धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी प्राप्तिमें अत्यन्त बाधक है ॥३४॥ धर्मादि चार पुरुषार्थोंमें भी मोक्ष ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। क्योंकि अन्य तीन पुरुषार्थ तो सदा कालके भयसे युक्त रहा करते हैं ॥ ३५ ॥ गुणक्षोभ होनेके बाद जितने भी उत्तम तथा अधमभाव प्रकट हुए हैं, उनमेंसे कोई भी भाव कुशलपूर्वक नहीं रहते। क्योंकि उनकी सब इच्छाओंको सर्वसमर्थ काल सदा दबाये रहता है ॥ ३६ ॥ सो हे राजन्! जो सर्वव्यापी, स्वयंप्रकाश तथा बुद्धिके भी अन्तर्वर्ती भगवान देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि और अहंकारसे आवृत स्थावर-जंगम प्राणियोंके हृदयमें जीवके अन्तर्यामीस्वरूपसे प्रकाशित होते रहते हैं, उन्हें तुम 'वह मैं ही हूँ' यह समझो ॥ ३७ ॥ जिस ईश्वरमें यह कार्यकारणरूप सारा प्रपञ्च, जो कि विवेकके उदय होनेपर नहीं ही रह जाता, जो मालामें सर्पबुद्धिके समान मिथ्या है उस नित्यमुक्त, अत्यन्त शुद्ध, ज्ञानस्वरूप एवं स्वभावसे ही कर्महीन भगवानकी मैं शरणमें हूँ—ऐसा सोचो ॥ ३८ ॥ उन भगवान-के चरणकमलकी कान्तिके अनुरागसे भक्तजन अपने कर्माशयरूपी हृदयकी ग्रन्थिको जितनी सुगमतासे काट डालते हैं, उतनी सुगमतासे अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख रखनेवाले वासनाहीन योगीजन भी नहीं काट पाते। उन भक्तजनपालक भगवान वासुदेवका तुम सर्वदा भजन करो ॥ ३९ ॥ जो पुरुष षड्वर्ग (पञ्चज्ञानेन्द्रिय तथा मन) रूप नाकोंसे पूर्ण इस संसारसमुद्रको योगादि दुष्कर साधनों द्वारा पार करना चाहते हों, उनके लिये इसे पार करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। क्योंकि उन्होंने कर्णधाररूपी परमेश्वरका आश्रय नहीं लिया है। किन्तु भगवान हरिके पूजनीय चरणोंको नौका बनाकर तुम अनायास इस दुस्तर संसारसागरसे पार हो जाओगे ॥ ४० ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी! ब्रह्माजीके पुत्र आत्मज्ञानी श्रीसनत्कुमारजीके इस तरह आत्मतत्त्वका उपदेश देनेपर राजा पृथु

राजोवाच

कृतो मेऽनुग्रहः पूर्वं हरिणाऽऽर्तानुकम्पिना । तमापादयितुं ब्रह्मन् भगवन् यूयमागताः ॥४२॥
निष्पादितश्च कार्त्स्न्येन भगवद्भिर्घृणालुभिः । साधूच्छिष्टं हि मे सर्वमात्मना सह किं ददे ॥४३॥
प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः । राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥४४॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥४५॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च । तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुञ्जते क्षत्रियादयः ॥४६॥
यैरीदृशी भगवतो गतिरात्मवाद एकान्ततो निगमिभिः प्रतिपादिता नः ।
तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ॥४७॥

मैत्रेय उवाच

त आत्मयोगपतय आदिराजेन पूजिताः । शीलं तदीयं शंसन्तः खेऽभूवन् मिषतां नृणाम् ४८
वैन्यस्तु धुर्यो महतां संस्थित्याध्यात्मशिक्षया । आप्तकाममिवात्मानं मेन आत्मन्यवस्थितः ॥४९॥
कर्माणि च यथाकालं यथादेशं यथाबलम् । यथोचितं यथावित्तमकरोद्ब्रह्मसात्कृतम् ॥५०॥
फलं ब्रह्मणि विन्यस्य निर्विषङ्गः समाहितः । कर्माध्यक्षं च मन्वान आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥५१॥
गृहेषु वर्तमानोऽपि स साम्राज्यश्रियान्वितः । नासज्जतेन्द्रियार्थेषु निरहंमतिरर्कवत् ॥५२॥
एवमध्यात्मयोगेन कर्माण्यनुसमाचरन् । पुत्रानुत्पादयामास पञ्चार्चिष्यात्मसम्मतान् ॥५३॥
विजिताश्वं धूम्रकेशं हर्यक्षं द्रविणं वृकम् । सर्वेषां लोकपालानां दधारैकः पृथुर्गुणान् ॥५४॥

भलीभाँति उनकी प्रशंसा करते हुए बोले ॥४१॥ राजा पृथुने कहा—हे ब्रह्मन् ! इन दीनदयालु भगवान-ने मुझपर पहले ही कृपा की थी । हे भगवन् ! इसीको पूर्ण करनेके लिये आज आप यहाँ आये हैं ॥ ४२ ॥ आप परमकृपालुओंने आज उसको परिपूर्ण कर दिया। अब उसके बदले मैं आपको क्या दूँ ? क्योंकि इस शरीरके साथ मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब साधुओंका प्रसाद है ॥४३॥ अतएव हे ब्रह्मन् ! प्राण, स्त्री, पुत्र, सब सामग्रियोंसे पूर्ण गृह, राज्य, सेना पृथिवी तथा कोश—ये सभी वस्तुयें मैं आपको अर्पण करता हूँ ॥४४॥ वस्तुतः वेद-शास्त्रका ज्ञाता ब्रा ण ही सेनापतित्व, राज्य, दण्डविधान तथा सब लोकोंके शासनका कार्य भली-भाँति सम्पन्न कर सकता है ॥४५॥ वह ब्राह्मण अपने ही पदार्थोंको खाता है, अपने वस्त्र पहनता है और अपनी ही वस्तुएँ दान देता है । उसकी कृपासे ही क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके लोग अन्न पाते हैं ॥४६॥ वेदके पारदर्शी आप महापुरुषोंने आत्मतत्त्वका विचार करते हुए भग-वानके स्वरूपका इस तरह निरूपण किया है कि जिससे वे परम कृपालु आप अपने द्वारा किये कर्मसे ही सदा सन्तुष्ट रहें। क्योंकि आपके उस महान् उपकारका बदला कोई नहीं चुका सकता । यदि कोई उसके लिये प्रयत्न करे तो वह उपहासका ही पात्र बनेगा ॥ ४७ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! इसके बाद जिनकी मनोवृत्ति सर्वदा आत्मज्ञानमें लगी रहती थी, वे सनकादि मुनीश्वर आदिराज पृथुसे सत्कृत हो और उनके शीलकी प्रशंसा करते हुए सब लोगोंके देखते-देखते आकाशमार्गसे प्रस्थान कर गये ॥ ४८ ॥ तबसे महात्माओंमें अग्रणी महाराज पृथु उनके आत्मोपदेशसे चित्तको स्थिर करते हुए अपने स्वरूपमें स्थित होकर अपनेको कृतकृत्य जैसा मानने लगे ॥ ४९ ॥ सम्पूर्ण कर्म, देश, काल, शक्ति तथा धनके अनुसार यथोचित रीतिसे ब्रह्मार्पणभावपूर्वक वे सब कार्य करने लगे ॥ ५० ॥ तात्पर्य यह कि समस्त कर्मफल परमात्माको समर्पण करके वे असंग और समाहित चित्तसे सब कर्मोंके साक्षी आत्माको प्रकृतिसे परे मानते हुए सब कार्य करने लगे ॥ ५१ ॥ वे सार्वभौम साम्राज्यलक्ष्मीसे युक्त तथा अपने राजभवनमें ही रहते हुए भी अहंकारशून्य होते हुए इन्द्रियोंके विषयोंमें सूर्यके सदृश आसक्त नहीं हुए ॥ ५२ ॥ इस तरह ज्ञानयोगके विधानसे सम्पूर्ण कर्म करते हुए राजा पृथुने अपनी भार्या अर्चिसे विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण तथा वृक नामके पाँच पुत्र उत्पन्न किये ॥ ५३ ॥ राजा पृथुने

गोपीथाय जगत्सृष्टेःकाले स्वे स्वेऽच्युतात्मकः। मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन् प्रजाः ॥५५
राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः। सूर्यवद्विसृजन् गृह्णन् प्रतपंश्च भुवो वसु ॥५६॥
दुर्धर्षस्तेजसेवाग्निर्महेन्द्र इव दुर्जयः। तितिक्षया धरित्रीव द्यौरिवाभीष्टदो नृणाम् ॥५७॥
वर्षति स्म यथाकामं पर्जन्य इव तर्पयन्। समुद्र इव दुर्बोधः सत्त्वेनाचलराडिव ॥५८॥
धर्मराडिव शिक्षायामाश्चर्ये हिमवानिव। कुबेर इव कोशाढ्यो गुप्तार्थो वरुणो यथा ॥५९॥
मातरिश्वेव सर्वात्मा बलेन सहसौजसा। अविषह्यतया देवो भगवान् भूतराडिव ॥६०॥
कन्दर्प इव सौन्दर्ये मनस्वी मृगराडिव। वात्सल्ये मनुवन्नृणां प्रभुत्वे भगवानजः ॥६१॥
बृहस्पतिर्ब्रह्मवादे आत्मवत्त्वे स्वयं हरिः। भक्त्या गोगुरुविप्रेषु विष्वक्सेनानुवर्तिषु।
ह्रिया प्रश्रयशीलाभ्यामात्मतुल्यः परोद्यमे ॥६२॥
कीर्त्योर्ध्वगीतया पुम्भिस्त्रैलोक्ये तत्र तत्र ह। प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेषु स्त्रीणां रामः सतामिव ॥६३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे पृथुचरिते द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मानं प्रवयसमेकदा वैन्य आत्मवान्। आत्मना वर्धिताशेषस्वानुसर्गः प्रजापतिः ॥ १ ॥

समय-समयपर जगत्की सृष्टिकी रक्षा करनेके निमित्त अकेले ही सब लोकपालोंके गुण धारण किये हुए थे ॥५४॥ उन विष्णुस्वरूप महाराज पृथुने अपने मन तथा वाणीकी मनोहर वृत्तियोंसे और सभी सौम्य गुणोंसे प्रजाका मनोरञ्जन करते रहनेके कारण दूसरे चन्द्रमाके समान 'राजा' यह सार्थक नाम प्राप्त किया था ॥ ५५ ॥ वे कररूपसे प्रजाका धन लेकर उसे दुष्कालादिके समय देते हुए ग्रीष्मकालमें जल खींचकर वर्षाकालमें बरसानेवाले सूर्यके समान अपना प्रताप फैला रहे थे ॥ ५६ ॥ वे अपने तेजसे अग्निके समान अदम्य और इन्द्रके समान दुर्जय थे तथा पृथिवीके समान सहनशील और स्वर्गके समान मनुष्योंकी कामनाओंको पूर्ण करते थे ॥ ५७ ॥ वे समय-समयपर प्रजाको तृप्त करते हुए मेघके समान उनके इच्छित पदार्थोंकी यथेष्ट वर्षा करते थे। वे समुद्रके समान दुर्बोध और बलमें पर्वतराजके समान अविचल थे ॥ ५८ ॥ महाराज पृथु दुष्टोंका दमन करनेमें यमराजके समान, आश्चर्यकारी वस्तुओंमें हिमालयके समान, धनिकोंमें कुबेरके समान और गुप्त धनवानोंमें वरुणके समान थे ॥ ५९ ॥ वे शारीरिक बल, इन्द्रियोंकी पटुता और ओजमें वायुके समान थे और असह्यतामें भगवान भूतनाथके समान थे ॥ ६० ॥ वे सौन्दर्यमें कामदेवके समान, धैर्यमें सिंहके सदृश, वात्सल्यमें मनुके समान और मनुष्योंके प्रभुत्वमें भगवान ब्रह्माजीके सदृश थे ॥ ६१ ॥ वे ब्रह्मविचार करनेमें बृहस्पतिके समान, आत्मतत्त्वके जाननेमें साक्षात् विष्णुभगवानके सदृश और गौ, ब्राह्मण, गुरु तथा भगवद्भक्तोंकी भक्ति, लज्जा, विनय, शील और परोपकारमें अपने ही समान थे ॥ ६२ ॥ तीनों लोकोंमें पुरुषों द्वारा जहाँ-तहाँ उच्च स्वरसे गायी हुई अपनी कीर्तिके द्वारा वे इस प्रकार स्त्रियोंके कर्णरन्ध्रोंमें प्रवेश करते थे, जैसे भगवान राम सत्पुरुषोंके हृदयोंमें प्रवेश करते हैं ॥ ६३ ॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

(महाराज पृथुकी तपस्या और उनका परलोकगमन) श्री मैत्रेयजी बाले–हे विदुर ! इस प्रकार अन्नादि तथा पुरग्रामादि सर्गकी वृद्धि करके स्थावर-जंगम सभी प्राणियोंकी आजीविका चलनेवाले,

जगतस्तस्थुषश्चापि वृत्तिदो धर्मभृत् सताम् । निष्पादितेश्वरादेशो यदर्थमिह जज्ञिवान् ॥ २ ॥
आत्मजेष्वात्मजां न्यस्य विरहाद्रुदतीमिव । प्रजासु विमनःस्वेकः सदारोऽगात्तपोवनम् ॥ ३ ॥
तत्राप्यदाभ्यनियमो वैखानससुसम्मते । आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा ॥४॥
कन्दमूलफलाहारः शुष्कपर्णाशनः क्वचित् । अब्भक्षः कतिचित्पक्षान् वायुभक्षस्ततः परम् ॥५॥
ग्रीष्मे पञ्चतपा वीरो वर्षास्वासारषाण्मुनिः । आकण्ठमग्नः शिशिरे उदके स्थण्डिलेशयः ॥६॥
तितिक्षुर्यतवाग्दान्त ऊर्ध्वरेता जितानिलः । आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम् ॥७॥
तेन क्रमानुसिद्धेन ध्वस्तकर्मामलाशयः । प्राणायामैः सन्निरुद्धषड्वर्गश्छिन्नबन्धनः ॥८॥
सनत्कुमारो भगवान् यदाहाध्यात्मिकं परम् । योगं तेनैव पुरुषमभजत्पुरुषर्षभः ॥९॥
भगवद्धर्मिणः साधोः श्रद्धया यततः सदा । भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाऽभवत् ॥१०॥

तस्यानया भगवतः परिकर्मशुद्धसत्त्वात्मनस्तदनु संस्मरणानुपूर्त्या ।
ज्ञानं विरक्तिमदभून्निशितेन येन चिच्छेद संशयपदं निजजीवकोशम् ॥११॥
छिन्नान्यधीरधिगतात्मगतिर्निरीहस्तत्तत्यजेऽच्छिनदिदं वयुनेन येन ।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात् ॥१२॥

सत्पुरुषोंके धर्मोंका आचरण करनेवाले, महामनस्वी प्रजापति पृथु, जिसके लिए उन्होंने जन्म लिया था उस ईश्वराज्ञाका पालन कर चुकनेपर, एक दिन अपनी वृद्धावस्था आयी देख, अपने विरहसे मानो रोती हुई अपनी कन्यारूपिणी पृथिवी पुत्रोंको सौंपकर, सारी प्रजाको बिलखती छोड़, किसी दूसरे सहायकको साथ न लेकर भार्यासहित वनको चले गये ॥ १–३ ॥ वहाँ भी वे किसी प्रकारके विघ्नोंसे न टलनेवाले नियमोंका पालन करते हुए जिस प्रकार पहले विजयमें तत्पर रहते थे, उसी प्रकार वानप्रस्थाश्रमके अनुकूल उग्र तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए ॥ ४ ॥ वे पहले तो कन्द, मूल, फल आदिका आहार करते रहे। फिर कुछ दिन सूखे पत्ते खाये। तदनन्तर कुछ पक्षपर्यन्त केवल जल पीकर ही रहे और फिर केवल वायुपर निर्वाह करने लगे ॥ ५ ॥ वीरवर पृथु मुनिवृत्तिसे रहते हुए ग्रीष्मऋतुमें पञ्चाग्नि तापते, वर्षाऋतुमें खुले मैदानमें रहकर अपने शरीरपर धारावृष्टिका आघात सहते तथा शीतकालमें कण्ठपर्यन्त जलमें डूबे रहते थे और नित्यप्रति भूमिकी वेदीपर शयन करते थे ॥ ६ ॥ इस प्रकार भगवान कृष्णकी आराधना करनेकी इच्छासे उन्होंने शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन करते हुए वाणी और इन्द्रियोंका संयमकर, प्राणोंको जीत, ऊर्ध्वरेता हो बड़ी कठोर तपस्या की ॥ ७ ॥ इस प्रकार क्रम-क्रमसे परिपक्व उस तपके प्रभावसे उनके सब कर्मरूप मल नष्ट हो गये तथा प्राणायामके द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन-इस षड्वर्गके विरुद्ध हो जानेसे उनका वासनारूप बन्धन कट गया ॥ ८ ॥ भगवान सनत्कुमारने उन्हें जिस परम अध्यात्मयोगका उपदेश दिया था, उसीके द्वारा वे पुरुषश्रेष्ठ श्रीपुरुषोत्तम भगवानकी उपासना करने लगे ॥ ९ ॥ इस तरह श्रद्धाके साथ भगवद्धर्मोंका पालनकर सर्वदा उपासना करते-करते साधुप्रकृति महाराज पृथुको ब्रह्मरूप भगवानकी अनन्य भक्ति प्राप्त हो गयी ॥ १० ॥ तब भगवानकी उपासनासे शुद्ध अन्तःकरणवाले उन महाराज पृथुको भगवानकी भक्ति प्राप्त हो गयी तथा निरन्तर भगवच्चिन्तनसे वैराग्ययुक्त ज्ञान उत्पन्न हो गया। उस तीक्ष्ण ज्ञानके प्रभावसे उन्होंने संशय-विपर्यय आदिके आश्रयस्वरूप जीवके उपाधिरूपी अपने अहंकारको नष्ट कर डाला ॥ ११ ॥ तदनन्तर जिनकी देहात्मबुद्धि नष्ट हो गयी थी और जिन्होंने आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे अपने-आप प्राप्त सिद्धियोंको भी त्याग दिया था, उन महात्मा पृथुने, जिसके द्वारा अपनी सारी संशयराशि दूर कर दी थी, उस आत्मज्ञानके प्रयत्नको भी त्याग दिया। क्योंकि जबतक योगमार्गके द्वारा साधकको भगवानकी कथामें प्रीति नहीं होती, तबतक केवल योग साधनेसे भी उसका विषया-

एवं स वीरप्रवरः संयोज्यात्मानमात्मनि । ब्रह्मभूतो दृढं काले तत्याज स्वं कलेवरम् ॥१३॥
सम्पीड्य पायुं पार्ष्णिभ्यां वायुमुत्सारयन् शनैः । नाभ्यां कोष्ठेष्ववस्थाप्य हृदुरःकण्ठशीर्षणि ॥१४॥
उत्सर्पयंस्तु तं मूर्ध्नि क्रमेणावेश्य निःस्पृहः । वायुं वायौ क्षितौ कायं तेजस्तेजस्ययूयुजत् ॥१५॥
खान्याकाशे द्रवं तोये यथास्थानं विभागशः । क्षितिमम्भसि तत्तेजस्यदो वायौ नभस्यमुम् ॥१६॥
इन्द्रियेषु मनस्तानि तन्मात्रेषु यथोद्भवम् । भूतादिनामून्युत्कृष्य महत्यात्मनि सन्दधे ॥१७॥
तं सर्वगुणविन्यासं जीवे मायामये न्यधात् । तं चानुशयमात्मस्थमसावनुशयी पुमान् ।
ज्ञानवैराग्यवीर्येण स्वरूपस्थोऽजहात्प्रभुः ॥१८॥
अर्चिर्नाम महाराज्ञी तत्पत्न्यनुगता वनम् । सुकुमार्यतदर्हा च यत्पद्भ्यां स्पर्शनं भुवः ॥१९॥
अतीव भर्तुर्व्रतधर्मनिष्ठया शुश्रूषया चार्षदेहयात्रया ।
नाविन्दतार्तिं परिकर्शितापि सा प्रेयस्करस्पर्शनमाननिर्वृतिः ॥२०॥
देहं विपन्नाखिलचेतनादिकं पत्युः पृथिव्या दयितस्य चात्मनः ।
आलक्ष्य किञ्चिच्च विलप्य सा सती चितामथारोपयदद्रिसानुनि ॥२१॥
विधाय कृत्यं ह्रदिनीजलाप्लुता दत्त्वोदकं भर्तुरुदारकर्मणः ।
नत्वा दिविस्थांस्त्रिदशांस्त्रिः परीत्य विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ ॥२२॥

सक्तिरूपी प्रमाद दूर नहीं होने पाता ॥ १२ ॥ इस तरह उन वीरवर महाराज पृथुने अपना मन दृढ़ताके साथ आत्मामें स्थिरकर ब्रह्मभावमें स्थित हो अन्तकाल उपस्थित होनेपर अपना शरीर त्यागा । प्राणत्यागके अवसरपर उन्होंने एँड़ीसे अपनी गुदाके द्वारको रोक दिया और प्राणवायुको धीरे-धीरे ऊपरकी ओर उठाते हुए उसे क्रमशः नाभि, उदर, हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और सिरमें पहुँचा दिया ॥ १३ ॥ १४ ॥ फिर उसे ऊपरकी ओर ले जाते हुए धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित किया और सांसारिक भोगोंसे उपरत होकर प्राणवायुको वायुमें, पार्थिव शरीरको पृथ्वीमें तथा शरीरके तेजको तेजमें लीन कर दिया ॥ १५ ॥ यथास्थान विभागपूर्वक हृदयाकाशादिको महाकाशमें और रुधिर आदि शरीरके द्रव अंशोंको जलमें लीन करके पृथ्वीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें तथा वायुको आकाशमें लीन कर दिया ॥ १६ ॥ इसके बाद मनको इन्द्रियोंमें और कर्णादि इन्द्रियोंको उनके कारणरूप शब्दादि तन्मात्राओंमें लीन किया । फिर उन तन्मात्राओंको अहंकारके द्वारा ऊपर खींचकर अहंकारके साथ उनको महत्तत्त्वमें स्थापित कर दिया ॥ १७ ॥ इसके बाद गुणोंकी अभिव्यक्ति करनेवाले महत्तत्त्वको मायोपाधिक जीवमें स्थित कर दिया । फिर ज्ञान तथा वैराग्यके प्रभावसे अपने स्वरूपमें स्थित होकर परमसमर्थ महाराज पृथुने अपने अन्तःकरणमें स्थित उस उपाधिको भी त्याग दिया, जिसके कारण कि वे पहले सोपाधिक जीवभावको प्राप्त हुए थे ॥ १८ ॥ राजा पृथुकी पत्नी महारानी अर्चि भी, जो अति सुकुमारी थीं और जो पृथ्वीपर पैर भी रखनेके योग्य नहीं थीं, उनके साथ वनको गयीं ॥ १९ ॥ वह पतिके कठोर व्रतपालनमें उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए ऋषि-वृत्ति (कन्दमूलादि) से अपनी देहयात्राका निर्वाह करनेके कारण बहुत दुर्बल हो गयी थीं । फिर भी प्रियतमके करस्पर्शसे सम्मानित हो उसीमें आनन्द मनानेके कारण उसने किसी प्रकारसे दुःखका अनुभव नहीं किया ॥ २० ॥ इसी समय पृथ्वीके स्वामी और अपने प्रियतम महाराज पृथुके शरीरके चेतना आदि सम्पूर्ण धर्मोंको नष्ट हुआ देख उस सतीने कुछ विलापकर पर्वतके ऊपर एक चिता बनायी और उसपर वह शरीर रक्खा ॥ २१ ॥ फिर नदीके जलमें स्नानकर परम पराक्रमी पतिको जलाञ्जलि देकर सती होनेके समयके सब कृत्य पूर्ण करके आकाशस्थित देवताओंकी वन्दना की और तीन बार चिताकी परिक्रमाकर पतिके चरणोंका ध्यान करती हुई अग्निमें प्रविष्ट हो गयी ॥ २२ ॥

विलोक्यानुगतां साध्वीं पृथुं वीरवरं पतिम् । तुष्टुवुर्वरदा देवैर्देवपत्न्यः सहस्रशः ॥२३॥
कुर्वत्यः कुसुमासारं तस्मिन् मन्दरसानुनि । नदत्स्वमरतूर्येषु गृणन्ति स्म परस्परम् ॥२४॥

देव्य ऊचुः

अहो इयं वधूर्धन्या या चैवं भूभुजां पतिम् । सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीर्वधूरिव ॥२५॥
सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती । पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥२६॥
तेषां दुरापं किं त्वन्यन्मर्त्यानां भगवत्पदम् । भुवि लोलायुषो ये वै नैष्कर्म्यं साधयन्त्युत ॥२७॥
स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि । लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥२८॥

मैत्रेय उवाच

स्तुवतीष्वमरस्त्रीषु पतिलोकं गता वधूः । यं वा आत्मविदां धुर्यो वैन्यः प्रापाच्युताश्रयः ॥२९
इत्थम्भूतानुभावोऽसौ पृथुः स भगवत्तमः । कीर्तितं तस्य चरितमुद्दामचरितस्य ते ॥३०॥
य इदं सुमहत्पुण्यं श्रद्धयावहितः पठेत् । श्रावयेच्छृणुयाद्वापि स पृथोः पदवीमियात् ॥३१॥
ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः । वैश्यः पठन् विट्पतिः स्याच्छूद्रः सत्तमतामियात्३२
त्रिःकृत्व इदमाकर्ण्य नरो नार्यथवाऽऽदृता । अप्रजः सुप्रजतमो निर्धनो धनवत्तमः ॥३३॥
अपस्पष्टकीर्तिः सुयशा मूर्खो भवति पण्डितः । इदं स्वस्त्ययनं पुंसाममङ्गल्यनिवारणम् ॥३४॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं कलिमलापहम् । धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक्सिद्धिमभीप्सुभिः ।
श्रद्धयैतदनुश्राव्यं चतुर्णां कारणं परम् ॥३५॥

परम साध्वी अर्चिको अपने पति वीरवर पृथुका इस प्रकार अनुगमन करते देख वर देनेमें समर्थ सहस्रों देवांगनाएँ देताओंके सहित उनकी स्तुति करने लगीं ॥ २३ ॥ उनके स्वर्गारोहणके समय उस मन्दराचलके शिखरपर पुष्पोंकी वर्षा करती हुई वे देवांगनाएँ देवताओंके तूर्यघोषके साथ परस्पर इस प्रकार कहने लगीं ॥ २४ ॥ देवियाँ बोलीं—अहो ! यह स्त्री धन्य है । जिसने, लक्ष्मीजी जैसे विष्णु भगवानकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार अपने पति राजराजेश्वर पृथुकी तन-मनसे सेवा की है ॥ २५ ॥ देखो, यह सती-साध्वी अर्चि अपने अचिन्तनीय कर्मके प्रभावसे हमें लाँघकर अपने पति पृथुके साथ अतिशय उच्च लोकको सिधार रही है ॥ २६ ॥ जो प्राणी अल्पायु होकर भी भगवानकी प्राप्ति करनेवाला आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन मनुष्योंके लिये संसारमें कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता ॥ २७ ॥ अतएव जो मनुष्य अपने पूर्वकृत पुण्योंके प्रभावसे मोक्षके साधनस्वरूप नरदेह बड़ी कठिनाईसे पाकर भी विषयोंमें आसक्त रहता है, वह आत्मघाती अवश्य ठगा हुआ माना जाता है ॥ २८ ॥ श्री मैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी ! देवपत्नियें जब इस तरह स्तुति कर रही थीं तब महारानी अर्चि भी, जिस लोकको आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पृथुजी प्राप्त हुए थे, उसी पतिलोकको प्राप्त हुईं ॥ २९ ॥ हे विदुरजी ! परम पराक्रमी राजा पृथु ऐसे प्रभावशाली महापुरुष थे । मैंने तुम्हें उनका उदार चरित कह सुनाया ॥ ३० ॥ जो मनुष्य यह परम पवित्र चरित्र श्रद्धापूर्वक एवं एकाग्र चित्तसे पढ़ता सुनता तथा औरोंको सुनाता है, वह महाराज पृथुके पद अर्थात् वैकुण्ठधामको जाकर प्राप्त होता है ॥३१॥ इसका निरन्तर पाठ करते रहनेसे ब्राह्मण ब्रह्मतेज पाता, क्षत्रिय पृथिवीपति होता, वैश्य व्यापारियोंमें प्रधान हो जाता और शूद्र साधुता प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥ कोई स्त्री हो या पुरुष, जो आदरपूर्वक इसे तीन बार सुनता है, वह सन्तानहीन हो तो पुत्रवान् होता और धनहीन हो तो महाधनवान् हो जाया करता है ॥ ३३ ॥ संसारमें जिसकी कीर्ति विख्यात नहीं होती, वह यशस्वी हो जाता और मूर्ख पण्डित बन जाता है । यह चरित्र पुरुषोंका कल्याण करता और लोगोंके सब अमंगल दूर कर देता है ॥ ३४ ॥ यह चरित्र धन और यश देता, आयुकी वृद्धि करता, स्वर्गकी प्राप्ति कराता और कलियुगके सभी दोषोंको दूर कर देता है । यह चरित धर्मादि

विजयाभिमुखो राजा श्रुत्वैतदभियाति यान् । बलिं तस्मै हरन्त्यग्रे राजानः पृथवे यथा ॥३६॥
मुक्तान्यसङ्गो भगवत्यमलां भक्तिमुद्वहन् । वैन्यस्य चरितं पुण्यं शृणुयाच्छ्रावयेत्पठेत् ॥३७॥
वैचित्रवीर्याभिहितं महन्माहात्म्यसूचकम् । अस्मिन् कृतमतिर्मर्त्यः पार्थवीं गतिमाप्नुयात् ३८

अनुदिनमिदमादरेण शृण्वन् पृथुचरितं प्रथयन् विमुक्तसङ्गः ।
भगवति भवसिन्धुपोतपादे स च निपुणां लभते रतिं मनुष्यः ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

विजिताश्वोऽधिराजाऽसीत्पृथुपुत्रः पृथुश्रवाः । यवीयोभ्योऽददात्काष्ठा भ्रातृभ्यो भ्रातृवत्सलः॥१॥
हर्यक्षायादिशत्प्राचीं धूम्रकेशाय दक्षिणाम् । प्रतीचीं वृकसंज्ञाय तुर्यां द्रविणसे विभुः ॥२॥
अन्तर्धानगतिं शक्राल्लब्ध्वान्तर्धानसंज्ञितः । अपत्यत्रयमाधत्त शिखण्डिन्यां सुसम्मतम् ॥३॥
पावकः पवमानश्च शुचिरित्यग्नयः पुरा । वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ॥४॥
अन्तर्धानो नभस्वत्यां हविर्धानमविन्दत । य इन्द्रमश्वहर्तारं विद्वानपि न जघ्निवान् ॥५॥
राज्ञां वृत्तिं करादानदण्डशुल्कादिदारुणाम् । मन्यमानो दीर्घसत्रव्याजेन विससर्ज ह ॥६॥

चतुर्वर्गकी प्राप्ति भी कराता है । अतएव जो लोग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षको भली-भाँति सिद्ध करना चाहते हों, वे इसे श्रद्धापूर्वक सुनें ॥ ३५ ॥ यदि कोई राजा विजयप्राप्तिके निमित्त जाते समय इसे सुन-कर जाता है तो उसे शत्रु राजे जैसे राजा पृथुको भेंट देते थे, वैसे ही उसके शत्रु भी पहलेसे ही भेंटें लिये खड़े दीखते हैं ॥ ३६ ॥ अतएव मनुष्यका कर्तव्य है कि वह अन्य सब संगोंको त्यागकर भगवानमें निर्मल भक्ति रखते हुए राजा पृथुके इस पवित्र चरित्रको सुने, सुनावे और पढ़े ॥ ३७ ॥ हे विचित्रवीर्यतनय विदुरजी ! भगवानके माहात्म्यको प्रकट करनेवाला राजा पृथुका चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया । इससे प्रेम करनेवाला प्राणी अनायास महाराज पृथुके पदको प्राप्त कर लेता है ॥ ३८ ॥ सब प्रकारकी आसक्तिसे रहित होकर जो प्राणी इस पृथुचरित्रका निरन्तर आदर-पूर्वक श्रवण या अनुष्ठान करता है तो वह मनुष्य, जिनके चरण संसार-सागरसे पार करनेके लिये नौकाके सदृश हैं, उन भगवानका सुदृढ़ प्रेम प्राप्त कर लेता है ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(रुद्रगीत) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं-हे विदुरजी ! महाराज पृथुके बाद उनका पुत्र परम यशस्वी विजिताश्व राजा हुआ । विजिताश्व बड़ा ही भ्रातृवत्सल था । अतएव उसने अपने छोटे भाइयोंको भिन्न-भिन्न दिशाओंका अधिकार दे दिया ॥ १ ॥ तदनुसार उसने हर्यक्षको पूर्व दिशा, धूम्रकेशको दक्षिण दिशा, वृकको पश्चिम दिशा और द्रविणको उत्तर दिशाका राज्य सौंप दिया ॥ २ ॥ उन राजा विजिताश्वने इन्द्रके द्वारा अन्तर्धान हो जानेकी शक्ति पायी थी । इसलिये आगे चलकर उसका नाम 'अन्तर्धान' भी पड़ गया था । उसने अपनी स्त्री शिखण्डिनीसे तीन लोकप्रिय पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३ ॥ उन तीनोंके नाम थे —पावक, पवमान और शुचि । वे तीनों आह्वनीयादि तीन अग्नि ही पूर्वकालमें वसिष्ठजीका शाप पाकर यहाँ उत्पन्न हुए थे । इसके बाद योगमार्गके द्वारा वे फिर अग्निस्वरूप हो गये ॥ ४ ॥ तदनन्तर जिसने इन्द्रको अश्वका चोर जानकर भी नहीं मारा था, उस राजा अन्तर्धानने अपनी नभस्वती नामकी भार्यासे हविर्धान नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ५ ॥ कर लेना, दण्ड देना तथा धन आदि ग्रहण करनारूपी राजाओंकी वृत्तिको अतिशय कठोर समझकर

तत्रापि हंसं पुरुषं परमात्मानमात्मदृक्। यजंस्तल्लोकतामाप कुशलेन समाधिना ॥७॥
हविर्धानाद्धविर्धानी विदुरासूत षट् सुतान्। बर्हिषदं गयं शुक्लं कृष्णं सत्यं जितव्रतम् ॥८॥
बर्हिषत् सुमहाभागो हविर्धानिः प्रजापतिः। क्रियाकाण्डेषु निष्णातो योगेषु च कुरूद्वह ॥ ९ ॥
यस्येदं देवयजनमनु यज्ञं वितन्वतः। प्राचीनाग्रैः कुशैरासीदास्तृतं वसुधातलम् ॥१०॥
सामुद्रीं देवदेवोक्तामुपयेमे शतद्रुतिम्। यां वीक्ष्य चारुसर्वाङ्गीं किशोरीं सुष्ठ्वलङ्कृताम्।
परिक्रमन्तीमुद्वाहे चकमेऽग्निः शुकीमिव ॥११॥
विबुधासुरगन्धर्वमुनिसिद्धनरोरगाः। विजिताः सूर्यया दिक्षु क्वणयन्त्यैव नूपुरैः ॥१२॥
प्राचीनबर्हिषः पुत्राः शतद्रुत्यां दशाभवन्। तुल्यनामव्रताः सर्वे धर्मस्नाताः प्रचेतसः ॥१३॥
पित्राऽऽदिष्टाः प्रजासर्गे तपसेऽर्णवमाविशन्। दशवर्षसहस्राणि तपसाऽऽर्चंस्तपस्पतिम् ॥१४॥
यदुक्तं पथि दृष्टेन गिरिशेन प्रसीदता। तद्ध्यायन्तो जपन्तश्च पूजयन्तश्च संयताः ॥१५॥

विदुर उवाच

प्रचेतसां गिरित्रेण यथाऽऽसीत्पथि सङ्गमः। यदुताह हरः प्रीतस्तन्नो ब्रह्मन् पदार्थवत् ॥१६॥
सङ्गमः खलु विप्रर्षे शिवेनेह शरीरिणाम्। दुर्लभो मुनयो दध्युरसङ्गाद्यमभीप्सितम् ॥१७॥

दीर्घकालमें समाप्त होनेवाले यज्ञके बहाने अन्तर्धानने अपना राज-पाट छोड़ दिया ॥ ६ ॥ वहाँ यज्ञपुरुष परमात्माका विविध सामग्रियोंसे आराधन करते हुए उस आत्मदर्शी हविर्धानने सुदृढ़ समाधिके द्वारा भगवानका वैकुण्ठलोक प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥ हे विदुर ! हविर्धानकी स्त्री हविर्धानीने बर्हिषद, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत नामके छः पुत्र पैदा किये ॥ ८ ॥ हे विदुरजी ! उनमेंसे हविर्धानका बड़ा बेटा महाभाग बर्हिषद् प्रजापति यज्ञादि कर्मकाण्ड और योगाभ्यासमें प्रवीण था ॥ ९ ॥ उसके एकके पीछे एक निरन्तर यज्ञ करते रहनेके कारण सारी पृथ्वी पूर्वकी ओर अग्रभाग करके फैलाये कुशाओंसे आच्छादित हो गयी थी। इसी कारण वह प्राचीनबर्हि कहलाया ॥ १० ॥ उस राजा प्राचीनबर्हिने देवदेव ब्रह्माजीके कथनानुसार समुद्रकी कन्या शतद्रुतिके साथ विवाह किया। उस सर्वाङ्गसुन्दरी, मनोहर भूषणभूषिता तथा किशोर अवस्थावाली कुमारीको पाणिग्रहणके समय प्रदक्षिणा करती देखकर अग्निने जैसे पूर्वकालमें सप्तर्षियोंकी भार्या शुकीकी कामना की थी, वैसे ही उसने इसको भी चाहा। कथान्तर—पूर्वकालमें सप्तर्षियोंके यज्ञमें उनकी भार्या शुकीको देखकर अग्निदेव कामातुर हो गये थे। तब उनके मनका भाव जानकर उनकी पत्नी स्वाहाने शुकीका रूप धारणकर अग्निके साथ रमण किया। फिर अग्निके वीर्यको सरकण्डोंकी झाड़ीमें रखकर आप अपने स्वाहारूपसे पुनः अग्निके पास आयी। इस प्रकार उसने अपने पतिको अनीतिमें प्रवृत्त होनेसे बचाया ॥ ११ ॥ उस नवविवाहता शतद्रुतिने अपने नूपुरोंकी मीठी झनकारसे सब दिशाओंके देवता, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य तथा नाग आदिको अपने वशमें कर लिया था ॥ १२ ॥ उस शतद्रुतिसे प्राचीनबर्हिके प्रचेता नामके दस पुत्र उत्पन्न हुए। सब एक-से नाम तथा गुणवाले और धर्ममें पारंगत थे ॥ १३ ॥ उनके पिता प्राचीनबर्हिने जब उन्हें सन्तान उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी तो वे तपस्याके लिये समुद्रमें प्रवेश कर गये और दस हजार वर्षतक तपस्या करते हुए तपके फलदाता श्रीविष्णुभगवानकी आराधना करते रह गये ॥ १४ ॥ तपस्या करनेको जाते समय उनसे प्रसन्न श्रीमहादेवजीने उन्हें मार्गमें जिस साधनाका उपदेश दिया था, उसीके अनुसार एकाग्रतापूर्वक ध्यान, जप तथा पूजा करते हुए वे भगवानकी आराधना करने लग गये ॥१५॥ इतनी कथा सुनकर विदुरजीने कहा—हे ब्रह्मन् ! उन प्रचेताओंका श्रीमहादेवजीके साथ मार्गमें कैसे समागम हुआ ? उनसे प्रसन्न होकर शंकरभगवानने उन्हें किस सारयुक्त साधनका उपदेश दिया था ? सो आप कहिये ॥ १६ ॥ हे ब्रह्मर्षे ! जिन्हें प्राप्त करनेकी इच्छासे मुनिगण आसक्तिरहित होकर सर्वदा ध्यान करते हैं, उन शिवजीके साथ समागम

आत्मारामोऽपि यस्त्वस्य लोककल्पस्य राधसे । शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः ॥१८॥

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसः पितुर्वाक्यं शिरसाऽऽदाय साधवः । दिशं प्रतीचीं प्रययुस्तपस्यादृतचेतसः ॥१९॥
समुद्रमुपविस्तीर्णमपश्यन् सुमहत्सरः । महन्मन इव स्वच्छं प्रसन्नसलिलाशयम् ॥२०॥
नीलरक्तोत्पलाम्भोजकह्लारेन्दीवराकरम् । हंससारसचक्राह्वकारण्डवनिकूजितम् ॥२१॥
मत्तभ्रमरसौस्वर्यहृष्टरोमलताङ्घ्रिपम् । पद्मकोशरजो दिक्षु विक्षिपत्पवनोत्सवम् ॥२२॥
तत्र गान्धर्वमाकर्ण्य दिव्यमार्गमनोहरम् । विसिस्म्यू राजपुत्रास्ते मृदङ्गपणवाद्यनु ॥२३॥
तर्ह्येव सरसस्तस्मान्निष्क्रामन्तं सहानुगम् । उपगीयमानममरप्रवरं विबुधानुगैः ॥२४॥
तप्तहेमनिकायाभं शितिकण्ठं त्रिलोचनम् । प्रसादसुमुखं वीक्ष्य प्रणेमुर्जातकौतुकाः ॥२५॥
स तान् प्रपन्नार्तिहरो भगवान् धर्मवत्सलः । धर्मज्ञान् शीलसम्पन्नान् प्रीतः प्रीतानुवाच ह ॥२६॥

श्रीरुद्र उवाच

यूयं वेदिषदः पुत्रा विदितं वश्चिकीर्षितम् । अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम् ॥२७॥
यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात् । भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे ॥२८॥

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥२९॥

होना तो देहधारियोंके लिये बहुत कठिन है ॥ १७ ॥ वे भगवान शंकर आत्माराम होकर भी इस लोकरचनाकी रक्षाके लिये अपनी अति भयंकर शक्तिके साथ सब जगह विचरते रहते हैं ॥ १८ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! वे साधुप्रकृति प्रचेतागण अपने पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके तपस्यामें मन लगाकर पश्चिम दिशाको चले गये ॥ १९ ॥ मार्गमें चलते-चलते उन्होंने समुद्रके पास एक बड़ा विस्तृत महासरोवर देखा । जिसका जल महापुरुषोंके मनके समान स्वच्छ था और जिसमें रहनेवाले मत्स्य आदि सभी जल-जीव सदा प्रसन्न रहते थे ॥२०॥ उस सरोवरमें नीलकमल, रक्तकमल, उत्पल (रात्रिके समय खिलनेवाले कमल) अम्भोज (दिनमें खिलनेवाले कमल) कह्लार (सायं-कालको खिलनेवाले कमल) और इन्दीवर (नीलकमल) आदि अनेक प्रकारके कमल उत्पन्न होते थे और उसपर हंस, सारस, चकवा तथा कारण्डव आदि पक्षी सदा चहचहाते रहते थे ॥ २१ ॥ लतारूपी रोमपर मत्त मधुकरोंके मधुर गुञ्जारसे हर्षित होनेवाले वृक्षोंसे वह सरोवर घिरा हुआ था । कमलके मध्य भागमें स्थित परागको इधर-उधर फैलानेवाले वायुने जैसे वहाँ एक अद्भुत उत्सव रच रखा था ॥२२॥ वहाँपर मृदंग और पणव आदि बाजोंके संग अनेक दिव्य राग-रागिनियों युक्त अतिशय मनोहर गान सुनकर वे सब राजपुत्र बहुत विस्मित हुए ॥२३॥ इसी समय तपायी हुई सुवर्ण-राशिके वर्णसदृश कान्तिमान् प्रभु भक्तोंपर अनुग्रह करनेके निमित्त उद्यत थे और देवानुचर गन्धर्वगण जिनका सुयश गाते थे, उन नीलकण्ठ तथा त्रिनयन देवश्रेष्ठ शंकरभगवानको अपने गणों सहित उस सरोवरसे बाहर आते देखकर उन राजपुत्रोंने उन्हें बड़े कुतूहलके साथ प्रणाम किया ॥२४॥२५॥ तब अपने शरणागतोंका दुःख दूर करनेवाले तथा धर्मवत्सल शंकरभगवानने अपने दर्शनसे प्रसन्न उन धर्मज्ञ तथा शीलसम्पन्न प्रचेताओंसे बड़ी प्रसन्नताके साथ कहा ॥ २६ ॥ श्रीशंकरजी बोले—मैं जानता हूँ कि तुम बर्हिषद्के पुत्र हो, तुम्हारा कल्याण हो । जो कुछ करनेकी तुम्हारी इच्छा है, वह मुझे ज्ञात है । इस समय तुमपर कृपा करनेके लिये ही मैंने तुम्हें यहाँ आकर अपना दर्शन दिया है ॥ २७ ॥ क्योंकि जो कोई पुरुष सूक्ष्म, त्रिगुणमय, प्रधान तथा जीवनामक पुरुषसे अतीत साक्षात् श्रीवासुदेव भगवानकी शरणमें चला जाता है, वह मुझे अतिशय प्रिय होता है ॥ २८ ॥ जो प्राणी अपने धर्ममें रतपर रहता, वह सौ

अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा । न मद्भागवतानां च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥३०॥
इदं विविक्तं जप्तव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् । निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि वः ॥३१॥

मैत्रेय उवाच

इत्यनुक्रोशहृदयो भगवानाह तान् शिवः । बद्धाञ्जलीन् राजपुत्रान्नारायणपरो वचः ॥३२॥

श्रीरुद्र उवाच

जितं त आत्मविद्धुर्यस्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे । भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः ॥३३॥
नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने । वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे ॥३४॥
सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च । नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने ॥३५॥
नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने । नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने ॥३६॥
स्वर्गापवर्गद्वाराय नित्यं शुचिषदे नमः । नमो हिरण्यवीर्याय चातुर्होत्राय तन्तवे ॥३७॥
नम ऊर्ज इषे त्रय्याः पतये यज्ञरेतसे । तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने ॥३८॥
सर्वसत्त्वात्मदेहाय विशेषाय स्थवीयसे । नमस्त्रैलोक्यपालाय सहओजोबलाय च ॥३९॥
अर्थलिङ्गाय नभसे नमोऽन्तर्बहिरात्मने । नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे ॥४०॥

जन्मके बाद ब्रह्मा हो जाता है। उसके बाद वह मुझे प्राप्त होता है। तदनन्तर वह भगवद्भक्त भगवान विष्णुके अनिर्वचनीय पद को ऐसे प्राप्त कर लेता है, जैसे अपना अधिकार समाप्त हो जानेपर देवताओंके सहित मैं उनको प्राप्त हो जाता हूँ ॥ २६ ॥ तुम लोग असाधारण भगवद्भक्त हो, इसलिए मुझे तुम भगवानके समान ही प्रिय हो। क्योंकि भगवानके भक्तोंका भी मुझसे अधिक प्रिय और कोई नहीं होता ॥३०॥ सो सुनो, मैं तुम्हें यह परमपवित्र और अत्यन्त मङ्गलमय एवं कल्याणकारी स्तोत्र सुना रहा हूँ। तुम इसका स्पष्ट रीतिसे उच्चारण करते हुए जप करते रहना ॥३१॥ श्रीमैत्रेय कहते हैं—हे विदुरजी ! इस प्रकार करुणापूर्ण अन्तःकरणवाले तथा नारायणपरायण भगवान शंकरने अपने समक्ष हाथ जोड़े खड़े उन राजपुत्रोंसे कहा ॥ ३२ ॥ श्रीमहादेवजीने कहा (वह स्तोत्र यह है)–हे प्रभो ! आपका अभ्युदय सब आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ तथा भक्तजनोंके कल्याणके लिए होता है। अतएव मेरा भी कल्याण हो। आप नित्य अपने ही परमानन्दस्वरूपमें स्थित रहते हैं, आप सर्वरूपको प्रणाम है ॥ ३३ ॥ भूतसूक्ष्म तथा इद्रियोंके नियन्ता अर्थात् चित्तके अधिष्ठाता, शान्त, कूटस्थ, स्वयंप्रकाश तथा कमलनाभ वासुदेव भगवानको हमारा नमस्कार है ॥ ३४ ॥ अत्यन्त सूक्ष्म, अनन्त तथा, लोकोंके संहारक तथा अहंकारके अधिष्ठाता आप भगवान संकर्षणको प्रणाम है। जिनके द्वारा जगत्‌को ज्ञान प्राप्त होता है, उन बुद्धिके अधिष्ठातास्वरूप प्रद्युम्नभगवानको नमस्कार है ॥ ३५ ॥ मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता एवं इन्द्रिय-स्वरूप आप अनिरुद्धभगवानको नमस्कार है। अपने तेजसे समस्त जगत्‌को व्याप्त करनेवाले तथा वृद्धि एवं क्षयसे हीन स्वरूपधारी सूर्यस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ ३६ ॥ स्वर्ग तथा मोक्षके द्वार, सर्वदा पवित्र हृदयमें रहनेवाले एवं सुवर्णरूपी वीर्यसे युक्त तथा चातुर्होत्र कर्मका विस्तार करनेवाले आप अग्निदेवको नमस्कार है ॥ ३७ ॥ पितर तथा देवताओंके अन्नरूप एवं सोमरूपी आपको नमस्कार है। इस तरह सूर्य, अग्नि तथा सोमरूपसे तीनों वेदोंके अधिष्ठाता आप श्रीहरिको नमस्कार है। सम्पूर्ण प्राणियोंको तृप्त करनेवाले सर्वरस यानी जलस्वरूप आपको प्रणाम है ॥३८॥ सब प्राणियोंकी देह तथा पृथ्वीरूप और विराट्स्वरूप आपको प्रणाम है। मन, इन्द्रिय और शरीरसे सम्बन्ध रखने-वाली शक्तियोंसे युक्त त्रिलोकीके रक्षक वायुरूप आपको नमस्कार है ॥ ३९ ॥ अपने शब्दगुणके द्वारा सब पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले और सब वस्तुओंके बाहर-भीतर रहनेवाले आकाशरूपी आपको प्रणाम है। पुण्योंके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम तेजोमय स्वर्ग तथा वैकुण्ठादि लोकरूपी आपको प्रणाम है

प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे । नमोऽधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च ॥४१॥
नमस्त आशिषामीश मनवे कारणात्मने । नमो धर्माय बृहते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
पुरुषाय पुराणाय सांख्ययोगेश्वराय च ॥४२॥
शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहङ्कृतात्मने । चेतआकूतिरूपाय नमो वाचोविभूतये ॥४३॥
दर्शनं नो दिदृक्षूणां देहि भागवतार्चितम् । रूपं प्रियतमं स्वानां सर्वेन्द्रियगुणाञ्जनम् ॥४४॥
स्निग्धप्रावृड्घनश्यामं सर्वसौन्दर्यसंग्रहम् । चार्वायतचतुर्बाहु सुजातरुचिराननम् ॥४५॥
पद्मकोशपलाशाक्षं सुन्दरभ्रु सुनासिकम् । सुद्विजं सुकपोलास्यं समकर्णविभूषणम् ॥४६॥
प्रीतिप्रहसितापाङ्गमलकैरुपशोभितम् । लसत्पङ्कजकिञ्जल्कदुकूलं मृष्टकुण्डलम् ॥४७॥
स्फुरत्किरीटवलयहारनूपुरमेखलम् । शङ्खचक्रगदापद्ममालामण्युत्तमर्द्धिमत् ॥४८॥
सिंहस्कन्धत्विषो बिभ्रत्सौभगग्रीवकौस्तुभम् । श्रियानपायिन्याक्षिप्तनिकषाश्मोरसोल्लसत् ॥४९॥
पूररेचकसंविग्नवलिवल्गुदलोदरम् । प्रतिसङ्क्रामयद्विश्वं नाभ्यावर्तगभीरया ॥५०॥
श्यामश्रोण्यधिरोचिष्णुदुकूलस्वर्णमेखलम् । समचार्वङ्घ्रिजङ्घोरु निम्नजानुसुदर्शनम् ॥५१॥
पदा शरत्पद्मपलाशरोचिषा नखद्युभिर्नोऽन्तरघं विधुन्वता ।
प्रदर्शय स्वीयमपास्तसाध्वसं पदं गुरो मार्गगुरुस्तमोजुषाम् ॥५२॥

॥ ४० ॥ पितृलोक प्राप्त करानेवाले प्रवृत्ति-कर्मरूपी देवलोककी प्राप्तिके साधनस्वरूप एवं निवृत्ति-कर्मरूपी और अधर्मके फलदायी तथा दुःखदायक मृत्युरूपी आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥ हे ईश ! अभिलषित फलोंके देनेवाले, सर्वज्ञ, परमधर्ममूर्ति, अकुण्ठितबुद्धि, पुराणपुरुष तथा सांख्य एवं योगके प्रभु आप भगवान कृष्णको प्रणाम है ॥ ४२ ॥ कर्ता, करण और कर्म इन तीन शक्तियों युक्त अहंकारके अधिपति भगवान रुद्र तथा जिनसे परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी अभिव्यक्त होती है, उन आप प्रभुको प्रणाम है। ज्ञान तथा क्रियारूप आप भगवानको हमारा नमस्कार है ॥४३॥ हे प्रभो ! हम आपके दर्शन चाहते हैं। इसलिए आप हमें भक्तोंसे पूजित तथा उनका अत्यन्त प्रिय अपना रूप दिखायें। वह अपने गुणोंसे सब इन्द्रयोंको तृप्त करनेवाला है। वह वर्षाकालीन मेघके समान श्याम, सब सौन्दर्योंका भण्डार, चार सुन्दर तथा विशाल भुजाओं युक्त और अतिशय मनोहर मुखारविन्दसे युक्त है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ जिस मुखमें कमलकोशकी पंखड़ियोंकी भाँति विशाल नेत्र, सुन्दर भृकुटी और मनोहर नासिका, परम सुन्दर दन्तपंक्ति, सुन्दर कपोलों युक्त मनोहर मुख और शोभासम्पन्न समान कर्णपुट हैं ॥ ४६ ॥ जो अपनी प्रेमभरी मुसकान तथा मनोहर कटाक्षभङ्गीसे सुशोभित है, कमल-कर्णिकाकी केसरके सदृश पीत वस्त्र तथा सुन्दर कुण्डलोंसे अलंकृत है ॥ ४७ ॥ जो झिलमिलाते मुकुट, कंकण हार, नूपुर तथा मेखला आदिसे समलंकृत और शंख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला एवं कौस्तुभमणिकी उत्तम शोभासे सम्पन्न है ॥ ४८ ॥ जो सिंहके कन्धेसदृश स्थूल कन्धोंपर पड़ी कुण्डलादिकी कमनीय कान्ति धारण किये है और जिसकी ग्रीवा कौस्तुभमणिके कारण बहुत ही मनोहर लग रही है, जो कभी भी अलग न होनेवाली लक्ष्मीजी तथा सुशोभित कसौटीके पाषाणके समान श्याम वक्षःस्थलसे और भी सुन्दर दीख रहा है ॥ ४९ ॥ जिसमें श्वास-प्रश्वासके आने-जानेके कारण हिलती त्रिवलीसे शोभायमान उदर है, जो भँवरकी भाँति अपनी गम्भीर नाभिसे मानो उसीके द्वारा प्रकट किये हुए विश्वको फिर उसीमें समेट लेनेकी चेष्टा कर रहे हैं ॥ ५० ॥ जिस वपुके श्याम कटिप्रदेशमें दमकता हुआ पीताम्बर और सुवर्णकी मेखला पड़ी हुई है, जो समान तथा सुन्दर चरण, जंघा, ऊरू एवं नीचे घुटनोंके कारण अतिशय सुन्दर दीख रहा है ॥ ५१ ॥ जो शरत्कालके कमलदलकी शोभाके समान अपने चरणके नखोंकी दीप्तिसे हमारे हृदयके पापरूपी अन्धकारको भगाये दे रहा है। भक्तोंके भयको दूर करनेवाले उस अपने रूपका आप हमें दर्शन कराइये। क्योंकि हे परम गुरो ! हम अज्ञानी प्राणि-

एतद्रूपमनुध्येयमात्मशुद्धिमभीप्सताम् । यद्भक्तियोगोऽभयदः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥५३॥
भवान् भक्तिमता लभ्यो दुर्लभः सर्वदेहिनाम् । स्वाराज्यस्याप्यभिमत एकान्तेनात्मविद्गतिः॥५४॥
तं दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया । एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत्पादमूलं विना बहिः ॥५५॥
यत्र निर्विष्टमरणं कृतान्तो नाभिमन्यते । विश्वं विध्वंसयन् वीर्यशौर्यविस्फूर्जितभ्रुवा ॥५६॥
क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥५७॥

अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्तितीर्थयोरन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम् ।
भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां स्यात्सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव ॥५८॥
न यस्य चित्तं बहिरर्थविभ्रमं तमोगुहायां च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥५९॥

यत्रेदं व्यज्यते विश्वं विश्वस्मिन्नवभाति यत् । तत् त्वं ब्रह्म परं ज्योतिराकाशमिव विस्तृतम् ॥६०॥

यो माययेदं पुरुरूपयासृजद्बिभर्ति भूयः क्षपयत्यविक्रियः ।
यद्भेदबुद्धिः सदिवात्मदुःस्थया तमात्मतन्त्रं भगवन् प्रतीमहि ॥६१॥
क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥६२॥

योंके मार्गको प्रकाशमय करनेवाले आप ही हमारे सबसे बड़े गुरु हैं ॥ ५२ ॥ हे प्रभो ! चित्तशुद्धिके इच्छुक पुरुषको आपके इस रूपका ध्यान करना आवश्यक है। क्योंकि अपने धर्मका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंको भक्तियोग ही अभयदायक होता है ॥ ५३ ॥ स्वर्गका शासन करनेवाले आप इन्द्रके भी पूज्य और एकमात्र आत्मवेत्ताओंके ही प्राप्त होने योग्य हैं। आपका मिलना यद्यपि सब प्राणियोंको बहुत कठिन है। फिर भी भक्तिमान् पुरुष आपको किसी तरह प्राप्त कर ही लेते हैं ॥ ५४ ॥ अतः दुराध्य एवं सत्पुरुषोंको भी कठिनतासे मिलने योग्य अनन्य भक्तिसे आपकी कठोर आराधना करके ऐसा कौन प्राणी है, जो आपके चरणोंको छोड़कर बाह्य विषयोंको चाहेगा ? ॥ ५५ ॥ अतिशय उत्साह तथा वीरताके कारण अपनी फड़कती भ्रुकुटिसे विश्वका विध्वंस कर देनेवाला काल भी जिनकी शरणमें प्राप्त प्राणियोंको अपना ग्रास नहीं बना पाता, उन आपके चरणोंको छोड़कर बाह्य विषयोंकी ओर कौन अपना मन दौड़ायेगा ? ॥ ५६ ॥ मैं तो आपके भक्तोंके सत्संगके आधे क्षणके साथ स्वर्ग तथा मोक्षपदकी भी समानता नहीं करता, फिर मनुष्योंकी अन्य लालसाओंको क्या कहना ॥ ५७ ॥ हे पापहारी चरणोंवाले भगवान ! जो लोग आपके सुयशरूपी तीर्थसे स्नान करके भीतर-बाहरसे पापहीन हो गये रहते हैं और जो भूतदया, शुद्ध चित्त और सुन्दर स्वभावसे युक्त हैं, उनका संग हमें बराबर प्राप्त होता रहे। यही मुझपर आपकी सबसे बड़ी कृपा मानी जायगी ॥ ५८ ॥ जब साधकका मन बाहरी विषयोंके चक्करमें नही पड़ता और तमस्वरूपा प्रकृतिमें लीन नहीं हो पाता तथा आपके भक्तियोगसे अनुगृहीत होकर निर्मल हो जाता है, तब वह मुनि अनायास ही आपके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ ५९ ॥ जिसमें यह सारा जगत् दृष्टिगोचर होता है, जो सब जगत्में प्रकाशमान रहता है, वह आकाशके सदृश विस्तृत और अति प्रकाशपूर्ण ब्रह्मतत्त्व आप ही तो हैं ॥ ६० ॥ हे स्वामिन् ! जिससे अन्य प्राणियोंके मनमें भेद-बुद्धि जागृत होती है, किन्तु जो आपपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पाती, उस विविधरूपिणी आपकी मायाके द्वारा जो स्वयं विकारशून्य रहते हुए ही इस जगत्को रचते, इसका पालन और अन्तमें संहार करते हैं, उन आपको हम पूर्ण स्वतन्त्र मानते हैं ॥ ६१ ॥ हे देव ! यदि कर्मयोगी लोग अपने कर्मोंकी सिद्धिके निमित्त विभिन्न कर्मों द्वारा पञ्चभूत, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणके प्रेरकरूपमें उपलक्षित आपके इसी रूपका श्रद्धाके साथ भली-भाँति पूजन करते हैं, वे ही लोग वेद

त्वमेक आद्यः पुरुषः सुप्तशक्तिस्तया रजःसत्त्वतमो विभिद्यते ।
महानहं खं मरुदग्निवार्धराः सुरर्षयो भूतगणा इदं यतः ॥६३॥
सृष्टं स्वशक्त्येदमनुप्रविष्टश्चतुर्विधं पुरमात्मांशकेन ।
अथो विदुस्तं पुरुषं सन्तमन्तर्भुङ्क्ते हृषीकैर्मधु सारघं यः ॥६४॥
स एष लोकानतिचण्डवेगो विकर्षसि त्वं खलु कालयानः ।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः ॥६५॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥६६॥
कस्त्वत्पदाब्जं विजहाति पण्डितो यस्तेऽवमानव्ययमानकेतनः ।
विशङ्कयास्मद्गुरुरर्चति स्म यद्विनोपपत्तिं मनवश्चतुर्दश ॥६७॥
अथ त्वमसि नो ब्रह्मन् परमात्मन् विपश्चिताम् । विश्वं रुद्रभयध्वस्तमकुतश्चिद्भया गतिः ॥६८॥
इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः । स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥६९॥
तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् । पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥७०॥
योगादेशमुपासाद्य धारयन्तो मुनिव्रताः । समाहितधियः सर्व एतदभ्यसतादृताः ॥७१॥
इदमाह पुरास्माकं भगवान् विश्वसृक्पतिः । भृग्वादीनामात्मजानां सिसृक्षुः संसिसृक्षताम् ॥७२

तथा सब शास्त्रोंमें कुशल होते हैं ॥ ६२ ॥ हे प्रभो ! जिनकी मायाशक्ति सृष्टिके पूर्व सोयी रहती है (और बादमें विकसित होती है) वे अद्वितीय आदिपुरुष आप ही हैं । कुछ समयके अनन्तर उस माया-शक्तिसे ही आप सब, रज तथा तमभेदसे एकके अनेक हो जाते हैं जिनसे महत्तत्त्व, अहंकार आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, देवता, ऋषि तथा सब प्राणियों युक्त यह जगत् उत्पन्न होता है ॥ ६३ ॥ इस तरह अपनी मायाशक्तिसे रचित जरायुज, स्वेदज तथा उद्भिजभेदसे चार प्रकारके शरीररूपी नगरमें अंश-रूपसे प्रविष्ट जो मधुमक्षिकाओं द्वारा बने मधुके समान तुच्छ विषयोंको अपनी इन्द्रियों द्वारा भोगता है, आपके उसी अंशको लोग पुरुष अर्थात् जीव कहते हैं ॥ ६४ ॥ जैसे वायु मेघमालाको इधर-उधर बखेर देता है वैसे ही जिनके स्वरूपका ज्ञान केवल अनुमानसे होता है ऐसे अतिशय प्रचण्ड वेगवाले कालरूपी आप समस्त स्थावर-जंगम भूतोंको अन्य प्राणियोंसे विचलित कराते हुए उनका उपसंहार कर देते हैं ॥ ६५ ॥ हे प्रभो ! भूखके कारण जीभ लपलपाता हुआ सर्प जैसे चूहेको निगल लेता है, वैसे ही 'यह कार्य ऐसे करना चाहिये' इस चिन्तासे ग्रस्त होनेके कारण अतिशय प्रमादयुक्त तथा विषयलालसासे जिसका लोभ बढ़ा हुआ रहता है, उस असावधान पुरुषको सदा सावधान रहनेवाले कालरूपी आप सहसा ग्रस लेते हैं ॥६६॥ अतएव कालके भयसे भयभीत होकर हमारे गुरु श्रीब्रह्माजीने जिनका पूजन किया है तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनुओंने उपपत्तिके बिना भी केवल ब्रह्माजीकी बातोंपर विश्वास करके ही जिनकी पूजा की है, उन आपके चरणकमलोंको—आपकी अवहेलना करनेके कारण कालके भयसे जिसका शरीर काँप रहा हो—ऐसा कौन विद्वान् पुरुष होगा जो त्याग सकेगा ॥ ६७ ॥ हे ब्रह्मन् ! हे परमात्मन् ! सारा जगत् रुद्ररूप कालके भयसे व्याकुल हो रहा है । अत-एव इस तत्त्वके ज्ञाता हम लोगोंकी इस समय आप ही एकमात्र निर्भय गति हैं ॥ ६८ ॥ हे राजकुमारों ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम विशुद्ध मनसे अपने धर्मका पालन करते हुए भगवानमें मन लगाकर मेरे कहे हुए इस स्तोत्रको जपते रहो ॥ ६९ ॥ और सदा भगवानकी स्तुति और ध्यान करते हुए अपने अन्तःकरणमें विराजमान सर्वभूतान्तर्यामी उन परमात्माकी आराधना करो ॥ ७० ॥ मेरे द्वारा यह 'योगादेश' स्तोत्र प्राप्तकर इसे अपने मनमें धारण करके मुनिव्रतका आचरण करते हुए तुमलोग एकाग्रचित्तसे इसका आदरपूर्वक अभ्यास करते रहो ॥ ७१ ॥ इस स्तोत्रको

ते वयं नोदिताः सर्वे प्रजासर्गे प्रजेश्वराः । अनेन ध्वस्ततमसः सिसृक्ष्मो विविधाः प्रजाः ॥७३
अथेदं नित्यदा युक्तो जपन्नवहितः पुमान् । अचिराच्छ्रेय आप्नोति वासुदेवपरायणः ॥७४॥
श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम् । सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौर्व्यसनार्णवम् ॥७५॥
य इमं श्रद्धया युक्तो मद्गीतं भगवत्स्तवम् । अधीयानो दुराराध्यं हरिमाराधयत्यसौ ॥७६॥
विन्दते पुरुषोऽमुष्माद्यद्यदिच्छत्यसत्वरम् । मद्गीतगीतात्सुप्रीताच्छ्रेयसामेकवल्लभात् ॥७७॥
इदं यः कल्य उत्थाय प्राञ्जलिः श्रद्धयान्वितः । शृणुयाच्छ्रावयेन्मर्त्यो मुच्यते कर्मबन्धनैः ॥७८॥
गीतं मयेदं नरदेवनन्दनाः परस्य पुंसः परमात्मनः स्तवम् ।
जपन्त एकाग्रधियस्तपो महच्चरध्वमन्ते तत आप्स्यथेप्सितम् ॥७९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे रुद्रगीतं नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

इति सन्दिश्य भगवान् बार्हिषदैरभिपूजितः । पश्यतां राजपुत्राणां तत्रैवान्तर्दधे हरः ॥१॥
रुद्रगीतं भगवतः स्तोत्रं सर्वे प्रचेतसः । जपन्तस्ते तपस्तेपुर्वर्षाणामयुतं जले ॥२॥
प्राचीनबर्हिषं क्षत्तः कर्मस्वासक्तमानसम् । नारदोऽध्यात्मतत्त्वज्ञः कृपालुः प्रत्यबोधयत् ॥३॥
श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणाऽऽत्मन ईहसे । दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते ॥४॥

पूर्वकालमें प्रजापतियोंके भी पति तथा सृष्टिके इच्छुक भगवान श्रीब्रह्माजीने प्रजाओंको उत्पन्न करनेके अभिलाषुक हम भृगु आदि अपने पुत्रोंके प्रति कहा था ॥ ७२ ॥ उस समय प्रजा उत्पन्न करनेके लिये ब्रह्माजीके द्वारा प्रेरित हम प्रजापतियोंने इसी स्तोत्रके प्रभावसे अपना अज्ञानरूपी अन्धकार दूर करके विविध प्रकारकी प्रजा उत्पन्न की थी ॥ ७३ ॥ जो कोई वासुदेवपरायण पुरुष निरन्तर समाहित चित्तसे इसको जपता है, उसे तुरन्त श्रेयकी प्राप्ति होजाती है ॥ ७४ ॥ सब श्रेयोंमें मोक्ष-दायक ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ श्रेय है। ज्ञानरूपिणी नौकापर आरूढ पुरुष इस दुष्पार संसारसागरको अनायास ही पार कर जाता है ॥ ७५ ॥ जो पुरुष मेरे कहे इस भगवत्स्तोत्रको श्रद्धापूर्वक पढ़ता हुआ बड़ी कठिनतासे आराधना करता है, वह जो वस्तु चाहता है, उसीको मेरे गान किये हुए स्तोत्रके गानसे अतिशय प्रसन्न और सब श्रेयोंके एकमात्र आश्रयस्वरूप श्रीभगवान द्वारा तत्काल ही प्राप्त कर लेता है ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ जो पुरुष सवेरे उठकर अतिशय श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर इसे सुनता तथा सुनाता है, वह सब कर्मबन्धनोंसे छूट जाता है ॥ ७८ ॥ अतएव हे राजपूत्रों ! मेरे बताये परम-पुरुष परमात्माके इस स्तोत्रका एकाग्र मनसे जप करते हुए तुम घोर तप करो। इससे तुम्हें अभिलषित फल मिलेगा ॥ ७९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेकृत 'सामयिकी'-भाषाटीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

(पुरंजनोपाख्यान) श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी ! उन प्रचेताओंको इस तरह ज्ञानो-पदेश दे और उनसे भली-भाँति सत्कृत होकर शंकरभगवान उन राजपुत्रोंके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ॥ १ ॥ तब भगवान रुद्रके कहे उस भगवत्स्तोत्रका जप करते हुए वे सब प्रचेता जलमें खड़े रहकर दस हजार वर्षतक तपस्या करते रहे ॥ २ ॥ हे विदुरजी ! इसी समय आत्मतत्त्वके ज्ञाता तथा परम कृपालु श्रीनारदजीने राजा प्राचीनबर्हिको आत्मतत्त्वका उपदेश दिया। क्योंकि उस समय उसका चित्त कर्ममें आसक्त हो रहा था ॥ ३ ॥ नारदजी बोले—"हे राजन् ! इन कर्मोंको करके तुम क्या श्रेय चाहते हो ? क्योंकि दुःखका नाश और सुखकी प्राप्तिरूपी श्रेय तो कर्ममार्गसे कभी प्राप्त नहीं हो

राजोवाच

न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः । ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः ॥५॥
गृहेषु कूटधर्मेषु पुत्रदारधनार्थधीः । न परं विन्दते मूढो भ्राम्यन् संसारवर्त्मसु ॥६॥

नारद उवाच

भो भोः प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे । संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥७॥
एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव । सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः ॥८॥
अत्र ते कथयिष्येऽमुमितिहासं पुरातनम् । पुरञ्जनस्य चरितं निबोध गदतो मम ॥९॥
आसीत्पुरञ्जनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः । तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत्सखाऽविज्ञातचेष्टितः ॥१०॥
सोऽन्वेषमाणः शरणं बभ्राम पृथिवीं प्रभुः । नानुरूपं यदाविन्ददभूत्स विमना इव ॥११॥
न साधु मेने ताः सर्वा भूतले यावतीः पुरः । कामान् कामयमानोऽसौ तस्य तस्योपपत्तये ॥१२॥
स एकदा हिमवतो दक्षिणेष्वथ सानुषु । ददर्श नवभिर्द्वार्भिः पुरं लक्षितलक्षणाम् ॥१३॥
प्राकारोपवनाट्टालपरिखैरक्षतोरणैः । स्वर्णरौप्यायसैः शृङ्गैः सङ्कुलां सर्वतो गृहैः ॥१४॥
नीलस्फटिकवैदूर्यमुक्तामरकतारुणैः । क्लृप्तहर्म्यस्थलीं दीप्तां श्रिया भोगवतीमिव ॥१५॥
सभाचत्वररथ्याभिराक्रीडायतनापणैः । चैत्यध्वजपताकाभिर्युक्तां विद्रुमवेदिभिः ॥१६॥
पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले । नदद्विहङ्गालिकुलकोलाहलजलाशये ॥१७॥

सकता" ॥ ४ ॥ राजा बोले—हे महाभाग नारदजी ! मेरी बुद्धि कर्मसे व्याप्त है। इस लिए मैं इसके अतिरिक्त किसी और कल्याणमार्गको नहीं जानता। अतएव आप मुझे निर्मल ज्ञानका उपदेश दें, जिससे मैं कर्मबन्धनसे छुटकारा पा सकूँ ॥ ५ ॥ क्योंकि पुत्र-स्त्री तथा धनको ही परमपुरुषार्थ माननेवाला मूढ़ पुरुष कपटधर्म भरे गृहस्थाश्रममें रहकर आवागमनरूपी संसारमार्गमें ही भटकता रहता है, जिससे वह परमात्माको नहीं प्राप्त कर पाता ॥ ६ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे प्रजापते ! तुमने यज्ञमें जिन सहस्रों प्राणियोंकी निर्दयतापूर्वक बलि दी है, उन्हें आकाशमें विद्यमान देखो ॥ ७ ॥ ये सब तुम्हारी पायी पीड़ाओंका स्मरणकर तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं। तुम्हारे मरनेपर ये लोहेके बने अस्त्रके समान अपनी तीक्ष्ण सींगोंसे बड़े क्रोधसे तुम्हें छेदेंगे ॥८॥ हे राजन् ! इसी सम्बन्धमें मैं तुम्हें पुरञ्जनोपाख्यान नामक एक प्राचीन इतिहास सुना रहा हूँ, उसे तुम सावधान मनसे सुनो ॥ ९ ॥ हे राजन् ! पुरञ्जन नामका एक बहुत बड़ा कीर्तिशाली राजा हो गया है। अविज्ञात नामका उसका एक मित्र था, जिसका कर्म किसीको भी मालूम नहीं था ॥ १० ॥ वह राजा अपने रहनेके योग्य स्थान खोजता हुआ सारी पृथिवीपर भटकता रहा। जब उसे कोई भी अनुरूप स्थान नहीं मिला तो वह कुछ अनमना हो गया ॥ ११ ॥ भिन्न-भिन्न विषयोंको चाहनेवाले राजा पुरञ्जनने उन विषयोंको भोगनेके निमित्त पृथिवीतलमें जितने भी नगर देखे, उनमेंसे उसे कोई भी ठीक नहीं जँचा ॥ १२ ॥ एक दिन उसने हिमालयके दक्षिणकी तलैटीमें सब शुभ लक्षणोंसे युक्त नौ द्वारका एक नगर देख पाया ॥ १३ ॥ वह चारों ओरके परकोटों, उपवनों, अटारियों, खाइयों, झरोखों, वन्दनवारों तथा सोने चाँदी और लोहेके शिखरोंयुक्त भवनोंसे खूब सघन होकर बसा हुआ था ॥ १४ ॥ उसके महलोंकी फर्श नीलमणि, स्फटिक, वैदूर्य, मुक्ता, मरकत तथा लालोंकी बनी थी। अतएव अपनी कान्तिसे देदीप्यमान वह नगर नागोंकी राजधानी भोगवती पुरीके सदृश दीखता था ॥ १५ ॥ वह नगर अनेक सभाओं, चौकों, गलियों, क्रीडाभवनों, बाजारों, विश्रामस्थानों, ध्वजा-पताकाओं एवं मूँगेकी वेदियोंसे परिपूर्ण था ॥ १६ ॥ उस नगरके बाहर दिव्य वृक्ष तथा लताओंसे पूर्ण एक उपवन था। जो विविध भाँतिकी बोली बोलनेवाले पक्षियों तथा भौंरोंके कलरवसे गुंजायमान सरोवरसे सुसज्जित था। उस सरोवरके

हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना । चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि ॥१८॥
नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः । आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः ॥१९॥
यदृच्छयाऽऽगतां तत्र ददर्श प्रमदोत्तमाम् । भृत्यैर्दशभिरायन्तीमेकैकशतनायकैः ॥२०॥
पञ्चशीर्षाहिना गुप्तां प्रतीहारेण सर्वतः । अन्वेषमाणामृषभमप्रौढां कामरूपिणीम् ॥२१॥
सुनासां सुदतीं बालां सुकपोलां वराननाम् । समविन्यस्तकर्णाभ्यां बिभ्रतीं कुण्डलश्रियम् ॥२२॥
पिशङ्गनीवीं सुश्रोणीं श्यामां कनकमेखलाम् । पद्भ्यां क्वणद्भ्यां चलतीं नूपुरैर्देवतामिव ॥२३॥
स्तनौ व्यञ्जितकैशोरौ समवृत्तौ निरन्तरौ । वस्त्रान्तेन निगूहन्तीं व्रीडया गजगामिनीम् ॥२४॥
तामाह ललितं वीरः सव्रीडस्मितशोभनाम् । स्निग्धेनापाङ्गपुङ्खेन स्पृष्टः प्रेमोद्भ्रमद् भ्रुवा ॥२५॥
का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कस्यासीह कुतः सति । इमामुप पुरीं भीरु किं चिकीर्षसि शंस मे ॥२६॥
क एतेऽनुपथा ये त एकादश महाभटाः । एता वा ललनाः सुभ्रु कोऽयं तेऽहिः पुरःसरः ॥२७॥

त्वं ह्रीर्भवान्यस्यथ वाग् रमा पतिं विचिन्वती किं मुनिवद्रहो वने ।
त्वदङ्घ्रिकामाप्तसमस्तकामं क्व पद्मकोशः पतितः कराग्रात् ॥२८॥
नासां वरोर्वन्यतमा भुविस्पृक् पुरीमिमां वीरवरेण साकम् ।
अर्हस्यलङ्कर्तुमदभ्रकर्मणा लोकं परं श्रीरिव यज्ञपुंसा ॥२९॥

तटवर्ती वृक्ष शीतल झरनोंके जलकणसे युक्त तथा वसन्तकालीन वायुसे हिलते हुए नवपल्लवोंसे सम्पन्न होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। अहिंसा आदि मुनिव्रत धारण करनेवाले वहाँके वनैले पशु-समूहोंसे किसीको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता था। वहाँ कोकिलकी कूकसे मार्गमें जानेवाले पथिकोंको अपने बुलाये जानेका भ्रम होने लगता था। उस विचित्र वनमें राजा पुरंजनने एक अति सुन्दरी रमणीको दस सेवकोंके साथ एकाएक आते देखा, जिनमेंसे प्रत्येक सेवक सौ-सौ नायिकाओंका स्वामी था ॥ १७–२० ॥ वह रमणी अपने द्वारपालरूपी एक पाँच मस्तकवाले सर्प द्वारा चारों ओरसे सुरक्षित रहती हुई अपने लिये एक उत्तम पति खोज रही थी, उस नारीकी अभी बिल्कुल नवीन अवस्था थी ॥ २१ ॥ उसकी नासिका, दन्तावली, कपोल तथा मुख बहुत सुन्दर था। वह बड़ी सुकुमारी थी और कानोंमें अपने योग्य कुण्डलोंकी शोभा धारण किये थी ॥ २२ ॥ उसका कटिभाग अति सुन्दर तथा श्याम वर्णका था। वह तनिक पीले रंगकी साड़ी तथा सुवर्णकी मेखला धारण किये थी और चलनेमें अपने चरणके नूपुरोंकी झनकारसे कोई देवी जैसी दीखती थी ॥ २३ ॥ वह गज-राजके सदृश मन्द-मन्द चलनेवाली युवती युवावस्थाके आगमनकी सूचना देनेवाले अपने गोल तथा परस्पर सँटे स्तनोंको लज्जावश बारम्बार अञ्चलसे ढाँकती जा रही थी ॥ २४ ॥ वीरवर पुरञ्जनने प्रेमोद्वेगसे चञ्चल उसके भ्रुकुटिधनुषसे छूटनेवाले प्रणयकटाक्षरूपी बाणसे विद्ध होकर उस लज्जायुक्त मुसकानसे सुशोभित सुन्दरीके प्रति बड़ी सुन्दर और ललित वाणीमें कहा ॥ २५ ॥ "हे कमलदल-सदृश नयनोंवाली ! तुम कौन हो ? किसकी कन्या हो ? हे सती ! इस समय तुम कहाँसे आ रही हो ? हे भीरु ! इस पुरीमें तुम क्या करना चाहती हो ? सो हमें बताओ ॥ २६ ॥ जिनमें ग्यारह बड़े-बड़े शूरवीर हैं, ये तुम्हारे साथ ग्यारह अनुचर कौन हैं ? हे सुभ्रु ! तुम्हारे साथकी ये सहेलियाँ और सदा आगे रहनेवाला साँप कौन है ? ॥ २७ ॥ जिसकी सब कामनाएँ तुम्हारे चरणकमलोंकी प्राप्तिसे ही पूर्ण हो गयी हैं, ऐसे अपने पतिको मुनियोंके सदृश वनमें एकान्तवास करके पति ढूँढ़नेवाली क्या तुम साक्षात् लज्जा, पार्वती, सरस्वती अथवा लक्ष्मीजी तो नहीं हो ! यदि तुम लक्ष्मीजी हो तो तुम्हारे हाथका क्रीडाकमल कहाँ गिर पड़ा है ॥ २८ ॥ हे वरोरु ! तुम अपने पाँवोंसे पृथिवीका स्पर्श करती हो, इसलिये मालूम होता है कि इनमेंसे तो तुम कोई नहीं हो। अतएव श्रीलक्ष्मीजी जैसे विष्णुभगवानके साथ रहती हुई वैकुण्ठलोककी शोभा बढ़ाती हैं वैसे ही मुझ परम पराक्रमी तथा वीर-

यदेष मापाङ्गविखण्डितेन्द्रियं सव्रीडभावस्मितविभ्रमद्भ्रुवा ।
त्वयोपसृष्टो भगवान् मनोभवः प्रबाधतेऽथानुगृहाण शोभने ॥३०॥
त्वदाननं सुभ्रु सुतारलोचनं व्यालम्बिनीलालकवृन्दसंवृतम् ।
उन्नीय मे दर्शय वल्गुवाचकं यद्व्रीडया नाभिमुखं शुचिस्मिते ॥३१॥

नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं नारी याचमानमधीरवत् । अभ्यनन्दत तं वीरं हसन्ती वीर मोहिता ॥३२॥
न विदाम वयं सम्यक्कर्तारं पुरुषर्षभ । आत्मनश्च परस्यापि गोत्रं नाम च यत्कृतम् ॥३३॥
इहाद्य सन्तमात्मानं विदाम न ततः परम् । येनेयं निर्मिता वीर पुरी शरणमात्मनः ॥३४॥
एते सखायः सख्यो मे नरा नार्यश्च मानद । सुप्तायां मयि जागर्ति नागोऽयं पालयन् पुरीम् ॥३५
दिष्ट्याऽऽगतोऽसि भद्रं ते ग्राम्यान् कामानभीप्ससे । उद्वहिष्यामि तांस्तेऽहं स्वबन्धुभिररिन्दम ॥३६
इमां त्वमधितिष्ठस्व पुरीं नवमुखीं विभो । मयोपनीतान् गृह्णानः कामभोगान् शतं समाः ॥३७
कं नु त्वदन्यं रमये ह्यरतिज्ञमकोविदम् । असम्परायाभिमुखमश्वस्तनविदं पशुम् ॥३८॥
धर्मो ह्यत्रार्थकामौ च प्रजानन्दोऽमृतं यशः । लोका विशोका विरजा यां न केवलिनो विदुः ॥३९॥
पितृदेवर्षिमर्त्यानां भूतानामात्मनश्च ह । क्षेम्यं वदन्ति शरणं भवेऽस्मिन् यद्गृहाश्रमः ॥४०॥
का नाम वीर विख्यातं वदान्यं प्रियदर्शनम् । न वृणीत प्रियं प्राप्तं मादृशी त्वादृशं पतिम् ॥४१॥

श्रेष्ठके साथ रहकर तुम अवश्य इस नगरीको अलंकृत करो ॥ २९ ॥ हे सुन्दरी ! तुम्हारे कटाक्षसे विकलेन्द्रिय मुझको तुम्हारी लज्जाभरी मुसकानसे युक्त भ्रूभङ्गीसे प्रेरित होकर बढ़ा हुआ कामदेव सता रहा है, सो अब तुम मेरे ऊपर कृपा करो ॥ ३० ॥ हे शुचिस्मिते ! जो लज्जावश मेरी ओर नहीं उठता, जो सुन्दर भृकुटी तथा सुन्दर-पुतलियों युक्त नयनों तथा लम्बी, नीली और घुँघराली अलकोंसे घिरा हुआ है, वह अपना मृदुभाषी तथा मनोहर मुख कुछ ऊँचा उठाकर मुझे दिखाओ" ॥ ३१ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे वीर ! इस तरह एक अधीर पुरुषके समान राजा पुरंजनके याचना करनेपर उस स्त्रीने राजाकी सुन्दरतासे विमुग्ध होकर हँसते हुए उसके कथनका समर्थन किया ॥ ३२ ॥ वह बोली —"हे पुरुषश्रेष्ठ ! हम अपने पिताको नहीं जानतीं और न हमें अपने या दूसरे नाम तथा गोत्रका ही पता है ॥ ३३ ॥ हम सब लोग आज इस पुरीमें विद्यमान हैं—इसके सिवा हम और कुछ भी नहीं जानतीं । हे वीर ! हमारा निवासस्थानस्वरूप यह पुरी किसने बसायी है, हमें यह भी नहीं मालूम है ॥ ३४ ॥ हे मानद ! ये सब पुरुष और सब स्त्रियाँ मेरे मित्र और मेरी सहेलियाँ है । जब मैं सो जाती हूँ, तब यह सर्प इस पुरीकी रक्षा करता हुआ जागता है ॥ ३५ ॥ हे शत्रुनाशक ! आपका कल्याण हो । यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप यहाँ आगये । आपको सब विषयभोगोंकी अभिलाषा हैं । सो अपने साथियोंके साथ मैं आपके सभी मनचाहे भोग प्रस्तुत कर दूँगी ॥ ३६ ॥ हे नाथ ! आप इस नौ द्वारोंकी पुरीमें मेरे द्वारा प्रस्तुत किये गये विषयोंको भोगते हुए सौ वर्षतक निवास करिए ॥ ३७ ॥ हे प्रिय ! आपके सिवाय मैं विषयसुखसे अनभिज्ञ, विहित भोगोंको भी ठुकरा देनेवाले परलोककी चिन्तासे रहित और फल क्या होगा, इसका विचार भी न करनेवाले अन्य किस नरपशुके साथ विहार करूँगी ? ॥ ३८ ॥ अहो ! गृहस्थाश्रममें रहकर ही धर्म, अर्थ, काम, पुत्रपालनका सुख, अमरता तथा सुयश मिलते हैं और इसीमें वे स्वर्गादि दिव्यलोक भी मिलते हैं, जिनको विरज, विशोक और केवलानन्दी पुरुष भी नहीं जान पाते ॥ ३९ ॥ इस लोकमें देव, ऋषि, मनुष्य तथा सब प्राणियों और अपना भी मंगलमय आश्रयस्थल गृहस्थाश्रम ही कहा जाता है ॥ ४० ॥ हे वीर ! इस लोकमें आप सरीखे विख्यात, उदार और प्रियदर्शन पतिको पाकर भी मेरे सदृश ऐसी कौन स्त्री है, जो

कस्या मनस्ते भुवि भोगिभोगयोः स्त्रिया न सज्जेद्भुजयोर्महाभुज ।
योऽनाथवर्गाधिमलं घृणोद्धतस्मितावलोकेन चरत्यपोहितुम् ॥४२॥

नारद उवाच

इति तौ दम्पती तत्र समुद्य समयं मिथः । तां प्रविश्य पुरीं राजन् मुमुदाते शतं समाः ॥४३॥
उपगीयमानो ललितं तत्र तत्र च गायकैः । क्रीडन् परिवृतः स्त्रीभिर्ह्रदिनीमाविशच्छुचौ ॥४४॥
सप्तोपरि कृता द्वारः पुरस्तस्यास्तु द्वे अधः । पृथग्विषयगत्यर्थं तस्यां यः कश्चनेश्वरः ॥४५॥
पञ्च द्वारस्तु पौरस्त्या दक्षिणैका तथोत्तरा । पश्चिमे द्वे अमूषां ते नामानि नृप वर्णये ॥४६॥
खद्योताऽऽविर्मुखी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते । विभ्राजितं जनपदं याति ताभ्यां द्युमत्सखः ॥४७॥
नलिनी नालिनी च प्राग्द्वारावेकत्र निर्मिते । अवधूतसखस्ताभ्यां विषयं याति सौरभम् ॥४८॥
मुख्या नाम पुरस्ताद् द्वास्तयाऽऽपणबहूदनौ । विषयौ याति पुरराड्रसज्ञविपणान्वितः ॥४९॥
पितृहूर्नृप पुर्या द्वार्दक्षिणेन पुरञ्जनः । राष्ट्रं दक्षिणपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५०॥
देवहूर्नाम पुर्या द्वा उत्तरेण पुरञ्जनः । राष्ट्रमुत्तरपञ्चालं याति श्रुतधरान्वितः ॥५१॥
आसुरी नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरञ्जनः । ग्रामकं नाम विषयं दुर्मदेन समन्वितः ॥५२॥
निर्ऋतिर्नाम पश्चाद् द्वास्तया याति पुरञ्जनः । वैशसं नाम विषयं लुब्धकेन समन्वितः ॥५३॥
अन्धावमीषां पौराणां निर्वाक्पेशस्कृतावुभौ । अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति च ॥५४॥

आपको पतिरूपमें वरण न करेगी ? ॥ ४१ ॥ हे महाबाहो ! जो अपनी मधुर मुसकानयुक्त कृपादृष्टिसे हम-जैसे अनाथ जीवोंका मानसिक सन्ताप दूर करनेके लिये ही पृथिवीमें विचरते हैं, ऐसे आपके सर्पकी भाँति सुकोमल बाहुओंमें किस नारीका मन न फँस जायगा ?" ॥ ४२ ॥ श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! उन स्त्री-पुरुषोंने परस्पर इस तरह वार्तालाप करके उस नगरमें जाकर सौ वर्षतक आनन्द किया ॥ ४३ ॥ यह राजा पुरंजन, इधर-उधर गायकों द्वारा अपना सुयशगान सुनता हुआ गर्मियोंमें जलक्रीडा करनेके लिये स्त्रियोंके साथ नदीमें उतर जाता था ॥ ४४ ॥ उस पुरीका जो अधिपति था, उसने विभिन्न देशोंकी ओर जानेके निमित्त उस पुरीमें सात द्वार ऊपर तथा दो नीचेकी ओर बनाये थे ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! उपर्युक्त नौ द्वारोंमें पाँच पूर्व, एक दक्षिण, एक उत्तर और दो पश्चिमकी ओर थे । अब उनके नाम मैं तुम्हें बताता हूँ ॥ ४६ ॥ पूर्वकी तरफ खद्योत और आविर्मुख नामके दो द्वार बने हुए थे । उन्हींके रास्ते राजा पुरंजन अपने मित्र द्युमान्के साथ विभ्राजित नामके देशको जाया करता था ॥ ४७ ॥ इसी तरह पूर्व दिशामें एक ही स्थानपर उस नगरमें नलिनी और नालिनी नामके दो द्वार और भी थे । उनमें होकर वह अपने मित्र अवधूतके साथ सौरभ नामक देशको जाया करता था ॥ ४८ ॥ पूर्वकी ओर मुख्या नामका एक द्वार और था । उसमें होकर राजा पुरंजन अपने मित्र रसज्ञ तथा विपणके साथ क्रमशः बहूदन और आपण नामके दो देशोंको जाया करता था ॥ ४९ ॥ हे राजन् ! उस पुरीके दक्षिणकी ओर पितृहू नामका एक द्वार था, उसके द्वारा पुरंजन श्रुतिधर नामक मित्रके साथ दक्षिण पञ्चाल देशोंको जाया करता था ॥ ५० ॥ उत्तरकी ओर देवहू नामका एक द्वार था, उसमें होकर वह अपने उसी श्रुतधर नामक मित्रके साथ उत्तर पाञ्चाल देशको जाया करता था ॥५१॥ पुरीके पश्चिम ओर आसुरी नामका फाटक था । उसके द्वारा राजा पुरंजन अपने मित्र दुर्मदके साथ ग्रामक देशको जाता था ॥५२॥ निर्ऋति नामक एक पश्चिमद्वार था, उससे राजा पुरंजन अपने मित्र लुब्धकके साथ वैशस नामक देशको जाता था ॥५३॥ इस नगरके निवासियोंमें निर्वाक् तथा पेशस्कृत् ये दो नागरिक अन्धे थे । उन्हींके सहारे राजा पुरंजन सेन्द्रिय नागरिकोंका अधिपति होकर भी जहाँ चाहता, वहाँ जाता और सब कार्य किया करता था

स यर्ह्यन्तःपुरगतो विषूचीनसमन्वितः । मोहं प्रसादं हर्षं वा याति जायात्मजोद्भवम् ॥५५॥
एवं कर्मसु संसक्तः कामात्मा वञ्चितोऽबुधः । महिषी यद्यदीहेत तत्तदेवान्ववर्तत ॥५६॥
क्वचित्पिबन्त्यां पिबति मदिरां मदविह्वलः । अश्नन्त्यां क्वचिदश्नाति जक्षत्यां सह जक्षिति ॥५७॥
क्वचिद्गायति गायन्त्यां रुदत्यां रुदति क्वचित् । क्वचिद्धसन्त्यां हसति जल्पन्त्यामनु जल्पति ॥५८॥
क्वचिद्धावति धावन्त्यां तिष्ठन्त्यामनु तिष्ठति । अनु शेते शयानायामन्वास्ते क्वचिदासतीम् ॥५९॥
क्वचिच्छृणोतिशृण्वन्त्यां पश्यन्त्यामनुपश्यति । क्वचिज्जिघ्रतिजिघ्रन्त्यांस्पृशन्त्यां स्पृशति क्वचित् ६०
क्वचिच्च शोचतीं जायामनु शोचति दीनवत् । अनु हृष्यति हृष्यन्त्यां मुदितामनु मोदते ॥६१॥
विप्रलब्धो महिष्यैवं सर्वप्रकृतिवञ्चितः । नेच्छन्ननुकरोत्यज्ञः क्लैब्यात्क्रीडामृगो यथा ॥६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

नारद उवाच

स एकदा महेष्वासो रथं पञ्चाश्वमाशुगम् । द्वीषं द्विचक्रमेकाक्षं त्रिवेणुं पञ्चबन्धुरम् ॥ १ ॥
एकरश्म्येकदमनमेकनीडं द्विकूबरम् । पञ्चप्रहरणं सप्तवरूथं पञ्चविक्रमम् ॥ २ ॥
हैमोपस्करमारुह्य स्वर्णवर्माक्षयेषुधिः । एकादशचमूनाथः पञ्चप्रस्थमगाद्वनम् ॥ ३ ॥

॥ ५४ ॥ जब राजा पुरंजन अपने प्रधान सेवक विषूचीनके साथ अन्तःपुरमें जाता था, तब स्त्री तथा पुत्रोंके कारण होनेवाले मोह, प्रसन्नता एवं हर्ष आदि विकारोंका अनुभव किया करता था ॥ ५५ ॥ इस तरह विविध कार्योंमें फँसा हुआ तथा विषयोंमें आसक्त और स्त्रीके द्वारा ठगा हुआ वह महा अज्ञानी राजा पुरंजन जो-जो कार्य उसकी रानी किया करती थी, वही-वही वह स्वयं भी करने लग जाता था ॥ ५६ ॥ जब कभी वह मदिरा पीती तो स्वयं भी मदमत्त होकर मदिरा पीने लगता था, जब वह खाती तो वह भी खाता और जब भक्षण करती थी तो स्वयं भी भक्षण करने लग जाता था ॥ ५७ ॥ जब कभी वह गाती तो वह भी गाने लगता था, वह रोती तो रोने लगता था, हँसती तो हँसने लगता और बोलनेपर बोलने लग जाता था ॥ ५८ ॥ जब वह दौड़ती तो स्वयं भी दौड़ने लगता था, वह ठहरती तो आप भी ठहर जाता, सोती तो खुद भी उसके साथ सो जाता और बैठती तो स्वयं भी उसके साथ बैठ जाता था ॥५९॥ कभी वह कुछ सुनती तो स्वयं भी सुनने लगता था, वह देखती तो स्वयं भी देखने लगता था, वह सूँघती तो स्वयं भी सूँघने लगता और कभी स्पर्श करती थी तो स्वयं भी स्पर्श करने लग जाता था ॥ ६० ॥ वह अपनी प्रियाके शोकाकुल हो जानेपर स्वयं भी अतिदीनकी भाँति व्याकुल हो जाता था। उनके प्रसन्न होनेपर स्वयं भी प्रसन्न होता था। उसको सुख होनेपर स्वयं भी आनन्द मानने लगता था ॥ ६१ ॥ इस तरह स्त्रीके प्रेममें फँसा हुआ राजा पुरंजन अपने मन्त्रियों द्वारा ठगा जाने और अति कामवश होनेके कारण इच्छा न होनेपर भी अज्ञानीके समान अपनी स्त्रीका इस प्रकार अनुकरण करता था, जैसे खेल दिखलानेके लिये पाला हुआ (वानर आदि) पशु हर समय अपने स्वामीकी आज्ञामें रहता है ॥ ६२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेज-पाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

(राजा पुरञ्जनका मृगयाके लिये वनमें जाना और उसकी स्त्रीका कुपित होना) श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! एक दिन राजा पुरञ्जन जिसमें पाँच घोड़े जुते हुए थे तथा जो दो दण्डिकाओं, दो पहियों, एक धुरी, तीन बाँसों, पाँच बन्धनों, एक डोरी (लगाम), एक सारथी, एक बैठनेके स्थान, दो जूओं, पाँच शस्त्रों, सात पर्दों, पाँच प्रकारकी गतियों और सुवर्णमय आभूषणोंसे सुसज्जित था। ऐसे शीघ्रगामी रथपर एक महान् धनुष, सुवर्णमय कवच और अक्षय बाण धारणकर अपने ग्यारहवें

चचार मृगयां तत्र दृप्त आत्तेषुकार्मुकः । विहाय जायामतदर्हां मृगव्यसनलालसः ॥ ४ ॥
आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य घोरात्मा निरनुग्रहः । न्यहनन्निशितैर्बाणैर्वनेषु वनगोचरान् ॥५॥
तीर्थेषु प्रतिदृष्टेषु राजा मेध्यान् पशून् वने । यावदर्थमलं लुब्धो हन्यादिति नियम्यते ॥६॥
य एवं कर्म नियतं विद्वान् कुर्वीत मानवः । कर्मणा तेन राजेन्द्र ज्ञानेन न स लिप्यते ॥७॥
अन्यथा कर्म कुर्वाणो मानारूढो निबध्यते । गुणप्रवाहपतितो नष्टप्रज्ञो व्रजत्यधः ॥८॥
तत्र निर्भिन्नगात्राणां चित्रवाजैः शिलीमुखैः । विप्लवोऽभूद्दुःखितानां दुःसहः करुणात्मनाम् ॥९॥
शशान् वराहान् महिषान्गवयान् रुरुशल्यकान् । मेध्यानन्यांश्च विविधान् विनिघ्नन् श्रममध्यगात्१०
ततः क्षुत्तृट्परिश्रान्तो निवृत्तो गृहमेयिवान् । कृतस्नानोचिताहारः संविवेश गतक्लमः ॥११॥
आत्मानमर्हयाञ्चक्रे धूपालेपस्रगादिभिः । साध्वलङ्कृतसर्वाङ्गो महिष्यामादधे मनः ॥१२॥
तृप्तो हृष्टः सुदृप्तश्च कन्दर्पाकृष्टमानसः । न व्यचष्ट वरारोहां गृहिणीं गृहमेधिनीम् ॥१३॥
अन्तःपुरस्त्रियोऽपृच्छद्विमना इव वेदिषत् । अपि वः कुशलं रामाः सेश्वरीणां यथा पुरा ॥१४॥
न तथैतर्हि रोचन्ते गृहेषु गृहसम्पदः । यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता ।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत् ॥१५॥
क्व वर्तते सा ललना मज्जन्तं व्यसनार्णवे । या मामुद्धरते प्रज्ञां दीपयन्ती पदे पदे ॥१६॥

सेनापतिके सहित आरूढ़ हो पञ्चप्रस्थ नामक वनको गया ॥ १-३ ॥ वहाँ मृगया करनेके लिये अति उत्सुक हो, जिसका त्यागना किसी प्रकार भी योग्य न था, उस अपनी प्रियाको त्यागकर वह अति दर्पपूर्वक हाथमें धनुष-बाण ले शिकार खेलने लगा ॥ ४ ॥ इस प्रकार आसुरी वृत्तिको स्वीकारकर भयंकर और निर्दयचित्त राजा पुरञ्जनने उस वनमें अपने तीखे बाणों द्वारा बहुतसे वन्य पशुओंका वध किया ॥ ५ ॥ शास्त्रोंमें पशु-हिंसाके लिये कोई विधान नहीं है, बल्कि लोगोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकनेके लिये यह नियम बनादिया है कि मांसमें आसक्त राजा केवल शास्त्रविहित श्राद्धादिके अवसरपर वनमें जाकर केवल अत्याज्य पशुओंको ही आवश्यकतानुसार मारे ॥ ६ ॥ हे राजेन्द्र ! जो भी विद्वान् पुरुष इसतरह कर्मतत्त्वको जानकर नियत कर्म करता है, वह कभी उन कर्मोंमें लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥ जो मनुष्य मनमाना कर्म करनेके कारण अभिमानी होकर कर्मोंमें बँध जाता है वह संसारचक्रमें पड़कर विवेकबुद्धि नष्ट हो जानेके कारण अधम योनियोंमें जा पड़ता है' ॥ ८ ॥ उन वनमें पुरञ्जनके विविध भाँतिके पंखोंवाले बाणोंसे घायल होकर दुःखित जीवोंका महाभयंकर संहार हुआ, जो करुणामय पुरुषोंके लिये अतिशय दुःसह था ॥ ९ ॥ इस तरह वहाँ खरगोश, शूकर, भैंस, नीलगाय, कृष्णमृग, स्याही तथा और भी अनेक मेध्य पशुओंको मारते-मारते राजा पुरञ्जन बहुत थक गया ॥ १० ॥ तब भूख-प्याससे आकुल हो वह वनसे घर लौट आया। वहाँ स्नान और भोजन करके कुछ देर लेटकर अपनी थकान दूर की ॥ ११ ॥ तदनन्तर राजा पुरञ्जन गन्ध, चन्दन और माला आदिसे अलंकृत होकर और सब अंगोंमें उत्तम आभूषण पहनकर उसने अपनी प्रियतमाका स्मरण किया ॥ १२ ॥ किन्तु भोजन आदिसे तृप्त, हृदयमें आनन्दित, मदोन्मत्त तथा कामपरवश राजा पुरंजनको अपनी सुन्दर कटिवाली पत्नी दिखायी नहीं पड़ी ॥ १३ ॥ हे राजा प्राचीनबर्हि ! तदनन्तर उसने कुछ उदास हो अन्तःपुरकी नारियोंसे पूछा—"हे रमणियों ! तुम अपनी स्वामिनीके साथ पहलेकी तरह कुशलसे तो हो ? न जाने क्यों इस समय घरकी सम्पत्ति पहलेकी तरह सुन्दर नहीं लगती ॥ १४ ॥ जिस घरमें माता तथा पतिपरायणा पत्नी न हो तो अंगहीन रथकी भाँति उस दुःखमय घरमें कौन बुद्धिमान् पुरुष दीनकी भाँति रहेगा ? ॥ १५ ॥ सो मुझे बताओ कि जो मेरे दुःखसमुद्रमें डूबनेपर पद-पदपर मेरी विवेक-बुद्धिको जागृत करके मुझे उस संकटसे

रामा ऊचुः

नरनाथ न जानीमस्त्वत्प्रिया यद्व्यवस्यति । भूतले निरवस्तारे शयानां पश्य शत्रुहन् ॥१७॥

नारद उवाच

पुरञ्जनः स्वमहिषीं निरीक्ष्यावधुतां भुवि । तत्सङ्गोन्मथितज्ञानो वैक्लव्यं परमं ययौ ॥१८॥
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हृदयेन विदूयता । प्रेयस्याः स्नेहसंरम्भलिङ्गमात्मनि नाभ्यगात्॥१९॥
अनुनिन्येऽथ शनकैर्वीरोऽनुनयकोविदः । पस्पर्श पादयुगलमाह चोत्सङ्गलालिताम् ॥२०॥

पुरञ्जन उवाच

नूनं त्वकृतपुण्यास्ते भृत्या येष्वीश्वराः शुभे । कृतागःस्वात्मसात्कृत्वा शिक्षादण्डं न युञ्जते ॥२१॥
परमोऽनुग्रहो दण्डो भृत्येषु प्रभुणार्पितः । बालो न वेद तत्तन्वि बन्धुकृत्यममर्षणः ॥२२॥

सा त्वं मुखं सुदति सुभ्र्वनुरागभारव्रीडाविलम्बविलसद्धसितावलोकम् ।
नीलालकालिभिरुपस्कृतमुन्नसं नः स्वानां प्रदर्शय मनस्विनि वल्गुवाक्यम् ॥२३॥

तस्मिन्दधे दममहं तव वीरपत्नि योऽन्यत्र भूसुरकुलात्कृतकिल्बिषस्तम् ।
पश्ये न वीतभयमुन्मुदितं त्रिलोक्यमन्यत्र वै मुररिपोरितरत्र दासात् ॥२४॥

वक्त्रं न ते वितिलकं मलिनं विहर्षं संरम्भभीममविमृष्टमपेतरागम् ।
पश्ये स्तनावपि शुचोपहतौ सुजातौ बिम्बाधरं विगतकुङ्कुमपङ्करागम् ॥२५॥

उबारती थी, वह मेरी प्रियतमा इस समय कहाँ है ?" ॥ १६ ॥ स्त्रियाँ बोलीं—हे नरपते ! हमें मालूम नहीं कि आज आपकी प्रियाने क्या सोचा है। हे शत्रुदमन ! देखिये, वह बिना बिछौनेके पलंगपर पड़ी हुई है ॥ १७ ॥ नारदजीने कहा—हे राजन् ! उस स्त्रीके संगसे विवेकभ्रष्ट राजा पुरंजन अपनी रानीको भूमिमें अस्त-व्यस्त दशामें पड़ी देखकर विचलित हो उठा ॥ १८ ॥ बड़े दुःखित मनसे मधुर वचनों द्वारा बहुत समझानेपर भी उसने नहीं जान पाया कि उसके प्रति उसकी प्रेयसीके इस प्रणयकोपका क्या कारण है ? ॥ १९ ॥ तदनन्तर प्रणयकोप दूर करनेमें कुशल उस वीर राजाने धीरे-धीरे उसे मनाना आरम्भ किया। पहले उसके चरणोंमें सिर रखा, फिर उसे गोदमें लेकर बड़े प्यारके साथ कहा ॥ २० ॥ पुरंजन कहने लगा—हे सुन्दरि ! यदि स्वामी अपने अपराधी सेवकोंको अपना मानकर शिक्षाके लिये भी उचित दण्ड न दे तो वह बड़ा मन्दभाग्य स्वामी कहलायेगा ॥ २१ ॥ हे तन्वि ! सेवकको दिया हुआ स्वामीका दण्ड उसपर एक प्रकारका अनुग्रह ही होता है। जो सेवक उसे नहीं सहता, उस मूर्खको अपने हितचिन्तक स्वामीके किये उपकारका पता ही नहीं चलता ॥ २२ ॥ हे सुन्दर दाँतोंवाली ! हे सुभ्रु ! हे मनस्विनि ! तुम हमारी गृहस्वामिनी हो। सो मुझ अपने अनुचरको तुम प्रणय-भार तथा लज्जासे झुका हुआ एवं मधुर मुसकान भरी चितवनसे युक्त अपना मनोहर मुखारविन्द दिखाओ, जो नीली अलकावली तथा उन्नत नासिकासे युक्त है ॥ २३ ॥ हे वीरपत्नि ! ब्राह्मणकुलके सिवाय यदि किसी औरने तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो मैं उसे अभी कठोर दण्ड दूँगा। क्योंकि भगवानके भक्तको छोड़कर मुझे त्रिलोकीके बाहर और भीतर ऐसा कोई प्राणी नहीं दीखता, जो मेरा अपराध करके भी निर्भयभावसे आनन्दपूर्वक जी सके ॥ २४ ॥ हे प्रिये ! मैंने कभी भी तुम्हारा मुख इस तरह तिलकहीन, मलिन, हर्षरहित, कोपके कारण भयानक, कान्तिहीन तथा स्नेहहीन नहीं देखा था और न कभी तुम्हारे सुन्दर स्तनोंको शोकके आँसुओंसे भीगे हुए ही निहारा था। न कभी तुम्हारे बिम्बसदृश होठोंको कुङ्कुमरागके समान पानकी रक्तिमा रहित

तन्मे प्रसीद सुहृदः कृतकिल्बिषस्य स्वैरं गतस्य मृगयां व्यसनातुरस्य।
का देवरं वशगतं कुसुमास्त्रवेगविस्रस्तपौंस्नमुशती न भजेत कृत्ये ॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

नारद उवाच

इत्थं पुरञ्जनं सध्र्यग्वशमानीय विभ्रमैः। पुरञ्जनी महाराज रेमे रमयती पतिम् ॥१॥
स राजा महिषीं राजन् सुस्नातां रुचिराननाम्। कृतस्वस्त्ययनां तृप्तामभ्यनन्ददुपागताम् ॥२॥
तयोपगूढः परिरब्धकन्धरो रहोऽनुमन्त्रैरपकृष्टचेतनः।
न कालरंहो बुबुधे दुरत्ययं दिवा निशेति प्रमदापरिग्रहः ॥३॥
शयान उन्नद्धमदो महामना महार्हतल्पे महिषीभुजोपधिः।
तामेव वीरो मनुते परं यतस्तमोऽभिभूतो न निजं परं च यत् ॥४॥
तयैवं रममाणस्य कामकश्मलचेतसः। क्षणार्धमिव राजेन्द्र व्यतिक्रान्तं नवं वयः ॥५॥
तस्यामजनयत्पुत्रान् पुरञ्जन्यां पुरञ्जनः। शतान्येकादश विराडायुषोऽर्धमथात्यगात् ॥६॥
दुहितॄर्दशोत्तरशतं पितृमातृयशस्करीः। शीलौदार्यगुणोपेताः पौरञ्जन्यः प्रजापते ॥७॥
स पञ्चालपतिः पुत्रान् पितृवंशविवर्धनान्। दारैः संयोजयामास दुहितॄः सदृशैर्वरैः ॥८॥

ही देख पाया था ॥ २५ ॥ अपने तुच्छ व्यसनके वश होकर मैं तुम्हारी आज्ञा लिये बिना अपने आप मृगयाके लिये चला गया। सो मुझ अपने अपराधी सुहृद्पर अब तो तुम प्रसन्न हो जाओ। क्योंकि कामके विषम बाणोंसे व्याकुल होकर अपने अधीन तथा अपनेको रतिसुख देनेवाले प्रियतम पतिको ऐसी कौन कामिनी है, जो समुचित कार्यके लिये न अपनायेगी ? ॥ २६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

(राजा पुरंजनकी पुरीपर चण्डवेगकी चढ़ाई और कालकन्याका चरित्र) श्रीनारदजी कहते हैं—हे महाराज ! इस तरह विविध हाव-भावोंसे पुरंजनको पूर्णरीतिसे अपने अधीन करके वह स्त्री अपने पतिको प्रसन्न करती हुई उसके साथ विहार करने लगी ॥ १ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार भलीभाँति स्नान करके कई तरहके मंगलमय अलंकारोंसे सुसज्जित और भोजनादिसे परितृप्त होकर अपने समीप आयी हुई उस मनोहर मुखवाली राजमहिषीकी राजा पुरंजनने सराहना की ॥ २ ॥ तब परस्पर दृढ़ आलिङ्गनसे राजा पुरंजनने अपनी प्रियतमाके कन्धोंसे लिपटकर भेंट किया और उसे बड़े आसक्तचित्तसे एकान्तमें प्रणयमन्त्रोंके द्वारा समझाते हुए उसके वशीभूत हो जानेके कारण कालके रात्रि-दिवसरूपी दुस्तर गतिको भी न जान पाया ॥ ३ ॥ महामनस्वी राजा पुरंजन अपनी प्रियाके हाथकी तकिया लगाये मूल्यवान् शय्यापर पड़ा सोता रहा। अपने बढ़े हुए मदके कारण वह वीर उसीको परम पुरुषार्थ मानता था। क्योंकि अज्ञान-अन्धकारसे आवृत हो जानेके कारण उसे अपने तथा परब्रह्मके स्वरूपका कुछ पता नहीं रह गया था ॥ ४ ॥ हे राजेन्द्र ! इस तरह कामातुर हृदयसे उसके साथ विहार करते-करते राजा पुरंजनकी सारी युवावस्था आधे क्षणकी भाँति बीत गयी ॥ ५ ॥ हे प्रजापते ! इस बीच राजा पुरंजनने उस स्त्रीसे ग्यारह सौ पुत्र तथा अपने माता-पिताका सुयश बढ़ानेवाली एवं शील, उदारता आदि गुणोंसे युक्त एक सौ दस कन्याएँ उत्पन्न कीं। वे कन्यायें पौरंजनी कहलायीं ॥ ६ ॥ ७ ॥ तब पञ्चालदेशके नरेश महाराज पुरंजनने अपने पिताके वंशको बढ़ानेवाले उन पुत्रोंका योग्य स्त्रियों और कन्याओंका उनके अनुरूप वरोंके साथ विवाहसम्बन्ध

पुत्राणां चाभवन् पुत्रा एकैकस्य शतं शतम् । यैर्वै पौरञ्जनो वंशः पञ्चालेषु समेधितः ॥९॥
तेषु तद्रिक्थहारेषु गृहकोशानुजीविषु । निरूढेन ममत्वेन विषयेष्वन्वबध्यत ॥१०॥
ईजे च क्रतुभिर्घोरैर्दीक्षितः पशुमारकैः । देवान् पितॄन् भूतपतीन्नानाकामो यथा भवान् ११
युक्तेष्वेवं प्रमत्तस्य कुटुम्बासक्तचेतसः । आससाद स वै कालो योऽप्रियः प्रिययोषिताम्॥१२
चण्डवेग इति ख्यातो गन्धर्वाधिपतिर्नृप । गन्धर्वास्तस्य बलिनः षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥१३॥
गन्धर्व्यस्तादृशीरस्य मैथुन्यश्च सितासिताः । परिवृत्त्या विलुम्पन्ति सर्वकामविनिर्मिताम् ॥१४॥
ते चण्डवेगानुचराः पुरञ्जनपुरं यदा । हर्तुमारेभिरे तत्र प्रत्यषेधत्प्रजागरः ॥१५॥
स सप्तभिः शतैरेको विंशत्या च शतं समाः । पुरञ्जनपुराध्यक्षो गन्धर्वैर्युयुधे बली ॥१६॥
क्षीयमाणे स्वसम्बन्धे एकस्मिन् बहुभिर्युधा । चिन्तां परां जगामार्तः सराष्ट्रपुरबान्धवः ॥१७॥
स एव पुर्यां मधुभुक् पञ्चालेषु स्वपार्षदैः । उपनीतं बलिं गृह्णन् स्त्रीजितो नाविदद्भयम् ॥१८॥
कालस्य दुहिता काचित्त्रिलोकीं वरमिच्छति । पर्यटन्ती न बर्हिष्मन् प्रत्यनन्दत कश्चन ॥१९॥
दौर्भाग्येनात्मनो लोके विश्रुता दुर्भगेति सा । या तुष्टा राजर्षये तु वृतादात्पूरवे वरम् ॥२०॥
कदाचिदटमाना सा ब्रह्मलोकान्महीं गतम् । वव्रे बृहद्व्रतं मां तु जानती काममोहिता ॥२१॥
मयि संरभ्य विपुलमदाच्छापं सुदुःसहम् । स्थानमर्हसि नैकत्र यद्याच्ञाविमुखो मुने ॥२२॥

कर दिया ॥ ८ ॥ उन पुरंजनके पुत्रोंमेंसे प्रत्येकके सौ-सौ पुत्र उत्पन्न हुए, जिनसे वह पुरंजनवंश सारे पाञ्चालदेशमें फैल गया ॥ ९ ॥ इस प्रकार अपने पुत्र, पौत्र, गृह, कोश, सेवक तथा देश आदिमें क्रमशः बढ़नेवाली ममतासे राजा पुरंजन विषयोंमें फँस गया ॥ १० ॥ तदनन्तर तुम्हारे ही सदृश विविध भोगोंकी इच्छासे उसने यज्ञकी दीक्षा ली और अनेकों पशुहिंसामय भयंकर यज्ञोंके द्वारा देवता, पितर तथा भूतपतियोंको प्रसन्न किया ॥ ११ ॥ इस ढंगसे परमार्थ-साधनमें असावधान रहते हुए अपने कुटुम्बमें ही आसक्तचित्त राजा पुरंजनकी वृद्धावस्थाका समय आया, जो कामी पुरुषोंको बहुत ही अप्रिय लगता है ॥ १२ ॥ हे राजन् ! चण्डवेग नामका गन्धर्वोंका एक राजा था। उसके पास तीन सौ साठ महाबलवान् गन्धर्व रहा करते थे ॥ १३ ॥ उन तीनसौ साठ गन्धर्वोंके साथ शुक्ल तथा कृष्ण वर्णकी इतनी ही संख्याकी गन्धर्वियाँ थीं, जो सब भोगकी सामग्रियोंसे युक्त महाराज पुरंजनकी पुरीमें सर्वदा लूट मचाये रहती थीं ॥ १४ ॥ जब गन्धर्वराज चण्डवेगके सेवक राजा पुरंजनके नगरको लूटने लग गये तो प्रजागर नामके उस पाँच फनके सर्पने उन्हें रोक दिया ॥ १५ ॥ हे राजन् ! पुरंजनकी पुरीका रक्षक वह महाबलवान् सर्प सौ वर्षतक अकेला ही उन सात सौ बीस गन्धर्वोंसे लड़ता रहा ॥ १६ ॥ इस तरह बहुतसे योद्धाओंके साथ अकेले ही युद्धमें लिप्त अपने एकमात्र सम्बन्धी उस सर्पको बलहीन होते देखकर अपने राष्ट्र तथा नगरका हित चाहनेवाला राजा पुरंजन घबड़ाकर बड़ी चिन्तामें मग्न हो गया ॥ १७ ॥ इतने दिनोंतक वह अपने दूतोंके द्वारा लाये हुए करको स्वीकार करके पाञ्चाल देशके भीतर अपनी पुरीमें ही रहता हुआ नाना प्रकारके क्षुद्र विषयोंका भोग करता रहा। स्त्रीके वशीभूत होनेसे उसे इस विपत्तिकी बात कुछ भी नहीं मालूम हुई ॥ १८ ॥ हे बर्हिष्मन् ! इसी समय कालकी पुत्री अपने योग्य वर खोजती हुई सारी त्रिलोकीमें फिरी, किन्तु उसे किसीने अंगीकार नहीं किया। वह अभागिनी होनेके कारण 'दुर्भगा' कही जाती थी। एक बार उसे राजर्षि पुरुने अंगीकार किया था। इसीसे प्रसन्न होकर उसने उन्हें राज्यप्राप्तिका वरदान दे दिया था ॥ १९ ॥ २० ॥ एक बार मैं ब्रह्मलोकसे पृथ्वीपर आया, तब मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी समझकर भी उस घूमती हुई कालकन्याने कामातुर होकर अपना पति बनाना चाहा ॥ २१ ॥ किन्तु जब उसने मेरी अनिच्छा देखी तो अत्यन्त कुपित होकर यह दुःसह महाशाप दे डाला—हे मुने ! तुमने मेरी बात नहीं मानी है, इसलिये तुम किसी एक स्थानपर अधिक समयतक न टिक

ततो विहतसङ्कल्पा कन्यका यवनेश्वरम् । मयोपदिष्टमासाद्य वव्रे नाम्ना भयं पतिम् ॥२३॥
ऋषभं यवनानां त्वां वृणे वीरेप्सितं पतिम् । सङ्कल्पस्त्वयि भूतानां कृतःकिल न रिष्यति ॥२४॥
द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ । यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति ॥२५॥
अथो भजस्व मां भद्र भजन्तीं मे दयां कुरु । एतावान् पौरुषो धर्मो यदार्ताननुकम्पते ॥२६॥
कालकन्योदितवचो निशम्य यवनेश्वरः । चिकीर्षुर्देवगुह्यं स सस्मितं तामभाषत ॥२७॥
मया निरूपितस्तुभ्यं पतिरात्मसमाधिना । नाभिनन्दति लोकोऽयं त्वामभद्रामसम्मताम् ॥२८॥
त्वमव्यक्तगतिर्भुङ्क्ष्व लोकं कर्मविनिर्मितम् । याहि मे पृतनायुक्ता प्रजानाशं प्रणेष्यसि ॥२९॥
प्रज्वारोऽयं मम भ्राता त्वं च मे भगिनी भव । चराम्युभाभ्यां लोकेऽस्मिन्नव्यक्तो भीमसैनिकः ३०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्याने सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

नारद उवाच

सैनिका भयनाम्नो ये बर्हिष्मन् दिष्टकारिणः । प्रज्वारकालकन्याभ्यां विचेरुरवनीमिमाम् ॥ १ ॥
त एकदा तु रभसा पुरञ्जनपुरीं नृप । रुरुधुर्भौमभोगाढ्यां जरत्पन्नगपालिताम् ॥ २ ॥
कालकन्यापि बुभुजे पुरञ्जनपुरं बलात् । ययाभिभूतः पुरुषः सद्यो निःसारतामियात् ॥ ३ ॥
तयोपभुज्यमानां वै यवनाः सर्वतो दिशम् । द्वार्भिः प्रविश्य सुभृशं प्रार्दयन् सकलां पुरीम् ॥ ४ ॥

सकोगे' ॥ २२ ॥ इस प्रकार मेरी ओरसे निराश होकर कालकन्या मेरे कथनसे भयनामक यवनराजके पास गयी और उसे वरण करनेका निश्चय करके कहा—॥ २३ ॥ "हे वीर ! आप यवनश्रेष्ठको मैं अपना पति बनाना चाहती हूँ । क्योंकि आपके प्रति किया हुआ प्राणियोंका संकल्प कभी विफल नहीं होता ॥ २४ ॥ जो मनुष्य लोक तथा शास्त्रविहित दान नहीं देता या कि जो लोक तथा शास्त्रविधिसे अधिकारी होकर भी ऐसा दान नहीं स्वीकार करता, वे दोनों दुराग्रही मूढ़ पुरुष अन्तमें पछताते हैं । २५ ॥ हे भद्र ! मैं आपकी सेवा करनेके लिये आपके पास उपस्थित हुई हूँ। आप भी मुझे स्वीकार करके अनुगृहीत करिए । दीनोंपर दया करना ही पुरुषका सबसे बड़ा धर्म है" ॥ २६ । उस कालकन्याके इन वचनोंको सुनकर यवनराजने विधाताका एक गुप्त कार्य करानेके अभिप्रायसे मन्द-मन्द मुसकाते हुए कहा—॥२७॥ "हे कालकन्यके ! योगदृष्टिके द्वारा देखकर मैंने तेरे लिए एक पति निर्धारित किया है । तू सब लोगोंका अनिष्ट करती है । इस वास्ते किसीको प्रिय नहीं होसकती और इसी कारण तुझे कोई स्वीकार नहीं करता ॥ २८ । अतएव तू इस कर्मविनिर्मित लोकको हठपूर्वक गुप्तरूपसे भोग । तू मेरी सेनाके साथ जा । तेरे द्वारा सारी प्रजाका नाश हो जायगा ॥ २९ ॥ यह प्रज्वार नामक मेरा भाई है और तू मेरी बहिन है । तुम दोनोंके साथ मैं भारी सेनाके साथ अव्यक्तरूपसे सब लोकोंमें विचरूँगा" ॥ ३० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

(राजा पुरञ्जनका स्त्रीयोनिकी प्राप्ति तथा अज्ञातके उपदेशसे मोक्षकी प्राप्ति होना) नारदजी कहते हैं–हे प्राचीनबर्हि ! तदनन्तर भय नामक यवनराजके आज्ञाकारी सैनिक प्रज्वार तथा कालकन्याके साथ इस पृथिवीतलपर विचरने लगे ॥ १ ॥ हे राजन् ! एक समयकी बात है, उन्होंने बड़े वेगसे वृद्ध सर्प द्वारा सुरक्षित तथा पृथिवीके सब भोगोंसे सम्पन्न उस पुरञ्जननगरको घेर लिया ॥ २ ॥ तदनन्तर जिसके चंगुलमें फँसकर मनुष्य तत्काल निःसार हो जाता है, वह कालकन्या भी बरबस पुरञ्जनपुरीको भोगने लगी ॥ ३ ॥ उस समय वे यवन भी उसके द्वारा भोगी जाती उसी पुरीमें चारों ओरके विभिन्न

तस्यां प्रपीड्यमानायामभिमानी पुरञ्जनः । अवापोरुविधांस्तापान् कुटुम्बी ममताकुलः ॥ ५ ॥
कन्योपगूढो नष्टश्रीः कृपणो विषयात्मकः । नष्टप्रज्ञो हृतैश्वर्यो गन्धर्वयवनैर्बलात् ॥ ६ ॥
विशीर्णां स्वपुरीं वीक्ष्य प्रतिकूलाननादृतान् । पुत्रान् पौत्रानुगामात्याञ्जायां च गतसौहृदाम् ॥७॥
आत्मानं कन्यया ग्रस्तं पञ्चालानरिदूषितान् । दुरन्तचिन्तामापन्नो न लेभे तत्प्रतिक्रियाम् ॥ ८ ॥
कामानभिलषन् दीनो यातयामांश्च कन्यया । विगतात्मगतिस्नेहः पुत्रदारांश्च लालयन् ॥ ९ ॥
गन्धर्वयवनाक्रान्तां कालकन्योपमर्दिताम् । हातुं प्रचक्रमे राजा तां पुरीमनिकामतः ॥१०॥
भयनाम्नोऽग्रजो भ्राता प्रज्वारः प्रत्युपस्थितः । ददाह तां पुरीं कृत्स्नां भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥११॥
तस्यां सन्दह्यमानायां सपौरः सपरिच्छदः । कौटुम्बिकः कुटुम्बिन्या उपातप्यत सान्वयः ॥१२॥
यवनोपरुद्धायतनो ग्रस्तायां कालकन्यया । पुर्यां प्रज्वारसंसृष्टः पुरपालोऽन्वतप्यत ॥१३॥
न शेके सोऽवितुं तत्र पुरुकृच्छ्रोरुवेपथुः । गन्तुमैच्छत्ततो वृक्षकोटरादिव सानलात् ॥१४॥
शिथिलावयवो यर्हि गन्धर्वैर्हृतपौरुषः । यवनैररिभी राजन्नुपरुद्धो रुरोद ह ॥१५॥
दुहितॄः पुत्रपौत्रांश्च जामिजामातृपार्षदान् । स्वत्वावशिष्टं यत्किञ्चिद् गृहकोशपरिच्छदम् ॥१६॥
अहं ममेति स्वीकृत्य गृहेषु कुमतिर्गृही । दध्यौ प्रमदया दीनो विप्रयोग उपस्थिते ॥१७॥
लोकान्तरं गतवति मय्यनाथा कुटुम्बिनी । वर्तिष्यते कथं त्वेषा बालकाननुशोचती ॥१८॥

द्वारोंसे घुसकर उसका नाश करने लगे ॥ ४ ॥ उस पुरीको इस तरह पीड़ित होती देखकर उसके स्वामित्वका अभिमान रखनेवाले कुटुम्बी राजा पुरञ्जनको ममताके वश विविध प्रकारके संताप होने लग गये ॥ ५ ॥ तब कालकन्याके आलिङ्गन तथा गन्धर्व एवं यवनोंकी बड़ी सेनाके आक्रमणसे श्रीहीन, कृपण, विषयग्रस्त, बुद्धिहीन तथा ऐश्वर्यहीन राजा पुरञ्जन, अपनी पुरीको नष्ट-भ्रष्ट, पुत्र-पौत्र, भृत्य तथा मन्त्रियोंको प्रतिकूल तथा अनादर करनेवाले, स्त्रीको स्नेहशून्य, अपनेको कालकन्यासे ग्रस्त तथा पाञ्चालनिवासियोंको शत्रुओंके हाथ पड़कर भ्रष्ट होते देखकर अपार चिन्तामें डूब गया और उससे छुटकारा पानेका उसने कोई उपाय नहीं निकाल पाया ॥ ६–८ ॥ तदनन्तर अपनी पारलौकिक गति और स्नेहसे शून्य हो पुत्र तथा स्त्रीका लालन करनेवाले राजा पुरञ्जनने कालकन्याके सेवनसे विषयोंकी इच्छासे दीन होकर गन्धर्व और यवनोंसे घिरी तथा कालकन्यासे पीड़ित उस पुरीको अनिच्छासे त्यागनेका विचार किया ॥ ९ ॥ १० ॥ इतनेमें भय नामक यवनराजके बड़े भ्राता प्रज्वारने वहाँ पहुँचकर अपने भाईका भला करनेके विचारसे सारी पुरी जला दी ॥ ११ ॥ जब पुरी जलने लगी तो पुरवासी सेवकगण, कुटुम्ब, कुटुम्बकी स्वामिनी भार्या तथा अपनी सन्तानसमेत उस राजाको बड़ा दुःख हुआ ॥१२॥ इस तरह उस पुरीको कालकन्यासे व्याप्त तथा निवासस्थान यवनोंके हाथमें गया हुआ देखकर प्रज्वारके उपद्रवसे पीड़ित उस पुरीका रक्षक सर्प बड़ा दुखी हुआ ॥ १३ ॥ जब वह नगरकी रक्षा करनेमें एकदम असमर्थ हो गया तो महाकष्टके कारण अत्यन्त काँपते हुए उसने वहाँसे निकल जानेकी इच्छा की । जैसे जलते हुए वृक्षके कोटरका निवासी सर्प उससे निकल भागता है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! जिसका पुरुषार्थ गन्धर्वोंने नष्ट कर दिया था, जिसके सब अंग-प्रत्यंग ढीले हो गये थे, उस सर्पने ज्योंही वहाँसे जानेकी तैयारी की, त्योंही यवनोंने उसको रोक लिया और वह दुःखी होकर रोने लगा ॥ १५ ॥ उस समय अपने कुटुम्बसे वियुक्त होनेका समय उपस्थित देखकर स्त्रीके वशीभूत होनेके कारण अत्यन्त दीन तथा गृह आदिमें ममताका भाव रखनेसे अत्यन्त बुद्धिहीन हो वह गृहस्थाश्रमी राजा पुरञ्जन पुत्र, पुत्री, पौत्र, पुत्रवधू, जामाता, सेवक तथा अपना करके माने हुए जो कुछ भी घर, कोश एवं अन्यान्य पदार्थ थे, उनके विषयमें वह इस तरह विचार करके लगा—॥१६॥१७॥ "ओह ! मेरे परलोक चले जानेके बाद यह भारी कुटुम्बवाली मेरी पत्नी अनाथ होकर अपने बाल-

न भय्यनाशिते भुङ्क्ते नास्नाते स्नाति मत्परा । मयि रुष्टे सुसंत्रस्ता भर्त्सिते यतवाग्भयात् ॥१९॥
प्रबोधयति माविज्ञं व्युषिते शोककर्शिता । वर्त्मैतद् गृहमेधीयं वीरसूरपि नेष्यति ॥२०॥
कथं नु दारका दीना दारकीर्वापरायणाः । वर्तिष्यन्ते मयि गते भिन्ननाव इवोदधौ ॥२१॥
एवं कृपणया बुद्ध्या शोचन्तमतदर्हणम् । ग्रहीतुं कृतधीरेनं भयनामाभ्यपद्यत ॥२२॥
पशुवद्यवनैरेष नीयमानः स्वकं क्षयम् । अन्वद्रवन्ननुपथाः शोचन्तो भृशमातुराः ॥२३॥
पुरीं विहायोपगत उपरुद्धो भुजङ्गमः । यदा तमेवानु पुरी विशीर्णा प्रकृतिं गता ॥२४॥
विकृष्यमाणः प्रसभं यवनेन बलीयसा । नाविन्दत्तमसाऽऽविष्टः सखायं सुहृदं पुरः ॥२५॥
तं यज्ञपशवोऽनेन संज्ञप्ता येऽदयालुना । कुठारैश्चिच्छिदुः क्रुद्धाः स्मरन्तोऽमीवमस्य तत् २६
अनन्तपारे तमसि मग्नो नष्टस्मृतिः समाः । शाश्वतीरनुभूयार्तिं प्रमदासङ्गदूषितः ॥२७॥
तामेव मनसा गृह्णन् बभूव प्रमदोत्तमा । अनन्तरं विदर्भस्य राजसिंहस्य वेश्मनि ॥२८॥
उपयेमे वीर्यपणां वैदर्भीं मलयध्वजः । युधि निर्जित्य राजन्यान् पाण्ड्यः परपुरञ्जयः ॥२९
तस्यां स जनयाञ्चक्र आत्मजामसितेक्षणाम् । यवीयसः सप्त सुतान् सप्त द्रविडभूभृतः ॥३०॥
एकैकस्याभवत्तेषां राजन्नर्बुदमर्बुदम् । भोक्ष्यते यद्वंशधरैर्मही मन्वन्तरं परम् ॥३१॥
अगस्त्यः प्राग्दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम् । यस्यां दृढच्युतो जात इध्मवाहात्मजो मुनिः ॥३२

बच्चोंकी चिन्तासे ग्रस्त होकर कैसे अपना जीवन बितायेगी ? ॥ १८ ॥ यह सदा मेरी सेवामें लगी रहती है । मेरे खाये बिना कभी नहीं खाती और मेरे स्नान किये बिना स्नान भी नहीं करती । कभी मैं रूठ जाता हूँ तो यह बहुत भयभीत हो जाती है और यदि मैं कभी झिड़कने लगता हूँ तो यह डरके मारे सिटपिटा जाती है ॥ १९ ॥ जब कभी मुझसे कोई भूल हो जाती है तो यह सचेत कर देती है और जब कभी मैं परदेश चला जाता हूँ तो यह मेरी विरहव्यथासे बहुत ही दुर्बल हो जाती है । यद्यपि यह वीरमाता है, फिर भी मेरे पीछे क्या गृहस्थीका व्यवहार चला पायेगी ? ॥ २० ॥ एकाएक समुद्रमें नावके फट जानेपर जैसे उसके मुसाफिर व्यग्र हो उठते हैं, वैसे ही मेरे परलोक चले जानेके बाद जिनको कोई आसरा नहीं है, ऐसे मेरे पुत्र और मेरी पुत्री अतिशय दीन होकर कैसे जियेंगी ?" ॥ २१ ॥ इस तरह दीनबुद्धिसे अपने स्त्री-पुत्रादिके निमित्त शोकाकुल, किन्तु स्वयं शोकके अयोग्य राजा पुरञ्जनको पकड़ रखनेके लिये वहाँ भय नामका यवनराज आ धमका ॥ २२ ॥ जब वे निर्दयी यवन उसे पशुकी भाँति बाँधकर अपने स्थानको ले जाने लगे तो उसके सब अनुचर अतिशय आतुरतापूर्वक शोकाकुल भावसे उसके पीछे-पीछे चले ॥ २३ ॥ तभी यवनों द्वारा अवरुद्ध वह सर्प भी नगरसे बाहर होकर उसके साथ चल पड़ा । उसके जानेके बाद ही वह नगर छिन्न-भिन्न होकर प्रकृतिमें लय हो गया ॥ २४ ॥ इस तरह महाबली यवनराजके बलपूर्वक खींचनेपर भी राजा पुरञ्जनने अज्ञानके कारण अपने परम हितकारी तथा पुराने मित्र अज्ञातका स्मरण नहीं किया ॥ २५ ॥ उस निर्भयी राजाने पहले जिन यज्ञपशुओंकी बलि दी थी, वे उससे प्राप्त पीडाका स्मरण करके उसे क्रोधपूर्वक कुठारों द्वारा काटने लग गये ॥ २६ ॥ इस तरह स्त्रीके संगसे भ्रष्टबुद्धि राजा पुरंजन अनन्त तथा अपार अन्धकारमें डूबकर अनेकों वर्षतक ज्ञानहीन रहकर अन्तमें उस स्त्रीका ही स्मरण करते रहनेसे विदर्भदेशीय राजाके यहां एक स्त्रीरत्नके रूपमें जनमा ॥ २७ ॥ २८ ॥ तब पुरुषार्थसे ही प्राप्त होने योग्य उस विदर्भकुमारीको शत्रुओंके पुरोंको जीतनेवाले पाण्ड्यनरेश महाराज मलयध्वजने युद्धमें सभी राजाओंको हराकर उसके साथ विवाह कर लिया ॥ २९ ॥ तब महाराज मलयध्वजने विदर्भकुमारीके गर्भसे एक श्यामलोचना कुमारी और उससे छोटे सात बेटे उत्पन्न किये, वे द्रविडदेशके सात राजे हुए ॥ ३० ॥ हे राजन् ! उनमेंसे हर एक पुत्रसे एक-एक अरब पुत्र जायमान हुए । उन्हींके वंशधरोंसे यह सारी पृथिवी मन्वन्तरके अन्ततक तथा उसके बाद भी भोगी जायगी ॥ ३१ ॥ राजा मलयध्वजकी व्रतप-

विभज्य तनयेभ्यः क्ष्मां राजर्षिर्मलयध्वजः । आरिराधयिषुः कृष्णं स जगाम कुलाचलम् ॥३३॥
हित्वागृहान् सुतान् भोगान् वैदर्भी मदिरेक्षणा । अन्वधावत पाण्ड्येशं ज्योत्स्नेव रजनीकरम् ॥३४॥
तत्र चन्द्रवसा नाम ताम्रपर्णी वटोदका । तत्पुण्यसलिलैर्नित्यमुभयत्रात्मनो मृजन् ॥३५॥
कन्दाष्टिभिर्मूलफलैः पुष्पपर्णैस्तृणोदकैः । वर्तमानः शनैर्गात्रकर्शनं तप आस्थितः ॥३६॥
शीतोष्णवातवर्षाणि क्षुत्पिपासे प्रियाप्रिये । सुखदुःखे इति द्वन्द्वान्यजयत्समदर्शनः ॥३७॥
तपसा विद्यया पक्वकषायो नियमैर्यमैः । युयुजे ब्रह्मण्यात्मानं विजिताक्षानिलाशयः ॥३८॥
आस्ते स्थाणुरिवैकत्र दिव्यं वर्षशतं स्थिरः । वासुदेवे भगवति नान्यद्वेदोद्वहन् रतिम् ॥३९॥
स व्यापकतयाऽऽत्मानंव्यतिरिक्ततयाऽऽत्मनि । विद्वान् स्वप्न इवामर्शसाक्षिणं विरराम ह ॥४०॥
साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप । विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम् ॥४१॥
परे ब्रह्मणि चात्मानं परं ब्रह्म तथाऽऽत्मनि । वीक्षमाणो विहायेक्षामस्मादुपरराम ह ॥४२॥
पतिं परमधर्मज्ञं वैदर्भी मलयध्वजम् । प्रेम्णा पर्यचरद्धित्वा भोगान् सा पतिदेवता ॥४३॥
चीरवासा व्रतक्षामा वेणीभूतशिरोरुहा । बभावुपपतिं शान्ता शिखा शान्तमिवानलम् ॥४४॥
अजानती प्रियतमं यदोपरतमङ्गना । सुस्थिरासनमासाद्य यथापूर्वमुपाचरत् ॥४५॥
यदा नोपलभेताङ्घ्रावूष्माणं पत्युरर्चती । आसीत्संविग्नहृदया यूथभ्रष्टा मृगी यथा ॥४६॥

रायणा पहली पुत्रीके साथ अगस्त्यऋषिका विवाह हुआ था, जिससे उनके दृढ़च्युत नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका पुत्र इध्मवाह हुआ ॥ ३२ ॥ अन्तमें राजर्षि मलयध्वज अपना राज्य अपने पुत्रोंमें बाँटकर भगवान कृष्णकी आराधना करनेके लिये कुलाचल पर्वतको चले गये थे ॥ ३३ ॥ चन्द्रिका जैसे चन्द्रदेवका साथ नहीं छोड़ती, उसी प्रकार मत्तलोचना वैदर्भी अपने घर, पुत्र तथा सभी भोगोंको त्यागकर पाण्ड्यनरेशके साथ चली गयी ॥ ३४ ॥ वहाँ चन्द्रमसा, ताम्रपर्णी तथा वटोदका नामकी तीन नदियें थीं। उनके पुनीत जलमें अपने शरीरका बाहरी और भीतरी मल धोते हुए वे कन्द, बीज, मूल, फल, पत्ते, तृण तथा जल आदिपर जीवन निर्वाह कहते हुए शरीरको सुखानेवाली कठिन तपस्या करने लगे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ उन समदर्शी महाराजने शीत-ऊष्ण, वर्षा-वायु, क्षुधा-पिपासा, प्रिय-अप्रिय तथा सुख-दुःख आदि सब द्वन्द्वोंको अपने वशमें कर लिया ॥ ३७ ॥ तदनन्तर तप, ज्ञान तथा यम-नियमादिके द्वारा वासनाओंको क्षीण करते हुए इन्द्रिय, प्राण तथा मनको जीतकर अपना चित्त उन्होंने ब्रह्ममें लीन कर दिया ॥ ३८ ॥ इस तरह पूरे सौ दिव्य वर्षतक वे स्थाणु (खंभे) की भाँति एक स्थानपर निश्चलभावसे बैठे रहे। श्रीकृष्णभगवानमें अतिशय प्रीति हो जानेके कारण उन्हें इतने समयतक कुछ भी नहीं ज्ञात हुआ ॥ ३९ ॥ हे राजन्! अपने अन्तःकरणसे सब तरफ स्फुरित होनेवाले विशुद्ध विज्ञानरूपी दीपकसे साक्षात् भगवानस्वरूप गुरुके उपदेशसे अपनेको स्वप्न-प्रपञ्चके साक्षीकी भाँति सब उपाधियोंमें व्याप्त एवं उनसे पृथक् जानकर राजा मलयध्वज वैराग्य-सम्पन्न हो गये ॥ ४० ॥ ४१ ॥ तदनन्तर अपने आत्माको परब्रह्ममें तथा परब्रह्मको अपने आत्मामें अभिन्नरूपसे देखते हुए इस अभेदचिन्तनको भी त्यागकर शान्ति प्राप्त किये ॥ ४२ ॥ हे राजन्! ऐसे समय भी उनकी पतिपरायणा स्त्री वैदर्भी सब भोगोंको त्यागकर अपने परम धर्मात्मा पति मलयध्वजकी सेवा बड़े प्रेमसे करती रही ॥ ४३ ॥ उस समय उसने अपने शरीरपर चीर-वस्त्र पहन रखे थे, व्रत-उपवासादिसे उसका शरीर बहुत क्षीण हो गया था और सिरके केश आपसमें मिलकर जटाके रूपमें परिणत हो गये थे। वह अपने पतिके पास धूम-रहित अग्निकी शिखाके सदृश शान्तभावसे सुशोभित हुई ॥ ४४ ॥ उस समय उसके प्रियतम परलोकवासी हो गये थे, फिर भी वे पहिलेहीके सदृश स्थिर आसनसे बैठे थे। यह रहस्य न जाननेके कारण वह उनके पास गयी और उनकी पूर्ववत् सेवा करती रही ॥४५॥ एकदिन वह पतिके चरणोंकी सेवा कर रही थी, एकाएक उसको उन चरणोंमें

आत्मानं शोचती दीनमबन्धुं विक्लवाश्रुभिः । स्तनावासिच्य विपिने सुस्वरं प्ररुरोद सा ॥४७॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे इमामुदधिमेखलाम् । दस्युभ्यः क्षत्रबन्धुभ्यो बिभ्यतीं पातुमर्हसि ॥४८॥
एवं विलपती बाला विपिनेऽनुगता पतिम् । पतिता पादयोर्भर्तू रुदत्यश्रूण्यवर्तयत् ॥४९॥
चितिं दारुमयीं चित्वा तस्यां पत्युः कलेवरम् । आदीप्य चानुमरणे विलपन्ती मनो दधे ॥५०॥
तत्र पूर्वतरः कश्चित्सखा ब्राह्मण आत्मवान् । सान्त्वयन् वल्गुना साम्ना तामाह रुदतीं प्रभो ५१

ब्राह्मण उवाच

का त्वं कस्यासि को वायं शयानो यस्य शोचसि । जानासि किं सखायं मां येनाग्रे विचचर्थ ह ॥५२॥
अपि स्मरसि चात्मानमविज्ञातसखं सखे । हित्वा मां पदमन्विच्छन् भौमभोगरतो गतः॥५३॥
हंसावहं च त्वं चार्य सखायौ मानसायनौ । अभूतामन्तरा वौकः सहस्रपरिवत्सरान् ॥५४॥
स त्वं विहाय मां बन्धो गतो ग्राम्यमतिर्महीम् । विचरन् पदमद्राक्षीः कयाचिन्निर्मितं स्त्रिया॥५५॥
पञ्चारामं नवद्वारमेकपालं त्रिकोष्ठकम् । षट्कुलं पञ्चविपणं पञ्चप्रकृति स्त्रीधवम् ॥५६॥
पञ्चेन्द्रियार्था आरामा द्वारः प्राणा नव प्रभो । तेजोऽबन्नानि कोष्ठानि कुलमिन्द्रियसङ्ग्रहः ॥५७॥
विपणस्तु क्रियाशक्तिर्भूतप्रकृतिरव्यया । शक्त्यधीशः पुमांस्त्वत्र प्रविष्टो नावबुध्यते ॥५८॥
तस्मिंस्त्वं रामया स्पृष्टो रममाणोऽश्रुतस्मृतिः । तत्सङ्गादीदृशीं प्राप्तो दशां पापीयसीं प्रभो ॥५९॥

उष्णता नहीं प्रतीत हुई । तब वह यूथमेंसे पृथक् हुई मृगीकी भाँति बहुत घबड़ायी ॥४६॥ उस भयावने वनमें अपनेको बन्धुहीन तथा दीन अवस्थामें देखकर वह अतिशय शोकाकुल होकर आँसुओंसे अपने स्तनोंको भिगोती हुई बड़े जोर-जोरसे विलाप करने लगी ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ वह बोली—"हे राजर्षे ! आप उठें, यह समुद्रसे घिरी हुई भूमि दस्युओं तथा अधम राजाओंसे भयभीत हो रही है । आप इसकी रक्षा करें" अपने पतिके साथ वनमें गयी हुई वह सुन्दरी इस तरह विलाप करती हुई पतिके चरणोंमें गिर पड़ी और रो-रोकर आँसू ढारने लगी ॥ ४९ ॥ बहुत देर बाद उसने लकड़ियोंकी चिता बनायी और उसपर पतिका शरीर रक्खा । तत्पश्चात् अग्नि लगाकर सती होजानेका निश्चय किया ॥ ५० ॥ हे प्रभो ! तभी उसका एक पुरातन अर्थात् पूर्वजन्मका मित्र तथा आत्मज्ञानी ब्राह्मण वहाँ आ गया और उस रोती हुई अबलाको मधुर वाणीमें समझाते हुए कहा ॥ ५१ ॥ ब्राह्मण कहने लगा—अरे तू कौन है ? किसकी कन्या है ? किसके लिये तू रो रही है ? यह सोया हुआ पुरुष कौन है ? क्या तू मुझ अपने पुराने मित्रको पहचानती है ? किसके साथ पूर्व समयमें विचरा करती थी ॥ ५२ ॥ फिर मित्रके प्रति कहा—हे सखे ! जिसका अविज्ञात मित्र था, उस अपने-आपको क्या तुम पहचानते हो ? तुम पृथ्वीके समस्त भोगोंकी इच्छासे मुझे त्यागकर चले आये थे, सो क्या तुम्हें याद है ? ॥ ५३ ॥ हे आर्य ! पहले हम और तुम दोनों ही मानसरोवर-स्वरूप अपने अन्तःकरणमें विराजमान हंस अर्थात् शुद्धस्वभाव थे । हम दोनों एक सहस्र वर्षतक बिना किसी घर-बारके रहते आये थे ॥ ५४ ॥ हे मित्र ! वे ही तुम विषयभोगोंकी कामनासे मुझे त्यागकर चले गये और पृथ्वीपर विचरते-विचरते तुमने किसी स्त्रीका रचा हुआ एक स्थान देखा ॥५५॥ वह पाँच बगीचों, नौ द्वारों, एक द्वाररक्षक, तीन परकोटे, छः इच्छित वस्तुएँ देनेवाले वैश्यों, पाँच बाजारों और पाँच ही उपादान कारणोंयुक्त था और उसकी स्वामिनी एक स्त्री थी ॥ ५६ ॥ हे राजन् ! इन्द्रियोंके पाँच विषय ही उसके बगीचे थे । नौ इन्द्रिय उसके छिद्रद्वार थे । अग्नि, जल और अन्न ये तीन परकोटे थे । मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये छः वैश्य थे । क्रियाशक्तिसम्पन्न कर्मेन्द्रियाँ ही बाजार थीं और पञ्चभूत ही कभी भी क्षीण न होनेवाले उपादान कारण थे । हे मित्र ! बुद्धिशक्ति ही जिसकी स्वामिनी हो, ऐसा प्राणी नगरमें प्रवेश करनेके बाद अपने स्वरूपको नहीं देख पाता ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ हे समर्थ ! उसी नगरमें एक सुन्दरीपर मोहित होकर तुम उसके साथ विहार करते-करते अपने स्वरूप तकको भूल

न त्वं विदर्भदुहिता नायं वीरः सुहृत्तव । न पतिस्त्वं पुरञ्जन्या रुद्धो नवमुखे यया ॥६०॥
माया ह्येषा मया सृष्टा यत्पुमांसं स्त्रियं सतीम् । मन्यसे नोभयं यद्वै हंसौ पश्यावयोर्गतिम् ॥६१॥
अहं भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः । न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि ॥६२॥
यथा पुरुष आत्मानमेकमादर्शचक्षुषोः । द्विधाभूतमवेक्षेत तथैवान्तरमावयोः ॥६३॥
एवं स मानसो हंसो हंसेन प्रतिबोधितः । स्वस्थस्तद्व्यभिचारेण नष्टामाप पुनः स्मृतिम् ॥६४
बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मं पारोक्ष्येण प्रदर्शितम् । यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः ॥६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पुरञ्जनोपाख्यानेऽष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

प्राचीनबर्हिरुवाच

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते । कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥ १ ॥

नारद उवाच

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद् व्यनक्त्यात्मनः पुरम् । एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥ २ ॥
योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः । यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥ ३ ॥
यदा जिघृक्षन् पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान् । नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रि तत्रामनुत साध्विति ॥ ४ ॥
बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम् । यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन् पुमान् भुङ्क्तेऽक्षभिर्गुणान्॥५

गये। उसीके बाद तुम इस अधम अवस्थाको प्राप्त हो गये थे। तुम विदर्भनरेशकी पुत्री नहीं हो और यह वीर भी तुम्हारा सुहृद् नहीं है और जिसने तुमको नौ द्वारोंके नगरमें ले जाकर बन्द कर दिया था,उस पुरंजनीके पति भी तुम नहीं हो सकते ॥ ५९ ॥ ६० ॥ तुम जो अपनेको पुरुष तथा सती नारी समझते हो, यह मेरी रचित माया ही है। वस्तुतः तुम इन दोनोंमेंसे कोई नहीं हो, हम दोनों हंस हैं। हमारी जो सच्ची गति है, उसे जानो ॥ ६१ ॥ हे मित्र ! जो मैं हूँ, वही तुम भी हो। तुम मुझसे अन्य नहीं हो सकते। मैं भी जो तुम हो वही हूँ—ऐसा तुम निश्चय समझो। बुद्धिमान् लोग हम दोनोंमेंसे किसीमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं देखते ॥ ६२ ॥ जैसे पुरुष अपने एक ही रूपको दर्पण तथा दूसरे पुरुषकी आँखोंमें दो तरहका देखता है वैसे ही हम दोनों हैं ॥ ६३ ॥ इसी हंसरूपी ईश्वर द्वारा सावधान किये जानेपर वह मानसरोवरका हंस अर्थात् जीव अपने स्वरूपमें स्थित हो गया और उसे अपने मित्रके वियोगसे विस्मृत आत्मज्ञान पुनः प्राप्त हो गया ॥ ६४ ॥ हे राजा प्राचीनबर्हि ! मैंने तुमको यह आत्मज्ञानका वर्णन परोक्षरूपसे बताया है। क्योंकि उन जगके रचयिता श्रीहरिको परोक्ष वर्णन ही प्रिय लगता है ॥ ६५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे भाषाटीकायामष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥

(पुरंजनोपाख्यानका रहस्योद्घाटन) राजा प्राचीनबर्हि कहते हैं—हे भगवन् ! आपके वचनोंका वास्तविक तात्पर्य मेरी समझमें नहीं आ रहा है। क्योंकि उनका अभिप्राय विवेकशील पुरुष ही जान सकते हैं। हम जैसे कर्मविमोहित पुरुष उसे नहीं ही जान सकते। अतएव कृपा करके उसे स्पष्ट रूपसे मुझे बताइए ॥ १ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! पूर्वोक्त पुरंजनको तुम जीव जानो, जो अपने लिये एक, दो, तीन, चार अथवा बहुतेरे चरणोंवाला अथवा बिना पैरोंका ही शरीररूप नगर बसाता है ॥ २ ॥ उस जीवका पूर्वोक्त अज्ञात नामक मित्र ईश्वर है। जिसका जीवोंको किसी तरहके नाम, गुण तथा कर्मोंसे सच्चा ज्ञान नहीं होने पाता ॥ ३ ॥ जब जीव प्राकृत गुणोंको पूर्णतया ग्रहण करनेकी इच्छा करता है तब वह नौ इन्द्रिय-छिद्ररूपी द्वारोंयुक्त तथा दो हाथ और दो पैरोंवाले मानवशरीरको ही उत्तम समझता है ॥ ४ ॥ इसीसे देह-इन्द्रिय आदिमें ममताका भाव

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् । सख्यस्तद्वृत्तयः प्राणः पञ्चवृत्तिर्यथोरगः ॥ ६ ॥
बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम् । पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम् ॥ ७ ॥
अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति । द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः ॥ ८ ॥
अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः । दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः ॥९॥
पश्चिमे इत्यधोद्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते । खद्योताऽऽविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते ।
रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषेश्वरः ॥१०॥
नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते । घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः ॥११
आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम् । पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः ॥१२॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम् । पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत् ॥१३॥
आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः । उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निर्ऋतिर्गुद उच्यते ॥१४॥
वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु । हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च॥१५॥
अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते । तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः ॥१६॥
यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा । तथा तथोपद्रष्टाऽऽत्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते ॥१७॥

उत्पन्न होता है, तुम उस बुद्धिको ही स्त्री समझो। उसके सहारे ही पुरुष इस देहमें अपनी इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषयोंको भोगता है ॥ ५ ॥ जिनके द्वारा ज्ञान और कर्म होता है, वे दस इन्द्रियाँ ही उस स्त्रीके सुहृद् थे। इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ ही उसकी सहेलियें थीं। पाँच वृत्तियोंवाला प्राण इस नगरके रक्षक पाँच फणके सर्प सदृश था ॥ ६ ॥ दोनों ही प्रकारकी इन्द्रियोंके अधिपति मनको बृहद्बल नामका मुख्य योद्धा समझना चाहिए। इन्द्रियाँ और शब्द-स्पर्शादि पाँच विषय ही पाञ्चाल देश हैं, जिनमें नौ द्वारोंका नगर बसा हुआ है ॥७॥ इस नगरमें जो एक-एक स्थानपर दो-दो द्वार बताये गये हैं, वे दो नेत्र, दो नासिका और दो कान हैं। इनके अतिरिक्त मुख, शिश्न और गुदा—इन तीनको मिलाकर कुल नौ द्वार हैं। इन्हींमें होकर जीव अपने इन्द्रियरूपी मित्रोंके साथ संसारके बाह्य विषयोंकी ओर दौड़ता है ॥ ८ ॥ उनमें दो नेत्र, दो नासिका और एक मुख ये पाँच पूर्वके द्वार हैं। दाहिने कानको दक्षिण और बायें कानको उत्तरका द्वार समझे ॥ ९ ॥ नीचेकी ओरके गुदा तथा शिश्न, ये दो पश्चिम द्वार कहलाते हैं। खद्योत तथा आविर्मुखी ये एक स्थानके दो द्वार दोनों नेत्र हैं। रूप विभ्राजित नामक देश है, जहाँपर जीव अपने मित्र चक्षु-इन्द्रिय (द्युमान्) के साथ जाता है ॥ १० ॥ दोनों नासिकाओंको नलिनी तथा नालिनी नामक द्वार बताया गया है और नासिकाका विषय अर्थात् गन्ध सौरभ देश कहलाता है। घ्राणेन्द्रिय अवधूत नामक मित्र है। मुख मुख्यनामक द्वार है। उसमें रहनेवाली वागिन्द्रिय विपण तथा रसनेन्द्रिय रसविद् नामक मित्र है ॥ ११ ॥ वाणीका व्यवहार आपण एवं विविध प्रकारका अन्न बहूदन है। दाहिना कान पितृहू और बायाँ कान देवहू कहा जाता है ॥१२॥ कर्मकाण्डरूपी प्रवृत्तिशास्त्र तथा ज्ञानकाण्डरूपी निवृत्तिशास्त्र दक्षिण पाञ्चाल एवं उत्तर पाञ्चाल नामके देश हैं, जिन्हें श्रवणेन्द्रियरूपी अपने मित्र श्रुतधरके द्वारा सुनकर जीव धीरे-धीरे पितृयान तथा देवयान मार्गको जाता है ॥१३॥ आसुरी नामका पश्चिमी द्वार शिश्नेन्द्रिय है। उसीके द्वारा स्त्री-प्रसंग सम्बन्धी ग्रामक नामका देश है और उपस्थेन्द्रिय उसमें रहनेवाला दुर्मद नामक मित्र है। गुदा निर्ऋति नामक पश्चिम द्वार है ॥ १४ ॥ नरक वैशस देश है। पायु-इन्द्रिय लुब्धक नामक मित्र है। अब दो अन्धोंका तात्पर्य बताता हूँ, सो सुनो। हाथ तथा पाँव—ये ही दोनों दो अन्धे पुरुष हैं, जिनकी सहायतासे जीव अपना सब काम करता है और जहाँ-तहाँ जाता आता है ॥ १५ ॥ हृदय अन्तःपुर कहलाता है। उसमें रहनेवाला मन ही विषूची नामक मन्त्री है। जीव उसके सत्त्वादि गुणोंके अनुसार हर्ष, शोक तथा मोह आदिको प्राप्त हुआ करता है ॥ १६॥ बुद्धरूपिणी महिषी जैसे-जैसे विकारको प्राप्त होती और जैसे इन्द्रियादिको विकृत करती है, उसी प्रकार गुणोंसे लिप्त जीव उसकी

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सरयो गतिः। द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चासुबन्धुरः ॥१८॥
मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः। पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः ॥१९॥
आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति। एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥२०॥
संवत्सरश्चण्डवेगः कालो येनोपलक्षितः। तस्याहानीह गन्धर्व्यो रात्रयः स्मृताः।
हरन्त्यायुः परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥२१॥
कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति। स्वसारं जगृहे मृत्युः क्षयाय यवनेश्वरः ॥२२॥
आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः। भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः ॥२३॥
एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः। क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः ॥२४॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः। शेते कामलवान् ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत् ॥२५॥
यदाऽऽत्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्। पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥२६॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः। शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथा कर्माभिजायते ॥२७॥
शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित्। दुःखोदर्कान्क्रियायासांस्तमःशोकोत्कटान् क्वचित्।

वृत्तियोंका साक्षी होकर भी उनका अनुकरण करता रहता है ॥ १७ ॥ हे राजन्! स्वप्नशरीर रथ है। उसके इन्द्रियरूप पाँच घोड़े माने जाते हैं। वर्षोंका आना और गुजर जाना उसकी गति होती है। पुण्य तथा पाप—ये दो प्रकारके कर्म ही उसके दो पहिये हैं। तीन गुण उसकी ध्वजायें हैं और पाँच प्राण बन्धन हैं ॥ १८ ॥ मन उसकी बागडोर, बुद्धि सारथी, हृदय बैठनेका स्थान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उसका जूआ, इन्द्रियोंके पाँच विषय उसमें रखे हुए शस्त्र तथा त्वचा आदि सात धातु उसके पर्दे माने जाते हैं ॥१९॥ इसी तरह कर्मेन्द्रियाँ उसकी बाह्य गति होती हैं। उस स्वप्न-शरीररूपी रथपर बैठकर जीव मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ लगाता रहता है। ग्यारह इन्द्रियाँ उसकी सेना होती हैं, जिनके द्वारा वह इन्द्रियोंके पाँच विषयोंको अन्यायसे पशुवध करनेके सदृश अनीतिपूर्वक अपनाता है ॥ २० ॥ संवत्सर ही चण्डवेग नामका गन्धर्वराज है, जिसके द्वारा कालका ज्ञान होता है। उसके अधीन गन्धर्व दिन और गन्धर्वियाँ रात्रि हैं। वे तीन सौ साठ दिन तथा रात्रि चक्कर लगाते हुए मनुष्यकी आयुको हरते रहते हैं ॥ २१ ॥ जरावस्था (बुढ़ापा) ही कालकन्या है। उसे कोई भी पुरुष पसन्द नहीं करता। उसे मृत्युस्वरूप यवनराजने लोकका संहार करनेके निमित्त बहिन बनाकर स्वीकार कर लिया है ॥ २२ ॥ मानसिक तथा शारीरिक क्लेश ही यवनराजके आज्ञाकारी यवन-सैनिक हैं और प्राणियोंको शीघ्र मृत्यु-मुखमें डालनेवाला शीत और उष्ण दो प्रकारका ज्वार-प्रज्वार है ॥२३॥ हे राजन्! इस तरह देहाभिमानसम्पन्न जीव वास्तवमें निर्गुण होता हुआ भी अज्ञानसे आच्छादित होकर प्राण, इन्द्रिय तथा मन आदिके धर्मोंको अपनेमें आरोपित करके ममताके अभिमानसे बंधनमें पड़कर क्षुद्र विषयभोगोंकी इच्छावश विविध प्रकारका कर्म करता है। इस शरीरमें कितने ही आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुःखोंसे क्लेश पाता हुआ जीव सौ वर्षतक पड़ा रह जाता है ॥२४॥ इस प्रकार जीव निर्गुण होता हुआ भी प्राण, इन्द्रिय और मनके कार्यको आत्माका कर्तव्य समझकर क्षणिक कामसुखको ही सर्वस्व समझ बैठता है। क्योंकि उसे इसीकी ममता हो जाती है ॥ २५ ॥ अपने आत्मा परमगुरु श्रीभगवानको न जाननेके कारण जीव स्वयंप्रकाशशील होकर भी प्राकृतिक गुणोंमें लिप्त हो जाता है ॥ २६ ॥ उन गुणोंका अभिमानी होनेके कारण वह विवश होकर सात्त्विक, राजस तथा तामस कर्म करता और अपने कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें जन्म लेता है ॥ २७ ॥ अतएव वह जीव कभी प्रकाशसम्पन्न स्वर्गादि सात्त्विक लोकोंमें जाता, कभी दुःखमय मनुष्यादि रजोगुणी लोकोंमें जन्म लेता, जहाँ उसे अगणित कर्मोंका क्लेश उठाना पड़ता और कभी शोकसे भरी तमोमयी तिर्यक् आदि योनियोंमें जा पहुँचता है ॥ २८ ॥ इस

क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः । देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथा कर्मगुणं भवः ॥२९॥
क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् । चरन् विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥३०॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् । उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥३१॥
दुःखेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु । जीवस्य न व्यवच्छेदः स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया ॥३२
यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् । तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः ॥३३॥
नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् । द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ॥३४॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥३५॥
अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा । संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥३६॥
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः । सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥३७॥
सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः । शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः ॥३८॥
यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः । भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः ॥३९॥

तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्रपीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णैस्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥४०॥

प्रकार विवेकबुद्धिसे हीन प्राणी कभी पुरुष, कभी स्त्री तथा कभी नपुंसक होता है। वह कभी देवयोनियोंमें, कभी मनुष्ययोनि और कभी तिर्यग्योनिमें जाकर जन्म लेता है। इस प्रकार उसे कर्म तथा गुणोंके अनुसार विभिन्न प्रकारके जन्म मिला करते हैं ॥ २९ ॥ जैसे भूखसे व्याकुल तथा दीन कुत्ता घर-घर फिरता और अपने प्रारब्धवश कहीं लाठी और कहीं भात खाता है, वैसे ही विविध वासनाओंसे बँधा हुआ जीव ऊँचे-नीचे मार्गसे उत्तम, अधम तथा मध्यम योनियोंमें चक्कर काटता हुआ इष्ट-अनिष्ट प्रारब्धका फल भोगता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥ यदि यह कहें कि उन दुःखोंको दूर करनेका उपाय किया जाय तो उनसे छुटकारा भी मिल सकता है तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे किसी दुःखसे भी जीवको सर्वथा छुटकारा नहीं मिल सकता ॥ ३२ ॥ जैसे सिरपर बोझको रखकर ले जानेवाला पुरुष, अपने सिरको पीड़ासे निवृत्त होनेके लिये उसे सिरसे उतारकर कन्धेपर रख लेता है, वैसे ही दुःखसे छूटनेके सारे उपाय होते हैं ॥ ३३ ॥ हे निष्पाप ! जैसे स्वप्नमें होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्नसे छूटनेका उपाय नहीं हो सकता, वैसे ही कर्मफलके भोगसे छूटनेका साधन केवल कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि सकाम या निष्काम दोनों ही कर्म अविद्याजनित हैं ॥ ३४ ॥ जैसे मनोमय लिङ्गशरीरसे स्वप्नमें विचरणशील प्राणीको स्वप्नके पदार्थ सत्य न होनेपर भी सत्य भासमान होते रहते हैं, वैसे ही देहके अन्तःकरण आदि अनात्म-पदार्थ सच न होनेपर भी उनमें अभिमान करता है। ऐसे जीवका जन्म-मरणरूपी संसार निवृत्त नहीं हो पाता ॥ ३५ ॥ अतएव जिसके कारण परमार्थरूपी आत्माको विविध भाँतिके अनर्थोंको प्राप्त करानेवाला जन्म-मरणरूपी संसारचक्र प्राप्त होता रहता है। उस अज्ञानका नाश तभी होता है, जब गुरुदेवमें परम भक्ति हो ॥ ३६ ॥ भगवान वासुदेवमें एकाग्रतापूर्वक भले प्रकारसे की गयी भक्ति वैराग्य तथा ज्ञानको उत्पन्न करती है ॥ ३७ ॥ हे राजर्षे ! भगवान अच्युतकी कथाके आश्रित वह भक्तियोग सर्वदा श्रद्धापूर्वक कथाओंको सुनने तथा कहनेवाले पुरुषोंको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! जहाँ भगवानके गुणोंको कहने-सुननेमें व्यग्र-चित्त, उदारहृदय एवं साधुस्वभाव भक्तजन रहते हैं, उस भक्तमण्डलमें महापुरुषोंके मुखसे निकले श्रीमधुसूदन भगवानके चरित्ररूपी अमृतसे लबालब भरी अनेक नदियाँ बहती रहती हैं। हे राजन् ! जो लोग अतृप्त होकर अपने कानोंसे उस अमृतको छककर पीते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय-शोक तथा

एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः । न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥४१॥
प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः । दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥४२॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥४३॥
अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः । पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥४४॥
शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे । मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम् ॥४५॥
यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥४६॥
तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु । मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥४७॥
स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः । आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥४८॥
आस्तीर्य दर्भैः प्रागग्रैः कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम् । स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैति यत्परम् ।
तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ॥४९॥
हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः । तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥५०॥
स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि । इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥५१॥

नारद उवाच

प्रश्न एवं हि संछिन्नो भवतः पुरुषर्षभ । अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम् ॥५२॥

मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा पाते ॥ ३९ ॥ ४० ॥ हे राजन् ! जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंवश स्वभावतः प्राप्त इन क्षुधा-पिपासा आदि विघ्नोंके वशीभूत यह जीवसमुदाय भगवानके कथामृत-सिन्धुमें प्रेम न करके इधर-उधर भटकता फिरता है ॥ ४१ ॥ अधिक कहनेसे क्या, प्रजापतियोंके अधिपति साक्षात् ब्रह्माजी, भगवान शंकर, स्वायम्भुव मनु, दक्षादि प्रजापति, सनकादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु तथा वशिष्ठादिसे लेकर मुझ नारदतक सभी वेदवादी मुनि, विविध प्रकारकी व्याख्यायें करनेमें कुशल होकर भी तप, ज्ञान तथा समाधि द्वारा उस सर्वद्रष्टा परमात्माको देखते हुए भी नहीं देख पाते ॥ ४२–४४ ॥ उस दुष्पार और अत्यन्त विस्तृत शब्दब्रह्म अर्थात् वेदके विचारशील अनेक महानुभाव भी मन्त्रोंमें वर्णन किये हुए इन्द्रादि देवताओंके स्वरूपसे भिन्न-भिन्न दीखनेवाले उस परमात्माका यज्ञादिके द्वारा पूजन करते हुए भी उसके सच्चे स्वरूपको नहीं जान पाये ॥ ४५ ॥ अन्तःकरणमें प्रभुका ध्यान करनेपर जब भगवान इस जीवपर दया करते हैं, तभी यह लौकिक तथा वैदिक कर्मोंमें आसक्त बुद्धिको त्याग पाता है ॥ ४६ ॥ हे बर्हिष्मन् ! जो केवल सुननेमें ही प्रिय लगते हैं, किन्तु वस्तुतः परमात्माको स्पर्शतक नहीं करसकते और अज्ञानवश परमार्थरूप-दीखते हैं, उन कर्मोंमें तुम कदापि वस्तुदृष्टि न रखो यानी उन्हें सत्य न समझो ॥ ४७ ॥ मलिनबुद्धि वाले लोग वेदको कर्मपरक कहते हैं, किन्तु वे उसका मर्म नहीं जानते । क्योंकि वे वेदके तात्पर्यसे अनुभवगम्य अपने स्वरूपभूत आत्मलोकको नहीं जान पाते, जहाँपर साक्षात् भगवान विराजमान रहते हैं ॥ ४८ ॥ जिनका अग्रभाग पूर्वकी ओर रहता है, ऐसी कुशाओंसे सारे भूमण्डलको ढकने तथा बहुतेरे पशुओंका वध करनेके कारण तू बड़ा अभिमानी और उद्धत हो गया है । वास्तवमें तुझको कर्म अथवा ज्ञानके रहस्यका पता ही नहीं लगा । सच्चा कर्म तो वही है, जिससे भगवान सन्तुष्ट होजायँ और सच्ची विद्या वही है कि जिससे मन भगवानमें रम जाय ॥ ४९ ॥ वे नारायण समस्त देहधारियोंके आत्मा, नियामक तथा स्वतन्त्र कारण हैं । अतएव जिनसे सब लोगोंका कल्याण होता है, वे उनके चरण-कमल ही सब मनुष्योंके एकमात्र आश्रय हैं ॥ ५० ॥ 'जिससे किसीको तनिक भी भय नहीं होता, वह सबके प्रियतम आत्मा वे ही हैं' जो पुरुष यह जानता है वही ज्ञानी होता है । वही गुरु और साक्षात् ईश्वर है ॥ ५१ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे पुरुषर्षभ ! इस तरह मैंने तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दे दिया अब महापुरुषोंका निश्चित किया हुआ एक गुप्त साधन बताता हूँ, उसे तुम ध्यानसे सुनो

क्षुद्रश्चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं पृष्ठे मृगं मृगयलुब्धकबाणभिन्नम् ॥५३॥

[अस्यार्थः]

सुमनःसधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्वचौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरामतिलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान् काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तः शरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन् भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति ॥५४॥

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्तश्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥५५॥

राजोवाच

श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन् भगवान् यदभाषत । नैतज्जानन्त्युपाध्यायाः किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि ॥५६॥
संशयोऽत्र तु मे विप्र संछिन्नस्तत्कृतो महान् । ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः ॥५७॥
कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम् । अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते ॥५८॥
इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह । कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥५९॥

॥ ५२ ॥ हे राजन् ! जो थोड़ा भोजन करता, वाटिकामें अपनी स्त्रीके साथ समागममें आसक्त रहता, जिसके कान भौंरोंके सुमधुर गुञ्जारमें आसक्त रहते हैं, जो अपने आगे जाते हुए प्राणोंकी तृप्ति करनेवाले भेड़ियोंको कुछ भी न समझकर चल रहा है और अपनी पीठमें व्याधेके बाणसे बिंधा हुआ है, तुम उस मृगको खोजो ॥ ५३ ॥ इस गूढ़ उपदेशका तात्पर्य बताते हुए कहते हैं— पुष्पके सदृश धर्मोंवाली स्त्रियोंके आश्रय यानी गृहस्थाश्रममें रहकर जो पुष्पोंके मधु तथा गंधको ढूढ़नेकी भाँति सकाम कर्मोंके परिणामसे प्राप्त जिह्वा तथा उपस्थेन्द्रियसे सम्बन्ध रखनेवाले तुच्छ विषय-सुखको ढूँढ़ता रहता है । स्त्रियोंके समागममें रहकर उनमें आसक्तचित्त होकर भ्रमरोंके गानकी भाँति स्त्री-पुत्रादिके मधुर भाषणमें जिसके कान अत्यन्त आसक्त रहते हैं, जो अपने आगे चलते हुए भेड़ियोंके झुण्डके सदृश आयु हरनेवाले दिन-रात आदि कालके अवयवोंको कुछ भी न समझकर गृहस्थीके सुखमें ही मस्त रहता है । जिसके पीछे लगे हुए कालरूपी व्याधने उसे अपने बाणसे घायल कर दिया है । हे राजन् ! ऐसा भिन्नहृदय मृगरूपी अपने-आपको तुम देखो ॥ ५४ ॥ इस तरह तुम अपने-आपको मृगकी-सी स्थितिमें देखकर अपने हृदयके भीतर चित्तको रोको और वर्णादि इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको मनमें स्थापित करो और जहाँ विषयी पुरुषोंकी चर्चा होती हो, ऐसी गृहस्थीको त्यागकर परमहंसोंके आश्रयस्वरूप भगवानको प्रसन्न करो और धीरे-धीरे संसारके सब दुःखोंसे उपरत हो जाओ ॥ ५५ ॥ राजा बर्हिष्मन् बोले—हे ब्रह्मन् ! आपने मुझे आत्मविद्याका जो उपदेश दिया है, वह मैंने सुन लिया । मेरे कर्मकाण्डके गुरुजन अवश्य ही इस तत्त्वको नहीं जानते । यदि वे इसे जानते होते तो मुझे यह उपदेश क्यों न देते ॥ ५६ ॥ हे विप्रवर ! उन पुरोहितोंने मेरे हृदयमें जो वेदके कर्मपरक तथा ज्ञानपरक होनेके विषयमें बहुत बड़ा सन्देह उत्पन्न कर दिया था, उसे आपने दूर कर दिया । इस विषयतक इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं । अतएव बड़े-बड़े ऋषि भी मोहमें पड़ जाते हैं ॥ ५७ ॥ 'पुरुष जिसके द्वारा कर्म करता है, उस स्थूल शरीरको यहीं छोड़कर वह परलोकमें कर्मवश प्राप्त अन्य शरीरसे इस लोकमें किये पाप-पुण्यादिकोंका फल भोगता है'—यह जो वेदवादियोंका वाद जहाँ-तहाँ सुनाई देता है, उसकी संगति कैसे लगे ? क्योंकि जो कर्म किया जाता है, वह दूसरे क्षणमें ही

नारद उवाच

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान् । भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम् ॥६०॥
शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा । कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥६१॥
ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन् । गृह्णीयात्तत्पुमान् राद्धं कर्म येन पुनर्भवः ॥६२॥
यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः । एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥६३॥
नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम् । कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि ॥६४॥
तेनास्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसम्भवम् । श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥६५॥
मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति । भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः ॥६६॥
अदृष्टमश्रुतं चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते । यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम् ॥६७॥
सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः । आयान्ति बगशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः ॥६८
सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि । तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥६९॥
नाहंममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते । यावद् बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान् ॥७०॥
सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः । नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥७१॥

नष्ट हो जाता है वह फिर लोकान्तरमें प्रकाशित नहीं हो पाता ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! जिस मनरूपी लिंगदेहसे मनुष्य इस लोकमें कर्म करता है, उसी देहके द्वारा परलोकमें स्वयं अव्यवहित अर्थात् अपरोक्षरूपसे उनका फल भोगता है ॥ ६० ॥ जैसे सोता हुआ पुरुष स्वप्नावस्थामें अपने जीवित शरीरका अभिमान त्याग देता और इस शरीरसे अथवा पशु आदि दूसरे शरीरसे मनमें संस्काररूपसे स्थिर कर्मोंको भोगता है, वह परलोकमें भी अपना कर्मफल भोगता ही है ॥ ६१ ॥ उस मनके द्वारा जीव जिनको 'ये मेरे हैं' तथा देहादिको 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है, उनके किये पाप-पुण्यरूपी कर्मोंकी भी यह स्वीकार कर लेता तथा उनके कारण फिर जन्म लेता है ॥ ६२ ॥ जैसे ज्ञानेन्द्रियोंकी चेष्टासे चित्तका अनुमान होता है, वैसे ही चित्तकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके द्वारा पूर्वजन्मके कर्मोंका अनुमान किया जाता है ॥ ६३ ॥ कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि जिस वस्तुका कभी इस शरीरसे अनुभव नहीं किया और जिसे कभी न देखा या सुना ही था, उसका भी स्वप्नमें वास्तविक अनुभव हो जाता है ॥ ६४ ॥ अतएव हे राजन ! तुम यह निश्चित समझो कि इस लिंगदेहके अभिमानी जीवको उसका अनुभव पूर्व शरीरमें अवश्य हुआ रहता है। कारण यह है कि पहले जिस वस्तुका अनुभव कभी नहीं हुआ रहता, उसकी वासना कभी मनमें जागृत नहीं हो पाती ॥ ६५ ॥ हे राजन् ! मनुष्यके पूर्वजन्मके रूपों तथा भविष्यमें होनेवाले एवं न होनेवाले रूपोंको उसका मन ही उसे बतला देता है ॥ ६६ ॥ स्वप्नमें कभी-कभी ऐसी बातें भी होती देखी जाती हैं कि जो पहले कभी भी देखी-सुनी नहीं होतीं। देश, काल तथा कर्मके आश्रित रहनेवाली उन बातोंका भी निद्रादोषसे, मनकी पूर्व वासनाओंके कारण ही अनुभव हुआ करता है ॥ ६७ ॥ इन्द्रियों द्वारा अनुभूत होनेवाले सब पदार्थ धीरे-धीरे अन्तःकरणके समक्ष आते-जाते रहते हैं। क्योंकि सब मनुष्योंके साथ ऐसा मन रहता है कि जो विविध जन्मोंके विविध संस्कारोंसे अनुभावित रहता है ॥६८॥ जैसे कभी भी न दीखनेवाला राहु ग्रहणके अवसरपर चन्द्रमामें दीखता है, वैसे ही भगवानके समीप रहनेवाले भक्तजनोंके सत्त्वगुणमय अन्तःकरणमें भी इस जगत्का तादात्म्य दीखता है ॥ ६९ ॥ हे राजन् ! अनादि कालसे बना हुआ यह मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शब्दादि विषयरूपी गुणोंका समूहरूपी लिंगदेह जबतक वर्तमान रहता है, तबतक मनुष्यमें 'मैं और मेरापन' भावका नाश नहीं होता ॥ ७० ॥ सुषुप्ति, मूर्च्छा, शोक, भयंकर कष्ट, मृत्यु तथा ज्वर आदिके अवसरपर भी अहंकारकी केवल अभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु वह सूक्ष्मरूपसे वर्तमान

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा । लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा ॥७२॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥७३॥
एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम् । एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥७४॥
अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति । हर्षं शोकं भयं दुःखं सुखं चानेन विन्दति ॥७५॥
यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च । न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥७६॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम् । मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम् ॥७७॥
यदाक्षैश्चरितान्ध्यायन् कर्माण्याचिनुतेऽसकृत् । सति कर्मण्यविद्यायां बन्धः कर्मण्यनात्मनः ॥७८॥
अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम् । पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥७९

मैत्रेय उवाच

भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम् । प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत् ॥८०॥
प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे । आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम् ॥८१॥
तत्रैकाग्रमना वीरो गोविन्दचरणाम्बुजम् । विमुक्तसङ्गोऽनुभजन् भक्त्या तत्साम्यतामगात् ॥८२॥
एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ । यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते ॥८३॥

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं देवर्षिवर्यमुखनिःसृतमात्मशौचम् ।
यः कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं नास्मिन् भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्धः ॥८४॥

तो रहा ही करता है ॥ ७१ ॥ जैसे अमावास्याको चन्द्रमा रहते हुए भी नहीं दीखते, वैसे ही युवावस्थामें स्पष्ट प्रतीयमान एकादश इन्द्रिय युक्त लिंगदेह गर्भावस्था तथा बाल्यकालमें इन्द्रियोंके पूर्णरूपसे समर्थ न होनेके कारण नहीं दीखता ॥ ७२ ॥ जैसे स्वप्नमें किसी वस्तुका वास्तविक अस्तित्व न होते हुए भी जागे बिना अनर्थकी निवृत्ति नहीं हो पाती, वैसे ही विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषका जन्ममरणरूपी संसारचक्र आत्मज्ञानके बिना निवृत्त नहीं होने पाता ॥ ७३ ॥ इस तरह सोलह तत्त्वोंके रूपमें विस्तारको प्राप्त यह पाञ्चभौतिक तथा त्रिगुणमय लिङ्ग शरीर ही चेतनाशक्तिसे युक्त होकर 'जीव' कहलाता है ॥ ७४ ॥ इसीके साथ पुरुष भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करता तथा त्यागता है। इसीसे वह हर्ष, शोक, भय-दुःख और सुख आदिका अनुभव करता रहता है ॥ ७५ ॥ जैसे जोंक जबतक दूसरे तृणपर पैर नहीं जमा लेती, तबतक अपने आश्रयभूत पहलेवाले तृणको नहीं त्यागती तथा दूसरे तृणपर पैर जमा लेनेके बाद उसे छोड़कर चली जाती हैं। वैसे ही मरणकाल आजानेपर जब तक मनुष्यको प्रारब्ध कर्मका नाश होकर दूसरा शरीर नहीं मिलता, तबतक वह अपने पूर्वदेहका अभिमान नहीं छोड़ पाता । हे ! राजन् सच तो यह है कि मन ही मनुष्यको जन्म-मरणादि प्राप्त कराता है ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ जब जीव इन्द्रियोंसे भोग्य भोगोंका चिन्तन करते हुए पुनः पुनः कर्म करता है, तब उन कर्मोंके होते रहनेके कारण अनात्म वस्तुमें उस आत्माभिमानशील पुरुषको अविद्यारूपी कर्मोंके बन्धनमें बँधना पड़ जाता है ॥ ७८ ॥ उस कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये समस्त विश्वको भगवद्रूप समझते हुए तुम तन-मनसे भगवानका भजन करो, जिनसे इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है ॥ ७९ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! इस तरह भक्तप्रवर श्रीनारदजी राजा प्राजीनबर्हिको जीव तथा ईश्वरके स्वरूपका दिग्दर्शन करा और उनसे अनुमति माँगकर सिद्धलोकको सिधारे ॥८०॥ राजर्षि प्राचीनबर्हि भी अपने पुत्रोंको राज्य सौंप करके तपस्याके लिये कपिलाश्रमको चले गये ॥ ८१ ॥ वहाँ उन वीरश्रेष्ठने सब विषयोंकी आसक्ति त्याग दी और एकाग्र मनसे भगवानके चरणकमलोंका भक्तिपूर्वक चिन्तन करते हुए तदाकार हो गये ॥ ८२ ॥ हे अनघ विदुरजी ! देवर्षि नारदके द्वारा परोक्षरूपसे कहे हुए इस आत्मज्ञानको जो पुरुष सुने या सुनावेगा, वह अपने जन्म-मरणके कारण-रूपी लिङ्गशरीरसे शीघ्र छुटकारा पा जायगा ॥ ८३ ॥ भगवान मुकुन्दके यशसे त्रिलोकीको पवित्र

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम् । एवं स्त्रियाऽऽश्रमः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः ॥८५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे प्राचीनबर्हिर्नारदसंवादो नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

विदुर उवाच

ये त्वयाभिहिता ब्रह्मन् सुताः प्राचीनबर्हिषः । ते रुद्रगीतेन हरिं सिद्धिमापुः प्रतोष्य काम् ॥१॥

किं बार्हस्पत्येह परत्र वाथ कैवल्यनाथप्रियपार्श्ववर्तिनः ।
आसाद्य देवं गिरिशं यदृच्छया प्रापुः परं नूनमथ प्रचेतसः ॥ २ ॥

मैत्रेय उवाच

प्रचेतसोऽन्तरुदधौ पितुरादेशकारिणः । जपयज्ञेन तपसा पुरञ्जनमतोषयन् ॥ ३ ॥

दशवर्षसहस्रान्ते पुरुषस्तु सनातनः । तेषामाविरभूत्कृच्छ्रं शान्तेन शमयन् रुचा ॥ ४ ॥

सुपर्णस्कन्धमारूढो मेरुशृङ्गमिवाम्बुदः । पीतवासा मणिग्रीवः कुर्वन् वितिमिरा दिशः॥ ५ ॥

काशिष्णुना कनककवर्णविभूषणेन भ्राजत्कपोलवदनो विलसत्किरीटः ।
अष्टायुधैरनुचरैर्मुनिभिः सुरेन्द्रैरासेवितो गरुडकिन्नरगीतकीर्तिः ॥ ६ ॥

पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या स्पर्धच्छ्रिया परिवृतो वनमालयाऽऽद्यः ।
बर्हिष्मतः पुरुष आह सुतान् प्रपन्नान् पर्जन्यनादरुतया सघृणावलोकः ॥७॥

करनेवाले देवर्षि नारदके मुखसे निकले हुए इस परम पवित्र आत्मज्ञानका जो प्राणी कीर्तन करता है, वह पुरुष परमपदको प्राप्त कर लेता तथा सब कर्मबन्धनोंसे मुक्त होजाता और फिर उसको इस संसार-चक्रमें भटकना नहीं पड़ता ॥ ८४ ॥ हे विदुरजी ! गृहस्थाश्रमी पुरंजनके रूपकसे परोक्षरूपमें कहे हुए इस आत्मज्ञानको मैंने श्रीगुरुजीसे प्राप्त किया था, सो तुम्हें सुना दिया । इसको जान लेनेपर मनुष्य देहाभिमानसे छूट जाता और उसका 'परलोकमें अपने कर्मोंका फल कैसे भोगता है' यह सन्देह निवृत्त हो जाता है ॥ ८५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

(प्रचेताओंको विष्णुभगवानका वरदान) विदुरजी बोले—हे ब्रह्मन् ! आपने राजा प्राचीनबर्हिके जिन पुत्रोंका वृत्तान्त बताया था, उन्होंने श्रीहरिको रुद्रगीत द्वारा स्तुति करके कौन सिद्धि प्राप्त की थी ? ॥ १ ॥ हे बृहस्पतिजीके शिष्य मैत्रेयजी ! शंकरभगवानको एकाएक पाकर उनकी कृपासे मोक्षाधिपति परम प्रिय भगवानका ध्यान करनेवाले प्रचेताओंने मुक्ति तो अवश्य प्राप्त की होगी । किन्तु उससे पहले उन्होंने इस लोक और परलोकमें क्या पाया, सो बताइए ॥ २ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुर ! प्रचेताओंने अपने पिताकी आज्ञाका पालन करते हुए समुद्रके भीतर रहकर जपयज्ञ तथा तपस्याके द्वारा भगवानको सन्तुष्ट किया ॥ ३ ॥ इस तरह दस हजार वर्ष बीत जानेपर श्रीसनातन पुराणपुरुष अपनी शान्त कान्तिसे उनका संताप दूर करते हुए उनके समक्ष प्रकटे ॥ ४ ॥ वे गरुड़जीके कन्धेपर बैठे ऐसे लगते थे, मानो सुमेरु पर्वतके शिखरपर कोई श्याममेघ उमड़ा हो । उनके शरीरका पीताम्बर और कण्ठका कौस्तुभमणि अलग अपनी निखार दिखा रहा था और वे अपनी दिव्य कान्तिसे सब दिशाओंको अन्धकारहीन कर रहे थे ॥ ५ ॥ उनके कपोल अतिशय देदीप्यमान थे और कण्ठ सुवर्णमय आभूषणोंसे आभूषित था । उनके सिरपर झिलमिलाता मुकुट शोभायमान था । वे अपनी आठ भुजाओंमें आठ प्रकारके आयुध धारण किये थे । सभी पार्षद, सुनिजन तथा प्रधान-प्रधान देवता उनकी सेवामें उपस्थित थे । किन्नर तथा गरुड़जी उनका सुयश गाते थे ॥ ६ ॥ हे विदुरजी !

श्रीभगवानुवाच

वरं वृणीध्वं भद्रं वो यूयं मे नृपनन्दनाः । सौहार्देनापृथग्धर्मास्तुष्टोऽहं सौहृदेन वः ॥ ८ ॥
योऽनुस्मरति सन्ध्यायां युष्माननुदिनं नरः । तस्य भ्रातृष्वात्मसाम्यं तथा भूतेषु सौहृदम् ॥९॥
ते तु मां रुद्रगीतेन सायं प्रातः समाहिताः । स्तुवन्त्यहं कामवरान्दास्ये प्रज्ञां च शोभनाम् ॥१०॥
यद्यूयं पितुरादेशमग्रहीष्ट मुदान्विताः । अथो व उशती कीर्तिर्लोकाननु भविष्यति ॥११॥
भविता विश्रुतः पुत्रोऽनवमो ब्रह्मणो गुणैः । य एतामात्मवीर्येण त्रिलोकीं पूरयिष्यति ॥१२॥
कण्डोः प्रम्लोचया लब्धा कन्या कमललोचना । तां चापविद्धां जगृहुर्भूरुहा नृपनन्दनाः ॥१३॥
क्षुत्क्षामाया मुखे राजा सोमः पीयूषवर्षिणीम् । देशिनीं रोदमानाया निदधे स दयान्वितः ॥१४॥
प्रजाविसर्ग आदिष्टाः पित्रा मामनुवर्तता । तत्र कन्यां वरारोहां तामुद्वहत मा चिरम् ॥१५॥
अपृथग्धर्मशीलानां सर्वेषां वः सुमध्यमा । अपृथग्धर्मशीलेयं भूयात्पत्न्यर्पिताशया ॥१६॥
दिव्यवर्षसहस्राणां सहस्रमहतौजसः । भौमान् भोक्ष्यथ भोगान् वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम १७
अथ मय्यनपायिन्या भक्त्या पक्वगुणाशयाः । उपयास्यथ मद्धाम निर्विद्य निरयादतः ॥१८॥
गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥१९॥
नव्यवद्धृदये यज्ज्ञो ब्रह्मैतद्ब्रह्मवादिभिः । न मुह्यन्ति न शोचन्ति न हृष्यन्ति यतो गताः ॥२०॥

तब अपनी स्थूल तथा विशाल आठ भुजाओंके बीच लक्ष्मीजी कान्तिसे स्पर्द्धा करने वाली वनमालासे विभूषित आदिपुरुष भगवान—बर्हिष्मान्के पुत्र उन शरणागत प्रचेताओंकी ओर दया भरी दृष्टिसे निहारते हुए—मेघके समान गम्भीर वाणी बोले ॥ ७ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे राजपुत्रों ! तुम्हारा कल्याण हो । तुममें परस्पर बड़ा प्रेम है और तुम सब मेरे उपासनारूपी एक ही कर्ममें सदा लगे रहते हो । मैं तुम्हारी इस सहृदयतासे तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ, तुम मुझसे अपना इच्छित वर माँगो ॥ ८ ॥ जो पुरुष नित्य सायंकालको तुम्हारा स्मरण करेगा, उसे अपने भाइयोंपर परम प्रेम तथा सब प्राणियोंपर प्रेमभाव प्राप्त होगा ॥ ९ ॥ जो लोग सायंकाल तथा प्रातःकालको एकाग्रमनसे रुद्रगीतके द्वारा मेरी स्तुति करेंगे, उन्हें मैं मनचाहा वरदान तथा परम पवित्र बुद्धि दूँगा ॥ १० ॥ तुमने बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने पिताकी आज्ञा मानी है । अतएव लोकमें तुम्हारी उत्तम कीर्ति फैलेगी ॥ ११ ॥ आगे चलकर तुम्हारा एक ऐसा यशस्वी पुत्र होगा, जो गुणोंमें किसी तरह ब्रह्माजीसे कम न होगा और वह अपनी सन्ततिसे सारी त्रिलोकीको भर देगा ॥ १२ ॥ हे राजकुमारों ! महर्षि कण्डुके प्रम्लोचा अप्सरासे उत्पन्न एक कमलनयनी कन्या थी । जब वह अप्सरा उस कन्याको छोड़कर स्वर्ग चली गयी तो उसे वृक्षोंने ले लिया ॥ १३ ॥ जब वह कन्या अतिशय क्षुधाके कारण रोने लगी, तब औषधियोंके राजा चन्द्रमाने मारे दयाके उसके मुखमें अपनी अमृतवर्षिणी तर्जनी अंगुली डाल दी ॥ १४ ॥ मेरा अनुवर्तन करनेवाले तुम्हारे पिताने तुम्हें प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी है । अतः तुम शीघ्र उस परम सुन्दरी कन्याके साथ विवाह कर लो ॥ १५ ॥ तुम सब एक ही धर्ममें लगे हुए हो और तुम्हारा स्वभाव भी एक तरहका है । इसलिए तुम्हारे ही समान धर्म तथा स्वभाववाली वह सुन्दरी कन्या तुम सबकी पत्नी होगी । क्योंकि उसका चित्त तुम्हींमें संलग्न है ॥१६॥ तुमलोग मेरी कृपासे कई हजार दिव्य वर्षतक पृथिवीके दिव्य भोग भोगोगे और तुम्हारा तेज कभी भी क्षीण न होगा ॥ १७ ॥ अन्तमें मेरी अविनाशिनी भक्तिसे तुम्हारे अन्तःकरणकी सब वासनाओंके नष्ट हो जानेपर तुम इहलोक तथा परलोकके नरकसदृश भोगोंसे उपरत होकर मेरे परमधामको चले जाओगे ॥ १८ ॥ क्योंकि जो पुरुष सब कर्म मुझे अर्पण करते हुए कर्म करते हैं और जिनका समय मेरी ही कथा-वार्तामें बीतता है, वे यदि गृहस्थाश्रममें रहें तो भी घर उनके बन्धनका कारण नहीं हुआ करता ॥ १९ ॥ मैं ज्ञानस्वरूप परमात्मा उनके हृदयमें नित्य नये-नये रूपमें दीखता हूँ । मुझे ही

मैत्रेय उवाच

एवं ब्रुवाणं पुरुषार्थभाजनं जनार्दनं प्राञ्जलयः प्रचेतसः ।
तद्दर्शनध्वस्ततमोरजोमला गिरा गृणन् गद्गदया सुहृत्तमम् ॥२१॥

प्रचेतस ऊचुः

नमो नमः क्लेशविनाशनाय निरूपितोदारगुणाह्वयाय ।
मनोवचोवेगपुरोजवाय सर्वाक्षमार्गैरगताध्वने नमः ॥२२॥
शुद्धाय शान्ताय नमः स्वनिष्ठया मनस्यपार्थं विलसद्द्वयाय ।
नमो जगत्स्थानलयोदयेषु गृहीतमायागुणविग्रहाय ॥२३॥

नमो विशुद्धसत्त्वाय हरये हरिमेधसे । वासुदेवाय कृष्णाय प्रभवे सर्वसात्वताम् ॥२४॥
नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने । नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥२५॥
नमः कमलकिञ्जल्कपिशङ्गामलवाससे । सर्वभूतनिवासाय नमोऽयुङ्क्ष्महि साक्षिणे ॥२६॥
रूपं भगवता त्वेतदशेषक्लेशसंक्षयम् । आविष्कृतं नः क्लिष्टानां किमन्यदनुकम्पितम् ॥२७॥
एतावत्त्वं हि विभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैः । यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याभद्ररन्धन ॥२८॥
येनोपशान्तिर्भूतानां क्षुल्लकानामपीहताम् । अन्तर्हितोऽन्तर्हृदये कस्मान्नो वेद नाशिषः ॥२९॥
असावेव वरोऽस्माकमीप्सितो जगतः पते । प्रसन्नो भगवान् येषामपवर्गगुरुर्गतिः ॥३०॥

ब्रह्मवादी लोग 'ब्रह्म' कहते हैं। मुझे पाकर पुरुष न मोह, न शोक और न हर्षको ही प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥ श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी ! समस्त पुरुषार्थोंके आश्रयस्वरूप, अविद्यानाशक तथा परम सुहृद् श्रीहरिके ऐसा कहनेपर उनके दर्शनसे जिनके रजतमरूपी मानसिक विकार नष्ट हो गये थे, उन प्रचेताओंने हाथ जोड़कर गद्गद वाणीमें कहा ॥ २१ ॥ प्रचेता बोले—हे प्रभो ! आप अपने भक्तोंका क्लेश दूर करते हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं। आपके उदार गुण तथा नामोंको वेदोंने मोक्ष-प्राप्तिका साधन बताया है। आपका वेग मन तथा वाणीसे भी बढ़कर है और आपकी गति सब इन्द्रियोंकी गतिसे परे है। ऐसे आप प्रभुको बारम्बार प्रणाम है ॥ २२ ॥ अपने स्वरूपमें स्थित होनेके कारण आप नित्य शुद्ध तथा नित्य शान्त रहते हैं, किन्तु हमारे मनरूपी निमित्तकारणके होनेसे हमें यह सारा द्वैतभाव आपमें वृथा ही भासमान हो रहा है। वस्तुतः इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके लिये आप अपनी मायाके गुणोंको स्वीकार करके ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवका रूप धारण करते हैं, ऐसे आपको हमारा प्रणाम है ॥ २३ ॥ आप विशुद्ध सत्त्वस्वरूप हैं और आपका ज्ञान संसार-बन्धनको काट देता है। सम्पूर्ण यादवोंके अधिपति तथा वसुदेवनन्दन आप भगवान् कृष्णको हमारा प्रणाम है ॥ २४ ॥ हे कमललोचन ! जिनकी नाभिसे यह विश्वरूप कमल प्रकटा है, जो अपने कण्ठमें कमलकुसुमोंकी माला धारण किये रहते हैं और जिनके चरण कमलके सदृश हैं, उन आपको हमारा नमस्कार है ॥२५॥ जो कमलपुष्पकी केसर सदृश निर्मल पीताम्बर धारण किये रहते हैं और सब प्राणि-योंके आश्रयस्थल हैं, उन सर्वसाक्षी आप परमेश्वरको हम प्रणाम करते हैं ॥२६॥ अहो ! हम त्रितापसे पीड़ित प्राणियोंका दुःख दूर करनेके लिये ही आपने यह सर्वक्लेशनाशक स्वरूप धारण किया है। इससे बढ़कर हमपर आपकी और क्या कृपा होगी ? ॥ २७ ॥ हे अभद्रनाशन ! दीनवत्सल तथा समर्थ पुरुषोंका तो केवल इतना ही कर्तव्य रहता है कि वे समय-समयपर उन दीनजनोंको 'ये अपने हैं' इस तरह सोच-कर स्मरणभर कर लिया करें ॥२८॥ क्योंकि महापुरुषोंके स्मरणमात्रसे ही सकाम तथा क्षुद्र जीवोंके सब क्लेश नष्ट हो जाते हैं। आप सबके अन्तःकरणमें स्थित रहनेके कारण सबकी इच्छाओंको जानते हैं, फिर हम सरीखे अपने उपासकोंकी कामनाको कैसे न जानेंगे ? ॥२९॥ हे जगत्पते ! मोक्षका मार्ग दिखानेवाले

वरं वृणीमहेऽथापि नाथ त्वत्परतः परात् । न ह्यन्तस्त्वद्विभूतीनां सोऽनन्त इति गीयते ॥३१॥
पारिजातेऽञ्जसा लब्धे सारङ्गोऽन्यन्न सेवते । त्वदङ्घ्रिमूलमासाद्य साक्षात्किं किं वृणीमहि ॥३२॥
यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः । तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ॥३३॥
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥३४॥
यत्रेड्यन्ते कथा मृष्टास्तृष्णायाः प्रशमो यतः । निर्वैरं यत्र भूतेषु नोद्वेगो यत्र कश्चन ॥३५॥
यत्र नारायणः साक्षाद्भगवान्न्यासिनां गतिः । संस्तूयते सत्कथासु मुक्तसङ्गैः पुनः पुनः ॥३६॥
तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया । भीतस्य किं न रोचते तावकानां समागमः ॥३७॥

वयं तु साक्षाद्भगवन् भवस्य प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन ।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्योर्भिषक्तमं त्वाद्य गतिं गताः स्मः ॥३८॥
यन्नः स्वधीतं गुरवः प्रसादिता विप्राश्च वृद्धाश्च सदानुवृत्त्या ।
आर्या नताः सुहृदो भ्रातरश्च सर्वाणि भूतान्यनसूययैव ॥३९॥
यन्नः सुतप्तं तप एतदीश निरन्धसां कालमदभ्रमप्सु ।
सर्वं तदेतत्पुरुषस्य भूम्नो वृणीमहे ते परितोषणाय ॥४०॥
मनुः स्वयम्भूर्भगवान् भवश्च येऽन्ये तपोज्ञानविशुद्धसत्त्वाः ।
अदृष्टपारा अपि यन्महिम्नः स्तुवन्त्यथो त्वाऽऽत्मसमं गृणीमः ॥४१॥

नमः समाय शुद्धाय पुरुषाय पराय च । वासुदेवाय सत्त्वाय तुभ्यं भगवते नमः ॥४२॥

तथा स्वयं मोक्षस्वरूप आप आज हमपर प्रसन्न हुए हैं, आपका इस तरह प्रसन्न हो जाना ही हमारे लिए अभिमत वरदान है ॥ ३० ॥ फिर भी हे नाथ ! प्रकृति आदिसे भी परे आपसे हम एक ही वरदान चाहते हैं। आपकी विभूतियोंका कोई अन्त नहीं पाता, यही कारण है कि आप 'अनन्त' कहलाते हैं ॥ ३१ ॥ हे प्रभो ! यदि भ्रमरको अनायास कल्पवृक्ष प्राप्त हो जाय तो वह दूसरे वृक्षोंपर नहीं जाता। ऐसे ही साक्षात् आपके चरणकमल पाकर भी अब हम आपसे और क्या वर माँगें ! ॥ ३२ ॥ हे नाथ ! हम आपकी मायासे मोहमें पड़कर जबतक अपने कर्मानुसार संसारमें चक्कर काटते रहें, तबतक जन्म-जन्ममें हमें आपके भक्तोंका ही संग मिले ॥ ३३ ॥ भगवद्भक्तोंकी एक क्षणकी संगतिकी तुलनामें हम स्वर्ग और मोक्षको भी तुच्छ समझते हैं, तब मनुष्योंके भोगोंके विषयमें क्या कहना है ॥ ३४ ॥ हे प्रभो ! जिनके सुननेसे ही भोगोंकी सारी तृष्णा शान्त हो जाती है, जहाँ कहीं भी उन भगवत्कथाओंकी चर्चा होती रहती है, जहाँ प्राणीमात्रमें परस्पर कोई वैरभाव नहीं रहता, न जहाँ भय रहता है, जहाँ भगवत्कथाओंके द्वारा संन्यासियोंके एकमात्र आश्रयस्वरूप साक्षात् भगवान नारायणकी असंग महात्माओं द्वारा पुनः पुनः स्तुति की जाती है, जो तीर्थोंको पवित्र करनेकी इच्छा-वश पृथ्वीपर पैदल ही विचरते रहते हैं, उन आपके भक्तोंका सत्संग भयभीत पुरुषोंको कैसे अच्छा न लगेगा ? ॥ ३५–३७ ॥ हे भगवन् ! आपके परम प्रियतम सखा एवं साक्षात् श्रीशंकरजीके एक क्षणके ही समागमसे आज हम जन्ममरणरूपी अतिशय दुःसाध्य रोगके अति श्रेष्ठ वैद्य आप परमेश्वरकी शरणमें आ पहुँचे हैं ॥ ३८ ॥ हे प्रभो ! हमने अत्यन्त सावधान चित्तसे जो कुछ पढ़ा है, निरन्तर सेवा आदिके द्वारा गुरु-ब्राह्मण तथा वृद्धजनोंको प्रसन्न किया है, भद्रजन, सुहृद्गण, भाई तथा सब प्राणियोंकी दोषबुद्धि त्यागकर स्तुति की है। हे ईश ! अन्नादि त्यागकर बहुत देरतक जलमें खड़े रहकर घोर तपस्या की है, वह सब आप सर्वव्यापक पुरुषोत्तमके सन्तोषका कारण हो—यही वर हम आपसे माँग रहे हैं ॥ ३९ ॥ ४० ॥ जिनकी महिमाका पार न पाकर स्वायम्भुव मनु, ब्रह्माजी, भगवान महादेवजी तथा तप एवं ज्ञानसे शुद्धचित्त अन्य पुरुष सर्वदा स्तुति करते हैं, उन्हीं आपका हम भी अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन करते हैं ॥ ४१ ॥ आप सर्वत्र समान, शुद्ध-

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतोभिरभिष्टुतो हरिः प्रीतस्तथेत्याह शरण्यवत्सलः ।
अनिच्छतां यानमतृप्तचक्षुषां ययौ स्वधामानपवर्गवीर्यः ॥४३॥

अथ निर्याय सलिलात्प्रचेतस उदन्वतः । वीक्ष्याकुप्यन् द्रुमैश्छन्नां गां गां रोद्धुमिवोच्छ्रितैः॥
ततोऽग्निमारुतौ राजन्नमुञ्चन् मुखतो रुषा । महीं निर्वीरुधं कर्तुं संवर्तक इवात्यये ॥४५॥
भस्मसात्क्रियमाणांस्तान्द्रुमान् वीक्ष्य पितामहः । आगतः शमयामास पुत्रान् बर्हिष्मतो नयैः॥४६॥
तत्रावशिष्टा ये वृक्षा भीता दुहितरं तदा । उज्जह्रुस्ते प्रचेतोभ्य उपदिष्टाः स्वयम्भुवा ॥४७॥
ते च ब्रह्मण आदेशान्मारिषामुपयेमिरे । यस्यां महदवज्ञानादजन्यजनयोनिजः ॥४८॥
चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविद्रुते । यः ससर्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥४९॥
यो जायमानः सर्वेषां तेजस्तेजस्विनां रुचा । स्वयोपादत्त दाक्ष्याच्च कर्मणां दक्षमब्रुवन् ॥५०॥
तं प्रजासर्गरक्षायामनादिरभिषिच्य च । युयोज युयुजेऽन्यांश्च स वै सर्वप्रजापतीन् ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

मैत्रेय उवाच

तत उत्पन्नविज्ञाना आश्वधोक्षजभाषितम् । स्मरन्त आत्मजे भार्यां विसृज्य प्राव्रजन् गृहात् ॥१॥

स्वरूप तथा परम पुरुष हैं। आप सत्त्वमूर्तिस्वरूप भगवान् वासुदेवको हम प्रणाम करते हैं ॥ ४२ ॥
श्रीमैत्रेयजी बोले—हे विदुरजी ! इस तरह प्रचेताओंके स्तुति करनेपर शरणागतवत्सल भगवानने अतिशय प्रसन्न होकर उनसे 'तथास्तु' कहा और अपनी मधुर मूर्तिके दर्शनसे नेत्रोंके तृप्त न होनेके कारण प्रचेताओंकी इच्छा न रहनेपर भी वे असाधारण प्रभावशाली प्रभु परमधामको चल दिये ॥ ४३ ॥ तब प्रचेताओंने समुद्रके जलसे बाहर आकर देखा कि सारी पृथ्वी ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे ढँक गयी है। उन वृक्षोंने अपनी ऊँचाईसे मानो स्वर्गका मार्ग रोक दिया है। यह देखकर वे वृक्षोंपर बहुत क्रुद्ध हुए ॥ ४४ ॥ उन्होंने पृथ्वीको वृक्षहीन करनेके निमित्त अपने मुखसे प्रलयकालके अग्निकी भाँति प्रचण्ड पवन तथा अग्नि छोड़ा ॥ ४५ ॥ इस प्रकार वृक्षोंको भस्म होते देखकर पितामह ब्रह्माजीने आकर अनेक युक्तियुक्त वाक्यों द्वारा राजा प्राचीनबर्हिके पुत्रोंको शान्त कर दिया ॥ ४६ ॥ तब जो वृक्ष वहाँ बच गये थे, उन्होंने डरकर ब्रह्माजीके कथनानुसार वह कन्या लाकर उन प्रचेताओंको दे डाली ॥ ४७ ॥ तब प्रचेताओंने भी ब्रह्माजीकी आज्ञासे 'मारिषा' नामकी कन्याके साथ विवाह कर लिया, जिससे श्रीशिवजीकी अवज्ञाके कारण ब्रह्माजीके पुत्र दक्षप्रजापतिने अपना पूर्व शरीर त्यागकर दूसरा जन्म लिया था ॥ ४८ ॥ ये वे ही दक्ष थे, जिन्होंने चाक्षुष मन्वन्तरमें पूर्व सृष्टि नष्ट हो जानेपर भगवानकी प्रेरणानुसार फिर नवीन प्रजाकी सृष्टि की थी ॥ ४९ ॥ जन्म लेते ही दक्षने अपनी कान्तिसे सब तेजस्वियोंका तेज मन्द कर दिया था। वे कर्ममें बड़े दक्ष (निपुण) थे। इसीसे 'दक्ष' नामसे विख्यात हुए ॥ ५० ॥ उनको ब्रह्माजीने प्रजापतिके पदपर अभिषिक्त करके प्रजासर्गकी रक्षाके लिये नियुक्त किया और दक्षने दूसरे मरीचि आदि प्रजापतियोंको अपने-अपने कार्यमें लगा दिया ॥५१॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे भाषाटीकायां त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

(प्रचेताओंको नारदजीका ज्ञानोपदेश और उनकी परमपदप्राप्ति) श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! तब प्रचेताओंको ज्ञान हुआ और वे भगवानके वाक्योंका स्मरण करके तत्काल अपनी पत्नी मारिषा में अपने पुत्र दक्षको सौंपकर स्वयं घरसे चले गये। वहाँ पश्चिम दिशामें

दीक्षिता ब्रह्मसत्रेण सर्वभूतात्ममेधसा । प्रतीच्यां दिशि वेलायां सिद्धोऽभूद्यत्र जाजलिः ॥२॥
तान्निर्जितप्राणमनोवचोदृशो जितासनान् शान्तसमानविग्रहान् ।
परेऽमले ब्रह्मणि योजितात्मनः सुरासुरेड्यो ददृशे स्म नारदः ॥३॥
तमागतं त उत्थाय प्रणिपत्याभिनन्द्य च । पूजयित्वा यथादेशं सुखासीनमथाब्रुवन् ॥४॥

प्रचेतस ऊचुः

स्वागतं ते सुरर्षेऽद्य दिष्ट्या नो दर्शनं गतः । तव चङ्क्रमणं ब्रह्मन्नभयाय यथा रवेः ॥५॥
यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षजेन च । तद् गृहेषु प्रसक्तानां प्रायशः क्षपितं प्रभो ॥६॥
तन्नः प्रद्योतयाध्यात्मज्ञानं तत्त्वार्थदर्शनम् । येनाञ्जसा तरिष्यामो दुस्तरं भवसागरम् ॥७॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसां पृष्टो भगवान्नारदो मुनिः । भगवत्युत्तमश्लोक आविष्टात्माऽब्रवीन्नृपान् ॥८॥

नारद उवाच

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वतः ॥९॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः । कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥१०॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः । बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा ॥११॥
किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि । किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥१२॥

समुद्रके तटपर जहाँ कि जाजलि मुनिने सिद्धि प्राप्त की थी, उस स्थानपर पहुँचे और उन्होंने 'सब प्राणियोंमें एक ही आत्माका अस्तित्व है, जिससे ऐसा ज्ञान होता है' उस ब्रह्मसत्रयज्ञकी दीक्षा ले ली ॥ १ ॥ २ ॥ तदनुसार प्राण, मन, वाणी तथा दृष्टि स्थिरकर अपने शरीरको शान्त तथा समान रखते हुए उन्होंने आसनको जीतकर अपना अन्तःकरण विशुद्ध परब्रह्ममें लीन कर दिया । उन प्रचेताओंको देवता तथा असुर दोनोंहीके आराध्य श्रीनारद मुनिने देखा ॥ ३ ॥ नारदजीको आये हुए देखा तो वे सब प्रचेता उठकर खड़े हो गये और प्रणाम करके उनका अभिनन्दन करते हुए स्तुति की । जब नारदजी सुखसे आसनपर बैठ गये और उन्होंने आज्ञा दी, तब वे इस तरह कहने लगे ॥ ४ ॥ प्रचेता बोले—हे देवर्षे ! हमलोग आपको स्वागत निवेदन करते हैं । आज बड़े भाग्यसे हमें आपका दर्शन मिला है । हे ब्रह्मन् ! अपने दिव्य ज्ञानालोकसे सब प्राणियोंको अभय दान देनेके लिये ही आप सूर्यकी भाँति सब लोकोंमें विचरते हैं ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! शंकरभगवान तथा श्रीविष्णुभगवानने हमको जो उपदेश दिया था, गृहस्थीमें आसक्त रहनेके कारण उसे हम लोग प्रायः भूल गये हैं ॥ ६ ॥ सो परमार्थतत्त्वके विज्ञ आप उस आत्मज्ञानको हमारे हृदयमें पनः जागृत कर दीजिए, जिससे कि हम अनायास यह दुस्तर संसारसागर पार कर लें ॥ ७ ॥ मैत्रेयजी बोले—प्रचेताओंके इस तरह प्रश्न करनेपर भगवान नारदजीने पुण्यकीर्ति भगवानमें अपना चित्त स्थिर किया और उन राजाओंसे कहा ॥ ८ ॥ श्रीनारदजी कहने लगे—हे राजाओं ! संसारमें जिनके द्वारा विश्वात्मा तथा जगदीश्वर भगवानकी सेवा किया जाय मनुष्योंके वे ही जन्म, कर्म, आयु, मन तथा वचन सफल माने जाते हैं ॥ ९ ॥ जिन जीवोंके द्वारा अपने-आपको भी अर्पण करनेवाले श्रीहरिको प्राप्त न किया जा सके, उन शौक्ल अर्थात् माताके गर्भसे होनेवाले, सावित्र अर्थात् यज्ञोपवीतसे होनेवाले एवं याज्ञिक यानी यज्ञकी दीक्षासे होनेवाले तीन जन्मों, वेदोक्त कर्मों, देवताओंके समान लम्बी आयु, वेदाध्ययन, वक्तृत्वशक्ति, विविध भाँतिकी बातोंका स्मरण रखनेकी शक्ति, तीव्र बुद्धि, बल, इन्द्रियोंके तेज, योग, सांख्य, न्याय तथा स्वाध्याय और अन्य अनेक प्रकारके श्रेयसाधनोंसे पुरुषका क्या लाभ हो सकता है ? ॥ १०–१२ ॥ सच पूछो तो सब श्रेयोंकी

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः। सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्माऽऽत्मदः प्रियः ॥१३॥
यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥१४॥
यथैव सूर्यात्प्रभवन्ति वारः पुनश्च तस्मिन् प्रविशन्ति काले।
भूतानि भूमौ स्थिरजङ्गमानि तथा हरावेव गुणप्रवाहः ॥१५॥
एतत्पदं तज्जगदात्मनः परं सकृद्विभातं सवितुर्यथा प्रभा।
यथासवो जाग्रति सुप्तशक्तयो द्रव्यक्रियाज्ञानभिदाभ्रमात्ययः ॥१६॥
यथा नभस्यभ्रतमःप्रकाशा भवन्ति भूपा न भवन्त्यनुक्रमात्।
एवं परे ब्रह्मणि शक्तयस्त्वमू रजस्तमःसत्त्वमिति प्रवाहः ॥१७॥
तेनैकमात्मानमशेषदेहिनां कालं प्रधानं पुरुषं परेशम्।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहमात्मैकभावेन भजध्वमद्धा ॥१८॥
दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा। सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥१९॥
अपहतसकलैषणामलात्मन्यविरतमेधितभावनोपहूतः।
निजजनवशगत्वमात्मनोऽयन्न सरति छिद्रवदक्षरः सतां हि ॥२०॥
न भजति कुमनीषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥२१॥

अवधि एकमात्र आत्मा ही है और आत्मप्रद भगवान ही सब प्राणियोंके प्रिय आत्मा हैं ॥ १३ ॥ जैसे वृक्षकी जड़को सींचनेसे उसके स्कन्ध, शाखा, उपशाखा आदि सभी तृप्त हो जाते और उनकी सब इन्द्रियाँ जागृत हो जाती हैं, वैसे ही भगवानका पूजन करनेसे सबका पूजन हो जाता है ॥ १४ ॥ जैसे वर्षामें जल सूर्यसे ही उत्पन्न होता और गर्मियोंमें उसीमें लय हो जाता है और जैसे सब चराचर पृथिवीसे उत्पन्न होते और फिर अन्तमें पृथिवीमें ही मिल जाते हैं, वैसे ही सभी गुणप्रवाह भगवानसे उत्पन्न होता और उन्हींमें लीन हो जाया करता है ॥ १५ ॥ यह जगत् उन जगदात्मा भगवानका परमपद है। जैसे सूर्यकी दीप्ति उससे भिन्न नहीं होती, वैसे ही यह जगत् भगवानसे पृथक् नहीं है। जैसे जागृत अवस्थामें इन्द्रियाँ कर्मण्य रहती हैं और सुषुप्तिमें उनकी सारी शक्तियाँ सो जाती हैं, उसी तरह यह जगत् कभी अर्थात् सृष्टिकालमें भगवानसे उत्पन्न होता और प्रलयकालमें उन्हींमें लीन हो जाया करता है। उन्हीं भगवानमें द्रव्य, क्रिया तथा ज्ञानात्मक भेदभ्रमका सर्वथा अभाव रहता है ॥ १६ ॥ हे नृपतिगण! जैसे बादल, अन्धकार तथा प्रकाश धीरे-धीरे आकाशसे प्रकट होते हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सत्त्व, रज तथा तम—ये तीनों शक्तियाँ भगवानसे उत्पन्न होकर उन्हींमें समा जाती हैं। इसी ढंगसे इस जगत्का प्रवाह चालू रहता है ॥ १७ ॥ अतएव काल अर्थात् जगत्के निमित्तकारण प्रधान यानी उपादान कारण और पुरुष अर्थात् जगत्के नियन्तारूप तथा सब देहधारियोंके एकमात्र आत्मा तथा ब्रह्मादि लोकपालोंके भी प्रभु और अपनी चित्शक्तिसे सत्त्वादि सभी गुणोंके प्रवाहरूपी प्रपञ्चको तिरस्कृत करनेवाले भगवानको तुम अपने आत्मासे पृथक् न मानते हुए निरन्तर अभिन्नभावसे भजते रहो ॥ १८ ॥ वे भगवान समस्त प्राणियोंपर दया करनेसे, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहने और सब इन्द्रियोंके शान्त हो जानेपर शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १९ ॥ सब तरहकी वासनाओंके दूर हो जानेसे शुद्ध सन्तोंके हृदयमें सतत वृद्धिगत भावनासे खींचकर स्थापित किये हुए भगवान स्वयं अपने भक्तोंके वशीभूत होकर वहाँसे हृदयाकाशकी भाँति कभी भी नहीं हटते ॥ २० ॥ जिन भक्तोंका धन आत्मा ही है, वे निर्धन पुरुष ही जिनको अति-

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च द्विपदपतीन् विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः ।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः ॥२२॥

मैत्रेय उवाच

इति प्रचेतसो राजन्नन्याश्च भगवत्कथाः । श्रावयित्वा ब्रह्मलोकं ययौ स्वायम्भुवो मुनिः ॥२३॥
तेऽपि तन्मुखनिर्यातं यशो लोकमलापहम् । हरेर्निशम्य तत्पादं ध्यायन्तस्तद्गतिं ययुः ॥२४॥
एतत्तेऽभिहितं क्षत्तर्यन्मां त्वं परिपृष्टवान् । प्रचेतसां नारदस्य संवादं हरिकीर्तनम् ॥२५॥

श्रीशुक उवाच

य एष उत्तानपदो मानवस्यानुवर्णितः । वंशः प्रियव्रतस्यापि निबोध नृपसत्तम ॥२६॥
यो नारदादात्मविद्यामधिगम्य पुनर्महीम् । भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात्पदम् ॥२७॥

इमां तु कौषारविणोपवर्णितां क्षत्ता निशम्याजितवादसत्कथाम् ।
प्रवृद्धभावोऽश्रुकलाकुलो मुनेर्दधार मूर्ध्ना चरणं हृदा हरेः ॥२८॥

विदुर उवाच

सोऽयमद्य महायोगिन् भवता करुणात्मना । दर्शितस्तमसः पारो यत्राकिञ्चनगो हरिः ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

इत्यानम्य तमामन्त्र्य विदुरो गजसाह्वयम् । स्वानां दिदृक्षुः प्रययौ ज्ञातीनां निर्वृताशयः ॥३०॥

श्य प्रिय हैं और जो उनके भक्तिरससे परिचित हैं, वे भगवान उन कुबुद्धियोंकी पूजा नहीं सकारते जो अपनी बहुज्ञता, धन, कुल तथा कर्मोंके मदसे अन्धे होकर अकिंचनजनोंका अपराध करते हैं ॥ २१ ॥ जो अपनी आत्माके आनन्दसे परिपूर्ण रहनेके कारण अपनी सेवा करनेवाली लक्ष्मी, उनको चाहनेवाले राजाओं तथा देवताओंको भी कुछ नहीं समझते, किन्तु अपने भक्तोंके सदा अधीन रहते हैं, उन नारायणको कोई भी कृतज्ञ पुरुष भला कैसे छोड़ पायेगा ? ॥ २२ ॥ श्रीमैत्रेयजी कहते हैं—हे विदुरजी ! इस तरह नारदजी प्रचेताओंको भगवानकी और भी बहुतेरी कथाएँ सुनाकर ब्रह्मलोकको सिधारे ॥ २३ ॥ इधर वे प्रचेता भी संसारके मलको दूर करनेवाले भगवच्चरित्रको उनके मुखसे सुनकर भगवानके ही चरणकमलोंका निरन्तर चिन्तन करते हुए उनके परमपदको प्राप्त कर लिये ॥ २४ ॥ हे विदुरजी ! तुमने जो मुझसे श्रीनारदजी तथा प्रचेताओंका संवादरूपी हरिकीर्तन पूछा सो सब मैंने तुम्हें कह सुनाया ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! मैंने स्वायम्भुव मनुके पुत्र महाराज उत्तानपादके वंशका वर्णन तो कर दिया । अब प्रियव्रतके वंशका भी वर्णन करता हूँ, सो सुनो ॥ २६ ॥ उन्होंने श्रीनारदजीके उपदेशसे आत्मज्ञान पाकर भी पुनः राज्यसुख भोगा और अन्तमें सारी पृथिवी अपने पुत्रोंको देकर भगवानके परमधामको चले गये ॥ २७ ॥ हे राजन् ! श्रीमैत्रेयजीके द्वारा वर्णित श्रीभगवानके गुणानुवादसे युक्त यह पवित्र कथा सुनकर भक्तिभावके उद्रेकसे जिनके नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये थे, उन विदुरजीने अपने हृदयमें भगवानके चरणोंको रखकर अपने मस्तकको मैत्रेय मुनिके चरणोंमें रक्खा ॥ २८ ॥ विदुरजी कहते हैं—हे महायोगिन् ! आप परम कारुणिक प्रभुने आज मुझे अज्ञानान्धकारके परली पार पहुँचा दिया, जहाँ कि अकिञ्चन महापुरुषोंको पाने योग्य भगवानके जन विराजते हैं ॥ २९ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—इस तरह शान्तचित्त श्रीविदुरजीको प्रणामकर और उनकी

एतद्यः शृणुयाद्राजन् राज्ञां हर्यर्पितात्मनाम् । आयुर्धनं यशः स्वस्ति गतिमैश्वर्यमाप्नुयात् ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टादशसाहस्त्र्यां संहितायां चतुर्थस्कन्धे प्रचेतउपाख्यानं नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

हरिः ॐ तत्सत्

अनुमति ले अपने जाति-बन्धुओंको देखनेके निमित्त हस्तिनापुरीको चले गये ॥ ३० ॥ हे राजन् ! भगवानमें जिन्होंने अपना मन लगा दिया था, उन प्रचेताओंकी यह पवित्र कथा जो पुरुष सुनेगा उसे दीर्घायु, धन, सुयश, क्षेम, सद्गति तथा ऐश्वर्य अनायास प्राप्त हो जाया करेंगे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे चतुर्थस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकाया-मेकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

समाप्तोऽयं चतुर्थस्कन्धः ।



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्

पञ्चमस्कन्धः

———०———

प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने। गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥१॥
न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ। गृहेष्वभिनिवेशोऽयं पुंसां भवितुमर्हति ॥२॥
महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः। छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥३॥
संशयोऽयं महान् ब्रह्मन् दारागारसुतादिषु। सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता ॥४॥

श्रीशुक उवाच

बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवतपरमहंसदयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति ॥५॥ यर्हि वाव ह राजन् स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया

श्रीहरिः। (राजा प्रियव्रतका चरित्र) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्‌जीने पूछा—हे मुने! यह बात तो बड़े विस्मय की है कि जब भगवद्भक्त प्रियव्रतको ज्ञान प्राप्त हो गया और वे केवल आत्मविचारमें ही सन्तुष्ट रहने लगे, तब फिर गृहस्थीमें क्यों आसक्त हुए? यह आप मुझे बताइये। क्योंकि गृहस्थी तो कर्मके बन्धन तथा आत्मस्वरूपको भूलनेकी जड़ मानी जाती है ॥ १ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ! प्रियव्रत जैसोंकी लालसा तो गृहस्थीमें न होनी चाहिए। क्योंकि उन सरीखे विषयोंसे उन्मुक्त पुरुषोंके लिये वैसा होना अनहोनी बात है ॥ २ ॥ हे विप्रर्षे! मनोहर कीर्तिसम्पन्न कृष्णभगवानके चरणोंकी छाया पाकर जिनका मन सुखी हो चुका है, उन महात्माओंकी बुद्धि कुटुम्बमें आसक्त नहीं होती ॥ ३ ॥ हे ब्रह्मन्! यह बड़े संशयकी बात है कि स्त्री, गृह एवं पुत्र आदिमें आसक्त होकर भी कृष्णमें उनकी भक्ति निश्चल रही और उन्हें मुक्ति मिल गयी ॥ ४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित्! तुम्हारा कथन ठीक है। मनोहर कीर्तिवाले भगवान कृष्णके चरणकमलोंके मकरन्दमें जिनका मन लग जाता है, वे कभी-कभी विघ्नसे वाधित होकर भी भगवानके कथारूपी कल्याणमय मार्गको नहीं छोड़ते ॥ ५ ॥ हे राजन्! जब कि महान भगवद्भक्त प्रियव्रतजी बालक थे, उसी समय नारदजीके चरणोंकी सेवासे उन्हें अनायास आत्माके यथार्थरूपका ज्ञान हो गया था और वे समाधिस्थ होकर ब्रह्मध्यानमें स्थित होना ही चाहते थे, तभी उनके पिता मनुने सोचा कि

स्वपित्रोपामन्त्रितो भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारकक्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः ॥६॥ अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसितसकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवनादवततार ॥७॥ स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढैरभिपूज्यमानः पथि पथि च वरूथशः सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्धमादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प ॥८॥ तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे ॥९॥ भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतारसुजयः प्रियव्रतमादिपुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम् ।
वयं भवस्ते तत एष महर्षिर्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥११॥
न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा न योगवीर्येण मनीषया वा ।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ॥१२॥

मेरा पुत्र प्रियतम तो राजा होनेके योग्य है। शास्त्रोंमें राजाओंके योग्य जो श्रेष्ठ गुण बताये गये हैं, उन सबमें यह अद्वितीय है। इसे ही राजा बनाना चाहिए। तदनुसार मनुने अपने पुत्र प्रियव्रतसे राजा होनेके लिए कहा। किन्तु प्रियव्रत तो अपना मन एकाग्र करके भगवान वासुदेवमें लगा चुके थे। इससे उनकी सभी इन्द्रियोंके कर्म छूट गये थे, किसी भी इन्द्रियके विषयमें कुछ भी अभिलाषा उन्हें नहीं थी। इसीलिए उन्होंने राजा नहीं होना चाहा। यद्यपि अपने पिताकी आज्ञा न मानना अनुचित था, फिर भी उन्होंने सोचा कि उनकी बात माननेसे हम मिथ्या संसारमें फँस जायँगे और मेरा आत्मज्ञान सदाके लिए नष्ट हो जायगा और ऐसा होना महाअनर्थ है ॥ ६ ॥ आदिदेव भगवान ब्रह्माजीको यह गुणरचित सृष्टि बढ़ानेकी चिन्ता सदा लगी रहती है। इसीसे वे सब लोगोंके अभिप्राय जानते रहते हैं। जब उन्हें प्रियव्रतका अभिप्राय ज्ञात हुआ, तब वे सब वेदों तथा अपने गणोंके साथ अपने लोक (सत्यलोक) से उतरे ॥ ७ ॥ उनके मार्गमें विमानोंपर बैठे झुण्डके झुण्ड बड़े-बड़े देवता समक्ष आकर उनका पूजन करते थे। अनेक स्थानोंमें झुण्डके झुण्ड सिद्ध, गन्धर्व, साध्य चारण तथा मुनिजन उनके यश गाते थे और वे आकाशमें चन्द्रमाके तुल्य दीखते थे। इस तरह क्रमशः जब वे गन्धमादनकी उस कन्दरामें पहुँच गये, जहाँपर उनके गुरु नारद, शिष्य प्रियव्रत तथा अपने पुत्र प्रियव्रतको राज्यके लिये बुलानेको आये हुए मनु विद्यमान थे, उनके आते ही प्रकाशसे वह सारी कन्दरा चमक उठी ॥ ८ ॥ हंसकी सवारीसे नारदजीने इन्हें "मेरे पिता ब्रह्माजी हैं" यह जान लिया और जो पिता, पुत्र, मनु तथा प्रियव्रत थे, उनके साथ तुरन्त उठ खड़े हुए और पूजन करके हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की ॥ ९ ॥ इस तरह जब नारदजीने ब्रह्माजीकी पूजा की और योग्य वचनोंसे उनके गुण-गणों, अवतारों तथा आधिक्यका भली-भाँति वर्णन करके स्तुति की। तब वे आदिपुरुष दयापूर्वक मुसकराकर प्रियव्रतजीसे बोले ॥ १० ॥ भगवान ब्रह्माजी कहने लगे—हे तात ! जो प्रमाणसे परे हैं और हम, शिव, तुम्हारे पिता मनु और तुम्हारे गुरु नारद जिनकी आज्ञाका पालन सब लोग विवशभावसे करते हैं। तुम उनको तुच्छ मत समझो। मैं तुमसे सच कहता हूँ कि भली-भाँति उनकी बातपर विचार करो ॥ ११ ॥ कोई भी शरीरधारी प्राणी तप, विद्या, योगबल, बुद्धि, अपने बल और दूसरेकी सहायतासे

भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं शोकाय मोहाय सदा भयाय ।
सुखाय दुःखाय च देहयोगमव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥१३॥
यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः ।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१४॥
ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथश्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः ॥१५॥
मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेहमारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते ॥१६॥
भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सहषट्सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥१७॥
यः षट्सपत्नान् विजिगीषमाणो गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन् क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥१८॥
त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोशदुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।
भुङ्क्ष्वेह भोगान् पुरुषातिदिष्टान् विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥१९॥

भी उनके निश्चयको नहीं पलट सकता ॥ १२ ॥ हे प्रिय ! सभी लोग उन्हींका दिया शरीर धारण करते हैं। इच्छाशक्तिसे बचनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। प्रत्येक शरीरधारीको जन्म, मरण, शोक, मोह, भय, सुख और दुःख भुगतने ही पड़ते हैं ॥ १३ ॥ जिसकी देवरूपिणी वाणी एक बड़ी लम्बी रस्सी है, उसमें कहे हुए गुण-कर्म उस रस्सीमें लगी हुई बड़ी दृढ़ और छोटी-छोटी रस्सियाँ है, जिनमें हम सब लोग भली-भाँति बँधकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कहे जाते हैं और ये सब लोग अपने-अपने योग्य कर्मोंको वैसे ही करते रहते हैं जैसे कि रस्सीमें नथे हुए पशु मनुष्यकी इच्छानुसार सब कामोंको किया करते हैं ॥ १४ ॥ हे प्रियव्रत ! वह ईश्वर गुण तथा कर्मोंके सम्बन्धसे जो-जो देता है, उस-उसमें रहकर उसी प्रभुके दिये हुए दुःख या सुखको हम लोग वैसे ही विवशभावसे भोगते हैं जैसे कि अन्धोंको कोई आँखवाला लिए जारहा हो और उन्हें आँखवालेकी इच्छाके अनुसार ही सब दुःख-सुख भोगने पड़ें ॥ १५ ॥ तात्पर्य यह कि ईश्वरकी आज्ञा बड़ी प्रबल होती है। उसे सबको मानना चाहिये। मैं जो कुछ कहूँगा, वह उसीकी प्रेरणासे कहूँगा। इससे मेरी बातको उसकी आज्ञा समझो और मानो। उसकी आज्ञा यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष भी प्रारम्भमें पूर्व कर्मोंको भोगकर उसे समाप्त करनेके लिये शरीरको धारण करता है और उस भोगमें मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं देखता हूँ इत्यादि अभिमानको छोड़े रहता है। जैसे कोई प्राणी स्वप्नमें भोगे भोगोंको जागनेपर मिथ्या समझ लेता है, वह यह नहीं जानता कि उन भोगोंको मैंने भोगा है। भोगमें अभिमानशून्य होनेके सिवाय जीवन्मुक्त प्राणी कर्मकी वासनाओंको भी नहीं रखता। क्योंकि वासनाओंके रह जानेसे फिर शरीर ग्रहण करना पड़ जाता है ॥ १६ ॥ ये सब बाधायें तो घरमें भी हो सकती हैं और वनमें भी। क्योंकि जो वनमें असावधान रहता है, वहाँ भी उसके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन ये छः शत्रु वर्तमान रहते हैं। किन्तु जो जितेन्द्रिय है, जिसे आत्माके सिवा अन्य विषयसे प्रेम नहीं रहता, उस विद्वान्की गृहस्थाश्रम क्या बुराई कर पायेगा ॥ १७ ॥ गृहस्थाश्रम तो इन्द्रियोंको वशमें करनेका अभ्यास करनेके लिए एक सुरक्षित दुर्ग है। अतएव जो उपर्युक्त छहों शत्रुओंको जीतना चाहे, वह पहले गृहस्थाश्रममें रहकर ही उद्योग करे। क्योंकि दुर्गमें रहनेवाला वीर बड़े-बड़े शत्रुओंको भी परास्त कर सकता है। अतएव दुर्गरूपी गृहस्थाश्रममें रहकर प्राणी छहों शत्रुओंको क्षीण कर डाले। इसके बाद जहाँ इच्छा हो, वहाँ रहे ॥ १८ ॥ तुम तो विष्णुके चरणकमल-

श्रीशुक उवाच

इति समभिहितो महाभागवतो भागवतस्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह ॥ २० ॥ भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः प्रियव्रतनारदयोरविषममभिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत् ॥ २१ ॥ मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डलस्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम ॥ २२ ॥ इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशितकर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्धध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां महीतलमनुशशास ॥ २३ ॥ अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयाम्बभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम ॥ २४ ॥ अग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः ॥ २५ ॥ एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन् ॥ २६ ॥ तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभूतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरमभक्ति-

---

के संपुटस्वरूप दुर्गका आश्रय लेकर छहों शत्रुओंको जीत चुके हो। अतएव गृहमें रहकर ईश्वरके दिये भोगों और अन्तमें विषयोंकी आसक्ति छोड़कर प्रकृतिका भजन करो ॥ १९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे परीक्षित! जब त्रिलोकीके पूज्य श्रीब्रह्माजीने यह कहा, तब असाधारण भगवद्भक्त प्रियव्रतने सोचा कि मैं छोटा हूँ और यह बहुत बड़े हैं। अतएव उनकी आज्ञाको मस्तक झुकाकर बड़े आदरपूर्वक उन्होंने स्वीकार किया और कहा कि अब मैं ऐसा ही करूँगा ॥ २० ॥ तब महाराज मनुने ब्रह्माजीकी विधिवत् पूजा की। प्रियव्रत तथा नारदजी भी उन्हें शुद्धदृष्टिसे निहारते रह गये और भगवान ब्रह्मा अपने ब्रह्मरूपकी स्थिति, जो कि वाणी तथा मनके अगोचर है और व्यवहारसे भी दूर है। इससे प्रियव्रतको गृहमें लानेके उद्योगसे छूट गई थी, सो उसमें पुनः स्थित करके नारद अपने लोकको लौट गये ॥ २१ ॥ जब मनुने देखा कि भगवान ब्रह्माने हमारा मनोरथ पूर्ण कर दिया, तब उन्होंने नारदजीकी सलाहसे सारे भूमण्डलका भार अपने पुत्र प्रियव्रतपर डाल दिया और स्वयं उस भोगकी इच्छासे सदाके लिए निवृत्त होगये ॥ २२ ॥ इस तरह महाराज प्रियव्रतको ईश्वरेच्छासे कर्मका अधिकार सम्हालना पड़ा और केवल बड़ोंकी प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए ब्रह्माजीकी आज्ञा मानकर उनको भूतलका शासन करना पड़ गया। वैसे तो वे वासनारहित हो चुके थे। उन्होंने भगवान आदिपुरुषके चरणोंका सर्वदा ध्यान किया था। जिससे उनके अन्तःकरणके मलरूपी राग-द्वेष आदि दूर हो चुके थे। वे भगवान ऐसे हैं कि उनके तेजसे संसारके सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥ इसके बाद उन महाराज प्रियव्रतने विश्वकर्मा प्रजापतिकी बर्हिष्मती नामकी कन्याके साथ विवाह किया। उससे उनके दस पुत्र उत्पन्न हुए। जो कि उन्हींके सदृश शील, गुण, कर्म, रूप तथा बलमें बढ़े हुए थे। पुत्रोंसे छोटी एक ऊर्जस्वती नामकी कन्या भी हुई ॥ २४ ॥ पुत्रोंके नाम आग्नीध्र, इध्मजिह्व, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि थे। यह सब अग्निके नाम गिनाये गये हैं। इसीसे सब अग्निके समान नामवाले थे। इनमें कवि, महावीर तथा सवन ये तीन ऊर्ध्वरेता थे ॥ २५ ॥ उन तीनोंको बाल्यकालहीसे आत्मविद्याका परिचय हो गया था, जिससे उन्होंने पारमहंस्य आश्रमको ग्रहण कर लिया ॥ २६ ॥ उस आश्रममें वे शान्तचित्त महर्षियोंके सदृश आचरण करते थे। जो भगवान वासुदेव सब जीवसमूहोंके निवासस्थान तथा भयभीत

योगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः ॥ २७ ॥ अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नुत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वतराधिपतयः ॥ २८ ॥ एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिलपुरुषकारसारसम्भृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुणस्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमानप्रमोदप्रसरणयौषिण्यव्रीडाप्रमुषितहासावलोकरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमानविवेक इवानवबुध्यमान इव महामना बुभुजे ॥ २९ ॥ यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन् भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन् समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय इव पतङ्गः ॥ ३० ॥ ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः ॥ ३१ ॥ जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लृप्ताः ॥ ३२ ॥ क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा इवाभ्यन्तरद्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक् परित उपकल्पितास्तेषु जम्ब्वादिषु

हुए पुरुषोंके रक्षक हैं, उनके सुन्दर और कोमल चरणोंका सर्वदा स्मरण करते रहे। जिससे उनको ऐसा अखण्ड भक्तियोग प्राप्त हुआ कि जिसके प्रतापसे उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया। उस पवित्र अन्तःकरणमें सब प्राणियोंका अन्तर्यामी तथा सर्वव्यापक परमात्मा प्रकट हुआ और वे लोग अन्तररहित होकर उसकी एकरूपताको प्राप्त कर लिये। उन प्रियव्रतकी दूसरी स्त्रीसे भी उत्तम, तामस तथा रैवत नामके तीन पुत्र हुए, ये तीनों मन्वन्तरोंके स्वामी माने गये हैं ॥ २७ ॥ २८ ॥ इस तरह उनके ये तीनों पुत्र मोक्षमार्गके अनुयायी हुए, किन्तु महाराज प्रियव्रतने ग्यारह अर्बुद वर्षोंतक पृथ्वीका भोग किया। उनकी जिन भुजाओंमें निरन्तर श्रेष्ठ पौरुष पूर्णरूपसे भरा रहता था, उन दोनों भुजाओंसे खींची हुई प्रत्यञ्चाके शब्दसे ही वे धर्मके विरोधियोंका नाश करते थे। उनकी प्रियतमा रानी बर्हिष्मती नित्य प्रति बढ़ते हुए हर्षसे उठकर उनसे मिलती थी। वह अन्य कार्योंमें भी हंसकी-सी चाल चलती हुई स्त्रियोंके योग्य हाव-भाव दिखलाती थी। वह लज्जापूर्ण अधखुले होठोंसे हासपूर्वक देखती थी और कभी-कभी मनोहर उपहासके वाक्य कहती थी। उसके सब कार्य बड़े मनोहर थे, इन सबसे उन महाराज प्रियव्रतका विवेक दबा हुआ-सा जान पड़ता था। वे अज्ञानी जैसे देख पड़ते थे, किन्तु यथार्थमें वे बड़े धीर-गम्भीर थे ॥ २९ ॥ निरन्तर भगवानकी उपासना करते रहनेसे उनका प्रभाव इतना बढ़ा हुआ था कि जैसा महत्त्व और किसी भी पुरुषोंको नहीं प्राप्त हो सका था। एक दिन उन्होंने सोचा कि सुमेरु पर्वतकी परिक्रमा करते हुए जब भगवान सूर्य प्रकाश करते हैं, तब आधे भूतलको प्रकाशित करते हैं और आधेको अन्धकारसे ढाँक देते हैं। इस बातको उन्होंने अच्छा नहीं समझा और यह संकल्प कर लिया कि सूर्यहीके रथके सदृश वेगवाले अपने तेजोमय रथसे मैं रात्रिको भी दिन कर दूँगा, यह सोचकर उन्होंने दूसरे सूर्यके समान सूर्यके पीछे-पीछे सात बार चक्कर लगाया ॥ ३० ॥ जब महाराज प्रियव्रत ऐसा करने लगे तो ब्रह्माजीने उनको यह कहकर रोका कि यह तुम्हारा काम नहीं है। किन्तु उनके रथके पहियोंसे जो नालियाँ बन गयी थीं, वे ही सात समुद्र हो गयीं और सात समुद्रोंके हो जानेपर पृथ्वीके सात भाग हो गये, वे ही सात द्वीप हुए ॥ ३१ ॥ उन सातों द्वीपोंके नाम-जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर हैं। उनका परिमाण क्रमशः पहलेसे पिछलेका दूना है और अपनेसे पहले द्वीपके अन्तरवाले समुद्र चारों ओर फैले हुए हैं ॥ ३२ ॥ क्षारोद, इक्षुरसोद, सुरोद, घृतोद, दधिमण्डोद

बर्हिष्मतीपतिरनुव्रतानात्मजनाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुहिरण्यरेतो घृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान् यथासंख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे ॥ ३३ ॥ दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद् देवयानी नाम काव्यसुता ॥ ३४ ॥

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम् ।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥ ३५ ॥

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतितगुणविसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह ॥३६॥ अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार ॥ ३७ ॥ परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्यः इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सहमहाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार ॥ ३८ ॥

तस्य ह वा एते श्लोकाः—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम् । यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन् ॥३९॥
भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः । सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥४०॥
भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम् । यश्चक्रे निरयौपम्यं पुरुषानुजनप्रियः ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतविजये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

और शुद्धरसोद यह सात समुद्र हैं। यह सातों द्वीपोंकी परिखा (खाईं) के समान हैं और परिमाणमें भीतरके द्वीपके बराबर हैं और उनमेंसे प्रत्येक परिखायें एक-एक दीपके चारों ओर अलग-अलग स्थित हैं। उन जम्बू इत्यादि सातों द्वीपोंकी बर्हिष्मतीके पति महाराज प्रियव्रतने एक-एकको एक-एक अपने आज्ञाकारी पुत्रको दे दिया। इस प्रकार उनसे क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र राजा हुए ॥ ३३ ॥ प्रियव्रतने ऊर्जस्वती नामकी कन्या शुक्रको दी, जिससे देवयानी नामक कन्या उत्पन्न हुई ॥ ३४ ॥ जो विष्णुभक्त उन भगवानके चरणकमलकी धूलिके बलसे पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मनको जीत चुके हैं, उनके लिए ऐसे पौरुषका होना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। वे भगवान ऐसे हैं कि उनकी भक्तिसे जातिका चाण्डाल तक इस संसार-बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ॥ ३५ ॥ वे अतुलित बल-पराक्रमयुक्त राजा प्रियव्रत एक दिन देवर्षि नारदके चरण-शरणमें गये और फिर दैववश प्राप्त प्रपञ्चमें फँस जानेके कारण शान्ति नहीं पा सके। तब मन-ही-मन विरक्त जैसे होकर वे कहने लगे ॥ ३६ ॥ 'अहो ! यह मैंने बड़ा बुरा किया ! मेरी विषयलोलुप इन्द्रियोंने मुझे अविद्याजनित विषम विषयरूपी अन्धकूपमें ढकेल दिया है। ये विषयभोग तो बहुत भोगे जा चुके। स्त्रीके क्रीडामृगस्वरूप मुझको भी धिक्कार है ! इस तरह उन्होंने अपनी बहुत भर्त्सना की ॥ ३७ ॥ तदनन्तर परमदेवता श्रीहरिकी कृपासे आत्मचिन्तनमें लगकर अपने पुत्रोंको सारी पृथिवी यथायोग्य ढंगसे बाँट तथा जिसके संग विविध प्रकारके भोग भोगे थे, उस राजमहिषीको भी अपने पुत्रोंके हाथों सौंप अपने महान् ऐश्वर्यके साथ सब राज्य मृतक शरीरकी भाँति त्याग और हृदयमें वैराग्य धारण करके भगवानकी लीलाओंका परिशीलन करते हुए महामुनि श्रीनारदजीके बताये मार्गका फिर अनुसरण करने लग गये ॥ ३८ ॥ उन महाराज प्रियव्रतके सम्बन्धमें ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—राजा प्रियव्रतके किये हुए कर्मोंको ईश्वरके सिवा भला और कौन प्राणी कर सकता है ? अरे ! उन्होंने अपने रथके पहियोंसे बनी लीकों द्वारा सात समुद्र बना डाले थे ॥ ३९ ॥ उन्होंने लोगोंको सुखी करनेके लिये पृथ्वीके द्वीप नामसे अनेक विभाग किये और प्रत्येक विभागमें अलग-अलग नदी, पर्वत तथा वन आदिके द्वारा सीमा निर्द्धारित कर दी ॥ ४० ॥ भगवद्भक्तोंके

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाणः पर्यगोपायत् ॥ १ ॥ स च कदाचित्पितृलोककामः सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्वसृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्र्येण तपस्व्याराधयाम्बभूव ॥ २ ॥ तदुपलभ्य भगवानादिपुरुषः सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास ॥ ३ ॥ सा च तदाश्रमोपवनमतिरमणीयं विविधनिबिडविटपिविटपनिकरसंश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गममिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामलजलाशयकमलाकरमुपबभ्राम ॥ ४ ॥ तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमानरुचिरचरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलितनयननलिनमुकुलयुगलमीषद्विकचय्य व्यचष्ट ॥ ५ ॥ तामेवाविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं दिविजमनुजमनोनयनाह्लाददुघैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य विदधतीं विवरं निजमुखविगलितामृतासवसहासभाषणामोदमदान्धमधुकरनिकरोपरोधेन द्रुतपदविन्यासेन वल्गुस्पन्दनस्तनकलशकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच—॥ ६ ॥

प्रिय उन राजराजेश्वर प्रियव्रतने अपने कर्मयोगके द्वारा प्राप्त होनेवाले पृथिवी, स्वर्ग तथा मनुष्योंके भोगोंको नरकतुल्य समझा था ॥ ४१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(महाराज आग्नीध्र और पूर्वचित्तिका समागम) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस तरह अपने पिता महाराज प्रियव्रतके तपस्यामें लग जानेपर राजा आग्नीध्र पिताकी आज्ञाका व्रत पालन करते तथा धर्मपर दृष्टि रखते हुए जम्बूद्वीपमें रहनेवाली सारी प्रजाको पुत्रके समान समझकर पालन करने लगे ॥ १ ॥ इसी समय वे पितृलोकप्राप्तिकी कामनासे अर्थात् सत्पुत्रको पानेके लिये सुरसुन्दरियोंकी क्रीडास्थली मन्दराचल पर्वतकी कन्दरामें गये और सब पूजनसामग्रियें जुटाकर एकाग्रचित्तसे तपोनिष्ठ भावपूर्वक प्रजापतियोंके भी पति श्रीब्रह्माजीका आराधन करने लगे ॥ २ ॥ आदिदेव भगवान ब्रह्माजीने आग्नीध्रकी इच्छाको जानकर अपनी सभामें गाती हुई पूर्वचित्ति नामकी अप्सराको उनके पास भेजा ॥ ३ ॥ वह अप्सरा आग्नीध्रके आश्रमके समीपवाले उपवनमें जाकर विचरने लगी। वहाँ विविध प्रकारके घने वृक्षोंकी शाखाओंके समूहसे सँटी सुवर्णकी लताओंके ऊपर बैठे हुए स्थलचारी मयूरादि पक्षियोंके जोड़े कलरवकी ध्वनि कर रहे थे। वह ध्वनि सुनकर सचेत जलकुक्कुट तथा कलहंस आदि जलपक्षियोंके विविध बोली बोलनेके कारण वहाँके कमलवनसे सुशोभित सरोवर गुञ्जायमान हो रहे थे ॥ ४ ॥ उसकी मनोहारिणी गतिविधि तथा पादप्रक्षेपके विलाससे पद-पदपर खनखनाते नूपुर आदि पैरोंके आभूषणोंकी मनोहर ध्वनि सुनकर राजकुमार आग्नीध्रने समाधियोगके द्वारा मूँदे हुये अपने दोनों नेत्रकमलोंको तनिक खोलकर निहारा तो पास ही उन्हें पूर्वचित्ति अप्सरा दिखायी पड़ी ॥ ५ ॥ वह भौंरोंके सदृश एक-एक फूलके पास जा उसे सूँघती तथा देवता और मनुष्योंके मन एवं नयनोंको आनन्दित करनेवाली अपनी गति, क्रीडा, लज्जा, विनय, चितवन, मधुर स्वरलहरी, मृदु वाणी तथा अंगोंकी बनावटसे सबके हृदयमें कामदेवको प्रविष्ट होनेके लिये द्वार-सा बना रही थी। जब हास्यपूर्ण भाषणके अवसरपर उसके मुखसे निकले अमृतमय और मस्ताने सुगन्धसे अन्धे होकर भौंरे उसके मुखकमलको घेर लेते और वह उनसे बचनेके लिए जल्दी-जल्दी पाँव उठाती हुई चलती

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः ।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे किं वा मृगान्मृगयसे विपिने प्रमत्तान् ॥ ७ ॥
बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन्न विद्मः क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु ॥ ८ ॥
शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम् ।
युष्मच्छिखाविलुलिताःसुमनोऽभिवृष्टीः सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः ॥ ९ ॥
वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम् ।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते ॥१०॥
किं सम्भृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता मे ।
पङ्कोऽरुणः सुरभिरात्मविषाण ईदृग् येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि ॥११॥
लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ बिभर्ति बह्वद्भुतं सरसराससुधादिवक्त्रे ॥१२॥
का वाऽऽत्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्क्तिशोचिरासन्नभृङ्गनिकरं सर उन्मुखं ते ॥१३॥

तो उसके दोनों कुच, वेणी और हिलती हुई करधनी बड़ी ही सुन्दर लगती थी। उसे देखनेसे भगवान कामदेवको उनके चित्तमें प्रवेश करनेका अवसर मिल गया, जिससे महामुनि आग्नीध्र जड़ जैसे होकर कहने लगे—॥ ६ ॥ "हे मुनिवर! तुम कौन हो? और इस पर्वतपर क्या करने आये हो? तुम परमपुरुष भगवानकी कोई माया तो नहीं हो? तुमने बिना प्रत्यञ्चाके ये दो धनुष किस लिए धारण कर रखा है? क्या तुम इस वनमें मतवाले मृगोंका शिकार कर रहे हो? ॥ ७ ॥ आपके जो ये कमलदलरूपी पंखोंवाले दो शान्त एवं पुंखहीन, अति सुन्दर एवं तीक्ष्ण बाण हैं, उन्हें इस वनमें विचरती हुई तुम किसपर चलाना चाहते हो? हम यहाँ तुम्हारा कोई प्रतिपक्षी भी तो नहीं देखते। तुम्हारा यह पराक्रम हम सरीखे जड़बुद्धि-वाले लोगोंका कल्याण करे॥ ८ ॥ हे भगवन्! आपके चारों ओर बैठे हुए ये अगणित शिष्यगण जो विद्याध्ययन कर रहे हैं, सो रहस्ययुक्त सामगान करते हुए मानो ईश्वरका आराधन करते हैं। ये सब ऋषि जैसे वेदकी शाखाओंका सेवन करते हैं, वैसे ही ये आपकी चोटीसे झड़े हुए पुष्पोंका भी सेवन करते रहे हैं॥९॥ हे ब्रह्मन्! आपके चरणरूपी पंजरमें बन्द तीतरोंका शब्द स्पष्ट सुनायी देता है, परन्तु उनका रूप नहीं दिखता। जिसपर जलते हुए अंगारोंका मण्डलसा पड़ा हुआ है, सो यह कदम्ब-कुसुमकी आभा आपके नितम्बोंपर कहाँसे आ उपस्थित हुई तथा आपका वल्कलवस्त्र कहाँ पड़ा है?॥ १० ॥ हे द्विज! आपके इन दोनों सुन्दर सींगोंमें क्या भरा हुआ है। ओह! इनका मध्यभाग बड़ा कृश है, उसपर पड़ी मेरी दृष्टि वहाँसे हटनेका नाम भी नहीं लेती। इन सींगों-पर आपने यह लाल-लाल कीचड़ जैसा क्या लगा रक्खा है, जिससे आप मेरे सारे आश्रम-को सुरभित कर रहे हैं ॥ ११ ॥ हे सुहृत्तम! जहाँके निवासी अपने वक्षःस्थलपर हमारे सदृश पुरुषोंके चित्तोंको लुभा लेनेवाले अवयव तथा मुखमें अतिशय अद्भुत हाव-भाव तथा सरस भाषण एवं अधरसुधा आदि धारण किये रहते हैं, वह अपना लोक हमको भी दिखाइये॥ १२ ॥ हे प्रिय! आपकी जीविकाका क्या साधन है? आप क्या खाते हैं, जिससे आपके मुखसे हवन-सामग्रीकी सुगन्धि आ रही है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि आप साक्षात् विष्णुभगवानकी कोई कला हैं। तभी तो आपके कानोंमें निमेषविहीन दो मकराकृति कुण्डल झूल रहे हैं। आपका मुख सुन्दर सरोवरके सदृश है। उसमें भयवश सदाके चंचल नेत्ररूपी दो मत्स्य खेल रहे हैं। आपके

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो दिक्षु भ्रमन् भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे ।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम् ॥१४॥
रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम् ।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं किं वा प्रसीदति स वै भवभावनो मे ॥१५॥
न त्वां त्यजामि दयितं द्विजदेवदत्तं यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम् ।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास ॥ १७ ॥ सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपवयःश्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं जम्बूद्वीपपतिना भौमस्वर्गभोगान् बुभुजे ॥१८॥ तस्यामु ह वा आत्मजान् स राजवर आग्नीध्रो नाभिकिम्पुरुषहरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान्नव पुत्रानजनयत् ॥ १९ ॥ सा सूत्वाथ सुतान्नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे ॥ २० ॥ आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः ॥ २१ ॥ आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध

दाँतोंकी पंक्ति हंसोंकी भाँति सुशोभित हो रही है और आपकी घुँघराली अलकें भौंरोंके झुण्डकी भाँति सुशोभित हैं ॥ १३ ॥ अपने करकमलोंसे थपकियें लगाकर जो आप यह कन्दुक उछाल रहे हैं, वह सब दिशा-विदिशाओंमें जाता हुआ मेरी आँखोंमें चञ्चलता उत्पन्न कर रहा है। आपकी घुँघराली जटा खुल गयी है, सो क्या इसका आपको कुछ भी ख्याल नहीं है ? ओह ! बड़े खेदकी बात है कि यह लम्पट वायु बार-बार आपकी नीवी (कटिवस्त्र) को हटा दिया करता है ! ॥ १४ ॥ हे तपोधन ! तपस्वियोंके तपको नष्ट कर डालनेवाला ऐसा सुन्दर स्वरूप आपने किस तपके बलसे प्राप्त किया है ? हे मित्र ! अब आप मेरे साथ रहते हुए तप करिए। क्या भवभावन ब्रह्मा ही मेरेपर प्रसन्न हैं, जो तुम्हें यहाँ भेज दिया है ॥ १५ ॥ हे प्रिय ! अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकता। क्योंकि तुममें मेरे नेत्र रम गये हैं और मेरा चित्त तुम्हें छोड़कर अब कहीं नहीं जायगा। हे सुन्दर सींगोंवाली ! अब तुम जहाँ चाहो वहीं मुझ अपने अनुचरको ले चलो और तुम्हारी ये मंगलमयी सखियाँ भी मेरे ही साथ चली चलें ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस तरह स्त्रियोंको फुसलानेमें बड़े चतुर और देवताओंके सदृश बुद्धिमान् राजा आग्नीध्रने विषयी पुरुषोंकी भाँति बातें करते हुए उस अप्सराको प्रसन्न कर लिया ॥ १७ ॥ तदनन्तर वीरशिरोमणि आग्नीध्रकी बुद्धि, शील, रूप, अवस्था, लक्ष्मी तथा उदारता आदि गुणोंपर विमुग्ध होकर वह उस जम्बूद्वीपपतिके साथ कई हजार वर्षतक पृथ्वी तथा स्वर्गके विविध भोगोंको भोगती हुई रही ॥ १८ ॥ राजश्रेष्ठ आग्नीध्रने उस अप्सरासे नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल नामके नौ पुत्र उत्पन्न किये ॥ १९ ॥ इस तरह प्रतिवर्ष एक एकके क्रमसे नौ पुत्र उत्पन्न करके पूर्वचित्ति महाराज आग्नीध्रको राजभवनमें ही छोड़कर फिर ब्रह्माजीके पास लौट गयी ॥ २० ॥ आग्नीध्रके वे पुत्र अपनी माताकी कृपासे स्वभावतः सुदृढ़शरीर और बलवान् थे। वे अपने पिताके द्वारा विभाग करके दिये हुए अपने ही नामोंवाले जम्बूद्वीपके भूखण्डोंका राज्य करने लगे ॥ २१ ॥ महाराज आग्नीध्रने दिन-दिन भोगोंसे अतृप्त रहते और उस अप्सराको ही परमपुरुषार्थ मानते हुए वैदिक कर्मों द्वारा अन्तमें उसीका लोक पाया, जहाँ पितरलोक अपने-अपने सुकृतोंके तारतम्यसे विविध भोगोंमें व्यस्त रहते हैं ॥ २२ ॥

यत्र पितरो मादयन्ते ॥ २२ ॥ सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितॄर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां श्यामां नारीं भद्रां देववीतिमितिसंज्ञा नवोदवहन् ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे आग्नीध्रवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत ॥ १ ॥ तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकालमन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार ॥ २ ॥ अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटककटिसूत्रहारकेयूरनूपुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक्सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः ॥ ३ ॥

ऋत्विज ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति पुमान् प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयोरर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनि-

---

पिताके परलोक चले जानेपर नाभि आदि नौ भाइयोंने मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा तथा देववीति नामकी नौ कन्याओंका पाणिग्रहण (विवाह) किया ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(राजा आग्नीध्रके पुत्र नाभिका चरित्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उन राजा आग्नीध्रके पुत्र नाभिने अपनी रानी मेरुदेवीके साथ पुत्रकी कामनासे एकाग्रतापूर्वक भगवान यज्ञपुरुषका आराधन किया ॥ १ ॥ अति श्रद्धापूर्वक और शुद्धभावसे उनके आराधना करनेपर जो श्रीभगवान द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विक्, दक्षिणा और विधान आदि सामग्रियोंसे दुष्प्राप्य थे, उन्होंने ही अपनी भक्तवत्सलताके कारण अपने भक्त नाभिका इच्छित कार्य सम्पन्न करनेके लिए अनुष्ठान होते समय अपने स्वरूपको मन और नेत्रोंके आनन्ददायक अङ्गोंसे युक्त अतिशय सुन्दर मूर्तिरूपमें प्रकट कर दिया ॥ २ ॥ जब नाभिने चार भुजाओंयुक्त उस परम तेजस्वी पुरुषविशेषको अपने समक्ष प्रकट हुआ देखा कि जो अपने शरीरपर रेशमी पीताम्बर धारण किये था, जिसके वक्षःस्थलपर मनोहर श्रीवत्सचिह्न सुशोभित था। जिसकी भुजाओंमें उत्तम शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा गलेमें वनमाला एवं कौस्तुभमणिकी अनुपम शोभा थी। जो सारे शरीर तथा सब अङ्गोंकी शोभाको बढ़ानेवाले अतिशय कान्तिसम्पन्न किरणविमण्डित मनोहर मुकुट, कुण्डल, कटक, कटिसूत्र, हार, केयूर तथा नूपुर आदि आभूषणोंसे आभूषित था। उस रूपको देखते ही सभी ऋत्विक्, सदस्य और यजमान आदि ऐसे आह्लादित हो गये जैसे कि निर्धन पुरुष उत्तम धनराशि देखकर पुलकित हो जाते हैं। तब अतिशय आदरपूर्वक मस्तक झुकाये हुए विविध प्रकारकी सामग्रियोंसे उनकी पूजामें लग गये ॥ ३ ॥ ऋत्विग्जन बोले—हे पूज्यतम प्रभो ! हम आपके अनुगामी भक्त हैं और आप हमारे पूजनीय देवता हैं। अतएव हम पुनः-पुनः आपको नमस्कार करते हैं। महापुरुषोंने हमको केवल यही शिक्षा दी है। क्योंकि प्रकृतिके गुणोंके कार्यरूपी इस प्रपञ्चमें मेरी बुद्धि फँस जानेके कारण आपके गुणगानमें सर्वथा असमर्थ ऐसा कौन-सा पुरुष है, जो प्रकृति तथा

रूपणम् ॥ ४ ॥ सकलजननिकायवृजिननिरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते ॥ ५ ॥ परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि ॥ ६ ॥ अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे ॥ ७ ॥ आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति ॥ ८ ॥ तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्षकरुणया स्वमहिमानं चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन् स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ९ ॥ अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत् ॥१०॥ असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगणपरममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि ॥ ११ ॥ अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ॥१२॥ किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम् ॥ १३ ॥ को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषयविषरयानावृतप्रकृतिरनुपासित-

---

पुरुषसे अतीत आप प्राकृत रूपरहित परमेश्वरके विशुद्ध स्वरूपका प्राकृत नाम-रूपोंके द्वारा निरूपण कर पायेगा ? ॥ ४ ॥ यदि कोई समस्त जनसमूहके दुःखोंको दूर करनेवाले आपके श्रेष्ठतम गुणोंके वर्णनका साहस भी करेगा तो वह भी केवल उनके एकदेशका ही वर्णन कर पायेगा ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! आप तो अपने भक्तोंके द्वारा गद्गद वाणीसे की हुई स्तुति तथा जल, शुद्ध तुलसीदल एवं दूर्वाङ्कुरादि सामग्रियोंके द्वारा की हुई पूजासे ही सन्तुष्ट हो जाया करते हैं ॥ ६ ॥ हम तो अनेक प्रकारकी सामग्रियोंयुक्त इस यज्ञसे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं देख पाते ॥ ७ ॥ क्योंकि आप परमानन्दस्वरूपको तो सारे पुरुषार्थ स्वयं सदा अभिन्नभावसे स्वभावतः प्राप्त रहते हैं । हे नाथ ! हम जैसे विविध वस्तुयें चाहनेवालोंको तो इस तरह आपकी आराधना करनी ही चाहिए ॥ ८ ॥ हे पुरुषोत्तम ! यद्यपि हम जैसे मन्दमतिवाले लोग नहीं जानते कि हमारा कल्याण कैसे होगा तो भी आप अतिशय करुणावश हमें मोक्ष नामका अपना परमपद देनेके निमित्त मेरे द्वारा वस्तुतः पूजित न होकर भी अन्य सकाम उपास्य देवोंकी भाँति दर्शन दिये हैं ॥ ९ ॥ हे पूज्यतम प्रभो ! इन राजर्षि नाभिको वरदायकोंमें सर्वश्रेष्ठ आपने इस यज्ञशालामें स्वयं पधारकर जो हम भक्तोंके आगे प्रत्यक्ष दर्शन दिया है, यही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ वरदान है ॥ १० ॥ हे प्रभो ! आपके गुणगणोंका गान अतिशय मंगलमय है । अतएव जिन्होंने असंगभावसे प्रज्वलित ज्ञानाग्निके द्वारा अपने अन्तःकरणके रागद्वेष आदि समस्त मलोंको भस्म कर डाला है, वे आपहीके सदृश स्वभाववाले आत्माराम मुनि भी सर्वदा आपके गुणोंको गाया करते हैं ॥ ११ ॥ अतएव हम आपसे यही वर माँगते हैं कि गिरने, पड़ने, भूख, प्यास, जमुहाई तथा संकट आदिके अवसरपर तथा ज्वर और मरण आदिके कारण परवश होकर भी हम सभी मल नष्ट करनेवाले भक्तवसत्सलत्व तथा दीनबन्धुत्व आदि गुणोंसे सम्पन्न आपके नामोंका उच्चारण किया करें ॥ १२ ॥ इसके अतिरिक्त जैसे निर्धन पुरुष किसी महापुरुषके पास जाकर उससे भूसी माँगे वैसे ही स्वर्ग-अपवर्ग आदि सभी कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ यह राजर्षि नाभि आप परमेश्वरसे पुत्रकी इच्छावश आपके सदृश पुत्र पानेकी कामनासे आपकी आराधना करता है ॥ १३ ॥ किन्तु यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । महापुरुषोंके चरणोंके सेवक भक्तोंके सिवाय ऐसा कौन पुरुष है, जो आपकी अपराजेय तथा अतिशय दुस्तर मायासे परास्त न हुआ हो, उससे जिसकी बुद्धि आच्छन्न न हुई हो और विषयरूपी विषयके वेगसे जिसका स्वभाव दूषित न हुआ हो

महच्चरणः ॥१४॥ यदुह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान् प्रतिवोढुमविदुषाम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दितचरणः सदयमिदमाह ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद् द्विजदेवकुलम् ॥१७॥ तत आग्नीध्रीयेंऽशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः ॥ १८ ॥

श्रीशुक उवाच

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् ॥१९॥ बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे नाभिचरिते ऋषभावतारो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः ॥१॥ तस्य ह

॥ १४ ॥ हे अनेक महान् कार्य करनेवाले देवता ! हम सकाम मन्दबुद्धिवालोंने इस तुच्छ कार्यके लिये आपका आवाहन करके जो अनादर किया है सो हम अज्ञानियोंकी इस धृष्टताको आप क्षमा कर दें। क्योंकि आप सबको समान भावसे देखते हैं॥ १५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! राजा नाभिके पूज्य ऋत्विजों द्वारा इस तरह चरणवन्दन तथा इस गद्यात्मक स्तोत्रसे स्तूयमान होनेपर देवताओंमें श्रेष्ठ श्रीहरि दयापूर्वक बोले ॥ १६ ॥ भगवानने कहा—हे ऋषीश्वरों ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि आप सत्यवादी महात्माओंने मुझसे ऐसा दुर्लभ वर माँगा है कि राजर्षि नाभिके घर मेरे समान पुत्र उत्पन्न हो। हे मुने ! अद्वितीय होनेके नाते अपने समान तो मैं स्वयं हूँ। तो भी ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या नहीं हो सकता। क्योंकि ब्राह्मणवंश मेरा ही मुख है॥ १७॥ सो मैं स्वयं अपनी अंशकलासे अग्नीध्रनन्दन नाभिके घर जन्म लूँगा। क्योंकि मैं और किसीको अपने सदृश नहीं देखता ॥१८॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! राजरानी मेरुदेवीके सुनते-सुनते उसके पति राजा नाभिसे ऐसा कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये ॥१९॥ हे राजा परीक्षित ! इस प्रकार उस वंशमें महर्षिके द्वारा प्रसन्न किये हुए भगवान महाराज नाभिका प्रिय कार्य करनेके लिये उनके रनिवासमें महाराज मेरुदेवीके गर्भसे दिगम्बर संन्यासी तथा ऊर्ध्वरेता मुनियोंका धर्म प्रकट करनेके निमित्त विशुद्धसत्त्वमय विग्रहसे अवतार लिये ॥ २० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे नाभिचरिते ऋषभावतारो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(महाराज ऋषभदेवजीका शासनकाल) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जन्मसे ही ऋषभदेवजीको भगवान विष्णुके वज्र-अंकुश आदि चिह्नोंको प्रकट करनेवाले अङ्गोंसे युक्त और समता, उपशम, वैराग्य तथा ऐश्वर्य आदि महाविभूतियोंके कारण बढ़ते हुए प्रभावसे युक्त देखकर सब मन्त्री,

वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार ॥२॥ तस्य हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान् वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत् ॥३॥ नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजास्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया गिरा स्वैरं गृहीतनरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिवत्स ताततेति सानुरागमुपलालयन् परां निर्वृतिमुपगतः ॥४॥ विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप ॥५॥

यस्य ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—

को नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान् । अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा ॥६॥
ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः । यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥७॥

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुलवासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्रदत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास ॥८॥ येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः

प्रजाजन, ब्राह्मण तथा देवताओंमें दिनोंदिन यह उत्कट अभिलाषा जागृत होने लगी कि ये ही राजकाज सम्हालें ॥ १ ॥ उनके सुन्दर शरीर महती, कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, वीर्य तथा शूरवीरता आदि गुणोंसे पिता नाभिने उनका ऋषभ नाम रक्खा ॥ २ ॥ एक समयकी बात है कि भगवान इन्द्रने ईर्ष्यावश ऋषभजीके राज्यमें वर्षा नहीं की। ऐसी दशामें योगेश्वर श्रीऋषभदेवने इन्द्रकी मूर्खतापर हँसते हुए अपने योगबलसे अजनाभखण्डमें खूब जलवर्षा की ॥ ३ ॥ महाराज नाभि तो अपनी इच्छानुसार सुपुत्र पा और अत्यन्त आनन्दमग्न होकर अपनी इच्छासे ही मानव शरीरधारी पुराणपुरुष भगवानके मायाविलाससे भ्रान्तबुद्धि होकर उनका बड़े प्रेमसे लालन-पालन करते हुए 'हे वत्स ! हे तात' गद्गद वाणीसे ऐसा कहते हुए बड़ी प्रसन्नताको प्राप्त होते थे ॥ ४ ॥ तदनन्तर पुरवासी तथा सचिवगणसे लेकर देशवासियोंका भी अपने पुत्रमें दृढ़ अनुराग देखकर राजा नाभि उस समयकी धर्ममर्यादाके रक्षार्थ ऋषभदेवका राज्याभिषेक कर तथा उनकी देख-रेखके लिये निपुण ब्राह्मणोंको नियुक्त करके आप मेरुदेवीके साथ बद्रिकारण्य चले गये। वहाँ घोर तपस्या तथा समाधियोगसे नर-नारायण नामक भगवान वासुदेवकी आराधना करके कालक्रमसे उन्हींके स्वरूपमें समा गये ॥५॥ हे पाण्डवेय ! विद्वान् लोग राजा नाभिके विषयमें इन दो श्लोकोंको कहते हैं—राजर्षि नाभिके किये हुए उदार कर्मोंका आचरण भला दूसरा कौन पुरुष कर सकता है ? जिसके शुद्ध कार्योंसे सन्तुष्ट होकर ही भगवान उनके यहाँ पुत्ररूपमें प्रगटे थे ॥ ६ ॥ महाराज नाभिके सदृश ब्राह्मणभक्त भी भला और कौन हो सकेगा ? जिनके द्वारा दक्षिणा आदिसे भलीभाँति पूजित ब्राह्मणोंने अपने मन्त्र-बलसे उन्हें यज्ञशालामें साक्षात् विष्णुभगवानके दर्शन करा दिये थे ॥ ७ ॥ वे भगवान ऋषभदेवजी अपने देश अर्थात् अजनाभखण्डको ही कर्मभूमि मानकर लोकसंग्रहार्थ कुछ दिनों तक गुरुकुलमें रहे। तदनन्तर गुरुदक्षिणा दे और गुरुदेवकी आज्ञा पा गृहस्थोंको धर्माचरणकी शिक्षा देनेके निमित्त इन्द्रके द्वारा दी हुई उसकी कन्या जयन्तीके साथ विवाह करके वैदिक और स्मार्त दोनों ही प्रकारके कर्मोंका आचरण करते हुए जयन्तीके द्वारा अपने ही सदृश गुणवान् सौ पुत्र उत्पन्न किये ॥ ८ ॥ उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े तथा बड़े ही गुणी थे।

श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥९॥ तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवतिप्रधानाः ॥१०॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः । आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥११॥
इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं वसुदेव-नारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः ॥१२॥ यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः ॥१३॥ भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ॥ १४ ॥ यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥१५॥ यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास ॥१६॥ द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज ॥१७॥ भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण ॥१८॥ स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

उन्हींके नामसे यह देश 'भारतवर्ष' कहलाता है ॥ ९ ॥ उन छोटे भाई कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट नामक नौ राजकुमार भरतजीके अनुगामी तथा शेष नब्बे भाइयोंसे श्रेष्ठ थे ॥ १० ॥ उन नवोंके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस एवं करभाजन ॥ ११ ॥ ये नवों राजकुमार भागवतधर्मके निदर्शक तथा परम भगवद्भक्त थे। भगवन्महिमासे महिमान्वित तथा शान्तिमय इनका चरित्र हम नारद तथा वासुदेवजीके संवादके प्रसङ्गमें आगे चलकर एकादश स्कन्धमें बतायेंगे ॥ १२ ॥ इनसे भी छोटे जो इक्यासी जयन्तीपुत्र थे वे पिताकी आज्ञाके पालक, अति विनीत, महावेदज्ञ तथा निरन्तर यज्ञशील थे। वे पुण्यकर्मोंका निरन्तर अनुष्ठान करते रहनेसे विशुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे ॥ १३ ॥ भगवान ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र, अनर्थपरम्परासे रहित, एकमात्र आनन्दानुभवस्वरूप और साक्षात् ईश्वर थे, फिर भी अज्ञानियों जैसे कर्म करते हुए कालक्रमसे चलनसार धर्मका आचरण करके उसके तत्त्वसे अनभिज्ञ सर्वसाधारणको धर्मकी शिक्षा दी। उन्होंने सम, शान्त, सुहृद तथा कारुणिक भावसे रहते हुए धर्म, अर्थ, यश तथा सन्तानसे होनेवाले आनन्दकी प्राप्तिके निमित्त सबको गृहस्थोचित धर्ममार्गमें प्रवृत्त किया ॥ १४ ॥ क्योंकि बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, अन्य साधारण पुरुष भी उनका अनुकरण करने लगते हैं ॥ १५ ॥ वे भगवान ऋषभदेव यद्यपि वेदके गूढ़ रहस्यस्वरूप सब धर्मोंको जानते थे, फिर भी ब्राह्मणोंकी बतायी विधिसे साम-दामादि नीतियोंका अवलम्बन करके अपनी प्रजाका पालन किया करते थे ॥ १६ ॥ उन्होंने भिन्न-भिन्न देवताओंके उद्देश्यसे द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा तथा ऋत्विक् आदिसे समृद्धिको प्राप्त सब यज्ञोंके द्वारा शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भगवान यज्ञपुरुषका सौ बार पूजन किया था ॥ १७ ॥ उन भगवान ऋषभदेवके राज्यकालमें इस देशका कोई भी पुरुष अपने लिये किसीसे भी अपने स्वामीके प्रति दिन-दिन बढ़नेवाले अनुरागके सिवा और कोई भी वस्तु नहीं चाहता था क्योंकि सब सन्तुष्ट थे ॥ १८ ॥ एक समयकी बात है—

पञ्चमोऽध्यायः

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥१॥
महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥२॥
ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥३॥
नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति ।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः ॥४॥
पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥५॥
एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥६॥
यदा न पश्यत्ययथागुणेहां स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित् ।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापानासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥७॥

भगवान् ऋषभदेव इधर-उधर घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देशमें जा पहुँचे। वहाँपर उन्होंने अगणित ब्रह्मर्षियोंकी सभामें विराजमान अपने विनीत, प्रेमी तथा समाहित चित्तवाले पुत्रोंको देखा। उन सबको शिक्षा देनेके अभिप्रायसे वे अपनी प्रजाके समक्ष इस प्रकार बोले ॥ १९ ॥ इति श्रीमद्भागवते पञ्चमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(ऋषभदेवका पुत्रोंको उपदेशदान तथा अवधूतवृत्तिग्रहण) श्रीऋषभदेवजी कहने लगे—हे पुत्रों! मर्त्यलोकमें मानव देह पाकर मनुष्यके लिए यह उचित नहीं है कि इस उत्तम शरीरसे विष्ठाभोजी शूकरादि भी सुलभ एवं दुःखमय विषयभोगोंमें लिप्त रहे। अतएव उस तपका ही आचरण करना अच्छा है, जिससे अपना अन्तःकरण शुद्ध हो और अनन्त ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें बाधा न पहुँचे ॥ १ ॥ वास्तवमें महापुरुषकी सेवा ही मुक्तिका द्वार है और कामियोंका संग नरकका द्वार होता है। महापुरुष वे ही कहे जाते हैं जो समानचित्त, शान्तस्वभाव, क्रोधहीन, सबके सुहृद् तथा सदाचारसम्पन्न होते हैं ॥ २ ॥ जो एकमात्र मुझ परमात्मासे ही प्रेम करते हैं, वे केवल उदरपोषणका ही काम करनेवाले लोगों तथा स्त्री, पुत्र एवं धन आदि सामग्रियों युक्त घरोंमें प्रेम नहीं करते और केवल शरीरनिर्वाहार्थ ही लौकिक कार्योंमें प्रवृत्त रहा करते हैं ॥ ३ ॥ जो मनुष्य प्रमादी होकर कुकर्म करने लगता है, उसकी वह प्रवृत्ति एकमात्र इन्द्रियोंके तृप्त्यर्थ ही होती है। मैं इसे अच्छा नहीं मानता। क्योंकि यह शरीर वस्तुतः असत् होकर भी आत्माको जबतक परमात्मतत्त्वकी जिज्ञासा नहीं होती, तभीतक अज्ञानवश उसका सर्वत्र पराजय होता है। क्योंकि अज्ञानवश जबतक वह लौकिक तथा वैदिक कर्मोंमें फँसा रहता है, तबतक उसका चित्त कर्मवासनाओंमें लीन रहता और इसीसे उसे शारीरिक बन्धनमें पड़ना पड़ता है ॥४॥५॥ इस तरह अविद्यावश आत्मस्वरूपके आच्छादित हो जानेके कारण कर्मवासनाओंके वशीभूत चित्त मनुष्योंको फिर कर्मोंमें लगा दिया करता है। अतएव जबतक जीवकी मुझ भगवानमें प्रीति नहीं होती, तबतक वह देहबन्धनसे नहीं छूट पाता ॥६॥ मनुष्य जबतक अपने सच्चे स्वार्थ अर्थात् परमार्थसे असावधान रहता और इन्द्रियोंकी चेष्टाको मिथ्या

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तैर्जनस्य मोहोऽयमहंममेति ॥८॥
यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य कर्मानबुद्धो दृढ आश्लथेत ।
तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्मान्मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम् ॥९॥
हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्त्या वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥१०॥
मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥११॥
अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक् ।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वदसम्प्रमादेन यमेन वाचा ॥१२॥
सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥१३॥
कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्धमविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः ।
अनेन योगेन यथोपदेशं सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात् ॥१४॥
पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः ।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥१५॥

नहीं समझता तबतक वह मूढ अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझकर भी विवेकहीन होकर मैथुनप्रधान गृह-पुत्र स्त्री आदिमें आसक्त रहता हुआ विविध प्रकारके क्लेश उठाया करता है ॥ ७ ॥ सभी स्त्री और पुरुषोंका परस्पर दाम्पत्यभाव ही उनके हृदयकी दुर्भेद्य ग्रन्थि होती है। इसीके कारण पुरुषको गृह, स्त्री, पुत्र, स्वजन तथा धन आदिमें 'मैं और मेरा' यह मोह जागृत होता है ॥ ८ ॥ जब मनुष्यकी कर्मवासनाओंके कारण बँधी हुई हृदयकी दृढ ग्रन्थि महापुरुषोंके सङ्गसे ढीली हो जाती है, तभी वह गृहासक्तिसे निवृत्त होता और सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर संसारके कारणस्वरूप अहङ्कारको त्यागकर परमपद पाता है ॥ ९ ॥ हे पुत्रों ! इस संसारसागरसे पार पानेमें कुशल और धैर्य, उद्यम तथा सत्त्वगुणविशिष्ट पुरुषोंका कर्तव्य है कि सबके आत्मास्वरूप मुझ गुरुमें भक्तिभाव रखने, तृष्णाको त्यागने, द्वन्द्व सहने आदिसे सर्वत्र जीवको दुःख ही झेलना पड़ता है' इस विचारसे, तत्त्वजिज्ञासासे, तपस्यासे, सांसारिक वासना त्यागनेसे, मेरे ही लिये कर्म करनेसे, मेरी कथाओंको नित्य सुनते रहनेसे, मेरे भक्तोंका सङ्ग करने तथा मेरे गुणगानसे, वैरत्याग, समता तथा उपशमसे, शरीर एवं गृह आदिमें मैं तथा मेरेपनका भाव त्यागनेकी अभिलाषासे, आत्मविचारसे, एकान्तसेवनसे, प्राण, इन्द्रिय तथा मनका पूर्ण संयम करनेसे, गुरु एवं शास्त्रादिमें श्रद्धा रखनेसे, ब्रह्मचर्यसे, निरन्तर सावधानीसे, वाणीके संयमसे, सर्वत्र प्रभुकी सत्ता देखनेसे, अनुभवज्ञानपूर्ण तत्त्वविचार और योगसाधनसे अपने अहङ्काररूपी लिङ्गशरीरको नष्ट कर दे ॥ १०–१३ ॥ अविद्यावश प्राप्त हृदयग्रन्थिस्वरूप कर्माशयको पूर्वोक्त साधनों द्वारा भली-भाँति नष्ट करके फिर उन साधनोंसे भी पृथक् हो जाय ॥ १४ ॥ मेरे लोकको प्राप्त करनेका इच्छुक राजा अथवा गुरुका कर्तव्य है कि मेरा अनुग्रह पानेके लिये अपनी अबोध प्रजा तथा शिष्योंको क्रोधरहित होकर ऐसी ही शिक्षा दे। कर्मको ही परम पुरुषार्थ समझनेवाले अज्ञानियोंको कर्ममें न लगावे, क्योंकि अन्धे गढ़ेमें ढकेलनेवाले पुरुषके समान उन कर्मान्धोंको कर्म प्रवृत्त

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टिर्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः ।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतोरनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥१६॥
कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिदविद्यायामन्तरे वर्तमानम् ।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥१७॥
गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥१८॥
इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्तो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ॥१९॥
तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः सर्वे महीयांसममुं सनाभम् ।
अक्लिष्टबुद्ध्या भरतं भजध्वं शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम् ॥२०॥
भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः ।
ततो मनुष्याः प्रथमास्ततोऽपि गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥२१॥
देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम् ।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥२२॥
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्पश्यामि विप्राः किमतः परं तु ।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाहमश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥२३॥

करनेसे भला कौनसे पुरुषार्थकी सिद्धि की जा सकती है ? ॥ १५ ॥ सभी सांसारिक प्राणी अपने वास्तविक श्रेयको न समझकर विविध प्रकारकी कामनाओंसे अन्धे होकर तनिकसे सुखके लिये परस्पर वैर ठानकर विषयभोग चाहते हैं, किन्तु वे मूढ़ प्राणी इस द्रोहसे मिलनेवाले नरकादि अनन्त दुःखोंको कुछ भी नहीं समझते ॥ १६ ॥ कुमार्गगामी अन्धे पुरुषकी भाँति उस बुद्धिहीन प्राणीको अविद्याग्रस्त देखकर कोई भी दयालु तथा विवेकशील पुरुष जान-बूझकर कैसे उसीमें प्रवृत्त करेगा? ॥ १७ ॥ अतएव जो मनुष्य सदुपदेश देकर सिरपर आयी हुई मृत्युसे नहीं बचा पाता—वह गुरु गुरु नहीं हो सकता, वह स्वजन स्वजन नहीं हो सकता, वह पिता पिता नहीं हो सकता, वह माता माता नहीं हो सकती, वह इष्टदेव इष्टदेव नहीं हो सकता और वह पति पति होनेका अधिकारी नहीं हो सकता ॥ १८ ॥ मेरा शरीर सर्वथा तर्कनासे परे है, धर्मकी स्थितिसम्पन्न सत्त्वगुण ही मेरा हृदय है और अधर्म मेरे पृष्ठभागमें स्थित रहता है । अतएव सज्जन लोग मुझे ऋषभदेव कहते हैं ॥ १९ ॥ तुम सब मेरे हृदयसे उत्पन्न हुए हो । इस कारण तुम सब अपने सहोदर तथा ज्येष्ठ भ्राता महात्मा भरतकी निष्कपटभावसे सेवा करो । उनकी सेवा करना ही तुम्हारा प्रजापालन धर्म है ॥ २० ॥ देखो, अन्य सब प्राणियोंकी अपेक्षा वृक्ष श्रेष्ठ होते हैं । उनसे सर्प आदि कीट तथा उनसे भी ज्ञानयुक्त पशु आदि प्राणी श्रेष्ठ होते हैं । पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंसे भूत-प्रेतादि प्रथमगण, प्रमथोंसे गन्धर्व, गन्धर्वोंसे सिद्धगण और सिद्धोंसे भी देवताओंके अनुचर किन्नर आदि श्रेष्ठ होते हैं ॥ २१ ॥ किन्नरोंसे असुर, असुरोंसे इन्द्रादिक देवता और देवताओंसे ब्रह्माजीके पुत्र दक्ष आदि श्रेष्ठ माने गये हैं । ब्रह्माजीकी सब सृष्टिमें भगवान शङ्कर सबसे बड़े हैं । ब्रह्माजीके द्वारा उनकी उत्पत्ति हुई है, इसलिये ब्रह्माजी उनसे भी श्रेष्ठ हैं । वे मेरे उपासक हैं, अतएव मैं उनसे भी बड़ा हूँ और ब्राह्मण मेरे भी पूज्य हैं ॥ २२ ॥ हे विप्रो ! मैं ब्राह्मणोंके सदृश और किसी भी प्राणीको नहीं मानता । तब उनसे अधिक मैं किसीको कैसे मान सकूँगा ? मनुष्योंके द्वारा ब्राह्मणोंके मुखमें श्रद्धापूर्वक हवन किये हुए अन्नको मैं जितनी प्रसन्नतासे

धृता तनूरुशती मे पुराणी येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र ॥२४॥
मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्।
येषां किमु स्यादितरेण तेषामकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥२५॥
सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भिश्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे ॥२६॥
मनोवचोदृक्करणेहितस्य साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि।
विना पुमान् येन महाविमोहात्कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज ॥२८॥ जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव ॥२९॥ तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वाद-

---

स्वीकार करता हूँ, वैसे अग्निहोत्रके आहुतिस्वरूप पदार्थोंको नहीं अपनाता ॥ २३ ॥ जिन लोगोंने इस लोकमें अति सुन्दर और पुरातन मेरी वेदरूपिणी मूर्तिको अध्ययनादि द्वारा धारण किया है, जो अतिशय पवित्र, सत्त्वगुण, शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा तथा ज्ञानादिसे सम्पन्न होते हैं और जो स्वर्ग तथा मोक्ष देनेमें भी समर्थ एवं ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ मुझ अनन्तसे कुछ पाना नहीं चाहते तो उन मेरे अकिञ्चन भक्तोंको अन्य पुरुषों द्वारा भला किस वस्तुको पानेकी इच्छा हो सकती है ? ॥ २४ ॥ २५ ॥ सो हे पुत्रों ! तुम लोग अखिल चराचर प्राणियोंको मेरा ही स्वरूप समझकर शुद्ध बुद्धिसे पद-पदपर उनकी सेवा करो—उनका पूजन मेरा ही पूजन होगा ॥ २६ ॥ मन, वचन, दृष्टि तथा अन्य इन्द्रियोंकी चेष्टारूपी कर्मोंके द्वारा चराचर प्राणियोंके रूपमें पूजित मुझ परमेश्वरकी यही प्रत्यक्ष पूजा है, जिसके बिना प्राणी अपने-आपको महामोहमय कालपाशसे नहीं छुड़ा पाता ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! महामहिम और परमसुहृद् भगवान ऋषभदेवजी स्वयं भली-भाँति शिक्षा पाये हुए अपने सब पुत्रोंको लोकशिक्षा देनेके निमित्त इस तरह उपदेश देकर अपने सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े तथा सभी भगवद्भक्तोंके आश्रयस्वरूप भरतजीका पृथिवीकी रक्षाके निमित्त घरपर ही राज्याभिषेक कर दिया। तदनन्तर ऋषभदेव महामुनियोंको भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्यरूपी पारमहंस्यधर्मका उपदेश देते हुए उन्मत्तकी भाँति दिगम्बरवृत्तिके अनुसार केश खोले हुए आहवनीयादि सभी अग्नियोंको अपनेहीमें स्थापित करके विरक्तभावसे ब्रह्मावर्तदेशके बाहर चले गये। उस अवसरपर उनके पास परिग्रहके रूपमें केवल उनका शरीर भर रह गया था ॥ २८ ॥ वे जड़, अन्धे, गूँगे, बहरे, पिशाच तथा उन्मत्तोंकी तरह अवधूतवेषमें रहते तथा लोगोंके बोलनेपर भी स्वयं चुप रहते थे ॥ २९ ॥ वे पुर, ग्राम, खान, किसानोंके खेतों, बाड़ियों, पर्वतोंके ग्रामों, सेनाओंके पड़ावों, पशुशालाओं, ग्वालोंकी झोपड़ियों, यात्रियोंके समूहों, वनों तथा आश्रम आदिमें

विखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम ॥ ३० ॥ अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुल-बाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिन-निजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत ॥ ३१ ॥ यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीप-मिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः ॥ ३२ ॥ तस्य ह यः पुरीषसुरभि सौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात्सुरभिं चकार ॥ ३३ ॥ एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥ ३४ ॥ इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

मनमाने ढंगसे विचरने लगे। उस समय वे मार्गमें जहाँ जाते, वहीं दुष्ट मनुष्य वनमें विचरनेवाले उन्मत्त हाथीको जिस तरह मक्षिकादि जीव काटते हैं, वैसे ही उन्हें कोई धमकी देता, कोई मारता, कोई पेशाब करदेता, कोई थूकता, कोई पत्थरसे मारता, कोई विष्ठा तथा धूल फेंकता, कोई उनपर अधोवायु छोड़ता और कोई गाली सुनाकर उनका अपमान करता था। फिर भी वे उसका कुछ ख्याल नहीं करते थे। क्योंकि भ्रमवश सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या शरीरमें उनकी ममता और अभिमान कुछ भी नहीं था। वे कार्य-कारणरूपी सारे जगत्के साक्षीरूपी अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित थे। इसीसे अविचल मन होकर अकेले ही पृथ्वीपर विचरते थे ॥ ३० ॥ उनके अतिशय सुकुमार हाथ, पाँव, वक्षःस्थल, विशाल बाहु, कंधे, कण्ठ तथा मुख आदि अंगोंकी गठन बड़ी सुन्दर थी। उनका स्वभावतः सुन्दर मुख मधुर मुसकानके कारण और भी मनोहर लगता था। नवीन कमलके सदृश विशाल तथा शीतल ताराओंसे युक्त उनके नेत्रकमल बड़े ही सुन्दर थे। उनके कपोल, कर्ण, कण्ठ तथा नासिका समान और सुडौल थे। वे अपने मन्दमुसकानयुक्त मनोहर मुखारविन्दसे सब पुरनारियोंके चित्तमें कामदेवको जागृत करते थे। ऐसे होनेपर भी वे आगेकी ओर लटकी हुई अपनी अरुण-वर्ण एवं घुँघराली लम्बी-लम्बी जटाओंके भार तथा अवधूतवेश एवं अतिमलिन शरीरसे ग्रहग्रस्त अर्थात् पागल सरीखे दीखते थे ॥ ३१ ॥ जब कि भगवान ऋषभदेवजीने देखा कि लौकिक जनसमूह योगसाधनमें विघ्नसदृश हैं और इससे बचनेके लिए बीभत्सरूपसे रहना अनिवार्य है तो उन्होंने अजगर जैसी वृत्ति धारण कर ली और लेटे-लेटे ही खाने, पीने तथा मल-मूत्र आदि त्यागने लगे। अपने ही मलमें देरतक पड़े रहनेसे उनका सारा शरीर उससे सौंद जाता था ॥ ३२ ॥ उन महा-पुरुषके मलकी गन्धसे वायु सुगन्धित होकर उनके चारों ओर दस योजन तक सब देशोंको सुगन्धित करता था ॥ ३३ ॥ इसी तरह गौ, मृग और काक आदिकी वृत्तियोंको ग्रहण करके वे गौ, मृग तथा कौवोंकी भाँति कभी चलते-चलते कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने तथा मल-मूत्र त्यागने लगते थे ॥ ३४ ॥ हे राजन्! इस तरह विविध प्रकारकी योगचर्याओंके आचारी मोक्षपति भगवान ऋषभदेवजी सर्वदा अतिशय उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव करते हुए सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा अपने आत्मस्वरूप भगवान वासुदेवमें अभिन्नभावसे स्थित होकर सब पुरुषार्थोंसे परिपूर्ण

षष्ठोऽध्यायः

राजोवाच

न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते ॥ २ ॥ तथा चोक्तम्—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते । यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥३॥
नित्यं ददाति कामस्य च्छिद्रं तमनु येऽरयः । योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥४॥
कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः । कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः ॥५॥

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम ॥ ६ ॥ तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन सङ्क्रममाणः कोङ्कवेङ्ककुटकान्दक्षिणकर्णाटकान् देशान् यदृच्छयोपगतः कुटकाचलोपवन आस्यकृताश्मकवल उन्माद इव

हो गये थे। अतएव उन्होंने अपने-आप प्राप्त आकाशगमन, मनोजव, अन्तर्धान, परकायप्रवेश तथा दूरश्रवण आदि योगसिद्धियोंको उन्होंने अपने मनसे अङ्गीकार नहीं किया ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(श्रीऋषभदेवजीके शरीरत्यागका वृत्तान्त) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने पूछा—हे भगवन् ! योगरूपी वायुसे प्रज्वलित ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके कर्मबीज दग्ध हो गये रहते हैं, उन आत्माराम तथा महात्माओंको दैववश स्वतः प्राप्त अणिमादि सिद्धियाँ क्यों रागद्वेषादि क्लेशोंका कारण नहीं होतीं ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—तुमने ठीक कहा है, किन्तु जैसे धूर्त किरात अपने समीप स्थित मृगका विश्वास नहीं करते, वैसे ही महात्मालोग इस चञ्चल चित्तपर विश्वास नहीं करते ॥ २ ॥ कहा भी है—'जब चित्त चञ्चल रहे, तब इससे कभी भी मित्रता न करे। इसपर विश्वास करनेके कारण ही श्रीशिवजीका चिरकालसञ्चित तप भंग हो गया था ॥ ३ ॥ जैसे व्यभिचारिणी-स्त्री अपने यारोंको मौका देकर उनके द्वारा अपनेपर विश्वास करनेवाले पतिका वध करा डालती है। वैसे ही मनपर विश्वास करनेवाले योगियोंका मन काम एवं उसके अनुचर लोभादि शत्रुओंको मौका देकर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है ॥ ४ ॥ जो काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह तथा भय आदि शत्रुओं तथा कर्मबन्धनका मूल कारण है, उस मनपर कोई बुद्धिमान् पुरुष कैसे विश्वास करेगा ?' ॥ ५ ॥ इस तरह भगवान ऋषभदेवजी इन्द्रादि सभी लोकपालोंके भूषणरूप होकर भी जड़पुरुषोंके समान विलक्षण अवधूतवेष, भाषा और आचरणसे अपने ईश्वरीय प्रभावको छिपाये हुए थे। अन्तमें उन्होंने योगियोंकी देहत्यागकी विधि सिखानेके लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा। अतः वे अपने अन्तरात्मामें अभेदरूपसे स्थित परमात्माको अपने साथ तादात्म्यभावसे देखते हुए देहाभिमानसे मुक्त हो संसारसे उपराम हो गये ॥ ६ ॥ इस प्रकार लिंगदेहके अभिमानसे मुक्त भगवान ऋषभदेवजीका स्थूल शरीर योगमायाकी वासनासे केवल अभिमानाभासके आश्रयसे ही इस पृथिवीतलपर विचरता हुआ दैववश कोङ्क, वेङ्क और कुटक आदि दक्षिणकर्णाटक प्रान्तके देशोंमें गया और मुँहमें पत्थरका ग्रास डाले तथा बाल बखेरे

मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार ॥ ७ ॥ अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह ॥ ८ ॥ यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते ॥ ९ ॥ येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौचचारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥ १० ॥ ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाऽऽश्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥ ११ ॥ अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ १२ ॥ तस्यानुगुणान् श्लोकान् गायन्ति—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥१३॥
अहो नु वंशो यशसावदातः प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः ।
कृतावतारः पुरुषः स आद्यश्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥१४॥
को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छेन्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी ।
यो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥१५॥

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्राव-

---

उन्मत्तके समान दिगम्बरवृत्तिसे कुटकाचलके उपवनमें विचरने लगा ॥ ७ ॥ इसी समय वायुवेगसे हिलते हुए बाँसोंके संघर्षसे प्रकट हुए दावानलने उस वनका ग्रास करते हुए ऋषभदेवजीके शरीरसहित उस वनको भस्म कर दिया ॥ ८ ॥ हे राजन्! जिस समय कलियुगमें अधर्मकी वृद्धि होगी, उस समय कोङ्क, वेङ्क और कुटक देशका मन्दमति राजा 'अर्हत्' ऋषभदेवके आचरणका वृत्तान्त सुन भवितव्यताके वशीभूत हो अपना निर्भय वैदिक धर्म त्यागकर अपनी बुद्धिसे अनुचित एवं पाखण्डपूर्ण कुमार्गका प्रचार करेगा ॥ ९ ॥ जिससे कलियुगके अधम मनुष्य देवमायासे मोहित हो अपने-अपने शास्त्रविहित शौच तथा आचरण छोड़कर बुद्धिहीन हो स्नान तथा आचमन न करना, सदा अशुद्धतासे रहना और केश नुचवाना आदि ईश्वरको तिरस्कृत करनेवाले पाखण्ड-धर्मोंको मनमाने ढंगसे स्वीकार करके प्रायः वेद, ब्राह्मण तथा भगवान यज्ञपुरुषके निन्दक हो जायँगे ॥ १० ॥ वे अपनी अवैदिक लोकचर्याकी अन्धपरम्परापर विश्वास करते हुए अपने-आप घोर नरकमें जा पड़ेंगे ॥ ११ ॥ भगवानका ऋषभावतार रजोगुणसे भरे लोगोंको मोक्षमार्गकी शिक्षा देनेके लिए ही हुआ था। उनके अगणित गुणोंका वर्णन करते हुए लोग ये श्लोक गाते रहते हैं —॥ १२ ॥ "अहो! सात समुद्रोंयुक्त पृथिवीके सब द्वीप तथा वर्षोंमें यह भारतवर्ष परम पवित्र माना जाता है, जहाँके लोग भगवानके मङ्गलमय अवतारचरित्रोंको गाया करते हैं ॥ १३ ॥ अहो! महाराज प्रियव्रतका उज्ज्वल यशपूर्ण वंश धन्य है। जिसमें पुराणपुरुष श्रीआदिनारायणने अवतार लेकर मोक्षप्राप्तिके लिए पारमहंस्य-धर्मका संचार किया ॥१४॥ अहो! इन अजन्मा भगवान ऋषभदेवजीकी निष्ठाको भला दूसरा कोई योगी अपने मनसे भी कैसे प्राप्त कर पायेगा? जो उनके द्वारा असत् समझकर त्यागी हुई योगसिद्धि प्राप्त करनेके निमित्त सतत प्रयत्न किया करता है" ॥ १५ ॥ हे राजन्! इस तरह सब वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण तथा गौओंके परमगुरु भगवान ऋषभदेवका यह विशुद्ध चरित्र मैंने तुमसे कहा। यह मनुष्योंके सब पापोंको दूर कर देता है। जो पुरुष इस परम मंगलमय और पवित्र चरित्रको एकाग्रचित्तसे श्रद्धा-

यति बाव्रहितो भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ॥१६॥ यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः ॥ १७ ॥

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूना दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥१८॥
नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः ।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोकमाख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ऋषभदेवानुचरिते षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तितस्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे ॥१॥ तस्यामु ह वा आत्मजान् कार्त्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि ॥२॥ सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति । अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥३॥

स बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्मणि वर्तमानाः प्रजाः

पूर्वक सुनते तथा सुनाते हैं, उन दोनोंकी भगवान वासुदेवमें अनन्य भक्ति उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥ सब विद्वज्जन उस भक्तिरूपिणी सरितामें ही अपने विविध पापोंसे जायमान संसारतापसे अतिशय परितप्त अन्तःकरणको सर्वदा स्नान कराते हुए उससे प्राप्त परमशान्तिसे अपने-आप उपस्थित मोक्षरूपी परमपुरुषार्थका भी आदर नहीं करते। क्योंकि भगवानके भक्त होजानेसे ही उनके सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाया करते हैं ॥१७॥ हे राजन्! वे भगवान कृष्ण तुम्हारे तथा यदुवंशियोंके कभी रक्षक, कभी गुरु, कभी इष्टदेव, कभी सुहृद्, कभी कुलपति तथा कभी दूत तक बने थे। वे भगवान प्रसन्न होकर अन्य भक्तोंके भी विविध कार्य सम्पन्न करते हैं। वे अपने सेवकोंको तो मोक्ष भी दे डालते हैं, फिर भी भक्तियोग नहीं प्रदान करते ॥१८॥ जिन ऋषभदेवने विषय-भोगोंका निरन्तर सेवन करते रहनेसे अपने वास्तविक श्रेयको पहचानकर चिरकालतक बेसुध पड़े हुए लोगोंको करुणावश निर्भय आत्मलोककी शिक्षा दी और जो स्वयं सदा अनुभूयमान आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे सारी तृष्णाओंसे मुक्त थे। उन भगवान ऋषभदेवजीको हम नमस्कार करते हैं ॥ १९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(महाराज भरतजीका चरित्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! महाराज भरत परम भगवद्भक्त थे। जब उन्हें श्रीऋषभदेवजीने पृथिवीकी रक्षाके लिये नियुक्त करनेका विचार किया तो उनकी आज्ञानुसार उन्होंने विश्वरूपकी कन्या पञ्चजनीके साथ विवाह किया ॥ १ ॥ जैसे—तामस अहंकारसे शब्द-स्पर्शादि पंचभूततन्मात्राएँ जायमान होती हैं, वैसे ही भरतजीने अपनी भार्या पञ्चजनीके गर्भसे पाँच पुत्र उत्पन्न किये, जो बिलकुल उन्हींके जैसे थे ॥२॥ उनके नाम थे—सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु। पहलेके 'अजनाभवर्ष' को ही राजा भरतके समयसे लोग 'भारतवर्ष' कहने लगे ॥ ३ ॥ महाराज भरत सभी शास्त्रोंके मर्मज्ञ थे। इससे वे अपने-अपने कर्मोंमें निरत प्रजाका

स्वधर्ममनुवर्तमानः पर्यपालयत् ॥४॥ ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाऽऽहृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना ॥५॥ सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात्कर्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान आत्मनैपुण्यमृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवास्तान् पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत् ॥६॥ एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानस्याजायत ॥७॥

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पन्निकेतात्स्वनिकेतात् पुलहाश्रमं प्रवव्राज ॥८॥ यत्र ह वाव भगवान् हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन सन्निधाप्यत इच्छारूपेण ॥९॥ यत्राश्रमपदान्युभयतोनाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति ॥१०॥

तस्मिन् वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुमकिसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप ॥११॥ तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्रुतहृदय-

---

अपने पूर्वजोंके सदृश स्वयं धर्ममें स्थित रहकर बड़े वात्सल्यभावसे पालन करने लग गये ॥ ४ ॥ होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा—इन चार ऋत्विजोंके द्वारा श्रद्धापूर्वक कराये जानेवाले अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोमयाग आदि अनेक बड़े-छोटे यज्ञोंसे उन्होंने उनकी प्रकृति तथा विकृतिके भेदसे समय-समयपर यज्ञ तथा क्रतुरूपी भगवानका यजन किया ॥ ५ ॥ इस तरह अङ्ग एवं क्रियाओं समेत विभिन्न यज्ञोंके अनुष्ठानके अवसरपर जब अध्वर्युगण आहुति देनेको हाथमें हवि लेते तो यजमान भरत उस यज्ञके द्वारा होनेवाले पुण्यफलको इन्द्रादि सभी देवताओंके लिंगरूपी मन्त्रोंके अर्थका नियन्त्रण करनेवाले मुख्य कर्ता परब्रह्म तथा यज्ञपुरुष भगवान वासुदेवको ही अर्पण कर दिया करते थे। वे अपने भगवदर्पणबुद्धिरूपी कौशलसे हृदयके सारे राग-द्वेषादि मल दूर कर देनेके कारण सूर्य आदि सब यज्ञभागभोक्ता देवताओंका भगवानके नेत्र आदि अवयवरूपमें ध्यान करते थे ॥ ६ ॥ इस तरह कर्मकी शुद्धिसे अन्तःकरणके शुद्ध होजानेपर हृदयाकाश ही जिनका शरीर यानी अभिव्यक्तिका स्थान था, उन श्रीवत्सलाञ्छन, कौस्तुभमणि, वनमाला, चक्र, शंख तथा गदा आदिसे सुशोभित एवं अन्तर्यामीरूपसे अपने भक्तोंके अन्तःकरणमें पुरुषरूपसे विराजमान सर्वव्यापक महापुरुषरूपी भगवान वासुदेवमें भरतजीकी क्रमशः बढ़नेवाली बड़ी प्रबल भक्ति उत्पन्न हो गयी ॥ ७ ॥ इस तरह दस हजार वर्षके बाद अपने राज्यभोगका समय समाप्तकर महाराज भरतने अपनी भोगी हुई पूर्वजोंकी सम्पत्तिको शास्त्रविधिसे बाँटकर अपने पुत्रोंको सौंप दिया और स्वयं अपना सर्वसम्पत्तिपूर्ण भवन त्यागकर पुलहाश्रम अर्थात् हरिहरक्षेत्रको चले गये। उस पुलहाश्रममें भगवानहरि वात्सल्यवश वहाँपर रहनेवाले अपने भक्तोंकी इच्छानुसार विविध रूप धारण करके अब भी सदा उनके पास रहा करते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥ जहाँ चक्रनदी अर्थात् गण्डकी नामकी प्रसिद्ध नदी जिनके दोनों ओर नाभिके सदृश चिह्न रहते हैं, ऐसी चक्राकार शालग्रामकी शिलाओंसे ऋषियोंके आश्रमोंको सर्वतोभावसे पवित्र करती रहती है ॥ १० ॥ उस पुलहाश्रमके एकान्त उपवनमें अकेले ही रहते हुए विविध प्रकारके पत्र, पुष्प, तुलसीदल, जल तथा कन्द-मूल-फलादि उपहारों द्वारा भगवानकी आराधना करते-करते जिनका अन्तःकरण सब विषयाभिलाषाओंके निवृत्त हो जानेसे शान्त हो गया था, उन भरतजीको परम आनन्दकी प्राप्ति हुई ॥ ११ ॥ इस तरह नियमपूर्वक की हुई उस भगव-

शैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धावलोकनयन एवं निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयह्रदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्सपर्यां न सस्मार ॥१२॥ इत्थं धृतभगवद्व्रत ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच—॥१३॥

परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥१४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भरतचरिते भगवत्परिचर्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त उपविवेश ॥ १ ॥ तत्र तदा राजन् हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम ॥ २ ॥ तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत् ॥ ३ ॥ तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृतिविक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपि हरिभयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात्सहसैवोच्चक्राम ॥ ४ ॥ तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयाव-

---

त्पूजासे और बढ़े हुए अनुरागके भारसे उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और वे उद्योगहीन हो गये। अत्यन्त आनन्दके वेगसे उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। प्रबल उत्कण्ठावश उमड़े हुए प्रेमाश्रुओंसे उनके नेत्रोंकी दर्शनशक्ति रुक-सी गयी। अपने प्रियतमके अरुण चरणारविन्दोंके ध्यान द्वारा प्राप्त भक्तियोगसे परमानन्दके कारण लबालब भरे हुए हृदयरूपी गम्भीर सरोवरमें बुद्धिके लीन हो जानेसे उन्हें नियमपूर्वक की जानेवाली भगवत्पूजाका भी स्मरण नहीं रह गया ॥ १२ ॥ इस तरह भगवत्सेवाके नियमका पालन करनेवाले एवं कृष्णमृगचर्म तथा त्रिकाल स्नानसे भीगे हुए अपने अरुणवर्णके घुँघराले जटाजूटसे सुशोभित महाराज भरत सूर्यमण्डलके उदयके समय हिरण्मय भगवान पुरुषोत्तमका उपस्थान करते और सूर्यकी ऋचाओंको पढ़ते हुए ऐसा कहने लगे—॥ १३ ॥ सूर्यभगवानका तेज प्रकृतिसे परे है। उन्होंने अपने मनसे जगत्‌को उत्पन्न किया है। वे अपने ही उत्पन्न किये हुए इस विश्वमें सर्वत्र अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट होकर अपनी चित्शक्तिके द्वारा सुखके इच्छुक जीवोंकी रक्षा करते हैं। सो हम उसी बुद्धिप्रवर्तक तेजकी शरणमें प्राप्त हो रहे हैं ॥ १४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

(महाराज भरतका मृगके मोहवश जन्मान्तरमें मृग होकर जन्म लेना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—एक बार राजा भरत महानदी गण्डकीमें स्नान करके नित्य-नैमित्तिक तथा अन्य आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होकर ब्रह्माक्षर यानी ॐकारका जप करते हुए तीन मुहूर्तके समय तक जलके भीतर बैठे थे ॥ १ ॥ हे राजन्! उसी समय एक अकेली हरिणी प्याससे व्याकुल होकर जल पीनेके लिए गण्डकी नदीके तटपर आयी ॥ २ ॥ वह जल पी रही थी कि पास ही एक सिंहका लोकभयंकर शब्द सुनायी पड़ा ॥ ३ ॥ स्वभावतः डरपोक वह हरिणी पहलेसे ही चकितभावसे इधर-उधर देखती जाती थी। गर्जनका निनाद सुनते ही उसका हृदय सिंहके भयसे और भी व्याकुल हो गया, उसके नेत्र चञ्चल हो उठे और वह अत्यन्त भयभीत होकर प्यास मिटनेके पहले ही सहसा नदीके पारकी ओर उछली ॥ ४ ॥ मृगी गर्भिणी थी। इस लिए जब वह उछलने

गलितो योनिनिर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात ॥ ५ ॥ तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार ॥ ६ ॥ तं त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत् ॥ ७ ॥ तस्य ह वा एणकुणक उच्चैरेतस्मिन् कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषणपालनलालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन् ॥ ८ ॥ अहो बतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणं च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन् यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मय्यतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा ॥ ९ ॥ नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते ॥ १० ॥ इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्थानाशनादिषु सह मृगजनुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत् ॥ ११ ॥ कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसालावृकादिभ्यो भयमाशंसमानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति ॥ १२ ॥ पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्वहति एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप ॥ १३ ॥ क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः

लगी तो अत्यधिक भयके कारण उसका गर्भ खिसक पड़ा और योनिद्वारसे निकलकर नदीके प्रवाहमें जा गिरा ॥ ५ ॥ वह कृष्णसार मृगी अपने झुण्डसे बिछुड़ी हुई थी। फिर गर्भस्राव तथा उछलने और सिंहके भयसे व्याकुल होनेके कारण वह और भी थक गयी थी। इस लिए वह फिर कूदी और एक पर्वतकी गुफामें जा गिरी और वहाँ गिरनेके साथ-साथ मर गयी ॥ ६ ॥ राजर्षि भरतजीने उस दीन-हीन मृगके बच्चेको अपने बन्धुओंसे बिछुड़कर नदीके प्रवाहमें बहते देखा तो स्वजनके समान करुणा करके उस मातृहीन बच्चेको अपने आश्रमपर उठा लाये ॥ ७ ॥ भरतजीको इस मृगके बच्चेपर ममताका अत्यधिक अभिमान हो गया। अतएव नित्यप्रति उसके खाने-पीनेका प्रबन्ध करने, व्याघ्रादिसे उसे बचाने, लाड़ लड़ाने और पुचकारने आदिकी चिन्तामें ग्रस्त रहनेके कारण यम, नियम भगवत्पूजा आदि सभी आवश्यक कर्म एक-एक करके सब शिथिल पड़ते-पड़ते छूट गये ॥ ८ ॥ उन्होंने सोचा 'अहो ! यह कैसे खेदकी बात है कि इस बेचारे दीन मृगशावकको कालचक्रके वेगने अपने समूह, सुहृद् और बन्धुओंसे दूर करके मेरी शरणमें ला पहुँचाया है। यह मुझको ही अपना माता-पिता, भाई, जातिबन्धु तथा अपने झुण्डका मृग समझकर मेरी शरणमें आया है। मेरे सिवा यह और किसीको कुछ नहीं समझता। इसका मुझमें बड़ा विश्वास है। मैं भी शरणागतकी उपेक्षा करनेके दोषसे अभिज्ञ हूँ। अतएव इस अपने आश्रित बच्चेका सावधानतापूर्वक भली भाँति पालन, पोषण, लालन तथा प्रीणन आदि करना हमारा कर्तव्य है ॥ ९ ॥ क्योंकि शान्तस्वभाव तथा दीनोंके रक्षक भद्रजन ऐसे शरणागत प्राणियोंकी रक्षाके लिये अपने बड़े-बड़े स्वार्थोंको भी त्याग दिया करते हैं" ॥ १० ॥ इस तरह उस हरिणके बच्चेमें आसक्ति बढ़ जानेके कारण महाराज भरतका चित्त उसके स्नेहपाशमें इतना बँध गया कि बैठने, सोने, घूमने, खड़े होने तथा भोजन आदि सभी कार्योंमें वे उसीके साथ रहने लग गये ॥ ११ ॥ उन्हें जब कुशा, पुष्प, समिधा, पत्र, फल तथा मूलादि लाने जाना होता तो भेड़ियों अथवा कुत्तों आदिके भयसे उस मृगशावकको अपने साथ लेकर ही जाते थे ॥१२॥ राहमें जहाँ-तहाँ आसक्तचित्तसे प्रेमके कारण अधीरभावसे वे उसे अपने कन्धेपर बैठा लेते। इसी तरह कभी गोदमें लेकर तथा छातीसे लगाकर उसे दुलारते हुए परम आनन्दित होते थे ॥१३॥ यहाँ तक कि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते हुए भी भारतेश्वर महा-

प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति ॥ १४ ॥

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण हरिणकुणकविरहविह्वल-हृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन् किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच ॥ १५ ॥ अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन् सुजन इवागमिष्यति ॥ १६ ॥ अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि ॥ १७ ॥ अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति ॥ १८ ॥ निम्लोचति ह भगवान् सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति ॥ १९ ॥ अपिस्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिण-राजकुमारो विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन् ॥ २० ॥ क्ष्वेलि-कायां मां मृषा समाधिनाऽऽमीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति ॥२१॥ आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमार-वदवहितकरणकलाप आस्ते ॥ २२ ॥ किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः सविनयकृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविणविधुरातुरस्य कृपणस्य मम द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं

राज भरत बीच-बीचमें उठकर मृगशावकको देख लेते थे। कभी-कभी उसे देख और स्वस्थचित्त होकर उसके लिये मंगलकामना करते हुए कहने लगते थे—'बेटा! सब तरहसे तुम्हारा कल्याण हो' ॥ १४ ॥ एक दिन वह बहुत देरतक उन्हें नहीं दिखायी पड़ा। तब तो जिसका धन नष्ट हो गया हो, उस कृपण पुरुषकी भाँति वे अतिशय दुःखी हुए और फिर उस हरिणके बच्चेके विरहसे व्याकुल तथा सन्तप्त हृदय होकर करुणावश अतिशय उत्कण्ठित भावसे उसीका ध्यान करते हुए अत्यन्त मोहको प्राप्त हो इस प्रकार बड़बड़ाने लगे—॥ १५ ॥ "हाय! क्या कहूँ, वह दीन मृगशावक जो एक मरी हुई मृगीका बच्चा था, दुष्ट बहेलिये जैसी बुद्धिवाले मुझ अनार्यपर विश्वास करके मेरे किये हुए विश्वासघातादि अपराधोंको सत्पुरुषोंकी भाँति भूलकर क्या कभी फिर लौटकर यहाँ आयेगा? ॥१६॥ क्या मैं उसको फिर अपने आश्रमके उपवनमें भगवानकी कृपासे सुरक्षित रहते तथा कुशलपूर्वक हरी-हरी दूब चरते हुए देख पाऊँगा ॥ १७ ॥ ऐसा तो नहीं हुआ कि कोई भेड़िया, कुत्ता अथवा शूकरादिका कोई झुण्ड अथवा अकेला घूमनेवाला (व्याघ्रादि) जीव उसे मार-कर खा गया हो! ॥१८॥ हाय! सारे जगत्के कल्याणार्थ प्रकट होनेवाले वेदत्रयीरूप भगवान सूर्य अस्त हो जाना चाहते हैं, किन्तु उस मृगीका धरोहरस्वरूप मृगछौना अबतक लौटकर नहीं आया॥ १९ ॥ क्या वह हरिणराजकुमार मुझ पुण्यहीनके पास आकर अपनी बालसुलभ विविध क्रीडाओंसे अपने स्वजनका शोक दूर करते हुए फिर मुझे आनन्दित करेगा? ॥२०॥ अहो! वह जब अपनी स्वाभाविक चंचलता वश बहुत कूद-फाँद करता और मैं उसे प्रणयकोप दिखाता हुआ डाँट तथा झूठ-मूठ समाधि लगा एवं आँख मूँदकर बैठ जाता तो वह चकितभावसे मेरे पास आकर अपनी जलबिन्दु जैसी कोमल और नन्हीं नन्हीं सींगोंसे बारम्बार मेरे अंगोंको खुजलाया करता था॥ २१ ॥ जब कभी वह कुशासनपर रखी हवनसामग्रीको दूषित करने लग जाता और मैं उसे डाँट देता तो वह अतिशय भय-भीत होकर तत्काल अपनी सारी चञ्चलता त्यागकर किसी ऋषिकुमारकी भाँति अपनी सब इन्द्रियोंका निग्रह करके चुपचाप बैठ जाता था" ॥ २२ ॥ "हाय! इस परमतपस्विनी धरतीने ऐसी क्या तपस्या की है, जो उस अतिशय विनीत मृगके बच्चेके सुन्दर और सुखकारी नन्हें-नन्हें खुरोंकी पंक्तिसे, अपना मृगरूपी धन लुट जानेके कारण अत्यन्त व्याकुल मुझको उस मृगकी प्राप्तिका मार्ग दिखाती है और स्वयं अपने शरीरको भी चरणचिह्नोंसे विभूषित करके स्वर्ग तथा मोक्षके इच्छुक द्विजोंके लिये

करोति ॥ २३ ॥ अपिस्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति ॥ २४ ॥ किं वाऽऽत्मजविश्लेषज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति च ॥ २५ ॥ एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहतयोगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत ॥ २६ ॥ तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृग एवाभिनिवेशितमना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृतिरितरवन्मृगशरीरमवाप ॥ २७ ॥ तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह ॥ २८ ॥ अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्यशरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमननसङ्कीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कार्त्स्न्येन मनस्तत्तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु परिसुस्राव ॥ २९ ॥ इत्येवं निगूढनिर्वेदो

यज्ञभूमि बना रही है" ॥ २३ ॥ तदनन्तर चन्द्रमामें मृगका स्वरूप देख उसे अपना ही खोया हुआ मृग समझकर कहने लगे—"जिसकी माता सिंहके डरसे मर गयी थी, उस दीन मृगछौनेको अपने आश्रमसे भटका देखकर क्या ये दीनवत्सल चन्द्रदेव दयावश (गोदमें रखकर) उसकी रक्षा कर रहे हैं" ॥ २४ ॥ फिर उसकी शीतल किरणोंसे आनन्दित होकर बोले—"अपने पुत्रोंके वियोगजनित दुःखमय दावानल द्वारा हृदयकमलके दग्ध हो जानेसे जिसने मृगीकुमारको आश्रय दिया था, ऐसा मुझको क्या ये अपनी शीतल, शान्त, स्नेहमयी और वदनसलिलस्वरूप अमृतमयी किरणोंसे शान्ति पहुँचा रहे हैं" ॥ २५ ॥ हे राजन् ! इस तरह जिसका पूर्ण होना सर्वथा असम्भव था, ऐसे मनोरथोंसे व्याकुलचित्त तथा परम तपस्वी राजा भरत मृगशावकरूपी अपने प्रारब्धकर्मके कारण ही भगवदाराधनस्वरूप कर्म एवं योगमार्गसे भ्रष्ट हो गये। जिन्होंने पहले अपने ही हृदयसे उत्पन्न तथा परम दुस्त्यज पुत्रादिकी ममताको मोक्षमार्गमें विघ्नरूप समझकर त्याग दिया था, उन्हींको अन्यजातीय मृगशावकमें इस तरहकी आसक्ति भला क्यों होती ? इस तरह राजर्षि भरत विघ्नोंके वशीभूत होकर योगसे भ्रष्ट हो गये। वे उस मृगछौनेके पालन, पोषण, प्रीणन तथा लालनादिमें लौ लगाकर अपना आत्मस्वरूप ही भूल गये। इसी समय जिसका टालना अत्यन्त कठिन था, वह प्रबल वेगवान् कराल काल जैसे चूहेके बिलपर सर्प आ पहुँचे, ऐसे ही आ पहुँचा ॥ २६ ॥ उस समय भी भरत अपने समीप बैठे पुत्रके समान शोक करते तथा उस मृगको देखते-देखते उसीमें आसक्तचित्त होकर उस शोकके साथ अपना शरीर त्यागकर साधारण जनोंकी तरह उन्होंने मृगशरीर पाया। फिर भी उनके पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं होने आयी ॥ २७ ॥ उस योनिमें भी पूर्वजन्मकी भगवदाराधनाके प्रभावसे मृगरूप पानेका कारण जानकर वे बहुत पछताते हुए इस तरह कहने लगे—॥ २८ ॥ "अहो ! बड़े दुःखकी बात है कि मैं ज्ञानी पुरुषोंके मार्गसे भ्रष्ट हो गया। मैंने सब प्रकारकी आसक्ति त्याग करके एकान्त तथा पवित्र वनका आश्रय लेकर आत्मज्ञान प्राप्त किया था। मैंने अपना चित्त सबके अन्तरात्मास्वरूप भगवान् वासुदेवमें उन्हींके गुणोंका श्रवण, मनन तथा कीर्तनकर और उन्हींकी आराधना तथा स्मरण आदि करके प्रत्येक पलको सफल करते हुए सावधानतापूर्वक बिताया। परन्तु हाय ! मुझ मूर्खका वही मन दैववश एक मृगछौनेके संगसे भ्रष्ट हो गया !" ॥ २९ ॥ हे राजन् ! इस तरह अपनी वैराग्य-

विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम ॥ ३० ॥ तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कपर्णतृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भरतचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ कस्यचिद् द्विजवरस्याङ्गिरःप्रवरस्य शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययनत्यागसन्तोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्मज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृशश्रुतशीलाचाररूपौदार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनं च यवीयस्यां भार्यायाम् ॥ १ ॥ यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः ॥ २ ॥ तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य ॥ ३ ॥ तस्यापि ह वा आत्मजस्य विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आसमावर्तनात्संस्कारान् यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन् कर्मनियमान-

---

भावनाको छिपाये हुए उन्होंने अपनी माता मृगीका परित्याग कर दिया। तदनन्तर अपनी जन्मभूमि कालंजरसे फिर शान्तिशील मुनियोंके प्रिय शालग्राम नामक तीर्थमें जो भगवानका पुनीत क्षेत्र है, उस पुलस्त्य तथा पुलह ऋषिके आश्रममें चले आये ॥ ३० ॥ वहाँ रहकर उनका वह मृगशरीर कालकी प्रतीक्षा करने लगा। वह सबके संगसे अलग उपरम रहकर अकेला ही विचरता रहता तथा सूखे पत्ते घास एवं झाड़ियों द्वारा जीवनयापन करता हुआ मृगयोनिको प्राप्त करानेवाले प्रारब्धके क्षयकी बाट जोहता रहता था। अन्तमें उसने उसी तीर्थ अर्थात् गंडकी नदीके जलमें भींगा हुआ अपना मृगशरीर त्याग दिया ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(जन्मान्तरमें महाराज भरतजीका ब्राह्मणकुलमें जन्म) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इसी बीच आंगिरसगोत्रमें जायमान शम, दम, स्वाध्याय, त्याग, सन्तोष, तितिक्षा, विनय, विद्या, दूसरोंके गुणोंमें दोषदृष्टिका अभाव, आत्मज्ञान तथा प्रसन्नता आदि गुणों युक्त एक ब्राह्मणश्रेष्ठकी बड़ी भार्यासे उन्हींके सदृश विद्या, शील, आचार, रूप एवं उदारता आदि गुणोंवाले नौ सहोदर पुत्र जन्मे। उनकी छोटी पत्नीसे एक साथ एक पुत्र तथा एक कन्या उत्पन्न हुई ॥ १ ॥ उन दोनोंमें पुत्र मृगशरीर त्यागकर अपने चरमशरीरसे ब्राह्मणत्वको प्राप्त परम भगवद्भक्त एवं राजर्षिश्रेष्ठ भरतजी थे—ऐसा कहा जाता है ॥ २ ॥ उस ब्राह्मणकुलमें जन्म लेकर भी भगवानकी कृपासे पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण रहनेके कारण भरतजी इस संशयसे कि कहीं स्वजनोंके सहवाससे भगवद्भक्तिमें बाधा न पड़ जाय, उनसे सदा दूर रहते हुए अतिशय विरक्त होकर जिनका श्रवण, स्मरण और गुणकीर्तन सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर कर देता है। उन भगवानके चरणकमलयुगलोंको अपने हृदयमें धारण करके स्वतंत्ररूपसे विचरने लगे। उस समय वे लोगोंकी दृष्टिमें अपनेको उन्मत्त, पागल, अन्धे तथा बहरेके रूपमें प्रकट कर रहे थे ॥ ३ ॥ उधर उस द्विजश्रेष्ठने पुत्रस्नेहमें आसक्तचित्त होकर उस अपने उन्मत्त पुत्रके भी समावर्तनतक सब संस्कार शास्त्रविधिसे करनेका विचार करके उपनयन-संस्कार किया। तदनन्तर 'पुत्र पितासे उपदेश ग्रहण करे' इस शास्त्रकी आज्ञानुसार उन्हें अपेक्षा न

नभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति ॥ ४ ॥ स चापि तदुह पितृसन्निधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन् सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास ॥ ५ ॥ एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः ॥ ६ ॥ अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात् ॥ ७ ॥ पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्त ॥ ८ ॥ स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च स कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम् । नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभावनन्दस्वात्मलाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः ॥ ९ ॥ शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशनानुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरुपवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार ॥ १० ॥

रहते हुए भी शौच, आचमन आदि कर्मों तथा नियमोंकी शिक्षा दी ॥ ४ ॥ भरतजी भी अपने पिताके समक्ष ही उनके विरुद्ध आचरण करने लगे । उनके पिताने श्रावणमाससे उन्हें वेदाध्यन करानेकी इच्छा की और वसन्त तथा ग्रीष्मऋतुके चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ इन चार महीनोंमें व्याहृति, प्रणव तथा शिरोमन्त्रके सहित त्रिपदा गायत्रीका निरन्तर अध्ययन कराते हुए भी उन्हें वह मन्त्र स्वरादि सहित नहीं सिखा पाये ॥ ५ ॥ इस तरह आत्माके समान अपने पुत्रमें प्रेम रखनेवाला वह ब्राह्मण भरतजीकी प्रवृत्ति न होनेपर भी उन्हें शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्निकी सेवा आदि ब्रह्मचर्य आश्रमके विहित नियम 'पुत्रको भली भाँति उपदेश देना चाहिये' इस दुराग्रहसे शिक्षा देता रहा, किन्तु अपना मनोरथ पूर्ण होनेके पहले ही जब कि वह घरके धन्धोंमें आसक्त होकर भगवत्सेवारूपी अपने मुख्य कर्तव्यसे असावधान था, तभी न चूकनेवाले कालने उसे धर दबोचा ॥ ६ ॥ तब उसकी छोटी भार्याने अपने गर्भसे उत्पन्न दोनों बच्चे अपनी सौतको सौंप दिये और स्वयं पतिके साथ सती होकर पतिलोकको चली गयी ॥ ७ ॥ पिताके परलोक चले जानेपर भरतजीके भाइयोंने, जिनकी केवल कर्मकाण्डरूपी अपरविद्यामें ही अलंबुद्धि रहती थी और जो ब्रह्मज्ञानरूपी पर-विद्यासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, भरतजीके प्रभावसे अनभिज्ञ रहनेके कारण 'यह मूर्ख है' यों समझकर उन्होंने उन्हें पढ़ाने-लिखानेका आग्रह त्याग दिया ॥ ८ ॥ जब साधारण नरपशु भी उन्हें पागल मूर्ख या बहरा कहकर पुकारते तो वे भी तदनुसार आचरण करने लगते थे । यदि कोई मनुष्य बेगारमें अथवा कुछ मजदूरी देकर उनसे कुछ कार्य कराना चाहता तो वे उसके इच्छानुसार काम कर दिया करते थे । उन्हें अच्छा अथवा बुरा जो अन्न मिल जाता, उसको रसनेन्द्रियका स्वाद न देखते हुए शरीर-निर्वाहके निमित्त खा लिया करते थे । क्योंकि उन्हें स्वतःसिद्ध विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका था । अतएव हर्ष-शोकादि द्वन्द्वके निमित्तरूपी सुख-दुःखादिमें उन्हें देहाभिमानकी कुछ भी स्मृति नहीं होती थी ॥ ९ ॥ वे शीत, ग्रीष्म, वर्षा अथवा आँधीके समय भी साँड़के सदृश नंगे रहते थे । उनके सब अंग स्थूल और परिपुष्ट थे । पृथ्वीपर लोटने, उबटन न मलने तथा स्नान न करनेके कारण शरीरपर धूलि जम जानेसे उनका ब्रह्मतेज धूलिसे ढँके हुए महामूल्य मणिके समान छिपा हुआ था । उनकी कमरमें एक मैला-कुचैला वस्त्र तथा कन्धेपर अतिशय

यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु न समं विषमं न्यूनमधिकमिति वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति ॥११॥

अथ कदाचित्कश्चिद् वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमालभतापत्यकामः ॥१२॥ तस्य ह दैवमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसाऽऽवृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान् वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरःप्रवरसुतमपश्यन् ॥१३॥ अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तृकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः ॥१४॥

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाऽऽच्छाद्य भूषणालेपस्रक्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्यलाजकिसलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्गपणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः ॥१५॥ अथ वृषलराजपणिः पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाणस्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालनिशितमुपाददे ॥१६॥

इति तेषां वृषलानां रजस्तमःप्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलावीरकुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्मभूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालम्भनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्य-

---

मलीन यज्ञोपवीत पड़ा था। अतएव अज्ञानी लोग उन्हें 'द्विज' अथवा 'कोई अधम ब्राह्मण' कहकर उनको अपमानित करते, किन्तु वे उसपर कुछ भी विचार न करके स्वच्छन्द रूपसे विचरते रहते थे ॥१०॥ दूसरोंकी मजूरी करके पेट भरते देखकर उन्हें उनके भाइयोंने जब खेतकी क्यारियाँ ठीक करनेके काममें लगा दिया तो वे वह कार्य करने लगे, किन्तु उन्हें इस बातका एक दम ध्यान नहीं रहता था कि क्यारियोंकी भूमि समतल है या ऊँची-नीची। वह छोटी है अथवा बड़ी। उनके भाई उन्हें चावलकी किनकी, खली, भूसी, घुने हुए उड़द अथवा पात्रमें लगी अन्नकी जलन आदि जो कुछ भी दे देते, उसीको अमृतके सदृश समझकर खा लेते थे ॥ ११ ॥ एक समय शूद्रके एक राजाने पुत्रकी कामनावश देवी भद्रकालीको मनुष्यकी बलि देनेका विचार किया ॥ १२ ॥ उस शूद्रनरेशने जो पुरुषपशु बलि देनेको मँगाया था, वह दैववश उसके फंदेसे खुलकर भाग निकला। उसे ढूँढनेके लिए उसके अनुचर चारों ओर लपके, पर अर्द्धरात्रिकी घोर अँधियारीके कारण वे उसका पता नहीं लगा सके। इसी समय दैवयोगसे अकस्मात् उन्हें आङ्गिरसगोत्रीय ब्राह्मणकुमार जडभरतजी दिखाई पड़ गये। वे उस समय बीरासनसे बैठे हुए मृग-वराह आदि जीवोंसे अपने खेतोंकी रखवाली कर रहे थे ॥ १३ ॥ तब यह जानकर कि यह पुरुष-पशु उत्तम लक्षणों युक्त है और इसके द्वारा हमारे स्वामीका कार्य अवश्य सिद्ध हो जायगा, उन्हें रस्सियोंसे बाँधा और प्रसन्नवदन हो चण्डिका देवीके मन्दिरमें ले गये ॥ १४ ॥ उन दस्युओंने उन्हें विधिवत् नहलाया, कोरे वस्त्र पहनाये और विविध प्रकारके आभूषण, चन्दन, माला तथा तिलकादिसे विभूषित करके भली प्रकार भोजन कराया और धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल तथा नैवेद्य आदि सामग्री सहित बलिकी विधिसे पूजन करके गान, स्तुति, मृदङ्ग, पणव आदि महाघोष करते हुए उस पुरुषपशुको भद्रकालीके समक्ष ले जाकर बिठाया ॥ १५ ॥ तदनन्तर दस्युराजके लुटेरे पुरोहितने उस पुरुषपशुके रुधिरसे देवी भद्रकालीको तृप्त करनेके निमित्त देवीके मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किया हुआ एक अति विकराल खड्ग उठाया ॥ १६ ॥ हे राजन्! जिन लोगोंका स्वभाव रज तथा तमसे आच्छादित था, जिनका मन मदके रजोगुणसे उन्मत्त हो रहा था, जो भगवानके अंशस्वरूप ब्राह्मणकुलको कुछ भी न समझकर कुमार्गमें स्वेच्छासे विहार करते थे और जिनकी हिंसामें अत्यन्त प्रवृत्ति थी, उन शूद्रोंके हाथसे जिसका वध करना आपत्तिकालमें भी निषिद्ध

मानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली ॥१७॥ भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानकवदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णां गलात्स्रवन्तमसृगासवमत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिरःकन्दुकलीलया ॥१८॥ एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कार्त्स्न्येनात्मने फलति ॥१९॥ न वा एतद्विष्णुदत्त महदद्भुतं यदसम्भ्रमः स्वशिरश्छेदन आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढहृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तैर्भावैः परिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलम कुतश्चिद्भयमुपसृतानां भागवतपरमहंसानाम् ॥२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे जडभरतचरिते नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा युवा संहननाङ्गो गोखरवद् धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिबिकां स महानुभावः ॥१॥

था, ऐसे उन ब्रह्मभावको प्राप्त, वैरहीन तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् एक ब्रह्मर्षिकुमारका वधरूपी भयानक कुकर्म हो रहा है, यह देख तथा उनके असह्य ब्रह्मतेजसे शरीरमें दाह उत्पन्न होनेके कारण देवी भद्रकाली एकाएक अपनी प्रस्तरमूर्तिको फोड़कर प्रत्यक्ष प्रकट हो गयीं ॥ १७ ॥ तदनन्तर अतिशय असहनशीलता तथा क्रोधवश चढ़ी भयी भृकुटियों, कराल दाढ़ों एवं अति चञ्चल लाल-लाल नेत्रोंसे जिसका मुखमण्डल बड़ा भयानक हो रहा था, वह भद्रकाली मानों सारे संसारका संहार कर डालेगी, इस तरह अत्यन्त क्रोधसे बड़ा अट्टहास करती हुई उस स्थानसे उछली और उस अभिमन्त्रित खड्गसे ही उन पापी दुष्टोंका मस्तक काटकर अपने गणों सहित उनके गलेसे बहता गर्म-गर्म रुधिररूपी मदिरा पीकर अतिशय उन्मत्त हो ऊँचे स्वरसे गाती और नाचती हुई उनके सिररूपी गेंदोंसे खेलने लगीं ॥ १८ ॥ हे राजन् ! इसी तरह सत्पुरुषोंके प्रति किया गया अभिचार अर्थात् मन्त्रप्रयोगसे प्राणान्त करनारूपी अपराध ज्यों-का-त्यों अपने ही ऊपर आ पड़ता है ॥१९॥ हे राजा परीक्षित् ! जिन्होंने देहादिके आत्मभावरूपी सुदृढ़ हृदयग्रन्थिको काट डाला है, जो सब प्राणियोंके सुहृद् और वैरहीन होते हैं, स्वयं भगवान ही भद्रकाली आदि विभिन्नरूप धारण करके अपने कभी न चूकनेवाले कालचक्ररूपी श्रेष्ठ शस्त्रसे जिनकी रक्षा करते तथा जो भगवानके भयहीन चरणोंकी शरणमें प्राप्त हो चुके रहते हैं, उन भगवद्भक्त परमहंसोंके लिए अपना मस्तक कटजानेका अवसर आ उपस्थित होनेपर भी व्याकुल न होना कोई बड़े भारी विस्मयकी बात नहीं हो सकती ॥ २० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(महाराज जड़भरत तथा रहूगणका साक्षात्कार) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक समयकी बात है, सिन्धु तथा सौवीरदेशके स्वामी राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर जा रहे थे । जब वे इक्षुमती नदीके तटपर पहुँचे तो उनकी पालकी ढोनेवाले कहारोंके जमादारको एक और कहारकी आवश्यकता पड़ी । ढूँढते-ढूँढते उसे भाग्यवश द्विजश्रेष्ठ जडभरतजी मिल गये । उनको देखकर उसने सोचा कि यह मनुष्य मोटा-ताजा, जवान और गठीले अङ्गोंका है । इसलिये यह बैल तथा गधेके समान बोझा ढोनेमें सर्वथा समर्थ दीखता है । यह सोचकर उसने बेगारमें पकड़े कहारोंके साथ उन्हें भी जबर्दस्ती

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत विषममुह्यते यानमिति ॥२॥

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयाम्बभूवुः ॥३॥ न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः । अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति ॥४॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसाऽऽवृतमतिराह ॥५॥ अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान् सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान् सखे नो एवापर एते सङ्घट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थान-विशेषेऽहंममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह ॥६॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति ॥ ७ ॥

पकड़कर पालकीमें जोत दिया । महानुभाव भरतजी इस कार्यके लिए सर्वथा अयोग्य होनेपर भी बिना कुछ कहे-सुने पालकी उठाकर चल पड़े ॥ १ ॥ मार्गमें चलते समय वे द्विजश्रेष्ठ पैरोंतले दबकर कोई जीव न मर जाय—इस आशंकासे एक बाण आगेकी पृथिवी देखकर चलते थे । इस कारण दूसरे कहारोंके साथ उनकी गतिका मेल नहीं बैठने आता था । जब पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी तो राजा रहूगणने कहा—"अरे ओ कहारों ! अच्छी तरह चलो । पालकीको इस तरह ऊँची-नीची करके क्यों चल रहे हो ?" ॥ २ ॥ अपने स्वामीके ऐसे आक्षेपपूर्ण वाक्य सुनकर चौथे उपाय अर्थात् दण्डसे भयभीत होकर वे उनसे ऐसा कहने लगे—॥ ३ ॥ 'हे महाराज ! हमलोग असावधान नहीं हैं । हम तो आपकी आज्ञानुसार ठीक-ठीक पालको ले चल रहे हैं । लेकिन यह जो एक नया कहार अभी पालकीमें लगाया गया है, सो जल्दी-जल्दी नहीं चलरहा है । इसके साथ हमलोग पालकी नहीं ले चल सकेंगे ॥ ४ ॥ दीन कहारोंके इन वचनोंको सुनकर राजा रहूगणने विचारा कि 'संसर्गसे जायमान दोष एक व्यक्तिमें होनेपर भी उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी पुरुषोंमें हो सकता है।' अतएव गुरुजनोंका सेवक होते हुए भी क्षत्रियस्वभाववश उसे बरबस कुछ क्रोध आ गया । उसकी बुद्धि रजोगुणसे भर गयी और वह जिनका ब्रह्मतेज भस्मसे ढके अग्निके समान स्पष्ट था, उन द्विजश्रेष्ठ भरतजीसे बोला—॥ ५ ॥ ओ भाई ! बड़े खेदकी बात है, तू बहुत थक गया मालूम होता है । इतनी दूरसे तू अकेला ही यह पालकी लादकर आ रहा है । इसके साथ ही यह बात भी है कि तू बहुत मोटा-ताजा तथा हृष्ट-पुष्ट भी नहीं है । ओ मित्र ! बुढ़ापेने भी तुझे अलग दबा रक्खा है । जान पड़ता है कि तेरे इन साथियोंने तो अभी पालकीमें हाथ भी नहीं लगाया है' इस तरह राजाके बहुत कुछ कहनेपर भी वे पहलेहीकी तरह चुपचाप पालकी उठाये चलते रहे । क्योंकि वस्तुतः अविद्यामान भिन्न-भिन्न अङ्गों युक्त दिखायी देनेवाले अविद्याके कार्यस्वरूप ये पञ्चभूत इन्द्रिय तथा अन्तःकरणके संघातरूपी अपने मानव शरीरपर उन्हें ममताका मिथ्या अध्यास नहीं रह गया था ॥ ६ ॥ जब राजा रहूगणने पालकीको फिर पहलेहीकी तरह विषमभावसे डुलती देखी तो अतिशय क्रुद्ध होकर कहा—"अरे ! यह क्या बात है ? क्या तू जीतेजी मृत्युका आवाहन करता है ? जो इस तरह अवज्ञाके साथ मुझ अपने स्वामी-की आज्ञाको टालता है । तू बड़ा ही उन्मत्त जैसा दीखता है । अच्छा मैं दण्डपाणि यमराजकी भाँति

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह—॥८॥

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा पीवेति राशौ न विदां प्रवादः ॥९॥
स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च क्षुत्तड् भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥१०॥
जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्नाद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र तर्ह्युच्युतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥११॥
विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत् ।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं तथापि राजन् करवाम किं ते ॥१२॥
उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां गतस्य मे वीर चिकित्सितेन ।
अर्थः कियान् भवता शिक्षितेन स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन

अभी तेरी उद्दण्डताकी दवा करता हूँ, जिससे तू शीघ्र आपेमें आ जायगा" ॥ ७ ॥ अपनेको राजा मानकर इस तरह असम्बद्ध बातें बोलनेवाले, रज तथा तमयुक्त अभिमानके वशीभूत होकर भगवानके एकमात्र प्रिय आश्रय अर्थात् भक्तजनोंका अपमान करनेवाले एवं भक्तोंका व्यवहार जाननेमें अकुशल होनेपर भी अपनेको पण्डित माननेवाले राजा रहूगणसे समस्त प्राणियोंके सुहृद् आत्मा तथा ब्रह्मस्वरूपसे एकत्वको प्राप्त उन विप्रवर भरतने कुछ भी क्रोध न करके मुसकाते हुए कहा ॥ ८ ॥ ब्राह्मणदेवता कहने लगे—हे राजन्! तुम्हारा कथन यथार्थ है। मैं इसे उलाहना नहीं समझता। यदि बोझ ढोने तथा मार्गमें चलनेवाला शरीर ही 'मैं' होता तो मुझे इस भारका क्लेश तथा मार्गका श्रम अवश्य होता। इसके अतिरिक्त तुम्हारा यह कहना भी उचित ही है कि 'तू बहुत हृष्ट-पुष्ट भी नहीं है' हृष्ट-पुष्ट होना आदि भी धर्म शरीरके ही होते हैं, आत्माका नहीं। तत्त्वज्ञानियोंका यह वचन है ॥ ९ ॥ स्थूलता, कृशता, आधि-व्याधि, क्षुधा, तृष्णा, भय, कलह, इच्छा, निद्रा, क्रोध, अभिमान एवं शोक सारे धर्म देहाभिमानसे उत्पन्न होनेवाले व्यक्तिमें ही रहा करते हैं, मुझमें तो यह तनिक भी नहीं है ॥ १० ॥ हे राजन्! रह गयी जीने-मरनेकी बात, सो जितने भी आदि-अन्तयुक्त परिणामशील पदार्थ हैं, उन सबमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें विद्यमान देखी जाती हैं। हे स्तुत्य! जहाँ कहीं स्वामी-सेवकभाव निश्चित रहता है, वहींपर आज्ञापालन आदिका नियम लागू हो सकता है—अन्यत्र नहीं ॥ ११ ॥ राजा-प्रजाकी भेदबुद्धिके लिये व्यवहारको छोड़ और कहीं कुछ तत्त्व नहीं दीखता। यदि पारमार्थिक दृष्टिसे देखें तो कौन किसका स्वामी है और कौन किसका सेवक है? तथापि हे राजन्! यदि तुमको स्वामित्वका अभिमान हो तो बताओ, हम तुम्हारा क्या काम करें। हे वीर! मेरे जैसे मत्त, उन्मत्त, जड़ एवं अपनी ही स्थितिमें मस्त रहनेवालेको दवा करने (दण्ड देने) से तुम्हारा क्या मतलब निकलेगा? यदि मैं सचमुच मूर्ख या प्रमादी हूँ तो भी तुम्हारा शिक्षा देना पिष्ट-पेषणके समान व्यर्थ ही है ॥ १२ ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! जिनके देहाभिमानका कारणस्वरूप अज्ञान दूर हो गया था, वे शान्तचित्त मुनिवर श्री जड-

कर्मारब्धं व्यपनयन् राजयानमपि तथोवाह ॥ १४ ॥ स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय उवाच ॥१५॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥१६॥
नाहं विशङ्के सुरराजवज्रान्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात् ।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपाशाच्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥१७॥
तद् ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढविज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः ।
वचांसि योगग्रथितानि साधो न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥१८॥
अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्वविदां मुनीनां परमं गुरुं वै ।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत् साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥१९॥
स वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थमव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित् ।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥२०॥
दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ।
यथासतोदानमनाद्यभावात्समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥२१॥

भरतजी राजा रहूगणके कथनका अनुवादके अंगमें उत्तर दे तथा भोगके द्वारा अपना प्रारब्ध कर्म नष्ट करनेके लिये फिर उसकी पालकीको पहलेहीकी तरह उठाकर चलने लगे ॥ १४ ॥ हे पाण्डवेय ! सिन्धु तथा सौवीर देशका नरेश राजा रहूगण भी उत्तम श्रद्धालु होनेके कारण तत्त्वजिज्ञासाका पूर्ण अधिकारी था। वह उन द्विजश्रेष्ठ जड़भरतका इस तरह अनेक योगग्रन्थोंसे अभिमत एवं हृदय-ग्रन्थिको छेदन करनेवाला वचन सुनते ही पालकीसे नीचे उतर पड़ा और राजमदको त्यागकर उनके चरणोंपर माथा रखकर, अपराध क्षमा करता हुआ इस तरह कहने लगा—॥ १५ ॥ "हे भगवन् ! आपने द्विजोंका चिह्नस्वरूप यह यज्ञोपवीत धारण कर रखा है। सो इस प्रकार गुप्तभावसे विचरण करनेवाले आप कौन हैं ? आप दत्तात्रेय आदि विख्यात अवधूतोंमेंसे तो कोई नहीं हैं ? आप किसके बेटे हैं ? आपका जन्मस्थान कहाँ है और यहाँ कहाँसे आये हैं ? हमारा कल्याण करनेके लिए यहाँ आये हुए आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान कपिल मुनि ही तो नहीं हैं ? ॥ १६ ॥ मैं इन्द्रके वज्र, महादेवजीके त्रिशूल, यमराजके दण्ड तथा अग्नि, सूर्य चन्द्र और कुबेरके शस्त्रोंसे भी नहीं डरता। किन्तु मेरे द्वारा किसी ब्राह्मणकुलका अपमान हो जाय, इससे मैं बहुत डरता हूँ ॥ १७ ॥ सो आप बतलाइये कि इस तरह गम्भीर विज्ञानवीर्य सम्पन्न होकर अपनी अपार महिमाको छिपा करके इस तरह असंगभावसे मूर्खोंकी नाईं विचरनेवाले आप कौन हैं ? हे साधो ! आपके योगग्रन्थ-सम्मत वाक्योंको समझनेमें तो हमारा चित्त तनिक भी समर्थ नहीं दीखता ॥ १८ ॥ मैं तो आत्म-तत्त्वके ज्ञाता मुनीश्वरोंके परमगुरु एवं साक्षात् भगवानके अंशावतार योगेश्वर कपिलभगवानसे यह पूछनेके निमित्त उनके आश्रमको जा रहा था कि संसारमें एकमात्र शरण लेने योग्य कौन है ? ॥ १९ ॥ तो क्या आप कपलमुनि ही तो सम्पूर्ण लोकोंकी दशा देखनेके लिए अपना रूप छिपाकर इस तरह नहीं विचर रहे हैं ? घरमें आसक्त एवं विवेकहीन पुरुष योगीश्वरोंकी गतिको भला कैसे जान पायेगा ?" ॥ २० ॥ मैंने सांसारिक कार्योंसे अपनेको थकते देखा है, इसीलिये अनुमान करता हूँ कि बोझा ढोने तथा मार्गमें चलनेसे आपको भी श्रम अवश्य हो रहा होगा। अतएव आपका यह कहना कि 'मुझे कुछ श्रम नहीं होता' यह बात मेरी समझमें नहीं आती। इसके अतिरिक्त आपने जो कहा कि हमारा और तुम्हारा स्वामी-सेवकका भाव केवल व्यवहारमात्र है, सो वह व्यवहारमार्ग भी

स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभितापस्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥२२॥
शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य यदीहमानो विजहात्यघौघम् ॥२३॥
तन्मे भवान्नरदेवाभिमानमदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य ।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥२४॥
न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात्स्वकृताद्धि मादृङ् नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥२५॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान् वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥
तथैव राजन्नुरुगार्हमेधवितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥ २ ॥

तो अपने मूलकारणके साथ सत्य ही माना जाता है। नहीं तो वस्तुतः असत् घटसे जल लाना आदि कार्य कैसे सम्पन्न हो सकते हैं ? ॥ २१ ॥ जैसे चूल्हेपर रखी स्थाली (बटलोही) के अग्निसे गर्म होजानेपर उसका जल खौलने लगता और उस खौलते जलसे चावलका भीतरी भाग भी सीझ जाता है वैसे ही देह, इन्द्रिय तथा मनके द्वारा जीवको विषयोंका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥ प्रजाका शासन और पालन करनेके लिये नियुक्त किया हुआ भी उनका सेवक ही होता है। अतएव उसका उन्मत्तादि प्राणियोंको दण्ड देना भी पिष्ट-पेषणकी भाँति ही होता है। क्योंकि अपने धर्मका आचरण करना ही भगवानकी सच्ची सेवा होती है और उसे करनेवाला प्राणी अपनी सारी पापराशिको नष्ट कर डालता है ॥ २३ ॥ तदनन्तर राजा रहूगण क्षमा माँगते हुए इस प्रकार कहने लगे—हे दीनबन्धो ! राजत्वके अभिमानवश उन्मत्त होकर मैंने आपसरीखे साधुश्रेष्ठका अपमान किया है। अतएव आप मुझपर ऐसी कृपादृष्टि कर दें कि जिससे साधुके अवज्ञाजनित पापसे मैं मुक्त हो जाऊँ ॥ २४ ॥ समदृष्टिके कारण देहाभिमानसे रहित आप जगत्के हितकारी तथा विश्ववबन्धुको यद्यपि इस प्रकारके मानापमानसे कोई विकार नहीं हो सकता, फिर भी अपने किये हुए महापुरुषोंके अपमानसे मेरे-जैसा मनुष्य साक्षात् शंकरके समान समर्थ होकर भी नष्ट हुए बिना न रहेगा ॥ २५ ॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(राजा रहूगणको जड़भरतका ज्ञानोपदेश) ब्राह्मण बोले—हे राजन् ! वास्तवमें आप अज्ञ होकर भी आत्मतत्त्वके ज्ञाता ज्ञानियोंकी-सी बातें कर रहे हैं। केवल इससे आप तत्त्वज्ञानियोंके समाजमें श्रेष्ठ नहीं माने जासकेंगे। क्योंकि विचारशील पुरुष तत्त्वविचारके अवसरपर आपके द्वारा प्रतिपादित व्यवहारका समर्थन नहीं किया करते ॥१॥ हे राजन् ! इसी तरह गृहस्थोचित यज्ञविस्तारके विधिज्ञापक विस्तृत वेदवाक्योंमें भी रागादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञानकी अभिव्यक्ति प्रायः नहीं

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्वरीयसीरपि वाचः समासन् ।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥
यावन्मनो रजसा पूरुषस्य सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम् ।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा ॥ ४ ॥
स वासनात्मा विषयोपरक्तगुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।
बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेदमन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥ ५ ॥
दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥
तावानयं व्यवहारः सदाविः क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः ।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७ ॥
गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन् शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥
एकादशासन्मनसो हि वृत्तय आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः ।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९ ॥
गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥१०॥

ही हुई है ॥ २ ॥ जिसे गृहस्थोचित यज्ञादिकर्मोंसे प्राप्त होनेवाला फल स्वर्गादिसुखके सदृश त्याज्य नहीं मालूम पड़ता तो उपनिषद्वाक्य भी उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करानेमें समर्थ नहीं होते ॥३॥ जबतक मनुष्यका चित्त सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणसे आच्छादित रहता है तबतक वह स्वतन्त्रतापूर्वक उसकी ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों द्वारा शुभाशुभ कर्म कराता ही रहता है ॥४॥ मन वासनात्मक विषयोंमें लिप्त, गुणों-से प्रेरित, विकारों तथा भूत-इन्द्रिय आदि सोलह कलाओं युक्त रहता है । यही विभिन्न नामोंसे विभिन्न देवता तथा मनुष्यादिका रूप धारण करके शरीररूपी उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता तथा अधमताको विस्तृत रूप प्रदान करता है ॥ ५ ॥ इसके बाद कपटपूर्वक संसारचक्रमें डालनेवाला यह मायामय अन्तरात्मा अपने देहाभिमानी जीवके साथ मिलकर कालक्रमसे प्राप्त सुख-दुःख तथा इनसे पृथक् तीव्र मोहरूपी फल प्रदान करता है ॥ ६ ॥ जबतक मन रहता है, तभीतक जीवका स्पष्टरूपसे प्रतीयमान यह स्थूल एवं सूक्ष्म व्यवहार रहता है। अतएव इस मनको ही त्रिगुणात्मक अधम संसार और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपदका कारण कहा करते हैं ॥ ७ ॥ प्रत्येक विषयासक्त मन जीवको संकटमें डालता और वही विषयहीन हो जानेपर उसे शान्तिमय मोक्षपद देता है। जैसे घीसे भीगी वत्तीका भक्षण करनेवाला दीपक धूएँवाली शिखाको धारण करता और घृत समाप्त होते ही वह अपने कारण अग्नितत्त्वमें जाकर लीन हो जाता है। वैसे ही गुण तथा कार्योंमें आसक्त मन विविध प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त होता और निर्गुण होते ही वह अपने कारण महत्तत्त्वमें जाकर लीन हो जाया करता है ॥८॥ हे वीर राजन् ! पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक अहंकार, ये मनकी ग्यारह वृत्तियाँ होती हैं और पाँच प्रकारके कर्म, पाँच तन्मात्रा तथा एक शरीर ये ग्यारह उनके आश्रयस्वरूप विषय माने गये हैं। गन्ध, रूप, स्पर्श, रस तथा शब्द ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय माने जाते हैं। मलत्याग, सुखभोग, गमन, भाषण तथा लेना-देना आदि व्यापार—ये कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं। शरीरको अपना करके मानना ग्यारहवें अहंकारका विषय माना जाता है। कुछ लोग अहंकारको मनकी बारहवीं वृत्ति तथा उसके आधारभूत शरीरको बारहवाँ विषय बताते हैं ॥ ९ ॥ १० ॥ मनकी ये

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालैरेकादशामी मनसो विकाराः ।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥११॥
क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीर्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः ।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तु ॥१२॥
क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः ।
नारायणो भगवान् वासुदेवः स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥१३॥
यथानिलः स्थावरजङ्गमानामात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।
एवं परो भगवान् वासुदेवः क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ १४॥
न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र विधूय मायां वयुनोदयेन ।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥१५॥
न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं संसारतापावपनं जनस्य ।
यच्छोकमोहामयरागलोभवैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥१६॥
भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्यमुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥१७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे
ब्राह्मणरहूगणसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

ग्यारह वृत्तियें द्रव्य, स्वभाव, आशय, कर्म तथा कालके द्वारा परिणामको प्राप्त सैकड़ों, हजारों तथा करोड़ों तरह की हो जाया करती हैं। इनका अस्तित्व क्षेत्रज्ञ आत्माके ही अस्तित्वसे है। स्वतः या परस्पर मिलकर उसकी सत्ता नहीं है ॥ ११ ॥ संसारबन्धनके हेतुस्वरूप कर्मोंको करनेवाले जीवके माया-रचित मनकी प्रवाहरूपसे सदा बहनेवाली वृत्तियाँ, जो कि जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें प्रकट होतीं और सुषुप्ति अवस्थामें तिरोहित हो जाया करती हैं, उनको यह शुद्ध तथा साक्षी आत्मा सर्वदा देखता रहता है ॥ १२ ॥ क्षेत्रज्ञ आत्मा ही सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान, जगत्का मूलकारण, स्वयंप्रकाशशील, अजन्मा, ब्रह्मादिका नियन्ता तथा अपने अधीन मायाके द्वारा सब जीवोंके भीतर रहनेवाले भगवान वासुदेव हैं ॥ १३ ॥ जसे वायु सभी स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें प्राणरूपसे प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करता है, वैसेही सबका अन्तर्यामी तथा आत्मा और प्रकृति आदिसे परे भगवान वासुदेव भी इस प्रपञ्चमें ओतप्रोत हैं ॥ १४ ॥ हे राजन्! जब तक कि मनुष्य अपने ज्ञानोदयके द्वारा मायाका तिरस्कार करके सबका संग त्याग तथा काम-क्रोधादि छहों शत्रुओं एवं सारे आत्म-तत्त्वको नहीं जानलेता और जबतक वह आत्माके उपाधिस्वरूप मनको सारे संसारके दुःखका क्षेत्र नहीं मानता तबतक वह संसारमें उसी तरह भटकता रहता है। क्योंकि यह चित्त उसे मोह, रोग राग, लोभ और वैर आदिके बन्धनसे बाँधे रहता तथा उसकी ममताको बढ़ाता रहता है ॥१५॥१६॥ अतएव जो उपेक्षा करते रहनेके कारण बहुत बलवान् हो गया है, अपने आत्माको आच्छादित करनेवाले उस मनरूपी प्रबल कपटी शत्रुको तुम श्रीगुरु तथा श्रीहरिके चरणोंके सेवारूपी शस्त्रसे मार डालो ॥ १७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

रहूगण उवाच

नमो नमः कारणविग्रहाय स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्गनिगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥१॥
ज्वरामयार्तस्य यथागदं सन्निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टेर्ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥२॥
तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम् ।
अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्तमाख्याहि कौतूहलचेतसो मे ॥३॥
यदाह योगेश्वर दृश्यमानं क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे ॥४॥

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घाजानूरुमध्योरुशिरोधरांसाः ॥५॥
अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।
यस्मिन् भवान् रूढनिजाभिमानो राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥६॥
शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान् विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि ।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥७॥

(राजा रहूगणका प्रश्न तथा जड़भरतजीका समाधान) राजा रहूगण कहने लगे—हे भगवन् ! जिन ईश्वरने केवल लोकरक्षाके निमित्त शरीर धारण किया है, जो अपने परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करके शरीरको तुच्छ समझते हैं, उन जड ब्राह्मणके स्वरूपसे अपने नित्यानुभव-स्वरूपको छिपाये रहनेवाले अवधूतरूपी आपको मेरा नमस्कार है ॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! जैसे ज्वररोगसे पीड़ित प्राणीको सुस्वादु औषधि तथा धूपसे सन्तप्त मनुष्यको शीतल जल ही हितकारी होता है, वैसे ही देहाभिमानस्वरूप विषैले सर्पसे संदष्ट मेरे लिए आपके अमृतमय वचन औषधिसदृश हैं ॥ २ ॥ हे देवता ! मैं आपके द्वारा अपने संशयोंकी निवृत्ति तो बादमें कराऊँगा। इस समय जो आपने अध्यात्मयोगका भाषण दिया है, पहले उसको और भी सरल रीतिसे हमें समझाइये, उसे समझनेकी मेरी बड़ी प्रबल उत्कण्ठा है ॥ ३ ॥ हे योगेश्वर ! आपने जो कहा कि कर्मका प्रत्यक्ष दृश्यमान श्रम आदि फल दिखावमें व्यवहारका कारण होते हुए भी सत्य नहीं है, वह तत्त्व-विचारके आगे तनिक भी नहीं टिकता। यह सोचकर मेरी बुद्धि चक्करमें पड़ी हुई है ॥ ४ ॥ ब्राह्मणदेवता बोले—हे राजन् ! देह पृथिवीका विकार है। किसी कारण यह पृथिवीपर चलने-फिरने लगता है। इसीलिए इसके विविध नाम पड़ जाया करते हैं। इसके दो चरण होते हैं। उनके ऊपर क्रमशः गुल्फ (ठिगुनी), जानु, जंघा, ऊरु, कटिप्रदेश, वक्षःस्थल, कण्ठ तथा कन्धे आदि अङ्ग हैं ॥ ५ ॥ कन्धोंपर लकड़ीकी बनी पालकी रखी है। उसमें 'सौवीरराज' नामका एक पार्थिव विकार है। जिसमें ममता करनेके कारण तुम 'मैं सिन्धु देशका नरेश हूँ' इस दुर्मदसे अन्धे हो गये हो ॥ ६ ॥ किन्तु वस्तुतः इससे तुम्हारी श्रेष्ठता नहीं सिद्ध होती। जो बेचारे अत्यन्त कष्टसे दीन और शोचनीय हो रहे हैं, उन कहारोंको तुमने व्यर्थ बेगारमें पकड़ा है। इस लिए तुम बड़े क्रूर तथा धृष्ट हो। महापुरुषोंकी सभामें जो 'मैं लोकोंका रक्षक हूँ' इस तरह लम्बी-चौड़ी बातें बनाते हो,

यदा क्षितावेव चराचरस्य विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम् ॥८॥
एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तमसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥९॥
एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यदसच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्मनाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम् ॥१०॥
ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥११॥
रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥१२॥
यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥१३॥
अहं पुरा भरतो नाम राजा विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः।
आराधनं भगवत ईहमानो मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥१४॥
सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥१५॥

इससे तुम शोभित नहीं होते ॥ ७ ॥ जब हम यह जानते हैं कि निखिल चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति तथा लय सदा पृथिवीसे होता है तो उनके कार्यसे नामके सिवा भला और व्यवहारका मूल कारण क्या समझा जाय—सो तुम मुझे बताओ ॥ ८ ॥ इसी तरह 'पृथिवी' शब्दका अस्तित्व भी निरर्थक ही है। क्योंकि पृथिवी अपने कारणस्वरूप सूक्ष्म परमाणुओंमें लय हो जाती है। जिनके समवायसे पृथिवीरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वे परमाणु भी अविद्या द्वारा मनसे ही कल्पित किये जाते हैं ॥ ९ ॥ इस तरह और भी जो कृश, स्थूल, छोटा, बड़ा, सत् एवं चेतन-अचेतन जगत् दीखता है वह द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल तथा कर्म आदि नामात्मक भगवानकी मायाका ही कार्य है, ऐसा समझो ॥ १० ॥ अतएव जो विशुद्धज्ञानस्वरूप, अद्वितीय, भीतर-बाहरके भेदसे रहित, व्यापक तथा अन्तर्मुख रहता है, वही अत्यन्त शान्त और परमार्थ सत्य है। उसको लोग 'भगवान्' कहते और उसीको पण्डित लोग 'वासुदेव' भी कहते हैं ॥११॥ किन्तु हे राजा रहूगण! यह ज्ञान महापुरुषोंकी चरणरजको मस्तकपर धारण करनेके अतिरिक्त तप, यज्ञ, अन्नादिके दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन तथा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥ क्योंकि महापुरुषोंकी सभामें पवित्रकीर्ति भगवानके गुणोंका विषयवार्ताको दूर करनेवाला सम्भाषण होता है। नित्यप्रति उसका श्रवण करनेसे वह भगवत्कथा मोक्षके अभिलाषी पुरुषकी शुद्ध बुद्धिको भगवान वासुदेवमें लगा देती है ॥ १३ ॥ मैं पूर्वजन्ममें भरत नामका राजा था। उस समय मैं लौकिक तथा पारलौकिक विषयोंका संग त्यागकर भगवानकी उपासनामें तत्पर रहता था। फिर भी मृगका संग करनेके कारण परमार्थसे भ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें मैं मृगयोनिमें जा पहुँचा ॥ १४॥ लेकिन भगवानके आराधनकी महिमासे उस योनिमें भी मुझे अपने पूर्वजन्मका स्मरण बना रहा। अतएव अब मैं जनसंसर्गसे शङ्कितचित्त रहकर सदा असंगभावसे अपनेको छिपाये हुए विचरण करता हूँ ॥ १५ ॥

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजातज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः ।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ब्राह्मणरहूगणसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन् भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥१॥
यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात् ।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः ॥२॥
प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥
निवासतोयद्रविणात्मबुद्धिस्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४ ॥
अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।
अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥

अतएव मेरा विचार यह है कि मनुष्य वैराग्य तथा साधुसमागमसे प्राप्त ज्ञानरूपी खड्गसे इस लोकमें ही मोहबन्धन काटकर भगवानकी लीलाओंके कथन और स्मरण द्वारा निरन्तर भगवानका स्मरण करता हुआ संसारमार्गको पार करके भगवानके समीप जा पहुँचता है ॥ १६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(संसाररूपी वनका वर्णन और रहूगणकी शंकाओंका समाधान) ब्राह्मणदेव बोले—हे राजन् ! मायाके द्वारा दुर्गम प्रवृत्तिमार्गमें लगाये तथा सत्त्व, रज और तमरूपसे विभिन्न प्रकारके कर्मोंका विभाग देखनेवाले सुखरूपी धनमें आसक्त जीवरूपी व्यापारियोंका समूह भटकता हुआ संसाररूपी वनमें आता है। यहाँ वह कुछ सुख नहीं पाता ॥ १ ॥ हे राजन ! इस वनमें ज्ञानेन्द्रिय तथा मनरूपी छः चोर रहते हैं। वे चोर उस जीवरूप वणिक्समूहका कि—जिसका बुद्धिरूपी नायक बड़ा उद्दण्ड है—हठपूर्वक उसका सब धन लूट लेते हैं। जैसे भेड़िये भेड़ोंके झुण्डमें घुसकर उनके बच्चोंको घसीट ले जाते हैं, वैसे ही वहाँ रहनेवाले स्त्री-पुत्रादिरूपी गीदड़ उस भोले-भाले वणिक्समूहको इधर-उधरसे खींचने लगते हैं ॥ २ ॥ वह संसाररूपी वन काम्य कर्मरूपी बहुतेरी लता तृण तथा गुल्मोंके कारण अत्यन्त दुर्गम रहता है। उसमें पड़कर जीव कभी नीच पुरुषरूपी कठोर डाँसों तथा मच्छड़ोंके काटनेसे पीड़ित होता है और कभी मायाका गन्धर्वनगर देखता और कभी अतिशय चञ्चल आग उगलनेवाले वेताल देखता है ॥ ३ ॥ वह वासस्थान, जल तथा धन आदिकी खोजमें आसक्त होकर उस वनमें इधर-उधर भटकता फिरता है। कभी उसके नेत्रोंमें स्त्रीरूपी बवण्डरसे उठी हुई रागरूपी धूल भर जानेके कारण उसे दिशाओं यानी कर्मके साक्षी देवताओंका भी ज्ञान नहीं रह जाता ॥ ४ ॥ वह कभी-कभी दिखायी न देनेवाले शत्रुरूपी झींगुरोंके कर्णकटु शब्द सुनता और कभी राजारूपी उल्लुओंकी बोलीसे उसका चित्त बहुत दुःखी हो जाया करता है। वह कभी भूख लगनेपर पापवृक्षका सहारा लेता और कभी पिपासाकुल होकर मिथ्या विषयभोगरूपिणी मृगतृष्णाके जलकी ओर दौड़ने लगता है ॥ ५ ॥ कभी वह सूखी नदियोंकी ओर भागता है, कभी अन्न न

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति परस्परं चालषते निरन्धः।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ॥ ६ ॥
शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताःशोचन्विमुह्यन्नुपयातिकश्मलम्।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७ ॥
चलन् क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रिर्नगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय ॥ ८ ॥
क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकैरन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥
कर्हिस्म चित्क्षुद्ररसान् विचिन्वंस्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः।
तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥१०॥
क्वचिच्च शीतातपवातवर्षप्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चिद्विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥११॥
क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन् शय्यासनस्थानविहारहीनः।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥१२॥
अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्धवैरानुबन्धो विवदन्मिथश्च।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्तबाधोपसर्गैर्विहरन् विपन्नः ॥१३॥
तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र विहाय जातं परिगृह्य सार्थः।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥१४॥

मिलनेके कारण भूखसे व्याकुल होकर आपसमें ही भोजनार्थ अन्न माँगने लगता है। कभी वह दावानलकी भाँति दुःखदायी गृहमें पहुँचकर शोकरूपी अग्निसे सन्तप्त होता और कभी यक्षों अर्थात् राजाओंके द्वारा प्राणरूपी धन हर जानेपर दुःखी हो जाता है ॥ ६ ॥ कभी प्रबल लोग उसका सर्वस्व छीन लेते हैं, तब वह उदास मन तथा शोकाकुल होकर दुःखसे मूर्च्छित हो जाता और कभी गन्धर्व-नगर अर्थात् कुटुम्बी बन्धनोंमें पहुँचकर मुहूर्त भरके लिये सुखी जैसा होकर आनन्दमग्न हो जाया करता है ॥ ७ ॥ कर्म करनेकी लालसासे चलते-चलते काँटों और कङ्कड़रूपी विघ्नोंके कारण वह विकल हो जाता है। उसका कुटुम्ब बहुत सन्तप्त होता है। इस कारण वह पद-पदपर जठरानलसे सन्तप्त होकर अपने स्वजनोंपर क्रोध करने लगता है ॥ ८ ॥ कभी वह अजगर सर्प द्वारा निगला जाकर वनमें फेंके हुए मुर्देके समान पड़ा रहता है। उस समय उसे अपने तन-मनकी भी कुछ सुधि नहीं रहती। कभी वह सर्पादि जन्तुओं यानी दुर्जनोंके काटनेसे अन्धा होकर एक घोर अन्धेरे कुँएमें जा गिरता है ॥ ९ ॥ कभी वह परस्त्री-परधनरूपी मधुकी खोजमें भटकने लगता है, तब उन मधुमक्खियों द्वारा पीडित हो जानेसे उसे बहुत क्लेश होता है। यदि किसी तरह वहाँ सफलता मिल भी जाती है तो उसे दूसरे शत्रु धर दबोचते हैं ॥ १० ॥ कभी-कभी वह शीत, घाम, वायु तथा वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ हो जाया करता है। कभी-कभी आपसमें ही थोड़ा बहुत व्यापार करने लगता है तो वह लोभवश दूसरोंको धोखा देकर उनसे वैर ठान लेता है ॥ ११ ॥ कभी-कभी उस संसारवनमें धनके नष्ट हो जानेके कारण उसके पास शय्या, आसन तथा रहनेका स्थान भी नहीं रह जाता। तदनन्तर वह दूसरेकी वस्तुपर अपनी आँखे गड़ाकर उससे माँगने लगता है तो भी उसकी कामना पूर्ण नहीं होने आती और उसे दूसरोंके द्वारा अपमानित होना पड़ता है ॥ १२ ॥ इस तरह व्यावहारिक सम्बन्धसे एक-दूसरेके साथ द्वेषभाव बढ़ जानेपर वह परस्पर विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करता और फिर इस मार्गमें धननाश आदि विविध संकट भोगता हुआ मृतक तुल्य हो जाया करता है ॥ १३ ॥ तदनन्तर वह

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः ।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति यन्न्यस्तदण्डो हतवैरोऽभियाति ॥१५॥
प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रयस्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन् सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥१६॥
तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविशन्नरोचयन् शीलमुपैति वानरान् ।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥१७॥
द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन् वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥१८॥
अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥१९॥
रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः ।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥२०॥

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन् ।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥२१॥

वणिक्समूह अपने मरे हुए साथियोंको वहीं ही छोड़कर नवीन उत्पन्न होनेवालोंको साथ लेकर आगे बढ़ता है। हे वीर! उनमेंसे कभी न तो आज तक कोई पीछे लौटा है और न इस मार्गके परले पार परमानन्दमय योगमार्गमें ही प्रवृत्त हुआ है ॥ १४ ॥ जिन लोगोंने बड़े-बड़े दिक्पालोंको जीत लिया था, वे धीर-वीर पुरुष भी 'यह पृथिवी मेरी है' ऐसा व्यर्थका अभिमानकर और आपसमें वैर ठानकर युद्धमें मरते-मिटते हैं, तो भी उस पदको प्राप्त नहीं कर पाते, जिसे अजातशत्रु परमहंसगण प्राप्त कर लेते हैं ॥ १५ ॥ इस संसाररूपी वनमें भटकनेवाला यह जनसमुदाय कभी लताओंकी डालियोंका सहारा लेकर अस्पष्ट और मधुरभाषी पक्षियों अर्थात् बालकोंमें विभोर हो जाता और कभी सिंहोंके समूह अर्थात् कालचक्रसे उड़कर बगुला, कंक तथा गिद्ध आदिरूपी पाखण्डी देवताओंके साथ प्रीति करने लगता है ॥१६॥ जब कभी वह उनसे धोखा खा जाता है तो हंसोंकी पंक्ति अर्थात् ब्राह्मणकुलमें प्रविष्ट होनेका उद्योग करता है। तब उसे उनका आचार भी नहीं रुचता तो वानरों अर्थात् चञ्चलस्वभावके लोगोंमें जा मिलता और उनके जातिस्वभावके अनुसार विषयभोगों द्वारा अपनी इन्द्रियोंको तृप्त किया करता है और परस्पर एक दूसरेका मुख देखते-देखते अपनी आयुकी अवधि तकको भूल जाता है ॥१७॥ कभी वह वृक्षों अर्थात् घरोंमें रमण करता, स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त होता और मैथुनादिकी अभिलाषासे दीन बनकर अपने बन्धनको तोड़नेमें असमर्थ हो जाता और कभी असावधानतावश पर्वतकी गुफा यानी रोगादिमें गिरकर उसमें रहनेवाले हाथी अर्थात् मृत्युसे भयभीत होता हुआ किसी लता यानी प्रारब्धकर्मके सहारे लटका रहता है ॥ १८ ॥ हे अरिन्दम! उसे यदि किसी तरह इस आपत्तिसे छुट्टी मिल जाती तो फिर अपने साथियोंमें ही जा मिलता है। जो कोई मनुष्य मायाकी प्रेरणावश इस झुण्डमें एक बार पहुँच जाता है तो उसे संसारवनमें भटकते हुए अन्ततक अपने परम पुरुषार्थका पता नहीं लग पाता ॥ १९ ॥ हे रहूगण! तुम अब तक इसी मार्गमें भटक रहे हो। अतएव अब प्रजावर्गको दण्ड देनेका कार्य त्यागकर सब प्राणियोंके साथ मैत्री करके विषयोंसे उपराम होकर हाथमें भगवत्-सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूपी खड्ग लेकर इस मार्गके पार पहुँच जाओ ॥ २० ॥ राजा रहूगण बोले—अहो! सब योनियोंके जन्मोंमें यह मानव जन्म ही सर्वाधिक कल्याणकारी है। स्वर्गादि अन्य लोकोंमें प्राप्त देवतादिके पदोंसे भी क्या लाभ हो सकता है, जहाँ श्रीहृषीकेशभगवानके

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥२२॥
नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गाश्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार ॥ २४ ॥ सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः ॥ २५ ॥

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः। अथ तदेवैतद्दुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

स होवाच

य एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पितकुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोगसंयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमे-

---

पवित्र यश सुनकर कृतकृत्यताको प्राप्त आप-जैसे महात्माओंका दर्शन नहीं मिला करता ॥ २१ ॥ जिनके क्षणिक समागमसे मेरा कुतर्कमूलक अज्ञान दूर हो गया है, आपके उन चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेके कारण जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवानकी निर्मल भक्ति प्राप्त हो जाना कोई विस्मयकी बात नहीं है ॥ २२ ॥ बालकों, युवाओं तथा ब्रह्मचारी आदि सब आश्रमवालोंको नमस्कार है। जो कोई भी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण पृथिवीपर अवधूतवेषसे विचरते हैं, उनके द्वारा प्रभुताके मदसे उन्मत्त राजाओंका मंगल हो ॥ २३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे औत्तरेय! इस तरह परम प्रभावशाली तथा ब्रह्मर्षिपुत्र भरत अपना अपमान करनेवाले सिन्धुदेशके नरेश रहूगणको अति करुणावश उपदेश दे और उनके द्वारा करुणा-पूर्वक अभिवन्दित होकर परिपूर्ण समुद्रकी भाँति अपने मनकी इन्द्रियरूपिणी तरंगोंको शान्त करके पृथिवीतलपर विचरने लगे ॥ २४ ॥ उधर सौवीरपति राजा रहूगणने भी उनके सत्संगसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके अपनेमें अविद्यावश आरोपित देहात्मबुद्धि त्याग दी। क्योंकि हे राजन्! भगवानके आश्रित भक्तोंकी शरणमें प्राप्त पुरुषोंका ऐसा प्रभाव ही हो जाता है ॥ २५ ॥ राजा परीक्षित बोले—हे महाभागवत शुकदेवजी! आप बड़े विद्वान् हैं। आपने व्यापारियोंके संसारमार्गके रूपकसे बुद्धिमान् पुरुषोंके समझने योग्य जो उपदेश दिया है, वह साधारण मनुष्योंकी बुद्धिमें सरलतासे नहीं समा सकता। अतएव आपसे मेरी प्रार्थना है कि इस कठिन विषयको आप और भी सरल रीतिसे कहकर समझाइये ॥ २६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

(भवाटवीकी सरल व्याख्या) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! देहात्ममानियोंको

ऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णोर्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं हरिगुरुचरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे यस्यामु ह वा एते षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते ॥ १ ॥ तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति । तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्पव्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य विलुम्पन्ति ॥ २ ॥ अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छितोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्ति ॥ ३ ॥ यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः ॥४॥ तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित्परिवर्तमानोऽस्मिन्नध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्वनगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति ॥ ५ ॥ तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति

सत्त्वादि गुणोंसे होनेवाले शुभ, अशुभ तथा मिश्र कर्मोंके योगसे निर्मित विविध प्रकारकी देहोंके साथ संयोग-वियोगरूपी अनेक संसार प्राप्त होता रहता है। उसके अनुभवकी द्वाररूपिणी मन आदि छः इन्द्रियोंके द्वारा विवश भावसे यह जीवसमूह मार्ग भूलकर भयङ्कर वनमें भटकते वणिक्समुदायकी भाँति भगवान विष्णुके आश्रित रहनेवाली मायाको प्रेरणासे, दुर्गमपथकी तरह जिसपर चलना अत्यन्त कठिन होता है, ऐसे मार्गसें पड़कर अपने शरीरसे आचरण किये हुए कर्मोंका फल भोगता हुआ श्मशानके सदृश अतिशय अशुभ संसारवनमें पहुँच जाता है। वहाँ इसका व्यापार अनेक विघ्नोंके कारण विफल हो जाया करता है। फिर भी अन्त तक यह संसाररूपी दुःखको शान्त करनेवाले भगवानके चरणोंके रसिक भ्रमरोंके मार्गका अनुसरण नहीं करता। इस संसाररूपी वनमें मनसहित जो छः इन्द्रियाँ हैं, वे ही अपने कुत्सित कर्मोंके कारण चोरोंके समान मानी जाती हैं ॥ १ ॥ जिसका पहरेदार बड़ा दुष्ट है। एक असावधान वणिक्के बड़े कष्टसे कमाये धर्मोपयोगी धनको जैसे चोर लूट ले जाते हैं, वैसे ही दुर्बुद्धि एवं अजितेन्द्रिय पुरुषके अत्यन्त क्लेश सहकर प्राप्त किये हुए सत्कर्मरूपी धनको—जो कि परमपुरुष परमात्माकी निष्काम आराधनाके रूपमें परलोकमें परम निःश्रेयसका हेतु बताया गया है—ये मन सहित छः इन्द्रियाँ देखना, स्पर्श करना, सुनना, चखना, सूँघना एवं संकल्प-विकल्प तथा निश्चय करना आदि क्रियाओंके द्वारा सभी सांसारिक विषयभोगोंमें फँसाकर नष्टकर डालती हैं ॥२॥ ये ही नहीं, उस संसाररूपी वनमें रहनेवाले कुटुम्बीजन भी, जो नामसे तो अपने स्त्री-पुत्रादि कहे जाते हैं किन्तु कुटिल कर्मके कारण साक्षात् भेड़ियों तथा गीदड़ोंके सदृश होते हैं, वे उस बेचारे दीन-कुटुम्बीका धन उसकी अनिच्छासे उसके देखते-देखते ऐसे छीन लेते हैं, जैसे भेड़िये गड़ेरियोंसे सुरक्षित भेड़ों तथा बछड़ोंको उठा ले जाया करते हैं ॥ ३ ॥ जिस तरह प्रतिवर्ष जोता जानेवाला भी खेत बीजके दग्ध न होनेके कारण खेतीका समय उपस्थित होनेपर गुल्म, लता तथा तृण आदिके द्वारा अति गहन हो जाता है। वैसे ही यह गृहस्थाश्रम भी कर्मभूमि है। इसमें कर्मोंका अन्त कभी भी नहीं हो पाता, क्योंकि यह घर तो कर्मवासनाओंका भण्डार है ॥ ४ ॥ घररूपी सांसारिक झमेलेमें पहुँचनेके बाद उसके धनरूपी बाह्य प्राणोंको डाँस तथा मच्छरोंकी भाँति नीच पुरुषों तथा टिड्डी, पक्षी, चोर एवं मूषकादिके द्वारा क्षति पहुँचती है। इस मार्गमें भटकते हुए वह अविद्याके द्वारा काम और कर्मोंमें आसक्त अपने चित्तसे दृष्टिदोषवश गन्धर्वनगरकी तरह इस असत्य मर्त्यलोकको सत्य मानने लग जाता है ॥ ५ ॥ फिर भोजन, जलपान एवं मैथुन आदि विविध

पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः ॥ ६ ॥ क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुणनिर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुकपिशाचम् ॥ ७ ॥ अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति ॥ ८ ॥ क्वचिच्च वात्योपम्यया प्रमदयाऽऽरोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति ॥ ९ ॥ क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति ॥ १० ॥ क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः ॥११॥ स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्यद्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणाञ्जीवन्मृतान् स्वयं जीवन्म्रियमाण उपधावति ॥१२॥ एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्रोतःस्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति ॥१३॥ यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान् वा स खलु भक्षयति ॥१४॥ क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति ॥१५॥ क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहृतप्रियतमधनासुः प्रमृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते ॥१६॥ कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्ननिर्वृतिलक्षणमनुभवति ॥१७॥ क्वचिद्

विषयोंकी ओर दौड़ता, कभी अग्नि पानेकी इच्छावश आतुर होकर अगियावेतालकी ओर उसे पकड़नेके निमित्त दौड़नेवाले मनुष्यकी तरह सम्पूर्ण दोषोंके आश्रयस्वरूप सुवर्णके लिये व्याकुल होकर उसीके वर्णवाले रजोगुणसे ग्रस्त होकर विष्ठासदृश सुवर्णकी ओर दौड़कर उसे पकड़ना चाहता है ॥ ६ ॥ ७ ॥ वह कहीं गृह, जल तथा धन आदि अनेक जीवनोपयोगी साधनोंमें आसक्त होकर इस संसाररूपी वनमें इधर-उधर दौड़ मारता रहता है ॥ ८ ॥ वह कभी बवण्डरकी भाँति स्त्रीके द्वारा गोदमें बिठाया जाकर तत्काल उत्पन्न रागरूपी धूलसे दृष्टि रुँध जानेके कारण अन्धा तथा मलिन-चित्त जैसा होकर साधुपुरुषोंकी मर्यादाको त्याग देता और बुद्धिके रजोगुणसे अत्यन्त आच्छादित होकर अपने कर्मोंके साक्षी दिशास्वरूप देवताओंको भी नहीं जान पाता और अपनेको अकेला मानने लग जाता है ॥ ९ ॥ वह कभी अपने-आप एक बार विषयोंका मिथ्यापन समझकर भी देहाभी-मान तथा विवेक-बुद्धिके नष्ट हो जानेके कारण उन मरुमरीचिकाके सदृश विषयोंकी ओर दौड़ने लग जाता है ॥ १० ॥ कभी उल्लू तथा झींगुरोंके अतिशय कठोर शब्दोंके सदृश शत्रु एवं राजाओंके समक्ष तथा परोक्षरूपसे डाटने-डपटनेके बाद उसके कान तथा हृदयोंको बहुत कष्ट होता है ॥ ११ ॥ जब इस प्राणीके पूर्वसंचित पुण्य क्षीण हो जाते हैं तो यह जीते हुए भी मुर्देके समान हो कारस्कार और काकतुण्ड आदि पापवृक्ष और लताओं एवं विषैले कूपोंके समान जिनका धन इहलोक और परलोक दोनोंके काममें नहीं आता तथा जो जीते हुए भी मुर्देके समान हैं, ऐसे धनवानोंका सहारा लेता है ॥ १२ ॥ वह कभी असत् पुरुषोंके सहवासके कारण बुद्धि भ्रष्ट हो जानेसे बिना जलकी नदीमें गिरनेके सदृश इस लोक तथा परलोकमें दुःखदायी पाखण्डमें जा फँसता है ॥ १३ ॥ जब कि शत्रुओंके विघ्न डालनेके कारण इसे अन्न नहीं मिलता, तब पिता-पुत्रों अथवा पिता-पुत्रोंमेंसे जिनके पास किसीकी सम्पत्तिका एक तिनका भी देखता है तो वह उनको मानों फाड़ खानेको उद्यत हो जाता है ॥ १४ ॥ कभी दावानलके सदृश प्रिय वस्तुसे विहीन और अत्यन्त दुःखपूर्ण घरमें पहुँचता तो शोकाग्नि द्वारा सन्तप्त होकर बहुत खिन्न हो जाता है ॥ १५ ॥ कभी कालके सदृश भयङ्कर राज-कुलरूपी राक्षसों द्वारा अपने प्राणप्रिय धनके अपहृत कर लिये जानेपर यह मरे हुएके सदृश निर्जीव हो जाया करता है ॥ १६ ॥ कभी मनोरथके पदार्थोंके सदृश प्रतीत होनेवाले पिता-पितामह आदि असत् सम्बन्धोंको सत्य समझकर उनसे होनेवाले स्वप्नके तुल्य क्षणिक सुखका उपभोग करता है

गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति ॥१८॥ क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति ॥१९॥ स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत्किञ्चन वेद शव इवापविद्धः ॥२०॥कदाचिद्भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति ॥२१॥ कर्हिस्म चित्काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपरद्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये ॥२२॥ अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति ॥२३॥ मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः ॥२४॥ क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते ॥ २५ ॥ क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन् यत्किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात् ॥२६॥ अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादयः ॥२७॥ क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहृतहृदय आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति ॥२८॥ कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णो-

---

॥ १७ ॥ वह कभी गृहस्थाश्रमके लिये विहित कर्मोंके अतिशय भारस्वरूप पर्वतपर चढ़ना चाहता तो लौकिक विपत्तियोंसे खिन्न होकर काँटे तथा रोड़ोंसे व्याप्त क्षेत्रमें घुसे व्यक्तिकी भाँति दुःखित हो जाता है ॥ १८ ॥ कभी-कभी दुःसह जठराग्निसे अधीर होकर अपने कुटुम्बपर क्रुद्ध होता है ॥ १९ ॥ तदनन्तर वही निद्रारूपी अजगर द्वारा निगले जानेसे अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें डूबकर शून्य अरण्यमें फेंके हुए मुर्देके समान सो जाया करता है। तब उसे किसी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता ॥ २० ॥ जब कभी सर्परूपी दुर्जन इसके गर्वरूपी दाँतोंको तोड़ देते हैं, तब इसे एक क्षणको भी नींद नहीं आती और यह हार्दिक वेदनाके कारण क्षण-क्षणमें विवेकशक्ति नष्ट हो जानेसे अन्तमें अन्धे पुरुषके समान अँधेरे कुएँमें जा गिरता है ॥ २१ ॥ कभी विषयरूपी मधुकणको ढूँढते-ढूँढते जब परस्त्री तथा परधनको प्राप्त करनेका उद्योग करता तो यह उनके स्वामी अथवा राजाके हाथों मारा जाकर अपार नरकमें गिरजाता है ॥ २२ ॥ हे राजन् ! इसीसे ऐसा कहा जाता है कि प्रवृत्तिमार्गमें किये हुए लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकारके कर्म जीवको जन्म-मरणरूपी संसारमें गिरानेवाले होते हैं ॥ २३ ॥ यदि उस बन्धनसे किसी तरह छुटकारा मिल भी जाय तो उन स्त्री और धन आदिको देवदत्त नामक कोई एक दूसरा पुरुष छीन ले जाता और उससे भी विष्णुमित्र नामक कोई तीसरा व्यक्ति छीन लेता है। वे कभी एक स्थानपर स्थित नहीं होते ॥ २४ ॥ कभी-कभी शीत तथा वायु आदि अनेक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुःखदायी परिस्थितियोंकी वृत्तिमें समर्थ न होनेके कारण यह अपार चिन्ताओंसे उदास हो जाता है ॥ २५ ॥ कभी परस्पर व्यवहार करता हुआ किसीका कौड़ी भर भी कुछ चुराता तो लोलुपताके कारण वह दूसरोंसे वैर ठान बैठता है ॥ २६ ॥ हे राजन् ! इस मार्गमें सुख, दुःख, राग, द्वेष, भय, अभिमान, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मत्सरता, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा, पिपासा, आधि यानी मानसिक कष्ट, व्याधि यानी शारीरिक कष्ट, जन्म, जरा तथा मरण आदि विविधविध क्लेश हैं ॥२७॥ इस विघ्नभरे मार्गमें भटकता हुआ जनसमुदाय कभी देवमायारूपिणी स्त्रीकी बाहुलताओंमें बँधकर विवेकभ्रष्ट हो जाता है। तब जिसे सुख देनेके लिये यह घर आदि बनवानेकी चिन्तामें लीन रहता है, उस स्त्री तथा उसीके आश्रयसे प्राप्त पुत्र तथा पुत्री आदिके मीठे-मीठे बोल, अवलोकन एवं चेष्टाओंमें लिप्त होकर उन्हींके द्वारा चित्त चुरा लिये जानेपर यह अजितेन्द्रिय पुरुष अपनेको घोर अन्धकारमय नरकमें ढकेल देता है ॥२८॥ कभी-कभी

श्चक्रात्परमाण्वादिद्विपरार्धापवर्गकालोपलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्केत्येनाभिधत्ते ॥२९॥ यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते निगमाचारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः ॥ ३० ॥ तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपणबुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृतकालावधिः ॥३१॥ क्वचिद् द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन् यथा वानरः सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः ॥३२॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दरप्राये ॥ ३३ ॥ क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते ॥३४॥ क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन ॥३५॥ क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते ॥ ३६ ॥ एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति ॥३७॥ एतस्मिन् संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह

ब्रह्मसे लेकर तृणपर्यन्त सभी प्राणियोंकी आयुको अपने वेगसे हरते हुए सबके देखते-देखते एक क्षणमें उसका संहार करने एवं परमाणुसे लेकर द्विपरार्ध तक क्षण, घड़ी आदि नामोंसे कहे जानेवाले एवं षडैश्वर्यसम्पन्न भगवान विष्णुके शस्त्ररूपी कालचक्रसे भयभीत होकर भी यह साक्षात् यज्ञपुरुष नारायणकी आराधना त्यागकर कङ्क, गृध्र, बगुला तथा उल्लूके सदृश शिष्टाचारसे हीन अप्रामाणिक वचनोंमें भूलकर अन्य पाखण्डमय देवताओंका आश्रय लेता है ॥ २९ ॥ जब अपने द्वारा धोखा खाये हुए पाखण्डियोंसे इसे और भी अधिक धोखेमें पड़ना पड़ता है, तब यह विप्रकुलमें प्रविष्ट होता है। किन्तु उपनयनसंस्कारके बाद श्रौत-स्मार्त आदि कर्मोंसे भगवान यज्ञपुरुषकी आराधना करना आदि उनका स्वभाव उसे अच्छा नहीं लगता। इसी प्रकार वह उन्हें छोड़कर फिर शूद्रकुलकी शरण लेता और अपनेमें शुद्धि न होनेसे वह वेदविहित कर्मोंका अधिकारी न होनेके कारण वानरोंके समान सदा कुटुम्बपोषण तथा स्त्री-पुरुष-सम्बन्धमें ही व्याप्रृत रहता है ॥३०॥ वहाँ स्वच्छन्द विहार करनेके कारण इसकी बुद्धि बहुत दीन-हीन हो जाती है और तब यह एक-दूसरेका मुख देखना आदि विविध प्रकारके भोगोंमें आसक्त होकर अपने मरणकालकी अवधिको भी भूल जाता है ॥ ३१ ॥ जिनका कि वृक्षोंकी नाईं केवल सांसारिक भोग ही फल होता है, ऐसी गृहस्थीमें वानरके समान सुख मानते हुए स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त होकर वह मैथुनादि विषयभोगोंहीमें समय व्यतीत करने लगता है ॥ ३२ ॥ इस तरह प्रवृत्तिमार्गमें भटकता हुआ यह जनसमुदाय गिरि-गुहारूपी रोगोंमें फँसकर सर्वदा मृत्युरूपी हाथीसे डरा करता है ॥ ३३ ॥ यह कभी शीत तथा वायु आदि नाना प्रकारके आधिदैविक आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुःखोंको निवृत्त करनेमें असमर्थ होकर दुष्पार विषयोंके चिन्तनसे खिन्न हो जाया करता है ॥ ३४ ॥ कभी-कभी परस्परके व्यवहारमें धनके लिये दूसरोंको धोखा देकर कुछ धन पा जाता है ॥ ३५ ॥ कभी वह धन नष्ट हो जानेके कारण सोने, बैठने और खानेकी भी सामग्रीके अभावमें अभिलषित भोगोंके न मिलनेपर यह उन्हें बुरे ढङ्गसे पानेका निश्चय करता और जहाँ-तहाँ मनुष्यों द्वारा अपमानादि पाता है ॥ ३६ ॥ इस तरह धनकी आसक्तिवश परस्पर वैरभाव बढ़ जानेपर भी यह पूर्व वासनाके कारण आपसमें विवाहादि अनेक सम्बन्ध करता और उसे त्यागता रहता है ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! इस तरह इस संसारमार्गमें चक्कर काटनेवाला यह जनसमुदाय विविध प्रकारके क्लेश तथा विघ्नों द्वारा बाधित होकर भी भगवानकी

वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन् विभ्यद्विवदन् क्रन्दन् संहृष्यन् गायन्नह्यमानः साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति ॥३८॥ यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति ॥३९॥ यदपि दिगिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः ॥४०॥ कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि ॥४१॥

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः । नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः ॥४२॥
यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः । जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥४३॥

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान् प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥४४॥
यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥४५॥

मायासे बँधे रहनेके कारण मार्गमें जो-जो आपत्तिग्रस्त होता या मृत्युको प्राप्त हो जाता तो उसे वहीं छोड़ता, उत्पन्न लोगोंको अपने साथ लगाता, शोक, मोह तथा भयके वशीभूत होता और विवाद, रुदन, हर्ष तथा गान करता हुआ बराबर आगे ही बढ़ता जाता है। इनमेंसे भगवद्भक्त प्राणीके सिवाय और कोई भी प्राणी जहाँसे इस संसारमार्गका आरम्भ हुआ रहता है एवं जो इसका अन्तिम सोपान है, उस परमात्माके पास तक नहीं पहुँच जाता ॥ ३८ ॥ जिन्होंने इस योगके अनुशासनको अंगीकार किया है, वे शान्तिशील तथा संयतचित्त विरक्त मुनिजन उसमें प्रवृत्त होते हैं। अन्य साधारण पुरुष वहाँ तक नहीं जा पाते ॥ ३९ ॥ दिग्गजोंको जीतनेमें समर्थ और बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले राजर्षियोंके लिये भी यह मार्ग बड़ा दुर्गम है। वे भी इस पृथिवीपर 'यह मेरी है' इस भावसे वैर ठान और इसे यहीं छोड़कर स्वयं युद्ध-भूमिमें सदाके लिए सो जाते हैं ॥ ४० ॥ पूर्वजन्मकृत पुण्यकर्मरूपिणी लताओंका आश्रय लेकर यह जीव किसी तरह उन आपत्तियों अथवा नरकसे छूट भी जाता तो फिर इसी तरह संसारसागरमें भटकता हुआ मानवसमुदायमें जा मिलता है। स्वर्गादि ऊपरके लोकोंमें जानेवालोंकी यही दशा होती है ॥ ४१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जड़भरतके बारेमें उस समयके लोग ऐसा कहते हैं—जैसे कोई मक्खी गरुड़जीसे होड़ नहीं लगा सकती, वैसे ही महात्मा भरतजीके मार्गका और कोई राजा मनसे भी अनुसरण नहीं कर पाता ॥ ४२ ॥ पुण्यकीर्ति भगवानकी प्राप्तिकी लालसासे जिन्होंने उत्सुक होकर अपनी तरुण अवस्थामें ही दुस्त्यज्य एवं अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र तथा राज्यादिको विष्ठाके सदृश त्याग दिया था ॥ ४३ ॥ जिन राजर्षि भरतने अति दुस्त्यज पृथिवी, पुत्र, स्वजन, सम्पत्ति तथा स्त्री और जिसके लिये देवता भी लालायित रहते हैं, किन्तु जो स्वयं भरतजीके कृपा-कटाक्षका मार्ग देखती थी, उन्होंने उस लक्ष्मीकी भी इच्छा नहीं की। यह सब उन्हींके योग्य था। क्योंकि जिन लोगोंका चित्त भगवानकी सेवामें लगा रहता है, उनकी दृष्टिमें मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ होता है, ॥ ४४ ॥ जिन महाराज भरतजीने मृगशरीर त्यागते हुए भी उच्चस्वरसे यह कहा था कि धर्मके रक्षक, कर्मानुष्ठानमें पटु, योगके रूप, सांख्यशास्त्रके सिद्धान्त, प्रकृतिके पति और यज्ञपुरुष नारायण श्रीहरिको नमस्कार है। उन महापुरुषका अनुकरण भला कौन कर पायेगा ? ॥४५॥

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुशृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भरतोपाख्याने पारोदयविवरणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

भरतस्यात्मजः सुमतिर्नामाभिहितो यमु ह वाव केचित्पाखण्डिन ऋषभपदवीमनुवर्तमानं चानार्या अवेदसमाम्नातां देवतां स्वमनीषया पापीयस्या कलौ कल्पयिष्यन्ति ॥१॥ तस्माद् वृद्धसेनायां देवताजिन्नाम पुत्रोऽभवत् ॥२॥ अथासुर्यां तत्तनयो देवद्युम्नस्ततो धेनुमत्यां सुतः परमेष्ठी तस्य सुवर्चलायां प्रतीह उपजातः ॥३॥ य आत्मविद्यामाख्याय स्वयं संशुद्धो महापुरुषमनुसस्मार ॥४॥ प्रतीहात्सुवर्चलायां प्रतिहर्त्रादयस्त्रय आसन्निज्याकोविदाः सूनवः प्रतिहर्तुः स्तुत्यामजभूमानावजनिषाताम् ॥५॥ भूम्न ऋषिकुल्यायामुद्गीथस्ततः प्रस्तावो देवकुल्यायां प्रस्तावान्नियुत्सायां हृदयज आसीद्विभुर्विभो रत्यां च पृथुषेणस्तस्मान्नक्त आकूत्यां जज्ञे नक्ताद् द्रुतिपुत्रो गयो राजर्षिप्रवर उदारश्रवा अजायत साक्षाद्भगवतो विष्णोर्जगद्रिरक्षिषया गृहीतसत्त्वस्य कालाऽऽत्मवत्त्वादिलक्षणेन महापुरुषतां प्राप्तः ॥६॥ स वै स्वधर्मेण प्रजापालनपोषणप्रीणनोपलालनानुशासनलक्षणेनेदेज्यादिना च भगवति महापुरुषे परावरे ब्रह्मणि सर्वात्मनार्पित-

---

जिनके उज्ज्वल गुण तथा कर्मोंकी भक्तजन प्रशंसा करते रहते हैं, उन भगवद्भक्त तथा राजर्षि भरतके कल्याणकारी, आयुवर्द्धक, धनप्रद, कीर्तिकारी एवं स्वर्ग तथा मोक्षादिको प्राप्त करानेवाले चरित्रको जो पुरुष सुनता या अनुमोदन करता है तो उसकी सब इच्छाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती हैं, उसे दूसरोंके पाससे कुछ भी पाना नहीं रहता ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(महाराज भरतके वंशका विस्तार) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! भरतजीके पुत्रका नाम सुमति था, यह हम बता चुके हैं। उसे भी ऋषभदेवजीके मार्गपर चलते देखकर कलियुगमें बहुतेरे पाखण्डी एवं अनार्य पुरुष अपनी दुर्बुद्धिके कारण वेदके विरुद्ध कल्पना करके उसे देवता मानते थे ॥ १ ॥ उसकी वृद्धसेना नामकी स्त्रीसे देवताजित् नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥ देवताजित्की पत्नी असुर्याके गर्भसे देवद्युम्न, देवद्युम्नकी पत्नी धेनुमतीसे परमेष्ठी और परमेष्ठीकी पत्नी सुवर्चलासे प्रतीह नामका पुत्र जनमा ॥ ३ ॥ उसने अन्य लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश दे और स्वयं शुद्धचित्त होकर परमपुरुष भगवानका साक्षात् दर्शन किया था ॥ ४ ॥ प्रतीहकी पत्नी सुवर्चलासे प्रतिहर्ता, प्रस्तोता तथा उद्गाता नामक तीन पुत्र जनमे, जो यज्ञादि कर्मोंमें बड़े निपुण थे। उनमेंसे प्रतिहर्ताकी पत्नी स्तुतिसे अज और भूमा नामके दो पुत्र हुए ॥ ५ ॥ भूमाकी पत्नी ऋषिकुल्यासे उद्गीथ, उद्गीथकी पत्नी देवकुल्यासे प्रस्ताव और प्रस्तावकी पत्नी वियुत्सासे विभुनामक पुत्र उत्पन्न हुआ। विभुकी पत्नी रतिके गर्भसे पृथुषेण, पृथुषेणकी पत्नी आकूतिसे नक्तनामका पुत्र उत्पन्न हुआ। नक्तकी पत्नी द्रुतिके गर्भसे उदारकीर्ति तथा राजर्षि गयका जन्म हुआ, जो जगत्की रक्षाके निमित्त सत्त्वगुण स्वीकार करनेवाले साक्षात् विष्णुभगवानके कालरूप होनेके कारण महापुरुषत्वको प्राप्त हुए ॥ ६ ॥ महाराज गयने अपने धर्मके अनुसार प्रजाका पालन, पोषण, प्रीणन, लालन तथा यज्ञादिके द्वारा, ब्रह्मादिसे भी श्रेष्ठ परमपुरुष परब्रह्म परमात्माको

परमार्थलक्षणेन ब्रह्मविच्चरणानुसेवयाऽऽपादितभगवद्भक्तियोगेन चाभीक्ष्णशः परिभावितातिशुद्धमतिरुपरतानात्म्य आत्मनि स्वयमुपलभ्यमानब्रह्मात्मानुभावोऽपि निरभिमान एवावनिमजूगुपत् ॥७॥ तस्येमां गाथां पाण्डवेय पुराविद उपगायन्ति ॥८॥

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभिर्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ॥९॥
यमभ्यषिञ्चन् परया मुदा सतीः सत्याशिषो दक्षकन्याः सरिद्भिः ।
यस्य प्रजानां दुदुहे धराऽऽशिषो निराशिषो गुणवत्सस्नुतोधाः ॥१०॥
छन्दांस्यकामस्य च यस्य कामान् दुदूहुराजह्रुरथो बलिं नृपाः ।
प्रत्यञ्चिता युधि धर्मेण विप्रा यदाशिषां षष्ठमंशं परेत्य ॥११॥
यस्याध्वरे भगवानध्वरात्मा मघोनि माद्यत्युरुसोमपीथे ।
श्रद्धाविशुद्धाचलभक्तियोगसमर्पितेज्याफलमाजहार ॥१२॥
यत्प्रीणनाद्बर्हिषि देवतिर्यङ्मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् ।
प्रीयेत सद्यः स ह विश्वजीवः प्रीतः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य ॥१३॥

गयाद्गयन्त्यां चित्ररथः सुगतिरवरोधन इति त्रयः पुत्रा बभूवुश्चित्ररथादूर्णायां सम्राडजनिष्ट ॥१४॥ तत उत्कलायां मरीचिर्मरीचेर्बिन्दुमत्यां बिन्दुमानुदपद्यत तस्मात्सरघायां मधुर्नामाभवन्मधोः सुमनसि वीरव्रतस्ततो भोजायां मन्थुप्रमन्थू जज्ञाते मन्थोः सत्यायां भौवनस्ततो

परमार्थभावसे अपने सब कर्म समर्पण करनेके कारण एवं ब्रह्मवेत्ता महापुरुषोंकी सेवासे प्राप्त भक्तियोगके द्वारा सतत भगवच्चिन्तन करते हुए अपना चित्त शुद्ध किया और देहादिक अनात्म वस्तुओंसे अहंभाव हटाते हुए अपने आत्माका ब्रह्मस्वरूपसे अनुभव किया । यह सब होते हुए भी वे निरभिमानभावसे पृथिवीका पालन करते रहे ॥ ७ ॥ हे पाण्डवपुत्र ! पूर्वकालीन इतिहासके ज्ञाता महात्माजन राजर्षि गयके विषयमें ऐसी गाथा गाते हैं—॥ ८ ॥ 'अहो ! अपने कर्मोंसे महाराज गयकी बराबरी भला और कौन राजा कर सकेगा ? क्योंकि साक्षात् भगवानके अंश राजर्षि गयके सिवाय और कोई भी ऐसे यज्ञोंका विधायक, सर्वमान्य, बहुज्ञ, धर्मका रक्षक, लक्ष्मीवान्, साधुसमितिका शिरोमणि एवं सत्पुरुषोंका सच्चा सेवक नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ जिनका गंगा आदि नदियोंसहित सत्यसंकल्पवती, परम साध्वी, श्रद्धा मैत्री तथा दया आदि प्रसन्न दक्षपुत्रियोंने अतिशय प्रसन्न मनसे अभिषेक किया था । यद्यपि उनको कोई कामना नहीं थी, फिर भी उनके गुणरूपी बछड़ेके प्रेमसे स्तनोंमें दूध उमड़ आनेके कारण गोरूपिणी पृथिवीने प्रजाकी सब कामनाओंको दुग्धरूपसे पूर्ण किया था ॥ १० ॥ यद्यपि वे निष्काम थे, फिर भी वेदोंने उनकी सब कामनायें पूर्ण कीं । युद्धमें जिनके बाणोंसे घायल होकर अनेक राजाओंने विविध भाँतिकी भेंटें समर्पण कीं और जिनके धर्मयुक्त प्रजापालन तथा दक्षिणा आदिसे सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणोंने परलोकमें अपने धर्मफलका षष्ठांश दे दिया था ॥ ११ ॥ जिनके यज्ञमें अत्यधिक सोमपानकर इन्द्र उन्मत्त हो गया था और जिनके अत्यन्त श्रद्धा तथा अचल एवं निश्छल भक्तिभावसे अर्पण किये हुए यज्ञफलको साक्षात् भगवान यज्ञपुरुषने अपनाया था ॥ १२ ॥ जिनके तृप्त होनेपर यज्ञमें देवता, तिर्यक्, मनुष्य, वृक्ष तथा तृणादिसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त संसारके सभी जीव तुरन्त तृप्त हो जाया करते हैं, उन विश्वके प्राणभूत भगवानने प्रसन्न होकर जिन महाराज गयका प्रिय किया था, उनकी समता भला कौन करेगा ? ॥ १३ ॥ उन महाराज गयकी गयन्ती नामकी भार्यासे चित्ररथ, सुगति तथा अवरोधन नामके तीन पुत्र जनमे । उनमेंसे चित्ररथकी ऊर्णा नामकी पत्नीसे सम्राट् उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥ सम्राट्की पत्नी उत्कलासे मरीचि और मरीचिकी

दूषणायां त्वष्टाजनिष्ट त्वष्टुर्विरोचनायां विरजो विरजस्य शतजित्प्रवरं पुत्रशतं कन्या च विषूच्यां किल जातम् ॥१५॥

तत्रायं श्लोकः—

प्रैयव्रतं वंशमिमं विरजश्चरमोद्भवः । अकरोदत्यलं कीर्त्या विष्णुः सुरगणं यथा ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे प्रियव्रतवंशानुकीर्तनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

राजोवाच

उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते ॥१॥ तत्रापि प्रियव्रतरथचरणपरिखातैः सप्तभिः सप्त सिन्धव उपक्लृप्ता यत एतस्याः सप्तद्वीपविशेषविकल्पस्त्वया भगवान् खलु सूचित एतदेवाखिलमहं मानतो लक्षणतश्च सर्वं विजिज्ञासामि ॥२॥ भगवतो गुणमये स्थूलरूप आवेशितं मनो ह्यगुणेऽपि सूक्ष्मतम आत्मज्योतिषि परे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवाख्ये क्षममावेशितुं तदु हैतद्गुरोऽर्हस्यनुवर्णयितुमिति ॥३॥

ऋषिरुवाच

न वै महाराज भगवतो मायागुणविभूतेः काष्ठां मनसा वचसा वाधिगन्तुमलं विबुधायुषापि पुरुषस्तस्मात्प्राधान्येनैव भूगोलकविशेषं नामरूपमानलक्षणतो व्याख्यास्यामः ॥४॥ यो वायं द्वीपः कुवलयकमलकोशाभ्यन्तरकोशो नियुतयोजनविशालः समवर्तुलो यथा पुष्करपत्रम् ॥५॥

पत्नी बिन्दुमतीसे बिन्दुमान् नामक पुत्रका जन्म हुआ। बिन्दुकी पत्नी सरघासे मधुनामक पुत्र उत्पन्न हुआ। मधुकी पत्नी सुमनासे वीरव्रत और वीरव्रतकी पत्नी भोजासे मन्थु और प्रमन्थुनामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे मन्थुकी पत्नी सत्यासे भौवन, भौवनकी पत्नी दूषणासे त्वष्टा, त्वष्टाकी पत्नी विरोचनासे विरज तथा विरजकी विषूची नामकी भार्यासे शतजित् आदि सौ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई ॥ १५ ॥ उन विरजके विषयमें यह श्लोक कहा जाता है—"जैसे विष्णुभगवान देवताओंकी शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही अन्तमें उत्पन्न राजा विरजने अपनी शुभ्र कीर्तिसे प्रियव्रतका वंश अलंकृत कर दिया" ॥ १६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भाषाटीकायां पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(भुवनकोशके विस्तारका वर्णन) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित बोले—हे महामुने! जहाँ तक कि सूर्यका प्रकाश है और जहाँतक तारागण समेत चन्द्रदेव दीखते हैं, वहांतक सारे भूमण्डका विस्तार आपने मुझे कह सुनाया ॥ १ ॥ उसके प्रसङ्गमें आपने जो यह कहा कि इस पृथ्वीपर राजा प्रियव्रतके रथके पहियेसे बनी हुई लीकके सात समुद्र हो गये और उनसे सातों द्वीपोंकी रचना हुई। सो मैं इन सबका परिमाण एवं लक्षणों समेत पूर्ण विवरण जाननेका इच्छुक हूँ ॥ २ ॥ भगवानके सगुण तथा स्थूल रूपमें लगा हुआ मन स्वयंप्रकाश परब्रह्म भगवान वासुदेव नामक उनके निर्गुण तथा अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूपमें भी लग सकता है। अतएव हे गुरो! उनके स्थूलस्वरूप इस ब्रह्माण्डका विस्तारके साथ वर्णन करिए ॥ ३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे महाराज! कोई पुरुष देवताओंके सदृश आयु पाकर भी भगवानकी माया और उनके गुणोंके विस्तारका अन्त, मन अथवा वाणीसे भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। अतएव इस मुख्य-मुख्य नाम, रूप, परिमाण तथा लक्षणोंकी व्याख्याके प्रसंगमें भूगोलका वर्णन कर रहे हैं ॥४॥ हम लोग जिस द्वीपमें रहते हैं, वह इस ब्रह्माण्डकमलके कोश अर्थात् मध्यभागकी भाँति विद्यमान है। इस द्वीपका विस्तार एक लाख योजन है और यह कमलपत्रके समान

यस्मिन्नव वर्षाणि नवयोजनसहस्रायामान्यष्टभिर्मर्यादागिरिभिः सुविभक्तानि भवन्ति ॥६॥ एषां मध्ये इलावृतं नामाभ्यन्तरवर्षं यस्य नाभ्यामवस्थितः सर्वतः सौवर्णः कुलगिरिराजो मेरुर्द्वीपायामसमुन्नाहः कर्णिकाभूतः कुवलयकमलस्य मूर्धनि द्वात्रिंशत्सहस्रयोजनविततो मूले षोडशसहस्रं तावतान्तर्भूम्यां प्रविष्टः ॥७॥ उत्तरोत्तरेणेलावृतं नीलः श्वेतः शृङ्गवानिति त्रयो रम्यकहिरण्मयकुरूणां वर्षाणां मर्यादागिरयः प्रागायता उभयतः क्षारोदावधयो द्विसहस्रपृथव एकैकशः पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो दशांशाधिकांशेन दैर्घ्य एव ह्रसन्ति ॥८॥

एवं दक्षिणेनेलावृतं निषधो हेमकूटो हिमालय इति प्रागायता यथा नीलादयोऽयुतयोजनोत्सेधा हरिवर्षकिम्पुरुषभारतानां यथासंख्यम् ॥९॥ तथैवेलावृतमपरेण पूर्वेण च माल्यवद्गन्धमादनावानीलनिषधायतौ द्विसहस्रं पप्रथतुः केतुमालभद्राश्वयोः सीमानं विदधाते ॥१०॥ मन्दरो मेरुमन्दरः सुपार्श्वः कुमुद इत्ययुतयोजनविस्तारोन्नाहा मेरोश्चतुर्दिशमवष्टम्भगिरय उपक्लृप्ताः ॥११॥ चतुर्ष्वेतेषु चूतजम्बूकदम्बन्यग्रोधाश्चत्वारः पादपप्रवराः पर्वतकेतव इवाधिसहस्रजनोन्नाहास्तावद्विटपविततयः शतयोजनपरिणाहाः ॥१२॥

ह्रदाश्चत्वारः पयोमध्विक्षुरसमृष्टजला यदुपस्पर्शिन उपदेवगणा योगैश्वर्याणि स्वाभाविकानि भरतर्षभ धारयन्ति ॥१३॥ देवोद्यानानि च भवन्ति चत्वारि नन्दनं चैत्ररथं वैभ्राजकं सर्वतोभद्रमिति ॥१४॥ येष्वमरपरिवृढाः सहसुरललामयूथपतय उपदेवगणैरुपगीयमानमहिमानः किल विहरन्ति ॥१५॥

गोला है ॥ ५ ॥ इसमें नौ-नौ हजार योजन विस्तारके नौ वर्ष (देश) हैं, जो आठ सीमाविभाजक पर्वतोंसे अलग-अलग बँटे हुए हैं ॥ ६ ॥ इनके बीचमें इलावृत नामका वर्ष है। पर्वतोंका राजा मेरु सब पर्वतोंके मध्यमें विराजमान है, जो भूमण्डलरूपी कमलकी कर्णिकाके सदृश है और ऊपरसे नीचेतक सुवर्णमय है। उसके शिखरका विस्तार बत्तीस हजार योजन और जड़का विस्तार सोलह सहस्र योजन है। वह इतना ही अर्थात् सोलह सहस्र योजन पृथ्वीके भीतर धँसा हुआ है ॥ ७ ॥ इलावृत वर्षके उत्तर क्रमशः नील, श्वेत तथा शृङ्गवान् नामके तीन पर्वत हैं। जो रम्यक, हिरण्मय और कुरु नामक तीन वर्षोंकी सीमा निर्धारण करते हैं। वे पूर्व-पश्चिमकी तरफ खारे पानीके समुद्रतक फैले हैं। उनमेंसे प्रत्येक पर्वतकी मोटाई दो हजार योजन है और पहलेकी अपेक्षा पिछला क्रमशः लम्बाईमें दशमांशसे कुछ ही न्यूनाधिक है ॥ ८ ॥ इसी तरह इलावृतवर्षके दक्षिणकी ओर निषध, हेमकूट तथा हिमालय नामके तीन पर्वत हैं। ये सभी नीलादि पर्वतोंके सदृश पूर्व-पश्चिमकी ओर फैले हैं और ऊँचे दस सहस्र योजन हैं। इनसे क्रमशः हरिवर्ष, किम्पुरुष तथा भारतवर्षकी सीमाका विभाजन होता है ॥ ९ ॥ इसी तरह इलावृतखण्डके पूर्व और पश्चिमकी ओर नील तथा निषध पर्वततक फैले हुए गन्धमादन एवं माल्यवान् नामके दो पर्वत हैं। इनकी चौड़ाई दो सहस्र योजन है और ये केतुमाल तथा भद्राश्व नामके दो देशोंकी सीमा निर्धारित करते हैं ॥ १० ॥ इनके अतिरिक्त मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व तथा कुमुद ये चार हजार योजन ऊँचे पर्वत मेरु-पर्वतकी आधारभूत थूनियोंके सदृश बने हुए हैं ॥ ११ ॥ इन चारों पर्वतोंपर उनकी ध्वजाओंके सदृश आम, जामुन, कदम्ब तथा बड़के चार पेड़ हैं, जो ग्यारह सौ योजन ऊँचे तथा इतनी ही शाखाओंके विस्तारसे युक्त हैं और जिनकी मोटाई सौ योजन है ॥ १२ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! इन पर्वतोंपर दूध, ईखके रस तथा मीठे पानीके चार सरोवर हैं। जिनमें स्नान करनेवाले यक्ष-किन्नरादि उपदेवोंको बिना प्रयत्नके स्वभावतः योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं ॥ १३ ॥ इसी तरह इनपर नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक तथा सर्वतोभद्र नामक चार उपवन भी हैं ॥ १४ ॥ जिनमें देवाङ्गनाओंके यूथपति देवता

मन्दरोत्सङ्ग एकादशशतयोजनोत्तुङ्गदेवचूतशिरसो गिरिशिखरस्थूलानि फलान्यमृतकल्पानि पतन्ति ॥१६॥ तेषां विशीर्यमाणानामतिमधुरसुरभिसुगन्धिबहुलारुणरसोदेनारुणोदा नाम नदी मन्दरगिरिशिखरान्निपतन्ती पूर्वेणेलावृतमुपप्लावयति ॥१७॥ यदुपजोषणाद्भवान्या अनुचरीणां पुण्यजनवधूनामवयवस्पर्शसुगन्धवातो दशयोजनं समन्तादनुवासयति ॥१८॥ एवं जम्बूफलानामत्युच्चनिपातविशीर्णानामनस्थिप्रायाणामिभकायनिभानां रसेन जम्बू नाम नदी मेरुमन्दरशिखरादयुतयोजनादवनितले निपतन्ती दक्षिणेनात्मानं यावदिलावृतमुपस्यन्दयति ॥१९॥ तावदुभयोरपि रोधसोर्या मृत्तिका तद्रसेनानुविध्यमाना वाय्वर्कसंयोगविपाकेन सदामरलोकाभरणं जाम्बूनदं नाम सुवर्णं भवति ॥२०॥ यदु ह वाव विबुधादयः सह युवतिभिर्मुकुटकटककटिसूत्राद्याभरणरूपेण खलु धारयन्ति ॥२१॥

यस्तु महाकदम्बः सुपार्श्वनिरूढो यास्तस्य कोटरेभ्यो विनिःसृताः पञ्चायामपरिणाहाः पञ्च मधुधाराः सुपार्श्वशिखरात्पतन्त्योऽपरेणात्मानमिलावृतमनुमोदयन्ति ॥२२॥ या ह्युपयुञ्जानानां मुखनिर्वासितो वायुः समन्ताच्छतयोजनमनुवासयति ॥२३॥

एवं कुमुदनिरूढो यः शतवल्शो नाम वटस्तस्य स्कन्धेभ्यो नीचीनाः पयोदधिमधुघृतगुडान्नाद्यम्बरशय्यासनाभरणादयः सव एव कामदुघा नदाः कुमुदाग्रात्पतन्तस्तमुत्तरेणेलावृतमुपयोजयन्ति ॥२४॥ यानुपजुषाणानां न कदाचिदपि प्रजानां वलीपलितक्लमस्वेददौर्गन्ध्यजरा-

---

विहार करते और गन्धर्वादि उपदेवगण उस समय उनकी महिमाको बखानते हैं ॥ १५ ॥ मन्दरपर्वतकी गोदमें जो ग्यारह सौ योजन ऊँचा एक आमका वृक्ष है, उससे पहाड़की चट्टानके सदृश मोटे तथा अमृतके समान स्वादिष्ट फल टपकते हैं ॥ १६ ॥ उनके फटनेपर उनसे जो अतिशय सुगन्धित, मधुर और अरुणवर्णका रस बहता है, उससे उत्पन्न अरुणोदा नामकी नदी मन्दराचलके शिखरसे गिरकर अपने जलसे इलावृतखण्डके पूर्वी भागको सींचती रहती है ॥१७॥ उसीके जलका सेवन करनेसे श्रीपार्वतीजीकी सखी यक्षपत्नियोंके अंगोंसे ऐसी सुगन्ध निकलती है कि उनके अंग तथा अवयवोंका स्पर्श करके बहनेवाला वायु उनके चारों ओर दस योजन तक सब देशको सुवासित करता रहता है ॥ १८ ॥ इसी तरह बहुत ऊँचेसे गिरे हुए हाथीके सदृश बड़े-बड़े तथा बहुत ही छोटी गुठलीवाले जामुनोंके फलोंके फट जानेके कारण उनके रससे उत्पन्न जम्बू नामकी नदी मेरु पर्वतके हजार योजन ऊँचे शिखरसे पृथ्वीपर गिरकर अपने जलसे इलावृत-खण्डके दक्षिण भागको सींचा करती है ॥ १९ ॥ उस नदीकी दोनों ओरकी मिट्टी उस रससे भीग तथा वायु और सूर्यके संयोगसे सूख जानेके बाद देवलोकको सर्वदा विभूषित करनेवाले जम्बूनद नामक सुवर्णके रूपमें परिणत हो जाया करती है ॥ २० ॥ जिसको देवता तथा गन्धर्वादि अपनी तरुणी वधूटियोंके सहित मुकुट, कटक तथा किंकिणी आदि आभरणोंके रूपमें धारण किये रहते हैं ॥ २१ ॥ सुपार्श्व नामक पर्वतपर उगा हुआ जो बड़ा भारी एक कदम्बका वृक्ष है, उसके पाँच कोटरोंसे मधुकी पाँच धाराएँ बहती हैं। जिनकी मोटाई पाँच आयामकी है। इस तरह सुपार्श्व पर्वतके शिखरसे गिरी हुई वे पाँच मधु-धाराएँ इलावृतखण्डके पश्चिमी भागको अपनी सुगन्धिसे सुरभित करती हुई बहती हैं ॥२२॥ जिनको पीनेवाले प्राणियोंके मुखसे निकला वायु सब ओर सौ योजन तककी भूमिको सुगन्धित करता रहता है ॥ २३ ॥ इसी तरह कुमुद पर्वतपर शतवल्श नामका वटवृक्ष है, उसकी शाखाओंसे नीचे दूध, दही, मधु, घृत, गुड़, अन्नादि तथा वस्त्र, शय्या, आसन एवं आभूषणादिके नद निकलते हैं। वे सब इच्छानुसार भोगोंके दाता हैं। वे कुमुद पर्वतके शिखरसे नीचे गिरकर इलावृत खण्डके उत्तरी भागको सींचते रहते हैं ॥ २४ ॥ उन नदोंके सब पदार्थोंका उपभोग करनेके कारण वहाँवालोंके गालोंमें झुर्रियाँ पड़ जाना,

ऽऽमयमृत्युशीतोष्णवैवर्ण्योपसर्गादयस्तापविशेषा भवन्ति यावज्जीवं सुखं निरतिशयमेव ॥२५॥

कुरङ्गकुररकुसुम्भवैकङ्कत्रिकूटशिशिरपतङ्गरुचकनिषधशिनीवासकपिलशङ्खवैदूर्यजारुधिहंसर्षभनागकालञ्जरनारदादयो विंशतिगिरयो मेरोः कर्णिकाया इव केसरभूता मूलदेशे परित उपक्लृप्ताः ॥२६॥ जठरदेवकूटौ मेरुं पूर्वेणाष्टादशयोजनसहस्रमुदगायतौ द्विसहस्रं पृथुतुङ्गौ भवतः एवमपरेण पवनपारियात्रौ दक्षिणेन कैलासकरवीरौ प्रागायतावेवमुत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरावष्टभिरेतैः परिस्तृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिः ॥२७॥ मेरोर्मूर्धनि भगवत आत्मयोनेर्मध्यत उपक्लृप्तां पुरीमयुतयोजनसाहस्रीं समचतुरस्रां शातकौम्भीं वदन्ति ॥२८॥ तामनु परितो लोकपालानामष्टानां यथादिशं यथारूपं तुरीयमानेन पुरोऽष्टावुपक्लृप्ताः ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाहविवरेणान्तःप्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुपलक्षितवचोऽभिधीयमानातिमहता कालेन युग-

---

बाल सफेद हो जाना, थकना, शरीरमें पसीना आना, शरीरसे दुर्गन्ध निकलना, बुढ़ापा, मृत्यु, सर्दी तथा शरीरकी कान्ति बदल जाना आदि विघ्न एक दम नहीं सताते और उन्हें जीवन भर पूरा-पूरा सुख मिलता रहता है ॥ २५ ॥ हे राजन्! कमलकी कर्णिकाके सब ओर जैसे केसर होता है, वैसे ही मेरुपर्वतके मूलप्रदेशमें उसके चारों ओर कुरङ्ग, कुरर, कुसुम्भ, वैकंक, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, निषध, शिनीवास, कपिल, शंख, वैदूर्य, जारुधि, हंस ऋषभ, नाग, कालंजर तथा नारद आदि बीस पर्वत विद्यमान हैं ॥ २६ ॥ मेरुके पूर्वकी तरफ जठर और देवकूट नामके दो पर्वत हैं, जो उत्तरकी ओर अठारह सहस्र योजन लम्बे तथा दो हजार योजन चौड़े और उतने ही ऊँचे हैं। इसी तरह पश्चिमकी ओर पवन तथा पारियात्र, दक्षिणकी ओर कैलाश एवं करवीर तथा उत्तरकी ओर पूर्वाभिमुख फैले हुए त्रिशृङ्ग और मकर नामके दो पर्वत हैं। इन आठों पर्वतोंसे घिरा हुआ सुमेरु पर्वत चारों ओरसे परिक्रमा किये हुए अग्निके समान दीखता है ॥ २७ ॥ लोग कहते हैं कि इस सुमेरु पर्वतके शिखरपर ठीक बीचोबीच भगवान ब्रह्माजीकी सम-चतुष्कोण और सुवर्णमयी पुरी विद्यमान है, जिसका विस्तार हजार अयुत योजन है ॥ २८ ॥ उसके नीचे चारों ओर पूर्वादि आठों दिशाओं तथा उपदिशाओंमें उनके अधिपति इन्द्रादिक आठों लोकपालोंकी आठ पुरियाँ हैं, जो अपने-अपने स्वामीके अनुरूप तथा परिमाणमें ब्रह्माजीकी पुरीसे चौथाई लम्बी-चौड़ी हैं ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(गङ्गाजीकी उत्पत्तिका विवरण और शङ्करजीके द्वारा संकर्षणदेवकी स्तुति) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! जब साक्षात् यज्ञमूर्ति भगवान विष्णुने राजा बलिकी यज्ञशालामें जाकर त्रिलोकीको नाप लेनेके लिये अपना पाँव फैलाया तो उनके बायें चरणके अंगूठेके नखसे ऊपरका ब्रह्माण्ड-कटाह फट गया। उस छिद्रमेंसे निकलकर ब्रह्माण्डसे बाहर जो जलकी धारा आयी, वह भगवानके चरणकमल धोनेपर उसकी अरुण वर्ण केसरसे मिलकर लाल रंगकी हो गयी। वह निर्मल जलधारा स्पर्श होते ही जगत्के सब पापोंको नष्ट कर देती है। उसे पहले-पहल और कुछ न कहकर लोग साक्षात् 'भगवत्पदी' कहते थे। ब्रह्माण्डकटाहसे

सहस्रोपलक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार यत्तद्विष्णुपदमाहुः ॥१॥ यत्र ह वाव वीरव्रत औत्तानपादिः परमभागवतोऽस्मत्कुलदेवताचरणारविन्दोदकमिति यामनुसवनमुत्कृष्यमाणभगवद्भक्तियोगेन दृढं क्लिद्यमानान्तर्हृदय औत्कण्ठ्यविवशामीलितलोचनयुगलकुड्मलविदलितामलबाष्पकलयाभिव्यज्यमानरोमपुलककुलकोऽधुनापि परमादरेण शिरसा बिभर्ति ॥ २ ॥

ततः सप्तऋषयस्तत्प्रभावाभिज्ञा यां ननु तपस आत्यन्तिकी सिद्धिरेतावती भगवति सर्वात्मनि वासुदेवेऽनुपरतभक्तियोगलाभेनैवोपेक्षितान्यार्थात्मगतयो मुक्तिमिवागतां मुमुक्षव इव सबहुमानमद्यापि जटाजूटैरुद्वहन्ति ॥ ३ ॥ ततोऽनेकसहस्रकोटिविमानानीकसङ्कुलदेवयानेनावतरन्तीन्दुमण्डलमावार्य ब्रह्मसदने निपतति ॥४॥

तत्र चतुर्धा भिद्यमाना चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्दिशमभिस्पन्दन्ती नदनदीपतिमेवाभिनिविशति सीतालकनन्दा चक्षुर्भद्रेति ॥ ५ ॥ सीता तु ब्रह्मसदनात्केसराचलादिगिरिशिखरेभ्योऽधोऽधः प्रस्रवन्ती गन्धमादनमूर्धसु पतित्वान्तरेण भद्राश्ववर्षं प्राच्यां दिशि क्षारसमुद्रमभिप्रविशति ॥६॥ एवं माल्यवच्छिखरान्निष्पतन्ती ततोऽनुपरतवेगा केतुमालमभि चक्षुः प्रतीच्यां दिशि सरित्पतिं प्रविशति ॥७॥ भद्रा चोत्तरतो मेरुशिरसो निपतिता गिरिशिखराद्गिरिशिखरमतिहाय शृङ्गवतः शृङ्गादवस्यन्दमाना उत्तरांस्तु कुरूनभित उदीच्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति ॥८॥ तथैवालकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनाद्बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटाद्धैमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठयन्ती भारतमभिवर्षं दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति यस्यां स्नानार्थं चागच्छतः पुंसः

वह हजारों युगके दीर्घकालके बाद स्वर्गके ऊपर विराजमान साक्षात् ध्रुवलोकमें जिसे 'विष्णुपद' भी कहते हैं, नीचे उतर आयी ॥ १ ॥ हे वीरव्रत ! उस लोकमें उत्तानपादके पुत्र परम भगवद्भक्त ध्रुवजी रहा करते हैं। वे नित्यप्रति बढ़ते हुए भक्तियोग द्वारा 'यह हमलोगोंके कुलदेवताका चरणोदक है' ऐसा समझकर उस जलको बड़े आदरके साथ अपने मस्तकपर चढ़ाते हैं। कभी-कभी उनका हृदय प्रेमावेशसे अत्यन्त गद्गद हो जाया करता है। उत्कण्ठा वश मुँदे हुए दोनों नेत्रकमलोंसे निर्मल आँसुओंकी धारा बहने लग जाती और शरीरमें रोमाञ्च हो जाया करता है॥ २ ॥ इसके बाद सर्वात्मा भगवान वासुदेवमें अटल और अचल भक्तिभाव प्राप्त करके जिन्होंने सब कामनाओंका परित्याग कर दिया है, वे आत्मपरायण सप्तर्षिजन उन गंगाजीके प्रभावसे अभिज्ञ होनेके कारण 'तपस्याकी सर्वप्रधान सिद्धि यही है' ऐसा समझकर उसे बड़े आदरसे आज भी वैसे ही अपनी जटामें धारण किया करते हैं। जैसे मुमुक्षुजन स्वतः प्राप्त मुक्तिको माथे चढ़ाते हैं॥ ३ ॥ शिवजीकी जटासे गंगाजी हजारों करोड़ देवताओंके विमानोंसे भरे आकाशमार्गसे नीचे उतरती और चन्द्रलोकको प्लावित करती हुई मेरुशिखरपर ब्रह्मपुरीमें पहुँचती हैं॥ ४ ॥ उस ब्रह्मपुरीमें वे चार धाराओंमें विभक्त होकर सीता, अलकनन्दा, चक्षु तथा भद्रा इन चार नामोंसे चारों दिशाओंकी ओर बहती हुई अन्तमें नद तथा नदियोंके अधीश्वर समुद्रमें जा मिलती हैं॥ ५ ॥ उनमेंसे सीता ब्रह्मपुरीसे चलकर मेरुपर्वतकी केसरके सदृश दीखनेवाले पर्वतोंपर होकर नीचे बड़े वेगसे बहती हुई गन्धमादन पर्वतके शिखरपर आकर गिरती है। वह भद्राश्वखण्डको प्लावित करती हुई पूर्वकी ओर क्षीरसमुद्रमें जा मिलती है॥ ६ ॥ इसी तरह चक्षु नदी माल्यवान्के शिखरपर होती हुई केतुमालदेशमें अनवरत गतिसे पश्चिमकी ओर बहती हुई समुद्रमें मिलजाती है॥ ७ ॥ भद्रा नदी मेरुपर्वतके उत्तरी शिखरसे नीचे गिरकर एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर होती हुई अन्तमें शृङ्गवान्के शिखरसे नीचे गिरकर उत्तर कुरुदेशमें उत्तरकी ओर बहती हुई समुद्रमें जा मिलती है॥ ८ ॥ अलकनन्दा ब्रह्मपुरीके दक्षिणी भागसे चलकर अनेक पर्वतोंको लाँघती हुई हेमकूटपर जा पहुँचती और वहाँ से अत्यन्त तीव्र तथा अप्रतिहत वेगसे हिमा-

पदे पदेऽश्वमेधराजसूयादीनां फलं न दुर्लभमिति ॥ ९ ॥ अन्ये च नदा नद्यश्च वर्षे वर्षे सन्ति बहुशो मेर्वादिगिरिदुहितरः शतशः ॥१०॥

तत्रापि भारतमेव वर्षं कर्मक्षेत्रमन्यान्यष्ट वर्षाणि स्वर्गिणां पुण्यशेषोपभोगस्थानानि भौमानि स्वर्गपदानि व्यपदिशन्ति ॥ ११ ॥ एषु पुरुषाणामयुतपुरुषायुर्वर्षाणां देवकल्पानां नागायुतप्राणानां वज्रसंहननबलवयोमोदप्रमुदितमहासौरतमिथुनव्यवायापवर्गवर्षधृतैकगर्भकलत्राणां तत्र तु त्रेतायुगसमः कालो वर्तते ॥ १२ ॥ यत्र ह देवपतयः स्वैः स्वैर्गणनायकैर्विहितमहार्हणाः सर्वर्तुकुसुमस्तबकफलकिसलयश्रिया नम्यमानविटपलताविटपिभिरुपशुम्भमानरुचिरकाननाश्रमायतनवर्षगिरिद्रोणीषु तथा चामलजलाशयेषु विकचविविधनववनरुहामोदमुदितराजहंसजलकुक्कुटकारण्डवसारसचक्रवाकादिभिर्मधुकरनिकराकृतिभिरुपकूजितेषु जलक्रीडादिभिर्विचित्रविनोदैः सुललितसुरसुन्दरीणां कामकलितविलासहासलीलावलोकाकृष्टमनोदृष्टयः स्वैरं विहरन्ति ॥ १३ ॥

नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि सन्निधीयते ॥ १४ ॥ इलावृते तु भगवान् भव एक एव पुमान्न ह्यन्यस्तत्रापरो निर्विशति भवान्याः शापनिमित्तज्ञो यत्प्रवेक्ष्यतः स्त्रीभावस्तत्पश्चाद्वक्ष्यामि ॥१५॥ भवानीनाथैः स्त्रीगणार्बुदसहस्रैरवरुध्यमानो भगवतश्चतुर्मूर्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्तिं प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यैतदभिगृणन् भव उपधावति ॥१६॥

लयके शिखरोंको चीरती हुई अन्तमें भारतवर्ष पहुँचकर दक्षिण दिशाके समुद्रमें मिल जाती है। इसमें स्नान करनेके निमित्त आनेवाले पुरुषोंको पद-पदपर अश्वमेध-राजसूय आदि महायज्ञोंका फल मिलना भी दुर्लभ नहीं रहता ॥ ९ ॥ इसी तरह प्रत्येक वर्षमें मेरु आदि पर्वतोंसे निकलनेवाले और भी सैकड़ों नद तथा नदियें हैं ॥ १० ॥ इन सब खण्डोंमें केवल भारतवर्ष ही कर्मभूमि है। बाकी आठ देश स्वर्गवासी पुरुषोंके शेष पुरुषोंको कर्मफल भोगनेके स्थान नियत हैं। अतएव इन्हें भूर्लोकस्थित स्वर्ग भी कहते हैं ॥ ११ ॥ यहाँके देवतासदृश पुरुषोंकी आयु मनुष्योंकी गणनाके अनुसार दस हजार वर्षकी होती है। उनमें हजार हाथियोंका बल रहता है और उनके वज्रसरीखे दृढ शरीरमें जो शक्ति यौवन और आमोदजनित उल्लास होते हैं, उनमें वे बहुत कालतक मैथुन आदि विषयभोगोंको भोगते हैं। उनकी आयुका जब केवल एक वर्ष शेष रह जाता हैं, तब उनकी भार्यायें गर्भवती होती हैं। इस तरह वहाँ सब समय त्रेतायुगके समान अवस्था रहती है ॥ १२ ॥ सब ऋतुओंके पुष्पोंके गुच्छे तथा नवीन कोपलोंकी समृद्धिसे झुकी हुई शाखाओंवाले वृक्षोंसे जहाँके बगीचे सुशोभित रहते हैं, उन आश्रम-गृहोंमें, वर्षपर्वतोंकी गुफाओंमें और विविध प्रकारके खिले हुए नवीन कमलकुसुमोंकी सुगन्धि पाकर प्रसन्न मनसे कूजते हुए राजहंस, जलकुंकुट, कारण्डव, सारस तथा चकवा आदि पक्षियों एवं गूँजते हुए भ्रमरसमूहोंकी भिन्न-भिन्न जातियों सुशोभित जलाशयों वहाँके श्रेष्ठ देवतागण, अपने-अपने सेवकोंके प्रमुख व्यक्तियोंके द्वारा विविध प्रकारकी समग्रियोंसे पूजित होकर परमसुन्दरी देवांगनाओंके साथ उनके कामजनित विलासपूर्ण हास और क्रीड़ाकटाक्षसे मन तथा नेत्रोंके आकृष्ट हो जानेसे भाँति-भाँतिके कौतुक करते हुए स्वच्छन्द विहार करते हैं ॥१३॥ उपर्युक्त नवों वर्षोंमें परम पुरुष श्रीनारायण वहाँवाले पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिए अपनी विभिन्न मूर्तियोंसे इस समय भी विराजमान रहते हैं ॥१४॥ इलावृत खण्डमें अकेले शंकरजी ही पुरुष हैं। भगवानके शापवश वहाँ कोई दूसरा पुरुष नहीं जा सकता। क्योंकि वहाँपर जो जाता, वह स्त्री हो जाता है। आगे चलकर नवें स्कन्धमें इस प्रसंगका हम वर्णन करेंगे ॥ १५ ॥ वहाँपर श्री पार्वतीजी आदि हजार अर्बुद स्त्रियोंसे घिरे हुए भगवान श्रीशिवजी

श्रीभगवानुवाच

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय सर्वगुणसंख्यानायानन्तायाव्यक्ताय नम इति ॥१७॥

भजे भजन्यारणपादपङ्कजं भगस्य कृत्स्नस्य परं परायणम् ।
भक्तेष्वलं भावितभूतभावनं भवापहं त्वा भवभावमीश्वरम् ॥१८॥
न यस्य मायागुणचित्तवृत्तिभिर्निरीक्षतो ह्यण्वपि दृष्टिरज्यते ।
ईशे यथा नोऽजितमन्युरंहसां कस्तं न मन्येत जिगीषुरात्मनः ॥१९॥
असद्दृशो यः प्रतिभाति मायया क्षीबेव मध्वासवताम्रलोचनः ।
न नागवध्वोऽर्हण ईशिरे ह्रिया यत्पादयोः स्पर्शनधर्षितेन्द्रियाः ॥२०॥
यमाहुरस्य स्थितिजन्मसंयमं त्रिभिर्विहीनं यमनन्तमृषयः ।
न वेद सिद्धार्थमिव क्वचित्स्थितं भूमण्डलं मूर्धसहस्रधामसु ॥२१॥
यस्याद्य आसीद् गुणविग्रहो महान् विज्ञानधिष्ण्यो भगवानजः किल ।
यत्सम्भवोऽहं त्रिवृता स्वतेजसा वैकारिकं तामसमैन्द्रियं सृजे ॥२२॥
एते वयं यस्य वशे महात्मनः स्थिताः शकुन्ता इव सूत्रयन्त्रिताः ।
महानहं वैकृततामसेन्द्रियाः सृजाम सर्वे यदनुग्रहादिदम् ॥२३॥
यन्निर्मितां कर्ह्यपि कर्मपर्वणीं मायां जनोऽयं गुणसर्गमोहितः ।
न वेद निस्तारणयोगमञ्जसा तस्मै नमस्ते विलयोदयात्मने ॥२४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

परम पुरुषकी चतुर्व्यूह मूर्तियोंमेंसे कारणस्वरूप संकर्षण नामकी चौथी तामस मूर्तिका समाधियोगके द्वारा ध्यानकर इस मन्त्रको जपते हुए स्तुति किया करते हैं ॥ १६ ॥ श्री शङ्करभगवान कहते हैं—जिनके द्वारा सब गुणोंकी अभिव्यक्ति होती है उन अनन्त अव्यक्तमूर्ति तथा परम पुरुष श्रीभगवानको बारम्बार नमस्कार है ॥ १७ ॥ हे आराध्यदेव ! आपके चरणकमल भक्तोंके रक्षक हैं, आप सब ऐश्वर्योंके परमाश्रय हैं, आपने अपना भूतभावन स्वरूप भक्तोंके प्रति पूर्णस्वरूपसे प्रकट किया है और आप अपने भक्तोंको संसारबन्धनसे छुड़ाने और भक्तोंको उस बन्धनमें डालनेवाले हैं, ऐसे परमप्रभु आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥ हे प्रभो ! क्रोधको जीतनेमें असमर्थ हमलोगोंकी दृष्टि जिस तरह विषयोंमें लिप्त हो जाती है, उस तरह जिन आपकी दृष्टि संसारकी ओर देखते हुए भी मायामय विषयवासनारूपी चित्तकी वृत्तियोंसे कुछ भी लिप्त नहीं होने आती उन परम समर्थ आपका, अपने अन्तःकरणको जीतनेका इच्छुक कौन पुरुष आदर न करेगा ? ॥ १९ ॥ जो पुरुषोंको अपनी मायासे मोहित तथा मदिरापानसे अरुण नयनवाले दीखते हैं और जिनके चरणका स्पर्श करनेसे कामवश चित्त चञ्चल हो उठता और सभी नागपत्नियाँ पूजा निवेदन करनेमें असमर्थ हो जाती हैं ॥२०॥ वेदमन्त्र जिन्हें जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका कारण बताते हैं और वास्तवमें इन तीनों अवस्थाओंसे पृथक् रहनेके कारण जिनको ऋषिलोग अनन्त कहते हैं और जो अपने हजार मस्तकोंपर सरसोंके सदृश रखे हुए भूमण्डलके विषयमें इतना तक नहीं जानते कि वह कहाँ रखा है ॥ २१ ॥ जिनके द्वारा उत्पन्न मैं अपने त्रिगुणमय तेज अर्थात् त्रिविध अहंकारसे देवता, इन्द्रिय तथा सब प्राणियोंकी रचना करता हूँ, वे सत्त्वगुणके एकमात्र आश्रय ब्रह्माजी जिनके महत्तत्त्वनामक प्रथम-गुणयुक्त स्वरूप हैं, उन आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥ महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रियाभिमानी देवता, इन्द्रियाँ तथा पञ्चभूतगण आदि और हम सब देवता डोरीमें बँधे पक्षीका भाँति

अष्टादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तथा च भद्रश्रवा नाम धर्मसुतस्तत्कुलपतयः पुरुषा भद्राश्ववर्षे साक्षाद्भगवतो वासुदेवस्य प्रियां तनुं धर्ममयीं हयशीर्षाभिधानां परमेण समाधिना सन्निधाप्येदमभिगृणन्त उपधावन्ति ॥१॥

भद्रश्रवस ऊचुः

ॐ नमो भगवते धर्मायात्मविशोधनाय नम इति ॥२॥
अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति ।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति ॥ ३ ॥
वदन्ति विश्वं कवयः स्म नश्वरं पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः ।
तथापि मुह्यन्ति तवाज मायया सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥ ४ ॥
विश्वोद्भवस्थाननिरोधकर्म ते ह्यकर्तुरङ्गीकृतमप्यपावृतः ।
युक्तं न चित्रं त्वयि कार्यकारणे सर्वात्मनि व्यतिरिक्ते च वस्तुतः ॥ ५ ॥
वेदान् युगान्ते तमसा तिरस्कृतान् रसातलाद्यो नृतुरङ्गविग्रहः ।
प्रत्याददे वै कवयेऽभियाचते तस्मै नमस्तेऽवितथेहिताय इति ॥६॥

हरिवर्षे चापि भगवान्नरहरिरूपेणास्ते तद्रूपग्रहणनिमित्तमुत्तरत्राभिधास्ये तद्दयितं रूपं महापुरुषगुणभाजनो महाभागवतो दैत्यदानवकुलतीर्थीकरणशीलाचरितः प्रह्लादोऽव्यवधाना-

---

जिस महात्माके वशमें रहकर उसीके कृपाकटाक्षसे इस जगत्को रचते और सत्त्वादि गुणोंकी सृष्टिसे मोहित यह जीव जिनकी रची कर्मरूपिणी ग्रंथियों युक्त माया तथा उससे आसानीसे मुक्त होनेका उपाय नहीं जानता, अखिल जगत्के सृष्टि और प्रलयरूपधारी आप प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२३॥ ॥ २४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(भिन्न-भिन्न वर्षोंका विस्तार) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इसी तरह भद्राश्वखण्डमें धर्मके पुत्र भद्रश्रवा तथा उनके प्रमुख सेवक साक्षात् भगवान वासुदेवकी हयग्रीव नामकी धर्ममयी प्रियमूर्तिको परम समाधिसे अपने हृदयमें स्थापित करके इस मन्त्रको जपते हुए स्तुति करते रहते हैं ॥ १ ॥ भद्रश्रवागण कहते हैं—चित्तको पवित्र करनेवाले साक्षात् धर्मभगवानको नमस्कार है ॥ २ ॥ अहो ! भगवानकी लीला बड़ी विचित्र है । जिसके कारण यह जीव सम्पूर्ण लोकोंके संहारक कालको देखता हुआ भी नहीं देखता । अतएव तुच्छ विषयोंको भोगनेके लिये सर्वदा असत् वस्तुओंका ध्यान करता हुआ पुत्र पिताका दाहकर्म करनेके बाद भी उसकी सम्पत्तिका उपभोग करता हुआ जीना चाहता है ॥ ३ ॥ कितने विद्वानोंका कथन है कि जगत् नाशवान है और आत्मज्ञानी विचक्षण पुरुष उसे नाशवान देखते भी हैं । फिर भी हे अजन्मा ! आपकी मायासे लोग मोहित हो जाया करते हैं । ऐसे अत्यन्त विस्मयजनक एवं अगणित कृत्य करनेवाले आप अजन्मा प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥ हे प्रभो ! आप अकर्ता तथा आवरणशून्य हैं, फिर भी वेदने जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय आपहीके कर्म कहे हैं, सो आपके विषयमें यह कोई विस्मयकी बात नहीं है । क्योंकि सभी कार्योंके कारणभूत आप सर्वात्मामें माया द्वारा कर्म होना संभव है, वस्तुतः आप अपने शुद्धस्वरूपसे सर्वथा अलग हैं ॥ ५ ॥ जिन्होंने मनुष्य तथा घोड़ेके सदृश शरीर धारण करके प्रलयकालमें तमोगुणप्रधान मधुकैटभ नामक दैत्य द्वारा हरे हुए वेदोंको उनके माँगनेपर रसातलसे लाकर दिया, उन इच्छाशक्ति-सम्पन्न आपको नमस्कार है ॥ ६ ॥ ऐसे ही हरिवर्षखण्डमें भगवान नृसिंहरूपसे विराजमान रहते हैं । उनके इस स्वरूपको धारण करनेका कारण हम आगे चलकर (सप्तम स्कन्धमें) बतायेंगे ।

नन्यभक्तियोगेन सह तद्वर्षपुरुषैरुपास्ते इदं चोदाहरति ॥७॥ ॐ नमो भगवते नरसिंहाय नमस्तेजस्तेजसे आविराविर्भव वज्रनख वज्रदंष्ट्र कर्माशयान् रन्धय रन्धय तमो ग्रस ग्रस ॐ स्वाहा । अभयमभयमात्मनि भूयिष्ठाः ॐ क्ष्रौम् ॥८॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥९॥
मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः ।
यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान् सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः ॥१०॥
यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् ।
हरत्यजोऽन्तःश्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥११॥
यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥१२॥
हरिर्हि साक्षाद्भगवान् शरीरिणामात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम् ।
हित्वा महांस्तं यदि सज्जते गृहे तदा महत्त्वं वयसा दम्पतीनाम् ॥१३॥
तस्माद्रजोरागविषादमन्युमानस्पृहाभयदैन्याधिमूलम् ।
हित्वा गृहं संसृतिचक्रवालं नृसिंहपादं भजताकुतोभयमिति ॥१४॥

श्रीभगवानके उस प्रिय स्वरूपकी महापुरुषोंके योग्य गुणोंसे सम्पन्न, दैत्य तथा दानवकुलको पवित्र करनेवाले स्वभाव तथा आचरणसे युक्त परम भगवद्भक्त श्रीप्रह्लादजी उस हरिवर्षखण्डके निवासी अन्य पुरुषोंके साथ अनन्य तथा अव्यवहित भक्तिभावसे उपासना करते और इस मन्त्र और स्तोत्रका उच्चारण करते रहते हैं—॥ ७ ॥ श्रीनृसिंहभगवानको नमस्कार है। आप अग्नि आदि सब तेजोंके भी तेज हैं। हे वज्रनख! हे वज्रदंष्ट्र! हमारी कर्मवासनाओंको आप भस्म करें, हमारे अज्ञानरूपी अन्धकारको आप ग्रस लें—ग्रस लें। ॐ स्वाहा। हमें अभय मिले—अभय मिले। ॐ क्ष्रौम् ॥ ८ ॥ हे प्रभो! समस्त विश्वका कल्याण हो। दुष्ट लोग अपनी कुटिलता त्यागकर शान्त हों। सब प्राणी अपनी बुद्धिसे परस्पर एक दूसरेका भला सोचें। हमारा मन शुभमार्गमें लगे तथा हम लोगोंकी बुद्धि निष्काम भावसे श्रीअधोक्षज भगवानमें प्रवृत्त हो ॥ ९ ॥ हे प्रभो! घर, स्त्री, पुत्र, धन तथा भाई-बन्धुओंमें कभी भी हमारी आसक्ति न हो। यदि हो भी तो केवल भगवानके भक्तोंमें हो। क्योंकि जो धीर पुरुष केवल शरीर-निर्वाहयोग्य अन्नादिसे सन्तुष्ट रहता है, उसे जितने शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, उस तरह इन्द्रियलोलुप पुरुषको शीघ्र सिद्धि नहीं प्राप्त होती ॥ १० ॥ भगवद्भक्तोंके सहवाससे प्राप्त भगवानके उदार चरित्रोंके कथारूपी अमृतका कानों द्वारा पुनः पुनः पान करनेवालोंके हृदयमें प्रविष्ट होकर भगवान अज उनके शारीरिक तथा मानसिक मलका नाश कर देते हैं। अतएव भगवान मुकुन्दके उन पवित्र चरित्रोंका भला कौन सेवन न करेगा? ॥ ११ ॥ जिस किसी पुरुषकी भगवानमें निःस्वार्थ भक्ति होती है, उसकी सेवामें सभी देवता धर्म-ज्ञानादि सब सद्गुणों सहित सदा उपस्थित रहा करते हैं। जो पुरुष भगवानका भक्त नहीं है और विविध प्रकारके संकल्प करके सर्वदा बाह्य तुच्छ विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है, उसमें महापुरुषोंके गुण क्योंकर आयेंगे? ॥ १२ ॥ जैसे मछलियोंके लिये जल ही अत्यन्त अभीष्ट रहता है, वैसे ही साक्षात् विष्णुभगवान ही सब देहधारियोंके प्रिय आत्मा हैं। उन्हें त्यागकर यदि कोई महापुरुष गृह आदिमें आसक्त रहता तो उन दम्पतियों यानी स्त्री-पुरुषोंका बड़प्पन केवल आयुसे ही रह जाता है—गुणका बड़प्पन नहीं रहता ॥१३॥ अतएव हे दैत्यों! तुम तृष्णा, राग, विषाद, क्रोध, अभिमान, इच्छा, भय, दीनता तथा मानसिक सन्तापके मूल कारण एवं जन्ममरणरूपी संसारचक्रका वहन करनेवाले गृह

केतुमालेऽपि भगवान् कामदेवस्वरूपेण लक्ष्म्याः प्रियचिकीर्षया प्रजापतेर्दुहितॄणां पुत्राणां तद्वर्षपतीनां पुरुषायुषाहोरात्रपरिसंख्यानानां यासां गर्भा महापुरुषमहास्त्रतेजसोद्वेजितमनसां विध्वस्ता व्यसवः संवत्सरान्ते विनिपतन्ति ॥१५॥ अतीव सुललितगतिविलासविलसितरुचिरहासलेशावलोकलीलया किञ्चिदुत्तम्भितसुन्दरभ्रूमण्डलसुभगवदनारविन्दश्रिया रमां रमयन्निन्द्रियाणि रमयते ॥१६॥ तद्भगवतो मायामयं रूपं परमसमाधियोगेन रमा देवी संवत्सरस्य रात्रिषु प्रजापतेर्दुहितृभिरुपेताहःसु च तद्भर्तृभिरुपास्ते इदं चोदाहरति ॥१७॥ ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ॐ नमो भगवते हृषीकेशाय सर्वगुणविशेषैर्विलक्षितात्मने आकूतीनां चित्तीनां चेतसां विशेषाणां चाधिपतये षोडशकलाय च्छन्दोमयायामृतमयाय सर्वमयाय सहसे ओजसे बलाय कान्ताय कामाय नमस्ते उभयत्र भूयात् ॥१८॥

स्त्रियो व्रतैस्त्वा हृषिकेश्वरं स्वतो ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।
तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं प्रियं धनायूंषि यतोऽस्वतन्त्राः ॥१९॥
स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनम् ।
स एक एवेतरथा मिथो भयं नैवात्मलाभादधि मन्यते परम् ॥२०॥
या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं निकामयेत्साखिलकामलम्पटा ।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो यद्भग्नयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते ॥२१॥

आदिको त्यागकर तुम भगवान नृसिंहके अभयदायक चरणकमलोंकी शरण लो ॥ १४ ॥ केतुमालखण्डमें लक्ष्मीजी तथा संवत्सर प्रजापतिके पुत्र और उनकी कन्याओंका भला करनेके लिये भगवान कामदेवरूपसे विराजमान रहते हैं। उन कन्याओं और पुत्रोंकी संख्या मनुष्यकी परमायुके दिन तथा रात्रिके बराबर अर्थात् छत्तीस-छत्तीस हजार हैं और वे ही उस वर्षके अधिपति माने जाते हैं। उन परमपुरुष श्रीनारायणके परमास्त्र सुदर्शनचक्रके तेजसे भयभीत उन कन्याओंके गर्भ प्रत्येक वर्षके अन्तमें निष्प्राण होकर गिर जाया करते हैं ॥ १५ ॥ वहाँ कामदेवरूपधारी भगवान अपने अतिशय सुन्दर गति-विलास तथा मधुर मुसकानमय क्रीडाकटाक्षकी लीलासे कुछ-कुछ ऊपर उठी सुन्दर भृकुटियोंसे अलंकृत अपने मनोहर मुखारविन्दकी शोभासे लक्ष्मीजीको आनन्दित करते हुए अपनी इन्द्रियोंको सुखी करते हैं ॥ १६ ॥ श्रीलक्ष्मीजी अपने परम समाधियोग द्वारा भगवानके उस मायामय स्वरूपकी रात्रिके समय प्रजापति संवत्सरकी कन्याओंके साथ तथा दिनमें उनके पतियोंके साथ उपासना करती हुई इस मन्त्रका जप और स्तुति करती हैं ॥ १७ ॥ इन्द्रियोंके नियन्ता, सभी श्रेष्ठ वस्तुओंसे दृश्यमान, क्रियाशक्ति, ज्ञान,-शक्ति तथा संकल्प-अध्यवसाय आदि चित्तके धर्मों और उनके विषयोंके अधीश्वर, ग्यारह इन्द्रियों एवं पाँच विषयों इन सोलह कलाओंयुक्त, वेदोक्त कर्मोंसे प्राप्य तथा जो अन्नमय, अमृतमय तथा सर्वमय हैं उन साहस अर्थात् मनोबल, ओज अर्थात् इन्द्रियबल और बल यानी शारीरिक बलरूपी परम सुन्दर भगवान कामदेवको 'ॐ ह्रां ह्रूं' इस बीजमन्त्रके सहित सर्वतोभावसे नमस्कार है ॥ १८ ॥ हे भगवन्! आप इन्द्रियोंके स्वामी हैं। संसारकी स्त्रियाँ विविध प्रकारके व्रतों द्वारा आपकी आराधना करके दूसरे पतियोंकी कामना करती हैं, किन्तु वे पति उनके प्रिय पुत्र, धन तथा आयु आदिकी रक्षा नहीं कर पाते। क्योंकि वे स्वयं परतन्त्र रहते हैं ॥ १९ ॥ सच्चा पति अर्थात् रक्षक वही है, जो स्वयं हर तरहसे निर्भय हो और दूसरे भयभीत लोगोंकी सब प्रकारसे रक्षा कर सके। ऐसे पति एकमात्र आप ही हैं। जो कि आत्मलाभसे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं मानते, वे यदि ऐसा न करके अनेक ईश्वर मानें तो उनमें परस्पर भयकी संभावना बनी रहे ॥ २० ॥ हे भगवन्! जो स्त्री निष्कामभावसे आपके चरणकमलोंको पूजती है, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। यदि वह किसी फलकी कामनासे उपासना करती है तो उसे केवल वही फल मिलता है और उस फलका भोग समाप्त हो जाता तो अपनी याचित वस्तुके

मत्प्राप्तयेऽजेशसुरासुरादयस्तप्यन्त उग्रं तप ऐन्द्रियेधियः ।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां विन्दन्त्यहं त्वद्धृदया यतोऽजित ॥२२॥
स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम् ।
बिभर्षि मां लक्ष्मवरेण्य मायया क ईश्वरस्येहितमूहितुं विभुरिति ॥२३॥

रम्यके च भगवतः प्रियतमं मात्स्यमवताररूपं तद्वर्षपुरुषस्य मनोः प्राक्प्रदर्शितं स इदानीमपि महता भक्तियोगेनाराधयतीदं चोदाहरति ॥२४॥ ॐ नमो भगवते मुख्यतमाय नमः सत्त्वाय प्राणायौजसे बलाय महामत्स्याय नम इति ॥२५॥

अन्तर्बहिश्चाखिललोकपालकैरदृष्टरूपो विचरस्युरुस्वनः ।
स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनयन्नाम्ना यथा दारुमयीं नरः स्त्रियम् ॥२६॥
यं लोकपालाः किल मत्सरज्वरा हित्वा यतन्तोऽपि पृथक् समेत्य च ।
पातुं न शेकुर्द्विपदश्चतुष्पदः सरीसृपं स्थाणु यदत्र दृश्यते ॥२७॥
भवान् युगान्तार्णव ऊर्मिमालिनि क्षोणीमिमामोषधिवीरुधां निधिम् ।
मया सहोरु क्रमतेऽज ओजसा तस्मै जगत्प्राणगणात्मने नम इति ॥२८॥

हिरण्मयेऽपि भगवान् निवसति कूर्मतनुं बिभ्राणस्तस्य तत्प्रियतमां तनुमर्यमा सह वर्षपुरुषैः पितृगणाधिपतिरुपधावति मन्त्रमिमं चानुजपति ॥२९॥ ॐ नमो भगवते अकूपाराय सर्वसत्त्वगुणविशेषणायानुपलक्षितस्थानाय नमो वर्ष्मणे नमो भूम्ने नमो नमोऽवस्थानाय नमस्ते ॥३०॥

नष्ट हो जानेसे उसे बड़ा सन्ताप भोगना पड़ता है ॥ २१ ॥ हे अजित ! मुझको पानेके लिये, इन्द्रियसुखके अभिलाषी ब्रह्मा तथा महादेव आदि सभी सुरासुर घोर तप करते हैं, किन्तु आपके चरणकमलोंका भरोसा करनेवाले भक्तके सिवा दूसरे किसीको मैं नहीं प्राप्त हो सकती । क्योकि मेरा मन सदा आपहीमें लगा रहता है ॥ २२ ॥ हे अच्युत ! आप अपना जो वन्दनीय कर-कमल भक्तोंके मस्तकपर रखते हैं, उसे मेरे मस्तकपर भी रखिये । आप जो मुझे केवल श्रीलाञ्छनरूपसे अपने वक्षःस्थलमें धारण करते हैं सो सर्व- समर्थ आपकी मायामयी लीलाका भेद भला कौन जान पायेगा" ॥ २३ ॥ पूर्व समय रम्यकवर्षमें भगवानने वहाँके अधिपति मनुको अपना परमप्रिय मत्स्यावताररूप दिखाया था । इस समय भी मनुजी भगवानके उस रूपकी भक्तियोग द्वारा उपासना करते रहते और इस मन्त्रको जपा करते हैं ॥ २४ ॥ "सर्वप्रधान, सतोगुणी, सूत्रात्मा, मानसिक, ऐन्द्रियिक और शारीरिक बलसे युक्त महामत्स्यरूपधारी भगवानको नमस्कार है ॥ २५ ॥ हे प्रभो ! नट जैसे कठपुतलियोंको नचाता है, वैसे ही विविध नामोंसे सारे जगत्को कर्ममें लगाकर जिन्होंने उनको अपने अधीन करलिया है, वह महान् शब्द करनेवाले वेदरूपी जगदीश्वर आप ब्रह्मा आदि सब लोकपालोंसे अलक्षित रहकर प्राणियोंके बाहर और भीतर बराबर विचरते हैं ॥ २६ ॥ हे नाथ ! जिसको त्याग देनेके बाद दूसरेका उत्कर्ष न सह सकनारूपी डाहसे इन्द्रादि देवता अलग-अलग या आपसमें मिलकर भी मनुष्य, पशु तथा स्थावर आदि जितने प्राणी दीखते हैं, उनमेंसे वे किसीकी भी रक्षा नहीं कर पाते ॥२७॥ हे अज ! आप परमेश्वरने मेरे सहित सब ओषधियों और लताओंकी आश्रयस्वरूपिणी इस पृथिवीकी रक्षा करनेके निमित्त उत्ताल तरङ्गोंसे परिपूर्ण प्रलयकालीन समुद्रमें बड़े उत्साहके साथ विचरण किया था, ऐसे संसारके प्राणस्वरूप आप प्रभुको हमारा नमस्कार है"॥ २८ ॥ हिरण्यवर्षमें भगवान कूर्मरूप धारण करके रहते हैं । वहाँके निवासियों सहित पितृराज अर्यमा भगवानकी प्रियतम मूर्तिकी उपासना करते हुए इस मन्त्रको जपते हैं-॥ २९ ॥ "जो सभी सात्त्विक गुणोंसे युक्त रहते हैं, जिनके स्थानका कोई निश्चित पता नहीं और

तद्रूपमेतन्निजमाययार्पितमर्थस्वरूपं बहुरूपरूपितम् ।
संख्या न यस्यास्त्ययथोपलम्भनात्तस्मै नमस्तेऽव्यपदेशरूपिणे ॥३१॥
जरायुजं स्वेदजमण्डजोद्भिदं चराचरं देवर्षिपितृभूतमैन्द्रियम् ।
द्यौः खं क्षितिः शैलसरित्समुद्रद्वीपग्रहर्क्षेत्यभिधेय एकः ॥३२॥
यस्मिन्नसंख्येयविशेषनामरूपाकृतौ कविभिः कल्पितेयम् ।
संख्या यया तत्त्वदृशापनीयते तस्मै नमः सांख्यनिदर्शनाय ते इति ॥३३॥

उत्तरेषु च कुरुषु भगवान् यज्ञपुरुषः कृतवराहरूप आस्ते तं तु देवी हैषा भूः सह कुरुभिरस्खलितभक्तियोगेनोपधावति इमां च परमामुपनिषदमावर्तयति ॥ ३४ ॥ ॐ नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय यज्ञक्रतवे महाध्वरावयवाय महापुरुषाय नमः कर्मशुक्लाय त्रियुगाय नमस्ते ॥ ३५ ॥

यस्य स्वरूपं कवयो विपश्चितो गुणेषु दारुष्विव जातवेदसम् ।
मथ्नन्ति मथ्ना मनसा दिदृक्षवो गूढं क्रियार्थैर्नम ईरितात्मने ॥ ३६ ॥
द्रव्यक्रियाहेत्वयनेशकर्तृभिर्मायागुणैर्वस्तुनिरीक्षितात्मने ।
अन्वीक्षयाङ्गातिशयात्मबुद्धिभिर्निरस्तमायाकृतये नमो नमः ॥ ३७ ॥
करोति विश्वस्थितिसंयमोदयं यस्येप्सितं नेप्सितमीक्षितुर्गुणैः ।
माया यथायो भ्रमते तदाश्रयं ग्राव्णो नमस्ते गुणकर्मसाक्षिणे ॥ ३८ ॥

जो कालकी मर्यादासे भी बाहर हैं, उन सर्वव्यापक तथा सर्वाधार श्रीकच्छपभगवानको नमस्कार है—नमस्कार है ॥ ३० ॥ हे भगवन् ! सच्चे तौरसे रूपकी प्रतीति न होनेके कारण जिनकी गणना नहीं की जा सकती, इस प्रकार नाना रूपोंमें प्रतीयमान और मायासे प्रकाशित यह प्रपञ्च जिनका स्वरूप है, उन अनिर्वचनीयस्वरूपवाले आपको हम नमस्कार करते हैं ॥३१॥ हे देव ! आप ही जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जङ्गम, स्थावर, देवता, ऋषि, पितृगण, भूत, इन्द्रिय, स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी, समुद्र, द्वीप, ग्रह तथा तारा आदि भिन्न-भिन्न नामोंसे विख्यात हैं ॥ ३२ ॥ असंख्य नाम, रूप तथा आकृतियोंसे युक्त आपमें कपिलादि विद्वानोंने जो तत्त्वोंकी चौबीस संख्या निश्चित की है, वह जिस तत्त्वज्ञानसे निवृत्त हो जाती है, ऐसे सांख्यसिद्धान्तस्वरूप आप परमेश्वरको नमस्कार है ॥३३॥ हे राजन् ! उत्तरकुरुखण्डमें भगवान यज्ञपुरुष वाराहमूर्ति धारण करके विराजमान रहते हैं। वहाँके निवासियों सहित साक्षात् पृथिवीदेवी अविचल भक्तियोगसे उनकी उपासना करती रहती हैं और इस परम उत्कृष्ट उपनिषद्की आवृत्ति करती हैं—॥ ३४ ॥ मन्त्रों द्वारा जिनका तत्त्व जाना जाता है, जो यज्ञ तथा क्रतुकी मूर्ति हैं, यज्ञादि जिनके अङ्ग हैं, उन शुद्धकर्ममय तथा त्रियुगमूर्ति श्रीवाराहभगवानको पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ३५ ॥ जैसे ऋत्विक्गण अरणिमन्थन द्वारा अग्निको प्रकट करते हैं, वैसे ही कर्मोंकी फल-कामनाओंसे छिपे हुए जिनके स्वरूपको देखनेकी कामनासे परमविज्ञ पण्डित अपने मनरूपी मन्थन-काष्ठ द्वारा भली भाँति मन्थन करते हैं, इस तरह प्रकट होनेवाले उन व्यक्त स्वरूप आपको प्रणाम है ॥ ३६ ॥ यम-नियम आदि योगाङ्गोंका पालन करनेके कारण जिनकी बुद्धि दृढ़ हो गयी है ऐसे महापुरुष विषय, इन्द्रिय, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता, शरीर, काल तथा अहंकार आदि मायाके कार्योंको देखकर अपने विचार द्वारा जिनके सच्चे स्वरूपको देखते हैं, उन मायिक आकृतियोंसे रहित आपको बारम्बार प्रणाम है ॥ ३७ ॥ जैसे चुम्बकके आश्रित रहनेवाला लोहा उसके सन्निधिसे चलता-फिरता है, वैसे ही सर्वसाक्षीकी इच्छामात्रसे अपने लिये नहीं, प्रत्युत सब प्राणियोंके लिये प्रकृति अपने गुणों द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करती है, उन गुणोंके साक्षीस्वरूप आप

प्रमथ्य दैत्यं प्रतिवारणं मृधे यो मां रसाया जगदादिसूकरः ।
कृत्वाग्रदंष्ट्रे निरगादुदन्वतः क्रीडन्निवेभः प्रणतास्मि तं विभुमिति ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

किम्पुरुषे वर्षे भगवन्तमादिपुरुषं लक्ष्मणाग्रजं सीताभिरामं रामं तच्चरणसन्निकर्षाभिरतः परमभागवतो हनुमान् सह किम्पुरुषैरविरतभक्तिरुपास्ते ॥ १ ॥ आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति स्वयं चेदं गायति ॥ २ ॥ ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय नम आर्यलक्षणशीलव्रताय नम उपशिक्षितात्मन उपासितलोकाय नमः साधुवादनिकषणाय नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय महाराजाय नम इति ॥ ३ ॥

यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकं स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थम् ।
प्रत्यक् प्रशान्तं सुधियोपलम्भनं ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥ ४ ॥
मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य ॥ ५ ॥
न वै स आत्माऽऽत्मवतां सुहृत्तमः सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति ॥ ६ ॥

परमात्माको प्रणाम है ॥ ३८ ॥ जैसे एक हाथी दूसरे हाथीको पछाड़ देता है वैसे ही अपने प्रतिद्वन्द्वी हिरण्याक्ष दैत्यको युद्धमें मारकर जो आदिसूकरस्वरूप आप मुझे रसातलसे निकाल तथा अपनी दाढ़पर रखकर गजराजके समान खेलवाड़ करते हुए प्रलयकालीन समुद्रसे बाहर आये, उन सर्वसमर्थ आप प्रभुको मैं पुनः पुनः प्रणाम करती हूँ ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(किंपुरुष वर्ष और भारतवर्षका वर्णन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! किम्पुरुषवर्षमें लक्ष्मणजीके ज्येष्ठ भ्राता आदिपुरुष सीतापति भगवान रामके चरणोंके सामीप्यके रसिक परम भागवत श्रीहनुमान्जी किन्नरगणोंके सहित निश्चल भक्तिभावसे उनकी उपासना किया करते हैं ॥ १ ॥ उनमेंसे किन्नरश्रेष्ठ आर्ष्टिषेण समेत गन्धर्वों द्वारा गीयमान अपने प्रभु भगवान रामकी पुनीत कथाओंको सुनते हुए वे स्वयं भी यह स्तोत्र गाते रहते हैं—॥ २ ॥ पवित्रकीर्ति भगवान रामको प्रणाम हैं। वे सत्पुरुषोंके लक्षण और शीलसे युक्त, संयतचित्त, साधुवादकी कसौटी तथा ब्राह्मणभक्त हैं। उन लोकपूजित महापुरुष महाराज रामको हम बारम्बार प्रणाम करते हैं ॥ ३ ॥ जो विशुद्ध अनुभवमात्र, अपने अद्वितीय स्वरूपके प्रकाशसे जाग्रदादि सभी अवस्थाओंका तिरस्कार करनेवाले, अन्तर्यामी, अतिशय शान्त, शुद्धबुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने योग्य, नाम और रूपसे रहित तथा अहंकारशून्य हैं, मैं उन परम प्रभुकी शरणमें हूँ ॥४॥ भगवानका यह मनुष्यावतार केवल रावणादि राक्षसोंको मारनेके निमित्त ही नहीं हुआ था, बल्कि मनुष्योंको शिक्षा देनेके हेतु हुआ था। नहीं तो उन आत्माराम और साक्षात् ईश्वरको सीताजीके लिये ऐसा क्लेश क्यों होता ? ॥ ५ ॥ क्योंकि धीर पुरुषोंके आत्मा और प्रियतम वे भगवान वासुदेव त्रिलोकीकी किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होते। अतएव न तो उन्हें सीताजीके वियोगका दुःख हो

न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः ॥ ७ ॥
सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ॥ ८ ॥

भारतेऽपि वर्षे भगवान् नरनारायणाख्य आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरति ॥ ९ ॥ तं भगवान् नारदो वर्णाश्रमवतीभिर्भारतीभिः प्रजाभिर्भगवत्प्रोक्ताभ्यां सांख्ययोगाभ्यां भगवदनुभावोपवर्णनं सावर्णेरुपदेक्ष्यमाणः परमभक्तिभावेनोपसरति इदं चाभिगृणाति ॥ १० ॥ ॐ नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिञ्चनवित्ताय ऋषिऋषभाय नरनारायणाय परमहंसपरमगुरवे आत्मारामाधिपतये नमो नम इति ॥ ११ ॥ गायति चेदम्—

कर्तास्य सर्गादिषु यो न बध्यते न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः ।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते तस्मै नमोऽसक्तविविक्तसाक्षिणे ॥१२॥
इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् ।
यदन्तकाले त्वयि निर्गुणे मनो भक्त्या दधीतोज्झितदुष्कलेवरः ॥१३॥
यथैहिकामुष्मिककामलम्पटः सुतेषु दारेषु धनेषु चिन्तयन् ।
शङ्केत विद्वान् कुकलेवरात्ययाद्यस्तस्य यत्नः श्रम एव केवलम् ॥१४॥

सकता था और न वे लक्ष्मणजीको ही त्याग सकते थे ॥६॥ न उत्तम कुलमें जन्म, न सुन्दरता, न वाक्चातुरी, न बुद्धि और न आकृति ही भगवानको प्रसन्न करनेका साधन है। यह बात दिखानेके लिये ही लक्ष्मणाग्रज भगवान रामने उपर्युक्त गुणोंसे हीन होनेपर भी वानरोंसे मित्रता की थी ॥ ७ ॥ अतएव देवता, असुर, वानर तथा मनुष्य इनमेंसे कोई भी हो वह उत्तम कृतज्ञ शिरोमणि नररूपधारी भगवान रामको अनन्यभावसे भजे। क्योंकि वे समस्त कोशलनिवासियोंको अपने साथ विमानपर बैठाकर स्वर्गसे भी ऊपर निजधामको ले गये थे ॥ ८ ॥ इस भारत वर्षमें भी भगवान नर और नारायण ये दो रूप धारण करके आत्मनिष्ठ पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये अव्यक्त रहकर कल्पान्त तक प्रचलित रहनेवाली तपस्या करते हैं। जिससे कर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और उपशमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती हुई अन्तमें परमात्माकी उपलब्धि तक होजाती है ॥ ९ ॥ वहाँ भगवानके कहे हुए सांख्य तथा योगशास्त्र समेत जिसमें भगवानका प्रभाव वर्णित है, उस पाञ्चरात्र शास्त्रका सावर्णि मनुको उपदेश करते हुए श्रीनारदजी वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाली भारतीय प्रजाके साथ अत्यन्त भक्तिभावसे भगवानकी उपासना करते हुए इस स्तोत्रका पाठ किया करते हैं—॥ १० ॥ "अनात्मभावसे हीन निर्धनोंके धन, ऋषिश्रेष्ठ, परमहंसोंके परमगुरु और आत्मारामोंके अधीश्वर भगवान नर-नारायणको बारम्बार नमस्कार है" ॥ ११ ॥ यह मन्त्र पढ़ते हुए वे इस प्रकार भगवानके गुण गाते हैं—"जगत्की उत्पत्ति आदिमें उनके कर्ता होकर भी जो कर्तृत्वके अभिमानसे नहीं बँधते, जो शरीरमें रहकर भी उनके धर्म भूख-प्यास आदिके वशीभूत नहीं होते और द्रष्टा होनेपर भी जिनकी दृष्टि दृश्यके दोषोंसे दूषित नहीं होने पाती उन निःसङ्ग, निर्मल तथा सर्वसाक्षी परमात्माको बारम्बार नमस्कार है ॥ १२ ॥ हे योगेश्वर ! हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीने योगमार्गमें सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता इसीमें बतायी है कि मनुष्य अन्तसमय देहाभिमान त्यागकर भक्तिके साथ आप निर्गुण परमात्मामें ही मन लगावे ॥ १३ ॥ जैसे लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंके लोभी और महापुरुष पुत्र, कलत्र तथा धन आदिकी चिन्ता करते हुए मृत्युसे डरा करते हैं वैसे ही जिस विद्वानको इस कुत्सित शरीरके छूटनेका भय बना

तन्नः प्रभो त्वं कुकलेवरार्पितां त्वन्माययाहंममतामधोक्षज ।
भिन्द्याम येनाशु वयं सुदुर्भिदां विधेहि योगं त्वयि नः स्वभावमिति ॥१५॥

भारतेऽप्यस्मिन् वर्षे सरिच्छैलाः सन्ति बहवो मलयो मङ्गलप्रस्थो मैनाकस्त्रिकूट ऋषभः कूटकः कोल्लकः सह्यो देवगिरिर्ऋष्यमूकः श्रीशैलो वेङ्कटो महेन्द्रो वारिधारो विन्ध्यः शुक्तिमानृक्षगिरिः पारियात्रो द्रोणश्चित्रकूटो गोवर्धनो रैवतकः ककुभो नीलो गोकामुख इन्द्रकीलः कामगिरिरिति चान्ये च शतसहस्रशः शैलास्तेषां नितम्बप्रभवा नदा नद्यश्च सन्त्यसंख्याताः ॥ १६ ॥ एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्तीनामात्मना चोपस्पृशन्ति ॥ १७ ॥ चन्द्रवसा ताम्रपर्णी अवटोदा कृतमाला वैहायसी कावेरी वेणी पयस्विनी शर्करावर्ता तुङ्गभद्रा कृष्णा वेण्या भीमरथी गोदावरी निर्विन्ध्या पयोष्णी तापी रेवा सुरसा नर्मदा चर्मण्वती सिन्धुरन्धः शोणश्च नदौ महानदी वेदस्मृतिर्ऋषिकुल्या त्रिसामा कौशिकी मन्दाकिनी यमुना सरस्वती दृषद्वती गोमती सरयू रोधस्वती सप्तवती सुषोमा शतद्रूश्चन्द्रभागा मरुद्वृधा वितस्ता असिक्नी विश्वेति महानद्यः ॥ १८ ॥ अस्मिन्नेव वर्षे पुरुषैर्लब्धजन्मभिः शुक्ललोहितकृष्णवर्णेन स्वारब्धेन कर्मणा दिव्यमानुषनारकगतयो बह्व्य आत्मन आनुपूर्व्येण सर्वा ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति ॥ १९ ॥ योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः ॥२०॥

रहता है, उसका ज्ञानप्राप्त्यर्थ किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ जाता है ॥ १४ ॥ अतएव हे प्रभो ! आप हमें अपनेमें सच्चा प्रेमरूपी अपना भक्तियोग प्रदान करिए । जिससे हे अधोक्षज ! आपकी मायाके संकेतवश इस निन्द्य शरीरमें स्थित दुर्भेद्य ममता तथा अहंकारका हम तत्काल भेदन कर पायें ॥१५॥ हे राजन् ! इस भारतवर्षमें भी बहुतेरे पर्वत और बहुतेरी नदियाँ हैं। जैसे—मलय, मङ्गलप्रस्थ, मैनाक, त्रिकूट ऋषभ, कूटक, कोल्लक, सह्य, देवगिरि, ऋष्यमूक, श्रीशैल, वेङ्कट, वारिधार, विन्ध्य, शुक्तिमान् , ऋक्ष-गिरि, परियात्र, द्रोण, चित्रकूट, गोवर्धन, रैवतक, ककुभ, नील, गोकामुख, इन्द्रकील, कामगिरि आदि । इनके अतिरिक्त भी सैकड़ों तथा हजारों तथा पर्वत हैं और उनसे निकले हुए अगणित नद तथा नदियाँ हैं ॥ १६ ॥ केवल नामहीसे पवित्र करनेवाली इन नदियोंके जलमें भारतीय प्रजा स्नान करती है ॥१७॥ वे मुख्य-मुख्य नदियाँ ये हैं—चन्द्रवसा, ताम्रपर्णी अवटोदा, कृतमाला, वैहायसी, कावेरी, वेणी, पयस्विनी, शर्करावर्ता, तुङ्गभद्रा, कृष्णा, वेण्या, भीमरथी, गोदावरी, निर्विन्ध्या, पयोष्णी, तापी, रेवा, सुरसा, नर्मदा, चर्मण्वती, सिन्धु, अन्ध तथा शोण नामक दो नद, महानदी, वेदस्मृति, ऋषिकुल्या, त्रिसामा, कौशिकी, मन्दाकिनी, यमुना, सरस्वती, दृषद्वती, गोमती, सरयू , रोधस्वती, सप्तवती, सुषोमा, शतद्रू, चन्द्रभागा, मरुद्वृधा, वितस्ता, असिक्नी तथा विश्वा आदि हैं ॥ १८ ॥ इस भारतवर्षमें जन्म लेनेवाले पुरुषोंको अपने किये सात्त्विक, राजस तथा तामस कर्मोंके अनुसार देव, मनुष्य तथा नरकादि लोकोंमें विविध प्रकारकी गतियाँ मिलती हैं। क्योंकि अपने-अपने कर्मानुसार ये सब योनियाँ क्रमशः सबको मिलती हैं—इसी वर्षमें ब्राह्मणादि वर्णोंके लिये निश्चित किये हुए संन्यासादि धर्मोंका पालन करनेके कारण मोक्ष भी मिल सकता है ॥ १९ ॥ हे राजन् ! सब प्राणियोंके अन्तरात्मा भगवान वासुदेवमें अनन्य तथा निष्काम भक्तिभाव ही वह मोक्षपद है। विविध प्रकारकी गतियोंको प्राप्त करानेवाली अविद्यारूपिणी हृदयग्रन्थिके कट जानेपर जब महापुरुषोंका संग प्राप्त होता है, तभी मुक्ति मिलती है ॥ २० ॥ 'मानव जन्म ही सब पुरुषार्थोंका साधन है' देवता लोग

एतदेव हि देवा गायन्ति—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥२१॥
किं दुष्करैर्नः क्रतुभिस्तपोव्रतैर्दानादिभिर्वा द्युजयेन फल्गुना ।
न यत्र नारायणपादपङ्कजस्मृतिः प्रमुष्टातिशयेन्द्रियोत्सवात् ॥२२॥
कल्पायुषां स्थानजयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम् ।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः ॥२३॥
न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥२४॥
प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम् ।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम् ॥२५॥
यैः श्रद्धया बर्हिषि भागशो हविर्निरुप्तमिष्टं विधिमन्त्रवस्तुतः ।
एकः पृथङ्नामभिराहुतो मुदा गृह्णाति पूर्णः स्वयमाशिषां प्रभुः ॥२६॥
सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥२७॥
यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितं स्विष्टस्य सूक्तस्य कृतस्य शोभनम् ।
तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म नः स्याद् वर्षे हरिर्यद्भजतां शं तनोति ॥२८॥

भी कहते हैं—“अहो ! जिसके लिये सर्वदा हमारी लालसा बनी रहती है, उस भगवत्सेवाके निमित्त उपयोगी इस मानव शरीरसे जिन जीवोंने भारतवर्षमें जन्म लिया है, उनसे ऐसा कोई पुण्य-कर्म हुआ है ? या कि उनपर भगवान श्रीहरि स्वयं प्रसन्न हो गये हैं ॥ २१ ॥ स्वर्गलोककी प्रभुता दिलानेवाले इन सारहीन दुष्कर यज्ञ, तप, व्रत और दानादिसे हमें क्या लाभ होगा ? जहाँ इन्द्रियोंके भोगोंकी अधिकतासे दबे रहनेके कारण भगवानके चरण-कमलोंका स्मरण नहीं होने आता ॥ २२ ॥ स्वर्ग ही नहीं, जहाँ लोगोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है किन्तु उसके पीछे उन्हें फिर संचारचक्रमें आकर पड़ना पड़ता है। उन ब्रह्मलोकादिको पानेकी अपेक्षा अल्पायु होकर भारतभूमिमें जन्म लेना अच्छा है। क्योंकि भारतवर्षमें धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने सब कर्म भगवानको अर्पण करके उनका अभयपद पा लेता है ॥ २३ ॥ जहाँ भगवत्कथारूपिणी अमृतमयी सरिता नहीं बहती, जहाँ भगवानके आश्रित भगवद्भक्त साधुजन नहीं रहते और जहाँ यज्ञपुरुष विष्णुभगवानकी पूजा-अर्चा आदिके लिये बड़े-बड़े उत्सव नहीं होते, वह यदि ब्रह्मलोक ही हो तो उसका सेवन न करे ॥ २४ ॥ जिन प्राणियोंने भारतवर्षमें ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूतोंकी चातुरीसे युक्त मानव जन्म पाया है, वे यदि आवागमनके चक्रसे बाहर निकलनेका उपाय नहीं करते तो वनैले पक्षियोंके समान फिर कभी-न-कभी बन्धनमें पड़ जायँगे ॥ २५ ॥ जिनके द्वारा यज्ञमें अगणित देवताओंके उद्देश्यसे पृथक्-पृथक् भाग निकालकर श्रद्धापूर्वक विधि, मन्त्र तथा द्रव्यादिके द्वारा दिये हुए हविको इन्द्रादि विभिन्न नामोंसे आवाहित सर्वव्यापी तथा सब कामनायें पूर्ण करनेमें समर्थ नारायण अतिशय प्रसन्नतापूर्वक स्वयं स्वीकार करते हैं ॥ २६ ॥ सकाम उपासक पुरुषोंको भगवान उनके अभिलषित पदार्थ देते हैं—यह ठीक है, किन्तु वह असली वस्तु नहीं देते। यही कारण है कि उन्हें फिर अन्य कामनायें होती हैं। इसके विपरीत वे अपने निष्काम भक्तोंको अपना चरण-कमल दे देते हैं, जो कामनाओंको दूर भगा देता है ॥२७॥ अतएव यदि हमारे भोगे हुए स्वर्गसुखमें हमारे पूर्वकृत पूजन, अध्ययन तथा सुकर्ममेंसे

श्रीशुक उवाच

जम्बूद्वीपस्य च राजन्नुपद्वीपानष्टौ हैक उपदिशन्ति सगरात्मजैरश्वान्वेषण इमां महीं परितो निखनद्भिरुपकल्पितान् ॥२९॥ तद्यथा स्वर्णप्रस्थश्चन्द्रशुक्ल आवर्तनो रमणको मन्दरहरिणः पाञ्चजन्यः सिंहलो लङ्केति ॥३०॥ एवं तव भारतोत्तम जम्बूद्वीपवर्षविभागो यथोपदेशमुपवर्णित इति ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे जम्बूद्वीपवर्णनं नामैकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥१९॥

विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अतः परं प्लक्षादीनां प्रमाणलक्षणसंस्थानतो वर्षविभाग उपवर्ण्यते ॥१॥ जम्बूद्वीपोऽयं यावत्प्रमाणविस्तारस्तावता क्षारोदधिना परिवेष्टितो यथा मेरुर्जम्ब्वाख्येन लवणोदधिरपि ततो द्विगुणविशालेन प्लक्षाख्येन परिक्षिप्तो यथा परिखा बाह्योपवनेन। प्लक्षो जम्बूप्रमाणो द्वीपाख्याकरो हिरण्मय उत्थितो यत्राग्निरुपास्ते सप्तजिह्वस्तस्याधिपतिः प्रियव्रतात्मज इध्मजिह्वः स्वं द्वीपं सप्तवर्षाणि विभज्य सप्तवर्षनामभ्य आत्मजेभ्य आकलय्य स्वयमात्मयोगेनोपरराम ॥२॥ शिवं यवसं सुभद्रं शान्तं क्षेममममृतमभयमिति वर्षाणि तेषु गिरयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः ॥३॥ मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान् सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति सेतुशैलाः। अरुणा नृम्णाऽऽङ्गिरसी सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरा इति महानद्यः। यासां जलोपस्पर्शनवि-

---

कुछ भी पुण्य बाकी बचा हो तो उसके प्रभावसे भारतवर्षमें हमें श्रीहरिके स्मरणार्थ मानव जन्म प्राप्त हो। क्योंकि भगवान् अपना भजन करनेवालेका सब तरहसे कल्याण करते हैं" ॥ २८ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! कुछ लोगोंका कहना है कि राजा सगरके पुत्रोंने अपने यज्ञके घोड़ेको खोजते समय इस पृथिवीको सब ओरसे खोदा था। उनके वैसा करनेसे जम्बूद्वीपमें आठ उपद्वीप और बन गये ॥२९॥ वे द्वीप स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाञ्चजन्य, सिंहल और लंका हैं ॥ ३० ॥ हे भरतश्रेष्ठ! इस तरह मैं तुम्हें इस जम्बूद्वीपका वर्षविभाग, जैसा कि मैंने गुरुजनोंसे सुना था वैसा कह सुनाया ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(अन्य छः द्वीपों और लोकालोकपर्वतका विस्तार वर्णन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! मैं अब प्रमाण, लक्षण तथा स्थितिके अनुसार प्लक्षादि द्वीपोंके वर्षविभाग वर्णन करता हूँ ॥१॥ जैसे मेरु पर्वत जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है, उसी प्रकार यह जम्बूद्वीप भी अपने ही बराबर विस्तारवाले क्षार समुद्रसे घिरा हुआ है। जैसे खाईं बाहरके उपवनसे घिरी रहती है, वैसेही क्षीरसमुद्र भी अपनेसे द्विगुण विस्तृत प्लक्षद्वीपसे घिरा है। प्लक्षद्वीपमें जम्बूद्वीपस्थ जामुन वृक्षके समान ही एक सुवर्णमय प्लक्ष (पाकड़) का वृक्ष है। उसीके कारण उसका नाम 'प्लक्षद्वीप' पड़ा है। वहाँपर सात जीभोंवाले अग्निदेव विराजमान रहते हैं। उस द्वीपके स्वामी प्रियव्रतपुत्र महाराज इध्मजिह्व थे। उन्होंने अपने इस द्वीपको सात वर्षों ही नामके अपने पुत्रोंको सौंप दिया और स्वयं अध्यात्मयोगका आश्रय लेकर विरक्त हो गये ॥ २ ॥ उन वर्षों (और उनके पुत्रों) के ये नाम हैं—शिव, यवस, सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत तथा अभय। इन द्वीपोंमें भी सात पर्वत तथा सात नदियाँ प्रसिद्ध हैं ॥३॥ उनमें मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान्, सुपर्ण, हिरण्यष्ठीव और मेघमाल ये सात मर्यादापर्वत हैं और अरुणा आङ्गिरसी, सावित्री, सुप्रभाता,

धूतरजस्तमसो हंसपतङ्गोर्ध्वायनसत्याङ्गसंज्ञाश्चत्वारो वर्णाः सहस्रायुषो विबुधोपमसन्दर्शनप्रजननाः स्वर्गद्वारं त्रय्या विद्यया भगवन्तं त्रयीमयं सूर्यमात्मानं यजन्ते ॥४॥

प्रत्नस्य विष्णो रूपं यत्सत्यस्यर्तस्य ब्रह्मणः । अमृतस्य च मृत्योश्च सूर्यमात्मानमीमहीति ॥५॥

प्लक्षादिषु पञ्चसु पुरुषाणामायुरिन्द्रियमोजः सहो बलं बुद्धिर्विक्रम इति च सर्वेषामौत्पत्तिकी सिद्धिरविशेषेण वर्तते ॥६॥

प्लक्षः स्वसमानेनेक्षुरसोदेनावृतो यथा तथा द्वीपोऽपि शाल्मलो द्विगुणविशालः समानेन सुरोदेनावृतः परिवृङ्क्ते ॥७॥ यत्र ह वै शाल्मली प्लक्षायामा यस्यां वाव किल निलयमाहुर्भगवतश्छन्दःस्तुतः पतत्त्रिराजस्य सा द्वीपहूतये उपलक्ष्यते ॥८॥ तद्द्वीपाधिपतिः प्रियव्रतात्मजो यज्ञबाहुः स्वसुतेभ्यः सप्तभ्यस्तन्नामानि सप्तवर्षाणि व्यभजत्सुरोचनं सौमनस्यं रमणकं देववर्षं पारिभद्रमाप्यायनमविज्ञातमिति ॥९॥ तेषु वर्षाद्रयो नद्यश्च सप्तैवाभिज्ञाताः स्वरसः शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दो मुकुन्दः पुष्पवर्षः सहस्रश्रुतिरिति । अनुमतिः सिनीवाली सरस्वती कुहू रजनी नन्दा राकेति ॥१०॥ तद्वर्षपुरुषाः श्रुतधरवीर्यधरवसुन्धरेषन्धरसंज्ञा भगवन्तं वेदमयं सोममात्मानं वेदेन यजन्ते ॥११॥

स्वगोभिः पितृदेवेभ्यो विभजन् कृष्णशुक्लयोः । प्रजानां सर्वासां राजान्धः सोमो न आस्त्विति१२

एवं सुरोदाद्बहिस्तद्द्विगुणः समानेनावृतो घृतोदेन यथापूर्वः कुशद्वीपो यस्मिन् कुशस्तम्बो

ऋतम्भरा तथा सत्यम्भरा ये सात महानदियाँ हैं । उन नदियोंके जलमें स्नान करनेके कारण जिनके रजोगुण और तमोगुण क्षीण हो गये रहते हैं, जिनकी परमायु हजार वर्षकी है और जिनके देवताओं-के समान रूपवाली सन्तति होती है वे हंस, पतङ्ग, ऊर्ध्वायन तथा सत्याङ्ग नामके वहाँके चार वर्णवाले लोग त्रयीविद्याके द्वारा तीनों वेदोंमें वर्णित सर्वान्तर्यामी सूर्यभगवानकी उपासना करते रहते हैं ॥ ४ ॥ वे इस तरह उनकी स्तुति करते हैं—जो सत्य यानी अनुष्ठीयमान धर्म, ऋत अर्थात् प्रतीयमान धर्म, वेद तथा शुभाशुभ फलके अधिष्ठाता हैं, उन पुराणपुरुष विष्णुके स्वरूप भगवान सूर्यको हम प्रणाम करते हैं ॥ ५ ॥ प्लक्षादि पाँचों द्वीपोंके निवासी सब मनुष्योंको जन्मतः आयु, इन्द्रिय, मनोबल, इन्द्रियबल, शारीरिक बल, बुद्धि तथा पराक्रमको समानरूपसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है' ॥ ६ ॥ जैसे कि प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तृत इक्षुरसके समुद्रसे आवृत है, उसी तरह उससे द्विगुण विस्तृत शाल्मलीद्वीप भी उतने ही परिमाणवाले सुरा (मदिरा) के सागरसे आवृत है ॥ ७ ॥ वहाँ प्लक्ष-द्वीपके प्लक्षवृक्षके सदृश परिमाणवाला एक शाल्मली वृक्ष है, जिसपर वेदध्वनि करनेवाले पक्षिराज गरुडजीका निवास कहा जाता है । वह शाल्मली (सेमर) वृक्ष ही उस द्वीपके नामकरणका हेतु है ॥ ८ ॥ उस द्वीपके प्रभु प्रियव्रतके पुत्र महाराज यज्ञबाहुने अपने द्वीपके सात विभाग किये और अपने सात पुत्रोंको उन्हींके नामानुसार उन सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र, आप्यायन तथा अविज्ञात नामके सात वर्षोंको दे दिया ॥ ९ ॥ उनमें भी सात वर्षपर्वत और सात ही नदियाँ प्रसिद्ध हैं । वहाँ स्वरस, शतशृङ्ग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुरुषवर्ष तथा सहस्रश्रुति ये सात पर्वत तथा अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहू, रजनी, नन्दा और राका—ये सात नदियाँ हैं ॥ १० ॥ उन वर्षोंके निवासी भूतधर, वीर्यधर, वसुन्धर एवं इषन्धर नामक चार वर्णोंके पुरुष वेदमूर्ति सर्वान्तर्यामी भगवान चन्द्रमाकी वेदमन्त्रों द्वारा उपासना करते हैं ॥ ११ ॥ और इस प्रकार स्तुति करते हुए कहते हैं—'जो कृष्ण तथा शुक्लपक्षके रूपमें अपनी किरणोंके विभाग करके देवता, पितर और सारी प्रजाको अन्न देते हैं, वे चन्द्रदेव हमारे राजा हों' ॥ १२ ॥ इसी तरह मदिराके समुद्रके चारों तरफ उससे दूना तथा पूर्ववत् अपने ही सदृश विस्तृत घृतके समुद्रसे घिरा हुआ कुशद्वीप है । उस द्वीपमें भगवानका बनाया कुशाओंका एक झाड़ है, वही उस द्वीपके नामको निश्चित करता और दूसरे

देवकृतस्तद्द्वीपाख्याकरो ज्वलन इवापरः स्वशष्परोचिषा दिशो विराजयति ।।१३।। तद्द्वीपपतिः प्रैयव्रतो राजन् हिरण्यरेतो नाम स्वं द्वीपं सप्तभ्यः स्वपुत्रेभ्यो यथाभागं विभज्य स्वयं तप आतिष्ठत वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तस्तुत्यव्रतविविक्तवामदेवनामभ्यः ।।१४।। तेषां वर्षेषु सीमागिरयो नद्यश्चाभिज्ञाताः सप्त सप्तैव चक्रश्चतुःशृङ्गः कपिलश्चित्रकूटो देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा श्रुतविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति ।।१५।। यासां पयोभिः कुशद्वीपौकसः कुशलकोविदाभियुक्तकुलकसंज्ञा भगवन्तं जातवेदसरूपिणं कर्मकौशलेन यजन्ते ।।१६।।

पारस्य ब्रह्मणः साक्षाज्जातवेदोऽसि हव्यवाट् । देवानां पुरुषाङ्गानां यज्ञेन पुरुषं यजेति ।।१७।।

तथा घृतोदाद्बहिः क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः स्वमानेन क्षीरोदेन परित उपक्लृप्तो वृतो यथा कुशद्वीपो घृतोदेन यस्मिन् क्रौञ्चो नाम पर्वतराजो द्वीपनामनिर्वर्तक आस्ते ।। १८ ।। योऽसौ गुहप्रहरणोन्मथितनितम्बकुञ्जोऽपि क्षीरोदेनासिच्यमानो भगवता वरुणेनाभिगुप्तो विभयो बभूव ।। १९ ।। तस्मिन्नपि प्रैयव्रतो घृतपृष्ठो नामाधिपतिः स्वे द्वीपे वर्षाणि सप्त विभज्य तेषु पुत्रनामसु सप्त रिक्थादान् वर्षपान्निवेश्य स्वयं भगवान् भगवतः परमकल्याणयशस आत्मभूतस्य हरेश्चरणारविन्दमुपजगाम ।। २० ।। आमो मधुरुहो मेघपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति घृतपृष्ठसुतास्तेषां वर्षगिरयः सप्त सप्तैव नद्यश्चाभिख्याताः शुक्लो वर्धमानो भोजन उपबर्हिणो नन्दो नन्दनः सर्वतोभद्र इति अभय अमृतौघा आर्यका तीर्थवती वृत्तिरूपवती पवित्रवती शुक्लेति ।। २१ ।। यासामम्भः पवित्रममलमुपयुञ्जानाः पुरुषऋषभ

अग्निदेवके समान अपनी कोपलोंकी कान्तिसे सब दिशाओंको आलोकित करता है ।। १३ ।। हे राजन् ! उस द्वीपके प्रभु महाराज प्रियव्रतके तनय हिरण्यरेता थे । उन्होंने अपने उस द्वीपके सात विभाग करके उन्हें वसु, दृढ़रुचि, नाभिगुप्त, स्तुत्यव्रत विविक्त तथा वामदेव नामक अपने सात पुत्रोंको यथोचित ढंगसे बाँट दिया और स्वयं तप करने लगे ।। १४ ।। उनके देशोंकी सीमा निर्धारित करनेवाले भी सात-सात पर्वत और नदियाँ ही हैं । उनमें चक्र, चतुःशृङ्ग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक, ऊर्ध्वरोमा और द्रविण ये सात पर्वत और रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रविन्दा, श्रुतविन्दा, देवगर्भा, कृतच्युता तथा मन्त्रमाला—ये सात नदियाँ हैं ।। १५ ।। उन नदियोंके जलमें स्नान करके कुशद्वीपके निवासी कुशल, कोविद, अभियुक्त तथा कुलक नामके चार वर्णोंवाले पुरुष अग्निरूपी श्रीहरिका यज्ञादि कर्मकौशलसे पूजन किया करते हैं ।। १६ ।। वे कहते हैं—'हे अग्ने ! आप साक्षात् परब्रह्मको हवि पहुँचाते हैं । अतएव भगवानके अङ्गस्वरूप देवताओंके यजन द्वारा आप उन परमपुरुषका ही यजन करें ।। १७ ।। हे राजन् ! जैसे कुशद्वीप घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है वैसे ही घृतसमुद्रके आगे उससे द्विगुण विस्तृत क्रौञ्चद्वीप चारों ओर अपने ही जितने विस्तृत क्षीरसमुद्रसे आवृत है । उस द्वीपका 'क्रौञ्चद्वीप' यह नाम डालनेवाला क्रौञ्च नामका एक बहुत बड़ा पर्वत है ।। १८ ।। जो किसी समय स्वामिकार्तिकेयजीके शस्त्रप्रहारसे कटि-प्रदेश तथा लता-विटपादिके क्षीण हो जानेपर भी क्षीरसमुद्रसे सिञ्चित एवं भगवान वरुणसे सुरक्षित होकर निर्भय था ।। १९ ।। उसके प्रभु प्रियव्रतपुत्र राजा घृतपृष्ठने भी अपने द्वीपको सात वर्षोंके सात भागकर उनमें प्रजापालनके लिए उन्हींके सदृश नामवाले अपने सात उत्तराधिकारी पुत्रोंको तैनात किया और स्वयं सब जीवोंके अन्तरात्मा, परम मङ्गलमय तथा कीर्तिशाली नारायणके पुनीत चरणोंकी शरण ली ।। २० ।। उन महाराज घृतपृष्ठके आम, मधुरुह, मेघपृष्ठ, सुधामा, भ्राजिष्ठ, लोहितार्ण तथा वनस्पति–सात बेटे थे । उनके वर्षोंमें भी सात मर्यादापर्वत तथा सात ही नदियाँ हैं । उनमें शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हि, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र ये सात पर्वत और अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृत्तिरूपवती, पवित्रवती तथा शुक्ला नामकी सात नदियें हैं

द्रविणदेवकसंज्ञा वर्षपुरुषा आपोमयं देवमपां पूर्णेनाञ्जलिना यजन्ते ॥ २२ ॥

आपः पुरुषवीर्याः स्थ पुनन्तीर्भूर्भुवः सुवः । ता नः पुनीतामीवघ्नीः स्पृशतामात्मना भुव इति ॥२३॥

एवं पुरस्तात्क्षीरोदात्परित उपवेशितः शाकद्वीपो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनायामः समानेन च दधिमण्डोदेन परीतो यस्मिन् शाको नाम महीरुहः स्वक्षेत्रव्यपदेशको यस्य ह महासुरभिगन्धस्तं द्वीपमनुवासयति ॥ २४ ॥ तस्यापि प्रैयव्रत एवाधिपतिर्नाम्ना मेधातिथिः सोऽपि विभज्य सप्त वर्षाणि पुत्रनामानि तेषु स्वात्मजान् पुरोजवमनोजवपवमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वधारसंज्ञान्निधाप्याधिपतीन् स्वयं भगवत्यनन्त आवेशितमतिस्तपोवनं प्रविवेश ॥ २५ ॥ एतेषां वर्षमर्यादागिरयो नद्यश्च सप्त सप्तैव ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेसरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति अनघाऽऽयुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चपदी सहस्रस्रुतिर्निजधृतिरिति ॥ २६ ॥ तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानो भगवन्तं वाय्वात्मकं प्राणायामविधूतरजस्तमसः परमसमाधिना यजन्ते ॥ २७ ॥

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्मकेतुभिः । अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशे स्फुटम् ॥२८॥

एवमेव दधिमण्डोदात्परतः पुष्करद्वीपस्ततो द्विगुणायामः समन्तत उपकल्पितः समानेन स्वादूदकेन समुद्रेण बहिरावृतो यस्मिन् बृहत्पुष्करं ज्वलनशिखामलकनकपत्रायुतायतं भगवतः कमलासनस्याध्यासनं परिकल्पितम् ॥२९॥ तद्द्वीपमध्ये मानसोत्तरनामैक एवार्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादाचलोऽयुतयोजनोच्छ्रायायामो यत्र तु चतसृषु दिक्षु चत्वारि पुराणि लोकपालाना-

---

॥२१॥ जिनके पवित्र एवं निर्मल जलका सेवन करनेवाले वहाँके पुरुष, ऋषभ, द्रविण तथा देवक—इन चार वर्णोंके पुरुष जलसे भरी अंजलि द्वारा जलमय देवताकी उपासना करते हैं ॥ २२ ॥ इस तरह स्तुति करते हुए वे कहते हैं—'हे जलदेव ! तुम्हें परमात्मासे सामर्थ्य प्राप्त है । तुम भूः, भुवः तथा स्वः तीनों लोकोंको पुनीत करते हो । अतएव तुम स्वभावतः पापविनाशक हो । हम अपने शरीरसे तुम्हारा स्पर्श करते हैं, तुम हमको पवित्र करो' ॥ २३ ॥ इसी तरह क्षीरसमुद्रसे भी आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तृत शाकद्वीप है, जो अपने ही समान विस्तारवाले मट्ठेके समुद्रसे घिरा हुआ है और जिसमें उस द्वीपका नामकरण करनेवाला एक बहुत बड़ा शाकवृक्ष है, जिसकी अतिशय मनोहर सुगन्धि सारे द्वीपको सुवासित रखती है ॥ २४ ॥ उसके स्वामी मेधातिथि राजा प्रियव्रतके ही पुत्र थे । वे अपने द्वीपको सात वर्षोंमें विभक्तकर तथा उनमें उन्हींके सदृश नामके अपने पुरोजव, मनोजव, पवमान, धूम्रानीक, चित्ररेफ, बहुरूप तथा विश्वाधार नामके सात पुत्रोंको नियुक्त करके स्वयं भगवान् अनन्तमें मन लगाकर तपोवन चले गये ॥ २५ ॥ उन वर्षोंमें मर्यादापर्वत तथा नदियोंकी संख्या सात ही सात है । वहाँ ईशान, उरुशृङ्ग, बलभद्र, शतकेशर, सहस्रस्रोत, देवपाल तथा महानस नामके सात पर्वत तथा अनघा, आयुर्दा, उभयसृष्टि, अपराजिता, पञ्चपदी, सहस्रस्रुति और निजधृति नामक सात नदियें हैं ॥ २६ ॥ उन सब वर्षोंके ऋतव्रत, सत्यव्रत, दानव्रत तथा अनुव्रत नामक चार वर्णोंके पुरुष प्राणायामसे अपने रजोगुण तथा तमोगुणको क्षीण करके परम समाधिके द्वारा वायुरूप श्रीहरिकी आराधना करते हैं ॥ २७ ॥ "जो सब प्राणियोंके भीतर अपनी प्राणादि वृत्तियों द्वारा प्रवेश करके उनका पालन करते तथा सारा जगत् जिनके अधीन है, वे साक्षात् अन्तर्यामी ईश्वर हमारी रक्षा करें ॥२८॥ इसी तरह मट्ठेके समुद्रके आगे उसके चारों ओर उससे दूना विस्तृत पुष्करद्वीप है । वह चारों ओरसे अपने ही सदृश परिमाणवाले मीठे पानीके समुद्रसे घिरा हुआ है । उसमें अग्निशिखाके सदृश प्रकाशित और अतिशय निर्मल तथा हजारों लाखों पंखुड़ियोंका एक कमल उगा हुआ है, जिसपर भगवान ब्रह्माजीका आसन रहता है ॥ २९ ॥ उस द्वीपके मध्यभागमें उसके अर्वाचीन और पराचीन नामके दो वर्षोंकी सीमा निश्चित करनेवाला मानसोत्तर नामका एक पर्वत है, जो सहस्र

मिन्द्रादीनां यदुपरिष्टात्सूर्यरथस्य मेरुं परिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति ॥३०॥ तद्द्वीपस्याप्यधिपतिः प्रैयव्रतो वीतिहोत्रो नामतस्यात्मजौ रमणकधातकिनामानौ वर्षपती नियुज्य स स्वयं पूर्वजवद्भगवत्कर्मशील एवास्ते ॥ ३१ ॥ तद्वर्षपुरुषा भगवन्तं ब्रह्मरूपिणं सकर्मकेन कर्मणाऽऽराधयन्तीदं चोदाहरन्ति ॥ ३२ ॥

यत्तत्कर्ममयं लिङ्गं ब्रह्मलिङ्गं जनोऽर्चयेत् । एकान्तमद्वयं शान्तं तस्मै भगवते नम इति ॥३३॥

ऋषिरुवाच

ततः परस्ताल्लोकालोकनामाचलो लोकालोकयोरन्तराले परित उपक्षिप्तः ॥ ३४ ॥ यावन्मानसोत्तरमेर्वोरन्तरं तावती भूमिः काञ्चन्याऽऽदर्शतलोपमा यस्यां प्रहितः पदार्थो न कथञ्चित्पुनः प्रत्युपलभ्यते तस्मात्सर्वसत्त्वपरिहृताऽऽसीत् ॥ ३५ ॥ लोकालोक इति समाख्या यदनेनाचलेन लोकालोकस्यान्तर्वर्तिनावस्थाप्यते ॥ ३६ ॥ स लोकत्रयान्ते परित ईश्वरेण विहितो यस्मात्सूर्यादीनां ध्रुवापवर्गाणां ज्योतिर्गणानां गभस्तयोऽर्वाचीनांस्त्रीँल्लोकानावितन्वाना न कदाचित्पराचीना भवितुमुत्सहन्ते तावदुन्नहनायामः ॥ ३७ ॥

एतावाँल्लोकविन्यासो मानलक्षणसंस्थाभिर्विचिन्तितः कविभिः स तु पञ्चाशत्कोटिगणितस्य भूगोलस्य तुरीयभागोऽयं लोकालोकाचलः ॥ ३८ ॥ तदुपरिष्टाच्चतसृष्वाशास्वात्मयोनिनाखिलजगद्गुरुणाधिनिवेशिता ये द्विरदपतय ऋषभः पुष्करचूडो वामनोऽपराजित इति सकललोकस्थितिहेतवः ॥ ३९ ॥ तेषां स्वविभूतीनां लोकपालानां च विविधवीर्योपबृंहणाय भगवान् परममहापुरुषो महाविभूतिपतिरन्तर्याम्यात्मनो विशुद्धसत्त्वं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याद्यष्ट-

---

योजन ऊँचा तथा उतना ही विस्तृत है। उसके ऊपर चारों दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंकी चार पुरियाँ हैं। मेरुपर्वतके चारों ओर घूमनेवाले सूर्यके रथका संवत्सररूपी चक्र उसपर देवताओंके दिन और रातके क्रमसे सर्वदा चक्कर काटता रहता है ॥ ३० ॥ उस द्वीपका अधिपति प्रियव्रतका पुत्र वीतिहोत्र अपने रमणक तथा धातकि नामके पुत्रोंको दोनों वर्षोंका अधिपति बनाकर स्वयं अपने बड़े भाइयोंके सदृश भगवत्सेवामें लगा रहा ॥ ३१ ॥ वहाँके निवासी ब्रह्मारूपी भगवानकी ब्रह्मसालोक्यादि प्राप्ति करानेवाले कर्मों द्वारा अराधना करते हुए कहते हैं—॥ ३२ ॥ "जो उस प्रसिद्ध कर्मफलके लक्षण हैं तथा जिन ब्रह्मस्वरूपका सब लोग पूजन करते हैं, उन अद्वितीय तथा शान्तस्वरूप भगवानको प्रणाम है" ॥ ३३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! उसके आगे लोकालोक पर्वत है, जो सब तरफसे सूर्यके द्वारा प्रकाशित तथा अप्रकाशित लोकोंके मध्यमें विराजमान है ॥ ३४ ॥ सुमेरुपर्वतसे मानसोत्तर पर्वतपर्यन्त जितना अन्तर है उतनी ही विस्तृत भूमि शुद्धोदक समुद्रके उस ओर भी विद्यमान है। उसके आगे सुवर्णमयी भूमि है, जो दर्पणके सदृश स्वच्छ है और जिसपर गिरी वस्तु फिर वापस नहीं मिलती। अतएव वहाँ कोई भी प्राणी नहीं रहता ॥ ३५ ॥ इस पर्वतका लोकालोक नाम इसलिए पड़ा है कि यह सूर्यसे प्रकाशित तथा अप्रकाशित लोकोंके बीचमें विद्यमान है ॥ ३६ ॥ इसको परमात्माने त्रिलोकीके बाहर उसके चारों तरफ स्थापित कर दिया है। इसकी इतनी ऊँचाई है कि इसके एक ओर तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाली सूर्य तथा ध्रुव आदि सब ज्योतिर्गणोंकी किरणें इसके दूसरी तरफ कभी नहीं जातीं ॥३७॥ इसी तरह प्रमाण, लक्षण तथा स्थितिके अनुसार विद्वानोंने सब लोकोंका इतना ही विस्तार कहा है। यह सब मिलकर पचास करोड़ योजन है। इस तरह परिगणित समस्त भूगोलका चौथा भाग यह अकेला लोकालोक पर्वत है ॥ ३८ ॥ उसपर चारों दिशाओंसे सारे संसारके गुरु आत्मयोनि श्रीब्रह्माजीने सब लोकोंकी स्थितिके लिये ऋषभ, पुष्करचूड, वामन तथा अपराजित नामके चार गजराज नियुक्त कर रखे हैं ॥ ३९ ॥ अपने अंशस्वरूप उन

महासिद्ध्युपलक्षणं विष्वक्सेनादिभिः स्वपार्षदप्रवरैः परिवारितो निजवरायुधोपशोभितैर्निज-भुजदण्डैः सन्धारयमाणस्तस्मिन् गिरिवरे समन्तात्सकललोकस्वस्तय आस्ते ॥४०॥ आकल्प-मेवं वेषं गत एष भगवानात्मयोगमायया विरचितविविधलोकयात्रागोपीथायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ योऽन्तर्विस्तार एतेन ह्यलोकपरिमाणं च व्याख्यातं यद्बहिर्लोकालोकाचलात् । ततः परस्ताद्योगेश्वरगतिं विशुद्धामुदाहरन्ति ॥ ४२ ॥

अण्डमध्यगतः सूर्यो द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् । सूर्याण्डगोलयोर्मध्ये कोट्यः स्युः पञ्चविंशतिः ॥४३॥

मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत्ततो मार्तण्ड इति व्यपदेशः ।
हिरण्यगर्भ इति यद्धिरण्याण्डसमुद्भवः ॥ ४४ ॥

सूर्येण हि विभज्यन्ते दिशः खं द्यौर्मही भिदा । स्वर्गापवर्गौ नरका रसौकांसि च सर्वशः ॥४५॥
देवतिर्यङ्मनुष्याणां सरीसृपसवीरुधाम् । सर्वजीवनिकायानां सूर्य आत्मा दृगीश्वरः ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भुवनकोशवर्णने समुद्रवर्षसन्निवेशपरिमाणलक्षणो नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एतावानेव भूवलयस्य सन्निवेशः प्रमाणलक्षणतो व्याख्यातः ॥ १ ॥ एतेन हि दिवो मण्डलमानं तद्विद उपदिशन्ति यथा द्विदलयोर्निष्पावादीनां ते अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धितम् ॥२॥ यन्मध्यगतो भगवांस्तपताम्पतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा स

दिग्गजों तथा इन्द्रादि लोकपालोंके विविध वीर्योंकी अभिवृद्धि करनेके लिये सुदर्शन आदि आयुधोंसे सुसज्जित भुजाओंसे युक्त महाविभूतिपति सर्वान्तर्यामी परमपुरुष भगवान धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा अणिमादि आठ महासिद्धियोंसे युक्त अपना विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह धारण करके विष्वक्सेन आदि पार्षदोंसे घिरे रहकर उस पर्वतराजपर सभी लोकोंके कल्याणार्थ रहते हैं ॥४०॥ इस तरह अपनी मायासे रचित विविध लोकयात्राकी रक्षाके निमित्त भगवान ऐसा ही स्वरूप धारणकर वहाँ कल्पान्त तक विराजमान रहते हैं ॥ ४१ ॥ लोकालोकके भीतरी भूभागका जितना परिमाण है, उसीसे उसके बाहरी भागमें स्थित अलोकके विस्तारकी भी व्याख्या हो जाती है। उसके बाहर योगेश्वर ही ठीक-ठीक आ-जा सकते हैं ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! स्वर्ग तथा पृथिवीके बीच तथा ब्रह्माण्डके केन्द्रमें सूर्यकी स्थिति रहती है । सूर्य तथा ब्रह्माण्डगोलकके मध्यमें सब ओरसे पच्चीस करोड़ योजनका अन्तर है ॥ ४३ ॥ सूर्यकी मृत अर्थात् मरे हुये अण्डसे उत्पत्ति हुई है, इसीलिये इन्हें लोग मार्तण्ड कहते हैं। हिरण्मय यानी प्रकाशमान ब्रह्माण्डसे उत्पन्न होनेसे यह 'हिरण्यगर्भ' भी कहलाता है ॥ ४४ ॥ सूर्यके द्वारा ही दिशा, आकाश, द्युलोक, भूर्लोक, स्वर्ग, अपवर्ग, नरक तथा रसातलादि सब भागोंका विभाग होता है ॥ ४५ ॥ सूर्य ही देवता, तिर्यक् , मनुष्य, सरीसृप तथा लता-वृक्षादि सब जीवसमूहोंका आत्मा, साक्षी तथा प्रभु है ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥२०॥

(सूर्यका रथ और उसकी गति) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! समस्त भूमण्डलका प्रमाण तथा लक्षणों सहित कुल विस्तार इतना ही कहा गया है ॥ १ ॥ प्रमाणके ज्ञाता पुरुष इसीके अनुसार स्वर्गमण्डलका भी विस्तार वैसे ही बताते हैं जैसे कि मूँग, उड़द और चना आदिके दो दालोंमेंसे एक दालका परिमाण जान लेनेपर दूसरेका भी अनुमान हो जाता है। उन दोनोंके मध्यमें अन्तरिक्षलोक है, जो कि उन दोनोंसे मिला हुआ है ॥ २ ॥ जिसमें रहनेवाले ज्योतिर्गणोंके स्वामी

एष उदगयनदक्षिणायनवैषुवतसंज्ञाभिर्मान्द्यशैघ्र्यसमानाभिर्गतिभिरारोहणावरोहणसमानस्थानेषु यथासवनमभिपद्यमानो मकरादिषु राशिष्वहोरात्राणि दीर्घह्रस्वसमानानि विधत्ते ॥३॥ यदा मेषतुलयोर्वर्तते तदाहोरात्राणि समानानि भवन्ति यदा वृषभादिषु पञ्चसु च राशिषु चरति तदाहान्येव वर्धन्ते ह्रसति च मासि मास्येकैका घटिका रात्रिषु ॥४॥ यदा वृश्चिकादिषु पञ्चसु वर्तते तदाहोरात्राणि विपर्ययाणि भवन्ति ॥५॥ यावद्दक्षिणायनमहानि वर्धन्ते यावदुदगयनं रात्रयः ॥६॥

एवं नव कोटय एकपञ्चाशल्लक्षाणि योजनानां मानसोत्तरगिरिपरिवर्तनस्योपदिशन्ति तस्मिन्नैन्द्रीं पुरीं पूर्वस्मान्मेरोर्देवधानीं नाम दक्षिणतो याम्यां संयमनीं नाम पश्चाद्वारुणीं निम्लोचनीं नाम उत्तरतः सौम्यां विभावरीं नाम तासूदयमध्याह्नास्तमयनिशीथानीति भूतानां प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तानि समयविशेषेण मेरोश्चतुर्दिशम् ॥७॥ तत्रत्यानां दिवसमध्यङ्गत एव सदाऽऽदित्यस्तपति सव्येनाचलं दक्षिणेन करोति ॥८॥ यत्रोदेति तस्य ह समानसूत्रनिपाते निम्लोचति यत्र क्वचन स्यन्देनाभितपति तस्य हैष समानसूत्रनिपाते प्रस्वापयति तत्र गतं न पश्यन्ति ये तं समनुपश्येरन् ॥९॥

यदा चैन्द्र्याः पुर्याः प्रचलते पञ्चदशघटिकाभिर्याम्यां सपादकोटिद्वयं योजनानां सार्धद्वादशलक्षाणि साधिकानि चोपयाति ॥१०॥ एवं ततो वारुणीं सौम्यामैन्द्रीं च पुनस्तथान्ये

सूर्यभगवान स्वयं तपते हुए सारी त्रिलोकीको अपने तेजसे तपाते तथा प्रकाशसे प्रकाशित करते हैं। वे सूर्यभगवान उत्तरायण, दक्षिणायन तथा विषुवत् नामक मार्गोंसे मन्द, शीघ्र तथा समान गतिसे चलते हुए समयके अनुसार मकरादि राशियोंमें ऊँचे-नीचे तथा समतल स्थानोंमें जाकर दिन तथा रात्रियोंको बड़े, छोटे और समान बनाते हैं ॥३॥ जब सूर्य मेष तथा तुला राशिपर होते हैं तब दिन और रात बराबर होती है। जब वे वृषादि पाँच राशियोंमें रहते हैं तो हर महीने रात्रियोंमें क्रमशः एक-एक घड़ी कम होती जाती है और दिन बढ़ते जाते हैं ॥ ४ ॥ जब सूर्य वृश्चिकादि पाँच राशियोंमें जाते तो दिन तथा रात्रियोंमें इसके विपरीत होता है अर्थात् उस समय दिन घटते जाते और रात्रियाँ धीरे-धीरे बढ़ती जाती हैं ॥ ५ ॥ इस तरह दक्षिणायन आरम्भ होनेके समय तक दिन और उत्तरायण लगनेके समय तक रात्रियाँ बढ़ती हैं ॥ ६ ॥ इस प्रकार पण्डित लोग मानसोत्तर पर्वतपर सूर्यके तीव्र मन्द तथा समान गतिसे परिक्रमा करनेका परिमाण नौ करौड़ इक्यावन लाख योजन कहते हैं। उस पर्वतपर सुमेरुके पूर्वकी ओर इन्द्रकी देवधानी पुरी, दक्षिण दिशामें यमराजकी संयमनी पुरी, पश्चिम दिशामें वरुणकी निम्लोचनी पुरी और उत्तर ओर सोमदेवकी विभावरी पुरी है—ऐसा कहते हैं। उन पुरियोंमें सुमेरुकी चारों ओर समय-समयपर सब प्राणियोंकी प्रवृत्तिके और निवृत्तिके कारणस्वरूप सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त तथा अर्द्धरात्रि आदि समय होते-जाते रहते हैं ॥ ७ ॥ हे राजन्! मेरु पर्वत-पर रहनेवाले प्राणियोंको सूर्यदेव मध्याह्नके समय तपाते और जाते समय मेरु पर्वतको बायीं तरफ करके चलनेपर भी उसे दायीं ओर करते जैसे दीखते हैं ॥ ८ ॥ सूर्यदेव जिस दिशामें उदित होते हैं, ठीक उसके सामनेकी ओर अस्त होते हैं। जहाँ पहुँचकर अर्थात् मध्याह्नकालमें लोगोंके शरीरसे पसीने टपकाते हुए प्राणियोंको तपाते और ठीक उसकी विपरीत दिशामें उन्हें सुला देते हैं। उस अवस्थामें समय जो लोग मध्याह्नकालमें उनको भलीभाँति देख सकते हैं, वे ही अर्द्धरात्रिके उसकी विपरीत दिशामें पहुँचे हुए उन सूर्यदेवको नहीं देख पाते ॥९॥ वे सूर्यदेव जब इन्द्रकी पुरीसे यमराजकी पुरीको जाते हैं तो पन्द्रह घड़ीके भीतर सवा दो करोड़ और साढ़े बारह लाख योजनसे भी अधिक राह पार कर जाते हैं ॥१० ॥ इसी क्रमसे वे वरुण तथा सोमकी पुरियोंको पार करते हुए फिर इन्द्रकी पुरीमें जा

च ग्रहाः सोमादयो नक्षत्रैः सह ज्योतिश्चक्रे समभ्युद्यन्ति सह वा निम्लोचन्ति ॥११॥ एवं मुहूर्तेन चतुस्त्रिंशल्लक्षयोजनान्यष्टशताधिकानि सौरो रथस्त्रयीमयोऽसौ चतसृषु परिवर्तते पुरीषु ॥१२॥

यस्यैकं चक्रं द्वादशारं षण्नेमि त्रिणाभि संवत्सरात्मकं समामनन्ति तस्याक्षो मेरोर्मूर्धनि कृतो मानसोत्तरे कृतेतरभागो यत्र प्रोतं रविरथचक्रं तैलयन्त्रचक्रवद् भ्रमन्मानसोत्तरगिरौ परिभ्रमति ॥१३॥ तस्मिन्नक्षे कृतमूलो द्वितीयोऽक्षस्तुर्यमानेन सम्मितस्तैलयन्त्राक्षवद् ध्रुवे कृतोपरिभागः ॥१४॥

रथनीडस्तु षट्त्रिंशल्लक्षयोजनायतस्तत्तुरीयभागविशालस्तावान् रविरथयुगो यत्र हयाश्छन्दोनामानः सप्तारुणयोजिता वहन्ति देवमादित्यम् ॥१५॥ पुरस्तात्सवितुररुणः पश्चाच्च नियुक्तः सौत्ये कर्मणि किलास्ते ॥१६॥ तथा वालखिल्या ऋषयोऽङ्गुष्ठपर्वमात्राः षष्टिसहस्राणि पुरतः सूर्यं सूक्तवाकाय नियुक्ताः संस्तुवन्ति ॥१७॥ तथान्ये च ऋषयो गन्धर्वाप्सरसो नागा ग्रामण्यो यातुधाना देवा इत्येकैकशो गणाः सप्त चतुर्दश मासि मासि भगवन्तं सूर्यमात्मानं नानानामानं पृथङ्नानानामानः पृथक्कर्मभिर्द्वन्द्वश उपासते ॥१८॥ लक्षोत्तरं सार्धनवकोटियोजनपरिमण्डलं भूवलयस्य क्षणेन सगव्यूत्युत्तरं द्विसहस्रयोजनानि स भुङ्क्ते ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रसूर्यरथमण्डलवर्णनं नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

पहुँचते हैं। चन्द्रमा आदि अन्य ग्रह भी उन्हींके समान ज्योतिश्चक्रसे अन्य नक्षत्रोंके साथ-साथ उदित और अस्त हुआ करते हैं ॥ ११ ॥ इस तरह उन पुरियोंमें चक्कर लगाता हुआ सूर्यभगवानका वेदत्रयीरूपी दिव्य रथ एक मुहूर्तमें चौंतीस लाख आठ सौ योजनसे भी कुछ अधिक चलता है ॥ १२ ॥ सूर्यभगवानके रथको संवत्सरनामक चक्रमें मासरूपी बारह आते रहते हैं, उनमें छः ऋतुएँ नेमियाँ और तीन चतुर्मास उसकी नाभि है। उस रथका एक सिरा मेरुपर दूसरा मानसोत्तर पर्वतपर स्थित है। उस धुरीमें वह संलग्न सूर्यके रथका चक्का कोल्हूके धुरेकी भाँति घूमता हुआ मेरु पर्वतके चारों ओर मानसोत्तर पर्वतपर घूमता है ॥ १३ ॥ उसी धुरीमें जुड़े हुए मूलभागवाली एक और धुरी है, जो विस्तारमें उसकी केवल एक चौथाई है। उसका ऊर्ध्वभाग कोल्हूके धुरेके समान ध्रुवलोकसे लगा हुआ है ॥ १४ ॥ उस रथमें बैठनेका छत्तीसलाख योजन और इसकी चौथाई यानी नौ लाख योजन चौड़ाई है। उसका जूआ छत्तीसलाख योजन लम्बा है, जिसमें अरुण नामके सारथि द्वारा जोते हुए गायत्री आदि छन्दोंके नामपरक सात घोड़े हैं, वे ही भगवान सूर्यके रथको खींचते हैं ॥ १५ ॥ उन सूर्यदेवके समस्त सारथ्य कर्ममें नियुक्त अरुणजी उन्हींकी ओर मुँह करके बैठते हैं ॥ १६ ॥ उनके आगे उनकी स्तुति करनेके लिए नियुक्त अंगुठेकी गाँठोंके समान लम्बे-चौड़े वालखिल्य आदि साठ सहस्र ऋषि उनकी स्तुति करते हुए आगे-आगे चलते हैं ॥ १७ ॥इनके अतिरिक्त अनेक ऋषि, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस तथा देवताओंके समुदाय भी प्रत्येक मासमें भिन्न-भिन्न नामोंवाले होकर अपने भिन्न-भिन्न कर्मों द्वारा प्रति मासमें विभिन्न नाम धारण करनेवाले परमात्मा भगवान सूर्यकी दो-दो मिलकर एक साथ उपासना करते हैं। वे लोग चौदह-चौदहकी संख्यामें हैं, किन्तु युग्मरूपसे मिलाकर कुल सात ही गण हैं ॥ १८ ॥ हे राजन्! इन सबके समेत सूर्य भगवान भूमण्डलके मानसोत्तरवर्ती नौ करोड़ इक्यावन लाख योजन विस्तृत घेरेको जो दो कोस अधिक दो सहस्र योजन है, उसे एक क्षणमें पार कर लेते हैं ॥ १९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायामेकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

राजोवाच

यदेतद्भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवं च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितं चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति ॥१॥

स होवाच

यथा कुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमतां तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युपलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात् ॥२॥ स एष भगवानादिपुरुष एव साक्षान्नारायणो लोकानां स्वस्तय आत्मानं त्रयीमयं कर्मविशुद्धिनिमित्तं कविभिरपि च वेदेन विजिज्ञास्यमानो द्वादशधा विभज्य षट्सु वसन्तादिष्वृतुषु यथोपजोषमृतुगुणान् विदधाति ॥३॥ तमेतमिह पुरुषास्त्रय्या विद्यया वर्णाश्रमाचारानुपथा उच्चावचैः कर्मभिराम्नातैर्योगवितानैश्च श्रद्धया यजन्तोऽञ्जसा श्रेयः समधिगच्छन्ति ॥४॥ अथ स एष आत्मा लोकानां द्यावापृथिव्योरन्तरेण नभोवलयस्य कालचक्रगतो द्वादश मासान् भुङ्क्ते राशिसंज्ञान् संवत्सरावयवान् मासः पक्षद्वयं दिवा नक्तं चेति सपादर्क्षद्वयमुपदिशन्ति यावता षष्ठमंशं भुञ्जीत स वै ऋतुरित्युपदिश्यते संवत्सरावयवः ॥५॥

अथ च यावतार्धेन नभोवीथ्यां प्रचरति तं कालमयनमाचक्षते ॥६॥ अथ च यावन्नभोमण्डलं सह द्यावापृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कार्त्स्न्येन स ह भुञ्जीत तं कालं संवत्सरं परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैघ्र्यसमगतिभिः समामनन्ति ॥७॥

(भिन्न-भिन्न ग्रहोंकी स्थिति तथा गतिका वर्णन) राजा परीक्षित् बोले—हे भगवन् ! जो आपने यह कहा कि यद्यपि भगवान सूर्य मेरु तथा ध्रुवको अपने दाहिनी ओर करके घूमते दीखते हैं तो भी राशियोंके समक्ष जाते समय उनकी वह गति दक्षिणावर्त नहीं होने पाती, इसे हम कैसे समझ पायेंगे ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जैसे घूमते हुए कुलालचक्रके संग घूमती हुई किन्तु उसपर दूसरी ओरको बढ़नेवाली चींटीकी गति उससे पृथक् ही होती है । क्योंकि वह भिन्न-भिन्न समयमें उस चक्रके भिन्न-भिन्न भागोंमें दीखती है । वैसे ही कालचक्रमें पड़कर मेरु तथा ध्रुवको दाएँ करके घूमते हुए भी सूर्य आदि ग्रहोंकी गति उससे भिन्न ही होती है । क्योंकि वे कालके भेदसे विभिन्न राशि तथा नक्षत्रोंमें दीखते हैं ॥ २ ॥ वेद और विद्वज्जन जिनके गतिको जाननेके निमित्त तर्कना किया करते हैं, वे आदिपुरुष साक्षात् नारायण ही लोकोंके कल्याण तथा वेदोक्त कर्मोंकी शुद्धिके निमित्त कालमूर्तिको मासरूपसे बारह भागोंमें विभक्त करके वसन्तादि छः ऋतुओंमें उनके योग्य गुणोंका विधान करते हैं ॥ ३ ॥ इस लोकमें वेदत्रयीके द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मके अनुगमनशील पुरुष अपने छोटे-बड़े विहित कर्मों तथा योगसाधनसे श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करके सुगमतासे कल्याणको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥ वे सूर्यनारायण सब लोकोंके आत्मा हैं । वे पृथ्वी तथा आकाशके बीचमें स्थित आकाशमण्डलमें कालगतिसे घूमते हुए संवत्सरके अवयवरूपी मेषादि राशि नामक बारह महीनोंका उपभोग करते हैं । उनमेंसे प्रत्येक मासको चन्द्रमासे शुक्ल तथा कृष्ण दो पक्षका, पितृमानसे एक रात तथा दिनका और सौरमानसे सवा दो नक्षत्रका कहते हैं । जितने कालमें सूर्यदेव संवत्सरके एक षष्ठांशका उपभोग करते हैं, उसीको संवत्सरका अवयवरूप एक ऋतु कहते हैं ॥ ५ ॥ जितनी देरमें सूर्य आकाशमार्गका आधा भाग तै करते हैं, उतना समय एक अयन कहलाता है ॥ ६ ॥ जितने समयमें वे अपनी मन्द, शीघ्र तथा समान गतिसे स्वर्ग एवं पृथ्वी समेत सारे आकाशमण्डलको

एवं चन्द्रमा अर्कगभस्तिभ्य उपरिष्टाल्लक्षयोजनत उपलभ्यमानोऽर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं सपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते ॥८॥ अथ चापूर्यमाणाभिश्च कलाभिरमराणां क्षीयमाणाभिश्च कलाभिः पितॄणामहोरात्राणि पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यां वितन्वानः सर्वजीवनिवहप्राणो जीवश्चैकमेकं नक्षत्रं त्रिंशता मुहूर्तैर्भुङ्क्ते ॥९॥ य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलत्वात्सर्वमय इति वर्णयन्ति ॥१०॥

तत उपरिष्टात्त्रिलक्षयोजनतो नक्षत्राणि मेरुं दक्षिणेनैव कालायन ईश्वरयोजितानि सहाभिजिताष्टाविंशतिः ॥११॥ तत उपरिष्टादुशना द्विलक्षयोजनत उपलभ्यते पुरतः पश्चात्सहैव वार्कस्य शैघ्र्यमान्द्यसाम्याभिर्गतिभिरर्कवच्चरति लोकानां नित्यदानुकूल एव प्रायेण वर्षयंश्चारेणानुमीयते स वृष्टिविष्टम्भग्रहोपशमनः ॥ १२ ॥

उशनसा बुधो व्याख्यातस्तत उपरिष्टाद् द्विलक्षयोजनतो बुधः सोमसुत उपलभ्यमानः प्रायेण शुभकृद्यदार्काद् व्यतिरिच्येत तदातिवाताभ्रप्रायानावृष्ट्यादिभयमाशंसते ॥ १३ ॥ अत ऊर्ध्वमङ्गारकोऽपि योजनलक्षद्वितय उपलभ्यमानस्त्रिभिस्त्रिभिः पक्षैरेकैकशो राशीन् द्वादशानुभुङ्क्ते यदि न वक्रेणाभिवर्तते प्रायेणाशुभग्रहोऽघशंसः ॥ १४ ॥ तत उपरिष्टाद् द्विलक्षयोजनान्तरगतो भगवान् बृहस्पतिरेकैकस्मिन् राशौ परिवत्सरं परिवत्सरं चरति यदि न वक्रः स्यात्प्रायेणानुकूलो ब्राह्मणकुलस्य ॥ १५ ॥

पार कर लेते हैं। उसीको संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर तथा वत्सर कहते हैं ॥ ७ ॥ इसी तरह सूर्यकी किरणोंसे एक लाख योजनके ऊपर चन्द्रमाका निवास है। यह सब नक्षत्रोंके आगे चलने और अत्यन्त शीघ्रतासे चलनेके कारण सूर्यके एक वर्षके भोगको दो पक्षमें, एक मासके भोगको सवा दो नक्षत्रोंमें और एक पक्षके भोगको एक दिनमें ही भोग लिया करता है ॥ ८ ॥ कृष्ण और शुक्लपक्षमें क्षय तथा वृद्धिको प्राप्त अपनी कलाओं द्वारा पितृगण तथा देवताओंके दिन-रातको विभक्त करता हुआ सब जीवसमूहका प्राण तथा जीवरूपी वह चन्द्रमा तीस-तीस मुहूर्तमें एक-एक नक्षत्र भोगता है ॥ ९ ॥ सोलह कलाओं युक्त मनोमय, अन्नमय, अमृतमय तथा पुरुषरूपी जो भगवान चन्द्रदेव हैं उनको मनुष्य, भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप तथा वृक्षादिमें प्राणसञ्चार स्वभाववाला होनेके कारण लोग सर्वमय कहते हैं ॥ १० ॥ चन्द्रमासे तीन लाख योजनके ऊपर भगवानके द्वारा कालचक्रमें नियुक्त अभिजित् समेत अट्ठाईस नक्षत्र हैं जो मेरुको दहिने करके घूमते हैं ॥ ११ ॥ उनसे दो लाख योजनके ऊपर शुक्र है। वह सूर्यकी शीघ्र, मन्द तथा समान गतियोंके अनुसार कभी पीछे तथा कभी एक साथ रहकर सूर्यके समान ही चलता है। वह जलवर्षा करनेवाला होनेके नाते लोगोंके सर्वदा प्रायः अनुकूल ही रहा करता है। उसकी गतिसे ऐसा मालूम पड़ता है कि वह वृष्टिके अवरोधक ग्रहोंको शान्त रखता है ॥ १२ ॥ जैसे शुक्रकी व्याख्या की गयी है, उसीसे बुधकी व्याख्या भी हो जाती है। शुक्रसे दो लाख योजन ऊपर सोमका पुत्र बुध रहता है। प्रायः वह मंगलकारी ही है, किन्तु जब वह सूर्यकी गतिका उल्लंघन करके चलता है, तब अत्यन्त आँधी, मेघ तथा अनावृष्टिका भय सूचित करता है ॥ १३ ॥ उसके दो लाख योजन ऊपर मंगलकी स्थिति है, वह मंगल यदि वक्रगतिसे न चले तो एक-एक राशिको तीन-तीन पक्षमें भोगता हुआ बारहों राशियोंको भोगता है। यह प्रायः अशुभ ग्रह है और अमंगलका सूचक भी है ॥ १४ ॥ उसके दो लाख योजनकी दूरीपर बृहस्पतिजी रहते हैं। वे सुरगुरु यदि वक्रगतिसे न चलें तो एक-एक राशिको एक-एक वर्षकालमें भोगते हैं। वे प्रायः सदा ब्राह्मणकुलके अनुकूल ही रहते हैं ॥ १५ ॥

तत उपरिष्टाद्योजनलक्षद्वयात्प्रतीयमानः शनैश्चर एकैकस्मिन् राशौ त्रिंशन्मासान् विलम्बमानः सर्वानेवानुपर्येति तावद्भिरनुवत्सरैः प्रायेण हि सर्वेषामशान्तिकरः ॥ १६ ॥ तत उत्तरस्मादृषय एकादशलक्षयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शमनुभावयतो भगवतो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे ज्योतिश्चक्रवर्णने द्वाविंशतितमोऽध्यायः २२

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिरग्निनेन्द्रेण प्रजापतिना कश्यपेन धर्मेण च समकालयुग्भिः सबहुमानं दक्षिणतः क्रियमाण इदानीमपि कल्पजीविनामाजीव्य उपास्ते तस्येहानुभाव उपवर्णितः ॥ १ ॥ स हि सर्वेषां ज्योतिर्गणानां ग्रहनक्षत्रादीनामनिमिषेणाव्यक्तरंहसा भगवता कालेन भ्राम्यमाणानां स्थाणुरिवावष्टम्भ ईश्वरेण विहितः शश्वदवभासते ॥ २ ॥ यथा मेढीस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिस्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्त्येवं भगणा ग्रहादय एतस्मिन्नन्तर्बहिर्योगेन कालचक्र आयोजिता ध्रुवमेवावलम्ब्य वायुनोदीर्यमाणा आकल्पान्तं परिचङ्क्रमन्ति नभसि यथा मेघाः श्येनादयो,वायुवशाः कर्मसारथयः परिवर्तन्ते एवं ज्योतिर्गणाः प्रकृतिपुरुषसंयोगानुगृहीताः कर्मनिर्मितगतयो भुवि न पतन्ति ॥ ३ ॥

केचनैतज्ज्योतिरनीकं शिशुमारसंस्थानेन भगवतो वासुदेवस्य योगधारणायामनुवणयन्ति

बृहस्पतिजीसे भी दो लाख योजन ऊपर शनैश्चर रहते हैं। वे एक-एक राशिपर तीस-तीस मासके समय तक रहते हैं और उतने ही वर्षोंमें सब राशियोंको भोगते हैं। वे शनिदेव प्रायः सभीके लिये अशान्तिकारक कहे जाते हैं ॥ १६ ॥ उनके भी ऊपर ग्यारह लाख योजन दूर कश्यपादि सप्तर्षिगणकी स्थिति है। वे सब लोकोंकी मंगलकामना करते हुए भगवान विष्णुके परमपदस्वरूप ध्रुवलोककी प्रदक्षिणा करते रहते हैं ॥ १७॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

(शिशुमारचक्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! उन सप्तर्षियोंसे तेरह लाख योजनकी दूरीपर जिसे भगवान विष्णुका परमपद कहते हैं, वही ध्रुवलोक है। जहाँ कि परम भगवद्भक्त उत्तानपादके पुत्र श्रीध्रुवजी नक्षत्ररूपसे विराजते हैं। वे अपने साथ ही अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, कश्यप तथा धर्मादिके द्वारा परिक्रमा किये जाते हुए अब भी विराजमान रहते हैं। वे कल्पान्ततक स्थित रहनेवाले भूर्लोकादिके आधार हैं। उनका ऐहलौकिक पराक्रम हम चौथे स्कन्धमें बता आये हैं ॥ १ ॥ ध्रुवलोक निरन्तर अव्यक्त गतिवाले भगवान कालके द्वारा ग्रहनक्षत्रादि सम्पूर्ण ज्योतिर्मण्डलके ईश्वर द्वारा स्थापित आधारस्तम्भकी भाँति सर्वदा देदीप्यमान रहता है ॥ २ ॥ जैसे दौंरी चलानेके समय बीचके खम्भेसे छोटी, मध्यम तथा बड़ी डोरियों द्वारा बँधे रहकर सस्यको माड़नेवाले पशु निकट, मध्य तथा दूरके क्रमसे अपने-अपने स्थानपर उस खम्भेके सब ओर मण्डल बाँधकर घूमते हैं, वैसे ही सब नक्षत्र और ग्रहगण इस कालचक्रसे बाहर-भीतर क्रमशः नियुक्त होकर ध्रुवलोकके ही सहारे अपने-अपने स्थानपर वायु द्वारा प्रेरित होकर कल्पान्ततक घूमते रहते हैं। वैसे ही जिनकी गति क्रमके अनुसार नियत की गयी है, वे ज्योतिर्गण भी पुरुषाधिष्ठित मायाके प्रभावसे आकाशमें बराबर घूमते रहते हैं, पृथिवीपर गिरते नहीं ॥ ३ ॥ कुछ लोग इस ज्योतिश्चक्रकी स्थिति शिशुमार अर्थात् मकररूपसे

॥ ४ ॥ यस्य पुच्छाग्रेऽवाक्शिरसः कुण्डलीभूतदेहस्य ध्रुव उपकल्पितस्तस्य लाङ्गूले प्रजापतिरग्निरिन्द्रो धर्म इति पुच्छमूले धाता विधाता च कट्यां सप्तर्षयः। तस्य दक्षिणावर्तकुण्डलीभूतशरीरस्य यान्युदगयनानि दक्षिणपार्श्वे तु नक्षत्राण्युपकल्पयन्ति दक्षिणायनानि तु सव्ये। यथा शिशुमारस्य कुण्डलाभोगसन्निवेशस्य पार्श्वयोरुभयोरप्यवयवाः समसंख्या भवन्ति। पृष्ठे त्वजवीथी आकाशगङ्गा चोदरतः ॥ ५ ॥ पुनर्वसुपुष्यौ दक्षिणवामयोः श्रोण्योरार्द्राश्लेषे च दक्षिणवामयोः पश्चिमयोः पादयोरभिजिदुत्तराषाढे दक्षिणवामयोर्नासिकयोर्यथासंख्यं श्रवणपूर्वाषाढे दक्षिणवामयोर्लोचनयोर्धनिष्ठा मूलं च दक्षिणवामयोः कर्णयोर्मघादीन्यष्ट नक्षत्राणि दक्षिणायनानि वामपार्श्ववंक्रिषु युञ्जीत तथैव मृगशीर्षादीन्युदगयनानि दक्षिणपार्श्ववंक्रिषु प्रातिलोम्येन प्रयुञ्जीत शतभिषाज्येष्ठे स्कन्धयोर्दक्षिणवामयोर्न्यसेत् ॥ ६ ॥ उत्तराहनावगस्तिरधराहनौ यमो मुखेषु चाङ्गारकः शनैश्चर उपस्थे बृहस्पतिः ककुदि वक्षस्यादित्यो हृदये नारायणो मनसि चन्द्रो नाभ्यामुशना स्तनयोरश्विनौ बुधः प्राणापानयो राहुर्गले सर्वाङ्गेषु रोमसु सर्वे तारागणाः ॥ ७ ॥

एतदु हैव भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्षमाण उपतिष्ठेत नमो ज्योतिर्लोकाय कालायनायानिमिषां पतये महापुरुषायाभिधीमहीति ॥ ८ ॥

ग्रहर्क्षतारामयमाधिदैविकं पापापहं मन्त्रकृतां त्रिकालम्।
नमस्यतः स्मरतो वा त्रिकालं नश्येत तत्कालजमाशु पापम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे शिशुमारसंस्थावर्णनं नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

भगवान वासुदेवकी योगमायामें बताते हैं ॥ ४ ॥ यह शिशुकुमारचक्र कुण्डलके आकारका है और इसका सिर नीचेकी ओर रहता है। इसकी पूँछके अग्रभागमें ध्रुव, लाङ्गूल अर्थात् पूँछके नीचेके भागमें प्रजापति, अग्नि तथा धर्म हैं। पूँछके मूलभागमें धाता और विधाता तथा उनके कटिप्रदेशमें सप्तर्षिगण हैं। शिशुमारके दक्षिणावर्त एवं कुण्डलाकार शरीरके दक्षिण पार्श्वमें जो चौदह नक्षत्र हैं, उनको उत्तरायण और वामपार्श्वमें स्थित चौदह नक्षत्रोंको दक्षिणायन कहते हैं। लोकमें जिस प्रकार शिशुमारके शरीरका विस्तार कुण्डलाकार होनेसे उसके दोनों पार्श्वोंकी अवयवसंख्या बराबर होती है। वैसे ही शिशुमारचक्रके दोनों ओरके भी नक्षत्र बराबर हैं। इसकी पीठमें अजवीथी और उदरमें आकाशगङ्गा रहती हैं ॥ ५ ॥ हे राजन्! इसके दायें तथा बायें कटिभागमें पुनर्वसु तथा पुष्य नक्षत्र हैं, दायें तथा बायें चरणोंके पृष्ठभागमें आर्द्रा और आश्लेषा नक्षत्र हैं। दायें और बायें नथुनोंमें क्रमशः अभिजित् और उत्तराषाढ़ हैं, दाहिने और बायें नेत्रोंमें श्रवण और पूर्वाषाढ़ा एवं दायें तथा बायें कानोंमें धनिष्ठा और मूल नक्षत्र हैं। मघा आदि आठ दक्षिणायन नक्षत्र बायीं पसलियों और विपरीत क्रमसे मृगशीर्ष आदि आठ उत्तरायण नक्षत्र दायीं पसलियोंमें रहते हैं। शतभिषा और ज्येष्ठा—ये दो नक्षत्र क्रमशः दहिने और बायें स्कन्धोंमें विराजमान रहते हैं—ऐसा समझे ॥ ६ ॥ इसके ऊपरके नथुनेमें अगस्त्य, नीचेकी ठोड़ीमें यमराज, मुखमें मङ्गल, उपस्थमें शनि, कुम्भमें बृहस्पति, वक्षःस्थलमें सूर्य, हृदयमें नारायण, मनमें चन्द्रमा, नाभिमें शुक्र, स्तनोंमें अश्विनीकुमार, प्राण तथा अपमानमें बुध, गलेमें राहु, सभी अङ्गोंमें केतु और रोमोंमें तारागणोंकी स्थिति है ॥७॥ हे राजन्! विष्णुभगवानके सर्वदेवमय स्वरूपका निरन्तर सायंकालके समय पवित्र तथा मौनभावसे दर्शन करे। सब ज्योतिर्गणोंके आधार कालचक्ररूपी सर्वदेवाधिपति परमपुरुष परमात्माको हमारा प्रणाम है। हम उनका ध्यान करते हैं। यह मंत्र कहकर स्तुति करे ॥ ८ ॥ जो मनुष्य पूर्वोक्त मन्त्रके जपमें संलग्न पुरुषोंके सब पापोंको दूर

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अधस्तात्सवितुर्योजनायुते स्वर्भानुर्नक्षत्रवच्चरतीत्येके योऽसावमरत्वं ग्रहत्वं चालभत भगवदनुकम्पया स्वयमसुरापसदः सैंहिकेयो ह्यतदर्हस्तस्य तात जन्मकर्माणि चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ १ ॥ यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद्विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्रं सोमस्य त्रयोदशसहस्रं राहोर्यः पर्वणि तद्व्यवधानकृद्वैरानुबन्धः सूर्याचन्द्रमसावभिधावति ॥ २ ॥ तन्निशम्योभयत्रापि भगवता रक्षणाय प्रयुक्तं सुदर्शनं नाम भागवतं दयितमस्त्रं तत्तेजसा दुर्विषहं मुहुः परिवर्तमानमभ्यवस्थितो मुहूर्तमुद्विजमानश्चकितहृदय आरादेव निवर्तते तदुपरागमिति वदन्ति लोकाः ॥ ३ ॥

ततोऽधस्तात्सिद्धचारणविद्याधराणां सदनानि तावन्मात्र एव ॥ ४ ॥ ततोऽधस्ताद्यक्षरक्षः-पिशाचप्रेतभूतगणानां विहाराजिरमन्तरिक्षं यावद्वायुः प्रवाति यावन्मेघा उपलभ्यन्ते ॥ ५ ॥ ततोऽधस्ताच्छतयोजनान्तर इयं पृथिवी यावद्धंसभासश्येनसुपर्णादयः पतत्त्रिप्रवरा उत्पतन्तीति ॥६॥ उपवर्णितं भूमेर्यथासन्निवेशावस्थानमवनेरप्यधस्तात्सप्त भूविवरा एकैकशो योजनायुतान्त-रेणायामविस्तारेणोपक्लृप्ता अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालमिति ॥ ७ ॥

एतेषु हि बिलस्वर्गेषु स्वर्गादप्यधिककामभोगैश्वर्यानन्दभूतिविभूतिभिः सुसमृद्धभवनोद्याना-

---

करनेवाले तथा ग्रह, नक्षत्र और तारागणके रूपमें प्रकाशमान भगवानके आधिदैविक स्वरूपका नित्य प्रातः सायं तथा मध्याह्न—तीनों कालमें वन्दन और स्मरण करता है तो उसके तात्कालिक सब पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं ॥ ६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(अतलादि लोकोंके नीचे सात लोकोंकी स्थिति) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कुछ लोग कहते हैं कि सूर्यसे दस हजार योजन नीचे अन्य नक्षत्रोंके सदृश राहु घूमता है। इसको भगवानकी कृपासे ही देवत्व और ग्रहत्वका लाभ हुआ है । वास्तवमें यह सिंहका पुत्र असुराधम स्वयं किसी योग्य नहीं था । हे तात ! इसके जन्म तथा कर्मोंका वृत्तान्त हम आगे चलकर बतायेंगे ॥ १ ॥ हे राजन् ! अत्यन्त तपनेवाले सूर्यके मण्डलका विस्तार दस हजार योजन बताते हैं। इसी तरह चन्द्र-मण्डलका विस्तार बारह हजार योजन और राहुका विस्तार तेरह हजार योजन है। यह राहु अमृतपान-के समय बाधा डालनेवाले सूर्य तथा चन्द्रमाके वैरका स्मरण करता हुआ अमावस्या तथा पूर्णिमाको उनपर आक्रमण किया करता है ॥२॥ यह समझकर भगवानने सूर्य तथा चन्द्रमाकी रक्षाके निमित्त उन दोनोंके पास अपना प्रिय आयुध सुदर्शन चक्र नियुक्त कर दिया है। उस चक्रके बराबर घूमते रहनेके कारण राहु उसके दुस्सह तेजसे उद्विग्न तथा चकित होकर मुहुर्त्तभर उनके सामने टिककर सहसा लौट पड़ता है । इसीको लोग ग्रहणकाल कहते हैं ॥ ३ ॥ राहुके उतने ही (दस सहस्र योजन) नीचे सिद्ध, चारण तथा विद्याधर आदिके निवासस्थान हैं ॥ ४ ॥ उनके नीचे यक्ष, राक्षस, पिशाच, प्रेत तथा भूतगणोंका विहारस्थल अन्तरिक्ष लोक है, जहाँतक कि वायु चलता रहता है और मेघ दीखते हैं ॥५॥ उससे सौ योजनकी दूरीपर यह पृथिवी है, जहाँतक हंस, भास, श्येन और गरुड़ आदि बड़े पक्षी उड़ते हैं, वही इसकी चरम सीमा है ॥ ६ ॥ हे राजन् ! भूमिके विस्तार आदिका वर्णन मैं पहले ही कर आया हूँ । इसके भी नीचे एक-एक करके ऐसे सात बिल हैं, जिनमेंसे एक-एक दस-दस हजार योजनके अन्तरपर हैं और उनकी लम्बाई-चौड़ाई ब्रह्माण्डकटाहके सदृश है । उनके नाम हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ॥ ७ ॥ इन बिलरूपी स्वर्गोंमें, जहाँ स्वर्गसे भी अधिक

क्रीडविहारेषु दैत्यदानवकाद्रवेया नित्यप्रमुदितानुरक्तकलत्रापत्यबन्धुसुहृदनुचरा गृहपतय ईश्वरादप्यप्रतिहतकामा मायाविनोदा निवसन्ति ॥ ८ ॥ येषु महाराज मयेन मायाविना विनिर्मिताः पुरो नानामणिप्रवरप्रवेकविरचितविचित्रभवनप्राकारगोपुरसभाचैत्यचत्वरायतनादिभिर्नागासुरमिथुनपारावतशुकसारिकाकीर्णकृत्रिमभूमिभिर्विवरेश्वरगृहोत्तमैः समलंकृताश्चकासति ॥ ९ ॥ उद्यानानि चातितरां मनइन्द्रियानन्दिभिः कुसुमफलस्तबकसुभगकिसलयावनतरुचिरविटपविटपिनां लताङ्गालिङ्गितानां श्रीभिः समिथुनविविधविहङ्गमजलाशयानाममलजलपूर्णानां झषकुलोल्लङ्घनक्षुभितनीरनीरजकुमुदकुवलयकह्लारनीलोत्पललोहितशतपत्रादिवनेषु कृतनिकेतनानामेकविहाराकुलमधुरविविधस्वनादिभिरिन्द्रियोत्सवैरमरलोकश्रियमतिशयितानि ॥ १० ॥ यत्र ह वाव न भयमहोरात्रादिभिः कालविभागैरुपलक्ष्यते ॥ ११ ॥ यत्र हि महाहिप्रवरशिरोमणयः सर्वं तमः प्रबाधन्ते ॥१२॥ न वा एतेषु वसतां दिव्यौषधिरसरसायनान्नपानस्नानादिभिराधयो व्याधयो वलीपलितजरादयश्च देहवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यस्वेदक्लमग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च भवन्ति ॥१३॥ न हि तेषां कल्याणानां प्रभवति कुतश्चन मृत्युर्विना भगवत्तेजसश्चक्रापदेशात् ॥ १४ ॥ यस्मिन् प्रविष्टेऽसुरवधूनां प्रायः पुंसवनानि भयादेव स्रवन्ति पतन्ति च ॥ १५ ॥

अथातले मयपुत्रोऽसुरो बलो निवसति येन ह वा इह सृष्टाः षण्णवतिर्मायाः काश्चनाद्यापि मायाविनो धारयन्ति यस्य च जृम्भमाणस्य मुखतस्त्रयः स्त्रीगणा उदपद्यन्त स्वैरिण्यः कामिन्यः

काम, भोग, ऐश्वर्य, आनन्द तथा विभूतियोंसे युक्त भवन, उद्यान और क्रीडा तथा विहारके स्थान हैं। जहाँ दैत्य, दानव और नागगण विविध भाँतिके मायामय आमोद-प्रमोद करते रहते हैं। उन प्रभुओंके स्त्री, पुत्र, बन्धु, सुहृद तथा अनुचर आदि सर्वदा प्रसन्नचित्त तथा अनुरक्त रहते हैं और उनके भोगोंका प्रतिघात करना ईश्वरके लिये भी कठिन कार्य है ॥ ८ ॥ हे महाराज! उन बिलोंमें महामायावी मयदानवके द्वारा रची नगरियाँ प्रमुख मणिश्रेष्ठोंसे रचित चित्र-विचित्र भवन, परकोटे, नगरके द्वार, सभा, मन्दिर, चौराहे और आयतनादिसे नाग तथा असुरदम्पतियों तथा कबूतर, शुक और सारिका आदि पक्षियों द्वारा संकुलित कृत्रिम भूमियों एवं उन लोकोंके अधिपतियोंके उत्तम प्रासादोंसे सुसज्जित होकर जगमगाती रहती हैं ॥ ९ ॥ वहाँके सभी उद्यान फूल-फल, गुच्छे तथा कोपलोंके भारसे जिनकी डालियाँ झुकी रहती हैं और जो लतापाशसे बँधे रहते हैं, ऐसे तरुवरोंकी शोभा है और जिनसे चक्रवाक आदि विविध पक्षियोंके जोड़े रहते हैं, उन निर्मल जलसे पूर्ण जलाशयोंकी सुषमा तथा उनमें उछलती मछलियोंके कारण चञ्चल जलमें स्थित कमल, कुमुद, कुवलय, कह्लार, नीलोत्पल, लाल कमल तथा शतपत्रादिके वनोंके निवासी पक्षियोंके अनवरत करनेवाले तरह-तरहके सुमधुर शब्दों द्वारा समस्त इन्द्रियोंके लिये उत्सवकी भाँति सुखद साधनोंसे पूर्ण होनेके कारण देवलोककी शोभाको भी तुच्छ कर देते हैं ॥ १० ॥ वहाँ दिन-रात आदि कालके विभागोंसे होनेवाला भय बिल्कुल नहीं दीखता ॥ ११ ॥ बड़े-बड़े नागोंके मस्तकोंकी मणियाँ ही वहाँके अन्धकारको दूर करती रहती हैं ॥१२॥ वहाँवालोंको दिव्य औषधि, रस, रसायन, अन्न, पान तथा स्नानादिका सेवन करते रहनेके कारण मानसिक अथवा शारीरिक क्लेश, गालोंमें झुरियाँ पड़ जाना, केश पक जाना, वृद्धावस्थाका आना, देहका कान्तिविहीन हो जाना, दुर्गन्ध, खेद, श्रम तथा ग्लानि होना और आयुके साथ शरीरकी अवस्थाओंका बदलना आदि विकार नहीं उत्पन्न होते ॥ १३ ॥ उन पुण्यवान् पुरुषोंको भगवानके सुदर्शनचक्र नामक तेजके अतिरिक्त और किसी तरह मृत्यु नहीं हो सकती ॥ १४ ॥ उस चक्रके वहाँ पहुँचते ही असुर-नारियोंके गर्भ भयसे ही स्रवित तथा पतित हो जाया करते हैं ॥ १५ ॥ अतललोकमें मयदानवका पुत्र बलनामका एक असुर रहता है। उसने छियानबे प्रकारकी मायाओंकी रचना की है। उनमेंसे कुछको इस समयके भी मायावी पुरुष धारण किये रहते हैं। किसी समय उस दैत्यके जमुहाई लेनेपर उसके मुखसे स्वैरिणी अर्थात् स्वेच्छाचारिणी,

पुंश्चल्य इति या वै विलायनं प्रविष्टं पुरुषं रसेन हाटकाख्येन साधयित्वा स्वविलासावलोकनानुरागस्मितसंलापोपगूहनादिभिः स्वैरं किल रमयन्ति यस्मिन्नुपयुक्ते पुरुष ईश्वरोऽहं सिद्धोऽहमित्ययुतमहागजबलमात्मानमभिमन्यमानः कत्थते मदान्ध इव ॥ १६ ॥

ततोऽधस्ताद्वितले हरो भगवान् हाटकेश्वरः स्वपार्षदभूतगणावृतः प्रजापतिसर्गोपबृंहणाय भवो भवान्या सह मिथुनीभूत आस्ते यतः प्रवृत्ता सरित्प्रवरा हाटकी नाम भवयोर्वीर्येण यत्र चित्रभानुर्मातरिश्वना समिध्यमान ओजसा पिबति तन्निष्ठ्यूतं हाटकाख्यं सुवर्णं भूषणेनासुरेन्द्रावरोधेषु पुरुषाः सह पुरुषीभिर्धारयन्ति ॥ १७ ॥

ततोऽधस्तात्सुतल उदारश्रवाः पुण्यश्लोको विरोचनात्मजो बलिर्भगवता महेन्द्रस्य प्रियं चिकीर्षमाणेनादितेर्लब्धकायो भूत्वा वटुवामनरूपेण पराक्षिप्तलोकत्रयो भगवदनुकम्पयैव पुनः प्रवेशित इन्द्रादिष्वविद्यमानया सुसमृद्धया श्रियाभिजुष्टः स्वधर्मेणाराधयंस्तमेव भगवन्तमाराधनीयमपगतसाध्वस आस्तेऽधुनापि ॥१८॥ नो एवैतत्साक्षात्कारो भूमिदानस्य यत्तद्भगवत्यशेषजीवनिकायानां जीवभूतात्मभूते परमात्मनि वासुदेवे तीर्थतमे पात्र उपपन्ने परया श्रद्धया परमादरसमाहितमनसा सम्प्रतिपादितस्य साक्षादपवर्गद्वारस्य यद्बिलनिलयैश्वर्यम् ॥१९॥ यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन् पुरुषः कर्मबन्धनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते ॥ २० ॥ तद्भक्तानामात्मवतां सर्वेषामात्मन्या-

---

कामिनी यानी कामातुरा और पुंश्चली अर्थात् चञ्चल स्वभाववाली तीन प्रकारकी स्त्रियाँ प्रगटीं, जो लोकमें आये पुरुषोंको हाटक नामक रस पिलाकर सम्भोग करनेमें समर्थ कर लेती हैं। तब उससे अपनी हाव-भावमयी चितवन, प्रणय-मुसकान, बातचीत तथा आलिङ्गनादिके द्वारा यथेच्छ रमण कराती हैं। हाटक रसका पान करनेसे मनुष्य मदान्ध हो जाता और अपनेको दसहजार गजराजोंके बलसे सम्पन्न समझकर 'मैं ईश्वर हूँ' 'मैं सिद्ध हूँ' इस तरह बढ़-बढ़कर बातें करता हुआ डींग मारने लगता है ॥ १६ ॥ उसके नीचेवाले वितल नामके भूविवरमें अपने पार्षदों तथा भूतगणोंसे आवृत भगवान हाटकेश्वर शिवजी निवास करते हैं। वे प्रजापतिकी सृष्टिको बढ़ानेके लिये भवानीके साथ रमण करते हैं। शिव-पार्वतीके तेजसे हाटकी नामकी एक उत्तम नदी निकली है, जिसके जलको वायुसे प्रज्वलित अग्नि बड़े उत्साहके साथ पिया करता है। उसके थूके हुए हाटक नामके सुवर्णको दैत्यराजाओंके अन्तःपुरोंमें पुरुष तथा स्त्रियाँ आभूषणके रूपमें धारण किया करती हैं ॥ १७ ॥ वितलके नीचे सुतललोक है। वहाँ इन्द्रका भला करनेके लिये अदितिके गर्भसे वटु वामनके रूपसे अवतार लेकर भगवानने जिससे तीनों लोक छीन लिये थे, वह महायशस्वी एवं पवित्रकीर्ति विरोचनपुत्र राजा बलि फिर भगवानकी कृपासे स्थित हो इन्द्रादि देवताओंको भी अप्राप्य अतुल सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर उन्हीं परमपूज्य प्रभुकी अपने धर्माचरण द्वारा आराधना करता हुआ इस समय भी वहाँ निर्भयतापूर्वक रहता है ॥ १८ ॥ हे राजन्! सब जीवोंके जीव, आत्मस्वरूप अन्तर्यामी तथा आत्माराम और साक्षात् परमात्मा वासुदेवके सदृश पवित्रतम पात्रके उपस्थित होनेपर उन्हें परम श्रद्धा तथा अतिशय आदरपूर्वक एकाग्रचित्तसे दिया हुआ भूमिदान तो साक्षात् मोक्षका द्वार ही है। केवल सुतललोकका ऐश्वर्यमात्र उसका फल कदापि नहीं हो सकता ॥ १९ ॥ छींकने, गिरने तथा फिसलने आदिके अवसरपर विवशभावसे भी जिसका एक बार नाम ले लेनेसे पुरुष उस कर्मबन्धनको तुरन्त त्याग देता है, जिसको मुमुक्षुजन योगसाधनादि विविध प्रकारके उपायों द्वारा दूर कर पाते हैं ॥ २० ॥ अपने ज्ञानी भक्तको अपना स्वरूप प्रदान करनेवाले तथा सभी प्राणियोंके आत्मास्वरूप उन प्रभुको आत्मभावसे समर्पण किये हुये भूमिदानका फल क्या यह सुतललोकका राज्यभर हो सकता

त्मद आत्मतयैव ॥ २१ ॥ न वै भगवान्नूनममुष्यानुजग्राह यदुत पुनरात्मानुस्मृतिमोषणं मायामयभोगैश्वर्यमेवातनुतेति ॥२२॥ यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृतस्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुणपाशैश्च सम्प्रतिमुक्तो गिरिदर्यां चापविद्ध इति होवाच ॥२३॥ नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचतात्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यमतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिवृत्तं कियल्लोकत्रयमिदम् ॥ २४ ॥ यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे न तु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि ॥ २५ ॥ तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीणभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति ॥ २६ ॥ तस्यानुचरितमुपरिष्टाद्विस्तरिष्यते यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयो येनाङ्गुष्ठेन पदा दशकन्धरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटितः ॥ २७ ॥

ततोऽधस्तात्तलातले मयो नाम दानवेन्द्रस्त्रिपुराधिपतिर्भगवता पुरारिणा त्रिलोकीशं चिकीर्षुणा निर्दग्धस्वपुरत्रयस्तत्प्रसादाल्लब्धपदो मायाविनामाचार्यो महादेवेन परिरक्षितो विगतसुदर्शनभयो महीयते ॥ २८ ॥

ततोऽधस्तान्महातले काद्रवेयाणां सर्पाणां नैकशिरसां क्रोधवशो नाम गणः कुहक-

---

है ? ॥ २१ ॥ यदि भगवानने राजा बलिको उसके कर्मका फल, परमात्मचिन्तनका विस्मरण करा देनेवाला मायामय भोग तथा ऐश्वर्य ही दिया तब तो उनकी उसपर कुछ भी कृपा नहीं हुई ॥ २२ ॥ क्योंकि जब निरुपाय होकर भगवानने छलसे उसका सब राज्य छीन लिया और केवल उसका शरीर भर छोड़ा तथा बलिको वरुणके पाशोंमें बाँधकर पर्वतकी कन्दरामें बन्दकर दिया तब भी उसने यही कहा था—॥ २३ ॥ "मुझे खेद है कि इन्द्र विद्वान् होते हुए भी अपने सच्चे स्वार्थसाधनमें निपुण नहीं है। इसने सन्मतिके लिये अतिशय श्रद्धासे बृहस्पतिजीको अपना मन्त्री बनाया है, फिर भी उनकी अवहेलना करके साक्षात् विष्णुभगवानके प्रसन्न होनेपर इसने उनसे उनकी सेवा जैसा वर न माँगकर उनके द्वारा मुझसे अपने भाग ही माँगे। जिसकी अवस्थाका अन्त नहीं हैं, ऐसे कालका केवल एक मन्वन्तर समाप्त होनेपर ही छिन्न-भिन्न हो जानेवाले तीनों लोकोंका उनकी चरणसेवाके आगे भला क्या मूल्य हो सकता है ? ॥ २४ ॥ हमारे पितामह प्रह्लादजीने भगवानके द्वारा अपने पिता हिरण्यकशिपुके मारे जानेपर प्रभुके देनेपर भी, भगवानसे दूर रखनेवाला समझकर अपने पिताका अकण्टक राज्य नहीं स्वीकार किया। बल्कि भगवानकी सेवाका ही वर माँगा ॥ २५ ॥ उस महानुभावके चरणचिह्नोंका अनुसरण करनेवाला संकल्प कोई मुझ-जैसा वासनालिप्त तथा भगवत्कृपाशून्य पुरुष भला कैसे कर सकता है ?" ॥ २६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिन्होंने दिग्विजयके प्रसङ्गमें अपने पादांगुष्ठका प्रहार करके रावणको हजारों योजनकी दूरीपर फेंक दिया था, वे सारे जगत्के गुरु साक्षात् नारायण अपने भक्तपर दयालु होकर हाथमें गदा लिये जिसके द्वारपर सदा उपस्थित रहते हैं, उस राजा बलिका चरित्र हम आगे चलकर विस्तारके साथ बतायेंगे ॥ २७ ॥ सुतललोकके नीचे तलातललोकमें त्रिपुराधिपति दानवराज मय रहता है। पूर्वकालमें त्रिलोकीकी कल्याणकामनासे शङ्करभगवानने उसके तीनों पुर जला डाले थे और उन्हींकी कृपासे उसे यह स्थान उपलब्ध हुआ था। वह मायावियोंका सबसे श्रेष्ठगुरु है और श्रीमहादेवजीसे सब तरह सुरक्षित रहनेके कारण सुदर्शनचक्रसे भी निर्भय रहकर वहाँके निवासियोंसे आदृत होता रहता है ॥ २८ ॥ उसके नीचे महातलमें कद्रुसे उत्पन्न अनेक सिरवाले सर्पोंका 'क्रोधवश' नामका एक समुदाय रहता

तक्षककालियसुषेणादिप्रधाना महाभोगवन्तः पतत्रिराजाधिपतेः पुरुषवाहादनवरतमुद्विजमानाः स्वकलत्रापत्यसुहृत्कुटुम्बसङ्गेन क्वचित्प्रमत्ता विहरन्ति ॥ २९ ॥

ततोऽधस्ताद्रसातले दैतेया दानवाः पणयो नाम निवातकवचाः कालेया हिरण्यपुरवासिन इति विबुधप्रत्यनीका उत्पत्त्या महौजसो महासाहसिनो भगवतः सकललोकानुभावस्य हरेरेव तेजसा प्रतिहतबलावलेपा बिलेशया इव वसन्ति ये वै सरमयेन्द्रदूत्या वाग्भिर्मन्त्रवर्णाभिरिन्द्राद् बिभ्यति ॥ ३० ॥

ततोऽधस्तात्पाताले नागलोकपतयो वासुकिप्रमुखाः शङ्खकुलिकमहाशङ्खश्वेतधनञ्जयधृतराष्ट्रशङ्खचूडकम्बलाश्वतरदेवदत्तादयो महाभोगिनो महामर्षा निवसन्ति येषामु ह वै पञ्चसप्तदशशतसहस्रशीर्षाणां फणासु विरचिता महामणयो रोचिष्णवः पातालविवरतिमिरनिकरं स्वरोचिषा विधमन्ति ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे राह्वादिस्थितिबिलस्वर्गमर्यादानिरूपणं नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजनसहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्यातानन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः सङ्कर्षणमहमित्यभिमानलक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याचक्षते ॥ १ ॥

है। उनमें कुहक, तक्षक, कालिय तथा सुषेण आदि महाकाय सर्प मुख्य हैं। वे सदा विष्णुभगवानके वाहन पक्षिराज गरुड़से भयभीत रहते हैं, फिर भी कभी-कभी उन्मत्त होकर अपने स्त्री, पुत्र, मित्र तथा कुटुम्बादिके साथ विहार करने लग जाते हैं ॥ २९ ॥ उसमें नीचे रसातलमें पणि नामक निवातकवच, कालेय और हिरण्यपुरवासी देवद्रोही दैत्य तथा दानवगण रहते हैं। वे जन्मतः बड़े उत्साही तथा परम साहसी होते हैं। किन्तु सम्पूर्ण लोकोंमें व्याप्त प्रभाववाले श्रीहरिके तेजसे हतवीर्य होकर वे सर्पोंके समान लुक-छिपकर रहते हैं। इन्द्रकी दूती सरमाके उच्चारण किये हुए मन्त्रवर्णरूप कटुवाक्यके कारण वे सदा भयभीत रहते हैं। *कथान्तर*—वेदमें एक आख्यायिका है कि जब पणि नामक दैत्योंने पृथ्वीको रसातलमें छिपा लिया, तो इन्द्रने उसे ढूँढनेके लिये सरमा नामकी एक दूती भेजी। जब वह रसातलमें पहुँची तो दैत्योंने सन्धिकी इच्छासे उससे पूछा—सरमा! तू क्या चाहती है?' किन्तु सरमाने सन्धि नहीं करना चाहा और इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहा—'हता इन्द्रेण पणयः शयध्वम्' अर्थात् 'हे पणिगण! तुम इन्द्रके हाथसे मरकर पृथ्वीपर लोट जाओ।' इस शापके कारण उन्हें सदा इन्द्रका डर लगा रहता है ॥ ३० ॥ रसातलके नीचे पाताललोक है। वहाँ वासुकिप्रधान बलि, शंख, कुलिक, महाशंख, श्वेत, धनञ्जय, धृतराष्ट्र, शंखचूड, कम्बल, अश्वतर और देवदत्तादि महाक्रोधी एवं बड़े-बड़े डीलवाले नागलोकाधिपति रहा करते हैं। उनमेंसे किसीके पाँच, किसीके सात, किसीके दस, किसीके सौ और किसीके सहस्र सिर तक हैं। उनके फणोंकी अतिशय दीप्तिशालिनी मणियाँ अपनी कान्तिसे उस पातालविवरका सारा अन्धकार नष्ट कर देती हैं ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

(संकर्षणदेवका विवरण और उनकी स्तुति) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! उस पाताललोकके मूलप्रदेशमें तीन हजार योजनकी दूरीपर 'अनन्त' नामसे प्रसिद्ध भगवानकी तामसी नित्यकला रहती है, जिसे अहंकाररूपसे द्रष्टा तथा दृश्यको संयुक्त करनेवाली होनेसे लोग विभञ्जन

यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते ॥ २ ॥ यस्य ह वा इदं कालेनोपसञ्जिहीर्षतोऽमर्षविरचितरुचिरभ्रमद्भ्रुवोरन्तरेण साङ्कर्षणो नाम रुद्र एकादशव्यूहस्त्र्यक्षस्त्रिशिखं शूलमुत्तम्भयन्नुदतिष्ठत् ॥ ३ ॥ यस्याङ्घ्रिकमल-युगलारुणविशदनखमणिषण्डमण्डलेष्वहिपतयः सह सात्वतर्षभैरेकान्तभक्तियोगेनावनमन्तः स्ववदनानि परिस्फुरत्कुण्डलप्रभामण्डितगण्डस्थलान्यतिमनोहराणि प्रमुदितमनसः खलु विलोकयन्ति ॥ ४ ॥ यस्यैव हि नागराजकुमार्य आशिष आशासानाश्चार्वङ्गवलयविलसित-विशदविपुलधवलसुभगरुचिरभुजरजतस्तम्भेष्वगुरुचन्दनकुङ्कुमपङ्कानुलेपेनावलिम्पमानास्तदभि-मर्शनोन्मथितहृदयमकरध्वजावेशरुचिरललितस्मितास्तदनुरागमदमुदितमदविघूर्णितारुणकरुणाव-लोकनयनवदनारविन्दं सव्रीडं किल विलोकयन्ति ॥ ५ ॥ स एव भगवाननन्तोऽनन्तगुणार्णव आदिदेव उपसंहृतामर्षरोषवेगो लोकानां स्वस्तय आस्ते ॥ ६ ॥

ध्यायमानः सुरासुरोरगसिद्धगन्धर्वविद्याधरमुनिगणैरनवरतमदमुदितविकृतविह्वललोचनः सुललितमुखरिकामृतेनाप्यायमानः स्वपार्षदविबुधयूथपतीनपरिम्लानरागनवतुलसिकामोदमध्वा-सवेन माद्यन्मधुकरव्रातमधुरगीतश्रियं वैजयन्तीं स्वां वनमालां नीलवासा एककुण्डलो हलककुदि कृतसुभगसुन्दरभुजो भगवान् माहेन्द्रो वारणेन्द्र इव काञ्चनीं कक्षामुदारलीलो बिभर्ति ॥ ७ ॥

य एष एवमनुश्रुतो ध्यायमानो मुमुक्षूणामनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं

संकर्षण कहकर पुकारते हैं ॥ १ ॥ जिन हजार मस्तकवाले भगवान अनन्तके एक मस्तकपर रखा हुआ यह भूमण्डल सरसोंके दानेकी भाँति प्रतीत होता है ॥ २ ॥ प्रलयकाल आनेपर जब वे विश्वका संहार करना चाहते थे, तब इनकी क्रोधवश घूमती हुई भृकुटियोंके मध्यभागसे हाथमें तीन नोक-वाला शूल लिये हुए ग्यारह मूर्ति और तीन नेत्रोंवाले सांकर्षण नामक रुद्र प्रकटे थे ॥ ३ ॥ अन्य भक्तश्रेष्ठोंके सहित अतिशय भक्तिभावसे प्रणाम करते हुए जिनके युगल चरणकमलोंके स्वच्छ और अरुणवर्णवाले नखमणिमण्डलमें नागाधिपतिगण अति आनन्दित हो झिलमिलाते कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित कमनीय कपोलों युक्त अपने मनोहर मुखारविन्दकी झाँकी किया करते हैं ॥ ४ ॥ जिनके शरीरमण्डलपर सुशोभित रजतस्तम्भके समान अति विशाल, स्वच्छ तथा श्वेतवर्णकी भुजाओं-पर विविध प्रकारकी कामनाओंसे अगुरु, चन्दन तथा कुंकुमपंकका अनुलेपन लगाते समय परम सुन्दरी नागराजकन्याएँ उनके अंगस्पर्शसे विचलित अपने हृदयमें कामवेश हो जानेके कारण मधुर, मनोहर एवं मंद मुसकान युक्त हो उनके मदविह्वल सकरुण अरुण नयनोंसे सुशोभित तथा प्रेममदसे प्रमुदित मुखारविन्दकी ओर सलज्जभावसे निहारने लग जाती हैं ॥ ५ ॥ वे ही अनन्त गुणोंके सागर आदिदेव अनन्त भगवान अमर्ष और रोषके वेगको रोके हुए वहाँ सम्पूर्ण लोकोंके कल्याणके लिए विराजमान रहते हैं ॥ ६ ॥ देवता, असुर, नाग, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर और मुनिगण निरन्तर जिनका ध्यान किया करते हैं, जो मदपानसे प्रसन्न तथा विकृत और विह्वल नयनोंवाले हैं, जो अपने सुललित वचनरूपी अमृतसे अपने देवयूथपतियों तथा पार्षदोंको सन्तुष्ट रखते हैं, जिन्होंने नील वसन तथा एक ही कुण्डल धारण कर रखा है और अपना मनोहर तथा सुन्दर भुजदण्ड हलके कूबरपर धर रक्खा है, वे उदारलीलाधारी भगवान शेषजी, जैसे इन्द्रका गजराज सोनेकी करधनी पहनता है, वैसे ही अपनी वैजयन्ती नामकी वनमाला धारण किये हुए हैं, जो कभी मन्द न पड़नेवाली शोभासे युक्त नवीन तुलसीकी सुगन्धि तथा मधुर मकरन्दसे उन्मत्त भौंरोंके गुञ्जारसे समलंकृत हैं ॥७॥ हे राजन् ! जो अनन्तभगवान श्रवण और ध्यान किये जानेपर मुमु-क्षुओंके हृदयमें आविर्भूत होकर अनादिकालकी कर्मवासनाओंसे ग्रथित उनकी सत्त्व, रज तथा तमोगुण-

हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गत आशु निर्भिनत्ति तस्यानुभावान् भगवान् स्वायम्भुवो नारदः सह तुम्बुरुणा सभायां ब्रह्मणः संश्लोकयामास ॥ ८ ॥

उत्पत्तिस्थितिलयहेतवोऽस्य कल्पाः सत्त्वाद्याः प्रकृतिगुणा यदीक्षयाऽऽसन् ।
यद्रूपं ध्रुवमकृतं यदेकमात्मन्नानाधात्कथमु ह वेद तस्य वर्त्म ॥ ९ ॥
मूर्तिं नः पुरुकृपया बभार सत्त्वं संशुद्धं सदसदिदं विभाति यत्र ।
यल्लीलां मृगपतिराददेऽनवद्यादातुं स्वजनमनांस्युदारवीर्यः ॥ १० ॥
यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मादार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा ।
यन्त्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥ ११ ॥
मूर्धन्यर्पितमणुवत्सहस्रमूर्ध्नो भूगोलं सगिरिसरित्समुद्रसत्त्वम् ।
आनन्त्यादनिमितविक्रमस्य भूम्नः को वीर्याण्यधिगणयेत्सहस्रजिह्वः ॥ १२ ॥
एवंप्रभावो भगवाननन्तो दुरन्तवीर्योरुगुणानुभावः ।
मूले रसायाः स्थित आत्मतन्त्रो यो लीलया क्ष्मां स्थितये बिभर्ति ॥ १३ ॥

एता ह्येवेह नृभिरुपगन्तव्या गतयो यथाकर्म विनिर्मिता यथोपदेशमनुवर्णिताः कामान् कामयमानैः ॥ १४ ॥ एतावतीर्हि राजन् पुंसः प्रवृत्तिलक्षणस्य धर्मस्य विपाकगतय उच्चावचा विसदृशा यथाप्रश्नं व्याचख्ये किमन्यत्कथयाम इति ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे भूविवरविध्युपवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

त्मिका अविद्यामयी हृदयग्रन्थिको तत्काल काट देते हैं। उनकी महिमाको ब्रह्माके पुत्र भगवान नारदने तुम्बुरु गन्धर्वके साथ एक बार ब्रह्माजीकी सभामें इस प्रकार गाया था—॥ ८ ॥ संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण, प्रकृतिके सत्त्वादि गुण जिनके दृष्टिपातसे अपने-अपने कार्योंमें समर्थ होते हैं, जिनका रूप अनन्त तथा अनादि है, जो अकेले ही सब प्रपञ्चोंको अपनेमें धारण किये हुए हैं, उन श्रीसंकर्षणदेवका तत्त्व भला कोई कैसे जान सकेगा ॥ ९ ॥ जिनमें कार्य-कारणरूपी यह सब प्रपञ्च भासमान हो रहा है, जिनकी शूरवीरतारूपिणी उदार लीलाको सिंहने ग्रहण किया है, उन परमपराक्रमी भगवानने अपने भक्तोंका चित्त चुरानेके लिये हमपर बड़ी कृपा करके यह विशुद्धसत्त्वमय शरीर धारण कर रखा है ॥१०॥ कोई दीन अथवा पापी पुरुष अकस्मात् अपना दुःख दूर करनेके लिये या कि हँसीमें भी जिनके सुने हुए गुणोंका कीर्तन करता है तो वह कीर्तन उन मनुष्योंके सब पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है। उन शेषभगवानको छोड़कर कोई दूसरे किस पुरुषका आश्रय लेगा ॥ ११ ॥ जिन सहस्रमूर्धा संकर्षणभगवानके एक मस्तकपर पर्वत, नदी और समुद्रादिसे पूर्ण भूमण्डल रजःकणके समान रखा है और अनन्त होनेके कारण जिनके पराक्रमका वारापार नहीं है, उन सर्वव्यापक शेषजीके पराक्रमोंको कोई हजार जीभवाला पुरुष भी कैसे गिन सकेगा ॥ १२ ॥ जिनके पराक्रमकी सीमा नहीं है और जो अतिशय गुण तथा प्रभावयुक्त हैं, वे भगवान अनन्त ऐसे प्रभावशाली हैं कि सब लोकोंकी स्थितिके निमित्त रसातलके मूलमें स्थित होकर स्वतन्त्रताके साथ लीलाहीसे पृथिवीको धारण किये रहते हैं ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन् ! भोगोंके इच्छुक पुरुषोंको अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्तव्य भगवानकी रची हुई ये ही गतियाँ हैं। इनके विषयमें मैंने अपने गुरुके मुखसे जो बातें सुनी थीं सो तुम्हें बता दीं ॥ १४ ॥ हे राजन् ! प्रत्येक मनुष्यकी प्रवृत्तिरूपी धर्मके परिणाममें प्राप्त होनेवाली विविध प्रकारकी ऊँची-नीची इतनी ही गतियाँ हैं। सो तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैंने तुम्हें कह सुनाया। अब और क्या कहूँ ? ॥ १५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे भाषाटीकायां पंचविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

राजोवाच

महर्ष एतद्वैचित्र्यं लोकस्य कथमिति ॥ १ ॥

ऋषिरुवाच

त्रिगुणत्वात्कर्तुः श्रद्धया कर्मगतयः पृथग्विधाः सर्वा एव सर्वस्य तारतम्येन भवन्ति ॥ २ ॥ अथेदानीं प्रतिषिद्धलक्षणस्याधर्मस्य तथैव कर्तुः श्रद्धाया वैसादृश्यात्कर्मफलं विसदृशं भवति या ह्यनाद्यविद्यया कृतकामानां तत्परिणामलक्षणाः सृतयः सहस्रशः प्रवृत्तास्तासां प्राचुर्येणानुवर्णयिष्यामः ॥ ३ ॥

राजोवाच

नरका नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहोस्विदन्तराल इति ॥ ४ ॥

ऋषिरुवाच

अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणा दिशि स्वानां गोत्राणां परमेण समाधिना सत्या एवाशिष आशासाना निवसन्ति ॥ ५ ॥ यत्र ह वाव भगवान् पितृराजो वैवस्वतः स्वविषयं प्रापितेषु स्वपुरुषैर्जन्तुषु सम्परेतेषु यथाकर्मावद्यं दोषमेवानुल्लङ्घितभगवच्छासनः सगणो दमं धारयति ॥ ६ ॥ तत्र हैके नरकानेकविंशतिं गणयन्ति अथ तांस्ते राजन्नामरूपलक्षणतोऽनुक्रमिष्यामस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रो रौरवो महारौरवः कुम्भीपाकः कालसूत्रमसिपत्रवनं सूकरमुखमन्धकूपः कृमिभोजनः सन्दंशस्तप्तसूर्मिर्वज्रकण्टकशाल्मली वैतरणी पूयोदः प्राणरोधो विशसनं लालाभक्षः सारमेयादनमवीचिरयःपानमिति ॥ किञ्च क्षारकर्दमो रक्षोगणभोजनः शूलप्रोतो दन्दशूकोऽवटनिरोधनः पर्यावर्तनः सूचीमुखमित्यष्टाविंशतिर्नरका विविधयातनाभूमयः ॥ ७ ॥

(मनुष्योंके कर्मानुसार नरकोंकी ऊँच-नीच गतियें) राजा परीक्षित्ने पूछा—हे महर्षे ! लोगोंको प्राप्त होनेवाली ऊँची-नीची गतियोंमें भेद-भाव क्यों होता है ? ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कर्मठ पुरुष सत्त्व, रज तथा तम इन तीन गुणोंसे युक्त रहते हैं। इसलिये उनकी श्रद्धा भी सत्त्वादि गुणोंसे युक्त रहती और उनके कर्मोंकी सब गतियाँ विविध प्रकारकी होतीं और वे उन सबको तारतम्यके अनुसार प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥ इसी तरह निषिद्ध कर्म करनेवालेको भी श्रद्धाकी विषमतासे विषम फल ही भोगना पड़ता है। सो अब अनादि अविद्याके चक्करमें पड़कर विविध कामनाओं द्वारा प्राप्त निषिद्ध कर्मोंके परिणाममें जो हजारों नरक प्राप्त होते हैं, अब उनका हम विस्तारके साथ वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥ राजा परीक्षितने प्रश्न किया—हे भगवन् ! वे नरक क्या पृथिवीके ही कोई देश हैं ? वे त्रिलोकीसे बाहर हैं अथवा इसके भीतर ही हैं ? ॥ ४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! वे नरक त्रिलोकीकी दक्षिण दिशामें और पृथिवीके नीचे तथा जलके ऊपर विद्यमान हैं। उसी दिशामें अग्निष्वात्ता आदि पितर अपने वंशजोंको सत्य आशीर्वाद देते हुए महासमाधिमें लीन रहते हैं ॥ ५ ॥ वहाँ भगवानकी आज्ञाका कभी भी उल्लंघन न करनेवाले सूर्यके पुत्र पितृराज भगवान यम अपने सेवकोंके साथ रहते और अपने दूतों द्वारा अपने लोकमें लाये हुए प्राणियोंके गर्हित कर्मोंके अनुसार उनके अपराधका दण्ड उनके द्वारा भोगवाते हैं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! कुछ लोग इक्कीस नरक बताते हैं। सो नाम, रूप तथा लक्षणके अनुसार मैं तुमसे उन सबका हाल बताता हूँ। उनके नाम हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक,

तत्र यस्तु परवित्तापत्यकलत्राण्यपहरति स हि कालपाशबद्धो यमपुरुषैरतिभयानकैस्तामिस्रे नरके बलान्निपात्यते अनशनानुदपानदण्डताडनसन्तर्जनादिभिर्यातनाभिर्यात्यमानो जन्तुर्यत्र कश्मलमासादित एकदैव मूर्च्छामुपयाति तामिस्रप्राये ॥ ८ ॥ एवमेवान्धतामिस्रे यस्तु वञ्चयित्वा पुरुषं दारादीनुपयुङ्क्ते यत्र शरीरी निपात्यमानो यातनास्थो वेदनया नष्टमतिर्नष्टदृष्टिश्च भवति यथा वनस्पतिर्वृश्च्यमानमूलस्तस्मादन्धतामिस्रं तमुपदिशन्ति ॥९॥

यस्त्विह वा एतदहमिति ममेदमिति भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति ॥१०॥ ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः ॥११॥ एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः ॥१२॥

यस्त्विह वा उग्रः पशून् पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्ततैले उपरन्धयन्ति ॥१३॥ यस्त्विह पितृविप्रब्रह्मध्रुक् स कालसूत्रसंज्ञके नरके अयुतयोजनपरिमण्डले ताम्रमये तप्तखले उपयधस्तादग्न्यर्काभ्यामतितप्यमानेऽभिनिवेशितः क्षुत्पिपासाभ्यां च दह्यमानान्तर्बहिःशरीर आस्ते शेते चेष्टतेऽवतिष्ठति परिधावति च यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि ॥१४॥

कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, सन्दंश, तप्तभूमि, वज्रके समान काँटोंवाला शाल्मली वृक्ष, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि तथा अयःपान। इनके अतिरिक्त क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, वटरोधन, पर्यावर्तन तथा सूचीमुख—ये सातों मिलकर कुल अट्ठाईस नरक विविध प्रकारकी यातनाओंके भोगस्थान हैं ॥ ७ ॥ जो पुरुष पराये धन, सन्तान अथवा स्त्रियोंका अपहरण करता है, वह अतिशय भयानक यमदूतोंके द्वारा कालपाशमें बाँधकर हठात् तामिस्र नरकमें ढकेला जाता है। उस अन्धकारमय नरकमें भोजन-पानी न मिलने, डंडे खाने तथा भय दिखलाये जाने आदि विविध प्रकारकी यातनाओंसे पीडित वह जीव बहुत दुःखी होकर एकाएक मूर्च्छित हो जाता है ॥ ८ ॥ इसी तरह जो पुरुष किसी दूसरेको धोखा देकर उसकी स्त्री आदिका भोग करता है, वह अन्धतामिस्र नरकमें जा पड़ता है। जड़से काटे हुए वृक्षके समान वहाँ गिराये जानेपर यातनामें पड़ा हुआ जीव वेदनाके मारे अपनी सारी सुधि-बुधि खो बैठता है और उसे कुछ भी नहीं सूझता। इसीलिये उसे 'अन्ध-तामिस्र' नरक कहते हैं ॥ ९ ॥ जो लोग इस लोकमें इस शरीरको ही 'मैं' और धन तथा स्त्री आदिको 'मेरा' ऐसी बुद्धिसे प्राणियोंके साथ द्रोह करता हुआ प्रतिदिन अपने कुटुम्बके ही भरण-पोषणमें फँसा रहता है, वह शरीर त्यागकर अपने पापके कारण रौरव नरकमें जा गिरता है ॥ १० ॥ हे राजन्! इस संसारमें कुटुम्बका पोषण करनेके लिये उसने जिस जीवकी जैसे हिंसा की होती है, परलोकमें यमयातनाको प्राप्त होनेपर उसे वे ही जीव 'रुरु' होकर उसी तरह पीड़ित करते हैं। अतएव उसे 'रौरव' नरक कहते हैं। 'रुरु' नामके जीव सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभावके होते हैं ॥ ११ ॥ इसी तरह महारौरव नरक है। उसमें वह पुरुष जाता है, जो केवल अपना ही शरीर पालता है। वहाँ पड़े हुए जीवको आममांसाहारी रुरु नामके जीव मांसके लोभसे काटा करते हैं ॥ १२ ॥ जो महाक्रूर पुरुष इस लोकमें जीवित पशु तथा पक्षियोंको रींधता है, राक्षसोंसे भी निन्दित उस निर्दयी प्राणीको परलोकमें यमराजके सेवक कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तेलमें भूनते हैं ॥ १३ ॥ जो प्राणी इस लोकमें पिता, ब्राह्मण अथवा वेदसे द्रोह करता है, उसे यमदूत कालसूत्र नामके नरकमें पहुँचाते हैं। जिसका घेरा दस हजार योजनका है, जो

यस्त्विह वै निजवेदपथादनापद्यपगतः पाखण्डं चोपगतस्तमसिपत्रवनं प्रवेश्य कशया प्रहरन्ति तत्र हासावितस्ततो धावमान उभयतोधारैस्तालवनासिपत्रैश्छिद्यमानसर्वाङ्गो हा हतोऽस्मीति परमया वेदनया मूर्च्छितः पदे पदे निपतति स्वधर्महा पाखण्डानुगतं फलं भुङ्क्ते ॥१५॥

यस्त्विह वै राजा राजपुरुषो वा अदण्ड्ये दण्डं प्रणयति ब्राह्मणे वा शरीरदण्डं स पापीयान्नरकेऽमुत्र सूकरमुखे निपतति तत्रातिबलैर्विनिष्पिष्यमाणावयवो यथैवेहेक्षुखण्ड आर्तस्वरेण स्वनयन् क्वचिन्मूर्च्छितः कश्मलमुपगतो यथैवेहादृष्टदोषा उपरुद्धाः ॥१६॥

यस्त्विह वै भूतानामीश्वरोपकल्पितवृत्तीनामविविक्तपरव्यथानां स्वयं पुरुषोपकल्पितवृत्तिर्विविक्तपरव्यथो व्यथामाचरति स परत्रान्धकूपे तदभिद्रोहेण निपतति तत्र हासौ तैर्जन्तुभिः पशुमृगपक्षिसरीसृपैर्मशकयूकामत्कुणमक्षिकादिभिर्ये के चाभिद्रुग्धास्तैः सर्वतोऽभिद्रुह्यमाणस्तमसि विहतनिद्रानिर्वृतिरलब्धावस्थानः परिक्रामति यथा कुशरीरे जीवः ॥१७॥

यस्त्विह वा असंविभज्याश्नाति यत्किञ्चनोपनतमनिर्मितपञ्चयज्ञो वायससंस्तुतः स परत्र कृमिभोजने नरकाधमे निपतति तत्र शतसहस्रयोजने कृमिकुण्डे कृमिभूतः स्वयं कृमिभिरेव

ताँबेका बना हुआ है, जिसमें तपता मैदान है और जो ऊपर सूर्य तथा नीचे अग्निकी दाहसे अत्यन्त सन्तप्त रहता है। जीव वह भूख-प्यासके मारे व्याकुल हो जाता और उसका शरीर बाहर-भीतरसे जलने लगता है। इस तरह पशुके शरीरमें जितने रोयें होते हैं, उतने ही हजार वर्षोंतक वह उस नरकमें कभी बैठता, कभी लेटता, कभी उठनेकी चेष्टा करता, कभी खड़ा होता और कभी इधर-उधर दौड़ने लग जाता है ॥ १४ ॥ जो पुरुष कोई विपत्ति न आनेपर भी वैदिक मार्ग छोड़कर अन्य पाखण्डपूर्ण धर्मोंका आश्रय लेता है, उसे यमके दूत असिपत्रवन नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे खूब पीटते हैं। वहाँ इधर-उधर दौड़नेके कारण उसके सब अङ्ग तालवनके तलवार सदृश पत्तोंसे, जिनमें दोनों ओर धारें रहती हैं, छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। तब वह 'हाय मैं मारा गया' इस तरह चिल्लाता हुआ अत्यन्त वेदनासे मूर्च्छित होकर पद-पदपर गिरने लग जाता है। जो पुरुष अपना धर्म त्याग देता है, उसे पाखण्डमार्गपर चलनेका फल इस तरह भोगना पड़ता है ॥ १५ ॥ जो पुरुष राजा या राजाका कर्मचारी होकर किसी दण्डके अयोग्य पुरुषको दण्ड देता अथवा ब्राह्मणको शरीरिक दण्ड देता है, वह पापी नरकमें सूकरमुख नाम नरकमें जा पड़ता है। वहाँ महाबली यमदूतोंके द्वारा अपने अंगोंके कुचले जानेके कारण वह कोल्हूमें पेरे जाते हुए तिलोंके सदृश हो आर्त्त-स्वरसे चिल्लाता रहता और अत्यन्त पीडित होकर इस तरह अचेत हो जाता है, जैसे इस लोकमें राजाके द्वारा कारागारमें बन्द किये हुए निरपराध प्राणी कष्टसे मूर्छित हो जाते हैं ॥ १६ ॥ परमेश्वरने ब्राह्मणादि वर्ण तथा आश्रमके अनुसार जिसकी विधिनिषेधपूर्वक वृत्ति नियत कर दी है और जो विवेक-पूर्वक औरोंके दुःखको जाननेवाला होता है, वह पुरुष भी कि जिनका परमेश्वरने ही रक्तपानादि वृत्ति बना दी है और जो दूसरोंके दुखको नहीं जानते, उन खटमल आदि जीवोंकी यदि हिंसा करता है तो वह उनसे द्रोह करके अन्धकूप नरकमें जा गिरता है। वहाँ जिनसे द्रोह किया होता है, उन पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, मच्छर, जूँ, खटमल तथा मक्खी आदि जीवोंके द्वारा सब ओर काटे जानेसे उस घोर अन्धकारमें निद्रा और शान्ति भंग हो जानेके कारण उसे तनिक भी चैन नहीं मिलती और वह इस तरह व्यग्र होने लगता है, जैसे किसी रोगग्रस्त शरीरमें जीव छटपटाता है ॥ १७ ॥ इस लोकमें जो मनुष्य विना पञ्चमहायज्ञ किये तथा जो कुछ मिले उसे बालक, वृद्ध तथा अतिथि आदिको बिना दिये स्वयं ही खा लेता है, उसे कौएके समान कहा गया है। वह परलोकमें महा अधम कृमिभोज नामके नरकमें जा पड़ता है। वहाँ वह एक लाख योजन विस्तारवाले कीड़ोंके कुण्डमें जाकर कीड़ा बनता और जबतक वह बिना बाँटे तथा बिना हवन किये भोजन करनेवाला प्राणी पूरा प्रायश्चित्त

भक्ष्यमाणः कृमिभोजनो यावत्तदप्रत्ताप्रहुतादोऽनिर्वेशमात्मानं यातयते ॥१८॥ यस्त्विह वै स्तेयेन बलाद्वा हिरण्यरत्नादीनि ब्राह्मणस्य वापहरत्यन्यस्य वानापदि पुरुषस्तममुत्र राजन् यमपुरुषा अयस्मयैरग्निपिण्डैः सन्दंशैस्त्वचि निष्कुषन्ति ॥१९॥ यस्त्विह वा अगम्यां स्त्रियमगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयन्ति स्त्रियं च पुरुषरूपया सूर्म्या ॥२०॥ यस्त्विह वै सर्वाभिगमस्तममुत्र निरये वर्तमानं वज्रकण्टकशाल्मलीमारोप्य निष्कर्षन्ति ॥२१॥

ये त्विह वै राजन्या राजपुरुषा वा अपाखण्डा धर्मसेतून् भिन्दन्ति ते सम्परेत्य वैतरण्यां निपतन्ति भिन्नमर्यादास्तस्यां निरयपरिखाभूतायां नद्यां यादोगणैरितस्ततो भक्ष्यमाणा आत्मना न वियुज्यमानाश्चासुभिरुह्यमानाः स्वाघेन कर्मपाकमनुस्मरन्तो विण्मूत्रपूयशोणितकेशनखास्थिमेदोमांसवसावाहिन्यामुपतप्यन्ते ॥२२॥ ये त्विह वै वृषलीपतयो नष्टशौचाचारनियमास्त्यक्तलज्जाः पशुचर्यां चरन्ति ते चापि प्रेत्य पूयविण्मूत्रश्लेष्ममलापूर्णार्णवे निपतन्ति तदेवातिबीभत्सितमश्नन्ति ॥२३॥ ये त्विह वै श्वगर्दभपतयो ब्राह्मणादयो मृगयाविहारा अतीर्थे च मृगान्निघ्नन्ति तानपि सम्परेताँल्लक्ष्यभूतान् यमपुरुषा इषुभिर्विध्यन्ति ॥२४॥

ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति तानमुष्मिँल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति ॥२५॥ यस्त्विह वै सवर्णां भार्यां द्विजो रेतः पाययति काम-

---

नहीं कर लेता, तबतक उन कीड़ोंसे भक्षित होता हुआ और स्वयं भी उन्हींको खाता हुआ अपने शरीरको पीडित करता है ॥ १८ ॥ हे राजन्! जो प्राणी इस लोकमें किसी प्रकारकी आपत्ति न आनेपर भी चोरी तथा जबर्दस्ती ब्राह्मण या किसी अन्य पुरुषके सुवर्ण तथा रत्नादिका हरण करता है, उसे परलोकमें यमदूत लोहेके तपाये हुए गोलोंसे दागते और संड़सीसे उसकी त्वचा नोचते हैं ॥ १९ ॥ इस लोकका यदि कोई पुरुष अगम्या स्त्रीके साथ सम्भोग करता है तो यमदूत उसे कोड़ेसे पीटते तथा तपाये हुए लोहेकी स्त्री-प्रतिमासे और यदि कोई स्त्री अगम्य पुरुषके साथ व्यभिचार करती है तो उस स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-प्रतिमासे आलिंगन कराते हैं ॥२०॥ जो प्राणी इस लोकमें पशु आदिके साथ व्यभिचार करता है तो उसे परलोकमें नरक प्राप्त होनेपर यमके दूत वज्रके सदृश कठोर कण्टकोंसे पूर्ण सेमरके वृक्षपर चढ़ाकर नीचेकी ओर खींचते हैं ॥ २१ ॥ जो राजा अथवा राजपुरुष इस लोकके श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेकर भी धर्ममर्यादाका उच्छेद करते हैं, वे मरनेके बाद मर्यादाहीन होकर वैतरणी नदीमें जा गिरते हैं, जो कि नरककी खाईके सदृश है। वहाँ उन्हें इधर-उधरसे वहाँके जलचर नोचते हैं तो भी उनके शरीरका अन्त नहीं होने आता और वे अपने पापोंके कारण विष्ठा, मूत्र, पीब, केश, नख, अस्थि, मेद, मांस तथा वसा आदिसे पूर्ण उस घृणित नदीमें प्राणों सहित बहते हुए उसे अपने कर्मोंका फल समझकर अत्यन्त सन्तप्त होते हैं ॥ २२ ॥ जो लोग शौच तथा आचारके नियमोंसे भ्रष्ट हो तथा लज्जा त्यागकर इस लोकमें शूद्राओंके पति बनकर पशुकी भाँति आचरण करते हैं, वे भी मरनेके बाद पीब, विष्ठा, मूत्र, कफ तथा मलसे भरे समुद्रमें गिरकर उन अतिशय घृणित वस्तुओंका ही भक्षण करते हैं ॥ २३ ॥ जो ब्राह्मणादि उच्चवर्णके लोग इस लोकमें कुत्ते तथा गधे आदि निन्द्य जीवोंको पालते और मृगया आदिमें लगे रहते तथा यज्ञादि-विहित कर्मोंके अतिरिक्त अन्यत्र भी पशुओंका वध करते हैं। उन्हें मरनेके बाद यमके दूत लक्ष्य बनाकर बाणोंसे छेदते हैं ॥ २४ ॥ जो पाखण्डी पाखण्डपूर्ण यज्ञोंमें पशु मारते हैं, उन्हें परलोकमें वैशस नरकमें डालकर वहाँके अधिकारी उनको बहुत पीड़ा देते हुए काटते हैं ॥ २५ ॥ जो पुरुष द्विजाति होकर भी कामातुर हो अपने ही वर्णकी स्त्रीको वीर्यपान कराता है तो उस पापीको यमके दूत परलोकमें रेतःकुल्या नामक नरकमें डालकर उसे भी

मोहितस्तं पापकृतममुत्र रेतःकुल्यायां पातयित्वा रेतः सम्पाययन्ति ॥२६॥ ये त्विह वै दस्यवोऽग्निदा गरदा ग्रामान् सार्थान् वा विलुम्पन्ति राजानो राजभटा वा तांश्चापि हि परेत्य यमदूता वज्रदंष्ट्राः श्वानः सप्तशतानि विंशतिश्च सरभसं खादन्ति ॥२७॥

यस्त्विह वा अनृतं वदति साक्ष्ये द्रव्यविनिमये दाने वा कथञ्चित्स वै प्रेत्य नरकेऽवीचिमत्यधःशिरा निरवकाशे योजनशतोच्छ्रायाद्गिरिमूर्ध्नः सम्पात्यते यत्र जलमिव स्थलमश्मपृष्ठमवभासते तदवीचिमत्तिलशो विशीर्यमाणशरीरो न म्रियमाणः पुनरारोपितो निपतति ॥२८॥

यस्त्विह वै विप्रो राजन्यो वैश्यो वा सोमपीथस्तत्कलत्रं वा सुरां व्रतस्थोऽपि वा पिबति प्रमादतस्तेषां निरयं नीतानामुरसि पदाऽऽक्रम्यास्ये वह्निना द्रवमाणं कार्ष्णायसं निषिञ्चन्ति ॥२९॥ अथ च यस्त्विह वा आत्मसम्भावनेन स्वयमधमो जन्मतपोविद्याचारवर्णाश्रमवतो वरीयसो न बहु मन्येत स मृतक एव मृत्वा क्षारकर्दमे निरयेऽवाक्शिरा निपातितो दुरन्ता यातना ह्यश्नुते ॥३०॥

ये त्विह वै पुरुषाः पुरुषमेधेन यजन्ते याश्च स्त्रियो नृपशून् खादन्ति तांश्च ते पशव इव निहता यमसदने यातयन्तो रक्षोगणाः सौनिका इव स्वधितिनावदार्यासृक् पिबन्ति नृत्यन्ति च गायन्ति च हृष्यमाणा यथेह पुरुषादाः ॥३१॥ ये त्विह वा अनागसोऽरण्ये ग्रामे वा वैश्रम्भकैरुपसृतानुपविश्रम्भय्य जिजीविषून्छूलसूत्रादिषूपप्रोतान् क्रीडनकतया यातयन्ति तेऽपि च प्रेत्य यमयातनासु शूलादिषु प्रोतात्मानः क्षुत्तृड्भ्यां चाभिहताः कङ्कवटादिभिश्चेतस्ततस्तिग्मतुण्डैराहन्यमाना आत्मशमलं स्मरन्ति ॥३२॥

वीर्य ही पिलाते हैं ॥ २६ ॥ जो चोर, राजा तथा राजपुरुष इस लोकमें किसीके घरमें आग लगा देते, किसीको विष खिला देते अथवा गाँवों या व्यापारियोंके गरोहको लूट लेते हैं तो उनको भी मरनेके बाद वज्रके सदृश दाढ़ोंवाले सातसौ बीस कुत्तेके स्वरूपवाले यमदूत बड़े क्रूर होकर नोचने लगते हैं ॥ २७ ॥ जो प्राणी किसीकी गवाही देनेमें, धनके आदान-प्रदान अथवा दान देनेके समय किसी तरह झूठ बोलता है तो वह मरनेके बाद आधारशून्य अवीचिमत् नरकमें पहुँचाया जाकर सौ योजन ऊँचे पर्वतके शिखरसे नीचेको सिर करके ढकेल दिया जाता है। जहाँ स्थलकी पथरीली जमीन ही जलकी तरह दीखती है, वह अवीचिमत् नरक कहलाता है। वहाँ गिराये जानेके बाद शरीरके टुकड़े-टुकड़े होकर भी वह नहीं मरता और उसे बारम्बार ऊपर लेजाकर नीचे गिराया जाता है ॥२८॥ जो सोमरस पीनेवाला ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा उनकी स्त्री यज्ञव्रत ग्रहण करके भी प्रमादवश मदिरा पीती हैं, उनको यमके दूत नरकमें ले जाते और उनकी छातीपर पाँव रखकर उनके मुँहमें आगसे तपाकर लाल किया हुआ गरम लोहा डालते हैं ॥ २९ ॥ जो प्राणी इस लोकमें निम्नश्रेणीका होकर भी अपनेको बड़ा मानता और जन्म, तप, विद्या, आचार, वर्ण या आश्रममें अपनेसे बड़ोंका सत्कार नहीं करता, वह जीता हुआ भी मुर्देके समान रहता है। वह प्राणी मरनेके बाद क्षारकर्दम नामके नरकमें नीचेको मुख करके गिरा दिया जाता है और वहाँ उसे अगणित पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं ॥ ३० ॥ इस लोकमें जो पुरुष नरमेधादि यज्ञके द्वारा यजन करते तथा जो स्त्रियाँ पुरुष-पशुओंको खाती हैं, उन्हें पशुके समान वे मारे हुए पशु यमलोकमें राक्षस बनकर विविध प्रकारकी यातनाएँ देते और व्याधोंकी तरह अपने शस्त्रोंसे काट-काटकर उनका लोहू पीते ह। जैसे वे मांसभोजी पुरुष इस लोकमें उनका मांस खाकर आनन्दित होते थे, वैसे ही वे पशु उनका रक्त पीते और आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं ॥३१॥ जो पुरुष इस लोकमें वन या गाँवके निरपराध जीवोंको, जो अपने प्राणोंकी रक्षा चाहते हैं, उन्हें अनेक उपायोंसे विश्वास दिला तथा अपने पास आनेपर धोखेसे पकड़कर काँटे या सूत्रादिमें पिरोकर खेल करते हुए सताते हैं तो वे मरनेपर यमयातनाओंके समय शूलसे बींधे

ये त्विह वै भूतान्युद्वेजयन्ति नरा उल्बणस्वभावा यथा दन्दशूकास्तेऽपि प्रेत्य नरके दन्दशूकाख्ये निपतन्ति यत्र नृप दन्दशूकाः पञ्चमुखाः सप्तमुखा उपसृत्य ग्रसन्ति यथा बिलेशयान् ॥३३॥ ये त्विह वा अन्धावटकुसूलगुहादिषु भूतानि निरुन्धन्ति तथामुत्र तेष्वेवोपवेश्य सगरेण वह्निना धूमेन निरुन्धन्ति ॥३४॥ यस्त्विह वा अतिथीनभ्यागतान् वा गृहपतिरसकृदुपगतमन्युर्दिधक्षुरिव पापेन चक्षुषा निरीक्षते तस्य चापि निरये पापदृष्टेरक्षिणी वज्रतुण्डा गृध्राः कङ्ककाकवटादयः प्रसह्योरुबलादुत्पाटयन्ति ॥३५॥

यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहङ्कृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सवतोऽभिविशङ्की अर्थव्ययनाशचिन्तया परिशुष्यमाणहृदयवदनो निर्वृतिमनवगतो ग्रह इवार्थमभिरक्षति स चापि प्रेत्य तदुत्पादनोत्कर्षणसंरक्षणशमलग्रहः सूचीमुखे नरके निपतति यत्र ह वित्तग्रहं पापपुरुषं धर्मराजपुरुषा वायका इव सर्वतोऽङ्गेषु सूत्रैः परिवयन्ति ॥३६॥

एवंविधा नरका यमालये सन्ति शतशः सहस्रशस्तेषु सर्वेषु च सर्व एवाधर्मवर्तिनो ये केचिदिहोदिता अनुदिताश्चावनिपते पर्यायेण विशन्ति तथैव धर्मानुवर्तिन इतरत्र इह तु पुनर्भवे त उभयशेषाभ्यां निविशन्ति ॥३७॥

निवृत्तिलक्षणमार्ग आदावेव व्याख्यातः ॥ एतावानेवाण्डकोशो यश्चतुर्दशधा पुराणेषु विकल्पित उपगीयते यत्तद्भगवतो नारायणस्य साक्षान्महापुरुषस्य स्थविष्ठं रूपमात्ममायागुणश्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद ॥३८॥

जाते हैं। तब भूख-प्याससे व्याकुल तथा कंक, बक आदि तीखी चोंचके पक्षियों द्वारा नोचे जानेपर वे अपने पुराने पापोंका स्मरण करते हैं ॥ ३२ ॥ हे राजन्! जो इस लोकमें सर्पोंके सदृश उग्रस्वभाववाले पुरुष प्राणियोंको दुःख देते हैं, वे स्वयं भी मरनेके बाद दन्दशूक नरकमें जा गिरते हैं, जहाँ पाँच-पाँच तथा सात-सात मुखके सर्प उनके समीप आकर उन्हें चूहोंकी भाँति निगल जाते हैं ॥ ३३ ॥ जो व्यक्ति यहाँ अन्य प्राणियोंको अँधेरे गढ़ों, कोठों अथवा कारागृहोंमें मूँद देते हैं, उन्हें यमदूत मरनेके अनन्तर वैसे ही स्थानोंमें मूँदकर विषैले अग्निसे निकलते धुयेंमें घोटते हैं ॥ ३४ ॥ जो गृहस्थ पुरुष इस लोकमें अतिथि तथा अभ्यागतोंकी ओर बार-बार क्रोधमें भरकर—मानो भस्म करना चाहता हो—ऐसी कुटिल दृष्टिसे देखता है तो नरकमें जानेके बाद उस पापदृष्टिके नेत्रोंको गृध्र, कंक, काक तथा वट आदि वज्रके समान तीखी चोंचोंके पक्षी बरबस निकाल लेते हैं ॥ ३५ ॥ इस लोकमें जो पुरुष अपनेको धनाढ्य मानकर अभिमानके साथ सबको टेढ़ी नजरसे देखता है, जिसका सब लोगोंपर सन्देह बना रहता है, जिसका धनके व्यय और नाशकी चिन्तासे हृदय तथा मुख सूखा रहता है, अतएव कुछ भी सुख न मानकर जो यक्षकी भाँति धनकी रक्षामें ही लौलीन रहता है, वह भी मरनेके बाद उसके अर्जन, वर्धन तथा संरक्षणकी चिन्तासे ग्रस्त होता हुआ सूचीमुख नरकमें जा गिरता है, वहाँ उस धनलोलुप पापी पुरुषके सब अंगोंको यमराजके दूत दर्जियोंके सदृश सुई और धागेसे सीते हैं ॥ ३६ ॥ हे राजन्! यमलोकमें इस तरहके सैकड़ों और हजारों नरक हैं। उन सबमें, जिनकी यहां चर्चा की गयी है और जिनके विषयमें कुछ भी नहीं कहा गया है, वे सभी अधर्मी जीव अपने कर्मोंके फल भोगनेको वहाँ जाते हैं। इसी तरह सभी धर्मात्मा स्वर्गादि अन्य लोकोंमें जाते और पाप-पुण्योंके क्षीण हो जानेपर वे फिर इसी लोकमें लौट आते हैं ॥ ३७ ॥ हे राजन्! निवृत्तिमार्गका वर्णन तो मैं द्वितीय स्कन्धमें ही कर आया हूँ। पुराणोंमें जिसको चौदह भुवन कहकर वर्णन किया गया है, वह ब्रह्माण्डकोश इतना ही है। साक्षात् परमपुरुष भगवान नारायणका उनकी मायाके गुणोंसे युक्त स्थूलरूप मैंने तुमको बता दिया। जो प्राणी इसे पढ़ता, सुनता अथवा सुनाता है, वह इस पवित्र श्रद्धा-भक्तिके अवलम्बसे शुद्धबुद्धि होकर

श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः । स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेदिति ३९

भूद्वीपवर्षसरिदद्रिनभःसमुद्रपातालदिङ्नरकभागणलोकसंस्था ।

गीता मया तव नृपाद्भुतमीश्वरस्य स्थूलं वपुः सकलजीवनिकायधाम ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पञ्चमस्कन्धे नरकानुवर्णनं नाम षडविंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

अनधिकारी होनेपर भी भगवानके उपनिषदों द्वारा वर्णन किये गये स्वरूपको समझ लेता है ॥ ३८ ॥ यतिका कर्त्तव्य है कि वह भगवानके स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों रूपोंका श्रवणकर पहले स्थूलरूपमें अपना चित्त स्थिर करे। फिर वहाँसे धीरे-धीरे हटाकर उसे सूक्ष्मरूपमें लगावे ॥ ३९ ॥ हे राजन्! मैंने पृथिवी, द्वीप, वर्ष, नदियाँ, पर्वत, आकाश, समुद्र, पाताल, दिशा, नरक, ज्योतिर्गण तथा सब लोकोंकी स्थितिका वर्णन कर दिया। यही समस्त जीवसमुदायका आश्रय तथा भगवानका अतिशय अद्भुत और स्थूल शरीर है ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पंचमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां षड्विंशतिमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

पञ्चमः स्कन्धः समाप्तः ।



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी'भाषाटीकासहितम् ।

षष्ठस्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

निवृत्तिमार्गः कथित आदौ भगवता यथा । क्रमयोगोपलब्धेन ब्रह्मणा यदसंसृतिः ॥१॥
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव त्रैगुण्यविषयो मुने । योऽसावलीनप्रकृतेर्गुणसर्गः पुनः पुनः ॥२॥
अधर्मलक्षणा नाना नरकाश्चानुवर्णिताः । मन्वन्तरश्च व्याख्यात आद्यः स्वायम्भुवो यतः ॥३॥
प्रियव्रतोत्तानपदोर्वंशस्तच्चरितानि च । द्वीपवर्षसमुद्राद्रिनद्युद्यानवनस्पतीन् ॥४॥
धरामण्डलसंस्थानं भागलक्षणमानतः । ज्योतिषां विवराणां च यथेदमसृजद्विभुः ॥५॥
अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः । नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥६॥

श्रीशुक उवाच

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः ।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥७॥

(अजामिलोपाख्यान) इतनी कथा सुन लेनेके बाद राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन् ! जिस मार्गसे चलकर साधक क्रमशः अर्चि आदि मार्गोंसे ब्रह्मलोकमें पहुँच जाता और वहाँ ब्रह्माके साथ मोक्ष प्राप्त कर लेता है, उस निवृत्तिमार्गको आप द्वितीय स्कन्धमें ही कह आये हैं ॥ १ ॥ हे मुने ! जिसके द्वारा प्राणीको त्रिगुणमय स्वर्गादिलोक ही प्राप्त होते हैं और जिसके कारण प्रकृतिके सम्बन्धमें बँधे पुरुषोंको पुनः पुनः जन्म-मरणके चक्करमें पड़ना पड़ता है, उस प्रवृत्तिमार्गका भी आपने तृतीय स्कन्धमें भली भाँति वर्णन किया है ॥ २ ॥ इनके अतिरिक्त आपने अधर्मस्वरूप अनेक नरकोंका और जिसके आदिमें स्वायम्भुव मनु हुए हैं, उस प्रथम मन्वन्तरका भी वृत्तान्त बताया ॥ ३ ॥ प्रियव्रत तथा उत्तानपादके वंशों, उनके चरित्रों एवं द्वीप, वर्ष, पर्वत, नदी, उद्यान तथा वृक्षादिका भी निरूपण कर दिया है ॥ ४ ॥ विभाग, लक्षण तथा परिमाण सहित सारे भूमण्डलकी स्थिति, नक्षत्रगण, अतलादि भूविवर तथा जिस तरह भगवानने इन सबकी रचना की थी, वह सब भी आपने सुनाया ॥ ५ ॥ हे महाभाग ! अब आप मुझे वह उपाय बताइए, जिससे विविध प्रकारकी भयंकर यातनाओंसे परिपूर्ण नरकोंमें मनुष्यको न जाना पड़े ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! जो प्राणी मन, वचन और शरीरसे किये पापोंका इसी जन्ममें प्रायश्चित्त नहीं कर लेता तो उसे मरनेके बाद मेरे कहे हुए भयंकर यातनापूर्ण नरकोंमें अवश्यमेव जाना पड़ेगा

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ यतेत मृत्योरविपद्यताऽऽत्मना ।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित् ॥८॥

राजोवाच

दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं जानन्नप्यात्मनोऽहितम् । करोति भूयो विवशः प्रायश्चित्तमथो कथम् ॥९॥
क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत्पुनः । प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते । अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥११॥
नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि । एवं नियमकृद्राजञ्छनैः क्षेमाय कल्पते ॥१२॥
तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च । त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च ॥१३॥
देहवाग्बुद्धिजं धीरा धर्मज्ञाः श्रद्धयान्विताः । क्षिपन्त्यघं महदपि वेणुगुल्ममिवानलः ॥१४॥
केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणः । अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥१५॥
न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥१६॥
सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः । सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥१७॥
प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् । न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः ॥१८॥
सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ॥१९॥

॥ ७ ॥ अतएव जैसे रोगोंके निदानका ज्ञाता वैद्य दोषोंका गौरव-लाघव देखकर ही उनकी चिकित्सा करता है, वैसे ही मनुष्य मृत्युमुखमें जानेके पहले ही जबतक उसका शरीर क्षीण न हो जाय, तभी पापोंसे छूटनेका उपाय कर ले ॥ ८ ॥ राजा परीक्षित् बोले—हे मुने ! प्रत्यक्ष देखे और शास्त्रादिके द्वारा सुने हुए दुःखोंसे पापको अपना परम शत्रु समझकर भी जो पुरुष विवश होकर बारबार उसीमें प्रवृत्त होता है, उसके पापोंका प्रायश्चित्त भला कैसे हो सकेगा ॥ ९ ॥ यदि वह कभी प्रायश्चित्तादि द्वारा पापसे छुटकारा पाता भी है तो फिर पाप करने लग जाता है। अतएव उसके प्रायश्चित्तको तो मैं हाथीके स्नानकी भाँति व्यर्थ ही समझता हूँ ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! कृच्छ्रचान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तोंको करनेसे पापकर्मोंका सदाके लिए नाश नहीं हो सकता। क्योंकि उनका अधिकारी अज्ञानी ही होता है। अविद्याका नाश न होनेके कारण उससे फिर पाप-कर्म तो होंगे ही। इसलिये सच्चा प्रायश्चित्त तो भगवत्स्वरूपका ज्ञान ही है ॥ ११ ॥ जो पुरुष सदा पथ्यान्न खाता है, उसपर रोगोंका आक्रमण नहीं होता। इसी तरह हे राजन् ! नियमानुसार आचरण करनेवाला प्राणी धीरे-धीरे कल्याण प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाया करता है ॥ १२ ॥ जैसे बाँसोंके वनमें प्रगटा दावानल उन्हें जलाकर भस्म कर डालता है, वैसे ही धर्मज्ञ तथा श्रद्धावान् धीर पुरुष तप, ब्रह्मचर्य, शम, दम, दान, सत्य, शौच, यम और नियम—इन नौ साधनों द्वारा अपने मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किये हुए बड़े महान् पापोंको भी नष्ट कर डालते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥ कुछ भगवत्परायण पुरुष एकमात्र भक्तिके द्वारा अपने पापोंको उसी तरह ध्वंस कर देते हैं जैसे सूर्य कुहरेको नष्ट कर देता है ॥ १५ ॥ हे राजन् ! पापी पुरुष अपनी सब इन्द्रियोंको भगवानमें लगाकर उनके भक्तोंका संग करके जिस तरह शुद्ध होता है वैसा तप आदि अन्य उपायोंसे शुद्ध नहीं हो पाता ॥१६॥ संसारमें वह भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ, कल्याणमय तथा भयरहित है, जिसपर कि नारायण-परायण सुशील साधुपुरुष चलते हैं ॥ १७ ॥ हे राजेश्वर ! जैसे नदियाँ मद्यके घड़ेको पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसे ही भगवानसे विमुख पुरुषको उसके द्वारा किये प्रायश्चित्त कदापि शुद्ध नहीं कर पाते ॥ १८ ॥ जिन्होंने भगवद्गुणमें अपने आसक्त करके चित्तको एक बार भी श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलमें

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । दूतानां विष्णुयमयोः संवादस्तं निबोध मे ॥२०॥
कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीपतिरजामिलः । नाम्ना नष्टसदाचारो दस्युः संसर्गदूषितः ॥२१॥
बन्ध्यक्षकैतवैश्चौर्यैर्गर्हितां वृत्तिमास्थितः । बिभ्रत्कुटुम्बमशुचिर्यातयामास देहिनः ॥२२॥
एवं निवसतस्तस्य लालयानस्य तत्सुतान् । कालोऽत्यगान्महान् राजन्नष्टाशीत्यायुषः समाः २३
तस्य प्रवयसः पुत्रा दश तेषां तु योऽवमः । बालो नारायणो नाम्ना पित्रोश्च दयितो भृशम् ।२४
स बद्धहृदयस्तस्मिन्नर्भके कलभाषिणि । निरीक्षमाणस्तल्लीलां मुमुदे जरठो भृशम् ॥२५॥
भुञ्जानः प्रपिबन् खादन् बालकस्नेहयन्त्रितः । भोजयन् पाययन् मूढो न वेदागतमन्तकम् ॥२६॥
स एवं वर्तमानोऽज्ञो मृत्युकाल उपस्थिते । मतिं चकार तनये बाले नारायणाह्वये ॥२७॥
स पाशहस्तांस्त्रीन् दृष्ट्वा पुरुषान् भृशदारुणान् । वक्रतुण्डानूर्ध्वरोम्ण आत्मानं नेतुमागतान् ॥२८॥
दूरे क्रीडनकासक्तं पुत्रं नारायणाह्वयम् । प्लावितेन स्वरेणोच्चैराजुहावाकुलेन्द्रियः ॥२९॥
निशम्य म्रियमाणस्य ब्रुवतो हरिकीर्तनम् । भर्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसाऽऽपतन् ॥३०॥
विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् । यमप्रेष्यान् विष्णुदूता वारयामासुरोजसा ॥३१॥
ऊचुर्निषेधितास्तांस्ते वैवस्वतपुरःसराः । के यूयं प्रतिषेद्धारो धर्मराजस्य शासनम् ॥३२॥
कस्य वा कुत आयाताः कस्मादस्य निषेधथ । किं देवा उपदेवा वा यूयं किं सिद्धसत्तमाः ॥३३॥

लगा दिया है, वे यमराज और पाशयुक्त हाथोंवाले यमदूतोंको स्वप्नमें भी नहीं देखते। क्योंकि ऐसा करनेसे ही उनके सब पापोंका प्रायश्चित्त हो जाया करता है॥ १९॥ हे राजन्! इस प्रसङ्गमें लोग विष्णुभगवान तथा यमराजके दूतोंका संवादस्वरूप एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं, सो मुझसे सुनो॥ २०॥ कान्यकुब्ज नगरमें अजामिल नामका एक दासीपति ब्राह्मण रहता था। दासीके संसर्गसे दूषित हो जाने जानेके कारण उसका सारा सदाचार नष्ट हो चुका था॥ २१॥ वह सब तरहसे अपवित्र था और निन्दनीय वृत्तिका आश्रय लेकर पथिकोंको बाँध लेना, जूआ खेलना, धोखा देना और चोरी करना आदि गर्हित उपायोंसे वह अपने कुटुम्बका पालन करता हुआ अन्य प्राणियोंको दुःख देता रहता था॥ २२॥ हे राजन्! इस तरह वहाँ रहकर उस दासीके बालकोंका लालन-पालन करते हुए उसकी आयुका बहुत बड़ा भाग अर्थात् अस्सी वर्षका समय निकल गया॥ २३॥ उस वृद्ध और पापी अजामिलके दस बेटे थे। उनमें नारायण नामका जो सबसे छोटा बेटा था, वह अपने माता-पिताका बड़ा दुलारा था॥ २४॥ बूढ़ा अजामिल उस मृदुभाषी बालकमें आसक्त हो और उसके खेलवाड़ देख-देखकर बहुत प्रसन्न होता था॥ २५॥ बालक नारायणमें अत्यन्त स्नेहबद्ध रहनेके कारण वह ऐसा तन्मय हो गया था कि जब कभी कुछ खाने-पीने अथवा भक्षण करने लगता तो उसे भी अवश्य खिलाता-पिलाता था। इस तरह वह निकट आयी हुई अपनी मृत्युको भी एकदम भूल गया॥ २६॥ इस प्रकार व्यवहारमें प्रवृत्त उस अज्ञानीने मृत्युकाल उपस्थित होनेपर अपने 'नारायण' नामके पुत्रमें ध्यान लगाया॥ २७॥ इतनेमें उसने देखा कि उसे लेजानेके लिये तीन बड़े भयानक पुरुष हाथोंमें पाश लिये वहाँ आये हैं। उनके मुख टेढ़े-टेढ़े हैं और रोयें खड़े हैं। उन्हें देखकर उसने अति विह्वलभावसे खेलमें लगे हुए अपने पुत्र नारायणको बड़े उच्चस्वरसे चिल्लाकर पुकारा॥ २८॥ २९॥ हे राजन्! इस तरह अपने स्वामीका नाम सुन तथा मरते समय उसे हरिकीर्तन करता जानकर वहाँ सहसा विष्णुभगवानके पार्षद आ पहुँचे॥ ३०॥ उन विष्णुपार्षदोंने दासीपति अजामिलके अन्तःकरणमेंसे प्राण खींचनेवाले यमदूतोंको उसी समय बलपूर्वक रोका॥ ३१॥ उनके रोकनेपर यमदूतोंने कहा—'अरे! धर्मराजकी आज्ञाको टालनेवाले तुम लोग कौन हो?॥ ३२॥ तुम किसके दूत हो? कहाँसे आ रहे हो? और हमें इसे ले जानेसे

सर्वे पद्मपलाशाक्षाः पीतकौशेयवाससः । किरीटिनः कुण्डलिनो लसत्पुष्करमालिनः ॥३४॥
सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः । धनुर्निषङ्गासिगदाशङ्खचक्राम्बुजश्रियः ॥३५॥
दिशो वितिमिरालोकाः कुर्वन्तः स्वेन रोचिषा । किमर्थं धर्मपालस्य किङ्करान्नो निषेधथ ॥३६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ते यमदूतैस्तैर्वासुदेवोक्तकारिणः । तान् प्रत्यूचुः प्रहस्येदं मेघनिर्ह्रादया गिरा ॥३७॥

विष्णुदूता ऊचुः

यूयं वै धर्मराजस्य यदि निर्देशकारिणः । ब्रूत धर्मस्य नस्तत्त्वं यच्च धर्मस्य लक्षणम् ॥३८॥
कथंस्विद् ध्रियते दण्डः किं वास्य स्थानमीप्सितम् । दण्ड्याः किं कारिणः सर्वे आहोस्वित्कतिचिन्नृणाम्

यमदूता ऊचुः

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः । वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम ॥४०॥
येन स्वधाम्न्यमी भावा रजःसत्त्वतमोमयाः । गुणनामक्रियारूपैर्विभाव्यन्ते यथातथम् ॥४१॥
सूर्योऽग्निः खं मरुद्गावः सोमः सन्ध्याहनी दिशि । कं कुः कालो धर्म इति ह्येते दैह्यस्य साक्षिणः ॥४२॥
एतैरधर्मो विज्ञातः स्थानं दण्डस्य युज्यते । सर्वे कर्मानुरोधेन दण्डमर्हन्ति कारिणः ॥४३॥
सम्भवन्ति हि भद्राणि विपरीतानि चानघाः । कारिणां गुणसङ्गोऽस्ति देहवान्न ह्यकर्मकृत् ॥४४॥
येन यावान् यथाधर्मो धर्मो वेह समीहितः । स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै ॥४५॥
यथेह देवप्रवरास्त्रैविध्यमुपलभ्यते । भूतेषु गुणवैचित्र्यात्तथान्यत्रानुमीयते ॥४६॥

क्यों रोकते हो ? क्या तुम कोई देव, उपदेव तथा सिद्धश्रेष्ठ हो ? ॥ ३३ ॥ क्योंकि तुम सब लोगोंके नेत्र कमलदलके सदृश हैं । तुम सब रेशमी पातीम्बर, मुकुट, कुण्डल तथा कमलकुसुमके हारोंसे अलंकृत हो ॥ ३४ ॥ तुम सभी नवयौवन युक्त हो, तुम सभीके चार-चार भुजाएँ हैं और सबके करकमलोंमें धनुष, तरकस, खड्ग, गदा, शंख, चक्र तथा पद्मादि सुशोभित हैं ॥ ३५ ॥ अहो ! तुम लोगोंने अपनी कान्तिसे सब दिशाओंका अन्धकार नष्ट करके उन्हें आलोकित कर दिया है । हम धर्मराजके किंकर हैं, हमको तुम लोग क्यों रोक रहे हो ? ॥ ३६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! यम-दूतोंके यह कहनेपर भगवान वासुदेवके आज्ञाकारी उन विष्णुपार्षदोंने हँसकर अपनी मेघकी भाँति गम्भीर वाणीमें कहा ॥ ३७ ॥ विष्णुदूत कहने लगे—हे यमदूत ! यदि वास्तवमें तुमलोग धर्मराजके आज्ञाकारी हो तो धर्मका लक्षण और उसका तत्त्व हमको बताओ ॥ ३८ ॥ दण्ड कैसे दिया जाता है ? उसका योग्य पात्र कौन है ? मनुष्योंमें क्या सब लोग पापाचारी और दण्डनीय हैं या कि उनमेंसे कुछ लोग ही ऐसे हैं ? ॥ ३९ ॥ यमदूतोंने कहा–वेदविहित कर्म ही धर्म है और उसके विपरीत कर्म अधर्म कहलाता है । क्योंकि साक्षात् भगवानके श्वासरूपसे स्वयं प्रकट हुआ वेद नारायण ही है, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ ४० ॥ उस वेदसे ही भगवानके स्वरूपमें स्थित इन सत्त्व, रज तथा तमोमय प्राणियोंका उनके गुण, नाम, कर्म एवं रूपादिके क्रमसे यथोचित विभाग होता है ॥४१॥ जीवके शुभाशुभ कर्मोंका ज्ञान करानेके लिये सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, देवता, चन्द्रमा, सन्ध्या, रात्रि-दिन, दसों दिशाएँ, जल, पृथ्वी, काल तथा धर्म—ये जीवके कर्मोंके साक्षी कहे गये हैं ॥ ४२ ॥ इनके द्वारा बतलाये अधर्म करनेवाले प्राणी अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार दण्डनीय होते हैं ॥ ४३ ॥ हे निष्पाप ! सभी कर्म करनेवाले प्राणी गुणोंसे सम्बद्ध रहते हैं, अतएव सभीसे शुभ तथा अशुभ कर्म बन सकते हैं। कोई देहधारी कर्म किये बिना नहीं रह सकता ॥ ४४ ॥ इस लोकमें जिसके द्वारा जैसा और जितना धर्म या अधर्म होता है, वह परलोकमें उसका उतना और वैसा ही फल भोगता है ॥ ४५ ॥ हे देवश्रेष्ठगण ! गुणोंकी विभिन्नतासे जैसे इस

वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा । एवं जन्मान्ययोरेतद्धर्माधर्मनिदर्शनम् ॥४७॥
मनसैव पुरे देवः पूर्वरूपं विपश्यति । अनुमीमांसतेऽपूर्वं मनसा भगवानजः ॥४८॥
यथाज्ञस्तमसा युक्त उपास्ते व्यक्तमेव हि । न वेद पूर्वमपरं नष्टजन्मस्मृतिस्तथा ॥४९॥
पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान् पञ्च वेदाथ पञ्चभिः । एकस्तु षोडशेन त्रीन् स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥५०॥
तदेतत् षोडशकलं लिङ्गं शक्तित्रयं महत् । धत्तेऽनुसंसृतिं पुंसि हर्षशोकभयार्तिदाम् ॥५१॥
देह्यज्ञोऽजितषड्वर्गो नेच्छन् कर्माणि कार्यते । कोशकार इवात्मनं कर्मणाऽऽच्छाद्य मुह्यति ॥५२॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशः कर्म गुणैः स्वाभाविकैर्बलात् ॥५३॥
लब्ध्वा निमित्तमव्यक्तं व्यक्ताव्यक्तं भवत्युत । यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ॥५४॥
एष प्रकृतिसङ्गेन पुरुषस्य विपर्ययः । आसीत् स एव नचिरादीशसङ्गाद्विलीयते ॥५५॥
अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः । धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवान्मन्त्रविच्छुचिः ॥५६॥
गुर्वग्न्यतिथिवृद्धानां शुश्रूषुर्निरहङ्कृतः । सर्वभूतसुहृत्साधुर्मितवागनसूयकः ॥५७॥
एकदासौ वनं यातः पितृसन्देशकृद् द्विजः । आदाय तत आवृत्तः फलपुष्पसमित्कुशान् ॥५८॥
ददर्श कामिनं कञ्चिच्छूद्रं सह भुजिष्यया । पीत्वा च मधु मैरेयं मदाघूर्णितनेत्रया ॥५९॥

लोकमें जीवोंके तीन भेद होते हैं, वैसे ही परलोकमें भी उनके अस्तित्वका अनुमान होता है ॥ ४६ ॥ जैसे वर्तमानकाल ही भूत और भविष्य इन दोनोंके गुणोंका ज्ञापक होता है, वैसे ही वर्तमान जन्म भी आगे-पीछेके जन्मोंके पाप-पुण्यका निर्देशक है ॥ ४७ ॥ यमराज सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान रहते हैं । इसलिए मनहीसे वे उसका पूर्वरूप देख लेते हैं । इसीसे उसके अपूर्वका भी वे अजन्मा भगवान मनहीसे विचार कर लिया करते हैं ॥ ४८ ॥ जैसे निद्रासे अभिभूत अज्ञानी पुरुष स्वप्नमें देखे कल्पित शरीरको ही सचमुचकी देह समझ लेता है, वैसे ही जीव पूर्वजन्मोंकी स्मृति नष्ट हो जानेके कारण वर्तमान शरीरके अतिरिक्त अन्य पहले-पिछले किसी भी जन्मके विषयमें कुछ जानकारी नहीं रखता ॥ ४९ ॥ वह अपनी पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा ग्रहण-त्यागादिरूपी भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्म करता, पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे पाँच ही विषयोंको जानता और सोलहवें मनके साथ स्वयं मिल करके वह मन, ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियके विषयोंका उपभोग करता है ॥ ५० ॥ इस प्रकार सोलह कलाओं तथा सत्त्वादि तीन गुणोंवाला यह दारुण लिंगदेह ही उसे बार-बार हर्ष, शोक, भय तथा पीड़ादायक जन्म-मरणके चक्करमें डालता है ॥ ५१ ॥ जिसने काम क्रोध आदि छः शत्रुओंको नहीं जीत पाया है, वह अज्ञानी जीव इच्छा न रहनेपर भी अलिङ्गशरीर द्वारा विविध कर्मोंमें नियुक्त किया जाता है। ऐसी दशामें वह कोशकार यानी रेशमके कीड़ेकी भाँति अपने आपको कर्मरूपी जालमें लपेटकर उसीमें मोहित हो जाया करता है ॥ ५२ ॥ बिना कर्म किये कोई जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता । प्रत्येक पुरुषके स्वाभाविक गुण ही उसके द्वारा बरबस कर्म कराते हैं ॥ ५३ ॥ अदृष्टरूप कारणको पाकर प्रबल कर्मवासनारूपी स्वभाव द्वारा योनि अर्थात् माता और बीज अर्थात् पिताके अनुरूप स्थूल अथवा सूक्ष्म शरीर प्रकट होता है ॥ ५४ ॥ प्रकृतिका संसर्ग होनेपर ही पुरुषको विपरीत भावना होती है। यह विपरीत भावना भगवानके भजनसे शीघ्र ही दूर भाग जाती है ॥ ५५ ॥ देखिये, यह अजामिल शास्त्रज्ञ, शील-सदाचार तथा सद्गुणोंका भण्डार, व्रतपालक, मृदुस्वभाव, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, मन्त्रवेत्ता, पवित्र आचरणवाला, गुरु-अग्नि-अतिथि तथा वृद्धजनोंकी सेवा करनेवाला, अहंकाररहित, सबका हितैषी, साधुस्वभाव, मितभाषी और असूयारहित यानी औरोंके गुणोंमें दोषदृष्टि न रखनेवाला प्राणी था ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ अपने पिताकी आज्ञापालन करनेवाला यह ब्राह्मण एक दिन वनको गया और वहाँसे फल, फूल, समिधा तथा कुशा लेकर घरको लौटा ॥ ५८ ॥ रास्तेमें इसने एक कामी, निर्लज्ज तथा आचारभ्रष्ट शूद्रको देखा, जो एक व्यभिचारिणी दासीके साथ मदिरा पी और उसीके पास बैठा

मत्तया विश्लथन्नीव्या व्यपेतं निरपत्रपम् । क्रीडन्तमनु गायन्तं हसन्तमनयान्तिके ॥६०॥
दृष्ट्वा तां कामलिप्तेन बाहुना परिरम्भिताम् । जगाम हृच्छयवशं सहसैव विमोहितः ॥६१॥
स्तम्भयन्नात्मनाऽऽत्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम् । न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम् ॥६२॥
तन्निमित्तस्मरव्याजग्रहग्रस्तो विचेतनः । तामेव मनसा ध्यायन् स्वधर्माद्विरराम ह ॥६३॥
तामेव तोषयामास पित्र्येणार्थेन यावता । ग्राम्यैर्मनोरमैः कामैः प्रसीदेत यथा तथा ॥६४॥
विप्रां स्वभार्यामप्रौढां कुले महति लम्भिताम् । विससर्जाचिरात्पापः स्वैरिण्यापाङ्गविद्धधीः ॥६५॥
यतस्ततश्चोपनिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम् । बभारास्याः कुटुम्बिन्याः कुटुम्बं मन्दधीरयम् ॥६६॥
यदसौ शास्त्रमुल्लङ्घ्य स्वैरचार्यतिगर्हितः । अवर्तत चिरं कालमघायुरशुचिर्मलात् ॥६७॥
तत एनं दण्डपाणेः सकाशं कृतकिल्बिषम् । नेष्यामोऽकृतनिर्वेशं यत्र दण्डेन शुद्ध्यति ॥६८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धेऽजामिलोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं ते भगवद्दूता यमदूताभिभाषितम् । उपधार्याथ तान् राजन् प्रत्याहुर्नयकोविदाः ॥१॥

विष्णुदूता ऊचुः

अहो कष्टं धर्मदृशामधर्मः स्पृशते सभाम् । यत्रादण्ड्येष्वपापेषु दण्डो यैर्ध्रियते वृथा ॥२॥

गाता तथा हँसता हुआ विहार कर रहा था। मदिरा पान करनेसे उस वेश्याके नेत्र घूम रहे थे और उन्मत्त होनेके कारण उसकी साड़ी कुछ सरक गयी थी ॥५९॥६०॥ इस तरह उस शूद्राके कामोद्दीपक अंगरागोंके द्वारा अनुलिप्त भुजाओंसे आलिंगित उस शूद्राको देखकर यह ब्राह्मण मोहवश सहसा कामदेवके वशीभूत हो गया ॥ ६१ ॥ अपने धैर्य तथा ज्ञानके अनुसार इसने कामवेग द्वारा अपने चंचल चित्तको बहुत कुछ रोकना चाहा, किन्तु यह उसे शान्त करनेमें समर्थ नहीं हुआ ॥ ६२ ॥ उस स्त्रीके निमित्तसे ही कामरूपी ग्रहसे ग्रस्त होकर यह स्मृतिशून्य हो गया और मनही मन उसीका ध्यान करता हुआ अपना धर्म खो बैठा ॥ ६३ ॥ तदनन्तर वह वेश्या जैसे मनोरम ग्राम्य विषयोंसे प्रसन्न हो सकती थी, उसी तरह इसने अपने पिताका सम्पूर्ण धन अर्पण करके उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा की ॥ ६४ ॥ उस स्वैरिणी वेश्याके कटाक्षसे नष्टबुद्धि होकर उस पापीने अपनी तरुणी तथा सत्कुलोत्पन्ना विवाहिता पत्नीको तुरन्त त्याग दिया ॥ ६५ ॥ वह मन्दमति जहाँ-तहाँसे न्याय-अन्यायका विचार न करके धन बटोर लाता और उस कुटुम्बिनी वेश्याके कुटुम्बका भरण-पोषण करता था ॥६६॥ हे विष्णुपार्षद ! इस पापीने शास्त्राज्ञाका उल्लंघन करके सज्जनों द्वारा निन्दित स्वेच्छाचारका अवलम्बन किया है। इसका सारा जीवन पापपूर्ण रहा। यह बहुत समयतक उस वेश्याका अन्नरूपी मल खाता हुआ अपवित्र रहा ॥ ६७ ॥ अतएव अब हम इसे दण्डपाणि यमराजके समीप ले जायँगे। क्योंकि इसने अपने पापोंका प्रायश्चित्त नहीं किया है। वहाँ यमराजके दिये दण्डको भोगनेसे यह शुद्ध हो जायगा ॥ ६८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(विष्णुके दूतों द्वारा भागवतधर्मका निरूपण और अजामिलकी परलोकयात्रा) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! यमदूतोंके वचन सुनकर न्यायनिपुण विष्णुपार्षद उनसे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥ विष्णुदूतोंने कहा—अहो ! बड़े खेदकी बात है कि धर्मात्माओंके समाजमें भी अधर्म घर कर रहा है। यही कारण है कि इनके द्वारा अदण्ड्य तथा निष्पाप व्यक्तियोंको भी नाहक दण्ड दिया जाता है

प्रजानां पितरो ये च शास्तारः साधवः समाः । यदि स्यात्तेषु वैषम्यं कं यान्ति शरणं प्रजाः ॥३॥
यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ ४ ॥
यस्याङ्के शिर आधाय लोकः स्वपिति निर्वृतः । स्वयं धर्ममधर्मं वा न हि वेद यथा पशुः ॥ ५ ॥
स कथं न्यर्पितात्मानं कृतमैत्रमचेतनम् । विश्रम्भणीयो भूतानां सघृणो द्रोग्धुमर्हति ॥ ६ ॥
अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि । यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥७॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् । यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥ ८ ॥
स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः । स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥ ९ ॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् । नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥१०॥

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभिस्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतैस्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥११॥
नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरेर्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥१२॥

अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् । यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥१३॥
साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा । वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥१४॥
पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः । हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥१५॥

॥ २ ॥ जो सज्जन प्रजाके माता-पिता, शिक्षक और समदर्शी हैं, यदि उनमें भी ऐसी विषम बुद्धि जागृत हो जाय तो भला प्रजा किसकी शरणमें जायगी ? ॥ ३ ॥ सत्पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य लोग भी उन्हींका अनुसरण करते हैं। वे जो आदर्श जनसाधारणके सामने रखते हैं, उसीका सब लोग अनुकरण किया करते हैं ॥ ४ ॥ जैसे पशु अपने स्वामीपर विश्वास करता है, वैसे ही सारा जगत् स्वयं धर्म-अधर्मको कुछ भी न समझ जिसकी गोदमें माथा रखकर निर्भयभावसे शयन करता है, वह अन्य जीवोंका विश्वासपात्र तथा दयालु होकर भी मित्र-भावसे अपनेपर विश्वास करके आत्मसमर्पण करनेवाले उन अज्ञ जीवोंका अनिष्ट भला कैसे कर सकेगा ? ॥ ५ ॥ ६ ॥ हे यमदूतगण ! इसने जो अभी विवशभावसे नारायणका मंगलमय नाम लिया है, उससे यह अपने करोड़ों जन्मोंके पापका प्रायश्चित्त कर चुका ॥ ७ ॥ जब इसने 'नारायण' यह चार अक्षरोंवाला नाम लिया, तभी इस पापीके सारे पापोंका प्रायश्चित्त हो गया ॥ ८ ॥ चोर, मद्यप, मित्रद्रोही, ब्रह्महत्यारा, गुरुस्त्रीगामी, स्त्री, राजा, माता-पिता तथा गौका हत्यारा एवं और भी जितने पापी हैं, उन सब पापियोंके लिये विष्णुभगवानका नाम लेना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। क्योंकि इससे भगवानके गुण, लीला और स्वरूपके विषयमें उनकी बुद्धि जागृत होती है ॥ ९ ॥ १० ॥ वेदवादी मनु आदिके बताये कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतके प्रायश्चित्तोंसे पापी पुरुष उतना शुद्ध नहीं होता, जितना कि भगवानके नामरूप पदोंका उच्चारण करनेसे होता है। क्योंकि हरिनामका स्मरण पुण्यकीर्ति भगवान्के गुणोंका ज्ञान कराता है ॥ ११ ॥ जो प्रायश्चित्त करनेपर भी चित्त असन्मार्गकी ओर दौड़े, वह चित्तको भली भाँति शुद्ध करनेवाला प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। अतएव पापकर्मोंकी अच्छी तरह निवृत्ति चाहनेवाले पुरुषोंको भगवानके गुणानुवाद गाना ही चाहिये। क्योंकि यह निश्चितरूपेण चित्त शुद्ध करता है ॥ १२ ॥ अतएव हे यमदूतगण ! इस अजामिलको तुम अपने साथ मत ले जाओ। इसने मरते समय 'नारायण' का नाम लिया है। इससे इसके सब पापोंका प्रायश्चित्त हो चुका है ॥ १३ ॥ क्योंकि संकेतसे, हँसीसे, गानका आलाप पूर्ण करनेके लिये अथवा अवहेलनापूर्वक लिया हुआ भी भगवानका नाम मनुष्यके सब पापोंको नष्ट कर देता है, इसे महापुरुष लोग जानते हैं ॥ १४ ॥ जो प्राणी ऊँचेसे गिरने, मार्गमें

गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च । प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥१६॥
तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः । नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥१७॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् । सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥१८॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया । अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥१९॥

श्रीशुक उवाच

त एवं सुविनिर्णीय धर्मं भागवतं नृप । तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन् ॥२०॥
इति प्रत्युदिता याम्या दूता यात्वा यमान्तिके । यमराज्ञे यथा सर्वमाचचक्षुररिन्दम ॥२१॥
द्विजः पाशाद्विनिर्मुक्तो गतभीः प्रकृतिं गतः । ववन्दे शिरसा विष्णोः किङ्करान्दर्शनोत्सवः ॥२२॥
तं विवक्षुमभिप्रेत्य महापुरुषकिङ्कराः । सहसा पश्यतस्तस्य तत्रान्तर्दधिरेऽनघ ॥२३॥
अजामिलोऽप्यथाकर्ण्य दूतानां यमकृष्णयोः । धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैविद्यं च गुणाश्रयम् ॥२४॥
भक्तिमान् भगवत्याशु माहात्म्यश्रवणाद्धरेः । अनुतापो महानासीत्स्मरतोऽशुभमात्मनः ॥२५॥
अहो मे परमं कष्टमभूदविजितात्मनः । येन विप्लावितं ब्रह्म वृषल्यां जायताऽऽत्मना ॥२६॥
धिङ्मां विगर्हितं सद्भिर्दुष्कृतं कुलकज्जलम् । हित्वा बालां सतीं योऽहं सुरापामसतीमगाम् ॥२७॥
वृद्धावनाथौ पितरौ नान्यबन्धू तपस्विनौ । अहो मयाधुना त्यक्तावकृतज्ञेन नीचवत् ॥२८॥
सोऽहं व्यक्तं पतिष्यामि नरके भृशदारुणे । धर्मघ्नाः कामिनो यत्र विन्दन्ति यमयातनाः ॥२९॥

फिसलने, अंग-भंग हो जाने, सर्पादिके डँस लेने, ज्वरादिसे सन्तप्त होने अथवा डंडे आदिसे पीटे जानेके समय विविश होकर भी 'हरि !' ऐसा कहता है तो वह दण्डका अधिकारी नहीं रह जाता ॥ १५ ॥ महर्षियोंने पापोंकी न्यूनाधिकता समझकर बड़े और छोटे पापोंके लिये क्रमशः बड़े और छोटे प्रकारके प्रायश्चित्त भी कहे हैं ॥ १६ ॥ उन तप, दान और जप आदि प्रायश्चित्तों द्वारा केवल पाप ही नष्ट होते हैं, पापीका पापविदूषित मन नहीं शुद्ध होने आता और भगवानके चरणोंकी सेवासे मन भी शुद्ध हो जाता है ॥ १७ ॥ जैसे अग्नि ईंधनको जला डालता है, वैसे ही उत्तमश्लोक भगवानके नामका कीर्तन जाने अथवा बिना जाने कैसे भी किया जाय तो वह पुरुषके सब पापोंको भस्म कर देता है ॥ १८ ॥ जैसे कोई बलवान् औषध उसका गुण जाने बिना भी सेवन कर लेनेपर लाभ ही करता है, वैसे ही यह हरिनामरूपी मन्त्र उच्चारण करनेपर पाप नष्ट कर देता है ॥ १९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस तरह उन विष्णुपार्षदोंने भागवतधर्मोंका भली-भाँति निरूपण करके उस ब्राह्मणको यमदूतोंके पाशसे छुड़ाकर मृत्युके मुखसे बाहर निकाला ॥२०॥ हे शत्रुदमन ! इस प्रकार विष्णुपार्षदोंके कहनेपर यमदूतोंने यमराजके पास जाकर सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कहा ॥२१॥ तब यमदूतोंके पाशसे छूटकर अजामिलने निर्भय और सावधान हो भगवानके पार्षदोंके दर्शनसे प्रसन्न हो और उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया ॥ २२ ॥ हे अनघ ! उन विष्णुके दूतोंने जब देखा कि वह कुछ कहनेकी इच्छा करता है तो उसके देखते-देखते वे सहसा वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ २३ ॥ इस तरह भगवान विष्णुके पार्षदों द्वारा निर्गुण भागवतधर्म तथा यमदूतोंके मुखसे वेदत्रयीके द्वारा प्रतिपादित सगुण धर्मकी व्याख्या सुनकर भगवानका माहात्म्य श्रवण करनेसे अजामिलके भी हृदयमें भगवानकी भक्ति उत्पन्न हुई और उसे अपने पूर्वकृत सब दुष्कर्मोंका स्मरण करके बड़ा सन्ताप हुआ ॥ २४ ॥ २५ ॥ उसने सोचा—"अहो ! मैं बड़ा अजितेन्द्रिय हूँ । मेरे लिये यह बड़े कष्टकी बात है कि मैंने दासीके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करके अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर डाला ॥ २६ ॥ सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित मुझ कुलकलङ्क और पापीको धिक्कार है कि जिसने अपनी थोड़ी उम्रकी पतिव्रता पत्नीको छोड़ मद्य पीनेवाली एक कुलटाका संसर्ग किया ॥ २७ ॥ मुझ कृतघ्नने नीच पुरुषोंकी भाँति अपने वृद्ध अकिञ्चन तथा तपस्वी माता-पिताको, जो सर्वथा असहाय थे, उस समय त्याग दिया ॥ २८ ॥ सो अब मैं अपने दुष्कर्मोंसे

किमिदं स्वप्न आहोस्वित्साक्षाद् दृष्टमिहाद्भुतम्। क्व याता अद्य ते ये मां व्यकर्षन् पाशपाणयः॥३०॥
अथ ते क्व गताः सिद्धाश्चत्वारश्चारुदर्शनाः। व्यमोचयन्नीयमानं बद्ध्वा पाशैरधो भुवः॥३१॥
अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने। भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति॥३२॥
अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः। वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति॥३३॥
क्व चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः। क्व च नारायणेत्येतद्भगवन्नाम मङ्गलम्॥३४॥
सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः। यथा न भूय आत्मानमन्धे तमसि मज्जये॥३५॥
विमुच्य तमिमं बन्धमविद्याकामकर्मजम्। सर्वभूतसुहृच्छान्तो मैत्रः करुण आत्मवान्॥३६॥
मोचये ग्रस्तमात्मानं योषिन्मय्याऽऽत्ममायया। विक्रीडितो ययैवाहं क्रीडामृग इवाधमः॥३७॥
ममाहमिति देहादौ हित्वा मिथ्यार्थधीर्मतिम्। धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः॥३८॥

श्रीशुक उवाच

इति जातसुनिर्वेदः क्षणसङ्गेन साधुषु। गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः॥३९॥
स तस्मिन्देवसदन आसीनो योगमाश्रितः। प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि॥४०॥
ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना। युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि॥४१॥
यर्ह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत्पुरुषान् पुरः। उपलभ्योपलब्धान् प्राग्ववन्दे शिरसा द्विजः॥४२॥
हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु। सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्तिनाम्॥४३॥

अवश्य उस महाभयङ्कर नरकमें जा गिरूँगा, जहाँ जाकर धर्मघाती तथा पापी पुरुष विविध यातनाएँ भोगते हैं॥ २९॥ मैंने जो अभी एक अद्भुत दृश्य देखा था, वह मेरा स्वप्न था या जाग्रत् अवस्थाकी बात थी। जो मुझे अभी हाथोंमें पाश लिये खींचे जा रहे थे, वे कहाँ गायब हो गये॥ ३०॥ जब वे लोग मुझे पाशोंमें बाँधकर पृथिवीके नीचे ले जा रहे थे, तब जिन्होंने मुझे उनसे छुड़ाया था, वे देखनेमें बड़े सुन्दर चार सिद्धगण कहाँ चले गये॥ ३१॥ मैं तो महापापी हूँ, फिर भी मेरे किसी जन्मका कोई महान् पुण्य अवश्य शेष है, जिससे मुझे उन देवश्रेष्ठोंका दर्शन मिला। तभी तो उनका स्मरण करके अबतक मेरा चित्त गद्गद हो रहा है॥ ३२॥ यदि यह बात न होती तो मुझ महा अपवित्र एवं शूद्रापतिकी जीभ मरणकालमें किसी प्रकार श्रीविष्णुभगवानका नाम उच्चारण न कर पाती॥ ३३॥ हाय! कहाँ महाकपटी, पापी, निर्लज्ज और ब्रह्मतेजको नष्ट करनेवाला मैं! और कहाँ भगवानका 'नारायण' यह मंगलमय नाम!॥ ३४॥ अच्छा जो हुआ सो हुआ। अब मैं मन, इन्द्रिय तथा प्राणोंको अपने वशमें करके ऐसा उपाय करूँगा कि जिससे अपनेको अन्धतम नरकमें पड़नेसे बचा लूँ॥ ३५॥ अब अविद्या, कामना तथा कर्मादिसे उत्पन्न इस बन्धनको त्यागकर मैं सब प्राणियोंका सुहृद्, शान्त मित्र, दयालु और संयतेन्द्रिय होकर, जिसने मुझ अधमको अबतक क्रीडा-मृगकी तरह मनमाना नाच नचाया है, उस स्त्रीरूपिणी भगवानकी मायासे अपने-आपको मुक्त करूँगा॥ ३६॥ ३७॥ अब मैं अपने देहादिमें 'मैं' 'मेरा' की असद्बुद्धि त्यागकर भगवानके नाम कीर्तन आदि द्वारा विशुद्ध हुई बुद्धिको उन्हींके चरणोंमें लगा दूँगा"॥ ३८॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इस तरह साधुओंके क्षणिक सङ्गसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जानेपर अजामिल सारा मोह त्याग-कर हरिद्वार चला गया॥३९॥ उस देवस्थानमें स्थिर आसनसे बैठकर उसने योगमार्गका आश्रय लिया और अपनी सब इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर मनमें और अपने मनको बुद्धिमें लीन कर दिया॥ ४०॥ तदनन्तर अध्यात्मयोग द्वारा आत्माको शरीरादि दृश्यवर्गसे पृथक् करके उसे ज्ञानमय भगवत्स्वरूप परब्रह्ममें लीन कर दिया॥ ४१॥ इस तरह जब उसकी बुद्धि भगवानके पावन स्वरूपमें स्थिर हो गयी तो उसने विष्णुके दूतोंको फिर देखा और उन्हें पहचानकर उसने उन्हें नतमस्तक होकर प्रणाम किया॥ ४२॥ उनका दर्शन पानेके बाद उसने उसी तीर्थस्थानमें पवित्र गङ्गातटपर अपनी

साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः । हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥४४॥
एवं स विप्लावितसर्वधर्मा दास्याः पतिः पतितो गर्ह्यकर्मणा ।
निपात्यमानो निरये हतव्रतः सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन् ॥४५॥
नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात् ।
न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा ॥४६॥
य एवं परमं गुह्यमितिहासमघापहम् । शृणुयाच्छ्रद्धया युक्तो यश्च भक्त्यानुकीर्तयेत् ॥४७॥
न वै स नरकं याति नेक्षितो यमकिङ्करैः । यद्यप्यमङ्गलो मर्त्यो विष्णुलोके महीयते ॥४८॥
म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् । अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धेऽजामिलोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

राजोवाच

निशम्य देवः स्वभटोपवर्णितं प्रत्याह किं तान् प्रति धर्मराजः ।
एवं हताज्ञो विहतान्मुरारेर्नैदेशिकैर्यस्य वशे जनोऽयम् ॥१॥
यमस्य देवस्य न दण्डभङ्गः कुतश्चनर्षे श्रुतपूर्व आसीत् ।
एतन्मुने वृश्चति लोकसंशयं न हि त्वदन्य इति मे विनिश्चितम् ॥२॥

देह त्याग दी और तत्काल भगवानके पार्षदों जैसा सुन्दर हो गया ॥ ४३ ॥ तदनन्तर वह ब्राह्मण उन विष्णुपार्षदोंके साथ सुवर्णमय विमानपर बैठकर आकाशमार्गसे उस वैकुण्ठधामको चला गया, जहाँ साक्षात् श्रीलक्ष्मीपति विराजमान रहा करते हैं ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! इस तरह जिसने कि दासीका पति होकर अपने सारे धर्म-कर्मोंको त्याग दिया था और अपने निन्दित कर्मोंके कारण पतित, व्रतहीन तथा नरकमें जानेका अधिकारी वह ब्राह्मण भगवानका नाम लेनेके कारण तत्काल मुक्त हो गया ॥ ४५ ॥ इससे सिद्ध हो गया कि तीर्थपाद भगवानके नामसंकीर्तनसे बढ़कर मुमुक्षु पुरुषोंके कर्मबन्धन काटनेवाला और कोई भी साधन नहीं है। क्योंकि भगवन्नामके संकीर्तनसे मनुष्यका मन फिर कर्मोंमें आसक्त नहीं होने पाता। इसके विपरीत दूसरे प्रायश्चित्तोंको करनेपर भी वह रजोगुण तथा तमोगुणसे ग्रस्त ही रह जाता है ॥ ४६ ॥ जो प्राणी इस पापनाशक तथा परमगुह्य इतिहासको श्रद्धापूर्वक सुनता अथवा भक्तिभावके साथ कहता है, वह कभी नरकमें नहीं जाता और न उसे कभी यमके दूत ही दीखते हैं। वह पुरुष महापापी होकर भी वैकुण्ठलोकमें महिमा पाता है ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ मरणकालमें पुत्रके बहाने भी भगवानका नाम लेनेवाला अजामिल भगवानके परमधामको चला गया। फिर जो लोग श्रद्धाके साथ भगवन्नामका कीर्तन करते हैं, उनके विषयमें क्या कहना है ? ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(यम तथा यमदूतोंका संवाद) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन् ! इस तरह जिनकी आज्ञाका उल्लङ्घन हुआ और जिनके अधीन सारा संसार रहता है, उन देवश्रेष्ठ धर्मराजने अपने दूतोंके मुखसे जब सब हाल सुना तो विष्णुदूतोंके द्वारा खदेड़े गये उन वीर यमदूतोंने क्या कहा ? ॥ १ ॥ हे ऋषे ! अब तक किसी भी हेतुसे यमदेवकी आज्ञा भंग होनेकी बात तो कभी भी नहीं सुनी गयी। हे मुने ! मुझे विश्वास है कि लोगोंकी इस आशंकाको आपके सिवा

श्रीशुक उवाच

भगवत्पुरुषै राजन् याम्याः प्रतिहतोद्यमाः । पतिं विज्ञापयामासुर्यमं संयमनीपतिम् ॥३॥

यमदूता ऊचुः

कति सन्तीह शास्तारो जीवलोकस्य वै प्रभो । त्रैविध्यं कुर्वतः कर्म फलाभिव्यक्तिहेतवः ॥४॥
यदि स्युर्बहवो लोके शास्तारो दण्डधारिणः । कस्य स्यातां न वा कस्य मृत्युश्चामृतमेव वा ॥५॥
किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिह कर्मिणाम् । शास्तृत्वमुपचारो हि यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥६॥
अतस्त्वमेको भूतानां सेश्वराणामधीश्वरः । शास्ता दण्डधरो नृणां शुभाशुभविवेचनः ॥७॥
तस्य ते विहितो दण्डो न लोके वर्ततेऽधुना । चतुर्भिरद्भुतैः सिद्धैराज्ञा ते विप्रलम्भिता ॥८॥
नीयमानं तवादेशादस्माभिर्यातनागृहान् । व्यमोचयन् पातकिनं छित्त्वा पाशान् प्रसह्य ते ॥९॥
तांस्ते वेदितुमिच्छामो यदि नो मन्यसे क्षमम् । नारायणेत्यभिहिते मा भैरित्याययुर्द्रुतम् ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

इति देवः स आपृष्टः प्रजासंयमनो यमः । प्रीतः स्वदूतान् प्रत्याह स्मरन् पादाम्बुजं हरेः ११

यम उवाच

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम् ।
यदंशतोऽस्य स्थितिजन्मनाशा नस्योतवद्यस्य वशे च लोकः ॥१२॥
यो नामभिर्वाचि जनान्निजायां बध्नाति तन्त्यामिव दामभिर्गाः ।
यस्मै बलिं त इमे नामकर्मनिबन्धबद्धाश्चकिता वहन्ति ॥१३॥

और कोई नहीं काट सकता ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवानके पार्षदोंने जिनका उद्योग विफल कर दिया था, उन यमदूतोंने अपने स्वामी और संयमनीपुरीके अधीश्वर भगवान यमसे जाकर कहा ॥ ३ ॥ यमदूत बोले—हे प्रभो ! संसारमें पुण्य, पाप तथा मिश्र ये तीन प्रकारके कर्म करनेवाले जीवोंको उनके कर्मोंका फल देनेवाले शासक निश्चितरूपसे कितने हैं ? ॥ ४ ॥ यदि संसारमें अनेक शासक हों तो भला किसको सुख-दुःख मिलेंगे और किनको नहीं मिलेंगे ? ॥ ५ ॥ यदि कर्मियोंकी अनेकताके अनुसार उनके शासक भी अनेक माने जायँ तो माण्डलिक राजाओंके सदृश उनका शासक होना केवल उपचारमात्र रहेगा । क्योंकि वे सदा परतन्त्र ही रहेंगे ॥ ६ ॥ अतएव हमारे विचारसे तो एकमात्र आप अकेले ही शासकों समेत सब जीवोंके दण्डदाता शासक हैं और आप ही सब मनुष्योंके शुभाशुभका निर्णय करते हैं ॥ ७ ॥ यह सब होनेपर भी आपका विहित दण्ड इस समय संसारमें नहीं चलता । आज चार विचित्र सिद्धोंने आपकी आज्ञाको ठुकरा दिया है ॥ ८ ॥ हे नाथ ! बात यह हुई कि हमलोग आपकी आज्ञासे एक पापीको पकड़कर यातनागृह लिये जा रहे थे । उसी समय उन चारोंने बलपूर्वक हमारे पाशोंको तोड़कर उसे बन्धनमुक्त कर दिया ॥ ९ ॥ सो यदि आप बतानेमें हर्ज न समझें तो बता दें कि वे कौन थे, हम उन सिद्धोंके विषयमें जानना चाहते हैं । उस पापीके 'नारायण' यह कहते ही 'डरो मत, डरो मत' ऐसा कहते हुए वे तत्काल आ उपस्थित हुए थे ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उनके ऐसा पूछनेपर प्रजाके शासक भगवान यमराजने अतिशय प्रसन्न होकर श्रीहरिके चरणकमलोंका ध्यान करते हुए अपने दूतोंसे इस तरह कहा ॥ ११ ॥ यमराज कहने लगे—हे दूत ! मेरे अतिरिक्त एक और भी समस्त स्थावर-जंगम जगत्के प्रधान प्रभु हैं । जिनमें यह सारा विश्व तन्तुमें पटकी भाँति ओत-प्रोत है । जिनके अंशस्वरूप ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके जन्म, स्थिति तथा नाश इन्हींके द्वारा होते हैं और सब लोग नथे हुए बैलके समान इनके अधीन रहते हैं ॥ १२ ॥ जैसे किसान बैलोंको डोरियोंमें बाँधते हैं, उसी तरह जो

अहं महेन्द्रो निर्ऋतिः प्रचेताः सोमोऽग्निरीशः पवनोऽर्को विरिञ्चः ।
आदित्यविश्वे वसवोऽथ साध्या मरुद्गणा रुद्रगणाः ससिद्धाः ॥१४॥
अन्ये च ये विश्वसृजोऽमरेशा भृग्वादयोऽस्पृष्टरजस्तमस्काः ।
यस्येहितं न विदुः स्पृष्टमायाः सत्त्वप्रधाना अपि किं ततोऽन्ये ॥१५॥
यं वै न गोभिर्मनसासुभिर्वा हृदा गिरा वासुभृतो विचक्षते ।
आत्मानमन्तर्हृदि सन्तमात्मनां चक्षुर्यथैवाकृतयस्ततः परम् ॥ १६ ॥
तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः ।
प्रायेण दूता इह वै मनोहराश्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः ॥ १७ ॥
भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि ।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च ॥ १८ ॥
धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः ।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतश्च विद्याधरचारणादयः ॥ १९ ॥
स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः । प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥२०॥
द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः । गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते ॥२१॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः । भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥२२॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः । अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥२३॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥ २४ ॥

मनुष्योंको ब्राह्मणादि नामोंसे वेदवाणीरूपी डोरीमें बाँधे हुए हैं और जिन्हें नामकर्मरूपी बन्धनमें बँधे हुए ये सभी जीव भयभीत भावसे बलि समर्पण करते रहते हैं ॥ १३ ॥ हे दूतों ! जिनकी मायाके वश होकर मैं, इन्द्र, निर्ऋति, वरुण, चन्द्र, अग्नि, महादेव, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, बारह आदित्य, विश्वेदेव, वसुगण, साध्यगण, मरुद्गण, सिद्धोंके सहित रुद्रगण और जिन्हें रज तथा तमका स्पर्श भी नहीं हो सका है, ऐसे भृगु आदि अन्य प्रजापति तथा देवता सत्त्वप्रधान होकर भी जिनकी लीलाका कुछ भी मर्म नहीं जानते ॥ १४ ॥ १५ ॥ जैसे घट आदि स्वरूपवान् पदार्थ अपने प्रदर्शक नेत्रको नहीं देख पाते, वैसे ही अपने अन्तःकरणमें जीवोंके साक्षिस्वरूपसे स्थित जिन ईश्वरको प्राणी इन्द्रिय, मन, प्राण, हृदय या वाणी आदि किसीके भी द्वारा नहीं जान पाते ॥ १६ ॥ उन आत्मतन्त्र जगदीश्वर मायापति महात्मा हरिके दूत, जो देखनेमें बड़े सुन्दर और उन्हींके सदृश रूप, गुण तथा स्वभाववाले हैं, वे प्रायः इस लोकमें विचरते रहते हैं ॥ १७ ॥ वे देवजनवन्दित दुर्दर्शलिङ्गस्वरूप अति अद्भुत विष्णुके दूत भगवद्भक्त मनुष्योंको उनके शत्रुओंसे, मुझसे तथा सभी बाधाओंसे सदा सुरक्षित रखते हैं ॥ १८ ॥ साक्षात् श्रीभगवानके कहे इस धर्मके विषयमें ऋषि, देवता तथा प्रधान-प्रधान सिद्धगण भी कुछ नहीं जान पाते । फिर असुर, मनुष्य, विद्याधर तथा चारण आदि भला क्या जानेंगे ॥ १९ ॥ हे दूतों ! ब्रह्माजी, नारद, श्रीमहादेव, सनत्कुमार, कपिलदेव, स्वायम्भुव मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बलि, शुकदेवजी तथा मैं—ये बारह उस अत्यन्त गुप्त, पवित्र एवं दुर्बोध भागवतधर्मके विषयमें कुछ-कुछ जानते हैं, जिसके जान लेनेपर प्राणी अमरपद (मुक्ति) पा लेता है ॥ २० ॥ २१ ॥ इस लोकमें भगवानके नामोच्चारणादिके सहित किया हुआ भक्तियोग ही मनुष्यका सबसे प्रधान धर्म है ॥ २२ ॥ हे पुत्रो ! देखो, भगवानके नामोच्चारणकी महिमा ऐसी है कि जिसके प्रभावसे अजामिल भी मृत्युके पाससे छुटकारा पा गया ॥ २३ ॥ अतएव सभी मनुष्योंके पापोंको समूल नष्ट करनेके लिये

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम् ।
त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥ २५ ॥
एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः ॥ २६ ॥
ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥ २७ ॥
तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्दपादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलै रसज्ञैर्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥ २८ ॥
जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥ २९ ॥
तत् क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः ।
स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनां क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने ॥ ३० ॥
तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम् । महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतम् ॥ ३१ ॥
शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः । यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः ॥ ३२ ॥

भगवानके गुण-कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले नामोंका कीर्तन करना ही बहुत बड़ी चीज है । क्योंकि उस महापापी अजामिलने मरनेके समय अस्वस्थचित्तसे अपने पुत्रको 'नारायण' ऐसा कहकर पुकारनेसे ही मुक्ति पा ली ॥ २४ ॥ बड़े-बड़े प्रायश्चित्तोंका विधान बनानेवाले महापुरुषोंकी बुद्धि भी भगवानकी मायासे मोहित हो गयी थी, इससे हो सकता है कि वे भगवन्नामकीर्तनका माहात्म्य न जान पाये हों । तभी तो स्वर्गादिके नाशवान् फलोंकी बड़ाई करनेवाले मनोहारी और लम्बे-चौड़े वेदवाक्योंमें चित्त फँसाकर वे यज्ञ-यागादि बड़े-बड़े कर्मोंमें ही जीवन भर लगे रहे ॥ २५ ॥ हे भृत्यों ! यह सोचकर जो बुद्धिमान् पुरुष सब तरहसे भगवानकी अनन्तमें ही भक्ति करते हैं, वे मेरे दण्डके पात्र कदापि नहीं हैं । क्योंकि उनमें पहले तो पाप होता ही नहीं और यदि कुछ होता भी है तो उसे भगवद्गुणगान तत्काल नष्ट कर डालता है ॥ २६ ॥ भगवानके शरणागत तथा समदर्शी साधुजनोंके पवित्र चरित्रका देवता एवं सिद्धगण गान करते हैं । वे लोग सदा भगवानकी गदासे सुरक्षित रहते हैं । उनके पास तुम कभी मत जाना, उन्हें दण्ड देनेमें मैं तथा साक्षात् काल भी समर्थ नहीं होता ॥ २७ ॥ तुम तो यहाँ उन्हीं पापियोंको लाना, जो सर्वसंग-परित्यागी और रसज्ञ परमहंसोंसे सर्वदा सेवित श्रीहरिके चरणकमल-मकरन्दकी मिठासको त्यागकर नरकके द्वाररूपी अपने घरोंमें आसक्त हैं ॥ २८ ॥ जिनकी जीभ भगवानके गुण तथा नामोंका कीर्तन नहीं करती, जिनका चित्त नारायणके चरणकमलोंका स्मरण नहीं करता और जिनका मस्तक एक बार भी भगवान कृष्णके सामने नहीं झुकता, ऐसे भगवत्परिचर्या आदि कृत्योंसे विमुख अधम पुरुषोंको ही तुम मेरे पास लाना ॥ २९ ॥ अपने भृत्योंके द्वारा हमने जो अपराध किया है, उसे वे पुराणपुरुष भगवान कृष्ण क्षमा करें । हम उनकी सेवामें हाथ जोड़े सदा उपस्थित रहते हैं । अतः उन परम प्रभुको हम जैसे अज्ञानी जनोंका अपराध क्षमा करना ही उचित है । उन सर्वव्यापक पुरुषोत्तमको हमारा अनेकशः नमस्कार है ॥ ३० ॥ श्री शुकदेवजी बोले—अतएव हे कुरुश्रेष्ठ ! विष्णुभगवानका जगन्मंगलमय नामकीर्तन ही बड़े-से-बड़े पापको समूल नष्ट करनेवाला प्रायश्चित्त है, यह जानो ॥ ३१ ॥ क्योंकि भगवानके उदार चरित्रोंका पुनः पुनः श्रवण तथा कीर्तन करनेवाले पुरुषोंका हृदय जिस तरह अनायास उत्पन्न भगवद्भक्तिसे

कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण् न पुनर्विसृष्टमायागुणेषु रमते वृजिनावहेषु।
अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टुमीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात् ॥३३॥
इत्थं स्वभर्तृगदितं भगवन्महित्वं संस्मृत्य विस्मितधियो यमकिङ्करास्ते।
नैवाच्युताश्रयजनं प्रतिशङ्कमाना द्रष्टुं च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन् ॥३४॥
इतिहासमिमं गुह्यं भगवान् कुम्भसम्भवः। कथयामास मलय आसीनो हरिमर्चयन् ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

राजोवाच

देवासुरनृणां सर्गो नागानां मृगपक्षिणाम्। सामासिकस्त्वया प्रोक्तो यस्तु स्वायम्भुवेऽन्तरे॥१॥
तस्यैव व्यासमिच्छामि ज्ञातुं ते भगवन् यथा। अनुसर्गं यया शक्त्या ससर्ज भगवान् परः ॥२॥

सूत उवाच

इति सम्प्रश्नमाकर्ण्य राजर्षेर्बादरायणिः। प्रतिनन्द्य महायोगी जगाद मुनिसत्तमाः ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

यदा प्रचेतसः पुत्रा दश प्राचीनबर्हिषः। अन्तःसमुद्रादुन्मग्ना ददृशुर्गां द्रुमैर्वृताम् ॥ ४ ॥
द्रुमेभ्यः क्रुध्यमानास्ते तपोदीपितमन्यवः। मुखतो वायुमग्निं च ससृजुस्तद्दिधक्षया ॥ ५ ॥
ताभ्यां निर्दह्यमानांस्तानुपलभ्य कुरूद्वह। राजोवाच महान् सोमो मन्युं प्रशमयन्निव ॥ ६ ॥

शुद्ध होता है, वैसा अन्य व्रतादिसे शुद्ध नहीं होने आता ॥३२॥ जो प्राणी भगवानके चरणारविन्दका रसास्वादन करनेवाले भ्रमरके सदृश हैं, वे एक बार तुच्छ समझकर त्यागे हुए पापोत्पादक मायिक गुणोंमें फिर नहीं फँसते, किन्तु अन्य विषयलोलुप पुरुष अपने दोषका मार्जन करनेके निमित्त प्रायश्चित्त-स्वरूप कर्मोंमें ही प्रवृत्त होते हैं। जिनसे कि फिर दोषोंकी ही उत्पत्ति होती जाती है ॥३३॥ हे राजन्! अपने स्वामीकी कही हुई भगवानकी इस महिमाका स्मरण करके यमदूतोंको बहुत विस्मय हुआ और अपने प्रभुके कथनपर विश्वास करके वे तभीसे अपने विनाशकी आशंका करके भगवानके आश्रित पुरुषके पास नहीं जाते, वे उन्हें देखनेसे भी डरते हैं ॥ ३४ ॥ हे राजन्! यह गुप्त इतिहास भगवान अगस्त्यजीने मलयाचलपर बैठकर भगवानकी पूजाके अवसरपर मुझसे कहा था ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(हंसगुह्यस्तोत्र) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! आपने स्वायम्भुव मन्वन्तरमें जिन देवता, असुर, मनुष्य, सर्प, मृग और पक्षियोंकी सृष्टिका संक्षिप्त वर्णन किया है, अब मैं विस्तारके साथ उसका विवरण जानना चाहता हूँ। भगवानने अपनी जिस शक्तिके द्वारा जिस तरह आगेकी सृष्टि उत्पन्न की हो, सो जाननेकी भी मेरी अभिलाषा है ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीसूतजी बोले—हे मुनिसत्तम! राजर्षि परीक्षित्का यह उत्तम प्रश्न सुनकर महायोगी शुकदेवजी उनकी सराहना करते हुए बोले ॥ ३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! जब प्राचीनबर्हिके प्रचेता नामके दस पुत्रोंने समुद्रसे बाहर निकलकर सारे भूमण्डलको झाड़-झंखाड़ोंसे भरा देखा तो अपने तपोबलसे जिनका क्रोध बढ़ गया था, ऐसे उन प्रचेताओंने उन वृक्षोंपर अत्यन्त कुपित होकर उन्हें भस्म कर देनेकी इच्छासे अपने मुखसे वायु तथा अग्नि छोड़े ॥ ४ ॥ ५ ॥ हे कुरुनन्दन! उन प्रचेताओंके छोड़े वायु तथा

मा द्रुमेभ्यो महाभागा दीनेभ्यो द्रोग्धुमर्हथ । विवर्धयिषवो यूयं प्रजानां पतयः स्मृताः ॥ ७ ॥
अहो प्रजापतिपतिर्भगवान् हरिरव्ययः । वनस्पतीनोषधीश्च ससर्जोर्जमिषं विभुः ॥ ८ ॥
अन्नं चराणामचरा ह्यपदः पादचारिणाम् । अहस्ता हस्तयुक्तानां द्विपदां च चतुष्पदः ॥ ९ ॥
यूयं च पित्रान्वादिष्टा देवदेवेन चानघाः । प्रजासर्गाय हि कथं वृक्षान् निर्दग्धुमर्हथ ॥१०॥
आतिष्ठत सतां मार्गं कोपं यच्छत दीपितम् । पित्रा पितामहेनापि जुष्टं वः प्रपितामहैः ॥११॥
तोकानां पितरौ बन्धुर्दृशः पक्ष्म स्त्रियाः पतिः । पतिः प्रजानां भिक्षूणां गृह्यज्ञानां बुधः सुहृत्॥१२॥
अन्तर्देहेषु भूतानामात्माऽऽस्ते हरिरीश्वरः । सर्वं तद्धिष्ण्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ ॥१३॥
यः समुत्पतितं देह आकाशान्मन्युमुल्बणम् । आत्मजिज्ञासया यच्छेत् स गुणानतिवर्तते ॥१४॥
अलं दग्धैर्द्रुमैर्दीनैः खिलानां शिवमस्तु वः । वार्क्षी ह्येषा वरा कन्या पत्नीत्वे प्रतिगृह्यताम्॥१५॥
इत्यामन्त्र्य वरारोहां कन्यामाप्सरसीं नृप । सोमो राजा ययौ दत्त्वा ते धर्मेणोपयेमिरे ॥१६॥
तेभ्यस्तस्यां समभवद्दक्षः प्राचेतसः किल । यस्य प्रजाविसर्गेण लोका आपूरितास्त्रयः ॥१७॥
यथा ससर्ज भूतानि दक्षो दुहितृवत्सलः । रेतसा मनसा चैव तन्ममावहितः शृणु ॥१८॥
मनसैवासृजत्पूर्वं प्रजापतिरिमाः प्रजाः । देवासुरमनुष्यादीन् नभस्थलजलौकसः ॥१९॥
तमबृंहितमालोक्य प्रजासर्गं प्रजापतिः । विन्ध्यपादानुपव्रज्य सोऽचरद् दुष्करं तपः ॥२०॥

अग्निसे उन्हें दग्ध होते देख महाराज सोमने उनका कोप शान्त करते हुए इस तरह कहा—॥ ६ ॥ हे महाभाग ! तुमलोग प्रजाकी वृद्धि करनेके इच्छुक रहनेके कारण ही प्रजापति कहे जाते हो । अतएव तुम्हें इन बेचारे गरीब वृक्षोंके साथ द्रोह करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥ अहो ! प्रजापतियोंके स्वामी अविनाशी भगवान श्रीहरिने सब वनस्पति तथा ओषधियोंको प्रजाओंके भक्ष्य तथा अन्नरूपमें उत्पन्न किया है ॥ ८ ॥ संसारमें जंगम जीवोंके भोजन स्थावर हैं और पैरवालोंके बिना पैरवाले भक्ष्य हैं। हाथवालोंके बिना हाथवाले और दो पैरवालोंके चार पैरवाले भोजन हैं ॥ ९ ॥ हे अनघ ! तुम्हें तो तुम्हारे पिता (राजा प्राचीनबर्हि) तथा देवाधिदेव श्रीविष्णुने प्रजाकी उत्पत्तिके लिये आज्ञा दी है। फिर यह कैसे उचित हो सकता है कि तुम सब वृक्षोंको जला डालो ॥ १० ॥ इस लिए अब तुम अपना प्रज्वलित क्रोध शान्त करो और अपने पिता, पितामह तथा प्रपितामह आदिके द्वारा सेवित सत्पुरुषोंके मार्गका सहारा लो ॥ ११ ॥ जिस प्रकार बालकोंके शुभेच्छुक माता-पिता, नेत्रोंके हितचिन्तक पलकें, स्त्रीका सुहृद पति, भिक्षुकोंका पोषक गृहस्थ और अज्ञानियोंका हितचिन्तक ज्ञानवान् होता है। वैसे ही प्रजाका सुहृद् राजा होता है ॥ १२ ॥ सब प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे भगवान विष्णु ही विराजमान रहते हैं। अतएव तुम सबको उन्हींका निवासस्थान समझो। ऐसा करके ही भगवानको तुम प्रसन्न कर पाओगे ॥ १३ ॥ जो प्राणी अपनी देहके हृदयाकाशमें उत्पन्न प्रचण्ड क्रोधको आत्म-विचारके द्वारा शान्त कर देता है, वही तीनों गुणोंको पार कर पा सकता है—अन्य नहीं ॥ १४ ॥ सो अब तुम इन दीनोंपर कोप न करो, तुम्हारा कल्याण हो और तुमलोग वृक्षोंद्वारा परिपालित इस श्रेष्ठ कन्याको पत्नीरूपसे स्वीकार करो ॥ १५ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार प्रचेताओंको समझाकर राजा सोमने प्रम्लोचा नामकी अप्सरासे जायमान वह सुन्दर कटिवाली कन्या उन्हें दे दी और चले गये। इसके बाद प्रचेताओंने उस कन्यासे धर्मानुसार ब्याह किया ॥ १६ ॥ लोगोंका कहना है कि उसीसे उनके प्राचेतस नामसे विख्यात दक्ष नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसकी प्रजावृद्धिसे तीनों लोक भर गये ॥१७॥ इन पुत्रीवत्सल दक्षने अपने वीर्य तथा मनसे जिन-जिन जीवोंकी रचना की थी, वह मैं बताता हूँ। तुम सावधान मनसे सुनो ॥१८॥ प्रजापति दक्षने पहले आकाश, स्थल तथा जलपर बसनेवाले देव, असुर तथा मनुष्यरूपिणी प्रजाको अपने मनसे प्रगट किया ॥१९॥ उस प्रजासर्गकी वृद्धि न होते देखकर प्रजा-

तत्राघमर्षणं नाम तीर्थं पापहरं परम् । उपस्पृश्यानुसवनं तपसातोषयद्धरिम् ॥२१॥
अस्तौषीद्धंसगुह्येन भगवन्तमधोक्षजम् । तुभ्यं तदभिधास्यामि कस्यातुष्यद् यतो हरिः ॥२२॥

प्रजापतिरुवाच

नमः परायावितथानुभूतये गुणत्रयाभासनिमित्तबन्धवे ।
अदृष्टधाम्ने गुणतत्त्वबुद्धिभिर्निवृत्तमानाय दधे स्वयम्भुवे ॥२३॥
न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः सखा वसन् संवसतः पुरेऽस्मिन् ।
गुणो यथा गुणिनो व्यक्तदृष्टेस्तस्मै महेशाय नमस्करोमि ॥२४॥
देहोऽसवोऽक्षा मनवो भूतमात्रा नात्मानमन्यं च विदुः परं यत् ।
सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीडे ॥२५॥
यदोपरामो मनसो नामरूपरूपस्य दृष्टस्मृतिसम्प्रमोषात् ।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः ॥२६॥
मनीषिणोऽन्तर्हृदि सन्निवेशितं स्वशक्तिभिर्नवभिश्च त्रिवृद्भिः ।
वह्निं यथा दारुणि पाञ्चदश्यं मनीषया निष्कर्षन्ति गूढम् ॥२७॥
स वै ममाशेषमायानिषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
स सर्वनामा स च विश्वरूपः प्रसीदतामनिरुक्तात्मशक्तिः ॥२८॥
यद् यन्निरुक्तं वचसा निरूपितं धियाक्षभिर्वा मनसा वोत यस्य ।
मा भूत्स्वरूपं गुणरूपं हि तत्तत्स वै गुणापायविसर्गलक्षणः ॥२९॥

पति दक्ष विन्ध्याचलकी तलैटीमें चले गये और वहाँ घोर तप करने लगे ॥ २० ॥ वहाँ रहते हुए सब पापोंके विनाशक अघमर्षण तीर्थमें सायं प्रातः और मध्याह्न तीनों समय स्नान करते हुए उन्होंने उग्र तप-द्वारा भगवानको प्रसन्न कर लिया ॥ २१ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर दक्षने जिस हंसगुह्यस्तोत्र द्वारा श्रीअधोक्षज भगवानकी स्तुति की और जिससे भगवान उनपर प्रसन्न हुए, वह मैं तुमसे कहता हूँ ॥ २२ ॥ दक्षप्रजापति बोले—जिनकी चेतनाशक्ति विशाल है, जो जीव तथा मायाके ईश्वर हैं, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी पहुँच न होनेसे सच्चे स्वरूपके विषयमें परमार्थकी कल्पना करनेवाले पुरुष भी जिसे नहीं जान सकते, उन स्वयं प्रकाशशील परमात्मा जीव मित्रभावसे सदा साथ-साथ रहनेवाले जिस परमेश्वरके सद्भावको नहीं जान पाता, उस महेश्वरको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२३॥२४॥ देह, प्राण, इन्द्रिय, अंतःकरण, पञ्चमहाभूत तथा उनकी तन्मात्राएँ ये सब अपनेको और अपनेसे पृथक् इन्द्रियों और उनके अधिष्ठाता देवताओंके स्वरूपको भी नहीं जान पाते, किन्तु जीव इन सबको और इनके कारणस्वरूप गुणोंसे परिचित है। इन सबका ज्ञाता होकर भी वह जिस सर्वज्ञ परमात्माके विषयमें कुछ नहीं जान पाता, उस अनन्तकी मैं स्तुति कर रहा हूँ ॥ २५ ॥ दर्शन तथा स्मरणशक्तिका नाश हो जानेपर जब नामरूपसे परिचायक वनकी समाधि लग जाती है, तब जो एकमात्र अपनी स्वरूपस्थितिसे ही ज्ञायमान होता है और शुद्धचित्त ही जिसका उपलब्धिस्थान है, उस शुद्धस्वरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ २६ ॥ जैसे याजकगण सामिधेनि नामके पन्द्रह मंत्रोंसे काष्ठमें छिपे अग्निको उत्पन्न (प्रकट) करते हैं, वैसे ही सत्ताईस सत्त्वरूपिणी अपनी उपाधियोंसे छिपकर अन्तःकरणमें गूढ़भावसे स्थित जिस परमात्माको विवेकशील पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा देखते हैं, वह सब मायाके भेदोंको त्याग देनेपर मोक्षसुखस्वरूपसे अनुभूत, सर्वनाम और विश्वरूप तथा अनिर्वचनीय प्रभावशाली भगवान मुझपर प्रसन्न हों ॥ २७ ॥ २८ ॥ वाणीसे जो कहा जाता तथा बुद्धि, इन्द्रिय अथवा मनसे जो श्रवण किया जाता है वही उनका स्वरूप नहीं है, वह तो गुणोंका कार्यमात्र है। वह परमात्मा तो गुणोंकी

यस्मिन् यतो येन च यस्य यस्मै यद्यो यथा कुरुते कार्यते च ।
परावरेषां परमं प्राक् प्रसिद्धं तद् ब्रह्म तद्धेतुरनन्यदेकम् ॥३०॥
यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति ।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने ॥३१॥
अस्तीति नास्तीति च वस्तुनिष्ठयोरेकस्थयोर्भिन्नविरुद्धधर्मयोः ।
अवेक्षितं किञ्चन योगसांख्ययोः समं परं ह्यनुकूलं बृहत् तत् ॥३२॥
योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलमनामरूपो भगवाननन्तः ।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिर्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु ॥३३॥
यः प्राकृतैर्ज्ञानपथैर्जनानां यथाशयं देहगतो विभाति ।
यथानिलः पार्थिवमाश्रितो गुणं स ईश्वरो मे कुरुतान्मनोरथम् ॥३४॥

श्रीशुक उवाच

इति स्तुतः संस्तुवतः स तस्मिन्नघमर्षणे । आविरासीत्कुरुश्रेष्ठ भगवान् भक्तवत्सलः ॥३५॥
कृतपादः सुपर्णांसे प्रलम्बाष्टमहाभुजः । चक्रशङ्खासिचर्मेषुधनुःपाशगदाधरः ॥३६॥
पीतवासा घनश्यामः प्रसन्नवदनेक्षणः । वनमालानिवीताङ्गो लसच्छ्रीवत्सकौस्तुभः ॥३७॥
महाकिरीटकटकः स्फुरन्मकरकुण्डलः । काञ्च्यङ्गुलीयवलयनूपुराङ्गदभूषितः ॥३८॥
त्रैलोक्यमोहनं रूपं बिभ्रत् त्रिभुवनेश्वरः । वृतो नारदनन्दाद्यैः पार्षदैः सुरयूथपैः ॥३९॥

उत्पत्ति तथा प्रलयरूपी कार्यसे देखा जाता है ॥ २९ ॥ जिसमें, जहाँसे, जिसके द्वारा, जिसका, जिसके लिये, जिस कार्यको और जो, जिस तरह करता अथवा जिसकी प्रेरणासे वह (जीव) कार्यमें प्रवृत्त किया जाता है, वह सब एकमात्र ब्रह्म ही है। क्योंकि वह सब कार्य-कारणसे पूर्व सिद्ध है और सजातीय-विजातीय भेदसे रहित तथा सबका एकमात्र हेतु है ॥ ३० ॥ जिनकी शक्तियाँ वाद-विवाद करनेवाले वादियोंके विवाद तथा संवादकी भूमिका बनकर उनको बार-बार मोहमें डालती हैं, उन अनन्तगुणयुक्त सर्वव्यापी परमात्माको प्रणाम है ॥ ३१ ॥ एक ही वस्तुके विषयमें अस्ति अर्थात् 'है' और नास्ति अर्थात् 'नहीं है' ये दो विरुद्ध तथा भिन्न धर्मोंके प्रतिपादक योग और सांख्यमें अपने-अपने तर्कोंके अनुकूल जो एक ही समान तथा श्रेष्ठ वस्तु है, वही ब्रह्म है ॥ ३२ ॥ प्राकृत नाम तथा रूपसे हीन होते हुए भी जिन अनन्तभगवानने अपने चरणोंका भजन करनेवाले पुरुषोंपर कृपा करनेके निमित्त अपने जन्म तथा कर्मों द्वारा क्रमशः विविध रूप और नाम धारण किये थे, वे भगवान मुझपर प्रसन्न हों ॥ ३३ ॥ जैसे वायु पृथिवीके गुण अर्थात् गन्धकी सहायता पाकर उसीकी भाँति प्रतीयमान होता है, वैसे ही जो अन्तर्यामी परमात्मा प्राकृत ज्ञानमार्गों द्वारा मनुष्योंके भावानुसार भिन्न-भिन्न देवताओंके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं, वे भगवान मेरा मनोरथ पूर्ण करें ॥ ३४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे कुरुश्रेष्ठ ! उस अघमर्षण तीर्थमें इस तरह स्तुति किये जानेके बाद भक्तवत्सल भगवान उन स्तुति करने-वालेके समक्ष प्रकट हो गये ॥ ३५ ॥ उस समय वे अपना चरण गरुड़के कन्धेपर धरे थे। उनके लम्बी-लम्बी आठ भुजाएँ थीं, जिनमें शंख, चक्र, ढाल, तलवार, धनुष, बाण, गदा तथा पाश धारण किये थे ॥ ३६ ॥ उनका शरीर जलभरे मेघके समान श्याम था। उसपर पीताम्बर विराज रहा था और उसके मुख तथा नेत्र प्रसन्न थे। उनका सारा शरीर वनमालासे ढँका हुआ था। श्रीवत्स तथा कौस्तु-भमणिके कारण वह बहुत ही सुन्दर जान पड़ता था ॥ ३७ ॥ वे विशाल मुकुट, कटक, झूलते हुए मक-राकृत कुण्डल, काञ्ची (करधनी), अंगूठी, कंकण, नूपुर तथा अंगदादि आभूषणोंसे आभूषित थे ॥ ३८ ॥ इस तरह त्रिभुवनपति भगवान त्रिलोकीको मोहित करनेवाला रूप धारण किये प्रकटे। वे

स्तूयमानोऽनुगायद्भिः सिद्धगन्धर्वचारणैः । रूपं तन्महदाश्चर्यं विचक्ष्यागतसाध्वसः ॥४०॥
ननाम दण्डवद् भूमौ प्रहृष्टात्मा प्रजापतिः । न किञ्चनोदीरयितुमशकत् तीव्रया मुदा ।
आपूरितमनोद्वारैर्ह्रदिन्य इव निर्झरैः ॥४१॥
तं तथावनतं भक्तं प्रजाकामं प्रजापतिम् । चित्तज्ञः सर्वभूतानामिदमाह जनार्दनः ॥४२॥

श्रीभगवानुवाच

प्राचेतस महाभाग संसिद्धस्तपसा भवान् । यच्छ्रद्धया मत्परया मयि भावं परं गतः ॥४३॥
प्रीतोऽहं ते प्रजानाथ यत्तेऽस्योद्बृंहणं तपः । ममैष कामो भूतानां यद्भूयासुर्विभूतयः ॥४४॥
ब्रह्मा भवो भवन्तश्च मनवो विबुधेश्वराः । विभूतयो मम ह्येता भूतानां भूतिहेतवः ॥४५॥
तपो मे हृदयं ब्रह्मंस्तनुर्विद्या क्रियाऽऽकृतिः । अङ्गानि क्रतवो जाता धर्म आत्मासवः सुराः ॥४६॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यत् किञ्चान्तरं बहिः । संज्ञानमात्रमव्यक्तं प्रसुप्तमिव विश्वतः ॥४७॥
मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतो गुणविग्रहः । यदाऽऽसीत्तत एवाद्यः स्वयम्भूः समभूदजः ॥४८॥
स वै यदा महादेवो मम वीर्योपबृंहितः । मेने खिलमिवात्मानमुद्यतः सर्गकर्मणि ॥४९॥
अथ मेऽभिहितो देवस्तपोऽतप्यत दारुणम् । नव विश्वसृजो युष्मान् येनादावसृजद्विभुः ॥५०॥
एषा पञ्चजनस्याङ्ग दुहिता वै प्रजापतेः । असिक्नी नाम पत्नीत्वे प्रजेश प्रतिगृह्यताम् ॥५१॥
मिथुनव्यवायधर्मस्त्वं प्रजासर्गमिमं पुनः । मिथुनव्यवायधर्मिण्यां भूरिशो भावयिष्यसि ॥५२॥
त्वत्तोऽधस्तात् प्रजाः सर्वा मिथुनीभूय मायया । मदीयया भविष्यन्ति हरिष्यन्ति च मे बलिम् ॥५३॥

नारद तथा नन्द-सुनन्दादि पार्षदों और अनेकों देवनायकोंसे घिरे हुए थे ॥ ३९ ॥ उनके पीछे-पीछे गुण-गान करनेवाले सिद्ध, गन्धर्व तथा चारण आदि उनकी स्तुति करते चलते थे। भगवानका वह अतिशय अद्भुत रूप देखकर प्रजापति दक्ष कुछ घबड़ा-से गये और अति प्रसन्न मनसे उन्होंने पृथिवीपर लोटकर उनको प्रणाम किया। जैसे बहुतसे झरनोंका जल पाकर नदियाँ भर जाती हैं, वैसे ही परम आनन्दके वेगसे मन तथा इन्द्रियोंके रुँध जानेके कारण वे कुछ भी नहीं बोल पाये ॥४०॥४१॥ तदनन्तर सब जीवोंके मनकी बात जाननेवाले भगवान इस तरह साष्टाङ्ग प्रणाम करनेवाले एवं प्रजा उत्पन्न करनेको इच्छुक प्रजापति दक्षसे बोले ॥ ४२ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे महाभाग प्रचेताके पुत्र दक्षजी ! तुमको तपस्याके द्वारा उत्तम प्रकारकी सिद्धि प्राप्त हुई है। क्योंकि मुझपर श्रद्धा करनेके कारण तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति दृढ़ प्रेम उमड़ आया है ॥४३॥ हे प्रजापते ! तुम्हारी तपस्या इस विश्वकी वृद्धि करेगी। अतएव मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। कारण यह है कि 'प्राणियोंकी वृद्धि हो' यही मेरी कामना है ॥ ४४ ॥ ब्रह्मा, महादेव, तुम, मनु तथा इन्द्र—ये सब मेरी ही विभूतियाँ हैं और ये ही प्राणियोंकी उत्पत्तिके कारण हैं ॥ ४५ ॥ हे ब्रह्मन् ! तप मेरा हृदय है, विद्या मेरा शरीर है, कर्म मेरी आकृति है, यज्ञ मेरे अंग हैं, धर्म मेरा मन है और देवता मेरे प्राण हैं ॥ ४६ ॥ सृष्टिके आरम्भमें चिन्मात्र, अव्यक्त तथा सर्वतोभावसे सोये हुएकी भाँति एक मैं ही था। मेरे अतिरिक्त बाहर या भीतर और कोई भी नहीं था ॥ ४७ ॥ जब मुझ अनन्तगुणशाली अनन्तमें गुणमय ब्रह्माण्डशरीर प्रगटा, तब अयोनिज और आदिपुरुष श्रीब्रह्माजी जायमान हुए ॥ ४८ ॥ मेरे वीर्यसे बढ़े देवश्रेष्ठ ब्रह्माजी जब सृष्टिकार्य करनेका प्रयत्न करनेको उद्यत हुए तो उन्होंने उस कार्यमें अपनेको असमर्थ देखा ॥ ४९ ॥ तदनन्तर मेरे कथनानुसार देववर ब्रह्माने कठोर तप किया और उसके प्रभावसे पहले-पहल तुमने नौ प्रजापतियोंकी सृष्टि की। हे तात ! यह पञ्चजन नामके प्रजापतिकी कन्या है और असिक्नी इसका नाम है। हे प्रजापते ! तुम इसे अपनी पत्नीके रूपमें अंगीकार करो ॥५०॥५१॥ तुम दाम्पत्यसम्बन्धी रतिधर्मको स्वीकार करके इस मैथुनधर्मवाली भार्यासे बहुतेरी प्रजा उत्पन्न करोगे ॥ ५२ ॥ तुम्हारे बादकी सारी प्रजा मेरी मायासे मैथुनधर्मके द्वारा ही उत्पन्न होगी और सदा मेरी

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा मिषतस्तस्य भगवान् विश्वभावनः । स्वप्नोपलब्धार्थ इव तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तस्यां स पाञ्चजन्यां वै विष्णुमायोपबृंहितः । हर्यश्वसंज्ञानयुतं पुत्रानजनयद्विभुः ॥१॥
अपृथग्धर्मशीलास्ते सर्वे दाक्षायणा नृप । पित्रा प्रोक्ताः प्रजासर्गे प्रतीचीं प्रययुर्दिशम् ॥२॥
तत्र नारायणसरस्तीर्थं सिन्धुसमुद्रयोः । सङ्गमो यत्र सुमहन्मुनिसिद्धनिषेवितम् ॥३॥
तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः । धर्मे पारमहंस्ये च प्रोत्पन्नमतयोऽप्युत ॥४॥
तेपिरे तप एवोग्रं पित्रादेशेन यन्त्रिताः । प्रजाविवृद्धये यत्तान् देवर्षिस्तान् ददर्श ह ॥५॥
उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः । अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः ॥६॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम् । बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम् ॥७॥
नदीमुभयतोवाहां पञ्चपञ्चाद्भुतं गृहम् । क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमिम् ॥८॥
कथं स्वपितुरादेशमविद्वांसो विपश्चितः । अनुरूपमविज्ञाय अहो सर्गं करिष्यथ ॥९॥

श्रीशुक उवाच

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया । वाचःकूटं तु देवर्षेः स्वयं विममृशुर्धिया ॥१०॥

सेवामें तत्पर रहा करेगी ॥ ५३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! प्रजापति दक्षसे ऐसा कहकर विश्व-भावन भगवान् उनके देखते-देखते वहीं इस तरह अन्तर्धान हो गये, जैसे जागनेपर स्वप्नका पदार्थ नष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी' भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(श्रीनारदजीके उपदेशानुसार हर्यश्व तथा शबलाश्व नामके दक्ष-पुत्रोंका विरक्त होना तथा नारदजीको दक्षका शाप मिलना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! विष्णुभगवानकी मायासे वृद्धिंगत तथा समर्थ दक्षने पञ्चजनकी पुत्रीसे हर्यश्व नामके दस हजार पुत्र उत्पन्न किये ॥ १ ॥ हे भूपाल ! वे सभी दक्षपुत्र समान स्वभाववाले थे। जब उनके पिता प्रजापति दक्षने प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी तो वे सब तप करनेके लिए पश्चिम दिशाकी ओर चले गये ॥ २ ॥ जहाँ कि सिन्धुनदी समुद्रसे जाकर मिलती है, वहाँ 'नारायणसरोवर' नामका एक बहुत बड़ा तीर्थ है और अनेक मुनि तथा सिद्धजन वहाँ रहते हैं ॥ ३ ॥ उस तीर्थमें स्नान करते ही उनके अन्तःकरणका मल धुल गया और उनकी बुद्धि पारमहंस्य धर्ममें जा लगी। फिर भी वे अपने पिताकी आज्ञामें बँधे रहनेके कारण घोर तप करने लग गये। इस तरह प्रजाकी वृद्धिके लिये उद्योगशील उन दक्षपुत्रोंको नारदजीने देखा ॥ ४ ॥ ५ ॥ तब उनके पास आकर उन्होंने कहा—ओ हर्यश्वगण ! तुम प्रजापालक होकर भी बड़े मूर्ख हो। तुम इस पृथिवीका अन्त देखे विना प्रजाको कैसे उत्पन्न करोगे ?॥ ६ ॥ एक ही पुरुषवाले राष्ट्रको, निकलनेका मार्ग न दीखनेवाले बिलको, बहुरूपिणी स्त्रीको, व्यभिचारिणी स्त्रीके पतिको, दोनों किनारोंसे सँटकर बहनेवाली नदीको, पच्चीस पदार्थोंके संयोगसे बने विचित्र घरको, चित्र-विचित्र पंखोंवाले किसी हंसको, छुरे और वज्रसे निर्मित स्वयं ही घूमनेवाले चक्रको देखे बिना तुम अपने सर्वज्ञ पिताकी वास्तविक आज्ञाको समझे बिना ही उसके अनुरूप सृष्टि कैसे कर सकोगे ? ॥ ७—९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! नारदजीके ये कूटार्थ भरे वाक्य

भूः क्षेत्रं जीवसंज्ञं यदनादि निजबन्धनम् । अदृष्ट्वा तस्य निर्वाणं किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥११॥
एक एवेश्वरस्तुर्यो भगवान् आश्रयः परः । तमदृष्ट्वा भवं पुंसः किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१२॥
पुमान् नैवैति यद्गत्वा बिलस्वर्गं गतो यथा । प्रत्यग्धामाविद इह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१३॥
नानारूपाऽऽत्मनो बुद्धिः स्वैरिणीव गुणान्विता । तन्निष्ठामगतस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१४॥
तत्सङ्गभ्रंशितैश्वर्यं संसरन्तं कुभार्यवत् । तद्गतीरबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१५॥
सृष्ट्यप्ययकरीं मायां वेलाकूलान्तवेगिताम् । मत्तस्य तामविज्ञस्य किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१६॥
पञ्चविंशतितत्त्वानां पुरुषोऽद्भुतदर्पणम् । अध्यात्ममबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१७॥
ऐश्वरं शास्त्रमुत्सृज्य बन्धमोक्षानुदर्शनम् । विविक्तपदमज्ञाय किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१८॥
कालचक्रं भ्रमिस्तीक्ष्णं सर्वं निष्कर्षयज्जगत् । स्वतन्त्रमबुधस्येह किमसत्कर्मभिर्भवेत् ॥१९॥
शास्त्रस्य पितुरादेशं यो न वेद निवर्तकम् । कथं तदनुरूपाय गुणविस्रम्भ्युपक्रमेत् ॥२०॥
इति व्यवसिता राजन् हर्यश्वा एकचेतसः । प्रययुस्तं परिक्रम्य पन्थानमनिवर्तनम् ॥२१॥
स्वरब्रह्मणि निर्भातहृषीकेशपदाम्बुजे । अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥२२॥
नाशं निशम्य पुत्राणां नारदाच्छीलशालिनाम् । अन्वतप्यत कः शोचन् सुप्रजस्त्वं शुचां पदम् ॥२३॥

सुनकर हर्यश्वगण अपनी स्वाभाविक विचारयुक्त बुद्धिसे स्वयं इस तरह सोचने लगे—॥ १० ॥ जीव नामका लिंगशरीर ही तो नारदकी निर्दिष्ट भूमि है, जो आत्माका अनादि बन्धनस्वरूप है। उसका अन्त देखे बिना किसी असत् कर्मोंमें संलग्न रहनेसे क्या लाभ होगा ? ॥ ११ ॥ सभी अवस्थाओंका साक्षी, अपने ही सहारे रहनेवाला तथा प्रकृति आदिसे अतीत एक ईश्वर ही है, उस नित्यमुक्त परमात्माको देखे बिना पुरुषको अन्य कर्मोंसे क्या लाभ होगा ॥ १२ ॥ जिसको पाकर पुरुष पातालनिवासी जीवकी भाँति फिर वापस नहीं लौटता, उस स्वयंज्योति परमात्माको बिना जाने संसारमें अन्य व्यर्थ कर्मोंसे क्या लाभ हो सकता है ? ॥ १३ ॥ विविध भाँतिके रूप धारण करनेवाली गुणमयी बुद्धि व्यभिचारिणी स्त्रीकी तरह है, उसका अन्त जाने बिना इन असत्कर्मोंसे क्या लाभ होगा ? ॥ १४ ॥ जैसे कोई किसी कुलटा भार्याके संगमें पड़कर पतित होजाय, उसी तरह उस बहुरूपिणी बुद्धिके संसर्गसे ऐश्वर्यभ्रष्ट होकर उसकी सुख-दुःखरूपिणी गतियोंको प्राप्त जीवको न जाननेवाले पुरुषको इस संसारमें विवेकशून्य कर्म-कलापसे क्या लाभ होनेका है ? ॥ १५ ॥ संसारकी उत्पत्ति तथा संहार करनेवाली और इहलोक तथा परलोकरूपी दोनों किनारोंतक फैली और वेगसे बहनेवाली इस मायारूपिणी नदीको जो नहीं जानता, उस उन्मत्त पुरुषको अन्य असत्कर्मोंसे भला क्या लाभ होगा ? ॥ १६ ॥ वह अन्तर्यामी परम पुरुष पच्चीस तत्त्वोंका अद्भुत स्थल है। कार्य-कारणसमुदायके अधिष्ठातास्वरूप उस पुरुषका रूप जाने बिना व्यक्तिको असत् कर्मोंसे क्या लाभ होगा ? ॥ १७ ॥ बन्ध और मोक्षके विवेकसे पूर्ण ईश्वरप्रतिपादक शास्त्रको छोड़ तथा जड़-चेतनका ज्ञान प्राप्त न करके अन्य बहिर्मुख कर्मोंसे क्या लाभ होगा ? ॥ १८ ॥ इसी तरह सारे जगत्को अपनी ओर आकर्षित करनेवाले अतिशय स्वतन्त्र तथा कालचक्रके तीक्ष्ण भ्रमणको न जाननेवाले पुरुषको अन्य व्यर्थ कर्मोंसे क्या लाभ होगा ? ॥ १९ ॥ जो पुरुष पिताके सदृश शास्त्रकी निवृत्तिपरक आज्ञाको नहीं मानता, वह गुणोंमें आस्थावान् पुरुष निवृत्तिमें कैसे तत्पर होगा ? ॥ २० ॥ हे राजन् ! ऐसा निश्चित करके उन एकत्रित हर्यश्वोंने नारदजीकी परिक्रमा की और वह मार्ग पकड़ा कि जहाँसे प्राणीको फिर लौटना नहीं पड़ता ॥ २१ ॥ इसके बाद श्रीनारदजी भी स्वरब्रह्ममें भासमान् भगवान कृष्णके चरणकमलोंमें अपना चित्त अखण्डरूपसे स्थिर करके अन्य लोकोंमें विचरण करने लगे ॥ २२ ॥ तत्पश्चात् जब नारदजीका उपदेश पाकर अपने शील-सम्पन्न पुत्रोंको कर्त्तव्यसे च्युत हुआ सुना तो प्रजापति दक्षको बहुत सन्ताप हुआ। कभी-कभी

स भूयः पाञ्चजन्यायामजेन परिसान्त्वितः । पुत्रानजनयद् दक्षः शबलाश्वान् सहस्रशः ॥२४॥
तेऽपि पित्रा समादिष्टाः प्रजासर्गे धृतव्रताः । नारायणसरो जग्मुर्यत्र सिद्धाः स्वपूर्वजाः ॥२५॥
तदुपस्पर्शनादेव विनिर्धूतमलाशयाः । जपन्तो ब्रह्म परमं तेपुस्तेऽत्र महत् तपः ॥२६॥
अब्भक्षाःकतिचिन्मासान्कतिचिद्वायुभोजनाः । आराधयन् मन्त्रमिममभ्यस्यन्त इडस्पतिम् ॥२७॥
ॐ नमो नारायणाय पुरुषाय महात्मने । विशुद्धसत्त्वधिष्ण्याय महाहंसाय धीमहि ॥२८॥
इति तानपि राजेन्द्र प्रतिसर्गधियो मुनिः । उपेत्य नारदः प्राह वाचःकूटानि पूर्ववत् ॥२९॥
दाक्षायणाः संश्रृणुत गदतो निगमं मम- । अन्विच्छतानुपदवीं भ्रातॄणां भ्रातृवत्सलाः ॥३०॥
भ्रातॄणां प्रायणं भ्राता योऽनुतिष्ठति धर्मवित् । स पुण्यबन्धुः पुरुषो मरुद्भिः सह मोदते ॥३१॥
एतावदुक्त्वा प्रययौ नारदोऽमोघदर्शनः । तेऽपि चान्वगमन्मार्गं भ्रातॄणामेव मारिष ॥३२॥
सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः । नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव ॥३३॥
एतस्मिन्काल उत्पातान्बहून् पश्यन्प्रजापतिः । पूर्ववन्नारदकृतं पुत्रनाशमुपाशृणोत् ॥३४॥
चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्छितः । देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः ॥३५॥

दक्ष उवाच

अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया । असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः ॥३६॥
ऋणैस्त्रिभिरमुक्तानाममीमांसितकर्मणाम् । विघातः श्रेयसः पाप लोकयोरुभयोः कृतः ॥३७॥

सत्सन्तान भी शोकका कारण होजाती है ॥ २३ ॥ तदुपरान्त ब्रह्माजीके बहुत समझाने-बुझानेपर दक्षने अपनी भार्या पञ्चजनीसे शबलाश्व नामके एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये ॥ २४ ॥ वे भी अपने पिताकी आज्ञा पाकर प्रजोत्पत्तिका सङ्कल्प करके नारायणसरोवरपर चले गये, पहले जहाँ जाकर उनके अग्रजनोंने सिद्धि पायी थी ॥ २५ ॥ उस सरोवरमें स्नान कर लेनेसे ही उनके हृदयका सब मैल दूर हो गया और वे परब्रह्म अर्थात् ॐकारका जप करते हुए घोर तप करने लगे ॥ २६ ॥ उन सबने कुछ महीने केवल जल और उसके बाद केवल वायु पीकर निम्नलिखित मन्त्रका जप करते हुए मन्त्राधिपति विष्णुभगवानकी आराधना की ॥ २७ ॥ 'ॐ परम पुरुष और महान् आत्मास्वरूप नारायणको नमस्कार है । उन विशुद्ध सत्त्वगुणके आधार तथा परमहंसस्वरूप परमेश्वरका हम चिन्तन करते हैं' ॥ २८ ॥ हे राजेन्द्र ! इस तरह सृष्टिवृद्धिके इच्छुक उन शबलाश्वोंके पास जाकर एक दिन देवर्षि नारदने पहलेहीके समान कूट वाक्योंमें इस तरह कहा—॥ २९ ॥ 'हे दक्षपुत्रों ! मैं जो कहता हूँ सो सुनो । हे भ्रातृवत्सलों ! तुम्हें अपने भाइयोंका मार्ग देखना चाहिये ॥ ३० ॥ जो धर्मविद् भ्राता अपने भाइयोंका मार्ग पकड़ता है, वह पुण्यबन्धु पुरुष परलोकमें मरुद्गणोंके साथ सुख भोगता है' ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! शबलाश्वोंसे ऐसा कहकर अमोघदर्शन नारदजी वहाँसे चले गये और उन दक्षकुमारोंने भी अपने भाइयोंकी राह ली ॥३२॥ वे अपनी अन्तर्मुखी वृत्तिके द्वारा प्राप्त होने योग्य समीचीन तथा परमेश्वरको प्राप्त करनेवाले मार्गपर चलने लगे, जिससे अतीत रात्रिकी भाँति वे फिर वापस नहीं लौटे ॥ ३३ ॥ इसी अवसरपर बहुतेरे उत्पात होते देखकर जब प्रजापति दक्षने नारदजीकी प्रेरणासे पहलेहीकी तरह अपने दूसरे पुत्रोंको भी कर्त्तव्यसे च्युत हुआ सुना तो पुत्रशोकसे मूर्छित होकर वे नारदजीपर बहुत क्रुद्ध हुए और जब वे मिले तब दक्ष बोले । उस समय मारे क्रोधके उनका अधर काँप रहा था ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ दक्षने कहा—अरे दुष्ट ! तूने ऊपरसे साधुओं-जैसा वेष धारण करके मेरे साथ यह बहुत बुरा बर्ताव किया, जो मेरे धर्मपरायण पुत्रोंको संन्यासमार्गका उपदेश देकर उन्हें सृष्टि-कर्मसे विमुख कर दिया ॥ ३६ ॥ ओ पापी ! जो अभी देव, ऋषि तथा पितृऋणसे उऋण नहीं हुए थे, जिन्होंने कर्मके विषयमें कुछ भी विचार नहीं किया था, उन मेरे पुत्रोंके इहलोक तथा

एवं त्वं निरनुक्रोशो बालानां मतिभिद्धरेः । पार्षदमध्ये चरसि यशोहा निरपत्रपः ॥३८॥
ननु भागवता नित्यं भूतानुग्रहकातराः । ऋते त्वां सौहृदघ्नं वै वैरङ्करमवैरिणाम् ॥३९॥
नेत्थं पुंसां विरागः स्यात् त्वया केवलिना मृषा । मन्यसे यद्युपशमं स्नेहपाशनिकृन्तनम् ॥४०॥
नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम् । निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः ॥४१॥
यन्नस्त्वं कर्मसन्धानां साधूनां गृहमेधिनाम् । कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम् ॥४२॥
तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः । तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद् भ्रमतः पदम् ॥४३॥

श्रीशुक उवाच

प्रतिजग्राह तद्बाढं नारदः साधुसम्मतः । एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम् ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे नारदशापो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

ततः प्राचेतसोऽसिक्न्यामनुनीतः स्वयम्भुवा । षष्टिं सञ्जनयामास दुहितॄः पितृवत्सलाः ॥१॥
दश धर्माय कायेन्दोर्द्विषट् त्रिणव दत्तवान् । भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापराः ॥२॥
नामधेयान्यमूषां त्वं सापत्यानां च मे शृणु । यासां प्रसूतिप्रसवैर्लोका आपूरितास्त्रयः ॥३॥
भानुर्लम्बा ककुब्जामिर्विश्वा साध्या मरुत्वती । वसुर्मुहूर्ता सङ्कल्पा धर्मपत्न्यः सुताञ्छृणु ॥४॥

परलोक दोनों ही लोकोंमें प्राप्त होनेवाले श्रेयको तूने नष्ट कर डाला ॥ ३७ ॥ तू बालकोंकी बुद्धि बिगाड़नेवाला बहुत बड़ा निर्दयी है। इस तरह भगवान्के यशको कलङ्कित करनेवाला होता हुआ भी तू निर्लज्जताके साथ भगवानके पार्षदोंमें रहता है ! ॥ ३८ ॥ अरे, तेरे सिवाय और सभी भगवद्भक्त प्राणी सर्वदा सब प्राणियोंपर कृपा करनेको कातर रहते हैं। तू तो सौहार्दका नाशक तथा वैर न करनेवालोंका भी वैरी है ॥ ३९ ॥ क्या तू यह समझता है कि उनके संन्यासवेष धारण करलेनेसे ही उनको स्नेहबन्धन काट देनेवाली शान्ति प्राप्त हो जायगी। तेरा यह विचार ठीक नहीं है। क्योंकि विना ज्ञानी हुए केवल तेरे बहका देनेसे ही उन्हें वैराग्य नहीं प्राप्त हो सकेगा ॥४०॥ कोई भी मनुष्य जबतक विषयोंका अनुभव नहीं कर लेता, तब तक उसे उनकी कटुता नहीं मालूम होती। उनकी दुःखरूपताका स्वयं अनुभव करनेपर उसको जैसा वैराग्य होता है, वैसा वैराग्य दूसरोंके बहकानेसे नहीं उत्पन्न हो सकता ॥ ४१ ॥ धर्ममर्य्यादाके प्रतिपालक हम जैसे सद्गृहस्थोंका तूने जो पहले कटु अप्रिय किया था, उसे हमने सहन कर लिया ॥ ४२ ॥ ओ मेरी सन्ततिका उच्छेद करनेवाले पापी ! फिर भी तूने हमारा अहित किया। अतएव ओ मूढ़ ! सब लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न रहेगा। (तू बराबर टक्कर खाता रहेगा) ॥ ४३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब साधुसम्मानित श्री नारदजीने 'बहुत अच्छा' कहकर दक्षका वह शाप स्वीकार कर लिया। क्योंकि संसारमें सच्चा साधु वही है, जो शक्तिशाली होकर भी दूसरेके अपराधोंको सह ले ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(प्रजापति दक्षकी साठ कन्यायें और उनका वंशविस्तार) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उसके बाद श्रीब्रह्माजीके समझानेसे प्रजापति दक्षने अपनी भार्या असिक्नीसे साठ कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ १ ॥ वे बड़ी पितृवत्सला थीं। उनमेंसे दस कन्यायें धर्मको, तेरह कन्यायें कश्यपको, सत्ताईस कन्यायें चन्द्रमाको, दो-दो कन्यायें भूत, अङ्गिरा तथा कृशाश्वको और शेष ४ कन्यायें तार्क्ष्यको दे दीं ॥ २ ॥ हे राजन् ! उन दक्षकन्याओं और उनकी सन्ततिके नाम मुझसे सुनो। उन्हींकी सन्ततिकी सन्तानोंसे (स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल) ये तीनों लोक व्याप्त हो गये ॥ ३ ॥ भानु, लम्बा, ककुप,

भानोस्तु देवऋषभ इन्द्रसेनस्ततो नृप । विद्योत आसील्लम्बायास्ततश्च स्तनयित्नवः ॥५॥
ककुभः सङ्कटस्तस्य कीकटस्तनयो यतः । भुवो दुर्गाणि जामेयः स्वर्गो नन्दिस्ततोऽभवत् ॥६॥
विश्वेदेवास्तु विश्वाया अप्रजांस्तान् प्रचक्षते । साध्यो गणस्तु साध्याया अर्थसिद्धिस्तु तत्सुतः॥७॥
मरुत्वांश्च जयन्तश्च मरुत्वत्यां बभूवतुः । जयन्तो वासुदेवांश उपेन्द्र इति यं विदुः ॥८॥
मौहूर्तिका देवगणा मुहूर्तायाश्च जज्ञिरे । ये वै फलं प्रयच्छन्ति भूतानां स्वस्वकालजम् ॥९॥
सङ्कल्पायाश्च सङ्कल्पः कामः सङ्कल्पजः स्मृतः । वसवोऽष्टौ वसोः पुत्रास्तेषां नामानि मे शृणु ॥१०॥
द्रोणः प्राणो ध्रुवोऽर्कोऽग्निर्दोषो वसुर्विभावसुः । द्रोणस्याभिमतेः पत्न्या हर्षशोकभयादयः ॥११॥
प्राणस्योर्जस्वती भार्या सह आयुः पुरोजवः । ध्रुवस्य भार्या धरणिरसूत विविधाः पुरः ॥१२॥
अर्कस्य वासना भार्या पुत्रास्तर्षादयः स्मृताः । अग्नेर्भार्या वसोर्धारा पुत्रा द्रविणकादयः ॥१३॥
स्कन्दश्च कृत्तिकापुत्रो ये विशाखादयस्ततः । दोषस्य शर्वरीपुत्रः शिशुमारो हरेः कला ॥१४॥
वसोराङ्गिरसीपुत्रो विश्वकर्मा कृतीपतिः । ततो मनुश्चाक्षुषोऽभूद् विश्वे साध्या मनोः सुताः॥१५॥
विभावसोरसूतोषा व्युष्टं रोचिषमातपम् । पञ्चयामोऽथ भूतानि येन जाग्रति कर्मसु ॥१६॥
सरूपासूत भूतस्य भार्या रुद्रांश्च कोटिशः । रैवतोऽजो भवो भीमो वाम उग्रो वृषाकपिः ॥१७॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यो बहुरूपो महानिति । रुद्रस्य पार्षदाश्चान्ये घोरा भूतविनायकाः ॥१८॥

जामि, विश्वा, साध्या, मरुत्वती, वसु, मुहूर्ता और सङ्कल्पा-ये दस धर्मकी भार्यायें थीं। अब उनके पुत्रोंके नाम कहता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥ हे नृप ! भानुका पुत्र देवऋषभ और उसका पुत्र इन्द्रसेन हुआ। लम्बाका पुत्र विद्योत और उसके स्तनयित्नु नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ५ ॥ ककुभका पुत्र सङ्कट और उसका कीकट तथा कीकटके सब पुत्र दुर्गाभिमानी देवता हुए। इसी तरह जामिसे स्वर्ग तथा उससे नन्दि उत्पन्न हुए ॥ ६ ॥ विश्वासके विश्वेदेव हुए। लोग कहते हैं, उनके कोई सन्तति नहीं हुई। साध्यासे साध्यगण तथा उनसे अर्थसिद्धिका जन्म हुआ ॥ ७ ॥ मरुत्वतीसे मरुत्वान् और जयन्त नामके ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। जयन्त साक्षात् भगवान वासुदेवका अंश है, उसको उपेन्द्र इस नामसे भी लोग जानते हैं ॥ ८ ॥ मुहूर्तों द्वारा मुहूर्तके अभिमानी देवता जनमे, जो जीवको समय-समय पर उनके कर्मानुसार शुभाशुभ फल दिया करते हैं ॥ ९ ॥ संकल्पासे संकल्पकी उत्पत्ति हुई। इस संकल्पका पुत्र 'काम' नामसे विख्यात है। वसुके पुत्र आठ वसु हुए, उनके नाम मैं बताता हूँ। सुनो—॥ १० ॥ द्रोण, प्राण, ध्रुव, अर्क, अग्नि, दोष, वसु और विभावसु नामके थे। उनमें द्रोणकी अभिमति नामकी पत्नी द्वारा हर्ष, शोक तथा भय आदि उत्पन्न हुए॥ ११ ॥ प्राणकी पत्नी उर्जस्वतीसे सह, आयु और पुरोजव नामके तीन पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई और ध्रुवकी पत्नी धरणीने अनेक नगरोंको उत्पन्न किया ॥ १२ ॥ अर्ककी पत्नी वासनासे तप आदि पुत्र जनमे। अग्नि नामके वसुकी पत्नी धारासे द्रविणकादि अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। कृत्तिकापुत्र स्कन्ध भी अग्निसे ही उत्पन्न हुए थे। उन स्कन्दके विशाख आदि हुए। दोषकी भार्या शर्वरीके गर्भसे भगवानका अंशस्वरूप शिशुमार उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥ १४ ॥ वसुकी पत्नी आङ्गिरसीसे शिल्पियोंके प्रभु विश्वकर्माजी जायमान हुए। उनके पुत्र चाक्षुष मनु और मनुके विश्वेदेव तथा साध्यगण जन्मे ॥ १५ ॥ विभावसुकी पत्नी उषासे व्युष्ट, रोचिष तथा आतप नामके तीन पुत्र जन्मे। इनमेंसे आतपके पञ्चयाम यानी पाँच पहरका दिन पुत्ररूपसे उत्पन्न हुआ। इसीके कारण लोग कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १६ ॥ दक्षकी अन्य कन्याओंमेंसे भूतकी भार्या सरूपासे कोटिशः रुद्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे रैवत, भव, भीम, वाम, उग्र, वृषाकपि, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, बहुरूप तथा महान्, ये ग्यारह रुद्र मुख्य माने गये। दक्षकी दूसरी पत्नीसे भयंकर भूत तथा विनायकादिकी उत्पत्ति हुई, जो

प्रजापतेरङ्गिरसः स्वधा पत्नी पितॄनथ । अथर्वाङ्गिरसं वेदं पुत्रत्वे चाकरोत् सती ॥१९॥
कृशाश्वोऽर्चिषि भार्यायां धूम्रकेशमजीजनत् । धिषणायां वेदशिरो देवलं वयुनं मनुम् ॥२०॥
तार्क्ष्यस्य विनता कद्रूः पतङ्गी यामिनीति च । पतङ्ग्यसूत पतगान् यामिनी शलभानथ ॥२१॥
सुपर्णासूत गरुडं साक्षात् यज्ञेशवाहनम् । सूर्यसूतमनूरुं च कद्रूर्नागाननेकशः ॥२२॥
कृत्तिकादीनि नक्षत्राणीन्दोः पत्न्यस्तु भारत । दक्षशापात् सोऽनपत्यस्तासु यक्ष्मग्रहार्दितः ॥२३॥
पुनः प्रसाद्य तं सोमः कला लेभे क्षयोदिताः । शृणु नामानि लोकानां मातॄणां शङ्कराणि च ॥२४॥
अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदं जगत् । अदितिर्दितिर्दनुः काष्ठा अरिष्टा सुरसा इला ॥२५॥
मुनिः क्रोधवशा ताम्रा सुरभिः सरमा तिमिः । तिमेर्यादोगणा आसन्श्वापदाः सरमासुताः ॥२६॥
सुरभेर्महिषा गावो ये चान्ये द्विशफा नृप । ताम्रायाः श्येनगृध्राद्या मुनेरप्सरसां गणाः ॥२७॥
दन्दशूकादयः सर्पा राजन् क्रोधवशात्मजाः । इलाया भूरुहाः सर्वे यातुधानाश्च सौरसाः ॥२८॥
अरिष्टायाश्च गन्धर्वाः काष्ठाया द्विशफेतराः । सुता दनोरेकषष्टिस्तेषां प्राधानिकाञ्छृणु ॥२९॥
द्विमूर्धा शम्बरोऽरिष्टो हयग्रीवो विभावसुः । अयोमुखः शङ्कुशिराः स्वर्भानुः कपिलोऽरुणः ॥३०॥
पुलोमा वृषपर्वा च एकचक्रोऽनुतापनः । धूम्रकेशो विरूपाक्षो विप्रचित्तिश्च दुर्जयः ॥३१॥
स्वर्भानोः सुप्रभां कन्यामुवाह नमुचिः किल । वृषपर्वणस्तु शर्मिष्ठां ययातिर्नाहुषो बली ॥३२॥
वैश्वानरसुता याश्च चतस्रश्चारुदर्शनाः । उपदानवी हयशिरा पुलोमा कालका तथा ॥३३॥

उन रुद्रोंके साथी हुए ॥ १७ ॥ १८ ॥ अंगिरा प्रजापतिकी पहली स्त्री स्वधाने पितृगणको और दूसरी पत्नी सतीने अथर्वांगिरस नामके एक वेदको पुत्ररूपसे ग्रहण किया ॥ १९ ॥ इसी तरह कृशाश्वने अपनी भार्या अर्चिसे धूम्रकेश तथा धिषणासे वेदशिरा, देवल, वयुन एवं मनु, ये चार पुत्र उत्पन्न किये ॥ २० ॥ तार्क्ष्यकी विनता, कद्रू, पतंगी तथा यामिनी नामकी चार स्त्रियाँ थीं। उनमें पतंगीने पक्षियों और यामिनीने शलभोंको उत्पन्न किया ॥ २१ ॥ इसी तरह सुपर्णा अर्थात् विनतासे साक्षात् विष्णुभगवानके वाहन गरुड़जी तथा सूर्यदेवके सारथी अरुण जायमान हुए और कद्रूसे बहुतसे नागोंकी उत्पत्ति हुई ॥ २२ ॥ हे भरतनन्दन ! कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्र चन्द्रमाकी भार्यायें हैं। एक समय दक्षके शापसे चन्द्रदेवको क्षयरोग हो गया था। अतएव उन पत्नियोंसे उनके कोई भी सन्तान उत्पन्न नहीं हुई ॥ २३ ॥ प्रजापति दक्षको पुनः प्रसन्न करनेपर उन्हें कृष्णपक्षमें नष्ट कलाओंके शुक्लपक्षमें पूर्ण हो जानेका वरदान मिला, फिर भी इनके सन्तान कोई नहीं हुई। इसके बाद जिनके द्वारा सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, उन कश्यपपत्नियोंके नाम सुनो। वे थीं—अदिति, दिति, दनु, काष्ठा, अरिष्टा, सुरता, इला, मुनि, क्रोधवशा, ताम्रा, सुरभि, सरमा और तिमि। उनमेंसे तिमिके पुत्र जलचर-गण और सरमाके व्याघ्रादि श्वापदगण हुए ॥२४—२६॥ हे नृप ! सुरभिसे महिष, गौ तथा अन्य दो खुरके पशु उत्पन्न हुए। ताम्रासे बाज और गृध्र आदि पक्षी जन्मे। दक्षकी मुनि नामकी पत्नीसे अप्सराओंके समुदाय उत्पन्न हुए ॥ २७ ॥ हे राजन् ! क्रोधवशासे दन्दशूक आदि सर्पगण उत्पन्न हुए। उसी तरह सम्पूर्ण वृक्ष इलासे और सब राक्षस सुरतासे उत्पन्न हुए हैं ॥ २८ ॥ अरिष्टासे गन्धर्वगण और काष्ठासे अश्व आदि एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। कश्यपकी पत्नी दनुके गर्भसे इकसठ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे बड़े-बड़े दानवोंके नाम जो थे, सुनो—॥ २९ ॥ वे थे–द्विमूर्धा, शम्बर, अरिष्ट, हयग्रीव, विभावसु, अयोमुख, शंकुशिरा, स्वर्भानु, कपिल, अरुण, पुलोम, वृषपर्वा, एकचक्र, अनुतापन, धूम्रकेश, विरूपाक्ष, विप्रचित्ति तथा दुर्जय ॥ ३० ॥ ३१ ॥ स्वर्भानु दानवकी कन्या सुप्रभाके साथ नमुचिसे और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके साथ महाबली नहुषसुवन ययातिका विवाह हुआ था ॥ ३२ ॥ वैश्वानर दानवकी चार सुन्दरी पुत्रियाँ उपदानवी, हयशिरा, पुलोमा और

उपदानवीं हिरण्याक्षः क्रतुर्हयशिरां नृप । पुलोमां कालकां च द्वे वैश्वानरसुते तु कः ॥३४॥
उपयेमेऽथ भगवान् कश्यपो ब्रह्मचोदितः । पौलोमाः कालकेयाश्च दानवा युद्धशालिनः ॥३५॥
तयोः षष्टिसहस्राणि यज्ञघ्नांस्ते पितुः पिता । जघान स्वर्गतो राजन्नेक इन्द्रप्रियङ्करः ॥३६॥
विप्रचित्तिः सिंहिकायां शतं चैकमजीजनत् । राहुज्येष्ठं केतुशतं ग्रहत्वं य उपागतः ॥३७॥
अथातः श्रूयतां वंशो योऽदितेरनुपूर्वशः । यत्र नारायणो देवः स्वांशेनावतरद्विभुः ॥३८॥
विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः । धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रमः ॥३९॥
विवस्वतः श्राद्धदेवं संज्ञासूयत वै मनुम् । मिथुनं च महाभागा यमं देवं यमीं तथा ॥
सैव भूत्वाथ वडवा नासत्यौ सुषुवे भुवि ॥४०॥
छाया शनैश्चरं लेभे सावर्णिं च मनुं ततः । कन्यां च तपतीं या वै वव्रे संवरणं पतिम् ॥४१॥
अर्यम्णो मातृका पत्नी तयोश्चर्षणयः सुताः । यत्र वै मानुषी जातिर्ब्रह्मणा चोपकल्पिता ॥४२॥
पूषानपत्यः पिष्टादो भग्नदन्तोऽभवत्पुरा । योऽसौ दक्षाय कुपितं जहास विवृतद्विजः ॥४३॥
त्वष्टुर्दैत्यानुजा भार्या रचना नाम कन्यका । सन्निवेशस्तयोर्जज्ञे विश्वरूपश्च वीर्यवान् ॥४४॥
तं वव्रिरे सुरगणा स्वस्रीयं द्विषतामपि । विमतेन परित्यक्ता गुरुणाऽऽङ्गिरसेन यत् ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

कालका नामसे विख्यात थीं। उनमेंसे उपदानवीके साथ हिरण्याक्षका और हयशिराके साथ क्रतुका विवाह हुआ। पुलोमा तथा कालका इन दोनों वैश्वानर-पुत्रियोंका भगवान ब्रह्माजीकी आज्ञासे कश्यपजीके साथ विवाह हुआ। उनके द्वारा पौलोम तथा कालकेय नामके साठ हजार रणवीर दानव उत्पन्न हुए ॥ ३३–३५ ॥ वे दानव सबके यज्ञमें विघ्न डालते रहते थे। इस कारण हे राजन्! इन्द्रकी भलाई करनेवाले तुम्हारे पितामह अर्जुनने जब वे स्वर्गमें रहते थे, उसी समय अकेले ही जाकर उनको मारा था ॥ ३६ ॥ विप्रचित्ति दानवने सिंहिकाके द्वारा एक सौ एक पुत्र उत्पन्न किये। जिनमें सबसे बड़ा राहु था और शेष सौ पुत्र केतु कहे जाते थे। आगे चलकर ये सब ग्रहत्वको प्राप्त हो गये ॥ ३७ ॥ अब मैं क्रमशः अदितिके वंशका वर्णन करता हूँ, सो सुनो। जिस वंशमें सर्वव्यापक साक्षात् श्रीनारायण अपने अंशसे अवतीर्ण हुए थे ॥ ३८ ॥ विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र, और उरुक्रम—ये बारहों आदित्य अदितिके ही पुत्र थे ॥ ३९ ॥ विवस्वान्ने उनकी भार्या महाभागा संज्ञादेवीसे श्राद्धदेव मनु तथा यम और यमी ये दोनों उत्पन्न हुए। फिर उसी संज्ञादेवीने घोड़ीका रूप धारण करके दो अश्विनीकुमारोंको उत्पन्न किया ॥ ४० ॥ विवस्वान्की दूसरी भार्या छायाके शनैश्चर तथा सावर्णि मनु नामक दो पुत्र एवं तपती नामकी एक कन्या कुल तीन सन्तानें हुईं। विवस्वान्की कन्या तपतीने संवरणको अपना पति चुना ॥ ४१ ॥ अर्यमा और उनकी पत्नी मातृकाके पुत्र चर्षणी अर्थात् कृताकृतज्ञानसम्पन्न मनुष्य हुए। जिनके द्वारा ब्रह्माजीने मनुष्य जाति यानी ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी कल्पना की ॥ ४२ ॥ पूषा निःसन्तान थे। उनके दाँत नहीं थे, इस कारण वे पिसा अन्न खाते थे। पूर्व समयमें वे दक्षपर कुपित श्रीमहादेवजीकी ओर दाँत निपोर कर हँसे थे, इसी कारण उनके दाँत तोड़ डाले गये थे ॥ ४३ ॥ दैत्योंकी अनुजा (छोटी बहिन) कुमारी रचना त्वष्टाकी पत्नी थी। उन दोनोंके द्वारा संनिवेश तथा महापराक्रमी विश्वरूप उत्पन्न हुआ ॥ ४४ ॥ यद्यपि विश्वरूप देवताओंके शत्रुओं (दैत्यों) के दौहित्र (नाती) थे। फिर भी जब इन्द्रके द्वारा अपमानित होकर देवगुरु बृहस्पतिजीने देवताओंका पौरोहित्य त्याग दिया, तब देवताओंने उन्हें (विश्वरूपको) अपना पुरोहित नियत किया ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

राजोवाच

कस्य हेतोः परित्यक्ता आचार्येणात्मनः सुराः । एतदाचक्ष्व भगवञ्छिष्याणामक्रमं गुरौ ॥१॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लङ्घितसत्पथः । मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैर्ऋभुभिर्नृप ॥२॥
विश्वेदेवैश्च साध्यैश्च नासत्याभ्यां परिश्रितः । सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥३॥
विद्याधराप्सरोभिश्च किन्नरैः पतगोरगैः । निषेव्यमाणो मघवान् स्तूयमानश्च भारत ॥४॥
उपगीयमानो ललितमास्थानाध्यासनाश्रितः । पाण्डुरेणातपत्रेण चन्द्रमण्डलचारुणा ॥५॥
युक्तश्चान्यैः पारमेष्ठ्यैश्चामरव्यजनादिभिः । विराजमानः पौलोम्या सहार्धासनया भृशम् ॥६॥
स यदा परमाचार्यं देवानामात्मनश्च ह । नाभ्यनन्दत सम्प्राप्तं प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥७॥
वाचस्पतिं मुनिवरं सुरासुरनमस्कृतम् । नोच्चचालासनादिन्द्रः पश्यन्नपि सभागतम् ॥८॥
ततो निर्गत्य सहसा कविराङ्गिरसः प्रभुः । आययौ स्वगृहं तूष्णीं विद्वाञ्छ्रीमदविक्रियाम् ॥९॥
तर्ह्येव प्रतिबुध्येन्द्रो गुरुहेलनमात्मनः । गर्हयामास सदसि स्वयमात्मानमात्मना ॥१०॥
अहो बत ममासाधु कृतं वै दभ्रबुद्धिना । यन्मयैश्वर्यमत्तेन गुरुः सदसि कात्कृतः ॥११॥
को गृध्येत् पण्डितो लक्ष्मीं त्रिविष्टपपतेरपि । ययाहमासुरं भावं नीतोऽद्य विबुधेश्वरः ॥१२॥
ये पारमेष्ठ्यं धिषणमधितिष्ठन् न कञ्चन । प्रत्युत्तिष्ठेदिति ब्रूयुर्धर्मं ते न परं विदुः ॥१३॥

(देवताओंका बृहस्पतिजीका अपमान करनेके कारण ऐश्वर्यहीन होना और विश्वरूपको पुरोहितपद देना) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने पूछा—हे भगवन् ! आचार्य बृहस्पतिजीने किसलिए अपने प्रिय देवताओंको त्यागा था। उनके द्वारा अपने गुरुका ऐसा क्या व्यतिक्रम हुआ, सो आप कहिये ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक समय त्रिभुवनके ऐश्वर्यमदसे मत्त होकर सन्मार्ग छोड़ देनेवाला इन्द्र प्रसन्नतापूर्वक इन्द्राणीके साथ अपनी सभामें ऊँचे राजसिंहासनपर बैठा था। मरुत, वसु, रुद्र, आदित्य, ऋभु, विश्वेदेव, साध्यगण और दोनों अश्विनीकुमार उनकी सेवा कर रहे थे। सिद्ध, चरण, गन्धर्व, अनेक ब्रह्मवादी मुनि, विद्याधर, अप्सरा, किन्नर, पक्षी तथा नाग उनकी सेवा तथा स्तुति करते थे। सब ओर ललित स्वरमें उनका गुण गाया जा रहा था। उसके ऊपर चन्द्रमण्डलकी नाईं सुन्दर और श्वेत छत्र लगा था और अतिशय श्रेष्ठ चामर-व्यजन आदि राजोचित चिह्न वहाँ विद्यमान थे ॥ २–६ ॥ इसी समय अपने और देवताओंके परम गुरु और सुरासुरवन्दित मुनिश्रेष्ठ बृहस्पतिको सभामें उपस्थित देखकर भी जब इन्द्रने उनका प्रत्युत्थान अर्थात् आसनसे उठकर स्वागत तथा आनाथादि देकर सत्कार नहीं किया और न इन्द्र अपने आसनसे हिला ही तो परम समर्थ तथा त्रिकालदर्शी विद्वान् बृहस्पतिजी तत्काल सभासे लौट पड़े। इतने ही से उन्होंने समझ लिया कि यह ऐश्वर्यमदका विकार है। बस, चुपचाप अपने घर चले आये ॥ ७–९ ॥ जब इन्द्रको सुधि हुई और उसे यह बात मालूम हुई कि मैंने गुरुका अपमान किया है, तो वह भरी सभामें स्वयं अपने आपको कोसने लगा ॥ १० ॥ उसने कहा—'हाय ! मुझ तुच्छबुद्धिके द्वारा यह बहुत बड़ा अपराध होगया, जो मैंने ऐश्वर्यमदसे अन्धे होकर इस देवसभामें आये गुरुकी अवज्ञा की ॥ ११ ॥ जिससे मोहग्रस्त होकर देवताओंका अधिपति होनेपर भी मेरे मनमें ऐसा आसुरी भाव जागृत हो गया, उस इन्द्रलक्ष्मीकी भी इच्छा कौन समझदार मनुष्य करेगा ॥ १२ ॥ जिनका यह विचार है कि सार्वभौम राजा जब सिंहासनपर बैठा हो तो किसीके भी आनेपर न उठे, वे लोग उत्तम धर्मकी

तेषां कुपथदेष्टॄणां पततां तमसि ह्यधः। ये श्रद्दध्युर्वचस्ते वै मज्जन्त्यश्मप्लवा इव ॥१४॥
अथाहममराचार्यमगाधधिषणं द्विजम्। प्रसादयिष्ये निशठः शीर्ष्णा तच्चरणं स्पृशन् ॥१५॥
एवं चिन्तयतस्तस्य मघोनो भगवान् गृहात्। बृहस्पतिर्गतोऽदृष्टां गतिमध्यात्ममायया ॥१६॥
गुरोर्नाधिगतः संज्ञां परीक्षन् भगवान् स्वराट्। ध्यायन् धिया सुरैर्युक्तः शर्म नालभतात्मनः॥१७॥
तच्छ्रुत्वैवासुराः सर्व आश्रित्यौशनसं मतम्। देवान् प्रत्युद्यमं चक्रुर्दुर्मदा आततायिनः ॥१८॥
तैर्विसृष्टेषुभिस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्नाङ्गोरुबाहवः। ब्रह्माणं शरणं जग्मुः सहेन्द्रा नतकन्धराः ॥१९॥
तांस्तथाभ्यर्दितान् वीक्ष्य भगवानात्मभूरजः। कृपया परया देव उवाच परिसान्त्वयन् ॥२०॥

ब्रह्मोवाच

अहो बत सुरश्रेष्ठा ह्यभद्रं वः कृतं महत्। ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं दान्तमैश्वर्यान्नाभ्यनन्दत ॥२१॥
तस्यायमनयस्यासीत्परेभ्यो वः पराभवः। प्रक्षीणेभ्यः स्ववैरिभ्यः समृद्धानां च यत्सुराः ॥२२
मघवन् द्विषतः पश्य प्रक्षीणान् गुर्वतिक्रमात्। सम्प्रत्युपचितान् भूयः काव्यमाराध्य भक्तितः।
आददीरन् निलयनं ममापि भृगुदेवताः ॥२३॥

त्रिविष्टपं किं गणयन्त्यभेद्यमन्त्रा भृगूणामनुशिक्षितार्थाः।
न विप्रगोविन्दगवीश्वराणां भवन्त्यभद्राणि नरेश्वराणाम् ॥२४॥
तद्विश्वरूपं भजताशु विप्रं तपस्विनं त्वाष्ट्रमथात्मवन्तम्।
सभाजितोऽर्थान् स विधास्यते वो यदि क्षमिष्यध्वमुतास्य कर्म ॥२५॥

मर्यादाको नहीं जानते ॥ १३ ॥ ऐसे कुमार्गके उपदेशक और घोर नरकगामी उन मूर्खोंके वचनोंपर जो लोग विश्वास करते हैं, वे पत्थरकी बनी नौकापर सवार पुरुषोंकी नाईं बीचहीमें डूब जाते हैं ॥ १४ ॥ सो अब मैं शठता त्यागकर अगाधबुद्धि देवगुरुको उनके चरणोंपर माथा रखकर राजी करूँगा ॥ १५ ॥ जब इन्द्र इस प्रकार अपनी करनीपर पछता रहे थे, इसी बीच भगवान बृहस्पतिजी अपने योग-बलसे अलक्षित हो गये ॥ १६ ॥ बहुत खोजनेपर भी गुरुजीका कुछ पता नहीं चला, तब भगवान इन्द्र अन्य देवताओंके साथ-साथ कोई और उपाय सोचने लगे, किन्तु अपनी बुद्धिसे वे कुछ भी निश्चय नहीं कर पाये और उनका चित्त शान्त नहीं हुआ ॥ १७ ॥ यह समाचार पाकर मदोन्मत्त तथा आततायी असुर असुरगुरु शुक्राचार्यकी अनुमति पा और अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित होकर देवताओंपर चढ़ आये ॥ १८ ॥ दैत्योंके छोड़े तीखे बाणोंसे सब अङ्ग, जंघा तथा बाहु आदिके छिन्न-छिन्न हो जानेपर इन्द्रसमेत सब देवता मस्तक झुकाये हुए श्रीब्रह्माजीकी शरणमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥ देवताओंको अत्यन्त पीड़ित देखकर स्वयं भगवान ब्रह्माजीने अतिशय कृपापूर्वक उन्हें धीरज बँधाते हुए इस तरह कहा ॥ २० ॥ श्रीब्रह्माजी कहने लगे—अहो देवताओं! बड़े खेदकी बात है! तुमने बहुत बुरा किया, जो ऐश्वर्यमदसे मत्त होकर उस जितेन्द्रिय ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणका (सत्कार) नहीं किया ॥ २१ ॥ यह तुम्हारी उसी करनीका फल है कि तुम लोग समृद्धिशाली होकर भी अपनेसे हीन बलवाले शत्रुओंसे हार गये ॥ २२ ॥ हे इन्द्र! अपने गुरुका अपमान करनेसे क्षीण बलवाले अपने शत्रुओंको ही देखो (पहले उनकी क्या दशा थी, किन्तु) आज वे ही अपने गुरु शुक्राचार्यकी भक्तिपूर्वक आराधना करनेसे फिर कितने उन्नत हो गये हैं। अरे, कुछ दिनोंमें ये गुरु शुक्रके भक्त दैत्य मेरा लोक भी ले लेंगे ॥ २३ ॥ अपने गुरु शुक्राचार्यजीसे अर्थसिद्धिकी शिक्षा पाये हुए ये अभेद्य मन्त्रणावाले दैत्य स्वर्गको समझते ही क्या चीज हैं? जिनके सहायक गौ, ब्राह्मण और भगवान होते हैं, उन श्रेष्ठ मनुष्योंका कभी अमङ्गल नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ अतएव तुम शीघ्र त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके पास चले जाओ। वह ब्राह्मण तपस्वी तथा आत्मज्ञानी है। यदि तुम उसके

श्रीशुक उवाच

त एवमुदिता राजन् ब्रह्मणा विगतज्वराः । ऋषिं त्वाष्ट्रमुपव्रज्य परिष्वज्येदमब्रुवन् ॥२६॥

देवा ऊचुः

वयं तेऽतिथयः प्राप्ता आश्रमं भद्रमस्तु ते । कामः सम्पाद्यतां तात पितॄणां समयोचितः ॥२७॥
पुत्राणां हि परो धर्मः पितृशुश्रूषणं सताम् । अपि पुत्रवतां ब्रह्मन् किमुत ब्रह्मचारिणाम् ॥२८॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः । भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात् क्षितेस्तनुः॥२९॥
दयाया भगिनी मूर्तिर्धर्मस्यात्मातिथिः स्वयम् । अग्नेरभ्यागतो मूर्तिः सर्वभूतानि चात्मनः ॥३०॥
तस्मात् पितॄणामार्तानामार्तिं परपराभवम् । तपसापनयंस्तात सन्देशं कर्तुमर्हसि ॥३१॥
वृणीमहे त्वोपाध्यायं ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं गुरुम् । यथाञ्जसा विजेष्यामः सपत्नांस्तव तेजसा ॥३२॥
न गर्हयन्ति ह्यर्थेषु यविष्ठाङ्घ्र्यभिवादनम् । छन्दोभ्योऽन्यत्र न ब्रह्मन् वयो ज्यैष्ठ्यस्य कारणम् ॥

ऋषिरुवाच

अभ्यर्थितः सुरगणैः पौरोहित्ये महातपाः । स विश्वरूपस्तानाह प्रसन्नः श्लक्ष्णया गिरा ॥३४॥

विश्वरूप उवाच

विगर्हितं धर्मशीलैर्ब्रह्मवर्चउपव्ययम् । कथं नु मद्विधो नाथा लोकेशैरभियाचितम् ।
प्रत्याख्यास्यति तच्छिष्यः स एव स्वार्थ उच्यते ॥३५॥

कर्मकी कटुताको सह सकोगे तो तुम्हारे द्वारा आदृत होकर वह तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण कर देगा ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ब्रह्माजीके ऐसा कहनेपर देवताओंका सन्ताप दूर हो गया । तत्काल वे विश्वरूप ऋषिके पास गये और उन्हें आलिंगन करके इस तरह कहने लगे ॥ २६ ॥ देवता बोले—हे तात ! तुम्हारा मंगल हो । हम तुम्हारे आश्रमपर अपने आप आये हुए अतिथि हैं । सो तुम अपने पितरोंकी समयोचित इच्छा पूर्ण करो ॥ २७ ॥ सुसन्तान सन्ततिका भी सबसे बड़ा धर्म अपने पितरोंकी सेवा करना ही होता है । फिर ब्रह्मचारियोंका क्या कहना है ? ॥ २८ ॥ अपना आचार्य (मन्त्र देनेवाला गुरु) वेदकी, पिता प्रजापति ब्रह्माजीकी, भाई मरुत्पति इन्द्रकी तथा माता साक्षात् पृथ्वीकी मूर्ति मानी जाती है ॥ २९ ॥ इसी तरह बहिन दयाकी, अतिथि धर्मकी, अभ्यागत अग्निकी तथा सभी जीव अपने आत्माकी मूर्ति होते हैं ॥ ३० ॥ हे तात ! हम तुम्हारे पितर हैं । अपने शत्रुओंसे हार जानेके कारण हम बहुत क्लेशमें हैं । सो अपने तपोबलसे हमारे महान् सङ्कटको टालते हुए तुम हमारी आज्ञा मानो ॥ ३१ ॥ तुम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण होनेके कारण हमारे गुरु हो । हम तुमको अपना आचार्य बनाते हैं । अब ऐसा कुछ करो कि जिससे तुम्हारे प्रभावसे हम अपने शत्रुओंपर विजय पा लें ॥ ३२ ॥ यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मैं तो आपका बालक हूँ, तब गुरु कैसे बनूँगा ? सो बात यह है कि प्रयोजनसिद्धिके लिये छोटोंकी चरणवन्दना करनेसे भी कोई निन्दा की बात नहीं होती । हे ब्रह्मन् ! केवल अवस्था बड़प्पनका कारण नहीं होती । बड़प्पन तो होता है वेदज्ञानसे ॥ ३३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उन देवताओंके द्वारा पुरोहिताईके लिये प्रार्थित महातपस्वी विश्वरूप प्रसन्न होकर उनसे मधुर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥ ३४ ॥ विश्वरूपने कहा—पौरोहित्य कर्मसे ब्रह्मतेज क्षीण होजाता है । इस कारण धर्मात्मा पुरुष उसकी निन्दा ही करते आये हैं । हे प्रभुओं ! जब आप सब लोकपति मुझसे उसे स्वीकार करनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं, तब आपका शिष्य मुझ-जैसा व्यक्ति उसकी अवहेलना कैसे कर सकता है ? शिष्योंका सबसे बड़ा स्वार्थ तो यही हो सकता है कि वह गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन

अकिञ्चनानां हि धनं शिलोञ्छनं तेनेह निर्वर्तितसाधुसत्क्रियः ।
कथं विगर्ह्यं नु करोम्यधीश्वराः पौरोधसं हृष्यति येन दुर्मतिः ॥३६॥
तथापि न प्रतिब्रूयां गुरुभिः प्रार्थितं कियत् । भवतां प्रार्थितं सर्वं प्राणैरर्थैश्च साधये ॥३७॥

श्रीशुक उवाच

तेभ्य एवं प्रतिश्रुत्य विश्वरूपो महातपाः । पौरोहित्यं वृतश्चक्रे परमेण समाधिना ॥३८॥
सुरद्विषां श्रियं गुप्तामौशनस्यापि विद्यया । आच्छिद्यादान्महेन्द्राय वैष्णव्या विद्यया विभुः॥३९
यया गुप्तः सहस्राक्षो जिग्येऽसुरचमूर्विभुः । तां प्राह स महेन्द्राय विश्वरूप उदारधीः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

राजोवाच

यया गुप्तः सहस्राक्षः सवाहान् रिपुसैनिकान् । क्रीडन्निव विनिर्जित्य त्रिलोक्या बुभुजे श्रियम् ॥१॥
भगवंस्तन्ममाख्याहि वर्म नारायणात्मकम् । यथाऽऽततायिनः शत्रून् येन गुप्तोऽजयन्मृधे ॥२॥

श्रीशुक उवाच

वृतः पुरोहितस्त्वाष्ट्रो महेन्द्रायानुपृच्छते । नारायणाख्यं वर्माह तदिहैकमनाः शृणु ॥३॥

विश्वरूप उवाच

धौताङ्घ्रिपाणिराचम्य सपवित्र उदङ्मुखः । कृतस्वाङ्गकरन्यासो मन्त्राभ्यां वाग्यतः शुचिः ॥४॥

करता रहे ॥ ३५ ॥ हे देवताओं! अकिञ्चन व्यक्तियोंका सबसे बड़ा धन तो शिलोञ्छवृत्ति ही है। उनके द्वारा साधु पुरुषोंके सभी गृहस्थोचित सत्कर्मोंका पालन करनेवाला मैं अतिशय निन्दनीय पौरोहित्य कर्म भला कैसे कर पाऊँगा? जिससे कि केवल दुष्ट बुद्धिवालोंको ही प्रसन्नता होती है ॥ ३६ ॥ फिर भी अब मैं और कुछ नहीं कहूँगा। क्योंकि आप गुरुजनोंने माँगा ही क्या है? आपकी सब प्रार्थनाओंको मैं अपने प्राण तथा धन खोकर भी पूर्ण करूँगा ॥ ३७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! उन देवताओंसे ऐसी प्रतिज्ञा करके महातपस्वी विश्वरूप बड़ी तत्परताके साथ उनका पौरोहित्य करने लगे ॥ ३८ ॥ उन परम समर्थ विश्वरूपने शुक्राचार्यजीके विद्याबलसे सुरक्षित होनेपर भी दैत्योंकी राज्यलक्ष्मी उनसे अपनी वैष्णवी विद्याके प्रभावसे छीनकर इन्द्रको दे डाली ॥ ३९ ॥ जिस नारायणकवचरूपिणी विद्याके बलसे सुरक्षित इन्द्रने दैत्योंकी सेना जीती थी, वह इन्द्रको उदारबुद्धि विश्वरूपने ही बतायी थी ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(नारायणकवच) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने शुकमुनिसे कहा—हे भगवन्! जिनके द्वारा सुरक्षित होकर इन्द्रने हाथी-घोड़े आदि विविध वाहनोंसे युक्त शत्रुओंकी सारी सेनाको खेल-खेलमें जीतकर त्रिलोकीकी राज्यलक्ष्मीका भोग किया, उस नारायणकवचरूपिणी वैष्णवी विद्याको आप मुझसे कहें। इसके साथ-साथ जैसे उसके द्वारा रक्षित होकर इन्द्रने अपने शत्रुओंको युद्धमें परास्त किया हो, वह प्रसंग भी आप हमको सुनायें ॥ १ ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! जब विश्वरूप पुरोहित बन गये, तब इन्द्रके पूछनेपर उन्होंने जिस नारायणकवचका उपदेश किया था, सो एकाग्रमन होकर सुनो ॥ ३ ॥ विश्वरूप बोले—हे इन्द्र! जब कभी किसी प्रकारका कष्ट हो तो अपने शरीरपर नारायणकवच धारण कर ले। (साधकका कर्तव्य है कि) पहले हाथ-पाँव धोकर

नारायणमयं वर्म सन्नह्येद् भय आगते । पादयोर्जानुनोरूर्वोरुदरे हृद्यथोरसि ॥५॥
मुखे शिरस्यानुपूर्व्यादोङ्कारादीनि विन्यसेत् । ॐ नमो नारायणायेति विपर्ययमथापि वा ॥६॥
करन्यासं ततः कुर्याद् द्वादशाक्षरविद्यया । प्रणवादियकारान्तमङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु ॥७॥
न्यसेद्धृदय ओङ्कारं विकारमनु मूर्धनि । षकारं तु भ्रुवोर्मध्ये णकारं शिखया दिशेत् ॥८॥
वेकारं नेत्रयोर्युञ्ज्यान्नकारं सर्वसन्धिषु । मकारमस्त्रमुद्दिश्य मन्त्रमूर्तिर्भवेद् बुधः ॥९॥
सविसर्गं फडन्तं तत् सर्वदिक्षु विनिर्दिशेत् । ॐ विष्णवे नम इति ॥१०॥
आत्मानं परमं ध्यायेद् ध्येयं षट्शक्तिभिर्युतम् । विद्यातेजस्तपोमूर्तिमिमं मन्त्रमुदाहरेत् ॥११॥

ॐ हरिर्विदध्यान्मम सर्वरक्षां न्यस्ताङ्घ्रिपद्मः पतगेन्द्रपृष्ठे ।
दरारिचर्मासिगदेषुचापपाशान् दधानोऽष्टगुणोऽष्टबाहुः ॥१२॥
जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्तिर्यादोगणेभ्यो वरुणस्य पाशात् ।
स्थलेषु मायावटुवामनोऽव्यात् त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः ॥१३॥
दुर्गेष्वटव्याजिमुखादिषु प्रभुः पायान्नृसिंहोऽसुरयूथपारिः ।
विमुञ्चतो यस्य महाट्टहासं दिशो विनेदुर्न्यपतंश्च गर्भाः ॥१४॥
रक्षत्वसौ माध्वनि यज्ञकल्पः स्वदंष्ट्रयोन्नीतधरो वराहः ।
रामोऽद्रिकूटेष्वथ विप्रवासे सलक्ष्मणोऽव्याद् भरताग्रजोऽस्मान् ॥१५॥

आचमन करे। तब कुशाकी पवित्री दोनों अनामिकाओंमें धारणकर उत्तर मुँह करके बैठे और वाणीको संयत करके पवित्रताके साथ अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों द्वारा अङ्गन्यास और करन्यास करे। पहले 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षरमन्त्र द्वारा ॐकार आदि आठ अक्षरोंका क्रमशः चरण, जानु, उरु, उदर, हृदय, वक्षःस्थल, मुख तथा सिरमें न्यास करे। यकारसे लेकर ॐकार पर्यन्त विपरीत क्रमसे भी सिर आदिमें न्यास किया जा सकता है ॥ ४–६ ॥ तदनन्तर द्वादशाक्षर मन्त्रके ओंकार आदि बारह अक्षरोंका क्रमशः अङ्गुलियों तथा दोनों अंगूठोंके पर्वोंमें न्यास करना चाहिए ॥ ७ ॥ इसके बाद 'ॐ विष्णवे नमः' इस मन्त्रके ॐकारको हृदयमें, 'वि'को मस्तकमें, 'ष' को भौंहोंके मध्यमें, 'ण' को शिखामें, 'वे' को नेत्रोंमें तथा 'न' को सब सन्धियोंमें स्थित करे। इसी क्रमसे 'म' को अस्त्ररूपसे चिन्तन करता-करता स्वयं मन्त्रस्वरूप हो जाय। तब फडन्त विसर्गके साथ अर्थात् 'मः अस्त्राय फट्' ऐसा कहकर दिग्बन्धका विधान करे ॥ ८–१० ॥ तदनन्तर अपने ध्येय अर्थात् षट्शक्तिसम्पन्न परमात्माका ध्यान करे और विद्या, तेज तथा तपःस्वरूप इस मन्त्रको जपे ॥ ११ ॥ ॐ जो अपना चरणकमल गरुड़जीकी पीठपर रखे हैं और जिन्होंने शंख, चक्र, ढाल, खड्ग, गदा, बाण, धनुष तथा पाश इन आठ आयुधोंको धारण कर रखा है, वे अणिमादि आठ ऐश्वर्य तथा आठ भुजाओंसे सुशोभित भगवान सब प्रकारसे मेरी रक्षा करें ॥ १२ ॥ मत्स्यमूर्ति भगवान जलमें जलजन्तुरूपी वरुणपाशोंसे मेरी रक्षा करें। स्थलपर वटुवामनरूप धारण करनेवाले श्रीहरि अपनी मायाशक्तिसे मेरी रक्षा करें। आकाशमें विश्वरूपधारी श्रीत्रिविक्रम भगवान मेरी रक्षा करें ॥ १३ ॥ दुर्ग, वन तथा युद्धस्थलादिमें नृसिंहभगवान मेरी रक्षा करें। जो हिरण्यकशिपु आदि दैत्यपतियोंके शत्रु हैं और जिनके घनघोर अट्टहाससे समस्त दिशाएँ गूँज उठी थीं तथा गर्भवती दैत्य-वधुओंके गर्भ गिर गये थे ॥ १४ ॥ जिन्होंने अपनी दाढ़ोंपर पृथिवीको धारण किया था, वे यज्ञमूर्ति वराहभगवान मार्गमें मुझे बचायें। इसी तरह पर्वतके शिखरोंपर परशुरामजी तथा विदेशमें लक्ष्मणजीके सहित भरताग्रज भगवान राम-

मामुग्रधर्मादखिलात् प्रमादान्नारायणः पातु नरश्च हासात् ।
दत्तस्त्वयोगादथ योगनाथः पायाद् गुणेशः कपिलः कर्मबन्धात् ॥१६॥
सनत्कुमारोऽवतु कामदेवाद्धयशीर्षा मां पथि देवहेलनात् ।
देवर्षिवर्यः पुरुषार्चनान्तरात् कूर्मो हरिर्मां निरयादशेषात् ॥१७॥
धन्वन्तरिर्भगवान् पात्वपथ्याद् द्वन्द्वाद् भयादृषभो निर्जितात्मा ।
यज्ञश्च लोकादवताज्जनान्ताद् बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः ॥१८॥
द्वैपायनो भगवानप्रबोधाद् बुद्धस्तु पाखण्डगणात् प्रमादात् ।
कल्किः कलेः कालमलात्प्रपातु धर्मावनायोरुकृतावतारः ॥१९॥
मां केशवो गदया प्रातरव्याद् गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः ।
नारायणः प्राह्ण उदात्तशक्तिर्मध्यन्दिने विष्णुररीन्द्रपाणिः ॥२०॥
देवोऽपराह्णे मधुहोग्रधन्वा सायं त्रिधामावतु माधवो माम् ।
दोषे हृषीकेश उतार्धरात्रे निशीथ एकोऽवतु पद्मनाभः ॥२१॥
श्रीवत्सधामापररात्र ईशः प्रत्यूष ईशोऽसिधरो जनार्दनः ।
दामोदरोऽव्यादनुसन्ध्यं प्रभाते विश्वेश्वरो भगवान् कालमूर्तिः ॥२२॥
चक्रं युगान्तानलतिग्मनेमि भ्रमत् समन्ताद् भगवत्प्रयुक्तम् ।
दन्दग्धि दन्दग्ध्यरिसैन्यमाशु कक्षं यथा वातसखो हुताशः ॥२३॥
गदेऽशनिस्पर्शनविस्फुलिङ्गे निष्पिण्ढि निष्पिण्ढ्यजितप्रियासि ।
कूष्माण्डवैनायकयक्षरक्षोभूतग्रहांश्चूर्णय चूर्णयारीन् ॥२४॥

चन्द्र मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥ भगवान नारायण उग्र धर्मों तथा प्रमादसे, नर भगवान गर्वसे, योगेश्वर दत्तात्रेयजी कुयोगसे तथा गुणाधिपति कपिलमुनि सब प्रकारके कर्मबन्धनोंसे मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥ सनत्कुमारजी कामदेवसे मार्गमें, चलते समय देवताओंकी अवहेलनाके अपराधसे हयग्रीव भगवान् तथा देवर्षि नारदजी भगवानकी पूजामें अचानक हुए अपराधोंसे तथा सभी नरकोंसे कच्छपभगवान् मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥ कुपथ्यसे भगवान् धनवन्तरि, परम जितेन्द्रिय ऋषभदेवजी सुखदुःखादिके द्वन्द्वोंसे, यज्ञभगवान् लोकापवादसे, बलभद्रजी मनुष्यों द्वारा प्राप्त कष्टोंसे तथा श्रीशेषभगवान् अत्यन्त क्रोधी सर्पोंसे मुझे बचायें ॥ १८ ॥ अज्ञानसे भगवान् व्यासदेव, पाखण्ड तथा प्रमादसे बुद्धदेव और धर्मरक्षार्थ अवतार लेनेवाले श्री कल्किभगवान् कलिकालके सब दोषोंसे मुझे बचावें ॥ १९ ॥ प्रातःकाल सूर्योदय होते समय केशवभगवान् अपनी गदासे मेरी रक्षा करें। सूर्योदयके बाद वेणुधर गोविन्द, पूर्वाह्नके समय उदात्तशक्तिधारी नारायण, मध्याह्नके समय चक्रपाणि विष्णुभगवान्, अपराह्नमें उग्रधनुर्धारी मधुसूदन, सायंकालमें ब्रह्मादि त्रिमूर्ति धारण करनेवाले माधव, प्रदोषकालमें हृषीकेश, आधीरातको अथवा निशीथकालमें भगवान् पद्मनाभ, रात्रिके पिछले पहर श्रीवत्सलाञ्छन हरि, उषाकालमें खड्गधारी जनार्दनभगवान्, प्रातःकाल श्रीदामोदर तथा सब सन्ध्याओंमें कालमूर्ति विश्वेश्वरभगवान् मेरी रक्षा करें ॥ २०–२२ ॥ हे सुदर्शन! तुम्हारा आकार चक्रकी तरह है, तुम्हारी नेमि (कोर) प्रलयकालके अग्निकी भाँति अत्यन्त तीक्ष्ण है। तुम भगवान्के संकेतसे सदा सब ओर घूमा करते हो। जैसे वायुकी सहायतासे धधकता हुआ अग्नि सूखी घासको जला डालता है, वैसे ही तुम हमारे शत्रुओंका समूह भस्म कर डालो ॥ २३ ॥ हे गदे! तेरे शरीरकी चिनगारियोंका स्पर्श वज्रकी नाईं होता है। तू भगवान् अजितको प्रिय है और मैं भी उन्हीं नारायणका सेवक हूँ। अतएव तू कूष्माण्ड, विनायक, यक्ष, राक्षस, भूत तथा ग्रहोंको चूर कर

त्वं यातुधानप्रमथप्रेतमातृपिशाचविप्रग्रहघोरदृष्टीन् ।
दरेन्द्र विद्रावय कृष्णपूरितो भीमस्वनोऽरेर्हृदयानि कम्पयन् ॥२५॥
त्वं तिग्मधारासिवरारिसैन्यमीशप्रयुक्तो मम छिन्धि छिन्धि ।
चक्षूंषि चर्मञ्छतचन्द्र छादय द्विषामघोनां हर पापचक्षुषाम् ॥२६॥
यन्नो भयं ग्रहेभ्योऽभूत् केतुभ्यो नृभ्य एव च । सरीसृपेभ्यो दंष्ट्रिभ्यो भूतेभ्योंऽहोभ्य एव च ॥२७॥
सर्वाण्येतानि भगवन्नामरूपास्त्रकीर्तनात् । प्रयान्तु संक्षयं सद्यो ये नः श्रेयःप्रतीपकाः ॥२८॥
गरुडो भगवान् स्तोत्रस्तोमश्छन्दोमयः प्रभुः । रक्षत्वशेषकृच्छ्रेभ्यो विष्वक्सेनः स्वनामभिः ॥२९॥
सर्वापद्भ्यो हरेर्नामरूपयानायुधानि नः । बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् पान्तु पार्षदभूषणाः ॥३०॥
तथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत् । सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः ॥३१॥
यथैकात्म्यानुभावानां विकल्परहितः स्वयम् । भूषणायुधलिङ्गाख्या धत्ते शक्तीः स्वमायया ॥३२॥
तेनैव सत्यमानेन सर्वज्ञो भगवान् हरिः । पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः ॥३३॥
विदिक्षु दिक्षूर्ध्वमधः समन्तादन्तर्बहिर्भगवान् नारसिंहः ।
प्रहापयँल्लोकभयं स्वनेन स्वतेजसा ग्रस्तसमस्ततेजाः ॥३४॥
मघवन्निदमाख्यातं वर्म नारायणात्मकम् । विजेष्यस्यञ्जसा येन दंशितोऽसुरयूथपान् ॥३५॥
एतद् धारयमाणस्तु यं यं पश्यति चक्षुषा । पदा वा संस्पृशेत् सद्यः साध्वसात् स विमुच्यते ॥३६
न कुतश्चिद्भयं तस्य विद्यां धारयतो भवेत् । राजदस्युग्रहादिभ्यो व्याघ्रादिभ्यश्च कर्हिचित् ॥३७॥

दे । तू मेरे शत्रुओंको कुचल दे ॥ २४ ॥ हे शंखश्रेष्ठ ! तुम भगवान्‌के फूँकनेसे भयंकर शब्द करते हो । सो तुम मेरे शत्रुओंके हृदयोंको कँपाते हुए यातुधान, प्रमथ, प्रेत, मातृका, पिशाच एवं विप्रग्रह (ब्रह्मराक्षस) आदि घोरदर्शन जीवोंको मार भगाओ ॥ २५ ॥ हे तीक्ष्ण धारवाले खड्गश्रेष्ठ ! तुम भगवान्‌के द्वारा प्रेरित होकर मेरे शत्रुओंको काट डालो—उन्हें छिन्न-भिन्न कर दो । हे शतचन्द्र ढाल ! तुम उग्रदृष्टिवाले मेरे पापी शत्रुओंके नेत्र बन्द कर दो अथवा एकदम हर ही लो ॥ २६ ॥ सूर्य आदि ग्रह, उल्कापात आदि केतु, मनुष्य, सरीसृप (सर्प), दाढ़ोंवाले जीव, भूत-प्रेत आदि तथा पापी प्राणियोंके द्वारा हमको जो-जो भय प्राप्त हो हमारे कल्याणमार्गके प्रतिबन्धक ये सब दोष भगवान्‌के नाम रूप तथा आयुधोंका कीर्तन करनेसे तत्काल नष्ट हो जायँ ॥ २७ ॥ २८ ॥ बृहद्रथन्तर आदि अनेक स्तोम-स्तोत्रोंसे स्तूयमान वेदमूर्ति भगवान् गरुड़जी तथा अपने नामोच्चारणके प्रभावसे विष्वक्सेन-भगवान् सब आपत्तियोंसे हमारी रक्षा करें ॥ २९ ॥ भगवान्‌के नाम रूप, आयुध तथा उनके श्रेष्ठ पार्षदगण हमारी बुद्धि, इन्द्रिय, मन तथा प्राणोंको सब आपत्तियोंसे बचावें ॥३०॥ जितना भी सत् यानी स्थूल और असत् अर्थात् सूक्ष्म प्रपञ्च विद्यमान है, वह वास्तवमें ईश्वर ही है—इस सत्यसे हमारे सब विघ्न नष्ट हो जायँ ॥ ३१ ॥ एक आत्माको ही सर्वत्र भावना करनेवालोंकी दृष्टिमें विकल्पशून्य होनेपर भी भगवान् अपनी माया द्वारा भूषण, आयुध तथा नाम-रूपकी अपनी विभिन्न शक्तियोंको धारण करते हैं—यह सत्य और सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक भगवान् हरि अपने सब रूपोंसे सर्वदा और सर्वत्र मेरी रक्षा किया करें ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ अपने भयङ्कर अट्टहाससे सब लोकोंके भय दूर करने तथा अपने तेजसे सबके तेजको ग्रस लेनेवाले नृसिंहभगवान् दिशा-विदिशा, नीचे-ऊपर तथा बाहर-भीतर सब तरफ हमारी रक्षा करते रहें ॥ ३४ ॥ (विश्वरूप कहते हैं-) हे इन्द्र ! मैंने तुमको 'नारायणकवच' बतला दिया । जिसके सहारे तुम अनायास सब दैत्य यूथपतियोंको जीत लोगे ॥३५॥ यह कवच धारण करनेवाला प्राणी जिस-किसीको अपने नेत्रसे निहारता अथवा पैरसे छू देता है, वह भी तुरन्त निर्भय हो जाता है ॥३६॥ यह विद्या धारण करनेवाले पुरुषको राजा, चोर, ग्रहादि तथा व्याघ्रादि किससे भी

इमां विद्यां पुरा कश्चित् कौशिको धारयन् द्विजः । योगधारणया स्वाङ्गं जहौ स मरुधन्वनि ॥३८॥
तस्योपरि विमानेन गन्धर्वपतिरेकदा । ययौ चित्ररथः स्त्रीभिर्वृतो यत्र द्विजक्षयः ॥३९॥
गगनान्न्यपतत् सद्यः सविमानो ह्यवाक्शिराः । स वालखिल्यवचनादस्थीन्यादाय विस्मितः ।
प्रास्य प्राचीसरस्वत्यां स्नात्वा धाम स्वमन्वगात् ॥ ४० ॥

श्रीशुक उवाच

य इदं शृणुयात् काले यो धारयति चादृतः । तं नमस्यन्ति भूतानि मुच्यते सर्वतो भयात् ॥४१॥
एतां विद्यामधिगतो विश्वरूपाच्छतक्रतुः । त्रैलोक्यलक्ष्मीं बुभुजे विनिर्जित्य मृधेऽसुरान् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे नारायणवर्मकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तस्यासन् विश्वरूपस्य शिरांसि त्रीणि भारत । सोमपीथं सुरापीथमन्नादमिति शुश्रुम ॥ १ ॥
स वै बर्हिषि देवेभ्यो भागं प्रत्यक्षमुच्चकैः । अददद् यस्य पितरो देवाः सप्रश्रयं नृप ॥ २ ॥
स एव हि ददौ भागं परोक्षमसुरान् प्रति । यजमानोऽवहद् भागं मातृस्नेहवशानुगः ॥ ३ ॥
तद् देवहेलनं तस्य धर्मालीकं सुरेश्वरः । आलक्ष्य तरसा भीतस्तच्छीर्षाण्यच्छिनद् रुषा ॥४॥
सोमपीथं तु यत्तस्य शिर आसीत् कपिञ्जलः । कलविङ्कः सुरापीथमन्नादं यत् स तित्तिरिः ॥५॥
ब्रह्महत्यामञ्जलिना जग्राह यदपीश्वरः । संवत्सरान्ते तदघं भूतानां स विशुद्धये ।
भूम्यम्बुद्रुमयोषिद्भ्यश्चतुर्धा व्यभजद्धरिः ॥ ६ ॥

कोई भय नहीं रहता ॥३७॥ हे देवराज ! कौशिकगोत्रीय एक ब्राह्मणने पूर्वकालमें इस विद्याको धारणकर योगधारणासे भूमिमें अपना शरीरत्याग किया था ॥ ३८ ॥ जिस जगह उस ब्राह्मणने शरीर त्यागा था, उसके ऊपरसे होकर एक दिन चित्ररथ गन्धर्व अपनी स्त्रियोंके साथ विमानपर बैठकर निकला ॥३९॥ वहाँ पहुँचते ही वह विमान समेत नीचेको सिर किये हुए आकाशसे पृथ्वीपर आ गिरा । तब वालखिल्यादि मुनीश्वरोंके कहनेसे उसने उस ब्राह्मणकी अस्थियोंको ले जाकर पूर्ववाहिनी सरस्वतीमें प्रवाहित किया और स्वयं स्नान करके अति चकितभावसे अपने लोकको लौट गया ॥ ४० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जो कोई भी पुरुष इस नारायणकवचको यथासमय सुनता तथा सादर धारण करता है तो उसे सब प्राणी नमस्कार किया करते हैं और वह सब भयोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥ विश्वरूपसे यह विद्या प्राप्तकर इन्द्रने युद्धमें दैत्योंको परास्त करके त्रैलोक्यकी राज्यलक्ष्मीको भोगा था ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(वृत्रासुरका जन्म) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भारत ! मैंने सुना है कि देवगुरु विश्वरूपके सोमपीथ, सुरापीथ तथा अन्नाद नामके तीन मस्तक थे ॥ १ ॥ हे राजन् ! वे सिर प्रत्यक्षमें तो यज्ञके समय उच्चस्वरसे बोलते हुए बड़े विनीतभावसे देवताओंको भाग देते थे, क्योंकि देवता उनके पितृपक्षी थे ॥ २ ॥ किन्तु गुप्तरूपसे वे मातृस्नेह वश यज्ञके समय दैत्योंको भी हविर्भाग दे दिया करते थे ॥ ३ ॥ देवराज इन्द्रने उनके किये हुए देवताओंके अपराध तथा धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन देखकर मन ही मन भयभीत हो अतिशय क्रोधके आवेगसे उनके तीनों मस्तक काटकर अलग कर दिये ॥ ४ ॥ तब विश्वरूपका सोमपीथ नामका मस्तक कपिञ्जल, सुरापीथ नामक मस्तक कलविङ्क तथा अन्नाद नामवाला मस्तक तीतर हो गया ॥ ५ ॥ उसका निवारण करनेमें समर्थ होनेपर भी

भूमिस्तुरीयं जग्राह खातपूरवरेण वै । ईरिणं ब्रह्महत्याया रूपं भूमौ प्रदृश्यते ॥ ७ ॥
तुर्यं छेदविरोहेण वरेण जगृहुर्द्रुमाः । तेषां निर्यासरूपेण ब्रह्महत्या प्रदृश्यते ॥ ८ ॥
शश्वत् कामवरेणांहस्तुरीयं जगृहुः स्त्रियः । रजोरूपेण तास्वंहो मासि मासि प्रदृश्यते ॥ ९ ॥
द्रव्यभूयोवरेणापस्तुरीयं जगृहुर्मलम् । तासु बुद्बुदफेनाभ्यां दृष्टं तद्धरति क्षिपन् ॥१०॥
हतपुत्रस्ततस्त्वष्टा जुहावेन्द्राय शत्रवे । इन्द्रशत्रो विवर्धस्व मा चिरं जहि विद्विषम् ॥११॥
अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोरदर्शनः । कृतान्त इव लोकानां युगान्तसमये यथा ॥१२॥
विष्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने । दग्धशैलप्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीकवर्चसम् ॥१३॥
तप्ततामशिखाश्मश्रुं मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥१४॥
देदीप्यमाने त्रिशिखे शूल आरोप्य रोदसी । नृत्यन्तमुन्नदन्तं च चालयन्तं पदा महीम् ॥१५॥
दरीगम्भीरवक्त्रेण पिबता च नभस्तलम् । लिहता जिह्वयर्क्षाणि ग्रसता भुवनत्रयम् ॥१६॥
महता रौद्रदंष्ट्रेण जृम्भमाणं मुहुर्मुहुः । वित्रस्ता दुद्रुवुर्लोका वीक्ष्य सर्वे दिशो दश ॥१७॥
येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना । स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥१८॥
तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः । स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत् तानि कृत्स्नशः

विश्वरूपका वध करनेसे उत्पन्न ब्रह्महत्याको इन्द्रने अञ्जलिमें ले लिया और एक वर्षके बाद प्राणियोंमें अपनी शुद्धि करनेके लिये उस पापके चार भाग करके पृथिवी, जल, वृक्ष तथा स्त्री—इन चारोंमें बाँट दिया ॥ ६ ॥ अपनी पीठपर हुए खड्ढोंके अपने आप भर जानेके बदले उस ब्रह्महत्याकी एक चौथाई पृथ्वीने ले ली । सो पृथ्वीमें ऊसरके रूपमें कहीं-कहीं उस ब्रह्महत्याका स्वरूप दिखायी पड़ता है ॥ ७ ॥ एकबार कटकर फिर पनप जानेका वर पाकर ब्रह्महत्याकी एक चौथाई वृक्षोंने ग्रहण किया । वह ब्रह्महत्या उनमें निर्यास (गोंद) के रूपमें दीखती है ॥ ८ ॥ सदा सम्भोग करनेकी शक्ति बनी रहनेका वर पाकर एक चतुर्थांश स्त्रियोंने अपनाया । वह ब्रह्महत्या स्त्रियोंमें रजोधर्मके रूपसे प्रति मास प्रत्यक्ष दिखायी देती है ॥ ९ ॥ कूपादिमेंसे खर्च होते रहनेपर भी बराबर जल बढ़ते रहनेका वर पाकर उसकी एक चौथाई जलने स्वीकार की । सो जलमें वह ब्रह्महत्या फेन तथा बुद्बुदोंके रूपसे प्रत्यक्ष दीखती है । इसीसे लोग फेनादिको हटाकर जल लेते हैं ॥ १० ॥ इस प्रकार पुत्र विश्वरूपके मारे जानेके बाद त्वष्टाने 'हे इन्द्रशत्रो ! तुम बढ़ो और तुरन्त शत्रुको मार डालो' ऐसा कहकर इन्द्रका शत्रु उत्पन्न करनेकी कामना करके उन्होंने अग्निमें हवन किया ॥ ११ ॥ हवन करते ही अन्वाहार्य-पचन नामक अग्निसे एक बड़ा भयङ्कर दैत्य उत्पन्न हुआ । वह प्रलयकाल उपस्थित होनेपर सर्वलोक-संहारक कालके सदृश दीखता था ॥ १२ ॥ हे राजन् ! वह दिन-दिन चारों ओरसे इतना बढ़ा कि जितनी दूर बाण जाता है । वह दग्ध पर्वतकी भाँति काला और विशालकाय था । सन्ध्याकालकी मेघमालाके सदृश देदीप्यमान उसकी कान्ति थी । उसकी दाढ़ी और मूँछ तपाये ताँबेकी नाईं लाल और नेत्र दोपहरके सूर्यके सदृश उग्र थे । वह अपने तीन नोकोंके अतिशय चमकीले त्रिशूलपर पृथिवी तथा आकाशको उठाकर नाचता हुआ घोर गर्जन करता था और अपने पादप्रहारसे पृथिवीको कँपा रहा था । उसका मुँह गिरिकन्दराकी भाँति गम्भीर था, उससे जैसे वह आकाशको पिये लेता था, अपनी जीभसे मानो नक्षत्रोंको चाटे ले रहा था और अपने विशाल तथा विकराल दाढ़ोंसे तीनों लोकोंको मानो निगले जा रहा था । वह बार-बार अपना विशाल मुख फैलाकर जम्हाई लेता था । उसके विकराल रूपको देखकर सब लोग बहुत डर गये और दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ १३-१७ ॥ हे राजन् ! उस अति तमोगुणी त्वष्टाके पुत्रने सब लोकोंको घेर लिया । अतएव पापी तथा परम दारुण असुर 'वृत्र' इस नामसे विख्यात हुआ ॥ १८ ॥ तब सब देवता अपने अनुयायियोंके साथ-साथ उसपर एकाएक झपटे और अपने दिव्य शस्त्रास्त्रोंसे मारने

ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः । प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥२०॥

देवा ऊचुः

वाय्वम्बराग्न्यप्क्षितयस्त्रिलोका ब्रह्मादयो ये वयमुद्विजन्तः ।
हराम यस्मै बलिमन्तकोऽसौ बिभेति यस्मादरणं ततो नः ॥२१॥
अविस्मितं तं परिपूर्णकामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् ।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम् ॥२२॥
यस्योरुशृङ्गे जगतीं स्वनावं मनुर्यथाऽऽबध्य ततार दुर्गम् ।
स एव नस्त्वाष्ट्रभयाद् दुरन्तात् त्राताऽऽश्रितान् वारिचरोऽपि नूनम् ॥२३॥
पुरा स्वयम्भूरपि संयमाम्भस्युदीर्णवातोर्मिरवैः कराले ।
एकोऽरविन्दात् पतितस्ततार तस्माद् भयाद् येन स नोऽस्तु पारः ॥२४॥
य एक ईशो निजमायया नः ससर्ज येनानुसृजाम विश्वम् ।
वयं न यस्यापि पुरः समीहतः पश्याम लिङ्गं पृथगीशमानिनः ॥२५॥
यो नः सपत्नैर्भृशमर्द्यमानान्देवर्षितिर्यङ्नृषु नित्य एव ।
कृतावतारस्तनुभिः स्वमायया कृत्वाऽऽत्मसात्पाति युगे युगे च ॥२६॥
तमेव देवं वयमात्मदैवतं परं प्रधानं पुरुषं विश्वमन्यम् ।
व्रजाम सर्वे शरणं शरण्यं स्वानां स नो धास्यति शं महात्मा ॥२७॥

लगे, किन्तु वह वीर असुर उन सब शस्त्रोंको एक साथ निगल गया ॥ १९ ॥ तब सब देवता तेजोहीन तथा उदास होकर बड़े विस्मयके साथ एकाग्रमनसे अपने अन्तःकरणमें बैठे आदिपुरुष भगवान्‌की आराधना करने लगे ॥ २० ॥ देवता कहने लगे—वायु, आकाश, अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पाँच भूत, तीनों लोक तथा हम ब्रह्मादिक देवता भयातुर होकर जिसको बलि अर्पण करते हैं, वह काल भी जिनसे सहमता है, वे परमात्मा हमको इस विपत्तिसे बचावें ॥ २१ ॥ वे मेरे नारायण अहङ्कारशून्य, आत्मलाभसे ही परिपूर्ण, सर्वत्र समान और राग-द्वेषसे हीन हैं। जो तुच्छबुद्धि पुरुष उन्हें त्याग किसी औरका भरोसा करता है तो वह मानो कुत्तेकी पूँछ पकड़कर समुद्र पार करनेका उद्योग करता है ॥ २२ ॥ सत्यव्रत मनु जिनके विशाल शृङ्गमें पृथिवीरूपिणी नौका बाँधकर अनायास दुस्तर क्लेशासे पार हो गये थे, वे मत्स्यभगवान् हम अपने आश्रित दुखियोंका वृत्रासुरके अतिशय भयसे अवश्य रक्षा करेंगे ॥ २३ ॥ पूर्वसमयमें जब प्रचण्ड वायुके झोकोंसे उठती तरङ्गोंके गर्जनसे बड़े भयानक प्रलय-कालके जलमें विष्णुभगवानके नाभिकमलसे उपजे ब्रह्माजी अकेले होते हुए भी जिनकी कृपासे उस महासङ्कटके पार पहुँच गये थे, वे परमात्मा हमें भी इस विपत्तिसे पार करें ॥ २४ ॥ जिन एकमात्र महाप्रभुने अपनी मायासे हमको रचा, जिनकी कृपासे हम संसारकी रचना करते और अपनेको स्वतन्त्र ईश्वर मानकर अभिमान करनेके कारण सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान होकर पहलेहीसे प्रेरक जिन परमात्माके स्वरूपको नहीं जान पाते ॥ २५ ॥ जो भगवान् हमें शत्रुओंसे पीडित देख वस्तुतः निर्विकार होते हुए भी अपनी मायाके सहारे देवता, ऋषि, तिर्यक् तथा मनुष्यादि योनिमें अव-तार लेकर हमपर अपनेपनका भाव रखते हुए युग-युगमें हमारी रक्षा किया करते हैं ॥२६॥ जो भगवान् सबके आत्मा तथा परमदेवता हैं, जो प्रकृति तथा पुरुषरूपसे अखिल विश्वके कारण हैं और जो इस विश्वसे भिन्न होकर भी विश्वरूप हैं, हम उन शरणागतवत्सल नारायणकी शरणमें हैं। वे महात्मा

श्रीशुक उवाच

इति तेषां महाराज सुराणामुपतिष्ठताम् । प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥२८॥
आत्मतुल्यैः षोडशभिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ । पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥२९॥
दृष्ट्वा तमवनौ सर्व ईक्षणाह्लादविक्लवाः । दण्डवत् पतिता राजञ्छनैरुत्थाय तुष्टुवुः ॥३०॥

देवा ऊचुः

नमस्ते यज्ञवीर्याय वयसे उत ते नमः । नमस्ते ह्यस्तचक्राय नमः सुपुरुहूतये ॥३१॥
यत्ते गतीनां तिसृणामीशितुः परमं पदम् । नार्वाचीनो विसर्गस्य धातर्वेदितुमर्हति ॥३२॥

ॐ नमस्तेऽस्तु भगवन्नारायण वासुदेवादिपुरुष महापुरुष महानुभाव परममङ्गल परमकल्याण परमकारुणिक केवल जगदाधार लोकैकनाथ सर्वेश्वर लक्ष्मीनाथ परमहंसपरिव्राजकैः परमेणात्मयोगसमाधिना परिभावितपरिस्फुटपारमहंस्यधर्मेणोद्घाटिततमःकपाटद्वारे चित्तेऽपावृत आत्मलोके स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान् ॥३३॥१॥ दुरवबोध इव तवायं विहारयोगो यदशरणोऽशरीर इदमनवेक्षितास्मत्समवाय आत्मनैवाविक्रियमाणेन सगुणमगुणः सृजसि पासि हरसि ॥३४॥२॥ अथ तत्र भवान् किं देवदत्तवदिह गुणविसर्गपतितः पारतन्त्र्येण स्वकृतकुशलाकुशलं फलमुपाददात्याहोस्विदात्माराम उपशमशीलः समञ्जसदर्शन उदास्त इति ह वाव न विदामः ॥३५॥३॥ न हि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वा-

---

अवश्य हम जैसे अपने भक्तोंका कल्याण करेंगे ॥ २७ ॥ इसके बाद श्रीशुकदेवजी बोले—हे महाराज ! इस प्रकार देवताओंके स्तुति करनेपर वे शङ्ख-चक्र-गदाधारी भगवान पश्चिम दिशामें प्रगटे ॥ २८ ॥ हे राजन् ! उस समय उनके चारों ओर श्रीवत्सलाञ्छन तथा कौस्तुभमणिको छोड़कर बाकी सभी भगवल्लक्षणों युक्त सुनन्द आदि सोलह पार्षद उपस्थित थे । उनके नेत्र शरत्कालके विकसित कमलकी भाँति मनोहर थे । उन श्रीहरिको देख तथा उनके दर्शनानन्दसे विह्वल होकर सब देवताओंने पृथिवीमें दण्डकी तरह लोटकर प्रणाम किया और फिर धीरेसे उठकर वे इस तरह उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे ॥ २९ ॥ ३० ॥ देवता बोले—हे प्रभो ! जिनका यज्ञ ही वीर्य है, जो यज्ञफल देनेके लिये कालसदृश हैं, उन आप महाप्रभुको नमस्कार है । जो दैत्योंपर अपना चक्र चलाते तथा जिनके अगणित नाम हैं, उन आपको प्रणाम है ॥ ३१ ॥ हे धातः ! आप राजसिक, तामसिक और सात्त्विक इन तीनों प्रकारकी गतियोंके नेता हैं । । आपके निर्गुण परमपदको कार्यरूपी जगत्का कोई भी आधुनिक जीव भली भाँति नहीं जान सकता ॥३२॥ ॐ हे भगवन् ! हे नारायण ! हे वासुदेव ! हे आदिपुरुष ! हे महापुरुष ! हे महानुभाव ! हे परममङ्गल ! हे परमकल्याण ! हे परमकारुणिक ! हे केवल ! हे जगदाधार ! हे लोकैकनाथ ! हे सर्वेश्वर ! हे लक्ष्मीपते ! परमहंस तथा परिव्राजकजन आत्मसंयमरूपी परमसमाधि द्वारा भली भाँति अनुशीलन किये जानेसे प्रकाशित पारमहंस्यधर्म द्वारा अपने हृदयके अज्ञानरूपी कपाटोंको खोलकर आवरणरहित आत्मलोकमें प्रविष्ट निजानन्दसे जिनको अपने अनुभवके विषय मानते हैं, वह एकमात्र आप ही हैं। उन आप महापुरुषको प्रणाम है ॥ ३३ ॥ १ ॥ हे नाथ ! आपका यह विहारयोग बड़ा ही दुर्विज्ञेय है । आप निराधार, अशरीर किसीकी सहायताकी अपेक्षासे रहित तथा निर्गुण होकर सविकार हुए बिना ही इस सगुण जगत्की रचना, पालन तथा संहार किया करते हैं ॥ ३४ ॥ २ ॥ हे नाथ ! गुणोंके कार्यरूपी इस जगत्में प्रगट होकर आप देवदत्तनामके किसी व्यक्तिके समान स्वाचरित शुभाशुभ कर्मोंका फल परतन्त्रभावसे भोगते हैं या कि अपनी चैतन्यशक्तिसे च्युत न हो आत्माराम तथा उपशमशील होकर उदासीनभावसे रहते हैं—यह कुछ हमारी समझमें नहीं आता ॥ ३५ ॥ ३ ॥ हम तो समझते हैं कि आपमें इन दोनों बातोंके रहते हुए भी कोई विरोधभाव नहीं है । आप तो साक्षात् भगवान हैं न ! आपके गुणगण अगणित हैं । आपका

चीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तःकरणाश्रयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसर उपरतसमस्तमायामये केवल एवात्ममायामन्तर्धाय को न्वर्थो दुर्घट इव भवति स्वरूपद्वयाभावात् ॥३६॥४॥ समविषममतीनां मतमनुसरसि यथा रज्जुखण्डः सर्पादिधियाम् ॥३७॥५॥ स एव हि पुनः सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूपः सर्वेश्वरः सकलजगत्कारणकारणभूतः सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित एक एव पर्यवशेषितः ॥३८॥ अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृदवलीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतविषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्वभूतप्रियसुहृदि सर्वात्मनि नितरां निरन्तरं निर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजानुसेवां विसृजन्ति न यत्र पुनरयं संसारपर्यावर्तः ॥३९॥७॥ त्रिभुवनात्मभवन त्रिविक्रम त्रिनयन त्रिलोकमनोहरानुभाव तवैव विभूतयो दितिजदनुजादयश्चापि तेषामनुपक्रमसमयोऽयमिति स्वात्ममायया सुरनरमृगमिश्रितजलचराकृतिभिर्यथापराधं दण्डं दण्डधर दधर्थ एवमेनमपि भगवञ्जहि त्वाष्ट्रमुत यदि मन्यसे ॥४०॥८॥ अस्माकं तावकानां तव नतानां तत ततामह तव चरणनलिनयुगलध्यानानुबद्धहृदयनिगडानां स्वलिङ्गविवरणेनात्मसात्कृतानामनुकम्पानुरञ्जितविशदरुचिरशिशिरस्मितावलोकेन विगलितमधुरमुखरसामृतकलया चान्तस्तापमनघार्हसि

माहात्म्य दुर्विज्ञेय हैं। उन आधुनिक विकल्प, वितर्क, विचार, प्रमाणाभास और कुतर्कोंसे युक्त कि जिनका आपसे स्पर्श नहीं होता, उन शास्त्रोंके कारण व्याकुल अन्तःकरण ही जिसका आधार है, उस दुराग्रह वश विवदमान पुरुषोंके विवादकी जहाँ एकदम पहुँच नहीं है और जो सारे मायामय प्रपञ्चोंसे पृथक् है, उस आपके कैवल्यस्वरूपमें अपनी मायाका आवरण हटा लेनेपर कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि कौन-सा व्यापार असम्भव है ? क्योंकि वस्तुतः आपमें दोनों ही स्वरूपोंका अभाव विद्यमान रहता है ॥३६॥४॥ जैसे एक ही रस्सी ज्ञानी पुरुषको रस्सी तथा भ्रान्त बुद्धिवालेको सर्पादिके रूपमें दीखती है, वैसे ही आप भी ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धिका अनुसरण करते रहते हैं ॥ ३७ ॥ ५ ॥ वास्तवमें आप ही सब वस्तुओंमें सार हैं। आप ही सर्वेश्वर हैं। आप ही इस जगत्के कारणस्वरूप महत्तत्त्वादिके भी कारण हैं। अन्तर्यामी होनेके नाते आप ही सब विषयोंकी प्रतीतिसे लक्षित होते हैं और श्रुति भी आपको ही सबके अधिष्ठानस्वरूपसे अवशिष्ट मानती है ॥ ३८ ॥ ६ ॥ हे मधुमथन ! आपके महिमामृतरूपी रसभरे समुद्रके एक बूँदका एक बार आस्वादन कर लेनेसे अपने हृदयमें सर्वदा बहते हुए अनवरत सुखप्रवाहसे जिनके दृष्ट तथा श्रुत विषयजनित लेशमात्र सुखाभास विस्मृत हो गये रहते हैं और जिनका मन सब प्राणियोंके प्रिय, सुहृद् एवं सर्वात्मा आपहीमें पूर्णरूपसे लगा रहता है, वे साधुजन अपना स्वार्थ साधनेमें निपुण तथा अपने प्रिय सुहृद् होकर भी आपके चरणकमलोंकी सेवाको कैसे त्याग सकते हैं। इसी कारण तो उन्हें फिर इस संसारचक्रमें गिरनेका भय नहीं रह जाता ॥ ३९ ॥ ७ ॥ हे अखिल त्रिलोकीके आत्मा तथा आधार ! हे त्रिविक्रम ! हे त्रिनयन ! हे त्रिभुवनका मन हरनेवाले महानुभाव ! यद्यपि ये सभी दैत्य-दानवादि आपहीकी विभूतियाँ हैं, फिर भी इनके उपक्रम (उत्कर्ष) का कोई समय नहीं है। अतएव हे दण्डधर ! जैसे आप अपनी मायाके द्वारा देवता, मनुष्य, मृग, मिश्रित तथा जलचरादिका रूप धारणकर इनको इनके अपराधके अनुसार पहले दण्ड देते रहे हैं, वैसे ही हे भगवन् ! यदि आप उचित समझें तो इस त्वष्टाके पुत्र वृत्रासुरको भी मार डालिये ॥ ४० ॥ ८ ॥ हे पिता ! हे पितामह ! हम आपके सेवक हैं और सर्वदा आपके सम्मुख नतमस्तक रहते हैं। आपके चरणयुगलके ध्यानसे हमारे हृदय आपकी प्रेमशृंखलामें बँध गये हैं। हमारे आगे अपनी सगुण मूर्तिसे प्रगट होकर आपने हमें अपना लिया है। अतएव हे अनघ ! अब आप ही दयायुक्त, विशद, सुन्दर एवं शीतल मुसकानयुक्त चितवन तथा

शमयितुम् ॥४१॥९॥ अथ भगवंस्तवास्माभिरखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तायमानदिव्यमाया-विनोदस्य सकलजीवनिकायानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि च ब्रह्मप्रत्यगात्मस्वरूपेण प्रधानरूपेण च यथादेशकालदेहावस्थानविशेषं तदुपादानोपलम्भकतयानुभवतः सर्वप्रत्ययसाक्षिण आकाशशरीरस्य साक्षात् परब्रह्मणः परमात्मनः कियानिह वा अर्थविशेषो विज्ञापनीयः स्याद् विस्फुलिङ्गादिभिरिव हिरण्यरेतसः ॥४२॥१०॥ अत एव स्वयं तदुपकल्पयास्माकं भगवतः परमगुरोस्तव चरणशतपलाशच्छायां विविधवृजिनसंसारपरिश्रमोपशमनीमुपसृतानां वयं यत्कामेनोपसादिताः ॥ ४३ ॥ ११ ॥

अथो ईश जहि त्वाष्ट्रं ग्रसन्तं भुवनत्रयम् । ग्रस्तानि येन नः कृष्ण तेजांस्यस्त्रायुधानि च ॥४४॥

हंसाय दहनिलयाय निरीक्षकाय कृष्णाय मृष्टयशसे निरुपक्रमाय ।
सत्सङ्ग्रहाय भवपान्थनिजाश्रमाप्तावन्ते परीष्टगतये हरये नमस्ते ॥ ४५ ॥

श्रीशुक उवाच

अथैवमीडितो राजन् सादरं त्रिदशैर्हरिः । स्वमुपस्थानमाकर्ण्य प्राह तानभिनन्दितः ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

प्रीतोऽहं वः सुरश्रेष्ठ मदुपस्थानविद्यया । आत्मैश्वर्यस्मृतिः पुंसां भक्तिश्चैव यया मयि ॥४७॥
किं दुरापं मयि प्रीते तथापि विबुधर्षभाः । मय्येकान्तमतिर्नान्यन्मत्तो वाञ्छति तत्त्ववित्॥४८॥
न वेद कृपणः श्रेय आत्मनो गुणवस्तुदृक् । तस्य तानिच्छतो यच्छेद् यदि सोऽपि तथाविधः॥४९
स्वयं निःश्रेयसं विद्वान् न वक्त्यज्ञाय कर्म हि । न राति रोगिणोऽपथ्यं वाञ्छतो हि भिषक्तमः॥५०॥

अपने मुखारविन्दसे झड़ती मनोहर वाणीरूपिणी सुधाकलासे हमारे हृदयका ताप शान्त करिये ॥४१॥९॥ सारे जगत्की उत्पत्ति स्थिति तथा लयकी कारणस्वरूपा दिव्य मायाके साथ खेल करनेवाले आप समस्त जीवसमुदायके हृदयमें ब्रह्म एवं अन्तर्यामीरूपसे और बाहर प्रधानरूपसे स्थित रहकर उनके उपादान एवं प्रकाशकरूपसे देश, काल, शरीर तथा अवस्थाके अनुसार उनका अनुभव करनेवाले सभी प्रतीतियोंके साक्षी और आकाश-शरीर साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं। हे भगवन्! जैसे चिनगारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर पातीं, वैसे ही हम भला आपको किस अर्थविशेषका ज्ञान करा सकेंगे ? ॥ ४२ ॥ १० ॥ हे प्रभो ! आप अचिन्त्य-ऐश्वर्य युक्त तथा संसारके परमगुरु हैं। सो जिस कामनासे हम अगणित पापोंके परिणामस्वरूप संसारश्रमको मिटानेवाले आपके चरणकमलोंकी छायामें आये हैं सो आप हम शरणागतोंकी वह कामना पूर्ण करदें ॥ ४३ ॥ ११ ॥ हे ईश ! हे कृष्ण ! त्रिलोकीको ग्रसते हुए इस वृत्रासुरको कि जिसने हमारे तेज तथा सब अस्त्र-शस्त्रको ग्रस लिया है, आप शीघ्र मारिए ॥ ४४ ॥ जो शुद्धस्वरूप, हृदयाकाशचारी, निरीक्षक, कृष्ण, विमलकीर्ति, अनादि तथा साधुजनसेवित हैं और जो किसी संसारपथिकके अपनी शरणमें आ जानेपर उसे उत्तम गति प्रदान करते हैं, उन श्रीहरिको प्रणाम है ॥ ४५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार आदरपूर्वक देवताओंके स्तुति करनेपर अपना स्तोत्र सुनकर प्रसन्न भगवान उनसे बोले ॥ ४६ ॥ भगवान्ने कहा—हे श्रेष्ठ देवताओं ! मेरी स्तुतिसे पूर्ण जो तुम्हारा यह ज्ञान है, उससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। इससे आत्माके प्रभावकी स्तुति तथा मेरी भक्ति मिलती है ॥ ४७ ॥ हे विबुधश्रेष्ठ ! मेरे प्रसन्न हो जानेपर फिर दुर्लभ क्या रह जाता है ? फिर भी मेरा अनन्य और तत्त्ववेत्ता भक्त मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता ॥ ४८ ॥ जो मन्दमति प्राणी विषयोंको ही सब कुछ समझता है, उसे अपने वास्तविक कल्याणका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कोई उसे वह अभीष्ट पदार्थ दे दे तो वह भी उसीके सदृश मूर्ख है ॥४९॥ जो प्राणी मुक्तिमार्गका ज्ञाता है, वह किसी अज्ञ

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम्। विद्याव्रततपःसारं गात्रं याचत माचिरम् ॥५१॥
स वा अधिगतो दध्यङ्ङश्विभ्यां ब्रह्म निष्कलम्। यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥५२॥
दध्यङ्ङाथर्वणस्त्वष्ट्रे वर्माभेद्यं मदात्मकम्। विश्वरूपाय यत् प्रादात् त्वष्टा यत् त्वमधास्ततः ॥५३
युष्मभ्यं याचितोऽश्विभ्यां धर्मज्ञोऽङ्गानि दास्यति। ततस्तैरायुधश्रेष्ठो विश्वकर्मविनिर्मितः।
येन वृत्रशिरो हर्ता मत्तेजउपबृंहितः ॥५४॥
तस्मिन् विनिहते यूयं तेजोऽस्त्रायुधसम्पदः। भूयः प्राप्स्यथ भद्रं वो न हिंसन्ति च मत्परान् ॥५५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इन्द्रमेवं समादिश्य भगवान् विश्वभावनः। पश्यतामनिमेषाणां तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥ १ ॥
तथाभियाचितो देवैर्ऋषिराथर्वणो महान्। मोदमान उवाचेदं प्रहसन्निव भारत ॥ २ ॥
अपि वृन्दारका यूयं न जानीथ शरीरिणाम्। संस्थायां यस्त्वभिद्रोहो दुःसहश्चेतनापहः ॥ ३ ॥
जिजीविषूणां जीवानामात्मा प्रेष्ठ इहेप्सितः। क उत्सहेत तं दातुं भिक्षमाणाय विष्णवे ॥ ४ ॥

देवा ऊचुः

किं नु तद् दुस्त्यजं ब्रह्मन् पुंसां भूतानुकम्पिनाम्। भवद्विधानां महतां पुण्यश्लोकेड्यकर्मणाम् ॥ ५ ॥

व्यक्तिको भी कर्म अर्थात् प्रवृत्तिमार्गका उपदेश नहीं देता। जैसे कोई श्रेष्ठ वैद्य रोगीके चाहनेपर भी उसे कुपथ्यकी वस्तु नहीं देता ॥ ५० ॥ हे इन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो। तुम शीघ्र मुनिवर दधीचिके पास जाओ और विद्या, व्रत एवं तपके प्रभावसे उनका अत्यन्त दृढ़ शरीर ले आओ ॥ ५१ ॥ महर्षि दधीचिको अश्वशिरा नामके शुद्ध-ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त है। उन्होंने ही अश्विनीकुमारोंको इसका उपदेश दिया था, उसीके प्रभावसे उन अश्विनीकुमारोंको अमरपद प्राप्त हुआ था ॥ ५२ ॥ अथर्ववेदीय महर्षि दधीचिने ही सर्वप्रथम साक्षात् मेरा स्वरूप नारायणकवच त्वष्टाको उपदेश किया था। वही कवच त्वष्टाने विश्वरूपको अर्पण किया और वह विश्वरूपसे तुम्हें प्राप्त हुआ ॥ ५३ ॥ महर्षि दधीचि बड़े धर्मात्मा हैं। तुमलोगोंके और विशेषकर अश्विनीकुमारोंके माँगनेपर वे अपना अंग तुम्हें अवश्य दे देंगे। उन अंगोंसे विश्वकर्माजीका बनाया हुआ एक वज्र तैयार होगा। उस वज्रसे देवराज इन्द्र मेरे तेजसे युक्त होकर वृत्रासुरका मस्तक काट लेंगे ॥ ५४ ॥ जब वह मर जायगा तब तुम अपने खोये हुए तेज, अस्त्र-शस्त्र तथा सम्पत्ति फिर प्राप्त कर लोगे। कोई मेरे भक्तोंको कष्ट नहीं पहुँचा सकता, इस कारण तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषा-टीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(देवताओंका दधीचि ऋषिके पास जाकर उनकी हड्डी माँग लाना और वृत्रासुरके साथ युद्ध करना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इस प्रकार इन्द्रको आज्ञा देकर विश्वभावन विष्णु-भगवान् देवताओंके देखते-देखते अलक्षित हो गये ॥ १ ॥ हे भारत! उन देवताओंने जब भगवान्के परामर्शानुसार दधीचि ऋषिसे याचना की तो उन्होंने बहुत प्रसन्न होकर हँसते हुए कहा—॥ २ ॥ 'हे देवताओ! शरीरियोंको अपना शरीर त्यागनेमें चेतना नष्ट कर देनेवाला जो दुःसह दुःख होता है, क्या तुम लोग उसे नहीं जानते? ॥ ३ ॥ इस संसारमें जीवित रहनेको इच्छुक पुरुषोंको शरीर बहुत प्रिय होता है। उसे यदि साक्षात् विष्णुभगवान् भी जाकर माँगें तो देनेका साहस भला कौन करेगा? ॥ ४ ॥ देवता बोले—हे ब्रह्मन्! पुण्यकीर्तिशाली सत्पुरुष भी जिनके कर्मोंकी प्रशंसा

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसङ्कटम् । यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः ॥ ६ ॥

ऋषिरुवाच

धर्मं वः श्रोतुकामेन यूयं मे प्रत्युदाहृताः । एष वः प्रियमात्मानं त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम् ॥७॥
योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान् । ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि ॥ ८ ॥
एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः । यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति ॥९॥
अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः । यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

एवं कृतव्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम् । परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सन्नयञ्जहौ ॥११॥
यताक्षासुमनोबुद्धिस्तत्त्वदृग् ध्वस्तबन्धनः । आस्थितः परमं योगं न देहं बुबुधे गतम् ॥१२॥
अथेन्द्रो वज्रमुद्यम्य निर्मितं विश्वकर्मणा । मुनेः शक्तिभिरुत्सिक्तो भगवत्तेजसान्वितः ॥१३॥
वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत । स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ॥१४॥
वृत्रमभ्यद्रवच्छेत्तुमसुरानीकयूथपैः । पर्यस्तमोजसा राजन् क्रुद्धो रुद्र इवान्तकम् ॥१५॥
ततः सुराणामसुरै रणः परमदारुणः । त्रेतामुखे नर्मदायामभवत् प्रथमे युगे ॥१६॥
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां पितृवह्निभिः । मरुद्भिर्ऋभुभिः साध्यैर्विश्वेदेवैर्मरुत्पतिम् ॥१७॥

करते रहते हैं, सब प्राणियोंपर कृपालु आप-जैसे महापुरुष कौनसी वस्तु नहीं त्याग सकते ? ॥ ५ ॥ हे भगवन् ! संसार स्वार्थी है, यह पराये दुःखको नहीं समझता । यदि यह दूसरेका दुःख जानता तो न माँगनेवाला दूसरोंसे माँगता और न देनेमें समर्थ होकर भी कोई प्राणी इनकार ही करता ॥ ६ ॥ ऋषि दधीचिने कहा—आपलोगोंके मुखसे धर्मकी बातें सुननेके लिये ही मैंने यह प्रत्युत्तर दिया था । यह मेरा प्रिय शरीर एक दिन स्वयं मुझे छोड़ेगा ही, तब इसे मैं आज ही छोड़े देता हूँ ॥ ७ ॥ हे स्वामियों ! जो प्राणी अपने अनित्य शरीरसे सब जीवोंपर दया करते हुए धर्म तथा यशके उपार्जनका उद्योग नहीं करता, वह वृक्षादिकोंकी दृष्टिमें भी शोचनीय होता है ॥ ८ ॥ जो मनुष्य दूसरोंके दुःखमें दुःखी तथा सुखमें सुखी होता है, उसका पुण्यकीर्तिशाली पुरुषों द्वारा सेवित यही अविनाशी धर्म है ॥ ९ ॥ अहो, मानव जातिकी यह कैसी कृपणता है । कितने दुःखकी बात है कि जिनके द्वारा मनुष्यका कुछ भी वास्तविक स्वार्थ नहीं सधता, जो दूसरोंके ही भोगने योग्य और क्षणभङ्गुर हैं उन धन, जन तथा शरीरादिसे वह औरोंकी कुछ भलाई नहीं करता ॥१०॥ श्रीशुकदेव बोले—हे राजन् ! इस प्रकारका निश्चय करके अथर्ववेदी दधीचि ऋषिने अपना मन परब्रह्म भगवानमें लीन करके अपनी देह त्याग दी ॥ ११ ॥ महर्षि दधीचिके इन्द्रिय, मन तथा प्राण संयत थे और दृष्टि तत्त्वदर्शिनी थी । इस तरह शरीर त्यागकर वे सब बन्धनोंसे मुक्त हो गये । इस लिये जब उन्होंने परमयोगमें स्थित होकर अपना प्राण त्यागा तो उन्हें इस शरीरका तनिक भी ज्ञान नहीं रहा ॥ १२ ॥ तब भगवान्के तेजसे युक्त होनेके कारण जिनका बल बढ़ गया था, जो चहुँओर देवताओंसे घिरे हुये थे और मुनिजन जिनकी स्तुति कर रहे थे, वे इन्द्र सारी त्रिलोकीको प्रसन्न करते हुए दधीचि मुनिकी हड्डियोंसे विश्वकर्मा द्वारा बनाये वज्रको लिये गजराज ऐरावतपर सुशोभित दिखायी दिये ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥ हे राजन् ! पूर्वकालमें भगवान् रुद्रने जैसे सब लोकोंका संहार करनेवाले त्रिपुरासुरपर क्रोधके साथ आक्रमण किया था, वैसे ही इन्द्र असुरसेनापतियोंसे आवृत वृत्रासुरका वध करनेके लिये उसकी ओर बड़े वेगसे चले ॥ १५ ॥ तदनन्तर प्रथम चतुर्युगीन त्रेतायुगके आरम्भमें नर्मदा नदीके किनारे दैत्योंके साथ देवताओंका अतिभयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ १६ ॥ हे राजन् ! तब रुद्र, वसु, आदित्य, अश्विनीकुमार, पितृगण, अग्नि, मरुद्गण, ऋभु, साध्य तथा विश्वेदेव आदिके साथ अपनी शोभासे शोभायमान वज्रधर इन्द्रको युद्धभूमिमें सामने देखकर वृत्रासुर आदि दैत्योंको असह्य हो गया ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा वज्रधरं शक्रं रोचमानं स्वया श्रिया । नामृष्यन्नसुरा राजन् मृधे वृत्रपुरःसराः ॥१८॥
नमुचिः शम्बरोऽनर्वा द्विमूर्धा ऋषभोऽम्बरः । हयग्रीवः शङ्कुशिरा विप्रचित्तिरयोमुखः ॥१९॥
पुलोमा वृषपर्वा च प्रहेतिर्हेतिरुत्कलः । दैतेया दानवा यक्षा रक्षांसि च सहस्रशः ॥२०॥
सुमालिमालिप्रमुखाः कार्तस्वरपरिच्छदाः । प्रतिषिध्येन्द्रसेनाग्रं मृत्योरपि दुरासदम् ॥२१॥
अभ्यर्दयन्नसम्भ्रान्ताः सिंहनादेन दुर्मदाः । गदाभिः परिघैर्बाणैः प्रासमुद्गरतोमरैः ॥२२॥
शूलैः परश्वधैः खड्गैः शतघ्नीभिर्भुशुण्डिभिः । सर्वतोऽवाकिरन् शस्त्रैरस्त्रैश्च विबुधर्षभान् ॥२३॥
न तेऽदृश्यन्त संछन्नाः शरजालैः समन्ततः । पुङ्खानुपुङ्खपतितैर्ज्योतींषीव नभोघनैः ॥२४॥
न ते शस्त्रास्त्रवर्षौघा ह्यासेदुः सुरसैनिकान् । छिन्नाः सिद्धपथे देवैर्लघुहस्तैः सहस्रधा ॥२५॥
अथ क्षीणास्त्रशस्त्रौघा गिरिशृङ्गद्रुमोपलैः । अभ्यवर्षन् सुरबलं चिच्छिदुस्तांश्च पूर्ववत् ॥२६॥

तानक्षतान् स्वस्तिमतो निशाम्य शस्त्रास्त्रपूगैरथ वृत्रनाथाः ।
द्रुमैर्दृषद्भिर्विविधाद्रिशृङ्गैरविक्षतांस्तत्रसुरिन्द्रसैनिकान् ॥ २७ ॥
सर्वे प्रयासा अभवन् विमोघाः कृताः कृता देवगणेषु दैत्यैः ।
कृष्णानुकूलेषु यथा महत्सु क्षुद्रैः प्रयुक्ता रुशती रूक्षवाचः ॥ २८ ॥
ते स्वप्रयासं वितथं निरीक्ष्य हरावभक्ता हतयुद्धदर्पाः ।
पलायनायाजिमुखे विसृज्य पतिं मनस्ते दधुरात्तसाराः ॥ २९ ॥
वृत्रोऽसुरांस्ताननुगान् मनस्वी प्रधावतः प्रेक्ष्य बभाष एतत् ।
पलायितं प्रेक्ष्य बलं च भग्नं भयेन तीव्रेण विहस्य वीरः ॥ ३० ॥
कालोपपन्नां रुचिरां मनस्विनामुवाच वाचं पुरुषप्रवीरः ।
हे विप्रचित्ते नमुचे पुलोमन् मयानवञ्छम्बर मे शृणुध्वम् ॥ ३१ ॥

॥१८॥ इसलिये नमुचि, शम्बर, अनर्वा, द्विमूर्धा, ऋषभ, शम्बर, हयग्रीव, शङ्कुशिरा, विप्रचित्ति, अयोमुख, पुलोमा, वृषपर्वा, प्रहेति, हेति तथा उत्कल आदि दैत्य, दानव एवं यक्ष और सुमाली-माली आदि सुवर्णके आभूषणोंसे आभूषित हजारों राक्षस मृत्युके लिये भी दुष्प्राप्य इन्द्रकी सेनाको रोककर अति उन्मत्त हो क्रोधपूर्वक सिंहनाद करते हुए उन देवताओंपर सब ओरसे गदा, परिघ, बाण, प्रास, मुद्गर, तोमर, शूल परशु, खड्ग, शतघ्नी तथा भुशुण्डी आदि अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगे ॥ १९-२३ ॥ इस तरह पुंखानुपुंख क्रमसे छूटे बाणों द्वारा सब ओरसे आच्छादित होकर देवता मेघमालासे आच्छादित तारागणकी भाँति अदृश्य हो गये ॥ २४ ॥ किन्तु दैत्योंके शस्त्रास्त्रोंकी वर्षा देवसैनिकोंको छू भी नहीं सकी । शस्त्र चलानेमें कुशल देवताओंने उसके हजारों टुकड़े करके उसे आकाशहीमें छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ २५ ॥ इस तरह अस्त्र-शस्त्रोंके चुक जानेपर दैत्य देवसेनापर पर्वतशिखर, वृक्ष तथा पत्थर बरसाने लगे । किन्तु देवताओंने पहले ही के समान उन्हें भी काट डाला ॥ २६ ॥ हे राजन् ! इन्द्र-सेनाको अपने शस्त्रोंसे अक्षत एवं वृक्ष, पत्थर तथा अगणित पर्वतोंके प्रहारसे भी ज्योंकी त्यों सकुशल खड़ी देखकर वृत्रासुरके अनुगामी दैत्यगण बहुत डरे ॥ २७ ॥ जैसे ओछे मनुष्योंके द्वारा महापुरुषोंके प्रति कहे गये कठोर एवं अमङ्गलमय वाक्य उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाते, वैसे ही भगवत्कृपापात्र देवताओंपर उनके विनाशार्थ पुनःपुनः किये हुए दैत्योंके सब प्रयत्न बेकार हो गये ॥ २८ ॥ ऐसी दशामें उन भगवद्भक्तिविहीन दैत्योंका सारा युद्ध-उत्साह भंग हो गया । देवताओंने उनका धैर्य हर लिया और अपना प्रयोग व्यर्थ होते देख अपने प्रभु वृत्रासुरको युद्धभूमिमें ही त्यागकर दैत्य दसों दिशाओंमें भागने लगे ॥ २९ ॥ तब वृत्रासुर अपने अनुगत दैत्योंको भागते तथा सेनाको बड़े भयसे छिन्नभिन्न देखकर कहने लगा ॥३०॥ तब वीर वृत्रासुरने मनस्वियोंके योग्य और सामयिकी वाणीमें

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता ।
लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमुं को नाम मृत्युं न वृणीत युक्तम् ॥३२॥
द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापौ यद् ब्रह्मसन्धारणया जितासुः ।
कलेवरं योगरतो विजह्याद् यदग्रणीर्वीरशयेऽनिवृत्तः ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे इन्द्रवृत्रासुरयुद्धवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः१०

एकादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

त एवं शंसतो धर्मं वचः पत्युरचेतसः । नैवागृह्णन् भयत्रस्ताः पलायनपरा नृप ॥१॥
विशीर्यमाणां पृतनामासुरीमसुरर्षभः । कालानुकूलैस्त्रिदशैः काल्यमानामनाथवत् ॥२॥
दृष्ट्वातप्यत संक्रुद्ध इन्द्रशत्रुरमर्षितः । तान्निवार्यौजसा राजन्निर्भर्त्स्येदमुवाच ह ॥३॥
किं व उच्चरितैर्मातुर्धावद्भिः पृष्ठतो हतैः । न हि भीतवधः श्लाघ्यो न स्वर्ग्यः शूरमानिनाम्४
यदि वः प्रधने श्रद्धा सारं वा क्षुल्लका हृदि । अग्रे तिष्ठत मात्रं मे न चेद् ग्राम्यसुखे स्पृहा ॥५॥
एवं सुरगणान् क्रुद्धो भीषयन् वपुषा रिपून् । व्यनदत् सुमहाप्राणो येन लोका विचेतसः ॥६॥
तेन देवगणाः सर्वे वृत्रविस्फोटनेन वै । निपेतुर्मूर्च्छिता भूमौ यथैवाशनिना हताः ॥७॥
ममर्द पद्भ्यां सुरसैन्यमातुरं निमीलिताक्षं रणरङ्गदुर्मदः ।
गां कम्पयन्नुद्यतशूल ओजसा नालं वनं यूथपतिर्यथोन्मदः ॥८॥

इस प्रकार कहा—'हे विप्रचित्ते ! हे नमुचे ! हेपुलोमन् ! हे मय ! हे अनर्वन् ! हे शम्बर ! मेरी बात तो सुनो ॥ ३१ ॥ भाई, संसारमें जो उत्पन्न हुआ है सब तरहसे उसकी मृत्यु निश्चित है, उसे रोकनेके लिये विधाताने कोई उपाय ही नहीं बनाया है। तब यदि मृत्युसे परलोकमें सद्गति तथा इस लोकमें सुयश मिलता हो तो ऐसी उत्तम मृत्युको कौन न अङ्गीकार करेगा ? ॥ ३२ ॥ इस संसारमें दो तरहकी मृत्यु बड़ी दुर्लभ तथा श्रेष्ठ मानी जाती है—एक तो ब्रह्मचिन्तनमें लगे प्राणोंको जीतकर शरीर त्यागना और दूसरे युद्धभूमिमें सेनाके सम्मुख डटकर पीछे पैर न हटाते हुए प्राण त्यागना, ये दोनों दुष्प्राप्य मृत्युयें हैं ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(वृत्रासुरके वीरजनोचित वचन) श्रीशुकदेवजी बोले—हे नृप ! दैत्यपति वृत्रासुरके धर्मसंगत वचन कहनेपर भी भयभीतभावसे भागते हुए असुरोंने उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया ॥ १ ॥ हे राजन् ! समय जिनके अनुकूल था, उन देवताओंके द्वारा खदेड़ी हुई दैत्यसेनाको अनाथकी नाईं छिन्न-भिन्न होती देखकर इन्द्रशत्रु वृत्रासुर क्रोध तथा असहिष्णुतासे अतिशय सन्तप्त हुआ। उसने देवसेनाको अपने पराक्रमसे रोककर भर्त्सना भरी वाणीमें इस प्रकार कहा—॥ २ ॥ ३ ॥ "अरे ! माताकी विष्ठाके समान निकले और रणभूमिके भगोड़े इन दैत्योंकी पीठपर प्रहार करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? अपनेको वीर समझनेवाले पुरुषोंके लिये डरपोकोंका वध करना प्रशंसनीय तथा स्वर्गप्रद नहीं कहा जाता ॥ ४ ॥ अतएव हे क्षुद्रो ! यदि तुम्हारे हृदयमें युद्ध करनेका उत्साह और साहस हो और विषय-भोगकी अभिलाषा न हो तो केवल एक क्षण मेरे सामने खड़े रहो" ॥ ५ ॥ अपने शत्रु देवताओंको इस तरह अपने विकटतम शरीरसे भयभीत करते हुए उस महाबलवान् दैत्यने भयङ्कर गर्जन किया। जिससे सब लोगोंकी चेतना नष्ट हो गयी ॥ ६ ॥ वृत्रासुरके भयानक सिंहगर्जनसे सब देवता वज्राहतकी नाईं अचेत होकर पृथिवीपर लोट गये ॥ ७ ॥ तब जैसे मतवाला यूथपति

विलोक्य तं वज्रधरोऽत्यमर्षितः स्वशत्रवेऽभिद्रवते महागदाम्।
चिक्षेप तामापततीं सुदुःसहां जग्राह वामेन करेण लीलया ॥९॥
स इन्द्रशत्रुः कुपितो भृशं तया महेन्द्रवाहं गदयोग्रविक्रमः।
जघान कुम्भस्थल उन्नदन् मृधे तत्कर्म सर्वे समपूजयन् नृप ॥१०॥
ऐरावतो वृत्रगदाभिमृष्टो विघूर्णितोऽद्रिः कुलिशाहतो यथा।
अपासरद्भिन्नमुखः सहेन्द्रो मुञ्चन्नसृक् सप्तधनुर्भृशार्तः ॥११॥
न सन्नवाहाय विषण्णचेतसे प्रायुङ्क्त भूयः स गदां महात्मा।
इन्द्रोऽमृतस्यन्दिकराभिमर्शवीतव्यथक्षतवाहोऽवतस्थे ॥१२॥
स तं नृपेन्द्राहवकाम्यया रिपुं वज्रायुधं भ्रातृहणं विलोक्य।
स्मरंश्च तत्कर्म नृशंसमंहः शोकेन मोहेन हसन् जगाद ॥१३॥

वृत्र उवाच

दिष्ट्या भवान् मे समवस्थितो रिपुर्यो ब्रह्महा गुरुहा भ्रातृहा च।
दिष्ट्यानृणोऽद्याहमसत्तम त्वया मच्छूलनिर्भिन्नदषद्धृदाचिरात् ॥१४॥
यो नोऽग्रजस्यात्मविदो द्विजातेर्गुरोरपापस्य च दीक्षितस्य।
विश्रभ्य खड्गेन शिरांस्यवृश्चत् पशोरिवाकरुणः स्वर्गकामः ॥१५॥
ह्रीश्रीदयाकीर्तिभिरुज्झितं त्वां स्वकर्मणा पुरुषादैश्च गर्ह्यम्।
कृच्छ्रेण मच्छूलविभिन्नदेहमस्पृष्टवह्निं समदन्ति गृध्राः ॥१६॥

गजराज नरकटके वनको रौंदा डालता है वैसे ही रणरंगका मतवाला वृत्रासुर हाथमें त्रिशूल लिये अपने बलसे पृथिवीको कँपाता हुआ मारे भयके नेत्र बंद किये पड़ी देवसेनाको पैरोंसे रौंदने लगा ॥ ८ ॥ उसकी यह धृष्टता देखकर इन्द्रने बहुत अमर्षयुक्त हो अपनी ओर आते हुए अपने शत्रु वृत्रासुरपर एक प्रचण्ड गदाका प्रहार किया। उस असह्य गदाको अपने ऊपर आती देखकर वृत्रासुरने उसे खेल-खेलमें बायें हाथसे थाम्ह लिया ॥ ९ ॥ हे राजन्! उस महापराक्रमी इन्द्रके शत्रुने युद्धमें अतिशय कुपित होकर भयंकर गर्जन करते हुए उसी गदासे इन्द्रके वाहन ऐरावतके मस्तकपर प्रहार कर दिया। उसके इस कार्यकी सब लोगोंने सराहना की ॥ १० ॥ वृत्रासुरकी गदासे आहत इन्द्रका वाहन गजराज ऐरावत पर्वतकी भाँति तिलमिला उठा और मुँह फट जानेके कारण अत्यन्त व्याकुल होकर रक्त वमन करता हुआ इन्द्रको लिये-दिये सात धनुष पीछेको हट गया ॥ ११ ॥ इस तरह अपने वाहनके मूर्च्छित हो जानेके कारण व्याकुल इन्द्रपर महामनस्वी वृत्रासुरने प्रहार नहीं किया। इतनेमें अपने अमृतवर्षी हाथके स्पर्शसे घायल ऐरावतकी पीडा शान्त करके देवराज इन्द्र फिर संग्रामभूमिमें आ डटे ॥ १२ ॥ हे नृप! भाई विश्वरूपका वध करनेवाले इन्द्रको युद्धकी इच्छासे वज्र लेकर अपने सामने उपस्थित देखकर उस निष्ठुर पापकर्मकी याद करके वृत्रासुर शोक तथा मोहसे अभिभूत होकर हँसते हुए बोला—॥ १३ ॥ वृत्रासुरने कहा—अहा! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि जो ब्रह्महत्याकारी, गुरुद्रोही तथा मेरे भाईका हत्यारा मेरा शत्रु आज मेरे सामने खड़ा है। ओ महाअधम! मैं अभी तेरे पाषाणनिभ हृदयको अपने त्रिशूलसे फाड़कर भ्रातृ-ऋणसे सदाके लिए उऋण हो जाऊँगा ॥ १४ ॥ जैसे स्वर्गकी इच्छा करनेवाले लोग याज्ञिक पशुका सिर काटते हैं, वैसे ही तूने विश्वासघात करके विप्रवंशमें उत्पन्न, अपने गुरु, आत्मज्ञानी, निर्दोष तथा यज्ञकर्ममें दीक्षित हमारे बड़े भाईके मस्तक काट डाले हैं! ॥ १५ ॥ लज्जा, लक्ष्मी, दया तथा कीर्ति आदि तुझे कभी की छोड़ चुकी हैं। तेरे इस कुकर्मको देखकर मनुष्याहारी राक्षस भी तेरी निन्दा कर रहे हैं। अब मेरे त्रिशूल द्वारा बड़े

अन्येऽनु ये त्वेह नृशंसमज्ञा ये ह्युद्यतास्त्राः प्रहरन्ति मह्यम् ।
तैर्भूतनाथान् सगणान् निशातत्रिशूलनिर्भिन्नगलैर्यजामि ॥१७॥
अथो हरे मे कुलिशेन वीर हर्ता प्रमथ्यैव शिरो यदीह ।
तत्रानृणो भूतबलिं विधाय मनस्विनां पादरजः प्रपत्स्ये ॥१८॥
सुरेश कस्मान्न हिनोषि वज्रं पुरः स्थिते वैरिणि मय्यमोघम् ।
मा संशयिष्ठा न गदेव वज्रं स्यान्निष्फलं कृपणार्थेव याच्ञा ॥१९॥
नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः ।
तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयन्त्रितो यतो हरिर्विजयः श्रीर्गुणास्ततः ॥२०॥
अहं समाधाय मनो यथाऽऽह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।
त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः ॥२१॥
पुंसां किलैकान्तधियां स्वकानां याः सम्पदो दिवि भूमौ रसायाम् ।
न राति यद् द्वेष उद्वेग आधिर्मदः कलिर्व्यसनं सम्प्रयासः ॥२२॥
त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥२३॥
अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥२४॥

कष्टसे छिन्न-भिन्न तेरी देहको गिद्ध खायेंगे। इसे अग्निका स्पर्श भी नहीं हो सकेगा ॥ १६ ॥ जो मूर्ख देवता तुझ महाक्रूरका साथ देते हुए मुझपर विविध प्रकारके शस्त्रास्त्र लेकर प्रहार करते हैं, उन पशुओं-का गला मैं तीखे त्रिशूलसे काटकर उनसे भैरवादि गणों समेत भगवान भूतनाथका पूजन करूँगा ॥ १७ ॥ हे वीर इन्द्र ! इसके विपरीत यदि इस युद्धस्थलमें मेरे दलको परास्त करके तूने ही अपने वज्रसे मेरा सिर काट डाला तो मैं कर्मबन्धनसे छूट जाऊँगा और सब भूतोंको अपनी देहकी बलि अर्पण करके धीर पुरुषोंका पद पाऊँगा ॥ १८ ॥ हे देवराज ! अपने सम्मुख खड़े मुझ अपने शत्रुपर तुम अपना अमोघ वज्र क्यों नहीं चलाते ? तुम यह सन्देह न करना कि कृपण मनुष्यके सामने हाथ पसार-कर की हुई याचनाकी भाँति तुम्हारी गदाकी तरह कहीं वज्र भी निष्फल न हो जाय ॥ १९ ॥ हे इन्द्र ! यह वज्र भगवानके तेज तथा महर्षि दधीचिके तपोबलसे तेजोमय है। भगवान विष्णुने ही तुमको यह काम सौंपा है। इसलिये तुम इसीसे अपने शत्रुको मारो। जिधर भगवान होते हैं, उधर ही विजय, लक्ष्मी तथा सब गुण विद्यमान रहते हैं ॥ २० ॥ जैसा कि भगवान संकर्षणने मुझे उपदेश दिया था, वैसे ही उनके चरणकमलोंमें मन लगाकर तुम्हारे वज्रके प्रहारसे अपना विषयबन्धन कट जानेसे शरीर त्यागनेपर मैं योगियोंकी गति पाऊँगा ॥ २१ ॥ जो लोग भगवानमें अनन्यभावसे प्रेम करते और उनके दास कहलाते हैं उन्हें भगवान स्वर्ग, पृथ्वी तथा रसातल कहींकी भी कोई सम्पत्ति नहीं देते। क्योंकि भक्तको सम्पत्तिसे द्वेष, उद्वेग, मानसिक पीड़ा, अभिमान, कलह, व्यसन तथा श्रम ही मिलते हैं ॥२२॥ हे शक्र ! वे हमारे प्रभु अपने भक्तके त्रैवर्गिक यानी अर्थ-धर्म-सम्बन्धी प्रयासको नष्ट कर दिया करते हैं। यह भी भगवानकी कृपा ही है। क्योंकि केवल अकिञ्चन भक्तोंको ही प्राप्त होने योग्य यह भगवत्कृपा अन्य लोगोंको बहुत दुर्लभ है ॥२३॥ अब वृत्रासुर भगवानसे प्रार्थना करता हुआ कहने लगा-'हे हरे ! जो आपके चरणकमलोंके ही सहारे रहते हैं, मैं बारबार आपके उन दासोंका दास बनूँ। मेरा मन आप प्राणपतिके गुणोंका ही चिन्तन किया करे, मेरी वाणी आपहीका गुण गावे और शरीर आपहीका कार्य किया करे ॥ २४ ॥ हे नाथ ! आपसे वियुक्त होकर मुझे स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौम

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥२५॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥२६॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे वृत्रस्येन्द्रोपदेशो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

ऋषिरुवाच

एवं जिहासुर्नृप देहमाजौ मृत्युं वरं विजयान्मन्यमानः।
शूलं प्रगृह्याभ्यपतत् सुरेन्द्रं यथा महापुरुषं कैटभोऽप्सु ॥ १ ॥
ततो युगान्ताग्निकठोरजिह्वमाविध्य शूलं तरसासुरेन्द्रः।
क्षिप्त्वा महेन्द्राय विनद्य वीरो हतोऽसि पापेति रुषा जगाद ॥ २ ॥
ख आपतत् तद् विचलद्ग्रहोल्कवन्निरीक्ष्य दुष्प्रेक्ष्यमजातविक्लवः।
वज्रेण वज्री शतपर्वणाच्छिनद् भुजं च तस्योरगराजभोगम् ॥ ३ ॥
छिन्नैकबाहुः परिघेण वृत्रः संरब्ध आसाद्य गृहीतवज्रम्।
हनौ तताडेन्द्रमथामरेभं वज्रं च हस्तान्न्यपतन्मघोनः ॥ ४ ॥

राज्य, रसातलकी प्रभुता, योगसिद्धि तथा मोक्ष आदि किसी वस्तुकी कामना नहीं है ॥ २५ ॥ हे कमलनयन ! जिनके पंख नहीं होते, वे पक्षिशावक जैसे अपनी माताकी बाट जोहते हैं, जैसे भूखसे पीडित बछड़े माताका दूध पीनेको आतुर रहते हैं और जैसे कोई विरहव्यथित स्त्री अपने परदेशी प्रीतमकी राह देखती है, वैसे ही मेरा मन आपको देखना चाहता है ॥ २६ ॥ हे भगवन् ! प्रारब्धवश यदि मुझे संसारचक्रमें चक्कर काटना पड़े तो सर्वदा पवित्र कीर्तिसम्पन्न आप परमेश्वरके भक्तोंमें ही मेरी प्रीति रहा करे। आपकी विश्वविमोहिनी मायासे विमुग्ध होकर पुत्र, कलत्र तथा गृह आदिमें आसक्त रहनेवाले संसारी मनुष्योंमें मेरा अनुराग कभी भी न हो' ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(इन्द्रके हाथों वृत्रासुरका वध) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! विजयकी अपेक्षा मृत्युको ही अच्छा माननेवाला वृत्रासुर युद्धमें शरीरत्यागकी इच्छासे अपना त्रिशूल तानकर इन्द्रकी ओर इस प्रकार झपटा, जैसे प्रलयकालके जलमें भगवानको ओर कैटभासुर लपका था ॥ १ ॥ तदनन्तर उस वीर दैत्यने प्रलयाग्निके सदृश तीखी नोकवाला अपना त्रिशूल प्रचण्ड वेगके साथ इन्द्रपर फेंका और बड़े क्रोधसे गर्जन करता हुआ कहने लगा—'ओ पापी ! अब तू मरा' ॥ २ ॥ घूमते हुए ग्रह तथा उल्काके समान उस दुर्दर्श त्रिशूलको आकाशसे अपनी ओर आते देखकर इन्द्रने धीरजके साथ उसे और उसके साथ नागराजके समान लम्बी वृत्रासुरकी विशाल बाहुको अपने शतपर्वा वज्रसे काटकर अलग कर दिया ॥ ३ ॥ एक हाथ कट जानेके बाद वृत्रासुरने अतिशय क्रुद्ध होकर वज्रधर इन्द्रकी ठोड़ीमें तथा ऐरावतपर परिघसे प्रहार किया, जिससे देवराज इन्द्रके हाथसे वह वज्र गिर गया ॥ ४ ॥ वीर वृत्रा-

वृत्रस्य कर्मातिमहाद्भुतं तत् सुरासुराश्चारणसिद्धसङ्घाः ।
अपूजयंस्तत् पुरुहूतसङ्कटं निरीक्ष्य हाहेति विचुक्रुशुर्भृशम् ॥ ५ ॥
इन्द्रो न वज्रं जगृहे विलज्जितश्च्युतं स्वहस्तादरिसन्निधौ पुनः ।
तमाह वृत्रो हर आत्तवज्रो जहि स्वशत्रुं न विषादकालः ॥ ६ ॥
युयुत्सतां कुत्रचिदाततायिनां जयस्तदैकत्र न वै परात्मनाम् ।
विनैकमुत्पत्तिलयस्थितीश्वरं सर्वज्ञमाद्यं पुरुषं सनातनम् ॥ ७ ॥
लोकाः सपाला यस्येमे श्वसन्ति विवशा वशे । द्विजा इव शिचा बद्धाः स काल इह कारणम् ॥८॥
ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च । तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम् ॥९॥
यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः । एवंभूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥१०॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमात्मा भूतेन्द्रियाशयाः । शक्नुवन्त्यस्य सर्गादौ न विना यदनुग्रहात् ॥११॥
अविद्वानेवमात्मानं मन्यतेऽनीशमीश्वरम् । भूतैः सृजति भूतानि ग्रसते तानि तैः स्वयम् ॥१२॥
आयुः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यमाशिषः पुरुषस्य याः । भवन्त्येव हि तत्काले यथानिच्छोर्विपर्ययाः ॥१३॥
तस्मादकीर्तियशसोर्जयापजययोरपि । समः स्यात् सुखदुःखाभ्यां मृत्युजीवितयोस्तथा॥१४
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः । तत्र साक्षिणमात्मानं यो वेद न स बध्यते ॥१५॥
पश्य मां निर्जितं शक्र वृक्णायुधभुजं मृधे । घटमानं यथाशक्ति तव प्राणजिहीर्षया ॥१६॥

सुरके उस अति अद्भुत कार्यकी देवता, असुर, चारण, तथा सिद्धगण आदि सब लोगोंने सराहना की और इन्द्रके ऊपर वह महासङ्कट आया देखकर वे सब अत्यन्त हाहाकार करने लग गये ॥५॥ किन्तु अपने हाथसे छूटकर शत्रुके पास गिरे उस वज्रको इन्द्रने मारे लाजके फिर नहीं उठाया। तब वृत्रासुरने उनसे कहा—"हे इन्द्र ! तुम अपना वज्र सम्हालकर अपने शत्रुको मारो । यह विषादका समय नहीं है ॥ ६ ॥ सारे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयकार्य करनेमें समर्थ, सर्वज्ञ तथा सनातन आदिपुरुषके सिवाय अन्य देहाभिमानी एवं युद्धोत्सुक आततायियोंको सदा जय ही नहीं प्राप्त हुआ करती । वे कभी जीतते हैं तो कभी हार भी जाते हैं ॥ ७ ॥ समस्त लोकपालों सहित ये सब लोक जालमें फँसे पक्षियोंकी भाँति विवशभावसे जिसके अधीन रहकर कार्य करते हैं, वास्तवमें वह काल ही इस लोकमें जय और पराजयका मूल कारण है ॥ ८ ॥ काल ही मनुष्यके मनोबल, इन्द्रियबल, प्राण, जीवन तथा मृत्युके रूपमें स्थित रहता है। उसे न जाननेके कारण ही मनुष्य अपने जड़ शरीरको जय-पराजय आदिका कारण समझ बैठता है ॥ ९ ॥ हे इन्द्र ! काठकी पुतली तथा यन्त्रचालित हरिणकी तरह तुम सम्पूर्ण प्राणियोंको भगवानके अधीन जानो ॥ १० ॥ बिना उनके पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चभूत, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण इनमेंसे कोई इस विश्वकी उत्पत्ति आदिके कार्यमें समर्थ नहीं हो पाते ॥ ११ ॥ जो भगवानके नियामकत्व गुणको नहीं जानता, वही प्राणी इस परतन्त्र जीवको ईश्वर यानी स्वतन्त्र मानता है । सच पूछो तो भगवान ही सब प्राणियोंकी रचना करते और प्राणियोंके द्वारा ही प्राणियोंका संहार कराते रहते हैं ॥१२॥ हे इन्द्र ! जैसे इच्छा न रहनेपर भी कालकी विपरीतगतिसे मनुष्यको मृत्यु तथा अपयश आदि मिलते हैं, वैसे ही उसकी अनुकूलता होनेपर उसे आयु, लक्ष्मी, यश तथा ऐश्वर्य आदि भोग भी सुलभ हो जाते हैं ॥ १३ ॥ इस लिए यश-अपयश, जय-पराजय सुख-दुःख तथा जीवन-मरणमें भी सदा समानभावसे रहना चाहिए ॥ १४ ॥ सत्त्व-रज-तम, ये तीनों ही गुण प्रकृतिके माने गये हैं, आत्माके नहीं । इसलिए जो पुरुष अपने आत्माको ही उनका साक्षी समझता है, वह उनके गुण-दोषसे बाधित नहीं होता ॥ १५ ॥ हे इन्द्र ! मुझे ही देखो, यद्यपि तुमने

प्राणग्लहोऽयं समर इष्वक्षो वाहनासनः । अत्र न ज्ञायतेऽमुष्य जयोऽमुष्य पराजयः ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत् । गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः ॥१८॥

इन्द्र उवाच

अहो दानव सिद्धोऽसि यस्य ते मतिरीदृशी । भक्तः सर्वात्मनाऽऽत्मानं सुहृदं जगदीश्वरम् ॥१९

भवानतार्षीन्मायां वै वैष्णवीं जनमोहिनीम् । यद् विहायासुरं भावं महापुरुषतां गतः ॥२०॥

खल्विदं महदाश्चर्यं यद् रजःप्रकृतेस्तव । वासुदेवे भगवति सत्त्वात्मनि दृढा मतिः ॥२१॥

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे । विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणावन्योन्यं धर्मजिज्ञासया नृप । युयुधाते महावीर्याविन्द्रवृत्रौ युधाम्पती ॥२३॥

आविध्य परिघं वृत्रः कार्ष्णायसमरिन्दमः । इन्द्राय प्राहिणोद् घोरं वामहस्तेन मारिष ॥२४॥

स तु वृत्रस्य परिघं करं च करभोपमम् । चिच्छेद युदपद्देवो वज्रेण शतपर्वणा ॥२५॥

दोर्भ्यामुत्कृत्तमूलाभ्यां बभौ रक्तस्रवोऽसुरः । छिन्नपक्षो यथा गोत्रः खाद् भ्रष्टो वज्रिणा हतः॥२६

कृत्वाधरां हनुं भूमौ दैत्यो दिव्युत्तरां हनुम् । नभोगम्भीरवक्त्रेण लेलिहोल्बणजिह्वया ॥२७॥

दंष्ट्राभिः कालकल्पाभिर्ग्रसन्निव जगत्त्रयम् । अतिमात्रमहाकाय आक्षिपंस्तरसा गिरीन् ॥२८॥

मेरा हाथ तथा शस्त्र काटकर मुझे एक प्रकारसे परास्त कर दिया है तथापि तुम्हारे प्राण लेनेका मैं यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा हूँ ॥ १६ ॥ युद्ध जुएका खेल है । इसमें प्राणोंकी बाजी पाँसे और वाहन चौसर होते हैं । इस खेलमें अमुक वीर जीतेगा और अमुक हारेगा, निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! वृत्रासुरके इन निष्कपट वचनोंको सुनकर इन्द्रने मन-ही-मन उसकी सराहना की और अपना वज्र सम्हालकर विस्मयरहित भावसे प्रशंसा करते हुए इस तरह कहा ॥ १८ ॥ इन्द्र कहने लगे—हे दानव ! तुम अवश्य कोई सिद्ध हो, तभी तो तुम्हें ऐसी विमल बुद्धि मिली है । अपने पूर्वजन्ममें तुमने सब जीवोंके आत्मा तथा सुहृद श्रीजगदीश्वरकी उपासना की है ॥ १९ ॥ तुमने अवश्य विष्णुभगवानकी विश्वमोहनी माया पार कर ली है । इसी कारण तुम आसुरी भाव त्यागकर महापुरुषोंके सुष्ठु भावको प्राप्त हुए हो ॥ २० ॥ बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि रजोगुणी प्रकृतिके होकर भी सत्त्वस्वरूप भगवान वासुदेवमें तुम्हारी बुद्धि ऐसी दृढ़तासे रमी हुई है ॥ २१ ॥ मोक्षपति भगवानमें जिसका प्रेम है, सुधासमुद्रमें विहार करनेवाले उस महात्मा पुरुषको विषयभोगरूपी क्षुद्र गड्ढोंके मलीन जलकी क्या आवश्यकता ? ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेव-जी कहते हैं—हे राजन् ! धर्मकी जिज्ञासासे इस तरह वार्तालाप करते हुए संग्रामभूमिके अधिनायक परमपराक्रमी इन्द्र तथा वृत्रासुर परस्पर युद्ध करने लगे ॥ २३ ॥ हे राजन् ! तब वृत्रासुरने एक अति-शय भयानक लोहेका परिघ उठाकर अपने बायें हाथसे घुमाते हुए इन्द्रके ऊपर चला दिया ॥ २४ ॥ लेकिन उसके लगनेके पहले ही देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका वह परिघ और हाथीकी सूँड़की भाँति मोटी उसकी भुजा अपने शतपर्वा वज्रसे एक साथ ही काटकर अलग कर दी ॥ २५ ॥ इस तरह जड़से कटी दोनों भुजाओंके मूलसे रक्त बहाता हुआ वह दैत्य ऐसा मालूम पड़ता था जैसे इन्द्र-के वज्रप्रहारसे आहत कोई पर्वत पृथ्वीपर आ गिरा हो ॥ २६ ॥ तदनन्तर पैरोंसे चलनेवाले पर्वत-राजकी तरह उस अतिशय दीर्घकाय दैत्यने अपनी ठोड़ीको पृथिवीमें तथा ऊपरके ओंठको स्वर्गसे सटाकर आकाशके समान गम्भीर मुख, सर्पके समान भयानक जीभ तथा मृत्युके समान कराल दाढ़ोंसे जैसे त्रिलोकीको निगलता हुआ अपने पादप्रहारसे पृथिवीको कँपाता तथा प्रबल वेगसे पर्वतोंको

गिरिराट् पादचारीव पद्भ्यां निर्जरयन् महीम् । जग्रास स समासाद्य वज्रिणं सहवाहनम् ॥२९॥
महाप्राणो महावीर्यो महासर्प इव द्विपम् । वृत्रग्रस्तं तमालक्ष्य सप्रजापतयः सुराः ।
हा कष्टमिति निर्विण्णाश्चुक्रुशुः समहर्षयः ॥ ३० ॥
निगीर्णोऽप्यसुरेन्द्रेण न ममारोदरं गतः । महापुरुषसन्नद्धो योगमायाबलेन च ॥३१॥
भित्त्वा वज्रेण तत्कुक्षिं निष्क्रम्य बलभिद् विभुः । उच्चकर्त शिरः शत्रोर्गिरिशृङ्गमिवौजसा ॥३२॥
वज्रस्तु तत्कन्धरमाशुवेगः कृन्तन् समन्तात् परिवर्तमानः ।
न्यपातयत् तावदहर्गणेन यो ज्योतिषामयने वार्त्रहत्ये ॥ ३३ ॥
तदा च खे दुन्दुभयो विनेदुर्गन्धर्वसिद्धाः समहर्षिसङ्घाः ।
वार्त्रघ्नलिङ्गैस्तमभिष्टुवाना मन्त्रैर्मुदा कुसुमैरभ्यवर्षन् ॥३४॥
वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिन्दम । पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यत ॥३५॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे वृत्रवधो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

वृत्रे हते त्रयो लोका विना शक्रेण भूरिद । सपाला ह्यभवन् सद्यो विज्वरा निर्वृतेन्द्रियाः ॥१॥
देवर्षिपितृभूतानि दैत्या देवानुगाः स्वयम् । प्रतिजग्मुः स्वधिष्ण्यानि ब्रह्मेशेन्द्रादयस्ततः ॥२॥

राजोवाच

इन्द्रस्यानिर्वृतेर्हेतुं श्रोतुमिच्छामि भो मुने । येनासन् सुखिनो देवा हरेर्दुःखं कुतोऽभवत् ॥३॥

इधर उधर-उधर करता इन्द्रके पास पहुँचा और उनके वाहन ऐरावत समेत इस तरह लील गया, जैसे कोई बड़ा बलवान् तथा परमपराक्रमी अजगर हाथीको निगल जाय। इस तरह इन्द्रको वृत्रासुरके मुखमें पड़ा देखकर प्रजापति एवं महर्षियों सहित सब देवता अति दुःखित होकर 'हा कष्ट! हा कष्ट!!' कहकर करुणा भरे स्वरमें चिल्लाने लगे॥ २७—३०॥ किन्तु विष्णुभगवान्के योग तथा मायाके प्रभावसे सुरक्षित रहनेके कारण इन्द्र दैत्यराज वृत्रासुरके निगलनेपर उसके पेटमें पहुँचकर भी मरे नहीं ॥ ३१ ॥ तब सामर्थ्यवान् इन्द्र अपने वज्रसे उसका पेट फाड़कर बाहर निकल आये और उन्होंने बड़े वेगसे अपने शत्रुका पर्वतशिखरके समान ऊँचा सिर काट डाला ॥ ३२ ॥ सूर्य आदि ग्रहोंकी उत्तरायण-दक्षिणायनरूपिणी गतिमें जितना समय लगता है, उतने दिनों अर्थात् छः मासमें वृत्रवधका योग उपस्थित होनेके बाद उस तीव्र वेगवान् वज्रने उसके मस्तकको सब ओर घूमकर काटते हुए भूमिपर फेंक दिया ॥ ३३ ॥ तब आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं और महर्षिगण सहित सिद्ध तथा सब गन्धर्व वृत्रहन्ता इन्द्रके पराक्रमसूचक मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करके सानन्द उनपर फूल बरसाने लगे ॥ ३४ ॥ हे शत्रुदमन राजन्! वृत्रासुरके शरीरसे निकली आत्मज्योति सब लोगोंके समक्ष सर्वलोकातीत भगवानके स्वरूपमें जाकर समा गयी ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः॥ १२ ॥

(देवराज इन्द्रपर ब्रह्महत्याका आक्रमण) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे महादानी राजा परीक्षित्! वृत्रासुरके मारे जानेसे इन्द्रके सिवाय लोकपालों समेत तीनों लोक सन्तापशून्य होते हुए आनन्दविभोर हो गये ॥ १ ॥ वह युद्ध समाप्त हो जानेके बाद देवता, ऋषि, पितृगण, दैत्य तथा देवताओंके सब अनुचर एवं ब्रह्मा, महादेव तथा इन्द्रादि लोकपाल स्वयं अपने-अपने लोकोंको प्रस्थान किये ॥ २ ॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे महामुने! इन्द्रके असन्तोषका कारण

श्रीशुक उवाच

वृत्रविक्रमसंविग्नाः सर्वे देवाः सहर्षिभिः । तद्वधायार्थयन्निन्द्रं नैच्छद् भीतो बृहद्वधात् ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

स्त्रीभूजलद्रुमैरेनो विश्वरूपवधोद्भवम् । विभक्तमनुगृह्णद्भिर्वृत्रहत्यां क्व माज्‍र्म्यहम् ॥ ५ ॥

श्रीशुक उवाच

ऋषयस्तदुपाकर्ण्य महेन्द्रमिदमब्रुवन् । याजयिष्याम भद्रं ते हयमेधेन मा स्म भैः ॥ ६ ॥
हयमेधेन पुरुषं परमात्मानमीश्वरम् । इष्ट्वा नारायणं देवं मोक्ष्यसेऽपि जगद्वधात् ॥ ७ ॥
ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाऽऽचार्यहाघवान् । श्वादः पुल्कसको वापि शुद्ध्येरन् यस्य कीर्तनात् ॥८
तमश्वमेधेन महामखेन श्रद्धान्वितोऽस्माभिरनुष्ठितेन ।
हत्वापि सब्रह्म चराचरं त्वं न लिप्यसे किं खलनिग्रहेण ॥ ९ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं सञ्चोदितो विप्रैर्मरुत्वानहनद् रिपुम् । ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम् ॥१०॥
तयेन्द्रः स्मासहत्तापं निर्वृतिर्नामुमाविशत् । ह्रीमन्तं वाच्यतां प्राप्तं सुखयन्त्यपि नो गुणाः ॥११॥
तां ददर्शानुधावन्तीं चाण्डालीमिव रूपिणीम् । जरया वेपमानाङ्गीं यक्ष्मग्रस्तामसृक्पटाम् ॥१२॥
विकीर्य पलितान् केशांस्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणीम् । मीनगन्धासुगन्धेन कुर्वतीं मार्गदूषणम् ॥१३॥
नभोगतो दिशः सर्वाः सहस्राक्षो विशाम्पते । प्रागुदीचीं दिशं तूर्णं प्रविष्टो नृप मानसम् ॥१४॥

जाननेकी मेरी बड़ी प्रबल इच्छा है । जिस वृत्रासुरके वधसे सब देवताओंको आनन्द हुआ, उससे इन्द्र दुःखी क्यों हुए ? ॥ ३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! जब वृत्रासुरके पराक्रमसे व्यथाको प्राप्त देवताओं तथा महर्षियोंने उसका वध करनेके लिये प्रार्थना की तो ब्रह्महत्याके भयसे इन्द्रको उसे मारनेकी इच्छा नहीं हुई ॥ ४ ॥ इन्द्रने कहा—हे देवताओं ! उस समय विश्वरूपका वध करनेके कारण मुझे जो ब्रह्महत्या लगी थी उसको तो स्त्री, पृथिवी, जल तथा वृक्षोंने कृपा करके ले लिया था । अब वृत्रासुरके वधकी हत्यासे मैं कैसे छुटकारा पाऊँगा ? ॥ ५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—यह बात सुनकर महर्षियोंने इन्द्रसे कहा—"हे देवराज ! तुम इससे न डरो । तुम्हारा सब तरहसे कल्याण होगा । हम तुम्हारे द्वारा अश्वमेध यज्ञसे भगवान्‌का यजन करायेंगे ॥ ६ ॥ उस अश्वमेध यज्ञके द्वारा परमात्मा नारायणदेवकी आराधना करनेसे तुम सारे विश्वकी भी हत्याके पापसे छुटकारा पा जाओगे ॥ ७ ॥ उन भगवानका नाम-कीर्तन करनेसे ब्राह्मण, पिता, गौ, माता तथा आचार्यकी हत्या करनेवाले बड़े-बड़े पापी और कुत्तोंका मांस खानेवाले चाण्डाल अथवा पुल्कस आदि नीच भी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं ॥ ८ ॥ हमारे द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध महायज्ञसे श्रद्धापूर्वक भगवानका यजन करके तुम ब्रह्मा समेत सारे चराचर जगत्‌को मारकर भी पापसे लिप्त नहीं हो सकते, तब इस दुष्टका वध करनेसे क्यों पापलिप्त होओगे ? श्रीशुकदेवजी बोले—ब्राह्मणोंके इस तरह उत्साहित करनेपर इन्द्रने देवताओंके शत्रु वृत्रासुरका वध किया । उसके मारे जानेके बाद ब्रह्महत्याने इन्द्रपर आक्रमण किया ॥ १० ॥ उसके कारण इन्द्रको बहुत दुःखी होना पड़ा, तबसे उन्हें तनिक भी चैन नहीं मिली । क्योंकि यदि किसी लज्जावान् पुरुष-की अपकीर्ति हो जाय तो धैर्यादि गुण भी उसे प्रसन्न नहीं कर पाते ॥ ११ ॥ इन्द्रने देखा कि ब्रह्महत्या साक्षात् चाण्डालिनीके सदृश उनके पीछे-पीछे दौड़ी चली आ रही है । उसका क्षयग्रस्त शरीर बुढ़ापेके कारण काँप रहा है और उसके वस्त्र रुधिरसे सराबोर हो रहे हैं ॥ १२ ॥ वह अपने सिरके पके बाल बखेरे 'ठहर-ठहर' कहती हुई चिल्ला रही है, उसके श्वाससे सड़ी मछली जैसी दुर्गन्ध आती है, जिससे वह उस मार्गको दूषित किये दे रही है ॥ १३ ॥ हे राजन् ! इन्द्र उसके भयसे आकाश तथा

स आवसत् पुष्करनालतन्तूनलब्धभोगो यदिहाग्निदूतः ।
वर्षाणि साहस्रमलक्षितोऽन्तः स चिन्तयन् ब्रह्मवधाद्विमोक्षम् ॥ १५॥

तावत् त्रिणाकं नहुषः शशास विद्यातपोयोगबलानुभावः ।
स सम्पदैश्वर्यमदान्धबुद्धिर्नीतस्तिरश्चां गतिमिन्द्रपत्न्या ॥ १६ ॥

ततो गतो ब्रह्मगिरोपहूत ऋतम्भरध्याननिवारिताघः ।
पापस्तु दिग्देवतया हतौजास्तं नाभ्यभूदवितं विष्णुपत्न्या ॥१७॥

तं च ब्रह्मर्षयोऽभ्येत्य हयमेधेन भारत । यथावद् दीक्षयाञ्चक्रुः पुरुषाराधनेन ह ॥१८॥
अथेज्यमाने पुरुषे सर्वदेवमयात्मनि । अश्वमेधे महेन्द्रेण वितते ब्रह्मवादिभिः ॥१९॥
स वै त्वाष्ट्रवधो भूयानपि पापचयो नृप । नीतस्तेनैव शून्याय नीहार इव भानुना ॥२०॥

स वाजिमेधेन यथोदितेन वितायमानेन मरीचिमिश्रैः ।
इष्ट्वाधियज्ञं पुरुषं पुराणमिन्द्रो महानास विधूतपापः ॥२१॥

इदं महाख्यानमशेषपाप्मनां प्रक्षालनं तीर्थपदानुकीर्तनम् ।
भक्त्युच्छ्रयं भक्तजनानुवर्णनं महेन्द्रमोक्षं विजयं मरुत्वतः ॥२२॥

दसों दिशाओंमें भागते-भागते थककर पूर्व और उत्तरके कोनेमें विराजमान मानसरोवरमें कूद पड़े ॥ १४ ॥ वहाँपर उस भयावनी ब्रह्महत्यासे छूटनेका उपाय सोचते-सोचते वे पूरे एक हजार वर्ष तक कमलनालके तन्तुओंमें छिपे रहे। इतने दिनों उन्हें कुछ भी सुख नहीं मिला । क्योंकि उन्हें सुख-साधन पहुँचानेवाला दूत अग्नि-जलमें जा ही नहीं सकता था ॥ १५ ॥ इन्द्र जबतक उस मान-सरोवरमें छिपे रहे तबतक विद्या, तप, योग तथा बलके प्रभावसे युक्त राजा नहुषने स्वर्गका शासन-कार्य किया । किन्तु धन तथा ऐश्वर्यके मदसे बुद्धि मारी जानेके कारण वह इन्द्राणीके द्वारा तिर्यक् योनिमें जा पहुँचा । ❀कथान्तर❀—जब राजा नहुष धन तथा प्रभुताके मदसे उन्मत्त हो उठा, तब एक दिन उसने इन्द्राणीसे जाकर कहा—'अब मैं इन्द्र हूँ, सो तुम मुझे पतिरूपसे स्वीकार करो ।' इसपर इन्द्राणीने देवगुरु बृहस्पतिजीकी सम्मतिसे कहला भेजा कि 'यदि तुम ब्राह्मणोंकी पालकीपर चढ़कर आओ तो मैं स्वीकार कर सकती हूँ ।' उस दुर्मदने ऐसा ही किया और मार्गमें शीघ्र चलनेको कहते हुए पालकीमें जुते अगस्त्य ऋषिको पैरसे छूकर 'शीघ्रं सर्प-सर्प' ऐसी आज्ञा दी । इसपर ऋषिने कुपित हो-कर शाप दे दिया कि 'तू सर्प हो जा।' इससे वह उसी समय सर्प होकर स्वर्गसे पृथ्वीपर आ गिरा ॥१६॥ जब सत्यपालक श्रीहरिका ध्यान करनेसे इन्द्रका सब पाप नष्ट हो गया तो ब्राह्मणोंके वैदिक मंत्रसे बुलाये जानेपर फिर स्वर्गलोकको चले गये। मानसनिवासिनी श्रीलक्ष्मीजी इन्द्रकी रक्षा करती थीं । अतएव पहले ही उस दिशाके देवता रुद्रकी दृष्टिसे तेजोहीन हो गये थे, जिससे वह पाप उनका तिरस्कार नहीं कर सका ॥ १७ ॥ हे भारत ! तदनन्तर उन ब्रह्मर्षियोंने इन्द्रको भगवान पुरुषो-त्तमकी आराधनास्वरूप अश्वमेधयज्ञकी विधिवत् दीक्षा दी ॥ १८ ॥ हे राजन् ! उन वेदवादी मुनिजनोंके द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध-यज्ञसे जब इन्द्रने सर्वदेवमय परमात्मा पुरुषोत्तमका यजन किया । उसीसे उनका वृत्रवधसे जायमान पापपुञ्ज इस प्रकार विलीन हो गया, जैसे सूर्योदय होते ही कुहिरा नष्ट हो जाया करता है ॥ १९ ॥ २० ॥ इस तरह मरीचि आदि मुनीश्वरोंसे विधिवत् कराये गये अश्वमेध-यज्ञ द्वारा पुराणपुरुष श्रीयज्ञभगवानके यजनसे निष्पाप होकर इन्द्र पहलेहीके सदृश पूजनीय हो गये ॥ २१ ॥ हे राजन् ! यह महा आख्यान सब पापोंको नष्ट करता है । इसमें तीर्थपाद श्रीहरिके कीर्तन और भक्तजनोंके भक्तिवर्द्धक चरित्रका वर्णन किया गया है और इन्द्रकी

पठेयुराख्यानमिदं सदा बुधाः शृण्वन्त्यथो पर्वणीन्द्रियम् ।
धन्यं यशस्यं निखिलाघमोचनं रिपुञ्जयं स्वस्त्ययनं तथाऽऽयुषम् ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे इन्द्रविजयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

परीक्षिदुवाच

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः । नारायणे भगवति कथमासीद् दृढा मतिः ॥१॥
देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीणां चामलात्मनाम् । भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते ॥ २ ॥
रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः । तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ॥ ३ ॥
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम । मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥ ४ ॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः । सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥५॥
वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः । इत्थं दृढमतिः कृष्ण आसीत् सङ्ग्राम उल्बणे ॥६॥
अत्र नः संशयो भूयाञ्छ्रोतुं कौतूहलं प्रभो । यः पौरुषेण समरे सहस्राक्षमतोषयत् ॥ ७ ॥

सूत उवाच

परीक्षितोऽथ सम्प्रश्नं भगवान् बादरायणिः । निशम्य श्रद्दधानस्य प्रतिनन्द्य वचोऽब्रवीत् ॥८॥

श्रीशुक उवाच

शृणुष्वावहितो राजन्नितिहासमिमं यथा । श्रुतं द्वैपायनमुखान्नारदाद् देवलादपि ॥ ९ ॥

विजय तथा ब्रह्महत्यासे छूटनेकी गाथा गायी गयी है ॥ २२ ॥ बुद्धिमान लोगोंको चाहिये कि यह इन्द्रसम्बन्धी आख्यान सदा पढ़ें । विशेष करके पर्व-पर्वके समय तो इसे अवश्य ही सुनें । क्योंकि यह धन तथा यशकी वृद्धि करता, सब पापोंको नष्ट कर देता, शत्रुओंपर विजय प्राप्त कराता, परम मङ्गल प्रदान करता और आयुको बढ़ाता है ॥ २३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

(वृत्रासुरके पूर्वजन्मका चरित्र) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने शुकदेवजीसे पूछा— हे ब्रह्मन् ! उस रजोगुणी तथा तमोगुणी स्वभावके महापापी वृत्रासुरकी नारायणमें ऐसी दृढ़ बुद्धि क्योंकर हुई ? ॥ १ ॥ उन भगवान मुकुन्दके चरणोंमें तो प्रायः शुद्ध सतोगुणी देवता तथा पवित्र-चित्तवाले मुनिजनोंकी भी प्रीति जल्दी नहीं होने आती ॥ २ ॥ इस संसारमें जितने पृथिवीके रजःकण हैं, उतनी ही जीवोंकी संख्या है । उनमेंसे भी मनुष्य आदि कुछ जीव ही अपने कल्याणका उद्योग करते हैं ॥ ३ ॥ उन मनुष्योंमें भी हे द्विजश्रेष्ठ ! संसारसे मुक्त होनेके इच्छुक तो कोई-कोई लोग ही होते हैं और उन हजारों मुमुक्षुओंमें भी बिरले ही मनुष्य मोक्ष या सिद्धिका लाभ करते हैं ॥ ४ ॥ हे महामुने ! उन करोड़ों सिद्ध तथा मुक्त पुरुषोंमें भी भगवत्परायण एवं शान्तचित्त महापुरुषका मिलना तो बहुत कठिन बात है ॥ ५ ॥ तब सब लोकोंको सन्तप्त करनेवाले महापापी वृत्रासुरकी ऐसे घोर संग्रामके अवसरपर भगवान् कृष्णमें इस प्रकारकी बुद्धि कैसे हुई ? ॥ ६ ॥ हे प्रभो ! इस विषयमें हमें तो बड़ा सन्देह होता है और आपके मुखकमलसे उस वीरका वृत्तान्त सुननेको बड़ा कौतूहल है, जिसने कि अपने पुरुषार्थसे संग्रामभूमिमें खड़े देवराज इन्द्रको भी प्रसन्न कर दिया था ॥ ७ ॥ सूतजी शौनकादिसे बोले—हे मुने ! उन श्रद्धालु राजा परीक्षितका यह उत्तम प्रश्न सुनकर भगवान शुकदेवजीने उनका अभिनन्दन करते हुए कहा ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! द्वैपायन, देवर्षि नारद तथा देवलके मुखसे सुना हुआ इस विषयका यह इतिहास आप सावधान

आसीद् राजा सार्वभौमः शूरसेनेषु वै नृप । चित्रकेतुरिति ख्यातो यस्यासीत् कामधुङ् मही॥१०॥
तस्य भार्यासहस्राणां सहस्राणि दशाभवन् । सान्तानिकश्चापि नृपो न लेभे तासु सन्ततिम्॥११॥
रूपौदार्यवयोजन्मविद्यैश्वर्यश्रियादिभिः । सम्पन्नस्य गुणैः सर्वैश्चिन्ता वन्ध्यापतेरभूत्॥१२॥
न तस्य सम्पदः सर्वा महिष्यो वामलोचनाः । सार्वभौमस्य भूश्चेयमभवन् प्रीतिहेतवः ॥१३॥
तस्यैकदा तु भवनमङ्गिरा भगवानृषिः । लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद् यदृच्छया ॥१४॥
तं पूजयित्वा विधिवत् प्रत्युत्थानार्हणादिभिः । कृतातिथ्यमुपासीदत् सुखासीनं समाहितः॥१५॥
महर्षिस्तमुपासीनं प्रश्रयावनतं क्षितौ । प्रतिपूज्य महाराज समाभाष्येदमब्रवीत् ॥१६॥

अङ्गिरा उवाच

अपि तेऽनामयं स्वस्ति प्रकृतीनां तथाऽऽत्मनः । यथा प्रकृतिभिर्गुप्तः पुमान् राजापि सप्तभिः ॥१७॥
आत्मानं प्रकृतिष्वद्धा निधाय श्रेय आप्नुयात् । राज्ञा तथा प्रकृतयो नरदेवाहिताधयः ॥१८॥
अपि दाराःप्रजामात्याभृत्याः श्रेण्योऽथ मन्त्रिणः । पौरा जानपदा भूपा आत्मजा वशवर्तिनः ॥१९॥
यस्यात्मानुवशश्चेत् स्यात् सर्वे तद्वशगा इमे । लोकाः सपाला यच्छन्ति सर्वे बलिमतन्द्रिताः॥२०॥
आत्मनः प्रीयते नात्मा परतः स्वत एव वा । लक्षयेऽलब्धकामं त्वां चिन्तया शबलं मुखम् ॥२१॥
एवं विकल्पितो राजन् विदुषा मुनिनापि सः । प्रश्रयावनतोऽभ्याह प्रजाकामस्ततो मुनिम् ॥२२॥

होकर सुन लें। इससे आपकी सब शङ्काओंका समाधान हो जायगा ॥ ९ ॥ हे राजन् ! शूरसेन देशमें एक सार्वभौम राजा रहते थे, जिनका नाम था चित्रकेतु। उनके राज्यमें पृथ्वी सब लोगोंकी सब कामनायें पूर्ण करती थी ॥ १० ॥ उनके पूरे एक करोड़ रानियाँ थीं और वे सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ थे, फिर भी उनसे उनके कोई सन्तान नहीं हो रही थी ॥ ११ ॥ अतएव रूप, उदारता, आयु, कुलीनता, विद्या, ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति आदि सब गुणोंसे युक्त होनेपर भी वन्ध्या स्त्रियोंके पति होनेके नाते उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ॥ १२ ॥ इसी कारण सब सम्पत्ति, सुनयनी स्त्रियाँ तथा समस्त पृथिवीमण्डलका राज्य भी उन सार्वभौम सम्राट् चित्रकेतुको सुखी नहीं कर सका ॥ १३ ॥ एक दिन की बात है—अङ्गिरा ऋषि सब लोकोंमें विचरते हुए स्वेच्छासे उनके यहाँ पहुँच गये ॥ १४ ॥ राजा चित्रकेतुने प्रत्युत्थान तथा अर्घ्यादि देकर उनका विधिवत् पूजन किया। आतिथ्यसत्कार हो चुकनेके बाद जब वे सुखसे आसनपर बैठे, तब महाराज चित्रकेतु भी शान्तभावसे उनके समीप जा बैठे ॥ १५ ॥ हे नरपते ! इस प्रकार अपने अतिशय समीप विनयपूर्वक पृथिवीपर विराजमान राजा चित्रकेतुका सम्भाषणादि द्वारा सत्कार करके महामुनि अङ्गिराने कहा॥१६॥ मुनि बोले—हे राजन् ! जैसे जीव महत्तत्त्व आदि सात प्रकृतिरूपी आवरणोंसे घिरा रहता है वैसे ही राजा भी स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड तथा मित्ररूपी प्रकृतियोंसे सर्वदा घिरा रहता है। सो तुम अपनी प्रकृतियोंके सहित सकुशल तो हो ? ॥ १७ ॥ हे नरदेव ! जैसे राजा अपनी उपर्युक्त प्रकृतियोंके अनुकूल रहनेपर ही राज्यसुख भोग पाता है, वैसे ही प्रकृतियाँ भी अपना सारा दायित्व राजापर छोड़कर सुख तथा समृद्धिका लाभ करती हैं ॥ १८ ॥ हे राजन् ! तुम्हारी रानियाँ, प्रजा, अमात्य (मुसाहब), सेवक, व्यापारी लोग, मन्त्रिगण, पुरवासी, देशवासी सामन्तगण तथा पुत्र, तुम्हारे अधीन रहते हैं न ? ॥ १९ ॥ वैसे तो जिसका मन अपने वशमें होता है, उसके वशीभूत सब लोग हो जाते हैं। यही नहीं, लोकपालों समेत सब लोक बड़ी सावधानताके साथ उसे बलि अर्पण करते हैं ॥ २० ॥ लेकिन हे महाराज ! न जाने क्यों, तुम मुझे स्वयं प्रसन्न नहीं दीखते। तुम्हारा मुख चिन्ताके कारण जैसे विचित्र तरहका हो गया है। इससे ज्ञात होता है कि तुम्हारी कोई कामना अधूरी रह गई है ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उन मुनिके इस तरह पूछनेपर अपनी चिन्ताका कारण जानते हुए भी पुत्रके लिए इच्छुक राजा चित्रकेतुने उनसे विनयावनत भावसे

चित्रकेतुरुवाच

भगवन् किं न विदितं तपोज्ञानसमाधिभिः । योगिनां ध्वस्तपापानां बहिरन्तः शरीरिषु ॥२३॥
तथापि पृच्छतो ब्रूयां ब्रह्मन्नात्मनि चिन्तितम् । भवतो विदुषश्चापि चोदितस्त्वदनुज्ञया ॥२४॥
लोकपालैरपि प्रार्थ्याः साम्राज्यैश्वर्यसम्पदः । न नन्दयन्त्यप्रजं मां क्षुत्तृट्काममिवापरे ॥२५॥
ततः पाहि महाभाग पूर्वैः सह गतं तमः । यथा तरेम दुस्तारं प्रजया तद्विधेहि नः ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्थितः स भगवान् कृपालुर्ब्रह्मणः सुतः । श्रपयित्वा चरुं त्वाष्ट्रं त्वष्टारमयजद्विभुः ॥२७॥
ज्येष्ठा श्रेष्ठा च या राज्ञो महिषीणां च भारत । नाम्ना कृतद्युतिस्तस्यै यज्ञोच्छिष्टमदाद् द्विजः॥२८॥
अथाह नृपतिं राजन् भवितैकस्तवात्मजः । हर्षशोकप्रदस्तुभ्यमिति ब्रह्मसुतो ययौ ॥२९॥
सापि तत्प्राशनादेव चित्रकेतोरधारयत् । गर्भं कृतद्युतिर्देवी कृत्तिकाग्नेरिवात्मजम् ॥३०॥
तस्या अनुदिनं गर्भः शुक्लपक्ष इवोडुपः । ववृधे शूरसेनेशतेजसा शनकैर्नृप ॥३१॥
अथ काल उपावृत्ते कुमारः समजायत । जनयञ्छूरसेनानां शृण्वतां परमां मुदम् ॥३२॥
हृष्टो राजा कुमारस्य स्नातः शुचिरलंकृतः । वाचयित्वाऽऽशिषो विप्रैः कारयामास जातकम्॥३३
तेभ्यो हिरण्यं रजतं वासांस्याभरणानि च । ग्रामान् हयान् गजान् प्रादाद् धेनूनामर्बुदानि षट् ॥
ववर्ष काममन्येषां पर्जन्य इव देहिनाम् । धन्यं यशस्यमायुष्यं कुमारस्य महामनाः ॥३५॥

कहा ॥ २२ ॥ राजा चित्रकेतु कहने लगे—हे भगवन् ! जिन योगियोंकी सब पापमयी वासनायें नष्ट हो गयी रहती हैं, उनको किसी भी देहधारी मनुष्योंके बाहर या भीतरकी ऐसी कौन वस्तु शेष रह जाती है कि जो तप, ज्ञान तथा समाधिके द्वारा ज्ञात न हो सके ॥ २३ ॥ क्योंकि सब कुछ जानकर भी आप मुझसे पूछते हैं, इस लिये आपके द्वारा प्रेरित होकर आप ही की आज्ञासे मैं अपने चित्तकी चिन्ता आपके समक्ष कहता हूँ ॥ २४ ॥ हे नाथ ! जैसे किसी भूखे-प्यासे अतएव व्याकुल पुरुषको अन्न-जलके अतिरिक्त अन्य भोग आनन्दित नहीं कर पाते, वैसे ही मुझ निःसन्तानको ये साम्राज्य, ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति, जिन्हें सब लोकपाल भी चाहते हैं, कुछ सुख नहीं देते ॥ २५ ॥ अतएव हे महाभाग ! अपने पूर्वज पुरुषों समेत अति घोर दुःखमें पड़े मुझ दासकी रक्षा करते हुए आप कोई ऐसा उपाय करिये कि जिससे मैं भविष्यमें मिलनेवाले दुस्तर नरकको सन्तानके द्वारा पार कर सकूँ । श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! चित्रकेतुके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजीके पुत्र तथा दयालु भगवान् अङ्गिराने त्वाष्ट्र चरु तैयार करके उससे त्वष्टा देवताका यजन किया ॥ २६ ॥ २७ ॥ हे भारत ! ऐसा करके उन द्विजराजने राजाकी रानियोंमें जो सबसे बड़ी और गुणोंमें भी सर्वश्रेष्ठ कृतद्युति नामकी राजमहिषी थी, उसे यज्ञचरु खिला दिया ॥ २८ ॥ तदनन्तर राजा चित्रकेतुसे उन्होंने कहा—"हे राजन् ! इससे तुम्हारे एक पुत्र होगा, जिसके द्वारा तुम्हें हर्ष तथा शोक दोनों ही मिलेंगे ।" ऐसा कहकर ब्रह्मपुत्र अंगिराजी वहाँसे चल पड़े ॥ २९ ॥ रानी कृतद्युतिने भी वह चरु खाते ही चित्रकेतुके सहवाससे इस तरह गर्भ धारण किया, जैसे कृत्तिकाने शिवपुत्रको गर्भमें धारण किया था ॥ ३० ॥ हे राजन् ! शूरसेन देशके स्वामी राजा चित्रकेतुके तेजसे स्थित कृतद्युतिका गर्भ दिन-दिन धीरे-धीरे शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ने लगा ॥ ३१ ॥ इसके बाद जब समय आया तो एक बालक उत्पन्न हुआ, जिसके जन्मकी खबर पाकर समस्त शूरसेनदेशवासियोंको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ ॥ ३२ ॥ महाराज चित्रकेतु भी पुत्र होनेका समाचार पाकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने स्नानादिसे पवित्र होकर सुन्दर वस्त्राभूषण पहने और ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद ले तथा स्वस्तिवाचन करके बालकका जातकर्म-संस्कार सम्पन्न कराया ॥ ३३ ॥ तदनन्तर उन ब्राह्मणोंको सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, ग्राम, अश्व, गज तथा साठ करोड़ गौयें दान करके दीं ॥ ३४ ॥ महामना राजा चित्रकेतुने

कृच्छ्रलब्धेऽथ राजर्षेस्तनयेऽनुदिनं पितुः । यथा निःस्वस्य कृच्छ्राप्ते धने स्नेहोऽन्ववर्धत ॥३६॥
मातुस्त्वतितरां पुत्रे स्नेहो मोहसमुद्भवः । कृतद्युतेः सपत्नीनां प्रजाकामज्वरोऽभवत् ॥३७॥
चित्रकेतोरतिप्रीतिर्यथा दारे प्रजावति । न तथान्येषु सञ्जज्ञे बालं लालयतोऽन्वहम् ॥३८॥
ताः पर्यतप्यन्नात्मानं गर्हयन्त्योऽभ्यसूयया । आनपत्येन दुःखेन राज्ञोऽनादरणेन च ॥३९॥
धिगप्रजां स्त्रियं पापां पत्युश्चागृहसम्मताम् । सुप्रजाभिः सपत्नीभिर्दासीमिव तिरस्कृताम् ॥४०॥
दासीनां को नु सन्तापः स्वामिनः परिचर्यया । अभीक्ष्णं लब्धमानानां दास्या दासीव दुर्भगाः ॥४१
एवं सन्दह्यमानानां सपत्न्याः पुत्रसम्पदा । राज्ञोऽसम्मतवृत्तीनां विद्वेषो बलवानभूत् ॥४२॥
विद्वेषनष्टमतयः स्त्रियो दारुणचेतसः । गरं ददुः कुमाराय दुर्मर्षा नृपतिं प्रति ॥४३॥
कृतद्युतिरजानन्ती सपत्नीनामघं महत् । सुप्त एवेति सञ्चिन्त्य निरीक्ष्य व्यचरद् गृहे ॥४४॥
शयानं सुचिरं बालमुपधार्य मनीषिणी । पुत्रमानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत् ॥४५॥
सा शयानमुपव्रज्य दृष्ट्वा चोत्तारलोचनम् । प्राणेन्द्रियात्मभिस्त्यक्तं हतास्मीत्यपतद् भुवि ४६

तस्यास्तदाऽऽकर्ण्य भृशातुरं स्वरं घ्नन्त्याः कराभ्यामुर उच्चकैरपि ।
प्रविश्य राज्ञी त्वरयाऽऽत्मजान्तिकं ददर्श बालं सहसा मृतं सुतम् ॥४७॥
पपात भूमौ परिवृद्धया शुचा मुमोह विभ्रष्टशिरोरुहाम्बरा ॥४८॥

उस पुत्रके धन तथा आयुकी वृद्धिके निमित्त सब प्राणियोंकी इच्छाओंकी इस तरह पूर्ण किया, जैसे मेघ जल बरसाकर सब लोगोंकी इच्छा पूर्ण करते हैं ॥ ३५ ॥ हे राजन्! जैसे किसी कंगालको बड़ी कठिनाईसे धन मिले और वह उसमें आसक्त हो जाय, वैसे ही बड़े क्लेशसे प्राप्त उस बालकमें राजर्षि चित्रकेतुका प्रेम बढ़ने लगा ॥ ३६ ॥ बालककी माता कृतद्युतिका भी अपने पुत्रपर अतिशय स्नेह था और उसकी अन्य सौतोंके मनमें पत्रप्राप्तिकी कामनाका सन्ताप दिन-दिन बढ़ने लगा ॥ ३७ ॥ नित्यप्रति उस बालकका लालन-पालन करते रहनेसे राजा चित्रकेतुका भी प्रेम जितना कि उस पुत्रवती भार्यापर था वैसा अन्य रानियोंपर नहीं रह गया ॥ ३८ ॥ इस तरह निःसन्तान होनेके क्लेश तथा राजाके तिरस्कारसे अत्यन्त सन्तप्त होकर वे रानियें डाहवश स्वयं अपनी निन्दा करती हुई मनही मन बहुत जलने लग गयीं ॥ ३९ ॥ वे परस्पर कहने लगीं—"हाय! पुत्रवती सौत दासीकी तरह जिनका तिरस्कार करती हो और पति भी जिनको अपनी भार्या न मानता हो, उन पापिनी तथा निःसन्तान स्त्रियोंको धिक्कार है ॥ ४० ॥ दासियोंको भला क्या दुःख होगा ? वे तो अपने स्वामीकी सेवा करके सदा सम्मान पाती हैं। लेकिन हम अभागिनियें तो इस समय दासियोंकी भी दासियें हो रही हैं ॥ ४१ ॥ इस तरह अपनी सौतकी पुत्रसम्पत्तिसे सन्तप्त एवं जो राजाको भी प्रिय नहीं रह गयी थीं, उन रानियोंको रानी कृतद्युतिके प्रति बड़ा डाह हो गया ॥ ४२ ॥ विद्वेषसे उन क्रूरचित्तवाली स्त्रियोंकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी, उनको राजाका पुत्रस्नेह सहन नहीं हो सका और उन्होंने (मौका पाकर) उस बालकको विष दे दिया ॥ ४३ ॥ अपनी सौतोंकी इस पापमयी करतूतका कुछ पता न रहनेके कारण रानी कृतद्युति यह सोचकर कि बालक नींदमें है, उसे दूरहीसे निहार-निहार कर घरमें घूम रही थी ॥ ४४ ॥ ज्यादा देर होनेपर उस बुद्धिमतीने सोचा कि बालकको सोते-सोते बड़ी देर हो गयी। तब उसकी धात्रीसे कहा—'भद्रे! बच्चेको मेरे पास ले आओ' ॥ ४५ ॥ जब धात्रीने सोते बालकके पास जाकर उसके नेत्रोंकी पुतली चढ़ी हुई तथा शरीरको प्राण, इन्द्रिय एवं जीवात्मासे रहित देखा तो वह 'हाय! मैं मर गयी' कहकर पृथिवीपर गिर गयी ॥ ४६ ॥ जब रानी कृतद्युतिने दोनों हाथोंसे जोर-जोरसे छाती पीटकर उस धात्रीका अति आतुर चीत्कारपूर्ण रुदन सुना तो वह शीघ्रतासे पुत्रके पास दौड़ आयी और उसने बालकको मरा हुआ पड़ा देखा ॥ ४७ ॥ यह देखकर वह अतिशय शोकसे

ततो नृपान्तःपुरवर्तिनो जना नराश्च नार्यश्च निशम्य रोदनम् ।
आगत्य तुल्यव्यसनाः सुदुःखितास्ताश्च व्यलीकं रुरुदुः कृतागसः ॥४९॥
श्रुत्वा मृतं पुत्रमलक्षितान्तकं विनष्टदृष्टिः प्रपतन् स्खलन् पथि ।
स्नेहानुबन्धैधितया शुचा भृशं विमूर्च्छितोऽनुप्रकृतिर्द्विजैर्वृतः ॥५०॥
पपात बालस्य स पादमूले मृतस्य विस्रस्तशिरोरुहाम्बरः ।
दीर्घं श्वसन् बाष्पकलोपरोधतो निरुद्धकण्ठो न शशाक भाषितुम् ॥५१॥
पतिं निरीक्ष्योरुशुचार्पितं तदा मृतं च बालं सुतमेकसन्ततिम् ।
जनस्य राज्ञी प्रकृतेश्च हृद्रुजं सती दधाना विललाप चित्रधा ॥५२॥
स्तनद्वयं कुङ्कुमगन्धमण्डितं निषिञ्चती साञ्जनबाष्पबिन्दुभिः ।
विकीर्य केशान् विगलत्स्रजः सुतं शुशोच चित्रं कुररीव सुस्वरम् ॥५३॥
अहो विधातस्त्वमतीव बालिशो यस्त्वात्मसृष्ट्यप्रतिरूपमीहसे ।
परेऽनुजीवत्यपरस्य या मृतिर्विपर्ययश्चेत् त्वमसि ध्रुवः परः ॥५४॥
न हि क्रमश्चेदिह मृत्युजन्मनोः शरीरिणामस्तु तदात्मकर्मभिः ।
यः स्नेहपाशो निजसर्गवृद्धये स्वयं कृतस्ते तमिमं विवृश्चसि ॥५५॥
त्वं तात नार्हसि च मां कृपणामनाथां त्यक्तुं विचक्ष्व पितरं तव शोकतप्तम् ।
अञ्जस्तरेम भवताप्रजदुस्तरं यद् ध्वान्तं न याह्यकरुणेन यमेन दूरम् ॥५६॥

मूर्छित होकर पृथिवीपर लोट गयी और उसके केश तथा सब वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये ॥ ४८ ॥ रानी कृतद्युतिका रोदन सुनकर रनिवासके सब स्त्री-पुरुष दौड़ आये और उसीके समान दुःखित होकर विलाप करने लगे। जिन्होंने यह महान् अपराध किया था, वे रानियाँ भी सब लोगोंकी तरह बनकर झूठमूठ रोने लगीं ॥ ४९ ॥ उधर अकारण पुत्रकी मृत्युका समाचार सुनकर राजा चित्रकेतु भी स्नेहानुबन्धसे बढ़े शोकके कारण बावला होकर अपने अनुगामी मन्त्रियों सहित ब्राह्मणोंसे घिरा हुआ मार्गमें गिरता-पड़ता राजमन्दिरमें आ पहुँचा और मरे बालकके पैरोंके पास जा गिरा। उस समय उसकी आँखोंके समक्ष अँधेरा छा गया था, उसके केश तथा वस्त्र खुल गये थे और दीर्घ निःश्वास तथा अश्रुधाराके आवेगसे गला रुँध जानेके कारण वह कुछ भी नहीं बोल पाया ॥ ५० ॥ ५१ ॥ तदनन्तर अपने पतिको अत्यन्त शोकाकुल तथा पुत्रको मृत देखकर रानी कृतद्युति प्रजा तथा मन्त्रिमण्डलको शोकग्रस्त करती भाँति-भाँतिसे विलाप करती हुई रोने लगी ॥ ५२ ॥ कुंकुम मिले चन्दनसे चर्चित अपने एकमात्र कुचयुगलको कज्जलकी कालिमामिश्रित आँसुओंसे भिगोती तथा जिनमेंसे फूलोंकी माला टूट-टूट कर गिर रही थी, उन बँधे केशोंको छितराती हुई वह अपने बच्चेके लिये कुररीकी नाईं उच्चस्वरसे बिलखने लगी ॥ ५३ ॥ उसने कहा—'अरे विधाता! तू वज्र मूर्ख है, जो अपनी ही रची सृष्टिके प्रतिकूल कार्य करता है। कितने आश्चर्यकी बात है कि बड़े-बूढ़े तो जियें और बच्चे मर जायँ? यदि सचमुच तेरे स्वभावमें ऐसा उलट-फेर है, तो तू सब जीवोंका शत्रु ही है ॥ ५४ ॥ संसारमें यदि प्राणियोंके जीवन-मरणका कोई क्रम ही नहीं है तो वे अपने प्रारब्धके अनुसार होते जाते रहेंगे। अरे निष्ठुर! सृष्टिकी वृद्धिके लिये तूने जो स्नेहपाश बनाया है, उसे तू स्वयं काट रहा है! ॥ ५५ ॥ वह पुत्रकी ओर निहारकर कहने लगी—मेरे लाल! मुझ दीन-हीन अनाथिनीको यहीं छोड़कर तुम्हें जाना उचित नहीं है, तुम तनिक अपने शोकाकुल पिताजीकी ओर तो देखो। निःसन्तान पुरुष जिसको बड़ी कठिनाईसे पार कर पाते हैं, उस घोर नरकको हम तुम्हारे द्वारा आसानीसे पार

उत्तिष्ठ तात त इमे शिशवो वयस्यास्त्वामाह्वयन्ति नृपनन्दन संविहर्तुम् ।
सुप्तश्चिरं ह्यशनया च भवान् परीतो भुङ्क्ष्व स्तनं पिब शुचो हर नः स्वकानाम् ॥५७॥
नाहं तनूज ददृशे हतमङ्गला ते मुग्धस्मितं मुदितवीक्षणमाननाब्जम् ।
किं वा गतोऽस्यपुनरन्वयमन्यलोकं नीतोऽघृणेन न शृणोमि कला गिरस्ते ॥५८॥

श्रीशुक उवाच

विलपन्त्या मृतं पुत्रमिति चित्रविलापनैः । चित्रकेतुर्भृशं तप्तो मुक्तकण्ठो रुरोद ह ॥५९॥
तयोर्विलपतोः सर्वे दम्पत्योस्तदनुव्रताः । रुरुदुः स्म नरा नार्यः सर्वमासीदचेतनम् ॥६०॥
एवं कश्मलमापन्नं नष्टसंज्ञमनायकम् । ज्ञात्वाङ्गिरा नाम मुनिराजगाम सनारदः ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुविलापो नाम चतुर्दशोऽध्यायः १४

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

ऊचतुर्मृतकोपान्ते पतितं मृतकोपमम् । शोकाभिभूतं राजानं बोधयन्तौ सदुक्तिभिः ॥१॥
कोऽयं स्यात्तव राजेन्द्र भवान् यमनुशोचति । त्वं चास्य कतमः सृष्टौ पुरेदानीमतः परम् ॥२॥
यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन बालुकाः । संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥३॥
यथा धानासु वै धाना भवन्ति न भवन्ति च । एवं भूतेषु भूतानि चोदितानीशमायया ॥४॥

कर लेंगे । तुम निठुर यमराजके साथ मेरे सामनेसे मत जाओ ॥ ५६ ॥ ओ मेरे लाल ! उठ बैठ। देख, तेरे साथके सभी बालक तुझको खेलनेके लिये बुला रहे हैं । तू बहुत देरसे पड़ा सो रहा है। अब तो तुझे भूख भी बहुत लगी होगी । उठकर कुछ खा, स्तन पी और हम स्वजनोंका शोक दूर कर ॥ ५७ ॥ ओ बेटा ! आज मुझ मन्दभागिनीको तुम्हारा मुखकमल मधुर मुसकान तथा प्रसन्नता भरी चितवनसे युक्त नहीं दीखता । अब तक मुझे तुम्हारी मधुर तथा तोतली बोली नहीं सुनायी पड़ी। तो क्या तुम सचमुच निष्ठुर यमराजकी प्रेरणासे उस परलोकको चले गये हो, जहाँसे लौटकर फिर कोई नहीं आता ?' ॥ ५८ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! महारानी कृतद्युतिको अपने मृत पुत्रके लिये इस तरह भाँति-भाँतिसे करुण विलाप करती देखकर राजा चित्रकेतु भी अत्यन्त शोकाकुल हो मुक्तकण्ठसे रोदन करने लगा ॥ ५९ ॥ उन राजदम्पतियोंके विलाप करनेपर उनके अनुयायी अन्य नर-नारी भी दुःखित होकर रुदन करने लगे । इस तरह वह सारा नगर शोकसे व्याकुल हो गया ॥६०॥ इस प्रकार राजाको शोकाकुल होकर संज्ञाशून्य देख तथा यह समझकर कि इसे समझानेवाला और कोई नहीं है, वहाँ नारदजीके साथ महर्षि अङ्गिरा आ पहुँचे ॥ ६१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(राजा चित्रकेतुको अङ्गिरा तथा देवर्षि नारदजीका उपदेश) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! वहाँ पहुँचकर उन महर्षियोंने मृत बालकके पास शोकग्रस्त दशामें मृतककी भाँति पड़े हुए राजा चित्रकेतुको सुन्दर उक्तियोंसे समझाते हुए कहा— ॥ १ ॥ हे राजेन्द्र ! जिनके निमित्त तुम इस तरह बिलखते हो यह बालक इस समय, इससे पहले और इसके बाद आगामी जन्मोंमें तुम्हारा कौन था या होगा ? और तुम इसके कौन हो ? ॥२॥ जैसे जलके बहावके वेगसे बालुकाएँ कभी एकत्रित होतीं और कभी अलग हो जाती हैं, वैसे ही जीव कालक्रमसे कभी मिलते और कभी बिछुड़ जाते हैं ॥ ३ ॥ जैसे कुछ बीजोंके द्वारा अन्य बीज उपजते और फिर विलीन हो जाते हैं, उसी तरह भगवानकी मायासे

वयं च त्वं च ये चेमे तुल्यकालाश्चराचराः । जन्ममृत्योर्यथा पश्चात् प्राङ्नैवमधुनापि भोः ॥५॥
भूतैर्भूतानि भूतेशः सृजत्यवति हन्त्यजः । आत्मसृष्टैरस्वतन्त्रैरनपेक्षोऽपि बालवत् ॥ ६ ॥
देहेन देहिनो राजन् देहाद्देहोऽभिजायते । बीजादेव यथा बीजं देह्यर्थ इव शाश्वतः ॥ ७ ॥
देहदेहिविभागोऽयमविवेककृतः पुरा । जातिव्यक्तिविभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः॥८

श्रीशुक उवाच

एवमाश्वासितो राजा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः । प्रमृज्य पाणिना वक्त्रमाधिम्लानमभाषत ॥ ९ ॥

राजोवाच

कौ युवां ज्ञानसम्पन्नौ महिष्ठौ च महीयसाम् । अवधूतेन वेषेण गूढाविह समागतौ ॥१०॥
चरन्ति ह्यवनौ कामं ब्राह्मणा भगवत्प्रियाः । मादृशां ग्राम्यबुद्धीनां बोधायोन्मत्तलिङ्गिनः॥११॥
कुमारो नारद ऋभुरङ्गिरा देवलोऽसितः । अपान्तरतमो व्यासो मार्कण्डेयोऽथ गौतमः ॥१२॥
वसिष्ठो भगवान् रामः कपिलो बादरायणिः । दुर्वासा याज्ञवल्क्यश्च जातूकर्ण्यस्तथाऽऽरुणिः॥१३
रोमशश्च्यवनो दत्त आसुरिः सपतञ्जलिः । ऋषिर्वेदशिरा बोध्यो मुनिः पञ्चशिरास्तथा ॥१४॥
हिरण्यनाभः कौसल्यः श्रुतदेव ऋतध्वजः । एते परे च सिद्धेशाश्चरन्ति ज्ञानहेतवः ॥१५॥
तस्माद् युवां ग्राम्यपशोर्मम मूढधियः प्रभू । अन्धे तमसि मग्नस्य ज्ञानदीप उदीर्यताम् ॥१६॥

अङ्गिरा उवाच

अहं ते पुत्रकामस्य पुत्रदोऽस्म्यङ्गिरा नृप । एष ब्रह्मसुतः साक्षान्नारदो भगवानृषिः ॥१७॥

प्रेरित कुछ प्राणियोंसे अन्य प्राणी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ हे राजन् ! हम, तुम तथा ये जितने चराचर जीव इस समय हैं, वे सब जैसे अपने जन्मसे पूर्व तथा मरणके बाद नहीं रह जाते, वैसे ही वर्तमान कालमें भी नहीं हैं ॥ ५ ॥ कोई इच्छा न होनेपर भी अजन्मा परमेश्वर बालककी भाँति केवल खेलके लिए अपने रचे परतन्त्र जीवोंसे अन्य जीवोंकी उत्पत्ति, पालन तथा संहार करता रहता है ॥ ६ ॥ हे राजन् ! जैसे एक बीजसे दूसरा बीज उपजता है, वैसे ही देही (पिताके देहद्वारा) देही अर्थात् माताके देहसे ही देही अर्थात् पुत्रका शरीर उत्पन्न होता है । उन प्रमाणोंसे देही घटादि कार्योंमें पृथिवी आदिकी भाँति नित्य है ॥ ७ ॥ हे राजन् ! जैसे एक ही वस्तुमें घटत्वादि जाति तथा घट आदिकी व्यक्तिका विभाग केवल कल्पनामात्र है, वैसे ही यह देही तथा देहका विभाग भी अनादि एवं अविद्याकल्पित समझिए ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस तरह ब्राह्मणवाक्योंसे कुछ आश्वासन मिलनेपर राजा चित्रकेतु मानसिक व्यथाके कारण अपने मलिन मुखके आँसूको हाथसे पोंछकर बोले ॥ ९ ॥ राजाने कहा—आप दोनों कौन हैं ? आप तो परम ज्ञानवान् तथा महान् मालूम पड़ते हैं और अपनेको अवधूतवेषसे छिपाकर यहाँ आये हैं ॥ १० ॥ बहुतेरे भगवत्प्रिय ब्राह्मण मुझ-जैसे विषयासक्त बुद्धिके पुरुषोंको उपदेश देनेके लिये उन्मत्तकी भाँति वेष बनाये पृथिवीपर स्वतंत्र रूपसे विचरते हैं ॥ ११ ॥ सनत्कुमार, नारद, ऋभु, अङ्गिरा, देवल, असित और जिनके हृदयका अज्ञान-रूपी अन्धकार नष्ट हो चुका है वे व्यासजी, मार्कण्डेय, गौतम, वशिष्ठ, भगवान परशुराम, कपिल, शुकदेवजी, दुर्वासा, याज्ञवल्क्य, जातूकर्ण्य, आरुणि, रोमश, च्यवन, दत्तात्रेय, आसुरि, पतञ्जलि, ऋषि वेदशिरा, बोध्यमुनि, पञ्चशिरा, हिरण्यनाभ, कोसल्य, श्रुतदेव तथा ऋतध्वज—ये सब तथा और भी बहुतसे ज्ञानदाता सिद्धेश्वर पृथिवीपर घूमते रहते हैं ॥१२-१५॥ अतएव हे प्रभो ! ग्राम्य विषयोंमें फँसे मुझ मूढ़बुद्धि पशुको, जो कि अतिशय घोर अज्ञानान्धकारमें डूबा हुआ है, आप अपना ज्ञान-दीपक दिखाइये ॥१६॥ अङ्गिरा ऋषिने कहा– हे राजन् ! जब तुम पुत्र पानेके लिये आतुर थे, तब जिसने तुम्हें पुत्र प्रदान किया था, मैं वही अंगिरा ऋषि हूँ और ये साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र भगवान नारद ऋषि हैं ॥ १७ ॥

इत्थं त्वां पुत्रशोकेन मग्नं तमसि दुस्तरे। अतदर्हमनुस्मृत्य महापुरुषगोचरम् ॥१८॥
अनुग्रहाय भवतः प्राप्तावावामिह प्रभो। ब्रह्मण्यो भगवद्भक्तो नावसीदितुमर्हति ॥१९॥
तदैव ते परं ज्ञानं ददामि गृहमागतः। ज्ञात्वान्याभिनिवेशं ते पुत्रमेव ददावहम् ॥२०॥
अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते। एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः ॥२१॥
शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः। मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्याः सुहृज्जनाः॥२२
सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः। गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः ॥२३॥
दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः। कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन् ॥२४॥
अयं हि देहिनो देहो द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः। देहिनो विविधक्लेशसन्तापकृदुदाहृतः ॥२५॥
तस्मात् स्वस्थेन मनसा विमृश्य गतिमात्मनः। द्वैते ध्रुवार्थविश्रम्भं त्यजोपशममाविश ॥२६॥

नारद उवाच

एतां मन्त्रोपनिषदं प्रतीच्छ प्रयतो मम। यां धारयन् सप्तरात्राद् द्रष्टा सङ्कर्षणं प्रभुम् ॥२७॥

यत्पादमूलमुपसृत्य नरेन्द्र पूर्वे शर्वादयो भ्रममिमं द्वितयं विसृज्य।
सद्यस्तदीयमतुलानधिकं महित्वं प्रापुर्भवानपि परं नचिरादुपैति ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुसान्त्वनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

हे नृप! तुम पुत्रशोकवश दुस्तर अन्धकारमें डूबे हुए हो। तुम भगवद्भक्त हो। तुम इस शोकके योग्य नहीं हो—यह सोच तुम्हारेपर कृपा करनेके लिये ही हम आये हैं। तुम ब्राह्मणभक्त तथा भगवद्भक्त हो, तुम्हें इस तरह खेद न करना चाहिये ॥ १८ ॥ १९ ॥ हे राजन्! जब मैं पहले आया था, तभी तुम्हें ज्ञानोपदेश करता। किन्तु उस समय तुम्हारे मनमें दूसरी अभिलाषा अर्थात् पुत्रकी कामना देखकर मैंने तुम्हें पुत्र ही दिया ॥ २० ॥ अब तुमने स्वयं पुत्रवानोंके दुःखका अनुभव कर लिया है। स्त्री, धन, विविध प्रकारके ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति, शब्दादि विषय, राज्यवैभव, पृथ्वी, राज्य, सेना, कोश, भृत्य, अमात्य तथा सुहृद्‌जन, ये सभी चञ्चल हैं॥ २१ ॥ २२ ॥ हे शूरसेनदेशके स्वामी! ये सब गन्धर्वनगर, स्वप्न, माया, मनःकल्पित पदार्थोंके सदृश असत्य तथा शोक, मोह, भय एवं दुःखदायक हैं ॥ २३ ॥ ये सब दृश्य पदार्थ मनसे कल्पित अर्थात् मिथ्या हैं। क्योंकि ये वास्तविक स्वरूपके बिना ही भासमान हो रहे हैं। इसीलिये ये एक क्षणमें गायब हो जाते हैं। हे नृपाल! जो लोग कर्मवासना द्वारा प्रेरित होकर विषयोंका चिन्तन करते रहते हैं, उन्हींके मनमें विविध प्रकारके कर्म उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥ जीवात्माका यह देह जो कि पञ्चभूत, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंका समुदाय है, यही उसे विविध क्लेश तथा सन्तापदायक कहा गया है ॥ २५ ॥ सो तुम शान्तचित्तसे आत्मस्वरूपका चिन्तन करके इस द्वैतभ्रममें नित्यत्व बुद्धि त्यागकर शान्ति प्राप्त करो ॥ २६ ॥ श्रीनारदजी कहने लगे—हे राजन्! तुम मन एकाग्र करके मुझसे यह मन्त्रोपनिषद् ग्रहण करो। इसे धारण करके तुम सात रात्रिमें ही संकर्षणभगवानका दर्शन पाजाओगे ॥ २७ ॥ हे नरेन्द्र! जिन भगवान संकर्षणके धरणीतलका सहारा लेकर पूर्वकालमें भगवान शङ्कर भेदभ्रम त्यागकर शीघ्र उनकी अत्यधिक महिमा प्राप्त कर लिये थे। उनके प्रभावसे तुम भी शीघ्र परमपद पा जाओगे ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ देवऋषी राजन् सम्परेतं नृपात्मजम् । दर्शयित्वेति होवाच ज्ञातीनामनुशोचताम् ॥१॥

नारद उवाच

जीवात्मन् पश्य भद्रं ते मातरं पितरं च ते । सुहृदो बान्धवास्तप्ताः शुचा त्वत्कृतया भृशम् ॥२॥
कलेवरं स्वमाविश्य शेषमायुः सुहृद्वृतः । भुङ्क्ष्व भोगान् पितृप्रत्तानधितिष्ठ नृपासनम् ॥३॥

जीव उवाच

कस्मिन् जन्मन्यमी मह्यं पितरो मातरोऽभवन् । कर्मभिर्भ्राम्यमाणस्य देवतिर्यङ्नृयोनिषु ॥ ४ ॥
बन्धुज्ञात्यरिमध्यस्थमित्रोदासीनविद्विषः । सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः ॥ ५ ॥
यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः । पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवो योनिषु कर्तृषु ॥ ६ ॥
नित्यस्यार्थस्य सम्बन्धो ह्यनित्यो दृश्यते नृषु । यावद् यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि ॥७॥
एवं योनिगतो जीवः स नित्यो निरहङ्कृतः । यावद् यत्रोपलभ्येत तावत् स्वत्वं हि तस्य तत् ॥८॥
एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् । आत्ममायागुणैर्विश्वमात्मानं सृजते प्रभुः ॥९॥
न ह्यस्यातिप्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा । एकः सर्वधियां द्रष्टा कर्तॄणां गुणदोषयोः ॥१०॥
नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम् । उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः ॥११॥

श्रीशुक उवाच

इत्युदीर्य गतो जीवो ज्ञातयस्तस्य ते तदा । विस्मिता मुमुचुः शोकं छित्त्वाऽऽत्मस्नेहशृङ्खलाम् १२

(देवर्षि नारदजीके उपदेशसे राजा चित्रकेतुको संकर्षणदेवका दर्शन मिलना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इसके बाद देवर्षि नारदने उस मरे हुए राजकुमारको शोकाकुल स्वजनोंके समक्ष बुलाकर उससे कहा ॥ १ ॥ श्रीनारदजी बोले—हे जीवात्मन्! तुम्हारा मङ्गल हो। इधर देखो, तुम्हारे ये माता, पिता, सुहृद् तथा सभी बन्धु-बान्धव तुम्हारे लिये बड़े शोकाकुल हो रहे हैं ॥ २ ॥ अतएव तुम शीघ्र अपने शरीरमें प्रवेश करके शेष आयुमें अपने इन बन्धुओंके साथ पितृप्रदत्त भोगों और राजसिंहासनको सुशोभित करो ॥ ३ ॥ जीवने कहा—मैं अपने कर्मवश देव, मनुष्य तथा तिर्यगादि अनेक योनियोंमें घूमता रहा। उनमेंसे किस जन्ममें ये मेरे माता-पिता हुए? ॥ ४ ॥ जीवके विभिन्न जन्मोंमें क्रमशः सभी सबके परस्पर बन्धु, ज्ञाति, शत्रु, मध्यस्थ, मित्र, उदासीन और द्वेषी होते रहते हैं ॥ ५ ॥ जैसे सुवर्ण आदि क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ व्यवहारशील मनुष्योंमें जिस-तिसके पास जाती-आती रहती हैं, वैसे ही जीव भी विभिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है ॥६॥ इस तरह सुवर्णादि नित्य वस्तुओंका सम्बन्ध भी मनुष्योंमें अनित्य ही देखा जाता और जबतक जिसका सम्बन्ध बना रहता है, तभीतक उनमें उसकी ममता अर्थात् मेरापनका भाव भी रहता है ॥ ७ ॥ इस तरह वह नित्य तथा निरहंकारी जीव गर्भमें आकर जबतक शरीरमें रहता, तभीतक उस जीवकी उस शरीरमें ममता रहती है ॥ ८ ॥ यह जीव नित्य अविनाशी तथा सूक्ष्म अर्थात् जन्मादिरहित है और स्वयंप्रकाशशील होनेके कारण सबका अधिष्ठान है। यह अपनी सर्वसमर्थ मायाके गुणोंद्वारा अपने-आपको विश्वरूपसे उत्पन्न किया करता है ॥ ९ ॥ इसका न कोई प्रिय अथवा अप्रिय है और न अपना तथा पराया है। क्योंकि अपना हित तथा अहित करनेवाले मित्र या शत्रु आदिकी बुद्धियोंका यह एकमात्र साक्षी है ॥ १० ॥ यह आत्मा कार्य-कारणका साक्षी तथा स्वतन्त्र है। अतएव यह गुण, दोष अथवा क्रियाफलको ग्रहण नहीं करता और सदा उदासीनभावसे स्थिर रहा करता है ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं-ऐसा कहकर वह जीव वहाँसे चला गया। उसके जातिबन्धुओंने बहुत विस्मित

निर्हृत्य ज्ञातयो ज्ञातेर्देहं कृत्वोचितः क्रियाः। तत्यजुर्दुस्त्यजं स्नेहं शोकमोहभयार्तिदम् ॥१३॥
बालघ्न्यो व्रीडितास्तत्र बालहत्याहतप्रभाः। बालहत्याव्रतं चेरुर्ब्राह्मणैर्यन्निरूपितम्।
यमुनायां महाराज स्मरन्त्यो द्विजभाषितम् ॥ १४ ॥
स इत्थं प्रतिबुद्धात्मा चित्रकेतुर्द्विजोक्तिभिः। गृहान्धकूपान्निष्क्रान्तः सरःपङ्कादिव द्विपः॥१५॥
कालिन्द्यां विधिवत्स्नात्वा कृतपुण्यजलक्रियः। मौनेन संयतप्राणो ब्रह्मपुत्राववन्दत ॥१६॥
अथ तस्मै प्रपन्नाय भक्ताय प्रयतात्मने। भगवान् नारदः प्रीतो विद्यामेतामुवाच ह ॥१७॥
ॐ नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय धीमहि। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥१८॥
नमो विज्ञानमात्राय परमानन्दमूर्तये। आत्मारामाय शान्ताय निवृत्तद्वैतदृष्टये ॥१९॥
आत्मानन्दानुभूत्यैव न्यस्तशक्त्यूर्मये नमः। हृषीकेशाय महते नमस्ते विश्वमूर्तये ॥२०॥
वचस्युपरतेऽप्राप्य य एको मनसा सह। अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः ॥२१॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते। मृन्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः ॥२२॥
यन्न स्पृशन्ति न विदुर्मनोबुद्धीन्द्रियासवः। अन्तर्बहिश्च विततं व्योमवत्तन्नतोऽस्म्यहम् ॥२३॥

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु।
नैवान्यदा लोहमिवाप्रतप्तं स्थानेषु तद् द्रष्ट्रपदेशमेति ॥२४॥

हो अपना स्नेहबन्धन काटकर उसके शोकका परित्याग कर दिया ॥१२॥ तब उन सगोत्रियोंने अपने ज्ञातिभूत उस मृत बालकके देहका तत्कालोचित संस्कार किया और उसके बाद करने योग्य और्ध्वदैहिक क्रियाएँ सम्पन्न कीं। फिर शोक, मोह, भय तथा दीनता उत्पन्न करनेवाला दुस्त्यज स्नेह त्याग दिया ॥ १३ ॥ हे राजन्! तदनन्तर बालहत्याके कारण हतप्रभ एवं लज्जित उन बालघातिनी रानियोंने अंगिराजीके कथनका स्मरण करते हुए यमुनाजीके तटपर ब्राह्मणोंके कथनानुसार बालहत्याका प्रायश्चित्त किया ॥ १४ ॥ इस तरह अङ्गिरा तथा नारदजीके उपदेशसे आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर चित्रकेतु, हाथी जैसे कीचड़से निकल आता है, वैसे ही गृहरूपी अन्धकूपसे बाहर निकल आया ॥ १५ ॥ फिर उसने यमुनाजीमें विधिवत् स्नानकर तर्पणादि जलक्रियाएँ कीं और मौन धारण करके संयतेन्द्रिय हो उन ब्रह्माजीके पुत्रों अर्थात् नारद और अङ्गिराको प्रणाम किया ॥ १६ ॥ भगवान नारदने प्रसन्न मनसे उस शरणागत तथा संयतचित्त भक्तको इस मन्त्रका उपदेश किया—॥ १७ ॥ 'ॐ आप भगवान वासुदेवको मैं अपने हृदयसे नमस्कार करता हूँ। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा सङ्कर्षणरूपधारी आपको मेरा नमस्कार है ॥ १८ ॥ विशुद्ध ज्ञानमात्र, परमानन्दस्वरूप, आत्माराम एवं द्वैतदृष्टिसे रहित और शान्तस्वरूप आप परमेश्वरको प्रणाम है ॥ १९ ॥ स्वरूपानन्दके अनुभवसे मायाके राग-द्वेषादि तरङ्गोंको शान्त कर देनेवाले इन्द्रियोंके स्वामी, अतिशय महान् तथा विश्वरूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २० ॥ अहो! जिन्हें प्राप्त न होकर मन सहित वाणी वापस लौट आती है वे नाम-रूपसे रहित, एक, चिन्मात्र तथा कार्य-कारणसे अतीत आप हमारी रक्षा करें ॥ २१ ॥ सारा जगत् जिनमें व्याप्त है और जिनके द्वारा उत्पन्न, स्थित तथा लीन होता है और जो मिट्टीकी वस्तुओंमें व्याप्त मृत्तिकाकी नाईं सबमें ओतप्रोत रहते हैं, उन परब्रह्मस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥ आकाशके सदृश बाहर-भीतर व्याप्त होनेपर भी जिन्हें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राण न स्पर्श कर सकते और न जानते ही हैं, उन आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २३ ॥ जिसके चैतन्यांशसे युक्त होकर ये देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि आदि अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते और जिसके बिना अग्निमें बिना तपाये लोहेके समान ये कुछ भी नहीं कर पाते,

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सकलसात्वतपरिवृढनिकरकर-कमलकुड्मलोपलालितचरणारविन्दयुगल परम परमेष्ठिन् नमस्ते ॥२५॥

श्रीशुक उवाच

भक्तायैतां प्रपन्नाय विद्यामादिश्य नारदः । ययावङ्गिरसा साकं धाम स्वायम्भुवं प्रभो ॥२६॥

चित्रकेतुस्तु विद्यां तां यथा नारदभाषिताम् । धारयामास सप्ताहमब्भक्षः सुसमाहितः ॥२७॥

ततश्च सप्तरात्रान्ते विद्यया धार्यमाणया । विद्याधराधिपत्यं स लेभेऽप्रतिहतं नृपः ॥२८॥

ततः कतिपयाहोभिर्विद्ययेद्धमनोगतिः । जगाम देवदेवस्य शेषस्य चरणान्तिकम् ॥२९॥

मृणालगौरं शितिवाससं स्फुरत्किरीटकेयूरकटित्रकङ्कणम् ।
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनं वृतं ददर्श सिद्धेश्वरमण्डलैः प्रभुम् ॥३०॥

तद्दर्शनध्वस्तसमस्तकिल्बिषः स्वच्छामलान्तःकरणोऽभ्ययान्मुनिः ।
प्रवृद्धभक्त्या प्रणयाश्रुलोचनः प्रहृष्टरोमानमदादिपूरुषम् ॥३१॥

स उत्तमश्लोकपदाब्जविष्टरं प्रेमाश्रुलेशैरुपमेहयन् मुहुः ।
प्रेमोपरुद्धाखिलवर्णनिर्गमो नैवाशकत् तं प्रसमीडितुं चिरम् ॥३२॥

ततः समाधाय मनो मनीषया बभाष एतत् प्रतिलब्धवागसौ ।
नियम्य सर्वेन्द्रियबाह्यवर्तनं जगद्गुरुं सात्वतशास्त्रविग्रहम् ॥३३॥

चित्रकेतुरुवाच

अजित जितः सममतिभिः साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजतामकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ॥३४॥

उस आत्माकी ही जाग्रदादि अवस्थाके साक्षीस्वरूपसे जीव संज्ञा होती है ॥ २४ ॥ ॐ हे भगवान्, महाविभूतिपति तथा भगवान महापुरुषको प्रणाम है। जिनके दोनों चरण सब भक्त श्रेष्ठसमुदायकी करकमलकलिकाओंसे सेवित हैं, उन परम परमेष्ठीको पुनः पुनः प्रणाम है" ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस तरह अपने शरणागत एवं भक्त राजा चित्रकेतुको इस विद्याका उपदेश देकर नारदजी अङ्गिरा मुनिके साथ अपने धाम ब्रह्मलोकको लौट गये ॥ २६ ॥ तब राजा चित्रकेतुने नारद-जीकी बतायी उस विद्याका उनकी बतायी युक्तिसे सात दिनतक केवल जल पीते हुए संयतचित्तसे अनुष्ठान किया ॥ २७ ॥ इसके बाद उस विद्याके अनुष्ठानसे सात रात्रिके अनन्तर राजा चित्रकेतुको विद्याधरोंका अप्रतिहत प्रभुत्व मिला ॥ २८ ॥ फिर कुछ दिन पश्चात् उस विद्याके प्रभावसे मनकी गति और भी बढ़ जानेपर वे देवदेव भगवान शेषजीके चरणोंके समीप जा पहुँचे ॥ २९ ॥ उन्होंने वहाँ देखा कि भगवान शेषजी अगणित सिद्धेश्वरोंसे घिरे हुए हैं। उनका शरीर कमलनालकी नाईं गौर वर्णका है, उसपर नीलाम्बर तथा झिलमिलाता किरीट, केयूर, कटिसूत्र एवं कङ्कणादि आभूषण विराजमान हैं। उनका मुख प्रसन्न है और नेत्र अरुण वर्णके हैं ॥ ३० ॥ इस प्रकार उनका दर्शन करते ही राजा चित्रकेतुके सब पाप नष्ट हो गये, उनका अन्तःकरण शुद्ध और निर्मल हो गया और उन्होंने अपने बढ़े हुए भक्तिभावसे नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरकर पुलकित शरीरसे भगवान् आदिपुरुषको प्रणाम किया ॥ ३१ ॥ फिर अपने प्रेमाश्रुबिन्दुओंसे पवित्रकीर्ति भगवान् शेषजीके पादपीठको वे बारम्बार सींचने लगे। उस समय प्रेमोद्वेगवश गला रुँध जानेके कारण वे बहुत देरतक उनकी स्तुति नहीं कर पाये ॥ ३२ ॥ तदुपरान्त जब उन्हें बोलनेकी शक्ति मिली, तब बुद्धिपूर्वक मनको एकाग्र तथा सम्पूर्ण इन्द्रि-योंकी बाह्य वृत्ति रोककर जिनके स्वरूपका पञ्चरात्र आदि भक्तिशास्त्रोंमें वर्णन किया गया है, उन जगद्गुरुकी इस प्रकार स्तुति की। चित्रकेतु बोले—हे अजित! यद्यपि आप सबसे अजेय हैं, फिर भी

तव विभवः खलु भगवञ्जगदुदयस्थितिलयादीनि ।
विश्वसृजस्तेऽशांशास्तत्र मृषा स्पर्धन्ते पृथगभिमत्या ॥३५॥
परमाणुपरममहतोस्त्वमाद्यन्तान्तरवर्ती त्रयविधुरः ।
आदावन्तेऽपि च सत्त्वानां यद् ध्रुवं तदेवान्तरालेऽपि ॥३६॥
क्षित्यादिभिरेष किलावृतः सप्तभिर्दशगुणोत्तरैराण्डकोशः ।
यत्र पतत्यणुकल्पः सहाण्डकोटिकोटिभिस्तदनन्तः ॥३७॥
विषयतृषो नरपशवो य उपासते विभूतीर्न परं त्वाम् ।
तेषामाशिष ईश तदनु विनश्यन्ति यथा राजकुलम् ॥३८॥
कामधियस्त्वयि रचिता न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि ।
ज्ञानात्मन्यगुणमये गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि ॥३९॥
जितमजित तदा भवता यदाऽऽह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥४०॥
विषममतिर्न यत्र नृणां त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।
विषमधिया रचितो यः स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥४१॥
कः क्षेमो निजपरयोः कियानर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।
स्वद्रोहात् तव कोपः परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥४२॥

समदर्शी तथा जितेन्द्रिय सज्जनोंने आपको जीत लिया है और आपने भी उन्हें अपने वशमें कर लिया है। क्योंकि आप बड़े दयालु हैं और निष्काम भक्तोंको अपना स्वरूप तक दे डालते हैं ॥३३॥३४॥ हे भगवन्! इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय आदि कार्य आपहीकी लीला हैं। विश्वरचयिता ब्रह्मादि देवता आपके अंशके भी अंश हैं। तथापि 'हम ही जगत्कर्त्ता हैं' ऐसी भेदबुद्धिवश वे व्यर्थ परस्पर स्पर्द्धा करने लग जाते हैं ॥ ३५ ॥ परमाणुसे लेकर अतिशय महान् महत्तत्त्वपर्यन्त सब वस्तुओं-के आदि, अन्त तथा मध्यमें आप ही विराजमान रहते हैं। फिर भी आप आदि, अन्त तथा मध्य इन तीन अवस्थाओंसे रहित रहते हैं। क्योंकि सत्यस्वरूपसे प्रतीत होनेवाली इन सभी वस्तुओंके आदि, तथा अन्तमें जो निश्चल तत्त्व है, वही मध्यमें भी रहता है ॥ ३६ ॥ जो एक-एकसे दसगुने बड़े पृथिवी आदि सात आवरणोंसे घिरा हुआ है, वह ब्रह्माण्डकोश अपने ही समान करोड़ों ब्रह्माण्डोंके साथ परमाणुकी नाईं घूमता रहता है। आप वास्तवमें अनन्त हैं ॥ ३७ ॥ जो मनुष्यरूपी पशु केवल विषयों-को ही चाहते हैं, वे आप परमात्माको छोड़ आपके विभूतिरूपी इन्द्रादि अन्य देवताओंकी ही उपासना किया करते हैं। अतएव जैसे राजकुलके पतन होनेपर उसके अनुयायियोंकी जीविका भी मारी जाती है, वैसे ही उन क्षुद्र उपास्यदेवोंका ह्रास हो जानेपर उनके दिये भोग भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ३८ ॥ हे परमात्मन्! आप ज्ञानस्वरूप तथा निर्गुण हैं। अतएव आपके प्रति की हुई विषय-वासनाएँ वैसे ही कर्मफलदायिनी नहीं होतीं, जैसे घुने बीजोंसे अंकुर उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि जीवको सुख-दुःखादि द्वन्द्व सत्त्वादि गुणोंसे ही मिलते हैं और आप निर्गुण हैं, तब मिले कैसे? ॥ ३९ ॥ हे अजित! जब आपने मुझे विशुद्ध भागवत धर्मका उपदेश किया था, तभी सबको जीत लिया। क्योंकि निष्किञ्चन तथा आत्माराम सनकादि मुनि मोक्षप्राप्तिके लिये उसी भागवत धर्मका पालन करते हैं ॥ ४० ॥ उस भागवत धर्मका पालन करनेमें अन्य सकाम धर्मोंकी भाँति मनुष्योंकी 'मैं-तू, मेरा-तेरा' यह भेदबुद्धि नहीं रह जाती। जो धर्म विपरीत भेदबुद्धिसे रचा हुआ होता है, वह अशुद्ध, नाशवान् तथा अधर्मयुक्त होता है ॥ ४१ ॥ इस तरह अपना और पराया दोनोंका

न व्यभिचरति तवेक्षा यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्वपृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥४३॥
न हि भगवन्नघटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिलपापक्षयः।
यन्नाम सकृच्छ्रवणात् पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥४४॥
अथ भगवन् वयमधुना त्वदवलोकपरिमृष्टाशयमलाः।
सुरऋषिणा यदुदितं तावकेन कथमन्यथा भवति ॥४५॥
विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम्।
विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्योतैः ॥४६॥
नमस्तुभ्यं भगवते सकलजगत्स्थितिलयोदयेशाय।
दुरवसितात्मगतये कुयोगिनां भिदा परमहंसाय ॥४७॥
यं वै श्वसन्तमनु विश्वसृजः श्वसन्ति यं चेकितानमनु चित्तय उच्चकन्ति।
भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नि तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्ध्ने ॥४८॥

श्रीशुक उवाच

संस्तुतो भगवानेवमनन्तस्तमभाषत। विद्याधरपतिं प्रीतश्चित्रकेतुं कुरूद्वह ॥४९॥

श्रीभगवानुवाच

यन्नारदाङ्गिरोभ्यां ते व्याहृतं मेऽनुशासनम्। संसिद्धोऽसि तया राजन् विद्यया दर्शनाच्च मे ॥५०॥
अहं वै सर्वभूतानि भूतात्मा भूतभावनः। शब्दब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ॥५१॥

अपकार करनेवाले धर्मसे अपना तथा दूसरेका क्या प्रयोजन सध सकता है? बल्कि (उस धर्मका आचरण करके) अपने चित्तको सन्तप्त करनेसे भगवान् कुपित हो जाते और दूसरोंको कष्ट पहुँचनेके कारण अधर्म भी होता है ॥ ४२ ॥ हे नाथ! जिस दृष्टिसे आपने भागवत धर्मको कहा है, आपकी वह दृष्टि कभी नहीं चूकती। इसलिये जिनकी सब चराचर जीवसमुदाय पर समान दृष्टि होती है। वे आर्यजन ही उस धर्मका आचरण करते हैं ॥ ४३ ॥ हे भगवन्! आपके दर्शनसे ही मनुष्योंके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, यह कोई विस्मयकी बात नहीं है। क्योंकि आपका नाम केवल एक बार सुन लेनेसे ही चाण्डाल भी संसारके बन्धनसे छूट जाता है ॥ ४४ ॥ हे भगवन्! इस समय आपके दर्शनसे ही हमारे अन्तःकरणका सब मल धुल गया है और ऐसा होना ही चाहिए। क्योंकि आपके भक्त देवर्षि नारदने जो कुछ कहा है, वह मिथ्या कैसे होगा? ॥ ४५ ॥ हे अनन्त! आप सारे जगत्के आत्मा हैं। अतएव संसारमें लोग जो कुछ करते हैं, वह आपको मालूम ही है। सो जैसे सूर्यको खद्योत (जुगनू) प्रकाशित नहीं कर सकता, वैसे ही आप परम गुरुको हम भला क्या बता सकते हैं? ॥ ४६ ॥ हे भगवन्! आप सारे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करनेमें समर्थ हैं। कुयोगी लोग अपनी भेददृष्टिके कारण आपके वास्तविक तत्त्वको नहीं जान पाते। इस प्रकारके शुद्धस्वरूप भगवानको नमस्कार है ॥ ४७ ॥ जिन आपके चेष्टा करनेपर ब्रह्मा आदि सब जगत्कर्त्ता चेष्टा करते हैं, जिनकी दृष्टि पड़नेपर ही ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं और जिनके मस्तकपर रक्खा भूमण्डल सरसोंके दानेकी तरह मालूम पड़ता है, उन भगवान सहस्रशीर्षाको हमारा नमस्कार है ॥ ४८ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुनन्दन! इस तरह स्तुति किये जानेके बाद भगवान अनन्त प्रसन्न होकर विद्याधराधिपति राजा चित्रकेतुसे बोले ॥ ४९ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे राजन्! नारद तथा अङ्गिरामुनिने तुम्हें मेरे विषयका जो उपदेश दिया है, उस विद्याके प्रभाव तथा मेरे दर्शनसे ही तुम पूर्ण सिद्ध हो गये हो ॥ ५० ॥ सभी तत्त्व तथा उनकी अन्तरात्मा और पालनकर्ता एकमात्र मैं ही हूँ। शब्दब्रह्म

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि सन्ततम् । उभयं च मया व्याप्तं मयि चैवोभयं कृतम् ॥५२॥
यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि । आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥५३॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः । मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं परं स्मरेत् ॥५४॥
येन प्रसुप्तः पुरुषः स्वापं वेदात्मनस्तदा । सुखं च निर्गुणं ब्रह्म तमात्मानमवेहि माम् ॥५५॥
उभयं स्मरतः पुंसः प्रस्वापप्रतिबोधयोः । अन्वेति व्यतिरिच्येत तज्ज्ञानं ब्रह्म तत् परम् ॥५६॥
यदेतद् विस्मृतं पुंसो मद्भावं भिन्नमात्मनः । ततः संसार एतस्य देहाद् देहो मृतेर्मृतिः ॥५७॥
लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् । आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात् ५८
स्मृत्वेहायां परिक्लेशं ततः फलविपर्ययम् । अभयं चाप्यनीहायां सङ्कल्पाद् विरमेत् कविः ॥५९
सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः । ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च ॥६०॥
एवं विपर्ययंबुद्ध्वा नृणां विज्ञाभिमानिनाम् । आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ॥६१॥
दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिर्निर्मुक्तः स्वेन तेजसा । ज्ञानविज्ञानसन्तुष्टो मद्भक्तः पुरुषो भवेत् ॥६२॥
एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः । स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम् ॥६३॥
त्वमेतच्छ्रद्धया राजन्नप्रमत्तो वचो मम । ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो धारयन्नाशु सिध्यसि ॥६४॥

तथा परब्रह्म ये दोनों मेरी ही सनातन मूर्तियें हैं ॥ ५१ ॥ सब प्रपञ्चमें आत्मा है और आत्मामें प्रपञ्च व्याप्त है और इन दोनोंमें कारणरूपसे मैं व्याप्त रहता हूँ और मुझमें ही ये दोनों कल्पित हुए हैं ॥ ५२ ॥ जैसे स्वप्नमें सोया पुरुष सारे जगत्को अपनेहीमें देखता है और जागनेपर संसारके किसी एक देशमें अपनी स्थिति मानता है । वैसे ही जीवकी जाग्रत् आदि अवस्थाएँ परमेश्वरको माया ही हैं, यह जानकर उन सबके साक्षी मायातीत परमात्माका स्मरण करना चाहिए ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ सोया हुआ पुरुष जिसकी सहायतासे अपनी निद्रा तथा अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करता है, वह सबका आत्मस्वरूप ब्रह्म एकमात्र मैं ही हूँ—ऐसा जानो ॥ ५५ ॥ जो निद्रा तथा जागृति इन दोनों ही अवस्थाओंका स्मरण करनेवाले प्राणी उन अवस्थाओंमें साक्षीरूपसे विद्यमान हैं और वास्तवमें जो उनसे पृथक् है, वह ज्ञान ही परब्रह्म है ॥ ५६ ॥ मेरे उपर्युक्त परब्रह्मस्वरूपको जीव जब भूल जाता तो वह अपने आत्मस्वरूपसे पृथक् हो जाता है । यही कारण है कि उसे पुनः पुनः संसार प्राप्त होता रहता और उसे जन्म-मरणके बाद फिर जन्म-मरण मिलता ही जाता है ॥ ५७ ॥ इस लोकमें जो पुरुष ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्तिके कारणस्वरूप मानव जन्मको पाकर भी सबके आत्मारूपी परमेश्वरको नहीं जानता, उसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती ॥ ५८ ॥ पहले तो संसारिक सुखके लिये की जानेवाली चेष्टाओंमें ही क्लेश है और उससे विपरीत फल मिलनेकी भी सम्भावना बनी रहती है । किन्तु निवृत्ति मार्गमें कोई भय नहीं है—ऐसा सोचकर विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह फलकी कामनासे एकदम निवृत्त हो जाय ॥५९॥ इस संसारमें सभी स्त्री-पुरुष सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु उन कर्मों द्वारा न तो उनका दुःख दूर होता और न उन्हें सुख प्राप्त होता है ॥ ६० ॥ जो अपनेको बड़ा ज्ञानी मानते हैं, उनको भी ऐसा विपरीत फल मिलता है, यह समझ तथा आत्माकी गति अतिशय सूक्ष्म तथा जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंसे पृथक् है—ऐसा जानकर पुरुष अपने विवेकबलके द्वारा लौकिक तथा पारलौकिक भोगोंसे मुक्त तथा ज्ञान-विज्ञानसे परितृप्त होकर सदाके लिये मेरा भक्त बन जाय ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ इस तरह सब इन्द्रियों द्वारा एकमात्र परमात्माका दर्शन करना ही योगमार्गमें कुशलताको प्राप्त बुद्धिवाले मनुष्योंको अपना सबसे बड़ा पुरुषार्थ समझना चाहिए ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! यदि तुम मेरे यह उपदेश सावधान मनसे श्रद्धाके साथ धारण करोगे तो ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होकर शीघ्र सिद्ध हो जाओगे ॥६४॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जगद्गुरु तथा विश्वात्मा शेष भगवान चित्र-

श्रीशुक उवाच

आश्वास्य भगवानित्थं चित्रकेतुं जगद्गुरुः । पश्यतस्तस्य विश्वात्मा ततश्चान्तर्दधे हरिः ॥६५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेपारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतोःपरमात्मदर्शनं नामषोडशोऽध्यायः१६

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

यतश्चान्तर्हितोऽनन्तस्तस्यै कृत्वा दिशे नमः । विद्याधरश्चित्रकेतुश्चचार गगनेचरः ॥ १ ॥

स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलेन्द्रियः । स्तूयमानो महायोगी मुनिभिः सिद्धचारणैः ॥ २ ॥

कुलाचलेन्द्रद्रोणीषु नानासङ्कल्पसिद्धिषु । रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरम् ॥ ३ ॥

एकदा स विमानेन विष्णुदत्तेन भास्वता । गिरिशं ददृशे गच्छन् परीतं सिद्धचारणैः ॥ ४ ॥

आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि । उवाच देव्याः शृण्वत्या जहासोच्चैस्तदन्तिके ॥५॥

चित्रकेतुरुवाच

एष लोकगुरुः साक्षाद्धर्मं वक्ता शरीरिणाम् । आस्ते मुख्यः सभायां वै मिथुनीभूय भार्यया ॥६॥

जटाधरस्तीव्रतपा ब्रह्मवादिसभापतिः । अङ्कीकृत्य स्त्रियं चास्ते गतह्रीः प्राकृतो यथा ॥७॥

प्रायशः प्राकृताश्चापि स्त्रियं रहसि बिभ्रति । अयं महाव्रतधरो बिभर्ति सदसि स्त्रियम् ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तच्छ्रुत्वा प्रहस्यागाधधीर्नृप । तूष्णीं बभूव सदसि सभ्याश्च तदनुव्रताः ॥ ९ ॥

इत्येतद्वीर्यविदुषि ब्रुवाणे बह्वशोभनम् । रुषाऽऽह देवी धृष्टाय निर्जितात्माभिमानिने॥१०॥

केतुको इस तरह समझा-बुझाकर उसके सामने ही वहाँसे अलक्षित हो गये ॥ ६५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(विद्याधर चित्रकेतुको भवानीका शाप) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिधर भगवान् अनन्त अन्तर्धान हुए थे, उस दिशाको नमस्कारकर विद्याधर चित्रकेतु आकाशचारी होकर विचरने लगे ॥ १ ॥ महायोगी चित्रकेतु लाखों वर्षतक शरीर तथा इन्द्रियोंकी अकुण्ठित शक्तिसे सम्पन्न होकर मुनियों, सिद्धों एवं चारणादिकोंसे स्तूयमान होते हुए विविध भाँतिके संकल्पोंको पूर्ण करनेवाली कुलाचल पर्वतकी कन्दराओंमें विद्याधर-वधूटियों द्वारा नारायणका सुयशगान कराते हुए उनके साथ विहार करने लगे ॥ २ ॥ ३ ॥ एक दिनकी बात है, वे विष्णुभगवान्के दिये तेजोमय विमानपर चढ़कर विचर रहे थे । एकाएक उन्होंने देखा कि सिद्ध-चारणोंसे आवृत भगवान् शंकर मुनिमण्डलीके बीचमें भगवती पार्वतीको गोदमें लेकर एक बाँहसे आलिंगन किये बैठे हैं । यह देखा तो वे उनके समीप जा और बड़े जोरसे हँसकर बोले । भवानी उनकी बात सुन रही थीं ॥ ४ ॥ ५ ॥ चित्रकेतुने कहा—अहो ! ये सब लोकोंके गुरु हैं और सबको धर्मका मार्ग प्रदर्शन करते हैं। फिर भी बीच सभामें इस प्रकार अपनी भार्याको लिपटाये बैठे हैं ! ॥६॥ ये तो बड़े जटाधारी, असाधारण तपस्वी और ब्रह्मवेत्ताओंके समाजमें अग्रणी हैं । परन्तु इस समय साधारण विषयी पुरुषोंकी भाँति निर्लज्ज हो स्त्रीको गोदमें लिये हुए हैं ॥७॥ संसारके विषयी पुरुष भी इस तरह प्रायः एकान्तमें ही स्त्रीको गोदमें लेते हैं, किन्तु ये इतने बड़े व्रतधारी होकर भी भरी सभामें भार्याको कसे बैठे हैं ॥८॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अगाधबुद्धि शंकरभगवान तो उनका यह कटाक्ष सुनकर वे केवल हँस भर दिये—कुछ बोले नहीं । उस सभामें बैठे हुए और-और सदस्य भी उन्हींकी तरह चुपचाप बैठे रहे ॥ ९ ॥ शंकरभगवानका प्रभाव न जाननेवाले चित्रकेतुके इस तरह अनुचित भाषण करनेपर 'मैं जितेन्द्रिय हूँ' ऐसे अभिमानसे अत्यन्त धृष्ट उस राजासे देवी पार्वतीने

पार्वत्युवाच

अयं किमधुना लोके शास्ता दण्डधरः प्रभुः । अस्मद्विधानां दुष्टानां निर्लज्जानां च विप्रकृत् ॥११॥

न वेद धर्मं किल पद्मयोनिर्न ब्रह्मपुत्रा भृगुनारदाद्याः ।
न वै कुमारः कपिलो मनुश्च ये नो निषेधन्त्यतिवर्तिनं हरम् ॥१२॥

एषामनुध्येयपदाब्जयुग्मं जगद्गुरुं मङ्गलमङ्गलं स्वयम् ।
यः क्षत्रबन्धुः परिभूय सूरीन् प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्ड्यः ॥१३॥

नायमर्हति वैकुण्ठपादमूलोपसर्पणम् । सम्भावितमतिः स्तब्धः साधुभिः पर्युपासितम् ॥१४॥

अतः पापीयसीं योनिमासुरीं याहि दुर्मते । यथेह भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच

एवं शप्तश्चित्रकेतुर्विमानादवरुह्य सः । प्रसादयामास सतीं मूर्ध्ना नम्रेण भारत ॥१६॥

चित्रकेतुरुवाच

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके । देवैर्मर्त्याय यत् प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत् ॥१७॥

संसारचक्र एतस्मिन् जन्तुरज्ञानमोहितः । भ्राम्यन् सुखं च दुःखं च भुङ्क्ते सर्वत्र सर्वदा ॥१८

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः । कर्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च ॥१९॥

गुणप्रवाह एतस्मिन् कः शापः को न्वनुग्रहः । कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा ॥२०

एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया । एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः ॥२१॥

न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो न ज्ञातबन्धुर्न परो न च स्वः ।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य सुखे न रागः कुत एव रोषः ॥२२॥

क्रोधमें आकर इस तरह कहा ॥ १० ॥ पार्वतीजी बोलीं—अहो ! मुझ सरीखी दुष्ट तथा निर्लज्ज नारीको उपदेश देकर सुधार करनेवाला दण्डधर प्रभु क्या इस संसारमें केवल यही रह गया है ? ॥११॥ कमल-योनि ब्रह्माजी, भृगु आदि ब्रह्माके पुत्र, नारद आदि देवर्षि, सनकादि, कपिलदेव तथा मनु, क्या इनमेंसे कोई भी धर्मका तत्त्व नहीं जानता, जो शास्त्रविधिका अतिक्रमण करनेवाले शङ्करभगवानको ऐसा करनेसे नहीं रोकता ॥१२॥ इस अधम क्षत्रियने विद्वन्मण्डलका अपमान करते हुए ब्रह्मादिकोंके भी ध्यान करने योग्य चरणकमलयुगल तथा मंगलमूर्ति जगद्गुरु भगवान शङ्करका बड़ी धृष्टताके साथ शासन किया है। अतएव यह दण्डके योग्य है ॥ १३ ॥ यह अपनेको श्रेष्ठ माननेवाला बड़ा घमण्डी है। सो यह दुष्ट विष्णुभगवानके साधुजनसेवित चरणकमलोंके समीप रहनेका अधिकारी नहीं है ॥ १४ ॥ अतएव ओ दुर्मते ! तू अतिशय अधम आसुरी योनिमें चला जा। ऐसा होनेसे पुत्र ! तू महापुरुषोंका फिर कभी ऐसा अपराध न करेगा ॥ १५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे भारत ! इस तरह माताके शाप देनेपर चित्रकेतु विमानसे नीचे उतर आया और बड़ी नम्रतासे माथा झुकाकर देवी पार्वतीकी स्तुति करने लगा ॥ १६ ॥ चित्रकेतुने कहा—हे माता ! मैं तुम्हारा शाप अञ्जलिमें ग्रहण करता हूँ। क्योंकि देवता-लोग मनुष्योंके लिये जो करते हैं, वह सब उनके पूर्वजन्मके कर्मका ही फल होता है ॥ १७ ॥ अज्ञानसे विमुग्ध जीव संसारचक्रमें चक्कर काटता हुआ सर्वदा और सर्वत्र सुख-दुःख भोगता ही रहता है ॥ १८ ॥ उस सुख-दुःखके दाता स्वयं आप अथवा कोई और नहीं है। इस विषयमें अज्ञानी पुरुष ही अपनेको या किसी औरको कर्ता मान बैठते हैं ॥ १९ ॥ संसार सत्त्वादि तीनों गुणोंका प्रवाह है। इसमें शाप तथा अनुग्रह, स्वर्ग या नरक, सुख अथवा दुःख कोई वस्तु नहीं है ॥ २० ॥ एकमात्र ईश्वर अपनी मायाके बलसे सब प्राणियों और उनके बन्ध-मोक्ष अथवा सुख-दुःखका सृजन करते हैं, किन्तु वे महाप्रभु स्वयं बन्ध-मोक्षादिसे रहित रहते हैं ॥ २१ ॥ हे मातः ! वे भगवान सर्वत्र समान

तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां सुखाय दुःखाय हिताहिताय ।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते ॥२३॥
अथ प्रसादये न त्वां शापमोक्षाय भामिनि । यन्मन्यसे ह्यसाधूक्तं मम तत् क्षम्यतां सति ॥२४॥

श्रीशुक उवाच

इति प्रसाद्य गिरिशौ चित्रकेतुररिन्दम । जगाम स्वविमानेन पश्यतोः स्मयतोस्तयोः ॥२५॥
ततस्तु भगवान् रुद्रो रुद्राणीमिदमब्रवीत् । देवर्षिदैत्यसिद्धानां पार्षदानां च शृण्वताम् ॥२६॥

श्रीरुद्र उवाच

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मणः । माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां निःस्पृहाणां महात्मनाम् २७
नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति । स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥२८॥
देहिनां देहसंयोगाद् द्वन्द्वानीश्वरलीलया । सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च ॥२९॥
अविवेककृतः पुंसो ह्यर्थभेद इवात्मनि । गुणदोषविकल्पश्च भिदेव स्रजिवत् कृतः ॥३०॥
वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम् । ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेह कश्चिद् व्यपाश्रयः ॥३१॥
नाहं विरिञ्चो न कुमारनारदौ न ब्रह्मपुत्रा मुनयः सुरेशाः ।
विदाम यस्येहितमंशकांशका न तत्स्वरूपं पृथगीशमानिनः ॥ ३२ ॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियः स्वः परोऽपि वा । आत्मत्वात् सर्वभूतानां सर्वभूतप्रियो हरिः ॥३३॥
तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः । सर्वत्र समदृक् शान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः ॥३४॥

तथा निर्दोष हैं । उनका न कोई प्रिय, न अप्रिय, न जातिबन्धु और न अपना या पराया है । जब सुखमें उनका राग ही नहीं रहता, तब फिर उनको रागजनित क्रोध क्योंकर हो सकता है ? ॥ २२ ॥ फिर भी उनकी मायारूपिणी शक्तिसे उत्पन्न पाप-पुण्य ही प्राणियोंके सुख-दुःख, हित-अनहित, बन्धन-मोक्ष, जन्म-मरण तथा संसारके कारण ही होते हैं ॥ २३ ॥ सो हे भामिनी ! मैं इस शापसे छूटनेके लिये तुम्हें मनाना नहीं चाहता । हे सती ! आपसे केवल मेरी यही प्रार्थना है कि मेरा कथन यदि आपको अनुचित मालूम पड़ा हो तो क्षमा कर दीजिए ॥ २४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे शत्रुसूदन ! इस तरह भगवान शंकर तथा पार्वतीजीको प्रसन्न करके राजा चित्रकेतु उनके सामने ही अपने विमानपर चढ़कर सबको चकित करता हुआ वहाँसे चला गया ॥ २५ ॥ तब जब कि सब देवता, ऋषि, दैत्य, सिद्ध तथा पार्षद उनका वचन सुन रहे थे, तब भगवान शङ्कर पार्वतीजीसे इस तरह बोले ॥ २६ ॥ श्रीशिवजीने कहा—हे सुन्दरि ! तुमने अद्भुत कर्म करनेवाले भगवानके निःस्पृह तथा उनके महानुभाव दासोंकी महिमा देखी ? ॥ २७ ॥ भगवत्परायण लोगोंको किसी बातका भय नहीं रहता । क्योंकि स्वर्ग, मोक्ष तथा नरकादिमें भी उनकी समान दृष्टि रहती है ॥ २८ ॥ भगवानकी लीलासे देहका संयोग होनेपर ही जीवोंको सुख-दुःख, जन्म-मरण, शाप-अनुग्रह आदि द्वन्द्व झेलने पड़ते हैं ॥ २९ ॥ जैसे स्वप्नमें भेदभ्रमसे सुख-दुःखादि मालूम होते और जागृतिके समय मालामें सर्पका भ्रम होता है, वैसे ही मनुष्य अज्ञानसे आत्मामें देव-मनुष्यादि भेद तथा गुण-दोषकी कल्पना किया करता है ॥ ३० ॥ जो ज्ञानवैराग्यके बलसे युक्त सज्जन भगवान वासुदेवकी भक्ति करते हैं, उन्हें संसारमें अपनी बुद्धिका कोई आश्रय नहीं दीखता ॥ ३१ ॥ मैं, ब्रह्माजी, सनकादि, नारदमुनि, ब्रह्माजीके पुत्र भृगु आदि तथा बड़े-बड़े देवता भी जिनकी लीलाको नहीं जानते, उनका स्वरूप भला संसारके वे साधारण पुरुष कैसे जान पायेंगे, जो उनके अंशांश होकर भी अपनेको बहुत समर्थ मानते हैं ॥३२॥ उन श्रीहरिको न कोई प्रिय है, न अप्रिय है और न कोई अपना है । वे भगवान सभी प्राणियोंके अन्तरात्मास्वरूप हैं, अतएव वे सबके प्रिय हैं ॥ ३३ ॥ महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर, शान्त

तस्मान्न विस्मयः कार्यः पुरुषेषु महात्मसु । महापुरुषभक्तेषु शान्तेषु समदर्शिषु ॥३५॥

श्रीशुक उवाच

इति श्रुत्वा भगवतः शिवस्योमाभिभाषितम् । बभूव शान्तधी राजन् देवी विगतविस्मया ॥३६॥
इति भागवतो देव्याः प्रतिशप्तुमलन्तमः । मूर्ध्ना सजगृहे शापमेतावत् साधुलक्षणम् ॥३७॥
जज्ञे त्वष्टुर्दक्षिणाग्नौ दानवीं योनिमाश्रितः । वृत्र इत्यभिविख्यातो ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥३८॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि । वृत्रस्यासुरजातेश्च कारणं भगवन्मतेः ॥३९॥
इतिहासमिमं पुण्यं चित्रकेतोर्महात्मनः । माहात्म्यं विष्णुभक्तानां श्रुत्वा बन्धाद्विमुच्यते४०
य एतत् प्रातरुत्थाय श्रद्धया वाग्यतः पठेत् । इतिहासं हरिं स्मृत्वा स याति परमां गतिम् ॥४१

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे चित्रकेतुशापो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

पृश्निस्तु पत्नी सवितुः सावित्रीं व्याहृतिं त्रयीम् । अग्निहोत्रं पशुं सोमं चातुर्मास्यं महामखान् ॥१॥
सिद्धिर्भगस्य भार्याङ्ग महिमानं विभुं प्रभुम् । आशिषं च वरारोहां कन्यां प्रासूत सुव्रताम् ॥२॥
धातुः कुहूः सिनीवाली राका चानुमतिस्तथा । सायं दर्शमथ प्रातः पूर्णमासमनुक्रमात् ॥३॥
अग्नीन् पुरीष्यानाधत्त क्रियायां समनन्तरः । चर्षणी वरुणस्यासीद् यस्यां जातो भृगुः पुनः ॥४॥
वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत् किल । अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोर्ऋषी ॥५॥

तथा सर्वत्र समदर्शी पुरुष है । मैं भी श्रीअच्युतभगवानका प्रिय हूँ ॥३४॥ अतएव परमपुरुष परमात्माके इन शान्त समदर्शी और महात्मा भक्तोंके विषयमें तुम्हें कुछ भी विस्मय करना उचित नहीं है ॥ ३५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! शंकरभगवान्का यह वचन सुनकर पार्वतीजीका संशय दूर हो गया और वे शान्त हो गयीं ॥३६॥ परम भगवद्भक्त चित्रकेतु भगवती भवानीको शापके बदले शाप देनेमें समर्थ थे, फिर भी उन्होंने उनका शाप अपने माथे चढ़ा लिया—यही तो साधुका लक्षण है ॥३७॥ तदनन्तर राजा चित्रकेतु दानवी योनिमें जाकर त्वष्टा देवताके दक्षिणाग्निसे उत्पन्न एवं ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होकर वे ही वृत्रासुर नामसे विख्यात हुए ॥३८॥ इस तरह तुमने जो वृत्रासुरके दैत्ययोनिमें जन्म लेनेपर भी भगवत्परायण होनेका कारण पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया ॥३९॥ हे राजन् ! विष्णुभक्तोंके साक्षात् माहात्म्यस्वरूप महात्मा चित्रकेतुका यह पवित्र इतिहास सुननेसे मनुष्य सब बन्धनोंसे छुटकारा पा जाता है ॥४०॥ जो पुरुष सवेरे उठ और भगवानका स्मरण करके मौनभावसे इसका पाठ करता है तो उसे भगवानका परमपद प्राप्त हो जाता है ॥४१॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

(अदिति और दितिकी सन्तानों तथा मरुद्गणकी उत्पत्तिका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवान सविताकी स्त्रीने सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य तथा पञ्चमहायज्ञ – इन आठ सन्तानोंको जन्म दिया । हे प्रिय ! भगकी पत्नी सिद्धिने महिमा, विभु और प्रभु नामके तीन पुत्र तथा आशिष नामकी एक सुव्रता कन्या उत्पन्न की ॥ १ ॥ २ ॥ धाताकी कुहू, सिनीवाली, राका तथा अनुमति नामकी स्त्रियोंने क्रमशः सायं, दर्श, प्रातः और पूर्णमास नामक पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ३ ॥ धातासे छोटे विधाताने अपनी भार्या क्रियासे पुरीष्य नामके पाँच अग्नि उत्पन्न किये । वरुणकी स्त्री चर्षणीके गर्भसे भृगुजीने पुनः जन्म ग्रहण किया । इसके पहले ब्राह्मणीसे उनका जन्म हुआ ॥ ४ ॥ लोगोंका कहना है कि वल्मीकसे उत्पन्न महायोगी वाल्मीकिजी भी वरुणके ही पुत्र

रेतः सिषिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सन्निधौ द्रुतम् । रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्टं पिप्पलं व्यधात् ॥६॥
पौलोम्यामिन्द्र आधत्त त्रीन् पुत्रानिति नः श्रुतम् । जयन्तमृषभं तात तृतीयं मीढुषं प्रभुः ॥७॥
उरुक्रमस्य देवस्य मायावामनरूपिणः । कीर्तौ पत्न्यां बृहच्छ्लोकस्तस्यासन् सौभगादयः ८
तत्कर्मगुणवीर्याणि काश्यपस्य महात्मनः । पश्चाद् वक्ष्यामहेऽदित्यां यथा वावततार ह ॥९॥
अथ कश्यपदायादान् दैतेयान् कीर्तयामि ते । यत्र भागवतः श्रीमान् प्रह्लादो बलिरेव च ॥१०॥
दितेर्द्वावेव दायादौ दैत्यदानववन्दितौ । हिरण्यकशिपुर्नाम हिरण्याक्षश्च कीर्तितौ ॥११॥
हिरण्यकशिपोर्भार्या कयाधुर्नाम दानवी । जम्भस्य तनया दत्ता सुषुवे चतुरः सुतान् ॥१२॥
संह्लादं प्रागनुह्लादं ह्लादं प्रह्लादमेव च । तत्स्वसा सिंहिका नाम राहुं विप्रचितोऽग्रहीत् ॥१३
शिरोऽहरद् यस्य हरिश्चक्रेण पिबतोऽमृतम् । संह्लादस्य कृतिर्भार्यासूत पञ्चजनं ततः ॥१४॥
ह्लादस्य धमनिर्भार्यासूत वातापिमिल्वलम् । योऽगस्त्याय त्वतिथये पेचे वातापिमिल्वलः ॥१५॥
अनुह्लादस्य सूर्म्यायां बाष्कलो महिषस्तथा । विरोचनस्तु प्राह्लादिर्देव्यास्तस्याभवद् बलिः॥१६॥
बाणज्येष्ठं पुत्रशतमशनायां ततोऽभवत् । तस्यानुभावः सुश्लोक्यः पश्चादेवाभिधास्यते॥१७॥
बाण आराध्य गिरिशं लेभे तद्गणमुख्यताम् । यत्पार्श्वे भगवानास्ते ह्यद्यापि पुरपालकः ॥१८॥

थे । मित्र तथा वरुण इन दोनों ही का वीर्य जब उर्वशीको देखकर स्खलित हो गया तो उन्होंने उसे ले जाकर घड़ेमें रख दिया, उससे कुम्भज (अगस्त्य) और वसिष्ठका जन्म हुआ । मित्रने अपनी भार्या रेवतीसे उत्सर्ग, अरिष्ट तथा पिप्पल नामके तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ५ ॥ ६ ॥ हे राजन् ! भगवान इन्द्रने अपनी भार्या पौलोमीसे जयन्त, ऋषभ तथा मीढुष नामके तीन पुत्रोंको जन्म दिया था, ऐसा हमने लोगोंसे सुना है ॥७॥ मायावामनरूपधारी भगवान उरुक्रमने अपनी भार्या कीर्तिसे बृहच्छ्लोक नामक पुत्रको जन्म दिया और उसके सौभग आदि अनेक सन्तानें उत्पन्न हुईं ॥ ८ ॥ कश्यपतनय भगवान त्रिविक्रम अर्थात् वामनके कर्म, गुण और वीर्योंका और जैसे उन्होंने माता अदितिके गर्भसे जन्म लिया था, उसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे ॥ ९ ॥ हे राजन् ! अब मैं महात्मा कश्यपद्वारा दितिके गर्भसे उत्पन्न उन पुत्रोंका वर्णन करता हूँ कि जिनके वंशमें परम भगवद्भक्त श्रीमान् प्रह्लादजी तथा राजा बलि उत्पन्न हुए थे ॥१०॥ दितिके गर्भसे दैत्य तथा दानवोंद्वारा वन्दित हिरयकशिपु और हिरण्याक्ष नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे—जिनका वर्णन हम पहले कर आये हैं ॥११॥ हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधु नामकी दानवीने, जो कि जम्भ दानवकी पुत्री थी और उसके पिताने हिरण्यकशिपुके साथ उसका विवाह किया था, चार पुत्रोंको जन्म दिये ॥ १२ ॥ उनके संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद, ये नाम थे और इनकी बहिन सिंहिका थी—जिसने अपने पति विप्रचिति नामक दानवके संसर्गसे राहु नामका पुत्र उत्पन्न किया ॥ १३ ॥ समुद्र-मंथनके बाद अमृतपानके अवसरपर जिसके सिरको भगवानने अपने चक्रसे काट डाला था, उस संह्लादकी भार्या कृतिने पञ्चजन नामके पुत्रको उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ जिसने अगस्त्यजीका आतिथ्य-सत्कार करते समय वातापीको पकाया था, उस इल्वल तथा वातापीको प्रह्लादकी भार्या धमनिने उत्पन्न किया था । कथान्तर—एक समयकी बात है, महर्षि अगस्त्य वातापी तथा इल्वलके यहाँ गये । उन्हें निमन्त्रित करके इल्वलने मेषरूपधारी वातापीको पकाकर अगस्त्यजीको खिला दिया । फिर यह सोचकर कि वातापी अगस्त्य ऋषिका पेट फाड़कर बाहर निकल आवेगा, उसे पुकारा । किन्तु ऋषि उसे कभीके पचा चुके थे । इस तरह उनकी कुमति उन्हींके लिये हानिकारक हुई ॥ १५ ॥ अनुह्लादने अपनी स्त्री सूर्म्याके गर्भसे वाष्कल तथा महिषासुरको जन्म दिया । प्रह्लादजीके पुत्रका नाम विरोचन था और विरोचनकी भार्यासे बलि उत्पन्न हुए ॥ १६ ॥ राजा बलिने अपनी भार्या अशनाके गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न किये । इनमें बाणासुर सबसे बड़ा पुत्र था । इनकी कहने-सुनने योग्य महिमाका वर्णन मैं आगे चलकर करूँगा ॥ १७ ॥ बलिके पत्र बाणासुरने

मरुतश्च दितेः पुत्राश्चत्वारिंशन्नवाधिकाः । त आसन्नप्रजाः सर्वे नीता इन्द्रेण सात्मताम् ॥१९॥

राजोवाच

कथं त आसुरं भावमपोह्यौत्पत्तिकं गुरो । इन्द्रेण प्रापिताः सात्म्यं किं तत्साधु कृतं हि तैः ॥२०

इमे श्रद्दधते ब्रह्मन्नृषयो हि मया सह । परिज्ञानाय भगवंस्तन्नो व्याख्यातुमर्हसि ॥२१॥

सूत उवाच

तद्विष्णुरातस्य स बादरायणिर्वचो निशम्याद्दृतमल्पमर्थवत् ।
सभाजयन् सन्निभृतेन चेतसा जगाद सत्रायण सर्वदर्शनः ॥ २२ ॥

हतपुत्रा दितिः शक्रपार्ष्णिग्राहेण विष्णुना । मन्युना शोकदीप्तेन ज्वलन्ती पर्यचिन्तयत् ॥२३॥

कदा नु भ्रातृहन्तारमिन्द्रियाराममुल्बणम् । अक्लिन्नहृदयं पापं घातयित्वा शये सुखम् ॥२४॥

कृमिविड्भस्मसंज्ञाऽऽसीद्यस्येशाभिहितस्य च । भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥२५॥

आशासानस्य तस्येदं ध्रुवमुन्नद्धचेतसः । मदशोषक इन्द्रस्य भूयाद् येन सुतो हि मे ॥२६॥

इति भावेन सा भर्तुराचचारासकृत्प्रियम् । शुश्रूषयानुरागेण प्रश्रयेण दमेन च ॥२७॥

भक्त्या परमया राजन् मनोज्ञैर्वल्गुभाषितैः । मनो जग्राह भावज्ञा सुस्मितापाङ्गवीक्षणैः ॥२८॥

एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि विदग्धया । बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति ॥२९॥

शङ्करभगवानकी आराधना करके शिवगणोंमें प्रमुखता प्राप्त की। श्रीशिवजी अब भी नगररक्षक बनकर सदा उसके पास रहा करते हैं ॥ १८ ॥ दितिके गर्भसे मरुत् नामके उनचास पुत्र और जन्मे थे। वे सब निःसन्तान थे। उन सबको इन्द्रने अपने ही सदृश देवता, बना लिया ॥ १९ ॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने पूछा—हे गुरो! उन मरुतोंने ऐसा क्या सुकर्म किया था? जिससे उन्होंने अपने सहज आसुरभावको त्याग दिया और वे लोग इन्द्रके द्वारा देवता बना लिये गये? ॥ २० ॥ हे भगवन्! मैं और ये सभी ऋषिगण इस बातको जाननेके लिये उत्सुक हैं, सो आप वह सब रहस्य हमको विस्तारसे सुनाइये ॥ २१ ॥ श्रीसूतजी बोले—हे शौनक! महाराज परीक्षितके उस सादर, स्वल्प तथा सारगर्भित वचनको सुनकर सर्वज्ञ व्यासनन्दनने बड़े प्रसन्नचित्तसे उनकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इन्द्रका पक्ष लेनेवाले विष्णुभगवानके हाथसे हिरण्यकशिपु आदि अनेक पुत्रोंको मरा हुआ देख दिति शोकाग्निसे प्रज्वलित क्रोधसे सन्तप्त होकर विचारने लगी—॥ २३ ॥ हाय! ऐसा कब होगा कि जब अपने भाइयोंका वध करनेवाले विषयलोलुप, क्रूर, निष्ठुर तथा पापात्मा इन्द्रको मारकर मैं सुखसे सोऊँगी ॥ २४ ॥ जो राजा आदिके शरीर 'प्रभु' कहे जाते हैं, वे भी अन्तमें सड़ जानेपर कृमि, किसीके खा लिये जानेपर विष्ठा तथा जला दिये जानेपर भस्म हो जाते हैं, ऐसे निन्द्य शरीरके निमित्त जो प्राणी अन्य प्राणियोंसे शत्रुता करता है तो क्या यह अपने सच्चे स्वार्थको जानता है? नहीं जानता। उसे प्राणियोंसे द्रोह करनेके कारण नरकगामी होना पड़ता है ॥ २५ ॥ अतएव शरीरको नित्य समझकर जिसका मन सर्वदा उन्मत्त रहता है, उस इन्द्रका मद चूर्ण करनेवाला पुत्र जैसे उत्पन्न हो—ऐसा कोई उपाय अवश्य ही करना चाहिए ॥ २६ ॥ अपने मनमें ऐसा सोचकर दिति सेवा, अनुराग, विनय तथा इन्द्रियसंयम आदिके द्वारा अपने पति कश्यपको सर्वदा प्रसन्न रखने लगी ॥ २७ ॥ हे राजन्! पतिका मनोभाव जाननेवाली देवी दितिने अपने उत्कृष्ट भक्तिभाव, मनोहर एवं मधुर भाषण तथा मुसकानभरी कटाक्षभङ्गीसे महामना कश्यपजीका हृदय अपने 'वशमें कर लिया ॥ २८ ॥ महात्मा कश्यप बड़े विद्वान् तथा विचारवान् थे। फिर भी उस बुद्धिमती स्त्रीकी सेवासे मुग्ध और विवश होकर उन्होंने 'हाँ' कह दिया अर्थात् उसकी इच्छा पूर्ण करना स्वीकार कर लिया। स्त्रीके वशमें होकर पुरुषका ऐसा कह देना कोई विस्मयकी

विलोक्यैकान्तभूतानि भूतान्यादौ प्रजापतिः । स्त्रियं चक्रे स्वदेहार्धं यया पुंसां मतिर्हृता ॥३०॥
एवं शुश्रूषितस्तात भगवान् कश्यपः स्त्रिया । प्रहस्य परमप्रीतो दितिमाहाभिनन्द्य च ॥३१॥

कश्यप उवाच

वरं वरय वामोरु प्रीतस्तेऽहमनिन्दिते । स्त्रिया भर्तरि सुप्रीते कः काम इह चागमः ॥३२॥
पतिरेव हि नारीणां दैवतं परमं स्मृतम् । मानसः सर्वभूतानां वासुदेवः श्रियः पतिः ॥३३॥
स एव देवतालिङ्गैर्नामरूपविकल्पितैः । इज्यते भगवान् पुम्भिः स्त्रीभिश्च पतिरूपधृक् ॥३४॥
तस्मात् पतिव्रता नार्यः श्रेयस्कामाः सुमध्यमे । यजन्तेऽनन्यभावेन पतिमात्मानमीश्वरम् ॥३५॥
सोऽहं त्वयार्चितो भद्रे ईदृग्भावेन भक्तितः । तत् ते सम्पादये काममसतीनां सुदुर्लभम् ॥३६॥

दितिरुवाच

वरदो यदि मे ब्रह्मन् पुत्रमिन्द्रहणं वृणे । अमृत्युं मृतपुत्राहं येन मे घातितौ सुतौ ॥३७॥
निशम्य तद्वचो विप्रो विमनाः पर्यतप्यत । अहो अधर्मः सुमहानद्य मे समुपस्थितः ॥३८॥
अहो अद्येन्द्रियारामो योषिन्मय्येह मायया । गृहीतचेताः कृपणः पतिष्ये नरके ध्रुवम् ॥३९॥
कोऽतिक्रमोऽनुवर्तन्त्याः स्वभावमिह योषितः । धिङ्मां बताबुधं स्वार्थे यदहं त्वजितेन्द्रियः ॥४०॥
शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम् । हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥४१॥

बात नहीं है ॥ २९ ॥ क्योंकि पहले स्वयं प्रजापति ब्रह्माने ही सब जीवोंको निःसङ्ग देखकर अपने आधे शरीरसे स्त्रीजातिको जन्म दिया था, जिसने पुरुषोंकी बुद्धि हर ली ॥३०॥ इस तरह अपनी भार्या दितिके बहुत सेवा करनेके कारण भगवान कश्यप परम प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करते हुए हँसकर बोले ॥३१॥ कश्यपजीने कहा—हे वरोरु! हे अनिन्दिते! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ? तुम मुझसे जो चाहो सो वर माँगो। अपने पतिके प्रसन्न हो जानेपर स्त्रीके लिये इहलोक या परलोकमें कौन पदार्थ दुर्लभ हो सकता है? ॥३२॥ स्त्रियोंके लिये परम पूजनीय देवता पति ही माना गया है। सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान ही नाम-रूपके भेदसे कल्पित भिन्न-भिन्न देवताओंके रूपमें सब पुरुषों तथा पतिरूपमें स्त्रियों द्वारा पूजित होते हैं। अतएव हे सुमध्यमे! प्रायः सभी कल्याणकामिनी और पतिव्रता स्त्रियें अपने पतिको अनन्यभावसे सर्वात्मा भगवानके रूपमें पूजती हैं॥ ३३–३५ ॥ हे भद्रे! तूने भी भक्तिके साथ मुझ अपने पतिकी ऐसे ही भावसे पूजा की है। अतएव मैं तेरी वह सब इच्छायें पूर्ण करूँगा—जो कुलटा स्त्रियोंके लिए बहुत दुर्लभ हैं॥ ३६ ॥ दितिने कहा—हे ब्रह्मन्! यदि वास्तवमें आप मुझे वर देना चाहते हों तो मैं आपसे एक ऐसा अमर पुत्र माँगती हूँ, जो उस इन्द्रका वध कर सके—जिसने मेरे दोनों पुत्रोंका वध करके मुझे निपूती कर दिया है ॥ ३७ ॥ दितिके वचनोंको सुना तो महर्षि कश्यप कुछ अनमनेसे होकर इस तरह पछताने लगे—'अहो! आज मेरे समक्ष यह बड़ा भारी पापका प्रसंग आ उपस्थित हुआ! ॥ ३८ ॥ अहो! मुझ इन्द्रियलोलुप चित्तवाले पुरुषको आज इस स्त्रीरूपिणी मायाने जड़ बना दिया! अब मुझे दीनको अवश्य ही नरकगामी होना पड़ेगा ॥ ३९ ॥ इस नारीने तो अपने जातिस्वभावका ही अनुसरण किया है, इसमें इसका क्या कसूर? मैं ही बड़ा अजितेन्द्रिय तथा अपने वास्तविक स्वार्थसे अनभिज्ञ हूँ, मुझको धिक्कार है॥ ४० ॥ इन स्त्रियोंका मुख शरत्कालके कमलकी भाँति सुन्दर होता है और वचन तो जैसे कानोंमें अमृतकी धारा बहाने लगते हैं, किन्तु इनका हृदय छुरेकी धारकी नाईं तीक्ष्ण होता है। तब भला इनके चरित्रको कौन समझ सकता है? ॥ ४१ ॥ अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिये ही ये अपने आत्मा की तरह प्रिय जान पड़ती हैं, सच पूछो तो इन स्त्रियोंका कोई भी प्रिय नहीं होता। अपने स्वार्थमें बाधा पड़ती देखकर ये पति, पुत्र तथा भाईको भी स्वयं मार डालती या किसी दूसरेसे मरवा देती

न हि कश्चित् प्रियः स्त्रीणामञ्जसा स्वाशिषात्मनाम् । पतिं पुत्रं भ्रातरं वा घ्नन्त्यर्थे घातयन्ति च ॥४२॥
प्रतिश्रुतं ददामीति वचस्तन्न मृषा भवेत् । वधं नार्हति चेन्द्रोऽपि तत्रेदमुपकल्पते ॥४३॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान् मारीचः कुरुनन्दन । उवाच किञ्चित्कुपित आत्मानं च विगर्हयन् ॥४४॥

कश्यप उवाच

पुत्रस्ते भविता भद्रे इन्द्रहा देवबान्धवः । संवत्सरं व्रतमिदं यद्यञ्जो धारयिष्यसि ॥४५॥

दितिरुवाच

धारयिष्ये व्रतं ब्रह्मन् ब्रूहि कार्याणि यानि मे । यानि चेह निषिद्धानि न व्रतं घ्नन्ति यानि तु ॥४६॥

कश्यप उवाच

न हिंस्याद् भूतजातानि न शपेन्नानृतं वदेत् । न छिन्द्यान्नखरोमाणि न स्पृशेद् यदमङ्गलम् ॥४७॥
नाप्सु स्नायान्न कुप्येत न सम्भाषेत दुर्जनैः । न वसीताधौतवासः स्रजं च विधृतां क्वचित् ॥४८॥
नोच्छिष्टं चण्डिकान्नं च सामिषं वृषलाहृतम् । भुञ्जीतोदक्यया दृष्टं पिबेदञ्जलिना त्वपः ॥४९॥
नोच्छिष्टास्पृष्टसलिला सन्ध्यायां मुक्तमूर्धजा । अनर्चितासंयतवाङ् नासंवीता बहिश्चरेत् ॥५०॥
नाधौतपादाप्रयता नार्द्रपान्नो उदक्शिराः । शयीत नापराङ् नान्यैर्न नग्ना च सन्ध्ययोः ॥५१॥
धौतवासाः शुचिर्नित्यं सर्वमङ्गलसंयुता । पूजयेत् प्रातराशात् प्राग् गोविप्राञ्छ्रियमच्युतम् ५२
स्त्रियो वीरवतीश्चार्चेत् स्रग्गन्धबलिमण्डनैः । पतिं चार्च्योपतिष्ठेत ध्यायेत् कोष्ठगतं च तम् ५३
सांवत्सरं पुंसवनं व्रतमेतदविप्लुतम् । धारयिष्यसि चेत् तुभ्यं शक्रहा भविता सुतः ॥५४॥

हैं ॥ ४२ ॥ अब इस विषयमें मुझे ऐसा कुछ करना चाहिए कि मैंने जो इससे प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं तुझे वर देता हूँ' मेरा वह वचन झूठ न हो और इन्द्र भी न मरे ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! यह विचार-कर मरीचिनन्दन भगवान कश्यपने तनिक कुपित जैसे होकर अपनी निन्दा करते हुए कहा ॥ ४४ ॥ कश्यपजी कहने लगे—'हे भद्रे ! यदि तुम पूरे एक वर्ष यह व्रत विधिके साथ निबाहोगी तो तुम्हारे गर्भसे इन्द्रका वध करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा, किन्तु उसमें किसी प्रकारका विघ्न हो जानेसे वह देवताओंका मित्र हो जायगा ॥ ४५ ॥ दिति बोली—हे ब्रह्मन् ! मैं यह व्रत धारण करूँगी । इसमें जो-जो कर्तव्य हो, जिस-जिसका त्याग करना उचित हो और जिस-जिसके करनेसे व्रतभङ्ग होनेकी संभावना न रहे, वह सब आप मुझे बताइये ॥ ४६ ॥ कश्यपजीने कहा—यह व्रत पालन करते समय कभी किसी प्राणीकी किसी तरह हिंसा न करे, किसीको कटु वचन न कहे, झूठ न बोले, नख और रोम न काटे, कोई अपवित्र वस्तु न छुवे ॥४७॥ जलमें घुसकर न नहाय, क्रोध न करे, दुर्जनोंसे संभाषण न करे, बिना धोये वस्त्र न पहिने और किसीकी पहनी हुई मालाको न धारण करे ॥४८॥ जूठा, भद्रकाली-को अर्पित, मांसयुक्त, शूद्रोंका लाया अथवा रजस्वला स्त्रीका देखा हुआ अन्न न खाय, अञ्जलिसे जल न पिये ॥ ४९ ॥ जूठे मुँह, बिना कुल्ला किये, सन्ध्याके समय, बाल खोले, बिना शृङ्गार किये, बिना वाणीको वशमें किये और बिना वस्त्र पहने घरसे बाहर न निकले ॥ ५० ॥ बिना पैर धोये, अपवित्र अवस्थामें, गीले पावोंसे, उत्तर तथा पश्चिमकी ओर माथा करके, दूसरेके साथ, नङ्गी दशामें अथवा प्रातःकाल तथा सायंकालको न सोये ॥ ५१ ॥ इन निषिद्ध कर्मोंका त्याग करते हुए सदा पवित्र हो और धुला वस्त्र पहनकर सर्वसौभाग्यचिह्नोंसे युक्त होकर कलेवा करनेसे पहले गो, ब्राह्मण, लक्ष्मीजी तथा विष्णुभगवानका पूजन करे ॥ ५२ ॥ तदनन्तर माला, गन्ध, नैवेद्य तथा आभूषणादिसे सौभाग्यवती स्त्रियोंका पूजन करे । तब पतिका पूजन करके उसीकी सेवामें तत्पर रहे और यह सोचे कि उसका तेज मेरी कुक्षिमें आकर स्थित हो गया है ॥ ५३ ॥ हे दिति ! एक वर्षतक तुम यदि इस पुंसवनव्रतका अखण्डरूपसे पालन करोगी तो तुम्हारे गर्भसे इन्द्रका वध करनेवाला पुत्र जायमान

बाढमित्यभिप्रेत्याथ दिती राजन् महामनाः । काश्यपं गर्भमाधत्त व्रतं चाञ्जो दधार सा ॥५५॥
मातृष्वसुरभिप्रायमिन्द्र आज्ञाय मानद । शुश्रूषणेनाश्रमस्थां दितिं पर्यचरत् कविः ॥५६॥
नित्यं वनात् सुमनसः फलमूलसमित्कुशान् । पत्रांकुरमृदोऽपश्च काले काल उपाहरत् ॥५७॥
एवं तस्या व्रतस्थाया व्रतच्छिद्रं हरिर्नृप । प्रेप्सुः पर्यचरज्जिह्मो मृगहेव मृगाकृतिः ॥५८॥
नाध्यगच्छद् व्रतच्छिद्रं तत्परोऽथ महीपते । चिन्तां तीव्रां गतः शक्रः केन मे स्याच्छिवं त्विह॥
एकदा सा तु सन्ध्यायामुच्छिष्टा व्रतकर्शिता । अस्पृष्टवार्यधौताङ्घ्रिः सुष्वाप विधिमोहिता ॥६०॥
लब्ध्वा तदन्तरं शक्रो निद्रापहृतचेतसः । दितेः प्रविष्ट उदरं योगेशो योगमायया ॥६१॥
चकर्त सप्तधा गर्भं वज्रेण कनकप्रभम् । रुदन्तं सप्तधैकैकं मा रोदीरिति तान् पुनः ॥६२॥
ते तमूचुः पाट्यमानाः सर्वे प्राञ्जलयो नृप । नो जिघांससि किमिन्द्र भ्रातरो मरुतस्तव ॥६३॥
मा भैष्ट भ्रातरो मह्यं यूयमित्याह कौशिकः । अनन्यभावान् पार्षदानात्मनो मरुतां गणान् ॥६४॥
न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया । बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान् ॥६५॥
सकृदिष्ट्वाऽऽदिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम् । संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः ॥६६॥
सजूरिन्द्रेण पञ्चाशद् देवास्ते मरुतोऽभवन् । व्यपोह्य मातृदोषं ते हरिणा सोमपाः कृताः ॥६७॥
दितिरुत्थाय ददृशे कुमाराननलप्रभान् । इन्द्रेण सहितान् देवी पर्यतुष्यदनिन्दिता ॥६८॥

होगा ॥ ५४ ॥ हे राजन् तब कश्यपकी महामनस्विनी पत्नी दितिने 'बहुत अच्छा' कहकर कश्यपजीका तेजयुक्त गर्भ धारण किया और उपर्युक्त व्रतकी भी दीक्षा ले ली ॥ ५५ ॥ हे मानद ! चतुर देवराज इन्द्रको जब अपनी माँकी बहिन दितिका अभिप्राय मालूम हो गया तो वे आश्रमनिवासिनी दितिकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे ॥ ५६ ॥ उस समय वे दितिको रोज वनसे फूल, फल, मूल, समिधा, कुशा, पत्र, दूब, मृत्तिका तथा जल आदि लाकर दिया करते थे ॥ ५७ ॥ हे राजन् ! जैसे व्याधा मृगको मारनेके लिये उसीके जैसा वेष बना लेता है, वैसे ही इन्द्र अपना कपटवेष बनाकर व्रतमें स्थित दितिका व्रत भङ्ग करनेका मौका खोजते हुए उसकी सेवाटहलमें संलग्न रहे ॥ ५८ ॥ हे महीपति ! इस तरह छिद्रान्वेषणमें सर्वदा तत्पर रहनेपर भी जब उनको कोई मौका नहीं मिला, तब उन्हें यह चिन्ता हुई कि मैं क्या करूँ कि जिससे मेरा कल्याण हो ॥ ५९ ॥ एक दिनकी बात है विधाताके विधानसे विमोहित दिति व्रतके कारण अति दुर्बल हो जानेसे सायंकालको उच्छिष्ट अवस्थामें बिना आचमन किये तथा बिना पैर धोये ही सो गयी ॥ ६० ॥ वह अवसर हाथ लगा देखकर योगेश्वर इन्द्र तत्काल अपने योगबल द्वारा निद्रासे अचेत दितिके उदरमें घुस गये ॥ ६१ ॥ और उन्होंने अपने वज्रसे उस सुवर्ण सदृश देदीप्यमान गर्भके सात टुकड़े कर डाले। मरते समय जब वह बालक रोने लगा तो 'मत रो' यह कहकर उन्होंने उस एक-एक खण्डके सात-सात टुकड़े कर दिये ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! इस तरह काटे जानेपर उन सबने हाथ जोड़कर विनीतभावसे कहा—'हे इन्द्र ! तुम हमें क्यों मार रहे हो ? हम तो तुम्हारे ही भाई हैं' ॥ ६३ ॥ इसपर इन्द्रने अपने अनन्य-पार्षद उन मरुतोंसे कहा—अस्तु, यदि तुम मेरे भाई हो तो भय मत करो ॥ ६४ ॥ हे राजन् ! उस समय जैसे अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं हुआ था, वैसे ही श्रीनिवास नारायणकी कृपासे दितिका वह गर्भ इन्द्रके वज्रद्वारा टुकड़े-टुकड़े होकर भी नहीं मरा ॥ ६५ ॥ कोई पुरुष एक बार आदिपुरुष भगवानका पूजन करके ही उनकी समानता पा लेता है, फिर दितिने तो कुछ ही कम पूरे एक वर्षतक भगवानकी सेवा की थी ॥ ६६ ॥ इसके बाद वे मरुद्गण इन्द्रसे मिलकर उनचास देवता हो गये और इन्द्रने भी विमाताके सम्बन्धके घटित होनेवाले दोषको त्यागकर उन्हें सोमपायी देवता बना लिया ॥ ६७ ॥ जब दिति जागी तो उसने उस अग्निके समान तेजस्वी बालकोंको इन्द्रके

अथेन्द्रमाह ताताहमादित्यानां भयावहम् । अपत्यमिच्छन्त्यचरं व्रतमेतत् सुदुष्करम् ॥६९॥
एकः सङ्कल्पितः पुत्रः सप्त सप्ताभवन् कथम् । यदि ते विदितं पुत्र सत्यं कथय मा मृषा ॥७०॥

इन्द्र उवाच

अम्ब तेऽहं व्यवसितमुपधार्यागतोऽन्तिकम् । लब्धान्तरोऽच्छिदं गर्भमर्थबुद्धिर्न धर्मवित् ॥७१॥
कृत्तो मे सप्तधा गर्भ आसन् सप्त कुमारकाः । तेऽपि चैकैकशो वृक्णाः सप्तधा नापि मम्रिरे ॥७२॥
ततस्तत् परमाश्चर्यं वीक्ष्याध्यवसितं मया । महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यनुषङ्गिणी ॥७३॥
आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः । ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः ७४
आराध्यात्मप्रदं देवं स्वात्मानं जगदीश्वरम् । को वृणीते गुणस्पर्शं बुधः स्यान्नरकेऽपि यत् ॥७५॥
तदिदं मम दौर्जन्यं बालिशस्य महीयसि । क्षन्तुमर्हसि मातस्त्वं दिष्टया गर्भो मृतोत्थितः ७६

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्तयाभ्यनुज्ञातः शुद्धभावेन तुष्टया । मरुद्भिः सह तां नत्वा जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥७७॥
एवं ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि । मङ्गलं मरुतां जन्म किं भूयः कथयामि ते ॥७८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां षष्ठस्कन्धे मरुदुत्पत्तिकथनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

राजोवाच

व्रतं पुंसवनं ब्रह्मन् भवता यदुदीरितम् । तस्य वेदितुमिच्छामि येन विष्णुः प्रसीदति ॥१॥

सहित सामने खड़ देखा। इससे उत्तम आचरणवाली दिति बहुत प्रसन्न हुई ॥ ६८ ॥ उसने इन्द्रसे कहा—"बेटा ! मैं अदितिके पुत्रोंको भय देनेवाले पुत्र पानेकी इच्छासे ही इस दुष्कर व्रतका पालन करती थी। मेरा संकल्प तो केवल एक पुत्रके लिये था, तब ये उनचास पुत्र कैसे हुए ? बेटा, इस विषयमें यदि तुम कुछ जानते होओ तो सच-सच बता दो, झूठ न बोलना ॥ ६९ ॥ ७० ॥ इन्द्रने कहा—हे माताजी ! तुम्हारा दुष्ट अभिप्राय जानकर ही मैं स्वार्थबुद्धिसे तुम्हारे पास आकर रहने लगा था। मुझे धर्मका कोई विचार नहीं था। इसीलिये अवसर पाकर मैंने तुम्हारे गर्भके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ७१ ॥ पहले मैंने जो सात टुकड़े किये थे, वे सात बालक हो गये तब उनमेंसे भी प्रत्येकके सात-सात टुकड़े कर दिये, फिर भी वे नहीं मरे और उन सातके उनचास बालक हो गये ॥ ७२ ॥ यह आश्चर्यजनक घटना घटित देखकर मैंने सोचा कि यह परम पुरुष नारायणकी उपासनासे प्राप्त होनेवाली कोई सिद्धि है ॥ ७३ ॥ निष्कामभावसे भगवानकी उपासना करते हुए जो लोग मोक्ष नहीं चाहते, वे ही सच्चे स्वार्थकुशल हैं ॥ ७४ ॥ अतएव अपने आत्मा तथा अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान करानेवाले जगदीश्वरकी आराधना करके कोई बुद्धिमान् पुरुष उनसे भला उन विषयभोगोंकी याचना क्यों करेगा, जो कि नरकमें भी मिलते हैं ॥ ७५ ॥ हे माताजी ! तुम बड़ी हो, मुझ मूर्खने जो दुष्टता की है, उसे क्षमा कर दो। बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा गर्भ मरकर फिर जी गया है ॥ ७६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—तब इन्द्रके शुद्धभावसे प्रसन्न दितिके कहनेसे देवराज इन्द्र उसे प्रणामकर और मरुद्गणोंको साथ लेकर अपने देवलोकको लौट गये ॥ ७७ ॥ इस तरह जो तुमने पूछा था, मैंने मरुद्गणकी मङ्गलमयी उत्पत्तिका सब वृत्तान्त तुम्हें कह सुनाया, अब और क्या कहूँ ? ॥ ७८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे भाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(पुंसवनव्रतका विधि-विधान) इसके बाद राजा परीक्षितने कहा—हे ब्रह्मन् ! आपने

श्रीशुक उवाच

शुक्ले मार्गशिरे पक्षे योषिद् भर्तुरनुज्ञया । आरभेत व्रतमिदं सार्वकामिकमादितः ॥ २ ॥
निशम्य मरुतां जन्म ब्राह्मणाननुमन्त्र्य च । स्नात्वा शुक्लदती शुक्ले वसीतालंकृताम्बरे ।
पूजयेत् प्रातराशात् प्राग् भगवन्तं श्रिया सह ॥ ३ ॥
अलं ते निरपेक्षाय पूर्णकाम नमोऽस्तु ते । महाविभूतिपतये नमः सकलसिद्धये ॥ ४ ॥
यथा त्वं कृपया भूत्या तेजसा महिनौजसा । जुष्ट ईशगुणैः सर्वैस्ततोऽसि भगवान् प्रभुः ॥ ५ ॥
विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे । प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥

ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महानुभावाय महाविभूतिपतये सह महाविभूतिभिर्बलिमुपहराणीति । अनेनाहरहर्मन्त्रेण विष्णोरावाहनार्घ्यपाद्योपस्पर्शनस्नानवासउपवीतविभूषणगन्धपुष्पधूपदीपोपहाराद्युपचारांश्च समाहित उपाहरेत् ॥ ७ ॥

हविःशेषं तु जुहुयादनले द्वादशाहुतीः ।
ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहेति ॥ ८ ॥

श्रियं विष्णुं च वरदावाशिषां प्रभवावुभौ । भक्त्या सम्पूजयेन्नित्यं यदीच्छेत् सर्वसम्पदः ॥ ९ ॥
प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ भक्तिप्रह्वेण चेतसा । दशवारं जपेन्मन्त्रं ततः स्तोत्रमुदीरयेत् ॥ १० ॥
युवां तु विश्वस्य विभू जगतः कारणं परम् । इयं हि प्रकृतिः सूक्ष्मा मायाशक्तिर्दुरत्यया ॥ ११ ॥

जो पुंसवनव्रतकी चर्चा की थी, जिससे कि विष्णुभगवान प्रसन्न होते हैं। मैं उसकी विधि जाननेको उत्सुक हूँ ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! अपने स्वामीकी आज्ञा लेकर सब कामनाओंको सम्पन्न करनेवाले इस व्रतका अगहन मासके शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे आरम्भ करना चाहिए ॥ २ ॥ पहले मरुद्गणके जन्मकी कथा सुनकर ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले प्रतिदिन सबेरे दातून आदिसे दाँत साफ करके स्नानसे निवृत्त होकर दो श्वेत वस्त्र तथा आभूषण पहने तथा कलेवा करनेके पहले श्रीलक्ष्मीजी और नारायणकी पूजा तथा स्तुति करे—॥ ३ ॥ हे पूर्णकाम ! आपको सब कुछ प्राप्त रहता है। इस लिये आप किसीसे कुछ नहीं चाहते—आपको प्रणाम है। हे महाविभूतिपते और सर्वसिद्धिमय ! आपको पुनः पुनः प्रणाम है ॥ ४ ॥ हे देव ! आप कृपा, विभूति, तेज, महिमा तथा वीर्य आदि सभी प्रभुताके गुणोंसे परिपूर्ण हैं। अतएव आप साक्षात् भगवान हैं ॥ ५ ॥ इस तरह भगवानकी प्रार्थना करनेके बाद भगवती लक्ष्मीजीकी स्तुति करता हुआ कहे—हे विष्णुपत्नि ! हे महामाये ! हे भगवद्गुणविशिष्टे ! हे महाभागे ! हे मातः ! तुम मेरेपर प्रसन्न होओ, तुमको प्रणाम है ॥ ६ ॥ फिर संयतचित्त होकर 'ॐ महापुरुष महाविभूतिपति तथा भगवान महानुभावको उनकी महाविभूतियोंके सहित नमस्कार है। मैं उनको पूजोपहार समर्पण करती हूँ' इस मन्त्रका उच्चारण करके श्रीविष्णुभगवानको रोज आवाहन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप तथा उपहार आदि निवेदन करे ॥ ७ ॥ बचे हुए नैवेद्यसे 'ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा' यह मन्त्र कहकर प्रज्वलित अग्निमें बारह आहुतियाँ डाले ॥ ८ ॥ जिसको सब सम्पत्तियें प्राप्त करनेकी अभिलाषा हो, वह सभी कामनायें पूर्ण करनेवाले एवं वरदायक श्रीलक्ष्मीजी और भगवान नारायण इन दोनोंका भक्तिके साथ पूजन करे ॥ ९ ॥ तदनन्तर भक्तिके कारण नम्रचित्तसे पृथिवीपर लोटकर साष्टांग प्रणाम करे और उपर्युक्त मन्त्रका दस बार जप करनेके बाद इस स्तोत्रका पाठ करे—॥ १० ॥ 'हे लक्ष्मी-नारायण ! आप दोनों सर्वव्यापक और सारे जगत्के परम कारण हैं। ये लक्ष्मीजी आप नारायणकी दुर्निवार मायाशक्तिरूपिणी प्रकृति हैं ॥ ११ ॥ और आप इनके अधीश्वर एवं साक्षात् परमपुरुष हैं। आप ही सब यज्ञ हैं और

तस्या अधीश्वरः साक्षात् त्वमेव पुरुषः परः । त्वं सर्वयज्ञ इज्येयं क्रियेयं फलभुग् भवान् ॥१२॥
गुणव्यक्तिरियं देवी व्यञ्जको गुणभुग् भवान् । त्वं हि सर्वशरीर्यात्मा श्रीः शरीरेन्द्रियाशया ।
नामरूपे भगवती प्रत्ययस्त्वमपाश्रयः ॥ १३ ॥
यथा युवां त्रिलोकस्य वरदौ परमेष्ठिनौ । तथा म उत्तमश्लोक सन्तु सत्या महाशिषः ॥१४॥
इत्यभिष्टूय वरदं श्रीनिवासं श्रिया सह । तन्निःसार्योपहरणं दत्त्वाऽऽचमनमर्चयेत् ॥१५॥
ततः स्तुवीत स्तोत्रेण भक्तिप्रह्वेण चेतसा । यज्ञोच्छिष्टमवघ्राय पुनरभ्यर्चयेद्धरिम् ॥१६॥
पतिं च परया भक्त्या महापुरुषचेतसा । प्रियैस्तैस्तैरुपनमेत् प्रेमशीलः स्वयं पतिः ।
बिभृयात् सर्वकर्माणि पत्न्या उच्चावचानि च ॥ १७ ॥
कृतमेकतरेणापि दम्पत्योरुभयोरपि । पत्न्यां कुर्यादनर्हायां पतिरेतत् समाहितः ॥१८॥
विष्णोर्व्रतमिदं बिभ्रन्न विहन्यात् कथञ्चन । विप्रान् स्त्रियो वीरवतीः स्रग्गन्धबलिमण्डनैः ।
अर्चेदहरहर्भक्त्या देवं नियममास्थितः ॥ १९ ॥
उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः । अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामर्द्धये तथा ॥२०॥
एतेन पूजाविधिना मासान् द्वादश हायनम् । नीत्वाथोपचरेत् साध्वी कार्तिके चरमेऽहनि ॥२१॥
श्वोभूतेऽप उपस्पृश्य कृष्णमभ्यर्च्य पूर्ववत् । पयःशृतेन जुहुयाच्चरुणा सह सर्पिषा ।
पाकयज्ञविधानेन द्वादशैवाहुतीः पतिः ॥ २२ ॥
आशिषः शिरसाऽऽदाय द्विजैः प्रीतैः समीरिताः। प्रणम्य शिरसा भक्त्या भुञ्जीत तदनुज्ञया ॥२३॥

ये इज्या हैं। आप फलके भोक्ता और ये क्रिया हैं ॥ १२ ॥ ये देवी लक्ष्मीजी गुणोंकी व्यक्ति हैं और आप उनके व्यञ्जक गुणोंके भोक्ता हैं। आप सब देहधारियोंके आत्मा हैं और लक्ष्मीजी शरीर, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण हैं। भगवती नाम तथा रूप हैं और आप उनके प्रकाशक और आश्रय हैं ॥ १३ ॥ हे पवित्रकीर्ते ! आप दोनों त्रिलोकीके वरदाता परमेश्वर हैं। इसलिए मेरी सब बड़ी-बड़ी कामनाएँ आपकी कृपासे पूर्ण हो जायँ ॥ १४ ॥ इस तरह श्रीलक्ष्मीजीके सहित वरदायक लक्ष्मीपतिकी स्तुति करके वहाँसे नैवेद्य हटा ले और भगवानको आचमन कराके पूजन करे ॥ १५ ॥ फिर अपने भक्तिविनम्र चित्तसे स्तोत्रद्वारा भगवानकी स्तुति करे और यज्ञशिष्ट वस्तुको सूँघकर फिर भगवानका पूजन करे ॥ १६ ॥ अपने पतिको भी इसी तरह उसकी सभी प्रिय वस्तुएँ अर्पण करके अतिशय भक्तिभावसे ईश्वरबुद्धिसे पूजे और स्वयं पति भी अपनी पत्नीके सब छोटे-बड़े कामोंको प्रेमपूर्वक पूर्ण करे ॥ १७ ॥ स्त्री-पुरुषोंमेंसे किसीका भी किया हुआ कार्य पति-पत्नी दोनोंके लिए फलदायक होता है। अतएव यदि पत्नी यह व्रत पूर्ण करनेमें समर्थ न हो तो पति ही एकाग्रमनसे इसे सम्पन्न करे ॥ १८ ॥ क्योंकि यह वैष्णव व्रत लेकर बीचमें ही कभी भी न छोड़े। नियमपूर्वक इस व्रतको धारण करनेवाले पुरुष अथवा स्त्रीको नित्य देवपूजनके बाद माला, चन्दन, नैवेद्य तथा आभूषणादिसे ब्राह्मणों तथा सोहागिन स्त्रियोंका भक्तिके साथ पूजन करना चाहिए ॥ १९ ॥ तदनन्तर भगवानका अपने परम धाम जानेकी भावना करके उनका विसर्जन करे तथा चित्तकी शुद्धि और कामनाओंकी वृद्धिके निमित्त भगवानको पूर्वनिवेदित प्रसाद खाय ॥ २० ॥ वह साध्वी स्त्री इसी विधिके अनुसार बारह महीनेतक इस व्रतका आचरण करके कार्तिक मासके अन्तिम दिनको उद्यापन, उपवास तथा पूजन करे ॥ २१ ॥ उद्यापनके दिन सवेरे ही स्नान करके पूर्ववत् कृष्णभगवानका पूजन करे और उस स्त्रीका पति पाकयज्ञविधिके अनुसार दूधमें पकाये हुए घृतमिश्रित चरु द्वारा अग्निमें बारह आहुतियाँ दे ॥ २२ ॥ तदनन्तर ब्राह्मणोंके प्रसन्नतापूर्वक दिये आशीर्वादोंको सिरपर धारण करे और

आचार्यमग्रतः कृत्वा वाग्यतः सह बन्धुभिः । दद्यात् पत्न्यै चरोः शेषं सुप्रजास्त्वं सुसौभगम्॥२४
एतच्चरित्वा विधिवद् व्रतं विभोरभीप्सितार्थं लभते पुमानिह ।
स्त्री त्वेतदास्थाय लभेत सौभगं श्रियं प्रजां जीवपतिं यशो गृहम् ॥२५॥
कन्या च विन्देत समग्रलक्षणं वरं त्ववीरा हतकिल्बिषा गतिम् ।
मृतप्रजा जीवसुता धनेश्वरी सुदुर्भगा सुभगा रूपमग्र्यम् ॥२६॥
विन्देद् विरूपा विरुजा विमुच्यते य आमयावीन्द्रियकल्पदेहम् ।
एतत् पठन्नभ्युदये च कर्मण्यनन्ततृप्तिः पितृदेवतानाम् ॥२७॥
तुष्टाः प्रयच्छन्ति समस्तकामान् होमावसाने हुतभुक् श्रीहरिश्च ।
राजन् महन्मरुतां जन्म पुण्यं दितेर्व्रतं चाभिहितं महत् ते ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टादशसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां षष्ठस्कन्धे पुंसवनव्रतकथनं नामैकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥

हरिः ॐ तत्सत्

उन्हें मस्तक झुकाकर भक्तिके साथ प्रणाम करे। तब उनकी आज्ञा लेकर पहले आचार्यको भोजन करावे। तदनन्तर अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ मौनभावसे स्वयं भोजन करे। तब जो सत्पुत्रदायक तथा सौभाग्यप्रद चरु बचा हो, उसे अपनी पत्नीको दे दे ॥ २३ ॥ २४ ॥ विष्णुभगवानके प्रिय इस व्रतका विधिपूर्वक आचरण करनेसे पुरुषको सभी इच्छित पदार्थ मिलजाते हैं। स्त्रीको इसका आचरण करनेसे सौभाग्य, सम्पत्ति, सन्तान, अवैधव्य, यश तथा गृह आदिके सुख प्राप्त होते हैं ॥२५॥ यह व्रत धारण करनेसे कन्या सर्वलक्षणसम्पन्न पति पाती, विधवा पापरहित होकर सद्गति पाती, मृतपुत्रा स्त्रीको चिरंजीवी पुत्र मिलता, धनवती किन्तु अभागिन स्त्रीको सौभाग्य एवं कुरूपाको सुन्दर रूप मिल जाता है। कोई रोगी पुरुष यदि इसका आचरण करता तो रोगमुक्त होकर सुदृढ़ शरीर हो जाता है। आभ्युदयिक अर्थात् यज्ञ-श्राद्धादि कर्मोंके अवसरपर इसका पाठ करनेसे देवता तथा पितरोंको अनन्त तृप्ति प्राप्त होती है ॥ २६ ॥ २७ ॥ इससे वे देवता और पितर सन्तुष्ट होकर उसकी सब कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। इसी तरह होमके अन्तमें हवन की हुई सामग्रीको अग्निके द्वारा भोगनेवाले श्रीलक्ष्मीनारायण प्रसन्न होकर उसका सब मनोरथ पूर्ण कर दिया करते हैं। हे राजन्! मरुद्गणका यह पुण्यप्रद तथा महान् चरित्र और कश्यपप्रिय दितिके महाव्रतका वृत्तान्त हमने तुम्हें कह सुनाया ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे षष्ठस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'-भाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

॥ इति षष्ठस्कन्धः समाप्तः ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी'भाषाटीकासहितम्।

सप्तमस्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

समः प्रियः सुहृद् ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम्। इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद् विषमो यथा ॥१॥
न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान्निःश्रेयसात्मनः। नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि ॥२॥
इति नः सुमहाभाग नारायणगुणान् प्रति। संशयः सुमहाञ्जातस्तद् भवांश्छेत्तुमर्हति ॥३॥

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाराज हरेश्चरितमद्भुतम्। यत्र भागवतमाहात्म्यं भगवद्भक्तिवर्धनम् ॥४॥
गीयते परमं पुण्यमृषिभिर्नारदादिभिः। नत्वा कृष्णाय मुनये कथयिष्ये हरेः कथाम् ॥५॥
निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः। स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः ॥६॥
सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः। न तेषां युगपद् राजन् ह्रास उल्लास एव वा ॥७॥
जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान्। तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत् ॥८॥
ज्योतिरादिरिवाभाति सङ्घातान्न विविच्यते। विदन्त्यात्मानमात्मस्थं मथित्वा कवयोऽन्ततः॥९॥

श्रीहरिः॥ (नारद-युधिष्ठिर-संवाद) महाराज परीक्षित् बोले—हे ब्रह्मन्! भगवान तो समदर्शी तथा सबके प्रिय सुहृद् हैं। तब उन्होंने विषमदृष्टि पुरुषोंकी तरह इन्द्रके लिये दैत्योंको क्यों मारा? ॥ १॥ वे तो कल्याणरूप हैं। उन्हें देवताओंसे कोई प्रयोजन नहीं और निर्गुण होनेसे दैत्योंसे उन्हें कोई विद्वेष भी नहीं रहता॥ २॥ हे महाभाग! हमारे मनमें नारायणके गुणोंके प्रति यह बहुत बड़ा सन्देह हो गया है, इसे आप ही निवृत्त कर सकते हैं॥ ३॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! आपने भगवानका विचित्र चरित्रसम्पन्न बड़ा अच्छा प्रश्न किया है। जिसमें एक परम भक्तका माहात्म्य वर्णित है॥ ४॥ इस चरित्रका नारदादि मुनिजन सर्वदा गान किया करते हैं। अब मैं महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायनको प्रणाम करके वह हरिकथा कहता हूँ॥ ५॥ वास्तवमें वे भगवान निर्गुण, अजन्मा, अव्यक्त तथा प्रकृतिसे परे हैं, फिर भी अपनी मायाके गुणोंके सहारे वे स्वयं बाध्य-बाधक भावको प्राप्त होते हैं॥ ६॥ सत्त्व, रज तथा तम ये तीनों प्रकृतिके ही गुण हैं—आत्माके नहीं। हे राजन्! उन तीनोंमें एक साथ क्षति अथवा वृद्धि नहीं होने पाती॥ ७॥ यही कारण है कि भगवान समय-समयपर तात्कालिक गुणका आश्रय लेकर सत्त्वगुणकी प्रधानताके समय देवताओं और ऋषियोंको, रजोगुणकी वृद्धिमें असुरोंको और तमोगुणकी वृद्धि होनेपर यक्षों और राक्षसोंको बढ़ाते हैं॥ ८॥ आत्मा तो ज्योतिकी

यदा सिसृक्षुः पुर आत्मनः परो रजः सृजत्येष पृथक् स्वमायया ।
सत्त्वं विचित्रासु रिरंसुरीश्वरः शयिष्यमाणस्तम ईरयत्यसौ ॥१०॥

कालं चरन्तं सृजतीश आश्रयं प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत् ।
य एष राजन्नपि काल ईशिता सत्त्वं सुरानीकमिवैधयत्यतः ।
तत्प्रत्यनीकानसुरान् सुरप्रियो रजस्तमस्कान् प्रमिणोत्युरुश्रवाः ॥११॥

अत्रैवोदाहृतः पूर्वमितिहासः सुरर्षिणा । प्रीत्या महाक्रतौ राजन् पृच्छतेऽजातशत्रवे ॥१२॥
दृष्ट्वा महाद्भुतं राजा राजसूये महाक्रतौ । वासुदेवे भगवति सायुज्यं चेदिभूभुजः ॥१३॥
तत्रासीनं सुरऋषिं राजा पाण्डुसुतः क्रतौ । पप्रच्छ विस्मितमना मुनीनां शृण्वतामिदम् ॥१४॥

युधिष्ठिर उवाच

अहो अत्यद्भुतं ह्येतद् दुर्लभैकान्तिनामपि । वासुदेवे परे तत्त्वे प्राप्तिश्चैद्यस्य विद्विषः ॥१५॥
एतद् वेदितुमिच्छामः सर्व एव वयं मुने । भगवन्निन्दया वेनो द्विजैस्तमसि पातितः ॥१६॥
दमघोषसुतः पाप आरभ्य कलभाषणात् । सम्प्रत्यमर्षी गोविन्दे दन्तवक्त्रश्च दुर्मतिः ॥१७॥
शपतोरसकृद् विष्णुं यद् ब्रह्म परमव्ययम् । श्वित्रो न जातो जिह्वायां नान्धं विविशतुस्तमः॥१८॥
कथं तस्मिन् भगवति दुरवग्राहधामनि । पश्यतां सर्वलोकानां लयमीयतुरञ्जसा ॥१९॥
एत द् भ्राम्यति मे बुद्धिर्दीपार्चिरिव वायुना । ब्रूह्येतदद्भुततमं भगवांस्तत्र कारणम् ॥२०॥

भाँति भिन्न-भिन्न देहोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे रहता है। देहादिसे अलग उसकी उपलब्धि नहीं होती। बड़े बड़े विद्वान् विचार द्वारा अन्तमें उसे अन्तर्यामीरूपसे अपने अन्तःकरणमें देखते हैं ॥ ९ ॥ जब परमात्मा जीवोंके कर्मफल-भोगके लिये भिन्न-भिन्न शरीर रचना चाहते हैं तो वे अपनी मायासे रजोगुणको पृथक् उत्पन्न करते और जब उन्हें उन शरीरोंमें रमण करनेकी इच्छा होती तब सत्त्वगुणकी सृष्टि करते और जब शयन करना चाहते तब तमोगुणको प्रेरित कर देते हैं ॥ १० ॥ हे नरदेव ! इस जगत्के निमित्त कारणस्वरूप प्रकृति तथा पुरुषके सहकारी एवं आश्रयरूपी कालको अमोघकर्मा श्रीभगवान स्वयं रचते हैं। फिर भी वे उसके अधीन नहीं होते। हे राजन् ! जब काल सत्त्वगुणको बढ़ाता तो परमयशस्वी तथा देवप्रिय परमेश्वर भी तत्त्वप्रधान देवताओंका उत्कर्ष तथा उनके विरोधी रजोगुण-तमोगुणप्रधान असुरोंका संहार करते हुए दीखते हैं ॥ ११ ॥ हे राजन् ! जब कि राजसूय महायज्ञ हो रहा था, तब अजातशत्रु युधिष्ठिरके पूछनेपर देवर्षि नारदने प्रेमसे उन्हें एक इतिहास सुनाया था ॥१२॥ उस महायज्ञमें चेदिराज शिशुपालकी भगवान वासुदेवकी सायुज्यमुक्तिप्राप्तिका अद्भुत व्यापार होते देखकर पाण्डव युधिष्ठरने अति विस्मित हो यज्ञशालामें बैठे देवर्षि नारदसे सारी मुनिमण्डलीके समक्ष पूछा ॥ १३ ॥ १४ ॥ महाराज युधिष्ठिर बोले—अहो ! यह अद्भुत बात है कि परमविद्वेषी शिशुपालको श्रीकृष्णभगवानकी वह सायुज्य मुक्ति मिल गयी, जो उनके अनन्य भक्तोंको भी दुर्लभ थी ॥ १५ ॥ हे महामुने ! श्रीकृष्णभगवानकी निन्दा करनेसे ब्राह्मणोंने राजा वेनको तामिस्र नरकमें डाल दिया था, किन्तु उससे भी महापापी दमघोषसुत शिशुपाल तथा दुर्मति दन्तवक्र तो जबसे तुतलाकर बोलने लगा था, तबसे अन्ततक उसने भगवानके साथ द्वेष ही किया। ये अविनाशी तथा परब्रह्म श्रीविष्णुभगवानको सर्वदा कटुवाक्य कहते थे, तो भी न इनकी जिह्वामें कुष्ठ हुआ और न ये घोर नरकमें ही पड़े। हम इसका कारण जानना चाहते हैं कि भगवानके द्रोही होकर भी ये अत्यन्त दुर्लभ स्वरूप भगवानमें सब लोगोंके समक्ष अनायास कैसे लीन हो गये ? ॥ १६–१९ ॥ हे भगवन् ! यह बात बड़ी अद्भुत है, मेरी बुद्धि वायुके झोंकेसे काँपती हुई दीपशिखाकी भाँति भ्रान्त हो रही है,

श्रीशुक उवाच

राज्ञस्तद् वच आकर्ण्य नारदो भगवानृषिः । तुष्टः प्राह तमाभाष्य शृण्वत्यास्तत्सदः कथाः ॥२१॥

नारद उवाच

निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं कलेवरम् । प्रधानपरयो राजन्नविवेकेन कल्पितम् ॥२२॥
हिंसा तदभिमानेन दण्डपारुष्ययोर्यथा । वैषम्यमिह भूतानां ममाहमिति पार्थिव ॥२३॥
यन्निबद्धोऽभिमानोऽयं तद्वधात् प्राणिनां वधः । तथा न यस्य कैवल्यादभिमानोऽखिलात्मनः ।
परस्य दमकर्तुर्हि हिंसा केनास्य कल्प्यते ॥२४॥
तस्माद् वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा । स्नेहात् कामेन वा युञ्ज्यात् कथञ्चिन्नेक्षते पृथक् २५
यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् । न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥२६॥
कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् । संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम् ॥२७॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे । वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥२८॥
कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः । आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥२९॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ३०
कतमोऽपि न वेनः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति । तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥३१॥
मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव । पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात् पदाच्च्युतौ ॥३२॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशः कस्य वा शापो हरिदासाभिमर्शनः । अश्रद्धेय इवाभाति हरेरेकान्तिनां भवः ॥३३॥

अतएव आप इसका कारण बतायें ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—राजा युधिष्ठिरके वचन सुनकर देवर्षि नारदजी प्रसन्न हुए और सारी सभाके समक्ष उन्हें सम्बोधन करके बोले ॥ २१ ॥ श्रीनारदजीने कहा—हे राजन् ! प्रकृति-पुरुषके अज्ञानसे ही निन्दा, स्तुति, सत्कार तथा तिरस्कारके आश्रय-रूपी इस शरीरकी रचना हुई है ॥ २२ ॥ हे पार्थिव ! शरीरके अभिमानसे ही जीवोंमें अहंता-ममतारूपिणी विषमता आती और ताडन तथा निन्दा आदिके दुःखका ज्ञान होता है ॥२३॥ जिस शरीरमें अभिमान होता है, उसीके वधसे प्राणियोंका वध माना जाता है। लेकिन यह अभिमान जैसे जीवोंमें है, वैसा भगवानमें नहीं है। क्योंकि वे अद्वितीय हैं। इसलिए दूसरोंके कल्याणार्थ शत्रुके दमनकारी उन श्रीपरमात्माको हिंसा भला कैसे छू सकती है ? ॥२४॥ अतएव सुदृढ़ वैरानुबन्ध, वैरहीन भक्तिभाव, भय, स्नेह तथा कामना—किसी भी राह उनमें ऐसे चित्त लगावे कि उनके सिवाय और कुछ भी न दीखे ॥२५॥ मेरा तो यह निश्चित मत है कि मनुष्य वैरानुबन्धसे भगवानमें जितना तन्मय होता है, वैसा भक्तियोगसे भी नहीं हो पाता ॥२६॥ भृङ्गी कीटके द्वारा अपने छिद्रमें बन्द किया हुआ कीड़ा भय तथा उद्वेगसे भृङ्गीका स्मरण करते-करते उसीके समान हो जाता है ॥ २७ ॥ वैसे ही मायामानवरूपधारी परमेश्वर भगवान कृष्णमें वैरभावसे सर्वदा उन्हींका चिन्तन करते-करते पवित्र होकर इन्होंने भी उनको पा लिया है ॥ २८ ॥ हे राजन् ! काम, द्वेष, भय, स्नेह तथा भक्ति आदि उपायोंसे भगवानमें मन लगाकर बहुतेरे लोग कामादिजनित पापसे छूटकर सायुज्य मुक्ति पा चुके हैं ॥२९॥ हे सर्वसमर्थ ! कामसे गोपियाँ, भयसे कंस, द्वेषसे शिशुपालादि राजे, सम्बन्धसे यादव, स्नेहसे आपलोग तथा भक्तिसे हम मुनिजन उनके स्वरूपको पा लिये हैं ॥३०॥ इन पाँच तरहके भगवच्चिन्तकोंमेंसे वेन किसीके भी अन्तर्गत नहीं था। अतएव वह मुक्त नहीं हुआ। इसलिये जैसे भी बने, वैसे कृष्णभगवानमें मन लगाये रहे ॥३१॥ हे पाण्डव ! तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल तथा दन्तवक्र विष्णुभगवानके पार्षद थे। विप्रशापके कारण ये दोनों पार्षदपदसे भ्रष्ट हो गये थे ॥ ३२ ॥ यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर बोले—हे महामुने ! भगवानके

देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् । देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥३४॥

नारद उवाच

एकदा ब्रह्मणः पुत्रा विष्णोर्लोकं यदृच्छया । सनन्दनादयो जग्मुश्चरन्तो भुवनत्रयम् ॥३५॥
पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः । दिग्वाससः शिशून् मत्वा द्वाःस्थौ तान् प्रत्यषेधताम् ३६
अशपन् कुपिता एवं युवां वासं न चार्हथः । रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः ।
पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः ॥ ३७ ॥
एवं शप्तौ स्वभवनात् पतन्तौ तैः कृपालुभिः । प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् ॥३८॥
जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ । हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः ॥३९॥
हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा । हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः ॥४०॥
हिरण्यकशिपुः पुत्रं प्रह्लादं केशवप्रियम् । जिघांसुरकरोन्नाना यातना मृत्युहेतवे ॥४१॥
सर्वभूतात्मभूतं तं प्रशान्तं समदर्शनम् । भगवत्तेजसा स्पृष्टं नाशक्नोद्धन्तुमुद्यमैः ॥४२॥
ततस्तौ राक्षसौ जातौ केशिन्यां विश्रवःसुतौ । रावणः कुम्भकर्णश्च सर्वलोकोपतापनौ ॥४३॥
तत्रापि राघवो भूत्वा न्यहनच्छापमुक्तये । रामवीर्यं श्रोष्यसि त्वं मार्कण्डेयमुखात् प्रभो ॥४४॥
तावेव क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव । अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ ॥४५॥
वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् । नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥४६॥

दासोंको भी तिरस्कृत करनेवाला वह शाप कैसा और किसका था। ऐसे-ऐसे अनन्य भगवद्भक्तोंका भवसागरमें पड़ना तो विश्वसनीय नहीं जँचता ॥ ३३ ॥ प्राकृत देह तथा इन्द्रिय आदिसे हीन उन वैकुण्ठनिवासियोंको जिस तरह शरीरसम्बन्धका लाभ हुआ हो, वह प्रसङ्ग आप हमसे कहें ॥ ३४ ॥

श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! एक दिन ब्रह्माके पुत्र सनक-सनन्दनादि ऋषि तीनों लोकमें विचरते हुए विष्णुलोक गये ॥ ३५ ॥ पूर्वजोंके पूर्वज होते हुए भी वे पाँच-छः वर्षके बालक जान पड़ते और सदा दिगम्बर वेषसे रहते थे। साधारण बालक समझकर द्वारपालों जय-विजयने उन्हें भीतर नहीं जाने दिया ॥ ३६ ॥ तब वे क्रुद्ध होकर द्वारपालोंको शाप देते हुए बोले—"अरे मूर्खों ! तुम दोनों श्रीविष्णुभगवानके रजोगुण और तमोगुणहीन चरणोंमें रहने योग्य नहीं हो। तुम शीघ्र पापमयी असुरयोनिमें जा पहुँचो।" ॥ ३७ ॥ उनके शाप देते ही जब वे अपने स्थानसे च्युत होने लगे, तब उन दयालु मुनियोंने कहा—"तीन जन्मोंमें तुम शापकी अवधि समाप्त करके फिर वैकुण्ठलोकमें आ जाओगे" ॥ ३८ ॥ तब वे दोनों द्वारपाल दैत्य-दानव-वन्दित दितिके पुत्र हुए। उनमें हिरण्यकशिपु बड़ा और हिरण्याक्ष छोटा था ॥ ३९ ॥ उनमेंसे हिरण्यकशिपुको भगवानने नृसिंहरूप धरकर मारा और पृथिवीका उद्धार करते समय सूकररूपसे हिरण्याक्षका संहार किया ॥ ४० ॥ हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र भगवद्भक्त प्रह्लादको मारनेके लिए विविध यातनाएँ दीं ॥ ४१ ॥ अनेक प्रयत्न करके भी वह सब प्राणियोंके आत्मा, परम शान्त, समदर्शी तथा भगवत्तेजयुक्त श्रीप्रह्लादजीको नहीं मार सका ॥ ४२ ॥ तदनन्तर वे दोनों विश्रवा पिता तथा केशिनी माताके द्वारा रावण और कुम्भकर्ण होकर जनमे। उन्होंने सब लोगोंको खूब सताया ॥ ४३ ॥ उस जन्ममें भी उन्हें शापसे मुक्त करनेके लिये भगवानने रामरूपसे अवतार लेकर मारा। हे राजन्! इन रामचन्द्रजीका पराक्रम तुम मार्कण्डेयमुनिके मुखसे सुनोगे ॥ ४४ ॥ जन्मान्तरमें वे ही दोनों क्षत्रियरूपमें तुम्हारी मौसीके पुत्र होकर जन्मे थे। वे अब श्रीकृष्णचन्द्रके चक्रसे पवित्र होकर शापमुक्त हुए हैं ॥ ४५ ॥ वे विष्णुपार्षद वैरानुबन्धसे सुदृढ़ ध्यान द्वारा नारायणका स्वरूप प्राप्त करके फिर उन्हींके समीप चले गये हैं ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विद्वेषो दयिते पुत्रे कथमासीन्महात्मनि। ब्रूहि मे भगवन् येन प्रह्लादस्याच्युतात्मता ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरितोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारद उवाच

भ्रातर्येवं विनिहते हरिणा क्रोडमूर्तिना। हिरण्यकशिपू राजन् पर्यतप्यद् रुषा शुचा ॥१॥
आह चेदं रुषा घूर्णः सन्दष्टदशनच्छदः। कोपोज्ज्वलद्भ्यां चक्षुर्भ्यां निरीक्षन् धूम्रमम्बरम् २
करालदंष्ट्रोग्रदृष्ट्या दुष्प्रेक्ष्यभ्रुकुटीमुखः। शूलमुद्यम्य सदसि दानवानिदमब्रवीत् ॥३॥
भो भो दानवदैतेया द्विमूर्धंस्त्र्यक्ष शम्बर। शतबाहो हयग्रीव नमुचे पाक इल्वल ॥ ४ ॥
विप्रचित्ते मम वचः पुलोमन्छकुनादयः। शृणुतानन्तरं सर्वे क्रियतामाशु मा चिरम् ॥ ५ ॥
सपत्नैर्घातितः क्षुद्रैर्भ्राता मे दयितः सुहृत्। पार्ष्णिग्राहेण हरिणा समेनाप्युपधावनैः ॥ ६ ॥
तस्य त्यक्तस्वभावस्य घृणेर्मायावनौकसः। भजन्तं भजमानस्य बालस्येवास्थिरात्मनः ॥ ७ ॥
मच्छूलभिन्नग्रीवस्य भूरिणा रुधिरेण वै। रुधिरप्रियं तर्पयिष्ये भ्रातरं मे गतव्यथः ॥ ८ ॥
तस्मिन् कूटेऽहिते नष्टे कृत्तमूले वनस्पतौ। विटपा इव शुष्यन्ति विष्णुप्राणा दिवौकसः ॥ ९ ॥
तावद् यात भुवं यूयं विप्रक्षत्रसमेधिताम्। सूदयध्वं तपोयज्ञस्वाध्यायव्रतदानिनः ॥१०॥
विष्णुर्द्विजक्रियामूलो यज्ञो धर्ममयः पुमान्। देवर्षिपितृभूतानां धर्मस्य च परायणम् ॥११॥

युधिष्ठिर बोले—हे भगवन्! हिरण्यकशिपुने अपने प्रिय पुत्र महात्मा प्रह्लादसे द्वेष क्यों किया? और असुरकुलमें जन्म लेकर भी प्रह्लादजीने भगवानमें अपना मन कैसे लगाया? सो बताइए ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(पुत्रशोकसे कातर दिति तथा अन्य कुटुम्बियोंका हिरण्यकशिपुको समझाना-बुझाना) श्री नारदजी बोले—हे राजन्! वाराहभगवानके हाथों अपने भाईके मारे जानेपर हिरण्यकशिपु क्रोध तथा शोकसे तमतमा उठा ॥ १ ॥ मारे क्रोधके काँपता ओठोंको दाँतोंसे चबाता तथा शोक एवं क्रोधाग्निके कारण जलते हुए नेत्रोंके धुएँसे धूम्रवर्ण आकाशकी ओर निहारता हुआ वह बोला ॥ २ ॥ बोलते समय कराल दाढ़ों, उग्र दृष्टि और वक्र भृकुटियोंसे उसका मुख ऐसा विकृत हो गया था कि कोई उसकी ओर निहार भी नहीं सकता था। अपनी सभाके बीच त्रिशूल तानकर उसने कहा—॥ ३ ॥ "हे द्विमूर्द्धा, त्र्यक्ष, शम्बर, शतबाहु, हयग्रीव, नमुचि, पाक, इल्वल, विप्रचित्ति, पुलोमा तथा शकुनि आदि दैत्य और दानव! मेरी बात सुनो और मैं जैसा कहूँ, वैसा करो। इसमें विलम्ब न हो ॥ ४ ॥ ॥ ५ ॥ समदर्शी होनेपर भी उपासनासे निज पक्षमें आये हुए विष्णु द्वारा हमारे तुच्छ शत्रु देवताओंने मेरे परम प्रिय सुहृद् तथा सहोदर भाईको मरवा डाला है ॥ ६ ॥ जिसने शुद्धस्वरूप होकर भी अपना स्वभाव त्याग दिया, उस मायावराहरूपधारी, बालकोंके समान अस्थिरचित्त एवं अपने उपासकोंके अनुकूल विष्णुका गला अपने त्रिशूलसे काटकर जब मैं अपने रुधिरप्रेमी भाईका तर्पण कर लूँगा, तभी मेरे मनका कष्ट दूर होगा ॥ ७ ॥ ८ ॥ देवताओंका प्राण वह विष्णु ही है। उस कपटी शत्रुके न रहनेपर ये सब ऐसे निस्तेज हो जायँगे, जैसे जड़ कटे हुए पेड़ ॥ ९ ॥ सो तुम अभी ब्राह्मण और क्षत्रियोंसे भरी भूमिपर जाकर तप, यश, स्वाध्याय, व्रत तथा दानादि शुभकर्म करनेवालोंको मार डालो ॥ १० ॥ क्योंकि ब्राह्मणों द्वारा की हुई यज्ञादि क्रियायें ही विष्णुकी मूल हैं। वह पुराणपुरुष यज्ञस्वरूप तथा धर्ममय है। वही सब देव, ऋषि, पितर, भूत तथा धर्मका आधार है

यत्र यत्र द्विजा गावो वेदा वर्णाश्रमाः क्रियाः । तं तं जनपदं यात सन्दीपयत वृश्चत ॥१२॥
इति ते भर्तृनिर्देशमादाय शिरसाऽऽदृताः । तथा प्रजानां कदनं विदधुः कदनप्रियाः ॥१३॥
पुरग्रामव्रजोद्यानक्षेत्रारामाश्रमाकरान् । खेटखर्वटघोषांश्च ददहुः पत्तनानि च ॥१४॥
केचित् खनित्रैर्बिभिदुः सेतुप्राकारगोपुरान् । आजीव्यांश्चिच्छिदुर्वृक्षान् केचित् परशुपाणयः ।
प्रादहञ्छरणान्यन्ये प्रजानां ज्वलितोल्मुकैः ॥ १५ ॥
एवं विप्रकृते लोके दैत्येन्द्रानुचरैर्मुहुः । दिवं देवाः परित्यज्य भुवि चेरुरलक्षिताः ॥१६॥
हिरण्यकशिपुर्भ्रातुः सम्परेतस्य दुःखितः । कृत्वा कटोदकादीनि भ्रातृपुत्रानसान्त्वयत् ॥१७॥
शकुनिं शम्बरं धृष्टं भूतसन्तापनं वृकम् । कालनाभं महानाभं हरिश्मश्रुमथोत्कचम् ॥१८॥
तन्मातरं रुषाभानुं दितिं च जननीं गिरा । श्लक्ष्णया देशकालज्ञ इदमाह जनेश्वर ॥१९॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

अम्बाम्ब हे वधूः पुत्रा वीरं मार्हथ शोचितुम् । रिपोरभिमुखे श्लाघ्यः शूराणां वध ईप्सितः ॥२०॥
भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रते । दैवेनैकत्र नीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः ॥२१॥
नित्य आत्माऽव्ययः शुद्धः सर्वगः सर्ववित् परः । धत्तेऽसावात्मनो लिङ्गं मायया विसृजन् गुणान्॥२२
यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव । चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते चलतीव भूः ॥२३॥
एवं गुणैर्भ्राम्यमाणे मनस्यविकलः पुमान् । याति तत्साम्यतां भद्रे ह्यलिङ्गो लिङ्गवानिव ॥२४॥
एष आत्मविपर्यासो ह्यलिङ्गे लिङ्गभावना । एष प्रियाप्रियैर्योगो वियोगः कर्मसंसृतिः ॥२५॥

॥ ११ ॥ जहाँ भी ब्राह्मण गौ, वेद और वर्णाश्रम-धर्म-कर्म विद्यमान हों, वहीं जाकर तुम उन देशोंको जला दो और सारा धर्म-कर्म नष्ट-भ्रष्ट कर दो" ॥ १२ ॥ अपने स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे हिंसाप्रिय दैत्य प्रजाका संहार करने लगे ॥ १३ ॥ उन लोगोंने, पुर, ग्राम, व्रज, उद्यान, क्षेत्र, बगीचे, आश्रम, खान, खेट, खर्वट, घोष तथा बड़े-बड़े नगरोंमें आग लगा दी ॥ १४ ॥ उन्होंने कुदालोंसे सेतु, परकोटों तथा नगरद्वारोंको तोड़ दिया और कुल्हाड़ियोंसे आजीविकाके योग्य वृक्ष काट डाले और जलती लकड़ियोंसे लोगोंके घर फूँक दिये ॥ १५ ॥ दैत्यपति हिरण्यकशिपुके अनुचरोंने जब प्रजाको बहुत सताया, तब सब देवता स्वर्गलोक छोड़कर गुप्तरूपसे पृथ्वीपर घूमने लगे ॥ १६ ॥ उधर बन्धुवियोगसे दुःखी तथा देशकालके ज्ञाता हिरण्यकशिपुने अपने दिवंगत सहोदर भाईको तिलाञ्जलि आदि देकर शकुनि, शम्बर, धृष्ट, भूतसन्तापन, वृक, कालनाभ, महानाभ, हरिश्मश्रु तथा उत्कच आदि भतीजोंको धैर्य बँधाया । हे जनेश्वर ! भाईकी माता रुषाभानु तथा अपनी जननी दितिसे उसने अति मधुर वाणीमें कहा ॥ १७-१९ ॥ हिरण्यकशिपु बोला—ओ माँ ! ओ बहू ! हे पुत्रगण ! तुम उस वीरके लिये शोक न करो । शूरवीर तो अपने शत्रुके सामने ही शरीर त्यागना श्लाघ्य मानते हैं ॥ २० ॥ हे सुव्रते ! संसारमें जीवोंका एक जगह मिलना पौसरेपर इकट्ठे पथिकोंके समान क्षणिक ही होता है । वे अपने कर्मानुसार दैवयोगसे एकत्रित होते और बिछुड़ जाते हैं ॥ २१ ॥ वस्तुतः आत्मा नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ तथा देह-इन्द्रिय आदिसे पृथक् है । वह अपनी अविद्याके कारण ही सुख-दुःखादि गुणोंको स्वीकार करके लिंगदेह धरता है ॥ २२ ॥ जैसे जलके चलनेसे तटवर्ती वृक्ष भी चलते दीखते और नेत्रोंके घूमनेसे पृथ्वी भी घूमती दीखती है ॥ २३ ॥ वैसे ही गुणों द्वारा मनके भ्रान्त हो जानेपर निर्विकार आत्मा भी उसीके समान भ्रान्त हो जाता है और देहादि लिंगसे रहित भी वह उनसे युक्त जँचता है ॥ २४ ॥ इस तरह अपने अशरीरी आत्मामें शरीरकी भावना ही आत्मविपर्यय है । इसीसे उसे प्रिय-अप्रियका संयोग-वियोग, कर्म, संसारकी प्राप्ति, जन्म, मरण, शोक, अविवेक, चिन्ता तथा विवेककी विस्मृति आदि

सम्भवश्च विनाशश्च शोकश्च विविधः स्मृतः । अविवेकश्च चिन्ता च विवेकास्मृतिरेव च ॥२६॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । यमस्य प्रेतबन्धूनां संवादं तं निबोधत ॥२७॥
उशीनरेष्वभूद् राजा सुयज्ञ इति विश्रुतः । सपत्नैर्निहतो युद्धे ज्ञातयस्तमुपासत ॥२८॥
विशीर्णरत्नकवचं विभ्रष्टाभरणस्रजम् । शरनिर्भिन्नहृदयं शयानमसृगाविलम् ॥२९॥
प्रकीर्णकेशं ध्वस्ताक्षं रभसा दष्टदच्छदम् । रजःकुण्ठमुखाम्भोजं छिन्नायुधभुजं मृधे ॥३०॥

उशीनरेन्द्रं विधिना तथा कृतं पतिं महिष्यः प्रसमीक्ष्य दुःखिताः ।
हताः स्म नाथेति करैरुरो भृशं घ्नन्त्यो मुहुस्तत्पदयोरुपापतन् ॥ ३१ ॥
रुदत्य उच्चैर्दयिताङ्घ्रिपङ्कजं सिञ्चन्त्य अस्रैः कुचकुङ्कुमारुणैः ।
विस्रस्तकेशाभरणाः शुचं नृणां सृजन्त्य आक्रन्दनया विलेपिरे ॥ ३२ ॥
अहो विधात्राकरुणेन नः प्रभो भवान् प्रणीतो दृगगोचरां दशाम् ।
उशीनराणामसि वृत्तिदः पुरा कृतोऽधुना येन शुचां विवर्धनः ॥ ३३ ॥
त्वया कृतज्ञेन वयं महीपते कथं विना स्याम सुहृत्तमेन ते ।
तत्रानुयानं तव वीर पादयोः शुश्रूषतीनां दिश यत्र यास्यसि ॥ ३४ ॥

एवं विलपतीनां वै परिगृह्य मृतं पतिम् । अनिच्छतीनां निर्हारमर्कोऽस्तं संन्यवर्तत ॥३५॥
तत्र ह प्रेतबन्धूनामाश्रुत्य परिदेवितम् । आह तान् बालको भूत्वा यमः स्वयमुपागतः ॥३६॥

यम उवाच

अहो अमीषां वयसाधिकानां विपश्यतां लोकविधिं विमोहः ।
यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यं स्वयं सधर्मा अपि शोचन्त्यपार्थम् ॥ ३७ ॥

कार्य होते हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥ इस विषयमें लोग यह पुरातन इतिहास कहते हैं, जिसनें एक मृत व्यक्तिके बान्धवों और यमराजका सम्वाद है । उसे सुनो—॥ २७ ॥ उशीनर देशमें राजा सुयज्ञ राज करता था । वह युद्धक्षेत्रमें शत्रुओंके हाथों मारा गया । तब उसके सभी जातिबन्धु उसे सब ओरसे घेरकर बैठ गये । मरनेपर उसका रत्नजटित कवच छिन्न-भिन्न हो गया था । उसके सब आभूषण तथा माला बिखरी पड़ी थी । उसका हृदय बाणबिद्ध होकर छितरा गया था और सारा शरीर खूनमें लथपथ होकर गिरा पड़ा था । उसके बाल बिखरे थे और नेत्र नष्ट हो गये थे । मारे क्रोधके उसने दाँतोंसे अपना अधरपुट दबा रखा था । उसका मुख-कमल धूलिधूसरित था और अस्त्र-शस्त्र तथा भुजाएँ युद्धमें कट गयी थीं ॥ २८-३० ॥ विधाताने उशीनरनरेशको इस बुरी दशामें पहुँचा दिया—यह देख उसकी पटरानियोंको बड़ा दुःख हुआ और वे 'हा नाथ ! हम मर गयीं' यों कह और छाती पीटती हुई उसके पैरोंमें लोट गयीं ॥३१॥ वे जोर-जोरसे बिलखती हुई कुचकुंकुमसे मिश्रित अरुणवर्णके अश्रुजलसे अपने प्रियतमके चरण पखारने लगीं । उनके केश तथा आभूषण बिखर गये थे । वे अन्य पुरुषोंके हृदयमें भी शोकसञ्चार तथा करुण क्रन्दन करती हुई कहने लगीं—॥ ३२ ॥ "हाय ! निर्दयी विधाताने आज आपको हमारी आँखोंसे ओट कर दिया । हे नाथ ! आप पहले उशीनरवासियोंको जीविका देते थे, किन्तु आज विधाताने आपको उनका शोकदाता बना दिया ॥ ३३ ॥ हे भूपते ! आप जैसे कृतज्ञ प्रियतमके बिना हम कैसे जियेंगी ? हे वीर ! जहाँ आप जा रहे हैं, वहीं आनेके लिये आपके चरणोंकी इन दासियोंको भी आज्ञा देते जाइए" ॥ ३४ ॥ अपने मृत पतिको पकड़कर इस प्रकार विलाप करते-करते सूर्यास्त हो गया । फिर भी उन्होंने उसका दाहसंस्कार नहीं होने दिया ॥ ३५ ॥ उस मृत राजाके बन्धुओंका विलाप सुनकर स्वयं यमराज बालकस्वरूपसे प्रगटे और उनके पास आकर बोले ॥ ३६ ॥ यमराजने कहा—अहो ! ये लोग मुझसे बड़े हैं और जन्म-मरण-

अहो वयं धन्यतमा यदत्र त्यक्ताः पितृभ्यां न विचिन्तयामः ।
अभक्ष्यमाणा अबला वृकादिभिः स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे ॥३८॥
य इच्छयेशः सृजतीदमव्ययो य एव रक्षत्यवलुम्पते च यः ।
तस्याबलाः क्रीडनमाहुरीशितुश्चराचरं निग्रहसङ्ग्रहे प्रभुः ॥३९॥
पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि तदीक्षितो वने गृहेऽपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति ॥४०॥
भूतानि तैस्तैर्निजयोनिकर्मभिर्भवन्ति काले न भवन्ति सर्वशः ।
न तत्र हात्मा प्रकृतावपि स्थितस्तस्या गुणैरन्यतमो निबध्यते ॥४१॥
इदं शरीरं पुरुषस्य मोहजं यथा पृथग् भौतिकमीयते गृहम् ।
यथौदकैः पार्थिवतैजसैर्जनः कालेन जातो विकृतो विनश्यति ॥५२॥
यथानलो दारुषु भिन्न ईयते यथानिलो देहगतः पृथक् स्थितः ।
यथा नभः सर्वगतं न सज्जते तथा पुमान् सर्वगुणाश्रयः परः ॥४३॥
सुयज्ञो नन्वयं शेते मूढा यमनुशोचथ । यः श्रोता योऽनुवक्तेह स न दृश्येत कर्हिचित् ॥४४॥
न श्रोता नानुवक्तायं मुख्योऽप्यत्र महानसुः । यस्त्विहेन्द्रियवानात्मा स चान्यः प्राणदेहयोः ॥४५
भूतेन्द्रियमनोलिङ्गान् देहानुच्चावचान् विभुः । भजत्युत्सृजति ह्यन्यस्तच्चापि स्वेन तेजसा ॥४६॥

रूपी संसारकी गति देखे हुए हैं, फिर इनको कैसा मोह है ! यह मनुष्य जहाँसे आया था, वहीं चला गया । ये स्वयं भी इसीके समान मरणशील हैं, फिर भी शोक करते हैं ॥ ३७ ॥ अहो ! हम परम धन्य हैं, जो अपने माता-पिता द्वारा त्याग दिये जानेपर भी चिन्ता नहीं करते । हम बहुत निर्बल हैं, फिर भी भेड़िये हमको नहीं खाते और यह समझकर कि 'जिसने गर्भमें मेरी रक्षा की है, वही यहाँ भी करता है' निश्चिन्त रहते हैं ॥ ३८ ॥ हे अबलाओ ! अविनाशी परमेश्वर अपनी इच्छासे संसारकी रचना, पालन और संहार करता है । इस चराचर जगत्को लोग उस ईश्वरका खिलौना कहते हैं । वह इसके पालन तथा संहारमें सर्वथा समर्थ है ॥ ३९ ॥ दैव द्वारा सुरक्षित वस्तु मार्गमें भी ज्यों-की-त्यों पड़ी रहती और दैवके फिर जानेपर घरमें रखी वस्तु भी नष्ट हो जाती हैं, परमात्माकी दयासे अनाथ तथा बनवासी मनुष्य भी जी जाता है और प्रभुके विपरीत हो जानेपर घरमें सुरक्षित रहकर भी नहीं बचता ॥ ४० ॥ हे राजरानियों ! ये भौतिक शरीर कारणरूप लिङ्गदेहके कर्मानुसार उत्पन्न तथा नष्ट होते रहते हैं, परन्तु आत्मा शरीरमें स्थित रहकर भी उससे सर्वथा भिन्न रहकर गुणोंमें लिप्त नहीं होता ॥४१॥ यह शरीर मोहके कारण ही सबको अपना मालूम देता है, वस्तुतःभौतिक गृह आदिकी नाईं यह भी अपनेसे पृथक् ही रहता है । जैसे जलसे उत्पन्न बुलबुले, पृथिवीके विकार घटादि तथा तेजस पदार्थ कुण्डल आदि कालक्रमसे उत्पन्न होते हैं तथा विकृत होकर नष्ट हो जाते हैं वैसे ही इन तीनोंके परमाणुओंसे उत्पन्न शरीर भी विकृत होकर नष्ट होजाता है ॥४२॥ जैसे काष्ठमें व्याप्त रहकर भी अग्नि उससे भिन्न है, वायु शरीरमें रहकर भी उससे भिन्न रहता है तथा आकाश सर्वत्र व्याप्त होकर भी असंग रहता है, वैसे ही आत्मा देहमें रहकर भी उनसे पृथक् रहता है ॥ ४३ ॥ हे मूर्ख स्त्रियों ! जिसके लिये तुम रोती हो, वह सुयज्ञ तो तुम्हारे सामने पड़ा है । इसमें जो सुनने और बोलनेवाला था, वह किसीको नहीं दीख रहा है । सो उसके लिये शोक न करो ॥ ४४ ॥ सब इन्द्रियोंमें प्रधान होनेपर भी महाप्राण सुनने तथा बोलनेवाला नहीं है । जो इस शरीरमें सब इन्द्रियोंका आधार है, वह आत्मा प्राण तथा देहसे सर्वथा पृथक् रहता है ॥ ४५ ॥ वास्तवमें वह सर्वगत आत्मा शरीरसे भिन्न है । फिर भी भूत, इन्द्रिय तथा मन आदि लिङ्गोंसे

यावल्लिङ्गान्वितो ह्यात्मा तावत् कर्मनिबन्धनम् । ततो विपर्ययः क्लेशो मायायोगोऽनुवर्तते ॥४७॥
वितथाभिनिवेशोऽयं यद्गुणेष्वर्थदृग्वचः । यथा मनोरथः स्वप्नः सर्वमैन्द्रियकं मृषा ॥४८॥
अथ नित्यमनित्यं वा नेह शोचन्ति तद्विदः । नान्यथा शक्यते कर्तुं स्वभावः शोचतामिति ॥४९
लुब्धको विपिने कश्चित् पक्षिणां निर्मितोऽन्तकः । वितत्य जालं विदधे तत्र तत्र प्रलोभयन् ॥५०॥
कुलिङ्गमिथुनं तत्र विचरत् समदृश्यत । तयोः कुलिङ्गी सहसा लुब्धकेन प्रलोभिता ॥५१॥
सासज्जत शिचस्तन्त्यां महिषी कालयन्त्रिता । कुलङ्गिस्तां तथाऽऽपन्नां निरीक्ष्य भृशदुःखितः ।
स्नेहादकल्पः कृपणः कृपणां पर्यदेवयत् ॥५२॥
अहो अकरुणो देवः स्त्रियाऽऽकरुणया विभुः । कृपणं मानुशोचन्त्या दीनया किं करिष्यति ॥५३॥
कामं नयतु मां देवः किमर्धेनात्मनो हि मे । दीनेन जीवता दुःखमनेन विधुरायुषा ॥५४॥
कथं त्वजातपक्षांस्तान् मातृहीनान् बिभर्म्यहम् । मन्दभाग्याः प्रतीक्षन्ते नीडे मे मातरं प्रजाः ॥५५॥
एवं कुलिङ्गं विलपन्तमारात् प्रियावियोगातुरमश्रुकण्ठम् ।
स एव तं शाकुनिकः शरेण विव्याध कालप्रहितो विलीनः ॥५६॥
एवं यूयमपश्यन्त्य आत्मापायमबुद्धयः । नैनं प्राप्स्यथ शोचन्त्यः पतिं वर्षशतैरपि ॥५७॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

बाल एवं प्रवदति सर्वे विस्मितचेतसः । ज्ञातयो मेनिरे सर्वमनित्यमयथोत्थितम् ॥५८॥
यम एतदुपाख्याय तत्रैवान्तरधीयत । ज्ञातयोऽपि सुयज्ञस्य चक्रुर्यत् साम्परायिकम् ॥५९॥

प्रतीयमान उत्तम तथा अधम शरीरोंको अपने तेजसे धारण करता और त्यागता है ॥ ४६ ॥ जबतक आत्मा लिङ्गदेहसे मिला रहता, अभीतक उसे कर्मका बन्धन रहता है। उसीसे उसे मोह तथा क्लेश पुनः पुनः प्राप्त होते हैं। उनका अस्तित्व केवल मायाके ही कारण है ॥ ४७ ॥ गुणोंके कार्य सुख-दुःखादिको सत्य मानना अथवा सत्य बतलाना व्यर्थका आग्रह है। मनोरथ तथा स्वप्नके पदार्थोंकी भाँति इन्द्रियोंके सब विषय मिथ्या होते हैं ॥ ४८ ॥ अतएव पण्डितजन नित्य (आत्मा) अथवा अनित्य (शरीर) से किसीके लिये भी शोक नहीं करते। क्योंकि शोकाकुल लोग उपाय करके भी किसी वस्तुका स्वभाव नहीं बदल सकते। इस विषयका एक दृष्टान्त है—एक वनमें एक बहेलिया रहता था, वह पक्षियोंको फुसलाकर जाल फैला देता ॥ ४९ ॥ ५० ॥ एक दिन उसे एक कुलिङ्ग पक्षीका जोड़ा वनमें विचरता दीखा। उसने सहसा कुलिङ्गीको फुसला लिया ॥ ५१ ॥ जिससे वह कुलिङ्गी उसके फन्दोंमें जा फँसी। उसे आपत्तिग्रस्त देखकर कुलिङ्ग बहुत दुःखी हुआ और छुड़ानेमें असमर्थ हो अत्यन्त स्नेहवश बहुत दुखीभावसे बिलखने लगा—॥ ५२ ॥ 'हाय! सर्वसमर्थ होकर भी विधाता बड़ा ही निठुर है! मुझ अभागेके लिये रोनेवाली और सबकी करुणापात्री मेरी दीन भार्याको लेकर वह क्या करेगा ? ॥ ५३ ॥ स्त्रीके बिना दुःखसे जीनेवाले इस दीन आधे शरीरसे मुझे क्या काम ? अब चाहे तो विधाता मुझे भी उठा ले जाय ॥ ५४ ॥ जिनके अभी पंख भी नहीं उगे हैं, उन मातृहीन बच्चोंको मैं कैसे पालूँ-पोसूँगा ? हाय ! आज मेरे वे अभागे बच्चे घोंसलेमें बैठे माताकी बाट जोहते होंगे !' ॥ ५५ ॥ इस तरह अपनी प्रियाके वियोगसे व्याकुल और गद्गदकण्ठसे रोते हुए कुलिङ्गको भी उसी चिड़ीमारने पासहीके वृक्षोंकी आड़में छिपकर बाण मार दिया और वह भी वहीं ठंढा हो गया ॥ ५६ ॥ हे बुद्धिहीन राजमहिषियों ! इसी तरह एक दिन अवश्यप्राप्तव्य अपनी मृत्युको तुम नहीं देखतीं। अब तो तुम सौ वर्षतक शोक करके भी इस पतिको नहीं पा सकोगी ॥ ५७ ॥ हिरण्यकशिपुने कहा—हे तात ! उस बालकके ऐसा कहनेपर वे सब ज्ञातिबन्धु बहुत विस्मित हुए और उन्होंने सारे संसारको अनित्य तथा मिथ्या समझ लिया ॥ ५८ ॥ ये बातें कहकर यमराज वहीं

ततः शोचत मा यूयं परं चात्मानमेव । क आत्मा कः परो वात्र स्वीयः पारक्य एव वा ।
स्वपराभिनिवेशेन विना ज्ञानेन देहिनाम् ॥६०॥

नारद उवाच

इति दैत्यपतेर्वाक्यं दितिराकर्ण्य सस्नुषा । पुत्रशोकं क्षणात् त्यक्त्वा तत्त्वे चित्तमधारयत् ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे दितिशोकापनयनं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

नारद उवाच

हिरण्यकशिपू राजन्नजेयमजरामरम् । आत्मानमप्रतिद्वन्द्वमेकराजं व्यधित्सत ॥१॥
स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम् । ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः ॥२॥
जटादीधितिभी रेजे संवर्तार्क इवांशुभिः । तस्मिंस्तपस्तप्यमाने देवाः स्थानानि भेजिरे ॥३॥
तस्य मूर्ध्नः समद्भूतः सधूमोऽग्निस्तपोमयः । तिर्यगूर्ध्वमधोलोकानतपद् विष्वगीरितः ॥४॥
चुक्षुभुर्नद्युदन्वन्तः सद्वीपाद्रिश्चचाल भूः । निपेतुः सग्रहास्तारा जज्वलुश्च दिशो दश ॥५॥
तेन तप्ता दिवं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकं ययुः सुराः । धात्रे विज्ञापयामासुर्देवदेव जगत्पते ॥६॥
दैत्येन्द्रतपसा तप्ता दिवि स्थातुं न शक्नुमः । तस्य च पशमं भूमन् विधेहि यदि मन्यसे ।
लोका न यावन्नङ्क्ष्यन्ति बलिहारास्तवाभिभूः ॥७॥
तस्यायं किल सङ्कल्पश्चरतो दुश्चरं तपः । श्रूयतां किं न विदितस्तवाथापि निवेदितः ॥८॥

अन्तर्धान हो गये और सुयज्ञके बान्धवोंने भी उसके शरीरका और्ध्वदैहिक संस्कार सम्पन्न किया ॥५९॥ सो तुम भी अपने-परायेके लिये कुछ शोक न करो। क्योंकि इस संसारमें अपने-परायेके अभिनिवेश-रूपी अज्ञानके सिवा वास्तवमें प्राणियोंमें अपना-आप तथा अन्य अर्थात् अपना और पराया रहता ही क्या है? ॥ ६० ॥ श्रीनारदजी बोले—हे राजन्! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके इन वचनोंको सुनकर आपकी पुत्रवधूके साथ दितिने तत्काल पुत्रशोक त्यागकर अपना मन आत्मतत्त्वके चिन्तनमें लगा दिया ॥ ६१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(हिरण्यकशिपुकी तपस्या तथा वरकी प्राप्ति) श्रीनारदजी बोले—हे राजन्! तदनन्तर हिरण्यकशिपुने अजेय, अजर-अमर और निष्कण्टक सम्राट् बननेका निश्चय किया ॥ १ ॥ वह मन्दराचलकी कन्दरामें ऊर्ध्वबाहु हो आकाशमें दृष्टि लगाये तथा भूमिपर केवल पाँवके अंगूठेके बल खड़ा होकर वह अतिशय कठोर तप करने लगा ॥ २ ॥ बढ़े जटाकलापसे वह किरणजालसे सुशोभित प्रलयकालीन सूर्यकी भाँति दीखता था। उसके तपोमग्न हो जानेपर देवता फिर अपने-अपने स्थानोंमें आकर रहने लगे ॥ ३ ॥ कुछ काल बाद उस दैत्यके कपालसे धूमयुक्त तपोमय अग्नि प्रकटा। वह आग फैलकर ऊपर, नीचे तथा आस-पासके लोकोंको जलाने लगी ॥ ४ ॥ उससे नदी तथा समुद्र खौलने लगे। द्वीपों तथा पर्वतों समेत पृथिवी हिलने लगी। ग्रह और तारागण टूट-टूटकर गिरने लगे और दसों दिशायें जलने लगीं ॥ ५ ॥ उस ज्वालासे जलकर देवता स्वर्गलोक छोड़कर ब्रह्मलोकको गये और ब्रह्माजीसे बोले—"हे देवदेव! हे जगत्पते! हमलोग दैत्यराज हिरण्यकशिपुके तपकी आँचसे स्वर्गमें नहीं टिक सकते। हे सर्वाधिपते! हे भूमन्! यदि आप चाहें तो आपके पूजक लोगोंका संहार न हो जाय, उसके पहले ही उसे शान्त कर दें ॥ ६ ॥ ७ ॥ वह जिस विचारसे यह दुष्कर तप कर रहा है, वह आप जानते ही हैं। फिर भी हम कहते हैं, सो सुनिये ॥ ८ ॥

सृष्ट्वा चराचरमिदं तपोयोगसमाधिना । अध्यास्ते सर्वधिष्ण्येभ्यः परमेष्ठी निजासनम् ॥९॥
तदहं वर्धमानेन तपोयोगसमाधिना । कालात्मनोश्च नित्यत्वात् साधयिष्ये तथाऽऽत्मनः॥
अन्यथेदं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा । किमन्यैः कालनिर्धूतैः कल्पान्ते वैष्णवादिभिः॥११॥
इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परममास्थितः । विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वर ॥१२॥
तवासनं द्विजगवां पारमेष्ठ्यं जगत्पते । भवाय श्रेयसे भूत्यै क्षेमाय विजयाय च ॥१३॥
इति विज्ञापितो देवैर्भगवानात्मभूर्नृप । परीतो भृगुदक्षाद्यैर्ययौ दैत्येश्वराश्रमम् ॥१४॥
न ददर्श प्रतिच्छन्नं वल्मीकतृणकीचकैः । पिपीलिकाभिराचीर्णमेदस्त्वङ्मांसशोणितम् ॥१५॥
तपन्तं तपसा लोकान् यथाभ्रापिहितं रविम् । विलक्ष्य विस्मितः प्राह प्रहसन् हंसवाहनः ॥१६॥

ब्रह्मोवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते तपः सिद्धोऽसि काश्यप । वरदोऽहमनुप्राप्तो व्रियतामीप्सितो वरः ॥१७॥
अद्राक्षमहमेतत् ते हृत्सारं महदद्भुतम् । दंशभक्षितदेहस्य प्राणा ह्यस्थिषु शेरते ॥१८॥
नैतत् पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे । निरम्बुर्धारयेत् प्राणान् को वै दिव्यसमाः शतम्१९
व्यवसायेन तेऽनेन दुष्करेण मनस्विनाम् । तपोनिष्ठेन भवता जितोऽहं दितिनन्दन ॥२०॥
ततस्त आशिषः सर्वा ददाम्यसुरपुङ्गव । मर्त्यस्य ते अमर्त्यस्य दर्शनं नाफलं मम ॥२१॥

नारद उवाच

इत्युक्त्वाऽऽदिभवो देवो भक्षिताङ्गं पिपीलिकैः । कमण्डलुजलेनौक्षद् दिव्येनामोघराधसा ॥२२॥

वह चाहता है कि जैसे ब्रह्माजी तप तथा योगकी निष्ठासे यह चराचर जगत् रचकर सर्वोच्च स्थान सत्यलोकमें सानन्द रहते हैं । वैसे ही मैं भी अपने बढ़े हुए तप तथा योगनिष्ठासे वह स्थान प्राप्त कर लूँ । क्योंकि काल और आत्मा नित्य हैं । उनका कभी भी नाश नहीं होता ॥ ९ ॥ १० ॥ तब पाप-पुण्यादिकी गति उलटकर मैं सारे जगत्को उलट-पलट डालूँगा । इस ब्रह्मपदके सिवा अन्य वैष्णवादि पदोंसे मुझे क्या मतलब ? क्योंकि वे तो कल्पके अन्तमें नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥ हमने उसका यह विचार सुना है । इसीलिए वह इस कठोर तपमें लगा हुआ है । हे त्रिभुवनेश्वर ! इस सम्बन्धमें आप जो उचित समझें सो शीघ्र करें ॥ १२ ॥ हे जगत्पते ! आपका यह सर्वश्रेष्ठ स्थान ब्राह्मण तथा गौओंकी उत्पत्ति, कल्याण, विभूति, कुशल तथा विजयका मूल कारण है ॥ १३ ॥ हे राजन् ! देवताओंके ऐसा कहनेपर आत्मयोनि भगवान ब्रह्माजी भृगु तथा दक्षादि प्रजापतियोंके साथ हिरण्यकशिपुके आश्रमपर गये ॥ १४ ॥ पहले तो वह उन्हें दीखा ही नहीं । क्योंकि बाँबी, तृण और बाँसोंसे उसका शरीर ढँका था और चींटियाँ उसके मेद, त्वचा, मांस तथा रक्तादिको चाट गयी थीं ॥ १५ ॥ बड़ी देर तक खोज करनेपर जब मेघमालाच्छन्न सूर्यके सदृश परम तेजस्वी तथा तपसे त्रिलोकीको तपानेवाले उस दैत्यको देखा तो हंसवाहन श्रीब्रह्माजी चकित होकर हँसते हुए बोले ॥ १६ ॥ श्रीब्रह्माजीने कहा—हे कश्यप-तनय ! अब उठो-उठो, तुम्हारा तप सिद्ध हो गया । तुम्हारा कल्याण हो । मैं तुम्हें वर देने आया हूँ । तुम जो चाहो , वह माँगो ॥ १७ ॥ मैंने तुम्हारा आज यह अद्भुत आत्म-बल देखा, जो मच्छड़ों द्वारा डस लिये जानेपर भी तुम्हारे प्राण और शरीर केवल हड्डियोंके सहारे टिके हुए हैं ॥१८॥ ऐसा कठोर तप न कभी महर्षियोंने किया है और न कोई भविष्यमें ही कर पायेगा । संसारमें ऐसा कौन प्राणी है, जो बिना जलके सौ दिव्य वर्षतक जिये ॥ १९ ॥ हे दितिनन्दन ! बड़े-बड़े धैर्यशाली पुरुषोंके लिये भी अति कठिन तुम्हारी तपस्याने मुझे वशमें कर लिया है ॥ २० ॥ हे असुरश्रेष्ठ ! मैं तुम्हारी सब इच्छायें पूर्ण कर दूँगा । तुम मृत्युलोकके जीव हो, फिर भी हम जैसे अमर देवताका दर्शन व्यर्थ नहीं हो सकता ॥ २० ॥ २१ ॥ श्री नारदजी कहते हैं—हे राजन् ! आदिदेव श्रीब्रह्माजीने ऐसा कहकर चीटियों द्वारा

स तत्कीचकवल्मीकात् सहओजोबलान्वितः । सर्वावयवसम्पन्नो वज्रसंहननो युवा ।
उत्थितस्तप्तहेमाभो विभावसुरिवैधसः ॥ २३ ॥

स निरीक्ष्याम्बरे देवं हंसवाहमवस्थितम् । ननाम शिरसा भूमौ तद्दर्शनमहोत्सवः ॥२४॥

उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व ईक्षमाणो दृशा विभुम् । हर्षाश्रुपुलकोद्भेदो गिरा गद्गदयागृणात् ॥२५॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

कल्पान्ते कालसृष्टेन योऽन्धेन तमसाऽऽवृतम् । अभिव्यनग् जगदिदं स्वयंज्योतिः स्वरोचिषा ॥२६

आत्मना त्रिवृता चेदं सृजत्यवति लुम्पति । रजःसत्त्वतमोधाम्ने पराय महते नमः ॥२७॥

नम आद्याय बीजाय ज्ञानविज्ञानमूर्तये । प्राणेन्द्रियमनोबुद्धिविकारैर्व्यक्तिमीयुषे ॥२८॥

त्वमीशिषे जगतस्तस्थुषश्च प्राणेन मुख्येन पतिः प्रजानाम् ।
चित्तस्य चित्तेर्मनइन्द्रियाणां पतिर्महान् भूतगुणाशयेशः ॥ २९ ॥

त्वं सप्ततन्तून् वितनोषि तन्वा त्रय्या चातुर्होत्रकविद्यया च ।
त्वमेक आत्माऽऽत्मवतामनादिरनन्तपारः कविरन्तरात्मा ॥ ३० ॥

त्वमेव कालोऽनिमिषो जनानामायुर्लवाद्यावयवैः क्षिणोषि ।
कूटस्थ आत्मा परमेष्ठ्यजो महांस्त्वं जीवलोकस्य च जीव आत्मा ॥ ३१ ॥

त्वत्तः परं नापरमप्यनेजदेजच्च किञ्चिद् व्यतिरिक्तमस्ति ।
विद्याः कलास्ते तनवश्च सर्वा हिरण्यगर्भोऽसि बृहत् त्रिपृष्ठः ॥ ३२ ॥

चढे शरीरवाले हिरण्यकशिपुपर अपने कमण्डलुका अमोघ प्रभावशाली जल छिड़क दिया ॥ २२ ॥ उनके ऐसा करते ही वह ईंधनसे प्रकटे अग्निकी नाईं मानसिक, ऐन्द्रियिक तथा शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न, सर्वाङ्गपूर्ण तथा वज्रसदृश पुष्ट और तपाये सुवर्णकी भाँति सुन्दर नवयुवक हो बाँस और वल्मीकके बीचमेंसे निकलकर उठ खड़ा हुआ ॥ २३ ॥ आकाशमें हंसवाहन भगवान ब्रह्माजीको देखकर उनके दर्शनसे अति आनन्दित हो उसने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया ॥ २४ ॥ तब वह दैत्यराज नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरे, पुलकित शरीर हो तथा भगवानकी ओर अत्यन्त विनीतभावसे देखते हुए दोनों हाथ जोड़कर गद्‌गद् वाणीसे स्तुति करने लगा ॥ २५ ॥ हिरण्यकशिपु बोला—प्रत्येक कल्पके अन्तमें काल द्वारा प्रेरित एवं तमोगुणसे ढँके हुए जगत्को जिन स्वयंप्रकाशशील परमेश्वरने अपने तेजसे उत्पन्न किया और जो त्रिगुणात्मक संसारकी रचना, पालन और संहार करते हैं उन सत्त्व, रज तथा तमोरूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ २६ ॥ २७ ॥ जो आदिपुरुष और जगत्के बीच हैं, ज्ञान-विज्ञान जिनके स्वरूप हैं और प्राण, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि विकारोंसे व्यक्त दीखते हैं ॥ २८ ॥ हे पितामह ! आप ही सूत्रात्मास्वरूपसे इस स्थावर-जङ्गम जगत्का शासन करते हैं। अतएव आप प्रजा और उनके चित्त, चेतना, मन तथा इन्द्रियोंके भी स्वामी हैं। मनस्तत्त्वरूसे आप ही आकाशादि भूत, शब्दादि विषय तथा उनकी वासनाओंको रचते हैं ॥ २९ ॥ जिसमें कि होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा उद्‌गाता इन चार ऋत्विजोंवाले यज्ञकर्मके प्रतिपादक, वेदत्रयीरूप अपने शरीरसे आप ही अग्निष्टोम आदि सात यज्ञ रचते और आप ही सब प्राणियोंके एकमात्र आत्मा हैं। अनादि, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी हे विधाता ! आप ही काल हैं। इसलिये आप अनिमेषरूपसे क्षण-लव आदि अपने अवयवों द्वारा सब जीवोंकी आयु क्षीण करते हुए भी सदा निर्विकार रहते हैं। क्योंकि आप ज्ञानस्वरूप, परमेश्वर, अजन्मा, महान् तथा सब जीवोंके अन्तरात्मा हैं ॥ ३० ॥ ३१ ॥ हे नाथ ! कारण-कार्य तथा स्थावर-जङ्गममेंसे कोई भी वस्तु आपसे पृथक् नहीं रहती। विद्या और कला भी आपके ही अङ्ग हैं। आप त्रिगुणात्मिका मायासे परे परब्रह्म परमात्मा हैं। क्योंकि यह सुवर्णमय

व्यक्तं विभो स्थूलमिदं शरीरं येनेन्द्रियप्राणमनोगुणांस्त्वम् ।
भुङ्क्षे स्थितो धामनि पारमेष्ठ्य अव्यक्त आत्मा पुरुषः पुराणः ॥ ३३ ॥
अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम् । चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ॥ ३४ ॥
यदि दास्यस्यभिमतान् वरान् मे वरदोत्तम । भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो ॥३५॥
नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः । न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि ॥३६॥
व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः । अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम् ॥३७॥
सर्वेषां लोकपालानां महिमानं यथाऽऽत्मनः । तपोयोगप्रभावाणां यन्न रिष्यति कर्हिचित् ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे हिरण्यकशिपोर्वरयाचनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

नारद उवाच

एवं वृतः शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ । प्रादात् तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच

तातेमे दुर्लभाः पुंसां यान् वृणीषे वरान् मम । तथापि वितराम्यङ्ग वरान् यदपि दुर्लभान् ॥ २ ॥
ततो जगाम भगवानमोघानुग्रहो विभुः । पूजितोऽसुरवर्येण स्तूयमानः प्रजेश्वरैः ॥ ३ ॥
एवं लब्धवरो दैत्यो बिभ्रद्धेममयं वपुः । भगवत्यकरोद् द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥ ४ ॥
स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुर । देवासुरमनुष्येन्द्रान् गन्धर्वगरुडोरगान् ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्ड आपके गर्भमें ही स्थित है ॥ ३२ ॥ हे विभो ! यह दृश्यमान ब्रह्माण्ड आपका स्थूल शरीर है, जिसके द्वारा आप इन्द्रिय, प्राण तथा मनके विषय भोगते हैं । इन सब विषयोंका भोग आप परमात्म-स्वरूपमें स्थिर होकर ही करते हैं । वस्तुतः आप अव्यक्त, पुराणपुरुष तथा निरुपाधिक ब्रह्मस्वरूप ही हैं ॥ ३३ ॥ अपने अनन्त तथा अव्यक्तरूपसे जो सारे जगत्में व्याप्त हैं, उन चेतन तथा अचेतन-शक्तिसम्पन्न भगवानको प्रणाम है ॥ ३४ ॥ हे वरदायकोंमें उत्तम प्रभो ! आप यदि मुझे मनचाहा वर देते हों तो यही दीजिए कि आपके रचे किसी भी प्राणीके हाथों मैं न मरूँ ॥३५॥ भीतर, बाहर, दिन, रात्रि आपके रचे प्राणियोंके अतिरिक्त किसी और जीवसे, किसी अस्त्र-शस्त्रसे, पृथिवी तथा आकाशमें मनुष्य या मृगसे एवं जीवित अथवा मृतक प्राणीके द्वारा मेरी मृत्यु न हो। देवता, असुर तथा नागादिमेंसे मुझे कोई भी न मार पाये । युद्धमें कोई भी मेरे सामने न टिक सके और मैं ही सबका एकमात्र अधीश्वर बनूँ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ इन्द्रादि सभी लोकपालोंमें जैसी महिमा आपकी है, वैसी ही मेरी भी हो और तपोयोगप्रभावयुक्त योगियोंको जो अविनाशी ऐश्वर्य मिला हुआ है, वही मुझे भी मिले ॥ ३८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(दैत्यपति हिरण्यकशिपुका उत्पात और प्रह्लादजीके अनुपम गुण) श्रीनारदजी कहने लगे—हे राजन् ! ब्रह्माजी हिरण्यकशिपुपर बहुत प्रसन्न थे । सो उसके माँगनेपर उन्होंने परम दुर्लभ वे सब वर उसे दे दिये ॥ १ ॥ श्रीब्रह्माजी बोले—हे तात ! तुमने जो वर माँगे हैं, वे अति दुर्लभ हैं, सो मैं तुम्हें वे सब वर देता हूँ ॥ २ ॥ तदनन्तर जिनकी कृपा कभी भी व्यर्थ नहीं होती, वे श्रीब्रह्माजी दैत्य-पति हिरण्यकशिपु द्वारा पूजित तथा प्रजापतिगणोंसे स्तूयमान होते हुए वहाँसे चल पड़े ॥ ३ ॥ इधर सुवर्णसदृश कान्तियुक्त शरीरसे सुशोभित दैत्यराज हिरण्यकशिपु यह वर पा और भाईके वधका स्मरण करके नारायणसे द्वेष करने लगा ॥ ४ ॥ उस महादैत्यने सब दिशाओं, तीनों लोकों तथा देवता, असुर,

सिद्धचारणविद्याध्रानृषीन् पितृपतीन् मनून् । यक्षरक्षःपिशाचेशान् प्रेतभूतपतीनथ ॥ ६ ॥
सर्वसत्त्वपतीञ् जित्वा वशमानीय विश्वजित् । जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥ ७ ॥
देवोद्यानश्रिया जुष्टमध्यास्ते स्म त्रिविष्टपम् । महेन्द्रभवनं साक्षान्निर्मितं विश्वकर्मणा ।
त्रैलोक्यलक्ष्म्यायतनमध्युवासाखिलर्द्धिमत् ॥ ८ ॥
यत्र विद्रुमसोपाना महामारकता भुवः । यत्र स्फाटिककुड्यानि वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तयः ॥९॥
यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च । पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥१०॥
कूजद्भिर्नूपुरैर्देव्यः शब्दयन्त्य इतस्ततः । रत्नस्थलीषु पश्यन्ति सुदतीः सुन्दरं मुखम् ॥११॥

तस्मिन् महेन्द्रभवने महाबलो महामना निर्जितलोक एकराट् ।
रेमेऽभिवन्द्याङ्घ्रियुगः सुरादिभिः प्रतापितैरूर्जितचण्डशासनः ॥ १२ ॥
तमङ्ग मत्तं मधुनोरुगन्धिना विवृत्तताम्राक्षमशेषधिष्ण्यपाः ।
जगुर्महेन्द्रासनमोजसा स्थितं विश्वावसुस्तुम्बुरुरस्मदादयः ।
गन्धर्वसिद्धा ऋषयोऽस्तुवन् मुहुर्विद्याधरा अप्सरसश्च पाण्डव ॥ १४ ॥

स एव वर्णाश्रमिभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः । इज्यमानो हविर्भागानग्रहीत् स्वेन तेजसा ॥१५॥
अकृष्टपच्या तस्यासीत् सप्तद्वीपवती मही । तथा कामदुघा द्यौस्तु नानाश्चर्यपदं नभः ॥१६॥
रत्नाकराश्च रत्नौघांस्तत्पत्न्यश्चोहुरूर्मिभिः । क्षारसीधुघृतक्षौद्रदधिक्षीरामृतोदकाः ॥ १७ ॥

नरेन्द्रगण, गन्धर्व, गरुड़, सर्प, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितरोंके स्वामी, मनु, यक्ष, राक्षस, पिशाचपति, भूत-प्रेतोंके प्रभु एवं सब जीवोंके स्वामियोंको जीतकर अपने वशमें कर लिया। उस विश्वविजयी असुरने अपने बलसे सब लोकपालोंके पद छीन लिये ॥ ५-७ ॥ वह महाबलवान् दैत्य नन्दन वनकी शोभासे युक्त स्वर्गलोकमें जाकर विश्वकर्माके बनाये और त्रिलोकीकी शोभाके आधार समस्त वैभव भरे इन्द्रभवनमें रहने लगा ॥ ८ ॥ जिस इन्द्रभवनकी सीढ़ियाँ विद्रुमकी, फर्श महामरकतमणिकी, दीवार स्फटिकमणिकी तथा स्तम्भश्रेणी वैदूर्यमणिकी बनी थी ॥ ९ ॥ जिसमें चित्र-विचित्र वितान, पद्मरागमणिके पीढ़े, दुग्धफेन सम उज्ज्वल और कोमल शय्या तथा मोतीकी लड़ियोंसे अलंकृत परिच्छद शोभायमान हो रहे थे ॥ १० ॥ उस दिव्यभवनमें सुन्दर दाँतोंवाली देवाङ्गनाएँ नूपुरोंकी झनकार करती हुई घूम रही थीं और वे वहाँकी रत्नस्थलियोंमें अपना सुन्दर मुख निहारती थीं ॥ ११ ॥ वह महाबली और महामनस्वी दैत्यराज उन सब लोकोंको जीत त्रिलोकीका अकेला शासक होकर आनन्द करने लगा। वह बड़ा तेजस्वी एवं कठोर शासक था। उसके तेजसे सन्तप्त देवता नित्य उसके चरणोंकी वन्दना करते थे ॥ १२ ॥ हे राजन्! वह अतिशय तीव्रगन्ध मदिरा पीकर मतवाला बना रहता था। उसकी आँखें लाल-लाल और चढ़ी-सी रहती थीं। वह तप, योग तथा शारीरिक एवं मानसिक शक्तिका आधार बन गया था। ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके सिवा बाकी सभी लोकपाल उपहार लिये हुए सर्वदा उसकी सेवामें उपस्थित रहने लगे ॥ १३ ॥ हे पाण्डुतनय! अपनी शक्तिसे इन्द्रासनपर आसीन उस हिरण्यकशिपुका मैं, विश्वावसु तथा तुम्बुरु आदि गुण गाया करते थे और सभी सिद्ध, गन्धर्व ऋषि, विद्याधर तथा अप्सरायें उसकी स्तुति किया करती थीं ॥ १४ ॥ हे राजन्! वर्णाश्रमधर्मके पालक पुरुषों द्वारा बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञ किये जानेपर वह दैत्यराज ही अपने प्रबल प्रभावसे सारा यज्ञभाग लेने लगा ॥ १५ ॥ उसके राज्य करते समय सप्तद्वीपा पृथिवी बिना जोते-बोये अन्न उपजाती थी, स्वर्ग लोगोंकी कामनायें पूर्ण करता और अन्तरिक्षलोक विविध आश्चर्योंका आश्रय बन गया था ॥ १६ ॥ खारे पानी, मदिरा, घृत, इक्षुरस, दधि, दुग्ध और मीठे पानीवाले समुद्र भी अपनी पत्नियों

शैला द्रोणीभिराक्रीडं सर्वर्तुषु गुणान् द्रुमाः । दधार लोकपालानामेक एव पृथग्गुणान् ॥१८॥
स इत्थं निर्जितककुबेकराड् विषयान् प्रियान् । यथोपजोषं भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः ॥१९॥
एवमैश्वर्यमत्तस्य दृप्तस्योच्छास्त्रवर्तिनः । कालो महान् व्यतीयाय ब्रह्मशापमुपेयुषः ॥२०॥
तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः । अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥२१॥
तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रात्मा हरिरीश्वरः । यद् गत्वा न निवर्तन्ते शान्ताःसंन्यासिनोऽमलाः२२
इति ते संयतात्मानः समाहितधियोऽमलाः । उपतस्थुर्हृषीकेशं विनिद्रा वायुभोजनाः ॥२३॥
तेषामाविरभूद् वाणी अरूपा मेघनिःस्वना । सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयङ्करी ॥२४॥
मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः । मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥२५॥
ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य च । तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत् प्रतीक्षत ॥२६
यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु । धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥२७॥
निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने । प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥२८॥

नारद उवाच

इत्युक्ता लोकगुरुणा तं प्रणम्य दिवौकसः । न्यवर्तन्त गतोद्वेगा मेनिरे चासुरं हतम् ॥२९॥
तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः । प्रह्लादोऽभून्महांस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥३०॥
ब्रह्मण्यः शीलसम्पन्नः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः । आत्मवत् सर्वभूतानामेकः प्रियसुहृत्तमः ॥३१॥

(नदियों) समेत उसके पास तरङ्गों द्वारा रत्नराशि पहुँचाते थे ॥ १७ ॥ सभी पर्वत अपनी कन्दराओंको रम्य रखने तथा वृक्ष प्रत्येक ऋतुके फल-पुष्प देने लगे । क्योंकि उस समय हिरण्यकशिपु स्वयं सब लोकपालोंके गुणोंको धारण किये हुए था ॥ १८ ॥ वह दिग्विजयी तथा एकछत्र सम्राट् होकर अपने प्रिय भोगोंको यथेच्छ भोगता था, फिर भी अजितेन्द्रिय होनेसे उसे तृप्ति नहीं होने आती थी ॥ १९ ॥ इस तरह विप्रशापको प्राप्त उस ऐश्वर्योन्मत्त, अभिमानी एवं शास्त्रविरुद्धकर्मा दुष्ट दैत्यका बहुत-सा समय बीत गया ॥ २० ॥ उसके कठोर शासनसे लोकपालों समेत सब लोक उद्विग्न हो उठे और जब उन्हें और कहीं ठिकाना नहीं मिला तो वे श्रीविष्णुभगवानकी शरणमें जा पहुँचे ॥ २१ ॥ वहाँ जाकर बोले—"उस दिशाको नमस्कार है, जिसमें सर्वात्मा जगदीश्वर रहते हैं । जिसे प्राप्त करके शान्त तथा निर्मल स्वभावके संन्यासीजन फिर यहाँ नहीं लौटते" ॥ २२ ॥ वहाँ उन्होंने इन्द्रियोंको संयत करते हुए चित्तकी एकाग्रतापूर्वक निद्रा जीत ली और केवल वायुभोजी होकर विशुद्ध बुद्धिसे भगवान हृषीकेशकी आराधना की ॥ २३ ॥ कालान्तरमें उन्हें मेघनिभ गम्भीर और साधुजनोंको अभयदायिनी आकाश-वाणी सुन पड़ी, जिसके गम्भीर घोषसे दिशायें गूँज उठीं । उन्होंने सुना—"हे देवश्रेष्ठ ! तुम लोग मत डरो । तुम्हारा कल्याण हो । मेरा दर्शन सब प्रकारके मंगलोंका साधक माना जाता है ॥ २४ ॥ २५ ॥ मैं इस अधम दैत्यकी दुष्टता जानता हूँ । समय पाकर मैं उसे शान्त कर दूँगा । तबतक तुम समयकी प्रतीक्षा करो ॥ २६ ॥ जब कोई प्राणी देवता, वेद, गौ, ब्राह्मण, साधु, धर्म तथा मुझसे द्वेष करने लगता है, तब वह शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥ सो जब वह अपने निर्वैर, शान्त तथा महात्मा पुत्र प्रह्लादके साथ वैर साधेगा, तब ब्रह्माजीके वरसे उस तेजस्वी दैत्यको मैं अवश्य मार डालूँगा ॥ २८ ॥ श्रीनारदजी बोले—सारे संसारके गुरु भगवानके ऐसा कहनेपर देवताओंने उद्वेगरहित होकर उन्हें प्रणाम किया और लौट आये और उन्होंने उस असुरको मृतप्राय समझा ॥ २९ ॥ हे राजन् ! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके चार बेटे थे । उन चारोंमें प्रह्लाद अपने सद्गुणोंसे श्रेष्ठ था । वह ब्राह्मणों तथा महापुरुषोंका भक्त, सदाचारी, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, आत्माके सदृश सबका प्रिय, अति सुहृद्, भद्रपुरुषोंके चरणोंमें दासकी भाँति विनीत, दीनोंपर पिताके समान कृपालु, बराबर-

दासवत्संनतार्याङ्घ्रि पितृवद् दीनवत्सलः । भ्रातृवत् सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः ।
विद्यार्थरूपजन्माढ्यो मानस्तम्भविवर्जितः ॥ ३२ ॥
नोद्विग्नचित्तो व्यसनेषु निःस्पृहः श्रुतेषु दृष्टेषु गुणेष्ववस्तुदृक् ।
दान्तेन्द्रियप्राणशरीरधीः सदा प्रशान्तकामो रहितासुरोऽसुरः ॥ ३३ ॥
यस्मिन् महद्गुणा राजन् गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः । न तेऽधुना पिधीयन्ते यथा भगवतीश्वरे ॥३४॥
यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप । प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः ॥३५॥
गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते । वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ॥३६॥
न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत् तन्मनस्तया । कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥३७॥
आसीनः पर्यटन्नश्नञ्छयानः प्रपिबन् ब्रुवन् । नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥३८॥
क्वचिद् रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः । क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित् ॥३९॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् । क्वचित् तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह ॥४०॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः । अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥४१॥
स उत्तमश्लोकपदारविन्दयोर्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहुर्दुःसङ्गदीनान्यमनःशमं व्यधात् ॥४२॥
तस्मिन् महाभागवते महाभागे महात्मनि । हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे ॥४३॥

युधिष्ठिर उवाच

देवर्ष एतदिच्छामो वेदितुं तव सुव्रत । यदात्मजाय शुद्धाय पितादात्साधवे ह्यघम् ॥४४॥

वालोंसे भ्रातासदृश स्नेही तथा बड़ोंको ईश्वर समझता था । वह विद्या, धन, रूप तथा कुलसे युक्त होकर भी मान तथा गर्वसे शून्य था ॥ ३०—३२ ॥ वह विपत्तिमें घबड़ाता नहीं था । देखे और सुने सभी विषयोंको झूठा समझकर वह उन्हें नहीं चाहता था । उसकी सब इन्द्रियाँ, प्राण, शरीर तथा मन वशमें था और उसे कुछ भी इच्छा नहीं थी । असुरकुलमें जन्म लेकर भी वह आसुरभावसे एक दम अछूता था ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! उसके महान् गुणोंको विद्वज्जन बारम्बार मनन करते हैं । वे ईश्वरके समान अबतक तिरोहित नहीं हो पाये हैं ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! सब देवता प्रतिद्वन्द्वी होकर भी सभामें साधुपुरुषोंकी चर्चा चलनेपर जिनका उदाहरण देते हैं, उन भगवद्भक्त प्रह्लादजीका आप सरीखे भगवद्भक्त अवश्य आदर करेंगे । भगवान वासुदेवमें जिनका सहज प्रेम था, उन श्रीप्रह्लादजीके असंख्य गुणोंका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ? हम तो उनका माहात्म्यभर कह रहे हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! बाल्यकालमें ही वे खेल-कूद छोड़ भगवद्ध्यानमें तन्मय हो जाते थे । उनके मनको कृष्णरूपी ग्रहने ग्रस लिया था, अतएव उन्हें यह कुछ नहीं मालूम था कि संसार कैसा है ॥ ३७ ॥ श्रीगोविन्दमें तल्लीन रहनेसे उन्हें बैठते, घूमते, खाते, पीते, शयन करते तथा बोलते-चालते समय उन क्रियाओंका भी कुछ ज्ञान नहीं रहता था ॥३८॥ वे श्रीवैकुण्ठनाथकी चिंतासे चित्तके क्षुभित हो जानेपर कभी रोते, कभी भगवत्स्मृतिसे गद्गद होकर हँसते और कभी जोर-जोरसे भगवद्गुण गाने लगते थे ॥ ३९ ॥ वे कभी अति उत्कण्ठित होकर गर्जते, कभी लज्जा छोड़कर नाचते और कभी भगवद्भावनाके आवेशमें आकर उनकी लीलाओंका अनुकरण करने लग जाते थे ॥४०॥ वे कभी नारायणके स्पर्शका अनुभव करके परमानन्दसे पुलकित होकर चुपचाप बैठे रहते और उनकी आँखें अविचल प्रेमानन्दवश उमड़े हुए आनन्दाश्रुओंसे भरकर कुछ मुँद-सी जाती थीं ॥ ४१ ॥ इस तरह प्रह्लाद निष्किञ्चन भगवद्भक्तों द्वारा प्राप्त उत्तमश्लोक भगवानके चरणारविन्दोंकी सेवासे अपना मन परमानन्दित करते हुए अन्य कुसंगग्रस्त पुरुषोंके मनको भी शान्ति देने लगे ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! इस महान् भगवद्भक्त, महाभाग तथा महात्मा पुत्रसे भी हिरण्यकशिपु वैर करने लगा ॥ ४३ ॥ राजा युधिष्ठिर

पुत्रान् विप्रतिकूलान् स्वान् पितरः पुत्रवत्सलाः । उपालभन्ते शिक्षार्थं नैवाघमपरो यथा ॥४५॥
किमुतानुवशान् साधूंस्तादृशान् गुरुदैवतान् । एतत् कौतूहलं ब्रह्मन्नस्माकं विधम प्रभो ।
पितुः पुत्राय यद् द्वेषो मरणाय प्रयोजितः ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरिते चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

नारद उवाच

पौरोहित्याय भगवान् वृतः काव्यः किलासुरैः । शण्डामर्कौ सुतौ तस्य दैत्यराजगृहान्तिके ॥१॥
तौ राज्ञा प्रापितं बालं प्रह्लादं नयकोविदम् । पाठयामासतुः पाठ्यानन्यांश्चासुरबालकान् ॥२॥
यत् तत्र गुरुणा प्रोक्तं शुश्रुवेऽनु पपाठ च । न साधु मनसा मेने स्वपरासद्ग्रहाश्रयम् ॥३॥
एकदासुरराट् पुत्रमङ्कमारोप्य पाण्डव । पप्रच्छ कथ्यतां वत्स मन्यते साधु यद् भवान् ॥४॥

प्रह्लाद उवाच

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥ ५ ॥

नारद उवाच

श्रुत्वा पुत्रगिरो दैत्यः परपक्षसमाहिताः । जहास बुद्धिर्बालानां भिद्यते परबुद्धिभिः ॥६॥
सम्यग् विधार्यतां बालो गुरुगेहे द्विजातिभिः । विष्णुपक्षैः प्रतिच्छन्नैर्न भिद्येतास्य धीर्यथा ॥७॥
गृहमानीतमाहूय प्रह्लादं दैत्ययाजकाः । प्रशस्य श्लक्ष्णया वाचा समपृच्छन्त सामभिः ॥८॥

बोले—हे देवर्षे ! हे सुव्रत ! अब हम जानना चाहते हैं कि पिता होकर भी उसने ऐसे शुद्धहृदय पुत्रसे वैर क्यों साधा ? ॥ ४४ ॥ प्रतिकूल पुत्रके शिक्षार्थ शुभचिन्तक पिता पुत्रका तिरस्कार तो करते हैं, परन्तु शत्रुके समान बर्ताव नहीं करते ॥ ४५ ॥ फिर प्रह्लाद जैसे अनुकूल, साधुचरित तथा गुरुजनोंका आदर करनेवाले पुत्रोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? हे प्रभो ! हमें तो यह सोचकर बड़ा विस्मय होता है कि पिताने पुत्रको मारनेके लिये वैर क्यों किया ! अतएव हे ब्रह्मन् ! हमारे इस कुतूहलको आप शान्त करें ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

(दैत्यपति हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लादजीके वधका उपाय) श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! असुरोंने श्रीशुक्राचार्यजीको अपना पुरोहित बनाया था । उनके पुत्र शण्ड तथा अमर्क दैत्यराज हिरण्यकशिपुके भवनके पास ही रहते थे ॥ १ ॥ वे राजाके भेजे नीतिकुशल बालक प्रह्लाद तथा अन्य असुरबालकोंको भी पाठ्य विषय पढ़ाते थे ॥ २ ॥ गुरुजी जो पाठ पढ़ाते, उसे प्रह्लादजी ज्यों-का-त्यों सुना तो दिया करते थे, किन्तु 'यह अपना है, पराया है' ऐसे दूषित आग्रहसे दुष्ट पाठ उनके मनमें नहीं धँसता था ॥ ३ ॥ हे पाण्डव ! एक दिन दैत्यराज हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें लेकर पूछा—"बेटा ! बता तो तुझे कौन सी वस्तु प्रिय है ?" ॥ ४ ॥ प्रह्लाद बोले—हे दैत्यश्रेष्ठ ! अहंता-ममतारूपी असद् आग्रहसे जिनकी बुद्धि सदा उचटी-सी रहती है, उनके लिये मैं तो यही अच्छा समझता हूँ कि आत्मपतनके हेतुभूत गृहरूपी अन्धकूपको त्यागकर वनमें जा श्रीहरिका आश्रय लें ॥ ५ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! अपने विपक्षीकी श्रद्धासे युक्त वचन सुनकर दैत्यराज हँसा और बोला—बच्चोंकी बुद्धि दूसरोंके बहकावेसे इसी तरह भ्रष्ट हो जाती है ॥ ६ ॥ अतएव गुरुकुलमें ले जाकर इसे ब्राह्मणोंकी देख-रेखमें रखो, जिससे वैष्णव गुप्तचर इसकी बुद्धि न बिगाड़ सकें ॥ ७ ॥ अपने घर पहुँचाये जानेपर दैत्यपुरोहितोंने समीप बुलाकर मधुरवाणीमें प्रशंसा करते हुए

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते सत्यं कथय मा मृषा । बालानति कुतस्तुभ्यमेष बुद्धिविपर्ययः ॥९॥
बुद्धिभेदः परकृत उताहो ते स्वतोऽभवत् । भण्यतां श्रोतुकामानां गुरूणां कुलनन्दन ॥१०॥

प्रह्लाद उवाच

स्वः परश्चेत्यसद्ग्राहः पुंसां यन्मायया कृतः । विमोहितधियां दृष्टस्तस्मै भगवते नमः ॥११॥
स यदानुव्रतः पुंसां पशुबुद्धिर्विभिद्यते । अन्य एष तथान्योऽहमिति भेदगतासती ॥१२॥
स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभिर्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ॥१३॥
यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्षसन्निधौ । तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ॥१४॥

नारद उवाच

एतावद् ब्राह्मणायोक्त्वा विरराम महामतिः । तं निर्भर्त्स्यार्थ कुपितः स दीनो राजसेवकः ॥१५॥
आनीयतामरे वेत्रमस्माकमयशस्करः । कुलाङ्गारस्य दुर्बुद्धेश्चतुर्थोऽस्योदितो दमः ॥१६॥
दैतेयचन्दनवने जातोऽयं कण्टकद्रुमः । यन्मूलोन्मूलपरशोर्विष्णोर्नालायितोऽर्भकः ॥१७॥
इति तं विविधोपायैर्भीषयंस्तर्जनादिभिः । प्रह्लादं ग्राहयामास त्रिवर्गस्योपपादनम् ॥१८॥
तत एनं गुरुर्ज्ञात्वा ज्ञातज्ञेयचतुष्टयम् । दैत्येन्द्रं दर्शयामास मातृमृष्टमलंकृतम् ॥१९॥
पादयोः पतितं बालं प्रतिनन्द्याशिषासुरः । परिष्वज्य चिरं दोर्भ्यां परमामाप निर्वृतिम् ॥२०॥
आरोप्याङ्कमवघ्राय मूर्धन्यश्रुकलाम्बुभिः । आसिञ्चन् विकसद्वक्त्रमिदमाह युधिष्ठिर ॥२१॥

प्रह्लादसे पूछा—॥ ८ ॥ "बेटा प्रह्लाद ! तेरा मङ्गल हो, तू मुझे ठीक-ठीक बता—देख, झूठ न बोलना। इन सब बालकोंकी अपेक्षा तेरी बुद्धिमें निराला उलट-फेर क्यों होगया ? ॥ ९ ॥ हे कुलनन्दन ! तुममें यह बुद्धिभेद किसी औरने कर दिया है या कि स्वयं हुआ है ? देखो, हम तुम्हारे गुरु हैं। हमें यह जाननेकी उत्कट उत्कण्ठा है। सो तुम मुझे सब सच-सच बता दो" ॥ १० ॥ प्रह्लादजी बोले—मोह-ग्रस्त बुद्धिवालोंको जिनकी मायासे अपना-परायाका व्यर्थ दुराग्रह हो रहा है, उन श्रीभगवान्‌को प्रणाम है ॥ ११ ॥ जब जीवोंपर उन प्रभुकी दया होती है तो उनकी मिथ्या पशुबुद्धि—जिससे 'यह व्यक्ति अन्य तथा मैं अन्य हूँ' भेद उत्पन्न होता है, वह स्वयं नष्ट हो जाती है ॥ १२ ॥ निर्बुद्धिजन उस आत्माको ही 'यह अपना है और यह पराया है' ऐसा कहते हैं। उसकी लीला बड़ी दुर्ज्ञेय होती और उसके मार्गमें ब्रह्मादि वेदवादी भी मोहित हो जाते हैं। उस परमात्माने ही मेरी बुद्धिमें ऐसा भेद उपजाया है ॥ १३ ॥ हे ब्रह्मन् ! जैसे लोहा स्वयं चुम्बकके पास खिंच जाता है, वैसे ही चक्रपाणि भगवानकी इच्छासे ही मेरी बुद्धिमें भी भेद पड़ा है ॥ १४ ॥ श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! उन ब्राह्मणगुरुओंसे ऐसा कहकर महामति प्रह्लादजी चुप हो गये। तब उस बेचारे राजसेवकने कुपित हो और प्रह्लादजीको झिड़ककर कहा—॥ १५ ॥ "अरे ! कोई बेंत तो लाओ, यह हमें अपयश दिलाने-वाला अधम बालक है। इस दुर्बुद्धि कुलाङ्गारके लिये चौथा उपाय (दण्ड) ही उपयुक्त है ॥ १६ ॥ यह बालक दैत्यकुलरूपी चन्दनवनमें काँटोंका वृक्ष होकर उगा है और उसके मूलोच्छेदी विष्णुरूपी परशुके लिये यह बेंटका काम देता है" ॥ १७ ॥ इस तरह डाँट-डपट आदि अनेक उपायोंसे प्रह्लादको डराते हुए वे उन्हें अर्थ, धर्म तथा कामप्राप्ति करानेवाली विद्या पढ़ाने लगे ॥ १८ ॥ तदनन्तर गुरुने जब देखा कि प्रह्लाद साम, दाम, भेद और दण्ड चारों विषयोंको समझ गये हैं, तब उन्हें उनकी माता द्वारा स्नान तथा आभूषणादिसे अलंकृत कराके हिरण्यकशिपुके पास ले गया ॥ १९ ॥ अपने पुत्रको पैरोंमें पड़ा देख असुरराज हिरण्यकशिपुने आशीर्वादसे उसका अभिनन्दन किया और अपनी दोनों भुजाओंसे देरतक आलिङ्गन करके आनन्दनमग्न हो गया ॥ २० ॥ हे युधिष्ठिर ! उसने उस प्रसन्न

हिरण्यकशिपुरुवाच

प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम् । कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान् ॥२२॥

प्रह्लाद उवाच

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥२३॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥२४॥
निशम्यैतत् सुतवचो हिरण्यकशिपुस्तदा । गुरुपुत्रमुवाचेदं रुषा प्रस्फुरिताधरः ॥२५॥
ब्रह्मबन्धो किमेतत् ते विपक्षं श्रयतासता । असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते ॥२६॥
सन्ति ह्यसाधवो लोके दुर्मैत्राश्छद्मवेषिणः । तेषामुदेत्यघं काले रोगः पातकिनामिव ॥२७॥

गुरुपुत्र उवाच

न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो ।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन् नियच्छ मन्युं कददाः स्म मा नः ॥२८॥

नारद उवाच

गुरुणैवं प्रतिप्रोक्तो भूय आहासुरः सुतम् । न चेद् गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्रासती मतिः ॥२९॥

प्रह्लाद उवाच

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥३०॥
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः ।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना वाचीशतन्त्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥३१॥
नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ॥३२॥

बालकको गोदमें लेकर सिर सूँघा और नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए कहा । हिरण्यकशिपु बोला—चिरञ्जीवी बेटा प्रह्लाद ! इतने दिनों तुमने गुरुसे जो पढ़ा हो, उसमेंसे कोई अच्छी-सी बात सुनाओ ॥ २१ ॥ २२ ॥ प्रह्लादजी बोले—हे पिताजी ! विष्णुभगवानका गुण-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन, यह उनकी नवधा भक्ति है । जो पुरुष भगवदर्पणपूर्वक इसका आचरण करे तो मैं उसीको अच्छा स्वाध्याय समझता हूँ ॥ २३ ॥ २४ ॥ पुत्रके ये वचन सुनकर क्रोधसे हिरण्यकशिपुका अधरोष्ठ फड़कने लगा और उसने गुरुपुत्रसे कहा—॥ २५ ॥ "ओ ब्राह्मणाधम ! अरे दुर्बुद्धि ! तूने मुझे कुछ नहीं समझा और शत्रुका पक्ष लेकर बालकको यही निःसार शिक्षा दी है ? ॥ २६ ॥ ठीक ही है, संसारमें बहुतसे ऐसे दुष्ट हैं, जो छद्मवेशी ऊपरसे मित्र बने रहकर समय आनेपर एक-न-एक दिन विद्रोह कर देते हैं" ॥ २७ ॥ गुरुपुत्रने कहा—हे इन्द्रशत्रो ! आपका पत्र जो कुछ कहता है, वह मेरा या और किसीका सिखाया नहीं है । हे राजन् ! यह इसके स्वभावकी उपज है । आप क्रोध शान्त करें—हमें व्यर्थ दोष न दें ॥ २८ ॥ श्रीनारदजीने कहा—हे राजन् ! गुरुपुत्रके ऐसा कहनेपर दैत्यराजने पुत्रसे पूछा—"क्यों रे दुष्ट ! यदि तुझे ऐसी मनहूस और खोटी बुद्धि गुरुओंके उपदेशसे नहीं मिली तो मिली कहाँसे ?" ॥ २९ ॥ प्रह्लादजी बोले—जो अजितेन्द्रिय प्राणी चर्वितचर्वणन्यायसे भोगे हुए विषयोंको फिर भोगनेके निमित्त पुनःपुन संसारमें आते हैं, उन गृहासक्त लोगोंकी बुद्धि अपने आप, किसी शिक्षासे अथवा सत्संगसे भी भगवानमें नहीं लगती ॥ ३० ॥ जो विषयोंको ही बड़ा समझते तथा अन्धे द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धेके सदृश वेदवाणीरूपिणी रस्सीके कर्मबन्धनमें बँधे हैं, वे दुर्बुद्धि अपने परमपुरुषार्थरूपी श्रीविष्णुको नहीं पा सकते ॥ ३१ ॥ जब तक ये अपने-आपको निष्कि-

इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा । अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥३३॥
आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः । वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः ॥३४॥
अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः । पितृव्यहन्तुर्यः पादौ विष्णोर्दासवदर्चति ॥३५॥
विष्णोर्वा साध्वसौ किं नु करिष्यत्यसमञ्जसः । सौहृदं दुस्त्यजं पित्रोरहाद्यः पञ्चहायनः ॥३६॥
परोऽप्यपत्यं हितकृद् यथौषधं स्वदेहजोऽप्यामयवत् सुतोऽहितः ।
छिन्द्यात् तदङ्गं यदुतात्मनोऽहितं शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥३७॥
सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः । सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥३८॥
नैर्ऋतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः । तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥३९॥
नदन्तो भैरवान् नादाँश्छिन्धिभिन्धीतिवादिनः । आसीनं चाहनञ्छूलैः प्रह्रादं सर्वमर्मसु ॥४०॥
परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि । युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥४१॥
प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः । चकार तद्वधोपायान् निर्बन्धेन युधिष्ठिर ॥४२॥
दिग्गजैर्दन्दशूकैश्च अभिचारावपातनैः । मायाभिः संनिरोधैश्च गरदानैरभोजनैः ॥४३॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि । न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् ।
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत् कर्तुं नाभ्यपद्यत ॥४४॥
एष मे बह्वसाधूक्तो वधोपायाश्च निर्मिताः । तैस्तैर्द्रोहैरसद्धर्मैर्मुक्तः स्वेनैव तेजसा ॥४५॥

इन महापुरुषोंकी चरणरजसे अभिषिक्त नहीं करते, तबतक इनकी बुद्धि भगवच्चरणोंका स्पर्श भी नहीं कर सकती—जिससे कि संसाररूपी अनर्थका नाश होता है ॥ ३२ ॥ ऐसा कहकर प्रह्लाद चुप हो गये। यह देख हिरण्यकशिपुने क्रोधान्ध होकर प्रह्लादको गोदसे पृथिवीपर उतार दिया ॥ ३३ ॥ और असहिष्णुता तथा रोषसे आँखें लाल करके वह बोला—"अरे राक्षसों ! यह बालक वध योग्य है। इसे मार डालो या कि बाहर निकाल दो ॥ ३४ ॥ जब यह पापी जाति-बन्धुओंको छोड़ अपने काकाके घातक विष्णुके चरणोंका पूजन करता है, तब यह मेरे भाईका घातक विष्णु ही है ॥३५॥ यह बालक विष्णुका भी क्या हित करेगा ? जिसने कि पाँच वर्षकी अवस्थामें ही माता-पिताका प्यार त्याग दिया है ॥३६॥ यदि अन्य भी अपना हितकारी हो तो औषधिके समान उसे पुत्र ही माने और यदि अपना देहजात पुत्र भी दुःखदायी हो तो रोगके समान उसे त्याग दे। औरोंकी क्या बात, यदि अपने शरीरका कोई अंग दुःख देने लग जाय तो उसे भी काट डाले। क्योंकि उसके न रहनेपर बाकी शरीर तो सुखसे रहेगा ॥३७॥ सो इसे खाने-पीने, सोने, बैठने आदिके समय किसी उपायसे मार डालो। क्योंकि जैसे मुनियोंकी उच्छृंखल इन्द्रियाँ उनके लिये शत्रु हैं, वैसे ही मैं भी इसे सुहृद्रूप धारी शत्रु मानता हूँ ॥ ३८ ॥ स्वामीके ऐसी आज्ञा देनेपर वे तीखी दाढ़, विकराल वदन तथा लाल-लाल दाढ़ी-मूँछ एवं केशोंवाले भयानक राक्षस हाथोंमें त्रिशूल ले तथा 'मारो-मारो काटो-काटो !' कहकर भयंकर रूपसे गर्जने और वहाँ बैठे प्रह्लादजीके मर्मस्थानोंमें त्रिशूलसे प्रहार करने लगे ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तब भी प्रह्लादजीका मन अनिर्वाच्य तथा सर्वात्मा भगवान परब्रह्ममें लगा रहा और अभागोंके उद्योगके समान प्रह्लादजीपर उनके व्यवहृत सब प्रहार व्यर्थ हो गये ॥ ४१ ॥ हे युधिष्ठिर ! वह प्रयत्न निष्फल हो जानेपर दैत्यराजका चित्त और भी शंकामें पड़ गया और उन्हें मारनेके लिये अनेक उपाय किये गये ॥ ४२ ॥ उसने प्रह्लादको दिग्गजोंके पैरोंतले रौंदवाकर, विषैले सर्पोंसे कटवाकर, यंत्र-मंत्र कराकर, पर्वतसे ढकेलकर, मायाओंका प्रयोग कराके, अँधेरी कोठरियोंमें बन्द कराके, विष दिलाके, उपवास कराके, शीत, वायु, अग्नि तथा जलमें बिठाके और पर्वतोंके नीचे दबवाके मारनेकी चेष्टा की। फिर भी जब उस निर्दोष बालकका वध नहीं कर सका तब दैत्यपतिको चिन्ता हुई, किन्तु उसे बालकका वध करनेके लिए और कोई अचूक उपाय नहीं सूझा ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ वह अपने मनमें कहने लगा—"हाय ! मैंने इसे

वर्तमानोऽविदूरे वै बालोऽप्यजडधीरयम् । न विस्मरति मेऽनार्यं शुनःशेप इव प्रभुः ॥४६॥
अप्रमेयानुभावोऽयमकुतश्चिद्भयोऽमरः । नूनमेतद्विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा ॥४७॥
इति तं चिन्तया किञ्चिन्म्लानश्रियमधोमुखम् । शण्डामर्कावौशनसौ विविक्त इति होचतुः ॥४८॥
जितं त्वयैकेन जगत्त्रयं भ्रुवोर्विजृम्भणत्रस्तसमस्तधिष्ण्यपम् ।
न तस्य चिन्त्यं तव नाथ चक्ष्महे न वै शिशूनां गुणदोषयोः पदम् ॥४९॥
इमं तु पाशैर्वरुणस्य बद्ध्वा निधेहि भीतो न पलायते यथा ।
बुद्धिश्च पुंसो वयसाऽऽर्यसेवया यावद् गुरुर्भार्गव आगमिष्यति ॥५०॥
तथेति गुरुपुत्रोक्तमनुज्ञायेदमब्रवीत् । धर्मो ह्यस्योपदेष्टव्यो राज्ञां यो गृहमेधिनाम् ॥५१॥
धर्ममर्थं च कामं च नितरां चानुपूर्वशः । प्रह्लादायोचतू राजन् प्रश्रितावनताय च ॥५२॥
यथा त्रिवर्गं गुरुभिरात्मने उपशिक्षितम् । न साधु मेने तच्छिक्षां द्वन्द्वारामोपवर्णिताम् ॥५३॥
यदाऽऽचार्यः परावृत्तो गृहमेधीयकर्मसु । वयस्यैर्बालकैस्तत्र सोपहूतः कृतक्षणैः ॥५४॥
अथ ताञ्छ्लक्ष्णया वाचा प्रत्याहूय महाबुधः । उवाच विद्वांस्तन्निष्ठां कृपया प्रहसन्निव ॥५५॥
ते तु तद्गौरवात् सर्वे त्यक्तक्रीडापरिच्छदाः । बाला अदूषितधियो द्वन्द्वारामेरितेहितैः ॥५६॥
पर्युपासत राजेन्द्र तन्न्यस्तहृदयेक्षणाः । तानाह करुणो मैत्रो महाभागवतोऽसुरः ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

कितने कटु वाक्य कहे, मारनेके लिए बहुत उपाय किये, किन्तु उन सब द्रोह तथा निन्दित आचरणों द्वारा यह अपने प्रभावसे नहीं मरा ॥ ४५ ॥ यह नन्हासा बालक मेरे पास निर्भीकभावसे बैठा है। इसमें कुछ सामर्थ्य अवश्य है और यह शुनःशेपके समान मेरे इन अपकारोंको कभी नहीं भूलेगा (शुनःशेपकी कथा नवमस्कन्धके सातवें अध्यायमें आयेगी) ॥ ४६ ॥ इसके प्रभावकी तो सीमा ही नहीं है। इसे कोई भय नहीं है। मानो यह अमर है। इसका विरोध करनेसे अवश्य मेरी मृत्यु हो जायगी—और नहीं भी हो सकती ॥ ४७ ॥ चिन्ताके कारण मलिनकान्ति हिरण्यकशिपुको एकान्तमें नतमस्तक बैठे देख शुक्रपुत्र शण्ड तथा अमर्क बोले—॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! आपके भृकुटि-विलासमात्रसे सब लोकपाल भयसे काँपने लगते हैं और तीनों लोकोंको आपने अकेले ही परास्त कर दिया था। आप सरीखे प्रतापीके लिये कोई चिन्ताकी बात नहीं है। हे तात ! ऐसे-ऐसे बालकोंका व्यवहार किसी गुण-दोषका कारण नहीं होता ॥ ४९ ॥ सो श्रीशुक्राचार्यजीके आनेके समय तक आप इसे वरुणपाशमें बाँधकर डाल दीजिये। जिससे यह भाग न जाय। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आयुकी वृद्धि तथा भद्रजनोंकी सेवासे स्वयं बुद्धि आ जाती है ॥ ५० ॥ तब 'अच्छा' कहकर हिरण्यकशिपुने गुरुपुत्रोंकी बात मान ली और कहा—'इसे गृहस्थ राजाओंके धर्मकी ही शिक्षा दीजिए।' ॥ ५१ ॥ हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर गुरुपुत्र अति विनीत प्रह्लादजीको धर्म, अर्थ तथा कामकी शिक्षा देने लगे ॥ ५२ ॥ किन्तु उन गुरुओंने जिस शास्त्रके द्वारा अर्थ, धर्म तथा कामकी शिक्षा दी थी, प्रह्लादको नहीं जँची। क्योंकि वह तो राग-द्वेषादि द्वन्द्व तथा विषय-भोगोंमें आसक्त पुरुषोंके लिये ही बना था ॥ ५३ ॥ एक दिन जब गुरुजी अपने घरके धन्धोंमें लगे थे तो समवयस्क बालकोंने खेल-कूदका मौका देखकर प्रह्लादको खेलनेके लिये बुलाया ॥ ५४ ॥ किन्तु उनके जन्म-मरणकी गतिके ज्ञाता और महाज्ञानी प्रह्लादजीने अपनी मधुर वाणीसे उन्हें ही अपने समीप बुला लिया और उनपर दया करके हँसते हुए बोले ॥ ५५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! वे बालक थे, उनकी बुद्धि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंमें रमे विषयी पुरुषोंके उपदेशों तथा उनके आचरणोंसे दूषित नहीं हुई थी। इसलिए प्रह्लादके गौरवसे उनके बुलानेपर वे सब अपने खेल-कूदका सामान छोड़कर उनके पास

षष्ठोऽध्यायः

प्रह्लाद उवाच

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह । दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥१॥
यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् । यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् ॥२॥
सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् । सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः ॥३॥
तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् । न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥४॥
ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः । शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥५॥
पुंसो वर्षशतं ह्यायुस्तदर्धं चाजितात्मनः । निष्फलं यदसौ रात्र्यां शेतेऽन्धं प्रापितस्तमः ॥६॥
मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः । जरया ग्रस्तदेहस्य यात्यकल्पस्य विंशतिः ॥७॥
दुरापूरेण कामेन मोहेन च बलीयसा । शेषं गृहेषु सक्तस्य प्रमत्तस्यापयाति हि ॥८॥
को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः । स्नेहपाशैर्दृढैर्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम् ॥९॥
कोन्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः । यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥१०॥

कथं प्रियाया अनुकम्पितायाः सङ्गं रहस्यं रुचिरांश्च मन्त्रान् ।
सुहृत्सु च स्नेहसितः शिशूनां कलाक्षराणामनुरक्तचित्तः ॥ ११ ॥
पुत्रान् स्मरंस्ता दुहितॄर्हृदय्या भ्रातॄन् स्वसॄर्वा पितरौ च दीनौ ।
गृहान् मनोज्ञोरुपरिच्छदांश्च वृत्तीश्च कुल्याः पशुभृत्यवर्गान् ॥ १२ ॥

दौड़ आये और उन्हींमें अपना चित्त तथा अपना नेत्र लगाकर चारों ओरसे घेरकर बैठ गये। तब दयालु, परम मित्र, महाभागवत तथा असुरश्रेष्ठ प्रह्लादजी उनसे बोले ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(असुरबालकोंको प्रह्लादजीका ज्ञानोपदेश) प्रह्लादजीने कहा—हे बालकों! प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष बाल्यावस्थामें ही वैष्णव धर्मोंका पालन करे। यह मानव जन्म बड़ा दुर्लभ है और अनित्य होकर भी सभी पुरुषार्थोंका साधक है ॥ १ ॥ इस जन्ममें विष्णुभगवानके चरणोंकी शरण लेना ही जीवका जबसे बड़ा कर्त्तव्य है। क्योंकि सब प्राणियोंके वे ही आत्मा, प्रिय, ईश्वर तथा सुहृद् हैं ॥ २ ॥ अरे ओ दैत्यो! देहका सम्बन्ध होनेके नाते ,सब प्राणियोंको इन्द्रियजनित सुख तो दुःखकी ही भाँति सब योनियोंमें स्वतः मिलता रहता है ॥ ३ ॥ तब उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। क्योंकि उसमें आयु बेकार गँवानी पड़ती है। उससे प्राणीको वह सुख नहीं मिलता, जो भगवानके चरण-कमलोंकी आराधनासे मिलता है ॥४॥ सो यह सर्वावयवपूर्ण मानवशरीर विपत्तिग्रस्त न हो जाय, उसके पहले ही भवभयमें पड़े ज्ञानी पुरुषको अपने कल्याणका उपाय कर लेना चाहिए ॥ ५ ॥ मनुष्यकी पूर्ण आयु सौ वर्षकी होती है। उसमें भी अजितेन्द्रिय प्राणियोंकी आधी आयु व्यर्थ बीत जाती है। क्योंकि वे रात्रिको निद्राके अधीन होकर सोते रहते हैं ॥ ६ ॥ उसमेंसे भी बाल्यावस्थामें प्राणी मोहग्रस्त रहता और कौमारावस्थामें खेल-कूदमें लगा रहता है, जिससे बीस वर्ष व्यर्थ बीत जाते हैं। बीस वर्ष वृद्धावस्थाका समय शरीरमें सामर्थ्य न रहनेसे नष्ट हो जाता है ॥७॥ शेष आयु कठिनतासे पूर्ण होनेवाले काम तथा प्रबल मोहवश गृहमें आसक्त रहनेसे प्रमादमें व्यतीत हो जाता है ॥ ८ ॥ ओ बालको! ऐसा कौन अजितेन्द्रिय पुरुष है, जो अत्यन्त दृढ़ स्नेहबन्धनमें बँधे अपने गृहासक्त मनको उससे छुड़ा सके? ॥ ९ ॥ जिसको चोर, सेवक तथा व्यापारी अपने प्रियतम प्राणोंके बदले भी खरीदते हैं, उस प्राणाधिक प्रिय द्रव्यकी तृष्णाको भला कौन त्याग पाता है? ॥१०॥ जिसका मन प्रियतमाके साथ एकान्त सहवास तथा मनोहर वार्तालापमें, बन्धुजनोंके स्नेह तथा बालकोंकी तोतली बोलीमें फँसा है, जिसे

त्यजेत कोशस्कृदिवेहमानः कर्माणि लोभादवितृप्तकामः ।
औपस्थ्यजैह्वयं बहु मन्यमानः कथं विरज्येत दुरन्तमोहः ॥ १३ ॥
कुटुम्बपोषाय वियन् निजायुर्न बुध्यतेऽर्थं विहतं प्रमत्तः ।
सर्वत्र तापत्रयदुःखितात्मा निर्विद्यते न स्वकुटुम्बरामः ॥१४॥
वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः ।
प्रेत्येह चाथाप्यजितेन्द्रियस्तदशान्तकामो हरते कुटुम्बी ॥१५॥
विद्वानपीत्थं दनुजाः कुटुम्बं पुष्णन् स्वलोकाय न कल्पते वै ।
यः स्वीयपारक्यविभिन्नभावस्तमः प्रपद्येत यथा विमूढः ॥ १६ ॥
यतो न कश्चित् क्व च कुत्रचिद् वा दीनः स्वमात्मानमलं समर्थः ।
विमोचितुं कामदृशां विहारक्रीडामृगो यन्निगडो विसर्गः ॥ १७ ॥
ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु ।
उपेत नारायणमादिदेवं स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः ॥ १८ ॥
न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः । आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः ॥१९॥
परावरेषु भूतेषु ब्रह्मान्तस्थावरादिषु । भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ॥२०॥
गुणेषु गुणसाम्ये च गुणव्यतिकरे तथा । एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्ययः ॥२१॥
प्रत्यगात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम् । व्याप्यव्यापकनिर्देश्योह्यनिर्देश्योऽविकल्पितः ॥२२॥

श्वसुरगृहमें रहनेवाली कन्या, पुत्र, भाई, बहिन तथा दीन माता-पिता अथवा मनोहर एवं अधिकाधिक परिच्छदोंसे पूर्ण गृह, कुलपरम्परागत वृत्ति तथा पशु और सेवकादिकी सुधि बनी रहती है, वह उन्हें भला कैसे त्याग पायेगा ? जो लोभवश कामनाओंसे तृप्त नहीं होता और उपस्थ (लिंग) तथा जिह्वाके सुखोंको ही बड़ा मान बैठता तथा रेशम बनानेवाले कीड़ेकी भाँति जो अपने बन्धनका ही सामान करता रहता है, वह महामोहग्रस्त व्यक्ति भला संसारसे कैसे विरक्त होगा ? ॥ ११—१३ ॥ जो पुरुष अपने कुटुम्बके पालनमें व्यस्त रहता हुआ ऐसा मतवाला हो जाता है कि उसे यह मालूम ही नहीं होता कि कुटुम्बपालनमें व्यर्थ आयु गँवानेसे मेरा सच्चा पुरुषार्थ नष्ट हुआ जा रहा है, वह सदा त्रिविध तापोंसे संतप्त रहता है—फिर भी विरक्त नहीं होता ॥ १४ ॥ उस कुटुम्बी पुरुषका मन सदा धनमें लगा रहता है । अतएव परधनहारीको इहलोक तथा परलोकमें जो दुःख मिलता है, उसे देखकर भी वह अजितेन्द्रिय तथा अशान्त लालसा युक्त होकर प्राणी परधन हरता रहता है ॥ १५ ॥ हे दैत्यों ! जो पुरुष कुटुम्बके पालन-पोषणमें लगा रहता है, विद्वान् होकर भी वह आत्मपद नहीं पा सकता । क्योंकि अपने-परायेकी भेदबुद्धिसे वह अज्ञानियोंके ही समान तमोग्रस्त हो जाता है ॥ १६ ॥ हे दैत्यबालकों ! कामिनियोंके विहारका क्रीड़ामृग तथा पैरोंमें सन्ततिरूपिणी बेड़ियाँ डाले कोई भी दीन पुरुष अपने आत्माका कभी उद्धार नहीं कर सकता । सो तुम लोग विषयासक्त दैत्योंका सङ्ग दूरहीसे त्यागकर आदिदेव नारायणकी शरण गहो । एकमात्र वे ही मुक्तसङ्ग महात्माओंके अभिलषित मोक्ष हैं ॥ १७ ॥ १८ ॥ हे दैत्यबालकों ! भगवान अच्युतको प्रसन्न करनेमें विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता । क्योंकि वे सब प्राणियोंके आत्मा हैं और सर्वत्र विराजमान रहते हैं ॥ १९ ॥ ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी छोटे-बड़े प्राणियों, पञ्चमहाभूतोंसे उत्पन्न घट-पटादि पदार्थों, आकाशादि महाभूतों, सत्त्वादि गुणोंकी साम्यावस्थारूपिणी प्रकृति तथा गुणवैषम्यरूप महत्तत्त्वमें वे परमात्मा एवं अविनाशी भगवान अकेले ही विराजते हैं ॥ २० ॥ २१ ॥ वे प्रभु अनिर्वचनीय तथा अविकल्पित हैं । फिर भी अन्तर्यामी, द्रष्टारूपसे व्यापक, अनात्मा और दृश्यरूपसे व्याप्य कहकर लोग उन्हींका समर्थन

केवलानुभवानन्दस्वरूपः परमेश्वरः । माययान्तर्हितैश्वर्य ईयते गुणसर्गया ॥२३॥
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम् । आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः ॥२४॥
तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥ २५ ॥
धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥ २६ ॥
ज्ञानं तदेतदमलं दुरवापमाह नारायणो नरसखः किल नारदाय ।
एकान्तिनां भगवतस्तदकिञ्चनानां पादारविन्दरजसाऽऽप्लुतदेहिनां स्यात् ॥ २७ ॥
श्रुतमेतन्मया पूर्वं ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् । धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद् देवदर्शनात् ॥२८॥

दैत्यपुत्रा ऊचुः

प्रह्राद त्वं वयं चापि नर्तेऽन्यं विद्महे गुरुम् । एताभ्यां गुरुपुत्राभ्यां बालानामपि हीश्वरौ ॥२९॥
बालस्यान्तःपुरस्थस्य महत्सङ्गो दुरन्वयः । छिन्धि नः संशयं सौम्य स्याच्चेद् विश्रम्भकारणम् ३०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्रादानुचरिते षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

नारद उवाच

एवं दैत्यसुतैः पृष्टो महाभागवतोऽसुरः । उवाच स्मयमानस्तान् स्मरन् मदनुभाषितम् ॥१॥

करते हैं ॥ २२ ॥ उन अनुभवानन्दस्वरूप परमेश्वरका सारा ऐश्वर्य गुणमयी सृष्टि करनेवाली मायासे आच्छादित रहता है । अतएव उसकी निवृत्ति होनेपर ही उनका दर्शन मिलता है ॥ २३ ॥ सो तुम आसुर भाव त्यागकर सब प्राणियोंपर दया और प्रेम करो—जिससे श्रीअधोक्षजभगवान प्रसन्न हों ॥ २४ ॥ श्रीअनन्तभगवानके प्रसन्न हो जानेपर दुर्लभ ही क्या रहेगा ? गुणोंके परिणामस्वरूप स्वतः प्राप्त होनेवाले धर्मादिसे हमें क्या मतलब ? भगवानका गुण गाने और उनके चरणामृतका पान करनेवाले हमलोगोंको तो मोक्षकी इच्छा भी नहीं होती ॥ २५ ॥ हे बालकों ! धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्ग, शास्त्रमें वर्णित आन्वीक्षिकी, कर्मकाण्ड, न्याय, दण्डनीति तथा जिसमें विविध जीविकाके साधन हैं, ये सब अपने परम सुहृत् श्रीपुरुषोत्तमभगवानको आत्मार्पण करनेमें सहायक हों, तब तो ठीक है । नहीं तो वे सब व्यर्थ ही हैं ॥ २६ ॥ इस अत्यन्त दुर्लभ तथा विशुद्ध ज्ञानका उपदेश नरसखा नारायणने नारदजीको दिया था और उन प्राणियोंको स्वतः मिल सकता है, जो भगवानके अनन्य तथा निष्किञ्चन भक्तोंके चरणकमलोंकी पुनीत रजमें नहाये होते हैं ॥ २७ ॥ यह विज्ञानयुक्त ज्ञान और विशुद्ध भागवत धर्म मैंने भी पूर्वकालमें देवदर्शन श्रीनारदजीके मुखसे ही सुना था ॥ २८ ॥ उन दैत्यबालकोंने कहा—हे प्रह्लाद ! हम और तुम तो इन दोनों शण्ड-अमर्कके सिवा और किसी गुरुको नहीं जानते । ये बाल्यावस्थासे ही हमारे ईश्वर रहे हैं ॥ २९ ॥ बाल्यकालमें भी सदा अन्तःपुरमें रहनेसे तुम्हारा किसी महापुरुषसे मिलना भी दुष्कर था । तब तुम्हारी नारदजीसे भेंट कैसे हुई ? हे सौम्य ! हमलोगोंको विश्वसनीय यदि कोई बात हो तो बताकर हमारे संशय दूर करिए ॥ ३० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(प्रह्लादजीका माताके गर्भमें ही नारदजीका उपदेश पाना) श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् युधिष्ठिर ! दैत्यपुत्रोंके यह पूछनेपर महाभागवत प्रह्लाद मेरे उपदेशका स्मरण करते हुए विस्मयमें पड़े

प्रह्लाद उवाच

पितरि प्रस्थितेऽस्माकं तपसे मन्दराचलम् । युद्धोद्यमं परं चक्रुर्विबुधा दानवान् प्रति ॥ २ ॥
पिपीलिकैरहिरिव दिष्ट्या लोकोपतापनः । पापेन पापोऽभक्षीति वादिनो वासवादयः ॥३॥
तेषामतिबलोद्योगं निशम्यासुरयूथपाः । वध्यमानाः सुरैर्भीता दुद्रुवुः सर्वतो दिशम् ॥४॥
कलत्रपुत्रमित्राप्तान् गृहान् पशुपरिच्छदान् । नावेक्षमाणास्त्वरिताः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥ ५ ॥
व्यलुम्पन् राजशिविरममरा जयकाङ्क्षिणः । इन्द्रस्तु राजमहिषीं मातरं मम चाग्रहीत् ॥ ६ ॥
नीयमानां भयोद्विग्नां रुदतीं कुररीमिव । यदृच्छयाऽऽगतस्तत्र देवर्षिर्ददृशे पथि ॥ ७ ॥
प्राह नैनां सुरपते नेतुमर्हस्यनागसम् । मुञ्च मुञ्च महाभाग सतीं परपरिग्रहम् ॥ ८ ॥

इन्द्र उवाच

आस्तेऽस्या जठरे वीर्यमविषह्यं सुरद्विषः । आस्यतां यावत्प्रसवं मोक्ष्येऽर्थपदवीं गतः ॥ ९ ॥

नारद उवाच

अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान् । त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली ॥१०॥
इत्युक्तस्तां विहायेन्द्रो देवर्षेर्मानयन् वचः । अनन्तप्रियभक्त्यैनां परिक्रम्य दिवं ययौ ॥११॥
ततो नो मातरमृषिः समानीय निजाश्रमम् । आश्वास्येहोष्यतां वत्से यावत् ते भर्तुरागमः॥१२॥
तथेत्यवात्सीद् देवर्षेरन्ति साप्यकुतोभया । यावद् दैत्यपतिर्घोरात् तपसो न न्यवर्तत ॥१३॥
ऋषिं पर्यचरत् तत्र भक्त्या परमया सती । अन्तर्वत्नी स्वगर्भस्य क्षेमायेच्छाप्रसूतये ॥१४॥
ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः । धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ॥१५

उन बालकोंसे बोले ॥ १ ॥ प्रह्लादजीने कहा—हे भाइयों ! जब पिताजी तपस्या करनेको मन्दराचल पर्वतपर चले गये तो इन्द्रादि देवताओंने कहा—सर्प जैसे चींटियोंको चाट जाता है, वैसे ही सौभाग्यवश सब लोकोंको सतानेवाले पापी हिरण्यकशिपुको उसके पापोंने ही खा लिया है। बस, तत्काल उन-लोगोंने दानवोंसे युद्धकी बड़ी तैयारी कर दी ॥ २ ॥ ३ ॥ देवताओंके इस प्रबल उद्योगका समाचार पाकर सब दैत्यनायक उनके द्वारा मार खाकर मारे भयके स्त्री, पुत्र, मित्र, बन्धु, गृह, पशु और भोगसामग्रीका भी कुछ ख्याल न करके अपने प्राण बचानेको चारों ओर भाग निकले ॥ ४ ॥ ५ ॥ विजयाभिलाषी देवताओंने राजमहल लूट लिया और इन्द्रने मेरी माता राजमहिषी कयाधुको पकड़ लिया ॥ ६ ॥ जब वे भयसे व्याकुल कुररीके समान रोती हुई मेरी माताको स्वर्गलोक ले जा रहे थे, तब मार्गमें दैववश आये हुए देवर्षि नारदजी मिल गये । वे बोले—'हे देवराज ! तुम्हें इस निरपराध अबलाको ले जाना उचित नहीं है । हे महाभाग ! तुम इस साध्वी परनारीको मुक्त कर दो' ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥ इन्द्र बोले—' मुने ! इसके उदरमें देवद्रोही हिरण्यकशिपुका असह्य वीर्य विद्यमान है । अतः इसे प्रसवकालतक मेरे पास रहने दीजिये । मतलब निकल जानेके बाद मैं इसे छोड़ दूँगा' ॥९॥ श्रीनारदजी बोले—हे इन्द्र ! इस गर्भका बालक निर्दोष, परम भगवद्भक्त, गुणोंसे अतिमहान्, भगवानका सेवक तथा महाबलवान् है । वह तुम्हारे हाथों कभी नहीं मरेगा ॥ १० ॥ तब इन्द्रने देवर्षि नारदका आदर करके उसे छोड़ दिया और बड़ी भक्तिसे परिक्रमा करके अपने देवलोकको चले गये ॥ ११ ॥ तब नारदजी मेरी माताको अपने आश्रमपर ले गये और कहा—'पुत्री ! जबतक तेरा पति न लौटे, तब तक तू यहीं रह' ॥ १२ ॥ नारद मुनिके ऐसा कहनेपर 'जो आज्ञा' कहकर जबतक दैत्यपति तपस्यासे नहीं लौटे, तबतक निर्भयभावसे वह उन्हींके आश्रमपर रही ॥ १३ ॥ वह गर्भवती सती (मेरी माँ) अपने गर्भके कल्याणार्थ तथा इच्छानुसार प्रसव हो–इस उद्देश्यसे नारदमुनिकी बड़ी भक्तिके साथ सेवा करने लगी ॥ १४ ॥ तभी उन दयालु देवर्षिने मुझे और मेरी माताको धर्मतत्त्व तथा विशुद्ध

तत् तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे। ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृतिः ॥१६
भवतामपि भूयान्मे यदि श्रद्दधते वचः। वैशारदी धीः श्रद्धातः स्त्रीबालानां च मे यथा ॥१७
जन्माद्याः षडिमे भावा दृष्टा देहस्य नात्मनः। फलानामिव वृक्षस्य कालेनेश्वरमूर्तिना ॥१८॥
आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः। अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसङ्ग्यनावृतः ॥१९
एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः। अहंममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥२०॥
स्वर्णं यथा ग्रावसु हेमकारः क्षेत्रेषु योगैस्तदभिज्ञ आप्नुयात्।
क्षेत्रेषु देहेषु तथाऽऽत्मयोगैरध्यात्मविद् ब्रह्मगतिं लभेत ॥२१॥
अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्तास्त्रय एव हि तद्गुणाः। विकाराः षोडशाचार्यैः पुमानेकः समन्वयात् ॥२२॥
देहस्तु सर्वसङ्घातो जगत् तस्थुरिति द्विधा। अत्रैव मृग्यः पुरुषो नेति नेतीत्यतत् त्यजन् ॥२३॥
अन्वयव्यतिरेकेण विवेकेनोशताऽऽत्मना। सर्गस्थानसमाम्नायैर्विमृशद्भिरसत्वरैः ॥२४॥
बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः। ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः ॥२५॥
एभिस्त्रिवर्णैः पर्यस्तैर्बुद्धिभेदैः क्रियोद्भवैः। स्वरूपमात्मनो बुध्येद् गन्धैर्वायुमिवान्वयात् ॥२६॥
एतद्द्वारो हि संसारो गुणकर्मनिबन्धनः। अज्ञानमूलोऽपार्थोऽपि पुंसः स्वप्न इवेष्यते ॥२७॥
तस्माद्भवद्भिः कर्तव्यं कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्। बीजनिर्हरणं योगः प्रवाहोपरमो धियः ॥२८॥

ज्ञानका उपदेश दिया ॥ १५ ॥ बहुत समय बीत जानेसे और स्त्रीस्वभाववश मेरी माताके हृदयसे तो वह उपदेश लुप्त हो गया, किन्तु उन ऋषिवरकी विशेष कृपासे मुझे अबतक उसका ज्ञान बना है ॥१६॥ हे बालकों! आप भी मेरे कथनपर श्रद्धा करेंगे तो आपको वह दुर्लभ ज्ञान प्राप्त हो सकता है और उसी श्रद्धासे मेरे समान ही अन्य बालकों तथा स्त्रियोंकी बुद्धि भी पवित्र हो सकती है ॥ १७॥ उस ईश्वरस्वरूप कालके प्रभावसे जैसे वृक्षके फलोंमें जन्मादि (जन्म, वृद्धि, परिणाम, क्षय, जीर्णता तथा नाश ये छः विकार) जायमान होते हैं, वैसे ही शरीरके भी जन्मादि विकार देखे जाते हैं। इनसे आत्माका कुछ सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥ आत्मा तो नित्य, अविनाशी, शुद्ध, एक, क्षेत्रज्ञ, अधिष्ठान, अविकारी, स्वयंप्रकाश, सबका कारण, व्यापक, असङ्ग तथा अनावृत रहता है ॥ १९ ॥ इसलिए विचारवान् पुरुष आत्माके इन उत्कृष्ट बारह लक्षणोंकी सहायतासे देहादिमें मोहजनित मैं और मेरेपनका भाव सर्वथा त्याग दे ॥ २० ॥ जैसे सुवर्णकी खानोंमें पत्थर मिले सुवर्णको निकालनेकी विधि जाननेवाला सुवर्णकार युक्तिके साथ सोना निकाल लेता है, वैसे ही आत्मस्वरूपका ज्ञाता विद्वान् आध्यात्मयोग द्वारा देहरूपी क्षेत्रमें ही ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है ॥ २१ ॥ प्राचीन आचार्योंने मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्राएँ—ये आठ प्रकृति, उनके सत्त्वादि गुण, मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय, ये सोलह विकृति और उन सबमें अनुगत एक पुरुषका होना बतलाया है ॥ २२ ॥ सबका समवाय यह शरीर है—जो स्थावर तथा जङ्गमरूपसे दो प्रकारका होता है। इसीमें अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि अनात्म वस्तुओंका 'यह आत्मा नहीं है—यह आत्मा नहीं है' इस प्रकारका बाध करते हुए बराबर आत्मानुसन्धान करता रहे ॥ २३ ॥ अन्वय तथा व्यतिरेकसे विशुद्ध बुद्धिके द्वारा संसारकी उत्पत्ति स्थिति आदिका अनुसन्धान करता हुआ धैर्यके साथ विचारशील प्राणी आत्माको प्राप्त करे ॥ २४ ॥ जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति बुद्धिकी इन तीनों वृत्तियोंका जो अनुभव करता है, वही सर्वसाक्षी परमात्मा है ॥ २५ ॥ जैसे गन्धसे उसके आश्रयस्वरूप वायुका ज्ञान होता है। वैसे ही बुद्धिकी कर्मजनित एवं सदा बदलनेवाली तीनों अवस्थाओंसे इनके साक्षी आत्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करे ॥ २६ ॥ गुण-कर्मके बन्धनस्वरूप इस संसारका द्वार भी देहका अध्यास ही है और अज्ञानजनित तथा मिथ्या होनेपर भी वह संसार स्वप्नकी भाँति जीवको प्रतीयमान होता रहता है ॥ २७ ॥ संसारके बन्धनसे छूटनेके लिये तुम

तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः । यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥२९॥
गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च । सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च ॥३०॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् । तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ॥३१॥
हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः । इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत् ॥३२॥
एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे । वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिम् ॥३३॥

निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि ।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥३४॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद् हसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम् ।
मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः ॥३५॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥३६॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद् ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ॥३७॥
कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥३८॥
रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः ।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः ॥३९॥

त्रिगुणात्मक कर्मोंके बीजनाशक एवं जाग्रदादि सभी बुद्धिवृत्तियोंको निवृत्त करनेवाले योगका साधन करो ॥ २८ ॥ आत्मानुभवके हजारों उपाय भगवानने बताये हैं। उनमेंसे जिन साधनों द्वारा भगवान विष्णुमें स्वाभाविक प्रेम उपजे, उनका पालन करे ॥ २९ ॥ गुरुकी सप्रेम सेवा, अपनेको प्राप्त सभी वस्तुएँ भगवदर्पण कर देना, सत्संग, भगवानकी उपासना, भगवत्कथापर श्रद्धा, प्रभुके गुण-कर्मोंका कीर्तन, उनके चरणकमलोंका चिन्तन, भगवत्प्रतिमाओंका दर्शन तथा पूजन आदि साधनोंसे भगवानमें स्वाभाविक प्रेम उपजता है ॥ ३० ॥ ३१ ॥ परमेश्वर सभी जीवोंमें विराजमान हैं—ऐसी भावना द्वारा सभी प्राणियोंके प्रति मनमें सम्मानभाव रखे और यथाशक्ति उनकी कामनाओंको पूर्ण करे ॥ ३२ ॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर-इन छः शत्रुओंको जीते हुए लोग परमेश्वरमें ऐसी भक्ति करते हैं कि जिससे भगवान वासुदेवमें उनकी अनन्य प्रीति हो ॥ ३३ ॥ जब प्राणी भगवानके लीला-विग्रहों द्वारा किये हुए कर्म, अनुपम गुण तथा पराक्रम सुनकर परमानन्दके उद्रेकसे रोमाञ्चित तथा आँसुओंसे गद्गदकण्ठ होकर जोर-जोरसे गाने, रोने तथा नाचने लगता है ॥३४॥ जब वह ग्रहग्रस्तकी नाईं लाज त्यागकर कभी हँसता, कभी रोता, कभी ध्यान करता, कभी लोगोंकी वन्दना करता तथा भगवानमें तमन्य हो जानेसे निःसङ्कोच होकर बारम्बार दीर्घनिःश्वास छोड़ता हुआ 'हे हरे ! हे जगत्पते ! हे नारायण !' ऐसा कहता है ॥ ३५ ॥ तब प्रबल भक्तिके प्रभावसे वासनाबीजोंके दग्ध हो जाने और चित्त तथा शरीरके भगवद्भावमें रँग जानेसे वह प्राणी सब बन्धनोंसे छूटकर श्रीविष्णुभगवानको पा लेता है ॥ ३६ ॥ इस संसारमें भगवानको पा लेना ही अशुद्धचित्त प्राणियोंके संसारचक्रका निवर्तक है। विद्वान् लोग उसे ही ब्रह्मनिर्वाणरूपी परमसुख बताते हैं। अतएव तुम लोग अपने हृदयमें उन हृदयेश्वरको भजो ॥ ३७ ॥ हे असुरबालको ! जो भगवान हृदयमें आकाशकी तरह सदा स्थित रहते हैं, उनकी उपासना करनेमें कौन बड़ा परिश्रम है ? वे सभी प्राणियोंके सखा तथा आत्मा हैं, उन्हें छोड़कर अन्य विषयोंका उपार्जन करनेसे क्या लाभ ? ॥ ३८ ॥ धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, हाथी, कोष,

एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः ।
तस्माददृष्टश्रुतदूषणं परं भक्त्यैकयेशं भजतात्मलब्धये ॥४०॥
यदर्थ्यर्थ्येह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः । करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम् ॥४१॥
सुखाय दुःखमोक्षाय सङ्कल्प इह कर्मिणः । सदाऽऽप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः ॥४२॥
कामान् कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः । स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ॥४३॥
किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः । राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ॥४४॥
किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः । अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः ॥४५॥
निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान् देहभृतोऽसुराः । निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्य कर्मभिः ॥४६॥
कर्माण्यारभते देही देहेनात्मानुवर्तिना । कर्मभिस्तनुते देहमुभयं त्वविवेकतः ॥४७॥
तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः । भजतानीहयाऽऽत्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥४८॥
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मेश्वरः प्रियः । भूतैर्महद्भिः स्वकृतैः कृतानां जीवसंज्ञितः ॥४९॥
देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च । भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम् ५०
नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः । प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥५१॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च । प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥५२॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः । आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥५३॥

विविध सम्पत्ति, सब अर्थ और चंचल भोगसामग्रियाँ क्षणिक आयुवाले मनुष्यका क्या कल्याण कर सकती हैं ॥ ३९ ॥ यज्ञादिके पुण्यसे प्राप्तव्य स्वर्गादि लोक भी नाशवान् तथा सदोष हैं। अतएव जिनमें कोई दोष न देखा और न सुना ही गया है, उन परमेश्वरको आत्मपदप्राप्त्यर्थ एकनिष्ठ भक्तिके साथ भजो ॥ ४० ॥ अपनेको विद्वन्मानी पुरुष लोकमें स्वार्थके उद्देश्यसे जो कर्म करता है, उसे अवश्य उसके विपरीत फल मिलता है ॥ ४१ ॥ संसारके सभी कर्मठ पुरुषोंका सङ्कल्प सुखकी प्राप्ति तथा दुःखनिवृत्तिके लिये ही होता है। लेकिन सकाम कर्म करनेसे उसे सर्वदा दुःख झेलना पड़ता है। इसकी अपेक्षा तो वह सकाम कर्म न करके ही सुखी रहता है ॥ ४२ ॥ जिस शारीरिक सुखके लिये पुरुष संसारमें काम्य कर्मोंके द्वारा विविध भोगोंकी इच्छा करता है, वह शरीर पराया और क्षणभंगुर है—वह तो बार-बार मिलता और बिछुड़ता रहता है ॥ ४३ ॥ तब इससे दूर रहनेवाले ममताके आश्रयस्वरूप पुत्र, स्त्री, गृह, धनादि, राज्य, कोश, गज, अमात्य, सेवक तथा विश्वासपात्र व्यक्तियोंके विषयमें क्या कहना ? ॥ ४४ ॥ इन तुच्छ विषयोंसे आत्माको क्या मतलब ? ये तो देहके साथ ही नष्ट हो जानेवाले तथा पुरुषार्थरूप मालूम होनेपर भी नित्यानन्दस्वरूप आत्माके लिये अनर्थरूप ही भासमान होते हैं ॥ ४५ ॥ हे असुरबालकों ! तनिक सोचो तो, प्रारब्धवश गर्भाधानादि सुखासक्त किन्तु कर्मसे क्लिश्यमान प्राणीको संसारमें क्या सुख मिलता है ? ॥ ४६ ॥ जीव आत्मानुवर्ती लिङ्गदेह द्वारा विविध कर्म करता और अपने कर्मोंसे फिर शरीर धारण करता है—इसी प्रकार ये कर्म तथा शरीर दोनों ही अज्ञानजनित हैं ॥ ४७ ॥ अतएव जिसके आश्रित सब अर्थ, धर्म तथा काम हैं उस अपने निश्चेष्ट आत्मा परमेश्वर श्रीहरिको सङ्कल्परहित भावसे भजो ॥ ४८ ॥ क्योंकि वे भगवान ही अपने पञ्चभूत तथा महत्तत्त्वादिसे उत्पन्न सब प्राणियोंके आत्मा, प्रिय प्रभु तथा अन्तर्यामी कहलाते हैं। हे बालकों ! देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, चाहे जो हो श्रीमुकुन्दभगवानके चरणोंका चिन्तन करनेसे वह हमारे समान ही आनन्द ले सकता है ॥ ४९ ॥ ५० ॥ हे असुरात्मजो ! भगवानको प्रसन्न करनेमें ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार, बहुज्ञता, दान, तप, यज्ञ, शौच तथा व्रत आदि समर्थ नहीं होते। वे तो एकमात्र विशुद्ध भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं और सब बातें विडम्बनामात्र हैं ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ हे दानवगण ! तुम लोग सब जीवोंको आत्मसदृश मान सर्वभूतात्मा परमेश्वर

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः । खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः ॥५४
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः। एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥५५॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते दैत्यपुत्रानुशासनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

नारद उवाच

अथ दैत्यसुताः सर्वे श्रुत्वा तदनुवर्णितम् । जगृहुर्निरवद्यत्वान्नैव गुर्वनुशिक्षितम् ॥१॥
अथाचार्यसुतस्तेषां बुद्धिमेकान्तसंस्थिताम् । आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आवेदयद् यथा ॥२॥
श्रुत्वा तदप्रियं दैत्यो दुःसहं तनयानयम् । कोपावेशचलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ॥३॥
क्षिप्त्वा परुषया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम् । आहेक्षमाणः पापेन तिरश्चीनेन चक्षुषा ॥४॥
प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम् । सर्पः पदाहत इव श्वसन् प्रकृतिदारुणः ॥५॥
हे दुर्विनीत मन्दात्मन् कुलभेदकराधम । स्तब्धं मच्छासनोद्धृतं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम् ॥६॥
क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः । तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किम्बलोऽत्यगाः ॥७॥

प्रह्लाद उवाच

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥ ८ ॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजःसहःसत्त्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥ ९ ॥

भगवान हरिकी भक्ति करो ॥ ५३ ॥ उन भगवानकी भक्ति करके अनेक दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, व्रजवासी, पक्षी, मृग तथा अनेक पापी जीव भी भगवानको पा चुके हैं ॥ ५४ ॥ प्राणीका सबसे बड़ा स्वार्थ यही है कि सर्वत्र उन्हींका दर्शन करे और श्रीगोविन्दमें ऐकान्तिकी भक्ति करता रहे ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(नृसिंहभगवान्का प्रादुर्भाव, हिरण्यकशिपुका वध एवं देवताओं द्वारा स्तुति) श्रीनारदजी बोले—हे राजन् युधिष्ठिर ! प्रह्लादजीका निर्दोष वचन सुनकर सब दैत्यबालकोंने गुरुकी शिक्षा त्यागकर उसे ही ठीक माना ॥ १ ॥ उधर दोनों आचार्यपुत्रोंने सब बच्चोंकी बुद्धि भगवान्की ही ओर लगी देख अति भयभीतभावसे तुरन्त जाकर सब वृत्तान्त दैत्यराजसे कहा ॥ २ ॥ पुत्रकी यह अप्रिय तथा दुःसह अनीति सुनकर हिरण्यकशिपुका शरीर क्रोधसे काँपने लगा और उसने पुत्र (प्रह्लाद) को मार डालनेका पक्का निश्चय कर लिया ॥ ३ ॥ तदनन्तर अपने सामने अति विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़े जितेन्द्रिय प्रह्लादजीका कठोर वाणीसे तिरस्कार करता हुआ वह निष्ठुरप्रकृति दैत्य पदाहत सर्पकी भाँति दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ अत्यन्त कुटिल दृष्टिसे निहारकर बोला—॥ ४ ॥ ५ ॥ "अरे दुर्विनीत ! अरे मन्दबुद्धे ! अरे कुलनाशक अधम ! तू बड़ा ढीठ और मेरी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला पापी है । मैं तुझे अभी यमराजके घर भेजता हूँ ॥ ६ ॥ अरे मूढ़ ! मेरे कुपित होनेपर सब लोकपाल और लोक काँपने लगते हैं । तूने किसके बूते निर्भय होकर मेरी आज्ञा टाली ?" ॥ ७ ॥ प्रह्लादजी बोले—हे राजन् ! जिन महाप्रभुने ब्रह्मासे लेकर छोटे-बड़े स्थावर-जंगम प्राणियोंको अपने वशमें कर रखा हैं, वे केवल मेरे ही नहीं, आपके तथा अन्य सभी बलवानोंके भी बल हैं ॥ ८ ॥ वे परमपराक्रमी भगवान् ही काल हैं । वे ही इन्द्रियबल, मनोबल, धैर्य, देहबल तथा इन्द्रियके स्वरूप हैं । वे ही तीनों गुणोंके नियन्ता परमात्मा अपनी शक्तियोंसे सारे जगत्की रचना, पालन तथा संहार करते हैं ॥ ९ ॥

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः ।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात् तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम् ॥ १० ॥
दस्यून् पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश ।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे ॥ ११ ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे । मुमूर्षूणां हि मन्दात्मन् ननु स्युर्विप्लवा गिरः॥१२॥
यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः । क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥१३
सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते । गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम्॥१४॥
एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन् रुषा सुतं महाभागवतं महासुरः ।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात् स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना ॥ १५ ॥
तदैव तस्मिन् निनदोऽतिभीषणो बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत् ।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः श्रुत्वा स्वधामात्ययमङ्ग मेनिरे ॥ १६ ॥
स विक्रमन् पुत्रवधेप्सुरोजसा निशम्य निर्ह्रादमपूर्वमद्भुतम् ।
अन्तःसभायां न ददर्श तत्पदं वितत्रसुर्येन सुरारियूथपाः ॥ १७ ॥
सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥ १८ ॥

हे पिताजी ! आप यह आसुर भाव त्याग दें और अपने मनको समदर्शी बनायें । असंयत तथा कुमार्गगामी चित्तके सिवाय और कोई भी शत्रु नहीं है । इसे समदर्शी बनाना ही भगवान्‌की सबसे बड़ी उपासना है ॥ १० ॥ कुछ लोग अपना सर्वस्व हरण करनेवाले छः इन्द्रियरूपी शत्रुओंको बिना जीते ही अपनेको दसों दिशाओंका विजयी समझ लेते हैं । किन्तु जितेन्द्रिय तथा ज्ञानवान् साधु पुरुष सब प्राणियोंके प्रति समान भाव रखते हैं । उनके तो अज्ञानजनित कामक्रोधादि शत्रु भी नहीं रह जाते—फिर अन्य शत्रु भला कैसे रह सकते हैं ?॥ ११ ॥ हिरण्यकशिपु बोला—अरे मन्दमते ! तू जो बहुत बढ़-बढ़कर बातें करता है, इससे विदित होता है कि अब तू मरना चाहता है। क्योंकि जो प्राणी मरनेवाला होता है, उसीकी ऐसी बेसिर-पैरकी बातें होती हैं ॥ १२ ॥ अरे मन्दभाग्य ! मेरे सिवाय जिस किसी अन्य जगदीश्वरकी तू बात कह रहा है, बता तो वह कहाँ है ? प्रह्लादने कहा—"वह सर्वत्र है ।" हिरण्यकशिपुने कहा—'यदि वह सर्वत्र है तो इस खम्भेमें क्यों नहीं दीखता ?' प्रह्लादने उत्तर देकर कहा—"दीख तो रहा है" ॥ १३ ॥ जब उस ओर देखनेपर भी पिताको कुछ नहीं दिखायी पड़ा तो वह बड़े रोषसे बोला—अरे ! तू बहुत डींग हाँक रहा है । ले, मैं तेरा सिर अभी धड़से अलग किये देता हूँ । तू जिसको अपना अभीष्ट शरण-दायक मानता है, देखें तो वह आज आकर तुझे कैसे बचाता है ॥ १४ ॥ इस तरह रोषपूर्वक अपने भगवद्भक्त पुत्रका बारम्बार जी दुखाकर वह महादैत्य स्वयं खड्ग तानकर सिंहासनसे नीचे कूद पड़ा और उस खम्भमें उसने बड़े जोरसे मुक्का मारा ॥ १५ ॥ इससे उस खम्भेमें भयानक शब्द हुआ और ऐसा लगा कि मानो सारा ब्रह्माण्डकटाह फट गया है । उस घनघोर ध्वनिको अपने-अपने धामोंमें सुनकर ब्रह्मा आदि लोकपालोंने संहारकी सूचना समझी ॥ १६ ॥ पुत्रको मार डालनेके लिये सोत्साह तत्पर हिरण्यकशिपुने भी वह अपूर्व तथा अद्भुत शब्द सुना, जिससे सभी दैत्ययूथपति डर गये थे । परन्तु उस सभामें उस शब्दको करनेवाला कोई व्यक्ति उसे नहीं दीखा ॥ १७ ॥ इसी समय भगवान् अपने सेवक अर्थात् प्रह्लाद और ब्रह्माके वचनोंकी सत्यता तथा सब प्राणियोंमें अपनी व्यापकता दिखानेके निमित्त सभाके

स सत्त्वमेनं परितोऽपि पश्यन् स्तम्भस्य मध्यादनु निर्जिहानम् ।
नायं मृगो नापि नरो विचित्रमहो किमेतन्नु मृगेन्द्ररूपम् ॥ १९ ॥
मीमांसमानस्य समुत्थितोऽग्रतो नृसिंहरूपस्तदलं भयानकम् ।
प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं स्फुरत्सटाकेसरजृम्भिताननम् ॥ २० ॥
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चलक्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ।
स्तब्धोर्ध्वकर्णं गिरिकन्दराद्भुतव्यात्तास्यनासं हनुभेदभीषणम् ॥ २१ ॥
दिविस्पृशत्कायमदीर्घपीवरग्रीवोरुवक्षःस्थलमल्पमध्यमम् ।
चन्द्रांशुगौरैश्छुरितं तनूरुहैर्विष्वग्भुजानीकशतं नखायुधम् ॥ २२ ॥
दुरासदं सर्वनिजेतरायुधप्रवेकविद्रावितदैत्यदानवम् ।
प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ॥ २३ ॥
एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद् गदायुधो नदन् नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः ।
अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतङ्गमो यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा ॥ २४ ॥
न तद् विचित्रं खलु सत्त्वधामनि स्वतेजसा यो नु पुरापिबत् तमः ।
ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया ॥ २५ ॥
तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत् ।
स तस्य हस्तोत्कलितस्तदासुरो विक्रीडतो यद्वदहिर्गरुत्मतः ॥ २६ ॥

भीतर उसी स्तम्भसे बड़ा विचित्र रूप धारण करके प्रगट हुए। वह रूप न पूरा पशुका था और न मनुष्यका ही ॥ १८ ॥ हिरण्यकशिपुने भी इधर-उधर ताकते हुए उस विचित्र प्राणीको खम्भेसे निकलते देखा। उसे देखकर हिरण्यकशिपु बोला—"अहो! यह तो न मनुष्य है और न पशु है, फिर यह नृसिंहरूपधारी पुरुष कौन है?" ॥ १९ ॥ हिरण्यकशिपु इस उधेड़-बुनमें पड़ा ही था कि भगवान उसके समक्ष नृसिंहरूपमें प्रकट हो गये। वह रूप बड़ा भयानक था। उनके नेत्र तपाये हुए सुवर्णसदृश चमकीले और भयानक थे। मुखसे जमुहाई लेते रहनेसे उनका सटाकलाप (मुखका रोम) हिल रहा था ॥ २० ॥ उनकी दाढ़ें बड़ी तीक्ष्ण और जीभ तलवार सरीखी चञ्चल और छुरे जैसी तीखी थी। वक्र भृकुटिके कारण वह मुख और भी दारुण दीखता था। उनके कान निश्चल होकर ऊपरको खड़े थे। उनका फैला हुआ मुख और नासिकायें कन्दराओं सदृश दीखती थीं और फटे हुए जबड़ोंसे वह रूप बड़ा ही भयानक लगता था ॥ २१ ॥ उस जीवका विशाल शरीर जैसे स्वर्गसे सँटा हुआ था। उसकी गर्दन नाटी और मोटी थी। उसका वक्षःस्थल विशाल किन्तु उदर बहुत कृश था। उसके विकराल शरीरपर चन्द्रकिरण जैसी श्वेत रोमावली फैली थी, सब ओर सैकड़ों भुजाएँ सुशोभित थीं और नख ही उसके शस्त्र थे ॥ २२ ॥ वह स्वरूप बड़ा ही भयानक था—सब उसके पास जानेसे डरते थे। उन्होंने अपने और दूसरोंके विविध अस्त्र-शस्त्रोंसे सब दैत्य दानवोंको भगा दिया था, उन श्रीनृसिंहभगवानके विषयमें हिरण्यकशिपुने सोचा—'सम्भव है कि महामायावी विष्णुभगवानका मुझे मारनेके लिये यह उद्योग हो, लेकिन इससे मेरा क्या बिगड़ेगा?' ॥ २३ ॥ ऐसा कहकर दैत्यराज भयानक सिंहनाद करता हुआ हाथमें गदा लकर नृसिंहभगवानपर झपटा। किन्तु जैसे पतंग अग्निमें गिरकर गायब हो जाय वैसे ही नृसिंहजीके तेजमें पड़कर वह लुप्त हो गया ॥ २४ ॥ उन परम सत्त्वधाम भगवानके लिये यह कोई विस्मयकी बात नहीं थी। क्योंकि उन्होंने सृष्टिके आरम्भमें अपने तेजसे प्रलयकालीन अन्धकारको भी पी लिया था। तभी उस महादैत्यने झपट और अतिशय क्रुद्ध होकर नृसिंहजीको बड़े वेगसे गदा मारी ॥ २५ ॥ हिरण्यकशिपुके आक्रमण करनेपर गदाधर भगवानने उसे गदा सहित ऐसे

असाध्वमन्यन्त हृतौकसोऽमरा घनच्छदा भारत सर्वधिष्ण्यपाः ।
तं मन्यमानो निजवीर्यशङ्कितं यद्धस्तमुक्तो नृहरिं महासुरः ।
पुनस्तमासज्जत खड्गचर्मणी प्रगृह्य वेगेन जितश्रमो मृधे ॥ २७ ॥
तं श्येनवेगं शतचन्द्रवर्त्मभिश्चरन्तमच्छिद्रमुपर्यधो हरिः ।
कृत्वाट्टहासं खरमुत्स्वनोल्बणं निमीलिताक्षं जगृहे महाजवः ॥ २८ ॥
विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरिर्व्यालो यथाऽऽखुं कुलिशाक्षतत्वचम् ।
द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥ २९ ॥
संरम्भदुष्प्रेक्ष्यकराललोचनो व्यात्ताननान्तं विलिहन् स्वजिह्वया ।
असृग्लवाक्तारुणकेसराननो यथान्त्रमाली द्विपहत्यया हरिः ॥ ३० ॥
नखाङ्कुरोत्पाटितहृत्सरोरुहं विसृज्य तस्यानुचरानुदायुधान् ।
अहन् समन्तान्नखशस्त्रपार्ष्णिभिर्दोर्दण्डयूथोऽनुपथान् सहस्रशः ॥ ३१ ॥
सटावधूता जलदाः परापतन् ग्रहाश्च तद्दृष्टिविमुष्टरोचिषः ।
अम्भोधयः श्वासहता विचुक्षुभुर्निर्ह्रादभीता दिगिभा विचुक्रुशुः ॥ ३२ ॥
द्यौस्तत्सटोत्क्षिप्तविमानसङ्कुला प्रोत्सर्पत क्ष्मा च पदातिपीडिता ।
शैलाः समुत्पेतुरमुष्य रंहसा तत्तेजसा खं ककुभो न रेजिरे ॥ ३३ ॥
ततः सभायामुपविष्टमुत्तमे नृपासने सम्भृततेजसं विभुम् ।
अलक्षितद्वैरथमत्यमर्षणं प्रचण्डवक्त्रं न बभाज कश्चन ॥ ३४ ॥

पकड़ लिया जैसे गरुड़ महासर्पको पकड़ ले । तब खिलवाड़ करते हुए गरुड़के पञ्जेसे छूटे सर्पसदृश वह असुर उनके हाथसे निकल भागा ॥२६॥ हे भारत ! हिरण्यकशिपुने जिनके घर छीन लिये थे, वे सब लोकपाल तथा देवता बादलोंमें छिपे यह सब लीला देख रहे थे । उन्होंने उसका भगवानके हाथसे छूट जाना अच्छा नहीं समझा। महादैत्य हिरण्यकशिपुने भी भगवानके हाथसे छूट जानेपर उन्हें अपने पराक्रमसे डरा समझ लिया । अतएव हाथमें ढाल-तलवार लेकर बड़े वेगसे उनपर झपटा ॥२७॥ ढाल-तलवारके पैंतरे बदलते और ऊपर-नीचे उछलते-कूदते उस दैत्यको महावेगशाली भगवानने उच्चस्वरसे प्रचण्ड तथा भयङ्कर अट्टहास करके पकड़ लिया । उनके सिंहगर्जनसे उस दैत्यके नेत्र मुँद गये थे ॥२८॥ सर्प जैसे चूहेको पकड़ ले, वैसे ही उसे पकड़ लेनेपर अति आतुरभावसे उनके पञ्जेसे छूटनेके लिये हाथ-पैर मारते हुए हिरण्यकशिपुको, कि जिसकी त्वचा इन्द्रके वज्रसे भी नहीं छिल सकी थी, सभाके द्वारमें अपनी जाँघोंपर पटककर भगवानने नखों द्वारा उसे ऐसे चीर डाला, जैसे गरुड़ बड़े भारी विषधर सर्पको चीर डालते हैं ॥ २९ ॥ क्रोधसे जिनके नेत्र अतिशय दुष्प्रेक्ष्य हो रहे थे, जो बाये हुए मुखके प्रान्तभागोंको अपनी जिह्वासे चाट रहे थे, रक्तके छींटे पड़ जानेसे जिनके मुख तथा ग्रीवाके बाल लाल हो गये थे, वे गजराजको मारकर गलेमें आँतोंकी माला पहने सिंह सदृश लग रहे थे । श्रीनृसिंहभगवानने अपने नखांकुरोंसे जिसका हृदय फाड़ डाला था, उस हिरण्यकशिपुको तो पृथ्वीपर पटक दिया और शस्त्र तानकर अपनी ओर आते हुए उनके सेवकों तथा सहस्रों अनुयायियोंको अपने भुजदण्डरूपी सैनिकों द्वारा नखरूप शस्त्रोंसे मार डाला ॥ ३० ॥ ३१ ॥ हे राजन् ! उस समय श्रीनृसिंहभगवानकी सटाओंके आघातसे मेघ छितराने लगे और नेत्रोंकी प्रखर ज्योतिसे सभी ग्रहगण तेजहीन होगये । उनके श्वासवायुकी थपेड़ोंसे समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न होगया और उनके सिंहनादसे डरकर सभी दिग्गज चिंघाड़ने लगे ॥ ३२ ॥ ऊँचे उड़ते हुए विमानोंसे भरा स्वर्ग उनके केशोंसे टकराकर जैसे अपने स्थानसे हट गया, उनके पादप्रहारसे पृथ्वी पीड़ित हो गयी । उनके प्रबल वेगसे

निशम्य लोकत्रयमस्तकज्वरं तमादिदैत्यं हरिणा हतं मृधे।
प्रहर्षवेगोत्कलिताननां मुहुः प्रसूनवर्षैर्ववृषुः सुरस्त्रियः ॥ ३५ ॥
तदा विमानावलिभिर्नभस्तलं दिदृक्षतां सङ्कुलमास नाकिनाम्।
सुरानका दुन्दुभयोऽथ जघ्निरे गन्धर्वमुख्या ननृतुर्जगुः स्त्रियः ॥३६॥

तत्रोपव्रज्य विबुधा ब्रह्मेन्द्रगिरिशादयः। ऋषयः पितरः सिद्धा विद्याधरमहोरगाः ॥३७॥
मनवः प्रजानां पतयो गन्धर्वाप्सरचारणाः। यक्षाः किम्पुरुषास्तात वेतालाः सिद्धकिन्नराः॥३८॥
ते विष्णुपार्षदाः सर्वे सुनन्दकुमुदादयः। मूर्ध्नि बद्धाञ्जलिपुटा आसीनं तीव्रतेजसम्।
ईडिरे नरशार्दूलं नातिदूरचराः पृथक् ॥३९॥

ब्रह्मोवाच

नतोऽस्म्यनन्ताय दुरन्तशक्तये विचित्रवीर्याय पवित्रकर्मणे।
विश्वस्य सर्गस्थितिसंयमान् गुणैः स्वलीलया संदधतेऽव्ययात्मने ॥४०॥

श्रीरुद्र उवाच

कोपकालो युगान्तस्ते हतोऽयमसुरोऽल्पकः। तत्सुतं पाह्युपसृतं भक्तं ते भक्तवत्सल ॥४१॥

इन्द्र उवाच

प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते मुक्तिस्तेषां न हि बहु मता नारसिंहापरैः किम् ॥४२॥

पर्यन्त क्रुद्ध थे। जब अपने भक्त (प्रह्लाद) का ऐश्वर्य समझकर कुतूहलवश वे सभामें राजसिंहासन-पर बैठे तो पूर्णतेजस्वी तथा विकरालवदन उन प्रभु नृसिंहदेवके समक्ष मारे भयके कोई भी उपस्थित नहीं हो रहा था ॥ ३४ ॥ हे राजन्! तीनों लोकोंके लिये शिरःशूल सदृश दुःखदायी हिरण्यकशिपु भगवानके हाथसे मारा गया, यह सुनकर मारे हर्षके खिले मुखकमलवाली देवाङ्गनाएँ उनपर बारम्बार फूल बरसाने लगीं ॥ ३५ ॥ श्रीनृसिंहभगवानके दर्शनोत्सुक देवताओंके विमानोंसे सारा आकाश-मण्डल भर गया। देवता पटह तथा दुन्दुभी आदि बाजे बजाने लगे, मुख्य-मुख्य गन्धर्व उनके गुण गाने और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ३६ ॥ इसी समय हे तात! ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदि देवता, ऋषि, पितर, विद्याधर, सर्प, मनु, प्रजापति, गन्धर्व अप्सरा, चारण, यक्ष, किम्पुरुष, वेताल, सिद्ध, किन्नर, सुनन्द और कुमुद आदि विष्णुभगवानके पार्षद वहाँ आये और मस्तकपर अञ्जलि बाँध और उनके पास खड़े होकर सिंहासनपर बैठे हुए महातेजस्वी श्रीनृसिंहभगवानकी अलग-अलग स्तुति करने लगे ॥ ३७–३९ ॥ श्रीब्रह्माजी बोले—जिनकी शक्तिकी कोई थाह नहीं है, जो विचित्र पराक्रमी तथा पवित्रकर्मा हैं और अपनी लीलासे ही सत्त्वादि गुणों द्वारा समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते-रहते हैं, उन अव्ययात्मा श्रीअनन्तको नमस्कार है ॥ ४० ॥ श्रीरुद्र बोले—हे भक्तवत्सल! आपके क्रोधका समय प्रलयकालमें होता है। आपने इस तुच्छ दैत्यकोतो मार ही डाला। इसका पुत्र (प्रह्लाद) आपकी शरणमें खड़ा है, आप अपने इस भक्तकी रक्षा करें ॥ ४१ ॥ इन्द्रने कहा—हे परमपुरुष! हमारी रक्षा करके आपने हमारा यज्ञभाग फिरसे लौटा दिया है। आपके निवासस्थानस्वरूप हमारे हृदयकमल इस दैत्यके भयसे मुरझा गये थे, उन्हें आपने फिरसे ताजा कर दिया। हे नाथ! जो आपकी सेवाके इच्छुक हैं, उनकी दृष्टिमें इन कालग्रस्त विषय-भोगोंकी क्या कीमत है? हे नृसिंहदेव! वे लोग तो मुक्तिको भी बहुत तुच्छ समझते हैं, फिर अन्य

ऋषय ऊचुः

त्वं नस्तपः परममात्थ यदात्मतेजो येनेदमादिपुरुषात्मगतं ससर्ज ।
तद् विप्रलुप्तममुनाद्य शरण्यपाल रक्षागृहीतवपुषा पुनरन्वमंस्थाः ॥४३॥

पितर ऊचुः

श्राद्धानि नोऽधिबुभुजे प्रसभं तनूजैर्दत्तानि तीर्थसमयेऽप्यपिबत् तिलाम्बु ।
तस्योदरान्नखविदीर्णवपाद् य आर्च्छत् तस्मै नमो नृहरयेऽखिलधर्मगोप्त्रे ॥४४॥

सिद्धा ऊचुः

यो नो गतिं योगसिद्धामसाधुरहारषीद् योगतपोबलेन ।
नानादर्पं तं नखैर्निर्ददार तस्मै तुभ्यं प्रणताः स्मो नृसिंह ॥४५॥

विद्याधरा ऊचुः

विद्यां पृथग्धारणयानुराद्धां न्यषेधदज्ञो बलवीर्यदृप्तः ।
स येन संख्ये पशुवद्धतस्तं मायानृसिंहं प्रणताः स्म नित्यम् ॥४६॥

नागा ऊचुः

येन पापेन रत्नानि स्त्रीरत्नानि हृतानि नः । तद्वक्षःपाटनेनासां दत्तानन्द नमोऽस्तु ते ॥४७॥

मनव ऊचुः

मनवो वयं तव निदेशकारिणो दितिजेन देव परिभूतसेतवः ।
भवता खलः स उपसंहृतः प्रभो करवाम ते किमनुशाधि किङ्करान् ॥४८॥

प्रजापतय ऊचुः

प्रजेशा वयं ते परेशाभिसृष्टा न येन प्रजा वै सृजामो निषिद्धाः ।
स एष त्वया भिन्नवक्षा नु शेते जगन्मङ्गलं सत्त्वमूर्तेऽवतारः ॥४९॥

भोगोंके विषयमें क्या कहना है ? ॥ ४२ ॥ ऋषियोंने कहा—हे आदिपुरुष ! जिसके द्वारा आपने अपनेमें लीन इस जगत्‌की फिरसे रचना की थी, उस अपने तेजस्वरूप उत्कृष्ट तपका ही आपने हमको उपदेश दिया था। हे शरणागतपालक ! इस दुष्ट दैत्यने उस तपका उच्छेद कर दिया था। सो उसकी रक्षा करनेको यह नृसिंहशरीर धारण करके आपने फिर उस तपकी स्थापना कर दी ॥ ४३ ॥ पितृगण बोले—हे प्रभो ! यह दुष्ट दैत्य हमारे पुत्रों द्वारा किये श्राद्धोंको हठपूर्वक स्वयं भोग लेता और तीर्थोंमें दिये तिलोदकको भी पी लेता था। आज जिन्होंने नखोंसे उसकी उदरदरी फाड़कर हमारे पिण्डादिकोंको उसके पेटसे निकालकर हमें वापस दे दिया है, उन अखिल-धर्मरक्षक श्रीनृसिंहभगवानको प्रणाम है ॥ ४४ ॥ सिद्धगणने कहा—हे नृसिंह ! जिस दुष्टने अपने योग तथा तपोबलसे हमारी योगसिद्धिकी गति भी हमसे छीन ली थी, उस अहंकारी पापीको जिन्होंने अपने नखोंसे चीर डाला, ऐसे आप महाप्रभुको हम विनीतभावसे नमन करते हैं ॥ ४५ ॥ विद्याधर बोले—बल-वीर्यसे उन्मत्त जिस मूढ़ने विविध धारणाओंसे प्राप्त हमारी विद्या व्यर्थ कर दी थी, उसे जिन्होंने इस युद्धस्थलमें यज्ञपशुके समान नष्ट कर दिया, उन मायानृसिंहको हम नमस्कार करते हैं ॥ ४६ ॥ नागगण बोले—जिस पापीने हमारे मणियों तथा स्त्रियोंको हर लिया था, उसका वक्षःस्थल फाड़कर जिन्होंने हमारी स्त्रियोंको आनन्द प्रदान किया है, उन आपको प्रणाम है ॥ ४७ ॥ मनु बोले—हे देव ! आपकी आज्ञाके पालक हम मनु हैं। इस दैत्यने सारी धर्ममर्यादा छिन्न-भिन्न कर दी थी। हे प्रभो ! आज आपने इस दुष्टका अन्त कर दिया। अब बताइए कि हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥ ४८ ॥ प्रजापतियोंने कहा—हे परमेश्वर ! हम आपके बनाये प्रजापति हैं। जिस दुष्ट

गन्धर्वा ऊचुः

वयं विभो ते नटनाट्यगायका येनात्मसाद् वीर्यबलौजसा कृताः ।
स एष नीतो भवता दशामिमां किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते ॥५०॥

चारणा ऊचुः

हरे तवाङ्घ्रिपङ्कजं भवापवर्गमाश्रिताः । यदेष साधुहृच्छयस्त्वयासुरः समापितः ॥५१॥

यक्षा ऊचुः

वयमनुचरमुख्याः कर्मभिस्ते मनोज्ञैस्त इह दितिसुतेन प्रापिता वाहकत्वम् ।
स तु जनपरितापं तत्कृतं जानता ते नरहर उपनीतः पञ्चतां पञ्चविंश ॥५२॥

किम्पुरुषा ऊचुः

वयं किम्पुरुषास्त्वं तु महापुरुष ईश्वरः । अयं कुपुरुषो नष्टो धिक्कृतः साधुभिर्यदा ॥५३॥

वैतालिका ऊचुः

सभासु सत्रेषु तवामलं यशो गीत्वा सपर्यां महतीं लभामहे ।
यस्तां व्यनैषीद् भृशमेष दुर्जनो दिष्ट्या हतस्ते भगवन् यथाऽऽमयः ॥५४॥

किन्नरा ऊचुः

वयमीश किन्नरगणास्तवानुगा दितिजेन विष्टिममुनानु कारिताः ।
भवता हरे स वृजिनोऽवसादितो नरसिंह नाथ विभवाय नो भव ॥५५॥

विष्णुपार्षदा ऊचुः

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म ।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्तस्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते दैत्यराजवधे नृसिंहस्तवो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

दत्यके कारण हम लोग प्रजाकी सृष्टि नहीं कर सकते थे, वह आपके द्वारा विदीर्ण-वक्षःस्थल होकर पृथ्वीपर पड़ा है। हे सत्त्वमूर्ते! आपका यह अवतार संसारके कल्याणार्थ ही है ॥ ४९ ॥ गन्धर्व-गणने कहा—हे विभो! हम आपके नट तथा नाचने-गानेवाले हैं। अहो! जिस पापीने अपने बल-वीर्य तथा पराक्रमसे हमें अपने अधीन कर लिया था, उसे आज आपने इस दशाको पहुँचा दिया। ठीक ही है, कुमार्गगामी व्यक्तिका क्या कभी कुशल हो सकता है? ॥ ५० ॥ चारणगण बोले—हे हरे! हमलोगोंने आपके भवभयहारी चरणकमलोंका आश्रय लिया है। क्योंकि आपने साधुजनोंके हृदयमें सर्वदा खटकनेवाले इस दैत्यको मार डाला है ॥ ५१ ॥ यक्ष बोले—हे ईश! विविध मनोहर कर्म करनेसे हम यक्ष आपके दासोंमें प्रधान हैं, किन्तु इस दैत्यने हमें भारवाहक बना लिया था। हे श्रीनृसिंह! आप चौबीस तत्त्वोंके नियन्ता थे ही, अब आप पुराणपुरुष पचीसवें तत्त्वके रूपमें स्वयं अवतारे हैं। इस दैत्यकी दी हुई प्राणियोंकी पीड़ाओं के ज्ञाता आपने आज इसे मार डाला ॥ ५२ ॥ किम्पुरुषोंने कहा—हम किम्पुरुष हैं और आप सर्वेश्वर महापुरुष हैं। साधुजनोंसे तिरस्कृत यह कुपुरुष सदाके लिये आज आपके द्वारा मारा गया ॥ ५३ ॥ वैतालिक कहने लगे—हे हरे! सभाओं तथा यज्ञशालाओंमें आपके गुण गाकर हम भेंट-पूजा पाते थे। हे भगवन्! जिसने हमारी वह आजीविका नष्ट कर दी थी, आज बड़े भाग्यसे रोगके सदृश यह दुर्जन दैत्य मार डाला गया ॥ ५४ ॥ किन्नरोंने कहा—हे स्वामिन्! हम आपके अनुचर किन्नर हैं, यह दैत्य हमसे बेगार लेता था। हे नृसिंहदेव! सो आज इस पापीको आपने नष्ट कर दिया। हे नाथ! इसी तरह आप सर्वदा हमारी उन्नति करते रहें ॥ ५५ ॥ विष्णुपार्षद बोले—हे भक्तजनोंके

नवमोऽध्यायः

नारद उवाच

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्मरुद्रपुरःसराः । नोपैतुमशकन् मन्युसंरम्भं सुदुरासदम् ॥१॥
साक्षाच्छ्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् । अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शङ्किता ॥२॥
प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके । तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥३॥
तथेति शनकै राजन् महाभागवतोऽर्भकः । उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः ॥४॥

स्वपादमूले पतितं तमर्भकं विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
उत्थाप्य तच्छीर्ष्ण्यदधात् कराम्बुजं कालाहिवित्रस्तधियां कृताभयम् ॥५॥
स तत्करस्पर्शधुताखिलाशुभः सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ॥६॥

अस्तौषीद्धरिमेकाग्रमनसा सुसमाहितः । प्रेमगद्गदया वाचा तन्न्यस्तहृदयेक्षणः ॥७॥

प्रह्लाद उवाच

ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः ।
नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः ॥८॥

आश्रयदाता प्रभो ! सब लोकोंको शान्तिदायक आपका यह विचित्र नृसिंहरूप हम लोगोंने आज ही देखा है। हे ईश ! यह दैत्य आपकी आज्ञाका पालक दास ही था, उन ब्राह्मणोंके शापसे इसकी यह दशा हुई थी। आपने जो इसे मारा है, इसको भी हम आपका अनुग्रह ही समझते हैं ॥ ५६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(प्रह्लाद द्वारा नृसिंहभगवानकी स्तुति) नारदजी बोले—हे युधिष्ठिर ! ब्रह्मा और महादेवसे लेकर सभी देवता क्रोधावेशमें बैठे हुए उन दुर्द्धर्ष नरसिंहभगवानके निकट न जाकर दूर दूरसे ही स्तुति करके हट गये ॥ १ ॥ तब देवताओंने उन्हें शान्त करनेके लिये महारानी लक्ष्मीजीको भेजा, किन्तु जिसे पहले न कभी देखा और न जिनके विषयमें कुछ सुना ही था, वह अति अद्भुत रूप देखकर मारे भयके वे भी उनके पास नहीं जा सकीं ॥ २ ॥ तब ब्रह्माजीने पास ही खड़े प्रह्लादको भेजा और उनसे कहा-"हे तात ! पितापर कुपित भगवानके पास तुम्हीं जाओ और उन्हें शान्त करो" ॥ ३ ॥ हे राजन् ! महाभगवद्भक्त बालक प्रह्लादजी 'जो आज्ञा' कहकर धीरेसे नृसिंहभगवानके निकट गये और हाथ जोड़ तथा पृथिवीपर लोटकर प्रणाम किया ॥ ४ ॥ उस छोटेसे बालकको निर्भयभावसे अपने चरणोंके समीप लोटे देख भगवानने कृपासे परिपूर्ण होकर गोदमें उठा लिया और उसके माथेपर अपना वह करकमल रखा, जो कालसर्पसे ग्रस्त पुरुषोंको भी निर्भय कर देता है ॥ ५ ॥ भगवानके हाथका स्पर्श होते ही भक्त प्रह्लादके सब अशुभ नष्ट हो गये और उन्हें परमात्माके सच्चे स्वरूपका दर्शन हो गया और उन्होंने परमानन्दसे परिपूर्ण होकर भगवानके चरणकमलोंको अपने हृदयमें पधराया। उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उनका हृदय प्रेमसे आर्द्र हो गया और उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बरसने लगे ॥ ६ ॥ वे एकाग्रचित्तसे सावधान होकर अपने हृदय और नयनोंको भगवानमें लगाकर प्रेमपूर्वक गद्गद वाणीसे स्तुति करने लगे ॥ ७ ॥ प्रह्लादजी बोले-जिनकी बुद्धि सदा सतोगुणमें ही स्थित रहती है, वे ब्रह्मादिक देवता, मुनि और सिद्ध अपने वचनोंके प्रवाह तथा बहुत गुणोंसे भी अभीतक आराधनाके द्वारा जिसे प्रसन्न नहीं कर पाये, वे भगवान

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥९॥
विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥१०॥
नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥११॥
तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम् ।
नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ॥१२॥
सर्वे ह्यमी विधिकरास्तव सत्त्वधाम्नो ब्रह्मादयो वयमिवेश न चोद्विजन्तः ।
क्षेमाय भूतय उतात्मसुखाय चास्य विक्रीडितं भगवतो रुचिरावतारैः ॥१३॥
तद् यच्छ मन्युमसुरश्च हतस्त्वयाद्य मोदेत साधुरपि वृश्चिकसर्पहत्या ।
लोकाश्च निर्वृतिमिताः प्रतियन्ति सर्वे रूपं नृसिंह विभयाय जनाः स्मरन्ति ॥१४॥
नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्यजिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्कुकर्णान्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥१५॥
त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्रसंसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं प्रीतोऽपवर्गमरणं ह्वयसे कदा नु ॥१६॥

उग्रजातिमें जायमान मुझ दैत्यपर कैसे प्रसन्न होंगे ॥ ८ ॥ फिर भी मेरा तो ऐसा विचार है कि धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि तथा योग—ये सब गुण उन परमपुरुष श्रीहरिकी आराधनाके साधन नहीं बन सकते, किन्तु भक्तिसे तो वे गजेन्द्रसे भी सन्तुष्ट हो गये थे ॥ ९ ॥ जो ब्राह्मण उपर्युक्त बारह गुणोंसे सम्पन्न रहता, किन्तु भगवान कमलनाभके चरणकमलोंसे विमुख रहता है तो उसकी अपेक्षा मैं उस चाण्डालको अच्छा समझता हूँ, जो अपने मन, वचन, कर्म, धन तथा प्राण श्रीहरिहीमें लगाये रहता है। वह प्राणी अपना कुल पवित्र कर देता है, किन्तु अपने बड़प्पनका अभिमानी ब्राह्मण वैसा नहीं कर पाता ॥ १० ॥ तात्पर्य यह कि भगवान आत्मलाभसे ही परिपूर्ण रहते हैं, वे क्षुद्र पुरुषोंसे पूजाकी कामना नहीं रखते। वे तो एकमात्र करुणावश भक्तों द्वारा की हुई पूजा स्वीकार करते हैं। जैसे मुखकी शोभा प्रतिबिम्बको भी शोभित करती हैं, वैसे भक्त भगवानके प्रति जो-जो मान प्रदर्शित करता है, वह उस भक्तको ही प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ अतएव नीच होकर भी मैं निःशङ्कभावसे अपनी बुद्धिके अनुसार उन ईश्वरकी वह महिमा बताता हूँ, जिससे अविद्यावश संसारचक्रमें पड़ा प्राणी तत्काल पवित्र हो जाता है ॥ १२ ॥ हे ईश ! ये ब्रह्मादिक देवता आप सत्त्वस्वरूपको आज्ञाका अनुवर्तन करते हैं। ये हम दैत्योंकी तरह आपसे द्वेष नहीं करते। हे भगवन् ! आप अपने मनोहर अवतारों द्वारा जो-जो चरित्र करते हैं, वे सब जगत्के कल्याण, उद्भव तथा आत्मानन्दके लिये ही होते हैं ॥ १३ ॥ अब आप क्रोध शान्त करें। क्योंकि उस असुरका संहार कर चुके। हे देव ! सर्प तथा बिच्छू आदिके मर जानेपर साधुजन भी सुख मानते हैं। इस असुरके संहारसे आनन्दित सब लोक आपका यह कोप शान्त होनेकी राह देख रहे हैं। हे नृसिंह ! निर्भय होनेके लिये सबलोग आपके इस अद्भुत रूपका स्मरण करेंगे ॥ १४ ॥ हे अजित ! जिसके अति भयानक मुख, जिह्वा, सूर्यसदृश दीप्त नेत्र, वक्र भ्रुकुटि तथा उग्र दाढ़ें हैं और आँतोंकी माला, रक्तसे भींगा सटाकलाप तथा सीधे खड़े कानों युक्त है, जिसके सिंहनादसे दिग्गज भी भयभीत हो गये और जिसके नखका अग्रभाग शत्रुको विदीर्ण कर देता है, आपके उस भयङ्कर स्वरूपसे मुझे तनिक भी भय नहीं रहा ॥ १५ ॥ हे दीनवत्सल प्रभो !

यस्मात् प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्मशोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥१७॥
सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया लीलाकथास्तव नृसिंह विरिञ्चिगीताः ।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः ॥१८॥
बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टस्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥१९॥
यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्माद् यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा ।
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥२०॥
माया मनः सृजति कर्ममयं बलीयः कालेन चोदितगुणानुमतेन पुंसः ।
छन्दोमयं यदजयार्पितषोडशारं संसारचक्रमज कोऽतितरेत् त्वदन्यः ॥२१॥
स त्वं हि नित्यविजितात्मगुणः स्वधाम्ना कालो वशीकृतविसृज्यविसर्गशक्तिः ।
चक्रे विसृष्टमजयेश्वर षोडशारे निष्पीड्यमानमुपकर्ष विभो प्रपन्नम् ॥२२॥
दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपानामायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम् ।
येऽस्मात्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रूविस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः ॥२३॥

मैं तो भयानक और दुःसह संसारचक्रके दुःखसे भयभीत हूँ, मुझे कर्मोंने बाँधकर हिंस्र जीवोंके बीचमें डाल दिया है। हे श्रेष्ठतम ! अब आप मुझे अपने मोक्षप्रद तथा शरणदायक चरणोंमें कब बुलायगे ? ॥ १६ ॥ हे भूमन् ! मैं सब योनियोंमें प्रियके वियोग तथा अप्रियके संयोगजनित शोकानलसे सन्तप्त होता आया हूँ। उस दुःखकी औषधि भी दुःखस्वरूप ही है। अतएव मैं देहादि अनात्मामें आत्मभाव न करके चिरकालसे भटक रहा हूँ, सो आप मुझे अपने दास्यभावका उपदेश दें ॥ १७ ॥ हे नृसिंह ! आप सबके प्रिय सुहृद् तथा श्रेष्ठ देवता हैं। आपका दास्यभाव पाकर मैं आपके चरणयुगलके प्रेमी ज्ञानियोंका सत्संग करता हुआ रागादि गुणोंके बन्धनसे मुक्त हो और ब्रह्माजीके द्वारा कही हुई आपकी लीलाकथाको गाकर बड़ी सुगमतासे संसारसागरको पार कर सकूँगा ॥ १८ ॥ हे नृसिंह ! सन्तप्त पुरुषोंकी दुःखनिवृत्तिका जो उपाय है, आपसे उपेक्षित वह एक क्षणके लिए ही होता है। बालकके लिए माता-पिता, रोगीके लिये औषधि तथा समुद्रमें डूबते प्राणीके लिये नौका, ये सदा सहायक नहीं होते। क्योंकि इनसे कभी-कभी विपरीत फल भी मिल जाता है ॥ १९ ॥ हे भगवन् ! भिन्न-भिन्न स्वभावके पुरातन अथवा अर्वाचीन कर्ता जिससे प्रेरित होकर जिसमें, जब, जिसके, द्वारा, जिसका, जिससे, जिसके लिए, जैसे और जो कुछ उत्पन्न करते अथवा बदलते हैं, वह सब आपहीका स्वरूप है ॥ २० ॥ हे प्रभो ! जिसके गुणोंमें कालके द्वारा क्षोभ उत्पन्न हुआ है, वह माया आपके अंशभूत पुरुषसे प्रेरित होकर मनःप्रधान लिंगदेहकी रचना करती है। वह अतिबलवान कर्ममय, वैदिक कर्मकलापमें आसक्त तथा अविद्याके द्वारा अर्पित मन, दस इन्द्रिय तथा पञ्चतन्मात्रा इन सोलह विकाररूपी आरोंसे युक्त संसारचक्र है, सो हे अजन्मा प्रभो ! आपसे पृथक् रहनेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो उस मनरूपी संसारचक्रको पार कर सकेगा ? ॥२१॥ हे प्रभो ! हे ईश्वर ! अपनी चैतन्यशक्ति द्वारा बुद्धिके सब गुणोंपर विजय पानेवाले तथा कालरूपसे सब साध्य-साधनको अपने वशमें रखनेवाले आप मुझ शरणागतको, जो मायाके द्वारा इस सोलह अरोंवाले संसारचक्रमें डालकर इक्षुदण्डकी भाँति पेरा जा रहा है, अपने समीप खींच लीजिये ॥ २२ ॥ हे विभो ! जिस स्वर्गके लिए संसारके लोग ललचाये रहते हैं, उस लोकमें प्राप्तव्य लोकपालोंकी आयु, लक्ष्मी तथा विभूति मैंने भलीभाँति देख ली। यह विभूति तो पिताजीके क्रोधभरे हास्यसे किये भ्रूकुटिविलाससे ही नष्ट हो चुकी थी और अब आपने उनको मार डाला ॥ २३ ॥

तस्मादमूस्तनुभृतामहमाशिषो ज्ञ आयुः श्रियं विभवमैन्द्रियमाविरिञ्चात् ।
नेच्छामि ते विलुलितानुरुविक्रमेण कालात्मनोपनय मां निजभृत्यपार्श्वम् ॥२४॥
कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः ।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान् कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः ॥२५॥
क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिञ्जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥२६॥
नैषा परावरमतिर्भवतो ननु स्याज्जन्तोर्यथाऽऽत्मसुहृदो जगतस्तथापि ।
संसेवया सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न परावरत्वम् ॥२७॥
एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात् ।
कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥२८॥
मत्प्राणरक्षणमनन्त पितुर्वधश्च मन्ये स्वभृत्यऋषिवाक्यमृतं विधातुम् ।
खड्गं प्रगृह्य यदवोचदसद्विधित्सुस्त्वामीश्वरो मदपरोऽवतु कं हरामि ॥२९॥
एकस्त्वमेव जगदेतदमुष्य यत् त्वमाद्यन्तयोः पृथगवस्यसि मध्यतश्च ।
सृष्ट्वा गुणव्यतिकरं निजमाययेदं नानेव तैरवसितस्तदनुप्रविष्टः ॥३०॥
त्वं वा इदं सदसदीश भवांस्ततोऽन्यो माया यदात्मपरबुद्धिरियं ह्यपार्था ।
यद् यस्य जन्म निधनं स्थितिरीक्षणं च तद् वै तदेव वसुकालवदष्टितर्वोः ॥३१॥

अतएव देहधारी प्राणियोंके इन भोगोंके परिणामका ज्ञाता मैं ब्रह्मा तककी भी आयु, वैभव तथा इन्द्रियसम्बन्धी भोगोंको नहीं चाहता । क्योंकि वे सब भोग परमपराक्रमी कालरूपी परमेश्वरसे ग्रस्त हैं । इसलिये मुझे आप अपने दासोंके पास ले चलें ॥ २४ ॥ अहो ! केवल सुननेमें सुखदायी मृगतृष्णारूपी विषय-भोग और सब रोगोंका यह शरीर है, किन्तु मनुष्य इन सबकी असारता तथा नाशवत्ता जानकर भी बड़ी कठिनतासे मिलनेवाले भोगरूपी मधुकणोंसे भोगेच्छारूप अग्निको शान्त करता हुआ इनसे कभी भी विरक्त नहीं होता ॥ २५ ॥ हे ईश ! कहाँ इस तमःप्रधान दैत्य-कुलमें रजोगुणसे उत्पन्न मैं ? और कहाँ आपकी अनुकम्पा ! अहो, जो सकल सन्तापहारी करकमल आपने ब्रह्मा, महादेव तथा लक्ष्मीजीके माथेपर भी कभी नहीं रखा था, वही आज मेरे माथेपर रख दिया ! ॥ २६ ॥ संसारी जीवोंकी तरह आपकी उत्तम-अधम बुद्धि नहीं है । क्योंकि आप सब जगत्के आत्मा तथा सुहृद् हैं । फिर भी कल्पवृक्षसदृश आपका प्रसाद भी बड़ी सेवासे मिलता है । आपकी सेवासे ही जीवमें धर्मादि भावोंका उदय होता है । यहाँपर जातिगत उच्चता-नीचता कारण नहीं है ॥ २७ ॥ हे नाथ ! कालरूपी सर्पयुक्त संसार-कूपमें पड़े अन्य विषयाभिलाषी पुरुषोंके पीछे मैं भी संगदोष वश गिरा जा रहा था । तब देवर्षि नारदने मुझे अपनाया और उन्हींकी दयासे मुझे आप मिले हैं । सो मैं आपके दासोंकी सेवाको भला कैसे त्याग सकता हूँ ? ॥ २८ ॥ हे अनन्त ! जब मेरे पिताने अन्याय-वश हाथमें खड्ग लेकर कहा कि 'मुझसे अतिरिक्त भी यदि कोई ईश्वर हो तो वह आकर तेरी रक्षा करे—मैं अभी तेरा सिर काटता हूँ ।' तब आपने जो मेरे वचनकी रक्षा करके मेरे पिताका वध किया, वह अपने सेवक देवर्षि नारदके वचनोंको सत्य करनेके लिये ही किया था ॥ २९ ॥ हे नाथ ! समस्त संसार एकमात्र आप ही हैं । क्योंकि इसके आदि, अन्त तथा मध्यमें आप ही अपनी मायासे गुणोंके परिणामस्वरूप संसारको रच और इसमें अनुप्रविष्ट होकर गुणोंके व्यापारोंसे जगत्के स्रष्टा, रक्षक तथा संहारक आदि रूपोंमें अनेककी भाँति दीखते हैं ॥ ३० ॥ हे ईश ! यह सत् और असत्रूपी जगत् आप ही हैं । इससे भिन्न परमपुरुष भी आप ही हैं । अतः 'यह अपना

न्यस्येदमात्मनि जगद् विलयाम्बुमध्ये शेषेऽऽत्मना निजसुखानुभवो निरीहः ।
योगेन मीलितदृगात्मनिपीतनिद्रस्तुर्ये स्थितो न तु तमो न गुणांश्च युङ्क्षे ॥३२॥
तस्यैव ते वपुरिदं निजकालशक्त्या सञ्चोदितप्रकृतिधर्मण आत्मगूढम् ।
अम्भस्यनन्तशयनाद् विरमत्समाधेर्नाभेरभूत् स्वकणिकावटवन्महाब्जम् ॥३३॥
तत्सम्भवः कविरतोऽन्यदपश्यमानस्त्वां बीजमात्मनि ततं स्वबहिर्विचिन्त्य ।
नाविन्ददब्दशतमप्सु निमज्जमानो जातेऽङ्कुरे कथमु होपलभेत बीजम् ॥३४॥
स त्वात्मयोनिरतिविस्मित आस्थितोऽब्जं कालेन तीव्रतपसा परिशुद्धभावः ।
त्वामात्मनीश भुवि गन्धमिवातिसूक्ष्मं भूतेन्द्रियाशयमये विततं ददर्श ॥३५॥
एवं सहस्रवदनाङ्घ्रिशिरःकरोरुनासास्यकर्णनयनाभरणायुधाढ्यम् ।
मायामयं सदुपलक्षितसन्निवेशं दृष्ट्वा महापुरुषमाप मुदं विरिञ्चः ॥३६॥
तस्मै भवान् हयशिरस्तनुवं च बिभ्रद् वेदद्रुहावतिबलौ मधुकैटभाख्यौ ।
हत्वाऽऽनयच्छ्रुतिगणांस्तु रजस्तमश्च सत्त्वं तव प्रियतमां तनुमामनन्ति ॥३७॥
इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारैर्लोकान् विभावयसि हंसि जगत्प्रतीपान् ।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्तं छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम् ॥३८॥

है, यह पराया है' ऐसी भेदबुद्धि व्यर्थकी माया है। क्योंकि जिसका जिससे जन्म, स्थिति, लय तथा प्रकाश होता है, वह तद्रूप ही होता है। अतएव जैसे कार्यरूप वृक्ष और कारणरूप बीज दोनों ही गन्धतन्मात्रास्वरूप हैं। वैसे ही यह संसार आपहीका स्वरूप है ॥ ३१ ॥ हे प्रभो ! अन्तमें आप ही सारा प्रपञ्च अपनेमें समेटकर आत्मसुखका अनुभव करते हुए निरीहभावसे जाकर प्रलयकालीन जलमें सोते हैं। तब योग द्वारा बाह्य दृष्टि मूँद और आत्मस्वरूपके प्रकाशसे निद्राको भी विलीन करके आप तुरीय अवस्थामें स्थित रहते हैं—उस समय आप न तमोयुक्त होते और न विषयोंके भोक्ता ही होते हैं ॥ ३२ ॥ यह ब्रह्माण्ड कालशक्तिसे प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंको प्रेरित करनेवाले आप परमेश्वरका ही शरीर है। पहले यह ब्रह्माण्ड आपहीमें निहित था। जब प्रलयकालके जलमें शेषशय्यापर सोनेवाले आपने योगनिद्रारूपिणी समाधि त्यागी तो वटबीजसे उत्पन्न महावृक्षकी भाँति आपकी नाभिसे अतिविशाल यह ब्रह्माण्डकमल प्रगटा ॥ ३३ ॥ उससे उत्पन्न सूक्ष्मदर्शी ब्रह्माजीको जब कमलके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखा तो अपनेमें व्याप्त बीजरूपी आपको बाहर समझकर वे सौ वर्षतक उसी जलके भीतर ढूँढ़ते रहे। लेकिन उन्हें कुछ नहीं मिला—सो ठीक ही है, क्योंकि अंकुर उत्पन्न हो जानेपर बीजको कोई पुरुष भला पृथक्‌रूपमें कैसे देख सकता है ? ॥ ३४ ॥ अतएव आत्मयोनि श्रीब्रह्माजी विस्मित होकर उसी कमलपर बैठ गये। हे ईश ! बहुत समय तक तीव्र तपस्यासे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर उन्हें, पृथिवीमें व्याप्त अतिशय सूक्ष्म गन्धतन्मात्रासदृश भूत, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणरूपी अपने शरीरमें व्याप्त आपके सूक्ष्मस्वरूपका दर्शन मिला ॥ ३५ ॥ हजारों मुख, चरण, सिर, हाथ, ऊरु, नासिका, मुख, कर्ण, नयन, आभूषण तथा आयुधों युक्त चौदह लोकरूपी अवयवोंसे सम्पन्न आप मायामय विराट् पुरुषका दर्शन पाकर ब्रह्माजीको बड़ा आनन्द मिला ॥ ३६ ॥ तब आपने हयग्रीवरूपसे अतिशय प्रबल तथा वेदद्रोही रजोगुण-तमोगुणरूपी मधु तथा कैटभनामक दैत्योंको मारकर ब्रह्माजीको सत्त्वगुणरूपी चारों वेद अर्पण कर दिये। इसीसे सत्त्वगुण आपका प्रियतम रूप कहलाता है ॥ ३७ ॥ हे परमपुरुष ! आप मनुष्य, तिर्यक्, ऋषि, देवता तथा मत्स्यादि अवतार लेकर सब लोकोंका पालन तथा जगद्विद्रोहियोंका विनाश करते हैं। उन अवतारों द्वारा आप प्रत्येक युगके धर्मोंकी रक्षा करते हैं, लेकिन कलियुगमें अवतार न लेकर गुप्तरूपसे ही रहते हैं। इसीसे आप 'त्रियुग'

नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम् ।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥३९॥
जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥४०॥
एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्यामन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥४१॥
को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन् प्रयास उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ॥४२॥
नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्यास्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थमायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥४३॥
प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥४४॥
यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥४५॥
मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥४६॥

नामसे भी विख्यात हैं ॥ ३८ ॥ हे वैकुण्ठनाथ ! मेरा मन बड़ा दुष्ट, दोषदूषित, कामातुर, हर्ष, शोक, भय तथा त्रिविध एषणाओंसे व्याकुल है । आपकी कथाओंमें इसकी प्रीति नहीं होती । ऐसा कलुषित-चित्त मैं दीन कैसे आपके स्वरूपका ध्यान धरूँ ? ॥ ३९ ॥ हे अच्युत ! जैसे बहुत-सी सौतें स्वामीको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं । वैसे ही मुझे अतृप्त रसना एक ओर, उपस्थ (लिङ्ग) दूसरी ओर, त्वचा, उदर तथा कर्ण तीसरी ओर, घ्राण तथा चञ्चल नेत्र किसी दूसरी तरफ और कर्मेन्द्रियाँ किसी और ही ओर खींच रही हैं ॥ ४० ॥ हे नित्यमुक्त ! संसाररूपिणी वैतरणी नदीमें अपने कर्मों वश पड़कर परस्पर प्राप्तव्य जन्म-मरण तथा खानपानादिसे अत्यन्त भयभीत एवं अपने-पराये पुरुषोंसे मित्रता तथा द्वेष करते हुए आप मुझे इस वैतरणीके पार लगाकर प्राणिवर्गकी रक्षा करें ॥ ४१ ॥ हे अखिलगुरो ! आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा पालनकर्ता हैं । हे भगवन् ! इन सबसे पार लगानेमें क्या आपको कुछ प्रयास करना पड़ेगा ? हे दीनबन्धो ! आप महापुरुषोंकी दया तो मूढ़ोंपर ही होनी चाहिए ॥४२॥ हे प्रभो ! जिसका पार पाना दूसरोंके लिए बहुत कठिन है, उस संसाररूपी वैतरणी-से मुझे कुछ भी भय नहीं रहा । क्योंकि मेरा चित्त तो आपका गुणगानरूपी परमामृत पीकर आनन्द-मग्न है । मुझे केवल उन्हींकी चिन्ता रहती है, जो मूढ़ उससे विमुख हो इन्द्रियोंके विषयोंसे प्राप्तव्य मायिक सुखके लिये कटुम्बपोषणादिका भार ढोते हैं ॥ ४३ ॥ हे देव ! सब मुनिजन प्रायः अपनी ही मुक्तिके लिए एकान्तमें रहकर मौनव्रत लेते हैं, वे परोपकारमें तत्पर नहीं होते । लेकिन मुझे इन दीनोंको त्यागकर अकेले मुक्त होनेकी इच्छा नहीं है । संसारमें भटकनेवाले लोगोंके लिये आपके सिवा और कोई उद्धार करनेवाला नहीं दीखता ॥ ४४ ॥ हे प्रभो ! गृहस्थके मैथुनादि सुख खुजलीके समान हैं । खुजलीमें पहले अच्छा लगता, फिर उससे अधिकाधिक दुःख ही होता है । वैसे ही ये भोग भी हैं । लेकिन अनेक दुःख उठाकर भी ये दीनजन कभी भी इनसे तृप्त नहीं होते, किन्तु धीर-वीर पुरुष खुजलीके समान ही कामादि वेगोंको अनायास सह लेता है ॥ ४५ ॥ हे अन्तर्यामिन् ! मौन, व्रत, शास्त्र-श्रवण, तप, वेदाध्ययन, स्वधर्मपालन, शास्त्रोंकी व्याख्या, एकान्तसेवन, जप तथा समाधि—ये मोक्षके

रूपे इमे सदसती तव वेदसृष्टे बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥४७॥
त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥४८॥
नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः ।
आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वामेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात् ॥४९॥
तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥५०॥

नारद उवाच

एतावद्वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः । प्रह्लादं प्रणतं प्रीतो यतमन्युरभाषत ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम । वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम् ॥५२॥
मामप्रीणत आयुष्मन् दर्शनं दुर्लभं हि मे । दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥५३॥
प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः । श्रेयस्कामा महाभागाः सर्वासामाशिषां पतिम् ५४
एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः । एकान्तित्वाद् भगवति नैच्छत् तानसुरोत्तमः ॥५५

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादचरिते भगवत्स्तवो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दस साधन विख्यात हैं। परन्तु वे भी प्रायः अजितेन्द्रिय पुरुषोंकी जीविकाके साधन बन जाते हैं। दाम्भिकोंके लिये तो वे कभी जीविकाके साधन होते हैं और कभी उनका भेद खुल जानेपर नहीं भी होते ॥ ४६ ॥ वेदने बीज तथा अंकुरकी तरह कार्य तथा कारण आपके ये दो स्वरूप बतलाये हैं। वस्तुतः आप रूपरहित हैं, किन्तु रूपके सिवाय आपके ज्ञानका दूसरा साधन भी तो नहीं दीखता। सभी योगी काष्ठमें छिपे अग्नि सदृश भक्तियोग द्वारा कार्य-कारण इन दोनोंमें आपको देखते हैं। क्योंकि आपसे पृथक् इनका अस्तित्व ही नहीं है ॥ ४७ ॥ हे भूमन् ! वायु, अग्नि, पृथिवी, आकाश, जल, पञ्चतन्मात्रा, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहङ्काररूपी सारा जगत् और सगुण तथा निर्गुण, ये सब आप ही हैं। और कहाँतक कहें, मन या वाणीके विषय जितने भी पदार्थ हैं, उनमेंसे कोई आपसे पृथक् नहीं है ॥ ४८ ॥ हे महाकीर्ते ! ये सत्त्वादि गुण, गुणोंके परिणामस्वरूप महत्तत्त्वादि, देवता और मनुष्यों समेत मन-बुद्धि आदि कोई भी आपको नहीं जान पाते। क्योंकि ये सब आदि और अन्तयुक्त हैं। आपका सच्चा स्वरूप जानकर पण्डितजन शास्त्राध्ययनादिसे पृथक् हो जाया करते हैं ॥ ४९ ॥ हे पूज्यतम ! प्रणाम, स्तुति, सर्वकर्मार्पण, उपासना, चरणोंका ध्यान तथा आपकी कथाओंका श्रवण इन छः अङ्गों युक्त आपकी सेवा बिना केवल परमहंसोंको ही प्राप्तव्य आपमें मनुष्यकी भक्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ५० ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! परम भक्त प्रह्लादजीके द्वारा भक्तिपूर्वक भगवत्सम्बन्धी गुणोंका कीर्तन किये जानेपर नृसिंह-भगवानका क्रोध शान्त हो गया और वे प्रसन्न होकर अतिविनीत प्रह्लादजीसे बोले ॥५१॥ श्रीभगवानने कहा—हे भद्र प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो। हे असुरश्रेष्ठ ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अभिलषित वर माँगो। मैं लोगोंकी सब कामनायें पूर्ण कर देता हूँ ॥ ५२ ॥ हे आयुष्मन् ! जो प्राणी मुझे प्रसन्न नहीं करता, उसे मेरा दर्शन मिलना बहुत कठिन है। किन्तु मेरा दर्शन हो जानेपर पछताना नहीं पड़ता ॥ ५३ ॥ मैं सब लोगोंके सभी मनोरथ पूर्ण करता हूँ। अतएव जितेन्द्रिय और आत्मकल्याणेच्छुक सभी भाग्यवान् साधु सब तरहसे मुझे प्रसन्न करनेका उपाय करते हैं ॥ ५४ ॥ सब लोगोंको लालचमें

दशमोऽध्यायः

नारद उवाच

भक्तियोगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः । मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह ॥१॥

प्रह्लाद उवाच

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्याऽऽसक्तं कामेषु तैर्वरैः । तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥२॥

भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् । भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥३॥

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः । यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः । नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥६॥

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ । कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥७॥

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः । ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥

विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान् । तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते ॥९॥

नमो भगवते तुभ्यं पुरुषाय महात्मने । हरयेऽद्भुतसिंहाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥१०॥

नृसिंह उवाच

नैकान्तिनो मे मयि जात्विहाशिष आशासतेऽमुत्र च ये भवद्विधाः ।
अथापि मन्वन्तरमेतदत्र दैत्येश्वराणामनुभुङ्क्ष्व भोगान् ॥११॥

डाल देनेवाले ऐसे-ऐसे वरोंका लोभ दिखानेपर भी असुरोत्तम प्रह्लादने उनको नहीं चाहा। क्योंकि वे तो भगवानके अनन्य भक्त थे ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवते सप्तमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(श्रीनृसिंहभगवानका अन्तर्धान होना, प्रह्लादजीका राज्याभिषेक और त्रिपुरदहनकी कथा)

श्रीनारदजीने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! सभी वरोंको भक्तियोगमें बाधक समझ बालक प्रह्लादने मुस्कराकर श्रीहृषीकेशभगवानसे कहा ॥ १ ॥ प्रह्लादजी बोले—हे प्रभो ! मैं तो स्वभावतः भोगासक्त जीव हूँ। मुझे ऐसे वरके द्वारा आप और अधिक प्रलोभनमें मत डालिये। मैं तो उन भोगोंकी आसक्तिसे डर और उनसे विमुख होकर मोक्षप्राप्तिकी इच्छासे आपके पास आया हूँ ॥ २ ॥ हे प्रभो ! आपने अपने इस दासकी परीक्षा करनेको ही हृदयकी ग्रन्थि तथा संसारके बीजरूपी सांसारिक भोगोंकी ओर इसे घसीटा है ॥ ३ ॥ हे अखिलगुरो ! इसके सिवाय और किसी तरह आप करुणामयके लिये ऐसा करना सम्भव नहीं था। हे नाथ ! जो सेवक आपसे कोई कामना पूर्ण कराना चाहता है, वह तो आपका सेवक नहीं, व्यापारी है ॥ ४ ॥ स्वामीसे कामनापूर्ति करानेवाला सेवक सेवक नहीं हो सकता और स्वामी बने रहनेका इच्छुक प्रभु तथा उसे धन या भोगादि देनेवाला स्वामी, स्वामी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! मैं तो आपका निष्काम भक्त हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। स्वामी-सेवकके सिवा आपका और हमारा कोई अन्य नाता नहीं हो सकता ॥ ६ ॥ हे वरदाताओंमें श्रेष्ठ प्रभो ! यदि मुझे आप वर ही देना चाहें तो मैं यही वर माँगूँगा कि मेरे हृदयमें कभी कामनाओंका अंकुर न उगे। क्योंकि यह अंकुर उगते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति तथा सत्य ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥७॥८॥ हे कमलनयन ! जब मनुष्य कामनाओंको छोड़ देता है, तभी भगवद्भावकी प्राप्तिका अधिकारी होता है ॥ ९ ॥ हे नाथ ! सबके अन्तर्यामी, महात्मा तथा अद्भुत नृसिंहरूपधारी आप परब्रह्म परमात्मा श्रीविष्णुभगवानको नमस्कार है ॥ १० ॥ श्रीनृसिंहदेव बोले—हे प्रह्लाद ! तुम जैसे जो मेरे अनन्य भक्त हैं, वे लोग ऐहलौकिक-पारलौकिक किसी भी भोगकी इच्छा

कथा मदीया जुषमाणः प्रियास्त्वमावेश्य मामात्मनि सन्तमेकम् ।
सर्वेषु भूतेष्वधियज्ञमीशं यजस्व योगेन च कर्म हिन्वन् ॥१२॥
भोगेन पुण्यं कुशलेन पापं कलेवरं कालजवेन हित्वा ।
कीर्तिं विशुद्धां सुरलोकगीतां विताय मामेष्यसि मुक्तबन्धः ॥१३॥

य एतत् कीर्तयेन्मह्यं त्वया गीतमिदं नरः । त्वां च मां च स्मरन् काले कर्मबन्धात् प्रमुच्यते १४

प्रह्लाद उवाच

वरं वरय एतत् ते वरदेशान्महेश्वर । यदनिन्दत् पिता मे त्वामविद्वांस्तेज ऐश्वरम् ॥१५॥
विद्धामर्षाशयः साक्षात् सर्वलोकगुरुं प्रभुम् । भ्रातृहेति मृषादृष्टिस्त्वद्भक्ते मयि चाघवान् ॥१६॥
तस्मात् पिता मे पूयेत दुरन्ताद् दुस्तरादघात् । पूतस्तेऽपाङ्गसंदृष्टस्तदा कृपणवत्सल ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ । यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः १८
यत्र यत्र च मद्भक्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः । साधवः समुदाचारास्ते पूयन्त्यपि कीकटाः ॥१९॥
सर्वात्मना न हिंसन्ति भूतग्रामेषु किञ्चन । उच्चावचेषु दैत्येन्द्र मद्भावेन गतस्पृहाः ॥२०॥
भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः । भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥२१॥
कुरु त्वं प्रेतकार्याणि पितुः पूतस्य सर्वशः । मदङ्गस्पर्शनेनाङ्ग लोकान् यास्यति सुप्रजाः ॥२२॥
पित्र्यं च स्थानमातिष्ठ यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः । मय्यावेश्य मनस्तात कुरु कर्माणि मत्परः ॥२३॥

नहीं करते । फिर भी मेरी आज्ञानुसार इस मन्वन्तरकी समाप्ति तक तुम इस लोकमें दैत्येश्वरोंके सारे भोगोंका उपभोग करो ॥ ११ ॥ सब प्राणियोंमें विराजमान मुझ यज्ञेश्वरको अपने हृदयमें धारण करके मेरी प्रिय कथाओंको सुनते तथा सब कर्म मुझे अर्पण करते हुए तुम भक्ति-योगके द्वारा मेरी आराधना करते रहोगे ॥ १२ ॥ सुखभोगजनित पुण्य द्वारा पाप त्यागकर कालक्रमसे जब शरीर छूट जायगा, तब तुम देवलोकमें गीयमान अपनी पुनीत कीर्ति संसारमें फैला तथा सब कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर अन्तमें मुझे आ मिलोगे ॥१३॥ जो प्राणी मेरा और तुम्हारा स्मरण करता हुआ तुम्हारे द्वारा कथित इस स्तोत्रका कीर्तन करेगा, वह भी सब कर्मबन्धनोंसे छूट जायगा ॥१४॥ प्रह्लादजी बोले—हे महेश्वर ! आप सब वरदाताओंके स्वामी हैं । सो मैं एक वर और माँगता हूँ । वह यह कि मेरे पिताने आपका ईश्वरीय तेज न जानकर 'यह मेरे भाईका घातक है' यह मिथ्या दृष्टि रख और असहिष्णु होकर आप निखिललोकगुरु सर्वेश्वरकी अनेकशः निन्दा एवं मुझ आपके भक्तसे द्रोह किया है । इस दुरन्त तथा दुस्तर दोषसे मेरे पिताजी शुद्ध हो जायँ । हे दीनवत्सल ! वैसे तो जब उनपर आपका दृष्टिपात हुआ, तभी वे शुद्ध हो गये ॥१५–१७॥ श्रीभगवान्ने कहा—हे अनघ और हे साधो ! तुम्हारा पिता तो अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके पितरों समेत पवित्र हो चुका । क्योंकि उसके यहाँ तुम्हारे सदृश कुलपावन पुत्र जन्मा है ॥१८॥ जहाँ मेरे भक्त एवं शान्तचित्त, समदर्शी तथा सदाचारी साधुजन रहते हैं तो वे मगध जैसे देश भी पवित्र हो जाते हैं ॥ १९ ॥ हे दैत्यपते ! मेरी भक्तिसे जिन्हें कोई कामना नहीं रहती, वे भक्तजन सबपर आत्मदृष्टि रखते हुए छोटे-बड़े सभी प्राणियोंको कुछ भी कष्ट नहीं पहुँचाते ॥ २० ॥ जो संसारमें तुम्हारे पथपर चलेंगे, वे भी मेरे भक्त हो जायँगे । तुम तो भक्तोंमें आदर्श भक्त हो ॥ २१ ॥ हे वत्स ! मेरे अंगका संस्पर्श होते ही तुम्हारा पिता पवित्र हो गया है । फिर भी तुम जाकर उसका और्ध्वदैहिक कर्म करो । तुम्हारे सदृश सुपुत्रका पिता होनेसे वह अवश्य उत्तम लोकोंको पायेगा ॥ २२ ॥ हे तात ! तुम अपने पिताके राजसिंहासन पर बैठो और सभी वेदवादी मुनियोंकी आज्ञाका पालन करते हुए मुझमें मन

नारद उवाच

प्रह्लादोऽपि तथा चक्रे पितुर्यत्साम्परायिकम् । यथाऽऽह भगवान् राजन्नभिषिक्तो द्विजोत्तमैः २४
प्रसादसुमुखं दृष्ट्वा ब्रह्मा नरहरिं हरिम् । स्तुत्वा वाग्भिः पवित्राभिः प्राह देवादिभिर्वृतः ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

देवदेवाखिलाध्यक्ष भूतभावन पूर्वज । दिष्ट्या ते निहतः पापो लोकसन्तापनोऽसुरः॥२६॥
योऽसौ लब्धवरो मत्तो न वध्यो मम सृष्टिभिः । तपोयोगबलोन्नद्धः समस्तनिगमानहन् ॥२७॥
दिष्ट्यास्य तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः । त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना
एतद् वपुस्ते भगवन् ध्यायतः प्रयतात्मनः । सर्वतो गोप्तृ संत्रासान्मृत्योरपि जिघांसतः ॥२९॥

नृसिंह उवाच

मैवं वरोऽसुराणां ते प्रदेयः पद्मसम्भव । वरः क्रूरनिसर्गाणामहीनाममृतं यथा ॥३०॥

नारद उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् राजंस्तत्रैवान्तर्दधे हरिः । अदृश्यः सर्वभूतानां पूजितः परमेष्ठिना ॥३१॥
ततः सम्पूज्य शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम् । भवं प्रजापतीन् देवान् प्रह्लादो भगवत्कलाः ॥३२॥
ततः काव्यादिभिः सार्धं मुनिभिः कमलासनः । दैत्यानां दानवानां च प्रह्लादमकरोत् पतिम्॥३३॥
प्रतिनन्द्य ततो देवाः प्रयुज्य परमाशिषः । स्वधामानि ययू राजन् ब्रह्माद्याः प्रतिपूजिताः॥३४
एवं तौ पार्षदौ विष्णोः पुत्रत्वं प्रापितौ दितेः । हृदि स्थितेन हरिणा वैरभावेन तौ हतौ ॥३५॥

लगा तथा मेरी ही सेवामें तत्पर रहकर सब कार्य सम्पन्न करो ॥ २३ ॥ श्रीनारदजीने कहा—हे राजा युधिष्ठिर ! भगवानकी आज्ञानुसार प्रह्लादजीने अपने दिवंगत पिताकी सारी और्ध्वदैहिकी क्रिया सम्पन्न की और तब ब्राह्मणोंने उनका राज्याभिषेक किया ॥ २४ ॥ श्रीब्रह्माजीने नृसिंहभगवानको प्रसन्न तथा सौम्यवदन देख पवित्र वचनों द्वारा उनकी स्तुति करते हुए कहा ॥ २५ ॥ श्रीब्रह्माजी बोले—हे देवदेव ! हे अखिलाध्यक्ष ! हे भूतभावन ! हे पूर्वज ! हमारे सौभाग्यसे यह बड़ी बात हुई कि आपने सब लोकोंको तपानेवाले इस दुष्ट दैत्यको मार डाला ॥ २६ ॥ मुझसे वर पाकर यह बड़ा उद्धत हो गया था । मेरे रचे हुए संसारके किसी भी प्राणीके द्वारा इसकी मृत्यु असम्भव थी । इसीसे अपने तप, योग तथा बलसे उन्मत्त होकर इसने सभी वेदविधियोंका उन्मूलन कर डाला था ॥ २७ ॥ आपने इसके परम भगवद्भक्त तथा साधुस्वभाव पुत्र प्रह्लादको मृत्युके मुखसे बचाया । यह बड़े आनन्दकी बात हुई और यह आपकी शरणमें आ गया—यह और भी आनन्दका विषय है ॥२८॥ हे भगवन् ! जो प्राणी एकाग्र-चित्तसे आपके इस नृसिंहरूपका ध्यान करेगा, उसे यह सब प्रकारके भय और उपस्थित मृत्युसे भी बचा लेगा ॥ २९ ॥ श्रीनृसिंहभगवान्ने कहा—हे कमलयोने ! तुम्हें इन दैत्योंको ऐसे वर कदापि न देने चाहियें । स्वभावतः क्रूर पुरुषोंको दिया हुआ वर तो सर्पोंको पिलाये दूधका काम करता हुआ अन्तमें अनिष्टकारक ही होता हैं ॥ ३० ॥ श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! ऐसा कह नृसिंहभगवान ब्रह्माजीसे पूजित होकर वहीं अन्तर्धान हो गये । उसके बाद किसी भी प्राणीने उनको नहीं देख पाया ॥ ३१ ॥ भक्तवर श्रीप्रह्लादजीने भगवानके अंश ब्रह्मा, शिव, प्रजापति एवं देवताओंका पूजनकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया ॥ ३२ ॥ तब शुक्राचार्यादि मुनियों तथा श्रीब्रह्माजीने प्रह्लादजीको सब दैत्यों और दानवोंका स्वामी बना दिया ॥ ३३ ॥ ब्रह्मा आदि देवता प्रह्लादजीके द्वारा पूजित हो उनकी प्रशंसा कर और शुभाशीर्वाद दे अपने-अपने लोकोंको प्रस्थान किये ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! वे विष्णुपार्षद जो सनकादि मुनियोंके शापवश पहले जन्ममें दितिके पुत्र हुए थे, वे अपने

पुनश्च विप्रशापेन राक्षसौ तौ बभूवतुः । कुम्भकर्णदशग्रीवौ हतौ तौ रामविक्रमैः ॥३६॥
शयानौ युधि निर्भिन्नहृदयौ रामसायकैः । तच्चित्तौ जहतुर्देहं यथा प्राक्तनजन्मनि ॥३७॥
ताविहाथ पुनर्जातौ शिशुपालकरूषजौ । हरौ वैरानुबन्धेन पश्यतस्ते समीयतुः ॥३८॥
एनः पूर्वकृतं यत् तद् राजानः कृष्णवैरिणः । जहुस्त्वन्ते तदात्मानः कीटः पेशस्कृतो यथा॥३९॥
यथा यथा भगवतो भक्त्या परमया भिदा । नृपाश्चैद्यादयः सात्म्यं हरेस्तच्चिन्तया ययुः ॥४०॥
आख्यातं सर्वमेतत् ते यन्मां त्वं परिपृष्टवान् । दमघोषसुतादीनां हरेः सात्म्यमपि द्विषाम् ॥४१॥
एषा ब्रह्मण्यदेवस्य कृष्णस्य च महात्मनः । अवतारकथा पुण्या वधो यत्रादिदैत्ययोः ॥४२॥
प्रह्लादस्यानुचरितं महाभागवतस्य च । भक्तिर्ज्ञानं विरक्तिश्च याथात्म्यं चास्य वै हरेः ॥४३॥
सर्गस्थित्यप्ययेशस्य गुणकर्मानुवर्णनम् । परावरेषां स्थानानां कालेन व्यत्ययो महान् ॥४४॥
धर्मो भागवतानां च भगवान् येन गम्यते । आख्यानेऽस्मिन् समाम्नातमाध्यात्मिकमशेषतः ४५
य एतत् पुण्यमाख्यानं विष्णोर्वीर्योपबृंहितम् । कीर्तयेच्छ्रद्धया श्रुत्वा कर्मपाशैर्विमुच्यते ॥४६॥

एतद् य आदिपुरुषस्य मृगेन्द्रलीलां दैत्येन्द्रयूथपवधं प्रयतः पठेत ।
दैत्यात्मजस्य च सतां प्रवरस्य पुण्यं श्रुत्वानुभावमकुतोभयमेति लोकम् ॥४७॥
यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥४८॥

हृदयमें विराजमान भगवान विष्णुके हाथों मारे गये ॥ ३५ ॥ किन्तु विप्रशापके कारण वे फिर भी रावण तथा कुम्भकर्ण नामके दो राक्षस हुए और भगवान रामके पराक्रमसे मरे ॥ ३६ ॥ रावण और कुम्भकर्ण भी श्रीरामचन्द्रके बाणोंसे छिन्न-हृदय होकर रणभूमिमें मरे थे। इसने पूर्वजन्मकी तरह अब भी उन्हींका स्मरण करते हुए अपना देह त्यागा ॥ ३७ ॥ वे ही दोनों अब शिशुपाल तथा करुष-सुवन दन्तवक्र होकर पृथिवीमें आये थे, जो श्रीहरिसे वैरभाव रखनेके कारण तुम्हारे देखते-देखते उनमें लीन हो गये ॥ ३८ ॥ हे राजन्! जैसे पेशस्कृत् (एक तरहके भौंरे) का ध्यान करते रहनेसे उसका पकड़ा हुआ कीड़ा वैसा ही हो जाता है, वैसे ही ये कृष्णद्रोही राजे वैरभावसे उन्हींका चिन्तन करते रहनेसे अपने पूर्वकृत पापोंसे मुक्त होकर अन्तमें तद्रूप हो गये ॥ ३९ ॥ हे धर्मराज युधिष्ठिर! जैसे भगवद्भक्त भगवानकी उत्कृष्ट तथा अनन्य भक्ति करके उन्हींमें लय हो जाते हैं, वैसे ही उनसे बैर ठान और उन्हींका चिन्तन करते रहनेसे शिशुपाल आदि राजे भी श्रीहरिके सारूप्यको प्राप्त हो गये ॥ ४० ॥ हे राजन्! तुम्हारा जो प्रश्न था कि शिशुपालादि भगवद्द्वेषियोंको कैसे भगवानकी सायुज्य मुक्ति मिली? सो मैंने तुमसे कहा ॥ ४१ ॥ ब्रह्मण्यदेव परमात्मा श्रीकृष्णकी यह अति पुनीत अवतारकथा, जिसमें आदिदैत्य हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्षके वधका प्रसंग वर्णित है, मैंने तुम्हें कह सुनायी ॥ ४२ ॥ इस उपाख्यानमें महाभागवत श्रीप्रह्लादजीका चरित्र, उनकी भक्ति ज्ञान, वैराग्य, संसारकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयके स्वामी भगवानका वास्तविक तत्त्व, भगवानके गुण एवं कर्मोंका वर्णन, देवता तथा दैत्योंके स्थानोंका कालकृत महान् परिवर्तन, जिनसे भगवानकी प्राप्ति होती है, उन भगवद्भक्तोंके धर्म तथा आत्मानात्मविवेक आदि सभी विषयोंका भली भाँति निरूपण किया गया है ॥ ४३–४५ ॥ जो प्राणी भगवत्पराक्रमोंसे पूर्ण इस पवित्र कथानकको श्रद्धाके साथ गाता अथवा केवल सुन लेता है, वह सदाके लिये कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ आदि पुरुष भगवानके नृसिंहरूपसे किये हिरण्यकशिपु तथा अन्य दैत्य-यूथपोंके वधरूपी यह पवित्र चरित्र तथा असुर-तनय एवं साधुश्रेष्ठ श्रीप्रह्लादजीके पावन प्रभावको जो पुरुष सुनेगा, वह निर्भय होकर वैकुण्ठलोक पायेगा ॥ ४७ ॥ हे राजन्! मर्त्यलोकमें तुम बड़े भाग्यवान हो। क्योंकि मनुष्यरूपधारी साक्षात् परब्रह्म परमात्मा तुम्हारे घरमें रहते हैं। उन्हींका दर्शन करनेके लिये अपने दर्शनोंसे सब लोकोंको पवित्र

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यकैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥४९॥
न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥५०॥
स एष भगवान् राजन् व्यतनोद् विहतं यशः । पुरा रुद्रस्य देवस्य मयेनानन्तमायिना ॥५१॥

राजोवाच

कस्मिन् कर्मणि देवस्य मयोऽहञ्जगदीशितुः । यथा चोपचिता कीर्तिः कृष्णेनानेन कथ्यताम्॥५२

नारद उवाच

निर्जिता असुरा देवैर्युध्यनेनोपबृंहितैः । मायिनां परमाचार्यं मयं शरणमाययुः ॥५३॥
स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौप्यायसीर्विभुः । दुर्लक्ष्यापायसंयोगा दुर्वितर्क्यपरिच्छदाः ॥५४॥
ताभिस्तेऽसुरसेनान्यो लोकांस्त्रीन् सेश्वरान् नृप । स्मरन्तो नाशयाञ्चक्रुः पूर्ववैरमलक्षिताः ॥५५॥
ततस्ते सेश्वरा लोका उपासाद्येश्वरं विभो । त्राहि नस्तावकान् देव विनष्टांस्त्रिपुरालयैः ॥५६॥
अथानुगृह्य भगवान् मा भैष्टेति सुरान् विभुः । शरं धनुषि सन्धाय पुरेष्वस्त्रं व्यमुञ्चत ॥५७॥
ततोऽग्निवर्णा इषव उत्पेतुः सूर्यमण्डलात् । यथा मयूखसन्दोहा नादृश्यन्त पुरो यतः ॥५८॥
तैः स्पृष्टा व्यसवः सर्वे निपेतुः स्म पुरौकसः । तानानीय महायोगी मयः कूपरसेऽक्षिपत् ॥५९॥
सिद्धामृतरसस्पृष्टा वज्रसारा महौजसः । उत्तस्थुर्मेघदलना वैद्युता इव वह्नयः ॥६०॥

करनेवाले मुनिजन चारों ओरसे तुम्हारे यहाँ आते हैं ॥ ४८ ॥ संसारके सभी पुरुष जिन्हें निरन्तर खोजते हैं, वे उपाधिशून्य परमानन्दानुभावस्वरूप परब्रह्म ही तुम्हारे प्रिय सुहृद्, मामाके पुत्र, आत्मा, पूज्य, आज्ञापालक तथा गुरु हैं ॥ ४९ ॥ जिनके यथार्थ स्वरूपका वर्णन भगवान शङ्कर और ब्रह्माजी भी नहीं कर पाते, हमारे द्वारा मौन भक्ति तथा इन्द्रियदमनसे पूजित वे भक्तप्रतिपालक भगवान् हमपर प्रसन्न हों ॥ ५० ॥ हे राजन् ! पूर्व समयमें जब महामायावी मयासुर भगवान् रुद्रदेवके सुयशको नष्ट कर रहा था, तब इन्हीं भगवानने उनका सुयश फिर फैलाया था ॥ ५१ ॥ यह सुनकर युधिष्ठिरने पूछा—हे महामुने ! वह मयासुर जगदीश्वर श्रीमहादेवजीका सुयश कैसे नष्ट करता था और भगवान् कृष्णने उसे कैसे बचाया ? ॥ ५२ ॥ श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! एक समय उत्कर्षको प्राप्त देवताओंने दैत्योंको युद्धमें हरा दिया। तब सब असुर मायावियोंके परमगुरु मयासुरकी शरणमें गये ॥ ५३ ॥ तदनुसार मयासुरने सोने-चाँदी तथा लोहेकी तीन पुरियें बनाकर उन्हें दीं। वे पुरियाँ ऐसी थीं कि उनका गमनागमन नहीं मालूम होता था और उनमें अपरिमित सामग्री भरी रहती थी ॥ ५४ ॥ हे राजन् ! उन्हीं तीनों पुरियोंमें छिपे सब असुर-सेनापति पूर्व वैरका स्मरण करके लोकपालों समेत तीनों लोकोंका विनाश करने लगे ॥ ५५ ॥ तब इन्द्रादि लोकपालों और सारी प्रजाने शङ्करभगवानके पास जाकर कहा—"हे देवदेव ! ये त्रिपुरनिवासी असुर हमें नष्ट किये देते हैं। हे प्रभो ! हम तो आपके हैं, आप हमारी रक्षा करें" ॥ ५६ ॥ रुद्रभगवानने देवताओंपर कृपा करके 'डरो मत' यों कहकर धनुषपर पाशुपत बाण चढ़ाया और उसे उन पुरोंपर छोड़ा ॥ ५७ ॥ सूर्यमण्डलसे निःसृत किरणोंकी भाँति उस बाणसे अग्निसदृश दीप्त अनेक बाण निकले, जिनसे ये तीनों पुर नष्ट हो गये ॥ ५८ ॥ उन बाणोंका स्पर्श होते ही तीनों पुरोंके निवासी मरकर नीचे गिर पड़े। तब महामायावी मयने मृत दैत्योंको लाकर अमृतके कुएँमें डाल दिया ॥ ५९ ॥ अमृतके स्पर्शसे ही वे दैत्य वज्रके सदृश सुदृढ़शरीर तथा अत्यन्त तेजस्वी होकर मेघको भी विदीर्ण करनेवाली विद्युत्रूपी अग्नियोंकी तरह एक साथ उठ खड़े हुए

विलोक्य भग्नसङ्कल्पं विमनस्कं वृषध्वजम् । तदायं भगवान् विष्णुस्तत्रोपायमकल्पयत् ॥६१॥
वत्स आसीत्तदा ब्रह्मा स्वयं विष्णुरयं हि गौः । प्रविश्य त्रिपुरं काले रसकूपामृतं पपौ ॥६२॥
तेऽसुरा ह्यपि पश्यन्तो न न्यषेधन् विमोहिताः । तद् विज्ञाय महायोगी रसपालानिदं जगौ ॥६३॥
स्वयं विशोकः शोकार्तान् स्मरन् दैवगतिं च ताम्। देवोऽसुरो नरोऽन्यो वा नेश्वरोऽस्तीह कश्चन ॥६४॥
आत्मनोऽन्यस्य वादिष्टं दैवेनापोहितुं द्वयोः । अथासौ शक्तिभिः स्वाभिः शम्भोः प्राधनिकं व्यधात्
धर्मज्ञानविरक्त्यृद्धितपोविद्याक्रियादिभिः । रथं सूतं ध्वजं वाहान् धनुर्वर्म शरादि यत् ॥६६॥
सन्नद्धो रथमास्थाय शरं धनुरुपाददे । शरं धनुषि सन्धाय मुहूर्तेऽभिजितीश्वरः ॥६७॥
ददाह तेन दुर्भेद्या हरोऽथ त्रिपुरो नृप । दिवि दुन्दुभयो नेदुर्विमानशतसङ्कुलाः ॥६८॥
देवर्षिपितृसिद्धेशा जयेति कुसुमोत्करैः । अवाकिरञ्जगुर्हृष्टा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥६९॥
एवं दग्ध्वा पुरस्तिस्रो भगवान् पुरहा नृप । ब्रह्मादिभिः स्तूयमानः स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥७०॥

एवंविधान्यस्य हरेः स्वमायया विडम्बमानस्य नृलोकमात्मनः ।
वीर्याणि गीतान्यृषिभिर्जगद्गुरोर्लोकान् पुनानान्यपरं वदामि किम् ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे त्रिपुरविजयो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

श्रुत्वेहितं साधुसभासभाजितं महत्तमाग्रण्य उरुक्रमात्मनः ।
युधिष्ठिरो दैत्यपतेर्मुदा युतः पप्रच्छ भूयस्तनयं स्वयम्भुवः ॥१॥

॥ ६० ॥ तब श्रीमहादेवजीको सङ्कल्प भङ्ग होनेसे खिन्न देखकर विष्णुभगवानने उस अमृतकूपको नष्ट करनेका एक उपाय ढूँढ़ निकाला ॥ ६१ ॥ तदनुसार ब्रह्माजी वत्स तथा विष्णुभगवान गौ बने और मध्याह्नके समय त्रिपुरीमें जाकर उस कुएँका सब अमृत पी लिया ॥ ६२ ॥ उसके रक्षक असुरोंने भगवानकी मायासे मोहित हो गौको अमृत पीती देखकर भी नहीं रोका । तब सर्वथा शोकरहित महायोगी मयने सब रहस्य जानकर भगवानकी गतिका स्मरण करते हुए शोकातुर रक्षकोंसे कहा—"अपने-पराये दोनोंके लिये विधाताने जो विधान बना दिया है उसको मिटानेमें देवता, असुर, मनुष्य आदि कोई भी समर्थ नहीं हो सकता ।" तदनन्तर विष्णुभगवान्ने श्रीशिवजीके लिये धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, विद्या तथा क्रिया आदि अपनी शक्तियोंसे रथ, सारथी, ध्वजा, अश्व, धनुष, कवच एवं बाण आदि युद्धकी सामग्री तैयार की ॥ ६३—६६ ॥ उससे सन्नद्ध होकर शंकरजी धनुष-बाण लेकर रथपर बैठे और बाण चढ़ाकर उन्होंने अभिजित् मुहूर्त्तमें तीनों दुर्भेय पुरोंको भस्म कर डाला । इससे स्वर्गलोकमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं और विमानोंमें बैठे हुए सैकड़ों देवता, ऋषि, पितर तथा सभी सिद्धेश्वर प्रसन्न हो जय-जयकार करते हुए उनपर फूल बरसाने लगे और अप्सराएँ नाचने-गाने लगीं ॥ ६७—६९ ॥ हे राजन् ! उन तीनों पुरोंको भस्म करके भगवान् त्रिपुरारिने ब्रह्मादि देवताओं द्वारा स्तुत होकर अपने धाममें प्रवेश किया ॥ ७० ॥ हे धर्मराज युधिष्ठिर ! ऋषियोंने अपनी मायासे स्वयं मानवशरीर धारण करनेवाले जगद्गुरु विष्णुभगवानके ऐसे अनेक त्रिलोकपावन चरित्र कहे हैं । अब मैं और क्या कहूँ ? सो बताओ ॥ ७१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(ब्राह्मणादि चारों वर्णों तथा स्त्रियोंके धर्मोंका निराकरण) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! महापुरुषोंमें अग्रणी और भगवानके असाधारण भक्त दैत्यराज प्रह्लादजीका साधुसमाजमें

युधिष्ठिर उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम् । वर्णाश्रमाचारयुतं यत् पुमान् विन्दते परम् ॥२॥
भवान् प्रजापतेः साक्षादात्मजः परमेष्ठिनः । सुतानां सम्मतो ब्रह्मंस्तपोयोगसमाधिभिः ॥३॥
नारायणपरा विप्रा धर्मं गुह्यं परं विदुः । करुणाः साधवः शान्तास्त्वद्विधा न तथापरे ॥४॥

नारद उवाच

नत्वा भगवतेऽजाय लोकानां धर्महेतवे । वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥५॥
योऽवतीर्यात्मनोंऽशेन दाक्षायण्यां तु धर्मतः । लोकानां स्वस्तयेऽध्यास्ते तपो बदरिकाश्रमे ॥६॥
धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः । स्मृतं च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ॥७॥
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः । अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥८॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः । नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥९॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः । तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥१०॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः । सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥११॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः । त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥१२॥
संस्कारा यत्राविच्छिन्नाः स द्विजोऽजो जगाद यम् । इज्याध्ययनदानानि विहितानि द्विजन्मनाम् ।
जन्मकर्मावदातानां क्रियाश्चाश्रमचोदिताः ॥१३॥
विप्रस्याध्ययनादीनि षडन्यस्याप्रतिग्रहः । राज्ञो वृत्तिः प्रजागोप्तुरविप्राद् वा करादिभिः ॥१४॥

सम्मानित पवित्र चरित्र सुनकर महाराज युधिष्ठिरने अतिआनन्दित हो ब्रह्माजीके पुत्र श्रीनारदजीसे पूछा ॥ १ ॥ राजा युधिष्ठिरने कहा—हे भगवन् ! अब मैं वर्णाश्रमाचारयुक्त मनुष्योंका सनातन धर्म सुनना चाहता हूँ, जिसके द्वारा मनुष्यको भक्ति तथा ज्ञान मिलता है ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन् ! आप तो साक्षात् प्रजापति ब्रह्माजीके पुत्र हैं और अपने तप, योग एवं समाधिसे उनके सब पुत्रोंमें सम्मानित हैं ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! आपकी तरह भगवद्भक्त, दयालु, सदाचारी तथा शान्तस्वभाव विप्र गुह्य तथा श्रेष्ठ धर्मको जैसा जानते हैं, वैसा और लोग नहीं जानते ॥ ४ ॥ नारदजी बोले—हे राजन् ! लोगोंके कल्याणार्थ धर्म द्वारा दक्षपुत्री मूर्तिके गर्भसे अपने अंशसे अवतार लेकर जो बदरिकाश्रममें तप कर रहे हैं, सभी धर्मोंके मूल कारण उन अजन्मा भगवान नारायणको नमस्कार करके उन्हींके मुखसे सुने हुए सनातनधर्मका मैं वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥ ६ ॥ हे राजन् ! सर्ववेदमय विष्णुभगवान, धर्मतत्त्वज्ञानी महर्षियोंकी स्मृतियाँ तथा चित्त प्रसन्न करनेवाला आचरण ही धर्मके मूल हैं ॥ ७ ॥ हे राजन् ! सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, युक्तायुक्तका विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शित्व, महात्माओंकी सेवा, अभ्यास द्वारा सांसारिक भोगोंसे निवृत्ति, "मनुष्योंको उनके प्रयत्नोंके विपरीत ही फल मिलता है" ऐसा सोचना, चुप रहना, आत्मचिन्तन करना, सब प्राणियोंको समुचित भाग देना, सभी प्राणियों और विशेष करके मनुष्योंमें इष्टदेवबुद्धि रखना तथा महात्माओंके आश्रयस्वरूप श्रीहरिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नम्रता, दास्य उनके प्रति सखाभाव रखना तथा आत्मसमर्पण कर देना—ये तीस प्रकारके आचरण ही सब मनुष्योंके उत्तम धर्म कहे गये हैं। इस धर्मका पालन करनेसे सर्वात्मा भगवान प्रसन्न होते हैं ॥ ८—१२ ॥ हे धर्मराज ! जिन लोगोंके गर्भाधानादि संस्कार अविच्छिन्नरूपसे सम्पन्न हुए रहते हैं और जिन्हें ब्रह्माजीने भी संस्कारोंके योग्य योग्य कहा है, वे ही 'द्विज' हैं। उन जन्म-कर्मसे शुद्ध द्विजोंके लिये यज्ञ, अध्ययन और दानादि कर्म विहित माने जाते और उन्हींके लिये यज्ञ, अध्ययन आदि आश्रमोचित कर्मोंका विधान किया गया है ॥ १३ ॥ अध्ययन, अध्यापन, दान देना, दान लेना तथा यज्ञ करना और यज्ञ

वैश्यस्तु वार्तावृत्तिश्च नित्यं ब्रह्मकुलानुगः । शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत् ॥१५॥
वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम् । विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ॥१६॥
जघन्यो नोत्तमां वृत्तिमनापदि भजेन्नरः । ऋते राजन्यमापत्सु सर्वेषामपि सर्वशः ॥१७॥
ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥१८॥
ऋतमुञ्छशिलं प्रोक्तममृतं यदयाचितम् । मृतं तु नित्ययाच्ञा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥१९
सत्यानृतं तु वाणिज्यं श्ववृत्तिर्नीचसेवनम् । वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यश्च जुगुप्सिताम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो नृपः ॥२०॥

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् । ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम् ॥२१॥
शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा । ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥२२॥
देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् । आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुणं वैश्यलक्षणम् ॥२३॥
शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया । अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम् ॥२४॥
स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता । तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥२५॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डलवर्तनैः । स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥२६॥

करना—ये छ कर्म ब्राह्मणके कहे गये हैं। किन्तु अन्य अर्थात् क्षत्रियको दान लेनेका विधान नहीं किया गया है। प्रजापालक राजा ब्राह्मणके सिवाय और सब प्रजासे दण्ड-करादि लेकर वृत्ति चलावे ॥ १४ ॥ वैश्य ब्राह्मणोंका अनुगामी होकर कृषि-वाणिज्यादिसे अपनी जीविकार्जन करता हुआ वह द्विजातियोंकी सेवा करे। शूद्र अपनी जीविका अपने स्वामीसे ही प्राप्त करे ॥ १५ ॥ ब्राह्मणकी चार वृत्तियाँ हैं—वार्ता (यज्ञाध्ययनादि कराके धन लेना,) शालीन (बिना माँगे जो मिले, उसीसे निर्वाह करना) यायावर (नित्यप्रति धान्यादि माँग लाना) तथा शिलोञ्छ (खेत काटकर अन्न ढो ले जानेपर पृथिवीपर जो कण पड़े रह जाते, उन्हें 'शिल' तथा बाजारमें पड़े दानोंको 'उञ्छ' कहते हैं। उन शिल और उञ्छोंको बीनकर अपना निर्वाह करना 'शिलोञ्छ' वृत्ति है) इनमेंसे उत्तरोत्तरकी वृत्ति श्रेष्ठतर मानी गयी है ॥ १६ ॥ हे राजन्! आपत्तिकाल न होनेपर क्षत्रियके सिवा निम्नवर्णका पुरुष उच्च-वर्णकी वृत्ति न अपनाये। क्षत्रिय भी परिग्रहके सिवाय अन्य ब्राह्मणवृत्तियोंको ही स्वीकार करे। परन्तु आपत्तिकालमें सभी सबकी वृत्तियोंका आश्रय ले सकते हैं ॥ १७ ॥ हे राजन्! ऋत, अमृत, मृत तथा सत्यानृत इनमेंसे किसी भी वृत्तिका अवलम्बन करे, किन्तु श्ववृत्ति यानी नीचसेवा-वृत्ति (नौकरी) का आश्रय कदापि न ले ॥ १८ ॥ विद्वानोंने शिलोञ्छवृत्तिको ऋत, अयाचितको अमृत, नित्य माँगकर ले आनेको मृत और कृषिवृत्तिको अमृत कहा है ॥ १९ ॥ वाणिज्यको सत्यानृत तथा नीच वर्णकी सेवाको श्ववृत्ति कहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय उस श्ववृत्तिको त्यागते रहें। क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय और राजा सर्वदेवमय होता है ॥ २० ॥ शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, शम, आर्जव, ज्ञान, दया, भगवत्प-रायणता तथा सत्य—ये ब्राह्मणके लक्षण हैं ॥ २१ ॥ शूरवीरता, पुरुषार्थ, धैर्य, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणोंमें श्रद्धा, अनुग्रह तथा प्रजापालन—ये क्षत्रियोंके लक्षण हैं ॥ २२ ॥ देवता, गुरु तथा भगवानमें भक्ति, अर्थ, धर्म तथा कामकी पुष्टि, आस्तिकता, नित्य उद्यम और व्यवहारकौशल—ये वैश्योंके लक्षण हैं ॥ २३ ॥ उच्चवर्णके समक्ष नम्रता, शौच, स्वामीकी निष्कपट सेवा, वैदिक मन्त्रसे हीन यज्ञ, चोरी न करना, सत्य बोलना तथा गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षा करना—ये शूद्रके धर्म हैं ॥ २४॥ (स्त्रियोंके धर्म) पतिकी सेवा करना, सदा पतिके अनुकूल रहना, पतिके सम्बन्धियोंका अनुवर्तन करना और पतिके नियमोंका पालन करना—ये पतिव्रता स्त्रियोंके धर्म हैं ॥ २५ ॥ सती साध्वी स्त्री झाड़ बुहार, लीप और चौक पूरकर घरको तथा सुन्दर वस्त्राभूषणोंको पहनकर शरीरको सदा अलंकृत

कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च । वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम् ॥
सन्तुष्टालोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक् । अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत् ॥२८
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा । हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥२९॥
वृत्तिः संकरजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेत् । अचौराणामपापानामन्त्यजान्तेवसायिनाम् ॥३०॥
प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे । वेददृग्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत् ॥३१॥
वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् । हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात् ॥३२॥
उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं स्वयं निर्वीर्यतामियात् । न कल्पते पुनः सूत्यै उप्तं बीजं च नश्यति ॥३३॥
एवं कामाशयं चित्तं कामानामतिसेवया । विरज्येत यथा राजन्नाग्निवत् कामबिन्दुभिः ॥३४॥
यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् । यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत् ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नामैकादशोऽध्यायः ११

द्वादशोऽध्यायः

नारद उवाच

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम् । आचरन् दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ॥१॥
सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान् । उभे सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ब्रह्म समाहितः ॥२॥

रखे । पतिकी छोटी-बड़ी सभी इच्छाओंको पूर्ण करती रहे । विनय, इन्द्रियसंयम, सत्य तथा प्रिय बचनोंसे प्रेमपूर्वक उसकी सेवा करे ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ उसको जो मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट, विषयभोगोंमें अनासक्त, कार्य-कुशल, धर्मज्ञ, सत्य तथा प्रिय बोलनेवाली, सावधान, पवित्र एवं प्रेममयी होकर अपने धर्मात्मा पतिकी सेवा करे ॥ २८ ॥ लक्ष्मीजीकी भाँति पतिपरायणा होकर जो स्त्री पतिको भगवद्भावसे भजती है, वह वैकुण्ठलोकमें विष्णुसारूप्यको प्राप्त पतिके साथ रहकर आनन्दित होती है। जैसे विष्णुभगवानके साथ श्रीलक्ष्मीजी सुख भोगती हैं ॥ २९ ॥ हे राजन् ! जो शूद्र चोरी आदि पाप नहीं करते, उन रजक-चर्मकार आदि अन्त्यज तथा चाण्डालादि अन्तेवसायी वर्णसंकर जातियोंकी वे ही वृत्तियाँ हैं, जो उनकी कुलपरम्परासे चली आयी होती हैं ॥ ३० ॥ हे राजन् ! वेदज्ञाता मुनीश्वरोंने युग-युगमें मनुष्योंके स्वभावके अनुसार जो-जो धर्म निश्चित किये हैं, वे सभी इहलोक तथा परलोकमें हितकारी होते हैं ॥ ३१ ॥ जो अपनी स्वाभाविक वृत्तिके सहारे वर्णाश्रमविहित धर्मोंका आचरण करता है, वह धीरे-धीरे उन स्वाभाविक कर्मोंको त्यागता हुआ गुणातीत हो जाता है ॥ ३२ ॥ जैसे बारम्बार बोया जानेवाला खेत स्वतः शक्ति-हीन हो जाता है। फिर उसमें अंकुर उत्पन्न नहीं होते तथा उसमें बोया हुआ बीज भी लुप्त हो जाता है—वैसे ही वासनाओंका आश्रयरूपी चित्त भोगोंका अत्यधिक सेवन करनेसे स्वयं ऊब जाता है, किन्तु स्वल्प भोगोंसे ऐसा नहीं होता। जैसे अग्नि एक बूँद घीसे शान्त नहीं होता ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! जिस प्राणीका वर्ण प्रगट करनेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि अन्य वर्णवालेमें मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझे ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ आश्रमोंके विहित नियम) श्रीनारदजी बोले—हे धर्मराज ! ब्रह्मचारी गुरुकुलमें रहता हुआ इन्द्रियोंका संयम करके दासकी भाँति अपनेको तुच्छ मानकर सदा गुरुका हित सोचे और उनमें सुदृढ़ अनुराग रखे ॥ १ ॥ सायंकाल तथा प्रातःकालके समय गुरु, अग्नि, सूर्य तथा देवताओंकी आराधना करे और चित्तकी एकाग्रतापूर्वक गायत्रीमन्त्रको जपता हुआ प्रातः-

छन्दांस्यधीयीत गुरोराहूतश्चेत् सुयन्त्रितः । उपक्रमेऽवसाने च चरणौ शिरसा नमेत् ॥३॥
मेखलाजिनवासांसि जटादण्डकमण्डलून् । बिभृयादुपवीतं च दर्भपाणिर्यथोदितम् ॥४॥
सायं प्रातश्चरेद्भैक्षं गुरवे तन्निवेदयेत् । भुञ्जीत यद्यनुज्ञातो नोचेदुपवसेत् क्वचित् ॥५॥
सुशीलो मितभुग् दक्षः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । यावदर्थं व्यवहरेत् स्त्रीषु स्त्रीनिर्जितेषु च ॥ ६ ॥
वर्जयेत् प्रमदागाथामगृहस्थो बृहद्व्रतः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्त्यपि यतेर्मनः ॥ ७ ॥
केशप्रसाधनोन्मर्दस्नपनाभ्यञ्जनादिकम् । गुरुस्त्रीभिर्युवतिभिः कारयेन्नात्मनो युवा ॥ ८ ॥
नन्वग्निः प्रमदा नाम घृतकुम्भसमः पुमान् । सुतामपि रहो जह्यादन्यदा यावदर्थकृत् ॥ ९ ॥
कल्पयित्वाऽऽत्मना यावदाभासमिदमीश्वरः । द्वैतं तावन्न विरमेत् ततो ह्यस्य विपर्ययः ॥१०॥
एतत् सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि । गुरुवृत्तिर्विकल्पेन गृहस्थस्यर्तुगामिनः ॥११॥
अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिषं मधु । स्रग्गन्धलेपालङ्कारांस्त्यजेयुर्ये धृतव्रताः ॥१२॥
उषित्वैवं गुरुकुले द्विजोऽधीत्यावबुध्य च । त्रयीं साङ्गोपनिषदं यावदर्थं यथाबलम् ॥१३॥
दत्त्वा वरमनुज्ञातो गुरोः कामं यदीश्वरः । गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत् ॥१४॥
अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेष्वधोक्षजम् । भूतैः स्वधामभिः पश्येदप्रविष्टं प्रविष्टवत् ॥१५॥
एवंविधो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो यतिर्गृही । चरन् विदितविज्ञानः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१६॥

सायं दोनों समय मौनावलम्बनपूर्वक सन्ध्योपासन करे ॥ २ ॥ जब गुरुजी बुलावें, तब सावधानतापूर्वक वेदाध्ययन करे और पाठके आरम्भमें तथा पाठसमाप्त होनेपर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करे ॥ ३ ॥ विहित विधिके अनुसार मेखला, मृगचर्म, वस्त्र, जटा, दण्ड, कमण्डलु तथा यज्ञोपवीत और हाथमें कुशा लिये रहे ॥ ४ ॥ सायंकाल तथा प्रातःकालको भिक्षा माँगकर लावे और उसे गुरुजीको अर्पण कर दे। जब गुरुजी आज्ञा दें तब खाय, नहीं तो उपवास ही करके रह जाय ॥ ५ ॥ सुशील, अल्पाहारी, दक्ष, श्रद्धालु तथा जितेन्द्रिय रहे और जबतक आवश्यकता हो तभीतक स्त्रियों तथा स्त्रीनिर्जित पुरुषोंके साथ व्यवहार करे ॥ ६ ॥ ब्रह्मचारी सर्वदा स्त्रियोंकी चर्चा त्यागे रहे। क्योंकि चंचल इन्द्रियाँ यतियोंके मनको भी खींच लेती हैं ॥ ७ ॥ नवयुवक ब्रह्मचारी युवती गुरुपत्नीसे बाल न सुलझवावे, शरीर न मलवावे और स्नान तथा उबटन आदि न करावे ॥ ८ ॥ क्योंकि स्त्री अग्निके समान और पुरुष घृतकलश सदृश रहता है। पुरुषको तो अपनी कन्याके साथ भी एकान्तमें नहीं रहना चाहिये। अन्यत्र भी जितनी देर आवश्यक हो, उतनी ही देरतक रहे ॥ ९ ॥ हे राजन्! तत्त्वज्ञानमें समर्थ पुरुष भी स्त्री आदि भोग्य पदार्थोंका आभासमात्र पा लेनेपर जबतक इनका चिन्तन करता है, तबतक उसकी द्वैतबुद्धि निवृत्त नहीं होती और उसका पतन प्रायः निश्चित रहता है ॥ १० ॥ पूर्वोक्त सुशीलत्व आदि साधारण धर्म गृहस्थ तथा संन्यासीके लिये भी हैं, किन्तु ऋतुगामी गृहस्थके लिये गुरुवृत्ति विकल्पसे कहा गया है अर्थात् ऋतुकालके अतिरिक्त समयमें ही यह नियम विहित है ॥ ११ ॥ ब्रह्मचर्यव्रतधारियोंका कर्तव्य है कि अञ्जन अथवा तेल लगाना, उबटन मलना, स्त्रियोंके चित्र बनाना, मांसाहार, मद्यपान, माला, चन्दन एवं आभूषण आदि त्याग दें ॥ १२ ॥ गुरुगृहमें रहते हुए अपनी शक्ति तथा आवश्यकताके अनुसार शिक्षा-कल्प आदि वेदके अंगों और उपनिषदों समेत तीनों वेदोंका अध्ययन तथा मनन करे ॥ १३ ॥ फिर यदि सामर्थ्य हो तो गुरुको अभिलषित गुरुदक्षिणा दे। उनकी आज्ञा मिले तब गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रममें प्रविष्ट हो अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर जीवनभर उन्हींके घर रहे ॥ १४ ॥ यद्यपि भगवान वासुदेवस्वरूपसे किसी पदार्थमें अनुप्रविष्ट नहीं होते तो भी अग्नि, गुरु, आत्मा तथा सब प्राणियोंमें उनको अपने आश्रित जीवोंमें व्याप्त देखे ॥ १५ ॥ हे धर्मराज! ऐसा आचरण करनेवाला ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा गृहस्थ पुरुष ज्ञेय वस्तुका साक्षात्कार करके परब्रह्मको पा लेता है ॥ १६ ॥

वानप्रस्थस्य वक्ष्यामि नियमान् मुनिसम्मतान् । यानातिष्ठन् मुनिर्गच्छेदृषिलोकमिहाञ्जसा ॥१७॥
न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः । अग्निपक्वमथामं वा अर्कपक्वमुताहरेत् ॥१८॥
वन्यैश्चरुपुरोडाशान् निर्वपेत् कालचोदितान् । लब्धे नवे नवेऽन्नाद्ये पुराणं तु परित्यजेत् ॥१९॥
अग्न्यर्थमेव शरणमुटजं वाद्रिकन्दराम् । श्रयेत हिमवाय्वग्निवर्षार्कातपषाट् स्वयम् ॥२०॥
केशरोमनखश्मश्रुमलानि जटिलो दधत् । कमण्डल्वजिने दण्डवल्कलाग्निपरिच्छदान् ॥२१॥
चरेद् वने द्वादशाब्दानष्टौ वा चतुरो मुनिः । द्वावेकं वा यथा बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः ॥२२॥
यदाकल्पः स्वक्रियायां व्याधिभिर्जरयाथवा । आन्वीक्षिक्यां वा विद्यायां कुर्यादनशनादिकम् २३
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य संन्यस्याहंममात्मताम् । कारणेषु न्यसेत् सम्यक् संघातं तु यथार्हतः॥२४॥
खे खानि वायौ निःश्वासांस्तेजस्यूष्माणमात्मवान्। अप्स्वसृक्श्लेष्मपूयानि क्षितौ शेषं यथोद्भवम् २५
वाचमग्नौ सवक्तव्यामिन्द्रे शिल्पं करावपि । पदानि गत्या वयसि रत्योपस्थं प्रजापतौ ॥२६॥
मृत्यौ पायुं विसर्गं च यथास्थानं विनिर्दिशेत् । दिक्षु श्रोत्रं सनादेन स्पर्शमध्यात्मनि त्वचम् ॥२७
रूपाणि चक्षुषा राजञ् ज्योतिष्यभिनिवेशयेत् । अप्सु प्रचेतसा जिह्वां घ्रेयैर्घ्राणं क्षितौ न्यसेत् ॥२८॥
मनो मनोरथैश्चन्द्रे बुद्धिं बोध्यैः कवौ परे । कर्माण्यध्यात्मना रुद्रे यदहंममताक्रिया ।
सत्त्वेन चित्तं क्षेत्रज्ञे गुणैर्वैकारिकं परे ॥ २९॥

हे राजन् ! अब मैं तुम्हें मुनिजनोक्त वानप्रस्थके नियम बताता हूँ। इनका आचरण करके वानप्रस्थ मुनि अनायास ऋषिलोक पा जाता है ॥ १७ ॥ जोती भूमिसे उत्पन्न अन्न न खाय। बिना जोती भूमिमें उत्पन्न भी जो समयसे पहले पक चुका हो, अग्निके संयोगसे पका हो या कि कच्चा हो, वह भी अन्न न खाय। केवल सूर्यके तापसे पके कन्द-मूल फलादि ही खाय ॥ १८ ॥ नीवार आदि वनके धान्योंसे समय-समयपर विहित चरु तथा पुरोडाशका होम करे और नवीन अन्न मिल जानेपर पूर्वसञ्चित अन्न त्याग दे ॥ १९ ॥ यज्ञीय अग्निकी रक्षाके निमित्त ही पर्णकुटी तथा पर्वतकन्दराका आश्रय ले और स्वयं सदा शीत, वायु, अग्नि, वर्षा और ग्रीष्मका ताप आदि सहे ॥ २० ॥ सिरपर जटा, रोम, नख, दाढ़ी-मूँछ, मल, कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड, वल्कल-वस्त्र तथा स्रुक्-स्रुवा आदि अग्निहोत्रके पात्र रखे ॥ २१ ॥ जिसमें तपस्याके क्लेशसे बुद्धि भ्रष्ट न हो उस तरह बारह, आठ, चार, दो तथा एक वर्षतक वानप्रस्थ आश्रमके सभी नियमोंका पालन करे ॥ २२ ॥ हे राजन् ! जब कि वानप्रस्थी मुनि रोग अथवा बुढ़ापेसे अपना कर्म तथा वेदान्त-सम्बन्धी विचार करनेमें असमर्थ हो जाय तो वह अनशनादि व्रत धारण कर ले ॥२३॥ लेकिन अनशन करनेके पहले आहवनीयादि अग्नियोंको अपने आत्मामें लीन करे और अहंता-ममता त्यागकर भावना द्वारा शरीरको उसकी उत्पत्तिके कारणस्वरूप आकाश आदि पञ्चतत्त्वोंमें लय कर दे ॥२४॥ अपने-अपने उत्पत्ति-स्थानके अनुसार इन्द्रिय-गोलकोंको आकाशमें, प्राणको वायुमें, उष्णताको अग्निमें, रक्तश्लेष्मा अर्थात् कफ और रक्त, पूय यानी पीब आदिको जलमें तथा अस्थि आदि शरीरकी कठिन वस्तुओंको पृथिवीमें लीन कर दे ॥२५॥ वाणी और उसके कर्म भाषणको अग्निमें, हाथ तथा शिल्पको इन्द्रमें, गतिसमेत चरणोंको कालरूपधारी विष्णुमें, रतिसहित उपस्थ (लिङ्ग) इन्द्रियको प्रजापतिमें तथा पायु और मलोत्सर्गको उनके आश्रय मृत्युमें लीन कर दे। हे राजन् ! नादस्वरसहित श्रवणेन्द्रियको सब दिशाओंमें, स्पर्श तथा त्वचाको वायुमें, नेत्र समेत रूपको ज्योतिमें, मधुर आदि रस समेत रसने-न्द्रियको जलमें और गन्धसमेत प्राणेन्द्रियको पृथिवीमें लय कर दे ॥ २६–२८ ॥ मनोरथों सहित मनको चन्द्रमामें, बोध्य पदार्थों समेत बुद्धिको ब्रह्मामें, अहंकारसहित कर्मोंको उन रुद्रमें लीन करे कि जिनसे अहंता-ममतारूपिणी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। चेतनासमेत चित्तको क्षेत्रज्ञ यानी जीवमें और गुणोंके

अप्सु क्षितिमपो ज्योतिष्यदो वायौ नभस्यमुम् । कूटस्थे तच्च महति तदव्यक्तेऽक्षरे च तत् ॥३०॥
इत्यक्षरतयाऽऽत्मानं चिन्मात्रमवशेषितम् । ज्ञात्वाद्वयोऽथ विरमेद् दग्धयोनिरिवानलः ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

नारद उवाच

कल्पस्त्वेवं परिव्रज्य देहमात्रावशेषितः । ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥
बिभृयाद् यद्यसौ वासः कौपीनाच्छादनं परम् । त्यक्तं न दण्डलिङ्गादेरन्यत् किञ्चिदनापदि ॥ २ ॥
एक एव चरेद् भिक्षुरात्मारामोऽनपाश्रयः । सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३ ॥
पश्येदात्मन्यदो विश्वं परे सदसतोऽव्यये । आत्मानं च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥ ४ ॥
सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् । पश्यन् बन्धं च मोक्षं च मायामात्रं न वस्तुतः ॥५॥
नाभिनन्देद् ध्रुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् । कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ६ ॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् । वादवादांस्त्यजेत् तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत् ॥७
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून् । न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित् ॥८
न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः । शान्तस्य समचित्तस्य बिभृयादुत वा त्यजेत् ॥९॥

कारण विकारके सदृश प्रतीयमान जीवको परब्रह्ममें लीन कर दे ॥ २९ ॥ पृथिवीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाशको अहंकारमें, अहंकारको महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वको अव्यक्तमें और अव्यक्तको परमात्मामें लय कर दे ॥ ३० ॥ इस तरह लयचिन्तन करके अवशिष्ट चिन्मात्र परमात्माको अक्षररूपसे जाने और स्वयं अद्वितीयभावसे स्थित होकर अपने आश्रयस्वरूप काष्ठादिके भस्म हो जानेपर शान्त अग्निके समान शान्त हो जाय ॥ ३१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(यतिके धर्मोंका निरूपण और अवधूत-प्रह्लाद-संवाद) श्रीनारदजी कहते हैं—हे धर्मराज ! उपर्युक्त वानप्रस्थी यदि ब्रह्म-विचारमें समर्थ हो तो संन्यास ले ले और शरीरके सिवा अन्य सभी वस्तुओंको त्याग दे । वह एक ग्राममें केवल एक रात्रि ठहरनेका नियम लेकर कुछ इच्छा न रखता हुआ पृथिवीपर स्वच्छन्द विचरे ॥ १ ॥ यदि वस्त्र धारण करना चाहे तो केवल कौपीनभर पहने और जब तक कोई विशेष आपत्ति न आवे, तबतक दण्ड तथा आश्रमके चिह्नके अतिरिक्त और कोई वस्तु धारण न करे ॥ २ ॥ सब प्राणियोंका हितैषी, शान्तचित्त तथा नारायण-परायण हो किसीका आश्रय न ले और आत्मारामभावसे अकेला विचरे ॥ ३ ॥ जो पुरुष सत् (कार्य) तथा असत् (कारण) दोनोंसे परे है, उस अविनाशी आत्मामें प्रपञ्च अध्यस्त जाने और कार्य-कारणरूपी संसारमें सर्वत्र अपने परब्रह्मस्वरूप आत्माको व्याप्त समझे ॥ ४ ॥ सब आत्मदर्शी यति-सुषुप्ति तथा जागृतिकी सन्धिमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करके बन्धन तथा मोक्ष केवल मायामात्र हैं, वास्तवमें उनका कुछ भी अस्तित्व नहीं है—ऐसा समझकर सर्वत्र परब्रह्मस्वरूप आत्माका ही दर्शन करे ॥ ५ ॥ शरीरको अवश्य प्राप्तव्य मृत्यु अथवा अनिश्चित जीवनका अभिनन्दन न करे, बल्कि सभी प्राणियोंकी उत्पत्ति तथा नाशके कारणरूपी कालकी प्रतीक्षा करता रहे ॥ ६ ॥ अनात्मविषयक शास्त्रोंमें प्रीति न करे, किसी आजीविकाका आश्रय न ले, विवादके लिये होनेवाले तर्कोंको सर्वथा त्याग दे और कोई पक्ष स्वीकार न करे ॥ ७ ॥ शिष्यमण्डली न जुटावे, बहुतेरे ग्रन्थोंका अभ्यास न करे, शास्त्रोंकी व्याख्या न करे और मठ स्थापन आदि नये-नये काम आरम्भ न करे ॥ ८ ॥ शान्त तथा समदर्शी महात्मा यतिका आश्रम

अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत्। कविर्मूकवदात्मानं स दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥१०॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च ॥११॥
तं शयानं धरोपस्थे कावेर्याः सह्यसानुनि। रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥१२॥
ददर्श लोकान् विचरँल्लोकतत्त्वविवित्सया। वृतोऽमात्यैः कतिपयैः प्रह्लादो भगवत्प्रियः॥१३॥
कर्मणाऽऽकृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः। न विदन्ति जना यं वै सोऽसाविति न वेति वा॥१४॥
तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत् पादयोः शिरसा स्पृशन्। विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥१५॥
बिभर्षि कायं पीवानं सोद्यमो भोगवान् यथा। वित्तं चैवोद्यमवतां भोगो वित्तवतामिह।
भोगिनां खलु देहोऽयं पीवा भवति नान्यथा ॥ १६ ॥
न ते शयानस्य निरुद्यमस्य ब्रह्मन् नु हार्थो यत एव भोगः।
अभोगिनोऽयं तव विप्र देहः पीवा यतस्तद्वद नः क्षमं चेत्॥१७॥
कविः कल्पो निपुणदृक् चित्रप्रियकथः समः। लोकस्य कुर्वतः कर्म शेषे तद्वीक्षितापि वा ॥१८॥

नारद उवाच

स इत्थं दैत्यपतिना परिपृष्टो महामुनिः। स्मयमानस्तमभ्याह तद्वागमृतयन्त्रितः ॥१९॥

ब्राह्मण उवाच

वेदेदमसुरश्रेष्ठ भवान् नन्वार्यसम्मतः। ईहोपरमयोर्नॄणां पदान्यध्यात्मचक्षुषा ॥२०॥
यस्य नारायणो देवो भगवान् हृद्गतः सदा। भक्त्या केवलया ज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत्॥२१॥

प्रायः धर्माचरणके लिये नहीं है। इसलिये वह अपने आश्रमचिह्नोंको चाहे तो धारण करे या त्याग दे ॥ ९ ॥ बाह्य चिह्नसे रहित किन्तु आत्मानुसन्धानमें संलग्न ज्ञानी बुद्धिमान् होकर भी अन्य मनुष्योंके समक्ष उन्मत्त तथा बालककी भाँति और विद्वान् होकर भी गूँगेके समान अपनेको जतावे ॥ १० ॥ हे राजन्! पण्डितजन इस विषयमें अजगरवृत्तिधारी एक मुनि तथा प्रह्लादजीके संवादके प्रसंगमें इस इतिहासका दृष्टान्त देते हैं ॥ ११ ॥ एक समय लोकतत्त्वकी जिज्ञासासे भगवद्भक्त प्रह्लादजीने कुछ मन्त्रियोंके साथ लोकमें विचरते हुए एक मुनीश्वरको सह्य पर्वतके शिखर और कावेरी नदीके तटपर पृथिवीमें लोटे देखा। उस समय उनका विमल तेज धूलिधूसरित अंगोंसे ढँका था॥ १२ ॥ १३ ॥ उनके कर्म, उनका आकार, उनकी वाणी तथा उनके वर्णाश्रम आदिके चिह्नोंसे लोग यह नहीं समझ पाते थे कि 'ये सिद्ध पुरुष हैं या और कोई!' वहाँ जाकर महाभागवत असुरश्रेष्ठ प्रह्लादजीने उनके चरणोंपर माथा रखकर प्रणाम किया और विधिवत् पूजन करके जिज्ञासुभावसे पूछा—॥ १४ ॥ १५ ॥ हे भगवन्! आप उद्योगी तथा भोगी पुरुषोंकी नाईं हृष्ट कलेवर धारण किये हैं। संसारमें उद्यमी पुरुषोंको ही धन मिलता है। जो धनवान् होते हैं, उन्हींको भोग प्राप्त होते और जो भोगी होते हैं, उन्हींका शरीर मोटा-ताजा होता है ॥ १६ ॥ लेकिन इस तरह निरुद्यम आपके पास कुछ धन भी नहीं है, जिससे आपको भोग प्राप्त हो सके। फिर भी हे ब्रह्मन्! आपका शरीर इतना पुष्ट क्यों है? यदि कहने योग्य हो तो कहिये ॥ १७ ॥ आप विद्वान्, समर्थ और चतुर हैं। लोगोंको प्रसन्न करनेवाली बातें भी आपको मालूम हैं। तब सबको कर्म करते देखकर भी आप उदासीन क्यों हैं? ॥ १८ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे धर्मराज युधिष्ठिर! दैत्यपति प्रह्लादजीके पूछनेपर उनके वचनामृतसे आकृष्ट महामुनि मुसकाते हुए बोले ॥ १९ ॥ ब्राह्मणने कहा—हे असुरश्रेष्ठ! तुम साधुसमाजमें सम्मानित हो। अतएव मनुष्योंको प्रवृत्ति तथा निवृत्तिसे क्या फल मिलता है, इन बातोंको तुम ज्ञानदृष्टिसे देखकर जान लेते हो ॥ २० ॥ क्योंकि पवित्र भक्तिके कारण भगवान सर्वदा तुम्हारे हृदयमें स्थित रहते हैं और सूर्य जैसे अन्धकारको नष्ट करता है, वैसे ही तुम्हारे

अथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन् यथाश्रुतम् । सम्भावनीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छताम् ॥२२
तृष्णया भववाहिन्या योग्यैः कामैरपूरया । कर्माणि कार्यमाणोऽहं नानायोनिषु योजितः ॥२३॥
यदृच्छया लोकमिमं प्रापितः कर्मभिर्भ्रमन् । स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च ॥२४॥
अत्रापि दम्पतीनां च सुखायान्यापनुत्तये । कर्माणि कुर्वतां दृष्ट्वा निवृत्तोऽस्मि विपर्ययम् ॥२५॥
सुखमस्यात्मनो रूपं सर्वेहोपरतिस्तनुः । मनःसंस्पर्शजान् दृष्ट्वा भोगान् स्वप्स्यामि संविशन् ॥
इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् । विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥२७॥
जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया । मृगतृष्णामुपाधावेद् यथान्यत्रार्थदृक् स्वतः ॥२८॥
देहादिभिर्दैवतन्त्रैरात्मनः सुखमीहतः । दुःखात्ययं चानीशस्य क्रिया मोघाः कृताः कृताः॥२९
आध्यात्मिकादिभिर्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् । मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥३०॥
पश्यामि धनिनां क्लेशं लुब्धानामजितात्मनाम् । भयादलब्धनिद्राणां सर्वतोऽभिविशङ्किनाम् ॥३१॥
राजतश्चौरतः शत्रोः स्वजनात् पशुपक्षितः । अर्थिभ्यः कालतः स्वस्मान्नित्यं प्राणार्थवद्भयम्॥३२
शोकमोहभयक्रोधरागक्लैब्यश्रमादयः । यन्मूलाःस्युर्नृणां जह्यात् स्पृहां प्राणार्थयोर्बुधः॥३३
मधुकारमहासर्पौ लोकेऽस्मिन्नो गुरूत्तमौ । वैराग्यं परितोषं च प्राप्ता यच्छिक्षया वयम् ॥३४॥

अज्ञानको नष्ट करते रहते हैं ॥ २१ ॥ फिर भी हे राजन् ! जैसा सुना है, तदनुसार मैं तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर दे रहा हूँ । जो लोग अपना अन्तःकरण शुद्ध करना चाहते हों, उन्हें तुम्हारा सम्मान करना ही चाहिये ॥ २२ ॥ हे प्रह्लादजी ! अभिलषित भोगोंसे भी जो कठिनाईसे तृप्त हो सकती है और जन्म-मरणरूपी संसारचक्र चलाती है, वह तृष्णा मेरे द्वारा विविध कर्म कराके मुझे सात योनियोंमें चक्कर खिला चुकी ॥ २३ ॥ कर्मोंकी प्रेरणासे विविध योनियोंमें भटकते हुए भाग्यवश मुझे यह मानव जन्म मिला है—जो स्वर्ग, तिर्यग्योनि, मोक्ष तथा मानव योनिकी ही प्राप्तिका द्वार है ॥ २४ ॥ इस योनिमें भी स्त्री-पुरुषोंको सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिके लिये अनवरत प्रयत्न करनेपर भी विपरीत फल मिलता देखकर मैं कर्मोंसे पृथक् हो गया हूँ ॥ २५ ॥ हे राजन् ! सुख आत्माका स्वरूप है और सब चेष्टाओंके निवृत्त होनेपर वह स्वतः प्रगट हो जाता है । सो सब भोगोंको मनोरम समझकर मैं प्रारब्धभोग भोगता हुआ यहाँ पड़ा रहता हूँ ॥ २६ ॥ प्राणी अपने वास्तविक स्वार्थको भूलकर द्वैतप्रपञ्चके असत् होनेपर भी जन्म-मरणरूपी विचित्र तथा भयङ्कर संसारचक्रमें चक्कर काटता रहता है ॥ २७ ॥ जैसे अज्ञानी पुरुष जलसे ही उत्पन्न तिनके और सेवार आदिसे आच्छादित जलको छोड़ एकमात्र जलकी कामनासे मृगतृष्णाकी ओर दौड़ता रहता है । वैसे ही आत्मासे पृथक् पुरुषार्थ माननेवाला प्राणी आत्मानुसन्धानसे पराङ्मुख हो विषयोंकी ओर दौड़ता है ॥ २८ ॥ जो मनुष्य दैवतन्त्रसे शरीरादिकों द्वारा सुखप्राप्ति तथा दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा करता है, उस भाग्यहीन पुरुषकी की हुई सारी क्रियाएँ व्यर्थ हो जाती हैं ॥ २९ ॥ कदाचित् कुछ सफलता मिल भी जाती तो आध्यात्मिकादि दुःखोंसे कभी भी न छूटनेवाले मरणशील पुरुषको कष्टसाध्य अर्थ तथा भोगों द्वारा भला क्या सुख मिलेगा ? ॥ ३० ॥ धनके लोभी एवं अजितेन्द्रिय धनियोंका क्लेश तो देखता ही हूँ । उन्हें सर्वत्र सन्देह रहता और मारे भयके नींद नहीं आती ॥ ३१ ॥ प्राण तथा धनसम्पन्न मनुष्योंको राजा, चोर, शत्रु, स्वजन, पशु, पक्षी, याचक, काल एवं स्वयं अपनेसे भी भय बना रहता है ॥ ३२ ॥ अतएव बुद्धिमान पुरुष शोक, मोह, भय, क्रोध, राग, कायरता, श्रम आदिके चक्करमें डालनेवाले धन तथा प्राणोंकी इच्छा सर्वथा त्याग दे ॥ ३३ ॥ हे प्रह्लाद ! संसारमें मधुमक्खिका तथा अजगर ये दो हमारे परमगुरु हैं । इन्हींसे शिक्षा लेकर हमने वैराग्य तथा सन्तोष

विरागः सर्वकामेभ्यः शिक्षितो मे मधुव्रतात् । कृच्छ्राप्तं मधुवद् वित्तं हत्वाप्यन्यो हरेत् पतिम् ॥३५
अनीहः परितुष्टात्मा यदृच्छोपनतादहम् । नो चेच्छये बह्वहानि महाहिरिव सत्त्ववान् ॥३६॥
क्वचिदल्पं क्वचिद् भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा । क्वचिद् भूरिगुणोपेतं गुणहीनमुत क्वचित् ॥३७॥
श्रद्धयोपाहृतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम् । भुञ्जे भुक्त्वाथ कस्मिंश्चिद् दिवा नक्तं यदृच्छया३८
क्षौमं दुकूलमजिनं चीरं वल्कलमेव वा । वसेऽन्यदपि सम्प्राप्तं दिष्टभुक् तुष्टधीरहम् ॥३९॥
क्वचिच्छये धरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु । क्वचित् प्रासादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥४०॥
क्वचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्व्यलंकृतः । रथेभाश्वैश्चरे क्वापि दिग्वासा ग्रहवद् विभो॥४१॥
नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् । एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥४२॥
विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे । मनो वैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोत्यनु ॥४३॥
आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ् मुनिः । ततो निरीहो विरमेत् स्वानुभूत्याऽऽत्मनि स्थितः ४४
स्वात्मवृत्तं मयेत्थं ते सुगुप्तमपि वर्णितम् । व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत्परः ॥४५॥

नारद उवाच

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वासुरेश्वरः । पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे युधिष्ठिरनारदसंवादे यतिधर्मे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

पाया है ॥ ३४ ॥ मधुकी तरह कठिनाईसे जुटाये धनको भी दूसरे लोग धनस्वामीको मारकर बरजोरी छीन ले जाते हैं—इस तरह मधुमक्षिकासे मैंने भोगोंसे सदा विरक्त रहना सीखा है। मैं अजगरकी भाँति निश्चेष्टभावसे पड़े रहकर दैववश जो कुछ मिल जाता, उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ। कभी कुछ नहीं मिलता तब भी बहुत दिनोंतक (निराहार) पड़ा रहता हूँ ॥३५॥३६॥ मैं कभी थोड़ा खाता हूँ और कभी बहुत अधिक। कभी सुस्वादु, कभी स्वादहीन, कभी अनेक गुणोंसे युक्त, कभी एकदम गुणहीन, कभी श्रद्धापूर्वक लाया और कभी निरादरपूर्वक मिला अन्न ही खा लेता हूँ। एक बार यथेच्छ भोजन करके दिन या रात्रिको फिर भी खा लेता हूँ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ मैं प्रारब्ध-भोक्ता और सन्तोषी जीव हूँ। मुझे रेशमी या सूती वस्त्र, मृगचर्म, चीर, वल्कल तथा जैसा भी वस्त्र मिल जाता वही पहन लेता हूँ ॥ ३९ ॥ मैं कभी पृथिवी, तृण, पत्तों, पत्थरों तथा राखकी ढेरपर पड़ रहता और कभी दूसरोंकी इच्छासे महलोंमें पलंगों तथा गद्दियोंपर सोता हूँ ॥ ४० ॥ हे समर्थ ! मैं कभी नहा-धो, शरीरमें चन्दन लगा, सुन्दर वस्त्र तथा माला आदि पहन रथ, हाथी तथा घोड़ेपर चढ़कर चलता और कभी पिशाचकी तरह नंग-धड़ंग विचरता हूँ ॥ ४१ ॥ मैं विभिन्न स्वभाववाले मनुष्योंमें किसीकी निन्दा या स्तुति नहीं करता । मैं तो सर्वदा सब प्राणियोंकी मङ्गलकामना किया करता हूँ ॥ ४२ ॥ सत्यका खोजी पुरुष द्रव्यजाति आदि विभिन्न विकल्पोंको अपनी भेदग्राहिणी चित्तवृत्तिमें तथा चित्तवृत्तिको पदार्थोंमें और पदार्थोंको भ्रमोत्पादक मनमें होम दे । मनको सात्त्विक अहंकारमें, अहंकारको महत्तत्त्व द्वारा क्रमशः मायामें और मायाको आत्मानुभवमें होम दे। इस तरह आत्माके अनुभव द्वारा आत्मस्वरूपमें स्थित हो और सब कर्म त्यागकर सर्वथा उपरत हो जाय ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ हे असुरश्रेष्ठ ! लोक तथा शास्त्रविरुद्ध दीखनेवाला अपना सब वृत्तान्त अति गोप्य होनेपर भी मैंने कह सुनाया। क्योंकि तुम भगवानके परम भक्त हो ॥ ४५ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! उन मुनीश्वरके मुखसे परमहंसोंका धर्म सुनकर दैत्यपति प्रह्लादजीने उनकी पूजा की और आज्ञा लेकर प्रसन्न मनसे घर लौट गये ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयो-दशोध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

युधिष्ठिर उवाच

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा । याति देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः ॥ १ ॥

नारद उवाच

गृहेष्ववस्थितो राजन् क्रियाः कुर्वन् गृहोचिताः । वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ॥२॥
शृण्वन् भगवतोऽभीक्ष्णमवतारकथामृतम् । श्रद्दधानो यथाकालमुपशान्तजनावृतः ॥३॥
सत्सङ्गाच्छनकैः सङ्गमात्मजायात्मजादिषु । विमुच्येन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥४॥
यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः । विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ॥५॥
ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे । यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ॥६॥
दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम् । तत् सर्वमुपयुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः ॥७॥
यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् । अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥८॥
मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः । आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥९॥
त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि । यथादेशं यथाकालं यावद्दैवोपपादितम् ॥१०॥
आश्वाघान्तेवसायिभ्यः कामान् संविभजेद् यथा । अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः॥११॥
जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान् हन्याद् वा पितरं गुरुम् । तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः१२
कृमिविड्भस्मनिष्ठान्तं क्वेदं तुच्छं कलेवरम् । क्व तदीयरतिर्भार्या क्वायमात्मा नभश्छदिः ॥१३॥

(गृहस्थोंके सदाचारका निरूपण) राजा युधिष्ठिरने कहा—हे देवर्षे ! गृह आदिमें आसक्त-चित्त मेरे सदृश गृहस्थ पुरुष भी जिससे अनायास यह पद पा सकें, वह उपाय मुझे बताइये ॥ १ ॥ श्रीनारदजी बोले—हे राजन् ! गृहस्थाश्रमी पुरुष गृहस्थोचित कार्योंको भगवदर्पणपूर्वक करता हुआ शान्त पुरुषोंके साथ रहकर भगवान्की अवतारकथाओंको श्रद्धापूर्वक सुने और महामुनियोंकी सेवा करे ॥ २ ॥ ३ ॥ जैसे स्वप्नसे जागृत मनुष्य स्वप्नके लिये कल्पित सम्बन्धियोंमें आसक्त नहीं होता, वैसे ही सत्संग द्वारा धीरे-धीरे अवश्य छूट जानेवाले स्त्री-पुत्रादिकी आसक्तिको स्वयं त्याग दे ॥ ४ ॥ बुद्धिमान् पुरुष केवल प्रयोजनसिद्धिके लिए घर तथा शरीरसे सम्बन्ध रखकर भीतरसे विरक्त तथा ऊपरसे रागीकी भाँति आचरण करता हुआ मृत्युलोकमें पुरुषार्थ साधे ॥ ५ ॥ स्वजन, पितर, बाल-बच्चे, भाई, मित्र तथा अन्य सम्बन्धी जो कहें या चाहें, उसका ममताशून्य भावसे अनुमोदन करे ॥ ६ ॥ वर्षा आदिसे उत्पन्न, पृथिवीसे जायमान और अकस्मात् प्राप्त होनेवाले द्रव्यादि तथा दैवी पदार्थोंका उपभोग करता हुआ अवशिष्ट पदार्थ साधु-सेवादि कर्मोंमें लगा दे ॥ ७ ॥ क्योंकि सबका अधिकार केवल उतने ही द्रव्यपर है, जितनेसे कि उदरपूर्ति हो जाय। जो उससे अधिक वस्तुपर अपना अधिकार मानता है, वह चोर और दण्डका भागी है ॥ ८ ॥ मृग, ऊँट, गधा, वानर, चूहा, सर्प, पक्षी तथा मक्षिका आदिको भी पुत्रसदृश समझे। क्योंकि उनमें तथा पुत्रोंमें अन्तर ही क्या है ? ॥ ९ ॥ गृहस्थ पुरुष भी अर्थ, धर्म तथा कामोपार्जनमें विशेष व्यग्र न हो, बल्कि देश-कालके अनुसार दैवयोगसे जो मिल जाय, उतनेहीमें सन्तुष्ट रहे ॥ १० ॥ वह सब भोग-सामग्री कुत्ता, पतित तथा चाण्डालादिपर्यन्त सभी प्राणियोंको यथायोग्य बाँटकर भोगे—यहाँ तक कि अपनी स्त्रीको भी, जिसे मनुष्य अपनी समझता है—अतिथि आदिकी सेवामें लगाये रहे ॥ ११ ॥ हे राजन् ! जिस स्त्रीके लिये मनुष्य प्राण भी दे देता है, माता-पिता तथा गुरुको भी मार डालता है, उस स्त्रीमें जो पुरुष ममताका अभिमान नहीं रखता, वह अजेय परमात्माको भी जीत लेता है ॥ १२ ॥ अन्तमें कृमि, विष्ठा अथवा भस्म बन जानेवाली कहाँ तुच्छ देह ! कहाँ उसीके लिये

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः। शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं महतामियात् १४
देवानृषीन् नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम्। स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक् ॥१५॥
यर्ह्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः। वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥१६॥
न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्। इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः ॥१७॥
तस्माद् ब्राह्मणदेवेषु मर्त्यादिषु यथार्हतः। तैस्तैः कामैर्यजस्वैनं क्षेत्रज्ञं ब्राह्मणाननु ॥१८॥
कुर्यादापरपक्षीयं मासि प्रौष्ठपदे द्विजः। श्राद्धं पित्रोर्यथावित्तं तद्बन्धूनां च वित्तवान् ॥१९॥
अयने विषुवे कुर्याद् व्यतीपाते दिनक्षये। चन्द्रादित्योपरागे च द्वादशीश्रवणेषु च ॥२०॥
तृतीयायां शुक्लपक्षे नवम्यामथ कार्तिके। चतसृष्वप्यष्टकासु हेमन्ते शिशिरे तथा ॥२१॥
माघे च सितसप्तम्यां मघाराकासमागमे। राकया चानुमत्या वा मासर्क्षाणि युतान्यपि ॥२२॥
द्वादश्यामनुराधा स्याच्छ्रवणस्तिस्र उत्तराः। तिसृष्वेकादशी वाऽऽसु जन्मर्क्षश्रोणयोगयुक् ॥२३॥
त एते श्रेयसः काला नृणां श्रेयोविवर्धनाः। कुर्यात् सर्वात्मनैतेषु श्रेयोऽमोघं तदायुषः ॥२४॥
एषु स्नानं जपो होमो व्रतं देवद्विजार्चनम्। पितृदेवनृभूतेभ्यो यद् दत्तं तद्ध्यनश्वरम् ॥२५॥
संस्कारकालो जायाया अपत्यस्यात्मनस्तथा। प्रेतसंस्था मृताहश्च कर्मण्यभ्युदये नृप ॥२६॥
अथ देशान् प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेयआवहान्। स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥२७॥

जिसमें प्रेम होता है वह स्त्री तथा कहाँ आकाशको भी ढँक लेनेवाला आत्मा! (तात्पर्य यह कि और बातोंकी चिन्ता न करके केवल आत्मचिन्तन करे) ॥ १३ ॥ गृहस्थ पुरुष दैवयोगसे स्वतः प्राप्त तथा पञ्चयज्ञादिसे अवशिष्ट अन्नसे ही जीवन निर्वाह करे। जो पुरुष यज्ञशिष्ट अन्नके सिवा अन्य पदार्थोंमें स्वत्व नहीं रखता, वह महापुरुषोंका पद पाता है ॥ १४ ॥ हे राजन्! गृहस्थ पुरुष वर्णाश्रमविहित वृत्तिसे प्राप्त द्रव्य द्वारा नित्य देवता, ऋषि, मनुष्य, भूत, पितरों और अपने आत्माका पूजन करे। ऐसा करनेसे सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी आराधना हो जाती है ॥ १५ ॥ यदि अपनेको अधिकारादि सारी यज्ञसम्पत्तियाँ प्राप्त हों तो यज्ञविधिके प्रतिपादक शास्त्रानुसार अग्निहोत्रादिके द्वारा भगवान्का पूजन करे ॥ १६ ॥ हे राजन्! ब्राह्मणोंके मुखमें अर्पित अन्नादिसे सर्वयज्ञभुक् भगवानकी जैसी पूजा होती है, वैसी अग्निके मुखमें हवन किये हविसे भी नहीं होती ॥ १७ ॥ अतः ब्राह्मण, देवता तथा मनुष्यादिमें, उनके समुचित भोगों द्वारा, अन्तर्यामी नारायणका पूजन करो, औरोंको ब्राह्मणोंके पश्चात् जानो ॥ १८ ॥ द्विज अपनी सम्पत्तिके अनुसार भाद्रपदमासके दूसरे पक्षमें माता-पिताका महालय श्रद्ध करे ॥ १९ ॥ अयन, विषुव, व्यतीपात, दिनक्षय, चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहणके अवसर, द्वादशीको श्रवणादि तीन नक्षत्रोंमें तथा वैशाखशुक्लकी तृतीया, कार्तिकशुक्लकी नवमी एवं हेमन्त तथा शिशिर ऋतुकी चार अष्टका तिथियोंपर, माघशुक्लकी सप्तमीतिथिको, मघा नक्षत्र तथा पूर्णचन्द्र पूर्णिमाका योग होनेपर, पूर्णचन्द्र अथवा एक कलासे हीन चन्द्रमायुक्त पूर्णिमाके साथ चित्रा, ज्येष्ठा, आषाढ़ा आदि मासनक्षत्रोंका योग होनेपर, द्वादशीतिथिको अनुराधा, श्रवण तथा तीनों उत्तरा नक्षत्र होनेपर अथवा उत्तरा नक्षत्रोंमें एकादशीका योग होनेपर और जन्मनक्षत्र तथा श्रवणनक्षत्र आनेपर पितरोंका श्राद्ध करे ॥ २०—२३ ॥ हे राजन्! श्रेयःसाधनके योग्य ये सभी काल मनुष्योंके कल्याणकी वृद्धि करते हैं। सो इन अवसरोंपर प्रयत्नपूर्वक शुभकर्म करे। क्योंकि इसीमें जीवनकी सफलता है ॥ २४ ॥ इन अवसरोंपर स्नान, जप, होम, व्रत एवं देवता तथा ब्राह्मणोंकी जो पूजा की जाती अथवा देवता, पितर, मनुष्य एवं भूतोंको जो कुछ भी दिया जाता है, वह अक्षय फलदायक होता है ॥ २५ ॥ हे राजन्! स्त्रीके पुंसवनादि, सन्तानके जातकर्मादि, अपने यज्ञदीक्षादि, मृतकके दहनादि, वार्षिक श्राद्धके समय तथा आभ्युदयिक कर्मोंके अवसरपर भी किये स्नानादि कर्म अक्षय फल देते हैं ॥ २६ ॥ हे राजन्! मैं अब धर्मादि श्रेयःप्राप्तिकारक

बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम् । यत्र ह ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥२८॥
यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम् । यत्र गङ्गादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥२९॥
सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत । कुरुक्षेत्रं गयशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ॥३०॥
नैमिषं फाल्गुनं सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली । वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ॥३१॥
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः । सर्वे कुलाचला राजन् महेन्द्रमलयादयः ॥३२॥
एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिताश्च ये । एतान् देशान् निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः ।
धर्मो ह्यत्रेहितः पुंसां सहस्राधिफलोदयः ॥३३॥
पात्रं त्वत्र निरुक्तं वै कविभिः पात्रवित्तमैः । हरिरेवैक उर्वीश यन्मयं वै चराचरम् ॥३४॥
देवर्ष्यर्हत्सु वै सत्सु तत्र ब्रह्मात्मजादिषु । राजन् यदग्रपूजायां मतः पात्रतयाच्युतः ॥३५॥
जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशांघ्रिपो महान् । तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम् ॥३६॥
पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः । शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ ॥३७॥
तेष्वेषु भगवान् राजंस्तारतम्येन वर्तते । तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ॥३८॥
दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप । त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता ॥३९॥
ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया । उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥४०॥
पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः । तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥४१॥

देश बताता हूँ। जिस देशमें सत्पात्र पुरुष मिलें, वही देश सबसे अधिक पवित्र होता है ॥ २७ ॥ जिन महाप्रभुमें चराचर जगत् स्थित है, जहाँ उन भगवान्‌की प्रतिमा हो, जहाँ तप, विद्या तथा दया आदि गुणोंसे युक्त ब्राह्मण-कुल हो, जहाँ भगवानकी पूजा होती हो, वे सभी देश परमकल्याणकारी होते हैं। जहाँ सिद्धजनसेवित क्षेत्र हैं, वे सब देश भी बड़े ही पवित्र हैं। जैसे कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम, नैमिषारण्य, फल्गु-क्षेत्र, सेतुबन्ध, प्रभास, काशी, मथुरा, पम्पासर, बिन्दुसरोवर, बदरिकाश्रम, नन्दा, महारानी सीता तथा रामचन्द्रजीके आश्रमादि, महेन्द्र एवं मलयाचलादि सब कुलपर्वत और जहाँ-जहाँ भगवानकी प्रतिमाएँ हैं, वे सभी देश परम पवित्र हैं। जिन्हें अपने कल्याणकी कामना हो, उन्हें इन स्थानोंका सतत सेवन करना चाहिये। क्योंकि इन स्थानोंपर किया पुण्यकर्म हजारगुना अधिक फल देता है ॥ २८—३३ ॥ हे पृथिवीपते! पात्रज्ञ विचारवान पुरुषोंने केवल श्रीहरिको ही सत्पात्र कहा है। क्योंकि समस्त जगत्‌का स्वरूप उन्हींका है ॥ ३४ ॥ तुम्हारे यज्ञमें भी देवता, ऋषि, सिद्ध तथा ब्रह्मपुत्र सनकादिकोंके रहनेपर भी अग्रपूजाके अधिकारी श्रीअच्युत ही समझे गये थे ॥ ३५ ॥ जीवसमूहसे परिपूर्ण ब्रह्माण्डरूपी महावृक्षके मूल वे भगवान ही हैं। अतएव श्रीहरिकी पूजासे सभी जीवोंको तृप्ति मिल जाती है ॥ ३६ ॥ उन्होंने मनुष्य, तिर्यक्, ऋषि तथा देवता आदिके शरीररूपी पुरोंको रचा है। वे ही इन पुरोंमें जीवरूपसे शयन करते हैं। इसीसे लोग उन्हें 'पुरुष' कहते हैं ॥ ३७ ॥ हे राजन्! मनुष्यादि शरीरोंमें तारतम्यभावसे सर्वत्र भगवान ही विराजते हैं। अतएव वे 'पुरुष' ही सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं। उनमें भगवानका अंश जितना ही अधिक रहता है, वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ होता है ॥ ३८ ॥ हे राजन्! पुरुषोंमें परस्पर अपमानादिकी प्रवृत्ति देखकर विद्वानोंने त्रेता आदि युगोंमें उपासनाके लिये भगवत्प्रतिमाकी कल्पना की थी ॥ ३९ ॥ तबसे बहुतेरे लोग बड़ी श्रद्धा तथा सामग्रीसे प्रतिमामें ही भगवानकी पूजा करने लग गये हैं, परन्तु उस परम पुरुषसे द्वेषी लोगोंकी प्रतिमापूजासे भी पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती ॥ ४० ॥ हे राजेन्द्र! उन पुरुषमें ब्राह्मणको ही सुपात्र समझा गया है। क्योंकि वह अपने तप, विद्या तथा सन्तोष आदि गुणोंसे नारायणका वेदस्वरूप शरीर धारण करता है ॥ ४१ ॥

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन् कृष्णस्य जगदात्मनः । पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे सदाचारनिर्णयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

नारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित् तपोनिष्ठा नृपापरे । स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने ये केचिज्ज्ञानयोगयोः ॥१॥

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता । दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥२॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा । भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥३॥

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च । सम्यग् भवन्ति नैतानि विस्तरात् स्वजनार्पणात् ॥४

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम् । श्रद्धया विधिवत् पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥५॥

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च । अन्नं संविभजन् पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम् ॥६॥

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद् धर्मतत्त्ववित् । मुन्यन्नैः स्यात् परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥७॥

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् । न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥८॥

एके कर्ममयान् यज्ञान् ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः । आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥९॥

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति । एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृब् ध्रुवम् ॥१०॥

राजन् ! अपनी चरणरजसे त्रिलोकीको पावन करनेवाले ब्राह्मण जगदात्मा भगवान् कृष्णके भी परम इष्टदेव होते आये हैं ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत-'सामयिकी'भाषाटीकायाञ्चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(गृहस्थोंके लिये मोक्षधर्मका वर्णन) श्रीनारदजी कहते हैं—हे राजन् ! कुछ ब्राह्मण कर्मनिष्ठ और कुछ तपोनिष्ठ होते हैं। कुछ वेदाध्ययनमें तत्पर रहते और कुछ शास्त्रोंकी व्याख्या करते और कुछ ज्ञान एवं योगके अभ्यासमें लगे रहते हैं ॥१॥ गृहस्थ पुरुष अपने कृत्यका अनन्त फल पानेके लिये उनमेंसे ज्ञानीको ही पितर तथा देवताओंके उद्देश्यसे दिये कव्य और हव्य प्रदान करे। यदि ऐसा ब्राह्मण न मिले तो दूसरोंको उनकी योग्यताके अनुसार हव्य-कव्य दे ॥ २ ॥ देवतासम्बन्धी कार्योंमें दो और पितृसम्बन्धी कर्ममें तीन ब्राह्मणों अथवा दोनों कार्योंमें एक ही एक ब्राह्मणको भोजन करावे। धनवान् होकर भी श्राद्धकर्ममें अधिक विस्तार न करे ॥ ३ ॥ क्योंकि बहुतसे स्वजनोंको बुलाकर अधिक विस्तार कर लेनेपर देश-कालोचित श्रद्धा, पदार्थ, पात्र तथा पूजनादिका ठीक-ठीक निर्वाह नहीं होता ॥ ४ ॥ यदि देश-कालके प्राप्त होनेपर मुनिजनके भोजन योग्य अन्न भगवदर्पण करके श्रद्धाके साथ योग्य पात्रको भोजन कराया जाय तो वह सब कामनाओंको पूर्ण करता और अक्षय फलदायक होता है ॥ ५ ॥ हे राजन् ! देवता, ऋषि, पितर, भूतगण तथा स्वयं अपने तथा अपने सम्बन्धियोंको अन्नका यथोचित भाग करके दे और सबको परमात्मस्वरूपसे देखे ॥ ६ ॥ धर्मका मर्मज्ञ पुरुष श्राद्धमें मांस न अर्पण करे और न स्वयं खाय। पितरोंको मुनियोंके व्रीहि आदि अन्नों द्वारा जितनी प्रसन्नता होती है, वैसी पशुहिंसासे नहीं होती ॥ ७ ॥ संसारी प्राणियोंको मन, वाणी तथा शरीरसे कोई कष्ट न दे—सद्धर्माभिलाषियोंके लिये इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है ॥ ८ ॥ अतएव यज्ञतत्त्वज्ञ कितने ही निष्काम तथा ज्ञानी पुरुष ज्ञानाग्निसे प्रज्वलित मनोनिग्रहरूपी यज्ञमें इन कर्ममय यज्ञोंको होम देते हैं ॥ ९ ॥ क्योंकि द्रव्यमय यज्ञ द्वारा भगवानके पूजक पुरुषको देखकर सब लोग

तस्माद् दैवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित् । सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥११॥
विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः । अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत् ॥१२॥
धर्मबाधो विधर्मः स्यात् परधर्मोऽन्यचोदितः । उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः ॥१३॥
यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक् । स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥१४॥
धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् । अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥१५॥
सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत् सुखम् । कुतस्तत् कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥१६॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः । शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥१७॥
सन्तुष्टः केन वा राजन् न वर्तेतापि वारिणा । औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद् गृहपालायते जनः ॥१८॥
असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः । स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥१९॥
कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् । जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः
पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः । सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः ॥२१॥
असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् । अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥२२॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया । योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया ॥२३॥

मन-ही-मन यह सोचकर डरते हैं कि अपने ही प्राणोंका पोषक यह निर्दयी और अज्ञानी पुरुष मुझे अवश्य मार डालेगा ॥ १० ॥ अतएव धर्मज्ञ पुरुष नित्य प्रारब्धवश प्राप्त मुनि-अन्नके द्वारा ही सन्तोषके साथ सब नित्यनैमित्तिक कार्य करे ॥ ११ ॥ हे राजन् ! धर्मात्मा पुरुष विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा तथा छल—अधर्मकी इन पाँच शाखाओंको अधर्म ही की भाँति समझकर सर्वथा त्याग दे ॥ १२ ॥ जो कार्य धर्म-बुद्धिसे करनेपर भी स्वधर्ममें बाधा डाले, वह 'विधर्म' है । किसी और द्वारा अन्य पुरुषके लिये उपदिष्ट धर्म 'परधर्म' पाखण्ड तथा दम्भको 'उपधर्म' और अर्थान्तर करके व्याख्याका मतलब दूसरा कर देना 'छल' कहाता है ॥ १३ ॥ अपने आश्रमसे विपरीत पुरुषोंका मन-माना धर्म 'आभास' कहलाता है । हे राजन् ! स्वभावके अनुसार शास्त्र-विहित धर्म किसको शान्ति नहीं देता ? ॥ १४ ॥ हे राजन् ! धनहीन पुरुष धर्म अथवा शरीरयात्राके लिये भी धन न चाहे । क्योंकि निरुद्योगी और अजगरकी भाँति निवृत्ति-परायण पुरुषका निर्वाह उसकी निवृत्ति ही कर देती है ॥ १५ ॥ सन्तुष्ट, निवृत्तिपरायण एवं आत्माराम पुरुषको जो आनन्द मिलता है, वह कामना तथा लोभवश धनके लिये दौड़ लगानेवाले व्यक्तिको भला कहाँ मयस्सर हो सकता है ? ॥ १६ ॥ सन्तुष्ट-चित्तपुरुषको सब दिशाएँ सदा सुख देती हैं । जैसे जूता पहने हुए पुरुष कंकड़ और काँटे आदिसे भी दुखी नहीं होते ॥ १७ ॥ जो मनुष्य उपस्थ तथा जीभके विषयोंकी वासनासे अधीर रहता है, वह कृपण और घरकी चौकसी करनेवाले कुत्तेके समान हो जाता है । हे राजन् ! यह सब होते हुए भी मनुष्य दैवयोगसे प्राप्त केवल जलसे ही सन्तुष्ट क्यों नहीं रहता ? ॥ १८ ॥ जो ब्राह्मण सन्तोषी नहीं होता उसके तेज, विद्या, तप तथा यश उसकी इन्द्रियलोलुपतासे क्षीण हो जाते और विवेक भी नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥ भूख-प्यासकी शान्ति हो जानेपर अन्न-जलकी कामना नष्ट हो जाती है । क्रोधका परिणाम अर्थात् हिंसादि हो जानेपर वह भी शान्त हो जाता है, किन्तु दसों दिशाओंको जीतकर भूमिका भोग करनेपर भी मनुष्यके लोभका अन्त नहीं होता ॥ २० ॥ हे राजन ! विविध विद्याओंके ज्ञाता, दूसरेके अनेक संशयोंके उच्छेदक और अनेक सभाओंके सभापति अगणित पण्डित असन्तोषके कारण ही पतित हो चुके हैं ॥ २१ ॥ हे धर्मराज ! सङ्कल्पके त्यागसे कामको, कामनाओंके त्यागसे क्रोधको, अर्थमें अनर्थबुद्धि करनेसे लोभको और तत्त्व-चिन्तनसे भयको जीते ॥ २२ ॥ अध्यात्म-विद्यासे शोक और मोहको, महापुरुषोंकी सेवासे दम्भको, मौनसे योगके विघ्नोंको, शरीरको

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना । आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥२४॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च । एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥२५॥
यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ । मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥२६॥
एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः । योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम् ॥२७॥
षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः । तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥२८॥
यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति । अनर्थाय भवेयुस्ते पूर्तमिष्टं तथासतः ॥२९॥
यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः । एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भिक्षामिताशनः॥३०॥
देशे शुचौ समे राजन् संस्थाप्यासनमात्मनः । स्थिरं समं सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति॥३१॥
प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात् पूरकुम्भकरेचकैः । यावन्मनस्त्यजेत् कामान् स्वनासाग्रनिरीक्षणः॥३२
यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत् । ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः ॥३३॥
एवमभ्यस्यतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः । अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥३४॥
कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् । चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥३५॥
यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः । यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥३६॥
यैः स्वदेहः स्मृतोऽनात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मसात् । त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः॥३७॥

निश्चेष्टतासे हिंसाको, कृपासे आधिभौतिक दुःखको, समाधिसे आधिदैविक वेदनाको, योगबलसे आध्यात्मिक कष्टको, सात्त्विक आहारादिसे निद्राको, सत्त्वगुणसे रजोगुण और तमोगुणको और उपरतिसे सत्त्वगुणको जीते। प्रत्येक पुरुष इन सब बाधाओंको गुरुकी भक्ति द्वारा जीत ले सकता है ॥ २३—२५ ॥ हे राजन्! ज्ञानदीपक द्वारा प्रकाशदाता साक्षाद् भगवत्स्वरूप गुरुमें जिन लोगोंकी 'यह मनुष्य है' ऐसी दुर्बुद्धि होती है, उनका ज्ञान गजस्नानके समान निरर्थक हो जाता है ॥ २६ ॥ बड़े-बड़े योगेश्वर जिनके चरण-कमलोंकी खोज करते और जो प्रधान तथा पुरुषके भी स्वामी हैं, वे भगवान ही तो गुरुदेव हैं। जो इन्हें मनुष्य मानते, वे भूल करते हैं ॥ २७ ॥ हे राजन्! सब नियमोंका लक्ष्य एक है। और वह है—छः इन्द्रियों (मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों) को जीतना। यदि वे नियम योग अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि आदिके साधक न बन सकें तो श्रममात्र हैं ॥ २८ ॥ जैसे खेती आदि कार्य योगके साधक न होकर उलटे अनर्थरूपी संसारको बढ़ाते हैं, वैसे ही बहिर्मुख व्यक्तिके इष्ट-पूर्तादि सारे कर्म बन्धनके ही कारण बन जाते हैं ॥ २९ ॥ हे धर्मराज! जो प्राणी मनपर विजय पाना चाहे, वह परिग्रह और संग त्यागकर संन्यास ले ले और एकान्तमें अकेला रहता हुआ भिक्षावृत्तिसे प्राप्त स्वल्प भोजन करे ॥ ३० ॥ हे राजन्! वह पुरुष पवित्र तथा समतल भूमिपर आसन लगाकर शरीरको सीधा तथा स्थिर करके सुखसे बैठे और ओङ्कारका उच्चारण करे ॥ ३१ ॥ जबतक उसका चित्त संकल्प-विकल्पोंको न त्यागे, तब तक वह नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर पूरक, कुम्भक तथा रेचक प्राणायाम द्वारा प्राण तथा अपान वायुकी गति रोके ॥ ३२ ॥ कामनाओं वश भटकता हुआ मन जहाँ-जहाँ जाय बुद्धिमान् पुरुष उसे वहींसे लौटाकर धीरे-धीरे अपने हृदयमें रोके ॥ ३३ ॥ निरन्तर अभ्यासशील यतिका मन थोड़े दिनों बाद ईंधनहीन अग्निकी भाँति स्थिर हो जाता है ॥ ३४ ॥ तब कामादि वासनाओंके क्षोभसे रहित योगीका मन चंचल नहीं होता और ब्रह्मानन्दका अनुभव करके पुरुषको सब वृत्तियाँ सर्वथा शान्त हो जाती हैं ॥ ३५ ॥ जो प्राणी भिक्षु होकर भी धर्म, अर्थ तथा कामके दाता गृहस्थाश्रमको त्यागकर फिर उन्हीं धर्मादिका सेवन करता है, वह मानो अपना ही वमन खानेवाला बड़ा निर्लज्ज पुरुष है ॥३६॥ अपनी देहको अनात्मा, मरणशील तथा परिणाममें विष्ठा, कृमि एवं भस्म माननेवाले

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि । तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥३८॥
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः । देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥३९॥
आत्मानं चेद् विजानीयात् परं ज्ञानधुताशयः । किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति लम्पटः॥४०॥
आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥
अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥ ४२ ॥
रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः । मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः॥४३॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः । रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥४४॥
यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥४५॥
नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥४६॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् । आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥४७॥
हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम् । दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः ॥४८॥

मूढ़ फिर उसे आत्मा मानकर उसकी सराहना करने लगते हैं ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! गृहस्थ पुरुषका कर्म त्यागना, ब्रह्मचारीका व्रत त्यागना, तपस्वीका गाँवमें निवास करना और संन्यासीका इन्द्रियलोलुप हो जाना, ये चारों ही आश्रमाधम हैं और अपने आश्रमोंकी विडम्बना करते हैं। ईश्वरीय मायासे विमोहित ऐसे मूर्खोंपर दया करके सर्वदा उनकी उपेक्षा ही करता रहे ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ जो अपने आत्माको ब्रह्मस्वरूप मान चुका है और आत्मज्ञानके द्वारा जिसकी वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं, वह पुरुष भला किस इच्छा तथा किस हेतुसे इन्द्रियलोलुप हो अपने शरीरको परिपुष्ट करेगा ? ॥ ४० ॥ पण्डितोंका कथन है कि यह शरीर रथ है, इन्द्रियाधिपति मन लगाम है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथी है, चित्त विशाल बन्धन है, दसों प्राण धुरी हैं, धर्म तथा अधर्म ये दो पहिये हैं और अभिमानी जीव इसका रथी है। उस रथीका धनुष ओंकार, बाण जीव तथा लक्ष्य परब्रह्म है। जैसे धनुषपर बाण चढ़ाकर लक्ष्यपर छोड़ा जाता है, वैसे ही ओंकारजप करके अन्तरात्माको परमात्मामें लीन कर दे ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, असूया (निन्दा), छल, हिंसा, ईर्ष्या, प्रमाद, क्षुधा तथा निद्रा—ये तथा जीवके और भी अनेक शत्रु हैं। रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण भी इसी भावसे प्रकट देखे जाते हैं ॥ ४३ ॥४४॥ सो जबतक जीव इन्द्रियादि सब सामग्रीसे युक्त तथा अपने अधीन यह मानव देहरूपी रथ धारण किये है, तभी गुरुजनोंकी चरणसेवारूपी तीक्ष्ण ज्ञानरूपी खड्ग लेकर श्रीअच्युतभगवानके चरणोंका आश्रय ले ले। इन शत्रुओंको नष्ट करके शान्त हो और फिर आत्मानन्दमें मग्न रहकर शरीररूपी रथकी भी उपेक्षा करे ॥ ४५ ॥ नहीं तो असत् इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथी रथके स्वामीरूपी जीवको कुमार्गमें ले जाकर विषयरूपी लुटेरोंके हाथ सौंप देंगे और वे लुटेरे सारथी और घोड़ोंके साथ-साथ इसे मृत्युरूपी महाभयावने घोर अन्धकारमय संसारकूपमें ढकेल देंगे ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! वैदिक कर्म दो प्रकारके होते हैं—प्रवृत्तिपरक तथा निवृत्तिपरक। प्रवृत्तिपरक कर्म द्वारा प्राणीको जन्म-मरणरूपी संसार प्राप्त होता और निवृत्तिसे अमृतत्व मिलता है ॥ ४७ ॥ शास्त्रोक्त श्येनयागादि हिंसामय कर्म माने जाते हैं। अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग,

एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च। पूर्तं सुरालयारामकूपाजीव्यादिलक्षणम् ॥४९॥
द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः। अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥५०॥
अन्नं रेत इति क्ष्मेश पितृयानं पुनर्भवः। एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते ॥५१॥
निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः। इन्द्रियेषु क्रियायज्ञान् ज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥५२॥
इन्द्रियाणि मनस्यूर्मौ वाचि वैकारिकं मनः। वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत्।
ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तु प्राणे महत्यमुम् ॥ ५३ ॥
अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्। विश्वश्च तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥५४
देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः। आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ॥५५
य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते। शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि मुह्यति ॥५६॥
आदावन्ते जनानां सद् बहिरन्तः परावरम्। ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम् ॥५७
आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः। दुर्घटत्वादैन्द्रियकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥५८॥
क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि। न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा॥५९

सोमयाग, हुत (वैश्वदेव) और प्रहुत (बलिहरण) आदि द्रव्यमय कर्म 'इष्ट' कहलाते हैं। देवालय, बगीचा, कुआँ और प्याऊ आदि 'पूर्त' कर्म कहाते हैं। ये सभी कर्म प्रवृत्तिपरक होते हैं। यदि ये सकाम भावसे किये जाते तो अत्यन्त अशान्ति उत्पन्न करते हैं॥ ४८ ॥ ४९ ॥ हे राजन्! सभी प्रवृत्तिपरायण पुरुष चरुपुरोडाशादि द्रव्यके सूक्ष्म भागसे बना शरीर धारण करके धूमाभिमानी देवताओंके पास जाते और क्रमशः रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायनके अभिमानी देवताओंके पास जाकर वे चन्द्रलोकमें पहुँचते हैं। भोग समाप्त होनेपर वहाँसे अमावस्याको अदृश्य चन्द्रमाकी तरह क्षीण होकर वे पितृयानमार्गसे क्रमशः ओषधि, लता, अन्न तथा वीर्यके रूपमें परिणत होकर इसी संसारमें जन्म पाते हैं॥ ५० ॥ ५१ ॥ हे राजन्! गर्भाधानसंस्कारसे श्मशानतक संस्कारोंसे संस्कृत द्विज इष्ट-पूर्त्तादि कर्मोंको ज्ञानसे प्रकाशित इन्द्रियोंमें हवन कर देता है ॥५२॥ उन इन्द्रियोंको सङ्कल्परूपी मनमें, वैकारिक मनको वाणीमें, वाणीको वर्णसमुदायमें, वर्णसमुदायको अ उ म स्वरत्रयरूपी ओंकारमें, ओंकारको बिन्दुमें, बिन्दुको नादमें, नादको सूत्रात्मास्वरूप प्राणमें और प्राणको ब्रह्ममें लीन कर देता है ॥ ५३ ॥ निवृत्तिपरायण ज्ञानी अग्नि, सूर्य, दिन, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णमासी तथा उत्तरायणके अभिमानी देवताओंके समीप जाकर, ब्रह्मलोकमें पहुँचता और भोग समाप्त हो जानेपर स्थूलोपाधिक 'विश्व' अपनी स्थूल उपाधिको लीन करके सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' स्वरूप हो जाता है। सूक्ष्म उपाधिको कारणमें लय करके 'प्राज्ञ' रूपसे स्थित होता और अन्तमें कारणोपाधिके भी लीन हो जानेपर वह सर्वसाक्षी 'तुरीय' रूपसे स्थित हो जाता है। इस तरह वह क्रमशः मोक्षपद पा लेता है ॥५४॥ इसीको देवयानमार्ग कहते हैं। इस मार्गका पथिक आत्मोपासक तथा शान्तात्मा प्राणी क्रमशः अग्नि आदिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होता हुआ आत्मस्वरूपमें जाकर स्थित हो जाता है। वह प्राणी फिर इस (जन्म-मरणरूपी) संसारमें नहीं आता ॥ ५५ ॥ हे राजन्! जो पुरुष शास्त्ररूपी नेत्रों द्वारा इन पितृयान तथा देवयान नामक वेदोक्त मार्गोंको जानता है, वह जनसमुदायमें रहकर भी मोहग्रस्त नहीं होता ॥ ५६ ॥ क्योंकि अवधिरूपसे शरीरके आदि, अन्त, भीतर-बाहर, ऊँच-नीच, ज्ञान-ज्ञेय, वचन-वाच्य अथवा अन्धकार एवं प्रकाशरूप जो वस्तु है, वह तो ज्ञानी स्वयमेव है ॥ ५७ ॥ जैसे प्रतिबिम्बादि आभास बाधित होनेपर भी वास्तविक मालूम पड़ते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके विषय असम्भव होते हुए भी सत्य दीखते हैं ॥ ५८ ॥ पृथिवी आदि पञ्चभूतोंकी छायारूपिणी यह देह वस्तुतः उन भूतोंका सङ्घात, विकार तथा परिणाम कुछ भी नहीं है। क्योंकि यह अपने अवयवोंसे न पृथक् है और न उनमें अनुगत ही

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना । न स्युर्ह्यसत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥६०॥
स्यात् सादृश्यभ्रमस्तावद् विकल्पे सति वस्तुनः। जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता॥६१
भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः । वर्तयन् स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः॥६२
कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् । अवस्तुत्वाद् विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥६३॥
यद् ब्रह्मणि परे साक्षात् सर्वकर्मसमर्पणम् । मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥६४॥
आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् । यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥६५॥
यद् यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप । स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि ॥६६॥
एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः । गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ् नरः॥६७

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजादापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।
यत्पादपङ्केरुहसेवया भवानहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥ ६८ ॥

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः । नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥६९॥
रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः । स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तस्तु पुरुलम्पटः ॥७०॥
एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः । उपहूता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने ॥७१॥
अहं च गायंस्तद्विद्वान् स्त्रीभिः परिवृतो गतः । ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेपुरोजसा ।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः ॥ ७२ ॥

है । अतएव यह मिथ्या है ॥५९॥ शरीरके कारण पञ्चभूत भी अवयवी होनेसे अवयवस्वरूप ही हैं और अवयवीके असत् सिद्ध होनेपर अन्ततः अवयव भी असत् ही हैं ॥ ६० ॥ जबतक मनुष्यमें वस्तुओंका अविद्याके द्वारा कल्पित विकल्प बना रहता है, तभीतक सादृश्यभ्रम भी रह सकता है। जैसे स्वप्नमें कभी जागृतिकी और कभी स्वप्नकी प्रतीति होती है, वैसे ही शास्त्रके विधि-निषेध भी स्वप्नवत् दीखते हैं ॥ ६१ ॥ हे राजन् ! भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैतका विवेचक मुनि आत्मानुभव द्वारा जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरूपी तीनों स्वप्नों अर्थात् अवस्थाओंको त्याग देता है ॥ ६२ ॥ जैसे पट तन्तुरूप है। वैसे ही कार्य-कारणरूप वस्तु भी एक ही रहता है। क्योंकि विकल्प वस्तुतः असत्य है—ऐसा विचार भावाद्वैत कहलाता है ॥ ६३ ॥ हे पार्थ ! मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किये जानेवाले कर्म परब्रह्मको अर्पण कर देना ही क्रियाद्वैत कहाता है ॥ ६४ ॥ अपने, स्त्री-पुत्रादि तथा अन्य सभी प्राणियोंके स्वार्थ तथा भोगोंकी एकता करना ही द्रव्याद्वैत कहा जाता है ॥ ६५ ॥ हे राजन् ! जिस पुरुषको जो द्रव्य, जिस समय, जिस उपायसे और जिससे ग्रहण करना शास्त्र-विरुद्ध न हो उसे, कोई आपत्तिकाल न होनेपर उसीके द्वारा अपने सब कार्य सम्पन्न करे—अन्यके द्वारा नहीं ॥ ६६ ॥ हे राजन् ! इन कर्मोंके अनुसार व्यवहार करते रहनेसे पुरुष भगवद्भक्ति पाकर गृहस्थीमें रहते हुए भी उनकी गतिको पा लेता है। हे नरेन्द्र ! भगवान् कृष्णकी कृपासे तुम जैसे दुस्तर विपत्तियोंको पार कर गये हो और उन्हींके चरण-कमलोंकी सेवाके प्रभावसे जैसे तुमने दिग्गजों तकको जीतकर राजसूय आदि यज्ञ किये हैं, वैसे ही उन प्रभुकी कृपासे तुम संसार-सागरको भी पार कर जाओगे ॥६७॥६८॥ हे राजन् ! गत महाकल्पमें मैं सभी गन्धर्वों द्वारा सम्मानित उपबर्हणनामका एक गन्धर्व था ॥६९॥ रूप, सुकुमारता, मधुरता तथा मनोहर सुगन्धके कारण मेरा दर्शन सब लोगोंको बहुत प्रिय था। स्त्रियोंको तो मैं बहुत ही भाता था। इसीसे मैं भी उन्मत्त रहा करता था ॥ ७० ॥ एक समय प्रजापतियोंने भगवानका चरित्र गानेके लिये देवयज्ञमें अनेक गन्धर्वों तथा अप्सराओंको बुलाया ॥७१॥ पता लगनेपर मैं भी अगणित स्त्रियोंके साथ उन्मत्त-भावसे गाता हुआ वहाँ जा पहुँचा। मेरी यह उच्छृङ्खलता देखकर प्रजापतियोंने मुझे शाप देते हुए

तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम् । शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् ॥७३॥
धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः । गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥७४॥

यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥७५॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यकैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥७६॥
न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥७७॥

श्रीशुक उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः । पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥७८॥
कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः । श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥७९॥
इति दाक्षायणीनां ते पृथग् वंशाः प्रकीर्तिताः । देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः ॥८०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां सप्तमस्कन्धे प्रह्लादानुचरिते युधिष्ठिरनारदसंवादे सदाचारनिर्णयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

हरिः ॐ तत्सत् ।

कहा कि 'तूने हमारा अपमान किया है, इसलिये तू तत्काल श्रीहीन होकर शूद्र हो जा' ॥ ७२ ॥ तदनुसार मैंने तुरन्त दासीके गर्भसे जन्म लिया । किन्तु वहाँ भी ब्रह्मवादियोंकी सेवा तथा सत्संग करनेसे मैं फिर ब्रह्माजीका पुत्र हो गया ॥ ७३ ॥ हे राजन् ! मैंने तुमको वह पापनाशक गृहस्थ-धर्म बताया है कि जिसका आचरण करके गृहस्थ पुरुष भी अनायास संन्यासियोंको प्राप्य गति पा लेता है ॥ ७४ ॥ हे राजा युधिष्ठिर ! सचमुच तुमलोग बड़े भाग्यवान हो, क्योंकि तुम्हारे घरोंमें मनुष्यरूपमें छिपे हुए साक्षात् परब्रह्म निवास करते हैं । अतएव अपने दर्शनोंसे लोकोंको पवित्र करनेवाले मुनिजन सब ओरसे तुम्हारे यहाँ आते हैं ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! जिनको महात्मा लोग खोजा करते हैं, वे अद्वितीय तथा निरुपाधिक-परमानन्दानुभवस्वरूप परब्रह्म ही तुम्हारे प्रिय, सुहृद्, मामाके पुत्र, आत्मीय, पूज्य, आज्ञाकारी तथा गुरु भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं ॥ ७६ ॥ अहो ! साक्षात् श्रीमहादेवजी और ब्रह्मा आदि भी ठीक-ठीक जिनके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सके, हमारे द्वारा भक्ति, मौन तथा मनःसंयमसे पूजित वे भक्तवत्सल भगवान हमपर प्रसन्न हों ॥ ७७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! नारदजीका यह कथन सुन भरतश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिरने मारे प्रेमके विह्वल होकर अतिशय प्रसन्नतापूर्वक उनकी तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी पूजा की ॥ ७८ ॥ तदनन्तर भगवान श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिरसे अनुमति ले और उनसे सत्कृत होकर श्रीनारदजी चले गये । 'श्रीकृष्णचन्द्रजी परब्रह्म परमात्मा है'—यह जानकर राजा युधिष्ठिर बहुत विस्मित हुए ॥ ॥७९ ॥ हे राजन् ! इस तरह मैंने तुमको देव, दैत्य तथा मनुष्यादि सब जीवोंकी जननी दक्षकन्याओंके पृथक्-पृथक् वंशोंका वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ८० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

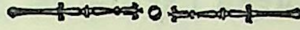
इति सप्तमः स्कन्धः ।



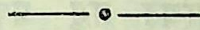
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्।



अष्टमस्कन्धः



प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

स्वायम्भुवस्येह गुरो वंशोऽयं विस्तराच्छ्रुतः। यत्र विश्वसृजां सर्गो मनूनन्यान् वदस्व नः ॥१॥
यत्र यत्र हरेर्जन्म कर्माणि च महीयसः। गृणन्ति कवयो ब्रह्मंस्तानि नो वद शृण्वताम् ॥२॥
यद् यस्मिन्नन्तरे ब्रह्मन् भगवान् विश्वभावनः। कृतवान् कुरुते कर्ता ह्यतीतेऽनागतेऽद्य वा ॥३॥

ऋषिरुवाच

मनवोऽस्मिन् व्यतीताः षट् कल्पे स्वायम्भुवादयः। आद्यस्ते कथितो यत्र देवादीनां च सम्भवः ॥४॥
आकूत्यां देवहूत्यां च दुहित्रोस्तस्य वै मनोः। धर्मज्ञानोपदेशार्थं भगवान् पुत्रतां गतः ॥५॥
कृतं पुरा भगवतः कपिलस्यानुवर्णितम्। आख्यास्ये भगवान् यज्ञो यच्चकार कुरूद्वह ॥६॥
विरक्तः कामभोगेषु शतरूपापतिः प्रभुः। विसृज्य राज्यं तपसे सभार्यो वनमाविशत् ॥७॥
सुनन्दायां वर्षशतं पदैकेन भुवं स्पृशन्। तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह भारत ॥८॥

श्रीहरिः। (चार मनन्वन्तरोंका वृत्तान्त) राजा परीक्षित् बोले—हे गुरुवर! जिससे प्रजापतियोंकी वंशपरम्परा चली थी, उस स्वायम्भुव मनुके वंशका वृत्तान्त मैंने सविस्तर सुना। अब मैं अन्य मनुओंका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥ हे ब्रह्मन्! जिस प्रसङ्गमें महामहिम श्रीहरिके जन्म-कर्मोंका कवियोंने वर्णन किया हो, वह सब हम श्रोताओंको बतलाइये ॥२॥ हे ब्रह्मन्! विश्वभावन भगवान्‌ने विगत मन्वन्तरोंमें जो-जो कर्म किये हों, वर्तमान मन्वन्तरमें जो करते हों और आगे जो करनेवाले हों वह सब हमें बताइये ॥३॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस कल्पमें स्वायम्भुव आदि छः मन्वन्तर बीते हैं, उनमेंसे जिसमें देवता आदि उत्पन्न हुए थे, उस पहले मन्वन्तरका वृत्तान्त मैंने तुम्हें बता दिया ॥ ४ ॥ स्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूति तथा देवहूतिके गर्भसे भगवान् क्रमशः धर्म तथा ज्ञानका उपदेश करनेके लिये पुत्ररूपमें अवतरे थे ॥ ४ ॥ हे कौरव! देवहूतिके तनय भगवान कपिलदेवजीका वर्णन तो मैं पहले ही कर आया हूँ, अब भगवान् यज्ञपुरुषने जो कुछ किया था—वह सुनाता हूँ ॥ ६ ॥ हे राजन्! शतरूपाके पति मनु सब कामनाओं तथा भोगोंसे विरक्त हो और अपना राजपाट त्याग तपस्या करनेके लिए स्त्रीके साथ वनको चले गये ॥ ७॥ हे भारत! वहाँ सुनन्दा-नदीके तटपर पृथ्वीपर एक चरणसे खड़े हो कठोर तप करते हुए वे प्रतिदिन यह कहा करते थे ॥८॥

मनुरुवाच

येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्। यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः ॥९॥
आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१०॥
यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति। तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत ॥११॥
न यस्याद्यन्तौ मध्यं च स्वः परो नान्तरं बहिः। विश्वस्यामूनि यद् यस्माद् विश्वं च तदृतं महत् १२

स विश्वकायः पुरुहूत ईशः सत्यः स्वयंज्योतिरजः पुराणः।
धत्तेऽस्य जन्माद्यजयाऽऽत्मशक्त्या तां विद्ययोदस्य निरीह आस्ते ॥१३॥

तथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्तेऽकर्महेतवे। ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते ॥१४॥
ईहते भगवानीशो न हि तत्र विषज्जते। आत्मलाभेन पूर्णार्थो नावसीदन्ति येऽनुतम् ॥१५॥

तमीहमानं निरहङ्कृतं बुधं निराशिषं पूर्णमनन्यचोदितम्।
नॄञ्छिक्षयन्तं निजवर्त्मसंस्थितं प्रभुं प्रपद्येऽखिलधर्मभावनम् ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

इति मन्त्रोपनिषदं व्याहरन्तं समाहितम्। दृष्ट्वासुरा यातुधाना जग्धुमभ्यद्रवन् क्षुधा ॥१७॥
तांस्तथावसितान् वीक्ष्य यज्ञः सर्वगतो हरिः। यामैः परिवृतो देवैर्हत्वाशासत् त्रिविष्टपम् ॥१८॥
स्वारोचिषो द्वितीयस्तु मनुरग्नेः सुतोऽभवत्। द्युमत्सुषेणरोचिष्मत्प्रमुखास्तस्य चात्मजाः ॥१९॥

मनु कहते थे–जिससे समस्त विश्व चेतना लाभ करता है, किन्तु समस्त विश्व जिसको सचेतन नहीं कर सकता। जो इसके सो जानेपर भी जागता रहता है, किन्तु जिसे यह जगत् नहीं जान पाता और वह परमात्मा इस जगत्को भली भाँति जानता है। संसारका सारा भूतसमुदाय परमात्मासे व्याप्त है। अतएव उस परमात्माको अर्पण करके ही धनादिका उपभोग करना उचित है। अपने अथवा पराये किसीके भी धनमें आसक्त न होना चाहिये ॥ ९ ॥ १० ॥ जिस सर्वसाक्षी ईश्वरको चक्षु आदि इन्द्रियाँ नहीं देख पातीं और जिसका ज्ञान कभी भी क्षीण नहीं होता, उस सर्वान्तर्यामी तथा असङ्ग परमात्माका भजन करो ॥ ११ ॥ जिसका आदि, अन्त, मध्य, अपना-पराया तथा बाहर-भीतर कुछ भी नहीं है, किन्तु जो स्वयं जगत्का सब कुछ है और जिससे सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, वही सत्य तथा पूर्ण ब्रह्म है ॥ १२ ॥ वह परमात्मा विश्वरूप, अनेक नामोंवाला, ईश्वर, सत्यस्वरूप, स्वयंप्रकाश, अजन्मा तथा पुरातन है। वह अपनी मायाशक्तिके द्वारा ही जगत्के रचना-पालनादिका कार्य करता है, वह अपनी नित्यसिद्ध ज्ञानशक्तिसे उसे त्यागकर सदा निरीह-भावमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥ अतएव सब मुनि भी नैष्कर्म्यसिद्धिके निमित्त कर्मोंको करते हैं। क्योंकि निष्काम कर्म करनेवाला पुरुष ही निरीह हो सकता है ॥ १४ ॥ भगवान भी कर्म करते हैं, किन्तु आत्मलाभसे सदा पूर्णकाम होनेके कारण वे उसमें आसक्त नहीं होते। इसी तरह उनके अनुयायी पुरुष भी कर्मोंमें आसक्त नहीं होते ॥ १५ ॥ अहो! ज्ञानवान् होनेसे जो अहङ्काररहित तथा पूर्णकाम होनेसे निष्काम रहते और किसी अन्यके द्वारा प्रेरित नहीं होते, जो लोगोंको शिक्षा देनेके लिये अपने मार्गपर स्थित होकर कर्मोंका भली भाँति आचरण करनेवाले हैं, उन परमेश्वरकी मैं शरणमें हूँ ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इस प्रकार मनुको एकाग्र चित्तसे मन्त्रोपनिषद्का उच्चारण करते देख भूखसे व्याकुल असुर तथा राक्षस उन्हें खा जानेके लिए वहाँ आये ॥ १७ ॥ सर्वान्तर्यामी यज्ञपुरुष भगवान उनका ऐसा विचार जानकर यामनामक देवताओंके साथ वहाँ आये और असुरोंका संहार करके स्वर्गलोकका शासन करने लगे ॥ १८ ॥ हे राजन्! उन स्वायम्भुव मनुके बाद अग्निपुत्र स्वारोचिष नामके दूसरे मनु हुए। उनके द्युमान्, सुषेण तथा

तत्रेन्द्रो रोचनस्त्वासीद् देवाश्च तुषितादयः । ऊर्जस्तम्भादयः सप्त ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥२०॥
ऋषेस्तु वेदशिरसस्तुषिता नाम पत्न्यभूत् । तस्यां जज्ञे ततो देवो विभुरित्यभिविश्रुतः ॥२१॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो ये धृतव्रताः । अन्वशिक्षन् व्रतं तस्य कौमारब्रह्मचारिणः ॥२२॥
तृतीय उत्तमो नाम प्रियव्रतसुतो मनुः । पवनः सृञ्जयो यज्ञहोत्राद्यास्तत्सुता नृप ॥२३॥
वसिष्ठतनयाः सप्त ऋषयः प्रमदादयः । सत्या वेदश्रुता भद्रा देवा इन्द्रस्तु सत्यजित् ॥२४॥
धर्मस्य सूनृतायां तु भगवान् पुरुषोत्तमः । सत्यसेन इति ख्यातो जातः सत्यव्रतैः सह॥२५॥
सोऽनृतव्रतदुःशीलानसतो यक्षराक्षसान् । भूतद्रुहो भूतगणांस्त्ववधीत् सत्यजित्सखः ॥२६॥
चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः । पृथुः ख्यातिर्नरः केतुरित्याद्या दश तत्सुताः॥२७॥
सत्यका हरयो वीरा देवास्त्रिशिख ईश्वरः । ज्योतिर्धामादयः सप्त ऋषयस्तामसेऽन्तरे ॥२८॥
देवा वैधृतयो नाम विधृतेस्तनया नृप । नष्टाः कालेन यैर्वेदा विधृताः स्वेन तेजसा ॥२९॥
तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः । हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥३०॥

राजोवाच

बादरायण एतत् ते श्रोतुमिच्छामहे वयम् । हरिर्यथा गजपतिं ग्राहग्रस्तममूमुचत् ॥३१॥
तत्कथासु महत् पुण्यं धन्यं स्वस्त्ययनं शुभम् । यत्र यत्रोत्तमश्लोको भगवान् गीयते हरिः ॥३२॥

सूत उवाच

परीक्षितैवं स तु बादरायणिः प्रायोपविष्टेन कथासु चोदितः ।
उवाच विप्राः प्रतिनन्द्य पार्थिवं मुदा मुनीनां सदसि स्म शृण्वताम् ॥३३॥

श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुचरिते प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

रोचिष्मान् आदि पुत्र थे ॥ १९ ॥ उस स्वारोचिष मन्वन्तरमें रोचन नामका इन्द्र, तुषित आदि देवता तथा वेदवादी ऊर्जस्तम्भ आदि सप्तर्षिगण थे ॥२०॥ मुनिवर वेदशिराकी तुषित नामकी पत्नी थी । उस समय उसके गर्भसे भगवानने विभुनामसे प्रसिद्ध होकर अवतार लिया ॥ २१ ॥ हे राजन् ! कौमार्य अवस्थासे ही ब्रह्मचर्यव्रती और यम-नियमादि साधनों युक्त अट्ठासी हजार ऋषियोंने उन विभुके आचरणसे ही व्रतकी शिक्षा ली थी ॥२२॥ हे राजन् ! महाराज प्रियव्रतका पुत्र उत्तम तीसरा मनु था, उसके पवन, सृञ्जय, यज्ञहोत्रादि पुत्र हुए ॥ २३ ॥ वशिष्ठजीके पुत्र प्रमद आदि उस मन्वन्तरमें सप्तर्षि थे । सत्य, वेदश्रुत और भद्र नामक देवता तथा सत्यजित् नामका इन्द्र था ॥ २४ ॥ उस समय धर्मकी सूनृता नामकी पत्नीसे भगवान पुरुषोत्तम सत्यसेन नामसे विख्यात होकर सत्यव्रत सहित अवतार लिये थे ॥ २५ ॥ देवराज सत्यजित्के सखा होकर उन्होंने सभी असत्यपरायण, दुःशील और असत्स्वभाववाले यक्ष-राक्षसों एवं प्राणियोंके द्रोही सब भूतगणोंको नष्ट कर डाला ॥ २६ ॥ उत्तमका भाई तामस नामका चौथा मनु हुआ । उसके पृथु, नर तथा केतु आदि दस पुत्र हुए ॥२७॥ तामस मन्वन्तरमें सत्यक, हरि तथा वीर नामके देवता और त्रिशिख इन्द्र तथा ज्योतिर्धाम आदि सप्तर्षि थे ॥२८॥ हे राजन् ! उस मन्वन्तरमें विधृति नामके कुछ और भी देवता हुए । जिन्होंने कालक्रमसे नष्ट वेदोंकी अपने तेजसे रक्षा की ॥ २९ ॥ उसी समय हरिमेधा ऋषिकी भार्या हरिणीसे भगवानने 'हरि' अवतार लेकर गजको ग्राहसे छुड़ाया था ॥ ३० ॥ राजा परीक्षित्ने पूछा—हे व्यासतनय ! श्रीहरिने उस गजराजको ग्राहसे जैसे छुड़ाया हो, वह सब चरित्र हम आपके मुखसे सुनना चाहते हैं ॥ ३१ ॥ क्योंकि सब कथाओंमें वही प्रसङ्ग परम पवित्र, धन्य, मङ्गलकारी तथा शुभ होता है, जिसमें पवित्रकीर्ति भगवान हरिका गुणगान हो ॥ ३२ ॥ श्रीसूतजी बोले—हे विप्रो ! अन्न-जल त्याग करके बैठे हुए राजा

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

आसीद् गिरिवरो राजंस्त्रिकूट इति विश्रुतः । क्षीरोदेनावृतः श्रीमान् योजनायुतमुच्छ्रितः ॥१॥
तावता विस्तृतः पर्यक् त्रिभिः शृङ्गैः पयोनिधिम् । दिशः खं रोचयन्नास्ते रौप्यायसहिरण्मयैः ॥२॥
अन्यैश्च ककुभः सर्वा रत्नधातुविचित्रितैः । नानाद्रुमलतागुल्मैर्निर्घोषैर्निर्झराम्भसाम् ॥३॥
स चावनिज्यमानाङ्घ्रिः समन्तात् पयऊर्मिभिः । करोति श्यामलां भूमिं हरिन्मरकताश्मभिः ॥४॥
सिद्धचारणगन्धर्वविद्याधरमहोरगैः । किन्नरैरप्सरोभिश्च क्रीडद्भिर्जुष्टकन्दरः ॥५॥
यत्र सङ्गीतसन्नादैर्नदद्गुहममर्षया । अभिगर्जन्ति हरयः श्लाघिनः परशङ्कया ॥६॥
नानारण्यपशुव्रातसङ्कुलद्रोण्यलंकृतः । चित्रद्रुमसुरोद्यानकलकण्ठविहङ्गमः ॥७॥
सरित्सरोभिरच्छोदैः पुलिनैर्मणिवालुकैः । देवस्त्रीमज्जनामोदसौरभाम्ब्वनिलैर्युतः ॥८॥
तस्य द्रोण्यां भगवतो वरुणस्य महात्मनः । उद्यानमृतुमन्नाम आक्रीडं सुरयोषिताम् ॥९॥
सर्वतोऽलंकृतं दिव्यैर्नित्यं पुष्पफलद्रुमैः । मन्दारैः पारिजातैश्च पाटलाशोकचम्पकैः ॥१०॥
चूतैः प्रियालैः पनसैराम्रैराम्रातकैरपि । क्रमुकैर्नारिकेलैश्च खर्जूरैर्बीजपूरकैः ॥११॥
मधूकैः सालतालैश्च तमालैरसनार्जुनैः । अरिष्टोदुम्बरप्लक्षैर्वटैः किंशुकचन्दनैः ॥१२॥
पिचुमन्दैः कोविदारैः सरलैः सुरदारुभिः । द्राक्षेक्षुरम्भाजम्बूभिर्बदर्यक्षाभयामलैः ॥१३॥
बिल्वैः कपित्थैर्जम्बीरैर्वृतो भल्लातकादिभिः । तस्मिन् सरः सुविपुलं लसत्काञ्चनपङ्कजम् ॥१४॥

परीक्षित्के द्वारा इस तरह प्रेरित होकर श्रीशुकदेवजी कथा-श्रवणोच्छुक मुनियोंकी मण्डलीमें राजा परीक्षित्की प्रशंसा करते हुए बोले ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे पं० रामतेज-पाण्डेयकृत‘सामयिकी’भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(ग्राहके द्वारा गजराजका पकड़ा जाना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! क्षीरसागरसे परिवेष्टित ‘त्रिकूट’ नामसे विख्यात एक पर्वत था । वह बड़ा सुन्दर और दस हजार योजन ऊँचा था ॥ १ ॥ विस्तारमें भी वह सब ओरसे इतना ही फैला हुआ था । वह अपने चाँदी, लोहे तथा सोनेके तीन शिखरोंसे समुद्र, दिशा तथा आकाशको अलंकृत किये था ॥ २ ॥ विविध प्रकारके रत्न तथा धातुओंसे चित्र-विचित्र दृश्यमान अनेक शृङ्गोंसे, भाँति-भाँतिके वृक्ष, लता, गुल्मों और झरनोंके पानीके निनादसे वह सब दिशाओंको सुशोभित कर रहा था ॥ ३ ॥ अपने मूलप्रदेशमें क्षीरसागरकी दुग्धमयी तरङ्गोंसे प्रक्षालित होकर वह हरितवर्णकी मरकतमयी शिलाओंसे पृथिवीको कुछ श्यामल वर्णका बना रहा था ॥४॥ क्रीडासक्त सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किन्नर और अप्सराओंसे उसकी कन्दराएँ सुसेवित रहती थीं ॥५॥ उनके गानवाद्यकी ध्वनिसे कन्दराएँ प्रतिध्वनित होती रहतीं और उस प्रदेशके निवासी सिंह किसी दूसरे सिंहके आगमनकी आशङ्कासे ईर्ष्या तथा असहिष्णुतावश सदा गरजते रहते थे ॥ ६ ॥ उस पर्वतकी कन्दराओंमें विविध जङ्गली जीवोंके झुण्ड रहकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे । वहाँ नाना प्रकारके वृक्षोंसे संकुलित देवोद्यानोंमें पक्षी मधुर ध्वनि करते थे ॥ ७ ॥ वहाँ विमल जलसे भरे और किनारेपर मणिमय बालुकासे सुशोभित बहुतेरी नदियें तथा तालाब थे । वहाँका जल-वायु देवाङ्गनाओंके अवगाहनसे सदा आमोदित रहता था ॥ ८ ॥ उस पर्वतकी गुफाओंमें महामना भगवान वरुणजीका ‘ऋतुमान्’ नामका एक सुरम्य बगीचा था, जो देवाङ्गनाओंकी क्रीडाभूमि था । वह सर्वदा दिव्य पुष्प तथा फलसे लदे वृक्षोंसे सुशोभित रहता था । मन्दार, पारिजात, पाटल, चम्पक, अशोक, चूतफल, प्रियाल, पनस, आम, आम्रातक, क्रमुक, नारियल, खजूर, बिजौरा, मधूक, साल, ताल, तमाल, असन, अर्जुन, अरिष्ट, उदुम्बर, पाकड़, वट, किंशुक, चन्दन, पिचुमन्द, कोविदार, सरल,

कुमुदोत्पलकह्लारशतपत्रश्रियोर्जितम् । मत्तषट्पदनिर्घुष्टं शकुन्तैश्च कलस्वनैः ॥१५॥
हंसकारण्डवाकीर्णं चक्राह्वैः सारसैरपि । जलकुक्कुटकोयष्टिदात्यूहकुलकूजितम् ॥१६॥
मत्स्यकच्छपसञ्चारचलत्पद्मरजःपयः । कदम्बवेतसनलनीपवञ्जुलकैर्वृतम् ॥१७॥
कुन्दैः कुरबकाशोकैः शिरीषैः कुटजेङ्गुदैः । कुब्जकैःस्वर्णयूथीभिर्नागपुन्नागजातिभिः ॥१८॥
मल्लिकाशतपत्रैश्च माधवीजालकादिभिः । शोभितं तीरजैश्चान्यैर्नित्यर्तुभिरलं द्रुमैः ॥१९॥

तत्रैकदा तद्गिरिकाननाश्रयः करेणुभिर्वारणयूथपश्चरन् ।
सकण्टकान् कीचकवेणुवेत्रवद्विशालगुल्मं प्ररुजन् वनस्पतीन् ॥२०॥
यद्गन्धमात्राद्धरयो गजेन्द्रा व्याघ्रादयो व्यालमृगाः सखड्गाः ।
महोरगाश्चापि भयाद् द्रवन्ति सगौरकृष्णाः शरभाश्चमर्यः ॥२१॥
वृका वराहा महिषर्क्षशल्या गोपुच्छसालावृकमर्कटाश्च ।
अन्यत्र क्षुद्रा हरिणाः शशादयश्चरन्त्यभीता यदनुग्रहेण ॥२२॥
स घर्मतप्तः करिभिः करेणुभिर्वृतो मदच्युत्कलभैरनुद्रुतः ।
गिरिं गरिम्णा परितः प्रकम्पयन् निषेव्यमाणोऽलिकुलैर्मदाशनैः ॥२३॥
सरोऽनिलं पङ्कजरेणुरूषितं जिघ्रन् विदूरान्मदविह्वलेक्षणः ।
वृतः स्वयूथेन तृषार्दितेन तत्सरोवराभ्याशमथागमद् द्रुतम् ॥२४॥
विगाह्य तस्मिन्नमृताम्बु निर्मलं हेमारविन्दोत्पलरेणुवासितम् ।
पपौ निकामं निजपुष्करोद्धृतमात्मानमद्भिः स्नपयन् गतक्लमः ॥२५॥

देवदारु, दाख, ईख, कदली, जामुन, बेर, बहेड़ा, हरीतकी, आँवला, बेल, कैथा, नीबू तथा भिलावे आदिके वृक्षोंसे वह वन भरा हुआ था। उसी पर्वतपर सुनहले कमलोंसे भरा हुआ एक बड़ा सरोवर था॥९-१४॥ कुमुद, उत्पल, कह्लार और शतपत्रादिसे उसकी शोभा अधिक बढ़ी हुई थी। मतवाले भौंरे और कलरवकारी विहङ्गम सदा बोलते रहते थे। वह सरोवर हंस, कारण्डव, चक्रवाक तथा सारसादिसे पूर्ण एवं जलकुक्कुट, कोयष्टि तथा पपीहा आदिसे कूजित रहता था॥१५॥१६॥ उसका स्वच्छ जल किलोलें करते हुए मत्स्य तथा कच्छपोंके धक्केसे हिलनेवाले कमलपुष्पोंसे झड़े हुए केसरसे युक्त एवं कदम्ब, बेत, नरकुल, नीप तथा वञ्जुल आदिसे आवेष्टित था॥१७॥ वह सरोवर तटपर उगे कुन्द, कुरवक, अशोक, सिरस, कुटज, इंगुदी, कुब्जक, सुवर्णयूथी (सुनहली जूही) नाग, पुन्नाग, मल्लिका, शतपत्र, माधवी और मोगरा आदि वृक्षों तथा सम्पूर्ण ऋतुओंके तरुवरोंसे शोभायमान था॥ १८ ॥ १९ ॥ एक दिन उसी पर्वतके वनका निवासी एक यूथपति गजराज जिसके गन्धमात्रसे सिंह, व्याघ्र, हाथी, सर्प, मृग, गैंडे, नाग तथा काले-भूरे रंगके शरभ और चमरी वनगाय आदि जङ्गली जीव डरकर भाग जाते थे और जिसकी कृपासे भेड़िये; शूकर, भैंसे, रीछ, शल्य, गोपुच्छ, कुत्ते, बन्दर तथा हरिण और खरगोश आदि क्षुद्र जीव निर्भयभावसे विचरते थे। दूरहीसे उस सरोवरकी कमलकेसरसे सुरभित पवनकी गन्ध सूँघकर अपनी हथिनियोंके साथ घूमता-फिरता कँटीले कीचक, बाँस, बेंत तथा बड़ी-बड़ी झाड़ियोंको रौंदता अपने तृषातुर गजयूथके साथ उस तड़ागके तट पर आया। उस गजके कपोलोंसे मद चू रहा था और वह घामसे घबड़ाया हुआ था। उसके साथ बहुतेरे हाथी और हथिनियें थीं और उनके बच्चे पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। वह अपनी धमकसे सारे पर्वतको कम्पित कर रहा था। मदके लोभी मधुकरोंके झुण्ड उसके गण्डस्थलपर जुटे हुए थे और उस गजके नेत्र मदसे विह्वल हो रहे थे॥ २०-२४ ॥वहाँ आकर वह उस सरोवरमें घुसा और नहाया। श्रमहीन होकर उसने अपनी सूँडसे उसका पीले तथा लाल कम-

स्वपुष्करेणोद्धृतशीकराम्बुभिर्निपाययन् संस्नपयन् यथा गृही ।
घृणी करेणूः कलभांश्च दुर्मदो नाचष्ट कृच्छ्रं कृपणोऽजमायया ॥२६॥
तं तत्र कश्चिन्नृप दैवचोदितो ग्राहो बलीयांश्चरणे रुषाग्रहीत् ।
यदृच्छयैवं व्यसनं गतो गजो यथाबलं सोऽतिबलो विचक्रमे ॥२७॥
तथाऽऽतुरं यूथपतिं करेणवो विकृष्यमाणं तरसा बलीयसा ।
विचुक्रुशुर्दीनधियोऽपरे गजाः पार्ष्णिग्रहास्तारयितुं न चाशकन् ॥२८॥
नियुध्यतोरेवमिभेन्द्रनक्रयोर्विकर्षतोरन्तरतो बहिर्मिथः ।
समाः सहस्रं व्यगमन् महीपते सप्राणयोश्चित्रममंसतामराः ॥२९॥
ततो गजेन्द्रस्य मनोबलौजसां कालेन दीर्घेण महानभूद् व्ययः ।
विकृष्यमाणस्य जलेऽवसीदतो विपर्ययोऽभूत् सकलं जलौकसः ॥३०॥
इत्थं गजेन्द्रः स यदाऽऽप सङ्कटं प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया ।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं दध्याविमां बुद्धिमथाभ्यपद्यत ॥३१॥
न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम् ।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतोऽप्यहं च तं यामि परं परायणम् ॥३२॥
यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम् ।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णने गजेन्द्रोपाख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

लोंकी केसरसे सुरभित सुधानिभ सुस्वादु जल जी भर कर पिया ॥ २५ ॥ तब वह गजराज गृहस्थपुरुषोंकी भाँति मोहग्रस्त हो सूँड़के अग्रभागसे जलकी फुहारें छोड़-छोड़कर साथकी हथिनियों तथा बच्चोंको नहलाने और जल पिलाने लगा। किन्तु भगवान्की मायासे मोहित वह उन्मत्त गजराज आनेवाले महाकष्टको नहीं सोच सका ॥२६॥ हे राजन् ! इसी समय दैवेच्छासे एक महाबलवान् ग्राहने रोषमें भरकर उसका पैर पकड़ लिया। अकस्मात् विपत्तिग्रस्त हो जानेपर महाबली गजराजने ग्राहके मुखसे पैर छुड़ानेके लिये शक्तिभर बहुत जोर लगाया, किन्तु सफल नहीं हुआ ॥२७॥ अपने यूथपतिको अतिबलवान् ग्राह द्वारा हठपूर्व खींचे जानेसे व्याकुल देखकर पास खड़े अन्य हाथी तथा हथिनियाँ अति आतुर होकर चिंघाड़ने लगीं, किन्तु वे भी उस सङ्कटसे उबारनेमें समर्थ नहीं हुईं ॥ २८ ॥ हे राजन् ! महाबली गजराज तथा ग्राहको परस्पर युद्ध करते और एक-दूसरेको जलके भीतर और बाहर खींचते एक सहस्र वर्ष बीत गये। इससे देवताओंको भी बड़ा विस्मय हुआ ॥ २९ ॥ बहुत दिनोंतक जलके भीतर बारम्बार खींचे जानेसे शिथिल गजराजके उत्साह, बल तथा तेज धीरे-धीरे क्षीण होने लगे और उस जलचर ग्राहके लिए सब बातें इसके विपरीत हुईं (अर्थात् उसका बल जैसे इस संघर्षसे और भी बढ़ता गया) ॥ ३० ॥ जब गजराजको प्राणोंका संकट आ उपस्थित हुआ और वह अपनेको छुड़ानेमें सर्वथा असमर्थ रहा तो बहुत समयतक विचारकर एकाएक ऐसा निश्चय हुआ ॥ ३१ ॥ अहो ! दैवके इस ग्राहरूपी पाशमें पड़कर अत्यन्त आतुर मुझको जब ये मेरे साथी हाथी ही नहीं उबार सके, तब भला हथिनियाँ कैसे छुड़ा सकेंगी। सो अब मैं सबके परमाश्रय उन हरिकी शरणमें जाता हूँ ॥ ३२ ॥ जो अतिबलवान् कालसर्पके प्रचण्ड वेगसे भयभीत होकर भागते हुए शरणागत व्यक्तिकी रक्षा करता और जिसके भयसे मृत्यु भी भागती है—ऐसा जो कोई ईश्वर है, हम उस शरणद महाप्रभुकी शरण गहते हैं' ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं व्यवसितो बुद्धया समाधाय मनो हृदि । जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥१॥

गजेन्द्र उवाच

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम् । पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥२॥
यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् । योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥३॥

यः स्वात्मनीदं निजमाययार्पितं क्वचिद् विभातं क्व च तत् तिरोहितम् ।
अविद्धदृक् साक्ष्युभयं तदीक्षते स आत्ममूलोऽवतु मां परात्परः ॥४॥
कालेन पञ्चत्वमितेषु कृत्स्नशो लोकेषु पालेषु च सर्वहेतुषु ।
तमस्तदाऽऽसीद् गहनं गभीरं यस्तस्य पारेऽभिविराजते विभुः ॥५॥
न यस्य देवा ऋषयः पदं विदुर्जन्तुः पुनः कोऽर्हति गन्तुमीरितुम् ।
यथा नटस्याकृतिभिर्विचेष्टतो दुरत्ययानुक्रमणः स मावतु ॥६॥
दिदृक्षवो यस्य पदं सुमङ्गलं विमुक्तसङ्गा मुनयः सुसाधवः ।
चरन्त्यलोकव्रतमव्रणं वने भूतात्मभूताः सुहृदः स मे गतिः ॥७॥
न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा न नामरूपे गुणदोष एव वा ।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥८॥

तस्मै नमः परेशाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये । अरूपायोरुरूपाय नम आश्चर्यकर्मणे ॥९॥
नम आत्मप्रदीपाय साक्षिणे परमात्मने । नमो गिरां विदूराय मनसश्चेतसामपि ॥१०॥

(गजेन्द्रका भगवानकी स्तुति करना और सङ्कटसे मुक्त होना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ऐसा निश्चय करके गजेन्द्रने अपना मन हृदयदेशमें स्थिर किया और अपने पूर्वजन्ममें सीखा हुआ यह श्रेष्ठ स्तोत्र जपने लगा ॥ १ ॥ गजेन्द्रने कहा—इस शरीरको जिनसे चेतना प्राप्त होती है, उन जगत्के आदिकारण परमपुरुष भगवानको मैं नमस्कार करके स्मरण करता हूँ ॥ २ ॥ सारा जगत् जिनमें स्थित है, जिनसे यह उत्पन्न हुआ है, जिनसे यह व्याप्त है, जो स्वयमेव जगत् हैं और जो कार्य-कारणस्वरूप जगत्से परे हैं, उन भगवान स्वयम्भूकी मैं शरणमें हूँ ॥ ३ ॥ कभी जिनकी दृष्टि लुप्त नहीं होती, वे प्रभु अपने भीतर अपनी मायाके द्वारा स्थापित, कभी प्रकट तथा कभी तिरोहित हो जानेवाले इन कार्य-कारणस्वरूप प्रपञ्चोंको साक्षीरूपसे सदा देखते हैं । कालक्रमसे सब लोक, लोकपाल तथा जगत्के कारणोंके नष्ट हो जानेपर जब अतिगहन तथा गम्भीर अन्धकारमात्र शेष रह जाता, तब जो सर्व-व्यापक भगवान उसके पार विराजते हैं, वे आत्मयोनि परात्पर प्रभु इस संकटसे मुझे बचावें ॥४॥५॥ अहो ! देवता और ऋषि भी जिनका स्वरूप नहीं जानते, उन्हें भला कोई प्राणी कैसे जान या कह सकता है ? विविध वेषधारी तथा विचित्र चेष्टाशील नटकी नाईं दुर्गम लीलाशील प्रभु मेरा उद्धार करें ॥ ६ ॥ जिनका स्वरूप देखनेके लिए सब जीवोंके आत्मा, सुहृद्, असंग तथा साधुस्वभाव मुनिजन् वनमें रहकर अखण्डभावसे ब्रह्मचर्यादि व्रत पालते हैं, वे भगवान ही मेरी गति हैं ॥ ७ ॥ जिनके जन्म-कर्म, नाम-रूप तथा गुण-दोषादि कुछ भी नहीं है, फिर भी लोकोंकी रचना तथा प्रलयार्थ जो अपनी मायासे समयानुसार उन्हें अंगीकार कर लेते हैं, उन अनन्तशक्ति-सम्पन्न, आश्चर्यकर्मा तथा रूपरहित होकर भी अनेक रूपधारी परब्रह्म परमेश्वरको बारम्बार प्रणाम है ॥ ८ ॥ ९ ॥ जो स्वयं-प्रकाशशील, सबके साक्षी तथा मन, वाणी एवं चित्तसे भी दूर हैं, उन परमात्माको अनेकशः

सत्त्वेन प्रतिलभ्याय नैष्कर्म्येण विपश्चिता। नमः कैवल्यनाथाय निर्वाणसुखसंविदे ॥११॥
नमः शान्ताय घोराय मूढाय गुणधर्मिणे। निर्विशेषाय साम्याय नमो ज्ञानघनाय च ॥१२॥
क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे। पुरुषायात्ममूलाय मूलप्रकृतये नमः ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणद्रष्ट्रे सर्वप्रत्ययहेतवे। असतां छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ॥१४॥

नमो नमस्तेऽखिलकारणाय निष्कारणायाद्भुतकारणाय।
सर्वागमाम्नायमहार्णवाय नमोऽपवर्गाय परायणाय ॥१५॥
गुणारणिच्छन्नचिदूष्मपाय तत्क्षोभविस्फूर्जितमानसाय।
नैष्कर्म्यभावेन विवर्जितागमस्वयम्प्रकाशाय नमस्करोमि ॥१६॥
मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीतप्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥१७॥
आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तैर्दुष्प्रापणाय गुणसङ्गविवर्जिताय।
मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय ॥१८॥
यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥१९॥
एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमङ्गलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः ॥२०॥

प्रणाम है ॥ १० ॥ जो संन्यासमार्ग द्वारा शुद्ध चित्तमें उपलब्ध होते हैं, उन निर्वाणानन्दानुभवरूपी मोक्षपतिको नमस्कार है ॥ ११ ॥ जो शान्त, घोर, मूढरूप तथा सत्त्वादि गुणोंके धर्मोंका अनुकरण करते हैं, उन निर्विशेष, सर्वत्र समान भावसे स्थित तथा विज्ञानघन परमात्माको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १२ ॥ जो क्षेत्रज्ञ, सबके अध्यक्ष तथा साक्षी, सबके पहलेसे विद्यमान, जीवोंके आदि-कारण तथा मूल प्रकृतिके भी उद्भवस्थान हैं, उन प्रभुको मेरा नमस्कार है ॥ १३ ॥ जो सब इन्द्रियोंके विषयोंको देखते हैं, जो सभी प्रतीतियोंके कारण हैं, छायारूपी असत् अहंकारादिके द्वारा जिनकी सत्ता दीखती और जो सब वस्तुओंमें सत्‌रूपसे प्रकाशित होते हैं, उन आपको प्रणाम है ॥ १४ ॥ जो सबके कारण, कारणरहित तथा अद्भुत कारणस्वरूप हैं, जो सब वेदों और शास्त्रोंके महासागर-रूप, मोक्षस्वरूप तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके आधार हैं, उन आपको बारम्बार प्रणाम है ॥ १५ ॥ जो गुणरूपी अरणिमें छिपे ज्ञानाग्निस्वरूप हैं, गुणक्षोभसे ही जिनमें मनःस्फूर्ति होती है, आत्मतत्त्वकी भावनासे विधिनिषेधरूपी शास्त्रकी उपेक्षा कर देनेवाले ज्ञानियोंके प्रति जो स्वयं प्रकाशमान होते हैं, ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥ जो मेरे सरीखे शरणागत पशुओंके भी बन्धन काट देते हैं, जो मुक्तस्वरूप, अति करुणामय तथा आलस्यहीन हैं, अपने अंशोंसे सब देहधारियोंके अन्तःकरणोंमें प्रतीयमान उन अपरिच्छिन्न तथा अन्तर्यामी भगवानको प्रणाम है ॥ १७ ॥ जो देह, पुत्र, स्वजन, गृह, धन तथा भृत्यादिमें आसक्तचित्त पुरुषोंको दुष्प्राप्य तथा गुणसंगसे रहित हैं और जीवन्मुक्त पुरुषों द्वारा जो हृदयमें सुमिरे जाते हैं, उन ज्ञानस्वरूप भगवानको नमस्कार है ॥ १८ ॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके इच्छुक पुरुष जिनको भजते हुए अभीष्ट गति पा जाते और जो उन्हें विविध भोग तथा सुदृढ़ शरीर देते हैं, वे परमदयालु प्रभु मुझे इस महा संकटसे छुड़ावें ॥ १९ ॥ संसारके भगवत्परायण तथा अनन्य भक्त जिनके अद्भुत तथा मङ्गलमय चरित्रोंको गाते हुए परमानन्दसमुद्रमें मग्न होकर और कुछ नहीं चाहते, उन अविनाशी, परमेश्वर, अव्यक्त, आत्मज्ञानसे ज्ञेय, अतीन्द्रिय,

तमक्षरं ब्रह्म परं परेशमव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम् ।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूरमनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे ॥२१॥
यस्य ब्रह्मादयो देवा वेदा लोकाश्चराचराः । नामरूपविभेदेन फल्ग्व्या च कलया कृताः ॥२२॥
यथार्चिषोऽग्नेः सवितुर्गभस्तयो निर्यान्ति संयान्त्यसकृत् स्वरोचिषः ।
तथा यतोऽयं गुणसम्प्रवाहो बुद्धिर्मनः खानि शरीरसर्गाः ॥२३॥
स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन् निषेधशेषो जयतादशेषः ॥२४॥
जिजीविषे नाहमिहामुया किमन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवस्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥२५॥
सोऽहं विश्वसृजं विश्वमविश्वं विश्ववेदसम् । विश्वात्मानमजं ब्रह्म प्रणतोऽस्मि परं पदम् ॥२६॥
योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते । योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥२७
नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेगशक्तित्रयायाखिलधीगुणाय ।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने ॥२८॥
नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम् । तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम्॥२९॥

श्रीशुक उवाच

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः ।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात् तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत् ॥३०॥

सूक्ष्म, अतिदूर, अनन्त, आद्य एवं परिपूर्ण परब्रह्मकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ २० ॥ २१ ॥ जिनके अति सूक्ष्म अंश तथा नामरूपके भेदसे ब्रह्मादि देवता सब वेदों तथा चराचर लोकोंकी सृष्टि हुई है ॥ २२ ॥ जैसे अग्निकी लपटें और सूर्यकी किरणें सर्वदा अग्नि और सूर्यसे निकलतीं और उन्हींमें लय हो जाती हैं। वैसे ही जिनसे बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा शरीररूपी गुणोंका प्रवाह होता ही रहता है वे भगवान देवता, असुर, मनुष्य, तिर्यक्, स्त्री, नपुंसक, पुरुष तथा जीव कुछ भी नहीं और न वे गुण कर्म, सत् अथवा असत् ही है। अतएव सबके निषेध कर देनेपर भी जो निषेधावधिरूपसे शेष बच जाते हैं, उन सर्वरूप परमेश्वरकी जय हो ॥ २३ ॥ २४ ॥ मैं इस ग्राहके मुखसे छूटकर जीवित नहीं रहना चाहता। क्योंकि बाहर-भीतर सब ओर अज्ञानसे आवृत हाथीकी योनिमें मेरा क्या लाभ हो सकता है? मैं तो आत्मप्रकाशको ढकनेवाले अज्ञानसे मुक्ति चाहता हूँ, जिसका कि काल भी अन्त नहीं कर पाता ॥ २५ ॥ संसारसे मुक्त होनेका इच्छुक मैं उन परब्रह्मकी शरणमें हूँ, जो समस्त विश्वके रचयिता, विश्वस्वरूप, विश्वातीत, विश्वरूप सामग्रीसे कौतुक करनेवाले, विश्वके अन्तरात्मा तथा अजन्मा हैं ॥ २६ ॥ योगाभ्याससे दग्धकर्मा योगी-जन जिनका अपने योगविशुद्ध अन्तःकरणमें साक्षात्कार करते हैं, उन योगेश्वरको प्रणाम है ॥ २७ ॥ असह्य वेगमयी तीन शक्तियोंसे सम्पन्न, सब इन्द्रियोंके शब्दादि गुणरूपसे प्रतीयमान, शरणागतोंके रक्षक और अजितेन्द्रिय पुरुष जिनकी प्राप्तिका मार्ग नहीं खोज पाते, उन आप अनन्तशक्ति-सम्पन्न भगवानको प्रणाम है ॥ २८ ॥ यह जीव जिनकी मायासे उत्पन्न अहंबुद्धि द्वारा आवृत आत्मस्वरूपको नहीं जान पाता, उन दुस्तर महिमामय भगवानको प्रणाम है ॥ २९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! गजेन्द्रके इस तरह निर्विशेषभावसे स्तुति करनेपर जब भिन्न-भिन्न रूपोंके अभिमानी ब्रह्मादि देवताओंमेंसे कोई उसे छुड़ाने नहीं आया, तब सर्वरूपमय होनेसे सर्वदेवमय

तं तद्वदार्तमुपलभ्य जगन्निवासः स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः ।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ॥३१॥
सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम् ।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते ॥३२॥
तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार ।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं संपश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम् ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायामष्टमस्कन्धे गजेन्द्रमोक्षणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तदा देवर्षिगन्धर्वा ब्रह्मेशानपुरोगमाः । मुमुचुः कुसुमासारं शंसन्तः कर्म तद्धरेः ॥१॥
नेदुर्दुन्दुभयो दिव्या गन्धर्वा ननृतुर्जगुः । ऋषयश्चारणाः सिद्धास्तुष्टुवुः पुरुषोत्तमम् ॥२॥
योऽसौ ग्राहः स वै सद्यः परमाश्चर्यरूपधृक् । मुक्तो देवलशापेन हूहूर्गन्धर्वसत्तमः ॥३॥
प्रणम्य शिरसाधीशमुत्तमश्लोकमव्ययम् । अगायत यशोधाम कीर्तन्यगुणसत्कथम् ॥४॥
सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम् । लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः ॥५॥
गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् । प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥६॥

हरि स्वयं प्रकटे ॥ ३० ॥ गजेन्द्रको अत्यन्त आर्त्त देख तथा उसके स्तोत्रको सुनकर जगन्निवास श्रीहरि, वेदमय गरुड़पर आरूढ़ होकर हाथमें चक्ररूपी आयुध लिये स्तुति करते हुए देवताओंके समक्ष जहाँ गजेन्द्र था, वहाँ शीघ्र जा पहुँचे ॥ ३१ ॥ सरोवरके भीतर महाबली ग्राह द्वारा ग्रस्त आर्त्त गजराजने जब आकाशमें चक्रधारी हरिको गरुड़पर चढ़कर आते देखा तो अपनी सूँड़में एक कमलका फूल ले और उसे ऊपरकी ओर उठाकर बड़े कष्टसे कहा—"हे नारायण ! हे अखिलगुरो ! हे भगवन् ! आपको प्रणाम है" ॥ ३२ ॥ गजेन्द्रको अत्यन्त पीड़ित देख अजन्मा हरि गरुड़की भी चाल धीमी देखकर सहसा उतर पड़े और अतिकृपापूर्वक दौड़कर अपने हाथों ग्राहसहित गजको सरोवरसे बाहर निकाल लिया और सब देवताओंके समक्ष श्रीहरिने सुदर्शन चक्रसे ग्राहका मुख फाड़कर गजराजको छुड़ा दिया ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(गज तथा ग्राहके पूर्वजन्मका वृत्तान्त और उनका उद्धार) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवानकी यह लीला देखकर ब्रह्मा-शिव आदि देवता, ऋषि और सब गन्धर्व भगवानकी भक्त-वत्सलताकी प्रशंसा करते हुए उनपर फूल बरसाने लगे ॥ १ ॥ स्वर्गमें दिव्य दुन्दुभियें बजने लगीं, गन्धर्व नाचने और गाने लगे। उधर ऋषि, चारण तथा सिद्धगण पुरुषोत्तम भगवानकी स्तुति करने लगे ॥ २ ॥ हे राजन् ! यह ग्राह पूर्वजन्ममें गन्धर्वश्रेष्ठ हूहू था। भगवत्करस्पर्शसे उसने महात्मा देवलके शापसे मुक्त होकर तुरन्त अति आश्चर्यपूर्ण और दिव्य शरीर धारण किया। तदनन्तर कीर्तनीय गुण एवं चरित्रवाले, कीर्तिधाम, उत्तमश्लोक, अविनाशी, जगदीश्वरको उसने प्रणाम किया और उनका पुनीत सुयश गाने लगा। भगवानकी कृपा प्राप्त करके हूहूने उनकी परिक्रमा की और सब लोकोंके समक्ष भगवानको प्रणामकर और सब पाप नष्ट करके अपने लोकको चला गया ॥ ३-५ ॥ भगवान्के हाथोंका स्पर्श पाकर गजराज भी अज्ञानबन्धनसे छूट गया और पीताम्बरधारी

स वै पूर्वमभूद् राजा पाण्ड्यो द्रविडसत्तमः । इन्द्रद्युम्न इति ख्यातो विष्णुव्रतपरायणः ॥७॥

स एकदाऽऽराधनकाल आत्मवान् गृहीतमौनव्रत ईश्वरं हरिम् ।
जटाधरस्तापस आप्लुतोऽच्युतं समर्चयामास कुलाचलाश्रमः ॥८॥
यदृच्छया तत्र महायशा मुनिः समागमच्छिष्यगणैः परिश्रितः ।
तं वीक्ष्य तूष्णीमकृतार्हणादिकं रहस्युपासीनमृषिश्चुकोप ह ॥ ९ ॥
तस्मा इमं शापमदादसाधुरयं दुरात्माकृतबुद्धिरद्य ।
विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं यथा गजः स्तब्धमतिः स एव ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

एवं शप्त्वा गतोऽगस्त्यो भगवान् नृप सानुगः । इन्द्रद्युम्नोऽपि राजर्षिर्दिष्टं तदुपधारयन् ॥११॥
आपन्नः कौञ्जरीं योनिमात्मस्मृतिविनाशिनीम् । हर्यर्चनानुभावेन यद्गजत्वेऽप्यनुस्मृतिः ॥१२॥

एवं विमोक्ष्य गजयूथपमब्जनाभस्तेनापि पार्षदगतिं गमितेन युक्तः ।
गन्धर्वसिद्धविबुधैरुपगीयमानकर्माद्भुतं स्वभवनं गरुडासनोऽगात् ॥ १३ ॥
एतन्महाराज तवेरितो मया कृष्णानुभावो गजराजमोक्षणम् ।
स्वर्ग्यं यशस्यं कलिकल्मषापहं दुःस्वप्ननाशं कुरुवर्य शृण्वताम् ॥ १४ ॥

यथानुकीर्तयन्त्येतच्छ्रेयस्कामा द्विजातयः । शुचयः प्रातरुत्थाय दुःस्वप्नाद्युपशान्तये ॥१५॥
इदमाह हरिः प्रीतो गजेन्द्रं कुरुसत्तम । शृण्वतां सर्वभूतानां सर्वभूतमयो विभुः ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

ये मां त्वां च सरश्चेदं गिरिकन्दरकाननम् । वेत्रकीचकवेणूनां गुल्मानि सुरपादपान् ॥१७॥

चतुर्भुजरूप धारणकर भगवानके सारूप्यको प्राप्त हो गया ॥ ६ ॥ यह गजेन्द्र पूर्वजन्ममें 'इन्द्रद्युम्न' नामक पाण्ड्यदेशका सम्राट् था । उस जन्ममें वह विष्णुभगवानका अनन्य उपासक और द्रविड-जातिमें सर्वश्रेष्ठ था ॥ ७ ॥ एक समय वह मनस्वी राजा जटा बढ़ा और तपस्यामें लीन होकर मलयपर्वतपर अपने आश्रममें स्नान करके मौनावलम्बनपूर्वक अच्युत परमेश्वर श्रीहरिकी उपासना कर रहा था ॥ ८ ॥ इसी समय अपनी शिष्यमण्डली सहित महायशस्वी मुनिवर अगस्त्यजी वहाँ जा पहुँचे । उन्होंने देखा कि मेरा पूजन-सत्कार आदि न करके राजा चुपचाप बैठा है तो वे उसपर कुपित हो गये ॥ ९ ॥ उन्होंने उसे शाप दिया कि तू बड़ा असाधु, दुरात्मा और मूर्ख है । जो तूने आज इस तरह ब्राह्मणजातिका अपमान किया है । तू हाथीकी भाँति जडबुद्धिका है । सो तू उसी अज्ञानमयी योनिमें चला जा ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ऐसा शाप देकर अगस्त्यजी शिष्योंके साथ वहाँसे लौट गये । इन्द्रद्युम्नने उसे प्रारब्धभोग समझा और आत्म-ज्ञानहीन हाथीकी योनि पायी । उस जन्ममें लगनके साथ भगवानकी आराधना करनेसे गजयोनिमें भी उसे आत्मस्वरूपकी स्मृति बनी रही ॥ ११ ॥ १२ ॥ उसका उद्धार करके भगवान कमलनाभ पार्षदत्वको प्राप्त गजेन्द्रको साथ ले गरुड़पर आरूढ़ हुए और गन्धर्व, सिद्ध तथा देवताओं द्वारा अपना गुणगान सुनते हुए अपने धामको सिधारे ॥ १३ ॥ हे महाराज ! भगवानका गजेन्द्रमोक्ष-रूप प्रभाव मैंने तुमसे कहा । यह कथा कलिके सब दोषों तथा श्रोताओंके दुःस्वप्नोंको नष्ट करके उन्हें स्वर्ग तथा सुयश प्राप्त करा देती है ॥ १४ ॥ इसीलिए कल्याणेच्छुक द्विज दुःस्वप्नादिकी शान्तिके लिये सबेरे उठ और पवित्र होकर नित्य इसका पाठ करते हैं ॥ १५ ॥ हे कुरुसत्तम ! सर्वभूतमय भगवानने सब प्राणियोंके समक्ष गजेन्द्रसे कहा ॥ १६ ॥ श्रीभगवान बोले—हे गजेन्द्र ! जो प्राणी रात्रिके पिछले

श्रृङ्गाणीमानि धिष्ण्यानि ब्रह्मणो मे शिवस्य च। क्षीरोदं मे प्रियं धाम श्वेतद्वीपं च भास्वरम् ॥१८॥
श्रीवत्सं कौस्तुभं मालां गदां कौमोदकीं मम। सुदर्शनं पाञ्चजन्यं सुपर्णं पतगेश्वरम् ॥१९॥
शेषं च मत्कलां सूक्ष्मां श्रियं देवीं मदाश्रयाम्। ब्रह्माणं नारदमृषिं भवं प्रह्लादमेव च ॥२०॥
मत्स्यकूर्मवराहाद्यैरवतारैः कृतानि मे। कर्माण्यनन्तपुण्यानि सूर्यं सोमं हुताशनम् ॥२१॥
प्रणवं सत्यमव्यक्तं गोविप्रान् धर्ममव्ययम्। दाक्षायणीर्धर्मपत्नीः सोमकश्यपयोरपि ॥२२॥
गङ्गां सरस्वतीं नन्दां कालिन्दीं सितवारणम्। ध्रुवं ब्रह्मऋषीन्सप्त पुण्यश्लोकांश्च मानवान् ॥२३॥
उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः। स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्तेह्येनसोऽखिलात् ॥२४
ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये। तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम् ॥२५॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य हृषीकेशः प्रध्माय जलजोत्तमम्। हर्षयन् विबुधानीकमारुरोह खगाधिपम् ॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे गजेन्द्रमोक्षणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

राजन्नुदितमेतत् ते हरेः कर्माघनाशनम्। गजेन्द्रमोक्षणं पुण्यं रैवतं त्वन्तरं शृणु ॥ १ ॥
पञ्चमो रैवतो नाम मनुस्तामससोदरः। बलिविन्ध्यादयस्तस्य सुता अर्जुनपूर्वकाः ॥ २ ॥
विभुरिन्द्रः सुरगणा राजन् भूतरयादयः। हिरण्यरोमा वेदशिरा ऊर्ध्वबाह्वादयो द्विजाः ॥३॥
पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः। तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम् ॥४॥

पहर उठकर इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एकाग्र मनसे हमें, तुम्हें, इस सरोवर, पर्वत, कन्दरा, वन, बेंत, कीचक, बाँसोंकी झुरमुट, देववृक्ष, पर्वत-शिखर, मेरे, ब्रह्माजीके तथा श्रीशङ्करभगवानके निवासस्थान, मेरे प्रियधाम वैकुण्ठ, क्षीरसागर, प्रकाशमय श्वेतद्वीप, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला, कौमोदकी गदा, सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शंख, पक्षिराज गरुड़, मेरे सूक्ष्म अंशस्वरूप शेषजी, मेरे आश्रित रहनेवाली देवी लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी, देवर्षि नारद, महादेवजी, प्रह्लाद, मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों द्वारा किये मेरे अनन्तपुण्य युक्त चरित्र, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, ॐकार, सत्य, अव्यक्त, गौ, ब्राह्मण, अविनाशी धर्म, चन्द्रमा, कश्यपकी पत्नियाँ, दक्षकन्याएँ, गङ्गा, सरस्वती, नन्दा, कालिन्दी, ऐरावत, ध्रुव, सात ब्रह्मर्षि तथा पवित्रकीर्ति मनुष्य आदिके मेरे रूपोंका स्मरण करेंगे, वे सब पापोंसे छूट जायँगे ॥१७—२४ ॥ हे प्रिय ! जो लोग प्रातःकाल तुम्हारे द्वारा किये हुए स्तोत्रसे मेरी स्तुति करेंगे, उन्हें मरणकालमें भी मैं पवित्र बुद्धि दूँगा ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान हृषीकेश ऐसा कह और अपना श्रेष्ठ शंख बजाकर देवताओंको आनन्दित करते हुए गरुड़पर सवार हो गये ॥ २६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(दैत्योंसे पराजित देवताओंका ब्रह्माजीके पास जाना और ब्रह्माजीका देवताओंका कष्ट दूर करनेके निमित्त भगवानसे विनय करना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह मैंने पापहारी गजेन्द्रमोक्ष नामक भगवानका पावन चरित्र कहा। अब रैवत मन्वन्तरका वृत्तान्त सुनो ॥ १ ॥ महात्मा तामस मनुके सगे भाई रैवत पाँचवें मनु हुए। उनके अर्जुन, बलि, विन्ध्य आदि कई बेटे थे ॥ २ ॥ हे राजन् ! उस मन्वन्तरमें विभु नामके इन्द्र भूतरय आदि देवता तथा हिरण्यरोमा, वेदशिरा और ऊर्ध्वबाहु आदि सप्तर्षि थे ॥ ३ ॥ शुभ्र ऋषिकी भार्या विकुण्ठाके गर्भसे भगवानने देवताओं और अपने

वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः । रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥५॥
तस्यानुभावः कथितो गुणाश्च परमोदयाः । भौमान् रेणून् स विममे यो विष्णोर्वर्णयेद्गुणान् ॥६॥
षष्ठश्च चक्षुषः पुत्रश्चाक्षुषो नाम वै मनुः । पूरुपूरुषसुद्युम्नप्रमुखाश्चाक्षुषात्मजाः ॥७॥
इन्द्रो मन्त्रद्रुमस्तत्र देवा आप्यादयो गणाः । मुनयस्तत्र वै राजन् हविष्मद्वीरकादयः ॥८॥
तत्रापि देवः सम्भूत्यां वैराजस्याभवत् सुतः । अजितो नाम भगवानंशेन जगतः पतिः ॥९॥
पयोधिं येन निर्मथ्य सुराणां साधिता सुधा । भ्रममाणोऽम्भसि धृतः कूर्मरूपेण मन्दरः ॥१०॥

राजोवाच

यथा भगवता ब्रह्मन् मथितः क्षीरसागरः । यदर्थं वा यतश्चाद्रिं दधाराम्बुचरात्मना ॥११॥
यथामृतं सुरैः प्राप्तं किञ्चान्यदभवत् ततः । एतद् भगवतः कर्म वदस्व परमाद्भुतम् ॥१२॥
त्वया संकथ्यमानेन महिम्ना सात्वतां पतेः । नातितृप्यति मे चित्तं सुचिरं तापतापितम् ॥१३॥

सूत उवाच

सम्पृष्टो भगवानेवं द्वैपायनसुतो द्विजाः । अभिनन्द्य हरेर्वीर्यमभ्याचष्टुं प्रचक्रमे ॥१४॥

श्रीशुक उवाच

यदा युद्धेऽसुरैर्देवा बाध्यमानाः शितायुधैः । गतासवो निपतिता नोत्तिष्ठेरन् स्म भूयशः ॥१५॥
यदा दुर्वाससः शापात् सेन्द्रा लोकास्त्रयो नृप । निःश्रीकाश्चाभवंस्तत्र नेशुरिज्यादयः क्रियाः ॥१६॥
निशाम्यैतत् सुरगणा महेन्द्रवरुणादयः । नाध्यगच्छन् स्वयं मन्त्रैर्मन्त्रयन्तो विनिश्चयम् ॥१७

अंशसे वैकुण्ठ अवतार लिया था ॥ ४ ॥ उन्होंने श्रीलक्ष्मीजीके प्रीत्यर्थ उनकी प्रार्थनासे लोकनमस्कृत वैकुण्ठधाम रचा था ॥ ५ ॥ वैकुण्ठभगवानके परम उदार गुण तथा माहात्म्यका संक्षिप्त वृत्तान्त हम पहले (तृतीयस्कन्धमें) बता चुके हैं । जो प्राणी विष्णुभगवानके सब गुण गा सकेगा, वह पृथिवीके परमाणुओंको भी गिन लेगा ॥ ६ ॥ छठें मनु चक्षुषके पुत्र चाक्षुष हुए । उनके पूरु, पूरुष और सुद्युम्न आदि कई पुत्र थे ॥ ७ ॥ उस मन्वन्तरमें मन्त्रद्रुम इन्द्र, आप्य आदि देवता तथा हविष्मान् एवं वीरक आदि सप्तर्षि थे ॥ ८ ॥ चाक्षुष मन्वन्तरमें जगतपति भगवान अपने अंशसे वैराजकी भार्या सम्भूतिके गर्भसे उत्पन्न होकर 'अजित' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥ उन्होंने समुद्र मथकर देवताओंको अमृत पिलाया और जलमें घूमते हुए मन्दराचलको कूर्मरूपसे अपनी पीठपर धारण किया था ॥ १० ॥ राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! भगवानने क्षीरसागरको जैसे मथवाया, जिसके निमित्त भगवानने कूर्मरूपसे मन्दराचलको पीठपर धारण किया, जैसे देवताओंको अमृत मिला । अमृतके अतिरिक्त और भी जो-जो पदार्थ निकले हों, भगवानके वह सब चरित्र आप हमसे कहिए ॥११॥१२॥ विविध तापोंसे सन्तप्त मेरा मन आपकी कही भगवानकी महिमाको बारंबार सुनकर भी तृप्त नहीं होने पाता ॥ १३ ॥ श्रीसूतजी बोले—हे विप्रो ! राजाके ऐसा कहनेपर व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीने उनकी पुनः पुनः प्रशंसा की और श्रीहरिके चरित्रोंका वर्णन करने लगे ॥ १४ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन् ! जब देव-दानवयुद्धमें असुरोंके तीक्ष्ण आयुधोंसे व्यथित एवं प्राणहीन होकर पृथिवीपर गिरे देवताओंमेंसे अधिकांश देवता नहीं उठ सके ॥ १५ ॥ और जब दुर्वासाजीके शापसे इन्द्र समेत तीनों लोक श्रीविहीन हो गये और यज्ञादि कर्मोंका मूलोच्छेद हो गया । यह दुर्दशा देखकर जब इन्द्र-वरुणादि देवता परस्पर मंत्रणा करके भी स्वयं कोई निश्चय नहीं कर सके, तब वे सब सुमेरु-शेखरस्थित ब्रह्माजीकी सभामें गये और अतिविनयभावसे सब बातें श्रीब्रह्माजीसे कहीं । *कथान्तर* एक समय श्रीदुर्वासाजी वैकुण्ठलोकसे चले आ रहे थे । राहमें ऐरावतपर चढ़े देवराज इन्द्र मिल गये । दुर्वासाजीने उन्हें त्रिलोकाधिपति जानकर भगवानके प्रसादकी माला दी । इन्द्रने ऐश्वर्यमदसे उसका कुछ भी आदर न करके वह माला

ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्धनि सर्वशः । सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने ॥१८॥
स विलोक्येन्द्रवाय्वादीन् निःसत्त्वान् विगतप्रभान् । लोकानमङ्गलप्रायानसुरानयथा विभुः ॥१९॥
समाहितेन मनसा संस्मरन् पुरुषं परम् । उवाचोत्फुल्लवदनो देवान् स भगवान् परः ॥२०॥

अहं भवो यूयमथोऽसुरादयो मनुष्यतिर्यग्द्रुमघर्मजातयः ।
यस्यावतारांशकलाविसर्जिता व्रजाम सर्वे शरणं तमव्ययम् ॥ २१ ॥
न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः ।
अथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले ॥ २२ ॥
अयं च तस्य स्थितिपालनक्षणः सत्त्वं जुषाणस्य भवाय देहिनाम् ।
तस्माद् व्रजामः शरणं जगद्गुरुं स्वानां स नो धास्यति शं सुरप्रियः ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इत्याभाष्य सुरान् वेधाः सह देवैररिन्दम । अजितस्य पदं साक्षाज्जगाम तमसः परम् ॥२४॥
तत्रादृष्टस्वरूपाय श्रुतपूर्वाय वै विभो । स्तुतिमब्रूत दैवीभिर्गीर्भिस्त्ववहितेन्द्रियः ॥२५॥

ब्रह्मोवाच

अविक्रियं सत्यमनन्तमाद्यं गुहाशयं निष्कलमप्रतर्क्यम् ।
मनोऽग्रयानं वचसानिरुक्तं नमामहे देववरं वरेण्यम् ॥ २६ ॥
विपश्चितं प्राणमनोधियात्मनामर्थेन्द्रियाभासमनिद्रमव्रणम् ।
छायातपौ यत्र न गृध्रपक्षौ तमक्षरं खं त्रियुगं व्रजामहे ॥ २७ ॥

ऐरावतके मस्तकपर फेंक दी। ऐरावतने वह माला सूँड़में लेकर पैरोंसे कुचल डाली। तब दुर्वासाजीने क्रुद्ध होकर शाप दिया—'तू तीनों लोकों समेत शीघ्र श्रीहीन हो जा।' ॥ १६–१८ ॥ ब्रह्माजीने देखा कि इन्द्र, वायु आदि सब देवता निःसत्त्व तथा कान्तिहीन हो रहे हैं और सभी लोक दुर्दशाग्रस्त हो गये हैं। उधर दैत्योंकी दशा सर्वथा इसके विपरीत है। तब भगवान् परमेष्ठीने एकाग्र-मनसे परम-पुरुष श्रीनारायणका चिन्तनकर और प्रसन्नवदन हो उनसे कहा—॥ १९ ॥ २० ॥ हे देवताओं! मैं, महादेवजी, तुमलोग, सभी असुर तथा मनुष्य, तिर्यक्, वृक्ष और स्वेदजादि सब जीव जिन पुरुषावतारके एक अंशके भी अंशसे रचित हैं, हम उन्हीं अविनाशी प्रभुकी शरणमें हैं ॥ २१ ॥ उनकी दृष्टिमें कोई वध्य, रक्षणीय, उपेक्षणीय अथवा आदरणीय नहीं है। फिर भी संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहारके लिये वे समय-समयपर क्रम-क्रमसे रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुण ग्रहण करते हैं ॥ २२ ॥ इस समय सब प्राणियोंके कल्याणार्थ वे सत्त्वगुण धारण किये हुए हैं, यही उनके जगत्की रक्षा करनेका सुअवसर है। सो हम उन्हीं जगद्गुरुकी शरण लेते हैं। वे देवताओंके प्रिय हैं, इसलिए अवश्य हमारा मङ्गल करेंगे ॥ २३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे शत्रुदमन! देवताओंसे ऐसा कहकर ब्रह्माजी सबको साथ ले तमोगुणके पार भगवान् अजितके निवासस्थान पर गये ॥ २४ ॥ वहाँ पहुँच और इन्द्रियोंको एकाग्र करके जिनका स्वरूप कभी किसीको दीखा नहीं था, किन्तु पहले सुना जा चुका है, उन भगवानकी वैदिक वाणीसे स्तुति करते हुए बोले ॥ २५ ॥ श्रीब्रह्माजीने कहा—जो निर्विकार, सत्य, अनन्त, आदि पुरुष, बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, निष्कल, अतर्क्य, मनसे आगे जानेवाले, वाणीके अगोचर और भजनीय हैं, उन श्रेष्ठ देवताको हमरा प्रणाम है ॥ २६ ॥ जो प्राण, मन, बुद्धि तथा अहंकारके ज्ञाता, शब्दादि विषय एवं इन्द्रियोंसे भासमान, अज्ञाननिद्रासे शून्य तथा देहहीन हैं। जिनमें जीवकी प्रकाश तथा छाया और गृध्रपक्षरूपिणी अविद्या दोनों ही नहीं हैं, उन अक्षर आकाशशरीर त्रियुगकी हम

अजस्य चक्रं त्वजयेर्यमाणं मनोमयं पञ्चदशारमाशु ।
त्रिणाभि विद्युच्चलमष्टनेमि यदक्षमाहुस्तमृतं प्रपद्ये ॥ २८ ॥
य एकवर्णं तमसः परं तदलोकमव्यक्तमनन्तपारम् ।
आसाञ्चकारोपसुपर्णमेनमुपासते योगरथेन धीराः ॥ २९ ॥
न यस्य कश्चातितितर्ति मायां यया जनो मुह्यति वेद नार्थम् ।
तं निर्जितात्मात्मगुणं परेशं ननाम भूतेषु समं चरन्तम् ॥ ३० ॥
इमे वयं यत्प्रिययैव तन्वा सत्त्वेन सृष्टा बहिरन्तराविः ।
गतिं न सूक्ष्मामृषयश्च विद्महे कुतोऽसुराद्या इतरप्रधानाः ॥ ३१ ॥
पादौ महीयं स्वकृतैव यस्य चतुर्विधो यत्र हि भूतसर्गः ।
स वै महापूरुष आत्मतन्त्रः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३२ ॥
अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यं सिध्यन्ति जीवन्त्युत वर्धमानाः ।
लोका यतोऽथाखिललोकपालाः प्रसीदतां ब्रह्म महाविभूतिः ॥ ३३ ॥
सोमं मनो यस्य समामनन्ति दिवौकसां वै बलमन्ध आयुः ।
ईशो नगानां प्रजनः प्रजानां प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३४ ॥
अग्निर्मुखं यस्य तु जातवेदा जातः क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा ।
अन्तःसमुद्रेऽनुपचन् स्वधातून् प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३५ ॥
यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं त्रयीमयो ब्रह्मण एष धिष्ण्यम् ।
द्वारं च मुक्तेरमृतं च मृत्युः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३६ ॥

शरणमें हैं ॥ २७ ॥ जिस मनचक्रमें पन्द्रह अरे और त्रिगुणरूपी नाभि है, जो बिजलीके सदृश चञ्चल तथा शीघ्रगामी है, प्रकृतियाँ ही जिसकी नेमि हैं, जो अजन्मा जीवके मायासे प्रेरित शरीररूपी चक्रके आधार हैं, हम उन सत्यस्वरूप भगवानकी शरणमें है ॥ २८ ॥ जो ज्ञानस्वरूप, प्रकृतिसे परे, अदृश्य, अव्यक्त, अनन्तपार (परिच्छेदशून्य) और जीवमें नियन्तारूपसे स्थित हैं, बड़े-बड़े ज्ञानी योगमार्ग द्वारा जिनकी उपासना करते हैं ॥ २९ ॥ जिससे मोहित जीव आत्मस्वरूप नहीं जान पाता, जिनकी माया अपार है, किन्तु जिन्होंने अपनी मायाकी शक्ति जीत ली है, सभी प्राणियोंमें समानभावसे स्थित उन परमेश्वरको हमारा प्रणाम है ॥ ३० ॥ रजोगुण तथा तमोगुण-प्रधान असुरादिकी कौन कहे जिनके परमप्रिय सात्त्विकांशसे जायमान हम देवता तथा ऋषिगण भी अपने बाहर-भीतर व्याप्त सूक्ष्म स्वरूपको नहीं जान पाते, उन जगदीश्वरको हमारा प्रणाम है ॥ ३१ ॥ जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके प्राणियोंका निवासस्थान पृथिवी ही जिनका चरण है, वे परमस्वतन्त्र परमेश्वर हमपर प्रसन्न हों ॥ ३२ ॥ जिनसे तीनों लोक एवं सब लोकपाल उत्पन्न होते, बढ़ते तथा जीते हैं, महाशक्तिसम्पन्न जल जिनका वीर्य है, वे परमऐश्वर्यसम्पन्न ब्रह्म हमपर प्रसन्न हों ॥ ३३ ॥ देवताओंका बल अन्न एवं वृक्षोंका अधीश्वर तथा प्रजाका वर्धक चन्द्रमा जिनका मन है, वे परमैश्वर्यशाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ३४ ॥ यज्ञादि कर्मकाण्डके सम्पादनार्थ जिसका जन्म हुआ है, जो जठराग्निरूपसे शरीरके भीतर तथा वडवानलरूपसे समुद्रमें स्थित सभी धातुओं, अन्न और जलको पचाता है, द्रव्योंकी उत्पत्तिका कारण अग्नि जिनका मुख है, वे परम ऐश्वर्यसम्पन्न ईश्वर हमपर प्रसन्न हों ॥ ३५ ॥ अर्चिरादि मार्गके अधिष्ठाता, वेदत्रयीमय, परब्रह्मकी उपासनाके आधार, मुक्तिके द्वार, अमृतमय तथा मृत्युरूप सूर्यदेव जिनके नेत्र हैं, वे परमैश्वर्यसम्पन्न भगवान् हम-

प्राणादभूद् यस्य चराचराणां प्राणः सहो बलमोजश्च वायुः ।
अन्वास्म सम्राजमिवानुगा वयं प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३७ ॥
श्रोत्राद् दिशो यस्य हृदश्च खानि प्रजज्ञिरे खं पुरुषस्य नाभ्याः ।
प्राणेन्द्रियात्मासुशरीरकेतं प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३८ ॥
बलान्महेन्द्रस्त्रिदशाः प्रसादान्मन्योर्गिरीशो धिषणाद् विरिञ्चः ।
खेभ्यश्च छन्दांस्यृषयो मेढ्रतः कः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ३९ ॥
श्रीर्वक्षसः पितरश्छायायाऽऽसन् धर्मः स्तनादितरः पृष्ठतोऽभूत् ।
द्यौर्यस्य शीर्ष्णोऽप्सरसो विहारात् प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४० ॥
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च ।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४१ ॥
लोभोऽधरात् प्रीतिरुपर्यभूद् द्युतिर्नस्तः पशव्यः स्पर्शेन कामः ।
भ्रुवोर्यमः पक्ष्मभवस्तु कालः प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४२ ॥
द्रव्यं वयः कर्म गुणान् विशेषं यद्योगमायाविहितान् वदन्ति ।
यद् दुर्विभाव्यं प्रबुधापबाधं प्रसीदतां नः स महाविभूतिः ॥ ४३ ॥
नमोऽस्तु तस्मा उपशान्तशक्तये स्वाराज्यलाभप्रतिपूरितात्मने ।
गुणेषु मायारचितेषु वृत्तिभिर्न सज्जमानाय नभस्वदूतये ॥ ४४ ॥
स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम् । प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥४५॥
तैस्तैः स्वेच्छाधृतै रूपैः काले काले स्वयं विभो । कर्म दुर्विषहं यन्नो भगवांस्तत् करोति हि ॥४६॥

पर प्रसन्न हों ॥ ३६ ॥ जो सचराचर जीवोंका मानसिक, शारीरिक तथा ऐन्द्रियिक बल है तथा चक्रवर्ती सम्राट्के अनुयायियोंकी भाँति हम जिसका अनुगमन करते हैं, वह प्राणवायु जिनके प्राणसे उत्पन्न हुआ है, वे परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर हमपर प्रसन्न हों ॥ ३७ ॥ जिनके श्रोत्रसे दिशाएँ, हृदयसे इन्द्रियगोलक, नाभिसे प्राण, इन्द्रिय, मन, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय तथा शरीरका आश्रय आकाश उत्पन्न हुआ है, वे परम ऐश्वर्यशाली प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ३८ ॥ जिनके बलसे इन्द्र, प्रसादसे देवता, क्रोधसे शिवजी, बुद्धिसे ब्रह्मा, इन्द्रियोंसे वेद तथा ऋषिगण और शिश्नसे प्रजापति जनमे हैं, वे परमऐश्वर्यसम्पन्न भगवान हमपर प्रसन्न हों ॥ ३९ ॥ जिनके वक्षःस्थलसे लक्ष्मी, छायासे पितर, स्तनसे धर्म, पीठसे अधर्म, मस्तकसे आकाश और विहारसे अप्सराएँ जनमी हैं, वे परम ऐश्वर्यवान् प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ४० ॥ जिनके मुखसे ब्राह्मण और ब्रह्म (वेद) भुजाओंसे क्षत्रिय तथा बल, ऊरुओंसे वैश्य तथा वैश्यवृत्ति और चरणोंसे शुश्रूषादिवृत्तियुक्त शूद्र उत्पन्न हुए हैं, वे परमैश्वर्यसम्पन्न नारायण हमपर प्रसन्न हो ॥ ४१ ॥ जिनके निचले ओंठसे लोभ, ऊपरके ओंठसे प्रीति, नासिकासे कान्ति, स्पर्शसे पशुप्रिय काम, भृकुटियोंसे यम तथा नेत्रकी पलकोंसे काल जन्मा है, वे महाविभूतिमान परमेश्वर हमपर प्रसन्न हों ॥ ४२ ॥ पञ्चभूत, काल, कर्म, सत्त्वादि तीनों गुण तथा अनिर्वचनीय एवं विद्वानों द्वारा अनात्मरूपसे त्याज्य सभी भौतिक प्रपञ्च, ये सब जिनकी योगमायासे जायमान कहलाते हैं, वे महाविभूति प्रभु हमपर प्रसन्न हों ॥ ४३ ॥ जिनमें सब शक्तियाँ शान्त हो जाती हैं, जिनका मन आत्मानन्दके लाभसे परिपूर्ण रहता है, जो दर्शनादिकी वृत्तियोंसे मायिक गुणोंमें आसक्त नहीं होते, उन वायुके समान सर्वत्र असङ्गभावसे क्रीडाशील परमात्माको प्रणाम है ॥ ४४ ॥ उपर्युक्त महाविभूतियोंसे सम्पन्न आप अपने मुसकानभरे मुखारविन्दके दर्शनेच्छुक हम दासोंको अपना वह स्वरूप दिखाइये, जो हमारी इन्द्रियोंको दीख सके ॥ ४५ ॥ हे प्रभो ! समय-समयपर आप स्वेच्छासे

क्लेशभूर्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा। देहिनां विषयार्तानां न तथैवार्पितं त्वयि ॥४७॥
नावमः कर्मकल्पोऽपि विफलायेश्वरार्पितः। कल्पते पुरुषस्यैव स ह्यात्मा दयितो हितः ॥४८॥
यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम्। एवमाराधनं विष्णोः सर्वेषामात्मनश्च हि ॥४९॥
नमस्तुभ्यमनन्ताय दुर्वितर्क्यात्मकर्मणे। निर्गुणाय गुणेशाय सत्त्वस्थाय च साम्प्रतम् ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं स्तुतः सुरगणैर्भगवान् हरिरीश्वरः। तेषामाविरभूद् राजन् सहस्रार्कोदयद्युतिः ॥ १ ॥
तेनैव महसा सर्वे देवाः प्रतिहतेक्षणाः। नापश्यन् खं दिशः क्षोणिमात्मानं च कुतो विभुम् ॥२॥
विरिञ्चो भगवान् दृष्ट्वा सह शर्वेण तां तनुम्। स्वच्छां मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम् ॥३॥
तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा। प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीं सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम् ॥४॥
महामणिकिरीटेन केयूराभ्यां च भूषिताम्। कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम् ॥५॥
काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम्। कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम् ॥६॥
सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्तिमद्भिरुपासिताम्। तुष्टाव देवप्रवरः सशर्वः पुरुषं परम्।
सर्वामरगणैः साकं सर्वाङ्गैरवनिं गतैः ॥७॥

विभिन्न रूप धारण करके हमारे लिये अत्यन्त कठिन एवं दुष्कर कर्म करते हैं ॥ ४६ ॥ विषयासक्त पुरुषोंके कर्म क्लेशमय, सारहीन एवं निष्फल होते हैं किन्तु आपको समर्पित कर्म क्लेशमय, सारहीन तथा निष्फल नहीं होते ॥ ४७ ॥ आप सभी जीवोंके आत्मा, प्रिय तथा हितकारी हैं। अतः आपको समर्पित कर्माभास भी विफल नहीं होता ॥ ४८ ॥ जैसे वृक्षकी जड़ सींच देनेसे स्कन्ध तथा शाखायें भी सिंच जाती हैं, वैसे ही आपके आराधनसे सब देवताओंका और अपना भी आराधन हो जाता है ॥ ४९ ॥ जो अनन्त, अचिन्त्यकर्मा, निर्गुण, गुणाधीश तथा सत्त्वस्थ हैं, उन आपको प्रणाम है ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(श्रीविष्णुभगवानकी आज्ञानुसार सब देवताओंका असुरोंके साथ समुद्रमन्थनका आयोजन)
श्री शुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! उन देवताओंके विनय करनेपर सहस्रसूर्यसम प्रकाशशील भगवान हरि प्रकट हो गये ॥१॥ भगवानके अतुलित तेजवश नेत्रोंके चौंधिया जानेसे देवता भगवानको ही नहीं—आकाश, दिशा, पृथिवी तथा स्वयं अपनेको भी नहीं देख सके ॥ २ ॥ श्री महादेवजी तथा ब्रह्माजीने श्रीहरिका मरकतमणिसम श्याम तथा कमल कोशनिभ अरुणनयनयुक्त विमल शरीर देखा। वह तपाये सुवर्णकी-सी आभायुक्त पीताम्बरसे सुशोभित, प्रसन्न, तथा सुन्दर अङ्गों युक्त मनोहर मुख, सुन्दर भृकुटी तथा महामणिमय किरीट और केयूरोंसे विभूषित था। उनका मुखकमल कानोंमें झूलते कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित कमलोंसे युक्त था। वे कंचुकी (कर्धनी) की लड़ियों, कंकणों, हारों तथा नूपुरोंसे अलंकृत थे। उनके कौस्तुभमणिविमण्डित वक्षःस्थलमें लक्ष्मी बैठी थीं और गलेमें वनमाला पड़ी थी। सुदर्शन चक्र आदि आयुध विद्यमान थे। उनको देखते ही श्रीमहादेवजी, पृथ्वीपर साष्टाङ्ग पड़े देवता तथा ब्रह्माजी उन परमपुरुषकी स्तुति करने लगे ॥ ३–७ ॥

ब्रह्मोवाच

अजातजन्मस्थितिसंयमायागुणाय निर्वाणसुखार्णवाय ।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते ॥८॥
रूपं तवैतत् पुरुषर्षभेज्यं श्रेयोऽर्थिभिर्वैदिकतान्त्रिकेण ।
योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान् पश्याम्यमुष्मिन् नु ह विश्वमूर्तौ ॥९॥
त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत् त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतन्त्रे ।
त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्नेव परः परस्मात् ॥१०॥
त्वं माययाऽऽत्माश्रयया स्वयेदं निर्माय विश्वं तदनुप्रविष्टः ।
पश्यन्ति युक्ता मनसा मनीषिणो गुणव्यवायेऽप्यगुणं विपश्चितः ॥११॥
यथाग्निमेधस्यमृतं च गोषु भुव्यन्नमम्बूद्यमने च वृत्तिम् ।
योगैर्मनुष्या अधियन्ति हि त्वां गुणेषु बुद्ध्या कवयो वदन्ति ॥१२॥
तं त्वां वयं नाथ समुज्जिहानं सरोजनाभातिचिरेप्सितार्थम् ।
दृष्ट्वा गता निर्वृतिमद्य सर्वे गजा दवार्ता इव गाङ्गमम्भः ॥१३॥
स त्वं विधत्स्वाखिललोकपाला वयं यदर्थास्तव पादमूलम् ।
समागतास्ते बहिरन्तरात्मन् किं वान्यविज्ञाप्यमशेषसाक्षिणः ॥१४॥
अहं गिरित्रश्च सुराद्यो ये दक्षादयोऽग्नेरिव केतवस्ते ।
किं वा विदामेश पृथग्विभाता विधत्स्व शं नो द्विजदेवमन्त्रम् ॥१५॥

श्रीशुक उवाच

एवं विरिञ्चादिभिरीडितस्तद् विज्ञाय तेषां हृदयं तथैव ।
जगाद जीमूतगभीरया गिरा बद्धाञ्जलीन् संवृतसर्वकारकान् ॥१६॥

श्रीब्रह्माजीने कहा—जिनका जन्म, स्थिति तथा नाश कभी नहीं होता, उन निर्गुण, आनन्दके समुद्र, अणु, अपरिच्छिन्न और महामहिम प्रभुको हमारा बारम्बार प्रणाम है ॥ ८ ॥ हे पुरुषोत्तम! अपना श्रेय चाहनेवालोंको चाहिए कि वे आपके इस दिव्य रूपकी वैदिक तथा तान्त्रिक विधिसे पूजा करें। हे धातः! आपको इस विश्वमूर्तिमें मुझे देवताओंके साथ तीनों लोक दीख रहे हैं ॥ ९ ॥ सारा जगत् पहले आपहीमें लीन था। यह मध्य तथा अन्तमें भी आप स्वतन्त्र ईश्वरमें लीन रहता है। घटके उपादान कारण मृत्तिकाकी भाँति आप इस जगत्के आदि, अन्त और मध्यमें स्थित रहते हैं ॥ १० ॥ अपने आश्रित मायासे आप इस जगत्को रचकर इसमें अनुप्रविष्ट हो गये हैं। अतएव ज्ञानी और शास्त्रज्ञ लोग गुणोंके कार्यरूप संसारमें भी सर्वत्र आपको ही देखते हैं ॥ ११ ॥ जैसे मनुष्य लकड़ीसे अग्नि, गौसे दूध, भूमिसे अन्न और जल तथा व्यापारसे जीविका पाते हैं, वैसे ही ज्ञानीजन अपनी विशुद्ध बुद्धि द्वारा सभी विषयोंमें आपको उपलब्ध करके आपके गुण गाया करते हैं ॥ १२ ॥ हे पद्मनाभ! जैसे दावाग्निसे झुलसा हाथी गङ्गाजल पीकर शान्त हो जाय, वैसे ही चिरकालसे दर्शनेच्छुक हम आपको प्रत्यक्ष देखकर परमानन्दित हुए हैं ॥ १३ ॥ हे बहिरन्तरात्मन्! हम लोकपाल जिस कार्यसे आपकी चरण-शरणमें आये हैं, हमारा वह सब काम आप पूरा कर दें। आप तो सबके साक्षी हैं, तब हम आपको विशेष क्या बतायें? ॥ १४ ॥ मैं, शिवजी, सभी देवता तथा दक्ष आदि प्रजापति अग्निसे उत्पन्न चिनगारियोंकी तरह हैं। तब अपनेको आपसे पृथक् जानकर क्या हम अपने श्रेयका मार्ग स्वयं समझ सकते हैं? हे ईश! अब आप ही हम देवताओं तथा ब्राह्मणोंके लिये उचित कर्तव्यका आदेश करिए ॥ १५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—

एक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्ये सुरेश्वरः। विहर्तुकामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ब्रह्मन्नहो शम्भो हे देवा मम भाषितम्। शृणुतावहिताः सर्वे श्रेयो वः स्याद् यथा सुराः॥
यात दानवदैतेयैस्तावत् सन्धिर्विधीयताम्। कालेनानुगृहीतैस्तैर्यावद् वो भव आत्मनः ॥१९॥
अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे। अहिमूषकवद् देवा ह्यर्थस्य पदवीं गतैः ॥२०॥
अमृतोत्पादने यत्नः क्रियतामविलम्बितम्। यस्य पीतस्य वै जन्तुर्मृत्युग्रस्तोऽमरो भवेत्॥२१॥
क्षिप्त्वा क्षीरोदधौ सर्वा वीरुत्तृणलतौषधीः। मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ॥२२
सहायेन मया देवा निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः। क्लेशभाजो भविष्यन्ति दैत्या यूयं फलग्रहाः ॥२३॥
यूयं तदनुमोदध्वं यदिच्छन्त्यसुराः सुराः। न संरम्भेण सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः सान्त्वया यथा॥२४
न भेतव्यं कालकूटाद् विषाज्जलधिसम्भवात्। लोभः कार्यो न वो जातु रोषः कामस्तु वस्तुषु॥२५

श्रीशुक उवाच

इति देवान् समादिश्य भगवान् पुरुषोत्तमः। तेषामन्तर्दधे राजन् स्वच्छन्दगतिरीश्वरः ॥२६॥
अथ तस्मै भगवते नमस्कृत्य पितामहः। भवश्च जग्मतुः स्वं स्वं धामोपेयुर्बलिं सुराः ॥२७॥
दृष्ट्वारीनप्यसंयत्ताञ्जातक्षोभान् स्वनायकान्। न्यषेधद् दैत्यराट् श्लोक्यः सन्धिविग्रहकालवित्॥२८

ब्रह्मादि देवताओंके स्तुति करनेपर श्रीहरि उनका आन्तरिक भाव जान गये। भगवानने सब इन्द्रियोंको समेट और हाथ जोड़कर खड़े देवताओंसे मेघसदृश गम्भीर वाणीमें कहा ॥ १६ ॥ हे राजन्! यद्यपि वे देवेश्वर देवताओंका कार्य करनेमें स्वयं समर्थ थे, फिर भी समुद्रमन्थनादि लीला करनेके विचारसे बोले ॥ १७ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे ब्रह्माजी! हे श्रीशङ्करजी! और हे देवताओं! तुम लोग सावधानीसे मेरी बात सुनो, इससे तुम्हारा अवश्य कल्याण होगा ॥ १८ ॥ तुम सब जाओ, जबतक तुम्हारे अभ्युदयका समय नहीं आता, तबतकके लिये तुम दैत्य और दानवोंसे सन्धि कर लो। क्योंकि यह समय दैत्योंके ही अनुकूल है ॥ १९ ॥ हे देवताओं! कोई बड़ा काम बनाना हो तो शत्रुसे भी सन्धि कर लेनी चाहिये। कार्य सिद्ध होजानेपर सर्प और चूहेकासा बर्ताव करे। *दृष्टान्त* एक चूहा कहीं पिटारीमें बन्द हो गया। उसमें एक सर्प पहले ही से बैठा था। सर्पने चूहेसे वह पिटारी काटनेको कहा और सुझाया कि मार्ग बन जानेपर हम दोनों उसी मार्गसे निकल चलेंगे। चूहेने सर्पकी बात मान ली और रास्ता कर दिया। छिद्र तैयार हो जानेपर सर्पने चूहेको भी निगल लिया और पिटारीसे बाहर हो गया ॥ २० ॥ दैत्योंसे सन्धि करके तुम सब लोग मिलकर वह अमृत निकालनेका उद्योग करो, जिसे पीकर मरणशील जीव भी अमर हो जाता है ॥ २१ ॥ पहले क्षीरसमुद्रमें सब प्रकारके तृण, लता तथा औषधियाँ डालो। फिर मन्दराचलको मथानी एवं वासुकिनागको रस्सी बना मेरे साथ मिलकर उसे मथो। इससे उन दैत्योंको केवल क्लेश होगा और उसका सारा फल तुम्हींको मिल जायगा ॥ २२ ॥ २३ ॥ हे देवताओं! इस समय तो दैत्य जो कहें, वही मान लो। क्योंकि जिस तरह शान्तिपूर्वक कार्य सिद्ध होते हैं, वैसे क्रोधसे नहीं सिद्ध होते ॥ २४ ॥ उस समुद्रसे जो कालकूट विष उत्पन्न होगा, उससे तुम न डरना। अन्य रत्नोंके लिये भी लोभ, उनकी कामना अथवा क्रोध न करना ॥ २५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! देवताओंको ऐसी आज्ञा देकर स्वच्छन्दगति जगदीश्वर उनके समक्ष अन्तर्धान हो गये ॥ २६ ॥ तब भगवान्को नमस्कार करके ब्रह्माजी और श्रीशिवजी अपने-अपने लोकोंको लौट गये और देवता राजा बलिके पास जा पहुँचे ॥ २७ ॥ उस समय शत्रुओंको युद्धके लिये तैयार न देख सन्धि विग्रह अवसरके ज्ञाता परम यशस्वी बलिने अपने क्षुब्ध सेनानायकोंको छेड़छाड़ करनेसे मना

ते वैरोचनिमासीनं गुप्तं चासुरयूथपैः । श्रिया परमया जुष्टं जिताशेषमुपागमन् ॥२९॥
महेन्द्रः श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयित्वा महामतिः । अभ्यभाषत तत् सर्वं शिक्षितं पुरुषोत्तमात् ॥३०॥
तदरोचत दैत्यस्य तत्रान्ये येऽसुराधिपाः । शम्बरोऽरिष्टनेमिश्च ये च त्रिपुरवासिनः ॥३१॥
ततो देवासुराः कृत्वा संविदं कृतसौहृदाः । उद्यमं परमं चक्रुरमृतार्थे परंतप ॥३२॥
ततस्ते मन्दरगिरिमोजसोत्पाट्य दुर्मदाः । नदन्त उदधिं निन्युः शक्ताः परिघबाहवः ॥३३॥
दूरभारोद्वहश्रान्ताः शक्रवैरोचनादयः । अपारयन्तस्तं वोढुं विवशा विजहुः पथि ॥३४॥
निपतन् स गिरिस्तत्र बहूनमरदानवान् । चूर्णयामास महता भारेण कनकाचलः ॥३५॥
तांस्तथा भग्नमनसो भग्नबाहूरुकन्धरान् । विज्ञाय भगवांस्तत्र बभूव गरुडध्वजः ॥३६॥
गिरिपातविनिष्पिष्टान् विलोक्यामरदानवान् । ईक्षया जीवयामास निर्जरान् निर्व्रणान् यथा ॥३७॥
गिरिं चारोप्य गरुडे हस्तेनैकेन लीलया । आरुह्य प्रययावब्धिं सुरासुरगणैर्वृतः ॥३८॥
अवरोप्य गिरिं स्कन्धात् सुपर्णः पततां वरः । ययौ जलान्त उत्सृज्य हरिणा स विसर्जितः ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने मन्दराचलानयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

ते नागराजमामन्त्र्य फलभागेन वासुकिम् । परिवीय गिरौ तस्मिन् नेत्रमब्धिं मुदान्विताः ॥१॥

कर दिया ॥ २८ ॥ तब देवता असुरसेनापतियोंसे सुरक्षित, राजसिंहासनासीन, अत्यन्त शोभासम्पन्न तथा सम्पूर्ण लोकोंके विजेता विरोचनतनय बलिके समीप गये ॥ २९ ॥ वहाँ जाकर महामति इन्द्रने मधुर वाणीमें राजा बलिसे वह सब बातें कहीं, जो उनको श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌ने सिखलायी थीं ॥ ३० ॥ इन्द्रकी बात दैत्यपति बलि तथा वहाँ बैठे शम्बर, अरिष्टनेमि आदि त्रिपुरवासी असुर-यूथपोंको भी जँची ॥ ३१ ॥ हे परन्तप ! बस, देवता और असुरोंने परस्पर सन्धि कर ली और अमृतके लिये दोनों मिलकर महान् उद्योग करने लगे ॥ ३२ ॥ परिघसदृश भुजाओंवाले परम-शक्ति-सम्पन्न दुर्मद देवता तथा दैत्योंने बड़े उत्साहके साथ मन्दराचल उखाड़ लिया और गर्जते हुए उसे समुद्रके समीप ले जाने लगे ॥ ३३ ॥ किन्तु उस विशाल पर्वतको बहुत दूरतक ले जानेसे इन्द्र आदि देवता तथा बलि आदि असुर थक गये और आगे ले जानेमें असमर्थ होकर उन्होंने उसे मार्गमें ही पटक दिया ॥ ३४ ॥ गिरते हुए उस कनकाचलने अपने भारी बोझसे कितने ही देवताओं और दानवोंको चूर कर डाला ॥ ३५ ॥ यह जानकर कि देवता तथा दानवोंकी भुजा, ऊरु, कन्धे आदि अंग घायल हो गये हैं और उनका उत्साह ठंढा पड़ गया है, वहाँ विष्णुभगवान प्रगट हो गये ॥ ३६ ॥ उन्होंने देवताओं तथा असुरोंको पर्वत गिरनेसे कुचले देख देवताओंको अपनी दृष्टिसे निहारकर ही ऐसा स्वस्थ और जीवित कर दिया, मानो उन्हें चोट लगी ही नहीं थी ॥ ३७ ॥ तब उस पर्वतको उन्होंने खेल-खेलमें एक हाथसे उठाकर गरुड़पर रख लिया और स्वयं भी उसीपर चढ़कर देवताओं और असुरोंके साथ समुद्रतटपर आये ॥ ३८ ॥ पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ने उस पर्वतको कन्धेसे जलमें उतार दिया और भगवान्‌के विदा करनेपर लौट गये ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(श्रीशिवजीका विषपान करना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब उन्होंने समुद्रमन्थनसे प्राप्तव्य फलमें साझीदार बनाकर नागराज वासुकीको आमन्त्रित किया और उन्हें पर्वतमें नेतीके

आरेभिरे सुसंयत्ता अमृतार्थं कुरूद्वह । हरिः पुरस्ताज्जगृहे पूर्वं देवास्ततोऽभवन् ॥२॥
तन्नैच्छन् दैत्यपतयो महापुरुषचेष्टितम् । न गृह्णीमो वयं पुच्छमहेरङ्गममङ्गलम् ॥३॥
स्वाध्यायश्रुतसम्पन्नाः प्रख्याता जन्मकर्मभिः । इति तूष्णीं स्थितान् दैत्यान् विलोक्य पुरुषोत्तमः ।
स्मयमानो विसृज्याग्रं पुच्छं जग्राह सामरः ॥४॥
कृतस्थानविभागास्त एवं कश्यपनन्दनाः । ममन्थुः परमायत्ता अमृतार्थं पयोनिधिम् ॥५॥
मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत् । ध्रियमाणोऽपि बलिभिर्गौरवात् पाण्डुनन्दन ॥६॥
ते सुनिर्विण्णमनसः परिम्लानमुखश्रियः । आसन् स्वपौरुषे नष्टे दैवेनातिबलीयसा ॥७॥

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्भुतं महत् प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥८॥
तमुत्थितं वीक्ष्य कुलाचलं पुनः समुत्थिता निर्मथितुं सुरासुराः ।
दधार पृष्ठेन स लक्षयोजनप्रस्तारिणा द्वीप इवापरो महान् ॥९॥
सुरासुरेन्द्रैर्भुजवीर्यवेपितं परिभ्रमन्तं गिरिमङ्ग पृष्ठतः ।
बिभ्रत् तदावर्तनमादिकच्छपो मेनेऽङ्गकण्डूयनमप्रमेयः ॥१०॥
तथासुरानाविशदासुरेण रूपेण तेषां बलवीर्यमीरयन् ।
उद्दीपयन् देवगणांश्च विष्णुर्दैवेन नागेन्द्रमबोधरूपः ॥११॥
उपर्यगेन्द्रं गिरिराडिवान्य आक्रम्य हस्तेन सहस्रबाहुः ।
तस्थौ दिवि ब्रह्मभवेन्द्रमुख्यैरभिष्टुवद्भिः सुमनोऽभिवृष्टः ॥१२॥

समान लपेटकर अमृतप्राप्तिके लिये देवता और दैत्य समुद्र मथने लगे। पहले श्रीहरिने ही वासुकीका मुख पकड़ा, तब अन्य देवता भी उसी ओर लगे ॥ १ ॥ २ ॥ दैत्योंको भगवानकी यह चेष्टा नहीं रुची। उन्होंने कहा—'हम लोग वेद-शास्त्रके ज्ञाता तथा जन्म-कर्मादिमें भी ऊँचे हैं, अतः हम सर्पके अमंगल अंग पूछको नहीं पकड़ सकते।' दैत्योंको यों कहकर चुपचाप बैठे देख पुरुषोत्तम श्रीहरिने मुसकाकर वासुकीका मुख छोड़ दिया और देवताओंके साथ उन्होंने पूँछ थाम्ह ली ॥ ३ ॥ ४ ॥ इस तरह स्थानोंका विभाग करके कश्यपतनय देवता तथा असुर दोनों अमृतप्राप्तिके लिये बड़ी तत्परतासे समुद्र मथने लगे ॥ ५ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! समुद्र मथा जाने लगा तो बली देवता और असुरोंके साधनेपर भी निराधार पर्वत जलमें नीचेको धँसने लगा ॥ ६ ॥ इस तरह बली दैव द्वारा अपना पौरुष नष्ट होता देखकर वे मन ही मन खिन्न हुए और उनके मुखकी कान्ति मलीन पड़ गयी ॥ ७ ॥ विघ्नेश्वर श्रीगणेशजीके द्वारा किये हुए विघ्नको देखकर अनन्तपराक्रमी तथा अमोघसङ्कल्पधारी श्रीभगवानने अद्भुत और महान् कूर्मरूप धारण करके जलमें प्रवेश किया और पर्वतको पीठपर रखकर ऊँचे उठा दिया ॥ ८ ॥ पर्वतको ऊँचा उठा देख देवता तथा असुर फिर समुद्र मथनेको उठे। तब भगवानने दूसरे जम्बुद्वीपकी तरह एक लाख योजन विस्तृत अपनी पीठपर उस पर्वतको धारण किया ॥ ९ ॥ हे प्रिय ! देवताओं तथा असुरोंके भुजबलसे प्रेरित होकर पीठपर घूमते हुए पर्वतके घर्षणको भगवान् आदिकच्छपने अपने अङ्गकी खुजलाहटका साधन समझा ॥ १० ॥ भगवान असुरोंका बल-वीर्य बढ़ानेके निमित्त असुराकार, देवताओंमें उत्साह भरनेके लिए देवरूप तथा नागराज वासुकीमें निद्रारूपसे प्रविष्ट हुए ॥ ११ ॥ जब वे सहस्रबाहु प्रभु दूसरे पर्वतराजके सदृश विशाल रूप धारण करके उस पर्वतको हाथसे रोककर स्थित हुए तब स्वर्गलोकस्थित ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्र आदि देवता स्तुति करते हुए उनपर

उपर्यधश्चात्मनि गोत्रनेत्रयोः परेण ते प्राविशता समेधिताः ।
ममन्थुरब्धिं तरसा मदोत्कटा महाद्रिणा क्षोभितनक्रचक्रम् ॥१३॥
अहीन्द्रसाहस्रकठोरदृङ्मुखश्वासाग्निधूमाहतवर्चसोऽसुराः ।
पौलोमकालेयबलील्वलादयो दवाग्निदग्धाः सरला इवाभवन् ॥१४॥
देवांश्च तच्छ्वासशिखाहतप्रभान् धूम्राम्बरस्रग्वरकञ्चुकाननान् ।
समभ्यवर्षन् भगवद्वशा घना ववुः समुद्रोर्म्युपगूढवायवः ॥१५॥
मथ्यमानात् तथा सिन्धोर्देवासुरवरूथपैः । यदा सुधा न जायेत निर्ममन्थाजितः स्वयम् ॥१६॥
मेघश्यामः कनकपरिधिः कर्णविद्योतविद्युन्मूर्ध्नि भ्राजद्विलुलितकचः स्रग्धरो रक्तनेत्रः ।
जैत्रैर्दोर्भिर्जगदभयदैर्दन्दशूकं गृहीत्वा मथ्नन् मथ्ना प्रतिगिरिरिवाशोभताथोद्धृताद्रिः ॥१७॥
निर्मथ्यमानादुदधेरभूद्विषं महोल्बणं हालहलाह्वमग्रतः ।
सम्भ्रान्तमीनोन्मकराहिकच्छपात् तिमिद्विपग्राहतिमिङ्गिलाकुलात् ॥१८॥
तदुग्रवेगं दिशि दिश्युपर्यधो विसर्पदुत्सर्पदसह्यमप्रति ।
भीताः प्रजा दुद्रुवुरङ्ग सेश्वरा अरक्ष्यमाणाः शरणं सदाशिवम् ॥१९॥
विलोक्य तं देववरं त्रिलोक्या भवाय देव्याभिमतं मुनीनाम् ।
आसीनमद्रावपवर्गहेतोस्तपो जुषाणं स्तुतिभिः प्रणेमुः ॥२०॥

प्रजापतय ऊचुः

देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन । त्राहि नः शरणापन्नांस्त्रैलोक्यदहनाद् विषात् ॥२१॥

फूल बरसाने लगे ॥ १२ ॥ उस पर्वतके ऊपर-नीचे, अपने शरीरोंमें, पर्वतमें तथा नेतीमें प्रविष्ट परमात्माकी शक्तिसे सम्पन्न तथा मदोन्मत्त वे देवता और असुर उस महान् पर्वतसे बड़े वेगके साथ साथ समुद्र तथा उसके भीतर रहनेवाले नक्र आदि जीवोंको व्याकुल करते हुए मथने लगे। तब नागराज वासुकीके हजारों कठोर नेत्र, मुख तथा श्वासोंसे निःसृत विषाग्निके धूएँसे निःतेज हो पौलोम, कालेय, बलि तथा इल्वल आदि दैत्य दावानलसे जले साल वृक्षोंके सदृश काले हो गये ॥ १३—१४ ॥ वासुकीके श्वासाग्निसे नष्टकान्ति तथा जिनके वस्त्र, माला, कञ्चुक एवं मुख धूमिल हो गये थे, उन देवताओंपर भगवानके अनुचर मेघ जल बरसाने लगे और समुद्रकी तरङ्गोंके स्पर्शसे शीतल वायु बहने लगा ॥ १५ ॥ जब बहुत समय तक देवताओं और असुरयूथपोंके मथनेपर भी समुद्रसे अमृत नहीं निकला तो भगवान अजित स्वयं आकर मथने लगे ॥ १६ ॥ अहो ! जिनके कानोंमें स्वर्णकुण्डल बिजली जैसा चमक रहा था, जिनके सिरपर हिलती अलकावली सुशोभित थी, जो वनमाला पहने थे। जब पीतवसनधारी, अरुणनयन तथा मेघसम श्यामशरीर भगवान जगत्को अभयदायक एवं विजयी बाहु द्वारा वासुकीको पकड़कर जब मन्दराचलरूपी मथानीसे मथने लगे तो वे दूसरे पर्वतके सदृश दीखे ॥ १७ ॥ इस तरह मथनेपर जिसकी मछलियाँ घबड़ा गयीं। मकर, सर्प तथा कछुए ऊपर आ गये तथा तिमिमत्स्य, गज, ग्राह एवं तिमिङ्गिलादि जीव घबरा गये। उस समुद्रमेंसे सर्वप्रथम हलाहल विष निकला ॥ १८ ॥ सभी दिशा-विदिशाओंमें ऊपर-नीचे फैलनेवाले उस उग्रवेग तथा असह्य विषसे अरक्षित प्रजापति और प्रजा भयभीत होकर श्रीसदाशिवकी शरणमें जा पहुँचे ॥ १९ ॥ श्रीपार्वतीजीके सहित कैलासपर्वतपर बैठे मुनियोंके माननीय एवं मोक्षप्रदानार्थ तपस्यामें तत्पर शिवजीको देखकर प्रजापतियोंने त्रिलोकीके कल्याणार्थ उनकी स्तुति की तथा प्रणाम किया ॥ २० ॥ प्रजापति बोले—हे देवदेव ! हे महादेव ! हे भूतात्मन् ! हे भूतभावन ! त्रैलोक्यदाहक

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः। तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम् ॥२२॥
गुणमय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान् विभो। धत्से यदा स्वदृग् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्
त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः। नानाशक्तिभिराभातस्त्वमात्मा जगदीश्वरः ॥२४॥

त्वं शब्दयोनिर्जगदादिरात्मा प्राणेन्द्रियद्रव्यगुणस्वभावः।
कालः क्रतुः सत्यमृतं च धर्मस्त्वय्यक्षरं यत् त्रिवृदामनन्ति ॥२५॥
अग्निर्मुखं तेऽखिलदेवतात्मा क्षितिं विदुर्लोकभवाङ्घ्रिपङ्कजम्।
कालं गतिं तेऽखिलदेवतात्मनो दिशश्च कर्णौ रसनं जलेशम् ॥२६॥
नाभिर्नभस्ते श्वसनं नभस्वान् सूर्यश्च चक्षूंषि जलं स्म रेतः।
परावरात्माश्रयणं तवात्मा सोमो मनो द्यौर्भगवञ्छिरस्ते ॥२७॥
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसङ्घा रोमाणि सर्वौषधिवीरुधस्ते।
छन्दांसि साक्षात् तव सप्त धातवस्त्रयीमयात्मन् हृदयं सर्वधर्मः ॥२८॥
मुखानि पञ्चोपनिषदस्तवेश यैस्त्रिंशदष्टोत्तरमन्त्रवर्गः।
यत् तच्छिवाख्यं परमार्थतत्त्वं देव स्वयंज्योतिरवस्थितिस्ते ॥२९॥
छाया त्वधर्मोर्मिषु यैर्विसर्गो नेत्रत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि।
सांख्यात्मनः शास्त्रकृतस्तवेक्षा छन्दोमयो देव ऋषिः पुराणः ॥३०॥
न ते गिरित्राखिललोकपालविरिञ्चवैकुण्ठसुरेन्द्रगम्यम्।
ज्योतिः परं यत्र रजस्तमश्च सत्त्वं न यद् ब्रह्म निरस्तभेदम् ॥३१॥

विषसे आप हम शरणागतोंकी रक्षा करें ॥ २१ ॥ एक आप ही अखिल जगत्के बन्धन तथा मोक्षके स्वामी हैं। इसीसे विचक्षण पुरुष आप शरणागतभयहारी जगद्गुरुकी पूजा करते हैं ॥ २२ ॥ हे विभो ! आपका ज्ञान स्वतः सम्पन्न है। अपनी गुणमयी शक्ति द्वारा जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करनेको होते हैं तो आप ही ब्रह्मा, विष्णु, शिवनामधारी हो जाते हैं ॥ २३ ॥ आप ही सभी प्राणियोंके उत्पादक परम गुह्य परब्रह्म हैं। आप ही जगदीश्वर परमात्मा हैं और अपनी विभिन्न शक्तियोंसे भासमान होते हैं ॥२४॥ आप वेदके उद्भवस्थान, जगत्के आदिकारण, महत्तत्त्व, अहङ्कार, इन्द्रिय, प्राण, पञ्चमहाभूत तथा शब्दादि गुणोंके कारण हैं। आप ही काल, सङ्कल्प, सत्य, ऋत एवं धर्म हैं। वेदवादी त्रिगुणात्मिका मूलप्रकृतिको भी आपहीके अधीन बतलाते हैं ॥२५॥ सर्वदेवमय अग्नि आपका मुख है। पृथ्वी आपका चरणकमल है। आप सर्वदेवमय हैं। काल आपकी गति, दिशाएँ कान, रसना वरुण, आकाश नाभि, वायु श्वास, सूर्य नेत्र, जल वीर्य और सभी उत्तमाधम जीवोंका आश्रय ही आपका अहङ्कार है। चन्द्रमा आपका मन और स्वर्ग मस्तक है ॥ २६ ॥ २७ ॥ हे प्रभो ! समुद्र आपकी कुक्षि, पर्वत अस्थिसमूह, सब ओषधियाँ और लताएँ रोम, गायत्री आदि छन्द सातों धातुएँ और धर्म आपका हृदय है ॥ २८ ॥ हे ईश्वर ! जिनसे अड़तीस मन्त्रोंका समूह प्रगट हुआ था, वे तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव तथा ईशान ये पाँच उपनिषद् आपके मुख हैं। हे देव ! शिवनामक स्वयंप्रकाश परमार्थतत्त्व आपकी उपरतावस्था है ॥ २९ ॥ दम्भ-लोभ आदि अधर्मकी तरङ्गें आपकी छाया हैं। जिनसे विश्वकी सृष्टि होती है, वे सत्त्व, रज तथा तमोगुण आपके तीन नेत्र हैं। हे देव ! गायत्री आदि छन्दोंयुक्त सनातन वेद आप सांख्य-शास्त्रकर्ताका ईक्षण (विचार) है ॥ ३० ॥ जहाँ, सत्त्व, रज, तम तीनों गुण नहीं रहते। जो भेदहीन है, आपके उस ब्रह्मरूप परम तेजको लोकपाल, ब्रह्मा, विष्णु और

कामाध्वरत्रिपुरकालगराद्यनेकभूतद्रुहः क्षपयतः स्तुतये न तत् ते ।
यस्त्वन्तकाल इदमात्मकृतं स्वनेत्रवह्निस्फुलिङ्गशिखया भसितं न वेद॥३२॥
ये त्वात्मरामगुरुभिर्हृदिचिन्तिताङ्घ्रिद्वन्द्वं चरन्तमुमया तपसाभितप्तम् ।
कत्थन्त उग्रपरुषं निरतं श्मशाने ते नूनमूतिमविदंस्तव हातलज्जाः ॥३३॥
तत् तस्य ते सदसतोः परतः परस्य नाञ्जः स्वरूपगमने प्रभवन्ति भूम्नः ।
ब्रह्मादयः किमुत संस्तवने वयं तु तत्सर्गसर्गविषया अपि शक्तिमात्रम् ॥३४॥
एतत् परं प्रपश्यामो न परं ते महेश्वर । मृडनाय हि लोकस्य व्यक्तिस्तेऽव्यक्तकर्मणः ॥३५॥

श्रीशुक उवाच

तद् वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः । सर्वभूतसुहृद् देव इदमाह सतीं प्रियाम् ॥३६॥

शिव उवाच

अहो बत भवान्येतत् प्रजानां पश्य वैशसम् । क्षीरोदमथनोद्भूतात् कालकूटादुपस्थितम् ॥३७॥
आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे । एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम् ॥३८॥
प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः । बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया ॥३९॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः । प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे ॥ ४० ॥

श्रीशुक उवाच

एवमामन्त्र्य भगवान् भवानीं विश्वभावनः । तद् विषं जग्धुमारेभे प्रभावज्ञान्वमोदत ॥४१॥

देवेन्द्र भी नहीं जान पाते ॥ ३१ ॥ हे नाथ ! आप कामदेव, दक्षयज्ञ, त्रिपुरासुर तथा कालकूट विष आदि अगणित भूतद्रोहियोंको नष्ट कर चुके हैं, फिर भी ये सब कर्म आपकी स्तुतियोग्य नहीं हो सकते। क्योंकि आप तो स्वरचित विश्वको प्रलयकालमें अपने नेत्राग्निकी ज्वालासे भस्मीभूत करके उधर निहारते भी नहीं ॥ ३२ ॥ सभी आत्माराम गुरुजन जिनके चरणोंका ध्यान करते, जो निरन्तर तपोलीन रहते, ऐसे आपको जो लोग भगवती उमादेवीके साथ विहार करनेसे आसक्त तथा श्मशानमें रहनेसे क्रूर अथवा हिंस्र कहते हैं, वे निर्लज्ज मानो आपकी लीलाको जानते ही हैं ? वस्तुतः वे कुछ भी नहीं जानते ॥ ३३ ॥ हे प्रभो ! आपके सत्-असत्से भी परे रहनेवाले परात्पर स्वरूपको ब्रह्मादिक देवता भी नहीं जानपाते, तब भला अति अर्वाचीन हम लोग आपको कैसे जानेंगे और स्तुति करेंगे ? फिर भी हमने अपनी शक्तिभर आपका गुणगान किया है ॥ ३४ ॥ हे महेश्वर ! हमें तो आपका यह रूप ही सबसे अच्छा लगता है। क्योंकि हम आपका वह स्वरूप तो देख ही नहीं सकेंगे। हे नाथ ! आप जैसे अव्यक्तकर्माका आविर्भाव संसारके कल्याणार्थ ही होता है ॥ ३५ ॥ श्री शुकदेवजी बोले—हे राजन् ! देवताओंपर आया महासङ्कट देखकर सर्वभूतसुहृद् शिवजी करुणावश बहुत दुःखी हुए और अपनी प्रिया सतीसे बोले ॥३६॥ श्रीशिवजीने कहा—हे देवि ! देखो क्षीरसागरके मंथनसे उत्पन्न इस कालकूट विषसे प्रजापर कैसा महासङ्कट आ उपस्थित हुआ है ! ॥ ३७ ॥ अपनी प्राणरक्षाके लिये व्याकुल इन सबको मुझे अभय करना ही चाहिए। क्योंकि दीनोंकी रक्षा करना ही समर्थ पुरुषोंका कार्य होता है ॥ ३८ ॥ हे भद्रे ! साधुजन अपना क्षणभंगुर प्राण देकर भी औरोंकी रक्षा करते हैं। भगवानकी मायासे मोहमें पड़े और परस्पर वैर साधे जीवोंपर जो दया करते हैं तो उनपर सर्वात्मा भगवान प्रसन्न होते और उनके प्रसन्न हो जानेपर चराचर जगत् सहित मैं भी प्रसन्न होता हूँ। सो मैं यह विष पीऊँगा। इससे मेरी प्रजाका कल्याण होगा ॥ ३९ ॥ ४० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सतीसे ऐसा कहकर भगवान श्रीशंकरजी वह विष पीनेको तैयार हो गये। उनके प्रभावसे परिचित

ततः करतलीकृत्य व्यापि हालाहलं विषम् । अभक्षयन्महादेवः कृपया भूतभावनः ॥४२॥
तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं जलकल्मषः । यच्चकार गले नीलं तच्च साधोर्विभूषणम् ॥४३॥
तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः । परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ॥४४॥
निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीढुषः । प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे ॥४५॥
प्रस्कन्नं पिबतः पाणेर्यत् किञ्चिज्जगृहुः स्म तत् । वृश्चिकाहिविषौषध्यो दन्दशूकाश्च येऽपरे ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

पीते गरे वृषाङ्केण प्रीतास्तेऽमरदानवाः । ममन्थुस्तरसा सिन्धुं हविर्धानी ततोऽभवत् ॥ १ ॥
तामग्निहोत्रीमृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः । यज्ञस्य देवयानस्य मेध्याय हविषे नृप ॥ २ ॥
तत उच्चैःश्रवा नाम हयोऽभूच्चन्द्रपाण्डुरः । तस्मिन् बलिः स्पृहां चक्रे नेन्द्र ईश्वरशिक्षया ॥३॥
तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः । दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन् भगवतो महिम् ॥४॥
कौस्तुभाख्यमभूद् रत्नं पद्मरागो महोदधेः । तस्मिन् हरिः स्पृहां चक्रे वक्षोऽलङ्करणे मणौ ॥५॥
ततोऽभवत् पारिजातः सुरलोकविभूषणम् । पूरयत्यर्थिनो योऽर्थैः शश्वद् भुवि यथा भवान् ॥६॥
ततश्चाप्सरसो जाता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः । रमण्यः स्वर्गिणां वल्गुगतिलीलावलोकनैः ॥७॥

भवानीने भी सम्मति दे दी ॥४१॥ सब जीवों पर दया करके भूतभावन शिवजीने सर्वत्र फैलते हुए उस हालाहल विषको चुल्लूमें भरकर पी लिया ॥४२॥ उस जलकल्मष गरलने उनपर भी अपना प्रभाव दिखाया ही । इससे उनका कण्ठ नीला पड़ गया । किन्तु वह नीलापन भी उन साधुशिरोमणि शंकरभगवानका अलङ्कार बन गया ॥४३॥ प्रायः सभी साधुजन संसारके दुःखसे दुःखी होते ही हैं । क्योंकि दूसरोंके दुःखसे दुःखी रहनेसे सर्वात्मा भगवानकी उत्कृष्ट आराधना हो जाती है ॥ ४४ ॥ देवदेव श्रीमहादेवजीका वह कार्य देखकर सारी प्रजा, दक्षकन्या सती, ब्रह्माजी तथा विष्णुभगवान उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! कालकूट विष पीते समय उनके हाथसे जो थोड़ा-सा विष टपक पड़ा उसे बिच्छू, साँप, विषैली औषधियों एवं अन्य विषैले जीवोंने पी लिया ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(समुद्रसे विविध रत्नों तथा अमृतका निकलना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वृषध्वज श्रीमहादेवजीके विष पी लेनेके बाद देवता तथा असुर बहुत प्रसन्न होकर बड़े वेगसे समुद्र मथने लगे । कुछ समय बाद उससे कामधेनु गौ निकली ॥ १ ॥ अग्निहोत्रकी सामग्री उत्पन्न करने और ब्रह्मलोकके मार्गस्वरूप यज्ञादिमें उपयोगी हवि सिद्ध करनेके लिये उसे वेदवादी मुनियोंने ले लिया ॥ २ ॥ तदनन्तर चन्द्रमाके सदृश शुभ्रवर्ण उच्चैःश्रवा घोड़ा निकला । उसे बलिने लेना चाहा और भगवानके आदेशानुसार इन्द्रने उससे मन फेर लिया । ३ ॥ तब चन्द्रमाके समान शुभ्र तथा अपने चार दाँतोंसे भगवान शिवके आश्रयस्वरूप कैलासपर्वतकी कान्तिको भी हरनेवाला ऐरावत नामका गजराज निकला ॥ ४ ॥ फिर उस महासागरसे कौस्तुभ नामका पद्मराग मणि प्रगटा । उसे अपने वक्षःस्थलको विभूषित करनेके लिये श्रीहरिने लेना चाहा ॥ ५ ॥ तदनन्तर स्वर्गलोकका अलंकार कल्पवृक्ष प्रगटा । हे राजन् ! संसारमें जैसे आप याचकोंकी सब इच्छायें पूर्ण करते हैं । वैसे ही इच्छित वस्तुएँ देकर कल्पवृक्ष भी सबकी कामना पूर्ण करता है ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् सुन्दर वस्त्र तथा गलेमें पदक धारण किये अप्सराएँ प्रगटीं । वे अपनी मनोहारिणी गति और विलास-

ततश्चाविरभूत् साक्षाच्छ्री रमा भगवत्परा । रञ्जयन्ती दिशः कान्त्या विद्युत् सौदामनी यथा ॥८॥
तस्यां चक्रुः स्पृहां सर्वे ससुरासुरमानवाः । रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः ॥९॥
तस्या आसनमानिन्ये महेन्द्रो महदद्भुतम् । मूर्तिमत्यः सरिच्छ्रेष्ठा हेमकुम्भैर्जलं शुचि ॥१०॥
अभिषेचनिका भूमिराहरत् सकलौषधीः । गावः पञ्च पवित्राणि वसन्तो मधुमाधवौ ॥११॥
ऋषयः कल्पयाञ्चक्रुरभिषेकं यथाविधि । जगुर्भद्राणि गन्धर्वा नट्यश्च ननृतुर्जगुः ॥१२॥
मेघा मृदङ्गपणवमुरजानकगोमुखान् । व्यनादयञ्छङ्खवेणुवीणास्तुमुलनिःस्वनान् ॥१३॥
ततोऽभिषिषिचुर्देवीं श्रियं पद्मकरां सतीम् । दिगिभाः पूर्णकलशैः सूक्तवाक्यैर्द्विजेरितैः ॥१४॥
समुद्रः पीतकौशेयवाससी समुपाहरत् । वरुणः स्रजं वैजयन्तीं मधुना मत्तषट्पदाम् ॥१५॥
भूषणानि विचित्राणि विश्वकर्मा प्रजापतिः । हारं सरस्वती पद्ममजो नागाश्च कुण्डले ॥१६॥

ततः कृतस्वस्त्ययनोत्पलस्रजं नदद्द्विरेफां परिगृह्य पाणिना ।
चचाल वक्त्रं सुकपोलकुण्डलं सव्रीडहासं दधती सुशोभनम् ॥१७॥
स्तनद्वयं चातिकृशोदरी समं निरन्तरं चन्दनकुङ्कुमोक्षितम् ।
ततस्ततो नूपुरवल्गुशिञ्जितैर्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ ॥१८॥
विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम् ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धचारणत्रैविष्टपेयादिषु नान्वविन्दत ॥१९॥
नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो ज्ञानं क्वचित् तच्च न सङ्गवर्जितम् ।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः ॥२०॥

पूर्ण चितवनसे स्वर्गके देवताओंको भी पुलकित कर रही थीं ॥७॥ फिर 'सुदामा' पर्वतपर कौंधनेवाली बिजलीकी भाँति अपनी अलौकिक कान्तिसे दसों दिशाओंको रंगती हुई भगवत्परायणा साक्षात् श्री लक्ष्मीजी प्रगट हो गयीं ॥ ८ ॥ उनके रूप, औदार्य, यौवन, वर्ण तथा महिमासे मुग्ध होकर देवता, असुर तथा मनुष्य आदि सभीने उन्हें पाना चाहा ॥ ९ ॥ देवराज इन्द्रने उन्हें अद्भुत आसन दिया और मुख्य-मुख्य नदियोंने प्रकट होकर सुवर्णकलशोंमें पवित्र जल दिया ॥ १० ॥ भूमिने अभिषेकके लिए उपयुक्त ओषधियाँ, गौओंने दुग्धादि पञ्चगव्य और वसन्तऋतुने चैत-वैशाखमें होनेवाले फल-फूल भेंट किये ॥ ११ ॥ तब ऋषियोंने उनका विधिवत् अभिषेक किया। उस समय मारे प्रसन्नताके गन्धर्व गाने और नर्तकियाँ नाचने लगीं ॥ १२ ॥ मेघगण मृदङ्ग, पणव, मुरज, आनक, गोमुख, शंख, बाँसुरी तथा वीणा आदि गम्भीर ध्वनिवाले बाजे बजाने लगे ॥ १३ ॥ विप्रगणोंके स्वस्तिवाचनपूर्वक दिग्गजोंने भरे हुए कलशोंसे परमसाध्वी पद्महस्ता श्रीलक्ष्मीदेवीका अभिषेक किया ॥ १४ ॥ तब समुद्रने रेशमी पीताम्बरका जोड़ा, वरुणने सुगन्धसे मधुकरोंको मस्त करनेवाली वैजयन्ती माला, प्रजापति विश्वकर्माने बिविध आभूषण, सरस्वतीने हार, ब्रह्माजीने कमल और नागोंने दो कुण्डल दिये ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥ ऋषियों द्वारा स्वस्तिवाचन हो जानेपर हाथमें भ्रमरोंसे गुञ्जायमान कमलोंकी माला लिये अपने कुण्डलमण्डित कपोल तथा लाजभरी मुसकानसे शोभायमान सुमुखी लक्ष्मीजी आगे बढ़ीं ॥१७॥ जिनके दोनों स्तन परस्पर सँटे समान एवं चन्दन-कुंकुमादिसे अनुरञ्जित थे, वे अत्यन्त कृशोदरी लक्ष्मीजी जहाँ-तहाँ नूपरोंको मधुर झनकार करके चलती हुई सुवर्णकी लताके सदृश दिखायी पड़ीं ॥ १८ ॥ वे वहाँ एकत्रित गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण तथा देवता आदिमेंसे अपने लिये किसी ऐसे निर्दोष तथा निश्चल पतिरूपी आश्रय ढूँढ रही थीं, जो विशुद्ध सद्गुणसम्पन्न हो। परन्तु उन्हें कोई वर नहीं मिल रहा था ॥ १९ ॥ उन्होंने देखा कि जिन दुर्वासादिमें तपस्या है, उन्होंने क्रोधको नहीं जीत पाया है। बृहस्पति आदिमें ज्ञान है तो उनमें निःसङ्गता नहीं है। ब्रह्मा आदि बड़े महत्त्व-

धर्मः क्वचित् तत्र न भूतसौहृदं त्यागः क्वचित् तत्र न मुक्तिकारणम् ।
वीर्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः ॥२१॥

क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलः क्वचित् तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥२२॥
एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणैर्वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥२३॥

तस्यांसदेश उशतीं नवकञ्जमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ।
तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥२४॥
तस्याःश्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या वक्षोनिवासमकरोत् परमं विभूतेः ।
श्रीः स्वाः प्रजाः सकरुणेन निरीक्षणेन यत्र स्थितैधयत साधिपतींस्त्रिलोकान् ॥२५॥

शङ्खतूर्यमृदङ्गानां वादित्राणां पृथुः स्वनः । देवानुगानां सस्त्रीणां नृत्यतां गायतामभूत् ॥२६॥
ब्रह्मरुद्राङ्गिरोमुख्याः सर्वे विश्वसृजो विभुम् । ईडिरेऽवितथैर्मन्त्रैस्तल्लिङ्गैः पुष्पवर्षिणः ॥२७॥
श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः । शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम् ॥२८॥
निःसत्त्वा लोलुपा राजन् निरुद्योगा गतत्रपाः । यदा चोपेक्षिता लक्ष्म्या बभूवुर्दैत्यदानवाः ॥२९॥
अथासीद् वारुणी देवी कन्या कमललोचना । असुरा जगृहुस्तां वै हरेरनुमतेन ते ॥३०॥

शाली हैं तो वे कामको नहीं जीत सके हैं और इन्द्रादि जो दूसरोंके आश्रित हैं, उन्हें ईश्वर कैसे कहा जाय ! ॥ २० ॥ कहीं अर्थात् परशुरामादिमें धर्म है तो प्राणियोंके प्रति सौहार्दभाव नहीं है । कहीं अर्थात् राजा शिवि आदिमें त्याग है तो वह उनकी मुक्तिका कारण नहीं हो सकता । किन्हीं अर्थात् कार्तवीर्यादिमें बल है, तो वे कालके वेगसे मुक्त नहीं हैं तथा दूसरे लोग विषयासक्तिसे रहित हैं, तो सदा समाधिनिष्ठ रहनेके कारण पति बनाने योग्य नहीं हैं ॥ २१ ॥ कहीं अर्थात् मार्कण्डेय आदिमें दीर्घायु है, तो स्त्रियोंको प्रसन्न रखने योग्य शीलके अभावसे वे अमङ्गलरूप दीखते हैं । हाँ, विष्णुभगवान मङ्गलमय अवश्य हैं, किन्तु उन्हें मेरी चाह नहीं है ॥ २२ ॥ ऐसा विचार करके श्रीलक्ष्मीजीने नित्यसद्गुणपूर्ण, प्राकृत गुणोंसे परे और अणिमादि सब सिद्धियोंसे सम्पन्न श्रीमुकुन्द-भगवानको उनके निरपेक्ष रहनेपर भी अपने एकमात्र आश्रयस्वरूपको पतिरूपमें वरण कर लिया ॥२३॥ तब उन्होंने मत्तमधुकरसमूहकी गुञ्जारसे युक्त वह नवीन कमलोंकी सुन्दर माला उनके गलेमें डाल दी और लाज भरी मुसकानयुक्त विकसित नयनों द्वारा अपने निवासस्थानरूपी भगवानके वक्षःस्थल-की ओर ताकती हुई उनके पास जा खड़ी हुईं ॥ २४ ॥ हे राजन् ! जगत्पिता भगवानने अपने वक्षःस्थलको ही उन सर्वैश्वर्यशालिनी तथा जगज्जननी श्रीलक्ष्मीजीका निवासस्थान बनाया । वहाँ बैठकर महारानी लक्ष्मीजीने करुणामयी दृष्टिसे निहारकर प्रजा तथा लोकपालों और तीनों लोकोंकी अभिवृद्धि की ॥ २५ ॥ तब शंख, तूर्य तथा मृदङ्ग आदि बाजों और स्त्रियों सहित नृत्य-गान करनेवाले देवानुचरों (गन्धर्वों) का महान् निनाद होने लगा ॥ २६ ॥ ब्रह्मा, शिव और अङ्गिरा आदि प्रजापति फूल बरसाते हुए विष्णुगुणप्रतिपादक मन्त्रोंसे भगवानकी स्तुति करने लगे ॥ २७ ॥ श्रीलक्ष्मीजीके देखते ही देवता, प्रजापति तथा सब प्रजा शीलादि गुणोंसे युक्त होकर आनन्दित हो उठी ॥ २८ ॥ हे राजन् ! जब लक्ष्मी देवीने दैत्यों और दानवोंको ठुकरा दिया तो वे असमर्थ, लोलुप, निरुद्यम तथा निर्लज्ज हो गये ॥ २९ ॥ तदनन्तर उस मथ्यमान क्षीरसमुद्रसे कन्यारूपिणी कमलनयनी वारुणीदेवी प्रकटीं । उन्हें भगवानकी अनुमतिसे असुरोंने ले लिया ॥ ३० ॥

अथोदधेर्मथ्यमानात् काश्यपैरमृतार्थिभिः । उदतिष्ठन्महाराज पुरुषः परमाद्भुतः ॥३१॥
दीर्घपीवरदोर्दण्डः कम्बुग्रीवोऽरुणेक्षणः । श्यामलस्तरुणः स्रग्वी सर्वाभरणभूषितः ॥३२॥
पीतवासा महोरस्कः सुमृष्टमणिकुण्डलः । स्निग्धकुञ्चितकेशान्तः सुभगः सिंहविक्रमः ॥३३॥
अमृतापूर्णकलशं बिभ्रद् वलयभूषितः । स वै भगवतः साक्षाद्विष्णोरंशांशसम्भवः ॥३४॥
धन्वन्तरिरिति ख्यात आयुर्वेददृगिज्यभाक् । तमालोक्यासुराः सर्वे कलशं चामृताभृतम् ॥३५॥
लिप्सन्तः सर्ववस्तूनि कलशं तरसाहरन् । नीयमानेऽसुरैस्तस्मिन् कलशेऽमृतभाजने ॥३६॥
विषण्णमनसो देवा हरिं शरणमाययुः । इति तद्दैन्यमालोक्य भगवान् भृत्यकामकृत् ।
मा खिद्यत मिथोऽर्थं वः साधयिष्ये स्वमायया ॥ ३७ ॥
मिथः कलिरभूत्तेषां तदर्थे तर्षचेतसाम् । अहं पूर्वमहं पूर्वं न त्वं न त्वमिति प्रभो ॥३८॥
देवाः स्वं भागमर्हन्ति ये तुल्यायासहेतवः । सत्रयाग इवैतस्मिन्नेष धर्मः सनातनः ॥३९॥
इति स्वान् प्रत्यषेधन् वै दैतेया जातमत्सराः । दुर्बलाः प्रबलान् राजन् गृहीतकलशान् मुहुः॥४०॥
एतस्मिन्नन्तरे विष्णुः सर्वोपायविदीश्वरः । योषिद्रूपमनिर्देश्यं दधार परमाद्भुतम् ॥४१॥
प्रेक्षणीयोत्पलश्यामं सर्वावयवसुन्दरम् । समानकर्णाभरणं सुकपोलोन्नसाननम् ॥४२॥
नवयौवननिर्वृत्तस्तनभारकृशोदरम् । मुखामोदानुरक्तालिझङ्कारोद्विग्नलोचनम् ॥४३॥
बिभ्रत् स्वकेशभारेण मालामुत्फुल्लमल्लिकाम् । सुग्रीवकण्ठाभरणं सुभुजाङ्गदभूषितम् ॥४४॥
विरजाम्बरसंवीतनितम्बद्वीपशोभया । काञ्च्या प्रविलसद्वल्गुचलच्चरणनूपुरम् ॥४५॥

तदनन्तर हे राजन्! कश्यपपुत्र देवता और असुरोंके समुद्र मथनेपर एक अति अद्भुत पुरुष निकला ॥ ३१ ॥ उसकी भुजाएँ स्थूल और लम्बी-लम्बी थीं, उसका शंख सदृश सुन्दर कण्ठ था और नेत्र लाल थे। वह श्यामशरीर, तरुण, मालाधारी और सभी आभूषणोंसे आभूषित था ॥ ३२ ॥ वह पीताम्बरधारी, चौड़ी छातीवाला था और कानोंमें अति स्वच्छ मणिमय कुण्डल पहने था। उसकी अलकें चिकनी तथा घुँघराली थीं। वह देखनेमें अति सुन्दर, सिंह सदृश पराक्रमी, कङ्कणादिसे विभूषित तथा अमृतपूर्ण कलश लिये था। वह विष्णुभगवानके अंशज सुप्रसिद्ध श्रीधन्वन्तरिजी थे, जो आयुर्वेदके प्रवर्त्तक थे और यज्ञमें भाग पाते थे। उन्हें और उनके हाथमें अमृतसे भरा कलश देखकर सब वस्तुओंके लोभी असुरोंने तुरन्त कलश उनके हाथसे छीन लिया। जब दैत्योंने अमृत-भाजन कलश छीन लिया तो देवता खिन्न होकर श्रीहरिकी शरणमें गये। उनकी दीन दशा देख भक्तोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले श्रीभगवान बोले—"हे देवताओं! तुम खेद न करो। मैं अपनी मायासे तुम्हारा काम बना दूँगा" ॥ ३३–३७ ॥ तदनन्तर हे राजन्! उन लोभी दैत्योंमें 'पहले मैं पीऊँगा—तू नहीं, तू नहीं' इस तरह परस्पर कलह होने लगा ॥ ३८ ॥ उनमें दुर्बल दैत्य कलश ले जानेवाले सजातीय प्रबल दैत्योंसे डाहवश बारबार यह कहकर रोकने लगे—'जिन्होंने समुद्रमन्थनमें बराबर मेहनत की है, उन देवताओंको भी यज्ञभागके समान ही इसका भी भाग मिलना चाहिये, यही सनातन धर्म है' ॥ ३९ ॥ ४० ॥ इसी बीच सब उपायोंके ज्ञाता विष्णुभगवानने अति अद्भुत अनिर्वचनीय स्त्रीरूप धारण किया ॥४१॥ वह रूप अति दर्शनीय, नीलकमलसम श्याम, सर्वाङ्गसुन्दर कपोल एवं उन्नत नासिकासे युक्त तथा मनोहर मुखका था ॥ ४२ ॥ नवयौवनके उभाड़ तथा गोल एवं बढ़े हुए स्तनोंके भारसे उसका उदरदेश कृश था। मुखारविन्दकी गन्धके अनुगामी भौंरोंकी झङ्कारसे उसके नेत्र चञ्चल हो रहे थे ॥ ४३ ॥ वह स्त्री अपने केशपाशमें खिले मल्लिकाकुसुमोंकी माला लपेटे थी। उसकी सुन्दर ग्रीवा और भुजाओंमें अङ्गदादि भूषण विभूषित थे ॥ ४४ ॥ वह (मोहिनी) निर्मल वस्त्रसे वेष्टित और नितम्बमें विराजमान सुवर्णमयी करधनीसे सुशोभित थी और उसके सुन्दर एवं चञ्चल चरणोंमें पड़े नूपुर बजते

सव्रीडस्मितविक्षिप्तभ्रूविलासावलोकनैः । दैत्ययूथपचेतःसु काममुद्दीपयन् मुहुः ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे भगवन्मायोपलम्भनं नामाष्टमोऽध्यायः॥८॥

नवमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः । क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम् ॥१॥
अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः । इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः ॥२॥
का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि । कस्यासि वद वामोरु मथ्नन्तीव मनांसि नः॥३॥
न वयं त्वामरैर्दैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः । नास्पृष्टपूर्वां जानीमो लोकेशैश्च कुतो नृभिः ॥४॥
नूनं त्वं विधिना सुभ्रूः प्रेषितासि शरीरिणाम् । सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम् ॥५॥
सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि । ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ॥६॥
वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः । विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत् ॥७॥
इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरिः । प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत् ॥८॥

श्रीभगवानुवाच

कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां मयि सङ्गताः । विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥९॥
सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः । सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम्॥१०॥

थे ॥ ४५ ॥ वह सुन्दरी अद्भुत रूप, लाजभरी मुसकान और चलायमान भ्रूभङ्गीसे निहारती हुई दैत्ययूथपतियोंके हृदयमें पुनः पुनः कामोद्दीपन करने लगी ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(मोहिनीरूपधारी भगवानका अमृत बाँटना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब वे दैत्य सौहार्द त्यागकर दस्युधर्ममें प्रवृत्त हो अमृतके लिए परस्पर छीना-झपटी कर रहे थे, तभी उन्होंने वहाँ आती हुई वह सुन्दरी स्त्री देखी ॥ १ ॥ उसे देखते ही कामातुर हो उन्होंने 'अहो ! इसका कैसा सुन्दर रूप है ! इसकी कैसी कमनीय कान्ति है ! कैसी नयी अवस्था है !' यों कहते हुए उन्होंने उसके पास जाकर पूछा—॥ २ ॥ हे कमलदललोचनी ! तुम कौन हो ? कहाँसे आ रही हो ? तुम क्या करना चाहती हो ? हे वरोरु ! तुम तो हमारे चित्तोंको मानों मथे डाल रही हो, बताओ तो तुम किसकी पुत्री हो ? ॥ ३ ॥ हम समझते हैं कि अबतक देवता, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, चारण तथा लोकपाल भी तुम्हें नहीं छू सके हैं, फिर मनुष्योंका क्या कहना ? ॥ ४ ॥ हे सुभ्रु ! मानो विधाताने ही दया करके हम देहधारियोंके इन्द्रिय तथा मनोंको प्रसन्न करनेके हेतु तुम्हें यहाँ भेजा है ॥ ५ ॥ हे सुमध्यमे ! इस एक वस्तुके लिये वैर बाँधकर परस्पर लड़नेवाले हम सजातीयोंमें तुम शान्ति स्थापित कर दो ॥ ६ ॥ हम कश्यपजीके पुत्र और भाई-भाई हैं। हमने समान परिश्रम किया है। सो तुम हम सबमें इस अमृतको उचित रीतिसे बाँट दो, जिससे कि हम लोगोंमें कोई झगड़ा न हो ॥ ७ ॥ उन असुरोंके प्रार्थना करनेपर अपनी मायासे ही स्त्रीरूपधारी श्रीहरि हँसे और कुटिल कटाक्षभङ्गीके साथ निहारकर बोले ॥ ८ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे कश्यपपुत्रों ! तुम मुझ व्यभिचारिणीपर इतनी श्रद्धा क्यों करते हो ? विज्ञ लोग स्त्रियोंपर विश्वास कभी नहीं करते ॥ ९ ॥ हे दैत्यों ! कुत्ते तथा व्यभिचारिणी स्त्रियोंकी मित्रता अनित्य होती है। क्योंकि वे नित्य

श्रीशुक उवाच

इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः । जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम् ॥ ११॥

ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरिर्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा ।
यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥ १२॥

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यासुरपुङ्गवाः । अप्रमाणविदस्तस्यास्तत् तथेत्यन्वमंसत ॥ १३॥

अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम् । दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः ॥ १४॥

यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते । कुशेषु प्राविशन् सर्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः ॥ १५॥

प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च । धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥ १६॥

तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशद्दुकूलश्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन कुम्भस्तनी कलशपाणिरथाविवेश ॥ १७॥

तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्णनासाकपोलवदनां परदेवताख्याम् ।
संवीक्ष्य सम्मुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम् ॥ १८॥

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम् । मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥ १९॥

कल्पयित्वा पृथक् पङ्क्तीरुभयेषां जगत्पतिः । तांश्चोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु ॥ २०॥

दैत्यान् गृहीतकलशो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः । दूरस्थान् पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥ २१॥

ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप । तूष्णीमासन् कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया ॥ २२॥

नये-नये प्रेमी खोजती रहती हैं ॥१०॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उन मोहिनीभगवानके परिहास भरे वचनोंसे दैत्योंका उनपर और भी दृढ़ विश्वास हो गया । वे गम्भीरभावसे हँसे और उन्होंने वह अमृत-कलश मोहिनीके हाथमें दे दिया ॥ ११ ॥ अमृतपात्र लेकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए मीठी वाणीमें भगवानने कहा—'मैं अच्छा करूँ या बुरा, वह तुम्हें मान्य हो तो मैं यह अमृत बाटूँगी' ॥ १२ ॥ यह सुनकर उनके सच्चे स्वरूपसे अनभिज्ञ असुरोंने 'बहुत अच्छा' कहकर अनुमोदन किया ॥ १३ ॥ तब दैत्योंने उपवास करके दूसरे दिन स्नान किया तथा अग्निमें हविष्यान्नकी आहुति दी । गो-ब्राह्मणादि-को यथायोग्य दान दे और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराके अपनी-अपनी रुचिके अनुसार नूतन वस्त्र पहन और भली भाँति विभूषित होकर पूर्वकी ओर अग्रभाग करके बिछाये कुशाओंपर जा बैठे ॥ १४ ॥ १५ ॥ हे राजन् ! धूपके धूमसे सुरभित, माला तथा दीपावलिसे सुशोभित एक सुन्दर भवनमें जब सब देवता और दैत्य पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये, तब दिव्य दुकूलसे सुशोभित गजशावकसम जंघाओंयुक्त और कलश-जैसे उन्नत स्तनों तथा मदमत्त नयनोंवाली वह बाला हाथमें अमृतका कलश लिये सुवर्णमय नूपुरोंकी झनकार करती हुई वहाँ आयी ॥ १६ ॥ १७ ॥ उसके कानोंमें सुवर्णके कुण्डल थे । उसके कर्ण, नासिका, कपोल तथा मुखारविन्द मनोहर थे और स्तनोंका अञ्चल कुछ खिसका हुआ था । साक्षात् लक्ष्मीजीकी सहचरीस्वरूपिणी उस परदेवताको देख उसकी मुसकानभरी चितवनसे सभी देवता और असुर व्याकुल हो उठे ॥ १८ ॥ मोहिनीरूपधारी भगवानने सर्पोंके समान स्वभावतः क्रूर दैत्योंको अमृत पिलाना अनुचित समझकर उन्हें नहीं ही दिया ॥ १९ ॥ श्रीजगत्पतिने उनकी पृथक्-पृथक् दो पंक्तियाँ बनाकर उन्हें अलग-अलग बैठाया ॥ २० ॥ तब कलश लेकर भगवानने दैत्योंको अपने हाव-भाव तथा कटाक्षादिसे छलते हुए दूर बैठे देवताओंको वह मृत्यु-जरापहारी अमृत पिला दिया ॥ २१ ॥ हे राजन् ! वे सब असुर 'स्त्रीके साथ झगड़ा करना अनुचित है और इसने भी हमारे प्रति प्रेम दिखाया है' यह सोचकर पूर्वप्रदत्त वचनका पालन करते हुए

तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः । बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम् ॥२३॥
देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि । प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः ॥२४॥
चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः । हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत् ॥२५॥
शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्लृपत् । यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः ॥२६॥
पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवाँल्लोकभावनः । पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः ॥२७॥
एवं सुरासुरगणाः समदेशकालहेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः ।
तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपुर्यत्पादपङ्कजरजः श्रयणान्न दैत्याः ॥२८॥
यद् युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात् ।
तैरेव सद् भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद् भवति मूलनिषेचनं यत् ॥२९॥

श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धेऽमृतमथने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति दानवदैतेया नाविन्दन्नमृतं नृप । युक्ताः कर्मणि यत्ताश्च वासुदेवपराङ्मुखाः ॥१॥
साधयित्वामृतं राजन् पाययित्वा स्वकान् सुरान् । पश्यतां सर्वभूतानां ययौ गरुडवाहनः ॥२॥
सपत्नानां परामृद्धिं दृष्ट्वा ते दितिनन्दनाः । अमृष्यमाणा उत्पेतुर्देवान् प्रत्युद्यतायुधाः ॥३॥

शान्तभावसे बैठे रहे ॥ २२ ॥ उस सुन्दरीपर उनका गाढ़ अनुराग हो गया था । वे प्रणयभङ्गके भय तथा अपने प्रति प्रदर्शित सत्कारके बन्धनमें बँधकर वे कोई अप्रिय वचन भी नहीं बोले ॥ २३ ॥ इसी बीच राहुनामके एक दैत्यने देवताओंका वेष बना और देवताओंमें घुसकर अमृत पी लिया। तत्काल चन्द्रमा तथा सूर्यने भगवानको यह बात बता दी ॥ २४ ॥ बस, भगवानने अमृत पीनेके समय ही छुरे जैसी धारवाले अपने चक्रसे उसका सिर काटकर धड़से अलग कर दिया। अमृतका संसर्ग न होनेसे उसका धड़ तो प्राणहीन होकर गिर गया ॥ २५ ॥ किन्तु सिर अमर हो गया। तब ब्रह्माजीने उसे भी राहुनामक एक 'ग्रह' बना दिया। पूर्व वैरसे अब भी वह पर्वदिनों अर्थात् पूर्णिमा तथा आमावस्याको चन्द्रमा और सूर्यपर आक्रमण किया करता है ॥ २६ ॥ देवताओंके अमृत पी लेनेपर लोकभावन भगवानने समस्त दैत्योंके देखते-देखते फिर अपना पहलेवाला रूप धारण कर लिया ॥ २७ ॥ हे राजन् ! देश, काल, हेतु, अर्थ, कर्म और मतिके समान होनेपर भी देवता तथा दैत्योंको प्राप्त फलमें भेद रहा। क्योंकि उनकी चरणकमलरजका सेवन करनेसे देवताओंने सरलतासे अमृत पा लिया और दैत्य उससे वञ्चित रह गये ॥ २८ ॥ मनुष्य जो अपने प्राण, धन, कर्म, मन तथा वाणी आदि द्वारा शरीर और पुत्रादिके निमित्त विविध कर्म करता है, वह भेदबुद्धियुक्त होनेसे व्यर्थ हो जाता और उन्हीं प्राणादिके योगसे जो कार्य ईश्वरके लिए किया जाता, वह अभेद-भावयुक्त होनेसे सफल होता है। वह तो वृक्षकी जड़में जल डालनेके समान सभीके लिये लाभदायक होता है ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(देवासुरसंग्राम) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! बड़ी लगनके साथ समुद्रमन्थनरूपी महान् उद्योग करनेपर भी भगवान वासुदेवसे विमुख दैत्य तथा दानवोंको अमृत नहीं मिल सका ॥ १ ॥ इस प्रकार गरुड़वाहन विष्णुभगवान अमृत पा और उसे अपने भक्त देवताओंको पिलाकर सब प्राणियोंके देखते-देखते वहाँसे चल दिये ॥ २ ॥ तब शत्रुओं (देवताओं) का ऐश्वर्य देखकर

ततः सुरगणाः सर्वे सुधया पीतयैधिताः । प्रतिसंयुयुधुः शस्त्रैर्नारायणपदाश्रयाः ॥४॥
तत्र देवासुरो नाम रणः परमदारुणः । रोधस्युदन्वतो राजंस्तुमुलो रोमहर्षणः ॥५॥
तत्रान्योन्यं सपत्नास्ते संरब्धमनसो रणे । समासाद्यासिभिर्बाणैर्निजघ्नुर्विविधायुधैः ॥६॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गानां भेरीडमरुणां महान् । हस्त्यश्वरथपत्तीनां नदतां निःस्वनोऽभवत् ॥७॥
रथिनो रथिभिस्तत्र पत्तिभिः सह पत्तयः । हया हयैरिभाश्चेभैः समसज्जन्त संयुगे ॥८॥
उष्ट्रैः केचिदिभैः केचिदपरे युयुधुः खरैः । केचिद् गौरमृगैर्ऋक्षैर्द्वीपिभिर्हरिभिर्भटाः ॥९॥
गृध्रैः कङ्कैर्बकैरन्ये श्येनभासैस्तिमिङ्गिलैः । शरभैर्महिषैः खड्गैर्गोवृषैर्गवयारुणैः ॥१०॥
शिवाभिराखुभिः केचित् कृकलासैः शशैर्नरैः । बस्तैरेके कृष्णसारैर्हंसैरन्ये च सूकरैः ॥११॥
अन्ये जलस्थलखगैः सत्त्वैर्विकृतविग्रहैः । सेनयोरुभयो राजन् विविशुस्तेऽग्रतोऽग्रतः ॥१२॥
चित्रध्वजपटै राजन्नातपत्रैः सितामलैः । महाधनैर्वज्रदण्डैर्व्यजनैर्बार्हचामरैः ॥१३॥
वातोद्धूतोत्तरोष्णीषैरर्चिर्भिर्वर्मभूषणैः । स्फुरद्भिर्विशदैः शस्त्रैः सुतरां सूर्यरश्मिभिः ॥१४॥
देवदानववीराणां ध्वजिन्यौ पाण्डुनन्दन । रेजतुर्वीरमालाभिर्यादसामिव सागरौ ॥१५॥
वैरोचनो बलिः संख्ये सोऽसुराणां चमूपतिः । यानं वैहायसं नाम कामगं मयनिर्मितम् ॥१६॥
सर्वसाङ्ग्रामिकोपेतं सर्वाश्चर्यमयं प्रभो । अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं दृश्यमानमदर्शनम् ॥१७॥
आस्थितस्तद् विमानाग्र्यं सर्वानीकाधिपैर्वृतः । वालव्यजनछत्राग्र्यै रेजे चन्द्र इवोदये ॥१८॥
तस्यासन् सर्वतो यानैर्यूथानां पतयोऽसुराः । नमुचिः शम्बरो बाणो विप्रचित्तिरयोमुखः ॥१९॥
द्विमूर्धा कालनाभोऽथ प्रहेतिर्हेतिरिल्वलः । शकुनिर्भूतसन्तापो वज्रदंष्ट्रो विरोचनः ॥२०॥

दैत्य नहीं सह सके और विविध अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओंपर चढ़ दौड़े ॥ ३ ॥ उधर अमृतपानसे सबल तथा भगवच्चरणाश्रित देवता भी विविध आयुध लेकर दैत्योंसे लड़ने लगे ॥ ४ ॥ हे राजन्! इस प्रकार क्षीरसागरके तटपर 'देवासुर' नामका बड़ा भीषण, रोमाञ्चकारी एवं घनघोर युद्ध होने लगा ॥ ५ ॥ उस युद्धमें वे दोनों विपक्षी वीर रोषमें भरकर परस्पर भिड़ गये और एक-दूसरेपर खड्ग तथा बाणादिसे विविध आघात-प्रतिघात करने लगे ॥ ६ ॥ गर्जते हुए हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सैनिकों, शंख, तूर्य, मृदङ्ग और भेरी आदि वाद्योंका अति घनघोर निनाद होने लगा ॥ ७ ॥ रथियोंसे रथी, पैदल सैनिकोंसे पैदल सैनिक, घुड़सवारोंसे घुड़सवार तथा गजारोहियोंसे गजारोही लड़ने लगे ॥ ८ ॥ हे राजन्! उनमें कुछ वीर ऊँटोंपर, कुछ हाथियों और कुछ गधोंपर चढ़कर जूझने लगे। कुछ गौरमृगोंपर, कुछ रीछोंपर, कुछ सिंहोंपर, कुछ गिद्ध, कङ्क तथा बगुलोंपर, जल, स्थल एवं आकाशचारी विकराल शरीरवाले प्राणियोंपर चढ़कर दोनों सेनाओंके बीच घुस गये ॥ ९-१२ ॥ हे पाण्डुतनय परीक्षित्! उस समय विविध प्रकारकी ध्वजा-पताका, शुभ्र एवं निर्मल छत्र, रत्नदण्डयुक्त बहुमूल्य व्यजन, मोरछल, चमर, वायुमें उड़ते दुपट्टे, कलँगी, कवच, आभूषण और सूर्यकी किरणोंसे चमकते उज्ज्वल शस्त्रोंसे वे देवता तथा असुरोंकी सेनाएँ वीरश्रेणीरूपी जलचरोंसे युक्त दो महासागरोंकी भाँति सुशोभित हुई ॥ १३-१५ ॥ उस रणभूमिमें दैत्यसेनानायक विरोचननन्दन बलि मयदानव-निर्मित वैहायस विमानपर जा चढ़ा, जो आरोहीकी इच्छानुसार सर्वत्र आने-जानेवाला, सब युद्धसामग्रीसे परिपूर्ण, सर्वाश्चर्यमय, कभी दिखायी देने और कभी अदृश्य हो जानेसे अप्रतर्क्य तथा अनिर्देश्य हो रहा था। उस श्रेष्ठ विमानपर बैठकर सभी सेनानायकोंसे घिरा हुआ बलि अत्युत्तम चमर और छत्रोंसे युक्त हो उदीयमान चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हुआ ॥ १६-१८ ॥ उसके सब ओर अपने-अपने विमानोंपर बैठे नमुचि, शम्बर, बाण, विप्रचित्ति, अयोमुख, द्विमूर्धा, कालनाभ, प्रहेति, हेति, इल्वल, शकुनि, भूतसन्ताप, वज्रदंष्ट्र, विरोचन, हयग्रीव,

हयग्रीवः शङ्कुशिराः कपिलो मेघदुन्दुभिः । तारकश्चक्रदृक् शुम्भो निशुम्भो जम्भ उत्कलः ॥२१॥
अरिष्टोऽरिष्टनेमिश्च मयश्च त्रिपुराधिपः । अन्ये पौलोमकालेया निवातकवचादयः ॥२२॥
अलब्धभागाः सोमस्य केवलं क्लेशभागिनः । सर्व एते रणमुखे बहुशो निर्जितामराः ॥२३॥
सिंहनादान् विमुञ्चन्तः शङ्खान् दध्मुर्महारवान् । दृष्ट्वा सपत्नानुत्सिक्तान् बलभित् कुपितो भृशम्॥२४
ऐरावतं दिक्करिणमारूढः शुशुभे स्वराट् । यथा स्रवत्प्रस्रवणमुदयाद्रिमहर्पतिः ॥२५॥
तस्यासन् सर्वतो देवा नानावाहध्वजायुधाः । लोकपालाः सह गणैर्वाय्वग्निवरुणादयः ॥२६॥
तेऽन्योन्यमभिसंसृत्य क्षिपन्तो मर्मभिर्मिथः । आह्वयन्तो विशन्तोऽग्रे युयुधुर्द्वन्द्वयोधिनः ॥२७॥
युयोध बलिरिन्द्रेण तारकेण गुहोऽस्युत । वरुणो हेतिनायुध्यन्मित्रो राजन् प्रहेतिना ॥२८॥
यमस्तु कालनाभेन विश्वकर्मा मयेन वै । शम्बरो युयुधे त्वष्ट्रा सवित्रा तु विरोचनः ॥२९॥
अपराजितेन नमुचिरश्विनौ वृषपर्वणा । सूर्यो बलिसुतैर्देवो बाणज्येष्ठैः शतेन च ॥३०॥
राहुणा च तथा सोमः पुलोम्ना युयुधेऽनिलः । निशुम्भशुम्भयोर्देवी भद्रकाली तरस्विनी ॥३१॥
वृषाकपिस्तु जम्भेन महिषेण विभावसुः । इल्वलः सह वातापिर्ब्रह्मपुत्रैररिन्दम ॥३२॥
कामदेवेन दुर्मर्ष उत्कलो मातृभिः सह । बृहस्पतिश्चोशनसा नरकेण शनैश्चरः ॥३३॥
मरुतो निवातकवचैः कालेयैर्वसवोऽमराः । विश्वेदेवास्तु पौलोमै रुद्राः क्रोधवशैः सह ॥३४॥

त एवमाजावसुराः सुरेन्द्रा द्वन्द्वेन संहत्य च युध्यमानाः ।
अन्योन्यमासाद्य निजघ्नुरोजसा जिगीषवस्तीक्ष्णशरासितोमरैः ॥३५॥
भुशुण्डिभिश्चक्रगदर्ष्टिपट्टिशैः शक्त्युल्मुकैः प्रासपरश्वधैरपि ।
निस्त्रिंशभल्लैः परिघैः समुद्गरैः सभिन्दिपालैश्च शिरांसि चिच्छिदुः ॥३६॥

शंकुशिरा, कपिल, मेघदुन्दुभि, तारक, चक्राक्ष, शुम्भ, निशुम्भ, जम्भ, उत्कल, अरिष्टनेमि, मय, त्रिपुराधिप, पौलोम, कालेय तथा निवातकवच आदि दैत्यसेनापति थे ॥ १९–२२ ॥ ये सब दैत्य अमृतका भाग न मिलनेसे केवल क्लेशके भागी हुए थे और पहले युद्धमें कई बार देवताओंको हरा चुके थे ॥ २३ ॥ वे सब गर्जते हुए ऊँची ध्वनिसे शंख बजाने लगे । अपने शत्रुओंको गर्वयुक्त देखकर स्वर्गाधिपति इन्द्र बहुत कुपित हुए । वे मस्तकसे मद बहानेवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ़ होकर ऐसे लगे, जैसे बहते हुए झरनोंवाले उदयाचल दिवापति सूर्य शोभा पाते हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥ उनके सब ओर विविध वाहन, ध्वजा तथा आयुधोंसे युक्त देवता और अपने गणों समेत वायु, अग्नि तथा वरुण आदि लोकपाल चले ॥२६॥ वे सब देवता और दैत्य एक-दूसरेके सामने आकर मर्मभेदी शस्त्रोंको बरसाते और युद्धमें आगे बढ़कर एक-दूसरेको ललकारते हुए परस्पर लड़ने लगे ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इन्द्र और बलि, तारकासुर और स्वामिकार्तिकेय, हेति तथा वरुण, प्रहेति तथा मित्र, कालनाभ और यमराज, मय तथा विश्वकर्मा, त्वष्टा और शम्बरासुर, सविता तथा विरोचन, अपराजित एवं नमुचि, वृषपर्वा तथा अश्विनीकुमार और बलिके सौ पुत्र जिनमें बाणासुर सबसे ज्येष्ठ था और आपसमें लड़ने लगे । राहुके साथ चन्द्रमा एवं पुलोमाके साथ वायु लड़ने लगे । निशुम्भ और शुम्भके साथ वेग-वती देवी भद्रकाली, जम्भके साथ वृषाकपि (महादेव), महिषासुरसे अग्निदेव तथा हे शत्रुदमन ! ब्रह्माजीके पुत्रोंके साथ इल्वल और वातापी जूझने लगा ॥ २८—३२ ॥ कामदेवसे दुर्मर्ष, मातृगणसे उत्कल, शुक्राचार्यसे बृहस्पति, तारकासुरसे शनैश्चर, निवातकवचोंके रुद्रगण, कालेयोंसे वसुगण पौलोमोंसे विश्वेदेवगण और क्रोधवशोंसे रुद्रगण लड़ने लगे ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ इस तरह वे दैत्य और देवेन्द्रगण उस रणभूमिमें एकत्रित हो और द्वन्द्वयुद्ध करते हुए एक दूसरेसे भिड़कर जयकी कामनासे बड़े उत्साहके साथ तीक्ष्ण बाण, तलवार एवं भालोंका प्रहार करने लगे ॥ ३५ ॥ वे भशुण्डी, चक्र,

गजास्तुरङ्गाः सरथाः पदातयः सारोहवाहा विविधा विखण्डिताः ।
निकृत्तबाहूरुशिरोधराङ्घ्रयश्छिन्नध्वजेष्वासतनुत्रभूषणाः ॥३७॥
तेषां पदाघातरथाङ्गचूर्णितादायोधनादुल्बण उत्थितस्तदा ।
रेणुर्दिशः खं द्युमणिं च छादयन् न्यवर्तताासृक्स्रुतिभिः परिप्लुतात् ॥३८॥
शिरोभिरुद्धूतकिरीटकुण्डलैः संरम्भदृग्भिः परिदष्टदच्छदैः ।
महाभुजैः साभरणैः सहायुधैः सा प्रास्तृता भूः करभोरुभिर्बभौ ॥३९॥
कबन्धास्तत्र चोत्पेतुः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः । उद्यतायुधदोर्दण्डैराधावन्तो भटान् मृधे ॥४०॥
बलिर्महेन्द्रं दशभिस्त्रिभिरैरावतं शरैः । चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकेनारोहमार्च्छयत् ॥४१॥
स तानापततः शक्रस्तावद्भिः शीघ्रविक्रमः । चिच्छेद निशितैर्भल्लैरसम्प्राप्तान् हसन्निव ॥४२॥
तस्य कर्मोत्तमं वीक्ष्य दुर्मर्षः शक्तिमाददे । तां ज्वलन्तीं महोल्काभां हस्तस्थामच्छिनद्धरिः ४३
ततः शूलं ततः प्रासं ततस्तोमरमृष्टयः । यद् यच्छस्त्रं समादद्यात् सर्वं तदच्छिनद् विभुः ४४
ससर्जाथासुरीं मायामन्तर्धानगतोऽसुरः । ततः प्रादुरभूच्छैलः सुरानीकोपरि प्रभो ॥४५॥
ततो निपेतुस्तरवो दह्यमाना दवाग्निना । शिलाः सटङ्कशिखराश्चूर्णयन्त्यो द्विषद्बलम् ॥४६॥
महोरगाः समुत्पेतुर्दन्दशूकाः सवृश्चिकाः । सिंहव्याघ्रवराहाश्च मर्दयन्तो महागजान् ॥४७॥
यातुधान्यश्च शतशः शूलहस्ता विवाससः । छिन्धि भिन्धीति वादिन्यस्तथा रक्षोगणाः प्रभो ४८

गदा, ऋष्टि, पट्टिश, शक्ति, उल्मुक, प्रास, परश्वध, निस्त्रिंश, भाले, मुद्गर तथा भिन्दिपालोंं और परिघोंसे एक-दूसरोंके मस्तक काटने लगे ॥ ३६ ॥ अपने आरोहियोंके सहित हाथी, घोड़े तथा रथ आदि विविध वाहन तथा पैदल सिपाही कटने लगे—कुछ सैनिकोंकी भुजाएँ, कुछकी जङ्घाएँ, कुछकी ग्रीवा और कुछके चरण आदि कट गये। कुछकी ध्वजा, धनुष, कवच तथा आभूषण छिन्न-भिन्न हो गये ॥ ३७ ॥ उनके पादप्रहार एवं रथचक्रोंके आघातसे मर्दित रणभूमिसे प्रचण्ड धूलि उड़ने लगी। उसने सभी दिशाओं तथा सूर्यसहित आकाशको ढाँक लिया। किन्तु उछलती रुधिरकी धाराओं द्वारा भूमि भीग जानेसे धूलि फिर बैठ गयी ॥ ३८ ॥ सारी रणभूमि, जिन सैनिकोंके मुकुट-कुण्डल गिर पड़े थे और जिनके नेत्र क्रोध भरे और ओंठ दाँतोंके तले दबे हुए थे, ऐसे अगणित मस्तकों, आभूषणों और आयुधों सहित बड़ी-बड़ी भुजाओं एवं हाथीकी सूँडसदृश स्थूल जंघाओंसे भर गयी ॥ ३९ ॥ बहुतेरे कबन्ध (मुण्डहीन धड़) उठ खड़े हुए, जो युद्धभूमिमें कटकर गिर अपने शिरोंको नेत्रोंसे देख और अस्त्र-शस्त्र लेकर अन्य वीरोंकी ओर दौड़ने लगे ॥ ४० ॥ तब बलिने दस बाणोंसे इन्द्रको, तीन बाणोंसे ऐरावतको, चार बाणोंसे ऐरावतके चार चरणरक्षक महावतों तथा एकसे मुख्य महावतको बींधनेके निमित्त बाण छोड़ा ॥ ४१ ॥ किन्तु विक्रमी इन्द्रने पहुँचनेसे पहले ही उन्होंने अपने भल्लनामक उतने ही तीक्ष्ण बाण छोड़कर हँसते-हँसते बीचहीमें काट डाला ॥ ४२ ॥ बलिने इन्द्रका उत्तम पराक्रम देख और उसे सहन न कर सकनेके कारण अपनी शक्ति उठायी, किन्तु इन्द्रने उल्काके समान जलती हुई वह शक्ति उसके हाथमें ही काट डाली ॥ ४३ ॥ तब बलिने एकके पीछे एक करके क्रमशः शूल, प्रास, तोमर तथा शक्ति आदि जितने भी शस्त्र सम्हाले, उन सबको इन्द्रने काटकर छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! तब वह असुर अन्तर्धान होकर आसुरी मायाएँ फैलाने लगा। तदनुसार देवसेनाके ऊपर एक पर्वत प्रगट हो गया ॥ ४५ ॥ इसपर दावाग्निसे जलते हुए वृक्ष तथा तीखी धारवाले शिखर एवं शिलाखण्ड गिर-गिरकर देवसेनाको चूर्ण करने लगे ॥ ४६ ॥ बड़े-बड़े सर्प, बिच्छू तथा अन्य विषधर जन्तु और सिंह व्याघ्र तथा बराह आदि निकलकर बड़े-बड़े गजराजोंको पीसने लगे ॥ ४७ ॥ हे राजन् ! तब हाथोंमें त्रिशूल लिये 'मारो-काटो' चिल्लाती सैकड़ों

ततो महाघना व्योम्नि गम्भीरपरुषस्वनाः । अङ्गारान् मुमुचुर्वातैराहताः स्तनयित्नवः ॥४९॥
सृष्टो दैत्येन सुमहान् वह्निः श्वसनसारथिः । सांवर्तक इवात्युग्रो विबुधध्वजिनीमधाक् ॥५०॥
ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्रत्यदृश्यत । प्रचण्डवातैरुद्धूततरङ्गावर्तभीषणः ॥५१॥
एवं दैत्यैर्महामायैरलक्ष्यगतिभीषणैः । सृज्यमानासु मायासु विषेदुः सुरसैनिकाः ॥५२॥
न तत्प्रतिविधिं यत्र विदुरिन्द्रादयो नृप । ध्यातः प्रादुरभूत् तत्र भगवान् विश्वभावनः ५३॥

ततः सुपर्णांसकृताङ्घ्रिपल्लवः पिशङ्गवासा नवकञ्जलोचनः ।
अदृश्यताष्टायुधबाहुरुल्लसच्छ्रीकौस्तुभानर्घ्यकिरीटकुण्डलः ॥५४॥
तस्मिन् प्रविष्टेऽसुरकूटकर्मजा माया विनेशुर्महिना महीयसः ।
स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम् ॥५५॥
दृष्ट्वा मृधे गरुडवाहमिभारिवाह आविध्य शूलमहिनोदथ कालनेमिः ।
तल्लीलया गरुडमूर्ध्नि पतद् गृहीत्वा तेनाहनन्नृप सवाहमरिं त्र्यधीशः ॥५६॥
माली सुमाल्यतिबलौ युधि पेततुर्यच्चक्रेण कृत्तशिरसावथ माल्यवांस्तम् ।
आहत्य तिग्मगदयाहनदण्डजेन्द्रं तावच्छिरोऽच्छिनदरेर्नदतोऽरिणाऽऽद्यः ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे देवासुरसङ्ग्रामे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

नङ्गी राक्षसियाँ तथा राक्षस प्रगटे ॥ ४८ ॥ आकाशमें गम्भीर तथा कठोर निनाद करनेवाले महामेघ और बिजलियाँ प्रकट हो और वायुसे आहत होकर अङ्गारे बरसने लगीं ॥ ४९ ॥ दैत्यराज्य बलिके उत्पन्न किये वायुरूपी सारथीसे युक्त एवं प्रलयकालीन अग्निके सदृश अति प्रचण्ड एवं महान् अग्नि सारी देवसेनाको जलाने लगा ॥ ५० ॥ प्रबल प्रभंजनके थपेड़ोंसे उछलती तरङ्गों और भँवरोंसे भीषण समुद्र सब ओरसे मर्यादाको लाँघता दीखने लगा । ॥ ५१ ॥ इस तरह अपनी अलक्ष्य गतिसे अतिशय भीषण महामायावी दैत्योंके अनेक मायाएँ रचनेपर सुरसैनिक बहुत दुखी हुए ॥५२॥ हे राजन्! जब इन्द्रादि देवताओंको उन विचित्र मायाओंके नाशका कोई उपाय नहीं दीखा तो उनके स्मरण करते ही विश्वभावन भगवान तत्काल प्रगट हो गये ॥ ५३ ॥ वे गरुडजीके कन्धेपर अपना सुकोमल चरण रखे, पीताम्बर धारण किये, नवीन कमलके समान नेत्रवाले तथा अपनी आठों भुजाओंमें आयुध धारण किये और लक्ष्मी, कौस्तुभमणि तथा महामूल्य मुकुट एवं कुण्डलोंसे आभूषित श्रीहरि वहाँ दिखायी पड़े ॥ ५४ ॥ भगवानके देवसेनामें प्रवेश करते ही उनके तेजसे दैत्योंके कूटकर्मसे उत्पन्न सारी मायाएँ वैसे ही तत्काल विनष्ट हो गयीं जैसे जाग जानेपर स्वप्न नष्ट हो जाता है। ऐसा होना ही चाहिए। क्योंकि भगवानका स्मरण ही सब विपत्तियोंसे छुड़ा देता है ॥५५॥ युद्धस्थलमें गरुडवाहन भगवानको प्रगट देखकर सिंहारोही कालनेमि दैत्यने उनपर अपना त्रिशूल फेंका। हे राजन्! उसे गरुडके मस्तकपर आता देखकर भगवान् श्रीहरिने लीलाहीसे पकड़ लिया और उसी त्रिशूलसे वाहन-समेत कालनेमिको मार डाला ॥५६॥ भगवानके चक्र द्वारा सिर कट जानेसे माली और सुमाली नामके महाबली दैत्य भी युद्धस्थलमें धराशायी हो गये। तब माल्यवानने अपनी प्रचण्ड गदासे श्रीहरिभगवान तथा गरुडपर प्रहार किया, किन्तु तत्काल आदिपुरुष श्रीहरिने अपने चक्रसे गरजते हुए शत्रुका सिर काटकर धड़से अलग कर दिया ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथो सुराः प्रत्युपलब्धचेतसः परस्य पुंसः परयानुकम्पया ।
जघ्नुर्भृशं शक्रसमीरणादयस्तांस्तान् रणे यैरभिसंहताः पुरा ॥१॥
वैरोचनाय संरब्धो भगवान् पाकशासनः । उदयच्छद् यदा वज्रं प्रजा हाहेति चुक्रुशुः ॥२॥
वज्रपाणिस्तमाहेदं तिरस्कृत्य पुरःस्थितम् । मनस्विनं सुसम्पन्नं विचरन्तं महामृधे ॥३॥
नटवन्मूढ मायाभिर्मायेशान् नो जिगीषसि । जित्वा बालान् निबद्धाक्षान् नटो हरति तद्धनम् ४
आरुरुक्षन्ति मायाभिरुत्सिसृप्सन्ति ये दिवम् । तान् दस्यून् विधुनोम्यज्ञान् पूर्वस्माच्च पदादधः ।५
सोऽहं दुर्मायिनस्तेऽद्य वज्रेण शतपर्वणा । शिरो हरिष्ये मन्दात्मन् घटस्व ज्ञातिभिः सह॥६॥

बलिरुवाच

सङ्ग्रामे वर्तमानानां कालचोदितकर्मणाम् । कीर्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनुक्रमात् ॥७॥
तदिदं कालरशनं जनाः पश्यन्ति सूरयः । न हृष्यन्ति न शोचन्ति तत्र यूयमपण्डिताः ॥८॥
न वयं मन्यमानानामात्मानं तत्र साधनम् । गिरो वः साधुशोच्यानां गृह्णीमो मर्मताडनाः ॥९॥

श्रीशुक उवाच

इत्याक्षिप्य विभुं वीरो नाराचैर्वीरमर्दनः । आकर्णपूर्णैरहनदाक्षेपैराहतं पुनः ॥१०॥
एवं निराकृतो देवो वैरिणा तथ्यवादिना । नामृष्यत् तदधिक्षेपं तोत्राहत इव द्विपः ॥११॥
प्राहरत् कुलिशं तस्मा अमोघं परमर्दनः । सयानो न्यपतद् भूमौ छिन्नपक्ष इवाचलः ॥१२॥

(देवासुरसंग्रामका अन्त) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब परमपुरुष श्रीहरिकी परम अनुकम्पासे सचेत होकर इन्द्र और वायु आदि देवता पहले जिन-जिनके हाथों समरभूमिमें आहत हुए थे, उन-उन दैत्योंपर निर्मम प्रहार करने लगे ॥ १ ॥ जब भगवान इन्द्रने कुपित होकर बलिको मारनेके निमित्त अपना वज्र सम्हाला तो सारी प्रजामें हाहाकार मच गया ॥ २ ॥ तब वज्रपाणि इन्द्र युद्धस्थलमें निर्भय विचरते हुए अपने सामने स्थित मनस्वी तथा अस्त्र-शस्त्र-सम्पन्न बालिका निरादर करते हुए बोले —॥ ३ ॥ "अरे मूढ़ ! जैसे बालकोंकी दृष्टि बाँध और उन्हें अपने अधीन करके नट उनका पैसा उड़ा लेते हैं, वैसे ही तू अपनी तुच्छ मायाओंके द्वारा हम मायापतियोंको जीतना चाहता है ! ॥ ४ ॥ संसारके जो प्राणी मायाके सहारे स्वर्गपर चढ़ना चाहते हैं और जिन्हें स्वर्गको भी लाँघकर मुक्ति पद पानेकी इच्छा रहती है, उन मूढ़ लूटेरोंको मैं उनके पूर्वपदसे भी नीचे गिरा दिया करता हूँ ॥ ५ ॥ अरे मन्दात्मन् ! तू तरह-तरहकी दुष्ट मायाएँ रचता है, सो आज अपने शतपर्वा वज्रसे मैं तेरा सिर काट लूँगा। तू अपने सगे-सम्बधियों सहित इससे बचनेका उपाय कर" ॥ ६ ॥ बलिने कहा—हे इन्द्र ! कालकी प्रेरणासे संग्राममें लिप्त सभी लोगोंको कीर्ति, जय-पराजय तथा मृत्यु आदि प्राप्त होते ही हैं ॥ ७ ॥ इसीसे विज्ञजन संसारको कालके अधीन समझकर इनसे हर्ष अथवा शोक नहीं करते, लेकिन तुमलोग मूर्ख हो ॥ ८ ॥ जय-पराजय आदिके विषयमें अपने ही को साधन माननेवाले एवं साधुजनों द्वारा शोचनीय तुम लोगोंकी इन मर्मभेदी बातोंपर हम कुछ भी ध्यान नहीं देते ॥ ९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले–हे राजन् ! इस प्रकार इन्द्रका निरादर करके वीरमदमर्दन राजा बलिने कानतक खींचे हुए धनुष द्वारा बाण छोड़कर आक्षेपोंसे विद्ध इन्द्रको बाणोंसे बींध दिया ॥ १० ॥ सत्यवादी शत्रु द्वारा तिरस्कृत इन्द्रने उसके उन आक्षेपोंको अंकुशसे आहत गजराजकी भाँति नहीं सह पाया ॥११॥ अतः शत्रुमर्दन इन्द्रने बलिपर अपने अमोघ वज्रका प्रहार किया। जिससे बलि पंख कटे पर्वत सदृश वाहनसमेत धराशायी हो गया ॥ १२ ॥ तब जम्भ अपने मित्रको

सखायं पतितं दृष्ट्वा जम्भो बलिसखः सुहृत्। अभ्ययात् सौहृदं सख्युर्हतस्यापि समाचरन्॥१३॥
स सिंहवाह आसाद्य गदामुद्यम्य रंहसा। जत्रावताडयच्छक्रं गजं च सुमहाबलः॥१४॥
गदाप्रहारव्यथितो भृशं विह्वलितो गजः। जानुभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा कश्मलं परमं ययौ॥१५॥
ततो रथो मातलिना हरिभिर्दशशतैर्वृतः। आनीतो द्विपमुत्सृज्य रथमारुरुहे विभुः॥१६॥
तस्य तत् पूजयन् कर्म यन्तुर्दानवसत्तमः। शूलेन ज्वलता तं तु स्मयमानोऽहनन्मृधे॥१७॥
सेहे रुजं सुदुर्मर्षां सत्त्वमालम्ब्य मातलिः। इन्द्रो जम्भस्य संक्रुद्धो वज्रेणापाहरच्छिरः॥१८॥
जम्भं श्रुत्वा हतं तस्य ज्ञातयो नारदादृषेः। नमुचिश्च बलः पाकस्तत्रापेतुस्त्वरान्विताः॥१९॥
वचोभिः परुषैरिन्द्रमर्दयन्तोऽस्य मर्मसु। शरैरवाकिरन् मेघा धाराभिरिव पर्वतम्॥२०॥
हरीन् दशशतान्याजौ हर्यश्वस्य बलः शरैः। तावद्भिरर्दयामास युगपल्लघुहस्तवान्॥२१॥
शताभ्यां मातलिं पाको रथं सावयवं पृथक्। सकृत्सन्धानमोक्षेण तदद्भुतमभूद् रणे॥२२॥
नमुचिः पञ्चदशभिः स्वर्णपुङ्खैर्महेषुभिः। आहत्य व्यनदत् संख्ये सतोय इव तोयदः॥२३॥
सर्वतः शरकूटेन शक्रं सरथसारथिम्। छादयामासुरसुराः प्रावृट्सूर्यमिवाम्बुदाः॥२४॥

अलक्षयन्तस्तमतीव विह्वला विचुक्रुशुर्देवगणाः सहानुगाः।
अनायकाः शत्रुबलेन निर्जिता वणिक्पथा भिन्ननवो यथार्णवे॥२५॥
ततस्तुराषाडिषुबद्धपञ्जराद् विनिर्गतः साश्वरथध्वजाग्रणीः।
बभौ दिशः खं पृथिवीं च रोचयन् स्वतेजसा सूर्य इव क्षपात्यये॥२६॥

पृथिवीपर गिरा देखकर मृत सखाका स्नेह निभानेके लिए इन्द्रके सामने आ डटा॥ १३॥ सिंहपर चढ़कर आये हुए महाबली जम्भासुरने तुरन्त अपनी गदासे इन्द्रके कन्धे और उनके वाहन ऐरावतपर प्रहार किया॥ १४॥ वीर जम्भासुरकी गदाके प्रहारसे व्यथित तथा व्याकुल ऐरावत पृथिवीपर घुटने टेककर छटपटाने लगा॥ १५॥ तब इन्द्रसारथि मातलि हजार अश्वोंसे जुता हुआ रथ वहाँ ले आया और देवराज इन्द्र आहत हाथीको छोड़कर रथपर सवार हो गये॥ १६॥ यह देख दानववीर जम्भने मातलि सारथिके इस कार्यकी सराहना की और मुसकाते हुए एक त्रिशूलसे सारथीपर प्रहार किया॥१७॥ मातलिने धैर्य धारण करके उस दुःसह कष्टको सह लिया। तब इन्द्रने अतिशय कुपित होकर अपने अभेद्य वज्रसे जम्भका मस्तक काट डाला॥ १८॥ जम्भके मर जानेपर देवर्षि नारदके मुखसे यह समाचार सुनकर उसके बन्धु नमुचि, बल तथा पाक तुरन्त रणभूमिमें आ डटे॥ १९॥ वहाँ आते ही अपने कटु वाक्योंसे इन्द्रके मर्मस्थानको पीडित करते हुए वे उनपर इस तरह बाण बरसाने लगे, जैसे मेघ पर्वतपर जलकी झड़ी लगा देते हैं॥ २०॥ बलिने फुर्तीसे हाथ चलाते हुए युद्धस्थलमें इन्द्रके हजार घोड़ोंको बाणों द्वारा एक साथ बींध दिया॥ २१॥ उधर पाकने एक साथ सौ बाण चढ़ाते तथा छोड़ते हुए मातलि एवं अङ्गोपाङ्गसमेत रथको पृथक्-पृथक् काट डाला। उस युद्धभूमिमें यह बड़ी विचित्र बात हुई॥२२॥ नमुचिने भी अपने सुवर्णपुंखयुक्त पन्द्रह महाबाणों द्वारा इन्द्रको आहत करके युद्धस्थलमें सजल मेघसदृश अतिशय गम्भीर गर्जन किया॥ २३॥ कहनेका मतलब यह कि मेघ जैसे वर्षाकालके सूर्यको ढाँक लेते हैं, वैसे ही उन दानवोंने रथ तथा सारथी समेत इन्द्रको सब ओरसे अपने बाणसमूह द्वारा ढाँक दिया॥ २४॥ शत्रुसेनासे पराजित देवता अपने प्रभु देवराजको न देखकर अतिशय व्याकुल हो उठे और नायकविहीन होकर अपने अनुचरोंसहित, उन वणिकोंकी नाईं कि जिनकी नौका समुद्रके बीचमें टूट गयी हो, हाहाकार मचाने लगे॥ २५॥ तत्काल इन्द्रदेव अश्व, रथ, ध्वजा और सारथीके सहित शत्रु द्वारा उस बाणनिर्मित पिंजड़ेसे बाहर निकलकर अपने तेजसे दिशा, आकाश तथा पृथिवीको प्रकाशित करते हुए रात्रिके अन्तमें उदित सूर्यके सदृश

निरीक्ष्य पृतनां देवः परैरभ्यर्दितां रणे । उदयच्छद् रिपुं हन्तुं वज्रं वज्रधरो रुषा ॥२७॥
स तेनैवाष्टधारेण शिरसी बलपाकयोः । ज्ञातीनां पश्यतां राजञ्जहार जनयन् भयम् ॥२८॥
नमुचिस्तद्वधं दृष्ट्वा शोकामर्षरुषान्वितः । जिघांसुरिन्द्रं नृपते चकार परमोद्यमम् ॥२९॥
अश्मसारमयं शूलं घण्टावद्धेमभूषणम् । प्रगृह्याभ्यद्रवत् क्रुद्धो हतोऽसीति वितर्जयन् ।
प्राहिणोद् देवराजाय निनदन् मृगराडिव ॥३०॥
तदापतद् गगनतले महाजवं विचिच्छिदे हरिरिषुभिः सहस्रधा ।
तमाहनन्नृप कुलिशेन कन्धरे रुषान्वितस्त्रिदशपतिः शिरो हरन् ॥३१॥
न तस्य हि त्वचमपि वज्र ऊर्जितो बिभेद यः सुरपतिनौजसेरितः ।
तदद्भुतं परमतिवीर्यवृत्रभित् तिरस्कृतो नमुचिशिरोधरत्वचा ॥३२॥
तस्मादिन्द्रोऽबिभेच्छत्रोर्वज्रः प्रतिहतो यतः । किमिदं दैवयोगेन भूतं लोकविमोहनम् ॥३३॥
येन मे पूर्वमद्रीणां पक्षच्छेदः प्रजात्यये । कृतो निविशतां भारैः पतत्त्रैः पततां भुवि ॥३४॥
तपःसारमयं त्वाष्ट्रं वृत्रो येन विपाटितः । अन्ये चापि बलोपेताः सर्वास्त्रैरक्षतत्वचः ॥३५॥
सोऽयं प्रतिहतो वज्रो मया मुक्तोऽसुरेऽल्पके । नाहं तदाददे दण्डं ब्रह्मतेजोऽप्यकारणम् ॥३६॥
इति शक्रं विषीदन्तमाह वागशरीरिणी । नायं शुष्कैरथो नार्द्रैर्वधमर्हति दानवः ॥३७॥
मयास्मै यद् वरो दत्तो मृत्युर्नैवार्द्रशुष्कयोः । अतोऽन्यश्चिन्तनीयस्त उपायो मघवन् रिपोः॥३८॥
तां दैवीं गिरमाकर्ण्य मघवान् सुसमाहितः । ध्यायन् फेनमथापश्यदुपायमुभयात्मकम् ॥३९॥

सुशोभित हुए ॥ २६ ॥ अपनी सेनाको समराङ्गणमें शत्रुओं द्वारा पीड़ित देख वज्रधर इन्द्रने अतिकुपित होकर शत्रुओंको मारनेके लिए वज्र उठाया ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इन्द्रदेव उस अष्टधार वज्र द्वारा अन्य जाति-बन्धुओंके देखते-देखते दैत्योंमें भय संचार करते हुए बल तथा पाकके सिरोंको काट डाला ॥२८॥ हे राजन् ! बल और पाकको मरते देख नमुचिने शोक, अमर्ष और रोषमें भरकर इन्द्रको मारनेके लिये बहुत उद्योग किया ॥ २९ ॥ उसी आवेशमें वह घण्टा और सुवर्णके आभूषणोंसे आभूषित एक लौहत्रिशूल उठाकर इन्द्रकी ओर लपका और 'अरे ! अब तू मरा !' यों कह ललकारते हुए सिंहके सदृश गर्जन करके उनपर वह त्रिशूल चला दिया ॥३०॥ हे राजन् ! बड़े वेगसे अपनी ओर त्रिशूलको आते देखकर इन्द्रदेवने अगणित बाण छोड़कर आकाशमें ही उसके हजारों टुकड़े कर डाले और फिर क्रोधमें भरकर उसका मस्तक काटनेके लिये गर्दनपर वज्रका प्रहार किया ॥ ३१ ॥ किन्तु देवराज इन्द्रके द्वारा प्रयुक्त वह ओजस्वी वज्र नमुचिके गलेकी त्वचातकको भी नहीं काट सका । यह बड़े ही आश्चर्यकी बात थी कि जिस वज्रने महाबलवान् वृत्रासुरको भी मार डाला था, वह नमुचिके गलेकी त्वचासे भी इस तरह तिरस्कृत हो गया ॥ ३२ ॥ जब वज्रसे शत्रुका कुछ नुकसान नहीं पहुँचा तो इन्द्रको बड़ा भय हुआ । वे सोचने लगे—'ओह ! दैवयोगसे यह कैसा लोकविमोहन व्यतिक्रम हो गया ? ॥ ३३ ॥ पूर्वसमयमें पंखसे उड़कर जहाँ-तहाँ जाते तथा भारवश पृथिवीपर गिरते हुए पर्वतों द्वारा प्रजाका नाश होते देखकर जिसके द्वारा मैंने उनके पंख काटे, जिसके द्वारा त्वष्टाकी बलवती तपस्याके फल वृत्रासुरको मार डाला तथा अन्य विविध अस्त्र-शस्त्रोंसे जिनकी त्वचा भी नहीं छिद सकी थी, ऐसे कितने ही महाबली वीरोंको मारा—मेरा वह वज्र इस तुच्छ दानवका कुछ नहीं बिगाड़ सका । सो ब्रह्मतेजोमय होनेपर भी इस निकम्मे शस्त्रको अब मैं नहीं धारण करूँगा' ॥ ३४–३६ ॥ जब इन्द्र ऐसे विषाद कर रहे थे, तभी आकाशवाणी हुई—"हे इन्द्र ! यह दानव (नमुचि) किसी सूखे या गीले शस्त्रसे नहीं मरेगा । क्योंकि इसे वर मिल चुका है कि 'किसी गीली या सूखी वस्तुसे तेरी मृत्यु नहीं होगी ।' सो इसे मारनेके लिए तुम कोई दूसरा उपाय सोचो" ॥३७॥३८॥ आकाशवाणी सुन-

न शुष्केण न चार्द्रेण जहार नमुचेः शिरः । तं तुष्टुवुर्मुनिगणा माल्यैश्चावाकिरन् विभुम् ॥४०॥
गन्धर्वमुख्यौ जगतुर्विश्वावसुपरावसू । देवदुन्दुभयो नेदुर्नर्तक्यो ननृतुर्मुदा ॥४१॥
अन्येऽप्येवं प्रतिद्वन्द्वान् वाय्वग्निवरुणादयः । सूदयामासुरस्त्रौघैर्मृगान् केसरिणो यथा ॥४२॥
ब्रह्मणा प्रेषितो देवान् देवर्षिर्नारदो नृप । वारयामास विबुधान् दृष्ट्वा दानवसंक्षयम् ॥४३॥

नारद उवाच

भवद्भिरमृतं प्राप्तं नारायणभुजाश्रयैः । श्रिया समेधिताः सर्व उपारमत विग्रहात् ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

संयम्य मन्युसंरम्भं मानयन्तो मुनेर्वचः । उपगीयमानानुचरैर्ययुः सर्वे त्रिविष्टपम् ॥४५॥
येऽवशिष्टा रणे तस्मिन् नारदानुमतेन ते । बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन् ॥४६॥
तत्राविनष्टावयवान् विद्यमानशिरोधरान् । उशना जीवयामास संजीविन्या स्वविद्यया ॥४७॥
बलिश्चोशनसा स्पृष्टः प्रत्यापन्नेन्द्रियस्मृतिः । पराजितोऽपि नाखिद्यल्लोकतत्त्वविचक्षणः ॥४८॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे देवासुरसंग्रामे एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

श्रीबादरायणिरुवाच

वृषध्वजो निशम्येदं योषिद्रूपेण दानवान् । मोहयित्वासुरगणान् हरिः सोममपाययत् ॥१॥
वृषमारुह्य गिरिशः सर्वभूतगणैर्वृतः । सह देव्या ययौ द्रष्टुं यत्रास्ते मधुसूदनः ॥२॥

कर देवराजने अति सावधान मनसे विचार करते हुए गीला तथा सूखापन इन दोनों गुणोंसे युक्त जलके फेनसे उसे मारनेका निश्चय किया ॥३९॥ सो गीलेपन तथा सूखेपनसे रहित जलफेनसे ही इन्द्रने नमुचिका मस्तक काट डाला। तब सब मुनिजन इन्द्रभगवानपर फूल बरसाते हुए स्तुति करने लगे ॥४०॥ इधर गन्धर्वश्रेष्ठ विश्वावसु तथा परावसु उनका गुण गाने लगे, देवदुन्दुभियें बजने लगीं और नर्तकियाँ आनंदसे नाचने लगीं ॥४१॥ वायु, अग्नि तथा वरुण आदि अन्य देवताओंने भी अपने-अपने प्रतिपक्षियोंको अपने शस्त्रसमूहसे यों नष्ट कर डाला, जैसे सिंह मृगोंको मार डालता है ॥ ४२ ॥ हे राजन्! तब ब्रह्माजीके द्वारा भेजे हुए देवर्षि नारदने दानवोंको नष्ट होते देखकर देवताओंको युद्धसे रोक दिया ॥ ४३ ॥ नारदजीने कहा—भगवानकी भुजाके बलसे तुम लोगोंने अमृत पी लिया और लक्ष्मीने तुम्हारे वैभवकी वृद्धि की है। सो अब तुम लोग युद्धसे उपरत होकर विश्राम करो ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! तदनुसार देवता क्रोधके वेगको रोककर मुनिके वचनोंका सम्मान करते हुए स्वर्गलोकको लौट गये। उस समय वहाँके अनुचर उनका गुण गा रहे थे ॥ ४५ ॥ उस भीषण युद्धसे अवशिष्ट असुर नारदजीकी अनुमतिसे वज्राहत बलिको अस्ताचलपर ले गये ॥ ४६ ॥ वहाँपर जिनके अवयव नष्ट नहीं हो पाये थे और जिनकी गर्दनें विद्यमान थीं, उन सभी दैत्योंको श्रीशुक्राचार्यजीने संजीविनी विद्यासे पुनः जीवित कर दिया ॥ ४७ ॥ राजा बलि शुक्राचार्यजीके हाथका स्पर्श पाते ही इन्द्रियों तथा स्मरणशक्तिसे सम्पन्न हो गये। वे संसारके तत्त्वको जानते थे। अतएव पराजित होनेपर भी उन्हें कुछ क्लेश नहीं हुआ ॥ ४८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(भगवानका मोहिनीरूप देखकर श्रीशिवजीका मोहित होना) श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन्! जब श्रीमहादेवजीने सुना कि भगवानने स्त्रीरूपसे दैत्योंको मोहमें डालकर देवताओंको अमृत पिलाया था तो वे उनका वह अनूप रूप देखनेके लिए बैलपर सवार हो सब भूतगणोंसे घिरे

सभाजितो भगवता सादरं सोमया भवः । सूपविष्ट उवाचेदं प्रतिपूज्य स्मयन् हरिम् ॥३॥

श्रीमहादेव उवाच

देवदेव जगद्व्यापिञ्जगदीश जगन्मय । सर्वेषामपि भावानां त्वमात्मा हेतुरीश्वरः ॥४॥
आद्यन्तावस्य यन्मध्यमिदमन्यदहं बहिः । यतोऽव्ययस्य नैतानि तत् सत्यं ब्रह्म चिद् भवान्॥५॥
तवैव चरणाम्भोजं श्रेयस्कामा निराशिषः । विसृज्योभयतः सङ्गं मुनयः समुपासते ॥६॥

त्वं ब्रह्म पूर्णममृतं विगुणं विशोकमानन्दमात्रमविकारमनन्यदन्यत् ।
विश्वस्य हेतुरुदयस्थितिसंयमानामात्मेश्वरश्च तदपेक्षतयानपेक्षः ॥७॥
एकस्त्वमेव सदसद् द्वयमद्वयं च स्वर्णं कृताकृतमिवेह न वस्तुभेदः ।
अज्ञानतस्त्वयि जनैर्विहितो विकल्पो यस्माद् गुणैर्व्यतिकरो निरुपाधिकस्य ॥८॥
त्वां ब्रह्म केचिदवयन्त्युत धर्ममेक एके परं सदसतोः पुरुषं परेशम् ।
अन्येऽवयन्ति नवशक्तियुतं परं त्वां केचिन्महापुरुषमव्ययमात्मतन्त्रम् ॥९॥
नाहं परायुर्ऋषयो न मरीचिमुख्या जानन्ति यद्विरचितं खलु सत्त्वसर्गाः ।
यन्मायया मुषितचेतस ईश दैत्यमर्त्यादयः किमुत शश्वदभद्रवृत्ताः ॥१०॥
स त्वं समीहितमदःस्थितिजन्मनाशं भूतेहितं च जगतो भवबन्धमोक्षौ ।
वायुर्यथा विशति खं च चराचराख्यं सर्वं तदात्मकतयावगमोऽवरुन्त्से ॥११॥

तथा पार्वतीजीको साथ लिये उस स्थानपर गये, जहाँ कि मधुसूदन भगवान विराजमान थे ॥१॥२॥ भगवानने देवी उमासमेत श्रीमहादेवजीका यथोचित सत्कार किया। स्वस्थचित्तसे विराजमान हो जानेपर श्रीमहादेवजी विष्णुभगवानकी प्रशंसा करते हुए मुसकाकर कहने लगे ॥ ३ ॥ श्रीमहादेवजीने कहा—हे देवाधिदेव ! हे जगद्व्यापिन् ! हे जगदीश ! हे जगन्मय ! आप सब भावोंके आत्मा, हेतु एवं ईश्वर हैं ॥ ४ ॥ जिससे इस संसारके आदि, अन्त तथा मध्य होते हैं, किन्तु जिस अविनाशीका कोई आदि, अन्त एवं मध्य नहीं है और न जिसमें इदम्, अहम् (द्रष्टा) अन्यत् (भोक्ता) और बाह्य (भोग) ही है, वह सत्य और चेतनस्वरूप ब्रह्म एकमात्र आप ही हैं ॥ ५ ॥ तभी तो निष्काम तथा कल्याणकामी मुनिजन इहलोक तथा परलोककी आसक्ति त्यागकर आपके पुनीत चरणकमलोंकी उपासना करते हैं ॥ ६ ॥ आप अमृतमय निर्गुण, विशोक आनन्दमात्र, निर्विकार, सर्वमय तथा सबसे पृथक् पूर्ण ब्रह्म हैं। फिर भी आप विश्वके जन्म, स्थिति तथा अन्तके कारण हैं। आप ही उसके आत्मा, ईश्वर और शासक हैं। इसलिये स्वयं निरपेक्ष रहते हुए भी आपने जीवोंकी अपेक्षासे उन्हें शुभाशुभ फल प्रदान किया है ॥ ७ ॥ हे नाथ ! एकमात्र आप ही द्वैतरूप कार्यवर्ग तथा अद्वैतरूप कारण हैं। जैसे कुण्डलादि कार्यरूपमें परिणत और प्राकृत सुवर्ण वास्तवमें एक ही होता है, किन्तु अज्ञानसे ही लोगोंने आपमें विकल्प मान लिया है। क्योंकि उपाधिहीन परमपुरुषोंमें गुणोंके कारण ही भेद दीखता है ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! कुछ लोग (वेदान्ती) आपको ब्रह्म समझते हैं। कुछ लोग (मीमांसक) धर्म कहकर बखानते हैं। कुछ लोग (सांख्यशास्त्री) प्रकृति और पुरुषसे परे परमेश्वर, कुछ लोग (पाञ्चरात्रमतावलम्बी) नौ शक्तियों युक्त परमपुरुष तथा कुछ लोग (पातञ्जलयोगको माननेवाले) आपको आत्मतन्त्र एवं अविनाशी महापुरुष समझते हैं ॥ ९ ॥ हे ईश ! सत्त्वगुणसे उत्पन्न मैं ब्रह्माजी और मरीचि आदि सभी मुनिजन आपके रचे संसारको भी नहीं जान पाते। उन्हीं आपको आपकी मायासे मोहित असदाचारी अर्थात् राजस-तामस प्रकृतिके दैत्य तथा मनुष्यादि भला कैसे जान सकेंगे ! ॥ १० ॥ हे महाप्रभो ! सर्वात्मक तथा ज्ञानस्वरूप होनेसे वायु जैसे आकाशमें व्याप्त रहता है, वैसे ही आप सब जगत्में अनुप्रविष्ट

अवतारा मया दृष्टा रममाणस्य ते गुणैः । सोऽहं तद् द्रष्टुमिच्छामि यत् ते योषिद्वपुर्धृतम्॥१२

येन सम्मोहिता दैत्याः पायिताश्चामृतं सुराः । तद् दिदृक्षव आयाताः परं कौतूहलं हि नः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितो विष्णुर्भगवाञ्छूलपाणिना । प्रहस्य भावगम्भीरं गिरिशं प्रत्यभाषत ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच

कौतूहलाय दैत्यानां योषिद्वेषो मया कृतः । पश्यता सुरकार्याणि गते पीयूषभाजने ॥१५॥

तत् तेऽहं दर्शयिष्यामि दिदृक्षोः सुरसत्तम । कामिनां बहु मन्तव्यं सङ्कल्पप्रभवोदयम् ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणो भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत । सर्वतश्चारयंश्चक्षुर्भव आस्ते सहोमया ॥१७॥

ततो ददर्शोपवने वरस्त्रियं विचित्रपुष्पारुणपल्लवद्रुमे ।
विक्रीडतीं कन्दुकलीलया लसद्दुकूलपर्यस्तनितम्बमेखलाम् ॥१८॥

आवर्तनोद्वर्तनकम्पितस्तनप्रकृष्टहारोरुभरैः पदे पदे ।
प्रभज्यमानामिव मध्यतश्चलत्पदप्रवालं नयतीं ततस्ततः ॥१९॥

दिक्षु भ्रमत्कन्दुकचापलैर्भृशं प्रोद्विग्नतारायतलोललोचनाम् ।
स्वकर्णविभ्राजितकुण्डलोल्लसत्कपोलनीलालकमण्डिताननाम् ॥२०॥

श्लथद्दुकूलं कबरीं च विच्युतां सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना ।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं विमोहयन्तीं जगदात्ममायया ॥२१॥

होकर इसकी चेष्टा, स्थिति, जन्म, नाश, प्राणियोंके कर्म एवं संसारके बन्धन तथा मोक्ष सब कुछ जानते हैं ॥ ११ ॥ हे नाथ ! गुणोंके सहारे क्रीडायें करते हुए आपने जो-जो अवतार लिये हैं, मैंने वे सभी देखे हैं । आपने उस समय जो स्त्रीरूप धारण किया था, उसे मैं भी देखना चाहता हूँ ॥१२॥ जिस अनुपम रूपसे आपने दैत्योंको मोहित करके देवताओंको अमृत पिलाया था, उसे देखनेकी हमारी बड़ी प्रबल इच्छा है और उसे देखनेको ही हम यहाँ आये हैं ॥१३॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! शूलपाणि शंकरभगवानके इस तरह प्रार्थना करनेपर श्रीविष्णुभगवानने गम्भीरभावसे हँसते हुए कहा ॥ १४ ॥ श्रीभगवान बोले—हे शंकरजी ! जब अमृतका पात्र असुरोंके हाथमें चला गया तो देवताओंका कार्य साधने तथा दैत्योंको कुतूहलमें डालनेके लिये मैंने स्त्रीवेष बनाया था ॥ १५ ॥ हे सुरसत्तम ! आप उसे देखनेको जब इतने उत्सुक हैं तो कामी पुरुषोंको अत्यन्त आदरणीय और कामोद्दीपक वह रूप मैं आपको दिखाता हूँ ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यों कहकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये । तब पार्वतीजी और शङ्करभगवान् सब ओर दृष्टि दौड़ाकर देखने लगे ॥ १७ ॥ इतनेमें उन्होंने रंगबिरंगे पुष्प तथा अरुणवर्ण नवपल्लवयुक्त वृक्षोंसे सुशोभित उपवनमें विचरती हुई एक सुन्दरी स्त्री देखी, जो गेंद उछाल-उछालकर मस्तीके साथ खेल रही थी और जिसके देदीप्यमान दुकूलसे समलंकृत नितम्बप्रदेशमें करधनी पड़ी थी ॥ १८ ॥ गेंदको पकड़ने और उछालनेसे हिलकर मनोहर मालाओंके भारसे जिसकी पतली कमर पद-पदपर लचक जाती थी और वह अपने चञ्चल चरण-पल्लवोंको फेंकती रहती थी ॥ १९ ॥ सभी दिशाओंमें उछलते हुए कन्दुककी चपलतासे उस विशाल एवं चञ्चल नयनोंवाली तरुणीके नेत्रोंके तारे उद्विग्न हो रहे थे और उसका मुखमण्डल कानोंमें झूलते हुए सुन्दर कुण्डलोंसे सुशोभित कपोलोंपर छितरायी हुई नीली अलकोंके कारण और भी सुन्दर दीख रहा था ॥ २० ॥ वह सरकी हुई साड़ी एवं शिथिल वेणीको अपने एक अति कमनीय

तां वीक्ष्य देव इति कन्दुकलीलयेषद्व्रीडास्फुटस्मितविसृष्टकटाक्षमुष्टः ।
स्त्रीप्रेक्षणप्रतिसमीक्षणविह्वलात्मा नात्मानमन्तिक उमां स्वगणांश्च वेद ॥२२॥

तस्याः कराग्रात् स तु कन्दुको यदा गतो विदूरं तमनुव्रजत्स्त्रियाः ।
वासः ससूत्रं लघु मारुतोऽहरद् भवस्य देवस्य किलानुपश्यतः ॥२३॥

एवं तां रुचिरापाङ्गीं दर्शनीयां मनोरमाम् । दृष्ट्वा तस्यां मनश्चक्रे विषज्जन्त्यां भवः किल ॥२४॥
तयापहृतविज्ञानस्तत्कृतस्मरविह्वलः । भवान्या अपि पश्यन्त्या गतह्रीस्तत्पदं ययौ ॥२५॥
सा तमायान्तमालोक्य विवस्त्रा व्रीडिता भृशम्। निलीयमाना वृक्षेषु हसन्ती नान्वतिष्ठत ॥२६॥
तामन्वगच्छद् भगवान् भवः प्रमुषितेन्द्रियः । कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः ॥२७॥
सोऽनुव्रज्यातिवेगेन गृहीत्वानिच्छतीं स्त्रियम् । केशबन्ध उपानीय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥२८॥
सोपगूढा भगवता करिणा करिणी यथा । इतस्ततः प्रसर्पन्ती विप्रकीर्णशिरोरुहा ॥२९॥
आत्मानं मोचयित्वाङ्ग सुरर्षभभुजान्तरात् । प्राद्रवत् सा पृथुश्रोणी माया देवविनिर्मिता ॥३०॥
तस्यासौ पदवीं रुद्रो विष्णोरद्भुतकर्मणः । प्रत्यपद्यत कामेन वैरिणेव विनिर्जितः ॥३१॥
तस्यानुधावतो रेतश्चस्कन्दामोघरेतसः । शुष्मिणो यूथपस्येव वासितामनु धावतः ॥३२॥
यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः । तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते ॥३३॥
सरित्सरःसु शैलेषु वनेषूपवनेषु च । यत्र क्व चासन्नृषयस्तत्र संनिहितो हरः ॥३४॥

करकमलसे सँवारती जाती थी और दूसरे हाथसे गेंदको उछाल-उछालकर अपनी मायासे सारे संसारको मोह रही थी ॥ २१ ॥ यह देखकर श्रीमहादेवजी उसकी कन्दुकक्रीडासे सलज्ज एवं स्फुट मुसकान भरे कटाक्षसे मोहित हो गये । उस कामिनीकी ओर ताकने और उसके द्वारा एकटक निहारे जानेसे उनका चित्त चञ्चल हो उठा और उन्हें अपना, अपने समीप बैठी हुई पार्वतीजी एवं गणोंका भी कोई ध्यान नहीं रहा ॥ २२ ॥ उस रमणीके हाथसे एक बार जब वह कन्दुक बहुत दूर चला गया तो श्री शिवजीके समक्ष कन्दुकके पीछे दौड़ती उस कामिनीकी कटिसूत्र सहित महीन साड़ीको वायुने उड़ाकर शरीरसे अलग कर दिया ॥ २३ ॥ उस सुन्दर कटाक्षयुक्त, दर्शनीय तथा मनोहारिणी ललनाको देख और अपनेपर आसक्त समझकर श्रीमहादेवजीका मन उसमें जा फँसा । उसने उनका विवेक हर लिया और वे उसकी चेष्टासे कामातुर हो पार्वतीजीकी भी लज्जा छोड़कर दौड़ पड़े ॥२४॥२५॥ महादेवजीको अपनी ओर आते देखकर वह वस्त्रहीना कामिनी बहुत लज्जित हुई और हँसती हुई वृक्षोंकी आड़में छिपने लगी ॥ २६ ॥ किन्तु शङ्करभगवान् इन्द्रियोंके आकृष्ट हो जानेसे इस तरह उसके पीछे भागे, जैसे हथिनीके पीछे कामदेवके वशीभूत हाथी दौड़े ॥ २७ ॥ उन्होंने बड़े वेगसे जाकर उसका केशपाश पकड़ा और उसकी इच्छा न रहनेपर भी उन्होंने अपनी दोनों भुजाओंमें उसे कस लिया ॥ २८ ॥ तब जैसे हाथी हथिनीका आलिङ्गन करे, वैसे ही भगवान शंकरसे आलिङ्गित वह बाला हाथ-पैर फेंककर अपने आपको छुड़ाने लगी और उसके बाल छितरा गये ॥ २९ ॥ हे अङ्ग (तात) ! अपनेको महादेवजीके बाहुपाशसे छुड़ाकर ईश्वररचित वह स्थूल नितम्बोंवाली माया वहाँसे भाग खड़ी हुई । अपने शत्रु कामदेवसे पराजित शङ्करभगवान् अब उन अद्भुतकर्मा श्रीहरिके पीछे-पीछे चले ॥ ३० ॥ ३१॥ मैथुनकी इच्छुक हथिनीके पीछे दौड़ते हुए मदोन्मत्त हाथीके सदृश उस कामिनीके पीछे-पीछे दौड़ते हुए अमोघवीर्य महादेवजीका वीर्य स्खलित हो गया ॥३२ ॥ हे राजन् ! महात्मा रुद्रभगवान्का वीर्य पृथिवीमें जहाँ-जहाँ गिरा, वहीं-वहीं सोने और चाँदीकी खानें हो गयीं ॥ ३३ ॥ नदी, सरोवर, पर्वत, वन, उपवन और जहाँ-जहाँ ऋषिलोग रहते थे, उन सभी स्थानोंमें शङ्करभगवान उन मोहनीभगवानका

स्कन्ने रेतसि सोऽपश्यदात्मानं देवमायया । जडीकृतं नृपश्रेष्ठ संन्यवर्तत कश्मलात् ॥३५॥
अथावगतमाहात्म्य आत्मनो जगदात्मनः । अपरिज्ञेयवीर्यस्य न मेने तदु हाद्भुतम् ॥३६॥
तमविक्लवमव्रीडमालक्ष्य मधुसूदनः । उवाच परमप्रीतो बिभ्रत् स्वां पौरुषीं तनुम् ॥३७॥

श्रीभगवानुवाच

दिष्ट्या त्वं विबुधश्रेष्ठ स्वां निष्ठामात्मना स्थितः । यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोऽप्यङ्ग मायया ३८
को नु मेऽतितरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान् । तांस्तान् विसृजतीं भावान् दुस्तरामकृतात्मभिः ३९
सेयं गुणमयी माया न त्वामभिभविष्यति । मया समेता कालेन कालरूपेण भागशः ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजञ्छ्रीवत्साङ्केन सत्कृतः । आमन्त्र्य तं परिक्रम्य सगणः स्वालयं ययौ ॥४१॥
आत्मांशभूतां तां मायां भवानीं भगवान् भवः । शंसतामृषिमुख्यानां प्रीत्याऽऽचष्टाथ भारत ॥४२॥

अपि व्यपश्यस्त्वमजस्य मायां परस्य पुंसः परदेवतायाः ।
अहं कलानामृषभो विमुह्ये यथावशोऽन्ये किमुतास्वतन्त्राः ॥४३॥
यं मामपृच्छस्त्वमुपेत्य योगात् समासहस्रान्त उपारतं वै ।
स एष साक्षात् पुरुषः पुराणो न यत्र कालो विशते न वेदः ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

इति तेऽभिहितस्तात विक्रमः शार्ङ्गधन्वनः । सिन्धोर्निर्मथने येन धृतः पृष्ठे महाचलः ॥४५॥

एतन्मुहुः कीर्तयतोऽनुशृण्वतो न रिष्यते जातु समुद्यमः क्वचित् ।
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनं समस्तसंसारपरिश्रमापहम् ॥४६॥

पीछा करते हुए पीछे-पीछे दौड़ते रहे । हे नृपसत्तम ! वीर्यपात हो जानेपर महादेवजीने अपनेको भगवानकी मायासे मोहित समझा और वे विषयासक्तिसे निवृत्त हो गये ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ उसे अचिन्त्यवीर्य जगन्मय परमात्माका माहात्म्य समझकर उन्हें कोई विस्मय नहीं हुआ ॥ ३६ ॥ श्रीशिवजीको विषाद तथा लज्जासे रहित देखकर भगवान मधुसूदन पुरुषरूपसे प्रगटे और प्रसन्न होकर बोले ॥३७। श्रीभगवानने कहा—हे देवश्रेष्ठ ! मेरी स्त्रीरूपिणी मायाकी कामनावश अतिशय मोहित होकर भी अन्तमें आप अपनी निष्ठामें स्थित हो गये—यही बहुत बडी बात है ॥३८॥ आपके सिवाय भला और ऐसा कौन पुरुष है, जो विविध हाव-भाव युक्त और अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये अति दुस्त्यज मेरी मायामें फँसकर उसे पार कर पाये ? ॥३९॥ सृष्टिके कारण एवं कालस्वरूप मुझ परमेश्वरके एक अंशसे युक्त गुणमयी माया अब कभी भी आपका पराभव नहीं कर पायेगी ॥ ४० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्रीवत्सलाञ्छन श्रीहरिसे इस प्रकार सत्कृत होकर श्रीमहादेवजी उनसे आज्ञा लेकर गणोंके साथ निजधामको चले गये ॥ ४१ ॥ हे भारत ! तदनन्तर सब मुनियोंके सम्मुख शङ्करभगवान अपने अंशसे उत्पन्न उस मायाका श्रीपार्वतीजीसे इस तरह प्रसन्नतापूर्वक बखान करने लगे—॥ ४२ ॥ 'हे देवि ! उन परमपुरुष, परदेवता तथा अजन्मा श्रीहरिकी माया क्या कभी तुमने देखी है ? अहो ! यद्यपि मैं भगवानकी कलाओंमें श्रेष्ठ और स्वतन्त्र हूँ । फिर भी मैं उससे मोहित हो गया, फिर अन्य परतन्त्र जीवोंका मोहित हो जाना तो साधारण बात है ॥ ४३ ॥ एक हजार वर्षतक समाधिस्थ रहनेके बाद उपरत होनेपर जिनके विषयमें तुमने मुझसे पूछा था, वे साक्षात् पुराणपुरुष ये ही हैं । इनतक न कालकी गति है और न वेदकी ॥ ४४ ॥ श्री शुकदेवजी बोले—हे तात ! इस तरह मैंने तुम्हें शार्ङ्गधन्वा विष्णुभगवानका विक्रम सुनाया है कि जिन्होंने समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया था ॥४५॥ इसे पुनः पुनः श्रवण और कीर्तन करनेवाले प्राणीका कभी कोई भी उद्योग निष्फल नहीं होता । क्योंकि

असदविषयमङ्घ्रिं भावगम्यं प्रपन्नानमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपटयुवतिवेषो मोहयन् यः सुरारींस्तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे शङ्करमोहनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

मनुर्विवस्वतः पुत्रः श्राद्धदेव इति श्रुतः। सप्तमो वर्तमानो यस्तदपत्यानि मे शृणु ॥१॥
इक्ष्वाकुर्नभगश्चैव धृष्टः शर्यातिरेव च। नरिष्यन्तोऽथ नाभागः सप्तमो दिष्ट उच्यते ॥२॥
करुषश्च पृषध्रश्च दशमो वसुमान् स्मृतः। मनोर्वैवस्वतस्यैते दश पुत्राः परन्तप ॥३॥
आदित्या वसवो रुद्रा विश्वेदेवा मरुद्गणाः। अश्विनावृभवो राजन्निन्द्रस्तेषां पुरन्दरः ॥४॥
कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः। जमदग्निर्भरद्वाज इति सप्तर्षयः स्मृताः ॥५॥
अत्रापि भगवज्जन्म कश्यपाददितेरभूत्। आदित्यानामवरजो विष्णुर्वामनरूपधृक् ॥६॥
संक्षेपतो मयोक्तानि सप्त मन्वन्तराणि ते। भविष्याण्यथ वक्ष्यामि विष्णोः शक्त्यान्वितानि च७
विवस्वतश्च द्वे जाये विश्वकर्मसुते उभे। संज्ञा छाया च राजेन्द्र ये प्रागभिहिते तव ॥८॥
तृतीयां वडवामेके तासां संज्ञासुतास्त्रयः। यमो यमी श्राद्धदेवश्छायायाश्च सुताञ्छृणु ॥९॥
सावर्णिस्तपती कन्या भार्या संवरणस्य या। शनैश्चरस्तृतीयोऽभूदश्विनौ वडवात्मजौ ॥१०॥
अष्टमेऽन्तर आयाते सावर्णिर्भविता मनुः। निर्मोकविरजस्काद्याः सावर्णितनया नृप ॥११॥

उत्तमश्लोक विष्णुका गुणगान सारे संसारके श्रमको दूर कर देता है ॥ ४६ ॥ अपनी मायासे मोहिनी युवतीरूपधारी जिन भगवानने देवद्रोही दानवोंको मोहित करके असत् पुरुषोंको अप्राप्य तथा केवल भक्तिहीसे प्राप्तव्य अपने चरणोंकी शरणमें आये सुरसमुदायको समुद्रमन्थनजनित अमृत पिलाया, शरणागतोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले उन परमात्माको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(भविष्यके सात मन्वन्तरोंका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! विवस्वान् सूर्यके पुत्र श्राद्धदेव वर्तमान कालके सातवें मनु हैं। उनकी सन्तानका विवरण सुनो ॥ १ ॥ हे परन्तप! इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करूष, पृषध्र तथा वसुमान्—वैवस्वत मनुके ये दस पुत्र थे ॥ २ ॥ ३ ॥ हे राजन्! इस मन्वन्तरके आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वदेव, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा ऋभुगण देवता और पुरन्दर इन्द्र थे ॥ ४ ॥ कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा भरद्वाज—ये सप्तर्षि थे ॥ ५ ॥ इस मन्वन्तरमें भी कश्यपजीके द्वारा अदितिके गर्भसे भगवानका अवतार हुआ था। इस मन्वन्तरसे विष्णुभगवान द्वादश आदित्योंके अनुज वामनरूपमें प्रगटे थे ॥ ६ ॥ हे राजन्! इस तरह संक्षेपमें मैंने तुम्हें सात मन्वन्तरोंका विवरण सुना दिया। अब भगवान विष्णुके शक्तियुक्त भविष्यके सात मन्वन्तरोंका विवरण बताता हूँ ॥ ७ ॥ हे राजेन्द्र! विश्वकर्माके दो पुत्रियें थीं—संज्ञा और छाया। वे विवस्वान्की स्त्रियाँ थीं, जिनका वर्णन मैं पहले कर आया हूँ ॥८॥ कुछ लोग वडवा नामकी उनकी तीसरी स्त्री भी कहते हैं। उनमेंसे यम, यमी तथा श्राद्धदेव—ये तीन संज्ञाकी सन्तानें हैं। अब छायाके पुत्रोंका विवरण सुनो ॥ ९ ॥ सावर्णि पुत्र तथा तपती नामकी कन्या—जो राजा संवरणकी स्त्री हुई—तथा शनैश्चर, ये तीन छायाकी सन्तानें हैं और दोनों अश्विनीकुमार वडवाके पुत्र हैं ॥ १० ॥ हे राजन्! जब आठवाँ मन्वन्तर लगेगा, तब सावर्णि मनु

तत्र देवाः सुतपसो विरजा अमृतप्रभाः । तेषां विरोचनसुतो बलिरिन्द्रो भविष्यति ॥१२॥
दत्त्वेमां याचमानाय विष्णवे यः पदत्रयम् । राद्धमिन्द्रपदं हित्वा ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥१३॥
योऽसौ भगवता बद्धः प्रीतेन सुतले पुनः । निवेशितोऽधिके स्वर्गादधुनाऽऽस्ते स्वराडिव ॥१४॥
गालवो दीप्तिमान् रामो द्रोणपुत्रः कृपस्तथा । ऋष्यशृङ्गः पितास्माकं भगवान् बादरायणः ॥१५॥
इमे सप्तर्षयस्तत्र भविष्यन्ति स्वयोगतः । इदानीमासते राजन् स्वे स्व आश्रममण्डले ॥१६॥
देवगुह्यात् सरस्वत्यां सार्वभौम इति प्रभुः । स्थानं पुरन्दराद् धृत्वा बलये दास्यतीश्वरः ॥१७॥
नवमो दक्षसावर्णिर्मनुर्वरुणसम्भवः । भूतकेतुर्दीप्तकेतुरित्याद्यास्तत्सुता नृप ॥१८॥
पारा मरीचिगर्भाद्या देवा इन्द्रोऽद्भुतः स्मृतः । द्युतिमत्प्रमुखास्तत्र भविष्यन्त्यृषयस्ततः ॥१९॥
आयुष्मतोऽम्बुधारायामृषभो भगवत्कला । भविता येन संराद्धां त्रिलोकीं भोक्ष्यतेऽद्भुतः ॥२०॥
दशमो ब्रह्मसावर्णिरुपश्लोकसुतो महान् । तत्सुता भूरिषेणाद्या हविष्मत्प्रमुखा द्विजाः ॥२१॥
हविष्मान् सुकृतिः सत्यो जयो मूर्तिस्तदा द्विजाः । सुवासनविरुद्धाद्या देवाः शम्भुः सुरेश्वरः॥२२॥
विष्वक्सेनो विषूच्यां तु शम्भोःसख्यं करिष्यति । जातः स्वांशेन भगवान् गृहे विश्वसृजो विभुः॥२३॥
मनुर्वै धर्मसावर्णिरेकादशम आत्मवान् । अनागतास्तत्सुताश्च सत्यधर्मादयो दश ॥२४॥
विहङ्गमाः कामगमा निर्वाणरुचयः सुराः । इन्द्रश्च वैधृतस्तेषामृषयश्चारुणादयः ॥२५॥
आर्यकस्य सुतस्तत्र धर्मसेतुरिति स्मृतः । वैधृतायां हरेरंशस्त्रिलोकीं धारयिष्यति ॥२६॥
भविता रुद्रसावर्णी राजन् द्वादशमो मनुः । देववानुपदेवश्च देवश्रेष्ठादयः सुताः ॥२७॥

होगा और निर्मोक तथा विरजस्क आदि उनके पुत्र होंगे ॥ ११ ॥ उस समय सुतपा, विरज और अमृतप्रभ देवगण होंगे । जिसने माँगते हुए विष्णुभगवानको तीन पैर पृथिवी तथा सारी त्रिलोकी दे दी थी । उसे भगवानने बाँध लिया और फिर प्रसन्न होकर इन्द्रलोकसे भी बढ़े-चढ़े सुतललोकमें स्थापित कर दिया था । जो अब इन्द्रके ऐश्वर्य भोग रहा है, वह विरोचनपुत्र बलि उनका इन्द्र होगा । वह भगवानको कृपासे इन्द्रपदको भी त्यागकर फिर मोक्षपद पायेगा ॥ १२–१४ ॥ हे राजन् ! उस समय गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, ऋष्यशृङ्ग तथा हमारे पिता भगवान बादरायण ये सप्तर्षि होंगे । वे इस समय अपने-अपने आश्रमोंमें योगसमाधिमें लीन हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ उस मन्वन्तरमें भगवान् देवगुह्य ब्राह्मणकी भार्या सरस्वतीके गर्भसे सार्वभौम अवतार ले और पुरन्दरसे इन्द्रपद छीनकर बलिको दे देंगे ॥ १७ ॥ हे राजन् ! वरुणका पुत्र दक्षसावर्णि नवाँ मनु होगा और उसके भूतकेतु-दीप्तकेतु आदि बेटे होंगे ॥ १८ ॥ पार और मरीचिगर्भ आदि तत्कालीन देवता, अद्भुत इन्द्र और द्युतिमान् आदि सप्तर्षि होंगे ॥ १९ ॥ उस मन्वतरमें आयुष्मान्की पत्नी अम्बुधाराके गर्भसे ऋषभनामक भगवान्का अंश अवतार लेगा । जिसकी दी हुई त्रिलोकीको अद्भुत इन्द्र भोगेगा ॥ २० ॥ तदनन्तर उपश्लोकका पुत्र अति गुणवान् ब्रह्मसावर्णि नामका दसवाँ मनु होगा । उसके भूरिषेण आदि अनेक पुत्र और हविष्मान् आदि ऋषि होंगे ॥ २१ ॥ हविष्मान्, सुकृति, सत्य, जय तथा मूर्ति आदि सप्तर्षि, सुवासन-विरुद्ध आदि देवता और शम्भु इन्द्र होंगे ॥ २२ ॥ विश्वस्रष्टाके यहाँ विषूचिके गर्भद्वारा अपने अंशसे अवतीर्ण भगवान् विष्वक्सेन इन्द्रकी सहायता करेंगे ॥ २३ ॥ ग्यारहवाँ महामनस्वी धर्मसावर्णि मनु होगा । उसके सत्य-धर्म आदि दस पुत्र होंगे ॥ २४ ॥ विहंगम, कामगम तथा निर्वाणरुचि देवता तथा वैधृत इन्द्र और अरुण आदि ऋषि होंगे ॥ २५ ॥ वैधृताके गर्भसे उत्पन्न आर्यके पुत्र धर्मसेतु नामसे विख्यात भगवान हरिका अंश सारी त्रिलोकीका पालन करेगा ॥ २६ ॥ हे राजन रुद्रसावर्णि बारहवाँ मनु होगा । उसके

ऋतधामा च तत्रेन्द्रो देवाश्च हरितादयः । ऋषयश्च तपोमूर्तिस्तपस्व्याग्नीध्रकादयः ॥२८॥
स्वधामाख्यो हरेरंशः साधयिष्यति तन्मनोः । अन्तरं सत्यसहसः सूनृतायाः सुतो विभुः ॥२९॥
मनुस्त्रयोदशो भाव्यो देवसावर्णिरात्मवान् । चित्रसेनविचित्राद्या देवसावर्णिदेहजाः ॥३०॥
देवाः सुकर्मसुत्रामसंज्ञा इन्द्रो दिवस्पतिः । निर्मोकतत्त्वदर्शाद्या भविष्यन्त्यृषयस्तदा ॥३१॥
देवहोत्रस्य तनय उपहर्ता दिवस्पतेः । योगेश्वरो हरेरंशो बृहत्यां सम्भविष्यति ॥३२॥
मनुर्वा इन्द्रसावर्णिश्चतुर्दशम एष्यति । उरुगम्भीरबुद्ध्याद्या इन्द्रसावर्णिवीर्यजाः ॥३३॥
पवित्राश्चाक्षुषा देवाः शुचिरिन्द्रो भविष्यति । अग्निर्बाहुः शुचिः शुद्धो मागधाद्यास्तपस्विनः ॥३४॥
सत्रायणस्य तनयो बृहद्भानुस्तदा हरिः । वितानायां महाराज क्रियातन्तून् वितायिता ॥३५॥
राजंश्चतुर्दशैतानि त्रिकालानुगतानि ते । प्रोक्तान्येभिर्मितः कल्पो युगसाहस्रपर्ययः ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मन्वन्तरानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः१३

चतुर्दशोऽध्यायः

राजोवाच

मन्वन्तरेषु भगवन् यथा मन्वादयस्त्विमे । यस्मिन् कर्मणि ये येन नियुक्तास्तद् वदस्व मे ॥१॥

ऋषिरुवाच

मनवो मनुपुत्राश्च मुनयश्च महीपते । इन्द्राः सुरगणाश्चैव सर्वे पुरुषशासनाः ॥२॥
यज्ञादयो याः कथिताः पौरुष्यस्तनवो नृप । मन्वादयो जगद्यात्रां नयन्त्याभिः प्रचोदिताः ॥३॥
चतुर्युगान्ते कालेन ग्रस्ताञ्छ्रुतिगणान् यथा । तपसा ऋषयोऽपश्यन् यतो धर्मः सनातनः ॥४॥

देववान्, उपदेव तथा देवश्रेष्ठ आदि कई पुत्र होंगे ॥ २७ ॥ तदनन्तर ऋतधामा इन्द्र, हरित आदि देवता और तपोमूर्ति, तपस्वी एवं आग्नीध्रकादि सप्तर्षि होंगे ॥ २८ ॥ और सत्यसहकी भार्या सूनृताका पुत्र भगवानका सुधामानामक अंश उस मन्वन्तरकी रक्षा करेगा ॥ २९ ॥ आत्मबली देवसावर्णि तेरहवाँ मनु होगा । चित्रसेन और विचित्र आदि उसके अनेक पुत्र होंगे ॥ ३० ॥ तब सुकर्म और सुत्राम आदि देवता, दिवस्पति इन्द्र तथा निर्मोक और तत्त्वदर्श आदि सप्तर्षि होंगे ॥ ३१ ॥ उस समय भगवानका अंश बृहतीके गर्भके देवहोत्रका पुत्र होकर योगेश्वर नामसे विख्यात होगा और वही दिवस्पतिको इन्द्रपद देगा ॥ ३२ ॥ इन्द्रसावर्णि चौदहवाँ मनु होगा और उरु गम्भीरबुद्धि आदि उसके अनेक पुत्र होंगे ॥ ३३ ॥ तब पवित्र और चाक्षुष आदि देवता, शुचि इन्द्र, अग्निबाहु, शुचि, शुद्ध तथा मागध आदि ऋषि होंगे ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! तब वितानाके गर्भसे उत्पन्न सत्रायणके पुत्र बृहद्भानुनामक भगवान हरि कर्मकाण्डका विस्तार करेंगे ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! इस तरह त्रिकालव्यापी चौदहों मन्वन्तरोंका वृत्तान्त मैंने सुना दिया । इन्हींके द्वारा लोग सहस्र-युगपरिमित कल्पनाका मान करते हैं ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

(उपर्युक्त मनु आदिके कर्मोंका निर्देश) राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन् ! विभिन्न मन्वन्तरोंमें आपके बताये मनु आदि जिसके द्वारा जिन कार्योंमें नियुक्त किये जाते हों, वह बताइये ॥१॥ श्रीशुकदेवजी बोले–हे पृथ्वीपते ! मनु, मनुपुत्र, मुनिगण, इन्द्र तथा देवता, ये सब परम पुरुष परमात्मा द्वारा शासित हैं ॥ २ ॥ हे राजन् ! भगवान्‌के यज्ञ आदि जो विभिन्न रूप कहे हैं, उन्हींकी प्रेरणासे मनु आदि संसारयात्रा करते हैं ॥ ३ ॥ उन मन्वन्तरोंके मुनिजन चतुर्युगके अन्तमें कालके गालमें

ततो धर्मं चतुष्पादं मनवो हरिणोदिताः। युक्ताः सञ्चारयन्त्यद्धा स्वे स्वे काले महीं नृप ॥५॥
पालयन्ति प्रजापाला यावदन्तं विभागशः। यज्ञभागभुजो देवा ये च तत्रान्विताश्च तैः ॥६॥
इन्द्रो भगवता दत्तां त्रैलोक्यश्रियमूर्जिताम्। भुञ्जानः पाति लोकांस्त्रीन् कामं लोके प्रवर्षति॥७॥
ज्ञानं चानुयुगं ब्रूते हरिः सिद्धस्वरूपधृक्। ऋषिरूपधरः कर्म योगं योगेशरूपधृक् ॥८॥
सर्गं प्रजेशरूपेण दस्यून् हन्यात् स्वराड्वपुः। कालरूपेण सर्वेषामभावाय पृथग्गुणः ॥९॥
स्तूयमानो जनैरेभिर्मायया नामरूपया। विमोहितात्मभिर्नानादर्शनैर्न च दृश्यते ॥१०॥
एतत् कल्पविकल्पस्य प्रमाणं परिकीर्तितम्। यत्र मन्वन्तराण्याहुश्चतुर्दश पुराविदः ॥११॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

राजोवाच

बलेः पदत्रयं भूमेः कस्माद्धरिरयाचत। भूत्वेश्वरः कृपणवल्लब्धार्थोऽपि बबन्ध तम् ॥१॥
एतद् वेदितुमिच्छामो महत् कौतूहलं हि नः। यज्ञेश्वरस्य पूर्णस्य बन्धनं चाप्यनागसः ॥२॥

श्रीशुक उवाच

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो हीन्द्रेण राजन् भृगुभिः स जीवितः।
सर्वात्मना तानभजद् भृगून् बलिः शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन ॥३॥

पड़ी श्रुतिका अपने तपोबलसे फिर यथावत् साक्षात्कार करते हैं, इसीसे सनातनधर्मकी रक्षा होती है॥ ४॥ हे राजन्! भगवानकी प्रेरणासे वे मनु सावधानीसे अपने-अपने समयमें पृथ्वीपर चार चरणों युक्त धर्मका प्रजाजनोंसे आचरण करते हैं॥५॥ मनुके पुत्र मन्वन्तरके अन्ततक पुत्र-पौत्रादि क्रमसे प्रजाका पालन करते हैं। पञ्चमहायज्ञादि कर्मोंमें जिन ऋषि, पितर, भूत तथा मनुष्य आदिका भोक्ता-रूपसे भक्तरूपसे सम्बन्ध है, उसके साथ देवता उस मन्वन्तरमें यज्ञका भाग पाते हैं॥६॥ इन्द्र भगवानकी दी हुई त्रिभुवनकी उत्कृष्ट लक्ष्मीको भोगता हुआ त्रिलोकीकी रक्षा करता और संसारमें यथेष्ट जल बरसाते हैं। स्वयं श्रीहरि सनकादि सिद्धोंके रूपमें अवतार लेकर प्रत्येक युगमें लोगोंको ज्ञानोपदेश देते हैं। वे ही याज्ञवल्क्यादिरूपसे कर्मकाण्डका प्रचार करते और दत्तात्रेयादि योगेश्वरके रूपमें योगमार्गकी प्रवृत्ति करते हैं॥ ८॥ वे ही प्रजापतिरूपसे सृष्टि करते, सम्राट् होकर चोर-लुटेरोंका वध करते और शीतोष्णादि विभिन्न गुण तथा कालरूपसे सबका संहार करते हैं॥ ९॥ वे भगवान नामरूपात्मिका मायासे मोहित पुरुषों द्वारा विभिन्न शास्त्रोंसे निरूपित किये जानेपर भी नहीं जाने जाते॥ १०॥ हे राजन्! इस तरह मैंने तुम्हें महाकल्प तथा अवान्तर कल्पोंका परिमाण सुना दिया। जिन्हें प्रत्येक अवान्तर कल्पमें पुरातत्त्वके ज्ञाता चौदह मन्वन्तर कहते हैं॥ ११॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

(दैत्यराज बलिका स्वर्गविजय) महाराज परीक्षितने पूछा—हे भगवन्! भगवान् श्रीहरि जगत्के ईश्वर होकर भी कृपण बनकर बलिसे तीन पग पृथ्वी माँगने क्यों गये? ऐसा करके भी मनोरथ सिद्ध हो जानेपर बलिको बाँधा क्यों?॥ १॥ हमें यह रहस्य जाननेका बड़ा कौतूहल है। उन पूर्णकाम श्रीयज्ञेश्वरका भीख माँगना और निरपराध बलिको बाँधना, ये दोनों बातें बड़ी अद्भुत हैं॥ २॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! देवासुरसंग्राममें जब इन्द्र द्वारा श्री और प्राणविहीन किये हुए राजा बलिको भृगुतनय शुक्राचार्यने जीवदान दिया तो उनका शिष्य बलि शुक्राचार्यको अपना

तं ब्राह्मणा भृगवः प्रीयमाणा अयाजयन् विश्वजिता त्रिणाकम् ।
जिगीषमाणं विधिनाभिषिच्य महाभिषेकेण महानुभावाः ॥४॥
ततो रथः काञ्चनपट्टनद्धो हयाश्च हर्यश्वतुरङ्गवर्णाः ।
ध्वजश्च सिंहेन विराजमानो हुताशनादास हविर्भिरिष्टात् ॥५॥
धनुश्च दिव्यं पुरटोपनद्धं तूणावरिक्तौ कवचं च दिव्यम् ।
पितामहस्तस्य ददौ च मालामम्लानपुष्पां जलजं च शुक्रः ॥६॥
एवं स विप्रार्जितयोधनाथस्तैः कल्पितस्वस्त्ययनोऽथ विप्रान् ।
प्रदक्षिणीकृत्य कृतप्रणामः प्रह्लादमामन्त्र्य नमश्चकार ॥७॥
अथारुह्य रथं दिव्यं भृगुदत्तं महारथः । सुस्रग्धरोऽथ संनह्य धन्वी खड्गी धृतेषुधिः ॥८॥
हेमाङ्गदलसद्बाहुः स्फुरन्मकरकुण्डलः । रराज रथमारूढो धिष्ण्यस्थ इव हव्यवाट् ॥९॥
तुल्यैश्वर्यबलश्रीभिः स्वयूथैर्दैत्ययूथपैः । पिबद्भिरिव खं दृग्भिर्दहद्भिः परिधीनिव ॥१०॥
वृतो विकर्षन् महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः । ययाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां कम्पयन्निव रोदसी ॥११॥
रम्यामुपवनोद्यानैः श्रीमद्भिर्नन्दनादिभिः । कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥१२॥
प्रवालफलपुष्पोरुभारशाखामरद्रुमैः । हंससारसचक्राह्वकारण्डवकुलाकुलाः ।
नलिन्यो यत्र क्रीडन्ति प्रमदाः सुरसेविताः ॥१३॥
आकाशगङ्गया देव्या वृतां परिखभूतया । प्राकारेणाग्निवर्णेन साट्टालेनोन्नतेन च ॥१४॥
रुक्मपट्टकपाटैश्च द्वारैः स्फटिकगोपुरैः । जुष्टां विभक्तप्रपथां विश्वकर्मविनिर्मिताम् ॥१५॥
सभाचत्वररथ्याढ्यां विमानैर्न्यर्बुदैर्युताम् । शृङ्गाटकैर्मणिमयैर्वज्रविद्रुमवेदिभिः ॥१६॥

सर्वस्व अर्पण करके उन्हींकी सेवा करने लगा ॥ ३ ॥ बलिपर प्रसन्न महानुभाव भृगुवंशी ब्राह्मणोंने स्वर्गविजयके इच्छुक बलिको विधिवत् ऐन्द्र महाभिषेकसे अभिषिक्त करके उसके द्वारा विश्वजित् यज्ञ कराया ॥ ४ ॥ हे राजन् ! हविसे पूजित अग्नि द्वारा सुवर्णकी चद्दरसे मढ़ा रथ, इन्द्रके घोड़ों सदृश हरित वर्णके घोड़े, सिंहके चिह्नसे चिह्नित ध्वजा, सुवर्णजटित दिव्य धनुष, बाणोंसे भरे दो तरकस और दिव्य कवच प्रगटे । बलिके पितामह प्रह्लादजीने कुसुमित पुष्पोंकी माला तथा शुक्राचार्यने शंख प्रदान किया ॥ ५ ॥ ६ ॥ उन ब्राह्मणोंके द्वारा युद्धसामग्री पा और उनके स्वस्तिवाचन करनेपर महारथी बलिने प्रदक्षिणा करके उन्हें और अपने पितामह प्रह्लादजीको नमस्कार किया । उनकी अनुमति लेकर भृगुवंशी ब्राह्मणोंके दिव्य रथपर सवार हो सुन्दर माला पहिन, धनुष, कवच, खड्ग तथा तरकस धारणकर भुजाओंमें सुनहले बाजूबन्द और कानोंमें झूलते मकराकृत कुण्डलोंसे सुशोभित एवं रथपर आरूढ बलि अग्निकुण्डमें प्रज्वलित अग्निके समान शोभित हुए ॥ ७–९ ॥ तदनन्तर जो आकाशको पिये और अपने नेत्रोंसे सब दिशाओंको भस्म किये दे रहे थे ऐसे तुल्य ऐश्वर्य, बल तथा विभूतियुक्त दैत्ययूथपतिरूपी गणोंके साथ वे बड़ी भारी असुरसेनाको साथ लेकर पृथिवी तथा आकाशमण्डलको कँपाते हुए परम समृद्धिसम्पन्न इन्द्रपुरीको गये ॥ १० ॥ ११ ॥ जो इन्द्रपुरी चहकते पक्षियोंके जोड़ों तथा गूँजते हुए मतवाले भौंरोंसे शोभायुक्त नन्दन आदि उपवनोंसे सुशोभित है ॥ १२ ॥ जो पल्लव, फल तथा फूलोंके भारसे झुकी शाखाओं युक्त कल्पवृक्षोंसे सम्पन्न है । जहाँ हंस, सारस, चक्रवाक, कारण्डव आदि पक्षियोंसे पूर्ण सरोवर हैं और जहाँ सुरसेविता देवाङ्गनाएँ विहार करती हैं ॥ १३ ॥ जो सब ओर खाईरूप आकाशगङ्गा तथा अट्टालिकाओं सहित अतिशय उन्नत अग्निवर्णके परकोटेसे घिरी है ॥ १४ ॥ जो विश्वकर्माके हाथों रची हुई है, सुवर्णपत्रसे मढ़े कपाटवाले द्वारों एवं स्फटिक मणिके कंगूरोंसे सुशोभित है और जिसमें बहुतेरी सड़कें बनी हुई हैं ॥ १५ ॥ जो सभा-भवन, चौराहे

यत्र नित्यवयोरूपाः श्यामा विरजवाससः । भ्राजन्ते रूपवन्नार्यो ह्यर्चिर्भिरिव वह्नयः ॥१७॥
सुरस्त्रीकेशविभ्रष्टनवसौगन्धिकस्रजाम् । यत्रामोदमुपादाय मार्ग आवाति मारुतः ॥१८॥
हेमजालाक्षनिर्गच्छद्धूमेनागुरुगन्धिना । पाण्डुरेण प्रतिच्छन्नमार्गे यान्ति सुरप्रियाः ॥१९॥
मुक्तावितानैर्मणिहेमकेतुभिर्नानापताकावलभीभिरावृताम् ।
शिखण्डिपारावतभृङ्गनादितां वैमानिकस्त्रीकलगीतमङ्गलाम् ॥२०॥
मृदङ्गशङ्खानकदुन्दुभिस्वनैः सतालवीणामुरजर्ष्टिवेणुभिः ।
नृत्यैः सवाद्यैरुपदेवगीतकैर्मनोरमां स्वप्रभया जितप्रभाम् ॥२१॥
यां न व्रजन्त्यधर्मिष्ठाः खला भूतद्रुहः शठाः । मानिनः कामिनो लुब्धा एभिर्हीना व्रजन्ति यत् २२
तां देवधानीं स वरूथिनीपतिर्बहिः समन्ताद् रुरुधे पृतन्यया ।
आचार्यदत्तं जलजं महास्वनं दध्मौ प्रयुञ्जन् भयमिन्द्रयोषिताम् ॥२३॥
मघवांस्तमभिप्रेत्य बलेः परममुद्यमम् । सर्वदेवगणोपेतो गुरुमेतदुवाच ह ॥२४॥
भगवन्नुद्यमो भूयान् बलेर्नः पूर्ववैरिणः । अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत्तेजसोर्जितः ॥२५॥
नैनं कश्चित् कुतो वापि प्रतिव्योढुमधीश्वरः । पिबन्निव मुखेनेदं लिहन्निव दिशो दश ।
दहन्निव दिशो दृग्भिः संवर्ताग्निरिवोत्थितः ॥२६॥
ब्रूहि कारणमेतस्य दुर्धर्षत्वस्य मद्रिपोः । ओजः सहो बलं तेजो यत एतत्समुद्यमः ॥२७॥

गुरुरुवाच

जानामि मघवञ्छत्रोरुन्नतेरस्य कारणम् । शिष्यायोपभृतं तेजो भृगुभिर्ब्रह्मवादिभिः ॥२८॥

तथा गलियोंसे पूर्ण तथा दस करोड़ विमानों युक्त है और जिसमें मणिमय चौक तथा हीरा और विद्रु-की बेदियाँ बनी हैं ॥ १६ ॥ जहाँ नित्य नवयौवन तथा अमिट सौन्दर्य युक्त षोडशवर्षीया रमणियाँ स्वच्छ वस्त्रों और अलङ्कारोंसे विभूषित होकर ज्वालाओंसे देदीप्यमान अग्निकी भाँति शोभित होती हैं ॥ १७ ॥ जहाँ वायु देवाङ्गनाओंके केशपाशसे गिरी नवीन सौगन्धिक पुष्पोंकी मालाका मनोहर आमोद लेकर मार्गको सुरभित करता है ॥ १८ ॥ जहाँ सुवर्णमय झरोखोंसे निकलते हुए पाण्डुवर्ण अगरके धूएँसे सुवासित मार्गमें देववधुयें विचरती हैं ॥ १९ ॥ इस तरह जो मुक्तादाममण्डित वितानों, मणि तथा सुवर्णजटित ध्वजाओं और विविध पताका तथा छज्जोंसे युक्त मयूर, कपोत एवं भ्रमरोंसे शब्दायमान तथा देवाङ्गनाओंके मनोहर गानसे मङ्गलमयी बनी रहती है ॥ २० ॥ मृदङ्ग, शंख, आनक तथा दुन्दुभियोंके घोषसे, तालयुक्त वीणा, मुरज, ऋष्टि तथा बाँसुरियों और उपदेवोंके नृत्य, वाद्य तथा गानसे जो अतिमनोहर जान पड़ती है । जिसने अलौकिक प्रभाकी अधिष्ठात्री देवीको भी पराजित कर दिया है ॥ २१ ॥ जिसमें अधर्मी, दुष्ट, भूतद्रोही, ठग, मानी, कामी तथा लोभी पुरुष नहीं जा पाते, जहाँ केवल निर्दोष पुरुष ही जाते हैं ॥ २२ ॥ बलिने उस देवनगरीको अपनी विशाल सेनासे सब ओर घेर लिया और इन्द्रकी महिलाओंको भयभीत करते हुए शुक्राचार्यजीका दिया घन-घोर शब्दवाला शंख बजाया ॥ २३ ॥ इन्द्रने बलिका वह भारी उद्योग देख सब देवताओंके साथ जाकर गुरु बृहस्पतिजीसे कहा—॥ २४ ॥ "हे भगवन् ! हमारे पूर्ववैरी बलिका यह बहुत बड़ा उद्योग है । मैं इसे सर्वथा असह्य समझता हूँ । यह किसके तेजसे इतना बढ़ा है ? ॥२५॥ इसे कोई किसी तरह नहीं रोक सकता । यह तो प्रलयाग्निकी तरह सारे जगत्‌का पीता, दसों दिशाओंको चाटता और नेत्रोंसे सब दिशाओंको जलाता हुआ इधर बढ़ा आ रहा है ॥ २६ ॥ हे गुरो ! मेरे शत्रुकी इस दुर्धर्षताका क्या कारण है ? इसे ऐसे इन्द्रिय, मन तथा शारीरिक बल और तेज कैसे मिले कि यह ऐसा असाधारण उद्यम करनेको उद्यत है" ॥२७॥ गुरु बृहस्पतिने कहा—हे इन्द्र ! मुझे इसकी उन्नतिका कारण ज्ञात है ।

भवद्विधो भवान् वापि वर्जयित्वेश्वरं हरिम् । नास्य शक्तः पुरः स्थातुं कृतान्तस्य यथा जनाः ॥२९॥
तस्मान्निलयमुत्सृज्य यूयं सर्वे त्रिविष्टपम् । यात कालं प्रतीक्षन्तो यतः शत्रोर्विपर्ययः ॥३०॥
एष विप्रबलोदर्कः सम्प्रत्यूर्जितविक्रमः । तेषामेवापमानेन सानुबन्धो विनङ्क्ष्यति ॥३१॥
एवं सुमन्त्रितार्थास्ते गुरुणार्थानुदर्शिना । हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्गीर्वाणाः कामरूपिणः ॥३२॥
देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनः पुरीम् । देवधानीमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम् ॥३३॥
तं विश्वजयिनं शिष्यं भृगवः शिष्यवत्सलाः । शतेन हयमेधानामनुव्रतमयाजयन् ॥३४॥
ततस्तदनुभावेन भुवनत्रयविश्रुताम् । कीर्तिं दिक्षु वितन्वानः स रेज उडुराडिव ॥३५॥
बुभुजे च श्रियं स्वृद्धां द्विजदेवोपलम्भिताम् । कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यमानो महामनाः ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं पुत्रेषु नष्टेषु देवमातादितिस्तदा । हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥१॥
एकदा कश्यपस्तस्या आश्रमं भगवानगात् । निरुत्सवं निरानन्दं समाधेर्विरतश्चिरात् ॥२॥
स पत्नीं दीनवदनां कृतासनपरिग्रहः । सभाजितो यथान्यायमिदमाह कुरूद्वह ॥३॥
अप्यभद्रं न विप्राणां भद्रे लोकेऽधुनाऽऽगतम् । न धर्मस्य न लोकस्य मृत्योश्छन्दानुवर्तिनः ॥४॥
अपि वा कुशलं किञ्चिद् गृहेषु गृहमेधिनि । धर्मस्यार्थस्य कामस्य यत्र योगो ह्ययोगिनाम् ॥५॥

वेदवादी भृगुपुत्रोंने अपने शिष्यके लिए बड़ा भारी तेज सम्पन्न किया है ॥ २८ ॥ परमेश्वर श्रीहरिके सिवाय आप तथा आपके समान और कोई इसके समक्ष वैसे ही नहीं टिक सकता, जैसे कालके सामने साधारण जीव नहीं टिक पाता ॥ २९ ॥ सो अब तुम लोग स्वर्ग छोड़कर किसी दूसरी जगह छिप जाओ और शत्रुके अधःपतनके समयकी प्रतीक्षा करो ॥ ३० ॥ इस समय यह दैत्यपति ब्रह्मतेजसे समृद्ध तथा परमपराक्रमी हो रहा है। कभी वह समय आयेगा, जब यह उन्हींका अपमान करके सकुटुम्ब नष्ट हो जायगा ॥ ३१ ॥ स्वार्थका यथार्थ स्वरूप समझनेवाले गुरुदेवकी सम्मतिसे देवता स्वेच्छानुसार रूप धारण करके स्वर्गधामको छोड़ इधर-उधर लुक गये ॥ ३२ ॥ देवताओंके छिप जानेपर विरोचनपुत्र बलिने देवपुरीपर अधिकार कर लिया और तीनों लोकोंको अपने अधीन करके शासन करने लगा ॥ ३३ ॥ तब शिष्यवत्सल भृगुपुत्रोंने अपने अनुगत शिष्य एवं विश्वविजयी बलिके हाथों सौ अश्वमेध यज्ञ कराने आरम्भ कर दिये ॥३४॥ अश्वमेध यज्ञोंके प्रभावसे बलि अपनी त्रिलोकविश्रुत कीर्ति दसों दिशाओंमें फैलाते हुए नक्षत्रराज चन्द्रमाकी भाँति शोभित हुए ॥ ३५ ॥ अपनेको कृतकृत्य मानते हुए बलि ब्राह्मणों और देवताओं द्वारा प्राप्त उस महती राजलक्ष्मीको भोगने लगे ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(महर्षि कश्यपका अदितिको पयोव्रतका उपदेश) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने पुत्रोंके भागकर छिपने और दैत्यों द्वारा स्वर्गलोक हर लिये जानेपर देवताओंकी माता अदिति अनाथोंकी तरह बिलखने लगी ॥ १ ॥ एक समय भगवान कश्यपजी समाधिसे उठकर उत्सव तथा आनन्दविहीन अदितिके आश्रमपर आये ॥ २ ॥ हे कुरुनन्दन ! वहाँ अदितिके द्वारा विधिवत् सम्मानित हो तथा आसनपर बैठकर उन्होंने दीनवदना प्रिया अदितिसे कहा—॥ ३ ॥ हे भद्रे ! लोकमें ब्राह्मणोंका, धर्मका अथवा मृत्युके अधीन पुरुषोंका कोई अमङ्गल तो नहीं हुआ है ? ॥ ४ ॥ हे गृहस्वामिनी ! जिसमें

अपि वातिथयोऽभ्येत्य कुटुम्बासक्तया त्वया। गृहादपूजिता याताः प्रत्युत्थानेन वा क्वचित् ॥६॥
गृहेषु येष्वतिथयो नार्चिताः सलिलैरपि। यदि निर्यान्ति ते नूनं फेरुराजगृहोपमाः ॥७॥
अप्यग्नयस्तु वेलायां न हुता हविषा सति। त्वयोद्विग्नधिया भद्रे प्रोषिते मयि कर्हिचित् ॥८॥
यत्पूजया कामदुघान् याति लोकान् गृहान्वितः। ब्राह्मणोऽग्निश्च वै विष्णोः सर्वदेवात्मनो मुखम् ॥९॥
अपि सर्वे कुशलिनस्तव पुत्रा मनस्विनि। लक्षयेऽस्वस्थमात्मानं भवत्या लक्षणैरहम् ॥१०॥

अदितिरुवाच

भद्रं द्विजगवां ब्रह्मन् धर्मस्यास्य जनस्य च। त्रिवर्गस्य परं क्षेत्रं गृहमेधिन् गृहा इमे ॥११॥
अग्नयोऽतिथयो भृत्या भिक्षवो ये च लिप्सवः। सर्वं भगवतो ब्रह्मन्ननुध्यानान्न रिष्यति ॥१२॥
को नु मे भगवन् कामो न सम्पद्येत मानसः। यस्या भवान् प्रजाध्यक्ष एवं धर्मान् प्रभाषते ॥१३॥
तवैव मारीच मनःशरीरजाः प्रजा इमाः सत्त्वरजस्तमोजुषः।
समो भवांस्तास्वसुरादिषु प्रभो तथापि भक्तं भजते महेश्वरः ॥१४॥
तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिन्तय सुव्रत। हृतश्रियो हृतस्थानान् सपत्नैः पाहि नः प्रभो ॥१५॥
परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे। ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम ॥१६॥
यथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन् ममात्मजाः। तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणकृत्तम ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

एवमभ्यर्थितोऽदित्या कस्तामाह स्मयन्निव। अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत् ॥१८॥

योगसाधनहीन लोगोंको भी स्वधर्म पालनेसे योगका फल मिल जाता है, उस गृहमें धर्म, अर्थ तथा कामकी कोई हानि तो नहीं हुई है? ॥ ५ ॥ तुम्हारे गृहकार्योंमें व्यग्र रहनेसे घर आये हुए अतिथिजन प्रत्युत्थानादि सत्कार पाये बिना ही तो नहीं लौट गये हैं? ॥ ६ ॥ जहाँ जलसे भी अतिथियोंका सत्कार नहीं होता और वे निराश लौट जाते हैं, वे घर गीदड़ोंके घरके समान होते हैं ॥ ७ ॥ हे भद्रे! मेरे बाहर चले जानेपर उद्विग्न रहनेसे होमवेलामें अग्नियोंमें हविकी आहुति देना तो तुम नहीं भूल गयीं? ॥ ८ ॥ जिनको पूजनेसे गृहस्थ पुरुष अभिलषित भोगदायक लोकोंमें जा पहुँचता है, वे ब्राह्मण और अग्नि सर्वदेवमय श्रीविष्णुभगवान्के मुख हैं ॥ ९ ॥ हे मनस्विनि! तुम्हारे सब बेटे तो अच्छी तरह हैं? तुम्हारे लक्षण देखकर मैं तुम्हें कुछ अस्वस्थ-जैसी देख रहा हूँ ॥ १० ॥ अदितिने कहा—हे ब्रह्मन्! ब्राह्मण, गौ, धर्म तथा लोक सब तरहसे सकुशल हैं। हे गृहमेधिन्! यह घर धर्म-अर्थ-कामरूपी त्रिवर्गका मुख्य क्षेत्र है ॥ ११ ॥ हे ब्रह्मन्! आपकी याद करते रहनेसे मेरे द्वारा अग्नि, अतिथि, भृत्यवर्ग तथा भोजनादि चाहनेवाले भिक्षुकोंका कभी तिरस्कार नहीं हो पाया है ॥१२॥ हे भगवन्! जब आपके सदृश प्रजापति मुझे धर्मका उपदेश देते रहते हैं, तब भला मेरी कौन-सी अभिलाषा अपूर्ण रह सकती है? ॥ १३ ॥ हे मरीचिसुवन! सत्त्व, रज तथा तमोगुणसे युक्त सारी प्रजा आपहीके मन और शरीरसे उत्पन्न हुई है। यद्यपि असुरादि सभी प्रजाओंके प्रति आप समान हैं। फिर भी स्वयं महेश्वरजी भी तो भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करते हैं ॥ १४ ॥ सो हे ईश! हे सुव्रत! आप अपनी सेविका मुझ दासीके हितका भी तनिक विचार करिये। हे प्रभो! शत्रुओंके द्वारा श्रीहीन और पदच्युत देवताओंकी आप रक्षा करें ॥ १५ ॥ हे नाथ! प्रबल दैत्योंने मेरा ऐश्वर्य, धन, यश और स्थान छीन लिया है। उन दैत्योंसे निर्वासित होकर मैं शोकसागरमें गोते खा रही हूँ ॥ १६ ॥ हे साधो! आप अपनी बुद्धिसे विचारकर मेरा कल्याण कीजिये। जिससे मेरे पुत्र फिर अपने ऐश्वर्यादिको पा जायँ ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! देवमाता अदितिके प्रार्थना करनेपर कश्यपजी कुछ विस्मित-से हो गये और उन्होंने कहा—"अहो! भगवानकी माया कितनी प्रबल है कि जिससे

क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः । कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम् ॥१९॥
उपतिष्ठस्व पुरुषं भगवन्तं जनार्दनम् । सर्वभूतगुहावासं वासुदेवं जगद्गुरुम् ॥२०॥
स विधास्यति ते कामान् हरिर्दीनानुकम्पनः । अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम ॥२१॥

अदितिरुवाच

केनाहं विधिना ब्रह्मन्नुपस्थास्ये जगत्पतिम् । यथा मे सत्यसङ्कल्पो विदध्यात् स मनोरथम् ॥२२
आदिश त्वं द्विजश्रेष्ठ विधिं तदुपधावनम् । आशु तुष्यति मे देवः सीदन्त्याः सह पुत्रकैः ॥२३॥

कश्यप उवाच

एतन्मे भगवान् पृष्टः प्रजाकामस्य पद्मजः । यदाह ते प्रवक्ष्यामि व्रतं केशवतोषणम् ॥२४॥
फाल्गुनस्यामले पक्षे द्वादशाहं पयोव्रतः । अर्चयेदरविन्दाक्षं भक्त्या परमयान्वितः ॥२५॥
सिनीवाल्यां मृदाऽऽलिप्य स्नायात् क्रोडविदीर्णया । यदि लभ्येत वै स्रोतस्येतं मन्त्रमुदीरयेत् ॥२६॥
त्वं देव्यादिवराहेण रसायाः स्थानमिच्छता । उद्धृतासि नमस्तुभ्यं पाप्मानं मे प्रणाशय ॥२७॥
निर्वर्तितात्मनियमो देवमर्चेत् समाहितः । अर्चायां स्थण्डिले सूर्ये जले वह्नौ गुरावपि ॥२८॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महीयसे । सर्वभूतनिवासाय वासुदेवाय साक्षिणे ॥२९॥
नमोऽव्यक्ताय सूक्ष्माय प्रधानपुरुषाय च । चतुर्विंशद्गुणज्ञाय गुणसंख्यानहेतवे ॥३०॥
नमो द्विशीर्ष्णे त्रिपदे चतुःशृङ्गाय तन्तवे । सप्तहस्ताय यज्ञाय त्रयीविद्यात्मने नमः ॥३१॥
नमः शिवाय रुद्राय नमः शक्तिधराय च । सर्वविद्याधिपतये भूतानां पतये नमः ॥३२॥

सारा जगत् स्नेहबन्धनमें बँधा रहता है ॥ १८ ॥ कहाँ भौतिक और अनात्मा यह शरीर और कहाँ प्रकृतिसे परे रहनेवाला आत्मा ! आखिर ये पति-पुत्रादि भी कौन और किसके हैं ? इनके स्नेहबन्धनका कारण भी तो मोह ही है ॥ १९ ॥ सो तुम सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें बैठे जगद्गुरु भगवान वासुदेव जनार्दनकी आराधना करो ॥ २० ॥ वे दीनवत्सल भगवान तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण कर देंगे । भगवानकी भक्ति ही अमोघ है । और किसी देवताकी भक्ति अमोघ नहीं हो सकती–यह मेरा विचार है" ॥२१॥ अदितिने कहा–हे ब्रह्मन् ! मैं उन जगत्पति श्रीहरिकी कैसी उपासना करूँ कि जिससे वे सत्यसङ्कल्प प्रभु मेरी कामनायें पूर्ण कर दें ॥२२॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! आप मुझे ऐसी उपासनाकी विधि बताइए, जिसके पुत्रोंके साथ कष्टमें पड़ी मुझपर भगवान् शीघ्र प्रसन्न हों ॥२३॥ कश्यपजी बोले–हे देवि ! एक बार मैंने सन्तानकी इच्छा करके उपासनाके विषयमें श्रीब्रह्माजीसे पूछा और उन्होंने भगवानको शीघ्र प्रसन्न करनेवाला जो व्रत बतलाया था, वही मैं तुम्हें बताता हूँ ॥ २४ ॥ फाल्गुन शुक्लपक्षमें बारह दिनोंतक केवल दूध पीकर रहे और अत्यन्त भक्तिके साथ कमलनयन श्रीविष्णुकी पूजा करे ॥२५॥ अमावस्याको शूकरकी खोदी हुई मिट्टी यदि मिल सके तो लेकर यह मन्त्र कहे—'हे देवि ! प्राणियोंको स्थान मिले, इस इच्छासे श्रीआदिवराहभगवानने तुम्हें रसातलसे उबारा था, तुमको नमस्कार है । तुम मेरे पाप नष्ट कर दो ।' वह मट्टी शरीरमें लगाकर नदीमें स्नान करे ॥२६॥२७॥ तब सभी नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको पूर्ण करके समाहित चित्तसे मूर्ति, वेदी, सूर्य, जल, अग्नि तथा गुरुमें भगवानकी आराधना करे ॥२८॥ 'आप सब प्राणियोंके निवासस्थान, सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, परमपूजनीय, षडैश्वर्यसम्पन्न एवं सर्वान्तर्यामी हैं । आपको प्रणाम है ॥२९॥ आप अव्यक्त, सूक्ष्म, प्रधानपुरुष, चौबीस तत्त्वोंके ज्ञाता और सांख्यशास्त्रके प्रवर्त्तक हैं, आपको नमस्कार है ॥३०॥ जिनके दो सिर, तीन चरण, चार शृङ्ग तथा सात हाथ हैं, ऐसे यज्ञफलदाता एवं यज्ञमूर्तिस्वरूप आप त्रयीविद्यामय प्रभुको हमारा नमस्कार है ॥३१॥ परम शक्तिधर, अखिल विद्याओंके प्रभु और सभी जीवोंके स्वामी आप रुद्ररूपधारी शिवको

नमो हिरण्यगर्भाय प्राणाय जगदात्मने। योगैश्वर्यशरीराय नमस्ते योगहेतवे ॥३३॥
नमस्ते आदिदेवाय साक्षिभूताय ते नमः। नारायणाय ऋषये नराय हरये नमः ॥३४॥
नमो मरकतश्यामवपुषेऽधिगतश्रिये। केशवाय नमस्तुभ्यं नमस्ते पीतवाससे ॥३५॥
त्वं सर्ववरदः पुंसां वरेण्य वरदर्षभ। अतस्ते श्रेयसे धीराः पादरेणुमुपासते ॥३६॥
अन्ववर्तन्त यं देवाः श्रीश्च तत्पादपद्मयोः। स्पृहयन्त इवामोदं भगवान् मे प्रसीदताम् ॥३७॥
एतैर्मन्त्रैर्हृषीकेशमावाहनपुरस्कृतम् । अर्चयेच्छ्रद्धया युक्तः पाद्योपस्पर्शनादिभिः ॥३८॥
अर्चित्वा गन्धमाल्याद्यैः पयसा स्नपयेद् विभुम्। वस्त्रोपवीताभरणपाद्योपस्पर्शनैस्ततः ।
गन्धधूपादिभिश्चार्चेद् द्वादशाक्षरविद्यया ॥३९॥
शृतं पयसि नैवेद्यं शाल्यन्नं विभवे सति। ससर्पिः सगुडं दत्त्वा जुहुयान्मूलविद्यया ॥४०॥
निवेदितं तद् भक्ताय दद्याद् भुञ्जीत वा स्वयम्। दत्त्वाऽऽचमनमर्चित्वा ताम्बूलं च निवेदयेत् ४१
जपेदष्टोत्तरशतं स्तुवीत स्तुतिभिः प्रभुम्। कृत्वा प्रदक्षिणं भूमौ प्रणमेद् दण्डवन्मुदा ॥४२॥
कृत्वा शिरसि तच्छेषां देवमुद्वासयेत् ततः। द्व्यवरान् भोजयेद् विप्रान् पायसेन यथोचितम्॥४३
भुञ्जीत तैरनुज्ञातः शेषं सेष्टः सभाजितैः। ब्रह्मचार्यथ तद्रात्र्यां श्वोभूते प्रथमेऽहनि ॥४४॥
स्नातः शुचिर्यथोक्तेन विधिना सुसमाहितः। पयसा स्नापयित्वार्चेद् यावद्व्रतसमापनम् ॥४५॥
पयोभक्षो व्रतमिदं चरेद् विष्ण्वर्चनादृतः। पूर्ववज्जुहुयादग्निं ब्राह्मणांश्चापि भोजयेत् ॥४६॥
एवं त्वहरहः कुर्याद् द्वादशाहं पयोव्रतः। हरेराराधनं होममर्हणं द्विजतर्पणम् ॥४७॥

प्रणाम है ॥ ३२ ॥ जो प्राणस्वरूप, जगन्मय, योग एवं ऐश्वर्यमूर्ति तथा योगके हेतु हैं, उन हिरण्यगर्भ-रूपधारी आपको नमस्कार है ॥ ३३ ॥ सबके साक्षी आदिदेव नारायण तथा हरिरूप भगवान नरको पुनः पुनः नमस्कार है ॥ ३४ ॥ मरकतमणिसम श्याम शरीर, पीताम्बरधारी और श्रीसम्पन्न श्रीकेशवभगवानको नमस्कार है ॥ ३५ ॥ हे वरेण्य ! हे वरदानियोंमें श्रेष्ठ ! आप सब पुरुषोंको सब वर देते हैं, इसीसे धीर पुरुष अपने कल्याणार्थ आपका पदपराग माथे चढ़ाते हैं ॥ ३६ ॥ जिनके चरणकमलोंकी सुगन्धिके 'इच्छुक देवता और लक्ष्मीजी सेवामें लगी रहती हैं, वे भगवान मेरेपर प्रसन्न हों' ॥ ३७ ॥ हे अदिति ! इन मन्त्रोंसे आवाहन करके भगवान हृषीकेशकी पाद्य-आचमनादि उपचारों द्वारा बड़ी श्रद्धासे पूजन करे ॥ ३८ ॥ गन्ध-पुष्पमाला आदिसे पूजन करके प्रभुको दुग्धसे नहलावे और वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, आचमन, गन्ध और धूपादि सामग्रियोंसे द्वादशाक्षर मंत्रोच्चारणपूर्वक पूजा करे ॥ ३९ ॥ यदि पास धन हो तो दुग्धपक्व तथा घी-गुड़ मिले चावलका नैवेद्य दे और द्वादशाक्षरमन्त्रसे हवन करे ॥ ४० ॥ भगवानको निवेदित अन्न भक्तोंको बाँट दे या स्वयं खाय। तदनन्तर प्रभुको आचमन कराके ताम्बूल अर्पण करे ॥ ४१ ॥ मूलमन्त्रको १०८ बार जपकर स्तुतिमंत्रोंसे भगवानका स्तवन करे और परिक्रमा करके प्रसन्न मनसे साष्टाङ्ग प्रणाम करे ॥ ४२ ॥ तत्पश्चात् निर्माल्य माथे लगाकर देवताका विसर्जन करे और हो सके तो दोसे अधिक ब्राह्मणोंको खीरका भोजन करावे ॥ ४३ ॥ दक्षिणा आदिसे सत्कृत ब्राह्मणोंसे आज्ञा लेकर बन्धुजनोंके साथ शेष अन्न भोजन करे। रात्रि भर ब्रह्मचर्यसे रहे। दूसरे दिन (प्रतिपदाको) प्रातःकाल स्नानादिसे पवित्र हो समाहितचित्तसे भगवानको दूधसे विधिवत् स्नान करावे और व्रतसमाप्तितक नित्य इसी तरह पूजन करता रहे ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ विष्णुपूजाका श्रद्धालु पुरुष केवल दुग्धाहार करता हुआ यह व्रत करे। प्रतिदिन द्वादशाक्षर मन्त्रसे हवन करके ब्राह्मणोंको जिमावे ॥ ४६ ॥ बारह दिनोंतक केवल दुग्धपान करता और प्रतिदिन होम, पूजन तथा ब्राह्मणभोजन कराता हुआ भगवानकी उपासना करे ॥ ४७ ॥ व्रती प्राणी प्रतिपदासे शुक्लत्रयोदशीतक ब्रह्मचर्यसे रहे। धरतीपर सोवे और त्रिकाल

प्रतिपद्दिनमारभ्य यावच्छुक्लत्रयोदशी । ब्रह्मचर्यमधःस्वप्नं स्नानं त्रिषवणं चरेत् ॥४८॥
वर्जयेदसदालापं भोगानुच्चावचांस्तथा । अहिंस्रः सर्वभूतानां वासुदेवपरायणः ॥४९॥
त्रयोदश्यामथो विष्णोः स्नपनं पञ्चकैर्विभोः । कारयेच्छास्त्रदृष्टेन विधिना विधिकोविदैः ॥५०॥
पूजां च महतीं कुर्याद् वित्तशाठ्यविवर्जितः । चरुं निरूप्य पयसि शिपिविष्टाय विष्णवे ॥५१॥
शृतेन तेन पुरुषं यजेत सुसमाहितः । नैवेद्यं चातिगुणवद् दद्यात् पुरुषतुष्टिदम् ॥५२॥
आचार्यं ज्ञानसम्पन्नं वस्त्राभरणधेनुभिः । तोषयेदृत्विजश्चैव तद् विद्ध्याराधनं हरेः ॥५३॥
भोजयेत् तान् गुणवता सदन्नेन शुचिस्मिते । अन्यांश्च ब्राह्मणाञ्छक्त्या ये च तत्र समागताः ५४
दक्षिणां गुरवे दद्यादृत्विग्भ्यश्च यथार्हतः । अन्नाद्येनाश्वपाकांश्च प्रीणयेत्समुपागतान् ॥५५॥
भुक्तवत्सु च सर्वेषु दीनान्धकृपणेषु च । विष्णोस्तत्प्रीणनं विद्वान् भुञ्जीत सह बन्धुभिः॥५६॥
नृत्यवादित्रगीतैश्च स्तुतिभिः स्वस्तिवाचकैः । कारयेत्तत्कथाभिश्च पूजां भगवतोऽन्वहम् ॥५७॥
एतत्पयोव्रतं नाम पुरुषाराधनं परम् । पितामहेनाभिहितं मया ते समुदाहृतम् ॥५८॥
त्वं चानेन महाभागे सम्यक्चीर्णेन केशवम् । आत्मना शुद्धभावेन नियतात्मा भजाव्ययम् ॥५९
अयं वै सर्वयज्ञाख्यः सर्वव्रतमिति स्मृतम् । तपःसारमिदं भद्रे दानं चेश्वरतर्पणम् ॥६०॥
त एव नियमाः साक्षात्त एव च यमोत्तमाः । तपो दानं व्रतं यज्ञो येन तुष्यत्यधोक्षजः ॥६१॥
तस्मादेतद्व्रतं भद्रे प्रयता श्रद्धया चर । भगवान् परितुष्टस्ते वरानाशु विधास्यति ॥६२॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे पयोव्रतकथनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

(प्रातः-सायं-मध्याह्न) स्नान करे ॥ ४८ ॥ मिथ्या तथा अनुचित भाषण और छोटे-बड़े सब भोगोंको त्याग दे और सब प्राणियोंके प्रति अहिंसा-भाव रखकर भगवान वासुदेवकी उपासनामें संलग्न रहे ॥ ४९ ॥ त्रयोदशीको पूजाविधिके विशेषज्ञ ब्राह्मणों द्वारा भगवान विष्णुको शास्त्रविधिसे पञ्चामृत द्वारा स्नान करावे ॥ ५० ॥ धनकी कृपणता त्यागकर धूमधामसे श्रीविष्णुभगवानका पूजन करे। तदनन्तर शिपिविष्ट विष्णुभगवानको दूधमें बना चरु अर्पण करके उसीसे एकाग्रचित्त द्वारा पुरुषोत्तमभगवानका पूजन करे और भगवान्को तुष्टिदायक गुणयुक्त नैवेद्य अर्पण करे ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ तब ज्ञानसम्पन्न आचार्य तथा ऋत्विजको वस्त्र, आभूषण तथा गौ आदि देकर प्रसन्न करे। हे अदिति ! इसे भी तुम भगवानकी आराधना ही जानो ॥ ५३ ॥ हे शुचिस्मिते ! व्रतके समय जो अनिमन्त्रित ब्राह्मण वहाँ आ जायँ, उन्हें भी यथाशक्ति गुणयुक्त शुद्ध अन्न खानेको दे ॥ ५४ ॥ गुरु तथा ऋत्विजोंको समुचित दक्षिणा दे और वहाँ आये हुए चाण्डालतकके प्राणियोंको अन्नादिसे प्रसन्न करे ॥ ५५ ॥ दीन, अन्धे एवं कृपण पुरुष भोजन कर लें तो उनके सत्कारको विष्णुभगवानकी प्रसन्नताका कारण माने और अवशिष्ट अन्न अपने बन्धुओंके साथ स्वयं भोजन करे ॥ ५६ ॥ इस तरह प्रतिपदासे लेकर त्रयोदशीतक नित्य वाद्य, गान, स्तुति, स्वस्तिवाचन तथा भगवत्कथाओं द्वारा भगवानका पूजन करावे ॥ ५७ ॥ हे देवि ! पितामह ब्रह्माजीने मुझको यह विष्णुभगवानका श्रेष्ठ पूजन-विधान 'पयोव्रत' बताया था, सो मैंने तुम्हें बता दिया ॥ ५८ ॥ हे महाभागे ! तुम जितेन्द्रिय तथा शुद्धभाव भरे मनसे इस व्रतका भलीभाँति पालन करती हुई उन अविनाशी केशवभगवानकी उपासना करो ॥ ५९ ॥ हे भद्रे ! यह व्रत भगवानको प्रसन्न कर देता है। इसीसे यह 'सर्वयज्ञ' और 'सर्वव्रत' भी कहाता है। यही सब तपस्याओंका सार तथा सर्वश्रेष्ठ दान है ॥ ६० ॥ हे देवि ! जिनको करनेसे अधोक्षजभगवान प्रसन्न हों, वे ही सच्चे नियम, वे ही उत्तम यम और वे ही तप, दान, व्रत तथा यज्ञ हैं ॥ ६१ ॥ अतएव हे भद्रे ! तुम संयत चित्तसे श्रद्धापूर्वक इस प्रश्नका पालन करो। इससे शीघ्र प्रसन्न होकर भगवान तुम्हारी कामना पूर्ण करेंगे ॥ ६२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता सादिती राजन् स्वभर्त्रा कश्यपेन वै। अन्वतिष्ठद् व्रतमिदं द्वादशाहमतन्द्रिता ॥१॥
चिन्तयन्त्येकया बुद्ध्या महापुरुषमीश्वरम्। प्रगृह्येन्द्रियदुष्टाश्वान् मनसा बुद्धिसारथिः ॥२॥
मनश्चैकाग्रया बुद्ध्या भगवत्यखिलात्मनि। वासुदेवे समाधाय चचार ह पयोव्रतम् ॥३॥
तस्याः प्रादुरभूत् तात भगवानादिपुरुषः। पीतवासाश्चतुर्बाहुः शङ्खचक्रगदाधरः ॥४॥
तं नेत्रगोचरं वीक्ष्य सहसोत्थाय सादरम्। ननाम भुवि कायेन दण्डवत् प्रीतिविह्वला ॥५॥
सोत्थाय बद्धाञ्जलिरीडितुं स्थिता नोत्सेह आनन्दजलाकुलेक्षणा।
बभूव तूष्णीं पुलकाकुलाकृतिस्तद्दर्शनात्युत्सवगात्रवेपथुः ॥६॥
प्रीत्या शनैर्गद्गदया गिरा हरिं तुष्टाव सा देव्यदितिः कुरूद्वह।
उद्वीक्षती सा पिबतीव चक्षुषा रमापतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ॥७॥

अदितिरुवाच

यज्ञेश यज्ञपुरुषाच्युत तीर्थपाद तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गलनामधेय।
आपन्नलोकवृजिनोपशमोदयाद्य शं नः कृधीश भगवन्नसि दीननाथः ॥८॥
विश्वाय विश्वभवनस्थितिसंयमाय स्वैरं गृहीतपुरुशक्तिगुणाय भूम्ने।
स्वस्थाय शश्वदुपबृंहितपूर्णबोधव्यापादितात्मतमसे हरये नमस्ते ॥९॥
आयुः परं वपुरभीष्टमतुल्यलक्ष्मीर्द्यौभूरसाः सकलयोगगुणास्त्रिवर्गः।
ज्ञानं च केवलमनन्त भवन्ति तुष्टात् त्वत्तो नृणां किमु सपत्नजयादिराशीः ॥१०॥

(देवी अदितिके पयोव्रतसे प्रसन्न होकर भगवानका प्रगट होना और अदितिको वर देना)

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! अपने पतिदेव कश्यपसे यह उपदेश पाकर अदितिने बड़ी सावधानतासे बारह दिनोंमें पूर्ण होनेवाले इस व्रतका अनुष्ठान किया ॥ १ ॥ तदनुसार उसने अपनी एकनिष्ठ बुद्धिसे परमपुरुष परमेश्वरका स्मरण करते हुए बुद्धिको सारथी बनाकर मनरूपी लगामसे इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको अपने अधीन किया ॥ २ ॥ और अपनी एकाग्रबुद्धिके द्वारा मनको सर्वात्मा श्रीहरिमें लगाकर वह पयोव्रत का अनुष्ठान करने लगी ॥ ३ ॥ हे तात! उस व्रतके प्रभावसे पीताम्बरसुशोभित, चतुर्भुजमूर्ति और शंखचक्रगदापद्मधारी भगवान आदिपुरुष उसके सामने प्रगट हुए ॥ ४ ॥ नारायणको अपने नेत्रोंके सम्मुख देखकर अदिति सहसा खड़ी हो गयी और प्रेमसे विह्वल हो उसने पृथिवीपर दण्डके समान लोटकर भगवानको प्रणाम किया ॥५॥ और खड़ी खड़ी ही अञ्जलि बाँधकर भगवानकी स्तुति करनेको उद्यत हुई, किन्तु नहीं कर सकी। क्योंकि उसकी आँखें आनन्दाश्रुओंसे डबडबा आयीं, सारा शरीर रोमाञ्चित हो गया, भगवद्दर्शनके उल्लासवश कँपकँपी आ गयी और वह चुप रह गयी ॥ ६ ॥ हे कुरुनन्दन! जगन्नाथ यज्ञेश्वर भगवान रमापतिको मानों नेत्रोंसे पी जायगी, ऐसी उत्कण्ठासे निहारती हुई देवी अदिति प्रीतिपूर्वक मन्द-मन्द स्वरसे भगवानकी स्तुति करने लगी ॥ ७ ॥ अदितिने कहा—हे यज्ञेश्वर! हे यज्ञपुरुष! हे अच्युत! हे तीर्थपाद! हे पुनीतकीर्ते! हे श्रवणमात्रसे मंगलकारी नामोंवाले! हे शरणागत जनोंके सङ्कट टालनेको प्रगट होनेवाले आदिपुरुष! आप दीनोंके नाथ हैं। हे भगवन्! हे ईश! आप हमारा कल्याण करें ॥ ८ ॥ जो समस्त विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण, स्वेच्छानुसार विविध शक्ति और गुणोंको अपनानेवाले, भूमा, अपने ही स्वरूपमें स्थित एवं निरन्तर वर्धमान पूर्णबोधसे आत्मान्धकारको दूर करनेवाले हैं, उन आप विश्वरूपधारी भगवान श्रीहरिको मेरा नमस्कार है ॥ ९ ॥ हे अनन्त! आपके सन्तुष्ट हो जानेपर तो मनुष्योंको भी

श्रीशुक उवाच

अदित्यैवं स्तुतो राजन् भगवान् पुष्करेक्षणः । क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति होवाच भारत ॥११॥

श्रीभगवानुवाच

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकाङ्क्षितम् । यत् सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥१२॥
तान् विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान् । प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥१३॥
इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम् । स्त्रियो रुदन्तीरासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः॥१४॥
आत्मजान् सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशःश्रियः। नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥१५॥

प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा अपारणीया इति देवि मे मतिः ।
यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति ॥१६॥
अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः सन्तोषितस्य व्रतचर्यया ते ।
ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥१७॥
त्वयार्चितश्चाहमपत्यगुप्तये पयोव्रतेनानुगुणं समीडितः ।
स्वांशेन पुत्रत्वमुपेत्य ते सुतान् गोप्तास्मि मारीचतपस्यधिष्ठितः ॥१८॥

उपधाव पतिं भद्रे प्रजापतिमकल्मषम् । मां च भावयती पत्यावेवंरूपमवस्थितम् ॥१९॥
नैतत् परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन । सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम् ॥२०॥

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवांस्तत्रैवान्तरधीयत । अदितिर्दुर्लभं लब्ध्वा हरेर्जन्मात्मनि प्रभोः ॥२१॥

ब्रह्माजीकी भाँति लम्बी आयु, इच्छित शरीर, अतुलित ऐश्वर्य, स्वर्ग, पृथिवी तथा पाताल, सभी योग-सिद्धियाँ, अर्थ, धर्म तथा कामरूपी त्रिवर्ग एवं मोक्षका साधनस्वरूप ज्ञान—ये सभी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, तब शत्रुओंपर विजय पाना आदि कामनायें किस गिनतीमें हैं ? ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—हे भारत ! देवमाता अदितिकी स्तुति सुनकर सभी प्राणियोंके अन्तरात्मा कमलनयन विष्णु-भगवानने कहा ॥११॥ श्रीभगवान बोले—हे देवमातः ! शत्रुओं द्वारा हतश्री तथा पदच्युत अपने पुत्रोंके विषयमें जो तुम्हारी चिरकालीन अभिलाषा है, उसे मैं जानता हूँ॥ १२ ॥ तुम दुर्मद और श्रेष्ठ दानवोंको युद्धमें जीतकर विजयलक्ष्मीसम्पन्न अपने पुत्रोंके साथ सुखसे रहना चाहती हो ॥ १३ ॥ तुम इन्द्र आदि अपने पुत्रोंके द्वारा युद्धमें मृत शत्रुओंकी स्त्रियोंको अपने पास आ-आकर रोती हुई देखनेकी इच्छुक हो ॥ १४ ॥ अपने खोये हुए यश तथा वैभवको पुनः पाकर श्रीसम्पन्न पुत्रोंको फिर स्वर्गपर अधिकार जमाकर क्रीडा करते देखनेकी तुम्हारी अभिलाषा है ॥१५॥ हे देवि ! मेरा तो विचार है कि वे सब असुर-यूथपति अभी प्रायः अजेय ही हैं। क्योंकि इस समय वे अपने अनुकूल और समर्थ ब्राह्मण शुक्राचार्यसे सुरक्षित हैं। अभी उनके प्रति किया हुआ कोई उद्योग सफल नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ तथापि हे देवि ! मैं तुम्हारे व्रतसे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझे कोई दूसरा उपाय सोचना पड़ेगा। क्योंकि मेरा पूजन व्यर्थ नहीं जाता। वह श्रद्धानुसार फल देता ही है॥ १७ ॥ तुमने पुत्रोंकी रक्षाके निमित्त उचित रीतिसे पयोव्रत द्वारा मेरी आराधना की है। सो मैं अपने अंशसे पुत्ररूपसे मरीचिनन्दन श्रीकश्यपजीके तपस्यारूपी वीर्यमें स्थित होकर तुम्हारे पुत्रोंकी रक्षा करूँगा ॥१८॥ सो हे भद्रे ! अपने पुण्यात्मा कश्यपमें मुझे इसी रूपसे विराजमान देखकर तुम उनकी सतत सेवा करो ॥१९॥ हे देवि ! इस विषयमें किसीसे पूछनेपर भी तुम कुछ मत बताना। क्योंकि देवताओंके सब काम गुप्त रहकर ही सिद्ध होते हैं॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—ऐसा कहकर वे भगवान अन्तर्धान हो गये। अदिति यह जानकर कि मेरे गर्भसे साक्षात् प्रभु श्रीहरिका दुर्लभ जन्म होगा, कृतकृत्य जैसी

उपाधावत् पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत् । स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत ॥२२॥
प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः । सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसम्भृतम् ।
समाहितमना राजन् दारुण्यग्निं यथानिलः ॥२३॥
अदितेर्धिष्ठितं गर्भं भगवन्तं सनातनम् । हिरण्यगर्भो विज्ञाय समीडे गुह्यनामभिः ॥२४॥

ब्रह्मोवाच

जयोरुगाय भगवन्नुरुक्रम नमोऽस्तु ते । नमो ब्रह्मण्यदेवाय त्रिगुणाय नमो नमः ॥२५॥
नमस्ते पृश्निगर्भाय वेदगर्भाय वेधसे । त्रिनाभाय त्रिपृष्ठाय शिपिविष्टाय विष्णवे ॥२६॥
त्वमादिरन्तो भुवनस्य मध्यमनन्तशक्तिं पुरुषं यमाहुः ।
कालो भवानाक्षिपतीश विश्वं स्रोतो यथान्तःपतितं गभीरम् ॥२७॥
त्वं वै प्रजानां स्थिरजङ्गमानां प्रजापतीनामसि सम्भविष्णुः ।
दिवौकसां देव दिवश्च्युतानां परायणं नौरिव मज्जतोऽप्सु ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्थं विरिञ्चस्तुतकर्मवीर्यः प्रादुर्बभूवामृतभूरदित्याम् ।
चतुर्भुजः शङ्खगदाब्जचक्रः पिशङ्गवासा नलिनायतेक्षणः ॥ १ ॥
श्यामावदातो झषराजकुण्डलत्विषोल्लसच्छ्रीवदनाम्बुजः पुमान् ।
श्रीवत्सवक्षा वलयाङ्गदोल्लसत्किरीटकाञ्चीगुणचारुनूपुरः ॥ २ ॥

होकर बड़ी भक्तिसे पतिकी सेवा करने लगी । इधर उन अमोघदृष्टि श्रीकश्यपने भी समाधियोग द्वारा अपने शरीरमें श्रीहरिका अंश प्रविष्ट होते देखा । हे राजन् ! जैसे वायु रगड़से काष्ठमें अग्नि पैदा कर देता है, वैसे ही उन्होंने समाहितचित्तसे अदितिके गर्भमें अपनी चिरकालीन एवं तपस्या द्वारा सुरक्षित वीर्य स्थापित कर दिया ॥२१–२३॥ अदितिके गर्भमें सनातन पुरुषको स्थित जानकर श्रीब्रह्माजी आये और उनके गुप्त नामोंसे स्तुति करने लगे ॥ २४ ॥ श्रीब्रह्माजीने कहा—हे महाकीर्तिमान् भगवान ! आपकी जय हो । आपको हमारा नमस्कार है । हे ब्रह्मण्यदेव ! हे त्रिगुणनियन्ता महाप्रभो ! आपको पुनः पुनः नमस्कार है ॥ २५ ॥ जो पृश्निके पुत्र, वेदोंमें निहित तथा सबके एकमात्र विधाता हैं, जिनके नाभि-स्थानमें त्रिलोकी स्थित है, त्रिलोकीका पृष्ठभाग वैकुण्ठ जिनका निवासस्थान है और जो सब जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित रहते हैं, उन विष्णुभगवानको नमस्कार है ॥ २६ ॥ केवल आप ही त्रिभुवनके आदि, अन्त तथा मध्य हैं । इसीसे शास्त्रमें आपको अनन्तशक्तिसम्पन्न पुरुष कहा गया है । हे ईश ! जैसे जलका प्रवाह तृण आदिको बहा ले जाता है, वैसे ही आप कालरूपसे सारे जगत्को खींच ले जाते हैं ॥ २७ ॥ आप ही चराचर प्रजा तथा प्रजापतियोंके जनक हैं और डूबतेको नौकाके समान हैं । आप ही स्वर्गच्युत देवताओंके आधार हैं ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषा-टीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(वामनभगवानका जन्म और उनका राजा बलिकी यज्ञशालामें जाना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ब्रह्माजीके द्वारा अपने कर्म तथा वीर्यकी स्तुति की जानेपर वे शंख, शक्र, गदा, पद्म तथा पीताम्बरधारी, जन्म-मृत्युसे रहित चतुर्भुजमूर्ति भगवान कमलनयन देवमाता अदितिके गर्भसे प्रगटे ॥ १ ॥ उन पुरुषोत्तम भगवानका शरीर श्याम था । उनके मुखकमलकी दीप्ति मकराकृत कुण्ड-

मधुव्रतव्रातविघुष्टया स्वया विराजितः श्रीवनमालया हरिः ।
प्रजापतेर्वेश्मतमः स्वरोचिषा विनाशयन् कण्ठनिविष्टकौस्तुभः ॥ ३ ॥
दिशः प्रसेदुः सलिलाशयास्तदा प्रजाः प्रहृष्टा ऋतवो गुणान्विताः ।
द्यौरन्तरिक्षं क्षितिरग्निजिह्वा गावो द्विजाः संजहृषुर्नगाश्च ॥ ४ ॥
श्रोणायां श्रवणद्वादश्यां मुहूर्तेऽभिजिति प्रभुः । सर्वे नक्षत्रताराद्याश्चक्रुस्तज्जन्म दक्षिणम् ॥५॥
द्वादश्यां सवितातिष्ठन्मध्यंदिनगतो नृप । विजया नाम सा प्रोक्ता यस्यां जन्म विदुर्हरेः ॥६॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्मृदङ्गपणवानकाः । चित्रवादित्रतूर्याणां निर्घोषस्तुमुलोऽभवत् ॥७॥
प्रीताश्चाप्सरसोऽनृत्यन् गन्धर्वप्रवरा जगुः । तुष्टुवुर्मुनयो देवा मनवः पितरोऽग्नयः ॥८॥
सिद्धविद्याधरगणाः सकिम्पुरुषकिन्नराः । चारणा यक्षरक्षांसि सुपर्णा भुजगोत्तमाः ॥९॥
गायन्तोऽतिप्रशंसन्तो नृत्यन्तो विबुधानुगाः । अदित्या आश्रमपदं कुसुमैः समवाकिरन् ॥१०॥
दृष्ट्वादितिस्तं निजगर्भसम्भवं परं पुमांसं मुदमाप विस्मिता ।
गृहीतदेहं निजयोगमायया प्रजापतिश्चाह जयेति विस्मितः ॥११॥
यत् तद्वपुर्भाति विभूषणायुधैरव्यक्तचिद् व्यक्तमधारयद्धरिः ।
बभूव तेनैव स वामनो वटुः सम्पश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः ॥१२॥
तं वटुं वामनं दृष्ट्वा मोदमाना महर्षयः । कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत्य प्रजापतिम् ॥१३॥

लोंकी कान्तिसे उल्लसित हो रही थी। उनका वक्षःस्थल श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित था। अन्यान्य अङ्गोंमें कङ्कण, केयूर, किरीट, करधनीकी लड़ियाँ तथा नूपुर आदि सुशोभित थे ॥ २ ॥ वे श्रीहरि मधुकरसमूहके गुंजारयुक्त वनमालासे आभूषित थे और उन्होंने गलेमें अपनी कान्तिसे प्रजापति कश्यपजीके घरके सारे अन्धकारको दूर करनेवाली कौस्तुभमणि पहन रखी थी ॥ ३ ॥ भगवानका जन्म होनेपर सभी दिशाएँ और जलाशय निर्मल हो गये, प्रजावर्गको अपार हर्ष हुआ । ऋतुएँ अपने-अपने गुणोंसे युक्त हो गयीं और स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, देवता, गौ, द्विज तथा पर्वत—ये सब बहुत हर्षित हुए ॥ ४ ॥ हे राजन्! जब कि चन्द्रमा श्रवण नक्षत्रपर गये, तब श्रावणकी द्वादशीको अभिजित् मुहूर्तमें वामन भगवानने अवतार लिया। उस समय सभी नक्षत्रों तथा ताराओंने प्रभुके जन्मको मङ्गलमय सूचित किया ॥ ५ ॥ हे नृप! जिस द्वादशीको भगवानका जन्म हुआ, वह 'विजया द्वादशी' नामसे विख्यात हुई। उस समय सूर्य मध्याह्नमें थे ॥ ६ ॥ भगवानके अवतार लेते ही शंख, दुन्दुभि, मृदङ्ग, पणव तथा आनक आदि बाजे बजने लगे और तरह-तरहके बाजों तथा तूर्य आदिका घनघोर शब्द होने लगा ॥ ७ ॥ अप्सराएँ प्रसन्न होकर नाचने लगीं और श्रेष्ठ गन्धर्वोंने गाना आरम्भ किया। मुनि, देव, मनु, पितर और अग्निदेव स्तुति करने लगे ॥ ८ ॥ सिद्ध, विद्याधर, किम्पुरुष, किन्नर, चारण, यक्ष, राक्षस, पक्षी, मुख्य-मुख्य नाग और देवताओंके अनुचर गाते-नाचते तथा प्रशंसा करते हुए देवमाता अदितिके आश्रमपर फूल बरसाने लगे ॥ ९ ॥ १० ॥ अदिति अपने गर्भसे जायमान उन परम पुरुषको देखकर अतिशय आश्चर्यचकित एवं आनन्दित हुई और प्रजापति कश्यपने भी भगवानको अपनी योगमायासे शरीर धारण किये देखकर बड़े विस्मयके साथ 'जय हो' यह कहा ॥ ११ ॥ हे राजन्! उन अव्यक्त तथा चित्स्वरूप श्रीहरि जो अपनी योगमायानिर्मित आभूषण तथा आयुधादिसे शोभायुक्त एवं व्यक्त रूप था, उसीसे वे नट-सदृश सबके समक्ष वामन (बौने) ब्रह्मचारी हो गये ॥ १२ ॥ वामन ब्रह्मचारीको देखकर सब महर्षियोंने कश्यप प्रजापतिको आगे करके उनके जातकर्म आदि संस्कार सानन्द सम्पन्न कराये ॥ १३ ॥

तस्योपनीयमानस्य सावित्रीं सवितात्रवीत् । बृहस्पतिर्ब्रह्मसूत्रं मेखलां कश्यपोऽददात् ॥१४॥
ददौ कृष्णाजिनं भूमिर्दण्डं सोमो वनस्पतिः । कौपीनाच्छादनं माता द्यौश्छत्रं जगतः पतेः ॥१५॥
कमण्डलुं वेदगर्भः कुशान् सप्तर्षयो ददुः । अक्षमालां महाराज सरस्वत्यव्ययात्मनः ॥१६॥
तस्मा इत्युपनीताय यक्षराट् पात्रिकामदात् । भिक्षां भगवती साक्षादुमादादम्बिका सती ॥१७॥
स ब्रह्मवर्चसेनैवं सभां सम्भावितो वटुः । ब्रह्मर्षिगणसंजुष्टामत्यरोचत मारिषः ॥१८॥
समिद्धमाहितं वह्निं कृत्वा परिसमूहनम् । परिस्तीर्य समभ्यर्च्य समिद्भिरजुहोद् द्विजः ॥१९॥

श्रुत्वाश्वमेधैर्यजमानमूर्जितं बलिं भृगूणामुपकल्पितैस्ततः ।
जगाम तत्राखिलसारसम्भृतो भारेण गां सन्नमयन् पदे पदे ॥ २०॥
तं नर्मदायास्तट उत्तरे बलेर्य ऋत्विजस्ते भृगुकच्छसंज्ञके ।
प्रवर्तयन्तो भृगवः क्रतूत्तमं व्यचक्षतारादुदितं तथा रविम् ॥२१॥
त ऋत्विजो यजमानः सदस्या हतत्विषो वामनतेजसा नृप ।
सूर्यः किलायात्युत वा विभावसुः सनत्कुमारोऽथ दिदृक्षया क्रतोः ॥२२॥
इत्थं सशिष्येषु भृगुष्वनेकधा वितर्क्यमाणो भगवान् स वामनः ।
छत्रं सदण्डं सजलं कमण्डलुं विवेश बिभ्रद्धयमेधवाटम् ॥२३॥

मौञ्ज्या मेखलया वीतमुपवीताजिनोत्तरम् । जटिलं वामनं विप्रं मायामाणवकं हरिम् ॥२४॥
प्रविष्टं वीक्ष्य भृगवः सशिष्यास्ते सहाग्निभिः । प्रत्यगृह्णन् समुत्थाय संक्षिप्तास्तस्य तेजसा ॥२५॥
यजमानः प्रमुदितो दर्शनीयं मनोरमम् । रूपानुरूपावयवं तस्मा आसनमाहरत् ॥२६॥

उनका उपनयनसंस्कार हो रहा था, तब सविता (सूर्य) देवताने उन्हें गायत्रीमन्त्रका उपदेश दिया। बृहस्पतिजीने यज्ञोपवीत पहनाया और स्वयं कश्यपजीने मेखला अर्पण की ॥ १४ ॥ पृथ्वीने उन्हें कृष्णमृगचर्म, वनके अधिपति चन्द्रदेवने दण्ड, माताने कौपीन तथा ओढ़नेका वस्त्र और स्वर्गने जगत्पतिको छत्र दिया ॥ १५ ॥ हे महाराज ! ब्रह्माजीने उन अव्ययात्माको कमण्डलु, सप्तर्षियोंने कुशा तथा सरस्वती देवीने अक्षमाला पहनायी ॥ १६ ॥ यज्ञोपवीत हो जानेपर यक्षपति कुबेरने भिक्षाका पात्र अर्पण किया और सतीशिरोमणि साक्षात् अम्बिका देवी भगवती उमाने उनको भिक्षा दी ॥ १७ ॥ इस तरह सबसे सम्मानित होकर वे श्रेष्ठ वटु वामन उन ब्रह्मर्षिसेवित सभामें सबसे अधिक शोभित हुए ॥ १८ ॥ उन द्विजश्रेष्ठने उपनयनसंस्कारके लिये स्थापित एवं प्रज्वलित अग्निका परिसमूहन, परिस्तरण तथा पूजन करके समिधाओंकी आहुति दी ॥ १९ ॥ हे राजन् ! बलिको भृगुवंशी ब्राह्मणों द्वारा रचाये अश्वमेध यज्ञ द्वारा भगवानका यजन करते सुन सर्वशक्ति-समन्वित होकर भी अपने भारसे सारी पृथ्वीको पद-पदपर झुकाते हुए यज्ञशालाके पास जा पहुँचे ॥ २० ॥ नर्मदा नदीके उत्तरी किनारे भृगुकच्छक्षेत्रमें अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान करते हुए बलिके भृगुगोत्री ऋत्विजोंने सूर्यसम उदित वामनभगवान्‌को देखा ॥ २१ ॥ हे राजन् ! वामनजीके तेजसे निस्तेज होकर वे ऋत्विज, यजमान तथा सदस्य सोचने लगे कि 'क्या ये साक्षात् सूर्य, अग्नि अथवा साक्षात् श्रीसनत्कुमार ही यज्ञ देखनेके लिए यहाँ चले आ रहे हैं ?' ॥ २२ ॥ अपने शिष्यों समेत भृगु-वंशियोंके विविध तर्कनायें करते समय भगवान वामन छत्र, दण्ड तथा जलसे पूर्ण कमण्डलु लिये अश्वमेध यज्ञके मण्डपमें गये ॥ २३ ॥ मूँजकी मेखला, यज्ञोपवीत तथा कृष्णमृगचर्म धारण किये तथा मायावटुरूप जटाधारी ब्राह्मण श्रीहरिको वहाँ आये देख और उनके तेजसे प्रभावित होकर भृगुपुत्रोंने शिष्यों तथा अग्नियोंके साथ उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया ॥२४॥२५॥ वामनभग-वानके उस रूपके अनुरूप अवयवों युक्त अति मनोहर तथा दर्शनीय आकृति देखकर यजमान (बलि)

स्वागतेनाभिनन्द्याथ पादौ भगवतो बलिः । अवनिज्यार्चयामास मुक्तसङ्गं मनोरमम् ॥२७॥
तत्पादशौचं जनकल्मषापहं स धर्मविन्मूर्ध्न्यदधात् सुमङ्गलम् ।
यद् देवदेवो गिरिशश्चन्द्रमौलिर्दधार मूर्ध्ना परया च भक्त्या ॥२८॥

बलिरुवाच

स्वागतं ते नमस्तुभ्यं ब्रह्मन् किं करवाम ते । ब्रह्मर्षीणां तपः साक्षान्मन्ये त्वाऽऽर्य वपुर्धरम् ॥२९॥
अद्य नः पितरस्तृप्ता अद्य नः पावितं कुलम् । अद्य स्विष्टः क्रतुरयं यद् भवानागतो गृहान् ॥३०॥
अद्याग्नयो मे सुहुता यथाविधि द्विजात्मज त्वच्चरणावनेजनैः ।
हतांहसो वार्भिरियं च भूरहो तथा पुनीता तनुभिः पदैस्तव ॥३१॥
यद् यद् वटो वाञ्छसि तत् प्रतीच्छ मे त्वामर्थिनं विप्रसुतानुतर्कये ।
गां काञ्चनं गुणवद् धाम मृष्टं तथान्नपेयमुत वा विप्र कन्याम् ।
ग्रामान् समृद्धांस्तुरगान् गजान् वा रथांस्तथार्हत्तम सम्प्रतीच्छ ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिवामनसंवादेऽष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति वैरोचनेर्वाक्यं धर्मयुक्तं ससूनृतम् । निशम्य भगवान् प्रीतः प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

वचस्तवैतज्जनदेव सूनृतं कुलोचितं धर्मयुतं यशस्करम् ।
यस्य प्रमाणं भृगवः साम्पराये पितामहः कुलवृद्धः प्रशान्तः ॥२॥

ने अतिशय प्रसन्नतासे उन्हें आसन दिया ॥ २६ ॥ स्वागतोक्तियोंसे भगवानका अभिनन्दन करके राजा बलिने चरण धोकर उन निःसङ्ग तथा मनोरम प्रभुका पूजन किया ॥ २७ ॥ तब उस धर्मज्ञ दैत्यराजने जीवोंके पापनाशक उस मंगलमय चरणोदकको माथे चढ़ाया, जिसे देवाधिदेव चन्द्रशेखर शंकरभगवानने भक्तिके साथ सिरपर धारण किया था ॥ २८ ॥ बलि बोले—हे ब्रह्मन् ! हम आपका स्वागत करते हैं—आपको नमस्कार है। मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ? हे आर्य ! मैं तो आपको ब्रह्मर्षियोंका मूर्तिमान् तप मानता हूँ ॥ २९ ॥ आज यहाँ आपके आनेसे हमारे पितर तृप्त हो गये, हमारा सारा कुल पवित्र हो गया और यह यज्ञ भी पूर्ण हो गया। हे विप्रवटो ! आपके पादप्रक्षालनसे निष्पाप होकर आज मैंने विधिवत् अग्नियोंमें होम कर लिया। अहो ! आपके चरणोदक और इन नन्हें-नन्हें पाँवोंसे यह भूमि पवित्र हो गयी ॥ ३० ॥ ३१ ॥ हे ब्राह्मणकुमार ! मुझे आप याचक जान पड़ते हैं। गौ, सुवर्ण, सामग्री समेत गृह, पवित्र अन्न, जल, विप्रकन्या, सम्पत्तिशाली ग्राम, घोड़े, हाथी तथा रथ आदि जिस वस्तुकी इच्छा हो, वह माँगिए ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(वामनभगवानका तीन पग पृथ्वी माँगना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! राजा बलिके धर्मयुक्त और मधुर वचन सुनकर भगवानने प्रसन्न मनसे उनकी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ १ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे नरदेव ! तुम्हारे कीर्तिकारी, धर्मसङ्गत एवं मधुर वचन तुम्हारे कुलके अनुरूप ही हैं। जिस कुलमें पारलौकिक धर्ममें भृगुपुत्र श्रीशुक्राचार्यजी और तुम्हारे कुलवृद्ध परमशान्त पितामह प्रह्लादजी प्रमाण हो चुके हैं ॥२॥ अहो ! इस कुलमें ऐसा निःसत्त्व तथा कृपण कोई पुरुष नहीं हुआ

न ह्येतस्मिन् कुले कश्चिन्निःसत्त्वः कृपणः पुमान् । प्रत्याख्याता प्रतिश्रुत्य यो वादाता द्विजातये ३

न सन्ति तीर्थे युधि चार्थिनार्थिताः पराङ्मुखा ये त्वमनस्विनो नृपाः ।
युष्मत्कुले यद्यशसामलेन प्रह्लाद उद्भाति यथोडुपः खे ॥४॥

यतो जातो हिरण्याक्षश्चरन्नेक इमां महीम् । प्रतिवीरं दिग्विजये नाविन्दत गदायुधः ॥५॥
यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतम्। नात्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन् ॥६॥
निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा । हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः ॥७॥
तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत् । चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः ॥८॥
यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव । अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः ॥९॥

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीरमाधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र ।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेहस्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः ॥१०॥
स तन्निकेतं परिमृश्य शून्यमपश्यमानः कुपितो ननाद ।
क्ष्मां द्यां दिशः खं विवरान् समुद्रान् विष्णुं विचिन्वन् न ददर्श वीरः ॥११॥

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत् । भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान् ॥१२॥
वैरानुबन्ध एतावानामृत्योरिह देहिनाम् । अज्ञानप्रभवो मन्युरहंमानोपबृंहितः ॥१३॥
पिता प्रह्लादपुत्रस्ते तद्विद्वान् द्विजवत्सलः । स्वमायुर्द्विजलिङ्गेभ्यो देवेभ्योऽदात् स याचितः १४

है, जिसने किसी ब्राह्मणकी माँग ठुकरायी हो या किसीको एक बार कुछ देनेकी प्रतिज्ञा करके मुकर गया हो ॥३॥ आकाशमें चमकनेवाले चन्द्रमाके सदृश शुभ्र कुलमें श्रीप्रह्लादजी अपने निर्मल सुयशसे देदीप्यमान हो चुके हैं । आपके कुलमें ऐसे धैर्यहीन राजा कभी नहीं हुए, जो तीर्थ अथवा युद्धभूमिमें याचकोंके माँगनेपर दान करनेसे पिछड़े हों ॥ ४ ॥ तुम्हारे कुलमें हिरण्याक्ष सदृश वीर हो गये हैं, जिन्हें दिग्विजयके निमित्त गदा लेकर अकेले ही सारे भूमण्डलमें घूमते रहनेपर भी कोई वीर शत्रु नहीं मिल सका था ॥ ५ ॥ जिस वीरको पृथिवीका उद्धार करते समय समक्ष आनेपर वराहरूपधारी श्रीविष्णुभगवानने भी कठिनाईसे परास्त किया और उसके अतुलित पराक्रमका स्मरण करके जीतकर भी अपनेको विजयी नहीं माना ॥ ६ ॥ भाईके वधका समाचार पाकर जब हिरण्यकशिपु क्रुद्ध होकर भाईके हत्यारेको मारनेके लिये श्रीहरिकी ओर चला तो हाथमें त्रिशूल लिये कालके सदृश अपनी ओर आते देख समयके पारखी तथा मायावियोंमें श्रेष्ठ श्रीविष्णुभगवानने सोचा—॥ ७ ॥ ८ ॥ 'जैसे मृत्यु प्राणियोंका पीछा करती है, वैसे ही यह बाह्यदर्शी दैत्य भी जहाँ-कहीं भी मैं जाऊँगा, वहीं यह मेरा पीछा करता रहेगा । तब मैं इसके हृदयमें ही क्यों न प्रविष्ट हो जाऊँ' ॥९॥ हे दैत्यपते ! ऐसा विचारकर वे विष्णुभगवान जिनका हृदय भयसे काँप रहा था, अपनी ओर दौड़कर आते हुए परम शत्रु हिरण्यकशिपुके शरीर तथा श्वासवायुमें लीन हो जाने योग्य सूक्ष्म शरीर धारण करके प्रविष्ट हो गये ॥ १० ॥ तब उस सूने स्थानमें सब ओर ढूँढ़नेपर भी शत्रुको न पाकर वह बड़े क्रोधके साथ गरजने लगा । उस वीरने पृथिवी, स्वर्ग, दिशा, आकाश, सातों पाताल एवं समुद्रसे सर्वत्र ढूँढ़कर भी विष्णुभगवानको नहीं पाया ॥ ११ ॥ उन्हें न देखकर वह बोला—'मैंने सारा संसार छान डाला, लेकिन वह नहीं मिला । मालूम होता है कि मेरे भाईका वधिक अवश्य वहाँ चला गया है, जहाँ गया हुआ प्राणी फिर नहीं लौटता ॥ १२ ॥ अस्तु, देहधारियोंका वैरभाव तो तभीतक है, जबतक कि शत्रु मर न जाय । क्रोध अज्ञानसे होता है और उसकी वृद्धि अहंकारसे होती है' ॥ १३ ॥ तुम्हारे पिता तथा प्रह्लादके पुत्र विरोचन भी प्रबल ब्राह्मणभक्त थे । उन्होंने जान-बूझकर ब्राह्मणवेषधारी देवताओंको उनके

भवानाचरितान् धर्मानास्थितो गृहमेधिभिः । ब्राह्मणैः पूर्वजैः शूरैरन्यैश्चोद्दामकीर्तिभिः ॥१५॥
तस्मात् त्वत्तो महीमीषद्वृणेऽहं वरदर्षभात् । पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम ॥१६॥
नान्यत् ते कामये राजन् वदान्याज्जगदीश्वरात् । नैनः प्राप्नोति वै विद्वान् यावदर्थप्रतिग्रहः ॥१७॥

बलिरुवाच

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्मताः । त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा ॥१८॥
मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम् । पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम् ॥१९॥
न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति । तस्माद् वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे ॥२०॥

श्रीभगवानुवाच

यावन्तो विषयाः प्रेष्ठास्त्रिलोक्यामजितेन्द्रियम् । न शक्नुवन्ति ते सर्वे प्रतिपूरयितुं नृप ॥२१॥
त्रिभिः क्रमैरसन्तुष्टो द्वीपेनापि न पूर्यते । नववर्षसमेतेन सप्तद्वीपवरेच्छया ॥२२॥
सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः । अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम् ॥२३॥
यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्टो वर्तते सुखम् । नासन्तुष्टस्त्रिभिर्लोकैरजितात्मोपसादितैः ॥२४॥
पुंसोऽयं संसृतेर्हेतुरसन्तोषोऽर्थकामयोः । यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ॥२५॥
यदृच्छालाभतुष्टस्य तेजो विप्रस्य वर्धते । तत् प्रशाम्यत्यसन्तोषादम्भसेवाशुशुक्षणिः ॥२६॥
तस्मात् त्रीणि पदान्येव वृणे त्वद् वरदर्षभात् । एतावतैव सिद्धोऽहं वित्तं यावत्प्रयोजनम् ॥२७॥

माँगनेपर अपनी आयुतक दे डाली थी ॥ १४ ॥ आप भी शुक्राचार्य आदि गृहस्थ ब्राह्मण, प्रह्लाद आदि अपने पूर्वज तथा अन्य कीर्तिसम्पन्न शूरवीरों द्वारा आचरित धर्मोंमें ही स्थित हैं ॥१५॥ अतएव हे दैत्येन्द्र ! वरदानियोंमें उत्तम आपसे मैं थोड़ी-सी पृथिवी माँगता हूँ, जो मेरे पैरोंसे नापनेपर तीन पगमात्र हो ॥ १६ ॥ हे राजन् ! तुम बड़े उदार तथा सारे जगत्के अधिपति हो । मैं इसके सिवा और कुछ नहीं चाहता । क्योंकि अपनी आवश्यकताभर दान लेनेवाले विद्वान्को कोई पाप नहीं लगता ॥ १७ ॥ बलि बोले—हे ब्राह्मणवर ! तुम्हारी बातें तो बूढ़ों जैसी हैं, परन्तु अभी तुम निरे बालक हो । तुम्हारी बुद्धि बच्चोंके समान है। क्योंकि तुम अपना स्वार्थ भी नहीं जानते ॥ १८ ॥ सारी त्रिलोकीके एकमात्र अधिपति एवं सभी द्वीपोंका दान करनेमें समर्थ मुझको स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करके भी तुम केवल तीन पग पृथ्वी माँग रहे हो—इससे तुम बुद्धिहीन-जैसे दीखते हो ॥ १९ ॥ हे वटो ! एक बार मेरे पास माँगने आकर किसी पुरुषको अन्यत्र माँगनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती । सो तुम मुझसे इच्छानुसार जीविका चलाने योग्य जितनी चाहो, उतनी पृथिवी माँग लो ॥ २० ॥ श्रीभगवानने कहा—हे राजन ! त्रिलोकीमें जितने प्रिय विषय हैं, वे सब मिलकर भी अजितेन्द्रिय पुरुषोंके मनोरथोंको पूर्ण नहीं कर सकते ॥ २१ ॥ जो प्राणी तीन पैर पृथिवीसे सन्तुष्ट नहीं हो सकता, वह यदि सातों द्वीपोंकी इच्छा करे तो एक द्वीपसे भी तो सन्तुष्ट नहीं होगा ॥२२॥ मैंने सुना है कि पृथु तथा गय आदि राजे सप्तद्वीपपति होकर भी धन तथा भोगोंके संग्रहसे तृष्णा-नदीको पार नहीं कर सके थे ॥२३॥ प्रारब्धवश प्राप्त धनसे सन्तुष्ट पुरुष सर्वदा सुखी रहता है, किन्तु असन्तुष्ट एवं अजितेन्द्रिय पुरुष तीनों लोक पाकर भी सुखी नहीं हो सकता ॥२४॥ अर्थ एवं कामसे सन्तुष्ट न होना ही पुरुषके जन्म-मरणरूपी संसारका कारण होता और अपने-आप प्राप्त पदार्थोंसे सन्तुष्ट रहना ही उससे मोक्षका कारण माना जाता है ॥२५॥ अपने आप मिले पदार्थसे सन्तुष्ट विप्रका तेज बढ़ता है और असन्तोषसे वह तेज वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे जलसे अग्नि ॥२६॥ सो आप दानिशिरोमणिसे मैं केवल तीन पग भूमि चाहता हूँ। इतनी भूमिसे ही मेरा काम चल जायगा । अपनी आवश्यकता भर अर्थसंग्रह करना ही अच्छा होता

इत्युक्तः स हसन्नाह वाञ्छातः प्रतिगृह्यताम् । वामनाय महीं दातुं जग्राह जलभाजनम् ॥२८॥
विष्णवे क्ष्मां प्रदास्यन्तमुशना असुरेश्वरम् । जानंश्चिकीर्षितं विष्णोः शिष्यं प्राह विदां वरः ॥२९॥

शुक्र उवाच

एष वैरोचने साक्षाद् भगवान् विष्णुरव्ययः । कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः ॥३०॥
प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता । न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः ॥३१॥
एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम् । दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥३२॥
त्रिविक्रमैरिमाँल्लोकान् विश्वकायः क्रमिष्यति । सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ॥३३॥
क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः । खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ॥३४॥
निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम् । प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान् ॥३५॥
न तद् दानं प्रशंसन्ति येन वृत्तिर्विपद्यते । दानं यज्ञस्तपः कर्म लोके वृत्तिमतो यतः ॥३६॥
धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च । पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥३७॥
अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम । सत्यमोमिति यत् प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत् ॥३८॥
सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते । वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः ॥३९॥
तद् यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात् । एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः ॥४०॥
पराग् रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत् तदोमिति । यत् किञ्चिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान् ।
भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥४१॥

है ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवानके ऐसा कहनेपर राजा बलिने हँसते हुए कहा—'अच्छा, तुम्हारी जो इच्छा हो, वही लो ।' यों कहकर उन्होंने वामनभगवानको पृथिवीदान देनेके लिये जलपात्र उठाया ॥ २८ ॥ तब ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ शुक्राचार्य नारायणकी इच्छाको अपनी ज्ञानदृष्टिसे देखकर पृथिवीदान देनेको उद्यत शिष्य दैत्यराज बलिसे बोले ॥ २९ ॥ शुक्राचार्यजीने कहा—हे विरोचन-नन्दन ! ये कश्यपके वीर्य और अदितिके गर्भसे उत्पन्न अव्यय विष्णु देवताओंका कार्य साधनेको आये हैं ॥ ३० ॥ तुमने भावी अनर्थ न समझकर जो इन्हें पृथिवी देना अङ्गीकार कर लिया है, उसे मैं ठीक नहीं समझता । ऐसा करनेसे दैत्योंके प्रति बड़ा अन्याय होगा ॥ ३१ ॥ ये मायावामनरूपधारी विष्णु तुम्हारा स्थान, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज तथा विश्वविदित सुयश छीनकर इन्द्रको दे देंगे । ३२ ॥ दान पाते ही ये अपने विश्वरूपसे तीन ही पगमें सारी त्रिलोकी नाप लेंगे । अरे मूढ़ ! इन विष्णुको अपना सर्वस्व देकर तू अपना निर्वाह कैसे करेगा ? ॥ ३३ ॥ ये विश्वव्यापक भगवान् अपने एक पैरसे पृथिवी, दूसरे पगसे स्वर्ग तथा विशाल शरीरसे आकाशको नाप लेंगे, फिर तीसरे पगकी क्या गति होगी ? ॥ ३४ ॥ प्रतिज्ञा करके दी हुई वस्तु न देकर तुम नरकगामी भी होओगे । क्योंकि तुम अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेमें कभी भी समर्थ नहीं होसकोगे ॥ ३५ ॥ जिसे करनेसे अपनी जीविका भी चली जाय, उस दानकी पंडित लोग प्रशंसा नहीं करते । क्योंकि आजीविकासम्पन्न पुरुष ही दान, यज्ञ, तप तथा कर्म कर सकते हैं ॥ ३६ ॥ जो मनुष्य अपने धनका पाँच भाग करके धर्म, यश, अर्थवृद्धि, भोग और स्वजनोंके काममें खर्चता है, वह इहलोक-परलोक दोनों जगह सुख पाता है ॥ ३७ ॥ यदि तुम्हें असत्यसे डर हो तो हे असुरश्रेष्ठ ! इस सत्य-मिथ्याके विषयमें ऋग्वेदकी श्रुतियोंने कहा है—लोकमें जो बात 'ॐ' कहकर स्वीकार की जाय, वह सत्य और जो 'न' ऐसा कह दिया जाय, वही असत्य होता है ॥ ३८ ॥ उस श्रुतिमें कहा गया है कि सत्यको देहरूपी वृक्षका फूल और फल समझे । वृक्षके न रहनेपर फल-फूल भी नहीं रह पायेंगे और देहका मूल असत्य ही है ॥ ३९ ॥ जैसे जड़ कट जानेपर वृक्ष शीघ्र सूखकर गिर जाता है, वैसे ही जिसका असत्य नष्ट हो गया रहता है, वह शरीर निःसन्देह शीघ्र सूख जाता है ॥ ४० ॥ ॐ यह अक्षर तो धनको दूर ले जाता है, अतएव यह अक्षर अपूर्ण है

अथैतत् पूर्णमध्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः । सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन् मृतः ॥४२॥
स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसङ्कटे । गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे एकोनविंशतितमोऽध्यायः॥१९

विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

बलिरेवं गृहपतिः कुलाचार्येण भाषितः । तूष्णीं भूत्वा क्षणं राजन्नुवाचावहितो गुरुम् ॥१॥

बलिरुवाच

सत्यं भगवता प्रोक्तं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् । अर्थं कामं यशो वृत्तिं यो न बाधेत कर्हिचित्॥२॥
स चाहं वित्तलोभेन प्रत्याचक्षे कथं द्विजम् । प्रतिश्रुत्य ददामीति प्राह्लादिः कितवो यथा ॥३॥
न ह्यसत्यात् परोऽधर्म इति होवाच भूरियम् । सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥४॥
नाहं बिभेमि निरयान्नाधन्यादसुखार्णवात् । न स्थानच्यवनान्मृत्योर्यथा विप्रप्रलम्भनात् ॥५॥
यद् यद्धास्यति लोकेऽस्मिन् सम्परेतं धनादिकम्। तस्य त्यागे निमित्तं किं विप्रस्तुष्येन्न तेन चेत्॥६॥
श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः । दध्यङ्शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु ॥७॥
यैरियं बुभुजे ब्रह्मन् दैत्येन्द्रैरनिवर्तिभिः । तेषां कालोऽग्रसीह्लोकान् न यशोऽधिगतं भुवि॥८॥
सुलभो युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः । न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥९॥

और दाताको धनहीन कर देता है। जो भिक्षुको अपना सर्वस्व देना स्वीकार कर लेता है, वह अपने भोगोंको सुरक्षित रखनेमें भी समर्थ नहीं हो पाता ॥ ४१ ॥ इसके विपरीत 'नहीं' यह जो मिथ्या बचन है, वह अपनेको पूर्ण करता है। किन्तु जो पुरुष सर्वदा 'नहीं' ही कहा करता है, वह दुष्कीर्तिमान् होता और श्वास लेते हुए भी मुर्दा रहता है ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! स्त्रियोंमें, परिहासके समय, विवाहमें, आजीविकाकी रक्षाके लिये, प्राणसङ्कट उपस्थित होनेपर, गौ या ब्राह्मणोंके कल्याणार्थ तथा किसीकी प्राणरक्षाके लिए असत्य भाषण करना निन्दनीय नहीं होता ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(बलिका भगवानको तीन पग पृथिवी देना और वामनभगवानका विश्वरूप धारण करना)

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कुलगुरु शुक्राचार्यजीके वचन सुन गृहस्थ राजा बलिने क्षणभर चुप रहकर शान्तभावसे कहा ॥ १ ॥ राजा बलि बोले—हे भगवन् ! आपका यह कथन कि जिससे कभी अर्थ, काम, यश एवं आजीविकामें कोई बाधा न पड़े, वही करना उचित है ॥ २ ॥ लेकिन मैं प्रह्लादनन्दन महराज बिरोचनका पुत्र हूँ। सो ब्राह्मणसे एकबार 'दूँगा' कहकर फिर किसी धूर्त या कृपणके सदृश धनके लोभवश इनकार कैसे कर दूँ॥ ३ ॥ पृथिवीने भी कहा है कि 'असत्यसे बढ़कर कोई पातक नहीं है। झूठे पुरुषके सिवाय और सबको मैं धारण करनेमें समर्थ हूँ ॥ ४ ॥ सो मैं भी ब्राह्मणवञ्चना करनेसे जितना डरता हूँ उतना नरकसे, दुःखकी समुद्ररूपिणी दरिद्रतासे, पदच्युति और मृत्युसे भी नहीं डरता ॥५॥ जो धन आदि मरनेपर इस जीवको एकदिन अवश्य छोड़ देंगे, उन्हें जीवितावस्थामें ही स्वयं त्याग देनेमें क्या विचारना है ? यदि मेरे दानसे ब्राह्मण सन्तुष्ट नहीं हुआ तो दानसे क्या लाभ ? ॥६॥ हे ब्रह्मन् ! दधीचि तथा शिवि आदि साधुजनोंने तो अपने दुस्त्यज प्राण तक देकर प्राणियोंका कल्याण किया था। फिर पृथ्वी देनेके विषयमें क्या सोचना है ? ॥७॥ कभी भी पीछे न हटनेवाले जिन दैत्यराजोंने इस भूमिको भोगा था, उनके लोकोंको तो कालने ग्रस लिया, किन्तु उनको पृथ्वीपर यश प्राप्त नहीं हुआ ॥८॥ हे ब्रह्मर्षे ! संग्राममें पीठ न दिखाकर प्राण त्याग देनेवाले वीर बहुत हैं, किन्तु पात्रके उपस्थित होने-

मनस्विनः कारुणिकस्य शोभनं यदर्थिकामोपनयेन दुर्गतिः ।
कुतः पुनर्ब्रह्मविदां भवादृशां ततो वटोरस्य ददामि वाञ्छितम् ॥१०॥
यजन्ति यज्ञक्रतुभिर्यमादृता भवन्त आम्नायविधानकोविदाः ।
स एव विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने ॥११॥
यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम् । तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम् ॥१२॥
एष वा उत्तमश्लोको न जिहासति यद् यशः । हत्वा मैनां हरेद् युद्धे शयीत निहतो मया ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरुः । शशाप दैवप्रहितः सत्यसन्धं मनस्विनम् ॥१४॥
दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया । मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद् भ्रश्यसे श्रियः ॥१५
एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान् । वामनाय ददावेनामर्चित्वोदकपूर्वकम् ॥१६॥
विन्ध्यावलिस्तदाऽऽगत्य पत्नी जालकमालिनी। आनिन्ये कलशं हैममवनेजन्यपां भृतम् ॥१७॥
यजमानः स्वयं तस्य श्रीमत् पादयुगं मुदा । अवनिज्यावहन्मूर्ध्नि तदपो विश्वपावनीः ॥१८॥
तदासुरेन्द्रं दिवि देवतागणा गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
तत्कर्म सर्वेऽपि गृणन्त आर्जवं प्रसूनवर्षैर्ववृषुर्मुदान्विताः ॥१९॥
नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो गन्धर्वकिम्पूरुषकिन्नरा जगुः ।
मनस्विनानेन कृतं सुदुष्करं विद्वानदाद् यद् रिपवे जगत्त्रयम् ॥२०॥

पर श्रद्धापूर्वक धन देनेवाले पुरुष दुर्लभ हैं ॥९॥ हे गुरो ! जब कि धैर्यशाली और दयालु पुरुषको साधारण याचककी याचना पूर्ण करनेसे प्राप्त दुर्गति भी कल्याणकारिणी होती है, तब आप सरीखे ब्रह्मवेत्ताओंकी कामनापूर्तिसे प्राप्त दरिद्रताके विषयमें तो कहना ही क्या है। सो मैं इस वटुको अभीष्ट वस्तु अवश्य दूँगा ॥ १० ॥ हे मुने ! वेदविधिके ज्ञाता आप लोग यज्ञोंसे जिनका यजन करते हैं, ये ब्राह्मण वटु चाहे वरदायक विष्णुभगवान हों अथवा कोई और हों, मैं इन्हें इनकी मुँहमाँगी पृथ्वी अवश्य दूँगा ॥ ११ ॥ यदि मेरा सर्वस्व लेकर मुझ निरपराधको ये अधर्मपूर्वक बाँध भी लें, फिर भी मैं इनका वध नहीं करूँगा। क्योंकि शत्रु होनेके नाते इन्होंने भयवश ब्राह्मणका वेष बना लिया है ॥ १२ ॥ यदि वास्तवमें ये पवित्रकीर्ति विष्णुभगवान हैं तो अपना सुयश कदापि न छोड़ेंगे। ये या तो युद्धमें मुझे मारकर पृथ्वीको हर लेंगे अथवा मेरे हाथों मरकर युद्धस्थलमें सोयेंगे ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! विधाताकी प्रेरणासे गुरु शुक्राचार्यने अपने ऊपर अश्रद्धालु और अपनी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले सत्यपरायण एवं मनस्वी शिष्यको शाप देते हुए कहा—॥ १४ ॥ "अरे ! तू अज्ञानी एवं मूढ़ है और अपनेको बड़ा पण्डित मानता है। तूने उपेक्षाभावसे मेरा अपमान करते हुए मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है। तू शीघ्र ऐश्वर्यभ्रष्ट हो जायगा" ॥ १५ ॥ इस प्रकार गुरुके शाप देनेपर भी महात्मा बलि सत्यसे विचलित नहीं हुए। उन्होंने वमनभगवानका पूजन किया और हाथमें जल लेकर उन्हें तीन पग पृथ्वी दे दी ॥ १६ ॥ मोतियोंके आभूषण और मालाओंसे विभूषिता राजपत्नी विन्ध्यावली वहाँ आयी और उसने वामनका पैर धोनेके लिये जलसे भरा हुआ स्वर्णकलश राजाको थम्हा दिया ॥ १७ ॥ तब अति प्रसन्नतापूर्वक यजमानने स्वयं विष्णुके श्रीसम्पन्न चरणकमल धोये और वह त्रिलोकपावन चरणोदक माथे चढ़ाया ॥ १८ ॥ उधर आकाशमें विराजमान गन्धर्व, विद्याधर तथा चारण राजा बलिके इस विचित्र कर्म और सरलताका वर्णन करते हुए अतिआनन्दित होकर उनपर फूल बरसाने लगे ॥ १९ ॥ बारम्बार सहस्रों दुन्दुभियें बजने लगीं और गन्धर्व, किम्पुरुष तथा किन्नरगण 'अहो ! इस मनस्वी दैत्यने जान-बूझकर

तद् वामनं रूपमवर्धताद्भुतं हरेरनन्तस्य गुणत्रयात्मकम् ।
भूः खं दिशो द्यौर्विवराः पयोधयस्तिर्यङ्नृदेवा ऋषयो यदासत ॥२१॥
काये बलिस्तस्य महाविभूतेः सहर्त्विगाचार्यसदस्य एतत् ।
ददर्श विश्वं त्रिगुणं गुणात्मके भूतेन्द्रियार्थाशयजीवयुक्तम् ॥२२॥
रसामचष्टाङ्घ्रितलेऽथ पादयोर्महीं महीध्रान् पुरुषस्य जङ्घयोः ।
पतत्त्रिणो जानुनि विश्वमूर्तेरूर्वोर्गणं मारुतमिन्द्रसेनः ॥२३॥
सन्ध्यां विभोर्वाससि गुह्य ऐक्षत् प्रजापतीञ्जघने आत्ममुख्यान् ।
नाभ्यां नभः कुक्षिषु सप्तसिन्धूनुरुक्रमस्योरसि चर्क्षमालाम् ॥२४॥
हृद्यङ्ग धर्मं स्तनयोर्मुरारेर्ऋतं च सत्यं च मनस्यथेन्दुम् ।
श्रियं च वक्षस्यरविन्दहस्तां कण्ठे च सामानि समस्तरेफान् ॥२५॥
इन्द्रप्रधानानमरान् भुजेषु तत्कर्णयोः ककुभो द्यौश्च मूर्ध्नि ।
केशेषु मेघाञ्छ्वसनं नासिकायामक्ष्णोश्च सूर्यं वदने च वह्निम् ॥२६॥
वाण्यां च छन्दांसि रसे जलेशं भ्रुवोर्निषेधं च विधिं च पक्ष्मसु ।
अहश्च रात्रिं च परस्य पुंसो मन्युं ललाटेऽधर एव लोभम् ॥२७॥
स्पर्शे च कामं नृप रेतसोऽम्भः पृष्ठे त्वधर्मं क्रमणेषु यज्ञम् ।
छायासु मृत्युं हसिते च मायां तनूरुहेष्वोषधिजातयश्च ॥२८॥
नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु बुद्धावजं देवगणानृषींश्च ।
प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः ॥२९॥
सर्वात्मनीदं भुवनं निरीक्ष्य सर्वेऽसुराः कश्मलमापुरङ्ग ।
सुदर्शनं चक्रमसह्यतेजो धनुश्च शार्ङ्गं स्तनयित्नुघोषम् ॥३०॥

अपने शत्रु को सारी त्रिलोकी दे दी—इसने यह बड़ा दुष्कर कार्य कर डाला है, यह कहकर उनके गुण गाने लगे ॥ २० ॥ उधर सबके सम्मुख भगवान अनन्तका त्रिगुणात्मक वामनस्वरूप विचित्र ढङ्गसे बढ़ने लगा और पृथ्वी, आकाश, दिशा, स्वर्ग, पाताल, समुद्र, पक्षी, मनुष्य, देवता एवं ऋषि, ये सब उसीमें समा गये ॥ २१ ॥ उन महाविभूतिसम्पन्न भगवानके गुणमय शरीरमें ऋत्विक्, आचार्य तथा सदस्यों समेत राजा बलिने भूत, इन्द्रिय, विषय, अन्तःकरण तथा जीवोंके साथ सारा त्रिगुणमय जगत् देखा ॥२२॥ उन विश्वरूप भगवानके चरणतलमें रसातल, चरणोंमें पृथ्वी, जङ्घाओंमें पर्वत, जानुओंमें पक्षियों, उरुओंमें मरुद्गणों, वस्त्रोंमें सन्ध्या, गुह्यप्रदेशमें प्रजापतिगण, जघनभागमें अपने समेत सब असुर, नाभिमें आकाश, कुक्षिमें सातों समुद्र, उरःस्थलमें नक्षत्रमाला, हृदयमें धर्म, स्तनोंमें ऋत और सत्य, मनमें चन्द्रमा, वक्षःस्थलमें पद्महस्ता लक्ष्मीजी, गलेमें सामश्रुति एवं सम्पूर्ण शब्द, भुजाओंमें इन्द्रादि देवता, कानोंमें दिशाएँ, मस्तकमें स्वर्ग, केशोंमें मेघमाला, नासिकामें वायु, नेत्रोंमें सूर्य, मुखमें अग्नि, वाणीमें वेद, रसनामें वरुण, भ्रुकुटियोंमें विधि तथा निषेध, पलकोंमें दिन और रात्रि, ललाटमें क्रोध, अधरमें लोभ, स्पर्शमें काम, वीर्यमें जल, पृष्ठभागमें अधर्म, पदन्यास (चलने-फिरने) में यज्ञ, छायामें मृत्यु, हँसीमें माया, रोमसमूहमें सभी ओषधियाँ, नाड़ियोंमें नदियाँ, नखोंमें शिलाएँ, बुद्धिमें ब्रह्मादि देवताओं और ऋषियोंको देखा। इस तरह बलिने भगवानके प्राण तथा शरीरमें सभी स्थावर-जंगम प्राणियोंको स्थित देखा ॥ २३–२९ ॥ हे तात ! उन सर्वात्मा भगवानमें सम्पूर्ण भुवन देखकर सब दैत्य घबरा गये। इसी समय उन भगवानके पास असह्य तेजोमय सुदर्शनचक्र, गर्जनेवाले

पर्जन्यघोषो जलजः पाञ्चजन्यः कौमोदकी विष्णुगदा तरस्विनी ।
विद्याधरोऽसिः शतचन्द्रयुक्तस्तूणोत्तमावक्षयसायकौ च ॥३१॥
सुनन्दमुख्या उपतस्थुरीशं पार्षदमुख्याः सहलोकपालाः ।
स्फुरत्किरीटाङ्गदमीनकुण्डलश्रीवत्सरत्नोत्तममेखलाम्बरैः ॥३२॥
मधुव्रतस्रग्वनमालया वृतो रराज राजन् भगवानुरुक्रमः ।
क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः ॥३३॥
पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि ।
उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपर्युपर्यथो महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे विश्वरूपदर्शनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

सत्यं समीक्ष्याब्जभवो नखेन्दुभिर्हतस्वधामद्युतिरावृतोऽभ्यगात् ।
मरीचिमिश्रा ऋषयो बृहद्व्रताः सनन्दनाद्या नरदेव योगिनः ॥ १ ॥
वेदोपवेदा नियमान्विता यमास्तर्केतिहासाङ्गपुराणसंहिताः ।
ये चापरे योगसमीरदीपितज्ञानाग्निना रन्धितकर्मकल्मषाः ।
ववन्दिरे यत्स्मरणानुभावतः स्वायम्भुवं धाम गता अकर्मकम् ॥ २ ॥
अथाङ्घ्रये प्रोन्नमिताय विष्णोरुपाहरत् पद्मभवोऽर्हणोदकम् ।
समर्च्य भक्त्याभ्यगृणाच्छुचिश्रवा यन्नाभिपङ्करुहसम्भवः स्वयम् ॥ ३ ॥

बादलके सदृश भयंकर टंकोरकारी शार्ङ्गधनुष, मेघसम गम्भीर घोषयुक्त पाञ्चजन्य शंख, अतिशय वेगवती कौमोदकी गदा, ढाल समेत विद्याधरनामका खड्ग, अक्षय बाणभरे दो तरकस और लोकपाल समेत प्रभुके नन्द-सुनन्द आदि प्रमुख पार्षद आ उपस्थित हुए। हे राजन् ! तब वे भगवान देदीप्यमान मुकुट, अंगद, मकराकृत कुण्डल, श्रीवत्स, मणिश्रेष्ठ कौस्तुभ, मेखला, पीताम्बर तथा भौरोंसे गुञ्जायमान वनमालासे विभूषित होकर अत्यन्त सुशोभित हुए। तत्काल उन्होंने अपने एक पगसे सारी पृथिवी नाप ली और शरीरसे आकाश तक तथा भुजाओंसे सब दिशाओंको घेर लिया ॥ ३०–३३ ॥ जब उन्होंने दूसरे पदसे स्वर्गको भी नाप लिया तो तीसरे चरणके लिये कोई स्थान शेष नहीं रहा। क्योंकि भगवान उरुक्रमका दूसरा पद ही ऊपर-ऊपर जाता हुआ महर्लोक, जनलोक तथा तपलोकसे भी ऊपर सत्यलोकमें जा पहुँचा था ॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

(तीन पग पृथ्वीदान पूर्ण न होनेके कारण वामनभगवानके द्वारा बलिका बँधना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सत्यलोकमें प्राप्त भगवानके चरणकमल देखकर उसके नखचन्द्रकी दीप्तिसे जिनके तेजकी आभा मन्द पड़ गयी थी और जो स्वयं उसकी कान्तिसे ढँक गये थे, वे ब्रह्माजी, मरीचि आदि ऋषि, सनन्दनादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं योगीगण, वेद, उपवेद, नियमों सहित यम, तर्क, इतिहास, वेदाङ्ग, पुराण, संहिता तथा योगरूपी पवनसे प्रज्वलित ज्ञानाग्निमें जिनके कर्मरूपी मल जल गये थे, वे सब योगी भगवानके समीप आये और जिनके स्मरणजनित प्रभावसे उन्होंने कर्मकलाप द्वारा अप्राप्य ब्रह्मलोक पाया था, उन भगवच्चरणारविन्दोंको प्रणाम किया ॥ १ ॥ २ ॥ तदनन्तर पवित्रकीर्ति ब्रह्माजीने जिनके नाभिकमलसे वे स्वयं उत्पन्न हुए थे—उन विष्णुभगवानके ऊपरकी ओर

धातुः कमण्डलुजलं तदुरुक्रमस्य पादावनेजनपवित्रतया नरेन्द्र ।
स्वर्धुन्यभून्नभसि सा पतती निमार्ष्टि लोकत्रयं भगवतो विशदेवकीर्तिः ॥४॥

ब्रह्मादयो लोकनाथाः स्वनाथाय समादृताः । सानुगा बलिमाजह्रुः संक्षिप्तात्मविभूतये ॥५॥
तोयैः समर्हणैः स्रग्भिर्दिव्यगन्धानुलेपनैः । धूपैर्दीपैः सुरभिभिर्लाजाक्षतफलाङ्कुरैः ॥६॥
स्तवनैर्जयशब्दैश्च तद्वीर्यमहिमाङ्कितैः । नृत्यवादित्रगीतैश्च शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥७॥
जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः । विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत् ॥८॥
महीं सर्वां हृतां दृष्ट्वा त्रिपदव्याजयाच्ञया । ऊचुः स्वभर्तुरसुरा दीक्षितस्यात्यमर्षिताः ॥९॥
न वा अयं ब्रह्मबन्धुर्विष्णुर्मायाविनां वरः । द्विजरूपप्रतिच्छन्नो देवकार्यं चिकीर्षति ॥१०॥
अनेन याचमानेन शत्रुणा वटुरूपिणा । सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदण्डस्य बर्हिषि ॥११॥
सत्यव्रतस्य सततं दीक्षितस्य विशेषतः । नानृतं भाषितुं शक्यं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ॥१२॥
तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुः शुश्रूषणं च नः । इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः ॥१३॥
ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः । अनिच्छतो बले राजन् प्राद्रवञ्जातमन्यवः ॥१४॥
तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान् नृप । प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः ॥१५॥
नन्दः सुनन्दोऽथ जयी विजयः प्रबलो बलः । कुमुदः कुमुदाक्षश्च विष्वक्सेनः पतत्रिराट् ॥१६॥
जयन्तः श्रुतदेवश्च पुष्पदन्तोऽथ सात्वतः । सर्वे नागायुतप्राणाश्चमूं ते जघ्नुरासुरीम् ॥१७॥

उठे हुए चरणकी पूजा करके अतिशय भक्तिभावसे स्तुति की ॥ ३ ॥ हे राजेन्द्र ! भगवान उरुक्रमके पादप्रक्षालनसे परम पवित्र वह ब्रह्माजीके कमण्डलुका जल ही श्रीगंगाजीके रूपमें परिणत हो गया । वे गङ्गा मानो भगवानकी पवित्र कीर्ति ही हैं और पृथिवीपर गिरती हुई त्रिलोकीको पवित्र करती रहती हैं ॥ ४ ॥ जब भगवानने अपना विस्तार कम कर लिया, तब अनुचरोंके सहित ब्रह्मा आदि लोकपालोंने वामनभगवानको सादर भेंटें अर्पण कीं ॥ ५ ॥ जल, उपहार, माला, दिव्य गन्धयुक्त अनुलेपन, सुगन्धित धूप, दीप, लाजा, अक्षत, फल, अङ्कुर, भगवानके महिमामय स्तोत्र, जयघोष, नृत्य, वाद्य, गान एवं शंख तथा दुन्दुभीके शब्दोंसे उनका पूजन करने लगे ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ मनके सदृश द्रुतगामी ऋक्षराज जाम्बवान् तत्काल बड़े उत्साहके साथ भेरी बजाते हुए सर्वत्र भगवानकी विजय-घोषणा कर आये ॥ ८ ॥ इस तरह तीन पग पृथिवीकी याचनाके बहाने यज्ञकर्ममें दीक्षित अपने प्रभुकी सारी पृथिवी हरी गयी देख सब दैत्य बहुत क्रुद्ध होकर परस्पर कहने लगे—॥ ९ ॥ यह ब्राह्मण नहीं है । यह मायावियोंका अग्रणी विष्णु है और ब्राह्मणके वेषमें देवताओंका कार्य करने आया है ॥ १० ॥ देखो न, इस शत्रुने वटुरूप धारण करके याचना करते हुए हमारे स्वामीका—जिन्होंने यज्ञानुष्ठानमें दीक्षित होकर सब दण्ड त्याग दिया था—सर्वस्व छीन लिया है ॥११॥ हमारे स्वामी सत्यव्रती, ब्राह्मणभक्त तथा बड़े दयालु हैं। इसलिये और विशेष करके दीक्षित होनेके कारण वे झूठ तो बोल ही नहीं सकते थे ॥१२॥ ऐसी दशामें इस वटुको मार डालना ही धर्म है और ऐसा करनेसे हमारे स्वामीकी भी सेवा हो जायगी ।' ऐसी सलाहकर बलिके अनुयायी दैत्योंने विविध अस्त्र-शस्त्र तान लिये ॥१३॥ हे राजन् ! वे-सबके-सब अति क्रुद्ध होकर राजा बलिकी इच्छा न होनेपर भी शूल तथा पट्टिश आदि लेकर श्रीवामनजीको मारनेके लिये झपटे ॥१४॥ हे नृप ! दैत्य-सेनानायकोंको शस्त्र सम्हालकर अपनी ओर आते देख हँसते हुए श्रीविष्णुभगवानके पार्षदोंने अपने अस्त्र-शस्त्रोंसे उन्हें रोक दिया ॥ १५ ॥ नन्द, सुनन्द, जय, विजय, प्रबल, बल, कुमुद, कुमुदाक्ष, विष्वक्सेन, गरुड, जयन्त, श्रुतदेव, पुष्पदन्त तथा सात्वत—इन दस-दस हजार हाथियोंके बलसे सम्पन्न विष्णुपार्षदोंने सारी असुरसेना ध्वस्त कर

हन्यमानान् स्वकान् दृष्ट्वा पुरुषानुचरैर्बलिः । वारयामास संरब्धान् काव्यशापमनुस्मरन् ॥१८॥
हे विप्रचित्ते हे राहो हे नेमे श्रूयतां वचः । मा युध्यत निवर्तध्वं न नः कालोऽयमर्थकृत् ॥१९॥
यः प्रभुः सर्वभूतानां सुखदुःखोपपत्तये । तं नातिवर्तितुं दैत्याः पौरुषैरीश्वरः पुमान् ॥२०॥
यो नो भवाय प्रागासीदभवाय दिवौकसाम् । स एव भगवानद्य वर्तते तद्विपर्ययम् ॥२१॥
बलेन सचिवैर्बुद्ध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः । सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ॥२२॥
भवद्भिर्निर्जिता ह्येते बहुशोऽनुचरा हरेः । दैवेनर्द्धैस्त एवाद्य युधि जित्वा नदन्ति नः ॥२३॥
एतान् वयं विजेष्यामो यदि दैवं प्रसीदति । तस्मात् कालं प्रतीक्षध्वं यो नोऽर्थत्वाय कल्पते२४

श्रीशुक उवाच

पत्युर्निगदितं श्रुत्वा दैत्यदानवयूथपाः । रसां निर्विविशू राजन् विष्णुपार्षदताडिताः ॥२५॥
अथ तार्क्ष्यसुतो ज्ञात्वा विराट्प्रभुचिकीर्षितम् । बबन्ध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ ॥२६॥
हाहाकारो महानासीद् रोदस्योः सर्वतो दिशम् । गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना ॥२७॥
तं बद्धं वारुणैः पाशैर्भगवानाह वामनः । नष्टश्रियं स्थिरप्रज्ञमुदारयशसं नृप ॥२८॥
पदानि त्रीणि दत्तानि भूमेर्मह्यं त्वयासुर । द्वाभ्यां क्रान्ता मही सर्वा तृतीयमुपकल्पय ॥२९॥
यावत् तपत्यसौ गोभिर्यावदिन्दुः सहोडुभिः । यावद् वर्षति पर्जन्यस्तावती भूरियं तव ॥३०॥
पदैकेन मया क्रान्तो भूर्लोकः खं दिशस्तनोः । स्वर्लोकस्तु द्वितीयेन पश्यतस्ते स्वमात्मना॥३१॥
प्रतिश्रुतमदातुस्ते निरये वास इष्यते । विश त्वं निरयं तस्माद् गुरुणा चानुमोदितः ॥३२॥

डाली ॥ १६ ॥ १७ ॥ पार्षदोंके द्वारा अपने कुपित अनुचरोंको मरते देखकर राजा बलिने शुक्राचार्यजीके शापका स्मरण करके उन्हें लड़नेसे रोक दिया ॥१८॥ बलि बोले—हे विप्रचित्ते ! हे राहो ! हे नेमे ! मेरी बात मानो, अब युद्ध बन्द कर दो और पीछे लौट आओ । अभी यह समय कार्यसाधनका नहीं है ॥ १९ ॥ हे दैत्यगण ! सब प्राणियोंको सुख-दुःखादिकी प्राप्ति करानेमें समर्थ कालको कोई पुरुष पुरुषार्थ द्वारा नहीं जीत सकता ॥ २० ॥ किसी समय जो हमारी उन्नति और देवताओंकी अवनतिके हेतु थे, वे ही भगवान काल अब हमसे विपरीत हो गये हैं ॥ २१ ॥ बल, मन्त्री, बुद्धि, दुर्ग, मन्त्र, औषधि तथा सामादि उपाय—इनमेंसे किसी भी साधनसे मनुष्य कालको पराजित नहीं कर सकता ॥ २२ ॥ जब विधाता अनुकूल था, तब तुमने भगवानके इन पार्षदोंको कई बार जीता है, किन्तु आज वे ही हमें जीतकर इस तरह गर्ज रहे हैं ॥ २३ ॥ यदि कभी भाग्य अनुकूल होगा तो हम इन्हें फिर जीत लेंगे । सो जिससे हमें सफलता प्राप्त होनी है, उस कालकी प्रतीक्षा करो' ॥ २४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—'हे राजन् ! स्वामीके वचन सुनकर विष्णुभगवानके पार्षदों द्वारा विताड़ित वे दैत्य और दानवयूथपति रसातललोकको चले गये ॥ २५ ॥ तब तार्क्ष्यनन्दन गरुडजीने विराट् भगवानका अभिप्राय जानकर यज्ञकी समाप्तिके दिन राजा बलिको वरुणदेवके पाशोंसे जकड़कर बाँध लिया ॥२६॥ सर्वसमर्थ भगवान विष्णु द्वारा दैत्यराज बलिके बाँध लेनेके बाद पृथिवी तथा आकाशमें सब ओर महान् हाहाकार मच गया ॥ २७ ॥ हे राजन् ! इस तरह श्रीहीन होकर वारुण पाशोंसे बद्ध उदारकीर्ति एवं स्थितप्रज्ञ राजा बलिसे श्रीवामनभगवान बोले—॥ २८ ॥ हे असुरराज ! तुमने मुझे तीन पग पृथिवी देनेको कहा था, जिनमेंसे दो पगमें तुम्हारी सब पृथिवी नप गयी, अब तीसरा पग भी पूरा करो ॥२९॥ जहाँतक सूर्यदेव अपनी किरणोंसे ताप पहुँचाते, ग्रहों समेत चन्द्रमा चमकते तथा मेघ जल बरसाते हैं, वहाँ तककी सारी पृथिवी एकमात्र तुम्हारे अधिकारमें थी ॥ ३० ॥ सो तुम्हारे देखते-देखते मैंने अपने एक पगसे सारा भूलोक, शरीरसे आकाश तथा दसों दिशाएँ और दूसरे पगसे स्वर्गलोक नाप लिया है ॥ ३१ ॥ सो अब प्रतिज्ञा की हुई वस्तु पूर्ण न करनेके अपराधसे तुम्हें नरकगामी होना

वृथा मनोरथस्तस्य दूरे स्वर्गः पतत्यधः । प्रतिश्रुतस्यादानेन योऽर्थिनं विप्रलम्भते ॥३३॥
विप्रलब्धो ददामीति त्वयाहं चाढ्यमानिना । तद्व्यलीकफलं भुङ्क्ष्व निरयं कतिचित् समाः॥३४॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिनिग्रहो नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं विप्रकृतो राजन् बलिर्भगवतासुरः । भिद्यमानोऽप्यभिन्नात्मा प्रत्याहाविक्लवं वचः ॥ १ ॥

बलिरुवाच

यद्युत्तमश्लोक भवान् ममेरितं वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते ।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनं पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥ २ ॥
बिभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो न पाशबन्धाद् व्यसनाद् दुरत्ययात् ।
नैवार्थकृच्छ्राद् भवतो विनिग्रहादसाधुवादाद् भृशमुद्विजे यथा ॥ ३ ॥
पुंसां श्लाघ्यतमं मन्ये दण्डमर्हत्तमार्पितम् । यं न माता पिता भ्राता सुहृदश्चादिशन्ति हि ॥४॥
त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः । यो नोऽनेकमदान्धानां विभ्रंशं चक्षुरादिशत् ॥५॥
यस्मिन् वैरानुबन्धेन रूढेन विबुधेतराः । बहवो लेभिरे सिद्धिं यामु हैकान्तयोगिनः ॥६॥
तेनाहं निगृहीतोऽस्मि भवता भूरिकर्मणा । बद्धश्च वारुणैः पाशैर्नातिव्रीडे न च व्यथे ॥७॥
पितामहो मे भवदीयसम्मतः प्रह्लाद आविष्कृतसाधुवादः ।
भवद्विपक्षेण विचित्रवैशसं सम्प्रापितस्त्वत्परमः स्वपित्रा ॥ ८ ॥

पड़ेगा। इस विषयमें अपने गुरुकी भी अनुमतिके अनुसार तुम नरकमें जा पड़ो ॥ ३२ ॥ जो प्राणी प्रतिज्ञा की हुई वस्तु देनेमें याचकको धोखा देता है, उसके सभी मनोरथ व्यर्थ हो जाते हैं, और स्वर्ग तो दूर रहा, उलटे उसे नरकगामी होना पड़ जाता है ॥ ३३ ॥ अपनेको बड़ा धनी माननेवाले तुमने 'दूँगा' कहकर मुझे धोखा दिया है। सो कुछ वर्षोंतक उस मिथ्या भाषणके फलस्वरूप नरक भोगो ॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

(वामनभगवानका बलिपर प्रसन्न होकर उन्हें सुतललोक भेजना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वामनभगवानके द्वारा तिरस्कृत होकर सत्यसे डिगाये जानेपर भी असुरराज बलि तनिक भी विचलित न होकर धैर्यपूर्वक बोले ॥ १ ॥ राजा बलिने कहा—हे पवित्रकीर्ति सुरश्रेष्ठ ! यदि आप मेरे वाक्यको झूठ मानते हैं तो मैं उसे सत्य करूँगा। आपको धोखा नहीं दिया जायगा। आइए, आप अपना तीसरा पैर मेरे माथे रखकर नाप लीजिए ॥ २ ॥ हे भगवन् ! मैं अपकीर्तिसे जितना डरता हूँ, उतना नरक, पदच्युति, पाशबन्धन, दुस्तर दुःख, अर्थकष्ट एवं आपके दिये दण्डसे भी नहीं डरता ॥३॥ मैं मनुष्योंके पूज्यतम पुरुषों द्वारा प्रदत्त दण्डको अत्यन्त वाञ्छनीय मानता हूँ। क्योंकि माता, पिता, भाई तथा सुहृद् आदि मोहवश वैसा दण्ड देनेमें समर्थ नहीं हो सकते ॥ ४ ॥ निश्चय ही आप परोक्षरूपसे हम असुरोंके गुरु हैं। क्योंकि अनेक प्रकारके मदोंसे अन्धे हमलोगोंको आप ऐश्वर्यनाशरूपी नेत्र दे रहे हैं ॥५॥ अहा ! आपके साथ वैर बाँधकर भी कितने ही दैत्योंने वह परमसिद्धि पा ली है कि जिसे केवल योगी ही पा सकते हैं—और लोग नहीं ॥ ६ ॥ उन्हीं परमपराक्रमी प्रभुने मुझे पकड़ा है और मैं वारुण पाशोंसे बाँधा गया हूँ। इसके लिए मुझे न तो विशेष लज्जा आती है और न कोई व्यथा ही होती है ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! जिनकी कीर्ति विश्वविख्यात है, वे मेरे पितामह प्रह्लादजी आपके निजजनोंमें माने गये थे। वे एकमात्र आपहीके अधीन थे। इसलिये उन्हें आपके विरोधी पिता

किमात्मनानेन जहाति योऽन्ततः किं रिक्थहारैः स्वजनाख्यदस्युभिः।
किं जायया संसृतिहेतुभूतया मर्त्यस्य गेहैः किमिहायुषो व्ययः॥ ९॥
इत्थं स निश्चित्य पितामहो महानगाधबोधो भवतः पादपद्मम्॥
ध्रुवं प्रपेदे ह्यकुतोभयं जनाद् भीतः स्वपक्षक्षपणस्य सत्तमः॥ १०॥
अथाहमप्यात्मरिपोस्तवान्तिकं दैवेन नीतः प्रसभं त्याजितश्रीः।
इदं कृतान्तान्तिकवर्ति जीवितं ययाध्रुवं स्तब्धमतिर्न बुध्यते॥ ११॥

श्रीशुक उवाच

तस्येत्थं भाषमाणस्य प्रह्लादो भगवत्प्रियः। आजगाम कुरुश्रेष्ठ राकापतिरिवोत्थितः॥१२॥
तमिन्द्रसेनः स्वपितामहं श्रिया विराजमानं नलिनायतेक्षणम्।
प्रांशुं पिशङ्गाम्बरमञ्जनत्विषं प्रलम्बबाहुं सुभगं समैक्षत॥ १३॥
तस्मै बलिर्वारुणपाशयन्त्रितः समर्हणं नोपजहार पूर्ववत्।
ननाम मूर्ध्नाश्रुविलोललोचनः सव्रीडनीचीनमुखो बभूव ह॥ १४॥
स तत्र हासीनमुदीक्ष्य सत्पतिं सुनन्दनन्दाद्यनुगैरुपासितम्।
उपेत्य भूमौ शिरसा महामना ननाम मूर्ध्ना पुलकाश्रुविक्लवः॥ १५॥

प्रह्लाद उवाच

त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महानस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितो यच्छ्रिय आत्ममोहनात्॥ १६॥

हिरण्यकशिपुके द्वारा विविध पीड़ाएँ दी गयीं॥ ८॥ किन्तु मेरे उन अगाधबोध तथा साधुश्रेष्ठ पितामहने यह सोचकर कि 'जिसे आयु पूर्ण हो जानेपर एक दिन त्याग ही देना है, उस शरीरसे जो केवल धनका हरण ही जानते हैं, उन स्वजननामक चोरोंसे, जन्ममरणरूपी संसारचक्रकी हेतुस्वरूपा भार्यासे तथा गृह आदिसे मरणधर्मा पुरुषको भला क्या लाभ होगा? इनमें केवल आयु ही बरबाद होती है। जनसंघर्षसे भयभीत हो अपने ही पक्षको नष्ट करनेवाले आपके निर्भय एवं निश्चल पादपद्मोंका सहारा लिया था॥ ९॥ १०॥ अब जिससे कि उन्मत्त होकर पुरुष मृत्युके समीप पड़े अपने जीवनको अनिश्चित नहीं मानता, उस वैभवसे हठात् वञ्चित करके विधाताने मुझे भी अपने शत्रुरूपी परमेश्वरके समीप पहुँचा दिया है॥ ११॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! जब राजा बलि ऐसा कह रहे थे, तभी उदीयमान चन्द्रमाके सदृश भगवानके प्रिय भक्त प्रह्लादजी भी वहाँ आ पहुँचे॥ १२॥ तब दैत्यराज बलिने अपने श्रीसम्पन्न, कमलसम विशाल नयनोंवाले, उन्नतकाय, पीताम्बरधारी, श्यामकान्तियुक्त, विशालबाहु एवं अति मनोहर पितामहको अपने समक्ष खड़े देखा॥ १३॥ किन्तु वारुणपाशसे बँधे रहनेसे बलि उनकी पूर्ववत् पूजा नहीं कर सके। उन्होंने अश्रुपूर्ण आँखोंसे उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मारे लाजके मुख नीचे कर लिया॥ १४॥ पुलकावली एवं नेत्रमें जल भर आनेसे विह्वल महामना प्रह्लादजीने सुनन्द-नन्द आदि पार्षदोंसे सेवित साधुजनोंके अधिपति श्रीहरिको वहाँ विराजमान देख तथा उनके समीप जा पृथ्वीपर माथा रखकर प्रणाम किया॥ १५॥ श्रीप्रह्लादजी बोले—हे प्रभो! आपहीने बलिको अतिसमृद्धिशाली इन्द्रपद दिया था और आपहीने उसे आज छीन लिया है—सो आपने यह बड़ा अच्छा किया, जो इसे आत्माके लिए मोहस्वरूपा राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट कर दिया। इसपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह

यया हि विद्वानपि मुह्यते यतस्तत् को विचष्टे गतिमात्मनो यथा ।
तस्मै नमस्ते जगदीश्वराय वै नारायणायाखिललोकसाक्षिणे ॥ १७ ॥

श्रीशुक उवाच

तस्यानु शृण्वतो राजन् प्रह्लादस्य कृताञ्जलेः । हिरण्यगर्भो भगवानुवाच मधुसूदनम् ॥१८॥
बद्धं वीक्ष्य पतिं साध्वी तत्पत्नी भयविह्वला । प्राञ्जलिः प्रणतोपेन्द्रं बभाषेऽवाङ्मुखी नृप ॥१९॥

विन्ध्यावलिरुवाच

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥ २० ॥

ब्रह्मोवाच

भूतभावन भूतेश देवदेव जगन्मय । मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम् ॥२१॥
कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये । निवेदितं च सर्वस्वमात्माविक्लवया धिया ॥२२॥

यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् ।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥२३॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् । यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥२४॥
यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन् निजकर्मभिः । नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत् ॥२५॥
जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः । यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥२६ ।
मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः । सर्वश्रेयःप्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः ॥२७॥

हुआ ॥ १६ ॥ जिससे बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, उस लक्ष्मीके रहते ऐसा कौन है, जो स्वस्वरूपको भली भाँति जान सके ? अतएव लक्ष्मीको हरनेवाले आप अखिल लोकके साक्षी जगदीश्वर नारायणको प्रणाम है ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! हाथ जोड़कर खड़े श्रीप्रह्लादजीके समक्ष भगवान् ब्रह्माजी श्रीमधुसूदनसे कुछ कहनेको हुए ॥ १८ ॥ इतनेमें अपने पतिको बँधा देख बलिकी परम साध्वी रानी विन्ध्यावली भयसे व्याकुल हो नीचेको मुख किये अतिशय विनीतभावसे हाथ जोड़कर वामनभगवान्से बोली ॥ १९ ॥ विन्ध्यावली बोली—हे ईश ! आपने क्रीडाके लिये ही तो यह जगत् रचा है । कुबुद्धिलोग उसमें अपना प्रभुत्व मानते हैं । आपने ही तो उनमें कर्तृत्वका आरोप किया है, वे निर्लज्ज पुरुष भला आपको क्या अर्पण करेंगे ? ॥ २० ॥ श्रीब्रह्माजी बोले—हे भूतभावन ! हे भूतेश्वर ! हे देवाधिदेव ! हे विश्वरूप ! अब आप इसे छोड़ दें । इसका सर्वस्व छिन चुका है, अब यह दण्डका भागी नहीं रह गया ॥ २१ ॥ इसने अपने मनमें मैल न लाते हुए सारी पृथ्वी, पुण्यकर्मोंसे उपार्जित स्वर्गादि लोक तथा शरीर तक आपको दे दिया ॥ २२ ॥ हे नाथ ! जिनके पुनीत चरणकमलोंमें कपटहीन भावसे जलका अर्घ्य दे और दूब तथा अंकुरोंसे ही पूजा करके मनुष्य उत्तम गति पा लेता है, उन्हीं आपको अखिन्नचित्तसे सारी त्रिलोकी दे देनेवाला बलि कष्ट कैसे पायेगा ? ॥ २३ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका सारा धन हर लेता हूँ । क्योंकि धनके मदसे उन्मत्त होकर प्राणी मेरे और मेरे पुण्य लोकोंका निरादर करने लगता है ॥ २४ ॥ कर्मोंसे विवश जीवात्मा विविध योनियोंमें चक्कर खाता हुआ कभी कभी ही मनुष्यशरीर पाता है ॥ २५ ॥ मानवतनमें भी यदि जन्म, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य तथा धनादिका गर्व न हो तो इसे मेरा अनुग्रह ही समझें ॥ २६ ॥ जो पुरुष मेरी

एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्तिवर्धनः। अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति ॥२८॥
क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः। ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥२९॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः। छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक्॥३०॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि। सावर्णरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः ॥३१॥
तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम्। यन्नाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रा पराभवः।
नोपसर्गा निवसतां सम्भवन्ति ममेक्षया ॥३२॥
इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते। सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः ॥३३॥
न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे। त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति ॥३४॥
रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम्। सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥३५॥
तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात् ते भाव आसुरः। दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे वामनप्रादुर्भावे बलिवामनसंवादो
नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

शरणमें आजाता है, उसे सब श्रेयके विरोधी मान एवं उद्धतताके हेतुस्वरूप जाति आदिके अभिमान किसी प्रकार मोहित नहीं कर पाते ॥ २७ ॥ हे ब्रह्मन्! दैत्य और दानवोंमें मुख्य और अपनी कीर्ति बढ़ानेवाले राजा बलिने दुर्जय मायाको जीत लिया था। यही कारण है कि इस प्रकार कष्ट उठानेपर भी यह मोहको प्राप्त नहीं हुआ ॥ २८ ॥ यह धनहीन होकर अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गया, शत्रुओं द्वारा तिरस्कृत किया गया, बन्धनमें डाला और जातिवालोंके द्वारा त्याग दिया गया। इस तरह इसे विविध प्रकारकी यातनाएँ दी गयीं। इसे गुरुके द्वारा भय दिखाया गया और शाप भी दिया गया। फिर भी दृढ़संकल्प होनेके कारण इसने अपने सत्य वचनको नहीं त्यागा। यद्यपि मैंने इससे छलपूर्वक बातें कीं, फिर भी इस सत्यभाषीने अपना धर्म नहीं छोड़ा ॥ २९ ॥ ३० ॥ इसीसे मैंने इसे वह उत्तम स्थान प्रदान किया है कि जो देवताओंको भी दुष्प्राप्य है। आगे चलकर सावर्णिमन्वन्तरमें यह मेरे आश्रयमें रहनेवाला इन्द्र बनेगा ॥ ३१ ॥ तबतक यह विश्वकर्माके बनाये सुतलोकमें रहे—जहाँवालोंको मेरी कृपादृष्टिसे किसी प्रकारकी आधि-व्याधि, क्लान्ति, तन्द्रा, पराभव तथा किसी प्रकारके भी विघ्न नहीं सताते ॥ ३२ ॥ हे महाराज इन्द्रसेन! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम अपने सब जाति-बन्धुओंके साथ देवताओंके भी अभीष्ट सुतललोक चले जाओ ॥ ३३ ॥ वहाँ रहनेपर लोकपालगण भी तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेंगे—तब औरोंकी कौन कहे। जो दैत्य तुम्हारी आज्ञाको टालेंगे, उन्हें मेरा चक्र नष्ट कर डालेगा ॥ ३४ ॥ हे वीर! वहाँ सभी अनुचरों और भोगसामग्रियोंके सहित रहते हुए तुम्हारी मैं सब तरहसे रक्षा करूँगा और तुम मुझे सर्वदा अपने पास विद्यमान देखोगे ॥ ३५ ॥ वहाँपर दैत्य और दानवोंके सहवाससे प्राप्त तुम्हारा सारा आसुर भाव मेरे प्रभावसे कुण्ठित होकर तत्काल विनष्ट हो जायगा ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं पुरुषं पुरातनं महानुभावोऽखिलसाधुसम्मतः ।
बद्धाञ्जलिर्बाष्पकलाकुलेक्षणो भक्त्युद्गलो गद्गदया गिराब्रवीत् ॥ १ ॥

बलिरुवाच

अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः प्रपन्नभक्तार्थविधौ समाहितः ।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहोऽमरैरलब्धपूर्वोऽपसदेऽसुरेऽर्पितः ॥ २ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा हरिमानम्य ब्रह्माणं सभवं ततः । विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः ॥३॥
एवमिन्द्राय भगवान् प्रत्यानीय त्रिविष्टपम् । पूरयित्वादितेः काममशासत् सकलं जगत् ॥४॥
लब्धप्रसादं निर्मुक्तं पौत्रं वंशधरं बलिम् । निशाम्य भक्तिप्रवणः प्रह्लाद इदमब्रवीत् ॥५॥

प्रह्लाद उवाच

नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते ।
यन्नोऽसुराणामसि दुर्गपालो विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥
यत्पादपद्ममकरन्दनिषेवणेन ब्रह्मादयः शरणदाश्नुवते विभूतीः ।
कस्माद् वयं कुसृतयः खलयोनयस्ते दाक्षिण्यदृष्टिपदवीं भवतः प्रणीताः ॥ ७ ॥
चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमायालीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य ।
सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥८॥

(राजा बलिका सुतललोकको प्रस्थान करना और वामनभगवानका उपेन्द्र पद पाना)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवानके इस तरह कहनेपर अश्रुजलकी बाढ़से डबडबाये नेत्रोंवाले और सकल साधुसम्मानित महानुभाव राजा बलिने हाथ जोड़कर भक्तिवश कण्ठ रुक जानेसे गद्‌गद वाणीमें इस तरह कहा ॥ १ ॥ राजा बलि कहने लगे—अहो ! आपको प्रणाम करनेके लिये किया हुआ उद्योग भी आज शरणागत भक्तको प्राप्त होनेवाला फल देनेमें समर्थ हो गया ! आपकी जो कृपा लोकपालक देवताओंको भी पहले नहीं मिली थी, वही आज आपने मुझ असुराधमको दे डाली ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यों कहकर महाराज बलि वरुणके पाशोंसे मुक्त होकर महादेव तथा ब्रह्माजीके समेत भगवान श्रीहरिको प्रणाम करके अन्य असुरगणोंको साथ लेकर प्रसन्नतापूर्वक सुतललोकको सिधारे ॥ ३ ॥ इस तरह उन भगवानने बलिसे छीनकर स्वर्गलोक इन्द्रको दे दिया और अदितिकी कामना पूर्ण करके स्वयं उपेन्द्ररूपसे सारे संसारका शासन करने लगे ॥ ४ ॥ इसके बाद अपने वंशधर पौत्र बलिको भगवानकी कृपा प्राप्त करके वारुणपाशोंसे मुक्त हुआ देखकर श्रीप्रह्लादजीने भक्तिसे विनम्र हो इस तरह कहा ॥ ५ ॥ प्रह्लादजी कहने लगे - हे प्रभो ! जिनकी सभी चराचर जीव वन्दना करते हैं, ब्रह्मादिक देवता भी जिनके चरणोंको नमस्कार किया करते हैं, वे ही आप हम असुरोंके दुर्गपाल बने ! आपका ऐसा अनुग्रह तो ब्रह्माजी, लक्ष्मीजी तथा श्रीमहादेवजीको भी नहीं मिल सका था। फिर औरोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ६ ॥ हे शरणदाता प्रभो ! जिनके चरणकमलके मकरन्दका सेवन करके ही ब्रह्मादिक देवताओंको सृष्टिरचना आदिकी विभूत्तियाँ उपलब्ध हुई थीं, उन्हीं आपकी दयादृष्टिके पात्र हम कुमार्गी एवं दुष्ट योनिमें उत्पन्न असुर क्यों बना दिये गये ॥ ७ ॥ अहो ! आपकी लीला भी बड़ी विचित्र होती है। जिन्होंने अपनी अपरिमित योगमाया-

श्रीभगवानुवाच

वत्स प्रह्लाद भद्रं ते प्रयाहि सुतलालयम् । मोदमानः स्वपौत्रेण ज्ञातीनां सुखमावह ॥९॥
नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम् । मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

आज्ञां भगवतो राजन् प्रह्लादो बलिना सह । बाढमित्यमलप्रज्ञो मूर्ध्न्याधाय कृताञ्जलिः ॥११॥
परिक्रम्यादिपुरुषं सर्वासुरचमूपतिः । प्रणतस्तदनुज्ञातः प्रविवेश महाबिलम् ॥१२॥
अथाहोशनसं राजन् हरिर्नारायणोऽन्तिके । आसीनमृत्विजां मध्ये सदसि ब्रह्मवादिनाम् ॥१३॥
ब्रह्मन् संतनु शिष्यस्य कर्म च्छिद्रं वितन्वतः । यत् तत् कर्मसु वैषम्यं ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥१४॥

शुक्र उवाच

कुतस्तत्कर्मवैषम्यं यस्य कर्मेश्वरो भवान् । यज्ञेशो यज्ञपुरुषः सर्वभावेन पूजितः ॥१५॥
मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः । सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव ॥१६॥
तथापि वदतो भूमन् करिष्याम्यनुशासनम् । एतच्छ्रेयः परं पुंसां यत् तवाज्ञानुपालनम् ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

अभिनन्द्य हरेराज्ञामुशना भगवानिति । यज्ञच्छिद्रं समाधत्त बलेर्विप्रर्षिभिः सह ॥१८॥
एवं बलेर्महीं राजन् भिक्षित्वा वामनो हरिः । ददौ भ्रात्रे महेन्द्राय त्रिदिवं यत् परैर्हृतम् ॥१९॥
प्रजापतिपतिर्ब्रह्मा देवर्षिपितृभूमिपैः । दक्षभृग्वङ्गिरोमुख्यैः कुमारेण भवेन च ॥२०॥

की लीलाहीसे सारा जगत् रचा है । उन सर्वज्ञ, सर्वात्मा तथा समदर्शी आपकी यह भक्तवत्सलता बड़ी विषम जान पड़ती है, लेकिन आप तो कल्पवृक्षकी भाँति हैं ॥ ८ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे वत्स प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम भी सुतललोक चले जाओ और अपने पौत्रके साथ सानन्द रहते हुए अपने जातिबन्धुओंको आनन्दित करो ॥ ९ ॥ वहाँपर तुम मुझे हाथमें गदा धारण किये सदा उपस्थित पाओगे और मेरे दर्शनजनित परमानन्दसे तुम्हारे सब कर्मबन्धन कट जायँगे ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवानके ऐसा कहनेपर राजा बलिके सहित दैत्यसेनानायक एवं निर्मलबुद्धिसम्पन्न श्रीप्रह्लादजीने हाथ जोड़कर 'बहुत अच्छा' ऐसा कहा और भगवानकी आज्ञा (विनय भावसे) शिरोधार्य की और आदि पुरुष भगवानकी परिक्रमाकर तथा उनकी आज्ञा पा सुतललोक चले गये ॥ ११ ॥ १२ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर नारायण अपने पास वेदवादी ऋत्विजोंकी मण्डलीके मध्य बैठे हुए श्रीशुक्राचार्यजीसे बोले—॥ १३ ॥ हे ब्रह्मन् ! यह कर्मानुष्ठान करते हुए आपके शिष्यके यज्ञमें यदि कोई त्रुटि रह गयी हो तो उसे आप पूर्ण कर दीजिए। कर्मकी विषमता तो ब्राह्मणोंकी दृष्टि पड़नेसे ही सम हो जाया करती है ॥ १४ ॥ शुक्राचार्यजी बोले—हे प्रभो ! जिस यजमान बलिने अपना सर्वस्व आपको समर्पण करके कर्म तथा यज्ञोंके अधीश्वर आप यज्ञपुरुषका यजन कर लिया है, तब उसके कर्ममें भला कोई विषमता क्यों कर रह सकती है ? ॥ १५ ॥ हे प्रभो ! आपका नामसंकीर्तन मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, पात्र तथा वस्तुके कारण होनेवाली सभी त्रुटियोंको पूर्ण कर दिया करता है ॥ १६ ॥ फिर भी हे भूमन् ! आप कहते ही हैं तो मैं आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करूँगा । संसारी मनुष्योंका सबसे बड़ा श्रेय इसीमें है कि आपकी आज्ञा मानी जाय ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तब भगवान शुक्राचार्यजीने भगवानकी आज्ञा स्वीकार की और अन्य ब्रह्मर्षियोंके साथ मिलकर राजा बलिके यज्ञकी त्रुटियें दूर कीं ॥ १८ ॥ हे राजन् ! इस तरह श्रीवामनभगवानने राजा बलिसे पृथिवी माँगकर अपने भाई इन्द्रदेवको वह स्वर्गलोक दे दिया, जिसे कि पहले शत्रुओंने उनसे बरबस छीन लिया था ॥ १९ ॥ तब महादेव,

कश्यपस्यादितेः प्रीत्यै सर्वभूतभवाय च । लोकानां लोकपालानामकरोद् वामनं पतिम् ॥२१॥
वेदानां सर्वदेवानां धर्मस्य यशसः श्रियः । मङ्गलानां व्रतानां च कल्पं स्वर्गापवर्गयोः ॥२२॥
उपेन्द्रं कल्पयाञ्चक्रे पतिं सर्वविभूतये । तदा सर्वाणि भूतानि भृशं मुमुदिरे नृप ॥२३॥
ततस्त्विन्द्रः पुरस्कृत्य देवयानेन वामनम् । लोकपालैर्दिवं निन्ये ब्रह्मणा चानुमोदितः ॥२४॥
प्राप्य त्रिभुवनं चेन्द्र उपेन्द्रभुजपालितः । श्रिया परमया जुष्टो मुमुदे गतसाध्वसः ॥२५॥
ब्रह्मा शर्वः कुमारश्च भृग्वाद्या मुनयो नृप । पितरः सर्वभूतानि सिद्धा वैमानिकाश्च ये ॥२६॥
सुमहत् कर्म तद् विष्णोर्गायन्तः परमाद्भुतम् । धिष्ण्यानि स्वानि ते जग्मुरदितिं च शशंसिरे ॥२७॥
सर्वमेतन्मयाऽऽख्यातं भवतः कुलनन्दन । उरुक्रमस्य चरितं श्रोतॄणामघमोचनम् ॥२८॥

पारं महिम्न उरु विक्रमतो गृणानो यः पार्थिवानि विममे स रजांसि मर्त्यः ।
किं जायमान उत जात उपैति मर्त्य इत्याह मन्त्रदृगृषिः पुरुषस्य यस्य ॥२९॥

य इदं देवदेवस्य हरेरद्भुतकर्मणः । अवतारानुचरितं शृण्वन् याति परां गतिम् ॥३०॥
क्रियमाणे कर्मणीदं दैवे पित्र्येऽथ मानुषे । यत्र यत्रानुकीर्त्येत तत् तेषां सुकृतं विदुः ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे वामनावतारचरिते त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

सनत्कुमार, दक्ष, भृगु तथा अङ्गिरा आदि, देवता, ऋषि, पितर एवं राजाओं समेत सब प्रजापतियोंके स्वामी श्रीब्रह्माजीने प्रजापति कश्यप तथा अदितिकी प्रसन्नता और सब प्राणियोंके पालनके निमित्त वामनभगवानको सब लोक तथा लोकपालोंका अधिपति बना दिया ॥ २० ॥ २१ ॥ हे राजन्! वेद, सब देवता, धर्म, यश, लक्ष्मी, मङ्गल, व्रत, स्वर्ग, एवं अपवर्ग इन सबकी रक्षा करनेमें समर्थ श्रीवामनभगवानको उन लोगोंने सबके उत्कर्षके लिये उपेन्द्र बना दिया। इससे सभी प्राणियोंको बड़ा आनन्द हुआ ॥ २२ ॥ २३ ॥ इसके बाद ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर सब लोकपालों समेत देवराज इन्द्र वामनभगवानको विमानपर चढ़ाकर और अपने आगे करके देवलोक ले गये ॥ २४ ॥ इस तरह उन उपेन्द्रभगवानके बाहुबलसे सुरक्षित देवराज इन्द्र त्रिलोकीका आधिपत्य पानेके बाद परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न एवं निर्भय होकर अतिशय आनन्दित हुए ॥ २५ ॥ तब हे राजन्! ब्रह्मा, महादेव, सनत्कुमार एवं भृगु आदि मुनि, सभी पितर, समस्त जीव, सिद्ध एवं अन्य विमानारोही देवता विष्णुभगवानके अति अद्भुत तथा उनके महान् कर्मको गाते हुए अपने-अपने स्थानोंको सिधारे। उन सबने अदितिकी भी बड़ी प्रशंसा की ॥ २६ ॥ २७ ॥ हे कुलनन्दन! इस तरह श्रोताओंके सब पापोंको नष्ट करनेवाला श्रीउरुक्रमभगवानका सारा चरित्र मैंने तुम्हें कह सुनाया ॥ २८ ॥ जो मनुष्य उन परम पराक्रमी महिमाको पार पानेकी बात सोचता है, वह कदाचित् पृथिवीके परमाणुओंको भी गिन ले सकता है। जिन महाप्रभुके विषयमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि वशिष्ठजीने कहा था कि 'क्या वर्तमान और आगे चलकर भविष्यमें उत्पन्न होनेवाला कोई भी ऐसा पुरुष होगा, जो आपकी महिमाका पार पा सके ?' ॥ २९ ॥ जो प्राणी उन अद्भुतकर्मा देवदेव भगवानके इस अवतारचरितको सुनता है, वह परमगति पाता है ॥ ३० ॥ देवयज्ञ, पितृयज्ञ तथा मनुष्ययज्ञ आदि करते समय जहाँ कहीं भी इस चरित्रका कीर्तन किया जाता है तो वे सब कर्म सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं—यह बात सबको ज्ञात है ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि हरेरद्भुतकर्मणः । अवतारकथामाद्यां मायामत्स्यविडम्बनम् ॥१॥
यदर्थमदधाद् रूपं मात्स्यं लोकजुगुप्सितम् । तमःप्रकृति दुर्मर्षं कर्मग्रस्त इवेश्वरः ॥२॥
एतन्नो भगवन् सर्वं यथावद् वक्तुमर्हसि । उत्तमश्लोकचरितं सर्वलोकसुखावहम् ॥३॥

सूत उवाच

इत्युक्तो विष्णुरातेन भगवान् बादरायणिः । उवाच चरितं विष्णोर्मत्स्यरूपेण यत् कृतम् ॥४॥

श्रीशुक उवाच

गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः । रक्षामिच्छंस्तनूर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि ॥५॥
उच्चावचेषु भूतेषु चरन् वायुरिवेश्वरः । नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः ॥६॥
आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः । समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप ॥७॥
कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली । मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥८॥
ज्ञात्वा तद् दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम् । दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः ॥९॥
तत्र राजऋषिः कश्चिन्नाम्ना सत्यव्रतो महान् । नारायणपरोऽतप्यत् तपः स सलिलासनः ॥१०॥
योऽसावस्मिन् महाकल्पे तनयः स विवस्वतः । श्राद्धदेव इति मनुत्वे हरिणार्पितः ॥११॥
एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् । तस्याञ्जल्युदके काचिच्छफर्येकाभ्यपद्यत ॥१२॥
सत्यव्रतोऽञ्जलिगतां सह तोयेन भारत । उत्ससर्ज नदीतोये शफरीं द्रविडेश्वरः ॥१३॥

(भगवानके मत्स्यावतारकी कथा) राजा परीक्षित् कहते हैं—हे भगवन् ! मैं उन अद्भुतकर्मा श्रीहरिकी वह आदिम अवतारकथा सुनना चाहता हूँ, जिसमें कि उन्होंने अपनी मायासे मत्स्यरूप धारण किया था । ॥ १ ॥ हे स्वामिन् ! सर्वसमर्थ होकर भी उन्होंने कर्मबन्धनमें बँधे जीवोंकी भाँति जिसके लिये यह अत्यन्त तमोगुणी, लोकमें निन्दनीय तथा दुःसह मत्स्यशरीर धारण किया था, सबको सुखदायी वह चरित आप कहें ॥ २ ॥ ३ ॥ श्रीसूतजी बोले—राजा परीक्षित्के यह पूछनेपर श्रीशुकदेवभगवानका वह चरित कहने लगे, जो प्रभुने मत्स्यरूपसे सम्पन्न किया था ॥ ४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले – हे राजन् ! यद्यपि भगवान सर्वेश्वर हैं, फिर भी गौ, ब्राह्मण, देवता, साधु, वेद, धर्म एवं अर्थके रक्षार्थ समय-समयपर शरीरी बनते हैं ॥ ५ ॥ वे निर्गुण हैं । वायु-सदृश उच्चावच सभी प्राणियोंमें नियन्तारूपसे रहते हुए भी वे गुणों द्वारा उच्चावच भावसे नहीं मिलते ॥ ६ ॥ हे राजन् ! गत कल्पान्तमें जब ब्रह्मनामक नैमित्तिक प्रलय हुआ था, तब भू आदि सभी लोक समुद्रमें डूब गये थे ॥ ७ ॥ कालक्रमसे श्रीब्रह्माजीके सो जानेपर उनके मुखसे निकलकर पास ही पड़े वेदोंको हयग्रीव दैत्य हर ले गया ॥ ८ ॥ दानवराज हयग्रीवकी यह चेष्टा देखकर सर्वेश्वर भगवान श्रीहरिने मत्स्यरूप धारण किया ॥ ९ ॥ हे राजन् ! उसी समय महान् राजर्षि सत्यव्रत एकमात्र भगवत्परायण हो केवल जल पीकर रहते हुए तप कर रहे थे ॥ १० ॥ वे इस महाकल्पमें भगवान सूर्यके पुत्र सत्यव्रत जो श्राद्धदेव नामसे विख्यात हैं और उनको श्रीहरिने मनुपदपर नियुक्त कर रखा है ॥ ११ ॥ एक समय सत्यव्रत कृतमाला नदीमें तर्पण कर रहे थे, तभी उनकी अंजलिमें एक नन्हीसी मछली आ गयी ॥ १२ ॥ हे भारत ! द्रविड़राज एवं सत्यव्रत

तमाह सातिकरुणं महाकारुणिकं नृपम्। यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां मां दीनवत्सल।
कथं विसृजसे राजन् भीतामस्मिन् सरिज्जले ॥ १४ ॥
तमात्मनोऽनुग्रहार्थं प्रीत्या मत्स्यवपुर्धरम्। अजानन् रक्षणार्थाय शफर्याः स मनो दधे ॥१५॥
तस्या दीनतरं वाक्यमाश्रुत्य स महीपतिः। कलशाप्सु निधायैनां दयालुर्निन्य आश्रमम् ॥१६॥
सा तु तत्रैकरात्रेण वर्धमाना कमण्डलौ। अलब्ध्वाऽऽत्मावकाशं वा इदमाह महीपतिम् ॥१७॥
नाहं कमण्डलावस्मिन् कृच्छ्रं वस्तुमिहोत्सहे। कल्पयौकः सुविपुलं यत्राहं निवसे सुखम् ॥१८॥
स एनां तत आदाय न्यधादौदञ्चनोदके। तत्र क्षिप्ता मुहूर्तेन हस्तत्रयमवर्धत ॥१९॥
न म एतदलं राजन् सुखं वस्तुमुदञ्चनम्। पृथु देहि पदं मह्यं यत् त्वाहं शरणं गता ॥२०॥
तत आदाय सा राज्ञा क्षिप्ता राजन् सरोवरे। तदावृत्यात्मना सोऽयं महामीनोऽन्ववर्धत ॥२१॥
नैतन्मे स्वस्तये राजन्नुदकं सलिलौकसः। निधेहि रक्षायोगेन ह्रदे मामविनाशिनि ॥२२॥
इत्युक्तः सोऽनयन्मत्स्यं तत्र तत्राविनाशिनि। जलाशये सम्मितं तं समुद्रे प्राक्षिपज्झषम् ॥२३॥
क्षिप्यमाणस्तमाहेदमिह मां मकरादयः। अदन्त्यतिबला वीर मां नेहोत्स्रष्टुमर्हसि ॥२४॥
एवं विमोहितस्तेन वदता वल्गुभारतीम्। तमाह को भवानस्मान् मत्स्यरूपेण मोहयन् ॥२५॥
नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च। यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः ॥२६॥
नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः। अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥२७॥

श्राद्धदेवने अंजलिमें आयी मछलीको पानी समेत जलमें छोड़ दिया ॥ १३ ॥ उस मछलीने परम दयालु राजा श्राद्धदेवसे बड़ी करुणाके साथ कहा—'हे राजन्! हे दीनवत्सल! जातिसिंहक जल-जन्तुओंसे डरकर आयी हुई मुझ दीनको तुम फिर इस जलमें क्यों छोड़ रहे हो?' ॥ १४ ॥ राजा सत्यव्रतने उसपर अनुग्रह करनेके लिये मत्स्यरूपधारी भगवानको न पहचानकर मछलीकी रक्षा करनेका सङ्कल्प किया ॥ १५ ॥ मत्स्यके अत्यन्त दीन वचन सुनकर दयालु राजेश्वर उसे कलशके जलमें रखकर आश्रमपर ले आये ॥ ॥ १६ ॥ वहाँ वह मछली रात्रिभरमें इतनी बढ़ी कि कमण्डलुमें अपने योग्य स्थान न पाकर राजासे बोली—॥ १७ ॥ 'अब मैं बहुत कष्ट सहकर भी इस कमण्डलुमें नहीं रह पाऊँगी। सो मेरे लिये आप कोई ऐसा विस्तृत स्थान ठीक कर दें, जहाँ मैं सुखसे रह सकूँ' ॥ १८ ॥ तब राजाने उसे कमण्डलुसे निकालकर मटकेके जलमें रख दिया, किन्तु वहाँ डालनेपर वह एक मुहूर्तमें ही तीन हाथ और बढ़ गयी और राजासे बोली—॥ १९ ॥ हे राजन्! यह मटका भी मेरे सुखसे रहने लायक स्थान नहीं रहा। मैं आपकी शरणमें हूँ। मेरे लिए कोई और बड़ासा स्थान चुनिए' ॥ २० ॥ हे राजन्! तब राजा सत्यव्रतने उसे मटकेसे निकालकर एक सरोवरमें डाल दिया, किन्तु वह महामत्स्य अपने शरीरसे उस सरोवरको भी घेरकर बढ़ गया और बोला—॥ २१ ॥ हे राजन्! मुझे जलचरके लिये यह सरोवर भी सुखसे रहने योग्य नहीं रहा, सो मुझे किसी अक्षय सरोवरमें डाल दीजिये' ॥ २२ ॥ तब राजा सत्यव्रतने उसे एक एक करके कई सरोवरमें पहुँचाया और वह बराबर बढ़ता गया। अन्तमें उसे लेकर फिर समुद्रमें डालने गये ॥ २३ ॥ तब मत्स्यने कहा—'हे वीर! यहाँ तो मुझे महाबलवान् मकर आदि प्रबल जीव खा जायँगे। सो कृपया मुझे समुद्रमें न डालिए' ॥ २४ ॥ उस मधुरभाषी मत्स्यसे मोहित होकर राजाने कहा—'इस अनोखे मत्स्यस्वरूपसे मुझे मोहमें डाल देनेवाले आप कौन हैं?॥ २५ ॥ अहो! एक दिनमें ही आपने अपने शरीरसे सौ योजन विस्तृत सरोवर घेर लिया! ऐसा बली जलजीव तो हमने अब तक न देखा और न सुना ही था ॥ २६ ॥ सो अवश्य आप साक्षात् अविनाशी हरि श्रीनारायण हैं आपने जगत्के जीवोंपर कृपा करनेके लिये मत्स्यरूपधारण किया है ॥२७॥ जगत्की

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर । भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो ॥२८॥
सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः । ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥२९॥
न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं मृषा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सतामदीदृशो यद्वपुरद्भुतं हि नः ॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं नृपतिं जगत्पतिः सत्यव्रतं मत्स्यवपुर्युगक्षये ।
विहर्तुकामः प्रलयार्णवेऽब्रवीच्चिकीर्षुरेकान्तजनप्रियः प्रियम् ॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

सप्तमेऽद्यतनादूर्ध्वमहन्येतदरिन्दम । निमङ्क्ष्यत्यप्ययाम्भोधौ त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ३२
त्रिलोक्यां लीयमानायां संवर्ताम्भसि वै तदा । उपस्थास्यति नौः काचिद् विशाला त्वां मयेरिता ३३
त्वं तावदोषधीः सर्वा बीजान्युच्चावचानि च । सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपबृंहितः ॥३४॥
आरुह्य बृहतीं नावं विचरिष्यस्यविक्लवः । एकार्णवे निरालोके ऋषीणामेव वर्चसा ॥३५॥
दोधूयमानां तां नावं समीरेण बलीयसा । उपस्थितस्य मे शृङ्गे निबध्नीहि महाहिना ॥३६॥
अहं त्वामृषिभिः साकं सहनावमुदन्वति । विकर्षन् विचरिष्यामि यावद् ब्राह्मी निशा प्रभो ३७
मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् । वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ॥३८॥
इत्थमादिश्य राजानं हरिरन्तरधीयत । सोऽन्ववैक्षत तं कालं यं हृषीकेश आदिशत् ॥३९॥
आस्तीर्य दर्भान् प्राक्कूलान् राजर्षिः प्रागुदङ्मुखः । निषसाद हरेः पादौ चिन्तयन् मत्स्यरूपिणः॥४०

उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश करनेमें समर्थ हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपको प्रणाम है। हे विभो ! हम सरीखे शरणागत भक्तोंके आप ही आत्मा तथा गति हैं ॥२८॥ वैसे तो आपके सब लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये होते हैं। फिर भी जिसके लिए आपने मत्स्यरूप धारण किया है, वह जाननेको मैं उत्सुक हूँ। हे कमलनयन ! देहादि अनात्मामें ही आत्मत्वके अभिमानी पुरुषोंका आश्रय जैसे व्यर्थ हो जाता है, वैसे सर्वसुहृद् तथा सर्वप्रिय आत्मास्वरूप आपके चरणकमलोंकी शरणमें जाना व्यर्थ नहीं होता। आपने हमें जो यह रूप दिखाया है, सो बड़ा अद्भुत है ॥ २९ ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भक्तोंके हितकारी जगत्पति श्रीमत्स्यभगवानने भक्तके कल्याण तथा कल्पके अन्तमें प्रलयकालीन समुद्रमें विहारार्थ राजासे कहा ॥ ३१ ॥ श्रीभगवान बोले—हे शत्रुदमन ! आजसे ठीक सातवें दिन ये भूः भुवः आदि तीनों लोक समुद्रमें डूब जायँगे। जब सारी त्रिलोकी प्रलयजलमें डूबने लगेगी तो मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पास एक बहुत बड़ी नाव आ उपस्थित होगी ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ तब तुम सभी प्राणियोंसे सम्मानित हो सप्तर्षियोंके साथ सभी औषधियों और छोटे-बड़े बीजके साथ उस विशाल नौकापर चढ़कर सूर्यादिमेंसे किसीका प्रकाश न रहनेसे सप्तर्षियोंके तेजसे ही आलोकित होकर निश्चिन्तभावसे उस जलमें विचरोगे ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ जब नौका प्रचण्ड पवनके झोंकेसे डगमगाने लगेगी, तब मैं तुम्हारे पास आऊँगा। तुम नावको वासुकी नागके द्वारा मेरी सींगमें बाँध देना ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! जबतक ब्रह्माजीकी रात्रि रहेगी, तबतक मैं उस नौका और सप्तर्षियोंके साथ तुमको खींचता हुआ प्रलयकालके समुद्रमें विचरूँगा ॥ ३७ ॥ तब तुम्हारे प्रश्न करनेपर मेरे अनुग्रहपूर्ण उपदेशसे तुम अपने हृदयमें अपरोक्षरूपसे अनुभूत मेरी परब्रह्मशब्दसे कही जानेवाली महिमा जानोगे ॥ ३८ ॥ राजा सत्यव्रतको ऐसा आदेश देकर भगवान अन्तर्धान हो गये और भगवानने जो संकेत किया था, वे उस समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ३९ ॥ राजर्षि पूर्वको अग्रभाग करके बिछाये कुशाओंपर पूर्वोत्तर

ततः समुद्र उद्वेलः सर्वतः प्लावयन् महीम् । वर्धमानो महामेघैर्वर्षद्भिः समदृश्यत ॥४१॥
ध्यायन् भगवदादेशं ददृशे नावमागताम् । तामारुरोह विप्रेन्द्रैरादायौषधिवीरुधः ॥४२॥
तमूचुर्मुनयः प्रीता राजन् ध्यायस्व केशवम् । स वै नः सङ्कटादस्मादविता शं विधास्यति ॥४३॥
सोऽनुध्यातस्ततो राज्ञा प्रादुरासीन्महार्णवे । एकशृङ्गधरो मत्स्यो हैमो नियुतयोजनः ॥४४॥
निबध्य नावं तच्छृङ्गे यथोक्तो हरिणा पुरा । वरत्रेणाहिना तुष्टस्तुष्टाव मधुसूदनम् ॥४५॥

राजोवाच

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविदस्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयुर्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥ ४६ ॥
जनोऽबुधोऽयं निजकर्मबन्धनः सुखेच्छया कर्म समीहतेऽसुखम् ।
यत्सेवया तां विधुनोत्यसन्मतिं ग्रन्थिं स भिन्द्याद्धृदयं स नो गुरुः ॥४७॥
यत्सेवयाग्नेरिव रुद्ररोदनं पुमान् विजह्यान्मलमात्मनस्तमः ।
भजेत वर्णं निजमेष सोऽव्ययो भूयात् स ईशः परमो गुरोर्गुरुः ॥ ४८ ॥
न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥ ४९॥
अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृतस्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः ।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम् ॥ ५० ॥

मुख होकर बैठे और उन मत्स्यरूपधारी श्रीहरिके चरणोंके ध्यानमें लीन हो गये ॥ ४० ॥ एकाएक बरसते हुए महामेघोंसे बढ़ा हुआ समुद्र मर्यादाको लाँघकर चारों ओरसे पृथिवीको डुबाता दिखायी पड़ा ॥ ४१ ॥ तब जैसे ही उन्होंने भगवानकी आज्ञाका स्मरण किया, उसी समय वहाँ एक नौका आ उपस्थित हुई। उसपर वे सब औषधियों और बीजोंको लेकर सप्तर्षियोंके साथ चढ़ गये ॥ ४२ ॥ राजापर प्रसन्न मुनियोंने कहा—"हे राजन् ! श्रीकेशवभगवानका ध्यान धरो। वे ही हमको इस महासंकटसे उबारकर हमारा कल्याण करेंगे" ॥ ४३ ॥ तदनुसार राजाके ध्यान करते ही महासमुद्रमें लक्षयोजन विस्तृत एक शृङ्गका सुवर्णवर्ण महामत्स्य प्रकटा ॥ ४४ ॥ भगवानके पूर्व आदेशानुसार राजाने वासुकिनागरूपी रस्सीसे वह नौका उसकी सींगमें बाँध दी और प्रसन्नमनसे श्रीमधुसूदनभगवानकी स्तुति करने लगे ॥ ४५ ॥ राजा बोले—अविद्यासे जिनका आत्मज्ञान ढँक गया है, ऐसे अविद्यामूलक संसारश्रमसे आतुर पुरुष जिनके अनुग्रहसे आपकी शरणमें पहुँचकर आपको पा लेते हैं, वे ही आप हमारे मुक्तिदाता और परमगुरु हैं ॥ ४६ ॥ जिससे अज्ञानी पुरुष कर्मबन्धनमें बँधकर सुखप्राप्तिकी आशासे दुःखमय कर्मोंमें जा फँसता है, उस असद्बुधिको वह जिनकी सेवाके प्रभावसे त्याग सकता है, वे हमारे परमगुरु आप हमारे हृदयकी ग्रन्थि खोल दें ॥ ४७ ॥ जैसे आग सोने-चाँदीका मल दूर कर देती है, वैसे ही जिनकी सेवा करके पुरुष अन्तःकरणका अज्ञानरूपी मल त्यागकर शुद्धस्वरूपमें स्थित हो जाता है, वे गुरुजनोंके भी परमगुरु आप अविनाशी ईश्वर हमारे गुरु हों ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! देवता, गुरु तथा अन्य सभी जन मिलकर भी जिनके अनुग्रहके दस सहस्रवें अंशके समान भी किसीपर स्वयं कृपा नहीं कर सकते, उन आप परमेश्वरकी मैं शरणमें हूँ ॥ ४९ ॥ जैसे कोई अन्धा किसी अन्धेको अगुआ बनाता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्योंका विवेकहीन पुरुषको गुरु बनाना व्यर्थ हो जाता है। आप सूर्यके सदृश प्रकाशशील तथा सभी इन्द्रियोंके

जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिं यया प्रपद्येत दुरत्ययं तमः ।
त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा प्रपद्यते येन जनो निजं पदम् ॥ ५१ ॥
त्वं सर्वलोकस्य सुहृत् प्रियेश्वरो ह्यात्मा गुरुर्ज्ञानमभीष्टसिद्धिः ।
तथापि लोको न भवन्तमन्धधीर्जानाति सन्तं हृदि बद्धकामः ॥ ५२ ॥
तं त्वामहं देववरं वरेण्यं प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय ।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन् वचोभिर्ग्रन्थीन् हृदय्यान् विवृणु स्वमोकः ॥ ५३ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तवन्तं नृपतिं भगवानादिपूरुषः । मत्स्यरूपी महाम्भोधौ विहरंस्तत्त्वमब्रवीत् ॥५४॥
पुराणसंहितां दिव्यां सांख्ययोगक्रियावतीम् । सत्यव्रतस्य राजर्षेरात्मगुह्यमशेषतः ॥५५॥
अश्रौषीदृषिभिः साकमात्मतत्त्वमसंशयम् । नाव्यासीनो भगवता प्रोक्तं ब्रह्म सनातनम् ॥५६॥
अतीतप्रलयापाय उत्थिताय स वेधसे । हत्वासुरं हयग्रीवं वेदान् प्रत्याहरद्धरिः ॥५७॥

स तु सत्यव्रतो राजा ज्ञानविज्ञानसंयुतः ।
विष्णोः प्रसादात् कल्पेऽस्मिन्नासीद् वैवस्वतो मनुः ॥५८॥
सत्यव्रतस्य राजर्षेर्मायामत्स्यस्य शार्ङ्गिणः ।
संवादं महदाख्यानं श्रुत्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥५९॥
अवतारो हरेर्योऽयं कीर्तयेदन्वहं नरः ।
सङ्कल्पास्तस्य सिध्यन्ति स याति परमां गतिम् ॥६०॥

साक्षी हैं । इसीलिए आत्मतत्त्वके जिज्ञासु हमने आपको अपना गुरु बनाया है ॥ ५० ॥ अज्ञानी पुरुष तो अन्य अज्ञानीजनोंको अर्थ-कामादिविषयक असद्बुद्धिका ही उपदेश देगा। जिससे वे दुस्तर अन्धकारमें गिरेंगे, किन्तु आप तो अक्षय और अमोघ ज्ञानका उपदेश देते हैं, जिससे मनुष्य आसानीसे आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है ॥ ५१ ॥ आप सारे संसारके सुहृद्, प्रिय, ईश्वर, आत्मा, गुरु, ज्ञान एवं इच्छित फल हैं। किन्तु यह मोहान्ध तथा विषयासक्त संसार अपने हृदयमें विराजमान आप परमेश्वरको नहीं देख पाता ॥५२॥ अब तो मैं तत्त्वज्ञानविषयक उपदेश पानेकी इच्छासे आप देवश्रेष्ठ तथा परमपूजनीय परमेश्वरकी शरणमें आया हूँ। हे भगवन्! आप अपने परमार्थ-प्रकाशक वचनोंसे मेरी हृदयग्रन्थि काटकर अपना स्वरूप प्रकाशित करिए ॥ ५३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! मत्स्यरूपसे प्रलयकालीन महासागरमें विचरते हुए भगवान आदि-पुरुषने प्रार्थी राजा सत्यव्रतको आत्मतत्त्वका उपदेश दिया ॥ ५४ ॥ मत्स्यभगवानने जिसमें सांख्य, योग तथा कर्मका उल्लेख है, उस आत्मरहस्ययुक्त मत्स्यपुराणसंहिताका पूर्णरूपेण वर्णन किया ॥ ५५ ॥ ऋषियोंके साथ नौकामें विराजमान राजा सत्यव्रतने भगवानका कहा हुआ सनातन ब्रह्मतत्त्व निःसन्दिग्धभावसे सुना ॥ ५६ ॥ जब प्रलयका अन्त हुआ और ब्रह्माजी सोकर उठे तो मत्स्यभगवान-ने हयग्रीव दैत्यको मार और उससे छीनकर चारों वेद ब्रह्माको दिये ॥ ५७ ॥ ज्ञानविज्ञानसम्पन्न राजा सत्यव्रत ही श्रीविष्णुभगवानकी कृपासे इस कल्पमें वैवस्वत मनु हुए थे ॥ ५८ ॥ हे राजन्! राजर्षि सत्यव्रत तथा मायामत्स्यरूपधारी श्रीविष्णुभगवानके संवादस्वरूप इस महान् आख्यानको सुननेसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५९ ॥ भगवान श्रीहरिके मत्स्यावतारका जो पुरुष नित्य कीर्तन करता है, उसके सब मनोरथ सिद्ध हो जाते और वह पुरुष परमगति पा लेता है ॥ ६० ॥

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥६१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामष्टमस्कन्धे मत्स्यावतारचरितानुवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

हरिः ॐ तत्सत्

जिन्होंने प्रलयकालके जलमें सोते हुए ब्रह्माजीके मुखसे अपहृत वेदोंको हयग्रीव दैत्यको मारकर पुनः प्राप्त किया और सप्तर्षियों समेत राजा सत्यव्रतको ब्रह्मज्ञानका उपदेश प्रदान किया, उन निखिल जगत्के कारण मायामत्स्यरूपधारी श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

॥ इत्यष्टमस्कन्धः समाप्तः ॥



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्।

नवमस्कन्धः

प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

मन्वन्तराणि सर्वाणि त्वयोक्तानि श्रुतानि मे। वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य हरेस्तत्र कृतानि च ॥१॥
योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः। ज्ञानं योऽतीतकल्पान्ते लेभे पुरुषसेवया ॥२॥
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम्। त्वत्तस्तस्य सुताश्चोक्ता इक्ष्वाकुप्रमुखा नृपाः ॥३॥
तेषां वंशं पृथग् ब्रह्मन् वंश्यानुचरितानि च। कीर्तयस्व महाभाग नित्यं शुश्रूषतां हि नः ॥४॥
ये भूता ये भविष्याश्च भवन्त्यद्यतनाश्च ये। तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान् ॥५॥

सूत उवाच

एवं परीक्षिता राज्ञा सदसि ब्रह्मवादिनाम्। पृष्टः प्रोवाच भगवाञ्छुकः परमधर्मवित् ॥६॥

श्रीशुक उवाच

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परंतप। न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि ॥७॥
परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः। स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्न किञ्चन ॥८॥

श्रीहरिः। (वैवस्वतमनुके पुत्र महाराज सुद्युम्नका वृत्तान्त) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित बोले—हे भगवन्! मैंने आपके द्वारा वर्णित सब मन्वन्तरों और उनमें किये अनन्तवीर्य श्रीहरिके पराक्रमोंका वृत्तान्त सुना ॥ १ ॥ आपहीके मुखसे मैंने यह भी सुना था कि जो राजर्षि सत्यव्रतनामके द्रविडेश्वर थे और जिन्होंने विगत कल्पके अन्तमें भगवानकी सेवाके प्रभावसे ज्ञान पाया था, वे ही सूर्यभगवानके पुत्र वैवस्वत मनु हुए। आपने इक्ष्वाकु आदि राजाओंको उनका पुत्र बतलाया था, सो हे ब्रह्मन्! हे महाभाग! अब आप हमें उनके वंश तथा उसमें उत्पन्न राजाओंके चरित्र सुनायें। क्योंकि हम ऐसी कथायें सुननेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं ॥ २-४ ॥ उस मनुवंशमें जो राजे पहले हो गये हों, जो भविष्यमें होनेवाले हों और जो इस समय वर्तमान हों, उन सभी पवित्र-कीर्तिशाली भूपालोंके पराक्रमका वृत्तान्त आप हमें सुनाइये ॥ ५ ॥ श्रीसूतजी कहने लगे—हे महामुने! उन ब्रह्मवादी मुनीश्वरोंकी सभामें राजा परीक्षित्के इस तरह पूछनेपर परम धर्मात्मा भगवान शुकदेवजी कहने लगे ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे परन्तप! तुम संक्षिप्तरूपमें मनुवंशका वर्णन सुनो। उसका सविस्तर वर्णन तो सैकड़ों वर्षमें भी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ जो परमात्मा

तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोशो हिरण्मयः । तस्मिञ्जज्ञे महाराज स्वयम्भूश्चतुराननः ॥९॥
मरीचिर्मनसस्तस्य जज्ञे तस्यापि कश्यपः । दाक्षायण्यां ततोऽदित्यां विवस्वानभवत् सुतः॥१०॥
ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत । श्रद्धायां जनयामास दश पुत्रान् स आत्मवान्॥११॥
इक्ष्वाकुनृगशर्यातिदिष्टधृष्टकरूषकान् । नरिष्यन्तं पृषध्रं च नभगं च कविं विभुः ॥१२॥
अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान् किल । मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभुः ॥१३॥
तत्र श्रद्धा मनोः पत्नी होतारं समयाचत । दुहित्रर्थमुपागत्य प्रणिपत्य पयोव्रता ॥१४॥
प्रेषितोऽध्वर्युणा होता ध्यायंस्तत् सुसमाहितः । हविषि व्यचरत् तेन वषट्कारं गृणन् द्विजः॥१५॥
होतुस्तद्व्यभिचारेण कन्येला नाम साभवत् । तां विलोक्य मनुः प्राह नातिहृष्टमना गुरुम्॥१६॥
भगवन्किमिदं जातं कर्म वो ब्रह्मवादिनाम् । विपर्ययमहो कष्टं मैवं स्याद् ब्रह्मविक्रिया ॥१७॥
यूयं मन्त्रविदो युक्तास्तपसा दग्धकिल्बिषाः । कुतः सङ्कल्पवैषम्यमनृतं विबुधेष्विव ॥१८॥
तन्निशम्य वचस्तस्य भगवान् प्रपितामहः । होतुर्व्यतिक्रमं ज्ञात्वा बभाषे रविनन्दनम् ॥१९॥
एतत् सङ्कल्पवैषम्यं होतुस्ते व्यभिचारतः । तथापि साधयिष्ये ते सुप्रजास्त्वं स्वतेजसा ॥२०॥
एवं व्यवसितो राजन् भगवान् स महायशाः । अस्तौषीदादिपुरुषमिलायाः पुंस्त्वकाम्यया ॥२१॥
तस्मै कामवरं तुष्टो भगवान् हरिरीश्वरः । ददाविलाभवत् तेन सुद्युम्नः पुरुषर्षभः ॥२२॥

संसारके छोटे-बड़े सभी प्राणियोंके आत्मा हैं, सो प्रलयकालमें सारा जगत् तद्रूप था। उस समय उनके सिवा और कुछ भी नहीं विद्यमान था ॥ ८ ॥ हे महाराज ! कालान्तरमें उनकी नाभिसे एक सुवर्णका कमलकोश उत्पन्न हुआ और उससे चतुर्मुख श्रीब्रह्माजी जायमान हुए ॥ ९ ॥ उन ब्रह्माके मनसे मरीचि उत्पन्न हुए और उनके पुत्र कश्यपजी हुए। कश्यपजीकी पत्नी दक्षकुमारी अदितिके गर्भसे विवस्वान् नामका पुत्र जायमान हुआ ॥ १० ॥ हे भारत ! विवस्वान्‌की पत्नी संज्ञाके गर्भसे श्राद्धदेव मनु हुए। उन महामनस्वी महाराज श्राद्धदेवने अपनी पत्नी श्रद्धासे इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूष, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग तथा कवि इन दस पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥११॥१२॥ जब कि वैवस्वतमनु निःसन्तान थे, तब भगवान वसिष्ठने सन्तान होनेके लिये उनके द्वारा मित्रा-वरुणका यज्ञ कराया ॥ १३ ॥ तभी केवल दुग्धाहार करके रहनेवाली मनुकी पत्नी श्रद्धा होताके समीप गयी और उन्हें प्रणाम करके एक कन्या माँगी ॥ १४ ॥ तदनन्तर अध्वर्युकी प्रेरणासे ब्राह्मण होताने मनुपत्नीके कथनको ध्यानमें रखते हुए एकाग्रचित्तसे वषट्कारका उच्चारण करके हवि छोड़ी ॥ १५ ॥ उस होताके इस विपरीत कर्मसे वह सन्तान इला नामकी कन्या होकर जायमान हुई। उसको देखकर मनुने चित्तमें कुछ विशेष प्रसन्न न होकर अपने गुरु वसिष्ठजीसे कहा—॥ १६ ॥ "हे भगवन् ! आप वेदवादियोंका कर्म इस तरह विपरीत क्यों हो गया ? अहो ! यह बड़े दुःखकी बात है। किसी भी वैदिक कर्मका फल ऐसा विपरीत तो न होना चाहिए ॥ १७ ॥ आपलोग मन्त्रशास्त्रवेत्ता और जितेन्द्रिय हैं। आप अपने तपके प्रभावसे अपना सब पाप भस्म कर चुके हैं। तब देवताओंमें असत्यकी प्राप्तिके सदृश आपके संकल्पका यह विपरीत फल क्यों हुआ ?" ॥ १८ ॥ उनके इन वचनोंको सुनकर हमारे प्रपितामह भगवान वशिष्ठजीने होताका व्यतिक्रम जान लिया और सूर्यपुत्र मनुसे कहने लगे—॥ १९ ॥ "हे राजन् ! आपके होताके विपरीत आचरणके कारण ही संकल्पके विपरीत फल हुआ है। तथापि अपने तेजोबलसे मैं आपको एक श्रेष्ठ पुत्रका पिता बनाऊँगा ॥ २० ॥ हे राजन् ! ऐसा निश्चय करके महायशस्वी भगवान वशिष्ठजीने इलाको पुरुषत्व प्राप्त करानेके लिए आदिपुरुष श्रीनारायणकी स्तुति की ॥ २१ ॥ तब परमेश्वर भगवान हरिने प्रसन्न हो उन्हें अभिलषित वर दिया। इससे इला ही पुरुषश्रेष्ठ सुद्युम्नके रूपमें परिणत हो गयी ॥ २२ ॥

स एकदा महाराज विचरन् मृगयां वने । वृतः कतिपयामात्यैरश्वमारुह्य सैन्धवम् ॥२३॥
प्रगृह्य रुचिरं चापं शरांश्च परमाद्भुतान् । दंशितोऽनुमृगं वीरो जगाम दिशमुत्तराम् ॥२४॥
स कुमारो वनं मेरोरधस्तात् प्रविवेश ह । यत्रास्ते भगवाञ्छर्वो रममाणः सहोमया ॥२५॥
तस्मिन् प्रविष्ट एवासौ सुद्युम्नः परवीरहा । अपश्यत् स्त्रियमात्मानमश्वं च वडवां नृप ॥२६॥
तथा तदनुगाः सर्वे आत्मलिङ्गविपर्ययम् । दृष्ट्वा विमनसोऽभूवन् वीक्षमाणाः परस्परम् ॥२७॥

राजोवाच

कथमेवंगुणो देशः केन वा भगवान् कृतः । प्रश्नमेनं समाचक्ष्व परं कौतूहलं हि नः ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

एकदा गिरिशं द्रष्टुमृषयस्तत्र सुव्रताः । दिशो वितिमिराभासाः कुर्वन्तः समुपागमन् ॥२९॥
तान् विलोक्याम्बिका देवी विवासा व्रीडिता भृशम् । भर्तुरङ्कात् समुत्थाय नीवीमाश्वथ पर्यधात् ॥३०॥
ऋषयोऽपि तयोर्वीक्ष्य प्रसङ्गं रममाणयोः । निवृत्ताः प्रययुस्तस्मान्नरनारायणाश्रमम् ॥३१॥
तदिदं भगवानाह प्रियायाः प्रियकाम्यया । स्थानं यः प्रविशेदेतद् स वै योषिद् भवेदिति ॥३२॥
तत ऊर्ध्वं वनं तद् वै पुरुषा वर्जयन्ति हि । सा चानुचरसंयुक्ता विचचार वनाद् वनम् ॥३३॥
अथ तामाश्रमाभ्याशे चरन्तीं प्रमदोत्तमाम् । स्त्रीभिः परिवृतां वीक्ष्य चकमे भगवान् बुधः ॥३४॥
सापि तं चकमे सुभ्रूः सोमराजसुतं पतिम् । स तस्यां जनयामास पुरूरवसमात्मजम् ॥३५॥
एवं स्त्रीत्वमनुप्राप्तः सुद्युम्नो मानवो नृपः । सस्मार स्वकुलाचार्यं वसिष्ठमिति शुश्रुम ॥३६॥

हे महाराज ! एक समयकी बात है, राजा सुद्युम्न कवच पहन तथा हाथमें सुन्दर धनुष एवं अति अद्भुत बाण लेकर एक सिन्धुदेशीय घोड़ेपर सवार हो अपने कुछ मन्त्रियोंके साथ शिकार खेलनेके लिए वनमें गया। वहाँसे वह वीर एक मृगका पीछा करता हुआ उत्तर दिशाको चला गया ॥ २३ ॥ २४ ॥ जाते-जाते वह कुमार सुमेरु पर्वतकी तलैटीके एक वनमें घुसा, जहाँ कि पार्वतीजीके साथ-साथ भगवान शङ्करजी विहार कर रहे थे ॥ २५ ॥ हे राजन् ! उस वनमें घुसते ही शत्रुदमन सुद्युम्नने अपनेको स्त्री तथा घोड़ेको घोड़ीके रूपमें परिणत देखा ॥ २६ ॥ इसी तरह उसके सब साथियोंने भी अपने-अपने स्वरूपको विपरीत दशामें पाया। इससे वे एक-दूसरेकी ओर निहारते हुए बड़े खिन्न हुए ॥ २७ ॥ राजा परीक्षितने पूछा—हे भगवन् ! उस देशमें ऐसा गुण क्यों था और किसने उत्पन्न कर दिया था ? कृपा करके आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दीजिये। हमें यह जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक समय अपने तेजसे दसों दिशाओंका अन्धकार दूर कर देनेवाले कुछ व्रतशील ऋषि श्रीशंकरजीका दर्शन करनेके निमित्त उस वनमें गये ॥ २९ ॥ उन्हें देखकर वस्त्र-विहीना श्रीअम्बिकादेवीको बड़ी लाज लगी और उन्होंने तुरन्त पतिदेवकी गोदसे उतरकर अपने वस्त्र पहन लिये ॥ ३० ॥ वे सब ऋषि भी शिव-पार्वतीको रमण करते देखकर वहाँसे लौट पड़े और नर-नारायणके आश्रमको चले गये ॥ ३१ ॥ तब श्रीशंकरभगवानने अपनी प्रियाको प्रसन्न करनेकी इच्छासे कहा—"जो पुरुष इस वनमें प्रवेश करेगा, वह पुरुषसे स्त्री हो जायगा।" हे राजन् ! तभीसे सब पुरुषोंने उस वनको छोड़ दिया था। तदनन्तर वह स्त्री (सुद्युम्न) अपने अनुचरोंके साथ एक वनसे दूसरे वनमें विचरने लगी ॥३२॥३३॥ उस अति सुन्दरी स्त्रीको अन्य स्त्रियोंके साथ अपने आश्रमके पास ही विचरती देखकर भगवान बुध उसको चाहने लगे ॥३४॥ उस सुन्दरी नारीने भी उन चन्द्रतनयको अपना पति बना लिया। कुछ समय बाद बुधने उससे पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! मैंने सुना है कि इस तरह स्त्रीत्वको प्राप्त मनुपुत्र राजा सुद्युम्नने अपने कुलगुरु

स तस्य तां दशां दृष्ट्वा कृपया भृशपीडितः । सुद्युम्नस्याशयन् पुंस्त्वमुपाधावत शङ्करम् ॥३७॥
तुष्टस्तस्मै स भगवानृषये प्रियमावहन् । स्वां च वाचमृतां कुर्वन्निदमाह विशाम्पते॥३८॥
मासं पुमान् स भविता मासं स्त्री तव गोत्रजः । इत्थं व्यवस्थया कामं सुद्युम्नोऽवतु मेदिनीम्॥३९॥
आचार्यानुग्रहात् कामं लब्ध्वा पुंस्त्वं व्यवस्थया । पालयामास जगतीं नाभ्यनन्दन्स्म तं प्रजाः॥४०॥
तस्योत्कलो गयो राजन् विमलश्च सुतास्त्रयः । दक्षिणापथराजानो बभूवुर्धर्मवत्सलाः ॥४१॥
ततः परिणते काले प्रतिष्ठानपतिः प्रभुः । पुरूरवस उत्सृज्य गां पुत्राय गतो वनम् ॥४२॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे इलोपाख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं गतेऽथ सुद्युम्ने मनुर्वैवस्वतः सुते । पुत्रकामस्तपस्तेपे यमुनायां शतं समाः ॥१॥
ततोऽयजन्मनुर्देवमपत्यार्थं हरिं प्रभुम् । इक्ष्वाकुपूर्वजान् पुत्राँल्लेभे स्वसदृशान् दश ॥२॥
पृषध्रस्तु मनोः पुत्रो गोपालो गुरुणा कृतः । पालयामास गा यत्तो रात्र्यां वीरासनव्रतः ॥३॥
एकदा प्राविशद् गोष्ठं शार्दूलो निशि वर्षति । शयाना गाव उत्थाय भीतास्ता बभ्रमुर्व्रजे ॥४॥
एकां जग्राह बलवान् सा चुक्रोश भयातुरा । तस्यास्तत् क्रन्दितं श्रुत्वा पृषध्रोऽभिससार ह ॥५॥
खड्गमादाय तरसा प्रलीनोडुगणे निशि । अजानन्नहनद् बभ्रोः शिरः शार्दूलशङ्कया ॥ ६ ॥

वसिष्ठजीका स्मरण किया ॥ ३६ ॥ सुद्युम्नकी यह दशा देखकर वसिष्ठजी कृपावश बहुत दुःखी हुए और उसे पुनः पुरुषत्व प्राप्त करानेके निमित्त भगवान शङ्करकी उपासना करने लगे ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! वसिष्ठजीकी उपासनासे प्रसन्न होकर श्रीशिवजीने उनका उपकार करने और अपने वचनको भी सत्य रखनेके लिये उनसे कहा—"यह सुद्युम्न एक महीना स्त्री और एक मासतक तुम्हारा गोत्रज पुरुष रहा करेगा । इस तरह अपनी व्यवस्थाके अनुसार यह भूमण्डलका यथेच्छ पालन करे" ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ गुरु वशिष्ठजीकी कृपासे इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक पुरुषत्व प्राप्त करके वह पृथिवीपर शासन करने लगा । लेकिन उसका इस तरह स्त्री-पुरुष होते रहना प्रजाको नहीं भाता था ॥ ४० ॥ हे राजन् ! सुद्युम्नके उत्कल, गय तथा विमलनामके तीन पुत्र हुए, जो बड़े धर्मात्मा और दक्षिणापथके राजा थे ॥ ४१ ॥ कालान्तरमें वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर वे प्रतिष्ठानपुरके स्वामी महाराज सुद्युम्न अपने पुत्र पुरूरवाको राज्य देकर वनको चले गये ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(मनुपुत्र पृषध्र, कवि, करूष, नरिष्यन्त तथा दिष्टके वंशोंका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अपने पुत्र सुद्युम्नके चले जानेपर महाराज वैवस्वत मनुने पुत्रकी कामनासे यमुनातटपर सौ वर्षोंतक घोर तप किया ॥ १ ॥ तदनन्तर मनुने सन्तानके निमित्त यज्ञ द्वारा देवदेव भगवान श्रीहरिकी उपासना की । ऐसा करनेसे उनके अपने ही सदृश इक्ष्वाकु आदि दस पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ गुरु वशिष्ठजीने मनुके पुत्र पृषध्रको गौओंकी रक्षापर नियुक्त कर दिया था। इसलिए रात्रिके समय वह सावधानतापूर्वक वीरासनसे बैठकर गौओंकी रखवाली किया करता था ॥ ३ ॥ एक रोज जब कि रात्रिमें वर्षा हो रही थी, तभी उन गौओंके झुण्डमें एक व्याघ्र घुस आया । व्याघ्रसे भयभीत होकर वे सोयी हुई गौएँ उठ गयीं और गोष्ठमें घूमने लगीं ॥ ४ ॥ अवसर पाकर उस बलवान् व्याघ्रने एक गाय पकड़ ली । तब वह विपत्तिग्रस्त गौ अत्यन्त भयभीत होकर चिल्लाने लगी । उसकी चिल्लाहट सुनकर पृषध्र उसके पास गया ॥ ५ ॥ और तुरन्त तलवार निकालकर जिसमें तारेतक छिप गये थे, ऐसी अन्धेरी रात्रिके समय उसने

व्याघ्रोऽपि वृक्णश्रवणो निस्त्रिंशाग्राहतस्ततः । निश्चक्राम भृशं भीतो रक्तं पथि समुत्सृजन् ॥७॥
मन्यमानो हतं व्याघ्रं पृषध्रः परवीरहा । अद्राक्षीत् स्वहतां बभ्रुं व्युष्टायां निशि दुःखितः॥८॥
तं शशाप कुलाचार्यः कृतागसमकामतः । न क्षत्रबन्धुः शूद्रस्त्वं कर्मणा भवितामुना ॥९॥
एवं शप्तस्तु गुरुणा प्रत्यगृह्णात् कृताञ्जलिः । अधारयद् व्रतं वीर ऊर्ध्वरेता मुनिप्रियम् ॥१०॥
वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले । एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत् समः ॥११॥
विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः । यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः ॥१२॥
आत्मन्यात्मानमाधाय ज्ञानतृप्तः समाहितः । विचचार महीमेतां जडान्धबधिराकृतिः ॥१३॥
एवंवृत्तो वनं गत्वा दृष्ट्वा दावाग्निमुत्थितम् । तेनोपयुक्तकरणो ब्रह्म प्राप परं मुनिः ॥१४॥
कविः कनीयान् विषयेषु निःस्पृहो विसृज्य राज्यं सह बन्धुभिर्वनम् ।
निवेश्य चित्ते पुरुषं स्वरोचिषं विवेश कैशोरवयाः परं गतः ॥ १५ ॥
करूषान्मानवादासन् कारूषाः क्षत्रजातयः । उत्तरापथगोप्तारो ब्रह्मण्या धर्मवत्सलाः ॥१६॥
धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ । नृगस्य वंशः सुमतिर्भूतज्योतिस्ततो वसुः ॥१७॥
वसोः प्रतीकस्तत्पुत्र ओघवानोघवत्पिता । कन्या चौघवती नाम सुदर्शन उवाह ताम् ॥१८॥
चित्रसेनो नरिष्यन्ताद‍्दक्षस्तस्य सुतोऽभवत् । तस्य मीढ्वांस्ततः कूर्च इन्द्रसेनस्तु तत्सुतः ॥१९॥
वीतिहोत्रस्त्विन्द्रसेनात् तस्य सत्यश्रवा अभूत् । उरुश्रवाः सुतस्तस्य देवदत्तस्ततोऽभवत् ॥२०॥

अनजानमें व्याघ्र समझकर तुरन्त उस कपिला गौका सिर काट डाला ॥ ६ ॥ उसी तलवारके अग्रभागसे कान कट जानेके कारण व्याघ्र भी बहुत भयभीत होकर मार्गमें रुधिर गिराता हुआ भाग गया ॥ ७ ॥ अतएव शत्रुसूदन पृषध्रने समझा कि व्याघ्र मर गया । किन्तु रात्रि बीतनेपर सबेरे अपने हाथों मारी हुई गौको देखकर पृषध्र बहुत दुखी हुआ ॥ ८ ॥ तदनन्तर इस तरह अनिच्छापूर्वक अपराध करनेवाले पृषध्रको कुलकुरु वशिष्ठजीने शाप देते हुए कहा—'अरे ! इस दुष्कर्मसे तो तू अधमश्रेणीका भी क्षत्रिय नहीं रहेगा, बल्कि शूद्र हो जायगा' ॥ ९ ॥ इस प्रकार गुरुके शाप देनेपर वीरवर पृषध्रने हाथ जोड़कर शापको अंगीकार करके मुनियोंको प्रिय लगनेवाला ब्रह्मचर्यव्रत ले लिया ॥ १० ॥ उस दशामें वह सब प्राणियोंका सुहृद् तथा समदर्शी होकर बड़े भक्तिभावसे परम विशुद्ध सर्वात्मा भगवान वासुदेवके अनन्य भावको प्राप्त हुआ ॥ ११ ॥ उसने सब संग त्याग दिया और शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, परिग्रह-विहीन हो और दैववश प्राप्त आहारसे ही निर्वाह करता हुआ अपना चित्त परमात्मामें लगाकर ज्ञानामृतसे तृप्त तथा समाहित चित्त होकर जड़, अन्धे एवं बहरेकी नाईं भूमण्डलपर विचरने लगा ॥ १२ ॥ १३ ॥ ऐसी वृत्ति धारण करके वह वनमें चला गया और वहाँ दावानल लगा हुआ देखा, उसमें सब इन्द्रियोंको भस्म करके उस मुनिने परब्रह्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया ॥ १४ ॥ तदनन्तर मनुका सबसे छोटा पुत्र कवि भी सब विषयोंसे उदासीन हो तथा अपने बन्धुजनों समेत राज्य त्यागकर वनमें चला गया और अपने हृदयमें स्वयंप्रकाशशील पुरुषोत्तम भगवानको पधराकर किशोरावस्थामें ही परमपदको प्राप्त होकर भगवानमें लीन हो गया ॥ १५ ॥ करूषसे कारूषनामके क्षत्रिय हुए, जो उत्तरीय प्रदेशके देशोंके रक्षक, ब्राह्मणभक्त और धार्मिक थे ॥ १६ ॥ धृष्टसे धार्ष्टनामके क्षत्रिय हुए, जो (अपने सुकर्मसे) ब्राह्मण हो गये थे । नृगका पुत्र सुमति, सुमतिका भूतज्योति, भूतज्योतिका वसु, वसुका प्रतीक तथा प्रतीकका पुत्र ओघवान् हुआ और वह ओघवान् नामके ही पुत्रका पिता था । उस ओघवान्के ओघवती कन्या थी, जिसका विवाह सुदर्शनके साथ हुआ था ॥ १७ ॥ १८ ॥ इसी तरह नरिष्यन्तका पुत्र चित्रसेन, चित्रसेनका ऋक्ष, ऋक्षका मीढ्वान्, मीढ्वान्का कूर्च तथा कूर्चका पुत्र इन्द्रसेन हुआ ॥ १९ ॥ इन्द्रसेनके

ततोऽग्निवेश्यो भगवानग्निः स्वयमभूत् सुतः । कानीन इति विख्यातो जातूकर्ण्यो महानृषिः ॥२१॥
ततो ब्रह्मकुलं जातमाग्निवेश्यायनं नृप । नरिष्यन्तान्वयः प्रोक्तो दिष्टवंशमतः शृणु ॥२२॥
नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः । भलन्दनः सुतस्तस्य वत्सप्रीतिर्भलन्दनात् ॥२३॥
वत्सप्रीतेः सुतः प्रांशुस्तत्सुतं प्रमतिं विदुः । खनित्रः प्रमतेस्तस्माच्चाक्षुषोऽथ विविंशतिः ॥२४॥
विविंशतिसुतो रम्भः खनिनेत्रोऽस्य धार्मिकः । करन्धमो महाराज तस्यासीदात्मजो नृप ॥२५॥
तस्यावीक्षित् सुतो यस्य मरुत्तश्चक्रवर्त्यभूत् । संवर्तोऽयाजयद् यं वै महायोग्यङ्गिरःसुतः ॥२६॥
मरुत्तस्य यथा यज्ञो न तथान्यस्य कश्चन । सर्वं हिरण्मयं त्वासीद् यत् किञ्चिच्चास्य शोभनम् २७
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः । मरुतः परिवेष्टारो विश्वेदेवाः सभासदः ॥२८॥
मरुत्तस्य दमः पुत्रस्तस्यासीद् राज्यवर्धनः । सुधृतिस्तत्सुतो जज्ञे सौधृतेयो नरः सुतः ॥२९॥
तत्सुतः केवलस्तस्माद् बन्धुमान् वेगवांस्ततः । बन्धुस्तस्याभवद् यस्य तृणबिन्दुर्महीपतिः ॥३०॥
तं भेजेऽलम्बुषा देवी भजनीयगुणालयम् । वराप्सरा यतः पुत्राः कन्या चेडविडाभवत् ॥३१॥
तस्यामुत्पादयामास विश्रवा धनदं सुतम् । प्रादाय विद्यां परमामृषिर्योगेश्वरात् पितुः ॥३२॥
विशालः शून्यबन्धुश्च धूम्रकेतुश्च तत्सुताः । विशालो वंशकृद् राजा वैशालीं निर्ममे पुरीम्॥३३॥
हेमचन्द्रः सुतस्तस्य धूम्राक्षस्तस्य चात्मजः । तत्पुत्रात् संयमादासीत् कृशाश्वः सहदेवजः ॥३४॥
कृशाश्वात् सोमदत्तोऽभूद् योऽश्वमेधैरिडस्पतिम् । इष्ट्वा पुरुषमापाग्र्यां गतिं योगेश्वराश्रितः ॥३५॥

वीतिहोत्र, वीतिहोत्रके सत्यश्रवा, सत्यश्रवाके उरुश्रवा और उरुश्रवाके देवदत्तनामका पुत्र हुआ ॥२०॥ उस देवदत्तके घर अग्निवेश्य नामसे प्रसिद्ध स्वयं अग्निभगवान् पुत्ररूपसे अवतरे। आगे चलकर वे कानीन तथा महर्षि जातूकर्ण्य इस नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ २१ ॥ हे राजन्! उन्हींसे अग्निवेश्यायन गोत्रके ब्राह्मणवंशका विस्तार हुआ। इस तरह मैंने नरिष्यन्तकी सन्ततिका वर्णन कर दिया। अब दिष्टका वंशविस्तार सुनो ॥ २२ ॥ दिष्टका पुत्र नाभाग हुआ। यह आगे कहे जानेवाले नाभागसे दूसरा नाभाग है। यह अपने कर्मसे वैश्य हो गया था। इसका पुत्र भलन्दन और भलन्दनका पुत्र वत्सप्रीति हुआ ॥ २३ ॥ वत्सप्रीतिका पुत्र प्रांशु और उसका पुत्र प्रमति हुआ। प्रमतिसे खनित्र, खनित्रसे चाक्षुष और चाक्षुषसे विविंशति नामका पुत्र हुआ ॥ २४ ॥ हे राजन्! विविंशतिका पुत्र रम्भ और रम्भके पुत्र परम धर्मात्मा खनिनेत्र तथा खनिनेत्रके महाराज करन्धम हुए ॥ २५ ॥ राजा करन्धमके अविक्षित और उनसे चक्रवर्ती महाराज मरुत्त हुए, जिनके द्वारा अंगिरा ऋषिके सुपुत्र महायोगी संवर्तने यज्ञ कराया था ॥ २६ ॥ मरुत्तका जैसा यज्ञ हुआ था, वैसा और किसीका भी नहीं हुआ। उसके यज्ञमें जितने पात्रादि थे, वे सभी बड़े सुन्दर थे और सुवर्णके बने हुए थे ॥ २७ ॥ उस यज्ञमें इन्द्र सोमरस पीकर मस्त हो गये थे और ब्राह्मण-दक्षिणाओंसे पूर्ण सन्तुष्ट हुए थे। उसमें परोसनेवाले स्वयं मरुद्गण तथा सभासद् स्वयं विश्वेदेवगण थे ॥२८॥ मरुत्तके दम, दमके राज्यवर्धन, राज्यवर्धनके सुधृति और सुधृतिके नरनामका पुत्र जायमान हुआ ॥ २९ ॥ सुधृतिका पुत्र केवल, केवलका बन्धुमान्, बन्धुमान्का वेगवान् और वेगवानका पुत्र बन्धु हुआ और बन्धुका पुत्र पृथिवीपति तृणबिन्दु हुआ ॥३०॥ सभी सेवनीय गुणोंके आश्रयस्वरूप तृणबिन्दुको अलम्बुषा नामकी एक श्रेष्ठ अप्सराने पति चुना, जिससे कई पुत्र तथा इडविडा नामकी एक कन्या जनमी ॥३१॥ मुनिवर विश्रवाने अपने पिता पुलस्त्यजीके पाससे उत्तम विद्या प्राप्त करके इडविडासे कुबेरनामका पुत्र उत्पन्न किया ॥३२॥ महाराज तृणबिन्दुके विशाल, शून्यबन्धु और धूम्रकेतु थे। उनमेंसे वंशवर्धक राजा विशालने वैशाली नामकी नगरी बसायी ॥ ३३ ॥ उस विशालका पुत्र हेमचन्द्र, उसका पुत्र धूम्राक्ष, धूम्राक्षका पुत्र संयम और संयमके कृशाश्व तथा सहदेवजनामके दो पुत्र हुए ॥३४॥ उनमेंसे कृशाश्वके सोमदत्तनामका पुत्र हुआ। जिसने कई

सौमदत्तिस्तु सुमतिस्तत्सुतो जनमेजयः। एते वैशालभूपालास्तृणबिन्दोर्यशोधराः ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

शर्यातिर्मानवो राजा ब्रह्मिष्ठः स बभूव ह। यो वा अङ्गिरसां सत्रे द्वितीयमह ऊचिवान् ॥१॥
सुकन्या नाम तस्यासीत् कन्या कमललोचना। तया सार्धं वनगतो ह्यगमच्च्यवनाश्रमम् ॥२॥
सा सखीभिः परिवृता विचिन्वन्त्यङ्घ्रिपान् वने। वल्मीकरन्ध्रे ददृशे खद्योते इव ज्योतिषी ॥३॥
ते दैवचोदिता बाला ज्योतिषी कण्टकेन वै। अविध्यन्मुग्धभावेन सुस्रावासृक् ततो बहु ॥४॥
शकृन्मूत्रनिरोधोऽभूत् सैनिकानां च तत्क्षणात्। राजर्षिस्तमुपालक्ष्य पुरुषान् विस्मितोऽब्रवीत् ॥५॥
अप्यभद्रं न युष्माभिर्भार्गवस्य विचेष्टितम्। व्यक्तं केनापि नस्तस्य कृतमाश्रमदूषणम् ॥६॥
सुकन्या प्राह पितरं भीता किञ्चित् कृतं मया। द्वे ज्योतिषी अजानन्त्या निर्भिन्ने कण्टकेन वै ॥७॥
दुहितुस्तद्वचः श्रुत्वा शर्यातिर्जातसाध्वसः। मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः ॥८॥
तदभिप्रायमाज्ञाय प्रादाद् दुहितरं मुनेः। कृच्छ्रान्मुक्तस्तमामन्त्र्य पुरं प्रायात् समाहितः ॥९॥
सुकन्या च्यवनं प्राप्य पतिं परमकोपनम्। प्रीणयामास चित्तज्ञा अप्रमत्तानुवृत्तिभिः ॥१०॥
कस्यचित् त्वथ कालस्य नासत्यावाश्रमागतौ। तौ पूजयित्वा प्रोवाच वयो मे दत्तमीश्वरौ ॥११॥

अश्वमेध यज्ञोंके द्वारा परमपुरुष भगवान् यज्ञेश्वरका आराधन करके योगेश्वरोंका आश्रय लेकर उत्तम गति पायी थी ॥ ३५ ॥ उस सोमदत्तका पुत्र सुमति और सुमतिके पुत्र जनमेजय हुए। ये सभी तृणबिन्दुके यशकी वृद्धि करनेवाले विशालवंशी राजे थे ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(महर्षि च्यवन तथा देवी सुकन्याका वृत्तान्त और श्रीबलरामजीका रेवतीके साथ विवाह)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! ऐसा कहा जाता है कि मनुका पुत्र राजा शर्याति वेदोंका तत्त्वज्ञाता था। क्योंकि उसने अङ्गिरागोत्रके ऋषियोंके यज्ञमें दूसरे दिनका कर्म उनको बताया था ॥ १ ॥ उसके एक कमलनयनी कन्या थी—जिसका नाम था सुकन्या। एक बार उसके साथ वनको गए हुए राजा शर्याति महर्षि च्यवन ऋषिके आश्रमपर जा पहुँचे ॥ २ ॥ सुकन्या अपनी सखियोंके साथ वनके वृक्षोंकी शोभा निरखती हुई विचर रही थी। इसी समय उसे किसी एक बल्मीकके छिद्रमेंसे जुगनूकी भाँति दो ज्योतियाँ चमकती दीखीं ॥ ३ ॥ तदनन्तर उस बालाने विधाताकी प्रेरणावश मुग्धभावसे एक काँटा लेकर उन दोनों ज्योतियोंको बींध दिया। जिससे उनमेंसे बहुत-सा रक्त निकलने लगा ॥ ४ ॥ उसी समय शर्यातिके सैनिकोंका मलमूत्र अवरुद्ध हो गया। यह व्यतिक्रम देखकर राजर्षि शर्यातिने अतिशय विस्मितभावसे अपने सैनिकोंके प्रति कहा—॥ ५ ॥ 'तुम लोगोंने भृगुवंशी महर्षि च्यवनजीका कोई अपकार तो नहीं किया है? मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि हम लोगोंमेंसे किसीने अवश्य उनके आश्रमपर कोई अनर्थ किया है" ॥ ६ ॥ तब डरती-डरती सुकन्या अपने पितासे बोली—"हे पिताजी! मैंने कुछ अपराध अवश्य किया है। क्योंकि बिना जाने मैंने दो ज्योतियोंमें काँटे चुभो दिये हैं" ॥ ७ ॥ अपनी पुत्रीका वचन सुनकर राजा शर्याति घबड़ा उठे और धीरे-धीरे वल्मीकमें छिपे हुए उन मुनिको मनाने लगे ॥ ८ ॥ कुछ देर बाद मुनिका अभिप्राय जानकर उन्होंने अपनी कन्या उनको दे दी और उस संकटसे मुक्त हो तथा आज्ञा लेकर समाहितचित्तसे अपने नगरको लौट गये ॥ ९ ॥ इधर सुकन्याने उन महाक्रोधी च्यवनमुनिको पतिरूपसे पा और उनकी मनोवृत्तिको जानकर बड़ी सावधानीके साथ सेवा करते हुए उन्हें प्रसन्न कर लिया ॥ १० ॥ एक समय उनके आश्रमपर

ग्रहं ग्रहीष्ये सोमस्य यज्ञे वामप्यसोमपोः । क्रियतां मे वयो रूपं प्रमदानां यदीप्सितम् ॥१२॥
बाढमित्यूचतुर्विप्रमभिनन्द्य भिषक्तमौ । निमज्जतां भवानस्मिन् ह्रदे सिद्धविनिर्मिते ॥१३॥
इत्युक्त्वा जरया ग्रस्तदेहो धमनिसन्ततः । ह्रदं प्रवेशितोऽश्विभ्यां वलीपलितविप्रियः ॥१४॥
पुरुषास्त्रय उत्तस्थुरपीच्या वनिताप्रियाः । पद्मस्रजः कुण्डलिनस्तुल्यरूपाः सुवाससः ॥१५॥
तान् निरीक्ष्य वरारोहा सरूपान् सूर्यवर्चसः । अजानती पतिं साध्वी अश्विनौ शरणं ययौ ॥१६॥
दर्शयित्वा पतिं तस्यै पातिव्रत्येन तोषितौ । ऋषिमामन्त्र्य ययतुर्विमानेन त्रिविष्टपम् ॥१७॥
यक्ष्यमाणोऽथ शर्यातिश्च्यवनस्याश्रमं गतः । ददर्श दुहितुः पार्श्वे पुरुषं सूर्यवर्चसम् ॥१८॥
राजा दुहितरं प्राह कृतपादाभिवन्दनाम् । आशिषश्चाप्रयुञ्जानो नातिप्रीतमना इव ॥१९॥

चिकीर्षितं ते किमिदं पतिस्त्वया प्रलम्भितो लोकनमस्कृतो मुनिः ।
यत् त्वं जराग्रस्तमसत्यसम्मतं विहाय जारं भजसेऽमुमध्वगम् ॥ २० ॥
कथं मतिस्तेऽवगतान्यथा सतां कुलप्रसूते कुलदूषणं त्विदम् ।
बिभर्षि जारं यदपत्रपा कुलं पितुश्च भर्तुश्च नयस्यधस्तमः ॥ २१ ॥

एवं ब्रुवाणं पितरं स्मयमाना शुचिस्मिता । उवाच तात जामाता तवैष भृगुनन्दनः ॥२२॥
शशंस पित्रे तत् सर्वं वयोरूपाभिलम्भनम् । विस्मितः परमप्रीतस्तनयां परिषस्वजे ॥२३॥

दोनों अश्विनीकुमार आये । उनका यथोचित सत्कार करके च्यवनमुनिने कहा– 'तुम दोनों ऐसा करनेमें समर्थ हो, इसलिए मुझे युवावस्था प्रदान करो ॥ ११ ॥ तुम मेरा रूप और मेरी अवस्था ऐसी कर दो, जो युवती स्त्रियोंको बहुत प्रिय हो । उसके बदले मैं तुम्हें सोमपानका अधिकार न होते हुए भी यज्ञमें सोमरसका भाग प्रदान करूँगा" ॥ १२ ॥ उन वैद्यश्रेष्ठोंने च्यवन मुनिका अभिनन्दन किया और 'ठीक है' ऐसा कहा । फिर 'सिद्धगणके बनाये हुए इस कुण्डमें स्नान कीजिये' यों कहकर जराजीर्ण धमनियों (नसों) से व्याप्त तथा झुर्रियों एवं पके हुए बालोंके कारण अतिशय अप्रिय देहवाले उन च्यवनजीको अपने साथ-साथ कुण्डमें प्रविष्ट कराया ॥ १३ ॥ १४ ॥ ऐसा करनेसे तत्काल उस कुण्डसे अतिशय सुन्दर और कामिनियोंको प्रिय तीन पुरुष प्रकटे । वे तीनों ही एक तरहके रूपवान् थे और कमलकुसुमकी मालाएँ, कुण्डल एवं सुन्दर वस्त्र पहने हुए थे ॥ १५ ॥ सूर्यके समान तेजस्वी तथा एक समान रूपधारी उन तीनों पुरुषोंको देखकर परम साध्वी सुमध्यमा सुकन्याने अपने पतिको नहीं पहचान पाया । इस कारण उसने उन अश्विनीकुमारोंकी ही शरण गही ॥ १६ ॥ उसके पातिव्रतधर्मसे सन्तुष्ट अश्विनीकुमारोंने उसे उसके पति च्यवनजीको पहचनवा दिया और फिर उन मुनिकी आज्ञा ले तथा विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकको पयान किया ॥ १७ ॥ एक समयकी बात है कि राजा शर्याति यज्ञ करनेके लिये उद्यत होकर च्यवनऋषिके आश्रमपर गये । सो वहाँ उन्होंने अपनी पुत्रीके पास (वृद्ध च्यवनमुनिकी जगह) एक सूर्यके समान तेजस्वी पुरुषको उपस्थित देखा ॥ १८ ॥ तब राजा शर्यातिने अपनी चरणवन्दना करती हुई पुत्रीसे कुछ अप्रसन्न जैसे होकर उसे आशीर्वाद न देते हुए कहा–॥ १९ ॥ "अरी व्यभिचारिणी ! तू क्या करना चाहती है ? क्या यह समझकर कि "यह (च्यवन) बूढ़ा होनेसे मेरे कामका नहीं है' तूने अपने सर्वलोकनमस्कृत पति च्यवनमुनिको धोखा दिया और उन्हें त्यागकर एक राहचलते जार पुरुषकी सेवा कर रही है ? ॥ २० ॥ ओ सत्कुलप्रसूते ! तेरे हृदयमें यह विपरीत धारणा क्यों उत्पन्न हुई ? तेरा यह व्यवहार तो कुलमें कलङ्क लगा देगा । क्योंकि तूने निर्लज्ज होकर एक जार पुरुषको आश्रय दिया है । अरी पापिन ! तू तो अपने पिता तथा पति दोनों ही कुलोंको घोर नरकमें ले जानेकी योजना बना रही है" ॥ २१ ॥ अपने पिताके ऐसा कहनेपर उस मञ्जुहासिनी सुकन्याने कुछ मुसकाकर कहा—"पिताजी ! ये आपके जामाता भृगुनन्दन च्यवन ही हैं" ॥ २२ ॥ फिर उसने जिस तरह च्यवनजीको रूप तथा यौवन प्राप्त हुआ था, वह सब वृत्तान्त

सोमेन याजयन् वीरं ग्रहं सोमस्य चाग्रहीत् । असोमपोरप्यश्विनोश्च्यवनः स्वेन तेजसा ॥२४॥
हन्तुं तमाददे वज्रं सद्योमन्युरमर्षितः । सवज्रं स्तम्भयामास भुजमिन्द्रस्य भार्गवः ॥२५॥
अन्वजानंस्ततः सर्वे ग्रहं सोमस्य चाश्विनोः । भिषजाविति यत् पूर्वं सोमाहुत्या बहिष्कृतौ ॥२६॥
उत्तानबर्हिरानर्तो भूरिषेण इति त्रयः । शर्यातेरभवन् पुत्रा आनर्ताद् रेवतोऽभवत् ॥२७॥
सोऽन्तःसमुद्रे नगरीं विनिर्माय कुशस्थलीम् । आस्थितोऽभुङ्क्त विषयानानर्तादीनरिन्दम ॥२८॥
तस्य पुत्रशतं जज्ञे ककुद्मिज्येष्ठमुत्तमम् । ककुद्मी रेवतीं कन्यां स्वामादाय विभुं गतः ॥२९॥
कन्यावरं परिप्रष्टुं ब्रह्मलोकमपावृतम् । आवर्तमाने गान्धर्वे स्थितोऽलब्धक्षणः क्षणम् ॥३०॥
तदन्त आद्यमानम्य स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् । तच्छ्रुत्वा भगवान् ब्रह्मा प्रहस्य तमुवाच ह ॥३१॥
अहो राजन् निरुद्धास्ते कालेन हृदि ये कृताः । तत्पुत्रपौत्रनप्तॄणां गोत्राणि च न शृण्महे ॥३२॥
कालोऽभियातस्त्रिणवचतुर्युगविकल्पितः । तद्गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः ॥३३॥
कन्यारत्नमिदं राजन् नररत्नाय देहि भोः । भुवो भारावताराय भगवान् भूतभावनः ॥३४॥
अवतीर्णो निजांशेन पुण्यश्रवणकीर्तनः । इत्यादिष्टोऽभिवन्द्याजं नृपः स्वपुरमागतः ।
त्यक्तं पुण्यजनत्रासाद् भ्रातृभिर्दिक्ष्ववस्थितैः ॥३५॥

अपने पिताको कह सुनाया। इसपर राजा शर्यातिने अतिशय विस्मित होकर अपनी कन्याको बड़े प्यारसे गले लगा लिया ॥ २३ ॥ तब महर्षि च्यवनने वीरवर शर्यातिसे सोमयज्ञका अनुष्ठान कराया और अपने तपोबलसे उन सोमपानके अनधिकारी अश्विनीकुमारोंको सोमरसका भाग प्रदान किया ॥ २४ ॥ इसपर शीघ्र ही कुपित हो जानेवाले इन्द्रदेवने चिढ़कर महाराज शर्यातिको मारनेके लिये अपना वज्र ताना, किन्तु भृगुश्रेष्ठ च्यवनने वज्रसहित उनकी भुजाको बीच ही में स्तम्भित कर दिया ॥ २५ ॥ उसी समयसे सब देवताओंने उन अश्विनीकुमारोंको भी सोमरसका भाग देना अंगीकार कर लिया, जिन्हें पहले 'वैद्य' समझकर सोमकी आहुतियोंके अधिकारसे वञ्चित कर रखा था ॥ २६ ॥ हे राजन्! शर्यातिके उत्तानबर्हि, आनर्त तथा भूरिषेण—ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें आनर्तसे रेवतकी उत्पत्ति हुई ॥ २७ ॥ हे शत्रुसूदन! राजा रेवत समुद्रके बीचमें कुशस्थली नामकी एक नगरी बसाकर उसमें रहते हुए आनर्तादि देशोंका राज्य करते थे ॥ २८ ॥ उन रेवतके सौ उत्तम पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें सबसे ज्येष्ठ ककुद्मी थे। राजा ककुद्मी अपनी कन्या रेवतीको साथ लेकर उसके लिए वर पूछनेके निमित्त किसी प्रकारकी रोक-टोक न होनेसे सीधे ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके पास चले गये। किन्तु उस समय वहाँ गाने-बजानेकी धूम थी। इस कारण बातचीतके लिये मौका न पाकर वे एक क्षण बाहर ही रुके रहे ॥ २९ ॥ ३० ॥ तदनन्तर आदिदेव भगवान ब्रह्माजीको नमस्कार करके उन्होंने उनको अपने आगमनका आशय बताया सो सुनकर ब्रह्माजीने हँसते हुए कहा—॥ ३१ ॥ "हे राजन्! तुमने जिन-जिनको इसका वर बनानेको सोचा था, वे सब कालके गालमें समा गये। इस समय तो हमें उनके पुत्र, पौत्र, नाती तथा वंशधरोंके विषयमें भी कुछ नहीं मालूम देता ॥ ३२ ॥ अबतक सत्ताईस चतुर्युगीका समय व्यतीत हो गया है। इस लिये तुम जाओ। अब देवदेव श्रीनारायणके अंशभूत महाबली श्रीबलरामजी पृथ्वीपर अवतार ले चुके हैं ॥ ३३ ॥ हे राजन्! यह कन्यारत्न तुम उन्हीं नररत्नको दे दो। जिन बलरामजीका श्रवण और कीर्तन बड़ा पवित्र है, वे भूतभावन भगवान इस समय पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अपने अंशसे अवतीर्ण हुए हैं। ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर राजा ककुद्मीने उन्हें प्रणाम किया और अपने नगरको लौट आये। इस बीच दिशा-विदिशाओंमें रहनेवाले उनके बन्धु-बान्धवोंने यक्षोंके भयसे उनको एकदम त्याग दिया था ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुता दत्त्वानवद्याङ्गीं बलाय बलशालिने । बदर्याख्यं गतो राजा तप्तुं नारायणाश्रमम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

नाभागो नभगापत्यं यं ततं भ्रातरः कविम् । यविष्ठं व्यभजन् दायं ब्रह्मचारिणमागतम् ॥ १ ॥

भ्रातरोऽभाङ्क्त किं मह्यं भजाम पितरं तव । त्वां ममार्यास्तताभाङ्क्षुर्मा पुत्रक तदादृथाः ॥ २ ॥

इमे अङ्गिरसः सत्रमासतेऽद्य सुमेधसः । षष्ठं षष्ठमुपेत्याहः कवे मुह्यन्ति कर्मणि ॥ ३ ॥

तांस्त्वं शंसय सूक्ते द्वे वैश्वदेवे महात्मनः । ते स्वर्यन्तो धनं सत्रपरिशेषितमात्मनः ॥ ४ ॥

दास्यन्ति तेऽथ तान् गच्छ तथा स कृतवान् यथा । तस्मै दत्त्वा ययुः स्वर्गं ते सत्रपरिशेषितम् ॥५॥

तं कश्चित् स्वीकरिष्यन्तं पुरुषः कृष्णदर्शनः । उवाचोत्तरतोऽभ्येत्य ममेदं वास्तुकं वसु ॥ ६ ॥

ममेदमृषिभिर्दत्तमिति तर्हि स्म मानवः । स्यान्नौ ते पितरि प्रश्नः पृष्टवान् पितरं तथा ॥७॥

यज्ञवास्तुगतं सर्वमुच्छिष्टमृषयः क्वचित् । चक्रुर्विभागं रुद्राय स देवः सर्वमर्हति ॥ ८ ॥

इसके उपरान्त महाबलवान् बलरामजीको उन्होंने अपनी सर्वाङ्गसुन्दरी पुत्री रेवती दे दी और स्वयं राजा कुकुद्मी तपस्या करनेके निमित्त नारायणके परमधामस्वरूप बदरीनामके आश्रमको पयान कर दिये ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृतभाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(महाराज नाभाग तथा अम्बरीषका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—मनुके पुत्र नभगका एकपुत्र नाभाग था, जिसके बड़े भाइयोंने (अन्याय करके) गुरुकुलसे लौटे हुए उस अपने छोटे भाई ब्रह्मचारी एवं विद्वान् नाभागको उसके दायभागमें केवल पिताको दिया था (और कुछ नहीं) ॥ १ ॥ उसने (गुरुकुलसे लौटकर) जब अपने भाइयोंसे पूछा कि "भाइयों ! आप लोगोंने मेरे लिए क्या भाग लगाया है ?" तब उन्होंने कहा—"हम तुम्हें पिताजीको ही दिये देते हैं"। इसपर उसने अपने पितासे जाकर कहा—"हे तात ! मुझे मेरे भाइयोंने आपको ही मेरे दायभागमें दिया है।" पिताने कहा—"पुत्र ! तू उनकी बात मत मान ॥ २ ॥ देख, वे बड़े ही बुद्धिमान् आङ्गिरस गोत्रके ब्राह्मण यज्ञ ठाने बैठे हैं। किन्तु हे विद्वन् ! वे प्रत्येक छठें दिन उस यज्ञकर्ममें भूल कर देते हैं ॥ ३ ॥ सो तुम जाकर उन महात्माओंको वैश्वदेवके उन 'इदमित्थारौद्रम्' तथा 'ये यज्ञेन दक्षिणया' इत्यादि दो सूक्तोंको सुनाओ। यज्ञ समाप्त होनेके बाद जब वे स्वर्गलोकको जाने लगेंगे तो यज्ञसे बचा हुआ अपना सब धन तुम्हें दे जायँगे। इसलिए अब तुम वहाँ चले जाओ।" तब नाभागने वही किया, जो पिताने कहा था। तदनुसार वे ऋषिलोग यज्ञसे बचा हुआ धन नाभागको देकर स्वर्गलोकको सिधारे ॥ ४ ॥ ५ ॥ वह धन लेते समय एक कृष्णवर्ण पुरुष (रुद्र) ने उत्तर दिशासे आकर नाभागके प्रति कहा—"यह यज्ञभूमिमें बचा हुआ धन मेरा है" ॥ ६ ॥ तब मनुपुत्र नाभाग बोले—"ऋषियोंने यह धन मुझको दिया है। अतएव यह धन मेरा है।" इसपर रुद्रने कहा—"हम दोनोंके इस विवादके विषयमें तुम्हारे पितासे ही प्रश्न होना उचित है।" तब नाभागने इस विषयमें अपने पितासे जाकर प्रश्न किया ॥ ७ ॥ नाभागके पिताने कहा—"कहीं और किसी समय ऋषियोंने ऐसा निश्चित कर दिया है कि यज्ञभूमिका शेष बचा सारा धन रुद्रका भाग होगा। अतएव वह सब धन उन रुद्रभगवान ही को मिलना चाहिए"। यह सुना तो नाभागने लौटकर उन रुद्रदेवको प्रणाम करके कहा—"हे भगवन् ! ये सभी वस्तुएँ आपहीकी हैं—ऐसा मेरे पिताका कथन है। हे ब्रह्मन् ! मैं नतमस्तक होकर आपसे क्षमा माँग

नाभागस्तं प्रणम्याह तवेश किल वास्तुकम् । इत्याह मे पिता ब्रह्मञ्छिरसा त्वां प्रसादये ॥९॥
यत् ते पितावदद् धर्मं त्वं च सत्यं प्रभाषसे । ददामि ते मन्त्रदृशे ज्ञानं ब्रह्म सनातनम् ॥१०॥
गृहाण द्रविणं दत्तं मत्सत्रे परिशेषितम् । इत्युक्त्वान्तर्हितो रुद्रो भगवान् सत्यवत्सलः ॥११॥
य एतत् संस्मरेत् प्रातः सायं च सुसमाहितः । कविर्भवति मन्त्रज्ञो गतिं चैव तथाऽऽत्मनः ॥१२॥
नाभागादम्बरीषोऽभून्महाभागवतः कृती । नास्पृशद् ब्रह्मशापोऽपि यं न प्रतिहतः क्वचित्॥१३॥

राजोवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः । न प्राभूद् यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः ॥१४॥

श्रीशुक उवाच

अम्बरीषो महाभागः सप्तद्वीपवतीं महीम् । अव्ययां च श्रियं लब्ध्वा विभवं चातुलं भुवि ॥१५॥
मेनेऽतिदुर्लभं पुंसां सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम् । विद्वान् विभवनिर्वाणं तमो विशति यत् पुमान् ॥१६॥
वासुदेवे भगवति तद्भक्तेषु च साधुषु । प्राप्तो भावं परं विश्वं येनेदं लोष्टवत् स्मृतम् ॥१७॥

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ॥ १८ ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ॥ १९ ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ॥२०॥

रहा हूँ" ॥८॥९॥ श्रीरुद्रभगवान बोले—"हे सौम्य ! तुम्हारे पिताने धर्मसंगत वचन कहा है और तुम भी सत्य बोल रहे हो । अतएव वेदका अर्थ जाननेवाले तुमको मैं सनातन ब्रह्मज्ञानका उपदेश देता हूँ ॥ १० ॥ साथ ही यज्ञमें बचा हुआ यह धन भी तुम्हीं ग्रहण करो—यह मैं तुम्हें दिये दे रहा हूँ ।" यों कहकर वे सत्यवत्सल रुद्रभगवान् अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥ भली भाँति एकाग्रचित्त होकर जो पुरुष प्रातः तथा सायंकालके समय इस आख्यानका स्मरण करता है, वह विद्वान् तथा वेदज्ञ होता और बादमें आत्मस्वरूप तकको प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥ महाराज नाभागसे महाभगवद्भक्त एवं उदारस्वभाव अम्बरीषजी उत्पन्न हुए, जिनको कभी भी प्रतिहत न होनेवाला ब्रह्मशाप भी स्पर्श नहीं कर सका था ॥ १३ ॥ राजा परीक्षित् बोले—हे भगवन् ! मैं उस परम बुद्धिमान् राजर्षि अम्बरीषका चरित्र सुनना चाहता हूँ कि जिसपर छोड़ा हुआ दुस्तर ब्रह्मदण्ड तक अपना प्रभाव नहीं प्रकट कर सका था ॥ १४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उन महाभाग अम्बरीषने सप्तद्वीप युक्त पृथिवी तथा इस भूतलपर प्राणियोंको अत्यन्त दुर्लभ अविचल सम्पत्ति और अतुलित ऐश्वर्य पाकर भी उन सबको स्वप्नमें प्राप्त पदार्थोंके समान ही मिथ्या समझा था । क्योंकि जिसके कारण मनुष्य अज्ञानके अन्धकारमें डूब जाता है, उस ऐश्वर्यके नाशका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान था ॥ १५ ॥ १६ ॥ उनको भगवान् वासुदेव तथा उनके साधुस्वभाव भक्तोंमें वह परम भक्ति प्राप्त थी कि जिसके कारण सारा जगत् मिट्टीके ढेलेके समान समझा जाता है ॥ १७ ॥ उस भक्तप्रवरने अपना मन श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें, अपनी वाणी भगवानके गुणगानमें, अपने हाथोंको भगवानके मन्दिरकी सफाई करने आदिमें, कानोंको श्री अच्युतकी कथा सुननेमें, नेत्रोंको भगवानकी मूर्ति और मन्दिर निहारनेमें, अपने अङ्गोंको भगवद्भक्तोंकी सेवामें, नासिकाको भगवानके चरणकमलोंपर चढ़ी श्रीतुलसीके गन्धमें, जीभ प्रभुको अर्पित नैवेद्यादिमें, चरणोंको भगवानके क्षेत्रादिकी यात्रामें, मस्तक श्रीहृषीकेशके चरणोंकी वन्दनामें और माला-चन्दनादि सब भोग-सामग्री उन्होंने इस वास्ते भगवत्सेवामें लगा दी थी कि जिससे हरि-

एवं सदा कर्मकलापमात्मनः परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे ।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह ॥ २१ ॥
ईजेऽश्वमेधैरधियज्ञमीश्वरं महाविभूत्योपचिताङ्गदक्षिणैः ।
ततैर्वसिष्ठासितगौतमादिभिर्धन्वन्यभिस्रोतमसौ सरस्वतीम् ॥ २२ ॥
यस्य क्रतुषु गीर्वाणैः सदस्या ऋत्विजो जनाः । तुल्यरूपाश्चानिमिषा व्यदृश्यन्त सुवाससः ॥२३॥
स्वर्गो न प्रार्थितो यस्य मनुजैरमरप्रियः । शृण्वद्भिरुपगायद्भिरुत्तमश्लोकचेष्टितम् ॥२४॥
समर्द्धयन्ति तान् कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः । दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः ॥२५॥
स इत्थं भक्तियोगेन तपोयुक्तेन पार्थिवः । स्वधर्मेण हरिं प्रीणन् सङ्गान् सर्वाञ्छनैर्जहौ ॥२६॥
गृहेषु दारेषु सुतेषु बन्धुषु द्विपोत्तमस्यन्दनवाजिपत्तिषु ।
अक्षय्यरत्नाभरणायुधादिष्वनन्तकोशेष्वकरोदसन्मतिम् ॥ २७ ॥
तस्मा अदाद्धरिश्चक्रं प्रत्यनीकभयावहम् । एकान्तभक्तिभावेन प्रीतो भृत्याभिरक्षणम् ॥२८॥
आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया । युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम् ॥२९॥
व्रतान्ते कार्तिके मासि त्रिरात्रं समुपोषितः । स्नातः कदाचित् कालिन्द्यां हरिं मधुवनेऽर्चयत् ॥३०॥
महाभिषेकविधिना सर्वोपस्करसम्पदा । अभिषिच्याम्बराकल्पैर्गन्धमाल्यार्हणादिभिः ॥३१॥
तद्गतान्तरभावेन पूजयामास केशवम् । ब्राह्मणांश्च महाभागान् सिद्धार्थानपि भक्तितः ॥३२॥

भक्तोंके आश्रित रहनेवाली भगवत्प्रीति प्राप्त हो जाय ॥ १८-२० ॥ इस तरह वे अपने सब कर्म यज्ञपुरुष भगवान अधोक्षजको सबके आत्मा जानकर अर्पण करते हुए भगवद्भक्त ब्राह्मणोंके आदेशसे राज्य करने लगे ॥ २१ ॥ उन्होंने धन्व यानी मारवाड़ देशमें सरस्वती नदीकी बहावके सम्मुख वसिष्ठ, असित् तथा गौतम आदि भिन्न-भिन्न आचार्योंके द्वारा महान् ऐश्वर्यसे बढ़े हुए अङ्ग तथा बड़ी-बड़ी दक्षिणाओं युक्त अनेक अश्वमेध यज्ञों द्वारा यज्ञपुरुष नारायणका यजन किया था ॥ २२ ॥ उनके उन यज्ञोंमें देवताओं समेत सब सदस्य तथा ऋत्विजलोग भी अपनी सुन्दर वेष-भूषासे उन्हींके सदृश सुन्दर और निर्निमेष दीखते थे ॥२३॥ उन पुण्यकीर्ति भगवानकी लीलाओंका सतत श्रवण तथा गान करनेवाले उनके आश्रित पुरुष तो देवताओंको प्रिय स्वर्गको भी नहीं चाहते थे ॥ २४ ॥ क्योंकि अपने हृदयमें मुक्तिदाता भगवान्‌का साक्षात्कार करनेवाले उन लोगोंको स्वर्ग तो क्या, सिद्ध पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ भोग्य पदार्थ भी आत्मानन्दसे तिरस्कृत हो जानेके कारण हर्षित नहीं कर सकते थे। हे राजन् ! उन महाराज अम्बरीषने इस प्रकार तपोयुक्त भक्तियोग तथा अपने धर्म द्वारा भगवानको प्रसन्न करते हुए धीरे-धीरे सभी आसक्तियोंको दूर कर दिया ॥ २५ ॥ २६ ॥ गृह, स्त्री, पुत्र, बन्धु, उत्तम हाथी, रथ, घोड़े, पैदल सेना, अक्षय रत्न, आभूषण तथा आयुध आदि सभी वस्तुओंमें और कभी भी समाप्त न होनेवाले कोशोंमें 'ये सब मिथ्या हैं' यह बुद्धि कर ली थी ॥ २७ ॥ महाराज अम्बरीषके अनन्य भक्तिभावसे प्रसन्न होकर श्रीभगवानने उन्हें भक्तोंका रक्षक और विरोधियोंको भयदायक अपना सुदर्शन चक्र दे रखा था ॥ २८ ॥ एक समयकी बात है कि वीरवर राजा अम्बरीषने भगवान कृष्णकी उपासना करनेके निमित्त अपने ही सदृश स्वभावकी राजमहिषीके साथ एक वर्षतक द्वादशीव्रत करनेका नियम लिया ॥ २९ ॥ उस व्रतकी समाप्ति होनेपर कार्तिक महीनेमें तीन राततक उपवास करके उन्होंने श्रीयमुनाजीमें स्नान किया और मधुवनमें भगवान कृष्णचन्द्रका पूजन किया ॥ ३० ॥ तदनन्तर महाभिषेककी विधिके अनुसार सामग्री और सम्पत्तिके द्वारा अभिषेक करके वस्त्र, आभूषण, चन्दन, माला तथा अर्घ्यादिके द्वारा तन्मयभावसे श्रीकेशवभगवानका पूजन किया और सब प्रकारसे सन्तुष्ट महाभाग ब्राह्मणोंको भी बड़े भक्तिभावसे सत्कृत किया ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

गवां रुक्मविषाणीनां रूप्याङ्घ्रीणां सुवाससाम् । पयःशीलवयोरूपवत्सोपस्करसम्पदाम् ॥३३॥
प्राहिणोत् साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यबुदानि षट् । भोजयित्वा द्विजानग्रे स्वाद्वन्नं गुणवत्तमम् ॥३४॥
लब्धकामैरनुज्ञातः पारणायोपचक्रमे । तस्य तर्ह्यतिथिः साक्षाद् दुर्वासा भगवानभूत् ॥३५॥
तमानर्चातिथिं भूपः प्रत्युत्थानासनार्हणैः । ययाचेऽभ्यवहाराय पादमूलमुपागतः ॥३६॥
प्रतिनन्द्य स तद्याच्ञां कर्तुमावश्यकं गतः । निममज्ज बृहद् ध्यायन् कालिन्दीसलिले शुभे ॥३७॥
मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति । चिन्तयामास धर्मज्ञो द्विजैस्तद्धर्मसङ्कटे ॥३८॥
ब्राह्मणातिक्रमे दोषो द्वादश्यां यदपारणे । यत् कृत्वा साधु मे भूयादधर्मो वा न मां स्पृशेत् ॥३९॥
अम्भसा केवलेनाथ करिष्ये व्रतपारणम् । प्राहुरब्भक्षणं विप्रा ह्यशितं नाशितं च तत् ॥४०॥
इत्यपः प्राश्य राजर्षिश्चिन्तयन् मनसाच्युतम् । प्रत्यचष्ट कुरुश्रेष्ठ द्विजागमनमेव सः ॥४१॥
दुर्वासा यमुनाकूलात् कृतावश्यक आगतः । राज्ञाभिनन्दितस्तस्य बुबुधे चेष्टितं धिया ॥४२॥
मन्युना प्रचलद्गात्रो भ्रुकुटीकुटिलाननः । बुभुक्षितश्च सुतरां कृताञ्जलिमभाषत ॥४३॥
अहो अस्य नृशंसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यत । धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः ॥४४॥
यो मामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च । अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम् ॥४५॥
एवं ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः । तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम् ॥४६॥

इसके बाद उन द्विजश्रेष्ठोंको अतिशय गुणयुक्त और स्वादिष्ट अन्नका भोजन करा तथा जिनकी सींग सुवर्णसे और खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे, उन सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित एवं दुग्ध, शील, नवयौवन, रूप तथा वस्त्राभूषण युक्त साठ करोड़ गौओंको दान करके साधु-ब्राह्मणोंके घरोंमें भेज दिया ॥३३॥३४॥ इस प्रकार अपने अभिलषित पदार्थोंको पाकर जब उन ब्राह्मणोंने आज्ञा दी, तब राजा अम्बरीषने पारणकी तैयारी की। इसी समय भगवान दुर्वासाजी उनके अतिथि होकर आ उपस्थित हुए॥ ३५॥ राजा अम्बरीषने अभ्युत्थान, आसन तथा पूजादिके द्वारा अतिथिदेवकी विधिवत् पूजा करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया और भोजनके लिये प्रार्थना की ॥ ३६ ॥ दुर्वासाजी उनकी प्रार्थना स्वीकार करके आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त होनेको चले गये और परब्रह्म परमात्माका ध्यान करते हुए श्रीयमुनाजीके पवित्र जलमें घुसकर अवगाहन (स्नान) करने लगे ॥ ३७ ॥ जब द्वादशी केवल आधे मुहूर्त शेष रह गयी तो धर्मज्ञ अम्बरीषने बड़े धर्मसङ्कटमें पड़कर पारण करनेके विषयमें विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ परामर्श किया ॥ ३८ ॥ वे बोले—"हे विप्रों! बिना ब्राह्मणको भोजन कराये स्वयं खा लेने और द्वादशीका पारण न करनेमें दोनों ही तरह बहुत बड़ा दोष होता है। अतएव इस समय जो करनेसे मेरा कल्याण हो और मुझे पाप न लगे, वह कहिये ॥ ३९ ॥ हे विप्रो! केवल जल पी लेना भोजन करने या न करने दोनोंहीके समान होता है, यह श्रुतियोंका कथन है। अतएव मैं केवल जलसे पारण किये ले रहा हूँ" ॥ ४० ॥ हे कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार विचार करके राजर्षि अम्बरीष केवल जल पीकर अपने मनमें श्रीच्युतभगवानका चिन्तन करते हुए दुर्वासाजीके आगमनकी बाट जोहने लगे ॥ ४१ ॥ इसी समय दुर्वासाजी सब आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होकर यमुनातटसे लौट आये और राजा अम्बरीषके प्रणाम करते ही वे अपने बुद्धिबलसे उनकी सब चेष्टाओंको जान गये ॥ ४२ ॥ इस समय उन्हें बड़ी भूख लगी थी। अतएव यह जानकर कि उन्होंने मेरे बिना आये ही भोजन कर लिया है, उनका शरीर मारे क्रोधके थर-थर काँपने लगा, भृकुटी चढ़ जानेसे उनका मुख विकट हो गया। हाथ जोड़कर खड़े राजा अम्बरीषसे उन्होंने कहा—॥ ४३ ॥ "ओह! भगवद्भक्तिसे रहित और अपनेको समर्थ माननेवाले इस धनके उन्मादी एवं क्रूर राजाका अन्याय तो देखो ॥ ४४ ॥ इसने अतिथिरूपसे आये मुझको आतिथ्यभावसे निमंत्रित करके भोजन दिये बिना ही स्वयं भोजन कर लिया! अच्छा, मैं शीघ्र ही तुझे इसका फल चखाता हूँ" ॥ ४५ ॥ यों कहते हुए उन्होंने क्रोधसे

तामापतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदा भुवम् । वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः ॥४७॥
प्राग्दिष्टं भृत्यरक्षायां पुरुषेण महात्मना । ददाह कृत्यां तां चक्रं क्रुद्धाहिमिव पावकः ॥४८॥
तदभिद्रवदुद्वीक्ष्य स्वप्रयासं च निष्फलम् । दुर्वासा दुद्रुवे भीतो दिक्षु प्राणपरीप्सया ॥४९॥

तमन्वधावद् भगवद्रथाङ्गं दावाग्निरुद्धूतशिखो यथाहिम् ।
तथानुषक्तं मुनिरीक्षमाणो गुहां विविक्षुः प्रससार मेरोः ॥५०॥

दिशो नभः क्ष्मां विवरान् समुद्राँल्लोकान् सपालांस्त्रिदिवं गतः सः ।
यतो यतो धावति तत्र तत्र सुदर्शनं दुष्प्रसहं ददर्श ॥५१॥

अलब्धनाथः स यदा कुतश्चित् सन्त्रस्तचित्तोऽरणमेषमाणः ।
देवं विरिञ्चं समगाद्विधातस्त्राह्यात्मयोनेऽजिततेजसो माम् ॥ ५२ ॥

ब्रह्मोवाच

स्थानं मदीयं सहविश्वमेतत् क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे ।
भ्रूभङ्गमात्रेण हि सन्दिधक्षोः कालात्मनो यस्य तिरोभविष्यति ॥ ५३ ॥

अहं भवो दक्षभृगुप्रधानाः प्रजेशभूतेशसुरेशमुख्याः ।
सर्वे वयं यन्नियमं प्रपन्ना मूर्ध्न्यर्पितं लोकहितं वहामः ॥ ५४ ॥

प्रत्याख्यातो विरिञ्चेन विष्णुचक्रोपतापितः । दुर्वासाः शरणं यातः शर्वं कैलासवासिनम् ॥५५॥

प्रज्वलित होकर अपनी जटाका एक बाल उखाड़ लिया और उससे अम्बरीषको मारनेके निमित्त प्रलयाग्निके समान भीषण एक कृत्या उत्पन्न की ॥४६॥ उस जलजलाती कृत्याको हाथमें खड्ग लेकर पद-प्रहारसे पृथिवीको कम्पित करते हुए अपनी तरफ आती देखकर भी राजा अम्बरीष अपने स्थानसे तनिकभी नहीं हटे ॥ ४७ ॥ परन्तु भगवान पुरुषोत्तमके द्वारा अपने भक्तकी रक्षाके लिये पहलेसे ही नियुक्त सुदर्शन जैसे क्रुद्ध सर्पको जला दे, वैसे ही उस कृत्याको भस्म कर डाला ॥ ४८ ॥ इस तरह अपना प्रयास निष्फल तथा उस चक्रको अपनी ओर आते देखकर महर्षि दुर्वासा अत्यन्त भयभीत होकर अपने प्राण बचानेके निमित्त सभी दिशा-विदिशाओंमें दौड़ने लगे ॥ ४९ ॥ जिस तरह कि सर्पके पीछे ऊँची-ऊँची लपटोंका दावानल दौड़ता हो, वैसे ही उनके पीछे भगवान्‌का सुदर्शनचक्र दौड़ने लगा । इस प्रकार उसे अपने पीछे लगा देखकर दुर्वासाजी सुमेरुपर्वतकी गुफामें प्रविष्ट हो जानेके विचारसे भागे ॥ ५० ॥ वे मुनीश्वर दिशा, आकाश, पृथिवी, अतल-वितल आदि सब भूविवर, समुद्र, लोकपालोंके समेत सब लोक और स्वर्गलोक तक गये । किन्तु वे जहाँ कहीं भी पहुँचे, वहीं उन्होंने उस दुःसह सुदर्शन चक्रको अपना पीछा करते देखा ॥ ५१ ॥ जब उन्हें कहीं भी कोई रक्षक नहीं मिला, तब भय-भीत भावसे कोई आश्रय ढूँढते हुए देवाधिदेव ब्रह्माजीके समीप गये और बोले—"हे विधातः ! हे आत्मयोने ! श्रीविष्णुभगवानके इस तेजसे आप मेरी रक्षा करें" ॥ ५२ ॥ ब्रह्माजी बोले—द्विपरार्धसंज्ञक समयकी समाप्ति होनेपर जब भगवानकी इस सृष्टिमयी लीलाका अन्त होनेको होगा, तब सारे जगत्‌को दग्ध करनेके इच्छुक जिन कालरूपी श्रीहरिके केवल भ्रूभङ्गमात्रसे समस्त विश्व समेत मेरा यह स्थान भी लुप्त हो जायगा ॥५३॥ जिनके नियममें बँधकर मैं, महादेवजी, दक्ष तथा भृगु आदि सब प्रजापति, भूतेश्वर और सब देवेश्वर जिनकी आज्ञाको अपने मस्तकपर रखकर लोकहितमें संलग्न रहते हैं, उन श्रीविष्णुभगवानके भक्तसे द्रोह करनेवाले प्राणीकी रक्षा मैं न कर सकूँगा ॥५४॥ इस तरह ब्रह्माजीके ठुकरा देनेपर विष्णुभगबानके चक्रसे सन्तप्त श्रीदुर्वासाजी कैलासनिवासी

श्रीरुद्र उवाच

वयं न तात प्रभवाम भूम्नि यस्मिन् परेऽन्येऽप्यजजीवकोशाः ।
भवन्ति काले न भवन्ति हीदृशाः सहस्रशो यत्र वयं भ्रमामः ॥ ५६ ॥

अहं सनत्कुमारश्च नारदो भगवानजः । कपिलोऽपान्तरतमो देवलो धर्म आसुरिः ॥५७॥
मरीचिप्रमुखाश्चान्ये सिद्धेशाः पारदर्शनाः । विदाम न वयं सर्वे यन्मायां माययाऽऽवृताः ॥५८॥
तस्य विश्वेश्वरस्येदं शस्त्रं दुर्विषहं हि नः । तमेव शरणं याहि हरिस्ते शं विधास्यति ॥५९॥
ततो निराशो दुर्वासाः पदं भगवतो ययौ । वैकुण्ठाख्यं यदध्यास्ते श्रीनिवासः श्रिया सह॥६०॥

सन्दह्यमानोऽजितशस्त्रवह्निना तत्पादमूले पतितः सवेपथुः ।
आहाच्युतानन्त सदीप्सित प्रभो कृतागसं माव हि विश्वभावन ॥ ६१ ॥
अजानता ते परमानुभावं कृतं मयाघं भवतः प्रियाणाम् ।
विधेहि तस्यापचितिं विधातर्मुच्येत यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि ॥ ६२ ॥

श्रीभगवानुवाच

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥६३॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥६४॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥६५॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः । वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ६६

श्रीमहादेवजीकी शरण में जा पहुँचे ॥५५॥ तब श्री महादेवजीने कहा–हे तात ! जिन महाप्रभुमें हम जैसे हजारों लोकपाल भटकते रहते हैं, ऐसे-ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड जिन सर्वव्यापक परमात्मामें कालक्रमसे कभी उत्पन्न होते और कभी विलीन हो जाते हैं, उनके चक्रसे रक्षा करनेमें हम किसी तरह समर्थ नहीं हो सकते ॥ ५६ ॥ मैं, सनत्कुमार, नारद, श्रीब्रह्माजी, कपिलदेव, अपान्तरतम, देवल, धर्म, आसुरि ॥५७॥ और मरीचि आदि अन्य सर्वज्ञ सिद्धेश्वरगण–ये सब जिनकी मायाको उससे आवृत रहनेके कारण नहीं जान सकते ॥ ५८ ॥ उन विश्वेश्वर भगवानका यह शस्त्र सर्वथा हमारे लिये असह्य है। सो तुम उन्हींकी शरणमें जाओ। वे श्रीहरि अवश्य तुम्हारा मंगल करेंगे ॥ ५९ ॥ अन्तमें दुर्वासाजी सब ओरसे निराश होकर भगवानके वैकुण्ठलोकको गये, जहाँ लक्ष्मीपति महरानी लक्ष्मीजीके साथ नित्य निवास करते हैं ॥ ६० ॥ वैकुण्ठमें पहुँचकर वे भगवानके सुदर्शनचक्रकी ज्वालासे सन्तप्त होकर काँपते-काँपते भगवानके चरणोंमें गिर गये और कहने लगे–"हे अच्युत ! हे अनन्त ! हे भक्तप्रिय ! हे प्रभो ! हे विश्वभावन ! मुझ अपराधीकी रक्षा करिये ॥ ६१ ॥ हे भगवन् ! आपके प्रभावसे अनभिज्ञ होनेके कारण मैंने आपके प्रिय भक्तका बहुत बड़ा अपराध किया है। हे विधातः ! आप मुझे उससे उबारिए। क्योंकि आपका नामोच्चारण करके नारकी प्राणी भी मुक्त हो जाता है" ॥६२॥ श्रीभगवान कहने लगे–'हे द्विज ! मैं तो अस्वतन्त्रके समान भक्तोंके अधीन रहता हूँ। उन साधु भक्तोंने मेरे हृदयपर अपना अधिकार कर रखा है और मैं भी उन भक्तजनोंका सर्वदासे प्रिय रहता आ रहा हूँ ॥ ६३ ॥ हे ब्रह्मन् ! जिनका एकमात्र परम आधार मैं हूँ, उन अपने साधुस्वभाव भक्तोंको त्यागकर तो मैं अपने आपकी और अनपायिनी लक्ष्मीजीकी भी इच्छा नहीं करता ॥ ६४ ॥ जो अपने स्त्री, पुत्र गृह, परमप्रिय प्राण, धन, इहलोक तथा परलोक सब कुछ छोड़ मेरी ही शरणमें आ गये रहते हैं, उन भक्तजनोंको भला मैं किस तरह छोड़ सकता हूँ ? ॥ ६५ ॥ जैसे पतिव्रता स्त्री सज्जन पतिको अपने वशमें कर लेती है, वैसे ही जिन्होंने अपना हृदय मुझमें ही लगा दिया

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम् ॥६७
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥६८
उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत् । अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान् ।
साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम् ॥ ६९ ॥
तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरे उभे । ते एव दुर्विनीतस्य कल्पेते कर्तुरन्यथा ॥७०॥
ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम् । क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धेऽम्बरीषचरिते चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टो दुर्वासाश्चक्रतापितः । अम्बरीषमुपावृत्य तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत् ॥ १ ॥
तस्य सोद्यमनं वीक्ष्य पादस्पर्शविलज्जितः । अस्तावीत् तद्धरेरस्त्रं कृपया पीडितो भृशम् ॥ २ ॥

अम्बरीष उवाच

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्वं सोमो ज्योतिषां पतिः । त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च ॥३॥
सुदर्शन नमस्तुभ्यं सहस्राराच्युतप्रिय । सर्वास्त्रघातिन् विप्राय स्वस्ति भूया इडस्पते ॥ ४ ॥
त्वं धर्मस्त्वमृतं सत्यं त्वं यज्ञोऽखिलयज्ञभुक् । त्वं लोकपालः सर्वात्मा त्वं तेजः पौरुषं परम् ॥५॥

है, वे समदर्शी साधु पुरुष मुझको अपने अधीन कर लिया करते हैं ॥ ६६ ॥ मेरे अनन्य भक्त तो मेरी सेवासे ही सन्तुष्ट रहकर उस सेवाके प्रभावसे प्राप्त होनेवाली सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि तथा सायुज्य नामक चारों प्रकारकी मुक्ति भी नहीं चाहते। तब कालक्रमसे नष्ट हो जानेवाले अन्य भोगोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ६७ ॥ अधिक कहाँ तक कहें, वे साधु पुरुष तो साक्षात् मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ। क्योंकि वे मेरे सिवाय और किसी वस्तुको प्रिय नहीं समझते और मुझे भी उनके सिवाय और कोई वस्तु तनिक भी प्रिय नहीं है ॥ ६८ ॥ हे विप्र! सुनो, मैं एक उपाय बताता हूँ। जिसपर अभिचारका प्रयोग करनेके कारण तुम्हें यह विपरीत फल मिला है, तुम उस अम्बरीषके ही पास जाओ। क्योंकि निरपराध साधु पुरुषोंपर प्रयुक्त तेज प्रयोक्ताका ही अमङ्गल करता है ॥ ६९ ॥ तप तथा विद्या, ये दोनों ब्राह्मणोंके कल्याणकारक होते हैं, किन्तु वे ही अन्यायी ब्राह्मणको विपरीत फल देने लगते हैं ॥ ७० ॥ इस लिए हे ब्रह्मन्! तुम्हारा कल्याण हो। तुम राजा अम्बरीषके ही पास जाओ और उस महाभागसे अपना अपराध क्षमा कराओ। इससे तुम्हें अवश्य शान्ति मिलेगी ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(महर्षि दुर्वासाके दुःखका निवृत्त होना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! भगवानसे ऐसी आज्ञा पाकर सुदर्शनचक्रसे सन्तप्त दुर्वासाजी अम्बरीषके पास पहुँचे और अतिशय दुःखित होकर उनके पाँव थाम लिये ॥ १ ॥ दुर्वासाजीकी यह चेष्टा देखकर उनके चरण स्पर्श करनेसे लज्जित राजा अम्बरीष करुणासे अत्यन्त द्रवीभूत होकर भगवानके उस शस्त्रकी स्तुति करने लगे ॥ २ ॥ राजा अम्बरीषने कहा—हे सुदर्शन! तुम अग्नि हो, तुम्हीं भगवान् सूर्य हो और तुम्हीं नक्षत्रनाथ चन्द्रमा हो और तुम्हीं जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, पञ्चतन्मात्रा तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ हो ॥ ३ ॥ हे भगवानके प्रिय एवं सहस्र धारवाले सुदर्शनचक्र! तुम्हें प्रणाम है। हे सर्वशस्त्रसंहारक तथा पृथ्वीके रक्षक! इन विप्रवरका कल्याण करो ॥ ४ ॥ तुम धर्म हो, तुम ऋत तथा सत्य हो, तुम्हीं यज्ञ तथा सम्पूर्ण यज्ञोंके फल-भोक्ता यज्ञ पुरुष हो, तुम सब लोकोंके रक्षक तथा सर्वस्वरूप हो।

नमः सुनाभाखिलधर्मसेतवे ह्यधर्मशीलासुरधूमकेतवे ।
त्रैलोक्यगोपाय विशुद्धवर्चसे मनोजवायाद्भुतकर्मणे गृणे ॥ ६ ॥
त्वत्तेजसा धर्ममयेन संहृतं तमः प्रकाशश्च धृतो महात्मनाम् ।
दुरत्ययस्ते महिमा गिरां पते त्वद्रूपमेतत् सदसत् परावरम् ॥ ७ ॥
यदा विसृष्टस्त्वमनञ्जनेन वै बलं प्रविष्टोऽजित दैत्यदानवम् ।
बाहूदरोर्वङ्घ्रिशिरोधराणि वृश्चन्नजस्रं प्रधने विराजसे ॥ ८ ॥
स त्वं जगत्त्राण खलप्रहाणये निरूपितः सर्वसहो गदाभृता ।
विप्रस्य चास्मत्कुलदैवहेतवे विधेहि भद्रं तदनुग्रहो हि नः ॥ ९ ॥
यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा स्वधर्मो वा स्वनुष्ठितः । कुलं नो विप्रदैवं चेद् द्विजो भवतु विज्वरः ॥१०॥
यदि नो भगवान् प्रीत एकः सर्वगुणाश्रयः । सर्वभूतात्मभावेन द्विजो भवतु विज्वरः ॥११॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्तुवतो राज्ञो विष्णुचक्रं सुदर्शनम् । अशाम्यत् सर्वतो विप्रं प्रदहद् राजयाच्ञया ॥१२॥
स मुक्तोऽस्त्राग्नितापेन दुर्वासाः स्वस्तिमांस्ततः । प्रशशंस तमुर्वीशं युञ्जानः परमाशिषः ॥१३॥

दुर्वासा उवाच

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे । कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे ॥१४॥
दुष्करः को नु साधूनां दुस्त्यजो वा महात्मनाम् । यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः ॥१५॥

एकमात्र तुम्हीं परमपुरुष नारायणके उत्कृष्ट तेज हो ॥ ५ ॥ हे सुनाभ ! तुम धर्मकी मर्यादाके रक्षक, अधर्मी असुरोंको जलानेके लिये अग्निस्वरूप, त्रिलोकीके रक्षक, विशुद्ध तेजोमय, मनके समान द्रुतगामी और अद्भुत कर्म करनेवाले हो, मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ ॥ ६ ॥ हे वाणीके पति ! तुम्हारे धर्ममय तेजने अगणित महापुरुषोंका अज्ञान नष्ट कर दिया है और सूर्यादिके तेजको धारण कर रखा है । तुम्हारी महिमाका पार पाना बहुत कठिन कार्य है । यह कार्य-कारणात्मक सारा संसार तुम्हारा ही स्वरूप है ॥ ७ ॥ हे अजित ! जब तुम श्रीनिरञ्जनदेवसे छोड़े जाकर दैत्यों तथा दानवोंकी सेनामें प्रविष्ट होते हो तब उनकी भुजा, उदर, ऊरु, चरण तथा ग्रीवा आदि काटते हुए युद्धस्थलमें बड़े सुन्दर मालूम पड़ते हो ॥ ८ ॥ हे विश्वरक्षक ! तुम युद्धमें शत्रुओंका प्रहार सहन करते हो । उन भगवान गदाधरने दुष्टोंका दमन करने लिये ही तुम्हें नियुक्त कर रखा है । अतएव तुम हमारे कुलका भाग्योदय करनेके लिये इन विप्रवरका कल्याण करो । हमपर यह तुम्हारी बहुत बड़ी कृपा होगी ॥ ९ ॥ यदि हमने दान, यज्ञ तथा अपने धर्मका भली भाँति पालन किया हो और यदि हमारा वंश सदासे ब्राह्मणभक्त रहता आया हो तो ये विप्रवर सब तरहसे दुःखमुक्त हो जायँ ॥ १० ॥ यदि सब प्राणियोंमें परमेश्वरकी आत्मस्वरूपसे स्थिर देखनेके कारण सब गुणोंके आधारस्वरूप श्रीभगवान हमपर प्रसन्न हों तो ये ब्राह्मणदेवता तुरन्त क्लेशमुक्त हो जायँ ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस तरह राजा अम्बरीषके स्तुति करनेपर महामुनि दुर्वासाको चारों ओरसे जलानेवाला भगवानका सुदर्शनचक्र शान्त हो गया ॥ १२ ॥ उस भयावह शस्त्राग्निके तापसे मुक्त एवं स्वस्थचित्त श्रीदुर्वासाजी राजा अम्बरीषको आशीर्वाद देते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥ दुर्वासाजीने कहा—अहो राजन् ! आज मैंने भगवान अनन्तके दासोंकी महिमा देख ली कि मेरे अपराध करनेपर भी तुम इस तरह मेरे मङ्गलकी कामना कर रहे हो ॥ १४ ॥ जिन्होंने भक्तोंके परम आराध्य देव भगवान हरिको दृढ़ताके साथ पकड़ लिया है, उन साधु पुरुषोंके लिये क्या वस्तु दुष्कर

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः । तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥१६॥
राजन्ननुगृहीतोऽहं त्वयातिकरुणात्मना । मदघं पृष्ठतः कृत्वा प्राणा यन्मेऽभिरक्षिताः ॥१७॥
राजा तमकृताहारः प्रत्यागमनकाङ्क्षया । चरणावुपसङ्गृह्य प्रसाद्य समभोजयत् ॥१८॥
सोऽशित्वाऽऽदृतमानीतमातिथ्यं सार्वकामिकम् । तृप्तात्मा नृपतिं प्राह भुज्यतामिति सादरम् ॥१९॥
प्रीतोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि तव भागवतस्य वै । दर्शनस्पर्शनालापैरातिथ्येनात्ममेधसा ॥२०॥
कर्मावदातमेतत् ते गायन्ति स्वःस्त्रियो मुहुः । कीर्तिं परमपुण्यां च कीर्तयिष्यति भूरियम् ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

एवं सङ्कीर्त्य राजानं दुर्वासाः परितोषितः । ययौ विहायसाऽऽमन्त्र्य ब्रह्मलोकमहैतुकम् ॥२२॥
संवत्सरोऽत्यगात् तावद् यावता नागतो गतः । मुनिस्तद्दर्शनाकाङ्क्षी राजाब्भक्षो बभूव ह ॥२३॥

गते च दुर्वाससि सोऽम्बरीषो द्विजोपयोगातिपवित्रमाहरत् ।
ऋषेर्विमोक्षं व्यसनं च बुद्ध्वा मेने स्ववीर्यं च परानुभावम् ॥ २४ ॥
एवंविधानेकगुणः स राजा परात्मनि ब्रह्मणि वासुदेवे ।
क्रियाकलापैः समुवाह भक्तिं ययाऽऽविरिञ्चयान् निरयांश्चकार ॥२५॥
अथाम्बरीषस्तनयेषु राज्यं समानशीलेषु विसृज्य धीरः ।
वनं विवेशात्मनि वासुदेवे मनो दधद् ध्वस्तगुणप्रवाहः ॥ २६ ॥

हो सकती है ? वे महात्मा भला कौनसी वस्तु नहीं त्याग सकते ॥१५॥ जिनके केवल नामश्रवणसे पुरुष निर्मलहृदय हो जाता है, उन तीर्थपाद भगवान्‌के दासोंके लिये कौनसा कर्त्तव्य शेष रह जाता है ? ॥१६॥ हे राजन् ! परम कारुणिक-स्वभाव-सम्पन्न तुमने मेरे अपराधपर दृष्टि न डालकर जो मेरे प्राणोंकी रक्षा की है, इससे मैं तुम्हारा अत्यन्त अनुगृहीत हूँ ॥१७॥ तदनन्तर हे राजन् ! जो अबतक दुर्वासाजीके लौटनेकी प्रतीक्षामें निराहार बैठे थे, उन राजा अम्बरीषने उनके पाँव पकड़ लिये और उन्हें प्रसन्न करते हुए भोजन कराया ॥ १८ ॥ तब उन दुर्वासाजीने उनके सादर लाये हुए सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला अन्न भोजनकर और चित्तमें सन्तुष्ट हो राजा अम्बरीषसे आदरपूर्वक कहा—"अब जाकर तुम भी भोजन करो ॥ १९ ॥ हे राजन् ! तुम बड़े भगवद्भक्त हो । मैं तुम्हारा अनुगृहीत होकर तुम्हारे दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप तथा परमात्मामें मन लगानेवाले आतिथ्यसे अतिशय प्रसन्न हुआ हूँ ॥ २० ॥ तुम्हारे इस पुनीत कर्मको स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ बारम्बार गायेंगी और यह पृथिवी भी तुम्हारी परम पावन कीर्तिको बखानेगी" ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह मनमें परम प्रसन्न दुर्वासाजी राजा अम्बरीषका गुण कीर्तनकर और उनसे आज्ञा ले आकाशमार्गसे उस ब्रह्मलोकको सिधारे, जो केवल निष्काम कर्मके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है—अन्यथा नहीं ॥ २२ ॥ जितनी देरमें सुदर्शन चक्रके भयसे भागे हुए दुर्वासाजी लौटकर नहीं आये थे, उतनी देरमें एक वर्षका समय बीत गया था । किन्तु उनके दर्शनाभिलाषी महाराज अम्बरीष तबतक जलमात्र पीकर रहे ॥ २३ ॥ मुनिराज दुर्वासाजीके चले जानेके अनन्तर महाराज अम्बरीषने ब्राह्मणके भोजनसे अवशिष्ट अतिशय पवित्र अन्न भोजन किया और ऋषिके कष्ट एवं कष्टनिवृत्तिको देखकर उन्होंने अपने उस प्रभावको भी श्रीपरमात्माका ही प्रभाव माना ॥ २४ ॥ इस तरह उस अनेकगुणसम्पन्न राजाने विविध प्रकारके क्रियाकलापों द्वारा उन परब्रह्म भगवान वासुदेवमें अपना भक्तिभाव बढ़ाया, जिससे वे ब्रह्मलोक समेत सब भागोंको नरकके समान समझने लगे ॥ २५ ॥ कुछ काल बाद जितेन्द्रिय महाराज अम्बरीष अपने ही सदृश स्वभावके पुत्रोंको अपना राज्य देकर वनको चले गये और भगवान वासुदेवमें मन लगाकर गुणोंके प्रवाहरूपी संसार-बन्धनसे सदाके लिए मुक्त हो गये ॥ २६ ॥

इत्येतत् पुण्यमाख्यानमम्बरीषस्य भूपतेः। सङ्कीर्तयन्ननुध्यायन् भक्तो भगवतो भवेत् ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धेऽम्बरीषचरितं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

विरूपः केतुमाञ्छम्भुरम्बरीषसुतास्त्रयः। विरूपात् पृषदश्वोऽभूत् तत्पुत्रस्तु रथीतरः ॥ १ ॥
रथीतरस्याप्रजस्य भार्यायां तन्तवेऽर्थितः। अङ्गिरा जनयामास ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥ २ ॥
एते क्षेत्रे प्रसूता वै पुनस्त्वाङ्गिरसाः स्मृताः। रथीतराणां प्रवराः क्षत्रोपेता द्विजातयः ॥ ३ ॥
क्षुवतस्तु मनोर्जज्ञे इक्ष्वाकुर्घ्राणतः सुतः। तस्य पुत्रशतज्येष्ठा विकुक्षिनिमिदण्डकाः ॥ ४ ॥
तेषां पुरस्तादभवन्नार्यावर्ते नृपा नृप। पञ्चविंशतिः पश्चाच्च त्रयो मध्ये परेऽन्यतः ॥ ५ ॥
स एकदाष्टकाश्राद्धे इक्ष्वाकुः सुतमादिशत्। मांसमानीयतां मेध्यं विकुक्षे गच्छ माचिरम् ॥ ६ ॥
तथेति स वनं गत्वा मृगान् हत्वा क्रियार्हणान्। श्रान्तो बुभुक्षितो वीरः शशं चाददपस्मृतिः ॥ ७ ॥
शेषं निवेदयामास पित्रे तेन च तद्गुरुः। चोदितः प्रोक्षणायाह दुष्टमेतदकर्मकम् ॥ ८ ॥
ज्ञात्वा पुत्रस्य तत् कर्म गुरुणाभिहितं नृपः। देशान्निःसारयामास सुतं त्यक्तविधिं रुषा ॥ ९ ॥
स तु विप्रेण संवादं जापकेन समाचरन्। त्यक्त्वा कलेवरं योगी स तेनावाप यत्परम् ॥१०॥
पितर्युपरतेऽभ्येत्य विकुक्षिः पृथिवीमिमाम्। शासदीजे हरिं यज्ञैः शशाद इति विश्रुतः ॥११॥

राजन्! महाराज अम्बरीषके इस परमपवित्र आख्यानका संकीर्तन तथा मनन करनेसे प्राणी भगवानका भक्त हो जाता है ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे पं० रामतेजशास्त्रिकृत'सामयिकी'-भाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(महाराज इक्ष्वाकुके वंशका वृत्तान्त एवं मान्धाता और सौभरि ऋषिका वर्णन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! राजा अम्बरीषके विरूप, केतुमान् तथा शम्भुनामके तीन पुत्र हुए। विरूपसे पृषदश्व और पृषदश्वका पुत्र रथीतर हुआ ॥ १ ॥ रथीतरके कोई सन्तान नहीं थी। जब सन्तानके लिये उसने प्रार्थना की, तब महर्षि अङ्गिराके प्रयत्न करनेपर उसकी भार्यासे कई ब्रह्मतेजोयुक्त पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ रथीतरकी भार्याके गर्भसे उत्पन्न ये पुत्र आङ्गिरस कहलाये और रथीतरके अन्य पुत्रोंकी अपेक्षा ये श्रेष्ठ थे और ये सब क्षत्रियकर्मसे युक्त ब्राह्मण हुए ॥ ३ ॥ हे राजन्! एक बार मनुजीको छींक आ गयी और उनकी नाकसे इक्ष्वाकुनामका पुत्र जायमान हुआ। इक्ष्वाकुके सौ पुत्रोंमें विकुक्षि, निमि तथा दण्डक—ये तीन सर्वश्रेष्ठ थे ॥ ४ ॥ हे नृप! उनसे छोटे पच्चीस पुत्र आर्यावर्त्तदेशके पूर्वी भागके तथा पच्चीस पश्चिमी भागके राजे हुए। वे तीनों बड़े बेटे मध्य भागके और शेष सैंतालीस इक्ष्वाकु-पुत्र दक्षिणादि अन्य देशोंके राजे हुए ॥ ५ ॥ एक समय राजा इक्ष्वाकुने जब कि अष्टका श्राद्ध होनेवाला था तब अपने बड़े बेटेको आज्ञा दी—"हे विकुक्षे! तुम शीघ्र श्राद्धके योग्य मांस ले आओ-देरी मत करना" ॥ ६ ॥ तदनुसार वीरवर विकुक्षि 'बहुत अच्छा' कहकर वनमें गया और उसने वहाँ बहुतेरे श्राद्धयोग्य मृगोंका वध किया और बहुत थक जानेके कारण 'श्राद्धके लिये मारे हुए पशु नहीं खाना चाहिये' यह भूलकर उसने एक शश अर्थात् खरगोश खा लिया ॥ ७ ॥ बाकी बचा हुआ मांस लाकर उसने पिताको दे दिया। जब पिता इक्ष्वाकुने उसका प्रोक्षण करनेके लिये कहा तो गुरु वशिष्ठजीने उसे दूषित तथा श्राद्धकर्मके अयोग्य ठहराया ॥ ८ ॥ हे राजन्! अपने पुत्रके उस कर्मको जानकर गुरुकी आज्ञानुसार इक्ष्वाकुने शास्त्रविधिका उल्लंघन करनेवाले पुत्र (विकुक्षि) को क्रोधवश देशसे निकाल दिया ॥ ९ ॥ तदनन्तर गुरु वशिष्ठके साथ तत्त्वज्ञानके विषयकी बातें कर और योगयुक्त हो वह शरीर त्याग दिया और अपनी तत्त्वनिष्ठासे परम पद पाया ॥ १० ॥ पिताका देहान्त हो

पुरञ्जयस्तस्य सुत इन्द्रवाह इतीरितः । ककुत्स्थ इति चाप्युक्तः शृणु नामानि कर्मभिः॥१२
कृतान्त आसीत् समरो देवानां सह दानवैः । पार्ष्णिग्राहो वृतो वीरो देवैर्दैत्यपराजितैः ॥१३॥
वचनाद् देवदेवस्य विष्णोर्विश्वात्मनः प्रभोः । वाहनत्वे वृतस्तस्य बभूवेन्द्रो महावृषः ॥१४॥
स संनद्धो धनुर्दिव्यमादाय विशिखाञ्छितान् । स्तूयमानः समारुह्य युयुत्सुः ककुदि स्थितः ॥१५॥
तेजसाऽऽप्यायितो विष्णोः पुरुषस्य परात्मनः । प्रतीच्यां दिशि दैत्यानां न्यरुणत् त्रिदशैः पुरम्॥१६
तैस्तस्य चाभूत् प्रधनं तुमुलं लोमहर्षणम् । यमाय भल्लैरनयद् दैत्यान् येऽभिययुर्मृधे ॥१७॥
तस्येषुपाताभिमुखं युगान्ताग्निमिवोल्बणम् । विसृज्य दुद्रुवुर्दैत्या हन्यमानाः स्वमालयम्॥१८॥
जित्वा पुरं धनं सर्वं सश्रीकं वज्रपाणये । प्रत्ययच्छत् स राजर्षिरिति नामभिराहृतः ॥१९॥
पुरञ्जयस्य पुत्रोऽभूदनेनास्तत्सुतः पृथुः । विश्वरन्धिस्ततश्चन्द्रो युवनाश्वश्च तत्सुतः ॥२०॥
शावस्तस्तत्सुतो येन शावस्ती निर्ममे पुरी । बृहदश्वस्तु शावस्तिस्ततः कुवलयाश्वकः ॥२१॥
यः प्रियार्थमुतङ्कस्य धुन्धुनामासुरं बली । सुतानामेकविंशत्या सहस्रैरहनद् वृतः ॥२२॥
धुन्धुमार इति ख्यातस्तत्सुतास्ते च जज्वलुः । धुन्धोर्मुखाग्निना सर्वे त्रय एवावशेषिताः ॥२३॥
दृढाश्वः कपिलाश्वश्च भद्राश्व इति भारत । दृढाश्वपुत्रो हर्यश्वो निकुम्भस्तत्सुतः स्मृतः॥२४॥
बर्हणाश्वो निकुम्भस्य कृशाश्वोऽथास्य सेनजित्। युवनाश्वोऽभवत् तस्य सोऽनपत्यो वनं गतः ॥२५॥

जानेके बाद विकुक्षि घर लौट आया और पृथिवीका शासन करने लगा और 'शशाद' नामसे विख्यात होकर अनेक यज्ञोंद्वारा उसने श्रीहरिकी उपासना की ॥ ११ ॥ उसके पुत्रका नाम पुरञ्जय था, जो 'इन्द्रवाह' नामसे विख्यात हुआ तथा वही 'ककुत्स्थ' भी कहलाया। हे राजन् ! जिन कर्मोंसे उसके ये नाम पड़े, वह वृत्तान्त सुनो ॥ १२ ॥ सत्ययुगके अन्तमें देवताओं और दानवोंमें घोर संग्राम हुआ। उस युद्धमें दैत्योंके द्वारा पराजित देवताओंने राजा पुरञ्जयको अपनी सहायताके लिये बुलाया ॥ १३ ॥ तब वाहनरूपसे वरण किये हुए देवराज इन्द्र अखिलात्मा देवदेव श्रीविष्णुभगवानके आदेशसे उनके लिये बड़े भारी बैल बन गये ॥ १४ ॥ उस समय युद्धके लिये तत्पर महराज पुरञ्जय परम पुरुष परमात्मा श्रीविष्णुभगवानके तेजसे अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुए। उन्होंने कवच धारण किया। हाथमें दिव्य धनुष तथा तीखे बाण लिये और उस महावृषभपर आरूढ़ होकर उसके ककुद्पर स्थित हुए। तदनन्तर देवताओंको साथ लेकर उन्होंने दैत्योंके नगरको पश्चिमकी ओरसे घेर लिया ॥ १५ ॥ १६ ॥ इसके बाद दैत्योंके साथ उनका घोर एवं रोमाञ्चकारी संग्राम हुआ। उस युद्धस्थलमें जो-जो दैत्य उन्हें दिखायी दिये, उन्हींको उन्होंने अपने बाणोंसे यमराजके घर भेज दिया ॥ १७ ॥ बहुतेरे दैत्य उनकी प्रलयकालीन अग्निकी भाँति प्रचण्ड बाणवर्षाके समक्ष हताहत होकर युद्धस्थलसे अपने घरको भाग गये ॥ १८ ॥ तब उन राजर्षिने दैत्योंकी सम्पत्तिके साथ उनका पुर तथा धन जीतकर वह सब इन्द्रको दे दिया। इसीसे वे 'इन्द्रवाह' और 'ककुत्स्थ' इन नामोंसे विख्यात हुए॥ १९ ॥ पुरञ्जयका पुत्र अनेना और अनेनाका पुत्र पृथु हुआ। पृथुका पुत्र विश्वरन्धि, विश्वरन्धिका चन्द्र और चन्द्रका पुत्र युवनाश्व हुआ ॥ २० ॥ युवनाश्वका पुत्र शाबस्त हुआ। जिसने कि शाबस्ती नगरी बसायी। शाबस्तके बृहदश्व और बृहदश्वके कुवलयाश्व नामका पुत्र हुआ ॥ २१ ॥ इसी कुवलयाश्वने उतङ्क ऋषिका प्रिय करनेके लिये अपने इक्कीस हजार पुत्रोंको साथ लेकर धुन्धुनामके दैत्यका वध किया था ॥ २२ ॥ इसी कारण उसका नाम 'धुन्धुमार' पड़ा। उस घोर युद्धमें उसके सब पुत्र धुन्धुके मुखसे निकले हुए अग्निकी लपटोंमें जल गये, केवल तीन ही शेष रह गये ॥ २३ ॥ हे भारत ! उन तीनोंके नाम दृढाश्व, कपिलाश्व तथा भद्राश्व थे। दृढाश्वका पुत्र हर्यश्व और उसका पुत्र निकुम्भ हुआ ॥२४॥ निकुम्भके बर्हणाश्व नामका पुत्र हुआ। उस बर्हणाश्वके कृशाश्व, कृशाश्वके सेनजित् तथा सेनजित्के युवनाश्व नामका पुत्र हुआ। युवनाश्व पुत्रहीन था। इसलिये खिन्न होकर अपनी सौ भार्याओंके

भार्याशतेन निर्विण्ण ऋषयोऽस्य कृपालवः । इष्टिं स्म वर्तयाश्चक्रुरैन्द्रीं ते सुसमाहिताः ॥२६॥
राजा तद् यज्ञसदनं प्रविष्टो निशि तर्षितः । दृष्ट्वा शयानान् विप्रांस्तान् पपौ मन्त्रजलं स्वयम्॥२७॥
उत्थितास्ते निशाम्याथ व्युदकं कलशं प्रभो । पप्रच्छुः कस्य कर्मेदं पीतं पुंसवनं जलम् ॥२८॥
राज्ञा पीतं विदित्वाथ ईश्वरप्रहितेन ते । ईश्वराय नमश्चक्रुरहो दैवबलं बलम् ॥२९॥
ततः काल उपावृत्ते कुक्षिं निर्भिद्य दक्षिणम् । युवनाश्वस्य तनयश्चक्रवर्ती जजान ह ॥३०॥
कं धास्यति कुमारोऽयं स्तन्यं रोरूयते भृशम् । मां धाता वत्स मा रोदीरितीन्द्रो देशिनीमदात्॥३१॥
न ममार पिता तस्य विप्रदेवप्रसादतः । युवनाश्वोऽथ तत्रैव तपसा सिद्धिमन्वगात् ॥३२॥
त्रसद्दस्युरितीन्द्रोऽङ्ग विदधे नाम तस्य वै । यस्मात् त्रसन्ति ह्युद्विग्ना दस्यवो रावणादयः ॥३३॥
यौवनाश्वोऽथ मान्धाता चक्रवर्त्यवनीं प्रभुः । सप्तद्वीपवतीमेकः शशासाच्युततेजसा ॥३४॥
ईजे च यज्ञं क्रतुभिरात्मविद् भूरिदक्षिणैः । सर्वदेवमयं देवं सर्वात्मकमतीन्द्रियम् ॥३५॥
द्रव्यं मन्त्रो विधिर्यज्ञो यजमानस्तथर्त्विजः । धर्मो देशश्च कालश्च सर्वमेतद् यदात्मकम् ॥३६॥
यावत् सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठति । सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥३७॥
शशबिन्दोर्दुहितरि बिन्दुमत्यामधान्नृपः । पुरुकुत्समम्बरीषं मुचुकुन्दं च योगिनम् ।
तेषां स्वसारः पञ्चाशत् सौभरिं वव्रिरे पतिम् ॥ ३८ ॥
यमुनान्तर्जले मग्नस्तप्यमानः परन्तपः । निर्वृतिं मीनराजस्य वीक्ष्य मैथुनधर्मिणः ॥३९॥

साथ वह वनको चला गया । वहाँपर कृपालु मुनीश्वरोंने युवनाश्वको पुत्र प्राप्त करानेके लिए बड़े सावधान मनसे ऐन्द्र यज्ञ कराया ॥ २५ ॥ २६ ॥ एक दिन रात्रिके समय प्याससे व्याकुल राजा यज्ञशालामें गया और ऋषियोंको सोते देखकर वहाँ रखा हुआ मन्त्रपूत जल पी लिया ॥ २७ ॥ हे राजन् ! सबेरे ऋषियोंने उठकर जब कलशको जलहीन देखा, तब पूछा—"यह कर्म किसका है ? किसने यह पुंसवन (पुत्र उत्पन्न करनेवाला) जल पी लिया है ?" ॥ २८ ॥ तदनन्तर यह जानकर कि ईश्वरी प्रेरणासे राजाने ही वह जल पिया है, तब उन्होंने 'अहो ! दैवबल सर्वप्रधान बल है !' ऐसा कहते हुए ईश्वरको नमस्कार किया ॥ २९ ॥ जब प्रसवका समय आया तब राजा युवनाश्वकी दाहिनी कोख फाड़कर एक चक्रवर्ती पुत्र जायमान हुआ ॥ ३० ॥ जब वह बालक दूध पीनेके लिये बहुत रोने लगा तो ऋषियोंने कहा—"यह दूध किसका पियेगा ?" तब इन्द्रने कहा कि मां धाता अर्थात् मुझे पियेगा, वत्स ! रोओ मत, यों कहकर अपनी तर्जनी अँगुली उसके मुखमें डाल दी ॥ ३१ ॥ उसका पिता युवनाश्व भी ब्राह्मणों एवं देवताओंकी कृपासे मृत्युको नहीं प्राप्त हुआ और तपस्याके द्वारा उसी जगह सिद्धिको प्राप्त कर लिया ॥ ३२ ॥ हे अङ्ग (तात) ! इन्द्रने उस बालकका नाम 'त्रसद्दस्यु' रखा । क्योंकि उससे उद्विग्न होकर रावण आदि बड़े-बड़े दस्यु बहुत भयभीत होजाते थे ॥ ३३ ॥ अब युवनाश्वतनय मान्धाता सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा होकर भगवानके तेजसे सम्पन्न हो अकेले ही सातों द्वीपकी पृथिवीपर शासन करने लगे ॥ ३४ ॥ तब उन्होंने आत्मज्ञान-सम्पन्न होकर भी द्रव्य यानी यज्ञसामग्री, मन्त्र, विधि, यज्ञ, यजमान, ऋत्विज, धर्म, देश तथा काल-ये सब जिनके स्वरूप हैं, उन सर्वदेवमय, सर्वात्मक, अतीन्द्रिय, देवाधिदेव, भगवान यज्ञपुरुषका अनेक बड़ी-बड़ी दक्षिणा युक्त यज्ञोंसे आराधन किया ॥ ३५-३६ ॥ जहाँ कि सूर्य उदय होता और जहाँ जाकर वह अस्त होता है, वहाँ तकका सारा देश युवाश्व-तनय मान्धाताका ही क्षेत्र अर्थात् अधिकृत भूमण्डल कहाता था ॥ ३७ ॥ उन राजा मान्धाताने शशबिन्दुकी कन्या बिन्दुमतीसे पुरुकुत्स, अम्बरीष तथा योगी मुकुन्दनामके तीन पुत्र उत्पन्न किये । उनकी पचास बहिनोंने सौभरि ऋषिको पतिरूपसे चुना था ॥ ३८ ॥ वे परम तपस्वी सौभरि यमुनाजीके जलमें गोता लगाकर तप

जातस्पृहो नृपं विप्रः कन्यामेकामयाचत । सोऽप्याह गृह्यतां ब्रह्मन् कामं कन्या स्वयंवरे ॥४०॥
स विचिन्त्याप्रियं स्त्रीणां जरठोऽयमसम्मतः । वलीपलित एजत्क इत्यहं प्रत्युदाहृतः ॥४१॥
साधयिष्ये तथाऽऽत्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितम् । किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः ॥४२॥
मुनिः प्रवेशितः क्षत्त्रा कन्यान्तःपुरमृद्धिमत् । वृतश्च राजकन्याभिरेकः पञ्चाशता वरः ॥४३॥
तासां कलिरभूद् भूयांस्तदर्थेऽपोह्य सौहृदम् । ममानुरूपो नायं व इति तद्गतचेतसाम् ॥४४॥

स बह्वृचस्ताभिरपारणीयतपःश्रियानर्घ्यपरिच्छदेषु ।
गृहेषु नानोपवनामलाम्भःसरःसु सौगन्धिककाननेषु ॥ ४५ ॥
महार्हशय्यासनवस्त्रभूषणस्नानानुलेपाभ्यवहारमाल्यकैः ।
स्वलङ्कृतस्त्रीपुरुषेषु नित्यदा रेमेऽनुगायद्द्विजभृङ्गवन्दिषु ॥ ४६ ॥

यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्तद्वीपवतीपतिः । विस्मितः स्तम्भमजहात् सार्वभौमश्रियान्वितम् ॥४७॥
एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः । सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥४८॥
स कदाचिदुपासीन आत्मापह्नवमात्मनः । ददर्श बह्वृचाचार्यो मीनसङ्गसमुत्थितम् ॥४९॥

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत् ॥ ५० ॥

करते थे। एक बार वहाँ मैथुनधर्ममें तत्पर एक मत्स्यराजका सुख देखकर उन्हें भी विवाह करनेकी अभिलाषा हो गयी। अतएव उन्होंने राजाके पास जाकर उनसे एक कन्या माँगी। इसपर राजाने कहा—"हे ब्रह्मन्! यदि स्वयंवरमें कन्या आपको वर ले तो आप प्रसन्नतासे एक कन्या ले सकते हैं" ॥ ३९ ॥ ४० ॥ तब उन ऋषि सौभरिने विचारा—'राजाने यह सोचा होगा कि यह बूढ़ा है। इसलिये स्त्रियोंको प्रिय नहीं होगा। इसके सारे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। इसके सब बाल सफेद हो गये हैं और सिर काँपने लगा है। यही सोचकर उन्होंने मुझे कोरा जवाब दे दिया है॥ ४१ ॥ इस लिए मैं अपनेको ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि सुरसुन्दरियाँ भी मुझे चाहने लगेंगी—यह सोचकर उन समर्थ सौभरिजीने वही किया ॥ ४२ ॥ तदनन्तर अन्तःपुररक्षकने उन मुनिश्रेष्ठको कन्याओंके समृद्धिशाली अन्तःपुरमें पहुँचाया। वहाँ उन पचासों कन्याओंने सौभरिको ही अपना पति चुन लिया ॥ ४३ ॥ और उन्हींमें सबका मन लग जानेसे उन कन्याओंने सौहार्द त्याग और 'ये तो मेरे ही योग्य हैं, तुम्हारे नहीं' ऐसा कहकर सौभरिजीके लिये उनमें परस्पर कलह होने लगा ॥ ४४ ॥ हे राजन्! तब ऋग्वेदी सौभरि ऋषि अपने अपार तपोबलसे बहुमूल्य परिच्छदों युक्त गृहोंमें, अनेक उपवनोंसे सुशोभित निर्मल जलपूर्ण सरोवरोंमें, कह्लारके वनोंमें और पक्षी तथा बन्दीजनोंसे गुञ्जायमान एवं सुन्दर अलंकारोंसे विभूषित स्त्री एवं पुरुषोंसे सुशोभित महलोंमें, महामूल्य शय्या, आसन, वस्त्र, आभूषण, स्नान, उबटन, सुस्वादु भोजन तथा पुष्पमालाओंका उपभोग करते हुए नित्य विहार करने लगे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ इनका गार्हस्थ्य-सुख देखकर सप्तद्वीपवती पृथ्वीके अधिपति महाराज मान्धाताने भी विस्मितभावसे अपने सार्वभौम तथा सम्पत्तिमान् होनेका गर्व सर्वथा त्याग दिया था ॥ ४७ ॥ इस प्रकार गार्हस्थ्यभोगमें आसक्त होकर वे विषयोंको विभिन्न इन्द्रियों द्वारा भोगते हुए भी इसी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हुए, जैसे घृतकी बूँदोंसे अग्नि नहीं तृप्त होने आता। एक दिन बैठे हुए वे ऋग्वेदाचार्य मन ही मन मत्स्यके सहवाससे प्राप्त अपने तपोभङ्गपर विचार करते हुए कहने लगे—॥ ४९ ॥ 'अहो! जिसने भली भाँति व्रतादिका पालन किया था, ऐसे मुझ तपस्वीका यह पतन तो देखो। जिस ब्रह्मतेजको मैंने बहुत समयसे धारण कर रखा था। सो मैं जलके भीतर एक जलजन्तुके संगसे भ्रष्ट हो गया!

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः ॥ ५१ ॥
एकस्तपस्व्यहमथाम्भसि मत्स्यसङ्गात् पञ्चाशतासमुत पञ्चसहस्रसर्गः।
नान्तं व्रजाम्युभयकृत्यमनोरथानां मायागुणैर्हृतमतिर्विषयेऽर्थभावः ॥ ५२ ॥
एवं वसन् गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः । वनं जगामानुययुस्तत्पत्न्यः पतिदेवताः ॥५३॥
तत्र तप्त्वा तपस्तीक्ष्णमात्मकर्शनमात्मवान् । सहैवाग्निभिरात्मानं युयोज परमात्मनि ॥५४॥
ताः स्वपत्युर्महाराज निरीक्ष्याध्यात्मिकीं गतिम् । अन्वीयुस्तत्प्रभावेण अग्निं शान्तमिवार्चिषः॥५५॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे सौभर्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

मान्धातुः पुत्रप्रवरो योऽम्बरीषः प्रकीर्तितः । पितामहेन प्रवृतो यौवनाश्वश्च तत्सुतः ।
हारीतस्तस्य पुत्रोऽभून्मान्धातृप्रवरा इमे ॥ १ ॥
नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय योरगैः । तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया ॥२॥
गन्धर्वानवधीत्तत्र वध्यान् वै विष्णुशक्तिधृक् । नागाल्लब्धवरः सर्पादभयं स्मरतामिदम् ॥३॥
त्रसद्दस्युः पौरुकुत्सो योऽनरण्यस्य देहकृत् । हर्यश्वस्तत्सुतस्तस्मादरुणोऽथ त्रिबन्धनः ॥४॥

॥ ५० ॥ प्रत्येक मोक्षाभिलाषी पुरुषका यह कर्तव्य है कि वह दाम्पत्यधर्ममें रहनेवाले प्राणियोंका सहवास एकदम त्याग दे और अपनी इन्द्रियोंको तनिक भी बहिर्मुख न होने दे। वह सदा एकान्त देशोंमें अकेले ही विचरता हुआ एकमात्र अनन्त ईश्वरमें ही अपना मन लगावे और यदि उसे सङ्ग ही करनेकी इच्छा हो तो भगवत्परायण साधु पुरुषोंका सङ्ग करे ॥ ५१ ॥ अहो! पहले मैं अकेला तपस्वी था। जलमें मत्स्यका सङ्ग करके पचास स्त्रियोंका पति होकर एकसे पचास हो गया। फिर सन्तानरूपसे बढ़कर पाँच हजार हो गया। विषयोंमें अब मेरी सत्यबुद्धि हो गयी है। बुद्धिके मायिक गुणोंमें फँसकर मैं अपने ऐहिक तथा पारलौकिक—दोनों ही प्रकारके मनोरथोंका पार नहीं पा रहा हूँ' ॥ ५२ ॥ इस तरह सोचते हुए वे कुछ काल घरमें रहे और अन्तमें विरक्त हो घर त्यागकर वनको चले गये। उनके साथ-साथ उनकी पतिपरायणा पत्नियाँ भी चली गयीं ॥ ५३ ॥ वहाँपर आत्म-चिन्तनमें संलग्न सौभरिजीने शरीरको सुखानेवाले तपमें तत्पर होकर आहवनीयादि अग्नियों सहित अपने-आपको परमात्मामें लय कर दिया ॥५४॥ हे महाराज! अपने पतिकी आध्यात्मिक गति देखकर उनकी वे पत्नियाँ भी उन्हींके प्रभावसे, अग्निमें लीन अतएव शान्त लपटोंके समान उनका अनुगमन करती हुई सती होकर मुक्त हो गयीं ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(महाराज त्रिशंकु और हरिश्चन्द्रका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! मान्धाताके पुत्रोंमें सबसे बड़े पुत्र जिन अम्बरीषजीका वर्णन किया जा चुका है, उन्हें उनके दादा युवनाश्वने पुत्र करके मान लिया था। उन अम्बरीषका पुत्र यौवनाश्व और उससे हारीत नामका पत्र हुआ। ये तीनों ही मान्धातृ-गोत्रमें प्रवर अर्थात् अवान्तर गोत्रके प्रवर्त्तक हुए ॥ १ ॥ नर्मदाको उसके भाई नागोंने पुरुकुत्ससे ब्याह दिया था। वह नागराजके कथनानुसार राजा पुरुकुत्सको रसातललोकमें ले गयी ॥ २ ॥ वहाँपर उन्होंने विष्णुभगवानकी शक्तिसे सम्पन्न होकर वधके योग्य गन्धर्वोंको मारा और उस नागराजसे यह वर पाया कि 'जो इस आख्यानका स्मरण करें, उन पुरुषोंको सर्पसे भय न रह जाय' ॥ ३ ॥ राजा पुरुकुत्सका पुत्र त्रसद्दस्यु हुआ। वह त्रसद्दस्यु अनरण्यका पिता था। अनरण्यका

तस्य सत्यव्रतः पुत्रस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः। प्राप्तश्चाण्डालतां शापाद् गुरोः कौशिकतेजसा ॥५॥
सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते। पातितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात् ॥६॥
त्रैशङ्कवो हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रवसिष्ठयोः। यन्निमित्तमभूद् युद्धं पक्षिणोर्बहुवार्षिकम् ॥७॥
सोऽनपत्यो विषण्णात्मा नारदस्योपदेशतः। वरुणं शरणं यातः पुत्रो मे जायतां प्रभो ॥८॥
यदि वीरो महाराज तेनैव त्वां यजे इति। तथेति वरुणेनास्य पुत्रो जातस्तु रोहितः ॥९॥
जातः सुतो ह्यनेनाङ्ग मां यजस्वेति सोऽब्रवीत्। यदा पशुर्निर्दशः स्यादथ मेध्यो भवेदिति १०॥
निर्दशे च स आगत्य यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्। दन्ताः पशोर्यज्जायेरन्नथ मेध्यो भवेदिति ॥११॥
जाता दन्ता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्। यदा पतन्त्यस्य दन्ता अथ मेध्यो भवेदिति ॥१२॥
पशोर्निपतिता दन्ता यजस्वेत्याह सोऽब्रवीत्। यदा पशोः पुनर्दन्ता जायन्तेऽथ पशुः शुचिः॥१३॥
पुनर्जाता यजस्वेति स प्रत्याहाथ सोऽब्रवीत्। सान्नाहिको यदा राजन् राजन्योऽथ पशुः शुचिः१४
इति पुत्रानुरागेण स्नेहयन्त्रितचेतसा। कालं वञ्चयता तं तमुक्तो देवस्तमैक्षत ॥१५॥

पुत्र हरवर्य, उससे अरुण और अरुणसे त्रिबन्धन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥ त्रिबन्धनका पुत्र सत्यव्रत हुआ। जो आगे चलकर 'त्रिशंकु' इस नामसे विख्यात हुआ। वह गुरु वशिष्ठजीके शापसे चाण्डाल हो गया था। तथापि विश्वामित्रजीके तपोबलसे सशरीर स्वर्गलोकको चला गया। वहाँसे देवताओंने उसे नीचे सिर करके ढकेल दिया। किन्तु विश्वामित्रजीके द्वारा हठात् वहीं रोक दिये जानेके कारण इस समय भी वह आकाशमें लटका हुआ दिखलाई पड़ता है। * कथान्तर * राजा त्रिशंकुने विवाह होते समय एक ब्राह्मणकन्याको हर लिया था। अतएव उसके पिताने उसे शाप दे दिया। इसी तरह अज्ञानवश गुरु वसिष्ठजीकी गौका वध करनेके कारण वसिष्ठजीने भी उसे शाप दिया था ॥ ५-६ ॥ उस त्रिशंकुका पुत्र हरिश्चन्द्र हुआ। जिसके लिये परस्परके शापसे वे पक्षी हुए। उन विश्वामित्र तथा वसिष्ठजीका कई वर्षोंतक युद्ध चलता रहा। * कथान्तर * महर्षि विश्वामित्रजीने हरिश्चन्द्रसे राजसूय यज्ञ कराके दक्षिणामें उनका सारा धन ले लिया। इससे कुपित होकर कुलगुरु वसिष्ठजीने उन्हें शाप दिया कि 'तुम आडी नामके पक्षी हो जाओ।' तब विश्वामित्रजीने भी वशिष्ठजीको वक पक्षी होनेका शाप दे दिया। इस तरह परस्परके शापसे आडी और बक पक्षी हो जानेके बाद उनमें वर्षों युद्ध चलता रहा ॥७॥ राजा हरिश्चन्द्रके कोई पुत्र नहीं था। इसलिए वह बहुत खिन्न होकर नारदजीके उपदेशानुसार वरुणकी शरणमें गया और उनसे प्रार्थना करते हुए कहा—"हे प्रभो! मेरे पुत्र हो ॥ ८ ॥ हे महाराज! यदि कभी मेरे वीर पुत्र होगा तो मैं उसीसे आपका पूजन करूँगा।" तब वरुणने 'बहुत अच्छा' कहा और उसके रोहितनामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ उस पुत्रके उत्पन्न होते ही वरुणने कहा—"हे तात! तुम्हारे पुत्र हो गया। अब इससे मेरा यजन करो" तब राजा बोले—"यह पुत्ररूप पशु जब दस दिनका हो जायगा, तभी मेध्य (पवित्र) होगा" ॥ १० ॥ दस दिन बीत जानेपर फिर वरुणने आकर कहा—"अच्छा, अब यज्ञ करो।" किन्तु राजाने कहा—"जब पशुके दाँत निकल आयेंगे, तब वह पवित्र होगा" ॥ ११ ॥ दाँत निकल आनेपर वरुणदेवने कहा—"इसके दाँत निकल आये, अब तो तुम मेरा यजन करो।" तब हरिश्चन्द्रने कहा—"जब इसके थे दाँत गिर जायँगे, तब मेध्य होगा" ॥ १२ ॥ दाँत गिर जानेपर जब वरुणने कहा—"अब तो पशुके दाँत गिर गये हैं, अतएव मेरा यजन करो।" तब राजा बोला—"जब पशुके फिरसे दाँत निकल आयेंगे, तब यह मेध्य होगा" ॥ १३ ॥ इसके बाद जब वरुणने कहा—"अब तो इसके दाँत फिरसे निकल आये हैं, इसलिये मेरा यजन करो।" तब राजा बोला—"हे देवता! जब राजपुरुषरूपी पशु कवच धारण करने योग्य हो जाता, तभी पवित्र समझा जाता है" ॥ १४ ॥ इस तरह अपने पुत्रके प्रेमवश स्नेहासक्त मनसे समय बिताते हुए वह भिन्न-भिन्न समय बतलाता गया और वरुणदेव भी

रोहितस्तदभिज्ञाय पितुः कर्म चिकीर्षितम्। प्राणप्रेप्सुर्धनुष्पाणिररण्यं प्रत्यपद्यत ॥१६॥
पितरं वरुणग्रस्तं श्रुत्वा जातमहोदरम्। रोहितो ग्राममेयाय तमिन्द्रः प्रत्यषेधत ॥१७॥
भूमेः पर्यटनं पुण्यं तीर्थक्षेत्रनिषेवणैः। रोहितायादिशच्छक्रःसोऽप्यरण्येऽवसत् समाम् ॥१८॥
एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे तथा। अभ्येत्याभ्येत्य स्थविरो विप्रो भूत्वाऽऽह वृत्रहा॥१९
षष्ठं संवत्सरं तत्र चरित्वा रोहितः पुरीम्। उपव्रजन्नजीगर्तादक्रीणान्मध्यमं सुतम् ॥२०॥
शुनःशेपं पशुं पित्रे प्रदाय समवन्दत। ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रो महायशाः ॥२१॥
मुक्तोदरोऽयजद् देवान् वरुणादीन् महत्कथः। विश्वामित्रोऽभवत् तस्मिन् होता चाध्वर्युरात्मवान् ॥
जमदग्निरभूद् ब्रह्मा वसिष्ठोऽयास्यसामगः। तस्मै तुष्टो ददाविन्द्रः शातकौम्भमयं रथम् ॥२३॥
शुनःशेपस्य माहात्म्यमुपरिष्टात्प्रचक्ष्यते। सत्यसारां धृतिं दृष्ट्वा सभार्यस्य च भूपतेः ॥२४॥
विश्वामित्रो भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम्। मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेनतत् ॥२५॥
खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि। तस्मिञ्ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहम् २६॥
हित्वा तां स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा। अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे हरिश्चन्द्रोपाख्यानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

उसकी प्रतीक्षा करते रह गये ॥ १५ ॥ जब रोहितको अपने पिताके सङ्कल्पित कर्मका हाल मालूम हुआ तो वह हाथमें धनुष लेकर अपने प्राण बचानेके निमित्त वनमें भाग गया ॥ १६ ॥ कुछ दिन बाद अपने पिताको वरुण देवतासे ग्रस्त हो महोदररोगसे पीडित सुनकर रोहित अपने नगरको लौटने लगा, किन्तु इन्द्रने उसे रोक दिया ॥ १७ ॥ रोहितसे इन्द्रने कहा—"हे वत्स ! इस तरह यज्ञपशु बनकर मरनेकी अपेक्षा पुण्यक्षेत्रमें भ्रमण करते हुए पृथिवीमें विचरते रहना कहीं अच्छा है।" ऐसा उपदेश पाकर रोहित एक वर्षतक और वनमें छिपा रहा ॥ १८ ॥ इसी तरह दूसरे, तीसरे, चौथे तथा पाँचवें वर्षके बाद भी इन्द्र वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें आकर बराबर उसे तीर्थयात्रा करते रहनेका उपदेश देते रहे ॥ १९ ॥ छठें वर्षकी समाप्तिपर जब रोहित अपने नगरको आने लगा तो उसने अजीगर्त्तसे उसका शुनःशेपनामका मँझला पुत्र खरीद लिया और उसे यज्ञपशुरूपमें अपने पिताको सौंप करके प्रणाम किया। ऐसा करनेपर महायशस्वी तथा महापुरुषोंसे कीर्तित गुणवाले राजा हरिश्चन्द्रने उदररोगसे छुटकारा पाकर नरमेध यज्ञके द्वारा वरुण आदि देवताओंका आराधन किया। उस यज्ञमें विश्वामित्रजी होता, आत्मवान् अध्वर्यु, वसिष्ठजी ब्रह्मा और अयास्य मुनि उद्गाता बने थे। इससे प्रसन्न होकर इन्द्रने राजा हरिश्चन्द्रको एक स्वर्णरथ प्रदान किया था ॥ २०–२३ ॥ हे राजन् ! शुनःशेपकी महिमा आगे चलकर विश्वामित्रजीके पुत्रोंके प्रसंगमें बतायेंगे। अपनी स्त्रीके साथ राजा हरिश्चन्द्रकी सत्यमें दृढ़ता देखकर विश्वामित्रजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें तत्वज्ञानका उपदेश दिया। तदनुसार राजा हरिश्चन्द्रने अपना मन पृथिवीमें, पृथिवीको जलमें जलको तेजमें, तेजको वायुमें तथा वायुको आकाशमें स्थिर करके उसे भूतादिमें तथा भूतादिको महत्तत्त्वमें लीन कर दिया। महत्तत्त्वमें ज्ञानकलाकी भावना करते हुए उन्होंने अपना अज्ञान भस्म किया ॥ २४–२६ ॥ इसके बाद निर्वाणसुखके अनुभव द्वारा उस ज्ञानकलाको भी त्याग और सब बन्धनोंसे छूटकर जिसका कथन तथा अनुमान भी नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वरूपमें जाकर स्थित हो गये ॥२७॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

हरितो रोहितसुतश्चम्पस्तस्माद्विनिर्मिता । चम्पापुरी सुदेवोऽतो विजयो यस्य चात्मजः ॥१॥
भरुकस्तत्सुतस्तस्माद् वृकस्तस्यापि बाहुकः । सोऽरिभिर्हृतभू राजा सभार्यो वनमाविशत् ॥२॥
वृद्धं तं पञ्चतां प्राप्तं महिष्यनु मरिष्यती । और्वेण जानताऽऽत्मानं प्रजावन्तं निवारिता ॥३॥
आज्ञायास्यै सपत्नीभिर्गरो दत्तोऽन्धसा सह । सह तेनैव संजातः सगराख्यो महायशाः ॥४॥
सगरश्चक्रवर्त्यासीत् सागरो यत्सुतैः कृतः । यस्तालजङ्घान् यवनाञ्छकान् हैहयबर्बरान् ॥५॥
नावधीद् गुरुवाक्येन चक्रे विकृतवेषिणः । मुण्डाञ्छ्मश्रुधरान् कांश्चिन्मुक्तकेशार्धमुण्डितान् ॥६॥
अनन्तर्वाससः कांश्चिदबहिर्वाससोऽपरान् । सोऽश्वमेधैरयजत सर्ववेदसुरात्मकम् ॥७॥
और्वोपदिष्टयोगेन हरिमात्मानमीश्वरम् । तस्योत्सृष्टं पशुं यज्ञे जहाराश्वं पुरन्दरः ॥८॥
सुमत्यास्तनया दृप्ताः पितुरादेशकारिणः । हयमन्वेषमाणास्ते समन्तान्न्यखनन्महीम् ॥९॥
प्रागुदीच्यां दिशि हयं ददृशुः कपिलान्तिके । एष वाजिहरश्चौर आस्ते मीलितलोचनः ॥१०॥
हन्यतां हन्यतां पाप इति षष्टिसहस्रिणः । उदायुधा अभिययुरुन्मिमेष तदा मुनिः ॥११॥
स्वशरीराग्निना तावन्महेन्द्रहृतचेतसः । महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात् ॥१२॥

(राजा सगरका चरित्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! रोहितका पुत्र हरित और उससे चम्प हुआ, जिसने चम्पापुरी बसायी थी । चम्पका पुत्र सुदेव और सुदेवके विजय नामक पुत्र हुआ ॥१॥ विजयका पुत्र भरुक और भरुकसे वृक तथा वृकसे बाहुक उत्पन्न हुआ । राजा बाहुक शत्रुओं द्वारा पृथिवी छिन जानेपर अपनी स्त्रियों समेत वनको भाग गये ॥ २ ॥ वहाँ वृद्धावस्थामें राजाके मर जानेपर उनकी राजमहिषी सती होनेको उद्यत हुई । किन्तु गुरुवर और्वने उसके शरीरको गर्भयुक्त जानकर उसे ऐसा नहीं करने दिया ॥ ३ ॥ जब उसके सौतोंने यह समाचार सुना तो उसे भोजनमें विष दे दिया, किन्तु वह महायशस्वी बालक उस गर (विष) के साथ ही उत्पन्न हुआ था, इसलिए उसका 'सगर' यह नाम पड़ा ॥४॥ सगर चक्रवर्ती राजा हुआ । सगरके पुत्रोंने सागरको उत्पन्न किया था । अपने गुरु और्वके कहनेसे उसने तालजङ्घ, यवन, शक, हैहय तथा बर्बर जातिके मनुष्योंको मारा नहीं, बल्कि उन्हें कुरूप करके छोड़ दिया । उन्होंने उनमेंसे कुछके सिर मुँडवा दिये, कुछके मुँछ-दाढ़ी रखवा दी, कुछको खुले केशका कर दिया और कुछको अर्धमुण्डित करके त्याग दिया ॥ ५ ॥ ६ ॥ कुछको केवल ओढ़नेके वस्त्रसे युक्त तथा कुछको केवल लंगोटी पहना दी । महाराज सगरने और्वऋषिकी उपदिष्ट विधिके अनुसार सम्पूर्ण वेद तथा देवस्वरूप सर्वात्मा जगदीश्वर श्रीहरिका अश्वमेध यज्ञके द्वारा यजन किया । इसी समय यज्ञमें छोड़े हुए उसके यज्ञपशु-रूपी घोड़ेको इन्द्रने हर लिया ॥ ७ ॥ ८ ॥ तब राजाकी सुमति नामकी महारानीके अतिशय गर्वीले तथा पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले पुत्रोंने उस यज्ञके अश्वको खोजते-खोजते सारी पृथिवी सब ओरसे खोद डाली ॥ ९ ॥ अन्तमें उन्हें पूर्वोत्तर दिशामें कपिलमुनिके पास बँधा हुआ अपना घोड़ा दिखायी पड़ा । उसे देखकर वे साठों हजार पुत्र अपने अस्त्र-शस्त्र ले-लेकर 'अरे ! यह घोड़का चोर यहाँ आँख मूँदे बठा है । इस पापीको तुरन्त मार डालो' यों कहते हुये उनकी ओर झपटे । तब मुनिने अपने नेत्र खोल दिये ॥ १० ॥ ११ ॥ तदनन्तर इन्द्रकी मायासे मुग्ध चित्तवाले वे सब राज-कुमार महात्मा कपिलजीके अपराधी होनेके कारण उनकी दृष्टि पड़ते ही क्षणभरमें अपने ही शरीरसे

न साधुवादो मुनिकोपभर्जिता नृपेन्द्रपुत्रा इति सत्त्वधामनि।
कथं तमो रोषमयं विभाव्यते जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः ॥ १३ ॥
यस्येरिता सांख्यमयी दृढेह नौर्यया मुमुक्षुस्तरते दुरत्ययम्।
भवार्णवं मृत्युपथं विपश्चितः परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः ॥ १४ ॥

योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः। तस्य पुत्रोंऽशुमान् नाम पितामहहिते रतः ॥१५॥
असमञ्जस आत्मानं दर्शयन्नसमञ्जसम्। जातिस्मरः पुरा सङ्गाद् योगी योगाद् विचालितः॥१६॥
आचरन् गर्हितं लोके ज्ञातीनां कर्म विप्रियम्। सरय्वां क्रीडतो बालान् प्रास्यदुद्वेजयञ्जनम् ॥१७॥
एवंवृत्तः परित्यक्तः पित्रा स्नेहमपोह्य वै। योगैश्वर्येण बालांस्तान् दर्शयित्वा ततो ययौ॥१८॥
अयोध्यावासिनः सर्वे बालकान् पुनरागतान्। दृष्ट्वा विसिस्मिरे राजन् राजा चाप्यन्वतप्यत ॥१९॥
अंशुमांश्चोदितो राज्ञा तुरङ्गान्वेषणे ययौ। पितृव्यखातानुपथं भस्मान्ति ददृशे हयम् ॥२०॥
तत्रासीनं मुनिं वीक्ष्य कपिलाख्यमधोक्षजम्। अस्तौत् समाहितमनाः प्राञ्जलिः प्रणतो महान्॥२१॥

अंशुमानुवाच

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः।
कुतोऽपरे तस्य मनःशरीरधीविसर्गसृष्टा वयमप्रकाशाः ॥ २२ ॥

उत्पन्न अग्नि द्वारा जलकर भस्मकी ढेर बन गये ॥ १२ ॥ हे राजन्! 'वे सगरके पुत्र कपिलमुनिके क्रोधसे भस्म हो गये' यह कहना अनुचित है। जिनका शरीर सारे जगत्‌को पवित्र कर रहा था, उन सत्त्वस्वरूप कपिलजीमें क्रोधरूपी तमोगुणकी कल्पना भला कैसे की जा सकती है? पृथिवीकी रजका क्या कभी आकाशसे सम्बन्ध हो सकता है? ॥ १३ ॥ जिसके सहारे मुमुक्षुजन मृत्युके मार्गरूपी इस दुस्तर संसारसागरको पार कर जाते हैं, वह सांख्यमयी सुदृढ़ नौका जिन्होंने इस लोकमें प्रवृत्त की है, उन परमात्मस्वरूप तथा सर्वज्ञ कपिलजीको 'अमुक व्यक्ति शत्रु है और अमुक मित्र है' यह भेदबुद्धि भला क्योंकर हो सकती है? ॥ १४ ॥ हे राजन्! सगरका जो पुत्र 'असमञ्जस' इस नामसे विख्यात था, वह सगरकी केशिनी नामकी रानीका बेटा था। उस असमंजसका पुत्र अंशुमान् सदा अपने पितामहके हितमें लगा रहता था ॥ १५ ॥ असमञ्जस पूर्वजन्ममें योगी था, किन्तु कुसंगमें पड़कर योगभ्रष्ट हो गया था। उसे अपने पूर्वजन्मकी सब बातें याद थीं। अतएव 'मुझे पुनः कुसंग न प्राप्त हो जाय' इस भावनासे वह संसारमें अपने बन्धु-बान्धवोंको अप्रिय तथा निन्दनीय कर्म करता हुआ विपरीत आचरण दिखाता था। वह अपने प्रजाजनको उद्विग्न करनेके निमित्त उनके खेलते हुए बच्चोंको सरयू नदीमें ढकेल दिया करता था ॥ १६ ॥ १७ ॥ उसका ऐसा विपरीत आचरण देख पिताने पुत्रस्नेहको त्यागकर उसे देशसे निकाल दिया। तब वह अपने योगबलसे उन मरे हुए बालकोंको फिरसे जीवित करके चला गया ॥१८॥ अपने बालकोंको पुनः आये हुए देखकर सब अयोध्यावासी बहुत विस्मित हुए और राजाको भी बड़ा पछतावा हुआ ॥ १९ ॥ इसके बाद राजा सगरकी आज्ञासे अंशुमान् घोड़ा ढूँढ़ने गया और उसने अपने पितृव्योंके खोदे हुए मार्गसे जाते-जाते उस घोड़ेको भस्मके समीप खड़ा देखा ॥ २० ॥ वहाँ साक्षात् भगवानके अवतार कपिल मुनिको बैठे देख वह अतिशय समाहित चित्तसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक स्तुति करता हुआ कहने लगा ॥ २१ ॥ अंशुमान्ने कहा—हे भगवन्! जब कि अजन्मा भगवान् ब्रह्माजी भी अपनेसे अतीत आपको प्रत्यक्ष नहीं देख पाते और न आजतक समाधि तथा युक्तियोंसे आपको परोक्षरूपसे ही जान पाये हैं। फिर उनके मन, बुद्धि तथा शरीरसे होनेवाली सृष्टिके द्वारा देव-मनुष्यादिके रूपमें रचित हम

ये देहभाजस्त्रिगुणप्रधाना गुणान् विपश्यन्त्युत वा तमश्च ।
यन्मायया मोहितचेतसस्ते विदुः स्वसंस्थं न बहिःप्रकाशाः ॥ २३ ॥
तं त्वामहं ज्ञानघनं स्वभावप्रध्वस्तमायागुणभेदमोहैः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिर्विभाव्यं कथं हि मूढः परिभावयामि ॥ २४ ॥
प्रशान्तमायागुणकर्मलिङ्गमनामरूपं सदसद्विमुक्तम् ।
ज्ञानोपदेशाय गृहीतदेहं नमामहे त्वां पुरुषं पुराणम् ॥ २५ ॥
त्वन्मायारचिते लोके वस्तुबुद्धया गृहादिषु । भ्रमन्ति कामलोभेर्ष्यामोहविभ्रान्तचेतसः ॥२६॥
अद्य नः सर्वभूतात्मन् कामकर्मेन्द्रियाशयः । मोहपाशो दृढश्छिन्नो भगवंस्तव दर्शनात् ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इत्थङ्गीतानुभावस्तं भगवान् कपिलो मुनिः । अंशुमन्तमुवाचेदमनुगृह्य धिया नृप ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

अश्वोऽयं नीयतां वत्स पितामहपशुस्तव । इमे च पितरो दग्धा गङ्गाम्भोऽर्हन्ति नेतरत् ॥२९॥
तं परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत् । सगरस्तेन पशुना क्रतुशेषं समापयत् ॥३०॥
राज्यमंशुमति न्यस्य निःस्पृहो मुक्तबन्धनः । और्वोपदिष्टमार्गेण लेभे गतिमनुत्तमाम् ॥३१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे सगरोपाख्यानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अज्ञानीलोग भला आपको कैसे जान सकते हैं ? ॥ २२ ॥ जिन आपकी मायासे मोहितचित्त देहधारी प्राणी, जो तीनों गुणोंके वशीभूत रहा करते हैं, जो जाग्रत और स्वप्नमें केवल गुणमय पदार्थों और अज्ञानको ही देखते हैं और बहिर्मुख होनेके कारण अपने अन्तःकरणमें स्थित आपको नहीं देख पाते ॥ २३ ॥ उन्हीं ज्ञानघनस्वरूप आपकी भावना मैं मूढ़मति कैसे कर सकता हूँ ? क्योंकि आप तो जिनका आत्मस्वरूपके अनुभवमें गुणमय भेदरूपी सब मोह दूर हो गया रहता है, उन सनन्दनादि मुनियों द्वारा निरन्तर ध्यान किये जाने योग्य हैं ॥ २४ ॥ अतएव जिनमें मायिक गुण, कर्म, लिङ्ग तथा नाम-रूपका तिरोभाव हो गया है और जो कार्य-कारणभावसे रहित हैं, केवल ज्ञानोपदेशके लिये ही शरीर धारण करनेवाले उन आप पुराण पुरुषको हम प्रणाम करते हैं ॥ २५ ॥ हे प्रभो ! काम, लोभ, ईर्ष्या तथा मोहादिसे भ्रान्तचित्तवाले पुरुष आपकी मायासे रचित इस लोकमें परमार्थबुद्धि करके गृहस्थी आदिमें भटका करते हैं ॥ २६ ॥ हे सर्वभूतात्मन् ! हे भगवन् ! आज आपका दर्शन पाकर विषयाभिलाषा, कर्म और इन्द्रियोंका आश्रयरूपी हमारा सुदृढ़ मोहपाश सर्वथा नष्ट हो गया है ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह अपने प्रभावका वर्णन सुनकर भगवान् कपिल मुनि अंशुमान्पर हृदयसे अनुग्रह करते हुए इस तरह कहने लगे ॥ २८ ॥ भगवान् कपिल बोले—हे वत्स ! यह घोड़ा तुम्हारे पितामहका यज्ञपशु है, तुम इसे ले जाओ । ये तुम्हारे दग्ध पितृगण केवल गङ्गाजल पाकर मुक्त हो सकते हैं ॥ २९ ॥ तदनन्तर अंशुमान्ने कपिलजीकी परिक्रमा की और उन्हें मस्तक झुकाकर प्रसन्न किया और उस घोड़ेको यज्ञमण्डपमें ले आये । तब सगरने उस यज्ञपशुसे अपना यज्ञ पूर्ण किया ॥ ३० ॥ तदनन्तर अंशुमान्को राज्य देकर उन्होंने निःस्पृह एवं बन्धनहीन होकर और्वऋषिके उपदिष्ट मार्गसे परमपद पाया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अंशुमांश्च तपस्तेपे गङ्गानयनकाम्यया । कालं महान्तं नाशक्नोत् ततः कालेन संस्थितः ॥१॥
दिलीपस्तत्सुतस्तद्वदशक्तः कालमेयिवान् । भगीरथस्तस्य पुत्रस्तेपे स सुमहत् तपः ॥२॥
दर्शयामास तं देवी प्रसन्ना वरदास्मि ते । इत्युक्तः स्वमभिप्रायं शशंसावनतो नृपः ॥३॥
कोऽपि धारयिता वेगं पतन्त्या मे महीतले । अन्यथा भूतलं भित्त्वा नृप यास्ये रसातलम् ॥४॥
किं चाहं न भुवं यास्ये नरा मय्यामृजन्त्यघम् । मृजामि तदघं कुत्र राजंस्तत्र विचिन्त्यताम् ॥५॥

भगीरथ उवाच

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः । हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥६॥
धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम् । यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु ॥७॥
इत्युक्त्वा स नृपो देवं तपसातोषयच्छिवम् । कालेनाल्पीयसा राजंस्तस्येशः समतुष्यत ॥८॥
तथेति राज्ञाभिहितं सर्वलोकहितः शिवः । दधारावहितो गङ्गां पादपूतजलां हरेः ॥९॥
भगीरथः स राजर्षिर्निन्ये भुवनपावनीम् । यत्र स्वपितृणां देहा भस्मीभूताः स्म शेरते॥१०॥
रथेन वायुवेगेन प्रयान्तमनुधावती । देशान् पुनन्ती निर्दग्धानासिञ्चत् सगरात्मजान् ११
यज्जलस्पर्शमात्रेण ब्रह्मदण्डहता अपि । सगरात्मजा दिवं जग्मुः केवलं देहभस्मभिः॥१२॥

(गङ्गाजीका अवतरण और राजा सौदासका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! राजा अंशुमान्ने गङ्गाजीको लानेके लिए चिरकाल तक तप किया, किन्तु वह अपने कार्यमें सफल नहीं हुआ और अन्तमें कालके उपस्थित होनेपर परम धाम चला गया ॥ १ ॥ ऐसे ही उसका पुत्र दिलीप भी असफल रहकर ही मर गया। तदनन्तर दिलीपके पुत्र भगीरथने घोर तपस्या की ॥ २ ॥ जिससे प्रसन्न होकर गङ्गादेवीने उन्हें दर्शन दिया और कहा कि मैं तुम्हें वर देने आयी हूँ। तब राजा भागीरथीने अति विनयपूर्वक अपना अभिप्राय कह सुनाया ॥ ३ ॥ गङ्गाजी बोलीं—हे राजन्! जब मैं स्वर्गसे पृथ्वीतलपर गिरूँ तो कोई मेरा वेग रोकनेवाला भी तो होना चाहिये। नहीं तो मैं पृथ्वीतलको छेदकर सीधे रसातलको चली जाऊँगी ॥ ४ ॥ इसके अतिरिक्त एक कारण और है, जिससे मैं पृथ्वीपर जाऊँगी ही नहीं। क्योंकि वहाँके लोग तो मुझमें अपने सब पाप धो देंगे, लेकिन मैं उन पापोंको कहाँ धोऊँगी? यह भी सोच लो ॥ ५ ॥ राजा भगीरथ बोले—हे माता! तीनों प्रकारकी एषणाओंको त्यागनेवाले, शान्त, ब्रह्मनिष्ठ तथा लोकोंको पवित्र करनेवाले सज्जन अपने अंग-संगसे आपके सब पापोंको धोकर दूर कर देंगे। क्योंकि उनमें सर्वपापहारी भगवान विराजमान रहते हैं ॥ ६ ॥ जिनमें यह सारा जगत् तन्तुओंमें वस्त्रके समान ओतप्रोत रहता है, वे सब देहधारियोंके आत्मा रुद्रभगवान तुम्हारे वेगको रोकेंगे ॥ ७ ॥ यों कहकर राजा भगीरथने तपके द्वारा शिवजीको प्रसन्न किया। हे राजन्! थोड़े ही समयमें भगवान शंकर उनपर प्रसन्न हो गये ॥ ८ ॥ सर्वलोक-हितकारी श्रीशंकरभगवानने राजाके कथनको 'तथास्तु' कहकर स्वीकार किया और जिसका पावन जल भगवान विष्णुका चरणोदक होनेसे पवित्र माना गया है, उस गङ्गाको अपने समाहितचित्त द्वारा धारण किया ॥ ९ ॥ तब राजर्षि भगीरथ त्रिभुवनपावनी श्रीगङ्गाजीको वहाँ ले चले, जहाँ उनके पितर भस्मीभूत होकर पड़े हुए थे ॥ १० ॥ वायुके सदृश वेगवाले रथपर जाते हुए राजा भगीरथका अनुगमन करती हुई गङ्गाजीने सब देश-देशान्तरोंको पवित्र करते हुए भस्मीभूत सगरपुत्रोंको अपने जलसे सींच दिया ॥ ११ ॥ अपने शरीरकी भस्मके साथ उनके जलका स्पर्शमात्र होनेसे सभी सगरपुत्र ब्रह्मशापसे हत होते हुए भी स्वर्गवासी हो गये।

भस्मीभूताङ्गसङ्गेन स्वर्याताः सगरात्मजाः । किं पुनः श्रद्धया देवीं ये सेवन्ते धृतव्रताः ॥१३॥
न ह्येतत् परमाश्चर्यं स्वर्धुन्या यदिहोदितम् । अनन्तचरणाम्भोजप्रसूताया भवच्छिदः ॥१४॥
सन्निवेश्य मनो यस्मिञ्छ्रद्धया मुनयोऽमलाः । त्रैगुण्यं दुस्त्यजं हित्वा सद्यो यातास्तदात्मताम् ॥१५॥
श्रुतो भगीरथाज्जज्ञे तस्य नाभोऽपरोऽभवत् । सिन्धुद्वीपस्ततस्तस्मादयुतायुस्ततोऽभवत् ॥१६॥
ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् । दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै सर्वकामस्तु तत्सुतः ॥१७॥
ततः सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप । आहुर्मित्रसहं यं वै कल्माषाङ्घ्रिमुत क्वचित् ।
वसिष्ठशापाद् रक्षोऽभूदनपत्यः स्वकर्मणा ॥ १८ ॥

राजोवाच

किंनिमित्तो गुरोः शापः सौदासस्य महात्मनः । एतद् वेदितुमिच्छामः कथ्यतां न रहो यदि १९॥

श्रीशुक उवाच

सौदासो मृगयां किञ्चिच्चरन् रक्षो जघान ह । मुमोच भ्रातरं सोऽथ गतः प्रतिचिकीर्षया ॥२०॥
स चिन्तयन्नघं राज्ञः सूदरूपधरो गृहे । गुरवे भोक्तुकामाय पक्त्वा निन्ये नरामिषम् ॥२१॥
परिवेक्ष्यमाणं भगवान् विलोक्याभक्ष्यमञ्जसा । राजानमशपत् क्रुद्धो रक्षो ह्येवं भविष्यसि ॥२२॥
रक्षःकृतं तद्विदित्वा चक्रे द्वादशवार्षिकम् । सोऽप्यपोऽञ्जलिनाऽऽदाय गुरुं शप्तुं समुद्यतः ॥२३॥
वारितो मदयन्त्यापो रुशतीः पादयोर्जहौ । दिशः खमवनीं सर्वं पश्यञ्जीवमयं नृपः ॥२४॥

अहो ! वे सब सगरके पुत्र केवल अपने भस्मीभूत शरीरोंका संसर्ग होनेसे ही स्वर्ग चले गये थे—फिर जो व्रती लोग श्रीगङ्गादेवीका श्रद्धाके साथ नित्य सेवन करते हैं, उनके विषयमें क्या कहना है ? ॥ १२ ॥ १३ ॥ जिनमें निर्मलस्वभावके मुनिजन श्रद्धाके साथ चित्त लगाकर, जिनका छूटना बहुत कठिन है, उन तीनों गुणोंको त्यागकर तुरन्त तद्रूप हो जाते हैं, उन भवबन्धनाशक भगवच्चरणारविन्दोंसे निकली हुई श्रीगङ्गाजीके विषयमें यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह कोई विस्मयकी बात नहीं है ॥ १४ ॥ १५ ॥ राजा भगीरथसे श्रुत, उससे नाभ, नाभसे सिन्धुद्वीप और उससे अयुतायु नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । उस आयुतायुसे नलका मित्र ऋतुपर्ण जायमान हुआ । ऋतुपर्णने नलको पासा फेंकनेकी विद्याका रहस्य बतलाकर उससे अश्वविद्या सीखी थी । उसका पुत्र सर्वकाम उत्पन्न हुआ ॥ १६ ॥ १७ ॥ हे राजन् ! सर्वकामका पुत्र सुदास हुआ, जो मदयन्तीका पति था। इसीको कहीं मित्रसह और कहीं कल्माषपाद भी बताया गया है । वशिष्ठजीके शापसे वह राक्षस हो गया था और अपने कर्मसे जीवनभर सन्तानहीन ही रह गया । इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन् ! हम यह जानना चाहते हैं कि महात्मा सौदासको गुरुका शाप किस कारण मिला? यदि यह बात गोपनीय न हो तो आप मुझे बताइए ॥ १८ ॥ १९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! एक समयकी बात है कि राजा सौदासने मृगयाके प्रसंगमें किसी राक्षसको मार डाला, किन्तु उसके भाईको छोड़ दिया । तब वह राक्षसका भाई उसका बदला लेनेकी इच्छासे रसोइया बनकर राजाके घर आया और भोजनके इच्छुक गुरु वशिष्ठजीको नरमांस बनाकर परोस दिया ॥ २० ॥ २१ ॥ उस अभक्ष्य भोजनको परोसा हुआ देखकर श्रीवशिष्ठजीने सहसा कुपित होकर राजाको शाप दे दिया कि 'मुझे नरमांस देनेके अपराधसे तू राक्षस हो जायगा' ॥ २२ ॥ जब उन्होंने यह जाना कि यह एक राक्षसकी करतूत है तो उस शापकी अवधि बारह वर्षकी निश्चित कर दी । सौदास भी अञ्जलिमें जल लेकर गुरु वशिष्ठजीको शाप देनेके लिये उद्यत हो गया ॥ २३ ॥ किन्तु रानी मदयन्तीके रोक देनेके कारण उसने वह तीक्ष्ण जल दिशा, आकाश तथा पृथिवी सबको जीवमय जानकर अपने पैरोंपर डाल लिया । इस तरह मित्र अर्थात् स्त्रीकी बात माननेके कारण

राक्षसं भावमापन्नः पादे कल्माषतां गतः । व्यवायकाले ददृशे वनौकोदम्पती द्विजौ ॥२५॥
क्षुधार्तो जगृहे विप्रं तत्पत्न्याहाकृतार्थवत् । न भवान् राक्षसः साक्षादिक्ष्वाकूणां महारथः॥२६॥
मदयन्त्याः पतिर्वीर नाधर्मं कर्तुमर्हसि । देहि मेऽपत्यकामाया अकृतार्थं पतिं द्विजम् ॥२७॥
देहोऽयं मानुषो राजन् पुरुषस्याखिलार्थदः । तस्मादस्य वधो वीर सर्वार्थवध उच्यते ॥२८॥
एष हि ब्राह्मणो विद्वांस्तपःशीलगुणान्वितः । आरिराधयिषुर्ब्रह्म महापुरुषसंज्ञितम् ।
सर्वभूतात्मभावेन भूतेष्वन्तर्हितं गुणैः ॥ २९ ॥
सोऽयं ब्रह्मर्षिवर्यस्ते राजर्षिप्रवराद् विभो । कथमर्हति धर्मज्ञ वधं पितुरिवात्मजः ॥३०॥
तस्य साधोरपापस्य भ्रूणस्य ब्रह्मवादिनः । कथं वधं यथा बभ्रोर्मन्यते सन्मतो भवान् ॥३१॥
यद्ययं क्रियते भक्षस्तर्हि मां खाद पूर्वतः । न जीविष्ये विना येन क्षणं च मृतकं यथा ॥३२॥
एवं करुणभाषिण्या विलपन्त्या अनाथवत् । व्याघ्रः पशुमिवाखादत् सौदासः शापमोहितः॥३३॥
ब्राह्मणी वीक्ष्य दिधिषुं पुरुषादेन भक्षितम् । शोचन्त्यात्मानमुर्वीशमशपत् कुपिता सती ॥३४॥
यस्मान्मे भक्षितः पाप कामार्तायाः पतिस्त्वया । तवापि मृत्युराधानादकृतप्रज्ञ दर्शितः ॥३५॥
एवं मित्रसहं शप्त्वा पतिलोकपरायणा । तदस्थीनि समिद्धेऽग्नौ प्रास्य भर्तुर्गतिं गता ॥३६॥
विशापो द्वादशाब्दान्ते मैथुनाय समुद्यतः । विज्ञाय ब्राह्मणीशापं महिष्या स निवारितः॥३७॥

वह 'मित्रसह' इस नामसे विख्यात हुआ ॥ २४ ॥ इस तरह वह राक्षसभावको प्राप्त हुआ और उस शापका जल पड़नेके कारण उसके पैर कल्माषवर्णके हो गये । इस कारण उसका 'कल्माषपाद' यह नाम पड़ गया । एक दिन उसने मैथुन करते हुए एक वनवासी ब्राह्मण-दम्पतीको देखा ॥ २५ ॥ तब भूखे होनेके कारण उसने ब्राह्मणको पकड़ लिया । उसकी पत्नी अपूर्णकामा-जैसी होकर बोली— "वास्तवमें आप राक्षस नहीं है, बल्कि साक्षात् इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न और महारानी मदयन्तीके पति एक बहुत बड़े महारथी हैं । हे वीर ! आपको अधर्म करना उचित नहीं है । मैं सन्तानकी इच्छुक हूँ । इसलिए आप मुझे मेरा अकृतार्थ पति लौटा दें ॥ २६ ॥ २७ ॥ हे राजन् ! यह मानवशरीर जीवके सभी पुरुषार्थोंका दाता है । अतएव हे वीर ! इसका वध सभी पुरुषार्थोंका वध माना जाता है ॥ २८ ॥ और फिर यह ब्राह्मण तो असाधारण विद्वान् तथा तप, शील और गुणोंसे युक्त है । यह अहंकारादि गुणोंके कार्यों द्वारा सब प्राणियोंमें छिपे हुए परमपुरुषसंज्ञक परब्रह्म परमात्माकी सब प्राणियोंके आत्मस्वरूपसे उपासना करनेका अभिलाषी है ॥२९॥ हे समर्थ ! हे धर्मज्ञ ! पिताके हाथसे पुत्रवधके समान आप राजर्षिश्रेष्ठके द्वारा ब्रह्मवध कैसे उचित हो सकता है ? ॥ ३० ॥ आप तो साधुसमाजमें आदरणीय माने जाते हैं । फिर एक कपिला गायके समान इस साधु-स्वभाव, निर्दोष, श्रोत्रिय तथा वेदवादी ब्राह्मणका वध आप क्यों करना चाहते हैं ? ॥ ३१ ॥ यदि आपको इसे अपना भक्ष्य बनाना ही अभिप्रेत हो तो पहले मुझे खाइए । क्योंकि इसके बिना मैं मृतक-के समान होकर क्षण भर भी जीवित नहीं रह पाऊंगी" ॥ ३२ ॥ उस करुणभाषिणी अबलाके इस तरह अनाथकी नाईं बहुत कुछ विलाप करनेपर भी शापग्रस्त सौदासने उस ब्राह्मणको इस तरह खा लिया, जैसे कि व्याघ्र पशुको खा जाता है ॥ ३३ ॥ तब उस ब्राह्मणीने उस गर्भाधानकारी ब्राह्मणको राक्षस द्वारा खाया गया देखकर शोक करती हुई बहुत कुपित होकर उस राजाको यह शाप दे दिया—॥ ३४ ॥ "अरे पापी ! तूने मुझ कामविह्वलाका पति खा लिया है । अतएव ओ मन्दमते ! तेरी मृत्यु भी गर्भाधान करनेके समय ही होगी" ॥ ३५ ॥ मित्रसह (सौदास) को इस तरह शाप देकर वह पतिपरायणा ब्राह्मणी अपने पतिकी अस्थियोंको प्रज्वलित अग्निमें डाल और उनके साथ सती होकर स्वयं भी पतिकी गतिको प्राप्त हो गयी ॥ ३६ ॥ इधर पूरे बारह वर्ष बीतजानेपर जब राजा मित्रसह शापसे मुक्त होकर मैथुन करनेको प्रवृत्त हुआ, तब

तत ऊर्ध्वं स तत्याज स्त्रीसुखं कर्मणाप्रजाः । वसिष्ठस्तदनुज्ञातो मदयन्त्यां प्रजामधात् ॥३८॥
सा वै सप्त समा गर्भमबिभ्रन्न व्यजायत । जघ्नेऽश्मनोदरं तस्याः सोऽश्मकस्तेन कथ्यते ॥३९॥
अश्मकान्मूलको जज्ञे यः स्त्रीभिः परिरक्षितः । नारीकवच इत्युक्तो निःक्षत्रे मूलकोऽभवत् ॥४०॥
ततो दशरथस्तस्मात् पुत्र ऐडविडस्ततः । राजा विश्वसहो यस्य खट्वाङ्गश्चक्रवर्त्यभूत् ॥४१॥
यो देवैरर्थितो दैत्यानवधीद् युधि दुर्जयः । मुहूर्तमायुर्ज्ञात्वैत्य स्वपुरं सन्दधे मनः ॥४२॥
न मे ब्रह्मकुलात् प्राणाः कुलदैवान्न चात्मजाः । न श्रियो न मही राज्यं न दाराश्चातिवल्लभाः ॥४३॥
न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित् । नापश्यमुत्तमश्लोकादन्यत् किञ्चन वस्त्वहम् ॥४४॥
देवैः कामवरो दत्तो मह्यं त्रिभुवनेश्वरैः । न वृणे तमहं कामं भूतभावनभावनः ॥४५॥
ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम् । न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे ॥४६॥

अथेशमायारचितेषु सङ्गं गुणेषु गन्धर्वपुरोपमेषु ।
रूढं प्रकृत्याऽऽत्मनि विश्वकर्तुर्भावेन हित्वा तमहं प्रपद्ये ॥४७॥

इति व्यवसितो बुद्ध्या नारायणगृहीतया । हित्वान्यभावमज्ञानं ततः स्वं भावमाश्रितः ॥४८॥
यत् तद् ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितम् । भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे सूर्यवंशानुवर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

महारानीने ब्राह्मणीके शापका स्मरण करके उसे वैसा करनेसे रोक दिया ॥ ३७ ॥ तभीसे आगेके लिये उसने एकदम स्त्रीसुख त्याग दिया । इस तरह अपने कर्मवश जन्मभर वह सन्तानहीन बना रहा । तदनन्तर उसकी अनुमतिसे वसिष्ठजीने रानी मदयन्तीमें सन्तान उत्पन्न करनेके अभिप्रायसे गर्भाधान किया ॥ ३८ ॥ रानी सात वर्षतक उस गर्भको धारण किये रही, तो भी बालक नहीं हुआ । तब वसिष्ठजीने उसके पेटपर अश्म (पत्थर) मारा, इससे जो बालक जनमा वह 'अश्मक' नामसे विख्यात हुआ ॥३९॥ अश्मकसे 'मूलक' उत्पन्न हुआ । परशुरामजीके पृथ्वीको क्षत्रियहीन करते समय स्त्रियोंने उसे बचा लिया था । अतएव उसका 'नारीकवच' नाम पड़ा और पृथ्वीके क्षत्रियहीन हो जानेपर वही क्षत्रियवंशका मूल हुआ ॥ ४० ॥ उस मूलकसे दशरथ, दशरथसे ऐडविड, ऐडविडसे राजा विश्वसह और विश्वसहका पुत्र चक्रवर्ती खट्वाङ्ग हुआ ॥ ४१ ॥ उस दुर्जय वीर खट्वाङ्गने देवताओंके विनय करनेपर युद्धमें दैत्योंको मारा और फिर अपनी आयु केवल एक मुहूर्त्तकी जान और नगरमें आकर उसने अपना मन भगवान्‌में लगा दिया ॥ ४२ ॥ उसने सोचा—मुझे कुलदेवस्वरूप ब्राह्मण-वंशसे बढ़कर अपने प्राण, पुत्र, धन, धरती, राज्य तथा रानियाँ भी प्रिय नहीं हैं ॥ ४३ ॥ मेरी बुद्धि बाल्यावस्थामें भी कभी अधर्ममें नहीं लगी और मैंने पवित्रकीर्ति श्रीहरिको छोड़कर कभी और कुछ देखा ही नहीं है ॥ ४४ ॥ त्रिभुवनपति देवताओंने मुझे अभिलषित वर देनेको कहा था, किन्तु उन भूतभावन भगवानमें ही नित्य भावना रखनेके कारण मैंने उनसे कोई भी भोग्य पदार्थ नहीं माँगा ॥ ४५ ॥ क्योंकि जिनके चित्त तथा इन्द्रियवर्ग अत्यन्त चञ्चल रहते हैं, वे सत्त्वप्रधान होनेपर भी अपने अन्तःकरणमें स्थित, परम प्रिय तथा सनातन आत्मा श्रीहरिको नहीं जान पाते । फिर औरोंके विषयमें क्या कहना ? ॥ ४६ ॥ अतएव भगवानकी मायासे रचित गन्धर्वनगरके सदृश विषयोंकी आसक्तिको, जो कि स्वभावतः चित्तपर चढ़ी हुई है, त्यागकर जगत्कर्ता जगदीशकी भावनासे मैं उन्हींकी शरण गहता हूँ' ॥ ४७ ॥ हे राजन् ! भगवदाकृष्ट बुद्धिके द्वारा ऐसा निश्चय करके राजा खट्वाङ्ग अनन्यभावसे गृहादिमें आत्मबुद्धिरूपी अज्ञानको त्यागकर उस आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया, जो कि अतिशय सूक्ष्म परब्रह्म एवं शून्यके सदृश होकर भी अशून्य यानी सत्यरूपसे भासमान है और जिसे भक्तजन 'भगवान् वासुदेव' कहकर पुकारते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

खट्वाङ्गाद् दीर्घबाहुश्च रघुस्तस्मात् पृथुश्रवाः । अजस्ततो महाराजस्तस्माद् दशरथोऽभवत् ॥ १ ॥
तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः । अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥ २ ॥
तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । श्रुतं हि वर्णितं भूरि त्वया सीतापतेर्मुहुः ॥ ३ ॥

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम् ।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषाऽऽरोहितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोसलेन्द्रोऽवतान्नः ॥ ४ ॥

विश्वामित्राध्वरे येन मारीचाद्या निशाचराः । पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं सीतास्वयंवरगृहे त्रिशतोपनीतम् ।
आदाय बालगजलील इवेक्षुयष्टिं सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये ॥ ६ ॥
जित्वानुरूपगुणशीलवयोऽङ्गरूपां सीताभिधां श्रियमुरस्यभिलब्धमानाम् ।
मार्गे व्रजन् भृगुपतेर्व्यनयत् प्ररूढं दर्पं महीमकृत यस्त्रिरराजबीजाम् ॥ ७ ॥
यः सत्यपाशपरिवीतपितुर्निदेशं स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः ।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसङ्गः ॥ ८ ॥

(श्रीरामचन्द्रजीके चरित्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! राजा खट्वाङ्गसे दीर्घबाहु, उससे महायशस्वी रघु, रघुसे अज तथा अजसे महाराज दशरथजीका जन्म हुआ ॥ १ ॥ देवताओंके प्रार्थना करनेपर राजा दशरथके यहाँ साक्षात् ब्रह्मस्वरूप भगवान हरि अपने अंशांशसे राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्ननामके चार रूप धारण करके पुत्रभावको प्राप्त हुए ॥ २ ॥ हे राजन् ! उन सीतापति रामचन्द्रजीका चरित्र बहुतेरे तत्त्वज्ञानी मुनीश्वरोंने बहुत तरहसे वर्णन किया है और तुम भी उसे कई बार सुन चुके हो, फिर भी इस प्रसङ्गमें संक्षेपसे यहाँ भी वर्णन किया जा रहा है ॥ ३ ॥ अपने पिताकी आज्ञा पालन करनेके लिये वे राज्यको त्याग अपनी प्रिया सीताके करपल्लवका स्पर्श सहन करनेमें भी असमर्थ अपने सुकुमार चरण-कमलों द्वारा वन-वन विचरे। तब कपिराज हनुमान् तथा लक्ष्मणजी जिनके मार्गकी थकावट दूर करते थे, (रावणकी बहिन) शूर्पणखाको विरूप करनेके कारण प्राप्त प्रियाविरहजनित क्रोधसे चढ़ी हुई जिनकी भ्रुकुटियोंसे समुद्र भी डर गया था और जो समुद्रपर पुल बाँधकर दुष्टदलरूपी वनके लिये दावानल सिद्ध हुए थे, वे कोशलपति भगवान राम हमारी रक्षा करें ॥ ४ ॥ जिन्होंने विश्वामित्रजीके यज्ञमें लक्ष्मणजीके देखते-देखते राक्षसोंमें प्रधान राक्षस मारीच आदि निशाचरोंको मारा ॥ ५ ॥ हे नृप ! जिन्होंने सीताके स्वयंवरमें संसारके सभी वीरोंकी सभामें तीन सौ वीरोंके द्वारा लाया हुआ श्रीशिवजीका अतिशय प्रचण्ड धनुष ईखको तोड़ डालनेवाले बालगजकी तरह खेल-खेलमें उठाकर चढ़ा दिया और फिर खींचकर बीचो-बीच तोड़ डाला ॥ ६ ॥ ऐसा पुरुषार्थ दिखाकर जिन्होंने पहलेहीसे अपने हृदयमें बसायी हुई रूप, गुण, शील, अवस्था तथा शरीरकी गठनमें अपने ही अनुरूप सीतानामकी लक्ष्मीको जीता और मार्गमें जाते समय पृथिवीको इक्कीस बार क्षत्रियशून्य करनेवाले परशुरामजीके बहुत बढ़े हुए गर्वको खर्व किया ॥ ७ ॥ जिन्होंने स्त्रीके वशीभूत होकर भी

रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धेस्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून् ।
जघ्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीयकोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम् ॥ ९ ॥
सीताकथाश्रवणदीपितहृच्छयेन सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ।
जघ्नेऽद्भुतैणवपुषाऽऽश्रमतोपकृष्टो मारीचमाशु विशिखेन यथा कमुग्रः ॥ १० ॥
रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्षं वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् ।
भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ॥११॥
दग्ध्वाऽऽत्मकृत्यहतकृत्यमहन् कबन्धं सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः ।
बुद्ध्वाथ वालिनि हते प्लवगेन्द्रसैन्यैर्वेलामगात् स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः ॥१२॥
यद्रोषविभ्रमविवृत्तकटाक्षपातसम्भ्रान्तनक्रमकरो भयगीर्णघोषः ।
सिन्धुः शिरस्यर्हणं परिगृह्य रूपी पादारविन्दमुपगम्य बभाष एतत् ॥१३॥
न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन् कूटस्थमादिपुरुषं जगतामधीशम् ।
यत्सत्त्वतः सुरगणा रजसः प्रजेशा मन्योश्च भूतपतयः स भवान् गुणेशः ॥१४॥
कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं त्रैलोक्यरावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम् ।
बध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः ॥१५॥

सत्यपाशमें बँधे रहनेके कारण अपने पिताकी आज्ञाको प्राणप्रिया सीताके समेत रामने माथे रखा और जो प्राणोंके समान राज्य, सम्पत्ति, प्रेमी, सुहृद् एवं निवासस्थानको त्यागकर असंगभावसे वनमें चले गये, वे कोशलपति राम हमारा कल्याण करें ॥ ८ ॥ अयोध्यासे वनमें पहुँचकर श्रीरामजीने राक्षसराज रावणकी बहिन तथा अशुद्धबुद्धि शूर्पणखाको कुरूप किया । उसके पृष्ठपोषक खर, दूषण तथा त्रिशिरा आदि चौदह हजार राक्षसबन्धुओंको मारा और फिर हाथमें दुर्जय धनुष धारण करके विचरते हुए बड़ी कठिनाईसे वनमें निवास किया ॥ ९ ॥ हे राजन् ! इसके बाद शूर्पणखाके मुखसे सीताजीके सौन्दर्यकी बात सुनकर कामातुर रावणके भेजे हुए विचित्र मृगवेषधारी मारीचके द्वारा आश्रमसे बड़ी दूर तक ले जाये जानेके बाद भगवान रामने उसे एक बाणसे शीघ्र ही इस तरह मार डाला, जैसे दक्षप्रजापतिको वीरभद्रने मारा था ॥ १० ॥ इसी समय अवसर पाकर अपने परोक्षमें भेड़ियेके सदृश राक्षसाधम रावणके द्वारा विदेहराजकुमारी श्रीजानकीजीके हर ले जानेपर स्त्रीमें आसक्तपुरुषोंकी गति ऐसी ही होती है, यह दिखानेके निमित्त अपनी प्रियासे वियुक्त होकर अत्यन्त दीन-से हो भाई लक्ष्मणके साथ वनमें विचरते रहे ॥ ११ ॥ तब भगवत्सेवारूपी विचित्र कृत्यसे जिसके सब कर्मसमूह दग्ध हो गये थे, उस जटायुका दाह करके कबन्धको मारा तथा वानरोंसे मित्रता करके वालीका वध करनेके बाद सुग्रीवसे अपनी प्रियाका पता लगवाया और जिनके चरणकमल ब्रह्मा तथा महादेवजीके द्वारा भी पूजित हैं, वे मायामनुष्यरूपधारी रघुनाथजी वानरराजकी सेनाके साथ समुद्रतटपर जा पहुँचे ॥ १२ ॥ उस समय जब कि क्रोधके कारण फैली हुई उनकी कटाक्षभङ्गीसे समुद्रवासी नक्र तथा मकर आदि खलबलाने लगे और भयके कारण जिसका गर्जन स्तम्भित हो गया था, वह समुद्र मूर्तिमान् होकर अपने सिरपर बहुत-सी भेंटें लिये उनके चरणकमलोंमें उपस्थित होकर कहने लगा— ॥१३॥ "हे भूमन् ! जडबुद्धि होनेके कारण हम आपको नहीं जान सकेंगे । क्योंकि आप कूटस्थ आदि-पुरुष तथा सब लोकोंके अधीश्वर हैं । आपके सत्त्वगुणसे देवता, रजोगुणसे प्रजापति और तमोगुणसे भूतपति उत्पन्न हुए हैं और आप सब गुणोंके नियन्ता हैं ॥ १४ ॥ हे वीर ! आप प्रसन्नतासे जाइये और त्रिलोकीको रुलानेवाले इस विश्रवाके मलरूपी रावणको मारकर अपनी प्रियाको प्राप्त करिए। आप अपने सुयशके विस्तारार्थ मुझपर ऐसा सेतु बाँधिए कि जिसके समीप पहुँचकर सभी दिग्विजयी

बद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्गैः ।
सुग्रीवनीलहनुमत्प्रमुखैरनीकैर्लङ्कां विभीषणदृशाऽऽविशदग्रदग्धाम् ॥१६॥
सा वानरेन्द्रबलरुद्धविहारकोष्ठश्रीद्वारगोपुरसदोवलभीविटङ्का ।
निर्भज्यमानधिषणध्वजहेमकुम्भशृङ्गाटका गजकुलैर्ह्रदिनीव घूर्णा ॥१७॥
रक्षःपतिस्तदवलोक्य निकुम्भकुम्भधूम्राक्षदुर्मुखसुरान्तनरान्तकादीन् ।
पुत्रं प्रहस्तमतिकायविकम्पनादीन् सर्वानुगान् समहिनोदथ कुम्भकर्णम् ॥१८॥
तां यातुधानपृतनामसिशूलचापप्रासर्ष्टिशक्तिशरतोमरखड्गदुर्गाम् ।
सुग्रीवलक्ष्मणमरुत्सुतगन्धमादनीलाङ्गदर्क्षपनसादिभिरन्वितोऽगात् ॥१९॥
तेऽनीकपा रघुपतेरभिपत्य सर्वे द्वन्द्वं वरूथमिभपत्तिरथाश्वयोधैः ।
जघ्नुर्द्रुमैर्गिरिगदेषुभिरङ्गदाद्याः सीताभिमर्शहतमङ्गलरावणेशान् ॥२०॥
रक्षःपतिः स्वबलनष्टिमवेक्ष्य रुष्ट आरुह्य यानकमथाभिससार रामम् ।
स्वःस्यन्दने द्युमति मातलिनोपनीते विभ्राजमानमहनन्निशितैः क्षुरप्रैः ॥२१॥
रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत् ते ।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः ॥२२॥
एवं क्षिपन् धनुषि सन्धितमुत्ससर्ज बाणं स वज्रमिव तद्धृदयं बिभेद ।
सोऽसृग् वमन् दशमुखैर्न्यपतद् विमानाद्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः ॥२३॥

भूपाल आपकी कीर्तिको गावें" ॥ १५ ॥ इसके बाद रघुनाथजी उगे हुए वृक्षोंकी शाखाओं युक्त एवं वानरवीरोंकी भुजाओंसे कम्पित अनेक शैलशिखरोंसे समुद्रपर सेतु बँधवाया और विभीषणके दिखाये मार्गसे सुग्रीव, नील तथा हनुमान् आदि वानरयूथपतियोंके साथ उस लङ्कामें प्रविष्ट हुए, जिसे पहले हनुमानजीने जलाकर भस्म कर दिया था ॥ १६ ॥ उस लङ्कापुरीके क्रीडास्थान, धान्यागार, कोष, गृहद्वार, पुरद्वार, सभाभवन, छज्जे तथा पक्षियोंके रहनेके स्थान वानरराज (सुग्रीव) की सेनासे व्याप्त हो गये और वेदी, ध्वजाएँ, सुवर्णकलश और चौराहोंके टूट-फूट जानेसे गजयूथों द्वारा मथित नदीकी भाँति वह पुरी अस्तव्यस्त हो गयी ॥ १७ ॥ यह दशा देखकर राक्षसराज रावणने निकुम्भ, कुम्भ, धूम्राक्ष, दुर्मुख, सुरान्तक, नरान्तक अपने पुत्र मेघनाद, प्रहस्त, अतिकाय तथा विकम्पन आदि अपने सब अनुयायियोंको और अन्तमें कुम्भकर्णको भी भगवान रामसे युद्ध करनेके लिये संग्रामभूमिमें भेज दिया ॥ १८ ॥ तलवार, त्रिशूल, धनुष, पास, ऋष्टि, शक्ति, बाण, भाले तथा खड्ग आदि शस्त्रोंसे दुर्गम उस राक्षससेनासे लड़नेके निमित्त श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीव, लक्ष्मण, हनुमान, गन्धमादन, नील, अंगद, जाम्बवान् एवं पनस आदि वीरोंके साथ आगे बढ़े ॥ १९ ॥ रघुनाथजीके वे अंगदादि सभी सेनापति राक्षसोंकी हाथी, रथ, घुड़सवार तथा पैदल सेनाके साथ द्वन्द्वयुद्धकी रीतिसे भिड़ गये और सीताजीका स्पर्श करनेसे मंगलहीन रावण ही जिनका स्वामी था, उन वीरोंको वृक्ष, पर्वतशिखर, गदा तथा बाणोंसे मारने लग गये ॥ २० ॥ इस प्रकार अपनी सेनाका विध्वंस होते देखकर कुपित राक्षसराज रावण विमानपर चढ़कर भगवान रामके सम्मुख आया और मातलि द्वारा हाँके जाते हुए परम तेजस्वी स्वर्गीय रथपर विराजमान श्रीरामचन्द्रजीपर तीखे बाणोंसे आक्रमण करता हुआ झपटा ॥ २१ ॥ तब भगवान रामने रावणसे कहा— "अरे राक्षसोंके विष्ठारूपी दुष्ट रावण ! तू पापी कुत्तेकी तरह जाकर हमारी अनुपस्थितिमें मेरी प्राणप्रियाको चुरा लाया था। अतएव जैसे अमोघवीर्य काल पापकर्मा पुरुषको उसके पापका फल देता है, वैसे ही तुझ निर्लज्जको आज मैं तेरे निन्दित कर्मका फल दे रहा हूँ ॥ २२ ॥ इस तरह

ततो निष्क्रम्य लङ्काया यातुधान्यः सहस्रशः । मन्दोदर्या समं तस्मिन् प्ररुदत्य उपाद्रवन् ॥२४॥
स्वान् स्वान् बन्धून् परिष्वज्य लक्ष्मणेषुभिरर्दितान् । रुरुदुः सुस्वरं दीना घ्नन्त्य आत्मानमात्मना २५
हा हताः स्म वयं नाथ लोकरावण रावण । कं यायाच्छरणं लङ्का त्वद्विहीना परार्दिता ॥२६॥
नैवं वेद महाभाग भवान् कामवशं गतः । तेजोऽनुभावं सीताया येन नीतो दशामिमाम् ॥२७॥
कृतैषा विधवा लङ्का वयं च कुलनन्दन । देहः कृतोऽन्नं गृध्राणामात्मा नरकहेतवे ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

स्वानां विभीषणश्चक्रे कोसलेन्द्रानुमोदितः । पितृमेधविधानेन यदुक्तं साम्परायिकम् ॥२९॥
ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे । क्षामां स्वविरहव्याधिं शिंशपामूलमास्थिताम् ॥३०॥
रामः प्रियतमां भार्यां दीनां वीक्ष्यान्वकम्पत । आत्मसन्दर्शनाह्लादविकसन्मुखपङ्कजाम् ॥३१॥
आरोप्यारुरुहे यानं भ्रातृभ्यां हनुमद्युतः । विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम् ॥३२॥
लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् । अवकीर्यमाणः कुसुमैर्लोकपालार्पितैः पथि ॥३३॥
उपगीयमानचरितः शतधृत्यादिभिर्मुदा । गोमूत्रयावकं श्रुत्वा भ्रातरं वल्कलाम्बरम् ॥३४॥
महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिलेशयम् । भरतः प्राप्तमाकर्ण्य पौरामात्यपुरोहितैः ॥३५॥
पादुके शिरसि न्यस्य रामं प्रत्युद्यतोऽग्रजम् । नन्दिग्रामात् स्वशिविराद् गीतवादित्रनिःस्वनैः ३६

रावणका तिरस्कार करते हुए भगवान्‌ने अपने धनुषपर चढ़ाया हुआ बाण छोड़ा और उसका वज्रके सदृश कठोर हृदय विदीर्ण कर दिया । अतएव कर्मोंके समाप्त हो जानेपर स्वर्गसे गिरे हुए पुण्यात्मा पुरुषके सदृश रावण दसों मुखोंसे रुधिर उगलता हुआ पुष्पकविमानसे गिर गया । यह देखकर वहाँ खड़े सब लोग हाहाकार करने लगे ॥ २३ ॥ तब मन्दोदरी समेत हजारों राक्षसियाँ लङ्कासे बाहर निकलकर वहाँ पहुँचीं । युद्धभूमिमें लक्ष्मणजीके बाणोंसे दलित अपने-अपने बन्धु-बान्धवोंको हृदयसे लगाकर अपनी छाती कूटती हुई अतिशय दीन होकर वे उच्च स्वरसे बिलखने लगीं ॥ २४ ॥ २५॥ वे बोलीं—'हा सब लोकोंको रुलानेवाले महाप्रभु रावण ! आज तुम्हारे बिना हम मर गयीं । अब तुम्हारे बिना शत्रुओंसे पीड़ित यह लङ्कापुरी किसकी शरणमें जायगी ? ॥ २६ ॥ हे महाभाग ! कामके वशीभूत होकर तुमने यह नहीं समझ पाया कि सीताजीके तेजका प्रभाव ऐसा है । इसीसे तुम्हें यह दशा प्राप्त हुई ॥ २७ ॥ हे कुलनन्दन ! महारानी सीताजीका हरण करके तुमने लङ्कापुरीके साथ हम सबको भी विधवा कर दिया । अपना शरीर गृध्रोंका भक्ष्य बना दिया तथा अपनी आत्माको नरकमें जाने योग्य बना डाला' ॥ २८ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब कोशलराज श्रीरामचन्द्रजीकी अनुमति पाकर विभीषणने अपने कुटुम्बियोंका पितृयज्ञकी विधिसे, शास्त्रने जो-जो कहा है, वह सब और्ध्वदैहिक कर्म सम्पन्न किया ॥ २९ ॥ तदनन्तर भगवान रामचन्द्रने अशोकवनके आश्रममें एक शिंशपावृक्षके नीचे बैठी अपने विरहकी व्याधिसे अतिशय दुर्बल श्रीसीताजीको देखा ॥ ३० ॥ तब अपने दर्शनजनित आह्लादसे प्रसन्नमुखारविन्द अत्यन्त दीना प्राणप्रिया सीताजीको देखकर श्रीरामचन्द्रजीने उनपर अनुकम्पा की ॥ ३१ ॥ विभीषणको राक्षसोंका आधिपत्य, लङ्कापुरी तथा एक कल्पकी आयु दे, पहले सीताजीको विमानपर चढ़ाकर फिर सुहृदों (लक्ष्मण तथा सुग्रीव) एवं हनुमानजीके साथ स्वयं भी उसपर बैठे । चौदह वर्ष वनमें रहनेका नियम पूर्णकर मार्गमें लोकपालोंके बरसाये पुष्पोंसे आकीर्ण होते हुए राम अपने नगरको प्रस्थान किये ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! ब्रह्मा आदि लोकेश्वरगण भी अति आनन्दित होकर जिनका गुण गाते हैं, उन महाकारुणिक श्रीरघुनाथजीने यह सुनकर कि मेरे भाई भरतजी मेरे वनवासके दिनसे भूमिकी वेदीपर सोते हुए जटा एवं वल्कल वस्त्र धारणकर गोमूत्रमें पकाया जौका दलिया खाकर रहते हैं, वे बहुत दुःखी हुए । इधर अपने बड़े भाई भगवान रामका आगमन सुना तो भरतजी पुरवासी, अमात्य एवं पुरोहितोंको साथ ले भगवानकी

ब्रह्मघोषेण च मुहुः पठद्भिर्ब्रह्मवादिभिः । स्वर्णकक्षपताकाभिर्हैमैश्चित्रध्वजै रथैः ॥३७॥
सदश्वै रुक्मसन्नाहैर्भटैः पुरटवर्मभिः । श्रेणीभिर्वारमुख्याभिर्भृत्यैश्चैव पदानुगैः ॥३८॥
पारमेष्ठ्यान्युपादाय पण्यान्युच्चावचानि च । पादयोर्न्यपतत् प्रेम्णा प्रक्लिन्नहृदयेक्षणः ॥३९॥
पादुके न्यस्य पुरतः प्राञ्जलिर्बाष्पलोचनः । तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन् नेत्रजैर्जलैः ॥४०॥
रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हसत्तमाः । तेभ्यः स्वयं नमश्चक्रे प्रजाभिश्च नमस्कृतः ॥४१॥
धुन्वन्त उत्तरासङ्गान् पतिं वीक्ष्य चिरागतम् । उत्तराः कोसला माल्यैः किरन्तो ननृतुर्मुदा ॥४२॥
पादुके भरतोऽगृह्णाच्चामरव्यजनोत्तमे । विभीषणः ससुग्रीवः श्वेतच्छत्रं मरुत्सुतः ॥४३॥
धनुर्निषङ्गाञ्छत्रुघ्नः सीता तीर्थकमण्डलुम् । अबिभ्रदङ्गदः खड्गं हैमं चर्मर्क्षराण् नृप ॥४४॥
पुष्पकस्थोऽन्वितः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः । विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः ॥४५॥
भ्रातृभिर्नन्दितः सोऽपि सोत्सवां प्राविशत् पुरीम् । प्रविश्य राजभवनं गुरुपत्नीः स्वमातरम् ॥४६॥
गुरून् वयस्यावरजान् पूजितः प्रत्यपूजयत् । वैदेही लक्ष्मणश्चैव यथावत् समुपेयतुः ॥४७॥
पुत्रान् स्वमातरस्तास्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः । आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः ॥४८
जटा निर्मुच्य विधिवत् कुलवृद्धैः समं गुरुः । अभ्यषिञ्चद् यथैवेन्द्रं चतुःसिन्धुजलादिभिः ॥४९॥

पादुकाएँ सिरपर रखे उनके पास चलनेको उद्यत हुए। वे अपने निवासस्थानस्वरूप नन्दिग्रामसे ही वेदध्वनिके साथ पुनः पुनः स्तुतिपाठ करते, वेदवादी ब्राह्मणोंके सहित गाने-बजानेकी ध्वनि करते गये। साथमें सुनहले कामकी पताकाएँ और चित्र-विचित्र ध्वजाओंसे सुशोभित तथा सुनहरी साजसे सजे हुए सुन्दर घोड़ों युक्त स्वर्णरथ, कनककवचधारी योद्धा, वीराङ्गनाओंकी मण्डली, पदाति सेवक तथा महाराजाओंके योग्य सब छोटी-बड़ी सामग्रियाँ साथ ले प्रेमसे गद्गद्हृदय एवं आखोंमें आँसू भरकर भगवानके चरणोंपर लोट गये ॥ ३४—३६ ॥ तदनन्तर भगवानके सामने उनकी पादुकाएँ रख और हाथ जोड़कर आखोंसे अश्रुधारा बहाते हुए उठ खड़े हुए। भगवानने भी उनको हृदयसे लगाकर बहुत देरतक अपने नेत्रजलसे नहलाया ॥ ४० ॥ तब सीता और लक्ष्मणजीके साथ भगवान रामने भी प्रजावर्गसे नमस्कृत होते हुए ब्राह्मण तथा अन्य पूजनीय जनोंको स्वयं प्रणाम किया ॥ ४१ ॥ भगवानके अयोध्या पधारनेपर अपने स्वामीको बहुत दिनोंमें आये देखकर सभी उत्तरकोशलदेशके निवासी लोग अपना उत्तरीय वस्त्र अर्थात् दुपट्टे हिलाते और फूल बरसाते हुए आनन्दसे विह्वल होकर नाचने लगे ॥ ४२ ॥ तदनन्तर भरतजीने भगवानकी पादुकाएँ उठायीं, विभीषण और सुग्रीवने अतिशय उत्तम चँवर और व्यजन लिये, हनुमानजीने श्वेत छत्र उठाया ॥ ४३ ॥ शत्रुघ्नजीने धनुष तथा तरकस सम्हाला, सीताजीने तीर्थोंके जलसे भरा हुआ कमण्डलु लिया और हे नृप ! बालितनय अङ्गदने सुनहला खड्ग और जाम्बवान्ने ढाल ली ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! उस समय पुष्पक विमानपर स्त्रियोंके मध्यमें बैठे तथा बन्दीजनोंसे स्तूयमान होते हुए भगवान नक्षत्रमण्डलके मध्यमें उदित चन्द्रमाके समान सुशोभित हुए ॥ ४५ ॥ इस तरह अपने भ्राताओं द्वारा सम्मानित होकर भगवान उत्सवपूर्ण अयोध्यापुरीमें प्रविष्ट हुए और राजभवनमें पहुँचकर अपनी माताओं (पिता दशरथजीकी अन्य पत्नियों) गुरुजनों समवयस्कों तथा अपनेसे छोटोंका यथोचित सत्कार किया और उन लोगोंने भी उनका समुचित सम्मान किया। इसी तरह महारानी श्रीजानकीजी तथा लक्ष्मणजी भी सबके साथ यथोचित व्यवहार करते हुए उनके साथ-साथ गये ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ तब जैसे प्राण आजानेपर शरीर सजीव हो उठे, वैसे ही कौशल्या आदि माताएँ अपने-अपने पुत्रोंको गोदमें ले उन्हें नेत्रजलसे नहला-नहलाकर अपना शोक दूर करने लगीं ॥ ४८ ॥ तदनन्तर गुरु वसिष्ठजीने अन्य कुलवृद्धोंके साथ विधिपूर्वक भगवानकी जटाएँ कटवाकर चारों समुद्रोंके जलसे वैसे ही उनका अभिषेक किया, जैसे

एवं कृतशिरःस्नानः सुवासाः स्रग्व्यलंकृतः । स्वलंकृतैः सुवासोभिर्भ्रातृभिर्भार्यया बभौ ॥५०॥
अग्रहीदासनं भ्रात्रा प्रणिपत्य प्रसादितः । प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः ।
जुगोप पितृवद् रामो मेनिरे पितरं च तम् ॥ ५१ ॥
त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत् । रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे ॥५२॥
वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः । सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ ॥५३॥
नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः । मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे ॥५४
एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः । स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत् ॥५५॥
प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती । धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः ॥५६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे रामचरिते दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः । सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान् मखैः ॥१॥
होत्रेऽददाद् दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः । अध्वर्यवे प्रतीचीं च उदीचीं सामगाय सः ॥२॥
आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा । मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः ॥३॥
इत्ययं तदलङ्कारवासोभ्यामवशेषितः । तथा राज्ञ्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता ॥४॥

बृहस्पतिने इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ ४९ ॥ इस तरह सिरसे स्नानकर सुन्दर वस्त्र तथा मालाओंसे विभूषित होकर भगवान राम सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित होकर भार्या तथा भाइयोंके साथ विराजमान हुए ॥ ५० ॥ तदनन्तर भाई भरतके प्रणामपूर्वक प्रार्थना करनेपर भगवान रामने अति प्रसन्न होकर राजसिंहासन स्वीकार किया और अपने-अपने धर्ममें तत्पर एवं वर्णाश्रमधर्मयुक्त प्रजाका पिताके समान पालन करने लगे । उन रामचन्द्रजीकी प्रजा भी उन्हें पिताके सदृश मानती थी ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! सभी प्राणियोंको सुखदायक तथा परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके राजा होनेपर त्रेतायुगके वर्तमान रहते हुए भी वह समय सत्ययुगके समान हो गया था ॥ ५२ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! तब वन, नदियाँ, पर्वत, देश, द्वीप तथा समुद्र ये सब प्रजाओंको अभिलषित फल देने लगे ॥ ५३ ॥ जब भगवान राम राज्यशासन करते थे तब आधि, व्याधि, जरा, ग्लानि, दुःख, शोक, भय तथा श्रमका सर्वथा नाश हो गया था और बिना चाहे कभी किसीकी मृत्यु भी नहीं हुआ करती थी ॥ ५४ ॥ वे श्रीरामचन्द्रजी एकपत्नीव्रती, राजर्षियों जैसे आचरणशील तथा राग-द्वेषादिसे रहित रहते थे। गृहस्थोंको धर्मशिक्षा देनेके लिये स्वयं भी उसका आचरण किया करते थे। ॥ ५५ ॥ अपने पतिका मनोभाव जाननेवाली, विनयावनता सती सीताजीने भी प्रेम, सेवा, साधुस्वभाव, बुद्धि तथा लज्जा आदि गुणोंके द्वारा अपने पतिदेवका मन हर लिया था ॥ ५६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(श्रीरामचन्द्रजीके अन्य चरित) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उन भगवान रामचन्द्रजीने श्रीवसिष्ठजीको आचार्य बनाकर उत्तम सामग्रियों युक्त यज्ञों द्वारा सर्वदेवमय तथा प्रकाशस्वरूप अपना ही यजन किया ॥ १ ॥ उस यज्ञमें उन्होंने होताको पूर्व, ब्रह्माको दक्षिण, अध्वर्युको पश्चिम और उद्गाताको उत्तर दिशाका दान करके दे दिया ॥२॥ आचार्य (वसिष्ठजी)को उनके बीचकी शेष सारी भूमि दे डाली । क्योंकि उनका यह विश्वास था कि निःस्पृह ब्राह्मण ही सारे भूमण्डलको पानेके पात्र हैं ॥ ३ ॥ इस तरह उस यज्ञमें सर्वस्व दान देकर उन्होंने अपने शरीरपर पड़े हुए वस्त्र-अलङ्कार

ते तु ब्रह्मण्यदेवस्य वात्सल्यं वीक्ष्य संस्तुतम् । प्रीताः क्लिन्नधियस्तस्मै प्रत्यर्प्येदं बभाषिरे ॥५॥
अप्रत्तं नस्त्वया किं नु भगवन् भुवनेश्वर । यन्नोऽन्तर्हृदयं विश्य तमो हंसि स्वरोचिषा ॥६॥
नमो ब्रह्मण्यदेवाय रामायाकुण्ठमेधसे । उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥७॥
कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः । चरन् वाचोऽशृणोद् रामो भार्यामुद्दिश्य कस्यचित्८
नाहं बिभर्मि त्वां दुष्टामसतीं परवेश्मगाम् । स्त्रीलोभी बिभृयात् सीतां रामो नाहं भजे पुनः ॥९॥
इति लोकाद् बहुमुखाद् दुराराध्यादसंविदः । पत्या भीतेन सा त्यक्ता प्राप्ता प्राचेतसाश्रमम् १०॥
अन्तर्वत्न्यागते काले यमौ सा सुषुवे सुतौ । कुशो लव इति ख्यातौ तयोश्चक्रे क्रिया मुनिः॥११॥
अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ । तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते ॥१२॥
सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः । गन्धर्वान् कोटिशो जघ्ने भरतो विजये दिशाम्॥१३॥
तदीयं धनमानीय सर्वं राज्ञे न्यवेदयत् । शत्रुघ्नश्च मधोः पुत्रं लवणं नाम राक्षसम् ।
हत्वा मधुवने चक्रे मथुरां नाम वै पुरीम् ॥१४॥
मुनौ निक्षिप्य तनयौ सीता भर्त्रा विवासिता । ध्यायन्ती रामचरणौ विवरं प्रविवेश ह ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः । स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद् रोद्धुमीश्वरः१६
स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहः । अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः ॥१७॥

ही अपने पास रखे। इसी तरह महारानी सीताजीके पास भी केवल माङ्गलिक वस्त्राभूषण ही शेष रह गये (उन्होंने भी सब कुछ दान दे डाला) ॥ ४ ॥ उन ब्रह्मण्यदेव भगवान रामचन्द्रका ब्राह्मणोंके प्रति ऐसा प्रशंसनीय वात्सल्यभाव देखकर वे आचार्यादि बहुत प्रसन्न हुए और प्रेमार्द्रहृदयसे उन्हें वह सब लौटाकर इस तरह बोले—॥ ५ ॥ "हे सर्वलोकेश्वर भगवन्! आप जब हमारे अन्तःकरणोंमें विराजमान होकर अपनी कान्तिसे हमारा अज्ञानान्धकार नष्ट कर रहे हैं, तब आपने हमको क्या नहीं दे दिया ? ॥ ६ ॥ ब्रह्मणोंको देवता माननेवाले, अकुण्ठबुद्धि, पुण्यश्लोकशिरोमणि तथा पर-पीडाका नाश कर देनेवाले मुनीश्वरोंके लिये अपने चरणकमल अर्पण करनेवाले भगवान रामको हम प्रणाम करते हैं" ॥ ७ ॥ हे राजन्! एक समयकी बात है 'साधारण लोग मेरे विषयमें क्या कहते हैं' यह जाननेके लिये अज्ञातरूपसे रात्रिके समय विचरते हुए भगवान रामने एक पुरुषको अपनी भार्यासे ऐसा कहते हुए सुना—॥ ८ ॥ "अरे! तुझ दुष्टा, असती तथा पराये घरमें रहनेवालीको अब मैं अपने घरमें नहीं रखूँगा। स्त्रीलोभी राम ही सीताको स्वीकार कर सकते हैं, मैं तुझे कदापि नहीं स्वीकार कर सकता" ॥ ९ ॥ इस तरह विविध प्रकारकी बातें बनानेवाले, हठी तथा मूर्ख लोगोंसे भयभीत अपने पतिदेवके त्याग देनेपर श्रीसीताजी महर्षि वाल्मीकिके आश्रमपर चली गयीं ॥ १० ॥ तब वे गर्भवती थीं। इसलिये आश्रममें आनेपर उन्होंने कुश तथा लव नामसे विख्यात दो यमज (जोड़वा) पुत्र उत्पन्न किये। उनके जातकर्मादि संस्कार मुनिवर वाल्मीकिजीने स्वयं कराया ॥ ११ ॥ हे राजन्! अंगद तथा चित्रकेतु लक्ष्मणजीके, तक्ष और पुष्कल भरतजीके पुत्र कहे जाते हैं ॥ १२ ॥ सुबाहु और श्रुतसेन ये दो पुत्र शत्रुघ्नजीके थे। दिग्विजयके प्रसंगमें भरतने करोड़ों गन्धर्वोंको मार डाला ॥ १३ ॥ और उनका धन हर लाकर वह सब महाराज रामको अर्पण कर दिया। उधर शत्रुघ्नजीने मधुके पुत्र लवण राक्षसको मारकर मधुवनमें मथुरापुरी बसायी ॥ १४ ॥ उधर पतिके द्वारा निर्वासित सीताजी मुनिवर वाल्मीकिको अपने दोनों बालक सौंपकर श्रीरामके चरणोंका ध्यान करती हुई भूविवरमें समा गयीं ॥ १५ ॥ यह समाचार सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपने बुद्धिबल द्वारा शोकावेशको बहुत कुछ रोकना चाहा, किन्तु परम समर्थ होकर भी वे सीताके भिन्न-भिन्न गुणोंका स्मरण हो आनेके कारण उसे रोकनेमें समर्थ नहीं हुए ॥ १६ ॥ स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध सर्वत्र इसी तरह त्रास देता है। बड़े-बड़े सामर्थ्यवान् भी इससे विचलित हो उठते हैं, तब साधारण

तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्यं धारयन्नजुहोत् प्रभुः। त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् ॥१८॥
स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥१९॥
नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः।
रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः ॥२०॥
यस्यामलं नृपसदःसु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥२१॥
स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा। कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः २२
पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन्। आनृशंस्यपरो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥२३॥

राजोवाच

कथं स भगवान् रामो भ्रातॄन् वा स्वयमात्मनः। तस्मिन् वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे॥२४॥

श्रीशुक उवाच

अथादिशद् दिग्विजये भ्रातॄंस्त्रिभुवनेश्वरः। आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः ॥२५॥
आसिक्तमार्गां गन्धोदैः करिणां मदशीकरैः। स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिव ॥२६॥
प्रासादगोपुरसभाचैत्यदेवगृहादिषु। विन्यस्तहेमकलशैः पताकाभिश्च मण्डिताम् ॥२७॥
पूगैः सवृन्तै रम्भाभिः पट्टिकाभिः सुवाससाम्। आदर्शैरंशुकैः स्रग्भिः कृतकौतुकतोरणाम् ॥२८॥

गृहासक्त विषयी पुरुषोंके विषयमें क्या कहा जाय?॥ १७॥ हे राजन्! तदनन्तर प्रभु रामने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके तेरह वर्षतक अखण्डितरूपसे अग्निहोत्र किया॥ १८॥ इसके बाद अपना स्मरण करनेवाले भक्तोंके हृदयमें दण्डकारण्यके काँटोंसे विंधा अपना चरणकमल स्थापित करके भगवान राम अपने धामको सिधारे॥ १९॥ हे राजन्! जिन भगवानसे बढ़कर या कि जिनके समान प्रतापशाली कोई नहीं है, देवताओंकी प्रार्थनासे लीलामानवरूपधारी उन रघुनाथजीका शस्त्रसमूह द्वारा राक्षसोंको मारना तथा समुद्रपर पुल बाँध देना कोई बड़े भारी सुयशका काम नहीं है और उन लीलाधारीको अपने शत्रुओंका वध करनेके लिए वानरोंकी सहायताकी क्या आवश्यकता थी? तात्पर्य यह कि यह सब उनकी लीला थी॥२०॥ सभी दिशा-विदिशाओंमें फैलकर सब दिग्गजोंको आच्छादित करनेवाले वस्त्रसदृश जिनका पापाहारी निर्मल सुयश इस समय भी मार्कण्डेयादि मुनि युधिष्ठिर भूपालोंकी सभाओंमें गाया करते हैं और जिनके चरण-कमल देवेन्द्र और नरेन्द्रोंके मुकुटोंसे सेव्यमान हैं, मैं उन श्रीरघुनाथजीकी शरण गहता हूँ॥२१॥ जिनलोगोंने श्रीरामजीका स्पर्श, दर्शन, सहवास तथा अनुगमन किया था वे सब कोशलवासी उस स्थानको जाकर प्राप्त हुए, जहाँ कि अन्तिमें योगीजन जाते हैं॥२२॥ हे राजन्! जो प्राणी इस रामचरितको अपने श्रवणपुटसे ग्रहण करता है, वह सरलता-कोमलता आदि गुणोंसे युक्त होकर सब कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाया करता है॥ २३॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन्! भगवान रामचन्द्र अपने ही अंश-स्वरूप अपने भाइयोंके साथ स्वयं कैसा व्यवहार करते थे और ईश्वर रामके प्रति उनके भाई, प्रजाजन एवं पुरवासी लोगोंका बर्ताव कैसा था?॥ २४॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! त्रिभुवनपति भगवान रामने राजसिंहासन पर बैठनेके बाद अपने भाइयोंको दिग्विजय करनेकी आज्ञा दी और स्वयं पुरवासियोंको दर्शन देते हुए अपने अनुचरोंके साथ पुरीकी देख-भाल करने लगे॥ २५॥ रामराज्यमें अयोध्यापुरीके सभी मार्ग सुगन्धित जल तथा मतवाले हाथियोंके मदकणोंसे सिंचे हुए थे और वह पुरी अपने स्वामीको आये देखकर जैसे मतवाली हो रही थी॥ २६॥ उसके महल, पुरद्वार, सभा, चैत्य तथा देवालयोंमें सुवर्णके कलश रखे थे और वह चारों ओर पताकाओंसे सजायी हुई थी॥ २७॥ फलोंके गुच्छोंसमेत पूगीफल, कदलीवृक्ष तथा मनोहर वस्त्रोंसे वह भली भाँति

तमुपेयुस्तत्र तत्र पौरा अर्हणपाणयः । आशिषो युयुजुर्देव पाहीमां प्राक् त्वयोद्धृताम् २९
ततः प्रजा वीक्ष्य पतिं चिरागतं दिदृक्षयोत्सृष्टगृहाः स्त्रियो नराः ।
आरुह्य हर्म्याण्यरविन्दलोचनमतृप्तनेत्राः कुसुमैरवाकिरन् ॥ ३० ॥
अथ प्रविष्टः स्वगृहं जुष्टं स्वैः पूर्वराजभिः । अनन्ताखिलकोशाढ्यमनर्घ्योरुपरिच्छदम् ॥३१॥
विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपङ्क्तिभिः । स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भ्राजत्स्फटिकभित्तिभिः ॥३२॥
चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः । मुक्ताफलैश्चिदुल्लासैः कान्तकामोपपत्तिभिः ॥३३॥
धूपदीपैः सुरभिभिर्मण्डितं पुष्पमण्डनैः । स्त्रीपुम्भिः सुरसंकाशैर्जुष्टं भूषणभूषणैः ॥३४॥
तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया । रेमे स्वरामधीराणामृषभः सीतया किल ॥३५॥
बुभुजे च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन् । वर्षपूगान् बहून् नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः ॥३६॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे श्रीरामोपाख्याने एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

कुशस्य चातिथिस्तस्मान्निषधस्तत्सुतो नभः । पुण्डरीकोऽथ तत्पुत्रः क्षेमधन्वाभवत्ततः ॥ १ ॥
देवानीकस्ततोऽनीहः पारियात्रोऽथ तत्सुतः । ततो बलस्थलस्तस्माद्वज्रनाभोऽर्कसम्भवः ॥ २ ॥
खगणस्तत्सुतस्तस्माद् विधृतिश्चाभवत् सुतः । ततो हिरण्यनाभोऽभूद् योगाचार्यस्तु जैमिनेः॥३॥

अलंकृत थी और दर्पण, वस्त्र तथा मालाओंकी उत्सवमयी बन्दनवारोंसे सुसज्जित हो रही थी ॥ २८ ॥ तत्काल जहाँ-तहाँ अगणित पुरवासी बहुत-सी भेंटें लेकर भगवानके समीप आये और उन्होंने प्रार्थना की कि "हे देव ! पूर्वकालमें अर्थात् वाराहरूपसे अपने ही द्वारा उद्धारकी हुई इस पृथिवीका आप पालन करें" ॥ २९ ॥ हे राजन् ! उस समय बहुत दिनोंमें अपने स्वामीको आये जानकर उन्हें देखनेके निमित्त नगरके सभी नर-नारी अपने-अपने घरोंको छोड़ अटारियोंपर चढ़कर कमललोचन रामको अपने अतृप्त नेत्रोंसे निहारते हुए उनपर फूल बरसाने लगे ॥ ३० ॥ तदनन्तर भगवान राम अपनेसे पहलेवाले महीपालोंसे सेवित, सब प्रकारके कोशोंसे परिपूर्ण और महामूल्य सामग्रियोंसे युक्त महलमें प्रविष्ट हुए ॥ ३१ ॥ महलके द्वार विद्रुमकी देहलियोंके बने थे। उसके स्तम्भ वैदूर्यमणिके बने थे। उसकी फर्श स्वच्छ मरकतमणिकी थी ॥ ३२ ॥ रंग-बिरंगी माला, पताका, वस्त्र और सुन्दर भोगसामग्री सुगन्धित धूप तथा फूलके अभूषणोंसे उसे खूब सुसज्जित किया गया था और वह भवन सब आभूषणोंको भी विभूषित करनेवाले देवता तुल्य स्त्री-पुरुषोंसे सुसेवित था ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! उन महलोंमें आत्माराम तथा जितेन्द्रिय पुरुषोंमें श्रेष्ठ भगवान रामचन्द्रने चिरकालतक अपनी परमप्रिय और अभिमत प्रियतमा श्रीसीताजीके साथ विहार किया ॥ ३५ ॥ सभी लोग जिनके पादपल्लवका ध्यान धरते हैं, उन भगवान रामचन्द्रने धर्मका अतिक्रमण न करते हुए कई वर्षों तक सब प्रकारके भोगोंका उपभोग किया और सब प्रजाजन उनका गुण गाते थे ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(इक्ष्वाकुवंशके शेष राजाओंका वर्णन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कुशका पुत्र अतिथि हुआ। अतिथिके निषध, निषधके नभ, नभके पुण्डरीक तथा पुण्डरीकके क्षेमधन्वा नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १ ॥ उसके देवानीक, देवानीकका पुत्र अनीह, उसका पुत्र पारियात्र, पारियात्रके बलस्थल तथा उससे सूर्यके अंशसे उत्पन्न वज्रनाभ जायमान हुआ ॥ २ ॥ वज्रनभके खगण, उसके विधृति, विधृतिसे हिरण्यनाभका जन्म हुआ, जो जैमिनिका शिष्य तथा योगाचार्य था। कोशल-

शिष्यः कौसल्य आध्यात्मं याज्ञवल्क्योऽध्यगाद् यतः। योगं महोदयमृषिर्हृदयग्रन्थिभेदकम् ॥४॥
पुष्यो हिरण्यनाभस्य ध्रुवसन्धिस्ततोऽभवत्। सुदर्शनोऽथाग्निवर्णः शीघ्रस्तस्य मरुः सुतः ॥५॥
योऽसावास्ते योगसिद्धः कलापग्राममाश्रितः। कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः ॥६॥
तस्मात् प्रसुश्रुतस्तस्य सन्धिस्तस्याप्यमर्षणः। महस्वांस्तत्सुतस्तस्माद् विश्वसाह्वोऽन्वजायत ॥७॥
ततः प्रसेनजित् तस्मात् तक्षको भविता पुनः। ततो बृहद्बलो यस्तु पित्रा ते समरे हतः ॥८॥
एते हीक्ष्वाकुभूपाला अतीताः शृण्वनागतान्। बृहद्बलस्य भविता पुत्रो नाम बृहद्रणः ॥९॥
उरुक्रियस्ततस्तस्य वत्सवृद्धो भविष्यति। प्रतिव्योमस्ततो भानुर्दिवाको वाहिनीपतिः ॥१०॥
सहदेवस्ततो वीरो बृहदश्वोऽथ भानुमान्। प्रतीकाश्वो भानुमतः सुप्रतीकोऽथ तत्सुतः ॥११॥
भविता मरुदेवोऽथ सुनक्षत्रोऽथ पुष्करः। तस्यान्तरिक्षस्तत्पुत्रः सुतपास्तदमित्रजित् ॥१२॥
बृहद्राजस्तु तस्यापि बर्हिस्तस्मात् कृतञ्जयः। रणञ्जयस्तस्य सुतः सञ्जयो भविता ततः ॥१३॥
तस्माच्छाक्योऽथ शुद्धोदो लाङ्गलस्तत्सुतः स्मृतः। ततः प्रसेनजित् तस्मात् क्षुद्रको भविता ततः १४॥
रणको भविता तस्मात् सुरथस्तनयस्ततः। सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः ॥१५॥
इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति। यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे इक्ष्वाकुवंशवर्णनं नाम द्वादशोऽध्यायः १२

देशवासी याज्ञवल्क्य ऋषिने उसके शिष्य बनकर हृदयकी ग्रन्थि छेदन करनेवाला और महान् सिद्धिप्रद अध्यात्मयोगकी शिक्षा पायी थी ॥ ३ ॥ ४ ॥ हिरण्यनाभका पुत्र पुष्य, पुष्यके ध्रुवसन्धि, ध्रुवसन्धिके सुदर्शन, सुदर्शनके अग्निवर्ण, अग्निवर्णके शीघ्र और शीघ्रके मरुनामका पुत्र जायमान हुआ ॥ ५ ॥ जो मरु इस समय योगकी सिद्धि प्राप्त करके कलापग्राममें रह रहा है और वह कलियुगके अन्तमें नष्ट सूर्यवंशको पुनः उजागर करेगा ॥ ६ ॥ मरुके प्रसुश्रुत, प्रसुश्रुतके सन्धि और सन्धिके अमर्षण, अमर्षणके महस्वान और उससे विश्वसाह्व नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥ विश्वसाह्वके प्रसेनजित्, प्रसेनजित्के तक्षक और तक्षकके बृहद्बलनामका पुत्र जन्मा, जिसका तुम्हारे पिता अभिमन्युने युद्धमें वध किया था ॥ ८ ॥ हे राजन्! ये सब इक्ष्वाकुवंशके राजे पूर्वकालमें हो चुके हैं। अब आगे होनेवाले राजाओंके विषयमें भी बताता हूँ, सुनो। आगे चलकर भविष्यमें बृहद्बलका पुत्र बृहद्रण होगा ॥ ९ ॥ बृहद्रणके उरुक्रिय, उरुक्रियके वत्सवृद्ध, वत्सवृद्धके प्रतिव्योम, उसके भानु और उसके सेनापति दिवाक होगा ॥ १० ॥ दिवाकके वीरवर, वीरवरके सहदेव, सहदेवके बृहदश्व, बृहदश्वके भानुमान्, भानुमान्के प्रतीकाश्व और प्रतीकाश्वके सुप्रतीकनामका पुत्र होगा ॥ ११ ॥ सुप्रतीकके मरुदेव, मरुदेवके सुनक्षत्र, सुनक्षत्रके पुष्कर, पुष्करके अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षके सुतपा तथा उसके अमित्रजित् नामका पुत्र उत्पन्न होगा ॥ १२ ॥ अमित्रजित्के बृहद्राज होगा। उसके बर्हि, बर्हिके कृतञ्जय, कृतञ्जयके रणञ्जय और रणञ्जयके सञ्जय नामका पुत्र होगा ॥ १३ ॥ सञ्जयके शाक्य, शाक्यके शुद्धोद और उसके लांगल नामका पुत्र उत्पन्न होगा। लांगलके प्रसेनजित् प्रसेनजित्के क्षुद्रक नामका पुत्र होगा ॥ १४ ॥ क्षुद्रकके रणक, रणकके सुरथ और सुरथके इस वंशका अन्तिम राजा सुमित्रा होगा। ये सब राजे बृहद्बलके वंशधर कहे जायँगे ॥ १५ ॥ इन इक्ष्वाकुवंशीय राजाओंका वंश सुमित्रपर्यन्त ही चलेगा। क्योंकि उस राजाके बाद कलियुगमें इसका अन्त हो जायगा ॥ १६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वसिष्ठमवृतर्त्विजम् । आरभ्य सत्रं सोऽप्याह शक्रेण प्राग्वृतोऽस्मि भोः १
तं निर्वर्त्यागमिष्यामि तावन्मां प्रतिपालय । तूष्णीमासीद् गृहपतिः सोऽपीन्द्रस्याकरोन्मखम् ॥२॥
निमिश्चलमिदं विद्वान् सत्रमारभतात्मवान् । ऋत्विग्भिरपरैस्तावन्नागमद् यावता गुरुः ॥ ३ ॥
शिष्यव्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः । अशपत् पतताद् देहो निमेः पण्डितमानिनः ॥४॥
निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने । तवापि पतताद् देहो लोभाद् धर्ममजानतः ॥५॥
इत्युत्ससर्ज स्वं देहं निमिरध्यात्मकोविदः । मित्रावरुणयोर्जज्ञे उर्वश्यां प्रपितामहः ॥ ६ ॥
गन्धवस्तुषु तद्देहं निधाय मुनिसत्तमाः । समाप्ते सत्रयागेऽथ देवानूचुः समागतान् ॥ ७ ॥
राज्ञो जीवतु देहोऽयं प्रसन्नाः प्रभवो यदि । तथेत्युक्ते निमिः प्राह मा भून्मे देहबन्धनम् ॥ ८ ॥
यस्य योगं न वाञ्छन्ति वियोगभयकातराः । भजन्ति चरणाम्भोजं मुनयो हरिमेधसः ॥ ९ ॥
देहं नावरुरुत्सेऽहं दुःखशोकभयावहम् । सर्वत्रास्य यतो मृत्युर्मत्स्यानामुदके यथा ॥१०॥

देवा ऊचुः

विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम् । उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥११॥
अराजकभयं नॄणां मन्यमाना महर्षयः । देहं ममन्थुः स्म निमेः कुमारः समजायत ॥१२॥

(निमिवंशका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! राजा इक्ष्वाकुके पुत्र महाराज निमिने यज्ञ आरम्भ करके उसके लिये वसिष्ठजीको ऋत्विज नियत किया । तब वसिष्ठजी बोले—"मेरा इन्द्रने पहलेसे ही वरण कर लिया है ॥ १ ॥ इसलिए जबतक मैं उनका यज्ञ समाप्त करके न आजाऊँ, तबतक तुम मेरी प्रतीक्षा करते रहना ।" वसिष्ठजीका यह वचन सुनकर यजमान निमि चुप हो गये और वशिष्ठजीने इन्द्रका यज्ञ आरम्भ करा दिया ॥ २ ॥ (कुछ कालतक प्रतीक्षा करके) आत्मज्ञानी निमिने सोचा कि जीवन बहुत चञ्चल है । इसलिए गुरुजी लौटकर नहीं आये, तभी अन्य ऋत्विजोंके द्वारा उन्होंने यज्ञ आरम्भ करा दिया ॥ ३ ॥ इन्द्रका यज्ञ कराके लौटनेपर जब गुरु वसिष्ठजीने अपने शिष्यको अपनी आज्ञाका उल्लंघन करते देखा तो शाप दे दिया कि 'अपनेको पण्डित माननेवाले इस राजा निमिका देह नष्ट हो जाय' ॥ ४ ॥ निमिने भी अधर्ममें प्रवृत्त गुरु वसिष्ठजीको उस शापके बदले यह शाप दिया कि 'आपने लोभवश अपना धर्म नहीं पहचाना, इसलिए आपका शरीर भी नष्ट हो जाय' ॥५॥ यों कहकर आत्मविद्यामें निपुण राजा निमिने अपना शरीर त्याग दिया और हमारे वृद्ध प्रपितामह महर्षि वसिष्ठजीने भी अपना शरीर त्यागकर उर्वशीके गर्भसे मित्रावरुणके वीर्यद्वारा जन्म ग्रहण किया ॥ ६ ॥ तब राजा निमिके देहको उनके ऋत्विज मुनियोंने सुगन्धित वस्तुओंमें रखवा दिया और उस सत्रयागके पूर्ण होनेपर वहाँ आये हुए देवताओंसे कहा—॥ ७ ॥ "हे देवताओं ! यदि (इस यज्ञसे) आपलोग प्रसन्न हों तो राजा निमिका यह शरीर सजीव हो उठे ।" देवताओंके 'तथास्तु' कहनेपर जीवित होते ही निमिने कहा—"मुझे देहका बन्धन प्राप्त न हो । क्योंकि सभी भगवत्परायण मुनिजन इसके वियोगसे डरकर इसका संयोग नहीं चाहते, इसी वास्ते वे सर्वदा श्रीभगवच्चरणारविन्दोंका भजन किया करते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥ इसलिए दुःख, शोक तथा भय प्राप्त करानेवाली यह देह ग्रहण करनेकी मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है । क्योंकि जलमें रहनेवाली मछलीकी भाँति इसकी सर्वत्र मृत्यु हो सकती है" ॥ १० ॥ देवताओंने कहा—हे मुनिजनों ! ये राजा निमि अपनी इच्छानुसार बिना शरीरके ही सब देहधारियोंके नेत्रोंकी पलकोंपर निवास करें । ये सबके नेत्रोंमें स्थित रहते हुए उनके खोलने-मूँदनेसे लक्षित होंगे ॥ ११ ॥ राजाके बिना मनुष्योंमें अराजकता

जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः । मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ॥१३॥
तस्मादुदावसुस्तस्य पुत्रोऽभून्नन्दिवर्धनः । ततः सुकेतुस्तस्यापि देवरातो महीपते ॥१४॥
तस्माद् बृहद्रथस्तस्य महावीर्यः सुधृतिपता । सुधृतेर्धृष्टकेतुर्वै हर्यश्वोऽथ मरुस्ततः ॥१५॥
मरोः प्रतीपकस्तस्माज्जातः कृतिरथो यतः । देवमीढस्तस्य सुतो विश्रुतोऽथ महाधृतिः ॥१६॥
कृतिरातस्ततस्तस्मान्महारोमाथ तत्सुतः । स्वर्णरोमा सुतस्तस्य ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥१७॥
ततः सीरध्वजो जज्ञे यज्ञार्थं कर्षतो महीम् । सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः स्मृतः॥१८॥
कुशध्वजस्तस्य पुत्रस्ततो धर्मध्वजो नृपः । धर्मध्वजस्य द्वौ पुत्रौ कृतध्वजमितध्वजौ ॥१९॥
कृतध्वजात् केशिध्वजः खाण्डिक्यस्तु मितध्वजात् । कृतध्वजसुतो राजन्नात्मविद्याविशारदः ॥२०॥
खाण्डिक्यः कर्मतत्त्वज्ञो भीतः केशिध्वजाद्द्रुतः । भानुमांस्तस्य पुत्रोऽभूच्छतद्युम्नस्तु तत्सुतः॥२१॥
शुचिस्तत्तनयस्तस्मात् सनद्वाजस्ततोऽभवत् । ऊर्ध्वकेतुः सनद्वाजादजोऽथ पुरुजित्सुतः ॥२२॥
अरिष्टनेमिस्तस्यापि श्रुतायुस्तत्सुपार्श्वकः । ततश्चित्ररथो यस्य क्षेमधिर्मिथिलाधिपः ॥२३॥
तस्मात् समरथस्तस्य सुतः सत्यरथस्ततः । आसीदुपगुरुस्तस्मादुपगुप्तोऽग्निसम्भवः ॥२४॥
वस्वनन्तोऽथ तत्पुत्रो युयुधो यत्सुभाषणः । श्रुतस्ततो जयस्तस्माद् विजयोऽस्मादृतः सुतः॥२५॥
शुनकस्तत्सुतो जज्ञे वीतहव्यो धृतिस्ततः । बहुलाश्वो धृतेस्तस्य कृतिरस्य महावशी ॥२६॥
एते वै मैथिला राजन्नात्मविद्याविशारदाः । योगेश्वरप्रसादेन द्वन्द्वैर्मुक्ता गृहेष्वपि ॥२७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे निमिवंशानुवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

फैल जानेके डरसे महर्षियोंने निमिके देहको मथा, तब उनके शरीरसे एक बालक उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ वह जन्मसे 'जनक' और विदेहसे उत्पन्न होनेके कारण 'वैदेह' मन्थन करके उत्पन्न होने से 'मिथिल' कहलाया और इसीने मिथिलापुरी बसायी ॥ १३ ॥ हे राजन्! जनकसे उदावसु हुआ। उदावसुका पुत्र नन्दिवर्धन, उसका पुत्र सुकेतु और सुकेतुका पुत्र देवरात हुआ ॥ १४ ॥ देवरातके बृहद्रथ, बृहद्रथके सुधृतिका पिता महावीर्य, सुधृतिके धृष्टकेतु, धृष्टकेतु हर्यश्व और हर्यश्वके मरुनामका पुत्र जन्मा ॥१५॥ मरुके प्रतीपक, प्रतीपकके कृतिरथ, कृतिरथके देवमीढ, देवमीढके विश्रुत और विश्रुतके महाधृति नामका पुत्र जायमान हुआ ॥ १६ ॥ महाधृतिके कृतिरात तथा कृतिरातसे महारोमाका जन्म हुआ। महारोमाका पुत्र स्वर्णरोमा और स्वर्णरोमाके ह्रस्वरोमा नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥ ह्रस्वरोमाके सीरध्वज नामका पुत्र जन्मा। एक समय महाराज सीरध्वज यज्ञके लिये भूमि जोत रहे थे, तब उनके सीर अर्थात् हलके अग्रभागसे सीताजी निकली थीं। इसी लिये वे 'सीरध्वज' नामसे विख्यात हुए ॥ १८ ॥ सीरध्वजका पुत्र कुशध्वज और कुशध्वजका पुत्र धर्मध्वज हुआ। धर्मध्वजके कृतध्वज तथा मितध्वज नामके दो बेटे उत्पन्न हुए ॥ १९ ॥ उनमें कृतध्वजसे केशिध्वज एवं मितध्वजसे खाण्डिक्य उत्पन्न हुआ। हे राजन्! कृतध्वजका पुत्र केशिध्वज आत्मविद्यामें बहुत निपुण था ॥ २० ॥ खाण्डिक्य कर्मकाण्डका पण्डित था। वह केशिध्वजके डरसे भाग गया। केशिध्वजका पुत्र भानुमान और उसका पुत्र शतद्युम्न हुआ ॥ २१ ॥ शतद्युम्नका पुत्र शुचि, शुचिका सनद्वाज, सनद्वाजका ऊर्ध्वकेतु, उसका अज और अजके पुरजित्नामक पुत्र हुआ ॥ २२ ॥ उसके अरिष्टनेमि, अरिष्टनेमिके श्रुतायु, श्रुतायुके सुपार्श्वक, सुपार्श्वकके चित्ररथ और चित्ररथके मिथिलापति क्षेमधि नामक पुत्र जायमान हुआ ॥ २३ ॥ क्षेमधिके समरथ, समरथके सत्यरथ, सत्यरथके उपगुरु और उपगुरुके अग्निके अंशसे उपगुप्तनामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २४ ॥ उपगुप्तसे वस्वनन्त और वस्वनन्तसे युयुध तथा युयुधसे सुभाषण, सुभाषणसे श्रुत, श्रुतसे जय, जयसे विजय एवं विजयसे ऋतनामक पुत्र जायमान हुआ ॥२५॥ ऋतसे शुनकनामका पुत्र जन्मा। शुनकके वीतहव्य, वीतहव्यके धृति, धृतिके बहुलाश्व, बहुलाश्वके कृति तथा कृतिके महावशी नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २६ ॥ हे राजन्! ये मिथिलवंशमें उत्पन्न राजे

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथातः श्रूयतां राजन् वंशः सोमस्य पावनः । यस्मिन्नैलादयो भूपाः कीर्त्यन्ते पुण्यकीर्तयः ॥१॥
सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात् । जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ॥२॥
तस्य दृग्भ्योऽभवत् पुत्रः सोमोऽमृतमयः किल । विप्रौषध्युडुगणानां ब्रह्मणा कल्पितः पतिः ॥३॥
सोऽयजद् राजसूयेन विजित्य भुवनत्रयम् । पत्नीं बृहस्पतेर्दर्पात् तारा नामाहरद्बलात् ॥४॥
यदा स देवगुरुणा याचितोऽभीक्ष्णशो मदात् । नात्यजत् तत्कृते जज्ञे सुरदानवविग्रहः ॥५॥
शुक्रो बृहस्पतेर्द्वेषादग्रहीत् सासुरोडुपम् । हरो गुरुसुतं स्नेहात् सर्वभूतगणावृतः ॥६॥
सर्वदेवगणोपेतो महेन्द्रो गुरुमन्वयात् । सुरासुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः ॥७॥
निवेदितोऽथाङ्गिरसा सोमं निर्भर्त्स्य विश्वकृत् । तारां स्वभर्त्रे प्रायच्छदन्तर्वत्नीमवैत् पतिः ॥८॥
त्यज त्यजाशु दुष्प्रज्ञे मत्क्षेत्रादाहितं परैः । नाहं त्वां भस्मसात् कुर्यां स्त्रियं सान्तानिकः सति९
तत्याज व्रीडिता तारा कुमारं कनकप्रभम् । स्पृहामाङ्गिरसश्चक्रे कुमारे सोम एव च ॥१०॥
ममायं न तवेत्युच्चैस्तस्मिन् विवदमानयोः । पप्रच्छुर्ऋषयो देवा नैवोचे व्रीडिता तु सा ॥११॥

आत्मविद्यामें कुशल थे और याज्ञवल्क्यादि योगेश्वरोंकी कृपासे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी वे सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे परे हो गये थे ॥ २७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

(चन्द्रवंशी राजाओंका वृत्तान्त, बुधका जन्म तथा राजा पुरूरवाका चरित्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अब मैं जिसमें पुरूरवा आदि पवित्रकीर्तिवाले राजाओंका गुण गाया गया है, उस परम पवित्र चन्द्रवंशका वर्णन करता हूँ—सो सुनो ॥ १ ॥ सहस्र मस्तकवाले भगवान नारायणके नाभिसरोवरसे जायमान कमलके द्वारा उत्पन्न ब्रह्माजीसे उन्हींके सदृश गुणवान् अत्रिनामका पुत्र जायमान हुआ ॥ २ ॥ ऐसा कह जाता है कि अत्रिके नेत्रोंसे अमृतमय चन्द्रमा नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसे ब्रह्माजीने ब्राह्मणियों, ओषधियों तथा नक्षत्रोंका अधिपति बना दिया । उसने सारी त्रिलोकी जीतकर राजसूय यज्ञके द्वारा भगवानका पूजन किया और गर्वमें भरकर बरबस बृहस्पतिजीकी पत्नी ताराका अपहरण कर लिया ॥ ३ ॥ ४ ॥ देवगुरु बृहस्पतिजीके बारम्बार माँगनेपर भी जब उसने अभिमान वश उसे नहीं छोड़ा, तब उसके लिये देवासुरसंग्राम होने लगा ॥ ५ ॥ बृहस्पतिजीके द्वेषसे शुक्राचार्यजीने अपने शिष्य असुरोंके साथ चन्द्रमाका पक्ष लिया और शिवजीने स्नेहवश सब भूतोंके साथ गुरुपुत्र बृहस्पतिजीका साथ देना स्वीकार किया । *कथान्तर* एक समय श्रीशिवजीने बृहस्पतिजीके पिता अंगिराके पास विद्या पढ़ी थी । इसी नाते वे उनके गुरुभाई थे ॥ ६ ॥ उधर इन्द्रने भी सब देवताओंके साथ अपने गुरु बृहस्पतिजीका अनुसरण किया । इस प्रकार ताराके लिये देवता और असुरोंका नाश करनेवाला घोर तारकामय संग्राम होने लगा ॥ ७ ॥ तब महामुनि अङ्गिराजीके कहनेपर जगद्रचयिता भगवान ब्रह्माजीने चन्द्रमाको झिड़ककर उससे तारा अपने पतिको वापस दिला दी । बृहस्पतिजीने उसे गर्भिणी जानकर कहा—॥ ८ ॥ "ओ दुष्ट बुद्धिवाली स्त्री ! मेरे क्षेत्रमें किसी अन्य पुरुष द्वारा स्थापित इस गर्भको तू अभी त्याग दे । ओ सती ! मैं तुझे भस्म नहीं करूँगा । क्योंकि मुझे तेरे द्वारा सन्तान उत्पन्न करनेकी कामना है" ॥ ९ ॥ इसपर ताराने अति लज्जित होकर अपने गर्भसे एक सुवर्ण जैसी कान्तिवाला बालक उत्पन्न किया । उस बालकको बृहस्पति और चन्द्रमा दोनोंहीने अपनाना चाहा ॥ १० ॥ उनको 'यह मेरा है, तुम्हारा नहीं' इस प्रकार कहकर परस्पर झगड़ते देखकर देवता और ऋषियोंने इस विषयमें तारासे पूछ-ताछ की । किन्तु वह लज्जावश

कुमारो मातरं प्राह कुपितोऽलीकलज्जया । किं न वोचस्यसद्वृत्ते आत्मावद्यं वदाशु मे ॥१२॥
ब्रह्मा तां रह आहूय समप्राक्षीच्च सान्त्वयन् । सोमस्येत्याह शनकैः सोमस्तं तावदग्रहीत् ॥१३॥
तस्यात्मयोनिरकृत बुध इत्यभिधां नृप । बुद्धया गम्भीरया येन पुत्रेणापोडुराण्मुदम् ॥१४॥
ततः पुरूरवा जज्ञे इलायां य उदाहृतः । तस्य रूपगुणौदार्यशीलद्रविणविक्रमान् ॥१५॥
श्रुत्वोर्वशीन्द्रभवने गीयमानान् सुरर्षिणा । तदन्तिकमुपेयाय देवी स्मरशरार्दिता ॥१६॥
मित्रावरुणयोः शापादापन्ना नरलोकताम् । निशम्य पुरुषश्रेष्ठं कन्दर्पमिव रूपिणम् ।
धृतिं विष्टभ्य ललना उपतस्थे तदन्तिके ॥ १७ ॥
स तां विलोक्य नृपतिर्हर्षेणोत्फुल्ललोचनः । उवाच श्लक्ष्णया वाचा देवीं हृष्टतनूरुहः ॥१८॥

राजोवाच

स्वागतं ते वरारोहे आस्यतां करवाम किम् । संरमस्व मया साकं रतिर्नौ शाश्वतीः समाः ॥१९॥

उर्वश्युवाच

कस्यास्त्वयि न सज्जेत मनो दृष्टिश्च सुन्दर । यदङ्गान्तरमासाद्य च्यवते ह रिरंसया ॥२०॥
एतावुरणकौ राजन् न्यासौ रक्षस्व मानद । संरंस्ये भवता साकं श्लाघ्यः स्त्रीणां वरः स्मृतः ॥२१॥
घृतं मे वीर भक्ष्यं स्यान्नेक्षे त्वान्यत्र मैथुनात् । विवाससं तत् तथेति प्रतिपेदे महामनाः ॥२२॥
अहो रूपमहो भावो नरलोकविमोहनम् । को न सेवेत मनुजो देवीं त्वां स्वयमागताम् ॥२३॥

कुछ नहीं कह सकी ॥ ११ ॥ तब बालकने स्वयं उसकी व्यर्थ लज्जासे कुपित होकर अपनी माताके प्रति कहा—"ओ पापाचारिणी ! तू बोलती क्यों नहीं ? मुझे शीघ्र अपने कुकर्मका हाल बतला" ॥ १२ ॥ तब ब्रह्माजीने एकान्तमें ताराको बुला और समझा-बुझाकर पूछा । ताराने धीरेसे कहा—"यह गर्भ चन्द्रमाका था ।" अतएव बालकको चन्द्रमाने ले लिया ॥ १३ ॥ हे राजन् ! भगवान ब्रह्माजीने उस बालकका 'बुध' यह नाम रखा । क्योंकि वह गम्भीर बुद्धिसे सम्पन्न था । वह पुत्र पाकर चन्द्रमाको बड़ा आनन्द हुआ ॥ १४ ॥ बुधसे इलाके गर्भ द्वारा राजा पुरूरवाका जन्म हुआ । जिसका उल्लेख मैं पहले ही कर आया हूँ । हे राजन् ! एकबार इन्द्रके भवनमें देवर्षि नारदके द्वारा उसके रूप, गुण, औदार्य, शील, सम्पत्ति तथा पराक्रमादिकी गाथा सुनकर उर्वशीनामकी देवांगना कामबाणसे विद्ध होकर राजा पुरूरवाके पास आ पहुँची ॥१५॥१६॥ उर्वशीको मित्रावरुणका शाप था । इसलिये उसे मर्त्यलोकमें आना पड़ा था, किन्तु उस पुरुषश्रेष्ठको कामदेवके समान सुन्दर सुनकर उसने धैर्य धारण किया और वह सुरसुन्दरी राजाके पास आ उपस्थित हुई ॥ १७ ॥ उसे देखकर राजा पुरूरवाके नेत्र हर्षसे खिल उठे और वह पुलकितशरीर होकर उससे अति मधुर वाणीमें बोला ॥ १८ ॥ राजाने कहा—हे सुमध्यमे ! तुम अच्छी आयीं । बैठो, हम तुम्हारी क्या सेवा करें ? मैं तो चाहता हूँ कि तुम मेरे साथ रमण करो और हमारा तुम्हारा विहार अनन्त कालतक होता रहे ॥ १९ ॥ उर्वशी बोली—हे सुन्दर ! तुमको देखकर किस कामिनीके नेत्र और मन तुममें न उलझ जायँगे ? जब कि तुम्हारा मुखमण्डल निहारकर हमारा (मुझ देवांगनाका भी) मन और हमारे नेत्र तुम्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जा रहे हैं ॥ २० ॥ हे राजन् ! जो पुरुष अपने रूप-गुण आदिसे प्रशंसनीय होता है, वही स्त्रियोंको भाता है । सो मैं तुम्हारे साथ रमण करूँगी । किन्तु हे मानद ! मेरा एक प्रण है । मैं ये दो भेड़के बच्चे धरोहरके रूपमें तुम्हें देती हूँ । इनकी तुम यत्नपूर्वक रक्षा करो ॥ २१ ॥ हे वीर ! मेरा आहार केवल घृत होगा और मैं मैथुनके अतिरिक्त अन्य किसी समय तुम्हें वस्त्रहीन न देख सकूँगी । यदि ये सब बातें स्वीकार हों तो मैं तुम्हारे पास रहूँ । तब उदारचित्त पुरूरवाने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली ॥२२॥ राजाने कहा—"अहो ! सारे मानवसमाजको मोहित करनेवाला तुम्हारा रूप और भाव कितना सुन्दर है ?

तया स पुरुषश्रेष्ठो रमयन्त्या यथार्हतः । रेमे सुरविहारेषु कामं चैत्ररथादिषु ॥२४॥
रममाणस्तया देव्या पद्मकिञ्जल्कगन्धया । तन्मुखामोदमुषितो मुमुदेऽहर्गणान् बहून् ॥२५॥
अपश्यन्नुर्वशीमिन्द्रो गन्धर्वान् समचोदयत् । उर्वशीरहितं मह्यमास्थानं नातिशोभते ॥२६॥
ते उपेत्य महारात्रे तमसि प्रत्युपस्थिते । उर्वश्या उरणौ जह्रुर्न्यस्तौ राजनि जायया ॥२७॥
निशम्याक्रन्दितं देवी पुत्रयोर्नीयमानयोः । हतास्म्यहं कुनाथेन नपुंसा वीरमानिना ॥२८॥
यद्विश्रम्भादहं नष्टा हृतापत्या च दस्युभिः । यः शेते निशि संत्रस्तो यथा नारी दिवा पुमान्॥२९॥
इति वाक्सायकैर्विद्धः प्रतोत्त्रैरिव कुञ्जरः । निशि निस्त्रिंशमादाय विवस्त्रोऽभ्यद्रवद् रुषा ॥३०॥
ते विसृज्योरणौ तत्र व्यद्योतन्त स्म विद्युतः । आदाय मेषावायान्तं नग्नमैक्षत सा पतिम् ॥३१॥
ऐलोऽपि शयने जायामपश्यन् विमना इव । तच्चित्तो विह्वलः शोचन् बभ्रामोन्मत्तवन्महीम्॥३२॥
स तां वीक्ष्य कुरुक्षेत्रे सरस्वत्यां च तत्सखीः । पञ्च प्रहृष्टवदनाः प्राह सूक्तं पुरूरवाः ॥३३॥
अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि । मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै ॥३४॥
सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया । खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम्॥३५॥

उर्वश्युवाच

मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मा स्म त्वाद्युर्वृका इमे । क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा॥३६॥

अपने-आप आयी हुई तुम जैसी सुरसुन्दरीके साथ भला कौन मनुष्य रमण न करेगा ?" ॥ २३ ॥ हे राजन् ! तब यथायोग्य सेवा करनेवाली उस देवाङ्गनाके साथ पुरुषश्रेष्ठ पुरूरवा देवताओंके क्रीडा-स्थान चैत्ररथ आदि वनोंमें यथेच्छ विहार करने लगा ॥ २४ ॥ कमलकेसर जैसी गंध युक्त उस कामिनीके साथ रमण करते हुए वह उसके मुखकी सुवाससे मुग्ध होकर बहुत वर्षोंतक आनन्द करता रहा ॥ २५ ॥ एक समय उर्वशीको न देखकर देवराज इन्द्रने यह कहते हुए कि 'उर्वशीके बिना मुझे यह स्थान नहीं भाता' उसे लानेके लिये गन्धर्वोंको भेजा ॥ २६ ॥ वे गन्धर्व आधी रातको अँधेरेमें उर्वशीके दोनों मेषोंको, जिन्हें कि उसने राजाके पास धरोहरके रूपमें रखा था, ले भागे ॥ २७ ॥ इस तरह हरकर ले जाये जाते हुए अपने पुत्रतुल्य उन मेषोंका रुदन सुनकर अप्सराने कहा—"हाय ! अपनेको असाधारण वीर माननेवाले इस नपुंसक सदृश निन्दनीय पतिके कारण मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया ॥ २८ ॥ इसका भरोसा करके दस्युओं द्वारा अपने पुत्रोंके हर लिये जानेके कारण मुझे इस तरह नष्ट होना पड़ा । अहो ! यह दिनमें तो बड़ा मर्द बनता है, परन्तु रात्रिको भयभीत होकर स्त्रियोंके समान पड़ा सोया करता है" ॥ २९ ॥ हे राजन् ! अंकुशसे बिंधे हाथीके समान उर्वशीके इन वचनबाणोंसे बिंधकर पुरूरवा बहुत क्रुद्ध हुआ और उस रात्रिके अन्धकारमें ही हाथमें तलवार लेकर नङ्गा ही गन्धर्वोंका पीछा करते हुए दौड़ पड़ा ॥ ३० ॥ राजाको देखकर गन्धर्वोंने मेषोंको तो वहीं छोड़ दिया और स्वयं विशेष तेजस्वी होकर जगमगाने लगे । अतः उर्वशीने मेषोंको लाते हुए अपने पतिको नङ्गा देख लिया और वह तत्काल उसे छोड़कर चली गयी ॥ ३१ ॥ राजा पुरूरवाने शयनागारमें जब अपनी प्रियाको नहीं देखा तो वह अनमना जैसा हो उसीमें मन लगाये शोकसे विह्वल होकर उन्मत्तकी भाँति पृथ्वीमें इधर-उधर फिरने लगा ॥ ३२ ॥ एक समय उसने कुरुक्षेत्रमें सरस्वती नदीके तटपर उर्वशी और उसकी पाँच प्रसन्नमुखी सखियोंको देखकर इन सुन्दर वचनोंको कहा—॥ ३३ ॥ "ओ प्रिये ! ठहरो, ठहरो । मुझे अच्छी तरह आनन्दित किये बिना घोर दुःखमें छोड़कर तुम जाओ मत । आओ, हम दोनों कुछ देर बातचीत तो कर लें ।।३४।। देखो, तुमने मेरा यह सुन्दर शरीर दूर त्याग दिया है । अतएव यह यहीं गिर जायगा और इसे भेड़िये तथा गिद्ध खा जाँयगे । क्या तुम मेरी इस बातसे भी प्रसन्न न होओगी ? ।।३५।। उर्वशी बोली—हे राजन् ! तुम पुरुष होकर इस प्रकार प्राण न दो । देखो, तुम ऐसा करो कि तुम्हें भेड़िये न खा सकें । स्त्रियोंकी किसीके भी साथ मैत्री नहीं होती । भेड़ियेके

स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूरा दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः । घ्नन्त्यल्पार्थेपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत ॥३७॥
विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः । नवं नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः ॥३८॥
संवत्सरान्ते हि भवानेकरात्रं मयेश्वर । वत्स्यत्यपत्यानि च ते भविष्यन्त्यपराणि भोः ॥३९॥
अन्तर्वत्नीमुपालक्ष्य देवीं स प्रययौ पुरम् । पुनस्तत्र गतोऽब्दान्ते उर्वशीं वीरमातरम् ॥४०॥
उपलभ्य मुदा युक्तः समुवास तया निशाम् । अथैनमुर्वशी प्राह कृपणं विरहातुरम् ॥४१॥
गन्धर्वानुपधावेमांस्तुभ्यं दास्यन्ति मामिति । तस्य संस्तुवतस्तुष्टा अग्निस्थालीं ददुर्नृप ।
उर्वशीं मन्यमानस्तां सोऽबुध्यत चरन् वने ॥ ४२ ॥
स्थालीं न्यस्य वने गत्वा गृहानाध्यायतो निशि । त्रेतायां सम्प्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥४३॥
स्थालीस्थानं गतोऽश्वत्थं शमीगर्भं विलक्ष्य सः । तेन द्वे अरणी कृत्वा उर्वशीलोककाम्यया ॥४४॥
उर्वशीं मन्त्रतो ध्यायन्नधरारणिमुत्तराम् । आत्मानमुभयोर्मध्ये यत् तत् प्रजननं प्रभुः ॥४५॥
तस्य निर्मन्थनाज्जातो जातवेदा विभावसुः । त्रय्या स विद्यया राज्ञा पुत्रत्वे कल्पितस्त्रिवृत् ॥४६
तेनायजत यज्ञेशं भगवन्तमधोक्षजम् । उर्वशीलोकमन्विच्छन् सर्वदेवमयं हरिम् ॥४७॥
एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः । देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥४८॥
पुरूरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप । अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥४९॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे ऐलोपाख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

समान ही इनका हृदय कठोर होता है ॥३६॥ स्त्रियाँ बड़ी निर्दय, क्रूर और असहनशील होती हैं। ये अपने सुखके लिये बड़ेसे बड़े साहसके काम कर गुजरती हैं । अपने तनिकसे स्वार्थके लिये ये अति विश्वास-पात्र पति तथा भाई तकको मार डालती हैं, फिर औरोंके विषयमें क्या कहा जाय ॥ ३७ ॥ ये एकदम सौहार्दशून्य होतीं और भोले-भाले पुरुषोंको झूठ-मूठका विश्वास दिलातीं और व्यभिचारिणी एवं स्वेच्छाचारिणी होकर नित्य नये-नये पतिको खोजती रहती हैं ॥ ३८ ॥ हे राजराजेश्वर ! एक वर्ष बाद फिर तुम एक रात मेरे संग रहोगे । तब तुम्हारे द्वारा और भी कई सन्तानें उत्पन्न होंगी ॥ ३९ ॥ राजा पुरूरवा उर्वशीको गर्भवती जानकर अपने नगरको लौट आया। एक साल बीतनेके बाद वह वहाँ पहुँचा और वीरमाता उर्वशीको देख अतिशय अनन्दित होकर उसके साथ एक रात रहा। तब उर्वशीने अपनी विरहव्यथासे दुःखित और दीन राजासे कहा—॥ ४० ॥ ४१ ॥ "हे राजन् ! यदि तुम इन गन्धर्वोंकी स्तुति करो तो ये मुझको तुम्हें दे सकते हैं।" हे राजा परीक्षित ! पुरूरवाकी प्रार्थनासे प्रसन्न गन्धर्वोंने उसे एक अग्निस्थाली दे दी। और वह राजा उर्वशी समझकर उसीको हृदयसे लगाये वनमें विचरता रहा । जब उसे चेतना आयी तब उस स्थालीको वनमें ही छोड़कर अपने घर लौट आया। एक रात्रिको सदाकी तरह उर्वशीका ध्यान करते-करते त्रेतायुगके आरम्भमें उसके हृदयमें एकाएक वेदत्रयीका आविर्भाव हो गया ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ तब स्थाली त्यागनेके स्थानपर उसने जाकर शमी अर्थात् ढाकके गर्भसे उत्पन्न एक पीपलका वृक्ष देखा। तदनन्तर उससे दो अरणि यानी मन्थनकाष्ठ बनाकर उसने उर्वशीलोककी इच्छावश नीचेकी अरणिको उर्वशी, ऊपरकी अरणिको पुरूरवा तथा बिचले काष्ठको पुत्र समझते हुए अग्नि प्रज्वलित करनेवाले मन्त्रों द्वारा मथा ॥ ४४॥ ४५॥ उनको मथनेसे जो जातवेदानामका अग्नि प्रकटा, उसे उसने त्रयी विद्याके द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि इन तीन रूपोंमें विभक्त करके अपने पुत्ररूपसे स्वीकार कर लिया ॥ ४६ ॥ तब उर्वशीलोकको पानेकी इच्छासे पुरूरवाने उस त्रिविध अग्निके द्वारा सर्वदेवमय, अधोक्षज एवं यज्ञेश्वरभगवान् हरिका यजन किया ॥ ४७ ॥ हे राजन् ! इससे पहले अर्थात् सत्ययुगमें सर्ववाङ्मय केवल ओंकार ही वेद था, एकमात्र श्रीनारायण ही देवता थे—उनके सिवा और कोई भी देवता नहीं था और एक ही लौकिक अग्नि तथा हंसनामका केवल एक ही वर्ण था ॥ ४८ ॥ हे नृप ! त्रेतायुगके

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

ऐलस्य चोर्वशीगर्भात् षडासन्नात्मजा नृप । आयुः श्रुतायुः सत्यायू रयोऽथ विजयो जयः ॥१॥
श्रुतायोर्वसुमान् पुत्रः सत्यायोश्च श्रुतञ्जयः । रयस्य सुत एकश्च जयस्य तनयोऽमितः ॥२॥
भीमस्तु विजयस्याथ काञ्चनो होत्रकस्ततः । तस्य जह्नुः सुतो गङ्गां गण्डूषीकृत्य योऽपिबत् ।
जह्नोस्तु पूरुस्तत्पुत्रो बलाकश्चात्मजोऽजकः ॥ ३ ॥
ततः कुशः कुशस्यापि कुशाम्बुस्तनयो वसुः । कुशनाभश्च चत्वारो गाधिरासीत् कुशाम्बुजः ॥४॥
तस्य सत्यवतीं कन्यामृचीकोऽयाचत द्विजः । वरं विसदृशं मत्वा गाधिर्भार्गवमब्रवीत् ॥५॥
एकतः श्यामकर्णानां हयानां चन्द्रवर्चसाम् । सहस्रं दीयतां शुल्कं कन्यायाः कुशिका वयम् ॥६॥
इत्युक्तस्तन्मतं ज्ञात्वा गतः स वरुणान्तिकम् । आनीय दत्त्वा तानश्वानुपयेमे वराननाम् ॥७॥
स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया । श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः ॥८॥
तावत् सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती । श्रेष्ठं मत्वा तयायच्छन्मात्रे मातुरदत् स्वयम् ॥९॥
तद् विज्ञाय मुनिः प्राह पत्नीं कष्टमकारषीः । घोरो दण्डधरः पुत्रो भ्राता ते ब्रह्मवित्तमः ॥१०॥
प्रसादितः सत्यवत्या मैवं भूदिति भार्गवः । अथ तर्हि भवेत् पौत्रो जमदग्निस्ततोऽभवत् ॥११॥

आरम्भमें पुरूरवासे ही तीन तरहका अग्नि उत्पन्न हुआ । तब पुत्ररूपसे माने हुए उस अग्निके द्वारा ही राजा पुरूरवा गन्धर्वलोकमें जा पहुँचा ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(ऋचीक, जमदग्नि एवं श्रीपरशुरामजीका चरित्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उर्वशीके गर्भसे पुरूरवाके आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय—ये छः पुत्र हुए ॥ १ ॥ उनमें श्रुतायुसे वसुमान, सत्यायुसे श्रुतञ्जय, रयसे एक और जयसे अगणित पुत्र हुए ॥ २ ॥ विजयका पुत्र भीम हुआ । उसके काञ्चन, काञ्चनके होत्र और होत्रके जह्नु नामका पुत्र जन्मा, जिसने गङ्गाजीको अपनी अञ्जलीमें लेकर पी लिया था । जह्नु के पुरु, पुरुके बालक और बालकके अजकनामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥ अजकके कुश, कुशके कुशाम्बु, भूतप, वसु तथा कुशनाभ ये चार पुत्र उत्पन्न हुए और कुशाम्बुके अकेले पुत्र गाधि हुए ॥ ४ ॥ हे राजन् ! उन गाधिसे महर्षि ऋचीकने उनकी कन्या सत्यावती माँगी । उन्हें अपनी कन्याके योग्य वर न समझकर राजा गाधिने भृगुवंशज ऋचीकसे कहा—॥ ५ ॥ "हे मुने ! हमलोग कुशिकवंशी हैं । इसलिए हमारी कन्या मिलनी बहुत कठिन बात है । (यदि उसे पाना ही चाहें तो) आप श्यामवर्णके कानवाले एवं चन्द्रमाके समान शुभ्र एक सहस्र घोड़े हमारी कन्याके शुल्कमें प्रदान करिए" ॥६॥ जब राजा गाधिने ऐसा कहा तो मुनिवर ऋचीक उनका अभिप्राय समझ गये । तब उन्होंने वरुणके पाससे वैसे घोड़े लाकर राजाको दे दिये और उस सुमुखीके साथ विवाह कर लिया ॥७॥ एक समय महर्षि ऋचीकसे उनकी पत्नी तथा सासुने पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रार्थना की । तदनन्तर उन दोनोंके लिये अलग-अलग मन्त्रोंसे चरु सिद्ध करके मुनि स्नान करनेको नदीपर चले गये ॥ ८ ॥ इसी बीच सत्यवतीकी माताने यह समझकर कि पत्नीपर विशेष प्रेम होनेके नाते सत्यवतीका चरु उत्तम होगा, उससे उसका चरु माँग लिया और सत्यवतीने अपना चरु माताको देकर स्वयं माताका चरु खा लिया । जब मुनिको यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने पत्नीसे कहा—"यह तूने बहुत बड़ा अनर्थ कर दिया । अब तेरा पुत्र बड़ा दुर्दण्ड एवं घोर प्रकृतिका होगा और तेरा भाई सभी ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होगा" ॥ ९ ॥ १० ॥ सत्यवतीके 'ऐसा न होना चाहिए' यों कहकर प्रार्थना करनेपर उन भृगुनन्दन ऋचीकने प्रसन्न होकर कहा—"अच्छा,

सा चाभूत् सुमहापुण्या कौशिकी लोकपावनी । रेणोः सुतां रेणुकां वै जमदग्निरुवाह याम् ॥१२॥
तस्यां वै भार्गवऋषेः सुता वसुमदादयः । यवीयाञ्जज्ञ एतेषां राम इत्यभिविश्रुतः ॥१३॥
यमाहुर्वासुदेवांशं हैहयानां कुलान्तकम् । त्रिःसप्तकृत्वो य इमां चक्रे निःक्षत्रियां महीम् ॥१४॥
दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत् । रजस्तमोवृतमहन् फल्गुन्यपि कृतेऽंहसि ॥१५॥

राजोवाच

किं तदंहो भगवतो राजन्यैरजितात्मभिः । कृतं येन कुलं नष्टं क्षत्रियाणामभीक्ष्णशः ॥१६॥

श्रीशुक उवाच

हैहयानामधिपतिरर्जुनः क्षत्रियर्षभः । दत्तं नारायणस्यांशमाराध्य परिकर्मभिः ॥१७॥
बाहून् दशशतं लेभे दुर्धर्षत्वमरातिषु । अव्याहतेन्द्रियौजःश्रीतेजोवीर्ययशोबलम् ॥१८॥
योगेश्वरत्वमैश्वर्यं गुणा यत्राणिमादयः । चचाराव्याहतगतिर्लोकेषु पवनो यथा ॥१९॥
स्त्रीरत्नैरावृतः क्रीडन् रेवाम्भसि मदोत्कटः । वैजयन्तीं स्रजं बिभ्रद् रुरोध सरितं भुजैः ॥२०॥
विप्लावितं स्वशिबिरं प्रतिस्रोतःसरिज्जलैः । नामृष्यत् तस्य तद् वीर्यं वीरमानी दशाननः ॥२१॥
गृहीतो लीलया स्त्रीणां समक्षं कृतकिल्बिषः । माहिष्मत्यां संनिरुद्धो मुक्तो येन कपिर्यथा ॥२२॥
स एकदा तु मृगयां विचरन् विपिने वने । यदृच्छयाऽऽश्रमपदं जमदग्नेरुपाविशत् ॥२३॥
तस्मै स नरदेवाय मुनिरर्हणमाहरत् । ससैन्यामात्यवाहाय हविष्मत्या तपोधनः ॥२४॥

यह पुत्र तो ऐसा नहीं होगा, परन्तु पौत्र ऐसा ही होगा।" तब उससे महर्षि जमदग्नि जन्मे ॥ ११ ॥ और सत्यवती सब लोकोंको पवित्र करनेवाली परमपुण्यवती कौशिकी नदीके रूपमें परिणत हो गयी। महर्षि जमदग्निने रेणुऋषिकी कन्या रेणुकासे विवाह किया ॥ १२ ॥ उससे जमदग्निजीके वसुमान् आदि अनेक पुत्र जायमान हुए। उनमें सबसे छोटा पुत्र 'राम' इस नामसे विख्यात हुआ ॥ १३ ॥ उसे लोग भगवान वासुदेवका अंश बताते हैं। उसीने हैहयवंशका अन्त किया और इक्कीस बार उसने सारी पृथिवीको क्षत्रियविहीन कर दिया था ॥१४॥ उस वीरने तनिकसे अपराधपर पृथिवीके भारभूत, अब्रह्मण्य तथा रजोगुण-तमोगुणमयी वृत्तिवाले दुष्ट क्षत्रियोंका अन्त कर डाला था ॥१५॥ राजा परीक्षित्ने पूछा—हे प्रभो! भला उन अजितेन्द्रिय राजाओंने भगवान् परशुरामजीका क्या बिगाड़ा था कि जिसके लिये उन्होंने बार-बार क्षत्रियकुलका संहार किया? ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय हैहयराज अर्जुनने साक्षात् भगवान्के अवतार दत्तात्रेयजीकी अनेक तरहसे सेवा-शुश्रूषादि द्वारा आराधना करके उनकी कृपासे एक सहस्र भुजा, शत्रुओंसे अजेयता, अव्याहत इन्द्रिय-बल, सम्पत्ति, तेज, पुरुषार्थ, यश तथा शारीरिक बल प्राप्त कर लिया था ॥ १७ ॥ १८ ॥ इसी प्रकार जिसमें अणिमादि सिद्धियाँ विद्यमान हैं, उस योगेश्वरत्वरूपी ऐश्वर्यको प्राप्त करके वह वायुके सदृश अपनी अव्याहतगतिसे सब लोकोंमें मनमाना विचरता था ॥ १९ ॥ एक समयकी बात है कि गलेमें वैजयन्ती माला पहने और रमणीरत्नोंसे घिरा हुआ वह मदोन्मत्त सहस्रार्जुन नर्मदा नदीके जलमें जलविहार कर रहा था। उस समय एकाएक उसने अपनी भुजाओं द्वारा नदीका प्रवाह रोक दिया ॥२०॥ इससे नदीका बहाव उलटा बहने लगा और उसके बढ़े हुए जलमें अपना शिबिर डूबता देखकर अपनेको असाधारण वीर माननेवाला रावण सहस्रार्जुनके उस पराक्रमको नहीं सह सका ॥ २१ ॥ तब स्त्रियोंके सामने ही अपना अपमान करनेवाले रावणको सहस्रार्जुनने खेल-खेलमें पकड़कर माहिष्मतीपुरीमें बन्दरकी तरह कैद कर लिया। बादमें पुलस्त्यजीके बहुत कुछ कहनेसे छोड़ा ॥ २२ ॥ एक दिन गहन वनमें मृगया करते समय दैववश राजा सहस्रार्जुन जमदग्नि मुनिके आश्रमपर जा पहुँचा ॥ २३ ॥ उन तपोधन मुनिने अपनी कामधेनुके द्वारा सेना, मन्त्रिमण्डल तथा हाथी-घोड़े आदि वाहनों समेत आये

स वीरस्तत्र तद् दृष्ट्वा आत्मैश्वर्यातिशायनम् । तन्नाद्रियताग्निहोत्र्यां साभिलाषः स हैहयः ॥२५॥
हविर्धानीमृषेर्दर्पान्नरान् हर्तुमचोदयत् । ते च माहिष्मतीं निन्युः सवत्सां क्रन्दतीं बलात् २६
अथ राजनि निर्याते राम आश्रम आगतः । श्रुत्वा तत् तस्य दौरात्म्यं चुक्रोधाहिरिवाहतः २७॥
घोरमादाय परशुं सतूणं चर्म कार्मुकम् । अन्वधावत दुर्धर्षो मृगेन्द्र इव यूथपम् ॥२८॥

तमापतन्तं भृगुवर्यमोजसा धनुर्धरं बाणपरश्वधायुधम् ।
ऐणेयचर्माम्बरमर्कधाममिर्युतं जटाभिर्ददृशे पुरीं विशन् ॥२९॥
अचोदयद्धस्तिरथाश्वपत्तिभिर्गदासिबाणर्ष्टिशतघ्निशक्तिभिः ।
अक्षौहिणीः सप्तदशातिभीषणास्ता राम एको भगवानसूदयत् ॥३०॥
यतो यतोऽसौ प्रहरत्परश्वधो मनोऽनिलौजाः परचक्रसूदनः ।
ततस्ततश्छिन्नभुजोरुकन्धरा निपेतुरुर्व्यां हतसूतवाहनाः ॥३१॥
दृष्ट्वा स्वसैन्यं रुधिरौघकर्दमे रणाजिरे रामकुठारसायकैः ।
विवृक्णचर्मध्वजचापविग्रहं निपातितं हैहय आपतद् रुषा ॥३२॥
अथार्जुनः पञ्चशतेषु बाहुभिर्धनुःषु बाणान् युगपत् स सन्दधे ।
रामाय रामोऽस्त्रभृतां समग्रणीस्तान्येकधन्वेषुभिराच्छिनत् समम् ॥३३॥
पुनः स्वहस्तैरचलान् मृधेऽङ्घ्रिपानुत्क्षिप्य वेगादभिधावतो युधि ।
भुजान् कुठारेण कठोरनेमिना चिच्छेद रामः प्रसभं त्वहेरिव ॥३४॥

हुए राजाका भली भाँति आतिथ्य-सत्कार किया ॥ २४ ॥ अन्य हैहय क्षत्रियों समेत वीरवर सहस्रार्जुनने जब उन मुनीश्वरका ऐश्वर्य अपने ऐश्वर्यसे भी बढ़ा-चढ़ा देखा तो उसने आतिथ्य-सत्कारका कुछ भी आदर न करके उनकी कामधेनुको ही ले लेना चाहा ॥ २५ ॥ तदनुसार उसने गर्वमें आकर अपने सेवकोंको जमदग्नि ऋषिकी कामधेनु छीन लेनेकी आज्ञा दी और वे उस डकराती हुई कामधेनुको उसके बछड़े सहित जबर्दस्ती माहिष्मतीपुरी ले गये ॥ २६ ॥ राजाके आश्रमसे निकलते ही परशुरामजी आ गये । उसकी दुष्टताका वृत्तान्त सुनकर वे घायल सर्पके समान क्रुद्ध हो उठे ॥ २७ ॥ तब अपना भयङ्कर परशु, तरकस, ढाल एवं धनुष लेकर गजराजकी ओर दौड़ते हुए दुर्धर्ष सिंहकी तरह चले ॥ २८ ॥ राजा सहस्रार्जुनने अपने नगरमें प्रवेश करते समय ही देखा कि हाथमें धनुष, बाण तथा परशु लिये, कृष्णमृगचर्म पहने और सूर्यके समान तेजोमय जटाजूट धारण किये भृगुश्रेष्ठ श्रीपरशुरामजी बड़े वेगसे बढ़े आ रहे हैं ॥ २९ ॥ उन्हें देखकर उसने गदा, खड्ग, बाण, ऋष्टि, शतघ्नी तथा शक्ति आदि आयुधोंसे युक्त हाथी, घोड़े, रथ और पदातियोंसे सम्पन्न अति भयङ्कर सत्रह अक्षौहिणी सेना भेजी, किन्तु भगवान् परशुरामजीने उसे अकेले ही काट डाला ॥ ३० ॥ मन तथा वायुके समान वेगवान् एवं शत्रुकी सेनाका संहार करनेवाले परशुरामजी जिधर ही अपना परशु घुमाते थे, उधर ही जिनके सारथी और वाहन नष्ट हो गये थे ऐसे अनेक वीर भुजा, ऊरु एवं ग्रीवा आदिके कट जानेसे धरातलमें सो जाते थे ॥ ३१ ॥ परशुरामजीके कुठार तथा बाणों द्वारा ढाल, ध्वजा, धनुष एवं शरीरोंके छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण अपनी सेनाको युद्धस्थलमें रुधिरकी कीचमें लोटते देखकर हैहयराज अर्जुन बहुत कुपित हुआ और स्वयं युद्ध करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ३२ ॥ उसने अपनी सहस्र भुजाओंसे एक-साथ पाँच सौ धनुषोंपर बाण चढ़ाया और उन्हें परशुरामजीकी ओर छोड़ा, किन्तु शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने उन्हें अपने एक ही धनुषके छोड़े बाणों द्वारा एक साथ काट डाला ॥ ३३ ॥ तदनन्तर अपने हाथोंमें पर्वत तथा वृक्षादि लेकर युद्धस्थलमें बड़े वेगसे सामने आये हुए सहस्रार्जुनकी सब भुजाओंको परशुरामजीने अपनी तीखी धारवाले फरसेसे बड़ी शीघ्रताके साथ सर्पोंकी नाईं काट

कृत्तबाहोः शिरस्तस्य गिरेः शृङ्गमिवाहरत् । हते पितरि तत्पुत्रा अयुतं दुद्रुवुर्भयात् ॥३५॥
अग्निहोत्रीमुपावर्त्य सवत्सां परवीरहा । समुपेत्याश्रमं पित्रे परिक्लिष्टां समर्पयत् ॥३६॥
स्वकर्म तत्कृतं रामः पित्रे भ्रातृभ्य एव च । वर्णयामास तच्छ्रुत्वा जमदग्निरभाषत ॥३७॥
राम राम महाबाहो भवान् पापमकारषीत् । अवधीन्नरदेवं यत् सर्वदेवमयं वृथा ॥३८॥
वयं हि ब्राह्मणास्तात क्षमयार्हणतां गताः । यया लोकगुरुर्देवः पारमेष्ठ्यमगात् पदम् ॥३९॥
क्षमया रोचते लक्ष्मीर्ब्राह्मी सौरी यथा प्रभा । क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः ॥४०॥
राज्ञो मूर्धाभिषिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद् गुरुः । तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

पित्रोपशिक्षितो रामस्तथेति कुरुनन्दन । संवत्सरं तीर्थयात्रां चरित्वाऽऽश्रममाव्रजत् ॥१॥
कदाचिद् रेणुका याता गङ्गायां पद्ममालिनम् । गन्धर्वराजं क्रीडन्तमप्सरोभिरपश्यत ॥२॥
विलोकयन्ती क्रीडन्तमुदकार्थं नदीं गता । होमवेलां न सस्मार किञ्चिच्चित्ररथस्पृहा ॥३॥
कालात्ययं तं विलोक्य मुनेः शापविशङ्किता । आगत्य कलशं तस्थौ पुरोधाय कृताञ्जलिः ॥४॥
व्यभिचारं मुनिर्ज्ञात्वा पत्न्याः प्रकुपितोऽब्रवीद् । घ्नतैनां पुत्रकाः पापामित्युक्तास्ते न चक्रिरे ॥५॥

डाला ॥ ३४ ॥ इस तरह भुजाएँ कट जानेपर उन्होंने उसका पर्वतशिखरके समान मस्तक भी काट लिया । तदनन्तर अपने पिताको मारा गया सुनकर उसके दस हजार पुत्र भयभीत होकर इधर-उधर भाग गये ॥ ३५ ॥ तब शत्रुओंका दमन करनेवाले श्रीपरशुरामजीने अतिपीडिता कामधेनुको उसके बछड़े समेत आश्रमपर ले आकर अपने पिताजीको अर्पण किया ॥ ३६ ॥ इसके बाद उन्होंने अपना वह सारा कर्म पिताजी तथा भाइयोंको कह सुनाया । उसे सुनकर जमदग्निजी बोले—॥ ३७ ॥ "हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो ! तुमने यह बड़ा पाप किया, जो व्यर्थ उस सर्वदेवमय राजाका वध कर डाला ॥ ३८ ॥ हे तात ! हम ब्राह्मण हैं । क्षमाके कारण ही हम पूजनीय माने जाते हैं । इस क्षमाके प्रभावसे ही लोकगुरु ब्रह्माजी भी ब्रह्मपद प्राप्त किये हैं ॥ ३९ ॥ क्षमासे ही ब्रह्मसम्पत्ति सूर्यकी प्रभाकी भाँति प्रकाशित होती रहती है और भगवान भी क्षमावानोंपर ही जल्दी प्रसन्न होते हैं ॥ ४० ॥ हे तात ! किसी सार्वभौम राजाका वध ब्राह्मणवधसे भी बढ़कर पाप है । इसलिए तुम श्रीअच्युतभगवानमें अपना चित्त लगाकर तीर्थसेवन करते हुए यह पाप नष्ट करो" ॥ ४१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(महर्षि जमदग्निका वध, परशुरामके द्वारा क्षत्रियोंका संहार और विश्वामित्रकी संततिका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अपने पिताजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर परशुरामजीने उसे स्वीकार कर लिया और एक वर्षतक तीर्थयात्रा करके अपने आश्रममें लौट आये ॥ १ ॥ एक दिन उनकी माता रेणुका जल लानेके लिये गङ्गातटपर गयी । वहाँ उसने कमलकी माला धारण किये गन्धर्वराज चित्ररथको अप्सराओंके साथ रमण करते देखा ॥ २ ॥ जलके लिए नदीतटपर गयी हुई रेणुकाको उनकी क्रीडा देखकर होमके समयका स्मरण नहीं रह गया और उसका मन कुछ-कुछ चित्ररथमें लग गया ॥ ३ ॥ तनिक देर बाद हवनकालको बीता हुआ जानकर वह जमदग्नि मुनिके शापकी आशङ्का करके तुरन्त लौट आयी और जलका कलश सामने रख और हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी ॥ ४ ॥ तब अपने योगबलसे पत्नीका मानसिक व्यभिचार जानकर मुनिने अतिशय क्रुद्ध

रामः सञ्चोदितः पित्रा भ्रातन्मात्रा सहावधीत् । प्रभावज्ञो मुनेः सम्यक् समाधेस्तपसश्च सः ॥६॥
वरेण च्छन्दयामास प्रीतः सत्यवतीसुतः । वव्रे हतानां रामोऽपि जीवितं चास्मृतिं वधे ॥७॥
उत्तस्थुस्ते कुशलिनो निद्रापाय इवाञ्जसा । पितुर्विद्वांस्तपोवीर्यं रामश्चक्रे सुहृद्वधम् ॥८॥
येऽर्जुनस्य सुता राजन् स्मरन्तः स्वपितुर्वधम् । रामवीर्यपराभूता लेभिरे शर्म न क्वचित् ॥९॥
एकदाऽऽश्रमतो रामे सभ्रातरि वनं गते । वैरं सिसाधयिषवो लब्धच्छिद्रा उपागमन् ॥१०॥
दृष्ट्वाग्न्यगार आसीनमावेशितधियं मुनिम् । भगवत्युत्तमश्लोके जघ्नुस्ते पापनिश्चयाः ॥११॥
याच्यमानाः कृपणया राममात्रातिदारुणाः । प्रसह्य शिर उत्कृत्य निन्युस्ते क्षत्रबन्धवः ॥१२॥
रेणुका दुःखशोकार्ता निघ्नन्त्याऽऽत्मानमात्मना । राम रामेहि तातेति विचुक्रोशोच्चकैः सती १३
तदुपश्रुत्य दूरस्थो हा रामेत्यार्तवत् स्वनम् । त्वरयाऽऽश्रममासाद्य ददृशे पितरं हतम् ॥१४॥
तद्दुःखरोषामर्षार्तिशोकवेगविमोहितः । हा तात साधो धर्मिष्ठ त्यक्त्वास्मान् स्वर्गतोभवान्
विलप्यैवं पितुर्देहं निधाय भ्रातृषु स्वयम् । प्रगृह्य परशुं रामः क्षत्रान्ताय मनो दधे ॥१६॥
गत्वा माहिष्मतीं रामो ब्रह्मघ्नविहतश्रियम् । तेषां स शीर्षभी राजन् मध्ये चक्रे महागिरिम् १७॥
तद्रक्तेन नदीं घोरामब्रह्मण्यभयावहाम् । हेतुं कृत्वा पितृवधं क्षत्रेऽमङ्गलकारिणि ॥१८॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः । स्यमन्तपञ्चके चक्रे शोणितोदान् ह्रदान् नृप ॥१९॥

होकर कहा—'हे पुत्रो ! तुम इस पापिनीको मार डालो' । किन्तु उन मुनिके कहनेपरभी उन्होंने नहीं मारा ॥ ५ ॥ अपने पिताके आज्ञा देनेपर उनके योग तथा तपके प्रभावसे भलीभाँति परिचित परशुरामजीने माता समेत अपने सब भाइयोंको मार डाला ॥ ६ ॥ उनके इस कार्यसे प्रसन्न होकर सत्यवतीसुत जमदग्निजीने उन्हें अभिलषित वर माँगनेको कहा । इसपर परशुरामजीने मरी हुई माता तथा भाइयोंके पुनः जीवित हो जाने और उन्हें अपनी मृत्युका भी स्मरण न रह जानेका वर माँगा ॥ ७ ॥ तब वे सब निद्रासे उठे हुए व्यक्तियोंके समान अनायास कुशलपूर्वक उठ बैठे । इस तरह अपने पिताके तपका प्रभाव जानकर ही परशुरामजीने माता और अपने बन्धुओंको मार डाला था ॥ ८ ॥ हे राजन् ! उधर सहस्रार्जुनके जो पुत्र परशुरामजीके पराक्रमसे पराभूत होकर निकल भागे थे, उन्हें भी अपने पिताके वधकी याद बनी रहनेके कारण किसी समय चैन नहीं था ॥ ९ ॥ एक दिन जब परशुरामजी भाइयों सहित आश्रमसे वनकी ओर गये हुए थे, तभी अवसर पाकर वे अपना वैर चुकानेके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥ वहाँ मुनिवर जमदग्निको भगवान विष्णुमें मन लगाये अग्निशालामें बैठे देखकर उनके वधरूपी पापका निश्चय करके ही आये हुए राजकुमारोंने उन्हें मार डाला और वे अत्यन्त क्रूर क्षत्रियाधम रामकी माता रेणुकाके अति दीनतापूर्वक प्रार्थना करनेपर भी जबर्दस्ती उनका सिर काटकर ले गये ॥ ११ ॥ १२ ॥ तब दुःख तथा शोकसे व्याकुल सती रेणुका स्वयं अपनी छाती पीटती हुई 'हे राम ! हे राम ! हे तात ! शीघ्र आओ' यों कहकर जोर-जोरसे चिल्लाने लगी ॥ १३ ॥ दूरहीसे 'हा राम !' ऐसा करुण क्रन्दन सुनकर परशुरामजी बड़ी तीव्रगतिसे आश्रमपर आये तो उन्होंने अपने पिताजीको मरा पाया ॥ १४ ॥ उनके वियोगसे जायमान दुःख, क्रोध, असहनशीलता, दीनता तथा शोकके वेगसे विमुग्ध होकर 'हा तात ! हा साधो ! हा धर्मिष्ठ ! आप हम सबको छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये' इस तरह विलाप करने लगे । फिर अपने पिताका शरीर अपने भाइयोंको सौंप दिया और हाथमें परशु लेकर उन्होंने मन-ही-मन क्षत्रियोंका अन्त कर डालनेका दृढ़ निश्चय कर लिया ॥ १५ ॥ १६ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! परशुरामजीने उन घातक राजाओंके कारण श्रीहीन माहिष्मतीपुरीमें जाकर वहाँ राजकुमारोंके सिर काट-काटकर एक बड़ा भारी पर्वत खड़ा कर दिया और उनके रक्तसे ब्राह्मण-द्रोहियोंको भय उपजानेवाली एक घोर नदी प्रवाहित कर दी । इस तरह क्षत्रियोंके अत्याचारी हो जानेपर महाप्रभु परशुरामजीने पिताके वधको ही निमित्त मानकर इक्कीस

पितुः कायेन सन्धाय शिर आदाय बर्हिषि । सर्वदेवमयं देवमात्मानमयजन्मखैः ॥२०॥
ददौ प्राचीं दिशं होत्रे ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् । अध्वर्यवे प्रतीचीं वै उद्गात्रे उत्तरां दिशम् ॥२१॥
अन्येभ्योऽवान्तरदिशः कश्यपाय च मध्यतः । आर्यावर्तमुपद्रष्ट्रे सदस्येभ्यस्ततः परम् ॥२२॥
ततश्चावभृथस्नानविधूताशेषकिल्बिषः । सरस्वत्यां ब्रह्मनद्यां रेजे व्यभ्र इवांशुमान् ॥२३॥
स्वदेहं जमदग्निस्तु लब्ध्वा संज्ञानलक्षणम् । ऋषीणां मण्डले सोऽभूत् सप्तमो रामपूजितः ॥२४॥
जामदग्न्योऽपि भगवान् रामः कमललोचनः । आगामिन्यन्तरे राजन् वर्तयिष्यति वै बृहत् ॥२५॥
आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः । उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥२६॥
एवं भृगुषु विश्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । अवतीर्य परं भारं भुवो हन् बहुशो नृपान् ॥२७॥
गाधेरभून्महातेजाः समिद्ध इव पावकः । तपसा क्षात्रमुत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम् ॥२८॥
विश्वामित्रस्य चैवासन् पुत्रा एकशतं नृप । मध्यमस्तु मधुच्छन्दा मधुच्छन्दस एव ते ॥२९॥
पुत्रं कृत्वा शुनःशेपं देवरातं च भार्गवम् । अजीगर्तं सुतानाह ज्येष्ठ एष प्रकल्प्यताम् ॥३०॥
यो वै हरिश्चन्द्रमखे विक्रीतः पुरुषः पशुः । स्तुत्वा देवान् प्रजेशादीन् मुमुचे पाशबन्धनात् ॥३१॥
यो रातो देवयजने देवैर्गाधिषु तापसः । देवरात इति ख्यातः शुनःशेपः स भार्गवः ॥३२॥
ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तत् । अशपत् तान् मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छा भवत दुर्जनाः ॥३३

बार सारी पृथिवीको क्षत्रियहीन किया और स्यमन्तपञ्चकक्षेत्रमें रुधिररूप जलसे भरे नौ तालाब बनाये ॥ १७-१९ ॥ तब अपने मृत पिताका सिर ला और उसे यज्ञमें उनके शरीरसे जोड़कर अनेकों यज्ञों द्वारा सर्वदेवमय सर्वात्मा श्रीहरिका यजन किया ॥ २० ॥ उन यज्ञोंमें उन्होंने होताको पूर्व, ब्रह्माको दक्षिण, अध्वर्युको पश्चिम और उद्गाताको उत्तर दिशा दक्षिणामें दान करके दे डाली ॥२१॥ इसी तरह अन्य ऋत्विजोंको अग्निकोण आदि विदिशाएँ दक्षिणामें दीं, कश्यपजीको मध्य भूमि दी, उपद्रष्टाको आर्यावर्त्त देश दिया एवं सदस्योंको अन्यान्य देश दे दिये ॥ २२ ॥ तब अवभृथस्नानके द्वारा सब पापोंसे मुक्त होकर वे ब्रह्मनदी सरस्वतीमें मेघावरणसे हीन सूर्यके सदृश सुशोभित हुए ॥ २३ ॥ तदनन्तर परशुरामजीके द्वारा पूजित महर्षि जमदग्नि भी अपना सङ्कल्पमय शरीर धारण करके कश्यपादि ऋषियोंके मण्डलमें सातवें ऋषिके रूपमें स्थित हुए ॥ २४ ॥ हे राजन् ! ये जमदग्नितनय कमलनयन भगवान परशुरामजी आगामी मन्वन्तरमें वेदका प्रचार करेंगे ॥ २५ ॥ अब भी वे सब प्रकारका दण्ड त्यागकर शान्तचित्तसे महेन्द्रपर्वतपर विराजमान हैं। वहाँ सिद्ध, गन्धर्व तथा चारणगण उनका चरित्र गाते हैं ॥ २६ ॥ हे राजन् ! इस तरह उन विश्वात्मा तथा विश्वेश्वर भगवान हरिने भृगुकुलमें अवतार लेकर पृथिवीके भारभूत राजाओंका अनेक बार वध किया ॥ २७ ॥ महाराज गाधिसे प्रज्वलित अग्निके समान प्रभावशाली परम तेजस्वी श्रीविश्वामित्रजीका जन्म हुआ। उन्होंने अपनी तपस्याके प्रभावसे क्षत्रियत्व त्यागकर ब्रह्मतेज प्राप्त किया था ॥ २८ ॥ हे राजन् ! उन विश्वामित्रजीके सौ बेटे थे। उनमें बिचले पुत्रका नाम था मधुच्छन्दा। इसी कारण वे सभी विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दस् कहे जाते थे ॥ २९ ॥ विश्वामित्रजीने भृगुकुलमें उत्पन्न अपने भांजे तथा अजीगर्तके पुत्र शुनःशेपको, जो देवरात नामसे भी विख्यात था, अपना पुत्र मानते हुए अपने और पुत्रोंसे कहा कि इसे तुम अपना बड़ा भाई समझो ॥ ३० ॥ इसीको राजा हरिश्चन्द्रने यज्ञमें पुरुषपशुरूपमें खरीदा था और प्रजापति आदि देवताओंकी स्तुति करके इसीको विश्वामित्रजीने पाशबन्धनसे मुक्त किया था। यज्ञमें देवताओं द्वारा दिये जानेके कारण गाधिकुलमें यह (शुनःशेप) 'देवरात' नामसे एक प्रसिद्ध तपस्वी हुआ ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ उनके पुत्र मधुच्छन्दाओंमें जो ज्येष्ठ पुत्र थे, उन्हें विश्वामित्रजीकी यह बात नहीं भायी। इसलिए मुनिने कुपित होकर उन्हें शाप देते हुए कहा— "अरे दुष्टों ! तुम सब म्लेच्छ हो जाओ" ॥ ३३ ॥ इसपर अपनेसे छोटे पचास भाइयोंके साथ

स होवाच मधुच्छन्दाः सार्धं पञ्चाशता ततः । यन्नो भवान् संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् ॥३४॥
ज्येष्ठं मन्त्रदृशं चक्रुस्त्वामन्वञ्चो वयं स्म हि । विश्वामित्रः सुतानाह वीरवन्तो भविष्यथ ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त माम् ॥३५॥
एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित । अन्ये चाष्टकहारीतजयक्रतुमदादयः ॥३६॥
एवं कौशिकगोत्रं तु विश्वामित्रैः पृथग्विधम् । प्रवरान्तरमापन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम् ॥३७॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

यः पुरूरवसः पुत्र आयुस्तस्याभवन् सुताः । नहुषः क्षत्रवृद्धश्च रजी रम्भश्च वीर्यवान् ॥१॥
अनेना इति राजेन्द्र शृणु क्षत्रवृधोऽन्वयम् । क्षत्रवृद्धसुतस्यासन् सुहोत्रस्यात्मजास्त्रयः ॥२॥
काश्यः कुशो गृत्समद इति गृत्समदादभूत् । शुनकः शौनको यस्य बह्वृचप्रवरो मुनिः ॥३॥
काश्यस्य काशिस्तत्पुत्रो राष्ट्रो दीर्घतमःपिता । धन्वन्तरिर्दैर्घतम आयुर्वेदप्रवर्तकः ॥४॥
यज्ञभुग्वासुदेवांशः स्मृतमात्रार्तिनाशनः । तत्पुत्रः केतुमानस्य जज्ञे भीमरथस्ततः ॥५॥
दिवोदासो द्युमांस्तस्मात् प्रतर्दन इति स्मृतः । स एव शत्रुजिद् वत्स ऋतध्वज इतीरितः ।
तथा कुवलयाश्वेति प्रोक्तोऽलर्कादयस्ततः ॥ ६ ॥
षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च । नालर्कादपरो राजन् मेदिनीं बुभुजे युवा ॥७॥

मधुच्छन्दाने कहा—"आप हमें आज्ञा दें, हम उसे मानेंगे" ॥ ३४ ॥ तदनन्तर 'हम सब तुम्हारे अनुयायी हैं' ऐसा कहते हुए उन्होंने उस मन्त्रद्रष्टा देवरातको अपना बड़ा भाई मान लिया। तब विश्वामित्रजीने उनसे कहा—"तुम सबने मेरे सम्मानकी रक्षा करते हुए मुझे पुत्रवान् किया है, अतएव तुम सब भी पुत्रवान् होओगे ॥ ३५ ॥ हे कुशिको ! मेरा वीर पुत्र देवरात भी तुम्हारे ही गोत्रमें सम्मिलित है । इसलिये तुम इसका अनुसरण करो ।" इनके अतिरिक्त विश्वामित्रजीके अष्टक, हारीत, जय तथा क्रतुमान् आदि और भी कई पुत्र थे ॥ ३६ ॥ इस तरह उन विश्वामित्रजीकी सन्तानों द्वारा कौशिकगोत्रमें कई पाँतें हो गयीं। इस प्रकार देवरातको बड़ा माननेसे उस गोत्रका दूसरा प्रवर हो गया ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(क्षत्रवृद्ध, रजि, रम्भ तथा अनेनाके वंशका विस्तार) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! पुरूरवाके आयुनामक पुत्रसे नहुष, क्षत्रवृद्ध, रजि, वीर्यवान् रम्भ तथा अनेना ये पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे क्षत्रवृद्धके वंशका वृत्तान्त सुनो। क्षत्रवृद्धके पुत्र सुहोत्र हुए और सुहोत्रके काश्य, कुश तथा गृत्समद नामके तीन पुत्र थे। गृत्समदका पुत्र शुनक था और उससे ऋग्वेदियोंमें श्रेष्ठ मुनिवर शौनकका जन्म हुआ ॥ १–३ ॥ काश्यका पुत्र काशि था और उसका पुत्र दीर्घतमाका पिता राष्ट्र हुआ और दीर्घतमाके पुत्र आयुर्वेदके प्रवर्त्तक धन्वन्तरिजी हुए ॥ ४ ॥ वे यज्ञभागके भोक्ता तथा भगवान वासुदेवके अंशज थे और अपने स्मरणमात्रसे सब प्रकारके रोगोंको दूर कर देते थे । उनका पुत्र केतुमान्, केतुमान्के भीमरथ, भीमरथसे दिवोदास और दिवोदासका पुत्र द्युमान् हुआ, जो 'प्रतर्दन' भी कहा जाता था। हे वत्स ! वही शत्रुजित्, ऋतध्वज तथा कुवलयाश्व इन नामोंसे भी विख्यात था । द्युमान्के अलर्क आदि कई पुत्र हुए ॥ ५ ॥ ६ ॥ हे राजन् ! अलर्कके अतिरिक्त और किसी राजाने भी छासठ सहस्र वर्षतक युवा रहकर पृथिवीका राज्य नहीं भोग

अलर्कात् सन्ततिस्तस्मात् सुनीथोऽथ सुकेतनः । धर्मकेतुः सुतस्तस्मात् सत्यकेतुरजायत ॥८॥
धृष्टकेतुः सुतस्तस्मात् सुकुमारः क्षितीश्वरः । वीतिहोत्रस्य भर्गोऽतो भार्गभूमिरभून्नृपः ॥९॥
इतीमे काशयो भूपाः क्षत्रवृद्धान्वयायिनः । रम्भस्य रभसः पुत्रो गम्भीरश्चाक्रियस्ततः ॥१०॥
तस्य क्षेत्रे ब्रह्म जज्ञे शृणु वंशमनेनसः । शुद्धस्ततः शुचिस्तस्मात् त्रिककुद् धर्मसारथिः॥११॥
ततः शान्तरथो जज्ञे कृतकृत्यः स आत्मवान् । रजेः पञ्चशतान्यासन् पुत्राणाममितौजसाम् ॥१२॥
देवैरभ्यर्थितो दैत्यान् हत्वेन्द्रायाददाद् दिवम् । इन्द्रस्तस्मै पुनर्दत्त्वा गृहीत्वा चरणौ रजेः ॥१३॥
आत्मानमर्पयामास प्रह्लादाद्यरिशङ्कितः । पितर्युपरते पुत्रा याचमानाय नो ददुः ॥१४॥
त्रिविष्टपं महेन्द्राय यज्ञभागान् समाददुः । गुरुणा हूयमानेऽग्नौ बलभित् तनयान् रजेः ॥१५॥
अवधीद् भ्रंशितान् मार्गान्न कश्चिदवशेषितः । कुशात् प्रतिः क्षात्रवृद्धात् सञ्जयस्तत्सुतो जयः १६॥
ततः कृतः कृतस्यापि जज्ञे हर्यवनो नृपः । सहदेवस्ततो हीनो जयसेनस्तु तत्सुतः ॥१७॥
सङ्कृतिस्तस्य च जयः क्षत्रधर्मा महारथः । क्षत्रवृद्धान्वया भूपाः शृणु वंशं च नाहुषात् ॥१८॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे चन्द्रवंशानुवर्णने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७॥

अष्टादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

यतिर्ययातिः संयातिरायतिर्वियतिः कृतिः । षडिमे नहुषस्यासन्निन्द्रियाणीव देहिनः ॥१॥

पाया था ॥ ७ ॥ अलर्कके सन्तति, उनके सुनीथ, सुनीथके सुकेतन, सुकेतनके धर्मकेतुनामक पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका पुत्र सत्यकेतु हुआ ॥ ८ ॥ सत्यकेतुके पुत्र धृष्टकेतु और धृष्टकेतुके पृथिवीपति सुकुमारका जन्म हुआ । सुकुमारके वीतिहोत्र, वीतिहोत्रके भर्ग तथा भर्गके राजा भार्गभूमि उत्पन्न हुए ॥ ९ ॥ ये सब क्षत्रवृद्धके वंशमें जायमान काशिसे उत्पन्न राजे हुए। इसी तरह रम्भके रभस और रभसके गम्भीर तथा उससे अक्रिय उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥ उसकी स्त्रीसे ब्राह्मणसन्तति जायमान हुई । अब अनेनाके वंशका वृत्तान्त सुनो । अनेनाका पुत्र शुद्ध हुआ । उसके शुचि, शुचिके त्रिककुद् तथा त्रिककुद्के धर्मसारथि नामक पुत्र जायमान हुआ और धर्मसारथिके शान्तरय हुआ । वह कृतकृत्य तथा आत्मज्ञानी था । इसी कारण उसने कोई सन्तान नहीं उत्पन्न की । हे राजन् ! आयुके पुत्र रजिके बड़े ही तेजस्वी पाँच सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ११ ॥ १२ ॥ उस रजिने देवताओंके विनय करनेपर दैत्योंको मारा और इन्द्रको स्वर्गलोक प्रदान किया । किन्तु प्रह्लाद आदि अपने शत्रुओं द्वारा भयभीत रहनेसे इन्द्रने वह स्वर्गराज्य फिर रजिको ही लौटाते हुए उसके चरण पकड़कर आत्मसमर्पण कर दिया । पिता रजिके मर जानेके बाद उसके पुत्रोंने इन्द्रके माँगनेपर भी स्वर्ग नहीं लौटाया और वे स्वयं यज्ञोंके भाग भी भोगने लग गये । तब देवगुरु बृहस्पतिजीकी अभिचारिकी क्रिया द्वारा अग्निमें आहुति डालनेपर इन्द्रने धर्ममार्गसे भ्रष्ट रजिपुत्रोंका वध कर डाला । उनमेंसे कोई भी शेष नहीं बचा । क्षत्रवृद्धके वंशमें जायमान कुशसे प्रति तथा प्रतिसे सञ्जय और सञ्जयसे जयका जन्म हुआ ॥ १३-१६ ॥ जयके कृत, कृतके राजा हर्यवन, हर्यवनके सहदेव, सहदेवके हीन और हीनके जयसेन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १७ ॥ जयसेनके संकृति, संकृतिके जय तथा जयके महारथी क्षत्रधर्मा उत्पन्न हुआ। ये सब क्षत्रवृद्धके वंशज हुए । अब नहुषसे उत्पन्न राजाओंका वृत्तान्त सुनो ॥ १८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(महाराज ययातिका चरित्र) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जैसे देहधारी जीवकी सहायक इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे ही राजा नहुषके यति, ययाति, संयति आयति, वियति तथा कृति नामके

राज्यं नैच्छद् यतिः पित्रा दत्तं तत्परिणामवित्। यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते ॥२॥
पितरि भ्रंशिते स्थानादिन्द्राण्या धर्षणाद् द्विजैः। प्रापितेऽजगरत्वं वै ययातिरभवन्नृपः ॥३॥
चतसृष्वादिशद् दिक्षु भ्रातॄन् भ्राता यवीयसः। कृतदारो जुगोपोर्वीं काव्यस्य वृषपर्वणः ॥४॥

राजोवाच

ब्रह्मर्षिर्भगवान् काव्यः क्षत्रबन्धुश्च नाहुषः। राजन्यविप्रयोः कस्माद् विवाहः प्रतिलोमकः ॥५॥

श्रीशुक उवाच

एकदा दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा नाम कन्यका। सखीसहस्रसंयुक्ता गुरुपुत्र्या च भामिनी ॥६॥
देवयान्या पुरोद्याने पुष्पितद्रुमसंकुले। व्यचरत् कलगीतालिनलिनीपुलिनेऽबला ॥७॥
ता जलाशयमासाद्य कन्याः कमललोचनाः। तीरे न्यस्य दुकूलानि विजह्रुः सिञ्चतीर्मिथः ॥८॥
वीक्ष्य व्रजन्तं गिरिशं सह देव्या वृषस्थितम्। सहसोत्तीर्य वासांसि पर्यधुर्व्रीडिताः स्त्रियः ॥९॥
शर्मिष्ठाजानती वासो गुरुपुत्र्याः समव्ययत्। स्वीयं मत्वा प्रकुपिता देवयानीदमब्रवीत् ॥१०॥
अहो निरीक्ष्यतामस्या दास्याः कर्म ह्यसाम्प्रतम्। अस्मद्धार्यं धृतवती शुनीव हविरध्वरे ॥११॥
यैरिदं तपसा सृष्टं मुखं पुंसः परस्य ये। धार्यते यैरिह ज्योतिः शिवः पन्थाश्च दर्शितः॥१२॥
यान् वन्दन्त्युपतिष्ठन्ते लोकनाथाः सुरेश्वराः। भगवानपि विश्वात्मा पावनः श्रीनिकेतनः ॥१३॥
वयं तत्रापि भृगवः शिष्योऽस्या नः पितासुरः। अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती ॥१४॥

छः पुत्र थे ॥ १ ॥ जिसमें लिप्त होकर मनुष्य आत्मतत्त्वको नहीं जान पाता, उस राज्यके परिणामसे अभिज्ञ यतिने पिता द्वारा अर्पित राज्यको नहीं चाहा॥२॥ इसलिये इन्द्राणीके साथ भोग करनेके इच्छुक होनेके नाते ब्राह्मणों द्वारा पिता नहुषके स्थानभ्रष्ट कर दिये जानेके बाद और उसके अजगर योनिमें चले जानेपर उसकी जगह ययाति राजा बना ॥ ३ ॥ उसने अपने चारों छोटे भाइयोंको चारों दिशाओंमें नियुक्त कर दिया और शुक्राचार्यजी एवं वृषपर्वाकी कन्याओंको अपनी पत्नी बनाकर पृथ्वीकी रक्षा करने लगा ॥ ४ ॥ यह बात सुनकर राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन्! भगवान शुक्राचार्यजी ब्राह्मण थे और ययाति क्षत्रिय था, फिर यह क्षत्रिय वर एवं ब्राह्मण-कन्याका विधिके विपरीत विवाह किस तरह हुआ ॥ ५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—एक दिन गुरुपुत्री देवयानीके साथ दानवराज वृषपर्वाकी मानिनी कन्या शर्मिष्ठा अपनी हजारों सखियोंको साथ लिये फूले-फले वृक्षोंसे परिपूर्ण नगरोद्यानमें भौंरोंकी मनोहर गुञ्जारसे युक्त कमलोंसे भरे जलाशयके तटपर इधर-उधर विचर रही थी ॥ ६ ॥ ७ ॥ वे सभी कमलनयनी कन्याएँ उस जलाशयके समीप पहुँच और उसके किनारे अपनी साड़ियाँ रखकर आपसमें एक दूसरेपर जल उछालती हुई जलविहार करने लगीं ॥ ८ ॥ इतनेमें माता पार्वतीजीके साथ श्रीमहादेवजीको बैलपर सवार होकर उधरसे जाते देख उन अबलाओंने लज्जित हो तुरन्त सरोवरसे निकलकर अपने-अपने कपड़े पहन लिये ॥ ९ ॥ शर्मिष्ठाने बिना जाने गुरुपुत्रीके कपड़े पहन लिये। इससे देवयानीने अतिशय कुपित होकर कहा—॥ १० ॥ "अहो! इस दासीका यह अनुचित व्यवहार तो देखो! इसने, जैसे कुतिया यज्ञकी हवि खा ले, वैसे ही हमारे धारण करने योग्य वस्त्र स्वयं पहन लिये हैं ॥ ११ ॥ जिन्होंने अपने तपोबल द्वारा सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न किया है, जो परमपुरुष परमात्माके मुख हैं, जो अपने हृदयमें ज्योतिस्वरूप परब्रह्मको धारण किये रहते हैं और जिन्होंने परमकल्याणमय वेदमार्ग दिखाया है ॥ १२ ॥ लोकपाल तथा देवेश्वरगण भी जिनका वन्दन तथा पूजन करते हैं। यही नहीं, सर्वात्मा त्रिलोकपावन लक्ष्मीपति श्रीनारायण भी जिनकी स्तुति किया करते हैं ॥ १३ ॥ उन ब्राह्मणोंमें भी हम भृगुवंशी हैं और इसका असुरजातीय पिता हमारा शिष्य है। तब भी जैसे शूद्र वेद पढ़ने लगे, वसे ही इस दुष्टाने हमारे पहने वस्त्रको

एवं शपन्तीं शर्मिष्ठा गुरुपुत्रीमभाषत । रुषा श्वसन्त्युरङ्गीव धर्षिता दष्टदच्छदा ॥१५॥
आत्मवृत्तमविज्ञाय कत्थसे बहु भिक्षुकि । किं न प्रतीक्षसेऽस्माकं गृहान् बलिभुजो यथा ॥१६॥
एवंविधैः सुपरुषैः क्षिप्त्वाऽऽचार्यसुतां सतीम् । शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे वास आदाय मन्युना ॥१७॥
तस्यां गतायां स्वगृहं ययातिर्मृगयां चरन् । प्राप्तो यदृच्छया कूपे जलार्थी तां ददर्श ह ॥१८॥
दत्त्वा स्वमुत्तरं वासस्तस्यै राजा विवाससे । गृहीत्वा पाणिना पाणिमुज्जहार दयापरः ॥१९॥
तं वीरमाहौशनसी प्रेमनिर्भरया गिरा । राजंस्त्वया गृहीतो मे पाणिः परपुरञ्जय ॥२०॥
हस्तग्राहोऽपरो मा भूद् गृहीतायास्त्वया हि मे । एष ईशकृतो वीर सम्बन्धो नौ न पौरुषः ।
यदिदं कूपलग्नाया भवतो दर्शनं मम ॥ २१ ॥
न ब्राह्मणो मे भविता हस्तग्राहो महाभुज । कचस्य बार्हस्पत्यस्य शापाद् यमशपं पुरा ॥२२॥
ययातिरनभिप्रेतं दैवोपहृतमात्मनः । मनस्तु तद्गतं बुद्ध्वा प्रतिजग्राह तद्वचः ॥२३॥
गते राजनि सा वीरे तत्र स्म रुदती पितुः । न्यवेदयत् ततः सर्वमुक्तं शर्मिष्ठया कृतम् ॥२४॥
दुर्मना भगवान् काव्यः पौरोहित्यं विगर्हयन् । स्तुवन् वृत्तिं च कापोतीं दुहित्रा स ययौ पुरात् ॥२५॥
वृषपर्वा तमाज्ञाय प्रत्यनीकविवक्षितम् । गुरुं प्रसादयन् मूर्ध्ना पादयोः पतितः पथि ॥२६॥

स्वयं पहन लिया है !" ॥ १४ ॥ इस तरहके दुर्वचन बोलती हुई गुरुपुत्रीको श्वास छोड़ती हुई शर्मिष्ठा अपना अधरपुट दाँतोंसे दबाकर ऐसा कहने लगी—॥ १५ ॥ "अरी ओ भिक्षुकी ! तू अपनी भिक्षुकी वृत्ति न जाननेसे ही बढ़-बढ़कर ऐसी बातें कर रही है। बलिभोजी कुत्तों तथा कौओंकी तरह क्या तू हमारे घरोंकी ओर नहीं देखा करती ?" ॥ १६ ॥ इसी प्रकार और भी अनेक कटुवाक्योंसे उस साध्वी गुरुपुत्रीका तिरस्कार करके शर्मिष्ठाने मारे क्रोधके कपड़े छीनकर उसे कुएँमें ढकेल दिया ॥ १७ ॥ शर्मिष्ठाके घर चले जानेके बाद राजा ययाति मृगया खेलता हुआ दैवयोगसे जल भरनेके लिये उस कुएँपर आया और उसमें देवयानीको पड़ी देखा ॥ १८ ॥ तदनन्तर उस दयालु राजाने उस वस्त्रविहीना कन्याको दुपट्टा दे और अपने हाथों उसका हाथ पकड़कर कुएँसे बाहर निकाला ॥ १९ ॥ शुक्रकी पुत्री देवयानीने वीरवर ययातिसे प्रेम वचनोंमें कहा—"हे शत्रुओंके नगरको जीतनेवाले राजन् ! तुमने मेरा हाथ थाम्हा है ॥ २० ॥ सो अब ऐसा करो कि तुम्हारे द्वारा पाणिगृहीत होनेपर अब कोई अन्य पुरुष मेरा हाथ न पकड़े। हे वीर ! इस समय जब कि मैं कुएँमें गिरी हुई थी, मुझे जो आपका अकस्मात् दर्शन मिला है सो हमारा-आपका यह सम्बन्ध मनुष्यकृत नहीं बल्कि ईश्वरकृत है ॥ २१ ॥ हे महाबाहो ! पूर्वकालमें जिसे मैंने शाप दिया था, उस बृहस्पतितनय कचके शापसे मेरे साथ विवाह करनेवाला पुरुष ब्राह्मण न होकर और कोई होगा"। *कथान्तर* देवगुरु बृहस्पतिजीका पुत्र कच शुक्राचार्यके पास रहकर मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़ रहा था। अध्ययन समाप्त करनेके बाद जब वह अपने घर जानेको उद्यत हुआ तो देवयानीने उसे अपना पति बनाना चाहा। परन्तु गुरुपुत्रीके साथ ब्याह अनुचित समझकर कचने यह बात स्वीकार नहीं की। तब देवयानीने उसे शाप दिया कि 'तुम्हारी पढ़ी हुई सब विद्या निष्फल हो जायगी।' कचने भी शाप देकर कहा—'तो तेरा पति भी ब्राह्मण न होगा' ॥ २२ ॥ तब उन राजा ययातिने अनिच्छित किन्तु दैववश प्राप्त देवयानीके वचन सुन और मनको उसकी ओर झुकता जानकर उसकी बात मान ली ॥ २३ ॥ तदनन्तर जब वीरवर राजा ययाति चले गये, तब देवयानीने रोते-रोते अपने पिताके समीप जाकर वह सब वृत्तान्त कह सुनाया, जैसा-जैसा कि शर्मिष्ठाने कहा और किया था ॥ २४ ॥ यह सुनकर शुक्राचार्यजी मनमें दुःखित होकर पुरोहिताई वृत्तिकी निन्दा और शिलोञ्छवृत्तिकी प्रशंसा करते हुए अपनी पुत्री के साथ उस नगरसे प्रस्थान कर दिये ॥ २५ ॥ तब वृषपर्वाने यह जानकर कि आचार्य हमारे शत्रुओंको जय दिलाना चाहते हैं, मार्गमें जा और गुरुजीके चरणोंमें मस्तक

क्षणार्धमन्युर्भगवान् शिष्यं व्याचष्ट भार्गवः । कामोऽस्याः क्रियतां राजन् नैनां त्यक्तुमिहोत्सहे२७
तथेत्यवस्थिते प्राह देवयानी मनोगतम् । पित्रा दत्ता यतो यास्ये सानुगा यातु मामनु ॥२८॥
स्वानां तत् सङ्कटं वीक्ष्य तदर्थस्य च गौरवम् । देवयानीं पर्यचरत् स्त्रीसहस्रेण दासवत् ॥२९॥
नाहुषाय सुतां दत्त्वा सह शर्मिष्ठयोशना । तमाह राजञ्छर्मिष्ठामाधास्तल्पे न कर्हिचित् ॥३०॥
विलोक्यौशनसीं राजञ्छर्मिष्ठा सुप्रजां क्वचित् । तमेव वव्रे रहसि सख्याः पतिमृतौ सति ॥३१॥
राजपुत्र्यार्थितोऽपत्ये धर्मं चावेक्ष्य धर्मवित् । स्मरञ्छुक्रवचः काले दिष्टमेवाभ्यपद्यत ॥३२॥
यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत । द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥३३॥
गर्भसम्भवमासुर्या भर्तुर्विज्ञाय मानिनी । देवयानी पितुर्गेहं ययौ क्रोधविमूर्च्छिता ॥३४॥
प्रियामनुगतः कामी वचोभिरुपमन्त्रयन् । न प्रसादयितुं शेके पादसंवाहनादिभिः ॥३५॥
शुक्रस्तमाह कुपितः स्त्रीकामानृतपूरुष । त्वां जरा विशतां मन्द विरूपकरणी नृणाम् ॥३६॥

ययातिरुवाच

अतृप्तोऽस्म्यद्य कामानां ब्रह्मन् दुहितरि स्म ते । व्यत्यस्यतां यथाकामं वयसा योऽभिधास्यति॥३७॥
इति लब्धव्यवस्थानः पुत्रं ज्येष्ठमवोचत । यदो तात प्रतीच्छेमां जरां देहि निजं वयः ॥३८॥
मातामहकृतां वत्स न तृप्तो विषयेष्वहम् । वयसा भवदीयेन रंस्ये कतिपयाः समाः ॥३९॥

नबाकर उन्हें प्रसन्न किया ॥ २६ ॥ उन भगवान् श्रीशुक्राचार्यका क्रोध तो आधे ही क्षण ही ठहरता था । इसलिये उन्होंने उस अपने शिष्यसे कहा—"हे राजन् ! मैं पुत्री देवयानीको नहीं छोड़ सकता । अतएव तुम जैसी इच्छा हो, वह करो" ॥ २७ ॥ तब 'तथास्तु' ऐसा कहकर खड़े वृषपर्वासे देवयानीने अपना अभिप्राय बताते हुए इस तरह कहा—"मैं अपने पिताके कन्यादान देनेपर जहाँ-कहीं भी जाऊँ, वहीं शर्मिष्ठा अपनी सहेलियोंके साथ मेरी दासी बनकर सेवाके लिये जाय" ॥ २८ ॥ अपने सभी सम्बन्धियोंपर सङ्कट आनेकी सम्भावना देख और उनके कार्यकी गुरुताको समझकर शर्मिष्ठा अपनी एक हजार सहेलियोंके साथ देवयानीकी दासी बनकर सेवा करने लगी ॥ २९ ॥ इसके बाद शुक्रजीने राजा ययातिको शर्मिष्ठाके साथ अपनी पुत्री देकर कहा—"हे राजन् ! देखो, तुम अपनी शय्यापर शर्मिष्ठाको कभी भी न आने देना" ॥ ३० ॥ कुछ दिनों बाद एक बार शर्मिष्ठाने ऋतुमती होनेपर शुक्रसुता देवयानीको पुत्रवती देखकर अहनी सहेलीके पति राजा ययातिसे एकान्तमें सम्भोगके लिये विनती की ॥ ३१ ॥ इस प्रकार एक राजपुत्रीके द्वारा सन्तानके लिए प्रार्थित हो धर्मज्ञ ययातिने अपना धर्म समझकर दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीकी बात याद रहते हुए भी दैवका ही अनुसरण किया ॥ ३२ ॥ इस तरह देवयानीके यदु तथा तुर्वसु और वृषपर्वातनया शर्मिष्ठाके द्रुह्यु, अनु तथा पूरु नामके पुत्र जायमान हुए ॥ ३३ ॥ उस मानिनी देवयानीको जब यह बात मालूम हुई कि मेरे पति द्वारा शर्मिष्ठाके गर्भ रहा तो वह क्रोधातुर होकर अपने पिताके घर चल पड़ी ॥ ३४ ॥ कामी राजा ययाति भी उसे मनाता हुआ पीछे-पीछे चला, किन्तु चरणस्पर्शादि करके भी वह उसे नहीं मना सका ॥ ३५ ॥ देवयानी द्वारा सब हाल सुन और अतिशय कुपित होकर शुक्राचार्यने कहा—"अरे ओ स्त्रीकामी मन्द-मति और झूठे पुरुष ! तुझे मनुष्योंको कुरूप करदेनेवाली बुढ़ौती प्राप्त हो जाय" ॥ ३६ ॥ तब ययातिने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं अभी आपकी पुत्रीके साथ विषय-भोग करके तृप्त नहीं हुआ हूँ । शुक्राचार्य बोले—"अच्छा, जो कोई अपनी इच्छासे तुम्हें अपना यौवन दे दे तो तुम उससे वृद्धावस्था बदल ले सकते हो" ॥ ३७ ॥ श्वसुर शुक्राचार्यजीके द्वारा ऐसी व्यवस्था पाकर राजा ययाति अपने ज्येष्ठ पुत्र यदुसे बोले—"हे वत्स यदो ! तुम अपने नानाकी दी हुई मेरी वृद्धावस्था ले लो और मुझे अपनी जवानी दे दो । क्योंकि मैं अभी सांसारिक विषयोंसे तृप्त नहीं होने आय

यदुरुवाच

नोत्सहे जरसा स्थातुमन्तरा प्राप्तया तव । अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः ॥४०॥
तुर्वसुश्चोदितः पित्रा द्रुह्युश्चानुश्च भारत । प्रत्याचख्युरधर्मज्ञा ह्यनित्ये नित्यबुद्धयः ॥४१॥
अपृच्छत् तनयं पूरुं वयसोनं गुणाधिकम् । न त्वमग्रजवद् वत्स मां प्रत्याख्यातुमर्हसि ॥४२॥

पूरुरुवाच

को नु लोके मनुष्येन्द्र पितुरात्मकृतः पुमान् । प्रतिकर्तुं क्षमो यस्य प्रसादाद् विन्दते परम् ॥४३॥
उत्तमश्चिन्तितं कुर्यात् प्रोक्तकारी तु मध्यमः । अधमोऽश्रद्धया कुर्यादकर्तोच्चरितं पितुः ॥४४॥
इति प्रमुदितः पूरुः प्रत्यगृह्णाज्जरां पितुः । सोऽपि तद्वयसा कामान् यथावज्जुजुषे नृप ॥४५॥
सप्तद्वीपपतिः सम्यक् पितृवत् पालयन् प्रजाः । यथोपजोषं विषयाञ्जुजुषेऽव्याहतेन्द्रियः ॥४६॥
देवयान्यप्यनुदिनं मनोवाग्देहवस्तुभिः । प्रेयसः परमां प्रीतिमुवाह प्रेयसी रहः ॥४७॥
अयजद् यज्ञपुरुषं क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः । सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम् ॥४८॥
यस्मिन्निदं विरचितं व्योम्नीव जलदावलिः । नानेव भाति नाभाति स्वप्नमायामनोरथः ॥४९॥
तमेव हृदि विन्यस्य वासुदेवं गुहाशयम् । नारायणमणीयांसं निराशीरयजत् प्रभुम् ॥५०॥
एवं वर्षसहस्राणि मनःषष्ठैर्मनःसुखम् । विदधानोऽपि नातृप्यत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः ५१

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

हूँ । तुम्हारी आयु पाकर मैं कुछ वर्ष और विहार करूँगा" ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ यदु बोले—हे पिताजी ! मैं बीचहीमें प्राप्त आपकी वृद्धावस्था लेकर नहीं जीना चाहता । क्योंकि विषय-सुखका अनुभव किये बिना मनुष्य उनकी ओरसे विरक्त नहीं होने आता ॥ ४० ॥ हे भारत ! इसी तरह तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुने भी पिताके पूछनेपर उसकी प्रार्थना नहीं सुनी । क्योंकि वे धर्मसे अनभिज्ञ और देहादि अनित्य पदार्थोंको ही नित्य मानते थे ॥ ४१ ॥ तब राजा ययातिने अवस्थामें सबसे छोटे और गुणोंमें सबसे बड़े अपने पूरुनामक बेटेसे कहा—"बेटा ! इन अपने बड़े भाइयोंकी तरह तुझे तो मेरी बात नहीं ठुकरानी चाहिए' ॥ ४२ ॥ पूरुने कहा—'हे नरेन्द्र ! जिस (पिता) की कृपासे मनुष्य परमपद तक पा लेता है, अपने शरीरको उत्पन्न करनेवाले उस पिताका इस लोकमें भला कौन बदला चुका सकेगा ? जो पुत्र पिताके सोचे हुए ही कार्यको सम्पन्न कर देता है, वह उत्तम है । जो कहनेपर करता वह मध्यम और जो अश्रद्धाके साथ करता, वह अधम पुत्र होता है और जो कहनेपर भी नहीं करता वह तो मानो पिताका (पुत्र न होकर) मल-मूत्र एवं विष्ठा ही है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! यों कहा पूरुने प्रसन्नताके साथ पिताकी वृद्धावस्था ले ली और राजा ययाति उसका यौवन पाकर मनमाने तौरसे विषयसेवन करने लगे ॥ ४५ ॥ तब उन्होंने सातों द्वीपोंकी प्रभुता पाकर पिताके समान प्रजाका पालन करते और अपनी इन्द्रियोंकी शक्तिको अक्षुण्ण रखते हुए यथेच्छ विषयोंको भोगा ॥ ४६ ॥ उनकी प्रेयसी देवयानी भी एकन्तमें मन, वाणी, देह तथा अन्य सभी वस्तुओंसे अपने प्रियतमको सर्वदा प्रसन्न रखने लगी ॥ ४७ ॥ अपने राज्यकालमें राजा ययातिने सब वेदोंके आधार एवं सर्वदेवमय भगवान यज्ञपुरुषका बहुतेरे बड़ी-बड़ी दक्षिणाओंवाले यज्ञों द्वारा यजन किया ॥ ४८ ॥ जिसमें कि आकाशस्थ मेघमालाके सदृश रचा हुआ यह जगत् स्वप्न, माया तथा मनोरथजनित पदार्थोंकी भाँति कभी विविध रूपसे भासता, उसी सर्वभूतान्तर्यामी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वासुदेव श्रीनारायणका अपने हृदयमें ध्यान करते हुए उन्होंने निष्कामभावसे भगवानकी उपासना की ॥ ४९ ॥ ५० ॥ इस तरह जिनमें मन छठाँ है, उन अपनी उच्छृंखल इन्द्रियों द्वारा

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

स इत्थमाचरन् कामान् स्त्रैणोऽपह्नवमात्मनः । बुद्ध्वा प्रियायै निर्विण्णो गाथामेतामगायत ॥१॥
शृणु भार्गव्यमूं गाथां मद्विधाचरितां भुवि । धीरा यस्यानुशोचन्ति वने ग्रामनिवासिनः ॥२॥
बस्त एको वने कश्चिद् विचिन्वन् प्रियमात्मनः । ददर्श कूपे पतितां स्वकर्मवशगामजाम् ॥३॥
तस्या उद्धरणोपायं बस्तः कामी विचिन्तयन् । व्यधत्त तीर्थमुद्धृत्य विषाणाग्रेण रोधसी ॥४॥
सोत्तीर्य कूपात् सुश्रोणी तमेव चकमे किल । तया वृतं समुद्वीक्ष्य बह्व्योऽजाः कान्तकामिनीः ५
पीवानं श्मश्रुलं प्रेष्ठं मीढ्वांसं याभकोविदम् । स एकोऽजवृषस्तासां बह्वीनां रतिवर्धनः ।
रेमे कामग्रहग्रस्त आत्मानं नावबुध्यत ॥ ६ ॥
तमेव प्रेष्ठतमया रममाणमजान्यया । विलोक्य कूपसंविग्ना नामृष्यद् बस्तकर्म तत् ॥७॥
तं दुर्हृदं सुहृद्रूपं कामिनं क्षणसौहृदम् । इन्द्रियाराममुत्सृज्य स्वामिनं दुःखिता ययौ ॥८॥
सोऽपि चानुगतः स्त्रैणः कृपणस्तां प्रसादितुम् । कुर्वन्निडविडाकारं नाशक्नोत् पथि सन्धितुम् ॥९॥
तस्यास्तत्र द्विजःकश्चिदजास्वाम्यच्छिनत् रुषा । लम्बन्तं वृषणं भूयः सन्दधेऽर्थाय योगवित् ॥१०॥
सम्बद्धवृषणः सोऽपि ह्यजया कूपलब्धया । कालं बहुतिथं भद्रे कामैर्नाद्यापि तुष्यति ॥११॥

एक हजार वर्षतक अपने मनमाने आनन्ददायक भोगोंको अहर्निशि भोगते हुए भी वह चक्रवर्ती राजा तृप्त नहीं होने आया ॥ ५१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(राजा ययातिका स्वगृहत्याग) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह स्त्रीके वशवर्ती होकर सब भोगोंको भोगते हुए राजा ययातिने जब अपने आत्माका भयानक पतन जान लिया तो विषयोंसे एकदम विरक्त होकर एक दिन अपनी प्रियासे यह गाथा कही—॥ १ ॥ 'हे शुक्रपुत्रि ! इस पृथिवीतलपर जिसके विषयमें सभी वनवासी और जितेन्द्रिय पुरुष 'हाय ! इसका उद्धार कैसे होगा ?' ऐसा शोक करते हैं, ऐसे मेरे ही सदृश एक ग्रामनिवासीकी आचरित यह गाथा सुनो ॥ २ ॥ एक समय एक बकरेने वनमें अपनेको प्रिय लगनेवाले भोगोंको ढूँढ़ते हुए निज कर्मवश कुएँमें एक बकरी गिरी देखी ॥ ३ ॥ तब उस कामी बकरेने उसे बाहर निकालनेका उपाय सोचकर अपनी ही सींगोंसे कुएँके पासकी भूमि खोदकर रास्ता बनाया ॥ ४ ॥ कुएँसे निकलकर एक सुन्दरी बकरीने उसी बकरेको अपना पति बना लिया। उसके द्वारा वरण किये हुए उस बकरेको पुष्टशरीर, लम्बी दाढ़ीवाला, प्रियतम, रतिसुखदायक तथा मैथुनकर्ममें कुशल देखकर पतिकी इच्छा रखनेवाली और भी बहुतेरी बकरियोंने उसे वर लिया। इस तरह वह एक ही बकरा कामरूपी पिशाचकी चपेटमें पड़कर बहुतेरी बकरियोंका रतिसुख बढ़ाता हुआ उनके साथ रमण करने लगा और अपनी सारी सुधि-बुधि खो बैठा ॥ ५ ॥ ६ ॥ उसे किसी अन्य बकरीके साथ रमण करते देखकर उसकी पहलेवाली पत्नीको, जिसे कि उसने कुएँसे निकाला था, उसका वह कर्म सहन नहीं हुआ और वह मारे क्रोधके अत्यन्त दुःखित होकर उस इन्द्रियलोलुप कामी तथा क्षणिक प्रीतिबाले सुहृद्रूपी शत्रुओंको त्यागकर अपने स्वामी अर्थात् पालनेवालेके पास लौट गयी ॥ ७ ॥ ८ ॥ ऐसी दशामें स्त्रीलोलुप बकरा मनानेके लिए मिमियाता हुआ उसके पीछे-पीछे दौड़ा, किन्तु मार्गमें वह उसे नहीं ही मना सका ॥९॥ इसी समय उस बकरीके ब्राह्मण स्वामीने क्रोधमें आकर बकरेका लटकता हुआ अण्डकोश काट लिया। फिर अपनी बकरीका ही स्वार्थ साधनेके निमित्त उसे जोड़नेका उपाय जाननेवाले उस ब्राह्मणने उसे फिरसे जोड़ दिया ॥ १० ॥ हे भद्रे ! अण्डकोश जुट जानेपर बकरा उस कुएँमें मिली बकरीके साथ दीर्घकालतक

तथाहं कृपणः सुभ्रु भवत्याः प्रेमयन्त्रितः । आत्मानं नाभिजानामि मोहितस्तव मायया ॥१२॥
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥१३॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् । समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१५॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते । तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥१६॥
मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥१७॥
पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयान् सेवतोऽसकृत् । तथापि चानुसवनं तृष्णा तेषूपजायते ॥१८॥
तस्मादेतामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम् । निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारश्चरिष्यामि मृगैः सह ॥१९॥
दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत् । संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥२०॥
इत्युक्त्वा नाहुषो जायां तदीयं पूरवे वयः । दत्त्वा स्वां जरसं तस्मादाददे विगतस्पृहः ॥२१॥
दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम् । प्रतीच्यां तुर्वसुं चक्र उदीच्यामनुमीश्वरम् ॥२२॥
भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम् । अभिषिच्याग्रजांस्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ॥२३॥
आसेवितं वर्षपूगाद् षड्वर्गं विषयेषु सः । क्षणेन मुमुचे नीडं जातपक्ष इव द्विजः ॥२४॥
स तत्र निर्मुक्तसमस्तसङ्ग आत्मानुभूत्या विधुतत्रिलिङ्गः ।
परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः ॥ २५ ॥

विविध प्रकारके भोग भोगता हुआ बहुत दिनोंमें भी उनसे तृप्त नहीं होने आया ॥ ११ ॥ हे सुभ्रु ! उसीकी तरह मैं भी तुम्हारे प्रेम-पाशमें बँध और अत्यन्त दीन हो और तुम्हारी मायासे मोहित होकर अपने आपको एकदम भूल गया हूँ ॥ १२ ॥ हे प्रिये ! संसारमें जितने भी धान्य, यव, सुवर्ण, पशु तथा स्त्रियाँ हैं वे सब वस्तुयें मिलकर भी किसी एक विषयग्रस्त पुरुषके चित्तको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकतीं ॥१३॥ विषयोंको सदा भोगनेसे वासना कभी शान्त नहीं होने आती, वह तो घृताहुतिसे अग्निकी भाँति उनसे और भी बढ़ जाती है ॥ १४ ॥ जो मनुष्य सब प्राणियोंमें राग द्वेषका भाव नहीं रखता, उस समदर्शीके लिए सब दिशाएँ आनन्ददायिनी हो जाती हैं ॥ १५ ॥ जो कुबुद्धि पुरुषोंके लिए अत्यन्त दुस्त्यज है और जो इस शरीरके जीर्ण हो जानेपर भी जीर्ण नहीं हो पाता, उस दुःखबहुल तृष्णाको सुखका इच्छुक पुरुष तुरन्त छोड़ दे ॥ १६ ॥ प्रत्येक पुरुषको चाहिए कि वह अपनी माता, बहिन तथा पुत्रीके साथ भी एकान्तमें न बैठे। क्योंकि इन्द्रियोंका समुदाय बड़ा प्रबल होता है, वह विचारशील पुरुषको भी विचलित कर दिया करता है ॥ १७ ॥ देखो न, मुझे विषय-सेवन करते एक हजार वर्ष बीत गये। तथापि नित्यप्रति उनमें मेरी लालसा बढ़ती जा रही है ॥ १८ ॥ अतएव अब मैं विषयकी आशाको त्याग और अपना मन परब्रह्ममें लगाकर निर्द्वन्द्व तथा अहङ्कारशून्य होकर वनमें मृगोंके साथ विचरण करूँगा ॥ १९ ॥ जो पुरुष देखे तथा सुने हुए पदार्थोंको असत् समझ और 'उनकी आसक्तिसे जन्म-मरणरूपी संसारकी प्राप्ति तथा आत्मनाश होता रहता हैं'—यह जानकर उनका चिन्तन एवं भोग नहीं करता, वही आत्मज्ञानी होता है" ॥ २० ॥ हे राजन् ! अपनी पत्नी देवयानीसे ऐसा कहकर राजा ययातिने विषयोंसे विरक्त हो पुरुषको उसकी युवावस्था लौटाकर उससे अपनी जरावस्था ले ली ॥ २१ ॥ तदनन्तर दक्षिण-पूर्व दिशामें द्रुह्युको, दक्षिणमें यदुको, पश्चिममें तुर्वसुको और उत्तरमें अनुको मण्डलेश्वर बना तथा सारे भूमण्डलकी सम्पत्तिके अतिशय योग्य पात्र पुरुको अपने राज्यपर अभिषिक्त किया और बड़े भाइयोंको उसके अधीन करके वे स्वयं वनको चले गये ॥ २२ ॥ २३ ॥ जैसे पंख निकल आनेपर पक्षिशावक घोंसला छोड़ देता है, वैसे ही राजा ययातिने शब्दादि सभी विषयोंमें अनेक वर्षोंतक भोगा हुआ इन्द्रियसुख एक क्षणमें त्याग दिया ॥ २४ ॥ तब लोकविख्यात राजा ययातिने वनमें बस तथा सङ्गोंसे छूटकर

श्रुत्वा गाथां देवयानी मेने प्रस्तोभमात्मनः । स्त्रीपुंसोः स्नेहवैक्लव्यात् परिहासमिवेरितम् २६॥
सा संनिवासं सुहृदां प्रपायामिव गच्छताम् । विज्ञायेश्वरतन्त्राणां मायाविरचितं प्रभोः ॥२७॥
सर्वत्र सङ्गमुत्सृज्य स्वप्नौपम्येन भार्गवी । कृष्णे मनः समावेश्य व्यधुनोल्लिङ्गमात्मनः ॥२८॥
नमस्तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे । सर्वभूताधिवासाय शान्ताय बृहते नमः ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे एकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥१९॥

विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत । यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे ॥१॥
जनमेजयो ह्यभूत् पूरोः प्रचिन्वांस्तत्सुतस्ततः । प्रवीरोऽथ नमस्युर्वै तस्माच्चारुपदोऽभवत् ॥२॥
तस्य सुद्युरभूत् पुत्रस्तस्माद् बहुगवस्ततः । संयातिस्तस्याहंयाती रौद्राश्वस्तत्सुतः स्मृतः ॥३॥
ऋतेयुस्तस्य कुक्षेयुः स्थण्डिलेयुः कृतेयुकः । जलेयुः सन्ततेयुश्च धर्मसत्यव्रतेयवः ॥४॥
दशैतेऽप्सरसः पुत्रा वनेयुश्चावमः स्मृतः । घृताच्यामिन्द्रियाणीव मुख्यस्य जगदात्मनः ॥५॥
ऋतेयो रन्तिभारोऽभूत् त्रयस्तस्यात्मजा नृप । सुमतिर्ध्रुवोऽप्रतिरथः कण्वोऽप्रतिरथात्मजः ॥६॥
तस्य मेधातिथिस्तस्मात् प्रस्कण्वाद्या द्विजातयः । पुत्रोऽभूत् सुमते रैभ्यो दुष्यन्तस्तत्सुतो मतः ॥७॥
दुष्यन्तो मृगयां यातः कण्वाश्रमपदं गतः । तत्रासीनां स्वप्रभया मण्डयन्तीं रमामिव ॥८॥
विलोक्य सद्यो मुमुहे देवमायामिव स्त्रियम् । बभाषे तां वरारोहां भटैः कतिपयैर्वृतः ॥९॥

आत्मानुभवके द्वारा त्रिगुणमय लिङ्गदेहसे मुक्त होकर सम्पूर्ण दोषोंसे रहित वासुदेव परब्रह्ममें तादात्म्यरूपिणी गति पायी ॥ २५ ॥ देवी देवयानीने यह कथा सुनी तो उसे अपने लिये उलाहना समझा । वह समझ गयी कि स्त्री-पुरुषोंके स्नेहकी असारताके कारण ही वैसा कहकर मेरा परिहास किया गया है ॥ २६ ॥ इसलिये देवयानीने ईश्वराधीन सुहृदोंके सहवासको पौसरेपर इकट्ठे हुए बटोहियोंके सहवासकी नाईं क्षणिक तथा भगवानकी मायासे निर्मित एवं सब संसारको स्वप्नवत् मिथ्या समझकर सब पदार्थोंकी आसक्ति त्याग दी ॥ २७ ॥ २८ ॥ देह त्यागते समय उसने कहा—'सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, सब प्राणियोंके आश्रय, शान्तस्वरूप तथा सर्वव्यापक आप भगवान वासुदेवको प्रणाम है, प्रणाम है' ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(पूरुवंशचरित और राजा दुष्यन्त एवं भरतका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भारत ! अब जिसमें कि तुम्हारा जन्म हुआ है और जिसके वंशधर बहुतेरे राजर्षि तथा ब्रह्मर्षि तक हो चुके हैं, उस पूरुवंशका मैं वर्णन कर रहा हूँ ॥ १ ॥ पूरुसे जनमेजय, उससे प्रचिन्वान्, उससे प्रवीर, प्रवीरसे नमस्यु और नमस्युसे चारुपद हुआ ॥ २ ॥ चारुपदसे सुद्यु, उससे बहुगव, बहुगवसे संयाति तथा संयातिसे अहंयाति और अहंयातिका पुत्र रौद्राश्व उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥ हे राजन् ! जैसे विश्वात्मा मुख्य प्राणसे दस इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही रौद्राश्वके घृताची अप्सरासे ऋतेयु, कुक्षेयु स्थण्डिलेयु, कृतेयु, जलेयु, सन्ततेयु, धर्मेयु, सत्येयु, व्रतेयु तथा सबसे छोटा वनेयु—ये दस पुत्र जायमान हुए ॥ ४ ॥ ५ ॥ हे नृप ! उनमेंसे ऋतेयुसे रन्तिभार उत्पन्न हुआ । उसके सुमति, ध्रुव तथा अप्रतिरथ नामके तीन पुत्र हुए । उनमेंसे अप्रतिरथका पुत्र कण्व जायमान हुआ ॥ ६ ॥ उसका पुत्र मेधातिथि था, जिसके द्वारा प्रस्कण्व आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए । सुमतिका पुत्र रैभ्य हुआ और उसका पुत्र दुष्यन्त नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ७ ॥ एक समय कुछ योद्धाओंके साथ राजा दुष्यन्त मृगयाके लिये वनमें गया और कण्व मुनिके आश्रमपर जा पहुँचा । वहाँ लक्ष्मीजीके सदृश अपनी कान्तिसे

तद्दर्शनप्रमुदितः संनिवृत्तपरिश्रमः । पप्रच्छ कामसन्तप्तः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥१०॥
का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयङ्गमे । किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्या निर्जने वने ॥११॥
व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे । न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित् ॥१२॥

शकुन्तलोवाच

विश्वामित्रात्मजैवाहं त्यक्ता मेनकया वने । वेदैतद् भगवान् कण्वो वीर किं करवाम ते ॥१३॥
आस्यतां ह्यरविन्दाक्ष गृह्यतामर्हणं च नः । भुज्यतां सन्ति नीवारा उष्यतां यदि रोचते ॥१४॥

दुष्यन्त उवाच

उपपन्नमिदं सुभ्रु जातायाः कुशिकान्वये । स्वयं हि वृणुते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम् ॥१५॥
ओमित्युक्ते यथाधर्ममुपयेमे शकुन्तलाम् । गान्धर्वविधिना राजा देशकालविधानवित् ॥१६॥
अमोघवीर्यो राजर्षिर्महिष्यां वीर्यमादधे । श्वोभूते स्वपुरं यातः कालेनासूत सा सुतम् ॥१७॥
कण्वः कुमारस्य वने चक्रे समुचिताः क्रियाः । बद्ध्वा मृगेन्द्रांस्तरसा क्रीडति स्म स बालकः १८
तं दुरत्ययविक्रान्तमादाय प्रमदोत्तमा । हरेरंशांशसम्भूतं भर्तुरन्तिकमागमत् ॥१९॥
यदा न जगृहे राजा भार्यापुत्रावनिन्दितौ । शृण्वतां सर्वभूतानां खे वागाहाशरीरिणी ॥२०॥
माता भस्त्रा पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः । भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥२१॥
रेतोधाः पुत्रो नयति नरदेव यमक्षयात् । त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥२२॥

उस आश्रमको सुशोभित करनेवाली एक देवमाया जैसी मनोहारिणी स्त्रीको बैठी देखकर राजा तत्काल मोहित हो गया और उस सुन्दरीसे बातें करने लगा ॥ ८ ॥ ९ ॥ उसके दर्शनसे आनन्दित होकर श्रम दूर हो जानेपर उस कामसन्तप्त राजाने हँसते-हँसते मीठी वाणीसे पूछा—॥ १० ॥ "हे कमलनयने ! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो ? हे मनोरमे ! इस निर्जन वनमें तुम किस लिए घूमती हो ? ॥ ११ ॥ हे सुमध्यमे ! मुझे स्पष्ट मालूम होता है कि तुम कोई क्षत्रिय-कन्या हो, क्योंकि पूरुवंशियोंका चित्त कभी भी अधर्ममें प्रवृत्त नहीं होता" ॥ १२ ॥ शकुन्तला बोली—मैं मेनका अप्सरासे उत्पन्न महर्षि विश्वामित्रजीकी पुत्री हूँ । मुझे मेनका इसी वनमें छोड़ गयी थी । यह बात भगवान कण्व जानते हैं । हे वीर ! कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ॥ १३ ॥ हे राजा दुष्यन्त ! यहाँ बैठिये और हमारे अर्पित आसनादि स्वीकार करिए । यहाँ कुछ नीवार हैं, उन्हें भोजन कीजिये और चाहें तो आज रातभर आश्रमपर ही निवास करिए ॥ १४ ॥ दुष्यन्तने कहा—हे सुभ्रु ! कुशिकवंशमें उत्पन्न होनेके नाते तुम्हारा यह कथन उचित ही है । क्योंकि राजकन्याएँ अपने अनुरूप वरको स्वयं वर लेती हैं ॥ १५ ॥ तदनन्तर शकुन्तलाके 'ठीक है' यों कहकर स्वीकार करनेपर देश, काल तथा विधिके ज्ञाता राजा दुष्यन्तने उसके साथ धर्मानुसार गान्धर्व विधिसे विवाह-सम्बन्ध कर लिया ॥ १६ ॥ तब उस अमोघवीर्य राजर्षिने रानीमें अपना वीर्य स्थित किया और दूसरे दिन सबेरे ही अपने नगरको लौट गया । तदनन्तर शकुन्तलाने यथासमय एक पुत्ररत्न उत्पन्न किया ॥ १७ ॥ महर्षि कण्वने वनमें ही उस बालकके जातकर्मादि सभी संस्कार सम्पन्न किये । वह वीर बालक बरबस सिंहादिको बाँधकर उनके साथ खेल किया करता था ॥ १८ ॥ कुछ समय बाद स्त्रियोंमें श्रेष्ठ शकुन्तला श्रीहरिके अंशसे जायमान उस अपरिमित बलशाली बालकको साथ लेकर अपने पति राजा दुष्यन्तके पास गयी ॥ १९ ॥ किन्तु जब कि राजाने उस निर्दोष पत्नी तथा पुत्रको नहीं स्वीकार किया तो सब प्राणियोंके सुनते हुए आकाशसे अशरीरिणी (आकाश वाणीने कहा ॥ २० ॥ "माता तो धौंकनीके समान होती है, वस्तुतः पुत्र पिताहीका होता है । क्योंकि वह जिससे उत्पन्न होता, उसीका स्वरूप हो जाता है । इसलिए हे राजा दुष्यन्त ! तुम इस पुत्रका पालन करो—शकुन्तलाका अपमान न करो ॥ २१ ॥ हे नरदेव ! वीर्यसेचनके द्वारा वंशकी वृद्धि

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः । महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि ॥२३॥
चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः । ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड् विभुः॥२४॥
पञ्चपञ्चाशता मेध्यैर्गङ्गायामनु वाजिभिः । मामतेयं पुरोधाय यमुनायामनु प्रभुः ॥२५॥
अष्टसप्ततिमेध्याश्वान् बबन्ध प्रददद् वसु । भरतस्य हि दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः ।
सहस्रं बद्वशो यस्मिन् ब्राह्मणा गा विभेजिरे ॥२६॥
त्रयस्त्रिंशच्छतं ह्यश्वान् बद्ध्वा विस्मापयन् नृपान् । दौष्यन्तिरत्यगान्मायां देवानां गुरुमाययौ॥२७
मृगाञ्छुक्लदतः कृष्णान् हिरण्येन परीवृतान् । अदात् कर्मणि मष्णारे नियुतानि चतुर्दश ॥२८॥
भरतस्य महत् कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः । नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा ॥२९॥
किरातहूणान् यवनानन्ध्रान् कङ्कान् खशाञ्छकान्। अब्रह्मण्यान्नृपांश्चाहन् म्लेच्छान्दिग्विजयेऽखिलान्
जित्वा पुरासुरा देवान् ये रसौकांसि भेजिरे । देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत् ॥३१॥
सर्वकामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी । समास्त्रिणवसाहस्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत् ॥३२॥
स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट्श्रियम् । चक्रं चास्खलितं प्राणान् मृषेत्युपरराम ह ॥३३॥
तस्यासन् नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसम्मताः । जघ्नुस्त्यागभयात् पुत्रान् नानुरूपा इतीरिते॥३४॥
तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम् । मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः ॥३५॥

करनेवाला पुत्र अपने पिताको नरकमें जानेसे बचा लेता है। शकुन्तलाका कथन ठीक है। इस गर्भके स्थापक तुम्हीं हो" ॥ २२ ॥ हे राजन्! उसके पिता दुष्यन्तके परलोकवासी होनेपर बालक भरत महायशस्वी तथा चक्रवर्ती राजा हुआ। उस भगवदंशसे उत्पन्न बालककी महिमा सारे पृथ्वीतलपर अब तक गायी जा रही है ॥ २३ ॥ उसके दाहिने हाथमें चक्र और पद्मकोशका चिह्न विद्यमान था। उस परम समर्थ भरतने महाभिषेककी विधिके अनुसार राजाधिराजपदपर अभिषिक्त हो ममतापुत्र दीर्घतमा मुनिको पुरोहित बनाकर गङ्गाजीके तटपर एकके पीछे एक करके पचपन पवित्र अश्वमेधयज्ञ किये और अठहत्तर पवित्र अश्व यमुनाके तटपर बाँधे और बहुत-सा धन दान करके दिया। दुष्यन्त-तनय भरतका अग्नि उत्तम गुणयुक्त स्थानमें चयन किया गया था। उस अग्निचयनके स्थानमें एक हजार ब्राह्मणोंने एक-एक बद्व अर्थात् १३०८४ गौएँ आपसमें बाँटकर पायी थीं ॥ २४–२६ ॥ राजा भरतने यज्ञोंमें तैंतीस सौ घोड़े बाँधकर सभी नृपतियोंको चकित कर दिया और देवताओंके ऐश्वर्यको भी नीचा दिखाकर परमपूजनीय श्रीहरिको प्राप्त कर लिया था ॥ २७ ॥ उसने मष्णारनामक यज्ञमें ब्राह्मणोंको सुवर्णसे विभूषित, श्वेत दाँतों और काले रंगके चौदह लाख हाथी प्रदान किये थे ॥ २८ ॥ जैसे कोई अपने हाथोंसे स्वर्गको नहीं छू सकता वैसे ही राजा भरतके किये महान् कर्मको न तो उसके पूर्ववर्ती राजाओंने प्राप्त कर पाया और न भविष्यमें होनेवाले ही प्राप्त कर पायेंगे ॥ २९ ॥ दिग्विजयके अवसरपर उसने किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कङ्क, खश तथा शक आदि सभी विप्रविरोधी राजाओंका वध कर दिया था ॥ ३० ॥ पूर्व समयमें जो बलवान् दैत्य देवताओंको जीतकर रसातलमें जाकर रहने लगे थे, वे जिन देवाङ्गनाओंको पकड़कर रसातल ले गये थे, उन्हें राजा भरत फिरसे छुड़ा लाया था ॥ ३१ ॥ उसके राज्यमें पृथ्वी तथा आकाश प्रजाकी सभी कामनायें पूर्ण करते थे। इस तरह सत्ताईस हजार वर्ष तक उसने सब दिशाओंका शासन किया ॥ ३२ ॥ अन्तमें सम्राट् सब लोकपालोंका ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति, अटल अनुशासन तथा प्राणी—ये सभी मिथ्या हैं, यह विचार करके वह सब भोगोंसे उपरत हो गया ॥ ३३ ॥ हे राजन्! तीनों विदर्भराजकन्याएँ राजा भरतकी प्रिय पत्नियाँ थीं। उन्होंने अपने-अपने पुत्रोंको राजाके यों कहनेपर कि ये मेरे अनुरूप अर्थात् मेरे पुत्र कहलाने योग्य नहीं हैं, अतएव राजा हमें त्याग न दें। इस भयसे मार डाला था ॥ ३४ ॥ इस तरह वंशके वितथ यानी व्यर्थ हो जानेपर उसने सन्तानके निमित्त मरुत्सोम नामका

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः। प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत् ॥३६॥
तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्किताम्। नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः ॥३७॥
मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते। यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम् ॥३८॥
चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम्। व्यसृजन् मरुतोऽबिभ्रन् दत्तोऽयं वितथेऽन्वये ॥३९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

वितथस्य सुतो मन्युर्बृहत्क्षत्रो जयस्ततः। महावीर्यो नरो गर्गः संकृतिस्तु नरात्मजः ॥१॥
गुरुश्च रन्तिदेवश्च संकृतेः पाण्डुनन्दन। रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते ॥२॥
वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः। निष्किञ्चनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः ॥३॥
व्यतीयुरष्टचत्वारिंशदहान्यपिबतः किल। घृतपायससंयावं तोयं प्रातरुपस्थितम् ॥४॥
कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः। अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत् ॥५॥
तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः। हरिं सर्वत्र सम्पश्यन् स भुक्त्वा प्रययौ द्विजः ॥६॥
अथान्यो भोक्ष्यमाणस्य विभक्तस्य महीपते। विभक्तं व्यभजत् तस्मै वृषलाय हरिं स्मरन् ॥७॥

यज्ञ किया। तब मरुद्‌गणने 'भरद्वाज' नामका पुत्र लाकर प्रदान किया ॥ ३५ ॥ उसकी उत्पत्तिका प्रसंग इस प्रकार है—एक समय बृहस्पतिजी अपने भाई (उतथ्य) की गर्भवती पत्नीसे मैथुन करनेको उद्यत हुए। तब गर्भस्थ बालक (दीर्घतमा) के रोकनेपर भी उन्होंने उसे अन्धा हो जानेका शाप देकर वीर्य डाल दिया ॥३६॥ तब 'पति मुझे त्याग देंगे' इस भयसे बृहस्पतिजीके वीर्यसे उत्पन्न उस बालकको त्यागनेके इच्छुक ममतासे देवताओंने उसके नामका निर्वचन करनेवाला यह श्लोक कहा—॥ ३७ ॥ 'अरी मूढे! यह द्वाज अर्थात् हम दोनोंसे उत्पन्न हुआ है, अतएव तुम्हीं इसको पालो-पोसो।' यों कहकर इसके माता-पिता ममता तथा बृहस्पतिजी चले गये। इसके बाद यह बालक 'भरद्वाज' कहलायेगा।॥३८॥ देवताओंके ऐसा कहनेपर उस बालकको व्यभिचारजनित होनेके कारण वितथ यानी अन्याय्य जानकर ममताने एकदम त्याग दिया था। तब मरुद्‌गणने उसे पाला और भरतवंशको उच्छिन्न होता देखकर राजा भरतको दे दिया ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेय-कृतभाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

(भरत-वंशका विस्तार और राजा रन्तिदेवका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! वितथका पुत्र मन्यु हुआ। उसके बृहत्क्षत्र, जय, महावीर्य, नर तथा गर्गनामके पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे नरका पुत्र संकृति था ॥ १ ॥ हे पाण्डुनन्दन! संकृतिसे गुरु तथा रन्तिदेवका जन्म हुआ। जिनमेंसे रन्तिदेवका यश इस लोक तथा परलोक दोनों जगह आज भी गाया जा रहा है ॥ २ ॥ निरुद्योगी और प्रारब्धके अधीन रहनेवाले, प्राप्त पदार्थका दान कर देनेवाले, बहुत भूखे, अकिंचन, धैर्यशाली और अत्यन्त दुःखी कुटुम्बवाले रन्तिदेवको एक बार बिना जल तक पिये अड़तालीस दिन यों ही बीत गये। उञ्चासवें दिन सवेरे ही कहींसे कुछ घृत, खीर, लप्सी तथा जल मिला ॥ ३ ॥ ४ ॥ इस प्रकार जो अत्यन्त संकटग्रस्त कुटुम्बवाला और जो भूख-प्याससे काँप रहा था, वह राजा रन्तिदेव ज्यों ही भोजन करनेकी तैयारी करने लगा, तभी एक अतिथि-ब्राह्मण आ धमका ॥ ५ ॥ तब सर्वत्र भगवानको विराजमान देखकर उसने बड़े आदर और श्रद्धाके साथ उस अन्नमेंसे कुछ भाग उसे दे डाला। वह ब्राह्मण खाकर अपनी राह चला गया ॥ ६ ॥ हे महीपते! उसके जानेपर शेष अन्नको जब वह आपसमें बाँटकर खाने बैठा तो एक दूसरा शूद्र अतिथि आ पहुँचा। तब उसने भगवानका

याते शूद्रे तमन्योऽगादतिथिः श्वभिरावृतः । राजन् मे दीयतामन्नं सगणाय बुभुक्षते ॥८॥
स आदृत्यावशिष्टं यद् बहुमानपुरस्कृतम् । तच्च दत्त्वा नमश्चक्रे श्वभ्यः श्वपतये विभुः ॥९॥
पानीयमात्रमुच्छेषं तच्चैकपरितर्पणम् । पास्यतः पुल्कसोऽभ्यागादपो देह्यशुभस्य मे १०
तस्य तां करुणां वाचं निशम्य विपुलश्रमाम् । कृपया भृशसन्तप्त इदमाहामृतं वचः ॥११॥

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ १२ ॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ १३ ॥

इति प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया । पुल्कसायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ॥१४॥
तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् । आत्मानं दर्शयाञ्चक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः॥१५॥
स वै तेभ्यो नमस्कृत्य निःसङ्गो विगतस्पृहः । वासुदेवे भगवति भक्त्या चक्रे मनः परम् ॥१६॥
ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः । माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत ॥१७॥
तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः । अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥१८॥
गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्म ह्यवर्तत । दुरितक्षयो महावीर्यात् तस्य त्रय्यारुणिः कविः॥१९
पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः । बृहत्क्षत्रस्य पुत्रोऽभूद्धस्ती यद्धस्तिनापुरम् ॥२०॥

स्मरण करते हुए उस अवशिष्ट अन्नमेंसे कुछ भाग उस शूद्रको भी दे दिया ॥ ७ ॥ शूद्रके चले जानेपर कुत्तोंसे घिरा हुआ एक और अतिथि आ गया और कहने लगा—'हे राजन्! मैं बहुत भूखा हूँ। कृपा करके आप मेरे गणों सहित मुझे भी अन्न प्रदान कीजिये" ॥ ८ ॥ तब राजा रन्तिदेवने बड़े आदर और सम्मानके साथ शेष अन्न भी उसे देकर और उन कुत्तों एवं उनके स्वामीको प्रणाम किया ॥ ९ ॥ अन्तमें जब केवल जल भर शेष रह गया और वह भी एक ही प्राणीको तृप्त करने योग्य था, तब उसे ही बाँटकर पीनेको उद्यत हुआ। तभी एक चाण्डाल आ गया और कहने लगा—"यह जल तो मुझ नीचको पिला दीजिये" ॥ १० ॥ उसकी बहुत थकावटभरी दीन वाणी सुनकर राजाने करुणावश अतिशय सन्तप्त होकर अमृतमें सराबोर ये वचन कहे—॥ ११ ॥ मैं भगवानसे अष्टश्वर्ययुक्त परमगति नहीं चाहता और मुझे मोक्षकी भी चाह नहीं है। मैं तो सभी देहधारियोंके हृदयमें बैठकर उनका दुःख स्वयं सहना चाहता हूँ, जिससे उनका दुःख दूर हो जाय ॥ १२ ॥ अहो! इस तरह जीनेको इच्छुक दीन प्राणीको जीवनरूपी जल देनेसे मेरे क्षुधा, पिपासा, श्रम, शरीरकी शिथिलिता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद तथा मोह ये सब निवृत्त हो गये हैं" ॥ १३ ॥ हे राजन्! यों कहकर स्वयं प्यासे होते हुए भी स्वभावतः कारुणिक और धैर्यशाली राजा रन्तिदेवने वह जल उस चाण्डालको पिला दिया ॥ १४ ॥ महाराज रन्तिदेवके धैर्यकी परीक्षा लेनेके लिये भगवान्की मायासे ब्राह्मण तथा शूद्रादिका रूप दिखाकर फलके इच्छुकोंको सब तरहके फलदाता त्रिलोकेश्वर ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवने उसे प्रत्यक्ष अपना दर्शन दिया ॥ १५ ॥ किन्तु उस निःसंग तथा निरीह राजा रन्तिदेवने उन्हें नमस्कार करके भगवान वासुदेवमें सुदृढ़ भक्ति भावसे अपना मन लगा दिया। उनसे और कुछ माँगा नहीं ॥ १६ ॥ हे राजन्! इस प्रकार ईश्वरके सिवा किसी अन्य फलकी अभिलाषा न करके चित्तको अनन्यभावसे उन्हींमें लगा देनेके कारण राजा रन्तिदेवकी त्रिगुणमयी माया स्वप्नकी भाँति विलीन हो गयी अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये ॥ १७ ॥ इससे राजा रन्तिदेवके सब अनुयायी भी उनके संगके प्रभावसे योगी एवं नारायणपरायण हो गये ॥ १८ ॥ मन्युके पुत्र गर्गसे शिनिका जन्म हुआ। उससे वह गार्ग्य उत्पन्न हुआ, जिसके क्षत्रिय होनेपर भी उसके द्वारा ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई थी। महीवीर्यसे दुरितक्षयनामका पुत्र जायमान हुआ।

अजमीढो द्विमीढश्च पुरुमीढश्च हस्तिनः । अजमीढस्य वंश्याःस्युः प्रियमेधादयो द्विजाः ॥२१॥
अजमीढाद् बृहदिषुस्तस्य पुत्रो बृहद्धनुः । बृहत्कायस्ततस्तस्य पुत्र आसीज्जयद्रथः ॥२२॥
तत्सुतो विशदस्तस्य सेनजित् समजायत । रुचिराश्वो दृढहनुः काश्यो वत्सश्च तत्सुताः ॥२३॥
रुचिराश्वसुतः पारः पृथुसेनस्तदात्मजः । पारस्य तनयो नीपस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् ॥२४॥
स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत् । स योगी गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात् सुतम् २५
जैगीषव्योपदेशेन योगतन्त्रं चकार ह । उदक्स्वनस्ततस्तस्माद् भल्लादो बार्हदीषवाः ॥२६॥
यवीनरो द्विमीढस्य कृतिमांस्तत्सुतः स्मृतः । नाम्ना सत्यधृतिर्यस्य दृढनेमिः सुपार्श्वकृत् ॥२७॥
सुपार्श्वात् सुमतिस्तस्य पुत्रः सन्नतिमांस्ततः । कृतिर्हिरण्यनाभाद् यो योगं प्राप्य जगौ स्म षट् २८
संहिताः प्राच्यसाम्नां वै नीपो ह्युग्रायुधस्ततः । तस्य क्षेम्यः सुवीरोऽथ सुवीरस्य रिपुञ्जयः ॥२९॥
ततो बहुरथो नाम पुरमीढोऽप्रजोऽभवत् । नलिन्यामजमीढस्य नीलः शान्तिः सुतस्ततः ॥३०॥
शान्तेः सुशान्तिस्तत्पुत्रः पुरुजोऽर्कस्ततोऽभवत् । भर्म्याश्वस्तनयस्तस्य पञ्चासन्मुद्गलादयः ॥३१॥
यवीनरो बृहदिषुः काम्पिल्यः संजयः सुताः । भर्म्याश्वः प्राह पुत्रा मे पञ्चानां रक्षणाय हि ॥३२॥
विषयाणामलमिमे इति पञ्चालसंज्ञिताः । मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम् ॥३३॥
मिथुनं मुद्गलाद् भार्म्याद् दिवोदासः पुमानभूत् । अहल्या कन्यका यस्या शतानन्दस्तु गौतमात् ३४

उसके त्रय्यारुणि, कवि एवं पुष्करारुणि—ये तीन पुत्र उत्पन्न होकर ब्राह्मण हो गये। बृहत्क्षत्रका पुत्र हस्ती हुआ, जिसने हस्तिनापुरी बसायी थी ॥ १९ ॥ २० ॥ हस्तीके पुत्र अजमीढ, द्विमीढ तथा पुरुमीढ थे। उनमेंसे अजमीढके वंशज प्रियमेध आदि ब्राह्मण हुए ॥ २१ ॥ उस अजमीढसे ही बृहदिषु उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र बृहद्धनु, बृहद्धनुसे बृहत्काय और उसके जयद्रथ हुआ ॥ २२ ॥ उसका पुत्र विशद और विशदका पुत्र सेनजित् हुआ। रुचिराश्व, दृढहनु काश्य तथा वत्स ये सेनजित्के बेटे थे ॥२३॥ उनमेंसे रुचिराश्वका पुत्र पार और उसका पुत्र पृथुसेन था। पारका दूसरा पुत्र नीप था, उसके सौ पुत्र हुए ॥ २४ ॥ उस नीपके द्वारा ही शुकदेवजीकी कृत्वी नामकी कन्यासे ब्रह्मदत्त उत्पन्न हुआ। ब्रह्मदत्त योगीश्वर था और उनसे अपनी पत्नी सरस्वतीके गर्भसे विष्वक्सेन नामका पुत्र उत्पन्न किया। *कथान्तर० श्रीशुकदेवजी तो जन्मसे ही असंग थे। फिर भी उन्होंने वन जाते समय अपने पिता व्यासजीको विरहाकुलभावसे अपने पीछे आते देखकर एक छायाशुकको रचकर छोड़ दिया था। उस छायाशुकने ही सब गृहस्थोचित व्यवहार किये थे ॥ २५ ॥ उसीने महर्षि जैगीषव्यके उपदेशसे योगशास्त्र रचा। उसका पुत्र उदक्खन हुआ और उससे भल्लादका जन्म हुआ। ये सब बृहदिषुके वंशज बताये गये हैं ॥ २६ ॥ द्विमीढका पुत्र यवीनर हुआ। यवीनरका पुत्र कृतिमान् कहलाया। उसका सत्यधृति तथा सत्यधृतिका पुत्र दृढनेमि हुआ, जिसने कि सुपार्श्वको उत्पन्न किया ॥ २७ ॥ सुपार्श्वसे सुमति हुआ, उसका पुत्र सन्नतिमान् था। उससे कृतीका जन्म हुआ। जिसने कि हिरण्य-नाभसे योगविद्या प्राप्त करके प्राच्य सामऋचाओंकी छः संहिताएँ कहीं। उसका पुत्र नीप, नीपसे उग्रायुध, उससे क्षेम्य, क्षेम्यसे सुवीर तथा सुवीरसे रिपुञ्जय नामका पुत्र जन्मा ॥ २८ ॥ २९ ॥ रिपुञ्जयसे बहुरथनामका पुत्र हुआ। द्विमीढका भाई पुरुमीढ जीवनभर निःसन्तान रह गया। अज-मीढकी पत्नी नलिनीसे नील उत्पन्न हुआ और उससे शान्तिनामका पुत्र जायमान हुआ ॥ ३० ॥ शान्तिसे सुशान्ति, उससे पुरुज, पुरुजसे अर्क, अर्कसे भर्म्याश्व तथा भर्म्याश्वसे मुद्गल आदि पाँच पुत्र जायमान हुए ॥ ३१ ॥ उन पाँचोंके नाम मुद्गल, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य तथा सञ्जय थे। भर्म्याश्वने कहा—"मेरे ये पाँचों पुत्र पाँच देशोंका शासन करनेमें समर्थ हैं। इसीसे इनका नाम पञ्चाल भी है।" उनमेंसे मुद्गलके द्वारा मौद्गल्यनामके ब्राह्मण-गोत्रकी उत्पत्ति हुई ॥ ३२ ॥३३॥ भर्म्याश्वके पुत्र मुद्गलके दिवोदासनामक पुत्र और अहल्या नामकी कन्या—ये जुड़वा सन्तानें

तस्य सत्यधृतिः पुत्रो धनुर्वेदविशारदः । शरद्वांस्तत्सुतो यस्मादुर्वशीदर्शनात् किल ॥३५॥
शरस्तम्बेऽपतद् रेतो मिथुनं तदभूच्छुभम् । तद् दृष्ट्वा कृपयागृह्णाच्छन्तनुर्मृगयां चरन् ॥
कृपः कुमारः कन्या च द्रोणपत्न्यभवत् कृपी ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

मित्रेयुश्च दिवोदासाच्च्यवनस्तत्सुतो नृप । सुदासः सहदेवोऽथ सोमको जन्तुजन्मकृत् ॥१॥
तस्य पुत्रशतं तेषां यवीयान् पृषतः सुतः । द्रुपदो द्रौपदी तस्य धृष्टद्युम्नादयः सुताः ॥२॥
धृष्टद्युम्नाद् धृष्टकेतुर्भार्म्याः पञ्चालका इमे । योऽजमीढसुतो ह्यन्य ऋक्षः संवरणस्ततः ॥३॥
तपत्यां सूर्यकन्यायां कुरुक्षेत्रपतिः कुरुः । परीक्षित् सुधनुर्जह्नुर्निषधाश्वः कुरोः सुताः ॥४॥
सुहोत्रोऽभूत् सुधनुषश्च्यवनोऽथ ततः कृती । वसुस्तस्योपरिचरो बृहद्रथमुखास्ततः ॥५॥
कुशाम्बमत्स्यप्रत्यग्रचेदिपाद्याश्च चेदिपाः । बृहद्रथात् कुशाग्रोऽभूदृषभस्तस्य तत्सुतः ॥६॥
जज्ञे सत्यहितोऽपत्यं पुष्पवांस्तत्सुतो जहुः । अन्यस्यां चापि भार्यायां शकले द्वे बृहद्रथात् ॥७॥
ते मात्रा बहिरुत्सृष्टे जरया चाभिसन्धिते । जीव जीवेति क्रीडन्त्या जरासन्धोऽभवत् सुतः ॥८॥
ततश्च सहदेवोऽभूत् सोमापिर्यच्छ्रुतश्रवाः । परीक्षिदनपत्योऽभूत् सुरथो नाम जाह्नवः ॥९॥

हुई । उनमें अहल्यासे गौतम द्वारा शतानन्द उत्पन्न हुए ॥ ३४ ॥ उनका पुत्र सत्यधृति धनुर्विद्यामें निपुण था । उससे शरद्वान नामका पुत्र जायमान हुआ । ऐसा कहा जाता है कि एक बार उर्वशीको देखकर कुशाके झाड़पर उसका वीर्य गिर पड़ा । उससे एक शुभ लक्षणों युक्त पुत्र-पुत्रीका जोड़ा उत्पन्न हो गया । उसे देखकर मृगयाके लिये वनमें गये हुए राजा शन्तनु कृपावश घर ले आये । उनमेंसे पुत्रका नाम कृपाचार्य तथा कन्या द्रोणाचार्यकी पत्नी कृपी हुई ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

(पाञ्चाल, कौरव तथा मगधवंशीय राजाओंका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन ! दिवोदासका पुत्र मित्रेयु हुआ । उसके च्यवन, सुदास, सहदेव और जन्तुके पिता सोमक उत्पन्न हुए । सोमकके सौ पुत्र थे, जिनमें जन्तु सबसे बड़ा तथा पृषत् सबसे छोटा था । पृषत्का पुत्र द्रुपद हुआ । उसके द्रौपदी नामकी पुत्री और धृष्टद्युम्न आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥ २ ॥ धृष्ट-द्युम्नसे धृष्टकेतु नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । भर्म्याश्वके वंशज सभी राजे 'पाञ्चाल' कहे जाते थे । अजमीढके ऋक्षनामक दूसरे पुत्रसे संवरण उत्पन्न हुआ ॥ ३ ॥ उसके द्वारा सूर्यकी कन्या तपतीके गर्भसे कुरुक्षेत्रके अधिपति कुरुका जन्म हुआ । कुरुके परीक्षित, सुधनु, जहु तथा निषधाश्व नामके पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४ ॥ उनमें सुधनुके सुहोत्र, सुहोत्रके च्यवन, च्यवनके कृती, कृतीके वसु, वसुके उपरिचर और उसके बृहद्रथ आदि पुत्र जन्मे ॥ ५ ॥ वे चेदिनरेश बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र तथा चेदिप आदि नामोंसे विख्यात थे । उनमें बृहद्रथसे कुशाग्र, उसका पुत्र ऋषभ, ऋषभका सत्यहित, सत्यहितका पुत्र पुष्पवान्, पष्पवान्का पुत्र जहु हुआ । बृहद्रथकी दूसरी पत्नीके गर्भसे उत्पन्न बालकके शरीरके दो टुकड़े हो गये ॥ ६ ॥ ७ ॥ उन्हें माताने उठाकर बाहर फेंकवा दिया । तब जरा नामकी राक्षसीने उन दोनों टुकड़ोंको 'जीवित हो, जीवित हो' यों कहकर क्रीडा करते हुए जोड़ दिया । तब वह जरासन्ध नामका बालक हो गया ॥ ८ ॥ उससे सहदेव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ । सहदेवसे सोमापि तथा सोमापिसे श्रुतश्रवा उत्पन्न

ततो विदूरथस्तस्मात् सार्वभौमस्ततोऽभवत् । जयसेनस्तत्तनयो राधिकोऽतोऽयुतो ह्यभूत् ॥१०॥
ततश्च क्रोधनस्तस्माद् देवातिथिरमुष्य च । ऋष्यस्तस्य दिलीपोऽभूत् प्रतीपस्तस्य चात्मजः ११
देवापिः शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः । पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥१२॥
अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषुसंज्ञितः । यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं यौवनमेति सः ॥१३॥
शान्तिमाप्नोति चैवाग्र्यां कर्मणा तेन शन्तनुः । समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥१४॥
शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक् । राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥१५॥
एवमुक्तो द्विजैर्ज्येष्ठं छन्दयामास सोऽब्रवीत् । तन्मन्त्रिप्रहितैर्विप्रैर्वेदाद् विभ्रंशितो गिरा ॥१६॥
वेदवादातिवादान् वै तदा देवो ववर्ष ह । देवापिर्योगमास्थाय कलापग्राममाश्रितः ॥१७॥
सोमवंशे कलौ नष्टे कृतादौ स्थापयिष्यति । बाह्लीकात् सोमदत्तोऽभूद् भूरिर्भूरिश्रवास्ततः १८॥
शलश्च शन्तनोरासीद् गङ्गायां भीष्म आत्मवान् । सर्वधर्मविदां श्रेष्ठो महाभागवतः कविः ॥१९॥
वीरयूथाग्रणीर्येन रामोऽपि युधि तोषितः । शन्तनोर्दाशकन्यायां जज्ञे चित्राङ्गदः सुतः ॥२०॥
विचित्रवीर्यश्चावरजो नाम्ना चित्राङ्गदो हतः । यस्यां पराशरात् साक्षादवतीर्णो हरेः कला ॥२१॥
वेदगुप्तो मुनिः कृष्णो यतोऽहमिदमध्यगाम् । हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः२२

हुआ । कुरुका निःसन्तान पुत्र परीक्षित् था । जह्नुसे सुरथनामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ उससे विदूरथ और विदूरथसे सार्वभौम तथा सार्वभौमसे जयसेनका जन्म हुआ । जयसेनका पुत्र राधिक और राधिकका पुत्र अयुत हुआ ॥ १० ॥ अयुतके क्रोधन, क्रोधनके देवातिथि, देवातिथिके ऋष्य, ऋष्यके दिलीप तथा दिलीपके प्रतीत नामका पुत्र जायमान हुआ ॥ ११ ॥ प्रतीपके देवापि, शन्तनु और बाह्लीक नामके तीन पुत्र उत्पन्न हुए । उनमें देवापि अपने पिताका राज्य त्यागकर वनको चला गया ॥ १२ ॥ अतएव उसका छोटा भाई शन्तनु नामका राजा हुआ । पहले उसका नाम महाभिषु था । वह जिस-किसीको अपने हाथसे छू देता था, वह बूढ़ा होनेपर भी फिर यौवन प्राप्त कर लिया करता था ॥ १३ ॥ तब उसे बड़ी शान्ति मिलती थी । इस कर्मसे ही वह 'शन्तनु' कहलाता था । एक बार जब पूरे बारह वर्षतक उसके राज्यमें पानी नहीं बरसा तो ब्राह्मणोंने शन्तनुसे कहा—"अपने बड़े भाईका राज्य भोगनेवाला राजा परिवेत्ता होता है । इसलिए तुम अपने नगर तथा राष्ट्रके हितके लिये तुरन्त अपने बड़े भाईको राज्य लौटा दो" टिप्पणी—दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते । परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥—जो पुरुष अपने बड़े भाईके रहते हुए भी उससे पहले ही विवाह तथा अग्निहोत्रका संयोग करता है, उसे परिवेत्ता कहते हैं और बड़ा भाई 'परिवित्ति' कहा जाता है ॥ १४ ॥ १५ ॥ उन ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर शन्तनुने अपने बड़े भाईसे राज्य स्वीकार करनेको कहा, किन्तु देवापिको शन्तनुके मन्त्री द्वारा भेजे हुए उन ब्राह्मणोंने वेदविदूषक वाक्योंके द्वारा वेदमार्गसे भ्रष्ट कर दिया था । इस लिये उसने वेदकी निन्दायुक्त वचन कहे । इस तरह वेदविरोधी हो जानेके कारण देवापिको राज्यका अधिकार न रहनेसे जलकी वर्षा होने लगी । इस समय भी देवापि योगसाधनमें लगा हुआ कलापग्राममें रह रहा है ॥ १६ ॥ १७ ॥ कलियुगमें जब चन्द्रवंशका अन्त हो जायगा, तब वह सत्ययुगके आरम्भमें उसे फिरसे स्थापित करेगा । लघुभ्राता शन्तनुके बाह्लीक और बाह्लीकसे सोमदत्त उत्पन्न हुआ । उससे भूरि, भूरिश्रवा और शलनामके तीन पुत्र उत्पन्न हुए । शन्तनुसे गङ्गा नामकी पत्नी द्वारा परम वीर भीष्मजीका जन्म हुआ । वे सभी धर्मवानोंमें श्रेष्ठ, असाधारण भगवद्भक्त, आत्मज्ञ एवं वीरसमूहके अगुवा थे । उन्होंने युद्धमें अपने गुरु श्रीपरशुरामजी तकको प्रसन्न कर दिया था । राजा शन्तनुके एक मल्लाहकी पुत्रीसे चित्राङ्गदनामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १८–२० ॥ उसके छोटे भाईका नाम विचित्रवीर्य था । चित्राङ्गदका उसी (चित्राङ्गद) नामके एक गन्धर्वने वध कर दिया । दासकन्या सत्यवतीसे पराशरजी द्वारा साक्षात्

मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ । विचित्रवीर्योऽथोवाह काशिराजसुते बलात् ॥२३॥
स्वयंवरादुपानीते अम्बिकाम्बालिके उभे । तयोरासक्तहृदयो गृहीतो यक्ष्मणा मृतः ॥२४॥
क्षेत्रेऽप्रजस्य वै भ्रातुर्मात्रोक्तो बादरायणः । धृतराष्ट्रं च पाण्डुं च विदुरं चाप्यजीजनत् ॥२५॥
गान्धार्यां धृतराष्ट्रस्य जज्ञे पुत्रशतं नृप । तत्र दुर्योधनो ज्येष्ठो दुःशला चापि कन्यका ॥२६॥
शापान्मैथुनरुद्धस्य पाण्डोः कुन्त्यां महारथाः । जाता धर्मानिलेन्द्रेभ्यो युधिष्ठिरमुखास्त्रयः ॥२७॥
नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां नासत्यदस्रयोः । द्रौपद्यां पञ्च पञ्चभ्यः पुत्रास्ते पितरोऽभवन् ॥२८॥
युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यः श्रुतसेनो वृकोदरात् । अर्जुनाच्छ्रुतकीर्तिस्तु शतानीकस्तु नाकुलिः ॥२९॥
सहदेवसुतो राजञ्छ्रुतकर्मा तथापरे । युधिष्ठिरात् तु पौरव्यां देवकोऽथ घटोत्कचः ॥३०॥
भीमसेनाद्धिडिम्बायां काल्यां सर्वगतस्ततः । सहदेवात् सुहोत्रं तु विजयासूत पार्वती ॥३१॥
करेणुमत्यां नकुलो निरमित्रं तथार्जुनः । इरावन्तमुलूप्यां वै सुतायां बभ्रुवाहनम् ।
मणिपूरपतेः सोऽपि तत्पुत्रः पुत्रिकासुतः ॥ ३२ ॥
तव तातः सुभद्रायामभिमन्युरजायत । सर्वातिरथजिद् वीर उत्तरायां ततो भवान् ॥३३॥
परिक्षीणेषु कुरुषु द्रौणेर्ब्रह्मास्त्रतेजसा । त्वं च कृष्णानुभावेन सजीवो मोचितोऽन्तकात् ३४॥
तवेमे तनयास्तात जनमेजयपूर्वकाः । श्रुतसेनो भीमसेन उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥३५॥
जनमेजयस्त्वां विदित्वा तक्षकान्निधनं गतम् । सर्पान् वै सर्पयागाग्नौ स होष्यति रुषान्वितः ॥३६॥

श्रीहरिके अंशस्वरूप तथा वेदोंके रक्षक कृष्णद्वैपायन व्यासने अवतार लिया। जिनसे मैंने इस श्रीमद्भागवतसंहिताका अध्ययन किया है। उन भगवान बादरायणने इस परम गुप्त संहिताको अपने पैल आदि शिष्योंको न पढ़ाकर मुझ शान्तस्वभाव पुत्रको ही पढ़ाया था। उस विचित्रवीर्यने स्वयंवरसे हरकर लायी हुई काशिराजकी अम्बिका तथा अम्बालिका नामकी दो कन्याओंसे विवाह किया था। उनमें बहुत आसक्त रहनेके कारण वह क्षयरोगसे ग्रस्त होकर परलोकगामी हुआ ॥ २१-२४ ॥ तदनन्तर माता सत्यवतीके कथनानुसार महर्षि बादरायण व्यासने अपने सन्तानहीन भाईकी स्त्रियोंसे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुरनामके तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ २५ ॥ हे राजन् ! धृतराष्ट्रके द्वारा उनकी भार्या गान्धारीके गर्भसे सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उन सबमें दुर्योधन बड़ा था। इनके सिवा धृतराष्ट्रके दुःशला नामकी एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी ॥ २६ ॥ पाण्डु पूर्वकालके शापवश मैथुनधर्मसे रोक दिये गये थे। अतः उनकी पत्नी कुन्तीके धर्म, वायु तथा इन्द्रके द्वारा युधिष्ठिर, अर्जुन तथा भीम ये तीन महारथी पुत्र हुए ॥२७॥ माद्रीके दोनों अश्विनीकुमारों द्वारा नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए। उन पाँचोंके द्वारा द्रौपदीसे तुम्हारे पितृव्य पाँच पुत्र जन्मे ॥ २८ ॥ हे राजन् ! युधिष्ठिरके प्रतिविन्ध्य, भीमसेनके श्रुतसेन, अर्जुनके श्रुतकीर्ति और नकुलके शतानीक उत्पन्न हुआ और सहदेवका पुत्र श्रुतकर्मा हुआ। इनके अतिरिक्त युधिष्ठिरके पौरवी नामकी स्त्रीसे देवक, भीमसेनके हिडिम्बासे घटोत्कच और कालीके सर्वगत, सहदेवके पर्वतकन्यासे विजया सुहोत्र, नकुलके करेणुमतीसे नरमित्र तथा अर्जुनके नागकन्या उलूपीसे इरावान् और पुत्रिकाधर्मसे विवाही हुई मणिपूरनरेशकी कन्यासे बभ्रुवाहन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अर्जुनका पुत्र होकर भी अपने नानाका पुत्र कहलाया ॥ २९-३२ ॥ अर्जुनकी सुभद्रा नामकी पत्नीसे तुम्हारे पिता अभिमन्यु उत्पन्न हुए, जो सभी महारथियोंके विजेता वीर थे। उनकी स्त्री उत्तराके गर्भसे तुम जायमान हुए ॥३३॥ हे राजन् ! कौरवोंके नष्ट हो जानेपर जब तुम अश्वत्थामा द्वारा ब्रह्मास्त्रके तेजसे जलने लगे, तब भगवान कृष्णके प्रभावसे ही तुम मृत्युसे बच पाये थे ॥ ३४ ॥ हे तात ! ये बड़े पराक्रमी जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन तथा उग्रसेन तुम्हारे पुत्र हैं ॥ ३५ ॥ तुम्हारा पुत्र जनमेजय तुम्हें तक्षकके काटनेसे मृत्युको प्राप्त हुआ सुनेगा

काव्षेयं पुरोधाय तुरं तुरगमेधयाट् । समन्तात् पृथिवीं सर्वां जित्वा यक्ष्यति चाध्वरैः॥३७
तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन् । अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति ॥३८॥
सहस्रानीकस्तत्पुत्रस्ततश्चैवाश्वमेधजः । असीमकृष्णस्तस्यापि नेमिचक्रस्तु तत्सुतः ॥३९॥
गजाह्वये हृते नद्या कौशाम्ब्यां साधु वत्स्यति । उक्तस्ततश्चित्ररथस्तस्मात् कविरथः सुतः ॥४०॥
तस्माच्च वृष्टिमांस्तस्य सुषेणोऽथ महीपतिः । सुनीथस्तस्य भविता नृचक्षुर्यत्सुखीनलः ॥४१॥
परिप्लवः सुतस्तस्मान्मेधावी सुनयात्मजः । नृपञ्जयस्ततो दूर्वस्तिमिस्तस्माज्जनिष्यति ॥४२॥
तिमेर्बृहद्रथस्तस्माच्छतानीकः सुदासजः । शतानीकाद् दुर्दमनस्तस्यापत्यं वहीनरः ॥४३॥
दण्डपाणिर्निमिस्तस्य क्षेमको भविता नृपः । ब्रह्मक्षत्रस्य वै प्रोक्तो वंशो देवर्षिसत्कृतः ॥४४॥
क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ । अथ मागधराजानो भवितारो वदामि ते ॥४५॥
भविता सहदेवस्य मार्जारिर्यच्छ्रुतश्रवाः । ततो युतायुस्तस्यापि निरमित्रोऽथ तत्सुतः ॥४६॥
सुनक्षत्रः सुनक्षत्राद् बृहत्सेनोऽथ कर्मजित् । ततः सुतञ्जयाद् विप्रः शुचिस्तस्य भविष्यति॥४७॥
क्षेमोऽथ सुव्रतस्तस्माद् धर्मसूत्रः शमस्ततः । द्युमत्सेनोऽथ सुमतिः सुबलो जनिता ततः ॥४८॥
सुनीथः सत्यजिदथ विश्वजिद् यद् रिपुञ्जयः । बार्हद्रथाश्च भूपाला भाव्याः साहस्रवत्सरम् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

तो अतिशय क्रुद्ध होकर बहुत-से सर्पोंको सर्पसत्रके अग्निमें हवन कर देगा ॥ ३६ ॥ यह बालक अश्वमेध यज्ञ करेगा और कावषेय गोत्रमें उत्पन्न तुरनामके ऋषिको अपना पुरोहित बनाकर सब पृथिवीको सब ओरसे जीतकर यज्ञों द्वारा नारायणका यजन करेगा ॥ ३७ ॥ जनमेजयका पुत्र शतानीक याज्ञवल्क्यऋषिसे वेदत्रयी तथा क्रियाज्ञान पाकर कृपाचार्यसे अस्त्रविद्या सीखेगा और शौनकजीके पास जाकर आत्मज्ञान प्राप्त करेगा ॥ ३८ ॥ उस शतानीकका पुत्र सहस्रानीक, उसका अश्वमेधज, अश्वमेधजका असीमकृष्ण, असीमकृष्णका पुत्र नेमिचक्र होगा ॥ ३९ ॥ हस्तिनापुरके गङ्गाजीमें बह जानेपर वह कौशाम्बीपुरीमें सुखपूर्वक रहेगा । उसका पुत्र चित्ररथ और चित्ररथका पुत्र कविरथ होगा ॥ ४० ॥ उससे वृष्टिमान्, वृष्टिमान्का पुत्र पृथिवीपति सुषेण, सुषेणका सुनीथ, सुनीथका नृचक्षु तथा नृचक्षुका पुत्र सुखीनल होगा ॥ ४१ ॥ सुखीनलका पुत्र परिप्लव, उससे सुनय, सुनयका पुत्र मेधावी, मेधावीसे नृपञ्जय, नृपञ्जयसे दूर्व और दूर्वका पुत्र तिमि होगा ॥ ४२ ॥ तिमिके बृहद्रथ, बृहद्रथके सुदास, सुदासके शतानीक, शतानीकसे दुर्दमन और दुर्दमनसे वहीनर नामक पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ४३ ॥ वहीनरका पुत्र दण्डपाणि, दण्डपाणिका निमि तथा निमिका पुत्र राजा क्षेमक होगा । इस तरह मैंने तुम्हें देवता और ऋषियोंसे सत्कृत यह बृहत्क्षत्रका वंश कह सुनाया ॥ ४४ ॥ यह वंश राजा क्षेमकके होनेपर कलियुगमें समाप्त हो जायगा । अब भविष्यमें होनेवाले मगधवंशी राजाओंके नाम मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ ४५ ॥ जरासन्धके पुत्र सहदेवसे मार्जारि, उसके श्रुतश्रवा, श्रुतश्रवाके युतायु, युतायुके नरमित्र नामका पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ४६ ॥ नरमित्रके सुनक्षत्र, सुनक्षत्रके बृहत्सेन, बृहत्सेनके कर्मजित्, कर्मजित्के सुतञ्जय, सुतञ्जयके विप्र तथा विप्रके शुचिनामका पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ४७ ॥ शुचिके क्षेम, क्षेमके सुव्रत, सुव्रतके शम, शमके द्युमत्सेन, द्युमत्सेनके सुमति और सुमतिके सुबल नामका पुत्र होगा ॥ ४८ ॥ सुबलका पुत्र सुनीथ, सुनीथका सत्यजित्, सत्यजित्का विश्वजित्, एवं विश्वजित्का रिपुञ्जयनामक पुत्र होगा । ये बृहद्रथके वंशमें उत्पन्न सभी राजे एक सहस्र वर्षके भीतर उत्पन्न होंगे ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत 'सामयिकी' भाषाटीकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अनोः सभानरश्चक्षुः परोक्षश्च त्रयः सुताः । सभानरात् कालनरः सृञ्जयस्तत्सुतस्ततः ॥१॥
जनमेजयस्तस्य पुत्रो महाशीलो महामनाः । उशीनरस्तितिक्षुश्च महामनस आत्मजौ ॥२॥
शिबिर्वनः शमिर्दक्षश्चत्वारोशीनरात्मजाः । वृषादर्भः सुवीरश्च मद्रः कैकेय आत्मजाः ॥३॥
शिबेश्चत्वार एवासंस्तितिक्षोश्च रुशद्रथः । ततो हेमोऽथ सुतपा बलिः सुतपसोऽभवत् ॥४॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्याः सुह्मपुण्ड्रान्ध्रसंज्ञिताः । जज्ञिरे दीर्घतमसो बलेः क्षेत्रे महीक्षितः ॥५॥
चक्रुः स्वनाम्ना विषयान् षडिमान् प्राच्यकांश्च ते । खनपानोऽङ्गतो जज्ञे तस्माद् दिविरथस्ततः ॥६॥
सुतो धर्मरथो यस्य जज्ञे चित्ररथोऽप्रजाः । रोमपाद इति ख्यातस्तस्मै दशरथः सखा ॥७॥
शान्तां स्वकन्यां प्रायच्छदृष्यशृङ्ग उवाह ताम् । देवेऽवर्षति यं रामा आनिन्युर्हरिणीसुतम् ॥८॥
नाट्यसङ्गीतवादित्रैर्विभ्रमालिङ्गनार्हणैः । स तु राज्ञोऽनपत्यस्य निरूप्येष्टिं मरुत्वतः ॥९॥
प्रजामदाद् दशरथो येन लेभेऽप्रजाः प्रजाः । चतुरङ्गो रोमपादात् पृथुलाक्षस्तु तत्सुतः ॥१०॥
बृहद्रथो बृहत्कर्मा बृहद्भानुश्च तत्सुताः । आद्याद् बृहन्मनास्तस्माज्जयद्रथ उदाहृतः ॥११॥
विजयस्तस्य सम्भूत्यां ततो धृतिरजायत । ततो धृतव्रतस्तस्य सत्कर्माधिरथस्ततः ॥१२॥
योऽसौ गङ्गातटे क्रीडन् मञ्जूषान्तर्गतं शिशुम् । कुन्त्यापविद्धं कानीनमनपत्योऽकरोत् सुतम् ॥१३॥
वृषसेनः सुतस्तस्य कर्णस्य जगतीपतेः । द्रुह्योश्च तनयो बभ्रुः सेतुस्तस्यात्मजस्ततः ॥१४॥

(अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु और यदुके वंशोंका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! राजा ययातिके पुत्र अनुके सभानर, चक्षु तथा परोक्ष नामके तीन पुत्र उत्पन्न हुए। सभानरके कालनर तथा कालनर-के सृञ्जय नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। सृञ्जयके जनमेजय, जनमेजयके पुत्र महाशील, महाशीलके महामना तथा महामनाके उशीनर एवं तितिक्षुनामके दो पुत्र जायमान हुए ॥१॥२॥ शिबि, वन, शमी तथा दक्ष—ये चार उशीनरके बेटे थे। उनमें शिबिके वृषादर्भ, सुवीर, मद्र तथा कैकेयनामके चार पुत्र जन्मे। उशीनरके भ्राता तितिक्षुके रुशद्रथनामका पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके हेम, हेमके सुतपा एवं सुतपाके बलिनामक पुत्र जायमान हुआ ॥ ३ ॥ ४ ॥ हे राजन्! दैत्यराज बलिकी स्त्रीके गर्भसे दीर्घतमा नामक मुनिके वीर्यसे अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र तथा अन्ध्रनामके पुत्र जायमान हुए ॥५॥ उन लोगोंने छ दिशाओंमें अपने ही नामोंके छ देश बसाये थे। अङ्गसे खनपान और उससे दिविरथका जन्म हुआ ॥ ६ ॥ दिविरथका पुत्र धर्मरथ था। उसके रोमपाद नामसे विख्यात चित्ररथनामका पुत्र उत्पन्न हुआ। चित्ररथ पुत्रविहीन था। इस वास्ते उसे उसके मित्र राजा दशरथने शान्ता नामकी अपनी कन्या प्रदान कर दी। जिसे ऋष्यशृङ्गने विवाहा था, जो कि हरिणीके पुत्र थे और जिनको राजा रोमपादके राज्यमें वर्षा न होनेसे गणिकाएँ नृत्य, गान, वाद्य, हाव-भाव, आलिङ्गन तथा विविध प्रकारके उपहारों द्वारा मोहित करके (अयोध्या) ले आयी थीं। उन्होंने पुत्रहीन राजा दशरथको इन्द्रका यज्ञ कराके वर प्रदान किया और उन्हींके यज्ञ करानेपर उन पुत्रहीन राजा दशरथने राम आदि चार पुत्र पाये। रोमपादसे चतुरङ्ग तथा चतुरङ्गका पुत्र पृथुलाक्ष हुआ ॥ ७–१० ॥ पृथुलाक्षके बृहद्रथ, बृहत्कर्मा एवं बृहद्भानु नामके तीन पुत्र जन्मे। उनमें बृहद्रथसे बृहन्मना और बृहन्मनासे जयद्रथ जायमान हुआ ॥ ११ ॥ जयद्रथके सम्भूति नामकी भार्यासे विजय जन्मा। विजयके धृति, धृतिके धृतव्रत, धृतव्रतके सत्कर्मा एवं सत्कर्माके अधिरथनामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ अधिरथ पुत्रहीन था और उसने एक बार गङ्गाजीके तटपर क्रीडा करते समय कुन्तीकी कन्यावस्थामें उत्पन्न बालक कर्णको, जिसे कि उसने पिटारीमें रखकर बहा दिया था, पाकर अपना पत्र मान लिया ॥ १३ ॥ हे राजन्! उस

आरब्धस्तस्य गान्धारस्तस्य धर्मस्ततो धृतः । धृतस्य दुर्मनास्तस्मात् प्रचेताः प्राचेतसं शतम् १५
म्लेच्छाधिपतयोऽभूमन्नुदीचीं दिशमाश्रिताः । तुर्वसोश्च सुतो वह्निर्वह्नेर्भर्गोऽथ भानुमान् ॥१६॥
त्रिभानुस्तत्सुतोऽस्यापि करन्धम उदारधीः । मरुतस्तत्सुतोऽपुत्रः पुत्रं पौरवमन्वभूत् ॥१७॥
दुष्यन्तः स पुनर्भेजे स्वं वंशं राज्यकामुकः । ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभ ॥१८॥
वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् । यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१९॥
तत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः । यदोः सहस्रजित् क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः॥२०॥
चत्वारः सूनवस्तत्र शतजित् प्रथमात्मजः । महाहयो वेणुहयो हैहयश्चेति तत्सुताः ॥२१॥
धर्मस्तु हैहयसुतो नेत्रः कुन्तेः पिता ततः । सोहञ्जिरभवत् कुन्तेर्महिष्मान् भद्रसेनकः ॥२२॥
दुर्मदो भद्रसेनस्य धनकः कृतवीर्यसूः । कृताग्निः कृतवर्मा च कृतौजा धनकात्मजाः॥२३॥
अर्जुनः कृतवीर्यस्य सप्तद्वीपेश्वरोऽभवत् । दत्तात्रेयाद्धरेरंशात् प्राप्तयोगमहागुणः ॥२४॥
न नूनं कार्तवीर्यस्य गतिं यास्यन्ति पार्थिवाः । यज्ञदानतपोयोगश्रुतवीर्यजयादिभिः ॥२५॥
पञ्चाशीतिसहस्राणि ह्यव्याहतबलः समाः । अनष्टवित्तस्मरणो बुभुजेऽक्षय्यषड्वसु ॥२६॥
तस्य पुत्रसहस्रेषु पञ्चैवोर्वरिता मृधे । जयध्वजः शूरसेनो वृषभो मधुरूर्जितः ॥२७॥
जयध्वजात् तालजङ्घस्तस्य पुत्रशतं त्वभूत् । क्षत्रं यत् तालजङ्घाख्यमौर्वतेजोपसंहृतम् ॥२८॥
तेषां ज्येष्ठो वीतिहोत्रो वृष्णिः पुत्रो मधोः स्मृतः । तस्य पुत्रशतं त्वासीत् वृष्णिज्येष्ठं यतः कुलम्॥२९॥

राजा कर्णका पुत्र वृषसेन हुआ। ययातिके पुत्र द्रुह्युका पुत्र बभ्रु हुआ। उसका पुत्र सेतु और सेतुसे आरब्ध उत्पन्न हुआ। आरब्धके गान्धार, गान्धारके धर्म, धर्मके धृत, धृतके दुर्मना, दुर्मनाके प्रचेता तथा प्रचेताके सौ पुत्र उत्पन्न हुए॥ १४ ॥ १५ ॥ ये सब उत्तर दिशामें जा बसे और म्लेच्छोंके राजा बने। ययातितनय तुर्वसुका पुत्र वह्नि, वह्निसे भर्ग और भर्गसे भानुमान् उत्पन्न हुआ ॥१६॥ उसका पुत्र त्रिभानु, त्रिभानुके अत्यन्त उदारबुद्धि करन्धम और करन्धमके मरुत् नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। मरुत् पुत्रहीन था। इस लिए उसने पूरुवंशी राजा दुष्यन्तको अपना पुत्र मान लिया। परन्तु दुष्यन्त राज्यके लोभसे फिर अपने ही वंशमें लौट गया। हे राजन्! अब मैं ययातिके ज्येष्ठ पुत्र महाराज यदुके परम पवित्र एवं मनुष्योंके सब पापोंको नष्ट करनेवाले वंशका वृत्तान्त बताता हूँ। क्योंकि यदुवंशकी गाथा सुनकर प्राणी सब पापोंसे छूट जाता है॥ १७-१९ ॥ इसी पुनीत वंशमें परमात्मा श्रीभगवान्‌ने मानवरूपसे जन्म लिया था। यदुके सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल तथा रिपुनामक चार पुत्र जायमान हुए। उनमें पहले पुत्र सहस्रजित्से शतजित् नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके महाहय, वेणुहय तथा हैहय नामके तीन पुत्र जायमान हुए॥ २०-२१ ॥ उनमेंसे हैहयका पुत्र धर्म और धर्मसे कुन्तिके पिता नेत्रका जन्म हुआ। कुन्तिका पुत्र सोहञ्जि, सोहञ्जिसे महिष्मान् तथा महिष्मान्‌से भद्रसेन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ॥ २२ ॥ भद्रसेनके दुर्मद तथा कृतवीर्यका पिता धनक—ये दो पुत्र जन्मे। कृताग्नि, कृतवर्मा तथा कृतौजा—ये तीन भी धनकके ही पुत्र थे॥ २३ ॥ कृतवीर्यका पुत्र सप्तद्वीपका अधिपति अर्जुन हुआ, जिसने भगवान्‌के अंशावतार श्रीदत्तात्रेयजीसे योगविद्या सीखी और अणिमादि महासिद्धियाँ उपलब्ध कीं॥ २४ ॥ यज्ञ, दान, तप, योग, विद्या, वीर्य तथा जय आदि गुणोंमें कृतवीर्यतनय सहस्रार्जुनकी बराबरी संसारके राजे कदापि नहीं कर पायेंगे॥ २५॥ उसने पचासी हजार वर्षतक अपना शारीरिक बल अव्याहत रखते और अपने वित्तनाशका कभी ध्यान न करते हुए छहों इन्द्रियोंके अविनाशी विषयोंका भोग भोगा था॥ २६ ॥ उसके एक हजार पुत्रोंमेंसे केवल जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु तथा ऊर्जित—ये पाँच ही परशुरामजीके साथ होते हुए उस महायुद्धमें बाकी बचे थे ॥२७॥ उनमें जयध्वजसे तालजङ्घ उत्पन्न हुआ। उसके सौ पुत्र थे, जिनसे उत्पन्न तालजङ्घनामके क्षत्रियोंको राजा सगरने महर्षि और्वके प्रभावसे मार डाला था॥ २८ ॥ उपर्युक्त सौ

माधवा वृष्णयो राजन् यादवाश्चेति संज्ञिताः। यदुपुत्रस्य च क्रोष्टोः पुत्रो वृजिनवांस्ततः ॥३०॥
श्वाहिस्तो रुशेकुर्वै तस्य चित्ररथस्ततः। शशबिन्दुर्महायोगी महाभोजो महानभूत् ॥३१॥
चतुर्दशमहारत्नश्चक्रवर्त्यपराजितः। तस्य पत्नीसहस्राणां दशानां सुमहायशाः ॥३२॥
दशलक्षसहस्राणि पुत्राणां तास्वजीजनत्। तेषां तु षट्प्रधानानां पृथुश्रवस आत्मजः ॥३३॥
धर्मो नामोशना तस्य हयमेधशतस्य याट्। तत्सुतो रुचकस्तस्य पञ्चासन्नात्मजाः शृणु ॥३४॥
पुरुजिद्रुक्मरुक्मेषुपृथुज्यामघसंज्ञिताः। ज्यामघस्त्वप्रजोऽप्यन्यां भार्यां शैब्यापतिर्भयात्३५
नाविन्दच्छत्रुभवनाद् भोज्यां कन्यामहारषीत्। रथस्थां तां निरीक्ष्याह शैब्या पतिममर्षिता ॥३६॥
केयं कुहक मत्स्थानं रथमारोपितेति वै। स्नुषा तवेत्यभिहिते स्मयन्ती पतिमब्रवीत् ॥३७॥
अहं वन्ध्यासपत्नी च स्नुषा मे युज्यते कथम्। जनयिष्यसि यं राज्ञि तस्येयमुपयुज्यते ॥३८॥
अन्वमोदन्त तद्विश्वेदेवाः पितर एव च। शैब्या गर्भमधात् काले कुमारं सुषुवे शुभम्।
स विदर्भ इति प्रोक्त उपयेमे स्नुषां सतीम् ॥ ३९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे यदुवंशानुवर्णने त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तस्यां विदर्भोऽजनयत् पुत्रौ नाम्ना कुशक्रथौ। तृतीयं रोमपादं च विदर्भकुलनन्दनम् ॥ १ ॥

पुत्रोंमें सबसे बड़ा पुत्र वीतिहोत्र था । उस वीतिहोत्रका पुत्र मधु और उसका पुत्र वृष्णि हुआ मधुके सौ पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़ा वृष्णि था। हे राजन्! इन मधु, वृष्णि तथा यदुके कारण यह वंश माधव, वार्ष्णेय एवं यादव इन नामोंसे विख्यात हुआ। यदुके पुत्र क्रोष्टुका वृजिनवान् नामका पुत्र था। उसके श्वाहि, श्वाहिके रुशेकु, रुशेकुके चित्ररथ और चित्ररथके महायोगी, महाभोगी तथा परम ऐश्वर्यवान् शशबिन्दु उत्पन्न हुआ ॥२९-३१॥ वह चौदह रत्नोंका अधिपति चक्रवर्ती और युद्धमें अजेय था। (हाथी, घोड़ा, रथ, स्त्री, पुत्र, बाण, खजाना, माला, वृक्ष, शक्ति, पाश, मणि, छत्र तथा विमान—ये चौदह महारत्न हैं) उसके दस हजार पत्नियोंके दस लाख हजार अर्थात् दस करोड़ परम यशस्वी पुत्र जायमान हुए। उनमें छ प्रधान पुत्रोंमेंसे पृथुश्रवाके धर्मनामका पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र सौ अश्वमेध यज्ञका करनेवाला उशना हुआ। उशनाका पुत्र रुचक था, उसके पाँच बेटे हुए। अब उनके नाम बताता हूँ, सुनो ॥ ३२-३४ ॥ उनके नाम थे—पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु तथा ज्यामघ। शैब्याका पति ज्यामघ निःसन्तान था, परन्तु उसने अपनी भार्याके भयसे दूसरा विवाह नहीं किया। एक बार वह अपने शत्रुके घरसे भोज्या नामकी एक कन्या हर लाया। कन्याको रथमें बैठी देखकर शैब्याने क्रुद्ध होकर अपने पतिके प्रति कहा—॥ ३५ ॥ ३६ ॥ "ओ कपटी! मेरे बैठनेके स्थानमें आज तुमने रथमें किसे बिठा रखा है?" जब राजाने कहा कि 'यह तुम्हारी पतोहू है'। तब वह मुसकाकर पतिसे बोली-॥३७॥ "मैं तो बाँझ हूँ और मेरे कोई सौत भी नहीं है, तब भला यह मेरी पुत्रवधू कैसे होगी?" राजाने कहा—"भविष्यमें तुम जो पुत्र उत्पन्न करोगी, यह उसीकी स्त्री होगी" ॥ ३८ ॥ विश्वेदेव और पितृगणने राजाके उस वचनका समर्थन किया। अतएव यथासमय शैब्या गर्भवती हुई और उसने एक सुन्दर बालकको उत्पन्न किया। वह पुत्र विदर्भ कहलाया और उसने शैब्याकी सती पुत्रवधूके साथ अपना विवाह किया ॥ ३९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(विदर्भ-वंशका वर्णन) श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! राजा विदर्भने भोज्यासे कुश, क्रथ और तीसरा पत्र विदर्भकुलनन्दन रोमपाद—ये तीन पत्र उत्पन्न किये ॥ १ ॥ रोमपाद-

रोमपादसुतो बभ्रुर्बभ्रोः कृतिरजायत । उशिकस्तत्सुतस्तस्माच्चेदिश्चैद्यादयो नृप ॥ २ ॥
क्रथस्य कुन्तिः पुत्रोऽभूद् धृष्टिस्तस्याथ निर्वृतिः। ततो दशार्हो नाम्नाभूत्तस्य व्योमः सुतस्ततः ॥३॥
जीमूतो विकृतिस्तस्य यस्य भीमरथः सुतः । ततो नवरथः पुत्रो जातो दशरथस्ततः ॥ ४ ॥
करम्भिः शकुनेः पुत्रो देवरातस्तदात्मजः । देवक्षत्रस्ततस्तस्य मधुः कुरुवशादनुः ॥ ५ ॥
पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः । भजमानो भजिर्दिव्यो वृष्णिर्देवावृधोऽन्धकः ॥६॥
सात्वतस्य सुताः सप्त महाभोजश्च मारिष । भजमानस्य निम्लोचिः किङ्किणो धृष्टिरेव च ॥७॥
एकस्यामात्मजाः पत्न्यामन्यस्यां च त्रयः सुताः । शताजिच्च सहस्राजिदयुताजिदिति प्रभो ॥८॥
बभ्रुर्देवावृधसुतस्तयोः श्लोकौ पठन्त्यमू । यथैव शृणुमो दूरात् सम्पश्यामस्तथान्तिकात् ॥९॥
बभ्रुः श्रेष्ठो मनुष्याणां देवैर्देवावृधादपि । पुरुषाः पञ्चषष्टिश्च षट् सहस्राणि चाष्ट च ॥१०॥
येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि । महाभोजोऽपि धर्मात्मा भोजा आसंस्तदन्वये॥११॥
वृष्णेः सुमित्रः पुत्रोऽभूद् युधाजिच्च परंतप । शिनिस्तस्यानमित्रश्च निम्नोऽभूदनमित्रतः ॥१२॥
सत्राजितः प्रसेनश्च निम्नस्याप्यासतुः सुतौ । अनमित्रसुतो योऽन्यः शिनिस्तस्याथ सत्यकः१३
युयुधानः सात्यकिर्वै जयस्तस्य कुणिस्ततः । युगन्धरोऽनमित्रस्य वृष्णिः पुत्रोऽपरस्ततः ॥१४॥
श्वफल्कश्चित्ररथश्च गान्दिन्यां च श्वफल्कतः । अक्रूरप्रमुखा आसन् पुत्रा द्वादश विश्रुताः ॥१५॥
आसङ्गः सारमेयश्च मृदुरो मृदुविद् गिरिः । धर्मवृद्धः सुकर्मा च क्षेत्रोपेक्षोऽरिमर्दनः ॥१६॥
शत्रुघ्नो गन्धमादश्च प्रतिबाहुश्च द्वादश । तेषां स्वसा सुचीराख्या द्वावक्रूरसुतावपि ॥१७॥

का पुत्र बभ्रु था। बभ्रुका कृति, उसका पुत्र उशिक और उशिकसे चेदि हुआ। जिससे चैद्य आदि राजे उत्पन्न हुए ॥ २ ॥ क्रथका पुत्र कुन्ति, कुन्तिका धृष्टि, धृष्टिका निर्वृति, निर्वृतिका दशार्ह एवं दशार्हका पुत्र व्योम हुआ ॥ ३ ॥ व्योमका पुत्र जीमूत, जीमूतका विकृति, विकृतिका भीमरथ, भीमरथका नवरथ और नवरथका पुत्र दशरथ हुआ ॥ ४ ॥ दशरथके शकुनि, शकुनिके करम्भि और उनका पुत्र देवरात हुआ। देवरातका देवक्षत्र, देवक्षत्रका मधु, मधुका कुरुवश और कुरुवशका पुत्र अनु हुआ ॥ ५ ॥ अनुका पुत्र पुरुहोत्र, उसका पुत्र आयु और आयुका पुत्र सात्वत हुआ। हे आर्य ! सात्वतके भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक तथा महाभोज नामके सात पुत्र उत्पन्न हुए। हे राजन् ! उनमें भजमानकी एक स्त्रीसे निम्लोचि, किङ्किण एवं धृष्टिनामके तीन पुत्र जायमान हुए। उसकी दूसरी स्त्रीसे शताजित्, सहस्राजित् तथा अयुताजित् नामके तीन बटे जायमान हुए ॥ ६–८ ॥ देवावृधके बभ्रु हुआ। उन दोनों ही पिता-पुत्रोंके विषयमें ये दो श्लोक कहे जाते हैं—'जैसा कि हमने दूरसे सुना था, वैसा ही पाससे भी देखनेमें आया ॥ ९ ॥ बभ्रु सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ है और देवावृध देवताओंके सदृश है। क्योंकि बभ्रु तथा देवावृधसे उपदेश पाकर चौदह हजार पैंसठ मनुष्य अमरपद प्राप्त किये थे' ॥ १० ॥ सात्वततनय महाभोज भी बड़ा धर्मात्मा पुरुष था, उसकी सन्ततिमें भोजवंशी यादव जायमान हुए ॥ ११ ॥ हे शत्रुसूदन ! वृष्णिके सुमित्र तथा युधाजित् ये दो पुत्र जन्मे। उनमेंसे युधाजित्के शिनि और अनमित्र उत्पन्न हुए। अनमित्रसे निम्न नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १२ ॥ सत्राजित् तथा प्रसेन ये दोनों निम्नके ही बेटे थे। अनमित्रके शिनिनामक दूसरे पुत्रका पुत्र सत्यक हुआ ॥ १३ ॥ उस सत्यकका पुत्र युयुधान सात्यकि था। उसके जय, जयके कुणि और कुणिके युगन्धर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अनमित्रका एक पुत्र वृष्णि था, जिसके श्वफल्क तथा चित्ररथ ये पुत्र जन्मे। उनमेंसे श्वफल्कके द्वारा गान्दिनीके गर्भसे आसंग आदि बारह अर्थात् अक्रूर समेत तेरह विख्यात पुत्र जायमान हुए ॥ १४ ॥ १५ ॥ जिनके नाम थे—आसङ्ग, सारमेय, मृदुर, मृदुवित्, गिरि, धर्मवृद्ध, सुकर्मा, क्षेत्रोपेक्ष, अरिमर्दन, शत्रुघ्न, गन्धमाद तथा प्रतिबाहु। उनकी

देववानुपदेवश्च तथा चित्ररथात्मजाः। पृथुर्विदूरथाद्याश्च बहवो वृष्णिनन्दनाः ॥१८॥
कुकुरो भजमानश्च शुचिः कम्बलबर्हिषः। कुकुरस्य सुता वह्निर्विलोमा तनयस्ततः ॥१९॥
कपोतरोमा तस्यानुः सखा यस्य च तुम्बुरुः। अन्धको दुन्दुभिस्तस्मादरिद्योतः पुनर्वसुः ॥२०॥
तस्याहुकश्चाहुकी च कन्या चैवाहुकात्मजौ। देवकश्चोग्रसेनश्च चत्वारो देवकात्मजाः ॥२१॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देववर्धनः। तेषां स्वसारः सप्तासन् धृतदेवादयो नृप ॥२२॥
शान्तिदेवोपदेवा च श्रीदेवा देवरक्षिता। सहदेवा देवकी च वसुदेव उवाह ताः ॥२३॥
कंसः सुनामा न्यग्रोधः कङ्कः शङ्कुः सुहूस्तथा। राष्ट्रपालोऽथ सृष्टिश्च तुष्टिमानौग्रसेनयः ॥२४॥
कंसा कंसवती कङ्का शूरभू राष्ट्रपालिका। उग्रसेनदुहितरो वसुदेवानुजस्त्रियः ॥२५॥
शूरो विदूरथादासीद् भजमानः सुतस्ततः। शिनिस्तस्मात् स्वयम्भोजो हृदीकस्तत्सुतो मतः॥२६
देवबाहुः शतधनुः कृतवर्मेति तत्सुताः। देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् ॥२७॥
तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्। वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम् ॥२८॥
सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम्। देवदुन्दुभयो नेदुरानका यस्य जन्मनि ॥२९॥
वसुदे हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्। पृथा च श्रुतदेवा च श्रुतकीर्तिः श्रुतश्रवाः ॥३०॥
राजाधिदेवी चैतेषां भगिन्यः पञ्च कन्यकाः। कुन्तेः सख्युः पिता शूरो ह्यपुत्रस्य पृथामदात् ३१
साऽऽप दुर्वाससो विद्यां देवहूतीं प्रतोषितात्। तस्या वीर्यपरीक्षार्थमाजुहाव रविं शुचिम् ॥३२॥

सुचीरा नामकी एक बहिन भी थी। इनके अतिरिक्त अक्रूरजीके पुत्र देववान् और उपदेव तथा श्वफल्कके भाई चित्ररथके पुत्र पृथु तथा विदूरथ आदि अनेक वृष्णिवंशी यादव उत्पन्न हुए ॥ १६–१८ ॥ शात्वतपुत्र अन्धकके कुकुर, भजमान, शुचि तथा कम्बलबर्हि नामके चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे कुकुरका पुत्र वह्नि, वह्निका विलोमा, ॥ १९ ॥ विलोमाका पुत्र कपोतरोमा और कपोतरोमाका पुत्र अनु हुआ। जिसका सखा तुम्बुरु नामका गन्धर्व था। उसके अन्धक, अन्धकके दुन्दुभि, दुन्दुभिके अरिद्योत और अरिद्योतके पुनर्वसु नामका बालक उत्पन्न हुआ।।२०॥ पुनर्वसुके आहुक नामका बेटा और आहुकी नामकी एक कन्या जन्मी। आहुकके बालक देवक और उग्रसेन हुए। उनमें देवकके देववान्, उपदेव तथा देववधन ये चार बालक उत्पन्न हुए। हे राजन्! उनकी धृतदेवा आदि सात बहिनें थीं ॥२१॥ ॥ २२ ॥ उनके नाम थे—धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा तथा देवकी। उन सबका बिवाह वसुदेवजीके साथ हुआ था ॥ २३ ॥ कंस, सुनामा, न्यग्रोध, कङ्क, शङ्कु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टि तथा तुष्टिमान्—ये उग्रसेनके बेटे थे ॥ २४ ॥ कंसा, कंसवती, कङ्का, शूरभू तथा राष्ट्रपालिका—ये उग्रसेनकी सभी पुत्रियाँ वसुदेवजीके छोटे भाइयोंकी पत्नियाँ थीं ॥ २५ ॥ चित्ररथके बालक विदूरथसे शूरनामका पुत्र जन्मा। शूरके भजमान, भजमानके शिनि, शिनिके स्वयम्भोज तथा स्वयम्भोजके हृदीक नामका बालक उत्पन्न हुआ ॥ २६ ॥ हृदीकके पुत्र देवबाहु, शतधनु तथा कृतवर्मा थे। देवमीढके बालक शूरकी पत्नीका नाम मारिषा था ॥ २७ ॥ उसके द्वारा उन्होंने वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक तथा वृक–ये दस पुण्यात्मा बालक उत्पन्न किये। उन बालकोंके जन्मसमयमें देवताओंके दुन्दुभि तथा आनक (नगाड़े) आदि बाजे अपने आप बजने लगे थे। अतएव श्रीहरिके जन्मस्थानस्वरूप उन वसुदेवजीको आनकदुन्दुभि भी कहते हैं। शूरसेनके पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतिकीर्ति, श्रुतश्रवा तथा राजाधिदेवी—ये पाँच कन्याएँ इन वसुदेव आदिकी बहिनें थी। पिता शूरसेनने अपने सन्तानहीन सखा कुन्तिभोजको अपनी बेटी पृथा दे डाली थी ॥ २८–३१ ॥ उसने अपनेपर प्रसन्न दुर्वासा ऋषिसे देवताओंको अपने पास बुला लेनेकी विद्या पायी थी। उस विद्याके प्रभावको जाननेके लिये उसने सर्वप्रथम शुद्धस्वरूप श्रीसूर्यदेवका आवाहन किया

तदैवोपागतं देवं वीक्ष्य विस्मितमानसा । प्रत्ययार्थं प्रयुक्ता मे याहि देव क्षमस्व मे ॥३३॥
अमोघं दर्शनं देवि आधित्से त्वयि चात्मजम् । योनिर्यथा न दुष्येत कर्ताहं ते सुमध्यमे ॥३४॥
इति तस्यां स आधाय गर्भं सूर्यो दिवं गतः । सद्यः कुमारः संजज्ञे द्वितीय इव भास्करः ॥३५॥
तं सात्यजन्नदीतोये कृच्छ्राल्लोकस्य बिभ्यती । प्रपितामहस्तामुवाह पाण्डुर्वै सत्यविक्रमः ॥३६॥
श्रुतदेवां तु कारूषो वृद्धशर्मा समग्रहीत् । यस्यामभूद् दन्तवक्त्र ऋषिशप्तो दितेः सुतः॥३७॥
कैकेयो धृष्टकेतुश्च श्रुतकीर्तिमविन्दत । सन्तर्दनादयस्तस्य पञ्चासन् कैकयाः सुताः ॥३८॥
राजाधिदेव्यामावन्त्यौ जयसेनोऽजनिष्ट ह । दमघोषश्चेदिराजः श्रुतश्रवसमग्रहीत् ॥३९॥
शिशुपालः सुतस्तस्याः कथितस्तस्य सम्भवः । देवभागस्य कंसायां चित्रकेतुबृहद्बलौ ॥४०॥
कंसवत्यां देवश्रवसः सुवीर इषुमांस्तथा । कङ्कायामानकाज्जातः सत्यजित् पुरुजित्तथा ॥४१॥
सृञ्जयो राष्ट्रपाल्यां च वृषदुर्मर्षणादिकान् । हरिकेशहिरण्याक्षौ शूरभूम्यां च श्यामकः ॥४२॥
मिश्रकेश्यामप्सरसि वृकादीन् वत्सकस्तथा । तक्षपुष्करशालादीन् दुर्वाक्ष्यां वृक आदधे ॥४३॥
सुमित्रार्जुनपालादीञ्छमीकात्तु सुदामिनी । कङ्कश्च कर्णिकायां वै ऋतधामजयावपि ॥४४॥
पौरवी रोहिणी भद्रा मदिरा रोचना इला । देवकीप्रमुखा आसन् पत्न्य आनकदुन्दुभेः ॥४५॥
बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम् । वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत् ॥४६॥
सुभद्रो भद्रवाहश्च दुर्मदो भद्र एव च । पौरव्यास्तनया ह्येते भूताद्या द्वादशाभवन् ॥४७॥

॥ ३२ ॥ सूर्यभगवानको तत्काल उपस्थित देखकर उसने कहा—"भगवन् ! क्षमा कीजिये, मैंने केवल परीक्षाके लिये इस विद्याका प्रयोग किया था, अब आप जाइए" ॥ ३३ ॥ सूर्यदेव बोले—"हे देवी ! मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं जाता । अतएव हे सुन्दरि ! मैं तुम्हारे गर्भमें इस तरह बालक स्थापित करूँगा कि जिससे तुम्हारी योनि दूषित न हो" ॥ ३४ ॥ यों कहकर और गर्भ स्थापित करके सूर्यदेव स्वर्गलोक सिधारे । उस गर्भसे दूसरे सूर्यके सदृश तेजस्वी एक पुत्र तत्काल उत्पन्न हो गया ॥ ३५ ॥ लोक-निन्दासे भयभीत होकर उसने बड़े दुःखसे उस बालकको नदीके जलमें फेंक दिया । हे राजन् ! पृथाका तुम्हारे परदादा सच्चे शूरवीर महाराज पांडुके साथ विवाह हुआ था ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! पृथाकी छोटी बहिन श्रुतिदेवाको करूषदेशके नरेश वृद्धशर्माने अपनाया । जिससे दन्तवक्र नामका पुत्र जायमान हुआ । जो कि पूर्वजन्ममें सनकादि मुनियोंके शापसे दितिका पुत्र हिरण्याक्ष हुआ था ॥ ३७ ॥ केकय-देशके नरेश धृतकेतुने श्रुतकीर्तिके साथ विवाह किया । उससे सन्तर्दन आदि पाँच कैकयराजकुमार उत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥ राजाधिदेवी और राजा. जयसेनने विन्द और अनुविन्द नामके दो अवन्ति-देशके नरेश उत्पन्न किये । श्रुतश्रवाका चेदिराज दमघोषके साथ विवाह हुआ ॥ ३९ ॥ उसका पुत्र शिशुपाल था । जिसके जीवनका वृत्तान्त हम पहले बता चुके हैं । वसुदेवजीके छोटे भाई देवभागके द्वारा कंसाके गर्भसे चित्रकेतु तथा बृहद्बलनामके दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ४० ॥ देवश्रवाके कंसवतीसे सुवीर तथा इषुमान् उत्पन्न हुआ और आनकके वीर्यसे कङ्काके सत्यजित् तथा पुरुजित् नामके दो बालक उत्पन्न हुए ॥ ४१ ॥ सृञ्जयकी पत्नी राष्ट्रपालिकासे वृष तथा दुर्मर्षणादिका जन्म हुआ । श्यामकने शूरभूमिके गर्भसे हरिकेश एवं हिरण्याक्ष नामके दो पुत्र उत्पन्न किये ॥ ४२ ॥ वत्सकने मिश्रकेशी नामकी अप्सरासे वृक आदि और वृकने दुर्वाक्षी द्वारा तक्ष, पुष्कर एवं शाल आदि कई पुत्र उत्पन्न किये ॥ ४३ ॥ शमीकके वीर्य द्वारा उसकी भार्या सुदामिनीने सुमित्र तथा अर्जुनपाल आदि, वासक और कङ्कने कर्णिकासे ऋतधाम एवं जयको उत्पन्न किया ॥ ४४ ॥ वसुदेवजीकी पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला एवं देवकी आदि कई पत्नियाँ थीं ॥ ४५ ॥ उनमेंसे वसुदेवजीने रोहिणीके गर्भसे बल, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव तथा कृत आदि पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ४६ ॥ उन वसुदेवजीने ही पौरवीसे सुभद्र, भद्रवाह, दुर्मद, भद्र तथा भूत आदि सुप्रसिद्ध बारह पुत्र उत्पन्न

नन्दोपनन्दकृतकशूराद्या मदिरात्मजाः । कौसल्या केशिनं त्वेकमसूत कुलनन्दनम् ॥४८॥
रोचनायामतो जाता हस्तहेमाङ्गदादयः । इलायामुरुवल्कादीन् यदुमुख्यानजीजनत् ॥४९॥
विपृष्ठो धृतदेवायामेक आनकदुन्दुभेः । शान्तिदेवात्मजा राजन्छ्रमप्रतिश्रुतादयः ॥५०॥
राजानः कल्पवर्षाद्या उपदेवासुता दश । वसुहंससुवंशाद्याः श्रीदेवायास्तु षट् सुताः ॥५१॥
देवरक्षितया लब्धा नव चात्र गदादयः । वसुदेवः सुतानष्टावादधे सहदेवया ॥५२॥
पुरुविश्रुतमुख्यांस्तु साक्षाद् धर्मो वसूनिव । वसुदेवस्तु देवक्यामष्ट पुत्रानजीजनत् ॥५३॥
कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः । ऋजुं सम्मर्दनं भद्रं सङ्कर्षणमहीश्वरम् ॥५४॥
अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल । सुभद्रा च महाभागा तव राजन् पितामही ॥५५॥
यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः । तदा तु भगवानीश आत्मनं सृजते हरिः ॥५६॥
न ह्यस्य जन्मनो हेतुः कर्मणो वा महीपते । आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः ॥५७॥
यन्मायाचेष्टितं पुंसः स्थित्युत्पत्त्यप्ययाय हि । अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते ॥५८॥
अक्षौहिणीनां पतिभिरसुरैर्नृपलाञ्छनैः । भुव आक्रम्यमाणाया अभाराय कृतोद्यमः ॥५९॥
कर्माण्यपरिमेयाणि मनसाऽपि सुरेश्वरैः । सहसङ्कर्षणश्चक्रे भगवान् मधुसूदनः ॥६०॥
कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम् । अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद् यशः ॥६१॥
यस्मिन् सत्कर्णपीयूषे यशस्तीर्थवरे सकृत् । श्रोत्राञ्जलिरुपस्पृश्य धुनुते कर्मवासनाम् ॥६२॥

किये ॥ ४७ ॥ नन्द, उपनन्द, कृतक तथा शूर आदि मदिराके पुत्र और कौसल्याने केशी नामके एक ही कुलदीपक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ ४८ ॥ रोचनासे उन (वसुदेवजी) के हस्त तथा हेमाङ्गदादि पुत्र उत्पन्न हुए और इलासे उन्होंने उरु और बल्क आदि यदुश्रेष्ठोंको जन्म दिया ॥ ४९ ॥ हे राजन्! उनकी पत्नी धृतदेवाके गर्भसे विपृष्ठ नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ और शान्तिदेवाके पुत्र श्रम-प्रतिश्रुत आदि हुए ॥ ५० ॥ उपदेवाके पुत्र कल्प-वर्ष आदि दस राजे हुए और श्रीदेवाके वसु, हंस तथा सुवंश आदि छः पुत्र जायमान हुए ॥ ५१ ॥ देवरक्षितासे उनके गद आदि नौ पुत्र हुए। जैसे साक्षात् धर्मराजने आठ वसुओंको उत्पन्न किया था, उसी प्रकार सहदेवासे उन्होंने पुरु-विश्रुत आदि आठ पुत्रोंको जन्म दिया। इसी तरह देवकीसे वसुदेवजीने आठ पुत्र उत्पन्न किये। जिनमें सात कीर्तिमान्, सुषेण, उदारचित्त, भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन, भद्र तथा शेषावतार श्रीसंकर्षणजी हुए ॥ ५२-५४ ॥ उनमें आठवें पुत्र साक्षात् भगवान श्रीहरि थे। हे राजन्! तुम्हारी पितामही (दादी) महाभागा सुभद्राजी भी देवकीकी ही पुत्री थीं ॥ ५५ ॥ संसारमें जब-जब धर्मका नाश और अधर्मका अभ्युदय होता है, तभी सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरि अवतार लिया करते हैं ॥ ५६ ॥ हे महीपते! सब जगतीतलके नियन्ता, साक्षी तथा अन्तरात्मास्वरूप उन असंग परमात्माके जन्म एवं कर्मका रहस्य उनकी अपनी मायाके सिवाय और कोई भी नहीं रहता ॥५७॥ जिनका कि मायाविलास मात्र जीवकी उत्पत्ति, स्थिति तथा मरणका कारण होता है और जिनका अनुग्रह ही जन्म-मरणादिकी निवृत्ति तथा आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका हेतु होता है ॥ ५८ ॥ हे राजन्! कितनी ही अक्षौहिणी सेनाके अतिरिक्त राजवेषधारी असुरों द्वारा पृथिवी जब आक्रान्त हो गयी, तब उसका भार उतारनेके लिये भगवान् मधुसूदन श्रीसंकर्षणजीके साथ धरातलपर आकर ऐसे अनेक कार्य किये, जिनका देवेश्वरजन भी मनसे अनुमान नहीं कर पाते ॥ ५९ ॥ ६० ॥ उन्होंने भक्तोंपर कृपा करनेके निमित्त कलियुगमें उत्पन्न सब जीवोंके दुःख, शोक तथा अज्ञानको निवृत्त करनेवाला अपना पवित्र यश संसारमें विस्तृत किया ॥ ६१ ॥ जिनका यशरूपी पवित्र तीर्थ साधु पुरुषोंके कानोंके लिए अमृतके समान सुखदायक है और जिसमें श्रोत्ररूपी अञ्जलिसे जो पुरुष एक बार भी आचमन कर लेता है तो वह पुरुष मोक्षकी

भोजवृष्ण्यन्धकमधुशूरसेनदशार्हकैः । श्लाघनीयेहितः शश्वत् कुरुसृञ्जयपाण्डुभिः ॥६३॥
स्निग्धस्मितेक्षितोदारैर्वाक्यैर्विक्रमलीलया । नृलोकं रमयामास मूर्त्या सर्वाङ्गरम्यया ॥६४॥

यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्णभ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥६५॥
जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थो हत्वा रिपून् सुतशतानि कृतोरुदारः ।
उत्पाद्य तेषु पुरुषः क्रतुभिः समीजे आत्मानमात्मनिगमं प्रथयञ्जनेषु ॥६६॥
पृथ्व्याः स वै गुरुभरं क्षपयन् कुरूणामन्तःसमुत्थकलिना युधि भूपचम्वः ।
दृष्ट्या विधूय विजये जयमुद्विघोष्य प्रोच्योद्धवाय च परं समगात् स्वधाम ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां नवमस्कन्धे श्रीसूर्यसोमवंशानुकीर्तने यदुवंशानुकीर्तनं नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

हरिः ॐ तत्सत्

प्रतिबन्धस्वरूपिणी कर्मवासनाको तत्क्षण त्याग देता है ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! जिनकी मनोहारिणी लीलाएँ भोज, वृष्णि, अन्धक, मधु, सूरसेन, दशार्ह, कुरु, सृञ्जय तथा पाण्डुवंशी वीरोंसे सर्वदा प्रशंसित होती रहती थीं, उन श्रीहरि भगवानने अपनी स्नेहभरी मधुरमुसकानमयी चितवन, प्रेमपूर्ण वचन, विक्रममयी लीला तथा सर्वाङ्गसुन्दर स्वरूपसे सारे मानवसमाजको सुखी किया ॥६३॥ ॥६४॥ जो मकराकृत कुण्डलसे अलंकृत कमनीय कर्ण तथा कान्तिमय कपोलोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था, उनके उस विलासमय हासभरे नित्य प्रफुल्लित रहनेवाले मुखारविन्दको अपने नयनपुटसे आनन्दके साथ पीते हुए सब नर-नारी कभी भी तृप्त नहीं होने पाते थे, बल्कि निमिपर इसलिए कुपित होते थे कि उनकी पलकें बार-बार खुलती मुँदती क्यों रहती थीं ॥ ६५ ॥ जन्म लेनेके बाद वे अपने पिताके घर गोकुल गये, वहाँ पल-पुसकर उन्होंने अपने शत्रुओंका संहार किया और बहुत-सी स्त्रियोंके साथ विवाह करके सैकड़ों पुत्र उत्पन्न किये और लोगोंमें वेदकी मर्यादाको स्थापित करनेके निमित्त अनेक यज्ञों द्वारा भगवानने स्वयं अपना यजन किया ॥ ६६ ॥ इसके बाद पृथिवीके अतिशय बढ़े हुए भारको उतारनेके हेतु कौरव तथा पाण्डवोंमें उत्पन्न कलहसे महाभारतकी भूमिमें अपनी दृष्टिमात्रसे राजाओंकी सारी सेनाका विध्वंस करके अर्जुनका विजयघोष कराया और उद्धवको आत्मज्ञानका उपदेश देकर अपने धामको सिधारे ॥ ६७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे नवमस्कन्धे साहित्य-शास्त्रि पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

॥ समाप्तोऽयं नवमस्कन्धः ॥

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्



दशमस्कन्धः

(पूर्वार्धः)

—:❀:—

प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः। राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥१॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम। तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः॥२॥
अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः। कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात्॥३

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥ ४ ॥
पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः॥ ५ ॥
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं संतानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥ ६ ॥

(पृथिवीको आश्वासन, वसुदेव-देवकीका विवाह तथा कंस द्वारा देवकीके छः पुत्रोंका वध)

महाराज परीक्षित् बोले—हे महामुने ! आपने चन्द्र और सूर्यवंशके विस्तारका वर्णन किया और उन दोनों वंशोंमें उत्पन्न राजाओंके अति अद्भुत चरित्र भी कहे ॥१॥ आपने धर्मपरायण राजा यदुके वंशका भी वर्णन किया। उसी वंशमें निज अंशसे उत्पन्न भगवान विष्णुके चरित्र अब हमसे कहिए ॥ २ ॥ जीवोंके पालनकर्ता सर्वात्मा ईश्वरने यदुवंशमें अवतार लेकर जो-जो लीलाएँ की हों, वह सब विस्तारके साथ कहिये ॥ ३ ॥ क्योंकि उनका गुण निःस्पृह महात्मा लोग भी गाते हैं। जो मुमुक्षुओंके लिये संसाररूपी रोगकी एकमात्र औषधि हैं, जो विषयी पुरुषोंके भी मन और कानोंको अत्यन्त प्रिय हैं, उन भगवान उत्तमश्लोकके गुणानुवादको सुननेसे आत्मघाती अथवा पशुहिंसक पुरुषके सिवा और कौन प्राणी विमुख होगा ? ॥ ४ ॥ अहो ! जो कौरवसैन्यरूपी समुद्र—तिमिङ्गिल अर्थात् समुद्रमें रहनेवाले महामत्स्यरूपी भीष्मादि देवविजयी महारथियोंके रहते—अत्यन्त दुस्तर था, उसे भगवान कृष्णरूपी नौकाका आश्रय पाकर हमारे पितामहोंने गोपदके समान सुगमतासे पार कर लिया था ॥ ५ ॥ जिस समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे कौरव-पाण्डव-वंशका बीजरूप मेरा शरीर दग्ध हो रहा था, तब शरणागत मेरी माताके गर्भमें प्रविष्ट होकर जिन्होंने सुदर्शनचक्रसे

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥ ७ ॥
रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया । देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥८॥
कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहाद् व्रजं गतः । क्व वासं ज्ञातिभिः सार्धं कृतवान् सात्वतांपतिः ९॥
व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः । भ्रातरं चावधीत् कंसं मातुरद्धातदर्हणम् ॥१०॥
देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः । यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः ११
एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् । वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥१२॥
नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥१३॥

सूत उवाच

एवं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातम् ।
प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥१४॥

श्रीशुक उवाच

सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम । वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः ॥१५॥
वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि । वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा॥१६॥
भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः । आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥१७॥
गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः । उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं स्वमवोचत ॥१८॥
ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह । जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥१९॥

इसकी रक्षा की थी ॥ ६ ॥ जो समस्त देहधारियोंके भीतर जीव और बाहर कालरूपसे स्थित होकर उनको जीवन तथा मृत्यु देते हैं। हे विद्वन्! उन मायामानवरूपधारी नारायणकी लीलाओंका वर्णन करिए ॥ ७ ॥ हे भगवन्! आपने बलरामजीको रोहिणीका पुत्र बतलाया और देवकीके आठ पुत्रोंमें उनकी भी गणना की थी। सो दूसरा जन्म लिये बिना ही उनका देवकीके गर्भसे कैसे सम्बन्ध हुआ? ॥ ८ ॥ भगवान कृष्ण अपने पिताका घर छोड़कर व्रजमें क्यों गये? और उन यादवेशने अपनी जातिवालोंके साथ कहाँ निवास किया? ॥ ९ ॥ उन भगवानने व्रज तथा मथुरा-पुरीमें रहते समय क्या-क्या किया? अपनी माताके भाई कंसको उन्होंने क्यों मारा? उनके हाथसे मामाका मारा जाना तो उचित नहीं जँचता ॥ १० ॥ मानव देह धारणकर भगवान यादवोंके साथ कितने वर्ष द्वारकामें रहे? और उनके कितनी पत्नियाँ थीं? ॥ ११ ॥ हे सर्वज्ञ! श्रीकृष्णका चरित्र सुननेकी मेरी बड़ी इच्छा है। अतः ये और इनके सिवा उनकी और भी जो लीलाएँ हों, सो विस्तार पूर्वक कहिए ॥ १२ ॥ यद्यपि मैंने अन्न-जल त्याग दिया है, किन्तु आपके मुखकमलसे निःसृत हरि-कथारूपी अमृत पीनेसे मुझे भूख-प्यासका कोई दुःसह कष्ट नहीं है ॥ १३ ॥ सूतजी कहते हैं—हे भार्गव शौनकजी! राजा परीक्षितके इन उत्तम प्रश्नोंको सुनकर परमभक्त भगवान शुकदेवजीने उनकी सराहना की और भगवान कृष्णके कलिमलनाशक चरित्रोंका वर्णन आरम्भ किया ॥ १४ ॥ श्रीशुक-देवजी बोले—हे राजर्षिसत्तम! तुम्हारी बुद्धि बहुत अच्छे ठिकाने लगी है जो कृष्ण-कथामें ऐसा दृढ़ अनुराग उत्पन्न हुआ है ॥ १५ ॥ भगवानके चरणोंसे निकली श्रीगङ्गाके जलके समान उनकी कथासे सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न वक्ता, श्रोता और प्रश्नकर्ता इन तीनों पुरुषोंको पवित्र कर देता है ॥ १६ ॥ अब उनके प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—जब उन्मत्त राजाओंके रूपमें असंख्य दैत्य पृथ्वीपर मनमाने अत्याचार करने लगे, तब उनके भारसे पीडित होकर पृथिवी गोरूप धारणकर आँखोंमें आँसू भरे तथा खिन्नभाव और दीन स्वरसे बिलखती हुई ब्रह्माकी शरणमें गयी और उसने उन्हें अपना सब

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् । पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥२०॥
गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ।
गां पौरुषीं मे श्रृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव माचिरम् ॥२१॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद् भुवि ॥२२॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः । जनिष्यते तत्प्रियार्थं संभवन्तु सुरस्त्रियः ॥२३॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् । अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥२४॥
विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत् । आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥२५॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः । आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ २६॥
शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम् । माथुराञ्छूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा ॥२७॥
राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम् । मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिः ॥२८॥
तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः । देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत् ॥२९॥
उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया । रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥३०॥
चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम् । अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम्॥३१॥
दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते । दुहित्रे देवकः प्रादाद् याने दुहितृवत्सलः ॥३२॥
शङ्खतूर्यमृदङ्गाश्च नेदुर्दुन्दुभयः समम् । प्रयाणप्रक्रमे तावद् वरवध्वोः सुमङ्गलम् ॥३३॥

कष्ट कह सुनाया ॥ १७ ॥ १८ ॥ उसकी व्यथाभरी गाथा सुनकर ब्रह्माजी पृथ्वीको साथ ले महादेवजी तथा अन्य देवताओं सहित क्षीरसमुद्रके तटपर गये ॥ १९ ॥ वहाँ जाकर उन्होंने एकाग्रचित्तसे देवदेव, जगत्पति तथा परमपुरुष भगवानकी पुरुषसूक्तसे स्तुति की ॥ २० ॥ तब उन्हें समाधि-अवस्थामें आकाशवाणी सुनाई दी। सो सुनकर ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—हे देवताओं! मुझे जो ईश्वरीय वाणी सुन पड़ी है, उसे सुनिए और तदनुसार चलिये ॥ २१ ॥ पृथिवीके कष्टका भगवानको पहले ही-से पता है। सो जबतक वे अपनी कालशक्तिसे उसका भार नष्ट करते हुए भूलोकमें रहें, तबतक तुम सब भी अपने अंशोंसे यदुकुलमें उत्पन्न हो-होकर वहीं रहो ॥ २२ ॥ साक्षात् परमपुरुष परमात्माका वसुदेवजीके यहाँ जन्म होगा। उनको प्रसन्न रखनेके लिए देवाङ्गनाएँ भी मृत्युलोकमें जन्मेंगी ॥ २३ ॥ भगवान वासुदेवके कलारूप स्वयंप्रकाशशील सहस्रमुखवाले शेषजी भी श्रीहरिका प्रिय करनेको उनसे पहले ही अवतीर्ण होंगे ॥ २४ ॥ जिसने संपूर्ण जगत्को मोहित कर रखा है, वह भगवती विष्णु-माया भी भगवानकी आज्ञासे उनका कार्य करनेको अपने अंशरूपसे अवतरेगी ॥ २५ ॥ शुकदेवजी कहते हैं—प्रजापतियोंके भी पति श्रीब्रह्माजी देवताओंको ऐसी आज्ञा दे और पृथिवीको धीरज बँधा-कर अपने धामको चले गये ॥ २६ ॥ अब मूल विषय पर आते हैं—पूर्वकालमें यादवेश राजा शूरसेन मथुरापुरीमें रहते हुए माथुर और शूरसेन देशोंका शासन करते थे ॥ २७ ॥ उस समय मथुरापुरी ही यदुवंशी राजाओंकी राजधानी थी, जहाँ कि भगवान सर्वदा विराजमान रहते हैं ॥ २८ ॥ एक समय उस नगरमें शूरनन्दन वसुदेवजी देवकीके साथ विवाहकर अपने घर जानेके लिए अपनी वधूके सहित रथपर बैठे ॥ २९ ॥ उस समय राजा उग्रसेनका पुत्र कंस उन्हें बहुतसे सुवर्णमय रथोंके साथ पहुँचाने चला और अपनी बहिनकी प्रसन्नताके लिए घोड़ोंकी रास स्वयं थाम्ही ॥ ३० ॥ महाराज देवकने अपनी दुलारी कन्याको विदा करते समय सुवर्णमालासे आभूषित चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ तथा विचित्र वस्त्राभूषणोंसे भूषित दो सौ सुकुमारी दासियाँ दहेजमें दीं

पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक् । अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध ॥३४॥
इत्युक्तः स खलः पापो भोजानां कुलपांसनः । भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेऽग्रहीत् ॥३५॥
तं जुगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम् । वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ॥३६॥

वसुदेव उवाच

श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः । स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्वाहपर्वणि ॥३७॥
मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते । अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥३८॥
देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः । देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ॥३९॥
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति । यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥४०॥

स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः ।
दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः ॥४१॥
यतो यतो धावति दैवचोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चसु ।
गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥४२॥
ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।
एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ॥४३॥

तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः । आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोग्धुर्वै परतो भयम् ॥४४॥

॥ ३१-३२ ॥ वर और वधूके विदा होते समय शंख, तूर्य, मृदङ्ग और दुन्दुभी आदि मङ्गलमय अनेक बाजे एक साथ बजने लगे ॥ ३३ ॥ जिस समय मार्गमें कंस रथ हाँक रहा था, तब उसे यह आकाशवाणी सुनायी दी—अरे मूर्ख ! इसी देवकीका आठवाँ बालक तुझे मारेगा। इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर महापापी भोजकुलकलङ्क दुष्ट कंस तलवार खींच देवकीको मारनेके लिये उद्यत हो गया और उनके केश पकड़ लिये ॥ ३४-३५ ॥ निर्लज्ज और क्रूर कंसको यह निन्द्य कर्म करते देखकर महाभाग वसुदेवजीने उसे समझाते हुए कहा ॥ ३६ ॥ श्रीवसुदेवजी बोले—हे कंस ! आपने भोजवंशका यश बढ़ाया है और सभी शूरवीर आपके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे वीर होकर आप विवाहोत्सवके समय अपनी बहिनको मारनेके लिए क्यों उद्यत हो गये ? ॥ ३७ ॥ हे वीर ! मृत्यु तो सभी जन्म लेनेवाले प्राणियोंके शरीरके साथ ही उत्पन्न होती है। आज अथवा सौ वर्ष बाद प्राणियोंकी मृत्यु तो निश्चित ही रहती है ॥ ३८ ॥ शरीर नष्ट हो जानेपर जीवको अपने कर्मानुसार विवश होकर अन्य देह ग्रहणकर पहला शरीर त्यागना ही पड़ता है ॥ ३९ ॥ जैसे चलते समय लोग एक पैर जमा लेनेपर ही दूसरा पैर उठाते हैं अथवा तृणजलूका नामक एक प्रकारके कीड़ेकी तरह जीव अपने कर्मानुसार एक देहसे दूसरी देहमें जाता है ॥ ४० ॥ जैसे मनुष्य देखे-सुने पदार्थोंके संस्कारयुक्त मनसे चिन्तन करके स्वप्नमें वैसी ही कोई देह देखता और फिर उसीमें संकल्प द्वारा आत्मभाव हो जानेसे जाग्रत्कालीन शरीरको भूल जाता है। उसी प्रकार विविध कामनाओंमें चित्त फँस जानेके कारण देहान्तर प्राप्त होता और जीव उसीमें दृढ़ अभिमान कर लेता और अपने पूर्व शरीरको भूल जाता है ॥ ४१ ॥ जब अन्तकाल आ उपस्थित होता तो नाना विकारयुक्त मन अपने प्रारब्ध कर्मोंकी प्रेरणासे माया द्वारा विविध शरीररूपसे रचे हुए पञ्चभूतोंमेंसे जिस-जिसकी ओर दौड़ता है और उनमेंसे जिस-जिसको उपलब्ध करता है, उसी-उसीमें आत्मभावना करके प्राणी उसीके साथ जन्म लेता है ॥ ४२ ॥ जैसे सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिर्मय पदार्थ जलभरे घड़े आदिमें प्रतिबिम्बित होकर वायुके वेगसे चञ्चल प्रतीत होते हैं। वैसे ही जीव अपनी मायासे रचित विषयोंमें अनुरक्त होकर मोहित हो जाता है ॥ ४३ ॥ अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले प्राणी कभी किसीसे द्रोह न

एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा । हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः ४५॥

श्रीशुक उवाच

एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोऽपि दारुणः । न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः ॥४६॥
निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः । प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत ॥४७॥
मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम् । यद्यसौ न निवर्तेत नापराधोऽस्ति देहिनः ॥४८॥
प्रदाय मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम् । सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न म्रियेतचेत् ॥४९॥
विपर्ययो वा किं न स्याद् गतिर्धातुर्दुरत्यया । उपस्थितो निवर्तेत निवृत्तः पुनरापतेत् ॥५०॥
अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोऽन्यन्न निमित्तमस्ति ।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥५१॥
एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम् । पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरःसरम् ॥५२॥
प्रसन्नवदनाम्भोजो नृशंसं निरपत्रपम् । मनसा दूयमानेन विहसन्निदमब्रवीत् ॥५३॥

वसुदेव उवाच

न ह्यस्यास्ते भयं सौम्य यद् वागाहाशरीरिणी । पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम्॥५४॥

श्रीशुक उवाच

स्वसुर्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित् । वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद् गृहम् ५५
अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता । पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम्॥५६॥
कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः । अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादतिविह्वलः॥५७॥

करें, क्योंकि द्वेषियोंको ही दूसरेसे भय हुआ करता है ॥ ४४ ॥ फिर यह आपकी छोटी बहिन अभी बच्ची है। यह अत्यन्त दीन और आपकी पुत्रीके समान है। आप दीनोंपर दया करनेवाले हैं, इसलिये इस कल्याणी बालिकाको मारना उचित नहीं है ॥ ४५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस प्रकार वसुदेवजीने साम और भेदनीतिसे कंसको बहुत समझाया, पर राक्षसी वृत्तिका अनुसरण करनेवाला कंस उस दुःसाहससे निवृत्त नहीं हुआ ॥ ४६ ॥ उसका हठ देखकर वह समय टाल देने-का उपाय सोचते हुए वसुदेवजीने यह विचारा—॥ ४७ ॥ 'बुद्धिमान् मनुष्य जहाँतक उसकी बुद्धि और बल काम दे, वहाँ तक मृत्युको टालनेका प्रयत्न करे। फिर भी न टल सके तो इसमें मनुष्यका कोई अपराध नहीं है ॥ ४८ ॥ अतः मैं इस मृत्युरूपधारी कंसको इसके पुत्रोंको देनेकी प्रतिज्ञाकर इस दीन अबलाके प्राण बचाऊँ। यदि मेरे पुत्र होंगे और तब तक कंस नहीं मरेगा तो भी क्या इसके विचारसे विपरीत कार्य नहीं हो सकता? विधाताकी गति दुर्गम है। कभी-कभी उपस्थित मृत्यु टल जाती और टली हुई भी पुनः आ उपस्थित होती है ॥ ४९ ॥ ५० ॥ जैसे अग्निके साथ काष्ठका संयोग होने या न होनेमें अदृष्टके सिवा और कोई कारण नहीं हो सकता। वैसे ही जीवके साथ शरीरके वियोगका हेतु भी अचिन्तनीय ही है' ॥ ५१ ॥ अपनी बुद्धिके अनुसार इस तरह निश्चयकर शूरनन्दन वसुदेवजीने खूब सम्मान दिखाते हुए उस पापीकी प्रशंसा की ॥ ५२ ॥ फिर भीतरसे दुःखी होते और ऊपरसे प्रसन्नमुखसे हँसते हुए उस निर्लज्ज तथा नृशंस कंससे बोले ॥ ५३ ॥ वसुदेवजीने कहा—हे सौम्य! आकाशवाणीके कथनानुसार आपको देवकीसे कोई भय नहीं है। अतः जिनसे आपको भय है, इसके उन सब पुत्रोंको मैं आपको दे दूँगा ॥ ५४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वसुदेवजीका कथन उचित समझकर कंसने बहिनको मारनेका विचार छोड़ दिया और वसुदेव-जी उसकी प्रशंसा करते हुए हँसी-खुशी अपने घर चले आये ॥ ५५ ॥ कालक्रमसे सर्वदेवतामयी देवकीजीके गर्भसे प्रति वर्ष एक-एक कर आठ पुत्र हुए और एक कन्या जन्मी ॥ ५६ ॥ वसुदेवजीने

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम् । किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ५८
दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम् । कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत् ।।५९।।
प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम् । अष्टमाद् युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल।।६०।।
तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः । नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोऽविजितात्मनः।।६१।।
नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः । वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ।।६२।।
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत । ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ।।६३।।
एतत् कंसाय भगवाञ्छशंसाभ्येत्य नारदः । भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम्।।६४।।
ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति । देवक्या गर्भसंभूतं विष्णुं च स्ववधं प्रति ।।६५।।
देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे । जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया ।।६६।।
मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च सुहृदस्तथा । घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ६७।।
आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम्। महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ।।६८।।
उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् । स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ।।६९।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे श्रीकृष्णावतारोपक्रमे प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः । मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ।।१।।

अपने मनमें दुःखी होकर भी कीर्तिमान् नामक अपना पहला पुत्र कंसको दे दिया । क्योंकि वे झूठसे बहुत घबड़ाते थे ।।५७।। ठीक ही है, साधुपुरुषके लिये क्या दुःसह है ? ज्ञानीजन किस बातकी अपेक्षा रखते हैं ? नीच पुरुष कौन-सा कुकर्म नहीं कर सकते ? और जितेन्द्रिय पुरुष क्या नहीं त्याग सकते ? ।। ५८ ।। हे राजन् ! वसुदेवजीकी ऐसी समता और सत्यतत्परता देखकर कंस सन्तुष्ट हो गया और हँसते हुए उसने कहा ।। ५९ ।। आप इस बालकको ले जायँ, इससे मुझे कोई भय नहीं है । मेरी मृत्यु तो आपके आठवें पुत्रके हाथसे होनेको है ।। ६० ।। 'बहुत अच्छा' कह वसुदेवजी बालकको लेकर अपने घर चले आये, किन्तु उन्हें कंसकी बातका विश्वास नहीं हुआ । क्योंकि वे जानते थे कि कंस बड़ा दुष्ट है और उसका मन भी उसके वशमें नहीं है ।। ६१ ।। इसी समय देवर्षि नारदने कंसके पास जाकर कहा—हे राजन् ! व्रजमें रहनेवाले नन्दादि गोप, उनकी स्त्रियाँ, वसुदेवादि वृष्णिवंशी यादव, देवकी आदि यदुकुलकी स्त्रियाँ और इन दोनोंके जातिबन्धु तथा मित्र जो दिखावेमें तुम्हारी सेवा करते हैं—ये सब देवता हैं । पृथिवीके भाररूप दैत्योंका वध करनेके लिये ही देवताओंने यह उद्योग किया है ।। ६२ ।। ६३ ।। ६४ ।। ऐसा कहकर देवर्षि नारदके चले जानेपर कंसने यादवोंको देवता और देवकीके बालकोंको अपना वध करनेके लिए प्रकट विष्णु जानकर वसुदेव-देवकीको पकड़वा मँगाया और जंजीरोंसे जकड़वाकर कारागारमें बन्द करा दिया और देवकीके गर्भसे उत्पन्न प्रत्येक बालकका विष्णुकी आशंकासे वध करने लगा ।। ६५ ।। ६६ ।। अपने ही प्राणोंको पालनेवाले लोभी राजे अपने माता, पिता, भाई और मित्रोंकी हत्या कर डालते हैं ।। ६७ ।। कंसको मालूम था कि 'मैं पूर्वजन्ममें कालनेमिनामक महादैत्य था और उस समय विष्णुके हाथसे मरकर मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ ।' इसीलिये उसने यादवोंसे विरोध ठाना था ।। ६८ ।। उस महाबली दैत्यने यदु, भोज और अन्धकवंशी यादवोंके नायक अपने पिता उग्रसेनको भी बन्दीगृहमें डाल दिया और शूरसेन देशका राज्य करने लगा । क्योंकि कोई उसका विरोध नहीं कर सकता था ।। ६९ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

(भगवानका गर्भ-प्रवेश) श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! महाबली कंस मगधराज

अन्यैश्चासुरभूपालैर्बाणभौमादिभिर्युतः । यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥२॥
ते पीडिता निविविशुः कुरुपञ्चालकेकयान् । शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोसलानपि॥
एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते । हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥४॥
सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते । गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ॥५॥
भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् । यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥६॥
गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोपगोभिरलङ्कृतम् । रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले ॥
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥७॥
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम् । तत् संनिकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय ॥८॥
अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे । प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥
अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम् । धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम् ॥१०॥
नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि । दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥११॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च । माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च १२॥
गर्भसङ्कर्षणात्तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि । रामेति लोकरमणाद् बलं बलवदुच्छ्रयात् ॥१३॥
सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः । प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत्तथाकरोत् ॥१४॥
गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया । अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्रुशुः ॥१५॥

जरासन्धकी सहायतासे प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूर, तृणावर्त, अघासुर, मुष्टिक, अरिष्टासुर, द्विविद, पूतना, केशी, धेनुक तथा बाणासुर और भौमासुर आदि अन्य दैत्य राजाओंके साथ मिलकर यादवों-को सताने लगे ॥ १ ॥ २ ॥ कंससे पीड़ित होकर सब यादव कुरु, पाञ्चाल, केकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह और कोसल आदि देशोंमें जाकर बस गये ॥ ३ ॥ थोड़ेसे यादव अलबत्ते उसकी चित्त-वृत्तिका अनुसरण करते हुए वहाँ रहकर उसकी सेवा करते रहे । जब कंसने देवकीजीके क्रमशः छः बालक मार डाले तो जिन्हें 'अनन्त' कहते हैं वे भगवान विष्णुके अंश शेषजी माता देवकीके हर्ष और शोककी वृद्धि करनेवाले सातवें गर्भरूपसे स्थित हुए ॥ ४ ॥ ५ ॥ जब विश्वात्मा भगवान विष्णुने अपने ही आश्रित यादवोंको कंससे भयभीत देखा तो उन्होंने योगमायासे कहा—॥ ६ ॥ "हे देवि ! हे भद्रे ! तुम गौ और गोपगणसे अलंकृत व्रजमें जाओ । आजकल वसुदेवजीकी स्त्री रोहिणी नन्दजीके पास गोकुलमें हैं, उनकी और भी स्त्रियाँ कंससे भयभीत होकर छिपे स्थानोंमें रहती हैं ॥ ७ ॥ मेरा शेषनामक तेजोमय अंश इस समय देवकीके गर्भमें है, उसे वहाँसे निकालकर रोहिणीके गर्भमें प्रविष्ट करो ॥ ८ ॥ हे शुभे ! फिर मैं अपने अंशों सहित पूर्णरूपसे अवतार लेकर देवकीका पुत्र होऊँगा और तुम नन्दपत्नी यशोदाके गर्भसे जन्म लोगी ॥ ९ ॥ तुम सब कामनाओं और वरोंको देनेवाली होओगी, लोग तुम्हें सब कामनाओं और वरोंकी ईश्वरी जानकर धूप, उपहार और नाना प्रकारकी भेंटोंसे तुम्हारी पूजा करेंगे ॥ १० ॥ संसारी मनुष्य तुम्हारे बहुतसे नाम रक्खेंगे और कितने ही स्थान बनावेंगे । तुम्हारे दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका आदि नाम रखेंगे ॥ ११ ॥ १२ ॥ गर्भका आकर्षण करनेके कारण वह बालक संसारमें 'संकर्षण' इस नामसे विख्यात होगा और लोक-रञ्जन करनेके कारण राम तथा बलवानोंमें प्रबल होनेसे 'बलभद्र' भी कहलावेगा ॥ १३ ॥ इस प्रकार भगवानके आज्ञा देनेपर भगवती मायाने 'जो आज्ञा' कह उसे स्वीकार किया और उनकी परिक्रमा-कर उसने भूलोकमें आकर वैसा ही किया ॥ १४ ॥ योगमायाने जब देवकीके गर्भको रोहिणीके उदरमें स्थित कर दिया तो सब पुरवासी 'हाय ! देवकीका गर्भ गिर गया' यह कहकर जोरोंसे चिल्लाने लगे

भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः। आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥१६॥
स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः। दुरासदोऽतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह ॥१७॥
ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथाऽऽनन्दकरं मनस्तः ॥१८॥
सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥१९॥
तां वीक्ष्य कंसः प्रभया जितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥२०॥
किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयं यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥२१॥
स एष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन।
देहे मृते तं मनुजाः शपन्ति गन्ता तमोऽन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥२२॥
इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयं प्रभुः। आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत् ॥२३॥
आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्। चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥२४॥
ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः। देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमैडयन् ॥२५॥
सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥२६॥

॥१५॥ तदनन्तर भक्तभयहारी विश्वात्मा श्रीभगवानने भी अपनी सम्पूर्ण कलाओं सहित वसुदेवजीके अन्तःकरणमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥ भगवानका दिव्य तेज धारणकर श्रीवसुदेवजी सूर्यके समान चमकने लगे और समस्त प्राणियोंके लिये असह्य और अदम्य हो गये ॥ १७ ॥ फिर अखिल जगत्‌के मङ्गलकारी आत्मस्वरूप सर्वात्मा श्रीअच्युतके दिव्य तेजके द्वारा अपनेमें आधान किये जानेपर देवी देवकीजीने भी विशुद्ध मनसे गर्भ धारण किया, जैसे पूर्व दिशा पूर्ण चन्द्रको धारण करती है ॥१८॥ किन्तु जगत्‌के आश्रयरूप भगवानके आश्रित होकर भी देवकी सर्वथा शोभित नहीं हुई। क्योंकि घटादिके भीतर बन्द दीपक या ज्ञानवञ्चकके अन्तःकरणमें रहनेवाली सद्विद्याके समान वे कंसके कारागारमें बन्द थीं ॥ १९ ॥ अजेय भगवान जिनके गर्भमें थे, उन मनोहर मुसकानवाली श्रीदेवकीजीको अपनी छटासे कारागृहको आलोकित करते देख कंसने मन ही मन कहा—अबकी बार अवश्य इसके गर्भमें मेरे प्राण लेनेवाले विष्णुने प्रवेश किया है। क्योंकि पहले यह ऐसी तेजस्विनी नहीं थी ॥ २० ॥ अब मैं विष्णुके नाशका शीघ्र क्या उपाय करूँ ? वीर पुरुष स्वार्थवश भी अपना पराक्रम दूषित नहीं करते। इसका वध करनेसे स्त्रीवध, भगिनीवध और गर्भिणीके वधका पाप लगेगा जो तत्काल यश, श्री और आयुको नष्ट कर देता है ॥२१॥ जो पुरुष अत्यन्त हिंसावृत्तिसे रहता, वह जीता हुआ भी मरेहीके समान रहता है। उसके मरनेपर लोग उसकी निन्दा करते हैं कि यह अवश्य देहाभिमानियोंके योग्य तपोमय लोकोंको प्राप्त होगा ॥ २२ ॥ ऐसा सोचकर वह समर्थ होनेपर भी स्वयं देवकीके वधरूप विचारसे निवृत्त हो गया और भगवानसे वैर बाँध उनके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ २३ ॥ वह उठते, बैठते, खाते, पीते और पृथिवीपर चलते-फिरते हर समय श्रीविष्णु भगवानकी चिन्ताहीमें मग्न रहने लगा। यहाँतक कि उसे सम्पूर्ण जगत् हरिमय दिखायी पड़ने लगा ॥ २४ ॥ हे राजन् ! इसी समय नारदादि मुनियों तथा अनुगामी देवताओंके साथ श्रीब्रह्मा और महादेवजी देवकीके निवासस्थानमें आये और सुमधुर वचनोंसे सर्वकामप्रद भगवानकी स्तुति करते हुए कहने लगे—॥ २५ ॥ हे प्रभो ! आप सत्यव्रत हैं, सत्य ही आपकी प्राप्ति-

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥२७॥
त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥२८॥
बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥२९॥
त्वय्यम्बुजाक्षाखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनाऽऽवेशितचेतसैके ।
त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥३०॥
स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥३१॥
येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥३२॥
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥३३॥
सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः ।
वेदक्रियायोगतपःसमाधिभिस्तवार्हणं येन जनः समीहते ॥३४॥

का साधन है और आप तीनों कालमें सत्य हैं। आप सत्यके आदि कारण, सत्यमें ही स्थित और सत्यके भी सत्य हैं। ऋत सत्य (सुन्दरवाणी और समदर्शन) ही आपके नेत्र (नयन अथवा नेता) हैं। हे सत्यस्वरूप ! हम आपकी शरणमें हैं ॥ २६ ॥ इस संसाररूपी सनातन वृक्षका प्रकृति ही आश्रय है। सुख-दुःख दो फल हैं। तीन गुण मूल हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्षरूपी चार रस हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ जाननेके साधन हैं। शोक, मोह, जरा, मृत्यु, भूख और प्यास—ये छः स्वभाव हैं। सात (धातुएँ) त्वचा हैं। पाँच भूत और मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ शाखाएँ हैं। आँख-नाक आदि नौ छिद्र हैं। दस (प्राण) पत्ते हैं तथा इसपर जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी बसते हैं ॥ २७ ॥ इस संसारवृक्षके एकमात्र आप ही उत्पत्तिस्थान हैं। आप ही अधिष्ठाता और आप ही पालक हैं। आपकी मायासे आवृत चित्तवाले आपको अनेक रूपोंमें देखते हैं ॥ २८ ॥ आप ज्ञानरूप हैं। इस चराचर जगत्‌के कल्याणके लिये ही आप विशुद्धसत्त्वमय अनेक रूप धारण करते हैं। आपके वे रूप साधु पुरुषोंको सुख देने और दुष्टोंका अमंगल करनेवाले हैं ॥ २९ ॥ हे कमलनयन ! कोई-कोई आप निखिलसत्त्वस्वरूपमें समाधियोगके द्वारा अपना चित्त लगाकर महापुरुषोंद्वारा सेवित आपके चरणकमलरूपी नौकाका आश्रय लेकर इस संसार-समुद्रको गोपदकी नाईं पार कर जाते हैं ॥ ३० ॥ हे कान्तिमय ! आप सत्पुरुषोंपर कृपा करते हैं। आपके परमप्रेमी भक्तजन स्वयं तो इस महाभयंकर और दुस्तर संसार-समुद्रको पार कर ही जाते हैं, बल्कि औरोंके कल्याणार्थ भी आपके चरणकमलरूप नौकाको यहाँ छोड़ जाते अर्थात् भक्तिमार्ग प्रवृत्त कर जाते हैं ॥ ३१ ॥ हे कमललोचन ! आपके भक्तोंके अतिरिक्त अन्य पुरुष व्यर्थ मुक्त होनेका अभिमान करते हैं और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, वे बड़े परिश्रमसे प्राप्त स्वर्गादि उत्तम लोकोंमें जाते हैं। फिर भी आपके चरणोंकी आराधनासे विमुख होनेके कारण वे वहाँसे नीचे गिरते हैं ॥ ३२ ॥ हे माधव ! जो आपहीमें सुदृढ़ प्रेम रखनेवाले आपके भक्तजन हैं, वे ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति कभी सन्मार्गसे भ्रष्ट नहीं होते। हे प्रभो ! आपसे सुरक्षित होकर वे विघ्नोंकी सेनाके सरदारके सिरपर पैर रखते हुए निर्भय विचरते हैं ॥ ३३ ॥ हे भगवन् ! आप संसारकी स्थितिके लिये विशुद्ध सत्त्वका आश्रय लेकर देहधारियोंके कल्याण-साधनस्वरूप दिव्य देह धारण करते हैं, जिससे लोग उस रूपके

सत्त्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥३५॥
न नामरूपे गुणजन्मकर्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः ।
मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥३६॥
शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते ।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचेता न भवाय कल्पते ॥३७॥
दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो भारोपनीतस्तव जन्मनेशितुः ।
दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम् ॥३८॥
न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं विना विनोदं बत तर्कयामहे ।
भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि ॥३९॥
मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥४०॥
दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः ।
मा भूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा । ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे गर्भगतविष्णोर्ब्रह्मादिकृतस्तुतिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

द्वारा आपका वेद (ज्ञान), क्रिया, योग, तप और समाधि आदिसे पूजन करते हैं ॥ ३४ ॥ हे विधाता ! यदि आप यह विशुद्धसत्त्वमय मूर्त्ति धारण न करते तो अज्ञान और भेदभावको नष्ट करने-वाला आपका अपरोक्ष ज्ञान न हो सकता। क्योंकि जिसके ये गुण हैं और जिससे प्रकाशित होते हैं, वह सर्वाधिष्ठान और सर्वसाक्षी ही परमात्मा है। इस प्रकार गुणोंके प्रकाशसे ही आपका अनु-मान होता है ॥ ३५ ॥ हे देव ! मन और वेद-वाणी द्वारा जिनके स्वभावका केवल अनुमान किया जाता है, ऐसे आप साक्षीके नाम और रूपका गुण, कर्म और जन्मादि द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। तथापि आपके भक्तजन उपासना आदि उपायोंसे आपका साक्षात्कार करते हैं ॥ ३६ ॥ जो प्राणी आपके चरणोंमें चित्त लगाकर लौकिक-वैदिक कर्म करते समय आपके मङ्गलमय नाम और रूपोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान करते हैं, वे फिर संसारमें नहीं लौटते ॥३७॥ अहा ! अब तो आप सर्वसमर्थ श्रीहरिके अवतीर्ण होजानेसे पृथ्वीका भार दूर हो गया। हम बड़े भाग्यवान हैं, जो इस पृथिवीतलको आपके परम सुन्दर चरणचिह्नसे अङ्कित और स्वर्गलोकको आपकी कृपासे कृतार्थ देखेंगे ॥ ३८ ॥ हे ईश्वर ! वास्तवमें आप अजन्मा हैं। हमें आपके जन्मका कारण विनोदके सिवा और कुछ नहीं जान पड़ता। यही नहीं, बल्कि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और निरोध भी आप निर्भय अधिष्ठानरूपी सर्वात्मामें अविद्याकृत ही हैं ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार आप पूर्वकालमें मत्स्य, अश्व अर्थात् हयग्रीव, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, क्षत्रिय, ब्राह्मण और देवताओंका अवतार लेकर हमारी और त्रिलोकीकी रक्षा करते आये हैं, उसी प्रकार अब भी पृथिवीका भार उतारिये। हम आपकी वन्दना करते हैं ॥ ४० ॥ हे माता देवकी ! तुम्हारा बड़ा भाग्य है, जो तुम्हारे गर्भमें हम सबका अभ्युदय करनेके लिए साक्षात् परमपुरुष भगवान अपनी पूर्ण कलाओं सहित आये हैं। अब तुम मरणासन्न कंससे मत डरो। तुम्हारा पुत्र यदुकुलका रक्षक होगा ॥ ४१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं— हे राजन् ! जिनका रूप इस दृश्य प्रपञ्चसे भिन्न है, उन श्रीहरिकी इस प्रकार स्तुति करके ब्रह्मा-महादेव आदि देवता स्वर्गलोकको चले गये ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामायिकी' भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्याय:

श्रीशुक उवाच

अथ सर्वगुणोपेत: काल: परमशोभन: । यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम् ॥१॥
दिश: प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम् । मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ॥२॥
नद्य: प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रिय: । द्विजालिकुलसंनादस्तबका वनराजय: ॥३॥
ववौ वायु: सुखस्पर्श: पुण्यगन्धवह: शुचि: । अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥४॥
मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् । जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥५॥
जगु: किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवु: सिद्धचारणा: । विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभि: समं तदा ॥६॥
मुमुचुर्मुनयो देवा: सुमनांसि मुदान्विता: । मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ॥७॥
निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने । देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णु: सर्वगुहाशय: ।
आविरासीत् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कल: ॥८॥

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम् ।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥ ९ ॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥१०॥
स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा ।
कृष्णावतारोत्सवसंभ्रमोऽस्पृशन्मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् ॥११॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे महाराज ! जिस समय परम सुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न समय आया, रोहिणी नक्षत्रका उदय हुआ, अश्विनी आदि समस्त नक्षत्र, ग्रह और तारागण शान्त हो गये ॥ १ ॥ सब दिशाएँ निर्मल हो गयीं और आकाशमें विमलकान्ति तारागण चमकने लगे। पुर, ग्राम, गोष्ठ और रत्नादिकी खानों सहित पृथिवी मङ्गलमयी हो गयी ॥ २ ॥ नदियोंका जल निर्मल हो गया, खिले कमलोंसे सरोवरोंकी शोभा बढ़ गयी, वनोंकी श्रेणियाँ पक्षी और भ्रमरोंके कलरवसे गुञ्जायमान तथा फूलोंके गुच्छोंसे सुशोभित हो गयीं ॥ ३ ॥ परम सुखदायक सुगन्धमय स्वच्छ वायु चलने लगा, अग्निहोत्रगृहमें द्विजोंका सञ्चित अग्नि शान्त होकर फिर स्वयं ही प्रज्वलित हो गया ॥ ४ ॥ असुर-द्रोही देवादिकों एवं साधुपुरुषोंके चित्त प्रसन्न हो गये। अजन्मा भगवानके आविर्भावके समय आकाशमें देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं ॥ ५ ॥ किन्नर और गन्धर्व गान करने लगे, सिद्ध-चारणादिने स्तुतिगान आरम्भ किया और अप्सरायें तथा विद्याधरियाँ नाचने लगीं ॥ ६ ॥ देवता और मुनिगण आनन्दसे पूर्ण हो पुष्प बरसाने लगे। उस घोर अन्धकारमय अर्धरात्रिके समय श्रीजनार्दनके प्रगट होनेपर समुद्र तथा मेघगण मन्द-मन्द स्वरसे गर्जने लगे। तब जैसे पूर्व दिशामें पूर्ण चन्द्रमाका प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार देवीरूपिणी देवकीकी कोखसे सर्वान्तर्यामी श्रीहरि प्रगट हुए ॥ ७-८ ॥ उस अद्भुत बालकको जिसके नयन कमलके समान विशाल थे, जो चार भुजाओंवाला था, जिसके चारों हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा आदि आयुध सुशोभित थे। जो वक्षस्थलमें श्रीवत्सलाञ्छन, कण्ठमें कौस्तुभमणि और शरीरमें मनोहर पीताम्बर धारण किये था और जिसका सुन्दर वर्ण सजल मेघके समान श्याम था, श्रीवसुदेवजीने देखा ॥ ९ ॥ उसकी छितरायी हुई घुँघराली अलकावली महामूल्यमय रत्न, किरीट और कुण्डलोंकी कान्ति पड़नेसे जगमगा रही थी। उसका सुन्दर तथा श्याम शरीर देदीप्यमान मेखला, भुजबन्द एवं कङ्कणादिसे आभूषित था ॥ १० ॥ भगवानको पुत्ररूपसे अवतीर्ण देखकर वसुदेवजीके नेत्र विस्मय और आनन्दसे खिल गये। उन्होंने तुरन्त कृष्णा-

अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः ।
स्वरोचिषा भारत सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित् ॥१२॥

वसुदेव उवाच

विदितोऽसि भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक् ॥१३॥
स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् । तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥१४॥
यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते विकृतैः सह । नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि॥१५॥
सन्निपत्य समुत्पाद्य दृश्यन्तेऽनुगता इव । प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः ॥१६॥

एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ।
अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥१७॥
य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः ।
विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान् ॥१८॥
त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥१९॥
स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये ॥२०॥
त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुर्गृहेऽवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।
राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ॥२१॥

वतारका महोत्सव मनानेकी उतावलीमें आनन्दमग्न होकर ब्राह्मणोंको दस सहस्र गौएँ देनेका सङ्कल्प कर लिया ॥ ११ ॥ हे परीक्षित ! फिर अपने तेजसे सूतिकागृहको आलोकित करते हुए उस बालकको साक्षात् परमपुरुष जानकर उनका प्रभाव जाननेवाले वसुदेवजीका भय जाता रहा और वे नतमस्तक हो तथा हाथ जोड़कर इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ १२ ॥ वसुदेवजी बोले—हे भगवन् ! मैं आपको जान गया । आप प्रकृतिसे पर साक्षात् परमपुरुष हैं । आप विशुद्धज्ञानानन्दस्वरूप और सबकी बुद्धियोंके द्रष्टा हैं ॥ १३ ॥ पहले आप ही अपनी मायासे इस त्रिगुणात्मक संसारको रचते हैं और फिर उसमें प्रविष्ट न होते हुए भी प्रविष्ट-से प्रतीत होते हैं ॥ १४ ॥ जैसे महत्तत्त्वादि कारण पृथक्-पृथक् रहनेतक भिन्न-भिन्न सामर्थ्यवाले होते हैं, जिससे कोई विशेष कार्य नहीं कर सकते । क्योंकि इन्द्रियादि सोलह विकारोंके साथ मिलकर ही वे इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं और इसे उत्पन्नकर इसीमें अनुप्रविष्ट से प्रतीत होते हैं । वास्तवमें उनका जन्म नहीं होता, क्योंकि वे तो कारणरूपसे ही विद्यमान रहते हैं ॥ १५–१६ ॥ इसी प्रकार केवल बुद्धि द्वारा जिनके लक्षणोंका अनुमान किया जाता है और जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन गुणोंमें व्याप्त होते हुए भी आपका उनके ग्रहणसे ग्रहण नहीं होता । क्योंकि उन गुणोंसे आवृत न होनेसे सर्वस्वरूप, सर्वान्तर्यामी एवं परमार्थ-आत्मस्वरूप आपमें बाहर-भीतरकी कल्पना ही नहीं है ॥ १७ ॥ जो पुरुष आत्माके दृश्य देहादिको अपनेसे पृथक् मानता एवं सत्य समझता है, वह अज्ञानी है । क्योंकि विचारपूर्वक जिसका बाध हो गया है, उसे सत्य माननेसे वह मूढ़ है ॥ १८ ॥ हे प्रभो ! लोग कहते हैं कि आप निष्क्रिय, निर्गुण और निर्विकारसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं । तो ठीक ही है । क्योंकि आप ईश्वर अर्थात् सर्वसमर्थ और ब्रह्म यानी सर्वाधिष्ठान हैं । तीनों गुण आपके आश्रित हैं, उनके कार्यस्वरूप उत्पत्ति आदिका आपमें आरोप किया जाता है ॥ १९ ॥ अपनी माया द्वारा आप ही त्रिलोकीके रक्षार्थ सात्त्विक शुक्लवर्ण, उत्पत्त्यर्थ रजःप्रधान रक्तवर्ण और संहारार्थ तपोमय कृष्णवर्ण धारण करते हैं ॥ २० ॥ इस समय इस लोककी रक्षाके लिये आपने मेरे यहाँ अवतार लिया है । हे विभो !

अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नौ गृहे श्रुत्वाग्रजांस्ते न्यवधीत् सुरेश्वर ।
स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥२२॥

श्रीशुक उवाच

अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् । देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता शुचिस्मिता ॥

देवक्युवाच

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥२४॥
नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥२५॥
योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥२६॥
मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत् ।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति ॥२७॥
स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि ।
रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः ॥२८॥

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन । समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥२९॥
उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् । शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥

हे अखिलेश्वर ! आप इस रूपसे राजा-नामधारी करोड़ों असुरसेनापतियों द्वारा सञ्चालित असंख्य सेनाका संहार करेंगे ॥ २१ ॥ हे सुरेश ! मेरे यहाँ आपके अवतार लेनेकी सूचना पाकर दुष्ट कंसने आपके कई भाइयोंको मार डाला है। अब भी दूतों द्वारा आपके प्रगट होनेका समाचार सुनते ही वह शस्त्र लेकर दौड़ पड़ेगा ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने पुत्रमें नारायणके लक्षण देखकर मन्द-मन्द मुसकाती देवकीजी आनन्दित होकर कंससे डरती हुई स्तुति करने लगीं ॥ २३ ॥ देवकीजी बोलीं—हे प्रभो ! जिस परमार्थ-तत्त्वको वेदोंमें सबका आदि कारण बतलाया गया है, जिसका अव्यक्त, ब्रह्म (बृहत्), ज्योतिर्मय, निर्गुण, निर्विकार, सत्तामात्र, निर्विशेष और निरीह कहकर वर्णन किया गया है, वे बुद्धि आदिके प्रकाशक साक्षात् विष्णु आप ही हैं ॥ २४ ॥ जब ब्रह्माकी परमायुका द्विपरार्ध काल समाप्त होकर कालके वेगसे संसार नष्ट हो जाता और सब तत्त्व अपने कारणस्वरूप अहंकारमें लीन हो जाते तथा अहंकार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है, तब आप ही शेषरूपसे शेष रह जाते हैं ॥ २५ ॥ हे प्रभो ! जिसकी चेष्टासे सारा विश्व चेष्टा कर रहा है, वह एक निमेषसे लेकर संवत्सरपर्यन्त महान् काल भी आपहीकी लीला कहा जाता है। आप जगत्के ईश्वर और अभयस्थान हैं। मैं आपकी शरण हूँ ॥ २६ ॥ हे प्रभो ! यह मरणधर्मा जीव मृत्युरूपी सर्पसे भयभीत हो सब लोकोंमें भटकता हुआ कहीं भी निर्भय स्थान नहीं पा सका। आज आपकी चरण-शरण पाकर यह सुखसे सो रहा है। क्योंकि अब मृत्यु इससे दूर हट गयी है ॥ २७ ॥ हे नाथ ! आप भक्तोंका भय दूर करते हैं, इस दुष्ट कंससे हमारी रक्षा कीजिये। हम इससे भयभीत हैं। एक प्रार्थना और है कि आप अपना यह ध्यानगम्य रूप चर्मचक्षुवाले पुरुषोंके सामने प्रकट न करें ॥ २८ ॥ हे मधुसूदन ! मेरे गर्भसे आपके प्रगट होनेका वृत्तान्त उस पापी कंसको न विदित हो। मैं अत्यन्त अधीर हूँ। मुझे आपके लिये भी कंससे बड़ा डर लगता है ॥ २९ ॥ हे विश्वात्मन् ! शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मकी शोभासे युक्त अपना यह अलौकिक चतुर्भुज रूप आप छिपा लें ॥ ३० ॥

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते यथावकाशं पुरुषः परो भवान् ।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायंभुवे सति । तदाऽयं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥३२॥
युवां वै ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः । सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥३३॥
वर्षवातातपहिमघर्मकालगुणाननु । सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥३४॥
शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा । मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः॥३५॥
एवं वां तप्यतोस्तीव्रं तपः परमदुष्करम् । दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥३६॥
तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषाऽनघे । तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भावितः॥३७॥
प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया । व्रियतां वर इत्युक्ते माहृशो वां वृतः सुतः॥३८॥
अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती । न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया ॥३९॥
गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम् । ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ॥४०॥
अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम् । अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः ॥४१॥
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात् । उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥४२॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम् । जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥४३॥
एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे । नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥४४॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् । चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥४५॥

प्रलयके समय जो सम्पूर्ण विश्वको अपने शरीरमें यथावकाश धारण करते हैं, वही आप परमपुरुष मेरे गर्भमें आये हैं। यह आपकी अद्भुत लीला है ॥ ३१ ॥ श्रीभगवान बोले—हे देवि ! पूर्व जन्ममें स्वायम्भुव मन्वन्तरके समय तुम पृश्नि थीं और उस समय निष्पाप वसुदेवजी सुतपानामक प्रजापति थे ॥ ३२ ॥ जब ब्रह्माजीने तुम दोनोंको प्रजा उत्पन्न करनेकी आज्ञा दी तो तुम इन्द्रियोंका दमनकर घोर तप करने लगे ॥ ३३ ॥ तुम दोनोंने वर्षा, वायु, घाम, शीत तथा उष्ण आदि कालके गुणोंको झेलते हुए बड़ी कठिन तपस्या की और प्राणायामसे तुम्हारे मनका सब मल दूर हो गया ॥ ३४ ॥ तुम सूखे पत्ते खाते और वायु पीते हुए मुझसे मनमाना वर माँगनेकी इच्छा करके शान्तचित्तसे मेरी आराधना करने लगे ॥ ३५ ॥ इस प्रकार परम दुष्कर एवं घोर तप करते और मुझमें ही चित्त लगाये बारह हजार दिव्य वर्ष बीत गये ॥ ३६ ॥ हे अनघे ! जब तुम दोनोंने इस प्रकार तप, श्रद्धा और भक्तिपूर्वक अपने हृदयमें मेरा निरन्तर चिन्तन किया तो मैं प्रसन्न होकर तुम दोनोंको इच्छित वर देनेकी इच्छासे इसी रूपमें प्रकट हुआ और जब मैंने कहा कि 'वर माँगो' तो तुमने मेरे समान पुत्र माँगा ॥३७–३८॥ उस समयतक तुम विषय-भोगसे रहित थे औरतुम्हारे कोई सन्तान नहीं थी, सो मेरी मायासे मोहित होकर तुमने मोक्ष नही माँगा ॥ ३९ ॥ मेरे चले जानेपर तुम दोनों मेरे समान पुत्र होनेका वर पाकर सफलमनोरथ हो विषयोंके भोगमें लग गये ॥ ४० ॥ मुझे इस लोकमें शील-उदारता आदि गुणोंमें अपने समान कोई और दिखायी नहीं दिया । इसलिये मैं स्वयं तुम्हारा पुत्र होकर 'पृश्निगर्भ' इस नामसे विख्यात हुआ ॥ ४१ ॥ दूसरे जन्ममें जब तुम कश्यप और अदिति हुए तो मैंने तुम्हारे यहाँ 'उपेन्द्र' नामसे जन्म लिया । तब मेरा शरीर छोटा-सा था । इसलिये मैं 'वामन' कहलाया ॥ ४२ ॥ हे सती ! अब तुम्हारे तीसरे जन्ममें फिर मैं उसी रूपसे तुम्हारे यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ । इस प्रकार मैंने तुम्हें जो वचन दिया था, सो सत्य हुआ ॥४३॥ इस समय अपना यह रूप मैंने इसीलिए दिखलाया है कि जिससे तुम्हें मेरे पूर्व अवतारोंका भी स्मरण हो जाय । क्योंकि केवल मनुष्यशरीरसे मेरे जन्मका ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ४४ ॥ अब तुम पुत्रभाव तथा

श्रीशुक उवाच

यदि कंसाद्बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय। मन्मायामानयाशु त्वं यशोदागर्भसम्भवाम्॥४६॥
इत्युक्त्वाऽऽसीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया। पित्रोः संपश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥४७॥

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात्।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नन्दजायया॥४८॥
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः॥४९॥
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः।
ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोऽन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः॥५०॥
मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला।
भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः॥५१॥
नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया।
सुतं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात्॥५२॥

देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम्। प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः॥५३॥
यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत। न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कृष्णजन्मनि तृतीयोऽध्यायः॥३॥

———

ब्रह्मभावसे मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझमें प्रीति बढ़ाओगे और अन्तमें मेरा परमपद प्राप्त करोगे॥ ४५॥ यदि तुम्हें कंसका डर है तो मुझे गोकुल ले चलो और वहाँसे यशोदाके गर्भसे उत्पन्न मेरी योगमायाको लेकर शीघ्र चले जाओ॥ ४६॥ श्रीशुकदेवजी बोले—ऐसा कहकर भगवान चुप हो गये और पिता वसुदेवजीके देखते-देखते वे अपनी मायासे एक साधारण बालक बन गये॥४७॥ जिस समय श्रीवसुदेवजी भगवानकी आज्ञासे शिशुरूपधारी श्रीहरिको लेकर सूतिकागृहसे बाहर निकले, उसी समय नन्दरानी यशोदाके गर्भसे भगवानकी अजन्मा योगमाया जन्मी॥ ४८॥ उसी योगमाया द्वारा समस्त इन्द्रियवृत्तियोंके बोध हरण कर लिये जानेसे द्वारपाल और पुरवासी लोग अचेत होकर सो गये। बन्दीगृहके सब द्वार बन्द थे, उनमें बड़ी-बड़ी किवाड़ें, लोहेकी जंजीरें और ताले पड़े थे। इस कारण कोई उनके बाहर नहीं जा सकता था॥ ४९॥ किन्तु ज्यों ही वसुदेवजी श्रीकृष्णचन्द्रको गोदमें लिये उनके निकट पहुँचे, तब वे तुरन्त अपने आप वैसे ही खुल गयीं, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार नष्ट हो जाता है। उस समय मन्द-मन्द गर्जकर मेघ जल बरसाते थे और शेषजी अपने फणोंकी छायासे जलका निवारण करते हुए उनके पीछे-पीछे चल रहे थे॥ ५०॥ निरन्तर वृष्टि होती रहनेसे यमुनाजीका प्रवाह अति गम्भीर और तीव्र हो गया, उनकी तरल तरङ्गावलीसे जलपर फेन छाया हुआ था। अनेकों भयानक भँवर पड़ रहे थे। किन्तु समुद्रने जैसे त्रेतामें रामचन्द्रजीको मार्ग दे दिया था, वैसे ही यमुनाने भी वसुदेवको पार जानेके लिये राह दे दी॥ ५१॥ नन्दजीके घर पहुँचनेपर वसुदेवजीने देखा कि समस्त गोपगण निद्रासे अचेत होकर पड़े सो रहे हैं। अतः वे तुरन्त बालक कृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुला और उसकी योगमायारूपिणी बालिकाको लेकर बन्दीगृह लौट आये॥ ५२॥ यहाँ पहुँचकर वह कन्या उन्होंने देवकीकी सेजपर सुला दी और अपने पैरोंमें बेड़ी डालकर फिर पहलेहीकी तरह जेलमें बन्द हो गये॥५३॥ उधर यशोदाको केवल यह जान पड़ा कि कोई सन्तान हुई है, किन्तु श्रम और निद्राके कारण वे यह नहीं जान सकीं कि पुत्र हुआ है या कन्या॥५४॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

बहिरन्तःपुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः । ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥१॥
ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत् । आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते ॥२॥
स तल्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः । सूतीगृहमगात् तूर्णं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः ॥३॥
तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती । स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥४॥
बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः । त्वया दैवनिसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम् ॥५॥
नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो । दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥६॥

श्रीशुक उवाच

उपगुह्यात्मजामेवं रुदत्या दीनदीनवत् । याचितस्तां विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदे खलः
तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् । अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥८॥
सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता । अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥९॥
दिव्यस्रगम्बरालेपरत्नाभरणभूषिता । धनुःशूलेषुचर्मासिशङ्खचक्रगदाधरा ॥१०॥
सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरःकिन्नरोरगैः । उपाहृतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥११॥
किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् । यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा ॥१२॥
इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि । बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥१३॥

(योगमायाकी भविष्यवाणी और कंसका पश्चात्ताप) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! नन्दके यहाँसे लौटनेपर नगरके बाहर-भीतरके सब द्वार पूर्ववत् बन्द हो गये । कुछ देर बाद शिशुके रोनेका शब्द सुनकर सब द्वारपाल उठ खड़े हुए ॥ १ ॥ उन्होंने तुरन्त राजा कंसके पास जाकर देवकीके सन्तान होनेका संवाद सुनाया, जिसके लिये कंस सर्वदा उद्विग्न होकर प्रतीक्षा किया करता था ॥२॥ यह सुनते ही वह शय्या छोड़कर उठ खड़ा हुआ और नंगे सिर तथा बाल बखेरे लड़खड़ाता हुआ कारागारमें पहुँचा । 'यह मेरा काल है' इस भावनासे वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था ॥ ३ ॥ सामने आये हुए भाई कंससे देवकीने दुःखी होकर अत्यन्त दीन वाणीमें कहा—भैया ! यह तो आपकी पुत्रवधूके समान है, आप स्त्रीका वध न करें ॥ ४ ॥ भैया ! दैववश तुमने मेरे अग्निके समान तेजस्वी अनेक बालक मार डाले, अब एक यह कन्या ही मुझे दे दो ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! मैं तुम्हारी छोटी बहिन हूँ—अपने बालकोंके मारे जानेसे मैं अतिदीन हो रही हूँ । सो हे तात ! मुझ मन्दभागिनीको यह अन्तिम सन्तान तो दे ही दो ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ऐसा कह और कन्याको गोदमें छिपाकर देवकीजीने दीनभावसे रो-रोकर बहुत अनुनय-विनय किया, पर दुष्ट कंसने भिड़ककर उनके हाथसे कन्या छीन ली ॥ ७ ॥ तत्काल जन्मी हुई अपनी भांजीका पैर पकड़कर उसने एक शिलापर पटक दिया । क्योंकि स्वार्थने उसके सौहार्दको नष्ट कर दिया था ॥ ८ ॥ किन्तु वह उसके हाथसे छूटकर तुरन्त देवीरूपिणी होकर आकाशमें चली गयी । वहाँ वे विष्णुकी छोटी बहिन योगमाया आयुधों सहित अष्टभुजाके रूपमें दिखायी पड़ीं ॥ ९ ॥ वे दिव्य माला, वस्त्र, चन्दन और मणिमय आभूषणोंसे आभूषित थीं और हाथोंमें धनुष, त्रिशूल, बाण, चर्म (ढाल), खड्ग, शंख, चक्र और गदा लिये थीं । उनके चारों ओर सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगण बहुत-सी भेंटें समर्पण करके उनकी स्तुति कर रहे थे । उन देवीने कंससे कहा—॥ १०॥११॥ "अरे मूर्ख ! मुझे मारनेसे तुझे क्या मिलेगा ? तेरा पूर्वशत्रु और तुझे मारनेवाला तो किसी और ही जगह उत्पन्न हो चुका है । अब तू व्यर्थ निर्दोष बालकोंकी हत्या न कर" ॥ १२ ॥ उससे ऐसा

तयाभिहितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः । देवकीं वसुदेवं च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥१४॥
अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना । पुरुषाद इवापत्यं बहवो हिंसिताः सुताः ॥१५॥
स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत्खलः । काँल्लोकान् वै गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् १६॥
दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् । यद्विश्रम्भादहं पापः स्वसुर्निहतवाञ्छिशून् १७॥
मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतंभुजः । जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनास्तदाऽऽसते ॥१८॥
भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च । नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ॥१९॥
यथानेवंविदो भेदो यत आत्मविपर्ययः । देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते ॥२०॥
तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि । मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं विन्दतेऽवशः ॥२१॥
यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यतेऽस्वदृक् । तावत् तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥२२॥
क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः । इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत्
मोचयामास निगडाद् विश्रब्धः कन्यकागिरा । देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ॥२४॥
भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी । व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥२५॥
एवमेतन्महाभाग यथा वदसि देहिनाम् । अज्ञानप्रभवाहंधीः स्वपरेति भिदा यतः ॥२६॥
शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः । मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्दृशः ॥२७॥

कहकर देवी योगमाया अन्तर्धान हो गयीं और वे ही पृथिवीके अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे विख्यात हुईं ॥ १३ ॥ देवीका वचन सुनकर कंसको बड़ा विस्मय हुआ और उसने तुरन्त वसुदेव-देवकीको बन्धन मुक्तकर उनसे विनयपूर्वक कहा—॥ १४ ॥ "हे भगिनि और हे भगिनीपते! राक्षसकी तरह मुझ पापीने तुम्हारे बहुतसे बालक मार डाले ॥ १५ ॥ करुणा, जाति और सुहृद्‌जनोंका स्नेह छोड़नेवाला मैं मरनेपर न जाने किन लोकोंमें जाऊँगा । इस समय मैं ब्रह्महत्यारेके समान श्वास लेता हुआ मृतकतुल्य जीवित हूँ ॥१६॥ अब मालूम हुआ कि मनुष्य ही नहीं विधाता भी झूठ बोलता है । उसीके धोखेमें आकर तो मुझ पापीने अपनी बहिनके बालक मारे हैं ॥ १७ ॥ हे महाभाग ! आप अपने पुत्रोंका शोक न करें । उनके प्रारब्धमें ऐसा ही भोग बदा था । सभी जीव दैवाधीन रहते हैं, वे सदा एक जगह नहीं रहते ॥ १८ ॥ जैसे मिट्टीके बने पदार्थ बनते और बिगड़ते रहते हैं, किन्तु मिट्टीमें कोई परिवर्तन नहीं होता । उसी प्रकार देहादिकी उत्पत्ति और नाश हुआ ही करता है । इससे आत्मामें कोई विकार नहीं होता ॥ १९ ॥ जो लोग यह तत्त्व नहीं जानते, उन्हींकी देहादि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धि होती है । देहादिमें आत्मबुद्धि होनेसे ही भेदज्ञान होता है और भेदज्ञानके कारण ही शरीरोंसे संयोग-वियोग होते हैं । इस प्रकार उनके सुख-दुःखरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होती ॥ २० ॥ अतएव हे भद्रे ! तुम्हारे जो पुत्र मेरे हाथसे मरे हैं, उनका तुम कोई शोक मत करो । क्योंकि सभी जीव अपने कर्मोंका फल भोगते हैं ॥ २१ ॥ जबतक जीव स्वयंप्रकाश होकर भी अपने आपको 'मैं मारा जाता हूँ या मैं मारता हूँ' ऐसा मानता है, तबतक देहके उत्पत्ति-नाशका अभिमान करनेसे वह अज्ञानवश बाध्य-बाधकभावको प्राप्त होता ही रहता है । तुम दोनों बड़े साधु-स्वभाव और दीनरक्षक हो । अतः तुम मेरी इस कुटिलताको क्षमा कर दो । "—ऐसा कहकर कंसने नेत्रोंमें आँसू भरके अपनी बहिन और बहनोईके पाँव पकड़ लिये ॥२२॥२३॥ कन्यारूपिणी योगमायाके कथनपर विश्वासकर स्नेह दिखाते हुए उसने वसुदेव और देवकीको बन्धनमुक्त कर दिया ॥ २४ ॥ अपने भाईको इस प्रकार पछताते देख देवकीका क्रोध शान्त हो गया और वह उसका अपराध भूल गयी । वसुदेवजीने भी हँसते हुए कहा—॥ २५ ॥ "हे महाभाग ! आप जो कहते हैं, वह ठीक है । देहधारियोंके अज्ञानके कारण ही अहंबुद्धि होती है, इसीसे अपने-परायेका भेद प्रतीत होने लगता है ॥ २६ ॥ वे भेददर्शी लोग हर्ष, शोक, भय, द्वेष, लोभ, मोह और मदसे अन्धे होकर आपसमें एक

श्रीशुक उवाच

कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं प्रतिभाषितः । देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोऽविशद् गृहम् ॥२८॥
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः । तेभ्य आचष्ट तत् सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥२९॥
आकर्ण्य भर्तुर्गदितं तमूचुर्देवशत्रवः । देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः ॥३०॥
एवं चेत्तर्हि भोजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु । अनिर्दशान् निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून् ॥३१॥
किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः । नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥३२॥
अस्यतस्ते शरव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः । जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥३३॥
केचित् प्राञ्जलयो दीना न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः । मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः ॥३४॥
न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विरथान् भयसंवृतान् । हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः ॥३५॥
किं क्षेमशूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः । रहोजुषा किं हरिणा शम्भुना वा वनौकसा ॥
किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता ॥३६॥
तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे । ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्ष्वास्माननुव्रतान् ॥३७॥
यथाऽऽमयोऽङ्गे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रूढपदश्चिकित्सितुम् ।
यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते ॥ ३८ ॥
मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः । तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपो यज्ञाः सदक्षिणाः ॥३९॥
तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः । तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः ॥४०॥

दूसरेका नाश करानेवाले सबके प्रेरक परमात्माको नहीं देख पाते" ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—वसुदेव-देवकीके प्रसन्न होकर शुद्धभावसे सम्भाषण करनेपर उनकी आज्ञा पा कंस अपने घर आया ॥ २८ ॥ वह रात्रि बीतनेपर सबेरे अपने मन्त्रियोंको बुलाकर उन्हें वह सब बातें बतायीं, जो योगमायाने कही थीं ॥ २९ ॥ स्वामीका कथन सुनकर देवद्रोही एवं मन्दमति दैत्य देवताओंपर कुपित होकर कहने लगे—॥ ३० ॥ "हे भोजराज ! यदि ऐसी बात है तो हम आज ही सम्पूर्ण पुर, ग्राम और व्रजादिमें उत्पन्न दस दिन या इससे कम अवस्थाके सब बालकोंको मार डालेंगे ॥ ३१ ॥ ये रणभीरु देवता उद्योग करके भी हमारा क्या कर लेंगे ? वे तो आपके धनुषकी प्रत्यञ्चाका शब्द सुनकर ही घबरायेसे रहते हैं ॥ ३२ ॥ पूर्वकालमें युद्ध करते समय आपके बाणों द्वारा जब देवतालोग सब ओरसे बींधे जाने लगे तो उनमें जो जीना चाहते थे, वे युद्ध छोड़कर भाग निकले ॥३३॥ कुछ देवता तो अपने शस्त्र फेंककर आपके समक्ष दीनतापूर्वक हाथ जोड़ने लगे और कुछ देवता बाल खोले शरणमें आकर कहने लगे–हम भयभीत हैं, हमारी रक्षा कीजिये ॥ ३४ ॥ उस समय युद्धनीति-के अनुसार उनमेंसे जो अस्त्र-शस्त्र छोड़ चुके थे, जो रथहीन, भयभीत, अन्यमनस्क या युद्धसे विमुख हो गये थे अथवा जिनके धनुष टूट गये थे, उन युद्ध न करनेवाले शत्रुओंको आपने नहीं मारा था ॥ ३५ ॥ ये देवगण जहाँ भय नहीं होता, वहीं वीर बनते हैं और युद्धको छोड़ अन्यत्र ही बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं । भला इनसे हमें क्या भय है ? इनमें विष्णु एकान्तसेवी और महादेव वन-वासी हैं । इन्द्रका पराक्रम बहुत अल्प है और ब्रह्मा कोरा तपस्वी है ॥ ३६ ॥ फिर भी देवता हमारे शत्रु हैं । इसलिये हमें उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । अतएव उनका मूलोच्छेद करनेके लिये आप हम अनुचरोंको नियुक्त कीजिये ॥ ३७ ॥ जैसे मनुष्योंके उपेक्षा करनेसे शरीरमें बढ़ा हुआ रोग असाध्य हो जाता अथवा जैसे इन्द्रियोंकी उपेक्षा करनेसे वे अदम्य हो जाती हैं । उसी प्रकार शत्रु-की उपेक्षा करनेसे जब उसका बल बढ़ जाता है तब उसे विचलित नहीं किया जा सकता ॥ ३८ ॥ देवताओंकी जड़ विष्णु है और विष्णु जहाँ सनातनधर्म है, वहीं रहता है । सनातनधर्मके मूल वेद, गौ, ब्राह्मण, तप और दक्षिणासहित यज्ञ हैं ॥ ३९ ॥ अतएव हे राजन् ! हम सब प्रकारसे वेदवेत्ता,

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः । श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥४१॥
स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः । तन्मूला देवताः सर्वाः सेश्वराः सचतुर्मुखाः ।
अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् ॥४२॥

श्रीशुक उवाच

एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह संमन्त्र्य दुर्मतिः । ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोऽसुरः॥४३॥
सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् । कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत्॥४४॥
ते वै रजःप्रकृतयस्तमसा मूढचेतसः । सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥४५॥
आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च । हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः । आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलंकृतः॥१॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै । कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥२॥
धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते । तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघशातकौम्भाम्बरावृतान्॥३॥
कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया । शुध्यन्ति दानैःसन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया
सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधवन्दिनः । गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहुः ॥५॥

तपस्वी और यज्ञपरायण ब्राह्मणों तथा हव्य देनेवाली गौओंका संहार करेंगे ॥ ४० ॥ ब्राह्मण, गौ, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ ये सब विष्णुके शरीर हैं ॥ ४१ ॥ वह दैत्योंका द्रोही और सबका अन्तर्यामी विष्णु ही सब देवताओंका नायक है। महादेव और ब्रह्मा सहित सब देवता उसीके आश्रित हैं और उसके वधका केवल एक उपाय है—ऋषियोंका वध करना ॥ ४२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—अपने दुष्ट मन्त्रियोंसे इस प्रकार परामर्श करके कालपाशमें पड़े हुए दुर्मति कंसने ब्रह्महत्यामें ही अपना कल्याण समझा और वह इच्छानुसार अनेक रूपधारी और हिंसाप्रिय दानवोंको सब साधुजनोंका संहार करनेकी आज्ञा देकर अपने अन्तःपुरमें चला गया ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ उन दुष्टोंकी प्रकृति रजोगुणसे आच्छन्न थी और उनका चित्त विवेकशून्य था। उनकी मृत्यु समीप आ गयी थी, इसलिए वे साधुजनोंसे द्वेष करने लगे ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! महापुरुषोंका अनादर मनुष्यकी आयु, श्री, यश, धर्म, स्वर्गादि उच्चलोक, काम और कल्याणोंको नष्ट कर देता है ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(गोकुलमें कृष्णजन्ममहोत्सव) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन ! पुत्रका जन्म होनेसे महामना नन्दजीको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने ज्योतिषी ब्राह्मणोंको बुलवाया और स्वयं स्नानकर पवित्र वस्त्र और आभूषण धारण किये ॥ १ ॥ ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराके विधिपूर्वक पुत्रका जातकर्मसंस्कार तथा देवता और पितरोंका पूजन किया ॥ २ ॥ उन्होंने भली प्रकार सजायी हुई बीस लाख गौएँ और रत्नसमूह तथा जरीके कामके वस्त्रोंसे ढँके सात तिलपर्वत ब्राह्मणोंको दान दिये। तिलका वह ढेर जिसके दोनों ओर खड़े दो मनुष्य एक-दूसरेको न देख सकें 'तिलपर्वत' कहलाता है ॥ ३ ॥ सब द्रव्योंकी शुद्धि क्रमशः काल, स्नान, शौच, संस्कार, तप, यज्ञ, दान और सन्तोषसे होती और आत्माकी शुद्धि आत्मविद्यासे होती है ॥ ४ ॥ उस समय ब्राह्मण आशीर्वाद देने

व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः । चित्रध्वजपताकास्रक्चैलपल्लवतोरणैः ॥६॥
गावो वृषा वत्सतरा हरिद्रातैलरूषिताः । विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥७॥
महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णोषभूषिताः । गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः ॥८॥
गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् । आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥९॥
नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपङ्कजभूतयः । बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥१०॥
गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठ्यश्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजुर्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥११॥
ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं पाहीति बालके । हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्यो जनमुज्जगुः ॥१२॥
अवाद्यन्त विचित्राणि वादित्राणि महोत्सवे । कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य व्रजमागते ॥१३॥
गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः । आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः १४
नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् । सूतमागधवन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥१५॥
तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् । विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥१६॥
रोहिणी च महाभागा नन्दगोपाभिनन्दिता । व्यचरद् दिव्यवासःस्रक्कण्ठाभरणभूषिता ॥१७॥
तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् । हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभूल्नृप ॥१८॥

और सूत, मागध और बन्दीजन स्तुतिगान करने तथा गवैये गाने लगे। भेरी और दुन्दुभी आदि बाजे बार-बार बजने लगे ॥ ५ ॥ उस दिन व्रजमण्डलके सभी घरोंके द्वार, आँगन और भीतरी भागोंको झाड़-बुहारकर उनमें सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया और उन्हें चित्र-विचित्र ध्वजा, पताका, माला, रंग-बिरंगे वस्त्र और बन्दनवारोंसे सजाया गया ॥ ६ ॥ गौ, बैल और बछड़ोंको हल्दी तथा तैलसे रञ्जितकर गेरू आदि धातु, मोरपंख, माला, वस्त्र और सोनेकी जंजीरें पहनायी गयीं ॥ ७ ॥ सभी गोप बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण, अँगरखे और साफोंसे विभूषित हो हाथमें भेंटकी सामग्रियें लिये नन्दजीके यहाँ आने लगे ॥ ८ ॥ यशोदाजीके यहाँ पुत्रकी उत्पत्ति सुनकर गोपियोंको बड़ा आनन्द हुआ और वे सुन्दर वस्त्र-आभूषण और अञ्जनादिसे शृंगार करने लगीं ॥ ९ ॥ उनके मुखकमल केसर-से सुशोभित थे, वे नाना प्रकारकी भेंटें लेकर बड़ी शीघ्रतासे यशोदाके घर चलीं। उन स्थूल नितम्बवाली व्रजाङ्गनाओंके पीन पयोधर जल्दी-जल्दी चलनेके कारण हिल रहे थे ॥ १० ॥ गोपियोंके कानोंमें उज्ज्वल एवं मणिमय कुण्डल और गलेमें पदकमय हार सुशोभित थे। वे चित्र-विचित्र वस्त्र धारण किये थीं। मार्गमें चलते समय उनके केशपाशोंसे फूलोंकी वर्षा-सी होती जाती थी। उनके हाथोंमें जड़ाऊ कङ्कण थे और चलनेके समय उनके कुण्डल, स्तन और हार हिलते जाते थे। इस प्रकार नन्दभवनको जाती हुई उन गोपाङ्गनाओंकी अपूर्व शोभा थी ॥ ११ ॥ नन्दजीके घर पहुँचकर उन्होंने 'बालक चिरञ्जीवी हो' ऐसा कहकर आशीर्वाद दिया और लोगोंपर हल्दी-तेल मिला हुआ जल छिड़कती हुई उच्च स्वरसे गाने लगीं ॥ १२ ॥ जब विश्वके स्वामी अनन्तनामा श्रीकृष्णचन्द्र नन्दजीके व्रजमें अवतरे, उस समय उनके आगमन-महोत्सवमें नाना प्रकारके मङ्गलमय बाजे बजने लगे ॥ १३ ॥ व्रजके गोप आनन्दके साथ आपसमें दही, दूध, घृत और जल छिड़कने और एक दूसरेके मुखमें मक्खन मलते हुए एक दूसरेपर मक्खन फेंकने लगे ॥ १४ ॥ उदार नन्दजीने उनको बहुतेरे वस्त्र, आभूषण और गौएँ दीं। सूत, मागध, बन्दीजन और नृत्य-वाद्य आदि विद्याओंसे ही आजीविका करनेवाले अन्यान्य गुणीजनोंको प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ देकर उन्होंने भगवानकी प्रसन्नता और पुत्रके अभ्युदयके लिये यथोचित सत्कार किया ॥ १५॥ १६ ॥ नन्दगोपसे सत्कृत महाभागा रोहिणी दिव्य वस्त्र, माला और कण्ठके आभूषणोंसे विभूषित होकर विचर रही थीं ॥ १७ ॥ हे राजन् ! तभीसे नन्दजीका व्रज सब सम्पत्तियोंसे पूर्ण हो

गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः । नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरूद्वह ॥१९॥
वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् । ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥२०॥
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् । प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥२१॥
पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वानामयमादृतः । प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते ॥२२॥
दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते । प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत ॥२३॥
दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः । उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥२४॥
नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् । ओघेन व्यूह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा ॥२५॥
कच्चित् पशव्यं निरुजं भूर्यम्बुतृणवीरुधम् । बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥२६॥
भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे । तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥२७॥
पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः । न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ॥२८॥

नन्द उवाच

अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः । एकावशिष्टावरजा कन्या सापि दिवं गता ॥२९॥
नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः । अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥३०॥

वसुदेव उवाच

करो वै वार्षिको दत्तो राज्ञे दृष्टा वयं च वः । नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥३१॥

गया तथा श्रीहरिके निवास और अपने स्वाभाविक गुणोंके कारण वह लक्ष्मीजीका क्रीडास्थल बन गया ॥ १८ ॥ हे कुरुपुङ्गव ! एक दिन गोकुलकी रक्षाका भार गोपोंको सौंपकर श्रीनन्दजी कंसका वार्षिक कर चुकानेको मथुरा गये ॥ १९ ॥ जब श्रीवसुदेवने सुना कि भाई नन्दजी आये हैं और राजाको वार्षिक कर दे चुके हैं तो वे उनके डेरेपर मिलने आये ॥ २० ॥ वसुदेवजीको देखकर नन्दजी ऐसे सहसा उठ खड़े हुए, जैसे प्राणोंके आ जानेसे प्राणहीन शरीर सचेत हो जाय। वे प्रेमसे विह्वल हो अपने प्रियतम सखा वसुदेवजीसे प्रसन्नतापूर्वक हाथ फैला और गले लगकर मिले ॥ २१ ॥ नन्दजीने अर्घ्य-पाद्यादिसे उनका पूजन किया। हे राजन् ! तब वसुदेवजी सुखपूर्वक आसनपर बैठकर बालकोंमें ही चित्त लगा रहनेके कारण नन्दजीसे कहने लगे—॥ २२ ॥ "हे भाई ! तुम वृद्ध हो चले थे, तुम्हारे कोई सन्तान नहीं थी और न अब होनेहीकी कोई आशा थी। यह बड़े आनंदकी बात है कि तुम्हें इस समय पुत्र प्राप्त हुआ। यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि इस संसार-चक्रमें हम दोनोंका समागम हुआ। मित्रोंका दर्शन दुर्लभ होता है। आज हमारा-तुम्हारा जैसे पुनर्जन्म हुआ है ॥ २३ ॥ २४ ॥ जिस प्रकार नदीके प्रबल प्रवाहमें बहते हुए तृण-काष्ठादिका सर्वदा एकत्र रहना असम्भव है, उसी तरह भिन्न-भिन्न प्रारब्धवाले प्रियजनोंका भी एक साथ रहना सम्भव नहीं होता ॥ २५ ॥ इस समय जिस विशाल वनमें तुम अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ रहते हो, उसमें जल, तृण और लता-पत्रोंकी बहुलता है न ? और वह वन तुम्हारे पशु आदिके लिये तो भला और रोगरहित है ? ॥ २६ ॥ भैया ! हमारा एक पुत्र तो अपनी माताके साथ तुम्हारे व्रजमें रहता है, वह अच्छी तरह है ? वह तो तुम्हींको अपना पिता समझता होगा। क्योंकि यशोदा और तुम्हींने तो उसका पालन किया है ॥ २७ ॥ पुरुषके लिये वही त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) शास्त्र-विहित है, जिससे उसके आत्मीयोंको भी सुख मिले। जिससे अपने बन्धुजनोंको क्लेश हों, उस त्रिवर्गसे कोई लाभ नहीं होता' ॥ २८ ॥ नन्दजी कहने लगे—हाय-हाय ! देवकीके गर्भसे उत्पन्न तुम्हारे कई पुत्र पापी कंसने मार डाले। अन्तमें एक छोटी कन्या बची थी, वह भी स्वर्ग सिधार गयी ! ॥ २९ ॥ सभी मनुष्योंका सुख-दुःख भाग्यपर ही अवलम्बित रहता है और भाग्य ही उसका एकमात्र आश्रय है। जो पुरुष भाग्यको ही अपने सुख-दुःखका कारण समझता है, वह उनके प्राप्त होनेपर कभी

इति नन्दादयो गोपा प्रोक्तास्ते शौरिणा ययुः। अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दवसुदेवसङ्गमो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

नन्दः पथि वचः शौरेन मृषेति विचिन्तयन्। हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥१॥

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी। शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥२॥

न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु। कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि ॥३॥

सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम्। योषित्वा माययाऽऽत्मानं प्राविशत्कामचारिणी ॥४॥

तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम्।
सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥५॥

वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैर्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्।
अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥६॥

बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून् यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम्।
बालं प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥७॥

विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्माऽऽस निमीलितेक्षणः।
अनन्तमारोपयदङ्कमन्तकं यथोरगं सुप्तमबुद्धिरज्जुधीः ॥८॥

मोहग्रस्त नहीं होता ॥ ३० ॥ वसुदेवजी कहने लगे–मित्र! तुम राजाको वार्षिक कर दे चुके और हमसे भी मिल लिये, अब यहाँ अधिक देर न ठहरो। क्योंकि आजकल गोकुलमें अनेक उत्पात हो रहे हैं ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले–इस प्रकार वसुदेवजीके कहनेपर नन्द आदि सब गोप उनसे आज्ञा ले बैल जुती हुई बैलगाड़ियोंपर चढ़कर गोकुल चल दिये ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(पूतनावधकी कथा) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! मार्गमें नन्दजीने यह सोचा कि वसुदेवजीका कथन मिथ्या नहीं होता। उत्पातकी आशङ्कासे वे मन-ही-मन नारायणकी शरण गये ॥ १ ॥ इधर कंसकी भेजी हुई भयङ्कर राक्षसी और बालघातिनी पूतना पुर, ग्राम और व्रज आदिमें बालकोंको मारती फिरती थी ॥ २ ॥ हे राजन्! जहाँके लोग नित्यकर्मोंमें भक्तरक्षक और राक्षसादिका भय दूर करनेवाले श्रीभगवान्‌का श्रवण-कीर्तनादि नहीं करते, वहीं इन राक्षसियोंका बल चल सकता है ॥ ३ ॥ एक दिन वह आकाशचारिणी और इच्छानुसार विचरनेवाली पूतना नन्दजीके गोकुलमें आयी और मायासे सुन्दरी स्त्रीका वेष बनाकर गोकुलके भीतर घुसी ॥ ४ ॥ उस सुन्दरीके जूड़े मल्लिकाके फूलसे गुँथे थे, उसकी कमर पतली थी, उसके अङ्गमें सुन्दर वस्त्र सजे थे और उसका मनोहर मुख कानोंमें हिलते हुए कुण्डलोंकी कान्ति और चमकती हुई अलकावलीसे सुशोभित हो रहा था ॥ ५ ॥ मनोहर मुसकान और कटाक्षभरी चितवनसे व्रजवासियोंका मन हरती हुई उस रूपवती स्त्रीको हाथमें कमल लिये आयी देखकर गोपियोंने समझा कि मानों स्वयं लक्ष्मीजी अपने पतिका दर्शन करनेके लिये आ गयी हैं ॥ ६ ॥ बालकोंके लिये ग्रहस्वरूपा पूतना बालकोंको ढूँढ़ती हुई स्वेच्छापूर्वक नन्दजीके घरमें घुस गई। वहाँ उसने शय्यापर सोये हुए बालक कृष्णको देखा, जो दुष्टोंके लिये कालके समान थे और उन्होंने भस्ममें छिपे अग्निके समान अपने प्रचण्ड तेजको छिपा रखा था ॥ ७ ॥ उसे बालघातिनी ग्रह समझकर चराचर जगत्‌के आत्मा कृष्णने आँखें

तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्यान्तरा कोशपरिच्छदासिवत् ।
वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥९॥
तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥१०॥
सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥११॥
तस्याः स्वनेनातिगभीररंहसा साद्रिर्मही द्यौश्च चचार सग्रहा ।
रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशङ्कया ॥१२॥
निशाचरीत्थं व्यथितस्तना व्यसुर्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि ।
प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥१३॥
पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् । चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत्तदद्भुतम् ॥१४॥
ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् । गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥१५॥
अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् । बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रिशून्यतोयह्रदोदरम् ॥१६॥
संतत्रसुः स्म तद् वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम् । पूर्वं तु तन्निःस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥१७॥
बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम् । गोप्यस्तूर्णं समभ्येत्य जगृहुर्जातसम्भ्रमाः ॥१८॥
यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः । रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिः ॥१९॥

बन्द कर लीं और उसने अपने कालरूप श्रीअनन्त भगवानको इस प्रकार गोदमें उठा लिया, जैसे कोई पुरुष भ्रमसे रस्सी समझकर सोते साँपको उठा ले ॥ ८ ॥ सुन्दर म्यानके भीतर छिपी तीक्ष्ण तलवारके समान पूतनाका हृदय बड़ा कुटिल था, किन्तु ऊपरसे उसका व्यवहार बड़ा सुन्दर था। वह एक भद्र नारीके समान मालूम पड़ती थी। अतएव उसके तेजसे प्रभावित होकर माता यशोदा और रोहिणीने भी कोई रोक-टोक नहीं की। वे चुपचाप खड़ी रहीं ॥ ९ ॥ तभी उस घोर स्वभाव पूतनाने बालरूप कृष्णको गोदमें ले उनके मुखमें अपना दुर्धर तथा विषभरा स्तन दे दिया। भगवान् बड़े क्रोधपूर्वक उसे दोनों हाथोंसे दबाते हुए उसके प्राणोंके साथ-साथ दूध पीने लगे ॥ १० ॥ इससे पूतनाके सभी मर्मस्थानोंमें पीड़ा होने लगी और वह 'छोड़! छोड़! बसकर-बस' इस प्रकार चिल्लाती हुई बारम्बार हाथ-पाँव फेंककर रोने लगी। उसके नेत्र उलट गये और शरीर पसीने-पसीने हो गया ॥ ११ ॥ उसके अति वेगवान् घोर शब्दसे पर्वतों सहित पृथिवी और ग्रहगण सहित आकाश डग-मगा उठा। सातों पाताल और दसों दिशाएँ गूँज उठीं। बहुतेरे लोग वज्रपातकी आशङ्कासे पृथिवी-पर गिर पड़े ॥ १२ ॥ हे राजन्! इस प्रकार स्तनमें अत्यन्त पीड़ा होनेसे वह राक्षसी अपने स्वाभाविक रूपसे प्रकट हुई और प्राणहीन हो, मुँह फाड़े, बाल बखेरे तथा हाथ-पाँव फैलाये गोष्ठमें इस तरह जा गिरी, जैसे इन्द्रके वज्रसे आहत होकर वृत्रासुर गिर पड़ा था ॥ १३ ॥ हे राजेन्द्र! पूतनाके शरीरने गिरते समय भी तीन गव्यूति अर्थात् छः कोसके वृक्षोंको कुचल डाला। यह बड़ी ही अद्भुत घटना घटी ॥ १४ ॥ उसका मुख हलके समान तीक्ष्ण एवं उग्र दाढ़ोंसे युक्त था। उसकी नासिका गिरिकन्दराके समान गम्भीर थी। उसके स्तन पर्वतसे गिरी शिलाके समान स्थूल और चारों ओर फैले हुए लाल-लाल बालोंवाले थे ॥ १५ ॥ उसकी आँखें अन्धकूपके समान गम्भीर, जंघाएँ नदीकी कगारके समान भयङ्कर तथा बाहु, घुटने और पैर नदीके ऊपर बाँधे पुलके समान थे और उसका पेट सूखे सरोवरके समान था ॥ १६ ॥ पूतनाके शरीरको देखकर सब गोपी-गोप भयभीत हो गये। उसका चीत्कार सुनकर उनके हृदय, कान और मस्तक टनक उठे ॥ १७ ॥ परन्तु बालक कृष्ण उसके वक्षःस्थलपर निर्भय होकर खेल रहे थे। गोपियाँ घबराकर वहाँ झटपट दौड़ आयीं और उन्होंने

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम् । रक्षां चक्रुश्च शकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥२०॥
गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् । न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत ॥२१॥

अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू यज्ञोऽच्युतः कटितटं जठरं हयास्यः ।
हृत् केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरुक्रम ईश्वरः कम् ॥२२॥
चक्र्यग्रतः सहगदो हरिरस्तु पश्चात्त्वत्पार्श्वयोर्धनुरसी मधुहाजनश्च ।
कोणेषु शङ्ख उरुगाय उपर्युपेन्द्रस्तार्क्ष्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात् ॥२३॥

इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोऽवतु । श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोऽवतु ॥२४॥
पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः । क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः॥२५॥
व्रजन्तमव्याद्वैकुण्ठ आसीनं त्वां श्रियः पतिः । भुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयङ्करः ॥२६॥
डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येऽर्भकग्रहाः । भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ॥२७॥
कोटरा रेवती ज्येष्ठा पूतना मातृकादयः । उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥२८॥
स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये । सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम् । पाययित्वा स्तनं माता संन्यवेशयदात्मजम्॥३०॥
तावन्नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः । विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः ॥३१॥
नूनं बतर्षिः संजातो योगेशो वा समास सः । स एव दृष्टो ह्युत्पातो यदाहानकदुन्दुभिः ॥३२॥
कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा तत्ते व्रजौकसः । दूरे क्षिप्त्वावयवशो न्यदहन् काष्ठधिष्ठितम्॥३३॥

कृष्णको उठा लिया ॥ १८ ॥ यशोदा, रोहिणी और सब गोपियोंने गौकी पूछ घुमाना आदि उपायोंसे बालकके अङ्गोंकी भलीभाँति रक्षा की ॥ १९ ॥ उन्होंने पहले बालकको गोमूत्रसे स्नान कराया, फिर सब अंगोंमें गोरज लगायी और बारहों अङ्गोंमें गोबर लगाकर भगवानके केशवादि नामोंसे रक्षा की ॥ २० ॥ तदनन्तर गोपियोंने आचमनकर 'अज' आदि ग्यारह बीजमन्त्रोंसे अपने अङ्गोंमें अङ्गन्यास एवं करन्यास करके बालकके अङ्गोंमें बीजन्यास किया ॥ २१ ॥ 'तेरे चरणोंकी अजन्मा भगवान, जानुओंकी मणिमान्, ऊरुओंकी यज्ञपुरुष, कटिकी अच्युत, उदरकी हयग्रीव, हृदयकी केशव, वक्षः-स्थलकी ईश, कण्ठकी सूर्य, भुजाओंकी विष्णु, मुखकी उरुक्रम और सिरकी ईश्वर रक्षा करें ॥ २२ ॥ आगे चक्री, पीछे गदाधर, दोनों पार्श्वोंमें धनुष और खड्गधारी भगवान मधुसूदन और अजन्मा, चारों कोणोंमें शंखधारी उरुगाय, ऊपर उपेन्द्र, नीचे गरुड़, पृथ्वीपर हलधर और सब ओर भगवान परम पुरुष रहते हुए तेरी रक्षा करें ॥ २३ ॥ तेरी इन्द्रियोंकी हृषीकेश, प्राणोंकी नारायण, चित्तकी श्वेतद्वीपपति, मनकी योगेश्वर, बुद्धिकी पृश्निगर्भ और अहंकारकी षडैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा रक्षा करें । क्रीडाके समय गोविन्द, सोते समय माधव, चलते-फिरते बैकुण्ठ, बैठनेमें श्रीपति और भोजन करते समय सब ग्रहोंको भयभीत करनेवाले यज्ञभोक्ता भगवान रक्षा करें ॥ २४-२६ ॥ डाकिनी, यातुधानी और कूष्माण्डा आदि बालग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना और मातृका आदि तथा शरीर, इन्द्रिय और प्राणोंका नाश करनेवाले उन्माद एवं अपस्मार आदि रोग, स्वप्नमें देखे हुए महान् उत्पात तथा वृद्धग्रह और बालग्रह आदि सब अनिष्टोंको भगवान विष्णुका नामोच्चारण करने मात्रसे भयभीत होकर नष्ट हो जायँ ॥ २७-२९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रेमपाशमें बँधी गोपियोंके इस प्रकार रक्षा कर चुकनेपर माता यशोदाने स्तनपान कराके बालक कृष्णको सुला दिया ॥ ३० ॥ इसी समय नन्दादि गोप मथुरासे व्रजमें पहुँचे तो पूतनाका शरीर देखकर वे बड़े विस्मित हुए और आपसमें कहने लगे—॥ ३१ ॥ 'निःसन्देह, वसुदेव ऋषि रूपमें प्रकट हुए हैं अथवा वे पूर्व जन्ममें कोई योगेश्वर रहे होंगे। क्योंकि जैसा उन्होंने कहा था वैसा ही

दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागुरुसौरभः । उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ॥३४॥
पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना । जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम् ॥३५॥
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने । यच्छन् प्रियतमं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा ॥३६॥
पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः। अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ३७
यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम् । कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो नु मातरः ॥३८॥
पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम् । भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः ॥३९॥
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् । न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः ॥४०॥
कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय व्रजौकसः । किमिदं कुत एवेति वदन्तो व्रजमाययुः ॥४१॥
ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम् । श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोश्चासन् सुविस्मिताः
नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रेत्यागतमुदारधीः । मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह ॥४३॥
य एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्भकमद्भुतम् । शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते रतिम् ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उत्पात यहाँ दीख रहा है" ॥ ३२ ॥ तब व्रजवासियोंने कुल्हाड़ियोंसे पूतनाके शरीरके टुकड़े कर डाले और उन्हें गोकुलसे दूर ले जाकर लकड़ियोंमें रखकर जला दिया ॥ ३३ ॥ जलते समय उसके शरीरसे जो धुआँ निकला, उसमें अगर जैसी सुगन्ध आती थी। क्योंकि भगवानके स्तनपान करनेसे उसका सब पाप नष्ट हो गया था ॥ ३४ ॥ पूतना संसारके बालकोंको मारने और रक्त पीनेवाली राक्षसी थी। उसने भगवानको मारनेकी इच्छासे दूध पिलाया था, तो भी उसे सद्गति मिली ॥ ३५ ॥ फिर जिन्होंने परमात्मा कृष्णको माताके समान स्नेहपूर्वक श्रद्धा और भक्तिसे उनकी मनचाही वस्तुएँ दीं, उन गोपियोंकी सद्गतिके विषयमें तो कहना ही क्या है ! ॥ ३६ ॥ जिसके अङ्गोंपर भगवानने अपने लोकवन्द्य देवताओंके भी पूजनीय और भक्तोंके हृदयमें निरन्तर विराजमान रहनेवाले चरणोंसे चढ़कर स्तनपान किया था, वह पूतना राक्षसी होकर भी जब माताको प्राप्त होने योग्य परम गतिरूप स्वर्गलोकको प्राप्त हुई तो जिनके स्तनका पान भगवानने स्वयं किया था, उन गौओं और माताओंकी बात ही क्या है। (कथान्तर) जब ब्रह्मा ग्वालबाल और बछड़ोंको हर ले गये थे, तब भगवान् स्वयं ही बछड़े और ग्वालबाल बनकर अपने विभिन्न रूपोंसे उन्होंने अपने साथी गोप और वत्सोंकी माताओंका स्तनपान किया था ॥ ३७-३८ ॥ हे राजन् ! कैवल्य आदि मुक्तिके दाता भगवान देवकी-नन्दनने पुत्रस्नेहसे स्वयं झरता हुआ जिनका दूध पिया, उन कृष्णमें निरन्तर पुत्रभाव रखनेवाली उन गौ और गोपियोंको फिर कभी अज्ञानजन्य संसारकी प्राप्ति कैसे हो सकती थी ॥ ३९-४० ॥ नन्दजीके साथ आनेवाले सब व्रजवासी चिताके धुएँकी सुगन्ध पाकर 'यह क्या है, कहाँसे ऐसी सुगन्ध आ रही है ?' ऐसा कहते व्रजमें पहुँचे ॥ ४१ ॥ वहाँ उन्होंने गोपोंके मुखसे पूतनाके आने आदिका सब वृत्तान्त सुना। 'पूतना मर गयी और बालक कुशलपूर्वक बच गया' यह सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४२ ॥ हे कुरुनन्दन ! उदारबुद्धि नन्दजीने मृत्युके मुखसे बचे हुए अपने बालक-को गोदमें उठा लिया और बारम्बार उसका माथा सूँघकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४३ ॥ जो पुरुष बालकृष्णकी इस 'पूतनामोक्ष' नामकी अद्भुत लीलाको श्रद्धापूर्वक सुनता है, उसका भगवान कृष्णचन्द्रमें अटल प्रेम हो जाता है ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे सामयिकी' भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

राजोवाच

येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः । करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥१॥

यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वं च शुद्धयत्यचिरेण पुंसः ।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥२॥

अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम् । मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥३॥

श्रीशुक उवाच

कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥ ४ ॥

नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः ।
अन्नाद्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः संजातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥

औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी समागतान् पूजयती व्रजौकसः ।
नैवाशृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६ ॥

अधः शयानस्य शिशोरनोऽल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा व्रजस्त्रिय औत्थानिके कर्मणि याः समागताः ।
नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ ८ ॥

ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः । रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥

राजा परीक्षितने कहा—हे प्रभो ! भगवानने जिस-जिस अवतारको धारणकर जो-जो श्रवणसुखद लीलाएँ करते हैं, वे सभी मुझे आनन्दित करनेवाली हैं ॥ १ ॥ जिनको सुननेसे मनुष्यका मानस मल और विषयतृष्णा दूर हो जाती, शीघ्र ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता तथा भगवानमें भक्ति और भक्तजनोंसे प्रीति होती है, उन्हीं श्रीहरिचरितोंको यदि आप चाहते हों तो वर्णन कीजिये ॥ २ ॥ श्रीकृष्णने मर्त्यलोकमें आकर मानवी लीलाओंका अनुसरण करते हुए जो अद्भुत बाललीलाएँ की हों, उनका भी वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन श्रीकृष्णका औत्थानिक अर्थात् करवट बदलनेका अभिषेकोत्सव था और उसी दिन उनके जन्मनक्षत्र (रोहिणी) का भी योग था। अतः यशोदाने अपने यहाँ एकत्रित गोपियोंके गाने-बजानेके साथ ब्राह्मणोंसे मन्त्रपाठ कराकर पुत्रका अभिषेक कराया ॥ ४ ॥ फिर नन्दरानीने अन्न, वस्त्र, माला और गौ आदि मनमानी वस्तुओंसे भलीभाँति पूजित ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन कराके अभिषेकादि समाप्त हो जानेपर पुत्रको उनींदा देख धीरेसे शय्यापर सुला दिया ॥ ५ ॥ थोड़ी देरमें जब भगवानकी आँखें खुलीं तो वे स्तनपानके लिये रोने लगे। उत्सवमें आये हुए व्रजके गोप-गोपियोंके सत्कारमें तल्लीन हो जानेसे मनस्विनी यशोदाको उनका रोना सुनायी नहीं पड़ा। तब कृष्णचन्द्र रोते-रोते अपने पाँव उछालने लगे ॥ ६ ॥ उस समय श्रीकृष्ण एक शकट (छकड़े) के नीचे सोये थे। उनका नवपल्लवनिभ कोमल और नन्हा-सा पाँव लगाते ही शकट उलट गया। उसपर जो दूध-दही आदि नाना रसोंसे भरी हुई कुप्पियाँ आदि रखी थीं, वे फूट गयीं तथा उसके पहिये तथा धुरे छितरा गये और जूआ फट गया ॥ ७ ॥ यशोदा तथा औत्थानिकोत्सवमें आयी व्रजबालाएँ और नन्दादि गोपगण यह विचित्र घटना देखकर बड़े चकित हुए और आपसमें कहने लगे—यह क्या ? छकड़ा अपने आप कैसे उलट गया ? ॥ ८ ॥ वे इसका कोई कारण निश्चित न कर सके। तब वहाँ खेलते हुए बालकोंने

न ते श्रद्दधिरे गोपा बालभाषितमित्युत । अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः ॥१०॥
रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता । कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥११॥
पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम् । विप्रा हुत्वार्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः ॥१२॥
येऽसूयानृतदम्भेर्ष्याहिंसामानविवर्जिताः । न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः
इति बालकमादाय सामर्ग्यजुरुपाकृतैः । जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥१४॥
वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः । हुत्वा चाग्निं द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम्
विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाऽऽशिषः। ता निष्फला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम्
एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती । गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥१८॥
भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता । महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥१९॥
दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः । चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥२०॥
गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षूंषि रेणुभिः । ईरयन् सुमहाघोरशब्देन प्रदिशो दिशः ॥२१॥
मुहूर्तमभवद् गोष्ठं रजसा तमसाऽऽवृतम् ।सुतं यशोदा नापश्यत्तस्मिन् न्यस्तवती यतः॥२२॥
नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः । तृणावर्तनिसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः ॥२३॥
इति खरपवनचक्रपांसुवर्षे सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता ।
अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद् भुवि पतिता मृतवत्सका यथा गौः॥२४॥

उन गोपी-गोपोंसे कहा—कृष्णने ही तो रोते-रोते अपने पाँवसे इसे उलट दिया है—इसमें कोई संशय नहीं है" ॥ ९ ॥ किन्तु गोपोंने उसे 'बालकोंकी बात' मानकर उसपर विश्वास नहीं किया । क्योंकि वे बालक कृष्णके अतुलित बलसे अनभिज्ञ थे ॥ १० ॥ तब यशोदाने रोते बालकको गोदमें उठा लिया और ग्रह आदिका उत्पात समझ ब्राह्मणोंसे वेदमन्त्रों द्वारा शान्ति कराके उसे स्तनपान कराया ॥११॥ बलवान् गोपोंने छकड़ेको सीधाकर उसपर पूर्ववत् सब सामग्री लाद दी । तदनन्तर ब्राह्मणोंने हवन किया और दधि, अक्षत तथा कुशोदकसे पूजन किया ॥१२॥ 'जो असूया अर्थात् दोषदृष्टि, मिथ्याभाषण, दम्भ, ईर्ष्या, हिंसा और मानसे रहित होते हैं, उन सत्यशील ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी भी विफल नहीं होता' ॥ १३ ॥ यह समझकर नन्दजीने बालकको गोदमें लेकर ब्राह्मणों द्वारा ऋक् , साम तथा यजुर्वेदके मन्त्रोंसे संस्कृत एवं पवित्र औषधियों मिले जलसे अभिषेक कराया । उन्होंने एकाग्रचित्तसे स्वस्तिवाचन कराके अग्निहोत्र किया और ब्राह्मणोंको अति उत्तम अन्नका भोजन कराया ॥ १४-१५ ॥ तदनन्तर उन्होंने पुत्रके अभ्युदयकी इच्छासे चित्र-विचित्र वस्त्र और सुवर्णमालाओंसे विभूषित बहुत-सी सर्वगुणसम्पन्न गौएँ ब्राह्मणोंको दान करके दी तथा ब्राह्मणोंने भी उन्हें अमोघ आशीर्वाद दिया ॥ १६ ॥ वेदवेत्ता और योगयुक्त ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता—यह बात स्पष्ट है ॥ १७ ॥ एक दिन साध्वी यशोदाजी गोदमें लिये खेला रही थीं । अकस्मात् कृष्णचन्द्र पर्वतशिखरके समान भारी मालूम पड़ने लगे और वे उनका भार नहीं वहन कर सकीं ॥ १८ ॥ अन्तमें श्रीकृष्णके भारसे पीडित होकर यशोदाने बालकको पृथ्वीपर बिठा दिया और विस्मित होकर वे जगदीश्वरका ध्यान करती हुई घरके काम में लग गयीं ॥ १९ ॥ इसी समय कंसका भेजा हुआ उसका सेवक तृणावर्त दैत्य बवण्डरके रूपमें वहाँ आया और बैठे हुए बालक कृष्णको उठाकर आकाशमें ले गया ॥ २० ॥ उसने सारे व्रजमण्डलको धूलिसे आच्छादितकर लोगोंके नेत्र बन्द कर दिये और अपने भयानक शब्दसे सब दिशा-विदिशाओंको गुञ्जायमान कर दिया ॥ २१ ॥ एक मुहूर्त्ततक व्रजमें धूलि और घोर अन्धकार छाया रहा । जब यशोदा पुत्रको देखने गयीं तो जहाँ वे उसे बैठा गयी थीं, वहाँ नहीं देखा ॥ २२ ॥ उस समय तृणावर्तकी उड़ायी हुई बालूसे लोग ऐसे उद्विग्न और बेसुध हो गये थे कि उन्हें अपना-पराया कुछ भी नहीं सूझ रहा था ॥ २३ ॥ ऐसी तीक्ष्ण वायु और धूलिवर्षामें पुत्रका

रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांसुवर्षवेगे ॥२५॥
तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन् । कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत् ॥२६॥
तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया । गले गृहीत उत्स्रष्टुं नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥२७॥
गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः । अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्व्रजे ॥२८॥
तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालम् ।
पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं स्त्रियो रुदत्यो ददृशुः समेताः ॥२९॥
प्रादाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः कृष्णं च तस्योरसि लम्बमानम् ।
तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ।
गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या लब्ध्वा पुनः प्रापुरतीव मोदम् ॥३०॥
अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते ॥३१॥
किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम् ।
यत् संपरेतः पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः ॥३२॥
दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने । वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥३३॥
एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी । प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥३४॥

पता न लगनेसे अबला माता यशोदा अत्यन्त करुणासे उनकी याद करती हुई रोने लगीं और जिसका बछड़ा मर गया हो, उस गायकी भाँति बेसुध होकर पृथिवीपर गिर गयीं ॥ २४ ॥ बवण्डरके शान्त हो जानेसे जब धूलिका उड़ना बन्द हुआ तो अन्य गोपियाँ यशोदाका रोदन सुनकर वहाँ आयीं और नन्दलालको न पाकर मन-ही-मन अति सन्ताप करती हुई आँखोंसे आँसू बहाती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २५ ॥ इधर बवण्डररूप तृणावर्त जब भगवान कृष्णको उठाकर आकाशमें ले गया, तब उनके भारी भारको न सँभाल सकनेके कारण उसका वेग शान्त हो गया, अतः वह अधिक नहीं चल पाया ॥ २६ ॥ भगवान उससे अधिक भारी हो गये थे। अतएव वे उसे एक शिलाके समान मालूम पड़ रहे थे। एकाएक उन्होंने उसका गला कसकर पकड़ लिया था। इस कारण वह उस विचित्र बालकको छोड़ भी नहीं पाता था ॥ २७ ॥ अपना गला घुट जानेसे वह दैत्य निश्चेष्ट हो गया, उसके नेत्र बाहर निकल आये, शब्द बन्द हो गया और वह प्राणहीन होकर बालक कृष्णके साथ व्रजमें आ गिरा ॥ २८ ॥ वहाँ एकत्रित होकर विलाप करनेवाली स्त्रियोंने महादेवजीके बाणोंसे विद्ध त्रिपुरके समान उस भयानक दैत्यको आकाशसे धरतीपर गिरते और उसके अवयवोंको चूर-चूर होते देखा ॥ २९ ॥ तब उन्होंने विस्मित हो उसके वक्षःस्थलपर लटकते कृष्णको तुरन्त उठाकर माता यशोदाको दे दिया। जिसे राक्षस आकाशमें ले गया था, उस मृत्युके मुखसे सकुशल लौटे बालकको फिर पाकर गोपियों और नन्दादि गोपोंको अपार आनन्द हुआ ॥ ३० ॥ वे कहने लगे—'यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि बालक राक्षसके द्वारा मृत्युको प्राप्त होकर भी फिर जीता-जागता आ गया और हिंसक दुष्ट अपने पापसे स्वयं मारा गया! सच है, साधुजन अपनी समता द्वारा सभी प्रकारके भयसे बच जाते हैं ॥ ३१ ॥ हमने ऐसा कौन तप, विष्णुभगवानका पूजन, इष्टापूर्त्तादि यज्ञ, दान अथवा प्राणियोंका प्रिय कार्य किया था, जिससे सौभाग्यवश अपने स्वजनोंको आनन्दित करनेके लिये एक तरहसे मरा हुआ बालक फिर लौट आया?' ॥ ३२ ॥ इस प्रकार गोकुलमें बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ घटती देखकर नन्दजीने आश्चर्यचकित हो वसुदेवजीके कथनका बारम्बार समर्थन किया ॥ ३३ ॥ एक दिन यशोदाने पुत्रको गोदमें ले उसे अत्यन्त स्नेहपूर्वक अपना दूध भरा हुआ स्तन पिलाया ॥ ३४ ॥

पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् । मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशे इदम् ॥३५॥
खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च ।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥ ३६ ॥
सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् सञ्जातवेपथुः । सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे तृणावर्तमोक्षो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः । व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥१॥
तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः । आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम् ॥२॥
सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम् । नन्दयित्वाब्रवीद् ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम् ॥३॥
महद्विचलनं नॄणां गृहिणां दीनचेतसाम् । निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥४॥
ज्योतिषामयनं साक्षाद् यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् । प्रणीतं भवता येन पुमान् वेद परावरम् ॥५॥
त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि । बालयोरनयोर्नॄणां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः ॥६॥

गर्ग उवाच

यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वतः । सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकी सुतम् ॥७॥

हे राजन् ! जब बालक प्रायः दूध पी चुका था और यशोदा उसका मनोहर मुसकानभरा मुख चूम रही थी, उसी समय बालकको जमुहाई आनेपर उसने आकाश, अन्तरिक्ष, ज्योतिर्मण्डल, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली सब नदियाँ, वन तथा स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणी उसी मुखमें विराजमान देखे ॥ ३५-३६ ॥ हे महाराज ! अपने पुत्रके मुखमें एक-एककर यह सारा जगत् देखकर यशोदा काँपने लगी और उस मृगनयनीने अतिशय विस्मित होकर अपने नेत्रोंको मूँद लिया ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत-भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(नन्दनन्दनका नामकरणसंस्कार और बाललीला) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक बार यादवोंके कुलपुरोहित महातेजस्वी गर्गजी वसुदेवजीके कहनेसे नन्दजीके गोकुलमें आये ॥१॥ उन्हें देखते ही नन्दजी अतिशय प्रसन्न होकर उठ खड़े हुए। उन्होंने मुनिको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और विष्णुबुद्धिसे उनका पूजन किया ॥ २ ॥ गर्गजी जब नन्दजीका आतिथ्य पाकर सुखपूर्वक बैठ गये, तब उन्होंने अति मधुर वाणीमें गर्गमुनिकी प्रशंसा करते हुए कहा—"हे भगवन् ! आप पूर्णकाम हैं, हम आपकी क्या सेवा करें ? ॥ ३ ॥ आप महात्माओंका आगमन तो दीनहृदय गृहस्थोंके कल्याणके लिये ही होता है। उसको कोई और हेतु नहीं रहता ॥ ४ ॥ जो इन्द्रियोंसे परे हैं और जिसके द्वारा लोग भूत-भविष्यका वृत्तान्त प्रत्यक्ष जान सकते हैं, आपने ऐसे ज्योतिषशास्त्रकी रचना की है ॥ ५ ॥ आप ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। अतएव मेरे इन दोनों बालकोंका नामकरणादि संस्कार आप ही कीजिए। क्योंकि ब्राह्मण जन्मसे ही सबका गुरु होता है" ॥ ६ ॥ गर्गजीने कहा—हे नन्दजी ! यह तो सब लोग जानते हैं कि मैं सदासे पृथ्वीपर यदुकुलका प्रसिद्ध आचार्य रहा हूँ। इस समय यदि मैं तुम्हारे पुत्रका संस्कार करूँगा तो लोग उसे देवकीका पुत्र समझेंगे। कंसकी बुद्धि पाप-मयी है और वह यह भी जानता है कि तुम्हारी और वसुदेवजीकी परस्पर गाढ़ मित्रता है। देव-

कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः । देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥८॥
इति सञ्चिन्तयञ्छ्रुत्वा देवक्या दारिकावचः । अपि हन्ताऽऽगताशङ्कस्तर्हि तन्नोऽनयो भवेत् ॥९॥

नन्द उवाच

अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे । कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् । चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥११॥

गर्ग उवाच

अयं हि रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः । आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद्बलं विदुः ।
यदूनामपृथग्भावात् सङ्कर्षणमुशन्त्युत ॥ १२ ॥
आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः । शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१३॥
प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः । वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१४॥
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनः ॥१५॥
एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः । अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१६॥
पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः । अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥१७॥
य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः । नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥
तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः । श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः ॥१९॥
इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते । नन्दः प्रमुदितो मेने आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥२०॥

वाणीके कथनानुसार उसका विश्वास है कि देवकीकी आठवीं सन्तान कन्या नहीं हो सकती ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥ इन सब बातोंको सोचकर यदि देवकीकी कन्याके कथनानुसार और मेरे संस्कार करनेसे शंका करके वह यदि तुम्हारे बालकोंको मार डाले तो बहुत बड़ा अनर्थ होगा ॥ ९ ॥ नन्दजी कहने लगे—हे मुने ! औरोंकी तो बात ही क्या, मेरे जातिवालोंसे भी छिपे रहकर आप इसी एकान्त गोशालामें स्वस्तिवाचन करके इनका द्विजातिसंस्कार कर दीजिये ॥१०॥ श्रीशुकदेवजी बोले—गर्गजीको तो यह करना ही था । अतः नन्दजीके इस तरह प्रार्थना करनेपर उन्होंने एकान्तमें गुप्तभावसे बालकोंका नामकरणसंस्कार किया ॥ ११ ॥ गर्गजीने कहा—यह रोहिणीका पुत्र अपने अगणित गुणोंसे स्वजनोंको रमावेगा, इसलिये इसका नाम 'राम' होगा । बलकी अधिकताके कारण लोग इसे 'बलभद्र' कहेंगे और यादवोंमें मेल करानेके कारण यह 'सङ्कर्षण' कहलायेगा ॥ १२ ॥ तुम्हारा यह पुत्र जब पहले तीन युगोंमें अवतीर्ण हुआ था तो इसके क्रमशः श्वेत, रक्त और पीत तीन वर्ण थे । इस बार यह कृष्णवर्ण होकर प्रकट हुआ है । इसलिये इसका नाम कृष्ण होगा । यह पहले कभी वसुदेवजीके यहाँ भी उत्पन्न हुआ था, इसलिये विद्वान् लोग इस श्रीमान् बालकका नाम 'वासुदेव' भी बतलाते हैं ॥ १३–१४ ॥ गुण और कर्मके अनुसार तुम्हारे पुत्रके और भी बहुत-से नाम और रूप हैं । उन्हें मैं तो जानता हूँ, किन्तु साधारण लोग नहीं जानते ॥ १५ ॥ यह बालक तुम्हारा कल्याणसाधन करता हुआ सब गोपों और गौओंको आनन्दित करेगा और इसकी सहायतासे तुम लोग बहुतसी दुस्तर विपत्तियोंको सहजहीमें पार कर लोगे ॥ १६ ॥ हे व्रजराज ! पूर्वकालमें अराजकताके समय इसने लुटेरोंसे पीडित साधुजनोंकी रक्षा की थी, तब इससे रक्षित उन साधुओंने लुटेरोंपर विजय पायी थी ॥ १७ ॥ जो बड़भागी पुरुष इससे प्रेम करते हैं, उन्हें उनके शत्रु उसी तरह नहीं दबा सकते, जैसे विष्णुभगवानसे सुरक्षित देवताओंको असुरगण नहीं जीत पाते ॥ १८ ॥ अतएव हे नन्द ! तुम्हारा यह बालक गुण, कीर्ति और प्रभावमें साक्षात् नारायणके समान है । तुम सावधानतापूर्वक इसकी रक्षा करो ॥ १९ ॥ जब इस प्रकार नन्दजीको समझाकर गर्गजी अपने घर

कालेन व्रजताल्पेन गोकुले रामकेशवौ। जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः॥२१॥
तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥२२॥
तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम्।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोःस्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुःप्रमोदम्॥२३॥
यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः॥२४॥
शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम्।
गृह्याणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम्॥२५॥
कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले। अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा॥२६॥
ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः। सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्॥२७॥
कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम्। शृण्वत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः॥२८॥
वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधि-पयः कल्पितैः स्तेययोगैः।
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान्
हस्ताग्राह्ये रचयति विधिं पीठकोलूखलाद्यैश्छिद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु तद्वित्।

चले गये, तब नन्दजीने उनके कथनसे अति आनन्दित होकर अपने-आपको पूर्णकाम समझा॥२०॥ कुछ दिन बाद राम और कृष्ण गोकुलमें अपने घुटनों और हाथोंके बल रेंग-रेंगकर विचरने लगे॥ २१॥ जब दोनों भाई अपने नन्हें-नन्हें चरणोंको गोष्ठके कीचड़में घसीटते चलते थे। उस समय उनके पाँवके आभूषणोंका शब्द बड़ा ही मधुर लगता था। उसे सुनकर वे बड़े प्रसन्न होते थे। कभी थोड़ी देरतक लोगोंके पीछे-पीछे जाते और फिर मुग्ध तथा भयभीत होकर अपनी माताओंके पास लौट आते थे॥ २२॥ उस समय स्नेहवश उनकी माताओंके स्तनोंमें दूध भर आता, वे कीचड़रूपी अङ्गराग लगे रहनेसे सुन्दर प्रतीत होते हुए अपने बालकोंको दोनों हाथोंसे गोदमें लेकर हृदयसे लगातीं तथा उन्हें स्तन पिलाती थीं। जब वे दोनों दूध पीने लगते तो मधुर मुसकान और छोटी-छोटी दन्तावलीसे युक्त उनका मुखारविन्द निहारकर मातायें अत्यन्त आनन्दमग्न हो जातीं॥२३॥ वे दोनों भाई जब कुछ और बड़े हुए तो व्रजमें रहकर गोपियोंके देखने योग्य अनूठी बाललीलाएँ करते हुए बछड़ोंकी पूँछ पकड़कर उनके द्वारा इधर-उधर खींचे जाते थे तो गोपियाँ अपने-अपने घर-से बाहर निकलकर उन्हें देख-देखकर हँसती हुई आनन्दमग्न हो जाती थीं॥ २४॥ जब माता यशोदा और रोहिणी अपने अत्यन्त चपल बालकोंको खेलते समय गाय-बैल आदि सींगोंवाले पशु-ओंसे, अग्निसे, कुत्ता आदि काटनेवाले जीवोंसे, तलवार आदि हाथियारोंसे तथा जल, पक्षी और काँटोंसे बचानेके काममें फँसकर घरका धन्धा करनेमें भी समर्थ न होतीं तो उनका हृदय बड़ा उद्विग्न हो जाता था॥ २५॥ हे राजर्षे! कुछ ही दिनों बाद राम और कृष्ण गोकुलमें घुटनोंके सहारे-के बिना ही सुगमतासे पैरोंके बल चलने लगे॥ २६॥ तब बलरामजी तथा भगवान कृष्ण व्रजबा-लाओंको आनन्दित करते हुए व्रजके अन्यान्य समवयस्क बालकोंके साथ खेलने लगे॥ २७॥ श्रीकृष्णचन्द्रजीका मनोहर बालचापल्य देखकर गोपियाँ नन्दजीके घर आतीं और माता यशोदाको सुना-सुनाकर इस प्रकार कहा करतीं—॥ २८॥ "ओ यशोदा! तुम्हारा कान्हा बड़ा नटखट हो गया है। कभी बिना गोदोहनका समय हुए बिना ही यह बछड़ोंको खोल देता है। उस समय यदि हम डाँटती हैं तो यह हँसने लगता है। कभी हमारे मीठे दही और दूधको चोरीसे अनेक युक्ति करके चुराता, आप खाता और बन्दरोंको बाँटकर खिलाता है। यदि बन्दरोंसे भी बच जाता तो दूध-दहीके मटकोंको फोड़ डालता

ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥३०॥
एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते ।
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिर्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत् ॥३१॥
एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः । कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥३२॥
सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी । यशोदा भयसंभ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥३३॥
कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः । वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ।३४।

श्रीकृष्ण उवाच

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः । यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥३५॥
यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः । व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः ॥३६॥
सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः । साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ।३७।
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च । वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः ३८
एतद् विचित्रं सहजीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् ।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥३९॥

है । यदि कभी कोई वस्तु नहीं मिलती तो घरवालोंपर कुपित हो बालकोंको रुलाकर भाग जाता है ॥ २९ ॥ जब हम इसके डरसे दहीका पात्र ऊँचे छींकेपर रख देती हैं, तब यदि इसका हाथ उनतक नहीं पहुँचता तो यह पीढ़ा और ऊखल आदि नीचे-ऊपर रखकर उनतक पहुँचनेका उपाय निकाल लेता है । फिर भी यदि उन्हें नहीं उतार पाता तो उन छींकोंके बर्तनोंमें रखी वस्तुओंको पहचानकर छेद करनेकी युक्ति ढूँढ़ निकालता और उन भाण्डोंमें छेद कर देता है । यदि हम उन वस्तुओंको अँधेरेमें रखती हैं तो इसने जो बहुतसे मणि-जटित आभूषण पहन रखे हैं, उनके उजालेमें इसे सब पता चल जाता है और मणियोंसे क्या, इसका शरीर ही सब पदार्थोंको दिखानेके लिये दीपकका काम करता है । जिस समय हम गोपियाँ घरके धन्धेमें लगी रहती हैं, तभी यह उत्पात करता है ॥ ३० ॥ यह अनेकों बार धृष्टताकी बातें करता है । यहाँतक कि कभी-कभी तो हमारे लिपे-पुते घरोंमें मल-मूत्र तक कर जाता है । यह हर समय चोरीके ढंग ही सोचा करता है । किन्तु देखो, इस समय कैसा भोलाभाला साधुकी तरह बना बैठा है । इस प्रकार जब वे गोपियाँ भययुक्त नेत्रोंसे सुशोभित श्रीकृष्ण-के मुखकी ओर निहारती हुई यशोदाजीको उनकी सब करतूतें सुनातीं तो यशोदाजीको भी हँसी आ जाती और कृष्णको डाँटनेकी उनकी इच्छा नहीं होती थी ॥ ३१ ॥ एक दिन बलराम आदि सब ग्वाल-बाल खेल रहे थे । इसी समय उन्होंने माता यशोदासे जाकर कहा कि कृष्णने मिट्टी खायी है ॥ ३२ ॥ तब जिसके नेत्र भयके कारण चञ्चल दिखायी दे रहे थे, उस बालक कृष्णका हाथ पकड़कर यशोदाजी उसके हितके लिये डाँटती हुई कहने लगीं—॥ ३३ ॥ "क्यों रे ! तूने एका-न्तमें छिपकर मिट्टी क्यों खायी ? देख, तेरे ये साथी बालक और तेरे बड़े भैया बलराम भी कह रहे हैं" ॥३४॥ कृष्णचन्द्रजी बोले—"मैया ! मैंने मिट्टी नहीं खायी । ये सब झूठ बोलते हैं । यदि इनकी बात सच्ची है तो ले मेरा मुँह देख ले" ॥ ३५ ॥ यशोदाजी बोलीं—"अच्छा, यदि यहीं बात है तो खोल ।" यशोदाजीके यह कहनेपर लीलाके लिये ही मनुष्यबालकका रूप धारण करनेवाले अखण्ड ऐश्वर्यशाली भगवानने अपना मुख खोल दिया ॥३६॥ तब यशोदाने सम्पूर्ण चराचर जगत्, आकाश, दिशाएँ, द्वीप और समुद्र सहित सम्पूर्ण भूलोक, वायु, अग्नि, चन्द्रमा और तारागण सहित निखिल ज्योतिर्मण्डल, जल, अग्नि, पवन, आकाश आदि पञ्चभूत, वैकारिक अहंकारके कार्य, इन्द्रियाधिष्ठातृ देव और मन, इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्राएँ एवं तीनों गुण उस बालकके मुखमें एकत्र देखे ॥३७॥३८॥ इस प्रकार जीव, काल, स्वभाव, कर्म, आशय और विभिन्न शरीरोंके कारण विचित्र भेदयुक्त यह सम्पूर्ण विश्व और अपने सहित समस्त व्रजमण्डलको पुत्रके थोड़े-से खुले मुखमें देखकर यशोदाका

किं स्वप्न एतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः ।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ॥४०॥
अथो यथावन्न वितर्कगोचरं चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ॥४१॥
अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।
गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥४२॥

इत्थं विदिततत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः । वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः॥४३॥
सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी साऽऽरोप्यारोहमात्मजम् । प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयाऽऽसीद् यथा पुरा॥४४॥
त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः । उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्॥४५॥

राजोवाच

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् । यशोदा च महाभागा पपौ यस्याःस्तनं हरिः॥४६॥
पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् । गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम् ॥४७॥

श्रीशुक उवाच

द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्यया । करिष्यमाण आदेशान् ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥४८॥
जातयोनौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ । भक्तिःस्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिंतरेत्॥४९॥
अस्त्वित्युक्तः स भगवान् व्रजे द्रोणो महायशाः । जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा धराभवत्॥५०॥
ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने । दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत ॥५१॥

बड़ी शंका हुई ॥ ३९ ॥ वे सोचने लगीं—यह कोई स्वप्न है, भगवानकी माया है, मेरी बुद्धिमें कोई भ्रम हो गया है अथवा मेरे बालकमें ही कोई अलौकिक योगसिद्धि है ॥ ४० ॥ जो चित्त, मन, वाणी और कर्म द्वारा ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता, जिसमें यह जगत् स्थित है तथा जिस इन्द्रियाधिष्ठाता और बुद्धिके प्रेरक द्वारा इसकी प्रतीति होती है, उस अचिन्त्यशक्ति परमपदको मेरा प्रणाम है ॥ ४१ ॥ 'मैं हूँ, यह मेरा पति है, यह मेरा पुत्र है, मैं व्रजराज नन्दकी सब सम्पत्तिकी स्वामिनी धर्मपत्नी हूँ तथा समस्त गोप, गोपी और गोधन मेरे ही अधीन हैं' जिनकी मायासे मुझे ऐसी कुमति घेरे हुए है, वे भगवान ही मेरी एकमात्र गति हैं ॥ ४२ ॥ यशोदाको इस प्रकार तत्त्वज्ञान हुआ देख भगवान विभुने अपनी पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी माया फैला दी ॥ ४३ ॥ इससे यशोदा तुरन्त उस दृश्यको भूल गयी और उसने पुत्रको गोदमें उठा लिया तथा हृदयमें प्रेमकी बाढ़ उमड़ आनेसे वह जैसी पहले थी, वैसी ही हो गयी ॥ ४४ ॥ तीनों वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग और भक्तजन जिनका सुयश गान करते हैं, उन श्रीहरिको यशोदा अपना पुत्र मानती थी ॥ ४५ ॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! नन्दजीने ऐसा कौन-सा पुण्य किया था और महाभागा यशोदाने भी ऐसी कौन-सी तपस्या की थी, जो भगवानने उनका स्तन पिया । जो त्रिलोकीके तापको शान्त करनेवाली हैं तथा कविजन जिनका आज भी गान करते हैं, भगवान कृष्णकी उन उदार बाललीलाओंको देखनेका सुख उनके माता-पिता वसुदेव-देवकीको भी प्राप्त नहीं हुआ । फिर जिन्होंने उनका साक्षात् अनुभव किया था, उन नन्द-यशोदाके भाग्यके विषयमें क्या कहना है ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! अपनी भार्या धराके सहित वसुश्रेष्ठ द्रोणने ब्रह्माजीकी आज्ञा स्वीकार करके कहा था—॥ ४८ ॥ "हे भगवन् ! जब हम पृथिवीपर उत्पन्न हों तो देवाधिदेव विश्वपति श्रीहरिमें हमारी ऐसी अविचल भक्ति हो, जिससे जीव सहजहीमें दुर्गतिसे पार उतर जाता है" ॥ ४९ ॥ ब्रह्माजीने कहा—"ऐसा ही होगा ।" तब महायशस्वी भगवान् द्रोण व्रजमें उत्पन्न होकर 'नन्द' नामसे विख्यात हुए और उनकी पत्नी धरा 'यशोदा' हुई ॥ ५० ॥ हे भारत ! इसीलिये पुत्ररूपसे अवतरित

कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः । सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे विश्वरूपदर्शनेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

———

नवमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी । कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥१॥

यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च । दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥२॥

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः ।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥३॥

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः । गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥४॥

तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥५॥

सञ्जातकोपः स्फुरितारुणाधरं संदश्य दद्भिर्दधिमन्थभाजनम् ।
भित्त्वा मृषाश्रुर्दृषदश्मना रहो जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः ॥६॥

उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम् ।
भग्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म तज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥७॥

भगवानमें सब गोप-गोपियोंकी अपेक्षा इन दोनों स्त्री-पुरुषोंकी अत्यन्त भक्ति थी ॥ ५१ ॥ भगवान कृष्ण भी ब्रह्माजीका वाक्य सत्य करनेके लिये बलरामजीके साथ व्रजमें रहकर सब व्रजवासियोंको अपनी बाललीलाओंसे सुखी करने लगे ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(श्रीकृष्णका उलूखलबन्धन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन घरकी दासियाँ घरके अन्य कामोंमें लगी थीं । इसलिये नन्दरानी यशोदाजी स्वयं दही मथने लगीं ॥ १ ॥ भगवान-की जिन-जिन बाललीलाओंका यहाँतक दर्शन हुआ है, उन सबकी याद करके वे दही मथते समय गाती जाती थीं ॥ २ ॥ वे अपने स्थूल कटिभागमें कटिबन्धनसे युक्त रेशमी वस्त्र पहने थीं । उनके स्तन हिल रहे थे और पुत्रस्नेहके कारण उनसे दूध चू रहा था । नेतीके खींचनेसे थकी हुई भुजाओंके कंकण और कानोंके कुण्डल हिल रहे थे । उनके मुखपर पसीना छहर आया था और उनकी चोटीमें गुँथे मालतीके फूल गिरते जाते थे । इस प्रकार भृकुटिवाली श्रीयशोदाजी दही मथ रही थीं ॥ ३ ॥ जिस समय वे दधिमन्थनमें तल्लीन थीं, उसी समय श्रीहरि स्तन पीनेकी इच्छासे माताके पास आये और उन्हें आनन्दित करते हुए मथानी पकड़कर दही मथना रोक दिया ॥ ४ ॥ माताने अपने लाल-को गोदमें उठा लिया और उनके मनोहर मुसकान युक्त मुखारविन्दको देखती हुई स्नेहके कारण अपने आप झरता हुआ स्तन पिलाने लगीं । इतनेहीमें अँगीठीपर खौलता हुआ दूध उफनने लगा । इसलिये यशोदाजी उन्हें अतृप्त ही छोड़कर जल्दीसे चली गयीं ॥ ५ ॥ इससे कृष्णचन्द्रको बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने अपने काँपते हुए अरुण अधरको दाँतोंसे दबाकर लोढ़ेसे दहीका बर्तन फोड़ डाला और बना-वटी आँसू बहाते हुए घरके भीतर जाकर एकान्तमें मक्खन खाने लगे ॥ ६ ॥ इधर यशोदाजी औटा हुआ दूध उतारकर फिर मन्थनगृहमें आयीं तो उन्होंने दहीका भाण्ड फूटा पड़ा देखा । इससे वे

उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम् ।
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः ॥८॥
तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत् ।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥९॥
अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा ।
जवेन विस्रंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत् ॥१०॥
कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना ।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥११॥

त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला । इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा ॥१२॥
न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् । पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥१३॥
तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् । गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥१४॥
तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः । द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका ॥१५॥
यदाऽऽसीत्तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे । तदपि द्व्यङ्गुलंन्यूनं यद् यदादत्त बन्धनम् ॥१६॥
एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि ।गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् १७
स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥१८॥

समझ गयीं कि यह सब करतूत मेरे लालकी ही है और उन्हें वहाँ न देखकर हँसने लगीं ॥ ७ ॥ इधर-उधर ढूँढ़नेपर उन्होंने देखा कि कृष्णचन्द्र एक उलटी ओखलीपर खड़े हो छींकेपर रखा माखन उतारकर इच्छानुसार वानरोंको लुटा रहे हैं। चोरी खुल जानेके डरसे वे चौकन्ने होकर इधर-उधर देखते जाते हैं। यह देखकर यशोदाजी चुपकेसे उनके पास पहुँच गयीं ॥८॥ माताको छड़ी लिये पास आती देख कृष्णजी तुरन्त ओखलीपरसे उतर और भयभीतसे होकर भागे। तब जिन्हें योगियोंका तपस्या द्वारा प्रेरित एवं भगवत्तत्त्वमें प्रवेश करनेमें समर्थ चित्त भी प्राप्त नहीं कर पाता, उन्हीं भगवानको पकड़नेके लिये यशोदाजी उनके पीछे दौड़ीं ॥ ९ ॥ इस प्रकार कृष्णके पीछे दौड़ते-दौड़ते स्थूल नितम्बोंके कारण जिनकी गति मन्द पड़ गयी थी और वेगसे दौड़नेके कारण जिनका केशपाश ढीला पड़ गया था और उसमें गुँथे हुए फूल झड़ गये थे, उन सुन्दर कटिवाली माता यशोदाने उन्हें पकड़ लिया ॥ १० ॥ अपराधी तो थे ही, इससे कृष्ण रोने लगे। हाथोंसे आँखें मलनेके कारण उनके मुखपर काजलकी स्याही फैल गयी और पिटनेके भयसे व्याकुल नेत्रोंसे वे ऊपरकी ओर देखने लगे। माताने उनके हाथ पकड़ लिये और डाँटती हुई डराने लगीं ॥ ११ ॥ बालकको बहुत डरा हुआ जानकर पुत्रवत्सला यशोदाने छड़ी दूर फेंक दी और उनका प्रभाव न जाननेके कारण उन्होंने उनको रस्सीसे बाँधनेकी इच्छा की ॥ १२ ॥ जिनका कोई बाहर-भीतर अथवा पूर्व या पर नहीं है, जो स्वयं सम्पूर्ण जगत्के बाहर-भीतर और आदि-अन्तमें जगद्रूपसे विद्यमान हैं, उन मायामानवरूपधारी इन्द्रियातीत एवं अव्यक्त हरिको अपना पुत्र मानकर यशोदा साधारण बालकके समान रस्सीसे ऊखलमें बाँधने लगीं ॥ १३–१४ ॥ जिस रस्सीसे वे अपने अपराधी बालकको बाँध रही थीं, वह दो अंगुल छोटी पड़ गयी। अतएव उन्होंने दूसरी रस्सी लाकर उसमें जोड़ी ॥ १५ ॥ जब वह छोटी पड़ी तो और जोड़ी। इस प्रकार वे जितनी रस्सियाँ लायीं, सभी दो अंगुल छोटी होती गयीं ॥ १६ ॥ जब यशोदाजी घरकी सारी रस्सियाँ जोड़नेपर भी भगवानको नहीं बाँध सकीं तो इस असफलतासे मुसकाती हुई अन्य गोपियोंके साथ स्वयं भी आश्चर्यचकित होकर हँसने लगीं ॥ १७ ॥ अन्तमें जब कृष्णचन्द्रने देखा कि माताका शरीर पसीनेसे भर गया है और उनके जूँड़ेमें गुँथी हुई फूलोंकी माला खिसक गयी है तो वे उनका अथक परिश्रम देखकर दयावश स्वयं बंधनमें बँध गये

एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता । स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥१६॥
नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया । प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥२०॥
नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२१॥
कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः । अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥२२॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् । नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गोपीप्रसादो नाम नवमोऽध्यायः ६

दशमोऽध्यायः

राजोवाच

कथ्यतां भगवन्नेतत्तयोः शापस्य कारणम् । यत्तद् विगर्हितं कर्म येन वा देवर्षेस्तमः ॥१॥

श्रीशुक उवाच

रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ । कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥२॥
वारुणीं मदिरां पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ । स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेरतुः पुष्पिते वने ॥३॥
अन्तः प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि । चिक्रीडतुर्युवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥४॥
यदृच्छया च देवर्षिर्भगवांस्तत्र कौरव । अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥५॥
तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः । वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥६॥

॥ १८ ॥ हे राजन् ! ब्रह्मादि लोकपालों सहित यह समस्त विश्व जिनके वशीभूत है, उन परम स्वाधीन भगवान् कृष्णने माताके बन्धनमें बँधकर यह दिखला दिया कि 'मैं भक्तोंके वशमें हूँ' ॥ १६ ॥ इस प्रकार मुक्तिदाता भगवानकी जो कृपा ब्रह्मा, महादेव और उनके अंगमें स्थित श्रीलक्ष्मीजीको भी प्राप्त नहीं हुई थी, उसे गोपी यशोदाने पा लिया ॥ २० ॥ गोपिकासुवन कृष्ण जैसी सुगमतासे भक्त पुरुषोंको प्राप्त हो सकते हैं, वैसे अन्य मनुष्यों और अपने आत्मस्वरूप तत्त्वज्ञानियोंको भी नहीं प्राप्त हो सकते ॥ २१ ॥ जिस समय माता घरके काम-धन्धोंमें लग गयीं, उस समय कृष्णचन्द्रकी दृष्टि द्वार-पर खड़े यमलार्जुन नामके दो वृक्षोंपर पड़ी, जो पूर्वजन्ममें यक्षपति कुबेरके पुत्र थे ॥ २२ ॥ पूर्वजन्म-में वे बड़े ऐश्वर्यवान् नलकूबर और मणिग्रीव नामसे विख्यात थे और नारदजीके शापसे इस जन्ममें वृक्षरूप हो गये थे ॥ २३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(यमलार्जुनोद्धारकी कथा) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन् ! अब आप हमको यह बताइये कि नलकूबर और मणिग्रीवके शापका कारण क्या था और उन्होंने ऐसा कौन-सा निन्दनीय कर्म किया था, जिससे देवर्षि नारद क्रुद्ध हो गये ? ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! कुबेरके ये दोनों पुत्र रुद्रके सेवक थे । इसलिये उन्हें बड़ा गर्व था । एक दिन वारुणी मदिरा पीनेसे नशेके कारण उनके नेत्र घूम रहे थे । वे मदोन्मत्त यक्ष कैलासके परम रमणीय श्रीगङ्गाजीके तटपर गाती-बजाती स्त्रियोंके साथ एक पुष्पित उपवनमें घूम रहे थे ॥२-३॥ घूमते-घूमते वे जलक्रीडाके लिये कमलपंक्तियोंसे सुशोभित गङ्गाजीमें उतर गये । जैसे हथनियोंके साथ हाथी विहार करते हैं, वैसे ही युवतियोंके साथ मिलकर वे जलक्रीडा करने लगे ॥ ४ ॥ हे कुरुनन्दन ! तभी दैव-योगसे श्री नारदजी उधर आ निकले । उन्होंने उन यक्ष-युवकोंको देखकर समझा कि ये मतवाले हो रहे हैं ॥ ५ ॥ देवर्षिको देखकर वस्त्रहीन अप्सराओंने तो लज्जावश और शापके भयसे झटपट

तौ दृष्ट्वा मदिरामत्तौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ । तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥७॥

नारद उवाच

नह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः । श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्री द्यूतमासवः ॥८॥
हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः । मन्यमानैरिमं देहमजरामृत्युनश्वरम् ॥९॥
देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविड्भस्मसंज्ञितम् । भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः॥१०॥
देहः किमन्नदातुः स्वं निषेक्तुर्मातुरेव च । मातुः पितुर्वा बलिनः क्रेतुरग्नेः शुनोऽपि वा ॥११॥
एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् । को विद्वानात्मसात् कृत्वा हन्ति जन्तूनृतेऽसतः १२
असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमञ्जनम् । आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥१३॥
यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम् । जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्नतथाविद्धकण्टकः ॥१४॥
दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह । कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः॥१५॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः । इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते॥१६॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः । सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्ध्यति १७
साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् । उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥१८॥
तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः । तमोमदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥१९॥

अपने वस्त्र पहन लिये, किन्तु उन यक्षोंने नहीं पहने ॥ ६ ॥ उन देवपुत्रोंको मद्यपानसे उन्मत्त और ऐश्वर्यमदसे अन्धे देखकर देवर्षि नारदने उनपर कृपा करनेके लिए शाप देते हुए कहा ॥ ७ ॥ नारदजी बोले—विषयोंका सेवन करनेवाले पुरुषको ऐश्वयमद जितना बुद्धि भ्रष्ट करता है, उतना जाति आदिके मद अथवा रजोगुणके कार्य हास्यादि नहीं। क्योंकि ऐश्वर्यके समय स्त्री, द्यूत और मद्य आदिकी ही बहुलता रहा करती है ॥ ८ ॥ ऐश्वर्यमदसे अन्धे, निर्दयी और अजितेन्द्रिय पुरुष अपने नाशवान् शरीरको अजर-अमर मानकर पशुओंकी हत्या करते फिरते हैं ॥ ९ ॥ जो शरीर देव नामसे पुकारा जाता है वह भी अन्तमें कीड़ा, विष्ठा या भस्मरूप हो जाता है। उस शरीरके लिए पुरुष अन्य प्राणियोंसे द्रोह करता है, जिससे कि उसे नरककी प्राप्ति होती है। क्या वह अपना वास्तविक स्वार्थ जानता है ? ॥ १० ॥ इस शरीरको किसकी सम्पत्ति कहें ? अन्न देनेवालेकी, वीर्यदाता पिताकी, उदरमें धारण करनेवाली माताकी, माताके पिताकी, बलवानकी, मोल लेनेवालेकी, अग्निकी या कुत्तोंकी ? ॥ ११ ॥ यह देह अव्यक्तसे उत्पन्न होता और उसीमें लीन हो जाता है। जब कि यह ऐसी साधारण वस्तु है तो असत् पुरुषके सिवा ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो इसे आत्मा मानकर इसके लिए जीवोंका वध करेगा ॥ १२ ॥ जो असत्पुरुष ऐश्वर्यके मदसे अन्धा हो रहा हो, उसके लिये दरिद्रता ही उत्तम अंजन है। क्योंकि दरिद्र पुरुष अन्य जीवोंको भी अपने समान देखता है ॥ १३ ॥ जिस पुरुषके अङ्गमें काँटा गड़ता है, वह जैसे अपनी तथा दूसरे जीवोंकी पीड़ाकी तुल्यताका अन्दाज करके दूसरोंके लिये उस व्यथाका होना नहीं चाहता। वैसे ही वह पुरुष जिसे कि काँटा लगनेकी व्यथाका अनुभव नहीं है, नहीं चाहता ॥ १४ ॥ दरिद्र पुरुष अहंकारसे होनेवाले औद्धत्य और सब प्रकारके मदोंसे रहित होता है। उसे दैवयोगसे जो कष्ट प्राप्त होता, वही उसका परम तप है ॥ १५ ॥ जिसका शरीर क्षुधासे क्षीण हो जाता है और जो सर्वदा अन्नकी चाहमें रहता है, ऐसे दरिद्र पुरुषकी इन्द्रियाँ शीघ्र ही शुष्क हो जाती हैं और उसमें हिंसावृत्ति भी नहीं रह जाती ॥ १६ ॥ समदर्शी साधु पुरुषोंका समागम भी उनको ही होता है। उनके सत्संगसे वह विषयतृष्णाको त्याग देता और शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है ॥ १७ ॥ भगवच्चरणारविन्दोंके रसिक समदर्शी साधु पुरुषोंको दुर्गुणोंसे युक्त एवं धनके मदसे मत्त अतएव उपेक्षणीय दुर्जनोंसे कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥ १८ ॥ इसलिए मैं इन वारुणी मदिरा पीकर मतवाले, ऐश्वर्यसे अन्धे, कामी, इन्द्रियलम्पट यक्षोंका अज्ञानजनित मद दूर कर दूँगा

यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ । न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥२०॥
अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः । स्मृतिःस्यान्मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात्॥२१॥
वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते । वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥२२॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्त्वा स देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् । नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥२३॥
ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः । जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥२४॥
देवर्षिर्मे प्रियतमो यदिमौ धनदात्मजौ । तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मना॥२५॥
इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ । आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग्गतमुलूखलम् ॥२६॥

बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद् दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ ।
निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥२७॥
तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः ।
कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म ॥२८॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः । व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः॥२९॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः । त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः॥३०॥
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी । त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥३१॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः । कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः॥३२॥

॥ १९ ॥ अहो ! लोकपाल कुबेरके पुत्र होकर भी ये मदके कारण अज्ञानमें ऐसे डूबे हुए हैं कि इन्हें अपने नंगेपनका भी ज्ञान नहीं है ॥ २० ॥ अतः ये स्थावरयोनिमें जाने योग्य हैं। जिससे कि इन्हें फिर कभी ऐसा अज्ञान न हो। किन्तु मेरी कृपासे इन्हें उस अवस्थामें भी इस जन्मकी स्मृति बनी रहेगी ॥ २१ ॥ इन्हें सौ दिव्य वर्ष बीतनेपर श्रीवासुदेवकी सन्निधि प्राप्त होगी । तब भगवान्की भक्ति पाकर ये फिर स्वर्गलोकके अधिकारी होंगे ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—ऐसा कहकर देवर्षि नारद भगवान नारायणके आश्रम बदरिकाश्रमको चले गये तथा नलकूबर और मणिग्रीव यमलार्जुन नामक वृक्ष हो गये ॥ २३ ॥ भागवतश्रेष्ठ देवर्षि नारदके वचनोंको सत्य करनेके लिये श्रीहरि जहाँ यमलार्जुन वृक्ष थे, वहाँ धीरे-धीरे पहुँचे ॥ २४ ॥ भगवानने सोचा—'देवर्षि नारद मेरे परमभक्त हैं और ये भी कुबेरके पुत्र हैं। अतः नारदजीने जो कुछ कहा है, उसे मैं पूर्ण करूँगा' ॥ २५ ॥ यह विचारकर श्रीकृष्ण उन दोनों वृक्षोंके बीचमेंसे निकल गये। उनके निकलते ही ऊखल टेढ़ी होकर उनमें फँस गयी। तब जिनकी कमरमें रस्सी कसी हुई थी, उन बालकृष्णने अपने पीछे लुढ़ककर आती हुई ऊखलको ज्योंही जोरसे खींचा, त्योंही उनके परम पराक्रमसे शाखा-प्रशाखा और पत्तों सहित वे पेड़ बड़े जोरसे घोर शब्द करते हुए उखड़कर गिर पड़े ॥ २६-२७ ॥ तत्काल उन वृक्षोंमेंसे अग्निके समान तेजस्वी दो सिद्ध पुरुष अपनी परम दिव्य कान्तिसे सम्पूर्ण दिशाओंको देदीप्यमान करते हुए प्रगटे। उन निर्मल और दिव्य पुरुषोंने समस्त लोकोंके स्वामी श्रीकृष्णचन्द्रको सिर झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहने लगे—॥ २८ ॥ "हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! आप प्रकृतिसे परे आदि पुरुष हैं। वेदवादी ब्राह्मण इस सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त विश्वको आपहीका रूप समझते हैं॥ २९ ॥ आप ही समस्त जीवोंके शरीर, प्राण, आत्मा और इन्द्रियोंके ईश्वर हैं। आप ही काल और अव्यय ईश्वर श्रीविष्णु हैं ॥ ३० ॥ आप ही महत्तत्त्व और सत्त्व-रज-तमोमयी सूक्ष्म प्रकृति हैं तथा आप ही सब अन्तःकरणोंके विकारोंको जाननेवाले सर्वसाक्षी पुरुष हैं ॥ ३१ ॥ जो ग्रहण किये जाते हैं, उन प्राकृत गुणोंके विकारों द्वारा आपका ग्रहण नहीं हो सकता। आप जीवों-की उत्पत्तिसे भी पहले विद्यमान रहते आये हैं। अतः देहादिसे आवृत ऐसा कौन प्राणी है, जो

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे । आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः । तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतैः ॥३४॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च । अवतीर्णोंऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥३५॥
नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल । वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥३६॥
अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ । दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥३७॥
वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः । दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

ज्ञातं मम पुरैवतदृषिणा करुणात्मना । यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥४०॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् । दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा४१
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूबर सादनम् । संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः॥४२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः । बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥४३॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नारदशापो नाम दशमोऽध्यायः॥१०॥

आपको जान पाये ॥ ३२ ॥ आप भगवान वासुदेव और जगत्के विधाता हैं। आपका स्वरूप आपहीके प्रकाशित गुणों द्वारा आच्छादित है। आप साक्षात् परब्रह्म हैं। हम आपको नमस्कार करते हैं ॥ ३३ ॥ साधारण पुरुषोंमें जिनका होना सम्भव नहीं है, ऐसे अनुभव एवं निरतिशय कर्मोंसे जिन देहरहित आपका देहधारियोंमें अवतार माना जाता है, वही सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाले आप सब लोकोंके रक्षार्थ और उन्नतिके लिए इस समय अपनी पूर्ण कलाओंसे अवतार लिये हैं ॥ ३४–३५ ॥ अतः कल्याणस्वरूप और परम मंगलमय आप शान्तस्वरूप और यदुपति भगवान वासुदेवको नमस्कार है ॥ ३६ ॥ हे भगवन् ! हम आपके दासोंके भी दास हैं। देवर्षि भगवान नारदके अनुग्रहसे ही हमें आपका दर्शन हुआ है। अब आप हमें अपने लोक जानेकी आज्ञा दें ॥ ३७ ॥ हे प्रभो ! हमारी वाणी आपके गुणानुवादमें, कान कथाश्रवणमें, हाथ आपहीकी परिचर्यामें, मन आपके चरणकमलोंके चिन्तनमें, सिर आपके निवासस्थानस्वरूप जगत्को प्रणाम करनेमें और नेत्र आपके विग्रहरूप साधुजनोंके दर्शन करनेमें लगे रहें" ॥ ३८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यक्षकुमार नलकूबर और मणिग्रीवके इस प्रकार स्तुति करनेपर रस्सीसे ऊखलमें बँधे हुए भगवान नन्दनन्दनने हँसकर कहा ॥३९॥ श्रीभगवान कहने लगे—मैं यह पहले ही जानता था कि जब तुम दोनों ऐश्वर्यमदसे अन्धे हो गये थे, तब परम दयालु देवर्षि नारदने शाप दे और तुम्हारा ऐश्वर्य नष्ट करके तुमपर अनुग्रह किया था ॥ ४० ॥ जिनका मन निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है, उस समदर्शी महात्माओंके दर्शनसे पुरुषका संसार-बन्धन छूट जाता है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर नेत्रोंका अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥ ४१ ॥ अतएव हे नलकूबर और मणिग्रीव ! तुम दोनों मेरा स्मरण करते हुए अपने घर जाओ। तुम जो चाहते थे, सो संसार-बन्धनको दूर करनेवाला वह मेरा परम प्रेम तुम्हें प्राप्त हो गया है ॥ ४२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवानके ऐसा कहनेपर नलकूबर और मणिग्रीव ऊखलमें बँधे हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी अनेक परिक्रमा और वन्दनाकर तथा उनकी आज्ञा पा उत्तर दिशाको चल दिये ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् । तत्राजग्मुः कुरुश्रेष्ठ निर्घातभयशङ्किताः ॥१॥
भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्यमलार्जुनौ । बभ्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥२॥
उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् । कस्येदं कुत आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥३॥
बाला ऊचुरनेनेति तिर्यग्गतमुलूखलम् । विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि ॥४॥
न ते तदुक्तं जगृहुर्न घटेतेति तस्य तत् । बालस्योत्पाटनं तर्वोः केचित् सन्दिग्धचेतसः॥५॥
उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् । विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥६॥
गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित् । उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥७॥
बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् । बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥८॥
दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् । व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥९॥
क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः । फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः॥१०॥
फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम् । फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च ॥११॥
सरित्तीरगतं कृष्णं भग्नार्जुनमथाह्वयत् । रामं च रोहिणी देवी क्रीडन्तं बालकैर्भृशम्॥१२॥
नोपेयातां यदाऽऽहूतौ क्रीडासङ्गेन पुत्रकौ । यशोदां प्रेषयामास रोहिणी पुत्रवत्सलाम्॥१३॥

(व्रजके गोपोंका गोकुलसे वृन्दावन जाना तथा वकासुरका वध होना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुश्रेष्ठ ! उन वृक्षोंके गिरनेका घनघोर शब्द सुनकर नन्दादि सब गोप वज्रपातकी आशङ्कासे वहाँ जुट गये ॥ १ ॥ उन्होंने पहुँचकर दोनों अर्जुन-वृक्षोंको गिरे देखा और यद्यपि उन्हें गिरानेवाले बालरूप भगवान कृष्ण उनके सामने ही रस्सीसे ऊखलमें बँधे उसे खींच रहे थे, तथापि उनके पतनका कारण निश्चित नहीं कर सके । इससे वे बड़े भ्रममें पड़ गये और 'यह किसका किया उपद्रव है ? ऐसा क्यों हुआ !' इस तरह आश्चर्य करते हुए उत्पातकी आशंकासे व्याकुल हो गये ॥२–३॥ इसी समय कुछ बालकोंने कहा—वृक्षोंके बीचसे कृष्णने ही ऊखल टेढ़ीकर और जोरसे खींचकर इन्हें गिराया है । हमने तो इनमेंसे निकले हुए दो दिव्य पुरुषोंको भी देखा है ॥ ४ ॥ किन्तु गोपोंने उनकी बात सच नहीं मानी । वे कहने लगे—"एक नन्हा-सा बालक इतने पुराने वृक्षोंको उखाड़ डाले, यह नहीं हो सकता ।" उसमेंसे कुछको कृष्णके पूर्व चरित्रका स्मरण आ जानेसे संशय भी हुआ ॥ ५ ॥ नन्दजीने देखा कि सचमुच उनका बालक रस्सीसे बँधा ऊखल घसीट रहा है, तब उन्होंने हँसते हुए बन्धन खोल डाला ॥ ६ ॥ इसी प्रकार भगवान कृष्ण अनेकों बाललीलाएँ करने लगे । वे कभी गोपियोंके फुसलानेसे साधारण बालकोंके समान नाचने लगते, कभी कठपुतलीके समान उनके वशमें होकर उनके कहनेसे अनजान बालकके सामान जोर-जोरसे गाने लगते ॥ ७ ॥ कभी आज्ञा देनेपर पीढ़ा, बाँट या खड़ाऊँ आदि उठाकर लाते और कभी अपने कुटुम्बियोंको आनन्दित करते हुए ताल ठोकने लगते थे ॥ ८ ॥ इसी प्रकार लोकमें ज्ञानी पुरुषोंको अपनी भक्त-परवशता दिखानेके निमित्त वे विविध बाललीलाएँ करते हुए व्रजवासियोंको आनन्दित करने लगे ॥ ९ ॥ एक दिनकी बात है कि एक फल बेचनेवाली यह कहकर पुकार रही थी कि—'फल ले लो, फल ।' यह सुनकर सब प्रकारके फल देनेवाले भगवान कृष्ण तुरन्त अनाज लेकर फल लेने दौड़ गये ॥ १० ॥ अचानक भगवानके हाथोंका अन्न बिखर गया । तब फल बेचनेवालीने उनके दोनों हाथ फलोंसे भर दिये और भगवानने उसका पात्र रत्नोंसे भर दिया ॥ ११ ॥ यमलार्जुन वृक्ष उखाड़नेके बाद एक दिन राम और कृष्ण अन्य बालकोंके साथ बहुत देरतक यमुना-तटपर खेलते रहे । उसी समय उन्हें बुलानेको श्रीरोहिणीजी गयीं ॥ १२ ॥ किन्तु वे खेलमें ऐसे मग्न थे कि उनके बुलानेसे भी नहीं आये । तब रोहिणीजीने उन्हें

क्रीडन्तं सा सुतं बालैरतिवेलं सहाग्रजम् । यशोदाजोहवीत् कृष्णं पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ॥१४॥
कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब । अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तः क्रीडाश्रान्तोऽसि पुत्रक॥१५
हे रामागच्छ ताताशु सानुजः कुलनन्दन । प्रातरेव कृताहारस्तद् भवान् भोक्तुमर्हति॥१६॥
प्रतीक्षते त्वां दाशार्ह भोक्ष्यमाणो व्रजाधिपः । एह्यावयोः प्रियं धेहि स्वगृहान् यात बालकाः॥१७॥
धूलिधूसरिताङ्गस्त्वं पुत्र मज्जनमावह । जन्मर्क्षमद्य भवतो विप्रेभ्यो देहि गाः शुचिः॥१८॥
पश्य पश्य वयस्यांस्ते मातृमृष्टान् स्वलङ्कृतान् । त्वं च स्नातः कृताहारो विहरस्व स्वलंकृतः॥१९॥
इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप ।
हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम् ॥२०॥
गोपवृद्धा महोत्पातानन्नुभूय बृहद्वने । नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ॥२१॥
तत्रोपनन्दनामाऽऽह गोपो ज्ञानवयोऽधिकः । देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः॥२२॥
उत्थातव्यमितोऽस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः । आयान्त्यत्र महोत्पाता बालानां नाशहेतवः॥२३॥
मुक्तः कथञ्चिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ । हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥२४॥
चक्रवातेन नीतोऽयं दैत्येन विपदं वियत् । शिलायां पतितस्तत्र परित्रातः सुरेश्वरैः ॥२५॥
यन्न म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः । असावन्यतमो वापि तदप्यच्युतरक्षणम् ॥२६॥
यावदौत्पातिकोऽरिष्टो व्रजं नाभिभवेदितः । तावद् बालानुपादाय यास्यामोऽन्यत्र सानुगाः॥२७

लानेके लिए पुत्रवत्सला यशोदाको भेजा ॥ १३ ॥ पुत्रस्नेह वश माता यशोदाके स्तनोंमें दूध भर आया था। बहुत देरसे खेलते हुए बालकोंके साथ बलराम सहित अपने पुत्र कृष्णको वे जोर-जोरसे पुकारने लगीं—॥ १४ ॥ "हे कृष्ण ! हे कमलनयन कृष्ण ! हे तात ! तू खेलते-खेलते थक गया है और भूख-से कुम्हला रहा है। बेटा ! आ, अब केल-कूद छोड़कर दूध पी ले ॥ १५ ॥ हे कुलनन्दन भैया राम ! हे तात ! अपने छोटे भाईको लेकर जल्दी आ जाओ। आज तो तुमने सबेरे ही कलेवा किया था। आओ, अब कुछ खा लो ॥ १६ ॥ हे दाशार्ह ! देखो, व्रजराज नन्दजी भोजनके लिये तुम्हारी बाट जोह रहे हैं। आओ, अब हमें सुखी करो। और, ओ बालको ! तुम भी अपने-अपने घर जाओ ॥ १७ ॥ बेटा ! तेरा सारा अङ्ग धूलसे भर गया है। आ, जल्दी स्नान कर। आज तेरा जन्म-दिन है। अतः स्नानादिसे पवित्र होकर ब्राह्मणोंको गोदान दे ॥ १८ ॥ देख, तेरे साथियोंको उनकी माताओंने नहला-धुलाकर कैसे सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहना दिये हैं। तू भी नहा-धोकर भोजनादिसे निवृत्त हो अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण कर ले, तब खेल ॥ १९ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार पुत्र-स्नेहसे बँधी हुई माता यशोदा सब चराचरके मुकुटमणि भगवान कृष्णको पुत्र मानकर बलरामजी के साथ उनका हाथ पकड़कर घर ले गयीं और जो मंगलकृत्य करना था, वह सब किया ॥ २० ॥ गोकुलमें भयङ्कर उत्पात होते देखकर नन्द आदि बूढ़े गोप एकत्रित होकर 'व्रजवासियोंको क्या करना चाहिये' इस विषयमें विचार करने लगे ॥ २१ ॥ उनमें उपनन्दनामके एक ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध गोप थे वे देश, काल और वस्तुका तत्त्व जाननेवाले और राम तथा कृष्णके अत्यन्त हितैषी थे। उन्होंने कहा—॥ २२ ॥ व्रजमें बालकोंका अनिष्ट करनेवाले महान् उत्पात सदा होते रहते हैं। अतएव यदि हम गोकुलकी कुशल चाहें तो हमें यहाँसे चल देना ही उचित है॥ २३ ॥ देखो, पहले यह बालक किसी तरह बालघातिनी पूतनाके पंजेसे बचा। फिर यह कहो कि भगवानकी बड़ी कृपा थी जो इसके ऊपर छकड़ा नहीं गिरा ॥ २४ ॥ उसके बाद इसे बवण्डररूपधारी दैत्य विपत्तिके आश्रयभूत आकाश-में ले गया और जब वह शिलापर गिरा तो वहाँ देवताओंने ही इस बेचारेको बचाया ॥ २५ ॥ यमला-र्जुन वृक्षोंके गिरते समय उनके बीचमें आकर भी यह अथवा कोई दूसरा बालक जो नहीं मरा—वह भी श्रीअच्युत भगवानके द्वारा ही इसकी रक्षा हुई ॥ २६ ॥ अतएव कोई और अनिष्टकारी दैवी

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम् । गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥२८॥
तत्तत्राद्यैव यास्यामः शकटान् युङ्क्त माचिरम् । गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥२९॥
तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधु साध्विति वादिनः । व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥
वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च । अनःस्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरासनाः ॥३१॥
गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः । तूर्यघोषेण महता ययुः सहपुरोहिताः ॥३२॥
गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः । कृष्णलीला जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ३३
तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते । रेजतुः कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥३४॥
वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् । तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥३५॥
वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च । वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥३६॥
एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितैः । कलवाक्यैः स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥३७॥
अविदूरे व्रजभुवः सह गोपालदारकैः । चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥३८॥
क्वचिद् वादयतो वेणुं क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् । क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ॥
वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् । अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥४०॥
कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः । वयस्यैः कृष्णबलयोर्जिघांसुर्दैत्य आगमत् ॥४१॥

अरिष्ट आकर व्रजको न घेरे, उसके पहले ही हम इन बालकोंको लेकर अपने अनुगामी गोपोंके साथ किसी अन्य स्थानको चले चलें ॥ २७ ॥ यहाँसे पास ही नवीन वनावलीसे सुशोभित वृन्दावन नामका एक वन है, जो पशुओंके लिए बहुत ही स्वास्थ्यकर है। उसमें अति पवित्र पर्वत, दूब और लता आदि हैं। वह गोप, गोपी और गौ सभीके रहने लायक है॥ २८ ॥ सो हमलोग वहाँ आज ही चलेंगे, तुमलोग छकड़े जोतो—अब देरी न करो। यदि तुम लोग भी उचित समझो तो गोधन आगे भेज दिये जायँ ॥ २९ ॥ उपनन्दकी बात सभी गोपोंको जँची और उन्होंने 'बहुत ठीक-बहुत ठीक' कहकर उसे एक मतसे स्वीकार किया और अपने-अपने गोधनको एकत्रित करके छकड़ोंपर सामग्री लादी और वृन्दावनको प्रस्थान कर दिया ॥ ३० ॥ हे राजन्! गोपोंने अपना सब समान छकड़ोंपर लादकर उसपर वृद्ध, बालक और स्त्रियोंको चढ़ाया और स्वयं धनुष-बाण लेकर सावधान हो, उसके साथ-साथ चले ॥ ३१ ॥ राहमें उन्होंने गौ और बछड़ोंको आगे किया और उनके पीछे नरसिंघे और तुड़ही बजाते हुए अपने कुल-पुरोहितोंके साथ चले ॥ ३२ ॥ कुचोंमें नवीन कुंकुम लगाये और नूतन वस्त्र तथा गलेमें हवेल पहने वे गोपाङ्गनाएँ रथोंपर चढ़कर अतिशय आनन्दपूर्वक कृष्णचन्द्रकी लीलाएँ गाती हुई वृन्दावनको चलीं ॥ ३३ ॥ अपने बालकोंकी बाललीलाओंको अत्यन्त उत्सुकतासे सुनती हुई यशोदा और रोहिणी कृष्ण और रामके साथ एक ही छकड़ेपर बैठी हुई सुशोभित हो रही थीं ॥ ३४ ॥ इस तरह सभी ऋतुओंमें सुखदायक वृन्दावनमें पहुँचकर गोपोंने अपने छकड़ोंको अर्द्धचन्द्राकाररूपमें खड़ा करके गोधनके रहने योग्य स्थान बनाया ॥ ३५ ॥ हे राजन्! वृन्दावनका वन, गोवर्धन पर्वत तथा यमुनाका तट देखकर राम और कृष्ण बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार मधुर वाणी और बाललीलाओंसे व्रजवासियोंको आनन्दित करते हुए बलराम और कृष्ण कुछ ही समय बाद वत्सपाल हो गये ॥३६–३७॥ अब वे विविध प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो वृन्दावनके पास ही अन्य गोपबालकोंके साथ तरह-तरहके खेल करते हुए बछड़े चराने लगे ॥ ३८ ॥ वहाँ वे कभी वंशी बजाते, कभी ढेले फेंकते, कभी अपने पैरोंके घुँघुरू बजाते और कभी बनावटी गौ या बैल बनकर खेलते थे ॥ ३९ ॥ वे दोनों कभी दो साँड़ोंका स्वाँग बनाकर आपसमें गर्ज-गर्जकर लड़ते तथा कभी साधारण बालकोंके समान मयूर आदि पक्षियोंकी बोली बोलते हुए घूमते थे ॥ ४० ॥ एक दिन जब बलराम और कृष्ण अपने बराबरवाले बालकोंके साथ श्रीयमुनाजीके तटपर बछड़े चरा रहे थे, तब

तं वत्सरूपिणं वीक्ष्य वत्सयूथगतं हरिः । दर्शयन् बलदेवाय शनैर्मुग्ध इवासदत् ॥४२॥
गृहीत्वापरपादाभ्यां सहलाङ्गूलमच्युतः । भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम् ।
स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह ॥ ४३ ॥
तं वीक्ष्य विस्मिता बालाः शशंसुः साधु साध्विति । देवाश्च परिसंतुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः ॥४४॥
तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ । सप्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ विचेरतुः ॥४५॥
स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा । गत्वा जलाशयाभ्याशं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥४६॥
ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम् । तत्रसुर्वज्रनिर्भिन्नं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥४७॥
स वै बको नाम महानसुरो बकरूपधृक् । आगत्य सहसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोऽग्रसद् बली ४८
कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः । बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥४९॥
तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः ।
चच्छर्द सद्योऽतिरुषाक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥५०॥
तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोर्भ्यां बकं कंससखं सतां पतिः ।
पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम् ॥५१॥
तदा बकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः ।
समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवैस्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥५२॥
मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः ।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः ॥५३॥

उन्हें मारनेकी इच्छासे एक दैत्य आया ॥ ४१ ॥ भगवानने देख लिया कि वह बछड़ेका रूप बनाकर अन्य बछड़ोंमें मिल गया है। तब उसे बलरामजीको दिखाकर आप अनजानके समान धीरे-धीरे उसके समीप पहुँच गये ॥ ४२ ॥ श्रीअच्युतने पूँछ सहित उसके दोनों पिछले पैर पकड़ और उसे अन्तरिक्षमें घुमाकर एक कैथेके पेड़पर फेंक दिया। जिससे वह प्राणहीन होकर कैथेके कई वृक्षोंको गिराता हुआ पृथिवीपर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥ यह देखकर सब विस्मित गोपबालकोंने 'साधु-साधु' कहा और देवताओंने सन्तुष्ट होकर उनपर पुष्प बरसाये ॥ ४४ ॥ इस तरह लोकोंका पालन करनेवाले राम और कृष्ण वत्सपाल होकर अपना कलेवा साथ लेकर जाते और वनमें बछड़े चराते हुए घूमा करते थे ॥ ४५ ॥ एक दिन सब ग्वालबाल अपने-अपने बछड़ोंको जलाशयपर जल पिलाने ले गये और उन्हें जल पिलाकर उन्होंने स्वयं भी जल पिया ॥ ४६ ॥ तब बालकोंने वहाँ बैठा हुआ एक बहुत बड़ा जीव देखा, जो वज्रसे कटकर गिरे पर्वतशिखरके समान था। उसे देखते ही सब भयभीत हो गये ॥ ४७ ॥ वह बकासुर नामका महादैत्य था, जो बगुलेका रूप धारण करके आया था। उस तीक्ष्ण चोंचवाले महाबली दैत्यने अचानक झपटकर श्रीकृष्णको निगल लिया ॥ ४८ ॥ भगवान कृष्णको एक भीमकाय बगुलेके मुखमें समाये देख बलराम आदि सब ग्वालबाल ऐसे अचेत हो गये, जैसे प्राणके बिना इन्द्रियाँ अचेत हो जाती हैं ॥ ४९ ॥ जगद्गुरु और ब्रह्माके भी पिता गोपालनन्दन कृष्ण बकासुरके मुखमें जाकर उसकी तालुको अग्निके समान जलाने लगे। तब उसने उनको किसी प्रकारकी क्षति पहुँचाये बिना ज्योंका त्यों तुरन्त उगल दिया और फिर अत्यन्त कुपित होकर उन्हें चोंचसे मारनेके लिये झपटा ॥ ५० ॥ कंसके मित्र बकासुरके आक्रमण करते ही देवताओंके आनन्द-दाता और सत्पुरुषोंके स्वामी भगवान कृष्णने दोनों हाथोंसे उसकी चोंच पकड़ ली और सब ग्वाल-बालोंके देखते-देखते उसे सरकण्डेके समान खेल-खेलमें चीर डाला ॥ ५१ ॥ तब स्वर्गलोकवासी देवताओंने बकासुरके शत्रु भगवान कृष्णपर नन्दनवनके मल्लिका आदि फूलोंकी वर्षा की और नगाड़े तथा शंखादि बजाते हुए उनकी स्तुति करने लगे। यह देखकर सब ग्वालबालोंको बड़ा आश्चर्य हुआ

श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः । प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥५४॥
अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोऽभवन् । अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतं पूर्वं यतो भयम् ॥५५॥
अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः । जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥५६॥
अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याःसन्ति कर्हिचित् । गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥५७॥
इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा । कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥५८॥
एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे । निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे वत्सबकवधो नामैकादशोऽध्यायः

द्वादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात् प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥१॥
तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥२॥
कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् । चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥३॥
फलप्रवालस्तवकसुमनःपिच्छधातुभिः । काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥४॥

॥ ५२ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रको बगुलेके मुखसे निकलकर अपने पास आते देखकर बलराम आदि सभी बालकोंको ऐसा आनन्द हुआ, जैसे प्राणोंके लौट आनेसे इन्द्रियोंको सुख होता है। वे अतिशय प्रसन्नतापूर्वक उनके गले लगकर मिले और फिर अपने-अपने बछड़ोंको लेकर व्रजमें आये। घरपर आकर उन्होंने सबसे वह सारा वृत्तान्त कहा ॥५३॥ कृष्णका अद्भुत चरित्र सुनकर गोपियों और गोपोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और जैसे कोई प्रियजन मरकर लौट आवे, उसी प्रकार वे उन्हें अत्यन्त प्रेम और आदरपूर्वक आकुल नयनोंसे निहारने लगे ॥ ५४ ॥ वे आपसमें कहते थे—अहो! आश्चर्यकी बात है, इस बालकको मृत्युने कई बार घेरा, परन्तु जिन्होंने इसे भय उपस्थित किया, उन्हींका अनिष्ट हुआ—इसका कुछ नहीं बिगड़ा ॥५५॥ अहो! वे भयंकर असुर इसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर पाये। उलटे इसे मारनेकी इच्छासे आनेवाले दैत्य अग्निपर गिरे पतङ्गके समान स्वयं नष्ट हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ ब्रह्मवेत्ताओंके वचन मिथ्या नहीं होते। देखा न, भगवान गर्गने जो-जो बातें कहीं थीं, वे सब ज्योंकी त्यों सच होती जा रही है ॥ ५७ ॥ हे राजन्! नन्दादि गोपगणोंको कृष्ण-बलरामकी कथावार्ताओंसे आनन्दपूर्वक रमण करते रहनेके कारण कोई सांसारिक कष्ट नहीं होता था ॥ ५८ ॥ इसी तरह व्रजमें 'आँखमिचौनी' 'पुल बाँधना' और 'बन्दरकी भाँति उछलना' आदि बाल्यावस्थाके अनेक खेल खेलते-खेलते भगवान कृष्ण और बलदेवकी कुमारावस्था बीत चली ॥ ५९ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामयिकी'भाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(अघासुरवध) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! एक दिन भगवान सवेरे उठे और वनहीमें कलेवा करनेके विचारसे अपने नरसिंघेके मनोहर शब्दसे साथवाले ग्वालबालोंको जगाते हुए बछड़ोंको आगे करके व्रजमण्डलसे निकले ॥ १ ॥ उनके साथ उनके प्रेमी सहस्रों बालक सुन्दर छींके, लाठी, नरसिंघे और बाँसुरी ले तथा अपने सहस्रसे ऊपर बछड़ोंको आगे करके प्रसन्नतापूर्वक गांवसे बाहर आये ॥ २ ॥ उन सबने कृष्णचन्द्रके सहस्रों बछड़ोंके साथ अपने भी बछड़े मिला दिये और उन्हें चराते तथा जहाँ-तहाँ नाना प्रकारकी बाललीलाएँ करते हुए विचरने लगे ॥ ३ ॥ यद्यपि वे

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः। तत्रत्याश्च पुनर्दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥५॥
यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्। अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥६॥
केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केचन। केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैःपरे७
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः। बकैरुपविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥८॥
विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान्। विकुर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥९॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः। विहसन्तःप्रतिच्छायाःशपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥१०॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥११॥
यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥१२॥
अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥१३॥
दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः।
अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयोर्द्वयोर्ममैनं सबलं हनिष्ये ॥१४॥

सब बालक काच, गुञ्जा, मणि तथा सुवर्णके आभूषणोंसे आभूषित थे। तथापि उन्होंने अपने आपको विविध प्रकारके फल, पत्ते, गुच्छे, फूल, मयूरपुच्छ और गेरू आदि धातुओंसे अलंकृत कर रखा था ॥ ४ ॥ वे एक-दूसरेकी छींका आदि वस्तुएँ चुरा लेते और जब छींकेवालेको इसका पता लगता तो उसे चुरानेवाला किसी दूसरेके पास फेंक देता और दूसरा और भी दूर फेंक देता था। जब छींकेवाला तंग हो जाता तो वे हँसते हुए उसे उसका छींका आदि लौटा देते थे ॥ ५ ॥ भगवान कृष्ण वनकी शोभा देखनेके लिए कभी कुछ आगे बढ़ जाते तो 'पहले मैं छूऊँगा—पहले मैं छूऊँगा' इस प्रकार चिल्लाते हुए ग्वाल-बाल उन्हें छूकर आनन्दित होते थे ॥ ६ ॥ कोई बाँसुरी बजाता, कोई नरसिंहेका शब्द करता, कोई भ्रमरोंके साथ गाकर और कोई बालक कोयलोंके साथ कूक-कूककर आनन्दित होता था ॥ ७ ॥ कोई आकाशमें उड़ता, कोई पक्षियोंकी छायाके साथ दौड़ता, कोई हंसों-के साथ चलता, कोई बगुलोंके पास उन्हीं जैसा बैठ जाता और कोई मयूरोंके साथ मिलकर नाचने लगता था ॥ ८ ॥ कोई बन्दरके बच्चोंको पकड़कर खींचता और उन्हींके साथ आप भी वृक्षपर चढ़ जाता तथा उनकी ओर मुँह बनाकर घुड़कते हुए एक शाखासे दूसरी शाखापर उछलता फिरता था ॥ ९ ॥ कोई यमुना नदीकी कछारमें बहते थोड़ेसे जलमें गोता लगाता और फुदकते हुए मेढकोंके साथ आप भी फुदकने लगता था। कोई अपनी ही प्रतिध्वनिको भला-बुरा कहने लग जाता था॥१०॥ हे राजन्! इस तरह तत्त्वज्ञानी सत्पुरुषोंके लिए ब्रह्मानन्दानुभवस्वरूप, दास्यभावको प्राप्त भक्तजनोंके लिये परमदेवता और मायामोहित पुरुषोंके लिये मनुष्य बालकरूप श्रीकृष्णचन्द्रजीके साथ वे भाग्य-वान् गोपकुमार सुखपूर्वक खेलते थे ॥ ११ ॥ अनेक जन्मतक कष्ट सहकर अपनी इन्द्रियों तथा मनका संयम करनेवाले योगियोंको भी जिनकी चरणधूलि प्राप्त होना कठिन था, वे भगवान जिनकी दृष्टिके सामने सदा विद्यमान रहते थे, उन व्रजवासियोंके भाग्यका वर्णन कैसे किया जाय? ॥ १२ ॥ हे राजन्! इसके बाद एक दिन बालकोंकी आनन्दमयी क्रीडाको न देख सकनेवाला अघासुर नामक महाभयङ्कर दैत्य वहाँ आया। देवगण अमृत पीकर अमर हो गये थे, फिर भी अपनी प्राणरक्षाके लिये वे इसके छिद्र अर्थात् मृत्युके अवसरकी प्रतीक्षा किया करते थे ॥ १३ ॥ अघासुर पूतना और बकासुरका छोटा भाई था। वह कंसकी आज्ञासे व्रजमें आया और कृष्ण आदि बालकोंको देखकर विचार करने लगा—यह मेरे सहोदर भाई और बहिन—दोनोंका घातक है। अतः मैं इसे आज

एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः ।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥१५॥
इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः स योजनायाममहाद्रिपीवरम् ।
धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशया खलः ॥१६॥
धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः ।
ध्वान्तान्तरास्यो विततावजिह्वः परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥१७॥
दृष्ट्वा तं तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम् । व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया॥१८॥
अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम् । अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा॥१९॥
सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद्घनम् । अधराहनुवद् रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम्॥२०॥
प्रतिस्पर्धेते सृक्किभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे । तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येतास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत॥२१॥
आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति । एषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥२२॥
दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद् भाति पश्यत । तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥२३॥
अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टानयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति ।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥२४॥
इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं श्रुत्वा विचिन्त्येत्य मृषा मृषायते ।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे ॥२५॥

इसके साथियों सहित मार डालूँगा ॥ १४ ॥ ये सब मरकर जब मेरे मृत बन्धुओंके लिये तिलोदकरूप कर दिये जायँगे तो सब व्रजवासी मेरे जैसे ही हो जायँगे। क्योंकि सन्तान ही प्राणियोंके प्राण होते हैं। अतएव इन प्राणोंके नष्ट हो जानेपर शरीरकी चिन्ता ही क्या रहेगी ?' ॥१५॥ ऐसा विचारकर उस दुष्ट दैत्यने एक योजन लम्बे महापर्वतके समान अत्यन्त स्थूल, बड़ा विचित्र और बहुत लम्बा-चौड़ा अजगरका रूप धारण किया और उन सब बालकोंको निगल जानेके लिए कन्दराके समान अपना मुख फैलाकर रास्तेमें लेट गया ॥ १६ ॥ उसका अधर पृथिवीसे और ओष्ठ मेघमण्डलसे मिला हुआ था। उसके भयानक जबड़े कन्दराओंके समान थे। दाढ़ें गिरिशिखर जैसी थीं। मुखके भीतर घोर अन्धकार था। जिह्वा एक चौड़ी और लाल सड़क जैसी मालूम देती थी। उसका श्वास प्रचण्ड वायुके सदृश था और नेत्र दावानलके समान प्रज्वलित हो रहे थे ॥ १७ ॥ अघासुरका ऐसा भीषण रूप देखकर बालकोंने इसे भी वृन्दावनकी शोभा समझी और वे कौतुकवश अजगरके खुले हुए मुखसे उसकी तुलना करने लगे ॥ १८ ॥ वे बोले—"मित्रों ! भला कहो तो, सामने जो यह कोई जीव-सा बैठा हुआ है, क्या यह हमें निगलनेके लिये अजगरका खुला हुआ मुख जैसा नहीं मालूम देता ? ॥ १९ ॥ देखो, सूर्यकी किरणें पड़नेसे लाल-लाल मेघमण्डल ठीक इसके ऊपरी ओंठ जैसा मालूम होता है और इसकी परछाईंसे नीचेकी भूमि कुछ लाल हो जानेसे नीचेका ओंठ जान पड़ती है॥२०॥ देखो, ये दायीं और बायीं ओरकी गिरिकन्दरायें इसके जबड़ोंसे होड़ करती हैं और ऊँची-ऊँची शिखर-पंक्तियाँ इसकी दाढ़ें जैसी दीखती हैं ॥ २१ ॥ यह चौड़ी सड़क इसकी जीभ-सी जान पड़ती है और भीतरका अन्धकार मुखके आन्तरिक शून्यभाग जैसा दीखता है ॥ २२ ॥ यह दावानलके समान उष्ण है और तीक्ष्ण वायु इसके श्वास-सा जान पड़ता है और इसके दग्ध जीवोंकी दुर्गन्धि अजगरके भीतरसे निकले मांसकी दुर्गन्धि जैसी मालूम होती है ॥ २३ ॥ इसके भीतर जानेपर क्या यह हमें निगल जायगा ? किन्तु यदि ऐसा करेगा तो बकासुरके समान यह एक क्षणमें ही हमारे कन्हैयाके हाथसे मारा जायगा।" ऐसा कहकर बालकोंने बकासुरको मारनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रके सुन्दर मुखकी ओर देखा और ताली बजाकर हँसते हुए सब उसके मुखमें घुस गये ॥ २४ ॥ उन अज्ञानी बालकोंकी परस्पर

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं परं न गीर्णाः शिशवः सवत्साः ।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ॥२६॥
तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान् घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ॥२७॥
कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं न वा अमीषां च सतां विहिंसनम् ।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ॥२८॥
तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः । जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ॥२९॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययःसार्भवत्सकम् । चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ॥३०॥
ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्धन् विनिष्पाट्य विनिर्गतो बहिः ॥३१॥
तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान् ।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनर्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ॥३२॥
पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद् दिशो दश ।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥३३॥
ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः ।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥३४॥

कही हुई भ्रमपूर्ण बातें सुनकर भगवानने सोचा कि इन्हें सत्य सर्प भी मिथ्या-सा प्रतीत हो रहा है। भगवान तो सर्वान्तर्यामी थे। वे जान गये कि यह राक्षस है और उन्होंने अपने साथियोंको उसके मुखमें जानेसे रोकनेका विचार किया॥ २५॥ किन्तु तबतक वे सब उस दैत्यके उदरमें घुस गये, तो भी अघासुरने बछड़ों सहित उन बालकोंको नहीं निगला। क्योंकि वह अपने स्वजनों (भाई-बहिन) के वधका स्मरणकर बकासुरके शत्रु श्रीकृष्णचन्द्रके प्रवेश करनेकी बाट जोह रहा था॥ २६॥ सबके अभयदाता भगवान कृष्णचन्द्रने देखा कि उन बालकोंका मेरे सिवाय कोई और रक्षक नहीं है। वे दीन बालक मेरे हाथोंसे निकलकर मृत्युके जठरानलके ग्रास बन चुके हैं। अतएव उन्हें उनपर बड़ी दया आयी और साथ ही दैवकी विचित्र लीलापर आश्चर्य हुआ॥ २७॥ वे सोचने लगे कि 'अब क्या करें, जिससे इस दुष्टका मरण हो और भोले-भाले बालकोंकी हत्या न हो। किन्तु ये दोनों काम कैसे हों?' इस तरह सोचते-सोचते सर्वद्रष्टा भगवान अपना कर्तव्य समझकर स्वयं भी उसके मुखमें घुस गये। भगवानके प्रवेश करनेपर अघासुरने जब उन्हें, बछड़ों और बालकोंको चूर्ण करना चाहा, उसी समय अविनाशी भगवान कृष्णने देवताओंका हाहाकर सुनकर उस असुरके गलेमें अपना शरीर बढ़ा दिया॥२८–३०॥ इससे उस अतिकाय असुरका कण्ठ रुँध गया, उसके नेत्र बहार निकल आये और वह व्याकुल होकर छटपटाने लगा। जब श्वास रुक जानेसे उसका शरीर वायुसे भर गया, तब वह ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर बाहर निकल आया॥ ३१॥ जब प्राणके साथ-साथ उसकी सब इन्द्रियाँ भी शरीरसे बाहर निकल गयीं तो भगवानने मरे हुए बछड़ों और ग्वाल-बालोंको अपनी अमृतमयी दृष्टिसे जीवित कर दिया और सबको साथ लेकर वे अघासुरके मुखसे बाहर निकल आये॥ ३२॥ उस समय उस महासर्पके शरीरसे एक अति अद्भुत और महान् ज्योति निकली, जो अपने प्रकाशसे सब दिशाओं-को प्रकाशित करती हुई भगवानके बाहर आनेकी प्रतीक्षामें आकाशमें रुकी रही और उनके बाहर निकलते ही सब देवताओंके देखते-देखते उन्हींमें समा गयी॥ ३३॥ उस समय देवताओंने फूल बरसाकर, अप्सराओंने नाचकर, गन्धर्वोंने गाकर, विद्याधरोंने बाजे बजाकर, ब्राह्मणोंने स्तुति-पाठ कर और पार्षदोंने जयजयकार करके अपना कार्य करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रका अतिशय आनन्दपूर्वक

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिकाजयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद् दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥३५॥
राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम् । व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥३६॥
एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम् । मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे३७
नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥३८॥
सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥३९॥

सूत उवाच

इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम् ।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥ ४० ॥

राजोवाच

ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् । यत् कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः॥४१॥
तद् ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो । नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥४२॥
वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः । यद् पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ।

सत्कार किया ॥ ३४ ॥ उन अद्भुत स्तुति, सुन्दर बाजे, गीत और जयजयकारके शब्दोंसे युक्त अनेक प्रकारके आनन्दोत्सवकी मङ्गलध्वनि अपने लोकके पास सुनकर श्रीब्रह्माजी शीघ्र ही वहाँ आ गये और उन जगत्पतिकी महिमा देखकर बड़े विस्मित हुए ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! उस मरे हुए अजगरका अद्भुत चर्म वृन्दावनमें सूखकर बहुत दिनोंतक व्रजवासी बालकोंके खेलनेके लिए एक गुफा-सा बना रहा ॥ ३६ ॥ अजगररूप कालके मुखसे अपनी बचाव तथा उस सर्पका मोक्ष—यह भगवानका कौमार अर्थात् पाँच वर्षकी अवस्थाका काम था, किन्तु बालकोंने उनकी पौगण्ड अर्थात् छ सालकी अवस्थामें व्रजमें जाकर अति आश्चर्यपूर्वक वर्णन किया ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! जिनके अङ्गस्पर्शसे निष्पाप होकर अघासुर-जैसे पापीने भी वह गति पायी, जो असत् पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। उन परावर जगत्के विधाता और मायासे ही मानव बालकका रूप धारण करनेवाले श्रीहरिके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी ॥ ३८ ॥ जिनकी मूर्तिकी मनोमयी प्रतिमा अन्तःकरणमें केवल एक बार धारण करनेसे प्रह्लाद आदिको भागवती गति प्राप्त हुई, उन्हीं नित्य आत्मानन्दानुभवस्वरूप और मायातीत भगवानने जिसके भीतर स्वयं प्रवेश किया, उसकी सद्गतिमें क्या संशय हो सकता था ? ॥३९॥ सूतजी कहते हैं—हे द्विजगण ! यदुवंशियोंके कुलदेव भगवान कृष्णने जिन्हें जीवनदान दिया था, उन महाराज परीक्षितने अपने प्राणदाताका यह विचित्र चरित्र सुनकर व्याससुवन श्रीशुकदेवजीसे फिर उन्हींकी पवित्र लीलाओंके विषयमें प्रश्न किया। क्योंकि इस समय उनका मन हरिचर्चामें ही लीन था ॥ ४० ॥ राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन् ! जो कर्म दूसरे समय किया गया, वह उसी समय किया हुआ कैसे हो सकता है ? फिर भगवानकी कौमारावस्थामें किये कर्मको बालकोंने उनकी पौगण्डावस्थामें कैसे बतलाया ? ॥ ४१ ॥ हे गुरो ! आपकी इस बातसे मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। हे महायोगिन् ! इसका क्या रहस्य है, सो मुझे बतलाइये । अवश्य इसमें भगवानकी कोई माया होगी । क्योंकि और किसी प्रकार ऐसा नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥ हे गुरुवर ! हम क्षत्रिय होकर भी संसारमें बड़े ही भाग्यवान् हैं, जो बारम्बार आपके मुखसे निकले परमपवित्र कृष्णकथारूप

सूत उवाच

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिस्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम । यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥१॥
सतामयं सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता ॥२॥
शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते । ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥३॥
तथाघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान् । सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥४॥
अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छबालुकम् ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिकध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम् ॥५॥
अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः । वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥६॥
तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले । मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥७॥

अमृतका पान करते हैं ॥ ४३ ॥ श्रीसूतजी बोले—हे भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ शौनकजी ! इस प्रकार राजा परीक्षित्के पूछनेपर श्रीअनंतका स्मरण हो आनेके कारण व्यासनंदन शुकदेवजीकी सब इन्द्रियाँ वृत्तिशून्य हो गयीं। उन्होंने बड़ी कठिनतासे धीरे-धीरे वहाँसे शून्यता हटाकर फिर बाह्य दृष्टि प्राप्त की और राजा परीक्षित्से इस प्रकार कहने लगे ॥४४॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(ब्रह्माजीका मोह और उस मोहका नाश) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे महाभाग ! हे भागवतप्रधान ! तुम्हारा प्रश्न बड़ा उत्तम है। तुम भगवानकी कथाएँ सुन-सुन और उसपर नये-नये प्रश्न करके उसे नवीन बना देते हो ॥ १ ॥ जिन्होंने अपने मन, वाणी और कर्म भगवानकी वार्तामें ही लगा दिये हैं, उन सारसंग्रही साधुओंका यह स्वभाव ही होता है कि उन्हें श्रीभगवानकी कथाएँ क्षण-क्षणमें नवीन मालूम होती हैं। जैसे स्त्रैण पुरुषोंको स्त्रीविषयक चर्चामें नये-नये रसका अनुभव होता है ॥ २ ॥ हे राजन् ! तुम सावधान मनसे सुनो। मैं तुम्हें एक परम गुप्त बात बताता हूँ। क्योंकि गुरुजन अपने प्रिय शिष्यसे गुप्त रहस्य भी कह देते हैं ॥ ३ ॥ भगवानने अपने साथी ग्वालबालोंको मृत्युरूप अघासुरके मुखसे बचाया और फिर उन्हें यमुनातटपर लाकर उनसे कहा—॥ ४ ॥ मित्रों ! देखो, यह यमुनाजीका तट कितना सुन्दर है ? यहाँ हमारे खेलनेकी सब सामग्री प्रस्तुत है। यहाँकी बालुका बड़ी कोमल और स्वच्छ है। यह स्थान खिले हुए कमलोंकी सुवाससे आकृष्ट भ्रमरोंके गुंजारों तथा पक्षियोंके कलरवोंकी प्रतिध्वनिसे सुशोभित हो वृक्षोंसे कैसा हरा-भरा दीखता है ? ॥५॥ हे भाई ! दिन भी चढ़ गया है, हम लोग भूखसे कष्ट पा रहे हैं। आओ, यहाँ बैठकर भोजन करें और हमारे बछड़े भी पास ही पानी पीकर धीरे-धीरे चरें ॥ ६ ॥ कृष्णचन्द्रके ऐसा कहनेपर सब बालकोंने 'बहुत अच्छा' कह और बछड़ोंको पानी पिलाकर चरनेको छोड़ दिया और अपने-अपने

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः ।
सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥८॥
केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः । शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः॥९॥
सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् । हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥१०॥
बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥११॥
भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु । वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः॥१२॥
तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् । मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम्१३
इत्युक्त्वाद्रिदरीकुंजगह्वरेष्वात्मवत्सकान् । विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ१४
अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं मंजु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् ।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्खेऽवस्थितो यः पुरा दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥
ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् । उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥१६॥
क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् । सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥१७॥
ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च । उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥१८॥

छींके खोलकर प्रसन्नतापूर्वक भगवानके साथ भोजन करने बैठे ॥७॥ कृष्णदर्शनके आनन्दसे जिनके नेत्र खिले थे, वे सब ग्वालबाल पंक्ति बनाकर भगवानके चारों ओर उन्हींकी तरफ मुँह करके एक-दूसरेसे सटकर बैठे। उन वनमें कृष्णचन्द्रके चारों ओर वे ऐसे मालूम देते थे, जैसे किसी कमलकी कर्णिकाके चारों ओर छोटे-छोटे दल फैले हों ॥ ८ ॥ उनमेंसे कोई फूलोंपर, कोई पत्तोंपर, कोई नयी कोपलोंपर, कोई अंकुरों तथा कोई फलोंपर, कोई छालपर और कोई पत्थरपर ही अपनी भोजन सामग्री रखकर खाने लगे ॥ ९ ॥ भगवान कृष्णके साथ वे सभी बालक भोजनमें अपनी भिन्न-भिन्न रुचि दिखाते और एक-दूसरेको हँसाते हुए खा रहे थे ॥ १० ॥ यज्ञभागभोक्ता भगवान कृष्ण बाललीलायें करते हुए मुरली फेटेमें कसे, सींग और बेत बगलमें दबाये, बायें हाथमें स्निग्ध ग्रास लिये तथा अँगुलियोंमें फलके अँचार दबाये बीचमें अपने चारों ओर बैठे हुए साथियोंको हँसीकी मीठी बातोंसे हँसाते हुए भोजन करने लगे। स्वर्गवासी देवगण आकाशसे उस समय भगवानकी वह बाललीला देख रहे थे ॥ ११ ॥ हे भारत ! जब सब ग्वालबाल भगवानमें दत्तचित्त होकर भोजन कर रहे थे तो उनके बछड़े नयी-नयी दूबके लोभसे वनमें बहुत दूर निकल गये ॥ १२ ॥ इससे अपने साथी बालकोंको भयभीत देख जगत्के भयको भी भय देनेवाले भगवानने कहा—"मित्रो ! तुम लोग भोजन करो। रुको मत, मैं बछड़ोंको अभी हाँक लाता हूँ" ॥ १३ ॥ ग्वालबालोंसे ऐसा कहकर भगवान कृष्ण हाथमें कौर लिये अपने और साथियोंके बछड़ोंको ढूँढ़ते हुए पर्वत, कन्दरा, कुञ्ज और गह्वरादि अन्यान्य अगम्य स्थानोंमें घूमने लगे ॥ १४ ॥ हे कौरव ! ब्रह्मलोकमें स्थित श्रीब्रह्माजीको अघासुरका मोक्ष देखकर बड़ा विस्मय हुआ था। अतएव कमलयोनि विधाता मायाबालकरूपधारी श्रीहरिकी कोई और मनोहर महिमा देखनेके लिए अवसर जानकर पहले बछड़ोंको चुरा ले गये और फिर बालकोंको भी अन्यत्र ले जाकर अलक्षित हो गये ॥ १५ ॥ श्रीकृष्णचन्द्र बछड़े न मिलनेपर यमुनाजीकी रेतीमें आये तो उन्हें ग्वाल-बाल भी दिखायी नहीं दिये। तब वे वनमें घूम-घूमकर सब ओर खोजने लगे ॥१६॥ जब भगवानने बछड़ों और ग्वालबालोंको वनमें भी कहीं नहीं पाया तो वे विश्ववेत्ता होनेके कारण तुरन्त ब्रह्माकी चालबाजी जान गये ॥१७॥ तब विश्वरचयिता भगवान कृष्णने बच्चोंकी माताओं और ब्रह्माजीका प्रिय करनेके लिये अपने-आपको ही बछड़े और बालकरूप बना लिया। ❀टिप्पणी❀ भगवान चाहते तो ब्रह्माजीके चुराये हुए ग्वाल-

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ १९
स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः । क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् २०
तत्तद्वत्सान् पृथङ्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः । तत्तदात्माभवद्राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान् ॥२१॥
तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम् ।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयःसुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥२२॥
ततो नृपोन्मर्दनमज्जलेपनालङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन् सायं गतो यामयमेन माधवः ॥२३॥
गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान् ।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन् मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥२४॥
गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वा स्नेहर्द्धिकां विना । पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥२५॥
व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् । शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥२६॥
इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः । पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥२७॥
एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत् । पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥२८॥

बाल और बछड़ोंको छुड़ा लाते, किन्तु इससे ब्रह्माजीका मोह न दूर होता और वे भगवानकी दिव्य-मायाका ऐश्वर्य भी न देख पाते। इसलिये भगवान उन ग्वालबाल और बछड़ोंको न लाकर वे स्वयं ग्वालबाल और बछड़े बन गये ॥ १८ ॥ उन सभी बालक और बछड़ोंके जैसे छोटे शरीर और हाथ-पाँव आदि थे। जैसी छड़ी, सींग, बाँसुरी, पत्ते और छींके थे। उनके जैसे वस्त्र और आभूषण थे, जैसे उनके स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्था तथा आहार-विहार थे, सर्वस्वरूप भगवान ठीक उसी प्रकार प्रकट होकर 'सम्पूर्ण जगत विष्णुरूप है' इस कथनको सार्थक करते हुए शोभित हुए ॥ १९ ॥ सर्वात्मा भगवान कृष्ण वत्सरूप अपने-आपको ग्वालबाल-रूपके घेरेमें घेरकर अपने ही साथ विहार करते हुए व्रजमें प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥ व्रजमें जिस-जिस ग्वालबालके जो-जो गाय-बछड़े थे, उन्हें उसी-उसीके रूपसे पृथक्-पृथक् ले जाकर उनके व्रजोंमें घुसा दिया और भिन्न-भिन्न बालकोंके रूपसे भिन्न-भिन्न घरोंमें गये ॥ २१ ॥ बच्चोंकी माताएँ बाँसुरीका शब्द सुनते ही उठ दौड़ीं और साक्षात् परब्रह्मको ही अपने-अपने पुत्र मान उन्हें प्रेमपूर्वक गोदमें उठा लिया और गलेसे लगाकर स्नेहवश स्वयं ही बहता हुआ अपना सुधामधुर स्तन पिलाया ॥ २२ ॥ हे राजन्! इसी प्रकार नित्य सन्ध्या समय लौटकर भगवान अपनी माताओंको अपनी लीलासे आनन्दित करते और वे भी उबटन लगाना, स्नान कराना, चन्दनादिका लेप करना, वस्त्र-आभूषण पहनाना, रक्षा करना, तिलक लगाना और भोजन कराना आदि उपायोंसे उनका लालन-पालन करती रहीं ॥ २३ ॥ इसी तरह गौएँ भी जब जल्दी-जल्दी चलकर अपने व्रजोंमें पहुँचतीं तो हुङ्कारशब्द करके बुलानेपर अपने पास आये हुए अपने-अपने बछड़ोंको जीभसे चाटतीं और उन्हें अपने थनोंसे स्नेहवश बहता हुआ दूध पिलातीं ॥ २४ ॥ भगवानके ऊपर गौ और गोपियोंका पहले ही जैसा मातृभाव बना रहा। हाँ, इस समय स्नेहकी अधिकता थी। भगवानने भी पहलेहीके समान उनपर पुत्रभाव दिखलाया, किन्तु इसमें सम्बन्धका मोह नहीं था ॥ २५ ॥ व्रजवासियोंका पहले जैसे असीम स्नेह था, वैसेही यशोदा-नन्दका श्रीकृष्णमें और अपने पुत्रोंके प्रति अन्य गोपोंका भी स्नेह एक वर्षतक प्रतिदिन बढ़कर असीम होता गया ॥२६॥ इस तरह भगवान अपनेको वत्सपालोंके रूपसे बछड़ेके रूपमें परिवर्तित करके स्वयं उन्हें पालते हुए एक सालतक व्रज और वनमें खेलते रहे ॥ २७ ॥ एक दिन जब कि वर्ष पूरा होनेमें केवल पाँच या छः रात्रियाँ ही बाकी थीं, तब अजन्मा भगवान कृष्ण बलरामजीके साथ बछड़े चराते हुए

ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् । गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम्॥२९॥
दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः ।
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छोऽगाद्धुंकृतैरास्रुपया जवेन ॥३०॥
समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन् । गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ।
गोपास्तद्रोधनायासमौघ्यलज्जोरुमन्युना । दुर्गाध्वकृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ३२
तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥३३॥
ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः । कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥३४॥
व्रजस्य रामः प्रेमर्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् । मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥३५॥
किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि । व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥३६॥
केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी । प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी
इति संचिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि । सर्वानाचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥३८॥
नैते सुरेशा ऋषयो न चैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि ।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत् ॥३९॥

वनमें गये ॥ २८ ॥ उस रोज बहुत दूर गोवर्धनके शिखरपर चरती हुई गौओंने व्रजके पास ही अपने बछड़ोंको चरते देखा ॥ २९ ॥ अपने बछड़ोंको देखते ही गौओंका मन स्नेहविभोर हो गया और वे ग्वालोंके रोकनेकी भी परवा न कर हुङ्कारती हुई उस दुर्गम मार्गमें बड़े वेगसे दौड़ीं। उस समय उनके स्तनोंसे दूध बहता जाता था, उनकी ऊपर उठी हुई गरदन ककुद्के पास सिकुड़ गयी थी और पूँछ उठाकर अत्यन्त वेगसे दौड़नेके कारण वे दो पैरकी ही जान पड़ती थीं ॥ ३० ॥ उन गौओंके यद्यपि और भी बछड़े थे, तो भी वे गोवर्धनको तलैटीमें अपने पहलेवाले बछड़ोंके पास जा उन्हें स्नेहके कारण अपने-आप बहता हुआ दूध पिलाने लगीं। वे उनके अङ्गोंको ऐसे चावसे चाटतीं थीं मानो लील ही जायँगी ॥ ३१ ॥ यद्यपि गोपोंने उन्हें रोकनेका बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वे उसमें सफल नहीं हुए। अतएव जब वे क्रोध और लज्जावश बड़ी कठिनतासे उस दुर्गम मार्गको पारकर वहाँ आये तो उन्होंने बछड़ों सहित अपने बालकोंको भी देखा ॥ ३२ ॥ उन्हें देखते ही उनका मन प्रेमरसमें डूब गया। बालकोंके अनुरागसे उनका क्रोध भी ठण्डा हो गया। उन्होंने अपने-अपने बालकोंको उठाकर हृदयसे लगा लिया और मस्तक सूँघकर अतिशय आनन्दित हुए ॥ ३३ ॥ अपने बालकोंके आलिङ्गन-से वृद्ध गोपोंको बहुत सुख मिला। वे उन्हें छोड़कर बड़ी कठिनतासे जा सके। उनका स्मरण हो आनेके बाद भी उनके नेत्रोंमें जल भर आता था। इधर बलरामजीने देखा कि आज व्रजवासियोंका अपने पुत्रोंपर क्षण-क्षणमें प्रेम बढ़ रहा है और जिन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है, उन बछड़ोंपर भी गौओंका प्रेम अत्यन्त प्रबल है। बहुत विचारकर भी वे इसका कोई कारण नहीं जान सके। अतः मन ही मन सोचने लगे—॥ ३४-३५ ॥ यह कैसी विचित्र बात है! सर्वात्मा भगवानमें व्रजवासियों-का जैसा अपूर्व स्नेह था, वैसा ही अपने पुत्रोंमें भी बढ़ता जा रहा है! ॥ ३६ ॥ यह कैसी माया है और कहाँसे आयी है? यह किसी देवता, मनुष्य या राक्षसकी माया तो नहीं है? मालूम होता है कि यह मेरे प्रभुकी ही कोई लीला है। क्योंकि और किसीकी माया मुझे मोहित नहीं कर सकती ॥ ३७ ॥ यह विचारकर यादवश्रेष्ठ बलरामजीने ज्ञानदृष्टिसे देखा तो सभी बछड़े और ग्वालबाल उन्हें विष्णुरूप दिखलायी पड़े ॥ ३८ ॥ यह देखकर बलरामजीने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—हे भगवन्! ये ग्वाल-बाल और बछड़े तो देवता तथा ऋषि कोई भी नहीं हैं। इन भिन्न उपाधियोंमें केवल आप ही आप दीख रहे हैं। अब कृपया मुझे स्पष्टरूपसे बतलाइये कि यह सब कैसे हुआ? भगवानके बत-

तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा । पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥४०॥
यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि । मायाशये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः॥४१॥
इत एतेऽत्र कुतस्त्या मन्मायामोहितेतरे । तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम्॥४२॥
एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा स आत्मभूः । सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥४३॥
एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् । स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः ॥४४॥
तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि । महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥४५॥
तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् । व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥४६॥
चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः । किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः॥४७॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः । नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥४८॥
अङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः । कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥४९॥
चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः । स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः॥५०॥
आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः । नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः॥५१॥
अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः । चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः॥५२॥
कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः । स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥५३॥
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः । अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥५४॥

लानेपर बलभद्रजीको ब्रह्माके मोहका वृत्तान्त ज्ञात हुआ ॥ ३९ ॥ इसी बीच अपना त्रुटिमात्र अर्थात् बहुत ही थोड़ा काल बीतनेपर स्वयम्भू ब्रह्माने आकर देखा कि भगवान पहलेके समान बछड़ों और ग्वालबालोंके साथ व्रजमें एक सालसे क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४० ॥ यह देखकर ब्रह्मा सोचने लगे—गोकुलके जितने ग्वालबाल और बछड़े थे, उन्हें मैं अपनी मायासे अचेत कर आया था। वे अबतक सचेत नहीं हुए ॥ ४१ ॥ तब मेरी मायासे मोहित ग्वालबाल और बछड़ोंके सिवा ये उतने ही बालक तथा बछड़े कहाँसे आ गये, जो एक सालसे भगवानके साथ क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ ४२ ॥ उन ग्वालबाल और बछड़ोंके विषयमें बहुत कुछ सोच-विचारकर भी आत्मयोनि ब्रह्माजी यह निर्णय नहीं कर सके कि इनमें कौन ग्वाल-वत्स सत्य हैं और कौन मिथ्या ? ॥ ४३ ॥ इस तरह संसारको मोहमें डालनेवाले विमोह भगवान विष्णुको मोहित करनेमें प्रवृत्त ब्रह्माजी अपनी मायासे स्वयं मोहमें पड़ गये ॥ ४४ ॥ जैसे कुहरेका अन्धकार रात्रिके अन्धकारको नहीं दबा सकता और जैसे जुगुनूका प्रकाश दिनके प्रकाशमें स्वयं भी मिल जाता है, वैसे ही महापुरुषोंपर प्रयोग करनेवालेकी तुच्छ माया महापुरुषोंका तो कुछ बिगाड़ नहीं पाती, बल्कि अपनी ही सामर्थ्य खो देती है ॥ ४५ ॥ ब्रह्माजीके देखते-देखते तत्काल सभी ग्वालबाल और बछड़े कृष्णरूप दिखलायी देने लगे। उनका वर्ण सजल मेघके समान श्याम था और वे सभी पीले रंगका रेशमी वस्त्र पहने थे ॥ ४६ ॥ उन सबके चार-चार भुजाएँ थीं जिनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये थे और सभी ग्वालबाल मुकुट, कुण्डल, हार और वनमालाओंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ४७ ॥ उन सबके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न, भुजाओंमें बाजूबन्द, हाथोंमें शङ्खाकार जड़ाऊ कंकण, चरणोंमें नूपुर और हाथोंमें कड़े, कमरमें करधनी और अँगुलियोंमें अंगूठियाँ सुशोभित होरही थीं ॥ ४८ ॥ उनके सिरसे पैरतक समस्त अङ्ग परम पुण्यवान भक्तोंकी अर्पण की हुई कोमल और नवीन तुलसीकी मालाओंसे लदे थे ॥ ४९ ॥ वे सब अपने अरुण वर्ण नेत्रोंके कटाक्ष और चन्द्रिकाके समान अति उज्ज्वल मुसकानसे ऐसे मालूम होते थे, मानों रजोगुण और सत्त्वगुणसे अपने भक्तोंके मनोरथोंकी रचना और पालन कर रहे हैं ॥ ५० ॥ फिर ब्रह्माजीने यह भी देखा कि उन अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी चराचर जीव मूर्तिमान् होकर नृत्य-गीत आदि अनेक उपचारोंसे उनकी पृथक्-पृथक् पूजा कर रहे हैं ॥ ५१ ॥ वे सब ओरसे अणिमादि सिद्धियों, माया आदि विभूतियों तथा महत्तत्त्वादि चौबीस तत्त्वोंसे आवृत हैं ॥ ५२ ॥ भगवानकी महिमासे नष्ट महिमावाले काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म आदि भी मूर्तिमान् हो-होकर उनकी

एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान् । यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥५५॥
ततोऽतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः । तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥५६॥
इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ॥५७॥
ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः । कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥५८॥
सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम् । वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ॥५९॥
यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः । मित्राणीवाजितावासद्रुतरुट्तर्षकादिकम् ॥६०॥

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥६१॥
दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य ।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥६२॥

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् । आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः

शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया ॥६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

उपासना कर रहे हैं ॥ ५३ ॥ उन्होंने देखा कि वे सब सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्दरूप तथा सजातीय-विजातीय भेदसे रहित होकर एकरसस्वरूप हैं और उनकी महामहिमाको उपनिषदादिके विद्वान् भी नहीं जान पा रहे हैं ॥ ५४ ॥ इस तरह ब्रह्माजीने उन सबको एक साथ उस परब्रह्मके रूपमें देखा, जिसकी कान्तिसे यह चराचरमय जगत् भासमान हो रहा है ॥ ५५ ॥ तदनन्तर अत्यन्त कौतूहलवश जिनकी ग्यारहों इन्द्रियाँ क्षुब्ध एवं स्तब्ध हो गयी थीं, वे ब्रह्माजी उन सबके तेजसे अभिभूत होकर लय हो गये । उस समय वे ऐसे मालूम होते थे जैसे व्रजकी अधिष्ठात्री देवीके पास कई पुतलियें खड़ी हों ॥ ५६ ॥ इस तरह तर्कसे परे, स्वयंप्रकाशानन्द-स्वरूप, मायासे अतीत और अनात्म पदार्थोंका बाध करनेवाली श्रुतियोंसे जानी जानेवाली अपनी महिमाके विषयमें वाक्पति ब्रह्माजीको 'यह क्या है ?' यह सोचकर मुग्ध हो जाने तथा फिर उस ओर देखनेमें भी असमर्थ और विकल-सा जानकर परम पुरुष भगवानने तुरन्त अपनी मायाका पर्दा हटा लिया ॥ ५७ ॥ तब ब्रह्माजीको बाह्य ज्ञान होगया । वे मरकर उठे हुए व्यक्तिकी भाँति सचेत होकर उठे और किसी तरह नेत्र खोलनेपर उन्हें अपने सहित यह सम्पूर्ण जगत् दिखायी पड़ा ॥ ५८ ॥ फिर सामने सब ओर दृष्टि डालनेपर उन्हें जीवोंको जीवन देनेवाले वृक्षोंसे पूर्ण वृन्दावनकी वह सुन्दर भूमि दिखलायी दी ॥ ५९ ॥ जहाँ श्रीकृष्णचन्द्रजीके रहनेसे क्रोध और लोभ आदिका अन्त हो गया था । जिनमें स्वभावतः वैर था, वे मनुष्य और मृग आदि जीव मित्रोंके समान हिल-मिलकर रह रहे थे ॥ ६० ॥ ब्रह्माजीने देखा कि अद्वितीय परमपुरुष अनन्त ब्रह्म ही गोपवंशीय बालकका नाट्य वेश धारणकर वहाँ एक हाथमें ग्रास लिये पूर्ववत् अकेला ही अपने साथी ग्वाल-बाल और बछड़ोंको खोज रहा है ॥ ६१ ॥ उन भगवानको देखते ही ब्रह्माजी तुरन्त अपने वाहनसे उतर पड़े और स्वर्णदण्डकी नाईं पृथ्वीपर लोटकर उनके चरणोंको अपने चारों मुकुटोंके अग्रभागसे स्पर्श करते हुए प्रणामकर उन्हें आनन्दाश्रुओंसे अभिषिक्त करने लगे । श्रीहरिकी पहले देखी हुई लीलाओंका बारम्बार स्मरण करते हुए वे उठ-उठकर बार-बार उनके चरणोंमें गिरे और बहुत देरतक पड़े लोटते रहे ॥ ६२-६३ ॥ बड़ी देर बाद धीरे-धीरे उठे और नेत्रोंको पोंछकर भगवानकी ओर देखते हुए सिर झुकाये, हाथ जोड़े, अत्यन्त विनय और सावधानतापूर्वक भयसे काँपते हुए गद्गद वाणीमें बोले ॥ ६४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे सामयिकीभाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥१॥
अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥२॥
ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥३॥
श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥४॥
पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥५॥
तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोधात्मतया न चान्यथा ॥६॥
गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥७॥

(ब्रह्मा द्वारा कृष्णकी स्तुति तथा वत्स और ग्वाल-बालोंका मिलना) श्रीब्रह्माजी कहते हैं—हे स्तुत्य प्रभो ! सजल जलधरके समान श्यामवर्ण, विद्युत्की-सी कान्तिवाले, सुन्दर पीताम्बर-धारी, गुंजाके आभूषणसे आभूषित, कुण्डल और मोरमुकुटसे अत्यन्त उद्भासित मुख, वन-मालासे सुशोभित, अत्यन्त सुकुमार चरणोंवाले तथा भोजनके कौर, छड़ी, सींग और वंशी आदि चिह्नोंसे अपूर्व शोभायुक्त आप गोपालनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ हे देव ! आपने मुझपर कृपा करनेके लिये जिसे अपनी इच्छासे ही धारण किया है और जो पाञ्चभौतिक नहीं, अपितु शुद्ध-सत्त्वमय है। ऐसे आपके इस शरीरकी भी महिमा जाननेमें मैं ब्रह्मा अथवा और कोई भी प्राणी समर्थ नहीं है। साक्षात् आत्मानन्दानुभवस्वरूप आपकी महिमाको भला एकाग्र चित्तसे सोचकर भी कोई कैसे जान सकता है ? ॥ २ ॥ हे नाथ ! जो लोग ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रयास करना छोड़ अपने स्थानपर ही सत्पुरुषोंके मुखसे निकली आपकी कथा-वार्ताओंको सुनकर मन, वाणी और शरीरसे उनका सत्कार करते हुए जीवन निर्वाह करते हैं। हे अजित ! त्रिलोकीमें वे प्रायः आपको जीत लेते हैं ॥ ३ ॥ हे विभो ! जो लोग कल्याण-प्राप्तिकी मार्गरूपिणी आपकी भक्ति छोड़कर केवल ज्ञानलाभ-के लिये क्लेश उठाते हैं, उनके लिए केवल कष्ट ही शेष रहता है—उन्हें कुछ नहीं मिलता। जैसे केवल भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवा और कुछ नहीं मिलता ॥ ४ ॥ हे भूमन् ! हे अच्युत ! इस लोकमें बहुतेरे योगीजन आपहीको अपने लौकिक-वैदिक कर्म अर्पणकर उन कर्मों तथा आपकी कथा-वार्ताओंसे प्राप्त भक्तिके द्वारा ही आपका सत्यस्वरूप जानकर सुगमतासे आपके परमपदको प्राप्त कर चुके हैं ॥ ५ ॥ यद्यपि आपके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपोंकी महिमा जानना बहुत कठिन है। फिर भी आपके निर्गुण रूपकी महिमाको तो जिनका अन्तःकरण निर्मल हो गया है, वे ही पुरुष स्वयंप्रकाश आत्मरूपसे जान सकते हैं—किसी अन्य प्रकारसे नहीं। क्योंकि आप निर्विकार स्वानुभवस्वरूप और इन्द्रियादिसे परे हैं ॥ ६ ॥ हे प्रभो ! जिन्होंने बहुत काल बाद पृथ्वीके परमाणु, आकाशके हिमकण और आकाशके नक्षत्रोंको गिन लिया है, ऐसे कौन पुरुष हैं जो

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥८॥
पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥९॥
अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥ १० ॥
क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूसंवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥ ११ ॥
उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥ १२ ॥
जगत्त्रयान्तोदधिसंप्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ्न वै मृषा किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि ॥ १३ ॥
नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥ १४ ॥
तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५ ॥

संसारके कल्याणार्थ अवतीर्ण आप सगुण स्वरूपके गुणोंको गिन लेंगे ॥ ७ ॥ इसलिये जो प्राणी 'आपकी कृपा कब होगी ?' इस उत्सुकतासे समयकी प्रतीक्षा करता हुआ अपने प्रारब्धफलको भोगता है और मन, वाणी एवं शरीरसे आपको नमस्कार करता हुआ जीवन धारण करता है, वही आपके मुक्तिपदका अधिकारी हो सकता है ॥ ८-९ ॥ हे अच्युत ! मैं रजोगुणसे उत्पन्न होनेके कारण अज्ञानवश आपसे अलग अपने-आपको संसारका स्वामी मान बैठा था। 'मैं अजन्मा–जगत्कर्ता हूँ' इस प्रकारके मदरूपी घने अन्धकारसे मेरे विवेकरूपी नेत्र नष्ट हो गये थे। इसलिये यह समझकर कि 'मेरे होनेसे ही यह सनाथ है, अतः इसपर कृपा करनी चाहिये' आप मेरा अपराध क्षमा करें ॥ १० ॥ हे नाथ ! कहाँ प्रकृति, महत्तत्त्व, आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथिवीरूप आवरणोंसे घिरा यह ब्रह्माण्ड ही जिसका सात बित्तेका शरीर है, वह मैं ? कहाँ जिनके रोमकूपरूपी झरोखोंमें अगणित ब्रह्माण्ड परमाणुके समान आते-जाते रहते हैं, उन आपकी महिमा ? ॥११॥ हे अधोक्षज ! गर्भमें पड़े बालकके पैर उछालनेको क्या कभी माता उसका अपराध मानती है ? तथा 'है' और 'नहीं है' इन शब्दोंसे कही जानेवाली क्या कोई भी ऐसी वस्तु है, जो आपके भीतर न विद्यमान हो ॥ १२ ॥ 'जिस समय स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोक प्रलयकालीन जलमें मग्न थे, उस समय नारायणकी नाभिसे उत्पन्न कमलसे ब्रह्माका जन्म हुआ' यह कथन किसी प्रकार मिथ्या नहीं है। अतएव हे ईश ! क्या मैं आपहीसे उत्पन्न नहीं हुआ हूँ ? ॥ १३ ॥ हे सबके अधीश्वर ! सम्पूर्ण जीवोंके आत्मा और सम्पूर्ण लोकोंके साक्षी होनेके कारण क्या आप ही नारायणनामसे विख्यात नहीं हैं ? नरसे उत्पन्न जलमें निवास करनेके कारण जिसकी नारायण संज्ञा है, वह भी आपहीका अंश है। किन्तु आपका जल आदि किसी एक देशमें स्थित होना भी वास्तविक नहीं है—वह भी आपकी माया ही है ॥ १४ ॥ हे भगवन् ! यदि आपका वह विराट् शरीर सचमुच जलमें था तो उस समय कमलनालके मार्गसे जलमें सौ वर्षतक बहुत कुछ खोजनेपर भी मैं उसे क्यों नहीं देख सका ? फिर तपस्या करनेपर तत्काल अपने हृदयमें मुझे उसका दर्शन कैसे हो गया ? और तुरन्त ही वह फिर

अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तजठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥ १६ ॥
यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा । तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना॥१७॥
अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितमेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासितास्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते
अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥ १९ ॥
सुरेष्वृषिष्वीश यथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादःस्वपि तेऽजनस्य ।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥ २० ॥
को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
क्व वा कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥ २१ ॥
तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥ २२ ॥
एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥ २३ ॥
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सु चक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥ २४ ॥

अन्तर्धान क्यों हो गया ? ज्ञात होता है कि यह सब आपकी मायाका ही कार्य था ॥ १५ ॥ हे मायानाशन ! आपने इस अवतारमें भी बाहर स्पष्टरूपसे भासनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् अपनी माताको अपने उदरमें दिखलाकर उनकी मायिकता प्रकट कर दी है ॥ १६ ॥ जब कि आप समेत सम्पूर्ण विश्व जैसा बाहर भासता है, वैसा ही आपके उदरमें भी प्रतीत हुआ तो क्या यह सब आपकी मायाके बिना ही आपमें प्रतीत हुआ था ? ॥ १७ ॥ इस समय भी क्या आपने मुझे अपने सिवा अखिल विश्वकी मायामयता नहीं दिखलायी है ! पहले आप अकेले थे, फिर सब ग्वाल-बाल और बछड़े भी आप ही बन गये । उसके बाद मैंने देखा कि आपकी वे सब मूर्तियाँ चतुर्भुज हैं और मेरे सहित सम्पूर्ण तत्त्वोंसे सेवित हैं । आपने अलग-अलग उतने ही ब्रह्माण्डोंका रूप भी धारण कर लिया है और अब अन्तमें फिर अपने अपरिमित अद्वितीय ब्रह्मरूपसे केवल आप ही अवशिष्ट रह गये हैं ॥ १८ ॥ जो लोग अज्ञानवश आपका स्वरूप नहीं जानते, उन्हींको अनात्मामें स्थित आत्मारूप आप उनके ऊपर अपनी मायाका पर्दा डालकर सृष्टिके समय मेरे रूपसे, पालनकालमें विष्णुरूपसे और संहारके समय त्रिनयन महादेवके रूपसे भासमान होते हैं ॥ १९ ॥ हे जगन्नियन्ता प्रभो ! हे विधातः ! आप अजन्मा हैं । फिर भी देवता, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक् और जलचरादि योनियोंमें आपके जो अवतार होते हैं, वे असत्पुरुषोंके मदका मथन तथा सत्पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये ही होते हैं ॥२०॥ हे भगवन् ! आप सर्वव्यापक परमात्मा और योगेश्वर हैं । जिस समय आप अपनी योगमायाका विस्तार करके क्रीडा करते हैं, उस समय त्रिलोकीमें ऐसा कौन है, जो यह जान सके कि आपकी लीला कहाँ, किस प्रकार, कितनी और कब होती है ? ॥ २१ ॥ अतएव यह सम्पूर्ण जगत् जो स्वप्नके समान असत्, ज्ञानशून्य और उत्तरोत्तर दुःखमय है । मायासे उत्पन्न होनेपर भी नित्यानन्दस्वरूप आप अनन्तमें स्थित होनेके कारण सत्यवत् प्रतीत होता है ॥ २२ ॥ आप संसारके एकमात्र आत्मा, पुराणपुरुष, सत्य, स्वयंप्रकाश, अनन्त, आदिपुरुष, नित्य, अक्षर, निरन्तर सुखस्वरूप, निरंजन, परिपूर्ण, उपाधिरहित और अमृतरूप हैं ॥ २३ ॥ उपर्युक्त सब महिमाओंसे युक्त आप परमात्माको

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥ २५ ॥
अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥ २६ ॥
त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च । आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥२७॥
अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमु यन्ति सन्तः ॥ २८ ॥
अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥ २९ ॥
तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥ ३० ॥
अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि न चालमध्वराः ॥३१॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् । यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥३२॥
एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥३३॥

जो लोग सब प्राणियोंकी आत्मा समझकर सूर्यरूप गुरुसे प्राप्त ज्ञाननेत्रों द्वारा आत्मारूपसे देखते हैं, वे मानों इस असत् संसारसागरको अनायास पार कर जाते हैं ॥ २४ ॥ जो पुरुष आत्माको आत्मा नहीं मानते, उन्हें उस अज्ञानसे ही यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत होता है । ज्ञान होते ही यह लीन हो जाता है । जैसे रज्जुमें भ्रमवश प्रतीत होता हुआ सर्प भ्रम दूर होते ही नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥ जिनकी संज्ञा अज्ञानसे ही कल्पित है, वे संसारसम्बन्धी बन्धन और मोक्ष दोनों ही सत्य और ज्ञान-स्वरूप परमात्मासे पृथक् नहीं हैं । जैसे सूर्यमें दिन और रात्रिका अभाव है, वैसे ही विचार करने-पर अखण्डचेतनस्वरूप अद्वितीय परमात्मामें बन्धन और मोक्षका भाव नहीं रहता ॥ २६ ॥ अहो ! अज्ञानियोंकी कैसी अज्ञानता है कि आप आत्माको अन्य और अन्य देहादिको आत्मा मान-कर फिर आत्माको कहीं बाहर ढूँढ़ते हैं ॥ २७ ॥ हे अनन्त ! सन्तजन अनात्म वस्तुओंका त्याग करते हुए अपने अन्तःकरणमें विराजमान आपको ढूँढते हैं । क्योंकि वे सन्तजन रज्जुका स्पर्श न होते हुए भी क्या असत् सर्पका बाध किये बिना सत्य रज्जुको जान सकते हैं ? ॥ २८ ॥ ऐसा होनेपर भी हे देव ! जो पुरुष आपके चरणकमल-युगलके लेशमात्र प्रसादसे अनुग्रहीत होता है, वही आपकी महिमाका तत्त्व जान सकता है । दूसरा कोई चिरकालतक खोज करते रहनेपर भी नहीं जान पाता ॥ २९ ॥ अतएव हे प्रभो ! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो, जिससे मैं इस जन्म या दूसरे जन्ममें अथवा किसी तिर्यग्-योनिमें ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक दास होकर आपके चरणकमलोंकी सेवा करूँ ॥३०॥ अहो ! अभीतक सम्पूर्ण यज्ञ भी जिनकी तृप्ति नहीं कर सके, उन्हीं आप परमेश्वरने जिनके स्तनों-का दुग्धामृत बछड़े और बालकरूपसे अति उमंगके साथ पिया, वे व्रजकी गौएँ और गोपियाँ धन्य हैं ॥ ३१ ॥ अहो ! नन्दादि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं , जिनके सुहृद् परमानन्दस्वरूप सनातन पूर्णब्रह्म स्वयं आप ही हैं ॥ ३२ ॥ हे अच्युत ! इन व्रजवासियोंके सौभाग्यकी महिमा तो अलग रही, हम महादेव आदि ग्यारह इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंका भी बड़ा सौभाग्य है, जो इनकी मन आदि ग्यारह इन्द्रियोंको कटोरे बनाकर हम आपके चरणकमलोंकी अमृतमयी मधुर मदिराको पीते हैं ॥३३॥

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥३४॥
एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ३५
तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् । तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः३६
प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले । प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥३७॥
जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो । मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥३८॥
अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक् । त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ॥३९॥
श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्कर जोषदायिन् क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रुगाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते ॥४०॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः । नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥४१॥
ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान् । वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम्॥४२॥
एकस्मिन्नपि याते ऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः । कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः॥४३॥

इस व्रजभूमिके किसी वनमें और उसमें भी गोकुलमें जन्म पाना सौभाग्यकी बात है, जिससे कभी किसी गोकुलवासीकी चरणरजसे अभिषिक्त होनेका अवसर मिल जाता है। क्योंकि जिनकी पदरजको श्रुति आज भी खोजती फिरती है, वे आप भगवान मुकुन्द ही इन व्रजवालोंके एकमात्र जीवनाधार हैं ॥ ३४ ॥ हे देव ! इन व्रजवासियेंको इनकी सेवाके बदलेमें आप क्या फल देंगे ? सम्पूर्ण फलोंके फलरूप आपके स्वरूपसे बढ़कर और कोई फल नहीं दीखता। इसीसे हमारा चित्त मोहित हो रहा है। यदि कहें कि मैं उन्हें अपना स्वरूप ही देकर उऋण हो जाऊँगा तो आपके स्वरूपको तो साध्वी स्त्रीका वेष बनाकर आयी हुई पूतनाने भी अपने सम्बन्धियों (अघासुर-बकासुर आदि) सहित प्राप्त कर लिया था। फिर जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन सब आपही को अर्पण कर दिये हैं, उन व्रजवासियोंको भी वही फल देकर आप उऋण कैसे होंगे ॥ ३५ ॥ हे कृष्ण ! जबतक मनुष्य आपके भक्त नहीं बनते, तभीतक उनके लिये रागद्वेषादि चोरोंके समान, घर कारागारके समान और मोह पैरकी बेड़ियोंके समान बना रहता है ॥ ३६ ॥ हे प्रभो ! निष्प्रपञ्च होकर भी आप अपने शरणागत भक्तोंकी आनन्दराशि बढ़ानेके लिये संसारमें अवतार लेकर प्रपञ्च-का अनुसरण करते हैं ॥ ३७ ॥ हे स्वामिन् ! बहुत कहनेसे क्या जो लोग आपका वैभव जानते हैं, वे जानते रहें। आपका वैभव मेरे मन, वाणी और शरीरका तो विषय नहीं है ॥ ३८ ॥ हे कृष्णचन्द्र ! मुझे अब आप आज्ञा दें। आप सबके साक्षी हैं, इसलिये सब कुछ जानते हैं। आप ही सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं। यह सब प्रपञ्च आपहीमें स्थित है ॥ ३९ ॥ हे श्रीकृष्ण ! आप वृष्णिकुलकमलको विकसित करनेवाले (सूर्य) तथा पृथिवी, देवता, ब्राह्मण और पशुरूपी समुद्रको बढ़ानेवाले चन्द्रमा हैं। आप पाखण्डधर्मरूपिणी रात्रिका नाश करनेवाले, पृथिवीपर राक्षसोंसे द्वेष करनेवाले और सूर्यपर्यन्त समस्त देवताओंके पूज्य हैं। हे भगवन् ! आपको कल्पपर्यन्त नमस्कार है ॥ ४० ॥ श्रीशुक-देवजी बोले—हे राजन् ! इस तरह स्तुतिकर जगद्धाता श्रीब्रह्माजी (लीलाके लिये ही अवतीर्ण) सर्वव्यापक भगवान कृष्णकी तीन परिक्रमाकर और उनके चरणकमलोंमें प्रणाम करके अपने लोकको चले गये ॥ ४१ ॥ ब्रह्माजीको विदा करके भगवान कृष्णचन्द्र उनके द्वारा पहले ही उपस्थित किये बछड़ोंको लेकर यमुनाजीकी जिस रेतीमें अपने पूर्व सखाओंको छोड़ गये थे, वहाँ आये ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! उन बालकोंको अपने प्राणाधार कृष्णके वियोगमें यद्यपि एक वर्ष बीत गया था, तथापि

किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः । यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ४४
ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा । नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम्।४५
ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः । दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम् ।।४६।।
बर्हप्रसूननवधातुविचित्रिताङ्गः प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिर्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ।।४७।।
अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना । हतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः।४८।

राजोवाच

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् । योऽभूतपूर्वस्तोकेषुस्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम्।।४९।।

श्रीशुक उवाच

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः । इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ।।५०।।
तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् । न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ।।५१।।
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम । यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ।।५२।।
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः । यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिञ्जीविताशा बलीयसी ।५३।
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् । तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ।।५४।।
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् । जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।।५५।।

भगवानकी मायासे मोहित हो जानेके कारण उन्हें वह समय आधे क्षणके समान ही प्रतीत हुआ ।। ४३ ।। जिससे मोहित होकर सारा जगत् निरन्तर अपने आत्माको भूला हुआ है, उस मायाने जिनके चित्तोंको मोह लिया है, वे क्या-क्या नहीं भूल सकते ? ।। ४४ ।। भगवान कृष्णचन्द्रको देखते ही बालकोंने उतावले होकर कहा—भाई ! तुम अच्छे आये । हमने तो तुम्हारे बिना अभी एक कौर भी नहीं खाया है । इधर आओ, बैठकर आनन्दसे भोजन करो ।। ४५ ।। तब भगवानने हँसते-हँसते बालकोंके साथ भोजन किया और उन्हें अजगर (अघासुर) के शरीरका ढाँचा दिखाते हुए वनसे व्रजको लौटे ।। ४६ ।। जिनका शरीर मयूरपिच्छ, पुष्प और गेरू आदि नवीन धातुओंसे चित्रित था, जो अपनी बाँसुरी और नरसिंघेके उच्चस्वरसे चित्तमें उल्लास बढ़ा रहे थे, जिनकी पवित्र कीर्तिका भक्तजन गान करते और जो अपने दर्शनोंसे गोपियोंके नेत्रोंको आनन्दित करते थे, उन कृष्णचन्द्रने बछड़ोंका नाम ले-लेकर पुकारते हुए अपने गोष्ठमें प्रवेश किया ।। ४७ ।। उसी दिन बालकोंने व्रजमें जाकर कहा—आज इन नन्द-यशोदाके पुत्रने वनमें एक बड़ा भारी अजगर मारकर हमें उससे बचा लिया है ।। ४८ ।। राजा परीक्षित् कहते हैं—हे भगवन् ! अब यह बतलाइये कि पराये पुत्र कृष्णपर व्रजवासियोंका ऐसा प्रेम क्यों हुआ, जैसा कि उन्हें अपने 'बालकोंपर भी नहीं हुआ था ? ।। ४९ ।। श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! समस्त प्राणियोंको अपनी आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है और पुत्र-वित्तादि तो उसके प्रिय होनेसे ही प्रिय होते हैं ।। ५० ।। अतएव हे राजेन्द्र ! देहधारियोंका जैसा अपने-आपमें प्रेम होता है वैसा अपने कहलानेवाले पुत्र, धन और गृह आदिमें नहीं होता ।। ५१ ।। हे क्षत्रियश्रेष्ठ ! देहात्मवादी पुरुषोंको भी देह जितनी प्रिय होती है, उतना उनसे सम्बद्ध पुत्र-मित्रादि प्रिय नहीं होते ।। ५२ ।। जब विवेक होनेपर देह भी ममताका अपात्र हो जाती है तो यह आत्माके समान प्रिय नहीं रहती, नहीं तो इस देहके जराग्रस्त हो जानेपर भी जीनेकी आशा प्रबल क्यों बनी रहती है ।। ५३ ।। अतएव सब देहधारियोंको अपनी आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है और उसीके लिये यह चराचर जगत् प्रिय मालूम होता है ।। ५४ ।। हे राजन् ! इन कृष्णको ही तुम समस्त आत्माओं (जीवों) की आत्मा अर्थात् परमात्मा समझो । ये सब संसारके कल्याणके लिये

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च । भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन ॥५६॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम् ॥५७
समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥५८॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया । यत् कौमारे हरिकृतं पौगण्डे परिकीर्तितम् ॥५९॥
एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरघार्दनं शाद्वलजेमनं च ।
व्यक्तेतरद् रूपमजोर्वभिष्टवं शृण्वन् गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥६०॥
एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे । निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥६१॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे ब्रह्मस्तुतिर्नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसंमतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥१॥
तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः ।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥२॥

ही मायावश देहधारी सरीखे दीख पड़ते हैं ॥ ५५ ॥ जो वास्तविक तत्त्वको जानते हैं, उनकी दृष्टिमें स्थावर-जङ्गम सब जीव कृष्णरूप ही दीखते हैं। सम्पूर्ण जगत् कृष्णमय है । कृष्णके अतिरिक्त कोई भी वस्तु नहीं है ॥ ५६ ॥ सभी वस्तुएँ अपने कारणरूपसे स्थित हैं तथा भगवान कृष्ण उस कारणके भी कारण हैं, तो ये सब वस्तुएँ कृष्णरूप होनेके सिवा और भला क्या हैं ? ॥ ५७ ॥ जिन्होंने पुण्य-कीर्ति श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलरूपी नौकका—जो महापुरुषोंका आश्रयरूप है—आश्रय ले लिया है, उनके लिये यह संसारसमुद्र बछड़ेके खुरके समान है और परमपद ही उनका पद है । जो विपत्तियोंका पद है, उस संसारमें उन्हें कभी नहीं आना पड़ता ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! तुमने जो मुझसे पूछा था कि 'भगवानने जो कर्म कौमारावस्थामें किया, उसे बालकोंने उनकी पौगण्डावस्थामें व्रजमें जाकर कैसे कहा ?' सो वह सब रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया ॥ ५९ ॥ जो पुरुष बालकोंके साथ वनक्रीडा, अघासुरका दमन, हरी-हरी घाससे युक्त भूमिपर बैठकर भोजन करना, जड़ प्रपञ्चसे भिन्न शुद्धसत्त्वमय बछड़े और बालकोंका रूप धारण करना तथा ब्रह्माजीकी की हुई महती स्तुति आदि लीलाओंको सुनता या कहता है, उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥ ६० ॥ हे महाराज ! इस प्रकार श्रीबलराम और कृष्णचन्द्रने आँखमिचौनी, पुल बाँधना तथा बन्दरकी भाँति उछलना-कूदना आदि बालसुलभ लीलाएँ करते हुए व्रजमें अपनी कुमारावस्था बितायी ॥ ६१ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(भगवान द्वारा गोचारण, धेनुक-वध और बालकोंकी कालियनागके विषसे मुक्ति)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! पौगण्ड अर्थात् पाँच वर्षसे अधिक अवस्थामें प्रवेश करनेपर बलराम और कृष्ण व्रजभूमिमें गौएँ चराने योग्य माने गये । तब वे अपने मित्र ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए अपने चरण-चिह्नसे समस्त वृन्दावनको पवित्र करने लगे ॥ १ ॥ एक दिन अपना सुयश गाते हुए ग्वालबालोंसे घिरे श्रीकृष्णचन्द्रने वन-विहार करनेकी इच्छासे बलरामजीके साथ वंशी बजाते हुए गौओंको आगेकर एक पुष्पप्रचुर वनमें प्रवेश किया, जहाँ पशुओंके चरने आदि सब

यन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥३॥
स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥४॥

श्रीभगवानुवाच

अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥५॥
एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥ ६ ॥
नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि सतां विसर्गः ॥ ७ ॥
धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥ ८ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् । रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधःसु सानुगः ॥ ९ ॥
क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः । उपगीयमानचरितः स्रग्वी संकर्षणान्वितः॥१०॥
क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम् । अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित् ।११।

प्रकारका सुपास था ॥ २ ॥ उस वनको मनोहर गुंजार करनेवाले भ्रमर, मृग और पक्षियोंसे पूर्ण, महात्माओंके चित्तोंके समान स्वच्छ जलवाले सरोवरोंसे युक्त और कमलगन्धसुरभित वायुसे मनोहर देखकर भगवानने वहाँ क्रीडा करनेका निश्चय किया ॥ ३ ॥ उन आदिपुरुष भगवानने जहाँ-तहाँ नवपल्लवोंकी अरुण कान्तिसे तथा फल-फूलोंके भारी भारसे झुककर चरण छूनेवाले शाखाग्रोंसे युक्त वृक्षोंको देख अपने बड़े भाई बलरामजीसे आनन्दपूर्वक मुसकाते हुए कहा ॥ ४ ॥ श्रीभगवान बोले—हे देवश्रेष्ठ ! देखिये, ये वृक्ष जिनके कारण इन्हें वृक्षयोनि प्राप्त हुई है, उन पापोंको नष्ट करनेके लिये अपनी शाखाओं द्वारा फल-फूल आदि पूजनकी सामग्री लिये आपके सुरपूजित चरणकमलोंको प्रणाम कर रहे हैं ॥ ५ ॥ हे आदिपुरुष ! ये भ्रमर सम्पूर्ण लोकोंको पवित्र करनेवाला तीर्थस्वरूप आपका सुयश गाते हुए आपहीको भजते हैं। हे अनघ ! वास्तवमें ये आपके प्रमुख भक्त मुनिगण ही हैं, जो वनमें गूढ़भावसे विचरते हुए अपने इष्टदेव आपको यहाँ भी छोड़नेकी इच्छा नहीं करते ॥६॥ हे स्तुत्य ! देखिये, आपको घर आये देख ये मयूरगण आपके दर्शनोंसे आनन्दित होकर नाच रहे हैं। मृगियाँ मृगनयनी गोपिकाओंके समान अपने प्रेमकटाक्षोंसे आपका प्रिय कार्य कर रही हैं और कोकिलाएँ मनोहर वाणीसे आपका स्वागत करती हैं। ये वनवासी पशु-पक्षी भी धन्य हैं। क्योंकि यही सत्पुरुषोंका स्वभाव है ॥ ७ ॥ आज तृण और लता-गुल्मों सहित यहाँकी भूमि आपके चरणस्पर्शसे वृक्ष और लताएँ आपके करकमलोंके नखोंके संगसे नदी, पर्वत, मृग और पक्षी तथा आपके कृपाकटाक्षसे गोपियाँ—जिनके लिये लक्ष्मीजी भी लालायित रहती हैं, उन आपकी भुजाओं तथा वक्षःस्थलके आलिङ्गनसे कृतार्थ हो गये हैं ॥ ८॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह वृन्दावनको देखकर आनन्दित श्रीकृष्णचन्द्र अपने साथी ग्वालबालोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक गिरिराज के समीपवर्ती यमुनातटपर गौएँ चराते हुए लीलाएँ करने लगे ॥ ९ ॥ भक्तजन जिनका सुयश गाते हैं, वे भगवान कृष्ण गलेमें वनमाला पहने हुए कभी बलरामजीके साथ गाने लगते ॥ १० ॥ कभी अपने साथियोंको हँसाते हुए राजहंसोंके साथ आप भी कूजते, कभी नाचते हुए मयूरोंके साथ नाचने

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् । क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥१२॥
चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः । अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः॥१३॥
क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् । स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥१४॥
नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः । गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥१५॥
क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः । वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥१६॥
पादसंवाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः । अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥१७॥
अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः । गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥१८॥
एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।
रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥ १९ ॥
श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा । सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्॥२०॥
राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण । इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम् ॥२१॥
फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च । सन्ति किंत्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना॥२२॥
सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् । आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥२३॥
तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन् । न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम्॥२४॥
विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च । एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते ॥२५॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् । वाञ्छास्ति महती राम गम्यतां यदि रोचते॥२६॥

लगते ॥ ११ ॥ कभी गौ और गोपालोंका चित्त चुरानेवाली अपनी मेघसदृश गम्भीर वाणीसे दूर गये हुए पशुओंको उनके नाम ले लेकर पुकारते ॥ १२ ॥ कभी चकोर, क्रौञ्च, चकवा, भरद्वाज और मयूर आदि पक्षियों जैसी बोली बोलते तथा कभी व्याघ्रसिंहादिके शब्दोंसे डरे हुए जीवोंके समान स्वयं भी भयभीत जैसा आचरण करते थे ॥ १३ ॥ कभी खेलते-खेलते थककर किसी ग्वालबालकी गोदमें सिर रखकर लेटे हुए बड़े भाई बलरामजीका चरण दाबकर उनका श्रम दूर करते ॥ १४ ॥ कभी दोनों भाई हाथमें हाथ डालकर खड़े हो जाते तथा नाचते, गाते, ताल ठोंकते और कुश्ती लड़ते हुए साथियोंकी हँस-हँसकर प्रशंसा करते थे ॥ १५ ॥ कभी मल्लयुद्धमें थक जानेपर वृक्षकी जड़के सहारे कोमल पत्तोंकी शय्यापर किसी ग्वालबालकी गोदमें सिर रखकर सो जाते थे ॥ १६ ॥ हे महाराज ! उस समय कोई-कोई पुण्यात्मा ग्वालबाल महात्मा कृष्णके चरण दबाते, कोई उनको पंखा झलते और कोई अत्यन्त स्नेहार्द्र होकर मन्द-मन्द स्वरमें भगवानकी लीलाओंके अनुरूप उनके चित्तको प्रिय लगनेवाले मनोहर गीत गाते थे ॥ १७ ॥ १८ ॥ साक्षात् लक्ष्मीजी जिनके चरणोंकी सेवा करती हैं, वे ही भगवान अपनी मायासे अपने वास्तविक स्वरूपको ढँककर अपने आचरणोंसे गोपकुमारोंका अनुकरण करते हुए ग्रामीण बालकोंके साथ उन्हींके समान क्रीडा करने लगे ॥ १९ ॥ एक दिनकी बात है कि बलराम और कृष्णके सखा श्रीदामानामक गोप तथा सुबल और तोककृष्ण आदि अन्य बालकोंने दोनों भाइयोंसे प्रेमपूर्वक कहा—॥ २० ॥ "हे महाबाहो बलराम ! हे दुष्टदलन कृष्णचन्द्र ! यहाँसे थोड़ी दूरपर तालवृक्षोंसे पूर्ण एक बहुत बड़ा वन है ॥ २१ ॥ वहाँ बहुतेरे तालफल पक-पककर नित्य गिरते रहते हैं और बहुत-से गिरे पड़े हैं, किन्तु दुष्ट धेनुकासुरने उन सबको अपने अधिकारमें कर रखा है ॥ २२ ॥ हे बलभद्रजी ! हे कृष्णचन्द्र ! वह गर्दभरूपधारी दैत्य स्वयं बड़ा बलवान् है और अपने ही समान और भी बहुतसे बलवान् दैत्योंको साथ रखता है ॥ २३ ॥ हे शत्रु-दमन ! उस दैत्यने बहुतसे मनुष्य खा डाले हैं, इससे भयभीत होकर कोई उस पशु-पक्षीविहीन वनमें नहीं जाता ॥ २४ ॥ उसके सुगन्धित फल हमने पहले कभी नहीं खाये । देखिये, चारों ओर उन्हींकी सुवास भरी पवनकी सुगन्ध आ रही है ॥ २५ ॥ उनके सुवाससे हमारा मन उनके लिए

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया । प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥२७॥
बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् संपरिकम्पयन् । फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥२८॥
फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः । अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥२९॥
समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली । निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः ॥३०॥
पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः । चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा ॥३१॥
स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना । चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥३२॥
तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः । पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम् ॥३३॥
बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः । तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥३४॥
नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे । ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥३५॥
ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये । क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥३६॥
तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया । गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु ॥३७॥
फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः । रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥३८॥
तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशाम्य विबुधादयः । मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥३९॥
अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः । तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥४०॥

ललचा रहा है। अतएव हे कृष्णचन्द्र! हमें वह फल दीजिये। हमें उनकी बड़ी उत्कट अभिलाषा है। हे बलरामजी! यदि आपको रुचे तो चलिये" ॥ २६ ॥ अपने सखाओंके वचन सुनकर भगवान राम और कृष्ण उनका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे गोपोंके साथ हँसते-खेलते तालवनको गये ॥ २७॥ उस वनमें पहुँचकर बलरामजीने वहाँके तालवृक्षोंको हाथीके समान बड़े वेगसे हिलाकर बहुतसे फल गिरा दिये ॥ २८ ॥ गिरते हुए फलोंका शब्द सुनकर गर्दभरूपधारी धेनुक दैत्य पर्वतों सहित समस्त भूमण्डलको कम्पायमान करता हुआ उनके सामने दौड़ आया ॥ २९ ॥ उस महाबलवान् दैत्यने बड़े वेगसे बलरामजीके सामने आकर अपने पिछले पैरोंसे उनकी छातीमें लात मारी और वह दुष्ट कर्कश गर्दभनाद करता हुआ वहाँसे भाग गया ॥ ३० ॥ कुछ क्षण बाद फिर उस गधेने घोर शब्द करते हुए दूसरी बार बड़े वेगसे बलरामजीके पास आकर उनकी ओर पीठ करके बड़े क्रोधपूर्वक उनपर अपने पिछले पैरोंकी दुलत्ती लगायी ॥ ३१ ॥ तब बलरामजीने अपने एक हाथसे उसके दोनों पाँव पकड़ लिये और उसे अन्तरिक्षमें घुमाकर पटक दिया। घुमाते समय ही उसके प्राण निकल गये। तब उस दैत्यको बलरामने एक तालवृक्षके ऊपर फेंका ॥ ३२ ॥ उसके अघातसे वह फैले हुए शिखरवाला महान् तालवृक्ष कम्पित होकर अपने बराबरके वृक्षोंको गिराता हुआ गिर पड़ा। वह भी दूसरेको और दूसरा तीसरेको इस प्रकार एक दूसरेको गिराते हुए बहुतसे तालवृक्ष गिर पड़े ॥ ३३ ॥ बलरामजीके द्वारा लीलापूर्वक पटके हुए धेनुकासुरके शरीरसे आहत होकर वे सब तालवृक्ष बड़े भारी बवण्डरसे विचलित किये जानेकी भाँति कम्पायमान हो गये ॥ ३४ ॥ हे तात! जगत्पति भगवान अनन्तके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी, उनमें तो कपड़ेमें तन्तुओंके समान सारा विश्व ओतप्रोत है ॥ ३५ ॥ तब धेनुकासुरके अन्य जाति-भाई अपने बन्धुके मारे जानेसे कुपित होकर रेंकते हुए बड़े वेगसे राम और कृष्णके ऊपर झपटे ॥ ३६ ॥ हे राजन्! उनमेंसे जो-जो दैत्य उनके पास आया, उसको बलभद्र और कृष्णने लीलासे ही पिछले पाँव पकड़-पकड़कर तालवृक्षोंपर पटक दिया ॥३७॥ उस समय फलोंके समूह, टूटे हुए वृक्ष और दैत्योंके प्राणहीन शरीरसे भरकर वह भूमि मेघसे आच्छादित आकाशके समान सुशोभित हुई ॥ ३८ ॥ श्रीबलराम और कृष्णचन्द्रका यह महान् कार्य देखकर देवता उनपर फूल बरसाने तथा बाजे बजाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३९ ॥ धेनुकासुरके मारे जानेसे उन वनमें सब लोग निर्भय होकर तालफल खाने लगे और पशु भी स्वच्छन्दतापूर्वक तृण

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः । स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥४१॥
तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥४२॥
पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥४३॥
तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले । यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥४४॥
गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः । नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥४५॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ । संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥४६॥
एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् । ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥४७॥
अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः । दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥४८॥
विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः । निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥४९॥
वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः । ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥५०॥
ते संप्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात् । आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥५१
अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम् । पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥५२॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

चरने लगे ॥ ४० ॥ सायंकालको जिनका श्रवण और कीर्तन अत्यन्त पुण्यकारक है, वे कमलनयन भगवान कृष्ण अपने साथी ग्वालबालोंसे प्रशंसित होते हुए बड़े भाई बलरामजीके साथ व्रजमें आये ॥ ४१ ॥ उस समय जिनकी घुँघराली अलकें गोरजसे धूसरित थीं, जिनके सिरपर मयूरपिच्छ और वन्य पुष्प सुशोभित थे, जिनकी कमनीय कटाक्षभङ्गी और मनोहर मुसकानसे अपूर्व शोभा बरस रही थी, साथी ग्वालबालों द्वारा जिनकी कीर्ति गायी जा रही थी और जो मधुर मुरली बजा रहे थे, उन कृष्णचन्द्रको देखनेके लिये उत्कण्ठित नेत्रोंवाली गोपियाँ मिल-जुलकर व्रजके बाहर दौड़ आयीं ॥ ४२ ॥ गोपियोंने दिनभरके विरहतापको अपने नेत्ररूपी भ्रमरोंसे भगवानके मुखारविन्द मकरन्दका पान करके शान्त किया और भगवान भी उनके सलज्ज-हास्यपूर्ण विनय और प्रणयकटाक्षरूप सत्कारको स्वीकार करके व्रजमें प्रविष्ट हुए ॥ ४३ ॥ घर पहुँचनेपर पुत्रवत्सला यशोदा और रोहिणीने बालकोंको समयानुसार यथेष्ट आशीर्वाद दिया ॥ ४४ ॥ मार्गका श्रम दूर होनेपर उन्हें उबटन आदि मलकर स्नान कराया तथा सुन्दर वस्त्र पहनाकर दिव्य पुष्पमाला और चन्दनसे विभूषित किया ॥ ४५ ॥ फिर माताओं द्वारा लाड़पूर्वक परोसा हुआ सुस्वादु अन्न भोजन करके दोनों भाई गोष्ठमें सुन्दर शय्यापर लेटकर सुखपूर्वक सो गये ॥४६॥ इस प्रकार विहार करते हुए भगवान कृष्ण एक दिन बलरामजीके बिना अकेले ही अपने मित्र ग्वालबालोंको साथ लेकर यमुनातटपर चले गये ॥ ४७ ॥ उस समय ग्रीष्म ऋतुके घामसे पीडित गौ और ग्वालबालोंने अतिशय तृषित होनेके कारण यमुनाजीका विषदूषित जल पी लिया ॥ ४८ ॥ हे कुरुनन्दन ! उस समय विषमिश्रित जलके पीते ही होनहारवश उनकी बुद्धि मोहित होगयी और वे सब गौ और ग्वाल प्राणहीन होकर जलके किनारे ही गिर गये ॥ ४९ ॥ ऐसी अवस्थामें उन्हें देखकर योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान कृष्णने अपने आश्रित गोप और गौओंको अपनी अमृत बरसानेवाली दृष्टिसे जीवित कर दिया ॥ ५० ॥ स्मृतिलाभ हो जानेपर वे सब लोग उठ बैठे और एक-दूसरेकी ओर देखते हुए आश्चर्यचकित हो गये ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! अन्तमें उन्होंने यही समझा कि हम जो विषपानके कारण मरकर फिर जी उठे हैं, यह श्रीगोविन्दकी ही कृपा है ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः। तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥१॥

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम्। स वै बहुयुगावासं यथाऽऽसीद् विप्र कथ्यताम् ॥२॥
ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः। गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥३॥

श्रीशुक उवाच

कालिन्द्यां कालियस्यासीद् ह्रदः कश्चिद् विषाग्निना। श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥४॥
विप्रुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः। म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥५॥

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गमास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे ॥६॥
सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेगसंक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः।
पर्यक्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मिर्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥७॥
तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णवार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य चक्षुःश्रवा समसरत्तदमृष्यमाणः ॥८॥
तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं संदश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥९॥

(कालियनागका दमन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! कालियनाग द्वारा यमुनाजीके जलको दूषित देखकर कृष्णने उसे शुद्ध करनेके लिये उस सर्पको वहाँसे निकालकर बाहर कर दिया ॥ १ ॥ राजा परीक्षित्ने पूछा—हे विप्र! यमुनाजीके अगाध जलमें भगवानने उस सर्पको किस प्रकार पछाड़ा? और यह भी बतलाइये कि वह सर्प अनेक युगोंसे उस जलमें क्यों रहा? ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन्! सर्वव्यापी और स्वेच्छावपुधारी भगवानकी गोपरूपसे की हुई उदार लीलारूपिणी सुधाको पीनेसे कौन तृप्त हो सकता है? श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन्! यमुनाजीमें कालिय नामका एक कुण्ड था। उसका जल विषकी ज्वालासे खौलता रहता था। उसके ऊपर उड़नेवाले पक्षीतक झुलसकर गिर पड़ते थे। उसके विषैले जलकी तरङ्गोंको छूकर बहते हुए जलकणयुक्त समीरका स्पर्श होनेसे ही किनारेके कितने ही चर और अचर जीव मर जाया करते थे ॥ ३-५ ॥ उस प्रचण्ड वेगवान् विषकी शक्तिसे बलवान् कालियनाग और उसके द्वारा दूषित की हुई यमुनाको देखकर दुष्टोंका दमन करनेके लिये ही जिनका अवतार हुआ था, वे कृष्णचन्द्र एक ऊँचे कदम्बवृक्षपर चढ़ और कमरका फेंटा कस ताल ठोकते हुए विषैले जलमें कूद पड़े ॥ ६ ॥ पुरुषश्रेष्ठ भगवान कृष्णके कूदनेके वेगसे सर्पविषके कारण उछलती हुई जलराशि क्षुभित हो गयी, जिसमें विष मिला होनेसे बड़ी भयङ्कर लाल-पीली तरङ्गें उठ रही थीं, वह कालियदह इधर-उधर छलककर सौ धनुष (चार सौ हाथ) तक फैल गया। बलशाली भगवानके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं थी ॥ ७ ॥ हे प्रिय! महान् गजराजके समान पराक्रमी भगवान कृष्णके उस सरोवरमें जलक्रीड़ा करनेसे उनकी भुजाओंसे टकराते हुए जलमें जोरों-की खलबली मच गयी। वह शब्द सुन और अपने स्थानका तिरस्कार देखकर कालियनागको असह्य हो उठा और वह तुरन्त कृष्णचन्द्रके सामने आ गया ॥ ८ ॥ उसने देखा कि एक अत्यन्त दर्शनीय, श्याम मेघके समान सुन्दर एवं सुकुमार, श्रीवत्सचिह्न और पीताम्बरसे सुशोभित, मधुर मुसकानयुक्त और मनोहर मुखवाला बालक, जिसके चरण कमलकोशके समान अत्यन्त कोमल हैं, निर्भय होकर

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥१०॥
गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः । कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदत्य इव तस्थिरे॥११॥
अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः । उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥१२॥
तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः । विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥
तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः । तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः॥१४॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः । निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥१५॥
तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः । प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥१६॥
तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः । भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥१७॥
ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥१८॥
अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥१९॥
गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम्॥२०॥

खेल रहा है। यह देखकर उस सर्पने क्रोधसे श्रीकृष्णचन्द्रके मर्मस्थानोंमें काटते हुए उन्हें अपने शरीरके बन्धनसे बाँध लिया ॥ ९ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रको नागपाशमें बँधकर निश्चेष्ट देख उनके प्रियसखा ग्वालबाल अत्यन्त पीडित हो तथा दुःख, पश्चात्ताप और भयसे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। क्योंकि उन्होंने अपने शरीर सुहृद्, धन, स्त्री, पुत्र और कामनाएँ सब कृष्णचन्द्रको ही अर्पण कर दी थीं ॥ १० ॥ गौ, बैल और बछिया-बछड़े अत्यन्त दुःखसे चिल्लाते हुए कृष्णचन्द्रकी ओर ही टकटकी लगाये भयभीत भावसे रोते हुए निश्चेष्ट होकर खड़े ताकते रहे ॥ ११ ॥ इधर व्रजमें पृथ्वी, आकाश और शरीरमें, जिसी आगन्तुक भयकी सूचना देनेवाले तीन प्रकारके अतिशय भयंकर उत्पात दीखने लगे ॥ १२ ॥ उन उत्पातोंको देख नन्दादि गोपगण यह जानकर कि आज श्रीकृष्णचन्द्र बलरामजीके बिना अकेले ही गौ चराने गये हैं, भयसे व्याकुल हो उठे ॥ १३ ॥ वे लोग भगवानका प्रभाव नहीं जानते थे, इसीलिये उन अपशकुनोंसे उनके मरणका अनुमानकर वे दुःख, शोक और भयसे आतुर हो गये। क्योंकि उनके प्राण और मन कृष्णमें ही बसते थे ॥ १४ ॥ हे प्रिय ! तब तो पशुओं (गौओं) के समान अत्यन्त वत्सल स्वभावके बालक वृद्ध और स्त्रियाँ आदि सब व्रजवासी अत्यन्त दीन और श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनोंकी उत्कट इच्छासे उतावले होकर गोकुलसे निकल पड़े ॥ १५ ॥ उन्हें इस तरह आतुर देखकर मधुवंशमें उत्पन्न श्रीबलरामजी मन-ही-मन हँसने लगे। क्योंकि वे अपने छोटे भाईका प्रभाव जानते थे, किन्तु व्रजवासियोंसे उन्होंने कुछ भी कहा-सुना नहीं ॥ १६ ॥ अपने प्यारे कृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे गोप-गोपीगण भगवल्लक्षणों युक्त उनके चरण-चिह्नोंसे उनके जानेका मार्ग जानकर यमुनातटकी ओर भागे ॥ १७ ॥ हे राजन् ! वे गोप गौओंके जानेके मार्गमें जहाँ-तहाँ कमल, यव, अंकुश, वज्र और ध्वजा आदि चिह्नोंसे युक्त गोपपालक भगवान श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको अन्य पद-चिह्नोंके बीच-बीचमें देखते हुए बहुत जल्दी-जल्दी चले ॥ १८ ॥ दूरसे ही कालियदहमें सर्पशरीरके बन्धनमें पड़कर निश्चेष्ट कृष्णचन्द्रको तथा अचेत अवस्थामें जलाशयके किनारे पड़े ग्वालबालोंको और सब ओर आर्त्तस्वरसे डकराती गौओंको देखकर वे अत्यन्त व्याकुल तथा मूर्च्छित हो गये ॥ १९ ॥ गोपियाँ भी, जिनका भगवान अनन्तमें अत्यन्त अनुराग था, अपने प्रियतमको सर्पके पाशमें पड़े देख उनके सौहार्द, मुसकान, चितवन और सुमधुर वचनोंका स्मरणकर बहुत दुखी

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥२१॥
कृष्णप्राणान् निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् । प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥
इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं निरीक्ष्य सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥२३॥
तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोगस्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥२४॥
तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥
एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥२६॥
तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धसुरचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥२७॥
यद् यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ्नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥२८॥

हुईं और अपने कृष्ण प्यारेके बिना उन्हें सारी त्रिलोकी सूनी दिखायी देने लगी ॥ २० ॥ भगवान कृष्णचन्द्रकी माता यशोदाको अपने लालके पीछे कुण्डमें कूदते देखकर उन्हींके समान दुःखिनी गोपियोंने पकड़ लिया और वे कृष्णचन्द्रके मुखचन्द्रकी ओर निहारती एवं शोकसे मृतककी भाँति होकर नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई श्रीमुरलीधरकी बातें कहने लगीं ॥ २१ ॥ कृष्ण ही जिनके प्राण थे, वे नन्दादि सब गोप जब दहमें कूदने लगे तो उन्हें कृष्णचन्द्रका प्रभाव जाननेवाले भगवान बलरामने रोका ॥ २२ ॥ जिनका अपने सिवा और कोई आधार नहीं था, उन स्त्री और बालकोंके सहित व्रज-वासियोंको अपने लिये अत्यन्त व्याकुल देखकर लीलाके लिये ही मनुष्यभावका अनुसरण करनेवाले कृष्णचन्द्र मुहूर्त्तभर सर्पके बन्धनमें रहकर निकल आये ॥ २३ ॥ बन्धनमें पड़े हुए भगवान जब अपना शरीर फुलाने लगे तो शरीर अत्यन्त व्यथित हो जानेके कारण सर्पने उन्हें छोड़ दिया और क्रोधपूर्वक फण उठाकर फुफकारें छोड़ता हुआ उनकी ओर टकटकी लगाकर ताकने लगा। उस समय उसकी नासिकासे विष निकल रहा था। उसके स्थिर नेत्र भाड़में तपाये हुए खपड़ेके समान लाल हो रहे थे और उसके मुखसे आगकी लपटें निकल रही थीं ॥ २४ ॥ तब अपनी दो शिखाकी जिह्वासे ओठोंके किनारोंको चाटते हुए उस भयङ्कर विषाग्निमयी दृष्टिवाले सर्पके चारों ओर क्रीड़ा करते हुए भगवान कृष्ण गरुड़के समान निर्भयभावसे चक्कर लगाने लगे। कालिय सर्प भी उनपर चोट करनेका अवसर देखता हुआ चक्कर काटने लगा ॥ २५ ॥ इस तरह घूमनेसे उसका बल क्षीण हो गया। तब सब विद्याओंके आदिपुरुष भगवान कृष्ण उस उन्नत मस्तकवाले सर्पको नवाकर उसके स्थूल सिरोंपर चढ़कर नृत्य करने लगे। उस समय उसके मस्तकके मणियोंका स्पर्श होनेसे भगवानके चरणकमल और भी अधिक लाल दीखने लगे ॥ २६ ॥ भगवानको नृत्य करनेके लिये उद्यत देख उनके सेवक गन्धर्व, सिद्ध, देवता, चारण और अप्सरा आदि प्रसन्नतापूर्वक मृदङ्ग, पणव, आनक आदि बाजे बजाकर गाने लगे तथा पुष्पोंकी वर्षा और प्रणाम करते हुए वे सब सहसा श्रीहरिके पास गये ॥२७॥ हे राजन्! कालियनागके एक सौ एक मस्तक थे। वह जिस सिरको नहीं उठाता उसीको प्रचण्ड दण्डधारी भगवान अपने पाद-प्रहारसे कुचल देते थे। इससे कालियनागकी आयु क्षीण हो गयी। वह मुख तथा नासिकासे तीव्र रक्त फेंकता हुआ चक्कर काटने लगा और अन्तमें मूर्च्छित हो गया

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरःसु यद् यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।
नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव पुष्पैः प्रपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥२९॥
तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः ।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥३०॥
कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥३१॥
तास्तं सुविग्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्भाः कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तुर्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥३२॥

नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥३३॥
अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव संमतः ॥३४॥
तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवाँस्तुष्यति सर्वजीवः ॥३५॥
कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥३६॥

॥ २८ ॥ अपने नेत्रोंसे विष वमन करता तथा क्रोधवश जोर-जोरसे फुफकारें छोड़ता हुआ वह अपने शिरोंमेंसे जिस-जिसको ऊँचा उठाता, उसी-उसीको नृत्य करते हुए भगवान अपने चरणोंकी ठोकरसे झुकाकर रौंद डालते थे। इस समय वे देवताओं द्वारा बरसाये पुष्पों द्वारा पूजित होकर पुराण पुरुष शेषशायी विष्णुभगवानके समान सुशोभित हुए ॥ २९ ॥ हे राजन्! भगवानके विचित्र ताण्डव नृत्यसे कालियनागका फणरूप छत्र छिन्न-भिन्न हो गया, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग चूर-चूर हो गये और वह अपने मुखसे खून फेंकने लगा। अन्तमें मन-ही-मन चराचरगुरु पुराणपुरुष श्रीनारायणका स्मरण करता हुआ उनकी शरणमें गया ॥ ३० ॥ सारा विश्व जिनके गर्भमें है, उन श्रीकृष्णचन्द्रके भारी भारसे कालियनागको श्रमित और उसके छत्रसदृश फणोंको उनकी एड़ियोंकी चोटसे चोटैल हुए देख उसकी पत्नियाँ अत्यन्त आर्त्त होकर आदिपुरुष भगवान कृष्णके पास आयीं। आतुरतावश उनके वस्त्र, आभूषण और केशपाश शिथिल हो गये थे ॥ ३१ ॥ उन साध्वी नागपत्नियोंने अपने बालकोंको आगे कर और अत्यन्त उद्विग्नचित्तसे पृथिवीपर लोटकर निखिलभूपति भगवानको प्रणाम किया और अपने अपराधी पतिको बन्धन-मुक्त करानेके लिए हाथ जोड़कर आश्रयदाता श्रीहरिकी शरणमें गयीं ॥ ३२ ॥ नागपत्नियाँ कहने लगीं—हे भगवन! इस अपराधीको आपने दण्ड दिया सो उचित ही है। क्योंकि आपका अवतार दुष्टोंको दमन करनेके लिये हुआ है। किन्तु शत्रु और पुत्र दोनोंपर आपकी दृष्टि समान रहती है। इसलिये पापका प्रायश्चित्त समझकर ही आप अपने शत्रुओंको दण्ड देते हैं ॥ ३३ ॥ आपका दण्ड दुष्टजनोंके पापका नाशक है। इस प्राणीको जो यह सर्पयोनि मिली है, इससे इसका पाप तो प्रत्यक्ष ही है। अतः आपने हमपर कृपा ही की है, हम आपके क्रोधको भी अनुग्रह मानती हैं ॥ ३४ ॥ इसने पूर्वजन्ममें मानरहित होकर दूसरोंका मान करते हुए कौन ऐसा भारी तप किया है? अथवा सब जीवोंपर दया करते हुए ऐसा क्या धर्म किया है? जिससे आप सर्वात्मा इसपर सन्तुष्ट हुए हैं ॥ ३५ ॥ हे देव! हम नहीं जानतीं कि यह इसके किस कर्मका प्रभाव है, जिससे

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥
तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः ॥३८॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने । भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥३९॥
ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये । अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥४०॥
कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे । विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे विश्वहेतवे ॥४१॥
भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने । त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्यात्मानुभूतये ॥४२॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते । नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥४३॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये । प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥४४॥
नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च । प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥४५॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च । गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥४६॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये । हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥४७॥
परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः । अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे ॥४८॥

इसे आपके उस चरणरजके स्पर्शका अधिकार मिला, जिसके लिये स्त्री होकर भी लक्ष्मीजीने सब कामनाएँ छोड़कर दीर्घकालतक कठोर तपस्या की थी ॥ ३६ ॥ अहो ! आपकी चरणरजकी शरणमें आये हुए भक्तजन तो स्वर्गलोक, सार्वभौम साम्राज्य, ब्रह्मपद, पृथिवीतलका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ अथवा कैवल्यमोक्ष आदि किसी भी महान् फलकी इच्छा नहीं करते ॥ ३७ ॥ हे नाथ ! नागराज कालिय अत्यन्त क्रोधी और तमोगुणी योनिमें उत्पन्न हुआ था । तथापि इसे आपकी वह पवित्र चरणरज प्राप्त हुई, जो दूसरोंके लिए दुर्लभ है और जिसकी इच्छामात्रसे संसारचक्रमें चक्कर काटते हुए जीवको सब वैभव प्राप्त हो जाता है ॥ ३८ ॥ हे प्रभो ! हम आपको प्रणाम करती हैं। आप षडैश्वर्यपूर्ण, सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान, महात्मा, सब प्राणियोंके आश्रयस्थान, सर्वभूत-स्वरूप, प्रकृतिसे अतीत परम पिता परमात्मा हैं ॥ ३९ ॥ आप ज्ञान और विज्ञानके निधान, प्रकृतिके प्रवर्तक, निर्गुण और निर्विकार अनन्तशक्ति ब्रह्म हैं । हमारा आपको प्रणाम है ॥ ४० ॥ आप काल, कालशक्तिके आश्रय और कालके अङ्गभूत सृष्टिप्रलयादि कार्योंके साक्षी हैं । आप ही सम्पूर्ण विश्वके साक्षी, विश्वकर्ता और विश्वके निदान हैं ॥ ४१ ॥ पञ्चभूत, भूततन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि और चित्त—ये सब आप ही हैं । त्रिगुणात्मक अभिमानके द्वारा आप अपने आत्मानुभवको छिपाये हुए हैं ॥ ४२ ॥ आप अनन्त, सूक्ष्म, उपाधियोंके विकारसे रहित और सर्वज्ञ हैं । आप ही अस्ति, नास्ति, सर्वज्ञ तथा अल्पज्ञ आदि नाना प्रकारके मत-मतान्तरोंका अनुवर्तन करते हैं तथा शब्द और अर्थ भी आपही की शक्तियाँ हैं । आपको नमस्कार है ॥ ४३ ॥ आप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके मूल, स्वतःसिद्ध, ज्ञानवान् और शास्त्रोंके उत्पत्तिस्थान हैं तथा आप ही विधि-निषेधरूप वेद हैं। हम आपको बारम्बार नमस्कार करते हैं ॥ ४४ ॥ आप शुद्धसत्त्वमय वसुदेवके पुत्र (वासुदेव) सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं । ऐसे आप सात्वतों अर्थात् भक्तों अथवा यादवोंके स्वामी श्रीकृष्णको हमारा नमस्कार है ॥ ४५ ॥ आप अन्तःकरणचतुष्टयरूपी गुणोंके प्रकाशक, अपने स्वरूपको गुणोंसे आच्छादितकर विभिन्न रूपोंसे प्रकट होनेवाले, अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे उपलक्षित तथा उन वृत्तियोंके साक्षी और स्वयंप्रकाश है ॥ ४६ ॥ हे हृषीकेश ! आपकी लीला नहीं जानी जाती, सब व्यक्त वस्तुएँ आपही से सिद्ध होती हैं, आप आत्माराम हैं, आत्मामें रमण करना ही आपका स्वभाव है, आपको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४७ ॥ आप स्थूल-सूक्ष्म सब गतियोंके ज्ञाता, सबके साक्षी, विश्वरहित और

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥
तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुं सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥५०॥
अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः । क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः॥५१॥
अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः । स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥
विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया । यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतोभयात् ॥५३॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः । मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः॥५४॥
प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम् । कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः॥

कालिय उवाच

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः । स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः॥५६
त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् । नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति॥५७॥
वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः । कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताःस्वयम्॥
भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः । अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद्विधेहि नः ॥५९॥

विश्वरूप तथा विश्वके साक्षी और उसके कारण हैं। हम आपको बारम्बार नमस्कार करती हैं ॥४८॥ हे प्रभो ! आप निष्क्रिय होकर भी अपनी कालशक्तिको धारणकर प्रकृतिके गुणों द्वारा संसारकी उत्पत्ति-स्थिति आदि कार्य करते हैं। अमोघ लीलाएँ करनेवाले आप जीवोंके संस्काररूप वर्तमान स्वभावोंको अपनी इच्छाशक्तिसे जागृत करके विविध क्रीडाएँ किया करते हैं ॥ ४९ ॥ त्रिलोकीमें जो शान्त अर्थात् सात्त्विक, अशान्त यानी राजस और मूढ अर्थात् तामस योनियाँ हैं, वे सब आपही की क्रीड़ायें हैं। इस समय आपने साधुजनोंकी रक्षाके लिये अवतार लिया है और उनके धर्मकी रक्षा करनेके लिये ही आप सतत चेष्टा कर रहे हैं। अतः आपको शान्त योनियाँ ही प्रिय लगती हैं ॥५०॥ हे प्रभो ! अपनी प्रजाका किया हुआ पहला अपराध तो स्वामीको सहना ही चाहिये। हे शान्तात्मन् ! यह सर्प मूढ़ है, यह आपको नहीं जानता। अतः आप इसका अपराध क्षमा करें ॥ ५१ ॥ देखिये, यह अब मरना ही चाहता है। हे भगवन् ! आप इसपर कृपा करें। साधु पुरुषोंकी दयापात्र हम अबला स्त्रियोंको हमारा प्राणरूप पति दान करके हमें दे दीजिये॥ ५२ ॥ हम आपकी दासियाँ हैं, हमें आज्ञा करिए। हम आपकी क्या सेवा करें ? क्योंकि श्रद्धापूर्वक आपकी सेवा करनेसे प्राणी सब भयोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ५३ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—इस प्रकार नागपत्नियोंके स्तुति करनेपर भगवानने चरणोंकी ठोकरोंसे जिसके फण छिन्न-भिन्न कर दिये थे और जो चेतनाशून्य हो रहा था, उस कालियनागको छोड़ दिया ॥ ५४ ॥ फिर धीरे-धीरे प्राणलाभ होनेसे कुछ सचेत होनेपर कालियने बड़ी कठिनतासे दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए बड़ी दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर भगवान कृष्णसे कहा ॥ ५५ ॥ कालिय बोला—हे नाथ ! हम जन्मसे ही बड़े दुष्ट, तमोगुणी और महाक्रोधी हैं और स्वभाव सभी जीवोंके लिये मिथ्या अभिनिवेशके समान अत्यन्त दुस्त्यज होता है ॥ ५६ ॥ हे विधातः ! आपने इस जगत्को गुणविभागसे नाना प्रकारके स्वभाव, वीर्य, बल, योनि, बीज, चित्त और आकारका रचा है ॥ ५७ ॥ हे भगवन् ! आपकी सृष्टिमें हम सर्पगण जन्मसे ही बड़े क्रोधी होते आये हैं। हम मोहित जीव आपकी दुस्त्यज मायाको स्वयं कैसे त्याग सकते हैं ? ॥ ५८ ॥ आप सर्वज्ञ और सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं। आप ही हमें उस मायासे छुड़ा सकते हैं। अब आप कृपा या दण्डदान

श्रीशुक उवाच

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः । नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि माचिरम् ।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥६०॥

य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् । कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद् भयमाप्नुयात्॥६१॥

योऽस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः । उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥६२॥

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः । यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्॥६३

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा । तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥६४॥

दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः । दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥६५॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् । ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य तम्॥६६

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह । तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।
अनुग्रहाद् भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः ॥६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कालियमोक्षणं नाम षोडशोऽध्यायः

सप्तदशोऽध्यायः

राजोवाच

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः । कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥१॥

श्रीशुक उवाच

उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः ।वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ्निरूपितः॥२॥

जो उचित समझें, वही करें ॥ ५९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—कालियके वचन सुनकर लीलामानव-रूपधारी भगवान् कृष्णने कहा—"हे सर्प ! अब तुझे यहाँ रहना उचित नहीं है । तू शीघ्र अपने जातिबन्धु, पुत्र और स्त्रियोंको साथ लेकर यहाँसे समुद्रको चला जा । जिससे यमुनाके जलका गौ और मनुष्य उपयोग कर सकें ॥ ६० ॥ जो मनुष्य मुझसे तुम्हें प्राप्त हुए इस दमन एवं आदेशकी कथाको दोनों समय स्मरण तथा कीर्तन करेगा, उसे तुम जैसे सर्पोंसे कभी भय न होगा ॥ ६१ ॥ जो मेरे क्रीडास्थलरूप इस कालियदहमें स्नानकर देवता-पितर आदिका जलसे तर्पण करेगा और उपवास तथा ध्यान करता हुआ मेरा पूजन करेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥ ६२ ॥ जिसके भयसे तूने रमणक द्वीपको छोड़कर इस कुण्डका आश्रय लिया था, वह गरुड़ अब मेरे चरणचिह्नोंसे अङ्कित देखकर तुझे नहीं खायगा ॥ ६३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—अद्भुतकर्मा भगवान् कृष्णके इस प्रकार कहनेपर कालिय और उसकी पत्नियोंने अति प्रसन्न होकर दिव्य वस्त्र, माला, मणि और महामूल्य आभूषणों तथा दिव्यगन्धमय चन्दनादि लेपों और अत्युत्तम कमलमालाओंसे आदरपूवक उनका पूजन किया ॥ ६४-६५ ॥ कालियने गरुड़ध्वज भगवान् जगन्नाथकी इस प्रकार पूजाकर उन्हें प्रसन्न किया और फिर उनकी आज्ञा पा प्रसन्नतापूर्वक भगवानकी परिक्रमा और वन्दनाकर पुत्र, मित्र और कलत्रोंके सहित समुद्रके मध्यमें स्थित रमणक द्वीपको चला गया । तभीसे लीलामानवरूपधारी भगवान् कृष्णके अनुग्रहसे यमुनाजी विषहीन होकर अमृतके समान सुस्वाद जलवाली हो गयीं ॥६६-६७॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(कालियनागके कालियदहमें आनेकी कथा और भगवानका व्रजवासियोंको दावानलसे बचाना) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन् ! कालियनागने सर्पोंके निवासस्थान रमणक द्वीपको क्यों छोड़ा था ? उस बेचारेने गरुड़का क्या बिगाड़ा था ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने

स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि । गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥३॥
विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः । कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बलिम् ॥४॥
तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् भगवान् भगवत्प्रियः । विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत् ॥५॥
तमापतन्तं तरसा विषायुधः प्रत्यभ्ययादुच्छ्रितनैकमस्तकः ।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद् ददायुधः करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥६॥
तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युमान् प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः ॥७॥
सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः । ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥८॥
तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् । निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् ॥९॥
मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हते । कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥१०॥
अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति । सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥११॥
तं कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः । अवात्सीद् गरुडाद् भीतः कृष्णेन च विवासितः १२
कृष्णं ह्रदाद् विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम् । महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥१३॥
उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इवासवः । प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ।१४।
यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपश्च कौरव । कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँल्लब्धमनोरथाः ।१५।
रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित् । नगा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ।१६॥

लगे—हे महाबाहो ! गरुड़के भक्ष्य सर्पोंने मास-मासमें एक वृक्षके नीचे गरुड़को बलि (पूजा) देनेका नियम बनाया था ॥ २ ॥ उसके अनुसार प्रत्येक अमावस्याको सब सर्प अपनी रक्षाके लिए महात्मा गरुड़को अपना-अपना भाग दे दिया करते थे । लेकिन विषके बलसे उन्मत्त कद्रूपुत्र कालियनाग गरुड़को तुच्छ समझकर उनके भागको स्वयं खा जाता था ॥३॥४॥ हे राजन् ! यह सुनकर भगवानके प्रिय पार्षद महात्मा गरुड़ने कुपित होकर कालियको मारनेके लिये बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ ५ ॥ गरुड़जीको बड़े वेगसे अपनी ओर आते देख विष और दाँतका अस्त्र धारण करनेवाला जिह्वा और फन फैलाये उग्र नयनोंवाला नागराज कालिय अपने अनेक मस्तकोंको उठाकर उनकी ओर बढ़ा और दाँतोंसे उन्हें काटने लगा ॥ ६ ॥ तब भगवान मधुसूदनके वाहन प्रचण्डवेगवान् एवं उग्रपराक्रमी गरुड़जीने कद्रूपुत्र कालियको अपने शरीरसे अलग हटाकर अपने सुवर्ण-वर्णके दायें पंखसे क्रोधपूर्वक उसपर आघात किया ॥ ७ ॥ गरुड़जीके पंखकी चोटसे कालिय विह्वल होकर यमुनाजीके कुण्डमें चला गया; जो गरुड़जीके लिए अगम्य और अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण अन्य पुरुषोंके लिये भी दुर्गम था ॥ ८ ॥ इस विषयमें यह इतिहास है—एक बार वहाँ सौभरि ऋषिके मना करनेपर भी गरुड़ने अत्यन्त भूखे होनेके कारण अपनी रुचिके अनुसार भक्ष्यरूप एक मत्स्यको जबर्दस्ती खा लिया ॥ ९ ॥ उस मत्स्यराजके मारे जानेसे सब मछलियोंको अत्यन्त दीन और व्याकुल देखकर दयावश उस कुण्डमें रहनेवाले अन्य जीवोंकी कुशलताके लिये महर्षि सौभरिने कहा—॥ १० ॥ यदि आजसे गरुड़ इस कुण्डमें घुसकर मछलियोंको खायगा तो तुरन्त मर जायगा, मैं यह सत्य कहता हूँ ॥ ११ ॥ इस बातको कालियनागके सिवा और कोई सर्प नहीं जानता था । इसलिये वह गरुड़के भयसे वहाँ रहने लगा था और इस समय श्रीकृष्णचन्द्रने उसे वहाँसे निकाल बाहर किया ॥१२॥ हे राजन् ! इधर कृष्णचन्द्रको दिव्य माला, गन्ध, वस्त्र, महामूल्य मणिगण और सुवर्णमय आभूषणोंसे आभूषित हो उस कुण्डसे बाहर निकलते देख सब व्रजवासी ऐसे उठ खड़े हुए, जैसे गये प्राणोंको पाकर इन्द्रियाँ सचेत हो जायँ । वे सभी गोप आनन्दपूर्ण चित्तसे प्रसन्नतापूर्वक भगवानका आलिङ्गन करने लगे ॥ १३॥१४ ॥ हे कुरुनन्दन ! यशोदा, रोहिणी, नन्द, सभी गोपी और गोप श्रीकृष्णचन्द्रसे

नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः । ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः १७
देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे । नन्दःप्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ।१८।
यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती । परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥१९॥
तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः । ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः॥२०॥
तदा शुचिवनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो व्रजम् । सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ॥२१॥
तत उत्थाय संभ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः । कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामनुजमीश्वरम् ॥२२॥
कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम । एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः ॥२३॥
सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो । न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम् ॥२४॥
इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः । तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥२५॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः

———

अष्टादशोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः । अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम् ।१।
व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया । ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम् ॥२॥
स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः । यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः ॥३॥

मिल और पूर्णमनोरथ होकर गद्गद हो गये ॥ १५ ॥ उस समय भगवानका प्रभाव जाननेवाले श्रीबलरामजी भी उनका आलिङ्गनकर हँसने लगे तथा पर्वत, गौ, बैल और बछड़ोंको भी आनन्द हुआ ॥ १६ ॥ तदनन्तर गोपोंके कुलगुरु ब्राह्मणोंने अपनी पत्नियोंके सहित नन्दजीके पास आकर कहा—"नन्दजी ! तुम्हारे बड़े भाग्य हैं, जो तुम्हारा बालक कालियसे पकड़ा जाकर भी छूटकर बच गया है, इसलिये आप ब्राह्मणोंको दान दीजिये ।" हे राजन् ! तब नन्दजीने प्रसन्न होकर ब्राह्मणोंको गौ और सुवर्ण दान दिये ॥१७॥१८॥ महाभागा यशोदाजी भी मृत्युके मुखसे लौटे हुए अपने लालको गोदमें लेकर आलिङ्गन करती हुई बारम्बार आँसू बहाने लगीं ॥ १९ ॥ हे राजेन्द्र ! सब व्रजवासी और गौएँ भूख-प्यास तथा श्रमके कारण अतिशय दुर्बल हो रहे थे । इसलिये उस रातको वे यमुनातटपर ही रह गये ॥ २० ॥ अचानक आधी रातके समय ग्रीष्म ऋतुके सूखे वनमें लगा हुआ दावानल सोये हुए व्रजवासियोंको सब ओरसे घेरकर झुलसने लगा ॥ २१ ॥ उससे दग्ध व्रजवासी घबड़ाकर उठ खड़े हुए और मायामानवरूपी भगवान कृष्णकी शरणमें गये ॥ २२ ॥ वे सब कहने लगे—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाभाग ! हे अमितविक्रम बलराम ! देखिये, यह महाभयङ्कर दावाग्नि आपके स्वजन हम सबको भस्म किये दे रहा है ॥ २३ ॥ हे प्रभो ! हम आपके सुहृद् हैं । अतः इस दुस्तर कालानलसे आप हमारी रक्षा करिए । हम आपके अकुतोभय चरणोंको नहीं त्याग सकते" ॥ २४ ॥ स्वजनोंकी ऐसी व्याकुलता देखकर अनन्तशक्तिधारी जगतपति भगवान कृष्णने उस अग्निको पी लिया ॥२५॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कंधे 'सामयिकी'भाषाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(प्रलम्बासुरका वध) श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! अपने स्वजनोंको दावानलसे बचाकर श्रीकृष्णचन्द्रने प्रसन्नचित्त सजातीय गोपोंसे घिरे एवं उनके मुखसे अपना सुयश सुनते हुए गौओंसे पूर्ण व्रजमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ इस प्रकार दोनों भाइयोंके मायामय गोपालवेषसे व्रजमें क्रीडा करते समय ग्रीष्म ऋतु आ गयी, जो प्राणियोंको कुछ भी प्रिय नहीं होती ॥ २ ॥ किन्तु जहाँ बलरामजीके सहित साक्षात् भगवान कृष्णचन्द्र विहार करते थे, उस वृन्दावनमें अपने गुणोंके कारण

यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् । शश्वत्तच्छीकरर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥४॥
सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाद्वले ॥५॥
अगाधतोयह्रदिनीतटोर्मिभिर्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः ।
न तत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते ॥६॥
वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् । गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥७॥
क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः । वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥८॥
प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः । रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥९॥
कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन् । वेणुपाणितलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥१०॥
गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः । ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥११॥
भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः । चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥१२॥
क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् । शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ ॥१३॥
क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः । अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥१४॥
क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः । कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया ॥१५॥
एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने । नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरःसु च ॥१६॥

वह ग्रीष्म भी वसन्तऋतु जैसी जान पड़ती थी ॥ ३ ॥ जिस वृन्दावनमें झरनोंके कल-कल निदानसे झींगुरोंका झनकार दब गया था और जो भूमि झरनोंसे निरन्तर उड़ते हुए जलकणोंके कारण आर्द्र वृक्षोंसे पूर्ण थी ॥ ४ ॥ उस अत्यन्त हरित तृणपूर्ण भूमिमें वनवासी लोगोंको भी नदी, सरोवर और झरनोंकी तरङ्गोंसे मिलकर बहनेवाले तथा कह्लार, कमल और उत्पलके परागको हरनेवाले वायुके चलनेसे घाम, अग्नि अथवा सूर्यका कोई ताप नहीं रहता था ॥ ५ ॥ वहाँकी अगाध जलवाली यमुना नदीके तटपर लहरानेवाली तरङ्गोंसे गीले कीचड़वाली तटभूमिकी आर्द्रता और तृणोंकी हरियालीको विषके समान तीखी सूर्यकी किरणें भी नहीं सुखा सकती थीं ॥ ६ ॥ अत्यन्त सुन्दर चित्र-विचित्र मृग और पक्षी जहाँ सुशोभित थे तथा गान करते हुए मयूर और भ्रमर एवं मनोहर शब्द करते हुए कोकिल और सारसादि पक्षियोंसे पूर्ण तथा खिले हुए पुष्पोंसे युक्त वृन्दावनमें विहार करनेकी इच्छासे श्रीकृष्णचन्द्रने भगवान बलरामजीके सहित गोप और गौओंसे घिरकर मधुर मुरली बजाते हुए प्रवेश किया ॥ ७ ॥ ८ ॥ तब राम और कृष्ण आदि समस्त गोपगण अपने शरीरोंको मूँगा, मयूर-पिच्छ, फूलोंके गुच्छों, मालाओं तथा गेरू आदि धातुओंसे विभूषितकर नाचने-गाने और परस्पर मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ९ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रजीके नाचते समय कुछ बालक गाते, कुछ वंशी, ताली अथवा नरसिंघा बजाते और कुछ उनकी प्रशंसा करते थे ॥ १० ॥ हे राजन् ! एक नट जैसे दूसरे नटकी प्रशंसा करता है, वैसे ही गोपजातिमें अवतार लेकर छिपे हुए गोपवेषधारी देवता श्रीकृष्ण-बलदेवकी स्तुति कर रहे थे ॥ ११ ॥ सिरपर काकपक्ष धारण करनेवाले कृष्ण और बलराम समय-समयपर घूमते, कन्दुक आदि फेंकते, ताल ठोंकते, एक-दूसरेको खींचते और परस्पर मल्लयुद्ध करते हुए खेलते थे ॥ १२ ॥ हे महाराज ! वे कभी दूसरोंके नाचनेपर स्वयं गाने-बजाने लगते और कभी वाह-वाह !! कहकर उसकी प्रशंसा करने लग जाते थे ॥१३॥ कभी एक-दूसरेपर बेल, जलकुम्भी या आँवलेके फल हाथमें लेकर फेंकते कभी आँखमिचौनी करते तथा कभी दौड़कर छूनेवाले बालकसे दूर भागकर न छू जाने और कभी मृग एवं पक्षियोंकी चेष्टाओंकी नकल करने आदिके खेल खेलते थे ॥ १४ ॥ वे कभी मेढकोंके समान उछलकर चलते, कभी नाना प्रकारके उपहास करते, कभी दो गोपबालकोंकी भुजाओंकी डोली बनाकर उसपर झूला झूलते और कभी राजाकी नकल आदिके खेल खेलते

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः । गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिहीर्षया ॥१७॥
तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः । अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥१८॥
तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित् । हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥१९॥
तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ । कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे ॥२०॥
आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः । यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥२१॥
वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् । भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥२२॥
रामसङ्घट्टिनो यर्हि श्रीदामवृषभादयः । क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥२३॥
उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः । वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥२४॥
अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः । वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम् ॥२५॥

तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।
स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः ॥२६॥
निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत् प्रदीप्तदृग्भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।
ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डलत्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥२७॥
अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो विहाय सार्थमिव हरन्तमात्मनः ।
रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥२८॥

थे ॥ १५ ॥ इस तरह विविध लोकप्रसिद्ध खेल करते हुए राम और कृष्ण वृन्दावनके पर्वत, नदी, कन्दरा, कुञ्ज, वन और सरोवरमें नित्य विचरा करते थे ॥ १६ ॥ एक दिनकी बात है कि जब बलराम और कृष्ण अन्य गोपोंके साथ वनमें गौएँ चरा रहे थे, उसी समय उन्हें हर ले जानेके लिए प्रलम्बासुरनामक दैत्य गोपवेष धारण करके वहाँ आया ॥ १७ ॥ सर्वद्रष्टा श्रीयदुनाथने उसे पहचान लिया तो भी उसे मारनेका विचार करते हुए उन्होंने उसे अपने साथियोंमें मिला लेनेका अनुमोदन किया ॥ १८ ॥ क्रीड़ाकुशल भगवान कृष्णने सब गोपोंको बुलाकर कहा—"हे ग्वालबालों ! अब हम बराबर-बराबरके दो दल बनाकर खेलेंगे" ॥ १९ ॥ इसपर गोपोंने राम और कृष्णको दोनों दलोंका मुखिया बनाया और उसमेंसे कुछ कृष्णचन्द्रके दलमें तथा कुछ बलरामजीके दलमें सम्मिलित हो गये ॥ २० ॥ और जिनमें एक दल दूसरे दलको अपनी पीठपर चढ़ाकर एक निर्दिष्ट स्थानतक ले जाता था, ऐसे अनेक खेल किये । उन खेलोंमें जीतनेवाला दल चढ़ता था और हारनेवाला अपनी पीठपर चढ़ाता था ॥ २१ ॥ इस तरह एक दूसरेको पीठपर चढ़ते-चढ़ाते वे कृष्ण आदि सब बालक गौएँ चराते हुए भाण्डीरक वटके पास जा पहुँचे ॥ २२ ॥ हे राजन् ! उस खेलमें एक बार बलरामजीके दलवाले श्रीदामा और वृषभ आदि गोपबालक खेलमें जीते तो उन्हें कृष्ण आदि गोप अपनी पीठपर चढ़ाकर ले चले ॥ २३ ॥ हारे हुए भगवान श्रीकृष्णने श्रीदामाको, भद्रसेनने वृषभको और प्रलम्बने बलरामजीको चढ़ाया ॥ २४ ॥ प्रलम्बासुर कृष्णचन्द्रको असह्य समझ बलरामजीको लेकर बड़ी तेजीसे भागा और पीठसे उतारनेके लिए निश्चित स्थानसे भी आगे निकल गया ॥ २५॥ पृथिवीको धारण करनेवाले अनन्तदेवके भारी भारको पीठपर लादकर ले जानेसे थक जानेके कारण उस महादैत्यका वेग धीमा पड़ गया और उसने अपना स्वाभाविक स्वरूप धारण कर लिया । उस दैत्यके श्याम शरीरपर सुवर्णके आभूषण थे, उनसे वह ऐसा मालूम होता था मानों बिजली युक्त श्याम मेघ चन्द्रमाको अपनेमें धारण किये हुए हो ॥ २६ ॥ उस दैत्यके नेत्र अत्यन्त प्रज्वलित थे और डाढ़ें भृकुटीतक पहुँची हुई थीं । वह अत्यन्त भयानक था । उसके केश अग्निशिखाके समान अरुण थे । वह कटक, किरीट और कुण्डलोंकी कान्तिसे अतिशय अद्भुत जान पड़ता था । उसको बड़े वेगसे आकाशमें जाते देखकर पहले तो बलरामजी कुछ भयभीत-से हुए ॥ २७ ॥ फिर सावधान होने-

स आहतः सपदि विदीर्णमस्तको मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः ।
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥२९॥
दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना । गोपाःसुविस्मिता आसन् साधु साध्विति वादिनः
आशिषोऽभिगृणन्तस्तं प्रशशंसुस्तदर्हणम् । प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥३१॥
पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः । अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रलम्बवधो नामाष्टादशोऽध्यायः।

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः । स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम्॥१॥
अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम् । इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः२
तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा । जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥
तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् । मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टाजीव्या विचेतसः ॥४॥
मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं स्वगोधनम् । संप्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते संन्यवर्तयन्॥५॥
ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा । स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः॥६॥

पर उनका भय जाता रहा । उन्होंने देखा कि यह शत्रु धन चुराकर ले जानेवाले चोरकी भाँति मुझे आकाशमार्गसे ले जा रहा है । तब उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर जैसे इन्द्रने पर्वतोंपर वज्रप्रहार किया था, वैसे ही उसके मस्तकपर कसकर एक घूँसा मारा ॥ २८ ॥ बलभद्रजीका घूँसा लगते ही उसका सिर फट गया । वह मुखसे रक्त वमन करने लगा । उसकी चेतना जाती रही और बड़ा भयंकर शब्द करता हुआ वह इन्द्रके वज्रसे आहत पर्वतके समान तुरन्त मरकर धराशायी होगया ॥ २९ ॥ बलवान् बलरामजीके हाथसे प्रलम्बासुरको मरा देखकर सब गोप अत्यन्त विस्मित हुए और उन्हें बार-बार धन्यवाद देने लगे ॥ ३० ॥ वे प्रशंसाके योग्य बलरामजीको आशीर्वाद देते और उनकी प्रशंसा करते हुए मृत्युके मुखसे लौटे हुएके समान उनके गले लगकर मिले । उस समय उनका मन प्रेमसे विह्वल हो गया था ॥३१॥ उस पापी प्रलम्बासुरके मारे जानेसे देवता बहुत आनन्दित हुए और बलरामजीपर फूलोंकी वर्षा करते हुए 'साधु-साधु' कहने लगे ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

(भगवानका गौ और गोपोंकी दावानलसे रक्षा करना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इसके बाद गोपगण फिर खेल-कूदमें लग गये । उसी समय उनकी गौएँ स्वच्छन्दतासे चरती हुई हरी-हरी घासके लोभसे एक गहन वनमें बहुत दूर चली गयीं ॥ १ ॥ उनकी बकरी, गौ और भैंसें एक वनसे दूसरे वनमें जातीं और गर्मीके तापसे तृषित होकर डकराती हुई अन्तमें सींकोंके वनमें घुस गयीं ॥ २ ॥ पशुओंके न दीखनेसे रामकृष्ण आदि गोप बहुत दुःखी हुए और इधर-उधर ढूँढ़कर भी गौओंका पता नहीं लगा सके । अपनी जीविकाके नष्ट हो जानेसे वे जैसे अचेत हो रहे थे । अतः गौओंके खुर और दाँतोंसे छिन्न-भिन्न तृणों और पृथ्वीपर बने खुरोंसे उनके मार्ग पहचानते हुए चले ॥ ३-४ ॥ अन्तमें अपने गोधनको मार्ग भूल जानेसे एक मुञ्जवनमें डकराते हुए पाकर वे अत्यन्त प्यासे और थके-माँदे होकर लौट आये ॥ ५ ॥ जब भगवान मेघके समान गम्भीर वाणीसे उन्हें नाम ले-लेकर पुकारने लगे और वे गौवें अपने-अपने नाम सुनकर प्रसन्न हो उनके उत्तरमें प्रतिध्वनि

ततः समन्ताद् वनधूमकेतुर्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम् ।
समीरितः सारथिनोल्बणोल्मुकैर्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान् ॥७॥
तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः ।
ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥८॥
कृष्ण कृष्ण महावीर हे रामामितविक्रम । दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥६॥
नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम् । वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः॥१०॥

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः । निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥११॥
तथेति मीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणम् । पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशोऽव्यमोचयत्
ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः । निशाम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः
कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम् । दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम्॥१४॥
गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः । वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः॥१५॥
गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्॥१६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे दावाग्निपानं
नामैकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १६ ॥

———

करने लगीं ॥ ६ ॥ इसी समय उस वनमें अकस्मात् वनवासी जीवोंको नष्ट करनेवाला दावानल लग गया और वायुसे प्रेरित हो तथा भयानक लपटोंसे बढ़कर सब स्थावर-जंगम जीवोंको भस्म करने लगा ॥ ७ ॥ उस दावानलको चारों ओरसे अपनी ओर बढ़ता देखकर गौ और गोपगण अत्यन्त भयभीत हो गये और मृत्युके भयसे डरे हुए जीव जैसे श्रीहरिकी शरणमें चले जाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण और बलरामके शरणागत होकर उन्हें पुकारने लगे ॥ ८ ॥ उन्होंने कहा—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महावीर ! हे अमितबलशाली बलराम ! हम आपके शरणागत दास होकर भी इस दावानलसे जलना ही चाहते हैं, आप हमारी रक्षा करें ॥ ६ ॥ हे कृष्ण ! आपके बन्धु-बान्धव कष्ट पाने योग्य नहीं हैं । हे सर्वधर्मज्ञ ! हमारे तो आप ही प्रभु और एकमात्र गति हैं ॥ १० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—अपने मित्रोंका दीन वचन सुनकर भगवानने कहा—"डरो मत, अपने-अपने नेत्र मूँद लो" ॥ ११ ॥ भगवानकी आज्ञानुसार जब उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर अपने-अपने नेत्र मूँद लिये तो योगेश्वर भगवान कृष्णने उस प्रचण्ड अग्निको अपने मुखसे पीकर उन्हें उस महान् संकटसे छुड़ा दिया ॥ १२ ॥ ग्वालबालोंने जब फिर नेत्र खोले तो देखा वे भाण्डीरवटके पास पहुँच गये हैं । इस प्रकार गौओं सहित अपने आपको दावानलसे मुक्त देखकर वे विस्मित हुए ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णके उस योग-सामर्थ्य, योगमायाके प्रभाव तथा दावानलसे अपनी सकुशल मुक्ति देखकर उन्होंने श्रीकृष्णको कोई देवता समझा ॥ १४ ॥ संध्या होनेपर बलरामजी तथा कृष्णचन्द्रजी अपनी गौएँ लौटाकर बाँसुरी बजाते और साथी ग्वालबालोंसे प्रशंसित होते हुए व्रजको लौटे ॥ १५ ॥ व्रजमें श्रीगोविन्दका दर्शन पाकर वहाँकी गोपियोंको बड़ा आनन्द मिला । क्योंकि अपने प्यारेके बिना उन्हें एक-एक क्षण सौ-सौ युगोंके समान भारी हो रहा था ॥ १६ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः । गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः प्रलम्बवधमेव च ॥१॥
गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः । मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥२॥
ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा । विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥३॥
सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः । अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥४॥
अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु । स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥५॥
तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः । प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥६॥
ततः कृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही । यथैव काम्यतपसस्तनुः संप्राप्य तत्फलम् ॥७॥
निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः । यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥८॥
श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः । तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये
आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः । पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥१०॥
हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः । उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभृत्
क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः । धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥१२॥
जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया । अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥१३॥

(वर्षा और शरदृतुका वर्णन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! घर पहुँचनेपर ग्वालबालोंने दावानलसे अपनी रक्षा और प्रलम्बासुरका वध, ये श्रीकृष्ण और बलरामके दो अद्भुत कर्म गोपियोंको विस्तारके साथ सुनाये ॥ १ ॥ उन विचित्र चरित्रोंको सुनकर वयोवृद्ध गोप और गोपियोंको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने समझा कि राम और कृष्णके रूपमें कोई बहुत बड़े देवता व्रजमें पधारे हुए हैं ॥ २ ॥ कुछ दिनों बाद सब जीवोंकी उत्पत्ति करनेवाली वर्षाऋतुका आगमन हुआ। उस समय चन्द्रमा और सूर्यके चारों ओर प्रकाशपूर्ण मण्डल दिखायी देने लगा और आकाशमें कोलाहल-सा उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥ बिजली और घोर गर्जन युक्त घने एवं नीले मेघोंसे ढँककर सूर्यादि ज्योतियाँ स्पष्ट न दीख पड़नेके कारण आकाशके गुणोंसे आच्छन्न जीवसंज्ञक ब्रह्मके समान मालूम पड़ीं ॥ ४ ॥ सूर्यदेवने अपनी किरणोंसे आठ महीने तक पृथिवीका जो जलरूप धन खींचा था, उसे वर्षा आनेपर वे अपनी मेघरूप किरणोंसे बरसाने लगे ॥ ५ ॥ जैसे दयालु पुरुष संसारको सन्तप्त देखकर उसे आनन्दित करनेके लिये अपना जीवन तक दे डालते हैं, वैसे ही दामिनीयुक्त महामेघ प्रबल वायुके झोंकेसे उड़-उड़कर अपना जीवनरूप जल बरसाने लगे ॥ ६॥ ग्रीष्मऋतुके तापसे सूखी पृथिवी वर्षाके जलसे अभिषिक्त होकर हरी-भरी हो गयी, जैसे किसी सकाम तपस्यासे दुर्बल शरीर उसका फल मिल जानेपर फिर पुष्ट हो जाय ॥ ७ ॥ रात्रिके समय बादलोंके घोर अन्धकारमें जुगुनुओंकी ज्योति चमकने लगी और ग्रहनक्षत्रोंका दर्शन दुर्लभ हो गया। जैसे कलिमें पापकी प्रबलतासे पाखण्डमतोंका प्रचार अधिक हो जाता और वैदिक सम्प्रदाय लुप्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥ अब तक मेढक चुपचाप पड़े थे, वे मेघोंका गर्जन सुनकर बोलने लगे। जैसे नित्य-नियमसे निवृत्त हो और अपने आचार्यका आदेश सुनकर ब्राह्मण लोग वेदपाठमें लग जाते हैं ॥९॥ छोटी-छोटी नदियाँ जो ग्रीष्मऋतुमें सूख गयी थीं, वे अपनी सीमाका उल्लंघन करके उफनकर बहने लगीं, जैसे अजितेन्द्रिय पुरुषकी देह, धन और सम्पत्ति कुमार्गमें ही लगती है ॥ १० ॥ हरी-भरी घाससे हरी, वीरबहूटियोंके कारण लाल और छत्राक (कठफुल्ले) के पुष्पसे छत्रयुक्त होकर पृथिवी नरेशोंकी सम्पत्ति जैसी सुशोभित होने लगी ॥११॥ खेत अपनी अन्नरूप सम्पत्तिसे किसानोंको आनन्दित करने और 'हानि-लाभ दैवाधीन है' इस बातको न माननेवाले महाजन सन्तप्त होने लगे ॥ १२ ॥ नवीन

सरिद्भिः सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षुभे श्वसनोर्मिमान् । अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा ॥१४॥
गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः । अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥१५॥
मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः । नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥१६॥
लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः । स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥१७॥
धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् । व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा ॥१८॥
न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः । अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥१९॥
मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः । गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥२०॥
पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन् नानात्ममूर्तयः । प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥
सरःस्वशान्तरोधःसु न्यूषुरङ्गापि सारसाः । गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥२२॥
जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे । पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥२३॥
व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः । यथाऽऽशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः
एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् । गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः ॥२५॥
धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा । ययुर्भगवताऽऽहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः ॥२६॥
वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः । जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः ॥२७॥

जलका सेवन करनेसे जल और स्थलपर रहनेवाले सब जीवोंका रूप बड़ा सुहावना हो गया, जैसे भगवानकी सेवासे मनुष्यकी आकृति सुन्दर हो जाती है ॥ १३ ॥ जिसकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई होतीं, उस योगीका चित्त जैसे विषयोंके संगसे वासनापूर्ण हो जाता है, वैसेही वायुके कारण तरल तरङ्गोंवाला समुद्र नदियोंके जलसे क्षुभित हो उठा ॥१४॥ वर्षाकी धाराओंकी चोट खाकर भी पर्वतोंको कुछ व्यथा नहीं होती, जैसे कष्टोंकी थपेड़ खाकर भी भगवानके भक्त चलायमान नहीं होते ॥१५॥ जिनकी कभी सफाई नहीं होती, वे मार्ग घाससे ढककर लुप्त-जैसे हो गये। जैसे अभ्यास न करनेसे ब्राह्मणोंकी पढ़ी हुई श्रुतियाँ कालक्रमसे विस्मृत हो जाती हैं ॥ १६ ॥ लोकोपकारी मेघोंमें बिजली स्थिर होकर नहीं रहती, जैसे चञ्चल प्रेमवाली व्यभिचारिणी स्त्रियाँ गुणी पुरुषोंके पास भी नहीं टिकतीं ॥ १७ ॥ बिना गुणका इन्द्रधनुष गर्जनादि गुणोंसे युक्त आकाशमें इस तरह सुशोभित होने लगा, जैसे गुणोंके क्षोभसे होनेवाले प्रपञ्चमें निर्गुण पुरुष शोभित होता है ॥ १८ ॥ अपनी कान्तिसे देदीप्यमान और बादलोंसे ढका हुआ चन्द्रमा इसी तरह शोभित नहीं होता जैसे अपने ही आभाससे आभासित किन्तु अहंकारसे आच्छन्न पुरुष प्रकाशित नहीं हो पाता ॥ १९ ॥ जिनके लिये मेघोंका आगमन उत्सव सरीखा आनन्ददायी होता है, वे मयूरगण हर्षित होकर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। जैसे गृहस्थाश्रममें तीनों तापोंसे सन्तप्त एवं उद्विग्न पुरुष हरिभक्तोंके आनेसे प्रसन्न हो जाते हैं ॥ २० ॥ ग्रीष्मऋतुमें सूखे हुए पेड़ अपनी जड़ोंसे जल पीकर अनेक रूपोंसे सम्पन्न हो गये, जैसे तपस्यासे दुर्बल सकाम तपस्वी अपनी कामना सिद्ध हो जानेपर पुष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥ हे राजन्! सरोवरोंके तट काँटे और कीचड़से भर जानेपर भी चक्रवाक प्रायः वहीं रहते हैं। जैसे विषयी मनुष्य झंझटोंमें पड़कर भी गृहस्थाश्रममें ही रहते हैं ॥ २२ ॥ घोर वर्षासे जलका वेग बढ़ जानेके कारण नदियोंके बाँध टूट गये, जैसे कलिमें पाखण्डियोंके मिथ्या मतोंसे वैदिक धर्म लुप्त हो जाते हैं ॥२३॥ वायुसे प्रेरित होकर मेघ प्राणियोंके लिए अमृत (जल) बरसाने लगे, जैसे ब्राह्मणोंकी प्रेरणासे राजा लोग समय-समयपर प्रजाकी कामनाएँ पूरी करते रहते हैं ॥ २४ ॥ इस तरह वर्षाके कारण पके खजूर और जामुनोंसे युक्त वनमें विहार करनेके लिये बलराम और श्रीकृष्णने गौओं और गोपालोंके साथ प्रवेश किया ॥ २५ ॥ थनोंके भारसे धीरे-धीरे चलनेवाली गौएँ भगवानके बुलानेसे दौड़ पड़ीं। इस समय प्रीतिवश उनके स्तनोंसे दूध बहता जाता था ॥ २६ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रने प्रसन्न वनवासी

क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति । निर्विश्य भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः॥२८॥
दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके । सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः॥२९॥
शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् । तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोधोभरश्रमाः
प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतमुदावहाम् । भगवान् पूजयाञ्चक्रे आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥
एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे । शरत् समभवद् व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला॥
शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः । भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥३३॥
व्योम्नोऽब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम् । शरज्जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम्॥३४॥
सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः । यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम् । यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥३६॥
नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः । यथाऽऽयुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥
गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् । यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥३८॥
शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः । यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥३९॥
निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शरदागमे । आत्मन्युपरते सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः ॥४०॥
केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् कर्षका दृढसेतुभिः । यथा प्राणैः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः॥४१॥

भील-भीलनियोंको, मधुकी वर्षा करनेवाली वनावलीको और पर्वतसे निकलती जलधाराओंको देखा तथा उन निर्झरोंका निनाद सुनते हुए उनके आस-पासकी गुफाएँ भी देखीं ॥२७॥ उन दिनों भगवान वर्षा होते समय कभी किसी सघन वृक्षके तले गुफामें बैठकर कन्दमूल-फल खाते हुए अपने साथियों-के साथ क्रीडा करते थे ॥ २८ ॥ कभी जलके पार शिलापर बैठकर बलरामजी तथा अन्य ग्वालबालों-के सङ्ग अन्य भोज्य पदार्थोंके साथ घरसे लाया हुआ दही-भात खाते थे ॥ २९ ॥ उस समय अच्छी तरह तृप्त होकर हरी-भरी घासोंपर बैठ और आँख मूँदकर पागुर करते हुए बैल, बछड़े और थनोंके भारसे लदी गौओंको एवं अपने ही प्रभावसे बढ़े हुए समस्त प्राणियोंको आनन्दित करनेवाली वर्षा-ऋतुकी शोभा देखकर भगवान उसकी प्रशंसा करने लगे ॥ ३०-३१ ॥ राम और कृष्णके इस प्रकार व्रजमें रहते रहते मेघमालासे रहित तथा स्वच्छ जल और शान्तवायुसे सुशोभित शरद्ऋतुका आगमन हुआ ॥ ३२ ॥ शरद्ऋतुमें कमलोंके उग जानेसे जलाशय स्वच्छ हो गये, जैसे योगभ्रष्ट पुरुषोंके चित्त योगाभ्याससे निर्मल हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ शरद्ऋतुने आकाशके मेघ, वर्षाकालमें बढ़े जीव, पृथिवीके कीचड़ और जलके मलको नष्ट कर दिया, जैसे भगवानकी भक्ति चारों आश्रमोंके अशुभ नष्ट कर देती है ॥ ३४ ॥ मेघगण अपना जलरूप सर्वस्व त्यागकर शुभ्र कान्तिसे सुशोभित होने लगे, जैसे त्रिविध एषणाओंको त्यागकर पुण्यात्मा और शान्तस्वभाव मुनिजन शोभित होते हैं ॥ ३५ ॥ पर्वतगण कहीं झरनोंसे स्वच्छ जल छोड़ते और कहीं नहीं भी छोड़ते, जैसे ज्ञानीजन समय-समयपर कभी ज्ञानामृतकी वर्षा करते हैं और कभी नहीं भी करते ॥३६॥ थोड़े जलमें रहनेवाले जीव जलकी नित्य-प्रति होनेवाली क्षीणताको नहीं जानते, जैसे कुटुम्बमें आसक्त मूढ अपनी नित्य क्षीण होनेवाली आयुको नहीं जान पाते ॥ ३७ ॥ थोड़े जलमें रहनेवाले प्राणियोंको शरत्कालीन सूर्यका ताप इस तरह सन्तप्त करने लगा जैसे अजितेन्द्रिय, दरिद्र और कृपण कुटुम्बीको त्रिविध सांसारिक कष्ट सताते रहते हैं ॥ ३८ ॥ पृथिवी कीचड़को और लताएँ अपनी कचाईको धीरे-धीरे इस प्रकार छोड़ने लगीं, जैसे धीर पुरुष शरीर आदि अनात्मपदार्थोंमें धीरे-धीरे ममता और अहन्ताको त्याग देते हैं ॥ ३९ ॥ शरद्ऋतुके आनेपर जलका वेग शान्त हो जानेके कारण समुद्र गर्जनरहित हो गया । जैसे मनके उपरत हो जानेसे मुनि वेदपाठ आदि कर्मकाण्ड छोड़कर शान्त हो जाते हैं ॥ ४० ॥ किसान क्यारियोंके किनारोंको फोड़कर निकलनेवाला जल सुदृढ मेड़ें बाँधकर रोकने लगे, जैसे योगीजन

शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् । देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥४२॥
खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् । सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥४३॥
अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी । यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥४४॥
आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् । जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥४५॥
गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन् । अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥४६॥
उदहृष्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद् विना । राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप ॥
पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः । बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥
वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे । वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे प्रावृट्शरद्वर्णनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

———

एकविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना । न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥१॥
कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलघुष्टसरः सरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

इन्द्रियद्वारोंको रोककर उनके द्वारा क्षीण होनेवाले ज्ञानके रक्षक हो जाते हैं ॥ ४१ ॥ शरत्कालीन सूर्यकी किरणोंसे होनेवाले प्राणियोंके तापको चन्द्रमा अपनी शीतल किरणोंसे शान्त करने लगा। जैसे देहाभिमानजनित दुःखको ज्ञान और व्रजवनिताओंके तापको श्रीमुकुन्द दूर कर देते थे ॥ ४२ ॥ शरदृतुका निर्मल और मेघहीन आकाश रात्रिके समय तारागणसे सुशोभित होने लगा। जैसे वेदका वास्तविक अर्थ जाननेवाला सत्त्वगुणी चित्त शोभायमान होता है। आकाशमें तारागणोंके साथ अखण्डमण्डलसे समलंकृत चन्द्रमा शोभित होने लगा। जैसे पृथिवीतलमें यादवोंके बीच यदुपति कृष्णचन्द्र सुशोभित होते थे ॥४३॥४४॥ वनके पुष्पोंमेंसे होकर आये हुए समशीतोष्ण वायुका स्पर्श पाकर सब लोगोंका ताप दूर हो गया। किन्तु जिनके चित्त श्रीकृष्णने चुरा लिये थे, वे गोपियाँ अपना विरह-ताप शान्त नहीं कर सकीं ॥ ४५ ॥ शरदृतुमें गौएँ, मृगियाँ, पक्षिणियाँ और नारियाँ ऋतुमती हो गयीं और उनके पति उनका अनुसरण करने लगे। जैसे समर्थ पुरुषद्वारा विधिवत्की हुई क्रियाओंके फल उनका अनुसरण करते हैं ॥ ४६ ॥ हे राजन्! जैसे राजाको देखकर चोरोंके सिवा और सब लोग निर्भय हो जाते हैं, वैसे ही सूर्यका उदय होनेपर कुमुदिनीके सिवाय अन्य सब प्रकारके सरसिज प्रफुल्लित हो उठे ॥ ४७ ॥ उस समय पुर और ग्रामोंमें नवान्नप्राशन आदि वैदिक और इन्द्रियसम्बन्धी लौकिक उत्सवोंसे शोभायमान तथा पके अन्नसे सम्पन्न भूमि श्रीहरिकी दोनों कलाओं अर्थात् राम और कृष्णसे अत्यन्त शोभित हुई ॥ ४८ ॥ जैसे सिद्धगण समय उपस्थित होनेपर अपने देवादि शरीरोंको प्राप्त करते हैं, वैसे ही वैश्य मुनि राजा और ब्रह्मचारी लोग चलकर अपने-अपने कामोंमें लग गये ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

(वेणुगीत) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! शरत्कालके आनेसे जिसके जलाशयोंका जल स्वच्छ हो गया था और जिसमें कमलवनकी गन्धसे सुरभित वायु डोलने लगा था, उस वनमें श्रीअच्युतने गौ और गोपालोंके साथ प्रवेश किया ॥ १ ॥ जहाँ फूले हुए वनोंकी

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् । काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ३
तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् । नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥४॥
बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥
इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम् । श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥६॥

गोप्य ऊचुः

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥७॥
चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥८॥
गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः ॥९॥
वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०॥

पंक्तियोंमें मतवाले भौंरों और पक्षियोंके बोलनेसे सरोवर, नदी और पर्वत गुञ्जायमान हो रहे थे, उस वृन्दावनमें पहुँचकर श्रीकृष्णने बलरामजी तथा अन्य ग्वालबालोंके साथ गौएँ चराते हुए वंशी बजायी ॥ २ ॥ कामदेवको उद्दीप्त करनेवाले उस वेणुनादको सुनकर गोपियाँ अपनी सखियोंसे भगवान कृष्णके गुणोंका वर्णन करने लगीं ॥ ३ ॥ वर्णन आरम्भ करते ही उन्हें श्रीकृष्णचन्द्रके चरित्रोंका स्मरण हो आया । जिससे कामवेगके कारण उनका चित्त चञ्चल हो गया और वे और अधिक नहीं बोल सकीं ॥ ४ ॥ उन्होंने सोचा—'मोरमुकुट धारण किये, कानोंमें कनेरके फूल लगाये, सुवर्णके समान प्रकाशित पीताम्बर और गलेमें वैजयन्ती माला पहने नटवर श्रीकृष्णने बाँसुरीके छिद्रोंको अधरामृतसे पूर्ण करते हुए अपने चरणचिह्नोंसे सुशोभित वृन्दावनमें ग्वालबालोंके साथ उनके मुखसे अपना सुयश सुनते हुए वनमें प्रवेश किया है' ॥ ५ ॥ हे राजन् ! सब प्राणियोंके मनको हरनेवाला मुरलीका सुमधुर स्वर सुनकर सब व्रजबालाएँ आपसमें वार्तालाप करती हुई मन ही मन भगवानकी मनोहर और मधुर मूर्तिका आलिङ्गन करने लगीं ॥ ६ ॥ गोपियाँ बोलीं—हे सखियों ! अपने साथी बालकोंके साथ वनसे लौट और गौओंके पीछे चलकर उनको व्रजमें प्रवेश कराते समय दोनों व्रजराजकुमारोंके बजती हुई वंशीसे सुशोभित प्रणयकटाक्षयुक्त मुखामृतका जिन्होंने नेत्रों द्वारा सेवन अथवा पान किया है, वे धन्य हैं। क्योंकि हम तो नेत्रोंका परम लाभ यही समझती हैं और कुछ नहीं ॥ ७ ॥ दूसरी गोपी बोली—"अहो ! नूतन आम्रपल्लव, मयूरपिच्छ, फूलोंके गुच्छे तथा स्थल और जलमें उत्पन्न होनेवाले कमलकुसुमोंकी मालाओं तथा नील और पीत वस्त्र पहने विचित्रवेषधारी बलराम और कृष्ण गोपालोंकी गोष्ठीमें जब कभी गान करते लगते हैं तो ऐसे लगते हैं, जैसे रंगभूमिमें दो श्रेष्ठ नट विराजमान हों" ॥ ८ ॥ एक और गोपी कहने लगी—"अरी गोपियों ! इस निगोड़ी बाँसुरीने न जाने ऐसा कौनसा पुण्य किया है, जो यह गोपियोंका भोग्य भगवानका अधरामृत स्वयं पीकर दूसरोंके लिये केवल जूठन छोड़ देती है। क्योंकि उनसे जैसे भद्रजन सुखी होते हैं, वैसे ही नदियाँ रोमाञ्चयुक्त दिखायी दे रही हैं और वे बाँसके वृक्ष कुलवृद्धोंके समान आनन्दाश्रु बहा रहे हैं" ॥ ९ ॥ एक अन्य गोपीने कहा—"अरी सखी ! यह वृन्दावन तो भूलोककी कीर्ति सर्वत्र फैला रहा है । क्योंकि देवकीनन्दनके चरणचिह्नोंसे इसे अपूर्व शोभा प्राप्त हुई है। जिस समय भगवान बाँसुरी बजाते हैं तो मन्द-मन्द गर्जता हुआ मेघ समझकर मतवाले मोर नाचने लगते हैं। उनका

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥
कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥
गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥१३॥
प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥१४॥
नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१५॥
दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सहरामगोपैः संचारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥१६॥
पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥१७॥
हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥१८॥

नृत्य देखकर पर्वतोंके ऊपर विचरनेवाले प्राणी निश्चेष्ट होकर चुपचाप खड़े रह जाते हैं" ॥ १० ॥ दूसरी बोली—'अरी ओ सखी ! मूढबुद्धि होनेपर भी वे मृगियाँ धन्य हैं, जो बाँसुरीका स्वर सुनते ही अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ आकर अपने प्रणयकटाक्षोंसे विचित्र वेषधारी नन्दनन्दनकी पूजा करती हैं" ॥११॥ एक गोपी बोली—"जिनका रूप और जिनका स्वभाव सभी स्त्रियोंको आनन्दित करता है, उन श्रीकृष्णचन्द्रको देख और उनकी बजायी बाँसुरीका विचित्र स्वर सुनकर अपने पतियोंके साथ विमानपर चढ़कर आयी हुई सुरसुन्दरियाँ कामवेगसे इतनी अधीर हो गयीं हैं कि उनके केशसे फूल गिरने लगे और उनके कटि-वस्त्र खिसक गये हैं, किन्तु उन्हें इसका कुछ भी पता ही नहीं है ॥ १२ ॥ एक बोली—देखो, भगवानके मुखसे निकले वेणुगीतरूपी अमृतको अपने उठे हुए श्रवणपुटोंसे तथा अपने सजल नयनों द्वारा उनकी मधुर मूर्तिको हृदयंगमकर उसका आलिङ्गन करती हुई गौएँ निश्चेष्ट-सी हो रही हैं और उनके बछड़े दूध झरते हुए स्तनोंका घूँट मुखसे बहाते हुए निश्चेष्टसे खड़े हैं" ॥ १३ ॥ एक बोली—सखियों ! इस वनके सब पक्षी मुनि हैं। क्योंकि ये जहाँसे श्रीकृष्णका दर्शन सुभीतेसे हो सके, ऐसे वृक्षोंकी मनोहर पल्लवों युक्त शाखाओंपर बैठ और अपना कलरव छोड़कर निर्निमेष नयनोंसे उन्हींकी ओर निहारते हुए एकाग्रभावसे उनका मनोहर वेणुनाद सुन रहे हैं ॥ १४ ॥ दूसरी गोपीने कहा—सचेतन प्राणियोंकी कौन कहे, भँवरोंके कारण लक्षित होनेवाले कामविकारसे जिनका वेग रुक गया है, वे नदियाँ भी भगवानका वेणुगीत सुनकर अपनी तरङ्गरूपिणी भुजाओंसे कमलकुसुमकी भेंट अर्पण करती हुई गाढ़ आलिङ्गनसे खिन्न कृष्णके चरणयुगलको चूम रही हैं ॥१५॥ एक गोपी बोली—देखो, घोर घामके समय बलरामजी तथा अन्यान्य गोपोंके सहित भगवान कृष्णको गौएँ चराते और बाँसुरी बजाते देख इनमें प्रेमवश उमड़ा हुआ मेघ कुसुमावली सरीखी फुहारों सहित शरीरसे सखा श्रीकृष्णपर छत्र लगा रहा है ॥ १६ ॥ एकने कहा—ये वनकी भीलनियाँ भी धन्य हैं। क्योंकि जिस कुंकुमको श्रीकृष्णकी प्रियतमा गोपियाँ अपने स्तनोंमें लगाती हैं वही जब श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें लगकर उनकी अरुणकान्तिसे रञ्जित कुंकुम वनकी घासमें लगा दीखता है तो उसे देखकर इनके मनमें काम-वेग उत्पन्न हो जाता है और ये उस

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥१९॥
एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः । वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः॥२०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे वेणुगीतं नामैकविंशतितमोऽध्यायः।

———

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः । चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१॥
आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे। कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥२॥
गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः । उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥३॥
कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि । नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥४॥
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः । भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥५॥
उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः । कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥६॥

कुंकुमको अपने मुख और कुचोंमें लगाकर अपनी व्यथा दूर कर लेती हैं ॥ १७ ॥ एक सखीने कहा-ओ गोपियों ! यह गोवर्धनपर्वत अवश्य हरिभक्तोंमें श्रेष्ठ है । क्योंकि बलराम और कृष्णके चरण-कमलोंका स्पर्श होनेसे आनन्दित होकर यह जल, सुन्दर तथा हरी-हरी घास, कन्दरा और कन्द-मूलादि फल देकर गौ और ग्वालबालोंके साथ उनका आदर-सत्कार करता है ॥ १८ ॥ एक और गोपी बोली—"हे सखियों ! यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि जिनके कन्धेपर गौओंको बाँधनेकी रस्सी सुशोभित हो रही है, वे राम और कृष्ण जब अपने साथियोंके साथ गौएँ लेकर एक वनसे दूसरे वनमें जाते हैं, उस समय उनके मधुर पदों युक्त उदार वेणुनादको सुनकर जंगम प्राणी स्थिर हो जाते और वृक्षोंके रोमाञ्च हो आते हैं" ॥ १९ ॥ श्रीवृन्दावनविहारीकी लीलाका इस प्रकार गान करती हुई गोपियाँ उनके प्रेमरसमें डूब गयीं ॥ २० ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

(चीरहरण) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! हेमन्त ऋतुके प्रथम मास अर्थात् मार्ग-शीर्ष मासमें नन्दजीके व्रजकी बालिकाओंने केवल हविष्यान्न भोजनकर कात्यायनी देवीके पूजनका व्रत लिया ॥१॥ हे नृप ! वे सब गोपियें अरुणोदयके समय यमुनामें नित्यस्नान करके जलके पास ही देवीकी बालुकामयी प्रतिमा बनाकर सुगन्धित चन्दन, माला, भाँति-भाँतिके नैवेद्य, धूप-दीप, छोटे-बड़े नाना प्रकारके उपहार तथा पल्लव, फल, फूल और तण्डुलादिसे पूजा करती थीं ॥ २-३ ॥ पूजाके अन्तमें वे कहतीं-'हे कात्यायनि ! हे महामाये ! हे महायोगिनि ! हे अधीश्वरि ! आप नन्द-गोपके पुत्र कृष्णको हमारा पति बनाइये । हे देवि ! हम आपको नमस्कार करती हैं'। इस मन्त्रको जपती हुई वे कुमारियाँ देवीकी उपासना करती थीं ॥ ४ ॥ इस प्रकार भगवान कृष्णचन्द्रमें मन लगाकर गोपकुमारियोंने एक मासतक कात्यायनी व्रतका पालन करती हुई नन्दके पुत्र हमारे पति हों, इस अभिलाषासे भद्रकालीका भली भाँति पूजन किया ॥ ५ ॥ वे प्रतिदिन सबेरे अरुणोदयकालमें उठतीं, परस्पर नाम ले-लेकर जगातीं और यमुनाजीमें स्नान करनेके लिये एक साथ जाती थीं। उस समय वे एक-दूसरीका हाथ पकड़कर उच्च स्वरसे कृष्णचन्द्रकी

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् । वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा ७
भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः । वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥८॥
तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः । हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥९॥
अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् । सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शिताः॥१०॥
न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः । एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवेति सुमध्यमाः ॥११॥
तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः । व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः१२
एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसः । आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन्॥१३॥
मानयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् । जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ।
श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् । देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे ॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ । अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः १६
ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः । पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुःशीतकर्शिताः १७
भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः । स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतःप्रोवाच सस्मितम्॥१८॥
यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ॥१९॥

लीलाएँ गाती जाती थीं ॥ ६ ॥ एक दिन सब बालिकाएँ नित्यकी भाँति यमुनाजीपर आयीं और अपने वस्त्र किनारे रखकर श्रीकृष्णचन्द्रके गुण गाती हुई प्रसन्नतापूर्वक जलविहार करने लगीं ॥७॥ इसी समय योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान कृष्ण उनका अभिप्राय जानकर उनके व्रतको सफल बनानेके लिए अपने साथी बालकोंके साथ यमुनाजीपर गये ॥ ८ ॥ और उनके वस्त्र लेकर तुरन्त कदम्बपर चढ़ गये । अन्य गोपबालकोंके साथ स्वयं भी हँसते हुए उन व्रतधारिणी गोपियोंसे कहने लगे— ॥ ९ ॥ बालिकाओं ! तुम यहाँ आकर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ । मैं तुमसे सत्य कहता हूँ— हँसी नहीं करता । क्योंकि व्रतके कारण इस समय तुम बहुत दुर्बल हो गयी हो ॥ १० ॥ देखो, ये सब बालक जानते हैं । मैं पहले भी कभी झूठ नहीं बोला हूँ । हे सुन्दरियों ! तुम एक-एक करके अथवा एक साथ आकर अपने-अपने वस्त्र ले जाओ ॥ ११ ॥ भगवानको इस प्रकार उपहास करते देख गोपियाँ प्रेममें मग्न हो गयीं । वे लज्जावश एक-दूसरीकी ओर देखकर मुसकाती हुई जलसे बाहर नहीं निकलीं ॥ १२ ॥ भगवानके हँसी-हँसीमें इस प्रकार कहनेसे उनके मन श्रीकृष्णकी ओर खिंच गये और वे शीतल जलमें कण्ठपर्यन्त घुसकर काँपती हुई उनसे गिड़गिड़ाकर कहने लगीं—॥ १३ ॥ "मोहन ! ऐसा अन्याय न करो, हम जानती हैं कि तुम नन्दजीके दुलारे बेटे हो और हमारे भी प्रिय हो । सब व्रजवासी तुम्हारी बड़ाई करते हैं । देखो, हम मारे जाड़ेके काँप रही हैं । तुम हमारे वस्त्र हमें दे दो ॥ १४ ॥ हे श्यामसुन्दर ! हम तुम्हारी दासियाँ हैं । तुम जो आज्ञा दोगे, हम वही करेंगी । तुम बड़े धर्मज्ञ हो, अतः हमारे वस्त्र दे दो । नहीं तो हम राजा कंस अथवा नन्दजीसे जाकर कह देंगी" ॥ १५ ॥ भगवान बोले—हे सुहासिनियों ! यदि तुम मेरी दासी हो और मेरी आज्ञा माननेको तैयार हो तो यहाँ मेरे पास आकर अपने कपड़े माँगो ॥ १६ ॥ तब शीतके कारण काँपती हुई वे सब बालिकाएँ जाड़ेसे हारकर अपने गुप्त अङ्गोंको हाथसे छिपाये जलाशयसे बाहर आयीं । यह देख उनके शुद्ध भावसे प्रसन्न हो भगवानने उन सबके वस्त्र अपने कन्धेपर रख लिये और मुसकाते हुए उनसे कहने लगे—॥ १७–१८ ॥ तुमने कात्यायनी देवीके पूजनका व्रत लेकर भी जो वस्त्रहीन हो जलमें स्नान किया, इससे वरुणदेवका अपमान हुआ है । उस दोषकी शान्तिके लिये तुम

इत्यच्युतेनाभिहिता व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः ॥२०॥
तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः । वासांसि ताभ्यःप्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः २१
दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥२२॥
परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः । गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिँल्लज्जायितेक्षणाः॥२३।
तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया । धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥२४॥
सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् । मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥२५॥
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते । भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।२६।
यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः । यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः । ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम्२८
अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः । वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः॥२९।
निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः । आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥३०॥
हे स्तोककृष्ण हे अंशो श्रीदामन् सुबलार्जुन । विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥३१॥

मस्तकपर हाथ जोड़ तथा झुककर उन्हें प्रणाम करो और फिर अपने वस्त्र ले लो ॥ १९ ॥ इस प्रकार भगवानके कहनेपर व्रजबालाओंने समझा कि वस्त्रहीन होकर स्नान करनेसे हमारा व्रत खण्डित हो गया है। अतः उसकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये उन्होंने समस्त कर्मोंके साक्षी भगवान कृष्णको प्रणाम किया। क्योंकि वे ही सब पापोंको दूर करनेवाले महाप्रभु थे ॥ २० ॥ इस प्रकार देवकीनन्दन भगवान कृष्ण उन्हें अपनी आज्ञानुसार प्रणाम करते देख बहुत प्रसन्न हुए और दयापूर्वक उनके वस्त्र लौटा दिये ॥ २१ ॥ हे राजन् ! भगवान कृष्णने गोपियोंसे छलकी बातें कहीं, उनकी लज्जा छुड़ायी, उनसे मसखरी की, उन्हें कठपुतलियोंकी भाँति नाच नचाया और उनके वस्त्र हर लिये, तो भी वे उनसे रुष्ट नहीं हुईं, अपितु अपने प्रियतमके इतने सङ्गसे वे बहुत प्रसन्न हुईं ॥ २२ ॥ उन्होंने अपने वस्त्र तो पहन लिये, किन्तु प्रियतमके समागममें उनका चित्त ऐसा अनुरक्त होगया कि वहाँसे चल नहीं सकीं, बल्कि लजीली दृष्टिसे उन्हींकी ओर टकटकी लगाकर निहारती रहीं ॥ २३ ॥ भगवानने देखा कि इन व्रतवती कुमारिकाओंका कात्यायनी पूजनका सङ्कल्प मेरे चरणस्पर्शकी कामनासे ही है। अतः वे उनसे कहने लगे—॥ २४ ॥ "हे साध्वियों ! मैं तुम्हारा विचार जानता हूँ, तुम मेरा पूजन करना चाहती हो। मैं भी इसका अनुमोदन करता हूँ। तुम्हारा यह सङ्कल्प सत्य होगा अर्थात् तुम्हें मेरी प्राप्ति होगी ॥ २५ ॥ क्योंकि जिनका चित्त मुझमें लगा होता है, उनकी कामनाएँ सांसारिक भोगकी हेतु नहीं होतीं। जैसे भुने या उबाले हुए धान अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर सकते॥२६॥ हे साध्वियों ! अब तुम व्रजको जाओ, तुम्हारा व्रत पूर्ण हो गया। तुम आनेवाली शरदृऋतुकी रात्रियोंमें मेरे साथ रमण करोगी। इसी लिये तो तुमने यह व्रत लेकर कात्यायनी देवीका पूजन किया था ॥२७॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं–इस प्रकार भगवानकी आज्ञा पाकर व्रजबालाएँ सफलमनोरथ हो उनके चरणकमलोंका चिन्तन करती हुई बड़ी कठिनतासे व्रजको लौटीं ॥ २८ ॥ तदनन्तर गोपोंसे घिरे हुए भगवान देवकीनन्दन अपने बड़े भाई बलरामजी सहित गौएँ चराते हुए वृन्दावनसे दूर निकल गये ॥ २९ ॥ मार्गमें ग्रीष्मऋतुके सूर्यके प्रचण्ड घाममें अपनी छायासे छत्रका काम करते हुए वृक्षोंको देखकर भगवानने व्रजवासियोंसे कहा—॥ ३० ॥ "हे स्तोककृष्ण ! हे श्रीदामन् ! हे सुबल ! हे अर्जुन ! हे विशाल !

पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवितान् । वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥३२॥
अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् । सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥३३॥
पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः । गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः कामान् वितन्वते ३४
एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु । प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥३५॥
इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः । तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥३६॥
तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः । ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥३७॥
तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप । कृष्णरामावुपागम्य क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गोपीवस्त्रापहारो नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

गोपा ऊचुः

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण । एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथः ॥१॥

श्रीशुक उवाच

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः । भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥२॥
प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥३॥
तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः । कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥४॥
इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा । कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि ॥५॥

हे ऋषभ ! हे तेजस्विन् ! हे देवप्रस्थ ! हे वरूथप ! ॥ ३१ ॥ एकमात्र दूसरोंके लिए जीवन धारण करनेवाले इन महाभाग वृक्षोंको देखो। ये वायु, वर्षा, धूप और पाला आदि कष्ट सहते हुए हमारी रक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥ समस्त प्राणियोंके जीवनाधार इनका जीवन धन्य है। देखो, सत्पुरुषोंके समान अर्थी पुरुष इनके पास आकर कभी विमुख नहीं लौटते ॥ ३३ ॥ ये अपने पत्र, पुष्प, फल, छाया, मूल, वल्कल, काष्ठ, गन्ध, गोंद, भस्म, कोपलें और अंकुरादिसे सबकी कामना पूर्ण करते हैं ॥ ३४ ॥ इस लोकमें देहवानोंके जन्मकी सफलता इसीमें है कि वे अपने प्राण, धन, बुद्धि और वाणीसे सदा श्रेयका ही आचरण करें ॥ ३५ ॥ इस प्रकार भगवान कृष्ण वृक्षोंकी प्रशंसा करते हुए नवपल्लव, गुच्छे, फल, फूल और पत्तोंसे जिनकी शाखाएँ झुकी हुई थीं, उन तरुनिकुञ्जोंमें होकर यमुना-तटपर आये ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! वहाँ गोपोंने गौओंको यमुनाका मधुर, शीतल, स्वादिष्ट और स्वच्छ जल पिलाया और फिर स्वयं भी जी भरकर पिया ॥ ३७ ॥ जब वे यमुनाके तटवर्ती वनमें स्वच्छन्दतापूर्वक गौएँ चरा रहे थे, उस समय ग्वालबालोंने भूखसे व्याकुल होकर श्रीकृष्ण और बलरामके पास आकर कहा ॥ ३८ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां द्वाविंशोऽध्यायः २२

(यज्ञपत्नियोंपर भगवानकी कृपा) गोपगण कहने लगे—हे महाबलशाली बलराम ! हे दुष्टदलन कृष्ण ! हमें बड़ी भूख लगी है, आपलोग किसी प्रकार उसे शान्त करें ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—इस प्रकार गोपोंके कहनेपर भगवान कृष्णने परम भक्त ब्राह्मणपत्नियोंपर अनुग्रह करनेके लिये कहा—॥ २ ॥ यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वेदपाठी ब्राह्मण स्वर्ग पानेकी इच्छासे आङ्गिरस यज्ञ कर रहे हैं। तुमलोग उनकी यज्ञशालामें जाओ ॥ ३ ॥ हमारे भेजनेसे वहाँ जाकर तुम आर्य बलभद्रजीका और मेरा नाम लेकर उनसे कुछ भात माँग ले आओ ॥ ४ ॥ इस प्रकार भगवानकी आज्ञा पाकर गोप उन ब्राह्मणोंसे अन्न माँगने गये। उन्होंने पृथिवीपर दण्डके समान गिरकर उन्हें प्रणाम

हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः । प्राप्ताञ्जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान्६
गाश्चारयन्तावविदूर ओदनं रामच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥७॥
दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः । अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति॥८॥
इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः । क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः॥९॥
देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः । देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥१०॥
तं ब्रह्म परमं साक्षाद् भगवन्तमधोक्षजम् । मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे॥११॥
न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप । गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः १२
तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः । व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयँल्लौकिकीं गतिम्॥१३॥
मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससंकर्षणमागतम् । दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया१४
गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वाऽऽसीनाः स्वलङ्कृताः । नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥१५॥
नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः । इतोऽविदूरे चरता कृष्णेनेहेषिता वयम् ॥१६॥
गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः । बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम्॥१७॥
श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः । तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसंभ्रमाः ॥१८॥
चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः । अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः॥१९॥

किया और हाथ जोड़कर कहा—॥ ५ ॥ हे भूदेवगण ! आपका कल्याण हो। सुनिये, हम भगवान् कृष्णके आज्ञाकारी गोप हैं। हम उनकी और आर्य बलरामजीकी आज्ञासे ही आपलोगोंके पास आये हुए हैं॥ ६ ॥ राम और कृष्ण यहाँसे थोड़ी ही दूरपर गायें चरा रहे हैं। उन्हें बड़ी भूख लगी है। इसलिये वे आपलोगोंसे कुछ भोजन माँगते हैं। आपलोग धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं। यदि आपकी श्रद्धा हो तो उन भोजनार्थियोंके लिये थोड़ा-सा भात दे दीजिये ॥ ७ ॥ हे सज्जनों ! यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर अग्नीषोमीय पशुके बलिदानसे पूर्व ही दीक्षितका अन्न दूषित माना जाता है और सौत्रामणीमें सदा ही दीक्षित अन्न अग्राह्य होता है। इससे अन्यत्र दीक्षित पुरुषका भी अन्न खानेवाला दोषभागी नहीं होता ॥ ८ ॥ इस प्रकार भगवानके अन्नयाञ्चाकी बात उन क्षुद्रहृदय, कर्मठ और अपनेको बड़ा माननेवाले मूर्ख ब्राह्मणोंने सुनकर भी अनसुनी कर दी। देश, काल, नाना प्रकारके द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज् , अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म जिन भगवानके स्वरूप हैं, ऐसे साक्षात् परब्रह्म भगवान अधोक्षजको उन मन्दमति ब्राह्मणोंने एक साधारण मनुष्य समझकर उनका सम्मान नहीं किया ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ हे परंतप ! उन्होंने हाँ या नहीं कुछ भी नहीं कहा। तब ग्वाल-बाल निराश होकर वहाँसे राम और कृष्णके पास लौट आये और उन्हें सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १२ ॥ उनका कथन सुनकर जगत्पति भगवान कृष्णने लौकिक गति दिखलाते हुए हँसकर कहा—॥ १३ ॥ अबकी बार तुम फिर जाओ और उनकी पत्नियोंको बलरामके सहित मेरे यहाँ आनेका समाचार कह सुनाओ। मुझमें उनकी अत्यन्त प्रीति है और उनका चित्त सदा मुझमें लगा रहता है। वे तुम्हें अवश्य भरपूर भोजन देंगी" ॥ १४ ॥ तब गोप-बालक पत्नीशालामें गये और उन्होंने वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित होकर बैठी हुई द्विजपत्नियोंको देखा और नमस्कारकर विनीत भावसे इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥ "हे विप्रवधुओं ! तुम्हें हम नमस्कार करते हैं, हमारी बात सुनो। यहाँसे पास हीके वनमें विचरते हुए भगवान कृष्णचन्द्रने हमें आपके भेजा है ॥ १६ ॥ वे हम ग्वाल-बालों और बलरामजीके साथ गाएँ चराते हुए बहुत दूर निकल आये हैं। इस समय उन्हें बहुत भूख लगी है। तुम उनके लिये कुछ खानेको दे दो" ॥ १७ ॥ उन ब्राह्मणियोंका मन सर्वदा हरिचर्चा ही में लगा रहता था। अतएव भगवानको निकट आये सुन उनके दर्शनोंकी लालसासे उनका चित्त

निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः । भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥२०॥
यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते । विचरन्तं वृतं गोपैः साग्रजं ददृशुः स्त्रियः ॥२१॥
श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालवटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥२२॥
प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्यस्मिन् निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः ।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ॥२३॥
तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया । विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥२४॥
स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् । यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥२५
नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः । अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥
प्राणबुद्धिमनःस्वात्मदारापत्यधनादयः । यत्संपर्कात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरःप्रियः२७
तद् यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः । स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥२८॥

पत्न्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ॥२९॥
गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।
तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि ॥३०॥

चञ्चल हो उठा ॥१८॥ सर्वदा पूर्णकीर्ति भगवान कृष्णकी कीर्ति सुनते रहनेसे उनका चित्त कृष्णमें लगा हुआ था। अतः वे सबकी सब अपने पति, भाई, बन्धु और पुत्रोंके रोकनेपर भी पात्रोंमें अनेक गुणयुक्त चार प्रकारका अन्न परोसकर अपने प्यारे कृष्णके पास ऐसे चलीं, जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर जाती हैं ॥ १९ ॥ २० ॥ उन्होंने यमुनाके तटपर नवपल्लवविमण्डित अशोक वनमें भगवान कृष्णको भाई बलरामजीके साथ गोपोंसे घिरकर विचरते देखा। भगवानका श्याम शरीर था। वे स्वर्णवर्ण पीताम्बर पहने थे। नवीन पुष्पोंकी माला, मयूरपिच्छ, चित्र-विचित्र धातु एवं नवपल्लवोंसे वे अपना नटवर वेष बनाये हुए थे। भगवान कृष्ण अपना एक हाथ किसी सखाके कन्धेपर रखे थे। दूसरे हाथसे कमलका फूल घुमा रहे थे और उनके कानोंमें कमलपुष्प, कपोलपर अलकावली और मुखारविन्दपर मनोहर मुसकानकी अपूर्व शोभा बरस रही थी ॥ २१ ॥ २२ ॥ हे राजन्! अबतक जिनका प्रिय सुयश कानोंमें पड़ते रहनेसे मन तन्मय हो गया था, उन श्यामसुन्दरको सामने पाकर ब्राह्मणियें उन्हें अपने नेत्रद्वारसे भीतर ले गयीं और जैसे अहंवृत्तियाँ सुषुप्तिके अभिमानी प्राज्ञको पाकर उसमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार बहुत देरतक उनका आलिङ्गनकर अपने हृदयका ताप मिटाती रहीं ॥ २३ ॥ जब सर्वसाक्षी भगवानने जाना कि वे और-और कामनाएँ छोड़कर केवल उनके दर्शनकी इच्छासे ही यहाँ आयी हैं तो उनसे हँसते हुए बोले—॥ २४ ॥ "हे महाभागाओं! हम तुम्हारा स्वागत करते हैं। आओ, बैठो। कहो, हम तुम्हारी क्या सेवा करें? तुम जो यहाँ हमारा दर्शन करनेके लिए आयी हो सो उचित ही है ॥ २५ ॥ क्योंकि ज्ञानीजन अपना स्वार्थ जानते हैं। इसीलिये वे अपने प्रियजनके समान मुझमें अहैतुकी और निष्कपट भक्ति करते हैं ॥ २६ ॥ प्राण, बुद्धि, मन, देह, स्त्री, पुत्र और धन ये सब जिसके संपर्कसे प्रिय मालूम होते हैं, उससे अधिक प्रिय भला और कौन हो सकता है? ॥ २७ ॥ अच्छा, अब तुम लोग अपनी यज्ञशालाको लौट जाओ, जिससे तुम्हारे पति गृहस्थ ब्राह्मण तुम्हारे साथ मिलकर अपना यज्ञ पूरा करें" ॥ २८ ॥ द्विजपत्नियाँ बोलीं—हे विभो! आप ऐसी कठोर बात न कहें। आप अपने देववाक्योंको सत्य करिए। हम अपने सब स्वजनोंको ठुकराकर आपके चरणोंसे गिरी तुलसीकी मालाको अपने केशोंमें धारण

श्रीभगवानुवाच

पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः । लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥३१॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह । तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥३२॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः । ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥३३॥
तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् । हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥३४॥
भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् । चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥३५॥
एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनु शीलयन् । रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः ॥३६॥
अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः । यद् विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म नृविडम्बयोः ॥३७॥
दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् । आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥३८॥
धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् । धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥
नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी । यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥
अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ । दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ४१
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि । न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ४२

करनेकी इच्छासे आपके चरणोंमें प्राप्त हुई हैं ॥ २९ ॥ हे नाथ ! औरोंकी तो बात ही क्या, अब तो हमारे पति, माता-पिता, पुत्र, भाई, बन्धु और सुहृद्गण भी हमें न अपनायेंगे । अतएव हे शत्रु-सूदन ! आपके चरणोंकी शरणमें पड़ी हुई हम अबलाओंका अब और कोई सहारा नहीं है । इसलिये आप ही हमें सहारा दीजिये ॥ ३० ॥ श्रीभगवान कहते हैं—मेरी आज्ञासे वहाँ जानेपर तुम्हारे पति, माता-पिता, भाई और पुत्रादि तथा अन्य लोग भी तुम्हारा अपमान नहीं करेंगे । देखो, ये देवता भी मेरी बातका अनुमोदन कर रहे हैं ॥ ३१ ॥ संसारमें मेरा अङ्गसङ्ग ही मनुष्योंकी प्रीति या अनुरागका कारण नहीं होता । बल्कि मुझमें चित्त लगानेसे ही तुम मुझे बहुत शीघ्र पा जाओगी ॥ ३२ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—भगवानके ऐसा कहनेपर वे मुनिपत्नियाँ फिर यज्ञशालामें चली गयीं और उन ब्राह्मणोंने अपनी स्त्रियोंका कुछ भी अपमान न करते हुए उनके साथ अपना यज्ञ पूर्ण किया ॥ ३३ ॥ उन स्त्रियोंमेंसे एकको उसके पतिने जबर्दस्ती रोक लिया था । उसने भगवान्का जो स्वरूप सुना था, उसे हृदयमें धारण करके कर्मका परिणामभूत अपना शरीर ही त्याग दिया ॥ ३४ ॥ इधर भगवान् कृष्णचन्द्रने ब्राह्मणियोंके लाये चार प्रकारके अन्न सब गोपोंको जिमाकर स्वयं भी भोजन किया ॥ ३५ ॥ मायामानवरूपधारी भगवान् इस प्रकार मानवचरित्रोंका अनुसरणकर अपने रूप, वाणी और कर्मोंसे गौ, गोप और गोपियोंको आनन्दित करते हुए विविध भाँतिकी लीलाएँ किया करते थे ॥ ३६ ॥ उधर जब ब्राह्मणोंको ज्ञात हुआ तो यह सोचकर कि हमने मानवरूपधारी दोनों जगदीश्वरोंकी याचनाका अनादर करके बड़ा अपराध किया है, वे मन-ही-मन पछताने लगे ॥ ३७ ॥ अपनी स्त्रियोंकी भगवान् कृष्णमें इस प्रकारकी अलौकिक भक्ति देख और अपने-आपको उससे रहित जानकर बहुत पछताते हुए वे स्वयं अपनी निन्दा करने लगे—॥ ३८ ॥ हाय ! हम श्रीकृष्णसे विमुख हैं, इसलिए हमारे तीनों प्रकारके जन्म-शौक्ल अर्थात् जो माताके गर्भसे होता है, सावित्र अर्थात् जो गायत्रीका उपदेश ग्रहण करनेसे होता है और दैक्ष जो यज्ञकी दीक्षा लेनेपर होता है—ये तीन प्रकारके जन्म व्यर्थ गये । विद्या, ब्रह्मचर्यादि व्रत और मेरे बढ़े-चढ़े ज्ञानको धिक्कार है । हमारे उच्च कुल और यज्ञादि क्रियाओंकी कुशलताको भी बार-बार धिक्कार है ॥ ३९ ॥ भगवानकी माया योगियोंको भी मोहित कर देती है, जिससे मनुष्योंके गुरु हम ब्राह्मण भी अपने परम स्वार्थके विषयमें मोहित हो गये ॥ ४० ॥ ओह ! स्त्री होनेपर भी इनका जगद्गुरु भगवान कृष्णमें कैसा अटूट प्रेम है ! तभी तो इन्होंने मृत्युके पाशस्वरूप गार्हस्थ्य-सम्बन्धको भी तोड़ डाला है ॥ ४१ ॥

अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे। भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि॥४३॥
ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया। अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः॥४४॥
अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः। ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम्॥४५॥
हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशयासकृत्। आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी॥४६॥
देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः। देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः॥४७॥
स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः। जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे॥४८॥
अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः। भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ॥४९॥
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे। यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु॥५०॥
स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम्। अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम्॥५१॥
इति स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः। दिदृक्षवोऽप्यच्युतयोः कंसाद् भीता न चाचलन्॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे यज्ञपत्न्युद्धरणं नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः। अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान्॥१॥
तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः। प्रश्रयावनतोऽपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान्॥२॥

न तो इनका द्विजातिके योग्य यज्ञोपवीत आदि संस्कार हुआ है, न ये गुरुकुलमें रही हैं, न इन्होंने तप किया है, न आत्मतत्त्वकी खोज ही की है और इनमें शौच तथा शुभ कर्म भी नहीं हैं॥ ४२॥ तो भी सब योगेश्वरोंके ईश्वर पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णमें इनकी ऐसी दृढ़ भक्ति है। हमलोग अपने स्वार्थसे विमुख और गृहस्थीके धन्धोंमें मतवाले हो रहे थे। अवश्य इसीलिये सत्पुरुषोंके इष्टदेव भगवान् कृष्णने हमें गोपोंकी बातोंसे सचेत किया है॥ ४३॥ ४४॥ नहीं तो, जो स्वयं पूर्णकाम और सब लोगोंकी अभिलषित कैवल्यादि कामनाओंके स्वामी हैं, उन ईश्वरको हम भृत्योंसे क्या लेना-देना था? यह उनका बहाना भर था॥ ४५॥ अहो! साक्षात् लक्ष्मी भी अपनी चञ्चलता और गर्वादि अवगुणोंको त्यागकर जिनकी चरणसेवाकी इच्छासे अन्य सब देवताओंको छोड़कर उन्हें भजती हैं, उनका अन्नादि माँगना हम लोगोंको मोहित करनेके लिए ही हुआ था॥४६॥ हमने सुना था कि देश, काल, समस्त द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज्, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म जिनके रूप हैं, उन साक्षात् सर्वयोगेश्वरेश्वर भगवान् विष्णुने ही यदुकुलमें अवतार लिया है, फिर भी हम मूढ़ उन्हें नहीं जान पाये॥ ४७॥ ४८॥ अहो! हम बड़े ही भाग्यवान हैं। क्योंकि हमारी ऐसी स्त्रियाँ हैं कि जिनकी भक्तिसे भगवानमें हमारी भी बुद्धि निश्चल हो चली है॥ ४९॥ जिनकी बुद्धि कभी कुण्ठित नहीं होती और जिनकी मायासे मोहित होकर ही हम कर्ममार्गमें भटक रहे थे, ऐसे आप भगवान् कृष्णचन्द्रको हमारा नमस्कार है॥ ५०॥ वे आदि पुरुष कि जिनकी मायासे हमारी आत्मायें मोहित हो गयी थीं। आपकी महिमा न जान सकनेवाले हम मूढ़ोंका अपराध आप क्षमा करें॥ ५१॥ इस तरह कृष्ण-तिरस्काररूप अपने अपराधका स्मरणकर भगवानके दर्शनोंकी प्रबल इच्छा होनेपर भी वे लोग कंसके भयसे कृष्णके पास नहीं जा सके॥ ५२॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

(भगवान द्वारा इन्द्रके यज्ञका भङ्ग होना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—एक दिन व्रजमें बलदेवजीके साथ रहते हुए भगवानने सब गोपोंको इन्द्रयज्ञ करनेकी तैयारी करते देखा॥ १॥ भगवान कृष्ण तो

कथ्यतां मे पितः कोऽयं संभ्रमो व उपागतः । किं फलं कस्य चोद्देशः केन वा साध्यते मखः॥३॥
एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः । न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह॥४॥
अस्तस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम् । उदासीनोऽरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते॥५॥
ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्॥६॥
तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः । अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम्॥७॥

नन्द उवाच

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः । तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्रीणनं जीवनं पयः ॥८॥
तं तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् । द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ते क्रतुभिर्नराः ॥९॥
तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे । पुंसां पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥१०॥
य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः । कामाल्लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम्॥

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् । इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः ॥१२॥

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते । सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥१३॥
अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम् । कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥१४॥
किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम् । अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥१५॥

सबकी आत्मा और सर्वज्ञ थे, सब कुछ जनते हुए भी उन्होंने अति विनीतभावसे नन्दादि बड़े-बूढ़ोंसे पूछा—॥ २ ॥ हे पिताजी ! यह कौन-सा उत्सव होनेको है ? इस यज्ञका क्या फल है और किसके उद्देश्यसे तथा कौन लोग यह यज्ञ करते हैं ? ॥ ३ ॥ हे पिताजी ! ये सब बातें जाननेकी मेरी प्रबल उत्कण्ठा है। आप मुझे यह सारा भेद बताइये। जो सज्जन सबको अपनी आत्मा मानते हैं और जिन्हें अपने-परायेका भेद-भाव नहीं होता, उन शत्रु-मित्र और उदासीनभावसे रहित साधु पुरुषोंके लिए कोई बात छिपाने योग्य नहीं होती और यदि भेदभाव माना भी जाय तो शत्रुके समान केवल उदासीन ही त्याज्य है, मित्र तो अपनी आत्माके समान प्रिय बतलाया गया है ॥ ४ ॥ ५ ॥ मानव-समाज कोई कर्म समझकर करता है और कोई कोई कर्म बिना समझे ही कर डालता है ! सो समझकर करनेवाले पुरुषोंके कर्मोंका जैसा फल होता है वैसा बिना समझे-बूझे करनेवालेके कर्मोंका फल नहीं हुआ करता ॥ ६ ॥ अतएव इस समय आप जो करना चाहते हैं, वह कर्म शास्त्रसम्मत है या केवल लौकिक ? मैं यह जानना चाहता हूँ, कृपया साफ-साफ बतलाइये" ॥ ७ ॥ नन्दजीने कहा—बेटा ! भगवान इन्द्र जलकी वर्षा करते हैं। मेघ उन इन्द्रकी प्रिय मूर्ति हैं। वे प्राणियोंको प्रसन्न करनेवाला जल बरसाते हैं, जो सबका जीवन है ॥ ८ ॥ हे तात ! हम तथा अन्य सब लोग उनके बरसाये हुए रेतसूरूप जलसे उत्पन्न अन्नआदि द्वारा यज्ञ करके उन मेघपति भगवान् इन्द्रका प्रति-वर्ष पूजन किया करते हैं ॥ ९ ॥ यज्ञमें बचे हुए अन्नसे हम अर्थ, धर्म, कामरूपी त्रिवर्ग साधनके लिये अपना जीवन निर्वाह करते हैं। श्रमजीवी लोगोंके पुरुषार्थका फलदाता मेघ ही है ॥ १० ॥ जो लोग परम्परासे चले आये अपने धर्मको काम, भय, लोभ या द्वेषवश छोड़ देते हैं, उनका कभी कल्याण नहीं होता ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—नन्दजी और अन्यान्य व्रजवालोंके ये वचन सुनकर कृष्णचन्द्र इन्द्रको क्रुद्ध करनेके लिये अपने पिता नन्दजीसे कहने लगे ॥ १२ ॥ श्रीभगवान बोले—सभी जीव अपने कर्मानुसार उत्पन्न होते और मरते हैं। कर्मानुसार ही उन्हें सुख-दुःख भय और क्षेम मिलता है ॥ १३ ॥ यदि कोई दूसरा कर्मफल देनेवाला ईश्वर है तो वह भी कर्मठ पुरुषोंको ही फल दे सकता है, आलसियोंको फल देनेमें वह भी समर्थ नहीं होगा ॥ १४ ॥ जब जीव

स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते । स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१६॥
देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा । शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥१७॥
तस्मात् संपूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् । अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥१८॥
आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति । न तस्माद् बिन्दते क्षेमं जारं नार्यसती यथा॥१९॥
वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः । वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥
कृषिवाणिज्यगोरक्षा कुसीदं तुर्यमुच्यते । वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥२१॥
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः । रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत्॥२२॥
रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः । प्रजास्तैरेवसिद्ध्यन्ति महेन्द्रःकिं करिष्यति॥२३॥
न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम् । नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः ॥२४॥
तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः । य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः॥२५॥
पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः । संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम्॥२६॥
हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः । अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥२७॥
अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः । यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥२८॥
स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः । प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥२९॥

अपने-अपने कर्मोंका ही फल भोगते हैं तो इन्द्रके यज्ञका क्या प्रयोजन है ? क्योंकि पूर्वसंस्कारोंवश मनुष्यके भाग्यमें जो कुछ बदा है, उसे वह भी नहीं मेट सकता ॥ १५ ॥ मनुष्य अपने स्वभाव (पूर्वसंस्कारों) के अधीन रहता है । वह उसीका अनुसरण करता तथा देवता, असुर और मनुष्यों सहित यह सारा जगत् स्वभावमें ही स्थित रहता है ॥ १६ ॥ संसारका प्रत्येक जीव अपने कर्मानुसार उत्तम और अधम शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता रहता है और अपने कर्मोंके अनुसार ही वह शत्रु, मित्र और उदासीनका व्यवहार करता है । इससे सिद्ध हुआ कि कर्म ही सबका गुरु और वही सबका ईश्वर है ॥ १७ ॥ अतएव पुरुषका कर्तव्य है कि पूर्वसंस्कारोंके अनुसार अपने वर्णाश्रमधर्मों-का पालन करता हुआ सदा कमका ही आदर करे । क्योंकि इसीसे उसकी जीविका सरलतासे चलती है, वास्तवमें कर्म ही उसका इष्टदेव होता है ॥ १८ ॥ जैसे कि व्यभिचारिणी स्त्री कभी शान्तिलाभ नहीं कर पाती, वैसे ही जो पुरुष अपनी जीविका चलानेवाले किसी एक देवताको छोड़-कर और देवताकी उपासना करने लगते हैं तो उससे उन्हें कभी सुख नहीं मिलता ॥ १९ ॥ ब्राह्मणको चाहिए कि वेदाध्ययनसे, क्षत्रिय प्रजा पालनसे, वैश्य व्यापार आदिसे और शूद्र उपर्युक्त द्विजातिकी सेवासे अपनी आजीविका चलावे ॥ २० ॥ वैश्योंकी वार्तावृत्ति चार प्रकारकी होती है—कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और सूद लेना । हम निरन्तर गोपालनसे ही अपनी जीविका चलाते आये हैं ॥ २१ ॥ संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और अन्तके कारण क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ही हैं । यह सब जगत् स्त्री-पुरुषके समागमसे रजोगुण द्वारा उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥ रजोगुणसे प्रेरित होकर ही मेघ जल बरसाते और उसीसे अन्न उत्पन्न होनेके कारण सब जीव जीवनयापन करते हैं । इसमें इन्द्रकी क्या कृपा है ? ॥२३॥ हमारे पुर, नगर, ग्राम या घर कुछ भी तो नहीं हैं । हे पिताजी ! हम तो सदा वन या पर्वतोंमें रहनेवाले वनवासी गोप हैं ॥२४॥ इसलिये आप सब लोग गौ, ब्राह्मण और गिरिराजके पूजनकी तैयारी करें । आपने जो इन्द्रके यज्ञकी सामग्री एकत्रित की है, उसीसे इस यज्ञका अनुष्ठान होगा ॥ २५ ॥ अतएव दालसे लेकर खीर, हलुआ, पूआ, पूरी आदि सब पक-वान तैयार करो । सब गौवोंका दूध जुटा लो ॥ २६ ॥ वेदवादी ब्राह्मणों द्वारा भली प्रकार अग्निहोत्र कराओ तथा उन्हें दक्षिणामें नाना प्रकारका अन्न और गोदान दो ॥ २७ ॥ तब कुत्ता, चाण्डाल तथा पतितपर्यन्त सभीको यथायोग्य वस्तुएँ देकर गौओंको चारा दो और फिर गिरिराजको भोग

एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते । अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥३०॥

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता । प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ३१
तथा च व्यदधुः सर्वं यथाऽऽह मधुसूदनः । वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ३२
उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम् । गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥३३॥
अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः । गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः ३४
कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः । शैलोऽस्मीतिब्रुवन् भूरि बलिमाददद्बृहद्वपुः ॥३५॥
तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽऽत्मनाऽऽत्मने । अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ३६
एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः । हन्तिह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ३७
इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः । यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इन्द्रस्तदाऽऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप । गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः १
गणं सांवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम् । इन्द्रः प्राचोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥२॥

लगाओ ॥ २८ ॥ फिर स्वयं भोजन करनेके अनन्तर अच्छे प्रकारके वस्त्र और आभूषण धारणकर सुगन्धित चन्दन लगाओ और गौ, ब्राह्मण, अग्नि तथा पर्वतराजकी प्रदक्षिणा करो ॥ २९ ॥ हे पिताजी ! मेरी तो यही सम्मति है । यदि आपको भी रुचे तो ऐसा ही करिए । यह यज्ञ गौ, ब्राह्मण, पर्वतराज और मुझे भी प्रिय होगा ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कालात्मा भगवानने इन्द्रका मद चूर्ण करनेके लिये जो बातें कहीं, उन्हें सुनकर नन्दादि गोपोंने प्रसन्नतापूर्वक अङ्गीकार कर लिया ॥ ३१ ॥ श्रीमधुसूदनने जो-जो कहा था, उसी प्रकार सब काम हुआ । पहले उन्होंने स्वस्तिवाचन कराके उसी सामग्रीसे गिरिराज गोवर्धन और सभी ब्राह्मणोंको सादर भेंटें दीं और गौओंको हरी-हरी घास खिलायी । तदनन्तर ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद लेकर नन्दादि गोप तथा भलीभाँति शृङ्गार किये सब व्रजवालाएँ गोधनको आगे करके बैलजुती गाड़ियोंपर चढ़कर श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाएँ गाती हुई गोवर्धनकी प्रदक्षिणा करने लगीं ॥ ३२-३४ ॥ गोपोंको विश्वास करानेके लिये भगवान कृष्णने गिरिराजके उपर एक दूसरा विशालकाय रूप प्रकटकर 'मैं गिरिराज हूँ' ऐसा कहते हुए सब भेंटें ग्रहण कीं ॥ ३५ ॥ उस अपने स्वरूपको अन्य व्रजवासियोंके साथ भगवानने स्वयं भी प्रणाम किया और कहा—"देखो तो कैसे आश्चर्यकी बात है कि गिरिराजने प्रत्यक्ष प्रगट होकर हमपर कृपा की है ॥ ३६ ॥ ये इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं । जो वनवासी इनका निरादर करते हैं, उन्हें ये नष्ट कर देते हैं । आओ, हमलोग अपना और गौओंका कल्याण करनेवाले इन गिरिराजको प्रणाम करें" ॥ ३७ ॥ भगवान वासुदेवके ऐसा कहनेपर गिरिराज और ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजनकर कृष्णचन्द्रके साथ-साथ वे समस्त गोप व्रजको लौट गये ॥ ३८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

(भगवानका गोवर्धन उठाना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपनी पूजामें विघ्न होते देख इन्द्रने कृष्ण जिनके रक्षक थे, उन नन्दादि गोपोंपर बड़ा कोप किया ॥ १ ॥ अपने आपको

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् । कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ।।३।।
यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नामनौनिभैः । विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम् ।।
वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् । कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ।।५।।
एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम् । धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत संक्षयम् ।।६।।
अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम् । मरुद्गणैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठजिघांसया ।।७।।

श्रीशुक उवाच

इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः । नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ।।८।।
विद्योतमाना विद्युद्भिः स्तनन्तः स्तनयित्नुभिः । तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः ।।९।।
स्थूणास्थूला वर्षधारा मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः । जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत नतोन्नतम् ।।१०।।
अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः । गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ।।११।।
शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः । वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ।।१२।।
कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो । त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल ।।१३।।
शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् । निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ।।१४।।
अपर्त्वत्युल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् । स्वयागे विहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ।।१५।।
तत्र प्रतिविधिं सम्यगात्मयोगेन साधये । लोकेशमानिनां मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः ।।१६।।
न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः । मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ।।१७।।

ईश्वर माननेवाले देवराज इन्द्रने प्रलयङ्कर मेघोंके सांवर्तक नामके गणको व्रजपर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी और अतिशय क्रोधपूर्वक कहा—।। २ ।। "अहो ! वनवासी गोपोंका धनसे उत्पन्न गर्व तो देखो कि मनुष्य कृष्णके बलपर उन्होंने मुझ देवताका भी अपमान कर दिया ।। ३ ।। जैसे कोई मन्दबुद्धि मनुष्य ब्रह्मविद्या छोड़कर अन्य नाममात्रको अदृढ़ नौकारूप कर्ममय यज्ञोंसे इस भवसागरको पार करना चाहता हो ।। ४ ।। गोपोंने इस बकवादी, मूर्ख, अभिमानी, अज्ञानी और अपनेको बुद्धिमान् समझनेवाले मरणधर्मा कृष्णका आश्रय लेकर मेरा तिरस्कार किया है ।। ५ ।। अतएव तुम इन धनोन्मत्त और कृष्ण द्वारा फुलाये हुए ग्वालबालोंका ऐश्वर्यमद धूलमें मिला दो और उनके पशुओंको नष्ट कर डालो ।। ६ ।। मैं भी नन्दके व्रजका नाश करनेके लिए महापराक्रमी मरुद्गणोंको साथ ले ऐरावत हाथीपर चढ़कर तुम्हारे पीछे आता हूँ" ।। ७ ।। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इन्द्रकी ऐसी आज्ञा पाकर वे मेघगण बन्धनमुक्त हो मूसलधार जल बरसाकर नन्दके व्रजको सताने लगे ।। ८ ।। बिजलीकी चमक और बादलोंकी कड़कके साथ प्रचण्ड पवनसे प्रेरित होकर वे मेघ ओले बरसाने लगे ।। ९ ।। मेघोंकी खम्भेके समान मोटी जलधाराएँ बरसानेसे पृथिवी जलमग्न हो गयी और उसका ऊँचा-नीचापन दीखना भी दूभर होगया ।। १० ।। अत्यन्त वर्षा और प्रबल पवनके कारण पशु जब काँपने लगे तथा गोपी और गोप शीतसे व्याकुल होगये तो वे श्रीकृष्णभगवानकी शरणमें आये । धाराप्रवाह वृष्टिसे व्याकुल गौएँ अपने सिर और बछड़ोंको शरीरसे ढाँककर काँपती-काँपती भगवानकी चरण-शरणमें पहुँचीं ।।११-१२।। गोप और गोपियोंने बड़ी आकुलतासे कहा—'हे कृष्ण ! हे महाभाग ! इस गोकुलके एकमात्र स्वामी आप ही हैं । हे प्रभो ! हे भक्तवत्सल ! इस देवतासे आप हमारी रक्षा करिए ।।१३।। व्रजको ओलों सहित वर्षाकी मारसे पीडित और अचेत देखकर भगवान समझ गये कि यह सब करतूत कुपित इन्द्रकी ही है ।। १४ ।। हमारे द्वारा अपना यज्ञभङ्ग हुआ देख इन्द्र व्रजको नष्ट करनेके लिये बिना वर्षाकालके ही यह प्रचण्ड वायु तथा ओलों युक्त घोर जलवर्षा कर रहा है ।। १५ ।। अच्छा, मैं अपनी योगमाया द्वारा भली प्रकार बदला लूँगा । मूढता वश अपनेको लोकपाल माननेवाले इस इन्द्रका ऐश्वर्यमद मैं चूर्ण कर दूँगा ।। १६ ।। गुणी होनेके कारण देव-

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् । गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥१८॥
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् । दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥१९॥
अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः । यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥२०॥
न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातने । वातवर्षभयेनालं तत्त्राणं विहितं हि वः ॥२१॥
तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः । यथावकाशं सधनाः सव्रजाः सोपजीविनः ॥२२॥
क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः । वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं सप्ताहं नाचलत् पदात् २३
कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः । निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत्
खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम् । निशाम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत् ॥२५॥
निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः । उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥२६॥
ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् । शकटोढोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥२७॥
भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः । पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥२८॥

तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥२९॥

यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः । कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥३०॥
दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः । तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥३१॥

ताओंको अपने ईश्वरत्वका अभिमान न होना चाहिये । अतः उन दुष्ट देवताओंका मुझसे होनेवाला मानभङ्ग भी उनको शान्तिदायक ही होगा ॥ १७ ॥ अतएव जिनका मैं ही एकमात्र आश्रय और रक्षक हूँ, उन शरणागत व्रजवासियोंकी मैं अपने योगसामर्थ्यसे रक्षा करूँगा । यही मेरा निश्चित व्रत है' ॥ १८ ॥ ऐसा कहकर श्रीकृष्णचन्द्रने लीलासे ही अपने एक हाथसे गोवर्धन पर्वतको उखाड़कर ऐसे उठा लिया, जैसे कोई बालक कठफुल्ला उठा ले ॥ १९ ॥ तब भगवानने गोपोंसे कहा—'हे माता ! हे पिता ! और हे समस्त व्रजवासियों ! अपनी गौओंके साथ इस पर्वतके गड्ढेमें आकर सानन्द बैठो ॥ २० ॥ मेरे हाथसे पर्वत गिरनेकी तुमलोग शङ्का न करना । क्योंकि तुम्हें वर्षा और वायुके भयसे बचानेके लिये ही मैंने यह उपाय किया है" ॥ २१ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रके इस प्रकार ढाढ़स बँधानेपर सब गोप गोधन, छकड़ों और अपने पुरोहित तथा भृत्यगणको साथ लेकर सुभीतेके अनुसार गोवर्धनके उस गड्ढेमें जा बैठे ॥ २२ ॥ भगवान भूख-प्यासकी बाधा और विश्रामकी अपेक्षासे रहित रहकर उन व्रजवासियोंके देखते-देखते सात दिनतक पर्वत उठाये खड़े रहे । तबतक वे तनिक भी इधर-उधर नहीं हुए ॥ २३ ॥ श्रीकृष्णचन्द्रकी ऐसी योगशक्ति जानकर इन्द्रको बड़ा विस्मय हुआ । उसका सङ्कल्प नष्ट हो गया और उसने भौंचक्का-सा होकर अपने मेघोंको वर्षा करनेसे रोक दिया ॥ २४ ॥ भयङ्कर वर्षा और वायुके शान्त होने एवं आकाशके मेघहीन हो जानेसे सूर्यको उदित देखकर गोवर्धनधारी कृष्णने गोपोंसे कहा—॥ २५ ॥ "हे गोपगण ! अब तुमलोग भय त्याग दो और अपनी स्त्री, गोधन तथा बालकों सहित बाहर निकलो । अब वर्षा और वायु शान्त होगये हैं और नदियोंका जल भी प्रायः कम हो गया है" ॥ २६ ॥ तब सब गोप अपने-अपने गोधन, स्त्री, बालक और वृद्धोंको साथ ले तथा अपनी सामग्री बैलगाड़ियोंपर लादकर धीरे-धीरे गिरिराजके नीचेसे निकल आये ॥ २७ ॥ तब सर्वसमर्थ भगवानने भी सब प्राणियोंके देखते-देखते लीलाही से उस पर्वतको पहलेकी तरह यथास्थान रख दिया ॥ २८ ॥ प्रेमावेशसे पूर्ण व्रजवासियोंने भगवानके पास आकर उनका आलिङ्गनादिसे यथोचित सत्कार किया और गोपियोंने भी दधि-अक्षतादिसे अति आनन्द और प्रेमपूर्वक पूजाकर उन्हें शुभ आशीर्वाद दिये ॥ २९ ॥ यशोदा, रोहिणी, नन्द और बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीबलरामजीने भी स्नेहातुर होकर श्रीकृष्णचन्द्रका आलिङ्गन किया और उन्हें आशीर्वाद दिया ॥ ३० ॥ हे

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः । जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥३२॥
ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो राजन् स गोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥

———

षड्विंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते । अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः ॥१॥
बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै । कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥२॥
यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया । कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥३॥
तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः । पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ॥४॥
हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् । अनोऽपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥५॥
एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा । दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ॥६॥
क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले । गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥७॥
वने संचारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः । हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ॥८॥
वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया । हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया ॥९॥

राजन् ! उस समय आकाशमें स्थित देव, साध्य, सिद्ध और चारणादि प्रसन्न होकर भगवानकी स्तुति करते हुए फूल बरसाने लगे ॥ ३१॥ हे राजन् ! स्वर्गमें देवताओंके बजाये हुए शङ्ख और दुन्दुभियोंका नाद होने लगा और तुम्बुरु आदि गन्धर्व गाने लगे ॥३२॥ तदनन्तर हे राजन् ! अपने अनुरक्त गोपोंसे घिरे हुए कृष्णने बलरामजीके साथ व्रजमें प्रवेश किया। उनके साथ गोपियाँ भी भगवानकी लीलाओं का गान करती हुई गयीं ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां पंचविंशोऽध्यायः २५

(श्रीकृष्णके प्रभावके विषयमें गोपोंकी परस्पर बातचीत) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवान कृष्णके अद्भुत कर्म देख उनके प्रभावसे अनभिज्ञ गोपगण विस्मित होकर आपसमें कहने लगे—॥ १ ॥ इस बालकके सभी कर्म बड़े विचित्र हैं। इसका हम ग्रामीणोंमें जन्म लेना कैसे उचित हो सकता है ? अहो ! जैसे एक गजराज कमलपुष्पको धारण करता है, वैसेही केवल सात वर्षके इस बालकने सात दिन तक खेल-खेलमें अपने एक हाथपर गिरिराज गोवर्धनको कैसे धारण किये रहा ? ॥ २-३ ॥ जैसे काल शरीरको नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार नन्हीं-सी अवस्थामें इसने नेत्र मूँदे हुए ही महाबलवती पूतनाके प्राणों सहित उसका स्तनपान किया ॥ ४ ॥ जब यह तीन महीनेका था तब एक छकड़ेके नीचे पालनेपर लेटे हुए रोते-रोते ऊपरकी ओर पाँव उछाला तो इसकी लात लगनेसे छकड़ा उलट गया ॥ ५ ॥ एक वर्षहीकी अवस्थामें इसने आँगनमें बैठे-बैठे तृणावर्त दैत्यके आकाशमें ले जानेपर उसे गला घोंटकर मार डाला ॥ ६ ॥ एक बार माखनकी चोरी करनेपर जब माताने इसे ऊखलसे बाँध दिया तो यह घुटनोंके बल रेंगते-रेंगते गया और दो अर्जुन वृक्षोंके बीचमें जा उन्हें उखाड़कर धराशायी कर दिया ॥ ७ ॥ यह जब बलरामजीके साथ बहुत-से ग्वालबालोंसे घिरकर वनमें गायें चरा रहा था, उस समय इसने अपने वधके इच्छुक बकासुरको देख अपनी भुजाओंसे उसकी चोंच फाड़कर मार डाला ॥ ८ ॥ इसी तरह इसका वध करनेकी इच्छासे बछड़ेका रूप धारणकर बछड़ोंमें मिले हुए वत्सासुरको भी इसने मार डाला और उसे कैथेके

हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूँश्च बलान्वितः । चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्कफलान्वितम् ॥१०॥
प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना । अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः॥११॥
आशीविषतमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात् । प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम्१२॥
दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम् । नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्१३
क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम् । ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥१४॥

नन्द उवाच

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके । एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥१५॥
वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः । शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥१६॥
प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः । वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१७॥
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१८॥
एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः । अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१९॥
पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः । अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः॥२०
य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः । नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः२१
तस्मान्नन्द कुमारोऽयं नारायणसमो गुणैः । श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः॥२२॥
इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते । मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् २३॥
इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः । मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः॥२४॥

वृक्षोंपर पटककर सब वृक्ष गिरा दिये ॥ ९ ॥ बलरामजीके साथ मिलकर इसने गर्दभरूपधारी धेनुकासुर और उसके बन्धु-बान्धवोंको मारा तथा पके हुए फलोंसे पूर्ण तालवनको निर्भय कर दिया ॥ १० ॥ महाबलवान बलरामजीके द्वारा वीर दैत्य प्रलम्बासुरका वध कराके इसने पशुओं और ग्वालबालोंको दावानलसे बचाया ॥ ११ ॥ इसी तरह विषम विषधर नागराज कालियाका दमनकर उसका मान-मर्दन किया और उसे हठपूर्वक कालियदहसे निकालकर यमुनाजीका जल विषहीन किया ॥ १२ ॥ हे नन्दजी ! हम तो देखते हैं कि तुम्हारे इस बालकपर हम व्रजवासियोंका बड़ा प्रबल अनुराग है और इसका भी हमपर वैसा ही स्नेह है । भला इसका क्या कारण है ॥ १३ ॥ कहाँ सात वर्षका बालक और कहाँ महान् गोवर्धनका उठाना । अतएव हे व्रजराज ! इन अद्भुत बातोंसे हमें तुम्हारे पुत्रके विषयमें बहुत संशय होता है ॥१४॥ नन्दजीने कहा—हे गोपगण ! मेरी बात सुनोगे तो इस बालकके विषयमें उत्पन्न तुम्हारी शङ्का दूर हो जायगी । इस बालकके विषयमें मुझे श्रीगर्गजीने जो कुछ बताया था, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥ १५ ॥ उन्होंने कहा था कि इस बालकके प्रत्येक युगमें अवतार लेनेपर क्रमशः श्वेत, रक्त और पीत ये तीन वर्ण थे । इस समय यह कृष्णवर्णका उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥ तुम्हारा बालक पहले कभी वसुदेवजीके यहाँ भी जन्मा था । इसीलिये विद्वान् लोग इसे 'वासुदेव' कहते हैं ॥ १७ ॥ गुण और कर्मोंके अनुसार तुम्हारे पुत्रके बहुतेरे नाम और रूप हैं । उन्हें मैं जानता हुँ, किन्तु और लोग नहीं जानते ॥ १८ ॥ यह बालक गोपगण और गोकुलको आनन्दित करेगा । इसके द्वारा तुम्हारा परम कल्याण होगा । इसकी सहायतासे तुम लोग सब कठिनाइयोंको पार कर लोगे ॥ १९ ॥ हे व्रजराज ! पूर्वकालमें अराजकताके समय दुष्ट दस्युओंसे पीडित साधुजनोंने इससे सुरक्षित और सबल होकर दस्युओंको परास्त किया था ॥ २० ॥ जो सौभाग्यशाली पुरुष इससे प्रेम करते हैं, उन्हें उनके शत्रु उसी तरह नहीं दबा सकते जैसे विष्णुभगवानके पक्षवालोंको दैत्यगण नहीं दबा पाते ॥ २१ ॥ सो हे नन्दजी ! यह बालक गुण, श्री, कीर्त्ति और प्रभावकी दृष्टिसे साक्षात् नारायणके समान है । इसके कर्मोंको देखकर किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥ इस प्रकार आदेश देकर गर्गजी अपने घर चले गये । तभीसे मैं सर्वसमर्थ

देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा वज्राश्मवर्षानिलैः सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन्
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा बिभ्रद् गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित्प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

———

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

गोवर्धने धृते शैल आगाराद् रक्षिते व्रजे । गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥१॥
विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः । पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥२॥
दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः । नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ॥३॥

इन्द्र उवाच

विशुद्धतत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुणसंप्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥४॥
कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता लोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥५॥
पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम् ॥६॥

कृष्णको नारायणका अंश मानता आ रहा हूँ ॥ २३ ॥ नन्दजीके मुखसे गर्गजीका कथन सुनकर सब व्रजवासी बहुत प्रसन्न हुए। उनका विस्मय जाता रहा और वे नन्द तथा कृष्णभगवानकी भूरि-भूरि प्रशंसा तथा स्तुति करने लगे ॥ २४ ॥ यज्ञभङ्गसे कुपित होकर जब इन्द्र घोर वर्षा करने लगे, उस समय स्त्री और पशुओंके साथ समस्त व्रजवासियोंको वज्रपात, ओलोंकी बौछार और प्रचण्ड पवनसे पीडित होकर अपनी शरणमें आये देखा तो कृष्णने उनपर कृपा करनेके लिए जैसे कोई निर्बल बालक खेल-खेलमें कठफुल्ला उखाड़ ले, वैसे ही हँसते-हँसते एक हाथसे गोवर्धनको उँगलीपर उठा लिया और सम्पूर्ण व्रजकी रक्षा की। इन्द्रका मद चूर्ण करनेवाले वे श्रीगोविन्दभगवान हमपर प्रसन्न रहें ॥ २५ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

(भगवान कृष्णचन्द्रका अभिषेक) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! गिरिराज गोवर्धनको उठाकर मूसलधार वृष्टिसे व्रजवालोंकी रक्षा कर लेनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके पास गोलोकसे कामधेनु और स्वर्गसे देवराज इन्द्र व्रजमें आये ॥ १ ॥ भगवानकी अवहेलना करनेसे मन ही मन लज्जित इन्द्रने एकान्तमें उनके पास जाकर अपने सूर्यसदृश तेजस्वी मुकुटसे उनका चरण स्पर्श किया ॥ २ ॥ असाधारण तेजस्वी भगवान कृष्णका प्रभाव देख और सुनकर इन्द्रका त्रिलोकाधिपति होनेका मद चूर हो गया और हाथ जोड़कर उन्होंने कहा ॥ ३ ॥ देवराज इन्द्र बोले—हे प्रभो ! आपका शुद्धसत्त्वमय तेज शान्त, ज्ञानमय और रजोगुण-तमोगुणसे रहित है। यह गुणप्रवाहस्वरूप प्रपञ्च मायामय है। आपमें मायाका लेश भी नहीं हैं। यह आपमें अज्ञानसे ही भासमान हो रहा है ॥ ४ ॥ आपका सम्बन्ध अज्ञान तथा उससे होनेवाले देहादिसे भी नहीं है। फिर उन देहादिकी प्राप्तिके मूल कारण और उन्हींसे होनेवाले लोभादिका तो कहना ही क्या है ? ये लोभादि तो अज्ञानके ही लक्षण हैं। इस तरह यद्यपि इस अज्ञानजनित जगत्‌से आपका कोई सम्बन्ध नहीं है तो भी धर्मकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करनेके लिये आप समय-समयपर दण्ड धारण किया करते हैं ॥ ५ ॥ आप जगत्‌के पिता, गुरु और स्वामी हैं। आप इसका संचालन करनेके लिये कालरूपी दुस्तर दण्ड

ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥७॥
स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥८॥
तवावतारोऽयमधोक्षजेह स्वयम्भराणामुरुभारजन्मनाम् ।
चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥९॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने । वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः १०॥
स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये । सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥
मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः । चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥
त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः । ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

एवं संकीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् । मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१४॥

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता । मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्र श्रिया भृशम् ॥१५॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति । तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् १६
गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम् । स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः १७॥

लिये हुए हैं। आप अपनी इच्छासे लीलामय शरीर धारणकर हम जैसे अभिमानियोंका मान-मर्दन करते और संसारके कल्याणार्थ विविध लीलाएँ किया करते हैं ॥ ६ ॥ जो मेरे समान अज्ञानी एवं जगदीश्वरताके अभिमानी हैं, वे आपको भयके अवसरपर भी निर्भय रहते देखकर शीघ्र ही अपना मद छोड़ निरभिमान हो भद्र पुरुषोंके योग्य भक्तिमार्गका अवलम्बन करते हैं। आपकी चेष्टाएँ भी दुष्टजनोंपर ही शासन करती हैं ॥ ७ ॥ हे भगवन् ! मैं ऐश्वर्यके मदसे मत्त होकर आपका प्रभाव नहीं जान सका था। अतएव हे ईश ! आप मुझ मन्दमति और अपराधीका यह अपराध क्षमा करें और ऐसी कृपा करें कि जिससे फिर कभी मुझमें ऐसी दुर्बुद्धि न उपजे ॥ ८ ॥ हे देव ! हे अधोक्षज ! जो असुरसेनापति केवल अपना भरण-पोषण करनेवाले और पृथ्वीपर बहुत बड़े भारकी उत्पत्तिके कारण हैं, उनका नाश करने तथा अपने चरणचिह्नोंके अनुगामी भक्त-जनोंकी रक्षाके लिये ही आपने अवतार लिया है ॥ ९ ॥ हे भगवन् ! सब जीवोंके अन्तःकरणोंमें विराजमान सर्वव्यापक वासुदेव तथा यादवाधीश आप भगवान श्रीकृष्णचन्द्रको मेरा बारम्बार नमस्कार है ॥ १० ॥ आप स्वेच्छाशरीरधारी, विशुद्ध विज्ञानरूप, सर्वमय, सबके मूल कारण और सर्वभूतमय हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ११ ॥ हे भगवन् ! मैं बड़ा अभिमानी था। इसलिए अपना यज्ञभङ्ग देखकर मैंने अतिशय क्रोधपूर्वक वर्षा और वायुसे व्रजको नष्ट करनेकी चेष्टा की थी ॥ १२ ॥ किन्तु हे ईश ! आपने मुझपर बड़ी कृपा की। क्योंकि इस प्रकार उद्यम व्यर्थ हो जानेसे मेरा जगदीश्वरतासम्बधी अभिमान जाता रहा। आप मेरे स्वामी, गुरु और आत्मा हैं। मैं आपकी शरण हूँ ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान कृष्णने हँसकर अपनी मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा ॥ १४ ॥ श्रीभगवान कहने लगे—हे इन्द्र ! तुम ऐश्वर्यके मदसे अतिशय मतवाले हो रहे थे। अतएव तुमपर कृपा करनेके लिये ही मैंने तुम्हारा यज्ञ भंग किया है। जिससे तुम्हें मेरा स्मरण बना रहे ॥ १५ ॥ जो ऐश्वर्य और लक्ष्मीके मदसे अन्धा हुआ रहता है, वह पुरुष मुझ दण्डपाणि हरिको नहीं देख पाता। इसलिए मैं जिसपर कृपा करना चाहता हूँ, उसका ऐश्वर्य हर लेता हूँ ॥ १६ ॥ हे इन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ और

अथाह सुरभिः कृष्णमभिवन्द्य मनस्विनी । स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमीश्वरम् ॥१८॥

सुरभिरुवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव । भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥१९॥
त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते । भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥
इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् । अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसाऽऽत्मनः । जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥२२॥
इन्द्रः सुरभिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः । अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात्॥२३

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गनाः संननृतुर्मुदान्विताः ॥२४॥
तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो व्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ॥२५॥

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः । अकृष्टपच्यौषधयो गिरयोऽबिभ्रदुन्मणीन् ॥२६॥
कृष्णेऽभिषिक्त एतानि सत्त्वानि कुरुनन्दन । निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥२७॥
इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः । अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे इन्द्रस्तुतिर्नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

मेरी आज्ञाको मानते हुए अपने गर्वरहित साथियोंके साथ अपने अधिकारका उपभोग करो ॥ १७ ॥ अब अपनी सन्तानसहित महामनस्विनी कामधेनुने गोपरूपधारी भगवान कृष्णको सम्बोधित किया और उनकी वन्दना करते हुए कहा ॥ १८ ॥ सुरभी कहने लगी—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वके उत्पत्तिस्थान ! हे अच्युत ! आप त्रिलोकीनाथ द्वारा हम सब सनाथ हो चुकी हैं । क्योंकि हमें मारनेको उद्यत इन्द्रकी चेष्टाको विफल करते हुए आपने हमारी रक्षा की है ॥ १९ ॥ हे जगत्पते ! आप हमारे परम पूजनीय देवता हैं । इसलिए आप ही गौ ब्राह्मण, देवता और साधुजनोंकी रक्षाके निमित्त हमारे इन्द्र बनिए । हम ब्रह्माजीकी प्रेरणासे आपको अपना इन्द्र मानकर अभिषेक करेंगी । हे विश्वात्मन् ! आपने पृथ्वीका भार उतारनेके लिए ही इस भूमण्डलमें अवतार लिया है ॥ २० ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—काम-धेनुने भगवान कृष्णके प्रति ऐसा कहकर अपने दूधसे और देवमाता अदितिकी प्रेरणासे देवर्षियोंके साथ देवराज इन्द्रने ऐरावत द्वारा अपनी सूँड़में लाये आकाशगङ्गाके जलसे श्रीकृष्णका अभिषेक किया और उन्हें 'गोविन्द' नामसे पुकारा ॥ २२ ॥ २३ ॥ इसी समय नारद और तुम्बुरु आदि गन्धर्वगण वहाँ आये । देवता, विद्याधर, सिद्ध और चारण भगवानका संसृतिदोषापहारी निर्मल यश गाने लगे तथा अप्सराएँ अत्यन्त आनन्दित होकर नृत्य करने लगीं ॥ २४ ॥ उस समय मुख्य-मुख्य देवताओंने भगवानकी स्तुति करते हुए उनपर स्वर्गलोकसे विचित्र पुष्पोंकी वर्षा की । तीनों लोकोंमें परमानन्द छा गया और गौओंके स्तनोंसे अपने ही आप झरते हुए दूधसे पृथ्वी गीली हो गयी ॥ २५ ॥ सब नदियाँ भाँति-भाँतिके रसोंसे पूर्ण हो गयीं, वृक्षोंसे मधु चूने लगा और जिनसे बिना जोते-बोये औषधियाँ अर्थात् अन्न उत्पन्न होता है, उन पर्वतोंने प्रगटरूपसे मणि धारण किये ॥ २६ ॥ हे कुरुनन्दन ! भगवान कृष्णका अभिषेक हो जानेपर जो जीव स्वभावसे ही क्रूर थे, वे भी वैरभावहीन हो गये ॥ २७॥ गौओं और समस्त गोकुलके अधिपति श्रीगोविन्दका इस प्रकार अभिषेककर और उनकी आज्ञा पा इन्द्र अपने साथी देवताओंके साथ स्वर्गलोक चले गये ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् । स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत्१
तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम् । अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥२॥
चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः । भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ।
तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ॥३॥
प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया । महत्या पूजयित्वाऽऽह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥४॥

वरुण उवाच

अद्य मे निभृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो । त्वत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥५॥
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने । न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥६॥
अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना । आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति॥७॥
ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक् । गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल ॥८॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानीश्वरेश्वरः । आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन्मुदम् ॥९॥
नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् । कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्॥
ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् । अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः॥११॥

(भगवानका नन्दजीको वरुणके यहाँसे छुड़ाकर लाना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक दिनकी बात है, नन्दजीने एकादशीको निराहार व्रत करके भगवानका पूजन किया और द्वादशीको स्नान करनेके लिये यमुनाजलमें उतरे ॥ १ ॥ यद्यपि उस समय कुछ रात्रि शेष थी, किन्तु अनजानमें नन्दजीने ज्यों ही उस आसुरी वेलामें जलमें प्रवेश किया, त्यों ही वरुणका एक असुरदूत उन्हें पकड़कर अपने स्वामी वरुणदेवके पास ले गया ॥ २ ॥ नन्दजीको गायब देखकर सब गोप 'हे कृष्ण ! हे राम !' ऐसा कहकर रोने लगे। हे राजन् ! आत्मीयोंके अभयदाता भगवान उनका वह क्रन्दन सुन और यह जानकर कि 'पिताजीको वरुणके दूत ले गये हैं' वरुणके पास जा पहुँचे ॥ ३ ॥ भगवान हृषीकेशको सम्मुख देखकर लोकपाल वरुणने उनके दर्शनसे अत्यन्त आनन्दित हो बहुत-सी पूजन-सामग्री द्वारा उनका पजन किया और कहा ॥ ४ ॥ वरुण बोले—हे प्रभो ! आज मेरा शरीर धारण करना सफल हुआ और आज मेरा सब मनोरथ सिद्ध हो गया। हे भगवन् ! आपके चरणोंकी सेवा करनेवाले लोग संसार-सागरसे पार उतर जाते हैं ॥ ५ ॥ जिन महाप्रभुमें लोकसृष्टिकी कल्पना करनेवाली माया नहीं सुनी जाती, वे आप षडैश्वर्यपूर्ण, सर्वत्र व्याप्त और सबके परम आत्मा हैं। मेरा आपको प्रणाम है ॥ ६ ॥ हे प्रभो ! अपने कर्तव्यसे अनभिज्ञ मेरा एक मूढ़ भृत्य अनजानमें आपके पिताको यहाँ ले आया है, आप उसका यह अपराध क्षमा करें ॥ ७ ॥ हे पितृवत्सल कृष्ण ! ये आपके पिता हैं, आप इन्हें ले जाइये। आप सबके साथी हैं। अतः हे गोविन्द ! आप मुझ दासपर कृपा करें ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—ब्रह्मादि ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान कृष्ण वरुण द्वारा इस तरह अपनी मनुहार किये जानेपर अपने बन्धु-बान्धवोंको प्रसन्न करते हुए अपने पिता नन्दजीको व्रजमें लौटा लाये ॥ ९ ॥ नन्दजीने लोकपाल वरुणके अतीन्द्रिय एवं महान् वैभव और श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति उनके विनयको देखकर अति विस्मितभावसे अपने जाति-भाइयोंको सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ १० ॥ इससे गोपोंने उन्हें ईश्वर समझा और वे अति उत्सुक होकर मन-ही-मन सोचने लगे—'क्या श्रीकृष्ण कभी हमें भी अपनी सूक्ष्म गतिका दर्शन करायेंगे ?' ॥ ११ ॥

इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक्स्वयम् । संकल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥१२॥
जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः । उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥१३॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः । दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥१४॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम् । यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥१५॥
ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः । ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा ॥१६॥
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः । कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥१७

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः । वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥
तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥
दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥३॥
निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डला ॥४॥

अन्तर्यामी भगवान स्वजनोंका यह संकल्प जान गये और उसी विषयपर सोचने लगे-॥ १२ ॥ 'इस लोकमें जीव अज्ञान, कामना और कर्मोंके कारण ऊँची-नीची योनियोंमें चक्कर काटता हुआ अपनी वास्तविक गतिको नहीं जान पाता' ॥ १३ ॥ परम कारुणिक भगवानने मनमें ऐसा विचारकर उन गोपोंको अपना अज्ञानातीत धाम दिखलाया ॥ १४ ॥ जो सत्य, ज्ञान, आनन्त, सनातन ब्रह्म और ज्योतिरूप है। जिसे मुनिजन गुणसम्बन्ध त्याग देनेपर एकाग्रचित्त होकर देखते हैं॥ १५ ॥ उस ब्रह्मपदको पाकर वे सब गोप उसीमें लीन हो गये । तब भगवान कृष्णने उन्हें उसमेंसे निकाला । उससे बाहर आकर गोपोंने सगुण ब्रह्मका वह लोक देखा, जिसे पहले अक्रूरजी भी देख चुके थे ॥ १६ ॥ वह दिव्य लोक देखकर नन्दादि गोपोंको परमानन्द प्राप्त हुआ । वहाँ श्रीकृष्णचन्द्रको वेदों द्वारा स्तूयमान देखकर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ ॥ १७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायामष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥

(रासलीला) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! मल्लिकाके विकसित कुसुमोंवाली शरद ऋतुकी रमणीय रात्रिको देखकर भगवानने योगमायाका आश्रय लेकर रमण करनेकी इच्छा की ॥१॥ जैसे विदेशसे बहुत दिनोंपर लौटा हुआ पति अपनी प्रियाको कुंकुमरागसे रञ्जितकर उसे आनन्दित करता है, वैसेहीकिरणों द्वारा अपनी लालिमासे प्राची दिशाका मुख रञ्जित करता हुआ पूर्णचन्द्र उदित हुआ । किरणोंके निकलते ही सब जीवोंका ताप दूर हो गया ॥ २ ॥ आकाशमें लक्ष्मीजीके मुखमण्डल सदृश सुन्दर और नवकुंकुमके समान अरुण अखण्डमण्डल चन्द्रदेव तथा उनकी कोमल किरणोंसे रञ्जित वृन्दावनको देखकर भगवानने व्रजसुन्दरियोंका मन हरनेवाला मधुर गायन गाया ॥ ३ ॥ उस कामोदीपक गानको सुनते ही सब व्रजबालाएँ कृष्णमें तन्मय होकर एक-दूसरीसे अपनी चेष्टा छिपाती हुई अपने कान्तके पास दौड़ पड़ीं । उस समय अतिशय वेगसे चलनेके कारण

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः । पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः । शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने । व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकंययुः
ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः । गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः॥८॥
अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः । कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥९॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः । ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥१०॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः । जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥

राजोवाच

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने । गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः । द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१३॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप । अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥१४॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥१५॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे । योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते ॥१६॥

उनके कमनीय कुण्डल हिलते जाते थे ॥ ४ ॥ उस समय उनमेंसे कुछ गोपियें दूध मथ रही थीं, वे उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर चल पड़ीं । कुछ चूल्हेपर चढ़ा हुआ दूध वहीं छोड़कर और कुछ उबलती हुई लप्सी उबलती ही छोड़कर भाग चलीं ॥ ५ ॥ कोई पति-पुत्रके लिए भोजन परोस रही थी, वह परोसना छोड़कर दौड़ी । इसी तरह बालकोंको दूध पिलानेवाली पिलाना छोड़कर, पतियोंकी सेवा करनेवाली सेवा छोड़कर और भोजनमें लगी गोपी भोजन छोड़कर चल पड़ी ॥ ६ ॥ उनमेंसे कुछ गोपियें चन्दनादिके उबटन मल रही थीं और कुछ नेत्रोंमें अञ्जन लगा रही थीं । वे सब अपना-अपना शृङ्गार छोड़कर उठ दौड़ीं । कोई-कोई उतावलीसे शरीरमें उलटे-सीधे वस्त्राभूषण पहनकर कृष्णचन्द्रके पास भाग गयीं ॥ ७ ॥ यद्यपि उनके पति, पिता, भ्राता और बन्धुओंने उन्हें बहुत रोका, किन्तु श्रीकृष्णने उनका मन ऐसा हर लिया था कि वे मुग्धा गोपियें उनके रोके नहीं रुकीं ॥ ८ ॥ कुछ गोपियाँ घरोंके भीतर थीं, वे घरवालोंसे रोकी जानेके कारण बाहर नहीं आ पायीं । तब श्रीकृष्णकी भावनासे उनमें तन्मय हो नेत्र मूँदकर वे अपने हृदयोंमें उनका ध्यान करने लगीं ॥ ९ ॥ अपने प्रियतम कृष्णके दुःसह विरहकी तीव्र वेदनासे उनके सब अशुभ कर्म भस्म होगये और ध्यानावस्थामें प्राप्त श्रीहरिका आलिङ्गन करनेके परमानन्दसे उनके शुभ कर्म भी नहीं रहे ॥ १० ॥ इस तरह जारबुद्धिसे भी परमात्मा कृष्णका सङ्ग होनेसे उनके कर्मबन्धन टूट गये और उन्होंने तुरन्त अपनी त्रिगुणमयी देह त्याग दी ॥ ११ ॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीचित्ने पूछा—हे महामुने ! वे व्रजबालाएँ तो भगवान कृष्णचन्द्रको अपना परम प्रिय पति मानती थीं, उनका तो उनमें ब्रह्मभाव कभी भी नहीं था । तब गुणमयी बुद्धिसे युक्त होनेपर भी उनका गुणप्रवाहरूप संसार कैसे समाप्त हो गया ? ॥ १२ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन् ! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शिशुपाल द्वेषभावसे भगवानका चिन्तन करके भी परमपदको प्राप्त हुआ था । फिर जो श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रिय थीं, उन गोपियोंके विषयमें क्या कहना ? ॥ १३ ॥ हे राजन् ! वास्तवमें भगवान अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणोंके अधिष्ठान हैं । मनुष्यके कल्याणार्थ ही उनका सगुण अवतार होता है ॥ १४ ॥ जो लोग निन्तर भगवानमें काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य या सौहार्दका ही भाव रखते हैं, वे भी उनकी तन्मयताको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥ हे राजन् ! तुम्हें योगेश्वरेश्वर और अजन्मा भगवान कृष्णके विषयमें ऐसा न सोचना चाहिये । क्योंकि उनकी तनिक कृपासे स.रा संसार मुक्त हो सकता है ॥ १६ ॥ हाँ,

ता दृष्ट्वान्तिकमायाता भगवान् व्रजयोषितः । अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचःपेशैर्विमोहयन् ॥१७॥

श्रीभगवानुवाच

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः । व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥
रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता । प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१९॥
मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः । विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम् २०
दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम् । यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवशोभितम् ॥२१॥
तद् यात माचिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः । क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ॥२२॥
अथवा मदभिस्नेहाद् भवत्यो यन्त्रिताशयाः । आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥२३॥
भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया । तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४
दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा । पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥२५॥
अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् । जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः ॥२६॥
श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् । न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् । विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥२८॥
कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥२९॥

तो उन व्रजबालाओंको अपने पास आयी देखकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान कृष्णने अपनी वाक्चातुरीसे मोहित करते हुए कहा ॥ १७॥ श्रीभगवान कहने लगे—हे महाभागाओं ! तुम्हारा स्वागत है। कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? व्रजमें तो सब कुशलसे हैं न ? इस विकट रात्रिके समय तुम यहाँ अपने आनेका कारण बतलाओ ॥ १८ ॥ हे सुन्दरियों ! रात बड़ी भयानक है, बहुतसे भयानक जीव इधर-उधर घूम रहे हैं। अतएव तुम तुरन्त व्रजको लौट जाओ। यहाँ स्त्रियोंको अधिक देर तक ठहरना उचित नहीं है ॥१९॥ तुम्हें न देखकर तुम्हारे पिता, पुत्र, भाई और पति आदि स्वजन ढूँढ़ते होंगे। तुम अपने बन्धुओंको व्यर्थ घबराहटमें न डालो ॥ २० ॥ यहाँ आकर तुम चन्द्रमाकी किरणोंसे रङ्गीन और यमुनाजलके स्पर्शसे शीतल तथा मन्द-पवनकी गतिसे हिलते नव-पल्लवोंसे सुशोभित एवं मनोहर वृन्दावनकी शोभा निरख चुकीं ॥ २१ ॥ अतएव हे सतियों ! अब देर मत करो। तुरन्त व्रजको जाओ और अपने पतियोंकी सेवा करो। घरपर तुम्हारे बालक और बछड़े रो रहे होंगे, उन्हें दूध पिलाओ और गौओंको दुहो ॥ २२ ॥ यदि मेरे स्नेहवश तुम आसक्तचित्त होकर यहाँ चली आयी हो तो यह भी अनुचित नहीं है। क्योंकि सब प्राणी मुझसे प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥ हे कल्याणियों ! पति और पतिके बन्धुओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना तथा सन्तानका पालन-पोषण करना ही स्त्रियोंका सर्वश्रेष्ठ धर्म है ॥ २४ ॥ जिन स्त्रियोंको शुभ गति प्राप्त करनेकी इच्छा हो, वे पातकीको छोड़कर और किसी भी प्रकारके पतिको न त्यागें। फिर चाहे वह बुरे स्वभावका, अभागा, वृद्ध, मूर्ख, रोगी या निर्धन ही क्यों न हो ॥ २५॥ कुलवधुओंके लिये जारसेवा सर्वथा निन्दनीय कार्य है। इससे उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती और संसारमें उनका अपयश होता है। यह अत्यन्त तुच्छ, कष्टदायक और भयदायक कर्म है ॥ २६ ॥ यदि तुम्हें मेरे अनन्य प्रेमकी ही चाह हो तो मेरा गुण-श्रवण, दर्शन, ध्यान और नामकीर्तन करनेसे मुझमें जैसा प्रेम होता है वैसा मेरे पास रहनेसे नहीं होता। अतः तुम अपने घरोंको लौट जाओ ॥ २७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्रीगोविन्दका यह कठोर भाषण सुनकर गोपियाँ उदास हो गयीं और आशा टूट जानेसे उन्हें बड़ी चिन्ता हुई ॥ २८ ॥ शोकवश दीर्घ और उष्ण निःश्वाससे जिनके अधरपुट सूख गये, ऐसे मुखोंको नीचा किये

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित्संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥३०॥

गोप्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥३१॥
यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥३२॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥३४॥
सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।
नो चेद् वयं विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥३५॥
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्यजनप्रियस्य ।
अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता बत पारयामः ॥३६॥
श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥

वे गोपियाँ अपने चरणनखोंसे पृथिवी कुरेदने लगीं और नेत्रोंके कज्जलकी कालिमासे मिलकर निकले आँसुओंसे अपने कुच-कुंकुमको धोती हुई दुःखके भारी भारसे दबकर चुपचाप खड़ी रहीं ॥ २९ ॥ अपने प्यारे कृष्णके लिये जिन्होंने सभी विषय छोड़ दिये थे, वे अनुरागिणी गोपियाँ रोती-रोती आँसुओं भरे नेत्रोंको पोंछकर प्रणयकोपयुक्त गद्गद वाणीसे प्रियतम होकर भी ऐसा अप्रिय भाषण करनेवाले कृष्णचन्द्रसे कहने लगीं ॥ ३० ॥ गोपियोंने कहा—हे विभो! आपको ऐसे कठोर वचन न कहने चाहिये। हम अन्य सब विषयोंको छोड़कर केवल आपके चरणकमलोंमें ही संलग्न हैं। अतएव हे स्वच्छन्द! जैसे आदिपुरुष श्रीनारायण मुमुक्षुजनोंको भजते हैं, वैसे ही आप हमें अङ्गीकार करिए—त्यागिये मत ॥ ३१ ॥ हे कृष्ण! धर्मके विशेषज्ञ आपने कहा कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका परम धर्म है। सो इस उपदेशके विषयभूत आप ईश्वरमें ही हमारे ये सब भाव ऐसेही हों। क्योंकि सब देहधारियोंके प्रियतम बन्धु और आत्मा एकमात्र आप ही हैं ॥ ३२ ॥ कुशल पुरुष नित्यप्रिय आत्मस्वरूप आपहीमें प्रेम करते हैं। संसारमें सदा दुःख देनेवाले पति-पुत्रादिसे उन्हें क्या मतलब? अतएव हे परमेश्वर! आप हमपर प्रसन्न हों। हे कमलनयन! हम बहुत दिनोंसे आसरा लगाये हैं। आप हमारी आशालताको छिन्न न करें ॥ ३३ ॥ अबतक हमारा चित्त आनन्दसे घरमें आसक्त था, उसे आपने हर लिया। हमारे हाथ घरके धन्धोंमें लगे हुए थे, वे भी निश्चेष्ट हो गये और हमारे पैर आपके चरणकमलोंके निकटसे एक पग भी पीछे नहीं हटना चाहते, तब हम कैसे व्रजको जायँ और वहाँ जाकर भी क्या करें? ॥ ३४ ॥ हे प्यारे! आपकी मन्द-मुसकान भरी चितवन और आपके मनोहर गीतसे हमारे हृदयमें प्रबल कामानल प्रज्वलित हो रहा है। उसे अपने अधरामृतके प्रवाहसे शान्त करिए, नहीं तो आपके विरहसे उत्पन्न अग्निसे हमारे शरीर भस्म हो जायँगे। हे सखे! हम आपका ध्यान करके आपके चरणोंकी समीपता प्राप्त करेंगी ॥३५॥ हे कमलनयन! वनवासियोंके प्रिय आप लक्ष्मीजीको भी अपने जिन चरणोंकी सेवाका मौका कभी ही कभी देते हैं, आपके उन चरणकमलोंका हमने जिस समय स्पर्श किया था और आपने हमें

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥
वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥
का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥
व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो तप्तस्तनेषु च शिरःसु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

श्रीशुक उवाच

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः । प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥
ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥४३॥
उपगीयमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः । मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ॥
नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् । रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना ॥४५॥
बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥४६॥

आनन्दित किया था, तभीसे हम और किसीके सामने नहीं ठहर सकीं ॥ ३६ ॥ जिनके कृपाकटाक्षके लिये सब देवता अत्यन्त प्रयास करते हैं, वे लक्ष्मीजी बिना किसी प्रतिद्वन्द्वीको आपके वक्षःस्थलमें स्थान पाकर भी तुलसी तथा अन्य भक्तजनोंसे सेवित आपकी जिस चरणरजकी इच्छा करती हैं। उन्हींकी तरह हम भी आपकी उसी चरणरजकी शरणमें आयी हुई हैं ॥ ३७ ॥ अतएव हे दुःखदलन! आप हमपर प्रसन्न हों। हम आपकी सेवा करनेकी आशासे ही अपने घरोंको छोड़कर आपकी चरण-शरणमें प्राप्त हुई हैं। हे पुरुषभूषण! आपकी सुन्दर मुसकान भरी चारु चितवनसे हमारा चित्त अत्यन्त कामसन्तप्त हो रहा है, आप हमें अपनी दासी बनाइये ॥ ३८ ॥ हे प्यारे! अलकावलीसे आवृत आपका मुख, कुण्डलकान्तिसे सुशोभित कपोल तथा अधरामृत, मनोहर मुसकानभरी चितवन, अभयदायक दोनों हाथ और एकमात्र लक्ष्मीजीका क्रीडास्थल विशाल वक्षःस्थल देखकर हम आपकी दासी बन चुकी हैं ॥ ३९ ॥ हम ही नहीं—त्रिलोकीमें ऐसी कौन स्त्री होगी, जो मधुर पदावलीसे युक्त उच्चस्वरसे गाये जानेवाले आपके स्वरालापोंको सुन और इस त्रिलोकसुन्दर स्वरूपको देखकर—जिससे गौ, पक्षी, वृक्ष और मृगोंको भी रोमाञ्च हो जाता है—अपने आर्यचरित्रसे विचलित न हो जायगी? ॥४०॥ यह बात स्पष्ट है कि आदिपुरुष नारायणके समान देवताओंके रक्षक आप व्रजमण्डलका भय और दुःख दूर करनेको अवतार लिये हैं। अतः हे दीनबन्धो! आप हम दासियोंके जलते हुए वक्षःस्थल और सिरोंपर अपना करकमल रखिये ॥ ४१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—गोपियोंकी ऐसी विह्वलता भरी बातें सुनकर योगेश्वरेश्वर भगवान् कृष्ण दयापूर्वक मुसकाये और आत्माराम होकर भी उन गोपियोंके साथ रमण करने लगे ॥ ४२ ॥ मनोहर कटाक्ष और प्रफुल्लवदना गोपाङ्गनाओंसे घिरे उदार चरित्र भगवान कृष्ण मनोहर मुसकान और कुन्दकलीके समान दाँतोंकी कान्तिसे ऐसे सुशोभित हुए, जैसे तारामण्डलसे आवृत चन्द्रमा ॥ ४३ ॥ उन सब स्त्रियोंके यूथपति भगवान कृष्ण उनके द्वारा कीर्तित हो और स्वयं भी उनके साथ उच्चस्वरसे गाते तथा गलेमें वैजयन्ती माला धारण किये वनको विभूषित करते हुए विचरने लगे ॥ ४४ ॥ इसके बाद उन्होंने शीतल बालुकामय यमुनातटपर जाकर गोपियोंके साथ क्रीडा की। वह स्थान यमुनाकी चञ्चल तरङ्गोंके सम्पर्कसे शीतल और कुमुदिनीके

एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः । आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि
तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः । प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे भगवतो रासक्रीडावर्णनं नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥२६॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः । अतप्यँस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥१॥
गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥२॥
गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥३॥
गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद् वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥४॥
दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः । नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥५॥
कच्चित् कुरबकाशोकनागपुन्नागचम्पकाः । रामानुजो मानिनीनामितो दर्पहरस्मितः ॥६॥
कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये । सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः॥

गन्धयुक्त सुगन्धित वायुसे सेवित होनेके कारण अतिशय आनन्दपूर्ण हो रहा था ॥ ४५ ॥ हाथ फैलाना, आलिङ्गन करना, कर, अलक, जंघा, कटिवस्त्रके बन्धन और स्तन आदिका स्पर्श, मजाक तथा नखक्षत करना, विनोदपूर्ण चितवनसे ताकना और मन्द-मन्द मुसकाना आदि चेष्टाओंसे व्रजबालाओंका कामरस उद्दीप्त करते हुए भगवान कृष्ण उन व्रजवनिताओंके साथ खेलने लगे ॥४६॥ परमात्मा भगवान कृष्णसे इस तरह मान पाकर उन मानवती गोपाङ्गनाओंने अपनेको संसारकी सब स्त्रियोंसे श्रेष्ठ समझा ॥ ४७ ॥ उस सौन्दर्यमदको शान्त और उनपर कृपा करनेकी इच्छासे भगवान कृष्णचन्द्र उनके बीचसे अन्तर्धान होगये ॥ ४८ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

(श्रीकृष्णभगवानकी खोज) श्रीशुकदेवजी बोले—भगवानके एकाएक अन्तर्धान हो जानेपर उन्हें न देखकर गोपियाँ ऐसी व्याकुल हो गयीं, जैसे यूथपति गजराजके बिना हथिनियाँ व्याकुल हो जाती हैं ॥ १ ॥ उन भगवान कृष्णकी चाल-ढाल, प्रेममयी मुसकान, विलासमयी चितवन, मनोरम बातचीत और लीलाविलाससे जिनके चित्त उनकी ओर आकर्षित हो चुके थे, वे गोपाङ्गनाएँ तन्मयभावसे उनकी भिन्न-भिन्न चेष्टाओंका अभिनय करने लगीं ॥ २ ॥ अपने प्रियतमकी गति, मुसकान, चितवन और भाषणादिमें आसक्त होकर तन्मय हो जानेवाली वे व्रजबालाएँ भगवानकी लीलाओंका अभिनय करती हुई 'कृष्ण मैं ही हूँ' ऐसा परस्पर कहने लगी ॥ ३ ॥ वे सब मिलकर उच्चस्वरसे उन्हींके गुण गाती हुई उन्मत्तकी भाँति एक वनसे दूसरे वनमें जा-जाकर वनके वृक्षोंसे सब प्राणियोंके भीतर-बाहर व्याप्त आकाशके समान सर्वान्तर्यामी श्रीहरिका पता पूछने लगीं ॥ ४ ॥ वे बोलीं—हे अश्वत्थ ! हे प्लक्ष ! हे न्यग्रोध ! हमारे प्यारे नन्दनन्दन अपनी प्रणयमुसकानभरी चितवनसे हमारा मन हरकर चले गये हैं, तुमने इधर उन्हें देखा है ? ॥ ५ ॥ हे कुरबक ! हे अशोक ! हे नाग ! हे पुन्नाग ! हे चम्पक ! अपनी मीठी मुसकानसे मानिनियोंका मान मर्दन करनेवाले बलरामजीके छोटे भाई कृष्ण इधर आये थे ? ॥ ६ ॥ हे कल्याणि तुलसि ! हे गोविन्दचरणप्रिये !

मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जाति यूथिके । प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥८॥

चूतप्रियालपनसासनकोविदारजम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥९॥

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥१०॥

अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥११॥

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ॥१२॥

पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः । नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥१३॥
इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः । लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ॥१४॥
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम् । तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहञ्छकटायतीम् ॥१५॥
दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् । रिङ्गयामास काप्यङ्घ्री कर्षन्ती घोषनिःस्वनैः ॥१६॥
कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन । वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥१७॥
आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतीम् । वेणुं क्वणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥

भ्रमरनिकर सहित तुम्हें धारण किये मेरे प्रियतम कृष्णको क्या तूने देखा है? हे मालती! हे मल्लिके! हे जाति! हे यूथिके! तुमने माधवको देखा है? वे तुम्हें अपने करस्पर्शसे आनन्दित करते हुए इधरसे गये हैं? ॥ ७ ॥ ८ ॥ हे रसाल, हे प्रियाल, हे पनस, हे असन, हे कोविदार, हे जामुन, हे आक, हे बिल्व, हे आम, हे कदम्ब, हे नीप और हे परोपकारके लिये ही जीवन धारण करनेवाले यमुनातटवर्ती अन्य तरुवरों! हम कृष्णके विरहमें अचेत हो रही हैं। तुम हमें उनकी राह बता दो ॥ ९ ॥ हे धरणि! तुमने ऐसा कौन तप किया है, जो श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शसे आनन्दित होकर तृण-लतादिके रूपमें अपना रोमाञ्च प्रकट कर रही हो? तुम्हारा यह उल्लास श्रीकृष्णचन्द्रके चरणस्पर्शके कारण ही है या त्रिविक्रम भगवानके पादक्रमणसे है अथवा उनसे भी पहले वाराहभगवानके अङ्गसङ्गके कारण है? ॥ १० ॥ अो सखी मृगियों! अपने अङ्गोंके सौन्दर्यसे तुम्हारे नेत्रोंको आनन्दित करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रियतमाके साथ इधरसे गये हैं? क्योंकि यहाँ प्रियाके अङ्गसङ्गसे उसके कुचकुंकुमसे रञ्जित कुलपति कृष्णकी कुन्दकली मालाकी मीठी गन्ध आ रही है ॥ ११ ॥ हे तरुवरगण! जिनके पीछे तुलसीकी गन्धके लोभी मदान्ध भ्रमर जा रहे हैं, उन कृष्णचन्द्रने एक हाथमें क्रीडाके लिये कमल धारण किये और दूसरा हाथ प्रियाके कंधेपर रखे यहाँ विचरते हुए क्या अपने प्रणयकटाक्षसे तुम्हारी वन्दनाका अभिनन्दन किया है? ॥ १२ ॥ इसी बीच एक गोपी बोली—हे सखियों! इन लताओंसे पूछो। देखो, ये अपनी भुजाओंसे वृक्षोंको आलिङ्गन किये हुए हैं तो भी भगवानके नखोंका स्पर्श होनेसे रोमाञ्चित हो रही हैं ॥ १३ ॥ हे राजन्! श्रीकृष्णचन्द्रकी खोजमें व्याकुल गोपियाँ उन्मत्तके समान प्रलाप करती हुई तद्रूप होकर भगवानकी लीलाओंका अनुकरण करने लगीं ॥ १४ ॥ एक कृष्ण बनी हुई गोपीने दूसरी पूतना बनी हुई गोपीका स्तन पिया और एक बालक बनी हुई गोपीने छकड़ा बनी हुई दूसरी गोपीको पाँवमारकर उलट दिया ॥ १५ ॥ एक गोपी तृणावर्त दैत्य बनी, वह कृष्ण बनी हुई अन्य गोपीको हर ले गयी। एक गोपी अपने नूपुरोंका शब्द करती हुई पाँव खींच-खींचकर घुटनोंके बल बकैयाँ चलने लगी ॥१६॥ दो गोपियाँ कृष्ण और बलराम बनीं और कुछ ग्वालबाल बनीं। उनमेंसे एकने कृष्णका अनुकरण करती हुई वत्सासुर बनी गोपीको और दूसरीने बकासुर बनी हुई गोपीको मार डाला ॥ १७ ॥ फिर

कस्यांचित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु । कृष्णोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः॥।
मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया । इत्युक्त्वैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्॥२०॥
आरुह्यैका पदाऽऽक्रम्य शिरस्याहापरां नृप । दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक्॥
तत्रैकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् । चक्षूंष्याश्वपिदध्वं वो विधास्ये क्षेममञ्जसा २२
बद्धान्यया स्रजा काचित्तन्वी तत्र उलूखले । भीता सुदृक् पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम्॥
एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् । व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥
पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः । लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राङ्कुशयवादिभिः ॥
तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः । वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्ताः समब्रुवन्॥
कस्याः पदानि चैतानि यातया नन्दसूनुना । अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा२७
अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः । यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥
धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः। यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥२९॥
तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैःपदानि यत् । यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः । खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः३१

श्रीकृष्णके समान उन्हींका अनुकरण करके बाँसुरी बजाकर दूर गये हुए पशुओंको बुलानेकी क्रीडा करनेवाली एक गोपीकी वाह-वाह कहकर अन्य गोपियाँ बड़ाई करने लगीं ॥ १८ ॥ एक सखीके गले-में बाँह डालकर चलती हुई दूसरी कृष्णमना गोपीने अन्य गोपाङ्गनाओंसे कहा—"मित्रों ! मैं कृष्ण हूँ, तुम मेरी मनोहर गति देखो ॥ १९ ॥ ओरे ओ व्रजवासियों ! तुम वर्षा और वायुसे मत डरो। मैंने उनसे बचनेका उपाय खोज लिया है" ऐसा कहकर एक कृष्ण बनी हुई गोपीने गोवर्धन-धारणका अभिनय करते हुए अपनी ओढ़नी फैलाकर ऊँचे तान दी ॥ २० ॥ हे राजन् ! एक गोपी कालिया बनी हुई दूसरी गोपीके सिरपर पाँव रखकर चढ़ गयी और कहने लगी—"रे दुष्ट सर्प ! तू यहाँसे चला जा। मैं दुष्टोंका दमन करनेके लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ" ॥ २१ ॥ इतनेहीमें एक गोपी बोली—"ओ गोपगण ! देखो उधर महाभयङ्कर दावानल लगा हुआ है। तुमलोग शीघ्र अपने नेत्र मूँद लो। मैं तुम लोगोंको सहजहीमें बचा लूँगा" ॥ २२ ॥ एक सुकुमारी गोपीको यशोदा बनी हुई दूसरी गोपीने फूलोंकी मालासे ऊखलमें बाँध दिया। तब वह सुनयनी गोपी हाथोंसे मुख ढाँपकर भयका अभिनय करने लगी ॥ २३ ॥ इस प्रकार कृष्णलीला करनेके बाद फिर भी वृन्दावनके वृक्ष और लता आदिसे कृष्णचन्द्रका पता पूछते-पूछते गोपियोंने वनमें एक स्थानपर भगवानके चरणचिह्न देखे ॥ २४ ॥ उन्हें देखकर वे आपसमें कहने लगीं—अवश्य ही ये ध्वजा, वज्र, अंकुश और यवादिके चिह्नोंसे युक्त महात्मा नन्दनन्दनके ही चरणचिह्न हैं ॥ २५ ॥ उन चिह्नोंसे भगवानको खोजती-खोजती उन अब-लाओंने आगे बढ़नेपर उनके साथ किसी स्त्रीके भी चरणचिह्न देखे। उन्हें देख वे व्याकुल होकर आपसमें कहने लगीं—॥ २६ ॥ "जिस प्रकार हथिनी हाथीके साथ जाती है, उसी प्रकार नन्दनन्दन-के साथ उनके कन्धेपर हाथ रखे गयी हुई किस बड़भागिनी गोपीके ये चरणचिह्न हैं ? ॥ २७ ॥ अवश्य ही इसने भगवान कृष्णकी आराधनाकी होगी। इसीलिये तो प्रसन्न होकर श्रीगोविन्द हमें छोड़कर इसे एकान्तमें अपने साथ ले गये हैं ॥ २८ ॥ अहो सखियो ! श्रीकृष्णचन्द्रके चरणकमलोंके वे रजःकण धन्य हैं जिन्हें ब्रह्मा, महादेव और लक्ष्मी आदि भी अपना पाप दूर करनेके लिए माथे चढ़ाते हैं" ॥ २९ ॥ एक गोपी बोल उठी—"कुछ भी हो, यह हम सबके सर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्रको एकान्तमें ले जाकर अकेली ही उनके अधरामृतका पानकर रही है। इस गोपीके उभरे हुए चरण-चिह्न हमारे चित्तमें अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं" ॥ ३० ॥ कुछ आगे जानेपर उसके चदचिह्न न देखकर वे कहने लगीं—"देखो, यहाँ उस स्त्रीके पाँव नहीं दिखलायी देते। ज्ञान पड़ता है कि यहाँ

इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो वधूम् । गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः॥
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना । अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः ।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३३॥
केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् । तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्॥३४॥
रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः । कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥
इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः । यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने॥
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् । हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः॥
ततो गत्वा वनोद्देशं दृप्ता केशवमब्रवीत् । न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥३८॥
एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्ध आरुह्यतामिति । ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३९॥
हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज । दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥
अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः । ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥
तया कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् । अवमानं च दौरात्म्याद् विस्मयं परमं ययुः४२
ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद् विभाव्यते। तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो निववृतुः स्त्रियः४३
तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः । तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

अपनी प्रियाके सुकुमार चरणोंको घासकी नोकसे कष्ट होता देखकर हमारे प्राणप्यारेने उसे अपने कन्धेपर चढ़ा लिया है ॥ ३१ ॥ इधर देखो, उन कामी कृष्णने जब अपनी प्रेयसीको कन्धेपर चढ़ाया है तब बोझ बढ़ जानेके कारण उनके पैरोंके चिह्न गहरे हो गये हैं ॥ ३२ ॥ यहाँ मानो महात्मा कृष्णने फूल चुननेके लिये अपनी प्रियाको नीचे उतारा है और यहाँ उसके लिये प्रियतमने पुष्पचयन किया है । इस लिए देखो, उचककर फूल तोड़नेसे यहाँ उनके चरणोंके अग्रभागके ही चिह्न दीखते हैं ॥ ३३ ॥ यहाँ उन कामी कृष्णने प्रियाके केश सँवारे हैं । अपने एकत्रित किये हुए पुष्पोंसे प्रियाके केशपाशको विभूषित करनेके लिये श्रीकृष्णचन्द्र यहाँ अवश्य बैठे होंगे" ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! अपने आपमें ही रमण करनेवाले और निरन्तर आत्मरत होकर भी भगवान् कृष्णने कामियोंकी दीनता और स्त्रियोंकी दुरात्मता दिखानेके लिये वहाँ वास्तवमें उस गोपीके साथ रमण किया था ॥ ३५ ॥ इस प्रकार उन्मत्त जैसी होकर कृष्णचन्द्रको ढूँढती हुई वे सब गोपियाँ वनमें विचर रही थीं । इधर भगवान कृष्ण और सब गोपियोंको वनमें छोड़कर जिस गोपीको एकान्तमें ले गये थे, उसने समझा कि सब गोपियोंमें मैं ही श्रेष्ठ हूँ । तभी तो और सब कामातुरा कामिनियोंको छोड़कर मेरे प्राणप्यारेने मेरा ही सम्मान किया है ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ इस लिये उस प्रेमगर्विता गोपाङ्गनाने वनमें पहुँचकर भगवान कृष्णचन्द्रसे कहा—"प्यारे ! अब तो मुझसे और अधिक नहीं चला जाता । तुम्हारी जहाँ चलनेकी इच्छा हो मुझे अपने कन्धेपर चढ़ाकर ले चलो" ॥ ३८ ॥ ऐसा कहनेपर भगवानने उससे कहा—"अच्छा आओ, तुम मेरे कन्धेपर चढ़ लो" यह सुनकर ज्यों ही वह कन्धेपर चढ़नेके लिये तैयार हुई, त्यों ही भगवान अन्तर्धान हो गये और वह सुन्दरी पछताकर कहने लगी–॥ ३९ ॥ "हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रियतम ! हा महाबाहो ! तुम कहाँ हो—कहाँ हो ? हे प्यारे ! इस दीन दासीके पास आकर इसे शीघ्र दर्शन दो" ॥ ४० ॥ उधरसे भगवानका मार्ग ढूँढती हुई अन्य गोपियोंने प्रियतमके वियोगसे व्याकुल और अचेत उस सखीको पास आकर देखा ॥ ४१ ॥ उसके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्रसे सम्मानित होने और फिर अपनी कुटिलतासे तिरस्कृत होनेका समाचार सुनकर उन सबको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ४२ ॥ इस प्रकार जबतक वनमें चन्द्रमाका प्रकाश था, तबतक वे गोपिकाएँ कृष्णचन्द्रको खोजती रहीं और अन्धकार फैलता देख निराश होकर लौट पड़ीं । ॥ ४३ ॥ कृष्णचन्द्रमें मन लगा रहने, उन्हींकी चेष्टाओंका अनुकरण करने

पुनः पुलिनमागत्य कालिन्द्याः कृष्णभावनाः । समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकांक्षिताः ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां कृष्णान्वेषणं नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

गोप्य ऊचुः

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र ह ।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥१॥
शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा ।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः ॥२॥
विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥
न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥४॥
विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥५॥
व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥६॥

और उन्हींके ध्यानमें लीन हो जानेसे गोपियाँ उन्हींका गुण गान करती रहीं। उन्हें अपने घरोंकी भी सुधि नहीं रही ॥ ४४ ॥ कृष्णचन्द्रके आगमनके लिए अत्यन्त उत्सुक वे सब गोपियां उन्हींका स्मरण करती हुई फिर यमुनाजीकी रेतीमें लौट आयीं और मिल-जुलकर उन्हींका गुणगान करने लगीं ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

(गोपीगीत) गोपियाँ बोलीं—हे प्रियतम ! यह व्रजभूमि आपके जन्म लेनेसे ही सबसे बढ़ी-चढ़ी मानी गयी है और इसीलिये लक्ष्मीजी भी यहाँ सर्वदा निवास करती हैं। एकमात्र आपहीके लिये जीवन धारण करनेवाली हम आपकी दासियाँ आपको सब दिशाओंमें खोज रही हैं। आप हमें अपना दर्शन दीजिए ॥ १ ॥ हे सुरतनाथ ! आप शरत्कालीन सरोवरमें उत्पन्न सुन्दर कमलोंके मध्यभागकी शोभा हरनेवाले अपने नयनोंकी चोटसे इन बिना मूल्यकी क्रीत दासियोंको मार गये हैं। हे वरदायक ! क्या यह स्त्रीवध नहीं कहा जायगा ? ॥ २ ॥ हे नरपते ! आपने कालियके विषैले जलसे होनेवाली मृत्यु, अजगररूपी अघासुर, वर्षा, आँधी, बिजली, दावानल, वत्सासुर और मयासुरके पुत्र व्योमासुर तथा अन्य सब संकटोंसे हमारी बारम्बार रक्षा की है ॥ ३ ॥ आप केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, बल्कि सब देहधारियोंके साक्षी हैं। हे सखे ! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे आपने सारे संसारकी रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है ॥ ४ ॥ हे यदुश्रेष्ठ ! जो लोग संसारके भयसे डरकर आपके चरणोंकी शरणमें प्राप्त हुए हैं, उन्हें आपने अभय कर दिया है। हे कान्त ! जिससे आपने लक्ष्मीजीका हाथ पकड़ा था, अपना वह कामपूरक कर-कमल आप हमारे मस्तकोंपर रखिये ॥ ५ ॥ हे व्रजवासियोंका दुःख दूर करनेवाले यदुवीर ! आपकी मनोहर मुसकान भक्तजनोंका गर्व दूर कर देती है। हम आपकी दासियाँ हैं। हे सखे ! आप हमें स्वीकार करिए

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।
फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥
मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः ॥८॥
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥९॥
प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥
चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ॥११॥
दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥१२॥
प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।
चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥१३॥
सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥
अटति यद् भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥१५॥

और हम अबलाओंको अपना मनोहर मुखकमल दिखलाइये ॥ ६ ॥ जो शरणागत जीवोंके पापोंको नष्ट करते और वनमें पशुओंके पीछे-पीछे विचरते हैं, जिन्हें आपने कालियके फणपर अङ्कित किया था, अपने उन शोभाधाम चरणकमलोंको हमारे स्तनोंपर रखकर हमारी कामाग्नि बुझा दीजिए ॥७॥ हे कमलनयन ! हे वीर ! विद्वानोंके भी मनको प्रिय लगनेवाली और मनोहर पदोंसे युक्त आपकी मधुर वाणीसे हम आपकी दासियाँ मोहित हो रही हैं। अतः आप अपना अधरामृत पिलाकर हमें जीवनदान दें ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! जो सन्तप्त जीवोंको जीवन देनेवाली, कविजनकीर्तित, पापनाशिनी, सुननेमात्रसे मङ्गल करनेवाली और अत्यन्त शान्तिदायिनी आपकी अमृतमयी कथाओंका संसारमें प्रचार करते हैं, वे ही सबसे बड़े दानी हैं ॥ ९ ॥ हे कपटकुशल प्रियतम ! ध्यानमात्रसे मङ्गल करनेवाली तुम्हारी मुसकान, प्रेमभरी चितवन, क्रीडाएँ और एकान्तकी हृदयहारिणी ठठोलियाँ हमारे चित्तोंको क्षुब्ध कर रही हैं ॥ १० ॥ हे नाथ ! जब आप व्रजसे गौएँ चरानेके लिए जाते हैं तो आपके कमल समान कोमल और सुन्दर चरण कङ्कड़, तृण और काँटोंसे व्यथित होते होंगे। हे कान्त ! इस चिन्तासे हमारे चित्त उद्विग्न हो उठते हैं ॥ ११ ॥ हे वीर ! दिन ढलनेपर जब आप घर लौटते हैं तो धूलिधूसरित नील अलकावलीसे आवृत अपना मनोहर मुखारविन्द दिखाकर आप हमारे चित्तोंमें कामवासना उत्पन्न कर दिया करते हैं ॥ १२ ॥ हे रमण ! हे आर्त्तिनाशन ! शरणागत भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले, लक्ष्मीजीसे पूजित, पृथिवीको विभूषित करनेवाले और आपत्तिके समय स्मरण किये जाने योग्य अपने उन परम शान्तिमय चरणकमलोंको आप हमारे तप्त स्तनोंपर रखिये ॥ १३ ॥ हे वीर ! कामसुखको बढ़ानेवाला, शोकको दूर करनेवाला, बजती हुई अपनी बाँसुरीसे भली भाँति चुम्बित और मनुष्योंकी आसक्तियोंको भुला देनेवाला अपना मधुर अधरामृत हमें दान दीजिये ॥ १४ ॥ जब आप दिनको वनमें विचरने जाते हैं तो आपको न देख

पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य ते॒ऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥
रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ॥१७॥
व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् ।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ॥१८॥
यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे रासक्रीडायां गोपीगीतं नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा । रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥
तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः । पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥२॥
तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्युत्फुल्लदृशोऽबलाः । उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तन्वः प्राणमिवागतम् ॥३॥
काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा । काचिद् दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरूषितम् ॥४॥

सकनेके कारण हमें एक-एक क्षण युगके समान जान पड़ता है। फिर सायंकालको जब हम घुँघराली अलकावलीसे मण्डित आपका सुन्दर मुख देखती हैं तो हमें नेत्रोंकी पलक बनानेवाला ब्रह्मा जड़ मालूम होता है ॥ १५ ॥ हे अच्युत ! हम गानविद्याको जाननेवाली कामिनियाँ आपके गानसे मोहित होकर अपने पति, पुत्र, कुटुम्ब, भ्राता और बन्धुओंको छोड़कर आपके समीप आयी हैं। हे कपटी ! इस प्रकार रात्रिमें अपने-आप आयी हुई हम नारियोंको तुम्हारे सिवा भला और कौन त्याग सकता है ? ॥ १६ ॥ हे प्यारे ! कामदेवकी उद्दीपक तुम्हारी एकान्तकी ठठोलियाँ, मधुर मुसकानभरा मुखारविन्द, प्रेमभरी सरस चितवन और लक्ष्मीजीका निवासस्थान विशाल वक्षःस्थल देखकर हमें तुम्हारी सन्निधिकी अभिलाषा होती है और हमारा मन बारम्बार मोहित होने लगता है ॥ १७ ॥ हे प्रिय ! आपका अवतार सब व्रजवासियोंके दुःख दूर करने और संसारके कल्याणके लिये हुआ है। हमारा मन आपके लिये बहुत व्यग्र है। आप कोई ऐसी औषधि दीजिये, जो हम स्वजनोंके हृदय-तापको शान्तकर सकती हो ॥ १८ ॥ हे प्रियतम ! आपके जिन सुकुमार चरणकमलोंको हम डरती-डरती धीरेसे अपने कठिन कुचोंपर रखती हैं, उन्हीं चरणोंसे आप वनमें विचर रहे हैं ! क्या कङ्कड़ आदिसे उन्हें कुछ भी व्यथा नहीं होती ? आपहीके लिये जीवन धारण करनेवाली हम अबलाओंकी बुद्धि यही विचार करती हुई भ्रमित हो रही है ॥ १९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे 'सामयिकी' भाषाटीकायामेकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

(श्रीकृष्णका प्रगट होकर गोपियोंको आश्वासन देना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह भाँति-भाँतिसे गाती और प्रलाप करती हुई वे गोपिकाएँ कृष्णदर्शनकी लालसासे बिलबिलाकर रोने लगीं ॥ १ ॥ इसी समय कामदेवके भी मनको मथित करनेवाले भगवान कृष्ण पीताम्बर और वनमाला धारण किये मधुर मुसकानभरे मुखारविन्दसे उनके आगे आ प्रकट हुए ॥ २ ॥ प्रियतमको अपने समक्ष देखकर व्रजबालाओंके नेत्र विकसित हो गये और वे सब इस तरह एक साथ उठ खड़ी हुईं, जैसे प्राणोंके आजानेसे शरीर उठ बैठें ॥ ३ ॥ उनमेंसे किसी गोपीने अतिशय आनन्दित होकर अपनी हथेलीसे उनका करकमल पकड़ लिया, किसीने उनकी चन्दनचर्चित भुजा अपने

काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् । एका तदङ्घ्रिकमलं संतप्ता स्तनयोरधात् ॥५॥
एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला । घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैः संदष्टदशनच्छदा ॥६॥
अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् । आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥७॥
तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्य निमील्य च । पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता ॥८॥
सर्वास्ताः केशवालोकपरमोत्सवनिर्वृताः । जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥९॥
ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः । व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥१०॥
ताः समादाय कालिन्द्या निर्विश्य पुलिनं विभुः । विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥११॥
शरच्चन्द्रांशुसंदोहध्वस्तदोषातमः शिवम् । कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलवालुकम् ॥१२॥

तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।
स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैरचीक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥
तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः ।
चकास गोपीपरिषद्गतोऽर्चितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥१४॥
सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा ।
संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥१५॥

गोप्य ऊचुः

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् । नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः ॥१६॥

कन्धेपर रख ली ॥ ४ ॥ किसी कृशाङ्गीने उनका चबाया हुआ पान अपने हाथमें ले लिया । एक विरहसन्तप्ता गोपीने अपने कुचोंपर उनका कोमल चरणकमल रख लिया ॥ ५ ॥ एक गोपी प्रणय-कोपके कारण अपनी धनुषके समान टेढ़ी भृकुटी चढ़ा दाँतोंसे ओंठ दबाकर कटाक्षबाणोंसे बींधती हुई उनकी ओर निहारने लगी ॥ ६ ॥ एक और गोपी निर्निमेष दृष्टिसे भगवानका मुखकमल निहारने लगी। जैसे भक्तजन भगवानके चरणोंको देखते-देखते कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह बारम्बार उनका मुखामृत पान करके भी तृप्त नहीं होने आ रही थी ॥ ७ ॥ एक व्रजगोपीने भगवानकी मधुर मूर्तिको नयनोंके छिद्रसे हृदयमें ले जाकर आँखें मूँद लीं । मनही मन आलिङ्गन करनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और वह योगियोंके समान परमानन्दमें निमग्न हो गयी ॥ ८ ॥ मुमुक्षुजन जैसे ब्रह्मवेत्ताको पाकर संसारतापसे छूट जाते हैं, वैसेही कृष्णदर्शनके परमोल्लाससे आनन्दित होकर समस्त गोपाङ्गनाओंका विरहताप दूर हो गया ॥ ९ ॥ हे राजन् ! उन शोकहीन सुकुमारियोंसे घिरे हुए भगवान् कृष्ण इस प्रकार सुशोभित हुए, जैसे अपनी शक्तियोंसे घिरे हुए पुराणपुरुष परमात्मा शोभित होते हैं ॥ १० ॥ तदनन्तर भगवान कृष्ण उन व्रजसुन्दरियोंको साथ लेकर यमुनाजीके तटपर आये । वहाँ खिले हुए कुन्द और मन्दारके पुष्पोंसे सुगन्धित वायु चल रहा था और उसके साथ मतवाले भौंरे इधर-उधर उड़ रहे थे ॥ ११ ॥ शरदकालके कमनीय किरणजालसे अन्धकार दूर हो जानेके कारण वह स्थान परम रमणीक हो रहा था तथा यमुनाके कररूपी तरङ्गोंने वहाँ सुकोमल बालुका बिछा दी थी ॥ १२ ॥ श्रीकृष्णदर्शनके आनन्दसे गोपियोंके हृदयका ताप शान्त हो गया । वे ज्ञानकाण्डकी श्रुतियोंके समान पूर्णकाम हो गयीं और उन्होंने अपने प्रियबन्धु भगवान कृष्णको बैठनेके लिये अपने कुचकुंकुममण्डित दुकूलोंको आसन बनाकर बिछा दिया ॥ १३ ॥ योगियोंके अन्तःकरणमें बैठनेवाले भगवान कृष्णचन्द्र, गोपियोंकी गोष्ठीमें बैठे हुए उनसे पूजित होकर त्रिलोकीकी शोभाके एकमात्र आश्रयरूप परम सुन्दर शरीर धारण किये रहनेके कारण बहुत शोभित हुए ॥ १४ ॥ फिर मधुर मुसकान युक्त लीलाकटाक्ष और भ्रूविक्षेपसे तथा अपनी गोदमें रखे हुए उनके चरणों और पाणिपल्लवोंका स्पर्श करके अपने कामोद्दीपक प्रियतमको सम्मानितकर गोपियोंने उनकी प्रशंसा करके

श्रीभगवानुवाच

मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते । न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा । धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥१८॥
भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः । आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ॥१९॥
नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः ॥२१॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडायां गोपीसान्त्वनं नाम द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः । जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥१॥
तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः । स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥

तनिक प्रणयकोप दिखलाते हुए कहा ॥ १५ ॥ गोपियाँ कहने लगीं—हे कृष्ण ! कुछ लोग तो अपने प्रेमियोंसे ही प्रेम करते हैं । कुछ प्रेम न करनेवालोंसे भी स्नेह करते हैं और कुछ लोग दोनोंहीसे प्रीति नहीं करते । इन तीनोंमें कौन-सा प्रकार उत्तम है, आप यह हमें बतलायें ॥ १६ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे सखियों ! जो आपसमें एक-दूसरेको प्यार करते हैं, उनका प्रेम केवल स्वार्थके लिये होता है । उनमें न सौहार्द होता और न धर्मका भाव ही रहता है । उनका स्नेह स्वार्थके लिये होता है, उनके स्नेहका और कोई हेतु नहीं रहता ॥ १७ ॥ हे सुन्दरियों ! जो पुरुष सेवा न करनेवालोंसे भी स्नेह करते हैं, वे कृपालु और माता-पिताके समान स्नेही होते हैं । इनके व्यवहारमें निर्दोष धर्म और सौहार्द दोनोंहीका समावेश होता है ॥ १८ ॥ कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपनेको न भजनवालोंको कौन कहे, भजनेवालोंको भी नहीं भजते । वे पूर्णकाम, आत्माराम, कृतघ्न और गुरुद्रोही—चार प्रकारके होते हैं ॥ १९ ॥ किन्तु हे सखियों ! जो लोग मुझे भजते हैं, उन्हें भी मैं नहीं भजता । सो इसी कारण कि उनकी मनोवृत्ति निरन्तर मेरी ओर लगी रहे । जैसे निर्धन पुरुष प्राप्त धनके नष्ट हो जानेपर उसकी चिन्तासे आकुल होकर और कुछ नहीं जानता । उसी प्रकार हे अबलाओं ! मेरे लिये लोक, धर्म और कुटुम्बियोंको छोड़नेवाली तुम सबकी मनोवृत्ति मुझमें लगी रहे । इसीलिये जिससे तुम लोग मुझे देख न सको, मैं इस ढङ्गसे छिप गया था । अतएव हे प्रियाओं ! तुम मुझपर दोषारोपण न करो ॥२०-२१॥ तुमने दुस्तर गृहशृङ्खला तोड़कर मेरा भजन किया है । तुम्हारा मिलन सर्वथा निर्दोष है । मैं देवताओंके समान लम्बी आयु पाकर भी तुम्हारे इस उपकारका बदला नहीं चुका सकता । तुम्हारी ही सुशीलतासे तुम्हारे उपकारका बदला चुक सकता है—मेरे पुरुषार्थसे नहीं, अर्थात् तुम चाहो तो मुझे उऋण कर सकती हो । मैं अपने उद्योगसे उऋण नहीं हो सकूँगा ॥ २२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महा-पुराणे दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवानके मधुर वचन सुनकर गोपियोंका विरहजनित ताप दूर हो गया और उनका अङ्गसङ्ग हो जानेसे वे सफल-मनोरथ हो गयीं ॥ १ ॥ तदनन्तर वहाँपर श्रीकृष्णचन्द्रने परम प्रसन्न, अनुगत एवं परस्पर बाँहमें-बाँह डाले हुए उन स्त्रीरत्नोंके साथ

रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः। योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥
यं मन्येरन् नभस्तावद् विमानशतसंकुलम्। दिवौकसां सदाराणामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥४॥
ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः। जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥५॥
वलयानां नूपुराणां किंकिणीनां च योषिताम्। सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥६॥
तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः। मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥७॥
पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैर्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८॥
उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः। कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥९॥
काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः। उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥ १० ॥
काचिद् रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः। जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥
तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्। चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥१२॥
कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्। गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥१३॥
नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला। पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम्

रासक्रीडा आरम्भ की ॥ २ ॥ गोपियोंके मण्डलसे सुशोभित रासोत्सवका आरम्भ हुआ। उन स्त्रियोंमेंसे दो-दोके बीचमें एक-एक योगेश्वर भगवान कृष्ण उनके गलेमें हाथ डालकर खड़े हुए। उस समय सब स्त्रियोंने उन्हें अपने ही निकट समझा ॥ ३ ॥ उस समय अपनी स्त्रियोंके सहित रासोत्सव देखनेके लिये आये हुए और अत्यन्त उत्सुक देवताओंके सैकड़ों विमानोंसे सारा आकाशमण्डल भर गया ॥ ४ ॥ तत्काल दुन्दुभियोंकी गड़गड़ाहटके साथ आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और गन्धर्वगण अपनी प्रियाओंके साथ भगवान कृष्णका पवित्र यश गाने लगे ॥ ५ ॥ इधर उस रासमण्डलमें भी अपने प्रियतमके साथ नृत्य करती हुई गोपाङ्गनाओंके कङ्कण, पायजेब और करधनीके घुँघुरुओंका सम्मिलित शब्द होने लगा ॥ ६ ॥ उन व्रजसुन्दरियोंके मध्य सुवर्णमय मणियोंके बीच मरकत मणि सदृश भगवान देवकीनन्दन अत्यन्त सुशोभित हुए॥ ७ ॥ उनके मुखपर पसीनेकी बूँदें झलक रहीं थीं और वे अपने केश और कटिके बन्धन कसकर बाँधे हुए थे और सब कृष्णप्रिया गोपियाँ भगवान कृष्णका पुनीत यशोगान करती हुई विचित्र पदविन्यास, बाहुविक्षेप, मधुर मुसकानभरा भ्रुकुटि-विलास, कमरकी लचक, चञ्चल और कपोलोंके पास हिलते कुण्डलोंसे मेघमण्डलमें चमकती हुई बिजलीकी भाँति सुशोभित हुईं ॥ ८ ॥ वे क्रीडासक्त कलकण्ठी गोपियाँ कृष्णचन्द्रके अङ्गसङ्गसे आनन्दित होकर नाचती हुई बड़े उच्चस्वरसे मनोहर गायन गाने लगीं। उनके सुमधुर गानसे समस्त भूमण्डल गूँज उठा ॥ ९ ॥ एक गोपी श्रीकृष्णके साथ गाती-गाती अत्यन्त उच्चस्वरसे अलापने लगी। उसके अलापकी गति भगवानसे भी उत्तम और विलक्षण थी। अतः उससे प्रसन्न होकर उन्होंने 'वाह-वाह' कहकर उसकी प्रशंसा की। उसी गोपीके लयको एक-दूसरी सखीने 'ध्रुव' करके सराहना की ॥१०॥ कोई गोपी नाचते-नाचते थक गयी। उसकी कलाइयोंके कङ्कण और केशोंके मल्लिकापुष्प खिसकने लगे। तब उसने पास ही खड़े श्रीश्यामसुन्दरके कन्धेको अपनी भुजाओंसे जकड़ लिया ॥ ११ ॥ किसी गोपीने अपने कन्धेपर रखी कमलकुसुम सदृश सुगन्धित और चन्दनचर्चित भगवानकी भुजाको सूँघा और आनन्दसे पुलकित होकर चूम लिया ॥ १२ ॥ एक गोपीने नाचनेके कारण हिलते हुए कुण्डलोंकी कान्तिसे दमकता हुआ अपना कोमल कपोल कृष्णचन्द्रके कपोलसे सँटा दिया। तब भगवानने उसके मुखमें अपना चबाया हुआ पान उगल दिया ॥ १३ ॥ एक गोपी

गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् । गृहीतकण्ठ्यस्तदोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ।
कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मवक्त्रश्रियो　वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेशस्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥
एवं　परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥ १७ ॥
तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥ १८ ॥
कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः । कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥
कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः । रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ।२०।
तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः । प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥
गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २२ ॥
ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्गघृष्टस्रजः स कुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।
गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद् वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥२३॥

नूपुर और मेखलाकी झनकार करती हुई नाच और गा रही थी। वह जब बहुत थक गयी तो उसने बगलमें स्थित श्रीकृष्णचन्द्रका कल्याणकारी कर-कमल अपने स्तनोंपर रख लिया ॥ १४ ॥ हे राजन् ! एकमात्र लक्ष्मीजीके प्रियतम भगवान कृष्णको कान्तरूपसे पाकर गोपियाँ, जिनका कण्ठ उनके भुजपाशमें बँधा हुआ था, भगवानके गीत गाती हुई उनके साथ रमण करने लगीं ॥ १५ ॥ कानोंमें कमलकुसुम, अलकावलीसे अलंकृत कपोल और पसीनेकी बूँदोंसे सुशोभित मुखवाली वे गोपियाँ भ्रमर ही जिसमें गवैये थे, उस रासमण्डलमें अपने कङ्कण और नूपुररूपी बाजोंका शब्द करती हुई भगवानके साथ नृत्य करने लगीं। उस समय उनके केशपाशोंमें गुँथे पुष्पोंकी मालाएँ टूट टूटकर बिखरती जाती थीं ॥ १६ ॥ जैसे बालक अपने प्रतिबिम्बके साथ स्वयं खेलता है वैसे ही रमारमण भगवान कृष्णने आलिङ्गन, अङ्गस्पर्श, प्रणयकटाक्ष और मनोहर मुसकान करते हुए उन व्रजरमणियोंके साथ रमण किया ॥ १७ ॥ हे कुरुनन्दन ! भगवानके अङ्गस्पर्शजनित आनन्दसे इन्द्रियोंके विह्वल हो जानेके कारण जिनके पुष्पहार और वस्त्र-आभूषण अस्त-व्यस्त होगये थे, वे व्रजबालाएँ अपने केशबन्धन, दुकूल और कञ्चुकीको भी नहीं सम्हाल सकीं ॥ १८ ॥ भगवानकी रासक्रीडा देखकर आकाशमें विराजमान सुरसुन्दरियाँ कामातुरा होकर मोहित हो गयीं और ग्रहगण समेत चन्द्रदेव चकित होगये ॥ १६ ॥ यद्यपि भगवान आत्माराम थे, तो भी उन्होंने वहाँ जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही रूप धारण करके उन्होंने लीलापूर्वक उनके साथ रमण किया। हे तात ! अत्यन्त विहार करनेसे थकी हुई उन गोपाङ्गनाओंके मुखोंको करुणाधाम कृष्णचन्द्रने प्रेमपूर्वक अपने शान्तिदायक करकमलसे पोंछा ॥ २०-२१ ॥ भगवानके नखस्पर्शसे आनन्दित गोपियाँ अपने झिलमिलाते सुवर्णकुण्डल और घुँघराली अलकावली कान्तिविमण्डित कपोलोंकी शोभा तथा सुधा-मधुर मुसकानमयी चितवनसे सम्मानित करती हुई उन नरश्रेष्ठकी परमपवित्र लीलाओंको गाने लगीं ॥ २२ ॥ तदनन्तर जैसे थका हुआ गजराज अपनी प्रियतमा हथिनियोंके साथ जलमें घुसकर जलविहार करता है, उसी प्रकार लोक और वेदकी मर्यादाको तोड़कर भगवान अपनी थकान दूर करनेके लिए उन कामिनियोंके साथ जलक्रीडा करनेके लिए यमुनाके जलमें उतरे। उस समय गोपियोंके अङ्गसङ्गसे मली और उनके कुचकुंकुमसे रञ्जित वनमालापर गुञ्जारते हुए भौंरे गन्धर्व-

सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।
वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥
ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।
चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥
एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥२६॥

राजोवाच

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च । अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता । प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥२८॥
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् । किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

श्रीशुक उवाच

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् । तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥३०॥
नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः । विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् । तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥३२॥
कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते । विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो ॥३३॥

राजोंके समान गुञ्जार करते हुए उनके पीछे-पीछे चले ॥ २३ ॥ हे राजन् ! जलमें पहुँचनेपर सब व्रजबालाएँ चारों ओरसे प्रणयकटाक्ष करती तथा खिलखिलाकर हँसती हुई भगवानपर जलके छींटे फेंकने लगीं और विमानोंपर बैठे देवगण पुष्प बरसाकर उनकी स्तुति करने लगे। इस तरह वहाँ स्वयं आत्माराम भगवानने एक गजराजके समान जलक्रीडा की ॥ २४ ॥ तदनन्तर युवतीमण्डल और भौंरोंकी भीड़से घिरे भगवान जहाँ सब ओर जल और स्थलके पुष्पोंकी सुगन्धसे सुवासित वायु डोल रहा था, यमुनातटके उस रमणीक उपवनमें ऐसे विचरने लगे, जैसे मद बहाता हुआ हाथी हथिनियोंके झुण्डके साथ विचरता हो ॥ २५ ॥ हे राजन् ! चन्द्रमाकी चन्द्रिकासे चर्चित और काव्यवर्णित शरत्कालीन तथा सब सामग्रियोंसे सम्पन्न उन रात्रियोंमें सत्यसङ्कल्प और अस्खलित-वीर्य श्रीहरिने अपनी अनुचरी ललनाओंके साथ विहार किया ॥ २६ ॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन् ! जगत्पति भगवान कृष्ण धर्मकी स्थापना और अधर्म उच्छेद करनेके लिये ही अपने पूर्ण अंशसे अवतीर्ण हुए थे ॥ २७ ॥ तब फिर धर्ममर्यादाके वक्ता, रचयिता और रक्षक होकर भी उन्होंने परस्त्रीगमन-जैसा धर्मविरुद्ध कार्य क्यों किया ? ॥ २८ ॥ भगवान कृष्णने पूर्णकाम होकर भी इस प्रकारका निन्दनीय कार्य क्यों किया—इसका आशय मेरी समझमें नहीं आया। हे सुव्रत ! आप हमारा सन्देह निवृत्त कर दें ॥ २९ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन् ! ईश्वर अर्थात् समर्थ पुरुषों द्वारा धर्मका उल्लङ्घन करके भी हठपूर्वक साहसिक कार्य होते देखे जाते हैं, किन्तु उनसे उन तेजस्वियोंको कोई दोष नहीं होता। जैसे सबका भक्षण करनेवाला अग्नि असत् पदार्थोंके गुण-दोषसे दूषित नहीं होता ॥ ३० ॥ जो लोग असमर्थ हैं, उन्हें वैसे आचरण कभी मनसे भी न करना चाहिये। यदि कोई मूर्खतावश वैसा आचरण करेगा तो वह नष्ट हो जायगा। जैसे 'समुद्रसे उत्पन्न विषको भगवान शङ्करने पी लिया' सो शङ्करभगवानका अनुकरण करनेवाला पुरुष नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥ ईश्वरोंके वचन सत्य होते हैं। अतएव उन्हींका पालन करना उचित है। कहीं-कहीं उनका आचरण भी अनुकरणीय होता है। अतः उनका जो आचरण उनके उपदेशके अनुकूल हो, बुद्धिमान् पुरुष उसीका अनुकरण करे ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! अहंकारहीन समर्थ पुरुषोंके शुभ उद्योगमें उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं रहता। अतएव अशुभ कर्मसे उनका कोई अनर्थ भी नहीं

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् । ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् । योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥३६॥

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः । भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७॥

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया । मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः । अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे रासक्रीडावर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः । अनोभिरनडुद्युक्तैः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥१॥

तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं विभुम् । आनर्चुरर्हणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥२॥

गावो हिरण्यं वासांसि मधु मध्वन्नमादृताः । ब्राह्मणेभ्यो ददुः सर्वे देवो नः प्रीयतामिति ॥३॥

होता ॥ ३३ ॥ जब ईश्वरोंको शुभाशुभ कर्मोंसे कोई हानि-लाभ नहीं होता तो तिर्यक्, मनुष्य और देवता आदि समस्त शासित जीवोंके एकमात्र प्रभु सर्वेश्वर श्रीहरिका किसी शुभ या अशुभ कर्मसे संसर्ग कैसे हो सकता है ? ॥ ३४ ॥ जिनके चरणकमलकी धूलिके सेवनसे तृप्त भक्तजन और योग-साधनके प्रभावसे समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त योगीजन सब प्रकारके विधि-निषेधरूपी बन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरते हैं, तब उन स्वेच्छाशरीरधारी श्रीकृष्णको कैसे किसी कर्मका बन्धन हो सकता था ? ॥ ३५ ॥ जो गोपियों, उनके पतियों और सब देहधारियोंके अन्तःकरणोंमें विराजमान थे, उन सर्वसाक्षी भगवानने ही लीलासे शरीर धारणकर संसारमें अवतार लिया था ॥ ३६ ॥ भगवान जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही मनुष्यरूप धारण करके ऐसी-ऐसी लीलाएँ किया करते हैं कि जिनका स्मरण करके लोग भगवत्परायण हो जाय ॥ ३७ ॥ उधर व्रजमें भगवानकी मायासे मोहित होकर व्रजवासियोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंको अपने पासही समझा और भगवान कृष्णचन्द्र-की ओरसे मनमें कुछ भी मैल नहीं आने दिया ॥ ३८ ॥ ब्राह्ममुहूर्त्तके आनेपर भगवानकी आज्ञा पा उनकी प्रिया गोपाङ्गनाएँ इच्छा न होनेपर भी अपने-अपने घरोंको चली गयीं ॥ ३९ ॥ जो धैर्यशाली पुरुष व्रजबालाओंके साथ किये भगवान विष्णुके रास-विहारकी इस कथाको श्रद्धापूर्वक बार-बार सुने या कहेगा, वह शीघ्र भगवानकी परा भक्ति प्राप्तकर हृदयके रोगरूपी कामविकारको दूर भगा देगा ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

(सुदर्शनका उद्धार और शंखचूडका वध) श्रीशुकदेवजी कहते हैं-हे राजन् ! एक बार देव-यात्राके प्रसंगमें सब गोप अतिशय उत्साहसे बैलजुते छकड़ोंपर बैठकर अम्बिकावनको गये ॥ १ ॥ वहाँ सरस्वती नदीमें स्नान करके उन्होंने विविध प्रकारकी सामग्रीसे शंकरभगवान और अम्बिका-देवीका अतिशय भक्तिसे पूजन किया ॥ २ ॥ फिर 'देवदेव महादेव हमपर प्रसन्न हों' इस कामनासे उन्होंने अति आदरसे बहुतसी गौएँ, सुवर्ण, वस्त्र, मधु और मधुर अन्न ब्राह्मणोंको दान किये ॥ ३ ॥

ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः । रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ॥४॥
कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विपिनेऽतिबुभुक्षितः । यदृच्छयाऽऽगतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसीत् ॥५॥
स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम् । सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय ॥६॥
तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः । ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः॥७॥
अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः । तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः॥८॥
स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः । भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधरार्चितम् ॥९॥
तमपृच्छद्धृषीकेशः प्रणतं समुपस्थितम् । दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥१०॥
को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः । कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः॥११॥

सर्प उवाच

अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः । श्रिया स्वरूपसंपत्त्या विमानेनाचरं दिशः॥१२॥
ऋषीन् विरूपानङ्गिरसः प्राहसं रूपदर्पितः । तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना१३
शापो मेऽनुग्रहायैव कृतस्तैः करुणात्मभिः । यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥१४॥
तं त्वाहं भवभीतानां प्रपन्नानां भयापहम् । आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमीवहन् ।१५॥
प्रपन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते । अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥१६॥
ब्रह्मदण्डाद् विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् । यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च ।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ॥१७॥

उस रात्रिको केवल जल पीकर महाभाग नन्द और सुनन्द आदि गोपगण वहाँ सरस्वतीके तीर पर उपवास करके रहे। इसी बीच दैववश उस वनमें एक बहुत भूखा सर्प आकर सोये हुए नन्दजीको पकड़कर निगलने लगा ॥ ४ ॥ ५ ॥ सर्पके द्वारा निगले जानेपर नन्दजी भयभीत होकर चिल्लाने लगे-"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! देखो, यह महासर्प मुझे निगले जा रहा है। बेटा ! मुझ शरणागतको इस संकटसे छुड़ाओ" ॥ ६ ॥ नन्दजीको चिल्लाहट सुनकर सब गोप सहसा उठ खड़े हुए और नन्दको अजगरके मुखमें देखकर बहुत घबराये और सर्पको जलती हुई लकड़ियांसे मारने लगे ॥७॥ किन्तु जलती हुई लकड़ियोंसे दग्ध होनेपर भी उस भुजङ्गने नन्दजीको नहीं छोड़ा। इतनेमें यदुपति कृष्णचन्द्रने वहाँ आकर उसे अपना चरण छुला दिया ॥ ८ ॥ श्रीकृष्णभगवानके चरणका स्पर्श होते ही उसके सब अशुभ नष्ट हो गये और उसने तुरन्त शर्पशरीर छोड़कर विद्याधरोंसे वन्दनीय परम सुन्दर रूप प्राप्त कर लिया ॥९॥ उसका शरीर दिव्य तेजसे दमक रहा था और उसके गलेमें सुवर्णकी माला पड़ी हुई थी। उसे अत्यन्त विनयपूर्वक खड़ा देखकर भगवानने पूछा—॥ १० ॥ "तुम कौन हो ? तुम्हारा दिव्य शरीर बड़ा सुन्दर लग रहा है। तुम अद्भुत तेजस्वी दीखते हो। तब तुम्हें यह निन्दनीय गति अर्थात् सर्पयोनि क्योंकर मिली ?' ॥ ११ ॥ सर्पने कहा—मैं सुदशन नामका एक विख्यात विद्याधर था। उस समय अपनी कान्ति और रूपसम्पत्तिसे सम्पन्न होकर विमान द्वारा जहाँ चाहता घूमा करता था ॥ १२ ॥ मैं अपने सौन्दर्यमदसे उन्मत्त था। अतएव एक बार मार्गमें अङ्गिरावंशके कुरूप मुनियोंको देखकर मैं हँसने लगा। मेरे इस पापकर्मसे कुपित हो उन मुनियोंने मुझे शाप देकर इस अधम योनिमें भेज दिया ॥ १३ ॥ सच तो यह है कि उन कारुणिक मुनियोंने मुझपर कृपा करनेके लियेही यह शाप दिया था। उसीके प्रभावसे आज आप लोकगुरुका चरणस्पर्श हुआ और मेरे सब पाप नष्ट होगये ॥ १४ ॥ आप संसारके भयसे भयभीत अपने शरणागत भक्तोंका भय दूर कर देते हैं। हे प्रभो ! आपके चरणस्पर्शसे शापमुक्त होकर अब मैं अपने लोकको जानेकी आज्ञा चाहता हूँ ॥ १५ ॥ हे महायोगिन् ! हे परमपुरुष ! हे सज्जनोंके स्वामी ! हे सर्वलोकेश्वर ! मैं आपकी शरण हूँ, आप मुझे आज्ञा दें ॥ १६ ॥ हे अच्युत ! मैं आपका दर्शन पातेही ब्राह्मणोंके दिये

इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवन्द्य च । सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ।१८।
निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ।
समाप्य तस्मिन् नियमं पुनर्व्रजं नृपाययुस्तत् कथयन्त आदृताः ॥१९॥
कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः । विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ॥२०॥
उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः । स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ २१
निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् । मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥
जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् । तौ कल्पयन्तौ युगपत् स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३
गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप । स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥२४॥
एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः संप्रमत्तवत् । शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ।२५।
तयोर्निरीक्षतो राजंस्तन्नाथं प्रमदाजनम् । क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ।२६।
क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् । यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ।२७।
मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ । आसेदुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥२८॥
स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् । विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥२९॥

शापसे छुटकारा पा गया। आपका नाम उच्चारण करनेसे प्राणी श्रोताओंके सहित अपने आपको तत्काल पवित्र कर लेता है। तब साक्षात् उन्हीं आप परमेश्वरका चरणस्पर्श होनेपर मेरा शाप छूट जाना कौन-सी बड़ी बात है ? ॥ १७ ॥ इस प्रकार स्तुति करके उन दयाधाम भगवानकी आज्ञा पा और उनकी परिक्रमाकर सुदर्शनने प्रणाम किया और तत्काल स्वर्गलोक चला गया। उधर नन्दजी भी इस बड़े भारी सङ्कटसे मुक्त होगये ॥ १८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवान कृष्ण-चन्द्रका ऐसा अद्भुत प्रभाव देखकर उन व्रजवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे वहाँ अपना नियम समाप्तकर सादर भगवानकी कथाएँ कहते हुए फिर व्रजको वापस चले गये ॥ १९ ॥ एक दिनकी बात है कि भगवान कृष्ण और अद्भुत पराक्रमी बलरामजी रात्रिके समय व्रजकी सुन्दरियोंके साथ वनमें विहार कर रहे थे ॥ २० ॥ उस समय उनपर अनुराग रखनेवाली व्रजबालायें सुमधुर स्वरसे उनके गुण गा रही थीं। वे दोनों भाई सुन्दर अलङ्कार, मनोहर मालाएँ तथा स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए थे और उनके सब अङ्ग सुगन्धित चन्दनसे चर्चित थे ॥ २१ ॥ तब जिसमें तारागण सहित चन्द्रदेवका प्रादुर्भाव हुआ था, जो मल्लिकाकी सुगन्धिसे उन्मत्त भ्रमरगण तथा कुमुदकुसुमकी सुगन्धिसे सुवासित वायुसे युक्त थी, उस रात्रिके पहले प्रहरका आदर करते हुए दोनों भाई संसारके समस्त प्राणियोंके मन और श्रवणोंको पुलकित करनेवाला मधुर राग स्वरोंके उतार-चढ़ावके साथ मिलकर गाने लगे ॥ २२-२३ ॥ हे राजन् ! उनका मनोमोहक गायन सुनकर वे गोपियाँ इस प्रकार मोहित हो गयीं कि उन्हें अपनी साड़ी खिसक जाने और केशकलापकी माला गिर जानेपर भी अपने शरीरका कुछ ज्ञान नहीं रहा ॥ २४ ॥ जब भगवान कृष्ण और बलराम इस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करते हुए उन्मत्त प्राणीके समान गा रहे थे, उसी समय शङ्खचूड नामक कुबेरका एक विख्यात सेवक वहाँ आया ॥ २५ ॥ हे राजन् ! उन दोनों भाइयोंके सामने ही उनसे सुरक्षित व्रजसुन्दरियोंको निःशङ्कभावसे बरजोरी उठाकर वह उत्तर दिशाकी ओर भागा। उस समय वे सभी गोपियाँ रोने लगीं ॥ २६ ॥ डाकूके द्वारा हठपूर्वक हरी जाती हुई गौओंके समान अपनी प्रियाओंको 'हा कृष्ण ! हा राम !' कहकर चिल्लाती देख वे दोनों भाई उसके पीछे दौड़ पड़े ॥ २७ ॥ उन्हें अभय करनेके लिए 'डरो मत-डरो मत' ऐसा कहते हुए हाथमें एक-एक शालवृक्ष लिये वे बड़े वेगसे दौड़ते हुए उस दुष्ट यक्षके पास पहुँच गये ॥ २८ ॥ काल और मृत्युके सदृश उन दोनों भाइयोंको अपने पास आया देखकर वह मूढ़ घबरा गया और अपने प्राण बचानेके लिये उन स्त्रियोंको वहीं छोड़कर भाग निकला

तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति । जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ।।३०।।
अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः । जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ।।३१।।
शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम् । अग्रजायाददात् प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ३२

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे शङ्खचूडवधो नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।। ३४ ।।

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः । कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ।१।

गोप्य ऊचुः

वामबाहुकृतवामकपोलो -वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ।।२।।
व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ।।३।।
हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।
नन्दसूनुरयमार्तजनानां नर्मदो यर्हि कूजितवेणुः ।।४।।
वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात् ।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ।।५।।

।। २६ ।। तब बलरामजी उन स्त्रियोंकी रक्षाके लिये वहीं खड़े रहे, किन्तु कृष्णचन्द्र उसके सिरका चूड़ामणि प्राप्त करनेके लिये उसके पीछे दौड़े ।। ३० ।। हे नृप ! कुछ ही दूर आगे जाकर उन्होंने उसे पकड़ लिया और एकही घूँसेमें चूड़ामणि समेत उसका सिर धड़से अलग कर डाला ।। ३१ ।। इस तरह शङ्खचूडको मार और उसका प्रकाशमय मणि लेकर भगवान लौट आये और सब स्त्रियोंके समक्ष वह दिव्य मणि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपने बड़े भाई बलभद्रजीको दे दिया ।। ३२ ।। इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।। ३४ ।।

(युगलगीत) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब भगवान कृष्णचन्द्र वनमें गौ चराने चले जाते तो व्रजकी गोपियोंका मन उन्हींमें अटका रहता और वे उनके चरित्रोंको गाती हुई बड़ी कठिनाईसे दिन बिताती थीं ।। १ ।। वे गोपियाँ कहतीं—हे सखियों ! जब बायीं भुजापर बायाँ कपोल रख और अपनी बाँकी भ्रुकुटि नचाते हुए श्रीकृष्ण ओंठोंपर रखी बाँसुरीके छिद्रोंपर कोमल अँगुलियाँ फेरते हुए बजाते हैं तो उसका सुमधुर स्वर सुनकर आकाशमें अपने पति सिद्धगणोंके साथ विमानोंपर चढ़ी हुई सिद्धपत्नियाँ कामबाणसे विद्ध हो जानेसे लज्जावश अतिशय विस्मित होकर ऐसी अचेत हो जाती हैं कि उन्हें अपनी नीवीके खिसक जानेका भी होश नहीं रहता ।।२-३।। हे अबलाओं ! एक और विचित्र बात सुनो । जिनकी हँसी हारके समान शुभ्र है और जिनके वक्षःस्थलमें चञ्चला लक्ष्मी बिजलीकी भाँति अचल होकर विराजमान रहती हैं, वे आर्तजनोंके आनन्ददाता नन्दनन्दन जब बाँसुरी बजाते हैं तो दूरसे ही उसके शब्दसे मुग्ध होकर व्रजके झुण्डके-झुण्ड बैल, गाय और मृग आदि दाँतोंसे चारा थाम्हें, कान उटेरे और निद्रितके समान आँख मूँदे चित्रलिखित सरीखे

बर्हिणस्तबकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः　।
कर्हिचित् सबल आलि स गोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥६॥
तर्हि भग्नगतयः सरितो वै तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम् ।
स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥७॥
अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।
वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाऽऽह्वयति गाः स यदा हि ॥८॥
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥९॥
दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः ।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि सन्धितवेणुः ॥१०॥
सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य ।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥११॥
सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।
हर्षयन् यर्हि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥
महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।
सुहृदमभ्यवर्षत् सुमनोभिश्छायया च विदधत् प्रतपत्रम् ॥१३॥
विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।
तव सुतः सति यदाधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ॥१४॥

खड़े रह जाते हैं ॥ ४-५ ॥ हे सखी ! जब कभी मयूरपिच्छ, फूलोंके गुच्छों, गेरू आदि धातुओं और कोमल पल्लवोंसे पहलवानोंका-सा वेष बनाये हमारे प्यारे कृष्ण बलरामजी तथा अन्य ग्वालबालोंके साथ गौओंको पुकारते हैं, तब वायु द्वारा उड़ाये हुए उनके चरणरजको पानेके लोभसे यमुनाजी तककी गति रुक जाती है। किन्तु वह भी हमारे ही समान अभागिनी है, जो प्रेमके वश काँपती हुई भुजाओंके समान दो-चार तरङ्गें उठाकर फिर निश्चल हो जाती है ॥ ६-७ ॥ हे सखियों ! जिनके अनुगामी गोप भगवानके विचित्र चरित्रोंको गाते हैं, वे आदि-पुरुष नारायणकी भाँति अविचल ऐश्वर्ययुक्त भगवान कृष्ण जब वनमें विचरते हुए गिरिशिखरपर चरती गौओंको बाँसुरी बजाकर बुलाते हैं, तब पुष्प और फलोंके भारसे नम्र वनवृक्ष और लताएँ अपनेमें विष्णुभगवानकी सत्ता प्रकट करते हुए प्रेमसे पुलकित होकर मधुकी धाराएँ बहाने लगती हैं॥८-९ ॥ जिन भगवानके मस्तक-पर दर्शनीय तिलक सुशोभित है, जो सुन्दर पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं, वे श्रीकृष्णचन्द्र जब अपने गलेमें पड़ी वनमालाकी दिव्य गन्धयुक्त तुलसीके मधुर मधुसे उन्मत्त मधुपोंके उच्च स्वरसे गाये गये अनुकूल गानका आदर करते हुए अपनी वंशी बजाते हैं, उस समय मधुर गीतसे मुग्ध होकर सरोवरमें रहने-वाले सारस और हंस आदि पक्षी भगवानके पास आ अपनी आँखें मूँद और मौन धारणकर संयत चित्तसे श्रीकृष्णभगवानकी उपासना करते हैं ॥ १०-११ ॥ हे सखियों ! पुष्पोंके कर्णभूषणोंसे जिनकी अद्भुत शोभा हो रही है, वे श्यामसुन्दर भाई बलरामजीके साथ पर्वतके ऊपर खड़े हो स्वयं आनन्दित होकर सारे संसारको आनन्दित करते हुए जब जगत्को वेणुनादसे पूरित करते हैं, तो महान् पुरुष श्रीकृष्णचन्द्रका अतिक्रमण न हो जाय, इस भयसे मेघ उनकी वंशीध्वनिके साथ मिल-कर बहुत धीरे-धीरे गर्जता है और अपने सुहृदपर अपनी छायाका छत्र लगाकर उनपर फूल बरसाता है ॥ १२-१३ ॥ हे सखी ! व्रजके गोपोंकी विविध क्रीडाओंमें निपुण तुम्हारे पुत्र कृष्णचन्द्र जब

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः ।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥१५॥
निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरीडितवेणुः ॥१६॥
व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पितमनोभववेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कबरं वसनं वा ॥१७॥
मणिधरः क्वचिदगणयन् गा मालया दयितगन्धतुलस्याः ।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥१८॥
क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः ।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः ॥१९॥
कुन्ददामकृतकौतुकवेषो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।
नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥
मन्दवायुरुपवात्यनुकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन ।
वन्दिनस्तमुपदेवगणा ये वाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥
वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥२२॥
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक्
दित्सयैति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥२३॥

अपने अधरपर बाँसुरी रखकर स्वयं सीखे हुए ऋषभ, निषाद, षड्ज आदि विविध स्वरोंको ह्रस्व, मध्यम और दीर्घ आदि भेदोंसे अलापते हैं, उस समय वंशीकी ध्वनि सुनकर उसके स्वरोंका मर्म न जान सकनेके कारण इन्द्र, शिव और ब्रह्मा आदि प्रधान देवता भी सिर नीचा करके मोहित हो जाते हैं ॥ १४–१५ ॥ हे सखियों ! जब भगवान कृष्ण ध्वजा, वज्र, कमल और अंकुशादि विचित्र तथा सुन्दर चिन्हों युक्त अपने पल्लव सदृश सुकुमार चरणकमलोंसे व्रजभूमिकी गोखुरजनित व्यथा मिटाते और गजराजकी भाँति चलतें हुए बाँसुरी बजाते हैं, उस समय उनकी लीलाविलासभरी चितवनसे प्राप्त कामवेगवश वृक्षोंके समान जड हो जानेके कारण मोहवश हमें अपने वस्त्र और वेणीके शिथिल हो जानेकी भी चेतना नहीं रहती ॥ १६–१७ ॥ मणियोंके हार और प्रियगन्धयुक्त तुलसीकी माला धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र जब गौओंको गिनते हुए किसी प्रिय सखाके गलेमें बाँह डालकर गाने लगते हैं, तो उनकी बजती हुई वंशीके स्वरसे मोहित मृगियाँ आकर गुणसागर श्रीकृष्णको घेर लेतीं और हम गोपियोंके समान घर लौटनेकी इच्छा छोड़कर चुपचाप वहीं खड़ी रह जाती हैं ॥१८॥ ॥ १९ ॥ हे पापहीन यशोदा ! जब कुन्दकलीकी मालाओंसे अपना विचित्र वेष बनाये अपने प्रेमियोंको आनन्दित करनेवाले तुम्हारे पुत्र श्रीनन्दनन्दन यमुनाके तटपर गोप और गौओंसे घिरे हुए विहार करते हैं तो चन्दनके समान अपने शीतल स्पर्शसे उनका सम्मान करता हुआ मन्द-मन्द अनुकूल वायु चलने लगता है और बन्दीगणकी भाँति गन्धर्वादि उपदेवगण गाते-बजाते एवं नाना प्रकारकी भेंटें देते हुए सब ओरसे घेरकर उनकी उपासना करने लगते हैं ॥ २०–२१ ॥ देखो, दिनका अन्त होनेपर गौओंको एकत्रितकर व्रजवासियों और गौओंके हितकारी कृष्ण अपने सखाओंसे कीर्तित और मार्गमें ब्रह्मा आदि लोकगुरुओंसे वन्दित हो वेणु-गान करते आ रहे हैं। उनके गलेकी माला गौओंके खुरोंसे उड़ी धूलसे धूसरित हो रही है और वे थक जानेपर भी अपनी कान्तिसे हमारे

मदविघूर्णितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।
बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥
यदुपतिर्द्विरदराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिवान्ते ।
मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

श्रीशुक उवाच

एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीला नु गायतीः । रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः॥२६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे वृन्दावनक्रीडायां गोपिकायुगलगीतं नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः । महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥१॥
रम्भमाणः खरतरं पदा च विलिखन् महीम् । उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन् ॥२॥
किञ्चित्किञ्चिच्छकृन्मुञ्चन् मूत्रयन् स्तब्धलोचनः । यस्य निर्ह्रादितेनाङ्ग निष्ठुरेण गवां नृणाम् ॥३॥
पतन्त्यकालतो गर्भाः स्रवन्ति स्म भयेन वै । निर्विशन्ति घना यस्य ककुद्यचलशङ्कया ॥४॥
तं तीक्ष्णशृङ्गमुद्वीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः । पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन् संत्यज्य गोकुलम् ॥५॥
कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः । भगवानपि तद् वीक्ष्य गोकुलं भयविद्रुतम् ॥६॥
मा भैष्टेति गिराऽऽश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् । गोपालैः पशुभिर्मन्द त्रासितैः किमसत्तम ॥७॥

नयनोंको आनन्दित कर रहे हैं। देखो, अपने मित्रोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेकी इच्छासे देवकीके गर्भसे उत्पन्न चन्द्रमा सदृश श्रीकृष्ण आ रहे हैं ॥ २२-२३ ॥ अहो! जिनकी आँखें मदके कारण कुछ अरुणवर्ण हो रही हैं, कनकनिर्मित कुण्डलोंकी कान्ति तथा कपोलोंकी शोभासे जिनका वदन पके बेरके समान पाण्डुवर्णका दीखता है, अपने सुहृदोंको मान देनेवाले वे श्रीयदुनन्दन प्रसन्नवदन हो व्रजवासियों और गौओंके दुरन्त तापको दूर करते हुए सायंकालके समय चन्द्रमाके समान तथा गजराजकी भाँति धीरे-धीरे आ रहे हैं ॥ २४-२५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! श्रीकृष्णचन्द्रमें ही जिनके मन लगे हुए थे, वे गोपियाँ इस प्रकार उन्हींका चिन्तन करती हुई और उन्हींकी लीलाओं-का गान करती हुई सारे दिन उन्हींके साथ रमण किया करती थीं ॥ २६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महा-पुराणे दशमस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

(अरिष्ट दैत्यवध और अक्रूरजीको व्रज भेजना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! उसी समय अरिष्टासुर बैलका रूप धारण करके अपने खुरोंसे पृथिवीको खोदता और कँपाता हुआ व्रजमें आया। उसका ककुद् और डील-डौल बड़ा भारी था ॥ १ ॥ वह बड़े जोरसे रँभाता, खुरोंसे पृथिवी खोदता और पूँछ उठाकर सींगोंसे खेतोंकी मेढ़ें तोड़ता चलता था ॥ २ ॥ बीच-बीचमें बारम्बार मल-मूत्र त्याग करता हुआ आँख फाड़कर वह इधर-उधर दौड़ रहा था। उसके कठोर निनादसे अकाल-हीमें मारे भयके गौओं अथवा मानवी स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते और मेघगण उसके ककुद्पर पर्वत समझकर ठहर जाते थे ॥ ३-४ ॥ हे राजन्! उस तीक्ष्णशृङ्ग दैत्यको देखकर गोप और गोपीगण बहुत भयभीत हुए और व्रजके पशु भयसे गोष्ठ छोड़कर भाग निकले ॥ ५ ॥ तब सब व्रजवासी 'हे कृष्ण! हे कृष्ण!' ऐसा चिल्लाते हुए श्रीकृष्णभगवानकी शरणमें आये। भगवानने जब गोकुलको

बलदर्पहाहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् । इत्यास्फोटयाच्युतोऽरिष्टं तलशब्देन कोपयन् ॥८॥
सख्युरंसे भुजाभोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः । सोऽप्येवं कोपितोऽरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन् ।
उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥ ९ ॥
अग्रन्यस्तविषाणाग्रः स्तब्धासृग्लोचनोऽच्युतम् । कटाक्षिप्याद्रवत्तूर्णमिन्द्रमुक्तोऽशनिर्यथा ॥१०॥
गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वा अष्टादश पदानि सः । प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा ॥११॥
सोऽपविद्धो भगवता पुनरुत्थाय सत्वरः । आपतत् स्विन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन् क्रोधमूर्छितः॥१२
तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।
निष्पीडयामास यथाऽऽर्द्रमम्बरं कृत्वा विषाणेन जघान सोऽपतत् ॥१३॥
असृग् वमन् मूत्रशकृत् समुत्सृजन् क्षिपंश्च पादाननवस्थितेक्षणः ।
जगाम कृच्छ्रं निर्ऋतेरथ क्षयं पुष्पैः किरन्तो हरिमीडिरे सुराः ॥१४॥
एवं कुकुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः । विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥१५॥
अरिष्टे निहते दैत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा । कंसायाथाह भगवान् नारदो देवदर्शनः ॥१६॥
यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च । रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता ॥१७॥
न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वै याभ्यां ते पुरुषा हताः । निशम्य तद् भोजपतिः कोपात् प्रचलितेन्द्रियः॥१८
निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया । निवारितो नारदेन तत्सुतौ मृत्युमात्मनः ॥१९॥

अत्यन्त भयभीत देखा तो 'मत डरो' इस अभयवाणीसे उन्हें धैर्य बँधाया और वृषभासुरको ललकारते हुए कहा—"अरे मन्दमति महादुष्ट ! इन गौओं और गोपालोंको व्यर्थ डरानेमें क्या पुरुषार्थ है ? देख, तुझ-जैसे दुष्ट दुरात्माओंके बलदर्पको नष्ट करनेवाला तो मैं हूँ" ऐसा कहकर भगवानने ताल ठोंककर अरिष्टासुरको चिढ़ा दिया ॥ ६–८ ॥ उस समय भगवान एक मित्रके कन्धेमें सर्पके समान बाँह डाले खड़े थे। उनकी इस चुनौतीसे कुपित अरिष्टासुर खुरसे पृथिवी खोदता और आकाशमें उठायी पूँछसे मेघोंको घुमाता हुआ श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर झपटा ॥ ९ ॥ वह दुष्ट अपनी सींगका अग्रभाग आगे किये और लाल-लाल आँखोंसे टकटकी लगाकर कृष्णचन्द्रपर तिरछी नजर डालता हुआ इन्द्रके हाथसे छूटे वज्रकी भाँति बड़े वेगसे दौड़ा ॥ १० ॥ जैसे एक हाथीसे भिड़ा हुआ दूसरा हाथी उसे पीछे हटा दे, उसी तरह भगवानने सींग पकड़कर उसे अट्ठारह पग पीछे ढकेल दिया ॥११॥ भगवानके हटानेपर भी वह तुरन्त फिर उठ खड़ा हुआ । किन्तु श्रीकृष्णके एकही धक्केसे उसका सारा शरीर पसीनेसे सराबोर होगया । फिर भी क्रोधसे अचेत होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ उनपर फिर लपका ॥ १२ ॥ सामने आनेपर श्रीकृष्णने उस असुरकी सींग पकड़ और उसे पृथिवीपर गिराकर अपने पाँवोंसे इस प्रकार रौंदा, जैसे लोग गीले वस्त्रको निचोड़ते हैं। तब उसकी सींग उखाड़कर उसपर प्रहार किया और वह दैत्य मुखसे रक्त वमन करता और मल-मूत्र त्यागता हुआ गिर पड़ा । उसके नेत्रोंकी पुतली चढ़ गयी और वह पैर पटक-पटक कर बड़ी कठिनतासे यमराजके घर गया । उसे मरा देखकर देवता भगवानपर फूल बरसाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ १३–१४ ॥ गोपियोंके नयनोंको आनन्दित करनेवाले कृष्ण इस तरह वृषभासुरको मारकर अपने जाति भाइयोंसे प्रशंसित होते हुए बलरामजीके साथ व्रजमें प्रविष्ट हुए ॥ १५ ॥ हे राजन् ! अद्भुतकर्मा भगवान कृष्णचन्द्रके द्वारा अरिष्टासुरके मारे जानेपर एक दिन देवदर्शन नारदजीने जाकर कंससे कहा— ॥ १६ ॥ "जो कन्या देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुई कही गयी थी, वास्तवमें वह यशोदाकी पुत्री थी। देवकीके आठवें पुत्र कृष्णही हैं और रोहिणीके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध बलराम भी देवकीके ही सातवें पुत्र हैं। इन दोनोंको वसुदेवजीने तुमसे डरकर अपने मित्र नन्दजीके यहाँ भेज दिया था। उन्हीं दोनोंके द्वारा तुम्हारे अनेक सेवक मारे गये हैं।" यह बात सुनते ही भोजराज कंसकी सब इन्द्रियाँ

ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्बबन्ध सह भार्यया । प्रतियाते तु देवर्षौ कंस आभाष्य केशिनम् ॥२०॥
प्रेषयामास हन्येतां भवता रामकेशवौ । ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकादिकान् ॥२१॥
अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट् । भो भो निशम्यतामेतद् वीरचाणूरमुष्टिकौ ॥२२॥
नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः । रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः ॥२३॥
भवद्भ्यामिह संप्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया । मञ्चाः क्रियन्तां विविधा मल्लरङ्गपरिश्रिताः ।
पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंयुगम् ॥२४॥
महामात्र त्वया भद्र रङ्गद्वार्युपनीयताम् । द्विपः कुवलयापीडो जहि तेन ममाहितौ ॥२५॥
आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि । विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मीढुषे ॥२६॥
इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम् । गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह ॥२७॥
भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मैत्रमादृतः । नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥२८॥
अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम् । यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमद् विभुः ॥२९॥
गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः । आसाते ताविहानेन रथेनानय माचिरम् ॥३०॥
निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वैकुण्ठसंश्रयैः । तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साभ्युपायनैः ॥३१॥
घातयिष्य इहानीतौ कालकल्पेन हस्तिना । यदि मुक्तौ ततो मल्लैर्घातये वैद्युतोपमैः ॥३२॥
तयोर्निहतयोस्तप्तान् वसुदेवपुरोगमान् । तद्बन्धून् निहनिष्यामि वृष्णिभोजदशार्हकान् ॥३३॥

क्रोधसे चञ्चल हो उठीं ॥ १७-१८ ॥ और उसने वसुदेवजीको मारनेके लिये अपनी तीक्ष्ण तलवार निकाल ली, किन्तु नारदजीने रोक दिया । तब वसुदेवजीके पुत्रोंको ही अपना काल समझकर उसने उनकी भार्या देवकीको तथा उन्हें लोहेकी जञ्जीरोंसे कस दिया । नारदजीके चले जानेपर कंसने केशीको बुलाया और उसे आज्ञा दी कि 'तुम जाकर बलराम और कृष्णको मार डालो ।' तदनन्तर मुष्टिक, चाणूर, शल और तोशल आदि मल्लों, मन्त्रियों और महावतोंको बुलाकर भोजदेशके राजा कंसने कहा—हे वीरवर चाणूर और मुष्टिक ! सुनो ॥ १९-२२ ॥ वसुदेवके दो पुत्र राम और कृष्ण नन्दगोपके व्रजमें रहते हैं । मुझे मालूम हुआ है कि उन्हींके हाथ मेरी मृत्यु निश्चित है ॥ २३ ॥ अतएव जब वे यहाँ आवें तो तुम उन्हें मल्लयुद्धके बहाने मार डालना । अब तुम भाँति-भाँतिके मञ्च बनाओ और उन्हें अखाड़ेके चारों ओर गोलाकार सजा दो । उनपर बैठकर सब पुरवासी और प्रान्तीय लोग यह दङ्गल देखें ॥ २४ ॥ महावत ! देखो, तुम रङ्गभूमिके द्वारपर कुवलयापीड हाथीको ले जाना और मेरे शत्रुओंको उससे रौंदवाकर मरवा डालना ॥ २५ ॥ इसी चतुर्दशीको विधिवत् धनुषयज्ञ आरम्भ कर दो और उसकी सफलताके लिये वरदायक भूतनाथ भैरवको बहुतसे पवित्र पशुओंकी बलि दो" ॥ २६ ॥ अपना स्वार्थ साधनेमें निपुण कंसने महावत और मल्लोंको इस प्रकार आज्ञा दे यादवश्रेष्ठ अक्रूरको बुलाया और उनका हाथ अपने हाथमें लेकर आदरपूर्वक कहा— ॥ २७ ॥ "हे यादवपते ! आप मेरे आदरके पात्र हैं । आज आप मेरे लिये एक मित्रोचित कार्य करिए । क्योंकि सब भोज और वृष्णिवंशी यादवोंमें मेरा आपसे हितकारी और कोई भी नहीं है ॥ २८ ॥ हे सौम्य ! इस बड़े कार्यको करनेके लिये मैंने वैसे ही आपका सहारा लिया है, जैसे समर्थ होनेपर भी इन्द्रने विष्णुभगवानकी सहायतासे अपने कार्य सिद्ध किये थे ॥ २९ ॥ आप यहाँसे नन्दके व्रजको जाइये । वहाँ वसुदेवके दो बालक हैं । उन्हें इस रथपर बैठाकर यहाँ ले आइये—बस, अब देरी मत करिये ॥ ३० ॥ विष्णुके आश्रित देवताओंने उन्हें मेरा काल बनाकर भेजा है । इसलिये आप भेंटें लेकर आते हुए नन्दादि गोपोंके साथ उन्हें भी लेते आइये ॥ ३१ ॥ यहाँ आनेपर मैं उन्हें साक्षात् कालसदृश कुवलयापीड हाथीसे मरवा डालूँगा । यदि किसी तरह वे उससे बच गये तो मेरे वज्रके समान सुदृढ़ वीर तथा चुस्त मल्ल उन्हें मार डालेंगे ॥ ३२ ॥ उनके मारे जानेपर

उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम् । तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥३४॥
ततश्चैषा मही मित्र भवित्री नष्टकण्टका । जरासन्धो मम गुरुर्द्विविदो दयितः सखा ॥३५॥
शम्बरो नरको बाणो मय्येव कृतसौहृदाः । तैरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥३६॥
एतज्ज्ञात्वाऽऽनय क्षिप्रं रामकृष्णाविहार्भकौ । धनुर्मखनिरीक्षार्थं द्रष्टुं यदुपुरश्रियम् ॥३७॥

अक्रूर उवाच

राजन् मनीषितं सध्र्यक् तव स्वावद्यमार्जनम् । सिद्ध्यसिद्ध्योः समं कुर्याद् दैवं हि फलसाधनम् ॥
मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो दैवहतानपि । युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सः । प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम् ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूरसम्प्रेषणं नाम षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

———

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं महाहयो निर्जरयन् मनोजवः ।
सटावधूताभ्रविमानसङ्कुलं कुर्वन् नभो हेषितभीषिताखिलः ॥१॥
विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः ।
दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुर्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥२॥

शोकाकुल वसुदेव आदि उनके वृष्णि, भोज और दाशार्हवंशी बन्धुओंको भी मैं मार डालूँगा ॥ ३३ ॥ तदनन्तर राज्यके लोभी अपने बूढ़े पिता उग्रसेनको, उसके भाई देवकको तथा और भी जो-जो मुझसे द्वेष करनेवाले यादव हैं, उन सबको नष्ट कर डालूँगा ॥ ३४ ॥ हे सखे ! तब पृथिवी निष्कण्टक हो जायगी । हमारे ससुर जरासन्ध बड़े-बूढ़े हैं ॥ ३५ ॥ उनके अतिरिक्त शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर भी मुझसे मित्रता रखते हैं । उन सब लोगोंकी सहायतासे मैं देवपक्षके सब राजाओंको मारकर पृथिवीका निष्कण्टक राज्य भोगूँगा ॥ ३६ ॥ ऐसा समझकर आप शीघ्र ही धनुषयज्ञ तथा यादवोंकी राजधानी मथुराकी शोभा देखनेके लिए कृष्ण और बलदेव दोनों बालकोंको यहाँ ले आइये" ॥ ३७ ॥ अक्रूरजी कहते हैं—हे राजन् ! आप अपना कल्याण चाहते हैं सो ठीक ही है । मनुष्यको सिद्धि-असिद्धिमें समान रहकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये । क्योंकि फलदाता तो दैव ही है ॥ ३८ ॥ मनुष्य प्रारब्ध द्वारा नष्ट किये हुए भी बड़े-बड़े मनोरथोंकी अभिलाषा करता है, उनकी सिद्धि या असिद्धिसे उसे हर्ष-शोक दोनों ही उठाने पड़ते हैं । तो भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ३९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—इस प्रकार अक्रूरजीको आज्ञा देकर कंसने मन्त्रियोंको विदा किया । तब वह अपने अन्तःपुरमें चला गया और अक्रूरजी अपने घरको चले गये ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

(केशी तथा व्योमासुरका वध और नारद द्वारा भगवानकी स्तुति) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इधर कंसका भेजा हुआ केशीनामक दैत्य एक विशालकाय घोड़ेका रूप धारण करके मनके समान बड़े वेगसे दौड़ता, अपनी टापोंके प्रहारसे पृथिवीको चीरता, अपनी सटाओंसे छितराये हुए मेघ और विमानोंसे भरे आकाशको व्यग्र करता व्रजमें आया ॥ १ ॥ विशालनेत्र, विकट मुख, लम्बी गर्दन, मेघ सदृश भीषण, कंसका शुभचिन्तक वह दैत्य सारे व्रजको कँपा रहा

तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुलं तद्धेषितैर्वालविघूर्णिताम्बुदम् ।
आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणीरुपाह्वयत् स व्यनदन्मृगेन्द्रवत् ॥३॥
स तं निशाम्याभिमुखो मुखेन खं पिबन्निवाभ्यद्रवदत्यमर्षणः ।
जघान पद्भ्यामरविन्दलोचनं दुरासदश्चण्डजवो दुरत्ययः ॥४॥
तद् वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा प्रगृह्य दोर्भ्यां परिविध्य पादयोः ।
सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे यथोरगं तार्क्ष्यसुतो व्यवस्थितः ॥५॥
स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा व्यादाय केशी तरसाऽऽपतद्धरिम् ।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन् प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥६॥
दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृशस्ते केशिनस्तप्तमयःस्पृशो यथा ।
बाहुश्च तद्देहगतो महात्मनो यथाऽऽमयः संववृधे उपेक्षितः ॥७॥
समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।
प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात लेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥८॥
तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद् व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः ।
अविस्मितोऽयत्नहतारिरुत्स्मयैः प्रसूनवर्षैर्दिविषद्भिरीडितः ॥९॥
देवर्षिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप । कृष्णमक्लिष्टकर्माणं रहस्येतदभाषत ॥१०॥
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगेश जगदीश्वर । वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥११॥
त्वमात्मा सर्वभूतानामेको ज्योतिरिवैधसाम् । गूढो गुहाशयः साक्षी महापुरुष ईश्वरः ॥१२॥

था ॥ २ ॥ भगवानने देखा कि वह बार-बार हिनहिनाकर सारे गोकुलको डरा रहा है। अपनी पूँछके बालोंसे बादलोंको छिन्न-भिन्न किये देता और युद्धके लिये मुझे खोजता है तो आगे आकर उन्होंने उसे ललकारा और सिंहकी भाँति भयङ्कर गर्जन किया ॥ ३ ॥ भगवानका भयानक सिंहनाद सुनकर उसे न सह सकनेके कारण वह प्रचण्ड वेगशाली, दुर्जय एवं दुर्दम्य दैत्य मानो आकाशको पी जायगा, इस तरह मुख फाड़कर उनकी ओर दौड़ा और कमलनयन भगवानपर उसने एक दुलत्ती चलायी ॥ ४ ॥ उसे बचाकर कृष्णभगवानने अति क्रुद्ध होकर अपने दोनों हाथोंसे उसके पिछले पैर पकड़ लिये और जैसे गरुड़जी किसी सर्पको झटककर फेंक दें, उसी प्रकार उसे अवज्ञा-पूर्वक सौ धनुष अर्थात् चार सौ हाथकी दूरीपर फेंक दिया ॥ ५ ॥ कुछ देर बाद होश आनेपर केशी उठा और अत्यन्त रोषसे मुख फाड़कर बड़े वेगसे भगवानपर झपटा। तब भगवानने मुसकाकर जैसे बिलमें सर्प चला जाता है, उसी प्रकार उसके मुखमें अपनी बायीं भुजा ठेल दी ॥ ६ ॥ भगवानकी भुजाका स्पर्श होते ही केशीके सब दाँत टूटकर गिर गये। जैसे उनसे तपा हुआ लोहा छू गया हो। उसके मुखमें गयी हुई भगवानकी भुजा उपेक्षित रोगकी भाँति बढ़ने लगी ॥ ७ ॥ श्रीकृष्णकी भुजाके अधिक बढ़नेसे उसका श्वास रुक गया, शरीरसे पसीना चूने लगा तथा नेत्र फट गये और वह पैर पटकता तथा मल-त्याग करता हुआ प्राणहीन होकर धराशायी हो गया ॥ ८ ॥ तब महाबाहु भगवान कृष्णने ककड़ीके फलोंकी नाईं फटे हुए उसके प्राणहीन शरीरसे अपनी भुजा निकाल ली। उन्हें इससे कुछ विस्मय नहीं हुआ। किन्तु स्वर्गके देवता अत्यन्त विस्मित हो बिना प्रयत्नके शत्रुको मारनेवाले भगवानपर फूल बरसाते हुए उनकी स्तुति करने लगे ॥ ९ ॥ हे राजन् ! इसी समय भागवतप्रवर देवर्षि नारदजीने अक्लिष्टकर्मा भगवान कृष्णके पास आकर उनसे एकान्तमें कहा—॥१०॥ "हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अप्रमेयस्वरूप ! हे योगेश्वर ! हे जगत्पते ! हे वासुदेव ! हे सर्वाधिष्ठान ! हे यदुवंशियोंमें हे श्रेष्ठ ! हे प्रभो ! ॥ ११ ॥ लकड़ियोंमें समाये अग्निके समान केवल आप ही सब प्राणियोंकी आत्मा तथा बुद्धिके आश्रय और साक्षी हैं। हे प्रभो ! आप महापुरुष और

आत्मनाऽऽत्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजेगुणान् । तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्यवसीश्वरः ॥१३॥
स त्वं भूधरभूतानां दैत्यप्रमथरक्षसाम् । अवतीर्णो विनाशाय सेतूनां रक्षणाय च ॥१४॥
दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलयायं हयाकृतिः । यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥१५॥
चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् । कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो ॥१६॥
तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च । पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१७॥
उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् । नृगस्य मोक्षणं शापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥१८॥
स्यमन्तकस्य च मणेरादानं सह भार्यया । मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१९॥
पौण्ड्रकस्य वधं पश्चात् काशिपुर्याश्च दीपनम् । दन्तवक्त्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतौ ॥२०॥
यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान् । कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि गेयानि कविभिर्भुवि ॥२१॥
अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै । अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥२२॥

विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थममोघवाञ्छितम् ।
स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥२३॥
त्वामीश्वरं स्वाश्रयमात्ममायया विनिर्मिताशेषविशेषकल्पनम् ।
क्रीडार्थमद्यात्तमनुष्यविग्रहं नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम् ॥२४॥

श्रीशुक उवाच

एवं यदुपतिं कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः । प्रणिपत्याभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ॥२५॥

सबके प्रभु हैं ॥ १२ ॥ सृष्टिके आदिमें आपने अपनी मायाके ही सहारे तीनों गुणोंकी रचना की थी। आप सत्यसंकल्प परमेश्वर हैं। तीनों गुणोंकी सहायतासे ही आप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार किया करते हैं ॥ १३ ॥ इस समय आपने राजवेषधारी दैत्य, प्रमथ तथा राक्षसोंको नष्ट करने और धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये अवतार लिया है ॥ १४ ॥ यह बड़े आनन्दकी बात है कि आपने इस अश्वरूपधारी दुष्ट दैत्यको मार डाला। इसकी हिनहिनाहटसे भयभीत होकर देवता भी स्वर्गलोक छोड़कर भाग जाते थे ॥ १५ ॥ "हे विभो ! परसों मैं आपके हाथसे चाणूर, मुष्टिक और दूसरे मल्लों तथा कुवलयापीड हाथी और कंसको मरा हुआ देखूँगा ॥ १६ ॥ उसके बाद हे जगत्पते ! शंखासुर, कालयवन, मुर, नरकासुर आदिका मारा जाना, स्वर्गसे पारिजात हर लाना, इन्द्रका पराजय, पराक्रमके मूल्य द्वारा राजकन्याओंसे विवाह करना, द्वारकामें रहकर राजा नृगको शापमुक्त करना, अपनी भार्या जाम्बवतीके साथ स्यमन्तकमणि लाना, ब्राह्मणके मरे हुए पुत्रको अपने धाम अर्थात् महाकालपुरसे लाकर देना, पौण्ड्रकका वध, काशीपुरीको जलाना, दन्तवक्त्रका वध तथा राजसूय महायज्ञमें शिशुपालका निधन आदि आपके चरित्रोंको भी मैं देखूँगा ॥ १७—२० ॥ इनके अतिरिक्त आप द्वारकामें रहकर पृथिवीतलमें कवियों द्वारा गाये जाने योग्य और भी जो-जो कर्म करेंगे, वह सब मैं अपनी आँखों देखूँगा ॥ २१ ॥ फिर आप अपने कालरूपसे पृथिवीका भार उतारनेके निमित्त अर्जुनके सारथी होकर कई अक्षौहिणी सेनाका संहार करेंगे—यह भी देखूँगा ॥ २२ ॥ हे देव ! आप विशुद्ध विज्ञानघन हैं। अपने परमानन्दस्वरूपमें स्थित रहनेके कारण आपको सब पदार्थ नित्य सुलभ हैं। आपकी इच्छाशक्ति अमोघ है। आपके तेजसे यह गुणप्रवाहरूप संसार सदा बाधित रहता है। मैं आप षडैश्वर्यसम्पन्न भगवानकी शरणमें हूँ ॥ २३ ॥ आप सर्वेश्वर, स्वतन्त्र और अपनी मायासे समस्त भेदकल्पनाओंकी रचना करते हैं। आपने लीलाके लिए ही इस समय मानवशरीर धारण किया है। आप यदु, वृष्णि और सात्वतवंशियोंके अग्रणी हैं। मैं आपको शतशः नमस्कार करता हूँ" ॥ २४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर भक्तश्रेष्ठ तथा मुनिवर नारदजी यदुपति श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणामकर उनके दर्शनोंसे अति आनन्दित हो और उनकी

भगवानपि गोविन्दो हत्वा केशिनमाहवे । पशूनपालयत् पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः ॥२६॥
एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोऽद्रिसानुषु । चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चोरपालापदेशतः ॥२७॥
तत्रासन् कतिचिच्चोराः पालाश्च कतिचिन्नृप । मेषायिताश्च तत्रैके विजह्रुरकुतोभयाः ॥२८॥
मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् । मेषायितानपोवाह प्रायश्चोरायितो बहून् ॥२९॥
गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः । शिलया पिदधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥३०॥
तस्य तत् कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम् । गोपान् नयन्तं जग्राह वृकं हरिरिवौजसा ॥३१॥
स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली । इच्छन् विमोक्तुमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः ३२
तं निगृह्याच्युतो दोर्भ्यां पातयित्वा महीतले । पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥३३॥
गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः । स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे व्योमासुरवधो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः । उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥
गच्छन् पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे । भक्तिं परामुपगत एवमेतदचिन्तयत् ॥२॥
किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः । किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥३॥

आज्ञा पाकर अपने लोकको चले गये ॥ २५ ॥ इधर भगवान कृष्ण युद्धमें केशीको पछाड़कर व्रजवासियोंको सुख देते हुए अन्य ग्वालबालोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक गौएँ चराने लगे ॥ २६ ॥ एक दिन सब ग्वालबाल पर्वतपर गौएँ चराते हुए चोर और रक्षक बनकर लुकौवलका खेल खेलने लगे ॥२७॥ उनमेंसे कुछ ग्वालबाल चोर बने, कुछ गँडेरिया बने और कुछ भेड़ बने। इस प्रकार वे निःशङ्कभावसे खेलने लगे ॥ २८ ॥ इसी अवसरपर मयासुरका महामायावी पुत्र व्योमासुर ग्वालबाल बनकर वहाँ आया और चोर बनकर बहुतसे भेड़ बने हुए बालकोंको ले जाकर छिपा आया ॥ २९ ॥ इस तरह वह महादैत्य उन्हें ले जाकर एक पर्वतकी गुफामें डाल देता और उसके द्वारको शिलासे ढाँक देता था। धीरे-धीरे सब लुप्त होकर चार-पाँच बालक शेष रह गये ॥ ३० ॥ तब सज्जनोंके शरणदायक भगवान उसका यह कुकर्म जान गये और जब वह ग्वालबालोंको ले जा रहा था, उसी समय उन्होंने सिंह जैसे भेड़ियेको दबोच लेता है, उसी तरह उसे पकड़ लिया ॥ ३१ ॥ अब उस महाबलवान् असुरने तुरन्त अपना पर्वताकार विकटतम रूप प्रकट किया। भगवानके पंजेमें पड़नेसे व्याकुल होकर उसने छूटनेकी बहुत चेष्टा की, किन्तु सफल नहीं हुआ। तब भगवानने उसे दोनों हाथोंसे पकड़कर पृथिवीपर पटक दिया और आकाशमें स्थित देवताओंके देखते-देखते बलिपशुके समान मार डाला ॥ ३२-३३ ॥ तदनन्तर गुहाकी शिला हटाकर भगवानने ग्वालबालोंको उस संकटपूर्ण गुफासे बाहर निकाला और देवगण तथा गोपगण द्वारा प्रशंसित होते हुए व्रजमें प्रवेश किया ॥३४॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कंधे 'सामयिकी' भाषाटीकायां सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७॥

(अक्रूरजीका व्रजको पयान) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कंसकी आज्ञा पाकर महामति अक्रूरजी उस रात तो मथुरापुरीमें ही रहे, दूसरे दिन सवेरा होते ही रथपर चढ़कर नन्दजीके गोकुलको चल दिये ॥ १॥ मार्गमें जाते-जाते महाभाग अक्रूरजीके हृदयमें भगवान कमलनयनकी परा भक्तिका उदय हुआ और वे इस तरह विचारने लगे—॥ २ ॥ मैंने ऐसा कौन-सा शुभकर्म किया

ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम् । विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥४॥
मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् । ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन ॥५॥
ममाद्यामङ्गलं नष्टं फलवांश्चैव मे भवः । यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥६॥

कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः ।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥७॥
यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।
गोचारणायानुचरैश्चरद् वने यद् गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥८॥
द्रक्ष्यामि नूनं सुकपोलनासिकं स्मितावलोकारुणकञ्जलोचनम् ।
मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वै मृगाः ॥९॥
अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो भरावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः ॥१०॥
य ईक्षिताहंरहितोऽप्यसत्सतोः स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।
स्वमाययाऽऽत्मन् रचितैस्तदीक्षया प्राणाक्षधीभिः सदनेष्वभीयते ॥११॥
यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलैर्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगद् यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥१२॥

है, कौन बड़ा तप किया है अथवा किसी सत्पात्रको क्या वस्तु दानमें दी है, जिससे मुझे आज श्रीकेशवका दर्शन मिलेगा ॥ ३ ॥ मैं तो अपने लिये पुण्यकीर्ति भगवानका दर्शन प्राप्त होना ऐसाही दुर्लभ समझता हूँ, जैसे विषयी तथा शूद्रकुलमें उत्पन्न पुरुषका वेद पढ़ना ॥ ४ ॥ लेकिन सर्वथा ऐसी बात भी नहीं है । मुझ अधमको भी भगवान दर्शन दे सकते हैं । क्योंकि कालरूपिणी नदीमें बहते हुए जीवोंमेंसे कभी कोई जीव अनायास संसारसे तर भी जाते हैं ॥ ५ ॥ अहो ! आज मेरे सब पाप नष्ट होगये और मेरा जन्म सफल होगया । क्योंकि आज मैं भगवानके उन चरणकमलोंको प्रणाम करूँगा, जिनका योगीजन ध्यान करते हैं ॥ ६॥ कंसने आज मुझपर बड़ी कृपा की है । क्योंकि उसके भेजनेसेही मैं इस समय पृथिवीमें अवतार लेनेवाले उन भगवानके चरणकमलोंका दर्शन करूँगा, जिनके नखोंकी निर्मल कान्तिका ध्यान करके पूर्व समयमें बहुतेरे महानुभाव इस दुस्तर अज्ञानान्धकारसे पार होगये हैं ॥ ७ ॥ ब्रह्मा-महादेव आदि देवगण, देवी लक्ष्मीजी तथा भक्तमण्डल सहित समस्त मुनिजन जिन्हें पूजते हैं, जो गौएँ चरानेके लिये अपने साथी ग्वालबालोंके साथ वनमें विचर रहे हैं और जो व्रजकी गोपियोंके कुचकुंकुमसे रञ्जित हैं ॥ ८ ॥ मैं उन सुन्दर कपोल, नासिका, मनोहर मुसकानमयी चितवन, अरुणकमलनयन और घुँघराली अलकावलीसे अलंकृत भगवान कृष्णचन्द्रका मुखकमल आज अवश्य देखूँगा । क्योंकि मृगगण मेरी दायीं ओर से निकल रहे हैं ॥९॥ जो पृथिवीका भार उतारनेके लिये अपनी इच्छासे ही मनुष्यशरीर धारण किये हैं, क्या आज मुझे उन लावण्यधाम विष्णुभगवानका दर्शन होगा ? क्या इससे अनायास मुझे नेत्रोंका लाभ न मिल जायगा ? ॥ १० ॥ जो अहङ्काररहित होकर भी कार्य-कारणरूप इस प्रपञ्चके द्रष्टा हैं और जो अपने चिन्मात्र तेजसे अज्ञानजनित भेद-भ्रमको नष्ट कर देते हैं, फिर भी अपनी मायाके सहारे वे महाप्रभु प्राण, इन्द्रिय और बुद्धि आदिके सहित अपने आपमें रचे हुए सब जीवोंके साथ वृन्दावनके कुञ्जों और गोपियोंके घरोंमें खेलते दिखायी देते हैं ॥ ११ ॥ उनके सर्वपापनाशक और मङ्गलमय गुण, कर्म और जन्मोंकी कथाओंसे मिश्रित वाणी संसारको जीवित, शोभित तथा पवित्र करती है और उन भगवद्गुण आदिके विना वाणी केवल सुसंजित शवके समान शोभायमान मानी जाती है

स चावतीर्णः किल सात्वतान्वये स्वसेतुपालामरवर्यशर्मकृत् ।
यशो वितन्वन् व्रज आस्त ईश्वरो गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् ॥१३॥
तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम् ।
रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः ॥१४॥
अथावरूढः सपदीशयो रथात् प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये ।
धिया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं नमस्य आभ्यां च सखीन् वनौकसः ॥१५॥
अप्यंघ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्यधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम् ॥१६॥
समर्हणं यत्र निधाय कौशिकस्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।
यद् वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥१७॥
न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥१८॥
अप्यङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा ।
सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम् ॥१९॥
सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम् ।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः ॥२०॥
लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः ।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा नैवादृतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥२१॥

॥ १२ ॥ सुना है कि अपने रचे हुए वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादाका पालन और देवताओंका कल्याण करनेके लिये उन्हीं श्रीहरिने यदुकुलमें अवतार लिया है और इस समय वे ईश्वर, जिनका सर्वमङ्गलमय सुयश देवता भी गाते हैं, अपनी कीर्तिका विस्तार करते हुए व्रजमें विद्यमान हैं ॥ १३ ॥ वे प्रभु महापुरुषोंके एकमात्र आश्रय और गुरु हैं। उन्होंने नेत्रवानोंको परमानन्द देनेवाला और लक्ष्मीजीकी इच्छाका आश्रय त्रिलोकसुन्दर स्वरूप धारण किया है। आज मैं उनका दर्शन अवश्य करूँगा। क्योंकि उषाकालसे ही मुझे बहुत अच्छे-अच्छे शकुन दीख रहे हैं ॥ १४ ॥ उनका दर्शन करते ही मैं रथसे उतर पड़ूँगा और उन प्रधानपुरुषस्वरूप बलराम और कृष्णके चरणकमलोंको, जिनका योगीजन आत्मलाभके लिये केवल मनसे ध्यान धरते हैं, प्रणाम करूँगा और उनके पीछे उनके वनवासी सखा ग्वालबालोंको भी नमस्कार करूँगा ॥ १५ ॥ क्या वे भगवान अपने चरणोंपर पड़े हुए मेरे सिरपर अपना करकमल रखेंगे, जो कालसर्पके भयसे उद्विग्न होकर उनके इच्छुक पुरुषोंको अभयदान देते हैं ? ॥ १६ ॥ जिसको सब पूजासामग्री समर्पणकर इन्द्र और बलिने तीनों लोकोंका आधिपत्य प्राप्त किया है और जिस कमलकी-सी गन्धयुक्त करकमलने विहारके समय व्रजबालाओंका श्रम दूर किया था ॥ १७ ॥ यद्यपि मुझे कंसने अपना दूत बनाकर भेजा है, किन्तु वे सर्वसाक्षी भगवान मुझसे शत्रुबुद्धि नहीं रखेंगे। क्योंकि वे क्षेत्रज्ञरूपसे सबके अन्तःकरणके भीतर और बाहरके सब व्यापारोंको अपनी निर्मल ज्ञानदृष्टिसे देखते रहते हैं॥ १८ ॥ जब मैं उनके समक्ष विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़ा हो जाऊँगा, उस समय वे अपनी मधुर मुसकान भरी दयादृष्टिसे मेरी ओर निहारेंगे। उनकी दृष्टि पड़ते ही मेरे सब पाप नष्ट हो जायँगे और मैं निःशङ्कभावसे परमानन्दमें मग्न हो जाऊँगा ॥१९ ॥ मैं उनका प्रियतम जातिभाई हूँ, उनके सिवा मेरा कोई अन्य इष्टदेव नहीं है, यह सोचकर जब वे अपनी विशाल बाहुओंसे मेरा आलिङ्गन करेंगे, तब मेरा शरीर पवित्र हो जायगा और मेरे सब

न तस्य कश्चिद् दयितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः ॥२२॥
किन्त्वग्रजो मावनतं यदूत्तमः स्मयन् परिष्वज्य गृहीतमञ्जलौ ।
गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं संप्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥२३॥

श्रीशुक उवाच

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि । रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप ॥२४॥
पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥२५॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥२६॥
देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम् । संदेशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥२७॥
ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ । पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥२८॥
किशोरौ श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ । सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ ॥२९॥
ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् । शोभयन्तौ महात्मानावनुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥३०॥

कर्मबन्धन टूट जायँगे ॥२०॥ उनके अङ्गसङ्गसे आनन्दित होकर जब मैं हाथ जोड़कर विनीतभावसे उनके आगे खड़ा हो जाऊँगा और वे अनन्तकीर्ति भगवान मुझे 'तात अक्रूर !' कहकर पुकारेंगे तो मैं अपनेको सब प्राणियोंमें भाग्यवान् समझूँगा। जो लोग परम महान् श्रीकृष्ण भगवानके आदर-पात्र नहीं होते, उनके जीवनको धिक्कार है ॥ २१ ॥ भगवानको कोई पुरुष न प्रिय है, न सुहृद् है, न अप्रिय है, न शत्रु है और न उपेक्षणीय ही है। तथापि जैसे कल्पवृक्ष अपने निकट आनेवालोंकी सब कामनाएँ पूर्ण कर देता है, उसी प्रकार भगवान अपने भक्तोंको उनके भावानुसार फल देते हैं ॥२२॥ अहो ! सामने विनीतभावसे खड़े मुझको यदुश्रेष्ठ बलरामजी मुसकाते हुए आलिङ्गनकर मेरे दोनों हाथ थामकर घरके भीतर ले जायँगे और मेरा सब तरहसे सत्कारकर मुझसे अपने बन्धुओंके प्रति कंसके व्यवहारके विषयमें प्रश्न करेंगे ॥ २३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्वफल्कतनय अक्रूरजी श्रीकृष्णचन्द्रका इस प्रकार चिन्तन करते-करते रथपर बैठे हुए नन्दगाँव पहुँचे और इधर सूर्यदेव अस्ताचलपर जा विराजे ॥ २४ ॥ जिनकी निर्मल पदरजको समस्त लोकपाल अपने मुकुटोंपर धारण करते हैं, वहाँ पहुँचकर अक्रूरजीने उन श्रीकृष्णचन्द्रके परम पुनीत चरणचिन्ह देखे। जो पृथिवीकी शोभा बढ़ानेवाले और कमल, यव तथा अंकुशादि चिन्होंसे सुशोभित थे ॥ २५ ॥ उनके दर्शनजनित आनन्दसे वे अतिशय विह्वल होगये। प्रेमवश उनके शरीरमें रोमाञ्च हो गया और नेत्रोंमें जल भर आया। वे अपने रथसे उतर पड़े और यह कहते हुए कि 'अहो ! यह प्रभुके चरणोंकी रज है' वहाँकी धूलमें लोटने लग गये ॥ २६ ॥ जब कंसकी आज्ञा मिली थी, तबसे यहाँ आने तक अक्रूरकी विचित्र दशा रही। क्योंकि दम्भ, भय और शोक त्यागकर भगवानके विग्रहका दर्शन और उनकेगुण श्रवण आदि सौभाग्योंको उपार्जन करना ही देहधारियोंका सबसे बड़ा लाभ है ॥ २७ ॥ व्रजमें पहुँचकर अक्रूरजीने कृष्ण और बलराम—दोनों भाइयोंको गोदोहनके स्थानमें विद्यमान देखा। वे उस समय क्रमशः पीला और नीला वसन पहने थे और उनके नेत्र शरत्कालमें उत्पन्न कमलके सदृश खिले थे ॥ २८ ॥ उस समय उनकी किशोर अवस्था थी, दोनोंका क्रमशः श्याम और गौर शरीर था और दोनोंकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ थीं। वे लक्ष्मीजीके आश्रयस्थान, सुन्दरवदन, महामनोहर और बालगज-राजकी भाँति पराक्रमी थे ॥ २९ ॥ वे दोनों ही महात्मा ध्वजा, वज्र, अंकुश और कमल आदिके चिन्होंसे युक्त अपने चरणोंसे व्रजकी शोभा बढ़ा रहे थे और उनकी मुसकानभरी चितवनसे अनु-

उदाररुचिरक्रीडौ स्रग्विणौ वनमालिनौ । पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गौ स्नातौ विरजवाससौ ॥३१॥
प्रधानपुरुषावाद्यौ जगद्धेतू जगत्पती । अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ ॥३२॥
दिशो वितिमिरा राजन् कुर्वाणौ प्रभया स्वया । यथा मारकतः शैलो रौप्यश्च कनकाचितौ ॥३३॥
रथात्तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः । पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः ॥३४॥
भगवद्दर्शनाह्लासबाष्पपर्याकुलेक्षणः । पुलकाचिताङ्ग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन्नृप
भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना । परिरेभेऽभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥३६॥
संकर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः । गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत् सानुजो गृहम् ३७
पृष्ट्वाथ स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् । प्रक्षाल्य विधिवत्पादौ मधुपर्कार्हणमाहरत्॥३८॥
निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः । अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः ॥३९॥
तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित् । मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात् पुनः ४०
पप्रच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्थ निरनुग्रहे । कंसे जीवति दाशार्ह सौनपाला इवावयः ॥४१॥
योऽवधीत् स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशन्त्या असुतृप् खलः । किं नु स्वित्तत्प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे
इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः । अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूरागमनं नामाष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३८॥

ग्रहभाव टपक रहा था ॥ ३० ॥ उनकी लीलायें बड़ी उदार और मनमोहिनी थीं । उनके गलेमें मणिमाला और वनमाला सुशोभित थी और स्नानकर उन्होंने अपने शरीरमें सुगन्धित अङ्गराग मलकर स्वच्छ वस्त्र धारण किये थे ॥ ३१ ॥ अक्रूरने देखा कि समस्त जगत्के आदि कारण स्वयं जगत्पति प्रधान पुरुष ही संसारकी रक्षाके निमित्त अपने सब अंशोंसे बलराम और कृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर सुवर्णविभूषित मरकतमणि और चाँदीके पर्वतोंके समान अपनी प्रभासे सब दिशाओंका अन्धकार दूर करते हुए विराजमान थे ॥ ३२-३३ ॥ उन्हें देखते ही अक्रूरजी स्नेहाकुल हो रथसे नीचे उतर पड़े और कृष्ण तथा बलरामके चरणोंमें दण्डके समान गिर गये ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! भगवद्दर्शनके आनन्दसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया, उनका सारा शरीर पुलकित हो गया और गला भर आनेसे वे अपना परिचय भी न दे पाये ॥ ३५ ॥ शरणागतवत्सल भगवान उनका भाव जान गये और उन्हें बड़ी प्रसन्नतापूर्वक अपने चक्राङ्कित हाथोंसे खींचकर गलेसे लगा लिया । तब महामना बलरामजीने बड़े नम्रभावसे खड़े अक्रूरजीको गले लगाया और अपने एक हाथसे उनके दोनों हाथ पकड़कर भाई कृष्णके साथ उन्हें घरपर ले गये ॥ ३६-३७ । वहाँ पहुँचकर कुशलप्रश्नके अनन्तर उन्हें सुन्दर आसन दिया और विधिवत् चरण पखारकर मधुपर्क आदि पूजनसामग्री अर्पण की ॥ ३८ ॥ भगवानने अतिथि अक्रूरको एक गौ देकर चरणसेवा आदिसे उनका श्रम दूर किया और अनेक गुणयुक्त पवित्र अन्न लाकर उन्हें बड़े प्रेमसे भोजन कराया ॥ ३९ ॥ भोजन कर चुकनेके बाद उन्हें परम धर्मज्ञ बलरामजीने मुखवास और सुगन्धित माला आदि देकर अतिशय आनन्दित किया ॥ ४० ॥ सत्कार हो चुकनेके बाद नन्दजीने पूछा—"हे दाशार्ह ! जिनका रक्षक कसाई हो, ऐसी भेड़ोंके समान आपलोग पापी कंसके जीवित रहते कैसे अपने दिन बिताते हैं ? ॥ ४१ ॥ अहो ! अपने ही प्राणोंका पोषण करनेवाले जिस दुष्टने अपनी बिलखती हुई बहिनके बालकोंको निर्दयभावसे मार डाला, उसकी प्रजास्वरूप आप लोगोंकी कुशलताका तो हम विचार भी कैसे कर सकते हैं ?" ॥ ४२ ॥ जिन नन्दजीसे अक्रूरजीने कुशल-प्रश्न किया था, उनके द्वारा इस प्रकार विनम्रवाणी द्वारा सत्कार पा लेनेपर अक्रूरजीकी सारी थकावट दूर होगयी ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

सुखोपविष्टः पर्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः । लेभे मनोरथान् सर्वान् पथि यान् स चकार ह ॥१॥
किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने । तथापि तत्परा राजन् न हि वाञ्छन्ति किञ्चन २
सायंतनाशनं कृत्वा भगवान् देवकीसुतः । सुहृत्सु वृत्तं कंसस्य पप्रच्छान्यच्चिकीर्षितम् ॥३॥

श्रीभगवानुवाच

तात सौम्यागतः कच्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः । अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमीवमनामयम् ॥४॥
किं नु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये । कंसे मातुलनाम्न्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥५॥
अहो अस्मदभूद् भूरि पित्रोर्वृजिनमार्ययोः । यद्धेतोः पुत्रमरणं यद्धेतोर्बन्धनं तयोः ॥६॥
दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम् । संजातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥७॥

श्रीशुक उवाच

पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः । वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥८॥
यत्संदेशो यदर्थं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम् । यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकदुन्दुभेः ॥९॥
श्रुत्वाक्रूरवचः कृष्णो बलश्च परवीरहा । प्रहस्य नन्दं पितरं राज्ञाऽऽदिष्टं विजज्ञतुः ॥१०॥
गोपान् समादिशत् सोऽपि गृह्यतां सर्वगोरसः । उपायनानि गृह्णीध्वं युज्यन्तां शकटानि च ११

(कृष्ण-बलरामका मथुराको प्रस्थान) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—श्रीकृष्ण और बलराम द्वारा भली भाँति सम्मानित होकर अक्रूरजी आनन्दपूर्वक पलंगपर जा बैठे । उन्होंने मार्गमें जो-जो इच्छायें की थीं, वे सब पूर्ण हो गयीं ॥ १ ॥ हे राजन् ! लक्ष्मीपति भगवानके प्रसन्न होनेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो न मिल सके । फिर भी भगवत्परायण जन किसी पदार्थकी इच्छा नहीं करते ॥ २ ॥ सायंकालको भोजन कर चुकनेके बाद भगवान देवकीनन्दन कृष्णने अक्रूरके पास जाकर अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ कंसका कैसा व्यवहार है और अब वह क्या करना चाहता है, इस विषयमें बहुतसी बातें पूछीं ॥ ३ ॥ श्रीभगवान बोले—हे तात ! हे सौम्य ! आप यहाँ निर्विघ्न आ गये न ? आपका स्वागत है, आपका कल्याण हो । आपके सब जातिभाई आनन्दसे और नीरोग हैं न ?॥४॥ हम अपने कुलकी कुशल क्या पूछें ? भला हमारे कुलके लिये रोगरूप और नाममात्रके मामा कंसके जीवित रहते हमारे स्वजन या उनकी सन्तान सकुशल कैसे रह सकती है ? ॥ ५ ॥ अहो ! हमारे कारण हमारे भद्र माता-पिताको बड़ा कष्ट उठाना पड़ा । हमारे ही कारण उनके अनेक पुत्र मारे गये और हमारे ही लिये उन्हें बहुत दिनों तक बन्धनमें रहना पड़ा ॥ ६ ॥ हे सौम्य ! आज बड़े भाग्यसे मुझे अपने स्वजन आपका दर्शन लाभ हुआ । मुझे भी इसकी बड़ी अभिलाषा थी । हे तात ! अब आप यहाँ अपने आनेका कारण बतलायें ॥ ७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह भगवानके पूछनेपर मधुवंशीय अक्रूरजीने यदुवंशियोंके साथ वैर बाँधने और वसुदेवजीके वधका उद्योग करने आदिका सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ८ ॥ कंसका जो धनुर्यज्ञविषयक कपटपूर्ण संदेश था, जिसके लिये उन्हें दूत बनाकर भेजा गया था और नारदजीने जो वसुदेवजीके द्वारा भगवानके जन्मका रहस्य कंसके सामने खोला था, वह सब वृत्तान्त भी अक्रूरजीने भगवानको कह सुनाया ॥९॥ विपक्षी वीरोंका संहार करनेमें निपुण कृष्ण और बलराम अक्रूरजीके बचन सुनकर हँसे और उन्होंने पिता नन्दजीको राजा कंसकी आज्ञा सुनायी ॥ १० ॥ तब नन्दजीने सब गोपोंको आज्ञा दी कि 'सारा गोरस एकत्रित करलो, भेंटकी सामग्री जुटाओ और अपने-अपने छकड़े ठीक कर लो ॥ ११ ॥

यास्यामः श्वो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसान् । द्रक्ष्यामः सुमहत् पर्व यान्ति जानपदाः किल ।
एवमाघोषयत् क्षत्रा नन्दगोपः स्वगोकुले ॥ १२ ॥
गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् । रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥१३॥
काश्चित्तत्कृतहृत्तापश्वाससम्लानमुखश्रियः । स्रंसद्दुकूलवलयकेशग्रन्थ्यश्च काश्चन ॥१४॥
अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः । नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव॥१५॥
स्मरन्त्यश्चापराः शौरेरनुरागस्मितेरिताः । हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः ॥१६॥
गतिं सुललितां चेष्टां स्निग्धहासावलोकनम् । शोकापहानि नर्माणि प्रोद्दामचरितानि च ॥१७॥
चिन्तयन्त्यो मुकुन्दस्य भीता विरहकातराः । समेताः सङ्घशः प्रोचुरश्रुमुख्योऽच्युताशयाः १८

गोप्य ऊचुः

अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥१६॥
यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतं मुकुन्दवक्त्रं सुकपोलमुन्नसम् ।
शोकापनोदस्मितलेशसुन्दरं करोषि पारोक्ष्यमसाधु ते कृतम् ॥२०॥
क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नश्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत् ।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः ॥२१॥
न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।
विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान् पतींस्तद्दास्यमद्धोपगता नवप्रियः ॥२२॥

कल हम सब लोग मथुरापुरीको चलेंगे और राजा कंसको गोरस अर्पण करेंगे । वहाँ चलकर हमलोग एक बहुत बड़ा उत्सव देखेंगे, जिसको देखनेके लिये दूर दूरके लोग आ रहे हैं ।' नन्दजीने अपने व्रजमें यह घोषणा करा दी ॥ १२ ॥ जब गोपियोंने सुना कि राम और कृष्णको मथुरा ले जानेको व्रजमें अक्रूरजी आये हैं, तो वे बहुत दुःखित हुईं ॥ १३ ॥ कुछके मुख हृत्तापजनित उष्ण श्वाससे मुरझा गये, कुछ ऐसी अचेत हो गयीं कि उनके वस्त्र खिसक गये और कङ्कण तथा केशपाश ढीले पड़कर गिर गये ॥ १४ ॥ भगवानके सतत स्मरणसे कुछ गोपियोंकी समस्त चित्तवृत्तियाँ शान्त हो गयीं और मुक्त पुरुषोंके समान उन्हें अपनी देहका कुछ भी ज्ञान नहीं रहा ॥ १५ ॥ कुछ गोपियाँ भगवान-की प्रणय मुसकानयुक्त विचित्र पदावली युक्त हृदयहारिणी बातें याद आनेसे मोहित हो गयीं ॥१६॥ भगवानकी ललित गति, विचित्र लीला, स्नेहयुक्त तथा मुसकानभरी चितवन, शोक दूर करनेवाली ठठोली और उदार चरित्रोंका स्मरणकर उनके वियोगकी सम्भावनासे व्याकुल और भयभीत होकर वे सब गोपिएँ, जिनका चित्त सर्वदा भगवान कृष्णमें ही लगा रहता था, एक जगह झुण्ड-की-झुण्ड एकत्रित होकर आँखोंसे आँसू बहाती हुई आपसमें इस प्रकार कहने लगीं ॥ १७ ॥ १८ ॥ गोपियाँ बोलीं—अरे ओ विधाता ! तुझे किसीपर दया नहीं आती ? तू प्राणियोंको मित्रता और स्नेहके बन्धनमें बाँधकर मनोरथ सिद्ध होनेसे पहले ही उनका वियोग करा देता है । तेरा यह खेल बालकोंके खेलवाड़के समान ओछा है ॥ १६ ॥ तू जो हमको श्रीमुकुन्दका श्याम अलकावलीसे आवृत सुन्दर कपोल तथा उन्नत नासिकासे सुशोभित और शोक दूर करनेवाला मन्दमुसकान युक्त मनोहर मुख दिखाकर अब उसे हमारी आंखोंसे दूर करना चाहता है सो तेरी यह करनी अच्छी नहीं कही जा सकती ॥ २० ॥ अरे विधाता ! तू बड़ा क्रूर है । तू ही आज अक्रूरके नामसे मूर्खोंके समान आकर अपने ही दिये हमारे उन नेत्रोंको हरे लिये जारहा है, जिनसे कि हम भगवान् मधुसूदनके एक-एक अङ्गमें तेरी सृष्टिका सम्पूर्ण सौन्दर्य निहारा करती थीं ॥ २१ ॥ फिर वे सब आपसमें कहने लगीं—

सुखं प्रभाता रजनीयमाशिषः सत्या बभूवुः पुरयोषितां ध्रुवम् ।
याः संप्रविष्टस्य मुखं व्रजस्पतेः पास्यन्त्यपाङ्गोत्कलितस्मितासवम् ॥२३॥
तासां मुकुन्दो मधुमञ्जुभाषितैर्गृहीतचित्तः परवान् मनस्व्यपि ।
कथं पुनर्नः प्रतियास्यतेऽबला ग्राम्याः सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन् ॥२४॥
अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते दाशार्हभोजान्धकवृष्णिसात्वताम् ।
महोत्सवः श्रीरमणं गुणास्पदं द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वनि देवकीसुतम् ॥२५॥
नैतद्विधस्याकरुणस्य नाम भूदक्रूर इत्येतदतीव दारुणः ।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं प्रियात्प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥२६॥
अनार्द्रधीरेष समास्थितो रथं तमन्वमी च त्वरयन्ति दुर्मदाः ।
गोपा अनोभिः स्थविरैरुपेक्षितं दैवं च नोऽद्य प्रतिकूलमीहते ॥२७॥
निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः ।
मुकुन्दसङ्गान्निमिषार्धदुस्त्यजाद् दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥२८॥
यस्यानुरागललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।
नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तम् ॥२९॥
योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः परीतो गोपैर्विशन् खुररजश्छुरितालकस्रक् ।
वेणुं क्वणन् स्मितकटाक्षनिरीक्षणेन चित्तं क्षिणोत्यमुमृते नु कथं भवेम ॥३०॥

अहो ! इन नन्दनन्दनको भी नित्य नये-नये लोगोंसे नेह लगाना ही पसन्द है। इनका नेह एक क्षणमें ही भंग हो जाता है। देखो, हमने अपने घर, स्वजन, पुत्र और पति आदि सब कुछ छोड़कर इनकी दासी बनना स्वीकार किया, किन्तु ये अपने ही लिये आतुर हम गोपियोंकी ओर निहारते भी नहीं हैं ॥ २२ ॥ अवश्य मथुराकी नारियोंको आगामिनी रात्रि बड़ी मंगलमयी होगी। उनकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो जायँगी। क्योंकि वे व्रजराजके नगरमें प्रवेश करनेपर अपने कटाक्षोंसे उनके मधुरमुसकान युक्त मुखकी माधुरीका पान करेंगी ॥ २३ ॥ यद्यपि कृष्ण बड़े मनस्वी हैं तो भी उन मथुरावालियोंके मधुनिभ मधुर भाषणोंसे आसक्तचित्त हो और लज्जामय हास-विलासोंमें विभोर होकर हम गँवारी ग्वालिनियोंकी ओर फिरकर कैसे आ सकेंगे ? ॥ २४ ॥ अहो ! आज भगवानका दर्शन करके अवश्य ही मथुरापुरीके दाशार्ह, भोज, अन्धक और वृष्णिवंशीय यादवोंके नेत्रोंको परमानन्द प्राप्त होगा। जो मार्गमें रमारमण और गुणागार भगवान देवकीनन्दनका दर्शन करेंगे, उनके लिये भी बहुत बड़ा उत्सव होगा ॥ २५ ॥ फिर अक्रूरजीकी ओर लक्ष्य करके गोपियाँ बोलीं—अहो ! यह अक्रूर बड़ा निठुर है, जो हम दुःखिनी अबलाओंको धीरज बँधाये बिना ही हमारे प्राण-प्यारे नन्ददुलारेको हमारे दृष्टिपथसे दूर भगा ले जाना चाहता है। ऐसे क्रूर पुरुषका नाम 'अक्रूर' किसने रखा होगा ॥ २६ ॥ देखो, वह निष्ठुर कृष्णचन्द्र रथपर जा बैठे। मतवाले ग्वाले भी छकड़ों द्वारा उनके साथ जानेको कितनी जल्दी मचा रहे हैं ? इस समय गाँवके बड़े-बूढ़े भी उदासीन होकर बैठे हैं—वे भी इन्हें नहीं रोकते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि विधाता भी आज हमारे प्रतिकूल ही सब काम कर रहा है ॥ २७ ॥ चलो, हम स्वयं चलकर कृष्णचन्द्रको रोकेंगी। कुलके बड़े-बूढ़े और बन्धु-बान्धव हमारा क्या कर लेंगे। क्योंकि जिसे आधे पलके लिये भी छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन कृष्णके सहवासका दुर्दैववश विच्छेद हो जानेके कारण हम तो स्वयं दीन हो रही हैं ॥२८॥ जिनकी प्रेमपूर्ण तथा ललित मुसकानयुक्त मीठी बातों, लीलामय कटाक्षों और आलिङ्गनोंसे युक्त राससभामें हमने वह रात्रियाँ एक क्षणके समान बितायी थीं। हे सखियों ! अब उन्हींके बिना हम उनकी विषम विरहव्यथासे कैसे पार होंगी ? ॥ २९ ॥ साँझके समय गौओंके खुरोंसे उड़ी धूलिसे

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥३१॥

स्त्रीणामेवं रुदन्तीनामुदिते सवितर्यथ । अक्रूरश्चोदयामास कृतमैत्रादिको रथम् ॥३२॥
गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः । आदायोपायनं भूरि कुम्भान्गोरससम्भृतान् ॥३३
गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः । प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ॥३४॥
तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः । सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ॥३५॥
यावदालक्ष्यते केतुर्यावद् रेणू रथस्य च । अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥३६
ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने । विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥३७
भगवानपि संप्राप्तो रामाक्रूरयुतो नृप । रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३८॥
तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् । वृक्षषण्डमुपव्रज्य सरामो रथमाविशत् ॥३९॥
अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि । कालिन्द्या ह्रदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥४०॥
निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम् । तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥४१॥
तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः । तर्हि स्वित् स्यन्दने न स्त इत्युन्मज्ज्य व्यचष्ट सः ॥

धूसरित अलकावली और पुष्पमालाओंसे मण्डित हो जो श्रीकृष्णचन्द्र अनेक गोपमित्रोंसे घिरे हुए बाँसुरी बजाते अपनी मधुर मुसकान और कटाक्षयुक्त चितवनसे हमारे हृदयको बेधे डालते हैं, उनके बिना हम कैसे जायेंगी ? ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! विरहसे आतुर इस प्रकार बातें करनेवाली और कृष्णमें आसक्तचित्त वे व्रजाङ्गनाएँ लोकलाज त्यागकर "हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव !" ऐसा कहती हुई रोने लगीं ॥ ३१ ॥ स्त्रियोंके इस प्रकार रोते-रोते रात बीती और सूर्योदय हुआ । तब अक्रूरजीने सन्ध्यावन्दनादि प्रातःकालीन कृत्यसे निपटकर रथ हाँका ॥ ३२ ॥ उनके साथ ही नन्दादि गोप भी बहुत-सी उपहारकी वस्तुएँ और गोरस भरे घड़े साथ ले छकड़ोंपर चढ़कर चले ॥ ३३ ॥ इसी समय गोपियाँ भी अपने प्यारे कृष्णके पास दर्शनसे कुछ आश्वासित होकर भगवानका आदेश पानेकी आकांक्षासे उनके समक्ष खड़ी हो गयीं ॥ ३४ ॥ अपनी मथुरायात्रासे गोपियोंको सन्तप्त देखकर श्रीयदुनन्दनने प्रेमपूर्वक यह सन्देह देकर कि 'मैं फिर जल्दी ही लौट आऊँगा' धीरज बँधाया ॥ ३५ ॥ विरहव्यथित गोपियोंको जबतक रथकी ध्वजा और पहियोंसे उड़ती धूल दीखती रही, तबतक वे चित्रलिखितकी तरह उसी स्थानपर खड़ी उसी ओर निहारती रहीं । किन्तु उनका मन तो अपने प्यारे कृष्णके साथ चला गया था ॥ ३६ ॥ जब श्रीगोविन्दके लौटनेकी कोई आशा नहीं रह गयी तो वे निराश होकर अपने घर लौट आयीं और अपने प्रियतमके चरित्र गा-गाकर शोक शान्त करती हुई दिन-रातका समय बिताने लगीं ॥ ३७ ॥ इधर भगवान कृष्ण भी बलराम और अक्रूरके साथ वायुके समान वेगसे चलनेवाले रथपर चढ़कर थोड़ी ही देर बाद पाप-नाशिनी यमुनाजीके तटपर जा पहुँचे ॥ ३८ ॥ वहाँ उन लोगोंने मुँह-हाथ धोकर इन्द्रनीलमणिके समान स्वच्छ जल पिया और वृक्षोंकी झुरमुटमें जाकर बलरामजीके सहित रथपर चढ़गये ॥ ३९ ॥ अक्रूरजी उन दोनों भाइयोंको रथपर बिठा और उनकी आज्ञा ले यमुनाजीके कुण्ड अर्थात् अनन्ततीर्थके जलमें उतरकर विधिवत् स्नान किये ॥ ४० ॥ स्नानके बाद वे जलमें डुबकी लगाकर गायत्रीका जप करने लगे । जप करते-करते अक्रूरजीने वहाँ राम और कृष्ण दोनों भाइयोंको एक साथ बैठे देखा ॥ ४१ ॥ तब यह सोचकर कि 'वसुदेवजीके ये दोनों बालक तो रथपर बैठे थे, तब यहाँ कैसे आ गये ? जब यहाँ हैं तो सम्भव है कि वहाँ न होंगे' उन्होंने जलसे बाहर सिर

तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः । न्यमज्जद् दर्शनं यन्मे मृषा किं सलिले तयोः ॥४३॥
भूयस्तत्रापि सोऽद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम् । सिद्धचारणगन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥४४॥
सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् । नीलाम्बरं बिसश्वेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥४५॥
तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् । पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मपत्रारुणेक्षणम् ॥४६॥
चारुप्रसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् । सुभ्रून्नसं चारुकर्णं सुकपोलारुणाधरम् ॥४७॥
प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम् । कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्पल्लवोदरम् ॥४८॥
बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम् । चारुजानुयुगं चारुजङ्घायुगलसंयुतम् ॥४९॥
तुङ्गगुल्फारुणनखव्रातदीधितिभिर्वृतम् । नवाङ्गुल्यङ्गुष्ठदलैर्विलसत्पादपङ्कजम् ॥५०॥
सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकाङ्गदैः । कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः ॥५१॥
भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम् । श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥५२॥
सुनन्दनन्दप्रमुखैः पार्षदैः सनकादिभिः । सुरेशैर्ब्रह्मरुद्राद्यैर्नवभिश्च द्विजोत्तमैः ॥५३॥
प्रह्लादनारदवसुप्रमुखैर्भागवतोत्तमैः । स्तूयमानं पृथग्भावैर्वचोभिरमलात्मभिः ॥५४॥
श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया । विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥५५॥
विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः । हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः ॥५६॥

निकालकर देखा ॥ ४२ ॥ तो वे वहाँ भी पहलेहीके समान रथपर बैठे दिखायी पड़े। तब यह सोचकर कि 'मैंने जो उन्हें जलमें देखा था, वह क्या मेरा भ्रम था' उन्होंने फिर गोता लगाया तो वहाँ फिर श्रीअनन्तदेवको विद्यमान देखा कि जिनकी सिद्ध, चारण, गन्धर्व और असुरगण मस्तक झुकाकर स्तुति कर रहे थे ॥ ४३–४४ ॥ उन श्रीअनन्तदेवके हजार सिर थे। वे अपने हजार फणोंपर हजारही मुकुट और अपने कमलनाल सदृश श्वेत शरीरमें नीलाम्बर पहने थे। उसका सुन्दर शरीर सहस्र शिखरयुक्त कैलासपर्वतके समान शुभ्र दीख पड़ता था ॥ ४५ ॥ उन्होंने देखा कि उन शेषभगवानकी गोदमें रेशमी पीताम्बर धारण किये मेघके समान श्याम शरीर एक चतुर्भुज पुरुषकी शान्त मूर्ति बैठी है। उसके नेत्र कमलदलकी भाँति विशाल और अरुणवर्ण थे ॥ ४६ ॥ उसका मुख अति सुन्दर और प्रसन्न था। उसकी मुसकान भरी चितवन बड़ी मनोहर थी। भ्रुकुटि और नासिका ऊँची और सुहावनी थी तथा वह सुन्दर कर्णपुट, मनोहर कपोल और अरुण अधरोंसे सुशोभित था ॥४७॥ उसकी भुजाएँ लम्बी और स्थूल थीं। कन्धे ऊँचे थे। वक्षःस्थलमें श्रीलक्ष्मीजी विराजमान थीं। कण्ठ शङ्खके समान सुडौल और नाभि नीची थी और त्रिवलीयुक्त उदर पीपलके पत्तेके समान शोभायमान था ॥ ४८ ॥ उसका विशाल कटिप्रदेश और नितम्बोंसे तथा हाथीके सूँड़के समान दो उरुओंसे सुशोभित था और उसके अति सुन्दर दो जानु एवं दोनोंही जङ्घाएँ थीं ॥ ४९ ॥ वह ऊँचे गुल्फों और अरुणवर्ण नखोंकी कान्तिसे युक्त था तथा उसके चरणकमल कोमल अँगुलियों और अंगूठोंसे शोभायमान थे ॥ ५० ॥ वह महामूल्यवान् मणियोंसे जटित किरीट, कटक, अङ्गद कटिसूत्र, यज्ञोपवीत, हार, नूपुर और कुण्डलसे देदीप्यमान हो रहा था। उसके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म, वक्षःस्थलमें श्रीवत्स और गलेमें वनमाला तथा कौस्तुभमणि विराजमान था ॥ ५१–५२ ॥ वह नन्द-सुनन्दादि पार्षदों, सनकादि महर्षियों, ब्रह्मा महादेव आदि देवताओं, मरीचि आदि नौ ब्राह्मणों और प्रह्लाद, नारद तथा अष्टवसु आदि भक्तश्रेष्ठों द्वारा भिन्न-भिन्न बुद्धिसे स्तूय मान हो रहा था ॥५३–५४॥ श्री, पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति तुष्टि, इला, ऊर्जा विद्या आदि शक्तियाँ तथा माया उसकी सेवा कर रही थीं ॥ ५५ ॥ यह दृश्य देखकर अक्रूरजीको बड़ा आनन्द हुआ। वे निगूढ़ भक्तिभावसे भर गये, उनके शरीरमें रोमाञ्च होगया और भावोद्रेकके कारण उनके नेत्रोंसे आँसू बरसने लगा ॥ ५६ ॥

गिरा गद्गदयास्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः । प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूरप्रतियाने एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अक्रूर उवाच

नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं नारायणं पूरुषमाद्यमव्ययम् ।
यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद् ब्रह्माऽऽविरासीद् यत एष लोकः ॥१॥
भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजादिर्मन इन्द्रियाणि ।
सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥२॥
नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोऽनात्मतया गृहीताः ।
अजोऽनुबद्धः स गुणैरजाया गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ॥३॥
त्वां योगिनो यजन्त्यद्धा महापुरुषमीश्वरम् । साध्यात्मं साधिभूतं च साधिदैवं च साधवः ॥४॥
त्रय्या च विद्यया केचित्त्वां वै वैतानिका द्विजाः । यजन्ते विततैर्यज्ञैर्नानारूपामराख्यया ॥५॥
एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः । ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥६॥
अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते । यजन्ति त्वन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् ॥७॥
त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् । बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥८॥
सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम् । येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो ॥९॥

तब अक्रूरजीने धैर्य धारणपूर्वक भगवानके चरणोंमें सिर नवाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर गद्‌गदवाणीसे धीरे-धीरे सावधानतापूर्वक इस तरह स्तुति करने लगे ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

(अक्रूर द्वारा की हुई भगवत्स्तुति) अक्रूरजी कहने लगे—हे कृष्णचन्द्र ! जिनसे यह सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुआ है, वे ब्रह्माजी जिनकी नाभिसे उत्पन्न कमलकोशसे प्रकट हुए हैं, उन सब कारणोंके कारण, अविनाशी आप आदिपुरुष नारायणको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, महत्तत्त्व, माया और पुरुष तथा मन, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और इनके अधिष्ठाता देवता ये जितने भी जगत्‌के मूल कारण हैं, वे सब आपके ही अङ्ग हैं ॥२॥ अनात्मरूपसे ग्रहण किये जानेवाले माया आदि सबके आत्मरूप आप परमात्माके स्वरूपको लोग नहीं जान पाते। ब्रह्माजी भी आपकी मायाके गुणोंसे युक्त हैं । अतः वे भी आपके गुणातीत स्वरूपको नहीं जान पाते ॥ ३ ॥ योगीजन भी अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव सहित आप परमपुरुष परमेश्वरका ही पूजन करते हैं ॥ ४ ॥ इसी तरह कितनेही कर्मकाण्डी ब्राह्मण देवत्रयीकी विधिसे अनेक यज्ञोंद्वारा इन्द्रादि विभिन्न नाम और रूपोंसे आपहीका याग-यजन करते हैं ॥ ५ ॥ कितने ज्ञानीजन भी अपने सब कर्मोंको त्याग और शान्तभावमें स्थित होकर ज्ञानयज्ञ द्वारा आप ज्ञानस्वरूपका ही यजन करते हैं ॥ ६ ॥ इसी तरह बहुतसे शुद्धचित्त वैष्णव आपहीकी बतलायी हुई पाञ्चरात्र आदि विधियोंसे तन्मय होकर वासुदेव-सङ्कर्षण आदि अनेक और नारायण नामक एक मूर्तिसे आपहीकी पूजा करते हैं ॥ ७ ॥ हे भगवन् ! कुछ लोग शिवजीके बतलाये आचार्यभेदसे शैव-पाशुपत आदि अनेक भेदों-वाले मार्गसे शिवरूपमें आपकी उपासना करते हैं ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! जो अन्य देवताओंके भक्त हैं,

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो । विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः १०
सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः । तेषु हि प्राकृताःप्रोता आब्रह्मस्थावरादयः ॥११॥
तुभ्यं नमस्तेऽस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वात्मने सर्वधियां च साक्षिणे ।
गुणप्रवाहोऽयमविद्यया कृतः प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥
अग्निर्मुखं तेऽवनिरङ्घ्रिरीक्षणं सूर्यो नभो नाभिरथो दिशः श्रुतिः
द्यौः कं सुरेन्द्रास्तव बाहवोऽर्णवाः कुक्षिर्मरुत् प्राणबलं प्रकल्पितम् ॥१३॥
रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थिनखानि तेऽद्रयः ।
निमेषणं रात्र्यहनी प्रजापतिर्मेढ्रस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥
त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः सपाला बहुजीवसङ्कुलाः ।
यथा जले सञ्जिहते जलौकसोऽप्युदुम्बरे वा मशका मनोमये ॥१५॥
यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं बिभर्षि हि । तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥
नमः कारणमत्स्याय प्रलयाब्धिचराय च । हयशीर्ष्णे नमस्तुभ्यं मधुकैटभमृत्यवे ॥१७॥
अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे । क्षित्युद्धारविहाराय नमः शूकरमूर्तये ॥१८॥
नमस्तेऽद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह । वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥
नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे । नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च । प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥

वे यद्यपि भेदबुद्धिवाले हैं। तथापि आप सर्वदेवमय हैं, इसलिये वे सब भी आप परमेश्वरका ही यजन करते हैं॥ ९॥ जैसे पर्वतोंसे निकली नदियाँ मेघके जलसे उतराकर सब ओरसे बहती हुई समुद्रहीमें जा गिरती हैं। हे प्रभो! उसी प्रकार सब उपासनामार्ग अन्तमें आपहीकी प्राप्ति कराते हैं॥ १०॥ सत्त्व, रज और तम ये आपहीकी मायाके गुण (धागे) हैं और इन्हींमें ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सब जीव गुँथे हुए हैं॥ ११॥ आप सर्वरूप और सबकी बुद्धियोंके साक्षी हैं। अतः आपकी दृष्टि निर्लिप्त है। आपको मैं प्रणाम करता हूँ। अविद्याकृत गुणप्रवाहसे देव, मनुष्य और तिर्यगादि योनियोंमें ही प्रवृत्त हैं। आप तो इससे सर्वथा अलिप्त रहते हैं॥ १२॥ अग्नि आपका मुख है, पृथिवी चरण है, सूर्य नेत्र हैं, आकाश नाभि है, दिशाएँ कान हैं, स्वर्ग सिर है, देवेन्द्रगण भुजाएँ हैं, समुद्र कोख है, वायु प्राणशक्ति है॥ १३॥ वृक्ष और औषधियाँ रोम हैं, मेघ सिरके केश हैं, पर्वत आप परमात्माके अस्थिसमूह और नख हैं, रात्रि और दिन पलकोंका खोलना मूँदना है, प्रजापति लिङ्ग हैं तथा वृष्टि आपका वीर्य है॥ १४॥ हे अव्ययात्मन्! लोकपालों सहित अनेक प्राणियोंसे परिपूर्ण लोक जैसे जलमें बहुत-से जलचर जीव और गूलरोंमें मच्छड़ आदि रहते हैं, उसी प्रकार आप मनोमय ज्ञानस्वरूप परमपुरुषमें ही सब कल्पित हैं॥ १५॥ आप लीलाके लिये पृथिवीपर जो-जो रूप धारण करते हैं, उनके प्रभावसे शोकरहित होकर लोग आनन्दपूर्वक आपका गुणगान करते हैं॥ १६॥ कारणवश मत्स्यावतार धारणकर प्रलयसागरमें क्रीडा करनेवाले आप परमेश्वरको अनेकशः नमस्कार है। मधु और कैटभनामक दैत्यको मारनेवाले आप हयग्रीव भगवान-को नमस्कार है॥ १७॥ मन्दराचल पर्वतको धारण करनेवाले वृहत्काय कूर्मभगवानको नमस्कार है। पृथिवीका लीलापूर्वक उद्धार करनेवाले वाराहरूप भगवानको नमस्कार है॥ १८॥ हे सज्जनोंका भय दूर करनेवाले प्रभो! अद्भुत नृसिंहरूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है। अपने पैरोंसे तीनों लोकोंको नाप लेनेवाले वामनरूप आपको नमस्कार है॥ १९॥ उन्मत्त क्षत्रियोंके वनको (अपने परशुसे) काटनेवाले श्रीभृगुपति परशुरामरूपधारी आपको नमस्कार है। रावणका अन्त करनेवाले आप श्रीरघुनन्दनको नमस्कार है॥ २०॥ यादवोंके स्वामी श्रीवासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न

नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने । म्लेच्छप्रायक्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥
भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तव मायया । अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥
अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु । भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो॥२४॥
अनित्यानात्मदुःखेषु विपर्ययमतिर्ह्यहम् । द्वन्द्वारामस्तमोविष्टो नजाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम्२५
यथाबुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्भवैः । अभ्येति मृगतृष्णां वै तद्वत्त्वाहं पराङ्मुखः॥२६॥
नोत्सहेऽहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः । रोद्धुं प्रमाथिभिश्चाक्षैर्ह्रियमाणमितस्ततः ॥२७॥
सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥२८॥
नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे । पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ॥२९॥
नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च । हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धेऽक्रूरस्तुतिर्नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

स्तुवतस्तस्य भगवान् दर्शयित्वा जले वपुः । भूयः समाहरत् कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः॥१॥
सोऽपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः। कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत् ॥२॥

और अनिरुद्धरूप आप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ २१ ॥ दैत्य और दानवोंको मोहित करनेवाले तथा शुद्धचित्त बुद्धभगवानको नमस्कार है और म्लेच्छोंके समान आचरणशील क्षत्रियोंका संहार करनेवाले कल्किभगवानको नमस्कार है ॥ २२ ॥ हे भगवन् ! सृष्टिके सम्पूर्ण जीव आपकी मायासे मोहित होकर ही 'मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसा असत् आग्रहकर कर्ममार्गमें भटक रहे हैं ॥ २३ ॥ हे विभो ! मैं मूर्ख भी शरीर, पुत्र, घर, स्त्री, धन और स्वजन आदि स्वप्नसदृश पदार्थोंको सत्य मानकर उनमें भटक रहा हूँ ॥ २४ ॥ मैं अनित्य, अनात्म और दुःखरूप पदार्थोंमें विपरीत अर्थात् नित्य, आत्मा और सुखबुद्धि करके अज्ञानवश सुख-दुःखादि द्वन्दोंमें रम रहा हूँ और अपने प्रिय आप परमेश्वरको नहीं जानता ॥ २५ ॥ जैसे कोई अज्ञानी पुरुष जलहीसे उत्पन्न तृण-शैवालादि पदार्थोंसे ढके हुए जलको छोड़कर मृगतृष्णाकी ओर दौड़ता है, वैसे ही अपनी मायासे ढँके हुए आपको छोड़कर मैं विषयोंमें भटकता फिर रहा हूँ ॥ २६ ॥ वासनाओंके कारण मेरी बुद्धि हीन होगयी है। इसलिये काम्यकर्मों और कामनाओंसे चञ्चल तथा बलवान् इन्द्रियों द्वारा इधर-उधर भटकाये हुए अपने चित्तको रोकनेमें मैं समर्थ नहीं हो रहा हूँ ॥ २७ ॥ हे ईश ! अब मैं आपकी चरणशरणमें आया हूँ। आपके चरण असत्पुरुषोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य हैं। 'मुझ अधमको उनका दर्शन हुआ' यह मैं आपहीकी कृपाका फल मानता हूँ। हे पद्मनाभ ! जब प्राणीके संसारबन्धनका अन्त होनेको होता है, तभी उसकी बुद्धि आपमें लगती है ॥ २८ ॥ हे प्रभो ! आप केवल विज्ञानमूर्ति, समस्त प्रतीतियोंके आश्रय तथा पुरुषोंको सुख-दुःखादि प्राप्त करानेवाले काल और स्वभावादिके नियन्ता हैं। ऐसे आप अनन्तशक्ति परब्रह्मको मेरा नमस्कार है ॥ २९ ॥ आप वासुदेव, सब प्राणियोंके आश्रय अर्थात् संकर्षणदेव, हृषीकेश अर्थात् बुद्धि और मनके अधिष्ठाता, प्रद्युम्न और अनिरुद्धको नमस्कार है। हे प्रभो ! आप मुझ शरणागतकी रक्षा करिये ॥ ३० ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

(श्रीकृष्णका मथुरा-प्रवेश) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस तरह स्तुति करते हुए अक्रूरजीको जलके भीतर अपना अनुपम रूप दिखाकर भगवानने उसे नाट्यवेषधारी नटके समान

तमपृच्छद्धृषीकेशः किं ते दृष्टमिवाद्भुतम् । भूमौ वियति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥३॥

अक्रूर उवाच

अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले । त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥४॥
यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ वियति वा जले । तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मे दृष्टमिहाद्भुतम् ॥५॥
इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः । मथुरामनयद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥६॥
मार्गे ग्रामजना राजंस्तत्र तत्रोपसंगताः । वसुदेवसुतौ वीक्ष्य प्रीता दृष्टिं न चाददुः ॥७॥
तावद् व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोऽग्रतः । पुरोपवनमासाद्य प्रतीक्षन्तोऽवतस्थिरे ॥८॥
तान् समेत्याह भगवानक्रूरं जगदीश्वरः । गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥९॥
भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् । वयं त्विहावमुच्याथ ततो द्रक्ष्यामहे पुरीम् ॥१०॥

अक्रूर उवाच

नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो । त्यक्तुं नार्हसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥११॥
आगच्छ याम गेहान् नः सनाथान् कुर्वधोक्षज । सहाग्रजः सगोपालैः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥१२॥
पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम् । यच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः ॥१३॥
अवनिज्याङ्घ्रियुगलमासीच्छ्लोक्यो बलिर्महान् । ऐश्वर्यमतुलं लेभे गतिं चैकान्तिनां तु या ॥१४॥
आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रींल्लोकाञ्छुचयोऽपुनन् । शिरसाधत्त याः शर्वः स्वर्याताः सगरात्मजाः ॥१५

फिर छिपा लिया ॥१॥ उस रूपको अन्तर्धान देख अक्रूरजी जलसे बाहर निकल आये और शीघ्र ही सब आवश्यक कर्मोंसे निवृत्त होकर विस्मयपूर्वक रथपर लौट पड़े ॥ २ ॥ तदनन्तर कृष्णभगवानने कहा—"हे अक्रूरजी ! आपने पृथिवी आकाश या जलमें कोई विचित्र बात देखी है ? क्योंकि आपकी आकृतिसे कुछ ऐसा ही ज्ञात होता है" ॥ ३ ॥ अक्रूरजीने कहा—हे प्रभो ! पृथिवी, आकाश और जलमें जितने अद्भुत पदार्थ हैं आप सर्वरूपके देख लेनेपर उनमेंसे मेरे लिये कोई भी बिना देखा नहीं रह जाता ॥ ४ ॥ पृथिवी, आकाश या जलमें जितने अद्भुत पदार्थ हैं वे सब आपही में तो विराजमान हैं। अतएव हे ब्रह्मन् ! आपको देख लेनेपर मैंने आपके सिवा और कौनसी अद्भुत वस्तु देखी होगी ॥ ५ ॥ भगवानसे ऐसा कहकर गान्दिनीपुत्र श्रीअक्रूरजीने अपना रथ हाँका और सायंकालको राम और कृष्णको लिये हुए मथुरापुरीमें पहुँच गये ॥ ६ ॥ हे राजन् ! मार्गमें जहाँ-तहाँ मिलनेवाले ग्रामीण लोग वसुदेव-देवकीके बालकोंको देखकर उनकी रूपमाधुरीसे आनन्दित हो उनकी ओरसे अपनी दृष्टि नहीं हटा पाते थे ॥ ७ ॥ नन्द आदि सब व्रजवासी गोपगण राम और कृष्णके पहुँचनेसे पहले ही मथुरा पहुँच गये थे और नगरके बाहर उपवनमें ठहरकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे ॥८॥ उनके निकट पहुँचनेपर जगतपति भगवान कृष्णने विनयशील अक्रूरका हाथ पकड़कर कुछ मुसकाते हुए नम्र वाणीमें कहा—॥ ९ ॥ "आप रथ लेकर नगरमें प्रवेश करते हुए अपने घर जाइये । हम कुछ देर यहाँ ठहरकर फिर नगरकी शोभा देखने निकलेंगे" ॥ १० ॥ अक्रूरजीने कहा—हे प्रभो ! मैं आपके बिना मथुरा नहीं जा सकता । हे भक्तवत्सल ! मैं आपका भक्त हूँ । हे नाथ ! आप मुझे न छोड़िये ॥ ११ ॥ हे अधोक्षज ! आइये साथ चलें । हे सुहृत्तम ! बड़े भाई बलराम और सखा ग्वालबालोंके साथ चलकर आप हमारे घरको सनाथ करिए ॥ १२ ॥ हे नाथ ! आप हम गृहस्थोंके घरोंको अपने उस चरणके रजसे पवित्र कीजिये, जिस चरणके धौत जल अर्थात गङ्गाजीसे अग्नियों सहित पितृगण और सब देवता तृप्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥ हे प्रभो ! आपके चरण-युगलको धोनेसे ही महात्मा बलि परम यशस्वी हुए थे और उन्हें अतुल ऐश्वर्य तथा आपके अनन्य भक्तोंको प्राप्त होने योग्य गति प्राप्त हुई थी ॥ १४ ॥ आपके पवित्र चरण-जलने तीनों लोकोंको पवित्र किया है। इसे श्रीमहादेवजी भी अपने सिरपर धारण करते हैं और इसीका स्पर्श होनेसे सगरके सौ पुत्र

देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन । यदूत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोऽस्तु ते ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

आयास्ये भवतो गेहमहमार्यसमन्वितः । यदुचक्रद्रुहं हत्वा वितरिष्ये सुहृत्प्रियम् ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

एवमुक्तो भगवता सोऽक्रूरो विमना इव । पुरीं प्रविष्टः कंसाय कर्मावेद्य गृहं ययौ ॥१८॥
अथापराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः । मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥१९॥

ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुरद्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदामुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥२०॥
सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमैर्मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥२१॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥२२॥
आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥२३॥
तां संप्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ वृतौ वयस्यैर्नरदेववर्त्मना ।
द्रष्टुं समीयुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो हर्म्याणि चैवारुरुहुर्नृपोत्सुकाः ॥२४॥
काश्चिद् विपर्यग्धृतवस्त्रभूषणा विस्मृत्य चैकं युगलेष्वथापराः ।
कृतैकपत्रश्रवणैकनूपुरा नाङ्क्त्वा द्वितीयं त्वपराश्च लोचनम् ॥२५॥

स्वर्गलोग सिधारे थे ॥ १५ ॥ हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे पुण्यश्रवणकीर्तन ! हे यदुश्रेष्ठ ! हे पुण्यकीर्ते ! हे नारायण ! आपको अनेकशः नमस्कार है ॥ १६ ॥ श्रीभगवान बोले—मैं यदुवंशके द्रोही कंसको मारकर बलरामजीके साथ आपके घर अवश्य आऊँगा और अपने सुहृदोंका प्रिय करूँगा ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवानके इस प्रकार कहनेपर अक्रूरजीने कुछ अनमनेसे होकर मथुरामें प्रवेश किया और कंसको कृष्ण-बलदेवके आगमनका समाचार सुनाकर अपने घर चले गये ॥ १८ ॥ तब सङ्कर्षण सहित भगवान कृष्णने अपराह्णकालमें मथुरापुरी देखनेके लिये गोपालोंके सहित नगरमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥ वहाँ भगवानने देखा कि नगरके ऊँचे-ऊँचे द्वार स्फटिक मणिके बने हुए हैं, उनमें बड़ी-बड़ी सोनेकी किवाड़ें लगी हैं और उत्सवके कारण सब ओर बन्दनवारें बँधी हुई हैं। धान्यागार और कोष ताँबे और पीतलसे मढ़े हुए हैं। नगरके सब ओर एक खाईं खुदी है, जिसके कारण पुरीमें शत्रुके लिये प्रवेश करना बहुत कठिन है और वह पुरी सब ओरसे सुरम्य उद्यान और उपवनोंसे सुशोभित हो रही है ॥ २० ॥ सुवर्णमय चौराहा है। धनियोंके महल, महलोंके बगीचे तथा श्रेणीबद्ध सभाभवन और अन्यान्य भवन नगरकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वैदूर्य, वज्र, निर्मल नीलमणि, विद्रुम, मोती और हीरा आदिसे ज़ड़े हुए वलभी अर्थात् झाँप, वेदी, झरोखे एवं फर्श आदि जगमगा रहे हैं। उनमें ठौर-ठौर कबूतर और मयूर आदि पक्षी भाँति-भाँतिकी बोली बोल रहे हैं। गली, बाजार, मार्ग और चबूतरोंपर छिड़काव किया गया है और जहाँ-तहाँ फूलोंकी माला, दूब, खील और चावल बिखरे पड़े हैं ॥ २१–२२ ॥ नगरमें सब भवनोंके द्वार दही और चन्दनादिके चर्चित जलसे भरे हुए कलशों तथा पुष्प, दीपक, नवपल्लव फलसहित केलेके वृक्ष सुपारीके वृक्ष और छोटी-छोटी झण्डियों तथा रेशमी वस्त्रोंसे भली प्रकार सजे हैं ॥ २३ ॥ हे राजन् ! मथुरापुरीमें पहुँचे हुए वसुदेवनन्दन बलराम और कृष्ण जब अपने साथियोंके साथ राजमार्गसे होकर जाने लगे, तब

अश्नन्त्य एकास्तदपास्य सोत्सवा अभ्यज्यमाना अकृतोपमज्जनाः ।
स्वपन्त्य उत्थाय निशम्य निःस्वनं प्रपाययन्त्योऽर्भमपोह्य मातरः ॥२६॥
मनांसि तासामरविन्दलोचनः प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम् ॥२७॥
दृष्ट्वा मुहुःश्रुतमनुद्रुतचेतसस्तं तत्प्रेक्षणोत्स्मितसुधोक्षणलब्धमानाः ।
आनन्दमूर्तिमुपगुह्य दृशाऽऽत्मलब्धं हृष्यत्त्वचो जहुरनन्तमरिन्दमाधिम् ॥२८॥
प्रासादशिखरारूढाः प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः । अभ्यवर्षन् सौमनस्यैः प्रमदा बलकेशवौ ॥२९॥
दध्यक्षतैः सोदपात्रैः स्रग्गन्धैरभ्युपायनैः । तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥३०॥
ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत् । या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥३१॥
रजकं कञ्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः । दृष्ट्वायाचत वासांसि धौतान्यत्युत्तमानि च ॥३२॥
देह्यावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चार्हतोः । भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥३३॥
स याचितो भगवता परिपूर्णेन सर्वतः । साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राज्ञः सुदुर्मदः ॥३४॥
ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः । परिधत्त किमुद्वृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥३५॥

उनको देखनेके लिये तुरन्त एकत्रित होकर नगरकी नारियाँ अत्यन्त उत्सुकतासे अपने-अपने महलोंकी छतोंपर चढ़ गयीं ॥ २४ ॥ हड़बड़ीके कारण कोई उलटे वस्त्र और आभूषण पहनकर, कोई दो-दो पहने जाने वाले आभूषणोंमेंसे भूलसे केवल एक-एक ही पहनकर, कोई एक ही कानके आगे पत्ररचना करके, कोई एकही पाँवमें नूपुर पहनकर और कोई एक ही आँखमें अञ्जन लगाकर दूसरी आँखमें बिना आँजन लगाये ही चल पड़ी ॥ २५ ॥ कुछ भोजन कर रही थीं, वे उत्साहके कारण हाथका ग्रास वहीं छोड़कर भागीं । कोई उबटन लगवा रही थीं, वे बिना स्नान किये ही दौड़ीं । इसी तरह जो सो रहीं थीं, वे कोलाहल सुनकर उठ दौड़ीं और जो बालकोंको दूध पिला रही थीं, वे दूध पीते बालकों-को वहीं छोड़कर चल पड़ीं ॥ २६ ॥ मस्त गजराजके समान पराक्रमी कमलनयन कृष्णने अपने रमारमण श्याम शरीरसे वहाँकी पुरनारियोंके नेत्रोंको आनन्दित करते हुए अपनी बिलासमयी प्रगल्भ हँसी और चितवनसे उनके चित्तोंको बरबस हर लिया ॥ २७ ॥ हे शत्रुदमन ! बहुत दिनोंसे कृष्णचन्द्र सम्बन्धी बातें सुनते रहनेके कारण उनके चित्त चञ्चल हो रहे थे । आज उन्हें बारम्बार देख और उनकी चितवनकी हास्य सुधासे सींची जाकर वे सत्कृत हुईं । उन्होंने उस आनन्दमयी और मनोहर मूर्तिको अपने नयनपथसे हृदयमें उतारकर उसका आलिङ्गन किया और पुलकित होकर उनकी अनन्त विरह-व्यथासे मुक्त हो गयीं ॥ २८ ॥ अत्यन्त प्रसन्नताके कारण जिनके मुख-कमल खिले हुए थे, वे मथुराकी स्त्रियाँ अपने घरोंकी अटारियोंपर चढ़कर बलराम और कृष्णपर फूलोंकी वर्षा करने लगीं ॥ २९ ॥ ब्राह्मणादि द्विजातियोंने जहाँ-तहाँ दही, अक्षत और जलसे भरे पात्र, फूलोंकी माला एवं चन्दनादि सामग्रियोंसे उन दोनों भाइयोंकी अतिशय प्रसन्नतासे पूजा की ॥ ३० ॥ भगवानको देखकर सब पुरवासी कहने लगे—"अहो ! व्रजकी गोपियोंने ऐसा कौन महान् तप किया था, जिससे वे मनुष्यमात्रको आनन्दित करनेवाली इन दोनों मनोहर मूर्तियोंको नित्य देखती हैं ॥ ३१ ॥ इसी समय एक धोबी जो कपड़े धोनेका भी काम करता था, अपनी ओर आता दिखाई पड़ा । भगवान कृष्णने उससे अति उत्तम धुले हुए कपड़े माँगे ॥ ३२ ॥ भगवान बोले—"हे भाई ! तुम हमें हमारे अङ्गोंमें ठीक आने लायक वस्त्र दे दो । ये वस्त्र हमारे ही योग्य है । हमें कपड़े देनेसे तुम्हारा कल्याण होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है" ॥ ३३ ॥ वह रजक राजा कंसका सेवक था, इसलिये बड़ा अभिमानी था । पूर्णकाम भगवान कृष्णके वस्त्र माँगनेपर उसने क्रुद्ध होकर आक्षेप करते हुए कहा—॥ ३४ ॥ "तुम पहाड़ और वनोंमें विचरनेवाले अहीर सदा ऐसेही वस्त्र तो पहनते

याताशु बालिशा मैवं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा । बध्नन्ति घ्नन्ति लुम्पन्ति दृप्तं राजकुलानि वै ३६
एवं विकत्थमानस्य कुपितो देवकीसुतः । रजकस्य कराग्रेण शिरः कायादपातयत् ॥३७॥
तस्यानुजीविनः सर्वे वासःकोशान् विसृज्य वै । दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांसि जगृहेऽच्युतः॥३८॥
वसित्वाऽऽत्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्कर्षणस्तथा । शेषाण्यादत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ३९
ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् । विचित्रवर्णैश्चैलेयैराकल्पैरनुरूपतः ॥४०॥
नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः । स्वलङ्कृतौ बालगजौ पर्वणीव सितेतरौ ॥४१॥
तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः । श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम्॥४२॥
ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः । तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥४३॥
तयोरासनमानीय पाद्यं चार्घ्यार्हणादिभिः । पूजां सानुगयोश्चक्रे स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः॥४४॥
प्राह नः सार्थकं जन्म पावितं च कुलं प्रभो । पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥४५॥
भवन्तौ किल विश्वस्य जगतः कारणं परम् । अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च भवाय च ॥४६॥
न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः । समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि ॥४७॥
तावाज्ञापयतं भृत्यं किमहं करवाणि वाम् । पुंसोऽत्यनुग्रहो ह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते ॥४८॥
इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतमानसः । शस्तैः सुगन्धैः कुसुमैर्मालां विरचितां ददौ ॥४९॥

हो ? हैं हैं ! ऐसे बढ़कर क्यों चलते हो ? तुम तो राजाकी चीजोंको पहननेके लिए बढ़ चले ! ॥३५॥ अरे मूर्खों ! जाओ, यदि जीना चाहते हो तो फिर कभी ऐसी वस्तुएँ मत माँगना। देखो, तुम-जैसे उद्धत लोगोंको राजकर्मचारीगण बाँधते और मारते हैं और उनके पास जो कुछ रहता है, वह सब छीन लेते हैं" ॥ ३६ ॥ इस तरह डींग हाँकनेवाले उस रजकपर कुपित होकर भगवान देवकीनन्दनने अपने हाथके अग्रभाग (नाखून) से उसका सिर काटकर धड़से अलग गिरा दिया ॥ ३७ ॥ यह दशा देखकर जो धोबी उसीके आश्रित रहकर अपनी जीविका चलाते थे, वे सब कपड़ोंके गट्ठर वहीं छोड़कर इधर-उधर भाग निकले। तब भगवानने उन सब वस्त्रोंको ले लिया ॥ ३८ ॥ श्रीकृष्ण और बलरामजीने उनमेंसे मनमाने वस्त्र पहने और जो बचे सो गोपोंको दे दिये और कुछ पृथिवीपर पड़े छोड़ दिये ॥ ३९ ॥ कुछ आगे बढ़नेपर एक दर्जी मिला, उसने उनके अनुपम रूपपर प्रसन्न होकर रंग-बिरंगे कपड़ोंकी सजावटसे उनका बड़ा सुन्दर वेष बना दिया ॥ ४० ॥ उन नाना प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित राम और कृष्ण उत्सवके समय भली प्रकार सजाये हुए श्वेत और श्यामवर्णके दो छोटी अवस्थावाले हाथियोंके समान दीखे ॥ ४१ ॥ भगवानने उस दर्जीपर प्रसन्न होकर उसे परलोकमें सारूप्य मोक्ष दिया और इस लोकमें अत्यन्त लक्ष्मी, बल, ऐश्वर्य, स्मृति और कभी शिथिल न होनेवाली इन्द्रियोंकी शक्ति दी ॥ ४२ ॥ इस प्रकार विचरते हुए वे सुदामा मालीके घर गये। भगवान कृष्ण और बलरामजीको देखकर सुदामा उठ खड़ा हुआ और पृथिवीपर सिर रखकर प्रणाम किया ॥४३॥ फिर उन्हें आसन देकर ग्वालबालोंके साथ दोनों भाइयोंका पाद्य, अर्घ्य, माला, ताम्बूल और चन्दनादिसे उसने पूजा की ॥ ४४ ॥ फिर कहा—"हे प्रभो ! आपके पधारनेसे हमारा जन्म सफल हो गया और कुल भी पवित्र होगया तथा पितृगण, ऋषिगण और देवगण मुझसे सन्तुष्ट होगये ॥ ४५ ॥ आप अवश्य समस्त संसारके परम कारण हैं। आप संसारके कल्याणार्थ और उन्नतिके लिये ही अपनी कलाओं सहित इस पृथिवीपर अवतीर्ण हुए हैं ॥ ४६ ॥ यद्यपि आप भजनेवालोंको ही भजते हैं तो भी आपमें विषम दृष्टि नहीं है। क्योंकि आप जगत्के परम सुहृद् और आत्मा हैं। आपकी दृष्टिमें सभी जीव बराबर हैं ॥ ४७ ॥ हे नाथ ! मैं आपका दास हूँ। आप मुझे आज्ञा दें। मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? हे भगवान ! आपकी आज्ञा पालन करनेका अवसर मिले—यही जीवपर आपकी सबसे बड़ी दया है" ॥ ४८ ॥ हे राजेन्द्र ! ऐसा कहकर सुदामाने उनका अभिप्राय जानकर उन्हें

ताभिः स्वलङ्कृतौ प्रीतौ कृष्णरामौ सहानुगौ । प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदौ वरान् ॥५०॥
सोऽपि वव्रेऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि । तद्भक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥५१॥
इति तस्मै वरं दत्त्वा श्रियं चान्वयवर्धिनीम् । बलमायुर्यशः कान्तिं निर्जगाम सहाग्रजः ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे पुरप्रवेशो नाम एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ व्रजन् राजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।
विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥१॥
का त्वं वरोर्वेतदुहानुलेपनं कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः ।
देह्यावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते नचिराद् भविष्यति ॥२॥

सैरन्ध्र्युवाच

दास्यस्म्यहं सुन्दर कंससंमता त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि ।
मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोऽन्यतमस्तदर्हति ॥३॥

रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवीक्षितैः । धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुभयोरनुलेपनम् ॥४॥
ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णेतरशोभिना । सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेऽनुरञ्जितौ ॥५॥
प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्रां रुचिराननाम् । ऋज्वीं कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् ॥६॥

प्रसन्न मनसे परम प्रशंसनीय सुगन्धित पुष्पोंकी बनी मालाएँ पहनायीं ॥ ४९ ॥ साथी ग्वालबालोंके सहित अच्छी तरह अलंकृत होकर वरदायक कृष्णचन्द्र और बलदेवने अति प्रसन्न होकर विनीत और शरणागत सुदामासे वर माँगनेके लिए कहा ॥ ५० ॥ तब सुदामाने उन सर्वात्मा श्रीहरिमें अचला भक्ति, उनके भक्तोंमें प्रेम और सब जीवोंके प्रति परम दयाका वर माँगा ॥ ५१ ॥ उसके माँगे हुए वर और साथ-साथ सन्तानकी वृद्धि करनेवाली लक्ष्मी, बल, आयु, यश और कान्ति आदि देकर बलरामजीके साथ श्रीकृष्ण वहाँसे चल पड़े ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

(कुब्जा पर कृपा, धनुर्भङ्ग और मल्लशमलाकी सजावट) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तब भगवान कृष्णने राजमार्गसे जाती हुई एक युवती स्त्रीको, जिसका सुन्दर मुख था, किन्तु वह कुब्जा (कुबड़ी) थी, देखा। वह अपने हाथमें चन्दनका पात्र लिये थी। उसे देखकर प्रेमरस प्रदान करनेवाले श्रीभगवानने हँसते हुए पूछा—॥ १ ॥ "हे वरोरु ! तुम कौन हो ? यह चन्दन किसके वास्ते लिये जा रही हो ? हे कल्याणि ! हमें सब बातें सच-सच बता दो। यह अत्युत्तम अनुलेप हमें भी दो, इससे शीघ्र तुम्हारा कल्याण होगा" ॥ २ ॥ सैरन्ध्रीने कहा—हे सुन्दर ! मैं कंसकी प्रिय दासी हूँ, मेरा नाम त्रिवक्रा है। मैं राजाके यहाँ चन्दन लगानेका काम करती हूँ। मेरा घिसा हुआ चन्दन भोजराज कंसको बहुत पसन्द है। लेकिन अब आपके सिवा और कौन उसका सबसे अधिक उपयुक्त पात्र हो सकता है ? ॥ ३ ॥ ऐसा कहकर कुब्जाने भगवानके रूप, सुकुमारता, माधुर्य और मुसकान भरी बातचीत एवं चितवनसे मुग्ध होकर उन दोनों भाइयोंको वह सुन्दर चन्दन दे दिया ॥ ४ ॥ तब अपने श्याम और गौर वर्णसे भिन्न पीत तथा रक्त वर्णके अङ्गरागको नाभिसे ऊपरी भागमें अनुरञ्जित श्रीकृष्ण और बलदेव बड़े सुन्दर लगने लगे ॥ ५ ॥ तब प्रसन्न भगवानने अपने दर्शनका

पद्भ्यामाक्रम्य प्रपदे द्व्यङ्गुल्युत्तानपाणिना । प्रगृह्य चुबुकेऽध्यात्ममुदनीनमदच्युतः ॥७॥
सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा । मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥८॥
ततो रूपगुणौदार्यसंपन्ना प्राह केशवम् । उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥९॥
एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे । त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥१०॥
एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः । मुखं वीक्ष्यानुगानां च प्रहसंस्तामुवाच ह ॥११॥
एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः पुंसामाधिविकर्शनम् । साधितार्थोऽगृहाणां नः पान्थानां त्वं परायणम् १२
विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन् मार्गे वणिक्पथैः । नानोपायनताम्बूलस्रग्गन्धैः साग्रजोऽर्चितः १३
तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविदन् स्त्रियः । विस्रस्तवासःकबरवलयालेख्यमूर्तयः ॥१४॥
ततः पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः । तस्मिन् प्रविष्टो ददृशे धनुरैन्द्रमिवाद्भुतम् ॥१५॥
पुरुषैर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् । वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥१६॥
करेण वामेन सलीलमुद्धृतं सज्यं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।
नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो यथेक्षुदण्डं मदकर्युरुक्रमः ॥१७॥
धनुषो भज्यमानस्य शब्दः खं रोदसी दिशः । पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥१८॥
तद्रक्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः । ग्रहीतुकामा आवव्रुर्गृह्यतां बध्यतामिति ॥१९॥
अथ तान् दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ । क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥२०॥

प्रत्यक्ष फल दिखानेके लिये तीन जगहसे टेढ़ी किन्तु सुन्दर मुखवाली कुब्जाको सीधी करनेका विचार किया ॥ ६ ॥ उसे सुधारनेका निश्चय करके भगवानने अपने पैरोंसे कुब्जाके पञ्जोंको दबाया और ऊपर की हुई अपने हाथकी दो अँगुलियाँ उसकी ठोड़ीमें लगाकर उसके शरीरको ऊपर उठा दिया ॥ ७ ॥ इतनेसे ही उसके अङ्ग समान और सीधे होगये । श्रीमुकुन्दके करस्पर्शसे वह तत्काल विशाल नितम्ब और पीन पयोधरोंसे युक्त एक उत्तम नारी बन गयी ॥ ८ ॥ रूप, गुण और उदारतासे सम्पन्न होनेपर उसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न होगया और उसने भगवानके दुपट्टेका एक छोर पकड़कर मुसकाते हुए कहा—॥ ९ ॥ "हे वीर ! आइये घर चलें । अब मैं आपको यहाँ नहीं छोड़ सकती । क्योंकि आपने मेरे हृदयमें हलचल उत्पन्न कर दिया है । हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप इस दासीपर प्रसन्न हों" ॥ १० ॥ बलरामजीके समक्ष उस रमणीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर कृष्णने गोपोंके मुखकी ओर देखकर हँसते हुए कहा—॥ ११ ॥ "हे सुभ्रु ! मैं अपना कार्य पूरा करनेके बाद पुरुषोंकी मनोव्यथा दूर करनेवाले तुम्हारे घरपर अवश्य आऊँगा । हम-जैसे निराश्रय पथिकोंके लिये तुम परम आश्रय हो" ॥ १२ ॥ इस तरह उसे अपनी मधुर वाणीसे विदा करके भगवान आगे बढ़े । जब व्यापारियोंके मार्गमें पहुँचे तो उनकी तथा श्रीबलरामजी ताम्बूल, माला और चन्दनादिसे भली प्रकार पूजा हुई ॥ १३ ॥ केवल उनके दर्शनसे ही प्रेमका आवेग बढ़ जानेके कारण स्त्रियोंको अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रह जाती थी । उनके वस्त्र, केशबन्धन और कङ्कण ढीले पड़े जा रहे थे और वे चित्रलिखित मूर्तियोंकी भाँति चुपचाप खड़ी रह जाती थीं ॥ १४ ॥ तदनन्तर पुरवासियोंसे धनुषका स्थान पूछते हुए श्रीकृष्ण रङ्गशालामें पहुँचे और वहाँ इन्द्रधनुषके समान एक विचित्र धनुष रखा देखा ॥ १५ ॥ वह धनुष अगणित रक्षियोंसे सुरक्षित, भली प्रकार पूजित और अत्यन्त वैभवशाली था । भगवान कृष्णने रक्षकोंके रोकनेपर भी उस धनुषको बरजोरी उठा लिया । जैसे कोई महापराक्रमी और मतवाला हाथी ईखको तोड़ डालता है, वैसेही भगवानने सब लोगोंके समक्ष उस धनुषको बायें हाथसे उठाया और उसे चढ़ाते हुए एक पलमें खींचकर बीचसे दो टुकड़े कर डाला ॥ १६-१७ ॥ धनुषके टूटनेके शब्दसे आकाश, पृथिवी और दसों दिशाएँ भर गयीं, जिसे सुनकर कंसको बड़ा डर लगा ॥ १८ ॥ उस धनुषकी रक्षा करनेवाले आततायी असुर अपने अनुचरोंके साथ अत्यन्त कुपित हो

बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात्ततः । निष्क्रम्य चेरतुर्हृष्टौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥२१॥
तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशाम्य पुरवासिनः । तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥२२॥
तयोर्विचरतोः स्वैरमादित्योऽस्तमुपेयिवान् । कृष्णरामौ वृतौ गोपैः पुराच्छकटमीयतुः॥२३॥
गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन् ।
सम्पश्यतां पुरुषभूषणगात्रलक्ष्मीं हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः ॥२४॥
अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् । ऊषतुस्तां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीर्षितम्॥२५॥
कंसस्तु धनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च । वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम्॥२६॥
दीर्घप्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः । बहून्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥२७॥
अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि । असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा॥२८॥
छिद्रप्रतीतिश्छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः । स्वर्णप्रतीतिर्वृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥२९॥
स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम् । यायान्नलदमाल्येकस्तैलाभ्यक्तो दिगम्बरः॥३०॥
अन्यानि चेत्थंभूतानि स्वप्नजागरितानि च । पश्यन् मरणसंत्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया।३१।
व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थिते । कारयामास वै कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम्॥३२॥
आनर्चुः पुरुषा रङ्गं तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे । मञ्चाश्चालङ्कृताः स्रग्भिः पताकाचैलतोरणैः ३३

पकड़नेकी इच्छासे 'पकड़ लो, बाँध लो' ऐसा कहकर कोलाहल मचाने लगे ॥ १९ ॥ उनका दूषित अभिप्राय जानकर श्रीबलराम और कृष्णको भी क्रोध आ गया और वे धनुषके टुकड़ोंको ही लेकर मारने लगे ॥ २० ॥ इस प्रकार कंसकी भेजी हुई सारी सेनाको विध्वंस करके वे धनुःशालासे बाहर निकल आये और आनन्दके साथ मथुराकी शोभा निहारते हुए घूमने लगे ॥ २१ ॥ उन दोनों भाइयोंके अद्भुत पराक्रम, प्रचण्ड तेज, प्रगल्भता (ढिठाई) और अनुपम रूपको देखकर पुरवासियोंने उन्हें कोई श्रेष्ठ देवता समझा ॥ २२ ॥ इस प्रकार कृष्ण और बलराम स्वेच्छापूर्वक नगरमें विचर रहे थे और सूर्य अस्त होगया । तब गोपोंसे आवृत कृष्ण तथा बलराम मथुरापुरीसे बाहर अपने डेरेपर, जहाँ छकड़ा खड़ा था, लौट आये ॥ २३ ॥ अपनेको चाहनेवाले ब्रह्मादिक अन्य देवताओंको छोड़कर श्रीलक्ष्मीजी जिनको निश्चल भावसे भजती हैं, उन पुरुषप्रवर भगवान कृष्णके अङ्गोंकी शोभा निरखनेवाले मथुरावासियोंके विषयमें भगवानसे बिछुड़ते समय विरहातुरा गोपिकाओंने जो-जो बातें कहीं थीं, वे सब मथुरापुरीमें अक्षरशः सत्य हुईं ॥ २४ ॥ हे राजन् ! तब हाथ-पाँव धोकर कृष्ण और बलरामने दुग्धमिश्रित (खीर आदि) अन्नका भोजन किया और 'कंसकी क्या इच्छा है ?' यह जानकर उस रात्रिको सानन्द सोये ॥ २५ ॥ जब कंसने सुना कि राम-कृष्णने खेल-खेलमें धनुष तोड़ डाला और धनुषके रखवालों तथा मेरी सेनाका वध कर दिया तो वह भयवश रात्रिको बहुत देरतक जागता रहा और उस दुर्मतिको सोने तथा जागनेमें विविध मृत्युसूचक अपशकुन दिखायी पड़े ॥ २६–२७ ॥ उसने देखा कि जल या दर्पणमें उसका प्रतिबिम्ब है, परन्तु उसमें सिर नहीं है । कोई आड़ न रहनेपर भी चन्द्रमा, तारों और दीपक आदिकी ज्योतियाँ दो-दो होकर दीखती हैं । छायामें अनेक छिद्र दिखायी देते हैं, कानोंमें प्राणोंका धू-धू शब्द सुनायी नहीं पड़ता, वृक्षोंका रङ्ग सुवर्णके समान पीला दिखायी देता और बालू या कीचड़में पैरोंके चिह्न नहीं दिखायी पड़ते थे ॥ २८–२९ ॥ कंसने स्वप्नमें देखा कि वह प्रेतोंसे गले लगकर मिल रहा है, गधेपर चढ़कर चलता है, विष-भक्षण कर रहा है और सिरसे पैरतक तेलसे तर हो गलेमें जपाकुसुमकी माला पहने नंग-धड़ङ्ग अकेला ही चलता है ॥ ३० ॥ स्वप्न और जाग्रत् अवस्थामें उसने ऐसे-ऐसे और भी बहुत-से अपशकुन देखे । चिन्ता और मृत्युके भयसे उसे उस रोज रातभर नींद नहीं आयी ॥ ३१ ॥ किसी तरह रात्रि बीती और सूर्यनारायण समुद्रके जलसे ऊपर उठे । तब हे कुरुनन्दन !

तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः । यथोपजोषं विविशू राजानश्च कृतासनाः ॥३४॥
कंसः परिवृतोऽमात्यै राजमञ्च उपाविशत् । मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूयता ॥३५॥
वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च । मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समाविशन्
चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च । त आसेदुरुपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥३७॥
नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहुताः । निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन्३८

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे मल्लरङ्गोपवर्णनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

—— —

त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशोचौ परंतप । मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः ॥१॥
रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन् नागमवस्थितम् । अपश्यत् कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम् २
बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान् । उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगभीरया ॥३॥
अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नौ देह्यपक्रम माचिरम् । नो चेत् सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥४॥
एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम् । चोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम् ॥५॥
करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत् । कराद् विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत॥६॥
संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम् । परामृशत् पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥७॥

राजा कंसने मल्लक्रीडाका उत्सव आरम्भ कराया ॥ ३२ ॥ सेवकोंने रङ्गभूमिको भली प्रकार सजाया। तुड़ही और भेरी आदि बाजे बजने लगे और सभी मञ्च माला, पताका, झण्डी और तोरणादिसे भलीभाँति सजाये गये ॥ ३३ ॥ उनपर ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि पुरवासी तथा जनपदवासी लोग अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार बैठे और सब राजे भी अपने-अपने आसनोंपर जा विराजे ॥३४॥ स्वयं राजा कंस अपने मन्त्रियोंके साथ मण्डलेश्वरोंके बीचमें राजसिंहासनपर बैठा। इस समय भी उसका चित्त उद्विग्न था ॥ ३५ ॥ तब मल्लोंके ताल ठोंकनेके साथ बाजे बजने लगे और गर्बीले मल्ल भलीभाँति सजधजकर अपने शिक्षकोंके साथ रङ्गभूमिमें उतरे ॥ ३६ ॥ विविध बाजोंकी मधुर ध्वनिसे उत्साहित चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशल आदि बड़े-बड़े पहलवान अखाड़ेमें आकर बैठे ॥ ३७ ॥ इसी समय नन्द आदि सब गोप कंसके बुलानेसे रङ्गभूमिमें आये और लायी हुई भेटें राजाको समर्पण करके एक मञ्चपर जा बैठे ॥ ३८ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

(कुवलयापीडवध और राम कृष्णका मल्लशालामें प्रवेश) श्रीशुकदेवजी कहते हैं–हे परन्तप ! सबेरे राम और कृष्ण शौचादिसे निवृत्त हो मल्लोंकी ताल और दुन्दुभीका शब्द सुनकर मल्लक्रीड़ा देखनेके लिए उत्सवभवनको चले ॥१॥ रङ्गभूमिके द्वारपर पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्रने देखा कि वहां महावतकी प्रेरणासे कुवलयापीड हाथी खड़ा है ॥२॥ तब श्रीवसुदेवनन्दनने अपनी कमर कस और घुँघराली अलकावलीको समेटकर उस महावतसे मेघके सदृश गम्भीर वाणीमें कहा–॥३॥ "हे महावत ! हमको रास्ता दो, मार्गसे परे हट जाओ, देरी मत करो, नहीं तो मैं तुम्हारे हाथी सहित तुमको अभी यमपुर भेजता हूँ" ॥४॥ भगवान कृष्ण द्वारा इस प्रकार डाँटे जानेपर महावतने कुपित होकर अन्तक, काल और यमके समान उस भयंकर कुवलयापीड हाथीको अंकुशप्रहारसे कुपित करके उन दोनोंकी ओर बढ़ाया ॥५॥ हाथीने कृष्णचन्द्रकी ओर झपटकर उन्हें बड़ी तेजीसे सूँडसे पकड़ा,

पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम् । विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया ॥८॥
स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः । बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोवत्सेनेव बालकः ॥९॥
ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाऽऽहत्य वारणम् । प्राद्रवन् पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे ॥१०॥
स धावन् क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः । तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत् क्षितिम् ११
स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षितः । चोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद् रुषा ॥१२॥
तमापतन्तमासाद्य भगवान् मधुसूदनः । निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥१३॥
पतितस्य पदाऽऽक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया । दन्तमुत्पाटच तेनेभं हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ॥१४॥
मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत् । अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः ।
विरूढस्वेदकणिकावदनाम्बुरुहो बभौ ॥ १५ ॥
वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ । रङ्गं विविशतू राजन् गजदन्तवरायुधौ ॥१६॥
मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥१७॥
हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ । कंसो मनस्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप ॥१८॥

किन्तु वे उससे निकल गये और एक घूँसा मारकर उसके पैरोंमें जा छिपे ॥६॥ भगवानको अपने सामने न देखकर कुवलयापीडको बड़ा क्रोध आया। तब सूँघकर ही जाननेवाले उस गजराजने भगवान्‌को अपनी सूँडसे टटोल लिया, किन्तु वे फिर भी हठात् उससे छूट गये ॥७॥ तब श्रीकृष्णभगवान उस महाबलशाली गजराजकी पूँछ पकड़कर लीलाहीसे गरुड़जी जैसे सर्पको खींच ले जाते हैं, वैसे ही पचीस धनुष अर्थात् सौ हाथ दूर खींच ले गये ॥८॥ पूँछ पकड़ जानेपर घूमते हुए बछड़ेके साथ जैसे बालक घूमता है, उसी प्रकार भगवान भी दायीं-बायीं ओर घूमते हुए उस हाथीके साथ स्वयं भी चक्कर काटने लगे ॥९॥ एकाएक भगवानने हाथीके समक्ष आकर उसे एक थप्पड़ मारा और पद-पद-पर स्पृश्यमान होकर उसके आस-पास दौड़ते हुए उसे गिराने लगे ॥१०॥ उसी तरह दौड़ते-दौड़ते भगवान खेल करनेके लिए एक बार पृथ्वीपर गिरकर तुरन्त उठ खड़े हुए। उन्हें गिरा जानकर हाथीने क्रोधित हो अपने दाँतोंसे पृथिवीपर कठोर प्रहार किया ॥११॥ अपना आक्रमण व्यर्थ हो जानेसे गजराज कुवलयापीडको बड़ा क्रोध हुआ और वह महावतोंकी प्रेरणासे अतिशय क्रोध करके कृष्णचन्द्रपर टूट पड़ा ॥१२॥ उसे आता देखकर भगवान मधुसूदनने अपने हाथों उसकी सूँड़ पकड़कर पृथिवीपर गिरा दिया ॥१३॥ गिरे हुए गजराजको पैरोंसे दबाकर भगवानने सिंहके समान लीलाहीसे उसके दोनों दाँत उखाड़ लिये और उन्हीं दाँतोंकी मारसे हाथी और महावतोंको भी धराशायी कर दिया ॥१४॥ तदनन्तर मरे हुए हाथीको छोड़कर भगवान कृष्णने हाथमें दाँत लिये हुए रङ्गभूमिमें प्रवेश किया। उनके कन्धेपर दाँत रखा था। उनका शरीर रक्त और मदकी बूँदोंसे रंग गया था और मुखकमल पसीनेकी बूँदोंसे भरा था ॥१५॥ हे राजन्! इस तरह हाथोंमें आयुधके रूपमें हाथीदाँत लिये श्रीबलराम और कृष्णने ग्वालबालोंके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया ॥१६॥ आर्य बलरामजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे हुए भगवान कृष्ण मल्लोंको वज्र, मनुष्योंको नररत्न, स्त्रियोंको साक्षात् कामदेव, गोपोंको स्वजन, दुष्ट राजाओंको अपना शासक, पिता-माताको बालक, कंसको मृत्यु, अज्ञानियोंको विराट्, योगियोंको परम तत्त्व और वृष्णिवंशी यादवोंको इष्टदेवके रूपमें देख पड़े ॥१७॥ हे राजन्! कंस बड़ा वीर था। फिर भी कुवलयापीडके मारे जानेसे उन दोनों भाइयोंको दुर्जय समझ-

तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥१९॥
निरीक्ष्य तावुत्तमपूरुषौ जना मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥२०॥

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया । जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः २१
ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् । तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥२२॥
एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि । अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥२३॥
एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम् । कालमेतं वसन् गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि ॥२४॥
पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानवः । अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः २५
गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः । कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ॥२६॥
सप्ताहमेकहस्तेन धृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना । वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम् ॥२७॥
गोप्योऽस्य नित्यमुदितहसितप्रेक्षणं मुखम् । पश्यन्त्यो विविधांस्तापांस्तरन्ति स्वश्रमं मुदा २८
वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः । श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥२९॥
अयं चास्याग्रजः श्रीमान् रामः कमललोचनः । प्रलम्बो निहतो येन वत्सको ये बकादयः ॥३०॥
जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च । कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ३१
हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसंमतौ । नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूता दिदृक्षुणा ॥३२॥

कर वह बहुत सहमा ॥१८॥ विचित्र वेष, आभूषण, माला और वस्त्रादि धारण किये वे महाबाहु नररत्न राम-कृष्ण रङ्गशालामें अपनी कान्तिसे दर्शकोंके चित्त चुराते हुए ऐसे मालूम पड़े, मानो दो सुन्दरवेषसे सुसज्जित नट हों ॥१९॥ हे राजन् ! मञ्चोंपर बैठे हुए नगरनिवासी तथा देशवासी लोगोंके नेत्र और मुख उन दोनों नरवीरोंको देखकर आनन्दसे खिल उठे । अपने नयनोंसे उनके मुखमाधुर्य को पीने लगे, किन्तु बहुत देरतक टकटकी बाँधकर निहारते रहनेपर भी तृप्त नहीं हुए ॥२०॥ उनको देखनेसे जान पड़ता था कि मानों वे उन्हें नेत्रोंसे पी जायँगे, जिह्वासे चाट लेंगे, नासिकसे सूँघ लेंगे या भुजाओंसे समेट लेंगे ॥२१॥ दोनों भाइयोंके रूप, गुण, माधुर्य और निर्भयताने मानो दर्शकोंको उनकी लीलाओंका स्मरण करा दिया था । इस प्रकार वे लोग जैसे उनके विषयमें सुना और देखा था, उसी तरह आपसमें बातें करने लगे ॥२२॥ वे बोले—"ये दोनों बालक साक्षात् नारायणके अंशसे पृथिवीपर वसुदेवजीके यहाँ अवतरे हैं ॥२३॥ ये श्यामसुन्दर देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । इन्हें वसुदेवजी गोकुल पहुँचा आये थे और अबतक ये नन्दजीके यहाँ गुप्तभावसे रहकर ही बढ़े हैं । इन्हींके हाथोंसे पूतना, तृणावर्त, यमलार्जुन, शंखचूड, गुह्यक, केशी, धेनुक आदि बहुत-से दानवोंका वध हुआ है ॥२४-२५॥ इन्होंने ही गोपों सहित गौओंको दावानलसे बचाया था । इन्होंने कालियानाग तथा इन्द्रका मद-मर्दन किया था ॥२६॥ ये ही सात दिनतक एक हाथपर गिरिराजको उठाये रहे और उससे गोकुलकी वर्षा, वायु और बिजलीसे रक्षा की थी ॥२७॥ इनके नित्यप्रसन्न और मधुर मुसकान भरी चितवनयुक्त सुन्दर मुखारविन्दके दर्शनसे आनन्दित होकर गोपियाँ नाना प्रकारके तापोंसे अनायास पार हो जाती थीं ॥२८॥ लोग कहते थे कि इनसे सुरक्षित होकर यह विख्यात यदुवंश महत्त्व, श्री, यश और गौरव प्राप्त करेगा ॥२९॥ ये इनके दूसरे बड़े भाई कमलनयन श्रीमान् बलराम-जी हैं । इन्होंने प्रलम्बासुर, वत्सासुर और बकासुर आदि दैत्योंको मारा है" ॥३०॥ दर्शकोंमें जिस समय यह चर्चा हो रही थी और अखाड़ेमें भेरीका शब्द हो रहा था, उस समय चाणूरने राम और कृष्णको पुकारकर कहा—॥३१॥ "हे नन्दनन्दन ! हे बलराम ! तुम दोनों बड़े वीर माने जाते हो। तुम्हें

प्रियं राज्ञः प्रकुर्वन्त्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः । मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥३३॥
नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम् । वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः ॥३४॥
तस्माद् राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवामहे । भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥३५॥
तन्निशम्याब्रवीत् कृष्णो देशकालोचितं वचः । नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ।३६।
प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः । करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ॥३७॥
बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम् । भवेन्नियुद्धं माधर्मः स्पृशेन्मल्ल सभासदः ॥३८॥

चाणूर उवाच

न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः । लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत् ॥३९॥
तस्माद् भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नानयोऽत्र वै । मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कुवलयापीडवधो नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान् मधुसूदनः । आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥१॥
हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः। विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥२॥
अरत्नी द्वे अरत्निभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी । शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥३॥

मल्लयुद्धमें निपुण मानकर महाराज कंसने तुम्हारा कौशल देखनेके लिये यहाँ बुलाया है ॥३२॥ मन, वचन और कर्मसे राजाका प्रिय करनेसे प्रजाका कल्याण होता है । जो ऐसा नहीं करते, उन्हें इसके विपरीत फल भोगना पड़ता है ॥३३॥ यह सब लोग जानते हैं कि गौ और बछड़े चरानेवाले ग्वाल नित्यप्रति आनन्दपूर्वक वनमें मल्लयुद्धका खेल खेलते हुए गौएँ चराते हैं ॥३४॥ तब आओ, हम और तुम मिलकर राजाका प्रिय करें । ऐसा करनेसे हमपर सभी लोग प्रसन्न होंगे । क्योंकि राजा सर्व-देवमय माना जाता है" ॥३५॥ उनके साथ मल्लयुद्ध करनेकी तो भगवानको इच्छा ही थी । अतएव यह सुनकर उन्होंने चाणूरकी प्रशंसा की और देश-कालके अनुसार बातें कहीं ॥३६। वे बोले—हम भी इन भोजराज महाराज कंसकी वनवासी प्रजा हैं । अतएव हमें इनको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करना ही चाहिये । इसीसे ये हमपर प्रसन्न होंगे । हे मल्ल ! हम तो अभी बालक हैं । इसलिये हम लोग अपने समान बलवाले बालकोंके साथ ही मल्लयुद्ध करेंगे । कुश्ती समान बलवालोंके साथ होनी चाहिये, जिससे सभासदोंको अन्याय न मालूम पड़े ॥ ३७–३८ ॥ चाणूरने कहा—तुम बलवानोंमें श्रेष्ठ हो—बालक या कुमार नहीं हो । तुमने अभी-अभी हजार हाथियोंके समान बलवान् कुवलयापीडको खेल-खेलमें मारा है ॥ ३९ ॥ इसलिये तुम दोनोंको हम-जैसे बलवानोंके साथ ही मल्लयुद्ध करना चाहिये । इसमें कोई अन्यायकी बात नहीं है । हे वार्ष्णेय कृष्ण ! तुम मेरेपर अपना पराक्रम दिखाओ और बलरामजीके साथ मुष्टिक अपना पुरुषार्थ प्रकट करे ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कंधे भाषाटीकायां त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

(चाणूर-मुष्टिक आदि मल्लों और कंसका वध) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा निश्चय करके श्रीकृष्णभगवान चाणूरसे और रोहिणीनन्दन बलराम मुष्टिकसे भिड़ गये ॥ १ ॥ वे हाथसे हाथ और पैरोंसे पैर बाँधकर जीतनेकी इच्छासे एक-दूसरेको बलपूर्वक खींच-तान करने लगे ॥ २ ॥ उन दोनोंने एक दूसरेको कलाइयोंपर कलाइयोंसे, जानुओंपर जानुओंसे, सिरपर सिरसे

परिभ्रामणविक्षेपपरिरम्भावपातनैः । उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् ॥४॥
उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि । परस्परं जिगीषन्तावपचक्रतुरात्मनः ॥५॥
तद् बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः । उचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः ॥६॥
महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम् । ये बलाबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः॥७॥
क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ । क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥८॥
धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् । यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥९॥
न सभां प्रविशेत् प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् । अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥१०॥
वल्गतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम् । वीक्ष्यतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥११॥
किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम् । मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम् ॥१२॥

पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः ।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः॥१३॥
गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥१४॥
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥१५॥

और छातीपर छातीसे प्रहार किया ॥ ३ ॥ वे परिभ्रमण अर्थात् हाथ पकड़कर चारों ओर घूमना, विक्षेप अर्थात् ढकेलना, परिरम्भ अर्थात् लिपटना, अवपातन अर्थात् गिराना, उत्सपण अर्थात् छूटकर अलग हो जाना और अपसर्पण अर्थात् पीछे हटना आदि दाँवोंसे एक दूसरेको रोकते हुए जीतनेकी इच्छासे लड़ने लगे। उत्थातपन अर्थात् नीचे गिरे मल्लके पाँव और जंघा एकत्र करके उठाना, उन्नयन अर्थात् हाथोंसे पकड़कर उठाना, चालन अर्थात् गलेसे लिपटे हुएको हटाना और स्थापन यानी हाथ-पाँव समेटकर बैठ जाना आदि उपायोंसे दोनोंने एक दूसरेके शरीरोंपर प्रहार किये ॥ ४–५ ॥ हे राजन् ! वह बलवान् और निर्बलका युद्ध देखकर यूथकी यूथ नगरकी नारियाँ एकत्र होकर आपसमें कहने लगीं—॥ ६ ॥ "ये राजसभासद् यह बड़ा अन्याय कर रहे हैं, जो राजाके सामने बलवान् और निर्बलोंके युद्धका समर्थन करते हैं ॥ ७ ॥ देखो न, कहाँ ये वज्रके सदृश अङ्गों-वाले पर्वतराजके समान दोनों पहलवान और कहाँ जिन्होंने अभी युवावस्थामें भी प्रवेश नहीं किया है, ऐसे परम सुकुमार शरीरोंवाले ये बालक ! ॥ ८ ॥ इस सभाको अवश्य ही धर्मोल्लङ्घनका पाप लगेगा। चलो, अब हम यहाँसे चल दें। क्योंकि जहाँ अधर्मकी प्रधानता हो, वहाँ कभी भी न रहे ॥ ९ ॥ सभासदोंके अवगुण जाननेवाले बुद्धिमान पुरुषका कर्तव्य है कि यथासम्भव सभामें न जाय, क्योंकि उन अवगुणोंको कहने, न कहने अथवा 'मैं नहीं जानता' ऐसा कहनेसे भी मनुष्यको पापका भागी तो होना ही पड़ता है ॥ १० ॥ देखो न, शत्रुके चारों ओर चक्कर लगाते हुए भगवान कृष्णका मुखकमल कमलकोशकी नाईं पसीनेकी बूँदोंसे भर गया है" ॥११॥ एक दूसरी स्त्री बोली—"अरी सखियों ! तुम श्रीबलरामजीका अरुणनयनयुक्त मनोहर मुख नहीं देखतीं ? देखो, मुष्टिकके ऊपर क्रोधयुक्त होकर भी वह कैसे मनोहर हास्यसे सुशोभित है ॥ १२ ॥ अहो ! व्रजभूमि भी धन्य है, जहाँ मनुष्यवेषमें छिपे हुए साक्षात् भगवान पुराणपुरुष, जिनके चरणोंकी श्रीमहादेव और लक्ष्मी जी भी पूजा करती हैं, विचित्र वनमाला धारण किये, बाँसुरी बजाते श्रीबलभद्रजीके साथ गौएँ चराते और विविध प्रकारकी लीलाएँ करते वन-वन विचरते हैं ॥ १३ ॥ उन गोपियोंने न जाने कौन-सा तप किया था कि जिससे वे अपने नेत्रों द्वारा इनके नित्यनूतन और दुर्लभ रूपमाधुर्यका निरन्तर पान करती हैं। भगवानका यह रूप सुन्दरताका सार है। इसके समान अथवा इससे बढ़-

प्रातर्व्रजाद् व्रजत आविशतश्च सायं गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥१६॥

एवं प्रभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः। शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान् भरतर्षभ ॥१७॥
सभयाः स्त्रीगिरः श्रुत्वा पुत्रस्नेहशुचाऽऽतुरौ। पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥१८॥
तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ। युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ ॥१९॥
भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः। चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥२०॥
स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टीकृत्य करावुभौ। भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥२१॥
नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः। बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशो भ्रामयन् हरिः॥२२॥
भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम्। विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत्॥२३॥
तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै। बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम् ॥२४॥
प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन् मुखतोऽर्दितः। व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः॥२५॥
ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः। अवधील्लीलया राजन् सावज्ञं वाममुष्टिना॥२६॥
तर्ह्येव हि शलः कृष्णपदापहतशीर्षकः। द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावपि निपेततुः॥२७॥

कर और कोई रूप नहीं है तथा स्वयं सिद्धि और यश, श्री एवं ऐश्वर्यका एकमात्र आश्रय है॥ १४॥ हे सखियों! वे व्रजाङ्गनाएँ धन्य हैं, जो सदा भगवानमें ही चित्त लगाकर गौ दुहना, धान आदि कूटना, दही मथना, लीपना, बालकोंको झूला झुलाना, रोते बालकोंको चुप कराना नहलाना-धुलाना तथा घरोंको झाड़ना-बुहारना आदि सब काम करते समय तन्मयभावसे गद्गद कण्ठ द्वारा उनका गुणगान करती हैं॥ १५॥ कृष्णचन्द्र सबेरे ही वनमें गौएँ चरानेके लिए चले जाते हैं। सायंकालके समय जब गौओंको लेकर बाँसुरी बजाते हुए व्रजमें आते हैं तो इनकी मुरलीकी मधुर ध्वनि सुनकर जो गोपियें तुरन्त अपने घरोंसे बाहर निकलकर मार्गमें खड़ी हो इनका मधुर मुसकान युक्त मुख और कृपाकटाक्ष निहारती हैं, अवश्य ही उन्होंने पूर्वजन्ममें कुछ बड़े पुण्य किये होंगे॥१६॥ हे भरतश्रेष्ठ! जिससमय पुरनिवासिनी स्त्रियाँ इस प्रकार बातें कर रही थीं, उसी समय योगेश्वर भगवान कृष्णने शत्रुको मारनेका विचारकिया ॥१७॥ इधर स्त्रियोंकी बातें सुनकर अपने पुत्रोंका बल न जाननेवाले पिता वसुदेव और माता देवकी पुत्रस्नेहसे विह्वल होकर अत्यन्त चिन्ताग्रस्त होगये (क्योंकि वसुदेव-देवकी दोनों वहीं कैद थे)॥१८॥ भगवान कृष्ण और उनका प्रतिद्वन्दी चाणूर दोनोंही तरह-तरहके दाँव-पेचोंसे आपसमें लड़ रहे थे। इसी तरह श्रीबलराम और मुष्टिक भी परस्पर गुँथे हुए थे॥ १९॥ भगवानके वज्रकूटसदृश कठोर अङ्गोंकी रगड़से चाणूरके अङ्ग-अङ्ग ढीले पड़ गये और वह बहुत व्यथित होकर मूर्च्छित होने लगा॥ २०॥ तब अत्यन्त क्रुद्ध हो बाजके समान झपटकर उसने अपने दोनों हाथोंके मुक्के बाँधकर भगवान कृष्णकी छातीपर मारा॥ २१॥ किन्तु पुष्पमालासे आहत गजराजकी भाँति उसके प्रहारसे भगवान तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने तमककर चाणूरकी दोनों भुजायें पकड़ लीं और उसे आकाशमें कई बार घुमाकर पृथिवीपर पटक दिया। इससे तुरन्त उसके प्राण निकल गये और वेष-भूषा, केशकलाप तथा माला आदि अस्तव्यस्त हो जानेसे वह इन्द्र-की ध्वजाके समान पृथिवीपर लोट गया॥ २२-२३॥ इसी तरह मुष्टिकके घूँसोंसे आहत होकर महाबलवान् श्रीबलभद्रजीने उसको एक थप्पड़ मारा॥ २४॥ थप्पड़ लगनेसे वह काँप उठा और आँधीसे उखड़े वृक्षके समान अत्यन्त व्यथित होकर मुखसे रक्त वमन करता हुआ प्राणहीन होकर धराशायी होगया॥ २५॥ तब हे राजन्! प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीबलरामजीने अपने सामने आये हुए कूटनामक मल्लको लीलासे ही उपेक्षापूर्वक अपने बायें हाथके घूँसेसे मारा और वह वहीं ढेर होगया॥ २६॥ इसी समय शल और तोशल भी भगवान कृष्णके पादप्रहारसे सिर फट जानेके

चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते । शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥२८॥
गोपान् वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः । वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ ॥२९॥
जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः । ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधुसाध्विति ३०
हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट् । न्यवारयत् स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह ।३१।
निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात् । धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् ।।३२।।
वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः । उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः ॥३३॥
एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः । लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् ॥३४॥
तमाविशन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् । मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी॥३५॥

तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ।
समग्रहीद् दुर्विषहोग्रतेजा यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य ॥३६॥
प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।
तस्योपरिष्टात् स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥३७॥
तं संपरेतं विचकर्ष भूमौ हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः ।
हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाभूदुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र ॥३८॥
स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन् वदन् वा विचरन् स्वपञ्छ्वसन् ।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यस्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥३९॥

कारण मरकर गिर गये ॥ २७ ॥ इस प्रकार चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशलके मारे जानेपर शेष सब मल्ल अपने-अपने प्राण बचानेकी इच्छासे भाग निकले ॥ २८ ॥ मल्लोंके चले जानेपर भगवान कृष्ण और बलराम अपने समवयस्क गोपोंको अखाड़ेमें खींचकर उनके साथ भिड़ते हुए तथा नाच-नाचकर भेरीके शब्दके साथ अपने चरणनूपुरोंकी ध्वनि मिलाते हुए मल्लयुद्ध करने लगे ॥२९॥ भगवान बलराम और कृष्णके अद्भुत पराक्रमको देखकर कंसके सिवाय और सभी ब्राह्मणादि सज्जन पुरुष 'धन्य है—धन्य है' ऐसा कहते हुए अत्यन्त प्रसन्न हुए। अपने प्रधान-प्रधान मल्लोंके मारे जाने और बचे हुओंके भाग जानेपर भोजराज कंसने भेरीका शब्द बन्द करा दिया और कहा—॥ ३०–३१ ॥ "अरे ! कोई है, वसुदेवके इन दुश्चरित्र बालकोंको नगरसे बाहर निकाल दो। गोपोंका सारा धन छीन लो और मन्दमति नन्दको अभी मार डालो ॥ ३२ ॥ वसुदेव बड़ा दुर्बुद्धि और असाधु है, उसे तुरन्त मार डालो। मेरा पिता उग्रसेन भी अपने अनुयायियों सहित शत्रुपक्षसे मिला हुआ है। अतएव उसे भी समाप्त कर दो ॥ ३३ ॥ कंस इस प्रकार बड़बड़ा ही रहा था कि भगवान कृष्ण अत्यन्त कुपित हो वेगसे उछलकर उसके ऊँचे मंच पर हो रहे ॥३४॥ कंस बड़ा धीर-वीर था। उसने मृत्युरूप भगवान कृष्णको निकट देख सहसा आसनसे उठकर ढाल और तलवार उठा ली ॥ ३५ ॥ हाथमें तलवार लेकर वह प्रहार करनेका अवसर पानेके लिये आकाशमें उड़ते हुए बाजके समान भगवानकी दायीं-बायीं ओर चक्कर लगाने लगा। किन्तु जिनका प्रचण्ड तेज अत्यन्त दुःसह था, उन श्रीकृष्णचन्द्रने—गरुड़ जैसे सर्पको पकड़ लेते हैं—वैसे ही उसे पकड़ लिया ॥ ३६ ॥ इससे कंसका मुकुट गिर गया और भगवानने केश पकड़कर उसे उस ऊँचे मञ्चसे रङ्गभूमिमें पटका और उसके ऊपर विश्वके आश्रय तथा आत्मतन्त्र भगवान कमलनाभ कृष्ण स्वयं भी कूद पड़े ॥ ३७ ॥ इससे उसके प्राण निकल गये। तब भगवान कंसके मरे हुए शरीरको सब लोगोंके देखते-देखते सिंह जैसे हाथीको खींचता है, उसी प्रकार केश पकड़कर पृथिवीपर घसीटने लगे। हे नरेन्द्र ! उस समय वहाँ बैठे सब लोगोंके मुखसे घोर हाहाकारका शब्द निकल पड़ा ॥ ३८ ॥ कंस अत्यन्त व्यग्रताके साथ खाने-पीने, बातचीत करने, घूमने, सोने और श्वास लेने आदि सभी क्रियाओंके समय सर्वदा भगवान

तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः । अभ्यधावन्नभिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ॥४०॥
तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान् रोहिणीसुतः । अहन् परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः ॥४१॥
नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः । पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥४२॥
तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः । तत्राभीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः ॥४३॥
शयानान् वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः । विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः ॥४४॥
हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल । त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥४५॥
त्वया विरहिता पत्या पुरीयं पुरुषर्षभ । न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥४६॥
अनागसां त्वं भूतानां कृतवान् द्रोहमुल्बणम् । तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक् को लभेत शम् ॥४७॥
सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः । गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते ॥४८॥
राजयोषित आश्वास्य भगवाँल्लोकभावनः । यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ॥४९॥
मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात् । कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसाऽऽस्पृश्य पादयोः ५०
देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ । कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे कंसवधो नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

———

चक्रधर नारायणको ही अपने नेत्रोंके समक्ष देखता था, इसलिये अत्यन्त दुष्प्राप्य होनेपर भी उसे उसी रूपकी प्राप्ति हुई ॥ ३९ ॥ कंसके कङ्क और न्यग्रोध आदि आठ छोटे भाई थे । उस समय वे भाईका बदला चुकानेके लिये अति क्रुद्ध होकर कृष्ण और बलदेवके सम्मुख आये ॥ ४० ॥ किन्तु सिंह जैसे पशुओंको मार डालता है, उसी प्रकार युद्धके लिये उद्यत हो अत्यन्त वेगसे आये हुए उन सबको रोहिणीनन्दन बलरामने एक परिघ उठाकर उसीसे मार डाला ॥ ४१ ॥ तब आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं और भगवानके विभूतिस्वरूप ब्रह्मा और महादेव आदि देवता फूलोंकी वर्षा करते हुए प्रेमपूर्वक उनकी प्रशंसा करने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥ ४२ ॥ हे महाराज ! उनकी स्त्रियाँ अपने स्वजनोंकी मृत्युसे दुःखित होकर नेत्रोंसे जल बरसाती और सिर पीटती हुई वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥ वे वीरशय्यापर सोये हुए अपने पतियोंसे लिपटकर बड़े शोकसे आँसू बहाती उच्चस्वरसे इस तरह विलाप करने लगीं—॥ ४४ ॥ "हा नाथ ! हा प्रिय ! हा धर्मज्ञ ! हे करुणामय ! हे अनाथवत्सल ! आपके मारे जानेसे घर और सन्तान सहित हम सब भी मारी गयीं ॥ ४५ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! अपने स्वामी आपसे रहित होकर सब उत्सवों और मंगलोंसे हीन यह पुरी भी हमारे समान ही उदास होगयी है ॥ ४६ ॥ ओह ! आपने निरपराध प्राणियोंके साथ बड़ा विद्वेष किया था, इसीसे आपकी यह गति हुई । सच है, सच प्राणियोंसे द्रोह करनेवाला कौन पुरुष शान्ति प्राप्त कर सकता है ? ॥ ४७ ॥ सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और लयके स्थान ये श्रीकृष्णचन्द्रजी ही हैं । येही सबकी रक्षा करते हैं । इनका अपमान करनेवाला प्राणी कभी सुखी नहीं रह सकता ॥ ४८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तब संसारका पालन करनेवाले भगवान कृष्णने राजमहिषियोंको ढाढ़स बँधाकर मरणको प्राप्त उन कंसादिकी, शास्त्रोंमें जो अन्त्येष्टि आदि लौकिकी क्रिया बतलायी गयी है, सो सब करायी ॥ ४९ ॥ तदनन्तर भगवान राम और कृष्णने माता-पिताको बन्धनमुक्तकर उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया ॥ ५० ॥ किन्तु उनके प्रणाम करनेपर भी देवकी और वसुदेवने उन्हें साक्षात् जगदीश्वर समझकर शङ्कितचित्त हो हृदयसे नहीं लगाया, बल्कि हाथ जोड़कर चुपचाप खड़े रह गये ॥ ५१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे भाषाटीकायां चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः । मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ॥१॥
उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः । प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥२॥
नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि । बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित्॥३॥
न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके । यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥४॥
सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः । न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥ ५ ॥
यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च । वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि॥६॥
मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् । गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन् मृतः॥७॥
तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः । मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥८॥
तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः । अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥९॥

श्रीशुक उवाच

इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा । मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ॥१०॥
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ । न किञ्चिदूचतू राजन् बाष्पकण्ठौ विमोहितौ॥११॥
एवमाश्वास्य पितरौ भगवान् देवकीसुतः । मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥१२॥

(श्रीकृष्ण और बलरामका यज्ञोपवीतसंस्कार तथा विद्याध्ययन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! पुरुषोत्तम भगवान कृष्णने यह देखकर कि हमारे माता-पिताका हमारे पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान होगया है, उनकी बुद्धिपर अपनी मोहिनी मायाका पर्दा डाल दिया । जिससे वह ज्ञान न रहे । तब श्रीयदुनाथने बड़े भाई बलरामजीके साथ उनके पास आकर उन्हें अतिशय आदर और विनय-पूर्वक 'हे माता ! हे पिता !' आदि मधुर वाक्योंसे प्रसन्न करके कहा—॥ १-२ ॥ "हे तात ! हम आपके पुत्र हैं। आप हमारे लिये सदा उत्कण्ठित रहे हैं। फिर भी आपको हमारी बाल्य, पौगण्ड और किशोर अवस्थाओंका सुख नहीं मिला ॥ ३ ॥ अभाग्यवश हम दोनोंको आपके पास रहनेका सौभाग्य नहीं मिल सका । इससे हमें भी, माता-पिताके घरमें रहकर उनके लाड़-प्यारका जो आनन्द मिल सकता था, वह नहीं मिला ॥ ४ ॥ जिनसे सब फलोंका साधनभूत शरीर उत्पन्न होता है और जिनके द्वारा इसका पालन-पोषण होता है, उन माता-पितासे सौ वर्षकी आयुतक सेवा करके भी मनुष्य उऋण नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ जो माता-पिताके समर्थ पुत्र होकर भी शरीर और धनसे उनकी सेवा नहीं करते तो उनके मरनेपर यमके दूत उन्हें उनके ही शरीरका मांस खिलाते हैं ॥ ६ ॥ जो पुरुष समर्थ होकर भी माता-पिता, वृद्ध, सती भार्या, बालक, सन्तान, गुरु, ब्राह्मण तथा शरणागतकी रक्षा नहीं करता, वह जीता हुआ भी मुर्देके समान रहता है ॥ ७ ॥ हमारे इतने दिन व्यर्थ बीत गये । क्योंकि कंसके भयसे नित्य उद्विग्न रहनेके कारण हम आपकी सेवा करनेमें भी समर्थ नहीं हो सके ॥ ८ ॥ अतएव हे तात ! और हे माता ! आप दोनों हमको क्षमा करें । दुष्ट कंसने आपको कितना कष्ट पहुँचाया, परन्तु परतन्त्र होनेके कारण हम आपकी कोई सेवा नहीं कर पाये" ॥ ९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—माया-मानवरूपधारी विश्वात्मा श्रीकृष्णके वचन सुनकर वसुदेव और देवकी मोहित हो गयीं । उन्होंने कृष्ण और बलदेवको गोदमें उठा लिया और पुत्रस्नेहके कारण छातीसे लिपटाकर दोनों आनन्दमग्न होगये ॥ १० ॥ हे राजन् ! स्नेहपाशमें बँधकर मोहित वसुदेव और देवकी उन्हें आँसुओंकी धाराओंसे भिगोने लगीं और उनके कण्ठ रुँध गये । इस कारण वे कुछ बोल नहीं सके ॥ ११ ॥ इस ढङ्गसे अपने माता-पिताको सान्त्वना देकर भगवान देवकीनन्दनने अपने

आह चास्मान् महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि । ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥१३॥
मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः । बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः॥१४॥
सर्वान् स्वान्ज्ञातिसम्बन्धान् दिग्भ्यः कंसभयाकुलान्। यदुवृष्ण्यन्धकमधुदाशार्हकुकुरादिकान्॥१५॥
सभाजितान् समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान् । न्यवासयत् स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत्॥१६॥
कृष्णसङ्कर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः । गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामगतज्वराः ॥१७॥
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम् । नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् सदयस्मितवीक्षणम्॥१८॥
तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः । पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः॥१९॥
अथ नन्दं समासाद्य भगवान् देवकीसुतः । सङ्कर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥२०॥
पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्। पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपिहि२१
स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् । शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥२२॥
यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान् । ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥२३॥
एवं सान्त्वय्य भगवान् नन्दं सव्रजमच्युतः । वासोऽलङ्कारकुप्याद्यैरर्हयामास सादरम् ॥२४॥
इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः । पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सह गोपैर्व्रजं ययौ ॥२५॥
अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोः समकारयत् । पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद् द्विजसंस्कृतिम् ॥२६॥

मातामह अर्थात् नाना उग्रसेनको यादवोंका स्वामी बनाया ॥ १२ ॥ और कहा—"हे महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं, आप हमें आज्ञा दीजिये । स्वर्गीय महाराज ययातिका शाप होनेके कारण यदुवंशी राजसिंहासनपर नहीं बैठ सकते । यद्यपि आप भी यदुकुलमें ही उत्पन्न हुए हैं, किन्तु मेरी आज्ञाके कारण आपको कोई दोष नहीं लगेगा ॥ १३ ॥ मुझ सेवकके रहते अन्य राजाओंका तो कहना ही क्या, देवता भी अतिशय विनीत भावसे आपको भेंटें अर्पण करेंगे ॥ १४ ॥ तदनन्तर विश्वकर्ता श्रीकृष्ण भगवानने यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि वंशोंमें उत्पन्न अपने समस्त सजातीय सम्बन्धियोंको, जो कंसके भयसे दिशा-विदिशाओंमें भाग गये थे, बुलाया । वे विदेशमें रहनेके कष्टोंसे बहुत कृश होगये थे । भगवानने उनका सत्कार करके सान्त्वना दी और उन्हें धन आदिसे तृप्तकर अपने-अपने घरोंमें विहार करने लगे ॥ १५–१६ ॥ श्रीकृष्ण और बलरामकी भुजाओंसे सुरक्षित यादव राम-कृष्णकी कृपासे निर्भय, पूर्णकाम तथा सफलमनोरथ होकर नित्य श्रीमुकुन्दका सदय हास और कृपाकटाक्ष युक्त नित्य प्रसन्न श्रीमुख निहारकर आनन्दित होते हुए अपने-अपने घरोंमें विहार करने लगे ॥ १७–१८ ॥ अपने नेत्रोंसे निरन्तर श्रीमुकुन्दके मुखका सौन्दर्यामृत पान करते रहनेसे वहाँ वृद्ध पुरुष भी युवकोंके समान अत्यन्त बलवान तथा उत्साही दिखायी देते थे ॥ १९ ॥ हे राजेन्द्र ! तब भगवान देवकीनन्दन और बलरामजीने नन्दजीके पास आ और उनके गले लगकर कहा—॥ २० ॥ "हे पिताजी ! माता यशोदा और आपने हमारा अति स्नेहपूर्वक लालन-पालन किया है । इसमें कोई संशय नहीं । सन्तानपर पिता-माताकी प्रीति अपने शरीरसे अधिक हुआ करती है ॥२१॥ जिनको पालने-पोसनेमें असमर्थ होनेके कारण स्वजनोंने त्याग दिया हो, उन बालकोंको जो पुरुष तथा स्त्री अपने पुत्रोंकी तरह पालते हैं, वे ही उनके वास्तविक पिता और माता हैं ॥ २२ ॥ हे पिताजी ! अब आप व्रजको जायँ । हम अपने सुहृदोंको सुखी करके कुछ दिन बाद अपने विरहसे व्याकुल आप अपने स्नेही बन्धुओंसे मिलनेके लिये अवश्य आयेंगे" ॥ २३ ॥ अन्य व्रजवासियोंके साथ नन्दजीको इस तरह समझा-बुझाकर श्रीकृष्णने वस्त्र-आभूषण और विविध धातुओंके बरतन आदि देकर उनका सत्कार किया ॥ २४ ॥ श्रीकृष्णभगवानके वचन सुन नन्दजीने प्रेमाकुल होकर दोनों भाइयोंको गलेसे लगा लिया और नेत्रोंमें जल भरकर गोपोंके साथ व्रजको लौटे । हे राजन् ! तब शूरनन्दन श्रीवसुदेवजीने अपने पुरोहित तथा अन्य ब्राह्मणोंसे दोनों पुत्रोंका

तेभ्योऽदाद् दक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः। स्वलंकृतेभ्यः सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः
याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः। ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ॥२८॥
ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ। गर्गाद् यदुकुलाचार्याद् गायत्रं व्रतमास्थितौ॥२९॥
प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ। नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः ॥३०॥
अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः। काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम्॥३१॥
यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम्। ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ॥३२॥
तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः। प्रोवाच वेदानखिलान् साङ्गोपनिषदो गुरुः॥३३॥
सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान् न्यायपथाँस्तथा। तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम्॥३४
सर्वं नरवरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ। सकृन्निगदमात्रेण तौ संजगृहतुर्नृप ॥३५॥
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयत्तौ तावतीः कलाः। गुरुदक्षिणयाऽऽचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥३६॥

द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम्।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं बालं प्रभासे वरयाम्बभूव ह ॥३७॥
तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत्तयोः ॥३८॥

तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम्। योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा॥३९॥

यथाविधि यज्ञोपवीत-संस्कार कराया ॥ २५-२६ ॥ उन्होंने विप्रोंको नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके उनका पूजन किया और उन्हें गलेमें सोनेकी माला और पीठपर रेशमी झूलोंसे सुसज्जित बहुत-सी सवत्सा गौएँ दक्षिणामें दीं ॥ २७ ॥ महामतिमान् वसुदेवजीने कृष्ण और बलराम-के जन्मनक्षत्रके समय जितनी गौएँ मनमें सङ्कल्प करके दानकी थीं और उन्हें कंसने अधर्मपूर्वक हर लिया था, उन सबको भी स्मरण करके दिया॥ २८ ॥ यदुकुलके पुरोहित गर्गाचार्यसे संस्कारद्वारा द्विजत्व प्राप्त करनेके अनन्तर सुव्रत राम और कृष्णने ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया ॥ २९ ॥ कृष्ण भगवान और बलराम सब विद्याओंके उत्पत्तिस्थान, सर्वज्ञ और जगदीश्वर होते हुए भी अपने स्वतः सिद्ध ज्ञानको मानवलीला करके छिपाये हुए थे ॥ ३० ॥ तदुपरान्त गुरुकुलमें रहनेकी इच्छासे दोनों भाई काशीमें उत्पन्न और अवन्तीपुरके निवासी सान्दीपनिनामक आचार्यके पास गये ॥ ३१ ॥ नियमानुसार गुरुके पास जाकर इन्द्रियदमनपूर्वक रहते और गुरुसे भी सत्कृत होते हुए वे दोनों भाई संसारको उत्तम गुरुसेवाकी शिक्षा देते हुए इष्टदेवके समान समझकर भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा करने लगे ॥ ३२ ॥ उनकी निष्कपटसे सेवासे सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणप्रवर गुरु सान्दीपनिने उन्हें छहों अङ्ग और उपनिषदों समेत चारों वेदोंकी शिक्षा दी ॥ ३३ ॥ इनके सिवा रहस्य अर्थात् मन्त्र और देवताज्ञान सहित धनुर्वेद, मनु आदिके धर्मशास्त्र, मीमांसा, न्यायशास्त्र, आन्वीक्षिकी, तर्कविद्या, आत्मविद्या और सन्धि आदि छः प्रकारकी राजनीतिक शिक्षा दी ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! सब विद्याओंके प्रवर्तक नरवरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण और बलरामने उन विद्याओंको केवल एकबार बतलानेसे ही ग्रहण कर लिया ॥ ३५ ॥ हे महाराज ! तब दोनों भाइयोंने संयतचित्त हो चौसठ कलाएँ दिनरात-में ही सीख लीं । इस तरह अध्ययन समाप्त हो जानेके अनन्तर उन्होंने गुरुसे इच्छानुसार गुरुदक्षिणा लेनेकी प्रार्थना की ॥ ३६ ॥ भगवान कृष्णकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धि देखकर गुरुजीने अपनी भार्यासे सलाह करके प्रभासक्षेत्रके समुद्रमें डूबकर मरे हुए अपने बालकको माँगा ॥ ३७ ॥ तत्पश्चात् वे दोनों महापराक्रमी एवं महारथी 'बहुत अच्छा' कह और रथपर चढ़कर समुद्रतटपर पहुँचे । वहाँ कुछ देर बैठे । उन्हें साक्षात् परमेश्वर जाना तो समुद्र बहुत-सी सामग्री लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ ॥ ३८ ॥ भगवानने समुद्रसे कहा—तुम यहाँ जिस बालकको अपनी बड़ी तरङ्गोंमें बहा ले

समुद्र उवाच

नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् । अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः ॥४०॥
आस्ते तेनाहृतो नूनं तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः । जलमाविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥४१॥
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् । ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ॥४२॥
गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः । शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ॥४३॥
तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम् । उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ।
लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाम किम् ॥ ४४ ॥

श्रीभगवानुवाच

गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् । आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥४५॥
तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ । दत्त्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः ॥४६॥

गुरुरुवाच

सम्यक् सम्पादितो वत्स भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रियः । को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥४७॥
गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी । छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४८॥
गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा । आयातौ स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥४९॥
समनन्दन् प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ । अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥५०॥

श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे गुरुपुत्रानयनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

आये थे, उस हमारे गुरुपुत्रको लाकर हमें तुरन्त वापस दे दो ॥ ३९ ॥ समुद्रने कहा—हे भगवन्! मैंने उस बालकको नहीं हरा था । मेरे जलमें शङ्खरूपधारी पञ्चजन नामका एक महान् दैत्य रहता है । उसने ही उसे हरा है। यह सुनकर भगवान तुरन्त जलमें घुस गये और उस दैत्यको मार डाला, किन्तु वह बालक उसके पेटमें भी नहीं मिला ॥ ४०-४१ ॥ तब उसके शरीरसे निकले शङ्खको लेकर भगवान रथपर चढ़े और यमराजकी संयमनी पुरीमें पहुँचे। बलरामजीके सहित वहाँ पहुँचकर उन्होंने शङ्खनाद किया । प्रजाका संयम करनेवाले यमराजने शङ्खका शब्द सुनकर बड़ी भक्तिसे भगवानकी पूजा की और सब जीवोंके अन्तःकरणोंमें रहनेवाले भगवान कृष्णसे अतिशय विनयपूर्वक कहा—"हे मायामानवरूपधारी श्रीविष्णो ! मैं आप दोनोंकी क्या सेवा करूँ ?" ॥ ४२-४४ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे महाराज ! हमारे गुरुका पुत्र अपने कर्मबन्धनमें बाँधकर यहाँ लाया गया है। उसे तुम हमारी आज्ञासे ले आओ ॥ ४५ ॥ तब यमराजने 'बहुत अच्छा' कह उसे लाकर दे दिया और उस बालकको लाकर यदुश्रेष्ठ कृष्ण और बलरामने गुरुको सौंपकर कहा—"अब और कोई वर माँगिये" ॥ ४६ ॥ गुरुजीने कहा—बेटे ! तुम दोनोंने अपनी गुरुदक्षिणा भलीभाँति दे दी । जो पुरुष तुम-जैसोंका गुरु है, उसकी कौन-सी इच्छा पूर्ण हुए बिना रह सकती है ? ॥ ४७ ॥ हे वीरों ! अब तुम अपने घर जाओ । तुम्हारा सुयश लोगोंको पवित्र करनेवाला हो और तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या इहलोक और परलोक दोनों जगह सदा नवीन बनी रहे—कभी भी भूले नहीं ॥ ४८ ॥ हे तात ! इस प्रकार गुरुके आज्ञा देनेपर बलराम और कृष्ण वायुके समान वेगवान् और मेघके समान शब्दवाले रथपर चढ़कर अपने नगरको लौटे ॥ ४९ ॥ जिन्हें बहुत दिनोंसे नहीं देख पाया था, उन राम और कृष्णको देखकर सारी प्रजा इस प्रकार आनन्दित हुई जैसे उनको खोया हुआ धन मिल गया हो ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा । शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥१॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् । गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥२॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह । गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥३॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः । मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥ ४ ॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः । स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥५
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन । प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं भर्तुराद‍ृतः । आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥७॥
प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ । छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥८॥
वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः । धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान् ॥९॥
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः । गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥१०॥
गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः । स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥११॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः । धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥१२॥

(उद्धवकी व्रजयात्रा) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! वृष्णिवंशी यादवोंमें श्रेष्ठ और साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य परम बुद्धिमान उद्धवजी भगवान कृष्णचन्द्रके प्रिय मित्र और मन्त्री दोनों थे ॥ १ ॥ एक दिन शरणागतकी पीड़ा हरनेवाले श्रीहरिने उन अपने एकमात्र परम प्रिय भक्त उद्धव-का हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—॥ २ ॥ हे सौम्य उद्धव ! तुम व्रजको जाओ और मेरे माता-पिताको आनन्दित करो और उन गोपियोंको, जो मेरे वियोगसे मानसिक वेदना भोग रही हैं, उन्हें मेरा संदेश सुनाकर शान्त कर दो ॥ ३ ॥ उनका चित्त सर्वदा मुझमें ही लगा रहता है। मैं ही उनका प्राण हूँ। मेरे लिये उन्होंने अपने पति-पुत्रादि सब सगे-सम्बन्धी छोड़ दिये हैं। जो लोग मेरे लिये अपने सम्पूर्ण लौकिक और पारलौकिक धर्मोंको छोड़ देते हैं, उनका भरण-पोषण मैं स्वयं किया करता हूँ ॥ ४ ॥ हे प्रिय ! मैं उनका परम प्रियतम हूँ। मेरे दूर चले आनेमें वे गोकुलकी स्त्रियाँ मेरा स्मरण करती हुई विरहव्यथासे विह्वल होकर अचेत हो रही हैं ॥ ५ ॥ मैंने चलते समय उनसे फिर लौट आनेको कहा था। मेरे लौटनेके संदेशकी आशासे ही मुझमें तन्मय गोपियाँ जैसे-तैसे बड़ी कठिनतासे प्राण बचाये हुए हैं ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यह सुन और स्वामीका सन्देश आदरपूर्वक ग्रहणकर श्रीउद्धवजी रथपर सवार हुए और नन्दजीके गोकुल अर्थात् नन्दगाँवको पयान कर दिये ॥ ७ ॥ श्रीमान् उद्धवजी सूर्यास्त होते-होते नन्दजीके व्रजमें पहुँचे। उस समय वनसे व्रजमें लौटती गौओंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलिसे उनका रथ छिप गया था ॥ ८ ॥ ९ ॥ वह व्रजभूमि ऋतुमती गौओंके लिये आपसमें लड़ते हुए उन्मत्त साँड़ोंके शब्द और थनोंके भारसे दबी हुई अपने बछड़ोंकी ओर दौड़नेवाली गौओंसे सुशोभित हो रही थी। इधर-उधर उछलते हुए बहुतसे श्वेत वर्णके बछड़ों तथा गोदोहन और बाँसुरीके शब्दोंसे उस समय वहाँकी अपूर्व शोभा थी ॥ १० ॥ श्रीकृष्ण-बलदेवजी-की पवित्र लीलाओंका गान करती हुई सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे सुसजित गोपियें और गोप वहाँकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ११ ॥ अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पितृगण और देवगणकी पूजासे संबन्ध रखने-

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् । हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मखण्डैश्च मण्डितम् ॥१३॥
तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् । नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥१४॥
भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् । गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः ॥१५॥
कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः । आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः १६
दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना । साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ।१७।
अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् । गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् १८
अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम् । तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥१९॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः । दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥२०॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम् । हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः २१
सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान् । आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् २२
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ । सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥२३॥
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा । अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥२४॥
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् । बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद् गिरिम् ॥२५॥
प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः । दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥२६॥

वाले धूप, दीप और मालाओंसे सुसज्जित गोपोंके घरोंसे वह भूमि अत्यन्त मनोरम मालूम देती थी ॥ १२ ॥ वहाँ सब ओर पक्षी और भ्रमरगणसे गुंजायमान कुसुमित वन थे और हंसकारण्डवादि पक्षियोंसे युक्त कमलवन वहाँकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १३ ॥ हे राजन् ! कृष्णचन्द्रके प्रिय अनुचर उद्धवके पहुँचनेपर नन्दजी उनसे मिलकर बहुत आनन्दित हुए और गले लगाकर उन्होंने उनको साक्षात् वासुदेव कृष्ण समझकर उनकी पूजा की ॥१४॥ उन्हें स्वादिष्ट उत्तम अन्नका भोजन कराया और जब वे सुखपूर्वक शय्यापर बैठ गये तब पाँव दबाने आदि सत्कारसे उनकी थकावट दूरकी गयी। नन्दजीने पूछा—॥ १५ ॥ "हे महाभाग उद्धवजी ! हमारे सखा शूरनन्दन श्रीवसुदेवजी बन्धनमुक्त होकर अब अपने सुहृद्गणों और पुत्रादिके साथ सकुशल हैं ? ॥ १६ ॥ अच्छा हुआ, पापी कंस अपने अनुगामियोंके साथ अपने ही पापसे मारा गया। वह धर्मशील और साधुस्वभाव यादवोंसे सर्वदा द्वेष रखा करता था ॥ १७ ॥ हाँ, कृष्णचन्द्र कभी हम लोगोंकी, अपनी माताकी, सुहृदोंकी, सखाओंकी, गोपोंकी, अपने ही आश्रित व्रजकी, गौओंकी, वृन्दावनकी और गोवर्धन पर्वतकी भी याद करते हैं ? ॥ १८ ॥ क्या श्रीगोविन्द एक बार फिर हम आत्मीयोंको देखनेके लिये यहाँ आयेंगे ? हम तो उसी समय सुन्दर नासिका और मनोहर मुसकानमयी चितवन युक्त उनका मुखमंडल देख सकेंगे ॥ १९ ॥ उन महात्मा कृष्णने दावानल, बवण्डर, वर्षा, वृषासुर और सर्परूपी अघासुर आदि दुस्तर मृत्युओंसे हमारी बार-बार रक्षाकी थी ॥ २० ॥ २१ ॥ हे तात ! प्रिय कृष्णके विचित्र चरित्र, लीलाकटाक्ष भरी चितवन, मनोहर हास्य और बातचीत याद आ जानेपर हमारी सब क्रियाएँ ढीली पड़ जाती हैं। श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंसे भूषित नदी, पर्वत और वनों तथा उनके क्रीडास्थानोंको देखनेसे हमारा चित्त कृष्णमय हो जाता है ॥ २२ ॥ मैं तो गर्गजीके कथनानुसार यही जानता हूँ कि बलराम और कृष्ण कोई श्रेष्ठ देवता हैं और इन्होंने देवताओंका कोई बहुत बड़ा कार्य करनेके लिये पृथिवीतलपर अवतार लिया है ॥२३॥ अहो ! सिंह जैसे पशुओंको मार डालता है, वैसे ही उन्होंने दस हजार हाथियोंके बलवाले कंस, दोनों मल्लों और कुवलयापीड हाथीको खेला-खेलाकर मार डाला ॥ २४ ॥ उन्होंने तीन ताल अर्थात् दो सौ हाथ लम्बे और अत्यन्त दृढ़ धनुषको ऐसे तोड़ डाला, जैसे हाथी किसी छड़ीको तोड़ डाले और सात दिनतक एक ही हाथपर गिरिराज गोवर्धनको उठाये रहे ॥ २५ ॥ जिन्होंने देवता और असुर सभीको जीत लिया था। उन प्रलम्बासुर, धेनुकासुर,

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः । अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥२७॥
यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च । शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा ॥२८॥
तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः । वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥२९॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद । नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥३०॥
एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥३१॥
यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२॥
तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन् किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३॥
आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः । प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः॥३४॥
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् । यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्॥३५॥
मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके । अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि॥३६॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः । नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा॥३७
न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः । नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥३८॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु । क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥३९

अरिष्टासुर, तृणावर्त और बकासुर आदि दैत्योंको यहाँ लीलाहीसे मार डाला था ॥ २६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! कृष्णमें जिनका चित्त अत्यन्त अनुरक्त रहता था, वे नन्दजी उनका इस तरह बारम्बार स्मरणकर प्रेमके प्रवाहसे विह्वल हो अति उत्कण्ठावश चुप हो गये ॥ २७ ॥ अपने पुत्रके चरित्रोंका वर्णन सुनकर माता यशोदाके नेत्रोंमें जल भर आया और स्नेहवश उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी ॥ २८ ॥ भगवान कृष्णमें नन्द और यशोदाका ऐसा प्रबल अनुराग देख उद्धवजी अतिशय प्रसन्न होकर नन्दजीसे कहने लगे ॥ २९ ॥ उद्धवजी बोले—हे मानद ! इसमें संशय नहीं कि आप दोनों स्त्री-पुरुष सब देहधारियोंमें अत्यन्त प्रशंसाके योग्य हैं। क्योंकि जगद्गुरु श्रीकृष्णमें आपने इस तरह अपनी बुद्धि लगा दी है ॥ ३० ॥ ये राम और कृष्ण ही प्रधान पुरुषरूपसे सारे संसारके मूल कारण हैं। ये ही पुराणपुरुषरूपसे समस्त प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर उनकी भिन्न-भिन्न उपाधियोंका और ज्ञानस्वरूप जीवका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥ प्राणान्तके समय क्षणभर भी इनमें अपना चित्त लगानेसे जीव कर्मवासनाको छोड़कर ब्रह्ममय और सूर्यके सदृश तेजस्वी स्वरूप धारण करके परम गति पाता है ॥ ३२ ॥ हे महात्मन् ! उन सबके आत्मा, कारण और पृथिवीका भार उतारनेके लिए मनुष्यरूप धारण करनेवाले श्रीकृष्णभगवानमें आप ऐसा दृढ़ अनुराग रखते हैं, तब फिर आपके लिये और कौन-सा शुभ कर्म करना बाकी रह जाता है ? ॥ ३३ ॥ यादवोंके स्वामी भगवान अच्युत कुछ ही समय बाद व्रजमें आयेंगे और अपने माता पिताको प्रसन्न करेंगे ॥ ३४ ॥ सब यादवोंके शत्रु कंसको रङ्गभूमिमें मारनेके पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्रने आपके पास आकर जो कुछ कहा था, वह सब सच करेंगे ॥ ३५ ॥ हे महाभाग ! आप लोग शोक न करें। आप श्रीकृष्णचन्द्रको शीघ्र ही अपने पास देखेंगे। ईंधनमें व्याप्त अग्निके सदृश वे सब प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें विराजमान हैं ॥ ३६ ॥ वे भगवान मानरहित हैं। उनका कोई प्रिय या अप्रिय नहीं है। वे समदर्शी हैं। अतएव उनकी दृष्टिमें कोई उत्तम, अधम या असम नहीं है ॥ ३७ ॥ उनका न कोई माता है, न पिता है, न स्त्री है, न पुत्रादि हैं, न अपना है, न पराया है और न देह या उसका जन्म ही है ॥ ३८ ॥ इस

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् । क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥४०॥
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते । चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥४१॥
युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः । सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥४२॥
दृष्टं श्रुतं भतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद् वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥
एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान् वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥४४॥
ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥४५॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः ।
दध्नश्च निमन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥४६॥
भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः । दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥४७॥
अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः । येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥४८॥
किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् । इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृताह्निकः ४९

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

लोकमें उनको कोई कर्म नहीं करना रहता। तथापि साधुओंकी रक्षा और केवल लीला करनेके लिये ही वे उत्तम अर्थात् देवादि सात्त्विक, अधम अर्थात् मत्स्यादि तामस और मिश्र अर्थात् मनुष्यादि राजस योनियोंमें शरीर धारण करते हैं॥ ३९॥ वे अजन्मा कृष्णभगवान वास्तवमें गुणहीन हैं। तथापि केवल लीलाके लिये सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंको स्वीकार करते और गुणातीत होकर भी वे मायाके गुणोंसे संसारकी रचना, पालन तथा संहार करते हैं॥ ४०॥ जैसे वेगके साथ चक्कर लगानेवाले पुरुषोंकी दृष्टिमें पृथिवी घूमती-सी प्रतीत होती है, वैसे ही चित्तके कर्ता होनेपर भी अहंबुद्धिके कारण लोगोंको आत्मा ही कर्ता मालूम होता है॥ ४१॥ ये भगवान श्रीकृष्ण केवल कृष्णानुचर तुम दोनोंहीके पुत्र नहीं हैं। ये तो सभीके पुत्र, आत्मा, पिता, माता और ईश्वर सब कुछ हैं॥ ४२॥ ऐसा कोई देखी, सुनी, भूत, भविष्यत्, स्थावर, जङ्गम, महान् या अल्प वस्तु नहीं है, जो श्रीअच्युतभगवानसे पृथक् हो। श्रीअच्युतके सिवाय 'वस्तु' कहलाने योग्य कुछ है ही नहीं। एकमात्र वे ही परमार्थ वस्तु हैं॥ ४३॥ हे राजन्! उद्धव तथा नन्दजीके इस तरह बातें करते-करते वह रात्रि बीत गयी। कुछ रात शेष रहनेपर गोपियाँ उठीं और दीपक जला तथा घरकी देहलियोंपर वास्तुदेवका पूजन करके दही मथने लगीं॥ ४४॥ तब जिनके रस्सी खींचते हुए हाथोंमें कङ्कणवलय सुशोभित थे, जिनके नितम्ब, स्तन और हार हिल रहे थे तथा हिलते हुए कुण्डलोंकी कान्ति पड़नेसे जिनके कुंकुममण्डित कपोल कुछ लाल हो रहे थे, वे गोपांगनाएँ दीपककी दीप्तिसे दमकते हुए आभूषणोंके मणियोंसे अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होती थीं॥ ४५॥ उस समय श्रीकमलनयन भगवानके पवित्र चरित्रको, जिससे सब दिशाओंके पाप दूर हो जाते हैं, उच्चस्वरसे गाती हुई व्रजवनिताओंकी ध्वनि दही मथनेके शब्दसे मिलकर स्वर्गलोकतक पहुँच गयी थी॥४६॥ सूर्यभगवानके उदय होनेपर व्रजकी गोपियाँ नन्दजीके द्वारपर एक सुवर्णमय रथ खड़ा देखकर आपसमें कहने लगीं—'यह किसका रथ है? ॥ ४७॥ कंसका कार्य सिद्ध करनेवाला अक्रूर ही तो फिर नहीं आया है, जो पहले हमारे कमलनयन हमारे प्यारे कृष्णको यहाँसे मथुरा ले गया था? ॥४८॥ वह क्या अब हमेंले यहाँसे हमारे मांससे अपने मरे हुए स्वामीका और्ध्वदैहिक कर्म अर्थात् पिण्डदानादि करेगा?' जब व्रजकी गोपियाँ इस प्रकार बातें कर रही थीं, उसी समय उद्धवजी नित्यकर्मसे निवृत्त होकर लौट आये॥ ४९॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कंधे भाषाटीकायां षट्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४६॥

सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥१॥
शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥२॥
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः ॥३॥
जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् । भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया ॥४॥
अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे । स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥५॥
अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् । पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनःस्विव षट्पदैः ॥६॥
निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः । अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥७॥
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् । दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ८
इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः । कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥९॥
गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः । तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः १०

(उद्धव और गोपिकाओंका वार्तालाप तथा भ्रमरगीत) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! नूतन कमलके समान नेत्रोंवाले पीताम्बरधारी कमलकुसुमकी माला धारण किये तथा मणिजटित कुण्डल पहने, देदीप्यमान मुख और आजानुबाहु कृष्णानुचर उद्धवजीको देखकर सुन्दर मुसकान-वाली व्रजबालाएँ देखनेमें परम सुन्दर और श्रीकृष्ण भगवानके समान ही वेष-भूषासे युक्त यह पुरुष कौन है ? कहाँसे आया है ? किसका दूत है ?' यह जाननेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठावश पवित्रकीर्ति श्रीहरिके चरणकमलोंके आश्रित उद्धवजीको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ १ ॥ २ ॥ जब गोपियोंको विदित हुआ कि वे श्रीकृष्णका सन्देश लाये हैं तो उन्होंने अत्यन्त विनयावनत होकर लजीली मुसकान भरी चितवन और मधुर वाणीसे उनका भली-भाँति सत्कार किया और एकान्तमें पाकर कहा—॥ ३ ॥ "हमें मालूम है कि आप यहाँ श्रीकृष्णके दूत बनकर आये हैं। आपके स्वामीने अपने माता-पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे ही आपको यहाँ भेजा है ॥ ४॥ उनके सिवाय इस गोकुल-में और तो कोई ऐसा नहीं है, जिसकी उन्हें याद आवे। हाँ, अपने स्वजनोंका स्नेहबन्धन तोड़ना तो मुनियोंके लिये भी कठिन होता है। इसलिये अपने माता-पिताकी याद तो उन्हें भी अवश्य आती रहती होगी ॥ ५ ॥ स्वजनोंके सिवाय औरोंके साथ किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही प्रेम किया जाता है। जबतक प्रयोजन रहता है, तबतक स्नेह भी किया जाता है। काम निकल जानेके साथ ही उस बनावटी प्रेमका भी अन्त हो जाता है। पुरुषोंका स्त्रियोंसे और भ्रमरोंका पुष्पोंसे प्रायः ऐसा ही प्रेम हुआ करता है ॥ ६ ॥ संसारमें ऐसी प्रीति ही अधिक देखी जाती है। देखो न, वेश्या अपने धनहीन प्रेमीको त्याग देती है, प्रजा असमर्थ राजाको छोड़ देती है, विद्या प्राप्त कर लेनेपर शिष्य गुरुको छोड़ देते हैं और दक्षिणा पानेपर ऋत्विक्‌गण यजमानको छोड़कर चल देते हैं ॥ ७ ॥ फल चुक जानेपर पक्षी वृक्षको त्याग देते हैं, भोजन कर चुकनेपर अतिथि उस घरको छोड़कर चले जाते हैं, आग लगनेपर मृगगण वनको छोड़ जाते हैं और लम्पट पुरुष भोग कर चुकनेपर अतृप्त तथा अनुरागिणी स्त्रीको त्याग देते हैं" ॥ ८ ॥ इस तरह जिनके मन, वाणी और शरीर सदा श्रीगोविन्दमें ही लगे रहते थे, वे गोपियें श्रीकृष्णके दूत श्रीउद्धवजीके व्रजमें आनेपर अपने सब लौकिक कार्योंको छोड़कर एकमात्र उन्हींकी चर्चा करने लग गयीं ॥ ९ ॥ प्यारे कृष्णकी किशोर और बाल्य अवस्थाके

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्। प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥११॥

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥१२॥
सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१३॥
किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥१४॥
दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥१५॥
विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैरनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन् ॥१६॥
मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वांक्षवद् यस्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१७॥

अद्भुत कर्मोंको बारम्बार सोचकर उन्हींका गुणगान करती हुई वे लज्जा त्यागकर रोने लगीं ॥१०॥ उनमेंसे एक गोपी कृष्णसमागमका स्मरण कर रही थी। इतनेमें उसे एक भौंरा दिखलायी पड़ गया। उसे अपने प्रियतमका भेजा हुआ दूत कल्पित करके वह कहने लगी ॥११॥ गोपी बोली—अरे धूर्तके साथी भ्रमर! तेरी मूछें मेरी सौतके स्तनोंपर पड़ी हुई मालामें लगे कुंकुमसे लिप्त हैं, उनसे तू हमारे चरण मत छू। ऐसा क्षणिक प्रेमी तू जिनका दूत है, वे मधुपति श्रीकृष्ण अपनी मानिनियोंका यह प्रसाद, जो यादवोंकी सभामें उपहास पाने योग्य है, अपने ही पास रखें॥ १२॥ वे भी तेरे जैसे ही स्वार्थी हैं। क्योंकि उन्होंने हमें एक बार अपना अधरामृत पिलाकर वैसे ही छोड़ दिया है, जैसे तू रस चूसकर फूलोंको छोड़ देता है। न जाने वह चञ्चला लक्ष्मी कैसे उनके चरणकमलोंकी सेवा करती है? सम्भवतः उन पुण्यकीर्ति भगवानकी चटकीली बातोंने उसका चित्त भी अपनी ओर खींच लिया है॥ १३॥ ओ भौंरे! तू हम वनवासिनियोंके आगे बारम्बार पुराणपुरुष यदुनाथ कृष्णके गुण क्यों गाता है? तू यह कीर्तिकथा पार्थसखा श्रीकृष्णचन्द्रकी मथुरावासिनी नयी प्रियाओंको जाकर सुना। श्रीकृष्णके दर्शनोंसे जिनका हृदयरोग शान्त हो गया है, वे ही इस चाटुकारीसे प्रसन्न होकर तेरी इच्छा पूर्ण करेंगी॥ १४॥ यदि तू कहे कि 'ऐसा मत कहो, मुझे कृष्णने तुम्हें मनानेके लिये ही भेजा है' तो यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि स्वर्ग पृथिवी और पातालमें ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो उस कपटभरी मनोहर मुसकान और वक्रभृकुटिविलासयुक्त श्यामसुन्दरको नहीं मिल सकती। साक्षात् लक्ष्मीजी जिनकी चरणरजका सेवन करती हैं, उनके लिए हम गोपियें क्या चीज हैं? किन्तु उनसे कहना कि आपका 'उत्तमश्लोक' नाम तो दीनोंपर दया करनेसे ही सार्थक होगा—अन्यथा नहीं॥ १५॥ उसे अपने चरणोंके समीप गुनगुनाते देख यह समझकर कि वह क्षमा कराना चाहता है। गोपी कहने लगी—अरे भ्रमर! तू मेरे चरणोंसे अपना सिर हटा ले। मैं जानती हूँ कि तू कृष्णसे सीख आया है और दूतकर्म और चिकनी-चुपड़ी बातोंसे अनुनय-विनय करनेमें बड़ा निपुण है। किन्तु जिस अकृतज्ञने अपने ही लिये पुत्र, पति और समस्त लोकको त्यागनेवाली हम गोपियोंको इस तरह त्याग दिया, क्या उसका फिर कभी विश्वास किया जा सकता है? ॥ १६॥ देख, कृष्ण बड़े क्रूर हैं। उन्होंने रामावतारमें व्याधके समान क्रूर बनकर निरपराध बालीको मार डाला। सूर्पणखा कामवश होकर उनके पास गयी थी, किन्तु उन्होंने स्त्रीके वशीभूत होकर उस

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥१८॥
वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्रस्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता ॥१९॥
प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥
अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान् ।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः । सान्त्वयन् प्रियसंदेशैर्गोपीरिदमभाषत ॥२२॥

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः । वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥२३॥
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते २४
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा । भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥२५॥
दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च । हित्वावृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्२६

अबलाको नाक-कान काटकर कुरूप कर दिया। वामनावतारमें कौएके समान कुटिल होकर उन्होंने बलिकी पूजा ले करके भी उसे वरुणपाशसे बाँधा। अतएव हम इस काले कृष्णकी मित्रतासे बाज आयीं। अब हम उसकी चर्चा भी न करेंगी ॥ १७ ॥ क्योंकि कानोंको अमृतके समान मधुर लगनेवाली उनकी लीलाओंके एक कणका भी एक बार आस्वादन कर लेनेसे बहुतेरे धीर पुरुष रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे छूटकर दीनतामय घर और कुटुम्बको तुरन्त त्याग तथा निष्किञ्चन होकर पक्षियोंके समान भिक्षावृत्तिपर रहने लग जाते हैं॥ १८ ॥ जैसे काले मृगकी पत्नी अबोध मृगियाँ व्याधके शब्दका विश्वास करनेसे मारी जाती अथवा महान् कष्ट भोगती हैं। वैसे ही इन कृष्णकी कपटभरी बातोंपर विश्वासकर हम भी बारम्बार उनके नखस्पर्शसे होनेवाली कामव्यथाका अनुभव कर चुकी हैं। अतएव हे दूत ! अब कोई और बात बताओ ॥१९॥ भौंरा कुछ दूर जाकर फिर लौट आया। यह देखकर गोपी बोली—हे मेरे प्रियतमके सखा ! तुम फिर लौट आये ? क्या वास्तवमें तुम्हें हमारे प्रियतमने ही भेजा है ? हे तात ! तुम हमारे माननीय हो, कहो तुम क्या चाहते हो ? जिनका सङ्ग छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन कृष्णचन्द्रके पास तुम हमको कैसे ले चलोगे ? क्योंकि हे सौम्य ! उनके वक्षःस्थलमें तो सदा लक्ष्मीरूपिणी नववधू बैठी रहती है॥ २० ॥ हे सौम्य ! क्या आर्यपुत्र कृष्णचन्द्र इस समय मथुरामें ही हैं ? क्या वे अपने पिता नन्दजीके घर और गोपोंकी भी कभी याद करते हैं ? वे कभी हम दासियोंकी भी कोई चर्चा चलाते हैं ? अहो, वे अगुरुकी सुगन्धिसे युक्त अपनी भुजाको कभी हमारे मस्तकोंपर रखेंगे ? ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कृष्णदर्शनके लिये तड़पती हुई उन व्रजबालाओंके वचन सुनकर श्रीउद्धवने उन्हें प्यारके सन्देशसे सान्त्वना देते हुए कहा ॥ २२ ॥ उद्धवजी कहने लगे—हे गोपियों ! तुम सचमुच कृतार्थ हो। तुम संसारकी पूजनीया हो। क्योंकि भगवान वासुदेवमें तुम्हारा चित्त इस तरह लगा हुआ है ॥ २३ ॥ दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और इन्द्रियदमन तथा दूसरे अनेक कल्याणकारक कर्मोंसे केवल श्रीकृष्णचन्द्रकी भक्ति ही सिद्ध की जा सकती है ॥ २४ ॥ किन्तु तुमने तो सौभाग्यवश मुनिजनोंके लिये भी दुष्प्राप्य परम पवित्रकीर्ति भगवान कृष्णकी उत्तम प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त करके संसारमें उसका प्रसार किया है ॥ २५ ॥ तुमने अपने पुत्र, पति, देह, स्वजन और

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे । विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ॥२७॥
श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः । यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् । यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥ २९ ॥
आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये । आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥३०॥
आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः । सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥३१॥
येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः । तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ३२।
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् । त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः॥३३॥
यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् । मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥३४॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते । स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥३५॥
मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् । अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ।३६।
या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः । अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः । ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः॥३८॥

घरोंको भी छोड़कर परमपुरुष भगवान कृष्णको अपनाया है। यह कम सौभाग्यकी बात नहीं है ॥ २६ ॥ हे महाभागा गोपियों ! कृष्णके वियोगसे तुमने उनकी दृढ़ भक्ति पायी है। उसे दिखाकर तुमने मुझपर बड़ी कृपा की है ॥ २७ ॥ हे कल्याणियों ! मैं अपने स्वामी कृष्णका गुप्त कार्यकर्ता हूँ और यहाँ उनका कुछ सन्देश लेकर आया हूँ। तुम अपने प्रियतमके उस परमानन्ददायी सन्देशको सुनो। भगवानने कहा है कि मैं सबका आत्मा हूँ। इसलिये मुझसे कभी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँचों तत्त्व सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त रहते हैं वैसेही मैं भी मन, प्राण, भूत, इन्द्रिय और गुणोंका आश्रयरूप होकर सर्वत्र व्याप्त हूँ ॥ २८–२६ ॥ अपनी मायाके प्रभावसे मैंही भूत, इन्द्रिय और गुणरूप होकर अपने ही द्वारा आपहीको रचता, पालता और फिर लीन कर लेता हूँ ॥ ३० ॥ आत्मा माया और मायाके कार्योंसे सदा पृथक् रहता है। वह ज्ञानस्वरूप, शुद्ध और गुणातीत है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् मायाकी वृत्तियोंमें ही वह प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूप जैसा प्रतीत होता है ॥३१॥ मनुष्यका यह कर्तव्य है कि स्वप्नमें दीखनेवाले पदार्थोंकी भाँति मिथ्या प्रतीत होनेवाले इन्द्रियोंके सभी विषयोंका जिस मनके द्वारा चिन्तन करता है; उसे इन्द्रियों सहित रोके और सोकर उठे मनुष्यकी तरह अज्ञाननिद्रासे रहित हो मेरा साक्षात्कार करे ॥ ३२ ॥ जैसे सब नदियाँ जाकर समुद्रमें ही मिलती हैं, वैसे ही मनस्वी पुरुषोंका वेदाभ्यास, योग, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तप, दम तथा सत्य आदि सब धर्म मेरी प्राप्तिमें ही समाप्त होते हैं ॥३३॥ मैं जो तुम्हारे नयनोंका प्रिय होकर भी तुमसे इतनी दूर हूँ, उसका एकमात्र यही कारण है कि जिससे तुम निरन्तर मेरा ध्यान धरो और तुम्हारा मन सदा मेरेहीमें रमा रहे ॥ ३४ ॥ क्योंकि स्त्रियोंका तथा अन्यान्य प्रेमियोंका चित्त जितना दूर गये हुए प्रियतममें लगा रहता है, उतना आँखोंके सामने रहनेपर नहीं लगता ॥ ३५ ॥ इस तरह जिसकी सङ्कल्प-विकल्पादि सब वृत्तियाँ शान्त होगयी रहती हैं, उस अपने मनको पूर्णतया मुझहीमें लगाकर तुम सब निन्तर मेरा ही स्मरण करती हुई शीघ्र मुझे प्राप्त कर लोगी ॥ ३६ ॥ हे कल्याणियों ! देखो, जब मैंने वृन्दावनमें रात्रिके समय रासक्रीडा की थी, तब जो गोपियाँ स्वजनोंके रोक लेनेसे मेरे साथ रासविहारमें सम्मिलित नहीं हो सकी थीं, वे केवल मेरी लीलाओंका स्मरण करके ही मुझे पा गयी थीं ॥ ३७ ॥ श्रीशुकदेवजी

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् । दिष्ट्याऽऽप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना
कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् । प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥४०॥
कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् । नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥४१॥
अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् । गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे॥४२॥
ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिर्वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्यामस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥४३॥
अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा । संजीवयन् नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ॥४४॥
कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः । नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥४५॥
किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः । श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥४६॥
परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला । तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥४७॥
क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् । अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥४८॥
सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे । सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥४९॥

बोले—हे राजन् ! अपने प्रियतमका सन्देश सुनकर गोपियोंको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ । अपने प्यारेके सन्देशसे उन्हें उनका स्मरण हो आया और वे उद्धवजीसे कहने लगीं ॥ ३८ ॥ गोपियें बोलीं—हे उद्धवजी ! यह बड़े आनन्दकी बात है कि यादवोंको कष्ट देनेवाला दुष्ट कंस अपने साथियों समेत मारा गया और अब कृष्णचन्द्र सब प्रकार धन-धान्यसे पूर्ण होकर अपने कुटुम्बियोंके साथ सकुशल हैं, यह भी कम सौभाग्यकी बात नहीं है ॥ ३९ ॥ किन्तु हे सौम्य ! अब यह बताओ कि जैसे प्यारे श्यामसुन्दर हमारी स्नेहयुक्त लजीली मुसकान तथा मनोहर चितवनसे पूजित होकर हमसे प्रेम करते थे, वैसे ही अब मथुरापुरीकी स्त्रियोंसे करते हैं या नहीं ?॥ ४०॥ श्रीकृष्णचन्द्र बड़े रतिचतुर हैं और सभी अच्छी स्त्रियाँ उन्हें चाहती हैं । तब वे मथुरापुरीकी भद्र महिलाओंके वाग्विलास और केलिकलापोंसे सम्मानित होकर उनमें क्यों न आसक्त होगये होंगे ?॥ ४१ ॥ हे साधो ! यह तो बताओ कि जब कभी पुरनारियोंकी सभामें कोई बात चलती है तो अपने स्वतन्त्र वार्तालापके प्रसङ्गमें वे श्रीगोविन्द कभी हम गँवारी ग्वालिनियोंकी भी याद करते हैं ?॥ ४२ ॥ जब कुन्द-कुसुमसे शोभित तथा चन्द्रिकाचर्चित वृन्दावनमें रास रचकर हम प्रियाओंके साथ चरणके नूपुरोंकी ध्वनि करते हुए रमण किया था और हम सब उन्हींकी मनमोहिनी गाथायें गाती थीं, तो क्या उन रात्रियोंकी भी वे सुधि करते हैं ?॥ ४३ ॥ हे उद्धव ! हम सब तो उन्हींके विरहानलमें जल रही हैं । इन्द्रदेव जैसे जल बरसाकर वनको हरा-भरा कर देते हैं, वैसेही अपने करस्पर्श आदिसे हमें जीवनदान देनेके निमित्त श्रीकृष्णचन्द्र भला कभी यहाँ आवेंगे ?॥ ४४ ॥ एक गोपी बोली—ओ सखी ! अब उन्होंने शत्रुको मारकर राज पा लिया है । वे राजकन्याओंके साथ विवाह करके अपने स्वजनों सहित सुखपूर्वक मथुरामें रहेंगे । उन सब भोगोंको छोड़कर यहाँ क्यों आयेंगे ?॥ ४५ ॥ दूसरीने कहा—नहीं, श्रीकृष्ण साक्षात् लक्ष्मीपति हैं । वे पूर्णकाम और कृतकृत्य हैं । हम वनवासिनी ग्वालिनियों तथा दूसरी राजकन्या आदिसे उनको क्या प्रयोजन ?॥ ४६ ॥ कामचारिणी वेश्या पिङ्गलाने भी तो कहा था कि 'संसारमें किसीकी आशा न करना ही सर्वश्रेष्ठ सुख है' हम भी यह बात जानती हैं । तथापि कृष्णचन्द्रकी आशाका त्यागना हमारे लिये बहुत कठिन काम है ॥ ४७ ॥ पुण्यकीर्ति श्रीकृष्णकी चर्चाको त्यागनेका दुःसाहस भला कौन कर सकता है ! देखो, भगवानकी इच्छा न रहनेपर भी लक्ष्मीजी कभी उनका अङ्ग-सङ्ग नहीं छोड़तीं ॥ ४८ ॥ हे प्रभो ! बलरामजी तथा श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारा सेवित ये नदी, पर्वत, वन और गौएँ तथा वंशीकी ध्वनि हमें बार-बार नन्दगोपसुत कृष्णका स्मरण कराया

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत । श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥५०॥
गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः । माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥५१॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन । मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥५२॥

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः । उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम् ॥५३॥
उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदञ्छुचः । कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥५४
यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः । व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्तया ५५
सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान् । कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥५६॥
दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् । उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥५७॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५८॥
क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥
नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥६०॥

करते हैं। यहाँकी भूमिपर विद्यमान उनके श्रीनिकेतन चरणचिन्होंके कारण हम उन्हें किसी तरह नहीं भूल सकतीं ॥ ४९-५० ॥ उनकी ललित चाल, उनकी उदार हँसी, उनकी विचित्र लीला, उनकी बाँकी चितवन और उनकी मधुर वाणीने हमारा मन हर लिया है, तब हम उन्हें कैसे भूलें ? ॥५१॥ हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे आर्तिभञ्जन ! हे गोविन्द ! आज आपका गोकुल दुःखके महासागरमें डूब रहा है, आप इसका उद्धार करिये ॥ ५२ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान कृष्णचन्द्रका सन्देश सुनकर व्रजकी गोपियोंका विरहताप शान्त होगया। उन्होंने भगवानको इन्द्रियों-से अतीत तथा सबका आत्मा जानकर श्रीउद्धवजीका भले प्रकार स्वागत-सत्कार किया ॥ ५३ ॥ इस प्रकार उद्धवजी गोपियोंकी विरहव्यथा शान्त करते हुए कुछ महीने व्रजमें ही रहे और श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाकथाएँ कह-कहकर व्रजवासियोंका मनोरञ्जन करते रहे ॥ ५४ ॥ जितने दिन उद्धव नन्दजीके गोकुल तथा नन्दगाँवमें रहे उतने समय व्रजवासियोंको कृष्णचर्चाके कारण एक क्षणके समान बीता मालूम हुआ ॥ ५५ ॥ वे भक्तवर उद्धवजी व्रजके नदी, वन, पर्वत, कन्दरा और फूले हुए वृक्षोंको निहारते तथा व्रजवासियोंको श्रीकृष्णचन्द्रका स्मरण कराते वहाँ बड़े आनन्दसे रहे ॥ ५६ ॥ कृष्ण-प्रेमके कारण गोपियोंके मनकी विकलता देखकर उद्धवजी बड़े आनन्दित हुए और उन्हें प्रणामकर कहने लगे—॥ ५७ ॥ 'ये गोपाङ्गनाएँ संसारके समस्त देहधारियोंसे श्रेष्ठ हैं। क्योंकि इनका चित्त उन सर्वात्मा श्रीकृष्णमें ही आसक्त हो रहा है कि संसारके भयसे डरनेवाले मुनिजन और हम भक्तजन भी जिनकी इच्छा करते हैं। सच तो यह है, जो श्रीअनन्तकी कथाके रसिक हैं, उन्हें ब्राह्मणोंके शौक्र अर्थात् मातृगर्भसे होनेवाले, सावित्र अर्थात् यज्ञोपवीत-संस्कारजन्य और याज्ञिक यानी यज्ञ-दीक्षासे होनेवाले जन्मोंकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ५८ ॥ अहो ! कहाँ ये व्यभिचार-दूषिता वन-वासिनी स्त्रियाँ और कहाँ इनका परमात्मा कृष्णमें ऐसा सुदृढ़ अनुराग ! इससे सिद्ध होता है कि यदि अज्ञानी भी भगवानका भजन करे तो वे उसका भी परम कल्याण करते हैं। जैसे अमृत बिना जाने पीनेसे भी पीनेवालेको अमर कर देता है ॥५९॥ रासोत्सवके समय गलेमें भगवानकी भुजाओं-का संग पानेसे पूर्णकाम गोपियोंको श्रीहरिकी जो कृपा प्राप्त हुई है, वह निरन्तर उन्हींके वक्षःस्थलमें रमणशील लक्ष्मीजी तथा कमलसरीखी कान्ति और गन्धसे युक्त सुर-सुन्दरियोंको भी नहीं मिल

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६१॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६२॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः । यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥६३॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च । गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥
तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः । नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥६५॥
मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः । वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया । मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥६७॥
एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप । उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम्॥६८॥
कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् । वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्॥६९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे उद्धवप्रतियाने

सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

सकी, फिर और स्त्रियोंके विषयमें कहना ही क्या है ॥ ६० ॥ अहो ! यदि मैं भी वृन्दावनमें गोपियों की चरण-रजका सेवन करनेवाली लता, औषधि या झाड़ियोंमेंसे कोई हो जाऊँ तो क्या बात है। धन्य हैं ये गोपियाँ, जिन्होंने अपने स्नेही बन्धुओं तथा आर्यधर्म तकको ठुकराकर श्रुतियोंसे खोजे जाने योग्य भगवत्प्राप्तिके मार्गका अनुसरण किया है ॥ ६१ ॥ अहो ! साक्षात् लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती हैं तथा ब्रह्मादि पूर्णकाम योगेश्वर भी जिनका चिन्तन करते हैं, भगवान कृष्णके उन चरणों-को रासविलासके समय अपने हृदयोंपर रखकर जिन्होंने अपनी विरहव्यथा मिटाई थी और जिनका हरिकथामय गान त्रिलोकीको पवित्र करता है, नन्दजीके व्रजकी उन गोपियोंकी चरणरजको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! व्रजमें कई मास बिताकर उद्धवजी गोपियों, नन्द-यशोदा तथा अन्य गोपोंसे पूछ और उनकी अनुमति लेकर मथुरा जानेको रथपर बैठे ॥ ६४ ॥ व्रजसे बाहर आनेपर नन्दादि गोप बहुत-सी भेंटें उनके पास लेकर आये और प्रेमवश आँखोंमें आसू भरकर बोले—॥ ६५ ॥ "अब हमारी इच्छा है कि हमारे मनकी वृत्तियाँ सदा श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें रमी रहें, हमारी वाणी सदा उन्हींका नामसंकीर्तन करे और हमारा शरीर सर्वदा उन्हींको प्रणामादि करनेमें लगा रहे ॥ ६६ ॥ विविध कर्मोंवश घूमते हुए हमारा भगवानकी इच्छासे जहाँ-जहाँ जन्म हो, वहीं हमारे शुभकर्म और दानादिके परिणाममें हमको कृष्णकी ही भक्ति मिले" हे राजन् ! गोपोंद्वारा इस प्रकार श्रीकृष्णभक्तिसे सम्मानित हो उद्धवजी भगवान कृष्णके द्वारा सुरक्षित मथुरापुरीमें लौट आये ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम किया और उन्हें व्रजवासियोंकी भक्तिकी अतिरेकताका वर्णन विस्तारसे किया। नन्दजीने जो भेंटकी सामग्री दी थी वह सब उन्होंने वसुदेव, बलराम और राजा उग्रसेनको अर्पण कर दी ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

अथाष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः । सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन् गृहं ययौ ॥१॥
महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् । मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् ॥ २ ॥
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य साऽऽसनात् सद्यः समुत्थाय हि जातसम्भ्रमा ।
तथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं सभाजयामास सदासनादिभिः ॥ ३ ॥
तथोद्धवः साधु तयाभिपूजितो न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥ ४ ॥
सा मज्जनालेपदुकूलभूषणस्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः ॥ ५ ॥
आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥ ६ ॥
सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णोर्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥ ७ ॥
सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् । अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥८॥
आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया । रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेऽम्बुरुहेक्षण ॥९॥
तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः । सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्चितम् ॥१०॥

(भगवानका कुब्जा और अक्रूरजीके घर जाना तथा अक्रूरजीको हस्तिनापुर जानेकी आज्ञा देना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अन्तर्यामी तथा सर्वदर्शी भगवान कृष्ण अपने प्रेममें व्याकुल कुब्जाका प्रिय करनेके लिए उसके घर गये ॥ १ ॥ कुब्जाका भवन कामोद्दीपक और बहुमूल्य सामग्रियोंसे भरा था । मोतीकी लड़ियों, पताकाओं, चँदोवों, शय्याओं, भाँति-भाँतिके आसनों एवं सुगन्धित धूप, दीप, चन्दन और मालाओंसे उसकी अद्भुत शोभा हो रही थी ॥ २ ॥ भगवानको आते देख कुब्जा हड़बड़ाकर शीघ्र शय्यासे उठी और सखियोंके साथ आगे बढ़कर उसने उनका स्वागत किया । फिर सुन्दर आसन आदि देखकर श्रीकृष्णका विधिवत् पूजन किया ॥ ३ ॥ उद्धवजी-ने भी उसकी पूजा ग्रहण की और आसनको केवल छूकर पृथिवीपर बैठ गये तथा भगवान कृष्ण लोकाचारका अनुसरण करते हुए तुरन्त महामूल्यवान शय्यापर जा बैठे ॥ ४ ॥ तब कुब्जा स्नान, लेपन, वस्त्र, भूषण, हार, गन्ध, ताम्बूल, और सुधासव आदिसे खूब सुसज्जित हो लीलामयी लजीली मुसकान और विलासविभ्रमके साथ भगवानकी ओर निहारती हुई निकट आयी ॥ ५ ॥ श्यामसुन्दर-ने नवमिलनके संकोचसे शंकित कुब्जाको और निकट बुलाया और उसके कंकण-विभूषित हाथ पकड़कर बगलमें बैठा लिया और चन्दनदानके तनिक पुण्यसे युक्त उस रमणीके साथ क्रीडा करने लगे ॥ ६ ॥ उसने श्रीअनन्तके चरणोंको अपने हृदय, वक्षःस्थल और नेत्रोंपर रख सूँघते हुए अपनी मनःकामना पूर्ण की और हृदयमें प्रियतमकी आनन्दमूर्ति पधारकर अपनी चिरकालीन विरहव्यथा शान्त की ॥ ७ ॥ अहो ! केवल चन्दनदानसे उन अत्यन्त दुष्प्राप्य तथा मोक्षके अधीश्वर भगवान कृष्णको पाकर भी उस दुर्भगाने केवल यही वर माँगा कि 'हे प्रियतम ! आप कुछ दिन यहाँ रहकर मेरे साथ क्रीडा करें । क्योंकि हे कमलनयन ! मैं आपका साथ नहीं छोड़ पाऊँगी' ॥ ८ ॥ सबका मान रखनेवाले सर्वेश्वरने उसे अभीष्ट वर देकर सम्मान किया और स्वयं भी उससे पूजित हो प्रिय

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्। यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ ॥
अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः। किञ्चिच्चिकीर्षयन् प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया॥१२॥
स तान् नरवरश्रेष्ठानाराद् वीक्ष्य स्वबान्धवान्। प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभ्यनन्दत॥१३॥
ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः। पूजयामास विधिवत् कृतासनपरिग्रहान्॥१४॥
पादावनेजनीरापो धारयञ्छिरसा नृप। अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥१५॥
अर्चित्वा शिरसाऽऽनम्य पादावङ्कगतौ मृजन्। प्रश्रयावनतोऽक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥१६॥
दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम्। भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद् दुरन्ताच्च समेधितम्॥
युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ। भवद्भ्यां न विना किञ्चित् परमस्ति न चापरम्
आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः। ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतप्रत्यक्षगोचरम् ॥१९॥

यथा हि भूतेषु चराचरेषु मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना।
एवं भवान् केवल आत्मयोनिष्वात्माऽऽत्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥२०॥
सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥
देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद् भवो न साक्षान्न भिदाऽऽत्मनः स्यात्।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥
त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा भेदपथः पुराणः।
बाध्येत पाखण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥

भक्त उद्धवके साथ लौट आये ॥ ९ ॥ १० ॥ ईश्वरोंके भी ईश्वर और अति कठिनतासे आराधनीय श्रीविष्णुभगवानकी आराधना करके भी जो पुरुष उनसे अति तुच्छ और मिथ्या विषयसुख माँगता है, वह बहुत बड़ा अभागा है ॥ ११ ॥ एक दिन प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र अक्रूरजीका प्रिय करने और उनसे कुछ कार्य करानेकी इच्छासे बलराम तथा उद्धवके साथ उनके घर गये ॥ १२ ॥ स्वजनोंको अकस्मात् आये देख अक्रूरजी अति आनन्दित होकर उठ खड़े हुए उन्होंने श्रीकृष्ण और बलरामका अभिनन्दन एवं आलिङ्गन करके उन्हें प्रणाम किया। उन तीनोंने भी अक्रूरजीको अभिवादन किया और उनके बैठ जानेपर अक्रूरजीने विधिवत् पूजन किया॥ १३ ॥ १४ ॥ हे राजन्! अक्रूरजीने उनका पवित्र चरणोदक माथे चढ़ाया और विविध पूजासामग्री, वस्त्र, दिव्य गन्ध, माला तथा श्रेष्ठ आभूषणोंसे पूजा करके उन्हें नतमस्तक होकर प्रणाम किया। तब श्रीकृष्ण और बलरामके चरणोंको गोदमें रखकर दबाते हुए अक्रूरने नम्रतापूर्वक कहा—॥ १५ ॥ १६ ॥ "सौभाग्यकी बात है कि पापी कंस अपने साथियों समेत मारा गया। उसे मारकर आप दोनोंने अपने कुलको बड़े भारी संकटसे निकालकर उन्नत और समृद्ध किया है। ॥ १७ ॥ आप दोनों जगत्के कारण और जगद्रूप प्रधान पुरुष हैं। संसारकी कार्य-कारणरूप कोई भी वस्तु आपसे पृथक् नहीं है ॥ १८ ॥ हे ब्रह्मन्! इस स्वरचित विश्वमें अपनी काल-मायादि शक्तियोंसे प्रविष्ट होकर आप देखे और सुने हुए विविध रूपोंसे प्रतीत होते हैं ॥ १९ ॥ जैसे पृथिवी आदि कारणतत्त्व अपने कार्य स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट होकर विविध रूपसे भासमान होते हैं, वैसे ही आप स्वतन्त्र आत्मस्वरूपसे एक होकर भी अनेक मालूम होते हैं ॥ २० ॥ आप रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणरूपिणी अपनी शक्तियोंसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करते हैं। किन्तु उन गुणों अथवा उन कर्मोंके बन्धनमें नहीं बँधते। क्योंकि आप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं। अतः आपके बन्धनका कोई कारण ही नहीं है ॥ २१ ॥ यह देहादि उपाधियें मिथ्या हैं। इसलिये जीवात्मामें भी जन्म या जन्मजनित भेद सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव आपमें बन्ध-मोक्षकी कल्पना करना लोगोंका अज्ञान ही है ॥२२॥ आपने संसारके कल्याणार्थ सनातन वेद-

स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेऽवतीर्णः स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांशराज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥
अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा यः सर्वदेवपितृभूतनृदेवमूर्तिः ।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत् पुनाति न त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥
कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद् भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामानात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥२६॥
दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेहदेहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥२७॥

श्रीशुक उवाच

इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान् हरिः । अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः संमोहयन्निव ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा । वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः
भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः । श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ३०
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३१॥
स भवान् सुहृदां वै नः श्रेयाञ्छ्रेयश्चिकीर्षया । जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम् ३२
पितर्युपरते बालाः सह मात्रा सुदुःखिताः । आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥३३॥

मार्गको प्रकट किया है। जब-जब इसे मिथ्या पाखण्डपूर्ण पन्थोंसे कोई क्षति पहुँचती है, तब-तब आप शुद्धसत्त्वमय शरीर धारण करते हैं ॥ २३ ॥ हे प्रभो ! इस समय आप असुरोंके अंशज राजाओंकी सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाका संहारकर पृथिवीका भार उतारनेके लिये अपने अंश श्रीबलरामजीके साथ वसुदेवजीके यहाँ अवतार लेकर यदुकुलका यश बढ़ा रहे हैं ॥२४॥ हे ईश्वर ! हे अधोक्षज ! पञ्चयज्ञके देवता, पितृगण और सब राजे जिनकी मूर्ति हैं और जिनका चरणोदक त्रिलोकपावन है, वे आप जगद्गुरु भगवान हमारे घर आये हैं। अतएव आज हम अपना बड़ा सौभाग्य समझते हैं ॥ २५ ॥ हे प्रभो ! आप भक्तोंके हितकारी, सत्यवक्ता, सुहृद् और कृतज्ञ हैं। तब कोई बुद्धिमान् आपके सिवा भला किसी औरकी शरणमें क्यों जायगा ? आप अपने भक्तकी सब कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं। यहाँतक कि जिसकी कभी क्षति या वृद्धि नहीं होती, ऐसे आप अपने-आपको भी दे डालते हैं ॥ २६ ॥ हे जनार्दन ! बड़े-बड़े योगी और सुरेश्वर भी आपकी गति नहीं जान सकते। किन्तु हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ, यह हमारा सौभाग्य है। हे प्रभो ! पुत्र, स्त्री, धन, स्वजन, भवन और देह आदि मोहपाशरूपी अपनी मायाके बन्धनोंको आप तुरन्त काट डालिये" श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भक्त अक्रूरजीके द्वारा पूजित और प्रार्थित होकर भगवान कृष्णने उन्हें अपनी वाणीसे मोहित करते हुए मुसकाकर कहा ॥ २७-२९ ॥ श्रीभगवान बोले—हे तात ! आप हमारे गुरु, चाचा और प्रशंसनीय स्वजन हैं। हम आपके बालक हैं और सदा रक्षा, पालन तथा कृपाके पात्र रहते आये हैं। अपने शुभचिन्तक पुरुषोंको आप जैसे परमपूजनीय महाभागोंकी सदा सेवा करनी चाहिये। क्योंकि देवता स्वार्थसाधनमें निरत रहते हैं, किन्तु साधुजन ऐसे नहीं होते ॥३०॥ जलमय तीर्थ और मिट्टी या शिलाके बने देवता ही देवता नहीं होते। साधुजन उनसे भी बड़े तीर्थ और देवता होते है। तीर्थ और मूर्ति तो बहुत दिनोंतक सेवा करनेसे पवित्र करते हैं, किन्तु साधुजन दर्शनसे ही कृतार्थ कर देते हैं ॥३१॥ हे तात ! आप हमारे सुहृदोंमें सबसे महान् हैं। सो आप पाण्डवोंके कल्याणार्थ तथा उनका कुशल-क्षेम जाननेके लिये हस्तिनापुर जाइये ॥ ३२ ॥ हमने सुना है कि पिता पाण्डुके मर जानेपर दुःखी युधिष्ठिर आदि बालकोंको उनकी माता सहित राजा धृतराष्ट्र

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः । समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥३४॥
गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा । विज्ञाय तद् विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ३५
इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः । सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥३६॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे अष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रयशोऽङ्कितम् । ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥१॥
सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम् । कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान् सुहृदोऽपरान् २
यथावदुपसङ्गम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः । संपृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ॥३॥
उवास कतिचिन्मासान् राज्ञो वृत्तविवित्सया । दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः ॥४॥
तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् । प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥५॥
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद् गरदानाद्यपेशलम् । आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥६॥
पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् । उवाच जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकलेक्षणा ॥७॥
अपि स्मरन्ति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे । भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥८॥
भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः । पैतृष्वस्रेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥९॥
सापत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव । सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान्

हस्तिनापुरमें ले आये हैं और वे सब अब वहाँ ही हैं ॥ ३३ ॥ अम्बिकातनय महाराज धृतराष्ट्र अन्धे और दीनबुद्धि हैं । वे सदा अपने कुटिल पुत्र दुर्योधनके अधीन रहते हैं । अतएव अपने भतीजोंके साथ उनका अपने पुत्रोंके समान व्यवहार नहीं रहता ॥ ३४ ॥ सो आप जाइये और उनकी स्थिति मालूम करिए । उनका समाचार पाकर मैं ऐसा उपाय करूँगा कि जिससे मेरे सुहृदोंको सुख मिले ॥३५॥ अक्रूरजीको ऐसी आज्ञा देकर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र बलराम तथा उद्धवके साथ अपने भवनको चले गये ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४८॥

(श्रीअक्रूरजीका हस्तिनापुर पयान) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुरुवंशी राजाओंके सुयशसे व्याप्त हस्तिनापुरीमें पहुँचकर अक्रूरजी धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, सोमदत्त, वाह्लीक, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डवगण तथा अन्यान्य सुहृदोंसे मिले ॥ १–२ ॥ गान्दिनीनन्दन अक्रूरजी सब सुहृद्जनोंसे मिले और उनके कुशल-प्रश्न करनेके बाद उन्होंने स्वयं भी उनका कुशल-क्षेम पूछा ॥ ३ ॥ कर्ण आदि कुटिल मन्त्रियोंकी सलाहसे चलनेवाले और दुष्ट पुत्रों-वाले अल्पवीर्य राजा धृतराष्ट्रकी प्रवृत्ति जाननेके लिए वे कुछ महीने हस्तिनापुरमें रहे ॥ ४ ॥ इसी बीचमें कुन्ती तथा विदुरजीने उन्हें पाण्डवोंके तेज, शस्त्र-कौशल, बल, वीर्य और विनय आदि सद्गुणोंका, उनके प्रति प्रजाके अनुरागका, उनका उत्कर्ष सहन न कर सकनेवाले धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन आदि जो कुछ करना चाहते थे तथा 'विषदान' आदि जो कुछ अनुचित व्यवहार वे पहले किये थे, उन सबका वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ५–६ ॥ भाई अक्रूरको देखकर कुन्ती उनके पास गयी और अपने जन्मस्थानका स्मरण करके नेत्रोंमें जल भरकर कहने लगी—॥ ७ ॥ "हे सौम्य ! हमारे माता-पिता, भाई, बहिन, भतीजे, कुलकी स्त्रियाँ तथा सखियाँ क्या कभी हमें याद करती हैं ? ॥ ८ ॥ हमारे भ्रातृपुत्र शरणागत-वत्सल भक्तहितकारी भगवान कृष्ण और कमलनयन बलरामजी क्या कभी अपनी फूआके लड़कोंका भी स्मरण करते हैं ? ॥ ९ ॥ भेड़ियोंके बीचमें पड़ी मृगीके समान

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन । प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ११
नान्यत्तव पदाम्भोजात् पश्यामि शरणं नृणाम् । बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात् ॥१२॥
नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने । योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥१३॥

श्रीशुक उवाच

इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् । प्रारुदद् दुःखिता राजन् भवतां प्रपितामही ॥१४॥
समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः । सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः १५
यास्यन् राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् । अवदत् सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ॥१६॥

अक्रूर उवाच

भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन । भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनाऽऽसनमास्थितः १७
धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन् । वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि १८
अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः । तस्मात् समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥
नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित् केनचित् सह । राजन् स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः २०
एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२१॥
अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः । सम्भोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥२२॥
पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् । तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥२३॥

अपने शत्रुओंके बीचमें रहती हुई मैं बड़े दुःखमें हूँ। क्या वे कभी यहाँ आकर मुझे और मेरे पितृहीन बालकोंको सान्त्वना देंगे ? ॥ १० ॥ हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वरूप ! हे विश्वपाल ! हे गोविन्द ! अपने बालकोंके साथ मैं बड़ा दुःख भोग रही हूँ। आप मेरी रक्षा करिए ॥ ११ ॥ हे देव ! इस मृत्युरूपी संसारसे भयभीत जीवोंके लिये मुझे आप ईश्वरके मोक्षप्रद चरण-कमलोंको छोड़कर और कोई निर्भय आश्रय नहीं दीखता ॥ १२ ॥ आप शुद्धस्वरूप, ज्ञानात्मा, योगेश्वर और परब्रह्म परमात्मा भगवान कृष्णको मैं नमस्कार करती हूँ। हे देव ! मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस तरह जगत्पति कृष्ण और अपने बान्धवोंकी याद करके तुम्हारी प्रपितामही कुन्ती दुःखित हो फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ १४ ॥ तब सुख-दुःखमें सर्वदा समान रहनेवाले अक्रूरजी और महायशस्वी विदुरजीने उन्हें उनके पुत्रोंकी उत्पत्तिके कारणभूत धर्म, वायु तथा इन्द्रादि देवताओंकी याद दिलाते हुए सान्त्वना दी ॥ १५ ॥ जब अक्रूरजी मथुरा लौटने लगे तो वे भतीजोंके साथ विषम व्यवहार करनेवाले पुत्रवत्सल राजा धृतराष्ट्रके पास गये और उन्हें कृष्ण-बलदेव आदि यादवबन्धुओंने जो सन्देश दिया था, वह कह सुनाया। धृतराष्ट्र उस समय अपने बन्धुओंके बीचमें बैठे थे। अक्रूरजी बोले—हे कौरवकुलकी कीर्ति और विचित्रवीर्यके पुत्र महाराज धृतराष्ट्र ! आपने अपने भाई पाण्डुके परलोक सिधारनेपर यह राजसिंहासन पाया है ॥ १६-१७ ॥ सो आप यदि पृथिवीका धर्मपूर्वक पालन करेंगे, अपने सुस्वभावसे प्रजाको प्रसन्न रखेंगे तथा अपने स्वजनोंके साथ उचित व्यवहार करेंगे तो आपका कल्याण होगा और संसारमें कीर्ति फैलेगी ॥ १८ ॥ और यदि ऐसा न करेंगे तो लोकमें निन्दा होगी और मरनेपर नरकगामी होना पड़ेगा। अतः आप पाण्डु और अपने पुत्रोंके साथ समान बर्ताव करिए ॥ १९ ॥ हे राजन् ! यहाँ कोई किसीके साथ बहुत दिनतक नहीं रहता। स्त्री-पुत्रादिकी कौन कहे, अपना शरीर भी सदा नहीं रहता ॥ २० ॥ यह जीव अकेला ही जन्म लेता, अकेला ही यहाँसे जाता और अपने सुकृत तथा दुष्कृतोंका फल भोगता है ॥ २१ ॥ ये स्त्री-पुत्रादि सब साथ रहते हैं तब भी 'हम तुम्हारे द्वारा पाले जाने योग्य हैं' इस बहाने अल्पबुद्धि पुरुषका अधर्मसे एकत्रित धन हर लेते हैं, जैसे जलनिवासी मत्स्यके जीवनाधार जलपर उसके स्त्री-पुत्रादि अपना स्वत्व जमा लेते हैं ॥ २२ ॥ यह मूर्ख जीव जिन्हें अपना

स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः । असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥२४॥
तस्माल्लोकमिमं राजन् स्वप्नमायामनोरथम् । वीक्ष्यायम्यात्मनाऽऽत्मानं समः शान्तोभव प्रभो

धृतराष्ट्र उवाच

यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् । तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥
तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले । पुत्रानुरागविषमे विद्युत् सौदामनी यथा॥२७॥
ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् । भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥२८॥
यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्रसंसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥२६॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः । सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥
शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् । पाण्डवान् प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम्॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

———

समझकर अधर्मपूर्वक पालता है वे प्राण, धन तथा स्त्री-पुत्रादि इसे असन्तुष्ट अवस्थामें ही छोड़कर अलग हो जाते हैं ॥ २३ ॥ तब स्वधर्मविमुख तथा सच्चे स्वार्थसे अनभिज्ञ प्राणी उनके त्याग देनेसे स्वयं विफलमनोरथ हो और अपने पापका बोझ लेकर घोर नरकमें जा पड़ता है ॥ २४ ॥ अतएव हे राजन् ! हे प्रभो ! आप इस संसारको स्वप्न, माया और मनोराजकी भाँति मिथ्या समझकर अपने चित्तका स्वयं संयम करके समदर्शी और शान्त बन जाइए ॥ २५ ॥ धृतराष्ट्र कहने लगे—हे दानपते अक्रूरजी ! आपने जैसे शुभ वचन कहे हैं, उनसे मेरा चित्त वैसे ही तृप्त नहीं होता जैसे अमृत पीकर मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती ॥ २६ ॥ फिर भी हे सौम्य ! मेरा चित्त पुत्रप्रेमसे ऐसा विषम और चञ्चल होगया है कि उसपर आपकी यह उत्तम शिक्षा बादलमें चमकती बिजलीके समान नहीं ठहरती । ऐसा कौन पुरुष है, जो ईश्वरके विधानको पलट सके ? जिन्होंने पृथिवीका भार उतारनेके लिये यदुवंशमें अवतार लिया है, जो अपनी अचिन्त्यगति मायासे संसारको रचकर इसमें अनुप्रविष्ट हो कर्म और कर्मफलका विभाग करते हैं और जिनकी अगम्य लीला संसारचक्रकी गतिका प्रधान कारण है, उन परमेश्वरको प्रणाम है ॥ २७-२६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार महाराज धृतराष्ट्रका अभिप्राय समझकर श्रीअक्रूरजी कुरुवंशीय सुहृद्जनोंसे विदा हो पुनः मथुरा लौट आये । यहाँ भगवान कृष्ण और बलरामसे पाण्डवोंके साथ राजा धृतराष्ट्रके व्यवहारका वह सब हाल कह सुनाया, जिसके लिये वे हस्तिनापुर गये थे ॥ ३०-३१ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकामेकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इति दशमस्कन्धः पूर्वार्धः समाप्तः ।

हरिः ॐ तत्सत्

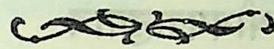
ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम् ।

दशमस्कन्धः

(उत्तरार्द्धः)



पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ । मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुःस्म पितुर्गृहान् ॥१॥
पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते । वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥२॥
स तदप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप । अयादवीं महीं कर्तुं चक्रे परममुद्यमम् ॥३॥
अक्षौहिणीभिर्विंशत्या तिसृभिश्चापि संवृतः । यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम् ॥४॥
निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् । स्वपुरं तेन संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ॥५॥
चिन्तयामास भगवान् हरिः कारणमानुषः । तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥६॥
हनिष्यामि बलं ह्येतद् भुवि भारं समाहितम् । मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ॥७॥
अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः । मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥
एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय मे । संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥९॥

(मगधराज जरासन्धसे युद्ध और द्वारकाके दुर्गकी रचना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे भरतश्रेष्ठ ! पतिके मारे जानेपर कंसकी रानियाँ अस्ति और प्राप्ति दुःखसे पीडित होकर अपने पिताके घर चली गयीं ॥ १ ॥ वहाँ जाकर उन्होंने अति दुःखित होकर अपने पिता मगधराज जरासन्धको अपने विधवा होनेका जो कुछ कारण था, वह सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २ ॥ हे राजन् ! यह अप्रिय संवाद सुनकर राजा जरासन्धने अत्यन्त शोक और क्रोधपूर्वक सारी पृथिवीको यादवोंसे शून्य कर देनेकी बड़ा भारी योजना बनाई ॥ ३ ॥ तदनुसार वह तेईस अक्षौहिणी सेना साथ लेकर यादवोंकी राजधानी मथुरापर चढ़ आया और उसे घेर लिया ॥ ४ ॥ उमड़ते हुए समुद्रके समान उस अपार सेना और उससे अपना नगर घिर जानेपर स्वजनोंको भयभीत देखकर कारणवश मनुष्यरूपधारी श्रीकृष्णने देश और कालके अनुसार अपने अवतारके प्रयोजनपर इस तरह विचार किया— ॥ ५-६ ॥ "मगधराज जरासन्ध अपने वशवर्ती सब राजाओंको पैदल, घुड़सवार, रथी तथा हाथियों युक्त कई अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके लाया है । यह मानों सारी पृथिवीका भार ही एकत्रित होकर यहाँ आगया है । मैं इस सेनाको तो मार डालूँगा, किन्तु अभी जरासन्धको मारना ठीक न होगा । क्योंकि अभी वह और सेना सञ्चित करनेका उद्योग करेगा ॥ ७-८ ॥ मेरा अवतार सज्जनोंकी रक्षा

अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः संध्रियते मया । विरामायाप्यधर्मस्य काले प्रभवतः क्वचित् ॥१०॥
एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात् सूर्यवर्चसौ । रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ॥११॥
आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया । दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥१२॥
पश्यार्य व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो । एष ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥१३॥
यानमास्थाय जह्येतद् व्यसनात् स्वान् समुद्धर । एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीशशर्मकृत् ॥१४॥
त्रयोविंशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारमपाकुरु । एवं सम्मन्त्र्य दाशार्हौ दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥
निजग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसाऽऽवृतौ । शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ॥१६॥
ततोऽभूत् परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः । तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥१७॥
न त्वया योद्धुमिच्छामि बालेनैकेन लज्जया । गुप्तेन हि त्वया मन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन्
तव राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह । हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्याहि मां जहि

श्रीभगवानुवाच

न वै शूरा विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् । न गृह्णीमो वचो राजन्नातुरस्य मुमूर्षतः ॥२०॥

श्रीशुक उवाच

जरासुतस्तावभिसृत्य माधवौ महाबलौघेन बलीयसाऽऽवृणोत् ।
ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥२१॥

तथा दुष्टोंका संहार करने और पृथिवीका भार उतारनेके लिये ही हुआ है ॥ ९ ॥ जब कभी मैं अवतार लेता हूँ, तब मेरे देहधारणका प्रयोजन धर्मकी रक्षा और समयानुसार बढ़ते हुए अधर्मका नाश होता है" ॥ १० ॥ भगवान कृष्ण ऐसा विचार कर ही रहे थे, इसी समय वहाँ सारथी तथा सब युद्ध-सामग्रीसे सम्पन्न सूर्यके समान देदीप्यमान दो रथ आकाशसे नीचे उतरे ॥ ११ ॥ इसी समय उनके सनातन तथा दिव्य शस्त्र भी वहाँ आकर अपने आप उपस्थित होगये। उन्हें देखकर श्रीकृष्णने बलरामजी-से कहा—॥ १२॥ "हे आर्य ! देखिये, जिनके आप ही रक्षक हैं उन यादवोंपर बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है। हे प्रभो! आपके ये प्रिय शस्त्र और रथ भी आकर उपस्थित हैं ॥ १३ ॥ अब आप रथपर चढ़कर शत्रुसेनाका संहार करके अपने बन्धुओंका इस विपत्तिसे उद्धार करें। हे ईश ! हम दोनोंका जन्म सज्जनोंका कल्याण करनेके लिए ही हुआ है ॥ १४ ॥ अतएव आप तेईस अक्षौहिणी सेनारूपिणी पृथिवीका भार उतारिये।" इस प्रकार सलाह करके वे दोनों यदुवीर कवच धारण-कर रथपर सवार हुए और अपने निजी आयुधों सहित थोड़ी-सी सेना साथ लेकर नगरसे बाहर आये। तब दारुकसारथी श्रीकृष्णने अपना पांचजन्य शङ्ख बजाया ॥ १५–१६ ॥ उस शङ्खनादसे भयभीत विपक्षी वीरोंके हृदय काँपने लगे। उन्हें देखकर मगधराज जरासन्ध बोला—"ओ पुरुषा-धम कृष्ण ! तू एक बालक है, तुझसे लड़नेमें मुझे लज्जा मालूम पड़ती है। अतएव मैं सबके बीचमें छिपे हुए तुझसे लड़ना नहीं चाहता। अरे मन्द ! यद्यपि तूने मेरे आत्मीय बन्धुको मारा है, तथापि मैं तुझसे नहीं लड़ूँगा। अभी तू यहाँसे भाग जा ॥ १७–१८ ॥ हाँ बलराम ! यदि तेरी इच्छा हो तो तू भले ही कुछ हिम्मत बाँध और मेरे साथ लड़। फिर या तो मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न अपना शरीर छोड़कर तू स्वर्गको जा या मुझे ही मार दे ॥ १९ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे राजन् ! शूरवीर लोग डींग नहीं हाँकते, बल्कि अपना पुरुषार्थ दिखाते हैं। तुम इस समय आतुर हो और शीघ्र मरना चाहते हो। इस कारण मैं तुम्हारी बातोंको बुरा नहीं मानता ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तब जैसे वायु मेघमण्डल और धूलिसे सूर्य तथा अग्निको आच्छादित कर लेता है, वैसे ही जरासुत मगध-राजने राम और कृष्णके समक्ष आ उन्हें अपनी प्रचण्डसेनाके प्रवाहसे सेना, रथ, ध्वजा, अश्व और

सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथावलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।
स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रिताः संमुमुहुः शुचार्दिताः ॥२२॥
हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः शिलीमुखात्युल्बणवर्षपीडितम् ।
स्वसैन्यमालोक्य सुरासुरार्चितं व्यस्फूर्जयच्छार्ङ्गशरासनोत्तमम् ॥२३॥
गृह्णन् निषङ्गादथ सन्दधच्छरान् विकृष्य मुञ्चञ्छितबाणपूगान् ।
निघ्नन् रथान् कुञ्जरवाजिपत्तीन् निरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥२४॥
निर्भिन्नकुम्भाः करिणो निपेतुरनेकशोऽश्वाः शरवृक्णकन्धराः ।
रथा हताश्वध्वजसूतनायकाः पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥२५॥
संछिद्यमानद्विपदेभवाजिनामङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ।
भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीपहयग्रहाकुलाः ॥२६॥
करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरङ्गायुधगुल्मसङ्कुलाः ।
अच्छूरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥२७॥
प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् ।
विनिघ्नतारीन् मुसलेन दुर्मदान् संकर्षणेनापरिमेयतेजसा ॥२८॥
बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् ।
क्षयं प्रणीतं वसुदेवपुत्रयोर्विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम् ॥२९॥
स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥३०॥

सारथियों सहित ढाँक लिया ॥ २१ ॥ उस समय मथुरापुरीकी स्त्रियाँ अपने महलोंकी अटारियों तथा छज्जोंपर चढ़ी हुई युद्धका भीषण दृश्य देख रही थीं। वे भगवान कृष्ण तथा बलरामके गरुड़ तथा तालचिह्नयुक्त ध्वजाओंवाले रथोंको न देख शोकाकुल होकर मूर्छित हो गयीं ॥ २२ ॥ तब कृष्णने अपनी सेनाको शत्रुसेनारूपी मेघमण्डलसे बारम्बार बरसती हुई अतिशय प्रचण्ड बाणवर्षासे पीडित देखकर अपने शार्ङ्गनामक सुरासुरपूजित श्रेष्ठ धनुषका टङ्कोर किया ॥ २३ ॥ बारम्बार तरकसमेंसे बाणोंको खींच-खींचकर उन तीखे बाणोंके समूहकी वर्षा करते हुए भगवान कृष्ण रथ, हाथी, घोड़े और पैदलोंकी सेनाको बुरी तरह मारने लगे। उस समय उनका विशाल धनुष निरन्तर घूमनेवाले अलातचक्रके समान दीखता था ॥ २४ ॥ इससे बहुतेरे हाथी सिर फट जानेसे मरकर गिर पड़े और बाणोंकी बौछारसे कितने ही घोड़ोंके सिर धड़से अलग होगये। घोड़े, ध्वजा, सारथी और रथियोंके नष्ट हो जानेसे अनेक रथ चकनाचूर होगये और पैदल सिपाहियोंकी भुजा, जङ्घा तथा मस्तकादि अङ्ग छिन्न-भिन्न होगये ॥ २५ ॥ उस युद्धमें अतुल तेजस्वी भगवान बलरामने अपने मूसलसे बहुतेरे मदमत्त शत्रुओंको मारकर मनुष्य, हाथी और घोड़ेके कटे हुए अङ्गोंसे उत्पन्न रुधिरकी सैकड़ों नदियाँ बहा दीं। वे मनुष्योंके भुजारूपी सर्पों और सिररूप कछुओंसे भरी थीं। उनमें मरे हुए हाथियोंके शरीर द्वीप जैसे और घोड़े ग्राहोंके समान दीखते थे। वे हाथ और जङ्घारूपी मछलियों, मनुष्यके केशरूप शैवाल (सेवार) धनुषरूपी तरङ्गों और अस्त्र-शस्त्ररूपी लता-गुल्मोंसे भरी थीं। उनमें ढालें भयानक भँवरोंके सदृश और महामूल्यमय मणियोंके आभूषण पत्थरकी रोड़ियोंके समान दीख रहे थे। वे नदियाँ कायरोंको भयभीत और वीरोंको उत्साहित करती थीं ॥ २६-२८ ॥ हे राजन्! मगधराजके द्वारा सुरक्षित उस समुद्रके समान दुर्गम, भयावह और अपार सेनाको वसुदेवनन्दन बलराम और कृष्णने कुछ ही समयमें नष्ट कर दिया। उन जगदीश्वरोंके लिये वह एक साधारण खेलवाड़

जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम् । हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥३१॥
बध्यमानं हतारातिं पाशैर्वारुणमानुषैः । वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥३२॥
स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसम्मतः । तपसे कृतसङ्कल्पो वारितः पथि राजभिः ॥३३॥
वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि । स्वकर्मबन्धप्राप्तोऽयं यदुभिस्ते पराभवः ॥३४॥
हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा । उपेक्षितो भगवता भगवान् दुर्मना ययौ ॥३५॥
मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णारिबलार्णवः । विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः ॥३६॥
माथुरैरुपसङ्गम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः । उपगीयमानविजयः सूतमागधवन्दिभिः ॥३७॥
शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः । वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥३८॥
सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलंकृताम् । निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥३९॥
निचीयमानो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः । निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥४०॥
आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् । यदुराजाय तत् सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥४१॥
एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः । युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥४२॥
अक्षिण्वंस्तद्बलं सर्वं वृष्णयः कृष्णतेजसा । हतेषु स्वेष्वनीकेषु त्यक्तोऽयादरिभिर्नृपः ॥४३॥

था ॥ २९ ॥ जो अनन्त गुणयुक्त श्रीकृष्ण लीलाहीसे त्रिलोकीकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करते हैं, उनके लिये विपक्षियोंका दमन करना कोई बड़ी बात नहीं थी। तथापि उन्होंने मानवचरित्रका अनुकरण किया था। इसीलिए उनके इन कर्मोंका वर्णन किया जा रहा है ॥ ३० ॥ इस प्रकार जरासन्धकी सब सेना मार डाली गयी, उसका रथ टूट गया और केवल उसका प्राणमात्र शेष रह गया। तब उस महाबली वीरको, सिंह जैसे सिंहको पकड़ता है, वैसे ही श्रीबलभद्रजीने बलपूर्वक पकड़ लिया ॥ ३१-३२ ॥ जरासन्धने बहुतेरे विपक्षी राजाओंको मारा था, इसलिये वह वधके योग्य था। किन्तु जब श्रीबलरामजी उसे मारनेके निमित्त अपने वारुण और मानुष पाशोंसे बाँधने लगे तो भगवान कृष्णने उससे अपना कार्य सम्पन्न करानेकी इच्छासे उन्हें रोक दिया। जरासन्ध वीरोंमें माननीय था। इसलिये उन जगदीश्वरोंके हाथसे छूट तथा लज्जित होकर उसने तपस्या करनेका निश्चय किया, परन्तु मार्गमें साथी राजाओंने 'प्रारब्धसे ही तुच्छ यादवोंके सामने आपको झुकना पड़ा' ऐसे धर्मशिक्षापूर्ण वाक्यों और अलौकिक नीतियोंसे समझा-बुझाकर रोक लिया ॥ ३३-३४ ॥ उस समय सब सेनाके मारे जाने तथा बलभद्रजीके द्वारा उपेक्षापूर्वक छोड़ दिये जानेपर जरासन्ध उदास मन हो अपने मगधदेशको लौट गया ॥ ३५ ॥ इधर जिनकी सेनाका एक सिपाही भी घायल नहीं हुआ, वे श्रीकृष्णचन्द्र शत्रुसेनारूपी समुद्रको अनायास पारकर भयसे मुक्त अतएव प्रसन्नचित्त मथुरावासियोंसे आ मिले। उस समय देवता उनकी प्रशंसा करते हुए उनपर फूल बरसाते तथा सूत, मागध और बन्दीजन उनकी विजयकीर्ति गा रहे थे ॥ ३६-३७ ॥ जब भगवान नगरमें घुसे तो वहाँ शङ्ख, दुन्दुभी, भेरी, तुड़ही, वीणा, बाँसुरी और मृदङ्ग आदि अनेक प्रकारके बाजोंका घोष होने लगा ॥३८॥ उस समय मथुरापुरीकी सड़कोंपर छिड़काव किया गया था। सब ओरसे प्रसन्न नागरिकोंकी चहल-पहल थी और सारा नगर ध्वजा-पताकाओंसे सुसज्जित, वेदध्वनिसे गुञ्जायमान तथा उत्सवके कारण बन्दनवारोंसे अलंकृत था ॥ ३९ ॥ उस समय स्त्रियोंने प्रीतिप्रफुल्लित नयनोंसे स्नेहपूर्वक निहारते हुए श्रीकृष्ण और बलरामको फूलोंकी माला, दही, अक्षत तथा यवांकुरादिसे ढाँक दिया ॥ ४० ॥ भगवान कृष्ण रणभूमिसे वीरोंका आभूषणरूप जो अपरिमित धन लाये थे, वह सब उन्होंने यादवराज उग्रसेनको दे दिया ॥ ४१ ॥ इसी तरह इतनी-इतनी ही सेना एकत्रितकर मगधराज जरासन्धने श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा सुरक्षित वीर यादवोंके साथ सत्रह बार युद्ध किया ॥ ४२ ॥ किन्तु यादवोंने भगवान कृष्णके प्रभावसे हर बार उसकी सारी सेना नष्ट की और जरासन्ध अपनी सेनाके मारे जानेपर

अष्टादशमसंग्रामे आगामिनि तदन्तरा । नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥४४॥
रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः । नृलोके चाप्रतिद्वन्द्वे वृष्णीञ्छ्रुत्वाऽऽत्मसम्मितान्
तं दृष्ट्वाचिन्तयत् कृष्णः सङ्कर्षणसहायवान् । अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महत् ॥४६॥
यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः । मागधोऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वाऽऽगमिष्यति ॥
आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः । बन्धून् वधिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली ॥४८॥
तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम् । तत्र ज्ञातीन् समाधाय यवनं घातयामहे ॥४९॥
इति संमन्त्र्य भगवान् दुर्गं द्वादशयोजनम् । अन्तःसमुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत् ॥५०॥
दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् । रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम् ५१
सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् । हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः ५२
राजतारकुटैः कोष्ठैर्हेमकुम्भैरलंकृतैः । रत्नकूटैर्गृहैर्हैमैर्महामरकतस्थलैः ॥५३॥
वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वल्लभीभिश्च निर्मितम् । चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत् ॥५४॥
सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः । यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मैर्न युज्यते ॥५५॥
श्यामैककर्णान् वरुणो हयाञ्छुक्लान् मनोजवान् । अष्टौ निधिपतिः कोशान् लोकपालोनिजोदयान्
यद् यद् भगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये । सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप ॥५७॥

शत्रुओंके उपेक्षापूर्वक छोड़ देनेसे (उदास होकर ही) अपनी राजधानीको लौटा ॥ ४३ ॥ जब अठारहवाँ संग्राम छिड़नेको था, तब नारदजीका भेजा हुआ यवनवीर कालयवन दिखायी दिया। युद्धभूमिमें कालयवनके सामने टिकनेवाला वीर संसारमें कोई नहीं था ॥ ४४ ॥ उसने यादवोंको अपने समान बलवान् सुना तो तीन करोड़ म्लेच्छसेना साथ लेकर मथुरापुरीपर चढ़ आया और उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ ४५ ॥ उस अपार सैन्यसमुद्रको देखकर भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने बलरामजीके साथ परामर्श किया—'अहो ! इस समय यादवोंपर दोनों ओरसे बहुत बड़ी विपत्ति आ पड़ी है ॥४६॥ आज इस महाबली यवनने तो हमें आकर घेर ही लिया है। मगधराज जरासन्ध भी आज कल या परसों तक आयेही गा ॥४७॥ यदि इसके साथ युद्ध करते समय ही महाबली जरासन्ध भी आ गया तो वह या तो हमारे बन्धुओंको मार डालेगा या कैद करके अपने नगरको ले जायगा ॥ ४८ ॥ अतएव आज हम ऐसा दुर्ग रचेंगे, जिसमें किसी भी मनुष्यका जाना अत्यन्त कठिन होगा। तब अपने स्वजनोंको उसीमें पहुँचाकर हम इस यवनका वध करायेंगे' ॥ ४९ ॥ इस प्रकार बलरामजीसे सलाह करके भगवानने समुद्रके बीचमें बारह योजन का विस्तृत तथा दुर्गम नगर बनवाया। जो सब विचित्रताओंसे पूर्ण था ॥ ५० ॥ उसमें विश्वकर्माका सारा विज्ञान और शिल्पचातुर्य स्पष्ट दिखता था। वह नगर शिल्पशास्त्रके अनुसार राजमार्गों, चौराहों और गलियोंका विभाग करके बनाया गया था ॥ ५१ ॥ उसके सब ओर देववृक्ष, पुष्पित लता, उद्यान और विचित्र बगीचे थे तथा गगनस्पर्शी सुवर्णमय शिखर स्फटिकमणिके चौबारे एवं फाटक उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ५२ ॥ उसमें सुवर्णकलशोंसे सुशोभित चाँदी तथा पीतल जड़े अन्नकोष्ठ तथा अश्वशालाएँ थीं और रत्नजटित शिखर एवं मरकतमणियुक्त भूमिवाले सुवर्णनिर्मित भवन बने थे॥ ५३ ॥ उस नगरमें वास्तुदेवताओंके मन्दिर, चन्द्रशालाएँ और अट्टालिकाएँ बनायी गयी थीं। उसमें चारों वर्णके लोग रहते थे और बीचमें भगवान कृष्णचन्द्रका महल उस नगरकी शोभा बढ़ा रहा था ॥ ५४ ॥ तदनन्तर इन्द्रने श्री कृष्णभगवानके पास कल्पवृक्ष और सुधर्मा सभा भी भेज दी। सुधर्मा सभामें बैठनेवाला मनुष्य भूख-प्यास आदि मानवधर्मोंसे युक्त नहीं होता था ॥ ५५–५६ ॥ वरुणदेवने जिनके एक कान श्यामवर्णके थे, ऐसे मनके समान वेगवाले बहुतसे सफेद घोड़े भेजे। धनपति कुबेरने आठ निधियाँ भेजीं तथा अन्यान्य लोकपालोंने भी अपनी-अपनी विभूतियाँ भगवानके पास भेज दीं। हे राजन् !

तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः । प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ।
निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे दुर्गनिवेशनं नाम पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम् । दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥१॥
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् । पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥२॥
नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् । मुखारविन्दं बिभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३॥
वासुदेवो ह्ययमिति पुमाञ्छ्रीवत्सलाञ्छनः । चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥४॥
लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति । निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ५
इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् । अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥६॥
हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे । नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्रिकन्दरम् ॥७॥
पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् । इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ॥८॥
एवं क्षिप्तोऽपि भगवान् प्राविशद् गिरिकन्दरम् । सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥९॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकपालोंको अपना अधिकार चलानेके लिये भगवानने जिन-जिन सिद्धियोंका प्रभुत्व दिया था, वे सब सिद्धियाँ उन्होंने भगवानके भूलोकमें पधारनेपर उन्हें लौटा दीं ॥ ५७ ॥ तब श्रीकृष्ण भगवानने अपने योगबलसे मथुराके सब पुरवासियोंको उस नगरमें पहुँचा दिया और प्रजापालनके लिये श्रीबलभद्रजीसे सम्मति लेकर आप नगरके द्वारसे बाहर चले आये। उस समय भगवान कमलकुसुमोंकी माला पहने हुए थे और उनके पास कोई शस्त्र नहीं था ॥ ५८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

(भक्त मुचुकुन्दकी कथा) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! नगरसे निकलते समय भगवान कृष्ण ऐसे लगते थे मानो पूर्वदिशामें चन्द्रदेव प्रकट हुए हों। उनका श्याम शरीर बड़ा दर्शनीय था और वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए थे। उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स और गलेमें देदीप्यमान कौस्तुभमणि सुशोभित था। उनकी चारों भुजाएँ विशाल और स्थूल थीं और नेत्र नूतन रक्तकमलके समान कुछ अरुण वर्णके थे। उनका नित्यप्रसन्न तथा शोभायुक्त मुख, सुन्दर कपोल एवं मनोहर मुसकानसे सुशोभित था। उनके कानोंमें मकराकृत कुण्डल हिलते रहते थे। उन्हें देखकर कालयवनने समझ लिया कि ये वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ही हैं, क्योंकि नारदजीके बतलाये लक्षणोंके अनुसार यह श्रीवत्सचिह्नयुक्त, चार भुजाओंवाला, कमलनयन तथा वनमालाधारी अति सुन्दर पुरुष और कोई नहीं हो सकता। यह बिना कोई अस्त्र-शस्त्र लिये पैदल ही आ रहा है। अतएव मैं भी इसके साथ बिना हथियार लिये पैदल ही लडूँगा ॥ १-५ ॥ ऐसा निश्चय करके वह यवन, योगियोंको भी दुर्लभ अपने सामनेसे भागे हुए उन श्रीहरिको पकड़नेके लिये उनके पीछे दौड़ा ॥ ६ ॥ श्रीभगवान पग-पगपर यह दिखाते हुए कि मानो अब पकड़ लिये जायेंगे, उस यवनको बहुत दूर एक पर्वतकी गुफामें ले गये ॥ ७ ॥ तब पापी कालयवन बोला—"अरे कृष्ण ! तू यदुकुलमें जन्मा है। तेरा भागना ठीक नहीं है" इस प्रकार आक्षेप करता हुआ वह भगवानके पीछे-पीछे चला गया, किन्तु उन्हें पकड़ नहीं सका ॥ ८ ॥ इस तरह कालयवनके बार-बार आक्षेप करनेपर भी

नन्वसौ दूरमानीय शेते मामिह साधुवत् । इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत् ॥१०॥
स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने । दिशो विलोकयन् पार्श्वे तमद्राक्षीदवस्थितम् ११
स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत । देहजेनाग्निना दग्धो भस्मसादभवत् क्षणात् १२

राजोवाच

को नाम स पुमान् ब्रह्मन् कस्य किं वीर्य एव च । कस्माद् गुहां गतः शिश्ये किं तेजो यवनार्दनः १३

श्रीशुक उवाच

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् । मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥१४॥
स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे । असुरेभ्यः परित्रस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥१५॥
लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् । राजन् विरमतां कृच्छ्राद् भवान् नः परिपालनात्
नरलोके परित्यज्य राज्यं निहतकण्टकम् । अस्मान् पालयतो वीर कामास्ते सर्व उज्झिताः ॥
सुता महिष्यो भवतो ज्ञातयोऽमात्यमन्त्रिणः । गजाश्च तुल्यकालीयानाधुना सन्ति कालिताः १८
कालो बलीयान् बलिनां भगवानीश्वरोऽव्ययः । प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो यथा पशून् १९
वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः । एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः ॥२०॥
एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशाः । अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥२१॥
स्वापं यातं यस्तु बोध्ये बोधयेत्त्वामचेतनः । स त्वया दृष्टमात्रस्तु भस्मीभवतु तत्क्षणात् ॥२२॥

भगवान बढ़े ही चले गये और एक पर्वतकी कन्दरामें जा घुसे । कालयवन भी उनके पीछे उस गुफामें घुसा और उसने वहाँ एक अन्य पुरुषको सोये हुए देखा ॥ ९ ॥ किन्तु मूर्ख कालयवनने उसे ही श्रीकृष्ण समझा और यह सोचकर कि 'मुझे इतनी दूर लाकर यहाँ कैसा साधु बनकर सोगया है' उसको एक लात मारी ॥ १० ॥ वह पुरुष वहाँ बहुत दिनोंसे सो रहा था, उसने जागकर धीरे-धीरे नेत्र खोले और सब दिशाओंमें इधर-उधर देखनेपर पास ही खड़े कालयवनको देखा ॥ ११ ॥ हे भारत ! उस क्रुद्ध पुरुषकी दृष्टि पड़ते ही कालयवन अपनी देहसे उत्पन्न अग्निसे जलकर एक क्षणमें ही भस्मका ढेर बन गया ॥ १२॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! कालयवन-को भस्म करनेवाला वह पुरुष कौन था ? किसका पुत्र था ? उसका पराक्रम और तेज कैसा था ? और वह क्यों उस गुफामें जाकर सोया हुआ था ॥ १३ ॥ श्रीशुकदेवजीने कहा—हे राजन् ! वे इक्ष्वाकुलमें उत्पन्न महाराज मान्धाताके पुत्र, ब्रह्मण्य और सत्यप्रतिज्ञ महाराज मुचुकुन्द थे ॥ १४ ॥ एक बार इन्द्र आदि देवताओंने दैत्यों द्वारा अत्यन्त त्रस्त होनेके कारण उनसे अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना की । तब उन्होंने बहुत समयतक उन देवताओंकी रक्षा की थी ॥ १५ ॥ कालान्तरमें देवता-ओंको स्वर्गकी रक्षाके निमित्त देवसेनापति श्रीकार्तिकेयजी मिल गये । तब उन्होंने राजा मुचुकुन्दसे कहा—"हे राजन् ! अब आप हमारी रक्षाके कष्टसे निवृत्त हो सकते हैं ॥ १६ ॥ हे वीर ! मर्त्यलोक-का अपना निष्कण्टक राज्य छोड़कर आपने हम लोगोंका पालन करते हुए अपने सम्पूर्ण भोग त्याग दिये थे ॥ १७ ॥ अब आपके पुत्र, स्त्री, जातिबन्धु, अमात्य, मन्त्री एवं समकालीन प्रजावर्गमेंसे कोई भी नहीं रहगया है, वे सब कालके गालमें जाचुके हैं ॥ १८ ॥ काल सबसे बली है । यही अविनाशी भगवान ईश्वर है । जैसे गोपगण पशुओंका सञ्चालन करते हैं, वैसे ही यह खेलखेलमें प्रजाका नियन्त्रण करता है ॥ १९ ॥ हे राजन् ! आपका कल्याण हो । आप मोक्षके सिवाय और कोई भी वर माँग लें । क्योंकि मोक्ष देनेकी सामर्थ्य तो एकमात्र अव्यय भगवान विष्णुमें ही है" ॥ २० ॥ इस प्रकार देवताओंके कहनेपर महायशस्वी मुचुकुन्दने उन्हें प्रणाम करके बहुत दिनोंसे थके होनेके कारण निद्राका वर माँगा । देवताओंने कहा—"हे राजन् ! जो मूर्ख सोते हुए तुमको जगावेगा, वह तुरन्त भस्म हो जायगा ।" इस तरह देवताओंको दी हुई निद्राके वशीभूत होकर मुचु-

यवने भस्मसान्नीते भगवान् सात्वतर्षभः । आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥२३॥
तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् । श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥२४॥
चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया । चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२५॥
प्रेक्षणीयं नृलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम् । अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥२६॥
पर्यपृच्छन्महाबुद्धिस्तेजसा तस्य धर्षितः । शङ्कितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा ॥२७॥

मुचुकुन्द उवाच

को भवानिह सम्प्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे । पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥२८॥
किंस्वित्तेजस्विनां तेजो भगवान् वा विभावसुः । सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा२९
मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् । यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥३०॥
शुश्रूषतामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव । स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥३१॥
वयं तु पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः । मुचुकुन्द इति प्रोक्तो यौवनाश्वात्मजः प्रभो ॥३२॥
चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयोपहतेन्द्रियः । शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना३३
सोऽपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना । अनन्तरं भवाञ्छ्रीमान् लक्षितोऽमित्रशातनः ३४
तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः । हतौजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥३५॥
एवं संभाषितो राज्ञा भगवान् भूतभावनः । प्रत्याह प्रहसन् वाण्या मेघनादगभीरया ॥३६॥

श्रीभगवानुवाच

जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः । न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥३७॥

कुन्द उसी गुफामें आकर सो गये थे ॥ २१ ॥ २२ ॥ कालयवनके भस्मीभूत होजानेपर यदुश्रेष्ठ भगवान श्रीकृष्णने परम बुद्धिमान् राजा मुचुकुन्दको अपना दर्शन दिया ॥ २३ ॥ भगवानका शरीर मेघकी भाँति श्याम था । वे रेशमी पीताम्बर पहने और वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न तथा कौस्तुभमणि धारण किये थे । उनकी लम्बी-लम्बी चार भुजायें थी और वे वैजयन्ती मालासे विभूषित थे । उनका मुख अतिशय सुन्दर और प्रसन्न था । उनके कानोंमें मकराकृत कुण्डल चमक रहे थे । उनकी चितवन प्रणय मुसकानसे भरी थी । वे मनुष्यमात्रके लिये दर्शनीय थे । उनकी अतिसुन्दर तरुण अवस्था थी और मत्त मृगराजके समान उनमें प्रबल पराक्रम था । भगवानके उस दुर्धर्ष तेजोयुक्त दिव्य रूपको देखकर महाबुद्धिमान् राजा मुचकुन्दने उस तेजसे प्रतिहत और शङ्कितचित्त होकर धीरे-धीरे पूछा ॥ २४-२७ ॥ मुचकुन्द बोले—आप कौन हैं ? और कंटकसे भरे इस गहन वनमें अपने कमलदलसदृश सुकुमार चरणारविन्दोंसे विचरते हुए इस गिरिकन्दरामें क्यों आये हैं ? ॥२८॥ आप सब तेजस्वियोंके तेज अथवा साक्षात् भगवान आदिदेव तो नहीं हैं ? या सूर्य, चन्द्र अथवा अन्यान्य लोक-पालोंमेंसे कोई हैं ॥२९॥ मेरे विचारसे तो आप देवताओंके भी देवता ब्रह्मा, विष्णु और महादेवमेंसे साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीनारायण ही हैं। क्योंकि आप प्रज्वलित दीपकके समान अपने तेजसे इस गुफाका अन्धकार नष्ट कर रहे हैं ॥ ३० ॥ हे नरश्रेष्ठ ! यदि आपकी इच्छा हो तो हमें अपना यथार्थ जन्म, कर्म तथा गोत्र बतलाइये । उन्हें सुननेकी हमारी बड़ी इच्छा है ॥ ३१ ॥ हे पुरुषसिंह ! मैं तो इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न एक क्षत्रिय हूँ । हे प्रभो ! मेरा नाम मुचुकुन्द है और मैं युवनाश्वनन्दन महाराज मान्धाताका पुत्र हूँ ॥ ३२ ॥ मैं बहुत दिनोंतक जागनेके कारण थक गया था और निद्रासे अचेत होकर इस निर्जन स्थानमें इच्छानुसार सो रहा था । अब मुझे किसीने जगा दिया ॥ ३३ ॥ और वह अपने ही पापसे जलकर भस्म हो गया । फिर अपने शत्रुओंको नष्ट करनेवाले श्रीमान्के मुझे दर्शन हुए ॥ ३४ ॥ हे महाभाग ! आप समस्त देहधारियोंके माननीय हैं । आपके असह्य तेजसे शक्तिहीन होजानेके कारण मैं अधिक देरतक आपकी ओर नहीं देख सकता ॥ ३५ ॥ इस प्रकार राजा मुचुकुन्द-

क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः । गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित् ३८
कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप । अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ॥३९॥
तथाप्यद्यतनान्यङ्ग शृणुष्व गदतो मम । विज्ञापितो विरिञ्चेन पुराहं धर्मगुप्तये ।
भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयाय च ॥ ४० ॥
अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः । वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ॥४१॥
कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः । अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ॥४२॥
सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः । प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥४३॥
वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान् कामान् ददामि ते । मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्४४

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः । ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥४५॥

मुचुकुन्द उवाच

विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक् ।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः ॥४६॥
लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।
पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४७॥

के कहनेपर भगवान् कृष्णने हँसते हुए मेघके समान अपनी गम्भीर वाणीमें कहा ॥ ३६ ॥ श्रीभगवान कहते हैं—हे तात ! मेरे जन्म-कर्म और नाम हजारों हैं। उनका कोई अन्त नहीं है। अतएव स्वयं मैं भी उनकी गणना नहीं कर सकता ॥ ३७ ॥ यह हो सकता है कि कोई पुरुष कई जन्मोंमें पृथिवीके कणोंको गिन ले, किन्तु मेरे जन्म, गुण, कर्म और नामोंको कोई कदापि नहीं गिन सकता ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! सब महर्षि भी मेरे त्रिकालसिद्ध जन्म तथा कर्मोंका वर्णन करते रहनेपर भी कभी उनका अन्त नहीं पाते ॥ ३९ ॥ फिर भी मैं अपने वर्तमान जन्म-कर्म और नामोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। पूर्वकालमें मुझसे ब्रह्माजीने धर्मकी रक्षा तथा पृथिवीके भारभूत दैत्योंका संहार करनेके लिये प्रार्थना की थी ॥ ४० ॥ उनकी प्रार्थनासे ही मैंने यदुकुलमें वसुदेवजीके यहाँ अवतार लिया है। वसुदेवजीका पुत्र होनेके कारण लोग मुझे 'वासुदेव' कहते हैं ॥ ४१ ॥ अबतक मेरे हाथसे कालनेमिका दूसरा अवतार कंस और प्रलम्बासुर आदि अनेक साधुओंके द्रोही मारे जा चुके हैं। हे राजन् ! इस समय भी यह कालयवन मेरी ही प्रेरणासे तुम्हारी तीक्ष्ण दृष्टिसे भस्म हुआ है ॥ ४२ ॥ वही मैं तुमपर कृपा करनेके लिये इस गुफामें आया हूँ। मैं भक्तवत्सल हूँ और तुमने पहले मेरी बहुत आराधना की है ॥ ४३ ॥ हे राजर्षे ! तुम मुझसे अपना इच्छित वर माँगो—मैं तुम्हारी सब इच्छायें पूर्ण कर दूँगा। जो पुरुष मेरी शरणमें आ जाता है, उसे फिर कोई चिन्ता नहीं रह जाती ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—भगवानके ऐसा कहनेपर मुचुकुन्दको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने वृद्ध गर्गके वाक्योंका अर्थात् 'अट्ठाइसवें द्वापर युगमें विष्णुभगवान वसुदेवजीके घर अवतार लेंगे' स्मरण करते हुए उन्हें साक्षात् नारायण समझा और कहने लगे ॥ ४५ ॥ मुचुकुन्द बोले—हे ईश ! आपकी मायासे मोहित होकर संसारके नर-नारी आपको नहीं भजते। उनकी दृष्टि सदा अनर्थरूप संसारमें ही लगी रहती है और वे परस्पर एक-दूसरेके द्वारा ठगे जाकर भी सुखकी आशासे दुःखपूर्ण गृह आदिमें ही फँसे रहते हैं ॥ ४६ ॥ हे अनघ ! इस कर्मभूमिमें सम्पूर्ण अङ्गोंसे युक्त अति दुर्लभ मनुष्य शरीर पानेपर भी जीव तुच्छ विषय-सुखोंमें आसक्त रहनेके कारण आपके चरणकमलोंका भजन नहीं करता और तृणके लोभसे अन्धकूपमें पड़े हुए पशुके समान गृहरूपी अन्धकूपमें जा गिरता है

ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४८॥
कलेवरेऽस्मिन् घटकुड्यसन्निभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।
वृतो रथेभाश्वपदात्यनीकपैर्गां पर्यटंस्त्वागणयन् सुदुर्मदः ॥४६॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः ॥५०॥
पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।
स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥५१॥
निर्जित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः ।
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥५२॥
करोति कर्माणि तपःसुनिष्ठितो निवृत्तभोगस्तदपेक्षया ददत् ।
पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥५३॥
भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥५४॥
मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यदृच्छया ।
यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षद्भिरखण्डभूमिपैः ॥५५॥
न कामयेऽन्यं तव पादसेवनादकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो ।
आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥५६॥

॥४७॥ हे अजित ! मैं राजा था और राज्यलक्ष्मीके मदने मुझे उन्मत्त कर दिया था । मैं अपने शरीरको ही आत्मा मानता था और पुत्र, स्त्री एवं राजकोषादिमें मेरी बड़ी आसक्ति थी । इस तरहकी दुरन्त चिन्तामें लगे-लगे मेरा वह काल व्यर्थ ही बीत गया ॥ ४८ ॥ घड़ा और भीतके सदृश इस शरीरमें 'मैं राजा हूँ' ऐसा मुझे दृढ़ अभिमान हो गया था और मैं आपका कुछ भी विचार न करता हुआ रथ, हाथी, घोड़े और पैदल चतुरंगिणी सेनाके साथ अति मदान्ध होकर पृथिवीपर घूमता था ॥ ४६ ॥ 'मुझे ऐसा करना चाहिये' इस चिन्तामें मनुष्य अत्यन्त उन्मत्त रहता है, उसे विषयोंकी अत्यन्त लालसा रहती है और विषय मिल जानेपर भी दिनोंदिन उनकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है । किन्तु जैसे क्षुधावश जीभ लपलपाता हुआ सर्प असावधान चूहेको दबोच लेता है, वैसे ही सदा सावधान रहनेवाले कालरूपी आप उसे अकस्मात् आकर पकड़ लेते हैं ॥५०॥ पहले जो शरीर 'राजा' बनकर सुवर्णमय रथों और मतवाले हाथियोंपर चढ़कर चलता था, वही एक दिन दुर्निवार कालरूप आपसे कवलित होकर विष्ठा, कृमि या भस्म बन जाता है ॥ ५१ ॥ हे ईश ! मरणसे पहले भी जो सब दिशाओंको जीतकर युद्धका अन्त कर चुका है तथा श्रेष्ठ सिंहासनपर बैठकर अपने समकक्ष राजाओंसे पूजित होता है, वही पुरुष विषय-सुखके लिये स्त्रियोंका क्रीडामृग (पालतू पशु) बन जाता है ॥ ५२ ॥ फिर वह उन्हीं राज्यादि भोगोंकी इच्छासे दान-पुण्य करता और भोगोंको छोड़कर तपस्यामें स्थित रहता हुआ 'मैं दूसरे जन्ममें स्वतन्त्र सम्राट होऊँ, इस अभिलाषासे नाना प्रकारके कर्म करता है । अतएव तृष्णा बढ़ जानेसे वह तनिक भी चैन नहीं पाता । हे अच्युत ! जब संसारबन्धनका अन्त निकट आता है, तब प्राणीको सत्सङ्ग प्राप्त होता और जब सत्सङ्ग प्राप्त होता है, तभी सत्पुरुषोंके आश्रय एवं कार्य-कारणके नियन्ता आपमें उसका मन लगता है ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ हे ईश ! मेरा राज्यबन्धन स्वयं टूट गया, इसे मैं आपका अनुग्रह ही मानता हूँ । क्योंकि जो साधुस्वभाव चक्रवर्ती राजे राज्य छोड़कर तपस्या करनेके लिए वनमें जाना चाहते हैं, वे भी उस राज्यानुरागसे

तस्माद् विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।
निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥५७॥
चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापैरवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथञ्चित् ।
शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन्नभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश ॥५८॥

श्रीभगवानुवाच

सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता । वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥५९॥
प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् । न धीर्मय्येकभक्तानामाशीर्भिर्भिद्यते क्वचित् ॥६०॥
युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः । अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थितम् ॥६१॥
विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः । अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥६२॥
क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः । समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः ॥६३॥
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः । भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे मुचुकुन्दस्तुतिर्नामैकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

मुक्त होनेके लिये आपसे प्रार्थना किया करते हैं ॥ ५५ ॥ हे विभो ! निरभिमानी पुरुषोंको जो अत्यन्त प्रार्थनीय है, उस आपकी चरणसेवाके अतिरिक्त मैं और कोई भी वर नहीं माँगना चाहता । हे हरे ! आप जैसे मोक्षप्रद प्रभुकी आराधना करके कोई भी विवेकी पुरुष अपनेको बन्धनमें डालनेवाला वर कैसे माँग सकता है ? ॥ ५६ ॥ हे ईश ! मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे सम्बद्ध सब कामनाओंको छोड़कर आप निर्मल, निर्गुण, अद्वय और चिन्मात्र परम पुरुषकी शरण गहता हूँ ॥ ५७ ॥ मैं चिरकालसे अपने कर्मफलोंसे पीडित था । उनके दुःखद परिणाम मुझे निरन्तर जला रहे थे । अपने छः शत्रुओं अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मनकी तृष्णा शान्त न होनेके कारण मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलती थी । हे शरणप्रद परमात्मन् ! अब मैं आपके भय, मृत्यु और शोकसे रहित चरणकमलोंमें आया हूँ । हे ईश ! आप मुझ शरणागतको रक्षा करिए ॥ ५८ ॥ भगवान बोले—हे सार्वभौम महाराज ! तुम्हारी बुद्धि बड़ी निर्मल और ऊँची है, जो मेरे बारबार वरके लिये प्रलोभित करनेपर भी कामनाओंके वशमें नहीं आयी ॥ ५९ ॥ मैंने जो तुम्हें वर देनेका प्रलोभन दिया था, उसे तुम अपनी सावधानीकी परीक्षाके लिये ही समझना । क्योंकि मेरे अनन्य भक्तोंकी बुद्धि कभी कामनाओंसे विद्ध नहीं होती ॥ ६० ॥ जो मेरे भक्त नहीं होते, उनका मन प्राणायामादि साधनोंसे अपने वशमें करनेका उद्योग करते रहनेपर भी वासनाओंका क्षय न होकर विषयोंकी ओर जाता दीखता है ॥६१॥ अब तुम मुझमें मन लगाकर स्वेच्छानुसार पृथिवीपर विचरो । मुझमें तुम्हारी सर्वदा अनपायिनी भक्ति बनी रहेगी ॥ ६२ ॥ तुमने क्षात्रधर्मका आचरण करते समय मृगया आदिमें बहुतसे जीवोंको मारा है । अब उस पापको समाहित चित्तसे मेरी उपासना करते हुए कठोर तपस्या द्वारा क्षीण करो । अगले जन्ममें तुम सब प्राणियोंके परम सुहृद् श्रेष्ठ ब्राह्मण होओगे । उस समय तुम मुझ केवलस्वरूप परमात्माको अवश्य प्राप्त हो जाओगे ॥ ६३-६४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः । तं परिक्रम्य सन्नम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥१॥
स वीक्ष्य क्षुल्लकान् मर्त्यान् पशून् वीरुद्वनस्पतीन् । मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥२॥
तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः । समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद् गन्धमादनम् ॥३॥
बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् । सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाऽऽराधयद्धरिम् ॥४॥
भगवान् पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम् । हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां धनम् ॥५॥
नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः । आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥६॥
विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ । मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन् दुद्रुवतुर्द्रुतम् ॥७॥
विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् । पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम् ॥८॥
पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन् बली । अन्वधावद् रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥९॥
प्रद्रुत्य दूरं संश्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् । प्रवर्षणाख्यं भगवान् नित्यदा यत्र वर्षति ॥१०॥
गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप । ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥११॥
तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ । दशैकयोजनोत्तुङ्गान्निपेततुरधो भुवि ॥१२॥
अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ । स्वपुरं पुनरायातौ समुद्रपरिखां नृप ॥१३॥
सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ । बलमाकृष्य सुमहन्मगधान् मागधो ययौ ॥१४॥

(भगवानका द्वारकागमन, बलरामजीका विवाह तथा श्रीकृष्णचन्द्रको रुक्मिणीका विवाह-सन्देश) श्रीशुकदेवजी बोले—हे तात ! इक्ष्वाकुतनय महाराज मुचुकुन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे इस प्रकार अनुगृहीत हो और उनकी परिक्रमा तथा प्रणामकर उस गुफासे बाहर आये ॥ १ ॥ उन्होंने बाहर आकर देखा कि सब मनुष्य, लता और वृक्ष छोटे-छोटे आकारके होगये हैं । इन लक्षणोंसे यह जानकर कि अब कलियुग आ गया है, वे तप करनेके लिये उत्तर दिशाको चले गये ॥ २ ॥ महाराज मुचुकुन्द श्रद्धासे सम्पन्न, परम धीर तथा सब प्रकारके सङ्ग और संशयसे रहित थे । वे श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगये हुए गन्धमादन पर्वतपर जा पहुँचे ॥ ३ ॥ 'वहाँ श्रीनर-नारायणके स्थान बद्रिकाश्रममें जाकर सब द्वन्द्वोंको सहन करते हुए शान्तभावसे तपस्या द्वारा श्रीकृष्णभगवानकी आराधना करने लगे ॥ ४ ॥ इधर भगवान कृष्णचन्द्र मथुरा लौट आये और उस म्लेच्छदलको मारकर उसका सारा धन साथ ले द्वारकाको चल पड़े ॥ ५ ॥ जब वह धन श्रीअच्युतकी आज्ञासे बैल तथा मजदूरोंपर लादकेर ले जाया जा रहा था, तब सेनासे घिरी मथुरापुरीमें जरासन्ध फिर तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर आ धमका ॥ ६ ॥ हे राजन् ! शत्रुसेनाका प्रबल वेग देखकर श्रीकृष्ण और बलराम मानवी लीलाका अनुकरण करते हुए उनके सामनेसे शीघ्र भागे ॥ ७ ॥ यद्यपि उन्हें कोई भय नहीं था, फिर भी मानों अत्यन्त डर गये हों, इस प्रकार वह भारी सम्पत्ति वहीं छोड़ दी और कमलदल-सदृश सुकुमार चरणोंसेही पैदल कई योजनतक भागते चले गये ॥ ८ ॥ उन्हें भागते देख महाबली मगधराज उन ईश्वरोंका प्रभाव न जान सकनेके कारण अपने रथी सैनिकोंके साथ उनके पीछे झपटा ॥ ९ ॥ जब बहुत दूरतक दौड़नेसे भगवान थक गये तो ऊँचे प्रवर्षण पर्वतपर चढ़ गये, जहाँ नित्य वर्षा होती रहती थी ॥ १० ॥ हे राजन् ! उन्हें पर्वतपर छिपे जान और उनका कहीं पता न पाकर जरासन्धने इन्धनसे पूर्ण उस पर्वतके चारों ओर आग लगवा दी ॥ ११ ॥ जब उसका पार्श्व-भाग जलने लगा तो दोनों भाई बड़े वेगसे उछलकर ग्यारह योजन ऊँचे पहाड़से नीचे पृथिवीपर कूद पड़े ॥ १२ ॥ हे राजन् ! वे दोनों यदुश्रेष्ठ जरासन्धसे छिपकर अपने साथियों सहित द्वारकापुरीमें

आनर्त्ताधिपतिः श्रीमान् रैवतो रेवतीं सुताम् । ब्रह्मणा चोदितःप्रादाद् बलायेति पुरोदितम्॥१५॥
भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरूद्वह । वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयंवरे ॥१६॥
प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वादींश्चैद्यपक्षगान् । पश्यतां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव॥१७॥

राजोवाच

भगवान् भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् । राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥१८॥
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः । यथा मागधशाल्वादीन् जित्वा कन्यामुपाहरत्१९
ब्रह्मन् कृष्णकथाः पुण्या माध्वीर्लोकमलापहाः । को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः २०

श्रीशुक उवाच

राजाऽऽसीद् भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान् । तस्य पञ्चाभवन् पुत्राः कन्यैका च वरानना॥२१॥
रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः । रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मिण्येषां स्वसा सती२२
सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः । गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥२३॥
तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम् । कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ॥२४॥
बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप । ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत॥२५॥
तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम् । विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम्
द्वारकां स समभ्येत्य प्रतीहारैः प्रवेशितः । अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने ॥२७॥

आ गये, जिसके चारों ओर समुद्रकी खाईं थी ॥ १३ ॥ इधर जरासन्ध झूठमूठ यह समझकर कि 'कृष्ण और बलराम दोनों भाई जल गये' अपनी सेना लेकर मगधदेशको वापस चला गया ॥ १४ ॥ हे राजन् ! यह बात पहले ही बतायी जा चुकी है कि आनर्त्तनरेश श्रीमान् रैवतने ब्रह्माजीके कथनसे अपनी पुत्री रेवतीका विवाह बलरामजीके साथ कर दिया था ॥ १५ ॥ तदुपरान्त हे कुरुनन्दन ! श्रीगोविन्दने भी स्वयंवरमें आये हुए शिशुपालके पक्षपाती शाल्वादि अनेक राजाओंका मानमर्दन करके गरुडजीके द्वारा अमृतहरणके समान उन सबके सामनेसे विदर्भदेशमें उत्पन्न महाराज भीष्मककी कन्या लक्ष्मीजीकी अंशावतार श्रीरुक्मिणीजीका हरण कर लिया था ॥ १६-१७ ॥ यह सुनकर राजा परीक्षितने कहा—हमने सुना था कि भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने महाराज भीष्मककी सुन्दरी पुत्री रुक्मिणीसे राक्षसविवाहकी विधिसे विवाह किया था ॥ १८ ॥ सो हे भगवन् ! अमित पराक्रमी भगवान कृष्णने जरासन्ध और शाल्वादि शूरवीरोंको परास्तकर कैसे कन्याहरण किया, यह वृत्तान्त मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १९ ॥ हे ब्रह्मन् ! कृष्णभगवानकी गाथाएँ अतिशय पवित्र, मधुर और संसार-मलका मार्जन करनेवाली होती हैं। नित्य नूतन कथाओंको सुनते रहनेसे कौन मर्मज्ञ श्रोता तृप्त हो सकता है ! ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! महाराज भीष्मक विदर्भदेशके स्वामी थे। उनके पाँच पुत्र और एक सुमुखी कन्या थी ॥ २१ ॥ उन सन्तानोंमें रुक्मी सबसे बड़ा था। उसके अतिरिक्त रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश तथा रुक्ममाली ये चार भाई थे और सती रुक्मिणी इनकी छोटी बहिन थीं ॥ २२ ॥ रुक्मिणीने अपने यहाँ आनेवाले लोगोंके द्वारा भगवान कृष्णके रूप, बल, गुण और वैभवकी प्रशंसा सुनकर उन्हें ही अपना अनुरूप पति समझ रखा था ॥ २३ ॥ इधर श्रीकृष्णचन्द्रने भी बुद्धि, लक्षण, उदारता, रूप, शील और सब गुणोंकी खानि रुक्मिणीको अपने योग्य भार्या समझकर मनही मन उनसे विवाह करनेका निश्चय कर लिया था ॥ २४ ॥ कृष्णद्रोही रुक्मीने जब देखा कि पिता-माता आदि सभी बान्धव बहिन रुक्मिणीका विवाह श्रीकृष्णचन्द्रके ही साथ करना चाहते हैं तो उसने रोक दिया और चेदिराज शिशुपालको रुक्मिणीके योग्य वर माना ॥२५॥ रुक्मीका विचार जानकर श्यामलोचना विदर्भराजकुमारी रुक्मिणी बहुत दुःखित हुई। उन्होंने सोच-समझकर एक विश्वासपात्र ब्राह्मणको तुरन्त श्रीकृष्णके पास द्वारका भेजा ॥ २६ ॥ द्वारका पहुँचनेपर

दृष्ट्वा ब्रह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात् । उपवेश्याहयाञ्चक्रे यथाऽऽत्मानं दिवौकसः ॥२८॥
तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः । पाणिनाभिमृशन् पादावव्यग्रस्तमपृच्छत ॥२९॥
कच्चिद् द्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसम्मतः । वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा ॥३०॥
संतुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् । अहीयमानः स्वाद् धर्मात् स ह्यस्याखिलकामधुक्
असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः । अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥३२॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून् भूतसुहृत्तमान् । निरहङ्कारिणः शान्तान् नमस्ये शिरसाऽसकृत्३३
कच्चिद् वः कुशलं ब्रह्मन् राजतो यस्य हि प्रजाः । सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः॥३४॥
यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तीर्येह यदिच्छया । सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत् किं कार्यं करवाम ते ॥३५॥
एवं सम्पृष्टसम्प्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना । लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

रुक्मिण्युवाच

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥३७॥
का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूपविद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम् ।
धीरा पतिं कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह नरलोकमनोऽभिरामम् ॥३८॥

उन द्विजवरको द्वारपाल राजभवनके भीतर ले गये। वहाँ उन्होंने आदिपुरुष भगवान कृष्णको एक स्वर्ण सिंहासनपर बैठे देखा ॥ २७ ॥ ब्रह्मण्य भगवान कृष्ण उन ब्राह्मण देवताको देखते ही अपने आसनसे उठ खड़े हुए और उन्हें आसनपर बिठाया और जैसे देवता भगवानकी पूजा करते हैं, वैसे ही उन्होंने ब्राह्मणकी पूजा की ॥२८॥ जब ब्राह्मणदेव भोजनादिसे निवृत्त हो कुछ देर विश्राम कर चुके, तब सज्जनोंकी एकमात्र गति भगवान कृष्ण उनके पास गये और अपने कोमल करोंसे उनके चरण दबाते हुए शान्तभावसे पूछने लगे—॥ २९ ॥ “हे विप्रवर ! आपका चित्त सर्वदा सन्तुष्ट रहता है ? आपको अपने पूर्व पुरुषों द्वारा निश्चित धर्मका पालन करनेमें कोई कठिनाई तो नहीं होती ? ॥ ३० ॥ यदि ब्राह्मण जो कुछ मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहकर अपने धर्मसे पतित न हो तो इसीसे उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥ ३१ ॥ यदि इन्द्र-पदवी पाकर भी किसीको सन्तोष न हो तो वह सुखकी खोजमें निरन्तर एक लोकसे दूसरे लोकोंमें चक्कर खाता रहता है। इसके विपरीत सन्तोष होनेपर तो जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह भी सब प्रकारके सन्तापसे रहित हो शान्तभावसे रहता है ॥ ३२ ॥ जो आत्मलाभमें सन्तुष्ट, साधुस्वभाव, समस्त प्राणियोंके परम सुहृद्, अहङ्कारहीन और शान्तस्वभाव हैं, उन ब्राह्मणोंको मैं सदा मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥ ३३ ॥ हे ब्रह्मन् ! आप जिसके राजमें बसते हैं, उस राजाकी ओरसे तो आप सबलोग सकुशल हैं ? जिस राजाके राज्यमें प्रजाका भलीभाँति पालन होता है और प्रजा आनन्दपूर्वक रहती है, वही राजा मुझे प्रिय लगता है ॥ ३४ ॥ हे विप्र ! अब आप जिस कार्यके लिये समुद्रकी खाईं पारकर इस नगरमें आये हैं, वह सब—यदि विशेष गोपनीय न हो—तो हमें बतलायें। कहिये, हम आपका क्या काम करें ? ॥ ३५ ॥ लीलादेहधारी श्रीकृष्णके इस तरह पूछनेपर ब्राह्मणदेवता उन्हें सब वृत्तान्त सुना चले। वे बोले—॥ ३६ ॥ रुक्मिणीजीने कहा है कि हे भुवनसुन्दर ! सुननेवालोंके कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट होकर लोगोंके शारीरिक सन्ताप शान्त करनेवाले आपके गुणों और नेत्रवालोंको दृष्टिका सम्पूर्ण लाभ देनेवाले आपके रूपकी महिमा सुनकर हे अच्युत ! मेरा चित्त लज्जा छोड़कर आपहीमें लग गया है ॥ ३७ ॥ हे मुकुन्द ! आप कुल, शील, रूप, विद्या, अवस्था और धन-धर्मादिमें अपने ही तुल्य हैं। आप मनुष्यमात्रके मनोंको आनन्ददायक हैं। हे पुरुषसिंह ! विवाहके समय ऐसी कौन कुलवती,

तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जायामात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो विधेयः ।
मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आराद् गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥३९॥
पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविप्रगुर्वर्चनादिभिरलं भगवान् परेशः ।
आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥४०॥
श्वोभाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान् गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥४१॥
अन्तःपुरान्तरचरीमनिहत्य बन्धूंस्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिजामुपेयात् ॥४२॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात् ॥४३॥

ब्राह्मण उवाच

इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाऽऽहृताः । विमृश्य कर्तुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहप्रस्तावे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

———

परम गुणवती और धैर्यवती कन्या होगी, जो आपको पतिरूपमें वरण न करेगी ॥ ३८ ॥ इसीलिये हे नाथ ! मैं आपको आत्मसमर्पण कर चुकी हूँ ? हे विभो ! आप यहाँ पधारकर मुझे अपनी पत्नी बनाइये । हे कमलनयन ! सियार जैसे सिंहका भाग नहीं ले जा सकता, उसी प्रकार हे वीर ! मैं आपका भाग हूँ । देखिये, चेदिराज शिशुपाल मेरे निकट आकर मुझे स्पर्श न कर सके ॥ ३९ ॥ पूर्त अर्थात् कुआँ आदि खुदवाना, इष्ट अर्थात् यज्ञादि करना, दान, व्रत तथा देवता, ब्राह्मण और गुरु आदिकी पूजा द्वारा मैंने यदि भगवान परमेश्वरकी कुछ भी आराधना की हो तो श्रीकृष्णचन्द्र आकर मेरा पाणिग्रहण करें । उनके सिवाय दमघोषतनय शिशुपाल आदि कोई और पुरुष मुझे न छू सके ॥ ४० ॥ हे अजित ! जब मेरा विवाह होनेवाला है, उससे एक दिन पहले ही आप यादवसेनापतियों-के साथ गुप्तरूपसे विदर्भदेशमें आ जाइये और शिशुपाल तथा जरासन्धादिकी सेनाको बलपूर्वक नष्ट-भ्रष्ट करते हुए केवल पराक्रमरूप मूल्य देकर मेरे साथ राक्षस-विधिके अनुसार विवाह कर लीजिये ॥ ४१ ॥ यदि आप कहें कि तुम तो अन्तःपुरमें रहती हो, मैं तुम्हारे बन्धुओंको मारे बिना तुम्हें कैसे ला सकता हूँ । तो उसका मैं एक उपाय बतलाती हूँ । हमारे यहाँ विवाहके पहले दिन कुलदेवीकी यात्रा होती है । उसमें नववधू नगरके बाहर श्रीपार्वतीजीके मन्दिरमें जाती है । उस समय आप मुझको हर ले जा सकते हैं ॥ ४२ ॥ हे अम्बुजनयन ! उमापति शङ्करभगवानके समान महापुरुष भी अपने अन्तःकरणका अज्ञान नष्ट करनेके निमित्त जिसकी चरणकमलरजसे स्नान करना चाहता है, आपका वह प्रसाद यदि मैं न पा सकी तो व्रतद्वारा शरीर सुखाकर अपने प्राण त्याग दूंगी । सौ जन्मोंमें तो आपकी कृपा होगी ॥ ४३ ॥ ब्राह्मण बोला—हे यदुदेव ! मैं आपके पास रुक्मिणीजीका यह गुप्त सन्देश लाया हूँ । इस विषयमें जो कुछ करना हो, उसपर विचार करके आप तुरन्त कर डालें ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां द्विपञ्चाश-त्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः। प्रगृह्य पाणिना पाणिं प्रहसन्निदमब्रवीत्॥१॥

श्रीभगवानुवाच

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि। वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥२॥
तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे। मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥३॥

श्रीशुक उवाच

उद्वाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः। रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम्॥४॥
स चाश्वैः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः। युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः॥५॥
आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः। आनर्त्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः॥६॥
राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः। शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन् कर्माण्यकारयत्॥७॥
पुरं सम्मृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम्। चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणैः समलङ्कृतम्॥८॥
स्रग्गन्धमाल्याभरणैर्विरजोऽम्बरभूषितैः। जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगुरुधूपितैः॥९॥
पितॄन् देवान् समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृप। भोजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम्॥१०॥
सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम्। अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः॥११॥
चक्रुः सामर्ग्यजुर्मन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः। पुरोहितोऽथर्वविद् वै जुहाव ग्रहशान्तये॥१२॥

(रुक्मिणीहरण) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! विदर्भराजकी पुत्री रुक्मिणीका यह सन्देश सुनकर यदुनन्दन कृष्णचन्द्रने ब्राह्मणका हाथ अपने हाथमें ले लिया और हँसते हुए कहा॥ १॥ भगवान बोले—हे विप्र! जिस तरह विदर्भराजकुमारीका चित्त मुझमें लगा है, उसी प्रकार मेरा भी मन उन्हींमें आसक्त है। मुझे रात्रिको नींद नहीं आती। यह भी मुझे मालूम है कि रुक्मीने द्वेषवश मेरे साथ उनका विवाह सम्बन्ध नहीं होने दिया है॥ २॥ किन्तु कोई बात नहीं जैसे काष्ठको मथकर मनुष्य उसमेंसे अग्नि निकाल लेते हैं। उसी तरह मैं भी सब अधम राजाओंको युद्धमें परास्त करके उस एकमात्र अपनेको भजनेवाली सुन्दरी राजकन्याको अवश्य ले आऊँगा॥ ३॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! रुक्मिणीके विवाहका नक्षत्र परसों रातको ही है। यह जानकर भगवानने सारथीको बुलाकर कहा—"हे दारुक! तुम बहुत शीघ्र रथ जोत लाओ"॥ ४॥ भगवानकी आज्ञा पा दारुक शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके चार घोड़ोंसे जुता रथ ले आया और हाथ जोड़कर सामने खड़ा होगया॥ ५॥ तब भगवान उन विप्रवरको रथपर चढ़ाकर स्वयं भी सवार हुए और शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा एक रात्रिमें ही आनर्त्तसे विदर्भदेशमें जा पहुँचे॥ ६॥ इधर कुण्डिनपुरीपति महाराज भीष्मक पुत्रस्नेहवश अपनी कन्या शिशुपालही को देनेके लिये विवाहोत्सवकी तैयारीमें लगे थे॥ ७॥ नगरके राजपथ, गली-कूँचे और चौराहोंको झाड़-बुहारकर उनमें छिड़काव कराया गया और उन्हें चित्र-विचित्र ध्वजा, पताका और तोरणादिसे भलीभाँति सजाया गया था। सारा नगर माला, चन्दन, हार, आभूषण और स्वच्छ वस्त्रोंसे विभूषित नर-नारियोंसे सुशोभित था। वहाँके भव्य भवन अगुरु और धूपके धूएँसे सुवासित होकर उस नगरकी श्री बढ़ा रहे थे॥ ८॥ ९॥ राजा भीष्मकने पितरों और देवकन्याओंका यथाविधि पूजनकर ब्राह्मणोंको भोजन कराया और उनसे यथानियम मङ्गल-पाठ करवाया॥ १०॥ उन ब्राह्मणोंने भली प्रकार स्नान कराकर मङ्गलमय विवाह-सूत्र, नवीन वस्त्रों और विचित्र आभूषणोंसे विभूषित उस सुन्दर दाँतोंवाली राजकन्या रुक्मिणीको साम, ऋक् और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे अभिमन्त्रितकर उसकी रक्षा की फिर अथर्ववेदको जाननेवाले

हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान् । प्रादाद् धेनूश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदां वरः॥१३
एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै । कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥१४॥
मदच्युद्भिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हेममालिभिः । पत्त्यश्वसङ्कुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ॥१५॥
तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च । निवेशयामास मुदा कल्पितान्यनिवेशने ॥१६॥
तत्र शाल्वो जरासन्धो दन्तवक्त्रो विदूरथः । आजग्मुश्चैद्यपक्षीयाः पौण्ड्रकाद्याः सहस्रशः॥१७॥
कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम् । यद्यागत्य हरेत् कृष्णो रामाद्यैर्यदुभिर्वृतः॥१८॥
योत्स्यामः संहतास्तेन इति निश्चितमानसाः । आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥१९॥
श्रुत्वैतद् भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम् । कृष्णं चैकं गतं हर्तुं कन्यां कलहशङ्कितः॥२०॥
बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः । त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद् गजाश्वरथपत्तिभिः॥२१॥
भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः । प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा॥२२॥
अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराधसः । नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।
सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः ॥२३॥
अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् । मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः॥२४॥
दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः । देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिजा सती २५
एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा । न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ॥२६॥
एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप । वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिणः॥२७॥

पुरोहितने ग्रह-शान्तिके लिये हवन किया ॥ ११-१२ ॥ समग्र वेदविधि जाननेवालोंमें श्रेष्ठ राजा भीष्मकने ब्राह्मणोंको सोना, चाँदी, वस्त्र, गुडमिश्रित तिल तथा बहुत-सी गौएँ दान दीं ॥ १३ ॥ उधर चेदिपति महाराज दमघोषने भी मन्त्रविद् ब्राह्मणों द्वारा पुत्रके अभ्युदय योग्य सब कृत्य कराये ॥१४॥ फिर मद चुआनेवाले हाथियोंकी, सुवर्णमालामण्डित रथों तथा पदाति और घुड़सवारोंकी सेना साथ लेकर वे कुण्डिनपुरमें जा पहुँचे ॥ १५ ॥ तब विदर्भराज महाराज भीष्मकने आगे आकर उनका पूजन किया और उन्हें बड़े आनन्दसे पूर्वनिश्चित एक भवनमें जनवासा दिया ॥ १६ ॥ उस बारातमें शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र, विदूरथ और पौण्ड्रक आदि शिशुपालके हजारों मित्र राजे आये थे ॥ १७ ॥ वे सभी राजे कृष्ण-बलदेवके विरोधी थे और उन्होंने शिशुपालको ही कन्या दिलानेके लिये अपने मनमें यह निश्चय किया था कि 'यदि कृष्ण बलराम आदि यादवोंके साथ आकर कन्या-हरण करेंगे तो हम सब मिलकर उनसे लड़ेंगे।' इसी कारण वे अपनी-अपनी सेनासे सुसज्जित होकर आये थे ॥ १८-१९ ॥ द्वारकामें जब बलरामने विपक्षी राजाओंके उद्यम और श्रीकृष्णचन्द्रके अकेले ही कन्याहरणके लिये जानेका समाचार सुना तो कलहके भयसे भ्रातृस्नेहवश हाथी, घोड़े, रथ और पदाति (पैदल) चतुरङ्गिणी सेना लेकर तुरन्त कुण्डिनपुरको चल पड़े ॥ २०-२१ ॥ इधर भीष्मक-पुत्री वरारोहा रुक्मिणी भगवान कृष्णके आनेकी प्रतीक्षा कर रही थी। वह ब्राह्मणको लौटकर आया न देख सोचने लगी—॥ २२ ॥ 'अहो ! अब मुझ अभागिनीका विवाह होनेमें केवल एक रात्रि बाकी रह गयी है, किन्तु कमलनयन श्रीकृष्णचन्द्र अबतक नहीं आये। इसका कोई कारण नहीं जान पड़ता। यही नहीं, जो ब्राह्मण-देवता मेरा सन्देश लेकर गये थे, वे भी अबतक नहीं लौटे ॥२३॥ मालूम होता है कि अनिन्दितात्मा भगवान कृष्ण मुझमें कुछ बुराई देखकर ही मेरा पाणिग्रहण करने-का कोई प्रयत्न करके नहीं आ रहे हैं ॥ २४ ॥ मालूम होता है कि विधाता और श्रीमहेश्वर मुझ अभागिनीके अनुकूल नहीं हैं और रुद्रपत्नी गिरिराजकुमारी सती पार्वतीजी भी मुझसे विमुख हैं' ॥ २५ ॥ भगवानके द्वारा हृतहृदय तथा समयको जाननेवाली उस राजकन्या रुक्मिणीने चिन्ता करते-करते अपने अश्रुविह्वल नेत्र मूँद लिये ॥ २६ ॥ हे राजन् ! जब नववधू रुक्मिणी इस तरह

अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः । अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥२८॥
सा तं प्रहृष्टवदनमव्यग्रात्मगतिं सती । आलक्ष्य लक्षणाभिज्ञा समपृच्छच्छुचिस्मिता२९
तस्या आवेदयत् प्राप्तं शशंस यदुनन्दनम् । उक्तं च सत्यवचनमात्मोपनयनं प्रति ॥३०॥
तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा । न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा॥३१॥
प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ । अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः ॥३२॥
मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजांसि सः । उपायनान्यभीष्टानि विधिवत् समपूजयत् ॥३३॥
तयोर्निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः । ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे तथा॥३४॥
एवं राज्ञां समेतानां यथावीर्यं यथावयः । यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्हयत् ॥३५॥
कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः । आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥३६॥
अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा । असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ३७
किञ्चित् सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् । अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः॥३८॥
एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः । कन्या चान्तःपुरात् प्रागाद् भटैर्गुप्ताम्बिकालयम्३९
पद्भ्यां विनिर्ययौ द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् । सा चानुध्यायती सम्यङ् मुकुन्दचरणाम्बुजम्४०
यतवाङ्मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता । गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः ।
मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ॥४१॥

भगवानके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थी, उसी समय एकाएक उसकी बाँयीं जाँघ, हाथ और आँख किसी भावी प्रियकी सूचना देती हुई फड़क उठी ॥ २७ ॥ इतनेमें श्रीकृष्णचन्द्रके भेजे हुए वे ब्राह्मण महोदय अन्तःपुरमें विराजमान राजकुमारी रुक्मिणीसे आकर मिले ॥ २८ ॥ लक्षणोंको जानकर सती रुक्मिणीने उन्हें प्रसन्नवदन और अव्यग्र देखकर मनोहर मुसकानके साथ कार्यकी सफलताके विषयमें उनसे पूछा ॥ २९ ॥ तब ब्राह्मण महोदयने श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रशंसा करते हुए उनके पधारने-का संवाद सुनाया और कृष्णभगवानने रुक्मिणीजीको ले जानेके लिये जो सत्य प्रतिज्ञा की थी, वह भी सुना दी ॥ ३० ॥ भगवानको आये हुए जानकर विदर्भनन्दिनी रुक्मिणीजी बहुत प्रसन्न हुईं और ब्राह्मणको उस समय देने योग्य कोई और प्रिय वस्तु न देख केवल नमस्कार भर कर दिया ॥ ३१ ॥ महाराज भीष्मकने बलराम तथा कृष्णको अपनी कन्याका विवाहोत्सव देखनेके लिये आये सुनकर भेरीनाद और विविध प्रकारकी पूजासामग्रियोंसे स्वागत किया ॥ ३२ ॥ और मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा उत्तम उपहार अर्पण करके विधिपूर्वक पूजा की ॥ ३३-३४ ॥ तब महामति भीष्मकने उन्हें सेना और साथियोंके साथ सर्वभोगसम्पन्न निवासस्थान देकर उनका यथायोग्य आतिथ्यसत्कार किया। इसी तरह विदर्भराजने अपने यहाँ निमन्त्रणमें आये सब राजाओंका उनके वीर्य, अवस्था, बल तथा धनके अनुसार सब अभिलषित वस्तुएँ देकर भलीभाँति सत्कार किया ॥ ३५ ॥ भगवान कृष्णका आगमन सुनकर विदर्भनगरमें रहनेवाले सब लोग उनके निवासस्थानपर आये और अपनी नयनाञ्जलिसे उनके मुखारविन्दका मकरन्द पीने लगे ॥ ३६ ॥ और बोले—"रुक्मिणी इन्हींकी स्त्री होने योग्य है और ये अनिन्दितात्मा रुक्मिणीके ही योग्य वर हैं, और कोई भी कन्या इनकी स्त्री होने योग्य नहीं हो सकती ॥ ३७ ॥ यदि हमलोगोंसे कुछ भी पुण्य बन पड़ा हो तो त्रिलोकीके विधाता श्रीविष्णु हमसे प्रसन्न होकर ऐसी कृपा करें कि श्रीकृष्ण ही विदर्भराजकुमारी रुक्मिणीका पाणिग्रहण करें" ॥ ३८ ॥ प्रेममें बँधे हुए पुरवासीगण जब परस्पर ऐसा कह रहे थे, तभी राजकन्या रुक्मिणी अन्तःपुरसे निकलकर वीर सैनिकोंकी रक्षामें अम्बिकादेवीके मन्दिरको चलीं ॥ ३९ ॥ वे अपने हृदयमें श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दका ध्यान करती हुई श्रीपार्वतीजीके पादपल्लवोंका दर्शन करनेके लिए पैदल ही चलीं ॥ ४० ॥ उस समय उन्होंने मौन धारण किया था और वे माता आदि

नानोपहारबलिभिर्वारमुख्यः सहस्रशः । स्रग्गन्धवस्त्राभरणैर्द्विजपत्न्यः स्वलङ्कृताः ॥४२॥
गायन्तश्च स्तुवन्तश्च गायका वाद्यवादकाः । परिवार्य वधूं जग्मुः सूतमागधवन्दिनः ॥४३॥
आसाद्य देवीसदनं धौतपादकराम्बुजा । उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् ॥४४॥
तां वै प्रवयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः । भवानीं वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥४५॥
नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम् । भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥४६॥
अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वासःस्रङ्माल्यभूषणैः । नानोपहारबलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥४७॥
विप्रस्त्रियः पतिमतीस्तथा तैः समपूजयत् । लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥४८॥
तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषां युयुजुराशिषः । ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः ॥४९॥
मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् । प्रगृह्य पाणिना भृत्यां रत्नमुद्रोपशोभिना ॥५०॥

तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् ।
श्यामां नितम्बार्पितरत्नमेखलां व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् ॥५१॥

शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युतिशोणायमानद्विजकुन्दकुड्मलाम् ।
पदा चलन्तीं कलहंसगामिनीं सिञ्चत्कलानूपुरधामशोभिना ।
विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयार्दिताः ॥५२॥

वृद्धाओं तथा सखियोंसे घिरी हुई हाथमें खुले हथियार लिये सन्नद्ध शूरवीर राजसैनिकोंकी रक्षामें जा रही थीं। उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, तूर्य और भेरी आदि बाजोंका तुमुल शब्द हो रहा था ॥ ४१ ॥ माला, गन्ध एवं वस्त्रालङ्कारादि विविध उपहारों और पूजनसामग्रियोंके साथ भलीभाँति अलंकृत द्विजपत्नियाँ, सहस्रों वारवधुएँ, गान और स्तुति करते हुए गायक, बाजेवाले तथा सूत, मागध और बन्दीजन—ये सब नववधू रुक्मिणीको चारों ओरसे घेरे हुए चले जा रहे थे ॥ ४२–४३ ॥ देवीके मन्दिरमें पहुँचनेपर रुक्मिणीने हाथ-पाँव धोये और आचमन करके पवित्र हो शान्तभावसे वे अम्बिकादेवीके निकट गयीं ॥४४॥ तब विधिको जाननेवाली वृद्धा ब्राह्मणियोंने उनसे भगवान शङ्कर तथा उनकी प्रिया पार्वतीजीको प्रणाम कराया ॥४५॥ श्रीरुक्मिणीजी प्रार्थना करती हुई बोलीं—"हे अम्बिके ! अपने पुत्र गणेशजीके सहित आप कल्याणकारिणी देवीको मैं बारम्बार प्रणाम करती हूँ । आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि जिससे भगवान कृष्ण ही मेरे पति हों" ॥ ४६ ॥ तदनन्तर रुक्मिणीने जल, गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, माला, हार, आभूषण, नाना प्रकारके उपहार, भेंट तथा दीपावली आदि सामग्रियोंसे श्रीअम्बिका देवीका पूजन किया ॥४७॥ तदुपरान्त इन्हीं सामग्रियों तथा नमकीन पूए, पान, कण्ठसूत्र, फल और ईखसे सधवा ब्राह्मणियोंकी पूजा की ॥ ४८ ॥ ब्राह्मणपत्नियोंने उन्हें प्रसाद देकर आशीर्वाद दिये और नववधूने ब्राह्मणियों तथा देवीको नमस्कार करके प्रसाद पाया ॥ ४९ ॥ तब मौनव्रत छोड़ अपने रत्नमुद्रिकाशोभित करकमलसे एक सखीका हाथ थामे हुए वे देवीके भवनसे बाहर निकलीं ॥ ५० ॥ रुक्मिणीजी देवमायाके समान बड़े-बड़े धीर-वीरोंको भी मोहित कर लेती थीं । उनकी कटि अति सुन्दर थी और मुखमण्डल कुण्डलोंकी कान्तिसे सुशोभित था । उनकी नूतन अवस्था थी । कटिभागमें रत्नजटित मेखला पड़ी हुई थी । पीन पयोधर दिखायी दे रहे थे । उनके मुखपर अलकावली बिखरी थी और वे सशङ्क दृष्टिसे इधर-उधर देखती जाती थीं । उनकी मुसकान बड़ी मनोहारिणी थी । बिम्बफलके सदृश अरुण अधरोंकी कान्तिसे उनकी कुन्दकलिकासदृश दन्तावली कुछ अरुणवर्ण हो रही थी । वे झनकारते हुए नूपुरोंकी कान्तिसे सुशोभित अपने सुकुमार चरणकमलोंसे राजहंसकी गतिसे पैदल ही चल रही थीं । उनकी वह अपूर्व तथा छविमयी मनोहर मूर्ति देखकर उत्तेजित कामदेवकी पीड़ासे वहाँ आये हुए सभी और

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहासव्रीडावलोकहृतचेतस उज्झिताख्नाः ।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५३॥
सैवं शनैश्चलयती चलपद्मकोशौ प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ।
उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा ॥५४॥
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः ॥५५॥
ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः शृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥५६॥
तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षयं परे जरासन्धवशा न सेहिरे ।
अहो धिगस्मान् यश आत्तधन्वनां गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥५७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुक्मिणीहरणं नाम त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः । स्वैः स्वैर्बलैः परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकार्मुकाः ॥१॥
तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः । तस्थुस्तत्संमुखा राजन् विस्फूर्ज्य स्वधनूंषि ते ॥२॥
अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः । मुमुचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा ॥३॥

मोहित होगये ॥ ५१–५२ ॥ रुक्मिणीजी जब चलनेके बहाने श्रीहरिको अपनी शोभा दिखा रही थीं, उसी समय उनको देखकर उनकी मनोहर मुसकान और लजीली चितवनसे वहाँ आये हुए राजाओंके चित्त हर गये, उनके हाथोंसे अस्त्र-शस्त्र गिर पड़े और वे स्वयं भी मोहित होकर हाथी, रथ और घोड़ेसे पृथिवीपर आ गिरे ॥ ५३ ॥ इस प्रकार रुक्मिणी भगवान कृष्णके आगमनकी प्रतीक्षामें कमलकोशकी नाईं अपने सुकुमार चरणोंको धीरे-धीरे बढ़ाती चली जा रही थीं। इसी समय उन्होंने अपने बायें हाथकी अंगुलियोंसे मुखपर बिखरी अलकोंको हटाकर वहाँ आये हुए वीर राजाओंकी ओर लाज भरी दृष्टिसे निहारा तो उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र दिखायी पड़े ॥ ५४ ॥ राजकन्या रुक्मिणीजी अपने रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि श्रीकृष्णचन्द्रने सब शत्रुओंके देखते-देखते झपटकर उन्हें उठाया और समस्त क्षत्रियमण्डलका तिरस्कारकर अपनी गरुड़चिह्नवाली ध्वजासे चिह्नित रथपर चढ़ा लिया। सिंह जैसे सियारोंसे अपना भाग छीन ले जाता है, उसी प्रकार रुक्मिणीजीको लेकर श्रीकृष्णचन्द्र बलराम आदि यादवोंके साथ वहाँसे चल पड़े ॥५५–५६॥ यह देख जरासन्धके अधीन दूसरे मानी राजे अपनी यह पराजय तथा अपकीर्ति सहन न कर सके और कहने लगे—"अहो! हमको धिक्कार है! आज हम धनुर्धारियोंके यशको ग्वाले ऐसे हर ले गये, जैसे सिंहोंके भागको मृग छीन ले जाय" ॥ ५७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

(शिशुपालके पक्षवाले राजाओं तथा रुक्मीकी हार और कृष्ण-रुक्मिणी-विवाह) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! इस तरह वे सब राजे अत्यन्त कुपित हो कवच धारणकर अपने-अपने वाहनोंपर चढ़े और अपनी-अपनी सेना साथ ले तथा धनुष धारणकर श्रीकृष्णचन्द्रजीके पीछे चले ॥ १ ॥ उन्हें आये देख यादवसेनाके नायक उनकी ओर लौटकर खड़े हो गये और अपने धनुषोंकी टङ्कोर करने लगे ॥ २ ॥ तब घोड़े और हाथियोंकी पीठों तथा रथोंपर बैठे शस्त्रकुशल राजे

पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा । सव्रीडमैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥४॥
प्रहस्य भगवानाह मा स्म भैर्वामलोचने । विनङ्क्ष्यत्यधुनैवैतत्तावकैः शात्रवं बलम् ॥५॥
तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कर्षणादयः । अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान् रथान् ॥६॥
पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि । सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कोटिशः ॥७॥
हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः । अश्वाश्वतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥८॥
हन्यमानबलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः । राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरःसराः ॥९॥
शिशुपालं समभ्येत्य हृतदारमिवातुरम् । नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन् ॥१०॥
भो भोः पुरुषशार्दूल दौर्मनस्यमिदं त्यज । न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥११॥
यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया । एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥१२॥
शौरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः । त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्ये एकमहं परम् ॥१३॥
तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् । कालेन दैवयुक्तेन जानन् विद्रावितं जगत् ॥१४॥
अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः । पराजिताः फल्गुतन्त्रैर्यदुभिः कृष्णपालितैः ॥१५॥
रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि । तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥१६॥
एवं प्रबोधितो मित्रैश्चैद्योऽगात् सानुगः पुरम् । हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः ॥१७॥
रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन् स्वसुः । पृष्ठतोऽन्वगमत् कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली १८

यादवसेनापर इस तरह बाण बरसाने लगे, जैसे मेघ पर्वतोंपर जल बरसाते हैं ॥ ३ ॥ अपने पति श्रीकृष्णकी सेनाको बाणवर्षासे आच्छन्न देखकर सुन्दर कमरवाली रुक्मिणी भयवश चञ्चल नेत्रोंसे भगवान् कृष्णकी ओर लज्जापूर्वक देखने लगीं ॥ ४ ॥ भगवान् कृष्णने हँसते हुए कहा—"हे सुनयने ! तुम डरो मत, तुम्हारी सेना द्वारा तुम्हारे शत्रुओंकी सेना शीघ्र नष्ट हो जायगी" ॥५॥६॥ इधर गद और सङ्कर्षण आदि यादव वीर अपने शत्रुओंका पराक्रम और अधिक नहीं सह सके और उनके हाथी तथा रथोंको अपने बाणोंसे छिन्न-भिन्न करने लगे ॥ ७ ॥ उनके बाणोंसे रथ और हाथियोंपर बैठे विपक्षी वीरोंके कुण्डल, किरीट और पगड़ियोंसे सुशोभित करोड़ों सिर खड्ग, गदा और धनुष्युक्त हाथ, पहुँचे, ऊरु और चरण कट-कटकर पृथिवीपर गिरने लगे। इस तरह घोड़े, खच्चर, हाथी, ऊँट, गधे और मनुष्योंके सिर भी कट-कटकर युद्ध-भूमिमें लोटने लगे। अन्तमें जयके इच्छुक यादवों द्वारा अपनी सेनाको नष्टप्राय देख जरासन्ध आदि राजे युद्धसे पराङ्मुख होकर भाग निकले ॥ ८ ॥ ९ ॥ वे सब स्त्रीके छिन जानेसे आतुर, तेजोहीन, हतोत्साह और सूखे मुखवाले शिशुपालके पास आकर कहने लगे—॥ १० ॥ 'हे पुरुषसिंह ! उदासी छोड़ दो। क्योंकि हे राजन् ! जीवका कोई प्रिय या अप्रिय सदा स्थित नहीं देखा जाता ॥ ११ ॥ जैसे काठकी पुतली नटके इच्छानुसार नाचती है, वैसे ही यह जीव ईश्वरके अधीन रहकर ही सुख-दुःखकी चेष्टाएँ करता है' ॥ १२ ॥ जरासन्ध बोला—"देखो, कृष्णचन्द्रने मुझे तेईस अक्षौहिणी सेनाके साथ सत्रह बार युद्धमें परास्त किया और अठारहवीं बार मैंने उन्हें हराया ॥ १३ ॥ किन्तु इससे न तो मैं कभी शोक करता और न कभी हर्ष ही करता हूँ। क्योंकि मैं जानता हूँ कि सारा जगत् दैवप्रेरित कालसे ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें पड़ता है ॥ १४ ॥ इस समय हम वीर यूथपोंके यूथपति होकर भी कृष्णसे सुरक्षित यादवोंकी थोड़ी-सी सेनासे परास्त हो गये ॥ १५ ॥ इस बार फिर हमारे शत्रु ही जीते। क्योंकि समय उन्हींके अनुकूल था। जब वह हमारे अनुकूल होगा, तब हम उन्हें जीत लेंगे" ॥१६॥ इस तरह मित्रोंके समझानेसे चेदिराज शिशुपाल अपने अनुचरसहित राजधानीको लौट गया तथा उसके साथी राजाओंमेंसे जो मरनेसे बचे थे, वे भी अपने-अपने नगरोंको चले गये ॥ १७ ॥ किन्तु कृष्णद्रोही महाबली रुक्मी अपनी बहिनका राक्षसविवाहकी विधिसे हरण किया जाना सहन नहीं कर

रुक्म्यमर्षी सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम् । प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ॥१९॥
अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् । कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ।२०।
इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथिं प्राह सत्वरः । चोदयाश्वान् यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत्।२१।
अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मतेः । नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हृता ॥२२॥
विकत्थमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् । रथेनैकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथाह्वयत् ॥२३॥
धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः । आह चात्र क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन ॥२४॥
कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः । हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ॥२५॥
यावन्न मे हतो बाणैः शयीथा मुञ्च दारिकाम् ।स्मयन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा षड्भिर्विव्याध रुक्मिणम्
अष्टभिश्चतुरो वाहान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः । स चान्यद् धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः२७
तैस्ताडितः शरौघैस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः । पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदव्ययः ॥२८॥
परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासी शक्तितोमरौ । यद् यदायुधमादत्त तत् सर्वं सोऽच्छिनद्धरिः।२९।
ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिर्जिघांसया । कृष्णमभ्यद्रवत् क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम् ॥३०॥
तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः । छित्त्वासिमाददे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ।३१।
दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला । पतित्वा पादयोर्भर्तुरुवाच करुणं सती ॥३२॥

सका और एक अक्षौहिणी सेना साथ लिये भगवानके पीछे चला ॥ १८ ॥ इस अपमानको असह्य समझनेवाले महाबली रुक्मीने कवच तथा धनुष-बाण धारणकर सब राजाओंको सुनाते हुए अतिक्रोध पूर्वक कहा—॥१९॥ "मैं आपलोगोंके समक्ष यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि संग्राममें कृष्णको बिना मारे और रुक्मिणीको वापस लाये बिना कुण्डिनपुरमें वापस नहीं लौटूँगा !" ॥ २० ॥ राजाओंसे इस तरह प्रतिज्ञा करके वह रथपर सवार हुआ और उसने सारथीको आज्ञा दी कि "जिधर कृष्ण हो, उधर शीघ्र ही घोड़ोंको ले चल । क्योंकि आज मेरा उसके साथ युद्ध होगा ॥ २१ ॥ आज मैं अपने तीखे बाणोंसे उस दुर्बुद्धि ग्वालेके वीर्यमदको चूर्ण कर दूँगा । जिससे उन्मत्त होकर वह मेरी बहिनको जबर्दस्ती हर ले गया है,' ॥ २२ ॥ ईश्वरकी महिमासे अनभिज्ञ मन्दमति रुक्मी इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाता अकेला ही रथपर चढ़कर दौड़ता हुआ भगवानके पास पहुँचा और 'खड़ा रह' कहकर पुकारने लगा ॥ २३ ॥ उसने अपना सुदृढ़ धनुष खींचकर भगवानको तीन बाण मारा और कहा—ओ यदुकुलकलङ्क ! एक क्षण खड़ा तो रह ॥२४॥ अरे चोर ! कौआ जैसे हविको चुरा ले जाता है, वैसे ही मेरी बहिनको लेकर तू कहाँ भाग रहा है ? अरे मन्द ! तू बड़ा मायावी है । तू कपटयुद्धमें ही कुशल है । आज मैं तेरा सारा गर्व चूर्ण कर दूँगा ॥ २५ ॥ देख, मेरे बाणोंसे मरकर तू पृथिवीपर नहीं लोट जाता, उसके पहले ही इस बालिकाको छोड़ दे । यह सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र मुसकाये और उन्होंने रुक्मीका धनुष काटकर उसे छः बाणोंसे बींध डाला ॥ २६ ॥ भगवानने आठ बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको, दोसे सारथीको और तीनसे रथकी ध्वजा काट डाली । तब रुक्मीने दूसरा धनुष लेकर भगवान कृष्णको पाँच बाणोंसे मारा ॥ २७ ॥ बाणोंके लगनेपर श्रीअच्युतने उसका वह धनुष भी काट डाला । तब रुक्मीने एक और धनुष लिया, किन्तु भगवानने उसे भी काट दिया ॥ २८ ॥ इस प्रकार रुक्मीने परिघ, पट्टिश, शूल, ढाल, तलवार और तोमर आदि जो-जो अस्त्र-शस्त्र उठाये, उन सबको श्रीहरिने काट डाला ॥ २९ ॥ अन्तमें श्रीकृष्णचन्द्रको मारनेकी इच्छासे वह हाथमें तलवार ले कर रथसे कूद पड़ा और फतिंगा जैसे अग्निकी ओर दौड़ता है, वैसे ही अतिशय क्रुद्ध हो कर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर लपका ॥ ३० ॥ रुक्मीको अपनी ओर आता देख भगवानने बाण बरसाकर उसकी ढाल और तलवारको तिल-तिल करके काट डाला और उसे मारनेके लिये उद्यत होकर एक तीक्ष्ण तलवार निकाली ॥ ३१ ॥ अपने भाईके वधकी तैयारी देखकर रुक्मिणी भयसे व्याकुल हो

योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत्पते । हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥३३॥

श्रीशुक उवाच

तया परित्रासविकम्पिताङ्गया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।
कातर्यविस्रंसितहेममालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥३४॥
चैलेन बद्ध्वा तमसाधुकारिणं सश्मश्रुकेशं प्रवपन् व्यरूपयत् ।
तावन्ममर्दुः परसैन्यमद्भुतं यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः ॥३५॥

कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् । तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा सङ्कर्षणो विभुः ।
विमुच्य बद्धं करुणो भगवान् कृष्णमब्रवीत् ॥ ३६ ॥

असाध्विदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम् । वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥३७॥
मैवास्मान् साध्व्यसूयेथा भ्रातुर्वैरूप्यचिन्तया । सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक्पुमान्
बन्धुर्वधार्हदोषोऽपि न बन्धोर्वधमर्हति । त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ॥३९॥
क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः । भ्रातापि भ्रातरं हन्याद् येन घोरतरस्ततः ॥४०॥
राज्यस्य भूमेर्वित्तस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः । मानिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्तिहि॥
तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् । यन्मन्यसे सदाऽभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत् ॥४२॥
आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया । सुहृद् दुर्हृदुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥४३॥

गयीं और उस परम साध्वीने पतिके चरणोंमें गिर और गिड़गिड़ाकर कहा—॥३२॥ "हे योगेश्वर ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे देवदेव ! हे जगत्पते ! हे कल्याणस्वरूप ! हे महाबाहो ! यह मेरा भाई है। इसे मारना उचित नहीं है ॥ ३३ ॥" श्रीशुकदेवजी बोले—श्री रुक्मिणीजीका शरीर भयसे काँप रहा था, शोकसे उनका मुख सूख गया और गला रुँध गया था। आतुरतावश सुवर्णकी मालाएँ उनके गलेसे गिर गयी थीं। जब उन्होंने चरण पकड़कर प्रार्थना की तो करुणामय भगवानने रुक्मीके वध करनेका विचार त्याग दिया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर उस कुकर्मीको डुपट्टेसे बाँध उसकी दाढ़ी और केश जहाँ-तहाँसे काटकर उसे कुरूप कर दिया। इसी बीच उन यादव वीरोंने हाथी जैसे कमलवनको रौंद डालता है, वैसे ही उस अद्भुत शत्रुसेनाको कूँच डाला ॥ ३५ ॥ तब वे भगवान कृष्णके पास आये और उन्होंने रुक्मीको पूर्वोक्त हतप्राय अवस्थामें देखा। उसे ऐसी दशामें देखकर भगवान बलराम-को बड़ी दया आयी और उन्होंने बन्धन खोलकर उसे छोड़ दिया और श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—॥३६॥ "हे कृष्ण ! तुमने यह अच्छा नहीं किया। हमारे लिये यह बड़ी निन्दाकी बात है। अपने सम्बन्धी-के दाढ़ी-मूँछ मूड़कर कुरूप कर देना, उसका वध करनेके समान है" ॥ ३७ ॥ फिर वे रुक्मिणीसे बोले—"हे साध्वि ! भाईको कुरूप करनेका विचारकर तुम हमपर दोषारोप मत करना। किसी पुरुषको सुख-दुःख देनेवाला कोई और नहीं होता, वह अपने ही कियेका फल भोगता है" ॥ ३८ ॥ श्रीकृष्णजीसे उन्होंने कहा—"अपना कोई बन्धु यदि वधके योग्य भी अपराध करे तो भी वह बन्धुके द्वारा मारे जाने योग्य नहीं होता, उसे छोड़ ही देना चाहिए। क्योंकि वह तो अपने दोषसे ही मरा रहता है, मारनेमें क्या पुरुषार्थ है ॥ ३९ ॥ फिर रुक्मिणीसे बोले—"प्रजापति ब्रह्माने क्षत्रियोंका धर्म ही ऐसा बनाया है कि जिससे भाई भाईको मार डालता है। इसलिये यह धर्म अत्यंत कठोर है" ॥ ४० ॥ फिर श्रीकृष्णचन्द्रसे कहने लगे—"हे भाई ! यह ठीक है कि जो अभिमानी लोग ऐश्वर्यमदसे अन्धे हो रहे हैं, वे राज्य, पृथिवी, धन, स्त्री, मान, तेज अथवा किसी और कारणसे अपने बन्धुओंका भी तिरस्कार करते हैं, किन्तु हमारे लिये ऐसा करना उचित नहीं है ॥ ४१ ॥ फिर उन्होंने रुक्मिणीसे कहा—"समस्त प्राणियोंसे द्रोह करनेवाले अपने बन्धुजनोंके लिये मङ्गलमय दण्डविधानको भी जो तू अज्ञानियोंके समान अमङ्गल मान रही है, यह तेरी बुद्धिका फेर है

एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् । नानेव गृह्यते मूढैर्यथा ज्योतिर्यथा नभः ॥४४॥
देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः । आत्मन्यविद्यया क्लृप्तः संसारयति देहिनम् ॥४५॥
नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगश्चासतः सति । तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्रूपाभ्यां यथा रवेः ॥४६॥
जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् । कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव ॥४७॥
यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च । अनुभुङ्क्तेऽप्यसत्यर्थे तथाऽऽप्नोत्यबुधो भवम् ॥
तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् । तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥४९॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता । वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे ॥५०॥
प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतबलप्रभः । स्मरन् विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः ॥५१॥
चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत् पुरम् । अहत्वा दुर्मतिं कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम् ।
कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीत्युक्त्वा तत्रावसद् रुषा ॥ ५२ ॥
भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान् । पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह ॥५३॥
तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्यां गृहे गृहे । अभूदनन्यभावानां कृष्णे यदुपतौ नृप ॥५४॥
नरा नार्यश्च मुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः । पारिबर्हमुपाजह्रुर्वरयोश्चित्रवाससोः ॥५५॥

॥ ४२ ॥ ४३ ॥ जो लोग देहको ही आत्मा मानते हैं, उन्हें ही 'यह मित्र है, यह शत्रु है, यह उदासीन है' ऐसा आत्मविषयक मोह भगवानकी मायासे उत्पन्न होता है। सब देहधारियोंका आत्मा एक ही है और वह अत्यन्त शुद्ध है। जल और घटादि उपाधियोंके कारण जैसे एक सूर्य-चन्द्रादि ज्योतियाँ तथा आकाश अनेककी भाँति प्रतीत होते हैं, वैसे ही अज्ञानीजन उस एकमात्र शुद्ध आत्माको ही अनेकवत् देखते हैं ॥४४॥ यह देह द्रव्य, प्राण और गुणमय है तथा आदि और अन्तयुक्त है। यह आत्मामें अविद्यासे कल्पित है और अविद्याही जीवको संसारचक्रमें डालती है ॥ ४५ ॥ हे सती! जैसे सूर्यहीसे प्रकाशित होनेके कारण नेत्र और रूपका उसके साथ संयोग या वियोग नहीं होता, वैसे ही आत्माका अन्य असत् पदार्थोंसे संयोग-वियोग नहीं होता। क्योंकि उनकी प्रसिद्धि तो आत्माहीके अधीन रहती है ॥ ४६ ॥ जन्मादि भी देहके ही विकार हैं, आत्माके नहीं। तथापि आत्माकी मृत्यु कही जाती है। जिस तरह क्षय कलाओंका ही होता है, चन्द्रमाका नहीं। तो भी अमावस्याके दिन चन्द्रमाका ही क्षय माना जाता है ॥ ४७ ॥ जैसे कोई सोया हुआ पुरुष किसी पदार्थके न होनेपर भी स्वप्नमें भोक्ता, भोग्य और भोगके फलोंका अनुभव करता है, उसी तरह अज्ञानीजन मिथ्या संचारचक्रमें पड़ते हैं ॥ ४८ ॥ अतः हे शुचिस्मते! चित्तको सुखाने और मोहित करनेवाले इस अज्ञान-जनित शोकको तत्त्वज्ञानसे दूर करके तुम शान्त हो जाओ ॥ ४९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! बलभद्रजीके इस प्रकार समझानेसे कृशाङ्गी रुक्मिणीने अपना वैमनस्य दूर कर दिया और विवेक-बुद्धिसे चित्तको शान्त किया ॥ ५० ॥ जिसकी सेना और तेज नष्ट हो गया था तथा जिसके प्राणमात्र शेष रह गया था, उस रुक्मीने अपने शत्रुओंके हाथसे छूटकर कृष्ण द्वारा अपने विरूप किये जानेका स्मरणकर वहाँ ही अपने रहनेके लिये भोजकट नामका एक बहुत बड़ा नगर बसाया। क्योंकि वह ऐसी प्रतिज्ञा करके आया था कि 'बिना दुर्बुद्धि कृष्णको मारे और अपनी छोटी बहिनको वापस लाये मैं कुण्डिनपुरमें प्रवेश नहीं करूँगा।' इसी कारण वह रोषपूर्वक वहीं रहने लगा ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ हे राजन्! इस तरह सब राजाओंको जीतकर भगवान कृष्ण राजा भीष्मककी पुत्री रुक्मिणीको अपने नगरमें ले आये और वहाँ उनके साथ विधिपूर्वक विवाह किया ॥ ५३ ॥ उस समय द्वारकाके भीतर यदुनाथ कृष्णमें अनन्य प्रेम रखनेवाले यादवोंके घर-घर बड़ा भारी उत्सव मनाया गया ॥ ५४ ॥ मणिमय कुण्डल धारण किये द्वारकाके प्रसन्नचित्त नर-नारियोंने

सा वृष्णिपुर्युत्तभितेन्द्रकेतुभिर्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः ।
बभौ प्रतिद्वार्युपक्लृप्तमङ्गलैरापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः ॥५६॥

सिक्तमार्गा मदच्युद्भिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम् । गजैर्द्वाःसु महामृष्टरम्भापूगोपशोभिता ॥५७॥
कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः । मिथो मुमुदिरे तस्मिन् सम्भ्रमात् परिधावताम् ।
रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः । राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्भृशविस्मिताः ॥५९॥
द्वारकायामभूद् राजन् महामोदः पुरौकसाम् । रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुक्मिण्युद्वाहे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्राग् रुद्रमन्युना । देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥ १ ॥
स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः । प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥२॥
तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम् । स विदित्वाऽऽत्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगाद् गृहम्
तं निर्जगार बलवान् मीनः सोऽप्यपरैः सह । वृतो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥४॥
तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्रुरुपायनम् । सूदा महानसं नीत्वावद्यन् स्वधितिनाद्भुतम् ॥५॥
दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यै न्यवेदयन् । नारदोऽकथयत् सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ।
बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम् ॥ ६ ॥

विचित्र वस्त्र धारण किये हुए वधूको बहुत-सी भेंटें उपहारमें दीं ॥ ५५ ॥ ऊँचे फहराती हुई बड़ी-बड़ी पताकाओं, रंग-बिरंगी मालाओं, वस्त्रों और रत्नोंकी बन्दनवारों तथा द्वार-द्वारपर रखी खील-दुर्वादि मांगलिक वस्तुओं तथा भरे हुए कलश, अगुरु, धूप और दीपादिसे यदुपुरी द्वारकाकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ ५६ ॥ निमन्त्रित इष्ट-मित्र राजाओंके मदस्रावी हाथियोंके मदसे मार्गोंमें छिड़काव-सा हो गया था। द्वारोंपर लगाये कदलीस्तम्ब और सुपारीके गुच्छोंसे द्वारकापुरी बड़ी सुन्दर लग रही थी ॥ ५७ ॥ उस उत्सवमें कुतूहलवश इधर-उधर दौड़-धूप करते हुए बन्धुवर्गों, कुरु, सृंजय, कैकेय, विदर्भ, यदु और कुन्तिभोज आदि वंशोंके लोग परस्पर आनन्द मना रहे थे ॥ ५८ ॥ जहाँ-तहाँ रुक्मिणीहरणकी चर्चा सुनकर राजाओं और राजकन्याओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५९ ॥ हे राजन्! लक्ष्मीपति भगवान कृष्णको लक्ष्मीजीका अवतार श्रीरुक्मिणीजीके साथ देखकर द्वारकाके नागरिकोंको अतिशय आनन्द हुआ ॥ ६० ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे उत्तरार्धे चतुःपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

(प्रद्युम्नका जन्म और शम्बरासुरका वध) श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! साक्षात् वासुदेवके अंश कामदेवने—जो पहले भगवान शङ्करके क्रोधसे भस्म हो गया था—फिर शरीर-प्राप्तिके निमित्त उन वासुदेव कृष्णहीका आश्रय लिया ॥ १ ॥ वह कामदेव ही श्रीकृष्णचन्द्रके वीर्य द्वारा रुक्मिणीजीके गर्भसे उत्पन्न होकर 'प्रद्युम्न' नामसे विख्यात हुआ और वह अपने पितासे किसी बातमें कम नहीं था ॥ २ ॥ बालक प्रद्युम्न जब दस दिनका भी नहीं था तभी उसे कामरूपधारी शम्बरासुर अपना पूर्वशत्रु जानकर हर ले गया और समुद्रमें फेंककर अपने घर चला गया ॥ ३ ॥ उसे एक बलवान् मत्स्यने निगल लिया और उस मत्स्यको दूसरी मछलियोंके साथ मछुओंने एक बहुत बड़े जालमें फँसाया ॥ ४ ॥ वे केवट उसे शम्बरासुरके पास उपहारमें ले आये। शम्बरासुरके रसो-

सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी। पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ॥७॥
निरूपिता शम्बरेण सा सूपौदनसाधने। कामदेवं शिशुं बुद्ध्वा चक्रे स्नेहं तदार्भके ॥८॥
नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढयौवनः। जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम् ॥९॥
सा तं पतिं पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम्।
सव्रीडहासोत्तभितभ्रुवेक्षती प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतैः ॥ १० ॥
तामाह भगवान् कार्ष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा। मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा ॥११॥

रतिरुवाच

भवान् नारायणसुतः शम्बरेणाहृतो गृहात्। अहं तेऽधिकृता पत्नी रतिः कामो भवान् प्रभो ॥
एष त्वानिर्दशं सिन्धावक्षिपच्छम्बरोऽसुरः। मत्स्योऽग्रसीत्तदुदरादिह प्राप्तो भवान् प्रभो ॥१३॥
तमिमं जहि दुर्धर्षं दुर्जयं शत्रुमात्मनः। मायाशतविदं त्वं च मायाभिर्मोहनादिभिः ॥१४॥
परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा। पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा ॥१५॥
प्रभाष्यैवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने। मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनीम् ॥१६॥
स च शम्बरमभ्येत्य संयुगाय समाह्वयत्। अविषह्यैस्तमाक्षेपैः क्षिपन् सञ्जनयन् कलिम् ॥१७॥
सोऽधिक्षिप्तो दुर्वचोभिः पादाहत इवोरगः। निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्ताम्रलोचनः ॥१८॥
गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने। प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिष्पेषनिष्ठुरम् ॥१९॥

ईदारोंने उस अद्भुत मत्स्यको भोजनालयमें ले जाकर छुरेसे चीरा ॥ ५ ॥ उसके उदरमें एक जीवित बालक पाकर रसोइयोंने उसे मायावतीको सौंप दिया। उसका वृत्तान्त जानकर मायावतीको बड़ा विस्मय हुआ। तभी नारदजीने वहाँ आकर उस बालककी उत्पत्ति और मत्स्यके उदरमें जानेका सारा भेद मायावतीको सुना दिया ॥ ६ ॥ मायावती कामदेवकी यशस्विनी पत्नी रति थी। वह भगवान शङ्कर-के कोपानलसे दग्ध पतिके देहकी उत्पत्तिकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ७ ॥ मायावतीको शम्बरासुरने रसोईघरमें नियुक्त कर रखा था। इस बालकको कामदेवका अवतार जानकर वह उसमें अपना स्नेह बढ़ाने लगी ॥ ८ ॥ कुछ ही समय बाद कृष्णकुमार प्रद्युम्न युवावस्थामें पहुँचकर अपनी ओर देखनेवाली स्त्रियोंका मन मोहने लगे ॥ ९ ॥ हे राजन्! तब मायावती कमलदलके समान विशाल-नयन, आजानुबाहु तथा नरलोकसुन्दर स्वामीको लज्जापूर्ण हास और तिरछी चितवनसे निहारती और रतिकालोचित चेष्टाओं प्रदर्शन करती हुई बड़े प्रेमसे उनकी सेवा करने लगी ॥१०॥ उसके भावों-में परिवर्तन देखकर कृष्णतनय भगवान प्रद्युम्नने कहा—"हे माता! तुम्हारी बुद्धि कुछ और प्रकारकी क्यों होगयी है? मैं देखता हूँ कि तुम मेरे साथ मातृभाव छोड़कर कामिनीके सदृश आचरण कर रही हो" ॥ ११ ॥ रति बोली—हे प्रभो! आप साक्षात् नारायणके पुत्र हैं। शम्बरासुर आपको हर ले आया था। आप साक्षात् कामदेव हैं और मैं आपकी धर्मपत्नी रति हूँ ॥ १२ ॥ जब आप दस दिनके भी नहीं थे, तब इस शम्बरासुरने आपको समुद्रमें डाल दिया था। वहाँ आपको एक मत्स्य निगल गया और उसीके पेटसे आप यहाँ आ निकले ॥ १३ ॥ अब आप अपने इस अत्यन्त दुर्दम्य, दुर्जय और सैकड़ों मायाएँ जाननेवाले शत्रुको मोहन आदि मायाओंसे मार डालिये ॥ १४ ॥ अपने बछड़े नष्ट हो जानेसे जैसे गौ व्याकुल रहती है, वैसेही अपने पुत्र आपके खो जानेसे आपकी पुत्रस्नेहाकुला माता अतिशय दीन होकर कुररीपक्षीके समान विलाप किया करती है ॥ १५ ॥ महात्मा प्रद्युम्नसे ऐसा सम्भाषण करके मायावतीने उन्हें सब मायाओंको नष्ट करनेवाली महामाया नामकी विद्या सिखायी ॥ १६ ॥ तब प्रद्युम्नजीने शम्बरासुरके सामने जा और असह्य कटुवचनोंसे तिरस्कार करते हुए उसे उत्तेजित करके युद्धके लिये ललकारा ॥ १७ ॥ तब शम्बरासुर पादप्रहारसे कुपित सर्पके समान उनके दुर्वचनोंसे क्षुभित होकर क्रोधसे लाल-लाल नेत्र किये हाथमें गदा ले कर घरसे बाहर

तामापतन्तीं भगवान् प्रद्युम्नो गदया गदाम् । अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत् स्वगदां नृप ।२०।
स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम् । मुमुचेऽस्त्रमयं वर्षं कार्ष्णौ वैहायसोऽसुरः ॥२१॥
बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणेयो महारथः । सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमायोपमर्दिनीम् ।
ततो गौह्यकगान्धर्वपैशाचोरगराक्षसीः । प्रायुङ्क्त शतशो दैत्यः कार्ष्णिर्व्यधमयत् स ताः ।
निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् । शम्बरस्य शिरः कायात्ताम्रश्मश्र्वोजसाहरत् ।२४।
आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः । भार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा ॥२५॥
अन्तःपुरवरं राजन् ललनाशतसङ्कुलम् । विवेश पत्न्या गगनाद् विद्युतेव बलाहकः ॥२६॥
तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवाससम् । प्रलम्बबाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥२७॥
स्वलंकृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकालिभिः । कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह ।
अवधार्य शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः । उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं सुविस्मिताः ॥२९॥
अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी । अस्मरत् स्वसुतं नष्टं स्नेहस्नुतपयोधरा ॥३०॥
को न्वयं नरवैदूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः । धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥३१॥
मम चाप्यात्मजो नष्टो नीतो यः सूतिकागृहात् । एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥३२॥
कथं त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः । आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥३३॥

निकला ॥ १८ ॥ उसने वह गदा बड़े वेगसे कई बार घुमाकर महात्मा प्रद्युम्नजीपर चला दी और स्वयं बिजलीकी कड़कके समान जोरसे चिंघाड़ने लगा ॥ १९ ॥ गदाको अपनी ओर आती देखकर भगवान् प्रद्युम्नने उसे अपनी गदासे नष्ट कर डाला और अतिशय क्रुद्ध होकर शत्रुपर अपनी गदाका प्रहार किया ॥ २० ॥ तब वह दैत्य मयासुरकी मायाका आश्रय करके आकाशमें उड़ा और श्रीप्रद्युम्नजीपर विविध अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥ उस अस्त्रवर्षासे व्यथित होकर महारथी प्रद्युम्नने सब मायाओंको शान्त करनेवाली सत्त्वमयी महाविद्याका प्रयोग किया ॥ २२ ॥ तब शम्बरासुरने यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंकी सैकड़ों मायाओंका एक साथ प्रयोग कर डाला, किन्तु श्रीकृष्णकुमार प्रद्युम्नने उन सबको शान्त कर दिया ॥ २३ ॥ और एक तीखी तलवार निकालकर शम्बरासुरका किरीट-कुण्डल-विमण्डित अरुणवर्णकी दाढ़ी-मूछोंयुक्त सिर धड़से अलग कर दिया ॥ २४ ॥ तब स्तुति करते हुए स्वर्गनिवासी देवताओंकी पुष्पवृष्टिसे आच्छादित प्रद्युम्नजीको उनकी आकाशचारिणी भार्या मायावती आकाशमार्गसे द्वारकापुरीमें ले आयी ॥ २५ ॥ तदनन्तर हे राजन्! दामिनीविमण्डित श्याम मेघके समान प्रद्युम्नजीने अपनी भार्या मायावतीके साथ आकाशसे उतरकर सैकड़ों रमणीरत्नोंसे आवृत द्वारकाके राजभवनमें प्रवेश किया ॥ २६ ॥ मेघके समान श्यामवर्ण पीताम्बरधारी विशालबाहु अरुणनयन मधुरमुसकानयुक्त मुखवाले तथा नीली और घुँघराली अलकावलीरूपी भौंरोंसे अलंकृत मुखारविन्दयुक्त प्रद्युम्नको देखकर महिलाओंने उन्हें साक्षात् कृष्ण समझा । इससे वे लज्जापूर्वक जहाँ-तहाँ छिपने लगीं ॥ २७–२८ ॥ धीरे-धीरे कुछ विलक्षणता देखकर उन्होंने जाना कि ये श्रीकृष्ण नही हैं । तब वे अति आनन्दित और विस्मित होकर अपनी सुन्दरी स्त्रीके साथ आये हुए उन पुरुषरत्नके पास आयीं ॥ २९ ॥ इसी समय श्यामनयना तथा मञ्जुभाषिणी रुक्मिणीको अपने खोये हुए बालकका स्मरण हो आया और पुत्रस्नेहके कारण उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बह चली ॥ ३० ॥ उन्होंने सोचा—'यह नररत्न कौन है ? यह कमलनयन पुत्र किसका है ? किस बड़भागिनीने इसे अपने गर्भमें धारण किया होगा ? इसे यह कौन स्त्री मिली है ? ॥ ३१ ॥ मेरा भी पुत्र, जो सूतिकागृहसे किसीके द्वारा हर लिये जानेसे नष्ट होगया था, वह यदि कहीं जीता होगा तो उसकी अवस्था और रूप इसीके सदृश होगा ॥ ३२ ॥ आकृति, अङ्गोंकी गठन, चाल-ढाल, बोल-चाल, हँसी और चितवनमें इसको श्रीकृष्णचन्द्रका सादृश्य कैसे प्राप्त हुआ ? ॥३३॥

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः । अमुष्मिन् प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ।३४
एवं मीमांसमानायां वैदर्भ्यां देवकीसुतः । देवक्यानकदुन्दुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत् ।३५।
विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः । नारदोऽकथयत् सर्वं शम्बराहरणादिकम् ।।३६।।
तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः । अभ्यनन्दन् बहूनब्दान् नष्टं मृतमिवागतम् ।।३७।।
देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः । दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ।३८।
नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः । अहो मृत इवायातो बालो दिष्टयेति हाब्रुवन् ।३९।
यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावास्तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः ।
चित्रं न तत् खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे कामे स्मरेऽक्षिविषये किमुतान्यनार्यः ।।४०।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे प्रद्युम्नोत्पत्तिनिरूपणं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः । स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ।।१।।

राजोवाच

सत्राजितः किमकरोद् ब्रह्मन् कृष्णस्य किल्बिषम् । स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्माद् दत्ता सुता हरेः ।।२।।

यह वही बालक तो नहीं है, जिसे मैंने अपने गर्भमें धारण किया था ? क्योंकि इस पर मेरा स्नेह बराबर बढ़ता जा रहा है और मेरी बायीं भुजा फड़क रही है, ।। ३४ ।। जब महारानी रुक्मिणी इस उधेड़-बुनमें पड़ी थीं, उसी समय माता देवकी और वसुदेवजीके पुण्यकीर्ति पुत्र भगवान कृष्ण भी वहाँ आ गये ।। ३५ ।। श्रीजनार्दन इसका सारा रहस्य जानते थे, किन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं कहा-सुना । इतनेमें नारदजी आगये और उन्होंने वहाँ आकर प्रद्युम्नजीके शम्बरासुर द्वारा हरे जानेका सारा वृत्तान्त कह सुनाया ।। ३६ ।। नारदजीके द्वारा वह विचित्र वृत्तान्त सुनकर भगवान कृष्णके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, जैसे कोई मरा हुआ सुहृद् फिर जी जाय, वैसे ही उन्हें कई वर्ष बाद आया देखकर बहुत प्रसन्न हुईं ।। ३७ ।। देवकी, वसुदेव, कृष्ण, बलराम, रुक्मिणी तथा अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियाँ नववधूके साथ बालक प्रद्युम्नको गले लगाकर बहुत प्रसन्न मनसे मिलीं ।। ३८ ।। खोये हुए प्रद्युम्नको फिर आये सुनकर सब द्वारकावासी कहने लगे—'अहो ! कैसे सौभाग्यकी बात है कि जो बालक इतने दिन पहले खो गया था, वह फिर मरकर लौटे हुएके समान लौट आया है !' ।।३९।। इस समय जिन प्रद्युम्नजीको बार-बार देखकर पिताके समान ही उनका स्वरूप होनेके कारण उनमें अपने पतिदेव अर्थात् श्रीकृष्णकी भावना होगयी थी और उनकी माता रुक्मिणी आदि स्त्रियाँ मधुर भावमें मग्न होकर एकान्तमें चली गयी थीं । लक्ष्मीनिवास भगवानके प्रतिबिम्बस्वरूप और स्मरण-मात्रसे क्षोभ उत्पन्न करनेवाले कामदेवके अवतार प्रद्युम्नके मिल जानेपर ऐसा होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । जब उन्हें देखकर उनकी माताओंको भी भावोदय होगया तो अन्य स्त्रियोंके विषयमें क्या कहा जाय ? ।। ४० ।। इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।। ५५ ।।

(स्यमन्तकोपाख्यान तथा जाम्बवती और सत्यभामाके साथ कृष्णभगवानका विवाह)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! सत्राजित् नामके यादवने एकबार श्रीकृष्णचन्द्रको कलङ्क लगाया था । उस अपराधकी शान्तिका प्रयत्न करते हुए उसने स्यमन्तक मणिके साथ उन्हें अपनी कन्या दे डाली थी ।। १ ।। इसपर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! उस सत्राजितने भगवान कृष्णका कौन-

श्रीशुक उवाच

आसीत् सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा । प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात् सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् ३
स तं बिभ्रन् मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः । प्रविष्टो द्वारकां राजंस्तेजसा नोपलक्षितः ॥४॥
तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः । दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशङ्किताः ॥५॥
नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर । दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ॥६॥
एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते । मुष्णन् गभस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः ॥७॥
नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षभाः । ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ॥८॥

श्रीशुक उवाच

निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः । प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ।९।
सत्राजित् स्वगृहं श्रीमत् कृतकौतुकमङ्गलम् । प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रैर्न्यवेशयत् ॥१०॥
दिने दिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो । दुर्भिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः ।
न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः ॥ ११ ॥
स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा । नैवार्थकामुकः प्रादाद् याच्ञाभङ्गमतर्कयन् ।१२।
तमेकदा मणिं कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् । प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद् वने ॥१३॥
प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरी । गिरिं विशञ्जाम्बवता निहतो मणिमिच्छता ।१४।
सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनकं बिले । अपश्यन् भ्रातरं भ्राता सत्राजित् पर्यतप्यत ।१५।

सा अपराध किया था ? उसे स्यमन्तकमणि कहाँसे मिला था ? और क्यों उसने अपनी पुत्री श्रीकृष्णचन्द्रको दी ? ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—भगवान सूर्य अपने भक्त सत्राजितकी भक्ति देखकर उसके बहुत बड़े मित्र होगये थे। उन्होंने सत्राजितकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उसे बड़ी प्रसन्नताके साथ स्यमन्तक मणि दिया था ॥ ३ ॥ उस मणिको पहनकर सत्राजित सूर्यके समान देदीप्यमान होता हुआ द्वारकामें आया। हे राजन् ! उस मणिके प्रचण्ड तेजसे उस समय उसे कोई पहचान ही नहीं सका ॥ ४ ॥ उसे दूरहीसे देखकर लोगोंकी आँखें चौंधिया गयीं और उसको सूर्य समझकर उन लोगोंने चौसर खेलते हुए भगवान कृष्णचन्द्रसे कहा—॥ ५ ॥ "हे नारायण ! हे शङ्खचक्रगदाधर ! हे दामोदर ! हे कमलनयन ! हे गोविन्द ! हे यदुनन्दन ! आपको नमस्कार है ॥ ६ ॥ हे जगत्पते ! देखिये, अपने किरणसमूहसे लोगोंके नेत्रोंको चकाचौंधमें डालते हुए प्रचण्डरश्मि सूर्यभगवान आपका दर्शन करनेके लिये यहाँ आ रहे हैं ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! त्रिलोकीमें सभी देवता आपके मार्गको सदा ढूँढते रहते हैं। आज यदुकुलमें छिपे जानकर सूर्यनारायण आपको देखने आ रहे हैं" ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उन अनजान पुरुषोंके ये वचन सुनकर भगवान कमलनयनने हँसकर कहा—"ये सूर्यदेव नहीं, मणिसे देदीप्यमान सत्राजित् आरहे हैं"। सत्राजित्ने मङ्गलोत्सवके लिये अतिशय शोभायमान अपने घरमें जाकर एक देवमन्दिरमें ब्राह्मणों द्वारा उस मणिकी प्रतिष्ठा करायी थी ॥ ९ ॥ हे राजन् ! वह मणि प्रतिदिन आठ भार सुवर्ण दिया करता था और जहाँ उसकी पूजा की जाती थी वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीड़ा, सर्पभय, मानसिक और शारीरिक दुःख तथा मायावियोंका उपद्रव आदि कोई अशुभ नहीं होता था ॥ १०–११ ॥ एक रोज श्रीकृष्णचन्द्रने वह मणि राजा उग्रसेनको देनेके लिये सत्राजित्से माँगा, किन्तु उस लोभीने उनकी आज्ञाभङ्गका कोई विचार न करते हुए मणि नहीं दिया ॥ १२ ॥ एक दिन सत्राजित्का भाई प्रसेन उस प्रकाशमय मणिको अपने गलेमें पहन तथा घोड़ेपर चढ़कर वनमें शिकार खेलने गया ॥ १३ ॥ वहाँ एक सिंहने घोड़े समेत प्रसेनको मार डाला और उस मणिको लेकर वह एक गिरिगुहामें घुसना ही चाहता था कि वह मणि चाहनेवाले जाम्बवान्ने उसे बीचहीमें मार डाला ॥ १४ ॥ और अपनी गुफामें ले जाकर वह

प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः । भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥१६॥
भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनि । मार्ष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः ॥१७॥
हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने । तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः ॥१८॥
ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसाऽऽवृतम् । एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिःप्रजाः ॥१९॥
तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम् । हर्तुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके ॥२०॥
तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा धात्री चुक्रोश भीतवत् । तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत् क्रुद्धो जाम्बवान् बलिनां वरः २१
स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनाऽऽत्मनः । पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित् ॥२२॥
द्वन्द्वयुद्धं सुतुमुलमुभयोर्विजिगीषतोः । आयुधाश्मद्रुमैर्दोर्भिः क्रव्यार्थे श्येनयोरिव ॥२३॥
आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः । वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥२४॥
कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः । क्षीणसत्त्वः स्विन्नगात्रस्तमाहातीव विस्मितः २५
जाने त्वां सर्वभूतानां प्राण ओजःसहो बलम् । विष्णुं पुराणपुरुषं प्रभविष्णुमधीश्वरम् ॥२६॥
त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानामपि यच्च सत् । कालः कलयतामीशः पर आत्मा तथाऽऽत्मनाम् २७
यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षैर्वर्त्मादिशत् क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः ।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि ॥२८॥
इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः । व्याजहार महाराज भगवान् देवकीसुतः ॥२९॥
अभिमृश्यारविन्दाक्षः पाणिना शङ्करेण तम् । कृपया परया भक्तं प्रेमगम्भीरया गिरा ॥३०॥

मणि अपने बालकको खेलनेके लिये दे दिया। प्रसेनका भाई सत्राजित् अपने भाईको न देखकर बहुत शोक करने लगा ॥ १५ ॥ उसने कहीं किसीसे कहा—"मेरा भाई गलेमें स्यमन्तक मणि पहनकर वनको गया था, सम्भवतः उसे कृष्णने ही मरवा डाला होगा" यह सुनकर धीरे-धीरे लोगोंमें काना-फूसी होने लगी ॥ १६ ॥ जब भगवानने अपनेपर यह कलङ्क लगा सुना तो उसे मिटानेके लिये वे द्वारकावासियोंको साथ लेकर वनमें उसे ढूँढ़ने गये ॥ १७ ॥ वहाँ खोजनेपर लोगोंने सिंह द्वारा मरे हुए प्रसेन और उसके घोड़े तथा ऋक्षराज जाम्बवान्के हाथों पर्वतपर मारे हुए सिंहको देखा ॥१८॥ तब कृष्णभगवान उन सब लोगोंको बाहर ही छोड़कर घोर अन्धकारसे भरी हुई ऋक्षराजकी महा-भयङ्कर गुफामें अकेले घुसे ॥ १९ ॥ भीतर पहुँचकर भगवानने देखा कि वह श्रेष्ठ मणि बालकका खिलौना बना हुआ है। उसे लेनेकी इच्छासे भगवान बालकके पास जा पहुँचे ॥ २० ॥ वहाँ एक मनुष्यको देखकर बालककी धाय भयभीत होकर चिल्लाने लगी। उसका शब्द सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ जाम्बवान् कुपित होकर वहाँ दौड़ आये ॥ २१-२२ ॥ उन्हें साधारण मनुष्य समझ और उनका प्रभाव न जान सकनेके कारण जाम्बवान अपने प्रभु भगवान कृष्णसे कुपित होकर लड़ने लगे। जैसे मांसके लिये दो बाज परस्पर लड़ते हों वैसे ही जयके अभिलाषी उन दोनों वीरोंमें अस्त्र-शस्त्र, पत्थर, वृक्ष और घूँसे आदिसे घोर द्वन्द्वयुद्ध होने लगा ॥ २३ ॥ इस प्रकार अट्ठाईस दिनतक निरन्तर वज्रप्रहारके सदृश कठोर घूँसोंसे परस्पर युद्ध होता रहा ॥ २४ ॥ अन्तमें भगवान कृष्णके घूँसोंकी मारसे जाम्बवानके सुदृढ़ अङ्ग-बन्धन चूर-चूर होगये, उत्साह नष्ट होगया तथा शरीर पसीनेमें डूब गया और वे अतिशय विस्मित होकर कहने लगे—॥ २५ ॥ "मैं जान गया—आप सब जीवोंके स्वामी, प्रतिपालक तथा पुराणपुरुष भगवान विष्णु हैं। आप ही सब प्राणियोंके प्राण, इन्द्रियबल, मनोबल और शारीरिक बल हैं ॥ २६ ॥ आप विश्वके रचयिता ब्रह्मादिको भी उत्पन्न करनेवाले, सृष्टिके उपादान कारण, नाश करनेवालोंके नियामक भगवान काल तथा सब आत्माओंके आत्मा परमात्मा हैं ॥ २७ ॥ हे प्रभो ! जिनके किञ्चित् रोष भरे कटाक्षसे नक्रों और तिमिङ्गलादिके क्षुब्ध हो जानेपर समुद्रने रामको लङ्का जानेका मार्ग दे दिया और तब जिन्होंने उसपर अपना यशस्वरूप सेतु

मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम् । मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना ॥३१॥
इत्युक्तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा । अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥३२॥
अदृष्ट्वा निर्गमं शौरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः । प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः ॥३३॥
निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः । सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन् बिलात् कृष्णमनिर्गतम् ॥३४॥
सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकौकसः । उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये ॥३५॥
तेषां तु देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषा स च । प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन् हरिः ॥३६॥
उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम् । सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥३७॥
सत्राजितं समाहूय सभायां राजसन्निधौ । प्राप्तिं चाख्याय भगवान् मणिं तस्मै न्यवेदयत् ॥३८॥
स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः । अनुतप्यमानो भवनमगमत् स्वेन पाप्मना ॥३९॥
सोऽनुध्यायंस्तदेवाघं बलवद्विग्रहाकुलः । कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद् वाच्युतः कथम् ॥४०॥
किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद् वा जनो यथा । अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥४१॥
दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च । उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शांतिर्न चान्यथा ॥४२॥
एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजित् स्वसुतां शुभाम् । मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥४३॥
तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि । बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥

बाँधकर लङ्काको विध्वंस किया, जिनके बाणोंसे कट-कटकर राक्षसोंके सिर पृथ्वीपर लोटने लगे थे, वे भगवान राम आप ही हैं। हे महाराज ! ऋक्षपति जाम्बवान्को अपने भगवत्स्वरूपका ज्ञान हुआ देखकर कमलनयन भगवान देवकीनन्दनने उनकी पीड़ा दूर करनेके निमित्त अपने कल्याणकारी हाथसे स्पर्श किया और फिर अत्यन्त कृपापूर्वक प्रेमगम्भीर वाणीमें उन अपने प्रिय भक्तसे कहा— ॥ २८-३० ॥ "हे ऋक्षराज ! हम इस मणिके द्वारा अपना मिथ्या कलङ्क दूर करने और इसीको लेनेके लिये तुम्हारी कन्दरामें आये हैं" ॥ ३१ ॥ भगवानके ऐसा करनेपर जाम्बवानने अति प्रसन्न हो उनकी पूजा करनेके लिये मणि तथा अपनी कन्या जाम्बवती उन्हें अर्पण कर दी ॥ ३२ ॥ इधर कन्दरामें गये भगवान कृष्णको उससे बाहर निकलते न देखकर द्वारकावासी लोग बारह दिनतक प्रतीक्षाकर अत्यन्त दुःखित हो अपने नगरको वापस लौट गये ॥ ३३ ॥ कृष्णचन्द्रको बिलसे बाहर न आये सुनकर देवी देवकी, रुक्मिणी और वसुदेवजी आदि सुहृद्गण तथा अन्य ज्ञातिबन्धुओंको बड़ा शोक हुआ ॥ ३४ ॥ सब द्वारिकावासी अतिशय दुःखित हो सत्राजित्को बुरा-भला कहते हुए भगवान कृष्णको पानेके लिये महामाया दुर्गादेवीकी उपासना करने लगे ॥ ३५ ॥ उनकी उपासनासे प्रसन्न होकर देवीने उन्हें इच्छित आशीर्वाद दिया और उसी समय भगवान कृष्ण सफलमनोरथ होकर सबको प्रसन्न करते हुए नववधू जाम्बवतीके साथ वहाँ आगये ॥ ३६ ॥ समस्त द्वारिकावासी श्रीकृष्णचन्द्रको जैसे कोई मरकर लौट आवे, वैसे ही गलेमें मणि पहने और साथमें एक सुन्दरी स्त्री लिये आते देखकर प्रसन्न हुए ॥ ३७ ॥ तब भगवानने सत्राजित्को राजा उग्रसेनके सामने सभामें बुलाकर मणि पानेका सब वृत्तान्त सुनाया और वह मणि उसे सौंप दिया ॥ ३८ ॥ सत्राजित्ने बड़े सङ्कोचसे वह मणि लिया और अपने अपराधके लिये अत्यन्त पश्चात्ताप करता हुआ माथा नीचा किये घर लौटा ॥ ३९ ॥ अपने अपराधपर विचार करते हुए और बलवान् मनुष्यके साथ विरोध ठाननेसे व्याकुल होकर वह सोचने लगा—मैं कैसे अपने अपराधका मार्जन करूँ ? श्रीहरि कैसे मुझसे प्रसन्न हों ॥ ४० ॥ मैं ऐसा क्या शुभ कर्म करूँ, जिससे मेरा कल्याण हो और लोग मुझ अदूरदर्शी, क्षुद्र, मूर्ख तथा अर्थलोलुपको बुरा-भला न कहें ॥ ४१ ॥ अच्छा, मैं भगवान कृष्णको स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा अपनी कन्या और यह मणि दे दूँगा। हाँ, यही उपाय ठीक है। इस विरोधकी शान्ति और किसी तरह नहीं हो सकती' ॥ ४२ ॥ अपने मनमें ऐसा निश्चयकर सत्राजित्ने अपनी शुभ-

भगवानाह न मणिं प्रतीच्छामो वयं नृप । तवास्तां देवभक्तस्य वयं च फलभागिनः ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे स्यमन्तकोपाख्याने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पांडवान् । कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून् ॥१॥

भीष्मं कृपं सविदुरं गान्धारीं द्रोणमेव च । तुल्यदुःखौ च सङ्गम्य हा कष्टमिति होचतुः ॥२॥

लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतुः । अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते ॥३॥

योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य नः । कृष्णायादान्न सत्राजित् कस्माद् भ्रातरमन्वियात्

एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः । शयानमवधील्लोभात् स पापः क्षीणजीवितः ॥५॥

स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत् । हत्वा पशून् सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान् ।

सत्यभामा च पितरं हतं वीक्ष्य शुचार्पिता । व्यलपत्तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती ॥७॥

तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम् । कृष्णाय विदितार्थाय तप्ताऽऽचख्यौ पितुर्वधम्

तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम् । अहो नः परमं कष्टमित्यस्राक्षौ विलेपतुः ॥८॥

लक्षणा कन्या और वह स्यमन्तकमणि स्वयं उद्योग करके श्रीकृष्णचन्द्रको दे दिया ॥ ४३ ॥ सत्राजित्की कन्या सत्यभामा शील, रूप और उदारता आदि गुणोंसे युक्त थीं। उनको बहुतसे राजाओंने सत्राजित्से याचना की थी । किन्तु उनके साथ भगवान कृष्णने विवाह किया ॥४४॥ हे राजन् ! तब भगवानने सत्राजित्से कहा—"हम यह मणि नहीं लेंगे। आप सूर्यदेवके भक्त हैं। इसलिये यह उनका प्रसाद आपहीके पास रहना चाहिये । हम तो केवल इसके फलके ही भागी हो सकते हैं अर्थात् इससे प्राप्त सुवर्ण हमको दे दीजियेगा" ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे भाषाटीकायां षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

(स्यमन्तकहरण, शतधन्वावध और अक्रूरको फिर द्वारकामें बुलाना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवानको यद्यपि पाण्डवोंके बच जानेका पता था, फिर भी कुन्ती और पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें भस्म हुए सुनकर वे कुलोचित व्यवहारका पालन करनेके लिये बलरामजीके साथ कुरुदेश गये ॥ १ ॥ वहाँ भीष्म, कृपाचार्य, विदुर, गान्धारी और द्रोणाचार्यसे मिले और उन्हींके समान दुःखित होकर कृष्ण-बलदेवने कहा—"हाय ! यह कैसे कष्टकी बात है !" ॥ २ ॥ इसी समय अवसर पाकर अक्रूर तथा कृतवर्माने शतधन्वासे कहा—"तुम सत्राजित्से वह मणि क्यों नहीं छीन लेते ? ॥ ३ ॥ जिसने हमें अपनी कन्या देनेका वचन देकर भी हमारा तिरस्कार करते हुए कृष्णचन्द्रको दे दिया, वह क्यों न अपने भाईका अनुसरण करे ?" ॥ ४ ॥ जिसका जीवन क्षीण हो चुका था, उस पापाचारी और महादुष्ट शतधन्वाने इस प्रकार उनके बहकावेमें आकर लोभवश एक रातको सोये हुए सत्राजित्को मार डाला ॥ ५ ॥ जैसे कसाई पशुओंको मार डालता है, वैसे ही पापी शतधन्वा सत्राजितको मार तथा स्त्रियोंको रोती-बिलखती छोड़ और वह मणि लेकर चला गया ॥ ६ ॥ पिताको मरे हुए देख सत्यभामा अत्यन्त शोकाकुल और बारम्बार मूर्छित होकर 'हा तात ! हा तात ! मैं मारी गयी' ऐसा कहकर विलाप करने लगीं। फिर पिताके शवको तेलके कड़ाहेमें रखवाकर वे हस्तिनापुर गयीं। वहाँ पहुँचकर पहले ही से सब वृत्तान्त जाननेवाले भगवान कृष्णसे उन्होंने अतिसन्तापपूर्वक पिताके वधका सब समाचार कह सुनाया ॥ ७ ॥ ८ ॥ हे राजन् ! यह अशुभ

आगत्य भगवांस्तस्मात् सभार्यः साग्रजः पुरम् । शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः ॥१०॥
सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरीप्सया । साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत् ॥११॥
नाहमीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः । को नु क्षेमाय कल्पेत तयोर्वृजिनमाचरन् ॥१२॥
कंसः सहानुगोऽपीतो यद्द्वेषात् त्याजितः श्रिया । जरासन्धः सप्तदश संयुगान् विरथो गतः ॥१३॥
प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पार्ष्णिग्राहमयाचत । सोऽप्याह को विरुध्येत विद्वानीश्वरयोर्बलम् ॥१४॥
य इदं लीलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च । चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया ॥१५॥
यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्यैकेन पाणिना । दधार लीलया बाल उच्छिलीन्ध्रमिवार्भकः ॥१६॥
नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाद्भुतकर्मणे । अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः ॥१७॥
प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम् । तस्मिन् न्यस्याश्वमारुह्य शतयोजनगं ययौ ॥१८॥
गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनार्दनौ । अन्वयातां महावेगैरश्वै राजन् गुरुद्रुहम् ॥१९॥
मिथिलायामुपवने विसृज्य पतितं हयम् । पद्भ्यामधावत् संत्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद् रुषा ।
पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना । चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम् ।
अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् । वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते ॥२२॥
तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना । कस्मिंश्चित् पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष पुरं व्रज ॥२३॥

समाचार सुनकर कृष्ण और बलराम ईश्वर होकर भी मनुष्यलीलाका अनुसरण करते हुए 'अहो! हमपर यह घोर विपत्ति आ पड़ी' ऐसा कहते हुए नेत्रोंमें जल भरकर विलाप करने लगे ॥ ९ ॥ तब भगवान कृष्ण भाई बलरामजी तथा सत्यभामाके साथ हस्तिनापुरसे द्वारका आये और शतधन्वाको मारने तथा उससे मणि छीननेका उपाय करने लगे ॥ १० ॥ कृष्णचन्द्रको अपने मारनेका उद्योग करते जानकर शतधन्वाको बड़ा भय हुआ और उसने अपनी प्राणरक्षाके लिये कृतवर्मासे कहा। कृतवर्मा बोला—॥ ११ ॥ 'मैं सर्वसमर्थ कृष्ण और बलरामकी अवहेलना नहीं कर सकता। उनका अपराध करके भला किसका कुशल हो सकता है? जिनसे द्वेष करनेके कारण कंस अपने अनुगामियों सहित राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट हुआ और जरासन्ध जैसा शूरशिरोमणि भी सत्रह बार युद्धमें हार और रथहीन होकर लौट गया था" ॥ १२ ॥ १३ ॥ कृतवर्मासे ऐसा कोरा उत्तर पाकर उसने अक्रूरजीसे सहायताके लिये प्रार्थना की। अक्रूरजी कहने लगे—"भाई! उन ईश्वरोंका बल जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा, जो उनसे विरोध करेगा? ॥ १४ ॥ जो लीलासे ही सम्पूर्ण विश्वकी रचना, पालन तथा संहार करते हैं। जिनकी चेष्टाको ब्रह्मादि विश्वरचयिता भी उन्हींकी मायासे मोहित होनेके कारण नहीं जान सकते और जिन्होंने सात वर्षकी अवस्थामें गिरिराज गोवर्धनको उखाड़कर बालक जैसे छत्राक (कठफुल्ला) उठा लेते हैं, वैसे ही उसे लीलापूर्वक एक हाथपर उठा लिया था। उन अद्भुतकर्मा, अनन्त, सबके आदिकारण, कूटस्थ आत्मा भगवान कृष्णको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ" ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ अक्रूरजीसे भी सहायता न पाकर शतधन्वाने वह मणि उन्हींको सौंप दिया और स्वयं एक सौ योजनतक जानेवाले घोड़ेपर चढ़कर वहाँसे भाग निकला ॥ १८ ॥ हे राजन्! कृष्ण और बलरामने भी गरुड़की ध्वजायुक्त रथपर चढ़कर बड़े वेगवान् घोड़ों द्वारा अपने गुरुजन अर्थात् श्वसुरसे द्रोह करनेवाले शतधन्वाका पीछा किया ॥ १९ ॥ इसी बीच मिथिलापुरीके निकट एक उपवनमें पहुँचनेपर शतधन्वाका घोड़ा गिर गया। उसे छोड़कर वह अत्यन्त भयभीत हो पैदल ही भागा। तब कृष्णचन्द्रने अति क्रुद्ध होकर उसका पीछा किया ॥ २० ॥ शतधन्वा पैदल भाग रहा था, इसीलिये भगवानने भी पैदल ही दौड़कर अपने तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे उसका सिर काट लिया और वस्त्रों में वह मणि ढूँढ़ने लगे ॥ २१ ॥ जब उसके पास मणि नहीं मिला तो बलरामजीके पास आकर उन्होंने कहा —"हमने शतधन्वाको व्यर्थ मारा। क्योंकि स्यमन्तक मणि

अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम । इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः ।
तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः । अर्हयामास विधिवदर्हणीयं समर्हणैः ॥२५॥
उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः । मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।
ततोऽशिक्षद् गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ॥ २६ ॥
केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः । अप्राप्तिं च मणेः प्राह प्रियायाः प्रियकृद् विभुः॥
ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै । साकं सुहृद्भिर्भगवान् या याः स्युः साम्परायिकाः
अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् । व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥२९॥
अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन् वै द्वारकौकसाम् । शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः ।३०।
इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् । मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ॥३१॥
देवेऽवर्षति काशीशः श्वफल्कायागताय वै । स्वसुतां गान्दिनीं प्रादात् ततोऽवर्षत् स्म काशिषु
तत्सुतस्तत्प्रभावोऽसावक्रूरो यत्र यत्र ह । देवोऽभिवर्षते तत्र नोपतापा न मारिकाः ॥३३॥
इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् । इति मत्वा समानाय्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः ॥३४॥
पूजयित्वाभिभाष्यैनं कथयित्वा प्रियाः कथाः । विज्ञाताखिलचित्तज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥३५॥
ननु दानपते न्यस्तस्त्वय्यास्ते शतधन्वना । स्यमन्तको मणिः श्रीमान्विदितः पूर्वमेव नः ।३६।

उसके पास नहीं है" ॥ २२ ॥ बलरामजी बोले—"शतधन्वाने अवश्य वह मणि किसीके यहाँ धरोहर रख दी होगी । अतएव तुम द्वारका जाकर उस पुरुषको खोजो ॥ २३ ॥ इस समय मैं अपने परमप्रिय मित्र विदेहराजसे मिलना चाहता हूँ' । ऐसा कहकर यदुनन्दन बलरामजी मिथिलापुरीको चल पड़े । पूजनीय बलरामजीको आये देख मिथिलानरेशने सहसा उठकर विविध सामग्रियोंसे प्रसन्नताके साथ उनकी विधिवत् पूजा की ॥ २४ ॥ २५ ॥ महात्मा जनकजीसे प्रीतिपूर्वक सम्मानित होकर भगवान बलराम कुछ वर्ष उनकी राजधानी मिथिलापुरीमें ही रह गये । इसी समय अवसर पाकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने उनसे गदायुद्ध सीखा ॥ २६ ॥ इधर, अपनी प्रियाका प्रिय करनेवाले भगवान कृष्णने द्वारकामें आकर प्रियतमा सत्यभामाको शतधन्वाके वध और मणि न मिलनेका वृत्तान्त बताया ॥ २७ ॥ फिर जो-जो कर्म मृतककी शुभगतिके लिए आवश्यक होते हैं, भगवानने सत्राजित्के वे सब और्ध्वदेहिक कर्म उनके सुहृदों द्वारा कराया ॥ २८ ॥ अक्रूर और कृतवर्माने शतधन्वाको सत्राजित्के वधके लिये उभाड़ा था । इसलिये शतधन्वाकी मृत्युका समाचार पाकर वे बहुत भयभीत हुए और द्वारकासे परदेश भाग गये ॥ २९ ॥ हे राजन् ! कुछ लोग कहते हैं कि अक्रूरजीके चले जानेपर द्वारकावासियोंपर नाना प्रकारके दुःख आये और वे निरन्तर शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक तापोंसे सन्तप्त रहने लगे । इन उपद्रवोंकी शान्तिके लिए अक्रूरको फिर बुलाया गया ॥ ३० ॥ किन्तु भगवानके पूर्वोक्त माहात्म्यको भूलकर ही ऐसा कहा गया है । नहीं तो जिनमें सदा मुनिगण निवास करते हैं, उन श्रीकृष्णके रहते क्या कभी कोई अनर्थ हो सकता था ? ॥ ३१ ॥ द्वारकाके वृद्धलोगोंका कथन था—"पूर्व समयमें एक बार काशीराज्यमें वर्षा नहीं हुई तो काशीनरेशने अपने नगरमें आये हुए महात्मा श्वफल्कके साथ अपनी गान्दिनी नामकी कन्याका विवाह कर दिया, तब वहाँ वर्षा हुई ॥ ३२ ॥ उनके पुत्र अक्रूरजीका भी ऐसा ही प्रभाव है । वे जहाँ कहीं रहते हैं, वहाँ खूब वर्षा होती है और किसी प्रकारका कष्ट या महामारी आदि उपद्रव उस स्थानपर नहीं होते" ॥ ३३ ॥ वृद्ध पुरुषोंकी बातें सुनकर भगवानने यह जानते हुए भी कि इस उपद्रवका कारण केवल अक्रूरजीकी अनुपस्थिति ही नहीं है, फिर भी अक्रूरजीको बुलाकर उन्होंने उनसे बात की ॥ ३४ ॥ सबके मनकी बात जाननेवाले भगवान कृष्ण अक्रूरजीका सत्कारकर उनसे बहुत-सी प्रिय बातें करते हुए कहने लगे—॥ ३५ ॥ हे दानपते ! शतधन्वा तुम्हें स्यमन्तक मणि सौंप गया था और

सत्राजितोऽनपत्यत्वाद् गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः । दायं निनीयापः पिण्डान् विमुच्यर्णं च शेषितम् ।
तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः । किन्तु मामग्रजः सम्यङ्न प्रत्येति मणिं प्रति ।३८
दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह । अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः ।३९।
एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम् । आदाय वाससाच्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम् ॥४०॥
स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः । विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयत् प्रभुः ॥
यस्त्वेतद् भगवत ईश्वरस्य विष्णोर्वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं च ।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद् वा दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे स्यमन्तकोपाख्याने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः । इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः ॥१॥
दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् । उत्तस्थुर्युगपद् वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम्॥२॥
परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतैनसः । सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः॥३॥
युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् । फाल्गुनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाभिवन्दितः॥४॥

वह तेजोमय मणि तुम्हारे ही पास है—यह बात हम पहलेसे ही जानते हैं ॥ ३६ ॥ सत्राजित्के कोई पुत्र नहीं है। इसलिये उनकी कन्याके पुत्र ही उन्हें तिलोदक और पिण्डदान देकर उनका ऋण चुकानेसे बचे धनको ग्रहण कर सकते हैं ॥ ३७ ॥ किन्तु आपके सिवा और किसीके लिये उसे रखना कठिन है। आप सदा उत्तम व्रतका पालन करते हैं। इसलिये वह मणि आपहीके पास होना चाहिये, किन्तु मेरे बड़े भाई बलरामजीको मणिके सम्बन्धमें मेरी बातका पूरा विश्वास नहीं है ॥३८॥ अतः हे महाभाग ! आप वह मणि दिखाकर मेरे बन्धुओंके सन्देहको दूर कर दीजिये। उनके प्रतापसे ही आपके यहाँ सुवर्णकी वेदीवाले अखण्ड यज्ञोंका ताँता लगा हुआ है" ॥ ३९ ॥ इस तरह सामनीतिसे समझाये जानेपर अक्रूरजीने वस्त्रमें लपेटा हुआ सूर्यके सदृश देदीप्यमान वह मणि निकालकर भगवान कृष्णको दे दिया ॥ ४० ॥ तब भगवानने स्यमन्तकमणि अपने ज्ञातिबान्धवोंको दिखाकर अपना कलङ्क मिटाया और मणि फिर अक्रूरजीको लौटा दिया ॥ ४१ ॥ जो प्राणी सर्वेश्वर कृष्णभगवानके पराक्रमोंसे ओत-प्रोत इस पापनाशक तथा मङ्गलमय आख्यानको पढ़ता, सुनता या स्मरण करता है, वह सब तरहकी अपकीर्ति तथा पापसे छूटकर शान्ति पाता है ॥४२॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

(भगवान कृष्णके और विवाह) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन पुरुषोत्तम भगवान कृष्ण सात्यकि आदि यादवोंको साथ लेकर पाण्डवोंको देखने गये ॥१॥ सर्वेश्वर भगवान कृष्णको देखकर वीर पांण्डव इस प्रकार एक साथ उठ खड़े हुए, जैसे मुख्य प्राणके आ जानेसे सब अचेत इन्द्रियाँ सचेत हो जायँ ॥ २ ॥ उन्होंने श्रीअच्युतको गले लगाया। भगवानके अङ्गसङ्गसे पाण्डवोंके सब पाप नष्ट हो गये और उनका प्रणयमुसकानयुक्त मुखारविन्द देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥ भगवानने युधिष्ठिर और भीमसेनके चरण छूकर प्रणाम किया, अर्जुनको गले लगाया और नकुल-

परमासन आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता। नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनैरेत्याभ्यवन्दत॥५॥
तथैव सात्यकिः पार्थैः पूजितश्चाभिवन्दितः। निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पर्युपासत॥६॥
पृथां समागत्य कृताभिवादनस्तयातिहार्दार्द्रदृशाभिरम्भितः।
आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्नुषां पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः॥७॥
तमाह प्रेमवैक्लव्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना। स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम्॥८॥
तदैव कुशलं नोऽभूत् सनाथास्ते कृता वयम्। ज्ञातीन् नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया॥९॥
न तेऽस्ति स्वपरभ्रान्तिर्विश्वस्य सुहृदात्मनः। तथापि स्मरतां शश्वत्क्लेशान् हंसि हृदि स्थितः॥१०॥

युधिष्ठिर उवाच

किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर। योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम्॥११॥
इति वै वार्षिकान् मासान् राज्ञा सोऽभ्यर्थितः सुखम्। जनयन् नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः॥१२॥
एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम्। गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ॥१३॥
साकं कृष्णेन सन्नद्धो गहनं विपिनं वनम्। बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा॥१४॥
तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान् सूकरान् महिषान् रुरून्। शरभान् गवयान् खड्गान् हरिणाञ्छशशल्लकान्॥१५॥
तान् निन्युः किङ्करा राज्ञे मेध्यान् पर्वण्युपागते। तृट्परीतः परिश्रान्तो बीभत्सुर्यमुनामगात्॥१६॥
तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथौ। कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम्॥१७॥

सहदेवने श्रीकृष्णकी चरणवन्दना की॥४॥ इसके बाद नवविवाहिता सुन्दरी द्रौपदीने लज्जापूर्वक धीरे-धीरे वहाँ आकर श्रेष्ठ सिंहासनपर विराजमान भगवान् कृष्णचन्द्रको प्रणाम किया॥५॥ सात्यकि भी इसी प्रकार पाण्डवोंसे सम्मानित और अभिवादित होकर एक आसनपर बैठे तथा अन्य यादव भी यथायोग्य सत्कृत होकर बैठ गये॥६॥ तब भगवान् कृष्णने कुन्तीके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने स्नेहवश नेत्रोंमें जल भरकर भगवानको गले लगाया और उनसे अपने बन्धु-बान्धवोंका कुशल-क्षेम पूछा। भगवानने भी अपनी फूआसे उनका तथा उनकी पुत्र-वधुओंका कुशल पूछा॥७॥ प्रेमकी उमंगसे रुँधे गले और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर कुन्ती पहलेके बहुतसे क्लेशोंका स्मरण करती हुई भक्तोंका क्लेश मिटानेके लिये आनेवाले भगवान् कृष्णसे बोलीं—॥८॥ "हे कृष्ण! जब आपने हम अपने स्वजनोंका स्मरण करके मेरे भाई अक्रूरको हमारा कुशल जाननेके लिये भेजा था, तभी हम लोग सकुशल हो गये थे और आपने हमें सनाथ कर दिया था॥९॥ आप सारे जगत्के सुहृद् और आत्मा हैं। आपमें अपने-परायेका भेद नहीं है। तो भी जो लोग सदा आपका स्मरण करते हैं, उनके हृदयमें बैठकर आप उनका दुःख दूर कर दिया करते हैं॥१०॥ युधिष्ठिरने कहा—"हे अधीश्वर! मैं नहीं जानता कि हमने ऐसा कौनसा पुण्य किया है, जिससे योगेश्वरोंको भी कठिनतासे दीखनेवाले आपने हम कुटुम्बियोंको दर्शन दिया है"॥११॥ इस प्रकार भगवान् कृष्ण राजा युधिष्ठिरसे सम्मानित हो इन्द्रप्रस्थनिवासियोंके नेत्रोंको आनन्दित करते हुए वर्षाऋतुके कई महीनेतक वहाँ सुखसे रहे॥१२॥ एक बार विजयी तथा वीर अर्जुन गाण्डीव धनुष तथा अक्षयबाणपूर्ण दो तरकस ले और कवच धारणकर वानरके चिह्नकी ध्वजायुक्त रथपर भगवान् कृष्णके साथ सवार होकर बहुतसे सिंह और मृगादि भरे एक भयंकर वनमें शिकार खेलने गये॥१३॥१४॥ वहाँ बहुतेरे व्याघ्र, सूकर, भैंसे, कृष्णमृग, शरभ, वनगाय, गैंडे, हरिण, खरगोश और शल्लकादि जीवोंको उन्होंने मारा॥१५॥ उनमेंसे कई यज्ञयोग्य पशुओंको उनके सेवक पर्वकाल उपस्थित होनेपर युधिष्ठिरके पास ले गये। उस समय अर्जुन मृगयाके परिश्रमसे थक गये थे और उन्हें प्यास लग रही थी। इसलिये वे यमुनाजीके तटपर गये वहाँ कृष्ण और अर्जुन दोनों महारथियोंने हाथ-पाँव धोकर यमुनाका निर्मल जल पिया। उसी समय उन्हें यमुनाजीके तटपर

तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम् । पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम् १८
का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतोऽसि किं चिकीर्षसि । मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ।१६।

कालिन्द्युवाच

अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती । विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता ॥२०॥
नान्यं पतिं वृणे वीर तमृते श्रीनिकेतनम् । तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः॥२१॥
कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले । निर्मिते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ॥२२॥
तथावदद् गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम् । रथमारोप्य तद् विद्वान् धर्मराजमुपागमत् ॥२३॥
यदैव कृष्णः सन्दिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् । कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा ॥२४॥
भगवांस्तत्र निवसन् स्वानां प्रियचिकीर्षया । अग्नये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः ॥२५॥
सोऽग्निस्तुष्टो धनुरदाद्धयान्श्वेतान् रथं नृप । अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः॥२६॥
मयश्च मोचितो वह्नेः सभां सख्य उपाहरत् । यस्मिन् दुर्योधनस्यासीज्जलस्थलदृशिभ्रमः ॥२७॥
स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः । आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखैर्वृतः ॥२८॥
अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते । वितन्वन् परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम् ॥२९॥
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ । स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णे सक्तां न्यषेधताम् ।३०।
राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः । प्रसह्य हृतवान् कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् ३१

विचरती हुई एक सुन्दरी कन्या दिखायी पड़ी ॥१६॥१७॥ अपने सखा कृष्णचन्द्रके भेजनेपर वीरवर अर्जुनने सुन्दर ऊरु, सुन्दर दाँत और सुन्दर मुखवाली उस सुन्दरी रमणीके पास जाकर पूछा—॥ १८ ॥ "हे सुश्रोणि ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? कहाँसे आयी हो ? और क्या करना चाहती हो ? मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम अपने योग्य पतिकी खोजमें हो,सो तुम अपना सब वृत्तान्त कह सुनाओ। कालिन्दीने कहा—मैं भगवान् सूर्यदेवकी कन्या हूँ और श्रेष्ठतम वरदायक श्रीविष्णुभगवानको अपना पति बनानेकी इच्छासे यहाँ कठोर तपस्या कर ही हूँ ॥१६॥२०॥ हे वीर ! लक्ष्मीके आश्रयस्थान श्रीकृष्णभगवानके सिवा मैं और किसीको वरण नहीं कर सकती। वे अनाथोंके नाथ कृष्णभगवान मुझे पर प्रसन्न हों ॥२१॥ मेरा नाम कालिन्दी है। जब तक मुझे श्रीकृष्णका दर्शन नहीं मिलेगा तब तक मैं यमुनाजलमें अपने पिताके बनवाये भवनमें रहूँगी ॥ २२ ॥ तब अर्जुनने आकर वह सब वृत्तान्त कृष्णको सुनाया। वे तो सब बातें पहले ही से जानते थे। अतएव कालिन्दीके पास पहुँचे और उन्हें अपने रथपर चढ़ाकर युधिष्ठिरके पास ले गये ॥ २३ ॥ पाण्डवोंके प्रार्थना करनेपर भगवान कृष्णने विश्वकर्मासे पाण्डवोंके रहनेके लिये अति अद्भुत तथा विचित्र नगर बनवाया ॥२४॥ इस तरह अपने स्वजनोंका प्रिय करनेके लिये भगवान वहाँ बहुत दिनोंतक रहे। इसी बीच अग्निको खाण्डव वन दिलानेके लिये इन्द्रार्जुन-संग्रामके समय वे सारथी बने ॥ २५ ॥ उस खांडवदाहसे प्रसन्न अग्निने अर्जुनको गाण्डीव धनुष, चार सफेद घोड़े, एक रथ, दो अक्षय बाणवाले तरकस और अस्त्रधारियोंसे अभेद्य एक कवच दिया ॥ २६ ॥ खाण्डवदाहके समय अर्जुनने मयदानवको भस्म होनेसे बचाया था। इस वास्ते उसने अर्जुनसे मित्रता करके उनके लिये एक ऐसी सभा बनायी, जिससे दुर्योधनको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हो गया था ॥२७॥ तदनन्तर अर्जुनकी आज्ञा और अन्य सुहृदोंकी अनुमति लेकर भगवान कृष्ण सात्यकि आदिके साथ फिर द्वारकापुरी लौट आये ॥ २८ ॥ यहाँ आकर विवाहके योग्य और अतिशय पुनीत नक्षत्र उपस्थित होनेपर अपने स्वजनोंको परम आनन्द तथा मङ्गल प्रदान करते हुए उन्होंने कालिन्दीके साथ विवाह किया ॥ २६ ॥ अवन्तिदेशके राजा विन्द तथा अनुविन्द दुर्योधनके अधीन सामन्त राजे थे। उन्होंने स्वयंवरमें श्रीकृष्णचन्द्रको पतिरूपमें चाहनेवाली अपनी बहिनको कृष्णका वरण करनेसे रोक दिया था ॥३०॥ हे राजन् ! अपनी फूआ राजा-

नग्नजिन्नाम कौसल्य आसीद् राजातिधार्मिकः । तस्य सत्याभवत् कन्या देवी नाग्नजिती नृप ।। ३२ ।।
न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान् । तीक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्धर्षान् वीरगन्धासहान् खलान् ३३
तां श्रुत्वा वृषजिल्लभ्यां भगवान् सात्वतां पतिः । जगाम कौसल्यपुरं सैन्येन महता वृतः ।। ३४ ।।
स कोसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः । अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन् प्रतिनन्दितः ।। ३५ ।।

वरं विलोक्याभिमतं समागतं नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् ।
भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतैः ।। ३६ ।।
यत्पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति श्रीरब्जजः सगिरिशः सह लोकपालैः ।
लीलातनूःस्वकृतसेतुपरीप्सयेशःकाले दधत् स भगवान् मम केन तुष्येत् ।। ३७ ।।

अर्चितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते । आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः ।। ३८ ।।

श्रीशुक उवाच

तमाह भगवान् हृष्टः कृतासनपरिग्रहः । मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन ।। ३९ ।।

श्रीभगवानुवाच

नरेन्द्र याच्ञा कविभिर्विगर्हिता राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ।
तथापि याचे तव सौहृदेच्छया कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम् ।। ४० ।।

राजोवाच

कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः । गुणैकधाम्नो यस्याङ्गे श्रीर्वसत्यनपायिनी ।। ४१ ।।
किं त्वस्माभिः कृतः पूर्वं समयः सात्वतर्षभ । पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीप्सया ।। ४२ ।।

धिदेवीकी पुत्री मित्रविन्दाको भगवान कृष्णने सब राजाओंके देखते-देखते हर लिया ।। ३१ ।। हे राजन् ! इसी तरह कोशलदेशके नग्नजित् नामक एक अति धार्मिक राजा थे । उनके नाग्नजिती सत्या नामकी एक कान्तिमती कन्या थी ।। ३२ ।। तीखे सींगोंवाले, दुर्दम्य और वीरोंकी गन्धको भी सहनेमें असमर्थ सात बैलोंको न जीत सकनेके कारण कोई भी राजा उससे विवाह नहीं कर सका था ।। ३३ ।। यह समाचार सुनकर कि वह कन्या बैलोंको जीतनेवालेको ही मिल सकेगी, भगवान कृष्ण एक बहुत बड़ी सेना साथ लेकर कोशलपुरी गये ।। ३४ ।। कोशलनरेश महाराज नग्नजित्ने अति प्रसन्न होकर प्रत्युत्थान और आसनादि विविध सामग्रियों द्वारा सत्कार किया और भगवानने उनको अभिवादन किया ।। ३५ ।। राजकन्या सत्याने अपने अभिलषित वर श्रीलक्ष्मीपति कृष्णको देखकर मन ही मन कहा कि 'यदि मैंने व्रतनियमादि किया हो तो ये ही मेरे पति हों और भगवान मेरी शुद्ध कामनाको सत्य करें ।। ३६ ।। जिनके चरणकमलोंकी रज लक्ष्मीजी, महादेव तथा अन्य लोकपालों समेत श्रीब्रह्माजी अपने मस्तकपर धारण करते और अपनी बाँधी धर्ममर्यादाकी रक्षाके लिये जो धर्मह्रासके समय लीलावतार धारण करते हैं, वे भगवान मुझपर कैसे प्रसन्न हों ?' ।। ३७ ।। इधर भगवान कृष्णका सत्कार हो चुकनेपर राजा नग्नजित् बोले—"हे नारायण ! हे जगत्पते ! आप आत्मानन्दसे पूर्ण हैं । मैं तुच्छ मनुष्य भला आपकी क्या सेवा करूँगा ?" ।। ३८ ।। श्री शुकदेवजी कहते हैं-हे कुरुनन्दन ! आसनादि ग्रहण कर चुकनेके बाद मुसकाते हुए भगवान कृष्ण अति प्रसन्न होकर मेघके समान गम्भीरवाणी बोले ।। ३९ ।। श्रीभगवानने कहा—हे राजन् ! यद्यपि विद्वानोंने अपने धर्ममें स्थित क्षत्रियके लिये कुछ माँगनेका निषेध किया है, तो भी आपसे सम्बन्ध करनेकी इच्छावश मैं आपकी कन्या माँगता हूँ । किन्तु हमारे यहाँ कन्याका कोई मूल्य नहीं दिया जाता ।। ४० ।। राजा नग्नजित् बोले—हे नाथ ! जिनके अङ्गमें निरन्तर लक्ष्मीजीका निवास रहता है, उन एकमात्र गुणधाम आपसे बढ़कर मेरी कन्याके लिए और कौन अच्छा वर हो सकता

सप्तैते गोवृषा वीर दुर्दान्ता दुरवग्रहाः । एतैर्भग्नाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः ॥४३॥
यदीमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन । वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः पते ॥४४॥
एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं प्रभुः । आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णाल्लीलयैव तान्॥४५
बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः । व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान् यथा॥४६॥
ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः । तां प्रत्यगृह्णाद् भगवान् विधिवत् सदृशीं प्रभुः॥४७
राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् । लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः ॥४८॥
शङ्खभेर्यानका नेदुर्गीतवाद्यद्विजाशिषः । नरा नार्यः प्रमुदिताः सुवासःस्रगलंकृताः॥४९॥
दशधेनुसहस्राणि पारिबर्हमदाद् विभुः । युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम् ॥५०॥
नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान् । रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान् नरान् ५१
दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृतौ । स्नेहप्रक्लिन्नहृदयो यापयामास कोसलः ॥५२॥
श्रुत्वैतद् रुरुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम् । भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा ॥५३॥
तानस्यतः शरव्रातान् बन्धुप्रियकृदर्जुनः । गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव॥५४॥
पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया । रेमे यदूनामृषभो भगवान् देवकीसुतः ॥५५॥
श्रुतकीर्तेः सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसुः ।कैकेयीं भ्रातृभिर्दत्तां कृष्णः सन्तर्दनादिभिः॥५६॥

है ? ॥ ४१ ॥ किन्तु हे सात्वतर्षभ ! हमने कन्याका वर चुननेकी इच्छासे लोगोंके बलकी परीक्षार्थ पहलेसे ही एक प्रण कर रखा है ॥ ४२ ॥ हे वीर ! हमारे पास ये अत्यन्त दुर्दमनीय और बिना सधाये हुए सात बैल हैं । इन्होंने बहुतेरे राजकुमारोंका अङ्ग-भङ्ग करके उन्हें निरुत्साहित कर दिया है ॥ ४३ ॥ हे यदुनन्दन ! यदि इन्हें आप अपने वशमें कर लीजिए तो हे लक्ष्मीपते ! आप मेरी कन्याके उपयुक्त वर हो सकते हैं ॥ ४४ ॥ राजाकी प्रतिज्ञा सुन भगवान कृष्णने कमर कसकर अपने सात रूप धारण किये और खेल-खेलमें उन सातों बैलोंको नाथ दिया ॥ ४५ ॥ इससे उनका दर्प चूर्ण हो गया और वे तेजहीन हो गये । तब भगवान कृष्णने उन्हें रस्सीसे बाँधकर जैसे बालक लकड़ीके बैलोंको खींचे वैसे ही घसीटा ॥ ४६ ॥ इससे राजा नग्नजित्ने विस्मित और प्रसन्न होकर अपनी कन्या श्रीकृष्णचन्द्रको दे दी और सर्वसमर्थ भगवानने भी उस अपने योग्य भार्याको विधिवत् स्वीकार कर लिया ॥ ४७ ॥ अपनी कन्याके अनुरूप पति श्रीकृष्णचन्द्रको प्राप्त देखकर राजपत्नियोंको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ । उस समय सर्वत्र बड़ा उत्सव मनाया गया ॥४८॥ उत्सवके उपलक्ष्यमें शंख, भेरी और ढोल आदि बाजे बजने लगे । सब ओर गाना-बजाना आरम्भ हुआ । ब्राह्मण आशीर्वाद देने लगे और नगरके नर-नारी अति आनन्दित होकर सुन्दर वस्त्र तथा माला आदिसे अलंकृत हुए ॥ ४९ ॥ राजा नग्नजित्ने दस हजार गौएँ, सुन्दर वस्त्र तथा गलेमें हमेल पहने तीन हजार युवती स्त्रियाँ, नौ हजार हाथी, हाथियोंसे सौगुने (नौ लाख) रथ, रथोंसे सौगुने अर्थात् नौ करोड़ घोड़े और घोड़ोंसे सौगुने अर्थात् नौ अरब सेवक दहेजमें दिये ॥ ५० ॥ ५१ ॥ कोशलपति राजा नग्नजित्ने कन्या और दामादको रथपर चढ़ाकर बहुत बड़ी सेनाके साथ स्नेहार्द्रहृदयसे विदा किया ॥ ५२ ॥ यह समाचार सुनकर बहुतसे राजाओंने जिनका पराक्रम पहले यादवों और बैलोंने नष्ट कर दिया था, भगवानकी विजयको सहन न कर सकनेके कारण कन्याको ले जाते हुए उन्हें मार्गमें रोक लिया ॥ ५३ ॥ तब बाणोंके समूह बरसाते हुए उन राजाओंको अपने बन्धुका प्रिय करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुनने, सिंह जैसे छोटे-मोटे पशुओंको भगा दे वैसे ही मार-पीटकर तितर-बितर कर दिया ॥ ५४ ॥ यदुश्रेष्ठ भगवान देवकीनन्दन दहेज और कन्याके साथ द्वारकामें आये और वहाँ रहकर आनन्द करने लगे ॥ ५५ ॥ तदनन्तर भगवान कृष्णने अपनी फूआ श्रुतकीर्तिकी पुत्री केकयदेशीया भद्रासे विवाह किया, जिसे उसके भाई सन्तर्दनादिने स्वयं ही भगवानको अर्पण

सुतां च मद्राधिपतेर्लक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् । स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ॥५७॥
अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः । भौमं हत्वा तन्निरोधादाहृताश्चारुदर्शनाः ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धेऽष्टमहिष्युद्वाहो नामाष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

राजोवाच

यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः । निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शार्ङ्गधन्वनः ॥१॥

श्रीशुक उवाच

इन्द्रेण हृतछत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना । हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम् ।
सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ॥ २ ॥
गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलाग्न्यनिलदुर्गमम् । मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम् ॥३॥
गदया निर्बिभेदाद्रीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः । चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना ॥४॥
शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् । प्राकारं गदया गुर्व्या निर्बिभेद गदाधरः ॥५॥
पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम् । मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात् ॥६॥
त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरीक्षणो युगान्तसूर्यानलरोचिरुल्बणः ।
ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखैरभ्यद्रवत्तार्क्ष्यसुतं यथोरगः ॥७॥

कर दिया था ॥ ५६ ॥ इसके बाद गरुड़ जैसे अमृत छीन लाये थे, उसी तरह श्रीकृष्णचन्द्र मद्रराजकी कन्या तथा सर्वसुलक्षणसम्पन्ना लक्ष्मणाको अकेले ही उसके स्वयंवरसे हर लाये ॥ ५७ ॥ इसी प्रकार भगवान कृष्णकी और भी हजारों स्त्रियाँ थीं। उन सुन्दरियोंको वे भौमासुरको मारकर उसके बन्दीगृहसे छुड़ाकर ले आये थे ॥ ५८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे भाषाटीकायामष्टपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

(श्रीकृष्णभगवानका भौमासुरको मारकर सोलह हजार एक सौ राजकन्याओंसे विवाह करना) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने पूछा—हे भगवन्! भगवान कृष्णचन्द्रने भौमासुरको जिसने कि उन स्त्रियोंको अपने वन्दीगृहमें डाल रक्खा था, क्यों और कैसे मारा ? भगवान कृष्णका यह विचित्र चरित्र आप मुझे सुनाइये ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! भौमासुरके द्वारा वरुणका छत्र, माता अदितिके कुण्डल और मेरुपर्वतपर देवताओंका मणिपर्वतनामक स्थान छीन लिये जानेपर इन्द्रने द्वारकामें आकर उसकी सब चेष्टाएँ भगवान कृष्णको बता दीं। तब भगवान अपनी भार्या सत्यभामाके साथ गरुड़पर सवार होकर प्राग्ज्योतिषपुरको गये ॥ २ ॥ वह नगर गिरिदुर्ग, शस्त्रदुर्ग, जल, अग्नि और वायुके आवरणोंसे अत्यन्त दुर्गम था और वह सब ओरसे मुरदैत्यकी दस हजार अति घोर एवं सुदृढ़ सेनासे घिरा हुआ था ॥ ३ ॥ भगवान गदाधरने वहाँ पहुँचते ही पर्वतोंको अपनी गदासे, शस्त्रदुर्गोंको बाणोंसे, अग्नि-जल और वायुके आवरणोंको अपने सुदर्शनचक्रसे, मुर दैत्यके पाशोंको खड्गसे, यन्त्रों और वीरोंके हृदयोंको शंखनादसे तथा नगरके प्राकार अर्थात् परकोटेको अपनी भारी गदासे तोड़ डाला ॥ ४ ॥ ५ ॥ कृष्णभगवानके पाञ्चजन्यनामक शंखकी प्रलयकालीन वज्रपातके सदृश महाभयानक ध्वनि सुनकर जलके भीतर सोया हुआ पाँच मस्तकवाला मुरनामक दैत्य उससे बाहर निकला ॥ ६ ॥ वह दैत्य प्रलयकालके सूर्य और अग्निकी भाँति प्रचण्ड तेजोमय और कठिनतासे देखे जाने योग्य था। वह त्रिशूल उठाये

आविध्य शूलं तरसा गरुत्मते निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत् स पञ्चभिः ।
स रोदसी सर्वदिशोऽन्तरं महानापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥८॥
तदापतद् वै त्रिशिखं गरुत्मते हरिः शराभ्यामभिनत्त्रिधौजसा ।
मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत ॥९॥
तामापतन्तीं गदया गदां मृधे गदाग्रजो निर्बिभिदे सहस्रधा ।
उद्यम्य बाहूनभिधावतोऽजितः शिरांसि चक्रेण जहार लीलया ॥१०॥
व्यसुः पपाताम्भसि कृत्तशीर्षो निकृत्तशृङ्गोऽद्रिरिवेन्द्रतेजसा ।
तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः ॥११॥
ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुर्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ।
पीठं पुरस्कृत्य चमूपतिं मृधे भौमप्रयुक्ता निरगन् धृतायुधाः ॥१२॥
प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः शक्त्यृष्टिशूलान्यजिते रुषोल्बणाः ।
तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणैरमोघवीर्यस्तिलशश्चकर्त ह ॥१३॥
तान् पीठमुख्याननयद् यमक्षयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्मणः ।
स्वानीकपानच्युतचक्रसायकैस्तथा निरस्तान् नरको धरासुतः ॥१४॥
निरीक्ष्य दुर्मर्षण आस्रवन्मदैर्गजैः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत् ।
दृष्ट्वा सभार्यं गरुडोपरि स्थितं सूर्योपरिष्टात् सतडिद्घनं यथा ।
कृष्णं स तस्मै व्यसृजच्छतघ्नीं योधाश्च सर्वे युगपत् स्म विव्यधुः ॥१५॥

मानों अपने पाँच मुखोंसे सारी त्रिलोकीको लील जायगा, इस तरह बड़े वेगसे सर्पके समान गरुड़जीकी ओर झपटा ॥ ७ ॥ उसने वह त्रिशूल बड़ी फुर्तीसे गरुड़जीपर फेंका और अपने पाँचों मुखोंसे घोर सिंहनाद किया । वह महान् शब्द अन्तरिक्ष, समस्त दिशाओं और आकाशमण्डलमें फैलकर सारे ब्रह्माण्डमें गूँज उठा ॥ ८ ॥ त्रिशूलको गरुड़की ओर आता देखकर श्रीहरिने अपना शस्त्रकौशल दिखाते हुए दो बाण छोड़कर उसके तीन टुकड़े कर डाले और उस दैत्यके फैले हुए मुखमें भी अनेक बाण मारे । तब मुरने अतिशय क्रुद्ध होकर भगवानको एक गदा मारी ॥ ९ ॥ उसे अपनी ओर आती देख गदके बड़े भाई श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी गदा द्वारा उसकी गदाके सैकड़ों टुकड़े कर दिये । तब वह दोनों बाँहें फैलाकर भगवानकी ओर दौड़ा और श्रीहरिने अपने सुदर्शनचक्र द्वारा लीलाहीसे उसके पाँचों सिर काट डाले ॥ १० ॥ सिर कट जानेपर प्राणहीन होकर वह, इन्द्रके तेजसे जिसके शिखर कट गये हों ऐसे पर्वतके समान, जलमें जा गिरा । तब उसके सात पुत्र ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और अरुण अपने पिताके वधसे व्याकुल हो अतिशय क्रोधपूर्वक उसका बदला लेनेके लिये उद्यत भौमासुरकी आज्ञासे पीठनामक असुरको सेनापति बनाकर अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो रणांगणमें आये ॥ ११ ॥ १२ ॥ वहाँ आकर वे श्रीकृष्णपर बाण, खड्ग, गदा, शक्ति, ऋष्टि और त्रिशूल आदि प्रचण्ड शस्त्र बरसाने लगे । अमोघवीर्य भगवान कृष्णने उसके शस्त्रोंको अपने बाणोंसे तिल-तिल करके काट डाला ॥१३॥ जिनके सिर, ऊरु, भुजा, चरण और कवच कट गये थे, उन पीठ आदि शूरवीर दैत्योंको उन्होंने यमपुर भेज दिया । श्रीकृष्णके चक्र तथा बाणोंसे अपने सेनापतियोंको मृत देखकर पृथिवीका पुत्र नरकासुर अर्थात् भौमासुर अतिशय क्रुद्ध होकर समुद्रसे उत्पन्न मदस्रावी हाथियोंकी सेनाके साथ नगरसे बाहर निकला । उस समय सूर्यके ऊपर जैसे बिजलीयुक्त श्याम मेघ सुशोभित हो, वैसे ही भगवान कृष्णको सत्यभामाके साथ गरुड़पर विराजमान देखा तो उनपर एक शतघ्नी चलायी और उसके सब सैनिकोंने भी एक साथ भगवानपर छापा मारा

तद् भौमसैन्यं भगवान् गदाग्रजो विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः ।
निकृत्तबाहूरुशिरोध्रविग्रहं चकार तत्रैव हताश्वकुञ्जरम् ॥१६॥

यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह । हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ।१७।

उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् । गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखैर्गजाः ॥१८॥

पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत । दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनार्दितं स्वकम् ॥१६॥

तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः । नाकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः ॥२०।

शूलं भौमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः । तद्विसर्गात् पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ।
अपाहरद् गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना ॥ २१ ॥

सकुण्डलं चारुकिरीटभूषणं बभौ पृथिव्यां पतितं समुज्ज्वलत् ।
हाहेति साध्वित्यृषयः सुरेश्वरा माल्यैर्मुकुन्दं विकिरन्त ईडिरे ॥२२॥

ततश्च भूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।
सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत् प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥२३॥

अस्तौषीदथ विश्वेशं देवी देववरार्चितम् । प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया ।२४।

भूमिरुवाच

नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर । भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन् नमोऽस्तु ते ।२५।

नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने । नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२६॥

॥ १४ ॥ १५ ॥ तब भगवान कृष्णने भी तत्काल अपने विचित्र पत्रवाले तीक्ष्ण बाणोंसे भौमासुरकी सेनाके सैनिकोंकी भुजा, जंघा, कण्ठ और देह काट डाली और उनके घोड़े और हाथी नष्ट कर दिये ॥ १६ ॥ हे कुरुनन्दन ! उन सैनिकोंने भी जो-जो अस्त्र-शस्त्र चलाये थे, उनमेंसे प्रत्येक शस्त्रको भगवानने बीचहीमें तीन-तीन बाणोंसे काट दिया ॥ १७ ॥ भगवान अपने पंखोंसे ही हाथियोंको मार डालनेवाले गरुड़जीके ऊपर सवार थे। गरुड़जीके चोंच, पंख और पंजोंकी मारसे पीड़ित हो वे हाथी लौटकर नगरमें घुस गये और नरकासुर अकेला ही भूमिमें खड़ा लड़ता रहा। उसने अपनी सेनाको गरुड़जीकी मारसे पीडित होकर भागते देख उनपर एक ऐसी शक्ति छोड़ी, जिसने इन्द्रके वज्रको भी विफल कर दिया था। किन्तु पक्षिराज गरुड़ पुष्पमालासे आहत हाथीकी भाँति तनिक भी नहीं हिले-डुले ॥ १८ ॥ १६ ॥ इस तरह अपना उद्योग विफल देख-कर भौमासुरने भगवानपर प्रहार करनेके लिये त्रिशूल उठाया। उसे छोड़नेके पहले ही कृष्णने हाथीपर बैठे ही बैठे छुरेके समान तीक्ष्ण धारवाले अपने सुदर्शनचक्रसे नरकासुरका सिर काट दिया ॥ २० ॥ २१ ॥ नरकासुरके चमकते कुण्डल और सुन्दर किरीटसे सुशोभित तथा जगमगाते सिरको पृथ्वीपर गिरा देखकर उसके सब सम्बन्धी हाहाकार करने लगे। ऋषिगण 'साधु-साधु' कहने और देवता भगवानपर फूल बरसाते हुए स्तुति करने लगे ॥ २२ ॥ इसी समय पृथिवीने भगवान कृष्णके पास जाकर उन्हें तपाये हुए सुवर्णके बने रत्नजटित कुण्डल, वैजयन्ती माला समेत वनमाला, वरुणका छत्र और महामणि ये सब वस्तुएँ अर्पण कीं। तदनन्तर हे राजन् ! पृथिवीदेवी अत्यन्त भक्तियुक्त हृदयसे हाथ जोड़ तथा प्रणामकर देववरवन्दित उन विश्वेश्वरकी इस प्रकार स्तुति करने लगीं—॥ २३-२४ ॥ पृथिवीने कहा—हे शङ्खचक्रगदाधर और देवदेवेश्वर ! आपको नमस्कार है। अपने भक्तोंकी इच्छाके अनुसार आप विविध रूप धारण करते हैं। हे परमात्मन् ! मेरा आपको प्रणाम है ॥ २५ ॥ जिनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ था, जो कमलकुसुमकी माला धारण किये हैं, जिनके नेत्र कमलके समान हैं तथा जिनके चरण कमलके समान सुन्दर हैं, उन

नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे । पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥२७॥
अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये । परावरात्मन् भूतात्मन् परमात्मन् नमोऽस्तु ते२८

त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय बिभर्ष्यसंवृतः ।
स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः ॥२९॥
अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि ।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥३०॥
यस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भीतः प्रपन्नार्तिपरोपसादितः ।
तत् पालयैनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

इति भूम्यार्थिता वाग्भिर्भगवान् भक्तिनम्रया । दत्त्वाभयं भौमगृहं प्राविशत् सकलर्द्धिमत् ॥३२॥
यत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् । भौमाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः॥३३॥
तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवीरं विमोहिताः । मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं दैवोपसादितम् ॥३४॥
भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् । इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥३५॥
ताः प्राहिणोद् द्वारवतीं सुमृष्टविरजोऽम्बराः । नरयानैर्महाकोशान् रथाश्वान् द्रविणं महत्॥३६॥
ऐरावतकुलेभांश्च चतुर्दन्तांस्तरविनः । पाण्डुरांश्च चतुःषष्टिं प्रेषयामास केशवः ॥३७॥
गत्वा सुरेन्द्रभवनं दत्त्वादित्यै च कुण्डले । पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः ॥३८॥

उन आप देवदेवको बारम्बार प्रणाम है ॥ २६ ॥ आप षडैश्वर्यपूर्ण, समस्त भूतोंके आश्रय और व्यापक हैं। आप सम्पूर्ण कार्यवर्गसे पूर्वसिद्ध हैं। आप जगत्के आदि कारणके भी कारण तथा पूर्ण बोधस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥ २७ ॥ जो स्वयं जन्मरहित हैं तथा इस संसारकी उत्पत्ति करते हैं, उन अनन्तशक्ति ब्रह्मको नमस्कार है। हे कार्य-कारणरूप तथा सर्वभूतमय परमात्मन्! आपको बारम्बार नमस्कार है ॥ २८ ॥ हे प्रभो! जब आप जगत्को रचना चाहते हैं, तब उत्कट रजोगुण स्वीकार करते तथा संसारके लिये तमोगुण और पालनके लिये सत्त्वगुणको स्वीकार करते हैं। फिर भी इन सामयिक गुणोंमें आप लिप्त नहीं होते। हे जगत्पते! आप काल, पुरुष और प्रधान होकर भी वास्तवमें उनसे परे हैं ॥ २९ ॥ हे भगवन्! मैं पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, भूततन्मात्रा, इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता, मन, इन्द्रियाँ, अहङ्कार और महत्तत्त्व—इस सब चराचर जगत्का आप अद्वितीय ब्रह्ममें ही भ्रम हो रहा है ॥ ३० ॥ हे शरणागतवत्सल! यह भौमासुरका पुत्र अर्थात् भगदत्त अत्यन्त भयभीत है और आपकी चरण-शरणमें लाया गया है। हे प्रभो! आप इसकी रक्षा करें और इसके सिरपर अपना सर्वकल्मषहारी करकमल रखें ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—भक्तिविनम्र पृथिवीके प्रार्थना करनेपर भगवान भगदत्तको अभयदान देकर भौमासुरके सर्वसम्पत्तिपरिपूर्ण भवनमें गये ॥ ३२ ॥ वहाँ श्रीकृष्णने भौमासुरके द्वारा राजाओंसे बलपूर्वक हरकर लायी हुई सोलह सहस्र राजकन्याएँ देखीं ॥ ३३ ॥ नरवीर भगवान कृष्णको अन्तःपुरमें आये देखकर सब रमणियाँ मोहित हो गयीं और उन्होंने दैववश प्राप्त श्रीकृष्णको मनही-मन अपना प्रिय पति चुन लिया ॥ ३४ ॥ 'विधाता मेरी इस इच्छाको पूर्ण करें और ये नरश्रेष्ठ ही मेरे पति हों' इसी भावसे उन सब कन्याओंने अलग-अलग अपना चित्त श्रीकृष्णचन्द्रमें लगा दिया ॥ ३५ ॥ तब भगवानने उन सुन्दर और निर्मलवस्त्रधारिणी राजकुमारियोंको पालकियोंपर चढ़ाकर द्वारका भेजवा दिया और उनके साथ बहुत-सा कोष, रथ, घोड़े, अटूट सम्पत्ति और ऐरावतके कुलमें उत्पन्न अत्यन्त वेगवान् चार दाँतवाले शुक्लवर्णके चौंसठ हाथी भी द्वारकापुरीको भेजे ॥ ३६-३७ ॥ तब भगवानने

चोदितो भार्ययोत्पाट्य पारिजातं गरुत्मति । आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान् निर्जित्योपानयत्पुरम्
स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः । अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गात्तद्गन्धासवलम्पटाः ॥४०॥

ययाच आनम्य किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥४१॥

अथो मुहूर्त एकस्मिन् नानागारेषु ताः स्त्रियः ।
यथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्ययः ॥ ४२ ॥

गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृन्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥४३॥

इत्थं रमापतिमवाप्यपतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुरागहासावलोकनवसङ्गमजल्पलज्जाः ॥४४॥

प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पारिजातहरणनरकवधो नामैकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

———

इन्द्रपुरीमें जाकर अदितिको उनके कुण्डल दिये और इन्द्राणी सहित इन्द्रने उनकी तथा सत्यभामाजीकी पूजा की ॥ ३८ ॥ वहाँसे लौटते समय उन्होंने सत्यभामाके कहनेपर पारिजातको उखाड़कर गरुड़पर रख लिया और इन्द्रके साथ समस्त देवताओंको हराकर उसे द्वारकापुरीमें ले आये ॥ ३६ ॥ वहाँ लाकर उसे सत्यभामाके महलके बगीचेमें लगा दिया। इससे उस बगीचेकी शोभा बहुत बढ़ गयी। पारिजातके साथ-साथ उसकी गन्ध और मकरन्दके लोभी भौंरे भी स्वर्गसे चले आये थे ॥४०॥ हे राजन्! देखो, जिस इन्द्रने अपना काम बनानेके लिये सिर झुकाकर अपने मुकुटके अग्रभागसे श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श करके प्रार्थना की थी, उसीने काम बन जानेपर उनसे विरोध किया। अहो! इन देवताओंकी प्रकृति भी कितनी तामसी होती है, इनके बड़प्पनको धिक्कार है ॥ ४१ ॥ तब भगवान कृष्णने भिन्न-भिन्न भवनोंमें भिन्न-भिन्न रूप धारणकर उन सब राजकन्याओंके साथ एकही मुहूर्तमें विधिवत् विवाह किया ॥ ४२ ॥ तदनन्तर जिनके समान और जिनसे अधिक भोग-सामग्री और कहीं भी नहीं थी, उन सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके महलोंमें, जिनके कर्म अचिन्त्य थे, वे निजानन्दपूर्ण श्रीअच्युत अन्य साधारण गृहस्थोंके समान व्यवहार करते हुए लक्ष्मीजीकी अंशस्वरूपा अपनी भार्याओंके साथ रमण करने लगे ॥ ४३ ॥ जिनकी प्राप्तिका मार्ग ब्रह्मादिक देवता भी नहीं जानते, उन श्रीलक्ष्मीपतिको पतिरूपमें पाकर वे सब सुन्दरियाँ अनुरागमय हास्य, विलासपूर्ण चितवन और नवसङ्गमकी बातचीतसे लजाती हुई निरन्तर बढ़नेवाली प्रसन्नतासे भगवानकी सेवा करने लगीं ॥ ४४ ॥ उनमेंसे प्रत्येक सुन्दरीकी सेवामें सैकड़ों दासियाँ रहती थीं, किन्तु भगवानके पधारनेपर उन्हें आगे जाकर आदरपूर्वक लाने, आसन देने, अर्घ्यादिसे पूजा करने, चरण धोने, पान देने, चरण दबाकर श्रम दूर करने, पङ्खा झलने, चन्दन-मालादिसे शृङ्गार करने, बाल सँवारने, शयन तथा स्नान कराने और विविध उपहार देने आदि उपायोंसे वे स्वयं ही उनकी सेवा किया करती थीं ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

कर्हिचित् सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् । पतिं पर्यचरन् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः ॥१॥
यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्त्यवतीश्वरः । स हि जातः स्वसेतूनां गोपीयाथ यदुष्वजः ॥२॥
तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिना । विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥३॥
मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादितैः । जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोभिश्चन्द्रमसोऽमलैः ॥४॥
पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना । धूपैरगुरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतैः ॥५॥
पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे । उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ॥६॥
वालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् । तेन वीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम् ॥७॥

सोपाच्युतं क्वणयती मणिनूपुराभ्यां रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्रहस्ता ।
वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहारभासा नितम्बधृतया च परार्ध्यकाञ्च्या ॥८॥
तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।
प्रीतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठवक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिराबभाषे ॥९॥

श्रीभगवानुवाच

राजपुत्रीप्सिता भूपैर्लोकपालविभूतिभिः । महानुभावैः श्रीमद्भी रूपौदार्यबलोर्जितैः ॥१०॥
तान् प्राप्तानर्थिनो हित्वा चैद्यादीन् स्मरदुर्मदान् । दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्नो वव्रृषेऽसमान्

(कृष्ण-रुक्मिणी संवाद) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन अपनी सखियोंके साथ श्रीरुक्मिणीजी शय्यापर सुखसे बैठे हुए अपने पति जगद्गुरु भगवान कृष्णको पंखा झलती हुई उनकी सेवा कर रही थीं ॥ १ ॥ जो लीलासे ही इस विश्वकी रचना, पालन और संहार करते हैं वे स्वयं अजन्मा भगवान ही अपनी निश्चित की हुई धर्ममर्य्यादाकी रक्षा करनेके लिये यदुकुलमें अवतीर्ण हुए थे ॥ २ ॥ हे राजन् ! जो मोतियोंकी झालरोंवाले चँदोवेसे, मणिमय दीपकोंसे, मल्लिकाकी मालाओंसे, भ्रमरों द्वारा गुंजायमान पुष्पोंसे, झरोखोंके छिद्रोंमें होकर आती हुई निर्मल चन्द्रकिरणोंसे, पारिजातके उपवनकी मीठी सुगन्धिसे, सुवासित वायुके झोकोंसे और झरोखोंमें होकर निकलते हुए अगुरुके धूएँसे सुशोभित था। उस भवनमें दुग्धफेनके सदृश उज्ज्वल और उत्तम बिछौनोंसे युक्त सुन्दर पलंगपर सानन्द बैठे हुए अपने पति जगत्पति यदुनाथकी रुक्मिणीजी स्वयं सेवा कर रही थीं ॥ ३–६ ॥ श्रीरुक्मिणीजीने एक सखीके हाथसे रत्नदण्डयुक्त चँवर ले लिया और उसे स्वयं डुलाती हुई पतिदेवकी सेवा करने लगीं ॥ ७ ॥ उस समय रुक्मिणीजीने हाथोंमें रत्न-जटित अंगूठियाँ, कंकण और पंखा धारण कर रखे थे। वे श्रीकृष्णके पास अपने मणिजटित नूपुरोंकी सुमधुर ध्वनि करती हुई अञ्चलमें छिपे स्तनोंके कुंकुमसे अरुणवर्ण हारोंकी कान्ति तथा नितम्बोंपर पड़ी हुई महामूल्यमयी करधनीसे अत्यन्त सुशोभित हो रही थीं ॥ ८ ॥ उनका मुखचन्द्र अलकों, कुण्डलों तथा पदकविभूषित कण्ठसे शोभायमान एवं मधुर मुसकानमय अमृतसे सुशोभित था। उन्होंने लीलाहीसे मानवरूपधारी श्रीकृष्णके अनुरूप रूप धारण किया था। उन कभी भी पृथक् न होनेवाली मूर्तिमयी लक्ष्मीको देखकर श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक मुसकाकर कहा ॥ ९ ॥ भगवान कहने लगे—हे राजकुमारी ! रूप, उदारता और बल आदि गुणोंमें बढ़े हुए कितने ही श्रीमान् और लोकपाल सरीखे ऐश्वर्यशाली महानुभाव राजे तुमसे विवाह करना चाहते थे ॥ १० ॥ तुम्हारे पिता और भाईकी भी उन्हींके साथ तुम्हारा विवाह करनेकी इच्छा थी, फिर भी तुमने विवाहके लिये आये हुए कामोन्मत्त शिशुपालादिको छोड़कर जो किसी तरह तुम्हारे सदृश नहीं हैं,

राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान् । बलवद्भिः कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥१२॥
अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम् । आस्थिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः
निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः । तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे १४
ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः । तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् १५
वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयादीर्घसमीक्षया । वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा १६
अथात्मनोऽनुरूपं वै भजस्व क्षत्रियर्षभम् । येन त्वमाशिषः सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे १७
चैद्यशाल्वजरासन्धदन्तवक्त्रादयो नृपाः । मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः १८
तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये । आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहरतासताम् ॥१९॥
उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः । आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः

श्रीशुक उवाच

एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव । मन्यमानामविश्लेषात् तद्दर्पघ्न उपारमत् ॥२१॥

इति त्रिलोकेशपतेस्तदाऽऽत्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।
आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ह ॥२२॥
पदा सुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखन्त्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।
आसिञ्चती कुङ्कुमरूषितौ स्तनौ तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक् ॥२३॥

उन हम-जैसोंको क्यों पति चुना ? ॥ ११ ॥ हे सुभ्रु ! हम तो राजाओंसे डरकर इस समुद्रकी शरणमें आ बसे हैं, बहुतेरे बलवानोंसे हमने वैर बाँध रक्खा है और हम प्रायः राजसिंहासनके अधिकारसे भी हीन हैं ॥ १२ ॥ हे प्रेयसि ! जिनका कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है, जो सदा अलौकिक मार्ग पर चलते हैं अर्थात् जो स्त्रियोंके वशवर्ती नहीं होते, उन पुरुषोंका अनुसरण करनेवाली स्त्रियोंको प्रायः कष्ट ही उठाना पड़ता है ॥ १३ ॥ हे सुमध्यमे ! हम तो सदासे अकिञ्चन रहते आये हैं और अकिञ्चन लोगोंसे ही प्रेम करते हैं । अतएव सम्पत्तिशाली पुरुष प्रायः हमें नहीं भजते ॥ १४ ॥ जिनका धन, जाति, ऐश्वर्य, रूप और आयु समान होती है, विवाह या मित्रताका सम्बन्ध प्रायः उन्हींमें होता है । उत्तम या अधमोंमें कभी होना उचित नहीं है ॥ १५ ॥ हे विदर्भनन्दिनी ! तुमने अपनी अदूरदर्शितासे इन सब बातोंको बिना विचारे ही नारद आदि भिक्षुकों द्वारा प्रशंसित हम जैसे गुणहीनको वर चुन लिया ॥ १६ ॥ अतएव तुम अब भी अपने अनुरूप किसी क्षत्रियश्रेष्ठको वर लो तो अच्छा हो । इससे तुम्हारी सब अलौकिक कामनाएँ पूरी हो जायँगी ॥ १७ ॥ हे सुन्दर जंघावाली ! शिशुपाल, शाल्व, जरासन्ध और दन्तवक्त्र आदि राजे और स्वयं तुम्हारा बड़ा भाई रुक्मी—ये सब मुझसे जलते हैं ॥ १८ ॥ हे भद्रे ! उन वीर्यमदसे अन्धे तथा मतवाले राजाओंका मानमर्दन करनेके लिये ही मैं तुम्हें हर लाया था । क्योंकि मैं दुष्टोंका दर्प दलन करनेवाला हूँ ॥ १९ ॥ हमलोग आत्मलाभसे ही सन्तुष्ट रहते हैं । हमें स्त्री-पुत्रादिकी इच्छा नहीं है । हम देह-गेहसे उदासीन और दीपकादिकी ज्योतिकी तरह निष्क्रिय और केवल साक्षीमात्र हैं ॥ २० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवान रुक्मिणीजीसे कभी अलग नहीं होते थे । इसलिए रुक्मिणीजीको यह समझकर कुछ गर्व हो गया था कि मैं ही उन्हें सबसे अधिक प्रिय हूँ । अतएव उनका गर्व दूर करनेके लिये भगवान उनसे ऐसा कहकर मौन हो गये ॥ २१ ॥ तीनों लोकोंके स्वामी और अपने प्रियतम पतिके मुखसे जैसा पहले कभी नहीं सुना था, ऐसा अप्रिय भाषण सुनकर देवी रुक्मिणीजीको बड़ा भय हुआ । उनका हृदय धड़कने लगा और वे रोती हुई अपार चिन्तामें डूब गयीं ॥ २२ ॥ वे अपने नखोंकी आभायुक्त अरुण छविवाले सुन्दर चरणसे पृथिवीको खोदती तथा अञ्जनरञ्जित आँसुओंसे कुंकुमविमण्डित

तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धेर्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात ।
देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन् रम्भेव वायुविहता प्रविकीर्य केशान् ॥२४॥

तद् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम् । हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत २५
पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः । केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना २६
प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचा । आश्लिष्य बाहुना राजन्ननन्यविषयां सतीम् २७
सान्त्वयामास सान्त्वज्ञः कृपया कृपणां प्रभुः । हास्यप्रौढिभ्रमच्चित्तामतदर्हां सतां गतिः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

मा मा वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम् । त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याऽऽचरितमङ्गने २९
मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम् । कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ॥३०॥
अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् । यन्नर्मैरीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

सैवं भगवता राजन् वैदर्भी परिसान्त्विता । ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ ३२
बभाष ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् । सव्रीडहासरुचिरस्निग्धापाङ्गेन भारत ॥३३॥

रुक्मिण्युवाच

नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह यद् वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ॥३४॥

कुचोंको भिगाती हुई अत्यन्त दुःखसे नीचा मस्तक किये मौन खड़ी रह गयीं ॥२३॥ अत्यन्त दुःख, भय तथा शोकसे उनकी बुद्धि नष्ट हो गयी । उनके हाथसे, जिससे कि कङ्कण खिसक गया था, पंखा गिर गया और बुद्धिके व्याकुल हो जानेसे उनका शरीर भी सहसा मूर्च्छित हो वायुसे उत्पाटित कदली-स्तम्भके समान गिर पड़ा । उस समय उनकी वेणी खुल गयी और सिरके बाल बिखर गये ॥ २४ ॥ तब हास्यविनोदको न जाननेवाली अपनी प्रिया रुक्मिणीका वह प्रेमानुबन्ध देखकर करुणामय भगवान कृष्णने उनपर दया की ॥ २५ ॥ वे तुरन्त चतुर्भुज हो पलंगसे उतर पड़े और उन्हें उठा तथा उनके केश सँवारते हुए अपने करकमलोंसे मुख पोंछा ॥ २६ ॥ हे राजन् ! तब अश्रुकणपरिपूर्ण नेत्र और शोकाश्रुसिञ्चित स्तनोंको पोंछकर भगवानने जिनका कोई और आश्रय नहीं था, उन सती-शिरोमणि रुक्मिणीजीको अपनी भुजाओंमें जकड़ लिया ॥ २७ ॥ तब समझाने-बुझानेमें कुशल और सज्जनोंके एकमात्र आश्रय भगवान कृष्णने हँसीके कारण भ्रान्तचित्त और दीनबुद्धि तथा हास्यके योग्य श्रीरुक्मिणीको कृपापूर्वक इस तरह ढाढ़स बँधाया ॥ २८ ॥ श्रीकृष्णभगवानने कहा-हे वैदर्भि ! तुम मुझसे रुष्ट न होओ । मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम एकमात्र मुझे ही भजती हो । हे कल्याणि ! मैंने तुम्हारी बातें सुनने तथा प्रणयकोपसे फड़कते हुए अधरोंसे, कटाक्षविक्षेपके कारण तिरछे और अरुणवर्ण नयनों एवं सुन्दर भ्रुकुटियोंयुक्त तुम्हारा मनोहर मुख देखनेके लिये ही ऐसी हँसी की थी ॥२९॥३०॥ हे भीरु ! हे सुन्दरि ! गृहस्थ पुरुषोंको घरमें समय रहते यही सबसे बड़ा लाभ है कि उनका समय अपनी प्रियाके साथ हास्य-विनोद करते हुए बीतता है ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवानके ऐसा समझानेसे जब रुक्मिणीजीने यह जान लिया कि वह हँसीकी बात थी, तब उन्होंने प्रियतमद्वारा त्यागी जानेका भय त्याग दिया ॥ ३२ ॥ इसके बाद हे भारत ! वे सलज्ज हास्य तथा सुन्दर और प्रेमपूर्ण चितवनसे पुरुषपुंगव भगवान कृष्णके ऐश्वर्यपूर्ण मुखकी ओर निहारती हुई कहने लगीं ॥ ३३ ॥ रुक्मिणीजी बोलीं—हे कमलनयन ! आपका कथन बिल्कुल ठीक है । वास्तवमें ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त और सर्वव्यापक आप परमेश्वरके अनुरूप पत्नी मैं नहीं हूँ । अहो ! कहाँ अपनी ही महिमामें रमण करनेवाले और तीनों गुणोंके स्वामी आप और कहाँ अज्ञानी

सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम् ॥३५॥
त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् ।
यस्मादलौकिकमिवेहितमीश्वरस्य भूमंस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ॥३६॥
निष्किञ्चनो ननु भवान् न यतोऽस्ति किञ्चिद् यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः ।
नत्वा विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धाः प्रेष्ठो भवान् बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥३७॥
त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम् ।
तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥३८॥
त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव आत्माऽऽत्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेगध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये ॥३९॥
जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यस्तु भूपान् विद्राव्य शार्ङ्गनिनदेन जहर्थ मा त्वम् ।
सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून् स्वभागं तेभ्यो भयाद् यदुदधिं शरणं प्रपन्नः ॥४०॥
यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्यजायन्तनाहुषगयादय ऐक्यपत्यम् ।
राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष सीदन्ति ते नु पदवीं त इहास्थिताः किम् ॥४१॥

पुरुष ही जिनकी चरण-सेवा करते हैं, वह त्रिगुणमय स्वभावकी मैं ! ॥ ३४ ॥ हे उरुक्रम ! आपका यह कथन भी सर्वथा उचित ही है। आप सचमुच गुणोंसे डरकर अगाध समुद्ररूप अन्तःकरणमें चैतन्यघन आत्मारूपसे शयन करते हैं। कुत्सित इन्द्रियरूपी राजाओंसे आपका सदा कलह होता रहता है और घोर अन्धकाररूपी राजसिंहासनको तो सदा आपके भक्तोंने ही छोड़ रखा है, फिर आपके विषयमें क्या कहा जाय ? ॥ ३५ ॥ आपके चरणकमलके मकरन्दका पान करनेवाले मुनि-जनोंका मार्ग भी स्पष्ट नहीं होता, नररूप पशुओंके लिये उसे समझना तो अत्यन्त कठिन है। अतएव हे भूमन् ! आप सर्वेश्वर तथा आपके अनुगामियोंकी चेष्टाएँ अलौकिक-सी होती हैं ॥ ३६ ॥ आप निष्किञ्चन अवश्य हैं, क्योंकि आपके सिवा और कुछ है ही नहीं। दूसरोंसे पूजित ब्रह्मादि लोकपाल भी आपकी पूजा करते हैं, आप उन पूजनीय देवश्रेष्ठोंके प्रिय हैं और वे आपको प्रिय हैं। जो लोग धन-सम्पत्ति आदिके मदसे अन्धे हो रहे हैं, वे कालस्वरूप आप परमेश्वरको नहीं जानते। इसलिये वे केवल अपने प्राणोंका ही पोषण करते हैं ॥ ३७ ॥ आप तो धर्म-अर्थ-कामरूपी समस्त पुरुषार्थमय और उनके फल परमानन्दरूप हैं। जिसकी इच्छासे बुद्धिमान् लोग सब कुछ त्याग देते हैं। हे विभो ! उन विवेकी पुरुषोंका ही आपके साथ सेव्य-सेवकरूप सम्बन्ध होना चाहिए। जो लोग स्त्री-पुरुषके रमणसे प्राप्त सुख-दुःखके वशीभूत हैं, उनका सम्बन्ध आपके साथ नहीं हो पाता ॥ ३८ ॥ जिन्होंने सब प्राणियोंको पीडारूप दण्ड देना त्याग दिया है, उन मुनिजनोंने आपके प्रभावका वर्णन किया था। आप अखिल जगत्के आत्मा और अपने भक्तोंको आत्मस्वरूपके दाता हैं। अतएव औरोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? आपके तनिक भ्रुकुटिविलास द्वारा उत्पन्न कालवेगसे जिनके सब भोग नष्ट हो जाते है, उन ब्रह्मा-महादेव और इन्द्रादिको भी त्यागकर मैंने आपको अपनाया है ॥ ३९ ॥ हे ईश ! हे गदाग्रज ! जैसे सिंह पशुओंके बीचमेंसे अपना भाग हर ले जाता है, वैसे ही शार्ङ्ग धनुषकी टङ्कोरसे जरासन्ध आदि राजाओंको भगाकर आप मुझे अपना भाग मानकर हर लाये। उन्हीं आपका यह कहना कि हम राजाओंके भयसे समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं, सो भूलकी बात है ॥ ४० ॥ हे कमलनेत्र ! आपको पानेकी इच्छासे अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति और गय आदि अनेक राजे अपना-अपना एकछत्र राज्य छोड़कर बनवासी हो गये थे, सो आपके मार्गका अनुसरण करनेवाले उन नृपपतियोंको क्या कोई कष्ट उठाना पड़ा था ? ॥ ४१ ॥

कान्यं श्रयेत नव पादसरोजगन्धमाघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्गम् ।
लक्ष्म्यालयं त्वविगणय्य गुणालयस्य मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः ॥४२॥
तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीशमात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिरणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः ॥४३॥
तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोऽश्वविडालभृत्याः ।
यत्कर्णमूलमरिकर्षण नोपयायाद् युष्मत्कथा मृडविरिञ्चसभासु गीता ॥४४॥
त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥४५॥
अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः ।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा ॥४६॥
नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन । अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्रतिः क्वचित् ४७
व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम् । बुधोऽसतीं न बिभृयात्तां बिभ्रदुभयच्युतः ॥४८॥

श्रीभगवानुवाच

साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रि प्रलम्भिता । मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत् सत्यमेव हि ॥४९॥

अपने हिताहितको विचारनेवाली ऐसी कौन मानवी स्त्री होगी, जो सर्वगुणधाम आपके, सत्पुरुषों द्वारा कीर्तित, लोगोंका मोक्षदायक तथा लक्ष्मीजीके आश्रयस्थल चरणकमलोंकी गन्ध सूँघ और फिर उनका तिरस्कारकर जिससे निरन्तर अधिकाधिक भय रहता है, ऐसे किसी अन्य पुरुषको पतिरूपमें वरेगी ? ॥ ४२ ॥ हे नाथ ! आप सकल जगत्‌के अधीश्वर, आत्मा तथा लोक और परलोकमें सब कामनाएँ पूर्ण करनेवाले प्रभु हैं। मैंने अपने अनुरूप समझकर ही आपको वरण किया है। अब मेरी यही इच्छा है कि अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमती हुई मैं सदा अपनेको मिथ्या संसारभ्रम निवृत्त करनेवाले तथा उन्हें अपना स्वरूपतक दे डालनेवाले आप परमेश्वरके चरणोंकी शरणमें ही रहूँ ॥ ४३ ॥ हे अच्युत ! हे शत्रुसूदन ! आपके बतलाये शिशुपालादि राजे जो गधों, कुत्तों तथा बिलावके समान कृपण और हिंसक तथा चाकरोंके समान स्त्रीकी सेवामें रत रहनेवाले है, वे उसी मन्दभागिनी स्त्रीके पति हों जिनके कानोंमें श्रीमहादेव तथा ब्रह्मा आदि देवेश्वरोंकी सभाओंमें कीर्तित आपकी कथाओंने प्रवेश नहीं किया है ॥ ४४ ॥ हे प्रभो ! जिसने आपके चरणकमलके मकरन्दका आघ्राण नहीं किया है, वह अत्यन्त मूढ़ा स्त्री ही, जो ऊपरसे त्वचा, श्मश्रु, रोम, नख और केशादिसे आवृत है और भीतरसे मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त और वातसे पूर्ण है, ऐसे इस जीते ही मरेके समान कुत्सित शरीरको कान्तभावसे भजेगी ॥ ४५ ॥ हे कमलनयन ! आप आत्माराम हैं और मुझपर आपकी विशेष कृपादृष्टि रहती है। हे प्रभो ! आपके चरणोंमें मेरा दृढ़ अनुराग बना रहे। आप जो संसारकी वृद्धिके लिये उत्कट रजोगुण स्वीकार करके मेरी ओर देखते हैं, उसे भी मैं आपकी परम अनुकम्पा मानती हूँ ॥ ४६ ॥ हे मधुसूदन ! आपने जो कहा कि अब भी 'किसी अनुरूप वरको चुन लो' सो आपके इन वचनोंको मैं मिथ्या नहीं मानती। क्योंकि कभी-कभी एक पुरुषके द्वारा जीती जानेपर भी काशिराजकी कन्या अम्बाके समान किसी-किसी कन्याकी अन्य पुरुषोंमें भी प्रीति रहती है ॥ ४७ ॥ व्यभिचारिणी स्त्रीका मन विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषकी ओर जाता रहता है। बुद्धिमान् पुरुष ऐसी दुराचारिणी स्त्रीका भरण-पोषण न करें। क्योंकि उसका पालन करनेवाला प्राणी इहलोक-परलोक दोनोंसे पतित हो जाता है ॥ ४८ ॥ श्रीभगवान बोले—हे साध्वि ! हे राजकुमारी ! ये सब बातें सुननेके लिये ही मैंने तुमसे हँसी

यान्यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय भामिनि । सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा
उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे । तद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता ५१
ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया । कामात्मानोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया ॥५२॥

मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् ।
ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः ॥५३॥
दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः ।
सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो ह्यसुम्भराया निकृतिजुषः स्त्रियाः ॥५४॥
न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ।
प्राप्तान् नृपान् न विगणय्य रहोहरो मे प्रस्थापितो द्विज उपश्रुतसत्कथस्य ॥५५॥
भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य प्रोद्वाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम् ।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ॥५६॥
दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ॥५७॥

श्रीशुक उवाच

एवं सौरतसंलापैर्भगवाञ्जगदीश्वरः । स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन् ॥५८॥

की थी । मेरे कथनका जो मतलब तुमने समझा है, वह बिल्कुल यथार्थ है ॥ ४९ ॥ हे भामिनि ! तुम मेरी अनन्य भक्ता हो । सकामभावकी निवृत्तिके लिये तुम मुझसे जो कुछ भी चाहो, सो हे कल्याणि ! वह तुम्हें नित्य प्राप्त है ॥ ५० ॥ हे अनघे ! मैंने तुम्हारा पतिप्रेम और पातिव्रत भी भली भाँति देख लिया है । मैंने अपना दोष बताकर तुम्हारी बुद्धिको विचलित करना चाहा था, किन्तु वह तनिक भी विचलित नहीं हुई ॥ ५१ ॥ जा सकाम पुरुष नाना प्रकारके व्रत और तपस्या करते हुए स्त्री-पुरुषोंकी विषयजनित सुखकी अभिलाषासे मुझ मोक्षाधीशका भजन करते हैं, वे मेरी माया-से मोहित प्राणी हैं ॥ ५२ ॥ हे मानिनी ! मोक्ष तथा सब सम्पदाओंके आश्रय एवं अधीश्वर मुझ परमात्माको पाकर जो लोग केवल लौकिक सम्पत्ति चाहते हैं, वे बड़े अभागे हैं । क्योंकि विषयसुख तो नरकमें भी मिल सकते हैं । किन्तु उन अभागे पुरुषोंका मन विषयोंमें ही लीन रहता है । अतः उन्हें नरककी प्राप्ति भी अच्छी लगती है ॥ ५३ ॥ हे गृहेश्वरि ! यह बड़ी अच्छी बात है कि तुमने अब तक सदा संसारबन्धनसे मुक्त करनेवाली मेरी निष्काम सेवा की है । दुष्टलोग ऐसा कदापि नहीं कर सकते । दूषित कामनाओंवाली स्त्रियाँ अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए नाना प्रकारके छल-छन्द करती हैं । उनके लिये तो ऐसा (शुभ कार्य) करना और कठिन होता है ॥५४॥ हे मानिनि ! मुझे अपने घरमें तुम-जैसी प्रणियिनी गृहिणी और कोई दिखाई नहीं पड़ती । क्योंकि तुमने मेरी प्रशंसा सुन अपने विवाहके समय आये सब राजाओंको कुछ भी न गिनकर एक ब्राह्मणको अपना गुप्त दूत बनाकर मेरे पास भेजा था ॥ ५५ ॥ तुम्हारे हरणके समय मैंने तुम्हारे भाईको युद्धमें जीत कर कुरूप कर दिया और अनिरुद्धके विवाहोत्सवमें बलभद्रजीने द्यूतक्रीडामें उसे मार ही डाला। फिर भी हमसे वियोग हो जानेकी आशङ्कासे तुमने चुपचाप वह असह्य दुःख भी सहन कर लिया और हमसे कुछ नहीं कहा । तुम्हारी इस उदारताने हमें अपनी मुट्ठीमें कर लिया है ॥ ५६ ॥ तुमने मेरी प्राप्तिके लिये अपना निश्चित विचार कहकर मेरे पास दूत भेजा और जब मेरे पहुँचनेमें कुछ विलम्ब हुआ तो इस जगत्को शून्य समझ और अपना यह शरीर किसी दूसरेके योग्य न मानकर इसे त्यागने तकका सङ्कल्प कर लिया था । तुम्हारा यह काम तुम्हारे ही योग्य था । हम इसका बदला नहीं चुका सकते, केवल इसका अभिनन्दन भर कर सकते हैं ॥ ५७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे

तथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव । आस्थितो गृहमेधीयान् धर्माँल्लोकगुरुर्हरिः ॥५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे कृष्णरुक्मिणीसंवादो नाम षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः । अजीजनन्ननवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥१॥
गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् । प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः ॥२॥

चार्वब्जकोशवदनायतबाहुनेत्रसप्रेमहासरसवीक्षितवल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं स्वैर्विभ्रमैः समशकन् वनिता विभूम्नः ॥३॥
स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ॥४॥
इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुरागहासावलोकनवसङ्गमलालसाद्यम् ॥५॥
प्रत्युद्गमासनवरार्हणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।
केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥६॥

राजन्! जगत्पति भगवान् कृष्ण इस प्रकार मानवचरित्रका अनुसरण करते हुए आत्माराम होकर भी विनोदपूर्ण वार्तालाप करके लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीजीके साथ रमण करने लगे ॥ ५८ ॥ जगद्गुरु भगवान् कृष्ण अन्य रानियोंके घरोंमें भी रहकर इसी तरह साधारण गृहस्थके समान गृहस्थ-धर्मका पालन करते थे ॥ ५९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे भाषाटीकायां षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

(भगवान् कृष्णचन्द्रकी सन्ततिका वर्णन और अनिरुद्धके विवाहमें रुक्मीके वधकी कथा)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! श्रीकृष्णचन्द्रकी भार्याओंमेंसे प्रत्येक भार्याके दस-दस पुत्र हुए। वे रूप-बल आदि गुणोंमें अपने पिताके ही समान थे ॥१॥ भगवानकी प्रत्येक रानी श्रीकृष्णको कहीं अन्यत्र न जाकर निरन्तर अपने-अपने महल ही में रहते देखकर उनका वास्तविक तत्त्व न जाननेके कारण यही समझती थी कि भगवानकी मैं ही सबसे अधिक प्रिय पत्नी हूँ' ॥ २ ॥ किन्तु वे सुन्दरियाँ निजानन्दपूर्ण भगवान् कृष्णके कमलकोशनिभ मनोहर मुखारविन्द, विशाल नेत्र, प्रणय मुसकान-भरा कटाक्ष और मनमोहिनी बातचीतसे स्वयं ही मोहित होकर उन्हें अपने हाव-भावसे मोहित नहीं कर सकीं ॥ ३ ॥ वे सोलह हजार रानियाँ गूढ हास्यभरी चितवन तथा मनोहर भावपूर्ण भ्रूमण्डलसे छोड़े हुए सुरतमन्त्र-परिपुष्ट कामबाणों तथा अन्यान्य साधनोंसे भी उनके इन्द्रियग्रामको चञ्चल नहीं कर पायीं ॥ ४ ॥ इस तरह ब्रह्मादिक देवता भी जिनका स्वरूप नहीं जान पाते, उन लक्ष्मीपतिको पतिरूपमें पाकर उन स्त्रियोंने निरन्तर बढ़ते हुए अनुराग, मुसकानमयी चितवन और नवसङ्गमकी लालसा आदि विविध हाव-भावोंसे प्रसन्नतापूर्वक उनकी सेवा की ॥५॥ उनमेंसे प्रत्येक रानीकी सेवामें सैकड़ों दासियाँ रहती थीं, किन्तु भगवानके पधारनेपर आगे जाकर उन्हें आदर-पूर्वक लाने, आसन देने, अर्घ्यादिसे पूजा करने, चरण धोने, पान देने, पाँव दबाकर श्रम दूर करने, पङ्खा झलने, चन्दनादिसे विभूषित करने, बाल सँवारने, शयन और स्नान कराने तथा विविध प्रकार-

तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः । अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान् प्रद्युम्नादीन् गृणामि ते ।७।
चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान् । सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥८॥
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः । प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः ।९।
भानुः सुभानुः स्वर्भानुः प्रभानुर्भानुमांस्तथा । चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः ॥१०॥
श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश । साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिच्च सहस्रजित् ।११।
विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान् द्रविडः क्रतुः । जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसम्मताः १२
वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान् वृषः । आमः शङ्कुर्वसुः श्रीमान् कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः १३
श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः । शान्तिर्दर्शः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः १४
प्रघोषो गात्रवान् सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः । माद्र्याः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः १५
वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च । महाशः पावनो वह्निर्मित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः १६
सङ्ग्रामजिद् बृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित् । जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥१७॥
दीप्तिमांस्ताम्रतप्ताद्या रोहिण्यास्तनया हरेः । प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धोऽभूद् रुक्मवत्यां महाबलः १८
पुत्र्यां तु रुक्मिणो राजन् नाम्ना भोजकटे पुरे । एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप ।
मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश ॥ १९ ॥

राजोवाच

कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद् दुहितरं युधि । कृष्णेन परिभूतस्तं हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते ।
एतदाख्याहि मे विद्वन् द्विषोर्वैवाहिकं मिथः ॥ २० ॥

के उपहार देने आदि कार्योंसे वे स्वयं उनकी सेवा करती थीं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रकी स्त्रियोंमेंसे जिन आठ पुत्रवती पटरानियोंका पहले वर्णन किया जा चुका है, उनके प्रद्युम्न आदि पुत्रोंका विवरण मैं तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ ७ ॥ रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और चारु ये दस पुत्र हुए। ये सब अपने पितासे किसी बातमें कम नहीं थे ॥ ८-९ ॥ इसी तरह भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु, अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु, ये दस सत्यभामाके पुत्र थे। साम्ब, सुमित्र, पुरुजित्, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविड और क्रतु—ये अपने पिताके समान पराक्रमी साम्बादि दस पुत्र जाम्बवतीके थे ॥ १०-१२ ॥ वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगुप्त, वेगवान, वृष, आम, शंकु, वसु तथा परमतेजस्वी कुन्ति—ये दस नाग्नजितीके पुत्र थे ॥ १३ ॥ श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, एकल, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सबके छोटा सोमक—ये पुत्र कालिन्दीसे उत्पन्न हुए थे ॥ १४ ॥ मद्रदेशीया लक्ष्मणाके गर्भसे प्रघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज और अपराजित ये दस पुत्र जन्मे ॥ १५ ॥ मित्रवृन्दाके वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धन, अन्नाद, महाश, पावन, वह्नि तथा क्षुधि ये दस पुत्र उत्पन्न हुए। संग्रामजित्, बृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम, आयु और सत्यक—ये भद्राके दस पुत्र हुए ॥ १६-१७ ॥ इनके अतिरिक्त रोहिणी आदि जो अन्य सोलह हजार एक सौ स्त्रियाँ थीं, उनसे श्रीकृष्णके दीप्तिमान् तथा ताम्रतप्त आदि पुत्र हुए। हे राजन्! प्रद्युम्नजीके उनकी भार्या रुक्मवतीसे, जो भोजकट नामके नगरमें रहनेवाले रुक्मीकी पुत्री थी, महाबली अनिरुद्धका जन्म हुआ। हे राजन् ! इन सबके भी पुत्र-पौत्र आदि मिलकर वे यादव करोड़ोंकी संख्यामें होगये। क्योंकि उन कृष्णपुत्रोंकी तो माताएँ ही सोलह हजारसे अधिक थीं ॥ १८-१९ ॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने कहा—हे भगवन् ! रुक्मीने अपने शत्रु श्रीकृष्णचन्द्रजीके पुत्रके साथ अपनी कन्या कैसे ब्याही ? वह तो एकबार भग-

अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् । विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः २१॥

श्रीशुक उवाच

वृतः स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तया । राज्ञः समेतान् निर्जित्य जहारैकरथो युधि॥२२॥
यद्यप्यनुस्मरन् वैरं रुक्मी कृष्णावमानितः । व्यतरद् भागिनेयाय सुतां कुर्वन् स्वसुः प्रियम् २३
रुक्मिण्यास्तनयां राजन् कृतवर्मसुतो बली । उपयेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल॥२४॥
दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रीं रुक्म्यददाद्धरेः । रोचनां बद्धवैरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।
जानन्नधर्मं तद् यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः ॥ २५ ॥
तस्मिन्नभ्युदये राजन् रुक्मिणी रामकेशवौ । पुरं भोजकटं जग्मुः साम्बप्रद्युम्नकादयः ॥२६॥
तस्मिन् निवृत्त उद्वाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः । दृप्तास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षैर्विनिर्जय ॥२७॥
अनक्षज्ञो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत् । इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥
शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्राददे पणम् । तं तु रुक्म्यजयत् तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम् ॥
दन्तान् सन्दर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत् तद्धलायुधः ॥ २९ ॥
ततो लक्षं रुक्म्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद् बलः । जितवानहमित्याह रुक्मी कैतवमाश्रितः ॥३०॥
मन्युना क्षुभितः श्रीमान् समुद्र इव पर्वणि । जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यर्बुदं ग्लहमाददे ॥३१॥
तं चापि जितवान् रामो धर्मेण छलमाश्रितः । रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु प्राश्निका इति ॥३२॥

वान कृष्णसे परास्त होगया था और सर्वदा कृष्णको मार डालनेका मौका देखता था। हे विद्वन्! उन शत्रुओंमें परस्पर कैसे विवाहसम्बन्ध हुआ सो आप मुझे बतला दीजिये ॥ २० ॥ योगीजन तो भूत, भविष्य, वर्तमान, अतीन्द्रिय, दूरस्थ और व्यवहृत सभी बातोंको स्पष्टरूपमें देख लेते हैं ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! रुक्मीकी पुत्री रुक्मवतीने स्वयंवरमें मूर्तिमान कामदेव श्रीप्रद्युम्नजीको ही वरण किया था। तदनुसार प्रद्युम्नजी वहाँ एकत्रित सब राजाओंको युद्धमें परास्त-कर अकेले ही उसे हर लाये थे ॥ २२ ॥ यद्यपि भगवान कृष्णचन्द्रसे अपमानित रुक्मीको पूर्व वैरका स्मरण था, तथापि उसने अपनी बहिनका प्रिय करनेके लिये अपनी कन्या भानजेको ब्याह दी ॥ २३ ॥ हे राजन्! श्रीकृष्णचन्द्रकी रानियोंमेंसे प्रत्येक रानीके एक-एक कन्या भी हुई थी। उनमेंसे रुक्मिणीकी पुत्री विशाललोचना चारुमतीका विवाह कृतवर्माके महाबलवान् पुत्रके साथ हुआ था ॥ २४ ॥ यद्यपि रुक्मीका भगवान कृष्णके साथ पुराना वैर था, किन्तु उसने स्नेहपाशमें बँधकर अपनी भगिनीको प्रसन्न करनेके लिये अनिरुद्धजीके साथ अपनी पौत्री रोचनाका विवाह कर दिया ॥ २५ ॥ हे राजन्! उस विवाहके उत्सवमें रुक्मिणी, बलराम, श्रीकृष्णचन्द्र और प्रद्युम्न तथा साम्बादि यादव भोजकट नगरको गये ॥ २६ ॥ विवाहसंस्कार समाप्त हो जानेपर कलिङ्गनरेशादि अभिमानी राजाओंने रुक्मीसे कहा—"राजन्! तुम बलरामजीको जुएमें जीत लो। यद्यपि बलभद्र द्यूतक्रीडामें कुशल नहीं हैं तो भी उन्हें इसका व्यसन अधिक है।" इस प्रकार राजाओंके कहनेपर रुक्मीने बलरामजीको बुलाया और उनके साथ चौसर खेलना आरम्भ किया ॥ २७-२८ ॥ बलराम-जीने क्रमशः सौ, हजार और दस हजार मुद्राओंका दाँव लगाया। उन्हें रुक्मीने जीत लिया। तब कलिङ्गनरेश बलरामजीकी ओर दाँत निकाल और ठहाका मारकर हँसने लगा। श्रीबलरामजीको यह सहन नहीं हुआ ॥ २९ ॥ अब रुक्मीने एक लक्ष मुद्राका दाँव लगाया। उसे बलरामजी जीत गये, किन्तु रुक्मीने कपटपूर्वक कहा कि 'तुम नहीं, मैं जीता हूँ' ॥ ३० ॥ रुक्मीकी इस धृष्टतासे श्रीमान् बलभद्रजी जिनके नेत्र स्वभावसे ही अरुण वर्णके थे, पर्वकालमें उमड़ते समुद्रके समान क्षुभित हो गये और उन्होंने अत्यन्त क्रुद्ध होकर दस करोड़ मुहरोंका दाँव लगा दिया ॥ ३१ ॥ उसे भी वास्तवमें बलरामजीने ही जीता था, परन्तु रुक्मीने छल करके कहा—"इसे भी मैं ही जीता हूँ। ये मेरे पास

तदाऽब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः । धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥३३॥
तामनादृत्य वैदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः । सङ्कर्षणं परिहसन् बभाषे कालचोदितः ॥३४॥
नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः । अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥३५॥
रुक्मिणैवमधिक्षिप्तो राजभिश्चोपहासितः । क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृम्णसंसदि ॥३६॥
कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे । दन्तानपातयत् क्रुद्धो योऽहसद् विवृतैर्द्विजैः ॥३७॥
अन्ये निर्भिन्नबाहूरुशिरसो रुधिरोक्षिताः । राजानो दुद्रुवुर्भीता बलेन परिघार्दिताः ॥३८॥
निहते रुक्मिणि श्याले नाब्रवीत् साध्वसाधु वा । रुक्मिणीबलयो राजन् स्नेहभङ्गभयाद्धरिः ॥३९॥
ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् ।
रामादयो भोजकटाद् दशार्हाः सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे अनिरुद्धविवाहे रुक्मिवधो नामैकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

राजोवाच

बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः । तत्र युद्धमभूद् घोरं हरिशङ्करयोर्महत् ।
एतत् सर्वं महायोगिन् समाख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः । येन वामनरूपाय हरयेऽदायि मेदिनी ॥२॥

बैठे हुए प्रश्न-निर्णायक कलिङ्गनरेश आदि ही बता दें कि यह दाँव किसने जीता है" ॥ ३२ ॥ उसी समय आकाशवाणी हुई कि "धर्मपूर्वक कहा जाय तो यह दाँव बलरामजीने जीता है। रुक्मी झूठ बोल रहा है" ॥ ३३ ॥ किन्तु कालसे प्रेरित रुक्मीने दुष्ट राजाओंके फुसलानेसे आकाशवाणीकी कुछ भी परवा नहीं की और बलरामजीकी खिल्ली उड़ाते हुए उसने कहा—॥३४॥ आखिर, आपलोग वनमें गायें चरानेवाले ग्वाले ही तो ठहरे। आप भला चौसर खेलना क्या जानें ? पासों और बाणोंसे तो राजा लोग ही खेलते हैं, आप-जैसे अहीर नहीं खेल सकते" ॥ ३५ ॥ इस प्रकार रुक्मीके आक्षेप करने और राजाओंके हँसी उड़ानेपर बलरामजीने अति क्रोधित होकर एक परिघ उठाया और उसीसे उस माङ्गलिक सभामेंही रुक्मीको मार डाला ॥ ३६ ॥ कलिङ्गराज बलरामजीकी ओर दाँत निकालकर हँसा था, उसे उन्होंने दस पगपर ही पकड़ लिया और अतिशय क्रोधपूर्वक उसके सब दाँत तोड़ डाले ॥ ३७ ॥ इनके सिवाय अन्य राजे भी बलरामजीके परिघकी चोट खाकर भुजा जङ्घा और सिर आदि फूट जानेसे रुधिरमें लथपथ हो भयके मारे अपने-अपने प्राण लेकर भाग निकले ॥३८॥ हे राजन् ! रुक्मिणी और बलरामजीके स्नेहमें अन्तर न पड़ जाय, इसलिये श्रीकृष्णने अपने साले रुक्मीके मारे जानेपर किसीको भला या बुरा कुछ नहीं कहा ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार शत्रुका वध और अनिरुद्धके विवाह आदि सब कार्योंके निबट जानेपर श्रीकृष्णचन्द्रके आश्रित बलरामजी आदि सब यादव नववधूके साथ अनिरुद्धको उत्तम रथपर चढ़ाकर भोजकट नगरसे द्वारिकाको विदा हुए ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे भाषाटीकायामेकषष्टितमोध्यायः ॥ ६१ ॥

(ऊषा-अनिरुद्धका समागम) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने कहा—हे महायोगिन् ! यदुश्रेष्ठ अनिरुद्धने बाणासुरकी पुत्री ऊषाको जिस तरह विवाहा हो और जैसे उस समय भगवान कृष्ण और शङ्करका परस्पर घोर संग्राम हुआ हो, वह सब चरित्र आप कहें ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी

तस्यौरसः सुतो बाणः शिवभक्तिरतः सदा । मान्यो वदान्यो धीमांश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ॥३॥
शोणिताख्ये पुरे रम्ये स राज्यमकरोत् पुरा । तस्य शम्भोः प्रसादेन किङ्करा इव तेऽमराः ।
सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥ ४ ॥
भगवान् सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः । वरेणच्छन्दयामास स तं वव्रे पुराधिपम् ॥५॥
स एकदाऽऽह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः । किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ॥६॥
नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमीश्वरम् । पुंसामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥७॥
दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् । त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लभे त्वदृते समम् ॥८॥
कण्डूत्या निभृतैर्दोर्भिर्युयुत्सुर्दिग्गजानहम् । आद्यायां चूर्णयन्नद्रीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ॥९॥
तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा । त्वद्दर्पघ्नं भवेन्मूढ संयुगं मत्समेन ते ॥१०॥
इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप । प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः ॥११॥
तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् । कन्यालभत कान्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन सा ॥१२॥
सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी । सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥१३॥
बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता । सख्यपृच्छत् सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ॥१४॥
कं त्वं मृगयसे सुभ्रूः कीदृशस्ते मनोरथः । हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ॥१५॥

कहने लगे—हे राजन् ! जिन महात्मा बलिने वामनरूपधारी श्रीहरि सारा भूमण्डल दान दे दिया था, उनके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा पुत्र बाणासुर ही था ॥ २ ॥ बलिका औरस पुत्र बाणासुर सदा भगवान शङ्करकी भक्तिमें रत रहता था। वह बड़ा माननीय, उदारचरित, बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ और दृढ़व्रत था ॥ ३ ॥ पहले वह अति सुरम्य शोणितपुरमें राज्य करता था। भगवान शङ्करकी कृपासे सब देवता उसके सेवकोंके सदृश आज्ञाकारी थे। एक बार ताण्डवनृत्यमें उसने अपनी सहस्र भुजाओंसे एक साथ ही बहुतेरे बाजे बजाकर श्रीभोलानाथको प्रसन्न किया। तब शरणागतवत्सल तथा भक्तहितकारी भगवान भूतनाथने उससे अभिलषित वर माँगनेको कहा। उसने यही वर माँगा कि आप मेरे नगरकी रक्षा करते रहें ॥४॥ ५॥ एक दिन वीर्योन्मत्त बाणासुरने समीपस्थ शङ्करभगवानके प्रति अपने सूर्यसदृश देदीप्यमान मुकुटसे उनके चरणकमल छूते हुए कहा—॥ ६ ॥ "हे महादेव ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। आप सब लोकोंके गुरु और स्वामी हैं। जिन लोगोंकी कामनाएँ पूर्ण नहीं हुई रहतीं, उनकी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिये आप कल्पवृक्ष हैं ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! आपने जो मुझे एक हजार भुजाएँ दी हैं, ये मुझे भाररूप मालूम देती हैं। क्योंकि त्रिलोकीमें मुझे आपके सिवा और कोई योद्धा अपने समान बलवान नहीं दिखायी देता ॥ ८ ॥ हे आदिदेव ! जब मेरी भुजाओंमें बड़ी खुजलाहट उत्पन्न हुई तो मैं दिग्गजोंसे लड़नेके लिये मार्गके पर्वतोंको चूर्ण करता हुआ चला, किन्तु वे भी मारे डरके भाग गये" ॥ ९ ॥ यह सुनकर भगवान शङ्कर क्रुद्ध हो और उन्होंने कहा—"अरे मूढ़ ! जब तेरी ध्वजा टूटकर गिर जायगी, तब मेरे समान योद्धासे तेरा सारा गर्व नष्ट हो जायगा" ॥ १० ॥ हे राजन् ! इस प्रकार महादेवजीके कहनेपर मन्दमति बाणासुर अतिशय आनन्दित होकर अपने घर चला आया और शङ्करभगवानके बतलाये हुए अपना दर्प दलन करनेवाले युद्धकी प्रतीक्षा करने लगा ॥ ११ ॥ उसके ऊषा नामकी एक कन्या थी। उसे बाल्यकालमें ही स्वप्नके समय जिसे पहले कभी देखा या सुना नहीं था, उस परमसुन्दर प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धसे रतिसुख प्राप्त हुआ ॥ १२ ॥ फिर अकस्मात् नींद उचटनेपर उन्हें न देखकर ऊषा—'हे कान्त ! तुम कहाँ हो ?' ऐसा कहती हुई अति व्याकुल होकर उठ बैठी और अपनेको सखियोंके बीच देख बहुत लज्जित हुई ॥ १३ ॥ बाणासुरका मन्त्री था—कुम्भाण्ड। उसकी पुत्री चित्रलेखा ऊषाकी सखी थी। उसने अपनी सखी ऊषासे कुतूहलवश पूछा—॥ १४ ॥ "हे सुभ्रु ! तुम किसे ढूँढ़ती हो ? हे राजपुत्रि !

ऊषोवाच

दृष्टः कश्चिन्नरः स्वप्ने श्यामः कमललोचनः । पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः ॥१६॥
तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु । क्वापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्त्वा मां वृजिनार्णवे १७

चित्रलेखोवाच

व्यसनं तेऽपकर्षामि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते । तमानेष्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥१८॥
इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगान् । दैत्यविद्याधरान् यक्षान् मनुजांश्च यथालिखत् १६
मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम् । व्यलिखद् रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता२०
अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया । सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महीपते ॥२१॥
चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी । ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम्२२
तत्र सुप्तं सुपर्यङ्के प्राद्युम्निं योगमास्थिता । गृहीत्वा शोणितपुरं सख्यै प्रियमदर्शयत् ॥२३॥
सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना । दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम्॥२४॥
परार्ध्यवासःस्रग्गन्धधूपदीपासनादिभिः । पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयार्चितः ॥२५॥
गूढः कन्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तया । नाहर्गणान् स बुबुधे ऊषयापहृतेन्द्रियः ॥२६॥
तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम् । हेतुभिर्लक्षयाञ्चक्रुराप्रीतां दुरवच्छदैः ॥२७॥
भटा आवेदयाञ्चक्रू राजंस्ते दुहितुर्वयम् । विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ॥२८॥

अभीतक हमने तुमसे विवाह सम्बन्ध करनेवाला भी कोई नहीं देखा। तब तुम्हारा यह मनोरथ क्यों हुआ ?" ॥ १५ ॥ ऊषा बोली—हे सखि ! मैंने स्वप्नमें एक श्यामवर्ण, कमलनयन, पीताम्बरधारी, विशालबाहु और स्त्रियोंका हृदयहारी नररत्न देखा है ॥ १६ ॥ वह मुझे अपना अधरामृत पिला और अतृप्तावस्थामें ही दुःखसमुद्रमें डालकर कहाँ चला गया है। मैं उसी प्रिय पुरुषको ढूँढ रही हूँ ॥ १७ ॥ चित्रलेखाने कहा—हे सखि ! यदि तुम्हारा चितचोर त्रिलोकीमें कहीं भी होगा तो मैं तुम्हारी विरहव्यथा शान्त कर दूँगी। तुम अपने प्रियतमको बता दो, मैं उसे ले आऊँगी ॥ १८ ॥ यह कहकर चित्रलेखाने देवता गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्योंके चित्र खींचे ॥ १६ ॥ मनुष्योंमें उसने वृष्णिवंशी, शूरसेन, वसुदेव, बलराम और भगवान कृष्णके चित्र बनाये। जब उसने प्रद्युम्नका चित्र खींचा तो उसे देखकर ऊषा लजा गयी ॥ २० ॥ हे राजन् ! अनिरुद्धका चित्र देखते ही ऊषाने लज्जासे सिर नीचा कर लिया और मन्द-मन्द मुसकाकर कहा—"वह यही है, यही है" ॥ २१ ॥ चित्रलेखा योगिनी थी। अतएव वह जान गयी कि ये श्रीकृष्णचन्द्रके पौत्र अनिरुद्ध हैं। तब वह आकाशमार्गसे श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा पालित द्वारकापुरीमें जा पहुँची ॥ २२ ॥ प्रद्युम्नतनय अनिरुद्ध पलंगपर सोये थे। चित्रलेखा उन्हें अपनी योगसिद्धिके बलसे शोणितपुरमें ले आयी और अपनी सखीको उसके प्रियतमका दर्शन करा दिया ॥ २३ ॥ उस परमसुन्दर वरको पाकर ऊषा बहुत प्रसन्न हुई और जहाँ कभी किसी पुरुषकी दृष्टि नहीं पड़ सकती थी, ऐसे अपने महलमें प्रद्युम्न-कुमारके साथ क्रीडा करने लगी ॥ २४ ॥ जिसका प्रेम निरन्तर बढ़ रहा था, उस ऊषाने बहुमूल्य वस्त्र, माला, चन्दन, धूप, दीप और आसनादि सामग्रियों, सुमधुर पेय, भोज्य-भक्ष्य पदार्थों एवं मनोहर वाणी और सेवा-शुश्रूषासे सम्मानित करके अनिरुद्धजीके चित्तको ऐसा वशीभूत कर लिया कि उस कन्याके अन्तःपुरमें ऊषाके साथ बहुत दिनोंतक रहनेपर भी उन्हें बीता समय कुछ नहीं मालूम दिया ॥ २५ ॥ २६ ॥ यदुवीर अनिरुद्ध द्वारा भोगी जाती हुई ऊषाको, जिन्हें कठिनतासे छिपाया जा सकता था, ऐसे चिह्नों द्वारा कुमारीव्रतसे स्खलित और अति प्रसन्नवदन देखकर द्वारपालों-ने बाणासुरने कहा—हे राजन् ! आपकी अविवाहिता पुत्रीकी चाल-चलन अपने कुलको कलङ्कित

अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो। कन्याया दूषणं पुम्भिर्दुष्प्रेक्ष्याया न विद्महे ॥२९॥
ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः। त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तोऽद्राक्षीद् यदूद्वहम् ३०

कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं श्यामं पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम्।
बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ॥३१॥
दीव्यन्तमक्षैः प्रिययाभिनृम्णया तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम्।
बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥३२॥
स तं प्रविष्टं वृतमाततायिभिर्भटैरनीकैरवलोक्य माधवः।
उद्यम्य मौर्वं परिघं व्यवस्थितो यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ॥३३॥
जिघृक्षया तान् परितः प्रसर्पतः शुनो यथा सूकरयूथपोऽहनत्।
ते हन्यमाना भवनाद् विनिर्गता निर्भिन्नमूर्धोरुभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥३४॥
तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली घ्नन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह।
ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला बद्धं निशम्याश्रुकलाक्ष्यरौदिषीत् ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धेऽनिरुद्धबन्धो नाम द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अपश्यतां चानिरुद्धं तद्बन्धूनां च भारत। चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥१॥

करनेवाली दिखाई पड़ती है ॥ २७ ॥ २८ ॥ हे प्रभो ! हम सदा उस भवनकी रक्षा करते हैं। कोई पुरुष राजकन्याकी ओर झाँक भी नहीं सकता, तब उसे किसने दूषित कर दिया—यह हमें नहीं मालूम" ॥ २९ ॥ कन्याके दूषित होनेका समाचार पाकर बाणासुर बहुत दुःखी हुआ। वह तुरन्त कन्याके अन्तःपुरमें पहुँचा और वहाँ कामदेवके पुत्र, त्रिलोकीमें एकमात्र सुन्दर, श्यामशरीर, पीताम्बरधारी, विशालबाहु तथा कुण्डल एवं अलकावलीकी झलक और मुसकानभरी चितवनसे सुशोभित मुख यदुनन्दन अनिरुद्धजीको उपस्थित देखा ॥३०-३१॥ उस समय वे भुजाओंमें जकड़े अपनी प्रियाके अङ्ग-सङ्ग तथा उसके कुचकुंकुमसे रञ्जित मालिका-कुसुमोंकी माला धारण किये हुए उसके समक्ष बैठे चौसर खेल रहे थे। उन्हें देखकर बाणासुरको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३२ ॥ बाणासुरको अगणित सशस्त्र सैनिकोंके साथ भवनमें प्राप्त देख अनिरुद्धजी एक लोहेका परिघ लेकर दण्डधारी कालके समान उन सबको मारनेके लिये उद्यत होगये ॥ ३३ ॥ अपनेको पकड़नेके लिये सब ओरसे दौड़ते हुए सैनिकोंको अनिरुद्धजी इस तरह मारने लगे, जैसे सूकरयूथपति कुत्तोंको मारता हो। अनिरुद्धजीके आघातसे अपने सिर, भुजा तथा जङ्घा आदि अवयव टूट-फूट जानेके कारण वे महलसे निकलकर भाग खड़े हुए ॥ ३४ ॥ तब महाबली बाणासुरने क्रुद्ध होकर अपने सैनिकोंका संहार करनेवाले अनिरुद्धजीको नागपाशमें बाँध लिया। अपने प्रियतमको बन्धनमें पड़े देखकर ऊषा अत्यन्त शोक और विषादसे विह्वल हो आँसू बहाती हुई रोदन करने लगी ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे भाषाटीकायां द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ।

(श्रीकृष्ण और बाणासुरका संग्राम) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भारत ! इधर द्वारकामें अनिरुद्धजीका बिना देखे उनके बन्धुओंको शोक करते हुए वर्षके पूरे चार महीने बीत गये ॥ १ ॥

नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्तां बद्धस्य कर्म च । प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥२॥
प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ शारणः । नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥३॥
अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतो दिशम् । रुरुधुर्बाणनगरं समन्तात् सात्वतर्षभाः ॥४॥
भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालगोपुरम् । प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ ॥५॥
बाणार्थं भगवान् रुद्रः ससुतैः प्रमथैर्वृतः । आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥६॥
आसीत् सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् । कृष्णशङ्करयो राजन् प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥७॥
कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः । साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥८॥
ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः । गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥९॥
शङ्करानुचराञ्छौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् । डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान् सविनायकान्॥१०॥
प्रेतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् । द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गधनुश्च्युतैः॥११॥
पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाक्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे । प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः॥१२॥
ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायव्यस्य च पार्वतम् । आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥
मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् । बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगदेषुभिः॥१४॥
स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः । असृग् विमुञ्चन् गात्रेभ्यः शिखिनापाक्रमद्रणात्
कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुर्मुसलार्दितौ । दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥१६॥
विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः । कृष्णमभ्यद्रवत् संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम्१७

तब नारदजीके मुखसे अनिरुद्धके पराक्रम और अन्तमें बाणासुर द्वारा बन्दी बनाये जानेका समाचार सुनकर जिनके श्रीकृष्णचन्द्र ही इष्टदेव थे, वे यादवगण शोणितपुरको चले ॥ २ ॥ भगवान बलराम और श्रीकृष्णचन्द्रके अनुयायी प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, नन्द, उपनन्द तथा भद्र आदि श्रेष्ठ यादवोंने अपनी बारह अक्षौहिणी सेना द्वारा बाणासुरके नगरको सब ओरसे घेर लिया ॥ ३-४ ॥ यादवसेनाके द्वारा नगरके उद्यान, परकोटे, अटारी और सिंहद्वारोंको तोड़े जाते देखकर बाणासुर बहुत कुपित हुआ और उतनी ही सेनाके साथ नगरसे बाहर निकल पड़ा ॥ ५ ॥ उस समय अपने पुत्रों और गणोंको साथ लेकर भगवान शङ्करने भी नन्दीश्वरपर सवार हो बाणासुरकी ओरसे बलरामजी तथा श्रीकृष्णचन्द्रके साथ युद्ध किया ॥ ६ ॥ हे राजन् ! तब भगवान कृष्ण और शङ्करमें, प्रद्युम्न और स्वामिकार्तिकेयमें, कुम्भाण्ड, कूपकर्ण और बलरामजीमें, साम्ब और बाणासुरके पुत्रमें तथा सात्यकि और बाणासुरमें अतिशय विचित्र और रोमाञ्चकारी युद्ध छिड़ गया ॥ ७-८ ॥ उस संग्राम-को देखनेके लिये वहाँ ब्रह्मादिक देवेश्वर, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा तथा यक्ष आदि विमानोंपर चढ़-चढ़ कर आये ॥ ९ ॥ भगवान कृष्णने अपने शार्ङ्गनामक धनुष द्वारा छोड़े गये तीखे बाणोंसे श्रीमहादेवजीके अनुचर भूत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, बेताल, विनायक, प्रेतगण, मातृगण, विशाल, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षसादिकोंको मारकर खदेड़ दिया ॥ १०-११ ॥ पिनाकपाणि भगवान शिवने श्रीकृष्णचन्द्रपर भाँति-भाँतिके शस्त्र चलाये, किन्तु शार्ङ्गपाणि श्रीहरिने अनायास उन्हें अपने विरोधी शस्त्रसे शान्त कर दिया ॥ १२ ॥ ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रसे, वायव्यास्त्रको पार्वतास्त्रसे, आग्नेयास्त्रको पर्जन्यास्त्रसे और शिवके पाशुपतास्त्रको अपने नारायणास्त्रसे शान्त कर दिया ॥ १३ ॥ तब जृम्भणास्त्रसे श्रीकैलाशपतिको मोहित करके उन्हें जमुहाई लेते छोड़कर भगवान खड्ग, गदा तथा बाणादि आयुधोंसे बाणासुरकी सेनाको नष्ट करने लगे ॥ १४ ॥ उधर प्रद्युम्नजीके बाणोंसे स्वामिका-र्तिकेयजीको अत्यन्त कष्ट हुआ । उनके शरीरसे रुधिर बहने लगा और वे अपने वाहन मयूरपर चढ़-कर रणभूमिसे भाग निकले ॥ १५ ॥ कुम्भाण्ड और कूपकर्ण ये दोनों ही श्रीबलरामजीके मूसलकी चोटसे मूर्च्छित होकर धराशायी होगये और उनकी सेना अपने स्वामियोंको मरे देखकर भाग गयी

धनूंष्याकृष्य युगपद् बाणः पञ्चशतानि वै । एकैकस्मिञ्छरौ द्वौ द्वौ सन्दधे रणदुर्मदः ॥१८॥
तानि चिच्छेद भगवान् धनूंषि युगपद्धरिः । सारथिं रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत ॥१९॥
तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा । पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षया ॥२०॥
ततस्तिर्यङ्मुखो नग्नामनिरीक्षन् गदाग्रजः । बाणश्च तावद् विरथश्छिन्नधन्वाविशत् पुरम्॥२१॥
विद्राविते भूतगणे ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् । अभ्यधावत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश ॥२२॥
अथ नारायणो देवस्तं दृष्ट्वा व्यसृजज्ज्वरम् । माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वरावुभौ ॥२३॥
माहेश्वरः समाक्रन्दन् वैष्णवेन बलार्दितः । अलब्ध्वाऽभयमन्यत्र भीतो माहेश्वरो ज्वरः ।
शरणार्थी हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः ॥ २४ ॥

ज्वर उवाच

नमामि त्वानन्तशक्तिं परेशं सर्वात्मानं केवलं ज्ञप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं यत्तद् ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ॥२५॥
कालो दैवं कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।
तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२६॥
नानाभावैर्लीलयैवोपपन्नैर्देवान् साधूँल्लोकसेतून् बिभर्षि ।
हंस्युन्मार्गान् हिंसया वर्तमानान् जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२७॥
तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।
तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नो सेवेरन् यावदाशानुबद्धाः ॥२८॥

॥ १६ ॥ इस प्रकार अपनी सेनाको छिन्न-भिन्न होती देखकर महारथी बाणासुर बहुत क्रुद्ध हुआ । तब वह सात्यकिको छोड़ रणभूमिमें श्रीकृष्णचन्द्रके सामने आ धमका ॥ १७ ॥ वहाँ आकर उस रणोन्मत्त बाणासुरने एक साथ पाँच सौ धनुषोंको खींचकर उनमेंसे प्रत्येक धनुषपर दो-दो बाण चढ़ाये ॥ १८ ॥ परन्तु भगवानने उन धनुषोंको एक साथ ही काट दिया और बाणासुरके सारथी, रथ और घोड़ोंको नष्टकर अपना शङ्ख बजाया ॥१९॥ तब बाणासुरकी माता कोटरा अपने पुत्रकी प्राणरक्षा-के लिये नग्नावस्थामें बाल बखेरे हुए भगवान कृष्णके सामने आ खड़ी हुई ॥ २० ॥ उसे नग्नावस्थामें न देखनेके लिये भगवानने अपना मुख फेर लिया । इसी बीच रथ और धनुषहीन बाणासुर अपने नगरमें भाग गया ॥ २१ ॥ इधर, भूतगणके छिन्न-भिन्न हो जानेपर भगवान शङ्करका छोड़ा हुआ तीन सिर और तीन पैरोंवाला ज्वर दसों दिशाओंको दग्ध करता हुआ श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर बढ़ा ॥ २२ ॥ उसे आता देखकर श्रीनारायणने भी अपना शीतज्वर छोड़ा । तब दोनों ज्वर आपसमें लड़ने लगे ॥ २३ ॥ अन्तमें माहेश्वर ज्वर वैष्णव ज्वरके तेजसे पीड़ित हो अत्यन्त भयभीत होकर चिल्लाने लगा और कहीं अन्यत्र निर्भय स्थान न देख अतिशय विनयपूर्वक हाथ जोड़कर भगवान कृष्णसे शरणदानके लिये प्रार्थना करने लगा ॥ २४ ॥ उस ज्वरने कहा—हे देव ! जो अनन्तशक्ति, सबके अन्तरात्मा, एकमात्र, ज्ञानस्वरूप, संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण तथा वेद-वाक्योंसे लक्षित शुद्ध ब्रह्म हैं, उन आप परमेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २५ ॥ काल, दैव, कर्म, जीव, स्वभाव, भूतसूक्ष्म, शरीर, सूत्र, अहङ्कार, एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चभूत, इन सबका सङ्घातरूप लिङ्गदेह तथा उसके बीजका उगना और बढ़ना—यह सब आपकी माया ही है । आप इन सबसे अलग रहते हैं । मैं आपकी शरण हूँ ॥ २६ ॥ हे नाथ ! आप लीलाहीसे धारण किये अनेक रूपोंसे देवगण साधुगण और लोकमर्यादादादिकी रक्षा करते हैं और कुमार्गमें जानेवालों तथा हिंसासे आजीविका चलानेवालोंका संहार करते हैं । आपका यह अवतार भी पृथिवीका भार उतारनेके लिये ही हुआ है ॥ २७ ॥ हे प्रभो ! आपके शान्त, उग्र तथा अतिभयानक दुःसह तेजरूप ज्वरसे मैं बहुत

श्रीभगवानुवाच

त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽस्मि व्येतु ते मज्ज्वराद् भयम्। यो नौ स्मरति संवादं तस्य त्वन्न भवेद् भयम्।२९।
इत्युक्तोऽच्युतमानम्य गतो माहेश्वरो ज्वरः। बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद् योत्स्यञ्जनार्दनम्३०
ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः। मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥३१॥
तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना। चिच्छेद भगवान् बाहून् शाखा इव वनस्पतेः३२
बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान् भवः। भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥३३॥

श्रीरुद्र उवाच

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये। यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्।३४।
नाभिर्नभोऽग्निर्मुखमम्बु रेतो द्यौः शीर्षमाशा श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी।
चन्द्रो मनो यस्य दृगर्क आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥३५॥
रोमाणि यस्यौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरिञ्चो धिषणा विसर्गः।
प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वै भवान् पुरुषो लोककल्पः ॥३६॥
तवावतारोऽयमकुण्ठधामन् धर्मस्य गुप्त्यै जगतो भवाय।
वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३७॥
त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीशः।
प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्ध्यै ॥३८॥

सन्तप्त हो रहा हूँ। हे भगवन्! देहधारी जीवोंको तभीतक क्लेश रहता है, जबतक कि वे आशापाशमें फँसे रहनेके कारण आपके चरणकमलोंका आश्रय नहीं लेते। इसलिए अब मैं आपकी शरण आया हूँ, आप मेरा ताप दूर कर दें ॥ २८ ॥ श्रीभगवान कहते हैं—हे त्रिशिरा ज्वर! मैं तुझपर प्रसन्न हूँ, अब तू मेरे ज्वरसे मत डर। यही नहीं, जो लोग हमारी इस कथाका स्मरण करेंगे, उन्हें भी तुझसे भय नहीं रह जायगा ॥ २९ ॥ इस प्रकार भगवानके कहनेपर शिवजीका ज्वर उन्हें प्रणाम करके चला गया। इतनेहीमें बाणासुर फिर रथपर सवार होकर भगवानसे युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें आ डटा ॥ ३० ॥ हे राजन्! बाणासुर अत्यन्त क्रुद्ध हो विविध अस्त्र-शस्त्र धारण किये अपनी हजार भुजाओंसे चक्रपाणि भगवान कृष्णपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ३१ ॥ जब उसने अस्त्र-शस्त्रोंकी झड़ी लगा दी तो भगवान अपने तीक्ष्ण धारवाले सुदर्शनचक्रसे उसकी भुजाओंको वृक्षकी शाखाओंकी भाँति काटने लगे ॥ ३२ ॥ बाणासुरकी हजारों भुजाओंको कटते देखकर भक्तवत्सल भगवान शङ्कर चक्रधारी श्रीकृष्णचन्द्रके पास गये और बोले ॥ ३३ ॥ श्रीमहादेवजीने कहा—हे प्रभो! आप वेदवाक्योंमें छिपे हुए परमज्योतिःस्वरूप परब्रह्म हैं। शुद्धचित्त महात्मा लोग आपको आकाशके समान व्यापक तथा निर्विकार देखते हैं ॥ ३४ ॥ आकाश आपकी नाभि है, अग्नि मुख है, जल वीर्य है, स्वर्ग मस्तक है, दिशाएँ श्रवण हैं, पृथिवी चरण है, चन्द्रमा मन है, सूर्य नेत्र हैं, मैं शिव अहङ्कार हूँ, समुद्र पेट है और इन्द्र आपकी भुजाएँ हैं ॥ ३५ ॥ औषधियाँ आपके रोम हैं, मेघ केश हैं, ब्रह्मा बुद्धि हैं, प्रजापति उपस्थ हैं और धर्म हृदय है। इस तरह सब लोकोंसे जिनके अङ्गोंकी तुलनाकी जाती है, वह परमपुरुष एकमात्र आप ही हैं ॥३६॥ हे अक्षुण्ण तेजोमय प्रभो! आपका यह अवतार धर्मकी रक्षार्थ और संसारके अभ्युदयके निमित्त हुआ है। हम भी आपके प्रभावसे ही प्रभावित होकर सातों भुवनोंका पालन-पोषण करते हैं ॥ ३७ ॥ आप एकमात्र आदिपुरुष, अद्वितीय, तुरीय, स्वप्रकाश, सबके कारण, स्वयं कारणरहित और सर्वेश्वर हैं। फिर भी आप सब विषयोंको प्रकाशित करनेके लिये अपनी मायाका आश्रय लेकर गुणोंके विकाररूप देव-तिर्यक्-मनुष्य आदि शरीरोंमें

यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।
एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥

यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनार्णवे॥४०॥
देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः । यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः॥४१
यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् । विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजन् ॥४२॥
अहं ब्रह्माथ विबुधा मुनयश्चामलाशयाः । सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमीश्वरम्॥४३॥

तं त्वा जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदैवम् ।
अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥४४॥
अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्ती मयाभयं दत्तममुष्य देव ।
सम्पाद्यतां तद् भवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतौ प्रसादः ॥४५॥

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं तव । भवतो यद्व्यवसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४६॥
अवध्योऽयं ममाप्येष वैरोचनिसुतोऽसुरः । प्रह्लादाय वरो दत्तो न वध्यो मे तवान्वयः ॥४७॥
दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्णा बाहवो मया । सूदितं च बलं भूरि यच्च भारायितं भुवः॥४८॥
चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः । पार्षदमुख्यो भवतो न कुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥४९॥
इति लब्ध्वाभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसासुरः । प्राद्युम्निं रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत् ॥५०॥

भिन्न-भिन्नरूपसे भासमान होते हैं ॥ ३८ ॥ हे भूमन् ! जैसे सूर्य मेघोंकी छायासे आच्छादित होकर उस छायाको भिन्न-भिन्न रूपोंसे प्रकाशित करता है, वैसे ही स्वयंप्रकाश आप गुणोंसे आच्छादित होकर उन सभी गुणोंको तथा गुणाभिमानी जीवोंको प्रकाशित करते हैं ॥ ३९-४० ॥ हे प्रभो ! आपकी मायासे मोहित बुद्धिवाले तथा पुत्र-स्त्री और गृह आदिमें आसक्त पुरुष ही बार-बार संसाररूपी दुःखसमुद्रमें डूबते-उतराते हैं। जो अजितेन्द्रिय पुरुष आपके चरणोंमें अनुराग नहीं करता, वह अपने-आपको धोखा देनेवाला अत्यन्त शोचनीय मनुष्य होता है ॥ ४१ ॥ जो पुरुष दुःखरूप इन्द्रिय-सुखोंके लिये अपने प्रिय आत्मारूप आप ईश्वरको त्याग देता है, वह प्राणी मानों अमृत छोड़कर विष पीता है ॥ ४२ ॥ मैं, ब्रह्मा, सब देवता और शुद्धचित्त मुनिगण अपने आत्मा, प्रियतम और प्रभुरूप आप परमेश्वरके सब प्रकारसे शरणागत रहते हैं ॥ ४३ ॥ हे देव ! जगत्की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलयके कारण, सर्वत्र समान, अत्यन्त शान्त, सबके सुहृद्, आत्मा एवं ईश्वर, अद्वितीय तथा जगत्के अधिष्ठानरूप आपको हम संसारसे मुक्त होनेके लिये भजते हैं ॥ ४४ ॥ हे देव ! यह बाणासुर मेरा परमप्रिय और इष्ट सेवक है। मैंने इसे अभयदान दे रखा है। हे प्रभो ! जैसे दैत्यपति प्रह्लादपर आपकी कृपा थी, वैसे ही यह भी आपकी कृपा प्राप्त करे ॥ ४५॥ श्रीभगवान्‌ने कहा—हे भगवन् ! आप जो कुछ कहते हैं, आपका वह प्रिय कार्य हम अवश्य करेंगे। आपने जैसा सोचा था, हमने उसका अनुमोदन किया है ॥ ४६ ॥ यह असुर विरोचनसुत राजा बलिका पुत्र होनेके कारण अवध्य है। मैंने प्रह्लादको भी यही वर दिया था कि मेरे हाथसे तुम्हारी सन्तानका वध नहीं होगा ॥ ४७ ॥ सो मैंने इसका दर्प दलन करनेके लिये केवल इसकी भुजाएँ काट दी हैं और पृथ्वीके लिये भारभूत इसकी बहुत-सी सेनाका संहार कर दिया है ॥ ४८ ॥ अब जो इसकी चार भुजाएँ बाकी रह गयी हैं, वे अजर-अमर होंगी और यह आपके पार्षदोंमें प्रधान होगा। अब इसे किसी प्रकारका भय नहीं रहेगा ॥ ४९ ॥ भगवानके द्वारा इस प्रकार अभयदान पाकर बाणासुरने उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और प्रद्युम्नतनय अनिरुद्धजीको नववधूके साथ रथपर चढ़ाकर

अक्षौहिण्या परिवृतं सुवासःसमलङ्कृतम् । सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥५१॥
स्वराजधानीं समलंकृतां ध्वजैः सतोरणैरुक्षितमार्गचत्वराम् ।
विवेश शङ्खानकदुन्दुभिस्वनैरभ्युद्यतः पौरसुहृद्द्विजातिभिः ॥५२॥
य एवं कृष्णविजयं शङ्करेण च संयुगम् । संस्मरेत् प्रातरुत्थाय न तस्य स्यात् पराजयः ५३

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धेऽनिरुद्धानयनं नाम त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः । विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥१॥
क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः । जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥२॥
कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः । तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥३॥
चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः । नाशक्नुवन् समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ॥४॥
तत्रागत्यारविन्दाक्षो भगवान् विश्वभावनः । वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥५॥
स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।
सन्तप्तचामीकरचारुवर्णः स्वर्ग्यद्भुतालङ्करणाम्बरस्रक् ॥६॥
पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनम् ॥७॥

सेवामें ला उपस्थित किया ॥ ५० ॥ तब भगवान कृष्णने श्रीमहादेवजीकी सम्मति लेकर एक अक्षौहिणी सेनासे घिरे सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे अलंकृत नववधूसहित अनिरुद्धजीको आगे करके द्वारकाके लिये प्रस्थान किया ॥५१॥ तदनन्तर श्रीकृष्णचन्द्रने पुरवासी, स्वजन और ब्राह्मणों द्वारा स्वागत किये जाते हुए शङ्ख, ढोल, दुन्दुभी आदि बाजोंकी ध्वनिके साथ, जो ध्वजा और बन्दनवार आदिसे भली प्रकार सजायी गयी थी और जिसके मार्ग तथा चौराहोंपर छिड़काव किया गया था, ऐसी अपनी राजधानी द्वारकापुरीमें प्रवेश किया ॥ ५२ ॥ हे राजन् ! जो प्राणी भगवान शङ्करके साथ श्रीकृष्णचन्द्रके युद्ध तथा विजयसम्बन्धी इस कथाका प्रातःकालके समय सो उठकर स्मरण करेगा, उसका कहीं और कभी पराभव नहीं होगा ॥ ५३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

(राजा नृगका वृत्तान्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारुभानु और गद आदि यादवकुमार उपवनमें खेलने गये ॥ १ ॥ बहुत देरतक खेलते रहनेके कारण उन्हें प्यास लग गयी। तब उन्होंने जल ढूँढते समय एक सूखे कुएँमें एक विचित्र जीव बैठा देखा ॥ २ ॥ उस कूपमें पर्वतके सदृश बहुत बड़ा गिरगिट देखकर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ और वे कृपावश उसे कुएँसे निकलनेका प्रयत्न करने लगे ॥ ३ ॥ किन्तु जब वे बालक उस गिरगिटको चमड़े और सूतकी डोरियोंसे बाँधकर नहीं निकाल पाये, तब उन्होंने उत्सुक होकर सब वृत्तान्त श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा ॥ ४ ॥ तब कमलनयन भगवान विशम्भरने स्वयं वहाँ आकर उसे देखा और अपने बायें हाथके सहारे अनायास कुएँसे बाहर कर दिया ॥ ५ ॥ उत्तमश्लोक भगवान कृष्णके हाथका स्पर्श होते ही तत्काल उसने गिरगिटका रूप त्याग दिया और तपाये हुए सुवर्णके समान सुन्दर और अतिविचित्र वस्त्र, आभूषण और मालाएँ धारण किये देवता सदृश हो गया ॥ ६ ॥ यद्यपि भगवान

दशामिमां वा कतमेन कर्मणा सम्प्रापितोऽस्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुम् ॥८॥

श्रीशुक उवाच

इति स्म राजा सम्पृष्टः कृष्णेनानन्यमूर्तिना । माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥९॥

नृग उवाच

नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो । दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम्॥१०
किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः । कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ११
यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः । यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां स्म गाः ॥१२॥
पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूपगुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥१३॥
स्वलंकृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥
गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान् रथानिष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तम् ॥१५॥
कस्यचिद् द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने । सम्पृक्ताविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये १६
तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् । ममेति प्रतिग्राह्याह नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥

मुकुन्द सर्वज्ञ थे, फिर भी 'सबको उसके इस अधम योनिमें जानेके कारण विदित हो जाय' इसलिये उन्होंने पूछा—'हे महाभाग ! तुम कौन हो ? तुम्हारा रूप अतिमनोहर है । मैं तो समझता हूँ, तुम निश्चित रूपसे कोई श्रेष्ठ देवता हो ॥ ७ ॥ हे कल्याणमूर्ते ! तुम्हें किस कुकर्मसे यह अधम योनि मिली थी ? तुम इसके योग्य तो नहीं हो सकते । हम तुम्हारा वृत्तान्त जानना चाहते हैं । यदि उसे हमसे कहने योग्य समझो तो अपना सब हाल कह सुनाओ'' ॥ ८ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अनन्तमूर्ति भगवान कृष्णके इस तरह पूछनेपर राजा नृगने अपना सूर्यके सदृश तेजस्वी तथा मुकुट-युक्त मस्तक झुकाकर भगवानको प्रणाम किया और कहने लगे ॥ ९ ॥ नृग बोले—हे प्रभो ! मैं महाराज इक्ष्वाकुका पुत्र राजा नृग हूँ । सम्भवतः दानियोंकी गणनाके समय कभी आपके कानोंमें मेरा भी नाम पड़ा होगा ॥ १० ॥ हे नाथ ! आप सब प्राणियोंके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं—आपसे छिपा ही क्या है ? क्योंकि आपकी दृष्टिको काल भी रोकनेमें समर्थ नहीं हो सकता । फिर भी आपकी आज्ञासे मैं अपना वृत्तान्त सुनाता हूँ ॥ ११ ॥ हे प्रभो ! पृथ्वीमें जितने रजःकण हैं, आकाशमें जितने तारे हैं और वर्षामें जितनी जलधाराएँ गिरती हैं, मैंने उतनी ही गायें दान करके दी थीं ॥ १२ ॥ मैंने दूध देनेवाली, तरुणी, शील, गुण और रूपसे सम्पन्न, बहुत-सा घी देनेवाली तथा सुवर्णकी सींग और चाँदीके खुर मढ़ी न्यायपूर्वक प्राप्त तथा वस्त्र-मालादिसे अलंकृत बछड़ोंयुक्त गौएँ दान की थीं ॥१३॥ मैंने वे गौएँ वस्त्रादिसे अलंकृत करके, गुणशीलसम्पन्न, बहुकुटुम्बी, सत्यपरायण, तपस्वी, वेदपाठी और शिष्योंको पढ़ानेवाले तथा सच्चरित्र युवक ब्राह्मणोंको दी थीं ॥ १४ ॥ इस प्रकार मैंने बहुत-सी गौएँ, पृथ्वी, सुवर्ण, घर, घोड़े, हाथी तथा दासियोंके सहित कन्याएँ, तिलपर्वत, चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न, परिच्छद अर्थात् गृह-सामग्री और रथ आदि दान दिये, अनेकों यज्ञ किये और बहुतसे कुएँ-बावली आदि भी बनवाये ॥ १५ ॥ एक बार एक ब्राह्मणकी गौ बिछुड़कर मेरी दान की जानेवाली गौओंके बीच आ मिली । मुझे इस बातका कुछ भी पता न था । इसलिये मैंने उसे किसी अन्य ब्राह्मणको दान करके दे दी ॥ १६ ॥ उसे ले जाते देखकर उसके स्वामी ब्राह्मणने

विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ । भवान् दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥१८॥
अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रगतेन वै । गवां लक्षं प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् १९
भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः । समुद्धरत मां कृच्छ्रात् पतन्तं निरयेऽशुचौ ॥२०॥
नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् । नान्यद् गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ २१
एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् । यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥२२॥
पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्ते उताहो नृपते शुभम् । नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः २३
पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः । तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन् प्रभो ॥२४॥
ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव । स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिनः २५

स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः ।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्यान्मेऽनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥

देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम । नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय २७
अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं प्रभो । यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् २८
नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये । कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः २९
इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना । अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत् पश्यतां नृणाम् ३०

कहा—"यह गौ मेरी है" और उसे दान कराकर ले जानेवाले ब्राह्मणने कहा—"नहीं यह गौ मेरी है। मुझे राजा नृगने दान करके दिया है" ॥ १७ ॥ तब वे दोनों ब्राह्मण आपसमें झगड़ते हुए झगड़ा तै करानेके लिये मेरे पास आये। उनमेंसे ले जानेवालेने कहा—"यह गौ तुमने मुझे दान करके दी है" और गौके स्वामीने उससे कहा—"तुमने मेरी गाय चुराई है।" पूरा प्रसङ्ग सुनकर मुझे बड़ा भ्रम हुआ ॥ १८ ॥ धर्मसङ्कटमें पड़कर मैंने उन दोनों ब्राह्मणोंसे प्रार्थना की कि "आपमेंसे कोई एक इस गौको छोड़ दें। मैं उनको इसके बदलेमें एक लाख उत्तम गौएँ दूँगा ॥ १९ ॥ अनजानमें मुझसे यह अपराध हो गया है। आप लोग मुझ सेवकपर कृपा करें और मुझे घोर नरकमें जानेके कष्टसे बचावें" ॥ २० ॥ तब गौके स्वामीने कहा—"मैं इसके बदलेमें कुछ नहीं चाहता" और वह तुरन्त वहाँसे चला गया। उसे ग्रहण करनेवाला उस गायका स्वामी दूसरा ब्राह्मण भी अब तुम "लाख ही नहीं, बल्कि दस हजार गाय और भी दो तो मैं इसके बदलेमें नहीं लूँगा" ॥ २१ ॥ कालान्तरमें यमके दूत मुझे यमराजके पास ले गये। हे देवदेव जगदीश्वर! मुझसे यमराजने पूछा—॥२२॥ "हे राजन्! यह बताओ कि तुम पहले अपने पापकर्मोंका फल भोगोगे या पुण्यकर्मोंका? तुम्हें तेजोमय लोक प्राप्त करानेवाले तुम्हारे दान और पुण्यकर्मोंका कोई अन्त नहीं दीखता" ॥ २३ ॥ मैं बोला—"हे देव! पहले मैं पापकर्मोंका ही फल भोगूँगा।" तब यमराजने कहा—"अच्छा तो गिरो।" हे प्रभो! उन यमराजके ऐसा कहते ही मैंने अपनेको गिरगिट होकर नीचे गिरते देखा ॥ २४ ॥ हे केशव! मैं ब्राह्मणोंका भक्त, दानी और आपका दास था और मुझे आपके दर्शनकी प्रबल लालसा थी। अतएव आजतक मेरे पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट नहीं हुई ॥ २५ ॥ हे विभो! आप परमात्मा हैं। शुद्धचित्त योगेश्वरगण अपनी उपनिषद्रूप दृष्टिसे अपने हृदयमें आपका ध्यान किया करते हैं। हे अधोक्षज! ऐसे आप अनेक व्यसनोंसे अन्धबुद्धि मुझ मन्दमतिके समक्ष कैसे प्रकट हुए? क्योंकि जिसका संसारचक्र निवृत्त होनेवाला होता है, उसीको आपका दर्शन मिलता है ॥ २६ ॥ हे देवदेव! हे जगन्नाथ! हे गोविन्द! हे पुरुषोत्तम! हे नारायण! हे हृषीकेश! हे पुण्यश्लोक! हे अच्युत! हे अविनाशिन्॥ २७ ॥ हे कृष्ण! अब मैं देवलोक जा रहा हूँ। आप मुझे आज्ञा दें। हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि मैं कहीं भी रहूँ, मेरा चित्त सदा आपके चरणोंमें लीन रहे ॥२८॥ सारे जगत्‌की उत्पत्तिके स्थान, ब्रह्मस्वरूप, मायानामकी अनन्त शक्तिसे सम्पन्न, नित्यानन्दस्वरूप

कृष्णः परिजनं प्राह भगवान् देवकीसुतः । ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ३१
दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि । तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ३२
नाहं हलाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया । ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिविधिर्भुवि ३३
हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति । कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥३४॥
ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम् । प्रसह्य तु बलाद् भुक्तं दश पूर्वान् दशापरान् ३५
राजानो राजलक्ष्म्यान्धा नात्मपातं विचक्षते । निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ३६
गृह्णन्ति यावतः पांसून् क्रन्दतामश्रुबिन्दवः । विप्राणां हृतवृत्तीनां वन्दान्यानां कुटुम्बिनाम् ३७
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः । कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥३८॥
स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः । षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥३९॥
न मे ब्रह्मधनं भूयाद् यद् गृद्ध्वाल्पायुषो नराः । पराजिताश्च्युता राज्याद् भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः
विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः । घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥४१॥
यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः । तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ४२
ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः । अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४३॥

योगेश्वर और श्रीवासुदेवको अनेकशः नमस्कार है ॥ २९–३० ॥ ऐसा कहकर नृगने भगवानकी परिक्रमा की और उनके चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पाकर सब मनुष्योंके देखते-देखते एक विमानपर आरूढ़ होगये ॥ ३० ॥ तब ब्रह्मण्यदेव देवकीनन्दन भगवान कृष्णने यादवराजकुमारोंको शिक्षा देते हुए अपने बान्धवोंसे कहा—॥ ३१ ॥ "अहो ! ब्राह्मणोंका धन बड़ा दुर्जर होता है । उसे थोड़ेसे-थोड़ा खाकर अग्निके समान तेजस्वी पुरुष भी नहीं पचा सकते । फिर अपनेको ईश्वर माननेवाले राजाओंकी क्या बात है ? ॥ ३२ ॥ मैं हलाहल विषको विष नहीं मानता । क्योंकि उसका प्रतीकार किया जा सकता है । मेरे विचारसे तो ब्राह्मणका धन ही सबसे विषम विष है । संसारमें इसका शमन करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है ॥ ३३ ॥ विष केवल खानेवालेको ही मारता है और अग्नि भी जलसे शान्त हो जाता है, परन्तु ब्राह्मणके धनरूप अरणीसे उत्पन्न अग्नि सारे कुलको समूल भस्म कर देता है ॥ ३४ ॥ यदि ब्राह्मणका धन उसकी सम्मति लिये बिना भोगा जाय तो वह तीन पीढ़ियोंको और यदि बलात्कारसे हठपूर्वक भोगा जाय तो पहली और पिछली बीस पीढ़ियोंको नष्ट कर देता है ॥ ३५ ॥ जो राजे नरकमें ले जानेवाले ब्राह्मणके धनको हर लेना उचित समझते हैं, वे मूर्ख मानों राजलक्ष्मीसे अन्धे होकर अपने पतनका विचार नहीं करते ॥ ३६ ॥ जिनकी वृत्ति छिन जाती है, उन उदार और कुटुम्बी ब्राह्मणोंके रोनेपर उनके आँसुओंकी बूँदोंसे जितने रजःकण भींगते हैं तो उनका सर्वस्व हरण करनेवाले निरंकुश राजे और उनके कुटुम्बी उतने ही वर्षतक कुम्भीपाक नरकका कष्ट भोगते हैं ॥ ३७–३८ ॥ जो अपनी दी अथवा किसी औरकी दी हुई ब्राह्मणका वृत्तिको हर लेता है, वह प्राणी साठ हजार वर्षतक विष्ठका कृमि होता रहता है ॥३९॥ इसलिये मैं तो यही चाहता हूँ कि मेरे हाथों कभी किसी ब्राह्मणके धनका अपहरण न हो । क्योंकि उसकी इच्छा करनेवाले लोग अल्पायु, शत्रुओंसे पराजित तथा राज्यभ्रष्ट होते हैं और प्राणत्याग करनेपर वे औरोंको दुःखदायक सर्प होते हैं ॥ ४० ॥ अतएव हे सुहृद्गण ! ब्राह्मण अपराध करे तो भी उससे द्वेष मत करो, उसके मारने और अनेकों बार शाप देनेपर भी उसे सदा नमस्कार ही करो ॥ ४१ ॥ जैसे मैं समय-समयपर ध्यान रखकर ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ, वैसे ही तुमको भी करना उचित है । जो ऐसा नहीं करेगा, वह मेरा दण्डनीय होगा ॥ ४२ ॥ ब्राह्मणका धन हरण किये जाने पर हरण करनेवालेको अधोगतिमें डालता है । जैसे उस ब्राह्मणकी गायने बिना जाने हरण की जाने-

एवं विश्राव्य भगवान् मुकुन्दो द्वारकौकसः । पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नृगोपाख्यानं नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः । सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥

परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च । रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरनन्दितः ॥२॥

चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः । इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः ॥३॥

गोपवृद्धांश्च विधिवद् यविष्ठैरभिवन्दितः । यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥४॥

समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः । विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः ॥५॥

पृष्टाश्चानामयं स्वेषु प्रेमगद्गदया गिरा । कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ॥६॥

कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते । कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विताः ॥७॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः । निहत्य निर्जित्य रिपून् दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः

गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः । कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥९॥

कच्चित् स्मरति वा बन्धून् पितरं मातरं च सः । अप्यसौ मातरं द्रष्टुं सकृदप्यागमिष्यति ।

अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥१०॥

से भी इस महादानी नृगको अधम योनिमें लाकर डाल दिया" ॥ ४३ ॥ सब लोकोंको पवित्र करनेवाले भगवान् कृष्णचन्द्र द्वारकावासियोंको ऐसा उपदेश देकर अपने महलोंमें चले गये ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

(बलभद्रजीका व्रजमें आगमन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे कुरुश्रेष्ठ ! एक बार भगवान बलरामजी अपने बन्धु-बान्धवोंको देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रथपर चढ़कर नन्दजीके गोकुलको गये ॥ १ ॥ वहाँ चिरकालसे दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित गोप और गोपियोंसे आलिङ्गित होकर श्रीबलरामजीने अपने माता-पिता अर्थात् यशोदा और नन्दजीको प्रणाम किया और उन्होंने आशीर्वाद देकर उनका अभिनन्दन किया ॥ २ ॥ वे बोले—हे दाशार्ह ! तुम जगत्पति हो । तुम अपने छोटे भाई कृष्णके साथ हमारी चिरकालतक रक्षा करो । ऐसा कह नन्दन-यशोदाने उन्हें गोदमें लेकर हृदयसे लगा लिया और अपने प्रेमाश्रुओंसे सींचने लगे ॥ ३ ॥ तब बलरामजीने वृद्ध गोपोंको और छोटी अवस्थावालोंने श्रीबलरामजीको अपनी आयुके मेल-जोल तथा सम्बन्धके अनुसार विधिवत् अभिवादन किया ॥ ४ ॥ फिर वे समवयस्क ग्वालबालोंके पास आये और उनसे हँसते हुए हाथ मिलाकर मिले । जब बलरामजी सुस्ताकर सुखपूर्वक आसनपर बैठे, तब कमलनयन भगवान कृष्णके लिये सम्पूर्ण भोग त्याग देनेवाले ग्वालबालोंने समीप आकर प्रेमगद्गद वाणीसे यादवोंका कुशल पूछा और बलरामजीने उनसे भी आरोग्यादिके विषयमें प्रश्न किया ॥ ५ ॥ ६ ॥ ग्वालबाल बोले—'हे बलरामजी ! वसुदेवजी आदि हमारे सब बन्धु-बान्धव सकुशल हैं ? अब तो आपलोग स्त्री और बालबच्चोंवाले हो गये हैं । क्या आपको कभी हमारी भी याद आती है ? ॥ ७ ॥ यह बड़े सौभाग्य की बात है कि पापी कंस मार डाला गया, आपके सुहृद्जन उसके बन्धनसे मुक्त हो गये और आपलोग अब अपने शत्रुओंको मार तथा जीतकर एक अभेद्य दुर्गमें रहते हैं ॥ ८ ॥ अभी बलरामजी बड़े-बूढ़ोंसे ही मिले थे । उधर बलरामजीकी स्नेहदृष्टिसे सम्मानित गोपियोंने हँसते हुए कहा—"हे

मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि । यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो
ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संछिन्नसौहृदः । कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम्॥१२॥
कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥१३॥
किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः । यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः१४
इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारु वीक्षितम् । गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो रुरुदुः स्त्रियः॥१५॥
सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः । सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः १६
द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च । रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन्॥१७॥
पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना । यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥१८॥
वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् । पतन्ती तद् वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत्॥१९॥
तं गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः । आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥
उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः । वनेषु व्यचरत् क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥२१॥
स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया । बिभ्रत् स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयभूषितम् २२

राम ! नगरकी नारियोंके वल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र तो प्रसन्न हैं ? ॥ ९ ॥ क्या वे कभी अपने बन्धु-बान्धवों तथा माता-पिताका भी स्मरण करते हैं ? क्या वे अपनी माताको देखनेके लिये एक बार यहाँ आयेंगे ? उन महाबाहुको क्या कभी हमारी सेवाओंकी भी याद आती है ? ॥ १० ॥ हे दाशार्ह ! जिनके लिये हमने अपने माता, पिता, भाई, पति, पुत्र और बहिन आदि सभी दुस्त्यज बन्धुओं तकको त्याग दिया था। हे प्रभो ! वे हमारे स्नेहबन्धनको इतनी जल्दी तोड़ और हमें त्यागकर चले गये ! यदि आप कहें कि उन्हें तुमने रोक क्यों नहीं लिया तो 'मैं तुम्हारे उपकारका बदला कभी नहीं चुका सकता' आदि उनकी कपटप्रेमकी बातोंका भला कौन स्त्री विश्वास न करेगी ?"॥११॥१२॥ एक गोपीने कहा—"हे बलभद्रजी ! नगरकी स्त्रियाँ तो बड़ी चतुर होती हैं, वे अव्यवस्थित-चित्त तथा कृतघ्न कृष्णकी बातोंपर विश्वास किस तरह करती होंगी ?" दूसरी गोपी बोली—'कृष्ण बड़ी विचित्र तरहसे बातें बनाना जानते हैं। उनकी मनोहर मुसकान भरी चितवन और उद्दीप्त प्रेमावेशसे आकुल होकर वे अवश्य उनपर विश्वास कर लेती होंगी" ॥ १३ ॥ एक दूसरी सखीने कहा—'अरी गोपियो ! हमें उनकी बातोंसे क्या मतलब ? कोई और बात करो। यदि हमारे बिना उनका समय बीत जाता है तो हमारा समय भी तो उनके बिना बीत ही जाता है ॥ १४॥ इस तरह श्रीकृष्णचन्द्रकी हँसी, उनकी बोलचाल, उनकी मनोहर चितवन, गति और प्रेमालिङ्गनादिका स्मरण करती हुई वे सब व्रजबालाएँ बिलबिलाकर रोने लगीं ॥ १५ ॥ तब विविध अनुनय-विनयमें कुशल भगवान सङ्कर्षणने उन्हें कृष्णचन्द्रके मर्मस्पर्शी सन्देश सुनाकर धीरज बँधाया ॥ १६ ॥ इसके बाद भगवान बलरामजी रात्रिमें गोपियोंका प्रेम बढ़ाते हुए चैत और वैशाखके दो महीने वहीं रहे ॥१७॥ व्रजस्त्रियोंसे घिरे हुए श्रीरोहिणीनन्दनने पूर्णचन्द्रकी कान्तिसे शोभायमान तथा कुमुद-कुसुमकी सुगन्धसे सुवासित यमुनाजीके सुरम्य कुञ्जमें विहार किया ॥ १८ ॥ उसी समय वरुणदेवकी भेजी हुई वारुणीदेवीने वृक्षकोटरसे मधुधाराके रूपमें बहकर सारे वनको अपनी सुगन्धिसे सुवासित कर दिया। बलरामजी वायुद्वारा उड़ाकर लायी हुई उस मधुधाराकी सुगन्धिको सूँघकर वहाँ गये और स्त्रियोंके साथ उसका पान किया। तब नशेके आनन्दमें जिनके नेत्र विह्वल थे, जिन्होंने गलेमें वन-माला और एक कानमें कुण्डल पहन रखा था, जो स्वभावसे ही मत्त थे और जानुपर्यन्त लम्बायमान वैजयन्ती-माला पहने हुए थे और जिनका हास्ययुक्त मुखारविन्द स्वेदरूप तुषार-कणोंसे विभूषित था, वे आनन्दोन्मत्त बलभद्रजी व्रजनारियों द्वारा अपना सुयश सुनते हुए वनमें इधर-उधर विचरने

स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः । निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥ २३ ॥
पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाऽऽहुता । नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् २४
एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् । उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥२५॥
राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् । यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥२६॥
परं भावं भगवतो भगवन् मामजानतीम् । मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन् प्रपन्नां भक्तवत्सल २७
ततो व्यमुञ्चद् यमुनां याचितो भगवान् बलः । विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥२८॥
कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे । भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम्
वसित्वा वाससी नीले मालामामुच्य काञ्चनीम् । रेजे स्वलंकृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥३०॥
अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाऽऽकृष्टवर्त्मना । बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥३१॥
एवं सर्वा निशा याता एकेव रमतो व्रजे । रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ३२

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे बलदेवविजये यमुनाकर्षणं नाम पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप । वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१॥

लगे ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ इसी समय सर्वसमर्थ श्रीबलभद्रजीने जलक्रीडाके लिये यमुनाको बुलाया । लेकिन जब वह उनको मतवाला समझकर उनकी आज्ञाका अनादर करती हुई नहीं आयी तो उन्होंने कुपित होकर उसे अपनी हलकी नोंकसे खींचा ॥ २३ ॥ और कहने लगे—"अरी पापिनी ! तूने जो मेरे बुलानेपर भी मेरी अवहेलना की और मेरे पास नहीं आ रही है । अतएव अब मैं इस हलकी नोकसे तुझ स्वेच्छाचारिणीके सैकड़ों टुकड़े कर दूँगा ।" हे राजन् ! बलरामजी द्वारा इस प्रकार डाँटी जानेपर यमुना बहुत डरी और चकित होकर आयी और यदुकुमार बलभद्रजीके चरणोंमें गिरकर गिड़गिड़ाने लगी—॥ २४ ॥ २५ ॥ "हे राम ! हे महाबाहो ! हे जगत्पते ! आपने अपने एक अंशसे ही यह सम्पूर्ण विश्व उठा रखा है, मैं आपका पराक्रम नहीं जानती थी ॥ २६ ॥ हे भगवन् ! मैं आपके सच्चे स्वरूपको नहीं समझ सकी थी । अतएव हे विश्वात्मन् ! आप मुझे छोड़ दें । हे भक्तवत्सल ! मैं आपकी शरणमें हूँ" ॥ २७ ॥ इस प्रकार यमुनाजीके प्रार्थना करनेपर भगवान बलरामजीने उनको छोड़ दिया और फिर हाथी जैसे हथिनियोंके साथ जलक्रीडा करता है, उसी तरह गोपियोंके साथ जलमें घुसे ॥ २८ ॥ जब यथेष्ट जलविहार करके वे यमुनासे बाहर निकले तब लक्ष्मीजीने उन्हें नील वस्त्र, महामूल्यवान् आभूषण और एक सुन्दर माला अर्पण की ॥ २९ ॥ तब बलरामजी नीलाम्बर पहन गलेमें सुवर्णमयी माला डाल तथा चन्द्रनादिका लेप करके इन्द्रके ऐरावत हाथीकी भाँति सुशोभित हुए ॥ ३० ॥ हे राजन् ! अब भी यमुनाजी उन्हींके बनाये मार्गसे बहती हुई मानो बलराम जीके अपरिमित पराक्रमकी सूचना दे रही हैं ॥ ३१ ॥ हे तात ! व्रजबालाओंके माधुर्यसे आकृष्ट होकर उनके साथ व्रजमें क्रीडा करते हुए बलरामजीको वे दो महीनेकी रात्रियाँ एक रात्रिकी तरह जान पड़ीं ॥ ३२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे उत्तरार्धे भाषाटीकायां पंचषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

(पौण्ड्रकके वधकी कथा) श्रीशुकदेवजी कहते हैं–हे राजन् ! बलरामजीके व्रज चले जानेपर करूषदेशके अधिपति पौण्ड्रकने अज्ञानवश यह निश्चय कर लिया कि 'मैं ही वासुदेव हूँ

त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः । इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ॥२॥
दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने । द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥३॥
दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् । कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥४॥
वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः । भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज॥५॥
यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्बिभर्षि सात्वत । त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नोचेद् देहि ममाहवम् ६

श्रीशुक उवाच

कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः । उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥७॥
उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु । उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे॥८॥
मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रवटैर्वृतः । शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥९॥
इति दूतस्तदाक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् । कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह॥१०॥
पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः । अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद् द्रुतम्११
तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप । अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत् पौण्ड्रकं हरिः १२
शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम् । बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम्॥१३॥
कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् । अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम्॥१४॥
दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यवेषं कृत्रिममास्थितम् । यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥१५॥

और उसने भगवान कृष्णके पास अपना दूत भेजा ॥ १ ॥ 'आप ही जगत्पति भगवान वासुदेव होकर पृथिवीमें अवतीर्ण हुए हैं' इस तरह मूर्खों अथवा खुशामदियोंके बहकानेसे वह अपनेहीको श्रीअच्युत समझने लगा ॥ २ ॥ बालकों द्वारा खेलमें बनाये हुए राजाके समान कृष्ण बने उस मन्दमतिने द्वारकापुरीमें अचिन्त्यगति श्रीहरिके पास अपना दूत भेज दिया ॥ ३ ॥ उस दूतने द्वारकामें आकर सभाभवनमें विराजमान कमलनयन भगवान कृष्णको अपने स्वामीका जो सन्देश सुनाया, वह यह था—॥ ४ ॥ 'एकमात्र मैं ही वासुदेव हूँ और कोई नहीं। मैंने ही जीवोंपर दया करनेके लिये अवतार लिया है। तुम झूठ-मूठ अपनेको 'वासुदेव' कहलाना छोड़ दो ॥ ५ ॥ हे यादव ! तुम मूर्खतावश मेरे जिन-जिन चिह्नोंको धारण किये रहते हो, उन्हें छोड़कर या तो मेरी शरणमें आ जाओ, नहीं तो मुझे अपने साथ लड़नेका मौका दो' ॥ ६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उस मन्दमति पौण्ड्रकको आत्मप्रशंसासे भरा हुआ सन्देश सुनकर उग्रसेन आदि सब सभासद जोरसे खिलखिलाकर हँसने लगे ॥ ७ ॥ तब भगवानने पौण्ड्रककी हँसी उड़ाते हुए उस दूतसे कहा—"तुम जाकर अपने राजासे कह दो कि अरे मूढ़ ! मैं अपने सुदर्शनचक्रादि चिह्नोंको—जिनके बहकानेसे तू बड़ी-बड़ी बातें बनाता है—उनपर और तुझपर छोड़ूँगा। जिससे तू इतनी बढ़-बढ़कर बातें करता है, उस अपने मुखको छिपाकर जब तू कङ्क, गृध्र और वट आदि पक्षियोंसे घिरा हुआ रणभूमिमें मरकर लोटेगा, तब तू कुत्तोंकी शरणमें जायगा" ॥ ८ ॥ ९ ॥ दूतने भगवानका वह तिरस्कारपूर्ण उत्तर अपने स्वामीको जा सुनाया और श्रीकृष्णचन्द्र भी रथपर सवार हो काशीको चल दिये ॥१०॥ युद्धके लिये श्रीकृष्णचन्द्रका उद्योग देखकर महारथी पौण्ड्रक भी दो अक्षौहिणी सेना साथ लेकर तुरन्त अपने नगरसे बाहर निकल आया। हे राजन् ! पौण्ड्रकका मित्र काशिराज भी उसकी सहायताके लिये तीन अक्षौहिणी सेना लेकर उसके पीछे-पीछे आ पहुँचा। उस समय भगवानने पौण्ड्रकको देखा कि वह शंख, चक्र, खड्ग, गदा, शार्ङ्गधनुष और श्रीवत्सादि चिह्नोंसे युक्त है और गलेमें कौस्तुभमणि धारण किये हुए वनमालासे सुशोभित है ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ वह रेशमी पीताम्बर, महामूल्यवान् मुकुट, आभूषण तथा झिलमिलाते हुए मकराकृति कुण्डल पहने है और गरुड़चिह्नयुक्त ध्वजावाले रथपर बैठा है ॥ १४ ॥ नाट्यशालामें उपस्थित नटके समान उसे अपने ही

शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः । असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६॥
कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयोर्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् ।
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद् भृशं यथा युगान्ते हुतभुक् पृथक् प्रजाः ॥१७॥
आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जरद्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः ।
बभौ चितं मोदवहं मनस्विनामाक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ॥१८॥
अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो भोः पौण्ड्रक यद् भवान् । दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥
त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत् त्वयाज्ञ मृषा धृतम् । व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥
इति क्षिप्त्वा शितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् । शिरोऽवृश्चद् रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥
तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिभिः । न्यपातयत् काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ॥२२॥
एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः । द्वारकामाविशत् सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ॥२३॥
स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः । बिभ्राणश्च हरे राजन् स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥
शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम् । किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिशियरे जनाः २५
राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः । पौराश्च हा हता राजन् नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥२६॥
सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः । निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥
इत्यात्मनाभिसन्धाय सोपाध्यायो महेश्वरम् । सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥

अनुरूप बनावटी वेष धारण किये देखकर श्रीकृष्ण बहुत हँसे ॥ १५ ॥ तब सब शत्रु त्रिशूल, गदा, परिघ, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, तोमर, खड्ग, पट्टिश और बाण आदि अस्त्रोंसे प्रहार करने लगे ॥ १६ ॥ जैसे प्रलयकालमें अग्नि भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणियोंको सताता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-चन्द्रसे भी पौण्ड्रक तथा काशिराजके हाथी, घोड़े और पैदल सेनाको अपनी गदा, खड्ग, चक्र और बाण आदिसे कुचल दिया ॥ १७ ॥ उस समय भगवानके चक्रके आघातसे खण्ड-खण्ड हुए रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य, गधे और ऊँटोंसे भरी वह रणभूमि भूतनाथ शंकरकी भयङ्कर क्रीडास्थलीके सदृश शूरवीरोंको आनन्ददायिनी मालूम पड़ी ॥ १८ ॥ तब भगवान कृष्णने पौण्ड्रकसे कहा—"हे पौण्ड्रक ! तूने जो मुझसे दूतके द्वारा कहलाया था सो उन सुदर्शनादि आयुधोंको मैं तुझपर छोड़ रहा हूं ॥ १९ ॥ ओ मूर्ख ! तूने जो झूठ-मूठ मेरा नाम धारणकर रक्खा है, उसे भी छुड़ा दूँगा। यदि मुझमें तेरे साथ युद्ध करनेका साहस न होगा तो आज मैं तेरी शरण गह लूँगा" ॥२०॥ पौण्ड्रक-का इस प्रकार तिरस्कार करके भगवानने अपने तीक्ष्ण बाणोंसे उसे रथहीन कर दिया। इन्द्रने जैसे अपने वज्रसे पर्वतोंके पंख काट डाले थे, वैसे ही सुदर्शन चक्रसे उसका सिर काटकर धड़से अलग कर दिया। अपने बाणोंसे काशिराजका भी सिर काटकर उसे वायुसंचालित कमलकोशकी नाई काशीपुरीमें गिराया ॥ २१ ॥ २२ ॥ इस प्रकार जिनके कथामृतका सिद्धगण गान किया करते हैं, उन भगवान कृष्णने अपने साथ द्वेष रखनेवाले पौण्ड्रक और उसके मित्र काशीनरेशको मारकर द्वारकापुरीमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥ हे राजन् ! द्वेषभावसे नित्यप्रति भगवानका ध्यान करनेसे उसके सम्पूर्ण कर्मबन्धन नष्ट हो गये और अब पौण्ड्रक श्रीकृष्णके रूप धारण करनेके कारण तद्रूप हो गया ॥ २४ ॥ काशीपुरीमें राजद्वारपर एक कुण्डलविमण्डित मस्तक गिरा देखकर सब लोग सन्देह करने लगे कि 'यह क्या है ? किसका मस्तक है ?' ॥ २५ ॥ अन्तमें उसे काशिराजका मस्तक जान-कर सब रानियाँ, राजपुत्र, बन्धु-बान्धव और पुरवासीजन 'हाय ! हम मारे गये ! हे राजन् ! हे नाथ !' ऐसा कहकर विलाप करने लगे ॥ २६ ॥ तब काशिराजके पुत्र सुदक्षिणने अपने पिताका अन्त्येष्टिसंस्कार करके यह निश्चय किया कि मैं अपने पिताका वध करनेवालेको मारकर पितृऋणसे उऋण होऊँगा। अतः उपाध्यायको साथ लेकर वह समाधि द्वारा श्रीशिवजीका आराधन करने

प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद् भवः। पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥२९॥
दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम्। अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः॥३०॥
साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः। इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् व्रती॥३१
ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः। तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ॥३२॥
दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया। आलिहन् सृक्विणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिखं ज्वलन्३३
पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम्। सोऽभ्यधावद् वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः॥३४॥
तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः। विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा॥३५॥
अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः। त्राहि त्राहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम्॥३६॥
श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम्। शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यविताऽस्म्यहम्॥३७॥
सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः। विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत्॥३८॥

तत् सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम्।
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत्॥३९॥
कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणेरस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं सर्त्विग्जनं समदहत् स्वकृतोऽभिचारः॥४०॥

लगा ॥ २७ ॥ २८ ॥ अविमुक्त-क्षेत्र काशीधाममें उसकी उपासनासे प्रसन्न होकर भगवान शङ्करने उससे वर माँगनेको कहा। तब उसने अपने पिताके मारनेवालेके वधका उपायस्वरूप अपना अभिलषित वर माँगा ॥ २९ ॥ इसपर भगवान रुद्रने कहा—"तुम ब्राह्मणोंके साथ यज्ञके देवता तथा ऋत्विग्भूत दक्षिणाग्निकी अभिचारविधिसे आराधना करो। इससे वह अग्नि प्रमथगणके साथ प्रगट होकर जो ब्राह्मणोंका भक्त नहीं है, उसपर प्रयुक्त होनेपर तुम्हारी कामना पूरी करेगा।" भगवान शंकरका ऐसा आदेश पाकर सुदक्षिण ब्रह्मचर्यादि नियमोंका पालन करता हुआ श्रीकृष्णचन्द्रपर अभिचारमय अनुष्ठान करने लगा ॥ ३० ॥ ३१ ॥ उस अभिचारके पूर्ण होते ही हवनकुण्डसे बड़ा भयानक अग्नि मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसके केश और दाढ़ी-मूछ तपाये हुए ताँबेके समान लाल थे और उसकी आँखोंसे अग्निके अंगारे निकल रहे थे ॥ ३२ ॥ उसका मुख उग्र डाढ़ों और बाँकी भ्रुकुटियोंके कारण बड़ा क्रूर जान पड़ता था। उसका शरीर नग्न था और वह अपनी जिह्वासे होंठ चाटता हुआ तेजस्वी त्रिशूल घुमा रहा था ॥ ३३ ॥ हे राजन्! वह अपने तालके समान पैरोंसे पृथिवीको कँपाता और दसों दिशाओंको दग्ध करता भूतगणसे घिरा हुआ द्वारकाकी ओर चला ॥३४॥ उस अभिचारात्मक अग्निको आता देखकर समस्त द्वारकावासी ऐसे भयभीत हुए, जैसे वनमें आग लगनेपर वनवासी प्राणी व्याकुल हो जाते हैं ॥ ३५ ॥ उन भयातुर द्वारकावासियोंने सभामें चौसर खेलते हुए भगवान कृष्णके पास जाकर दीनस्वरसे कहा—"हे त्रिलोकीनाथ! आज द्वारकापुरी अग्निसे दग्ध हो जाना चाहती है। आप इसकी रक्षा करिए" ॥ ३६ ॥ प्रजाका आर्त्तनाद सुन और बन्धुओंकी व्याकुलता देखकर शरणागतवत्सल श्रीकृष्णने हँसकर कहा—"डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा" ॥ ३७ ॥ भगवान तो सबके बाहर-भीतरके साक्षी थे। वे जान गये कि यह उनके नाशके लिये प्रयोग की हुई माहेश्वरी कृत्या है। अतएव उसे नष्ट करनेके लिए भगवानने अपने पास ही विद्यमान सुदर्शनचक्रको आज्ञा दी ॥ ३८ ॥ करोड़ों सूर्योंके सदृश प्रकाशमान और प्रलयाग्निके समान तेजस्वी विष्णुभगवानका सुदर्शनचक्र अपने तेजसे आकाश, दिशा और अन्तरिक्षको आलोकित करता हुआ उस अग्निको पीडित करने लगा ॥ ३९ ॥ भगवान कृष्णके अस्त्रतेजसे अभिभूत और भग्नमुख हो जानेके कारण कृत्यानल लौट पड़ा और काशीमें पहुँचनेपर उसने ऋत्विग्गणके सहित सुदक्षिण ही को जलाकर भस्म कर डाला। उसका अपना किया हुआ अभिचार ही उसके

चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं साट्टसभालयापणाम् ।
सगोपुराट्टालककोष्ठसङ्कुलां सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥
दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनम् । भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत् कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः॥४२॥
य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम् । समाहितो वा शृणुयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पौण्ड्रकादिवधो नाम षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥६६॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राजोवाच

भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः । अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत् कृतवान् प्रभुः ॥१॥

श्रीशुक उवाच

नरकस्य सखा कश्चिद् द्विविदो नाम वानरः । सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ॥२॥
सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम् । पुरग्रामाकरान् घोषानदहद् वह्निमुत्सृजन् ॥३॥
क्वचित् स शैलानुत्पाट्य तैर्देशान् समचूर्णयत् । आनर्तान् सुतरामेव यत्रास्ते मित्रहा हरिः ॥४॥
क्वचित् समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुत्क्षिप्य तज्जलम् । देशान् नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत् ॥५॥
आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् । अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः ॥६॥
पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः । निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशस्कारीव कीटकम् ॥७॥
एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः । श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥८॥

नाशका कारण बन गया ॥ ४० ॥ उसके पीछे सुदर्शनचक्रने भी अट्टालिका, बाजार, नगरद्वार, द्वारोंके शिखर तथा कोठे आदिसे पूर्ण और कोश, हस्तिशाला, अश्वशाला, रथशाला और धान्यागारयुक्त काशीपुरीमें प्रवेश किया ॥ ४१ ॥ विष्णुभगवानका सुदर्शनचक्र सारी काशीको जलाकर फिर अनायास महान् कर्म करनेवाले भगवान कृष्णके पास लौट आया ॥ ४२ ॥ जो प्राणी पुण्यकीर्ति भगवान कृष्णके इस चरित्रको सुनता अथवा सावधानतापूर्वक सुनाता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इतनी कथा सुननेके बाद राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन् ! मैं अनन्त, अप्रमेय और अद्भुतकर्मा भगवान बलरामजीके और चरित्र सुनना चाहता हूँ। सर्वसमर्थ बलरामजीने और जो कार्य किये हों, सो कहिये ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! एक महाबली द्विविद नामक वानर नरकासुरका मित्र था। वह सुग्रीवका मन्त्री और मैन्दका भाई था ॥ २ ॥ वह अपने मित्र नरकासुरका बदला चुकानेके लिये समस्त राष्ट्रमें उपद्रव करता हुआ पुर, ग्राम, खान और घोषोंमें आग लगाकर उन्हें भस्म करने लगा ॥ ३ ॥ आनर्तदेशमें जहाँ कि उसके मित्रको मारनेवाले श्रीकृष्ण रहते थे, उसने बड़ा उपद्रव मचाया। वह कभी पहाड़की चट्टान लुढ़काकर कितने देशोंको चूर्ण कर डालता और कभी दस सहस्र हाथियोंका बलवाला वह दुष्ट वानर समुद्रके बीचमें खड़ा हो अपनी भुजाओंसे उसका जल उछालकर किनारेकी बस्तियोंको डुबो दिया करता था ॥ ४–५ ॥ वह दुष्ट ऋषीश्वरोंके आश्रमोंमें वृक्ष आदि उखाड़कर उनके अग्निकुण्डोंको मल-मूत्रादिसे दूषित कर देता था ॥ ६ ॥ जैसे भृङ्गी नामक कीड़ा अन्य कीड़ोंको ले जाकर अपने बिलमें बन्द कर देता है, वैसे ही वह मदोन्मत्त वानर कितनी ही स्त्रियों और पुरुषोंको उठा ले जाता और पर्वतकी कन्दरामें डालकर उसका द्वार शिलासे बन्द कर दिया करता था ॥ ७ ॥ इस तरह वह दुष्ट वानर बहुतसे देशोंको उजाड़ता

तत्रापश्यद् यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् । सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥
गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम् । विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥
दुष्टः शाखामृगःशाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् । चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥
तस्य धार्ष्ट्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः । हास्यप्रियाः विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥
ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः । दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥
तं ग्राव्णा प्राहरत् क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः । स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ॥१४॥
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन् । निर्भिद्य कलशं दुष्टो वासांस्यास्फालयद् बलम् ॥१५
कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे सदोद्धतः । तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥१६॥
क्रुद्धो मुसलमादत्त हलं चारिजिघांसया । द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुद्यम्य पाणिना १७
अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् । तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥
प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम् । मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥१९॥
गिरिर्यथा गैरिकया प्रहारं नानुचिन्तयन् । पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ॥२०॥
तेनाहनत् सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाच्छिनत् । ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाच्छिनत् २१
एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः । आकृष्य सर्वतो वृक्षान् निर्वृक्षमकरोद् वनम् ॥२२॥
ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः । तत् सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥

तथा कुलाङ्गनाओंको दूषित करता हुआ मनोहर गानकी ध्वनि सुनकर रैवतक पर्वतपर जा पहुँचा ॥ ८ ॥ वहाँ उसने भामिनियोंके बीचमें पद्ममाला विभूषित तथा सर्वाङ्गसुन्दर यदुपति बलरामजीको मदिरा पीकर गाते हुए देखा । उस समय उनके नेत्र नशेमें आनन्दसे विह्वल हो रहे थे और उनका तुन्दिल शरीर मदस्रावी हाथीकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ९–१० ॥ वह दुष्ट वानर वृक्षकी शाखाओंपर चढ़ गया और उन्हें झकझोरता हुआ बार-बार स्त्रियोंके सामने आकर किलकिला शब्द करने लगा ॥ ११ ॥ प्रायः सभी तरुणी स्त्रियाँ स्वभावतः चञ्चल और हास्यप्रिय होती हैं । सो उस वानरकी धृष्टता देखकर बलरामजीकी स्त्रियाँ हँसने लगीं ॥ १२ ॥ तब वह वानर बलरामजीके सामने ही उन्हें अपनी गुदा दिखाता हुआ भौं मटका और घुड़की दिखाकर चिढ़ाने लगा ॥ १३ ॥ इससे प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीबलरामजीने क्रुद्ध होकर उसकी ओर पत्थर फेंका, किन्तु वह धूर्त उन पत्थरोंको बचाते हुए मदिराका घड़ा लेकर भाग गया । उस दुष्ट वानरने घड़ा फोड़ दिया और स्त्रियोंके वस्त्र खींच-खींचकर फाड़ डाले । इस तरह बलरामजीकी अवज्ञा करते हुए उसने उनकी अवहेलना करके उन्हें बहुत क्रुद्ध कर दिया ॥ १४–१५ ॥ उस मदोन्मत्त और बलवान् वानरने बलरामजीकी उपेक्षाकर ऐसी अवज्ञा की तो उसकी इस धृष्टता और उसके उजाड़े देशोंकी बात सोचकर उन्होंने शत्रुका संहार करनेके विचारसे अति कुपित हो अपना हल और मूसल सम्हाला । महापराक्रमी द्विविद भी अपने हाथमें एक शालका वृक्ष लेकर बलभद्रजीकी ओर दौड़ा और उसे बड़े वेगसे उनके मस्तकपर पटक दिया । तो भी महाबलवान् बलरामजी पर्वतके समान स्थिर रहे और अपने मस्तकपर गिरते हुए उस वृक्षको बीचहीमें पकड़कर उस वानरपर अपने सुनन्दनामक मूसलका प्रहार कर दिया । उस मूसलके लगनेसे द्विविदके मस्तकसे रक्तकी धारा बह चली । इससे वह गेरूकी धारासे युक्त पर्वतकी भाँति सुशोभित हुआ । लेकिन उसकी कुछ भी परवा न करके द्विविदने क्रुद्ध होकर एक दूसरा वृक्ष उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़कर अत्यन्त वेगसे बलरामजीपर आक्रमण किया । बलभद्रजीने उसके भी सैकड़ों टुकड़े कर डाले । तदनन्तर उसने उनपर दूसरा वृक्ष उखाड़कर फेंका, किन्तु बलरामने उसके भी सैकड़ों टुकड़े कर डाले ॥ १६–२१ ॥ श्रीबलभद्रजीके साथ इस तरह युद्ध करते हुए द्विविद एक वृक्षके कट जानेपर बराबर दूसरा वृक्ष उखाड़कर फेंकता रहा । इस प्रकार सब

स बाहू तालसङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः । आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् २४
यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गले । जत्रावभ्यर्दयत् सोऽपतद् रुधिरं वमन् ॥२५॥
चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः । पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ॥२६॥
जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे । सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत् कुसुमवर्षिणाम् ॥
एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् । संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरमाविशत् ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे द्विविदवधो नाम सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

———

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

दुर्योधनसुतां राजन् लक्ष्मणां समितिञ्जयः । स्वयंवरस्थामहरत् साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥१॥
कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः । कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद् बलात् ॥२॥
बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः । येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम्॥३॥
निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः । भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥४॥
इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः । साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥५॥
दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान् महारथः । प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥६॥

ओरके वृक्षोंको उखाड़ते-उखाड़ते उसने सारा वन वृक्षविहीन कर डाला ॥ २२ ॥ वृक्षोंके अभावमें वह अतिशय क्रोधित हो बलरामजीपर पत्थरोंकी वर्षा करने लगा, किन्तु मूसलधारी बलरामजीने लीलाहीसे उनको भी चूर्ण कर दिया ॥ २३ ॥ अन्तमें वह कपीश्वर अपनी तालके समान भुजाओंसे घूँसा तानकर रोहिणीनन्दन बलरामकी ओर झपटा और वक्षःस्थलमें प्रहार कर दिया ॥ २४ ॥ तब श्रीबलरामजीने भी कुपित हो हल और मूसल रख अपने दोनों हाथोंसे उसकी भुजा तथा कण्ठके मूलमें प्रहार किया । इससे वह मुँहसे खून फेंकता हुआ पृथिवीपर लोट गया ॥ २५ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! आँधीके कारण जैसे जलमें नाव डगमगाती है, वैसे ही उसके गिरनेसे सजल कुण्डों और वृक्ष समेत सारा पर्वत हिल उठा ॥ २६ ॥ तब बलरामजीपर पुष्प बरसानेवाले देवता, सिद्ध और मुनीश्वरोंका जय-जयकार, नमस्कार और साधु-साधुके शब्दसे सारा आकाश गूँज उठा ॥ २७ ॥ इस तरह संसारको कष्ट देनेवाले दुष्ट द्विविदको मारकर श्रीबलभद्रजी अपने परिजनोंसे स्तूयमान होते हुए नगरमें पधारे ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

(जाम्बवतीतनय साम्बका विवाह) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जाम्बवतीके पुत्र रणधीर साम्बने दुर्योधनकी पुत्री लक्ष्मणाको उसके स्वयम्बरमेंसे हर लिया था ॥ १ ॥ इससे कौरव अत्यन्त कुपित होकर परस्पर कहने लगे—"यह बड़ा ढीठ है । देखो, इसने हमारी अवहेलनाकर अपनी कामना न करनेवाली कन्याको बरबस हर लिया है ॥ २ ॥ इस पाजीको पकड़कर बाँध लो, यादवगण हमारा क्या कर लेंगे । वे तो हमारी ही दी हुई और हमारी ही कृपासे धन-धान्य-सम्पन्न पृथिवीका राज्य भोगते हैं ॥ ३ ॥ यदि अपने लड़केके बन्धनमें पड़ा सुनकर यादव यहाँ आयें भी तो प्राणायामादि द्वारा भलीभाँति वशीभूतकी हुई इन्द्रियोंके समान दर्पहीन होकर ठण्ढे पड़ जायेंगे ॥ ४ ॥ ऐसा सोच और कुरुवृद्ध भीष्मकी भी अनुमति लेकर कर्ण, शल, भूरिश्रवा, यज्ञकेतु और दुर्योधनादि वीर साम्बको पकड़नेकी तैयारीमें लग गये ॥ ५ ॥ महारथी साम्ब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको

तं ते जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः । आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ७
सोऽपविद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः । नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव ॥८॥
विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः । कर्णादीन् षड्रथान् वीरांस्तावद्भिर्युगपत् पृथक् ९
चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् । रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत् तेऽभ्यपूजयन्॥१०॥
तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् । एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम् ११
तं बद्ध्वाविरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि । कुमारं स्वस्य कन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् १२
तच्छ्रुत्वा नारदोक्तेन राजन् सञ्जातमन्यवः । कुरून् प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥१३॥
सान्त्वयित्वातुतान्रामःसन्नद्धान्वृष्णिपुङ्गवान् । नैच्छत् कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः १४
जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा । ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥
गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः । उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रं बुभुत्सया ॥१६॥
सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणंचबाह्लिकम् । दुर्योधनं च विधिवद् राममागतमब्रवीत् ॥१७॥
तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् । तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥१८॥
तं सङ्गम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् । तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम् ॥१९॥
बन्धून् कुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम् । परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ॥२०॥

अपना पीछा करते देखकर एक सुन्दर धनुष चढ़ा सिंहके सदृश अकेले ही डट गये ॥६॥ इधर, उन्हें पकड़नेकी इच्छासे आये हुए कर्णादि कौरव धनुष धारणकर अति क्रोधित हो 'खड़ा रह !' ऐसा कहकर पुकारते हुए उनपर बाण बरसाने लगे ॥ ७ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! इस तरह कौरवोंके आक्रमण करनेपर यदुनन्दन कृष्णतनय साम्ब उनके पराक्रमको वैसेही नहीं सह सके, जैसे क्षुद्र मृगोंका पराक्रम सिंह नहीं सह पाता ॥ ८ ॥ उन्होंने अपने सुन्दर धनुषकी टङ्कोर करके उसके एक साथ छोड़े हुए छः छः बाणोंसे उन कर्णादि छहों वीरोंको अलग-अलग-बींध दिया ॥ ९ ॥ उन्होंने अपने चार-चार बाणोंसे चार-चार घोड़ों और एक-एकसे महान् धनुर्धर छहों रथियोंको बींधा। उनके इस पराक्रमको विपक्षी वीर भी सराहने लगे ॥ १० ॥ तब उन छहों कौरवोंने मिलकर साम्बको रथहीन कर डाला, चारने चारों घोड़ोंको मार दिया, एकने सारथीका वध किया और एकने उनका धनुष काट दया ॥ ११ ॥ इस तरह कौरवोंने बड़ी कठिनाईसे साम्बको युद्धमें रथहीन किया और उन्हें बाँधकर अपनी जय बखानते हुए कन्याके साथ हस्तिनापुर ले आये ॥ १२ ॥ हे राजन् ! इधर नारदजीके मुखसे यह सन्देश पाकर यादवोंको बड़ा क्षोभ हुआ और वे महाराज उग्रसेनकी आज्ञासे कौरवोंपर चढ़ाई करनेकी तैयारीमें लग गये ॥ १३ ॥ कलिमलविनाशक बलराम यह नहीं चाहते थे कि कौरवों और यादवोंमें कलह हो। अतएव उन्होंने युद्धके लिये तत्पर यादववीरोंको समझा-बुझाकर शान्त कर दिया ॥ १४ ॥ और ग्रहोंसे घिरे चन्द्रदेवके समान ब्राह्मणों तथा कुटुम्बके बड़े-बूढ़ोके साथ वे एक सूर्यसदृश तेजस्वी रथपर सवार होकर हस्तिनापुरको चल दिये ॥ १५ ॥ हस्तिनापुर पहुँचनेपर उन्होंने नगरके बाहर एक बगीचेमें डेरा डाला और कौरवोंका अभिप्राय जाननेके लिये उद्धवजीको धृतराष्ट्रके पास भेजा ॥ १६ ॥ उद्धवजीने कौरवोंकी सभामें जाकर अम्बिकासुवन धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, बाह्लिक तथा दुर्योधनकी यथाविधि अभ्यर्थना करके उन्हें बलरामजीके पधारनेकी सूचना दी ॥ १७ ॥ अपने अति प्रिय सुहृद् बलरामजीके आनेका समाचार सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उद्धवजीका सत्कारकर बहुत-सी माङ्गलिक वस्तुएँ साथ लेकर बलरामजीके समक्ष आये ॥ १८ ॥ तब अपनी-अपनी अवस्था तथा सम्बन्धके अनुसार यथायोग्य वे सब बलरामजीसे मिले और उन्हें गौ और अर्घ्य अर्पण किया। उनमेंसे जो लोग बलभद्रजीका प्रभाव जानते थे, उन्होंने उनको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ १९ ॥ तब उन्होंने परस्पर एक दूसरेका कुशल पूछा और यह सुनकर कि हमारे

उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत् प्रभुः । तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं माविलम्बितम् २१
यद् यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाधर्मेण धार्मिकम् । अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया २२
वीर्यशौर्यबलोन्नद्धमात्मशक्तिसमं वचः । कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥
अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया । आरुरुक्षत्युपानद् वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥
एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः । वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः॥२५॥
चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् । किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया॥२६॥

अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनैर्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम् ।
येऽस्मत्प्रसादोपचिता हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥

कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः । अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः ॥२८॥

श्रीशुक उवाच

जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ । आश्राव्य रामं दुर्वाच्यमसभ्याः पुरमाविशन् २९
दृष्ट्वाकुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वावाच्यानिचाच्युतः । अवोचत् कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन् मुहुः ३०
नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः । तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लगुडो यथा॥३१॥
अहो यदून् सुसंरब्धान् कृष्णं च कुपितं शनैः । सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ३२
त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः । तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाषान् मानिनोऽब्रुवन्॥३३॥

बन्धुगण सकुशल हैं, श्रीबलरामजी ऐसे निर्भीक वाक्य बोले—॥ २० ॥ 'राजाधिराज उग्रसेनने तुम लोगोंको जो आज्ञा दी है, उसे शान्तचित्तसे सुनकर तुरन्त उसका पालन करो ॥ २१ ॥ तुम कई वीरोंने मिलकर धार्मिक और अकेले साम्बको जो अधर्मपूर्वक जीतकर बाँध लिया हैं, उसे मैंने 'बन्धुओंमें एकता बनी रहे'—इस विचारसे सहन कर लिया है ॥ २२ ॥ वीर्य, शौर्य और बलके उत्कर्ष भरे तथा उनकी शक्तिके अनुरूप बलरामजीके वचनोंको सुनकर कौरव बहुत क्रुद्ध हुए और कहने लगे—॥ २३ ॥ "अहो ! यह बड़ी विचित्र बात है। कालकी गति भी दुर्लङ्घ्य होती है, जिससे आज पैरोंकी जूती मुकुटसेवित मस्तकपर चढ़ना चाहती है ॥ २४ ॥ ये यादव कुन्तीके विवाहसम्बन्धसे हमारे सम्बन्धी हुए हैं और हमसे राज्याधिकार पाकर ही हमारे साथ सोने, उठने, बैठने और खानेके कारण हमारी बराबरीके पदपर पहुँचे हैं ॥ २५ ॥ हम लोगोंकी उपेक्षासे ही ये आज चमर, व्यजन, शंख, श्वेत छत्र, मुकुट, राजसिंहासन तथा शय्यादिका उपभोग करते हैं ॥ २६ ॥ सर्पको पिलाया हुआ दूध जैसे दुःखकारक होता है, वैसे ही इन यादवोंके छत्र-चामरादि राजचिह्न अपने दाताओंके ही प्रतिकूल जा रहे हैं। अब इनकी आवश्यकता नहीं है—इन्हें इनसे छीन ही लेना चाहिये। जो यादव हमारी ही कृपासे इतने बड़े बने, वे अब निर्लज्ज होकर हमें ही आज्ञा देते हैं ॥ २७ ॥ जैसे सिंहके अधिकारकी वस्तुको भेड़ नहीं भोग सकता वैसे ही भीष्म, द्रोण और अर्जुन आदि कौरवोंके बिना दिये इन्द्र भी किसी वस्तुका उपभोग कैसे कर सकता है ?" ॥२८॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ ! उस समय वे असभ्य कौरव कुल, कुटुम्ब तथा सम्पत्तिके मदसे उन्मत्त हो रहे थे, अतएव बलरामजीको ऐसे दुर्वाक्य कहकर वे नगरमें चले गये ॥ २९ ॥ कौरवोंकी ऐसी दुष्टता देख और उनके वे अवाच्य वचन सुन श्रीबलरामजी ठठाकर हँसते हुए बोले। उस समय क्रोधवश उनकी आकृति ऐसी उग्र हो गयी थी कि उनकी ओर देखा ही नहीं जाता था ॥३०॥ उन्होंने कहा—नाना प्रकारके मदोंसे उन्मत्त दुष्टजन शान्ति नहीं चाहते। सो पशुओंके लिये डंडेके समान उनको शान्त करनेका उपाय दण्ड ही हो सकता है ॥३१॥ अहो ! इन्हींके कल्याणार्थ मैं अमर्षपूर्वक युद्धके लिये तत्पर यादवों और क्रुद्ध कृष्णको ज्यों-त्यों समझा-बुझाकर यहाँ आया ॥३२॥ लेकिन ये मन्दमति तथा कलहप्रिय दुष्ट ऐसे अभिमानी हो रहे हैं कि मेरा तिरस्कारकर इन्होंने ऐसा कठोर

नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः । शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ॥३४॥
सुधर्माऽऽक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः । आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः
यस्य पादयुगं साक्षात् श्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी । स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥
यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालैर्मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥३७॥
भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल । उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ॥३८॥
अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् । असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥३९॥
अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः । गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥
लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम् । विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥
जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् । आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ४२
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीविषवः । सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥४३॥
राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदाम ते । मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यतिक्रमम् ॥४४॥
स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः । लोकान् क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ४५
त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्रमूर्धन् ।
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥४६॥

भाषण किया ॥३३॥ इन्द्रादि लोकपाल भी जिनकी आज्ञा मानते हैं वे भोज, वृष्णि और अन्धकवंशीय यादवोंके अधिपति महाराज उग्रसेन क्या इन्हें आज्ञा देनेकी सामर्थ्य नहीं रखते ॥३४॥ जो सुधर्मा सभामें जाते हैं और जो देवताओंके पारिजात वृक्षको लाकर भोगते हैं, उन श्रीकृष्णको क्या मनुष्योंके राज्यासनका अधिकार प्राप्त नहीं है ? ॥ ३५ ॥ जिनके चरणोंकी सेवा साक्षात् सर्वेश्वरी श्रीलक्ष्मीजी करती हैं, वे लक्ष्मीपति भगवान छत्र-चामरादि राजचिह्नोंके योग्य नहीं हैं ? ॥ ३६ ॥ सन्तों द्वारा सेवित गङ्गादि तीर्थोंको भी पवित्र करनेवाली जिनकी चरणकमलके रजको सब लोकपाल अपने मुकुटमण्डित मस्तकोंपर धारण करते हैं,—ब्रह्मा, महादेव, मैं और लक्ष्मीजी जिनके अंशसे उत्पन्न होकर निरन्तर उन्हींकी चरणरजको माथे चढ़ाते हैं, उन श्रीकृष्णचन्द्रके लिये यह तुच्छ राजसिंहासन भला क्या चीज है ? ॥ ३७ ॥ यह तो ठीक ही है कि यादव कौरवोंका दिया राज्य भोगते हैं ! और यह भी ठीक है कि हम जूती हैं और कौरव मस्तक हैं ॥ ३८ ॥ अहो ! मतवाले पुरुषों सरीखे ऐश्वर्यमदसे उन्मत्त इन अभिमानी कौरवोंकी इन रूखी और असम्बद्ध बातोंको, इनका शासक होकर भी कौन पुरुष सह सकता है ? ॥ ३९ ॥ अतएव आज मैं पृथिवीको कौरवोंसे हीन कर दूँगा ।" ऐसा कहकर मानों त्रिलोकीको भस्म कर देंगे, इस भावसे अमर्षयुक्त हो बलभद्रजी हल लेकर उठ खड़े हुए ॥ ४० ॥ उस हलकी नोकसे हस्तिनापुरको उखाड़ तथा अतिशय क्रुद्ध होकर नष्ट-कर देनेको गङ्गाजीकी ओर खींचने लगे ॥ ४१ ॥ उनके हलसे खींचे नगरको नौकाके सदृश चक्कर खाकर गङ्गाजीमें गिरते देख सब कौरव घबड़ा उठे ॥ ४२ ॥ और लक्ष्मणा समेत साम्बको आगे करके अपने प्राण बचानेके लिये परिवारसहित अति विनीतभावसे हाथ जोड़े उनकी शरणमें गये ॥ ४३ ॥ और कहने लगे–"हे राम ! हे राम ! हे अखिल जगत्‌के आधार ! हम आपका प्रभाव नहीं जानते थे । हे प्रभो ! हम मूढ़ और कुबुद्धियोंका अपराध आप क्षमा कर दें ॥ ४४ ॥ आप ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण हैं । आपका कोई आधार नहीं है । हे ईश ! जब आप क्रीडा करते हैं, तब ये सम्पूर्ण लोक आपके खिलौने बन जाते हैं–ऐसा मुनियोंका कथन है ॥ ४५ ॥ हे सहस्रमूर्धन् ! हे अनन्त ! जो समस्त भूमण्डलको लीलासे अपने मस्तकपर धारण करते तथा प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्‌को अपनेमें लीन करके स्वयं बचे रहते हैं, वे शेषशायी अद्वितीय

कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् । बिभ्रतो भगवन् सत्त्वं स्थितिपालनतत्परः ॥४७॥
नमस्ते सर्वभूतात्मन् सर्वशक्तिधराव्यय । विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः । प्रसादितः सुप्रसन्नो मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥४९॥
दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान् षष्टिहायनान् । ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥
रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् । दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥
प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं भगवान् सात्वतर्षभः । ससुतः सस्नुषः प्रागात् सुहृद्भिरभिनन्दितः ॥५२॥
ततः प्रविष्टः स्वपुरं हलायुधः समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥
अद्यापि च पुरं ह्येतत् सूचयद् रामविक्रमम् । समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनुदृश्यते ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे हास्तिनपुरकर्षणरूपसङ्कर्षणविजयो नामाष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम् । कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद् दिदृक्षुः स्म नारदः ॥१॥
चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् । गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥२॥
इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् । पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ॥३॥

नारायण आप ही हैं ॥ ४६ ॥ हे भगवन् ! आप जगत्की स्थिति और पालनमें तत्पर रहते, इसीलिये शुद्ध सत्त्वको धारण करते हैं। आपका क्रोध सब प्राणियोंको शिक्षा देनेके लिये ही होता है, द्वेष या मत्सरके कारण नहीं ॥ ४७ ॥ हे सर्वभूतात्मन् ! हे सर्वशक्तिधर ! हे विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है। हम आपके शरणागत हैं" ॥ ४८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिनके घर डगमगा रहे थे और जो बहुत घबड़ाकर शरणमें आये थे, उन कौरवोंके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर श्रीबलरामजीने प्रसन्न होकर 'डरो मत' ऐसा कहकर उन्हें अभय कर दिया ॥ ४९ ॥ तब पुत्रीवत्सल दुर्योधनने लक्ष्मणाके दहेजमें साठ वर्षकी अवस्थाके बारह सौ हाथी, दस हजार घोड़े, सूर्यसदृश तेजस्वी तथा सुवर्णमण्डित छ हजार रथ और गलेमें पदक धारण किये एक हजार दासियाँ दीं ॥ ५० ॥ ॥ ५१ ॥ यादवश्रेष्ठ श्रीबलरामजी वह सब सामग्री लेकर पुत्र साम्ब तथा पुत्रवधू लक्ष्मणाके सहित बन्धु-बान्धवोंसे सत्कृत होकर द्वारकापुरी गये ॥ ५२ ॥ वहाँ जाकर श्रीहलधर अपने अनुरक्तचित्त स्वजनोंसे मिले और उन यादवोंकी सभामें उन्होंने कुरुदेशमें जो कुछ चरित्र किया था, वह सब कह सुनाया ॥ ५३ ॥ इस समय भी हस्तिनापुर श्रीबलरामजीके पराक्रमको सूचित करता हुआ दक्षिणकी ओरसे ऊँचा और गङ्गाजीकी ओर झुका हुआ दिखायी पड़ता है ॥ ५४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

(देवर्षि नारदका भगवानकी गृहचर्या-अवलोकन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं–हे राजन् ! नरकासुरके वध और अकेले श्रीकृष्णचन्द्रका बहुतेरी स्त्रियोंके साथ विवाह होनेका समाचार सुनकर नारदजीको भगवानकी गृहचर्या देखनेकी आकांक्षा हुई ॥ १ ॥ उन्होंने सोचा—'यह बड़ी विचित्र बात है कि भगवानने अकेले शरीरसे पृथक्-पृथक् एक साथ सोलह हजार स्त्रियोंके साथ विवाह

उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकह्लारकुमुदोत्पलैः । छुरितेषु सरःस्वच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥४॥
प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः । महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥५॥
विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।
संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं पतत्पताकाध्वजवारितातपाम् ॥६॥
तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः । हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् ॥७॥
तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम् । विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥८॥
विष्टब्धं विद्रुमस्तम्भैर्वैदूर्यफलकोत्तमैः । इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्विषा ॥९॥
वितानैर्निर्मितैस्त्वष्ट्रा मुक्तादामविलम्बिभिः । दान्तैरासनपर्यङ्कैर्मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥१०॥
दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् । पुम्भिः सकञ्चुकोष्णीषसुवस्त्रमणिकुण्डलैः ॥११॥
रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्तध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।
नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षैर्निर्यान्तमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥१२॥
तस्मिन् समानगुणरूपवयःसुवेषदासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या ।
विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्मदण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥१३॥
तं सन्निरीक्ष्य भगवान् सहसोत्थितः श्रीपर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः ।
आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीटजुष्टेन साञ्जलिरवीविशदासने स्वे ॥१४॥

कैसे कर लिया ॥ २ ॥ इस तरह कृष्णलीलाको देखनेके लिये अति उत्सुक होकर देवर्षि नारदजी फूले हुए बाग-बगीचोंसे सुशोभित पक्षियों और भ्रमरोंके कलवरसे गुञ्जायमान द्वारकापुरीमें आये ॥ ३ ॥ वह द्वारकापुरी खिले हुए इन्दीवर, अम्भोज, कह्लार, कुमुद तथा उत्पलोंसे भरे सरोवरोंमें हंस-सारस आदि जलपक्षियोंसे कूजित हो रही थी ॥ ४ ॥ सुवर्ण और रत्नमय वस्तुओं एवं महामरकत मणिके सदृश उज्ज्वल स्फटिक तथा चाँदीके नौ लाख मन्दिरोंसे सुशोभित थी ॥ ५ ॥ भिन्न-भिन्न गली, मार्ग, चौराहे, हाट, शाला, सभा तथा देवालयोंके कारण वह बहुत भली लगती थी। उसके सभी मार्ग, चौक, गलियों और देहलियोंपर छिड़काव किया गया था और उड़ती हुई ध्वजा तथा पताकाएँ वहाँ घामका निवारण करती थीं ॥ ६ ॥ उसी द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णका उनकी पत्नियोंके सोलह हजार महलोंसे सुशोभित सब लोकपालोंसे पूजित तथा परम श्रीसम्पन्न रनिवास था। जिसकी रचनामें विश्वकर्माने अपना सारा शिल्पचातुर्य खर्च कर दिया था। उनमेंसे एक विशाल भवनमें श्रीनारदजी गये ॥ ७-८ ॥ वह घर मूँगेके खम्भों, वैदूर्यसे बनी उत्तम चौखटों, इन्द्रनीलमणिकी दीवारों और जिसकी कान्ति कभी भी फीकी नहीं पड़ती थी, ऐसी इन्द्रनीलमणिमयी भूमिसे सुशोभित हो रहा था ॥ ९ ॥ विश्वकर्माके बनाये मोतियोंकी झालरों युक्त चँदोवों तथा उत्तम मणियोंसे जटित हाथीदाँतके आसन और पलङ्गोंसे भलीभाँति सुसज्जित था ॥ १० ॥ सुन्दर वस्त्र और गलेमें पदक पहने बहुतेरी दासियाँ और मणिमय कुण्डल तथा जामा-पगड़ीसे सुशोभित परिचारकगण अपनी शोभासे उसे और भी शोभायमान बना रहे थे ॥ ११ ॥ रत्ननिर्मित दीपोंकी जगमगाहटके कारण उसमें कहीं भी अन्धकार नहीं था, उसके छज्जोंपर बैठे मयूर झरोखोंसे निकलते अगुरुके धूएँ देखकर उसे मेघ समझते हुए जोर-जोरसे केकारव करके नाच रहे थे ॥ १२ ॥ उस भव्य भवनमें श्रीनारदजीने यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्रको उनकी गृहिणी रुक्मिणीजीके साथ देखा। श्रीरुक्मिणीजी अपनेही समान गुण, रूप अवस्था और वेषवाली दस हजार दासियोंसे घिरी थीं और सोनेकी डाँड़ीवाला चमर डुलाती हुई वे निरन्तर भगवानकी सेवा कर रही थीं ॥ १३ ॥ श्रीनारदजीको देखतेही धार्मिकोंमें श्रेष्ठ भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी सहर्ष रुक्मिणीजीके पलङ्गसे उठ खड़े हुए और उनके चरणोंमें अपना मुकुटविमण्डित मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हुए उन्हें हाथ जोड़कर आसन-

तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना बिभ्रज्जगद्गुरुतरोऽपि सतां पतिर्हि ।
ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणनाम युक्तं तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१५॥
सम्पूज्य देवऋषिवर्यमृषिः पुराणो नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।
वाण्याभिभाष्य मितयामृतमिष्टया तं प्राह प्रभो भगवते करवामहे किम् ॥१६॥

नारद उवाच

नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे मैत्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।
निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां स्वैरावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥
दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्यायंश्चराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥१८॥

ततोऽन्यदाविशद् गेहं कृष्णपत्न्याः स नारदः । योगेश्वरेश्वरस्याङ्ग योगमायाविवित्सया ॥१९॥
दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च । पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥
पृष्टश्चाविदुषेवासौ कदाऽऽयातो भवानिति । क्रियते किं नु पूर्णानामपूर्णैरस्मदादिभिः ॥२१॥
अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन् जन्मैतच्छोभनं कुरु । स तु विस्मित उत्थाय तूष्णीमन्यदगाद् गृहम् ॥२२॥
तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुताञ्छिशून् । ततोऽन्यस्मिन् गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥२३॥
जुह्वन्तं च वितानाग्नीन् यजन्तं पञ्चभिर्मखैः । भोजयन्तं द्विजान् क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥२४॥
क्वापि सन्ध्यामुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् । एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥२५॥

पर बैठाला ॥ १४ ॥ जिनका चरणोदक (श्रीगङ्गाजी) सबको पवित्र करता तथा जो स्वयं सब जगत्के परम गुरु और सत्पुरुषोंके स्वामी हैं, उन श्रीहरिने नारदजीके पाँव धोकर वह जल अपने माथे चढ़ाया । उनका 'ब्रह्मण्यदेव नाम' उनके गुणके अनुरूप और उचित ही था ॥ १५॥ इस प्रकार नरके सखा आदि ऋषि नारायणने देवर्षिश्रेष्ठ नारदजीकी विधिवत् पूजाकर और उनसे अमृतसदृश मधुर और स्वल्प वाणीमें सम्भाषण करते हुए कहा—"हे प्रभो ! कहिए, हम आपकी क्या सेवा करें ?" ॥ १६ ॥ श्रीनारदजी कहने लगे—हे विभो ! आप सब लोकोंके स्वामी हैं । अपने भक्तोंके प्रति मैत्री और दुष्टोंका दमन करना—ये दोनों गुण आपके ही हैं । इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । हे महायशस्विन् ! हम अच्छी तरह जानते हैं कि आप जगत्की स्थिति तथा रक्षा करके उसका कल्याण करनेके लिएही स्वेच्छासे यहाँ अवतीर्ण हुए हैं ॥ १७ ॥ जो संसारको मोक्ष देनेवाले, अगाधबोध, ब्रह्मादिक देवताओं द्वारा हृदयमें चिन्तनीय तथा संसारकूपमें गिरे पुरुषको बाहर निकालनेमें एकमात्र अवलम्ब हैं, उन आपके चरणयुगलोंका आज मुझे दर्शन हुआ है । अब आप ऐसी कृपा करें कि जिससे मैं उन चरणोंका ध्यान करता हुआ भ्रमण करूँ और सदा मुझे उनका स्मरण होता रहे ॥ १८ ॥ हे तात ! तब योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान कृष्णकी योगमायाको देखनेके निमित्त श्रीनारदजी उनकी दूसरी पत्नीके महलमें गये ॥ १९ ॥ वहाँ भगवान अपनी प्रिया और उद्धवजीके साथ बैठे चौसर खेल रहे थे । वहाँ भी प्रत्युत्थान तथा आसनादि द्वारा नारदजीका भलीभाँति सत्कार हुआ ॥ २० ॥ तब भगवानने अनजानकी नाईं उनसे पूछा—"कहिये, आप कब आये ? आप सरीखे आप्तकाम मुनिकी हम सकाम लोग भला क्या सेवा कर सकते हैं ? ॥२१॥ फिर भी हमें कोई सेवा बतलाकर आप हमारा जन्म सफल करें ।" यह सुनकर श्रीनारदजी आश्चर्यचकित हो चुपचाप उठकर दूसरे घरमें चले गये ॥ २२ ॥ वहाँ उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रजीको अपने अल्पवयस्क बालकोंको खेलाते देखा । वहाँसे जब नारदजी दूसरे घरमें गये तो भगवानको स्नानकी तैयारी करते देखा ॥ २३ ॥ इसी तरह उन्हें कहीं यज्ञाग्नियोंमें हवन करते, कहीं पञ्चमहायज्ञोंसे देवताओंकी देवताओंकी आराधना करते, कहीं ब्राह्मणोंको भोजन कराते, कहीं यज्ञसे अवशिष्ट अन्नका भोजन करते,

अश्वैर्गजै रथैः क्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् । क्वचिच्छयानं पर्यङ्के स्तूयमानं च वन्दिभिः २६
मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः । जलक्रीडारतं क्वापि वारमुख्याबलावृतम् ॥२७॥
कुत्रचिद् द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलङ्कृताः । इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥२८॥
हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे । क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥
ध्यायन्तमेकमासीनं पुरुषं प्रकृतेः परम् । शुश्रूषन्तं गुरून् क्वापि कामैर्भोगैः सपर्यया॥३०॥
कुर्वन्तं विग्रहं कैश्चित् सन्धिं चान्यत्र केशवम् । कुत्रापि सह रामेण चिन्तयन्तं सतां शिवम् ३१
पुत्राणां दुहितॄणां च काले विध्युपयापनम् । दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्तं विभूतिभिः ॥३२॥
प्रस्थापनोपानयनैरपत्यानां महोत्सवान् । वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ३३
यजन्तं सकलान् देवान् क्वापि क्रतुभिरूर्जितैः । पूर्तयन्तं क्वचिद् धर्मं कूपारामालयादिभिः॥३४॥
चरन्तं मृगयां क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् । घ्नन्तं ततः पशून् मेध्यान् परीतं यदुपुङ्गवैः ॥३५॥
अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु । क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥३६॥
अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव । योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ३७
विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि मायिनाम् । योगेश्वरात्मन् निर्भाता भवत्पादनिषेवया ॥३८॥
अनुजानीहि मां देवलोकांस्ते यशसाऽऽप्लुतान् । पर्यटामि तवोद्गायन् लीलां भुवनपावनीम्॥३९॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता । तच्छिक्षयँल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ४०

कहीं सन्ध्योपासन करते, कहीं मौन धारणकर गायत्री जपते, कहीं ढाल-तलवार लेकर चलानेकी रीति दिखाते, कहीं घोड़े, हाथी और रथोंपर चढ़कर विचरते, कहीं बन्दीजन द्वारा स्तूयमान होते, कहीं पलङ्गपर शयन करते, कहीं उद्धवादि मन्त्रियोंमें सलाह करते, कहीं स्त्रियोंके साथ जलक्रीडा करते, कहीं श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भली प्रकार सजायी हुई गौएँ दान देते और कहीं इतिहास-पुराण तथा स्वस्तिवाचन आदि सुनते हुए देखा ॥ २४-२८ ॥ उन्होंने कहीं देखा कि भगवान अपनी प्रियाके साथ हँसीकी बातें करके हँसते हैं, कहीं धर्मका पालन कर रहे हैं और कहीं काम और अर्थका सञ्चय कर रहे हैं ॥ २९ ॥ कहीं नारदजीने देखा कि भगवान कृष्ण एकान्तमें बैठे अपने ही स्वरूप, प्रकृतिसे अतीत पुराणपुरुषका ध्यान कर रहे हैं और कहीं विविध प्रकारके इच्छित पदार्थ तथा भोगसामग्री समर्पणकर गुरुजनोंकी सेवा कर रहे हैं ॥ ३० ॥ ऐसे ही कहीं किसीके साथ विग्रह और किसीके साथ सन्धि करते, कहीं बलरामजीके साथ सत्पुरुषोंके कल्याणके विषयमें परामर्श करते, कहीं समय-समयपर पुत्र तथा कन्याओंका उनके सदृश स्त्री तथा वरोंके साथ बड़ी धूमधामसे विधिवत् विवाह करते और कहीं कन्याओंको विदा करने तथा अन्यत्रसे बुलाने और बालकोंके जन्मदिवस आदि मनानेके महोत्सव करते देखा। योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवानके उन विचित्र महोत्सवोंको देखकर सब लोग विस्मित हो जाते थे ॥ ३१-३३ ॥ कहीं उन्होंने देखा कि भगवान बड़े-बड़े यज्ञोंसे देवताओं-का यजन कर रहे हैं, कहीं कूएँ बगीचे और धर्मशाला आदि बनाकर पूर्त्त-धर्मोंका आचरण कर रहे हैं, कहीं सिन्धुदेशके घोड़ेपर चढ़कर अन्य यादवोंके साथ यज्ञके निमित्त मृगया कर रहे हैं और कहीं प्रजा तथा अन्तःपुरमें वहाँके निवासियोंके मनोभाव जाननेके लिये योगेश्वर कृष्ण वेष बदल-कर विचरण कर रहे हैं। इस प्रकार मानवी लीला करते हुए भगवान हृषीकेशकी योगमायाका ऐश्वर्य देखकर श्रीनारदजीने भगवानसे हँसते हुए कहा—॥ ३४-३७ ॥ "हे योगेश्वर ! हे आत्मन् ! मैं जानता हूँ कि आपकी योगमाया ब्रह्मादिक मायावियोंको भी दिखायी देना कठिन है और आपके चरणोंके सेवनसे ही वह मुझे भासित हुई है ॥ ३८ ॥ हे देव ! आप मुझे ऐसी आज्ञा दें, जिससे मैं आपके

श्रीशुक उवाच

इत्याचरंतं सद्धर्मान् पावनान् गृहमेधिनाम् । तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥४१॥
कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् । मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद् विस्मितो जातकौतुकः ४२॥
इत्यर्थकामधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितात्मना । सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन् ययौ४३
एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।
रेमेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्गनानां सव्रीडसौहृदनिरीक्षणहासजुष्टः ॥४४॥
यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार ।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा भक्तिर्भवेद् भगवति ह्यपवर्गमार्गे ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे कृष्णगार्हस्थ्यदर्शनं नामैकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन् । गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः॥१॥
वयांस्यरूरुवन् कृष्णं बोधयन्तीव वन्दिनः । गायत्स्वलिष्वनिद्राणि मन्दारवनवायुभिः ॥२॥
मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् । परिरम्भणविश्लेषात् प्रियबाह्वन्तरं गता ॥३॥

सुयशसे पूर्ण लोकोंमें आपकी त्रिभुवनपावनी लीलाओंको गाता हुआ विचरण करूँ ॥ ३९ ॥ श्री भगवान बोले—हे ब्रह्मन् ! मैं धर्मका वक्ता, कर्ता और अनुमोदन करनेवाला हूँ । संसारको धर्ममार्गकी शिक्षा देनेके लिये ही मैं ऐसा आचरण करता हूँ । अतएव हे वत्स ! तुम मेरी योगमायाको देखकर मोहित न होओ ॥ ४० ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! नारदजीने इस तरह सब घरोंमें कृष्णचन्द्रको हस्थोंके परमपवित्र सद्धर्मोंका आचरण करते देखा ॥ ४१ ॥ बार-बार अनन्तवीर्य भगवान कृष्णकी योगमायाका वैभव देखकर देवर्षि नारदजीको कौतूहल और विस्मय दोनों हुआ ॥ ४२ ॥ इस तरह अर्थ, धर्म और काममें जिनकी अत्यन्त श्रद्धा थी, उन कृष्णचन्द्रसे सम्मानित होकर नारदजी प्रसन्न चित्तसे उन्हींका स्मरण करते हुए चल दिये ॥ ४३ ॥ इस तरह जिन भगवानने सारे संसारके उत्कर्षके लिये ही अपनी मायाशक्तिको स्वीकार किया था, वे श्रीनारायणदेव मानवी लीलाका अनुसरण करते हुए सोलह हजार सुन्दरियोंके लाज भरे प्रणयकटाक्ष तथा मन्द मुसकानसे सत्कृत होते हुए उनके साथ रमण करते थे ॥ ४४ ॥ विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके एकमात्र कारण श्रीहरिने दूसरे किसीके द्वारा न किये जाने योग्य जो-जो कर्म किये थे । हे प्रिय ! उन्हें जो प्राणी गाता, सुनता या अनुमोदन करता है, उसकी मोक्षदाता भगवानमें अटल भक्ति होती है ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

(श्रीकृष्ण भगवानकी दैनिक दिनचर्या तथा उनके समीप जरासन्धके कैदी नरेशोंका दूत आना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन उषाकालके बीतनेपर जब मुर्गे बोलने लगे, तब भगवानसे आलिङ्गित उनकी भामिनियाँ प्रियवियोगकी आशंकासे व्याकुल हो उठीं और उन मुर्गोंको बहुत भला-बुरा कहने लग गयीं ॥ १ ॥ उस पारिजातके उपवनके वायुसे आकर्षित होकर गुञ्जारते हुए भौंरोंके शब्दसे हुए भये पक्षी सूत और मागधोंके समान श्रीकृष्णचन्द्रको जगाते हुए चहचहाने लगे ॥ २ ॥ किन्तु अपने प्रियतमकी भुजाओंमें बँधकर पड़ी हुई

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः । दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥४॥
एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम् ।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम् ॥५॥
अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः ॥६॥
उपस्थायार्कमुद्यन्तं तर्पयित्वाऽऽत्मनः कलाः । देवानृषीन् पितॄन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान्
धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् । पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ८
ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह । अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्वं बद्वं दिने दिने ॥९॥
गोविप्रदेवतावृद्धगुरून् भूतानि सर्वशः । नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् १०
आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् । वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यस्रगनुलेपनैः ॥११॥
अवेक्ष्याज्यं तथाऽऽदर्शं गोवृषद्विजदेवताः । कामांश्च सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।
प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥ १२ ॥
संविभज्याग्रतो विप्रान् स्रक्ताम्बूलानुलेपनैः । सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् ॥१३॥
तावत् सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् । सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावस्थितोऽग्रतः ॥१४॥
गृहीत्वा पाणिना पाणी सारथेस्तमथारुहत् । सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वाद्रिमिव भास्करः ॥१५॥

रुक्मिणी आलिंगन-विश्लेषके भयसे उस अतिशय मनोहर समयको भी नहीं सह सकीं ॥ ३ ॥ तब श्रीकृष्णचन्द्रजी ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठे और हाथ-मुँह धो तथा स्वस्थेन्द्रिय हो अपने मायातीत, अखण्ड, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय एवं अविनाशी स्वरूपसे नित्य, निर्मल तथा जगत्की उत्पत्ति और नाशादिकी हेतुभूत अपनी शक्तियोंसे लक्षित होनेवाले सदानन्दस्वरूप ब्रह्मनामक आत्माका चिन्तन करने लगे ॥ ४ ॥ ५ ॥ इसके बाद स्वच्छ जलमें विधिवत् नहा तथा वस्त्र पहन सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण-चन्द्रने विधिवत् सन्ध्योपासनादि कर्म किये और अग्निहोत्रकर तथा मौन होकर गायत्रीका जप करने लगे ॥ ६ ॥ तदनन्तर उदय होते हुए सूर्यदेवको प्रणामकर महामनस्वी भगवान कृष्णने अपने ही अंशस्वरूप देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करके वृद्धजनों और ब्राह्मणोंके साथ सूर्य-देवकी पूजा की ॥ ७ ॥ तदनन्तर वस्त्राभूषणोंसे भली प्रकार सुसज्जित ब्राह्मणोंको रेशमी वस्त्र, मृगचर्म तथा तिलोंके साथ बड़ी सीधी, दूध देनेवाली पहले बारकी ब्याई और बछड़ोंवाली गौए दान करके दीं, जिनके सींग सुवर्णसे और खुर चाँदीसे मँढ़े हुए थे। उनके गलेमें मोतियोंकी मालाएँ पड़ी रहती थीं और वे सुन्दर वस्त्रों अर्थात् झूलोंसे विभूषित होती थीं। इस प्रकार वे प्रतिदिन एक-एक बद्व अर्थात् तेरह हजार चौरासी गौएँ दान करके देते थे ॥ ८ ॥ ९ ॥ फिर उन्होंने अपनी विभूतिस्वरूप गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरु तथा सब प्राणियोंको प्रणामकर मांगलिक वस्तुओंका स्पर्श किया ॥ १० ॥ इसके बाद अपने नरलोकविभूषण दिव्य देहको पीताम्बरादि वस्त्राभूषणों तथा दिव्य माला और चन्दनादिसे विभूषित किया ॥ ११ ॥ तब उन्होंने घृत तथा दर्पणमें मुख देख गौ, बैल, ब्राह्मण और देवताओंका दर्शन किया और नगर तथा अन्तःपुरमें रहनेवाले सब वर्णों एवं मन्त्रियोंको उनके इच्छित पदार्थोंसे सन्तुष्टकर आनन्द पाया ॥ १२ ॥ इसके बाद माला, ताम्बूल और चन्दनादि भोगसामग्रियोंको पहले ब्राह्मण, सुहृद्, मन्त्री और स्त्रियोंको बाँटकर फिर स्वयं उनका उपयोग किया ॥ १३ ॥ इतनेहीमें दारुक सारथी सुग्रीवादि घोड़ों युक्त भगवानका अति अद्भुत रथ ले आया और प्रभुको प्रणाम करके उनके सामने खड़ा हो गया ॥ १४ ॥ उस रथको आया देख भगवान सारथीके हाथमें हाथ डालकर सात्यकि तथा उद्धवके साथ उदयाचलपर उदीयमान

ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सव्रीडप्रेमवीक्षितैः । कृच्छ्राद् विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन् मनः ॥१६॥
सुधर्माख्यां सभां सर्वैर्वृष्णिभिः परिवारितः । प्राविशद् यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्ग षडूर्मयः ॥१७॥
तत्रोपविष्टः परमासने विभुर्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदूत्तमो यथोडुराजो दिवि तारकागणैः ॥१८॥
तत्रोपमन्त्रिणो राजन् नानाहास्यरसैर्विभुम् । उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥१९॥
मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः । ननृतुर्जगुस्तुष्टुवुश्च सूतमागधवन्दिनः ॥२०॥
तत्राहुर्ब्राह्मणाः केचिदासीना ब्रह्मवादिनः । पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन् कथाः ॥२१॥
तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः । विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥२२॥
स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृताञ्जलिः । राज्ञामावेदयद् दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥२३॥
ये च दिग्विजये तस्य सन्नतिं न ययुर्नृपाः । प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नयुते द्वे गिरिव्रजे ॥२४॥
कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन । वयं त्वां शरणं यामो भवभीताः पृथग्धियः ॥२५॥
लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।
यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां सद्यश्छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै ॥२६॥
लोके भवाञ्जगदिनः कलयावतीर्णः सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय चान्यः ।
कश्चित् त्वदीयमतियाति निदेशमीश किं वा जनः स्वकृतमृच्छति तन्न विद्मः ॥२७॥

सूर्यदेवके समान उसपर आरूढ़ हुए ॥१५॥ तदनन्तर अपने अन्तःपुरकी स्त्रियों द्वारा सलज्ज प्रणय-कटाक्षसे देखे जाते हुए कुछ हँसी आ जानेके कारण मानो उनका चित्त चुराकर उनसे बड़ी कठिनतासे विदा होकर राजसभाको गये ॥ १६ ॥ हे तात ! फिर भगवान समस्त यादवोंसे घिरे हुए सुधर्मा सभामें प्रविष्ट हुए। जिसमें प्रवेश करनेवालोंको कभी छ उर्मियाँ अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु नहीं सताती थी ॥ १७ ॥ सुधर्मा सभामें अन्यान्य यदुवंशी नरवीरोंसे घिरकर उत्तम राजसिंहासनपर आसीन यदुश्रेष्ठ भगवान कृष्णचन्द्र अपनी कान्तिसे दसों दिशाओंको आलोकित करते हुए ऐसे लगे, जैसे आकाशमें नक्षत्रोंके बीच चन्द्रदेव सुशोभित होते हैं ॥ १८ ॥ हे राजन् ! सभामें हास्यकुशल उपमन्त्रीगण विविध प्रकारकी हास्यरसपूर्ण बातोंसे भगवान कृष्णकी उपासना करने लगे। नटाचार्य और नर्तकियाँ अलग मृदङ्ग, वीणा, मुरज और बाँसुरीके लय तथा शंखध्वनिके अनुसार नाचने-गाने लगीं और सूत, मागध तथा बन्दीजन उनकी स्तुति करने लगे ॥ १९ ॥ २० ॥ वहाँ बैठे कुछ वेदवादी ब्राह्मण वेदमन्त्रोंकी व्याख्या करते हुए पूर्वकालीन पवित्र कीर्तिवाले राजाओंका वृत्तान्त कहने लगे ॥ २१ ॥ हे राजन् ! इसी समय वहाँ एक पुरुष आया, जिसको पहले कभी किसीने नहीं देखा था। भगवानको उसके आनेकी सूचना दी गयी और उनकी आज्ञासे द्वारपालोंने उसे सभामें लाकर उपस्थित किया ॥ २२ ॥ २३ ॥ सुधर्मा सभामें पहुँचनेपर उसने परमेश्वर भगवान कृष्णको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उसने जरासन्धके बन्दीगृहमें पड़े राजाओंका कष्ट बताया। जरासन्धके दिग्विजयप्रसंगमें जिन्होंने उसके आगे माथा नहीं झुकाया था, उन बीस हजार राजाओंको उसने जबर्दस्ती अपने गिरिव्रजनामके दुर्गमें बन्द कर दिया था ॥ २४ ॥ उन राजाओंका सन्देश सुनाते हुए दूतने कहा—"हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे शरणागतका भय भञ्जन करनेवाले ! हम भेदबुद्धिवाले प्राणी संसारके भयसे डरकर आपकी शरणमें हैं ॥ २५ ॥ यह जीव आपके बतलाये आपके पूजन-स्वरूप कल्याणकारी कर्मसे विमुख हो सकाम कर्मोंमें संलग्न रहता है। ऐसी दशामें जो इस विमूढ़ जीवकी जीवन-आशाको तुरन्त नष्ट कर देते हैं उन महाबलशाली, नित्य सावधान एवं कालरूप आप प्रभुको प्रणाम है ॥ २६ ॥ आप समस्त जगत्‌के ईश्वर हैं, सत्पुरुषोंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन

स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश शश्वद्भयेन मृतकेन धुरं वहामः ।
हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनीहलभ्यं क्लिश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥
तन्नो भवान् प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो बद्धान् वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।
यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको बिभ्रद् रुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥
यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्र भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।
जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद् विधेहि ॥३०॥

दूत उवाच

इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः । प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम्॥३१॥

श्रीशुक उवाच

राजदूते ब्रुवत्येवं देवर्षिः परमद्युतिः । बिभ्रत् पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद् यथा रविः॥३२॥
तं दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः सर्वलोकेश्वरेश्वरः । ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा॥३३॥
सभाजयित्वा विधिवत् कृतासनपरिग्रहम् । बभाषे सूनृतैर्वाक्यैः श्रद्धया तर्पयन् मुनिम्॥३४॥
अपिस्विदद्य लोकानां त्रयाणामकुतोभयम् । ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः॥३५॥
न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु । अथ पृच्छामहे युष्मान् पाण्डवानां चिकीर्षितम् ३६

करनेके लिये ही आप इस लोकमें अपनी सब कलाओंके साथ अवतीर्ण हुए हैं। हे ईश ! क्या कोई ऐसा बलवान् पुरुष है, जो आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर सके। प्रत्येक मनुष्य अपने किये कर्मका फल भोगता ही है, सो हमें नहीं मालूम ॥ २७ ॥ हे ईश ! हम अपनी आत्मामें प्राप्त स्वतःसिद्ध सुखको छोड़कर आपकी मायासे दीन होकर महान् कष्ट भोग रहे हैं। क्योंकि प्रारब्धाधीन होनेके कारण हम परतन्त्र हैं और स्वप्नके समान राजसुखको पानेके इच्छुक रहते हैं। जिसमें सदा भय बना रहता है, उस मृतकतुल्य शरीरसे हम केवल स्त्री-पुत्रादिकी चिन्ताका बोझ ढोते हैं ॥ २८ ॥ हे प्रभो ! आपके चरणयुगल शरणागतोंका दुःख दूर करते हैं। अतएव आप ही जरासन्धरूपी कर्मबन्धनसे बँधे हमलोगोंको आकर छुड़ाइये। वह अकेले ही दस हजार हाथियोंका बल रखनेके कारण हमें भेड़ोंको सिंहके समान अपने भवनमें कैद किये हुए है ॥ २९ ॥ हे उदात्तचक्र ! जरासन्धने आपके साथ अठारह बार युद्ध किया। उसमें यद्यपि आपने सत्रह बार उसका मानमर्दन किया था, फिर भी जब अठारहवीं बार मनुष्यलीलामें निरत तथा अनन्त पराक्रमी आपको एक बार जीत लिया, तबसे वह अतिशय गर्वित हो आपकी प्रजारूप हम लोगोंको और अधिक कष्ट देने लगगया है। हे अजित ! अब आप जो उचित समझें सो करें" ॥ ३० ॥ दूतने कहा—हे भगवन् ! मगधराज जरासन्धके बन्दी बने हुए आपके दर्शनेच्छुक राजाओंने आपके चरणोंकी शरण गही है। कृपा करके आप उन दीनोंका कल्याण करिए ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! वह दूत इस तरह प्रार्थना कर ही रहा था, इसी समय पिङ्गलवर्ण जटाजूटधारी तथा परमतेजस्वी सूर्यके समान प्रकाशमान देवर्षि नारदजी वहाँ आगये ॥ ३२ ॥ उनको देखते ही सब लोकपालोंके प्रभु श्रीकृष्ण सब सभासद और अनुचरोंके साथ उठ खड़े हुए और प्रसन्नतासे माथा झुकाकर उनको प्रणाम किया ॥ ३३ ॥ तब उन्होंने विधिवत् आसनादि देकर उनका सत्कार किया और बड़ी श्रद्धासे मुनिवरको सन्तुष्ट करते हुए मधुर वाणीमें कहा—॥ ३४ ॥ "हे नारदजी ! अब त्रिलोकीको किसीसे भय तो नहीं है ? आप तीनों लोकोंमें विचरते हैं, इससे हमको यह बड़ा लाभ होता है कि सब लोकोंका वृत्तान्त अनायास ज्ञात हो जाता है ॥ ३५ ॥ ईश्वरकी रची हुई त्रिलोकीमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो आपको अज्ञात हो। अतएव हम

श्रीनारद उवाच

दृष्टा मया ते बहुशो दुरत्यया माया विभो विश्वसृजश्च मायिनः ।
भूतेषु भूमंश्चरतः स्वशक्तिभिर्वह्नेरिवच्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३७॥
तवेहितं कोऽर्हति साधु वेदितुं स्वमाययेदं सृजतो नियच्छतः ।
यद् विद्यमानात्मतयावभासते तस्मै नमस्ते स्वविलक्षणात्मने ॥३८॥
जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।
लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत् त्वा तमहं प्रपद्ये ॥३९॥

अथाप्याश्रावये ब्रह्म नरलोकविडम्बनम् । राज्ञः पैतृष्वसेयस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥४०॥
यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः । पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद् भवाननुमोदताम् ॥४१॥
तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः । दिदृक्षवः समेष्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥४२॥
श्रवणात् कीर्तनाद् ध्यानात् पूयन्तेऽन्तेवसायिनः । तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिमर्शिनः ॥४३॥

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

तत्र तेष्वात्मपक्षेष्वगृह्णत्सु विजिगीषया । वाचःपेशैःस्मयन् भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४५॥

श्रीभगवानुवाच

त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् । तथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत् ॥४६॥

आपसे यह जानना चाहते हैं कि पाण्डवलोग अब क्या करना चाहते हैं ? ॥ ३६ ॥ श्रीनारदजीने कहा—हे विभो ! हे भूमन् ! आप समस्त विश्वके रचयिता और बड़े मायावी हैं। मैंने आपकी दुस्तर मायाको अनेक बार देखा है। जैसे ईंधनमें ज्वालाविहीन अग्नि छिपा रहता है, वैसे ही आप अपनी मायाशक्तिके द्वारा सब प्राणियोंमें व्याप्त रहते हैं। अतएव आपका ऐसा प्रश्न मेरे लिये कोई अद्भुत बात नहीं है ॥ ३७ ॥ हे प्रभो ! मिथ्या होनेपर भी सत्यके समान प्रतीत होनेवाले प्रपञ्चको आप अपनी मायासे रचते और लय करते हैं। अतः आप परमेश्वरके अभिप्रायको भला कौन जान सकता है ? आप अचिन्त्य मूर्ति ईश्वरको नमस्कार है ॥३८॥ इस अनर्थवाही शरीरसे मुक्त होनेका उपाय न जाननेके कारण संसारचक्रमें चक्कर खाते हुए जीवको मुक्त करनेके लिये आपने विविध लीलावतार धारणकर अपना सुयशरूपी दीपक प्रज्वलित किया है। मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ ३९ ॥ हे प्रभो ! आप साक्षात् ब्रह्म हैं, किन्तु इस समय मानवी लीलाका अनुसरण कर रहे हैं। इस लिए मैं आपकी फुआके पुत्र और आपके अनन्य भक्त राजा युधिष्ठिरकी जो करनेकी इच्छा है, सो सुनाता हूँ ॥ ४० ॥ पाण्डुतनय महाराज युधिष्ठिर चक्रवर्तित्वपदकी इच्छासे राजसूय यज्ञ द्वारा आपका पूजन करना चाहते हैं, सो आप उसका अनुमोदन करें ॥ ४१ ॥ हे देव ! उस उत्तम यज्ञमें सब देवता और बड़े-बड़े यशस्वी राजे आपके दर्शनोंके लिए आयेंगे। हे ईश ! आप परब्रह्मरूप ईश्वरका श्रवण, कीर्तन तथा ध्यान करनेसे तो चाण्डाल भी पवित्र हो जाते हैं, फिर आपका साक्षात् दर्शन तथा स्पर्श करनेवालोंका क्या कहना ? ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ हे त्रिभुवनमङ्गल ! आपका पुनीत यश स्वर्ग, पाताल और पृथिवी तथा दसों दिशाओंमें व्याप्त है। हे प्रभो ! आपका चरणोदक स्वर्गमें मन्दाकिनी, पातालमें भोगवती तथा भूलोकमें गङ्गा नामसे विद्यमान होकर समस्त विश्वको पवित्र करता है ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने पक्षवाले यादवोंकी विजयप्राप्तिके लिये अति उत्सुक होनेके कारण नारदजीकी बात स्वीकार न करते देखकर श्रीकृष्णचन्द्रने अपने भक्त भृत्य उद्धवसे मुसकाते हुए कहा ॥ ४५ ॥ श्रीकृष्णजी बोले—हे उद्धव ! तुम सब पदार्थोंके ज्ञाता हमारे

इत्युपामन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि मुग्धवत् । निदेशं शिरसाऽऽधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे भगवद्यानविचारे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोऽब्रवीत् । सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः॥१॥

उद्धव उवाच

यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया । कार्यं पैतृष्वसेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥२॥

यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो । अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥३॥

अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति । यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बद्धान् विमुञ्चतः ॥४॥

स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले । बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥५॥

द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः । ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित्६

ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः । हनिष्यति न सन्देहो द्वैरथे तव सन्निधौ ॥७॥

निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः । हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥८॥

उत्तम चक्षु और शुभसम्मतिके मर्मज्ञ और प्रिय सुहृद् हो। अब तुम्हीं बताओ कि हमें क्या करना उचित है ? तुम जैसा कहोगे, हम उसीपर विश्वास करेंगे और वही करेंगे भी ॥ ४६ ॥ जब सर्वज्ञ होकर भी स्वामीने उद्धवसे अनजान बनकर अपना कर्त्तव्य पूछा तो उन्होंने भी प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके इस तरह उत्तर दिया ॥ ४७ ॥ इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

(भगवानका इन्द्रप्रस्थ-प्रयाण) श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रके इन वचनोंको सुनकर देवर्षि नारद, सब सभासद और भगवान कृष्णका पृथक्-पृथक् भाव जानकर महामति उद्धवजीने कहा ॥ १ ॥ उद्धवजी बोले—हे देव ! जैसा कि देवर्षि नारदने कहा है, तदनुसार तो आपको यज्ञ करनेके इच्छुक अपने फुफेरे भाई युधिष्ठिरकी ही सहायता करनी चाहिये और उन शरणागत राजाओंकी रक्षा करना भी आवश्यक ही है ॥ २ ॥ किन्तु हे विभो ! राजसूय-यज्ञ तो वही पुरुष कर सकता है, जो सब दिशाओंको जीत ले सके। अतएव उस दिग्विजयके प्रसंगमें जरासन्धको भी जीतना आवश्यक होगा और जरासन्धको जीत लेनेसे युधिष्ठिरका यज्ञ और शरणागतोंकी रक्षा दोनों ही कार्य एक साथ सिद्ध हो जायँगे, ऐसा मेरा ख्याल है ॥ ३ ॥ हे गोविन्द ! यदि ऐसा किया जाय तो दिग्विजयका भी उद्देश्य सफल होगा और उन बन्दी बने हुए राजाओंके मुक्त हो जानेसे आपका सुयश भी फैलेगा ॥ ४ ॥ राजा जरासन्ध दस सहस्र हाथियोंके समान बलवान् है। उसे उसीके समान बलवान भीमसेनके सिवा और कोई अधिक बलवान् होकर भी नहीं पछाड़ सकता। क्योंकि उसकी मृत्यु भीमसेनके हाथसे ही होनी निश्चित है ॥ ५॥ उसे द्वन्द्वयुद्धमें ही जीतना उचित होगा और उसको जीतनेके लिये सैकड़ों अक्षौहिणी सेनाके साथ जानेकी आवश्यकता नहीं है। वह बड़ा प्रबल ब्राह्मणभक्त है। वह ब्राह्मणोंकी प्रार्थनाको कदापि नहीं टालता ॥ ६ ॥ अतएव भीमसेन ब्राह्मण बनकर उसके पास जायँ और द्वन्द्वयुद्धकी भिक्षा माँगें। तब वे आपके समक्ष उसे द्वन्द्वयुद्धमें अवश्य मार डालेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ७ ॥ आप निराकार और कालस्वरूप ईश्वर हैं। आपहीके द्वारा जगत्की उत्पत्ति और प्रलयमें ब्रह्मा और

गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥९॥
जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते । प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम् । देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥११॥
अथादिशत् प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः । भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः ॥१२॥
निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान् । सङ्कर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद् गरुडध्वजम् ॥ १३ ॥
ततो रथद्विपभटसादिनायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया ।
मृदङ्गभेर्यानकशङ्खगोमुखैः प्रघोषघोषितककुभो निराक्रमत् ॥१४॥
नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥
नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनःकरेणुभिः परिजनवारयोषितः ।
स्वलंकृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वतः ॥१६॥
बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरैर्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥१७॥

शिव निमित्तमात्र हैं ॥ ८ ॥ जरासन्धके मर जानेपर उसके बन्दी बनाये राजाओंकी स्त्रियाँ शत्रुके वध तथा अपने पतियोंके बन्धनमुक्त किये जानेकी आपकी पवित्र लीलाका आनन्दपूर्वक अपने घरोंमें गान करेंगी । जैसे गोपियें शंखचूडसे छुटकारा पाकर और मुनिगण ग्राहके मुखसे गजराजको छुड़ाने तथा रावणके यहाँसे सीताजीको लानेकी लीलाओंको गाते हैं और हम यादव कंसका मरने और माता-पिताको उसकी कैदसे छुड़ानेकी कीर्तिको बखानते हैं ॥ ९ ॥ हे कृष्ण ! जरासन्धके वधसे अनेक कार्य एक साथ सिद्ध हो जायँगे और राजाओंके पुण्यकर्मविपाक अथवा जरासन्धके पाप-विपाकसे आपको भी यज्ञ ही मान्य है । अतएव पहले राजसूय यज्ञहीमें चलिए ॥ १० ॥ श्रीशुकदेव-जी कहते हैं—हे राजन् ! देवर्षि नारद, वयोवृद्ध यादवों और श्रीकृष्णचन्द्रने उद्धवजीके वचनोंका आदर किया ॥ ११ ॥ तब भगवान देवकीनन्दनने वसुदेवजी आदि गुरुजनोंसे आज्ञा ली और दारुक तथा जैत्र आदि सेवकोंको इन्द्रप्रस्थ जानेकी तैयारी करनेकी आज्ञा दी ॥ १२ ॥ पहले पुत्र तथा अन्यान्य सामग्रीके साथ शत्रुनाशन बलरामजीकी आज्ञा लेकर भगवान कृष्ण सारथीके लाये हुए गरुडचिह्नसे चिह्नित ध्वजायुक्त रथपर सवार हुए ॥ १३ ॥ और मृदङ्ग, भेरी, आनक, शंख और गोमुख आदि बाजोंके घोषसे दसों दिशाओंको घोषित करते हुए रथ, हाथी, पैदल तथा घुड़सवारोंकी भयङ्कर सेनासे घिरकर नगरसे बाहर आये ॥१४॥ कृष्णकी पतिपरायणा पत्नियाँ सुन्दर वस्त्र-आभूषण चन्दन तथा माला आदिसे अलंकृत हो अपने-अपने बालकोंके साथ नरयान (तामझाम), अश्वयान तथा सुवर्णमण्डित शिविकाओंपर बैठकर श्रीकृष्णचन्द्रजीके पीछे-पीछे चलीं । उनकी रक्षाके लिये चारों ओर ढाल-तलवारसे सुसज्जित सैनिकगण पहरा दे रहे थे ॥ १५ ॥ इसी तरह उनके अनुचरों-की स्त्रियाँ और वीराङ्गनाएँ भलीभाँति शृङ्गार करके खस आदिके बने कृत्रिम भवन तथा कम्बल और वस्त्रादि घरेलू सामग्रीको बैल आदिपर लादकर डोली, ऊँट, बैल, भैंसे, गधे, खच्चर, छकड़े तथा हथिनियोंपर सवार होकर चलीं ॥ १६ ॥ इस महासमवायके तुमुल कोलाहलसे व्याप्त वह सेना बड़ी-बड़ी ध्वजा-पताका, छत्र, चँवर, उत्तम अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, मुकुट तथा कवचोंके कारण ऐसी शोभित हुई, जैसे दिनके समय सूर्यकी किरणें पड़ने तथा उछलते हुए मगर और तरङ्गोंसे समुद्रकी शोभा

अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि विदधद् विहायसा ।
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो मुकुन्दसन्दर्शननिर्वृतेन्द्रियः ॥१८॥
राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा । मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम्॥१९॥
इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान् । तेऽपि सन्दर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन् यन्मुमुक्षवः॥२०॥
आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः । गिरीन् नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥२१॥
ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोऽथ सरस्वतीम् । पञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत्॥२२॥
तमुपागतमाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् । अजातशत्रुर्निरगात् सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥२३॥
गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा । अभ्ययात् स हृषीकेशं प्राणाः प्राणमिवादृतः २४
दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः । चिराद् दृष्टं प्रियतमं सस्वजेऽथ पुनः पुनः ॥२५॥
दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥२६॥
तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥
अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः । ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः॥२८॥
मानितो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् । सूतमागधगन्धर्वा वन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ॥२९॥

हुआ करती है ॥ १७ ॥ तब श्रीयदुनाथके द्वारा सम्मानित हो और उनके दर्शनसे प्रसन्नचित्त नारदजी उनसे पूजा पा उनका राजसूयज्ञमें जानेका दृढ़ निश्चय देख तथा भगवानको प्रणाम करके हृदयमें उन्हींका स्मरण करते हुए आकाशमार्गसे चले गये ॥ १८ ॥ तदनन्तर भगवानने राजाओंके उस दूतको अपनी मिठास भरी वाणीसे प्रसन्न करते हुए कहा—"हे दूत ! तुम जाकर राजाओंसे कह दो कि वे डरें नहीं । मैं शीघ्र जरासन्धका वध कराके उनका कल्याण करूँगा" ॥ १९ ॥ भगवानके ऐसा कहनेपर दूतने वहाँ जाकर राजाओंको सब वृत्तान्त यथावत् सुना दिया । तब वे राजे शीघ्र बन्धनमुक्त होनेकी इच्छासे भगवान कृष्णके दर्शनोंकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ २० ॥ इधर भगवान भी आनर्त, सौवीर, मरु तथा कुरुक्षेत्र लाँघ पर्वत, नदी, पुर, ग्राम, व्रज एवं आकरोंको पारकर दृषद्वती और सरस्वती नदी उतरकर पाञ्चाल और मत्स्यदेशका उल्लङ्घन करते हुए इन्द्रप्रस्थके समीप पहुँचे ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ जिनका दर्शन मनुष्योंको अत्यन्त दुर्लभ था, उन श्रीकृष्णके आगमनका संवाद पाकर अपने बन्धुवर्गसे घिरे हुए अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर अतिशय प्रसन्न होकर अपने उपाध्यायके साथ अगवानीके लिए नगरसे बाहर आये ॥ २३ ॥ जैसे इन्द्रियाँ प्राणसे मिलने जा रही हों, वैसेही वे गाने-बजानेके तुमुल घोष तथा वेदकी मङ्गलमयी ध्वनिके साथ श्रीहृषीकेशके समक्ष गये । श्रीकृष्णचन्द्रको देखकर महाराज युधिष्ठिरका चित्त प्रेमातिरेकसे गद्गद होगया और वे बहुत दिनों बाद प्राप्त अपने प्रिय सुहृद्को बारम्बार गले लगाकर भेंटे ॥२४॥२५॥ लक्ष्मीके परमपवित्र आश्रयस्वरूप भगवान कृष्णके दिव्य शरीरका दोनों भुजाओंसे आलिङ्गन करनेसे ही महाराज युधिष्ठिरके सब अशुभ दूर हो गये और उन्हें परमानन्द लाभ हुआ । उस समय उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये । शरीरमें रोमाञ्च होगया और वे सारे प्रपञ्च और भ्रमको भूल गये ॥ २६॥ इसके उपरान्त भीमसेनने भी अपने मामाके पुत्रका मुसकाते हुए आलिङ्गन किया और परम शान्ति पायी । प्रेमके उद्वेगसे उनका भी चित्त चञ्चल हो उठा । तब नकुल-सहदेव और आनन्दके कारण उमड़े हुए आँसुओंवाले अर्जुनने भी उनका आलिङ्गन किया ॥ २७॥ अर्जुनसे आलिङ्गित और नकुल-सहदेवसे नमस्कृत होकर भगवानने ब्राह्मणों और बड़े-बूढ़ोंको यथायोग्य नमस्कार किया और कुरु, सृञ्जय तथा केकयदेशवाले राजाओंसे सम्मानित होकर उनका स्वयं भी सम्मान किया । तब सूत, मागध, गन्धर्व, बन्दीजन, उपासक तथा

मृदङ्गशङ्खपटहवीणापणवगोमुखैः । ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥
एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः । संस्तूयमानो भगवान् विवेशालङ्कृतं पुरम् ॥३१॥

संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयैश्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्रग्गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥३२॥

उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्मजालनिर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गैर्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥३३॥

प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्रमौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥३४॥

तस्मिन् सुसङ्कुल इभाश्वरथद्विपद्भिः कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षितेन ॥३५॥

ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नीस्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहासलीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥३६॥

तत्र तत्रोपसङ्गम्य पौरा मङ्गलपाणयः । चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥३७॥
अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः । ससंभ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद् राजमन्दिरम् ॥३८॥
पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् । प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात् सस्नुषा परिषस्वजे ॥३९॥

ब्राह्मणगण, मृदङ्ग, शङ्ख, पटह, वीणा, पणव और गोमुख आदि बाजे बजाते हुए श्रीकमलनयन भगवानकी स्तुति करने तथा नाचने-गाने लग गये ॥ २८–३० ॥ इस तरह अपने बन्धुओंसे घिरे हुए पुण्यश्लोकशिरोमणि भगवान कृष्ण बन्दीजनों द्वारा स्तूयमान होते हुए नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ ३१ ॥ जिसकी सड़कोंपर हाथियोंके मदसे सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया था, जो रङ्ग-बिरङ्गी ध्वजाओं, सुनहरी बन्दनवारों, जलसे पूर्ण कलशों तथा स्नानादिसे स्वच्छ हो सुन्दर वस्त्राभूषण एवं सुगन्धित मालाओंसे अलंकृत नर-नारियोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ३२ ॥ श्रीकृष्णभगवानने धर्मराजकी राजधानीको प्रज्वलित दीपक तथा उपहारोंसे घर-घरके झरोखोंमें होकर निकलते हुए अगुरु-धूम, पताकाओं तथा स्वर्णकलशविराजित चाँदीके शिखरोंसे अलंकृत भवनोंसे भरा देखा ॥ ३३ ॥ सभी मनुष्योंके नेत्रोंके लिये अत्यन्त दर्शनीय भगवान कृष्णचन्द्रका आगमन सुनते ही नगरकी नारियाँ घरके धन्धोंको तथा शय्यापर सोये अपने पतियोंको वहीं छोड़कर श्रीकृष्णको देखनेके लिये राजमार्गपर आ गयीं। उस समय उत्सुकताके कारण उनके केश और वस्त्रोंके बन्धन शिथिल हो गये थे। तब अपने घरोंकी अटारियोंपर चढ़ी हुई उन स्त्रियोंने हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सेनासे आवृत श्रीकृष्णचन्द्रको अपनी रानियोंके सहित राजमार्गमें चलते देखकर उनपर फूलोंकी वर्षा की और उनका मानसिक आलिङ्गन करके उत्कृष्ट मुसकानभरी चितवनसे स्वागत किया ॥ ३४।३५ ॥ तब चन्द्रमासहित विराजमान तारागणकी भाँति राजमार्गमें श्रीकृष्णके साथ सुशोभित उनकी रानियोंको देखकर वे नगरकी नारियें कहने लगीं—"इन बड़भागिनियोंने न जाने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है, जिससे पुरुषपुङ्गव श्रीकृष्णचन्द्र अपनी उदार हँसी तथा लीलामयी चितवनसे इनके नयनोंको आनन्द प्रदान करते हैं।" ॥ ३६ ॥ ऐसे ही जहाँ-तहाँ बहुतेरे पुण्यात्मा, धनी-मानी तथा शिल्पजीवी नागरिकोंने बहुत-सी माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर आगे आ श्रीकृष्ण भगवानकी पूजा की ॥३७॥ तब श्रीमुकुन्द अन्तःपुरमें रहनेवाले पुरुषों द्वारा विकसित और विह्वल नेत्रोंसे प्रीतिपूर्वक स्वागत करनेपर राजभवनमें गये ॥ ३८ ॥ तदनन्तर श्रीकुन्तीजीने भी अपने भाईके पुत्र एवं त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्णचन्द्रको आये देख प्रसन्नतापूर्वक पलङ्गसे उठ और अपनी पुत्रवधू द्रौपदीके साथ आगे जाकर

गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः । पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः ॥४०॥
पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् । स्वयं च कृष्णया राजन् भगिन्या चाभिवन्दितः॥
श्वश्र्वा सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः । आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा॥४२
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैब्यां नाग्नजितीं सतीम्। अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः
सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् । ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम्॥४४॥
तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः । मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥४५॥
उवास कतिचिन्मासान् राज्ञः प्रियचिकीर्षया । विहरन् रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे कृष्णस्येन्द्रप्रस्थगमनं नामैकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः । ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥१॥
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः । शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥२॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः । यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ॥३॥

आलिङ्गन किया ॥ ३९ ॥ देवदेवेश्वर भगवान् कृष्णको सादर अपने महलमें ले आनेपर महाराज युधिष्ठिरको आनन्दातिरेकके कारण पूजादि करनेका क्रम ही भूल गया ॥ ४० ॥ हे राजन् ! तब द्रौपदी अपनी बहिन सुभद्रासे नमस्कृत होकर भगवान् कृष्णने पिताकी बहिन कुन्ती तथा वहाँकी अन्य बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम किया ॥ ४१ ॥ तदनन्तर सासुकी प्रेरणासे द्रौपदीने रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा तथा परमसाध्वी सत्या—कृष्णचन्द्रकी इन सब पत्नियों और इनके साथ जो अन्य स्त्रियाँ थीं उन सबका वस्त्र, माला तथा आभूषणादिसे भलीभाँति सत्कार किया ॥ ४२–४३ ॥ तब अर्जुनके साथ मिलकर खाण्डव वनका दाह कराकर अग्निको तृप्त किया और उस प्रचण्ड अग्निकाण्डसे मयदानवकी रक्षा करके उससे महाराज युधिष्ठिरके लिये एक दिव्य सभा तैयार करानेवाले श्रीजनार्दनको धर्मराज युधिष्ठिरने उनकी सेना, अनुचरगण, मन्त्रिमण्डल एवं पत्नियोंको ऐसे स्थानोंमें ठहराया जहाँ उन्हें नित्य नया सुख मिल सके ॥ ४४–४५ ॥ तदनन्तर भगवान् कृष्ण अर्जुनके साथ रथपर सवार हो बहुतसे सैनिकोंके साथ विचरते हुए महाराज युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये वहाँ कुछ महीने रहे ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

(युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञका आयोजन और जरासन्धका वध) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन महाराज युधिष्ठिरने जब बहुतसे मुनि, विप्र, क्षत्रिय, वैश्य, भीमसेन आदि भ्राता, आचार्य, कुलके बड़े-बूढ़े तथा जातिसम्बन्धी और बन्धु-बान्धवोंसे घिरकर राजसभामें बैठे हुए थे । इसी समय उन्होंने इन सबके समक्ष भगवान् कृष्णको सम्बोधित करके कहा ॥ १ ॥ २ ॥ युधिष्ठिर कहने लगे—हे गोविन्द ! यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूय यज्ञके द्वारा मैं आपकी परम पवित्र विभूतिरूप इन्द्रादि देवताओंका पूजन करना चाहता हूँ । हे प्रभो ! आप मेरा यह संकल्प पूर्ण कर दें ॥३॥

त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥४॥
तद् देवदेव भवतश्चरणारविन्दसेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥५॥
न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात् सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥६॥

श्रीभगवानुवाच

सम्यग् व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्शन । कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥७॥
ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभो । सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥८॥
विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे । सम्भृत्य सर्वसम्भारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥९॥
एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसम्भवाः । जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः
न कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया । विभूतिभिर्वाभिभवेद् देवोऽपि किमु पार्थिवः ११

श्रीशुक उवाच

निशम्य भगवद्गीतं प्रीतः फुल्लमुखाम्बुजः । भ्रातॄन् दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान्
सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत् सह सृञ्जयैः । दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥ १३ ॥
ते विजित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा । अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥

हे कमलनाभ ! जो कोई भी शुद्धचित्त पुरुष आपकी पापनाशिनी चरणपादुकाओंका निरन्तर सेवन, ध्यान और कथोपकथन करते हैं, वे संसारके बन्धनसे सदाके लिये मुक्त हो जाते और यदि वे भोग चाहते हैं तो उन्हें सब प्रकारके ऐसे भोग अनायास प्राप्त हो जाते हैं, जो औरोंको कदापि प्राप्त नहीं हो सकते। आप ऐसा करें कि सब लोग आपके चरणकमलोंकी सेवाका महत्त्व समझ सकें। हे प्रभो ! आप कुरु तथा सृञ्जयवंशी राजाओंको अपनी सेवा करने और न करनेवाले दोनों तरहके पुरुषोंकी निष्ठा दिखायें ॥ ४ ॥ हे प्रभो ! आप सर्वात्मा, समदर्शी तथा आत्मानुभवस्वरूप परब्रह्म हैं। आपमें अपने-परायेका भेद-भाव तनिक भी नहीं है। फिर भी जैसे कल्पवृक्ष अपनी सेवा करनेवालोंको उनकी भावनाके अनुसार फल देता है, वैसे ही प्राणीको आपकी सेवाके अनुरूप फल मिलता है। इससे आपपर भेद-भाव अथवा निर्दयताका दोषारोप नहीं हो सकता ॥५॥६॥ श्रीभगवानने कहा—हे शत्रुदमन राजन् ! आपने बहुत ठीक सोचा है। इससे लोकोंमें आपकी कल्याणमती कीर्ति बढ़ेगी ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! यह यज्ञ राजा, ऋषि, पितर, देवता आदि सब प्राणी और हम बन्धुबान्धवादिको भी इष्ट है ॥ ८ ॥ आप सब राजाओंको जीत और समस्त भूमण्डलको अपने वशीभूत करके यज्ञकी सब सामग्री एकत्रित कर लेनेके बाद इस महायज्ञका अनुष्ठान करें ॥ ९ ॥ हे राजन् ! आपके ये चारों भाई इन्द्रादि लोकपालोंके अंशोंसे उत्पन्न हुए हैं और आप भी बड़े मनस्वी हैं। तभी तो आपने मुझे जीत लिया है। अन्य अजितेन्द्रिय पुरुषों द्वारा मैं जीता नहीं जा सकता ॥ १० ॥ लोकमें मेरे भक्तका कोई देवता भी तेज, यश, श्री अथवा विभूति आदिसे तिरस्कार नहीं कर सकता। फिर साधारण राजे उसका क्या बिगाड़ सकते हैं ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवानका कथन सुनकर युधिष्ठिरका मुख-कमल प्रसन्नतासे खिल उठा और उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके तेजसे तेजस्वी भाइयोंको दिग्विजयके कार्यमें नियुक्त कर दिया। सहदेवको सृञ्जयदेशीय वीरोंके साथ दक्षिण दिशामें जानेका आदेश दिया और पश्चिम दिशामें नकुल, उत्तर अर्जुन और पूर्वमें भीमसेनको मत्स्य, केकय और मद्रदेशीय वीरोंके साथ भेज दिया ॥ १२ ॥ १३ ॥ हे राजन् ! भीम

श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः । आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥१५॥
भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः । जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥१६॥
ते गत्वाऽऽतिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनाम् । ब्रह्मण्यं समयाचेरन् राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः १७
राजन् विद्ध्यतिथीन् प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान् । तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद् वयं कामयामहे ॥१८॥
किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः । किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् १९
योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् । नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः
हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः । व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥

श्रीशुक उवाच

स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि । राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ॥२२॥
राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति । ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् २३
बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा । ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेनविष्णुना २४
श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे । जानन्नपि महीं प्रादाद् वार्यमाणोऽपि दैत्यराट्
जीवताऽब्राह्मणार्थाय को न्वर्थः क्षत्रबन्धुना । देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥२६॥
इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान् । हेविप्रा व्रियतां कामो ददाम्यात्मशिरोऽपि वः

आदि वीरोंने अपने पराक्रमसे सब दिशाओंके राजाओंको जीतकर यज्ञके लिये उद्यत महाराज युधिष्ठिरको प्रचुर धन लाकर दिया ॥१४॥ लेकिन जब महाराज युधिष्ठिरने जरासन्धको अजेय सुना तो उसे जीतनेकी चिन्तामें पड़ गये। तब आदिपुरुष श्रीभगवानने उन्हें वही उपाय बताया, जो पहले उद्धवजीने बताया था ॥ १५ ॥ हे तात ! तदनुसार भीमसेन अर्जुन तथा कृष्णचन्द्र तीनों ब्राह्मण-वेश धारणकर गिरिव्रज दुर्गको गये, जहाँ बृहद्रथका पुत्र जरासन्ध रहता था ॥ १६ ॥ ब्राह्मणवेषधारी उन क्षत्रियोंने ब्राह्मण-भक्त तथा गृहस्थाश्रमी राजा जरासन्धके घर ठीक आतिथ्यके समय पहुँचकर यह प्रार्थना की ॥ १७ ॥ उन्होंने कहा—"हे राजन् ! आपका कल्याण हो। आप ऐसा समझें कि हम तीनों अतिथि बहुत दूरसे यहाँ आये हैं। सो हम आपसे जो माँगना चाहते हैं, वह कृपा करके आप हमें दें ॥ १८ ॥ तितिक्षुजनोंके लिये क्या असह्य है ? दुष्टजन क्या नहीं कर सकते ? उदार पुरुषोंके लिये कौन-सी वस्तु अदेय है और समदर्शियोंकी दृष्टिमें कौन वस्तु परायी है ? ॥ १९ ॥ जो पुरुष समर्थ होकर भी इस नाशवान् शरीरसे सज्जनोंके गाने योग्य सुयशका सम्पादन नहीं करता, वही निन्दनीय और शोचनीय हो जाता है। देखो हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, शिलोञ्छवृत्तिपर चलनेवाले मुद्गल ऋषि, शिवि, बलि, व्याध और कपोत आदि अनेक प्राणियोंने इस शरीरसे ही अविनाशी पद प्राप्त किया था" ॥२०॥२१॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तब जरासन्धने उनके स्वर आकृति तथा भुजाओंपर पड़े हुए धनुषकी डोरीके चिह्नोंसे उन्हें अपने पहले देखे हुये क्षत्रिय समझकर मन ही मन सोचा—॥२२॥ ये लोग वास्तवमें क्षत्रिय हैं, किन्तु इन्होंने भयवश ब्राह्मण जैसा वेष धारण किया है। अतएव इनके माँगनेपर मैं अपना अत्यन्त दुस्त्यज शरीर भी दे दूँगा ॥ २३ ॥ सुना जाता है कि बलिके यहाँसे इन्द्रकी राज्य-लक्ष्मी हर लेनेके इच्छुक विष्णुने ब्राह्मण बनकर बलिको छलपूर्वक ऐश्वर्यभ्रष्ट कर दिया था। फिर भी दसों दिशाओंमें फैली हुई उनकी निर्मल कीर्ति व्याप्त है। शुक्राचार्यजीके रोकनेपर भी उस दैत्यराजने विप्रवेषधारी श्रीविष्णुभगवानको जान-बूझकर सारी पृथ्वी दे दी थी ॥ २४ ॥ २५ ॥ जो क्षत्रिय ब्राह्मणके लिये जीवन नहीं धारण करता और जो महान् यशका संचय नहीं करता, उसके नाशवान् शरीरसे क्या लाभ ? ॥ २६ ॥ ऐसा मन ही मन विचारकर उदारबुद्धिवाले राजा जरासन्धने कृष्ण, अर्जुन तथा भीमसेनसे कहा—"हे विप्रो ! तुम्हारी जो इच्छा हो सो माँग लो, मैं तुम्हें अपना मस्तक भी उतारकर दे

श्रीभगवानुवाच

युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे । युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः २८
असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् । अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् २९
एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः । आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ३०
न त्वया भीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा । मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ३१
अयं तु वयसा तुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः । अर्जुनो न भवेद् योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ३२
इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् । द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद् बहिः ३३
ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ । जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥
मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च । चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥३५॥
ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसंनिभः । गदयोः क्षिप्तयो राजन् दन्तयोरिव दन्तिनोः ३६

ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने अन्योन्यतोंऽसकटिपादकरोरुजत्रून् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे संयुध्यतोर्द्विरदयोरिव दीप्तमन्व्वोः ॥३७॥
इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिंष्टाम् ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥३८॥

तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः । निर्विशेषमभूद् युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥३९॥

सकता हूँ ॥ २७ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे राजेन्द्र ! यदि उचित समझो तो तुम हमें द्वन्द्वयुद्धकी भीख दो । हम क्षत्रिय हैं और युद्धकी इच्छासे ही तुम्हारे पास आये हैं । हम अन्नके इच्छुक ब्राह्मण नहीं हैं ॥ २८ ॥ ये पृथापुत्र भीमसेन हैं और ये इनके दूसरे भाई अर्जुन हैं और मैं इनके मामाका पुत्र तथा तुम्हारा शत्रु कृष्ण हूँ—ऐसा समझो ॥ २९ ॥ इस प्रकार भगवान कृष्ण द्वारा सूचित किये जानेपर मगधराज जरासन्ध ठहाका मारकर हँसने लगा और उसने तनिक क्रुद्ध होकर कहा—“ओ मूर्खों ! यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो तुम्हें द्वन्द्वयुद्धकी भिक्षा देता हूँ ॥ ३० ॥ लेकिन तुम तो बड़े डरपोक और युद्धमें घबड़ा जानेवाले जीव हो । इसीलिये अपनी राजधानी मथुरा छोड़कर समुद्रकी शरणमें जा बसे । अतः मैं तुमसे तो लड़ूँगा नहीं ॥ ३१ ॥ अर्जुन भी वैसे कोई योद्धा नहीं है । यद्यपि ये अवस्थामें मेरे समान हैं तो भी कोई विशेष पराक्रमी न होनेके कारण मेरी जोड़में नहीं आते । हाँ, भीम अवश्य मेरे ही समान बलवान् है” । ऐसा कहकर जरासन्ध भीमसेनको एक बहुत बड़ी गदा दी और दूसरी गदा अपने हाथमें लेकर नगरके बाहर निकल आया ॥ ३२–३३ ॥ तब वे दोनों रणके मतवाले वीर एक समतल भूमिपर परस्पर भिड़ गये और अपनी वज्रसदृश कठोर गदाओंसे एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ३४ ॥ वे दोनों दायें-बायें विविध तरहसे पैतरे बदलते थे, जैसे दो नट रङ्गभूमिमें युद्ध कर रहे हों ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! उस समय एक-दूसरेपर फेंकी हुई गदाओंकी टक्करसे युद्ध करनेवाले दो हाथियोंके दाँतोंकी कड़क तथा बिजलीकी तड़पके सदृश चट-चट शब्द होने लगा ॥ ३६ ॥ तब वे गदाएँ बड़े वेगसे एक-दूसरेके कन्धे, कमर, चरण, हाथ, जङ्घा तथा भुजाओंके पुट्ठोंपर पड़नेसे उनसे टकराकर इस तरह चूर्ण हो गयीं जैसे अत्यन्त क्रोधमें भरकर आककी शाखाओंमें टक्कर खाते हुए दो हाथियोंसे पकड़ी हुई शाखाएँ उनके अङ्गोंसे टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं ॥ ३७ ॥ उनकी गदाओंसे इस तरह चूर्ण हो जानेपर वे नरवीर अपने लोहेके घनसदृश लगनेवाले मुक्कोंसे एक दूसरेको कूँचने लगे । हाथीके समान परस्पर प्रहार करते हुए उनके घूँसोंसे आघातका शब्द बिजलीकी कड़कके समान प्रचण्ड मालूम देने लगा ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! समान शिक्षा, बल तथा उत्साह सम्पन्न उन वीरोंका असाधारण

एवं तयोर्महाराज युध्यतोः सप्तविंशतिः । दिनानि निरगंस्तत्र सुहृद्वन्निशि तिष्ठतोः ॥४०॥
एकदा मातुलेयं वै प्राह राजन् वृकोदरः । न शक्तोऽहं जरासन्धं निर्जेतुं युधि माधव ॥४१॥
शत्रोर्जन्ममृती विद्वान् जीवितं च जराकृतम् । पार्थमाप्याययन् स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः॥४२॥
सञ्चिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः । दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४३॥
तद् विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः । गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले॥४४॥
एकं पादं पदाऽऽक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः । गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः॥४५॥
एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके । एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशुः प्रजाः ॥४६॥
हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वरे । पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ॥४७॥
सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः । अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं प्रभुः ।
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे जरासन्धवधो नाम द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः । ते निर्गता गिरिद्रोण्यां मलिना मलवाससः॥१॥

युद्ध हुआ । इस युद्धमें उन दोनोंमेंसे किसीका भी उत्साह भङ्ग नहीं हो पाया ॥ ३९ ॥ हे महाराज ! इस तरह दिनमें युद्ध करते और रात्रिको मित्रभावसे रहते हुए उनके सत्ताईस दिन व्यतीत होगये ॥ ४० ॥ एक दिन भीमसेन अपने मामाके बेटे भगवान कृष्णसे बोले—"हे कृष्ण ! मैं तो मगधराजको युद्धमें परास्त करनेमें असमर्थ हूँ" ॥ ४१ ॥ श्रीकृष्णभगवान जरासन्धके जन्म और मरण दोनोंका रहस्य जानते थे । जिस तरह जरा राक्षसीने उसे जीवनदान दिया था, उसका भी उन्हें पता था । अतएव कुन्तीसुवन भीमसेनको अपने तेजसे उत्साहित करते हुए वे जरासन्धके वधका उपाय सोचने लगे ॥ ४२ ॥ दूसरे दिन अमोघदर्शन श्रीकृष्णने युद्धके समय भीमसेनको एक वृक्षकी शाखा चीरकर दिखाते हुए सङ्केतसे उसके मारनेका उपाय बता दिया ॥ ४३ ॥ प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ एवं महापराक्रमी भीम कृष्ण भगवानके इस सङ्केतसे उसे मारनेका ढङ्ग जान गये और उन्होंने शत्रुके पाँव पकड़कर उसे पृथिवीपर पटक दिया ॥ ४४ ॥ तब भीमने उसके एक पाँवको अपने पाँवसे दबाकर दूसरे पैरको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और जैसे कोई महागज किसी वृक्षकी शाखाको चीर डाले, वैसे ही गुदाकी ओरसे उसे चीरकर दो खण्ड कर दिये ॥ ४५ ॥ उस समय प्रजाने देखा कि उसके शरीरके चरण, जङ्घा, अण्डकोश, पीठ, स्तन, कन्धा, भुजा, नेत्र, भ्रुकुटि और कान एक-एकके दो खण्ड हो गये थे ॥ ४६ ॥ इस तरह जरासन्धके मारे जानेपर वहाँ बड़ा हाहाकार मच गया तथा अर्जुन और कृष्णचन्द्रने भीमसेनका आलिङ्गन करके उनका सत्कार किया ॥ ४७ ॥ इसके बाद उन अमेयात्मा तथा भूतभावन भगवान कृष्णने जरासन्धके पुत्र सहदेवको मगधदेशके राजसिंहासनपर अभिषिक्त किया और जरासन्धने जिन राजाओंको कैदकर लिया था, उन्हें कारागारसे मुक्त कर दिया ॥ ४८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

(बन्दीगृहसे मुक्त राजाओंकी विदाई और भगवानका इन्द्रप्रस्थको प्रस्थान करना) श्री शुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जरासन्धके द्वारा युद्धमें लीलासे ही पराजित बीस हजार आठ सौ

क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः । ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥२॥
श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम् । चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३॥
पद्महस्तं गदाशङ्खरथाङ्गैरुपलक्षितम् । किरीटहारकटककटिसूत्राङ्गदाञ्चितम् ॥४॥
भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया । पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥५॥
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः । प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्हरेः ॥६॥
कृष्णसन्दर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः । प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥७॥

राजान ऊचुः

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय । प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥८॥
नैनं नाथानुसूयामो मागधं मधुसूदन । अनुग्रहो यद् भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥९॥
राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः । त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते संपदोऽचलाः ॥१०॥
मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् । एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥११॥

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥१२॥
त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥१३॥
अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत् पतता रुजां सुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥१४॥

राजे जब मैले-कुचैले कपड़े पहने, भूखसे दुर्बल, मलिनमुख तथा बन्धनके क्लेशसे कृषित गिरिव्रज-नामक दुर्गसे निकले तो उन्होंने भगवान् कृष्णको सामने खड़े देखा। वे मेघके समान श्यामवर्ण थे और रेशमी पीताम्बर धारण किये थे ॥ १-२ ॥ उनके श्रीवत्स-चिह्न, चार भुजाएँ, कमलकोशके समान अरुण नेत्र और मनोहर एवं प्रसन्न मुखारविन्द था और कानोंमें मकराकृति कुण्डल झिल-मिला रहे थे ॥ ३ ॥ वे एक हाथमें कमल लिये थे। गदा, शङ्ख और चक्रादि आयुध अन्य हाथोंमें थे और किरीट, हार, कटक, करधनी तथा केयूरादिसे विभूषित थे ॥ ४ ॥ इस तरह वे गलेमें कौस्तुभ-मणि पहने और वनमालासे वेष्टित थे। उन श्रीहरिको उन राजाओंने नेत्रोंसे पीते, जिह्वासे चाटते, नासिकासे सूँघते और भुजाओंसे आलिङ्गन करते हुएके समान उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया ॥५-६॥ तब कृष्णदर्शनकी प्रसन्नतासे जिनका कैदमें रहनेका सारा क्लेश नष्ट हो गया था, वे राजे हाथ जोड़कर नम्रवाणीमें हृषीकेशकी इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ ७ ॥ राजालोग बोले—हे शरणा-गतभयहारी तथा अविनाशी देवदेवेश्वर! आपको प्रणाम है। हे कृष्ण! हम इस घोर संसारसे उदासीन होकर आपकी शरणमें आये हैं, आप हमारी रक्षा करें ॥ ८ ॥ हे नाथ! हे मधुसूदन! हम जरासन्धको कोई दोष नहीं देते। क्योंकि इसके द्वारा जो हम राजाओंको राज्यभ्रष्ट होना पड़ा, वह आपका अनुग्रह था ॥ ९ ॥ राज्य और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त राजाका कभी कल्याण नहीं हो सकता। वह तो आपकी मायासे मोहित रहनेके कारण अनित्य तथा चञ्चल धनको ही नित्य और निश्चल माने बैठा रहता है ॥ १० ॥ जैसे मूढ़लोग मृगतृष्णाको जलाशय मानते हैं, वैसे ही अज्ञानी पुरुष विकारमयी मायाको सत्य वस्तु मानते हैं ॥ ११ ॥ हे प्रभो! पहले हम लक्ष्मीके मदसे अन्धे होकर एक-दूसरेसे डाह करते तथा उसे जीतनेकी इच्छासे निरन्तर सम्मुख रहनेवाले मृत्युरूप आपको भी अत्यन्त मदके कारण कुछ न गिनकर अति निर्दयताके साथ अपनी ही प्रजाका नाश करते थे ॥१२॥ हे कृष्ण! वे ही हम इस समय आपके स्वरूपभूत तथा अनन्तवीर्य कालकी गम्भीर गतिसे श्रीहीन हो जानेके कारण आपकी कृपासे गर्वरहित होकर आपके चरणोंका स्मरण करते हैं ॥ १३ ॥ हे

तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः । स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने । प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥१६॥

श्रीशुक उवाच

संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः । तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा १७

श्रीभगवानुवाच

अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे । सुदृढा जायते भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ॥१८॥
दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः । श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम्॥१९॥
हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे । श्रीमदाद् भ्रंशिताःस्थानाद् देवदैत्यनरेश्वराः २०
भवन्त एतद् विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यनन्तवत् । मां यजन्तोऽध्वरैयुक्ताः प्रजाःधर्मेण रक्षथ॥२१॥
सन्तन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ । प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ॥२२॥
उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः । मय्यावेश्य मनः सम्यङ्मामन्ते ब्रह्म यास्यथ २३

श्रीशुक उवाच

इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः । तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियो मज्जनकर्मणि २४
सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत । नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्रग्विलेपनैः ॥२५॥
भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् । भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः २६
ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः । विरेजुर्मोचिताःक्लेशात् प्रावृडन्ते यथा गृहाः२७

विभो ! निरन्तर क्षीण होनेवाले रोगोंकी क्रीडाभूमिस्वरूप शरीरसे ही सेवन किये जानेयोग्य मृग-तृष्णाकी भाँति मिथ्या राज्य तथा मरनेके पश्चात् मिलने और कानोंको प्रिय लगनेवाले स्वर्गादि कर्मफलकी भी इच्छा अब हमें नहीं है ॥ १४ ॥ अतएव हे प्रभो ! अब आप वही उपाय बतलाइये कि जिससे इस संसारकी विविध योनियोंमें भ्रमते हुए भी हमें आपके चरण-कमलोंकी स्मृति बनी रहे ॥ १५ ॥ वासुदेव, हरि, परमात्मा तथा शरणागतोंका क्लेश नष्ट करनेवाले गोविन्द श्रीकृष्ण भगवानको अनेकशः प्रणाम है ॥ १६ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उन बन्धनसे छूटे हुए राजाओं द्वारा इस प्रकार स्तूयमान होकर शरणागतवत्सल तथा करुणामय श्रीभगवानने उनसे अतिशय मधुर-वाणीमें कहा ॥ १७ ॥ श्रीभगवान बोले—हे राजाओं ! तुमने जो कुछ कहा है, वह ठीक है । अबसे सबके आत्मारूप मुझ सर्वेश्वरमें तुम्हारी भक्ति दृढ़ होगी ॥ १८ ॥ हे राजाओं ! तुमलोग सच कहते हो । श्री और ऐश्वर्यके मदसे होनेवाली उच्छृङ्खलताको मैं मनुष्यको बहुत मतवाला बना देनेवाली मदिरा समझता हूँ ॥१९॥ देखो न, ऐश्वर्यमदके कारण ही हैहयवंशीय सहस्रार्जुन, नहुष, वेन, रावण तथा नरकासुर आदि बहुतेरे देवता, दैत्य तथा राजे अपने स्थानसे भ्रष्ट हो चुके हैं ॥ २० ॥ अतएव तुम उत्पन्नधर्मा देहादिको नाशवान् समझ सावधानतापूर्वक यज्ञादिके द्वारा मेरा यजन करते हुए धर्मानुसार प्रजाका पालन करो ॥ २१ ॥ अब तुम लोग सन्तानकी वृद्धि करते और प्रारब्धानुसार प्राप्त होनेवाले जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख और लाभालाभको भोगते हुए मुझमें चित्त लगाकर कालयापन करो ॥ २२ ॥ इससे देहादिमें उदासीन, आत्माराम तथा नाना प्रकारका व्रत पालनेवाले बनो और चित्तको भली प्रकार मुझमें लगाकर अन्तमें तुम मुझ ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाओगे ॥ २३ ॥ श्रीशुक-देवजी कहते हैं—जगत्पति भगवान कृष्णने राजाओंको ऐसी आज्ञा दे और उन्हें स्नानादि करानेके लिये स्त्री और पुरुषसेवकोंको नियुक्त कर दिया ॥ २४ ॥ हे भारत ! जरासन्धके पुत्र सहदेव द्वारा उनको राजोचित वस्त्र, आभूषण, माला तथा चन्दनादिके द्वारा सम्मानित कराया ॥ २५ ॥ इस प्रकार भलीभाँति स्नानकर वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत उन राजाओंको उत्तम अन्न भोजन कराके उन्हें ताम्बूल आदि विविध प्रकारके राजोचित भोग समर्पण कर दिये ॥ २६ ॥ श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा कारागारके

स्वान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् । प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् २८
त एवं मोचिताः कृच्छ्रात् कृष्णेन सुमहात्मना । ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ।२९।
जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते महापुरुषचेष्टितम् । यथान्वशासद् भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ।३०।
जरासन्धं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः । पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः ।३१।
गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुर्जितारयः । हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ॥३२॥
तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः । मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥३३॥
अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः । सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥३४॥
निशम्य धर्मराजस्तत् केशवेनानुकम्पितम् । आनन्दाश्रुकलां मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे कृष्णाद्यागमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

एवं युधिष्ठिरो राजा जरासन्धवधं विभोः । कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥१॥

युधिष्ठिर उवाच

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकमहेश्वराः । वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥२॥
स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् । धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३॥

क्लेशसे छुड़ाये तथा सम्मनित वे नृपतिगण स्वच्छ कुण्डलोंकी कान्तिसे इस तरह सुशोभित हुए, जैसे वर्षा ऋतुके बाद तारागण सुशोभित होते हैं ॥ २७ ॥ तदनन्तर सुन्दर घोड़े जुते हुए मणि और सुवर्णजटित रथोंपर चढ़ाकर मधुरवाणीसे प्रसन्न करते हुए उनको अपने-अपने देशोंको भेज दिया ॥ २८ ॥ महात्मा कृष्णचन्द्र द्वारा क्लेशमुक्त होकर वे सब राजे उन जगत्पति और उनकी लीलाओंका ध्यान करते हुए अपने-अपने देशोंको चले गये ॥ २९ ॥ अपने मन्त्री आदिको महापुरुष भगवान कृष्णके जरासन्ध-वध आदि अद्‌भुत कर्म कह सुनाये और भगवानने उन्हें जैसा करनेका आदेश दिया था, वैसे ही सावधानतापूर्वक करने लगे ॥३०॥ इधर भीनसेनके द्वारा जरासन्धका वध कराके भगवान कृष्ण भीम तथा अर्जुनके साथ सहदेवसे सम्मानित होकर इन्द्रप्रस्थको चले ॥ ३१ ॥ शत्रुओं पर विजय प्राप्त किये हुए उन वीरोंने इन्द्रप्रस्थ नगरमें पहुँचकर सुहृदोंको आनन्दित करते और द्वेषियोंको दहलाते हुए अपने-अपने शङ्ख बजाये ॥ ३२ ॥ वह शङ्खध्वनि सुनकर इन्द्रप्रस्थनिवासी प्रजाजन बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने समझ लिया कि जरासन्ध मारा गया और महाराज युधिष्ठिरका दिग्विजयस्वरूप मनोरथ पूर्ण हो चुका ॥ ३३ ॥ तब भीम, अर्जुन तथा भगवान कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरकी वन्दना की और उन्हें अपने सम्पूर्ण कृतकार्य कह सुनाया ॥ ३४ ॥ भगवान कृष्णके उस अनुग्रहपूर्ण कार्यका वृत्तान्त सुनकर धर्मराजके नेत्रोंमें अनन्दाश्रु उमड़ आये और वे कुछ भी नहीं बोल सके ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

(धर्मराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें भगवान कृष्णकी अग्रपूजा तथा शिशुपालवध) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जरासन्धका वध और भगवान कृष्णका प्रभाव सुनकर महाराज युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! त्रिलोकीके गुरु और सम्पूर्ण लोकोंके महान् ईश्वरस्वरूप ब्रह्मादिक देवता भी जिनकी दुर्लभ आज्ञाको अपने सिरपर धारण करते हैं । हे भूमन् ! वे ही कमलनेत्र आप

न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः । कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥४॥
न वै तेऽजित भक्तानां ममाहमिति माधव । त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ॥५॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा यज्ञिये काले वव्रे युक्तान् स ऋत्विजः । कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ६
द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः । वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥७॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतु । पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥८॥
अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः । वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीरसेनोऽकृतव्रणः ॥९॥
उपहूतास्तथा चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः । धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥१०॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः । तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञः प्रकृतयो नृप ॥११॥
ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः । कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयाञ्चक्रिरे नृपम् ॥१२॥
हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा । इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिभवसंयुताः ॥१३॥
सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः । मुनयो यक्षरक्षांसि खगकिन्नरचारणाः ॥१४॥
राजानश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः । राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥१५॥
मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः । अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिवत् प्राचेतसमिवामराः ॥ १६ ॥
सौत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन् । अपूजयन्महाभागान् यथावत् सुसमाहितः ॥१७॥

अपनेको समर्थ समझनेवाले हम दीनोंकी आज्ञा पालन करते हैं। यह सब आपकी लीला ही है ॥ २ ॥ ३ ॥ जैसे सूर्यका तेज उदय तथा अस्त होनेसे घटता-बढ़ता नहीं, वैसे ही अद्वितीय एक ब्रह्म परमात्मारूप आपका तेज कर्म करने अथवा न करनेसे घटता बढ़ता नहीं ॥ ४ ॥ हे अजित ! हे माधव ! आपके भक्तोंकी पशुओंके समान अपने शरीर और पुत्रादिमें 'मैं और मेरेपन' की तथा औरोंमें 'तू और तेरेपन' की सविकार भेदबुद्धि नहीं होती ॥ ५ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा कहकर महाराज युधिष्ठिरने भगवान कृष्णकी अनुमति लेकर यज्ञके अनुकूल समय आनेपर यज्ञ क्रियामें कुशल वेदवादी ब्राह्मणोंका ऋत्विजादिरूपमें वरण किया ॥ ६ ॥ उनमें द्वैपायन, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, राम, भार्गव, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्द, वीरसेन तथा अकृतव्रण थे ॥ ७–९ ॥ इनके अतिरिक्त द्रोण, भीष्म और कृपाचार्य आदि तथा पुत्रों समेत धृतराष्ट्र, महामतिमान् विदुर तथा कितने ही अन्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णके लोग निमंत्रित थे। हे नृप ! वे सब तथा अन्यान्य राजे और उनके मन्त्रिगण यज्ञ देखनेकी इच्छासे वहाँ आ उपस्थित हुए ॥ १० ॥ ११ ॥ वरण हो जानेके बाद उन ऋत्विज् ब्राह्मणोंने उस यज्ञभूमिको स्वर्णनिर्मित हलसे जुतवाकर राजा युधिष्ठिरको शास्त्रविधिसे यज्ञकी दीक्षा दी ॥१२॥ पूर्वकालीन वरुणके यज्ञके समान इस यज्ञमें भी सब पात्र सुवर्णके थे। पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिरके इस राजसूय यज्ञमें श्रीमहादेव, ब्रह्माजी, इन्द्रादि लोकपाल, अपने-अपने गणोंके साथ सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, मुनि, यक्ष, राक्षस, पक्षी, किन्नर, चारण तथा सब राजे और रानियाँ—ये सब निमन्त्रित होकर आये और उन्होंने किसी प्रकारका आश्चर्य किये बिना ही कृष्णभक्त धर्मराजका यह यज्ञानुष्ठान ठीक समझा। तब देवताओंके सदृश तेजस्वी याजकोंने महाराज युधिष्ठिरसे राजसूय-यज्ञ द्वारा वैसे ही विधिवत् यज्ञ कराया, जैसे पूर्वकालमें देवताओंने वरुणसे यज्ञ कराया था ॥१३–१६॥ सोमवल्लीसे रस निकालनेवाले दिन पृथिवीपाल महाराज युधिष्ठिरने महाभाग याजकों तथा सभा-

सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः । नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत् १८
अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः । एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥१९॥
यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः । अग्निराहुतयो मन्त्राः सांख्यं योगश्च यत्परः॥२०॥
एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् । आत्मनाऽऽत्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः॥
विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया । ईहते यदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥
तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् । एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥
सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने । देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता॥२४॥
इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत् तूष्णीं कृष्णानुभाववित् । तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः॥२५॥
श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् । समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणयविह्वलः ॥२६॥
तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः । सभार्यः सानुजामात्यः सकुटुम्बोऽवहन्मुदा॥२७॥
वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः । अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम् ॥२८॥
इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः । नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥२९॥
इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठादुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥३०॥
ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः । वृद्धानामपि यद् बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

पतिका सावधानतासे विधिवत् पूजन किया ॥ १७ ॥ जब सब सभासद्गण अग्रपूजाके योग्य सदस्यका विचार करनेके समय एकमत न होनेके कारण कोई निर्णय नहीं कर सके, तब सहदेवने कहा—॥१८॥ "हे सभासदों ! इस श्रेष्ठ पदके योग्य यदुनन्दन भगवान कृष्ण ही हैं। क्योंकि ये ही सब देवता और देश, काल एवं धनादिरूप हैं ॥१९॥ समस्त विश्व इन्हींका रूप है और सब यज्ञ कृष्णरूप ही है। अग्नि, आहुति, मन्त्र, सांख्य तथा योगसाधन भी इन्हींके लिये किये जाते हैं ॥ २० ॥ ये ही एक और अद्वितीय ब्रह्म हैं। सम्पूर्ण जगत् इन्हींका स्वरूप है। हे सभ्यगण ! ये अजन्मा कृष्ण ही स्वयं अपनेमें इसकी रचना, पालन तथा संहार करते हैं ॥ २१ ॥ क्योंकि सारा जगत् इन्हींके अनुग्रहसे विविध प्रकारके कर्म करता हुआ धर्मादि सब पुरुषार्थोंकी सिद्धि करता है ॥ २२ ॥ अतएव महात्मा कृष्णकी ही अग्रपूजा होना उचित है। इनकी पूजा हो जानेसे सब प्राणियोंकी और अपनी भी पूजा हो जायगी ॥ २३ ॥ अपने दानका अनन्त फल चाहनेवाला प्राणी सब प्राणियोंके अन्तरात्मा, भेदभावशून्य, शान्त तथा परिपूर्ण भगवान कृष्णके ही तृप्त्यर्थ दान करे" ॥ २४ ॥ कृष्णभगवानका प्रभाव जाननेवाले सहदेव ऐसा कहकर मौन हो गये। उनका कथन सुनकर सब साधुजनोंमें श्रेष्ठ लोग 'बहुत ठीक' ऐसा कहते हुए उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ २५ ॥ ब्राह्मणोंका कथन सुन तथा सभासदोंका अभिप्राय जानकर महाराज युधिष्ठिरने प्रेमविह्वल हो अति प्रेमपूर्वक भगवान कृष्णकी पूजा की ॥ २६ ॥ फिर स्त्री, भाई, मन्त्री और कुटुम्बियोंके साथ अति आनन्दित होकर उन्होंने भगवानका त्रिलोकपावन चरणोदक मस्तकपर धारण किया ॥ २७ ॥ रेशमी पीताम्बर तथा महामूल्यमय आभूषणोंसे उनकी पूजा की। उस समय नेत्रोंमें आँसू भर आनेके कारण वे कोई भी वस्तु स्पष्ट नहीं देख पाते थे ॥ २८ ॥ इस प्रकार पूजित कृष्ण भगवानको देखकर सब प्रजाजनोंने हाथ जोड़कर नमः और जय-जय शब्द करते हुए उन्हें प्रणाम किया और उनपर फूलोंकी वर्षा हुई ॥ २९ ॥ इस तरह भगवान कृष्णके गुणोंका वर्णन सुनकर दमघोषके पुत्र शिशुपालने अपने आसनसे उठ और उनके सुयशका वर्णन सुनकर क्रुद्ध हो सभामें हाथ उठाकर निर्भयतापूर्वक कृष्णभगवानको कठोर वचन सुनाते हुए कहा—॥ ३० ॥ काल सर्वसमर्थ है, कालका कोई पार नहीं पा सकता, यह श्रुतिवचन सत्य ही है। देखो न, इस सभामें जो लोग अवस्था और ज्ञानमें बड़े हैं, उनकी बुद्धि भी बालकोंकी

यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्ध्वं बालभाषितम् । सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत् सम्मतोऽर्हणे॥३२॥
तपोविद्याव्रतधरान् ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् । परमर्षीन् ब्रह्मनिष्ठान् लोकपालैश्च पूजितान् ।३३।
सदस्पतीनतिक्रम्य गोपालः कुलपांसनः । यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥३४॥
वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः । स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥३५॥
ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् । वृथापानरतं शश्वत् सपर्यां कथमर्हति ॥३६॥
ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् । समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः॥३७॥
एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः । नोवाच किञ्चिद् भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम्॥
भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः । कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥३९॥
निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा । ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः४०
ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः । उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसवः॥४१॥
ततश्चैद्यस्त्वसम्भ्रान्तो जगृहे खड्गचमणी । भर्त्सयन् कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत॥४२॥
तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा । शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहारापततो रिपोः ॥४३॥
शब्दः कोलाहलोऽप्यासीत् शिशुपाले हते महान् । तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥४४॥
चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् । पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ।४५।
जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया । ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ।४६।

बातोंसे भ्रान्त हो गयी है ॥ ३१ ॥ हे सभापतियों ! आप सब लोग सत्पात्रोंके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हैं । इसलिये "कृष्ण ही अग्रपूजाके लिये योग्य हैं" बालकोंके इस कथनको आप ठीक न मानें ॥ ३२ ॥ क्योंकि यह कुलकलङ्क ग्वाला बड़े-बड़े तपस्वी, विद्वान्, व्रती तथा ज्ञानाग्निसे नष्टकल्मष, ब्रह्मनिष्ठ तथा लोकपालगणसे पूजित यज्ञके सभापति एवं महर्षियोंके रहते यह कैसे इस पूजाका पात्र हो सकता है ? कौआ भी क्या कभी यज्ञके पुरोडाशका भागी हुआ है ? ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ तब वर्ण, आश्रम तथा कुलसे पृथक्, सब धर्मोंसे बहिष्कृत, स्वेच्छाचारी और गुणहीन कृष्ण कैसे पूजाके योग्य हो सकता है ? ॥ ३५ ॥ राजा ययातिने इन यादवोंके कुलको शाप दिया है, इसलिये यह कुल सत्पुरुषोंसे बहिष्कृत तथा निरन्तर मद्यपानादि दुष्कर्ममें तत्पर रहता है । तब यह पूजाके योग्य कैसे हो सकता है ? ॥ ३६ ॥ ये चोट्टे यादव ब्रह्मर्षिगणसेवित तथा ब्रह्मतेजयुक्त मथुरा आदि देशोंको छोड़कर समुद्रस्थित किलेका आश्रय लेकर अपनी प्रजाको कष्ट देते रहते हैं" ॥ ३७ ॥ जिसका सौभाग्य नष्ट हो चुका था, उस शिशुपालने ऐसे बहुतसे कटु वाक्य कहे । किन्तु जैसे गीदड़के शब्दोंसे सिंह कुछ नहीं बोलता, वैसे ही भगवानने कुछ नहीं कहा ॥३८॥ कितने ही सभासद् भगवानकी वह दुःसह निन्दा सुनकर रोषसे चेदिराज शिशुपालको बुरा-भला कहते हुए कान मूँदकर वहाँसे खिसकने लगे ॥ ३९ ॥ क्योंकि जो पुरुष भगवानकी अथवा भगवत्परायण भक्तोंकी निन्दाके वचन सुनकर वहाँसे दूर नहीं हट जाता, वह शुभकर्मसे भ्रष्ट होकर नीच गतिको जा पहुँचता है ॥ ४० ॥ तब सब पाण्डव तथा मत्स्य, केकय और सृञ्जयदेशीय राजे क्रोधित हो शिशुपालको मारनेके लिये अपने अस्त्र-शस्त्र सम्हालकर उठ खड़े हुए ॥ ४१ ॥ हे भरतनन्दन ! शिशुपालने भी उस समय बिना हिचकिचाहटके भरी सभामें कृष्णपक्षीय राजाओंको ललकारते हुए ढाल-तलवार उठा ली ॥ ४२ ॥ तब भगवानने उठकर अपने सुहृदोंको शान्त किया और अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले शत्रुका सिर छुरेके समान तीक्ष्ण धारवाले अपने सुदर्शन चक्रसे काट डाला ॥४३॥ इस तरह शिशुपालके मारे जानेपर वहाँ बड़ा भारी कोलाहल मच गया और उसके अनुयायी सभी राजे अपने-अपने प्राण लेकर भाग खड़े हुए । इसी बीच शिशुपालके शरीरसे निकला हुआ तेज सब प्राणियोंके देखते-देखते इस तरह भगवान कृष्णमें समा गया, जैसे आकाशसे गिरी हुई ज्योति पृथिवीमें समा जाती

ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् । सर्वान् सम्पूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ।४७।
साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः । उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः।४८।
ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः । ययौ सभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥४९॥
वर्णितं यदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् । वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात् पुनः पुनः ।५०।
राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः । ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥५१॥
राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः । कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ।५२।
दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् । यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम्।५३
य इदं कीर्तयेद् विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् । राजमोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे शिशुपालवधो नाम चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

———

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

राजोवाच

अजातशत्रोस्तं दृष्ट्वा राजसूयमहोदयम् । सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन् नृदेवा ये समागताः ॥१॥
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः । इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥२॥

ऋषिरुवाच

पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः । बान्धवाः परिचर्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः ॥३॥

है ॥४४॥४५॥ तीन जन्मतक बराबर वैरभव तथा द्वेषपूर्ण बुद्धिसे भगवानका ध्यान करनेके कारण वह भगवानमें तन्मय हो गया था। क्योंकि भाव ही ध्येयाकारतादिकी प्राप्तिका कारण होता है ॥ ४६ ॥ तब चक्रवर्ती महाराज युधिष्ठिरने तदस्यों तथा ऋत्विजोंको बहुत-सी दक्षिणा दी और सबका सत्कार करके विधिपूर्वक अवभृथस्नान किया ॥ ४७ ॥ इस तरह महाराज युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ पूर्ण कराके सर्वयोगेश्वर भगवान कृष्ण सुहृद्गणके आग्रहसे कुछ दिन वहाँ रहे, फिर पाण्डवोंकी इच्छा न होनेपर भी राजा युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर देवकीनन्दन स्त्री और मन्त्रियोंके साथ अपनी राजधानीको लौट गये ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ हे राजन्! वैकुण्ठवासी जय और विजयको सनकादिके शापसे जैसे बारम्बार जन्म हुआ था, वह सब वृत्तान्त मैंने विस्तारपूर्वक तुम्हें सुना दिया ॥ ५० ॥ उधर महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञका अवभृथ स्नानकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी सभामें इन्द्रके समान सुशोभित हुए ॥ ५१ ॥ उस समय पाण्डवोंकी बढ़ी हुई सम्पत्ति देखकर जो उसे सहन नहीं कर सका था, उस कुरुकुलकलङ्क कलिरूप पापी दुर्योधनके सिवा अन्य सब देवता, मनुष्य और प्रमथगण राजा युधिष्ठिरसे सम्मानित हो कृष्णचन्द्र तथा राजसूय यज्ञकी प्रशंसा करते हुए बड़ी प्रसन्नतासे अपने-अपने लोकोंको लौटे ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ जो भगवान कृष्णके शिशुपालवध आदि कर्मों तथा राजाओंके मुक्त करने और पाण्डवोंके यज्ञानुष्ठानका वृत्तान्त कीर्तन करता है, वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ५४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

(राजसूयके अवभृथस्नानमहोत्सवके अवसरपर दुर्योधनका अपमान) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षितने कहा—हे ब्रह्मन्! अभी आपने कहा है कि अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिरके उस महान यज्ञोत्सवको देखकर वहाँपर जो राजे, ऋषिगण और देवगण आये थे, उनमेंसे दुर्योधनके सिवा अन्य सभी लोग अति आनन्दित हुए। सो दुर्योधनको प्रसन्नता क्यों नहीं हुई? इसका क्या कारण था? ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! तुम्हारे पितामह महाराज युधिष्ठिरके

भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः । सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥४॥
गुरुशुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने । परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महामनाः ॥५॥
युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः । बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ते च सन्तर्दनादयः ॥६॥
निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा । प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥७॥
ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः ।
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥८॥
मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः । वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ॥९॥
नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः । वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत् ॥१०॥
चित्रध्वजपताकाग्रैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः । स्वलङ्कृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥११॥
यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोसलाः । कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरःसराः ॥१२॥
सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा । देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥
स्वलङ्कृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः । विलिम्पन्त्योऽभिषिञ्चन्त्यो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥१४॥
तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः । पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥१५॥
गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद् देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥१६॥

राजसूय यज्ञमें सब बन्धु-बान्धवोंने प्रेमवश भिन्न-भिन्न सेवाकार्य अपने-अपने हाथोंमें लिया था ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ जिनमें भीमसेन पाकशालाकी देख-रेख करते थे, दुर्योधन कोषाध्यक्ष थे, सहदेव आने-जानेवालोंके पूजन-सत्कारका कार्य करते और नकुल अनेक प्रकारकी सामग्री एकत्रित करनेका कार्य करते थे ॥ ४ ॥ अर्जुन पूज्य महानुभावोंकी सेवामें लगे रहते थे, भगवान कृष्ण अतिथियोंके पाँव पखारते थे, द्रौपदी भोजन परोसतीं और महामना कर्ण दान देते थे ॥ ५ ॥ हे राजेन्द्र ! इसी तरह सात्यकि, विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर तथा भूरिश्रवा आदि बाह्लीकपुत्र और सन्तर्दनादि भी उस महायज्ञमें भिन्न-भिन्न कार्योंपर नियुक्त होकर राजा युधिष्ठिरका प्रिय करनेके लिये अपने-अपने कार्यमें लगे थे ॥ ६ ॥ ७ ॥ तब ऋत्विक्, सदस्य और बहुत पुरुषों तथा अपने बन्धु-बान्धवोंके सुमधुर वचन तथा नाना प्रकारकी सामग्री और दक्षिणादिसे भली भाँति सत्कार पा जाने तथा चेदिराज शिशुपाल-के शरीर त्यागकर भगवान यदुनाथके चरणोंमें प्रविष्ट हो।जानेपर महाराज युधिष्ठिरने जाकर गङ्गाजी-में अवभृथस्नान किया ॥ ८ ॥ उस अवभृथस्नानके उत्सवके अवसरपर मृदङ्ग, शंख, पणव, ढोल, आनक और गोमुख आदि विविध प्रकारके बाजे बजने लगे ॥ ९ ॥ नर्तकियाँ आनन्दित होकर नाचने लगीं, झुण्ड-के-झुण्ड गायक गाने लगे तथा उन लोगोंकी वेणु और तालियोंका महान् शब्द सारे आकाशमण्डलमें गूँज उठा ॥ १० ॥ तब यजमानको आगेकर यदु, सृञ्जय, काम्बोज, कुरु, केकय और कोसलदेशके राजे सुवर्णमय हारोंसे विभूषित हो नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंको उठाये हाथी, रथ, घोड़े और भली भाँति सजी हुई पैदल सेनाके साथ भूमण्डलको कँपाते हुए नगरसे बाहर आये ॥ ११ ॥ १२ ॥ उनके साथ सदस्य तथा ऋत्विक् आदि द्विजश्रेष्ठ महान् वेदध्वनि करते हुए चले और देवता, पितृगण तथा गन्धर्व फूल बरसाकर स्तुति करने लगे ॥ १३ ॥ चन्दन, माला, आभूषण तथा वस्त्रादिसे भली भाँति अलंकृत स्त्री और पुरुष एक-दूसरेके शरीरपर नाना प्रकारके रसोंका लेपन करते और भिगोते हुए खेलने लगे ॥१४॥ वाराङ्गनायें पुरुषों द्वारा तैल, गोरस, चन्दन, हल्दी और गाढ़ी केसरसे अनुलिप्त हो स्वयं भी उनके अङ्गोंपर वे ही वस्तुएँ मलती हुई क्रीडा करने लगीं ॥ १५ ॥ उस समय वह उत्सव देखनेके लिये आकाशमें विमानोंपर चढ़कर आयी देवाङ्गनाओंके समान राज-महिलाएँ रथ आदिपर चढ़कर बहुतसे सैनिकों द्वारा सुरक्षित हो नगरके बाहर निकलीं पाण्डवोंके

ता देवरानुत सखीन् सिषिचुर्दृतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।
औत्सुक्यमुक्तकबराच्च्यवमानमाल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥१७॥
स सम्राड् रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम् । व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव॥१८॥
पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः । आचान्तं स्नापयाञ्चक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया १९॥
देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् । मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ॥२०॥
सस्नुस्तत्र ततः सर्वे वर्णाश्रमयुता नराः । महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात्॥२१॥
अथ राजाहते क्षौमे परिधाय स्वलङ्कृतः । ऋत्विक्सदस्यविप्रादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥२२॥
बन्धुज्ञातिनृपान् मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः । अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥२३॥
सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्रगुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दजुष्टवक्त्रश्रियः कनकमेखलया विरेजुः ॥२४॥
अथर्त्विजो महाशीलाः सदस्या ब्रह्मवादिनः । ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः॥२५॥
देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः । पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥२६॥
हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् । नैवातृप्यन् प्रशंसन्तः पिबन् मर्त्योऽमृतं यथा२७
ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्संबन्धिबान्धवान् । प्रेम्णा निवासयामास कृष्णां च त्यागकातरः।२८।

मामाके पुत्र कृष्ण तथा उनके मित्रों द्वारा भिगोई हुई राजरानियाँ लज्जापूर्ण मुसकानसे प्रफुल्लवदन होकर अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुईं ॥ १६ ॥ वस्त्रोंके भीग जानेसे जिनके शरीर, कुच, जंघा तथा मध्य-भाग आदि कुछ-कुछ दीख रहे थे, वे राजमहिलाएँ अपने देवरों और सखाओंको पिचकारियोंसे भिगोने लगीं। अत्यन्त उत्सुकतावश उनके केशपाश ढीले पड़ गये और उनमें गुथी हुई फूलोंकी मालाएँ खिसक पड़ीं। इस प्रकार अपनी मनोहर क्रीडाओंसे वे मलिनबुद्धि पुरुषोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न करने लगीं ॥१७॥ तब एक सुन्दर घोड़ोंयुक्त और सुवर्णमालाविमण्डित रथमें अपनी पत्नियों-के साथ सवार सार्वभौम महाराज युधिष्ठिर क्रियाओं सहित साक्षात् यज्ञपुरुषके समान सुशोभित हुए ॥ १८ ॥ तदनन्तर ऋत्विग्जनोंने उनसे पत्नीसंयाजनामक यज्ञ तथा अवभृथस्नान-सम्बन्धी कर्म एवं आचमन कराके द्रौपदीके सहित गङ्गाजीमें स्नान कराया ॥ १९ ॥ उस समय मनुष्योंकी दुन्दुभियोंका भी शब्द होने लगा और देवता, ऋषि, पितर और मनुष्य फूल बरसाने लगे ॥ २० ॥ इस तरह अव-भृथस्नान होजानेपर सब वर्ण और आश्रमके लोगोंने गङ्गाजीमें स्नान किया। क्योंकि अवभृथके अवसरपर स्नान करनेसे महापातकी पुरुष भी तुरन्त पापसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥ तब महाराज युधिष्ठिरने दो नवीन रेशमी वस्त्र तथा और भी नाना प्रकारके आभूषण पहने और ऋत्विक्, सदस्य और अन्य ब्राह्मणोंको विविध प्रकारके वस्त्राभूषण देकर सत्कार किया ॥ २२ ॥ ऐसे ही भगवत्परा-यण महाराज युधिष्ठिरने अपने बन्धु-बान्धव, जाति-भाई, राजाओं, मित्र, सुहृद् तथा और सबका यथोचित सम्मान किया॥ २३ ॥ तब सब लोग मणिमय कुण्डल, माला, पगड़ी, अँगरखा, डुपट्टा तथा बहुमूल्य हार पहनकर देवताओंके सदृश तेजोमय प्रतीत होने लगे। युगल कुण्डल तथा अलकावली-से उनके मनोहर मुखारविन्द सुशोभित थे। वे स्त्रियाँ कमरमें सुवर्णमेखला धारण करके अत्यन्त शोभित हुईं ॥ २४ ॥ हे राजन्! सर्वाधिक शोभित महामना ऋत्विग्गण तथा वेदवादी सदस्यगण यज्ञोत्सव देखनेके लिए आये हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और राजे तथा अपने अनुयायियों सहित देवता, ऋषि, पितर, भूत और लोकपाल महाराज युधिष्ठिरसे भली-भाँति सम्मानित हो और उनकी अनुमति लेकर अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥ २५ ॥ २६ ॥ हे राजर्षे! जैसे अमृतसे मनुष्य कभी नहीं अघाने आता, वैसे ही भगवद्भक्त महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञकी प्रशंसा करते करते भी उनको तृप्ति नहीं हुई ॥ २७ ॥ उस समय वियोगको सहनेमें असमर्थ होनेके कारण राजा

भगवानपि तत्राङ्ग न्यवात्सीत्तत्प्रियङ्करः । प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम्॥२९॥
इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् । सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद् गतज्वरः ॥३०॥
एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् । अतप्यद् राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः॥३१॥

यस्मिन् नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मीर्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतीन् द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥३२॥

यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम् ।
मध्ये सुचारु कुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं प्रचलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥३३॥

सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् । वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव । पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः॥३५॥
तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप । किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन् रुषा॥३६॥
स्थलेऽभ्यगृह्णाद् वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् । जले च स्थलवद् भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः३७
जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे । निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः३८

स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन् निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।
हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सतामजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ।
बभूव तूष्णीं भगवान् भुवो भरं समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥३९॥

युधिष्ठिरने अपने सुहृद् सम्बन्धी और बान्धवों तथा भगवान कृष्णको अति प्रेमपूर्वक कुछ दिनों अपने ही यहाँ टिका रक्खा ॥२८॥ हे तात ! युधिष्ठिरके शुभचिन्तक भगवान कृष्णने साम्बादि यादवोंको द्वारका भेज दिया और स्वयं वहीं रह गये ॥ २९ ॥ इस तरह धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्णकी कृपासे अपने मनोरथरूपी दुस्तर समुद्र पार करके निश्चिन्त हो गये ॥ ३० ॥ एक दिन भगवद्भक्त महाराज युधिष्ठिरके राजमहलकी सम्पत्ति और राजसूय यज्ञ द्वारा प्राप्त सम्मान देखकर दुर्योधनको बड़ा सन्ताप हुआ ॥ ३१ ॥ जिस सभामें मयदानवकी लायी हुई नरेन्द्र, दैत्येन्द्र और सुरेन्द्रोंकी विविध सम्पत्तियाँ सुशोभित थीं और उन सम्पत्तियोंसे राजरानी द्रौपदी अपने पतियोंकी परिचर्या करती थीं । जिस राजभवनमें भगवान कृष्णके, कुचकुंकुमरञ्जित रक्तवर्ण हार तथा चञ्चल कुण्डल और अलकावलीसे मण्डित मनोहर मुखारविन्दसे सुशोभित सहस्रों रानियाँ कटिभारवश मन्दगतिसे चलती हुई चरणके नूपुरोंकी झनकार करती थीं, उसे देखकर द्रौपदीमें आसक्त दुर्योधनको बड़ा डाह हुआ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ एक दिन महाराज युधिष्ठिर मयदानवकी बनायी हुई सभामें अपने भाइयों, बन्धुजनों और अपने नेतास्वरूप भगवान श्रीकृष्णसे घिरे हुए साम्राज्य-लक्ष्मीसे सुसम्पन्न होकर साक्षात् इन्द्रके समान स्वर्णसिंहासनपर आसीन थे और बन्दीजन उनकी स्तुति कर रहे थे । इसी समय महामानी दुर्योधन, किरीट-मुकुट, माला तथा खड्गादिसे सुसज्जित हो अपने भाइयोंके साथ द्वारपालोंको क्रोधसे झिड़कता हुआ वहाँ आया ॥३४॥ ३५ ॥ ३६ ॥ उसने मयासुरकी मायासे मोहित होकर स्थलको जल समझकर अपने कपड़े समेट लिये और जलमें स्थलका भ्रम हो जानेसे वह उसमें जा गिरा ॥ ३७ ॥ हे तात ! उसको गिरा देखकर भीमसेन, राजमहिलाएँ तथा अन्य दूसरे राजे महाराज युधिष्ठिर द्वारा मना किये जानेपर भी भगवान कृष्णका रुख देखते हुए हँसने लगे ॥३८॥ इससे वह बहुत लज्जित हुआ और शिर नीचा किये मन-ही मन क्रोधानलसे जलता हुआ सभाभवनसे उठकर हस्तिनापुरको चला गया । इस उपहाससे भावी अनर्थकी सम्भावना देखकर सज्जन पुरुषोंमें महा हाहाकार मच गया और धर्मराज कुछ अनमने-से हो गये । जिनकी दृष्टिसे दुर्योधन भ्रममें पड़ गया था, वे भूमिका भार उतारनेके इच्छुक भगवान कृष्ण उस समय कुछ नहीं बोले ॥ ३९ ॥

एतत्तेऽभिहितं राजन् यत् पृष्टोऽहमिह त्वया । सुयोधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे दुर्योधनमानभङ्गो नाम पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं नृप । क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥१॥
शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः । यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥२॥
शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत् शृण्वतां सर्वभूभुजाम् । अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥३॥
इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् । आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद् ग्रसन् ॥४॥
संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः । वरेणच्छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥५॥
देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥६॥
तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरञ्जयः । पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात् सौभमयस्मयम् ॥७॥
स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम् । ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् ॥८॥
निरुद्ध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ । पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥९॥
सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः । विहारान् स विमानाग्र्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥१०॥
शिला द्रुमाश्चाशनयः सर्पा आसारशर्कराः । प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूद् रजसाऽऽच्छादिता दिशः ॥

हे राजन्! तुमने मुझसे जो पूछा था, वह सब मैंने उस महान् राजसूय यज्ञमें दुर्योधनकी दुष्टताका वृत्तान्त तुम्हें सुना दिया ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

(शाल्व तथा यादवोंका युद्ध) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! अब जैसे सौभ विमानका स्वामी शाल्व मारा गया था, सो लीलाके लिये मानवशरीरधारी भगवान कृष्णका वह अद्भुत कर्म सुनो ॥ १ ॥ शाल्व शिशुपालका बड़ा मित्र था। जब वह रुक्मिणीके विवाहमें कुण्डिनपुर आया था, और जरासन्धादि राजाओंके समान ही स्वयं भी यादवोंसे युद्धमें पराजित हो गया ॥ २ ॥ तब शाल्वने सब राजाओंको सुनाते हुए प्रतिज्ञा की थी कि "तुम मेरा पुरुषार्थ देखना, एक दिन मैं समस्त धरातलको यादवविहीन कर दूँगा" ॥ ३ ॥ हे राजन्! ऐसी प्रतिज्ञा करके वह मूढ़ अहोरात्रमें केवल एक बार मुट्ठी भर भस्म फाँकता हुआ देवाधिदेव भगवान पशुपतिका आराधन करने लगा ॥ ४ ॥ एक वर्ष व्यतीत हो जानेपर आशुतोष भगवान शङ्करने अपने शरणागत भक्त शाल्वसे अभिलषित वर माँगनेको कहा ॥ ५ ॥ तब उसने यादवोंको भयभीत करनेवाला एक ऐसा विमान माँगा, जो चालककी इच्छानुसार सर्वत्र जा सके और जिसे देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, सर्प तथा राक्षस भी न तोड़ पाये ॥ ६ ॥ भगवान शंकरने 'तथास्तु' कहा और उनकी आज्ञासे शत्रुओंके नगरोंको जीत लेनेवाले मयदानवने सौभनामका एक लोहेका विमान बनाकर शाल्वको दिया ॥ ७ ॥ उस इच्छाचारी, अन्धकारमय तथा अभेद्य विमानको पाकर शाल्व अपने शत्रु यादवोंके वैर स्मरण करता हुआ द्वारकापुरीमें पहुँचा ॥ ८ ॥ हे भरतर्षभ! उसने एक बहुत बड़ी सेनासे सारी द्वारकापुरीको घेर लिया और उसके उपवन, उद्यान, गोपुर, द्वार, प्रासाद, अट्टालिका, तोलिका अर्थात् मुंडेरों और विहारगृहोंको तोड़ने लगा। उस समय उस श्रेष्ठ विमानसे विविध अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा होने लगी ॥ ९ ॥ १० ॥ शिला, वृक्ष, वज्र, सर्प तथा ओलोंकी झड़ी लग गयी और प्रचण्ड

इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् । नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथा मही ॥१२॥
प्रद्युम्नो भगवान् वीक्ष्य बाध्यमाना निजाःप्रजाः । मा भैष्टेत्यभ्यधाद्वीरो रथारूढो महायशाः ॥१३॥
सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः । हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥१४॥
अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः । निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥१५॥
ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह । यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥१६॥
ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः । क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥१७॥
विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः । शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः॥१८॥
शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् । दशभिर्दशभिर्नेतॄन् वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः॥१९॥
तदद्भुतं महत् कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः । दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥२०॥
बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते । मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत् ॥२१॥
क्वचिद्भूमौ क्वचिद्व्योम्नि गिरेर्मूर्ध्नि जले क्वचित् । अलातचक्रवद्भ्राम्यत् सौभं तद् दुरवस्थितम्॥२२॥
यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः । शाल्वस्ततस्ततोऽमुञ्चन् शरान् सात्वतयूथपाः २३
शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः । पीड्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत् परेरितैः ॥२४॥
शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः । न तत्यजू रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥२५॥
शाल्वामात्यो द्युमान् नाम प्रद्युम्नं प्राक्प्रपीडितः। आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद् बली२६

बवण्डरके कारण सब दिशाएँ धूलिसे ढक गयीं ॥ ११ ॥ हे राजन् ! पूर्वकालमें जैसे त्रिपुरासुरसे सम्पूर्ण पृथ्वी पीडित हो गयी थी, वैसे ही सौभके कारण अत्यन्त पीड़ित द्वारकापुरीको शान्ति नहीं मिल पाती थी ॥ १२ ॥ महायशस्वी तथा वीरवर भगवान प्रद्युम्नने अपनी प्रजाको अत्यन्त पीडित देख और रथपर सवार हो 'डरो मत' ऐसा कहकर धैर्य बँधाया ॥ १३ ॥ उस समय उनके साथ सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब, भाइयों सहित अक्रूर, हार्दिक्य, भानुविन्द, गद, शुक, हाथी, घोड़े और पदाति सेनासे सुरक्षित हो तथा कवच धारण करके नगरके बाहर आ गये ॥ १४ ॥ १५ ॥ तब देवताओंके साथ जैसे दैत्योंका संग्राम हुआ था, वैसे ही यादवोंके साथ शाल्वके सैनिकोंका अति घोर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ १६ ॥ सूर्य जैसे रात्रिके अन्धकारको दूर कर देते हैं, वैसे ही रुक्मिणीनन्दन श्रीप्रद्युम्नजीने शाल्वकी वह सब माया एक क्षणमें अपने दिव्य शस्त्रोंसे दूर कर दी ॥ १७ ॥ और शाल्वके सेनापतिको सोने के पंख, लोहेकी नोकवाले तथा जिनके जोड़ जान नहीं पड़ते थे, ऐसे पच्चीस बाणोंसे बींध दिया ॥ १८ ॥ ऐसे ही उन्होंने सौ बाणोंसे शाल्वको, एक-एकसे सब सैनिकोंको, दस-दससे सेनानायकों और तीन-तीन बाणोंसे उनके वाहनोंको घायल कर डाला ॥ १९ ॥ महात्मा प्रद्युम्नका यह अद्भुत तथा महान् पराक्रम देखकर अपने और पराये सभी सैनिक प्रशंसा करने लग गये ॥ २० ॥ शाल्वका वह मयदानवनिर्मित मायामय विमान कभी अनेकरूप और कभी एकरूपका दिखायी देता था, वह कभी दीखता और कभी अदृश्य हो जाता था । इस तरह शत्रुओंको उसकी गति कुछ भी नहीं मालूम पड़ती थी ॥ २१ ॥ उस सौभविमानकी किसी एक स्थानमें स्थिति नहीं होती थी । वह कभी पृथिवीपर, कभी आकाशमें, कभी पर्वतशिखरपर और कभी जलमें अलातचक्रके समान घूमता हुआ दिखायी पड़ता था ॥ २२ ॥ जहाँ-जहाँ सौभ और अपने सैनिकोंके साथ शाल्व दिखायी देता तो यादवयूथपति वहीं-वहीं बाणोंकी झड़ी लगा देते थे ॥ २३ ॥ इस तरह शत्रुओंके छोड़े हुए सूर्य तथा अग्निके समान उष्ण स्पर्शयुक्त तथा विषम विषधरोंके समान असह्य बाणोंसे विमान और सैनिकोंके सहित पीडित होकर शाल्व मूर्च्छित हो गया ॥ २४ ॥ इधर इहलोक और परलोक दोनोंको जीतनेके इच्छुक यादववीरोंने शाल्वके सैनिकोंकी शस्त्रवर्षासे अत्यन्त पीडित होकर भी रणभूमि नहीं छोड़ी ॥ २५ ॥ इसी अवसरपर शाल्वके महाबली मन्त्री

प्रद्युम्नं गदया शीर्णवक्षःस्थलमरिन्दमम् । अपोवाह रणात् सूतो धर्मविद् दारुकात्मजः २७
लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् । अहो असाध्विदं सूत यद् रणान्मेऽपसर्पणम् २८
न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः । विना मत् क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकिल्बिषात् २९
किं नु वक्ष्येऽभिसङ्गम्य पितरौ रामकेशवौ । युद्धात् सम्यगपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ३०
व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः । क्लैब्यं कथं कथं वीरतवान्यैः कथ्यतां मृधे॥३१॥

सारथिरुवाच

धर्मं विजानताऽऽयुष्मन् कृतमेतन्मया विभो । सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद् रथिनं सारथिं रथी॥३२॥
एतद् विदित्वा तु भवान् मयापोवाहितो रणात् । उपसृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे शाल्वयुद्धे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः । नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥१॥
विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः । प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥२॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहान् सूतमेकेन चाहनत् । द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥३॥
गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् । पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ॥४॥

द्युमान्‌ने, जिसे एकबार प्रद्युम्नजीने अत्यन्त व्यथित किया था, प्रद्युम्नजीके पास आ और उनपर वज्रलौहनिर्मित गदाका प्रहारकर भयंकर सिंहगर्जन किया ॥ २६ ॥ उस गदाके प्रहारसे शत्रुदमनकारी प्रद्युम्नजीका वक्षःस्थल विदीर्ण देखकर सारथ्यधर्म जाननेवाले उनके सारथी दारुकपुत्रने उन्हें रणभूमिसे अलग पहुँचा दिया ॥ २७ ॥ एक मुहूर्त्त बीतनेपर जब प्रद्युम्नजीको होश हुआ तो वे सारथीसे कहने लगे—"सूत ! यह बड़ा बुरा हुआ कि जो मुझे रणभूमिसे हटना पड़ा ॥ २८ ॥ कायर सारथीके कारण जिसे यह कलङ्क प्राप्त हुआ हो, ऐसे मुझको छोड़कर यदुकुलमें और कोई भी वीर रणभूमिसे हटा हुआ नहीं सुना गया ॥ २९ ॥ भला युद्धसे भागा हुआ मैं अपने पिता राम तथा कृष्णसे मिलकर और उनके पूछनेपर उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? ॥ ३० ॥ अहो ! मेरी भाभियाँ मेरी हँसी उड़ाती हुई मुझसे जब पूछेंगी—कहो वीर ! युद्धमें शत्रुओंने तुम्हें कायर कैसे कर दिया ?" ॥३१॥ सारथीने कहा—हे आयुष्मन् ! हे विभो ! सारथीका कर्तव्य है कि सङ्कटमें पड़े हुए रथीकी रक्षा करे और रथी सारथीको बचावे—इस धर्मको उचित समझकर ही मैंने ऐसा किया था ॥ ३२ ॥ यह जानकर कि आप शत्रुकी गदाके प्रहारसे अचेत हो गये हैं तो मैं आपको रणभूमिसे हटाकर यहाँ ले आया ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

(शाल्वके वधकी कथा) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! तब प्रद्युम्नजीने जलसे आचमन किया और उत्तम कवच धारण करते हुए धनुष उठाया और सारथीसे कहा "मुझे वीरवर द्युमान्‌के पास ले चलो" ॥ १ ॥ उस समय द्युमान् यादवसेनाका संहार कर रहा था । अतएव उसके पास पहुँचकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्नजीने उसे रोका और हँसते हुए आठ बाणोंसे उसे बींध दिया ॥ २ ॥ अपने चार बाणोंसे उसके चार घोड़ोंको, एक बाणसे सारथीको, दोसे धनुष और रथकी ध्वजा तथा एकसे उसका सिर बींध डाला ॥ ३ ॥ इधर गद, सात्यकि और साम्ब आदि

एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् । युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥५॥
इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना । राजसूयेऽथ निर्वृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥६॥
कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् । निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ॥७॥
आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसङ्गतः । राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥८॥
वीक्ष्य तत् कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् । सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ॥९॥
रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै । संभ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥१०॥
इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः । विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम्॥११॥
शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः । प्राहरत् कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे ॥१२॥
तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा । भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत्१३
तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् । अविध्यच्छरसन्दोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः॥१४॥
शाल्वः शौरेस्तु दोःसव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः । बिभेद न्यपतद्धस्तात् शार्ङ्गमासीत् तदद्भुतम्॥१५॥
हाहाकारो महानासीद् भूतानां तत्र पश्यताम् । विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥१६॥
यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् । प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा॥१७॥
तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् । नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥१८॥

यादव शाल्वकी सेनाका संहार करने और सौभविमानपर चढ़े हुए समस्त सैनिकगण उनके बाणों द्वारा सिर कट जानेके कारण समुद्रमें गिरने लगे ॥ ४ ॥ इस तरह सत्ताईस दिन तक यादव और शाल्व सेनामें परस्पर एक दूसरेपर प्रहार करते हुए घमासान युद्ध हुआ ॥ ५ ॥ हे राजन् ! उस समय कृष्णभगवान युधिष्ठिरके बुलावेपर इन्द्रप्रस्थ गये हुए थे। वहाँ राजसूय यज्ञ समाप्त हो जाने तथा शिशुपालके परलोक सिधारनेपर बहुतेरे अपशकुन होते देख कुरुवंशी बड़े-बूढ़े मुनीश्वरों और पुत्रोंके साथ कुन्तीजीसे आज्ञा लेकर श्रीकृष्ण द्वारकापुरीको चले ॥ ६–७ ॥ वे मनही मन सोचने लगे—मैं आर्य बलरामजीके साथ यहाँ आया हूँ, उधर शिशुपालके पक्षवाले राजाओंने अवश्य मेरी पुरीपर आक्रमण कर दिया होगा" ॥ ८ ॥ वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने स्वजनोंका कष्ट तथा सौभविमान और राजा शाल्वको उपस्थित देखकर बलरामजीपर नगरकी रक्षाका भार सौंपकर दारुक सारथीसे कहा—॥ ९ ॥ 'हे सूत ! मेरे रथको तुरन्त शाल्वके पास ले चलो। सौभराज बड़ा मयावी है, किन्तु तुम उससे मत डरो" ॥ १० ॥ भगवानकी आज्ञा पाकर दारुकने रथपर चढ़कर घोड़ोंको हाँका। उस समय यादव तथा शाल्व दोनों पक्षके वीरोंने युद्धभूमिमें गरुडध्वज रथको अपनी ओर आते देखा ॥ ११ ॥ तब जिसके प्रायः सभी सेनापति नष्ट हो चुके थे, उस शाल्वने भगवान कृष्णको युद्धभूमिमें देखकर उनके सारथी दारुकपर एक भयङ्कर शब्द करनेवाली शक्ति छोड़ी ॥ १२ ॥ उसे आकाशमें विद्युत्के समान दसों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई अति वेगसे अपनी ओर आती देख श्रीकृष्णचन्द्रने बाण बरसाकर उसके सैकड़ों टुकड़े कर दिये ॥ १३ ॥ फिर सोलह बाणोंसे शाल्वको बींधकर उन्होंने, सूर्य जैसे अपनी किरणोंसे आकाशको व्याप्त कर देता है, वैसे ही आकाशमें घूमते हुए सौभविमानको भी बाणसमूहसे बींध डाला ॥ १४ ॥ शाल्वने भी अपने बाणसे शार्ङ्गधन्वा भगवान कृष्णका शार्ङ्गधनुषयुक्त बायाँ हाथ बींध दिया। इससे उनके हाथका शार्ङ्गधनुष छूटकर गिर पड़ा—यह बड़ा ही आश्चर्यजनक कार्य हुआ ॥ १५ ॥ इस महान् आश्चर्यको देखकर सब दर्शक बड़ा हाहाकार करने लगे और सौभराजने घोर सिंहनाद करते हुए भगवान कृष्णसे कहा—॥ १६ ॥ "अरे मूढ़ ! तू हम सबके समक्ष हमारे मित्र और भाई शिशुपालकी पत्नी रुक्मिणीको हर लाया और फिर तूने उस हमारे सखाको भी असावधान दशामें सभाके बीच मार डाला। इससे तू अपनेको अजेय मानने लगा था। सो आज यदि तू मेरे सामने आया तो मैं तुझे अपने तीखे बाणोंसे उस लोकको भेज दूँगा,

श्रीभगवानुवाच

वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् । पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥१९॥
इत्युक्त्वा भगवाञ्छाल्वं गदया भीमवेगया । तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ॥२०॥
गदायां सन्निवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत । ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।
देवक्या प्रहितोऽस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥ २१ ॥
कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल । बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथापशुः ॥२२॥
निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः । विमनस्को घृणी स्नेहाद् बभाषे प्राकृतो यथा ॥२३॥
कथं राममसंभ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः । शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान् विधिः ॥२४॥
इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः । वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥२५॥
एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि । वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत् पाहि बालिश ॥२६॥
एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः । उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥२७॥
ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुद्ध्यदासुरीं मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥२८॥
न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥
एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः । यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥३०॥

जहाँ जाकर प्राणी फिर लौटकर नहीं आता" ॥ १७-१८ ॥ श्रीभगवान बोले—अरे मन्द ! तू वृथा बकवाद करता है । अपने सिरपर नाचते हुए कालको नहीं देखता । अरे मूर्ख ! शूरवीर लोग केवल अपनी वीरता दिखलाया करते हैं, व्यर्थ बढ़-बढ़कर बातें नहीं करते ॥ १९ ॥ ऐसा कहकर भगवानने क्रोधमें भरकर एक अत्यन्त वेगशालिनी गदासे शाल्वके कन्धेपर प्रहार किया, जिससे वह रक्त वमन करता हुआ काँपने लगा ॥ २० ॥ गदाके लौट जानेपर शाल्व अन्तर्धान होगया । उसके एक मुहूर्त बाद एक पुरुषने भगवान कृष्णको मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हुए रोकर कहा—"मुझे देवकीजीने भेजा है और कहा है कि हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहो ! हे पितृवत्सल ! जैसे कसाई पशुको ले जाता है, वैसेही तुम्हारे पिताको शाल्व बाँधकर ले गया है" ॥२१-२२॥ यह अप्रिय संवाद सुनकर—भगवान कृष्ण मानव स्वभावके अनुसार करुणावश उदास हो साधारण पुरुषोंके समान स्नेहाकुल होकर कहने लगे—॥ २३ ॥ "अहो ! दैव बड़ा बलवान् है ! जिन्हें देवता-असुर कोई भी नहीं जीत सकता था, उन सदा सावधान रहनेवाले भगवान बलभद्रजीको जीतकर अति अल्पवीर्य शाल्व कैसे मेरे पिताजीको बाँध ले गया ?" ॥ २४ ॥ भगवान ऐसा कह ही रहे थे कि उसी समय सौभराज वसुदेवजीके समान एक मायारचित पुरुषको लिये हुए वहाँ आया और कहने लगा—॥ २५ ॥ "अरे मूर्ख ! देख, यह तेरा जन्मदाता पिता है—जिसके लिये तू जीवन धारण करता है । मैं इसे तेरे सामने ही मार डालता हूँ, यदि तुझमें सामर्थ्य हो तो आकर बचा ॥ २६ ॥ उस महामायावी शाल्वने भगवान कृष्णको इस तरह धमकाकर वसुदेवजीका सिर काट डाला और उसे लेकर आकाशस्थ सौभविमानपर जा बैठा ॥ २७ ॥ तब महानुभाव भगवान कृष्ण स्वयंसिद्ध ज्ञानवान् होकर भी अपने स्वजन वसुदेवजीके वियोगसे दो घड़ीके लिये साधारण पुरुषोंके समान शोकमें डूब गये । लेकिन फिर जान गये कि यह तो शाल्वकी फैलायी हुई मयदानवकी आसुरी माया थी ॥ २८ ॥ सचेत होनेपर श्रीअच्युतने स्वप्नके समान उस रणभूमिमें न दूतही देखा और न अपने पिताका शरीरही उन्हें मिला । वे अपने शत्रु शाल्वको सौभविमानमें स्थित होकर आकाशमें घूमते देख उसे मारनेको तैयार हो गये ॥ २९ ॥ हे राजर्षे ! पूर्वापरका विचार न करनेवाले कुल मुनीश्वरोंका यह कथन है, किन्तु वे

क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवाः । क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्त्वखण्डितः ॥३१॥

यत्पादसेवोर्जितयाऽऽत्मविद्यया हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मीयमनन्तमैश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥३२॥

तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।
विद्ध्वाच्छिनद् वर्म धनुः शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥३३॥

तत् कृष्णहस्तेरितया विचूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद् भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद् द्रुतम् ॥३४॥

आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्त्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।
वधाय शाल्वस्य लयार्कसन्निभं बिभ्रद् बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥३५॥

जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं किरीटयुक्तं पुरुमायिनो हरिः ।
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेति वचस्तदा नृणाम् ॥३६॥

तस्मिन् निपतिते पापे सौभे च गदया हते । नेदुर्दुन्दुभयो राजन् दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन् दन्तवक्त्रो रुषाभ्यगात् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे सौभवधो नाम सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस बातका विचार नहीं करते कि ऐसा कहनेमें उन्हींके वाक्यमें विरोध आ जाता है ॥ ३० ॥ कहाँ अज्ञानियोंमें होनेवाले शोक, मोह, स्नेह और भय आदि ! और कहाँ कभी भी खण्डित न होनेवाले विज्ञान और ऐश्वर्य परिपूर्ण श्रीकृष्णचन्द्र ॥ ३१ ॥ जिनकी चरणसेवासे प्राप्त आत्मज्ञान द्वारा मुनिजन अनादि अविद्याजनित विपरीतज्ञानका नाश करते और अत्यन्त आत्मवैभव प्राप्त करते हैं, उन सत्पुरुषोंको एकमात्र गति परमात्माको मोह कैसे हो सकता है ? हे राजन् ! उस समय शाल्व बड़े वेगसे शस्त्रसमूहको वर्षाकर रहा था । अतः अमोघवीर्य श्रीकृष्णने उसे घायलकर भयङ्कर गदाप्रहारसे उसका कवच, धनुष, शिरस्त्राण तथा सौभविमान चूर-चूर कर डाला ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ वह विमान कृष्णचन्द्रके हाथों छूटी गदासे हजारों भागोंमें खण्ड-खण्ड होकर जलमें जा गिरा । तब शाल्व उसे छोड़कर पृथिवीपर खड़ा हो गया और गदा उठाकर बड़े वेगसे भगवानकी ओर दौड़ पड़ा ॥ ३४ ॥ उसे अपनी ओर दौड़कर आते देख भगवानने एक बाणसे गदा समेत उसका हाथ काट डाला और फिर शाल्वको मारनेके लिये प्रलयकालीन सूर्यसदृश तेजस्वी अपना सुदर्शन-चक्र उठाया । तब वे सूर्ययुक्त उदयाचल पर्वतके समान मालूम पड़े ॥ ३५ ॥ भगवानने उस चक्रसे महामायावी शाल्वका किरीट-कुण्डलयुक्त मस्तक इस तरह काट डाला, जैसे पूर्व समयमें इन्द्रने वज्रसे वृत्रासुरका सिर काटा था । यह देखकर शाल्वपक्षके वीरोंमें बड़ा हाहाकार मच गया ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! उस पापी शाल्वके मर जाने और गदाप्रहारसे सौभके चूर-चूर हो जानेपर आकाशमें देवताओं द्वारा बजायी दुन्दुभीका निनाद होने लगा । तब अपने मित्र शिशुपालादिका बदला लेनेके विचारसे दन्तवक्त्र अत्यन्त कुपित होकर युद्धभूमिमें आ उपस्थित हुआ ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः । परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ॥१॥
एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् । पद्भ्यामिमां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत॥२॥
तं तथाऽऽयान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः । अवप्लुत्य रथात् कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्ययात्
गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः । दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥४॥
त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुङ्मां जिघांससि । अतस्त्वां गदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥५॥
तर्ह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः । बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधिं देहचरं यथा ॥६॥
एवं रूक्षैस्तुदन् वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् । गदयाताडयन्मूर्ध्नि सिंहवद् व्यनदच्च सः ॥७॥
गदयाभिहतोऽप्याजौ न चचाल यदूद्वहः । कृष्णोऽपि तमहन् गुर्व्या कौमोदक्या स्तनान्तरे
गदानिर्भिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् । प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन् धरण्यां न्यपतद् व्यसुः ९
ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् । पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप ॥१०॥
विदूरथस्तु तद्भ्राता भ्रातृशोकपरिप्लुतः । आगच्छदसिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया॥११॥
तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना । शिरो जहार राजेन्द्र सकिरीटं सकुण्डलम्॥१२॥
एवं सौभं च शाल्वं च दन्तवक्त्रं सहानुजम् । हत्वा दुर्विषहानन्यैरीडितः सुरमानवैः ॥१३॥

(दन्तवक्त्र तथा विदूरथका वध और तीर्थयात्राके प्रसंगमें बलरामजीके हाथों सूतजीका सिर काटना) श्रीशुकदेवजी बोले—हे महाराज ! अपने परलोकगत मित्र शिशुपाल, शाल्व और पौण्ड्रकादिका परोक्षमें प्रिय करनेके लिये आया हुआ महापराक्रमी दुर्बुद्धि दन्तवक्त्र क्रुद्ध होकर हाथमें गदा ले पृथिवीको कँपाता हुआ अकेला और पैदल ही द्वारकाके निकट दिखायी पड़ा ॥१॥२॥ उसे आया देखकर भगवान कृष्णे हाथमें गदा लिए हुए तुरन्त रथसे कूद पड़े और जैसे किनारा समुद्रको रोक देता है, वैसे ही उसे वहीं रोक दिया ॥ ३ ॥ तब करूषदेशके अधिपति दुर्मद दन्तवक्त्रने गदा उठाकर श्रीकृष्णसे कहा—"आज बड़े भाग्यसे तू मेरी आँखोंके सामने आया है ॥ ४ ॥ ओ कृष्ण ! तू हमारे मामाका बेटा है । इसलिए मारने योग्य नहीं था, किन्तु अब तू मेरे मित्रोंका हिंसक है और मुझे भी मारनेको उद्यत है, अतएव ओ मन्द ! मैं तुझे अपनी वज्रसदृश गदासे मार डालूँगा ॥ ५ ॥ अरे अज्ञ ! अपने मित्रोंका कल्याण करनेवाला मैं अपने ही शरीरसे उत्पन्न रोगके समान अपने बन्धुरूप शत्रु तुझे मारकर अपने मित्रोंसे उऋण हो जाऊँगा" ॥ ६ ॥ तब अंकुशसे जैसे लोग हाथीको उत्तेजित करते हैं, वैसे ही भगवानको कटुवचनोंसे उत्तेजित करके उसने उनके मस्तकमें गदाका प्रहार करके सिंहके समान भयङ्कर गर्जन किया ॥७॥ किन्तु यदुनन्दन श्रीकृष्ण उसकी गदासे आहत होकर रणभूमिमें तनिक भी विचलित नहीं हुए और उन्होंने अपनी कौमोदकी गदासे दन्तवक्त्रके वक्षःस्थलमें आघात किया ॥ ८ ॥ गदाके लगनेसे उसका हृदय फट गया, मुखसे रुधिरकी धारा बहने लगी और वह प्राणहीन हो केश, बाहु तथा पाँव फैलाकर धराशायी हो गया ॥ ९ ॥ हे राजन् ! जैसे शिशुपालके मरनेपर उसके मुखसे निकली हुई ज्योति भगवानमें लीन हो गयी थी । उसी तरह दन्तवक्त्रके मुखसे निकली हुई सूक्ष्म ज्योति भी सब लोगोंके देखते-देखते भगवान श्रीकृष्णमें समा गयी ॥ १० ॥ तब दन्तवक्त्रका भाई विदूरथ भ्रातृशोकसे व्याकुल हो भगवान श्रीकृष्णको मारनेकी इच्छासे ढाल-तलवार लेकर दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ आ पहुँचा ॥ ११॥ हे राजेन्द्र ! उसे आया देखकर भगवान कृष्णने उसका भी किरीट-कुण्डल-मण्डित मस्तक अपने छुरेके समान तीक्ष्ण धारवाले चक्रसे काटकर धड़से अलग कर दिया ॥ १२ ॥ इस तरह सौभ, शाल्व तथा भाई

मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः । अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥१४॥
उपगीयमानविजयः कुसुमैरभिवर्षितः । वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालंकृतां पुरीम् ॥१५॥
एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवाञ्जगदीश्वरः । ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥१६॥
श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः । तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल॥१७॥
स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षिपितृमानवान् । सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥१८॥
पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् । विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम्॥१९॥
यमुनामनु यात्येव गङ्गामनु च भारत । जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते ॥२०॥
तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः । अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन्
सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः । रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥२२॥
अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् । अध्यासीनं च तान् विप्रांश्चुकोपोद्वीक्ष्य माधवः
कस्मादसाविमान् विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः । धर्मपालांस्तथैवास्मान् वधमर्हति दुर्मतिः ॥२४॥
ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योऽधीत्य बहूनि च । सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः॥२५॥
अदान्तस्याविनीतस्य वृथा पण्डितमानिनः । न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः २६
एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः । वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोऽधिकाः

समेत दन्तवक्त्र इन दुर्धर्ष शत्रुओंको मारकर देवता तथा मनुष्यों द्वारा स्तूयमान और मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, सर्प, अप्सरा, पितृगण, यक्ष, किन्नर और चारणादिके विजयगान और पुष्पवर्षासे अभिवर्षित भगवान कृष्णने अपने प्रमुख यादवोंके साथ भली भाँति सजायी हुई द्वारकापुरीमें प्रवेश किया ॥ १३ ॥ १४ ॥ योगेश्वर जगत्पति भगवान कृष्ण इसी तरह अनेक लीलाएँ करते रहते हैं, किन्तु पशुओं अर्थात् अज्ञानियोंकी दृष्टिमें वे कहीं जीतते और कहीं हारते हुएसे दीखते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ एक बार श्रीबलरामजी कौरवों और पाण्डवोंमें युद्धकी तैयारी सुनकर उनमेंसे कोई पक्ष न लेकर मध्यस्थ होनेके विचारसे तीर्थस्नानके बहाने द्वारकासे चले ॥ १७ ॥ वहाँसे चलकर उन्होंने प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया और देवता, ऋषि, पितृगण और मनुष्योंको तृप्त करनेके बाद विप्रमण्डलीके साथ प्रवाहाभिमुख हो सरस्वतीके किनारे-किनारे चलने लगे ॥ १८ ॥ वहाँसे पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ तथा पूर्ववाहिनी सरस्वती आदि तीर्थोंको गये ॥ १९ ॥ हे भारत ! तब यमुना और गंगाजीके तटवर्ती तीर्थोंमें होते हुए वे नैमिषारण्य गये, जहाँ बहुतेरे ऋषि यज्ञ कर रहे थे ॥ २० ॥ बलरामजीको आये जानकर दीर्घकालीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले उन ऋषियोंने अपने-अपने आसनोंसे उठ उनका यथायोग्य अभिनन्दन करते हुए प्रणाम करके विधिवत् पूजन किया ॥ २१ ॥ साथियोंसहित उनसे भली प्रकार सम्मानित होकर बलरामजी योग्य आसनपर आसीन हुए । इसी समय उनकी दृष्टि व्यासगद्दीपर बैठे महर्षि द्वैपायन (व्यास) के शिष्य रोमहर्षणपर जा पड़ी ॥ २२ ॥ यह देखकर कि सूतजातिमें उत्पन्न होकर भी वे बलभद्रके आनेपर न तो आसनने खड़े हुए और न हाथ जोड़कर प्रणाम ही किया और वे ब्राह्मणोंसे भी ऊँचे आसनपर बैठे हुए हैं, इससे बलभद्रजीको बड़ा क्रोध आया ॥२३॥ वे बोले—"यह रोमहर्षण प्रतिलोमजातिका होकर भी इन ब्राह्मणों तथा धर्मके रक्षक हम लोगोंसे भी ऊँचे आसनपर बैठा हुआ है, इसलिये यह दुष्ट वधके योग्य है ॥ २४ ॥ मुनिवर भगवान व्यासका शिष्य होकर यद्यपि इसने बहुतसे इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रोंको पढ़ा है, किन्तु इस अजितेन्द्रिय, अशिष्ट तथा अपनेको वृथा बड़ा पण्डित माननेवाले अजितात्मा सूतको उन सब शास्त्रोंसे कोई लाभ नहीं हुआ, जैसे नटकी सब चेष्टाएँ केवल दिखावेके लिये ही होती हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥ धर्मका चिह्न धारण करनेवाले जो लोग धर्मानुसार आचरण नहीं करते, वे और भी अधिक पापी

एतावदुक्त्वा भगवान् निवृत्तोऽसद्वधादपि । भावित्वात् तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत् प्रभुः २८
हाहेति वादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः । ऊचुः सङ्कर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभो ॥२९॥
अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन । आयुश्चात्माक्लमं तावद् यावत् सत्रं समाप्यते ३०
अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा । योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोऽपि नियामकः ३१
यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावन । चरिष्यति भवाँल्लोकसंग्रहोऽनन्यचोदितः ॥३२॥

श्रीभगवानुवाच

करिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया । नियमः प्रथमे कल्पे यावान् स तु विधीयताम् ३३
दीर्घमायुर्बतैतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च । आशासितं यत्तद् ब्रूत साधयेयोगमायया ॥३४॥

ऋषय ऊचुः

अस्त्रस्य तव वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च । यथा भवेद् वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ३५

श्रीभगवानुवाच

आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् । तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियसत्त्ववान्
किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ । अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ३७

ऋषय ऊचुः

इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः । स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥३८॥
तं पापं जहि दाशार्ह तन्नः शुश्रूषणं परम् । पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षिणम् ॥३९॥

होते हैं और वे मेरे वध्य हैं।" ॥ २७ ॥ हे राजन् ! यद्यपि भगवान बलरामजी दुष्टोंको मारनेका विचार भी त्याग चुके थे, फिर भी भावीवश उन्होंने ये शब्द कहकर हाथमें लिए कुशाओंसे सूतजीको मार ही डाला ॥ २८ ॥ सूतजीके मरते ही सब मुनिगण दुःखित होकर हाहाकार करने और श्रीसङ्कर्षणसे कहने लगे—"हे प्रभो ! आपने यह बहुत बड़ा अधर्म कर डाला ॥ २९ ॥ हे यदुनन्दन ! इनको तो हमने ही इस ब्रह्मासनपर बैठाया था और जबतक हमारा यज्ञ समाप्त न हो, तबतकके लिये शारीरिक कष्टसे हीन आयु भी इनको दी थी ॥ ३० ॥ आपने बिना जाने ब्रह्महत्याके समान यह घोर पाप कर डाला है। आप योगेश्वर हैं। वेद भी आपपर शासन नहीं करता ॥ ३१ ॥ फिर भी हे लोकपावन ! यदि आप किसीके आदेशमें न बँधकर इस ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करेंगे तो इससे समस्त संसारको शिक्षा मिलेगी" ॥ ३२ ॥ श्रीभगवान कहने लगे—मैं लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही इस हत्याका प्रायश्चित्त करूँगा। इसके लिये जो सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त हो, आप मुझे बतलाइये ॥ ३३ ॥ इस सूतके लिये दीर्घ आयु, बल और इन्द्रियोंकी अक्षुण्णता आदि जो कुछ भी आप कहें, वह मैं अपने योगबलसे दे सकता हूँ ॥ ३४ ॥ ऋषि बोले—हे बलरामजी ! अब आप कोई ऐसा उपाय करें जिससे आपका शस्त्र तथा वीर्य और इसकी मृत्यु व्यर्थ न हो और हमारा बचन भी सच हो जाय ॥ ३५ ॥ श्रीभगवान कहने लगे—वेदमें कहा गया है कि 'पिताका आत्मा ही पुत्ररूपसे जायमान होता है' अतएव इसका पुत्र इसके स्थानपर वक्ता बने और वह दीर्घ आयु, इन्द्रिय तथा बलसे सम्पन्न हो ॥ ३६ ॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! इसके सिवा भी आप लोग और जो चाहते हों वह कहिये, मैं पूर्ण कर दूँ। और हे विद्वज्जन ! अनजानमें किये हुए पापका प्रायश्चित्त क्या है ? सो भी सोचकर बतला दीजिये ॥ ३७ ॥ ऋषियोंने कहा—हे भगवन् ! इल्वलका पुत्र बल्वल नामक एक घोर राक्षस है। वह हर पर्वपर आकर हमारा यज्ञ दूषित कर देता है ॥ ३८ ॥ हे यदुनन्दन ! उस पीब, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, मद्य तथा मांसकी वर्षा करनेवाले उस पापी राक्षसको आप मार डालिये—

ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः । चरित्वा द्वादश मासांस्तीर्थस्नायी विशुद्ध्यसे ४०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे बलदेवचरित्रे बल्वलवधोपक्रमो नामाष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांसुवर्षणः । भीमो वायुरभूद् राजन् पूयगन्धस्तु सर्वशः ॥१॥
ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् । अभवद् यज्ञशालायां सोऽन्वदृश्यत शूलधृक् २
तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् । तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥३॥
सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् । हलं च दैत्यदमनं ते तूर्णमुपतस्थतुः ॥४॥
तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् । मुसलेनाहनत् क्रुद्धो मूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥५॥
सोऽपतद् भुवि निर्भिन्नललाटोऽसृक् समुत्सृजन् । मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥६॥
संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिषः । अभ्यषिञ्चन् महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ७
वैजयन्तीं ददुर्मालां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् । रामाय वाससी दिव्ये दिव्यान्याभरणानि च ८
अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः । स्नात्वा सरोवरमगाद् यतः सरयुरास्रवत् ॥९॥
अनुस्रोतेन सरयूं प्रयागमुपगम्य सः । स्नात्वा संतर्प्य देवादीन् जगाम पुलहाश्रमम् १०

यही हमारी बहुत बड़ी सेवा होगी ॥ ३९ ॥ बारह महीनेतक सावधान मनसे निरन्तर तीर्थोंमें स्नान करते हुए भारतवर्षकी परिक्रमा कर लेनेपर आप पापमुक्त हो जायँगे ॥४०॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

(बलरामजीका तीर्थयात्रा करना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! सन्ध्याकाल उपस्थित होनेपर धूलि बरसाता हुआ बड़ा तीव्र और प्रचण्ड वायु चलने लगा, जिससे सब ओर बड़ी दुर्गन्धि फैल गयी ॥ १ ॥ यज्ञशालामें बल्वल द्वारा की हुई मल-मूत्रादि अपवित्र वस्तुएँ गिरने लगीं और कुछ ही देर बाद वह भयङ्कर राक्षस होगये त्रिशूल लिये दिखायी पड़ा ॥ २ ॥ तपाये हुए ताँबेके समान अरुणवर्णके केश और दाढ़ी-मूछ तथा टेढ़ी डाढ़ों और भ्रुकुटियोंके कारण अति भयावने तथा कज्जलपुञ्जके समान अत्यन्त कृष्णवर्ण और बड़े डीलवाले उस दैत्यको देखकर श्रीबलरामजीने शत्रुसेनाका संहार करनेवाले अपने मूसल और दैत्यदलको दलित करनेवाले हलका स्मरण किया और वे तुरन्त उनके पास आ उपस्थित हुए ॥ ३–४ ॥ तब बलरामजीने उस आकाशचारी तथा विप्रद्रोही बल्वलको अपने हलके अग्रभागसे खींच लिया और क्रोधित होकर उसके सिरपर मूसलसे मारा ॥५॥ मूसलके लगनेसे उसका मस्तक फट गया, रुधिर बहने लगा और वह दैत्य दुःखपूर्ण शब्द करता उसी प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, जैसे कि वज्रकी चोटसे गेरूका पर्वत गिर जाता है ॥ ६ ॥ महर्षियोंने बलरामजीकी प्रशंसा करके आशीर्वाद दिये और उन्हें उसी प्रकार स्नान करवाया, जिस प्रकार वृत्रके मारनेपर इन्द्रको देवताओंने स्नान करवाया था ॥ ७ ॥ महर्षियोंने बलरामजीको ऐसी वैजयन्ती माला दी, जिसके कमल कभी भी न कुम्हलाते हुए सदा ताजे बने रहते थे । उन्होंने दिव्य वस्त्र और दिव्य आभूषण भी दिये ॥८॥ तदनन्तर महर्षियोंकी आज्ञाके अनुसार ब्राह्मणों सहित बलरामजी कौशकी नदीपर आये और उसमें स्नान करके उस सरोवरको गये, जिससे कि सरयू निकली है ॥ ९ ॥ इसके अनन्तर सरयूकी धाराके साथ-साथ चलकर प्रयाग पहुँचे ।

गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः । गयां गत्वा पितॄनिष्ट्वा गङ्गासागरसङ्गमे ॥११॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च । सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥१२॥
स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् । द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रिं वेङ्कटं प्रभुः ॥१३॥
कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् । श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥१४॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा । सामुद्रं सेतुमगमन्महापातकनाशनम् ॥१५॥
तत्रायुतमदाद् धेनूर्ब्राह्मणेभ्यो हलायुधः । कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ॥१६॥
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च । योजितस्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ॥
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥ १७ ॥
ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् । विष्णुः सन्निहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद् गवायुतम्
ततोऽभिव्रज्य भगवान् केरलांस्तु त्रिगर्तकान् । गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः १९
आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद् बलः । तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम्
प्रविश्य रेवामगमद् यत्र माहिष्मती पुरी । मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥२१॥
श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे । सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥२२॥
स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे । वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥
युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि । अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किं विवक्षुरिवागतः ॥२४॥

वहाँ स्नान करके देवता इत्यादिकोंका तर्पण करके पुलह ऋषिके आश्रम (हरिक्षेत्र) को गये ॥ १० ॥ फिर गोमती, गण्डकी और विपाशामें स्नान करके शोण-नदीमें स्नान किया तथा गयामें जाकर पितरोंका श्राद्ध किया और वहाँसे चले तो गङ्गासागरके सङ्गममें स्नानकर महेन्द्र-पर्वतपर परशुरामके दर्शन करके उनको प्रणाम किया । तदनन्तर सप्तगोदावरी, वेणी और पम्पा होते हुए भीमरथीको गये ॥ ११–१२ ॥ इसके अनन्तर समर्थ बलरामजी स्वामिकार्तिकेयके दर्शन करके शिवजीके निवास-स्थान श्रीशैलको गये और फिर द्रविड़देशमें परम पुण्यप्रद वेंकट पर्वतके दर्शन किये ॥ १३ ॥ इसके अनन्तर वे कामकोष्णी, काञ्चीपुरी और श्रेष्ठ नदी कावेरी होते हुए परम पुण्यप्रद श्रीरङ्ग नामक स्थानको गये, जहाँ कि भगवान नित्य वर्तमान रहते हैं ॥ १४ ॥ इसके अनन्तर ऋषभ-पर्वत, हरिक्षेत्र तथा मथुरा होते हुए पातक नष्ट करनेवाले समुद्रके सेतुको गये ॥ १५ ॥ वहाँ बलरामजीने दस सहस्र गायें ब्राह्मणोंको दीं । वहाँ कृतमाला तथा ताम्रपर्णीमें स्नान करते हुए कुलाचल अर्थात् मलय-पर्वतपर पहुँचे ॥ १६ ॥ उस पर्वतपर विराजमान श्रीअगस्त्यजीको नमस्कार तथा अभिवादनकर बलरामजीने उनका आशीर्वाद पाया और फिर उनसे आज्ञा लेकर दक्षिणसमुद्रपर जाकर कन्यानाम्नी दुर्गादेवीका दर्शन किया ॥ १७ ॥ फिर फाल्गुनतीर्थमें पहुँचकर जहाँ भगवान विष्णुकी सदा स्थिति रहती थी, उस पञ्चाप्सरस सरोवरमें स्नानकर उन्होंने दस हजार गौओंका दान किया ॥ १८ ॥ तदनन्तर केरल और त्रिगर्त आदि देशोंमें होते हुए वे गोकर्णनामक शिवक्षेत्रमें जा पहुँचे, जहाँ भगवान शङ्कर सर्वदा विद्यमान रहते हैं ॥ १९ ॥ वहाँसे द्वीपनिवासिनी आर्यदेवीका दर्शनकर शूर्पारकक्षेत्र गये । तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्यानदीमें स्नान करते हुए दण्डकारण्यमें प्रविष्ट हुए । तदनन्तर वे नर्मदानदीपर पहुँचे, जहाँ माहिष्मती पुरी बसी है और मनुतीर्थमें स्नान किया और फिर प्रभास-क्षेत्र लौट आये ॥ २०–२१ ॥ वहाँ ब्राह्मणोंके मुखसे कौरव-पाण्डवोंके युद्धमें सब क्षत्रियोंका संहार सुनकर उन्होंने पृथिवीका भार दूर हुआ जाना ॥ २२ ॥ तदनन्तर यह सुनकर कि भीमसेन और दुर्योधन रणभूमिमें परस्पर महायुद्ध कर रहे हैं, श्रीबलरामजी उन्हें युद्धसे निवृत्त करनेके निमित्त कुरुक्षेत्रको गये ॥ २३ ॥ बलरामजीको आये देखकर महाराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, कृष्ण और अर्जुनने उन्हें प्रणाम किया और यह जाननेके लिये कि वे क्या कहना चाहते हैं, सब

गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ । मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् २५
युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर । एकं प्राणाधिकं मन्ये उतैकं शिक्षयाधिकम् ॥२६॥
तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः । न लक्ष्यते जयोऽन्यो वा विरमत्वफलो रणः २७
न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् । अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥
दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ । उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्ज्ञातिभिः समुपागतः २६
तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन् मुदा । क्रत्वङ्गं क्रतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥३०॥
तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद् विभुः । येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥३१॥
स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्‌वृतः । रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलंकृतः॥
ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः । अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ३३
योऽनुस्मरेत रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः । सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ३४

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे बलदेवतीर्थयात्रानिरूपणं नामैकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

राजोवाच

भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः । वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ॥१॥
को नु श्रुत्वासकृद् ब्रह्मन्नुत्तमश्लोकसत्कथाः । विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥२॥

चुपचाप खड़े होगये ॥ २४ ॥ श्री बलरामजीने भीमसेन तथा दुर्योधन इन दोनोंको हाथमें गदा लिये एक-दूसरेको जीतनेके लिये अतिशय क्रोधपूर्वक भाँति-भाँतिके पैतरे बदलते देखकर कहा—"हे राजा दुर्योधन! और हे भीमसेन! तुम दोनों वीर समान बलवान हो। तुम दोनोंमेंसे भीमसेनको मैं बलमें और दुर्योधनको गदायुद्धकी शिक्षामें अधिक समझता हूँ ॥ २५-२६ ॥ सो तुम समान वीर्यशालियोंमेंसे किसी एककी जय या पराजय हो—ऐसा मुझे नहीं दिखाई पड़ता। अतएव इस व्यर्थके युद्धसे तुम निवृत्त हो जाओ" ॥ २७ ॥ हे राजन्! बलरामजीका कथन दोनोंके लिये हितकारी था, किन्तु पहलेके कटुभाषण और दुर्व्यवहारोंका स्मरण करते हुए उन दोनोंका आपसमें घोर वैरभाव हो गया था, जिससे उन्होंने उसे नहीं माना ॥ २८ ॥ दैवकी ऐसी ही इच्छा जानकर बलरामजी द्वारकापुरी लौट आये। वहाँ उग्रसेन आदि ज्ञातिबन्धुओंने आगे आकर उनका स्वागत किया ॥ २६ ॥ वहाँसे वे फिर नैमिषारण्यक्षेत्र गये। वहाँ सबके साथ विरोधभावसे रहित उन यज्ञमूर्ति भगवान बलरामजीसे मुनियोंने आनन्दपूर्वक सब तरहके यज्ञ कराये ॥ ३० ॥ उनको श्रीबलरामजीने विशुद्ध विज्ञानका उपदेश दिया, जिसने उन ऋषियोंने समझ लिया कि इस आत्मामें सारा जगत् और सारे जगत्में यह आत्मा व्याप्त है ॥३१॥ तदनन्तर अपनी पत्नी रेवतीके साथ यज्ञान्त स्नानकर सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणोंसे अलंकृत हो अपने ज्ञातिबन्धुओंसे घिरे हुए बलराम ऐसे सुशोभित हुए, जैसे चन्द्रिका चन्द्रदेवकी शोभा होती है ॥ ३२ ॥ हे राजन्! महाबलवान अनन्त, अप्रमेय और मायामानुषरूपधारी बलभद्रजीके ऐसे अगणित चरित्र हैं ॥ ३३ ॥ अद्भुतकर्म करनेवाले शेषावतार श्रीबलरामजीके इस विचित्र कर्मको जो पुरुष प्रातःकाल और सायङ्कालके समय स्मरण करता है, वह श्रीविष्णुभगवानका परमप्रियभक्त होता है ॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

(विप्र सुदामाका स्वागत-सत्कार) राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! हे प्रभो! अनन्तवीर्य महात्मा श्रीकृष्णचन्द्रने पराक्रमके जो अन्य कार्य किये हों, वह भी सुननेकी हमारी इच्छा

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद् वसन्तं स्थिर जङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥ ३ ॥
शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेत् तदेव यत् पश्यति तद्धि चक्षुः ।
अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि भजन्ति नित्यम् ॥ ४ ॥

सूत उवाच

विष्णुरातेन संपृष्टो भगवान् बादरायणिः । वासुदेवे भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥५॥

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः । विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥६॥
यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी । तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥७॥
पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता वदनेन सा । दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ॥८॥
ननु ब्रह्मन् भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः । ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान् सात्वतर्षभः ॥९॥
तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् । दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥१०॥
आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः । स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।
किं न्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टाञ्जगद्गुरुः ॥ ११ ॥
स एवं भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मृदु । अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम् ॥१२॥
इति सञ्चिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे । अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद् गृहे कल्याणि दीयताम् १३

है ॥ १ ॥ हे ब्रह्मन् ! जो विविध विषयोंको खोजते-खोजते थक गया है, ऐसा सारग्राही कौन पुरुष होगा जो भगवान उत्तमश्लोकके शुभचरित्रोंको बार-बार सुनकर भी उनसे तृप्त हो जायगा ॥ २ ॥ जिससे मनुष्य भगवानका गुण-गान करता है, वास्तवमें वही वाणी सफल है । जो भगवानके लिये कर्म करते हैं, वे ही हाथ सफल हैं । जो चराचरमें विद्यमान भगवानका स्मरण करता है, वही मन सफल है । जो भगवानकी पवित्र कथा सुनते हैं, वे ही कान सार्थक होते हैं ॥ ३ ॥ जो प्रभुकी चल तथा अचल दोनों प्रकारकी मूर्तियोंके समक्ष झुकता है, वही मस्तक सफल है । जो भगवद्विग्रहका दर्शन करते हैं, वे ही नेत्र सफल हैं । जो भगवान विष्णु तथा उनके भक्तोंका चरणोदक पान करते हैं, वे ही अङ्ग सफल होते हैं ॥ ४ ॥ सूतजी कहते हैं—राजा परीक्षित्के इस तरह पूछनेपर व्यासतनय भगवान शुकदेवजीका हृदय भगवान कृष्णमें लीन हो गया और वे कहने लगे ॥ ५ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ब्राह्मण सुदामा श्रीकृष्णके परम मित्र थे । वे ब्राह्मणदेवता बड़े विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय थे ॥ ६ ॥ वे गृहस्थ थे और उन्हें प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाता, उसीसे निर्वाह करते थे । उनके वस्त्र फटे-पुराने रहते, उनकी स्त्री भी उन्हींके समान भूखसे कृश रहा करती थी ॥ ७ ॥ एक दिन वह दरिद्रा और दुःखिनी पतिव्रता ब्राह्मणी भयसे काँपती हुई अपने पतिके पास गयी और मलिन मुखसे बोली— ॥ ८ ॥ "हे ब्रह्मन् ! आपके मित्र साक्षात् श्रीलक्ष्मीपति भगवान यदुनाथ बड़े ही ब्राह्मणभक्त तथा शरणागतवत्सल हैं ॥ ९ ॥ वे साधुओंकी एकमात्र गति हैं—हे महाभाग ! आप उनके पास जाइये । आप कुटुम्बी हैं और दरिद्रताके कारण बड़े दुःखी रहते हैं । वे आपको बहुत-सा धन देंगे ॥ १० ॥ मैंने सुना है कि आजकल वे द्वारकापुरीके भोज, वृष्णि और अन्धकवंशीय यादवोंके स्वामी हैं और अपने चरणकमलोंका स्मरण करनेवाले पुरुषोंको अपना शरीरतक दे डालते हैं । ११ ॥ तब अपने भक्तोंको वे जगद्गुरु यदि अर्थ और काम जो विशेष अभीष्ट नहीं हैं, दे देते हैं तो इसमें आश्चर्यकी बात क्या है ?" इस तरह अपनी स्त्रीके नम्रतापूर्वक अनेक बार प्रार्थना करनेपर उन विप्रवरने मनमें सोचा कि 'वहाँ जानेमें सबसे बड़ा लाभ यही होगा कि पवित्रकीर्ति भगवान कृष्णका दर्शन तो हो जायगा' बस, उन्होंने द्वारकापुरी जानेका निश्चय

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान्। चैलखण्डेन तान् बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् १४
स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल। कृष्णसन्दर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन्।१५।
त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः। विप्रोऽगम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम्१६
गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महिषीणां हरेर्द्विजः। विवेशैकतमं श्रीमद् ब्रह्मानन्दं गतो यथा॥१७॥
तं विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्यङ्कमास्थितः।सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा॥१८॥
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः। प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून् नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः १९
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम्। उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः॥२०॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः। व्यलिम्पद् दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः।२१।
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा। अर्चित्वाऽऽवेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् २२
कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम्। देवी पर्यचरत् साक्षाच्चामरव्यजनेन वै॥२३॥
अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीर्तिना। विस्मितोऽभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम्२४
किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा। श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन् गर्हितेनाधमेन च२५
योऽसौ त्रिलोकगुरुणा श्रीनिवासेन सम्भृतः। पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा २६
कथयाञ्चक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः। आत्मनो ललिता राजन् करौ गृह्य परस्परम्॥२७॥

श्रीभगवानुवाच

अपि ब्रह्मन् गुरुकुलाद् भवता लब्धदक्षिणात्। समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योढा सदृशी न वा॥२८॥

कर लिया और स्त्रीसे कहा—"हे कल्याणि! घरमें कुछ भेंटकी सामग्री भी है? यदि हो तो दे दो" ॥ १२ ॥ १३ ॥ तब ब्राह्मणी पास-पड़ोसके ब्राह्मणोंके यहाँसे चार मुट्ठी चिउड़ा माँग ले आयी और उन्हें एक कपड़ेमें बाँधकर अपने पतिको भेंटके लिये दे दिया ॥१४॥ विप्रवर उन्हें लेकर मन-ही-मन यह सोचते हुए कि 'मुझे भगवान कृष्णका दर्शन कब और कैसे होगा?' द्वारकापुरीको चल पड़े ॥ १५ ॥ हे राजन्! द्वारकामें पहुँचनेपर सुदामा अन्य ब्राह्मणोंके साथ सैनिकोंकी तीन छावनियों और तीन ड्योढ़ियोंको पार करके भगवद्धर्मोंका पालन करनेवाले वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके घरोंमें गये, जिनके यहाँ पहुँचना कठिन था ॥ १६ ॥ जब उन विप्रवरने भगवान कृष्णकी सोलह हजार रानियोंके घरोंमेंसे एकमें प्रवेश किया तब तो मानो वे परमानन्दमें डूब गये ॥ १७ ॥ सुदामाजीको दूरहीसे देख अपनी प्रियाकी शय्यापर विराजमान श्रीहरि सहसा उठ खड़े हुए और आगे आकर बड़े हर्षके साथ उन्हें दोनों भुजाओंमें कसकर गले लगा लिया ॥ १८ ॥ अपने प्रियसखा उन ब्रह्मर्षिके अङ्ग-सङ्गसे कमलनयन भगवानको बड़ा आनन्द मिला और प्रेमवश उनके नेत्रोंसे जल बहने लगा ॥ १९ ॥ हे राजन! तब भगवानने अपने सखाको पलंगपर बैठाया और स्वयं पूजनकी सामग्री ला उनके चरण धोकर सब लोकोंको पवित्र करनेवाले प्रभुने वह चरणोदक माथे चढ़ाया और उनके शरीरमें दिव्य गन्धमय चन्दन, अगुरु तथा कुंकुमका लेप किया ॥ २० ॥ २१ ॥ तब सुगन्धित धूप और दीपावलीसे अपने मित्रका पूजनकर ताम्बूल और गौ निवेदन करके उनसे स्वागतवाक्य कहा ॥ २२ ॥ बेचारे सुदामा फटे-पुराने कपड़े पहने हुए थे। उनका शरीर अति दुर्बल, मलिन तथा शिराजालसे पूर्ण दीखता था। उस समय साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा देवी रुक्मिणीजी उनपर चँवर डुलाने लगीं ॥ २३ ॥ पुण्यकीर्ति भगवान कृष्णको एक भिक्षुक ब्राह्मणकी इस तरह अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक पूजा करते देखकर सब अन्तःपुरवासी बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ २४ ॥ और आपसमें कहने लगे—'इस श्रीहीन, निर्धन तथा लोकमें अत्यन्त निन्दनीय और अवधूत भिखारीने ऐसा कौनसा महान पुण्य किया था, जिससे लक्ष्मीके आश्रयस्थान और जगद्गुरु भगवान कृष्णने अपनी शय्यापर विराजमान लक्ष्मीजीको त्यागकर इसका बड़े भाईके समान आलिङ्गन और सत्कार

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा । नैवातिप्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे ॥२९॥
केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः । त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसंग्रहम् ॥३०॥
कच्चिद् गुरुकुले वासं ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः । द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्नुते ॥३१॥
स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह सम्भवः । आद्योऽङ्ग यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥
नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह । ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥३३॥
नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा । तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥३४॥
अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ । गुरुदारैश्चोदितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥३५॥
प्रविष्टानां महारण्यमपर्तौ सुमहद् द्विज । वातवर्षमभूत् तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्नवः ॥३६॥
सूर्यश्चास्तं गतस्तावत् तमसा चावृता दिशः । निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किञ्चन ॥३७॥

वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिर्निहन्यमाना मुहुरम्बुसम्प्लवे ।
दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥३८॥

एतद् विदित्वा उदिते रवौ सान्दीपनिर्गुरुः । अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ३९
अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः । आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ४०
एतदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् । यद् वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ ॥४१॥

किया है ?" ॥ २५ ॥ २६ ॥ हे राजन् ! तब वे परस्पर एक-दूसरेका हाथ पकड़कर गुरुकुलमें रहनेके समयकी मनोहर बातें करने लगे ॥ २७ ॥ श्रीभगवान बोले—हे ब्रह्मन् ! हे धर्मज्ञ ! गुरुदक्षिणा देकर गुरुकुलसे लौटनेके बाद तुमने किसी अपने योग्य स्त्रीसे विवाह किया अथवा नहीं ? ॥ २८ ॥ मेरा तो ख्याल है कि तुम्हारा चित्त प्रायः गृहस्थीमें आसक्त नहीं है और तुम धनादिके मिलनेसे भी प्रसन्न नहीं होते ॥ २९ ॥ ईश्वरकी मायासे निर्मित विषय-वासनाका त्याग करनेवाले कुछ लोग विषयोंमें आसक्त न होनेपर भी मेरे समान केवल लोकशिक्षाके लिये कर्म करते हैं ॥ ३० ॥ हे ब्रह्मन् ! क्या तुम्हें उस समयका कुछ स्मरण है, जब हम दोनों साथ-साथ उस गुरुकुलमें रहते थे, जहाँ रहकर द्विज लोग सब ज्ञातव्य वस्तुयें जानकर अज्ञानके पार हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ हे प्रिय ! गुरुकुलनिवास ही द्विजोंका सत्कर्मोंमें लगनेका स्थान है। वहाँ सब आश्रमियोंके ज्ञानदाता जो गुरु रहते हैं, वे मेरे ही समान होते हैं ॥ ३२ ॥ हे ब्रह्मन् ! वर्णाश्रमियोंमें जो लोग मेरे स्वरूपभूत गुरुके उपदेश द्वारा सुगमतासे भवसागरको पार कर लेते हैं, वे ही अपना वास्तविक स्वार्थ जानते हैं ॥ ३३ ॥ सब प्राणियोंका अन्तरात्मा मैं जितना गुरुशुश्रूषासे प्रसन्न होता हूँ वैसा यज्ञ, तप तथा उपशम आदि किसी भी साधनसे प्रसन्न नहीं होता ॥ ३४ ॥ हे ब्रह्मन् ! गुरुकुलमें रहते समय जब एक बार हम दोनोंको गुरुपत्नीने ईंधन लानेके लिये वनमें भेजा था तब जो घटना घटी थी, क्या उसका तुम्हें स्मरण है ? ॥ ३५ ॥ उस समय जब हम एक घोर वनमें गये तो वर्षाऋतु न होनेपर भी प्रचण्ड आँधीके साथ घनघोर वर्षा और कठोर गर्जन होने लगा था ॥ ३६ ॥ सूर्यके छिप जानेसे सब दिशाओंमें घोर अन्धकार छा गया और सारी पृथिवी जलमयी हो गयी थी। जिससे नीची जमीन अर्थात् गड्ढे और किनारेका कुछ भी पता नहीं चलता था ॥ ३७ ॥ उस जलप्रलयमें प्रचण्ड पवन तथा वर्षासे अत्यन्त पीडित होकर हम ऐसे अचेत हो गये कि दिशा और विदिशाका कोई ज्ञान ही नहीं रहा और हम एक-दूसरेका हाथ पकड़े अति व्याकुल हो वनमें इधर-उधर भटकने लगे ॥ ३८ ॥ जब सूर्योदय होनेपर हमारे गुरु सान्दीपनिको यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो वे अपने शिष्य हम लोगोंको ढूँढ़ते हुए वनमें आये और उन्होंने हमें अति व्याकुल-दशामें देखा ॥ ३९ ॥ वे बोले—"अहो पुत्रों ! तुम्हें हमारे लिए बड़ा कष्ट भोगना पड़ा। सब जीवोंको अपना शरीर बहुत प्यारा होता है, किन्तु तुमने उसकी भी कुछ परवा न करके हमारी सेवा की ॥ ४० ॥ सब कामनाओंके साधनस्वरूप अपने शरीरको भी विशुद्धभावसे गुरुकी सेवामें

तुष्टोऽहं भो द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः । छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च ॥४२॥
इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु । गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये ॥४३॥

ब्राह्मण उवाच

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो । भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत् ॥४४॥
यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभो । श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥४५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीदामचरितेऽशीतितमोऽध्यायः

एकाशीतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

स इत्थं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः । सर्वभूतमनोऽभिज्ञः स्मयमान उवाच तम् ॥१॥
ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम् । प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् । अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥ ३ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥४॥
इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः । पृथुकप्रसृतिं राजन् न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥५॥
सर्वभूतात्मदृक् साक्षात् तस्यागमनकारणम् । विज्ञायाचिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत् पुरा॥६॥

लगा देना ही सत्-शिष्यों द्वारा करने योग्य सबसे बड़ी गुरुनिष्कृति बतायी गयी है ॥ ४१ ॥ हे द्विजश्रेष्ठों ! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम्हारी सब इच्छाएँ पूर्ण हों और तुम्हारी विद्या इहलोक तथा परलोकमें कभी भी निष्फल न हो" ॥ ४२ ॥ हे ब्रह्मन् ! गुरुके यहाँ रहते समय ऐसे ही अनेक प्रसङ्ग आये थे, वे क्या तुम्हें याद हैं ? प्रत्येक मनुष्य गुरुकी कृपासे ही पूर्णमनोरथ होकर शान्ति-लाभ करने योग्य हुआ करता है ॥ ४३ ॥ विप्रवर सुदामाजी बोले—हे देवदेव ! हे जगद्गुरो ! जब आप सत्यसङ्कल्पके साथ हमारा गुरुकुलमें सहवास रहा, तब हमने अपना क्या नहीं बना लिया ? ॥ ४४ ॥ हे विभो ! कल्याणका उद्भवस्थान छन्दोमय वेद ही जिनका दिव्य शरीर है, उन आपका गुरुकुलमें रहना बड़ी विडम्बना है ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

(सुदामाजीकी समृद्धिवृद्धि) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उन द्विजश्रेष्ठसे इस तरह वार्तालाप करके समस्त प्राणियोंमें व्यापक, सर्वज्ञ, ब्राह्मणभक्त तथा साधुओंकी एकमात्र गति भगवान कृष्णने अपने प्रियसखा विप्रवर सुदामाकी ओर प्रेमदृष्टिसे निहारते हुए मुसकाकर कहा ॥१॥२॥ श्रीभगवान बोले—हे ब्रह्मन् ! आप अपने घरसे मेरे लिये क्या भेंट लाये हैं ? मेरे भक्त मुझे प्रेमपूर्वक यदि कोई थोड़ी-सी वस्तु भी देते हैं तो वह मेरी दृष्टिमें बहुत है, किन्तु अभक्तोंकी बहुत-सी भेंट भी मुझे सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकती ॥ ३ ॥ जो पुरुष भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल कुछ भी अर्पण करता है तो बस, शुद्धचित्त प्रेमी भक्तकी प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वह भेंट मैं प्रसन्नतासे स्वीकार करता हूँ ॥ ४ ॥ हे राजन् ! भगवानके इस प्रकार कहनेपर भी सुदामाजीने उन लक्ष्मीपतिको वह चार मुट्ठी चिउड़ेकी पोटली नहीं दी और संकोचवश अपना मुख नीचा कर लिया ॥ ५ ॥ तब सब प्राणियोंके अन्तःकरणोंके साक्षी भगवान कृष्ण उनके आनेका कारण जानकर मनमें सोचने लगे—'इन्होंने पहले कभी धनकी इच्छासे मेरा चिन्तन नहीं किया। इसीलिये लायी हुई

पत्न्याः पतिव्रतायास्तु सखा प्रियचिकीर्षया । प्राप्तो मामस्य दास्यामि सम्पदोऽमर्त्यदुर्लभाः ७
इत्थं विचिन्त्य वसनाच्चीरबद्धान् द्विजन्मनः । स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥८॥
नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे । तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥९॥
इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयां जग्धुमाददे । तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ॥१०॥
एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसम्पत्समृद्धये । अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ११
ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे । भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा १२
श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिवन्दितः । जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥१३॥
स चालब्ध्वा धनं कृष्णान्न तु याचितवान् स्वयम् । स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिर्वृतः ॥१४॥
अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया । यद् दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि १५
क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः । ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥१६॥
निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा । महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ॥१७॥
शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः । पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥१८॥
स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् । सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१९॥
अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् । इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात् ॥२०॥

अपनी अल्प भेंट मुझे देने और अपनी कामना प्रकट करनेमें इनको संकोच होता है ॥ ६ ॥ ये मेरे मित्र अपनी पतिव्रता पत्नीका प्रिय करनेकी इच्छासे ही मेरे पास आये हैं। सो मैं इन्हें ऐसी अटूट सम्पत्ति दूँगा, जो देवताओंको भी दुर्लभ होगी ॥ ७ ॥ ऐसा सोचकर भगवानने उन द्विजश्रेष्ठके चिथड़ेमें बँधे हुए चिउड़ोंको 'यह क्या है ?' यों कहकर स्वयं छीन लिया ॥ ८ ॥ और बड़े आदरसे बोले—"मित्र ! तुम तो मेरी बड़ी प्यारी भेंट लाये हो, ये चिउड़े तो मुझे और मेरे आश्रयमें रहनेवाले समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे" ॥ ९ ॥ ऐसा कहकर भगवानने ज्यों ही एक मुट्ठी चिउड़ा खाकर दूसरी मुट्ठी खानेकी तैयारी की, त्यों ही भगवत्परायणा लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीजीने परमात्मा कृष्णका हाथ थाम्ह लिया ॥ १० ॥ और बोलीं—"हे विश्वात्मन् ! किसी मनुष्यको इहलोक तथा परलोकमें सब सम्पत्तियोंका भोग प्राप्त करानेके लिये यह मुट्ठीभर चिउड़ा ही पर्याप्त है। तात्पर्य यह कि इससे अधिक उदारता दिखाकर मुझे भी आप इनके अधीन मत करिए ॥ ११ ॥ उन विप्रवरने वह रात्रि श्रीअच्युतके भवनहीमें बितायी और विविध प्रकारके पदार्थ खाने-पीनेसे अपनेको मानो स्वर्गमें प्राप्त समझा ॥ १२ ॥ हे तात ! दूसरे दिन सूर्योदय होनेपर जगन्नियन्ता तथा आत्मानन्दस्वरूप भगवान कृष्णसे अभिवन्दित हो और उनके द्वारा मार्गमें साथ जाकर विनयपूर्वक बिदा किये जानेपर वे विप्रवर अपने घरकी ओर लौटे ॥ १३ ॥ कृष्णचन्द्रसे प्रत्यक्षरूपमें कुछ धन न मिलनेपर भी उन्होंने स्वयं उनसे कुछ नहीं माँगा और अपने चित्तकी कृपणतासे लज्जित तथा परमपुरुष परमात्माके दर्शनसे आनन्दित होते हुए वे अपने घरको बढ़ चले ॥ १४ ॥ मार्गमें जाते समय वे अपने मनमें कहने लगे—अहो ! आज मैंने ब्रह्मण्यदेव भगवान कृष्णचन्द्रकी ब्राह्मणभक्ति देखी। यद्यपि वे साक्षात् लक्ष्मीको धारण करनेवाले हैं, फिर भी उन्होंने मुझ महादरिद्रको गलेसे लगा लिया ॥ १५ ॥ कहाँ मैं महापापी और दरिद्र ब्राह्मण और कहाँ लक्ष्मीपति भगवान ! तथापि 'यह ब्राह्मण है' ऐसा विचारकर उन्होंने मुझे भुजाओंमें भरकर भेंटा ॥ १६ ॥ और अपनी प्रियासे सेवित पलंगपर भाईके समान बैठाया। यही नहीं, मुझे थका देखकर स्वयं उनकी पटरानीने चँवर डुलाया ॥१७॥ फिर उन ब्राह्मणभक्त देवदेव श्रीहरिने पैर दाबने आदि अनेक प्रकारकी सेवाओंसे देवताओंके समान मेरी पूजा की ॥ १८ ॥ उन भगवान कृष्णके चरणोंका पूजन तो लोगोंके लिये पृथिवी और पातालकी सम्पत्ति, अणिमादि ऐश्वर्य तथा स्वर्ग और मोक्षादिकी प्राप्तिका भी हेतु है ॥ १९ ॥ फिर भी इन

इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्तो निजगृहान्तिकम् । सूर्यानलेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥२१॥
विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्द्विजकुलाकुलैः । प्रोत्फुल्लकुमुदाम्भोजकह्लारोत्पलवारिभिः ॥२२॥
जुष्टं स्वलङ्कृतैः पुम्भिः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षिभिः। किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत्॥२३॥
एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः । प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥२४॥
पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षातिसम्भ्रमा । निश्चक्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात्॥२५॥
पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना । मीलिताक्ष्यनमद् बुद्ध्या मनसा परिषस्वजे।२६।
पत्नीं वीक्ष्य विस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव । दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः२७
प्रीतः स्वयं तया युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् । मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥२८॥
पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः । पर्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥२९॥
आसनानि च हैमानि मृदूपस्तरणानि च । मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च।३०।
स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च । रत्नदीपा भ्राजमाना ललनारत्नसंयुताः ॥३१॥
विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसम्पदाम् । तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहैतुकीम्॥३२॥

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥३३॥
नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।
पर्जन्यवत्तत् स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥३४॥

करुणासिन्धुने यह समझकर कि 'यह निर्धन है; धन मिल जानेसे यह उन्मत्त होकर मेरा स्मरण नहीं करेगा, मुझे कुछ भी धन उन्होंने नहीं दिया' ॥ २० ॥ जब सुदामा मन-ही-मन ऐसा सोचते-सोचते अपने घर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वह स्थान सूर्य, चन्द्र और अग्निसदृश देदीप्यमान विमानोंसे घिरा हुआ था ॥२१॥ जिनमें पक्षी मनोहर कलरव कर रहे थे, चित्र-विचित्र बगीचों जिनमें कुमुद, अम्भोज, कह्लार और उत्पल आदि विविध प्रकारके कमल खिले हुए थे, ऐसे सरोवरों तथा भलीभाँति सुसज्जित पुरुषों तथा मृगनयनी नारियोंसे उसकी अपूर्व शोभा हो रही थी। उसे देखकर सुदामाजीने सोचा—ऐं यह क्या हुआ ? यह किसका घर है ? यह मेरा स्थान ऐसा कैसे हो गया ?" ॥२२॥२३॥ वे इसी उधेड़-बुनमें पड़े थे कि देवताओंके समान तेजस्वी बहुतसे नर-नारी बड़े उत्साहके साथ गाते-बजाते हुए उन्हें अगवानी करके लेने आये ॥ २४ ॥ अपने पतिदेवका आगमन सुनकर उनकी रूपवती भार्या अति हर्ष और उतावलीके साथ तुरन्त अपने घरके बाहर इस तरह निकली, मानो स्वयं लक्ष्मीजी अपने स्थान अर्थात् कमलवनसे निकल कर आ रही हों ॥ २५ ॥ अपने पतिको देखते ही उस पतिव्रताके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू उमड़ आये। उसने अपने नेत्र मूँद लिये और पतिदेवको प्रेमभावसे नमस्कार करके मन-ही-मन आलिङ्गन किया ॥ २६ ॥ अपनी पत्नीको गलेमें पदकधारिणी दासियोंके बीचमें विमानस्थित देवाङ्गनाके सदृश शोभायमान देखकर सुदामाजीको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २७ ॥ और वे अति प्रसन्न होकर उसके साथ अपने भवनमें गये, जो इन्द्रभवनके सदृश सैकड़ों मणिमय स्तम्भोंसे अलंकृत था ॥ २८ ॥ उसमें दूधके फेनसदृश सुकोमल और श्वेत बिछौने, हाथीदाँतके बने सुवर्णजटित पलंग तथा सोनेकी दण्डीवाले चमर और पंखे विद्यमान थे ॥ २९ ॥ सुकोमल बिछौनोंसे युक्त सोनेके सिंहासन तथा मोतीकी लड़ियों युक्त झिलमिलाते हुए चँदोवे सुशोभित हो रहे थे ॥ ३० ॥ अगणित रमणीरत्नोंसे परिपूर्ण स्वच्छ स्फटिकमणिकी दीवारों और इन्द्रनीलमणिकी भूमिसे सुसज्जित उन महलोंमें मणिमय दीपकों तथा सर्वसम्पत्तियोंकी समृद्धिको देखकर वे विप्रवर सावधानतापूर्वक उस बढ़ी हुई अपनी सम्पत्तिका कारण सोचने लगे ॥३१॥३२॥ उन्होंने मनही मन सोचा—मुझ अभागे और सदाके दरिद्रकी महाविभूतिके उत्कर्षका कारण श्रीकृष्ण-

किञ्चित्करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं सुहृत्कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी ।
मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टिं प्रत्यग्रहीत् प्रीतियुक्तो महात्मा ॥३५॥
तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीदास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥३६॥
भक्ताय चित्रा भगवान् हि सम्पदो राज्यं विभूतीर्न समर्थयत्यजः ।
अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं पश्यन् निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥३७॥
इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने । विषयाञ्जायया त्यक्ष्यन् बुभुजे नातिलम्पटः॥३८॥
तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः । ब्राह्मणाः प्रभवो दैवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥
एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम् ।
तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धनस्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥४०॥
एतद् ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः । लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद् विमुच्यते ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे पृथुकोपाख्यानं नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथैकदा द्वारवत्यां वसतो रामकृष्णयोः । सूर्योपरागः सुमहानासीत् कल्पक्षये यथा ॥१॥
तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः । स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥२॥

चन्द्रकी कृपाकटाक्षके सिवा और कुछ नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥ अनन्त भोगोंसे सम्पन्न मेरे मित्र श्रीकृष्णचन्द्र मेघके सदृश अतिशय उदार हैं। अतएव याचना करनेके इच्छुक अपने भक्तको प्रत्यक्ष कुछ न देकर भी उसके भावानुसार स्वयं उसे बहुत कुछ दे देते हैं ॥ ३४ ॥ वे अपने बहुत कुछ दियेको थोड़ा मानते और भक्तके अल्प उपहारको भी बहुत समझते हैं। देखो न, उन महात्माने मेरे चिउड़ोंकी एक मुट्ठीको भी कितने प्रेमसे लेकर चबाया था ॥ ३५ ॥ मुझे जन्म-जन्म उन्हींका सौहार्द, सखाभाव, मित्रता तथा दासता मिले और विविध गुणोंके आश्रयस्थल भगवान कृष्णमें अनुराग करते हुए मुझे उन्हींके भक्तोंका सत्संग प्राप्त हो ॥ ३६ ॥ अपरिपक्व विचारवाले भक्तोंको वे धनियोंका ऐश्वर्यमदसे होनेवाला पतन देखकर कभी सम्पत्ति, राज्य और ऐश्वर्य आदि नहीं प्रदान करते ॥ ३७ ॥ परमभगवद्भक्त सुदामाजी अपने मनमें ऐसा निश्चयकर अपनी स्त्रीके साथ अनासक्तभावसे त्यागपूर्वक उन ईश्वरप्रदत्त विषयोंको भोगने लगे ॥ ३८ ॥ उन देवदेव यज्ञपति श्रीकृष्णके ब्राह्मण ही प्रभु और देवता हैं। उनके लिये ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है ॥ ३९ ॥ भगवानके सखा उन विप्रवर सुदामाने किसीसे भी न जीते जा सकनेवाले भगवानको अपने भक्तोंसे हारे देखकर उन्हींके ध्यानके वेगसे अपनी अविद्यारूपिणी ग्रन्थिका छेदन कर डाला और कुछ ही समयमें सत्पुरुषोंको पाने योग्य भगवानके परमधामको पा लिया ॥ ४० ॥ ब्राह्मणहितकारी भगवान श्रीकृष्णकी इस ब्रह्मण्यताको सुननेसे मनुष्य उनका प्रेम पाकर शीघ्र सब कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे पं० रामतेजशास्त्रिकृतभाषाटीकायामेकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

(व्रजके गोपोंसे भगवानकी भेंट) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिन राम और कृष्णके द्वारकापुरीमें रहते समय प्रलयकालीन ग्रहणके सदृश एक बहुत बड़ा सूर्यग्रहणका पर्व उपस्थित हुआ ॥ १ ॥ उस सूर्यग्रहणकी बात ज्योतिषियों द्वारा पहलेही सुनकर देश-देशान्तरके बहुतसे

निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः । नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाह्रदान् ॥३॥
ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा । लोकस्य ग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ॥४॥
महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन् भारतीः प्रजाः । वृष्णयश्च तथाक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥५॥
ययुर्भारत तत् क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्णवः । गदप्रद्युम्नसाम्बाद्याः सुचन्द्रशुकसारणैः ॥६॥
आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्मा च यूथपः । ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥७॥
गजैर्नदद्भिरभ्राभैर्नृभिर्विद्याधरद्युभिः । व्यरोचन्त महातेजाः पथि काञ्चनमालिनः ॥८॥
दिव्यस्रग्वस्त्रसन्नाहाः कलत्रैः खेचरा इव । तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिताः ॥९॥
ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूर्वासःस्रग्रुक्ममालिनीः । रामह्रदेषु विधिवत् पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥१०॥
ददुः स्वन्नं द्विजाग्र्येभ्यः कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति । स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥११॥
भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु । तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्सम्बन्धिनो नृपान् ॥१२॥
मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् । काम्बोजकैकयान् मद्रान् कुन्तीनानर्तकेरलान् ॥१३॥
अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान् परांश्च शतशो नृप । नन्दादीन् सुहृदो गोपान् गोपीश्चोत्कण्ठिताश्चिरम् ॥१४॥

अन्योन्यसन्दर्शनहर्षरंहसा प्रोत्फुल्लहृद्वक्त्रसरोरुहश्रियः ।
आश्लिष्य गाढं नयनैः स्रवज्जला हृष्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥१५॥
स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृदस्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।
स्तनैः स्तनान् कुङ्कुमपङ्करूषितान् निहत्य दोर्भिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥१६॥

लोग पुण्यकर्म करनेकी इच्छासे स्यमन्तपञ्चक नामके कुरुक्षेत्र तीर्थको गये ॥ २ ॥ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भगवान परशुरामजीने जहाँ पृथिवीको क्षत्रियविहीन करते समय क्षत्रिय राजाओंके रक्तसे नौ बहुत बड़े-बड़े कुण्ड भर दिये थे। जहाँ भगवान परशुरामजीने क्षत्रियवधके पापसे अलिप्त होते हुए भी केवल लोकशिक्षाके लियेही साधारण पुरुषोंके सदृश पापमुक्त होनेके निमित्त बहुतेरे यज्ञ किये थे ॥ ३–४ ॥ इस तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें भारतवर्षकी अधिकांश प्रजा कुरुक्षेत्रमें आयी हुई थी। हे भारत ! इस अवसरपर अक्रूर, वसुदेव, उग्रसेन, गद, प्रद्युम्न तथा साम्ब आदि यादव भी अपने पापोंका मार्जन करनेकी इच्छासे कुरुक्षेत्रको गये हुए थे तथा सुचन्द्र, शुक और सारणके सहित अनिरुद्धजी एवं सेनापति कृतवर्मा द्वारकादुर्गकी रक्षाकार्यमें नियुक्त थे ॥ ५–६ ॥ गलेमें सोनेकी माला तथा दिव्य हार, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य कवचसे सुसज्जित हो महातेजस्वी यादवगण अपनी स्त्रियोंके साथ देवविमानोंके सदृश प्रकाशमान रथों, तरङ्गोंके समान तीव्र गतिवाले घोड़ों और मेघके समान गर्जते हाथियोंपर चढ़कर जाते हुए विद्याधरोंके समान वे कान्तिमान् यादव देवताओंके समान सुन्दर प्रतीत होते थे ॥७–८॥ उन महाभाग यादवोंने वहाँ स्नान तथा उपवासादि करके एकाग्र-चित्तसे ब्राह्मणोंको वस्त्र, पुष्पमाला और सुवर्णमय हारसे विभूषित गौएँ दान करके दीं ॥ ९ ॥ तद-नन्तर उन यादवोंने परशुरामजीके कुण्डोंमें विधिवत् स्नान करके 'भगवान कृष्णमें नित्य हमारी भक्ति हो' इस इच्छासे ब्राह्मणोंको उत्तम अन्नका भोजन कराया ॥ १० ॥ तब श्रीकृष्ण ही जिनके एकमात्र देवता थे, वे यादवगण उनकी आज्ञा पा स्वयं भी भोजनकर शीतल छायामाय वृक्षोंतले अपनी-अपनी इच्छानुसार जा ठहरे ॥ ११ ॥ हे राजन् ! वहाँ यादवोंने तीर्थस्नानको आये हुए अपने सुहृद् सम्बन्धियों, मत्स्य, उशीनर, कोसल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, कैकय, मद्र, कुन्ति, आनर्त तथा केरल आदि अनेक देशों और अपने-पराये पक्षके और भी कितने ही लोगोंको देखा। इनके अति-रिक्त परमस्नेही नन्दादि गोपों और चिरकालसे दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित गोपियोंको भी उन्होंने देखा ॥ १२–१४ ॥ तब एक दूसरेको देखनेसे उत्पन्न आनन्दके आवेशवश उनके हृदय और मुख-कमलकी कान्ति खिल गयी। उन्होंने नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाते हुए एक-दूसरेका गाढ़ आलिङ्गन किया

ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्ठैरभिवादिताः । स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथा मिथः ।१७।
पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य तत्पुत्रान् पितरावपि । भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः ॥१८॥

कुन्त्युवाच

आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् । यद् वा आपत्सु मद्वार्तां नानुस्मरथ सत्तमाः ।१९।
सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि । नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥२०॥

वसुदेव उवाच

अम्ब मास्मानसूयेथा दैवक्रीडनकान् नरान् । ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यतेऽथवा ॥२१॥
कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् । एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः २२

श्रीशुक उवाच

वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽर्चिता नृपाः । आसन्नच्युतसंदर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥२३॥
भीष्मो द्रोणोऽम्बिकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा । सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः २४
कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् । पुरुजिद् द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् २५
दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ । युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाह्लिकादयः ।२६।
राजानो ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः । श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सस्त्रीकं वीक्ष्य विस्मिताः
अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः । प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन् कृष्णपरिग्रहान् २८
अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह । यत् पश्यथासकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम्

॥ १५ ॥ उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, वाणी गद्गद होगयी और वे परमानन्दमें डूब गये । इसी तरह स्नेह तथा मुसकानके कारण जिनकी दृष्टि अत्यन्त निर्मल थी, वे स्त्रियाँ भी एक दूसरीको देखकर नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरके कुंकुममण्डित अपने कुचोंसे दबाती हुई परस्पर बाँह और गले लगकर मिलने लगीं ॥ १६ ॥ उन सबसे छोटी अवस्थावालोंने अभिवादित हो अपने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम किया और एक-दूसरेका स्वागत तथा कुशल-प्रश्नकर वे आपसमें भगवान कृष्णसम्बन्धी बातें करने लगे ॥ १७ ॥ जब कुन्तीने अपने भाई, बहिन, उनके पुत्र, अपने माता-पिता, भाभी तथा भगवान कृष्णको देखा तो उनकी प्रेमवार्तासे अपने सब दुःख भूल गयीं ॥ १८ ॥ कुन्तीने वसुदेवजीसे कहा—बड़े भैया ! मैं अपनेको बड़ी अभागिन समझती हूँ। क्योंकि आपत्तिके समय आप सरीखे साधुस्वभाव सम्बन्धी भी मेरी याद नहीं करते ॥ १९ ॥ विधाता जिसके विपरीत होता है तो उसके सब सुहृद्, ज्ञातिबन्धु, पुत्र, भ्राता तथा माता-पिता भी अपने स्वजनोंका स्मरण नहीं करते ॥ २० ॥ वसुदेवजी कहने लगे—हे बहिन ! हम सब मनुष्य विधाताके खिलौने हैं। तुम हमें दोष मत दो। भगवानके वशीभूत होकर ही लोग विविध कर्ममें प्रवृत्त होते और प्रवृत्त कराये जाते हैं ॥ २१ ॥ हम सब लोग तो स्वयं कंससे सताये जाकर दसों दिशाओंमें भाग गये थे । अभी-अभी थोड़े ही दिन हुए विधाताने हमें फिर अपने स्थानपर पहुँचाया है ॥ २२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! वहाँ आये हुए उन सब राजाओंका वसुदेव तथा उग्रसेन आदि यादवोंने सत्कार किया और वे श्रीअच्युतका दर्शन करके परमानन्दमें निमग्न होगये ॥ २३ ॥ हे राजेन्द्र ! भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र, पुत्रों सहित गान्धारी, स्त्रियों सहित पाण्डव, कुन्ती, सृञ्जय, विदुर, कृप, कुन्तिभोज, विराट्, भीष्मक, महाराज नग्नजित्, द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशिराज, दमघोष, विशालाक्ष, मैथिल, मद्र, केकय, युधामन्यु, सुशर्मा तथा पुत्रों समेत बाह्लिक आदि जो युधिष्ठिरके अनुयायी राजे वहाँ आये थे, वे रानियों समेत भगवानके श्रीनिकेतन विग्रहको देखकर बहुत विस्मित हुए ॥ २४–२७ ॥ बलरामजी तथा भगवान श्रीकृष्णचन्द्रसे भलीभाँति सम्मानित होकर वे राजे कृष्णचन्द्रके साथी यादवोंकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे ॥ २८ ॥ वे बोले—"हे भोजपति उग्रसेनजी ! इस संसारके सब मनुष्योंमें आप लोगोंका

यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलं पुनाति पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।
भूः कालभर्जितभगापि यदङ्घ्रिपद्मस्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥३०॥
तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्पशय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।
येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् ज्ञात्वा कृष्णपुरोगमान् । तत्रागमद् वृतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया॥३२॥
तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः । परिषस्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥३३॥
वसुदेवः परिष्वज्य संप्रीतः प्रेमविह्वलः । स्मरन् कंसकृतान् क्लेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले ३४
कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च । न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ३५
तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च । यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ३६
रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् । स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः
का विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां व्रजेश्वरि । अवाप्याप्यैन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ३८
एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः सम्प्रीणनाभ्युदयपोषणपालनानि ।
प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्ष्णोर्न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परः स्वः ॥३९॥

ही जीवन सार्थक है । क्योंकि योगियोंको भी जिनका दर्शन दुर्लभ है, उन भगवान कृष्णको आप सदा अपने पास देखते हैं ॥ २९ ॥ वेदोंमें जिनकी कीर्ति वर्णित है, जिनका चरणोदक गङ्गाजल है और जिनका शास्त्ररूप वचन समस्त संसारको पूर्णरूपसे पवित्र करता है तथा कालक्रमसे भाग्यहीन भूमि भी जिनके चरणकमलका स्पर्श पाकर शक्तिसमन्विता हो हमारे लिये सब प्रकारके पदार्थ उत्पन्न करती है ॥ ३० ॥ उन श्रीकृष्णके दर्शन, स्पर्श, सहगमन, बातचीत करने, सोने, बैठने तथा भोजन करने आदि क्रियाओंसे युक्त जिनके विवाह तथा सभी दैहिक सम्बन्ध हुआ करते हैं, संसार-बन्धनके कारणस्वरूप गृहमें रहते हुए जिनके यहाँ स्वर्ग तथा अपवर्गकी इच्छाको भी दूर करनेवाले साक्षात् विष्णुभगवान विराजमान हैं, उन आप लोगोंका ही जीवन सार्थक है" ॥ ३१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—कृष्ण आदि यादवोंको वहाँ आये हुए जानकर श्रीनन्दजी उन्हें देखनेकी इच्छासे गोपोंके साथ अपनी सब सामग्री छकड़ोंपर लादे हुए यादवोंके पास आ पहुँचे ॥ ३२ ॥ उनको आये देखकर यादव ऐसे प्रसन्न हुए, जैसे प्राणोंके आजानेपर शरीर सचेत हो जायँ । बहुत दिनोंसे वे उनके दर्शनोंके लिये तरस रहे थे, अतएव उन्होंने उनका गाढ़ आलिङ्गन किया ॥ ३३ ॥ वसुदेवजीने अतिशय प्रीतिपूर्वक नन्दजीको गले लगाया और कंसके द्वारा दिये गये क्लेशों तथा पुत्रोंको गोकुलमें पहुँचानेकी बातोंका स्मरण करके वे प्रेमवश आनन्दविभोर होगये ॥ ३४ ॥ हे कुरुनन्दन ! राम तथा कृष्ण अपने माता-पिता यशोदा और नन्दजीको प्रणाम तथा आलिङ्गन करके प्रेमवश आँसू भर आनेके कारण कण्ठ रुँध जानेसे कुछ भी नहीं बोल पाये ॥ ३५ ॥ नन्दजी और महाभागा यशोदाने उन दोनों पुत्रोंको अपनी गोदमें बैठाकर भुजाओंसे उनका गाढ़ आलिङ्गन किया और अपनी विरहव्यथा शान्त की ॥ ३६ ॥ महारानी रोहिणी और देवकीजी व्रजरानी यशोदासे गले लगकर मिलीं और उनकी पूर्वकृत मित्रताका स्मरणकर गद्गद्कण्ठसे बोलीं—॥ ३७ ॥ "हे व्रजेश्वरि ! इन्द्रपद पाकर भी जिसका किसी तरह बदला नहीं दिया जा सकता, उन आपकी कभी भी न छूटनेवाली मैत्रीको भला कौन स्त्री भूल सकती है ? ॥ ३८ ॥ हे देवि ! इन राम और कृष्णने जब अपने माता-पिताको देखा भी नहीं था, तब पलक जैसे नेत्रोंकी रक्षा करते हैं । वैसे ही आपने इनकी रक्षा की थी । आपही दोनों अपने माता-पिता द्वारा लालन-पालन, अभ्युदय तथा पोषण प्राप्त करके ये सदा निर्भय रहे । क्योंकि सज्जनोंकी दृष्टिमें कोई अपना या पराया नहीं होता" ॥३९॥

श्रीशुक उवाच

गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वास्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥४०॥

भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः । आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत्४१
अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया । गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥४२॥
अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कया । नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ४३
वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च । संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ४४
मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते । दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ४५
अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः । भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः । उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥४७॥

श्रीशुक उवाच

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः । तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥४८॥

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे वृष्णिगोपसङ्गमो
नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवानकी मधुर मूर्तिका दर्शन करते समय जो अपने नेत्रोंके पलक बनानेवाले ब्रह्माको कोसती थीं वे गोपियाँ, बहुत दिनोंसे जिनके दर्शनोंकी लालसा थी, उन प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्रको देख और उन्हें अपने नेत्रोंद्वारा हृदयमें ले जाकर आलिङ्गन करने लगीं और जो नित्यके अभ्यासी योगियोंको भी दुर्लभ है, उस भगवद्भावको प्राप्त होगयीं ॥ ४० ॥ भगवानने भी उनकी यह दशा देखी तो उनसे एकान्तमें मिलकर गाढ़ आलिङ्गन किया और उनका कुशल पूछकर हँसते हुए कहा—॥ ४१ ॥ "हे सखियों ! हम स्वजनोंका प्रिय करनेके लिये मथुरा चले आये थे और फिर शत्रुपक्षके संहारमें लग जानेके कारण बहुत दिन बीत जानेपर भी तुमसे नहीं मिल सके। क्या कभी तुमको हमारा स्मरण आता था ? ॥ ४२ ॥ तुम हमें अकृतज्ञ समझकर अवश्य हमारी निन्दा करती रही होगी, किन्तु इसमें हमारा कोई दोष नहीं है। क्योंकि ईश्वर ही सब जीवोंका संयोग-वियोग कराते रहते हैं ॥ ४३ ॥ जैसे वायु मेघमाला, तृणसमूह, रुई तथा धूलिको एकत्रितकर फिर छिन्न-छिन्न कर देता है, वैसेही विश्वरचयिता भगवान प्राणियोंके बारम्बार संयोग-वियोग कराते ही रहते हैं ॥ ४४ ॥ मेरी भक्ति ही प्राणियोंको मोक्ष देती है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुम्हें मेरा वियोग होनेपर भी मेरी प्राप्ति करानेवाला मेरा स्नेह अबतक बना रहा ॥ ४५ ॥ हे कल्याणियों ! जैसे सब भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाँच भूत ही व्याप्त रहते हैं। वैसे ही इनके भोक्ता सब प्राणियोंके आदि-अन्तमें तथा बाहर और भीतर मैं ही विराजमान रहता हूँ ॥ ४६ ॥ इसी तरह प्राणियोंके शरीरमें ये पाँचों भूत व्याप्त रहते हैं। ये दोनों ही मुझ अक्षरस्वरूप परमात्मामें प्रतीत हो रहे हैं, ऐसा जानो" ॥ ४७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह भगवान कृष्ण द्वारा अध्यात्मज्ञानके उपदेशसे भलीभाँति समझायी गयीं वे गोपियाँ उनके स्मरणसे लिङ्गशरीरका नाश हो जानेपर उन्हींके स्वरूपको प्राप्त हो गयीं ॥४८॥ तब वे बोलीं—हे "कमलनाभ ! अगाध ज्ञान-सम्पन्न योगियोंद्वारा हृदयमें जिसका चिन्तन किया जाता है तथा जो संसार कूपमें गिरे प्राणियोंको उससे निकालनेके लिये एकमात्र सहायक है, आपका वह चरणकमल हम गृहनिवासियोंके हृदयमें भी निरन्तर प्रकाशित रहा करे" ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः । युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥१॥
त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः । प्रत्यूचुर्हृष्टमनसस्तत्पादेक्षाहतांहसः ॥२॥

कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिःसृतं क्वचित् ।
पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥३॥

हित्वाऽऽत्मधामविधुतात्मकृतत्र्यवस्थमानन्दसम्प्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।
कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोगमायाकृतिं परमहंसगतिं नताः स्म ॥४॥

ऋषिरुवाच

इत्युत्तमश्लोकशिखामणिं जनेष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।
समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणंस्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥५॥

द्रौपद्युवाच

हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले । हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ६
हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवान् स्वयम् । उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥७॥

रुक्मिण्युवाच

चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।
निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथात् तच्छ्रीनिकेतचरणोऽस्तु ममार्चनाय ॥८॥

(श्रीकृष्णकी भार्याओंका द्रौपदीजीको अपने-अपने विवाहका वृत्तान्त सुनाना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! गोपियोंके गुरु और एकमात्र गति भगवान कृष्णने उनपर ऐसा अनुग्रह किया । फिर धर्मराज युधिष्ठिर आदि अपने सब बन्धुजनोंसे उनका कुशल पूछा ॥ १ ॥ जगत्पति भगवान कृष्णके द्वारा इस तरह कुशलप्रश्नसे सत्कार पा जानेपर वे पाण्डवादि उनके चरणकमलके दर्शनसे निष्पाप होकर अतिशय प्रसन्नमनसे कहने लगे—॥ २ ॥ हे प्रभो ! देहधारियोंको देहकी प्राप्ति तथा अज्ञानका नाश करनेवाली एवं महापुरुषोंके मनोंसे मुख द्वारा बाहर निकली हुई तुम्हारे चरणकमलोंकी कथारूपिणी सुधाका जो अपने कर्णपुटोंसे निरन्तर पान करते हैं, भला उनका कभी भी किसी प्रकारका अमङ्गल हो सकता है ? ॥ ३ ॥ अतएव निजस्वरूपके प्रकाशसे जहाँ बुद्धिकी जाग्रत्, सुषुप्ति तथा तुरीय ये तीनों अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं । ऐसे निर्भय, आनन्दपूर्ण, अखण्ड और कभी भी कुण्ठित न होनेवाले ज्ञानस्वरूप भगवान, जिन्होंने कालक्रमसे नष्ट होते हुए वेदोंकी रक्षा करनेके निमित्त योगमायासे मनुष्यावतार धारण किया है और जो परमहंसोंकी एकमात्र गति हैं, उनको हम प्रणाम करते हैं" ॥ ४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जब दूसरे लोग इस तरह पुण्यकीर्ति-शिरोमणि कृष्णभगवानकी स्तुति कर रहे थे, तभी यादव और कौरवकुलकी स्त्रियाँ एकत्रित होकर परस्पर भगवानकी त्रिभुवनविख्यात कथाएँ कहने लगीं । सो मैं तुम्हें सुनाता हूँ, उसे सुनो ॥ ५ ॥ द्रौपदीजी बोलीं—हे रुक्मिणि ! हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे सत्ये ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि ! हे मित्रविन्दे ! हे रोहिणि ! हे लक्ष्मणे तथा हे कृष्णपत्नियों ! तुम सब मुझे यह तो बताओ कि अपनी मायासे लोकोंका अनुकरण करनेवाले अच्युत भगवान कृष्णने तुमसे कैसे विवाह किये थे ? ॥६–७॥ रुक्मिणीजीने कहा—मुझे शिशुपालको दिलानेके लिये जब जरासन्ध आदि राजे धनुष तानकर युद्ध करनेको उद्यत होगये, तब उन अजेय वीरोंके मस्तकोंपर जिनकी चरणरज मुकुटमणिके समान सुशोभित हुई, जो बकरी और भेड़ोंके झुण्ड-सदृश उस राजसमूह-

सत्यभामोवाच

यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन लिप्ताभिशापमपमार्ष्टुमुपाजहार ।
जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात् स तेन भीतः पितादिशत मां प्रभवेऽपि दत्ताम् ॥९॥

जाम्बवत्युवाच

प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदेवं सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।
ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

कालिन्द्युवाच

तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया । सख्योपेत्याग्रहीत् पाणिं योऽहं तद्गृहमार्जनी ॥

मित्रविन्दोवाच

यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपान् निन्ये श्वयूथगमिवात्मबलिं द्विपारिः ।
भ्रातॄंश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौकस्तस्या तु मेऽनुभवमङ्घ्र्यवनेजनत्वम् ॥१२॥

सत्योवाच

सप्तोक्षणोऽतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान् पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।
तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥१३॥
य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् । पथि निर्जित्य राजन्यान् निन्ये तद्दास्यमस्तु मे

मेंसे अपने भाग मुझको सिंहके सदृश छीन लाये, उन लक्ष्मीनिवास भगवान श्रीकृष्णके चरणोंका मैं सदा पूजन करती रहूँ ॥ ८ ॥ सत्यभामा बोलीं—जब अपने भाई प्रसेनके वधसे सन्तप्त मेरे पिताके कलङ्क लगानेपर उस दोषको दूर करनेके लिये भगवान कृष्ण ऋक्षराज जाम्बवानको जीतकर उनसे स्यमन्तक मणि ले आये और उसे मेरे पिताको दे दिया, तब मिथ्या कलङ्क लगानेके अपराधसे डरे हुए मेरे पिता यद्यपि पहले मुझे दूसरेको देनेका विचार कर चुके थे, फिर भी इन प्रभु कृष्णको ही समर्पण कर दिया ॥ ९ ॥ जाम्बवतीने कहा—मेरे पिता जाम्बवानने जब यह जान लिया कि ये मेरे प्रभु और कुलदेव भगवान सीतापतिके अवतार हैं, तब इनके साथ सत्ताईस दिनतक युद्ध किया और परीक्षा द्वारा इन्हें 'भगवान राम जानकर' इनके चरणोंको प्रणाम करके मणिके सहित मुझे उपहारके रूपमें इनको अर्पण कर दिया। इस प्रकार मैं इनकी दासी बनी ॥ १० ॥ कालिन्दी बोली—अपने चरणस्पर्शकी कामनासे मुझे तपस्या करती देख श्रीहरिने अपने सखा अर्जुनके सहित मेरे पास आकर मेरा पाणिग्रह किया। अब मैं उन्हींके घरमें झाडू लगानेवाली उनकी एक दासी हूँ ॥ ११ ॥ मित्रविन्दाने कहा—सिंह जैसे कुत्तोंसे अपना भाग छीन ले जाता है, वैसेही मेरे स्वयम्बरमें आ अन्य राजाओं तथा अपकारी मेरे भाइयोंको जीतकर जो मुझे अपनी द्वारिकापुरीमें ले गये, उन श्रीकृष्ण भगवानके पादप्रक्षालनका सौभाग्य मुझे प्रत्येक जन्ममें प्राप्त होता रहे ॥ १२ ॥ सत्या कहने लगी—मेरे पिताने राजाओंके पुरुषार्थकी परीक्षाके निमित्त बड़े बलवान्, पराक्रमी तथा तीक्ष्ण सींगोंवाले सात बैल नियुक्त कर रखे थे। वीरोंका मद चूर्ण करनेवाले उन बैलोंको भगवान कृष्णने बड़े वेगसे पकड़कर इस तरह बाँध दिया, जैसे बालक बकरीके बच्चोंको बाँध देता है ॥ १३ ॥ इस तरह पुरुषार्थरूप मूल्य दे और मार्गमें विघ्न करनेवाले राजाओंको जीतकर जो मुझे चतुरङ्गिणी सेना तथा दासियोंके साथ अपने नगरमें ले आये, उन भगवान कृष्णका दास्यभाव मुझे सदा प्राप्त होता रहे ॥ १४ ॥ भद्रा बोली—हे द्रौपदि ! मुझे इनमें अनुरक्त जानकर मेरे पिताने मामाके पुत्र इन श्रीकृष्णचन्द्रको बुलाकर अक्षौहिणी सेना तथा बहुत-सी दासियोंके साथ मुझको इन्हें स्वयंही अर्पण

मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद । स्वजनानुत बन्धून् वा न पश्यति ययान्धदृक् ६४

श्रीशुक उवाच

एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः । रुरोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥६५॥
नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्दरामयोः । अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥
ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः । परार्ध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥६७॥
वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः । दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥६८॥
नन्दो गोपाश्च गोप्यश्च गोविन्दचरणाम्बुजे । मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमनीशा मथुरां ययुः ॥६९॥
बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः । वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥
जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुर्यदुदेवमहोत्सवम् । यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्सन्दर्शनादिकम् ॥७१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे तीर्थयात्रानुवर्णनं नाम चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

श्रीबादरायणिरुवाच

अथैकदाऽऽत्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ । वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ॥१॥
मुनीनां स वचः श्रुत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम् । तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ॥२॥

नहीं कर सके । अब हमारे नेत्र श्रीमदसे ऐसे अन्धे हो गये हैं कि हम अपने सामने विद्यमान होनेपर भी तुम्हें नहीं देख पाते ॥ ६३ ॥ हे मान देनेवाले मित्र ! कल्याणकामी पुरुषको तो भगवान कभी राज्यलक्ष्मी न दें । उसके द्वारा अन्धा बना हुआ पुरुष अपने अनुगामी तथा बन्धुओंको भी नहीं देख पाता ॥ ६४ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—इस तरह प्रेमकी प्रबलतासे गद्‌गदचित्त होकर वसुदेवजी नन्दजीके सौहार्दका स्मरण करते हुए नेत्रोंमें जल भरकर रोने लगे ॥६५॥ नन्दजी भी अपने सखाका प्रिय करनेके लिये और कृष्ण तथा बलरामके प्रेमवश यादवोंसे सम्मानित हो आजकल करते-करते वहाँ तीन महीने रह गये ॥ ६६ ॥ तब श्रीनन्दजी गौओं तथा गोपबन्धुओंके सहित बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण और विविध प्रकारकी उत्तम भोगसामग्रियोंसे पूर्ण हो वसुदेव, उग्रसेन, कृष्ण तथा उद्धव आदिके द्वारा दिये हुए उपहारोंको ग्रहणकर यादवों द्वारा विदा किये जानेपर अपने घरको लौटे ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ उस समय नन्दजी, गोपगण और गोपियाँ भगवान कृष्णके चरणकमलोंमें लगे हुए अपने मनको वहाँसे हटानेमें असमर्थ होकर ही मथुरा लौटे ॥ ६९ ॥ इस तरह सब बन्धुओंके विदा हो जानेपर जिनके भगवान कृष्ण ही एकमात्र इष्टदेव थे, वे यादव भी वर्षाकालको समीप आया देख द्वारकापुरीको चले गये ॥ ७० ॥ द्वारका पहुँचकर उन्होंने लोगोंको वसुदेवजीके यज्ञोत्सव तथा तीर्थयात्रामें सुहृज्जनोंके दर्शन आदिका सब वृत्तान्त बताया ॥ ७१ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे भाषाटीकायां चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

(श्रीवसुदेवकी सर्वत्र भगवद्‌दृष्टि होना और भगवानका परलोकसे अपनी माताको उनके मृत पुत्र लाकर देना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक दिनकी बात है, वसुदेवजी अपने पुत्र बलराम तथा कृष्णचन्द्रके प्रणाम करनेपर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया और कुछ कहने-का विचार किये ॥ १ ॥ अगणित मुनियोंके मुखसे अपने पुत्रोंका प्रभाव सूचित करनेवाले वाक्य सुनने तथा उनके पराक्रमोंको देखनेसे उन्हें कृष्णकी ईश्वरतामें विश्वास हो गया था, इसलिये वे

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् सङ्कर्षण सनातन । जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधानपुरुषौ परौ ॥३॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा । स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥४॥
एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज । आत्मनानुप्रविश्यात्मन् प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥५
प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः । पारतन्त्र्याद् वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥६॥
कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम् । यत् स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥७॥
तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः । ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥८॥
दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः । नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥९॥
इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः । अवबोधो भवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥१०॥
भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः । वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥११॥
नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरम् । यथा द्रव्यविकारेषु द्रव्यमात्रं निरूपितम् ॥१२॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः । त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥१३॥
तस्मान्न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः । त्वं चामीषु विकारेषु ह्यन्यदाव्यावहारिकः ॥१४॥
गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः । गतिं सूक्ष्मामबोधेन संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥

उनको सम्बोधित करके बोले—॥ २ ॥ "हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे सङ्कर्षण ! हे सनातन ! आप दोनोंको मैं जगत्के कारणस्वरूप और प्रधान पुरुषका भी कारण मानता हूँ ॥ ३ ॥ संसारमें जहाँ, जिसके द्वारा, जिससे, जिसका, जिसके लिए, जो-जो, जिस प्रकार और जिस-जिस समय, जो होता है, उसके प्रधान पुरुष और साक्षात् प्रभु एकमात्र आप ही हैं ॥ ४ ॥ हे अधोक्षज ! हे आत्मन् ! अपने आप रचे हुए इस विविध प्रकारके जगत्में आप अपने चेतनस्वरूपसे प्रविष्ट होकर इसे जन्मादि विकाररहित जीव तथा प्राणरूपसे धारण करते हैं ॥ ५ ॥ इस जगत्को उत्पन्न करनेवाले प्राणादिमें जो शक्तियाँ रहती हैं, वे उनके परम कारणरूप परमात्माकी ही शक्तियाँ हैं। क्योंकि वे अचेतन होनेके कारण और चेतन परमात्माके सदृश न होनेसे परतन्त्र हैं। अचेतन प्राणी परमात्माकी ही चेष्टा करते हैं। अतएव उनकी चेष्टा केवल चेष्टामात्र ही है। उनमें शक्ति परमेश्वरकी ही रहती है ॥ ६ ॥ चन्द्रमाकी कान्ति, अग्निका तेज, सूर्यकी प्रभा, विद्युत्की सत्ता अर्थात् स्फुरणमात्र अस्तित्व, पर्वतोंकी स्थिरता तथा पृथिवीकी धारणाशक्तिरूपिणी वृत्ति और गंधगुण—ये सब वस्तुतः आप ही हैं ॥ ७ ॥ हे ईश्वर ! जलमें तृप्त करने तथा जीवित रखनेकी शक्ति, उसका देवत्व और रसगुण तथा वायुमें क्रियाशक्ति, गति और उससे होनेवाला इन्द्रियबल, मनोबल तथा शारीरिक बल भी आपका ही है ॥ ८ ॥ दिशाओंका अवकाश और दिशाएँ भी आप ही हैं। आकाश और उसका आश्रय शब्द तथा नाद (परा) सवर्ण (पश्यन्ती) ओङ्कार (मध्यमा) और वर्णोंका विभाग करने वाली (वैखरी) वाणी भी आप ही हैं ॥ ९ ॥ इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंकी विषय-प्रकाशिनी शक्ति तथा उनके अधिष्ठाता देव आप ही हैं। आप ही बुद्धिकी निश्चयात्मिका शक्ति और जीवकी शुद्ध स्मृति हैं ॥ १० ॥ भूतोंके उनका कारणरूप तामस अहङ्कार, इन्द्रियोंमें उनका कारण राजस अहङ्कार, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंमें उनका कारणस्वरूप सात्त्विक अहङ्कार और जीवोंके आवागमनकी कारणरूपिणी माया भी एकमात्र आप ही हैं ॥ ११ ॥ जैसे मृत्तिका आदि द्रव्योंके विकाररूप घट आदिमें मृत्तिका सर्वदा वर्तमान रहती है, वैसे ही उपर्युक्त नश्वर पदार्थोंमें उनके कारणरूप अविनाशी तथा नित्य तत्त्व आप ही हैं ॥ १२ ॥ सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण और उनकी वृत्तियाँ तथा महत्-त्त्वादितत्त्व आप परब्रह्ममें योगमाया द्वारा कल्पित हैं ॥ १३ ॥ अतएव ये सभी भावविकार आपमें वास्तविक नहीं हैं। जब आपमें इनकी कल्पना होती है, तब आप ही इन विकारोंमें कारणरूपसे अनुगत प्रतीत होते हैं। कालान्तरमें निर्विकल्परूपसे एकमात्र आप ही रह जाते हैं ॥ १४ ॥ इस

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् । स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१६॥
असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु । स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वमिदं जगत् ॥१७॥
युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ । भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथाऽऽत्थ ह ॥१८॥
तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्दमापन्नसंसृतिभयापहमार्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः ॥१९॥
सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद् विदधज्जहासि को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥२०॥

श्रीशुक उवाच

आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान् सात्वतर्षभः । प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसञ्श्लक्ष्णया गिरा ।२१।

श्रीभगवानुवाच

वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे । यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥२२॥
अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः । सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ॥२३॥
आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः । आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥२४॥
खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् । आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि २५

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम् । श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् २६

गुणप्रवाहरूपी जगत्में आप सर्वात्माकी सूक्ष्म गतिको न जाननेके कारण अज्ञानी लोग अपने कर्मानुसार जन्म-मरणरूपी संसारमें आ पड़ते हैं ॥१५॥ हे ईश्वर! मुझे भाग्यवश इन्द्रियादिकी सामर्थ्यसे युक्त दुर्लभ मानव शरीर भी मिला, किन्तु आपको मायाके वशीभूत होकर अपने सच्चे स्वार्थसे असावधान रहनेके कारण मेरी आयु यों ही व्यतीत हो गयी ॥१६॥ अपनी देहमें 'मैं हूँ' और देहके सम्बन्धियोंमें 'ये मेरे हैं' इस तरहके अभिमानरूपी स्नेहपाशसे आपने सारे जगत्को बाँध रक्खा है ॥१७॥ आप दोनों मेरे पुत्र नहीं हैं। बल्कि आप सब जगत्के साक्षात् कारण, प्रधान और पुरुषके भी अधीश्वर हैं। 'मैंने पृथिवीके भारस्वरूप राजाओंको मारनेके लिये ही अवतार लिया है' ऐसा आप पहले कह भी चुके हैं॥ १८॥ अतएव हे दीनबन्धो! अब मैं शरणागतोंको संसारके भयसे मुक्त करनेवाले आपके चरणोंकी शरणमें हूँ। इस इन्द्रियलोलुपतासे मैं बाज आया। इसीके कारण मुझे इस मरणशील शरीरमें आत्मबुद्धि तथा आप परमात्मामें पुत्रबुद्धि उत्पन्न हुई थी॥ १९॥ अजन्मा होकर आपने अपने रचे धर्मकी रक्षा करनेके लिये युग-युगमें हमारे यहाँ अवतार लिया है। ऐसा आपने उस समय सूतिकागृहमें कहा था। आप आकाशके समान अनेक शरीर धरते और त्याग देते हैं। हे उरुगाय! आपकी विभूतिस्वरूपिणी मायाको भला कौन समझ सकता है?"॥ २०॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! अपने पिताके ये वचन सुनकर यदुश्रेष्ठ भगवान कृष्णने अतिशय नम्रतापूर्वक हँसते हुए मधुरवाणीमें कहा॥ २१॥ श्रीभगवान बोले—हे पिताजी! आपने हम पुत्रोंको जो यह तत्त्वोपदेश दिया है, सो हमें आपका कथन बहुत युक्तिसङ्गत मालूम होता है॥ २२॥ हे यदुश्रेष्ठ! मैं तुम बलरामजी तथा सब द्वारकावासी यहाँ तक कि सब चराचर प्राणी भगवत्स्वरूप ही हैं—ऐसा समझें॥ २३॥ जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पञ्चमहाभूत अपने कार्य घटादिमें बड़े-छोटे, अधिक, एक और अनेककी भाँति प्रतीत होते हैं। वैसेही स्वयंप्रकाश, नित्य और निर्गुण आत्मा भी अपने रचे महत्तत्त्वादि गुणों द्वारा उनके कार्यरूप मनुष्यादि शरीरमें एक होकर भी अनेक तथा अन्यवत् भासमान होता है॥ २४-२५॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! भग-

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता । श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥२७
कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान् । स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना ॥२८॥

देवक्युवाच

राम रामाप्रमेयात्मन् कृष्ण योगेश्वरेश्वर । वेदाहं वां विश्वसृजामीश्वरावादिपूरुषौ ॥२९॥
कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम् । भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णौ क्षयाय मे ॥३०॥
यस्यांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः । भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥३१॥
चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा कालचोदितौ । आनिन्यथुः पितृस्थानाद् गुरुदक्षिणाम् ॥३२॥
तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ । भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुमाहृतान् ॥३३॥

ऋषिरुवाच

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत । सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥३४॥
तस्मिन् प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड् विश्वात्मदैवं सुतरां तथाऽऽत्मनः ।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ॥३५॥
तयोः समानीय वरासनं मुदा निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं सवृन्द आब्रह्म पुनाद् यदम्बु ह ॥३६॥
समर्हयामास स तौ विभूतिभिर्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।
ताम्बूलदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥३७॥

वानके ऐसा कहनेपर उनकी बतायी आत्माकी एकताका निरूपण सुननेसे उनकी भेदबुद्धि नष्ट होगयी और वसुदेवजी अति प्रसन्न होकर मौन होगये ॥२६॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! एकदिन सर्वदेवमयी देवकीजीको यह सुनकर बड़ा विस्मय हुआ कि मेरे पुत्र अपने गुरु सान्दीपनिके मरे हुए पुत्रोंको परलोकसे ले आये थे ॥ २७ ॥ अतएव वे कंसके हाथों मारे हुए अपने पुत्रोंका स्मरणकर अति शोकाकुल हुईं और अत्यन्त विह्वल हो नेत्रोंमें आँसू भर राम तथा कृष्णको सम्बोधन करके कहने लगीं ॥ २८ ॥ देवकीजीने कहा—हे राम ! हे राम ! हे अप्रमेयात्मन् ! हे योगेश्वरेश्वर कृष्ण ! मैं जानती हूँ कि आप प्रजापतियोंके पति और आदिपुरुष साक्षात् नारायण हैं ॥ २९ ॥ कालक्रमसे जिन राजाओंका पुरुषार्थ क्षीण हो गया है, जो शास्त्रमार्गका उल्लङ्घन करके चलते हैं तथा जो भूमिके लिये भाररूप हैं, उन राजाओंका नाश करनेके लिये ही आप दोनों मेरे गर्भसे अवतीर्ण हुए हैं ॥३०। हे विश्वात्मन् ! हे आद्य ! आपके मायारूप अंशांशसे उत्पन्न गुणोंके लेशमात्रसे जगत्की उत्पत्ति और लय आदि होते हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ ॥ ३१ ॥ मैंने सुना है कि आपके गुरु सान्दीपनिजीने जब आपसे अपने बहुत दिन पहले मरे हुए पुत्रको लानेके लिये कहा तो आप दोनोंने गुरुदक्षिणास्वरूप उस बालकको यमराजके यहाँसे लाकर दिया था ॥ ३२ ॥ हे योगेश्वरेश्वरो ! गुरुजीकी तरह ही आप मेरी इच्छा भी पूर्ण करें। मैं कंस द्वारा मारे हुए अपने पुत्रोंको देखना चाहती हूँ, आप उन्हें ले आइये ॥ ३३ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे भारत ! इस प्रकार माताके कहनेपर भगवान राम तथा कृष्ण योगमायाका आश्रय लेकर सुतललोकमें गये ॥ ३४ ॥ जगत्के आत्मा, परमदेव तथा अपने इष्टदेव उन बलराम और कृष्णको सुतललोकमें प्राप्त देखकर दैत्यराज बलिने उनके दर्शनसे आनन्दमें निमग्न होकर तत्काल अपने कुटुम्बके सहित उठकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ३५ ॥ फिर अति प्रसन्न चित्तसे उन्हें श्रेष्ठ आसन दिया और जब महात्मा बलराम तथा कृष्ण उसपर सुखसे बैठ गये तो उनके चरण धोकर ब्रह्माजी तकको पवित्र करनेवाला वह चरणोदक अपने कुटुम्बसहित माथे चढ़ाया ॥ ३६ ॥ महामूल्य वस्त्र, आभूषण, चन्दन, ताम्बूल, दीपक एवं अमृतसदृश भोजन आदि सामग्रियों तथा अपने पुत्र-

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम् ॥३८॥

बलिरुवाच

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे। सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥३९॥
दर्शनं वां हि भूतानां दुष्प्रापं चाप्यदुर्लभम्। रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया ॥४०॥
दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः। यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥
विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि। नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४२॥
केचनोद्बद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः। न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ॥४३॥
इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर। न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥४४॥
तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात्।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः शान्तो यथैक उत सर्वसखैश्चरामि ॥४५॥
शाध्यस्मानीशितव्येश निष्पापान् कुरु नः प्रभो। पुमान् यच्छ्रद्धयाऽऽतिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ४६

श्रीभगवानुवाच

आसन् मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे। देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥४७॥
तेनासुरीमगन् योनिमधुनावद्यकर्मणा। हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥४८॥

पौत्र, धन और शरीरादिको अर्पण करके उनका पूजन किया ॥ ३७ ॥ हे राजन्! राजा बलिने भगवानके चरणकमलोंको प्रेमाकुल चित्तसे पकड़ लिया। उस समय उनके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर आये और वे शरीरसे पुलकित होकर गद्गदवाणीमें बोले ॥ ३८ ॥ बलिने कहा—समस्त विश्वको अपने फणपर धारण करनेवाले बृहत्काय भगवान अनन्तको तथा निखिल जगत्के रचयिता प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रको नमस्कार है। कपिलरूपसे सांख्य और पतञ्जलिरूपसे योगशास्त्रका विस्तार करनेवाले आप ब्रह्मरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ३९ ॥ सब जीवोंको आपका दर्शन दुर्लभ है तो भी यदि आपकी कृपा हो जाय तो वह भी सुलभ हो जाता है। क्योंकि आज कृपा करके ही आपने अपनी इच्छासे हम जैसे रजोगुण तथा तमोगुणविशिष्ट जीवोंको दर्शन दिया है ॥ ४० ॥ हम तथा हमारे ही सदृश अन्य दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत और प्रमथ नायक आदि विशुद्ध सत्त्वस्वरूप आप देवमूर्तिसे नित्य वैर रखते हैं। उनमेंसे कुछ लोग वैरसे, कितने ही भक्तिसे और बहुतेरे कामनासे उस पदको प्राप्त हुए हैं, जिसे आपके समीपस्थ सत्त्वप्रधान देवता भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ ४१–४३ ॥ हे योगेश्वरेश्वर! 'आपकी योगमाया यही अथवा ऐसी ही है' इस विषयमें बड़े-बड़े योगेश्वर भी प्रायः कुछ नहीं जान पाते, फिर हमारी गिनती ही क्या है? ॥ ४४ ॥ हे नाथ! आप ऐसी कृपा करें कि जिससे निरपेक्ष पुरुषोंके खोजनेयोग्य आपके चरणकमल-रूप आश्रयसे अन्य गृहरूप अन्धकूपसे निकल तथा जगत्के एकमात्र आश्रय आपके चरणोंमें अनुरक्त होकर मैं शान्तभावसे अकेला अथवा सबके सखा साधुजनोंके साथ स्वेच्छानुसार विचरूँ ॥४५॥ हे जीवोंके ईश! हे प्रभो! आपके कहे हुए जिन आचरणोंका श्रद्धापूर्वक अवलम्बन कर लेनेसे पुरुष विधि-निषेधरूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है, अपना वह उपदेश कृपया हमसे भी कहिए और हमें निष्पाप कर दीजिए ॥ ४६ ॥ श्रीभगवानने कहा—प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि प्रजापति की ऊर्णा नामकी स्त्रीसे छ पुत्र उत्पन्न हुए। वे देवतासदृश ऋषिपुत्र प्रजापतिको अपनी कन्याके साथ सङ्गम करनेको उद्यत देखकर हँसने लगे ॥ ४७ ॥ उस दुष्कर्मके कारण ब्रह्माजीने उन्हें शाप दे दिया, जिससे वे बालक दैत्ययोनिको प्राप्त हुए। पहले वे हिरण्यकशिपुके यहाँ उत्पन्न हुए, फिर योग-

देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः । सा ताञ्छोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके
इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये । ततः शापाद् विनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः॥
स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद् घृणी । षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥५१॥
इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ । पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥५२॥
तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी । परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः॥५३॥
अपाययत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुता । मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते॥५४॥
पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः । नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥५५॥
ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् । मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम दिवौकसाम् ॥५६॥
तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् । मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप॥५७॥
एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः । वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत॥५८॥

सूत उवाच

य इदमनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारेश्चरितममृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः ।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥५९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे मृताग्रजानयनं नाम पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

———

मायाकी प्रेरणासे उन्होंने देवकीके उदरसें जन्म लिया और हे राजन् ! वहाँ वे कंसके हाथों मारे गये । माता देवकी अपने उन बालकोंके लिये अति शोकाकुल हैं और वे इस समय तुम्हारे यहाँ हैं ॥ ४८–४९ ॥ हम अपनी माताका शोक दूर करनेको इन्हें यहाँसे ले जायँगे और ये शापमुक्त होकर सुखपूर्वक फिर अपने लोकको चले जायँगे ॥ ५० ॥ मेरी कृपासे स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृद् और घृणी ये छहों बालक पुनः सद्गति प्राप्त करेंगे ॥५१॥ इस प्रकार कह और उन बालकोंको ले राम-कृष्ण राजा बलिसे पूजित हो अपनी द्वारकापुरीको लौट आये और अपनी माताको वे पुत्र दे दिये ॥ ५२ ॥ उन्हें देखकर पुत्रस्नेहवश देवकीके स्तनोंमें दूध उमड़ आया और उन्हें छातीसे लगा तथा गोदमें लेकर वे बारम्बार उनका माथा सूँघने लगीं ॥ ५३ ॥ फिर जिसके द्वारा सारी सृष्टि चलती है, उस वैष्णवी मायासे मोहित हो पुत्रोंके स्पर्शसे आनन्दित देवकीजीने उन्हें बड़े प्रेमसे स्तन पिलाया ॥ ५४ ॥ भगवान कृष्णके पीनेसे बचे उस अमृततुल्य दूध तथा भगवानके अङ्ग-सङ्गसे अपने देवता होनेका ज्ञान पाकर वे श्रीगोविन्द, देवकीजी, वसुदेवजी और बलभद्रजीको नमस्कार करके सब प्राणियोंके देखते-देखते देवलोकको चले गये ॥ ५५–५६ ॥ हे राजन् ! अपने मरे पुत्रोंका आगमन देखकर देवी देवकीजीको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने इसे भगवान कृष्णकी रची हुई माया ही समझी ॥ ५७ ॥ हे भारत ! अनन्त बली परमात्मा कृष्णके ऐसे ही अति अद्भुत और अगणित चरित्र हैं ॥ ५८ ॥ श्रीसूतजी बोले—जो प्राणी व्यासतनय भगवान शुकदेवजीके वर्णित तथा संसारके पापोंको नष्ट करने और भगवद्भक्तोंके कर्णपुटको आनन्दित करनेवाले अमरकीर्ति भगवान कृष्णके इस अद्भुत चरित्रको बारम्बार सुनता अथवा कहता है, वह अन्त समय भगवानमें चित्त लगाकर उनके कल्याणमय परम धामको जा प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

राजोवाच

ब्रह्मन् वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः । यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही ॥१॥

श्रीशुक उवाच

अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवनीं प्रभुः । गतः प्रभासमशृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥२॥
दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे । तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात्॥३॥
तत्र वै वार्षिकान् मासानवात्सीत् स्वार्थसाधकः । पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः॥४॥
एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् । श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥५॥
सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् । प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे॥६॥
सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम् । हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ॥७॥
तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः । न लेभे शं भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥८॥
महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् । जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥९॥
रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान् । विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव॥१०॥
तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः । गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत॥११॥

(अर्जुन द्वारा सुभद्राका हरण तथा भगवानकृष्णका मिथिलापुरीमें जाकर राजा जनक और श्रुतदेवसे मिलना) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्‌ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! श्रीबलराम और कृष्णकी बहिन और मेरी पितामही सुभद्रासे अर्जुनने किस प्रकार विवाह किया था ? इस प्रसङ्गको मैं जानने-का इच्छुक हूँ । श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! एक बार अपने शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ महावीर अर्जुन तीर्थयात्राके निमित्त विचरते हुए प्रभासक्षेत्रमें जा पहुँचे । वहाँ पहुँचनेपर उन्होंने सुना कि 'मेरे मामाकी पुत्री सुभद्राको बलरामजी दुर्योधनके साथ ब्याहना चाहते हैं, परन्तु और सब लोग सहमत नहीं हैं ।' तब सुभद्राको पानेकी इच्छासे त्रिदण्डी संन्यासीका रूप धारण करके अर्जुन द्वारकापुरी पहुँचे ॥ १-३ ॥ अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये वे वर्षाऋतुके पूरे चार महीने वहीं रहे । पुरवासियों तथा उनके ठहरनेका मर्म न जाननेवाले बलरामजीने उनका अतिशय सम्मान किया ॥ ४ ॥ एक दिनकी बात है, बलरामजीने उन्हें अतिथिरूपसे निमन्त्रित करके अपने घर ला बड़ी श्रद्धासे भिक्षान्न परोसा और दण्डीरूपधारी अर्जुनने उसका भोग लगाया ॥ ५ ॥ वहाँ-पर अर्जुनने वीर पुरुषोंका मन हरनेवाली एक तरुणी कन्या देखी । उसे देखकर उनके नेत्र प्रसन्नता-से खिल उठे और उन्होंने प्रेमभावसे क्षुब्ध अपना चित्त उसीमें लगा दिया ॥ ६ ॥ कन्याने भी कामि-नियोंके चित्त चुरानेवाले वीरवर अर्जुनको देखकर उन्हें अपना पति बनानेकी इच्छा की और अपने नेत्र और चित्तको उन्हींमें लगाकर सलज्ज कटाक्षविक्षेपके साथ हँसती हुई उनकी ओर निहारने लगी ॥ ७ ॥ तब मन-ही-मन उसीका निरन्तर चिन्तन करते हुए अर्जुन उसे हर ले जानेका मौका ढूँढ़ने लगे । उस समय महाबली कामके वेगसे उनका चित्त भ्रान्त हो गया और बलरामजीके समु-चित सत्कारसे भी उन्हें शान्ति नहीं मिली ॥ ८ ॥ एक दिन जब वह राजकुमारी देवयात्रामहोत्सवके समय रथपर चढ़कर दुर्गसे बाहर निकली, तब उसके माता-पिता तथा श्रीकृष्णचन्द्रकी अनुमतिसे महारथी अर्जुन सुभद्राको हर ले गये ॥ ९ ॥ जिन शूरवीर सैनिकोंने रोका, उन्हें रथारूढ़ धनञ्जयने अपना गाण्डीव धनुष दिखाकर ही भगा दिया और सब लोगोंके बहुत रोने-चिल्लानेपर भी उसे इस तरह हर ले गये, जैसे सिंह अपने भागको हर ले जाता है ॥ १० ॥ यह समाचार पानेपर बलरामजी पूर्णिमा तिथिको उमड़ते समुद्रके समान क्षुब्ध हो उठे, किन्तु कृष्णचन्द्र तथा अन्य सुहृद्गणों द्वारा

प्राहिणोत् पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः । महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः । कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः॥१३॥

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी । अनीहयागताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ॥१४॥

यात्रामात्रं त्वहरहर्दैवादुपनमत्युत । नाधिकं तावता तुष्टः क्रिया श्चक्रे यथोचिताः ॥१५॥

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः । मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥१६॥

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम् । आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः॥१७॥

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः । अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥१८॥

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप । उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥१९॥

आनर्तधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कमत्स्यपाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोसलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहासस्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः ॥२०॥

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।
शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥२१॥

तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप । अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥२२॥

दृष्ट्वा त उत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः । कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वास्तथा मुनीन् ॥२३॥

पाँव पकड़कर समझाये जानेपर किसी तरह शान्त हुए ॥ ११ ॥ तदनन्तर बलरामजीने प्रसन्न हो वर और वधूके लिये बहुत-सा धन, सामग्री, हाथी, रथ, घोड़े तथा दास और दासियाँ दहेजमें भेजीं ॥ १२ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्रुतदेवनामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण भगवान् कृष्णका असाधारण भक्त था । श्रीकृष्णकी अनन्य भक्तिके कारण वह पूर्णकाम, शान्त, विषयाशासे रहित और आसक्तिहीन था ॥ १३ ॥ वह विदेह जनककी मिथिलापुरीमें रहता और गृहस्थ होकर भी बिना उद्योगके जो मिल जाता, उसीसे अपना जीवनयापन करता था ॥ १४ ॥ भाग्यवश उसे प्रतिदिन शरीरयात्रा भर ही धन मिलता था, इससे अधिक नहीं । और वह उतनेहीसे सन्तुष्ट रहा करता था ॥ १५ ॥ हे तात ! उसीके सदृश भक्त उस देशका राजा बहुलाश्व भी था । वह मैथिलवंशमें उत्पन्न बड़ा अहंकारहीन राजा था । वे दोनों ही श्रीअच्युत भगवानके परमप्रिय भक्त थे । एक समय उन दोनोंपर भगवान प्रसन्न हुए और दारुक सारथी द्वारा लाये हुए रथपर सवार होकर कितने ही मुनीश्वरोंके साथ विदेह-देशको गये ॥ १६–१७ ॥ उन ऋषियोंमें नारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, परशुराम, असित, अरुणि, मैं अर्थात् शुकदेव, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय और च्यवन आदि थे ॥ १८ ॥ हे राजन् ! मार्गमें वे जहाँ-जहाँ पहुँचते, वहींके नागरिक हाथमें पूजनकी सामग्री लिये ऐसे उपस्थित होते, जैसे लोग शुक्र-बृहस्पति आदि ग्रहगणके साथ सूर्यदेवके उदित होनेपर उनका पूजन किया करते हैं ॥ १९ ॥ हे राजन् ! तब आनर्त्त, धन्व, कुरु, जाङ्गल, कङ्क, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल तथा अर्ण आदि अन्य देशोंके भी नरनारियोंने अपने नेत्रोंसे उनके उदार हास्य एवं मनोहर चितवनसे युक्त मुखकमलकी शोभाका पान किया ॥ २० ॥ अपने दर्शनसे जिनकी अज्ञानदृष्टि नष्ट हो गयी थी, उन लोगोंको अपनी कृपा-दृष्टिसे अभयदान तथा तत्त्वज्ञान देते हुए त्रिलोकवन्दनीय भगवान कृष्ण मार्गमें देवताओं और मनुष्यों द्वारा गाया हुआ दिशाओंको प्रकाशित करनेवाला और पापनाशक अपना सुयश सुनते हुए धीरे-धीरे विदेहदेशमें जा पहुँचे ॥ २१ ॥ हे राजन् ! भगवान कृष्णका आगमन सुनकर वहाँके सभी पुरवासी तथा देशवासी अपने हाथोंमें पूजा-सामग्री लिये बड़ी प्रसन्नतासे उनके आगे आये ॥२२॥ पुण्यकीर्ति भगवान कृष्ण तथा जिनके विषयमें पहले ही सुन रखा था, उन नारदादि मुनीश्वरोंको उन्होंने प्रसन्नवदन और हर्षित हृदय हो और मस्तकपर हाथ जोड़कर अभि-

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् । मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥२४॥
न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः । मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत् संहताञ्जली ॥२५॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया । उभयोराविशद् गेहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥२६॥
श्रोतुमप्यसतां दूराद् जनकः स्वगृहागतान् । आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान् महामनाः २७
प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः । नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः॥२८॥
सकुटुम्बो वहन् मूर्ध्ना पूजयाश्चक्र ईश्वरान् । गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घ्यगोवृषैः ॥२९॥
वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतर्पितान् । पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशञ्छनकैर्मुदा॥३०॥

राजोवाच

भवान् हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो । अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ।३१।
स्ववचस्तदृतं कर्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् । यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः३२
को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद् विसृजेत् पुमान् । निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः३३
योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह । यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ३४
नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे । नारायणाय ऋषये सुशान्तं तप ईयुषे ॥३५॥
दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान् नो निवस द्विजैः । समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम्॥३६॥
इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः । उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ३७

वादन किया । अखिल जगत्के गुरु भगवान कृष्णको अपनेपर अनुग्रह करनेके लिये आये जानकर मिथिलानरेश बहुलाश्व और श्रुतदेव ब्राह्मण दोनों प्रभुके चरणोंमें लोट गये ॥ २३-२४ ॥ महाराज बहुलाश्व तथा श्रुतदेवने मुनीश्वरों समेत भगवान कृष्णको आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये हाथ जोड़कर एक साथ निमन्त्रित किया ॥ २५ ॥ भगवानने उन दोनोंकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और दोनोंका प्रिय करनेके लिये उन दोनोंके यह जाने बिना कि वे दूसरेके घर भी जा रहे हैं, मुनियोंके साथ दो रूप होकर वे दोनोंहीके घरोंमें गये ॥ २६ ॥ तब बढ़ी हुई भक्ति तथा हृदयोल्लास के कारण नेत्रोंमें जल भरे महामनस्वी महाराज जनकने दुराचारी पुरुषोंको जिनका नाम सुनना भी कठिन था, उन अपने घर आये हुए भगवान कृष्ण तथा मुनीश्वरोंके सुखपूर्वक सुन्दर आसनोंपर बैठ जानेपर उन्हें अपने कुटुम्बसहित प्रणाम किया और उनके चरण धोकर चरणोदक माथे चढ़ाया और फिर उन प्रभुओंकी गन्ध, माला, वस्त्र, अलङ्कार, धूप, दीप, अर्घ्य, गौ तथा बैल आदि समर्पण करके उनकी भलीभाँति पूजा की ॥ २७-२८ ॥ अन्नादिसे तृप्त उन ब्राह्मणोंको मधुर वाणीसे तृप्त करके अपनी गोदमें रक्खे हुए भगवान कृष्णके चरणकमलोंको धीरे-धीरे दबाते हुए महाराज बहुलाश्वने अति प्रसन्न मन होकर कहा ॥ २९-३० ॥ राजा बहुलाश्व बोले—हे विभो ! आप सब प्राणियोंके आत्मा, साक्षी तथा स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं । इसी वास्ते आपने यहाँ आकर अपने चरणकमलोंका चिन्तन करनेवाले हम लोगोंको अपना दर्शन दिया ॥ ३१ ॥ आपने जो कहा था कि 'मुझे अपने भक्तोंसे बढ़कर प्रिय बलरामजी, लक्ष्मीजी और ब्रह्माजी भी नहीं हैं' अपने इस वाक्यको सत्य करनेके लियेही आज आप हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं ॥ ३२ ॥ आपके विषयमें यह बात निश्चितरूपसे जाननेवाला ऐसा कौन पुरुष है, जो आपके चरणकमलोंको भूल जायगा । आप निष्किञ्चन और शान्त मुनीश्वरोंको अपना स्वरूपतक दे डालते हैं । आपने यदुवंशमें अवतार लेकर जन्म-मरणरूपी संसारमें पड़े हुए प्राणियोंका संसारी ताप शान्त करनेके लिये ही त्रिलोकीका पाप नष्ट करनेवाला अपना सुयश फैलाया है । उन अकुण्ठबुद्धि तथा शान्तभावसे तप करनेवाले ऋषिवर नारायणरूपी आप भगवान कृष्णको मेरा नमस्कार है ॥ ३३-३५ ॥ हे भूमन् ! आप इन द्विजोंके साथ कुछ दिन हमारे घर रहें और अपनी चरणरजसे निमिकुलको पवित्र करें ॥ ३६ ॥ इस प्रकार राजा बहु-

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाञ्जनको यथा । नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह ।३८।
तृणपीठबृसीष्वेतानानीतेषूपवेश्य सः । स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजे मुदा ३९
तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् । स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥४०॥
फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभिर्मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।
आराधयामास यथोपपन्नया सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥४१॥
स तर्कयामास कुतो ममान्वभूद् गृहान्धकूपे पतितस्य सङ्गमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥४२॥
सूपविष्टान् कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः । सभार्यस्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः॥४३॥

श्रुतदेव उवाच

नाथ नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः । यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया॥४४।
यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया । सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥४५॥
शृण्वतां गदतां शश्वदर्चतां त्वाभिवन्दताम् । नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥४६॥
हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् । आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यन्त्युपेतगुणात्मनाम्४७
नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ॥४८॥

लाश्वके प्रार्थना करनेपर लोकपाल भगवान कृष्ण मिथिलापुरीके नर-नारियोंका कल्याण करते हुए कुछ दिन वहीं रह गये ॥ ३७ ॥ इधर भगवद्भक्त श्रुतदेव भी अपने घर आये हुए श्रीअच्युत और मुनीश्वरोंको नमस्कार करके अत्यन्त हर्षसे कपड़े द्वारा उनको हवा करता हुआ नाचने लगा ॥ ३८ ॥ फिर तृण, पीड़ा और कुशासनपर सबको बिठाकर स्वागत-प्रश्नादिसे उनका अभिनन्दन करते हुए अपनी भार्याके साथ अति हर्षपूर्वक उनके चरण पखारे ॥ ३९ ॥ फिर महाभाग श्रुतदेवने वह चरणोदक कुटुम्बसहित अपने माथे चढ़ाया। भगवानके चरणस्पर्शसे उसे बड़ा हर्ष हुआ और तत्काल उसके सब मनोरथ पूर्ण होगये ॥ ४० ॥ तदनन्तर उसने फल-गन्ध-पुष्पादि पूजाकी सामग्री, खससे बसे हुए सुमधुर जल, कस्तूरी, तुलसी, कुश, कमल तथा अनायास प्राप्त पूजाकी सामग्री एवं सात्त्विक अन्नसे उनकी पूजा की ॥ ४१ ॥ उसने सोचा—गृहरूपी अन्धकूपमें पड़े मुझ अभागेको श्रीकृष्णचन्द्र तथा जिनकी चरणरज सब तीर्थोंका आश्रय है और जो भगवानकी मङ्गलमयी मूर्तिके आश्रयस्थान हैं, उन मुनीश्वरोंका समागम मुझे न जाने कैसे प्राप्त होगया ॥ ४२ ॥ आतिथ्य ग्रहण करके सुखपूर्वक बैठे हुए उन मुनीश्वरोंके समक्ष स्त्री, स्वजन और पुत्रादिके सहित उपस्थित हो श्रुतदेवने उनका चरणस्पर्श करके कहा ॥ ४३ ॥ श्रुतदेव बोले—हे भगवन् ! आप परमपुरुष ने मुझे आज ही दर्शन दिया हो सो बात नहीं है, बल्कि जबसे आपने अपनी शक्तियोंसे इस जगत्की रचना की और इसमें अपनी सत्तारूपसे प्रवेश किया, तभीसे आप सबसे मिले हुए हैं ॥ ४४ ॥ जैसे सोया हुआ पुरुष, स्वप्नमें अविद्यावश अपने ही मनसे स्वप्न-जगत्की रचना करके उसमें अनुप्रविष्ट होकर स्वयं भासमान होता है, वैसे ही आप भी अपनी मायासे इस जगत्को रच और उसमें अनुप्रविष्ट होकर नाना प्रकारसे भासमान हो रहे हैं ॥ ४५ ॥ जो निरन्तर आपका श्रवण, कीर्तन, पूजन तथा अभिनन्दन करते और परस्पर आपकी ही चर्चा किया करते हैं, उन शुद्धचित्तवाले पुरुषोंको आप उनके हृदयमें दर्शन देते हैं ॥ ४६ ॥ किन्तु लौकिक तथा वैदिक कर्मोंके कारण जिनका चित्त विक्षिप्त रहता है, उनके हृदयमें रहकर भी आप उनसे बहुत दूर रहते हैं। आप अन्तःकरणकी अहङ्कारादि शक्तियों द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। फिर भी जो आपके गुणगानसे सम्पन्न हैं, आप उनके बहुत समीप रहते हैं ॥ ४७ ॥ अतएव आत्मज्ञानियोंके परमधामदाता, अनात्माभिमानियोंकी आत्मासे भिन्न,

स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवामहे । एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवानक्षिगोचरः ॥४९॥

श्रीशुक उवाच

तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा । गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥५०॥

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून् मुनीन् । सञ्चरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ५१

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः । शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥५२॥

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह । तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः॥५३॥

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् । सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥५४॥

दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः । गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥५५॥

चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः । मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥५६॥

तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय । एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः५७

श्रीशुक उवाच

स इत्थं प्रभुणाऽऽदिष्टः सहकृष्णान् द्विजोत्तमान् । आराध्यैकात्मभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम्५८

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान् । उषित्वाऽऽदिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात्॥५९।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रुतदेवानुग्रहो नाम षडशीतितमोऽध्यायः ॥८६॥

मरणशील संसारकी प्राप्ति करानेवाले, महत्तत्वादि कार्य तथा प्रकृतिरूप कारणपर शासन करनेवाले और अपनी मायासे स्वयं अनाच्छादित रहकर भी दूसरोंकी दृष्टि अवरुद्ध करनेवाले आप परमात्मा-को नमस्कार है ॥ ४८ ॥ हे देव ! आप अपने दास हम सबको आज्ञा दें कि हम आपकी क्या सेवा करें ? हे प्रभो ! जब तक आप दृष्टिके समक्ष नहीं होते, तभीतक लोगोंको विविध क्लेश उठाना पड़ता है ॥ ४९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—श्रुतदेवका कथन सुनकर शरणागतभयभञ्जन भगवानने अपने हाथसे उसका हाथ पकड़कर हँसते हुए कहा ॥ ५० ॥ श्रीभगवान बोले—हे ब्रह्मन् ! मेरे साथ इन मुनीश्वरोंको तुम अपने ऊपर कृपा करनेके लियेही यहाँ आया जानो । अपनी चरणरजसे ये सब लोकोंको पवित्र करते हुए विचरते हैं ॥ ५१ ॥ देवता, पुण्यक्षेत्र तथा तीर्थादि तो दर्शन, स्पर्श और पूजनसे धीरे-धीरे बहुत समय बाद पवित्र करते हैं, परन्तु साधुजन केवल दृष्टिमात्रसे पवित्र कर दिया करते हैं ॥ ५२ ॥ जन्मसे ही ब्राह्मण संसारमें सब प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है । वह यदि तप, विद्या, सन्तोष तथा मेरी भक्तिसे युक्त हो तो क्या कहना है ? ॥ ५३ ॥ मुझे ब्राह्मणकी अपेक्षा चतुर्भुजरूप भी प्रिय नहीं है । ब्राह्मण सर्वदेवमय है और मैं भी सर्वदेवमय हूँ ॥५४॥ इस रहस्यको न समझकर गुणोंमें दोष देखनेवाले दुर्बुद्धि लोग, गुरु, आत्मा, ब्राह्मणों तथा मेरी अवहेलनाकर केवल प्रतिमामें ही पूज्य-बुद्धि स्थापित करते हैं ॥ ५५ ॥ एकमात्र ब्राह्मण ही मेरा साक्षात्कार करके अपने चित्तमें यह निश्चय करता है कि यह चराचर जगत् और इसके कारण महत्तत्त्वादि सब पदार्थ मेरे ही स्वरूप हैं ॥ ५६ ॥ अतएव हे ब्रह्मन् ! इन ब्रह्मर्षियोंका 'ये मेरे ही रूप हैं' ऐसा विश्वास करके आप पूजन करें । इससे सहजही में मेरा पूजन भी हो जाता है, नहीं तो बड़ी-बड़ी सामग्रियोंसे भी मेरा अर्चन नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने प्रभुका ऐसा आदेश पाकर श्रुतदेव और मिथिलापति बहुलाश्व श्रीकृष्णचन्द्रके साथ-साथ उन ब्राह्मणोंकी भी एकान्तभावसे आराधना करके परमपदको प्राप्त होगये ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! भक्तोंके भक्त श्रीभगवान अपने दोनों भक्तोंका प्रिय करनेके लिये कुछ दिन मिथिलापुरीमें रहे और उन्हें सन्मार्गका उपदेश देकर फिर द्वारकाको लौट गये ॥ ५९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां षडशीतितमोऽ-ध्यायः ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

परीक्षिदुवाच

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः । कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे ॥१॥

श्रीशुक उवाच

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः । मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥२॥

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता । श्रद्धया धारयेद् यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥३॥

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् । नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥४॥

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन् भगवत्प्रियः । सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥५॥

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् । धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥६॥

तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः । परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह ॥७॥

तस्मै ह्यवोचद् भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् । यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥८॥

श्रीभगवानुवाच

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा । तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥९॥

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् । ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।
तत्र हायमभूत् प्रश्नस्त्वं मां यमनुपृच्छसि ॥ १० ॥

तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः । अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥११॥

(वेदों द्वारा भगवानकी स्तुति) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन् ! जो वर्णनसे परे है, जो सत् अर्थात् कारण और असत् यानी कार्यसे परे तथा गुणरहित है, तब साक्षात् गुणमयी श्रुतियाँ उसे कैसे कह सकती हैं ? ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! सर्वसमर्थ उन भगवानने शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेके निमित्त पुनर्जन्म और अपनेको स्वर्गादि लोकोंके भोगकी प्राप्ति तथा मोक्षलाभके लिये जीवोंके मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा प्राणोंकी रचना की है ॥ २ ॥ इस परब्रह्मपरायण श्रुतिको पूर्वजोंके भी पूर्वज सनकादिने बुद्धि आदिके द्वारा धारण किया है। जो पुरुष इसे श्रद्धापूर्वक धारण करता है, वह देहादिकी उपाधियोंसे मुक्त होकर क्षेमस्वरूप परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥ अब मैं नारायणकी एक गाथा सुना रहा हूँ, जिसमें स्वयं नारायण और नारदका कथोपकथन है ॥ ४ ॥ एक दिन भगवानके प्रिय भक्त देवर्षि नारदजी सब लोकोंमें घूमते-घूमते आदि ऋषि नारायणके दर्शनके लिये बद्रिकाश्रम गये ॥ ५ ॥ वे इस भारतवर्षमें सब जीवोंके क्षेम तथा कल्याणके लिये कल्पके आरम्भसे धर्म, ज्ञान और शमपूर्वक तपस्यामें लगे हुए थे ॥ ६ ॥ हे कुरुनन्दन ! वहाँ कलापग्रामवासी मुनिमण्डलीके मध्यमें बैठे हुए श्रीनारायणसे नारदजीने अतिशय विनयपूर्वक यही प्रश्न किया था ॥ ७ ॥ तब नारायणने उन सब ऋषियोंको सुनाते हुए नारदजीको पूर्वकालके जनलोकनिवासी महर्षियोंमें जो ब्रह्मविषयक मीमांसा हुई थी, वह कहने लगे ॥ ८ ॥ श्रीभगवान कहते हैं—हे ब्रह्मपुत्र ! पूर्वकालमें एकबार जनलोकमें रहनेवाले ब्रह्माके मानस पुत्र तथा ऊर्ध्वरेता मुनीश्वरोंके यहाँ ब्रह्मसत्रका अनुष्ठान हुआ ॥ ९ ॥ उस समय तुम श्वेतद्वीपके अधिपति और मेरे दिव्य विग्रह अनिरुद्धका दर्शन करनेके लिये श्वेतद्वीप गये हुए थे। वहाँ, उसी समय जिसमें श्रुतियाँ शांत हो जाती हैं, उस ब्रह्मका बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ। वहाँ भी यही प्रश्न रखा गया था, जो तुमने मुझसे इस समय किया है ॥ १० ॥ यद्यपि वे सनकादि चारों ही भाई विद्या, तप और स्वभावमें समान हैं, उन चारोंकी दृष्टिमें शत्रु, मित्र और उदासीन एक-से रहते हैं।

सनन्दन उवाच

स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः । तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥१२॥
यथा शयानं सम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः । प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः॥१३।

श्रुतय ऊचुः

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः ॥१४॥

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५॥

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥१६॥

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम् ।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

फिर भी अन्य सब लोगोंने श्रवणेच्छु होकर सनन्दनको ही वक्ता चुना ॥ ११ ॥ तब सनन्दन बोले—जैसे सोये हुए सम्राट्को सबेरे अनुचर बन्दीगण उसके सुन्दर यश तथा पराक्रमका वर्णन करके जगाते हैं, वैसे ही अपने रचे हुए निखिल प्रपञ्चको शक्तियों समेत अपनेमें लीन करके सोये हुए परमात्माको प्रलयके अन्तमें श्रुतियाँ उनका गुण प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों द्वारा इस तरह जगाने लगीं ॥ १२–१३ ॥ श्रुतियोंने कहा—हे अजित ! आपकी जय हो । सभी स्थावर तथा जङ्गम शरीर जिनके आश्रय रहते हैं, उन सब जीवोंकी उस अविद्याको आप दूर कर दें कि जिसने दोष अर्थात् जीवोंके गुणोंका आच्छादन करनेके लिये ही सत्त्वादि गुणोंको स्वीकार किया है । क्योंकि गुण आप परमेश्वरका ही अनुसरण करता है ॥ १४ ॥ सभी ऋषि इस प्रतीयमान जगत्को आप परब्रह्मका ही स्वरूप समझते हैं । क्योंकि प्रलयकालमें सब जगत्का नाश हो जानेके अनन्तर एकमात्र आप ही शेष रह जाते हैं । जैसे घटादि विकारोंकी उत्पत्ति तथा लय मिट्टीमें ही होता है । उसी तरह आप निर्विकार परमेश्वरसे ही इस जगत्की उत्पत्ति होती और प्रलय भी होता है । अतएव मुनिलोग मन तथा वाणीसे ग्राह्य सम्पूर्ण जगत्को आपहीमें स्थित देखते हैं । क्योंकि मनुष्योंके पृथ्वीमें रखे हुए चरण पृथिवीपर नहीं रखे हुए कैसे कहे जायँगे ॥ ५ ॥ अतएव हे त्रिगुणमयी मायाके अधिपति ! विवेकशील पुरुषोंने सब लोगोंके मलापहारी आपके कथारूपी अमृतसिन्धुमें गोता लगाकर सब सन्तापोंको त्याग दिया है । हे परमपुरुष ! आत्मज्ञानके द्वारा जिनके अन्तःकरणके रागादिधर्म तथा कालकृत जरामरणादि दोष दूर हो गये रहते हैं, ऐसे जो महात्माजन सर्वदा सुखानुभवरूपी आपके स्वरूपका भजन करते हैं, उनके विषयमें क्या कहना ॥१६॥ जब प्राणी आपका अनुसरण करते हैं, तभी उनका जीवन सफल होता है, नहीं तो वे धौंकनीकी भाँति व्यर्थ श्वास लेते हैं । क्योंकि जिनके अनुग्रहसे महत् और अहंकारादि ब्रह्माण्डकी रचना होती है, जो अन्नमय आदि विविध कोशोंमें पुरुषरूपसे अनुगत तथा उनकी अवधि हैं, वे कार्य और कारणसे परे तथा सबका नाश होनेके बाद बचनेवाले सत्यस्वरूप परमात्मा एक मात्र आप ही हैं ॥ १७ ॥ हे अनन्त ! जो ऋषियोंके सम्प्रदायोंमें स्थूल दृष्टि रखते हैं, वे आपके उदर अर्थात् मणिपूरक चक्रमें रहनेवाले ब्रह्मरूपमें

स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया तरतमतश्चकास्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥१९॥
स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम् ।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२०॥
दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥
त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।
न बत रमन्त्यदो असदुपासनयाऽऽत्महनो यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥२२॥
निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२३॥
क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।
तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥

उपासना करते तथा अरुणवंशी मुनिजन जिससे सब ओर जानेवाली नाड़ियाँ निकलती हैं, उस हृदयमें रहनेवाले दहरसंज्ञक आकाशरूप आप ब्रह्मकी उपासना करते है। क्योंकि उस हृदयसे ही आपका परमधाम अर्थात् आपका उपलब्धिस्थानस्वरूप सुषुम्नामार्ग मस्तकतक ऊपरको गया हुआ है, जिसको पाकर जीव फिर मृत्युके मुखमें नहीं पड़ सकता ॥ १८ ॥ हे देव ! आप अपने ही द्वारा निर्मित देवता, मनुष्य और तिर्यक् आदि विचित्र योनियोंमें कारणरूपसे प्रविष्ट होकर अपनी ही बनायी देवता आदि विविध आकृतियोंका अनुकरण करते हुए काष्ठमें प्रविष्ट अग्निकी भाँति उत्तम और अधम भावसे प्रकट होते हैं। अतएव ऐहिक और पारलौकिक कर्मभोगसे विरत तथा निर्मल-बुद्धि महानुभाव अपने मिथ्या रूपोंमें आपके सत्य, समान तथा एकरस स्वरूपको देखते हैं ॥ १९ ॥ हे प्रभो ! निजकृत कर्मों द्वारा प्राप्त मनुष्यादि शरीरोंमें विद्यमान कार्य-कारणरूप आवरणोंसे रहित जीवको, तत्त्वज्ञानीलोग आप सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्माका अंश बतलाते हैं। इस तरह जीवतत्त्वके स्वरूपका नियन्त्रण करके विवेकशील लोग संसारमें सब वैदिक कर्मोंके क्षेत्र संसारसे मुक्त करनेवाले आपके चरणोंकी श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं ॥ २० ॥ हे परमात्मन् ! हे अच्युत ! दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्वका ज्ञान करानेके लिये शरीर धारण करनेवाले आप श्रीहरिके चरित्ररूपी अमृतके महासागरमें स्नान करके जो श्रमरहित हो गये हैं, ऐसे कुछ भक्तजन मुक्तिकी भी इच्छा नहीं रखते। हंसके समान आपके चरणकमलोंका सेवन करनेवाले भक्त भक्तमण्डलके संगसे अपने पूर्वप्राप्त घर-बारको भी छोड़ देते हैं ॥२१॥ हे प्रभो ! आपकी सेवाको साधन बनाकर अनुसरण करनेवाला यह मानव शरीरही आत्मा, सुहृद् तथा प्रियजनके सदृश आचरण करता है। खेदकी बात तो यह है कि इसे पानेपर भी मनुष्य सदा सम्मुख रहनेवाले, अपने परम हितकारी, प्रिय और आत्मारूप आपसे प्रेम नहीं करते। बल्कि उन देह-गेह आदि असत्पदार्थों के लालन-पालनमें संलग्न रहकर अपना ही घात करते हैं। वे वासनाओंमें पड़कर निन्दित योनियोंको धारण करते हुए महा भयपूर्ण संसारमें चक्कर काटते रहते हैं ॥ २२ ॥ हे नाथ ! प्राण, मन तथा इन्द्रियोंका संयम करके दृढ़ योगका अभ्यास करनेवाले मुनिजन जिस पदकी हृदयमें अभिलाषा करते हैं, उसी पदको आपसे शत्रुता रखनेवाले असुर भी केवल स्मरणमात्रसे ही प्राप्त कर चुके हैं। जिनका हृदय शेषनागके सदृश विशाल और कोमल आपकी भुजाओंमें आसक्त है, वे परिच्छिन्न दृष्टिवाली स्त्रियाँ अर्थात् गोपियाँ और आपके चरणकमलका ध्यान करनेवाली हम अर्थात् अपरिच्छिन्न दृष्टिवाली श्रुतियाँ भी आपकी दृष्टिमें समान हैं ॥ २३ ॥ जिनसे श्रीब्रह्माजी और उनके बाद दोनों प्रकारके देवता उत्पन्न हुए हैं, समस्त सृष्टिके पूर्ववर्ती उन आपको

जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरसे ॥२५॥
सदिवमनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात् सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥२६॥
तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया त उत पदाऽऽक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तांस्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः॥२७॥
त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२८॥
स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद् वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥
अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत् सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

इस संसारमें पीछेसे उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाला कौन पुरुष जान सकता है ? जब आप सारा प्रपञ्च अपनेमें लीन करके सो जाते हैं, तब सत् अर्थात् आकाशादि स्थूल जगत्, असत् सूक्ष्म महत्तत्त्वादि एवं स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकारका शरीर तथा इनके आधारभूत कालका वेग तथा इनका बोध करानेवाला शास्त्र आदि भी कुछ नहीं रहता ॥ २४ ॥ जो लोग असत्की उत्पत्ति और सत्का नाश मानते हुए आत्मामें भेदका प्रतिपादन करते तथा काम्य कर्मोंके फलको नित्य मानते हैं, वे केवल भ्रमसे आरोपित सिद्धान्तोंका ही प्रतिपादन करते हैं। पुरुष त्रिगुणमय है—यह भेदज्ञान भी अज्ञानजनित ही जानना चाहिए। आप अज्ञानसे परे हैं। अतएव ज्ञानस्वरूप आपमें ऐसा कोई भी भेदभाव नहीं रहता ॥ २५ ॥ मनोविलासरूपी यह त्रिगुणात्मक जगत् परमेश्वरसे भिन्न मालूम पड़नेवाले भोक्ता पुरुषके असत् होनेपर भी आपमें अधिष्ठित होनेसे सत्य सरीखा भासमान होता है। यही कारण है कि आत्मज्ञानी पुरुष भी इस जगत्को आत्मारूपसे सत्य मानते हैं। जैसे सुवर्णके तत्त्वज्ञ लोग सुवर्णके विकारस्वरूप कुण्डल आदिको भी सुवर्ण ही मानते हैं। इसीसे उनको नहीं त्यागते। ऐसे ही आत्मा द्वारा निर्मित और आत्मासे ही व्याप्त यह जगत् आत्मज्ञानियों द्वारा आत्मरूप ही माना जाता है ॥ २६ ॥ हे प्रभो ! आप सब जीवोंके आश्रयस्थान हैं—ऐसा समझकर जो पुरुष आपकी सेवा करते हैं, वे मृत्युको कुछ न गिनकर उसके सिरपर अवहेलनापूर्वक पैर रख देते हैं। आपसें प्रेम रखनेवाले लोग तीनों लोकोंको पवित्र करते हैं। जो पुरुष आपसे विमुख हैं, वे किसीको पवित्र नहीं कर सकते। चाहे वे विद्वान् भी हों तो आप उन्हें कर्मोंकी प्रतिपादिनी श्रुतियोंसे पशुके समान बाँध दिया करते हैं ॥ २७ ॥ आप मन, बुद्धि तथा इन्द्रियरूप उपकरणोंसे रहित होकर भी स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् होनेके कारण समस्त कारणोंकी शक्तिसे सदा सम्पन्न रहते हैं। इन्द्रादि देवता तथा ब्रह्मादि लोकपाल अविद्याका आश्रय ले करके हव्य-कव्यादिको स्वयं भोगते हुए आपको भी उपहार देते हैं, जैसे देश-देशान्तरके अधिपति प्रजासे कर एकत्रित करके उसे स्वयं भोगते हुए सार्वभौम सम्राट्को भी अर्पण करते हैं। हे देव ! ब्रह्मादिक देवता जिस-जिस कार्यमें नियुक्त किये गये हैं, उस-उस कार्यमें कालरूप आपके भयसे वे सदा सावधानतापूर्वक तत्पर रहते हैं ॥ २८ ॥ हे नित्यमुक्त ! जब मायाके साथ उसकी ओर ईक्षणमात्रसे ही आप मायातीत परमात्माकी क्रीडा होती है, तभी आपके अवलोकनसे जाग्रत् कर्म या लिङ्गशरीरसे युक्त समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, जो आकाशकी भाँति सम तथा शून्यकी समता धारण करते तथा मन और वाणीके अगोचर हैं, उन आप परमेश्वरकी दृष्टिमें कोई भी अपना अथवा पराया नहीं है ॥२९॥ हे नित्यस्वरूप ! यदि असंख्य देहधारी जीव नित्य तथा सर्वगत माने जायँ तो भी आपके द्वारा

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोरुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३१॥
नृषु तव मायया भ्रमममीष्ववगत्य भृशं त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥
विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥
स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरथैस्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे॥३४॥
भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनान्यृषयो विमदास्त उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।
दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥
सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥३६॥

उनका नियन्त्रण नहीं हो सकता। यदि वे आपके समान न हों तो अलबत्ते आप उनके नियामक हो सकते हैं। ये सब जीव आपहीसे प्रगट हुए हैं, इसलिए कारणरूपसे इनका त्याग न करते हुए भी आप इनके नियन्ता हैं। क्योंकि सभी मानी हुई वस्तुएँ दोषपूर्ण होती हैं, अतएव आप सर्वत्र समान हैं और 'हम जानते हैं' ऐसा माननेवालोंको वस्तुतः अज्ञात है ॥ ३० ॥ जन्मरहित जो प्रकृति तथा पुरुष हैं, उनका उत्पन्न होना नहीं बन सकता। बल्कि उन दोनोंका अविद्याजनित संयोग होनेसे ही जलके बुलबुलेकी भाँति प्राणियोंका जन्म होता है। फिर अपने भिन्न-भिन्न नाम तथा गुणोंके सहित वे जीव मधुमें समाये फूलोंके रसोंके समान एवं समुद्रमें नदियोंकी तरह आप उपाधि-शून्य परमात्मामें लीन हो जाया करते हैं ॥ ३१ ॥ सभी जीव आपकी मायासे बारम्बार जन्म धारण करते हुए इस संसारचक्रमें चक्कर लगाते रहे हैं—ऐसा जानकर बुद्धिमान् लोग संसारचक्रकी निवृत्ति करनेवाले आप परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति किया करते हैं। आपका भ्रुकुटिविलासरूपी यह शीत, ग्रीष्म और वर्षा तीन भागवाला काल चक्र बारम्बार उन्हींको भयभीत करता है, जो आपकी शरण नहीं गहते। भला आपके अनुगत भक्तोंको जन्म-मरणरूपी संसारका भय कैसे हो सकता है ॥३२॥ हे अजन्मा परमेश्वर ! जिन लोगोंने अपनी इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया है उन योगियोंके द्वारा भी जिसका दमन नहीं किया जा सकता, ऐसे अति चञ्चल चित्तरूपी घोड़ेको जो वशमें करने-का यत्न करते हैं—वे आपके पुनीत चरणोंकी शरण त्यागकर अन्य उपायोंके परिश्रमी मनुष्य उसी प्रकार विविध विपत्तियोंसे घिर जाते हैं—जैसे बिना कर्णधारकी नावपर समुद्रमें यात्रा करनेवाले व्यापारी तरह-तरहके कष्ट उठाते हैं ॥ ३३ ॥ अपने आश्रितोंके आत्मा तथा सर्वानन्दमय आप पर-मात्माके रहते हुए पुरुषको स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, धाम, पृथिवी, प्राण और रथ आदिसे क्या लाभ ? इस सत्य सिद्धान्तसे अनभिज्ञ होनेके कारण स्त्रीसुखमें ही रत लोगोंको स्वभावसे ही नश्वर तथा स्वतः संसारमें भला कौन सुखी कर सकेगा ॥ ३४ ॥ जो लोग ऐश्वर्यादिके मदसे रहित आपके चरणकमलोंको हृदयमें धारण करनेवाले हैं तथा जिनका चरणोदक पापपुञ्जको नष्ट करनेवाला है, वे मुनिजन इस पृथिवीतलपर अत्यन्त पुण्यमय तीर्थस्थानके सदृश हैं। जो पुरुष एकबार भी नित्य सुखस्वरूप आप परमात्मामें चित्त लगाते हैं, वे विवेक, वैराग्य, धैर्य, क्षमा और शान्ति आदि गुणों-का नाश करनेवाले घरोंमें फिर आसक्त नहीं हुआ करते ॥ ३५ ॥ यदि आप कहें कि 'यह सब प्रपञ्च सत्से उत्पन्न हुआ है, अतएव यह स्वयं भी सत् है' तो यह अनुमान तर्कसे बाधित किया जायगा। और फिर यह अनुमान कहीं-कहीं व्यभिचरित भी देखा जाता है। उपर्युक्त अमुमान कहीं-कहीं असत्य भी सिद्ध होता है। ऐसे ही दो अर्थात् ब्रह्म और मायाके संयोगसे उत्पन्न यह प्रपञ्च भी

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैर्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥
स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन् भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।
त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥
यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥३९॥
त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोर्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥
द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥४१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् । सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वाऽऽत्मनो गतिम् ४२

सत् नहीं है । अन्धपरम्परासे जो यह भ्रम चला आ रहा है, इसे व्यवहार-निर्वाहभरके लिये व्यावहारिक सत्यके रूपमें स्वीकार किया जाता है । हे भगवन् ! गौणी-लक्षणा आदि विविध वृत्तियोंसे कर्मफल आदिकी प्रशंसा करनेवाली आपकी वेदरूपिणी वाणी कर्म-फलमें श्रद्धा रखनेवाले जड़-बुद्धि पुरुषोंको मोहमें डाल देती है ॥ ३६ ॥ यह जगत् सृष्टिसे पहले नहीं था और न प्रलयके बाद ही रहेगा । इससे यह सिद्ध होता है कि बीचमें भी यह एकरसस्वरूप आप परमेश्वरमें मिथ्या ही प्रतीत होता है । अतएव इसका द्रव्य-जाति अर्थात् मृत्तिका-लोह आदि तथा विकल्प यानी कार्यरूप घट-कुण्डल आदिकी समानतासे निरूपण किया जाता है । सो इस व्यर्थ मनोविलासमात्र जगत्को मूढ़ लोग ही सच मानते हैं ॥ ३७ ॥ जब जीव मायासे मोहित होकर अविद्याका आश्रय लेता है, तब वह गुणोंके कार्य देह-इन्द्रिय आदिका सेवन करता हुआ उन्हींके सदृश होकर जन्म-मरणरूपी संसारको प्राप्त होता है । आप तो सदा अपने नित्यप्राप्त ऐश्वर्यमें स्थित रहते हैं । इस वास्ते आप उस मायाको वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे सर्प केंचुल छोड़ देता है । आप अपरिमित ऐश्वर्यसे युक्त होकर अपनी अणिमादि अष्ट विभूतियुक्त महिमामें विराजमान होते हैं ॥ ३८ ॥ यदि लोग संन्यासी होकर भी अपने हृदयमें स्थित कामकी मूलस्वरूपा वासनाओंको दूर नहीं करते तो उन असत् पुरुषोंको आपका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, जैसे गलेमें पड़ा भी मणि भूल जानेपर नहीं मिलता । उन प्राणोंका ही पोषण करनेवाले योगियोंको इहलोक तथा परलोकमें दोनों जगह दुःख मिलता है । इस लोकमें कभी न चूकनेवाले मृत्युरूप आपसे भय उठाना पड़ता तथा परलोकमें जिनके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ रहता, ऐसे लोगोंको आपसे भय लगता है ॥ ३९ ॥ हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन् ! आपके स्वरूपका ज्ञाता पुरुष आप कर्मफलदाता ईश्वरसे प्रकट पुण्य-पापके फलरूप सुख-दुःखोंको नहीं भोगता और उस समय उसका देहाभिमानी पुरुषोंके लिये विहित विधि-विषेधरूपिणी वेदवाणीकी ओर भी ध्यान नहीं रहता । क्योंकि जो मनुष्य प्रति युगमें परम्परासे कही हुई आपकी लीला-कथा कानों द्वारा निरन्तर श्रवण करके आपको हृदयमें धारण कर लेता है, उसके लिये आप मोक्षरूप गति हुआ करते हैं ॥ ४० ॥ हे भगवन् ! स्वर्गादिके अधिपति इन्द्रादिने भी आपका अन्त नहीं पाया । वे ही क्या, अनन्त होनेके कारण आप स्वयं भी अपना अन्त नहीं पा सकते । जैसे आकाशमें वायुसे रजःकण उड़ते रहते हैं, वैसे ही कालचक्र पृथिवी आदि आवरणों समेत अनन्त ब्रह्माण्डसमूह आपमें एक ही साथ घूमा करते हैं तथा आपहीमें अन्त पानेवाली श्रुतियाँ स्थूल-सूक्ष्मादि अनात्म वस्तुओंका निषेध करती हुई अन्तमें आपहीमें समाप्त होकर सफल होती हैं ॥४१॥ श्रीभगवान बोले–हे नारदजी ! यह वेदस्तुतिरूप आत्मतत्त्वका उपदेश सुनकर ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि

इत्यशेषसमाम्नायपुराणोपनिषद्रसः । समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥४३॥
त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽऽत्मानुशासनम् । धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

एवं स ऋषिणाऽऽदिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयाऽऽत्मवान् । पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥४५॥

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्तये । यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥४६॥
इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः । ततोऽगादाश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥
सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः । तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४८॥
इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया । यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि श्रुतिश्चरेत् ॥४९॥

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।
यं सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे नारायणसंवादे वेदस्तुतिर्नाम सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

———

सिद्धोंने आत्माका स्वरूप जानकर सनन्दनजीकी पूजा की ॥४२॥ सृष्टिके आरम्भसे उत्पन्न आकाशचारी उन महात्माओंने इस तरह सब वेद, पुराण और उपनिषदोंका सार निकाला था ॥ ४३ ॥ हे ब्रह्मपुत्र ! मनुष्योंकी वासनाओंको भस्म करनेवाले इस आत्मतत्त्वके उपदेशको तुम भी श्रद्धापूर्वक हृदयमें धारण करके पृथिवीमें स्वेच्छानुसार विचरो ॥ ४४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! महर्षि सनन्दनद्वारा इस प्रकार उपदेश दिये जानेपर उसे श्रद्धापूर्वक हृदयंगम करके ज्ञानी, पर्णकाम, सुने भये अर्थको धारण करनेवाले तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी नारदजी बोले ॥ ४५ ॥ नारदजी कहने लगे—जो सब प्राणियोंको मोक्ष देनेके लिये अति कमनीय कला-अवतार धारण करते हैं, उन आप निर्मलकीर्तिसम्पन्न भगवान कृष्णको नमस्कार है ॥ ४६ ॥ इस तरह आदिऋषि नारायण तथा उनके शिष्योंको प्रणामकर नारदजी मेरे साक्षात् पिता महात्मा श्रीद्वैपायनके आश्रमको गये ॥ ४७ ॥ वहाँपर भगवान व्यासजीसे भलीभाँति सम्मानित हो नारदजी आसनपर बैठे और उन्होंने श्रीनारायणके मुखसे जो कुछ सुना था, वह सब कह सुनाया ॥ ४८ ॥ हे राजन् ! तुमने जो प्रश्न किया था, तदनुसार 'जो निरूपणसे परे और गुणरहित है, उस ब्रह्ममें भी श्रुतिकी गति जैसे होती है ?' सो सब मैंने तुम्हें बता दिया ॥ ४९ ॥ इस वेदस्तुतिका सार यह है कि जो इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहारके विषयमें उत्प्रेक्षा करते हैं, जो प्रकृति तथा पुरुषके ईश्वर हैं, जो इस ब्रह्माण्डकी रचना करके इसमें जीवके सहित उसके आत्मारूपसे प्रविष्ट हो भिन्न-भिन्न शरीरोंकी रचना और उनका पालन करते हैं, जिस प्रकार गाढ़ निद्रामें सोया हुआ पुरुष शरीरका अभिमान छोड़ देता है, वैसे ही जिन्हें पाकर जीव मायासे मुक्त हो जाता है, उन अपने अखण्डरूपमें रहकर जगत्‌की मूलकारणस्वरूपा मायाका निरास करनेवाले अभयस्वरूप श्रीकृष्णका निरन्तर चिन्तन करना प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य है ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

राजोवाच

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् । प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् १
एतद् वेदितुमिच्छामः सन्देहोऽत्र महान् हि नः । विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ॥२॥
शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः । वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥३॥
ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन । उपधावन् विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥४॥
हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः । स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ॥५॥
निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः । शृण्वन् भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥६॥
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः । नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले॥७॥

श्रीभगवानुवाच

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः । ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥८॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया । मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥९॥
तद् ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् । अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान् भजते जनः॥१०।
ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः । मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ॥११॥

(शम्भु-मोचनकी कथा) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्‌ने कहा—हे ब्रह्मन् ! देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो लोग विषय-भोगहीन भगवान शङ्करका भजन करते हैं, वे प्रायः धनी और भोगसम्पन्न होते हैं। लेकिन जो लक्ष्मीपतिका भजन करते हैं, वे ऐसे धनी और भोगसम्पन्न नहीं होते। इसका क्या रहस्य है ? ॥ १ ॥ हे भगवन् ! उन विरुद्ध स्वभाववाले देवताओंके उपासकोंको ऐसी विरुद्ध गति क्यों मिलती है ? मैं यह जानना चाहता हूँ—मुझे इस विषयमें बहुत बड़ा संशय है ॥ २ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! अपनी मायाशक्तियुक्त भगवान सदाशिव सब गुणोंसे युक्त और त्रिविध अहङ्कारके अधिष्ठाता हैं। उस अहङ्कारके राजस, वैकारिक तथा तामस तीन भेद हैं ॥ ३ ॥ त्रिविध अहङ्कारोंसे दस इन्द्रियाँ, पञ्च महाभूत और मन—ये सोलह विकार उत्पन्न हुए हैं। अतएव वे इन सब अधिष्ठाता देवताओंमेंसे किसी एककी उपासना करके सब ऐश्वर्योंकी गति पा लेता है ॥ ४ ॥ फिर भगवान तो प्रकृतिसे परे साक्षात् पुराणपुरुष तथा निर्गुण हैं। वे सर्वज्ञ तथा सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं। उनका भजन करनेसे प्राणी निर्गुण हो जाता है ॥ ५ ॥ हे राजन् परीक्षित् ! तुम्हारे पितामह राजा युधिष्ठिरने अश्वमेधयज्ञ समाप्त होनेपर भागवत धर्मोंको सुनते हुए श्रीकृष्णचन्द्रसे यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥ तब मनुष्योंके आत्यन्तिक कल्याणके निमित्त यदुकुलमें अवतीर्ण तथा षडैश्वर्यसम्पन्न प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक उन श्रवणोच्छुक युधिष्ठिरजीसे इस तरह कहा था ॥ ७ ॥ श्रीभगवान बोले—मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका सब धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ। उसे निर्धन और दुःखपर दुःख उठाते देखकर उसके स्वजन उसे छोड़ देते हैं ॥ ८ ॥ जब बार-बार उद्योग करके भी वह धन-संग्रह करनेमें समर्थ नहीं होता, तब धनकी चेष्टासे विरक्त होकर वह मेरे भक्तोंका साथ करता है, तब मैं उसपर कृपालु होता हूँ ॥ ९ ॥ तदनन्तर उसे परमसूक्ष्म, चिन्मात्र, सत्यस्वरूप और अनन्त ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इस तरह मेरी आराधना अत्यन्त कठिन है। अतएव लोग मुझे छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करने लगते हैं ॥ १० ॥ और शीघ्र ही प्रसन्न होनेवाले अन्य देवताओंसे वे राज्य और धन आदि वैभव पाकर उन्मत्त हो जाते और इस प्रकार अति घमण्डी तथा उद्धत होकर उन वरदायक देवताओंका भी महत्त्व भूलकर उन्हींका

श्रीशुक उवाच

शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः । सद्यःशापप्रसादोऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥१२

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाऽऽप सङ्कटम् ॥१३॥

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् । दृष्ट्वाऽऽशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥१४॥

स आह देवं गिरिशमुपाधावाशु सिद्ध्यसि । योऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति १५

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्वन्दिनोरिव । ऐश्वर्यमतुलं दत्त्वा तत आप सुसङ्कटम् ॥१७॥

देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात् सप्तमेऽहनि । शिरोऽवृश्चत् स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् १८

तदा महाकारुणिकः स धूर्जटिर्यथा वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत् तत्स्पर्शनाद् भूय उपस्कृताकृतिः ॥१९॥

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे यथाभिकामं वितरामि ते वरम् ।
प्रीयेय तोयेन नृणां प्रपद्यतामहो त्वयाऽऽत्मा भृशमर्द्यते वृथा ॥२०॥

देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूतभयावहम् । यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियतामिति २१

तच्छ्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत । ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ॥२२॥

इत्युक्तः सोऽसुरो नूनं गौरीहरणलालसः । स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।
स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत् स्वकृताच्छिवः ॥ २३ ॥

अपमान करने लग जाते हैं ॥ ११ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! ब्रह्मा, विष्णु और—शिव ये तीनों देवता शाप और वरदान देनेमें समर्थ हैं। इनमेंसे महादेव और ब्रह्मा तो शीघ्र प्रसन्न होने और शाप देनेवाले हैं, किन्तु विष्णुभगवान ऐसे नहीं हैं ॥ १२ ॥ इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं कि भगवान शङ्कर वृकासुरको वर देकर स्वयं सङ्कटमें पड़ गये थे ॥१३॥ एकबार शकुनिके बेटे दुष्टबुद्धि वृकासुरने मार्गमें देवर्षि नारदजीको जाते देखा तो उनसे पूछा कि "त्रिदेवों अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवमें सबसे जल्दी प्रसन्न होनेवाले देवता कौन हैं ?" ॥ १४ ॥ नारदजी बोले—"तुम शङ्करभगवानकी उपासना करो। इससे तुम्हारा सब मनोरथ शीघ्र सफल हो जायगा। क्योंकि वे थोड़ेसे गुण तथा दोषसे तत्काल प्रसन्न अथवा कुपित हो जाते हैं ॥ १५ ॥ बन्दीजनके समान स्तुति करनेवाले रावण और बाणासुरसे प्रसन्न होकर उन्हें ऐश्वर्य दे डाला और फिर उन्हें स्वयं उनके हाथों बहुत बड़ा सङ्कट उठाना पड़ा था ॥ १६ ॥ नारदजीका यह आदेश पाकर वह असुर केदारक्षेत्रमें अपने शरीरके मांसका हवन करता हुआ अग्निमुख नामक महादेवकी आराधना करने लगा ॥ १७ ॥ इस प्रकार छः दिन तक उपासना करनेपर भी जब उसे इष्टदेवका दर्शन नहीं हुआ तब सातवें दिन अति उदास होकर वह केदारतीर्थमें स्नान करनेसे भींगे केशोंवाले अपने मस्तकको अपनेही खड्गसे काटनेको तैयार होगया ॥ १८ ॥ तदनन्तर हमारे ही सदृश परम कारुणिक भगवान शङ्कर अग्निकुण्डसे अग्निदेवके समान प्रकट हुए और अपनी भुजाओंसे उसके दोनों हाथ पकड़कर उसे सिर काटनेसे रोका। भगवान शङ्करके करस्पर्शसे ही वृकासुर फिर ज्योंका त्यों होगया ॥ १९ ॥ तब श्रीशिवजी उससे बोले—"हे प्रिय ! बस, अब बहुत हुआ। मैं तुझे वर देना चाहता हूँ। तेरी जो इच्छा हो सो वर माँग लें। मैं तो जलमात्र अर्पण करनेसे अपने शरणागत भक्तोंपर प्रसन्न हो जाता हूँ। तू व्यर्थ अपने शरीरको कष्ट दे रहा है" ॥ २० ॥ तब उस पापीने श्रीमहादेवजीसे सम्पूर्ण प्राणियोंको भयदायक यह वर माँगा कि "मैं जिस किसीके सिरपर अपना हाथ रख दूँ, वह तुरन्त मर जाय" ॥ २१ ॥ हे भारत ! यह सुनकर भगवान रुद्रने कुछ अनमने होकर सर्पको अमृत पिलानेके समान हँसते हुए 'तथास्तु' कहकर वर दे दिया ॥ २२ ॥ महादेवजीके 'तथास्तु' कहते ही वह असुर श्रीपार्वतीजीको हरनेकी इच्छासे और उस वरकी परीक्षा लेनेके लिये श्रीमहा-

तेनोपसृष्टः संत्रस्तः पराधावन् सवेपथुः । यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ॥२४॥
अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन् सुरेश्वराः । ततो वैकुण्ठमगमद् भास्वरं तमसः परम् ॥२५॥
यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः । शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गत ॥२६॥
तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्दनः । दूरात् प्रत्युदियाद् भूत्वा वटुको योगमायया २७
मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वलन् । अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः । क्षणं विश्रम्यतां पुंस आत्मायं सर्वकामधुक् ॥२९॥
यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो । भण्यतां प्रायशः पुम्भिर्धृतैःस्वार्थान् समीहते ।३०।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा । गतक्लमोऽब्रवीत् तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि । यो दक्षशापात् पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ३२
यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ । तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ।३३।
यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद् दानवर्षभ । तदैनं जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः ॥३४॥
इत्थं भगवतश्चित्रैर्वचोभिः स सुपेशलैः । भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात् ३५
अथापतद् भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् । जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद् दिवि ३६

देवजीके ही मस्तकपर अपना हाथ रखनेको उद्यत होगया। तब शङ्करजोको अपने दिये हुए वरदानसे स्वयं बड़ा भय हुआ ॥ २३ ॥ उसके पीछा करनेपर वे भयसे काँपते हुए स्वर्ग, पृथिवी और दिशाओंके अन्ततक दौड़ते फिरे और फिर उत्तर दिशाकी ओर भागे ॥ २४ ॥ सङ्कटको दूर करनेका कोई उपाय न देखकर सब देवेश्वरगण चुप रह गये। अन्तमें भगवान शङ्कर अन्धकारसे परे निरन्तर प्रकाशमय उस वैकुण्ठधामको गये ॥ २५ ॥ जहाँ शान्त और सबके अभयदायक संन्यासियोंकी परमगति साक्षात् श्रीनारायण निवास करते हैं और जहाँ पहुँचकर जीव फिर संसारमें नहीं लौटता ॥ २६ ॥ भयहारी विष्णुभगवान महादेवजीको उस सङ्कटमें देखकर अपनी योगमायासे ब्रह्मचारीका रूप धारण करके दूरहीसे सम्मुख आने लगे ॥ २७ ॥ वे मूँजकी मेखला, कृष्ण मृगचर्म, दण्ड तथा रुद्राक्षकी माला पहने थे और अपने तेजसे अग्निके समान देदीप्यमान एवं हाथमें कुशा लिये हुए थे। उन्होंने वृकासुरको विनीतकी भाँति प्रणाम किया ॥ २८ ॥ श्रीभगवान बोले—हे शकुनिपुत्र! तुम बड़े थकेसे मालूम पड़ते हो। किसलिये तुम आज बहुत दूरतक चले आये हो? अच्छा, कुछ देर सुस्ता लो। देखो, मनुष्यका शरीर ही उसकी सब कामनायें पूर्ण करता है ॥ २९ ॥ हे समर्थ! यदि तुम्हारा विचार हमारे सुनने योग्य हो तो कहो। क्योंकि संसारमें प्रायः सहायक पुरुषों द्वारा ही लोग अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥ ३० ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार भगवानके द्वारा अमृतमय वचनोंसे पूछे जानेपर वृकासुरने श्रमहीन होकर पहले जो कुछ किया था, वह सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥ ३१ ॥ श्रीभगवान बोले—यदि यही बात है तो हमको महादेवजीकी बातका कोई विश्वास नहीं है। क्योंकि वे तो दक्षके शापसे पिशाच होकर भूतप्रेतोंके अधीश्वर बन गये हैं ॥ ३२ ॥ हे दानवेन्द्र! यदि तुम्हें जगद्गुरु श्रीशङ्कर भगवानके वाक्योंपर कुछ विश्वास हो तो अभी अपने सिरपर हाथ धरके परीक्षा कर लो ॥ ३३ ॥ हे दानवश्रेष्ठ! तब यदि महादेवका वचन असत्य निकले तो तुम उस असत्यभाषी शङ्करको मार डालो, जिससे यह फिर कभी मिथ्या भाषण न कर पाये ॥ ३४ ॥ श्रीविष्णुभगवानके विचित्र तथा कोमल वाक्योंसे भ्रान्तबुद्धि हो जानेके कारण उस कुबुद्धिने अपने सिरपर हाथ रख लिया ॥ ३५ ॥ हाथ रखते ही वह दैत्य तत्काल वज्राहतके समान सिर फट जानेसे

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे । देवर्षि पितृगन्धर्वा मोचितः सङ्कटाच्छिवः ॥३७॥
मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः । अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥३८॥
हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः । क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ ॥३९॥
य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा विमुच्यते संसृतिभिस्तथारिभिः ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे रुद्रमोक्षणं नामाष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

———

एकोननवतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

सरस्वत्यास्तटे राजन्नृषयः सत्रमासत । वितर्कः समभूत्तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥१॥
तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप । तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद् ब्रह्मणः सभाम् ॥२॥
न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया । तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा ॥३॥
स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः । अशीशमद् यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणाऽऽत्मभूः ॥४॥
ततः कैलाशमगमत् स तं देवो महेश्वरः । परिरब्धुं समारेभे उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥५॥
नैच्छत्त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह । शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ॥६॥

गिर गया । तब आकाशमें जयजयकार, नमस्कार और साधुवादकी ध्वनि उच्चरित होने लगी ॥३६॥ पापी वृकासुरके मारे जानेपर देव, ऋषि, पितर और गन्धर्वगण फूल बरसाने लगे और महादेवजी उस महान् सङ्कटसे मुक्त होगये ॥ ३७ ॥ तब विष्णुभगवानने महादेवजीसे कहा—"हे देवदेव ! यह दुष्ट अपने ही पापसे मरा है । अन्य महापुरुषोंका अपराध करनेवाला कौन प्राणी सकुशल रह सकता है ? तब साक्षात् जगद्गुरु श्रीविश्वेश्वरका अपराध करनेवालेके विषयमें क्या कहना है" ॥ ३८-३९ ॥ जो पुरुष मन और वाणी आदिके विषयसे पृथक्, शक्तियोंके समुद्र एवं प्रकृति आदिसे अतीत साक्षात् श्रीविष्णुभगवानके द्वारा किये इस शम्भुमोचन चरित्रको कहता या सुनता है, वह संसारके सब बन्धनों तथा शत्रुओंके भयसे मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

(भृगुका ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी परीक्षा लेना तथा भगवानका महाकालपुरसे ब्राह्मणके मरे हुए बालकोंको वापस लाना) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कुछ ऋषि एक समय सरस्वती नदीके तटपर यज्ञ कर रहे थे । उनमें इस विषयपर विचार चला कि ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव इनमें सबसे बड़ा देवता कौन है ? ॥ १ ॥ हे नृप ! इस जिज्ञासासे उन्होंने ब्रह्माके पुत्र महर्षि भृगुको उनकी परीक्षाके निमित्त भेजा । तदनुसार भृगुजी पहले ब्रह्माजीकी सभामें गये ॥ २ ॥ ब्रह्माजीका स्वभाव जाननेके लिए उन्होंने न तो उन्हें नमस्कार किया और न स्तुति ही की । इससे ब्रह्माजी अपने तेजसे प्रज्वलित हो उनपर अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ ३ ॥ किन्तु अपने पुत्रके प्रति उत्पन्न क्रोधको भगवान ब्रह्माजीने मनके मनहीमें शान्त कर दिया, जैसे तेजस्तत्त्वसे उत्पन्न जलसे अग्नि शान्त हो जाता है ॥ ४ ॥ तब वे कैलास गये । अपने भाई महर्षि भृगुको आये देखकर श्रीमहादेवजी अति आनन्दित हुए और उठकर उन्हें आलिङ्गन करनेके लिये हाथ बढ़ाया, किन्तु भृगुजीने कहा—'तुम कुमार्गगामी हो । यों कहकर उन्होंने जब उनसे मिलनेकी अनिच्छा प्रगट की, तब महादेवजीको बड़ा क्रोध आया और वे तीक्ष्ण दृष्टिसे देखते हुए त्रिशूल उठाकर उन्हें मारने दौड़े ॥ ५ ॥ ६ ॥

पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा । अथो जगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ॥७॥
शयानं श्रिय उत्सङ्गे पदा वक्षस्यताडयत् । तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः॥८॥
स्वतल्पादवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम् । आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम् ।
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥ ९ ॥
अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने । इत्युक्त्वा विप्र चरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना १०
पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् । पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥११॥
अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् । वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा । निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः १३
पुनश्च सत्रमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् । स्वानुभूतमशेषेण राजन् भृगुरवर्णयत् ॥१४॥
तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः । भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ।१५।
धर्मः साक्षाद् यतो ज्ञानं वैराग्यं च तदन्वितम् । ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम् ।१६।
मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् । अकिञ्चनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम् ।१७।
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः । भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ।१८।
त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः । गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् १९

तब पार्वतीजीने चरणोंपर गिरकर शिवजीको विनीत वाणीसे शान्त किया । इसके बाद भृगुजी वैकुण्ठधाम गये, जहाँ श्रीविष्णुभगवान विराजते हैं ॥ ७ ॥ उस समय भगवान लक्ष्मीजीकी गोदमें सिर रखकर लेटे हुए थे । पहुँचते ही भृगुजीने उनके वक्षःस्थलमें लात मारी । इससे साधुओंके एकमात्र गति विष्णुभगवान लक्ष्मीजीके सहित उठ बैठे और उन्होंने शय्यासे उतरकर मुनिवर भृगुको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और बोले—"हे ब्रह्मन् ! मैं आपका स्वागत करता हूँ । आइए, एक क्षण आसनपर बैठिए ! हमें आपके आनेका कोई पता नहीं था, सो हमारी धृष्टता क्षमा करें ॥ ८-९ ॥ हे मुनिराज ! आपके चरण अत्यन्त कोमल हैं और मेरा वक्षःस्थल वज्रसदृश कठोर है । उसका स्पर्श हो जानेसे उन चरणोंमें बहुत पीड़ा होती होगी" ऐसा कहकर वे भृगुजीके चरणोंको अपने हाथसे दबाते हुए कहने लगे—॥१०॥ "आपका चरणोदक तीर्थोंको भी पवित्र करता है, उससे आप वैकुण्ठलोक समेत मुझे तथा मुझमें स्थित सब लोकपालोंको पवित्र करिए ॥ ११ ॥ हे भगवन ! आपके चरणस्पर्शसे मेरे सब पाप नष्ट हो गये, अतएव लक्ष्मीजी मेरे हृदयमें सर्वदा विराजमान रहेंगी । अब मैं लक्ष्मीजीका एकमात्र आश्रयस्थान हो गया हूँ" ॥ १२ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—इस प्रकार भगवानके कहनेपर भृगुजी अति आनन्दित और तृप्त होकर मौन हो गये तथा भक्तिके उद्रेकसे उनका हृदय गद्गद् हो गया और नेत्रोंमें जलभर आया ॥ १३ ॥ हे राजन् ! तब उन्होंने फिर यज्ञ-भूमिमें आकर वेदवादी मुनीश्वरोंके समक्ष अपना सारा अनुभव कहा ॥ १४ ॥ सब वृत्तान्त सुनकर मुनीश्वरोंको बड़ा विस्मय हुआ और उनका सब भ्रम दूर हो गया । तबसे वे सर्वश्रेष्ठ विष्णुभगवानमें ही विशेष श्रद्धा रखने लगे, जिनसे शान्ति और अभयका उद्गम होता है ॥ १५ ॥ जिनसे साक्षात् धर्म, आत्मज्ञान और उनसे युक्त वैराग्य, आठ प्रकारकी सिद्धियाँ तथा चित्तकी मलिनता दूर करनेवाला सुयश प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ जिन्हें शान्त, समचित्त, अकिञ्चन तथा सबको अभय देनेवाले साधुजनोंकी एकमात्र परम गति बतलाया जाता है ॥ १७ ॥ सत्त्व जिनकी प्रिय मूर्ति है, ब्राह्मण जिनके इष्टदेव हैं तथा निष्काम, शान्त और निपुण-बुद्धि पुरुष नित्य जिनका भजन करते हैं ॥ १८ ॥ जिनकी तीन मूर्तियाँ हैं—राक्षस, असुर तथा देवता । ये तीनों मूर्तियें उनकी गुणमयी मायासे रचित हैं, इनमें भी सत्त्वमयी देवमूर्ति ही परमपुरुषार्थरूप

श्रीशुक उवाच

एवं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये । पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥२०॥

सूत उवाच

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्धपीयूषं भवभयभित् परस्य पुंसः ।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥२१॥

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः । जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥२२॥
विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः । इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥२३॥
ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः । क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥२४॥
हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलमजितेन्द्रियम् । प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ॥२५॥
एवं द्वितीयं विप्रर्षिस्तृतीयं त्वेवमेव च । विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥२६॥
तामर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित् केशवान्तिके । परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥
किंस्विद् ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः । राजन्यबन्धुरेते वै ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥२८॥
धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः । ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ॥२९॥
अहं प्रजा वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोरिह । अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥३०॥

ब्राह्मण उवाच

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः । अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥३१॥
तत्कथं नु भवान् कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः । चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात् तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥३२॥

उनकी प्राप्तिका साधन कही जाती है ॥ १९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! मनुष्योंका संशय दूर करनेके लिये सरस्वतीतटनिवासी ब्राह्मणोंने ऐसा निर्णय करके परमपुरुष भगवान विष्णुकी चरण-सेवा की और अन्तमें उनका परमपद पाया ॥ २० ॥ श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुनियो ! व्यासतनय श्रीशुकदेवजीके मुखकमलसे चुई और संसारभयको दूर करनेवाले परमपुरुष श्रीकृष्णकी सुगन्धित सुयशसुधाको जो संसारपथका पथिक अपने श्रवणपुटसे सदा पान करता रहता है, वह सदाके लिये संसारपथके भ्रमणसे उत्पन्न श्रमसे मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे भरत ! एक बार द्वारकापुरीमें किसी ब्राह्मणकी स्त्रीके पुत्र उत्पन्न हुआ और वह पृथिवीका स्पर्श करते ही मर गया ॥ २२ ॥ तब उस ब्राह्मणने बालकका शव ले जाकर राजा उग्रसेनके द्वारपर डाल दिया और अत्यन्त दीन हृदयसे आतुरतापूर्वक विलाप करते हुए कहा—॥ २३ ॥ "इस विप्रद्रोही, लोभी और विषयी क्षत्रियाधमके कर्मदोषसे ही मेरा बालक मरा है ॥ २४ ॥ जो प्रजा हिंसाचारी, दुःशील और अजितेन्द्रिय राजाकी सेवा करती है, वह दरिद्र और नित्य दुःखित रहकर विविध प्रकारके क्लेश उठाती है" ॥ २५ ॥ हे राजन् ! इसी तरह उस ब्राह्मणश्रेष्ठने अपने दूसरे तथा तीसरे बालकके जन्मते ही मरनेपर उन्हें भी राजद्वारपर डाल दिया और हर बार यही बात कही ॥ २६ ॥ इस प्रकार जब उसका नवाँ बालक भी मर गया तो उसकी वही पुरानी गाथा सुनकर भगवान कृष्णके पास बैठे हुए अर्जुनने ब्राह्मणसे कहा—॥ २७ ॥ हे ब्रह्मन् ! क्या आपके निवासस्थान द्वारकापुरीमें कोई भी धनुर्धर क्षत्रिय नहीं है ? क्या ये सब यादव यज्ञमें सम्मिलित ब्राह्मण हैं ? ॥ २८ ॥ जिनके राज्यमें ब्राह्मण धन, स्त्री और पुत्रादिसे वियुक्त होकर शोक करते हैं, वे राजे क्षत्रियके वेषसे अपने प्राणोंका पोषण करनेवाले नटोंके समान ही जीते हैं ॥ २९ ॥ हे भगवन् ! पुत्रवियोगसे अत्यन्त कातर आप दोनों स्त्री-पुरुषकी सन्तानकी रक्षा मैं स्वयं करूँगा और यदि मैंने इस प्रतिज्ञाको पूर्ण नहीं कर पाया तो अग्निमें जलकर पापहित हो जाऊँगा ॥ ३० ॥ ब्राह्मणने कहा—हे अर्जुन ! श्रीबलरामजी, भगवान कृष्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्न और अनुपम रथी अनिरुद्धजी भी यदि उनकी रक्षा नहीं कर पाते तो

अर्जुन उवाच

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः कार्ष्णिरेव च । अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥३३॥
मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् । मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभो ॥३४॥
एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परंतप । जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥३५॥
प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तम । पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥३६॥
स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् । दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे ॥३७॥
न्यरुणत् सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः । तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥३८॥
ततः कुमारः संजातो विप्रपत्न्या रुदन् मुहुः । सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥३९॥
तदाऽऽह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ । मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ॥४०॥
न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः । यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्तदवितेश्वरः ॥४१॥
धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः । दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥४२॥
एवं शपति विप्रर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुनः । ययौ संयमनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यमः ॥४३॥
विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात् पुरीम् । आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ॥ ४४ ॥
ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः । अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥४५॥

इन जगदीश्वरोंसे भी न हो सकनेवाले कर्मको तुम कैसे करना चाहते हो ? मुझे तुम्हारी बातें मूर्खों सरीखी मालूम होती हैं और मुझे इनपर विश्वास नहीं होता ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ अर्जुनने कहा—हे ब्रह्मन् ! मैं बलराम, कृष्ण अथवा कृष्णका पुत्र प्रद्युम्न नहीं हूँ। मैं अर्जुन हूँ, जिसके पास सदा गाण्डीवनामक धनुष रहता है ॥ ३३ ॥ हे विप्र ! श्रीमहादेवजीको भी सन्तुष्ट करनेवाले मेरे पराक्रमका तुम अपमान मत करो। हे प्रभो ! मैं युद्धमें मृत्युको भी परास्त करके तुम्हारे बालकोंको परलोकसे लौटा लाऊँगा ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! अर्जुनके द्वारा इस प्रकार आश्वासित किये जानेपर वह ब्राह्मण अति प्रसन्न हो लोगोंसे अर्जुनके पुरुषार्थको बखानता हुआ अपने घर लौट गया ॥ ३५ ॥ अबकी बार जब उसकी स्त्रीका प्रसवकाल आया, तब उसने अति आतुर हो अर्जुनसे कहा—"हे अर्जुन ! तुम मेरी सन्तानको मृत्युके मुखसे बचाओ-बचाओ" ॥ ३६ ॥ अब अर्जुनने पवित्र जलसे आचमनकर श्रीशंकरजीको नमस्कार किया और अपने दिव्यास्त्रोंका स्मरण करके प्रत्यञ्चा चढ़े हुए गाण्डीवधनुषको हाथमें लिया ॥ ३७ ॥ तदनन्तर नाना प्रकारके अस्त्रमन्त्रोंसे युक्त बाणों द्वारा उन्होंने उस सूतिकागृहको सब ओरसे ढाँक दिया। इस तरह अर्जुनने इधर-उधर और ऊपर-नीचे जैसे बाणोंका पिंजरा बना दिया ॥ ३८ ॥ तब ब्राह्मणीके गर्भसे बालक उत्पन्न हुआ, किन्तु वह बार-बार रोता हुआ तत्काल सशरीर आकाशमें अन्तर्द्धान हो गया ॥ ३९ ॥ तब भगवान कृष्णके पास जाकर ब्राह्मणने अर्जुनकी निन्दा करते हुए कहा—"मेरी मूर्खता तो देखो, जो मैंने इस नपुंसकके आत्म-प्रशंसायुक्त वचनोंपर विश्वास कर लिया ॥ ४० ॥ प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, बलराम तथा कृष्ण आदि कोई भी जिसकी रक्षा नहीं कर सके, उसे बचानेमें भला कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ४१ ॥ जो दुर्बुद्धि मनुष्य दैवद्वारा हरे हुए बालकोंको मूर्खतावश फिर लौटा लेना चाहता है, उस मिथ्यावादी तथा अपने मुखसे ही अपनी प्रशंसा करनेवाले अर्जुन और उसके गाण्डीव धनुषको धिक्कार है ॥ ४२ ॥ उस श्रेष्ठ ब्राह्मणके इस तरह भला-बुरा कहनेपर अर्जुन अपने योगबलसे संयमनीपुरीको गये, जहाँ भगवान यम रहते हैं ॥ ४३ ॥ वहाँ भी ब्राह्मणके बालकको न देखकर हाथमें शस्त्र लिये इन्द्र, निर्ऋति, सोम, वायु तथा वरुण आदिकी पुरियों, अतलादि नीचेके लोकों तथा स्वर्गसे ऊपर महर्लोकादि एवं अन्यान्य स्थानोंको भी गये ॥ ४४ ॥ अन्तमें उस ब्राह्मणके बालकको न

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञात्मानमात्मना ।एते हि कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्तिहि४६
इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः । दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्।४७।
सप्त द्वीपान् सप्त सिन्धून् सप्तसप्तगिरीनथ । लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥४८॥
तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः । तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥४९॥
तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत् पुरः॥५०॥

तमः सुघोरं गहनं कृतं महद् विदारयद् भूरितरेण रोचिषा ।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥५१॥
द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमःपरं परं ज्योतिरनन्तपारम् ।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे ॥५२॥
ततः प्रविष्टः सलिलं नभस्वता बलीयसैजद्बृहदूर्मिभूषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥५३॥
तस्मिन् महाभीममनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।
विभ्राजमानं द्विगुणोल्बणेक्षणं सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ॥५४॥
ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥५५॥
महामणिव्रातकिरीटकुण्डलप्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालया वृतम् ॥५६॥

पाकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न होनेके कारण उन्होंने अग्निमें प्रवेश करनेका विचार किया, किन्तु तत्काल भगवान कृष्णने उन्हें ऐसा करनेसे मना करते हुए रोक दिया ॥ ४५ ॥ भगवान बोले— 'मैं तुम्हें उस ब्राह्मणके बालकोंको दिखाऊँगा। तुम इस तरह अपने आपकी अवज्ञा मत करो। ये सब तुम्हारे निन्दक लोग ही हमलोगोंकी विमल कीर्ति स्थापित करेंगे" ॥ ४६ ॥ सर्वसमर्थ भगवान कृष्ण इस प्रकार अर्जुनसे सम्भाषणकर उनके साथ अपने दिव्य रथपर सवार होकर पश्चिम दिशाको चले गये ॥ ४७ ॥ उन्होंने सात पर्वतोंवाले सात द्वीप, सात समुद्र और लोकालोक पर्वत लाँघकर महान् अन्धकारमें प्रवेश किया ॥ ४८॥ हे भरतश्रेष्ठ! उस घोर अन्धकारमें उनके शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामके घोड़े इधर-उधर भटकने लगे ॥ ४९ ॥ उन्हें उस दुरवस्थामें देखकर योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान कृष्णने अपना सहस्र सूर्योंके सदृश देदीप्यमान सुदर्शनचक्र आगे-आगे कर दिया ॥ ५० ॥ अपने अत्यधिक तेजसे उस घोर, घने तथा महान् अन्धकारको विदीर्ण करता हुआ वह सुदर्शनचक्र मनके समान अति तीव्र गतिसे इस प्रकार अन्धकारमें प्रविष्ट हुआ, जैसे धनुषकी डोरीसे छूटा हुआ रामबाण शत्रुसेनामें प्रविष्ट होता था ॥ ५१ ॥ चक्र द्वारा दिखाये मार्गसे जाते हुए अर्जुनने अन्धकारके उस पार अति उत्तम तथा अनन्तपार व्यापक परम ज्योति देखकर अपनी चौंधियायी हुई दोनों आँखें मूँद लीं ॥ ५२ ॥ तब उन्होंने प्रबल आँधीसे कम्पायमान बड़ी-बड़ी तरङ्गोंवाले जलमें प्रवेश किया। वहाँ सहस्रों द्युतिमान् मणिमय स्तम्भोंसे सुशोभित और अतिशय देदीप्यमान एक अद्भुत भवन था ॥ ५३ ॥ उस भवनमें अति भयानक तथा आश्चर्यजनक, अपने सहस्र मस्तकोंकी मणियोंकी कान्तिसे शोभायमान, उनसे दुगुने उग्र नेत्रोंसे युक्त, कैलासपर्वतके सदृश श्वेतवर्ण, श्यामकण्ठ और काली जिह्वावाले शेषजी बैठे थे ॥ ५४ ॥ अर्जुनने देखा कि उनके शरीरकी सुखमयी शय्यापर सर्वव्यापक महाप्रभावशाली परम पुरुषोत्तम भगवान बैठे हैं। स्निग्ध मेघके समान उनके शरीरकी कान्ति है। उन्होंने मनोहर पीताम्बर धारण कर रक्खा है और उनका मुखकमल सुप्रसन्न है और नेत्र अति सुन्दर तथा विशाल हैं ॥ ५५ ॥ महामूल्यवान् मणियोंसे सुशोभित उनके

सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैश्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्द्धिभिर्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥५७॥
ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ॥५८॥
द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥५९॥
पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी । धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम् ॥६०॥
इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना । ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ।६१।
न्यवर्ततां स्वकं धाम संप्रहृष्टौ यथागतम् । विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथावयः ॥६२॥
निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः । यत् किञ्चित् पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ६३
इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् । बुभुजे विषयान् ग्राम्यानीजे चात्यूर्जितैर्मखैः ।६४।
प्रववर्षाखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु । यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवाञ्छ्रैष्ठ्यमास्थितः ।६५।
हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वार्जुनादिभिः । अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ॥६६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे द्विजकुमारानयनं नाम एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

मुकुट तथा कुण्डलोंकी कान्तिसे उनकी घुँघराली अलकावली चमक रही है । लम्बी-लम्बी और सुन्दर आठ भुजाएँ हैं । उनका वक्षःस्थल कौस्तुभमणि, श्रीवत्सकी शोभा और वनमालासे आवृत है ॥ ५६ ॥ वे ब्रह्मादि लोकपालोंके अधीश्वर नन्द-सुनन्दादि अपने पार्षदों, मूर्तिमान् चक्रादि आयुधों तथा पुष्टि, श्री, कीर्ति और अजा-आदि शक्तियों तथा ऋद्धियोंसे सुसेवित हैं ॥ ५७ ॥ भगवान कृष्णने उन अपने ही स्वरूप अनन्तभगवानको प्रणाम किया और उनके दर्शनसे भयाकुल अर्जुनने भी उन्हें नमस्कार किया । इस तरह हाथ जोड़कर खड़े उन कृष्ण और अर्जुनसे ब्रह्मादि लोकपालोंके प्रभु सर्वव्यापक श्रीपुरुषोत्तम भगवानने मुसकाकर गम्भीर वाणीमें कहा—॥ ५८ ॥ मैंने आप दोनों-को देखनेके लिये ही ब्राह्मणके बालकोंको हरा था । आप दोनोंने धर्मकी रक्षाके लिये ही मेरी कलाओंसे पृथिवीपर अवतार लिया है । सो आप पृथिवीके भारभूत असुर राजाओंका वध करके फिर मेरे पास शीघ्र आ जायँ ॥ ५९ ॥ तुम दोनों यद्यपि ऋषिवर नर-नारायण हो । यद्यपि तुम पूर्णकाम हो तो भी जगत्की स्थिति तथा लोकसंग्रहके लिये धर्मका आचरण करो ॥ ६० ॥ भगवान जगद्गुरुके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उन श्रीकृष्ण और अर्जुनने 'बहुत अच्छा' कहकर उन भूमा भगवानको प्रणाम किया और ब्राह्मणके बालकोंको लेकर अति आनन्दसे जिस मार्गसे गये थे, उसीसे फिर अपनी पुरीको लौट आये और उस ब्राह्मणको उसके यथोचित वय तथा रूपसे युक्त बालक सौंप दिये ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ भगवान विष्णुके परमधामको देखकर अर्जुनको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने यह समझ लिया कि मनुष्यमात्रमें जो कुछ पुरुषार्थ है, वह सब भगवानकी ही कृपासे है ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! इस प्रकारके विविध पौरुष दिखाते हुए भगवान कृष्णने भी ग्राम्य-विषयोंका भोग करते हुए बहुतसे यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ ६४ ॥ उन्होंने इन्द्रके सदृश श्रेष्ठता प्राप्त करके ब्राह्मणादि चारों वर्णोंकी सब कामनाओंको यथासमय पूर्ण किया ॥ ६५ ॥ अधार्मिक राजाओंको स्वयं मार तथा अर्जुनादिसे मरवाकर युधिष्ठिर आदि धार्मिक राजाओं द्वारा पुनः धर्मकी स्थापना करायी ॥ ६६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे भाषाटीकायामेकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः । सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥१॥
स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः । कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः॥२॥
नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः । स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥३॥
उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु । निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥४॥
रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः । तावद्विचित्ररूपोऽसौ तद्गृहेषु महर्द्धिषु ॥५॥
प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः । वासितामलतोयेषु कूजद्द्विजकुलेषु च ॥६॥
विजहार विगाह्याम्भो ह्रदिनीषु महोदयः । कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ॥७॥
उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान् । वादयद्भिर्मुदा वीणां सूतमागधवन्दिभिः ॥८॥
सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हसन्तीभिः स्म रेचकैः । प्रतिसिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥९॥

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ।
कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः ॥१०॥
कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक् क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।
सिञ्चन् मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ॥११॥

(श्रीकृष्ण भगवानकी लीलाका संक्षिप्त वर्णन) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिस पुरीकी सड़कें मद टपकाते हाथी, वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित शूरवीर, सजे भये घोड़े और सुवर्णसे देदीप्यमान रथोंसे नित्य भरी रहती थीं, जिसमें सब ओर बाग-बगीचे थे, जहाँ पुष्प खिले वृक्षोंपर बैठे हुए भ्रमरों और पक्षियोंके कलरवसे सब ओर कोलाहल मच रहा था, जो सब सम्पदाओंसे पूर्ण थीं, जिसमें उत्तम यादवोंका निवास था, जिसमें अपने-अपने भवनोंमें कन्दुकादि खेलती हुई विद्युत्की भाँति द्युतिमती, नवयौवनकी कान्तिसे सुशोभित और मनोहर नेत्रवाली भामिनियाँ जिनका सेवन करती थीं, उस अपनी द्वारकापुरीमें सुखपूर्वक रहते हुए सोलह सहस्र पत्नियोंके एकमात्र स्वामी लक्ष्मीपति भगवान कृष्ण परमऐश्वर्यसे सम्पन्न उन सब रानियोंके महलोंमें उतने ही रूप धारणकर उनके साथ रमण करते थे ॥ १-५ ॥ उन घरोंमें खिले हुए पद्म, कह्लार, कुमुद और कमलके परागसे सुगन्धित जलाशय थे और उनमें अगणित विहंगम कूज रहे थे। महा ऐश्वर्यसम्पन्न श्रीकृष्ण बावलियोंमें जलका आलोडन करते हुए अपनी प्रियाओंसे आलिङ्गित हो उनके कुच-कुंकुमसे अपना शरीर अनुलिप्त करते हुए जलविहार करते थे ॥ ६ ॥ ७ ॥ विहारके समय गन्धर्व-गण मृदङ्ग, पणव तथा आनक आदि बाजे बजाकर उनका यशोगान करते तथा सूत, मागध और बन्दीजन आदि भी बाजे बजाते हुए प्रसन्नतापूर्वक स्तुति करते थे ॥ ८ ॥ कभी-कभी भगवानकी रानियाँ हँसती-हँसती उन्हें पिचकारियोंसे भिगो देतीं, तो वे भी उन्हें भिगोते हुए यक्षराज कुबेरके समान क्रीडा करने लगते थे ॥ ९ ॥ वस्त्र भीग जानेसे दीखते कुच और ऊरुभागवाली तथा बृहत् केशपाशमें गुथे हुए जिनके फूल बिखर गये हैं, वे कृष्णप्रियायें जब अपने प्रियतमको भिगोती हुई उनकी पिचकारी छीनने जातीं तो उनसे आलिङ्गित हो जानेके कारण उनके मुखकमल कामोद्दीपनकी सूचना देनेवाली मुसकानसे खिल उठते थे और तब वे अत्यन्त सुशोभित होती थीं ॥ १० ॥ इस तरह अपनी प्रियाओंके कुचकुंकुमसे जिनकी वनमाला सन गयी थी और क्रीडामें आसक्त होनेसे जिनकी खुली हुई घुँघराली अलकें हिल रही थीं, वे भगवान कृष्णचन्द्र भी उन युवतियोंको बारम्बार भिगोते और उनसे स्वयं भिगोये जाते हुए उनके साथ इस तरह विहार करते थे, जैसे हाथियोंके साथ

नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् । क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः १२
कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः । नर्मक्ष्वेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः।।१३।
ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम् । चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु।१४।

महिष्य ऊचुः

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः ।
वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्भिन्नचेता नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ।।१५।।
नेत्रे निमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धुस्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।
दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ।।१६।।
भो भोः सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।
किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ।।१७।।
त्वं यक्ष्मणा बलवतासि गृहीत इन्दो क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि ।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ।।१८।।
किं त्वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् । गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम्।१९।
मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः ।
अत्युत्कण्ठःशबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः।२०।

उनसे घिरा हुआ गजराज खेलता है ।।११।। इस प्रकार क्रीडा कर चुकनेके बाद भगवान कृष्ण तथा उनकी पत्नियाँ क्रीडाके लिये धारण किये अपने वस्त्र एवं अलङ्कारोंको, जिनकी आजीविका केवल गाना-बजाना ही थी, उन नट और नटियोंको दे देते थे ।। १२ ।। हे राजन् ! इस तरह विहार करते हुए श्रीकृष्णकी चाल, बोली, चितवन, मुसकराहट, परिहासोक्ति, विलास तथा विविध प्रकारके आलिङ्गनादिसे उन कामिनियोंकी मति हर गयी थी ।। १३ ।। कृष्णके लिये मतवाली उन रानियोंने कमलनयन भगवान कृष्णका ही सदा चिन्तन करते हुए जड़ और उन्मत्तकी भाँति जो वाक्य कहे थे, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ । सुनो ।।१४।। रानियोंने कहा—अरी ओ टिटिहरी ! इस रात्रिके समय जब कि गुप्तबोध भगवान कृष्ण सोये हुए हैं, तब तू भी क्यों नहीं सो जाती ? क्या तुझे नींद नहीं आती, जो विलाप कर रही है ? हे सखि ! हमारे ही समान क्या तेरा भी हृदय कमलनयन भगवान कृष्णके लीला-हास्यमय कटाक्षबाणमें बिंध चुका है ?।। १५ ।। ओ चकवी ! तूने रात्रिके समय नेत्र क्यों मूँद लिये हैं ? अपने पतिको न देख पानेके कारण ही क्या तू ऐसे करुणस्वरसे बिलख रही है ? हमारे भगवान कृष्णके दास्यभावको प्राप्त होकर उनके चरणकमलोंपर चढ़ायी पुष्पमालाको क्या तू अपनी चोटियोंमें लपेटना चाहती है ? ।। १६ ।। हे समुद्र ! तुम क्यों सदा गर्जते रहते हो ? तुम्हें नींद नहीं आती ? क्या तुम्हें निरन्तर जागनेका रोग लग गया है या कि भगवान कृष्णने तुम्हारे कौस्तुभमणि आदि चिह्नोंको हर लिया है, इसीसे तुम्हें हमलोगोंकी नाईं यह दुस्तर अवस्था प्राप्त हुई है ? ।। १७ ।। हे चन्द्रदेव ! तुम अतिशय दारुण क्षयरोगसे ग्रस्त हो । क्या इसी वास्ते अपनी किरणोंसे अन्धकारको दूर नहीं करते ? अथवा हमारे समान ही भगवान कृष्णचन्द्रके रहस्य-भाषणोंको भूलकर उन्हींकी चिन्तासे क्षीण होकर तुम हमें मौन दिखायी देते हो ? ।। १८ ।। हे मलयमारुत ! हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम श्रीगोविन्दके कटाक्षबाणोंसे घायल हमारे हृदयोंमें कामोद्वेगका सञ्चार करते हो ? ।। १९ ।। हे श्रीमान् मेघ ! तुम अवश्य ही श्रीयदुनाथके प्रिय हो । तुम भी हमारे ही समान उनके प्रेमपाशमें बँधकर उन श्रीवत्सलाञ्छन श्यामसुन्दरका ध्यान करते हो और हमारी ही तरह अति उत्कण्ठित तथा चिन्तासे मलिनहृदय हो बारम्बार, उनका स्मरण करके आँसुओंकी धाराएँ बहा रहे हो ।

प्रियरावपदानि भाषसे मृतसञ्जीविकयानया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ॥२१॥
न चलसि न वदस्युदारबुद्धे क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ॥२२॥
शुष्यद्ध्रदाः कर्शिता बत सिन्धुपत्न्यः सम्प्रत्यपास्तकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।
यद्वद् वयं मधुपतेः प्रणयावलोकमप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ॥२३॥

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितःस्वस्त्यास्त उक्तंपुरा।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम्॥
इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे । क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥२५॥
श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः । उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः॥२६॥
याः संपर्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः । जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥२७॥
एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः । गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत् पदम् ॥२८॥
आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् । आसन् षोडशसाहस्रं महिष्यश्च शताधिकम् ।२६।
तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः । रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥३०॥

सच है, उनका सम्बन्ध बारम्बार दुःख ही देता है ॥२०॥ ओ कमनीयकण्ठ कोयल ! तू अपनी अमृत सरीखी वाणीसे प्रियभाषी कृष्णचन्द्रके समान सुमधुर वचन बोलती है । बता, अब हम तेरा क्या प्रिय कार्य करें ॥ २१ ॥ ओ उदारबुद्धि भूधर ! तुम तो डिगते ही नहीं । मालूम होता है कि किसी गूढ़ विचारमें लीन हो । हमारेही समान क्या तुम भी अपने शिखररूपी स्तनोंपर भगवान वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके चरणकमल धरना चाहते हो ? ॥ २२ ॥ हे समुद्रकी पत्नी नदियों ! इस ग्रीष्म ऋतुमें तुम्हारे कुण्ड सूख गये हैं और तुम्हारी पङ्कजश्री नष्ट होगयी है । इस समय तो तुम बहुतही कृश दीखती हो । ऐसा मालूम होता है कि जैसे अपने प्रियतम पति श्रीकृष्णके प्रणयकटाक्षको न पाकर हृदय हर जानेके कारण हम दीनदुर्बल हो रही हैं । वैसे ही तुम मेघके द्वारा अपने प्रियतम समुद्रका जल न पानेसे ऐसी क्षीण होगयी हो ॥ २३ ॥ हे हंस ! हम तुम्हारा स्वागत करती हैं । आओ, यहाँ बैठो और दूध पियो । हे प्रिय ! हमारा ख्याल है कि तुम कृष्णचन्द्रके दूत हो । अच्छा तो उनकी बातें तो सुनाओ । कहो, किसीके वशमें न होनेवाले मेरे प्रियतम सकुशल तो हैं ? वे अस्थिर सौहार्द कृष्ण क्या कभी पूर्वमें हम लोगोंसे की हुई रहस्यकी बातें याद करते हैं ? जब वे हमारी कुछ परवाह नहीं करते तो हम ही उन्हें क्यों भजें ? हे क्षुद्रके दूत ! जो हमलोगोंको वञ्चित करके अकेली उनके साथ रमण करती है, उस लक्ष्मीको वहीं छोड़कर केवल कामप्रद कृष्णको यहाँ बुला ले आओ । क्या सब स्त्रियोंमें एकमात्र वेही अनन्यनिष्ठावाली हैं, हममेंसे कोई भी वैसी नहीं है ? ॥ २४ ॥ हे राजन् ! इस तरह योगेश्वरेश्वर भगवान कृष्णमें किये जाननेवाले ऐसे अनन्य प्रेमभावसे उन कृष्णकी प्रियाओंने परमपद प्राप्त किया । नाना प्रकारसे कीर्तित भगवान कृष्णका सुयश ऐसा मनोमोहक है कि वह सुनतेही बरबस स्त्रियोंका चित्त अपनी ओर खींच लेता है । फिर जिन्होंने उनका साक्षात् दर्शन कर लिया है, उनका क्या कहना है ? ॥ २५-२६ ॥ जिन बड़भागिनियोंने पतिबुद्धिसे जगद्गुरु कृष्णकी चरण दबाने आदि विधियोंसे प्रेमपूर्वक सेवा की, उनकी तपस्याका वर्णन कैसे किया जा सकता है ? ॥ २७ ॥ सत्पुरुषोंके लिये एकमात्र गति भगवान कृष्णने वेदोक्त धर्मका इस तरह बारम्बार आचरण करते हुए यह दिखला दिया कि घर ही धर्म, अर्थ तथा कामकी प्राप्तिका स्थान है ॥ २८ ॥ गृहस्थोंके परमश्रेष्ठ धर्मका आचरण करनेवाले भगवान कृष्णके सोलह सहस्र एक सौ आठ रानियाँ थीं ॥ २९ ॥ हे राजन् ! उन रत्नस्वरूपा स्त्रियोंमें जिन रुक्मिणी आदि आठ पटरानियों तथा उनके पुत्रों-

एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् । यावत्य आत्मनो भार्या अमोघगतिरीश्वरः॥३१॥
तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः । आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु॥३२॥
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च दीप्तिमान् भानुरेव च । साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः ॥३३॥
पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः । चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥३४॥
एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः । प्रद्युम्न आसीत् प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः३५
स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः । तस्मात् सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः३६
स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः । वज्रस्तस्याभवद् यस्तु मौसलादवशेषितः॥३७॥
प्रतिबाहुरभूत्तस्मात् सुबाहुस्तस्य चात्मजः । सुबाहोः शान्तसेनोऽभूत् शतसेनस्तु तत्सुतः ३८
न ह्येतस्मिन् कुले जाता अधना अबहुप्रजाः । अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे॥३९॥
यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् । संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप ॥४०॥
तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च । आसन् यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम्४१
संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् । यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥४२॥
देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः । ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥४३॥
तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले । अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥४४॥
तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वेनाभवद्धरिः । ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥४५॥
शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानादिकर्मसु । न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः॥४६॥

का पहले क्रमशः वर्णन किया गया है, उनके अतिरिक्त भी भगवान कृष्णकी जितनी स्त्रियाँ थीं, उन सबमें प्रत्येककी कोखसे अमोघगति भगवान कृष्णने दस-दस पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३०-३१ ॥ हे राजन्! उन महापराक्रमी कृष्णके पुत्रोंमें अठारह महारथी उदार एवं बड़े यशस्वी पुत्र थे। उनके नाम मैं बतलाता हूँ, सुनो ॥ ३२ ॥ वे थे—प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, दीप्तिमान्, भानु, साम्ब, मधु, बृहद्भानु, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु विरूप, कवि और न्यग्रोध ॥ ३३-३४ ॥ हे राजन्! उन भगवान कृष्णके इन पुत्रोंमें भी रुक्मिणीतनय प्रद्युम्नजी ही सबसे श्रेष्ठ और अपने पिताके समान तेजस्वी थे॥३५॥ महारथी वीर प्रद्युम्नजीने रुक्मीकी कन्यासे विवाह किया था, उसके उदरसे हाथियोंके सदृश बलवान् अनिरुद्धनामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३६ ॥ रुक्मीके दौहित्र श्रीअनिरुद्धजीने अपने नानाकी पोतीसे विवाह किया था। उनसे वज्रका जन्म हुआ, जो विप्रके शापसे यदुकुलको नष्ट करनेवाले मूसलसे अकेले ही बाकी बचे थे ॥ ३७ ॥ वज्रसे प्रतिबाहु, उसके सुबाहु, उसके शान्तसेन और शान्तसेनके शतसेननामक पुत्र जायमान हुआ ॥ ३८ ॥ हे राजन्! इस कुलमें कोई पुरुष निर्धन, अल्पायु, अल्पवीर्य अथवा ब्राह्मणोंकी भक्तिसे शून्य नहीं था। हे नृप! यदुवंशमें उत्पन्न प्रसिद्ध पराक्रमी पुरुषोंकी गणना कोई हजार वर्षमें भी नहीं कर सकता ॥३९-४०॥ सुना जाता है कि यदुकुलमें उत्पन्न बालकोंको शिक्षा देनेके लिये तीन करोड़ अट्ठासी लाख (३८८०००००) आचार्य थे ॥ ४१ ॥ तब महात्मा यादवोंकी गणना कौन कर सकता है कि जहाँ कई अयुत-अयुत लक्ष (१००००००००००००) वीरों सहित महाराज उग्रसेन विराज रहे थे ॥ ४२ ॥ हे राजन्! पूर्वसमयमें देवासुरसंग्रामके अवसरपर जो भयङ्कर दैत्य मारे गये थे, वे जब मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर अति दर्पपूर्वक प्रजाको सताने लगे ॥ ४३ ॥ तब उन दैत्योंका निग्रह करनेके लिये भगवान श्रीकृष्णकी आज्ञासे देवताओंने यदुकुलमें अवतार लिया था। हे राजन्! सब मिलाकर उनके एक सौ एक कुल थे ॥ ४४ ॥ उनके प्रभुरूपसे श्रीकृष्णचन्द्र ही माननीय थे। जो यादव उनके अनुयायी थे, वे सब खूब वृद्धिको प्राप्त हुए ॥ ४५ ॥ वे यादवगण भगवान कृष्णमें ऐसे दत्तचित रहते थे, कि उन्हें शयन, आसन, भ्रमण, वार्तालाप, क्रीडा और स्नानादि कृत्योंमें लगे हुए अपने शरीरों-

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः ।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥४७॥
जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपर्षत्स्वैरदोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ॥४८॥
इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयाऽऽत्तलीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्ममकषाणि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४९॥
मर्त्यस्तयानुसवमेधितया मुकुन्दश्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयेति ।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं ग्रामाद् वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्धे श्रीकृष्णचरितानुवर्णनं नाम नवतितमोऽध्यायः ॥९०॥

की भी सुधि नहीं रहती थी ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! जिन्होंने यदुकुलमें जन्म लेकर अपने चरणोदकरूपी गङ्गाके तीर्थसे अपने सुयशरूपी तीर्थको नीचा कर दिया, जिनके शत्रु तथा मित्र दोनों समान भावसे सरूपताको प्राप्त हुए, जिनको पानेके लिये सबलोग यत्न करते रहते हैं, वह लक्ष्मीजी जिन श्री-विष्णुके आश्रित रहती हैं, जिनका नाम सुननेसे सब अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं और जिन्होंने ऋषियों-के वंशमें धर्मका प्रचार किया है, उन कालरूप सुदर्शनचक्रधारी भगवान कृष्णके लिये पृथिवीका भार उतारना कोई विस्मयकी बात नहीं है ॥ ४७ ॥ जो भगवान सब जीवोंके आश्रयस्थान, कहने भरको देवकीजीके गर्भसे जन्म लेनेवाले, यादवरूपी पार्षदोंसे सेवित, अपने भुजबलसे अधर्मका अन्त करनेवाले, चराचर जगत्का क्लेश दूर करनेवाले तथा जो अपने मधुर मुसकानभरे मुखारविन्दसे व्रजबालाओंका प्रेमोद्दीपन करते हैं, उन भगवान श्रीकृष्णकी सदा जय हो ॥ ४८ ॥ हे राजन् ! भगवानके चरणकमलोंके प्रेमी अपने ही द्वारा स्थापित धर्ममार्गके रक्षार्थ लीलाशरीरधारी भगवान कृष्णके चरित्रोंको सुनें, जो जगत्के कर्मबन्धनोंके नाशक कृष्णभगवानके ही अनुरूप हैं ॥ ४९ ॥ भगवान श्रीकृष्णकी सुन्दर कथाओंका नित्य श्रवण, कीर्तन तथा चिन्तन करनेसे मनुष्य उनके उस परधामको प्राप्त हो जाता है, जहाँ दुस्तर कालका भी वश नहीं चलता और जिसको पानेके लिये बहुत-से राजे राजधानियोंको त्याग वनोंका रास्ता पकड़ लेते हैं ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे उत्तरार्द्धे साहित्यशास्त्रि—पं० रामतेज-पाण्डेयकृत 'सामयिकी'भाषाटीकायां नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

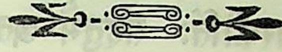


इति दशमस्कन्धोत्तरार्द्धः समाप्तः ।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्



एकादशस्कन्धः

—:※:—

प्रथमोऽध्यायः

श्रीबादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः । भुवोऽवतारयद् भारं जविष्ठं जनयन् कलिम् ॥१॥
ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नैर्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान् हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः ॥२॥
भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं यद् यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥३॥
नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथञ्चिन्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणुस्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥४॥
एवं व्यवसितो राजन् सत्यसङ्कल्प ईश्वरः । शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः ॥५॥
स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम् । गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ६

श्रीहरिः । (यदुकुलको विश्वामित्र-असित आदि ऋषियोंका शाप) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! यादवों और बलरामके साथ रहते हुए भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने दैत्योंको मार तथा कौरव-पाण्डवोंमें घोर युद्ध अर्थात् महाभारत कराके पृथिवीका भार उतारा ॥ १ ॥ जो कपट-द्यूत, अपमान तथा द्रौपदीके केश खींचने आदिके कारण अपने शत्रुओं अर्थात् दुर्योधन आदि कौरवों द्वारा अत्यन्त कुपित कर दिये गये थे, उन पाण्डवोंको निमित्त बनाकर दोनों ओरसे युद्धमें उपस्थित राजाओंको मारकर भगवानने पृथ्वीका भार उतार लिया ॥ २ ॥ अपनी भुजाओंसे सुरक्षित यादवों द्वारा अन्य राजाओंकी पृथ्वीके भारसदृश सेनाका संहार करके अप्रमेय भगवान श्रीकृष्णने सोचा कि यद्यपि साधारणतया पृथिवीका भार उतर गया है, फिर भी मैं अभी उसे नहीं उतरेके समान ही मानता हूँ । क्योंकि अभी असह्य यादवकुल तो विद्यमान ही है ॥ ३ ॥ सर्वदा मेरे आश्रित रहनेवाले तथा विशाल वैभवसे उच्छृङ्खल इस यदुकुलका दमन किसी दूसरेके द्वारा कदापि नहीं हो सकता । अतएव बाँसोंके वनमें उत्पन्न अग्निके समान इनमें परस्पर कलह उत्पन्न करके मैं शान्तिके साथ अपने धामको चला जाऊँगा ॥ ४ ॥ हे राजन् ! सत्यसङ्कल्प तथा ईश्वर भगवान कृष्णने ऐसा निश्चयकर ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने कुलका संहार करा डाला ॥ ५ ॥ समस्त संसारकी शोभा-को तिरस्कृत करनेवाली अपनी मधुर मूर्तिसे लोगोंके नेत्रों तथा अपनी दिव्य वाणीसे उनकी वाणियोंका स्मरण करनेवाले भक्तोंके चित्तोंको अपने वशमें कर तथा अपने चरणचिह्नोंसे उनका

आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ। तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात् स्वं पदमीश्वरः ॥७॥

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्। विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्॥८॥
यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम। कथमेकात्मनां भेद एतत् सर्वं वदस्व मे ॥९॥

श्रीशुक उवाच

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥१०॥
कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः ॥११॥
विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः। कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः॥१२॥
क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः। उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥१३॥
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्। एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा॥१४॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात् प्रब्रूतामोघदर्शनाः। प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित् संजनयिष्यति१५
एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप। जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम्॥१६॥
तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम्। साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन् मुसलं खल्वयस्मयम्१७

दर्शन करनेवालोंके अन्यान्य कर्मोंको रोक एवं अपनी कविजनकीर्तित कमनीय कीर्तिका लोकमें इसलिए विस्तार किया कि 'इसको गाकर लोग अनायास अज्ञानान्धकारके पार उतर जायँगे' और तब भगवान अपने परम धामको चले गये ॥ ६–७ ॥ इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित बोले—हे भगवन्! जो असाधारण ब्राह्मणभक्त, उदार तथा नित्य गुरुजनोंकी सेवा करनेवाले थे और जिनका चित्त सदा कृष्णमें ही रत रहता था, उन यादवोंको ब्राह्मणोंका शाप कैसे प्राप्त हुआ ? ॥ ८ ॥ हे द्विजसत्तम! वह शाप जैसा था और जो उसका निमित्त था तथा जैसे उन सुसंगठित यादवोंमें फूट पड़ी हो, वह सब वृत्तान्त कहिये ॥ ९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन्! सम्पूर्ण सुन्दर सामग्रियोंके समावेशसे पूर्ण तथा कमनीय कलेवर धारण करके पूर्णकाम होनेपर भी संसारमें अनेक मङ्गलमय कार्य तथा श्रीद्वारकापुरीमें रहकर लीलायें करते हुए उदारकीर्ति भगवान कृष्णने अपने कुलका नाश करनेकी इच्छा की। क्योंकि अब उनके लिए यही एक कार्य बाकी बच रहा था ॥१०॥ अपना गुणगान करनेवाले प्राणियोंके सारे कलिमलविनाशक अनेक पुण्यदायक तथा मङ्गलमय कार्य करके जब भगवान श्रीकृष्ण यदुराज वसुदेवजीके घरमें कालरूपसे निवास करने लगे, तब जो लोग भगवानकी इच्छासे ही उनकी लीलाओंमें सहायक बनकर धरातलमें आये थे। वे विश्वामित्र असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि मुनिजन भगवानसे विदा होकर द्वारकापुरीके निकट ही पिण्डारकक्षेत्रमें जाकर रहने लगे ॥ ११–१२ ॥ एक दिनकी बात है, वहाँ खेलते-खेलते यदुवंशके कुछ उद्दण्ड राजकुमारोंने स्त्रीजनोचित वस्त्राभूषण पहनाकर जाम्बवतीतनय साम्बको स्त्री बनाया और उन मुनीश्वरोंके समीप जाकर अति विनीत पुरुषोंके समान उनके चरण छूकर कहा—"हे विप्रों! यह श्यामनयनी सुन्दरी गर्भवती है। यह आपसे कुछ पूछना चाहती है, किन्तु अपने मुँहसे पूछनेमें इसे लज्जा मालूम पड़ती है। हे अमोघदर्शन मुनिगण! यह पुत्रप्राप्तिकी इच्छुक सुन्दरी अब प्रसव करने वाली है, सो आप बतलाइये कि यह कौन सन्तान उत्पन्न करेगी—पुत्र या कन्या ?" ॥ १३–१५ ॥ हे राजन्! उनके इस प्रकार धोखेमें डालनेकी चेष्टा करनेपर मुनियोंने कुपित होकर कहा—"हे बालकों! यह तुम्हारे कुलका नाश करनेवाला एक मूसल उत्पन्न करेगी" ॥ १६ ॥ यह सुनकर वे बालक अत्यन्त भयभीत हो गये और उन्होंने तत्काल साम्बका पेट खोलकर

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः । इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥
तच्चोपनीय सदसि परिम्लानमुखश्रियः । राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥१६॥
श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप । विस्मिता भयसन्त्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥२०॥
तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः । समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥२१॥
कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः । उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन् किलैरकाः॥२२
मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यः सहार्णवे । तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत्।२३।
भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा । कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥२४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह । अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥१॥
को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम् । न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥२॥
तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् । अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥३॥

वसुदेव उवाच

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् । कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥४॥

देखा तो सचमुच उसमेंसे एक लोहेका मूसल निकला ॥ १७ ॥ तब वे "हम मन्दभाग्योंने यह क्या किया, लोग हमको क्या कहेंगे ?" इस चिन्तासे आकुल हो और उस मूसलको लेकर अपने घर चले गये ॥ १८ ॥ मलिन मुखकान्तिवाले वे यादवकुमार उस मूसलको लेकर राजसभामें आये और सब यादवोंके समक्ष राजा उग्रसेनसे वह सब प्रसङ्ग कह सुनाया ॥ १६ ॥ हे राजन् ! ब्राह्मणोंका अमोघ शाप सुन तथा वह मूसल देखकर सब विस्मित द्वारकावासी भयसे व्याकुल हो रहे थे ॥ २० ॥ यदुराज उग्रसेनने उस मूसलका चूर्ण कराके उसे तथा बाकी बचे लोहेके एक टुकड़ेको समुद्रमें डलवा दिया ॥ २१ ॥ उस लोहेके टुकड़ेको कोई मत्स्य निगल गया और मूसलका चूर्ण तरङ्गोंमें बहकर समुद्रतटपर जा लगा । उससे वहाँ एरका वृक्ष उत्पन्न हो गये ॥ २२ ॥ उस मत्स्यको दूसरी मछलियोंके साथ मछुओंने समुद्रमें जाल डालकर फँसा लिया और उसके पेटसे निकले लोहेके टुकड़ेको जरानामक व्याधने अपने बाणकी नोकपर मढ़ लिया ॥ २३ ॥ सब बातोंके ज्ञाता भगवानने उस विप्रशापका प्रतीकार करनेमें समर्थ होकर भी उसे अन्यथा नहीं करना चाहा, बल्कि उन कालरूपधारी प्रभुने उसका समर्थन ही किया ॥ २४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(श्रीवसुदेवजीको देवर्षि नारदजीका उपदेश) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे कुरुकुलतिलक ! देवर्षि नारदजी भगवान कृष्णकी भुजाओंसे सुरक्षित द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णकी उपासनाकी लालसासे प्रायः सर्वदा रहा करते थे ॥ १ ॥ हे राजन् ! सब ओर मृत्युसे घिरा हुआ ऐसा कौन इन्द्रियवान् प्राणी होगा, जो भगवान कृष्णके सुरवरसंसेव्य चरणकमलोंको न भजेगा ? ॥ २ ॥ एक दिन अपने घर आये हुए देवर्षि नारदजीकी पूजा करके श्रीवसुदेवजी सुखपूर्वक आसनपर विराजमान उन देवर्षि नारदको प्रणाम करके कहने लगे ॥३॥ श्रीवसुदेवजीने कहा—हे भगवन् ! पुत्रोंके लिए पिता-माता तथा दीन-दुखियोंके लिये भगवत्परायण महात्माओंके आगमनके सदृश आपका आगमन

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥५॥
भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् । छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥६॥
ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान् भागवतांस्तव । याञ्छ्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतोभयात् ॥७॥
अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् । अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥८॥
यथा विचित्रव्यसनाद् भवद्भिर्विश्वतोभयात् । मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥९॥

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता । प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥१०॥

नारद उवाच

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ । यत् पृच्छसे भागवतान् धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥११॥
श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः । सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ॥१२॥
त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः । स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥१३॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥१४॥
प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः । तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥१५॥
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया । अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ॥१६॥
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः । विख्यातं वर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥१७॥

समस्त पुरुषोंके कल्याणके लिए ही हुआ करता है ॥ ४ ॥ देवताओंके चरित्र सब प्राणियोंके सुख-दुःख दोनोंहीके निमित्त होते हैं, किन्तु आप सरीखे भगवत्प्राण साधुपुरुषोंके आचरण उनके सुखके लिए ही होते हैं ॥५॥ देवताओंको जो पुरुष जिस तरह भजते हैं, तो देवता भी उन्हें वैसा ही फल देते हैं। वे तो छायाकी भाँति कर्मोंका अनुसरण करनेवाले होते हैं। किन्तु साधुजन स्वभावसे ही दीनोंपर कृपालु हुआ करते हैं ॥६॥ हे ब्रह्मन् ! यद्यपि मैं आपके दर्शनमात्रसे पवित्र हो गया हूँ। फिर भी आपसे भागवत धर्मोंके विषयमें कुछ पूछना चाहता हूँ। जिनको श्रद्धापूर्वक सुननेसे मनुष्य सब भयसे मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ देवमायासे मोहित होकर मैंने पूर्वजन्ममें सन्तानके लिए ही मुक्तिदायक भगवानका पूजन किया था, मोक्षके निमित्त नहीं ॥ ८ ॥ अतएव हे सुव्रत ! हम आपको निमित्त बनाकर विविध प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण तथा सब भयोंसे व्याप्त इस संसारसे जिस तरह अनायास मुक्त हो सकें, ऐसा कोई स्पष्ट उपदेश आप हमें दें ॥ ९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं–हे राजन् ! बुद्धिमान् वसुदेवजीके इस प्रकार पूछनेपर भगवानके गुणों द्वारा भगवानका स्मरण करा दिये जानेसे परम प्रसन्न देवर्षि नारदजी उनसे कहने लगे ॥ १० ॥ नारदजी बोले—हे यादवश्रेष्ठ ! आपका विचार बहुत उत्तम है। क्योंकि आप सबको पवित्र करनेवाला भागवत-धर्म हमसे पूछ रहे हैं ॥११॥ हे वसुदेव ! श्रवण, बार-बार पठन, स्मरण, आदर तथा अनुमोदन किये जानेपर यह भागवत-धर्म समस्त विश्वके साथ विद्रोह करनेवालोंको भी तत्काल पवित्र कर देता है ॥ १२ ॥ जिनके नाम तथा लीलाओंके श्रवण-कीर्तन प्राणीको पवित्र करते हैं, उन परम कल्याणकारी भगवान नारायणका आज आपने मुझे स्मरण करा दिया है ॥ १३ ॥ इस विषयमें हम महात्मा राजा विदेह तथा ऋषभके पुत्रोंके संवादस्वरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देरहे हैं ॥ १४ ॥ स्वायम्भुव मनुके प्रियव्रत-नामके पुत्र थे। उनसे आग्नीध्र, आग्नीध्रके नाभि और नाभिके ऋषभजी हुए ॥ १५ ॥ कहा जाता है कि ऋषभजी भगवान वासुदेवके अंश थे। उन्होंने मोक्षधर्मका उपदेश करनेके लिये ही संसारमें अवतार लिया था। ऋषभजीके सौ पुत्र थे और वे सब वेदके पारगामी थे ॥ १६ ॥ उनमें सबसे बड़े पुत्र भरतजी थे, जो भगवान नारायणके परमभक्त माने जाते थे। उन्हींके नामसे यह अद्भुत

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् । उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥१८॥
तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः । कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥१९॥
नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः । श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२०॥
कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः । आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥२१॥
त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् । आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम् २२
अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्यगन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथविद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥२३॥
त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया । वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥२४॥
तान् दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान् महाभागवतान् नृपः । यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥
विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् । प्रीतः संपूजयाञ्चक्रे आसनस्थान् यथार्हतः ॥२६॥
तान् रोचमानान् स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान् नव । पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥२७॥

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः । विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि २८
दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः । तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२९॥
अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः । संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ३०
धर्मान् भागवतान् ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् । यैः प्रपन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥३१॥

देश भारतवर्षनामसे संसारमें विख्यात है ॥१७॥ भरतजीने इस भुक्तभोगा पृथिवीको त्यागकर वनमें जा तपस्या द्वारा श्रीकृष्णभगवानकी उपासना की और तीन जन्मके बाद मोक्षपद पाया ॥१८॥ उनमेंसे नौ पुत्र इस भूमण्डलके सब ओर नवों द्वीपोंके अधिपति हुए और इक्यासी पुत्र कर्मतन्त्रोंके रचयिता ब्राह्मण हो गये ॥१९॥ नौ पुत्र परमार्थके निरूपक महाभाग मुनि हुए। वे आत्मविद्यामें सन्नद्ध, दिगम्बर और अध्यात्मविद्याके पारङ्गत थे ॥२०॥ उनके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ॥२१॥ वे लोग सत् अर्थात् व्यक्त और असत् अर्थात् अव्यक्तरूपी समस्त संसारको अपनेसे अभिन्न भगवद्रूपमें देखते हुए पृथिवीपर विचरते थे ॥ २२ ॥ उनकी स्वेच्छागति थी। उनके लिये कहीं रोक-टोक नहीं थी। वे जीवन्मुक्त महात्मा, देवता, सिद्ध, साध्यगण, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर एवं नागोंके लोकों तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थानोंमें स्वेच्छानुसार विचरने लगे ॥ २३ ॥ एक बारकी बात है कि वे अजनाभखण्ड यानी भारतवर्षमें महात्मा राजा निमिके यहाँ, जो उस समय ऋषियों द्वारा यज्ञ करा रहे थे, एकाएक जा पहुँचे ॥ २४ ॥ उन सूर्यसदृश तेजस्वी महाभागवतोंको देखकर यजमान, ब्राह्मणगण तथा अग्नि सबके-सब उठ खड़े हुए ॥२५॥ महाराज विदेहने उन्हें नारायणपरायण भक्त जानकर दिव्य आसनोंपर बिठाया और उन मुनियोंका अतिशय प्रेमपूर्वक यथायोग्य पूजन किया ॥२६॥ अपने शरीरके तेजसे ब्रह्माजीके पुत्रोंके सदृश सुशोभित उन नौ योगीश्वरोंसे राजा जनकने अति प्रसन्न चित्तसे बड़ी नम्रतापूर्वक प्रश्न किया ॥ २७ ॥ विदेह बोले—हे भगवन् ! मैं आपलोगोंको साक्षात् भगवान मधुसूदनका पार्षद समझता हूँ। क्योंकि भगवान विष्णुके पार्षद संसारके प्राणियोंको पवित्र करनेके लिएही विचरते रहते हैं ॥ २८ ॥ जीवको पहले तो यह क्षणभंगुर मानव शरीर ही मिलना दुर्लभ रहता है, यदि यह मिला भी तो भगवद्भक्तोंका दर्शन मिलना मैं और भी दुर्लभ समझता हूँ ॥२९॥ अतएव हे पुण्यात्मा महानुभावो ! मैं आपसे यह जिज्ञासा करता हूँ कि संसारमें आत्यन्तिक कल्याण किसमें है ? इस जगत्में महात्माओंका आधे क्षणका सत्सङ्ग भी मनुष्योंके लिये बड़े भारी निधिके सदृश होता है ॥ ३० ॥ यदि हमारे सुनने योग्य हो तो हमको वह भागवत-धर्म सुनाइये, जिससे प्रसन्न होकर अजन्मा

नारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः । प्रतिपूज्याब्रुवन् प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम्॥३२॥

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद् विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये । अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥३४

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥३५॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥३६॥

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत् कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥३८॥

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥३९॥

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥

भगवान् अपने शरणागत भक्तके लिये अपने आपको भी दे डालते हैं । श्रीनारदजी कहने लगे—हे वसुदेव ! निमिके इस तरह प्रश्न करनेपर उन महात्माओंने प्रसन्नतापूर्वक धन्यवाद दिया और सभासद तथा ऋत्विजोंसमेत राजा निमिसे कहा ॥ ३१–३२ ॥ कवि बोले—हे राजन् ! इस लोकमें मैं तो अच्युतभगवानके चरणकमलोंकी नित्य उपासनाको ही सर्वथा भयशून्य मानता हूँ । असत्में आत्मभावनाके कारण जिनकी बुद्धि उद्विग्न होगयी रहती है, उनका भी सब भय उपासनासे भाग जाता है ॥ ३३ ॥ अज्ञ पुरुषोंको भी तत्काल आत्मलाभ करानेके लिये भगवानने जो उपाय बतलाये हैं, तुम उन्हींको भागवतधर्म जानो ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! उन भागवतधर्मोंका आश्रय लेनेपर कोई मनुष्य कभी भी प्रमादमें नहीं पड़ता और उसपर कभी किसी प्रकारके विघ्नोंका आक्रमण नहीं होता । वह संसारमें आँख मूँदकर दौड़नेपर भी न तो कहीं फिसलता और न गिरता है ॥ ३५ ॥ इस धर्मका पालन करनेवालेका कर्तव्य है कि शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे बुद्धिसे, अहङ्कार अथवा अपने अनुगत स्वभावसे जो कुछ भी कर्म करे, सो सब परमात्मा नारायणके लियेही है। ऐसा समझकर उन्हींको समर्पण कर दे ॥ ३६ ॥ जो पुरुष भगवानसे विमुख रहता है, उसको ईश्वरी मायासे भगवानके स्वरूपकी विस्मृति तथा 'मैं देह हूँ'—ऐसा विपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्माके अतिरिक्त द्वितीय वस्तुकी सत्ताका अभिमान होनेसे भय प्राप्त होता है । अतएव बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है कि अपने गुरुदेवमें इष्टबुद्धि करके उन श्रीहरिको ही भक्तिभावसे भजे ॥ ३७ ॥ यह द्वैतात्मक प्रपञ्च वास्तवमें न होनेपर भी उसी तरह परमार्थरूप भासता है, जैसे स्वप्न और मनोरथके पदार्थ न होते हुए भी चिन्तन करनेवालेकी बुद्धिमें सत्यवत् भासते हैं। अतएव विचारशील पुरुष को चाहिये कि वह पहले कर्मोंका सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले चित्तको रोके, तभी उसे अभयपदकी प्राप्ति होगी—अन्यथा नहीं ॥ ३८ ॥ लोकमें चक्रपाणि भगवान विष्णुके कल्याणकारी जन्म तथा कर्मका गुण सुनता हुआ उनकी विचित्र लीलाओंके अनुसार रक्खे हुए नामोंका निःसङ्कोच होकर गान करे और असङ्गभावसे संसारमें विचरे ॥ ३९ ॥ इस प्रकारके आचरणवाला प्राणी अपने परमप्रिय प्रभुके नाम-

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥
भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

राजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् । यथा चरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥४४॥

हरिरुवाच

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च । प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥४६॥
अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥४७॥
गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति । विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः । वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥

सङ्कीर्तनसे अनुराग उत्पन्न हो जानेपर द्रवितचित्त होकर संसारकी कुछ परवा न करके कभी खिलखिलाकर हँसता, कभी रोता, कभी चिल्लाता, कभी गाने लगता और कभी उन्मत्तकी भाँति नाचने लगता है ॥ ४० ॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल, नक्षत्र, प्राणी, दिशायें, वृक्ष, नदियाँ तथा समुद्र ये सब भगवान हरिके ही शरीर हैं। अतएव सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे ॥ ४१ ॥ भगवानका भजन करनेवालेको परमेश्वरमें प्रेम, उनके स्वरूपका अनुभव तथा अन्य वस्तुओंमें वैराग्य—ये तीनों बातें वैसे ही एक साथ मिल जाती हैं, जैसे भोजन करनेवालेको भोजनके प्रत्येक ग्रासके साथ-साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति ये तीनों बातें एक साथ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! भगवान अच्युतके चरणकमलोंका निरन्तर भजन करनेवाले भक्तको भगवत्प्रेम, विषयोंमें वैराग्य तथा भगवत्स्वरूपका ज्ञान ये दो अवश्य प्राप्त हो जाते हैं और फिर वह परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥४३॥ राजा निमि कहने लगे—अब आप भगवद्भक्तका वर्णन करें। उसके जो धर्म हों, मनुष्योंमें उसका जैसा बर्ताव होता हो, वह जैसा आचरण करता हो, जो कुछ बोलता हो और जिन लक्षणोंसे वह भगवानका प्रिय माना जाता हो, वह सब आप हमें बतला दीजिये ॥ ४४ ॥ श्रीकृष्णने कहा—जो समस्त प्राणियोंमें वर्तमान आत्माको भगवद्भावसे देखता तथा जो अपने भगवत्स्वरूपमें ही सब प्राणियोंको अध्यस्त मानता है, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४५ ॥ जो श्रीभगवानसे प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानियोंपर कृपा और भगवानमें द्वेषियोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त है ॥ ४६ ॥ जो भगवानके अर्चाविग्रह अर्थात् प्रतिमा आदिकी पूजामें ही श्रद्धासे प्रवृत्त होता है, उनके भक्तोंकी तथा अन्य किसीकी पूजा नहीं करता, वह साधारण भक्त माना जाता है ॥ ४७ ॥ इन्द्रियों द्वारा विषयोंको अपनाता हुआ भी 'यह सब भगवानकी ही माया है' ऐसी दृष्टि रखकर जो न उनसे द्वेष करता और न उन्हें पाकर प्रसन्न ही होता है, अवश्य वह भक्त भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ ४८ ॥ जो भगवानके स्मरणमें तल्लीन रहनेके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धिके सांसारिक धर्म, जन्म-मरण, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रम आदिसे मोहित नहीं होता, वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ४९ ॥ कामना तथा कर्मके बीजों अर्थात् वासनाओंका जिसके चित्तमें

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः । सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा । सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥
भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

———

तृतीयोऽध्यायः

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् । मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥१॥
नानुतृप्ये जुषन् युष्मद्वचो हरिकथामृतम् । संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥२॥

अन्तरिक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज । ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥३॥
एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः । एकधा दशधाऽऽत्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ४

उद्धव नहीं होता और एकमात्र भगवान वासुदेवका ही जिसे सहारा रहता है, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ होता है ॥ ५० ॥ जिसका जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम तथा जातिके कारण इस देहमें अहंभाव नहीं होता, वह अवश्य भगवानको प्रिय होता है ॥ ५१ ॥ जिसका धनमें या शरीरमें 'यह अपना है, यह पराया है' ऐसा भेद-भाव न हो, जो समस्त प्राणियोंमें समदृष्टि रखकर शान्तचित्त हो, अवश्य ही वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ५२ ॥ तीनों लोकोंके राज्य-वैभवके लिये भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूटता, भगवानमें ही मन लगाये रहनेवाले देवता आदि भी जिन्हें खोजा करते हैं, उन भगवच्चरणारविन्दोंकी सेवासे जो आधे क्षण अथवा आधे पलके लिये भी विचलित नहीं होता, वही सब भगवद्भक्तोंमें अग्रणी होता है ॥ ५३ ॥ भगवान विष्णुके उरुविक्रम अर्थात् बड़े-बड़े डगोंवाले चरणोंकी अँगुलियोंके नखरूपी मणियोंकी शीतल कान्तिसे जिनका कामादि ताप शान्त होगया रहता है, उन भगवानकी शरणमें पड़े हुए पुरुषोंके हृदयमें पुनः वह ताप किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? रात्रिमें चन्द्रमाके उदय होनेपर क्या कभी सूर्यका ताप रह सकता है ? ॥ ५४ ॥ जो विवशभावसे अपना नाम उच्चारण किये जानेपर भी सब पापसमूह ध्वंस कर देते हैं, साक्षात् वे ही हरि प्रेमपाशसे अपने चरण-कमलोंके बँध जानेसे जिसका हृदय कभी नहीं छोड़ते, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(मायाका स्वरूप, उससे पार होनेका उपाय तथा ब्रह्म और कर्मका निराकरण) राजा निमि कहने लगे—हे भगवन् ! अब मैं मायावियोंको भी मोहित करनेवाली परमेश्वर भगवान विष्णुकी मायाका स्वरूप जानना चाहता हूँ, आप उसका वर्णन करें ॥ १ ॥ हे भगवन् ! मैं संसारके तापसे तपा हुआ मरणधर्मा मनुष्य हूँ । अतएव उस तापको मिटानेकी एकमात्र ओषधिस्वरूप आपके मुखारविन्दसे निकले हरिकथामृतरूपी वचन सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होने आती ॥२॥ अन्तरिक्षने कहा—हे महाबाहो ! सर्वभूतात्मा आदिदेव नारायणने अपने स्वरूप सदृश जीवोंके भोग तथा मोक्षके लिये

गुणैर्गुणान् स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः । मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥५॥
कर्माणि कर्मभिः कुर्वन् सनिमित्तानि देहभृत् । तत्तत्कर्मफलं गृह्णन् भ्रमतीह सुखेतरम् ॥६॥
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन् बह्वभद्रवहाः पुमान् । आभूतसंप्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥७॥
धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम् । अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति॥८॥
शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा भुवि । तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन् प्रतपिष्यति
पातालतलमारभ्य सङ्कर्षणमुखानलः । दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग् वर्धते वायुनेरितः॥१०॥
सांवर्तको मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः । धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट्११
ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप । अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः१२
वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते । सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते॥१३॥
हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते । हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते॥१४॥
कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते । इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥ १५ ॥
एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी । त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः । तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम्॥१७॥

अपने रचे पञ्चभूतोंसे ही विविध भाँतिके उत्कृष्ट और निकृष्ट भूतोंकी सृष्टिकी है॥३-४॥ इस तरह पञ्चमहाभूतोंसे रचे हुए प्राणियोंमें स्वयं जीवरूपसे प्रविष्ट होकर वह अपनेको ही मनरूपसे एक और बाह्य-इन्द्रियरूपसे दो भागोंमें विभक्त करके विषयोंको भोगता है। जीव आत्माके द्वारा प्रकाशित इन्द्रियोंसे विषयोंको भोगता और इस उत्पन्न शरीरादिको ही आत्मा मानता हुआ इसमें आसक्त हो जाता है॥ ५॥ और फिर देही अपनी कर्मेन्द्रियों द्वारा वासनापूर्ण कर्म करता तथा उनके सुख-दुःखयुक्त फल भोगता हुआ संसारमें भटकता फिरता है॥ ६॥ इस तरह विवश होकर विविध प्रकारके दुःख देनेवाली गतियोंको प्राप्त होकर यह जीव महाप्रलयतक जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है॥ ७॥ पञ्चभूतोंके प्रलयका समय उपस्थित हो जानेपर अनादि और अनन्त कालतक इस द्रव्यगुणात्मक स्थूलसूक्ष्मरूप व्यक्त सृष्टिको अव्यक्तकी ओर खींच ले जाया करता है॥ ८॥ जब वह समय आयेगा तब पृथ्वीपर सौ वर्षतक घोर अनावृष्टि होगी और उस समय बढ़ी भयी उष्णतासे सूर्यनारायण तीनों लोकोंको तपाने लगेंगे॥ ९॥ शेषनागके मुखसे निकला हुआ अग्नि वायुसे प्रेरित होकर पाताललोकसे लेकर समस्त विश्वको भस्म करता हुआ ऊँची-ऊँची लपटोंसे चारों ओर फैल जायगा॥ १०॥ उस समय संवर्तक मेघ-समूह हाथीकी सूँड़के सदृश मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्षतक जल बरसाते हैं। जिससे समस्त ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाता है॥ ११॥ हे राजन्! बिना ईंधनके अग्निकी भाँति विराट् पुरुष अपने ब्रह्माण्डमय शरीरको छोड़कर सूक्ष्मस्वरूपधारी 'अव्यक्त' ब्रह्ममें लीन हो जाता है॥ १२॥ उस समय वायुके द्वारा गन्ध खींच लिया जाता तथा पृथिवी जलरूप हो जाती है। उसी वायुसे खिंच जानेपर जल भी अग्निके रूपमें परिणत हो जाता है॥ १३॥ अन्धकारसे आच्छन्न अग्नि वायुमें और अवकाश द्वारा स्पर्शहीन वायु आकाशमें लय हो जाता है॥ १४॥ इसके बाद हे राजन्! कालके द्वारा अपने गुण अर्थात् शब्दसे रहित होकर आकाश तामस अहङ्कारमें, सब इंद्रियाँ राजस अहङ्कारमें, इन्द्रियोंके सब अधिष्ठाता देवताओं समेत मन एवं बुद्धि सात्त्विक अहंकारमें लय हो जाती, अहंकार अपने गुणोंके साथ महत्तत्त्वमें लीन हो जाता और महत्तत्त्व जाकर प्रकृतिमें लय हो जाता है॥ १५॥ इस प्रकार हमने जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाली भगवानकी त्रिगुणात्मिका मायाका वर्णन कर सुनाया अब और क्या सुननेकी इच्छा है? राजा निमिने कहा—

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च । पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८
नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना । गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः १९
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् । सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ।२०।
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् । शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ।२१।
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः । अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु । दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥२४॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् । विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥२५॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि । मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः । जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् । दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् । परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः । मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ।३०।

हे महर्षे ! अब मुझे आप ऐसा उपदेश दीजिये कि जिससे बिना जीते हुए चित्तवाले पुरुषोंके लिए दुस्तर ईश्वरी मायाको स्थूल बुद्धिवाले लोग भी आसानीसे पारकर जायँ ॥ १६–१७ ॥ प्रबुद्ध कहते हैं—हे राजन् ! दुःखके नाश तथा सुखकी प्राप्तिके निमित्त स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें बँधकर कर्मानुष्ठान-में संलग्न पुरुषोंको जो विपरीत फल मिलता है, उसे देखना आवश्यक है ॥ १८ ॥ इस दुःखदायक धनसे अति दुर्लभ, आत्माके लिए मृत्युरूप, अनित्य गृह, पुत्र, कुटुम्ब और पशु आदिको प्राप्त करनेसे भला लोगोंको क्या सुख प्राप्त हो सकता है ? ॥ १९ ॥ प्रत्येक मनुष्य यह समझ ले कि यह लोक तथा परलोक दोनों कर्मजनित और नाशवान् हैं। इनमें मण्डलेश्वर राजाओंकी तरह समानबलके प्रति स्पर्द्धा अर्थात् लागडांट, उत्कृष्टके प्रति द्वेष और स्वयं उत्कृष्ट होनेपर पतनका डर तो लगा ही रहता है ॥ २० ॥ अतएव अपने श्रेयःसाधनके इच्छुक जिज्ञासुका कर्तव्य है कि वह शब्द-ब्रह्म अर्थात् वेद और परब्रह्ममें संलग्न शान्तचित्त गुरुकी शरण गहे ॥ २१ ॥ उन गुरुदेवको ही आत्मा तथा इष्टदेव मानता हुआ उन्हींसे भागवतधर्मोंको सीखे। गुरुके प्रति निष्कपट आचरण करनेसे स्वयं अपने आपको दे डालनेवाले श्रीकृष्ण प्रसन्न हो जाते हैं ॥ २२ ॥ सर्वप्रथम सब ओरसे मनकी असङ्गता, साधुजनोंका सङ्ग, सब प्राणियोंके प्रति यथोचित दया, मैत्री एवं विनयभाव, शौच, तप, तितिक्षा अर्थात् द्वन्द्वोंका सहन, मौन अर्थात् व्यर्थ वार्ता-वर्जन, मननशीलता, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें समान व्यवहार, आत्मस्वरूप श्रीहरिको सर्वत्र देखना, एकान्तसेवन, अनिकेतता अर्थात् गृह आदिमें ममत्वका अभाव, पवित्र वस्त्र पहनना, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तोष करना, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रोंपर श्रद्धा रखना, अन्य शास्त्रोंकी निन्दा न करना, मन-वाणी-कर्मका संयम, सत्यभाषण, मन-वचन-कर्मसे दण्डदानपूर्वक शमदमादिका पालन करना, विचित्र लीला करनेवाले भगवानके जन्म, कर्म और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान, उन्हींके लिये समस्त कर्म करना, यज्ञ, दान, तप, जप, आचार अथवा जो कुछ भी अपनेको प्रिय हो सो सब तथा स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण ये सब परमात्माको अर्पण कर देना ही भक्तका कर्तव्य है। कृष्ण ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं, उन भक्त पुरुषोंसे प्रेम करे। स्थावर-जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणियों तथा महात्माओं और साधुजनोंकी सेवा करे। भगवानके परमपावन गुणोंको परस्पर कहे-

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् । भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्
क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥३२॥
इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया । नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥३३॥

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः । निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवित्तमाः ॥३४॥

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥३५॥
नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयाऽऽत्ममूलमर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥
सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम् ।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥३७॥
नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद् व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥

सुने । जिनसे आपसमें प्रेम, सन्तोष तथा शान्ति बढ़े, उन सभी कर्मोंको सीखे ॥ २३–३० ॥ इस तरह पापपुञ्जनाशक कृष्णभगवानका स्वयं स्मरण करते तथा औरोंसे कराते हुए महात्मा भक्तजन वैधी भक्तिके द्वारा प्रेमा भक्तिका उदय होनेपर पुलकित हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ इस दशामें वे अलौकिक पुरुष भगवान अच्युतका ध्यान करते हुए कभी रोते, कभी हँसते, कभी आनन्दित होते और कभी बकने-झकने लगते हैं । वे कभी नाचते, कभी भगवद्गुण गाते और कभी उन अजन्मा प्रभुकी लीलाओंका चिन्तन करते हुए परम उपरतिको प्राप्त होकर मौन हो जाया करते हैं ॥ ३२ ॥ इस रीतिसे भागवत-धर्मों का अभ्यास करते-करते उन धर्मों से उत्पन्न प्रेमा-भक्तिके द्वारा नारायणपरायण होनेपर पुरुष अनायास इस दुस्तर मायाके पार पहुँचे जाते हैं ॥ ३३ ॥ राजा निमि कहने लगे—हे मुनियों ! आप परब्रह्मका निरूपण करनेवाले हैं । अतएव आप हमें नारायणनामक परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका उपदेश करिये ॥ ३४ ॥ पिप्पलायन कहते हैं—हे राजन् ! जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके कारण होकर भी स्वयं कारणरहित हैं । जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं-के भीतर और उनके बाहर भी हैं । जिनके द्वारा संजीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण तथा हृदय अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हींको तुम परम तत्त्व नारायण समझो ॥ ३५ ॥ जैसे चिन-गारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं, वैसे ही इस आत्मतत्त्व तक न मनकी गति होती है और न वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी ही । शब्द भी केवल निषेधवृत्तिके द्वारा निषेधकी अव-धिरूप अर्थापत्ति प्रमाणसे उसे लक्षित करता है । क्योंकि निषेधावधिका अर्थात् जो निषिद्ध पदार्थों-का आधार हो, उसका अभाव होनेके कारण निषेधकी सिद्धि ही नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥ सृष्टिके आदिमें केवल ब्रह्म ही था । वही सत्व, रज और तमरूपसे 'त्रिवृत्' अर्थात् प्रधान कहलाता है । ज्ञानमय होनेके कारण उसे महत्तत्त्व, क्रियात्मक होनेसे सूत्र और जीवकी उपाधि होनेके कारण अहङ्कार कहते हैं । वही महाशक्तिशाली ब्रह्म ज्ञान अर्थात् इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता, क्रिया अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ यानी इन्द्रिय-विषयोंके रूपमें भासमान होता है । इस प्रकार सत् यानी दृश्य और असत् अर्थात् अदृश्य तथा इसके भी परे जो कुछ है, वह ब्रह्म ही भासमान होता है ॥ ३७ ॥ उस परमात्माने कभी भी जन्म नहीं लिया और न वह कभी

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥
यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि ।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥४०॥

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः । विधूयेहाशु कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ।४१।
एवं प्रश्नमृषीन् पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके । नाब्रुवन् ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ।४२।

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः । वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् । कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥
नाचरेद् यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः । विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे । नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ४६
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः । विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ।४७।
लब्धानुग्रह आचार्यात् तेन संदर्शितागमः । महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः ।४८।

मरेगा। वह न कभी बढ़ता और न घटता है। क्योंकि वह सर्वव्यापक, नित्य, अच्युत और ज्ञान-स्वरूप है तथा सब परिवर्तनशील विकारों और बाल्य-यौवन आदि अवस्थामय शरीरोंका साक्षी है। जैसे एक ही प्राण इन्द्रिय-भेद अर्थात् स्थान-भेदसे नाना विकल्पोंको प्राप्त हो रहा है, वैसे ही अकेला ब्रह्म विविध रूपसे प्रतीत होता है ॥ ३८ ॥ अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज तथा अनिश्चित अर्थात् स्वदेज योनियोंमें जहाँ-जहाँ जिस तरह प्राण जीवका अनुसरण करता है, वैसे ही आत्मा भी सब अवस्थाओं-में साक्षीरूपसे स्थित होकर भी असङ्ग बना रहता है। सुषुप्ति अवस्थामें इन्द्रियगणके निश्चेष्ट तथा अहङ्कारमें लीन हो जानेपर कूटस्थ आत्माके बिना तो उस अवस्थाकी स्मृति ही नहीं हो पाती ॥३९॥ कमलनाभ भगवान विष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्तिकी इच्छासे बढ़ी हुई तीव्र भक्तिरूप अग्निके द्वारा जब जीव अपने चित्तके गुणकर्मसे उत्पन्न मलोंको जला देता है, तब उसके शुद्ध हो जानेपर आत्मतत्त्व वैसे ही स्पष्ट भासने लगता है जैसे निर्मल नेत्रोंमें सूर्यका प्रकाश आलोकित होता है ॥ ४० ॥ राजा निमि कहने लगे—हे मुनिगण ! अब आप मुझे कर्मयोगका उपदेश दें। जिसके द्वारा शुद्ध हृदय मनुष्य अपने कर्मोंको त्यागकर परम नैष्कर्म्य अर्थात् आत्यन्तिक निवृत्तिको पा लेता है। एक बार पहले भी मैंने यही प्रश्न अपने पिता इक्ष्वाकुके सामने ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि ऋषियोंसे किया था, किन्तु उन्होंने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इसका क्या कारण था सो भी आप मुझे बता दीजिए ॥४१-४२॥ आविर्होत्र कहते हैं—कर्म, अकर्म तथा विकर्म ये सब विषय वेदसे ही ज्ञात हो सकते हैं। लौकिक पदार्थोंसे इनका ज्ञान नहीं हो सकता। वेद साक्षात् भगवानके रूप हैं, उनमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी मुग्ध हो जाते है ॥४३॥ वेद परोक्षवाद है। जैसे लोग बच्चोंको बहलाते हैं, वैसे हो कर्मरूपी रोग छुड़ानेके लिये उसमें कर्मरूपी औषधका ही विधान बताया गया है॥४४॥ जो अजितेन्द्रिय तथा अज्ञानी पुरुष वेदोक्त कर्मका आचरण नहीं करता, वह विहित कर्मत्यागके पापसे पुनः पुनः जन्म-मरणको प्राप्त होता है ॥ ४५ ॥ ईश्वरार्पणपूर्वक वेदोक्त कर्मोंको ही निःसङ्गभावसे करता हुआ पुरुष नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त कर लिया करता है। वेदमें जो स्वर्गादिप्राप्तिरूपिणी फलश्रुति कही गयी है, वह केवल कर्ममें रुचि उत्पन्न करनेके लिये ही है॥ ४६ ॥ जो शीघ्र परस्वरूप आत्माकी अहङ्काररूपा हृदयग्रन्थि खोलना चाहता हो, उसे उचित है कि वह वेदविधि तथा तन्त्रोक्तविधिसे नियमानुसार भगवान केशव-का पूजन करे ॥ ४७ ॥ सेवाके द्वारा गुरुदेवकी कृपाका पात्र बनकर उनकी बतलायी विधिके अनु-

शुचिः सम्मुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः । पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ४९
अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः । द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम्
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः । हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ५१
साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः । पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवासोविभूषणैः ५२
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः । साङ्गं सम्पूज्य विधिवत् स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम्
आत्मानं तन्मयं ध्यायन् मूर्तिं सम्पूजयेद्धरेः । शेषामाधाय शिरसि स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम्
एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः । यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ।५५।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः । चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः॥१॥

द्रुमिल उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥ २ ॥
भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥

सार अपनी अभिलषित मूर्तिके द्वारा महापुरुष नारायणकी पूजा करे ॥ ४८ ॥ पहले शरीर और अन्तःकरणको शुद्ध करके प्रतिमाके समक्ष बैठकर प्राणायामादिके द्वारा नाड़ीशुद्धि करे और फिर अङ्गन्याससे भलीभाँति देहरक्षा करके भगवानका पूजन करे ॥ ४९ ॥ बाहरी प्रतिमा अथवा हृदयमें, जहाँ भी पूजन करना हो, उसके निमित्त जो कुछ पूजन-सामग्री मिले उसे, पूजास्थानको तथा शरीरादिको पहले शुद्ध करके आसनपर जल छिड़ककर अर्घ्य-पाद्य आदिके पात्रोंको यथास्थान रक्खे । तब एकाग्रचित्तसे अङ्गन्यास-करन्यास करनेके उपरान्त मूलमन्त्रके द्वारा प्रतिमाकी पूजा करे ॥ ५०-५१ ॥ अपने-अपने उपास्य देवके अङ्ग और हृदयादि उपाङ्ग यानी आयुधादि और पार्षदसहित मूर्तिका उनके मूलमन्त्र द्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, विविध वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला, अक्षत, फूलोंकी माला, धूप, दीप और नैवेद्य आदिके द्वारा विधिवत् पूजन करे और फिर स्तोत्रों द्वारा स्तुति करके भगवान कृष्णको नमस्कार करे ॥ ५२-५३ ॥ इस तरह अपने आत्माको भगवद्रूप समझता हुआ भगवानकी प्रतिमाका पूजन करे । फिर उस निर्माल्यको माथेपर रक्खे और पूजित भगवद्विग्रहको यथास्थान रख देवे ॥ ५४ ॥ इस तरह अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि अथवा अपने हृदयमें जो प्राणी भगवान श्रीकृष्णका पूजन करता है, वह शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(भगवानके विविध अवतारोंका वर्णन) राजा निमि कहते हैं—हे मुनीश्वरों ! श्रीविष्णुने स्वेच्छासे संसारमें धारण किये हुए अपने जिन-जिन अवतारोंसे जो-जो लीलाएँ की हों, वर्तमान समयमें जो कर रहे हैं, और वे भविष्यमें जो करनेवाले हों, वह सब आप हमसे कहें ॥ १ ॥ द्रुमिलने कहा—हे राजन् ! जो पुरुष अनन्त भगवानके अनन्त गुणोंको गिनना चाहता है, वह मन्द-बुद्धि है । पृथिवीके रजःकणोंको किसी तरह किसी समय कोई चाहे गिन भी ले, परन्तु सर्वशक्तिमान् भगवानके गुणोंको गिनकर कोई पार नहीं पा सकता ॥ २ ॥ अपने रचे हुए पञ्चभूतों द्वारा ब्रह्माण्ड-

यत्काय एष भुवनत्रयसंनिवेशो यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि ।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥४॥
आदावभूच्छतधृती रजसास्य सर्गे विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः ।
रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य इत्युद्भवस्थितिलयः सततं प्रजासु ॥५॥
धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां नारायणो नर ऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥६॥
इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥७॥
विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः प्राह प्रहस्य गतविस्मय एजमानान् ।
मा भैष्ट भो मदन मारुत देववध्वो गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥८॥
इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः ।
नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥९॥
त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन् ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥१०॥

रूपी इस पुरकी रचना करके जब भगवान आदिदेव नारायणने अपने अंशभूत जीवरूपसे उसमें प्रवेश किया तो उनका 'पुरुष' नाम पड़ा ॥ ३ ॥ उनके विराट् शरीरमें समस्त त्रिलोकीका समावेश है । जिनकी इन्द्रियों द्वारा प्राणियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ, जिनके स्वरूपसे स्वतःसिद्ध ज्ञान अर्थात् आत्मा, श्वास-प्रश्वाससे बल यानी देहशक्ति, ओज अर्थात् इन्द्रियशक्ति और क्रियाशक्ति, सत्त्वादि गुणोंसे स्थिति, उद्भव तथा लय होते हैं, वे ही आदिकर्ता नारायण हैं ॥ ४ ॥ सर्वप्रथम जगत्की उत्पत्तिके निमित्त उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए । फिर वे आदिपुरुष ही संसारकी स्थितिके लिये अपने सत्त्वांशसे धर्म और ब्राह्मणोंके रक्षक यज्ञपति विष्णु तथा तमोगुणके अंशसे सृष्टिके संहारक रुद्ररूपसे जायमान हुए । इस तरह निरन्तर उन्हींसे प्रजाकी उत्पत्ति, पालन तथा संहार होते रहते हैं ॥ ५ ॥ धर्मकी दक्ष-कन्यारूपिणी मूर्तिके गर्भसे श्रीभगवान शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर तथा नारायणके रूपमें अवतरे । उन्होंने आत्मतत्त्वको लक्षित करानेवाला कर्मत्यागरूपी कर्म अर्थात् सांख्यनिष्ठाका उपदेश दिया और स्वयं भी उसीका आचरण किया । उनके चरणोंकी अनेक मुनिवर सेवा करते हैं । वे आजकल भी बदरिकाश्रममें सर्वदा विराजमान रहते हैं ॥ ६ ॥ यह अपनी घोर तपस्या द्वारा मेरा पद छीन लेना चाहते हैं'—ऐसी आशङ्का करके इन्द्रने उन्हें तपस्यासे भ्रष्ट करनेके लिये कामदेवको उसके दल-बल सहित नियुक्त कर दिया और उनकी महिमा न जाननेके कारण कामदेव बदरिकाश्रममें जाकर अप्सरागण, वसन्त, मन्द-सुगन्ध वायु तथा स्त्रियोंके कटाक्ष-बाणोंसे उन्हें बींधनेका उपाय करने लगा ॥ ७ ॥ इन्द्रदेवकी कुचाल जानकर कुछ भी आश्चर्य न करते हुए आदिदेव नारायणने भयसे काँपते हुए उन कामादिसे हँसकर कहा—"हे मदन ! हे मन्दमलयमारुत ! हे देवाङ्गनाओं ! तुम सब डरो मत, हमारी आतिथ्य-पूजा स्वीकार करो । उसे ग्रहण किये बिना यहाँसे लौटकर हमारा आश्रम सूना मत करो" ॥ ८ ॥ हे राजन् ! अभयदायक भगवानके ऐसा कहनेपर लज्जाके कारण नतमस्तक देवता करुणास्वरसे बोले—"हे विभो ! आप मायातीत तथा निर्विकार हैं । आत्माराम और धीर पुरुष सदा आपके चरणोंकी वन्दना करते हैं । अतएव आपके लिए यह कोई विस्मयकी बात नहीं है ॥ ९ ॥ जो आपके ही दास हैं, उनके मार्गमें देवता अनेक विघ्न उपस्थित करते रहते हैं । क्योंकि वे उनके धाम स्वर्गलोक तकको लाँघकर आपके परमपदको प्राप्त होजाते हैं । उनके अतिरिक्त जो केवल कर्मकाण्डमें लगे हुए यज्ञादिके द्वारा देवताओंको उनका

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्वयशैश्न्यानस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गोर्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥११॥

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः । दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः ॥१२॥
ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः । गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥१३॥
तानाह देवदेवेशः प्रणतान् प्रहसन्निव ।आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥१४॥
ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः । उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥१५॥
इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् । ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥१६॥

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः ।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्णस्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥१७॥
गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम् ।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे ग्राहात् प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥१८॥
संस्तुन्वतोऽब्धिपतिताञ्छ्रमणानृषींश्च शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥१९॥

भाग दे दिया करते हैं, उन्हें कोई विघ्न नहीं होता। फिर भी यदि आप उनकी रक्षा करने लगते हैं तो वे भक्तजन सब विघ्नोंके सिरपर पैर रख देते हैं अर्थात् अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं होते ॥ १० ॥ कुछ लोग अपार समुद्रके सदृश भूख, प्यास, शीत, ग्रीष्म और वर्षा तीनों कालके गुण, वायु तथा रसना और शिश्नेन्द्रियके वेगोंको पार करके भी वैसेही निष्फल क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं जैसे कोई समुद्र पार करके भी गौके खुर बराबर गड्ढेमें डूब जाय तथा अपनी कठोर तपस्याको खो दे" ॥ ११ ॥ इस प्रकार देवताओंके स्तुति करनेपर मानों उनका गर्व चूर्ण करनेके निमित्त भगवानने उन्हें विचित्र प्रकारके वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित और अद्भुत रूपलावण्ययुक्त बहुतेरी स्त्रियाँ दिखायीं, जो अपने आश्रममें सेवा कर रही थीं ॥ १२ ॥ महारानी लक्ष्मीजीके सदृश रूपमयी उन स्त्रियोंको देखकर उनके सौन्दर्यकी महिमासे कान्तिहीन देवता उनके अङ्गकी दिव्य गन्धसे मोहित होगये ॥ १३ ॥ तब अति दीनताको प्राप्त उन देवानुचरोंसे भगवानने हँसकर कहा—इनमेंसे जो तुम्हारे अनुरूप हो, किसी एकको स्वीकार कर लो। तुम जिसे चुन लोगे, वह स्त्री स्वर्गलोककी भूषणस्वरूपा होगी" ॥ १४ ॥ तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे देवदूत भगवानकी आज्ञानुसार उन अप्सराओंमें श्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशीको ले और प्रभुको प्रणाम करनेके बाद स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५ ॥ स्वर्गमें पहुँचकर उन्होंने देवराज इन्द्रको प्रणाम किया और सभामें सब देवताओंके समक्ष भगवान नारायणका बल तथा प्रभाव कह सुनाया। उसे सुनकर इन्द्र बहुत भयभीत और विस्मित हुए ॥ १६ ॥ इसी तरह भगवान अच्युतने हंसावतार लेकर आत्मज्ञानका उपदेश दिया। इनके अतिरिक्त दत्तात्रेय, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार और हमारे पिता श्रीऋषभदेवजी—ये भी जगत्के कल्याणके लिये अवतार लेनेवाले भगवान विष्णुके कलावतार हैं। इसी प्रकार हयग्रीव अवतार लेकर भगवान मधुसूदनने वेदोंका उद्धार किया था ॥ १७ ॥ प्रलयकालमें मत्स्यावतार लेकर उन्होंने मनु, पृथिवी तथा औषधियोंकी रक्षा की। वराह-अवतारसे जलमें डूबी हुई पृथिवीका उद्धार करते समय नारायणने दितिनन्दन हिरण्याक्षको मारा। कूर्मावतारमें समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया और हरि-अवतारमें अपने शरणागत आर्त गजराजको ग्राहसे बचाया ॥ १८ ॥ उन्हीं भगवानने एक समय समुद्रमें गिरकर स्तुति करते हुए तथा तपस्यासे अत्यन्त क्षीण शरीरवाले ऋषियोंको बचाया और गोष्पदमात्र जलमें डूबते और भगवानकी स्तुति करते हुए बालखिल्यादि ऋषियोंको उबारा। वृत्रवधके कारण ब्रह्महत्याके भयसे लुके हुए इन्द्रकी उन्होंने ही रक्षा की तथा दानवों द्वारा बन्दी बना-

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन् सुरार्थे हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात् कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद् बलेः क्ष्मां याच्ञाच्छलेन समदाददितेः सुतेभ्यः ॥२०॥
निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन् सलङ्कं सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥२१॥
भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान् शूद्रान् कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥२२॥
एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः । भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥२३॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

राजोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः । तेषामशान्तकामानां का निष्ठा विजितात्मनाम् ॥१॥

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह । चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥२॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् । न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ३
दूरे हरिकथाः केचिद् दूरे चाच्युतकीर्तनाः । स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥४॥

कर रक्खी हुई देवताओंकी अनाथ स्त्रियोंको उनसे छुड़ाया और नृसिंह अवतारमें सज्जनोंको अभय करनेके लिये उन्होंने दैत्यराज हिरण्यकशिपुको मारा ॥ १९ ॥ देवासुरसंग्राममें भगवानने देवताओंके उपकारके लिये दैत्योंका वध किया । इस तरह विभिन्न मन्वन्तरोंमें अपनी शक्तिसे त्रिलोकीकी रक्षा की । फिर वामन-अवतारमें शिक्षाके छलसे यह पृथिवी दैत्यराज बलिसे लेकर देवताओंको दे दी ॥ २० ॥ हैहयवंशको नष्ट करनेके लिये भृगुकुलमें अग्निरूप परशुराम अवतार लेकर इक्कीस बार इस पृथिवीको क्षत्रियहीन किया । फिर उन्होंने रामावतारमें समुद्रपर सेतु बाँधा और लङ्काके सहित दस मस्तकवाले रावणको नष्ट किया । संसारका मल नष्ट करनेवाली निर्मल कीर्तिवाले उन श्रीसीतापतिकी सदा विजय हो ॥ २१ ॥ भूमिका भार उतारनेके लिये अब वे ही अजन्मा भगवान यदुकुलमें श्रीकृष्णरूपसे अवतार लेकर ऐसे अद्भुत कर्म करेंगे, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर हैं । कलिमें बुद्धावतार लेकर वे अनधिकारियोंको अपने अहिंसावादसे मोहित करेंगे और कलियुगके अन्तमें कल्कि-अवतार लेकर शूद्रजातिके राजाओंको मारेंगे ॥ २२ ॥ हे महाबाहो ! अतुलकीर्तिशाली विश्वनाथ भगवान हरिके इसी प्रकार अनेकों जन्म तथा कर्मोंका महात्माओंने वर्णन किया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(भगवानकी भक्तिसे हीन पुरुषोंकी गति तथा पूजाविधिका वर्णन) भगवानके अनेक अवतारोंकी गाथा सुनकर राजा निमिने पूछा—हे आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मुनियों ! जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुई हैं, उनकी इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं हैं और जो प्रायः भगवान विष्णुका भजन भी नहीं करते, उनकी क्या गति है सो बतलाइये ॥ १ ॥ चमस ऋषि बोले—भगवान आदिपुरुषके मुख, बाहु, जंघा तथा चरणोंसे सत्त्वादि गुणोंके अनुसार आश्रमों समेत पृथक्-पृथक् ब्राह्मणादि चार वर्ण जायमान हुए हैं ॥ २ ॥ इन वर्णाश्रमोंमें उत्पन्न होकर भी जो लोग अपने उत्पत्तिस्थानस्वरूप आदिनारायणको नहीं भजते या उनका अनादर करते हैं तो वे अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे जा गिरते हैं ॥ ३ ॥ हाँ, लोग हरिकथा अथवा हरिकीर्तनको नहीं जानते वे पुरुष, स्त्री तथा शूद्रगण तो

विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् । श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥५॥
कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः । वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः ६
रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः । दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ७

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥८॥
श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान् सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः ॥९॥
सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥१०॥
लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११॥
धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥१२॥
यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥१३॥

आप जैसे भगवद्भक्तोंकी दयाके ही पात्र होते हैं ॥ ४ ॥ बहुतेरे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वेदाध्ययन तथा यज्ञोपवीतादि संस्कारोंके कारण हरिचरणोंके सामीप्यका अधिकार पाकर भी वैदिक अर्थवाद-से मोहित हो जाते हैं ॥ ५ ॥ वे कर्मका रहस्य न जाननेवाले उद्धत और मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित मान बैठते और उस फलश्रुतिकी मधुर वाणीसे मोहित होकर बड़ी प्रसन्नतासे बहुतही मीठी बातें कहा करते हैं ॥ ६ ॥ वे कर्माभिमानी पुरुष रजोगुणकी अधिकतासे घोर सङ्कल्पवाले, बड़े कामी, सर्पके समान क्रोधी, पाखण्डी, अभिमानी तथा पापी होते हैं। वे भगवान अच्युतके प्रिय भक्तोंकी हँसी उड़ाते फिरते हैं ॥ ७ ॥ वे स्त्रीलम्पट पुरुष प्रधानतः मैथुन सुखवाले गृहोंमें आसक्त होकर परस्पर वहींके भोगोंकी चर्चा किया करते हैं। वे लोग कर्मके रहस्यसे अनभिज्ञ होते और अन्नदान, विधि तथा दक्षिणासे रहित यागादि करते हुए उदरपूर्तिके निमित्त पशुवध करते हैं ॥ ८ ॥ धन, वैभव, अच्छा कुल, विद्या, दान, रूप, बल तथा कर्म आदिके गर्वसे अन्धी बुद्धि तथा विचारशून्य होकर वे दुष्ट भगवानके सहित भगवद्भक्त महात्माओंका भी तिरस्कार करने लगते हैं ॥ ९ ॥ जो आकाशके समान सब देहधारियोंमें सर्वदा स्थित तथा उनके प्रिय आत्मा हैं, ऐसे वेदप्रतिपादित भगवानके विषयमें वे अज्ञ कुछ नहीं सुनते। बातचीतके प्रसङ्गमें भी वे तरह-तरहकी कामनाओंकी ही चर्चा किया करते हैं ॥ १० ॥ स्त्री-प्रसङ्ग तथा मांस-मद्यके सेवनमें सब जीवोंको स्वभावतः सदा प्रवृत्ति रहती है, शास्त्रोंमें उनके लिये कोई विधान नहीं दीखता। अतएव उन्हें क्रमशः विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि यज्ञमें सुराग्रहके द्वारा ग्रहण करनेकी ही व्यवस्था है, वस्तुतः सब लोगोंको इनकी निवृत्ति ही इष्ट रहती है ॥११॥ धर्मका भी धर्म ही एकमात्र फल है। क्योंकि धर्मसे ही विज्ञान तथा अपरोक्ष-के साक्षात्कार सहित ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसके पश्चात् शान्ति मिलती है। परन्तु लोग उसका उपयोग घर-गृहस्थीके लिये ही करते हैं और सदा अपने सिरपर खड़ी इस शरीरकी दुस्तर मृत्युको नहीं देख पाते ॥ १२ ॥ सौत्रामणियज्ञमें मद्यका केवल सूँघना ही विहित माना गया है, पीना नहीं। यज्ञादिमें पशुके केवल आलभन अर्थात् स्पर्श करनेका विधान है, हिंसा करनेका नहीं और केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ही स्त्री-प्रसङ्गमें प्रवृत्त होनेको कहा गया है, विषय-सुखके लिये नहीं। इस विशुद्ध

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः । पशून् द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्॥
द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् । मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः॥१५॥
ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् । त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते॥१६॥
एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः । सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः॥१७॥
हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः । तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः॥१८॥

राजोवाच

कस्मिन् काले स भगवान् किंवर्णः कीदृशो नृभिः । नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम्॥१९

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः । नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते॥२०॥
कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः । कृष्णाजिनोपवीताक्षान् बिभ्रद् दण्डकमण्डलू २१
मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः । यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च॥२२॥
हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः । ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते॥२३॥
त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः । हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः॥२४॥
तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् । यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः॥२५॥
विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः । वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते॥२६॥

धर्मको वे मूर्ख लोग नहीं जान पाते ॥ १३ ॥ इस तात्पर्यको भलीभाँति न जाननेवाले तथा अत्यन्त गर्वीले और अपनेमें अच्छेपनका अभिमान रखनेवाले जो प्राणी हैं, जो किसी लाभपर विश्वास करके पशुओंसे द्रोह करते हैं, उनके द्वारा मरे हुए पशु मरकर उन्हींको खाते हैं ॥ १४ ॥ इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर तथा एक न एक दिन अवश्य छूट जानेवाले धनमें स्नेह करके जो अन्य शरीरोंमें विद्यमान अपने ही आत्मा भगवान श्रीहरिसे द्वेष करते हैं, वे अवश्य अधोगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १५ ॥ जिन्होंने अपने पूर्ण ज्ञानके द्वारा कैवल्यपदको तो प्राप्त नहीं किया, किन्तु जो मूढ़ता-के परले पार पहुँच चुके हैं, ऐसे अर्थ-धर्म तथा कामरूपी त्रिवर्गमें फँसे पुरुष एक क्षणको भी शान्ति नहीं पाते और अपने आप अपना सर्वस्व नष्ट कर डालते हैं ॥ १६ ॥ अज्ञानको ही ज्ञान समझने-वाले वे अशान्तात्मा आत्माघाती कालके द्वारा अपने सब मनोरथोंके नष्ट हो जानेपर अकृतकार्य होकर अत्यन्त दुःख पाते हैं ॥ १७ ॥ वे भगवद्विरोधी लोग अत्यन्त कष्टसे प्राप्त अपने गृह, पुत्र, मित्र तथा धन आदिको यहीं छोड़कर विवशभावसे घोर अन्धकारमय नरकमें जा गिरते हैं ॥ १८ ॥ राजा निमि कहते हैं—किस युगमें भगवानका कैसा वर्ण और कैसा स्वरूप होता है और किन नामों तथा विधियोंसे उनकी पूजा की जाती है, यह सब आप कहिये ॥१९॥ करभाजनने कहा—हे राजन्! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलि—इन चारों युगोंमें भगवान भिन्न-भिन्न वर्ण, नाम तथा आकार धारण करते तथा उनकी पूजा भी भिन्न-भिन्न विधियोंसे ही हुआ करती है ॥ २० ॥ सत्ययुगमें भगवान शुक्लवर्ण, चतुर्भुज, जटा-जूटधारी, वल्कल वसन, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष और दण्डकमण्डलु धारण किये रहते हैं॥२१॥ उस समयके शान्त, निर्वैर, सहृदय और समदर्शीलोग उन भगवान नारायणकी शम, दम तथा तपस्या द्वारा उपासना करते हैं ॥ २२ ॥ उस समय उनका हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त तथा परमात्मा आदि नामोंसे गुणगान किया जाता है ॥ २३ ॥ त्रेतायुगमें भगवान रक्तवर्ण, चतुर्भुज, त्रिमेखलाधारी, सुनहले केशोंवाले, वेदत्रयीरूप और स्रुक्स्रुवा आदि यज्ञ-पात्रोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ २४ ॥ उस समयके धर्मात्मा और ब्रह्मवादी पुरुष, उन सर्वदेवमय भग-वान हरिका वेदत्रयीरूप कर्मकाण्डकी विधिसे पूजन किया करते हैं ॥ २५ ॥ वे विष्णु, यज्ञ, पृश्नि-

द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः । श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥२७॥
तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् । यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥२८॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च । प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२९॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने । विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥३०॥
इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् । नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥३१॥
कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् । यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥३२॥

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३३॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४॥

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान् युगवर्तिभिः । मनुजैरिज्यते राजन् श्रेयसामीश्वरो हरिः ॥३५॥
कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः । यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते ॥३६॥
न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह । यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ३७
कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति संभवम् । कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ।३८।
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः । ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥३९॥

गर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त तथा उरुगाय आदि नामोंसे अभिहित होते हैं ॥२६॥ द्वापर युगमें भगवान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, चक्रादि आयुधोंयुक्त तथा श्रीवत्सादि एवं कौस्तुभादि चिह्नोंसे सुशोभित होते हुए अवतार लेते हैं ॥ २७ ॥ हे राजन्! इस प्रकारके विविध राजचिह्नोंसे युक्त परमपुरुष परमात्माके जिज्ञासुलोग वैदिक तथा तान्त्रिक विधिसे यजन करते हैं ॥ २८ ॥ 'वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं षडैश्वर्ययुक्त आपको प्रणाम है। ऋषिश्रेष्ठ नारायण, महापुरुष, नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप तथा सर्वभूतात्मा आपको अनेकशः प्रणाम है' इस तरह लोग विविध शास्त्रविधियोंसे द्वापरयुगमें जदीश्वरकी स्तुति करते हैं। अब जिस तरह कलियुगमें भगवानकी उपासना होती है, वह भी सुन लो ॥ २९–३१ ॥ कलिमें कृष्णवर्ण, कृष्णकान्तिमय, साङ्गोपाङ्ग तथा आयुध और अनेक पार्षदों युक्त भगवान कृष्णको बुद्धिमान लोग सङ्कीर्तनप्राय यज्ञों द्वारा उनका यजन करते हैं ॥ ३२ ॥ और स्तुति इस प्रकार करते हैं—'हे प्रणतपालक! हे महापुरुष! हम आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। जो सर्वदा ध्यान करने योग्य, मायाकृत पराभवको नष्ट करनेवाले, वाञ्छित फल देनेवाले, तीर्थस्वरूप, शिव और ब्रह्मादिसे वन्दित, शरणदायक, सेवकोंका दुःख दूर करनेवाले तथा संसाररूपी घोर समुद्रके लिये जो जहाजरूप हैं ॥ ३३ ॥ हे धर्मात्मन्! हे महापुरुष! अपने पिता (दशरथ) के वचनोंसे सुरवरवाञ्छित तथा दुस्त्यज राजलक्ष्मी त्यागकर जो वनको चले गये तथा अपनी प्रिया सीताजीके अभिलषित कपटमृगके पीछे दौड़े। उन आपके चरणकमलोंकी हम वन्दना करते हैं' ॥ ३४ ॥ इस तरह भिन्न-भिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके अनुरूप वर्ण, नाम तथा रूपादिसे सब पुरुषार्थोंके अधीश्वर श्रीहरिकी पूजा करते हैं ॥ ३५ ॥ हे राजन्! गुणज्ञ तथा सारसंग्रही सज्जन सबसे ज्यादा कलियुगको ही प्रिय मानते हैं। क्योंकि इसमें भगवानके नाम-सङ्कीर्तनसे ही सब स्वार्थोंकी सिद्धि हो जाती है ॥ ३६ ॥ विविध योनियोंमें चक्कर लगाते हुए प्राणियोंका हरि-कीर्तनसे बढ़कर और कोई भी लाभ नहीं है। क्योंकि इससे संसार-बन्धन टूट जाता और आत्माको परम शान्ति प्राप्त होती है ॥ ३७ ॥ हे राजन्! सत्यादि युगोंके लोग भी कलियुगमें जन्म लेना चाहते हैं। इस कलिमें बहुतसे भगवद्भक्त महापुरुष जहाँ-तहाँ जन्म लेंगे। उनमें बहुतसे भक्त द्रविडदेशमें होंगे, जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महापवित्र कावेरी, प्रतीची तथा महा-

कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी । ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥ ४० ॥

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम् ॥४१॥

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥४२॥

नारद उवाच

धर्मान् भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः । जायन्तेयान् मुनीन् प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत्४३
ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः । राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥४४॥
त्वमप्येतान् महाभाग धर्मान् भागवताञ्छ्रुतान् । आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम्॥
युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् । पुत्रतामगमद् यद् वां भगवानीश्वरो हरिः ॥४६॥
दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः । आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः।४७

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥४८॥

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे । मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥४९॥
भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् । अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥५०॥

नदी आदि नदियाँ बहती हैं। हे राजन्! जो लोग उन नदियोंका जल पीते हैं, वे सब शुद्धचित्त होकर भगवान वासुदेवके भक्त हो जाते हैं ॥३८-४०॥ हे राजन्! जो सब कार्यों को छोड़कर सम्पूर्ण-रूपसे शरणागतवत्सल भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी शरणमें चला जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रह जाता ॥ ४१ ॥ अनन्यभावसे अपने चरणकमलोंका भजन करनेवाले भक्तसे यदि कभी कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदयमें विराजमान वे महाप्रभु उन कर्मोंका मार्जन कर देते हैं ॥ ४२ ॥ श्रीनारदजी कहते हैं— इन भागवत धर्मोंको सुनकर उपाध्योंके सहित मिथिलाधिपति महाराज निमिने उन जयन्तीतनय योगीश्वरोंका विधिवत् पूजन किया ॥ ४३ ॥ तदनन्तर सब लोगोंके देखते-देखते वे सब सिद्ध अन्तर्धान हो गये और राजा निमिने उन धर्मोंका आचरण करके अन्तमें परमपद पाया ॥ ४४ ॥ हे महाभाग वसुदेवजी! तुम भी इस संसारसे असङ्ग होकर सुने हुए भागवत-धर्ममें श्रद्धापूर्वक स्थित रहनेसे परमगति पाओगे ॥ ४५ ॥ तुम दम्पती (स्त्री-पुरुषों) के यशसे तो संसार व्याप्त है। क्योंकि साक्षात् त्रिलोकीनाथ भगवान कृष्ण तुम्हारे पुत्र होकर अवतरे हैं ॥ ४६ ॥ उन भगवान कृष्णमें पुत्रस्नेह करते हुए उनको देखने, आलिङ्गन करने, बातें करने तथा साथ-साथ सोने, बैठने और भोज-नादि करनेसे तुम दोनोंने अपने अन्तःकरणको पवित्र कर लिया है ॥ ४७ ॥ जब भगवानके साथ वैर करके शिशुपाल, पौण्ड्रक तथा शाल्वादि राजे सोने-बैठने आदिसे भी श्रीकृष्णचन्द्रकी गति, चितवन और चेष्टा आदिका ध्यान करते हुए तन्मय रहनेके कारण उन्हींके समान होगये तो जो उनके एकमात्र प्रेमी भक्त हैं, उनकी क्या बात है? ॥ ४८ ॥ जिन्होंने अपने ऐश्वर्यको माया-मानव-रूपसे छिपा रक्खा है, उन परमपुरुष, अव्यय तथा सर्वेश्वर भगवान श्रीकृष्णको तुम अपना पुत्र मत समझो ॥ ४९ ॥ भूमिके भारभूत तथा राजवेषधारी असुरोंके नाश और सज्जनोंकी रक्षाके लिये अव-तार लेनेवाले इन श्रीकृष्णचन्द्रकी कीर्ति भक्तोंकी मुक्तिके लिये ही संसारमें फैली हुई है ॥ ५० ॥

श्रीशुक उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः । देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥५१॥
इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद् यः समाहितः । स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अथ ब्रह्माऽऽत्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् । भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥१॥
इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ । ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः ।२।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः । ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः ॥३॥
द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः । वपुषा येन भगवान् नरलोकमनोरमः ।
यशो वितेने लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४ ॥
तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः । व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥५॥
स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम् । गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम् ॥६॥

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥७॥
त्वं मायया त्रिगुणयाऽऽत्मनि दुर्विभाव्यं व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै यत् स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्य ॥८॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! यह सुनकर महाभाग वसुदेवजी तथा परम सौभाग्यवती देवकीने अतिशय विस्मित होकर अपना मोह त्याग दिया ॥ ५१ ॥ जो कोई सावधान चित्तसे इस पवित्र इतिहासका स्मरण करता है, वह इस लोकमें मोहका नाश करके ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाया करता है ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! एकबार अपने पुत्रों, देवताओं तथा प्रजापतियोंके सहित ब्रह्माजी, भूतगणोंसे आवृत भूतभावन शङ्कर, मरुद्गणों सहित देवराज इन्द्र, बारहों आदित्य, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अङ्गिरा, रुद्र, विश्वेदेव, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सरायें, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितर, विद्याधर तथा किन्नर—ये सब मिलकर श्रीकृष्ण भगवानको देखने द्वारकामें आये। जिसके द्वारा नरलोक-मनोरम भगवानने समस्त संसारके मलको हरनेवाला अपना परम पावन सुयश समस्त लोकमें फैलाया था। ये सब महती समृद्धिसे सम्पन्न और अत्यन्त देदीप्यमान द्वारकापुरीमें विराजमान भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी अद्भुत छविको अतृप्त नेत्रोंसे निहारने लगे और स्वर्गके उपवन नन्दनवनमें उत्पन्न दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे यदुश्रेष्ठ भगवान कृष्णको आच्छादित करते हुए उन्होंने विचित्र पद और अर्थयुक्त सुललित वाक्योंसे जगन्नियन्ता भगवानकी स्तुति की ॥ १–६ ॥ देवगण कहने लगे—हे नाथ! कर्मोंके विकट बन्धनसे छूटनेके इच्छुक तथा भावुक भक्तजन आपके जिन चरणोंका अपने हृदयमें निरन्तर ध्यान करते हैं, उन्हें हम बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा वचनसे प्रणाम करते हैं ॥७॥ आप अपनी त्रिगुणात्मिका मायासे उसके गुणोंमें नियन्तारूपसे स्थित होकर इस अनिर्वचनीय प्रपञ्चकी रचना, पालन तथा संहार

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्धसच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात् ॥९॥
स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भिर्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥१०॥
यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥११॥
पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः ।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥१२॥
केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः ।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन् पादः पुनातु भगवन् भजतामघं नः ॥१३॥
नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥१४॥
अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमानामव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥१५॥
त्वत्तः पुमान् समधिगम्य यया स्ववीर्यं धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१६॥

करते हैं। किन्तु हे अजित ! आप कभी इन कर्मोंमें लिप्त नहीं होते। क्योंकि आप अपने अखण्ड आनन्दमें निमग्न तथा रागादि दोषोंसे पृथक् रहते हैं ॥ ८ ॥ हे सर्वश्रेष्ठ तथा पूज्य प्रभो ! जिनके मन मलिन रहते हैं, उन लोगोंकी विद्या, शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय, दान, तप तथा क्रियासे उस तरह शुद्धि कदापि नहीं हो सकती, जैसा कि आपके परम यशके श्रवण द्वारा पुष्ट होकर बढ़ी हुई उत्तम श्रद्धासे शुद्धि होती है ॥ ९ ॥ हे भगवन् ! मुनिजन अपने कल्याणार्थ जिनका प्रेमार्द्र हृदयसे पूजन करते हैं, धीर सात्वतगण यानी यादव लोग समान वैभव अर्थात् सालोक्यादिकी प्राप्ति तथा स्वर्गके अति-क्रमणार्थ जिन्हें तीनों समय वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार व्यूहों द्वारा पूजते हैं, याजक वेदत्रयी द्वारा बतायी विधिसे अपने संयत हाथोंमें हविष्य लेकर यज्ञाग्निमें आहुति देते हुए जिनका चिन्तन करते और आपकी मायाके जिज्ञासु योगी जिनका अध्यात्मयोग द्वारा ध्यान करते हैं और जो परम भगवद्भक्तोंके एकमात्र आश्रय तथा परम इष्ट हैं, ये आपके चरणकमल हमारे सब अशुभोंको भस्म करनेके लिये अग्निका काम करें ॥ १०–११ ॥ हे विभो ! आपकी कुम्हलायी वनमाला से भगवती श्रीलक्ष्मीजी यद्यपि सौतके सदृश डाह करती हैं। तथापि आप इस मालाके द्वारा किया हुआ अर्चन-पूजन स्वीकार करते हैं। आपके वे चरण हमारे अशुभको भस्म करनेके लिए सदा अग्निस्वरूप होवें। हे भूमन् ! वामन अवतारमें तीन धाराओंसे बहनेवाली त्रिपथगा श्रीगंगाजी जिसकी पताका थीं, जो दानवोंको भय तथा देवताओंको अभय देनेवाला है, आपका वह तीन डगोंसे युक्त चरण आपको भजनेवाले हमलोगोंके पापोंको नाश करे ॥१२–१३॥ काम-क्रोधादिके कारण जिसमें परस्पर संघर्ष होता है, ये ब्रह्मा आदि सभी देहधारी नाकमें नथे हुए बैलोंकी भाँति जिन कालरूप तथा प्रकृति-पुरुषसे परे आपके वशीभूत हैं, उन आप पुरुषोत्तमका चरण हमारा कल्याण करे ॥१४॥ आप ही इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके कारण हैं। क्योंकि शास्त्रोंने आपहीको प्रकृति, पुरुष तथा महत्तत्त्वका भी नियन्त्रण करनेवाला काल माना है। शीत, ग्रीष्म और वर्षारूप तीन नाभियों युक्त गम्भीर वेगवाले कालरूप आप पुरुषोत्तम ही सम्पूर्ण संसारका क्षय करनेमें प्रवृत्त रहते हैं ॥१५॥ आपहीकी प्रेरणासे अमोघवीर्य पुरुष प्रकृतिसे युक्त होकर महत्तत्त्वरूपी गर्भको स्थापित करता और

तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो यन्माययोत्थगुणविक्रियोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥१७॥
स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१८॥
विभ्व्यस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम् ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गैस्तीर्थद्वयं शुचिषदस्त उपस्पृशन्ति ॥१९॥

बादरायणिरुवाच

इत्यभिष्टूय विबुधैः सेशः शतधृतिर्हरिम् । अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः॥२०॥

ब्रह्मोवाच

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो । त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम् ॥२१॥
धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया । कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥२२॥
अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद् रूपमनुत्तमम् । कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः॥२३॥
यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ । शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः॥२४॥
यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम । शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥२५॥
नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् । कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥२६॥
ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे । सलोकाँल्लोकपालान् नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान्॥२७

फिर त्रिगुणमयी मायाका अनुसरण करके वह महत्तत्त्व ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहङ्कार तथा मनरूप सात आवरणों समेत इस सुवर्णमय ब्रह्माण्डकी रचना करता है ॥ १६ ॥ अतः हे हृषीकेश ! आप चराचर जगत्के अधीश्वर हैं । अतएव मायाके गुणवैषम्यसे उपस्थित इन पदार्थोंको भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होते और कितने लोग तो उनका स्वयं त्याग करके भी उनसे डरते रहते हैं ॥ १७ ॥ जिनकी इन्द्रियोंको मन्द मुसकान भरी चितवन द्वारा प्रदर्शित भाव-भङ्गीयुक्त भ्रुकुटियोंसे चलाये हुए सुरत-मन्त्र-परिपुष्ट कामबाणों द्वारा सोलह हजार रमणियाँ भी विद्ध नहीं कर सकीं ॥ १८ ॥ आपके कथारूपी जलके प्रवाहसे युक्त आपकी कीर्तिनदी तथा आपके पादप्रक्षालनके जलसे उत्पन्न श्रीगङ्गाजी ये दोनों त्रिलोकीकी पापराशिको धोनेमें समर्थ हैं । अतएव सत्संगसेवी विवेकीजन अपने श्रवणेन्द्रिय द्वारा आपकी कीर्तिनदीमें तथा शरीर द्वारा श्रीगङ्गाजीमें गोता लगाते हुए इन दोनों तीर्थोंका सतत सेवन किया करते हैं ॥१९॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! अन्य-देवताओं तथा श्रीमहादेवजी समेत आकाशमें स्थित भगवान ब्रह्माजी श्रीकृष्णभगवानकी इस तरह स्तुतिकर और उन्हें प्रणाम करके कहने लगे ॥ २० ॥ श्रीब्रह्माजीने कहा—हे सर्वात्मन् प्रभो ! पहले हमने ही आपसे भूमिका भार उतारनेके लिए प्रार्थना की थी । सो वह सब कार्य आपने उचितरूपसे सम्पन्न किया ॥ २१ ॥ आपने सत्यपरायण साधु पुरुषोंमें धर्मकी स्थापना कर दी और सब लोकोंके मल हरनेवाली अपनी कीर्ति भी दसों दिशाओंमें फैला दी ॥ २२ ॥ आपने यदुवंशमें अवतार ले तथा यह अनुपम और दिव्य स्वरूप धारणकर जगत्के कल्याणार्थ अपने उदार पराक्रमसे अगणित कार्य किये हैं ॥ २३ ॥ हे भगवन् ! आपके चरित्रका श्रवण और कीर्तन करनेवाले साधुपुरुष कलिमें सुगमतासे अज्ञानान्धकारको पार कर लेंगे ॥ २४ ॥ हे पुरुषोत्तम ! हे प्रभो ! आपको यदुवंशमें अवतीर्ण हुए एक सौ पच्चीस वर्ष बीत गये ॥ २५ ॥ हे सर्वाधार ! अब देवताओंका कोई कार्य बाकी नहीं रहा और विप्रशापसे आपका यादवकुल भी अब प्रायः नष्ट हो चुका है ॥ २६ ॥ अतएव यदि आप चाहें तो अपने परम धामको पधारिये और लोकोंके सहित अपने दास हम लोकपालोंका पालन

श्रीभगवानुवाच

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर । कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥२८॥
तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम् । लोकं जिघृक्षद् रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥२९॥
यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम् । गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनङ्क्ष्यति ॥३०॥
इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापतः । यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ ॥३१॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम् । सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत ॥३२॥
अथ तस्यां महोत्पातान् द्वारवत्यां समुत्थितान् । विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान् समागतान् ॥३३॥

श्रीभगवानुवाच

एते वै सुमहोत्पाता व्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः । शापश्च नः कुलस्यासीद् ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ३४
न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः । प्रभासं सुमहत्पुण्यं यास्यामोऽद्यैव माचिरम् ॥३५॥
यत्र स्नात्वा दक्षशापाद् गृहीतो यक्ष्मणोडुराट् । विमुक्तः किल्बिषात् सद्यो भेजे भूयः कलोदयम् ३६
वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन् सुरान् । भोजयित्वोशिजो विप्रान् नानागुणवतान्धसा ३७
तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै । वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥३८॥

श्रीशुक उवाच

एवं भगवताऽऽदिष्टा यादवाः कुलनन्दन । गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान् समयूयुजन् ॥३९॥
तन्निरीक्ष्योद्धवो राजन् श्रुत्वा भगवतोदितम् । दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥४०॥

करिए ॥ २७ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे देवेश्वर ! तुम जैसा कहते हो, मैं भी वैसा करनेका निश्चय कर चुका हूँ । मैंने तुम लोगोंका कार्य करके पृथिवीका भार उतार दिया । यह यादव वंश बल, विक्रम तथा वैभवसे उन्मत्त होकर संसारका भक्षण कर लेना चाहता था, पर इसे मैंने वैसे ही रोक रक्खा है, जैसे किनारा महासागरको रोके रहता है । इस उद्धत तथा बढ़े हुए यदुवंशका विनाश किये बिना यदि मैं चला जाऊँगा तो इस उच्छृङ्खल नरसमुदायसे यह सारा संसार नष्ट हो जायगा । ब्राह्मणों- के शापसे इनका नाश होने ही को है । अतएव हे ब्रह्मन् ! हे निष्पाप ! मैं भी इनका अन्त होनेपर तुम्हारे धाम आऊँगा" ॥ २८–३१ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—भगवान्के ऐसा कहनेपर देवताओं सहित श्रीब्रह्माजी उनको प्रणाम करके अपने लोक चले गये ॥ ३२ ॥ तदनन्तर द्वारकापुरीमें नित्य नये महान् उत्पात होते देख अपने पास आये हुए बड़े-बूढ़ोंसे भगवान बोले । श्रीभगवान्ने कहा— आजकल यहाँ सब ओरसे बड़े-बड़े उत्पात होते दीखते हैं और हमारे कुलको ब्राह्मणोंका दुस्तर शाप भी मिल चुका है । अतएव हे आर्यगण ! यदि हम जीना चाहें तो अब हमको यहाँ नहीं रहना चाहिये । अधिक विलम्ब न करके आज ही हम उस परमपवित्र प्रभासक्षेत्रको चले चलें, जिसमें स्नान करके चन्द्रमा दक्षप्रजापतिके शापसे प्राप्त क्षयरोगसे मुक्त हो गये थे और दोषमुक्त हो जानेपर उनकी कलायें पुनः बढ़ने लगी थीं । हम भी उसीमें स्नान करके पितरों तथा देवताओंका तर्पण करेंगे और उत्साहपूर्वक विविध सुस्वादु व्यञ्जनोंसे उत्तम ब्राह्मणोंको भोजन करायेंगे । उस पुनीत क्षेत्रमें श्रद्धापूर्वक सत्पात्रोंको दान देकर हम उस दान द्वारा इन महान् सङ्कटोंको वैसे ही पार कर जायँगे, जैसे लोग सुदृढ़ नौकापर बैठकर समुद्रके पार उत्तर जाते हैं ॥ ३३–३८ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे कुलनन्दन राजा परीक्षित ! भगवानका ऐसा आदेश पाकर प्रभासतीर्थको जानेके लिये सब यादव अपने रथ आदि जोतने लगे ॥ ३९ ॥ ये सब तैयारियें देख और भगवानकी आज्ञा सुन तथा नित्य होनेवाले

विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम् । प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत ॥४१॥

उद्धव उवाच

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन । संहृत्यैतत् कुलं नूनं लोकं संत्यक्ष्यते भवान् ।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥ ४२ ॥
नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव । त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥४३॥
तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् । कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः॥४४॥
शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु । कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेमहि।४५।
त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः । उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ।४६।
वाताशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः । ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः४७
वयं त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु । त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥४८॥
स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च । गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम्।४९॥

श्रीशुक उवाच

एवं विज्ञापितो राजन् भगवान् देवकीसुतः । एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥५०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

— —

अरिष्टसूचक उत्पात देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके अनुगामी भक्त उद्धवजीने एकान्तमें जगदीश्वर भगवान कृष्णके चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले ॥ ४० ॥ ४१ ॥ उद्धवजीने कहा—जिनके सुयशका श्रवण तथा कीर्तन परम पवित्र है, ऐसे हे देवदेवेश्वर ! हे योगेश्वर ! आपने सर्वसमर्थ होकर भी जो ब्राह्मणोंके शापका प्रतीकार नहीं किया, इससे हे प्रभो ! मालूम होता है कि इस कुलका संहार करके आप इस लोकको अवश्य त्याग देंगे ॥ ४२ ॥ हे केशव ! मैं तो आधे क्षणके लिए भी आपके चरणकमलोंको नहीं छोड़ना चाहता। अतएव हे नाथ ! मुझे भी आप अपने साथ अपने धामको लेते चलें ॥ ४३ ॥ हे कृष्ण ! आपकी लीलायें मनुष्योंका परम मङ्गल करती हैं। उस कर्णामृत लीलारसको पी करके आपका भक्त अन्य सब इच्छाओंको त्याग देता है। किन्तु सोने, बैठने, घूमने, रहने, स्नान, क्रीडा और भोजन आदि सब व्यापारोंमें निरन्तर आपके साथ रहनेवाले आपके प्रेमी भक्त हमलोग भला अपने प्रिय आत्मारूप आपको कैसे त्याग सकेंगे ? ॥ ४४–४५ ॥ आपकी भोगी भयी माला, चन्दन, वस्त्र तथा अलङ्कारोंको धारण करने और आपका जूठन भोजन करनेवाले हम दास आपकी मायाको अवश्य परास्त कर देंगे ॥ ४६ ॥ जो केवल वायु भक्षण करनेवाले ऊर्ध्वरेता और अध्यात्मविद्यामें परिश्रम करनेवाले ऋषिगण हैं, जो निर्मल-चित्त एवं शान्त संन्यासी हैं, वे आपके ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥ किन्तु हे महायोगेश्वर ! हम तो इस कर्मकलापमें पड़े बिना ही आपके भक्तोंके साथ आपके चरित्र, बोलचाल, गति, मुसकान, चितवन, परिहास तथा माया-मानवरूपसे की हुई अन्यान्य चेष्टाओंकी परस्पर चर्चा, स्मरण तथा कीर्तन करके ही आपकी दुस्तर मायाको पार कर जायेंगे ॥ ४८–४९ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इस तरह उद्धवके निवेदन करनेपर भगवान देवकीनन्दन अपने अनन्य और प्रिय भक्त उद्धवसे बोले ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे । ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः ॥१॥
मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः । यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥२॥
कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् । समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥३॥
यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः । भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः ॥४॥
न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले । जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥५॥
त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम् ॥६॥
यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः । नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥७॥
पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् । कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥८॥
तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् । आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥९॥
ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् । आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥१०॥
दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते । गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥११॥
सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः । पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥१२॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप । उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥१३॥

श्रीभगवान् कहने लगे—हे महाभाग उद्धव ! तुम जो कुछ कहते हो, मैं वही करना चाहता हूँ । ब्रह्मा, महादेव और सब लोकपाल मेरे गोलोकगमनके अभिलाषी हैं ॥ १ ॥ मैंने यहाँ देवताओंका सब कार्य सम्पन्न कर दिया है । इसी कार्यके लिये मैंने ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे अपने अंश बलदेवजीके साथ इस लोगमें अवतार लिया था ॥ २ ॥ अब उन विप्रोंके शापसे दग्ध यह कुल परस्परके कलहसे नष्ट हो जायगा और द्वारकापुरीको भी आजके सातवें दिन समुद्र डुबो देगा ॥ ३ ॥ हे साधो ! जिस दिन मैं यह लोक छोड़ दूँगा, उसी दिनसे यह मङ्गलहीन होकर शीघ्र ही कलियुगसे अभिभूत हो जायगा ॥ ४ ॥ मेरे इस पृथिवीतलको छोड़ देनेपर तुमको भी यहाँ नहीं रहना चाहिये । क्योंकि हे भद्र ! कलियुगमें प्रजाकी रुचि अधर्ममें ही रहेगी ॥ ५ ॥ अब तुम अपने कुटुम्बी बान्धवोंका मोह त्याग तथा मुझमें भलीभाँति मन लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए स्वेच्छानुसार पृथिवीतल पर विचरो ॥ ६ ॥ मन, वाणी, नेत्र तथा कर्ण आदिसे जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब नाशवान है । मनोमय होनेके कारण इसे तुम माया ही समझो ॥ ७ ॥ जो असंयतचित्त पुरुष होते हैं, उन्हींकी भेदबुद्धि होती है । वह भी गुणदोषमय भ्रम ही है । उस गुणदोषमयी बुद्धिके ही कर्म, अकर्म तथा विकर्मरूप भेद होते हैं । अतएव चित्त और इस जगत्‌को अपनी आत्मामें और उस व्यापक आत्माको मुझ परमात्मामें देखो ॥ ८-९ ॥ इस तरह ज्ञान और विज्ञानसे युक्त होनेपर तुम सब देहधारियोंके आत्मस्वरूप हो जाओगे और आत्मानुभवसे ही सन्तुष्ट होनेके कारण तुम फिर कभी विघ्नोंसे बाधित न होओगे ॥ १० ॥ इस तरह गुण-दोषकी बुद्धिसे मुक्त पुरुष न दोषदृष्टिसे निषिद्धका त्याग करता और न गुण-बुद्धिसे बालकके समान विहित कर्मका अनुष्ठान ही करता है ॥ ११ ॥ वह सब प्राणियोंका सुहृद्, शान्त तथा ज्ञान-विज्ञानके अटल निश्चयसे युक्त हो सम्पूर्ण जगत्‌को मेरा ही स्वरूप देखता हुआ फिर किसी विपत्तिमें नहीं फँसता ॥ १२ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! श्रीकृष्ण भगवानका ऐसा उपदेश सुनकर महाभागवद्भक्त तथा आत्मतत्त्वके जिज्ञासु उद्धवजी श्री

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव । निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः
त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः । सुतरां त्वयि सर्वात्मन्न भक्तैरिति मे मतिः ।१५।

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढस्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥१६॥
सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥१७॥
तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः । समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥१९॥
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः । यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते २०
पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः । आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् २१
एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः ।बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया२२
अत्र मां मृगयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् । गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥२३॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥२४॥

अच्युतको प्रणाम करके कहने लगे ॥ १३ ॥ श्रीउद्धवजी कहते हैं—हे योगेश्वर ! हे योगवेत्ताओंके गुप्त निधि ! हे योगस्वरूप ! हे योगके उत्पत्तिस्थान ! आपने मेरे निःश्रेयस अर्थात् मोक्षके लिये मुझे संन्यासरूपी कर्म-त्यागका उपदेश किया ॥ १४ ॥ किन्तु हे भूमन् ! हे सर्वात्मन् ! मेरा विचार ऐसा है कि विषयी लोगोंके लिये कामनाओंका त्याग दुष्कर है । विशेष करके आपमें जिनकी भक्ति नहीं है, उन पुरुषोंके लिये तो वह और भी कठिन है ॥ १५ ॥ हे नाथ ! इसी तरह मैं भी हूँ । 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसी मूढ़बुद्धिसे युक्त होकर मैं आपकी मायासे रची हुई देह तथा स्त्री-पुत्रादि सम्बन्धियोंमें निमग्न हो गया हूँ । अतएव हे भगवन् ! इस दासको संक्षेपमें कहे हुए संन्यासतत्त्वका उपदेश इस ढङ्गसे कीजिये कि जिससे मैं सरलतासे उसका साधन कर पाऊँ ॥ १६ ॥ हे भगवन् ! आप सत्यस्वरूप तथा स्वयंप्रकाश साक्षात् आत्मा हैं । आपसे बढ़कर आत्मज्ञानका उपदेशक तो मुझे देवताओंमें भी कोई नहीं दीखता । ब्रह्मा आदि समस्त देहधारी देवता आपकी ही मायासे मुग्ध होकर बाहरी मायिक पदार्थोंको सत्य मान बैठे हैं ॥ १७ ॥ अतएव विविध आपत्तियोंसे सन्तप्त तथा संसारसे खिन्नचित्त होकर मैं निर्मल, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ, ईश्वर तथा कालादिसे अपरिच्छेद्य वैकुण्ठधामके निवासी तथा साक्षात् नरके सखा नारायणस्वरूप आप ईश्वरकी शरणमें आया हूँ ॥ १८ ॥ श्रीभगवानने कहा—संसारके तत्त्वकी आलोचना करनेवाले पुरुष प्रायः स्वयं अपने चित्तकी अशुभ वासनाओंसे अपना उद्धार कर लेते हैं ॥ १९ ॥ क्योंकि सब प्राणियोंकी आत्मा ही अपना गुरु है । उनमें भी मनुष्यकी आत्मा तो विशेषरूपसे गुरु है । क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा तुरन्त अपने श्रेयका निर्णय कर ले सकती है ॥ २० ॥ मनुष्यमें भी जो बुद्धिमान् पुरुष सांख्ययोग अर्थात् प्रकृति-पुरुष-विवेकमें कुशल हैं, वे सर्वशक्तिसम्पन्न मेरे स्वरूपको भलीभाँति देख लेते हैं ॥ २१ ॥ मैंने एकपद, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, बहुपद और पादहीनरूपसे विविध भाँतिके शरीरोंको रचा है । किन्तु उनमें भी मुझे तो सबसे अधिक प्रिय मनुष्य-शरीर ही है ॥ २२ ॥ क्योंकि संयतचित्त पुरुष इसी देहमें हेतु तथा फलका विचार करते हुए दिखाई देनेवाले गुण यानी बुद्धि आदि इन्द्रियरूपी लिङ्गों द्वारा अनुमान करके मुझ अग्राह्य ईश्वरका अनुसन्धान कर लेते हैं ॥ २३ ॥ इस विषयमें अव-

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् । कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ।२५।

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा । यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ।२६।
प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः । हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥२७॥
त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः । न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ।२८।
जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना । न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः २९
त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् । ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा । पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥३१॥

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः । यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान्छृणु ३२
पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः । कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः ३३
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः । कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ।३४।
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः । शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ।३५।
यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज । तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥३६॥
भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः । तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्
शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः । साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ३८

धूत तथा अमित तेजस्वी यदुके संवादका एक प्राचीन इतिहास बताते हैं ॥ २४ ॥ एक समय धर्मज्ञ राजा यदुने एक अत्यन्त निर्भीक तथा महाविद्वान् युवा अवस्थाके अवधूतको विचरते देखकर पूछा ॥ २५ ॥ यदु बोले—हे ब्रह्मन् ! कर्तापनके भावसे विहीन आपको ऐसी विमल बुद्धि कैसे और कहाँसे मिली ? जिसके सहारे आप विद्वान् होकर भी बालकके समान स्वेच्छानुसार विचरते हैं ॥ २६ ॥ संसारके लोग प्रायः आयु, यश तथा वैभव आदिके लिये ही अर्थ, धर्म, काम अथवा तत्त्वजिज्ञासा करते हैं ॥ २७ ॥ लेकिन आप तो समर्थ, विद्वान्, दक्ष, सुन्दर तथा मिष्टभाषी होकर भी जड़, उन्मत्त तथा पिशाचकी भाँति न कुछ करते हैं और न कुछ चाहते ही हैं ॥२८॥ सभी संसारी लोग कामनाओंके दावानलमें जले जा रहे हैं, किन्तु आप गङ्गाजलमें खड़े गजराजके समान उस अग्निसे मुक्त होनेके कारण उससे सन्तप्त नहीं होते ॥ २९ ॥ हे ब्रह्मन् ! हम पुत्र-कलत्रादि संसार-स्पर्शसे रहित एवं आत्मस्वरूपमें स्थित आपके आनन्दका कारण पूछ रहे हैं, सो कृपा करके आप हमें बतला दीजिये ॥३०॥ श्रीभगवान बोले—ब्राह्मणोंके भक्त तथा अच्छी बुद्धिवाले यदुके ऐसा पूछनेपर वे महाभाग द्विजश्रेष्ठ प्रसन्न होकर उन विनयावनत राजा यदुसे कहने लगे ॥ ३१ ॥ अवधूतने कहा—हे राजन् ! मेरे बहुतेरे गुरु हैं। उनको मैंने अपनी बुद्धिसे स्वीकार किया है और उनसे ही बुद्धि पाकर मैं बन्धनरहित होकर स्वच्छन्द विचरता हूँ। उनके नाम ये हैं—॥ ३२ ॥ पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कपोत, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, शहद ले जानेवाला, हरिन, मीन, पिङ्गला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, सर्प, ऊर्णनाभि अर्थात् मकड़ी और भृङ्गीकीट ॥ ३३-३४ ॥ हे राजन् ! मैंने इन्हीं चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया था और इन्हींसे शिक्षा लेते हुए मैंने इस लोकमें अपनेको सुशिक्षित किया है ॥ ३५ ॥ हे ययातिसुत ! मैंने जिससे और जैसे जो कुछ सीखा है, हे पुरुषसिंह ! वह सब मैं कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ३६ ॥ देवमायासे प्रेरित कोई प्राणी यदि किसी तरह कष्ट भी पहुँचावे तो भी विद्वान् अपने मार्गसे विचलित न हो, यह धैर्य-व्रत मैंने पृथ्वीसे सीखा था ॥ ३७ ॥ साधुका कर्तव्य है कि जिनकी सारी चेष्टाएँ सर्वदा दूसरोंके लिये होती,

प्राणवृत्त्यैव संतुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः। ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥३९॥
विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः। गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥४०॥
पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः। गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥४१॥
अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥४२॥
तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः। न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥४३॥
स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्। मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥४४॥
तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः। सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥४५॥
क्वचिच्छन्नः क्वचित्स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्। भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम् ॥४६॥
स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः। प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥४७॥
विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः। कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥४८॥
कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ। नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥४९॥

हैं और जिनकी उत्पत्ति केवल परोपकारके लिये होती है, उन पर्वत तथा वृक्षोंसे परोपकार करना सीखे ॥ ३८ ॥ जैसे प्राणवायु केवल भोजन भर चाहता है, उसे किसी प्रकारके रूप-रस आदिकी आवश्यकता नहीं पड़ती। वैसे ही योगी भी जिसमें ज्ञान नष्ट न हो और मन-वाणी भी विकृत न हों, ऐसे भोजनसे ही सन्तुष्ट रहे ॥ ३९ ॥ रसना आदि इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले पदार्थोंको न चाहे। जैसे बाह्यवायु सर्वगामी होता हुआ भी स्वरूपसे सदा निर्लिप्त रहता है, वैसे ही नाना प्रकारके विषयों-को ग्रहण करता हुआ भी योगी उनके गुण-दोषोंसे पृथक् रहकर उनमें न लिप्त हो ॥ ४० ॥ जैसे वायु गन्ध वहन करता हुआ भी सदा शुद्ध बना रहता है, वैसेही इस पार्थिव शरीरमें रहनेसे इसके गुणोंका आश्रय लेकर भी आत्मज्ञानी पुरुष उनमें कभी आसक्त न हो। इस रीतिसे मैंने प्राणवायुसे संयम तथा बाह्यवायुसे असंग रहनेकी शिक्षा पायी है ॥ ४१ ॥ अपने निजी स्वरूपसे सबके अनुगत होनेके कारण ब्रह्म सभी स्थावर-जङ्गम उपाधियोंमें स्थित है। मुनिका कर्त्तव्य है कि मणियोंमें व्याप्त सूत्रकी भाँति उस सर्वगत आत्माकी व्याप्तिके द्वारा उसकी अपरिच्छिन्नता, असंगता तथा आकाशरूपताकी भावना करे ॥ ४२ ॥ जैसे तेज, जल और अन्नमय पदार्थों तथा वायुजनित मेघादिसे आच्छन्न भी आकाश उनसे निर्लिप्त रहता है, वैसे ही आत्माका भी कालकृत गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह गुण आकाशसे सीखना चाहिये ॥ ४३ ॥ स्वभावतः शुद्ध, स्नेहयुक्त, मधुरभाषी तथा मनुष्योंके लिये तीर्थस्वरूप मुनि अपने साथियोंको दर्शन, स्पर्श और यशोगानसे ही जलके समान पवित्र कर देता है। मैंने यह गुण जलसे पाया है ॥ ४४ ॥ अग्निसे मुझे यह शिक्षा मिली है—जितेन्द्रिय मुनि अग्निके सदृश तेजस्वी, तपके कारण देदीप्यमान तथा अक्षोभ्य होता है। वह केवल उदररूप पात्र रखता है अर्थात् जो कुछ मिले उसे पेटमें डाल लेता है, कभी कुछ सञ्चय करके नहीं रखता तथा अग्निकी भाँति सर्वभक्षी होकर भी संयतचित्त होता है और वह कभी गुप्त और कभी प्रगट होकर रहता एवं आत्मकल्याणकी इच्छावालोंसे सेवित होता है। वह अपने दाताके अतीत तथा आगामी अशुभोंको भस्म करता हुआ सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है। योगीको उचित है कि भिन्न-भिन्न उपाधियों अर्थात् काष्ठ-लोहादिमें प्रविष्ट अग्नि जैसे तद्रूप दीखता है, वैसे ही विभु आत्मा अपनी मायासे रचे सत्-असद्रूप प्रपञ्चमें प्रविष्ट होकर उपाधियोंके अनुसार सब कार्य करता है। यह गुण अग्निसे ले ॥ ४५–४७ ॥ अलक्ष्यगति कालके प्रभावसे घटने-बढ़नेवाली चन्द्रमाकी कलाओंके सदृश जन्मसे मृत्युपर्यन्त सारी अवस्थाएँ शरीरकी ही होती हैं, आत्माकी नहीं। अग्निकी शिखा जैसे निरन्तर क्षण-क्षणमें उत्पन्न तथा विलीन होती रहती है, किन्तु उसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता। वैसे ही जल-प्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा भूतोंकी उत्पत्ति तथा नाश क्षण-क्षणमें होते ही रहते हैं, किन्तु

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति । न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ।५०।
बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः । लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्
नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् । कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥५२॥
कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ । कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः
कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ । दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ५४
शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडासनादिकम् । मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥५५॥
यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता । तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ।५६।
कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते । अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती ५७
तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः । शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ५८
प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ । शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ५९
तासां पतत्त्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः । प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥६०॥
स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया । विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः ६१
एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ । परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥६२॥
दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद् यदृच्छातो वनेचरः । जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥६३॥
कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ । गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥६४॥

अज्ञानवश वे दिखलायी नहीं पड़ते । यह मैंने चन्द्रमासे सीखा है ॥ ४८–४९ ॥ जो मैंने सूर्यसे सीखा है सो भी सुनो—सूर्य जैसे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचकर समयानुसार उसे बरसाता है, वैसे ही योगी भी गुणानुवर्तिनी इन्द्रियों द्वारा त्रिगुणमय पदार्थोंको ग्रहण करता और यथासमय उनको त्याग भी देता है, उनमें कभी आसक्त नहीं होता । सूर्यके सदृश व्यक्तिगत उपाधियोंके भेदसे स्थूलबुद्धि लोगोंको आत्मा व्यक्तिविशेषमें स्थित जान पड़ता है ॥ ५०–५१ ॥ मैंने कबूतरसे जो शिक्षा पायी है, वह भी सुन लो । कभी किसीके साथ अधिक प्रेम न करे और न किसीमें आसक्त हो । नहीं तो दीनबुद्धि कबूतरके समान दुखी होना पड़ता है ॥ ५२ ॥ हे राजन् ! एक कपोत वनमें एक पेड़पर घोसला बनाकर कुछ वर्षोंसे अपनी स्त्री कबूतरीके साथ उसमें रहता था ॥ ५३ ॥ वे गृहस्थ थे और परस्पर प्रेमबन्धनमें बँधे हुए कबूतर और कबूतरी दोनों अपनी दृष्टिसे दृष्टि, अङ्गसे अङ्ग और मनसे मन मिलाये साथ-साथ रहते थे ॥ ५४ ॥ परस्पर विश्वास होनेके कारण उस वनमें मिल-जुलकर एक साथ सोते, बैठते, घूमते, ठहरते तथा बातचीत, क्रीडा और भोजनादि करते थे ॥ ५५ ॥ हे राजन् ! अपनी सब इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाली अपनी कृपापात्री कबूतरी जब जो चाहती, वह अजितेन्द्रिय कबूतर अत्यधिक कष्ट उठाकर भी उसे अभिलषित वस्तु लाकर देता रहता था ॥ ५६ ॥ कालक्रमसे कबूतरीको पहला गर्भ रहा और उस सतीने अपने स्वामीके निकट उसी घोंसलेमें अण्डे दिये ॥ ५७ ॥ भगवानकी अचिन्त्य शक्तिसे उनके अवयवोंकी रचना होनेपर कुछ काल बाद उनमेंसे सुकोमल शरीर तथा रोमों युक्त बच्चे उत्पन्न हुए ॥ ५८ ॥ उन बच्चोंका शब्द सुनते तथा उनके कलरवसे आनन्दमग्न होते हुए उन पुत्रवत्सल दम्पतियोंने बड़े प्रेमसे उनका पालन-पोषण किया ॥ ५९ ॥ उन प्रसन्नचित्त बच्चोंके सुकोमल स्पर्शवाले पङ्खों, उनके कलरव, उनकी बालसुलभ चेष्टाओं और इधर-उधर फुदकनेसे उन माता-पिताओंको बड़ा आनन्द मिलता था ॥ ६० ॥ इस तरह भगवान विष्णुकी मायासे मोहित होकर परस्पर स्नेहबन्धनमें बँधे तथा उनके पालन-पोषणकी चिन्तासे व्याकुल कबूतर-कबूतरी उन बच्चोंका लालन-पालन करते रहे ॥ ६१ ॥ एक दिन वे कुटुम्बी कबूतर-कबूतरी दोनों चारा लानेको गये और चारेकी खोजमें बहुत देरतक वनमें इधर-उधर भटकते रह गये ॥ ६२ ॥ इधर एक वनवासी बहेलियेने उन कपोतके नन्हें-नन्हें बच्चोंको घोसलेके आस-पास फिरते देख

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान् । तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता६५
सासकृत् स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया । स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः
कपोतश्चात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान् । भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः६७
अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः । अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥६८॥
अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता । शून्ये गृहे मां संत्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः६९
सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः । जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ७०
तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः । स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ।७१।
तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् । कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ७२
एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् । पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ७३
यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् । गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥७४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च । देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः ।१।
ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा । यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥२॥

जाल फैलाकर फँसा लिया ॥ ६३ ॥ इसी समय अपनी सन्तानके पोषणमें अतिशय उत्सुक रहनेवाले कपोत-कपोती भी जो वनमें गये हुए थे, चारा लेकर अपने घोंसलेके समीप लौटे ॥ ६४ ॥ कबूतरी अपने बच्चोंको जालमें फँसे तथा दुःखसे पर फड़फड़ाकर चिल्लाते देखकर स्वयं भी अत्यन्त दुःखित हो विलाप करती हुई उनके समीप दौड़ गयी ॥ ६५ ॥ निरन्तर स्नेहबन्धनमें बँधी और दैवमायासे दीनचित्त कबूतरी बच्चोंको जालमें बँधे देखकर बेसुध हो स्वयं भी जालमें जा फँसी ॥ ६६ ॥ तब कपोत अपने प्राणोंसे भी प्रिय बच्चों और प्राणप्रिया दुःखिता पत्नीको जालमें फँसी देख अतिशय दुःखित होकर विलाप करने लगा—॥ ६७ ॥ अहो ! मुझ अभागे तथा मन्दमतिकी दुर्दशा तो देखो ! संसार-सुखसे तृप्त तथा कृतार्थ हुए बिना ही मेरा यह अर्थ, धर्म, कामरूपी त्रिवर्गका साधनस्वरूप बसा-बसाया घर उजड़ गया ॥ ६८ ॥ हाय ! मेरी सब प्रकार योग्य, आज्ञाकारिणी और पतिव्रता पत्नी भी मुझे इस सूने घरमें अकेला छोड़कर अपने अच्छे बालकोंके साथ स्वर्गको जा रही है ॥६९॥ इस तरह जिनकी स्त्री तथा बच्चे नष्ट हो रहे हैं, ऐसा मैं अत्यन्त दीन और विधुर होकर इस सूने घरमें अपना दुःखमय जीवन बितानेकी इच्छा कैसे करूँ ! ॥ ७० ॥ जालमें फँसकर उन मृत्युग्रस्त तथा उससे छूटनेके लिये प्रयत्न करते हुए स्त्री और बच्चोंको देखकर वह दीन तथा बुद्धिहीन कबूतर स्वयं भी उसी जालमें कूद पड़ा ॥ ७१ ॥ उस कुटुम्बी कबूतर, कबूतरी और बच्चोंको पाकर अपनेको कृतकृत्य मानता हुआ निर्दयी बहेलिया अपने घर लौटा ॥ ७२ ॥ तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति कुटुम्बी, अशान्त-चित्त तथा निरन्तर द्वन्द्वमें ही पड़ा रहता है वह अपने कुटुम्बके पालन-पोषणमें ही लगे रहनेके कारण उस पक्षीकी भाँति स्नेहबन्धनमें बँध और दीन होकर दुःख उठाता है ॥ ७३ ॥ खुले हुए मुक्ति-द्वारसदृश मनुष्य-देहको पाकर भी जो उस कपोतके समान अपने घरमें आसक्त है, उसे शास्त्रमें 'आरूढच्युत' अर्थात् एकबार चढ़कर गिरा हुआ मनुष्य कहा गया है ॥ ७४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(अवधूतोपाख्यानका मध्य भाग) अवधूत बोले—हे राजन ! दुःखकी भाँति इन्द्रियोंके सुख भी नरकमें स्वयं प्राप्त होते हैं । अतएव बुद्धिमान पुरुष सुखको न चाहे ॥ १ ॥ मीठा हो या

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः । यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥३॥
ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम् । शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥४॥
मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः । अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः॥५॥
समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः । नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥६॥
दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः । प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥७॥
योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः ।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥
स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता । गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥९॥
अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः । सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥१०॥
सायंतनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षितम् । पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न संग्रही ॥११॥
सायंतनं श्वस्तनं वा न सङ्गृह्णीत भिक्षुकः । मक्षिका इव सङ्गृह्णन् सह तेन विनश्यति ॥१२॥
पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि । स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥१३॥
नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः । बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा ॥१४॥

फीका, अधिक हो या थोड़ा, कौर-दो कौर अन्न बिना माँगे अनायास मिल जाय, उसीको अजगर-की भाँति निरीहभावसे खाकर पेट पाल ले ॥ २ ॥ कदाचित् भोजन न भी मिले तो उसे प्रारब्धभोग समझकर अजगरके सदृश उसके लिये कोई भी प्रयत्न न करके बहुत समयतक निराहार ही पड़ा रहे ॥३॥ मनोबल, इन्द्रियबल तथा शारीरिक बलसे युक्त होकर भी निश्चेष्ट शरीरसे पड़ा रहे। बिना निद्राके भी सोया-सा रहे और इन्द्रियोंसे युक्त होकर भी कोई चेष्टा न करे (यह शिक्षा मुझे अजगर-से मिली है) ॥ ४ ॥ समुद्रसे मैंने जो सीखा है, वह सुनिये—मुनिको निस्तरङ्ग समुद्रके समान शान्त, गम्भीर, अगम्य, अभेद्य, अनन्तपार और क्षोभरहित होकर रहना चाहिये। जैसे नदियोंके कारण समुद्र नहीं बढ़ता और न गर्मीमें घटता ही है, उसी तरह नारायणपरायण योगीको भी पदार्थोंके मिलनेसे प्रसन्न और न मिलनेसे उदास नहीं होना चाहिये ॥ ५–६ ॥ पतङ्ग (फतिंगा) जैसे रूपपर मोहित होकर अग्निमें जल मरता है, वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष भी देवमायारूपिणी स्त्रीको देख और उसके हाव-भावोंसे लुब्ध होकर घोर अन्धकारमें जा पड़ता है ॥ ७ ॥ स्त्री, सुवर्ण, भूषण तथा वस्त्रादि मायामय पदार्थोंमें जो मूढ भोगबुद्धिसे आसक्त है, वह विवेक-बुद्धिको खोकर पतङ्गकी भाँति एक दिन नष्ट हो जाता है (यह मैंने फतिंगोंसे सीखा है) ॥ ८ ॥ भिक्षुकका कर्तव्य है कि गृहस्थोंको कोई कष्ट न देते हुए मधुकरी वृत्तिका आश्रय ले और जितनेसे निर्वाह हो जाय, उतना ही अन्न कई घरोंसे माँगकर खा ले (यह मैंने मधुमक्षिकासे सीखा है) ॥ ९ ॥ जैसे भ्रमर भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे उनका सार ले लेता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुष भी छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार ले ले ॥ १० ॥ यतिका कर्तव्य है कि मधुमक्षिकाकी तरह भिक्षामेंसे सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये सञ्चय करके न रक्खे। अपने हाथ और उदरको ही पात्र बनाये यानी जितना हाथमें आये और पेटमें समा सके उतना ही अन्न ले—अधिक नहीं। सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये संग्रह नहीं करे। नहीं तो अपने सञ्चित मधुके साथ जैसे मधुमक्षिकायें नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही यति भी संग्रह करनेपर उस संग्रहीत पदार्थके साथ नष्ट हो जायगा ॥ ११–१२ ॥ भिक्षुकको चाहिये कि लकड़ीकी भी बनी हुई स्त्रीका पैरसे भी स्पर्श न करे। यदि ऐसा करेगा तो हथिनीके अङ्ग-संयोगसे जैसे हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायगा ॥ १३ ॥ बुद्धिमान् पुरुषका कर्तव्य है कि साक्षात् मृत्युरूपा अपनी स्त्रीको भी न स्वीकार करे। क्योंकि स्त्री-संग करनेवालेको सबल पुरुष वैसे ही मारते हैं, जैसे एक हथिनीके पीछे लगे हुए हाथीको देखकर दूसरे हाथी मार डालते हैं। यह मैंने हाथीसे सीखा

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसञ्चितम् । भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ।१५।
सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः । मधुहेवाग्रतो भुंक्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ।।१६।।
ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित् । शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ।१७।
नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम् । आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः १८
जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः । मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ।१९।
इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः । वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ।।२०।।
तावज्जितेन्द्रियो नस्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् । न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ।।२१।।
पिङ्गला नाम वेश्याऽऽसीद् विदेहनगरे पुरा । तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ।२२।
सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती । अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।२३।
मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ । तान्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका।।
आगतेष्वपयातेषु सा संकेतोपजीविनी । अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ।।
एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती । निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत ।।२६।।
तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः । निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः ।।२७।।
तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम । निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः ।२८।

है ।। १४ ।। लोभी जिस पदार्थका बड़े दुःखसे संग्रह करते हैं, उसे वे न तो स्वयं भोगते और न किसी दूसरेको भोगने देते हैं। मधुमक्षिकाओंके मधुको मधुहारीकी तरह उनके धनको भी कोई दूसरा अर्थवेत्ता ही भोगता है ।। १५ ।। जैसे मधुमक्षिकाओंके मधुको मधुहारी उनके सामने ही ले लेता है, वैसे ही अति कष्टपूर्वक संग्रहीत धनसे तरह-तरहके गृहोचित सुखोंकी आशा रखनेवाले गृहस्थोंके पदार्थोंको भिक्षु उनसे भी पहले भोगता है ।। १६ ।। यह मैंने मधुहारीसे सीखा है। वनवासी यति कभी ग्राम्यगीतोंका न सुने। व्याधके गीतसे मोहित होकर जालमें फँसे हरिणसे इसका उपदेश ले ।।१७।। क्योंकि स्त्रियोंके ग्राम्यगीत सुन और नृत्य देख हरिणीपुत्र ऋष्यशृङ्ग वशीभूत होकर उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे। यह मैंने हरिणसे शिक्षा ली है ।। १८ ।। जैसे बुद्धिहीन मत्स्य काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देता है, वैसे ही रसलोलुप मनुष्य अत्यन्त बलवती जिह्वाके वशीभूत होकर मर मिटता है ।। १९ ।। विचारशील पुरुष निराहार रहकर रसनाके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंको शीघ्र अपने वशमें कर लेते हैं, यह रसना अन्नत्यागसे तो और भी प्रबल हो जाती है, (अतएव इसका जीतना अतिशय कठिन है। अन्य इन्द्रियोंको जीत लेनेपर भी जब तक मनुष्य रसनेन्द्रियको अपने काबूमें न कर ले, तबतक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि रसके जीतनेपर ही सब विषय जीते जा सकते हैं—अन्यथा नहीं। यह मैंने मछलियोंसे सीखा है ।।२०-२१।। हे नृपनन्दन ! पूर्वकालमें विदेहनगरीमें पिङ्गला नामकी एक वेश्या रहती थी। उससे मैंने जो कुछ सीखा है, सो सुनो ।। २२ ।। एक दिनकी बात है—वह स्वेच्छाचारिणी वेश्या किसी प्रेमीको रमण-स्थानमें आनेकी इच्छासे खूब बन-ठनकर बहुत देरतक घरके द्वारपर खड़ी रही ।। २३ ।। हे नरश्रेष्ठ ! वह अर्थलोलुपा वेश्या जो कोई पुरुष उस मार्गसे निकलता, उसीको देखकर समझती कि यह कोई बहुत बड़ा धनी नागरिक होगा—जो अधिक धन देकर रमण करेगा ।। २४ ।। किन्तु उसके निकल जानेपर वह वेश्या सोचती कि कोई और बहुत धन देनेवाला धनी पुरुष मेरे पास आता ही होगा ।। २५ ।। इसी दुराशासे बड़ी देरतक द्वारके पास खड़े-खड़े उसकी नींद जाती रही। उसके कभी बाहर कभी भीतर आते-जाते आधी रात हो चली ।। २६ ।। इस प्रकार धनकी दुराशासे प्रतीक्षा करते-करते उसका मुख सूख गया और अन्तमें उस व्याकुलचित्ता वेश्याको चिन्ताके कारण होनेवाला परम सुख-कारक वैराग्य उत्पन्न हो गया ।। २७ ।। चित्तमें वैराग्य उत्पन्न होनेपर उसने जो कुछ कहा, वह सुनो।

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति । यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप ॥२९॥

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः । या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥३०॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।
अकामदं दुःखभयाधिशोकमोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥३१॥

अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोनुशोच्यात् क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥३२॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्यस्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम् ।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद् विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥३३॥

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः । यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् । तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥३५॥

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः । आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥३६॥

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा । निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥३७॥

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः । येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥३८॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः । त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥३९॥

संतुष्टा श्रद्दधत्येतद् यथालाभेन जीवती । विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥४०॥

हे राजन् ! पुरुषके आशारूपी पाशको काटनेके लिए वैराग्य खड्गके समान होता है ॥२८॥ हे तात ! जिसके हृदयमें वैराग्य नहीं उत्पन्न होता, वह पुरुष कभी देहबन्धनको नहीं तोड़ सकता । जैसे कि विज्ञानहीन पुरुष ममताको नहीं त्याग पाता ॥ २९ ॥ पिङ्गलाने कहा—अहो ! मुझ इन्द्रिय-परायणाके मोहका विस्तार तो देखो, जो मैं मूर्खा इन तुच्छ तथा बदमाश प्रेमियोंसे सुख चाहती हूँ ॥ ३० ॥ अरे ! मैं बड़ी नासमझ हूँ, जो नित्य अपने समीप रमण करनेवाले और नित्य रति तथा धन देनेवाले उन प्रियतम सत्पुरुष परमेश्वरको छोड़कर कामनापूर्तिमें असमर्थ तथा दुःख, भय, रोग, शोक एवं मोह आदिको देनेवाले इन तुच्छ पुरुषोंको रिझाती हूँ ॥ ३१ ॥ अहो ! मैंने इस अतिशय निन्दनीय आजीविका अर्थात् वेश्यावृत्तिसे व्यर्थ अपने आपको सन्तप्त किया । हाय ! मैं इन स्त्रीलम्पट, अर्थलोलुप तथा अनुशोचनीय पुरुषोंके द्वारा खरीदे हुए शरीरसे रति तथा धनकी इच्छा करती थी ! ॥ ३२ ॥ जो शरीर अस्थिरूपी टेढ़े-बेढ़े बाँसों और थूनियोंपर खड़ा है । त्वचा, रोम और नखोंसे आवृत तथा नाशवान् एवं मलमूत्रसे भरा हुआ नौ द्वारोंवाला घररूपी यह देह है । इसका मेरे सिवाय और कौन सेवन करेगी ? ॥ ३३ ॥ विदेहकी इस नगरीमें मैं ही एक ऐसी मूर्खा हूँ, जो उन आत्मप्रद अच्युत परमात्माको छोड़कर किसी अन्य पुरुषसे अपनी कामना पूर्ण करना चाहती हूँ ॥ ३४ ॥ वे प्रभु सब शरीरधारियोंके सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब उनके हाथों बिककर लक्ष्मीजीके समान उन्हींके साथ रमण करूँगी ॥ ३५ ॥ ये जो भोग और भोगप्रद पुरुष हैं, इन्होंने मेरा क्या कल्याण किया ? अथवा और भी बहुतेरे आदि-अन्तवाले पुरुष तथा कालसे भयभीत जो देवता हैं, वे भी अपनी भार्याओंको कितना सन्तुष्ट करते हैं ॥ ३६ ॥ अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्मसे विष्णुभगवान् प्रसन्न हुए हैं, जिससे कि इस दुराशासे मेरे मनमें ऐसा सुखदायी वैराग्य उत्पन्न हुआ है॥३७॥ यदि मेरा भाग्य मन्द होता तो मुझे ये कष्ट क्यों उठाने पड़ते, जो कि उस वैराग्यके हेतु हैं कि जिसके द्वारा मनुष्य गृह आदिके बन्धनको काटकर शान्ति प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥ अतएव अब मैं इस उपकारको शिरोधार्य करके विषयजनित दुराशा त्यागकर उन जगदीश्वरकी ही शरणमें जा रही हूँ ॥३९॥ अब मैं सन्तोष तथा श्रद्धापूर्वक प्रारब्धवश जो कुछ भी मिलेगा, उसीसे जीवननिर्वाह करती हुई इस

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम् । ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ४१
आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् । अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत्।।४२।।

ब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् । छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा।।४३।।
आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् । यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ४४

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत् प्रियतमं नृणाम् । अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः १
सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः । तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥२॥
न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् । आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥३॥
द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ । यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥४॥
क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान् । स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥५॥
तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव । अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्।६।
सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः । बभञ्जैकैकशः सङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्।।७।।

आत्मारूप पुरुषके साथ सानन्द रमण करूँगी ॥ ४० ॥ संसाररूपी कूपमें पड़े हुए, विषय-वासनाओंसे नष्ट-दृष्टि और कालरूपी सर्पसे डसे हुए इस आत्मा अर्थात् जीवकी रक्षा परमात्माके सिवा और कौन कर सकता है ? ॥ ४१ ॥ जब जीव विषयोंसे उत्पन्न होता तब यह स्वयं अपना रक्षक हो जाता है। अतएव प्रमादरहित होकर इस जगत्को निरन्तर कालरूपी सर्पसे ग्रस्त हुआ समझे ॥४२॥ अवधूत कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा निश्चय करके पिङ्गला वेश्या कान्तकी अभिलाषाजनित दुराशा त्यागकर अशान्त भावमें स्थित हो अपनी शय्यापर जा लेटी ॥ ४३ ॥ आशा ही परम दुःख और निराशा ही परम सुख है। क्योंकि पिङ्गला कान्तको आशा छोड़ देनेपर सुखसे सो गयी। यह मैंने उस पिङ्गला वेश्यासे सीखा था ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(अवधूतोपाख्यानका अन्तिम भाग) अवधूत कहने लगे—हे राजन् ! मनुष्योंको जो-जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय होती हैं, उनका सञ्चय ही उनके दुःखका कारण होता है। ऐसा समझकर जो अकिञ्चनभावसे रहता अर्थात् कुछ भी संग्रह नहीं करता, वह अनन्त सुख पाता है। यह मैंने कुरर-पक्षीसे सीखा है ॥१॥ एक कुररपक्षी अपनी चोंचमें मांस लिये जा रहा था। तब बिना मांसवाले दूसरे बलवान् पक्षियोंने उसे बहुत मारा। तब उसने वह मांस छोड़कर ही शान्ति पायी ॥ २ ॥ मुझे मान या अपमानका कुछ ख्याल नहीं है और घर या परिवारकी भी कोई चिन्ता नहीं है। मैं तो अपने आत्मामें ही क्रीड़ा करता और आत्मामें ही मग्न रहता हुआ बालककी भाँति निःशङ्क विचरता हूँ ॥ ३ ॥ संसारमें दो प्रकारके व्यक्ति ही निश्चिन्त तथा परमानन्दपूर्ण रहते हैं। एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट बालक और दूसरा गुणातीत महात्मा। यह मैंने बालकसे सीखा है ॥ ४ ॥ एक कुमारी कन्याने अपने बन्धु-बान्धवोंके कहीं बाहर चले जानेके कारण अपनेको वरण करनेके लिये घरपर आये हुए लोगोंका आतिथ्य स्वयं किया था ॥ ५ ॥ हे राजन् ! जब वह उनको भोजन करानेके लिये घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी तो उसकी शङ्खकी चूड़ियाँ खनकने लगीं ॥ ६ ॥ चूड़ीके शब्दको

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्म शङ्खयोः । तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः ॥८॥
अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम । लोकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया ॥९॥
वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि । एक एव चरेत् तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥१०॥
मन एकत्र संयुज्याज्जितश्वासो जितासनः । वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥११॥

यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेतच्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून् ।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥१२॥
तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥१३॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः । अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥१४॥
गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः । सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१५॥
एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया । संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥१६॥
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः । कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः ॥ १७ ॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः । केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥१८॥
केवलात्मानुभावेन स्वमाया त्रिगुणात्मिकाम् । संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥१९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम् । यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥२०॥

दरिद्रतासूचक समझकर वह लजायी और उसने एक-एक करके बाकी सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रख छोड़ीं ॥ ७ ॥ धान कूटते समय उन दोसे भी शब्द होने लगा । तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी । अब एक-एक चूड़ीसे कोई शब्द नहीं हुआ ॥ ८ ॥ हे अरिमर्दन राजन् ! लोकतत्त्वकी जिज्ञासावश पृथिवीपर विचरते हुए मैंने इससे यह शिक्षा पायी कि बहुत लोगोंके साथ रहनेसे कलह होता और दोके भी एक साथ रहनेसे आपसमें बातचीत होती ही है। अतएव कुमारीकी चूड़ीके सदृश सदा अकेला ही विचरा करे (यह शिक्षा मैंने कुमारी कन्यासे पायी थी) ॥ ९-१० ॥ वैराग्य तथा अभ्यासके द्वारा निरालस्य भावसे आसन और श्वासको जीतकर अपने वशमें किये हुए चित्तको एक ही लक्ष्य अर्थात् परमात्मामें लगा दे ॥ ११ ॥ उस परमानन्दरूप परमपदमें स्थित यह मन धीरे-धीरे कर्मरूपी धूलको छोड़ देता और फिर सत्त्वगुणके उद्रेकसे रज तथा तमको त्यागकर इन्धनरहित अग्निके समान शान्त हो जाया करता है ॥ १२ ॥ इस तरह आत्मामें चित्तका निरोध हो जानेपर इसे बाहर-भीतर कहीं भी किसी पदार्थका भान नहीं होता । जैसे कि एक बाण बनानेवालेने बाण बनानेमें मग्न रहनेके कारण पास ही से गयी हुई राजाकी सवारीको भी नहीं देखा था (यह मैंने बाण बनानेवालेसे सीखा है) ॥ १३ ॥ मुनिको उचित है कि सर्पकी भाँति अकेला विचरे । किसी एक जगह न रहे । प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाह्य आचारोंसे अपने आपको छिपाये रक्खे तथा अकेला और अल्पभाषी बना रहे ॥ १४ ॥ इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ है और वह दुःखका ही कारण होता है। क्योंकि सर्प तो दूसरोंके घरमें भी सुखपूर्वक रहता है (यह मैंने सर्पसे सीखा है) ॥ १५ ॥ पूर्वकालमें अपनी माया-से रचे इस जगत्को कल्पका अन्त होनेपर अकेले ईश्वर श्रीनारायणदेव ही कालरूपसे लय करके आत्माधार और सर्वाधिष्ठानरूपसे शेष रह जाते हैं। अपने ही शक्तिस्वरूप कालके द्वारा सत्त्वादि गुणोंकी साम्यावस्थाको प्राप्त हो जानेपर प्रधान तथा पुरुषके नियन्ता, समस्त परावर अर्थात् अलौकिक एवं लौकिक प्रपञ्चके परम कारणस्वरूप आदि पुरुष कैवल्यरूपसे शेष रह जाते हैं। हे शत्रुदमन ! फिर वे विशुद्धज्ञानानन्दघन निरुपाधिक भगवान ही केवल अपनी शक्ति अर्थात् कालके

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः । तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥२१॥
यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया । स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥२२॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः । याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन् ॥२३॥
एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः । स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥२४॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतुर्बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम् ।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥२५॥
जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान् पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन् ।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥२६॥
जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥२७॥
सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥२८॥
लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥२९॥

द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करके पहले क्रियाशक्ति प्रधान सूत्र अर्थात् महत्तत्त्वकी रचना करते और विविध प्रकारकी सृष्टि रचनेवाले उस सूत्रसे गुणत्रयका कार्य करते हैं। जिसमें कि यह समस्त विश्व ओतप्रोत रहता और जिसके कारण जीवको संसारका बन्धन प्राप्त होता है ॥ १९–२० ॥ जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा जाल फैलाकर उसमें विहार करनेके पश्चात् उसको स्वयं निगल लेती है, वैसे ही परमात्मा भी स्वयं अपनेमेंसे ही इस प्रपञ्चको फैलाकर अन्तमें फिर अपनेमें ही उसका लय कर लिया करते हैं। यह ज्ञान मैंने मकड़ीसे पाया है ॥ २१ ॥ देहधारी जीव स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे जिस किसी वस्तुमें भी पूर्णरूपसे अपना चित्त लगा देता है, अन्तमें वह तद्रूप हो जाता है। जैसे भृङ्गी कीट द्वारा अपने बिलमें बन्द किया हुआ कीड़ा भयसे उसीका ध्यान करते-करते अन्त-में अपने पूर्वरूपको न छोड़ता हुआ भी उसीके रूपका हो जाता है। यह मैंने भृङ्गीसे सीखा है॥२२-२३॥ हे राजन्! इस तरह मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षायें पायी हैं। अब अपने शरीरसे मैंने जो कुछ सीखा है, वह कहता हूँ सुनो—॥ २४ ॥ मेरे विवेक तथा वैराग्यका हेतु यह शरीर भी मेरा गुरु है। क्योंकि उत्पत्ति और नाश ही शरीरका धर्म है और निरन्तर कष्ट पाना ही इसका उत्तरोत्तर फल है। यद्यपि मैं इससे तत्त्वचिन्तन करता हूँ। फिर भी मेरा यह निश्चय है कि यह पराया अर्थात् स्यार-कुत्ते आदिका भक्ष्य है। इससे मैं सदा असङ्ग होकर विचरता हूँ ॥ २५ ॥ जिसकी प्रिय कामनाओंका विस्तार करने-वाला पुरुष स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, गृह तथा अपने कुटुम्बियोंका पोषण करता है, बड़े-बड़े कष्ट उठाकर धन-सञ्चय करनेवाला वह प्राणी देहरूपी वृक्षसरीखे स्वभाववाला होनेके कारण अन्य देहके लिये कर्मरूपी बीज बोकर अपनी आयु समाप्त होनेपर नाशको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ जैसे बहुत-सी सौतें स्वामीको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीवको उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ पीडित करती रहती हैं। इसे रसना कभी एक ओर खींचती है तो पिपासा दूसरी ओर। इसी तरह शिश्न (लिङ्ग) अन्यत्र खींचता तो त्वचा, उदर और श्रवणेन्द्रिय किसी और ही तरफ खींचती है। ऐसे ही घ्राण एवं चञ्चल नेत्र दूसरी ही ओर खींचते हैं ॥ २७ ॥ उन भगवानने अपनी अजेय माया-शक्ति द्वारा, वृक्ष, सरीसृप, पशु, पक्षी, दंश और मत्स्य आदि विविध योनियाँ रचनेपर उनसे सन्तुष्ट न होकर जब ब्रह्मदर्शनकी योग्यतासे सम्पन्न पुरुष-शरीर रचा, तभी उन्होंने प्रसन्नता प्राप्त की। अतएव यह मनुष्य-देह ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ २८ ॥ मनुष्य-देह अनित्य होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधक है।

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि । विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः ॥३०॥
न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम् । ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः । वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ३२
अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः । सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः । वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥१॥
अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् । गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥२॥
सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः । नानात्मकत्वाद् विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः॥३॥
निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् । जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्म चोदनाम्॥४॥
यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित् । मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥५॥
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः । असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥६॥

अनेक जन्मोंके बाद यह दुर्लभ नरदेह पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह फिर मृत्युके चंगुलमें न फँसे, उसके पहले ही अपने निःश्रेयस अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये प्रयत्न कर ले। क्योंकि विषयसुख सभी योनियोंमें मिलते हैं। इसलिए इनका संग्रह करनेमें अपना अमूल्य समय न खोवे ॥ २९ ॥ इस तरह हृदयमें वैराग्ययुक्त तथा ज्ञानालोकसे प्रकाशित हो मैं निरहङ्कार तथा निःसङ्ग होकर इस भूमण्डलपर स्वच्छन्दरूपसे विचरता हूँ ॥ ३० ॥ अकेले गुरुहीसे यथेष्ट तथा सुदृढ़ बोध नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिये स्वयं भी विचार करनेकी आवश्यकता पड़ती है। देखो, एक ही अद्वितीय ब्रह्मका ऋषियोंने विविध प्रकारसे निरूपण किया है ॥३१॥ श्रीभगवान बोले—हे उद्धव ! वे गम्भीर-बुद्धि ब्राह्मणश्रेष्ठ यदुको इस प्रकार उपदेश देकर उनसे विदा हो उनके प्रणाम तथा पूजा आदि करने-पर प्रसन्नचित्तसे इच्छानुसार चल दिये ॥ ३२ ॥ इस तरह हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज यदु उन अव-धूतके उपदेशको सुन और सर्वथा निःसङ्ग होकर समदर्शी पदको प्राप्त होगये ॥ ३३ ॥ इति श्रीमद्भाग-वते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(संसारका मिथ्यात्वप्रतिपादन) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! मेरे कथित अपने-अपने धर्मोंमें सावधान रह और मेरे ही आश्रित होकर अपने वर्ण, आश्रम तथा कुलके आचारोंका निष्काम बुद्धिसे आचरण करता रहे ॥ १ ॥ अपने धर्मानुष्ठानसे शुद्धचित्त होकर यह देखे कि विषयलोलुप पुरुष जिन त्रिगुणमय कर्मोंको सत्य मानकर करते हैं उन सबका परिणाम विपरीत ही होता है ॥२॥ सोये भये पुरुषको स्वप्नावस्थामें दिखायी देनेवाले पदार्थ तथा चिन्तन करनेवालेके मनोरथ जैसे नानारूप होनेसे मिथ्या होते हैं, वैसेही त्रिगुणात्मिका भेद-बुद्धि भी मिथ्या ही होती है ॥ ३ ॥ मत्प-रायण पुरुष निवृत्तिके लिये केवल नित्य-नैमित्तिक कर्म करे, प्रवृत्तिजनक काम्य कर्मोंसे पृथक् रहे और जब आत्म-जिज्ञासा अर्थात् ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त हो जाय, तब कर्मविधिकी कोई चिन्ता न करे ॥ ४ ॥ मेरा भक्त सत्य-अहिंसा आदि यमों और शौच तथा सन्तोष आदि नियमोंका भी यथाशक्ति पालन करे और मेरे स्वरूपके ज्ञाता, शान्त तथा साक्षात् मेरे ही स्वरूप गुरुदेवकी सदा प्रेम तथा श्रद्धासे आराधना करे ॥ ५ ॥ वह मान-मत्सरसे रहित, कार्यकुशल, ममताशून्य, दृढ़प्रेमी, उतावले-

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु । उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥७॥
विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद् देहादात्मेक्षिता स्वदृक् । यथाग्निर्दारुणो दाह्याद् दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥८॥
निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान् गुणान् । अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान् परः ॥९॥
योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि । संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः १०
तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम् । सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥११॥
आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः । तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥१२॥
वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धिर्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम् ।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत् स्वयं च शाम्यत्यसमिद् यथाग्निः ॥१३॥
अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः । नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् १४
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा । तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥१५॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः । कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ।१६।
अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते ।भोक्तुश्च दुःखसुखयोः को न्वर्थो विवशं भजेत् ।१७।
न देहिनां सुखं किञ्चिद् विद्यते विदुषामपि । तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम् ॥१८॥
यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः । तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद् यथा ॥१९॥

पनसे रहित तथा आत्मतत्त्वका जिज्ञासु हो और परनिन्दा एवं व्यर्थकी बात न करे ॥ ६ ॥ परम धनस्वरूप अपने आत्माको सर्वत्र देखता हुआ समदर्शी होकर स्त्री, पुत्र, गृह, भूमि, स्वजन तथा धन आदिमें आसक्त न होकर ममताहीन रहे ॥ ७ ॥ जैसे जलनेवाले काष्ठसे उसका दाहक तथा प्रकाशक अग्नि पृथक् रहता है, वैसे ही स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरसे उसका साक्षीस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मा भी पृथक् रहता है ॥ ८ ॥ काष्ठमें प्रविष्ट अग्नि जैसे ध्वंस, उत्पत्ति, सूक्ष्मता, महत्ता एवं अनेकता आदि काष्ठके विविध गुणोंको ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार जन्म-मरण आदि देहके धर्मोंको आत्मा ग्रहण कर लेता है। वास्तवमें वे धर्म उसके नहीं होते ॥ ६ ॥ चेतनस्वरूप पुरुषका सत्त्वादि गुणोंसे बना हुआ शरीर जन्म-मरणरूपी संसारके निमित्तसे जायमान समझे ॥ १० ॥ अतएव जिज्ञासा-पूर्वक अपने अन्तःकरणमें स्थित उस अद्वितीय परमात्माको जानकर अन्य पदार्थोंमें हुई इस सत्यत्व-बुद्धिको त्याग दे ॥ ११ ॥ आचार्य नीचेकी अरणि है और शिष्य ऊपरकी। उपदेश मध्यका मन्थन-काष्ठ है और सुखद ब्रह्मविद्या उसकी सन्धि है ॥ १२ ॥ वह अति निपुण और विशुद्ध बुद्धि गुणोंसे उत्पन्न मायाको ध्वस्त कर देती और संसारके कारणरूप गुणोंको नष्ट करके इन्धनरहित अग्निकी भाँति वह स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ १३ ॥ हे उद्धव ! यदि तुम कर्मोंके कर्ता तथा सुख-दुःखरूप फलोंके भोक्तास्वरूप इन जीवोंका अनेकत्व तथा स्वर्गादि लोक, काल, कर्म-प्रतिपादक शास्त्र एवं आत्मा अर्थात् जीवकी नित्यता मानते हो और समस्त पदार्थोंकी स्थिति प्रवाहरूपसे नित्य तथा यथार्थ स्वीकार करते हो या कि यह समझते हो कि घट-पट आदि बाह्य आकृतियोंके भेदसे उनके अनुसार बुद्धि ही उत्पन्न होकर बदलती रहती है, तो भी हे प्रिय ! इस शरीर और संवत्सरादि कालके अवयवोंके सम्बन्धसे सब देहधारियोंके जन्म-मरण आदि भाव सर्वदा होते ही रहते सिद्ध होते हैं और कर्मोंके कर्ता तथा सुख-दुःखादिके भोक्ता जीवकी पराधीनता यहाँ भी स्पष्ट दीखती है, तो फिर ऐसे परवश जीवको लाभ ही क्या होगा ? ॥ १४–१७ ॥ यदि यह कहा जाय कि जो लोग कार्यकुशल नहीं हैं, उन्हें ही दुःख होता है तो यह भी कोई नियम नहीं है। क्योंकि कर्मठ विद्वानोंको भी एकदम सुख ही नहीं होता और मूर्खको बिल्कुल दुःख ही नहीं भोगना पड़ता। हम कर्मकुशल होनेके कारण सुखी हैं, यह अभिमान व्यर्थ ही है। यद्यपि कुछ लोग सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिका उपाय जानते हैं, फिर भी वे वह उपाय नहीं जानते - जिससे कि फिर कभी मरना न पड़े ॥ १८ ॥ १६ ॥

को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके । आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥२०॥
श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः । बह्वन्तरायकामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥२१॥
अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः । तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥२२॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः । भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान् ॥
स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते । गन्धर्वैर्विहरन् मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक् ॥२४॥
स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना । क्रीडन् न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥२५॥
तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते । क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः २६
यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः । कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः २७
पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन् । नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥२८॥
कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन् देहेन तैः पुनः । देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥२९॥
लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम् । ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः ॥३०॥
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् । जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥३१॥
यावत् स्याद् गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः । नानात्वमात्मनो यावत् पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥३२॥

जैसे वध-स्थान (फाँसीघर) जाते हुए वध्य मनुष्योंको मिठाई और माला-चन्दन आदि पदार्थ सुखी नहीं कर पाते, वैसे ही जिसकी मृत्यु समीप रहती है, उसे कोई सुख-सामग्री तथा काम्य वस्तु कैसे प्रसन्न कर सकती है ? ॥ २० ॥ लौकिक सुखकी भाँति श्रुति अर्थात् स्वर्गादिका सुख भी परस्परकी स्पर्धा, असूया, नाश तथा क्षय आदिके कारण दोषयुक्त ही रहता है । विविध विघ्नोंसे युक्त कामनाओंके कारण भी कृषिके समान वह निष्फल रहता है ॥ २१ ॥ यदि कोई विघ्नोंसे प्रेरित न होकर धार्मिक कृत्य यज्ञादिसे सम्पन्न हो जाता तो उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोकको जीव जैसे जाता है, वह भी सुन लो ॥ २२ ॥ विविध यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके याजक स्वर्ग-लोकको जाता और वहाँ अपने पुण्य-कर्मसे सञ्चित दिव्य भोगोंको देवताओंकी भाँति भोगता है ॥ २३ ॥ अपने पुण्यों द्वारा शुभ्र विमानपर सवार वह मनोहर वेषधारी पुरुष सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है और गन्धर्व उसका गुण गाते हैं ॥ २४ ॥ उस समय किङ्किणी-जालसे सुशोभित तथा इच्छानुसार गमन करनेवाले विमानपर चढ़कर प्राणी देवताओंके विहारस्थल नन्दनादि उप-वनोंमें अप्सराओंके साथ विहार करता हुआ एक दिन अपने अवश्यम्भावी पतनको नहीं जान पाता ॥ २५ ॥ जबतक उसका पुण्य शेष रहता तबतक तो वह स्वर्गलोकके सुख भोगता है । पुण्य क्षीण होते ही इच्छा न रहते हुए भी वह कालकी प्रेरणासे तुरन्त नीचे आ गिरता है ॥ २६ ॥ यदि कोई जीव अधम पुरुषोंके सङ्गमें पड़कर अधर्मरत, अजितेन्द्रिय, स्वेच्छाचारी, कृपण, लोभी, स्त्रैण तथा प्राणिहिंसक होकर बिना विधिके ही पशुओंका वध करके भूत-प्रेत आदिको बलि देता है तो वह अवश्य परवश होकर नरकमें जाता और अन्तमें घोर अन्धकार अर्थात् अज्ञानमें जा पड़ता है ॥ २७ ॥ २८ ॥ इस मानव शरीरसे दुःखही जिनका फल है, ऐसे कर्मोंको करता हुआ पुरुष उन कर्मोंके द्वारा पुनः देह धारण करता है । अतएव इससे मरणधर्मा जीवको भला क्या सुख मिल सकता है ? ॥ २९ ॥ मनुष्योंको ही नहीं, लोक और कल्पजीवी लोकपालोंको भी मुझसे भय बना रहता है और कहाँतक कहूँ जिसकी आयु दो परार्धकी है, उस ब्रह्माको भी कालरूप मुझसे भय बना रहता है ॥३०॥ गुण ही सब कर्म करते और सत्त्व आदि गुण गुणी अर्थात् इन्द्रियोंको कर्ममें प्रवृत्त करते हैं । जीव अज्ञानवश इन्द्रियादिसे युक्त हो अर्थात् उनमें अहंबुद्धि करके उनके लिये कर्मोंके फल भोगता है ॥ ३१ ॥ इस प्रकार जब तक अहङ्कारादिरूपसे गुणोंकी विषमावस्था बनी रहती है, तभीतक आत्मा-का नानात्व है और जबतक आत्माकी अनेकता रहती तभीतक पराधीनता भी रहती है ॥ ३२ ॥

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् । य एतत् समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥३३॥
काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च । इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥३४॥

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः । गुणैर्न बद्धयते देही बद्धयते वा कथं विभो ॥३५॥
कथं वर्तेत विहरेत् कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः । किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥३६॥
एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर । नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः ॥३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे भगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः । गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥१॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया । स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिःसंसृतिर्न तु वास्तवी॥
विद्याविद्ये मम तनू विद्धयुद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥३॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते । बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥४॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते । विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥५॥

जबतक पराधीनता रहती है, तभीतक ईश्वरसे भय रहता है। अतएव जो लोग इस कर्मकलापके उपासक हैं, वे ऐसे ही शोकाकुल होते हुए मोहको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ हे उद्धव ! गुणोंका वैषम्य होनेपर काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव तथा धर्म आदि अनेक नामों द्वारा मेरा ही निरूपण किया जाता है ॥ ३४ ॥ उद्धवजी कहते हैं—हे विभो ! देहके कर्म तथा उसके फलादि गुणोंमें रहता हुआ भी यह देहधारी जीव कैसे उनके बन्धनमें नहीं पड़ता और यदि आकाशकी तरह अनावृत होनेके कारण गुणोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता तो फिर वह उनमें बँध क्यों जाता है ? ॥ ३५ ॥ इस तरह गुणोंसे मुक्त पुरुष कैसे रहता है, वह कैसे विहार करता है, किन लक्षणोंसे जाना जाता है ? वह क्या खाता, क्या त्यागता और किस तरह सोता, बैठता अथवा चलता है ? ॥ ३६ ॥ हे अच्युत ! हे प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! आप मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दें और एक ही आत्मा नित्य बद्ध तथा नित्य मुक्त कैसे रहता है ? मेरी इस शङ्काको भी आप निवृत्त कर दें ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीभगवान कहने लगे कि मुझमें बद्ध और मुक्त नामका कथन सत्त्व इत्यादि गुणोंके संसर्गसे है, यथार्थमें नहीं। गुणोंकी जड़ माया है। इसलिए मुझमें मोक्ष या बन्धन कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ शोक, मोह, सुख, दुःख और शरीरका नाश ये मायासे होते हैं। जैसे कि स्वप्न बुद्धिकी अवस्था है, उसी प्रकार जन्म-मरण वास्तविक नहीं हैं ॥ २ ॥ हे उद्धव ! विद्या और अविद्याको मेरी शक्तियाँ समझो। ये ही दोनों जीवोंका मोक्ष और बन्धन करनेवाली हैं और ये दोनों अनादि हैं तथा मेरी माया द्वारा रचित हैं ॥ ३ ॥ हे महाबुद्धियुक्त उद्धव ! मैं एक ही हूँ और जीव मेरा (प्रतिबिम्बरूप) अंश है। अविद्याकारित अनादि बन्धन तथा विद्याकारित मोक्ष जीव ही के लिए हैं ॥ ४ ॥ अब मैं तुमसे बद्ध और मुक्तकी विशेषता बतलाता हूँ। यद्यपि बद्ध (जीव) और मुक्त (ईश्वर) दोनों ही समानरूपसे शरीरमें नियन्तारूपसे स्थित हैं, किन्तु इनकी दशा परस्परविरुद्ध रहती है ॥ ५ ॥

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥६॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥७॥

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः । अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा ॥८॥
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च । गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः ॥९॥
दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा । वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते ॥१०॥
एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने । दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥११॥
न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान् । प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ॥१२॥
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः । प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद् विनिवर्तते ॥१३॥
यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् । वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥१४॥
यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद् यदृच्छया । अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥१५॥
न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा । वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः ॥१६॥
न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा । आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥१७॥

यह दोनों वृक्षोंके समान शरीरसे पृथक् हैं और चैतन्यरूप होनेसे समान तथा वियोग न होनेसे परममित्ररूप साथी हैं। इन दोनोंने अनिर्वचनीय मायाके कारण वृक्षरूप शरीरमें वास कर रखा है, किन्तु भेद यह है कि इनमें एक (अर्थात् जीव) विषयोंको भोगता है और दूसरा (अर्थात् ईश्वर) मुक्त तथा विषय-भोगरहित रहकर भी ज्ञान-शक्तिके द्वारा अधिक बली है॥ ६ ॥ विषय-भोग-त्यागी अपनेको और दूसरे (विषय-भोगी) को भी जानता है और विषयभोगी न अपनेहीको जानता और न दूसरे (विषय-भोग-त्यागी) को ही जानता है। इसलिए इनमें जो अविद्यायुक्त है, वह नित्य बद्ध है और जो विद्यायुक्त है, वह नित्य मुक्त है॥ ७ ॥ देहमें स्थित रहकर भी विद्वान् उसी प्रकार देह-सम्बन्धी भोगोंको त्यागनेसे देहमें स्थित नहीं है, जैसे कि स्वप्नसे उठा हुआ पुरुष स्वप्नसम्बन्धी देहमें स्थित नहीं रहता और देहमें न स्थित रहकर भी अज्ञानी स्वप्न देखनेवालेके समान देहमें स्थित रहता है॥ ८ ॥ जो निर्विकार विद्वान् है, वह इन्द्रियोंके द्वारा विषय-ग्रहण होनेपर भी अपनेको ग्रहण करनेवाला नहीं समझता। क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि इन्द्रियसम्बन्धी गुण द्वारा विषयसम्बन्धी गुणका ग्रहण हो रहा है॥ ९ ॥ यह शरीर दैवाधीन है। केवल कर्म-इन्द्रियों द्वारा कर्म किया जाता है, किन्तु इस शरीरमें वर्तमान अज्ञानी जीव अपनेको कर्ता मानकर बँध जाता है॥ १० ॥ इस प्रकार सोना, बैठना, चलना, स्नान करना, देखना, छूना, सूँघना, भोजन करना और सुनना इत्यादि कर्मोंसे विरक्त विद्वान् अज्ञानीके समान बन्धनको नहीं प्राप्त होता। क्योंकि वह तो उन विषयोंके भोक्ता इन्द्रियोंको मानता है और इस प्रकार सर्वव्यापी आकाश, सर्वत्र चलनेवाले वायु और अनेक स्थानोंमें प्रतिबिम्बित होनेवाले सूर्यके समान शरीरमें स्थित रहकर भी उसके कार्योंमें आसक्त नहीं होता॥ ११ ॥ १२ ॥ जब ज्ञान-दृष्टि वैराग्यसे दीप्त हो जाती और उसके द्वारा सब संशय दूर हो जाते हैं, तब स्वप्नसे जगे हुएके समान उसका द्वैत भ्रम जाता रहता है॥ १३ ॥ जिसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी प्रवृत्तियाँ संकल्परहित होती हैं, वह शरीरमें स्थित होते हुए भी शरीरके गुणोंसे छूटा हुआ रहता है॥ १४ ॥ संयोगवश उसके शरीरको कभी कोई दुष्ट क्लेश पहुँचावे या कोई सज्जन पूजा करे, किन्तु ज्ञानी दोनों अवस्थाओंमें एकरूप रहता है॥ १५ ॥ जो भला करनेवालेकी प्रशंसा नहीं करता और बुरा करनेवालेकी निन्दा नहीं करता, जिसमें उदारता इत्यादि गुण और कृपणता इत्यादि अवगुण भी नहीं हैं, वही समदर्शी ज्ञानी है॥ १६ ॥ ज्ञानी न कुछ करे, न कुछ बोले, न

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि । श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥१८॥
गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥१९॥
यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद् वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥२०॥
एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि । उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥२१॥
यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् । मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥२२॥
श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः । गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः ॥२३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः । लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥२४॥
सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता । स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥२५॥

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो । भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता ॥२६॥
एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो । प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥२७॥
त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः । अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥२८॥

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् । सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥२९॥

भलेकी चिन्ता करे—न बुरेकी । इस प्रकार आत्मानुभवमें मग्न होकर जड़के समान विचरता रहे॥१७। जिसने शास्त्र पढ़कर पूर्णरूपसे ब्रह्मको साक्षात्कार करनेका मार्ग जान लिया है, किन्तु उस मार्ग द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं किया तो उसका शास्त्र पढ़नेका श्रम वैसे ही निष्फल है, जैसे कि वष्कयणी (ठाँठ) गौके सेवन करनेवालेका श्रम ॥ १८ ॥ हे उद्धव ! जिसके दुग्ध देनेका समय जाता रहा हो उस गौकी, कुलटा पत्नीकी, पराधीन देहकी, दुष्ट सन्तानकी, उचित दान-रहित धनकी और मेरे गुणानुवादहीन वाणीकी जो रक्षा करता है, उसे दुःखपर दुःख ही प्राप्त होगा ॥ १९ ॥ हे उद्धव ! जिस वाणीमें संसारके पालन, उत्पादन और संहारकी कथाओंसे युक्त पवित्र करनेवाले मेरे कर्मों या लीलापूर्वक अवतारोंके मनोहर जन्मोंका वर्णन न हो, वह वाणी निरर्थक है । ऐसी वाणी विद्वान्को न बोलना चाहिए ॥ २० ॥ इस प्रकार विचारपूर्वक आत्माके द्वैतभावरूपी भ्रमको छोड़कर मुझ सर्व-व्यापकमें निर्मल मन लगा दे और कर्म छोड़ दे ॥ २१ ॥ यदि मनको स्थित करके ब्रह्मको धारण करनेमें असमर्थ हाओ तो फलाभिलाषा छोड़कर सब कर्मोंको मुझमें अर्पण करते रहो ॥ २२ ॥ मेरी कथाएँ महाकल्याणप्रद और संसारको पवित्र करनेवाली हैं । श्रद्धापूर्वक उन्हें सुनते, गाते, स्मरण करते और उन्हींके अनुकूल बार-बार लीला करते हुए निरपेक्ष रहो ॥ २३ ॥ हे उद्धव ! मेरे लिए धर्म, काम और अर्थसाधक कर्म करनेवालेको मेरे आश्रयरूप मुझ सनातन परमेश्वरमें निश्चल भक्ति प्राप्त होती है ॥ २४ ॥ सत्संगसे मुझमें भक्ति मिलेगी, तब वह मेरी उपासना करेगा और साधुओं द्वारा निश्चित मेरे स्वरूपको सहजहीमें प्राप्त हो जायगा ॥ २५ ॥ श्रीउद्धवजीने पूछा—हे उत्तमश्लोक ! हे स्वामिन् ! आप कैसे साधुको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और वह कैसी भक्ति है, जो आपको प्राप्त करनेमें उपयोगी है और जिसे साधु लोग अच्छी मानते हैं ॥ २६ ॥ हे पुरुषाध्यक्ष ! हे लोकाध्यक्ष ! हे जगत्के प्रभो ! मैं प्रणामपूर्वक प्रेमसे आपकी शरण हूँ, मुझे उपर्युक्त बातें बतलाइये ॥ २७ ॥ इन बातोंको बतलानेकी योग्यता तुम्हींमें हैं, क्योंकि तुम आकाशके समान संगरहित और प्रकृतिसे परे परब्रह्म हो । हे भगवन् ! तुमने अपनी इच्छासे पृथक् शरीर ग्रहण किया है ॥२८॥ श्रीभगवान कहने लगे कि जो पुरुष कृपालु, द्रोह न करनेवाला, सबको क्षमा करनेवाला, दृढ़ सत्य-

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः । अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ३०
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः । अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ३१
आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् । धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः । भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ३३
मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् । परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव । सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥३५॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् । गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥३६॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु । वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥३७॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः । उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥३८॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः । गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया ॥३९॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् । अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ४०
यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः । तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥४१॥
सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् । भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥४२॥
सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् । आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥४३॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया । वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥४४॥

से युक्त, ईर्ष्या इत्यादि दोषोंसे रहित, समदर्शी, सबका उपकारक कामविकार-रहित चित्तवाला, बाहरी इंद्रियोंको संयममें रखनेवाला, कोमलचित्त, सदाचारी, परिग्रह-हीन, प्रत्यक्ष उद्योग-हीन, प्राप्त भोजनसे तृप्त, शान्तचित्त, अपने धर्ममें दृढ़, केवल मुझपर आश्रित, विचारशील, सावधान, निर्विकार, दीनताशून्य तथा क्षुधा, प्यास, शोक, मोह, वृद्धता और मृत्युको कुछ न समझनेवाला, प्रतिष्ठाका अभिलाषी, औरोंकी प्रतिष्ठा करनेवाला, दूसरोंको समझानेमें समर्थ, धूर्ततारहित, करुणाशील और सत्यज्ञानी है तथा वेदरूप मेरी आज्ञासे सूचित अपने धर्मोंके करनेमें गुणों एवं न करनेमें दोषोंको जानता है, किन्तु मेरे ध्यानके प्रतिबन्धक होनेसे तथा इस विचारसे कि मेरी भक्ति ही से समस्त कार्य पूर्ण हो जायँगे, उन सबको छोड़कर मेरी भक्ति करता है, वह श्रेष्ठ साधु है ॥ २९–३२ ॥ मेरा जितना और जैसा रूप है, जो मैं हूँ, वह चाहे ज्ञात हो, चाहे न ज्ञात हो, किन्तु दूसरी ओर चित्त न ले जाकर जो मेरी भक्ति करते हैं, उन्हें मैं अपना श्रेष्ठ भक्त मानता हूँ ॥ ३३ ॥ मेरी मूर्ति और मेरे भक्तजनोंका दर्शन, स्पर्शन, पूजन, सेवन, स्तवन, प्रणाम, गुण-कर्मोंका कीर्तन ॥ ३४ ॥ हे उद्धव ! मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा, मेरा ध्यान, जो कुछ मिले उसका मेरे लिए समर्पण करना, अपनेको दास-रूपसे मेरे अर्पण करना ॥ ३५ ॥ मेरे जन्म-कर्मोंका कहना, मेरे पर्वोंका समर्थन करना, मेरे मन्दिरोंमें गान, नृत्य, बाजा और समाज द्वारा उत्सव ॥ ३६ ॥ वर्ष भरके सब पर्वोंमें मेरे स्थानोंको जाना, पूजन करना, वैदिकी तथा तान्त्रिकी दीक्षा लेना, मेरे व्रतोंको धारण करना ॥ ३७ ॥ मेरी मूर्तियोंके स्थापन करनेकी श्रद्धा तथा शक्ति रहते अकेले अथवा मिलकर मेरे लिए पुष्पवाटिका, फलवाटिका, क्रीड़ास्थान, नगर और मन्दिर बनानेका उद्योग ॥ ३८ ॥ निष्कपट भावसे मेरे मन्दिरोंमें झाड़ू देना, लीपना, छिड़कना और सर्वतोभद्र इत्यादि मण्डल बनाकर दासके समान मेरी सेवा करना ॥ ३९ ॥ गर्वहीनता, दम्भत्याग, किये हुए सत्कर्मका न कहना और मेरे लिए अर्पित दीपके प्रकाशसे अपना काम न लेना ॥ ४० ॥ संसारमें जो-जो वस्तु अपनेको अधिक इष्ट और प्यारी हो, उसको मेरे लिए अर्पण करे । ऐसा करनेसे वह अनन्त होकर मुझे प्राप्त होती है ॥ ४१ ॥ हे उद्धव ! अग्नि, ब्राह्मण, गो, विष्णुभक्त, आकाश, जल, वायु, पृथ्वी, आत्मा और सब प्राणी मेरी पूजाके स्थान हैं ॥ ४२ ॥ हे उद्धव ! वैदिक मन्त्रोंसे स्तुति करके सूर्यमें, हव्य द्वारा अग्निमें, आतिथ्यसे श्रेष्ठ ब्राह्मणमें, हरी

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि । क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥४५॥
धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः । युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत् समाहितः॥४६॥
इष्टापूर्तेन मामेव यो यजेत समाहितः । लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥४७॥
प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव । नोपायो विद्यते सध्रयङ् प्रायणं हि सतामहम्॥४८
अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन । सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा॥४९

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥१॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः । यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥२॥
सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः । गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥३॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः । रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ॥४॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः । वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥५॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः । व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे।॥६॥
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः । अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥७॥

घास आदिसे गौमें, भाईके समान सत्कार करके विष्णुभक्तमें, ध्यानमें मग्न होकर हृदयरूपी आकाशमें, जलप्रधान कूप इत्यादि बनवाकर जलमें, रहस्यमन्त्रोंसे न्यास करके भूमिमें, भोगों द्वारा निज शरीरमें स्थित आत्मामें और समदर्शी होकर मेरे अन्तर्यामी रूपका सब प्राणियोंमें पूजन करे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ इन सब स्थानोंमें सावधानीसे शंख, चक्र, गदा, पद्म (कमल) से शोभित मेरे चतुर्भुज रूपका ध्यान करते हुए पूजन करे ॥ ४६ ॥ इस प्रकार जो यज्ञ और कूप इत्यादि द्वारा मेरा सावधानीसे पूजन करता है, वह मुझमें उत्तम भक्ति पाता है और साधुकी सेवा इस प्रकारकी भक्ति प्राप्त करनेका एक निकटस्थ मार्ग है ॥ ४७ ॥ हे उद्धव ! सत्संगसे प्राप्त भक्तियोगके अतिरिक्त मुझे पानेका अन्य कोई अच्छा उपाय नहीं है । क्योंकि साधुओंका मुख्य आश्रय मैं ही हूँ ॥ ४८ ॥ अथवा हे यदुनन्दन (उद्धव) ! तुम मेरे सेवक, प्रेमी और साथी हो तथा मेरी बातको ध्यानसे सुन रहे हो। इससे मैं अत्यन्त गोपनीय मार्ग भी तुमसे कहूँगा । वह मार्ग अत्यन्त गुप्त है ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीभगवान कहते हैं—सब वस्तुओंकी आसक्ति छुड़ानेवाला सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, दान, यज्ञ, कूप आदिका निर्माण, दक्षिणा, व्रत, वेद, मन्त्र, तीर्थ, यम और नियम आदि वशमें नहीं कर सकते ॥ १ ॥ २ ॥ हे निष्पाप ! बहुतसे रजःप्रधान अथवा तमःप्रधान प्रकृतिके दैत्य, राक्षस, पक्षी, मृग, गन्धर्व, अप्सराएँ, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर तथा मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ तथा चाण्डाल उन-उन युगोंमें मुझको प्राप्त हो चुके हैं । वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान्, गजेन्द्र, जटायु, तुलाधार, वैश्य, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ तथा यज्ञ करनेवाले मुनियोंकी स्त्रियाँ इत्यादि तथा अनेक और भी उन्हींमें गिने जा सकते हैं ॥ ३–६ ॥ उन लोगोंने न वेदोंको पढ़ा था, न महात्माओंकी उपासना की थी, न कोई व्रत किये थे और न तपस्याकी थी; किन्तु सत्सङ्गहीसे

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥८॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः । व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥९॥
रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥१०॥
तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥११॥
ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥१२॥
मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः । ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥१३॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् । प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥१४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् । याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥१५॥

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर । न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥१६॥

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥१७॥

वे मुझको प्राप्त होगये थे ॥ ७ ॥ गोपियाँ, गौएँ, वृक्ष अर्थात् यमलार्जुन, मृग तथा अन्य भी मूढ़बुद्धिके कालियनाग इत्यादि कितने ही जीव केवल प्रेमसे ही कृतार्थ होकर मुझे सहजहीमें प्राप्त हो चुके हैं ॥ ८ ॥ अन्य उपायसे मुझे पाना उतना सहज नहीं है । क्योंकि मेरे रूपको योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्यान, वेदपाठ और संन्यास द्वारा यत्न करनेवाला भी नहीं पा सकता ॥ ९ ॥ जब अक्रूर बलरामको और मुझे मथुरा ले गये, तब अनुरक्त गोपियोंको मुझमें गहरे प्रेमके कारण मेरे विरहसे कितनी तीखी मानसिक व्यथा हुई थी । फिर भी उन्होंने सुखके लिए दूसरी ओर दृष्टि नहीं उठायी ॥ १० ॥ हे उद्धव ! वृन्दावनमें रहते समय मुझे अत्यन्त प्रियके साथ जिनकी रात्रियाँ आधे क्षणके समान बीती थीं, फिर मेरे विरहमें वे रात्रियें गोपियोंकी कल्पके समान हो गई थीं ॥ ११ ॥ मुझमें आसक्तिसे उनकी बुद्धि ऐसी बँध गई थी कि उन्हें वैसे ही अपने शरीर तथा दूर या निकटकी वस्तुका ज्ञान नहीं रहा, जैसे कि मुनियोंको समाधिमें नाम तथा रूपका ज्ञान नहीं रहता और इसीलिए वे मुझमें समुद्रमें नदियोंकी भाँति लीन हो गई थीं ॥ १२ ॥ सैकड़ों और सहस्रों गोपियाँ जो कि मेरे यथार्थ रूपको नहीं जानती थीं और परस्त्रीसे रमण करनेवाला यार समझकर परब्रह्मरूप मुझसे प्रेम करती थीं, वे भी सत्सङ्गके प्रभावसे मुझ परब्रह्मको ही प्राप्त हो गयीं ॥ १३ ॥ हे उद्धव ! इससे तुम वेद तथा स्मृतिकी विधियों, प्रवृत्त और निवृत्त कर्मों तथा पठनीय और पठित शास्त्रोंके झमेलोंको छोड़कर पूर्णरूपसे मुझ एक सब शरीरधारियोंके अन्तर्यामीकी शरणमें आ जाओ। इस तरह मेरे द्वारा तुम सर्वथा भयरहित हो जाओगे ॥ १४-१५ ॥ उद्धवजीने कहा—हे योगेश्वरेश्वर ! आपकी बातें सुनकर मेरे चित्तका संशय निवृत्त नहीं होता, जिससे मेरा मन भ्रममें पड़ गया है ॥ १६ ॥ श्रीभगवान् कहने लगे—इन्द्रियोंसे जाननेके अयोग्य तथा सबको जीवित रखनेवाला परमात्मा आधारचक्र (यह चक्र नाभिके ऊपर स्थित है, इसीको शब्दके अभिव्यक्त होनेका क्रम बताकर इसे ही शब्दब्रह्मका स्वरूप बताया गया है) इत्यादिकोंमें अभिव्यक्त होता है। उसका क्रम इस तरह है कि शब्दब्रह्म परा-नामक नादयुक्त प्राणोंके सहित आधारचक्रमें प्रविष्ट रहता है। तदनन्तर क्रमशः मनोमय नादात्मक, सूक्ष्मरूपा पश्यन्ती तथा मध्यमा नामरूपोंको प्राप्त होता है। यह रूप क्रमशः मणिपूरक चक्र तथा

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥१८॥
एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥१६॥
अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिरव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥२०॥
यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।
य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥२१॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥२२॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥२३॥
एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥२४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

विशुद्ध चक्रमें प्राप्त होते हैं। इसके अनन्तर मुखके ह्रस्व इत्यादि रूप, उदात्त इत्यादि स्वरका स्वरूप तथा स्वर और व्यञ्जनके भेदोंको प्राप्त होकर विस्तारसे वेद इत्यादिके रूपमें परिणत हो जाता है ॥ १७ ॥ जैसे कि अग्नि आकाशमें ऊष्मारूपसे रहते हुए भी अप्रकट रहता है। वह लकड़ीमें बलपूर्वक मथनेसे वायुकी सहायता पाकर सूक्ष्म अर्थात् चिनगारीरूपसे प्रकट हो जाता है। फिर वही हव्य पा एवं बढ़कर स्थूलरूपसे जलने लगता है। ऐसेही बैखरीरूपिणी वाणी मेरी स्थूल अभिव्यक्ति है ॥१८॥ इस तरह बोलना, काम करना, चलना, मल इत्यादि त्यागना, सूँघना, स्वाद लेना, देखना, छूना, सुनना, सङ्कल्प, विज्ञान, अहङ्कार, सूत्र और आधिदैविक आदि सृष्टि सब मेरी ही अभिव्यक्ति है ॥ १६ ॥ ईश्वर तीनों गुणोंका आश्रय, संसाररूपी कमलका उत्पत्तिस्थान, अव्यक्त, एक और अनादि है। इसके अङ्ग जब काल द्वारा विभाजित हो जाते हैं तब यह अनेक-सा दीखने लगता है। जैसे कि एकही बीज खेतमें पड़कर अनेक रूपका प्रकट होता है ॥ २० ॥ यह सब संसार उसमें वैसे ही ओत-प्रोत है जैसे कि सूत्रोंके ताने-बानेमें वस्त्र स्थित रहता है। वह ईश्वर कर्मस्वभाव संसारका वृक्ष है और भोग तथा मोक्षरूप फूल और फलको उत्पन्न करता है ॥ २१ ॥ पाप-पुण्य इसके दो बीज हैं, अनन्त वासनाएँ इसकी जड़ें हैं, तीनों गुण इसके तीन तने हैं, पञ्चमहाभूत इसके जंघे हैं, शब्दादि पाँच विषयरूपी रसोंकी इससे उत्पत्ति है, दस इन्द्रिय और मन ये ग्यारह इसकी शाखाएँ हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा इन दो पक्षियोंके इसमें घोंसले हैं और वात, पित्त तथा कफ इसके छिलके हैं। सुख-दुख दोनों इसके फल हैं और यह सूर्य-मण्डल तक फैला हुआ है ॥ २२ ॥ गीधोंकी भाँति विषय-लोलुप गृहस्थ इसके दुःखरूप फलको और हंसोंके समान वनमें विचरनेवाले ज्ञानी लोग सुखरूप फलको भोगते हैं। मायासे अनेक रूपधारी उस अद्वितीय परमात्माको जो पूज्य गुरुओं द्वारा जान लेता है, वही तत्त्वार्थका ज्ञाता है ॥ २३ ॥ हे उद्धव! तुम भी धैर्य धारण करके सावधानीके साथ गुरुओंकी उपासनाकर अनन्य भक्तिके द्वारा अपने विद्यारूपी कुठारको तेजकर लो और उससे साव-धानीपूर्वक जीवाशयको काटकर अर्थात् शरीराभिमान त्यागकर परमात्माको प्राप्त हो जाओ और अन्य सब उपायोंको त्याग दो ॥ २४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः । सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥१॥
सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः । सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥२॥
धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः । आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥३॥
आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च । ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥४॥
तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते । निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम् ॥५॥
सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये । ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥६॥
वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद् वनम् । एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥७॥

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम् । तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्कथं श्वखराजवत् ॥८॥

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि । उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः ॥९॥
रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः । ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः ॥१०॥
करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः । दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः ॥११॥

(सतोगुणकी वृद्धिसे विद्योदयका क्रम) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! सत्त्व, रज और तम ये गुण बुद्धिके हैं, आत्माके नहीं। इनमें सत्त्वगुण बढ़ाकर रज और तमको नष्ट कर दे और सत्त्व अर्थात् सत्य, दया इत्यादिकी सत्त्व अर्थात् चित्तशान्तिसे नष्ट करे ॥ १ ॥ सत्त्वके बढ़नेसे पुरुषको मेरी भक्तिका चिह्नयुक्त धर्म प्राप्त होता है। सतोगुणी वस्तुओंकी उपासनासे सतोगुण बढ़ता और धर्मकी प्रवृत्ति होती है ॥ २ ॥ धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है, इससे सतोगुण-का बढ़ना ही श्रेष्ठ है। रजोगुण तथा तमोगुणके नष्ट हो जानेपर उन्हींसे उत्पन्न होनेवाला अधर्म शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥ शास्त्र, जल, मनुष्य, स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार ये दस वस्तुएँ गुणोंके हेतु हैं। इनमेंसे प्रत्येक वस्तु सत्त्वादिभेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती है। जैसे कोई शास्त्र सतोगुणको, कोई रजोगुणको और कोई तमोगुणको उत्पन्न करता है, वैसेही जल इत्यादिके विषयमें भी समझना चाहिए ॥ ४ ॥ इन शास्त्र आदिमें जिस-जिस शास्त्र आदिकी बड़े लोगोंने प्रशंसा की है, उसको सतोगुणका उत्पादक समझना चाहिए और जिसकी उन्होंने निन्दा की है, उसे तमोगुणका उत्पादक समझना चाहिए। रजोगुण उत्पन्न करनेवाली वस्तुओंपर उन्होंने ध्यान नहीं दिया ॥ ५ ॥ सतोगुण बढ़ानेके लिए पुरुष सात्त्विक वस्तुओंका ही सेवन करे। सत्त्वकी वृद्धिसे धर्म और धर्मसे यहाँ तक उन्नत ज्ञान उत्पन्न होता है कि शरीराभिमान भी छूट जाता और मेरे स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है ॥ ६ ॥ जैसे बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्नि उस वनको जलाकर ही शान्त होता है, वैसेही गुणोंके क्षोभसे उत्पन्न देह उस अग्निकी भाँति गुणोंको जलाकर ही शान्त होता है—अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥ उद्धवजीने कहा—हे श्रीकृष्ण ! मनुष्य प्रायः विषयोंको आपत्तियोंका स्थान कहा करते हैं, तो भी वे कुत्ते, गर्दभ और बकरेके समान विषयोंको क्यों भोगते हैं ? ॥ ८ ॥ श्रीभगवान बोले—अज्ञानी पुरुषके हृदयमें ज्योंही "मैं" यह झूठी बुद्धि उपजती है, त्योंही सत्त्व-प्रधान मन भी दुःखप्रद रजोगुणसे भर जाता है ॥ ९ ॥ रजोगुणयुक्त मनसे अनेक प्रकारके सङ्कल्पोंका उदय होता है और उससे विषयाभिलाषा होती, विषयके अनेक गुणोंका ध्यान करनेपर दुर्बुद्धिके लिये वह दुःसह हो जाती है ॥ १० ॥ उस विषयाभिलाषाके वशीभूत होकर अजितेन्द्रिय पुरुष कर्म करता है,

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः । अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥१२॥
अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः । अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः१३
एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैःसनकादिभिः । सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥१४॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव । योगमादिष्टवानेतद् रूपमिच्छामि वेदितुम्॥१५॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः । पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्१६

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो । कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षतोः ।१७।

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः । ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥१८॥
स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया । तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥१९॥
दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम् । ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति॥२०॥
इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा । यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥२१॥
वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः । कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥२२॥
पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः । को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः।२३।

यद्यपि वह समझता है कि इन कर्मोंका फल दुःखमय है फिर भी वह रजोगुणके वेग द्वारा उत्पादित मोहसे युक्त हो जाता है ॥ ११ ॥ जब कभी कोई विद्वान् रज तथा तमसे विक्षिप्तबुद्धि हो जाता है, तो वह फिर सावधानीसे मनको मुझमें लगा देता और विषयोंके दोषोंपर ध्यान देते हुए उनमें आसक्त नहीं होता ॥ १२ ॥ अतएव समय-समयपर श्वासको जीतकर, आसन दृढ़कर सावधानी और निरलसतापूर्वक धीरे-धीरे मनको मुझमें लगाकर स्थिर करे ॥ १३ ॥ मेरे शिष्य सनकादिकोंने इतनेही को योग कहा है कि जिससे मन सब ओर से खींचकर मुझमें लगा दिया जा सके ॥ १४ ॥ उद्धवजीने पूछा—हे केशव ! तुमने जब और जिस रूपमें सनक इत्यादिकोंको योगका उपाय बताया हो, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ ॥ १५ ॥ श्रीभगवान बोले—सनक आदि ब्रह्माके मानसिक पुत्र हैं। उन्होंने योगके प्रधान तथा दुर्विज्ञेय मार्गको अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा था ॥ १६ ॥ सनक इत्यादिकोंने कहा—हे प्रभो ! चित्त विषयोंमें लिप्त रहता है और विषय वासनारूपसे चित्तमें वर्त्तमान रहते हैं। तब जो पुरुष संसारसागरको पार करके मुक्तिकी इच्छा करता है, वह विषय और चित्तके इस संसर्गको कैसे दूर करेगा ॥ १७ ॥ श्रीभगवान कहने लगे कि इस प्रकार पूछे जानेपर सब प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले तथा स्वयं उत्पन्न होनेवाले श्रेष्ठ देवता ब्रह्माजीने सोचा, किन्तु उनकी बुद्धि कर्मोंसे मोहित थी। इसलिए वे प्रश्नके यथार्थ कारणोंको नहीं जान सके ॥ १८ ॥ प्रश्नसे पार पानेके लिए उन्होंने मेरा ध्यान किया और तब मैं हंसरूपसे उनके निकट पहुँचा। उन लोगोंने मुझे देख, ब्रह्माको आगे करके और मेरे पास आकर प्रणाम किया और पूछा कि आप कौन हैं ? ॥ १९॥२० ।हे उद्धव ! तत्त्वजिज्ञासु मुनियोंने मुझसे जब ऐसा प्रश्न किया, तब मैंने जो कुछ उनसे कहा, वह मुझसे सुनो ॥ २१ ॥ हे विप्रो ! यदि आत्मारूप वस्तु अनेक नहीं है तो तुम्हारा ऐसा प्रश्न ठीक नहीं है। क्योंकि तुम लोगोंका और 'मुझ' कहनेवालेका आत्मा एक ही है ॥ २२ ॥ यदि तुम पञ्चमहाभूतोंसे बने हुए शरीरकी अपेक्षा करके ऐसा पूछते हो, तो वे भी यथार्थमें समान हैं और इस दशामें "आप" कौन हैं ?" यह तुम्हारा प्रश्न केवल वाणी द्वारा कहा गया है, किन्तु वह भी निरर्थक है ॥ २३ ॥

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः । अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥२४॥
गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः । जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥२५॥
गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया । गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥२६॥
जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः । तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः २७
यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः । मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद्गुणचेतसाम् २८
अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम् । विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥
यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः । जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा ॥३०॥
असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा । गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥३१॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान् भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥३२॥
एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्णज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥३३॥
ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥३४॥

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ जाना जाता है, वह मैं ही हूँ। मुझसे अन्य नहीं, यह निश्चित समझो ॥ २४ ॥ हे पुत्रो ! चित्त सदा विषयोंमें लगा रहता है और विषय चित्तमें व्याप्त रहते हैं, किन्तु यह विषय और चित्त दोनों ही मेरे स्वरूपकी उपाधिमात्र हैं ॥ २५ ॥ सदैव विषयोंका सेवन करनेसे चित्त उनमें लग जाता है और विषय वासना द्वारा चित्तमें प्रगट होते हैं। इसलिए जो अपनेको परमात्मस्वरूप समझता है, वह इन दोनोंको त्याग दे ॥ २६ ॥ जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये गुणकी अवस्थाएँ वस्तुतः बुद्धिकी ही होती हैं। जीव उन अवस्थाओंसे पृथक् रहता है और उसका साक्षी निश्चित किया गया है ॥ २७ ॥ जब जीवको गुणकी वृत्तियें देनेवाले इस बुद्धिकृत बन्धनको मुझ परमात्मस्वरूपमें मग्न होकर त्याग दे, तब विषय और चित्त स्वयं पृथक्-पृथक् हो जायँगे ॥२८॥ फिर भी अहंकारकृत बन्धन बना रहता है, इसीसे जीव अनर्थको प्राप्त होता है। अतः विद्वान् वैराग्य धारणकर आत्माके यथार्थरूपमें मग्न रहे और उस बन्धन तथा संसारकी चिन्ताको त्याग दे ॥ २९ ॥ जबतक युक्तियों द्वारा पुरुषकी द्वैतबुद्धि नहीं निवृत्त हो पाती, तब तक वह अज्ञानी जागता हुआ भी सोता रहता है। उसका जागरण स्वप्नमें जागनेके समान है ॥ ३० ॥ इस आत्माके देव-मनुष्य आदि भाव नहीं हैं और उनका बनाया हुआ वर्णाश्रमादि भेद भी नहीं है। आत्माकी स्वर्गप्राप्ति आदि गतियाँ और उन्हें प्राप्त करानेवाले सब कर्म उसी प्रकार झूठे रहते हैं, जैसे कि स्वप्न देखनेवालेके देखे हुए पदार्थ मिथ्या होते हैं। अर्थात् देव-मनुष्यादि भाव देहके होते हैं—आत्माके नहीं ॥ ३१ ॥ जो .(साक्षीरूपसे) जाग्रत् अवस्थामें सब इन्द्रियों द्वारा बाहरी क्षणिक पदार्थोंको भोगता है, स्वप्नमें उन्हींके समान हृदयमें कल्पित पदार्थोंको भोगता और सुषुप्तिमें सर्वथा भोग-रहित रहता है। वह बुद्धिकी तीनों अवस्थाओंको देखनेवाला तथा इन्द्रियोंका स्वामी आत्मा एक ही है। क्योंकि उसे सर्वदा यह स्मरण रहता है कि मैंने ही बाह्य-विषयोंका भोग किया है, मैंने ही स्वप्न देखा है और मैं ही आनन्दसे सोया हुआ हूँ ॥ ३२ ॥ ऐसा विचारकर तुम इस बातका निश्चय कर लो कि ये तीनों गुणहेतुक अवस्थाएँ मनकी हैं और मेरी मायासे मुझमें भासित हो रही हैं, किन्तु वास्तवमें ये अवस्थायें आत्माकी नहीं हैं। तब अनुमान तथा सद्वाक्योंसे उत्तेजित ज्ञानरूपी खड्गद्वारा सब संशयोंके आधार अहङ्कारको काटकर हृदयमें स्थित मुझको भजो॥ ३३ ॥ समस्त संसारको तुम भ्रमरूप मानसिक कल्पनामात्र समझो। क्योंकि अग्निकी चिनगारी घुमानेसे बने हुए अग्निके घेरे सदृश यह

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्णस्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात् ॥३५॥
देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३६॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३७॥
मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः । जानीत माऽऽगतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥३८॥
अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः । परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥३९॥
मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् । सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥४०॥
इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः । सभाजयित्वा परया भक्त्या गृणत संस्तवैः ॥४१॥
तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः । प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः । तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥१॥

देखता और पुनः नष्ट हो जाता है। क्योंकि यह अत्यन्त चञ्चल है। एक ज्ञान ही अनेक प्रकारसे भासित होता है। तीन प्रकारकी गुणमयी सृष्टिके कारण भासित होता हुआ अनेकत्व मायासे कल्पित और स्वप्नवत् है ॥ ३४ ॥ अतएव प्राणीका कर्तव्य है कि इस मिथ्या संसारकी ओरसे दृष्टि फेरकर तृष्णारहित हो जाय और चुपचाप आत्म-सुखका अनुभव करते हुए सब कर्मोंको त्याग दे। कभी देहोत्पादक कर्मवश यदि कर्म देख भी पड़ेंगे तो जो तुच्छ समझकर छोड़ दिया गया है, वह भ्रम उत्पन्न नहीं कर सकेगा, परन्तु शरीरपात पर्यन्त कर्मसंस्कार किसी न किसी रूपमें अवश्य ही रहेंगे ॥ ३५ ॥ आत्मानुभवके सुखका साक्षात् करनेवाला पुरुष नश्वर देहपर ध्यान नहीं देता। दैववश चाहे वह बैठे, चाहे उठे, चाहे जाय और चाहे आये। क्योंकि वह तो अपने यथार्थ रूपको पहुँचा रहता है। जैसे कि मदिराके मदसे अचेत पुरुष पहिने हुए वस्त्रपर भी ध्यान नहीं देता, वैसे ही वह पुरुष देहपर भी ध्यान नहीं देता ॥ ३६ ॥ दैवके वशीभूत देह जिन पूर्वकर्मोंके भोगके निमित्त बनाया गया है, वे जब तक समाप्त नहीं हो जाते, तबतक वह प्राणों और इन्द्रियों सहित उनके लिए वर्तमान रहता है। किन्तु जो समाधियोगको प्राप्त हो गया और तत्त्वको जान चुका है, वह स्वप्नरूप उस देहके प्रपञ्चमें नहीं फँसता ॥ ३७ ॥ हे विप्रो ! जो बात सांख्य और योगका रहस्यस्वरूप है, उसे मैंने तुमसे कह दिया। मुझे तुम अपना धर्मशिक्षक विष्णु जानो ॥ ३८ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं ही योग, सांख्य, धर्म, तेज, लक्ष्मी, कीर्ति तथा दमका मुख्य आश्रय हूँ। मैं सबका सुहृद्, प्रिय, आत्मा, निर्गुण तथा निरपेक्ष हूँ। समदर्शिता-अनासक्ति आदि अन्य गुण भी गुणके सदृश भासित होनेवाले मुझमें विद्यमान रहते हैं ॥ ३९-४० ॥ इस तरह मेरे द्वारा सनकादि मुनि सन्देहरहित कर दिये गये और उन्होंने बड़ी भक्तिसे मेरा स्वागत करके विविध स्तोत्रोंसे स्तुति की ॥ ४१ ॥ मैं उन महर्षियों द्वारा भलीभाँति पूजित तथा स्तूयमान होकर ब्रह्माजीके देखते-देखते अपने धामको लौट आया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

उद्धव कहने लगे—हे कृष्णजी ! ब्रह्मवादी लोग कल्याणके अनेक मार्ग बताते हैं और आप भक्तिको श्रेष्ठ बतलाते हैं, तो इनकी विकल्पसे प्रधानता है अथवा इनमेंसे किसी एककी ही मुख्यता

भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः । निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥३॥
तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा । ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥४॥
तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः । मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥५॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षःकिम्पुरुषादयः । बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥६॥
याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा । यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥७॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम् । पारंपर्येण केषाञ्चित् पाखण्डमतयोऽपरे ॥८॥
मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ । श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥९॥
धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् । अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् १०
केचिद् यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान् । आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः ॥११॥
मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः । मयाऽऽत्मना सुखं यत्तद् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्
अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः । मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१३॥
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥१४॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः । न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥१५॥

है ॥ १ ॥ हे स्वामिन् ! आपने कहा है कि ऐसे भक्तियोगमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती कि जिसमें सब ओरसे आसक्ति छोड़कर तुममें मन लगा दे ॥ २ ॥ श्रीभगवान् बोले—कालवश यह वेदवाणी प्रलयमें नष्ट हो गयी थी । फिर सृष्टिके प्रारम्भमें मैंने उसे ब्रह्माको बताया । इसी वेदवाणीमें धर्म है और उस धर्मका स्वरूप मैं हूँ ॥ ३ ॥ ब्रह्माने उसे अपने प्रथमपुत्र मनुसे कहा था । तदनन्तर मनुसे भृगु इत्यादि सात ब्रह्मर्षियोंने पढ़ा ॥ ४ ॥ उन्हीं अपने पिताओंसे उनके पुत्र देव, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव, किन्नर, नाग, राक्षस, किंपुरुष अर्थात् वानर इत्यादिकोंने पढ़ा । उन लोगोंकी रज, तम तथा सत्त्वसे उत्पन्न विविध प्रकारकी प्रकृतियाँ हैं ॥ ५–६ ॥ उन्हीं प्रकृतियोंके अनुसार प्राणी और उनकी बुद्धियाँ भी अनेक प्रकारकी होती हैं । प्रकृतिके अनुकूल ही सबोंने देववाणीका भिन्न-भिन्न रूपमें अर्थ किया है ॥ ७ ॥ इस प्रकार प्रकृतिभेदके कारण कुछ मनुष्योंके विचारोंमें भी भेद पड़ जाता है और कुछ लोग तो वेद-विरुद्ध पाखण्ड-मतावलम्बी भी हो जाया करते हैं ॥ ८ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! मेरी मायासे भ्रान्त बुद्धिवाले कितने लोग अपने-अपने कर्म तथा रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे कल्याणका मार्ग बताते हैं ॥ ९ ॥ कुछ लोग धर्मको, कुछ यशको, कुछ कामको, कुछ सत्यको और कुछ शम-दमादिको, कुछ ऐश्वर्यको और कुछ लोग दान तथा भोगको ही परमार्थ कहते हैं ॥ १० ॥ कुछ लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यमनियमादिको ही पुरुषार्थ मानते हैं । लेकिन इन कर्मोंसे जो लोक मिलते हैं, वे आदि-अन्तयुक्त, परिणाममें दुःखदायी, अन्तमें मोहजनक, तुच्छ आनन्ददाता तथा शोकसे परिपूर्ण हैं ॥ ११ ॥ हे सभ्य ! सब प्रकारसे निरपेक्ष होकर मुझमें ही मन लगाने और मुझहीमें लीन रहनेवाले पुरुषको जो सुख मिलता है, वह विषय-लोलुप व्यक्तियोंको भला कैसे मिलेगा ? ॥ १२ ॥ जो प्राणी अकिञ्चन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि तथा मेरी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट है, उसके लिये सब दिशाएँ सुखमयी होती हैं ॥ १३ ॥ जिसने अपना चित्त मुझमें लगा दिया है, वह मुझे छोड़ न ब्रह्मपद, न सार्वभौम राज्य, न सारे भूमण्डलका आधिपत्य, न योगकी सिद्धियाँ और न मोक्ष ही चाहता है ॥ १४ ॥ हे उद्धव ! आप सरीखे भक्तलोग मुझे

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् । अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥१६॥

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत् तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥१७॥

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥१८॥
यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् । तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥१९॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव । न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता२०
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् । भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्२१
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ।२२।
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना । विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥

यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम् ॥२६॥

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते । मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥२७॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् । हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ।२८।

जितने प्रिय हैं उतने न ब्रह्मा हैं, न शङ्कर हैं, न बलभद्र हैं, न लक्ष्मी हैं और न अपनी आत्मा ही प्रिय है ॥ १५ ॥ निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर तथा समदर्शी मुनिके पीछे-पीछे तो मैं इस दृष्टिसे फिरता रहता हूँ कि उसकी चरणरजसे पवित्र हो जाऊँगा ॥ १६ ॥ मेरेमें अनुरक्त, अकिञ्चन, शान्त, सर्वभूत-हितकारी तथा कामनाओं रहित चित्तवाले महात्मा जिस आनन्दका अनुभव करते हैं, केवल निर-पेक्षतासे ही प्राप्त होनेवाले मेरे उस परमानन्दकी ओर लोग बिल्कुल नहीं जा पाते ॥ १७ ॥ इनके अतिरिक्त मेरा अजितेन्द्रिय भक्त विषयोंसे बाधित होकर प्रायः अपनी प्रौढ़ा भक्तिके प्रभावसे उन विषयोंके चक्करमें नहीं पड़ता ॥ १८ ॥ जैसे बढ़ा हुआ अग्नि इन्धनको जला डालता है, वैसे ही हे उद्धव ! मेरी भक्ति भी सारी पापराशिको जला डालती है ॥ १९ ॥ हे उद्धव ! मेरी दृढ़ भक्ति मुझे जिस तरह असानीसे प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और दान भी नहीं करा सकते ॥ २० ॥ साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं केवल श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ। मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी पवित्र कर दिया करती है ॥ २१ ॥ मेरी भक्तिसे रहित पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म तथा तपसे युक्त विद्या भी पूर्णरूपसे पवित्र नहीं कर पाती ॥ २२ ॥ बिना रोमाञ्च हुए, बिना चित्तके द्रवीभूत हुत, बिना आनन्दाश्रुओंके उमड़े तथा बिना भक्तिके अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकेगा ? ॥ २३ ॥ जिसकी वाणी गद्गद होती और जिसका चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी बार-बार रोता, कभी हँसता, कभी निःसङ्कोच होकर ऊँचे स्वरसे गाने लगता और कभी नाचने लगता है—ऐसा मेरा भक्त सारी त्रिलोकीको पवित्र कर देता है ॥ २४ ॥ जैसे अग्निसे तपाये जानेपर सोना मैलको त्याग देता और अपने स्वच्छ स्वरूपको पा जाता है, वैसे ही मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मवासनासे मुक्त होकर अपने स्वरूप अर्थात् मुझको पा जाता है ॥ २५ ॥ जैसे-जैसे मेरी पावन कथाओंके श्रवण तथा कीर्तनसे मेरे भक्तका चित्त परिमार्जित होता जाता है, वैसे-वैसे वह अंजनयुक्त नेत्रोंके सदृश तत्त्वका दर्शन करता जाता है ॥ २६ ॥ विषय-चिन्तन करनेवालेका चित्त विषयोंमें और मेरा चिन्तन करनेवाले का चित्त मुझमें लीन हो जाता है ॥ २७ ॥ अन्य साधन

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥२९॥
न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥३०॥

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् । ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं त्वं वक्तुमर्हसि॥३१॥

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् । हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥३२॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः । विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः॥३३॥
हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत् । प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम्॥३४॥
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् । दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥३५॥
हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् । ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम्॥३६॥
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् । वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम्॥३७॥
समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम् । सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥३८॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् । हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम्॥३९॥
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् । नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम्॥४०॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् । सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत्॥४१॥

स्वप्नके मनोरथकी भाँति असच्चिन्तनमात्र हैं। इसलिए उन्हें छोड़कर मेरे चिन्तनसे शुद्ध अपने चित्तको मुझमें लगा दे॥२८॥ प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है कि वह धीरतापूर्वक स्त्री तथा स्त्रीलम्पटोंका सङ्ग दूरसे ही त्यागकर निर्भय तथा निर्जन एकान्त स्थानमें बैठकर निरलस मनसे मेरा ध्यान करे॥२९॥ किसी भी प्रकार अन्य सङ्गसे मुमुक्षु पुरुषको ऐसा बन्धन नहीं प्राप्त होता, जैसा कि स्त्री अथवा उसके सङ्गियोंके सङ्गसे बन्धन प्राप्त होता है॥३०॥ उद्धवजीने कहा—हे कमलनयन! मुमुक्षु पुरुषको जैसे, जिस रूपमें तथा जिस भावसे आपका ध्यान करना चाहिये, वह मुझे बतला दीजिए॥३१॥ श्रीभगवान् कहने लगे—हे उद्धव! मेरा भक्त सुखपूर्वक सम आसनसे शरीरको सीधा करके बैठे, अपने हाथोंको गोदमें रक्खे और अपनी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागमें स्थिर कर दे॥३२॥ फिर क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचक द्वारा अथवा इससे उलटे क्रमसे रेचक, कुम्भक तथा पूरक द्वारा नाड़ीकी शुद्धि करे और जितेन्द्रिय होकर धीरे-धीरे प्राणायामका अभ्यास करता रहे॥३३॥ अपने हृदयमें निहित कमलनालके सदृश ओङ्कारको प्राणके द्वारा ऊपर ले जाकर उसमें घण्टानाद सदृश स्वरको स्थिर करे॥३४॥ नित्यप्रति तीनों समय दस-दस बार ओङ्कारसहित प्राणायामका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करनेसे एक महीना पूरा होनेके पहले ही साधक प्राण-वायुको अपने वशमें कर लेता है॥३५॥ तब अन्तःकरणमें स्थित ऊपरकी ओर नाल तथा नीचेको मुखवाले हृदयकमलको ऊपर मुखवाला, खिला हुआ तथा आठ पंखुड़ियों एवं बीचके दल सहित चिन्तन करके उसकी कलीमें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निकी भावना करे और अग्निके मध्यमें अत्यन्त मङ्गलमय मेरे इस स्वरूपका ध्यान धरे॥३६-३७॥ जो रूप अनुरूप अङ्गोंसे सुशोभित, अति शान्त, सुन्दर मुख तथा दीर्घ और सुन्दर चार भुजाओंसे युक्त है। जिसकी ग्रीवा अति सुन्दर तथा सुघड़ है। जिसके कपोल सुन्दर हैं। जिसकी अति मनोहर मुसकान है। जिसके सुडौल कानोंमें मकराकृत कुण्डल झलक रहे हैं। जो मेघके समान श्याम, पीताम्बरधारी और श्रीवत्स तथा लक्ष्मीजीका आश्रयस्थल है। जो शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा वनमालासे विभूषित है। जिसके चरण-कमल नूपुरोंसे सुलसित हैं। जो कौस्तुभमणिकी आभासे सम्पन्न तथा सब ओरसे कान्तिमय किरीट, कटक,

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मनः । बुद्धया सारथिना धीरः प्रणमेन्मयि सर्वतः ॥४२॥
तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् । नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ४३
तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् । तच्चत्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ४४
एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि । विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ४५
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः । संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः । मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥१॥

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित् कथंस्वित् सिद्धिरच्युत । कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः । तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥३॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः । प्राकाश्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥४॥

करधनी तथा भुजबन्द आदि आभूषणोंसे युक्त हैं, जो सर्वाङ्गसुन्दर तथा हृदयहारी हैं और जिसके सुन्दर मुख तथा नेत्र प्रसन्नता प्रगट कर रहे हैं, ऐसे मेरे सुकुमार शरीरका उस स्वरूपके सब अङ्गोंमें चित्त लगाये हुए ध्यान करे ॥ ३८–४१ ॥ भक्तपुरुषको चाहिये कि अपने मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींचकर मनको बुद्धिरूपी सारथिकी सहायतासे सर्वाङ्गयुक्त मुझमें ही लगावे ॥ ४२ ॥ सब ओर फैले हुए चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और फिर अपने अन्य अङ्गोंका ख्याल न करता हुआ बराबर मेरे मुसकानयुक्त मुखका ध्यान करता रहे ॥ ४३ ॥ मेरे मुखारविन्दमें चित्तके स्थिर हो जानेपर उसे वहांसे हटाकर आकाशमें स्थिर करे । तब उसको भी त्यागकर मेरे शुद्धस्वरूपमें मगन हो और कुछ भी न सोचे ॥ ४४ ॥ इस तरह चित्तके वशीभूत हो जानेपर जैसे एक ज्योतिमें दूसरी ज्योति मिल जाती है, वैसे ही साधक भक्त अपनेमें मुझको और मुझ सर्वात्मामें अपने आपको देखता रहता है ॥ ४५ ॥ इस तरह तीव्र ध्यानयोगके द्वारा अपने चित्तका संयम करनेवाले योगीके चित्तका द्रव्य, ज्ञान और कर्मसम्बन्धी भ्रम शीघ्र निवृत्त हो जाया करता है ॥ ४६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्न्धे भाषाटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

(सब सिद्धियोंका विवेचन) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! जितेन्द्रिय, स्थिरचित्त, श्वासको जीतने तथा मुझमें ही चित्त स्थिर रखनेवाले योगीको ही सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥ उद्धवजीने कहा—हे अच्युत ! योगियोंको सिद्धि देनेवाले एकमात्र आप ही हैं । अतएव कृपया यह बतलाइये कि किस धारणासे और कैसे कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और सम्पूर्ण सिद्धियाँ संख्यामें कितनी हैं ? ॥ २ ॥ श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! धारणायोगके पारगामियोंने सिद्धियाँ अठारह प्रकारकी बतलायी हैं, उनमेंसे आठमें मेरी प्रधानता है और दस गौणी अर्थात् सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होनेवाली सिद्धियाँ हैं ॥ ३ ॥ अणिमा, महिमा और लघिमा ये शरीरकी सिद्धियाँ हैं । प्राप्ति नामक सिद्धिका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे है । सुने अर्थात् पारलौकिक और दृष्ट अर्थात् लौकिक पदार्थोंको इच्छानुसार प्राप्त करना प्राकाश्य नामकी सिद्धि है । माया और उसके कार्योंको

गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति । एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥५॥
अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम् । मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥६॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् । यथासङ्कल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहतागतिः ॥७॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता । अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥८॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः । यया धारणया या स्याद् यथा वास्यान्निबोध मे ॥९॥
भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः । अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम ॥१०॥
महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत् । महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक् ॥११॥
परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन् । कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ॥१२॥
धारयन् मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् । सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः ॥१३॥
महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम् । प्राकाश्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥१४॥
विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत् कालविग्रहे । स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम् ॥१५॥
नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते । मनो मय्यादधद् योगी मद्धर्मा वशितामियात् ॥१६॥
निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः । परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥१७॥

इच्छानुसार प्रेरित कर सकना ईशिता सिद्धि है ॥ ४ ॥ विषयोंमें आसक्त न होना वशिता सिद्धि है। जो इच्छित पदार्थोंकी चरम सीमाको प्राप्त कर लेता है, उसे प्राकाम्य सिद्धि कहते हैं। हे सौम्य! ये आठों सिद्धियाँ मुझे स्वभावतः प्राप्त हैं ॥ ५ ॥ शरीरमें, क्षुधा-पिपासा आदि छः ऊर्मियों अर्थात् शारीरिक वेगोंका न होना, दूरसे श्रवण तथा दूरसे दर्शन, मनके सदृश शीघ्र-गति हो जाना, इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, अन्य-शरीरमें प्रविष्ट हो जाना, स्वेच्छा मृत्यु, देवाङ्गनाओंके साथ होनेवाली देवताओंकी क्रीडाओंका अवलोकन, जो सङ्कल्प करे उसका तत्काल सिद्ध हो जाना, अप्रतिहत आज्ञा और लोकान्तरोंमें बिना रोक-टोक गति, ये दस प्रकारकी सिद्धियाँ सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होती हैं ॥ ६-७ ॥ त्रिकालज्ञता, निर्द्वन्द्वता, शीत, उष्ण, सुख-दुःख तथा रागद्वेष आदि द्वन्द्वोंके वशीभूत न होना, दूसरेके मनकी बात जान लेना, अग्नि, सूर्य, जल तथा विष आदिकी शक्तिको रोक देना और किसीसे भी पराजित न होना, ये पाँच सिद्धियाँ और हैं। ये सिद्धियाँ नाम-निर्देशपूर्वक बतायी गयीं। इनमेंसे जो सिद्धि जिस धारणासे और जिस प्रकारसे होती है—अब यह भी मुझसे समझ लो ॥ ८-९ ॥ जो पुरुष तन्मात्रारूपी मनको मुझ भूतसूक्ष्मोपाधिक अर्थात् तन्मात्रारूप परमात्मामें स्थिर करता है, वह मेरा तन्मात्रोपासक भक्त अणिमा नामकी सिद्धिको प्राप्त करता है ॥ १० ॥ मुझ महत्तत्त्वरूपी परमात्मामें मनकी महत्तत्त्व-रूपसे धारणा करनेवाला पुरुष महिमा नामकी सिद्धि पाता है। ऐसे ही पञ्चभूतोपाधिक मुझमें मन लगानेसे पृथक् पृथक् भूतोंकी 'महिमा' को प्राप्त कर लिया करता है ॥ ११ ॥ वायु आदि चार भूतोंके परमाणुरूपी उपाधिवाले मेरे स्वरूपमें मन लगा देनेसे योगी कालकी सूक्ष्मतारूपिणी लघिमा सिद्धि पाता है ॥ १२ ॥ सात्त्विक अहङ्काररूपी मुझ परमात्मामें चित्तकी धारणा करनेसे मेरा ध्यान करनेवाला योगी सब इन्द्रियोंका अधिष्ठातृरूपिणी 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि पाता है ॥ १३ ॥ जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपना चित्त स्थिर करता है, वह मुझ अव्यक्तजन्मा ईश्वरकी 'प्रकाश्य' नामक सर्वश्रेष्ठ सिद्धि पाता है ॥ १४ ॥ जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी मुझ कालरूपी विष्णुभगवानमें चित्तको धारण करता है, वह क्षेत्र अर्थात् शरीरादिक और क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवको अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकनारूप ईशित्व सिद्धिको प्राप्त होता है, जिसमें सृष्टि और संहारादि करनेकी शक्ति रहती है ॥ १५ ॥ जो योगी भगवत्-शब्दसे कहे हुए मुझ 'तुरीय' संज्ञक नारायणमें मन लगा देता है, वह मेरे स्वभावसे युक्त योगी 'वशिता' नामकी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ १६ ॥ मुझ निर्गुण ब्रह्ममें ही अपना निर्मल चित्त स्थिर करके योगी परमानन्दरूपिणी 'प्राकाम्य' सिद्धि पाता

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि । धारयञ्छ्वेततां याति षडूर्मिरहितो नरः ॥१८॥
मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा घोषमुद्वहन् । तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ॥१९॥
चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि । मां तत्र मनसा ध्यायन् विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक्॥२०॥
मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना । मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥२१॥
यदा मन उपादाय यद् यद् रूपं बुभूषति । तत्तद् भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥२२॥
परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् । पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत्॥
पार्ष्ण्याऽऽपीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु । आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम्॥२४॥
विहरिष्यन् सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत् । विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तीः सुरस्त्रियः ॥२५॥
यथा सङ्कल्पयेद् बुद्ध्या यदा वा मत्परः पुमान् । मयि सत्ये मनो युञ्जंस्तथा तत् समुपाश्नुते ॥२६॥
यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् । कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम ॥२७॥
मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य योगिनो धारणाविदः । तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता॥२८॥
अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः । मद्योगश्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा ॥२९॥
मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः । ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः ॥३०॥

है। उसके मिलनेपर सब कामनाओंका अन्त हो जाता है॥ १७॥ हे उद्धव ! मुझ धर्ममय तथा शुद्धस्वरूप श्वेतद्वीपाधिपतिमें चित्तको धारण करनेसे योगी जन्म, मरण, क्षुधा, तृष्णा, शोक और मोहरूप छः ऊर्मियोंसे मुक्त होकर मेरी शुद्धस्वरूपताको प्राप्त हो जाता है॥ १८॥ समष्टि-प्राणरूपी मुझ आकाशात्मा परमात्मामें मनके द्वारा नादका चिन्तन करता हुआ योगी दूर-श्रवणनामकी सिद्धि द्वारा आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोलियें सुन और समझ सकता है॥ १९॥ नेत्रोंको सूर्यमें और सूर्यको नेत्रोंमें संयुक्त करके उन दोनोंके संयोगसे अपने मनही मन ध्यान करनेसे सूक्ष्मदर्शी योगी दूरदर्शन नामकी सिद्धिसे सारे संसारको देख ले सकता है॥ २०॥ मन तथा देहको उनके अनुगामी प्राणवायु समेत मुझमें भली प्रकार जोड़कर मेरी धारणा करनेसे जहाँ चित्त जाता, वहीं शरीर भी पहुँच जाता है। यह मनोजव सिद्धि कहलाती है॥ २१॥ मनको उपादान कारण बनाकर योगी जब जैसा रूप धारण करना चाहता है, वैसे ही मनोऽनुकूल रूपवाला हो जाता और मुझमें की हुई योगधारणाका बल ही उसके ऐसा होनेमें कारण होता है॥२२॥ जो योगी किसी दूसरे-के शरीरमें प्रवेश करना चाहता हो, वह उसमें अपने आत्माकी भावना करे। ऐसा करनेसे बाह्य वायुरूप होकर प्राण एक फूलसे दूसरे फूलपर जानेवाले भ्रमरकी तरह उस शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है॥ २३॥ यदि योगीको शरीर छोड़ना हो तो एड़ी द्वारा गुदा द्वारा दबाकर प्राणवायुको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ तथा मूर्धामें ले जाकर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्मको प्राप्त कराके शरीर त्यागे॥ २४॥ यदि देवताओंके विहारस्थलोंमें क्रीडा करनेकी इच्छा हो तो मुझमें स्थित शुद्ध सत्त्वकी भावना करे। इससे सत्त्ववृत्तिरूपिणी सुरसुन्दरियाँ विमानादिके सहित उसके पास आ उपस्थित होती हैं॥ २५॥ मुझ सत्यस्वरूपमें चित्तको स्थिर करके मेरा ध्यान करनेवाला पुरुष जब अपनी बुद्धिके द्वारा जैसा सङ्कल्प करता है तो तत्काल वही हो जाता है॥ २६॥ जो पुरुष मुझ सर्वनियन्ता तथा नित्यस्वाधीन परमात्माके स्वभावको प्राप्त हो जाता है, तब उसकी आज्ञाका मेरी आज्ञाके समान कहीं भी उल्लंघन नहीं हो पाता॥ २७॥ मेरी दृढ़ भक्तिके द्वारा जिस धारणा-परायण योगीका चित्त शुद्ध हो गया रहता है, उसकी बुद्धि जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयोंके ज्ञानसे मुक्त तथा त्रिकालदर्शिनी हो जाया करती है॥ २८॥ जैसे जल जलजन्तुओंका नाश नहीं करता, वैसे ही जिसका चित्त मुझमें लगे रहनेके कारण शिथिल हो गया रहता है, उसके योगमय शरीरका अग्नि आदि किसीसे नाश नहीं हो पाता॥ २९॥ जो भक्त श्रीवत्स और शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः । सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥३१॥
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः । मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥३२॥
अन्तरायान् वदन्त्येतान् युञ्जतो योगमुत्तमम् । मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥३३॥
जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ३४
सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः । अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ३५
अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम् । यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् । सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥१॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः । उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥२॥
येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः । उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तत् वदस्व मे ॥३॥
गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन । न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ।४।
याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां विभूतयो दिक्षु महाविभूते ।
ता मह्यमाख्याह्यनुभाविताास्ते नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम् ॥५॥

आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा, छत्र और व्यजन आदिसे अलङ्कृत मेरे अवतारोंका ध्यान करता है, वह अजेय हो जाता है ॥ ३० ॥ इस तरह योग-धारणा द्वारा मेरी उपासना करनेवाले मुनिको पूर्वोक्त सब सिद्धियाँ पूर्णरूपसे प्राप्त हो जाती हैं ॥ ३१ ॥ जो जितेन्द्रिय, संयमी तथा प्राणको जीतनेवाला मुनि होता है, उस निरन्तर मेरी ही धारणा करनेवाले मुनिको ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जो दुर्लभ है ? ॥ ३२ ॥ उत्तम योगाभ्यास करते-करते जिसका चित्त मुझमें लग गया रहता है, उस योगीके लिए ये सब सिद्धियां व्यर्थ कालक्षेपका कारण होनेके कारण विघ्नरूप कही गयी हैं ॥ ३३ ॥ जन्म, ओषधि, तप और मन्त्र आदिसे प्राप्त होनेवाली जितनी सिद्धियाँ हैं, इस लोकमें उन सबको पुरुष योगके द्वारा प्राप्त कर सकता है, किन्तु योगकी गतिरूपिणी सारूप्य-सालोक्यादि मुक्ति मुझमें चित्त लगानेके सिवा किसी अन्य उपायसे नहीं मिल सकती ॥ ३४ ॥ सब सिद्धियों तथा ब्रह्मवेत्ताओंके बतलाये हुए योग, सांख्य और धर्म आदि साधनोंका एकमात्र हेतु, स्वामी और प्रभु मैं ही हूँ ॥३५॥ जैसे कि सब भूतोंमें पाँचों भूत बाहर-भीतर सब ओर स्वयं अवस्थित रहते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण आवरणोंसे रहित स्वयं मैं ही सब प्राणियोंका बाह्य अर्थात् व्यापक और आन्तर अर्थात् अन्तर्यामी आत्मा हूँ अर्थात् द्रष्टा क्षेत्रज्ञ और दृश्य क्षेत्र ये दोनों मेरे ही स्वरूप है ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(समस्त विभूतियोंका विवेचन) श्री उद्धवजी कहते हैं—हे प्रभो ! आप अनादि, अनन्त तथा आवरणशून्य साक्षात् परब्रह्म हैं। सब पदार्थोंकी रक्षा, नाश और उत्पत्तिके आदि कारण आप ही हैं ॥ १ ॥ फिर भी अशुद्धबुद्धि पुरुषोंके लिये आप सर्वथा दुर्विज्ञेय हैं। आपकी यथोचित उपासना तो ब्राह्मण ही कर सकते हैं ॥ २ ॥ हे नाथ ! जिन-जिन भावों द्वारा आपकी भक्तिपूर्वक उपासना करके श्रेष्ठ महर्षिगण सिद्धि पाते हैं, वे सब आप मुझसे कहें ॥ ३ ॥ हे भूतभावन ! आप सब प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, सब प्राणियोंमें आप गुप्तरूपसे लीला करते हैं। आप सबको देखते हैं, फिर भी आपकी मायासे मोहित मनुष्य आपको नहीं देख पाते ॥ ४ ॥ हे महाविभूते ! पृथिवी, स्वर्ग, पाताल तथा सब दिशान्तरोंमें आपके प्रभावसे युक्त आपकी जो-जो विभूतियाँ हों, वह सब

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर । युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै ॥६॥
ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम् । ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः ॥७॥
स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः । अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥८॥
अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः । अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥९॥
अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम् । गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः १०
गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् । सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥११॥
हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् । अक्षराणामकारोऽस्मि पदानि छन्दसामहम् १२
इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट् । आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः १३
ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः । देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥१४॥
सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्रिणाम् । प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥१५॥
मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम् । सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम् ॥१६॥
ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम् । तपतां द्युमतां सूर्यं मनुष्याणां च भूपतिम् ॥१७॥
उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम् । यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥१८॥
नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम् । आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ ॥१९॥
तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम् । आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम् ॥२०॥

आप मुझसे कहें। मैं सब तीर्थोंके आश्रयभूत आपके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ॥ ५ ॥

श्रीभगवान कहते हैं—हे प्रश्नकर्त्ताओंमें श्रेष्ठ उद्धव ! उस समय कुरुक्षेत्रमें शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये उद्यत अर्जुनने भी मुझसे यही प्रश्न किया था ॥ ६ ॥ 'मैं मारनेवाला हूँ' 'ये मरनेवाले हैं' ऐसी प्राकृत बुद्धिसे युक्त होकर राज्यके लिये जातिबन्धुओंके वधको निन्दनीय पाप समझकर वह भी युद्धसे पराङ्मुख हो गया था ॥ ७ ॥ उस युद्धक्षेत्रमें जब मैंने उस पुरुषसिंह अर्जुनको युक्तिपूर्वक समझाया, तब उसने भी तुम्हारे समान ही मुझसे प्रश्न किया था ॥ ८ ॥ हे उद्धव ! मैं सब प्राणियोंका आत्मा, सुहृद् तथा स्वामी हूँ। सब भूत भी मैं ही हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका भी कारण मैं ही हूँ ॥ ९ ॥ गतिशीलोंमें गति, कलना अर्थात् अपने अधीन करनेवालोंमें काल, गुणों में समता तथा गुणियोंमें उनका स्वभाविक गुण मैं ही हूँ ॥१०॥ मैं गुणयुक्त वस्तुओंमें सूत्रात्मा, महानोंमें महत्तत्त्व तथा सूक्ष्मोंमें जीव और दुर्जयोंमें मन हूँ ॥ ११ ॥ उसी तरह वेदोंका अध्यापक हिरण्यगर्भ, मन्त्रोंमें त्रिवृत् ओङ्कार, अक्षरोंमें अकार तथा छन्दोंमें गायत्री मैं ही हूँ ॥ १२ ॥ मैं देवताओंमें इन्द्र, अष्टवसुओंमें अग्नि, द्वादश आदित्योंमें विष्णु तथा ग्यारह रुद्रोंमें नीललोहित नामका रुद्र हूँ ॥ १३ ॥ मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु, राजर्षियोंमें मनु, देवर्षियोंमें नारद और धेनुओं (गौओं) में कामधेनु हूँ ॥ १४ ॥ सिद्धेश्वरोंमें कपिल, पक्षियोंमें गरुड़, प्रजापतियोंमें दक्ष और पितृगणमें अर्यमा मैं ही हूँ ॥ १५ ॥ हे उद्धव ! दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा और औषधियोंमें सोमरस तथा यक्षराक्षसोंमें कुबेर मुझे ही जानो ॥ १६ ॥ इसीप्रकार गजराजोंमें ऐरावत, जलचरोंमें उनका प्रभु वरुण, ताप देनेवाले और दीप्तिशालियोंमें सूर्य तथा मनुष्योंमें राजा मैं ही हूँ ॥ १७ ॥ घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सुवर्ण, दण्डधारियोंमें यम तथा सर्पोंमें वासुकिनाग मैं ही हूँ ॥ १८ ॥ हे निष्पाप ! हे उद्धव ! मैं ही नागराजोंमें शेषनाग, सींग तथा दाढ़वाले जन्तुओंमें सिंह, आश्रमोंमें चतुर्थाश्रम अर्थात् संन्यास तथा वर्णोंमें आदिवर्ण ब्राह्मण हूँ ॥ १९ ॥ मैं ही तीर्थ और नदियोंमें गङ्गा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र-शस्त्रोंमें धनुष तथा धनुर्धरोंमें त्रिपुरका नाश करनेवाला महादेवजी हूँ ॥ २० ॥

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः । वनस्पतीनामश्वत्थ ओषधीनामहं यवः ॥२१॥
पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः । स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां भगवानजः॥२२॥
यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम् । वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्माशुचीनामप्यहं शुचिः२३
योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम् । आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम्
स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः । नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम्॥२५॥
धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः । गुह्यानां सूनृतं मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥२६॥
संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ । मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित्२७
अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः । द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान्
वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् । किंपुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥२९॥
रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम् । कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम्३०
व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः । तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥३१॥
ओजः सहो बलवतां कर्माहं विद्धि सात्त्वताम् । सात्त्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥३२॥
विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् । भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥३३॥
अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः । प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः॥३४॥
ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः । भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः ॥३५॥
गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम् । आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम्॥३६॥
पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् । विकारः पुरुषोऽव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्॥३७॥

निवास-स्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम तथा किसी भी प्रकार दुर्लङ्घ्य स्थानोंमें हिमालय, वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल) और ओषधियोंमें यव मैं हूँ॥ २१॥ पुरोहितोंमें वशिष्ठ, ब्रह्मिष्ठों अर्थात् वेदवेत्ताओंमें बृहस्पति, सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिकेय और नेताओंमें भगवान ब्रह्मा मैं ही हूँ॥ २२॥ मैं यज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञ, व्रतोंमें अहिंसा तथा शोधक पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी तथा आत्मा हूँ॥ २३॥ मैं योगोंमें मनका निरोध, विजयसाधनोंमें यन्त्र, कौशलोंमें आन्वीक्षिकी विद्या और ख्यातिवादियों विकल्प हूँ॥ २४॥ मैं स्त्रियोंमें शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनियोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार हूँ॥ २५॥ मैं धर्मोंमें संन्यास, अभयसाधनोंमें अन्तर्निष्ठा, गुह्योंमें मधुर वचन एवं मौन तथा मिथुनोंमें स्त्री-पुरुष उभयरूप प्रजापति हूँ॥ २६॥ सदा सावधान रहनेवालोंमें संवत्सर, ऋतुओंमें चैत-वैशाख, मासोंमें अगहन और नक्षत्रोंमें मैं अभिजित् नक्षत्र हूँ॥२७॥ युगोंमें सत्ययुग, धीरों और विवेकियोंमें देवल तथा असितमुनि, व्यासोंमें द्वैपायन तथा कवियोंमें मनस्वी शुक्राचार्य मैं ही हूँ॥ २८॥ भगवानोंमें वासुदेव, भागवतोंमें तुम उद्धव, किंपुरुषोंमें हनुमान् और विद्याधरोंमें सुदर्शन नामक विद्याधर मैं ही हूँ॥ २९॥ रत्नोंमें पद्मराग, सुन्दर वस्तुओंमें कमल-कोश, तृणोंमें कुशा और हवियोंमें गोघृत मैं हूँ॥ ३०॥ व्यवसायियोंमें लक्ष्मी, छलियोंमें छल, तितिक्षुओंमें तितिक्षा और सत्त्वगुण मैं ही हूँ॥ ३१॥ मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम, सात्त्वतों भगवद्भक्तोंमें भक्तियुक्त निष्काम कर्म तथा वैष्णवभक्तोंकी पूज्य नवमूर्तियोंमें पहली अर्थात् वासुदेव नामक उत्तम मूर्ति मैं ही हूँ॥ ३२॥ मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें पूर्वचित्ति तथा पर्वतोंमें स्थिरता और पृथिवीमें गन्ध हूँ॥ ३३॥ मैं ही जलमें रस, तेजस्वियोंमें महातेजस्वी अग्नि तथा सूर्य-चन्द्र-तारोंमें प्रभा और आकाशमें उनका परम गुण शब्द हूँ॥ ३४॥ मैं ही ब्राह्मणभक्तोंमें बलि, वीरोंमें अर्जुन और प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश हूँ॥ ३५॥ मैं ही गति, युक्ति, त्याग, ग्रहण, आनन्द और स्पर्श हूँ। मैंही आस्वाद, श्रवण और घ्राण हूँ। अतएव समस्त इन्द्रियोंकी इन्द्रियाँ मैं ही

अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः । मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना ।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥ ३८ ॥
संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया । न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ३९
तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः । वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥४०॥
एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः सङ्क्षेपेण विभूतयः । मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥४१॥
वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च । आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने४२
यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन् धिया यतिः । तस्य व्रतं तपो दानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥४३॥
तस्मान्मनोवचःप्राणान् नियच्छेन्मत्परायणः । मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥४४॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

— —

सप्तदशोऽध्यायः

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः । वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥१॥
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् । स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत् समाख्यातुमर्हसि ॥२॥
पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो । यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधव ॥३॥
स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन । न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥४॥
वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि । सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः॥५॥

हूँ ॥ ३६ ॥ पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, अहङ्कार, महत्तत्त्व, पञ्चमहाभूत, जीव, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम तथा ब्रह्म—ये सब भी एकमात्र मैं ही हूँ ॥३७॥ तत्त्वोंकी गणना, लक्षणों द्वारा उनका ज्ञान तथा उनका निश्चय भी मैंही हूँ। ईश्वर-जीव, गुण-गुणी एवं सर्वात्मा तथा सर्वरूप मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं शेष नहीं है ॥ ३८ ॥ कुछ काल बाद परमाणुओंको तो मैं गिन सकता हूँ, किन्तु करोड़ों ब्रह्माण्डोंको रचनेवाला मैं अपनी विभूतियोंको नहीं गिन पाता ॥ ३९ ॥ जिस किसी प्राणीमें तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पुरुषार्थ, तितिक्षा तथा विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों, वह सब मेरा ही अंश समझो ॥ ४० ॥ ये सब विभूतियाँ मैंने तुमसे संक्षेपमें कह दी हैं, फिर भी ये मनोविकार ही हैं। क्योंकि ये वाणीसे कही जाती हैं ॥ ४१ ॥ तुम वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियोंको जीतो। अपनी बुद्धिको अपने आत्मा द्वारा जीतो। ऐसा करनेसे फिर कभी तुम आवागमनके चक्रमें न पड़ोगे ॥ ४२ ॥ जो विचारवान् प्राणी बुद्धिके द्वारा वाणी और मनका पूर्णतया संयम नहीं करता, उसका व्रत, तप और ज्ञान कच्चे घड़ेमें भरे हुए जलके समान क्षीण हो जाया करता है ॥ ४३ ॥ अतएव मेरी भक्तियुक्त बुद्धिमें वाणी, मन और प्राणका संयम करे। ऐसा कर लेनेपर फिर उसे कुछ और करना शेष नहीं रह जाता अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाया करता है ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(वर्णाश्रम-धर्मका वर्णन) उद्धवजी कहते हैं—हे कमलनयन ! आपका भक्तिस्वरूप जो धर्म आपने वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेवाले तथा और भी सब लोगोंके लिये कहा है, उसका जिस तरह अनुष्ठान करनेसे आपमें मनुष्योंकी भक्ति हो सो आप मुझसे कहें ? ॥ १-२ ॥ हे प्रभो ! हे माधव ! पूर्वकालमें आपने हंसरूपसे ब्रह्माजीको जिस उत्तम धर्मका उपदेश दिया था। हे शत्रुदमन ! अधिक काल हो जानेसे आपका वह अनुशासनस्वरूप धर्म अब मर्त्यलोकसे प्रायः उठ गया है ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥ हे अच्युत ! पृथिवीतलपर और श्रीब्रह्माजीकी सभामें, जहाँ कि सब वेद मूर्तिमान् होकर विरा-

कर्त्राविता प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन । त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥६॥
तत्त्वं नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः । यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥७॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान् हरिः । प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥८॥

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम् । वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे ॥९॥
आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः । कृतकृत्याः प्रजा जात्या तस्मात् कृतयुगं विदुः १०
वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् । उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ॥११॥
त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी । विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥१२॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः । वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥१३॥
गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम । वक्षःस्थानाद् वने वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः
वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः । आसन् प्रकृतयो नॄणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥१५॥
शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम् । मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥
तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः । स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥
आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम् । अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥

जते हैं, आपके इस धर्मका वक्ता, निर्माता तथा रक्षक दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ५ ॥ हे मधुसूदन ! इस धर्मके वक्ता, कर्ता तथा रक्षक आप जब इस पृथिवीतलसे चले जायेंगे, तब इस नष्टप्राय धर्मका उपदेश और कौन करेगा ? ॥ ६ ॥ अतएव हे सर्वधर्मज्ञ प्रभो ! आपके भक्तिस्वरूप उस धर्मका जिसके लिये जैसा विधान हो, सो आप कहिये ॥ ७ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने प्रधान सेवक उद्धवजीके इस प्रकार पूछनेपर भगवान श्रीहरि प्रसन्न होकर लोगोंके कल्याणार्थ सनातन धर्मोंका निरूपण करने लगे ॥ ८ ॥ श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! तुम्हारा यह प्रश्न अतिशय धर्मसङ्गत है । वर्णाश्रमाचारपरायण लोगोंके लिये वह आत्यन्तिक श्रेयःस्वरूप तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है । अतएव तुम मुझसे उसे सुनो ॥ ९ ॥ कल्पके आदिमें जो पहला कृतयुग हुआ, उसमें मनुष्योंका हंस-नामक केवल एकही वर्ण था । क्योंकि उस समय लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीसे उसे कृतयुग कहते हैं ॥१०॥ उस समय प्रणव ही वेद था और तप, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणों-वाला वृषभरूपधारी मैं ही धर्म था और उस समयके निष्पाप एवं तपोनिष्ठ लोग मुझ हंस अर्थात् शुद्धस्वरूप परमेश्वरकी उपासना किया करते थे ॥ ११ ॥ हे महाभाग ! त्रेतायुगके आनेपर मेरे हृदय-से मेरे ही श्वास प्रश्वासके द्वारा ऋक्, साम और यजुःस्वरूप वेदत्रयीका आविर्भाव हुआ और उस त्रयी विद्यासे होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्म त्रिवृत् यज्ञरूपसे मैं प्रकट हुआ । इसीप्रकार विराट् पुरुषके मुख, भुजा, ऊरु और चरणोंसे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णोंकी उत्पत्ति हुई, जिनकी पहचान अपने-अपने आचरणसे हुआ करती है ॥ १२–१३ ॥ मुझ विराट् पुरुषकी जंघासे गृहस्थ, हृदयसे ब्रह्मचर्य, मेरे वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ तथा मस्तकसे संन्यास ये चार आश्रम प्रकटे ॥ १४ ॥ उपर्युक्त वर्ण और आश्रमोंके लोगोंके स्वभाव भी इनके जन्मस्थानोंके अनुरूप नीचोंसे नीच तथा उत्तमसे उत्तम बने हुए हैं ॥ १५ ॥ शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया तथा सत्य—ये ब्राह्मणवर्णके स्वभाव हैं ॥ १६ ॥ तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहन-शीलता, उदारता, उद्योग, स्थिरता, ब्रह्मण्यता अर्थात् ब्राह्मण-भक्ति और ऐश्वर्य—ये क्षत्रियवर्णके स्वभाव कहे गये हैं ॥ १७ ॥ आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा तथा धनसञ्चयसे

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया । तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥
अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः । कामः क्रोधश्च तर्षश्च स्वभावोऽन्त्येवसायिनाम् ॥२०॥
अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता । भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥२१॥
द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः । वसन् गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥२२॥
मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् । जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान्दधत् ॥२३॥
स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः । न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥२४॥
रेतो नावकिरेज्जातु ब्रह्मव्रतधरः स्वयम् । अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत् ॥२५॥
अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुराञ्छुचिः । समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ॥२६॥
आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् । न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥२७॥
सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत् । यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः ॥२८॥
शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत् । यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥२९॥
एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद् भोगविवर्जितः । विद्या समाप्यते यावद् बिभ्रद् व्रतमखण्डितम् ॥३०॥
यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम् । गुरवे विन्यसेद् देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥३१॥

कभी सन्तुष्ट न होना—ये वैश्यवर्णके स्वभाव कहे गये हैं ॥ १८ ॥ ब्राह्मण, गौ तथा देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और उससे जो मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्रवर्णके स्वभाव हैं ॥ १९ ॥ अपवित्रता, मिथ्याभाषण, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ कलह करना, काम-क्रोध तथा तृष्णा—ये अन्त्यजोंके स्वभाव कहे हैं ॥ २० ॥ अहिंसा, आस्तेय, काम-क्रोध-लोभसे रहित होना और प्राणियोंकी प्रिय तथा परोपकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना—ये सब वर्णोंके साधारण धर्म हैं ॥ २१ ॥ सब आश्रमोंके पहले ब्रह्मचारीके धर्म कहते हैं। जातकर्म आदि संस्कारोंके क्रमसे उपनयनसंस्काररूप दूसरा जन्म पाकर द्विजकुमार अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्यवर्णका बालक इन्द्रिय-दमनपूर्वक गुरुके घरमें रहता हुआ गुरुद्वारा आहूत होकर अध्ययन करे ॥ २२ ॥ मेखला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु तथा स्वतः बढ़ी हुई जटाएँ ब्रह्मचारी धारण करे। सुन्दर बननेके लिए दाँत और वस्त्रोंको न धोवे, रङ्गीन आसनपर बैठे और सर्वदा कुशा धारण किये रहे ॥ २३ ॥ स्नान, भोजन, होम, जप तथा मूत्र-पुरुषोत्सर्गके समय मौन रहे और नख एवं कक्ष तथा उपस्थके बालोंको कभी न कटावे ॥ २४ ॥ ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते समय स्वयं कभी वीर्यपात हो ही जाय तो जलमें स्नान तथा प्राणायाम करके गायत्रीमन्त्रका जप करे। प्रातःकाल और सायङ्काल दोनों समय मौन होकर गायत्री जपे तथा पवित्र और एकाग्र मन होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन तथा देवताओंकी उपासना और सन्ध्योपासन करे ॥ २५–२६ ॥ अपने आचार्यको साक्षात् मेरा स्वरूप समझे। उसका कभी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझकर उनकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना ही करे। क्योंकि गुरु सर्वदेवमय कहा गया है ॥ २७ ॥ सायङ्काल और प्रातःकाल दोनों समय भिक्षामें जो अन्न मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो, सो गुरुके आगे रख दे। तदनन्तर उनकी आज्ञानुसार भिक्षामेंसे अन्न लेकर संयमपूर्वक भोजन करे ॥ २८ ॥ आचार्य यदि चलते हों तो उनके पीछे-पीछे चले, सोते हों तो सावधानतापूर्वक थोड़ी दूरपर सोवे, थके हों तो उनके पास बैठकर चरण दबावे और बैठे हों तो उनके आदेशकी प्रतीक्षामें हाथ जोड़कर पास ही खड़ा रहे। इस तरह अत्यन्त नीचकी भाँति सेवा-शुश्रूषा द्वारा आचार्यकी आराधना करे ॥ २९ ॥ जबतक विद्या-ध्ययन समाप्त न हो जाय, तबतक सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता हुआ गुरुकुलमें निवास करे ॥ ३० ॥ यदि ब्रह्मलोक—जहाँ मूर्तिमान वेद रहते हैं, उस मह-लोकमें जानेकी इच्छा हो तो ब्रह्मचारी नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत लेकर सारे जीवन वेदाध्ययन करनेके

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्। अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥३२॥
स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्। प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ३३
शौचमाचमनं स्नानं सन्ध्योपासनमार्जवम्। तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासम्भाष्यवर्जनम्३४
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥३५॥
एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्। मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥३६॥
अथानन्तरमावेक्ष्यन् यथा जिज्ञासितागमः। गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः॥३७॥
गृहं वनं वोपविशेत् प्रव्रजेद् वा द्विजोत्तमः। आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत्॥३८॥
गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम्। यवीयसीं तु वयसा तां सवर्णामनुक्रमात्॥३९॥
इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम्। प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम्॥४०॥
प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम्। अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा दोषदृक् तयोः ॥४१
ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते। कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥४२॥

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठन् नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥४३॥

लिये मुझको अपना शरीर सौंप दे ॥ ३१॥ ब्रह्मतेजसे सम्पन्न, निष्पाप एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी अग्नि, गुरु, आत्मा तथा समस्त प्राणियोंमें अभिन्नभावसे मेरी उपासना करे ॥ ३२ ॥ यदि गृहस्थ न हो तो उन ब्रह्मचारी वानप्रस्थी तथा संन्यासियोंको उचित है कि स्त्रियोंको देखना, उनका स्पर्श करना तथा उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना एकदम त्याग दें। मैथुन करते हुए प्राणियोंकी ओर तो निहारें ही नहीं ॥ ३३ ॥ हे यदुकुलनन्दन ! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पृश्य-अभक्ष्य भक्षण एवं अवाच्य वचनका त्यागना, सब प्राणियोंमें मुझेही देखना तथा मन, वाणी और शरीरका संयम ये धर्म सभी आश्रमोंके लिये विहित हैं॥ ३४-३५ ॥ इस तरह नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करके ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होता है। अति तीव्र तपके द्वारा कर्मवासना दग्ध हो जानेसे चित्त निर्मल हो जानेपर प्राणी मेरा भक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥ यदि द्विजाति अपने इच्छित शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहे तो गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमतिसे स्नान आदि करे। चाहे तो समावर्तन संस्कार करके वह ब्रह्मचर्याश्रमको छोड़ भी सकता है॥ ३७॥ श्रेष्ठ ब्रह्मचारीका कर्तव्य है कि ब्रह्मचर्य आश्रमके बाद गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करे और यदि वह विरक्त हो तो संन्यास ले ले। इस तरह एक आश्रमके बाद अन्य आश्रम अवश्य ग्रहण करे। मेरा भक्त इसके विरुद्ध आचरण कदापि न करे अर्थात् निराश्रमी रहकर स्वेच्छाचारी न बनें ॥ ३८ ॥ गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका इच्छुक स्नातक अपनेसे छोटी तथा सवर्णकी कन्यासे विवाह करे ॥ ३९ ॥ यज्ञ करना, पढ़ना तथा दान देना—ये धर्म तो सभी द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों जातियोंके लिये कहे गये हैं। किन्तु दान लेना, पढ़ना और यज्ञ कराना—ये धर्म केवल ब्राह्मण ही के लिये हैं॥ ४० ॥ इनमें भी प्रतिग्रह अर्थात् दान लेनेको तप, और यशका विघातक समझकर अन्य दो वृत्ति यानी अध्यापन और यज्ञ कराकर ही जीविका-निर्वाह करे। यदि इनमें भी परावलम्बन तथा दीनता आदि दोष दीखें तो केवल शिलोञ्छवृत्तिसे जीवनयापन करे ॥ ४१ ॥ अतिशय दुर्लभ ब्राह्मण-शरीर क्षुद्र विषयभोगोंके लिये नहीं है। यह तो जीवनपर्यन्त कठिन तपस्या और अन्तमें अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्षका सम्पादन करनेके लिये बना है ॥ ४२ ॥ जो ब्राह्मण सन्तोषपूर्वक शिलोञ्छवृत्तिसे निर्वाह करके अपने अतिशय निर्मल एवं महान् धर्मका निष्कामतासे आचरण करता है, वह सर्वतोभावसे मुझे आत्मसमर्पण करके अनासक्त चित्तसे अपने घरमेंही रहता हुआ अन्तमें परम शान्तिस्वरूप मोक्षपद पा लेता है ॥ ४३ ॥

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम् । तानुद्धरिष्ये नचिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥ ४४ ॥
सर्वाः समुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः । आत्मानमात्मनाधीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥ ४५ ॥
एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा । विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥ ४६ ॥
सीदन् विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् । खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन ४७
वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि । चरेद् वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥ ४८ ॥
शूद्रवृत्तिं भजेद् वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम् । कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥ ४९ ॥
वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् । देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥ ५० ॥
यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा । धनेनापीडयन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून् ५१
कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत् कुटुम्ब्यपि । विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ ५२ ॥
पुत्रदाराप्तबन्धूनां सङ्गमः पान्थसङ्गमः । अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥ ५३ ॥
इत्थं परिमृशन् मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् । न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥ ५४ ॥
कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् । तिष्ठेद् वनं वोपविशेत् प्रजावान् वा परिव्रजेत् ५५

जो लोग आपत्तिग्रस्त भक्त ब्राह्मणको कष्टसे उबारते हैं, तो उन्हें मैं भी सब विपत्तियोंसे वैसे ही बचा लेता हूँ, जैसे कि समुद्रमें डूबते हुए पुरुषको नौका बचा लेती है ॥ ४४ ॥ विचारशील राजाको उचित है कि पिताके समान सब प्रजाकी और स्वयं अपनी भी इसी तरह आपत्तिसे रक्षा करे, जैसे कि यूथपति गजराज अपने यूथके अन्य गजों और स्वयं अपने आपको भी अपनी बुद्धि और अपने ही बल द्वारा विपत्तियोंसे बचाता है ॥ ४५ ॥ ऐसा धार्मिक राजा इस लोकमें सब दोषोंसे मुक्त होकर अन्त समय सूर्यके सदृश प्रकाशमान विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता और वहाँ इन्द्रके साथ विविध भाँतिके सुख भोगता है ॥ ४६ ॥ जिस किसी ब्राह्मणको अर्थ-कष्ट हो तो वह वैश्यवृत्तिके द्वारा व्यापार आदि करके उस विपत्तिको पार करे। यदि फिर भी आपत्तिग्रस्त रहे तो खड्ग धारण करके क्षत्रियवृत्तिका अवलम्बन करे, किन्तु नीचकी सेवारूपिणी श्वानवृत्तिका आश्रय कभी भी न ले ॥ ४७ ॥ यदि क्षत्रियको दारिद्र्य या कष्ट हो तो वह वैश्यवृत्तिसे, मृगया अर्थात् शिकारसे अथवा ब्राह्मणवृत्ति (पढ़ाने) से निर्वाह करे, किन्तु नीचकी सेवावृत्तिका आश्रय कदापि न ले ॥ ४८ ॥ इसी तरह आपत्तिग्रस्त वैश्य शूद्रवृत्तिरूपिणी सेवाका और शूद्र उच्चवर्णकी स्त्रीमें नीचवर्णके पुरुषसे उत्पन्न 'कारु' नामक प्रतिलोम जातिकी चटाई बुनना आदि वृत्तियोंका आश्रय ग्रहण करे। ये सब विधान आपत्कालके लिये ही कहे गये हैं। आपत्तिसे मुक्त होनेपर अपने लिये निन्द्य तथा निम्नवर्णोचित कर्मसे जीविका प्राप्त करनेका लोभ कभी न करे ॥ ४९ ॥ गृहस्थ पुरुषका कर्तव्य है कि वेदाध्ययन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, स्वधाकार यानी पितृयज्ञ, स्वाहाकार अर्थात् देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव यानी भूतयज्ञ तथा अन्नदान अर्थात् अतिथियज्ञ आदिके द्वारा मेरेही रूप ऋषि, देव, पितर एवं अन्य सब प्राणियोंकी यथाशक्ति नित्य पूजा करे ॥ ५० ॥ वह स्वयं बिना उद्यमके प्राप्त अथवा शुद्ध वृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो, उन लोगोंको कोई कष्ट न पहुँचाकर न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ कर्म करता जाय ॥ ५१ ॥ अपने कुटुम्बमें ही आसक्त न हो जाय। बड़ा कुटुम्बी होनेपर भी भगवद्भक्तजनसे गाफिल न हो। बुद्धिमान्को चाहिये कि दृश्यमान प्रपञ्चके समान अदृश्य स्वर्गादिको भी नाशवान् समझे ॥ ५२ ॥ पुत्र, स्त्री और कुटुम्बादिका संयोग पथिकोंके संयोगकी भाँति आगमापायी है। ये सभी सम्बन्धी अपने शरीरके साथ वैसेही छूट जाते हैं, जैसे स्वप्न केवल निद्राकी समाप्तितक ही वर्तमान रहता है ॥ ५३ ॥ ऐसा सोचकर मुमुक्षुजन घरोंमें अतिथिके समान ममता और अहङ्कारसे रहित होकर रहें ॥ ५४ ॥ गृहस्थोचित कर्मोंके द्वारा एकमात्र मेरा पूजन करता हुआ मेरी भक्तिसे युक्त होकर घरमें रहे या वानप्रस्थ होकर वनमें बसे अथवा पुत्रवान् हो तो

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः । स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥५६॥
अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः । अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् । अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा । वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥१॥
कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् । वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥२॥
केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतः । न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः ॥३॥
ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन् वर्षास्वासारषाड्जले । आकण्ठमग्नः शिशिर एवं वृत्तस्तपश्चरेत् ॥४॥
अग्निपक्वं समश्नीयात् कालपक्वमथापि वा । उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥५॥
स्वयं सञ्चिनुयात् सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् । देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ॥६॥
वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान् । न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥७॥
अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च पूर्ववत् । चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥८॥

अपनी स्त्रीके पालन-पोषणका भार पुत्रपर डालकर संन्यास ले ले ॥ ५५ ॥ किन्तु गृहमें आसक्त, पुत्रैषणा तथा वित्तैषणासे व्याकुल, स्त्रीलम्पट और मन्दमति मूढ 'मैं हूँ—यह मेरा है' इस अज्ञान-बन्धनमें बँध जाता है ॥ ५६ ॥ वह सोचने लगता है—'अहो ! मेरे माता-पिता बूढ़े हैं। स्त्री छोटी अवस्थाके बाल-बच्चोंवाली है। ये बच्चे मेरे बिना अति दीन, अनाथ तथा दुःखी होकर कैसे जियेंगे ?' इस तरह गृहासक्तिसे विक्षिप्तचित्त वह मूढ़ विषय-भोगोंसे कभी भी तृप्त न होकर सदा उन्हींका चिन्तन करता हुआ अन्तमें एक दिन मरकर घोर अन्धकारमें जा पड़ता है ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(वानप्रस्थी तथा संन्यासीके विहित धर्म) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! जो वानप्रस्थ आश्रममें प्रविष्ट होना चाहे, वह अपनी स्त्रीको पुत्रोंके पास छोड़कर अथवा अपने ही साथ रखकर शान्तचित्तसे अपनी आयुके तीसरे भागको वनमें रहकर व्यतीत करे ॥ १ ॥ वनके शुद्ध कन्द, मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करे। वल्कल वसन पहने अथवा तृण, पत्ते और मृगचर्मादिसे काम चलावे ॥ २ ॥ केश, रोम, नख तथा श्मश्रु अर्थात् मूँछदाढ़ीरूप शारीरिक मल धारण किये रहे यानी क्षौर न करावे, दन्तधावन न करे, जलमें घुसकर नित्य त्रिकालस्नान करे, त्रिकालसन्ध्या करे और पृथिवीपर शयन करे ॥ ३ ॥ ग्रीष्मऋतुमें पञ्चाग्नि तापे, वर्षाऋतुमें बरसती हुई धाराका आघात सहते हुए अभ्रावकाश व्रतका पालन करे और शरदऋतुमें गलेतक जलमें डूबा रहे। इस तरह कठोर तप करे ॥ ४ ॥ अग्निसे पके हुए अन्न आदि अथवा समय पाकर स्वयं पके हुए फल आदिको ओखलीमें अथवा पत्थरसे कूटकर या कि दाँतोंसे पीसकर खा लेवे ॥ ५ ॥ उदर-पोषणके लिये कन्दमूलादिको स्वयं संग्रह करके लावे। देश, काल और बलको भलीभाँति जाननेवाला मुनि अन्य समयके लाये हुए पदार्थको न ग्रहण करे ॥ ६ ॥ वनके कन्द-मूल आदिके बनाये चरु-पुरोडाशादिसे ही समयोचित आग्रयणादि कर्म करे। वानप्रस्थी हो जानेके बाद वेदविहित पशुओंके द्वारा मेरा यजन न करे ॥ ७ ॥ वेदवेत्ताओंने अग्निहोत्र, पौर्णमास तथा चातुर्मास्यादिका तो मुनिके लिये

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः । मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥९॥
यस्त्वेतत् कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत् । कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद् बालिशः कोऽपरस्ततः १०
यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः । आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥
यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु । विरागो जायते सम्यङ्न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः १२
इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे । अग्नीन् स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् १३
विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः । विघ्नान् कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात् परम् ॥
बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् । त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि १५
दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् । सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥१६॥
मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् । न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥१७॥
भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान् वर्जयंश्चरेत् । सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥१८॥
बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः । विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥१९॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः । आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः ॥२०॥
विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः । आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥२१॥

पहलेहीकी भाँति निरूपण कर दिया है ॥ ८ ॥ इस तरह घोर तपके कारण जिसकी नसें दीखने लगी हों, वह मुनि मुझ तपोमय भगवानकी आराधना करके ऋषिलोकादिमें जाकर फिर वहाँसे कालान्तरमें मुझको प्राप्त कर लिया करता है ॥ ९ ॥ यदि कोई प्राणी इस अतिशय कष्टसाध्य तथा मोक्षफलदायक तपको क्षुद्र फलों यानी स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोक आदिकी कामनासे करता है, उससे बढ़कर मूर्ख भला संसारमें और कौन होगा ? ॥ १० ॥ जिस समय वानप्रस्थी अपने आश्रमके नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय और उसका शरीर वृद्धावस्थाके कारण काँपने लगे, तब भावनाद्वारा अग्निको अपने अन्तःकरणमें आरोपित करके मेरा स्मरण करता हुआ अग्निमें प्रवेश कर जाय। यह विधान केवल अविरक्तके लिए ही है ॥ ११ ॥ यदि अपने कर्मोंके फलस्वरूप इन नरकतुल्य लोकोंसे उसका पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आहवनीय आदि अग्नियोंको त्यागकर संन्यास ले ले ॥१२॥ इस प्रकार विरक्त वानप्रस्थीको चाहिए कि वेद-विधिके अनुसार अष्टकाश्राद्धपूर्वक प्राजापत्य यज्ञसे मेरा यजन करके अपना सर्वस्व ऋत्विक्को दे डाले और अग्नियोंको अपने प्राणमें लीन करके निरपेक्ष भावसे स्वच्छन्द होकर विचरे ॥ १३ ॥ 'यह हमारे लोकको लाँघकर परमधाम चला जायगा' इस विचारसे देवता स्त्री आदिका रूप धारण करके ब्राह्मणके संन्यास लेते समय विघ्न डालते हैं। अतएव उस समय वह सावधान रहे ॥ १४ ॥ यदि यतिको वस्त्र-धारण करनेकी आवश्यकता पड़े तो एक कौपीन और जिससे कौपीन भर ढक जाय, ऐसा एक और वस्त्र रक्खे और आपत्कालको छोड़ दण्ड तथा कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई वस्तु अपने पास न रक्खे ॥ १५ ॥ सर्वदा पृथिवीको देखकर पैर रक्खे, वस्त्रसे छानकर पानी पिये, सदा सत्यभाषण करे और मनमें भलीभाँति विचारकर कोई कार्य करे ॥ १६ ॥ वाणीका मौनरूप दण्ड, शरीरका निष्क्रियतारूप दण्ड और मनका प्राणायामरूप दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं रहते तो केवल बाँसका दण्ड ले लेनेसे कोई त्रिदण्डी संन्यासी नहीं हो सकता ॥ १७ ॥ पतित लोगोंको छोड़कर बाकी चारों वर्णोंकी भिक्षा ग्रहण करे। पूर्वसे अनिश्चित केवल सात घरोंमें भिक्षा माँगे। उनसे जो कुछ मिल जाय उससे ही सन्तुष्ट रहे ॥ १८ ॥ बस्तीके बाहर जलाशयपर जा और वहाँ जल छिड़ककर स्थलशुद्धि करे और यदि कोई और आ जाय तो उसको भी देकर बचे हुए अन्नको चुपचाप खा ले। आगेके लिए बचाकर न रक्खे और न अधिक माँगकर संग्रह ही करे ॥ १९ ॥ आसक्तिरहित, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मप्रेमी, धीर तथा समदर्शी होकर पृथिवीपर अकेला ही विचरे ॥ २० ॥ मुनिका कर्तव्य है कि निर्जन तथा निर्भय देशमें रहे और मेरी भक्तिसे निर्मलचित्त होकर अपने आत्माको मुझसे सम्बद्ध समझे ॥ २१ ॥

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया । बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥२२॥
तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः । विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्ध्वाऽऽत्मनि सुखं महत् ।
पुरग्रामव्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् । पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥२४॥
वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् । संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा २५
नैतद् वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति । असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥२६॥
यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् । सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत् ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ।२८।
बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् । वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥२९॥
वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः । शुष्कवादविवादे न कञ्चित् पक्षं समाश्रयेत् ॥३०॥
नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु । अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥
देहमुद्दिश्य पशुवद् वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥ ३१ ॥
एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः । यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥३२॥
अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् । लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ।३३।
आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम् । तत्त्वं विमृश्यते तेन तद् विज्ञाय विमुच्यते ॥३४॥

ज्ञाननिष्ठाके द्वारा अपने आत्माके बन्धन तथा मोक्षको इस तरह विचारे कि इन्द्रियोंकी चञ्चलता ही बन्धन और उनका संयम ही मोक्ष होता है ॥ २२ ॥ अतएव मुनिको चाहिये कि छहों इन्द्रियों, मन एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंको जीत और सारी क्षुद्र कामनाओंको त्यागकर अपने अन्तःकरणमें परमानन्दका अनुभव करे और निरन्तर मेरी ही भावना करता हुआ स्वछन्दभावसे विचरे ॥ २३ ॥ केवल भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ तथा यात्रियोंके समुदायमें जाय और पुण्यदेश, नदी, पर्वत, वन तथा आश्रमादियुक्त भूखण्डमें विचरण करता रहे ॥ २४ ॥ उस समय भिक्षा भी विशेष करके वानप्रस्थियोंके स्थानोंसे ही ले । क्योंकि शिलोञ्छवृत्तिसे प्राप्त अन्नको खानेसे बहुत शीघ्र चित्त शुद्ध हो जाता है । इससे प्राणी निर्मोह हो जाता और उसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ २५ ॥ इस दृश्य प्रपञ्चको कभी वास्तविक न समझे । क्योंकि यह नष्ट हो जाता है । इसमें अनासक्त रहकर लौकिक तथा पारलौकिक सब कामनाओं अर्थात् काम्य कर्मोंसे विरक्त हो जाना चाहिए ॥ २६ ॥ आत्मा, मन, वाणी तथा प्राणका संघातरूप यह जगत् माया ही है—इस प्रकारके विचार द्वारा उसका बाध करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर कभी उसका स्मरण न करे ॥ २७ ॥ ज्ञाननिष्ठ, विरक्त अथवा किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न करनेवाला मेरा भक्त आश्रमादिको उनके चिह्नों सहित त्यागकर वेद-शास्त्रके विधि-निषेधरूप बन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्दरूपसे विचरे ॥२८॥ बुद्धिमान् होकर भी वह बालकोंकी भाँति खेले, निपुण होकर भी जडवत् बना रहे, विद्वान् होकर भी उन्मत्त (पागल) की तरह बातचीत करे और सब शास्त्रविधियोंको जानता हुआ भी पशुकी भाँति रहे ॥ २९ ॥ वह कर्मकाण्डके व्याख्यानादिस्वरूप वेदवादपर प्रेम न रक्खे, पाखण्डी तथा केवल तर्कपरायण न हो और जहाँ शुष्क वाद-विवाद हो रहा हो, वहाँ कोई भी पक्ष न ले ॥ ३० ॥ वह धीर पुरुष अन्य लोगोंसे न घबड़ाय और न औरोंको ही अपनेसे उद्विग्न होने दे । निन्दा आदि सहे । किसीका अपमान न करे और शरीरके लिये पशुओंकी भाँति किसीसे वैर न करे ॥ ३१ ॥ जैसे भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें एक ही चन्द्रमाके अनेक प्रतिबिम्ब दीखते हैं, उसी तरह सब प्राणियोंमें और अपनेमें भी एक ही परमात्माको विराजमान जाने तथा अपने ही कारणरूप पृथिवी आदिसे भिन्न समस्त देह भी एक ही समझे ॥ ३२ ॥ उस धीर पुरुषको कभी यदि भिक्षा न मिले तो दुःख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो । क्योंकि दोनों ही अवस्थाएँ दैवके अधीन है ॥३३ ॥ प्राणकी रक्षा करना आवश्यक है ।

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् । तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥
शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् । अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥३६॥
न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता । आदेहान्तात् क्वचित् ख्यातिस्ततः सम्पद्यते मया ॥
दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान् । अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत् ॥३८॥
तावत् परिचरेद् भक्तः श्रद्धावाननसूयकः । यावद् ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥३९॥
यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः । ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥४०॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा । अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥४१॥
भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः । गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥४२॥
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् । गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥४३॥
इति मां यः स्वधर्मेण भजन् नित्यमनन्यभाक् । सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम् ॥४४॥
भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम् । सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥४५॥
इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः । ज्ञानविज्ञानसंपन्नो नचिरात् समुपैति माम् ॥४६॥

इसलिए आहारमात्रके लिए उचित चेष्टा करे। क्योंकि प्राण रहेंगे तो तत्त्वचिन्तन होगा और आत्मस्वरूपका ज्ञान हो जानेसे मोक्ष मिल जायगा ॥३४॥ विरक्त मुनि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय, अच्छा हो या बुरा, वही खा ले। वस्त्र और बिछौना भी जैसे मिलें, उन्हींसे काम चला ले ॥३५॥ ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमोंको भी शास्त्रविधिके अधीन होकर न करे, बल्कि मुझ ईश्वरके समान केवल लीलापूर्वक करता जाय ॥३६॥ उसके लिये विकल्परूप प्रपञ्च नहीं रह जाता, वह तो मेरा साक्षात्कार होते ही नष्ट हो जाता है। प्रारब्धवश जबतक बाधित रूपमें ही उसकी कभी-कभी प्रतीति होती है, उसके पतन हो जानेपर तो वह मुझमें ही मिल जाता है ॥३७॥ यहाँ तक सिद्ध ज्ञानीके धर्म कहे गये। अब जिज्ञासुके कर्तव्य बतलाते हैं। जिस धीर पुरुषको अत्यन्त दुःखमय फल देनेवाली विषय-वासनाओंसे वैराग्य हो गया है और जिसे मेरे भागवत-धर्मोंका ज्ञान नहीं रह गया है, वह किस विरक्त मुनिको गुरु मानकर उनकी शरणमें जाय ॥ ३८ ॥ उन गुरुदेवको मेरा ही रूप जाने और वह अति आदरपूर्वक भक्ति तथा श्रद्धासे तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषामें संलग्न रहे, जबतक उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय। वह गुरुकी कभी किसीसे निन्दा न करे ॥३९॥ जिसने काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य तथा अहंकार—इन छः शत्रुओंको नहीं जीता, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथी अतिप्रचण्ड हो रहे हैं तथा जो ज्ञान और वैराग्यसे शून्य है, फिर भी संन्यासीके वेषसे पेट पालता है, वह यतिधर्मका घातक है और अपने यजनीय देवताओंको, अपनेको और अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझको धोखा देता है। जिसकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई रहतीं, वह मूढ़ इहलोक तथा परलोक दोनों ओरसे मार खाता है ॥४०॥४१॥ शान्ति तथा अहिंसा ये संन्यासीके प्रधान धर्म हैं। तप और ईश्वरचिन्तन वानप्रस्थके धर्म हैं। प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ गृहस्थके प्रधान धर्म हैं और गुरुसेवा ही ब्रह्मचारीका सर्वश्रेष्ठ धर्म है ॥ ४२ ॥ ऋतुकालमें स्त्रीगमन करनेवाले गृहस्थके लिए भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा भूतदया—ये आवश्यक धर्म कहे गये हैं और मेरी उपासना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म कहा जाता है ॥ ४३ ॥ इस तरह स्वधर्मपालनके द्वारा जो सब प्राणियोंमें मेरी भावना करता हुआ अनन्यभावसे मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ४४ ॥ हे उद्धव ! मेरी अनपायनी (अविनाशिनी) भक्तिके द्वारा वह सब लोकोंके स्वामी और सबके उत्पत्ति तथा लयस्थान एवं सबके कारणभूत मुझ परब्रह्मको पा लेता है ॥४५॥ इस तरह स्वधर्मपालनसे निर्मल अन्तःकरणका प्राणी जो मेरे ऐश्वर्यको जान गया है, वह विरक्त पुरुष ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर शीघ्र

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥४७॥
एतत्तेऽभिहितं साधो भवान् पृच्छति यच्च माम् । यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम्॥४८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धेऽष्टादशोऽध्यायः॥ १८ ॥

———

एकोनविंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसम्पन्न आत्मवान् नानुमानिकः । मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत्॥१॥
ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः । स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥२॥
ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम । ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्॥३॥
तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च । नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता॥४॥
तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव । ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥५॥
ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वाऽऽत्मानमात्मनि । सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥६॥

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो मायान्तराऽऽपतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्युराद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥७॥

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं तथैतद् वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥८॥

मुझे पा जाता है ॥ ४६ ॥ वर्णाश्रमियोंके लिए यह आचाररूपी धर्म कहा है । मेरी भक्तिसे युक्त होनेपर यही उनके परम निःश्रेयसका कारण बन जाता है ॥ ४७ ॥ हे साधो ! तुमने मुझसे जो पूछा सो सब मैंने तुमसे कह दिया कि किस प्रकार स्वधर्मका पालन करता हुआ भक्त मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ४८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायामष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

(भक्तिके साधन तथा यम-नियमादिका निरूपण) श्री भगवान कहते हैं—हे उद्धव ! जो केवल अपरोक्षानुभवरूप विद्या तथा शास्त्रसे सम्पन्न एवं आत्मज्ञानी है, केवल आनुमानिक अर्थात् परोक्षज्ञानवान ही नहीं है, वह यह जानकर कि यह सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च और इसकी निवृत्तिका साधनरूप वृत्तिज्ञान मायामात्र है, उन्हें मुझमें लीन कर दे ॥ १ ॥ ज्ञानका अभीष्ट पदार्थ, स्वर्थफल, उसका साधन तथा स्वर्ग-अपवर्ग ये सब कुछ मैं ही हूँ। उसको मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं हो सकता ॥ २ ॥ ज्ञान तथा विज्ञानसे परिपूर्ण सिद्ध पुरुष मेरे परम श्रेष्ठ पदको जानते हैं, इसलिये ज्ञानी मुझको सबसे अधिक प्रिय हैं। क्योंकि ज्ञानके द्वारा वह निरन्तर मुझको अपने अन्तःकरणमें धारण करता है ॥ ३ ॥ तत्त्वज्ञानके अंशमात्रसे जो सिद्धि प्राप्त होती है वह तप, तीर्थ, दान अथवा और किसी भी पवित्र साधनसे साध्य नहीं हो सकती ॥ ४ ॥ अतः हे उद्धव ! ज्ञान सहित अपने आत्मस्वरूपको जानकर तुम ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर भक्तिपूर्वक मेरी आराधना करो ॥ ५ ॥ ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने अन्तःकरणमें आत्मारूप मेरा यजन करके कितने ही मुनियोंने सिद्धरूपसे मुझ सर्वज्ञपतिको पा लिया है ॥ ६ ॥ हे उद्धव ! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन प्रकारके विकारोंका समष्टिरूप शरीर जो तुममें आश्रित है, वह आदि तथा अन्तमें न रहनेके कारण मायाके अन्तर्गत ही है। इसके जो जन्म आदि हैं, उनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध ? असत् वस्तुका तो आदि और अन्त भी असत् ही होता है, वैसा ही मध्य भी हुआ करता है ॥ ७ ॥ उद्धवजी कहने लगे—हे विश्वमूर्ते ! जैसे वैराग्य और विज्ञानसे युक्त यह सनातन तथा विशुद्ध ज्ञान सुदृढ़ हो जाय, वैसे ही स्पष्ट करके

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रिद्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥९॥
दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन् कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयाऽऽपवर्ग्यैर्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥१०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत् पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् । अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥११॥
निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः । श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥१२॥
तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान् । ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥१३॥
नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै । ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥१४॥
एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् । स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥१५॥
आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात् । पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥१६॥
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् । प्रमाणेष्वनवस्थानाद् विकल्पात् स विरज्यते ॥१७॥
कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् । विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥१८॥
भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥१९॥
श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥२०॥

मुझे समझाइये तथा ब्रह्मादिक महापुरुष सदा जिसकी खोज करते हैं, उस अपने भक्तियोगका वर्णन करिए ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! इस घोर संसार-मार्गमें तापत्रयसे पीड़ित तथा सन्ताप देनेवाले व्यक्तिके लिये आपके अमृतवर्षी चरणयुगलरूप छत्रके सिवाय मुझे कोई और आश्रय दिखायी नहीं देता ॥ ९ ॥ हे महानुभाव ! इस संसाररूपी अन्धकूपमें पड़कर काल-व्यालसे ग्रसित होकर भी क्षुद्र विषय-सुखकी तीव्र आशासे व्याकुल इस अपने दासका कृपा करके आप उद्धार करिए और अपने मोक्षप्रद वचनामृतसे इसको शान्त कीजिये ॥ १० ॥ भगवानने कहा—हे उद्धव ! अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने पूर्वसमयमें हम सब लोगोंके सामने ही यह प्रश्न इसी प्रकार धार्मिकश्रेष्ठ भीष्मपितामहसे पूछा था ॥ ११ ॥ जब महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया, तब अपने बन्धुओंके विनाशसे व्याकुल महाराज युधिष्ठिरने बहुतसे धर्मोंको सुननेके बाद उन भीष्मजीसे मोक्षधर्मोंको पूछा ॥ १२ ॥ देवव्रत भीष्मजीके मुखसे सुने हुए उन्हीं ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा तथा भक्तिसे युक्त मोक्ष-धर्मोंको मैं तुम्हें सुनाऊँगा ॥ १३ ॥ जिससे समस्त प्राणियोंमें (पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्च-तन्मात्रारूप) नौ मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच भूत तथा तीन गुण-इन अट्ठाईस तत्त्वों तथा उनमें अधिष्ठानरूपसे अनुगत एक आत्मतत्त्वका भी साक्षात्कार कर लेते हैं, यही मेरा निश्चित ज्ञान है ॥ १४ ॥ फिर जब कि उस एक ही आत्मतत्त्वके निरन्तर अपरोक्षानुभवसे अन्य त्रिगुणात्मक भावोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय आदि दिखलायी न दें तो यही विज्ञान कहालाता है ॥ १५ ॥ जो महत्तत्त्वादि कार्योंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयमें उनके कारण और अधिष्ठानरूपसे एक कार्यसे दूसरे कार्यके अन्तर्गत अनुस्यूत हैं और उन सबका लय हो जानेपर जो बच रहता है, वही सत् अर्थात् ब्रह्म कहलाता है ॥ १६ ॥ शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा ऐतिह्य और महाजनप्रसिद्धि इन चारों प्रमाणोंमें व्यतिक्रम होनेके कारण विज्ञानी पुरुष इस विकल्परूपी संसारसे सर्वथा विरक्त हो जाता है ॥ १७ ॥ कर्म परिणामशील हैं और उनसे प्राप्य ब्रह्मलोक तक जितने भी लोक हैं, वे सब विकार-वान् होनेसे अमङ्गलरूप ही रहते हैं । अतः विचारवान्को चाहिए कि इस लोकके समान परलोकको भी नाशवान् समझे ॥ १८ ॥ हे अनघ ! मैंने पहले ही भक्तियोगका तुमसे वर्णन कर दिया था, परन्तु उस ओर तुम्हारी प्रीति स्वयं बढ़ी हुई है । इस लिये अब मैं तुम्हें अपनी भक्तिके सरल साधन फिरसे बतला रहा हूँ ॥ १९ ॥ मेरी कथाओंमें श्रद्धा रखना, सदा मेरा नाम-सङ्कीर्तन करना, मेरी

आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥२१॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥२२॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥२३॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् । धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥२५॥
यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति । रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥२६॥
धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् । गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः॥२७॥

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन । कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो॥
किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते । कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा २९
पुंसः किंस्विद् बलं श्रीमन् भगो लाभश्च केशव । का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च३०
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः । कः स्वर्गो नरकः कः स्वित् को बन्धुरुत किं गृहम्॥
क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः । एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते॥३२॥

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः । आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ३३

पूजामें तत्पर रहना, स्तुति करना, मेरी सेवामें प्रेम रखना, सब अङ्गसे मुझे प्रणाम करना, मेरे भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा करते रहना, सब प्राणियोंमें मुझको देखना, मेरे ही लिये सब अङ्गोंकी चेष्टा करना, वाणी द्वारा मेरे ही गुण गाना, मुझहीमें मन लगाना, सब कामनाओंको त्याग देना, मेरे लिये धन, भोग और सुखको त्याग देना तथा जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत तथा तप किया जाय, उसे मेरे लिए ही करना—हे उद्धव ! इन्हीं धर्मोंका पालन करते हुए आत्मसमर्पण करनेवाले लोगोंके हृदयमें मेरी भक्ति उत्पन्न होती है, तब फिर भला उनको और किस पदार्थकी इच्छा रह सकती है ? ॥ २०-२१-२२-२३-२४ ॥ इस तरह जबतक सत्त्वगुणके उद्रेकसे शान्त चित्त आत्मामें लगाया जाता तो धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य अपने आप आ जाया करते हैं ॥ २५ ॥ यदि वही चित्त विकल्परूपी संसारमें लगा दिया जाता तो वह इन्द्रियोंके साथ उसीमें दौड़ता रहता है । इस प्रकार रजोगुणप्रधान तथा मिथ्या पदार्थोंमें प्रीति रखनेवाले चित्तको ही विपर्यय अर्थात् अधर्मादिकी प्राप्तिका हेतु जानना चाहिये ॥ २६ ॥ जिस किसी भी कार्यसे मेरी भक्ति होती हो, वही धर्म है । एकात्म्य-दर्शन ही ज्ञान है, गुण-रूप विषयोंमें आसक्त न होना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य मानी गयी हैं ॥ २७ ॥ श्रीउद्धवजी कहने लगे—हे अरिकर्शन ! यम कितनी तरहके होते हैं ? नियम कौन-कौन हैं ? हे कृष्ण ! हे विभो ! शम क्या वस्तु है ? दम क्या है ? तितिक्षा क्या है और धैर्य किसे कहते हैं ? ॥ २८ ॥ दान, तप और शूर-वीरता किसे कहते हैं ? सत्य तथा ऋत क्या है ? त्याग, इष्ट, धन तथा यज्ञ और दक्षिणाका क्या स्वरूप है ॥ २९ ॥ हे श्रीमन् ! पुरुषका बल क्या वस्तु है ? हे केशव ! भग अर्थात् कल्याण तथा परम लाभ किसे कहते हैं ? उत्तम लज्जा तथा उत्तम श्री क्या है ? सुख और दुःख किसे कहते हैं ? ॥ ३० ॥ पण्डित और मूर्ख किसे कहते हैं ? सुमार्ग और कुमार्ग क्या वस्तु है ? स्वर्ग क्या है ? नरक क्या है ? बन्धु और घर किसे कहते हैं ? ॥ ३१ ॥ धनवान कौन है ? निर्धन कौन है ? कृपण किसको कहते हैं ? ईश्वर कौन है ? हे सत्पुरुषोंके स्वामी ! मेरे इन प्रश्नों और इनके विपरीत अशुभ आदिकी भी व्याख्या करके आप हमको बताइये ॥ ३२ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे उद्धव ! अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंगता, ह्री अर्थात् लज्जा असञ्चय यानी आवश्यकतासे ज्यादा धन आदि

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् । तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः । पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥३५॥
शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः । तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ।३६।
दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् । स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥३७॥
ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता । कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥३८॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः । दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ।३६।
भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः । विद्याऽऽत्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ४०
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः । दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ४१
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः । उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥४२॥
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे । गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ।४३।
दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः । गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ॥४४॥
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः । किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १६ ॥

न जुटाना, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा, अभय, शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, मेरा पूजन, तीर्थ-भ्रमण, परोपकारकी सतत चेष्टा, सन्तोष तथा गुरुसेवा—ये बारह-बारह यम और नियम बताये गये हैं। हे तात ! ये यम और नियम अपना पालन करनेवाले प्राणीकी सब इच्छित कामनाएँ पूर्ण कर दिया करते हैं ॥ ३३–३५ ॥ प्राणीकी बुद्धिका मुझमें लग जाना शम, इन्द्रियके दमनको दम तथा दुःख सहनेका नाम तितिक्षा है। जिह्वा और उपस्थेन्द्रियका वेग रोकना ही धैर्य कहलाता है ॥ ३६ ॥ सब प्राणियोंसे द्रोहका त्यागना ही परम दान है। कामनाओं अर्थात् भोगोंका त्यागना ही परम तप है। सब वासनामयी चित्तवृत्तियोंको अपने वशीभूत करना ही शूरवीरता और सर्वत्र समदर्शन ही परम सत्य कहलाता है ॥ ३७ ॥ सत्य तथा मधुर वाणी ही विद्वान् लोगों द्वारा ऋत कहाती है। सब कर्मोंमें आसक्ति रखना ही शौच है और कर्मोंका त्याग ही संन्यास कहाता है ॥ ३८ ॥ एकमात्र कर्म ही मनुष्योंका इष्ट धन होता है। परम ऐश्वर्यसम्पन्नोंमें श्रेष्ठ मैं यज्ञपुरुष ही यज्ञ हूँ। ज्ञानोपदेश ही वास्तविक दक्षिणा और प्राणायाम ही परम बल माना जाता है ॥ ३६ ॥ मेरा भग ऐश्वर्य है। मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त होना ही परम लाभ है। आत्मा और परमात्मामें भेद-बुद्धिका अभाव ही विद्या और दुष्कर्मोंसे सदा दूर रहना ही लज्जा कहाती है ॥ ४० ॥ निरपेक्षता आदि गुणोंको श्री कहते हैं। सुख-दुःखसे परे पहुँच जाना ही परम सुख है। विषय-सुखकी अपेक्षा ही दुःख है। जो बन्धन और मोक्षका भेद जानता है, वास्तवमें वही पण्डित है ॥ ४१ ॥ देह आदिमें अहंबुद्धि रखनेवाला ही मूर्ख माना जाता है। मुझे प्राप्त करानेवाला मार्ग ही वास्तविक मार्ग है। चित्तमें विक्षेप उत्पन्न करनेवाला मार्ग कुमार्ग है और सत्त्वगुणका उदय होना ही स्वर्ग कहाता है ॥ ४२ ॥ तमोगुणकी वृद्धि ही नरक है। हे मित्र ! सबका गुरुरूप मैं ही बन्धु हूँ। मनुष्यका यह शरीर ही घर है और गुणी ही सच्चा धनवान् है ॥ ४३ ॥ असन्तुष्ट ही निर्धन होता है। अजितेन्द्रिय ही कृपण अर्थात् दीन है। विषयोंमें अनासक्त प्राणी ही ईश्वर अर्थात् स्वाधीन है। इसके विपरीत विषयी पुरुष ही अनीश्वर अर्थात् पराधीन रहता है ॥ ४४ ॥ हे उद्धव ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे सब प्रश्नोंका भलीभाँति निरूपण कर दिया। गुण-दोषके लक्षणोंका इससे अधिक विवेचन क्या किया जाय ? बस, इतनेहीमें समझ लो कि गुण-दोषका देखना ही दोष और इन दोनोंका न देखना ही सर्वश्रेष्ठ गुण है ॥ ४५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

विंशतितमोऽध्यायः

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते । अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥१॥
वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् । द्रव्यदेशवयःकालान् स्वर्गं नरकमेव च ॥२॥
गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव । निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥३॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर । श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥४॥
गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते न हि स्वतः । निगमेनापवादश्च भिदाया इति ह भ्रमः ॥५॥

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ६
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु । तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ७।
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ८
तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥९॥
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव । न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥१०॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ।११।
स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा । साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥१२॥

(ज्ञान, कर्म और भक्तियोगका निरूपण) उद्धवजी कहने लगे—हे कमलनयन ! आपकी आज्ञारूपिणी श्रुति भी विधि-निषेधात्मक होनेके कारण कर्मोंके गुण तथा दोष दोनोंको देखती है ॥ १ ॥ वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोमज अर्थात् किसी नीच जातिके पुरुषसे उच्च जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न सन्तति और अनुलोमज अर्थात् किसी उच्च जातिके पुरुष द्वारा नीच जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न सन्तति तथा द्रव्य, देश, अवस्था, काल, स्वर्ग तथा नरकका भी विचार करना ही पड़ता है ॥ २ ॥ आपका विधि-निषेधात्मक वाक्यरूप वेद भी तो बिना गुणदोषमयी भेददृष्टिके मनुष्योंका कल्याण कैसे कर सकता है ? ॥ ३ ॥ हे ईश्वर ! अदृष्ट स्वर्ग-अपवर्ग आदि तथा साध्य-साधनके विषयमें आपका वाक्यरूप वेद ही पितर, देवता तथा मनुष्योंका श्रेष्ठ नेत्र है ॥ ४ ॥ हे स्वामिन् ! गुण-दोषमयी यह भेददृष्टि भी तो आपकी आज्ञारूपिणी श्रुतिसे ही मिलती है, स्वतःसिद्ध नहीं है । फिर भी श्रुतिसे ही भेददृष्टिका बाध भी होता है । अतएव मुझको भ्रम हो रहा है । कृपया मेरा संशय निवृत्त करिए ॥ ५ ॥ श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! सब मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये ही मैंने ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोगरूपी तीन योग कहे हैं । मोक्ष-प्राप्तिका और कोई उपाय कहीं भी नहीं कहा है ॥ ६ ॥ सभी कर्मोंसे विरक्त हो उनको त्याग देनेवाले पुरुषोंके लिये ज्ञानयोग कहा है। जिन लोगोंको उनमें वैराग्य नहीं है, उन सकाम पुरुषोंके लिये कर्मयोग बताया गया है ॥ ७ ॥ सौभाग्यवश जिसे मेरी कथाके श्रवण आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, जो न तो अति आसक्त ही है, इसलिये भक्तियोग ही सिद्धिदायक है ॥ ८ ॥ जबतक कर्मोंसे वैराग्य न हो और मेरी कथा आदि-के श्रवण-कथनमें श्रद्धा न हो, तबतक कर्मोंको करता जाय ॥ ९ ॥ हे उद्धव ! जो कोई भी पुरुष स्वधर्मपालनपूर्वक कर्मफलकी आशा त्यागकर यज्ञादि कर्म करता जाता है, वह यदि कोई काम्य और निषिद्ध कर्म न करे तो वह न स्वर्गको जाता और न नरकमें ही गिरता है ॥ १० ॥ स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाला वह पुरुष निष्पाप तथा पवित्र होकर इसी लोक अर्थात् मानवदेहमें रहते हुए ही अपने प्रारब्धानुसार या तो विशुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता या मेरी भक्ति ही पा लेता है ॥ ११ ॥ स्वर्ग-वासी देवता तथा नारकी जीव ये दोनों ही मनुष्य-देह पानेकी इच्छा करते हैं । क्योंकि मानव देह ही ज्ञान तथा भक्तिके द्वारा मेरी प्राप्तिका साधक है और वे दोनों स्वर्गीय तथा नारकी देह मेरी

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः । नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति ॥ १३॥
एतद् विद्वान् पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः । अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥ १४॥
छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् । खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥ १५॥
अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वाऽऽयुर्भयवेपथुः । मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥ १६॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥ १७॥

यदाऽऽरम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः । अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥ १८॥
धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् । अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥ १९॥
मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः । सत्त्वसंपन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥ २०॥
एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः । हृदयज्ञत्वमन्विच्छन् दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥ २१॥
सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः । भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत् प्रसीदति ॥ २२॥
निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः । मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया २३
यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिकया च विद्यया । ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥ २४॥

प्राप्तिके साधक नहीं हो पाते ॥ १२ ॥ अतएव विवेकशील पुरुषको चाहिये कि वह न तो स्वर्गीय गति चाहे, न नारकी गति और न इस मनुष्यशरीरको ही पुनः पानेकी इच्छा करे । क्योंकि इस देहमें आस्था हो जानेसे मनुष्य प्रमाद करने लग जाता है ॥ १३ ॥ शरीर त्यागके पहले ही सावधानतापूर्वक यह जान ले कि मनुष्यदेह नाशवान होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधक है । अतएव इस देहसे अविनाशी मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही चेष्टा करे ॥ १४ ॥ जिस वृक्षमें घोंसला बना हुआ है, ऐसे निज निवास-स्थानस्वरूप इस देहरूपी वृक्षको यमदूतों द्वारा सर्वदा काटे जाते देखकर इसमें रहनेवाला जीवरूपी पक्षी इसे अनासक्तभावसे छोड़कर सानन्द उड़ जाता है ॥ १५ ॥ दिन और रात बराबर हमारी आयुको काटते चल रहे हैं—यह तत्त्व जानकर जो पुरुष भयसे काँपता रहता है, वह प्राणी अपने परम आत्मस्वरूपको जान लेनेपर इसमें आसक्त न हो तथा इसकी रक्षामें चेष्टाहीन होकर शान्त हो जाया करता है ॥ १६ ॥ यह मनुष्यदेह आद्य अर्थात् सभी शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदि-कारण है और सुकर्मियोंको भी अति दुर्लभ है । यह संसार-सागरसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौका-स्वरूप है, गुरु ही इसके कर्णधार हैं और अनुकूल वायुरूप मेरे द्वारा ही प्रेरित होकर यह नौका पार जा लगती है । इस शरीरको पाकर भी जो पुरुष संसार-समुद्रको पार नहीं करता, उसे आत्मघाती ही कहना चाहिए ॥ १७ ॥ जब योगी कर्मकी प्रवृत्तिसे उदासीन तथा विरक्त हो जाय, तब इन्द्रियोंका संयमकर आत्मचिन्तनका अभ्यास करके अपना चित्त स्थिर करे ॥ १८ ॥ चित्त स्थिर करते समय जब मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लग जाय तो सावधानीसे उसकी इच्छाको कुछ-कुछ पूर्ण करते हुए युक्तिसे अपने वशमें कर ले ॥ १९ ॥ मनकी स्वच्छन्द गतिको कभी भी खुली न छोड़े, बल्कि प्राण तथा इन्द्रियोंको जीतकर सात्त्विक बुद्धिसे उसे अपने अधीन करे ॥ २० ॥ जैसे वशमें करने योग्य घोड़ेको अपने मनोभावका ज्ञाता बनानेका इच्छुक सवार उसे बार-बार फुसलाकर अपने वशमें कर लेता है, वैसे ही अनुरोधपूर्वक मनका निग्रह भी परम योग माना जाता है ॥ २१ ॥ सांख्यविधिके अनुसार सब पदार्थोंके उद्भव तथा प्रलयका अनुलोम-क्रमसे तबतक चिन्तन करता जाय, जबतक मन एकदम शान्त न हो जाय ॥ २२ ॥ इस तरह गुरुके बतलाये आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेनेवाले उदासीन तथा विरक्त पुरुषका चित्त पूर्वोक्त चिन्तित आत्मतत्त्वका ही बार-बार चिन्तन करते रहनेसे अपने दौरात्म्यको त्याग देता है ॥ २३ ॥ पूर्वकथित यम आदि योग-साधनों और आन्वीक्षिकी अर्थात् ब्रह्मविचारसे सम्बन्ध रखनेवाली विद्या तथा मेरी प्रतिमाकी उपासनासे मन

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् । योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥२५॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा सगुणः परिकीर्तितः । कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥ २६ ॥
जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु । वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः २७
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः । जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् २८
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः । कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते।२९।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्तेचास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि३०
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥३१॥
यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥३२॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा । स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।।३३॥
न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम । वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥३४॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् । तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥३५॥
न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः । साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥३६॥
एवमेतान् मयाऽऽदिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः । क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद् ब्रह्म परमं विदुः ।३७।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे विंशतिमोऽध्यायः॥२०॥

———

परमात्माका स्मरण करने लगता है ॥ २४ ॥ कदाचित् प्रमादवश योगीसे कोई निन्दनीय कर्म हो जाय तो उस पापका योगसे ही प्रायश्चित्त करे, उसके लिये किसी अन्य साधनका अवलम्बन करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २५ ॥ अपने-अपने अधिकारमें निष्ठा रखना ही गुण है । वेदमें गुण-दोषका विधान करके जन्मतः अशुद्ध अर्थात् असत्प्रवृत्तिके कारण होनेवाले पापकर्मोंके त्यागका नियम उनकी आसक्तिको छुड़ानेकी इच्छासे ही किया गया है ॥ २६ ॥ जिस प्राणीको मेरी कथाओंमें श्रद्धा है तथा अन्य कर्मोंसे वैराग्य है, वह यद्यपि सब कामनाओंको दुःखरूप समझता है तो भी उन्हें छोड़नेमें समर्थ नहीं होता । ऐसी दशामें उसका कर्तव्य हो जाता है कि उन कर्मोंको परिणाममें दुःखदायी जानकर उनकी निन्दा करते हुए भी सर्वदा उनका अनुष्ठान करे और श्रद्धासम्पन्न तथा दृढ़निश्चयी होकर वह प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करता जाय ॥ २७ ॥ २८ ॥ पूर्वोक्त भक्तियोगसे मेरा निरन्तर भजन करनेवाले मुनिके हृदयमें मेरे स्थित होनेपर उसकी सब मानसिक वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं ॥ २९ ॥ मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार हो जानेपर, उसकी हृदय-ग्रन्थि खुल जाती और सब संशय निवृत्त हो जाते हैं ॥ ३० ॥ मेरी भक्तिसे युक्त तथा मत्परायण योगीके लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायः श्रेयःसाधक नहीं हुआ करते ॥ ३१ ॥ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा अन्यान्य श्रेयःसाधनों द्वारा स्वर्ग, अपवर्ग अथवा मेरा परमधाम आदि जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब यदि चाहे तो मेरा भक्त मेरी भक्तिके ही द्वारा अनायास प्राप्त कर ले सकता है ॥ ३२ ॥ ३३॥ मुझमें अनन्य प्रेम रखनेवाले धीर तथा साधु भक्त मेरे देनेपर भी कैवल्य अथवा अपुनर्भव मोक्ष आदि किसी भी पदकी कामना नहीं करते ॥ ३४ ॥ निरपेक्षताको ही उत्कृष्ट एवं महान् निःश्रेयस कहा गया है । अतएव निष्काम तथा निरपेक्ष पुरुषको मेरी भक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ३५ ॥ मेरे भक्तोंको तथा बुद्धिसे अतीत परम तत्त्वको प्राप्त समदर्शी महात्माओंको गुण-दोष दृष्टिसे उत्पन्न विकार नहीं होते ॥ ३६ ॥ जो मेरे बतलाये उपायोंका अवलम्बन करते हैं, वे मेरे क्षेममय धामको प्राप्त होते और परब्रह्मको भी जान लेते हैं ॥ ३७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्। क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥१॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः। विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥२॥
शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु। द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥३॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ। दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥४॥
भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्च धातवः। आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥५॥
वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि। धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥६॥
देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम। गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥७॥
अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत्। कृष्णसारोऽप्यसौवीरकीकटासंस्कृतेरिणम् ॥८॥
कर्मण्यो गुणवान् कालो द्रव्यतः स्वत एव वा। यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥९॥
द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च। संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा ॥१०॥
शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने। अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः ॥११॥
धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम्। कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥१२॥

(द्रव्य तथा देश-कालादिके दोषोंकी विवेचना) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव! मेरी प्राप्तिके भक्ति, ज्ञान तथा कर्मरूपी तीनों ही मार्गोंको छोड़कर जो लोग अपनी अस्थिर इन्द्रियोंसे क्षुद्र विषय-भोगोंको भोगते हैं। वे पुनः-पुनः आवागमनके चक्रमें पड़ते रहते हैं॥ १॥ अपने-अपने अधिकारमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहना ही गुण और अनधिकार चेष्टा करना ही दोष है। गुण तथा दोषका यही विवेचन है॥ २॥ हे अनघ! सब वस्तुओंके एक तरह होनेपर भी द्रव्य अर्थात् उपयोगमें लायी जानेवाली वस्तुकी विचिकित्साके लिये शुद्धि-अशुद्धि गुण-दोष तथा शुभ-अशुभका विधान किया गया है। इनमें धर्मके लिये शुद्धि-अशुद्धिका, व्यवहारके लिये गुण-दोषका तथा यात्राके लिये शुभ-अशुभका विचार कहा गया है। इस तरह केवल धर्मका भार ढोनेवाले लोगोंके लिये ही मैंने मनु आदि रूपसे आचारका मार्ग दिखलाया है॥ ३-४॥ पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश—ये पञ्चभूत ही ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्यन्त सब प्राणियोंके शरीरोंके आरम्भक अर्थात् उपादान कारण हैं, वे सब मुक्त आत्मासे युक्त हैं॥ ५॥ हे उद्धव! इन सब शरीरोंके धातु समान हैं। फिर भी इन शरीरोंके स्वार्थ यानी धर्माधर्मरूप पुरुषार्थकी सिद्धिके निमित्त वेदने इनके भिन्न-भिन्न नाम तथा रूपोंकी कल्पना की है॥ ६॥ हे साधुशिरोमणि उद्धव! कर्मोंको संकुचित करनेके लिये ही मैंने देश-कालादि भाव तथा वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान किया है॥ ७॥ सब देशोंमें जो देश कृष्णसार मृग तथा ब्राह्मण-भक्त पुरुषोंसे रहित हो, वह अपवित्र माना जाता है। कृष्णसार मृगके रहनेपर भी सौराष्ट्र तथा कीकट अर्थात् मगध-अङ्ग-बङ्ग-कलिङ्गादि देश अपवित्र माने गये हैं। असंस्कृत अथवा ऊसर भूमि भी अपवित्र मानी जाती है॥ ८॥ द्रव्य-संयोगसे अथवा स्वयमेव जिस कालमें कर्म हो सकते हों, वही शुद्ध है और जिसमें कर्म न हो सकते हों, कर्मके अयोग्य होनेके कारण वही काल अशुद्ध होता है॥ ९॥ सभी पदार्थोंकी शुद्धि तथा अशुद्धि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व तथा अल्पत्वसे ही होती है॥१०॥ इसी तरह अपनी-अपनी शक्ति, अशक्ति, बुद्धि तथा वैभवके अनुसार भी आत्माके लिये जो पापकी प्राप्ति होती है, वह भी देश और कालके अनुसार होती है॥११॥ धान्य, काष्ठ, अस्थि अर्थात् हड्डी-हाथीदाँत आदि, सूत, रस अर्थात् मधुर-लवणादि, तैजस यानी सुवर्ण और पारा आदि चर्म और घटादि सब पार्थिव पदार्थोंकी शुद्धि काल, वायु अग्नि, मृत्तिका तथा जलसे होती है। देश, काल तथा अवस्थाके अनुसार कहीं इनसे मिलाकर और कहीं अलग-अलग दोनों प्रकारसे

अमेध्यलिप्तं यद् येन गन्धं लेपं व्यपोहति । भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥१३॥
स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः । मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद्द्विजः ॥१४॥
मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् । धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥१५॥
क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद् दोषोऽपि विधिना गुणः । गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥१६॥
समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् । औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥१७॥
यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः । एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥१८॥
विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् । सङ्गात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥१९॥
कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते । तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥२०॥
तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते । ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥२१॥
विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम् । वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥२२॥
फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् । श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥२३॥
उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च । आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥२४॥
न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि । कथं युञ्ज्यात् पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥२५॥

शुद्धि होती है ॥१२॥ किसी वस्तुमें यदि कोई अशुद्ध पदार्थ लग गया हो तो छीलनेसे अथवा मृत्तिका आदि मलनेसे जब उस पदार्थमें गन्ध और लेप न रहे तथा वह वस्तु अपने पूर्वरूपमें आजाय तो उसको शुद्ध जानना चाहिये ॥ १३ ॥ स्नान, दान, जप, अवस्था, पराक्रम, संस्कार, कर्म तथा मेरे स्मरणसे चित्त शुद्ध हो जाता है। इस तरह शुद्ध होकर द्विजमात्रको विहित कर्म करते रहना चाहिए ॥ १४ ॥ गुरुके मुखसे सुनकर भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेसे मन्त्र और मुझे अर्पण कर देनेसे कर्मकी शुद्धि हो जावा करती है। इसी तरह देश, काल, पदार्थ, कर्त्ता, मन्त्र और कर्म – इन छःके शुद्ध हो जानेसे धर्म और अशुद्ध हो जानेसे अधर्म होता है ॥ १५ ॥ कहीं-कहीं गुण भी दोष हो जाता है। अतएव देश, काल तथा जाति आदिका विचार करते हुए जो एक ही वस्तुमें गुण-दोषका नियम कहा गया है, वह अपने अंशमें सामान्य शास्त्र द्वारा प्राप्त गुण-दोष-विभागका बाधक हो जाता है ॥ १६ ॥ इसलिये अपनी जातिके अनुरूप कर्मस्वरूपसे संतोष होनेपर भी उसका आचरण करना पतितों अर्थात् अन्त्यजोंके लिये पाप-जनक नहीं होता। क्योंकि जो जातिसे कर्मोंका सम्बन्ध विहित है, वह उसके लिये दोषकी बात नहीं है। यानी उससे उसका पतन वैसे ही नहीं होता, जैसे पृथिवीपर सोया हुआ मनुष्य नीचे नहीं गिर सकता ॥ १७ ॥ जिस-जिस प्रवृत्तिसे मनुष्यका चित्त उपरत होता जाता, उसी-उसी ओरसे उसका बन्धन टूटता जाता है। यह निवृत्ति ही मनुष्यके लिये शोक, मोह तथा भयहारी और कल्याणमय धर्म है ॥ १८ ॥ जब विषयोंमें मनुष्य गुण-बुद्धि करने लग जाता है तो उससे उनमें आसक्ति हो जाती है। इस आसक्तसे उनमें कामना होती और कामनासे उसमें बाधा उपस्थित होनेपर कलह बढ़ता है ॥ १९ ॥ कलहसे दुःसह क्रोध होता और अज्ञान उस क्रोधका अनुगमन करता तथा अज्ञानसे शीघ्र मनुष्यकी व्यापक स्मरण-शक्ति आवृत हो जाया करती है ॥ २० ॥ हे साधु उद्धव ! स्मरणशक्तिसे हीन पुरुष शून्यवत् हो जाता है। फिर मृत तथा मूर्च्छितकी भाँति संज्ञाहीन हो जानेसे उसका स्वार्थ भी भ्रष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥ इस तरह धौंकनीके समान श्वास लेता हुआ वह वृक्षके समान व्यर्थ जीता है और विषयलम्पटताके कारण आत्मा तथा परमात्मा किसीको भी नहीं जानता ॥ २२ ॥ वेदकी फलश्रुतियाँ पुरुषके परम पुरुषार्थकी प्रतिपादक नहीं हो सकतीं। वे केवल सकाम और विषयी पुरुषोंको श्रेयकी ओर प्रवृत्त करनेके लिए वैसे ही प्ररोचनामात्र हैं जैसे कड़वी दवा पिलानेके लिये लोग बच्चेको फुसलाते हैं ॥ २३ ॥ आत्माके लिए अनर्थस्वरूप कामनाओं, प्राणों तथा कुटुम्बियोंमें मनुष्य जन्मसे ही आसक्त हो जाते हैं। इस तरह वे अपने सच्चे स्वार्थको न जानकर जन्म-मरणरूपी संसारमार्गमें भटकते हैं। घोर

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः । फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥२६॥
कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः । अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते २७
न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः । उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥२८॥
ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः । हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना २९
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया । यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ॥३०॥
स्वप्नोपममसुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् । आशिषो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्थान् यथा वणिक् ३१
रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः । उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम् ३२।
इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि । तस्यान्त इह भूयास्म महाशाला महाकुलाः ।३३।
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् । मानिनां चातिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ।३४।
वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे । परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम् ॥३५॥
शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् । अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥३६॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना । भूतेषु घोषरूपेण बिसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥३७॥

अन्धकारमें पड़े हुए उन दीन पुरुषोंको कोई विज्ञ फिर क्यों उसीमें प्रवृत्त करेगा ? ॥ २४ ॥ २५ ॥ वेदके इस अभिप्रायको न समझकर कोई-कोई बुद्धिहीन पुरुष कर्मासक्तिके कारण कुसुमस्थानीय फलश्रुतियोंको ही परमफल मान लेते हैं। लेकिन वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वेदके मर्मज्ञ ऐसा नहीं करते ॥ २६ ॥ वे कामासक्त, कृपण तथा लोभीजन पुष्पों अर्थात् स्वर्गादिको ही फल मान बैठते और अग्निसे साध्य यज्ञादि कर्मोंमें ही मुग्धकी भाँति लगे रहकर अन्तमें धूममार्गसे जाते और अपने निजधाम अर्थात् निर्वाणपदको प्राप्त नहीं हो पाते ॥ २७ ॥ हे उद्धव ! कर्मशास्त्रवाले प्राणपोषक पुरुष अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझे नहीं देख पाते, जिससे कि सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। जैसे जिनकी आँखोंमें धुन्ध छा जाती है, वे अपने पासके पदार्थोंको भी नहीं देख पाते ॥ २८ ॥ वे विषयी मेरे गूढ़ अभिप्रायको नहीं जानते कि वेदोंमें हिंसाकी प्रेरणा नहीं की गयी है। यदि किसीकी हिंसामें विशेष प्रवृत्ति हो तो वह यज्ञमें केवल पशु-आलभन भर करे, हिंसा न करे-ऐसा नियम कहा गया है। हिंसामें रत वे दुष्ट अपने सुखकी इच्छासे पशुओंकी बलि देकर देवता, पितर तथा भूत-पतियोंका यज्ञों द्वारा यजन करते हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥ वे लोग स्वप्नकी भाँति असत्य तथा सुननेमें प्रिय लगनेवाले स्वर्गादि परलोक और उसके भोगोंके लिये मन-ही-मन विविध संकल्प करके अधिक लाभकी आशासे मूलधनको भी खो देनेवाले व्यापारीके समान इस लोकमें व्यर्थ अपने धनका नाश किया करते हैं ॥ ३१ ॥ रज, सत्त्व, तम-इन तीनों गुणोंमें लीन लोग अपने अनुरूप रज, सत्त्व तथा तमोगुणका सेवन करनेवाले इन्द्रादिक देवताओंकी ही उपासना करते है। वे मुझ गुणातीतकी उपासना कभी नहीं करते ॥ ३२ ॥ यहाँ यज्ञों द्वारा देवताओंका यजन करके हम स्वर्ग-लोकमें जाकर आनन्द भोगेंगे और फिर उसके बाद इस लोकमें उच्च कुलमें जन्म लेकर बड़े भारी कुटुम्बी होंगे-इस भाँति चित्र-विचित्र वाक्योंसे जिनका चित्त चञ्चल हो रहा हो उन अभिमानी तथा अत्यन्त उद्दण्ड पुरुषोंको मेरी बात अच्छी नहीं लगती। वेदोंके कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीन काण्ड हैं। वे ब्रह्म तथा आत्माकी एकता सिद्ध करते हैं। किन्तु मन्त्रदर्शी ऋषि परोक्षवादी हैं अर्थात् वे विषयको स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहते और मुझे भी परोक्षकथन ही प्रिय है। क्योंकि इससे कोई गूढ़ वस्तु अनधिकारी लोगोंको नहीं मिलती ॥ ३३-३५ ॥ पूर्वोक्त शब्द-ब्रह्म अत्यन्त दुर्बोध हैं। वह प्राणमय (अर्थात् परा) मनोमय (यानी पश्यन्ती) और इन्द्रियमय (यानी मध्यमा) तीन प्रकारका है। वह समुद्रके समान अनन्त, गम्भीर और कठिनतासे पार किये जाने योग्य है ॥ ३६ ॥ मुझ अनन्तशक्ति तथा व्यापक ब्रह्मने ही उसका विस्तार किया है। कमलनालके सूक्ष्म तन्तुकी भाँति वह पहले-पहल प्राणियोंके अन्तःकरणमें नादरूपसे उत्पन्न होता है। वह नाद कान बन्द करनेपर

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् । आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥३८॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः । ओङ्काराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम् ॥३९॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः । अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥४०॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च । त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दोह्यत्यष्टयतिजगद्विराट् ॥४१॥
किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन ॥४२॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् । एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो । नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥१॥
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् । सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥२॥
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश । एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया ।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

सुनायी पड़ता है ॥ ३७ ॥ जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा जाला उगलती और फिर निगल जाती है, उसी तरह सूक्ष्म नादरूप उपादान कारणयुक्त वेदमूर्ति एवं अमृतमय प्राणोपाधिक भगवान हिरण्यगर्भ स्पर्शादि वर्णोंका सङ्कल्प करनेवाले मनरूप निमित्त कारणसे हृदयाकाश द्वारा हृद्गत सूक्ष्म ॐकारसे व्यक्त स्पर्शसंज्ञक वर्ण यानी क से म तक, स्वर अर्थात् अ से औ तक, ऊष्मा यानी श, ष, स, ह और अन्तःस्थ अर्थात् य, र, ल, व वर्णोंसे विभूषित तथा उत्तरोत्तर चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दों द्वारा चित्रित भाषाओंके रूपमें विस्तारको प्राप्त विविधमार्गोंवाली अनन्तपारयुक्त बृहतीको स्वयं रचते तथा फिर अपनेमें समेट लेते हैं ॥ ३८–४० ॥ चार-चार अधिक वर्णोंवाले छन्दोंमेंसे कुछ छन्द ये हैं। जैसे-गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अति-च्छन्द, अत्यष्टि, अतिजगती एवं विराट् ॥ ४१ ॥ वह बृहती क्या विधान करती, क्या बतलाती और किसका अनुवाद करती हुई क्या-क्या विकल्प करती है ? उसके मर्मको संसारमें मेरे सिवाय और कोई भी नहीं जान पाता ॥ ४२ ॥ वह मेरा ही विधान करती है। उपास्यरूपसे मेरा ही वर्णन करती और आकाशादिरूपसे मेरा ही आरोप करके फिर मेरा ही बाध करती है। सब वेदोंका यही अर्थ है। वह अर्थ मेरे सहारे वेदको मायामात्र बतलाता हुआ उसका निषेध करके अन्तमें स्वयं भी शान्त हो जाता है ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवते एकादशस्कन्धे भाषाटीकायामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

(तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृतिकी विवेचना) श्रीउद्धवजी कहते हैं–हे प्रभो ! हे विश्वेश्वर ! तत्त्वदर्शी ऋषियोंने कितने तत्त्व कहे हैं ? अभी आपने तो नौ, ग्यारह, पाँच और तीन इस तरह कुल अट्ठाईस तत्त्व गिनाये हैं, जिन्हें हम सुन चुके। किन्तु कोई छब्बीस, कोई पच्चीस, कोई सात, कोई नौ, कोई छ, कोई चार, कोई ग्यारह, कोई सत्रह, कोई सोलह और कोई तेरह ही तत्त्व बताते हैं। हे आयुष्मन् ! वे ऋषि 'जिस अभिप्रायसे तत्त्वोंकी भिन्न-भिन्न संख्याएँ

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा । मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥४॥
नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा । एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥५॥
यासां व्यतिकरादासीद् विकल्पो वदतां पदम् । प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनुशाम्यति ॥६॥
परस्परानुप्रवेशात् तत्त्वानां पुरुषर्षभ । पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥७॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च । पूर्वस्मिन् वा परस्मिन् वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥८
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम् । यथा विविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥९॥
अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् । स्वतो न संभवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥
पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि । तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥११॥
प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः । सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥१२॥
सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते । गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥१३॥
पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहङ्कारो नभोऽनिलः । ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥१४
श्रोत्रं त्वग् दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः । वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥१५
शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः । गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥१६॥

बतलाये हों सो आप मुझसे कहें ॥ १-३ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे उद्धव ! इस विषयमें ब्राह्मण लोग जो कहते हैं, वह सब ठीक है। क्योंकि सब तत्त्व सभी जगह अन्तर्भूत हैं। मेरी मायाके सहारे कहनेवालोंके लिए भला कौनसी बात कहना कठिन है ? ॥४॥ 'जो तुम कहते हो वह ठीक नहीं है, मैं कहता हूँ वही ठीक है'—जगत्के हेतुके बिषयमें इस तरह विवाद करनेवालोंके वादमें अति कठिनतासे पार पाने योग्य मेरी सत्त्वादि शक्तियाँ ही कारण होती हैं ॥५॥ उन शक्तियोंके क्षोभसे ही यह विकल्प-रूपी प्रपञ्चवादी-प्रतिक्रियावादियोंके विवादका स्थान बना हुआ है। शम और दमके स्थिर होनेपर यह प्रपञ्च स्वयं शान्त हो जाता और उसके साथ ही विवाद भी निवृत्त हो जाता है ॥६॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! तत्त्वोंके परस्पर सम्मिलित होनेके कारण वक्ताको जो बताना अभीष्ट है, उसके अनुसार कार्य-कारणभावसे अथवा न्यूनता-अधिकताके विचारसे तत्त्वोंकी यह भिन्न-भिन्न संख्यायें कही जाती हैं ॥ ७ ॥ कारणतत्त्व अथवा कार्यतत्त्वमें एक-एकमें दूसरे-दूसरे तत्त्व भी मिले हुए दीखते हैं। इसीलिए पूर्वापर यानी कारण-कार्यरूपसे तत्त्वोंकी न्यूनाधिक संख्या चाहनेवाले वादियोंमें जिसने अपने मुखसे जो कहा है, युक्तिसंगत होनेके कारण हम उसीको निश्चित मानकर स्वीकार कर लेते हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥ अनादि कालसे अविद्याग्रस्त पुरुषको अपने आप आत्मज्ञान नहीं हो सकता। अतएव उसको ज्ञानोपदेशके लिये किसी अन्य तत्त्वज्ञानीकी आवश्यकता होती है ॥ १० ॥ क्योंकि आत्मा और परमात्मामें अणुमात्र भी भेद नहीं है। इसलिये किसी अन्य पुरुषकी कल्पना भी सर्वथा व्यर्थ है। ज्ञान प्रकृतिके सत्त्वगुणका ही व्यापार माना गया है ॥ ११ ॥ तीनों गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। अतः संसारकी स्थिति, सृष्टि और नाशके हेतुभूत सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही माने गये हैं, आत्माके नहीं ॥ १२ ॥ इस प्रकार सत्त्वगुण ज्ञान, रजोगुण कर्म तथा तमोगुण अज्ञान कहाता है। इन तीनों गुणोंकी विषमताका हेतु काल है। स्वभावमें ही महत्तत्त्व माना जाता है ॥ १३ ॥ मैंने पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी—ये नौ तत्त्व बताये हैं ॥ १४ ॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, घ्राण तथा रसना पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, वायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। हे प्रिय ! इनमें मन उभयेन्द्रियरूप कहा गया है ॥ १५ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके बिषय हैं। चलना, बोलना, मूत्रत्याग,

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी । सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥१७॥
व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया । लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात्१८
सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः । ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः॥१९॥
षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् । तैर्युक्त आत्मसम्भूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत्॥२०॥
चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः । जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु॥२१॥
संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च । पञ्चपञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥२२॥
तद्वत् षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते । भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥
एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च । अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥२४॥
इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् । सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्२५

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ । अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः२६
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथाऽऽत्मनि । एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ॥
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः ॥ २७ ॥
त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्रशक्तितः । त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः ।२८।

मलत्याग तथा शिल्प—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं ॥ १६ ॥ सृष्टिके आरम्भमें जगत्‌की कार्य-कारणात्मिका प्रकृति ही सत्त्वादि गुणों द्वारा इन अवस्थाओंको धारण करती है, अव्यक्त पुरुष तो केवल उनका साक्षी भर रहता है ॥ १७ ॥ पुरुषके साक्षित्वसे बल प्राप्त करके महत्तत्त्व आदि कारण-तत्त्व परस्पर मिल और विकारको प्राप्त होते हुए प्रकृतिके सहारे इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं ॥१८॥ इस प्रकार सात ही तत्त्व माननेवालोंके विचारसे पाँच आकाशादि पञ्चभूत, एक ज्ञान अर्थात् जीव और एक मन इन दोनोंका अधिष्ठान परमात्मा है। देह, इन्द्रिय, प्राण आदि तो इन भूतोंसे ही जायमान हुए हैं ॥ १९ ॥ छहों तत्त्व बतलानेवालोंके मतसे पाँच भूत और छठाँ जीवसे अभिन्न परमात्मा है। वही अपनेसे उत्पन्न किये हुए इन सब भूतोंको रचकर उनमें स्वयं जीवरूपसे स्थित है ॥ २० ॥ जो कुछ लोग चार ही कारण-तत्त्व बतलाते हैं उनके कथनानुसार तेज, जल तथा अन्न—ये आत्मासे उत्पन्न हुए हैं और उन्हींसे अन्य समस्त कार्यरूप पदार्थ जायमान हुए हैं ॥ २१ ॥ यदि सत्रह कारणतत्त्वकी गणना मानें तो—पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ तथा एक मन और एक आत्मा—इस तरह कुल मिलाकर सत्रह तत्त्व हैं ॥ २२॥ ऐसे ही सोलह गिनानेमें आत्माको ही मन कहते हैं और तेरहकी गिनतीमें पञ्चभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, जीवात्मा तथा परमात्मा—ये तेरह होते हैं ॥ २३ ॥ ग्यारहकी संख्या माननेमें आत्मा, पञ्चभूत तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं। यदि नौकी संख्या मानी जाय तो आठ प्रकृतियाँ यानी पञ्चभूत, मन, बुद्धि और अहंकार तथा पुरुष-इस तरह नौ होंगे ॥ २४ ॥ इस प्रकार ऋषियोंने विविध तत्त्वोंकी गणना की है। युक्तिसंगत होनेके कारण वे सभी न्याय्य हैं। और ऐसा मान लेनेमें विद्वानोंके लिये क्या हर्ज है ? ॥ २५ ॥ उद्धवजीने कहा—हे कृष्ण ! यद्यपि स्वरूपतः प्रकृति और पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी एक दूसरेके आश्रित होनेके कारण उनमें भेद नहीं मालूम होता ॥ २६ ॥ हे कमलनयन ! प्रकृतिमें पुरुष तथा पुरुषमें प्रकृति दोनों अभिन्न-से दीखते हैं। मेरे मनमें यह बड़ा भारी कौतूहल है। हे सर्वज्ञ ! आप अपनी न्यायसंगत प्रवीण वचनोंसे मेरा संशय दूर कीजिये ॥ २७ ॥ हे प्रभो ! आपकी ही कृपासे जीवोंको ज्ञान होता और आपकी ही मायाशक्तिसे उस ज्ञानकी अवनति होती है। अपनी अद्भुत मायाकी विचित्र गतिके बलको आप हीं जानते हैं। आपके सिवाय और कोई उसे नहीं जान पाता ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ । एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥२९॥

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥३०॥

दृग् रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षुर्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥३१॥

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः ।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतुर्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥३२॥

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः ।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥३३॥

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो । उच्चावचान् यथा देहान् गृह्णन्ति विसृजन्ति च ३४

तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः । न ह्येतत् प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ३५

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम् । लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥३६॥

ध्यायन्मनोऽनुविषयान् दृष्टान् वानुश्रुतानथ । उद्यत् सीदत् कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनु शाम्यति ३७

श्रीभगवान कहते हैं—हे पुरुषर्षभ उद्धव ! प्रकृति और पुरुष इनमें बहुत बड़ा भेद है । यह सारा प्राकृत प्रपञ्च सविकार है । क्योंकि गुणोंके क्षोभसे ही यह उत्पन्न हुआ है ॥ २९ ॥ हे प्रिय ! मेरी त्रिगुणात्मिका माया ही अपने गुणों द्वारा विविध भेदबुद्धि उत्पन्न करती है, वह सविकार भेदबुद्धि आध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूतरूपसे तीन प्रकारकी मानी गयी है ॥ ३० ॥ जैसे चक्षु-इन्द्रिय, रूप और नेत्र-गोलकगत सूर्यका अंश—ये तीनों ही परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं; किन्तु आकाशमें सूर्यभगवान स्वतःसिद्ध हैं । वैसे ही इन भूतादि विकारोंसे पृथक् रहनेवाला आत्मा इनका आदिकारण होता है । वह अपने स्वतःसिद्ध प्रकाशसे इन प्रकाशोंका भी प्रकाशक है । ऐसे ही त्वगादि, श्रवणादि, जिह्वादि, नासिकादि तथा चित्तादि भी आध्यात्मादिके भेदसे तीन-तीन तरहके होते हैं ॥ ३१ ॥ गुणक्षोभवश प्रकृतिमूलक महत्तत्त्वसे उत्पन्न यह अहङ्काररूपी विकार भी वैकारिक अर्थात् सात्त्विक, तामस और ऐन्द्रियिक राजस योगभेदसे तीन प्रकारका होता है । अहङ्कार ही मोह तथा विकल्परूप भेद-भावका मुख्य कारण है ॥ ३२ ॥ आत्मा ज्ञानस्वरूप है और अस्ति-नास्तिरूपसे विद्यमान यह विवाद भेद-दृष्टिके कारण ही वर्तमान है । यह यद्यपि व्यर्थ है, फिर भी जबतक पुरुष अपने स्वरूपभूत मुझे नहीं जान लेता, तब तक यह निवृत्त नहीं होने आता ॥ ३३ ॥ उद्धवजी कहने लगे—हे प्रभो ! जो लोग आपसे विमुख रहते हैं, वे अपने कर्मों द्वारा जैसे उच्च या नीच योनियोंको ग्रहण तथा त्याग करते हों, सो सब आप मुझे बता दीजिए । हे गोविन्द ! आत्मज्ञानसे हीन पुरुषोंके लिए इनका चिन्तन भी अतिशय कठिन है और इस लोकमें आत्मतत्त्वके ज्ञाता तो प्रायः हैं ही नहीं, क्योंकि सभी लोग आपकी मोहिनी मायासे वंचित हो गये हैं ॥ ३४-३५ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे उद्धव ! सब मनुष्योंका कर्ममय मन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त रहता है । वही कर्ममय मन एक दूसरे लोकमें जाता और उससे पृथक् होनेपर भी अहङ्कार-बद्ध होनेके कारण आत्मा उसका अनुसरण करता रहता है ॥ ३६ ॥ कर्माधीन मन देखे तथा कर्म-शास्त्रादि द्वारा सुने हुए विषयोंका ध्यान करता

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः । जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः ॥३८॥
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद । विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥३९॥
स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ । तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति ॥४०॥
इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि । बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद् यथा ॥४१॥
नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च । कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥४२॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः । तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥४३॥
सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम् । सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥४४॥
मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान् । म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥४५॥
निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम् । वयोमध्यं जरामृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥४६॥
एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः । गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित् कश्चिज्जहाति च ॥४७॥
आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ । न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥४८॥
तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ । तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥४९॥
प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् । तत्त्वेन स्पर्शसंमूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥५०॥

हुआ उन्हींके लिये सदा उद्यत रहता, उनमें लीन हो जाता और उसकी पूर्व-स्मृति जाती रहती है ॥३७॥ कर्मानुसार प्राप्त देवादिदेहरूप विषयमें अत्यन्त दृढ़ आस्था हो जानेके कारण जीवको पूर्व देहका स्मरण नहीं रहता और किसी कारणवश देहकी अत्यन्त विस्मृति ही उसकी मृत्यु कहाती है ॥ ३८ ॥ हे उदार उद्धव ! प्राप्त देहादि विषयोंको अहंभाव द्वारा पूर्णरूपेण मान लेना ही जीवका जन्म है। वास्तवमें जीवका कभी जन्म-मरण आदि तो स्वप्न और मनोरथके समान हैं ॥ ३९ ॥ स्वप्न और मनोरथ भी ऐसे ही होते हैं। उनमें भी मनुष्य अपने पूर्वस्वरूपको भूल जाता और पूर्वसिद्ध होता हुआ भी अपने आपको अपूर्व मान बैठता है ॥ ४० ॥ जैसे स्वप्नादिमें जीव असत् पदार्थोंका बाह्य-आभ्यन्तरके मिथ्या भेदोंको रचता है, वैसे ही इन्द्रियोंके आश्रयस्वरूपकी रचना मनसे ही आत्मामें उत्तम, मध्यम, अधम अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि तीन प्रकारके भेद न होनेपर भी भासने लगते और वह आत्मा बाह्य तथा आभ्यन्तरके भेदका हेतु बन जाता है ॥४१॥ हे मित्र ! सब प्राणियोंके जन्म-मरण तो क्षण-क्षणमें होते रहते हैं, लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वे जान नहीं पड़ते ॥ ४२ ॥ ज्योतिकी, जलकी, फल और वृक्षादिकी अवस्थाएँ निरन्तर बदलती रहती हैं, परन्तु वे सूक्ष्म होनेके कारण दीखतीं नहीं ॥ ४३ ॥ जैसे सादृश्यके कारण लोग दीपशिखाको 'यह वही दीपक है' और नदी-प्रवाहको 'यह वही जल है' ऐसा समझते हैं, वैसे ही आयुको व्यर्थ खोनेवाले पुरुषोंका 'यह वही मनुष्य है'—ऐसा कहना और समझना भी भूल है ॥४४॥ ऐसा अज्ञानी पुरुष अपने कर्मरूप हेतुसे न जन्म लेता और न मरता ही है। क्योंकि वह तो अमर है। वस्तुतः काष्ठके संयोगसे प्रकट तथा शान्त अग्निकी भाँति केवल भ्रमसे ही अज्ञानीको जन्म-मरण ज्ञात होते हैं ॥ ४५ ॥ गर्भप्रवेश, गर्भ-वृद्धि, जन्म, बाल्य, कौमार, यौवन, प्रौढ़ावस्था, जरा तथा मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ शरीरकी होती हैं ॥ ४६ ॥ अपनेसे भिन्न शरीरकी मनोरथमयी उच्च तथा नीच अवस्थाओंको जीव अपने अज्ञान-वश गुणोंके संगसे अपनी मान बैठता और कहीं-कहीं कोई इन्हें त्याग भी देता है ॥ ४७ ॥ पिताको पुत्रके जन्म और पुत्रको पिताकी मृत्युसे अपने-अपने जन्म-मरणोंका अनुमान कर लेना चाहिये। किन्तु जन्म-मरणरूपी धर्मोंका ज्ञाता इन दोनों धर्मोंसे युक्त नहीं होता ॥ ४८ ॥ वृक्षके लगाने और काटनेसे जो उसकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञाता है, वह साक्षी पुरुष जैसे उस वृक्षसे पृथक् होता है, वैसे ही इस शरीरका साक्षी आत्मा भी इस शरीरसे सर्वथा भिन्न है ॥ ४९ ॥ ऐसे विवेकसे हीन अज्ञानी पुरुष आत्माको प्रकृतिसे पृथक् और उसके वास्तविक

सत्त्वसङ्गादृषीन् देवान् रजसासुरमानुषान् । तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥५१॥
नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैवानुकरोति तान् । एवं बुद्धिगुणान् पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५२॥
यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव । चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५३॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा । स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥५४॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५५॥
तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः । आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥५६॥
क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा । ताडितः सन्निबद्धो वा वृत्त्या वा परिहापितः ॥५७॥
निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः । श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत् ॥५८॥

उद्धव उवाच

यथैवमनुबुध्येयं वद नो वदतां वर । सुदुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥५९॥
विदुषामपि विश्वात्मन् प्रकृतिर्हि बलीयसी । ऋते त्वद्धर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान् ॥६०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

स्वरूपको नहीं जानता वह विषयोंसे मोहित होकर जन्म-मरणरूपी संसारमें फँसा रहता है ॥५०॥ अपने कर्मानुसार आवागमनके चक्रमें भटकता हुआ अविवेकी जीव सात्त्विक कर्मोंके संयोगसे देव तथा ऋषियोनियोंमें और राजस कर्मोंसे असुर तथा मनुष्ययोनियोंमें जाता और तामस भूत-प्रेत आदि तिर्यक्योनियोंमें जन्म लेता रहता है ॥ ५१ ॥ जैसे नाचते और गाते हुए लोगोंको देखकर मनुष्य स्वयं भी गाने लगता है, वैसे ही बुद्धिके गुणोंको देखकर आत्मा निश्चेष्ट होकर भी उनका अनुकरण करनेको विवश हो जाता है ॥ ५२ ॥ जैसे बहते हुए जलमें प्रतिबिम्बित वृक्ष भी बहते दीखते हैं, चारों ओर वेगसे घुमाये गये नेत्रों द्वारा पृथिवी घूमती हुई दीखती है ॥ ५३ ॥ जैसे मनोरथके द्वारा कल्पित तथा स्वप्नमें देखे हुए विषयोंका अनुभव मिथ्या प्रतीत होता है, हे दाशार्ह ! उसी प्रकार आत्माका विषयानुभवरूपी संसार भी मिथ्या ही है ॥ ५३–५४ ॥ वास्तवमें पदार्थोंके न रहने पर भी विषयोंका सदा चिन्तन करनेके कारण संसारकी निवृत्ति नहीं होने पाती । जैसे स्वप्नमें विपत्ति दीखती है ॥ ५५ ॥ अतएव हे उद्धव ! सभी इन्द्रियोंसे विषयोंको मत भोगो । सम्पूर्ण संसार-भ्रमको आत्मस्वरूपके अज्ञानसे भासमान जानो ॥ ५६ ॥ यदि दुष्ट लोग तिरस्कार करें, अपमान करें, हँसे, निन्दा करें, मारें, बाँधें, जीविका छीन लें, ऊपर थूक दें, चाहे मूत्र-त्याग करें, इस प्रकार अज्ञानियों द्वारा अनेक तरहसे विचलित किये जानेपर भी अपने आत्यन्तिक श्रेयका इच्छुक पुरुष इन सब कठिनाइयोंमें पड़नेपर स्वयं ही अपना उद्धार करे, इन विपत्तियोंसे विचलित न हो ॥ ५७–५८ ॥ उद्धवजी कहते हैं—हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! दुष्ट पुरुषोंके अपमान आदि करनेपर भी विचलित न होना तो मुझे बहुत कठिन मालूम होता है । जैसे यह बात मेरी समझमें भली-भाँति आ जाय, आप मुझे समझा दीजिए ॥ ५९ ॥ हे विश्वात्मन् ! आपके ही धर्मों में निरत रहनेवाले जो लोग आपके चरणोंके आश्रित होकर शान्तचित्त हो गये हैं, उनके सिवाय अन्य विवेकी पुरुषके लिये भी मैं इसे कठिन मानता हूँ । क्योंकि मानव-प्रकृति बड़ी ही बलवती होती है ॥ ६० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

बादरायणिरुवाच

स एवमाशंसित उद्धवेन भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः ।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्दस्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः । दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥२॥
न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः । यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥३॥
कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव । तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥४॥
केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः । स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥५॥
अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया । वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः॥६॥
ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः । शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः ॥७॥
दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः । दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम् ॥८॥
तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः । धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः ॥९॥
तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद । अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥१०॥
ज्ञातयो जगृहुः किञ्चित् किञ्चिद्दस्यव उद्धव । दैवतः कालतः किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ११
स एवं द्रविणे नष्टे धमकामविवर्जितः । उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥१२॥

(एक त्यागी ब्राह्मणका इतिवृत्त) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! भगवद्भक्तोंमें प्रधान उद्धवजीके प्रार्थना करनेपर श्रवणीय पराक्रमी यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने सेवक उद्धवके प्रश्नका आदर करते हुए बोले ॥ १ ॥ श्रीभगवानने कहा—हे बृहस्पतिजीके शिष्य प्रिय उद्धव ! संसारमें ऐसे साधु पुरुष प्रायः नहीं ही मिलते, जो दुर्जनोंके दुर्वाक्यरूपी बाणोंसे विद्ध होकर अपने आपको धीरज बँधा सकें ॥ २ ॥ किसीके मर्मवेधी बाणोंसे बिंधकर भी मनुष्य इतना पीडित नहीं होता, जितना कि उसे दुष्टजनोंके मर्मस्पर्शी बाण सरीखे कठोर वचन कष्ट देते हैं ॥ ३ ॥ हे उद्धव ! इस विषयमें एक अति पवित्र तथा प्राचीन इतिहास है। उसे मैं तुमसे कहता हूँ, खूब सावधान मनसे सुनो। एक भिक्षुने दुर्जनोंके द्वारा सताये जानेपर धैर्यपूर्वक अपने कर्मोंके फलरूपसे स्मरण करते हुए जो कुछ कहा था, उसीका इसमें वर्णन है ॥ ४ ॥ ५ ॥ उज्जयिनी नगरीमें एक ब्राह्मण रहता था, जो बड़ा सम्पत्तिशाली तथा बहुत बड़ा धनाढ्य था । वह कृषि-वाणिज्यादि व्यवसाय करता और अत्यन्त कृपण, कामी, लोभी तथा बड़ा भारी क्रोधी था ॥ ६ ॥ उसने कभी अपने जाति-भाइयों और अतिथियोंका वचनसे भी सत्कार नहीं किया और धर्म-कर्मसे रहित होकर घरमें रहते हुए उसने अपने शरीरको भी सभी सुखोंसे वञ्चित कर दिया था ॥ ७ ॥ उस दुष्ट स्वभाव तथा कृपण ब्राह्मणके लड़के, बन्धु, स्त्री, कन्या तथा नौकर-चाकर भी उससे दुःखी रहकर द्रोह करते और वे कभी उसका हित-साधन नहीं करते थे ॥ ८ ॥ अतएव यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाले, दान और भोगसे रहित, दोनों लोकोंसे पतित उस ब्राह्मणपर पञ्चयज्ञके अधिकारी देवता कुपित हो गये ॥ ९ ॥ हे अति दानी उद्धव ! उन देवताओंका अपमान करनेके कारण उसका पूर्वसंचित पुण्य क्षीण हो गया। उसका अत्यन्त प्रयास और परिश्रमसे सञ्चित और केवल कष्ट देनेवाला सारा धन भी नष्ट हो गया ॥ १० ॥ उस पतित ब्राह्मणका कुछ धन उसके कुटुम्बियोंने हड़प लिया, कुछ चोर मूस ले गये, कुछ दैव तथा कालसे नष्ट हो गया और कुछ राजा तथा अन्य मनुष्योंने डकार लिया ॥ ११ ॥ इस तरह धनके नष्ट हो जानेपर धर्म एवं उपभोगसे रहित

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः । खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत्॥१३॥
स चाहेदमहो कष्टं वृथाऽऽत्मा मेऽनुतापितः । न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः॥१४॥
प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन । इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥१५॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः । लोभः स्वल्पोऽपितान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये । नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्१७
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः । भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् । तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥१९॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा । एकास्निग्धाःकाकिणिना सद्यः सर्वेऽरयःकृताः२०
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः । त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्२१
लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम् । तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्२२
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान् । द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ।२३।
देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः । असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥२४॥
व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम् । कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये॥२५॥
कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत् । कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ।२६।

और स्वजनोंसे तिरस्कृत उस ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई ॥१२॥ धनके नाशसे सन्ताप तथा आँसुओं-की बाढ़के कारण भरे गलेवाले उस ब्राह्मणको बहुत समय तक चिन्ता करते-करते वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥ १३ ॥ वह सोचने लगा—'ओह ! बड़े खेदकी बात है कि मैंने व्यर्थ इतने दिन अपने शरीर-को जलाया, जिस धनके लिये मैंने इतना कष्ट सहा, वह न धर्ममें लगा और न भोग ही में खर्च हुआ ॥ १४ ॥ ऐसे कृपण पुरुषोंके लिये धन प्रायः सुखका साधक नहीं होता । वह इस लोकमें उनके चित्तको सन्तप्त करनेके लिये और मरनेपर उनके नरकगामी होनेका कारण बनता है ॥ १५ ॥ जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सब तरहसे स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको बरबाद कर देता है । उस धनके उपार्जनमें, उपार्जन करके उसकी वृद्धि, रक्षा एवं व्यय करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको निरन्तर अथक परिश्रम, भय, चिन्ता तथा भ्रमका ही सामना करते रहना पड़ता है ॥ १६–१७ ॥ चोरी, हिंसा, झुठाई, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहङ्कार, भेदबुद्धि वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, व्यसन—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंको धनसे ही होते हैं । अतएव कल्याणका इच्छुक पुरुष इस अनर्थरूपी अर्थको दूरसे ही त्याग दे ॥ १८–१९ ॥ भाई-बन्धु, स्त्री, माता-पिता और सुहृद्, जो स्नेह-बन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक रहते हैं, वे सब एक कौड़ीके लिये अलग-अलग होकर तुरन्त शत्रु बन जाते हैं ॥ २० ॥ ये सभी सम्बन्धी थोड़े-से भी धनके लिए क्षुब्ध तथा अत्यन्त क्रोधवश होकर तुरन्त एक-दूसरेको छोड़ देते और डाह-पूर्वक सारा स्नेह भूलकर एक दूसरेका सर्वनाश कर देते हैं ॥ २१ ॥ इस देवदुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर और उसमें भी उत्तम ब्राह्मण होकर भी जो इसका अनादर करके अपने परम स्वार्थ अर्थात् मोक्षका नाश कर देते हैं, वे अतिशय नीच गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ स्वर्ग तथा अपवर्गके द्वार-रूप मनुष्य-देहको पाकर कौन समझदार मनुष्य-देहको पाकर कौन समझदार मनुष्य अनर्थोंके आश्र-यस्वरूप धनमें आसक्त होगा ? ॥ २३ ॥ जो मनुष्य देव, ऋषि, पितर, भूत, जातिवाले, कुटुम्बी और उस धनके अन्य साझेदारोंको अपना धन बाँटकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं उसे भोगता है, वह यक्षकी भाँति धनका रक्षक कृपण पुरुष अवश्य अधोगति पाता है ॥ २४ ॥ मुझ उन्मत्तकी अवस्था तथा बल और पुरुषार्थ—जिनसे विवेकी लोग सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं—वे धन-सञ्चयकी व्यर्थ चेष्टामें नष्ट हो गये, अब मैं वृद्ध हो गया, अब क्या साधन करूँगा ? ॥ २५ ॥ ज्ञानी पुरुष

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत । मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥२७॥
नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः । येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥२८॥
सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः । अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि२९
तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः । मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥३०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः । उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः।३१।
स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः । भिक्षार्थं नगरग्रामादसङ्गोऽलक्षितोऽविशत्॥३२॥
तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः । दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥३३॥
केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम् । पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन॥३४॥
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः । अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ॥३५॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि । यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत्॥३६॥
तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः । बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद् बध्यतां बध्यतामिति३७
क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः । क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः।३८।
अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव । मौनेन साधयत्यर्थं बकवद् दृढनिश्चयः ॥३९॥

धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों सन्तप्त होते हैं? निःसन्देह यह संसार किसीकी मायासे मोहित है ॥ २६ ॥ यह मनुष्य-देह कालके गालमें पड़ा हुआ है, इसका धनसे, धन देनेवाले देवताओंसे या कामनाओंसे या कामनाओंको पूर्ण करनेवालोंसे तथा बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाले काम्य कर्मोंसे क्या लाभ होगा? ॥ २७ ॥ अवश्य सर्वदेवमय भगवान हरि मुझपर प्रसन्न हैं, जिससे कि मैं इस दशाको पहुँचा और संसार-सागरसे तारनेके लिये मुझे यह नौकास्वरूप निर्वेद प्राप्त हुआ है ॥ २८ ॥ अतएव अब यदि आयु शेष रही तो अपने सब धर्मसाधनोंमें सावधान चित्तसे सन्तुष्ट रहकर मैं शेष समयमें कठोर तपस्या द्वारा अपना शरीर सुखा दूँगा ॥ २९ ॥ तीनों लोकोंके अधिपति देवता मेरे इस सत् संकल्पका अनुमोदन करें। दिवंगत राजा खट्वाङ्गने मुहूर्तभरमें ही ब्रह्मलोक प्राप्त कर लिया था ॥ ३० ॥ श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव! वह अवन्ति-देशनिवासी ब्राह्मण मनमें ऐसा निश्चय करके अपने हृदयकी अहंता-ममतारूपिणी ग्रन्थियोंको खोल-कर शान्त तथा मौन भिक्षु अर्थात् संन्यासी हो गया ॥ ३१ ॥ मन, इन्द्रिय और प्राणोंका संयम करके वह सब तरह अनासक्तभावसे पृथिवीतलपर घूमने लगा। वह केवल भिक्षाके लिये ही अलक्षितभाव-से किसी नगर या ग्राममें जाता था ॥ ३२ ॥ हे भद्र! उसे वृद्ध अवधूत भिक्षुको देख बहुतेरे दुष्ट उसका अपमान करते हुए उसे बहुत दुख देते थे ॥ ३३ ॥ कोई उसका दण्ड छीन लेता, कोई पात्र तथा कमण्डलु उठा ले जाता, कोई आसन, कोई अक्षमाला, कोई कन्था और कोई उसके वस्त्र ही ले भागता था ॥ ३४ ॥ कुछ देर बाद उन्हें दिखलाते हुए वे देने लगते और जब वह ले लेता तो फिर उस मुनिसे उन्हें छीन लेते थे। वह भिक्षा माँगकर जब ग्रामके बाहर किसी नदीके तटपर भोजन करने बैठता तो वे पापी उसके ऊपर मूत्र कर देते या थूक देते थे। वह मौन था, इसलिये वे उससे कुछ बोलबाने-की चेष्टा करते और इसपर भी जब वह नहीं बोलता तो लोग उसे पीट देते थे ॥ ३५॥३६॥ कोई-कोई 'तो यह चोर है' यों कहकर उसे डाँटते और कोई 'बाँधो' कहकर उसको रस्सीसे जकड़ देते थे ॥ ३७ ॥ कोई निरादरपूर्वक ऐसे कुवाक्य कहकर उसकी निन्दा करते कि देखो, अब यह दुष्ट कैसा धर्मका ढोंग बनाये हैं, जब धन नष्ट हो गया और घरवालोंने घरसे निकाल दिया तो अब इसने यह वृत्ति धारण की है ॥ ३८ ॥ देखो तो, पर्वतराजके सदृश यह कैसा मोटा-ताजा और अटल धैर्य-शाली है। यह बगुलेके समान ढोंग रचकर चुपकेसे अपना सब काम बना लेता है। ऐसा कहकर कोई

इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च । तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥४०॥
एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत् । भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥४१॥
परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः । पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम्४२

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।
मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥४३॥
मनो गुणान् वै सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि ।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥४४॥
अनीह आत्मा मनसा समीहता हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे ।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान् जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥४५॥
दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च श्रुतश्च कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः परो हि योगो मनसः समाधिः ॥४६॥
समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं यस्य मनो विनश्यद् दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥४७॥
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः ॥४८॥
तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगमरुंतुदं तन्न विजित्य केचित् ।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यैर्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः ॥४९॥

उस ब्राह्मणकी हँसी उड़ाता, कोई उसपर अधोवायु छोड़ता और कोई तोता-मैना आदि पालतू पक्षियोंकी भाँति उसे घरमें बन्द कर देता था ॥ ३९ ॥ इस तरह भौतिक, दैविक और दैहिक दुःख उसपर जैसे-जैसे पड़ते, वह सबको अपना अवश्यभोक्तव्य प्रारब्ध समझकर भोगता रहता था ॥४०॥ ॥ ४१ ॥ धर्मसे गिरानेवाले उन पापीलोगों द्वारा पीड़ित होनेपर वह अपने धर्ममें सात्त्विक धैर्यपूर्वक स्थिर रहकर यह गाथा गाया करता था ॥४२॥ ब्राह्मण कहता—ये सभी स्वजन, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म तथा काल आदि कोई भी मेरे सुख-दुःखके कारण नहीं हैं। इसका कारण तो एकमात्र मन ही है, जो इस संसारचक्रको निरन्तर चलाया करता है ॥ ४३ ॥ अति बलवान् मन सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंको उत्पन्न करता और उन्हींसे सात्त्विक, राजस तथा तामस कर्म होते हैं। उन कर्मोंके अनुकूल ही जीवको विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ४४ ॥ चेष्टाशील मनके साथ उसके नियन्तारूपसे वर्तमान होनेपर भी यह आत्मा निरीह अर्थात् निष्क्रिय है। यह हिरण्मय, विद्याशक्तिप्रधान एवं मुझ जीवका सखा है। यह अलुप्त ज्ञानसे केवल देखता भर है। यह अपने द्योतक मनको साथ लेकर विविध प्रकारके भोग भोगता हुआ गुणों अर्थात् कर्मोंके संगसे बँधा रहता है ॥ ४५ ॥ दान, स्वधम अर्थात् वर्णाश्रम-धर्म, यम, वेदाध्ययन, कर्म एवं शुभ व्रत—इन सबका अन्तिम फल केवल मनोनिग्रह है और मनोनिग्रह ही परम योग माना जाता है ॥ ४६ ॥ जिसका मन शान्त और समाहित रहता है—बतलाओ, उसको दानादि कर्मोंकी क्या आवश्यकता होगी ? जिसका मन असंयत होनेके कारण आलस्य तथा विषय-वासना आदिसे नष्ट हो रहा है, उसको दानादि शुभकर्मोंसे क्या लाभ ? ॥४७॥ अन्य सब देवता अर्थात् इन्द्रियाँ भी मनके ही वशमें रहती हैं, किन्तु मन उनमेंसे किसीके वशीभूत नहीं होता। यह मन बलवान्से भी बलवान् और अति भयङ्कर देवता है। जो इसे अपने वशमें कर लेता है, वही देवदेव अर्थात् इन्द्रियको जीतनेवाला होता है ॥ ४८ ॥ इस दुर्जय, असह्यवेगवान्

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः ।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥५०॥
जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत् ।
जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥५१॥
दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत् ।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित् क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥५२॥
आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः ।
न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात् क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥५३॥
ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै ।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५४॥
कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे ।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम् ॥५५॥
कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत् किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात् क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम् ॥५६॥
न केनचित् क्वापि कथञ्चनास्य द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य ।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्यादेवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥५७॥

तथा मर्मभेदी शत्रुको न जीतकर कितने ही मूढ़ इस संसारमें अन्य मनुष्योंके साथ व्यर्थ कलह करके इन्हें अपना मित्र,शत्रु तथा उदासीन बना लिया करते हैं ॥ ४९ ॥ इस मनोमय देहमें अन्ध-बुद्धि प्राणी ममता और अहंतासे 'यह मैं हूँ और यह दूसरा है'—ऐसा भेद-भ्रम करके अनन्त अज्ञानान्धकारमें पड़े भटका करते हैं ॥ ५० ॥ यदि कोई मनुष्य सुख-दुःखका हेतु भी हो तो उससे आत्माका क्या सम्बन्ध ? वह सुख-दुःख तो पृथ्वीके विकारभूत देहोंको ही होता है। यदि कोई मनुष्य अपने ही दाँतोंसे अपनी जीभ काट ले तो उस वेदनाके लिए वह किसपर कोप करे ? ॥५१॥ यदि देवता ही दुःखके हेतु हों तो भी इसमें आत्माकी क्या हानि होगी ? वे दुःखादि तो उन विकारोंको ही होते हैं। यदि अपने ही शरीरका कोई अङ्ग अपने अङ्गपर प्रहार करे तो ऐसी अवस्थामें वह पुरुष किसपर क्रोध करेगा ॥ ५२ ॥ यदि आत्मा स्वयं सुख-दुःखका हेतु हो तो वह भी अपना ही है, किसी अन्यका नहीं। क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ नहीं है और है भी तो वह मिथ्या है। अतएव न सुख है न दुःख। तब फिर क्रोध कैसा ? ॥ ५३ ॥ यदि ग्रहोंको सुख-दुःखका निमित्त मानें तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि होगी ? उनका प्रभाव भी तो जन्म-मरणशील देहपर ही होता है। लोग यह भी कहते हैं कि एक ग्रहकी दूसरे ग्रहपर दृष्टि पड़जानेसे ग्रहकी ही पीड़ा होती है, तो फिर उनसे अतिशय भिन्न पुरुष भला किसपर क्रोध करेगा ? ॥ ५४ ॥ कर्म ही यदि सुख-दुःखके कारण हों तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन ? वे तो एक पदार्थके जड़ और अजड़ दो रूपके होनेपर ही हो सकते है। किन्तु यह देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे बसनेवाला आत्मा सर्वथा विकारहीन और साक्षीमात्र है। इस तरह कर्मोंका कोई आश्रय ही नहीं है, तब फिर कोई क्रोध किसपर करेगा ? ॥ ५५ ॥ यदि काल ही सुख-दुःखका हेतु हो तो उससे भी आत्माकी क्या हानि होगी ? काल तो उसीका अंश होता है। जैसे अग्नि अग्निको नहीं जला सकता और बर्फ बर्फको ठण्ढा नहीं कर सकता, वैसे ही आत्माका अंशभूत काल उसके सुख-दुःखका कारण नहीं हो सकता। तब फिर क्रोध किसपर किया जाय ? क्योंकि आत्मामें तो किसी प्रकारका द्वन्द्व है नहीं ॥ ५६ ॥ प्रकृतिसे अतीत आत्माको कभी किसीके द्वारा किसी प्रकार भी सुख-दुःखका संसर्ग नहीं हो सकता। यह तो संसाररूपी

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैमहर्षिभिः ।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥५८॥

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम् ।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मादकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम् ॥५९॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः । मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥६०॥
तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया । मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः ॥६१॥
य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः । धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥६२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् । यद् विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम् ॥१॥
आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् । यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥२॥
तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् । वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद् बृहत् ॥३॥
तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका । ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥४॥
तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः । मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥५॥

अहङ्कारमें प्रतीत होते हैं। जो ऐसा जान लेता है, वह फिर कभी भौतिक पदार्थसे भयभीत नहीं होता ॥ ५७ ॥ इसी तरह पूर्ववर्ती महर्षियोंके आश्रित परमात्मनिष्ठासे स्थित होकर भगवान मुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा ही मैं इस अनन्त पारवाले अज्ञान-सागरको बड़ी सुगमतासे पार कर लूँगा ॥ ५८ ॥ श्रीभगवानने कहा—इस प्रकार धन नष्ट हो जानेपर क्लेशरहित और विरक्त होकर घरबार छोड़ पृथिवीतलपर विचरनेवाला वह ब्राह्मण दुष्टजनों द्वारा तिरस्कृत होनेपर भी अपने धर्ममें अटल रहता हुआ इस गाथाका गान करता रहता था ॥ ५९ ॥ इस संसारमें पुरुषको कोई दूसरा सुख-दुःख देनेवाला नहीं है। यह उसके चित्तका भ्रममात्र है। मित्र, उदासीन तथा शत्रुरूपी सार अज्ञानसे ही रचित है ॥ ६० ॥ अतएव हे तात! मुझमें लगायी हुई बुद्धिके द्वारा अपनी सारी शक्ति लगाकर युक्तिके साथ मनका निग्रह करो, यही योगका सार है ॥ ६१ ॥ जो कोई प्राणी भिक्षुद्वारा गायी गयी इस ब्रह्मनिष्ठाको सावधानतापूर्वक सुनता अथवा सुनाता हुआ धारण करता है तो वह सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंके चक्रमें नहीं पड़ता ॥ ६२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(सांख्ययोगका निरूपण) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव! अब मैं तुमसे प्राचीन आचार्यों द्वारा निश्चित सांख्ययोगका वर्णन करता हूँ। जिसको जान लेनेपर मनुष्य वैकल्पिक अर्थात् प्रपञ्च-भ्रमको तुरन्त त्याग देता है ॥ १ ॥ प्रलयकाल तथा सत्ययुगके आदिमें सब लोग विवेकनिपुण थे, ज्ञान और उसके विषय अर्थात् द्रष्टा और दृश्य निर्विकल्प रूपमें ही रहते थे ॥ २ ॥ तदनन्तर मन और वाणीसे अतीत वह एकमात्र, निर्विकल्प तथा सत्यस्वरूप ब्रह्म माया अर्थात् दृश्य और उनके प्रकाशरूपसे एकका दो हो गया ॥ ३ ॥ उनमेंसे एक वस्तु अर्थात् मायाको प्रकृति कहते हैं। वह प्रकृति कार्य-कारणरूपसे दो प्रकारकी होती है। दूसरी वस्तु ज्ञान है, जिसको लोग पुरुष कहते हैं ॥ ४ ॥ जीवोंके अदृष्टके अनुसार मैंने प्रकृतिको क्षुब्ध कर दिया। तब उससे सत्त्व, रज तथा

तेभ्यः समभवत् सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः । ततो विकुर्वतो जातोऽहङ्कारो यो विमोहनः ॥६॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् । तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥७॥
अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च । तैजसाद् देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥८॥
मया सञ्चोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः । अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥९॥
तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ । मम नाभ्यामभूत्पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥१०॥
सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् । लोकान् सपालान् विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा॥
देवानामोक आसीत् स्वर्भूतानां च भुवः पदम् । मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात् परम्॥१२
अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत् प्रभुः । त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम्॥१३
योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः । महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥१४॥
मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत् । गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥१५॥
अणुर्बृहत् कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति । सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥१६॥
यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन् । विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥१७॥
यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम् । आदिरन्तो यदा यस्य तत् सत्यमभिधीयते॥१८॥
प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः । सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥१९॥

तम—ये तीन गुण प्रकटे ॥ ५ ॥ उनसे सूत्र उत्पन्न हुआ और उससे महत्तत्त्व हुआ, जो सूत्रसे मिला हुआ है और उस विकारयुक्त महत्तत्त्वसे अहङ्कार प्रगटा। जो जीवको मोहमें डाल देता है ॥ ६ ॥ वह अहंकार वैकारिक, तैजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका है। पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय और मनका कारण होनेसे वह जड़-चेतनमय कहा जाता है ॥ ७ ॥ तामस अहङ्काररूप पञ्चतन्मात्राओंसे पञ्चभूत, तैजस अहङ्कारसे इन्द्रियाँ और वैकृत अहङ्कारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह देवता जायमान हुए॥८॥ मुझसे प्रेरित होकर इन सब कारणतत्त्वोंने एकमें मिलकर मेरा आश्रयरूप उत्तम अण्ड बनाया ॥ ९ ॥ जलमें स्थित हो जानेपर मैं उस अण्डमें जाकर विराजमान हुआ। मेरी नाभिसे यह विश्व नामक कमल उपजा और उससे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए ॥ १० ॥ ब्रह्माने तपस्या की और मेरे अनुग्रहसे रजोगुण द्वारा लोकपालोंसहित भूः अर्थात् पृथिवी भुवः अर्थात् अन्तरिक्ष, स्वःयानी स्वर्ग इन तीनों लोकोंकी सृष्टि हुई ॥ ११ ॥ स्वर्लोक देवताओंका निवासस्थान बना। भुवर्लोक भूतगणके लिये नियत हुआ और भूर्लोकमें मनुष्य आदि प्राणी जा बसे तथा सिद्धोंके रहनेके स्थान इन तीनोंसे ऊपर महर्लोक तथा तपलोक आदि हैं ॥ १२ ॥ उन जगत्प्रभु ब्रह्माने असुर तथा नागोंके लिये पृथिवीतलके नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये हैं। इन तीनों लोकोंमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके अनुसार ही सब गतियाँ होती हैं ॥ १३ ॥ योग, तप तथा संन्यासके फलरूपसे महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक आदि उत्तम लोक प्राप्त होते और भक्तियोगसे मेरा परधाम मिलता है ॥ १४ ॥ मुझ कालरूप विधाताकी प्रेरणासे ही यह सारा जगत् कर्मकलापमें पड़ा हुआ गुणोंके प्रवाहमें कभी उतराता और कभी डूब जाता है। अर्थात् कभी शुभ कर्मसे उन्नत होता और कभी पापकर्मसे अधोगतिमें जा पड़ता है ॥ १५ ॥ अणु अर्थात् छोटा, बृहत् यानी बड़ा, कृश यानी पतला और स्थूल अर्थात् मोटा जो-जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसीकी पुरुष और प्रकृति इन दोनोंसे मिलकर ही रचना होती है ॥ १६ ॥ जो पदार्थ जिसके आदि तथा अन्तमें रहता है, उसके मध्यमें भी उसाकी सत्ता रहती है और वही सत्य भी रहता है। उसके विकार केवल व्यवहारके लिये होते हैं। जैसे कि सुवर्णके विकार कंकणादि और मृत्तिकाके विकार घड़े आदि होते हैं ॥ १७ ॥ जब किसी उपादान कारणकी सहायतासे किसी दूसरे कार्यरूपी भावको पूर्व उपादान कारण उत्पन्न करता है तो जो जिसके आदि तथा अन्तमें रहता है, वही सत्य कहाता है ॥१८॥ इसप्रपंचका उपादानकारण प्रकृति है, इस प्रकृतिका अधिष्ठान परमात्मा

सर्गः प्रवर्तते तावत् पौर्वापर्येण नित्यशः । महान् गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम्२०
विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः । पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥२१॥
अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते । धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥२२॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे । लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते॥२३॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे । अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ।२४।
योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे । शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥२५॥
स लीयते महान् स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः । तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत् काले लीयतेऽव्यये।२६।
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे । आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः२७
एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः । मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥२८॥
एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः । प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥२९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे चतुर्विंशतितमोऽध्यायः॥ २४ ॥

———

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसमिश्राणां पुमान् येन यथा भवेत् । तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥१॥

है । इसका अभिव्यञ्जक काल है । ये तीन ब्रह्मरूप मैं ही हूँ ॥१९॥ जबतक परमात्माकी दृष्टि रहती और जबतक स्थितिका अन्तसमय अर्थात् प्रलय नहीं होता, तबतक जीवकृत कर्मोंके फलभोगके निमित्त पितृ-पुत्रपरम्परासे बराबरउत्पत्ति नाशशील जबतकयह संसार जो विराट्रूपसे स्थित है, वह प्रलयकालमें अपने सातों भुवनों समेत पञ्चत्व अर्थात् नाशरूप विशेषत्वको प्राप्त हो जाता है । तब इसके पञ्चीकृत भूत अपने-अपने कारणोंमेंलीनहोने लगजाते हैं॥२०॥२१॥ तब मर्त्य-शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें, भूमि गन्धमें, गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें, तेज रूपमें, रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें और आकाश शब्दतन्मात्रामें लीन हो जाता तथा इन्द्रियाँ अपने कारणभूत राजस अहङ्कारमें जाकर लीन हो जाती हैं ॥ २२-२४ ॥ हे सौम्य ! राजस अहङ्कार अपने नियन्ता वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहङ्काररूपी मनमें, शब्दतन्मात्रा पञ्चभूतोंके कारणस्वरूप तामस अहङ्कारमें तथा सम्पूर्ण संसारको मोहित करनेमें समर्थ अहङ्कार महत्तत्वमें जाकर लीन हो जाया करता है ॥ २५ ॥ वह ज्ञान तथा क्रियाशक्तिसम्पन्न महत्तत्व अपने कारणभूत गुणोंमें जाकर लीन हो जाता और गुण अव्यक्त प्रकृतिमें तथा प्रकृति अपने प्रेरक अव्यय कालमें मिल जाती है ॥ २६ ॥ काल मायामय जीवमें तथा जीव मुझ अजन्मा आत्मामें जाकर लीन हो जाता है । वह आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, किन्तु उसका किसीमें लय नहीं होता । वह जगत्की सृष्टि तथा लयका अधिष्ठान और अवधिरूप है ॥ २७ ॥ तब विचारपूर्वक देखनेवाले किसी पुरुषके चित्तमें यह प्रपञ्च-भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है ? और कदाचित् उसकी स्फूर्ति हो भी जाय तो वह अधिक समय तक हृदयमें ठहर कैसे पायेगा ? आकाशमण्डलमें सूर्यका उदय होनेपर अन्धकार कहीं टिक पाता है ? ॥ २८॥ इस तरह कार्यकारणके साक्षीस्वरूप मैंने तुम्हें अनुलोम-प्रतिलोमके क्रमसे संशयस्वरूपिणी हृदयग्रन्थिको खोलनेवाली यह सांख्यविधि कही है ॥ २९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

(तीनों गुण और उनकी वृत्तियाँ) श्रीभगवान कहते हैं—हे पुरुषवर्य उद्धव ! अलग-अलग गुणोंमेंसे जिस गुणसे पुरुष जिस प्रकृतिका होता है, उसका मैं तुमसे वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ १ ॥

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः । तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः॥२॥
काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम् । मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥३॥
क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः । शोकमोहौ विषादार्ती निद्राऽऽशा भीरनुद्यमः॥४॥
सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः । वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥५॥
संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः । व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥६॥
धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः । गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥७॥
प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान् यर्हि गृहाश्रमे । स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥८॥
पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः । कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥९॥
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः । तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥१०॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः । तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम्॥११॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे । चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते॥१२॥
यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् । तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान्॥१३॥
यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् । तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया॥१४॥
यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् । युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाऽऽशया॥१५॥

शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति अर्थात् पूर्वापरका विचार रखना, सन्तोष, त्याग, विषयोंमें अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा, दान आदि तथा आत्मरति ये सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ मानी गयी हैं ॥ २ ॥ इच्छा, प्रयत्न, अभिमान, तृष्णा, गर्व, देवताओंसे धन आदि पानेकी इच्छा, भेदबुद्धि, विषय-सुख, उत्साह, अपनी प्रशंसामें प्रेम, हास्य, पुरुषार्थ, बलपूर्वक, उद्योग, ये वृत्तियाँ रजोगुणसे होती हैं ॥ ३ ॥ क्रोध, लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, विषाद, पीडा, निद्रा, आशा, भय तथा अनुद्योग ये वृत्तियें तमोगुणकी हैं ॥ ४ ॥ इस प्रकार मैंने क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया । अब उनके संयोगसे होनेवाली वृत्तियें सुनो ॥ ५ ॥ हे उद्धव ! 'मैं हूँ—यह है' ऐसी बुद्धिमें तीनों गुण समाविष्ट हैं। मन, शब्दादि विषय इन्द्रियाँ तथा प्राण, इन सबके मेलसे होनेवाले व्यवहारमें तीनों गुणोंका समावेश होता है ॥ ६ ॥ जब पुरुष धर्म, अर्थ तथा काममें प्रवृत्त होता है तो यह भी तीनों गुणोंका सन्निपात ही है । यही सन्निपात परिणाममें उसे श्रद्धा, रति तथा धनकी प्राप्ति कराता है ॥ ७ ॥ जब सकाम कर्मानुष्ठानमें पुरुषकी प्रीति हो, गृहस्थाश्रममें आसक्ति हो और वह अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता हो तब उसमें तीनों गुणोंका सन्निपात समझे ॥ ८ ॥ अब गुणोंमेंसे प्रत्येकके प्राधान्यसे पुरुषका जैसा स्वभाव होता है, वह बतलाते हैं—सतोगुणी पुरुषका शम-दमादि गुणोंसे, रजोगुणीका कामादि-से तथा तमोगुणीका क्रोधादिसे अनुमान करे ॥ ९ ॥ जो भी पुरुष या स्त्री, जब निष्काम होकर अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके द्वारा मेरा भजन करे तो उसे सत्त्वगुणी जाने ॥ १० ॥ जब वह सकामभाव-पूर्ण स्वकर्मोंसे मेरा भजन-पूजन करे तब रजोगुणी तथा जब हिंसा और शत्रुमारणादिकी इच्छासे मुझे भजे, तब तमोगुणी जानना चाहिए ॥ ११ ॥ सत्त्व, रज तथा तम—ये गुण जीवके हैं, मेरे नहीं । जिनके द्वारा भूतों अर्थात् शरीर अथवा अन्य भौतिक पदार्थोंमें आसक्त हो जानेपर जीव बन्धन-में बँध जाता है ॥ १२ ॥ जब प्रकाशमान, स्वच्छ तथा शान्त सत्त्वगुण रज और तमको दबाकर बढ़ता है तब पुरुष सुख, धर्म और ज्ञानादिसे सम्पन्न होता है ॥ १३ ॥ जब आसक्ति तथा भेदबुद्धिका कारण एवं प्रवृत्ति-स्वभाव रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुणका पराभव करके बढ़ता है, तब पुरुष दुःख, कर्म, यश और सम्पत्तिसे युक्त होता है ॥ १४ ॥ जब अज्ञान आवरण तथा जडरूप तमोगुण रज और सत्त्वको जीतकर बढ़ता है, तब प्राणी शोक, मोह, निद्रा, हिंसा तथा आशासे युक्त होता है

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः । देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥१६॥
विकुर्वन् क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम् । गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ।१७।
सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् । मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥१८॥
एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते । असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥१९॥
सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत् । प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु संततम् ॥२०॥
उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः । तमसाधोऽध आमुख्याद् रजसान्तरचारिणः २१
सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः । तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥२२॥
मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् । राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥२३॥
कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥२४॥
वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते । तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥२५॥
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥२६॥
सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी । तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा।२७।
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् । राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥२८॥

॥ १५ ॥ जब कि चित्त प्रसन्न हो, सब इन्द्रियाँ शान्त हों, देह निर्भय हो तथा मन कहीं आसक्त न हो तब समझ लो कि मेरी प्राप्तिके कारणस्वरूप सत्त्वगुणकी उत्पत्ति हुई है ॥ १६ ॥ जब कि पुरुष क्रियासे विकृत हो जाय, उसकी बुद्धि चञ्चल हो उठे, ज्ञानेन्द्रियाँ अशान्त हो जायँ, शरीर अस्वस्थ हो और मन भ्रममें पड़ जाय, उस समय रजोगुणकी प्रवृत्ति समझे ॥ १७ ॥ जब ज्ञानेन्द्रियजनित ज्ञानके ग्रहणमें असमर्थ और खिन्न होकर चित्त असमर्थ होने लगे, मन शून्य जैसा हो जाय तथा अज्ञान और ग्लानि बढ़ रही हो, तब तमोगुणकी वृद्धि समझे ॥ १८ ॥ हे उद्धव ! इसी प्रकार सत्त्वगुण बढ़नेपर देवताओं, रजोगुणके बढ़नेपर असुरों और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ सत्त्वगुणसे जीवकी जाग्रत् अवस्था, रजोगुणसे स्वप्न और तमोगुणसे सुषुप्ति अवस्था माननी चाहिये। इसके अतिरिक्त तुरीय अवस्था जो शुद्ध तथा एकरस आत्मास्वरूप है, इन तीनोंमें व्याप्त रहती है ॥ २० ॥ ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणलोग सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं। तमोगुणसे पुरुषोंको स्थावरपर्यन्त अधोगति मिलती और रजोगुणसे मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ जब सत्त्वगुणकी वृद्धि हो तब मरनेवाले प्राणी स्वर्गको जाते, रजोगुणमें लीन होनेवाले मनुष्यलोक तथा तमोगुणमें लीन होनेवाले नरकगामी होते हैं और निर्गुण अर्थात् त्रिगुणातीत एवं जीवन्मुक्त पुरुष मेरे समीप आते हैं ॥ २२ ॥ जो फलको मुझे अर्पण करके निष्कामभावसे स्वकर्म किया जाता है, वह सात्त्विक होता और फल-प्राप्तिके सङ्कल्पसे किया हुआ कर्म राजस होता और हिंसा-दम्भादिसे युक्त कर्म तामस कहाता है ॥ २३ ॥ आत्माकी असंगताका ज्ञान सात्त्विक है, उसको कर्ता-भोक्ता जानना राजस तथा साधारण सांसारिक ज्ञान तामस और मेरे स्वरूपका ज्ञान निर्गुण कहा जाता है ॥ २४ ॥ वनमें रहना सात्त्विक, ग्राममें रहना राजस और जूआ-घरका निवास तामस कहाता और मेरे स्वरूपमें तथा मेरे मन्दिरोंमें निवास निर्गुण कहाता है ॥ २५ ॥ अनासक्तभावसे कर्म करनेवाला सात्त्विक, रागयुक्त होकर किया जानेवाला कर्म राजस और पूर्वापरके विचारसे हीन होकर कर्म करना तामस कहलाता है। जो निरहङ्कार तथा मेरे आश्रित होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है, वह निर्गुण कहाता है ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानकी श्रद्धा सात्त्विकी श्रद्धा मानी जाती है। इसी प्रकार कर्मकी श्रद्धा राजसी तथा जो श्रद्धा अधर्ममें होती है, उसे तामसी श्रद्धा कहते हैं। मेरी सेवा-पूजाकी श्रद्धा निर्गुण श्रद्धा मानी जाती है ॥ २७ ॥ पथ्य, पवित्र तथा अनायास प्राप्त आहार सात्त्विक, रसनेन्द्रियको रुचिकर राजस, दुःखदायी एवं अपवित्र आहार तामस माना जाता है ॥ २८ ॥

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् । तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥२९॥
द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः । श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥३०॥
सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः । दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्धया वा पुरुषर्षभ ॥३१॥
एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः । येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ॥
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥ ३२ ॥
तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् । गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥३३॥
निःसङ्गो मां भजेद् विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः । रजस्तमश्चाभिजयेत् सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥३४॥
सत्त्वं चाभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः । सम्पद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥३५॥
जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसम्भवैः । मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥३६॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

———

षड्विंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः । आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥१॥
गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया । गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः ॥
वर्तमानोऽपि न पुमान् युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥
सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ॥३॥

आत्मासे प्राप्त सुख सात्त्विक विषयोंसे प्राप्त सुख राजस तथा मोह और दीनता से प्राप्त सुख तामस कहाता और मुझसे प्राप्त होनेवाला सुख निर्गुण माना जाता है ॥ २९ ॥ इस तरह द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्ता, श्रद्धा, अवस्था, क्रिया तथा निष्ठा, ये सभी त्रिगुणात्मक कहे जाते हैं ॥ ३० ॥ हे पुरुषर्षभ उद्धव ! पुरुष तथा प्रकृतिसे अधिष्ठित सब देखे-सुने और बुद्धि द्वारा जाने गये पदार्थ त्रिगुणमय होते हैं ॥ ३१ ॥ हे सौम्य ! पुरुषको यह त्रिगुणमय संसार-बन्धन गुणकर्मके कारण प्राप्त होता है । जो जीव इन चित्तजनित गुणोंको भक्तियोग द्वारा जीत लेता है, वह मुझमें निष्ठा करनेवाला भक्त मेरे स्वरूप अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो जाया करता है ॥ ३२ ॥ अतव ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्तिके साधनस्वरूप मानव-शरीरको पाकर विचारवान् पुरुष गुण-सङ्ग त्यागकर मेरा भजन करे ॥ ३३ ॥ विवेकशील और मानवशील पुरुष को चाहिये कि सत्त्वगुणका सेवन करता हुआ रज और तमका पराभव करके इन्द्रियसंयमपूर्वम आसक्ति तथा प्रमाद त्यागकर मेरा भजन करे ॥ ३४ ॥ फिर शान्त-चित्त तथा निरपेक्ष भावसे युक्तिपूर्वक सत्त्वगुणको भी जीत ले । तदन्तर गुणोंसे मुक्त जीव अपने जीवत्वको छोड़कर मुझे प्राप्त हो जाता है ॥ ३५ ॥ इस तरह जीव लिङ्ग-शरीररूपिणी अपनी उपाधि तथा अन्तःकरणसे उत्पन्न गुणोंसे छूटकर वह मुझ ब्रह्मकी प्राप्तिसे परिपूर्ण हो जाता और फिर बाह्य अथवा आन्तरिक विषयोंमें नहीं फँसता ॥ ३६ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे पं० रामतेजशास्त्रिकृतभाषाटीकायां पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ॥

(ऐलगीत और उसका विवेचन) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! मेरे सब लक्षणोंसे युक्त यह मनुष्य देह पाकर जो मेरे भागवतधर्मोंमें स्थित रहता है, वह अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझ आनन्दस्वरूप परमात्माको पा लेता है ॥ १ ॥ ऐसी ज्ञाननिष्ठाके द्वारा गुणमयी जीवावस्थासे युक्त होकर पुरुष अवास्तविकरूपसे प्रतीयमान मायामात्र गुणोंमें वर्तमान रहता हुआ भी उनके मिथ्या गुणोंके फेरमें नहीं पड़ता ॥ २ ॥ विषयसेवन तथा उदरपालनमें ही मस्त रहनेवाले असत्-पुरुषोंका संग कभी भी न करे। क्योंकि उनका अनुमान करनेवाला प्राणी अन्धेके समान घोर अन्धकारमें

ऐलः सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः । उर्वशीविरहान्मुह्यन् निर्विण्णः शोकसंयमे ॥४॥
त्यक्त्वाऽऽत्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः । विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः ॥५॥
कामानतृप्तोऽनुजुषन् क्षुल्लकान् वर्षयामिनीः । न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः ॥६॥

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः । देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः ॥७॥
नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया । मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत ॥८॥
अहो मे आत्मसंमोहो येनात्मा योषितां कृतः । क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः ॥९॥
सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम् । यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद् रुदन् ॥१०॥
कुतस्तस्यानुभावः स्यात् तेज ईशत्वमेव वा । योऽन्वगच्छं स्त्रियं यान्तीं खरवत् पादताडितः ११
किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा । किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनोहृतम् ॥१२॥
स्वार्थस्याकोविदं धिङ्मां मूर्खं पण्डितमानिनम् । योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥१३॥
सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् । न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥१४॥
पुंश्चल्यापहृतं चित्तं को न्वन्यो मोचितुं प्रभुः । आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥१५॥
बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः । मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥१६॥
किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः । रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥

जा पड़ता है ॥ ३ ॥ महान् यशस्वी, राजराजेश्वर तथा इलापुत्र महाराज पुरूरवाने उर्वशीके वियोग-से दुःखी होकर खेद करते हुए उस शोकका अन्त होनेपर इस तरह कहा था ॥ ४ ॥ अपने आपको छोड़कर जाती हुई उर्वशीके पीछे दौड़ते हुए राजा पुरूरवाने व्याकुल होकर उन्मत्तकी भाँति नग्नावस्थामें ही कहा—'अरी कठोर कामिनी ! ठहर जा'—ऐसा कहते हुए वे रोने लगे ॥ ५ ॥ उर्वशीमें आसक्तचित्त पुरूरवाने क्षुद्र भोगोंको भोगते हुए अतृप्तभावसे वर्षों तक रात्रियोंको आते और जाते नहीं जान पाया था ॥ ६ ॥ कुछ दिन बाद वैराग्य होनेपर पुरूरवाने कहा—ओह ! मुझ काम-कलुषित चित्तवाले अज्ञानीके मोहका कैसा विस्तार है ? स्त्रीके गलेमें हाथ डाले मैंने अपनी आयुके इतने दिन और रातोंको जाते हुए नहीं जाना ॥ ७ ॥ इसके मोहमें पड़े रहनेके कारण मैंने यह भी नहीं जाना कि कब सूर्य उदय हुआ और कब अस्त हो गया और न यही पता चला कि इतने वर्षों के दिन कैसे बीत गये ॥ ८ ॥ ओह ! मेरा कैसा भारी अज्ञान है। मैं राजशिरोमणि और चक्रवर्ती होकर भी अपनेको स्त्रीका क्रीडामृग बनाये हुए हूँ ॥ ९ ॥ राजपाट सहित मुझे अपने स्वामीको तृणकी भाँति त्यागकर जाती हुई स्त्रीके पीछे मैं उन्मत्तके समान नंगा और रोता हुआ चल पड़ा । गधेके समान लात खाता हुआ भी जो पुरुष त्यागकर जाती हुई स्त्रीके पीछे दौड़ा गया, उसका प्रभाव, तेज तथा स्वामित्व कैसे ठहरेगा ? ॥ १०॥११ ॥ जिसके मनको स्त्रियाँ चुरा लें, उसको विद्या, तप, दान, शास्त्राभ्यास, एकान्तसेवन तथा मौन आदि व्रतोंसे क्या लाभ होगा ? ॥ १२ ॥ अपना हित-अहित न जाननेवाले एवं अपनेको पण्डित माननेवाले मुझ मूर्खको धिक्कार है, जो राज-पद पाकर भी बैल तथा गधेकी भाँति स्त्रियोंके अधीन हो गया ॥ १३ ॥ वर्षों उर्वशीका अधर-रस पिया, फिर भी अग्नि जैसे आहुतियोंसे तृप्त नहीं होने आता, वैसे ही मनसे उत्पन्न होनेवाली मेरी कामवासनायें शान्त नहीं हुईं ॥ १४ ॥ कुलटाके द्वारा हरे हुए चित्तको छुड़ानेमें आत्माराम मुनियोंके प्रभु भगवान अधोक्षजको छोड़कर और कौन समर्थ होगा ? ॥ १५ ॥ उर्वशीने सत्य तथा सुन्दर वचन कह-कहकर मुझे समझाया था । फिर भी मुझ अजितेन्द्रिय तथा दुर्मतिके मनका महामोह दूर नहीं होने आया ॥ १६ ॥ रज्जुके स्वरूपको न जानकर उसे सर्प समझनेवाले पुरुषका रज्जु जैसे कोई अपकार नहीं करती, वैसे ही यदि मैंने इन्द्रियोंको नहीं जीत पाया तो इसमें उर्वशीने क्या अपराध किया ? वास्तवमें तो मेरा

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः । क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥
पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः । किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते १९
तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते । अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः ॥२०॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ । विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥२१॥
अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् । विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥२२॥
अदृष्टादश्रुताद् भावान्न भाव उपजायते । असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः २३
तस्मात् सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः । विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन् नृपदेवदेवः स उर्वशीलोकमथो विहाय ।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥२५॥

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् । सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः २६
सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः । निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥२७॥
तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः । संभवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥२८॥
ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः । मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि २९

ही सारा दोष था ॥ १७ ॥ कहाँ अतिशय मलिन और दुर्गन्ध आदिसे पूर्ण स्त्रीका अपवित्र शरीर और कहाँ सौहार्द-प्रेम आदि अलौकिक गुण ? अविद्यासे ही इनका इस प्रकारके शरीरमें अध्यास हो रहा है ॥१८॥ यह शरीर माता-पिताका धन है अथवा स्त्री, स्वामी, अग्नि, कुत्ते और गृध्रोंमेंसे किसीका है ? क्या यह अपना है या बन्धुओंका ? इस तरह जिसके विषयमें कुछ भी निश्चय नहीं हो पाता ॥ १९ ॥ इस प्रकार अपवित्र और अन्तमें घृणित दशाको प्राप्त होनेवाले देहको भी 'अहो इस रमणीका मनोहर मुख कैसी सुन्दर नासिका तथा मुसकानसे युक्त है ?' ऐसा विचार करके मनुष्य उसमें आसक्त हो जाता है। यह कैसा अद्भुत अज्ञान है ? ॥ २० ॥ त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा तथा अस्थियोंके समूहरूपी इस देहमें आसक्त पुरुषों तथा अतिशय अपवित्र मल-मूत्रमें सुख माननेवाले कीड़ोंमें भला क्या अन्तर है ? ॥२१॥ अतएव अपना कल्याण चाहनेवाला ज्ञानी पुरुष स्त्री और स्त्रीलम्पटमें कभी भी आसक्त न हो। क्योंकि विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार उत्पन्न होता है और किसी कारण नहीं ॥ २२ ॥ जो विषय कभी देखे सुने नहीं होते, उनसे चित्तमें उनकी वासना भी नहीं उठती। इसी वास्ते इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग न होने देनेवाले पुरुषका चित्त शिथिल, शान्त तथा स्थिर हो जाया करता है ॥ २३ ॥ सो इन्द्रियोंके द्वारा भी कभी स्त्री तथा स्त्रीलम्पटोंका सङ्ग न करे। मनसमेत पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका विश्वास तो विवेकी तथा बुद्धिसम्पन्न पुरुष भी न करे। तब मुझ-जैसे कामान्ध और अज्ञानीकी तो बात ही क्या है ? ॥ २४ ॥ श्रीकृष्णभगवान बोले—हे उद्धव ! इस तरह कहता हुआ राजाधिराज पुरूरवा उर्वशीलोक छोड़कर चला आया और अपने अन्तःकरणमें आत्मारूपसे विराजमान मुझ परमात्माको जान तथा आत्मज्ञान होजानेसे मोहरहित होकर शान्त हो गया ॥ २५ ॥ अतएव बुद्धिमान् पुरुष सभी कुसंग छोड़कर सज्जनोंसे प्रेम बढ़ावे। इससे वे सज्जन अपने सदुपदेशों द्वारा उसके मनकी विषयासक्तिको छिन्न-भिन्न कर डालेंगे ॥२६॥ सन्तजन सर्वदा निष्काम, मुझमें ही चित्त लगानेवाले, अत्यन्त शान्त, समदर्शी, ममताशून्य, अहङ्काररहित, द्वन्द्वहीन तथा अकिञ्चन होते हैं ॥ २७ ॥ हे महाभाग उद्धवजी ! उन परम सौभाग्यशाली सन्तजनोंमें परस्पर नित्य मेरी कथा-वार्ता होती रहती है, जो मनुष्यके लिये हितकारिणी है और श्रवणादि द्वारा अपना सेवन करनेवाले लोगोंके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देती है ॥ २८ ॥ जो लोग मुझमें मन लगाकर श्रद्धा तथा आदरपूर्वक मेरी पुनीत कथाओंको सुनते, कहते तथा अनु-

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥३०॥
यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् । शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥३१॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् । सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥३२॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम् । धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः । देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥३४॥
वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्या लोकनिःस्पृहः । मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो । यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ॥१॥
एतद् वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम् । नारदो भगवान् व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः॥२॥
निःसृतं ते मुखाम्भोजाद् यदाह भगवानजः । पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान् भवः॥३॥
एतद् वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च सम्मतम् । श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥४॥
एतत् कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् । भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥५॥

सेवन करते हैं, वे मुझमें अनन्यभक्ति पाते हैं ॥ २९ ॥ मुझ अनन्त-गुण-सम्पन्न तथा आनन्दानुभवस्वरूप परब्रह्ममें भक्ति पानेवाले साधु पुरुषको और क्या पाना बाकी रह जाता है ? ॥ ३० ॥ जैसे भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेवाले पुरुषके शीत, भय और अन्धकार—इन तीनोंकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही साधु पुरुषोंकी सेवा करनेसे पाप, संसारभय तथा अज्ञानादि नहीं रह जाते ॥ ३१ ॥ इस घोर संसार सागरमें डूबने-उतरानेवाले पुरुषोंके लिये जलमें डूबते हुओंके लिये नौकाके समान ब्रह्मवेत्ता तथा शान्तचित्त साधुजन ही सबसे बड़े सहायक हैं ॥ ३२ ॥ जैसे केवल अन्न ही देहधारियोंका जीवन है, जैसे मैं ही दीन-दुखियोंका सहारा हूँ और जैसे परलोकमें धर्म ही मनुष्यका धन होता है, वैसे ही संसारसे भयभीत पुरुषोंके लिये एकमात्र सन्तजन ही परम अवलम्ब होते हैं ॥ ३३ ॥ आकाशमें उदीयमान सूर्य मनुष्यको केवल बाह्य नेत्र (प्रकाश) देता है, किन्तु सन्तजन उसे ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं । अतएव सन्तजन देवता तथा बन्धुके सदृश होते हैं । वे सबके आत्मा और साक्षात् मेरे स्वरूप ही हैं ॥ ३४ ॥ हे उद्धव ! इस तरह उसी क्षणसे उर्वशीको देखनेकी इच्छा त्यागकर सुद्युम्ननन्दन महाराज पुरूरवा अनासक्त एवं आत्माराम होकर इस भूतलपर विचरने लगे ॥ ३५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे पं० रामतेजशास्त्रिकृतभाषाटीकायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

(कर्मयोगका विवेचन) उद्धवजी कहते हैं—हे सात्वतर्षभ प्रभो ! आपके भक्त आपकी जिस मूर्तिमें जिस तरह आपकी आराधना करते हैं, वह अपना आराधनस्वरूप कर्मयोग मुझसे कहें ॥ १ ॥ नारद, भगवान व्यासदेव तथा आङ्गिराके पुत्र बृहस्पति आदि अनेक मुनि आपके इस कर्मयोगको ही बारम्बार मनुष्योंके परम कल्याणका साधन कहते हैं ॥ २ ॥ आपके मुखसे निकले हुए इस कर्मयोगको पहले ब्रह्माजीने अपने पुत्र भृगु आदिको और भगवान शङ्करने श्रीपार्वतीजीको बताया था ॥ ३ ॥ हे मानद ! यह कर्मयोग सब वर्णों और सब आश्रमोंको मान्य है और मैं इसे स्त्री तथा शूद्रादिके लिये भी परम कल्याणकारी मानता हूँ ॥ ४ ॥ हे कमलपत्राक्ष ! हे जगदीश्वरोंके भी ईश्वर ! कर्मबन्धनको छुड़ानेवाले श्रेयस्कर कर्मको आप अपने अनुरक्त भक्त मुझको बताइये ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव । संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥६॥
वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः । त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥७॥
यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः । यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥८॥
अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु हृदि द्विजे । द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया ॥९॥
पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये । उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥१०॥
सन्ध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि मे । पूजां तैः कल्पयेत् सम्यक्सङ्कल्पः कर्मपावनीम्॥११॥
शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती । मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥१२॥
चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् । उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥१३॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात् स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम् । स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम्॥१४॥
द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः । भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥१५॥
स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव । स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतंहविः॥१६॥
सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः । श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥१७॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते । गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥१८॥
शुचिः संभृतसम्भारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः । आसीनः प्रागुद् वार्चेदर्चायामथ सम्मुखः ॥१९॥

श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! इस अनन्तपारवाले कर्मकाण्डका कोई अन्त नहीं है । अतएव इसके पूर्वापरक्रमसे मैं संक्षेपमें ही उसका वर्णन कर रहा हूँ ॥ ६ ॥ मेरे पूजनकी वैदिक, तान्त्रिक तथा मिश्र तीन विधियाँ कही गयी हैं । इनमेंसे जो भी अपने अनुकूल हो, उसीसे मेरी आराधना करे ॥ ७ ॥ शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यथासमय यज्ञोपवीतसंस्कार द्वारा द्विजत्व प्राप्त करनेके अनन्तर पुरुषको जैसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरा पूजन करना चाहिये, वह सुनो ॥ ८ ॥ उपासक निष्कपटभावसे प्रतिमा, चबूतरा, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय तथा ब्राह्मणमें भक्ति सहित यथोचित सामग्रीसे अपने गुरुस्वरूप मेरी पूजा करे ॥ ९ ॥ सबेरे दन्तधावन करनेके बाद शरीरशुद्धिके निमित्त वैदिक तथा तान्त्रिक मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ मृत्तिकादि लगाकर स्नान करे ॥ १० ॥ वेदने सन्ध्योपासनादि कर्मोंका विधान किया है । अतएव सत्यसङ्कल्प पुरुष उनके द्वारा सब कर्मोंको पवित्र करनेवाली मेरी उपासना करे ॥ ११ ॥ मेरी प्रतिमायें आठ प्रकारकी होती हैं । जैसे—पत्थरकी, काष्ठकी, लोहा, सोना-चांदी किसी धातुकी, चन्दन आदि लेपकी चित्रित की हुई, बालुकामयी, मनोमयी एवं मणिमयी ॥ १२ ॥ विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा करके स्थापित भगवानकी निवासस्थानरूपा प्रतिमा भी चल और अचल दो प्रकारकी होती है । हे उद्धव ! स्थिर प्रतिमाकी पूजामें आवाहन अथवा विसर्जन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती । अस्थिर प्रतिमासे आवाहन-विसर्जन चाहे करे या न करे, परन्तु बालुकामयी प्रतिमामें आवाहन तथा विसर्जन दोनों ही आवश्यक हैं । लेपमयी और चित्रित प्रतिमाओंका मार्जन भर करे, परन्तु स्नान सबको करावे ॥ १३॥१४ ॥ जो भी सामग्री मिलजाय, भक्त उसीसे निष्कपट होकर श्रद्धासहित मेरी प्रतिमाका पूजन करे या कि अपने हृदयमें ही मनोमयी सामग्रीसे मेरी मानसिक उपासना करे ॥ १५ ॥ हे उद्धव ! स्नान तथा वस्त्रालङ्कार तो धातु तथा पाषाण आदिकी प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी होते हैं । बालुकामयी प्रतिमामें मन्त्रोंके द्वारा अङ्ग तथा प्रधान देवताओंकी प्रतिष्ठा करे और अग्निमें घृत-मिश्रित शाकल्यादिसे हवन करके मेरी उपासना करे ॥ १६ ॥ सूर्यकी उपासनाके समय अर्घ्यदान करना उत्तम है और जलमें तर्पणादिसे मेरी उपासना करना उचित है । मेरे भक्तके द्वारा श्रद्धापूर्वक समर्पित जल भी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥ किसी भक्तिहीन पुरुष द्वारा दी हुई बहुमूल्य सामग्री मुझे प्रसन्न नहीं कर पाती । फिर चन्दन, धूप, दीप, पुष्प और नैवे-

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिना मृजेत् । कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥२०॥
तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च । प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत्२१
पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः । हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत्॥
पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम । अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम्॥
तयाऽऽत्मभूतया पिण्डेव्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः । आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत्२४
पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान् प्रकल्पयेत् । धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वाऽऽसनं मम॥२५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् । उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥२६॥
सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् । मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत्॥२७॥
नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च । महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥२८॥
दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून् सुरान् । स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान् पूजयेत् प्रोक्षणादिभिः
चन्दनोशीरकर्पूरकुंकुमागुरुवासितैः । सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥३०॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया । पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः॥३१॥
वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः । अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम्॥३२॥
पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् । धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥३३॥
गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् । संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥३४॥

द्यादिका तो कहना ही क्या है ॥ १८ ॥ स्नानादिसे पवित्र हो पूजन-सामग्री एकत्रकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बिछाये हुए कुशासनपर पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख तथा स्थिर प्रतिमा हो तो उसके आगे बैठकर मेरा पूजन करे ॥ १९ ॥ तदनन्तर विधिवत् करन्यास तथा अङ्गन्यास करके प्रतिमामें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमाका निर्माल्य अर्थात् पूर्वसमर्पित सामग्री अलग करके उसका मार्जन करे और कलश तथा प्रोक्षणीपात्रका यथाविधि संस्कार करे । इसके बाद आराधक उस जलसे पूजा-स्थान, सामग्री तथा अपने शरीरका प्रोक्षण करे । फिर पाद्य, अर्घ्य और आचमनके निमित्त तीन पात्रोंमें जल भरकर उनमें यथायोग्य शास्त्रविहित सामग्री डाले ॥२०–२२॥ तब प्राणवायु और जठराग्निसे शुद्ध शरीरके भीतर हृदयकमलमें बैठी मेरी सिद्धभावित प्रतिमाका ध्यान करे ॥२३॥ उस आत्मभूत जीवकला द्वारा व्याप्त पिण्डमें प्रथम मानसिक उपचारोंसे मेरी पूजा करे । तन्मयभावसे आवाहन करके मुझे प्रतिमा आदिमें स्थापित करे और मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास करके उसमें मेरी पूजा करे ॥२४॥ धर्म आदि नौ शक्तियोंसे युक्त मेरे आसनकी कल्पना करे । उसमें अत्यन्त उज्ज्वल कर्णिका तथा केसरोंके सहित अष्टदल कमलकी भावना करता हुआ पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य आदि उपचार प्रस्तुत करके भोग और मोक्षकी सिद्धिके निमित्त वैदिक तथा तान्त्रिक विधिसे मेरी पूजा करे ॥२५॥२६॥ तदनन्तर सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शंख, गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मुसल, कौस्तुभमणि, वैजयन्ती माला तथा श्रीवत्स-चिह्नकी यथास्थान स्थापना करके विधिवत् पूजन करे ॥ २७ ॥ तब नन्द, सुनन्द, गरुड़, चण्ड, बल, महाबल, कुमुद, कुमुदेक्षण, दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन, गुरुगण तथा अन्यान्य देवताओंका अपने-अपने स्थानपर स्थापित करके प्रोक्षण आदिके क्रमसे उनकी पूजा करे ॥ २८–२९॥ यदि शक्ति हो तो नित्य चन्दन, उशीर अर्थात् खस, कपूर, कुंकुम तथा अगुरुके द्वारा सुवासित जलसे स्वर्ण घर्मानुवाक, महापरुषविद्या, पुरुषसूक्त तथा सामवेदोक्त राजनादि मन्त्रोंको पढ़ता हुआ मुझे स्नान करावे ॥ ३०–३१ ॥ वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध तथा चन्दनादिसे मेरा भक्त यथोचित रीतिसे प्रेमपूर्वक मेरा शृंगार करे । उपासकको चाहिए कि श्रद्धापूर्वक पाद्य, आचमन, गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप आदि मुझे अर्पण करे । यदि धनकी कमी न हो तो गुड़, खीर, घृत, पूरी, लड्डू, हलुआ, दही तथा दाल आदि विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य अर्पण

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् । अन्नाद्यगीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम्॥३५॥
विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः । अग्निमाधाय परितः समूहेत् पाणिनोदितम्॥३६॥
परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि । प्रोक्षण्याऽऽसाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम्॥
तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः । लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥३८॥
स्फुरत्किरीटकटककटिसूत्रवराङ्गदम् । श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम्॥३९॥
ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृतानि च । प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लुतं हविः॥४०
जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः । धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः॥४१॥
अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत् । मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन् नारायणात्मकम्॥४२॥
दत्त्वाऽऽचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत् । मुखवासं सुरभिमत् ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥४३॥
उपगायन् गृणन् नृत्यन् कर्माण्यभिनयन् मम । मत्कथाः श्रावयञ्छृण्वन् मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ४४
स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि । स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥४५॥
शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् । प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥४६॥
इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् । उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत् पुनः ।४७।

करे ॥ ३२-३४ ॥ अपनी शक्ति भर नित्य अथवा पर्वके दिनोंपर सुगन्धित तैल, उबटन, दर्पण, दन्तधावन, अभिषेक, विविध प्रकारके भोज्य तथा भक्ष्य पदार्थ एवं नित्य, वाद्य और गान आदि करके उत्सव मनावे ॥ ३५ ॥ मेखला, गर्त और वेदीसे युक्त अग्निकुण्डमें विधिवत् अग्नि स्थापित करे और उसे अपने हाथकी हवासे प्रज्वलित करके परिसमूहन करे ॥३६॥ तदनन्तर वेदीके चारों ओर कुशा बिछाकर उनका प्रोक्षण करे तथा विधिवत् समिधाओंका आधानरूप अन्वाधान कृत्य करके अग्निके उत्तर भागमें होमोपयोगी सामग्री रखके उसका प्रोक्षणीपात्रके जलसे प्रोक्षण करनेके बाद अग्निमें मेरा ध्यान करे ॥ ३७ ॥ जो तप्त सुवर्णके समान तेजोमय, चारों भुजाओंमें शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हैं, शान्तमूर्ति तथा कमल-केसरके समान पीत वस्त्र पहने, दिव्य अङ्गोंमें किरीट, कङ्कण, करधनी और भुजबन्द धारण किये तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, कान्तिमान कौस्तुभमणि और वनमालासे सुशोभित मेरे रूपका ध्यान और पूजन करके घृतमें भीगी समिधाओंकी आहुति दे। फिर आघार और आज्यभाग नामकी दो-दो घृताहुतियाँ देकर अग्निमें घृतसे भीगे शाकल्यकी आहुतियाँ डाले ॥ ३८-४० ॥ मूलमन्त्र तथा पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंमेंसे प्रत्येक मन्त्रके द्वारा आहुति डालते हुए बुद्धिमान् उपासकको चाहिए कि पूजन-क्रमसे धर्मादि देवताओंके लिए मन्त्र द्वारा आहुति दे और उसके बाद स्विष्टकृत् हवन करे ॥ ४१ ॥ इस तरह पूजा तथा नमस्कार करके नन्द-सुनन्दादि पार्षदोंको बलि अर्पण करे और भगवानका स्मरण करता हुआ भगवत्स्वरूप मूलमन्त्र जपे ॥४२॥ तब भगवानको आचमन कराके उनका प्रसाद विष्वक्सेनको निवेदन करे और सुगन्धित ताम्बूल तथा मुखवास अर्पण करके अन्तमें फिर पुष्पाञ्जलि अर्पण द्वारा मेरा पूजन करे ॥ ४३ ॥ मेरे कर्मोंका गान, कथन तथा अभिनय करता हुआ वह प्रेमोन्मत्त होकर नाचता तथा मेरी कथाओंको सुनता हुआ केवल एक मुहूर्तके लिये अवकाश लेवे। तदनन्तर पुराणों अथवा जनसाधारणमें प्रचलित छोटे-बड़े स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करनेके बाद कहे कि 'हे प्रभो, आप मुझपर प्रसन्न हों' और फिर दण्डकी भाँति पृथिवीमें लोटकर मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करे ॥४४॥ ॥ ४५ ॥ उस समय अपना सिर मेरे चरणोंमें रखकर अपने दोनों हाथोंसे—दायेंसे दायाँ और बायेंसे बायाँ चरण पकड़कर कहे कि 'हे प्रभो ! मृत्युरूप ग्राहसे भरे इस संसार-सागरसे भयभीत मुझ शरणागतकी आप रक्षा करिए' ॥ ४६ ॥ स्तुति करनेके बाद मुझे समर्पण की हुई मालाको प्रसादरूपसे आदरपूर्वक अपने मस्तकपर रक्खे यदि विसर्जन करनेकी इच्छा हो तो प्रतिमामें

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् । सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥४८॥
एवंक्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः । अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥४९
मदर्चां संप्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम् । पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान्॥
पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् । क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात्॥५१।
प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् । पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥५२।
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति । भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥५३॥
यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः । वृत्तिं स जायते विड्भुग् वर्षाणामयुतायुतम् ।५४।
कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च । कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम्॥५५।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् । विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ॥१॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति । स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥२॥
तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः । मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक्पुमान् ।३।

स्थापित ज्योतिमें लीन करता हुआ विसर्जन करे ॥ ४७ ॥ प्रतिमादिमें जब और जहाँ उपासककी इच्छा हो तब और उसीमें मेरी उपासना करे। क्योंकि मैं सब प्राणियोंमें सर्वात्मभावसे विराजमान रहा करता हूँ ॥ ४८ ॥ इस तरह वैदिक तथा तान्त्रिक कर्मयोगकी विधिसे उपासक मेरा पूजन करके ऐहलौकिक, पारलौकिक तथा दोनों तरहकी अभीष्ट सिद्धियाँ मेरे द्वारा पाता है ॥ ४९ ॥ यदि शक्ति हो तो उपासक मेरी प्रतिष्ठा करके सुदृढ़ देवालय बनवाये, सुन्दर पुष्पोद्यान लगवावे और मेरी नैत्यिक पूजा, पर्वदिनोंपर विशेष यात्रा तथा वसन्त-महोत्सवादिके लिये क्षेत्र आदिका प्रबन्ध करे ॥ ५० ॥ बड़े पर्वदिनोंपर अथवा नित्यप्रति पूजा और उत्सव आदि नियमसे चालू रखनेके लिये क्षेत्र, हाट, पुर तथा ग्रामके देनेसे दाता मेरे समान ऐश्वर्य पाता है ॥ ५१ ॥ प्रतिमा-प्रतिष्ठा करनेसे सर्वभौम राज्य, देवालय बनवानेसे त्रिलोकीका स्वामित्व, पूजा आदि करनेसे ब्रह्मलोक तथा तीनों कर्म करनेसे मेरी समानता मिलती है ॥ ५२ ॥ निष्काम भक्तियोगके द्वारा भक्त मुझे ही प्राप्त कर लेता है। यदि कोई उपर्युक्त विधिसे मेरी पूजा करता है तो उसे मेरा भक्ति-योग प्राप्त होता है ॥५३॥ यदि कोई अपनी दी हुई अथवा किसी औरकी दी हुई ब्राह्मण तथा देवताकी वृत्ति हर लेता है तो वह लाख वर्षतक विष्ठाभोगी कीड़ा होता है ॥ ५४ ॥ उपर्युक्त अनुचित काम करनेवाला, उसका सहायक, प्रेरक तथा अनुमोदक ये चारो मरनेपर उस कर्मके समान फलके भागी होते हैं और इस कार्यमें सहायता, प्रेरणा तथा अनुमोदनरूप कर्मका फल भी अधिक ही हुआ करता है ॥ ५५ ॥ इति श्रीमद्भागवते महपुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

(परमार्थकी विवेचना) श्रीभगवान कहते हैं—हे उद्धव ! विचारशील पुरुषका कर्तव्य है कि प्रकृति तथा पुरुष समेत इस विश्वको एकात्मक देखता हुआ किसीके स्वभाव तथा कर्मको न प्रशंसा करे और न निन्दा करे ॥ १ ॥ यदि कोई दूसरोंके स्वभाव तथा कर्मोंकी स्तुति या निन्दा करता है तो असत् तथा द्वैत-प्रपञ्चमें अभिनिवेश इन दोनोंमें सत्यत्वबुद्धि हो जानेसे वह शीघ्र ही परमार्थ-साधनसे पतित हो जाता है ॥२॥ राजस अहङ्कारकी कार्यरूपिणी इन्द्रियोंके निद्राग्रस्त हो जानेपर शरीरस्थ जीव चेतनाशून्य होकर स्वप्नरूप माया तथा सुषुप्तिरूपिणी मृत्युको प्राप्त हो जाता है। वैसे ही भेददर्शी पुरुष विक्षेप एवं लयको प्राप्त होकर स्वार्थ-साधनसे भ्रष्ट हो जाया करता है ॥३॥

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् । वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥४॥
छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः । एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥५॥
आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः । त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥६॥
तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः । निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि ।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥ ७ ॥
एतद् विद्वान् मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् । न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥८॥
प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा । आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह ॥९॥

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः । अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥१०॥
आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः । अग्निवद् दारुवदचिद् देहः कस्येह संसृतिः ॥११॥

श्रीभगवानुवाच

यावद् देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् । संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥१२॥
अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते । ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥१३॥
यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् । स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥१४॥
शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः । अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः ॥१५॥

इस प्रकार असत् द्वैतमें शुभ अथवा अशुभ क्या है और कितना है? जो कुछ वाणी द्वारा व्यक्त किया जाता अथवा मनसे सोचा जाता, वह सब मिथ्या है ॥ ४ ॥ छाया, प्रतिध्वनि तथा आभास असत् होकर भी जैसे काम करते हैं, वैसे ही देह आदि उपाधियाँ भी मृत्युपर्यन्त विविध प्रकारसे भय देती हैं ॥ ५ ॥ यह आत्मा ही विश्व है। वह प्रभु आत्मा ही विश्वरूपसे रचा जाता तथा स्रष्टारूपसे इसे रचता है। वह विश्वात्मा ही रक्षित होता तथा रक्षा करता और वह ईश्वर ही संहृत होता तथा संहार करता है ॥ ६ ॥ अतएव आत्मासे भिन्न प्रतीत होनेवाले सारे भाव आत्मासे भिन्न किसी अन्य पदार्थके द्वारा निरूपित नहीं होते। आधिभौतिक तीन प्रकारकी प्रतीति अकारण ही देखी जाती है। इस त्रिविध प्रतीतिको मायाकृत तथा गुणमयी जानो ॥ ७ ॥ मेरी कही हुई इस ज्ञान-विज्ञानकी प्रवीणताको जानकर पुरुष लोकमें न किसीकी स्तुति करता और न निन्दा ही करता है। वह तो सूर्यके समान निर्लिप्त रहकर सर्वत्र समानभावसे विचरता रहता है ॥ ८ ॥ अतएव प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा अपने अनुभवसे इन अनात्म पदार्थोंको आदि-अन्त युक्त एवं असत् समझकर संसारमें असङ्ग भावसे विचरे ॥ ९ ॥ उद्धवजी कहते हैं—हे प्रभो! प्रतीयमान प्रपञ्च न तो साक्षीस्वरूप आत्मामें है और न दृश्य देहमें ही है। क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाशशील और देह जड़ है। तो फिर इसकी उपलब्धि किसको होगी? ॥ १० ॥ यह आत्मा तो अग्निके सदृश अव्यय, निर्गुण, शुद्ध, स्वयंप्रकाश तथा अनावृत है और देह काष्ठकी भाँति जड़ है, फिर यह संसार किसमें अधिष्ठित है? ॥ ११ ॥ श्रीभगवान कहने लगे—हे उद्धव! यद्यपि संसार असत् है, फिर भी जब तक अज्ञानी पुरुषका शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मनसे सम्बन्ध रहता है, तबतक उसको यह सुख-दुःखरूप फल देता ही है ॥ १२ ॥ स्वप्नमें प्राप्त अनर्थकी नाईं अत्यन्त असत् होते हुए भी जो पुरुष इसके विषयोंका चिन्तन किया करता है, उससे कभी यह संसार निवृत्त नहीं हो पाता ॥ १३ ॥ जैसे स्वप्नावस्था सोते हुए मनुष्यको बहुतेरे अनर्थोंको प्राप्त कराती है, किन्तु जाग जानेपर फिर उसे स्वप्नावस्थासे कोई मोह नहीं होता। वैसे ही अज्ञानावस्थामें मनुष्यको देहादि असत् पदार्थोंसे भय लगता है, किन्तु ज्ञानोदय हो जानेपर उसे कोई भय नहीं रह जाता ॥ १४ ॥ शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह तथा स्पृहा अर्थात् इच्छा आदि तथा जन्म और मृत्यु—ये सब अज्ञानसे जायमान

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः संसार आधावति कालतन्त्रः ॥१६॥
अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।
ज्ञानासिनोपासनया शितेनच्छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥१७॥
ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥१८॥
यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥१९॥
विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥२०॥
न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत्तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा ॥२१॥
अविद्यमानोऽप्यवभासते यो वैकारिको राजससर्ग एषः ।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥२२॥
एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः परापवादेन विशारदेन ।
छित्त्वाऽऽत्मसन्देहमुपारमेत स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥२३॥
नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्वमहङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥२४॥

अहङ्कारमें ही रहते हैं, शुद्ध आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता ॥ १५ ॥ देह, इन्द्रिय, प्राण तथा मन आदिका अभिमानी अन्तःकरण ही जीव है, वह गुण और कर्ममयी मूर्तिवाला होता है। उसीका सूत्र अथवा महान् आदि अनेक नामोंसे वर्णन किया जा चुका है। वही कालके अधीन होकर संसारकी ऊँच-नीच योनियोंमें जाता-आता रहता है ॥ १६ ॥ अनेकरूपसे ज्ञात होनेवाले किन्तु निर्मूल मन, वाणी, प्राण, शरीर और कर्म आदिको गुरुकी उपासनासे तीक्ष्ण किये हुए ज्ञान-खड्गसे काटकर मुनि तृष्णाहीन भावसे पृथ्वीपर घूमता है ॥ १७ ॥ 'संसारके आदि तथा अन्तमें जो तत्त्व निहित है, मध्यमें भी केवल वही इसके प्रकाशक तथा उपादान-कारणरूपसे स्थित रहता है'—यह विवेक ही ज्ञान है। इस निश्चयके निगम (वेद), तप यानी स्वधर्म, प्रत्यक्ष अर्थात् अनुभव, ऐतिह्य यानी उपदेश और अनुमानादि प्रमाण साधन माने गये हैं ॥ १८ ॥ जैसे सोनेकी वस्तुओंके बननेसे पहले और पीछे सोना अपने बिना गढ़े हुए स्वरूपमें रहता है, वही मध्यमें भी विविध नामोंसे व्यवहृत होता है। वैसे ही मैं भी इस दृश्यमान संसारका कारण हूँ। अतएव इसके आदि, अन्त तथा मध्यमें स्थित रहता हूँ ॥ १९ ॥ हे प्रिय उद्धव ! जिस तुरीय पदके अन्वय-व्यतिरेकसे जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिरूपिणी तीन अवस्थाओंसे युक्त मन तथा सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण, कारण, कार्य, कर्ता—ये सभी सिद्ध होते हैं, वही सत्यस्वरूप ब्रह्म है ॥ २० ॥ जो न उत्पत्तिके पहले था और न बाद ही रहेगा। वह बीचमें भी कथनमात्रको ही रहता है। क्योंकि जो पदार्थ किसी अन्यके द्वारा उत्पन्न होकर प्रकाशित होते हैं, वे वही होते हैं—ऐसा मेरा विचार है ॥२१॥ यह विकारसमुदायरूप राजस सृष्टि जो विद्यमान न होनेपर भी दीख रही है, वह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है। अतएव इन्द्रिय, विषय, मन तथा पञ्चभूतादि विचित्र रूपोंमें ब्रह्म ही भासमान हो रहा है ॥ २२ ॥ इस तथा ब्रह्मज्ञानके हेतुस्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अनात्म-पदार्थोंके निरूपण बाध द्वारा अपने हृदयका सन्देह भलीभाँति दूर करके आत्मानन्दसे पृथक् होजाय ॥ २३ ॥ यह पार्थिव शरीर

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभिर्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ।
विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं धनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥२५॥
यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणैर्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलैरहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥२६॥
तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद् रजो निरस्येत मनःकषायः ॥२७॥
यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥२८॥
कुयोगिनो ये विहितान्तरायैर्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥२९॥
करोति कर्म क्रियते च जन्तुः केनाप्यसौ चोदित आनिपातात् ।
न तत्र विद्वान् प्रकृतौ स्थितोऽपि निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥३०॥
तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत् किमपीहमानमात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥३१॥
यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥३२॥
पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्रमज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत् पुनरीक्षयैव न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥३३॥

आत्मा नहीं है और इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठाता देवता, प्राण, वायु, जल तथा अग्नि भी आत्मा नहीं हैं और अन्नमय मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आकाश, पृथ्वी तथा प्रकृति इनमेंसे कोई आत्मा नहीं है। क्योंकि ये सभी जड़ हैं ॥ २४ ॥ जिस पुरुषको मेरे स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान हो गया रहता है, उसको मेरी गुणमयी इन्द्रियोंके समाहित होनेसे भी लाभ क्या होगा और विक्षिप्त रहनेसे हानि क्या होगी ? बादलोंके आने-जानेसे भला सूर्यको क्या लाभ और क्या हानि हो सकती है ॥ २५ ॥ जैसे वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवीके गुणोंसे अथवा आने-जानेवाली ऋतुओंके गुणोंसे आकाश लिप्त नहीं हो सकता, वैसे ही अहङ्कारसे परे अक्षर आत्मतत्त्व संसारके कारणरूप सत्त्व, रज तथा तमके मलसे मलिन नहीं होने आता ॥ २६ ॥ फिर भी जबतक मेरे दृढ़ भक्तियोगके द्वारा मनका मलरूप रजोगुण निवृत्त न हो जाय, तबतक इन मायाचरित गुणोंका सङ्ग त्यागे ही रहे ॥ २७ ॥ जैसे भली भाँति उपचार न करनेपर रोग बार-बार उभड़कर मनुष्यको कष्ट पहुँचाता है, वैसे ही वासना तथा कर्मोंके परिपाकसे रहित एवं स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त मन अधूरे योगीको भ्रष्ट कर देता है ॥ २८ ॥ देवताओंके द्वारा उपस्थित किये गये मनुष्यरूपी विघ्नोंसे बाधित होकर योगी कुयोगी अर्थात् मार्गच्युत हो जाते हैं। किन्तु वे अपने पूर्वाभ्यास वश फिर योगमें प्रवृत्ति होते हैं—कर्मोंमें नहीं लगते ॥ २९ ॥ यह जीव किसी अन्य शक्तिकी प्रेरणासे मरणपर्यन्त कर्म करता ही रहता है, फिर भी ज्ञानी पुरुष आत्मानन्दके अनुभवसे वितृष्ण हो जानेके कारण लौकिक विषयोंमें रहता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता ॥ ३० ॥ जिसकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें स्थित रहती है वह ठहरते, बैठते, चलते, सोते, मल-मूत्र त्यागते, भोजन करते अथवा और कोई स्वाभाविक काम करते हुए भी अपने शरीरको नहीं जानपाता ॥ ३१ ॥ कोई विद्वान् यदि इन्द्रियोंके किसी बाह्य असत् विषयको देखता है तो नाना प्रकारके अनुमानोंसे उसे आत्मासे भिन्न या वास्तविक नहीं समझता। जैसे सोकर

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां तमो निहन्यान्न तु सद् विधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥३४॥
एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥३५॥
एतावानात्मसंमोहो यद् विकल्पस्तु केवले । आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ।३६।
यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् । व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ।३७।
योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः । उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥३८॥
योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः । तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥३९॥
कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसंकीर्तनादिभिः । योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥४०॥
केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् । विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
न हि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः । अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात् । तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥
योगचर्यामिमां योगी विचरन् मदपाश्रयः । नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धेऽष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥

उठनेपर अन्तर्हित स्वप्नके पदार्थोंको कोई सच नहीं मानता ॥ ३२ ॥ हे प्रियवर ! विविध प्रकार-के गुण और कर्मोंसे युक्त जिन देह तथा इन्द्रिय आदि अज्ञानजनित पदार्थोंको वह पहले आत्मासे मिला मानता था, अब वे आत्मनिरीक्षणसे ही निवृत्त हो जाया करते हैं। इसके विपरीत आत्माका न ग्रहण होता है और न त्याग ॥ ३३ ॥ जैसे सूर्योदय मनुष्योंके नेत्रोंके आवरणरूप अन्धकारको हटा देता है, वह किसी पदार्थकी रचना नहीं करता, वैसे ही मेरा सुदृढ़ एवं सम्यक् ज्ञान मानवबुद्धिके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर डालता है ॥ ३४ ॥ आत्मा तो स्वयंप्रकाश, अजन्मा, अप्रमेय, महानुभवस्वरूप, सर्वानुभवस्वरूप, एक तथा अद्वितीय है। वह वाणीका विषय न होनेके कारण जब वाणी उसे न पाकर निवृत्त हो जाती है, तब भी इसीकी प्रेरणासे वाणी और प्राण अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ३५ ॥ अभिन्न आत्मामें विकल्प मानना ही चित्तका बड़ा भारी अज्ञान है। क्योंकि इस विकल्पका भी अपने आत्मस्वरूप मनके सिवाय और कोई सहारा नहीं है ॥ ३६ ॥ नाम-रूपसे ग्रहण किया जानेवाला पाञ्चभौतिक द्वैत बाधित नहीं है, इस सिद्धान्त-को मानकर अपनेको पण्डित माननेवाले मीमांसकोंको यह वेदान्तकथित ब्रह्मात्मवाद अकारण ही अर्थवाद ज्ञात होता है ॥ ३७ ॥ योगसाधनके पूर्ण होनेसे पहले ही यदि किसी साधकका शरीर अकस्मात् उत्पन्न व्याधिसे पीडित हो जाय तो उसके लिये ये उपाय कहे गये हैं—॥ ३८ ॥ कुछ उप-द्रवोंको योगधारणासे, कुछको धारणायुक्त आसनसे और कुछको तप, मन्त्र तथा औषधिसे शान्त कर दे ॥ ३९ ॥ कुछ अशुभप्रद दोषोंको मेरे निरन्तर ध्यानसे, कुछको नाम-संकीर्तन आदिसे और कुछको योगेश्वरोंका अनुवर्तन करके धीरे-धीरे नष्ट कर दे ॥ ४० ॥ कोई-कोई धीर योगीजन इस देह-को विविध उपायोंसे सुदृढ़ तथा युवावस्थामें स्थिर करके अणिमादि सिद्धियोंके लिये योगसाधन करते हैं ॥ ४१ ॥ चतुर पुरुष इस मार्गका अवलम्बन नहीं करे। यह तो व्यर्थ प्रयास है। क्योंकि वृक्षमें लगे फलके समान यह शरीर भी तो नाशवान ही है ॥ ४२ ॥ नित्य योगसाधन करनेमें तत्पर योगीका शरीर यदि स्वस्थ हो जाय तो मुझे भजनेवाला बुद्धिमान् पुरुष साधन छोड़ और सन्तुष्ट होकर न बैठ जाय ॥ ४३ ॥ निष्काम तथा स्वानन्दानुभव करनेवाला जो योगी मेरा आश्रय लेकर सदा योगसाधनमें लगा रहता है, उसको कभी कोई विघ्न नहीं सताते ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः

उद्धव उवाच

सुदुश्चरामिमां मन्ये योगचर्यामनात्मनः। यथाञ्जसा पुमान् सिद्ध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत॥१॥
प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः। विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥२॥
अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभिस्त्वन्माययामी विहता न मानिनः॥३॥
किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः॥४॥
त्वं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां सर्वार्थदं स्वकृतविद् विसृजेत को नु।
को वा भजेत् किमपि विस्मृतयेऽनु भूत्यै किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः॥५॥
नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥६॥

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो जगाद सप्रेममनोहरस्मितः॥७॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान् सुमङ्गलान्। याञ्छ्रद्धयाऽऽचरन् मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम्॥८॥

(भागवत-धर्मका निरूपण तथा उद्धवजीका बदरिकाश्रमको प्रस्थान) उद्धवजी कहते हैं—हे अच्युत ! योगचर्याको तो मैं अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये अतिशय दुःसाध्य मानता हूँ। अतएव आप स्पष्टतया मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइए, जिससे कि लोग अनायास सिद्धि प्राप्त कर लें॥ १॥ हे कमललोचन ! मनको एकाग्र करनेमें संलग्न योगीजन उसका निग्रह करनेमें अत्यन्त दुर्बल हो जानेसे प्रायः उदास रहते हैं॥ २॥ अतएव हे अरविन्दाक्ष ! हे विश्वेश्वर ! सारग्राही ज्ञानीजन अनायास ही आपके परम आनन्ददायी चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं। किन्तु जो योगकर्मोंके कारण अभिमानी ही रहे हैं, वे आपकी मायासे भरे रहते हैं। उन्हें कभी सुख नहीं मिल पाता॥ ३॥ हे सर्वसुहृद् अच्युत ! यदि आप अपने अनन्यशरण दासोंके अधीन हो जाते हैं, तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ? क्योंकि जिनके चरणकमलोंमें स्वयं ब्रह्मा आदि लोकपाल भी अपने दीप्तिशाली मुकुट घिसते हैं, उन्हीं आपने रामावतारमें वानरोंसे मित्रता की थी॥ ४॥ अपने भक्तपर किये हुए आपके उपकारोंको जानते हुए ऐसा कौन पुरुष होगा, जो सब प्राणियों के आत्मा, प्रियतम, ईश्वर एवं शरणागतोंको सब कुछ देनेवाले प्रभु आपको भूल जायगा ? अथवा ऐसा कौन विचारशील होगा, जो परिणाममें मोह उत्पन्न करनेवाले एवं केवल भोगके ही साधनस्वरूप तुच्छ भोगोंको चाहेगा ? और फिर आपके चरणरजका सेवन करनेवाले हमलोगोंके लिये दुर्लभ भी क्या है ? ॥५॥ हे ईश्वर ! जो आश्चर्य तथा अन्तर्यामीरूपसे शरीरधारियोंका बाह्य एवं आन्तरिक मल दूर करके उन्हें अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराते हैं, उन आपके उपकारोंका बदला विवेकी ब्रह्मवेत्तागण ब्रह्मके समान आयु पाकर भी नहीं चुका सकेंगे। वे तो आपके उपकारोंका स्मरण करके मन-ही-मन प्रसन्न हो जाया करते हैं॥ ६॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! उद्धवके इस तरह प्रेमपूर्वक पूछनेपर जगत् ही जिनकी क्रीडा-सामग्री है और जो अपनी मायासे त्रिदेवरूप धारण करके जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते हैं, वे ईश्वरोंके भी ईश्वर मन्द-मन्द मुसकाते हुए बोले॥ ७॥

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् । मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥९॥
देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैःसाधुभिःश्रितान् । देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥१०॥
पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् । कारयेद् गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः॥११॥
मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् । ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥१२॥
इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते । सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥१३॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके । अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥१४॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥१५॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम् । प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते । तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ॥१७॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया । परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः ॥१८॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम । मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥१९॥
न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि । मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥२०॥
यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् । तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम ॥२१॥

श्रीभगवान कहने लगे—हे तात ! मैं तुम्हें अपना अत्यन्त मङ्गलमय भागवत-धर्म सुनाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको भी जीत लेता है ॥ ८ ॥ निरन्तर मुझहीमें मन तथा चित्त लगाये रहनेवाला और जिसकी आत्मा और मनका मेरे धर्मोंमें ही अनुराग हो गया है, वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सब कर्मोंको शनैः-शनैः मेरे ही लिए करता रहे ॥ ९ ॥ जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों, उन पुण्यस्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो गये हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करता रहे ॥ १० ॥ पर्वदिनोंपर अकेला ही अथवा सबके साथ मिलकर नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करावे ॥ ११ ॥ निर्मलचित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने आपमें मुझ आत्माको ही आकाशके समान निरावरणरूपसे बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त देखे ॥ १२ ॥ हे महातेजस्वी उद्धव ! जो इस तरह केवल ज्ञानदृष्टिका आश्रय ले और सब प्राणियोंको मेरा ही स्वरूप समझकर सत्कार करता तथा ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर तथा सूर्य और स्फुलिङ्ग अर्थात् चिनगारी तथा कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है, वही पण्डित माना जाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥ बहुत अधिक समयतक सब पुरुषोंमें निरन्तर मेरी ही भावना करनेसे मनुष्यके स्पर्धा-असूया अर्थात् परनिन्दा-तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं ॥ १५ ॥ मेरा भक्त अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' इस देहदृष्टि तथा लोकलज्जाको त्यागकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ तथा गधेको भी समान समझ और पृथिवीपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे। जबतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना न हो, तबतक उसी प्रकार मन, वाणी और शरीरके सब व्यापारोंसे नित्य मेरी उपासना करता जाय ॥ १६ ॥ १७ ॥ इस तरह सर्वत्र आत्मबुद्धिरूपिणी ब्रह्मविद्याके द्वारा उसे सब कुछ ब्रह्ममय प्रतीत होने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर योगी सर्वथा निःसन्देह होकर शान्त हो जाय, फिर लौकिक-वैदिक किसी प्रकारके कर्म-कलापमें न पड़े ॥ १८ ॥ मन, वाणी तथा शरीरकी सब वृत्तियोंसे पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना करनेकी मैं अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन मानता हूँ॥ १९ ॥ हे प्रिय उद्धव ! आरम्भ कर देनेके बाद फिर मेरे इस धर्मका किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे तनिक भी ध्वंस नहीं होने आता। क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इस निष्काम धर्मका भलीभाँति निरूपण किया है ॥ २० ॥ हे साधुश्रेष्ठ ! अवश्यम्भावी मृत्यु आदिके भयसे व्यर्थ भागने-रोने आदि जो-जो निरर्थक प्रयास हैं। सो भी यदि मुझ परमात्माको फलाभावके साथ अर्थात् निष्कामभावसे अर्पण

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् । यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥२२॥
एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः । समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥२३॥
अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् । एतद् विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥२४॥
सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् । सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२५॥
य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात् सुपुष्कलम् । तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना॥२६॥
य एतत् समधीयीत पवित्रं परमं शुचि । स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥२७॥
य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः । मयि भक्तिं परां कुर्वन् कर्मभिर्न स बध्यते ॥२८॥
अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम् ।अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः॥२९॥
नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च । अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥३०॥
एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च । साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्॥
नैतद् विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते । पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥३२॥
ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे ।यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः॥३३॥
मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥३४॥

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्गस्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य ।

कर दिया जाय तो वह भी मेरी प्राप्तिका साधक धर्म होता है ॥ २१ ॥ यदि मनुष्य इस असत् तथा नाशवान् मानव शरीरके द्वारा मुझ अजर-अमर परमात्माको प्राप्त कर लेता है, तो यही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई मानी जाती है ॥ २२ ॥ इस तरह मैंने तुम्हें देवताओंको भी दुर्लभ ब्रह्मवादका सम्पूर्ण सारसंग्रह संक्षेप तथा विस्तारसे सुना दिया ॥ २३ ॥ हे उद्धव ! मैंने स्पष्ट युक्तियोंसे पूर्ण यह ज्ञान तुमसे बारम्बार कहा है । इसको जान लेनेपर पुरुष निःसन्देह होकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है ॥ २४ ॥ मैंने तुम्हारे प्रश्नका भलीभाँति विवेचन कर दिया । जो पुरुष हमारे प्रश्नोत्तरको ध्यानपूर्वक मनन करके धारण करता है, वह वेदोंके भी परम रहस्यस्वरूप सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ॥ २५ ॥ जो मनुष्य इसे मेरे भक्तोंको भलीभाँति स्पष्ट करके सुनायेगा, उस ज्ञानदाताको मैं अपने आपको अर्पण कर दूँगा ॥२६॥ जो पुरुष इस परम पवित्र प्रसङ्गको शुद्धतापूर्वक नित्यप्रति भले प्रकारसे पढ़ेगा, वह अपने ज्ञानरूपी दीपकसे मेरा साक्षात्कार करके सदाके लिए पवित्र हो जायगा ॥ २७ ॥ यदि कोई एकाग्रचित्तसे इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा, वह मेरी परा भक्ति पाकर फिर कभी कर्मबन्धनमें नहीं बँधेगा ॥ २८ ॥ हे सखे उद्धव ! तुमने भलीभाँति ब्रह्मका स्वरूप समझ लिया न ? तुम्हारे चित्तका मोह और शोक दूर हो गया न ? ॥ २९ ॥ तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, दुष्ट प्रकृति, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले, शक्तिहीन तथा उद्धत पुरुषोंको कभी मत बताना ॥ ३० ॥ जो इन दोषोंसे रहित, ब्राह्मण-भक्त, प्रेमी, साधु-स्वभाव तथा पवित्र चरित्र हो, उससे तथा स्त्री और शूद्रोंसे भी, यदि उनकी मुझमें भक्ति हो तो इस प्रसङ्गको कहना ॥ ३१ ॥ जैसे अमृत पी लेनेपर और कुछ पीना शेष नहीं रहजाता, वैसे ही इसको जान लेनेपर जिज्ञासुको और कुछ जानना शेष नहीं रहता ॥ ३२ ॥ हे तात ! ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य और राज-दण्डादिसे मनुष्योंको जो मोक्ष, धर्म, काम तथा अर्थरूप फल मिलता है, वह चारों प्रकारका फल तुम जैसे अनन्य भक्तोंके लिये मैं स्वयं हूँ ॥ ३३ ॥ जब मनुष्य सब कर्म छोड़कर मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब मैं उसे विशिष्ट बना देता हूँ । इससे वह मोक्षरूप परमपद पाकर मेरा ही स्वरूप हो जाता है ॥ ३४ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! पुण्यकीर्ति भगवान कृष्णचन्द्रसे इस तरह योगमार्गका उपदेश पा

बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥३५॥
विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं धैर्येण राजन् बहु मन्यमानः ।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥३६॥

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।
विभावसोः किं नु समीपगस्य शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य ॥३७॥
प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः ।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं कोऽन्यत् समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥३८॥
वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥३९॥
नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् । यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी॥४०॥

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयाऽऽदिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम् । तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः॥४१॥
ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः । वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक् सुखनिःस्पृहः॥४२॥
तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः । शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥४३॥
मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन् । मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव ।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम् ॥४४॥

और उनके वचन सुननेपर उद्धवजीकी आँखोंमें आँसू भर आये, प्रेमके कारण उनका गला भर आया और वे कुछ नहीं बोल सके। वे केवल हाथ जोड़कर खड़े भर रह गये ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! फिर धैर्यपूर्वक प्रेमावेशसे विह्वल अपने चित्तको रोककर उद्धवजी अपनेको धन्य मानते हुए भगवान् यदुनाथके चरणोंपर सिर रख और हाथ जोड़कर कहने लगे ॥ ३६ ॥ उद्धवजी बोले—हे ब्रह्माजीकी भी उत्पत्ति करनेवाले प्रभो! मैंने जिस मोहमय अन्धकारको अपने हृदयमें आश्रय दे रक्खा था, वह आज आपके सदुपदेशसे नष्ट हो गया। अग्निके समीप पहुँच जानेपर भी क्या शीत,अन्धकार तथा भय आदि ठहर सकते हैं ? ॥३७॥ हे प्रभो ! आपने कृपा करके मेरा ज्ञानदीपक मुझ सेवकको फिर लौटा दिया। आपके इस अनुग्रहको जानकर भी ऐसा कौन होगा, जो आपके चरण-कमलोंका आश्रय छोड़कर किसी औरकी शरणमें जायगा।॥३८॥ आपने अपनी मायासे सृष्टि-वृद्धिके निमित्त जो दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक तथा सात्वतवंशी यादवोंमें मेरा सुदृढ़ स्नेहपाश फैला रक्खा था, उसे आज आपने आत्म-बोधरूपी तीक्ष्ण खड्गसे काट दिया ॥ ३९ ॥ हे महायोगिन् ! आपको नमस्कार है। अब आप मुझ शरणागतको ऐसी शिक्षा दें कि जिससे आपके चरणकमलोंमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे ॥ ४० ॥ श्रीभगवानने कहा—हे उद्धव ! मेरी आज्ञासे अब तुम बदरीनारायणनामक मेरे आश्रमको चले जाओ। वहाँ मेरे चरणकमलोंसे उत्पन्न गङ्गाजीके अतिशय पुनीत जलके स्नान तथा पानसे तुम पवित्र हो जाओगे ॥ ४१ ॥ अलकनन्दाके दर्शनोंसे तुम्हारे सब पाप दूर हो जायँगे। हे प्रियबर ! वहाँ तुम वल्कल-वस्त्र पहनकर वनके कन्द, मूल, फल भोजन करते हुए निःस्पृहभावसे सुखपूर्वक रहो ॥ ४२ ॥ शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहते हुए सुशील तथा जितेन्द्रिय होकर शान्तचित्त एवं एकाग्र बुद्धिसे ज्ञान-विज्ञानसे युक्त रहना ॥ ४३ ॥ मुझसे तुम्हें जो कुछ शिक्षा मिली है उसका भली भाँति विचारपूर्वक अनुभव करते तथा मुझमें वाणी और चित्तको लगाते हुए मेरे धर्मोंमें ही तत्पर रहना। ऐसा करते रहनेसे तुम तीनों गुणोंकी गतिको लाँघकर अन्तमें मुझ परब्रह्मको प्राप्त कर लोगे ॥४४॥

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः ।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधीर्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्युपक्रमे ॥४५॥
सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः ।
कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥४६॥
ततस्तामन्तर्हृदि सन्निवेश्य गतो महाभागवतो विशालाम् ।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना तपः समास्थाय हरेरगाद् गतिम् ॥४७॥
य एतदानन्दसमुद्रसम्भृतं ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम् ।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा सच्छ्रद्धयाऽऽसेव्य जगद् विमुच्यते ॥४८॥
भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान् पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ २९ ॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

राजोवाच

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम् । द्वारवत्यां किमकरोद् भगवान् भूतभावनः ॥१॥
ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः । प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥२॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! जिनका ज्ञान संसारश्रमको हर लेनेवाला था, उन श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसा कहनेपर उद्धवजीने उठकर उनकी परिक्रमा की और उनके चरणोंपर अपना मस्तक रख दिया । उद्धव सब द्वन्द्वोंसे परे थे । फिर भी वहाँसे चलते समय उनका चित्त प्रेमवश भर आया और अपने नेत्रोंकी अश्रुधारासे उन्होंने भगवानके चरणकमल भिगो दिये ॥ ४५ ॥ जिनके स्नेहका छोड़ना अत्यन्त कठिन था, उन श्रीकृष्णका वियोग होजानेसे वे व्याकुल हो गये । उन्हें एकाएक न छोड़ सकनेके कारण उद्धवने अति आतुर होकर अपने स्वामी (कृष्ण) की चरणपादुकाएँ ले लीं और उन्हें अपने माथेपर रखकर बारम्बार प्रणाम करनेके अनन्तर जैसे-तैसे अपना मन मसोसकर वहाँसे चले ॥ ४६ ॥ महाभागवत उद्धवजी अपने हृदयमें भगवानकी दिव्य छवि धारण करके बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ संसारके एकमात्र सुहृद् श्रीहरिके आदेशानुसार तपोमय आचरण करते हुए अन्तमें परमगति प्राप्त किये ॥ ४७ ॥ योगेश्वर जिनके चरणोंकी सेवा करते हैं, उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा आनन्द-समुद्रसे उत्पन्न यह ज्ञानामृत अपने अनन्य भक्त उद्धवको उन्होंने कह सुनाया । जो श्रद्धापूर्वक थोड़ा-सा भी इसका श्रवण करता है तो वह सारे जगत्के सङ्गसे मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥ जिन वेदप्रकाशक भगवानने समस्त संसारभयको दूर करनेके लिये फूलोंसे सारस्वरूप मधु निकाल लेनेवाले भ्रमरके समान एक तो समस्त वेद-वेदान्तोंका सारस्वरूप यह ज्ञान-विज्ञानका सार निकाला और दूसरा समुद्रसे अमृत निकाला तथा अपने भक्तोंको पिलाया, उन श्रीकृष्णनामक परम श्रेष्ठ आदि पुरुषको प्रणाम है ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायामेकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

(यदुवंशका संहार) इतनी कथा सुनकर राजा परीक्षित्ने कहा—हे ब्रह्मन् ! महाभगवद्भक्त उद्धवजीके वनको चले जानेके बाद भूतभावन भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने द्वारकामें क्या कार्य किया ? ॥ १ ॥ यदुकुलभूषण भगवान कृष्णने अपने कुलके ब्रह्मशापसे ग्रस्त हो जानेपर समस्त संसारके

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः कर्णाविष्टं न सरति ततो यत् सतामात्मलग्नम् ।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं कवीनां दृष्ट्वा जिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥३॥

ऋषिरुवाच

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान् समुत्थितान् । दृष्ट्वाऽऽसीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ४
एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः । मुहूर्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः ॥५॥
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः । वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक्सरस्वती ॥६॥
तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः । देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥७॥
ब्राह्मणांस्तु महाभागान् कृतस्वस्त्ययना वयम् । गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥८॥
विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम् । देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥९॥
इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः । तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥१०॥
तस्मिन् भगवताऽऽदिष्टं यदुदेवेन यादवाः । चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥११॥
ततस्तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु । दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥१२॥
महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम् । कृष्णमायाविमूढानां सङ्घर्षः सुमहानभूत् ॥१३॥
युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः । धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥१४॥
पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा न्यहन्छरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥१५॥

नेत्रोंको सुख देनेवाले अपने शरीरको कैसे त्यागा ? ॥ २ ॥ जिस सुन्दर शरीरमें लगे हुए अपने नेत्रों-को गोकुलकी स्त्रियाँ नहीं मोड़ सकीं थीं । क्योंकि कर्णमार्गसे भीतर प्रविष्ट होनेपर जो भाव सज्जनोंके चित्तमें धँस जाता है, फिर वहाँसे नहीं निकलता । जिनकी शोभाका वर्णन कवियोंका मान बढ़ाता और उनकी वाणीको भी आनन्दित करता है । जिसे अर्जुनके रथपर बैठे देखकर युद्धमें मरनेवाले योद्धाओंको भी उनकी सारूप्य-मुक्ति मिल गयी थी, उस अपने अलौकिक शरीरको भगवान कृष्णने कैसे त्यागा ? ॥ ३ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! भगवान श्रीकृष्णने आकाश, पृथिवी तथा अन्तरिक्षमें सर्वदा होनेवाले महान् उत्पातोंको देखकर सुधर्मा सभामें बैठे हुए यादवोंसे कहा ॥४॥ श्रीकृष्णभगवान बोले—हे यादवगण ! द्वारकापुरीमें होनेवाले ये भयानक उत्पात यमराजकी ध्वजाके समान हैं । अब हमको यहाँ एक क्षण भी ठहरना उचित नहीं है ॥ ५ ॥ अतएव तुमलोग स्त्री, बालक और बड़े-बूढ़ोंको तो शंखोद्धार-क्षेत्र भेज दो और हम सब लोग प्रभासक्षेत्र चलेंगे, जहाँ कि पश्चिम-वाहिनी सरस्वती नदी विद्यमान है ॥ ६ ॥ उस पुनीत तीर्थमें स्नान करके पवित्र होनेके बाद हम उपवास करेंगे और एकाग्रचित्तसे स्नपन-चन्दन आदि सामग्रियोंसे सब देवताओंकी पूजा करेंगे ॥७॥ स्वस्तिवाचन हो चुकनेके बाद हम गौ, भूमि, सुवर्ण, वस्त्र, गज, अश्व, रथ तथा गृह आदि महाभाग ब्राह्मणोंको दान देंगे ॥ ८ ॥ क्योंकि यह विधि हमारे सब अरिष्टोंका नाश करनेवाली और मङ्गलकारिणी होगी । देवता, ब्राह्मण तथा गौओंकी पूजा करना ही प्राणियोंके जन्मका सबसे बड़ा लाभ है ॥ ९ ॥ भगवान मधुसूदनका वचन सुनकर वृद्ध यादवोंने उसका समर्थन किया और तुरन्त नौकाओं द्वारा समुद्र पार करके रथोंपर चढ़कर प्रभास-क्षेत्रको चल पड़े ॥ १० ॥ वहाँ पहुँचकर भग-वान् यदुनाथके आदेशानुसार यादवोंने बड़ी भक्तिसे सब मङ्गल-कृत्योंको पूर्ण किया ॥ ११ ॥ किन्तु प्रारब्धवश बुद्धि भ्रष्ट हो जानेके कारण उन्होंने जिसे पीनेसे बुद्धि ठिकाने नहीं रह जाती, वह मैरेय नामकी महामदिरा पी ली ॥ १२ ॥ उस तीव्र मदिराके मदसे उन्मत्त और भगवान श्रीकृष्णचन्द्रकी मायासे मोहित उन गर्वीले यादव वीरोंमें परस्पर बड़ा भारी संघर्ष खड़ा हो गया ॥ १३ ॥ अतिशय क्रोधावेशसे वे आततायी यादव धनुष, बाण, खड्ग, भाला, गदा, तोमर और ऋष्टि आदि नाना प्रकार-

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरावक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसंग्रामजितौ सुदारुणौ गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः ॥१६॥
अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योन्यमासाद्य मदान्धकारिता जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥१७॥
दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ॥१८॥
पुत्रा अयुध्यन् पितृभिर्भ्रातृभिश्च स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भिर्ज्ञातींस्त्वहन्ज्ञातय एव मूढाः ॥१९॥
शरेषु क्षीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु । शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जह्रुरेरकाः ॥२०॥
ता वज्रकल्पा ह्यभवन् परिघा मुष्टिना भृताः । जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते ।२१।
प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः । हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः॥२२॥
अथ तावपि संक्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन । एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥२३॥
ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् । स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम्२४
एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः । अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः ।२५॥
रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम् । तत्याज लोकं मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि२६

के अस्त्र-शस्त्रोंसे उसी समुद्रतटपर लड़ने लगे ॥ १४ ॥ फहराती हुई पताकाओं युक्त रथों, हाथियों, गधों, ऊँटों, बैलों, भैंसों, खच्चरों और मनुष्योंके साथ परस्पर भिड़कर वे मतवाले यादव वनमें परस्पर दन्त-प्रहार करके जूझते हुए हाथियोंकी भाँति आपसमें लड़ने लगे ॥ १५ ॥ उस गृहयुद्धमें प्रद्युम्न, साम्ब, अक्रूर, भोज, अनिरुद्ध, सात्यकि, दारुण योद्धा सुभद्र, संग्रामजित्, गद, सुमित्र और सुरथ—ये सब वीर परस्पर अत्यन्त आवेशवश भिड़ गये ॥ १६ ॥ इनके अतिरिक्त निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित् और भानु आदि जो अन्य वीर थे, वे सब भी भगवानकी मायासे मोहित और मदसे अन्धे होकर एक दूसरेका वध करने लगे ॥ १७ ॥ दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर तथा कुन्ति आदि कुलोंके लोग भी परस्परका स्नेह त्यागकर लड़ने लगे ॥ १८ ॥ उस समय मदिरापानसे उन्मत्त होकर पुत्र पितासे, भाई भाईसे, नाना नातियोंसे, भतीजे चाचासे और भानजे मामासे लड़ने लगे। इसी तरह मित्रोंसे मित्र तथा बन्धुओंसे बन्धु भिड़ गये और सभी सजातीय अपने सजातीयोंपर प्रहार करने लगे ॥ १९ ॥ लड़ते-लड़ते जब बाण समाप्त हो गये, धनुष टूट गये और अन्य सब शस्त्र भी नष्ट हो गये, तब उन्होंने मुट्ठियोंमें भर-भरकर समुद्र-तटपर मूसलके चूर्णसे उत्पन्न सरकण्डोंको उखाड़ा ॥ २० ॥ उनकी मुट्ठियोंमें जाकर वे सरकण्डे लोह-दण्ड तथा वज्रके समान कठोर हो गये। वे रोषमें भरकर उन्हींसे प्रहार करने लगे और जब श्रीकृष्ण-चन्द्रजीने उन्हें रोका तो वे उन्हें भी मारनेको उद्यत हो गये ॥ २१ ॥ हे राजन् ! उन मूढबुद्धि आततायियोंने श्रीबलरामजीको भी अपना शत्रु मान लिया और वे उन्हें भी मारनेके विचारसे टूट पड़े ॥ २२ ॥ हे कुरुनन्दन ! तब कृष्ण और बलदेव भी क्रोधमें भर युद्धिभूमिमें पैतरा बदलते हुए उन सरकण्डोंसे और मुक्केरूपी लोहदण्डोंसे उनपर प्रहार करने लगे ॥ २३ ॥ जैसे बाँसोंके वनको दावानल जलाकर भस्म कर देता है, वैसे ही ब्रह्मशापसे ग्रस्त और श्रीकृष्णचन्द्रकी मायासे मोहित उन यादवोंकी स्पर्धासे जायमान क्रोधने उन सबका ध्वंस कर डाला ॥ २४ ॥ अपने सब स्वजनोंके नष्ट हो जानेपर भगवानने सोचा कि अब तो पृथिवीका रहा-सहा भार भी उतर चुका ॥ २५ ॥ उधर बलरामजीने भी उसी समुद्रतटपर परमपुरुषके चिन्तनरूपी योगका आश्रय लेकर अपने आत्माको

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः । निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ।२७।
बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया । दिशो वितिमिराः कुर्वन् विधूम इव पावकः ।२८।
श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम् । कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम् ॥२९॥
सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् । पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३०॥
कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः । हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥३१॥
वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः । कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् ॥३२॥
मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा । मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ।३३।
चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः । भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥३४॥
अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन । क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥३५॥
यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम् । वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो ॥३६॥
तन्माऽऽशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम् । यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥३७॥

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये ।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥३८॥

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे । याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥३९॥

आत्मा अर्थात् उसके शुद्धस्वरूपमें स्थित करके अपना मानवशरीर त्याग दिया ॥ २६ ॥ बलरामजी-को परमपद प्राप्त करते देखकर भगवान कृष्णचन्द्र अति देदीप्यमान चतुर्भुज रूप धारणकर अपनी दिव्य कान्तिसे दसों दिशाओंको आलोकित करते हुए धूम्रविहीन अग्निकी भाँति सुशोभित होकर एक पीपलके वृक्षकी छायामें पृथिवीपर ही अति शान्तभावसे चुप-चाप बैठ गये ॥२७॥२८॥ भगवान-का वह परम मङ्गलमय स्वरूप जलभरे मेघके समान श्यामवर्ण तथा श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित एवं दो रेशमी पीताम्बरोंसे विभूषित होनेके कारण तपाये हुए सुवर्ण सरीखा हो रहा था ॥ २९ ॥ उनका स्वरूप मनोहर मुसकानयुक्त मुखकमलवाला, नील अलकावलीसे सुशोभित, कमलदलकी भाँति सुन्दर नेत्रों युक्त तथा झिलमिलाते मकराकृत कुण्डलोंवाला था ॥ ३० ॥ भगवानका वह मङ्गलमय शरीर करधनी, यज्ञोपवीत, मुकुट, कङ्कण, भुजबन्द, हार, नूपुर, अंगूठियों तथा कौस्तुभमणिसे सुशोभित था ॥ ३१ ॥ भगवानके सर्वाङ्गमें वनमाला सुशोभित थी और शंख, चक्र, गदा तथा पद्म आदि आयुध मूर्तिमान् होकर उनकी सेवामें उपस्थित थे। उस समय भगवान अपना रक्तकमलके सदृश बायाँ चरण दाहिनी जंघापर रखकर उठँगे थे ॥ ३२ ॥ उस समय जरा नामक व्याध जिसने कि मछलीके पेटसे प्राप्त मूसलके बचे हुए टुकड़ेसे अपने बाणकी नोका बनाई थी—मृगके मुख सरीखे आकारवाले भगवानके चरणको दूरसे मृग समझकर उसी बाणसे बींध दिया ॥ ३३ ॥ समीप जानेपर उन चतु-र्भुजमूर्तिधारी महापुरुषको देख वह अपनेको अपराधी समझकर भयसे काँपता हुआ दैत्यदलन भग-वानके चरणोंमें लोट गया ॥ ३४ ॥ और कहने लगा—"हे मधुसूदन ! मुझ पापीसे अनजानमें यह बड़ा भारी अपराध हो गया है। हे उत्तम-श्लोक ! हे अनघ ! मैं आपका अपराधी हूँ, आप कृपा करके मुझे क्षमा कर दें ॥ ३५ ॥ हे प्रभो ! जिनका स्मरण मनुष्यके अज्ञानान्धकारका नाशक कहा जाता है। हाय ! उन्हीं आपका मैंने ऐसा अहित किया ॥ ३६ ॥ हे वैकुण्ठ ! मैं निरपराध मृगोंका वधिक और महापापी हूँ। आप शीघ्र मुझे मार डालिये। जिससे फिर मुझसे अन्य महा-पुरुषोंका कोई अपराध न हो पाये ॥ ३७ ॥ आत्मयोगसे रचित जिनकी सृष्टिको ब्रह्माजी और उनके पुत्र रुद्र आदि भी, जो सब विद्याओंके पारदर्शी हैं, नहीं जानते। क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी मायासे आवृत रहती है, फिर हम तो स्वभावसे ही पापी हैं—तब हम उसके विषयमें भला क्या

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा । त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥४०॥
दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम् । वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ ॥४१॥
तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम् ।
स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो रथादवप्लुत्य सबाष्पलोचनः ॥४२॥
अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो दृष्टिः प्रनष्टा तमसि प्रविष्टा ।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं यथा निशायामुडुपे प्रनष्टे ॥४३॥
इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः । खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥४४॥
तमन्वगच्छन् दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च । तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥४५॥
गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः । सङ्कर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम् ॥४६॥
द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः । मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥४७॥
स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः । अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥४८॥
त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः । मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥४९॥
इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः । तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ५०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

कहूँ ?" ॥ ३८ ॥ श्रीभगवानने कहा—अरे जरा ! तू मत डर, खड़ा रह । यह सब मेरी ही इच्छासे हुआ है । अब तू मेरी आज्ञासे पुण्यजनोंके प्राप्य स्थान स्वर्गको चला जा ॥ ३९ ॥ श्रीशुकदेवजी बोले—स्वेच्छाशरीरधारी श्रीकृष्णभगवानको ऐसा आदेश पाकर जरा व्याधने भगवानकी तीन परिक्रमा की और उन्हें प्रणाम करनेके बाद वह विमानपर चढ़कर स्वर्गधामको चला गया ॥ ४० ॥ इधर भगवान कृष्णका सारथि दारुक उनके चरणचिह्नोंको खोजता-खोजता पता पाकर तुलसीकी गन्धयुक्त वायुको सूँघता हुआ उसी ओरको चला ॥ ४१ ॥ अपने स्वामीको एक अश्वत्थ-वृक्षके नीचे आसन लगाये, तीव्र तेजोमय एवं मूर्तिमान् विविध आयुधोंसे घिरे देखकर दारुक रथसे नीचे उतर पड़ा । उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह प्रेमातुर होकर उनके चरणोंमें लोट गया ॥ ४२ ॥ वह कहने लगा—हे प्रभो ! रात्रिके समय चन्द्रमाके अस्त हो जानेसे लोककी जैसी दशा होती है, वैसे ही आपके चरणकमल न देख पानेसे मेरी दृष्टि नष्ट होकर घोर अन्धकारसे आच्छादित हो गयी है । मैं दिशाओंको भूल गया हूँ और मुझे शान्ति नहीं मिल रही है" ॥ ४३ ॥ हे राजेन्द्र ! जब सारथि दारुक ऐसा कह रहा था, उसी समय गरुडचिह्नसे सुशोभित भगवानका रथ घोड़ों समेत उसके देखते-देखते आकाशमें उड़ गया ॥ ४४ ॥ रथके पीछे भगवानके दिव्य आयुध आकाशमें चल गये । यह सब देखकर अति विस्मित सारथिसे जनार्दन श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—॥ ४५ ॥ हे सूत ! अब तुम द्वारकापुरी जाओ और हमारे बन्धु-बान्धवोंको यादवोंके विध्वंस, बलरामजीकी परमगति तथा मेरी दशाका सब हाल कह सुनाओ ॥ ४६ ॥ अब तुमलोग भी अपने बन्धु-बान्धवों सहित द्वारकामें न रहना । क्योंकि मेरी त्यागी हुई उस यदुपुरीको समुद्र शीघ्र बहा ले जायगा ॥४७॥ सब लोग अपने-अपने धन, कुटुम्ब तथा मेरे माता-पिता आदिको लेकर अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थ चले जायँ ॥ ४८ ॥ तुम मेरे भागवत-धर्मोंका आचरण करते हुए ज्ञाननिष्ठ तथा निरपेक्ष होकर यह सम्पूर्ण प्रपञ्च मेरी मायाकी रचना समझो और शान्ति प्राप्त करो ॥ ४९ । भगवानके वचन सुनकर दारुकने पुनः पुनः उनकी परिक्रमा की और चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करनेके अनन्तर अतिशय उदास मनसे वह द्वारिकापुरीको लौटा ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे भाषाटीकायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद् ब्रह्मा भवान्या च समं भवः । महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥१॥
पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः । चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥२॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः । गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥३॥
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः । कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन् भक्त्या परमया युताः ॥४॥
भगवान् पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः । संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥५॥
लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् । योगधारणयाऽऽग्नेय्याऽदग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्
दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात् । सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः ।७।
देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं स्वधामनि । अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः ॥८॥
सौदामन्या यथाऽऽकाशे यान्त्या हित्वाभ्रमण्डलम् । गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ।९।
ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः । विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा१०

राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।
सृष्ट्वाऽऽत्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते ॥११॥
मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥१२॥

(श्रीभगवानका स्वधामको प्रस्थान) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! इसके बाद ब्रह्माजी, भवानी सहित भगवान् शङ्कर इत्यादि देवता, प्रजापतियों समेत मुनिजन, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, चारण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, अप्सरा तथा द्विजगण श्रीकृष्ण भगवानका परमधामगमन देखनेके लिए परम उत्सुक होकर उनके जन्म-कर्मोंका गान करते हुए वहाँ आये । वे अपने विमानोंसे सारा नभमण्डल परिपूर्ण करते हुए बड़ी भक्तिके साथ भगवानपर फूल बरसाने लगे ॥ १–४ ॥ सर्वव्यापक भगवानने पितामह ब्रह्माजी तथा अपनी अन्यान्य विभूतियें देख और आत्माको अपने स्वरूपमें स्थितकर अपनी आँखें मूँद लीं ॥ ५ ॥ धारणा और ध्यानके लिये अतिशय मङ्गलरूप अपने लोकाभिराम दिव्य शरीरको योगाग्निसे भस्म किये बिना ही भगवानने बैकुण्ठधाममें प्रवेश किया ॥ ६ ॥ उस समय स्वर्गलोकमें नगाड़े बजने लगे और फूलोंकी वर्षा होने लगी । हे राजन् ! भगवानके साथ-साथ इस लोकसे सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और लक्ष्मी भी सिधार गयीं ॥ ७ ॥ ब्रह्मा आदि देवता उन अविज्ञेय गति भगवान कृष्णको अपने धाममें प्रवेश करते नहीं देख पाये । इससे वे बड़े विस्मित हुए ॥ ८ ॥ जैसे एक बादलसे दूसरेमें जाती हुई बिजलीकी गति मनुष्योंको नहीं दीखती, वैसे ही देवताओंको भी भगवानकी गति नहीं दीख पड़ी ॥ ९ ॥ भगवानकी यह योगगति देखकर अतिशय विस्मित ब्रह्मा और रुद्र आदि देवता उनकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने लोकोंको चले गये ॥ १० ॥ हे राजन् ! इस तरह परमात्माकी देहधारियोंके समान की हुई जन्म तथा मरण आदि क्रियाओंको तुम नटकी मायामयी लीलाओंके समान जानो । वे इस जगत्को अपने आप रचते और इसमें प्रवेश करके विहार करते हैं । फिर अन्तमें इसे अपनेमें ही समेटकर अपनी महिमामें स्थित हो जाया करते हैं ॥ ११ ॥ जो मृत्युके द्वारा यमलोक पहुँचाये हुए गुरुपुत्रको वहाँसे मर्त्यशरीरके साथ ही वापस ले आये, जिन शरणप्रद प्रभुने गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे जलते हुए तुम्हारी रक्षा करके तुम्हें सकुशल बाहर निकाला, जिन्होंने युद्धमें कालके भी काल महादेवजीको परास्त किया और अत्यन्त अपराधी व्याधको सदेह स्वर्गलोक भेज दिया, क्या वे भगवान अपनी

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्ययेष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥१३॥
य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम् । प्रयतः कीर्तयेद् भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम् १४
दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः । पतित्वा चरणावस्रैर्न्यषिञ्चत् कृष्णविच्युतः॥१५॥
कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप । तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः॥१६॥
तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः । व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम् ॥१७॥
देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ । कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम् १८
प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः । उपगुह्य पतींस्तात चितामारुरुहुः स्त्रियः॥१९॥
रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन् । वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन् हरेः स्नुषाः।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः ॥२०॥
अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः । आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः २१
बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम् । हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः ॥२२॥
द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात् । वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥२३॥
नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः । स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ॥२४॥
स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान् धनञ्जयः । इन्द्रप्रस्थं समावेश्य वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥२५॥

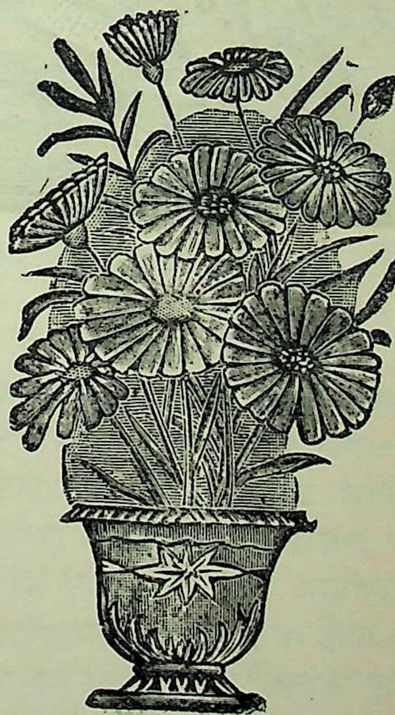
रक्षा करनेमें समर्थ नहीं थे ? ॥ १२ ॥ फिर भी उन प्रभुने जो सर्वशक्तिधारी होनेसे सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयके अनन्य कारण हैं, आत्मनिष्ठ पुरुषोंकी यह गति दिखलानेके निमित्त कि इस मर्त्यशरीरका कोई प्रयोजन नहीं है, उन्होंने अपने लीलामय मानव-देहको अवशिष्ट नहीं रखना चाहा ॥१३॥ जो पुरुष नित्य प्रातःकाल उठकर श्रीकृष्णचन्द्रकी परमपदयात्रा सम्बन्धी कथाको नियमसे भक्तिके साथ पढ़ता है, वह सर्वोत्तम गतिको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥ इधर कृष्णभगवानके विरहसे व्याकुल दारुक द्वारका आया और अति विह्वल होकर राजा उग्रसेन तथा वसुदेवजीके चरणोंमें गिरकर उन्हें आँसुओंसे भिगोने लगा ॥ १५ ॥ हे राजन् ! उसने उनको सब यदुवंशियोंके विनाशका समाचार सुनाया । यह वृत्तान्त सुनते ही सब लोग उद्विग्नचित्त हो शोकसे मूर्छित होगये और तुरन्त भगवान कृष्णके वियोगसे व्याकुल होकर कपार पीटते हुए जहाँ अपने बान्धव मरे पड़े थे, उस जगह जा पहुँचे ॥ १६-१७ ॥ देवकी, रोहिणी तथा वसुदेवजी अपने दोनों पुत्र कृष्ण तथा बलरामको न देख अचेत होकर गिर पड़े और भगवानके विरहसे आतुर होकर उन्होंने वहीं अपने प्राण छोड़ दिये । अपने-अपने प्रभुओंके शरीरोंको हृदयसे लगाकर स्त्रियाँ चिताओंपर जा बैठीं । बलरामजीकी स्त्रियाँ उनके देहका आलिङ्गन करके अग्निमें कूद गयीं । वसुदेवजीकी स्त्रियाँ उनके शरीरको लेकर चितापर चढ़ गयीं । भगवानकी पुत्रवधुओंने अपने प्रद्युम्नादि पतियोंके साथ अग्निमें प्रवेश किया तथा भगवान कृष्णचन्द्रकी रुक्मिणी आदि पटरानियाँ भी उन्हींका स्मरण करती हुई अग्निमें कूद गयीं ॥ १८-२० ॥ अर्जुन अपने परमप्रिय मित्र भगवान कृष्णके विरहसे अत्यन्त दुःखी थे, किन्तु उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके ही दिये हुए सदुपदेशसे अपनेको धैर्य्य बँधाया ॥ २१ ॥ तदनन्तर जिनका वंश नष्ट होगया था, उन मृत-बन्धुओंके लिये अर्जुनने शास्त्रविधिके अनुसार क्रमशः समस्त और्ध्वदैहिक कृत्य कराया ॥ २२ ॥ हे महाराज ! भगवानके त्याग देनेपर भगवानके मन्दिरको छोड़कर बाकी सम्पूर्ण द्वारकापुरीको समुद्रने क्षणभरमें डुबो दिया ॥ २३ ॥ उस मन्दिरमें भगवान मधुसूदन सर्वदा विराजते हैं । वे स्मरणमात्रसे सभी अशुभोंको नष्ट करनेवाले तथा सम्पूर्ण मङ्गलोंसे भी अत्यन्त मङ्गलमय हैं ॥ २४ ॥ तदनन्तर मरनेसे बचे हुए स्त्री, बालक तथा वृद्धोंको साथ लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः । त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥२६॥
य एतद् देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च । कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२७॥
इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

समाप्तोऽयमेकादशस्कन्धः ।

और वहाँ अनिरुद्धके पुत्र वज्रका राज्याभिषेक किया ॥ २५ ॥ हे राजन् ! तुम्हारे पितामह पाण्डव अर्जुन द्वारा अपने सुहृद् यादवोंके नाशका समाचार सुनकर तुम्हारा राज्यपदपर अभिषेक करके महापथको चल पड़े। जा मनुष्य देवाधिदेव भगवान श्रीकृष्णके इन दिव्य जन्म तथा कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २६-२७ ॥ इस तरह यहाँ तथा अन्य ग्रन्थोंमें कथित एवं श्रुत भगवान श्रीहरिके इस अतिशय मनोहर अवतारके पराक्रम तथा परम कल्याणकारक बालचरित्रोंको सुनकर गाते रहनेसे मनुष्य परमहंसोंके गतिस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रकी परमभक्ति पाता है ॥ २८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे पं० रामतेजशास्त्रिकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥





ॐ श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भागवतं महापुराणम्

'सामयिकी' भाषाटीकासहितम्



द्वादशस्कन्धः

—:❀:—

प्रथमोऽध्यायः

राजोवाच

स्वधामानुगते कृष्णे यदुवंशविभूषणे । कस्य वंशोऽभवत् पृथ्व्यामेतदाचक्ष्व मे मुने॥१॥

श्रीशुक उवाच

योऽन्त्यः पुरञ्जयो नाम भाव्यो बार्हद्रथो नृप । तस्यामात्यस्तु शुनको हत्वा स्वामिनमात्मजम्॥२॥

प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्ता यत् पालकः सुतः । विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः ॥३॥

नन्दिवधनस्तत्पुत्रः पञ्च प्रद्योतना इमे । अष्टत्रिंशोत्तरशतं भोक्ष्यन्ति पृथिवीं नृपाः ॥४॥

शिशुनागस्ततो भाव्यः काकवर्णस्तु तत्सुतः । क्षेमधर्मा तस्य सुतः क्षेत्रज्ञः क्षेमधर्मजः ॥५॥

विधिसारः सुतस्तस्याजातशत्रुर्भविष्यति । दर्भकस्तत्सुतो भावी दर्भकस्याजयः स्मृतः ॥६॥

नन्दिवर्धन आजेयो महानन्दिः सुतस्ततः । शिशुनागा दशैवैते षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥७॥

समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कुरुश्रेष्ठ कलौ नृपाः । महानन्दिसुतो राजन् शूद्रीगर्भोद्भवो बली ॥८॥

महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् । ततो नृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिकाः॥९॥

श्रीहरिः । (कलियुगके भावी राजवंशोंका विस्तार) राजा परीक्षित्ने पूछा—हे महामुने ! यदुवंशविभूषण भगवान कृष्णके स्वधाम चले जानेके बाद पृथिवीतलमें किसका वंश शासनारूढ़ हुआ, यह हमें सुनाइये ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! राजा बृहद्रथके वंशका जो पुरञ्जयनामक अन्तिम नरेश होगा, उसका मन्त्री शुनक अपने स्वामीका वध करके उसके स्थानपर अपने पुत्र प्रद्योतको राजा बनायेगा । प्रद्योतका पुत्र पालक, पालकका विशाखयूप, विशाखयूपका राजक तथा राजकका पुत्र नन्दिवर्धन होगा । ये पाँचों प्रद्योतवंशी राजे एक सौ अढ़तीस वर्षतक पृथिवीका राज्य करेंगे ॥२–४॥ तब शिशुनाग नामका राजा होगा । शिशुनागके काकवर्ण, उसके क्षेमधर्मा तथा क्षेमधर्माके क्षेत्रज्ञनामका पुत्र होगा ॥ ५ ॥ क्षेत्रज्ञका पुत्र विधिसार, विधिसारका अजातशत्रु, अजातशत्रुका दर्भक तथा दर्भकका अजयनामक पुत्र होगा ॥ ६ ॥ अजयका पुत्र नन्दिवर्धन तथा नन्दिवर्धनका पुत्र महानन्दि होगा । ये शिशुनागवंशी दस राजे कलिमें तीन सौ साठ वर्ष तक पृथिवीका राज्य करेंगे । हे राजन् ! तदनन्तर शूद्राके गर्भसे उत्पन्न महापद्मसंख्यक धनका अधिपति महानन्दिका पुत्र महाबली नन्द क्षत्रियोंका नाशक होगा । तबसे सभी राजे शूद्रप्राय और अधार्मिक

स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लङ्घितशासनः । शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः ॥१०॥
तस्य चाष्टौ भविष्यन्ति सुमाल्यप्रमुखाः सुताः । य इमां भोक्ष्यन्ति महीं राजानः स्म शतं समाः ११
स वै नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति । तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्ष्यन्ति वै कलौ ।१२।
स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येऽभिषेक्ष्यति । तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ॥१३॥
सुयशा भविता तस्य संगतः सुयशःसुतः । शालिशूकस्ततस्तस्य सोमशर्मा भविष्यति ॥१४॥
शतधन्वा ततस्तस्य भविता तद् बृहद्रथः । मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम् ।
समा भोक्ष्यन्ति पृथिवीं कलौ कुरुकुलोद्वह ॥ १५ ॥
हत्वा बृहद्रथं मौर्यं तस्य सेनापतिः कलौ । पुष्पमित्रस्तु शुङ्गाह्वः स्वयं राज्यं करिष्यति ।
अग्निमित्रस्ततस्तस्मात् सुज्येष्ठोऽथ भविष्यति ॥ १६ ॥
वसुमित्रो भद्रकश्च पुलिन्दो भविता ततः । ततो घोषः सुतस्तस्माद् वज्रमित्रो भविष्यति ।१७।
ततो भागवतस्तस्माद् देवभूतिरिति श्रुतः । शुङ्गा दशैते भोक्ष्यन्ति भूमिं वर्षशताधिकम् ।१८।
ततः कण्वानियं भूमिर्यास्यत्यल्पगुणान् नृप । सङ्गं हत्वा देवभूतिं कण्वोऽमात्यस्तु कामिनम् १९
स्वयं करिष्यते राज्यं वसुदेवो महामतिः । तस्य पुत्रस्तु भूमित्रस्तस्य नारायणः सुतः ।
नारायणस्य भविता सुशर्मा नाम विश्रुतः ॥ २० ॥
काण्वायना इमे भूमिं चत्वारिंशच्च पञ्च च । शतानि त्रीणि भोक्ष्यन्ति वर्षाणां च कलौ युगे २१
हत्वा काण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली । गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयः कञ्चित् कालमसत्तमः २२
कृष्णनामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः ।श्रीशान्तकर्णस्तत्पुत्रः पौर्णमासस्तु तत्सुतः॥२३॥
लम्बोदरस्तु तत्पुत्रस्तस्माच्चिबिलको नृपः । मेघस्वातिश्चिबिलकादटमानस्तु तस्य च ॥२४॥

हो जायँगे ॥ ७–९ ॥ हे राजन् ! वह महापद्मका धनी नन्द दूसरे परशुरामजीके सदृश क्षत्रियोंका नाशक होगा और पृथिवीका एकछत्र राज्य करेगा । कोई भी उसकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर पायेगा ॥ १० ॥ सुमाल्य आदि उसके आठ पुत्र होंगे, जो राजे होकर सौ वर्षतक पृथिवीपर शासन करेंगे ॥ ११ ॥ अपनेपर विश्वास करनेवाले उन नौ नन्दोंको एक (चाणक्य) ब्राह्मण समूल नष्ट कर देगा । उनका उच्छेद हो जानेके बाद इस पृथिवीपर कलियुगमें मौर्यवंशी राजे राज करेंगे ॥१२॥ वह ब्राह्मण ही चन्द्रगुप्त मौर्यको राज्यसिंहासनपर बिठालेगा । चन्द्रगुप्तका पुत्र वारिसार, वारिसारका पुत्र अशोकवर्धन, उसका सुयशा, सुयशाका सङ्गत, सङ्गतके शालिशूक, शालिशूकके सोमशर्मा, सोमशर्माके शतधन्वा तथा शतधन्वाके बृहद्रथ नामक पुत्र होगा । हे कुरुकुलोत्पन्न राजा परीक्षित् ! ये मौर्यवंशी राजे कलियुगमें एक सौ तीस वर्ष तक पृथिवीका राज भोगेंगे । बृहद्रथका पुत्र अग्निमित्र और उसका पुत्र सुज्येष्ठ होगा ॥ १३–१६ ॥ तब क्रमशः वसुमित्र, भद्रक और पुलिन्दनामके राजे होंगे । पुलिन्दके घोष, घोषके वज्रमित्र, वज्रमित्रके भागवत तथा भागवतके देवभूतिनामका पुत्र होगा । ये दसों शुङ्गवंशी राजे सौ वर्षसे भी अधिक समयतक पृथिवीपर राज्य करेंगे ॥ १७–१८ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर यह भूमि अल्पगुणवाले कण्वसंज्ञक नरेशोंके हाथमें चली जायगी । हे राजन् ! अपने स्त्रीलम्पट स्वामी शुङ्गवंशी राजा देवभूतिको मारकर उसका बुद्धिमान् मन्त्री वसुदेवकण्व स्वयं राज्य करेगा । वसुदेवका पुत्र भूमित्र, भूमित्रका पुत्र नारायण तथा नारायणका पुत्र सुशर्मानामसे विख्यात होगा ॥ १९–२० ॥ ये चार कण्ववंशी राजे कलिमें तीन सौ पैंतालीस वर्षों तक पृथिवीका भोग करेंगे ॥२१॥ हे राजन् ! तब उस कण्ववंशी राजा सुशर्माको मारकर उसका भृत्य आन्ध्रजातीय बलिनामक अत्यन्त दुष्ट शूद्र कुछ समय तक स्वयं पृथिवीका राज्य करेगा ॥ २२ ॥ तदनन्तर उनका भाई कृष्ण राजा होगा । कृष्णका पुत्र श्रीशान्तकर्ण और श्रीशान्तकर्णका पुत्र पौर्णमास होगा ॥ २३ ॥ पौर्णमासके

अनिष्टकर्मा हालेयस्तलकस्तस्य चात्मजः । पुरीषभीरुस्तत्पुत्रस्ततो राजा सुनन्दनः ॥२५॥
चकोरो बहवो यत्र शिवस्वातिररिन्दमः । तस्यापि गोमतीपुत्रः पुरीमान् भविता ततः ।२६।
मेदःशिराः शिवस्कन्दो यज्ञश्रीस्तत्सुतस्ततः । विजयस्तत्सुतो भाव्यश्चन्द्रविज्ञः सलोमधिः २७
एते त्रिंशन्नृपतयश्चत्वार्यब्दशतानि च । षट्पञ्चाशच्च पृथिवीं भोक्ष्यन्ति कुरुनन्दन॥२८॥
सप्ताभीरा आवभृत्या दश गर्दभिनो नृपाः । कङ्काः षोडश भूपाला भविष्यन्त्यतिलोलुपाः
ततोऽष्टौ यवना भाव्याश्चतुर्दश तुरुष्ककाः । भूयो दश गुरुण्डाश्च मौना एकादशैव तु ॥३०॥
एते भोक्ष्यन्ति पृथिवीं दशवर्षशतानि च । नवाधिकां च नवतिं मौना एकादश क्षितिम् ३१
भोक्ष्यन्त्यब्दशतान्यङ्ग त्रीणि तैः संस्थिते ततः । किलिकिलायां नृपतयो भूतनन्दोऽथ वङ्गिरिः३२
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशोनन्दिः प्रवीरकः । इत्येते वै वर्षशतं भविष्यन्त्यधिकानि षट् ॥३३॥
तेषां त्रयोदश सुता भवितारश्च बाह्लिकाः । पुष्पमित्रोऽथ राजन्यो दुर्मित्रोऽस्य तथैव च ३४
एककाला इमे भूपाः सप्तान्ध्राः सप्त कोसलाः । विदूरपतयो भाव्या निषधास्त एव हि ॥३५॥
मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः । करिष्यत्यपरो वर्णान् पुलिन्दयदुमद्रकान् ।३६।
प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः । वीर्यवान् क्षत्रमुत्साद्य पद्मवत्यां स वै पुरि ।
अनुगङ्गामाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥३७॥
सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुदमालवाः । व्रात्या द्विजा भविष्यन्ति शूद्रप्राया जनाधिपाः
सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम् । भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्या म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः

लम्बोदर, लम्बोदरके राजा चिबिलक, चिबिलकके मेघस्वाति, मेघस्वातिके अटमान, अटमानके अनिष्टकर्मा, अनिष्टकर्माके हालेय, हालेयके तलक, तलकके पुरुषभीरु और पुरुषभीरुके राजा सुनन्दन नामका पुत्र होगा ॥ २४-२५ ॥ हे शत्रुदमन ! तदनन्तर सुनन्दनका पुत्र चकोर होगा और चकोरके नौ पुत्र होंगे । जिनमें नवाँ पुत्र शिवस्वाति होगा । उस शिवस्वातिके गोमतीपुत्र और गोमतीपुत्रके पुरीमान् पुत्र होगा । पुरीमान्का पुत्र मेदःशिरा, मेदःशिराका पुत्र शिवस्कन्द, शिवस्कन्दका यज्ञश्री, यज्ञश्रीका विजय, विजयका चन्द्रविज्ञ और चन्द्रविज्ञका सलोमधि नामका पुत्र होगा ॥२६-२७॥ हे कुरुनन्दन ! ये तीसों राजे चार सौ छप्पन वर्ष तक पृथिवीको भोगेंगे ॥ २८ ॥ इसके बाद अवभृतिपुरीके निवासी अत्यन्त लोलुप सात आभीर, दस गर्दभी तथा सोलह कङ्कजातीय राजे होंगे ॥ २९ ॥ आठ यवन, चौदह तुरुष्क, दस गुरुण्ड तथा ग्यारह मौनजातिके राजे होंगे ॥ ३० ॥ मौनोंके सिवाय और सब राजे एक हजार निन्यानबे वर्ष पृथिवीको भोगेंगे । मौनोंका अन्त होजानेपर किलकिलानामकी नगरीमें भूतनन्द, वङ्गिरिका भाई शिशुनन्दि, यशोनन्दि और प्रवीरक-ये राजे एक सौ छः वर्ष तक राज्य करेंगे ॥ ३१-३३ ॥ इनसे वाह्लिकनामके तेरह पुत्र होंगे । उनके बाद पुष्पमित्रनामक क्षत्रिय और उनका पुत्र दुर्मित्र पृथिवीको भोगेगा ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! बाह्लिकवंशी राजाओंमेंसे एक ही समय सात आन्ध्रदेशके तथा सात ही कोशल देशके अधिपति होंगे और कुछ निषधदेशके राजे होंगे ॥ ३५ ॥ मगधदेशमें विश्वस्फूर्जि नामका एक राजा होगा । वही पूर्वोक्त पुरञ्जयके अतिरिक्त दूसरे पुरञ्जयके नामसे विख्यात होगा । वह पुलिन्द, यदु एवं मद्रदेशनिवासी ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंको आचारभ्रष्ट करके सबको म्लेच्छ कर डालेगा ॥ ३६ ॥ वह बड़ा बलवान् तथा दुर्बुद्धि राजा सब क्षत्रियोंको निकालकर पद्मावतीपुरीमें ब्राह्मणादि वर्णोंकी कमी करके अधिकांश शूद्रप्रजाको स्थापित करेगा और हरिद्वारसे प्रयागतककी भूमिको भली भाँति सुरक्षित करता हुआ भोगेगा ॥ ३७ ॥ तब सौराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, अर्बुद तथा मालवदेशीय ब्राह्मण संस्कारशून्य होंगे और सब राजे शूद्रप्राय हो जायँगे ॥ ३८ ॥ सिन्धुतट, चन्द्रभागा, कौन्तीपुरी तथा काश्मीर-मण्डलको शूद्र, संस्कारशून्य, ब्रह्मतेजोहीन द्विज तथा म्लेच्छादि भोगेंगे । हे राजन् ! ये म्लेच्छप्राय राजे एक ही समयमें होंगे । ये सब

तुल्यकाला इमे राजन् म्लेच्छप्रायाश्च भूभृतः । एतेऽधर्मानृतपराः फल्गुदास्तीव्रमन्यवः ॥४०॥
स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनादृताः । उदितास्तमितप्राया अल्पसत्त्वाल्पकायुषः ॥४१॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसाऽऽवृताः । प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः
तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः । अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

———

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया । कालेन बलिना राजन् नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः ॥१॥
वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः । धर्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि ॥२॥
दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके । स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि ॥३॥
लिङ्गमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम् । अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः ४
अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु । स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम् ॥५॥
दूरे वार्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम् । उदरंभरता स्वार्थः सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि ॥६॥
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्मसेवनम् । एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले ॥७॥
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः । प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः ॥८॥

अधर्म तथा असत्यमें तत्पर, अल्पदानी और अत्यन्त क्रोधी होंगे ॥ ३९-४० ॥ ये सब लोग स्त्री, बालक, गौ तथा द्विजोंको मारनेवाले, परस्त्री और परधनके लोलुप, क्षण-क्षणमें प्रसन्न और कुपित होनेवाले, अल्पवीर्य तथा अल्पायु, संस्कारशून्य, क्रियारहित एवं रजोगुण-तमोगुणसे भरे होंगे। वे राजारूपधारी म्लेच्छ अपनी प्रजाको लूटकर खा जायँगे ॥ ४१-४२ ॥ ऐसे राजाओंके अधिकारमें रहनेवाले तथा वैसा ही आचरण और कथन करनेवाले देश एवं वहाँके निवासी परस्पर एक दूसरेसे तथा राजाओंसे पीडित होकर नष्ट हो जायँगे ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे पं० रामतेजपाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(कलिके धर्म) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कलिमें प्रबल कालके प्रभावसे दिन-दिन धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु, बल तथा स्मृतिका नाश होने लगेगा ॥१॥ इस कलिमें धन ही मनुष्योंकी कुलीनता, आचार तथा गुणोंके उदयका कारण बनेगा और बल ही धर्म एवं न्यायकी व्यवस्थाका कारण माना जायगा ॥ २॥ दाम्पत्यधर्ममें पारस्परिक अरुचि, व्यवहारमें कपट, स्त्री तथा पुरुषोंकी श्रेष्ठतामें रतिचातुर्य और ब्राह्मणत्वमें यज्ञोपवीत ही प्रधान उपकरण होगा ॥ ३ ॥ भिन्न भिन्न आश्रमोंकी पहचान तथा एक आश्रमसे दूसरे आश्रमको स्वीकार करनेमें उन आश्रमोंके चिह्न ही हेतु माने जायँगे। घूस देनेकी असमर्थता होनेपर न्यायमें हार खानी पड़ेगी और वाणीकी चपलता ही पाण्डित्य माना जायगा ॥४॥ इसी तरह धनहीनता असाधुताका, दम्भ साधुत्वका, स्वीकार कर लेना ही विवाहका और केवल स्नान कर लेना ही शरीरको अलंकृत करनेका साधन बनेगा ॥५॥ उस समय दूरके जलाशय तीर्थ माने जायँगे, केशोंको सजाना ही सौन्दर्य होगा, केवल पेट पालना स्वार्थ होगा और धृष्टता (ढिठाई) ही सत्यताका चिह्न मानी जायगी ॥६॥ अपने कुटुम्बका पालन चतुरता होगी और यशके लिये ही धर्मकी सेवा की जायगी। इस तरह सारा भूमण्डल दुष्ट प्रजासे भर जायगा और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंमें जो शक्तिशाली होगा, वही राजा बन जायगा। उस समय लोभी, क्रूर और

आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् । शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ॥९॥
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीडिताः । शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः ।१०।
क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते च चिन्तया । त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणाम् ।११।
क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः । वर्णाश्रमवतां धर्मे नष्टे वेदपथे नृणाम् ॥१२॥
पाखण्डप्रचुरे धर्मे दस्युप्रायेषु राजसु । चौर्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ॥१३॥
शूद्रप्रायेषु वर्णेषु छागप्रायासु धेनुषु । गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु ॥१४॥
अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु । विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ॥१५॥
इत्थं कलौ गतप्राये जने तु खरधर्मिणि । धर्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति ॥१६॥
चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः । धर्मत्राणाय साधूनां जन्म कर्मापनुत्तये ॥१७॥
शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः । भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ।१८।
अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः । असिनासाधुदमनमष्टैश्वर्यगुणान्वितः ॥१९॥
विचरन्नाशुना क्षोण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः । नृपलिङ्गच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति२०
अथ तेषां भविष्यन्ति मनांसि विशदानि वै । वासुदेवाङ्गरागातिपुण्यगन्धानिलस्पृशाम् ।
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु ॥ २१ ॥
तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति । वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते ॥२२॥
यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः । कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी॥२३॥

लुटेरों जैसे आचरण करनेवाले राजाओं द्वारा धन तथा स्त्रियोंके हरलिये जानेके कारण प्रजाजन पर्वत तथा वनोंमें चले जायँगे और वहाँ मांस, शाक, मूल, फल, फूल तथा गुठली आदि खाकर जीवन-निर्वाह करेंगे ॥ ७-९ ॥ उनमेंसे बहुतेरे प्रजाजन अनावृष्टि, दुष्काल, राजकर, शीत, वायु, घाम, वर्षा तथा हिमसे और आपसमें लड़-झगड़कर सदाके लिये नष्ट हो जायँगे ॥ १० ॥ हे राजन् ! भूख, प्यास, रोग, चिन्ता और सदा दुःखोंसे घिरे रहनेके कारण कलियुगके मनुष्योंकी परमायु केवल बीस अथवा तीस वर्षकी होगी ॥ ११ ॥ इस तरह कलियुगके दोषसे सब देहधारियोंके शरीर छोटे होने लगेंगे और वर्णाश्रमधर्मवालोंका वेदमार्ग लुप्त हो जायगा। उस समय धर्ममें पाखण्डकी प्रधानता होगी। राजे चोरोंके समान हो जायँगे। लोग चोरी, असत्य भाषण तथा वृथा हिंसा आदि विविध कुकर्मों से अपनी जीविका चलाने लगेंगे ॥ १२ ॥ १३ ॥ सब वर्ण शूद्रप्राय हो जायँगे। गौएँ बकरियोंके समान छोटी हो जायँगी। सब आश्रम गृहस्थोंके सदृश आचरण करने लगेंगे और स्त्रीके सम्बन्धी ही अपने सम्बन्धी माने जायँगे ॥ १४ ॥ सब वनस्पतियाँ छोटी-छोटी हो जायँगी। सभी वृक्ष शमीवृक्षके समान छोटे हो जायँगे। मेघोंमें बिजली ही अधिक रह जायगी और गृह शून्यप्राय हो जायँगे ॥ १५ ॥ इस तरह जब सब लोगोंमें असह्य गर्दभधर्मकी प्रवृत्ति करनेवाले कलिका अन्त समय होगा, तब भगवान धर्मकी रक्षा करनेके लिये सत्त्वगुणसे युक्त होकर कल्किरूपमें अवतार लेंगे ॥१६॥ अखिल चराचरके गुरु सर्वात्मा एवं सर्वेश्वर विष्णुभगवानका अवतार सदा धर्मकी रक्षा तथा साधु पुरुषोंके जन्म-कर्मके बन्धनको काटनेके लिये ही होता है ॥ १७ ॥ वे कल्किभगवान शम्भलग्रामनिवासी विप्रवर महात्मा विष्णुयशाके यहाँ अवतार लेंगे ॥ १८ ॥ अणिमादि आठों ऐश्वर्योंसे युक्त जगत्पति कल्कि-भगवान देवदत्तनामके एक द्रुतगामी घोड़ेपर सवार होकर अपनी तलवारसे संसारके दुष्टोंका दमन करेंगे ॥ १९ ॥ वे भगवान अतुलित तेजस्वी होंगे और उस अश्वपर चढ़कर पृथिवीपर घूमते हुए नृपवेषमें छिपे करोड़ों दस्युओंको मारेंगे ॥ २० ॥ इस तरह सब दस्युओंके मारे जानेपर श्रीवासुदेव-भगवानके अङ्गोंमें लगे हुए अङ्गरागकी पवित्र गन्धसे सुवासित वायुके स्पर्शसे उन सभी पुरवासी तथा जनपदवासियोंके चित्त अतिशय निर्मल हो जायँगे ॥ २१ ॥ तदनन्तर सत्त्वमूर्ति भगवान वासु-

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती । एकराशौ समेष्यन्ति तदा भवति तत् कृतम् ॥ २४ ॥
येऽतीता वर्तमाना ये भविष्यन्ति च पार्थिवाः । ते त उद्देशतः प्रोक्ता वंशीयाः सोमसूर्ययोः ॥ २५ ॥
आरभ्य भवतो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम् । एतद् वर्षसहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम् ॥ २६ ॥
सप्तर्षीणां तु यौ पूर्वौ दृश्येते उदितौ दिवि । तयोस्तु मध्ये नक्षत्रं दृश्यते यत् समं निशि ॥ २७ ॥
तेनैत ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम् । ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः ॥ २८ ॥
विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः । तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद् रमते जनः ॥ २९ ॥
यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः । तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रान्तुं न चाशकत् ॥ ३० ॥
यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि । तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥ ३१ ॥
यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः । तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥ ३२ ॥
यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि । प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ॥ ३३ ॥
दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम् । भविष्यति यदा नृणां मन आत्मप्रकाशनम् ॥ ३४ ॥
इत्येष मानवो वंशो यथा संख्यायते भुवि । तथा विट्शूद्रविप्राणां तास्ता ज्ञेया युगे युगे ॥ ३५ ॥
एतेषां नामलिङ्गानां पुरुषाणां महात्मनाम् । कथामात्रावशिष्टाना कीर्तिरेव स्थिता भुवि ॥ ३६ ॥
देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः । कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥ ३७ ॥
ताविहैत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ । वर्णाश्रमयुतं धर्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥ ३८ ॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् । अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥ ३९ ॥

देवके हृदयमें विराजमान होनेपर उनकी सन्तति उत्तरोत्तर स्थूलकाय होने लग जायगी ॥ २२।२३ ॥ जब चन्द्रमा, सूर्य, पुष्य नक्षत्र तथा बृहस्पति–ये चारों एक राशिपर स्थित होते हैं, तब सत्ययुगका समावेश होता है ॥ २४ ॥ हे राजन्! सूर्य तथा चन्द्रवंशमें जो-जो राजे पहले हो चुके हैं, जो इस समय हैं और भविष्यमें होंगे, उन सबका हाल मैंने तुमसे संक्षेपमें कह दिया ॥ २५ ॥ तुम्हारे जन्मसे राजा नन्दके राज्याभिषेक तक एक हजार एक सौ पन्द्रह वर्ष बीतेंगे ॥ २६ ॥ आकाशमें सप्तर्षियोंमेंसे जो दो तारे पहले उदित होते दीखते हैं, उनके बीचमें दक्षिणोत्तर रेखापर समभागमें अश्विनी आदिमेंसे जो एक नक्षत्र दीखता है, उसके सहित सप्तर्षि मनुष्योंके सौ वर्षतक उसी स्थितिमें रहा करते हैं। आजकल तुम्हारे समयमें वे सप्तर्षि मघानक्षत्रका आश्रय लिये हुए स्थित हैं ॥ २७ ॥ २८ ॥ जब भगवान विष्णुका कृष्णनामक शुद्धसत्त्वमय शरीर परम धामको सिधारा था, तभीसे मनुष्य पापपरायण हो गये और कलियुग संसारमें प्रविष्ट हुआ ॥ २९ ॥ जबतक लक्ष्मीपति भगवान कृष्ण अपने चरणोंसे पृथिवीका संस्पर्श किये रहे, तबतक कलि पृथिवीपर अपना पराक्रम नहीं प्रकट कर सका था ॥ ३० ॥ जबसे सप्तर्षिगण मघा नक्षत्रपर आये हैं, तभीसे बारह सौ दिव्यवर्ष तक रहनेवाला कलि प्रवृत्त हुआ है ॥ ३१ ॥ जब सप्तर्षि मघासे पूर्वाषाढा नक्षत्रपर चले जायँगे, तब राजा नन्दका राज्यकाल रहेगा और तभीसे कलियुग वृद्धिको प्राप्त होने लगेगा ॥ ३२ ॥ पुराविदोंका कहना है कि जिस दिन भगवान कृष्ण अपने दिव्य धामको सिधारे, उसी दिनसे संसारमें कलियुगका आगमन हुआ है ॥ ३३ ॥ हे राजन्! एक सहस्र दिव्य बर्ष बीतनेके अनन्तर कलियुगका अन्त हो जानेपर जब मनुष्यका चित्त आत्मस्वरूपका प्रकाशक हो जायगा, तब पुनः सत्ययुग आयेगा ॥ ३४ ॥ हे राजन्! जैसे लोकमें मनुवंशकी गणना होती है, वैसे ही युग-युगमें वैश्य, शूद्र तथा ब्राह्मणोंके वंशोंकी भी परम्परा जाननी चाहिये ॥ ३५ ॥ जिनकी केवल कथा भर शेष रह गयी है, ऐसे केवल नामसे पहचाने जानेवाले इन महात्माओंकी अब पृथिवीमें केवल कीर्ति ही रह गयी है ॥ ३६ ॥ इस समय शान्तनुके भाई देवापि एवं इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न महाराज मरु अपने महान् योगबलसे सम्पन्न होकर कलापग्राममें रहते हैं ॥ ३७ ॥ ये दोनों महात्मा कलिके अन्तमें यहाँ आकर वासुदेवभगवानकी

राजन्नेते मया प्रोक्ता नरदेवास्तथापरे । भूमौ ममत्वं कृत्वान्ते हित्वेमां निधनं गताः ४०
कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च । भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ४१
कथं सेयमखण्डा भूः पूर्वैर्मे पुरुषैर्धृता । मत्पुत्रस्य च पौत्रस्य मत्पूर्वा वंशजस्य वा ॥४२॥
तेजोऽबन्नमयं कायं गृहीत्वाऽऽत्मतयाबुधाः । महीं ममतया चोभौ हित्वान्तेऽदर्शनं गताः ४३
ये ये भूपतयो राजन् भुञ्जन्ति भुवमोजसा । कालेन ते कृताःसर्वे कथामात्राः कथासु च ।४४।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम् । अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः
काम एष नरेन्द्राणां मोघः स्याद् विदुषामपि । येन फेनोपमे पिण्डे येऽतिविश्रम्भिता नृपाः ।२।
पूर्वं निर्जित्य षड्वर्गं जेष्यामो राजमन्त्रिणः । ततः सचिवपौराप्तकरीन्द्रानस्य कण्टकान् ॥३॥
एवं क्रमेण जेष्यामः पृथ्वीं सागरमेखलाम् । इत्याशाबद्धहृदया न पश्यन्त्यन्तिकेऽन्तकम् ।४।
समुद्रावरणां जित्वा मां विशन्त्यब्धिमोजसा । कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम् ॥५॥

प्रेरणासे संसारमें पहलेकी भाँति वर्णाश्रमयुक्त धर्मकी स्थापना करेंगे ॥ ३८ ॥ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलि—ये चारों युग पृथिवीपर इसी क्रमसे प्राणियोंमें बराबर आते-जाते ही रहते हैं ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! मेरे कहे हुए ये सब राजे इस पृथिवीपर ममता करके अन्तमें इसे छोड़कर नष्ट हो गये हैं ॥ ४० ॥ अहो ! जिस शरीरका नाम राजा है और अन्तमें जिसकी कृमि, विष्ठा तथा भस्म संज्ञा हो जाती है, उस अकिंचन शरीरके लिये जो प्राणी अन्य प्राणियोंसे द्रोह करता फिरता है, क्या वह अपना सच्चा स्वार्थ जानता है ? नहीं जानता। अन्तमें इससे तो उसे नरकगामी ही होना पड़ता है ॥ ४१ ॥ 'जिस अखण्ड भूमण्डलपर मेरे पूर्वजोंने शासन किया था, वह मेरेसहित मेरे वंशधर पुत्रों और पौत्रोंके हाथमें कैसे रह सकेगी ?' ॥ ४२ ॥ इस प्रकार अग्नि, जल तथा अन्नके विकाररूप इस शरीरको आत्मा मानते हुए और पृथिवीको अपनी समझते हुए वे मूढ़ राजे इन दोनोंको छोड़कर अन्तमें सदाके लिए विलीन हो गये ॥४३॥ हे राजन् ! जो-जो राजे इस भूमण्डलको बड़े उत्साहसे भोगते थे, उन सबको कालने इतिहास नाममात्र शेष रखा है ॥ ४४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(राजपदके दूषण, चारों युगोंके धर्म तथा कलिकालमें हरिनामकीर्तनका माहात्म्यवर्णन)

श्रीशुकदेवजी कहने लगे—हे राजन् ! अपनेको जीतनेके लिये व्यग्र राजाओंको देखकर यह पृथिवी हँसती हुई कहती है—'अहो ! मृत्युके ये खिलौनेरूपी राजे मुझे जीतनेको इच्छुक हैं !' ॥ १ ॥ विद्वान् राजाओंको भी व्यर्थ ही विजय-कामना हुआ करती है। जिसके वशीभूत होकर ये राजे पानीके बुलबुलेकी भाँति अत्यन्त अस्थिर इस शरीरपर विश्वास करते हैं ॥ २ ॥ 'हम पहले षड्वर्गको जीतेंगे, तब राजमन्त्रियोंको अपने अधीनकर विजयके विरोधी अमात्य, पुरवासी आप्तपुरुष तथा गजराजोंपर अधिकार जमायेंगे ॥ ३ ॥ इसी तरह क्रमशः हम समुद्रसे घिरी भयी सारी पृथिवीको जीत लेंगे !' हृदयमें इसी तरहकी अनेक आशाएँ बाँधकर ये अपने समीपवर्ती कालको भी नहीं देख पाते ॥ ४ ॥ इनमें कुछ राजे तो समुद्रसे घिरी मुझ पृथिवीको जीतकर फिर बड़े उत्साहसे समुद्र पार करते हैं। किन्तु अपना मन जीतनेके समक्ष पृथिवीविजयका क्या मूल्य है ? क्योंकि मनको

यां विसृज्यैव मनवस्तत्सुताश्च कुरूद्वह । गता यथागतं युद्धे तां मां जेष्यन्त्यबुद्धयः ॥६॥
मत्कृते पितृपुत्राणां भ्रातॄणां चापि विग्रहः । जायते ह्यसतां राज्ये ममताबद्धचेतसाम् ॥७॥
ममैवेयं मही कृत्स्ना न ते मूढेति वादिनः । स्पर्धमाना मिथो घ्नन्ति म्रियन्ते मत्कृते नृपाः॥८॥
पृथुः पुरूरवा गाधिर्नहुषो भरतोऽर्जुनः । मान्धाता सगरो रामः खट्वाङ्गो धुन्धुहा रघुः॥९॥
तृणबिन्दुर्ययातिश्च शर्यातिः शन्तनुर्गयः । भगीरथः कुवलयाश्वः ककुत्स्थो नैषधो नृगः ॥१०॥
हिरण्यकशिपुर्वृत्रो रावणो लोकरावणः । नमुचिः शम्बरो भौमो हिरण्याक्षोऽथ तारकः॥११॥
अन्ये च बहवो दैत्या राजानो ये महेश्वराः । सर्वे सर्वविदः शूराः सर्वे सर्वजितोऽजिताः ॥१२॥
ममतां मय्यवर्तन्त कृत्वोच्चैर्मर्त्यधर्मिणः । कथावशेषाः कालेन ह्यकृतार्थाः कृता विभो॥१३॥

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥१४॥
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥१५॥

राजोवाच

केनोपायेन भगवन् कलेर्दोषान् कलौ जनाः । विधमिष्यन्त्युपचितांस्तन्मे ब्रूहि यथा मुने॥१६॥
युगानि युगधर्मांश्च मानं प्रलयकल्पयोः । कालस्येश्वररूपस्य गतिं विष्णोर्महात्मनः ॥१७॥

श्रीशुक उवाच

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः । सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥१८॥

जीत लेनेसे मुक्ति मिल सकती है ॥ ५ ॥ हे कुरुनन्दन ! पृथिवी कहती है—'जिसे त्यागकर मनु तथा मनुपुत्र भी जैसे आये थे वैसे ही खाली हाथ चले गये, उसी मुझ पृथ्वीको ये मन्दमति राजे युद्धमें जीतना चाहते हैं ॥ ६ ॥ जिन लोगोंका चित्त राज्यमें आसक्त रहता है, उन दुष्टोंमें मेरे ही लिये पिता-पुत्र और भाई-भाईका झगड़ा खड़ा हो जाता है ॥ ७ ॥ 'अरे मूढ़ ! यह सारी पृथिवी मेरी ही है, तेरी नहीं' ऐसा कहकर एक दूसरेसे स्पर्धा करते हुए वे राजे आपसमें मेरे लिये प्रहार करते और मारे जाते हैं ॥ ८ ॥ पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, सहस्रार्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग, धुन्धुमार, रघु ॥ ९ ॥ तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नैषध अर्थात् नल, नृग ॥ १० ॥ हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, सब लोगोंको रुलानेवाला रावण, नमुचि, शम्बर, भौमासुर, हिरण्याक्ष तथा तारक ॥११॥ इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से दैत्य तथा राजे जो सभी बड़े सम्पन्न, सर्वज्ञ, शूरवीर, सबको जीतनेवाले और किसीसे भी पराजित नहीं होनेवाले थे ॥१२॥ उन सब मरणधर्मा राजाओंने मुझपर अत्यन्त ममता की थी, किन्तु कराल कालने उनके मनोरथ पूर्ण होनेके पहले ही उन्हें अपने गालमें रख लिया—अब उनकी केवल कथा भर शेष रह गयी है ॥१३॥ हे राजन् ! जो संसारमें अपनी कीर्ति फैलाकर मर गये, उन महापुरुषोंकी यह कथा मैंने ज्ञान-वैराग्यका वर्णन करनेकी इच्छासे ही तुमको सुनायी है—यह सब केवल वाणीका विलासमात्र है, इसमें परमार्थ कुछ नहीं है ॥१४॥ इस लोकमें उत्तमश्लोक भगवानका निरन्तर गीयमान गुणानुवाद ही सब अमङ्गलोंको नष्ट करता है । जिसको भगवान कृष्णकी निर्मल भक्ति प्राप्त हो, वह नित्यप्रति उसीको सुने ॥ १५ ॥ राजा परीक्षितने पूछा—हे भगवन् ! हे मुने ! कलियुगमें कलिके बढ़े भये दोषोंको लोग कैसे दूर करेंगे, सो आप मुझे बताइए ॥ १६ ॥ इसके अतिरिक्त युग-युगके धर्म, प्रलय तथा स्थितिकालका प्रमाण एवं परमेश्वर भगवान विष्णुकी कालमूर्तिके स्वरूपका भी वर्णन करिए ॥ १७ ॥ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! सत्ययुगमें लोगों द्वारा धारण किया हुआ

सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः। आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः १९
त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः। अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः ॥२०॥
तदा क्रियातपोनिष्ठा नातिहिंस्रा न लम्पटाः। त्रैवर्गिकास्त्रयीवृद्धा वर्णा ब्रह्मोत्तरा नृप ॥२१॥
तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे। हिंसातुष्टयनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः ॥२२॥
यशस्विनो महाशालाः स्वाध्यायाध्ययने रताः। आढ्याः कुटुम्बिनो हृष्टा वर्णाः क्षत्रद्विजोत्तराः २३
कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्महेतुभिः। एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति२४
तस्मिँल्लुब्धा दुराचारा निर्दयाः शुष्कवैरिणः। दुर्भगा भूरितर्षाश्च शूद्रदाशोत्तराः प्रजाः ॥२५॥
सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः। कालसञ्चोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि॥२६॥
प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च। तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद् रुचिः॥२७॥
यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम्। तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन् ॥२८॥
यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः। कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः॥२९॥
यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम्। शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः३०
यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः। कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः ३१
दस्यूत्कृष्टा जनपदा वेदाः पाखण्डदूषिताः। राजानश्च प्रजाभक्षाः शिश्नोदरपरा द्विजाः।३२।
अव्रता बटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः। तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः ३३

धर्म चार चरणोंसे युक्त रहता है। सत्य, दया, तप तथा दान—ये ही धर्मके चार चरण कहे गये हैं ॥ १८ ॥ उस समयके सभी पुरुष सन्तोषी, कारुणिक, सुहृद्, शान्त, जितेन्द्रिय, सहनशील, आत्माराम, समदर्शी तथा प्रायशः आत्माभ्यासमें लगे रहनेवाले होते हैं ॥ १९ ॥ त्रेतामें अधर्मके असत्य, हिंसा, असन्तोष तथा विग्रह—इन चार चरणोंसे धीरे-धीरे धर्मके चरणोंका चतुर्थांश क्षीण हो जाया करता है ॥ २० ॥ हे राजन्! उस समयके ब्राह्मणप्रधान सभी वर्ण कर्मकाण्ड तथा तपस्यामें तत्पर, अत्यन्त हिंसा तथा लम्पटतासे रहित अर्थ, धर्म एवं कामरूप त्रिवर्गका सेवन करनेवाले और वैदिक मार्गमें कुशल हुआ करते हैं ॥ २१ ॥ द्वापरमें हिंसा, असन्तोष, असत्य तथा द्वेष—अधर्मके इन चार चरणोंसे तप, सत्य, दया एवं दानका आधा-आधा भाग क्षीण हो जाया करता है ॥ २२ ॥ उस समयके सब क्षत्रिय और ब्राह्मणप्रधान वर्ण बड़े यशस्वी, उदार, स्वाध्याय तथा अध्ययनमें तत्पर, धनाढ्य, कुटुम्बी एवं प्रसन्नचित्त होते हैं ॥ २३ ॥ किन्तु कलियुगमें बढ़ते हुए अधर्मके कारणोंसे धर्मके चरणोंका चतुर्थांश भर शेष रह जाता है और वह भी क्षीण होता-होता अन्तमें एक दम नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥ इस युगमें शूद्र तथा दासप्रधान सारी प्रजा अतिशय लोलुप, दुराचारिणी, निर्दयी, व्यर्थ वैर करनेवाली, अभागिनी और अधिक कामनायुक्त होती है। सभी पुरुषोंमें सत्त्व, रज तथा तम—ये तीनों गुण देखे जाते और वे कालकी प्रेरणासे चित्तमें परिवर्तित होते रहते हैं ॥ २५ ॥ २६ ॥ जब मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सत्त्वमें स्थित होती हैं, तब सत्ययुगका भोगकाल होता है, जिससे लोगोंकी ज्ञान और तपमें रुचि होती है ॥ २७ ॥ हे बुद्धिमन्! जब शरीरियोंकी प्रीति धर्म, अर्थ तथा काममें होती है तब रजःप्रधान त्रेतायुगकी प्रवृत्ति होती है ॥ २८ ॥ जब लोभ, असन्तोष, मान, दम्भ तथा मत्सर आदिका राज हो और काम्य कर्मोंकी प्रवृत्ति हो तब रजस्तमःप्रधान द्वापर युगकी प्रवृत्ति समझे ॥ २९ ॥ जब कपट, असत्य, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय तथा दीनताका प्रसार हो तब तमोमय कलियुगकी प्रवृत्ति जाने ॥ ३० ॥ इसके राज्यमें लोग मन्ददृष्टि, मन्दभाग्य, बहुभोजी, कामी एवं धनहीन हो जायँगे और स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी तथा असाध्वी बन जायँगी ॥ ३१ ॥ सभी देशोंमें लुटेरोंकी बढ़ती होगी। वेद पाखण्ड-मार्गोंसे दूषित हो जायगा। राजे प्रजाका भक्षण करने लगेंगे और ब्राह्मण कामवृत्ति तथा उदरकी

ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः । शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः ॥३४॥
पणयिष्यन्ति वै क्षुद्राः किराटाः कूटकारिणः । अनापद्यपि मंस्यन्ते वार्तां साधुजुगुप्सिताम् ॥३५॥
पतिं त्यक्ष्यन्ति निर्द्रव्यं भृत्या अप्यखिलोत्तमम् । भृत्यं विपन्नं पतयः कौलं गाश्चापयस्विनीः ॥३६॥
पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः । ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः ॥३७
शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः । धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥३८॥
नित्यमुद्विग्नमनसो दुर्भिक्षकरकर्शिताः । निरन्ने भूतले राजन्ननावृष्टिभयातुराः ॥३९॥
वासोऽन्नपानशयनव्यवायस्नानभूषणैः । हीनाः पिशाचसन्दर्शा भविष्यन्ति कलौ प्रजाः ४०
कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः । त्यक्ष्यन्ति च प्रियान् प्राणान् हनिष्यन्ति स्वकानपि
न रक्षिष्यन्ति मनुजाः स्थविरौ पितरावपि । पुत्रान् सर्वार्थकुशलान् क्षुद्राः शिश्नोदरम्भराः ॥४२

कलौ न राजञ्जगतां परं गुरुं त्रिलोकनाथानतपादपङ्कजम् ।
प्रायेण मर्त्या भगवन्तमच्युतं यक्ष्यन्ति पाखण्डविभिन्नचेतसः ॥४३॥
यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान् ।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः ॥४४॥

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् । सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तमः ॥४५॥
श्रुतः सङ्कीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा । नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम् ४६

पूर्तिमें संलग्न हो जायँगे ॥ ३२ ॥ कलिमें ब्रह्मचारी व्रतहीन एवं शौचशून्य हो जायँगे । गृहस्थ भीख माँगने लगेंगे । तपस्वी ग्रामके भीतर रहने लगेंगे और संन्यासीलोग अतिशय अर्थलोलुप हो जायँगे ॥ ३३ ॥ स्त्रियाँ नाटे शरीरकी, अधिक भोजन करनेवाली, अनेक सन्तानवाली, निर्लज्ज, सदा कटु भाषण करनेवाली, चोर, कपटी तथा अत्यन्त दुःसाहसी हो जायँगी ॥ ३४ ॥ बनिये नीच विचारके होकर लोगोंको ठगते हुए क्रय-विक्रयका कार्य करेंगे। वे आपत्तिकाल न होनेपर भी निन्दित जीविकाको श्रेष्ठ समझेंगे ॥ ३५ ॥ सेवक धनहीन हो जानेपर अपने अच्छेसे अच्छे स्वामीको भी त्याग देंगे और स्वामी रोगादिके कारण काम करनेमें असमर्थ हो जानेपर अपनी कुल-परम्परासे रखे हुए सेवकको भी छुड़ा देंगे। इसी तरह दूध न देनेवाली गौको भी लोग घरसे निकाल देंगे ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! इस कलियुगमें मैथुनसे प्रीति रखनेवाले एवं स्त्रीपरायण दीन पुरुष अपने पिता, भाई, सुहृद् तथा जातिवालोंको त्यागकर साली और सालेसे सलाह लेंगे ॥ ३७ ॥ शूद्र तपस्वियोंके वेषमें जीवननिर्वाह करते हुए लोगोंसे दान लेंगे और धर्मसे अनभिज्ञ लोग ऊँचे आसनोंपर बैठकर लोगोंको धर्मका उपदेश देंगे ॥ ३८ ॥ हे राजन् ! इस कलिमें पृथिवीतलपर अन्नका अभाव हो जानेपर अनावृष्टिके भयसे व्याकुल, दुर्भिक्ष एवं राजकरसे पीडित होकर नित्य उद्विग्नचित्त प्रजा अन्न, वस्त्र, जल, शयन, मैथुन, स्नान एवं भूषणादिसे रहित होकर पिशाचकी भाँति दीखने लगेगी ॥ ३९ ॥ ४० ॥ कलियुगमें लोग कौड़ी-कौड़ी धनके लिये झगड़ा ठान देंगे । सौहार्दभावको तिलाञ्जलि देकर अपने सगे-सम्बन्धियोंको मारेंगे और अपने प्रिय प्राणोंतकको त्याग देंगे ॥ ४१ ॥ कलिके सभी क्षुद्राशय मनुष्य शिश्नोदरपरायण होकर अपने बूढ़े माता-पिताकी भी रक्षा नहीं करेंगे और पिता सब कार्योंमें कुशल अपने पुत्रोंकी भी सम्हाल नहीं करेंगे ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! इस कलियुगमें वेदके विरुद्ध पाखण्ड-मार्गोंसे विक्षिप्तचित्त पुरुष प्रायः जिनके चरणकमलोंमें इन्द्रादि त्रिलोकके अधिपति मस्तक झुकाते हैं, उन संसारके परम गुरु श्रीअच्युतभगवानकी पूजा नहीं करेंगे ॥ ४३ ॥ मरनेके समय अत्यन्त आतुर पुरुष पराधीन होकर गिरते-पड़ते भी जिनका नाम लेनेसे सब कर्मबन्धनोंसे छूटकर उत्तम गति पा लेता है, लोग उन भगवानकी पूजा नहीं करेंगे ॥४४॥ हे राजन् ! अपने अन्तःकरणमें स्थित भगवान पुरुषोत्तम सब मनुष्योंके द्रव्य, देश तथा अन्तःकरणसे

यथा हेम्नि स्थितो वह्निर्दुर्वर्णं हन्ति धातुजम् । एवमात्मगतो विष्णुर्योगिनामशुभाशयम् ॥४७॥
विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्रीतीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥४८॥
तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् । म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ॥४९॥
म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः । आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः ॥५०॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥५१॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

कालस्ते परमाण्वादिर्द्विपरार्धावधिर्नृप । कथितो युगमानं च शृणु कल्पलयावपि ॥१॥
चतुर्युगसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते । स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥२॥
तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहृता । त्रयो लोका इमे तत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥३॥
एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक् । शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसात्कृत्य चात्मभूः ॥४॥

होनेवाले कलिके सब कल्मषोंको हर लेते हैं ॥ ४५ ॥ श्रीभगवान अपना श्रवण, कीर्तन, ध्यान, पूजन तथा आदर करनेपर हृदयमें स्थित हो जाते और मनुष्योंके दस हजार जन्मोंके दोषोंको भी दूर कर दिया करते हैं ॥ ४६ ॥ जैसे सुवर्णमें प्रविष्ट अग्नि ताम्बे आदि अन्य धातुओंके संसर्गसे प्राप्त उसके दुर्वर्ण अर्थात् मलको नष्ट कर देता है, वैसे ही चित्तमें प्रकटित श्रीविष्णुभगवान योगियोंकी अशुभ-वासनायें नष्ट कर डालते हैं ॥ ४७ ॥ मानव हृदयमें श्रीअनन्तभगवानके विराजमान होजानेपर चित्त जितनी अच्छी तरह शुद्ध हो जाता है, उतना विद्या, तप, प्राणायाम, मैत्री, तीर्थस्नान, व्रत, दान तथा जप आदि किसी उपायसे भी शुद्ध नहीं होने आता। हे राजन्! अब मरणकालमें तुम सावधान होकर सब तरहसे श्रीकृष्णको अपने हृदयमन्दिरमें पधराओ। इससे तुमको परमगति प्राप्त हो जायगी ॥ ४८॥४९ ॥ हे तात! मुमूर्षु पुरुषोंका कर्तव्य है कि भगवान परमेश्वरका ही ध्यान करें। इससे वे सर्वाधार तथा सर्वात्मा श्रीहरि उन्हें अपने स्वरूपमें लीन कर लिया करते हैं ॥ ५० ॥ हे राजन्! दोषोंके भण्डारस्वरूपमें इस कलिमें यही एक बहुत बड़ा गुण है कि इसमें श्रीकृष्णभगवान-का कीर्तन भर कर लेनेसे पुरुष सब बन्धनोंसे छूटकर साक्षात् परमात्माको पा लेता है ॥५१॥ सत्ययुग-में श्रीविष्णुभगवानके ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञों द्वारा उनका यजन करनेसे और द्वापरमें विष्णुभगवान-की पूजा करनेसे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें हरिकीर्तनमात्रसे प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(चार प्रकारके प्रलय) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! मैं परमाणुसे लेकर परार्द्ध कालतक चारों युगोंके प्रमाणका वर्णन पहले ही अर्थात् तृतीय स्कन्धमें कर आया हूँ। अब कल्प तथा प्रलयका भी वृत्तान्त सुन लो ॥ १ ॥ हे राजन्! ब्रह्माका दिन एक हजार चतुर्युगका होता है। वही कल्प कहाता है और उसमें क्रमशः चौदह मनु बीतते हैं ॥ २ ॥ कल्पके अन्तमें उतने ही प्रमाण-का प्रलय होता है, जिसे ब्रह्माकी रात्रि कहते हैं और उसी रात्रिमें तीनों लोकोंका प्रलय हो जाया करता है ॥ ३ ॥ इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। इसमें विश्वस्रष्टा और स्वयम्भूसहित भगवान् शेष-

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥५॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते । आण्डकोशस्तु सङ्घातो विघात उपसादिते ॥६॥
पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन् न वर्षति । तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्षमाणाः क्षुधार्दिताः ।७।
क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः । सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्तको रविः ॥८॥
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति । ततः संवर्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः ॥९॥
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ । उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः ॥१०॥
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् । ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम् ॥११॥
परः सांवर्तको वाति धूम्रं खं रजसाऽऽवृतम् । ततो मेघकुलान्यङ्ग चित्रवर्णान्यनेकशः ॥१२॥
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः । तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम् ॥१३॥
तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे । ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥१४॥
अपां रसमथो तेजस्ता लीयन्तेऽथ नीरसाः । ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥१५॥
लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम् । स वै विशति खं राजंस्ततश्च नभसो गुणम् ॥१६॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते । तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग देवान् वैकारिको गुणैः ।१७।
महान् ग्रसत्यहङ्कारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम् । ग्रसतेऽव्याकृतं राजन् गुणान् कालेन चोदितम् १८
न तस्य कालावयवैः परिणामादयो गुणाः । अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम् ॥१९॥

शायी नारायण समस्त विश्वको अपनेमें समेट कर सोते हैं ॥ ४ ॥ परमेष्ठी श्रीब्रह्माजीकी आयुके दो परार्द्ध बीतनेपर महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्रा ये सात प्रकृतियाँ भी उन्हींमें लीन हो जाती हैं ॥ ५ ॥ हे राजन्! यही प्राकृत प्रलय है। इसमें प्रलयका कारण उपस्थित हो जानेपर सब प्राणियों-का संघातरूपी ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें जाकर लय हो जाता है ॥ ६ ॥ हे राजन्! उस प्रलयकालमें मेघगण सौ वर्षोंतक पृथिवीपर जल नहीं बरसाते। अतएव अन्नका अभाव हो जाता और अन्नके अभावसे प्रजाजन भूखसे व्याकुल होकर एक-दूसरेको खाते हुए धीरे-धीरे कालकृत उवद्रवसे पीडित होकर क्षीण हो जाते हैं। तब प्रलयकालका सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समुद्र, शरीर तथा पृथिवीका सारा रस सुखा डालता है और उसे छोड़ता नहीं है। तदनन्तर शेषजीके मुखसे निःसृत संवर्तक अग्नि वायुके वेगसे बढ़कर जनशून्य तल-अतल आदि सारे भूविवरोंको जला देता है। उसी समय सूर्य तथा अग्निकी ज्वालाओंसे ऊपर-नीचे सब ओरसे दग्ध ब्रह्माण्ड जले हुए उपलोंकी भाँति मालूम देता है। तदनन्तर धूलि तथा धूएँसे व्याप्त आकाशमें सौ वर्षसे भी अधिक समय तक अति प्रचण्ड प्रलयकालीन पवन चलता है और अनेक प्रकारके चित्र-विचित्र मेघ उमड़-घुमड़ कर सौ वर्षतक वर्षा करते हुए भयङ्कर शब्दसे गर्जन करते हैं। उस समय इस ब्रह्माण्ड-विवरके भीतर सम्पूर्ण विश्व-में जल ही जल दीखता है ॥ ७–१३ ॥ इस तरह जलप्रलय हो जानेपर पृथिवीके गुण गन्धको जल ग्रस लेता है। गन्ध ग्रस लिये जानेपर पृथिवीका लय हो जाता है ॥ १४ ॥ तदनन्तर जलका गुण रस तेजमें लीन हो जाता और रसहीन होकर जल भी नष्ट हो जाया करता है। तेजके गुण रूपको वायु निगल लेता है और तेज रूपरहित होकर वायुमें लीन हो जाता है। वायुके गुणको आकाश ग्रस लेता और वह गुण आकाशमें लीन हो जाता है। तदनन्तर हे राजन्! आकाशके गुण शब्दको भूतोंका कारणस्वरूप तामस अहङ्कार अपनेमें लीन कर लेता है अतएव आकाश उसीमें लय हो जाता है। इसी तरह इन्द्रियोंको उनकी वृत्तियोंके समेत तैजस अहङ्कार तथा इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओंको वैकारिक अहङ्कार ग्रस लिया करता है ॥ १५–१७ ॥ तत्पश्चात् विविध अहङ्कारोंको मह-त्तत्त्व, महत्तत्त्वको सत्त्वादि गुण और कालसे प्रेरित अव्याकृत उन गुणोंको निगल जाता है ॥१८॥ वह अव्यक्त, अनादि, अनन्त, नित्य, सबका कारण तथा अविनाशी है। उसमें कालके अवयवरूपी

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयोऽमी ।
न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः ॥२०॥
न स्वप्नजाग्रन्न च तत् सुषुप्तं न खं जलं भूरनिलोऽग्निरर्कः ।
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥२१॥
लयः प्राकृतिको ह्येष पुरुषाव्यक्तयोर्यदा । शक्तयः संप्रलीयन्ते विवशाः कालविद्रुताः ॥२२॥
बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम् । दृश्यत्वाव्यतिरेकाभ्यामाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२३॥
दीपश्चक्षुश्च रूपं च ज्योतिषो न पृथग् भवेत् । एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात् २४
बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति चोच्यते । मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि २५
यथा जलधरा व्योम्नि भवन्ति न भवन्ति च । ब्रह्मणीदं तथा विश्वमवयव्युदयाप्ययात् ॥२६॥
सत्यं ह्यवयवः प्रोक्तः सर्वावयविनामिह । विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः ॥२७॥
यत् सामान्यविशेषाभ्यामुपलभ्येत स भ्रमः । अन्योन्यापाश्रयात् सर्वमाद्यन्तवदवस्तु यत् ॥२८॥
विकारः ख्यायमानोऽपि प्रत्यगात्मानमन्तरा । न निरूप्योऽस्त्यणुरपि स्याच्चेत्सम आत्मवत् २९
न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते । नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ॥३०॥
यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभिर्व्यवहारवर्त्मसु ।
एवं वचोभिर्भगवानधोक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैर्जनैः ॥३१॥

दिन-रात आदिके द्वारा परिणामादि विकार नहीं उत्पन्न होते ॥ १९ ॥ जिसमें वाणी, मन, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण और महत्तत्त्वादि विकार, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय एवं देवता तथा यह सारी लोक-रचना आदि कुछ भी नहीं रह जाते ॥ २० ॥ जहाँ स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ नहीं रहतीं और आकाश, जल, पृथिवी, वायु, अग्नि तथा सूर्यका भी अभाव रहता और वह सोये हुएके समान शून्यवत् तथा अचिन्तनीय है। विज्ञजन उसी अव्यक्तको जगत्‌का मूल तत्त्व कहते हैं ॥२१॥ इस प्रकारका प्राकृत प्रलय तभी होता है, जब कालके द्वारा तिरस्कृत पुरुष तथा प्रकृतिकी शक्तियाँ विवश होकर विलीन हो जाया करती हैं ॥ २२ ॥ इसके बाद मोक्षरूपी आत्यन्तिक प्रलयका वर्णन करते हुए कहते हैं—बुद्धि, इन्द्रिय तथा विषयोंके रूपमें उनका अधिष्ठान ज्ञान ही भासमान हो रहा है। जो कोई भी वस्तु आदि तथा अन्त युक्त है, वह सत्य नहीं है। क्योंकि वह दृश्यमान है और अपने अधिष्ठानसे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं है ॥ २३ ॥ जैसे दीपक, नेत्र और रूप तेजसे पृथक् नहीं होते, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय तथा उनकी तन्मात्राएँ अपनेसे पृथक् अधिष्ठान सत्यस्वरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहतीं ॥ २४ ॥ हे राजन् ! जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी ही मानी गयी हैं। अतएव अन्तरात्मामें जो विश्व, तैजस और प्राज्ञरूपी नानात्व है, वह ब्रह्ममें मायामात्र है और कुछ नहीं ॥ २५ ॥ जैसे आकाशमें मेघ कभी रहते और कभी नहीं भी रहते, उसी प्रकार ब्रह्ममें यह सावयव जगत् उत्पत्ति तथा प्रलयके क्रमसे कभी होता है, कभी नहीं भी होता ॥२६॥ हे तात ! इस जगत्‌में सभी सावयव पदार्थोंके कारणरूपी अवयव सत्य माने गये हैं। क्योंकि कपड़ेके कारणभूत तन्तुओंकी तरह कार्यरूपी अवयवीसे पृथक् भी कारणरूप अवयव देखे जाते हैं ॥ २७ ॥ सामान्य तथा विशेषरूपसे जो भेद देखे जाते हैं, वे परस्पर एक-दूसरेके आश्रित रहनेसे भ्रमरूप होते हैं। क्योंकि जो पदार्थ आदि-अन्तवान् होता है, वह सब मिथ्या ही होता है ॥ २८ ॥ यद्यपि यह प्रपञ्च विकार प्रतीत होता है, फिर भी प्रत्यगात्मासे भिन्न अणुमात्र भी इसकी सत्ताका प्रतिपादन नहीं हो सकता। इसकी सत्ता यदि मान ली जाय तो यह चिद्रूप आत्माकी भाँति ही सत्य सिद्ध होगा ॥ २९ ॥ लेकिन वस्तुमें अनेकता नहीं रहती। यदि कोई अज्ञ पुरुष उसको अनेक मानता है तो उसका मानना घटाकाश तथा महाकाशमें आकाशस्थित सूर्य एवं जलमें प्रतिविम्बित सूर्यमें तथा

यथा घनोऽर्कप्रभवोऽर्कदर्शितो ह्यर्कांशभूतस्य च चक्षुषस्तमः ।
एवं त्वहं ब्रह्मगुणस्तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्यात्मन आत्मबन्धनः ॥३२॥
घनो यदार्कप्रभवो विदीर्यते चक्षुः स्वरूपं रविमीक्षते तदा ।
यदा ह्यहङ्कार उपाधिरात्मनो जिज्ञासया नश्यति तर्ह्यनुस्मरेत् ॥३३॥
यदैवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् ।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम् ॥३४॥
नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परन्तप । उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥३५॥
कालस्रोतोजवेनाशु ह्रियमाणस्य नित्यदा । परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥३६॥
अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना । अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव ।३७।
नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः । आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी ।३८।
एताः कुरुश्रेष्ठ जगद्विधातुर्नारायणस्याखिलसत्त्वधाम्नः ।
लीलाकथास्ते कथिताः समासतः कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः ॥३९॥
संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य ।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य ॥४०॥
पुराणसंहितामेतामृषिर्नारायणोऽव्ययः । नारदाय पुरा प्राह कृष्णद्वैपायनाय सः ॥४१॥
स वै मह्यं महाराज भगवान् बादरायणः । इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम् ॥४२॥

आन्तरिक वायु और बाह्य वायुमें नानात्व माननेके समान ही है ॥३०॥ जैसे व्यवहारमें सुवर्ण भिन्न-भिन्न रचनाओंके भेदसे कटक-कुण्डलादि विविधरूपसे मनुष्यों द्वारा प्राप्त किया जाता है, वैसे ही लोग भगवान अधोक्षजके लौकिक तथा वैदिक वाक्यों द्वारा तरह-तरहसे व्याख्या किया करते हैं ॥ ३१ ॥ जैसे सूर्यसे उत्पन्न एवं सूर्यसे ही प्रकाशित मेघ सूर्यके अंशभूत नेत्रके लिये सूर्यदर्शनमें प्रतिबन्धक हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मका कार्य तथा ब्रह्म हीसे प्रकाशित होनेवाला अहङ्कार ब्रह्मके अंशभूत आत्माके लिये ब्रह्मदर्शनमें प्रतिबन्धक हो जाता है ॥ ३२ ॥ जब सूर्यसे प्रगट मेघ फट जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूपभूत सूर्यको देख लेता है । वैसे ही जिस समय आत्माका उपाधिस्वरूप अहङ्कार विचार-से नष्ट हो जाता है, तब उसे अपने स्वरूपकी स्मृति हो जाया करती है ॥ ३३ ॥ हे प्रिय ! इस तरह जब विवेकरूपी खड्गसे यह जीव अपने अहंकाररूपी मायामय बन्धनको काटकर ब्रह्मात्मभावमें स्थिति हो जाता है तो उस अवस्थाको ही लोग इस प्रपञ्चका आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं ॥ ३४ ॥ इसके बाद नित्य प्रलयका वर्णन करते हुए कहते हैं—हे शत्रुदमन ! कुछ सूक्ष्म विचारके ज्ञाता पुरुष ब्रह्मादि समस्त भूतोंकी सर्वदा उत्पत्ति और प्रलय होते रहनेकी बात बताते हैं ॥ ३५ ॥ जैसे नदीका प्रवाह तथा दीपशिखा आदि परिणामशील पदार्थोंकी क्षण-क्षणमें बदलनेवाली दशाएँ उनके पल पलमें होनेवाले जन्म तथा नाशका कारण होती हैं । उसी तरह कामस्रोतके वेगसे क्षीण होने-वाले देहादि भी क्षण-क्षणमें बनते-बिगड़ते ही रहते हैं ॥ ३६ ॥ आकाशमें चलनेवाली तारिकाओंकी गतिके समान वे अवस्थाएँ भगवानके स्वरूपभूत तथा आदि अन्तरहित कालके कारण नहीं दिखायी देतीं ॥ ३७ ॥ इस तरह मैंने तुमको नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और आत्यन्तिक चारों तरहके प्रलयोंका वर्णन कह सुनाया । हे राजन् ! इस कालकी गति ऐसी ही है ॥ ३८ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! सर्वान्तर्यामी विश्वविधाता श्रीनारायणकी यह लीलाकथा मैंने संक्षेपमें तुम्हें सुना दी । इसको पूर्णतया वर्णन करनेमें तो ब्रह्माजी भी समर्थ नहीं हैं ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! अत्यन्त दुस्तर संसारसागरसे पार होनेके इच्छुक और नाना प्रकारके दुःखरूप दावानलसे सन्तप्त पुरुषके लिये भगवानके लीलाकथारसका सेवन करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है ॥ ४० ॥ इस पुराणसंहिताको पहले ऋषिवर नारा०

एतां वक्ष्यत्यसौ सूत ऋषिभ्यो नैमिषालये । दीर्घसत्रे कुरुश्रेष्ठ सम्पृष्टः शौनकादिभिः ॥४३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीशुक उवाच

अत्रानुवर्ण्यतेऽभीक्ष्णं विश्वात्मा भगवान् हरिः । यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥१॥
त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि । न जातः प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि ॥२॥
न भविष्यसि भूत्वा त्वं पुत्रपौत्रादिरूपवान् । बीजाङ्कुरवद् देहादेर्व्यतिरिक्तो यथानलः ॥३॥
स्वप्ने यथा शिरश्छेदं पञ्चत्वाद्यात्मनः स्वयम् । यस्मात् पश्यति देहस्य तत आत्मा ह्यजोऽमरः॥४॥
घटे भिन्ने यथाऽऽकाश आकाशः स्याद् यथापुरा । एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥५॥
मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः । तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥६॥
स्नेहाधिष्ठानवर्त्यग्निसंयोगो यावदीयते । ततो दीपस्य दीपत्वमेवं देहकृतो भवः ।
रजःसत्त्वतमोवृत्त्या जायतेऽथ विनश्यति ॥ ७ ॥
न तत्रात्मा स्वयंज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः । आकाश इव चाधारो ध्रुवोऽनन्तोपमस्ततः ॥८॥

यणने नारदसे कहा और नारदजीने कृष्णद्वैपायन व्यासको सुनाया ॥ ४१ ॥ हे महाराज ! फिर व्यासजीने इस वेदानुकूल संहिताको अतिशय प्रसन्न होकर मुझसे कहा ॥ ४२ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! अब भविष्यमें नैमिषारण्य-क्षेत्रमें दीर्घकालीन यज्ञके समय ऋषियोंके पूछनेपर श्री सूतजी इसे शौनकादि ऋषियोंको सुनावेंगे ॥ ४३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(परमार्थका निराकरण) श्रीशुकदेव कहते हैं—इस महापुराणमें पुनः पुनः विश्वात्मा भगवान हरिका ही वर्णन किया गया है, जिनकी रजोगुणीवृत्तिरूपिणी प्रसन्नतासे ब्रह्मा तथा तमोगुणरूपी क्रोधसे रुद्रका जन्म हुआ है ॥ १ ॥ हे राजन् ! 'मैं मरूँगा' इस पशुबुद्धिको तुम त्याग दो । क्योंकि देहकी तरह तुम पहले नहीं थे और अब उत्पन्न हुए हो, यह बात भी नहीं है। इसी लिये तुम कभी नाशको भी प्राप्त न होओगे ॥ २ ॥ जैसे बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज उत्पन्न होता है, उसी तरह तुम इस समय उत्पन्न होकर अब पुत्र-पौत्रादिके रूपमें पुनः उत्पन्न न होओगे ? क्योंकि देहसे तो देह ही उत्पन्न होता है, आत्मा नहीं उत्पन्न होता । तुम तो काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान शरीरमें व्याप्त होकर भी शरीरसे एकदम पृथक् आत्मा हो ॥ ३ ॥ जैसे मनुष्य स्वप्नमें अपना सिर कट जाना तथा मृत्यु आदि देखता है, वैसे ही यह जाग्रत्-अवस्थामें भी इस देहके मरणादि देखा करता है । इसीसे कहा जा सकता है कि वह अजन्मा तथा अमर है ॥ ४ ॥ जैसे घड़ेके टूट जानेपर घटाकाश पहलेहीके सदृश फिर महाकाशरूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही इस देहके नष्ट होनेपर जीव ब्रह्मरूप हो जाया करता है ॥ ५ ॥ इस आत्माके लिये एकमात्र मन ही देह, गुण तथा कर्मादिकी रचना करता और उस मनको माया रचती है । उस मायारूप उपाधिके कारण ही जीवको जन्म-मरणरूपी संसार प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ जबतक तैल, तैलपात्र, बत्ती तथा अग्निका संयोग रहता है तभीतक दीपकका दीपकत्व वर्तमान रहता है । वैसे ही संसार भी देहसम्बन्ध तक ही सीमित रहता और रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणकी वृत्तियोंसे शरीर क्रमशः उत्पन्न, स्थित और नष्ट हो जाते हैं । किन्तु इस संसारका नाश हो जानेपर भी स्वयं प्रकाशशील आत्माका नाश नहीं हो पाता । वह तो व्यक्त तथा अव्यक्तसे परे आकाशकी भाँति सबका आधार, निश्चल तथा

एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो । बुद्ध्यानुमानगर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया ।९।
चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षकः । मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम् १०
अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् । एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले।११।
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः । न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः ।१२।
एतत्ते कथितं तात यथाऽऽत्मा पृष्टवान् नृप । हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि १३
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे ब्रह्मोपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।।२६।।

———

षष्ठोऽध्यायः

सूत उवाच

एतन्निशम्य मुनिनाभिहितं परीक्षिद् व्यासात्मजेन निखिलात्मदृशा समेन ।
तत्पादमूलमुपसृत्य नतेन मूर्ध्ना बद्धाञ्जलिस्तमिदमाह स विष्णुरातः ।। १ ।।

राजोवाच

सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना । श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः।।२।।
नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम् । अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः ।।३।।
पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम् । यस्यां खलूत्तमश्लोको भगवाननुवर्ण्यते ।।४।।
भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् । प्रविष्टो ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ।।५।।
अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे । मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसून्।।६।।

अनन्त है ।। ७ ।। ८ ।। अतएव हे राजन्! तुम भगवान वासुदेवका ध्यान करते हुए द्रष्टा और दृश्यविषयक व्यतिरेकके विचारसे पूर्ण अपनी बुद्धिके द्वारा देहादि उपाधिमें स्थित अपने आत्माका स्वयं चिन्तन करो ।। ९ ।। यदि ऐसा करोगे तो ब्राह्मणके वाक्यसे प्रेरित तक्षक भी तुम्हें दग्ध नहीं कर सकेगा । क्योंकि मृत्युके कारणभूत जो सर्पदंशादि हैं, वे मृत्युके भी मृत्युरूप ईश्वरका ध्वंस नहीं कर सकते ।। १० ।। 'जो मैं हूँ, वही परमपदरूप ब्रह्म है और जो परमपदरूप ब्रह्म है वही मैं हूँ' ऐसा विचार करते हुए अपने आत्माको निष्कल परमात्मामें स्थित कर लेनेके बाद तुम अपने पैरोंमें काटकर जिह्वासे ही चाटनेवाले तक्षकको तथा अपने शरीर और सारे विश्वको भी अपने आत्मासे पृथक् नहीं देखोगे ।। ११ ।। १२ ।। हे राजन्! सर्वात्मा श्रीहरिकी लीलाओंके विषयमें तुमने मुझसे जैसा प्रश्न किया था, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया । कहो, अब क्या सुनना चाहते हो ? ।। १३ ।। इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायां पञ्चमोऽध्यायः ।। ५ ।।

(महाराज परीक्षित्का शरीरत्याग, जनमेजयका सर्पयज्ञ तथा वेदकी शाखाओंका वर्णन)

श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुने! सब प्राणियोंको अपना स्वरूप समझनेवाले समदर्शी व्यासपुत्र मुनिवर श्रीशुकदेवजीका यह कथन सुनकर विष्णुरात महाराज परीक्षितने उनके चरणकमलोंमें अपना मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले । राजा परीक्षित्ने कहा—हे भगवन्! आपने कारुणार्द्रचित्तसे मुझे आदिअन्तरहित साक्षात् श्रीहरिका चरित सुनाया है। अतएव मैं कृतकृत्य तथा अत्यन्त अनुगृहीत हो गया हूँ ।। १ ।। २ ।। त्रिविध तापसे सन्तप्त एवं अज्ञानी जीवोंपर भगवत्प्राण महानुभावोंकी जो स्वभावतः अनुकम्पा होती है, उसे मैं कुछ विस्मय-जनक नहीं मानता ।। ३ ।। मैंने आपके मुखसे यह पुराणसंहिता सुनी, जिसमें उत्तमश्लोक श्रीहरिका ही वर्णन मिलता है ।। ४ ।। हे भगवन्! आपने मुझे निर्भय कर दिया । जिससे मैं ब्रह्मनिर्वाणमें प्रविष्ट हो गया हूँ । अतएव मैं तक्षकादि मृत्युओंसे भी नहीं डरता ।। ५ ।। हे ब्रह्मन्! अब आप मुझे

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया । भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पदम् ॥७॥

सूत उवाच

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् बादरायणिः । जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः ॥८॥
परीक्षिदपि राजर्षिरात्मन्यात्मानमात्मना । समाधाय परं दध्यावस्पन्दासुर्यथा तरुः ॥९॥
प्राक्कूले बर्हिष्यासीनो गङ्गाकूल उदङ्मुखः । ब्रह्मभूतो महायोगी निःसङ्गश्छिन्नसंशयः॥१०॥
तक्षकः प्रहितो विप्राः क्रुद्धेन द्विजसूनुना । हन्तुकामो नृपं गच्छन् ददर्श पथि कश्यपम् ११
तं तर्पयित्वा द्रविणैर्निवर्त्य विषहारिणम् । द्विजरूपप्रतिच्छन्नः कामरूपोऽदशन्नृपम् ।१२।
ब्रह्मभूतस्य राजर्षेर्देहोऽहिगरलाग्निना । बभूव भस्मसात् सद्यः पश्यतां सर्वदेहिनाम् १३
हाहाकारो महानासीद् भुवि खे दिक्षु सर्वतः । विस्मिता ह्यभवन् सर्वे देवासुरनरादयः ॥१४॥
देवदुन्दुभयो नेदुर्गन्धर्वाप्सरसो जगुः । ववृषुः पुष्पवर्षाणि विबुधाः साधुवादिनः॥१५॥
जनमेजयः स्वपितरं श्रुत्वा तक्षकभक्षितम् । यथा जुहाव संक्रुद्धो नागान् सत्रे सह द्विजैः ।१६।
सर्पसत्रे समिद्धाग्नौ दह्यमानान् महोरगान् । दृष्ट्वेन्द्रं भयसंविग्नस्तक्षकः शरणं ययौ ॥१७॥
अपश्यंस्तक्षकं तत्र राजा पारीक्षितो द्विजान् । उवाच तक्षकः कस्मान्न दह्येतोरगाधमः ॥१८॥
तं गोपायति राजेन्द्र शक्रः शरणमागतम् । तेन संस्तम्भितः सर्पस्तस्मान्नाग्नौ पतत्यसौ १९
पारीक्षित इति श्रुत्वा प्राहर्त्विज उदारधीः । सहेन्द्रस्तक्षको विप्रा नाग्नौ किमिति पात्यते २०
तच्छ्रुत्वाऽऽजुहुवुर्विप्राः सहेन्द्रं तक्षकं मखे । तक्षकाशु पतस्वेह सहेन्द्रेण मरुत्वता ॥२१॥

आज्ञा दें। अब मैं वाणीका संयम करूँगा और कामवासनासे रहित होकर अपना चित्त श्रीविष्णु-भगवानमें लगाकर अपने प्राण त्याग दूँगा ॥ ६ ॥ आपने ज्ञान-विज्ञानमें मेरी स्थिति कराके मेरा अज्ञान दूर कर दिया और भगवानका अतिशय मङ्गलमय स्वरूप दिखा दिया है ॥ ७ ॥ श्रीसूतजी बोले—राजा परीक्षित्के वचन सुन और उन्हें आज्ञा देकर राजासे पूजित हो भगवान शुकदेवजी अन्य भिक्षुओंके साथ वहाँसे चल पड़े ॥ ८ ॥ तब सब संशयोंसे रहित, आसक्तिहीन, ब्रह्मनिष्ठ, महायोगी राजर्षि परीक्षित् भी श्रीगंगाजीके पूर्वतटपर कुशासनके ऊपर उत्तर मुख करके बैठे और अपने चित्तको आत्मामें समाहितकर वृक्षकी भाँति प्राणस्पन्दशून्य होकर परमात्माके ध्यानमें मग्न हो गये ॥ ९ ॥ १० ॥ हे विप्रों ! तदनन्तर कुपित मुनिकुमार अर्थात् शृंगीऋषिका भेजा हुआ तक्षक नाग राजाको काटनेके लिये चला। उसने मार्गमें विष हरनेमें समर्थ कश्यप नामके एक ब्राह्मणको देखा। उस स्वेच्छारूपधारी तक्षकने उसे बहुत-सा धन देकर लौटा दिया और स्वयं ब्राह्मणवेषसे राजाके पास गया और अवसर पाकर डस लिया ॥ ११ ॥ १२ ॥ तदुपरान्त सबके देखते-देखते ब्रह्मभूत राजर्षि परीक्षित्का शरीर तुरन्त सर्पके विषाग्निसे जलकर राख हो गया ॥ १३ ॥ इस अनर्थसे पृथिवी, आकाश तथा दिशाओंमें सब ओर महा हाहाकार मच गया तथा देवता, असुर और मनुष्यादि सबलोग अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गये ॥ १४ ॥ उस समय आकाशमें देवदुन्दुभियें बजने लगीं, गन्धर्व और अप्सरायें गाने लगीं और देवता साधु-साधु कहकर फूल बरसाने लगे ॥ १५ ॥ अपने पिताको तक्षक द्वारा डसा गया सुन परीक्षित्नन्दन राजा जनमेजयने अत्यन्त कुपित होकर ब्राह्मणोंके साथ विधिपूर्वक सर्पोंका नाशक यज्ञ आरम्भ कर दिया ॥ १६ ॥ उस यज्ञमें बड़े-बड़े सर्पोंको प्रज्वलित अग्निमें भस्म होते देख तक्षकने भयभीत होकर इन्द्रकी शरण गही ॥ १७ ॥ राजा जनमेजयने बड़ी देरतक वहाँ तक्षकको आया न देखकर ऋत्विग्जनोंसे कहा—"आपलोग उस सर्पाधम तक्षकको क्यों नहीं जलाते ?" ॥ १८ ॥ ऋत्विज बोले—हे महाराज ! उसे अपनी शरणमें आया जानकर इन्द्र उसकी रक्षा कर रहे हैं। उनके रोकनेसे ही वह सर्प अब तक अग्निकुण्डमें नहीं गिरा है" यह सुनकर उदार बुद्धि जनमेजयने कहा—"हे विप्रों ! ऐसा है तो आपलोग इन्द्र सहित तक्षकको अग्निमें

इति ब्रह्मोदिताक्षेपैः स्थानादिन्द्रः प्रचालितः । बभूव सम्भ्रान्तमतिः सविमानः सतक्षकः ।।२२।।
तं पतन्तं विमानेन सहतक्षकमम्बरात् । विलोक्याङ्गिरसः प्राह राजानं तं बृहस्पतिः ।।२३।।
नैष त्वया मनुष्येन्द्र वधमर्हति सर्पराट् । अनेन पीतममृतमथ वा अजरामरः ।।२४।।
जीवितं मरणं जन्तोर्गतिः स्वेनैव कर्मणा । राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदुःखयोः ।।२५।।
सर्पचौराग्निविद्युद्भ्यः क्षुत्तृड्व्याध्यादिभिर्नृप । पञ्चत्वमृच्छते जन्तुर्भुङ्क्त आरब्धकर्म तत् ।।२६।।
तस्मात् सत्रमिदं राजन् संस्थीयेताभिचारिकम् । सर्पा अनागसो दग्धा जनैर्दिष्टं हि भुज्यते ।।२७।।

सूत उवाच

इत्युक्तः तथेत्याह महर्षेर्मानयन् वचः । सर्पसत्रादुपरतः पूजयामास वाक्पतिम् ।।२८।।
सैषा विष्णोर्महामाया बाध्ययालक्षणा यया । मुह्यन्त्यस्यैवात्मभूता भूतेषु गुणवृत्तिभिः ।।२९।।
न यत्र दम्भीत्यभया विराजिता मायाऽऽत्मवादेऽसकृदात्मवादिभिः ।
न यद् विवादो विविधस्तदाश्रयो मनश्च सङ्कल्पविकल्पवृत्ति यत् ।।३०।।
न यत्र सृज्यं सृजतोभयोः परं श्रेयश्च जीवस्त्रिभिरन्वितस्त्वहम् ।
तदेतदुत्सादितबाध्यबाधकं निषिध्य चोर्मीन् विरमेत् स्वयं मुनिः ।।३१।।
परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा हृदोपगुह्यावसितं समाहितैः ।।३२।।

क्यों नहीं जला देते ?" ।। १९।।२० ।। राजाका कथन सुनकर ब्राह्मणोंने उस यज्ञमें इन्द्रसमेत तक्षकका आवाहन किया। वे बोले—"हे तक्षक ! तुम मरुद्गणके साथी इन्द्र सहित अभी इस अग्निमें आ गिरो" ।।२१।। ब्राह्मणोंके इन आकर्षण-मन्त्रोंसे इन्द्र अपने स्थानसे चलायमान हो गये और अपने विमान तथा तक्षकके सहित घबड़ा उठे ।। २२ ।। इन्द्रको विमान और तक्षकसमेत आकाशसे गिरते देखकर अङ्गिरातनय बृहस्पतिजी राजा जनमेजयसे बोले—।।२३।। 'हे राजन् ! वह सर्पराज तुमसे मारा नहीं जा सकेगा । क्योंकि वह अमृतपान किये हुए है। इसीलिये वह अजर और अमर है ।। २४ ।। प्रत्येक जीवका जीवन-मरण तथा गति अपने ही कर्मसे होती है। अतएव किसी अन्यको कोई और पुरुष सुख-दुःखका दाता नहीं है ।। २५ ।। हे नृप ! मनुष्य जो सर्प, चोर, अग्नि, बिजली, क्षुधा, तृषा तथा व्याधि आदिके कारण मृत्युको प्राप्त होता है, वह केवल अपना प्रारब्धकर्म भर भोगता है ।।२६।। सब मनुष्य अपना-अपना प्रारब्ध ही भोगते हैं। अतएव हे राजन् ! तुम इस हिंसामय यज्ञको अब बन्द कर दो। देखो, इसमें कितने निरपराध सर्प जल गये हैं।' ।। २७ ।। सूतजी कहते हैं—महर्षि बृहस्पतिजीके इस प्रकार कहनेपर उनके कथनका आदर करते हुए वे 'बहुत अच्छा' कहकर उस सर्प-सत्रसे उपरत हो गये और उन्होंने बृहस्पतिजीका पूजन किया ।। २८ ।। यह भी भगवान विष्णुकी अलक्ष्य महामाया ही है। जिस अवध्य मायासे भगवान विष्णुके ही अंशभूत जीव सत्त्वादि गुणोंकी वृत्तियोंसे इन भौतिक देहादिपर मोहित हो जाते हैं ।। २९ ।। 'अमुक पुरुष मायावी है' यह धारणा होनेपर बुद्धिमें 'माया' स्फुरित होती है। वह आत्मवादियों द्वारा आत्मतत्त्वका विचार करनेके अवसरपर जिन भगवान विष्णुके समीप निर्भयतापूर्वक नहीं रह सकती और जहाँ मायाके आश्रित अनेक तरहके विवाद तथा सङ्कल्प-विकल्पमय वृत्तिवाला मन भी नहीं रहता। वहाँ सृष्टि रचनेवाले कारणोंके समेत रची जानेवाली वस्तु तथा उन दोनोंका परम साध्य फल इनमेंसे कोई भी नहीं है और वहाँ जीव तथा तीनों गुणोंसे युक्त अहङ्कार भी नहीं रहता। इस तरह बाध्य-बाधकभावसे हीन परमात्माके स्वरूपमें मुनिजन अहङ्कारादि ऊर्मियोंका बाध करके लीन हो जायँ ।। ३०।।३१ ।। जिनका परमात्माके अतिरिक्त और किसीपर भी प्रेम नहीं है और जो 'नेति-नेति'के वाक्य द्वारा अनात्म-वस्तुका निषेध करनेमें संलग्न रहते हैं, वे ज्ञानी पुरुष उसको भगवान विष्णुका परमपद बतलाते हैं

त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत् परमं पदम् । अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥३३॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन । न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥३४॥
नमो भगवते तस्मै कृष्णायाकुण्ठमेधसे । यत्पादाम्बुरुहध्यानात् संहितामध्यगामिमाम्

शौनक उवाच

पैलादिभिर्व्यासशिष्यैर्वेदाचार्यैर्महात्मभिः । वेदाश्च कतिधा व्यस्ता एतत् सौम्याभिधेहि नः

सूत उवाच

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ३७
यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः । द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥३८॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट् । यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ३९॥
शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक् । येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ४०
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥४१॥
तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह । धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥४२॥
ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः । अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम् ॥४३॥
तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैर्विभुः । सव्याहृतिकान् सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया ४४
पुत्रानध्यापयत्तांस्तु ब्रह्मर्षीन् ब्रह्मकोविदान् । ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन् ॥४५॥

और इन्द्रियों सहित अन्तःकरणको अपने वशीभूत करनेवाले विद्वानोंने अनात्मभावना त्यागकर एकाग्रचित्तसे चिन्तन करते हुए उसीको ध्येयरूपसे माना है ॥ ३२ ॥ जिन पुरुषोंमें देहगेहसम्बन्धिनी और अहंता-ममतारूपिणी दुर्जनता नहीं रहती, वे ही विष्णु भगवानके परमपद करते हैं ॥३३॥ जो यह परमपद पाना चाहे वह दूसरोंके दुर्वचन सहे, किसीका अपमान न करे और इस शरीरसे किसीके साथ वैरभाव न रखे ॥ ३४ ॥ जिनके चरणकमलोंका ध्यान करके मैंने यह पुराणसंहिता पायी है, उन अकुण्ठमेधा भगवान व्यासदेवको नमस्कार है ॥ ३५ ॥ इतनी कथा सुनकर शौनकजीने कहा हे सौम्य ! व्यासदेवके शिष्य महात्मा पैल आदि वेदके आचार्योंने वेदोंका कैसे विभाग किया यह आप हमको बता दीजिए ॥ ३६ ॥ सूतजी बोले—हे ब्रह्मन् ! एक समय परमेष्ठी ब्रह्माजीके एकाग्रचित्त होनेपर उनके हृदयाकाशमें एक प्रकारका शब्द ध्वनित हुआ, जिसका श्रवणेन्द्रियकी वृत्ति अवरुद्ध हो जानेपर हम सबको भी भान होता है ॥३७॥ हे ब्रह्मन् ! जिस ब्रह्मकी उपासना करके योगीजन अपने अन्तःकरणका द्रव्य, क्रिया तथा कारकरूप मल नष्ट करके अपुनर्जन्मरूपी मोक्षपद पा लेते हैं ॥ ३८ ॥ उसी नादसे तीन मात्राओंयुक्त ओङ्कार उत्पन्न हुआ, जिसकी उत्पत्ति किसीको मालूम नहीं है, जो स्वयंप्रकाशमय है और जो परमात्मा भगवान ब्रह्मका लिङ्ग अर्थात् बोधक है ॥३९॥ जो श्रवणशक्तिके विलीन हो जानेपर भी अव्यक्त ओङ्कारको सुनता है, जो सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें इन्द्रियोंके न रहनेपर भी उनके अभावको स्वीकार करता है, वही ओंकार परमात्मा है। जिसके द्वारा वैखरी वाणी अभिव्यञ्जित होती है, जो ओङ्कार हृदयाआकाशमें केवल आत्मासे अभिव्यक्त होता है॥४०॥ वह परमात्मा ब्रह्मका साक्षात् वाचक है और यही मन्त्र, उपनिषद् तथा वेदोंका सनातन बीज माना गया है ॥ ४१ ॥ हे भार्गव ! उस ओङ्कारमें अ, उ, म्—ये तीनों वर्ण हैं जो क्रमशः सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणों, ऋक्, यजुः, साम—इन तीन वेदो, भूः भुवः स्वः—इन तीन अर्थों और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों वृत्तियोंको तीन भावोंसे धारण करते हैं ॥ ४२ ॥ फिर भगवान ब्रह्माजीने उस ऊँकारसे ही अन्तःस्थ अर्थात् य र ल व, ऊष्मा अर्थात् श ष स ह, स्वर यानी 'अ' से 'औ' तक, स्पर्श अर्थात् 'क' से 'म' तक और ह्रस्व तथा दीर्घादि लक्षणोंसे युक्त अक्षरसमाम्नाय यानी सम्पूर्ण वर्ण-समूह रचा ॥ ४३ ॥ उस वर्णमालाके द्वारा ही भगवान ब्रह्माजीने अपने चार मुखोंसे

ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः । चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥४६॥
क्षीणायुषःक्षीणसत्त्वान् दुर्मेधान् वीक्ष्य कालतः । वेदान् ब्रह्मर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतचोदिताः
अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवाँल्लोकभावनः । ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥४८॥
पराशरात् सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः । अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥४६॥
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः । चतस्रः संहिताश्चक्रे मन्त्रैर्मणिगणा इव ॥५०॥
तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः । एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥५१॥
पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह । वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम्॥५२॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा छन्दोगसंहिताम् । अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥५३॥
पैलः स्वसंहितामूच इन्द्रप्रमितये मुनिः । बाष्कलाय च सोऽप्याह शिष्येभ्यः संहितां स्वकाम्
चतुर्धा व्यस्य बोध्याय याज्ञवल्क्याय भार्गव । पराशरायाग्निमित्रे इन्द्रप्रमितिरात्मवान् ॥५५॥
अध्यापयत् संहितां स्वां माण्डूकेयमृषिं कविम् । तस्य शिष्यो देवमित्रः सौभर्यादिभ्य ऊचिवान्
शाकल्यस्तत्सुतः स्वां तु पञ्चधा व्यस्य संहिताम् । वात्स्यमुद्गलशालीयगोखल्यशिशिरेष्वधात् ५७
जातूकर्ण्यश्च तच्छिष्यः सनिरुक्तां स्वसंहिताम् । बलाकपैजवैतालविरजेभ्यो ददौ मुनिः ॥५८॥
बाष्कलिःप्रतिशाखाभ्योबालखिल्याख्यसंहिताम् । चक्रे बालायनिर्भज्यः कासारश्चैव तां दधुः ५६
बह्वृचाः संहिता ह्येता एभिर्ब्रह्मर्षिभिर्धृताः । श्रुत्वैतच्छन्दसां व्यासं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।६०।

होता, अध्वर्यु आदि चारों ऋत्विजोंके कर्म बतानेके निमित्त वेदाध्ययनमें कुशल अपने पुत्र ब्रह्मर्षि मरीचि आदिको व्याहृति तथा ओङ्कारके सहित सब वेद पढ़ाया। तब उन धर्मोपदेष्टा मुनियोंने उन्हें अपने-अपने पुत्रोंको सिखाया ॥ ४४ ॥ ४५॥ तदनन्तर वे परम्परया उनके ब्रह्मचारी शिष्य-प्रशिष्योंके द्वारा प्रवृत्त होते आये। द्वापरके आदिमें महर्षियोंने उनको विस्तृत रूप दिया ॥ ४६ ॥ उस समय कालगतिके कारण मनुष्योंको अल्पायु, अल्पवीर्य तथा मन्दमति देखकर उन ब्रह्मर्षियोंने अपने हृदयमें स्थित भगवानकी प्रेरणासे ही वेदोंका विभाग कर दिया था ॥ ४७ ॥ हे ब्रह्मन् ! इस मन्वन्तरमें भी भगवान् ब्रह्माने महादेव आदि लोकपालोंके प्रार्थना करनेपर धर्मकी रक्षाके निमित्त अपनी अंशांश-कलासे भगवान पराशरजी द्वारा सत्यवतीके उदरसे वेदव्यासके रूपमें अवतार लिया। हे महाभाग ! उन्होंने एक ही वेदके चार विभाग कर दिये ॥४८॥४६॥ उन्होंने मणिसमूहमेंसे भिन्न-भिन्न जातिके मणि संग्रह करनेके समान वैदिक मन्त्रसमूहसे भिन्न-भिन्न प्रकरणोंके द्वारा ऋगादि मन्त्रोंकी राशि अलग करके उन मन्त्रोंसे ऋक, यजुः, साम तथा अथर्व इन चार संहिताओंको बनाया ॥ ५० ॥ हे ब्रह्मन् ! महाबुद्धिमान् व्यासजीने अपने चार शिष्योंको बुलाकर उनमेंसे एक-एकको एक-एक संहिता पढ़ायी ॥५१॥ उन्होंने अपनी बह्वचनामकी पहली संहिता अर्थात् ऋग्वेदसंहिता पैलको और वैशम्पायनको यजुर्वेद संहिता पढ़ायी ॥ ५२ ॥ उन्होंने सामश्रुतियोंकी छन्दोगनामकी संहिता जैमिनि मुनिको और अपने सुमन्तु नामके शिष्यको अथर्वाङ्गिरस संहिता पढ़ायी ॥५३॥ उनमें मुनिवर पैलने अपनी संहिता इन्द्रप्रमिति तथा बाष्कलको पढ़ायी। बाष्कलने अपनी संहिताके चार विभाग करके अपने शिष्य बोध्य, याज्ञवल्क्य, पराशर तथा अग्निमित्रसे कहा। आत्मज्ञानी इन्द्रप्रमितिने अपनी संहिता अतिशय बुद्धिमान् माण्डूकेय ऋषिको पढ़ायी तथा माण्डूकेयके शिष्य देवमित्रने उसे सौभर आदि मुनियोंको सुनाया ॥ ५४–५६ ॥ माण्डूकेयके पुत्र शाकल्य ऋषिने अपनी संहिताके पाँच भाग करके उसे वात्स्य, मुद्गल, शालीय, गोखल्य तथा शिशिर ऋषिको पढ़ाया ॥ ५७ ॥ उन शाकल्यके शिष्य जातूकर्ण्यने अपनी संहिताके तीन भाग करके उनके व्याख्यानस्वरूप निरुक्त सहित अपने शिष्य बलाक, पैज, वैताल तथा विरजको प्रदान किया ॥ ५८ ॥ महर्षि बाष्कलके पुत्र बाष्कलिने उन सब शाखाओंमेंसे बालखिल्य नामकी एक स्वतन्त्र शाखा बनायी और बालायनि भज्य तथा कासारने

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् । यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥६१॥
याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन् कियत् । चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ॥६२॥
इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो याह्यलं त्वया । विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ६३
देवरातसुतः सोऽपिच्छर्दित्वा यजुषां गणम् । ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान् यजुर्गणान् ६४
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽऽददुः । तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन् सुपेशलाः ६५
याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छन्दांस्यधिगवेषयन् । गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥६६॥

याज्ञवल्क्य उवाच

ॐ नमो भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्मस्वरूपेण कालस्वरूपेण चतुर्विधभूत-निकायानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामन्तर्हृदयेषु बहिरपि चाकाश इवोपाधिनाऽव्यवधीयमानो भवानेक एव क्षणलवनिमेषावयवोपचितसंवत्सरगणेनापामादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रा-मनुवहति ॥ ६७ ॥

यदु ह वाव विबुधर्षभ सवितरदस्तपत्यनुसवनमहरहराम्नायविधिनोपतिष्ठमानानामखिल-दुरितवृजिनबीजावभर्जन भगवतः समभिधीमहि तपनमण्डलम् ॥ ६८ ॥

य इह वाव स्थिरचरनिकराणां निजनिकेतनानां मनइन्द्रियासुगणाननात्मनः स्वयमात्मा-न्तर्यामी प्रचोदयति ॥ ६९ ॥

उसका अध्ययन किया ॥५९॥ इस तरह इन पूर्वोक्त सभी ऋषियोंने ऋग्वेदसंहिताको हृदयङ्गम किया। इन वेदोंके विस्तारका वृत्तान्त सुनकर प्राणी सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ६० ॥ वैशम्पायनके शिष्य चरकाध्वर्युने अपने गुरुकी ब्रह्महत्या दूर करनेके लिये व्रत किया ॥ ६१ ॥ तब उनके एक शिष्य याज्ञवल्क्य बोले—"हे भगवन्! इन अल्पबल ब्राह्मणोंके किये हुए व्रतसे ऐसा क्या लाभ होगा? मैं स्वयं कठोर व्रत करूँगा" ॥ ६२ ॥ याज्ञवल्क्यके वचन सुनकर गुरुने रुष्ट होकर कहा—"मुझे ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाले तुझ जैसे शिष्यकी कोई आवश्यकता नहीं है, तू तुरन्त मेरी पढ़ाई हुई विद्या त्याग दे और यहाँसे निकल जा" ॥ ६३ ॥ इस पर देवरातके पुत्र याज्ञवल्क्यने उन यजुःश्रुतियोंको उगल दिया और वहाँसे चले गये। इतनेही में वहाँ उपस्थित अन्य मुनियोंने जब उन यजुःश्रुतियोंको देखा तो लोलुपतावश तीतर होकर उन्हें अपनाय लिया। अतएव वह सुन्दर यजुःशाखा तैत्तिरीय शाखा कहलायी ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ हे ब्रह्मन्! तब महर्षि याज्ञवल्क्य जो गुरुजीके भी पास नहीं थीं, ऐसी यजुःश्रुतियोंको प्राप्त करनेके निमित्त वे सूर्यभगवानकी आराधना करने लगे ॥ ६६ ॥ याज्ञवल्क्यने कहा—भगवान आदित्यको नमस्कार है। वे भगवान सूर्य अकेले ही ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज नामक चार प्रकारके प्राणियोंके भीतर उनके हृदयोंमें सारे जगत्‌के आत्मारूपसे और बाहर क्षण, लव, निमेष आदि अवयवोंसे वृद्धिको प्राप्त संवत्सरसमूहरूप कालस्वरूपसे स्थित होकर घट आदि उपाधियोंके बाहर तथा भीतर व्याप्त रहनेवाले आकाशके समान अलिप्त रहकर जलका ग्रहण तथा त्याग करते हुए लोकयात्राका कार्य वहन करते हैं ॥ ६७ ॥ हे देववर सूर्यभगवान! नित्य प्रातः, मध्याह्न तथा सायङ्कालमें वेदकी विधिसे उपासना करनेवाले पुरुषोंके पापसे प्राप्त सब दुःखके बीजोंको भून डालनेवाले आपके देदीप्यमान तेजोमण्डलका हम ध्यान करते हैं ॥ ६८ ॥ अपने आश्रित रहनेवाले स्थावर तथा जङ्गम प्राणियोंके जड़ मन, इन्द्रिय तथा प्राणादि स्वयं सबके आत्मा तथा अन्तर्यामीरूपसे प्रेरित करनेवाले

य एवमं लोकमतिकरालवदनान्धकारसंज्ञाजगरग्रहगिलितं मृतकमिव विचेतनमवलोक्यानुकम्पया परमकारुणिक ईक्षयैवोत्थाप्याहरनुसवनं श्रेयसि स्वधर्माख्यात्मावस्थाने प्रवर्तयत्यवनिपतिरिवासाधूनां भयमुदीरयन्नटति ।। ७० ।।

परित आशापालैस्तत्र तत्र कमलकोशाञ्जलिभिरुपहृतार्हणः ।। ७१ ।।

अथ ह भगवंस्तव चरणनलिनयुगलं त्रिभुवनगुरुभिर्वन्दितमहमयातयामयजुःकाम उपसरामीति ।। ७२ ।।

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः । यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः ७३
यजुर्भिरकरोच्छाखा दशपञ्च शतैर्विभुः । जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यन्दिनादयः ७४
जैमिनेः सामगस्यासीत् सुमन्तुस्तनयो मुनिः । सुन्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम् ७५
सुकर्मा चापि तच्छिष्यः सामवेदतरोर्महान् । सहस्रसंहिताभेदं चक्रे साम्नां ततो द्विजः ।।७६।।
हिरण्यनाभः कौसल्यः पौष्यञ्जिश्च सुकर्मणः । शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तमः।।७७।
उदीच्याः सामगाः शिष्या आसन् पञ्चशतानि वै । पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान् प्रचक्षते
लौगाक्षिर्माङ्गलिः कुल्यः कुसीदः कुक्षिरेव च । पौष्यञ्जिशिष्या जगृहुः संहितास्ते शतं शतम् ७८
कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशतिसंहिताः । शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्यः शेषा आवन्त्य आत्मवान्

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे वेदशाखाप्रणयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

———

आपको हम प्रणाम करते हैं ।। ६६ ।। जो परम करुणामय प्रभु इस लोकको अन्धकार नामके अतिशय भयङ्कर मुखवाले अजगरके मुखमें पड़कर मृतककी भाँति चेतनाशून्य देख करुणावश अपनी दृष्टिमात्रसे उठाकर नित्यप्रति तीन कालमें अपने कल्याणकारी तथा धर्मरूपी आत्मस्थितिमें प्रवृत्त करते और राजाके समान दुष्ट पुरुषोंको भय देते हुए सर्वत्र सानन्द विचरते हैं ।। ७० ।। जिनको सब दिक्पाल चारों ओरसे जहाँ-तहाँ कमलकोशके सदृश अपनी अञ्जलियोंसे अर्घ्य देते हैं ।। ७१ ।। हे भगवान ! उन्हीं आपके त्रिलोकीके गुरुजनोंसे वन्दित चरणकमलयुगलकी मैं अयातयाम यजुःश्रुतियोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे शरण गहता हूँ ।। ७२ ।। सूतजी कहते हैं—हे मुनियों ! उनके इस प्रकार स्तुति करनेपर अश्वरूपधारी भगवान् सूर्य प्रसन्न हो गये और उन्होंने उन मुनिश्रेष्ठको अयातयाम नामकी यजुःश्रुतियाँ दीं ।। ७३ ।। इसके उपरान्त भगवान याज्ञवल्क्यने उन असंख्य यजुःश्रुतियोंकी पन्द्रह शाखायें बनायीं । उनमेंसे वाजसनेयी शाखाओंको कण्व तथा माध्यन्दिन आदि मुनियोंने पढ़ा । सामसंहिताको पढ़नेवाले जैमिनिके सुमन्तु नामका एक पुत्र था और उसका पुत्र सुन्वान् हुआ । उन दोनोंको उन्होंने एक-एक संहिता पढ़ायी ।।७४।।७५।। उन्हीं जैमिनिका सुकर्मानामका एक शिष्य था । उस द्विजश्रेष्ठने सामवेदरूपी महावृक्षके भिन्न-भिन्न मन्त्रोंसे सामश्रुतियोंकी एक सहस्र शाखायें कर दीं ।। ७६ ।। उन शाखाओंको सुकर्माके शिष्य कोशलदेशके निवासी हिरण्यनाभ, पौष्यञ्जि और वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ आवन्त्यने पढ़ा ।। ७७ ।। पौष्यञ्जि तथा आवन्त्यके पाँच सौ शिष्य उत्तर दिशामें रहते हुए सामगान करते थे । उन्हींको लोग प्राच्य सामग भी कहते हैं ।। ७८ ।। लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद तथा कुक्षिपौष्यञ्जिके इन शिष्योंमेंसे प्रत्येकने सौ-सौ संहिताएँ पढ़ीं ।। ७६ ।। हिरण्यनाभके शिष्य महर्षि कृतने अपने शिष्योंको चौबीस संहिताएँ पढ़ायीं और शेष संहिताएँ आवन्त्यने अपने शिष्योंको पढ़ायीं ।। ८० ।। इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

सप्तमोऽध्यायः

सूत उवाच

अथर्ववित् सुमन्तुश्च शिष्यमध्यापयत् स्वकाम्। संहितां सोऽपि पथ्याय वेददर्शाय चोक्तवान्॥१॥
शौक्लायनिर्ब्रह्मबलिर्मोदोषः पिप्पलायनिः। वेददर्शस्य शिष्यास्ते पथ्यशिष्यानथो शृणु॥२॥
कुमुदः शुनको ब्रह्मन् जाजलिश्चाप्यथर्ववित्। बभ्रुः शिष्योऽथाङ्गिरसः सैन्धवायन एव च।
अधीयेतां संहिते द्वे सावर्ण्याद्यास्तथापरे॥३॥
नक्षत्रकल्पः शान्तिश्च कश्यपाङ्गिरसादयः। एत आथर्वणाचार्याः शृणु पौराणिकान् मुने॥४॥
त्रय्यारुणिः कश्यपश्च सावर्णिरकृतव्रणः। वैशम्पायनहारीतौ षड् वै पौराणिका इमे॥५॥
अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात्। एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम्॥६॥
कश्यपोऽहं च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः। अधीमहि व्यासशिष्याच्चतस्रो मूलसंहिताः॥७॥
पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम्। शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥८॥
सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च। वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥९॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः। केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥१०॥
अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः। भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥११॥
पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः। विसर्गोऽयं समाहारो बीजाद्बीजं चराचरम्॥१२॥
वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च। कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि च॥१३॥

(अथर्ववेदकी विविध शाखायें तथा पुराणके लक्षण) श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुनियों! अथर्ववेदके अभिज्ञ सुमन्तु ऋषिने अपनी संहिता अपने कबन्धनामक शिष्यको पढ़ायी और उसने अपने शिष्य पथ्य तथा वेददर्शसे कहा॥१॥ शौक्लायनि, ब्रह्मावलि, मोदोष तथा पिप्पलायनि—ये चार वेददर्शके शिष्य थे। अब पथ्यके शिष्योंको गिनाता हूँ॥२॥ हे ब्रह्मन्! अथर्ववेदके ज्ञाता कुमुद, शुनक और जाजलि थे। शुनकके बभ्रु तथा सैन्धवायन नामके दो शिष्य थे। उन्होंने शुनकसे दो संहिताएँ पढ़ी थीं। उनके शिष्य सावर्ण्य आदि हुए॥३॥ उनके बाद नक्षत्रकल्प, शान्तिकल्प, कश्यप तथा आङ्गिरस आदि उत्पन्न हुए। हे मुने! ये सब अथर्ववेदके आचार्य माने जाते थे। अब पौराणिकोंका वृत्तान्त सुनो॥४॥ त्रय्यारुणि, कश्यप, सावर्णि, अकृतव्रण, वैशम्पायन तथा हारीत—ये छः पौराणिक माने गये हैं॥५॥ इनमें से प्रत्येक मुनिने व्यासजीके शिष्य तथा मेरे पिताजीसे एक-एक पुराणसंहिता पढ़ी और उन छहोंके शिष्य मैंने उन सब संहिताओंको पढ़ा था। कश्यप, मैं (सूत), सावर्णि तथा परशुरामजीके शिष्य अकृतव्रण—हम चारोंने एक साथ व्यासजीके शिष्यसे चारों मूल संहिताएँ पढ़ीं॥६॥७॥ हे ब्रह्मन्! अब वेद तथा शास्त्रके अनुसार ब्रह्मर्षियोंके बताये हुए पुराणके लक्षणोंको तुम सावधान चित्त होकर सुनो॥८॥ विश्वका सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा मन्वन्तर, वंश, वंशोंके चरित, संस्था अर्थात् प्रलय, हेतु यानी ऊति और अपश्रय—इन दस लक्षणोंसे युक्त ग्रन्थको विद्वान् लोग पुराण कहते हैं। हे ब्रह्मन्! बहुतेरे ऋषि महापुराण तथा अल्पपुराणकी व्यवस्थासे पाँच लक्षणों युक्त ग्रन्थको भी पुराण कहते हैं॥९॥१०॥ मूल प्रकृतिने गुणोंके क्षुब्ध होनेपर उससे महत्तत्त्व, त्रिविध अहङ्कार, भूततन्मात्रा, इन्द्रिय तथा विषयोंकी उत्पत्ति 'सर्ग' कहाता है॥११॥ जैसे बीजसे बीज उत्पन्न होता है, वैसे ही ईश्वरसे अनुगृहीत इन महत्तत्त्वादिसे पूर्वजन्मकी वासनाओंसे युक्त जो अखिल चराचर जीवसमूह उत्पन्न होता है, उसीको लोग 'विसर्ग' कहते हैं॥१२॥ सभी जङ्गम प्राणियोंकी स्वाभाविक जीविका स्थावर भूत मानी जाती है। उनमेंसे मनु-

रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे । तिर्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः ॥१४॥
मन्वन्तरं मनुर्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वरः । ऋषयोंऽशावताराश्च हरेः षड्विधमुच्यते ॥१५॥
राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः । वंशानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये ॥१६॥
नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः । संस्थेति कविभिः प्रोक्ता चतुर्धास्य स्वभावतः १७
हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः । यं चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥१८॥
व्यतिरेकान्वयो- यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु । मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥१९॥
पदार्थेषु यथा द्रव्यं सन्मात्रं रूपनामसु । बीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम् ॥२०॥
विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम् । योगेन वा तदाऽऽत्मानं वेदेहाया निवर्तते ॥२१॥
एवं लक्षणलक्ष्याणि पुराणानि पुराविदः । मुनयोऽष्टादश प्राहुः क्षुल्लकानि महान्ति च ॥२२॥
ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवं च शैवं लैङ्गं सगारुडम् । नारदीयं भागवतमाग्नेयं स्कान्दसंज्ञितम् ॥२३॥
भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं सवामनम् । वाराहं मात्स्यं कौर्मं च ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट् २४
ब्रह्मन्निदं समाख्यातं शाखाप्रणयनं मुनेः । शिष्यशिष्यप्रशिष्याणां ब्रह्मतेजोविवर्धनम् ॥२५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

———

क्योंकि कुछ जीविका तो कामवश अपने ही निश्चित है और कुछ शास्त्रों द्वारा नियत की गयी है ॥ १३ ॥ जो भगवान युग-युगमें तिर्यक् मनुष्य, ऋषि तथा देवताओंके रूपमें लीला करते हैं, वही विश्वकी रक्षाका कार्य है। क्योंकि उन अवतारों द्वारा ही वेदविरोधी लोग मारे जाते हैं ॥ १४ ॥ मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, सप्तर्षि तथा भगवानका अंशावतार—ये छहों मिलकर 'मन्वन्तर' कहे जाते हैं ॥ १५ ॥ ब्रह्माजीसे उत्पन्न राजा और उनकी भूत, भविष्य तथा वर्तमानकालीन सन्तति 'वंश' कहाती है और उनके तथा उनके वंशधरोंके चरितोंको लोग 'वंशानुचरित' कहते हैं ॥ १६ ॥ इस संसारका नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य तथा आत्यन्तिक चार प्रकारका जो स्वाभाविक प्रलय हुआ करता है, उसीको विद्वानलोग 'संस्था' के नामसे पुकारते हैं ॥ १७ ॥ जिसे कुछ लोग अनुशयी और कुछ लोग अव्याकृत भी कहते हैं। अविद्यावश कर्म करनेवाला जीव ही सर्गादि सृष्टियोंका 'हेतु' माना जाता है। जीवका जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति—मायामयी इन तीनों वृत्तियोंमें जिसका अन्वय तथा तुरीयरूपसे व्यतिरेक होता है, वही ब्रह्म 'अपाश्रय' कहाता है ॥ १८ ॥ १९ ॥ जैसे घटादि नामरूपात्मक पदार्थोंमें उनकी कारणस्वरूपा मृत्तिका सद्रूपसे व्याप्त रहती हुई भी पृथक् रहती है। वैसे ही जन्मसे मरणपर्यन्त जो सब अवस्थाओंमें अधिष्ठानरूपसे व्याप्त तथा साक्षीरूपसे पृथक् रहता है, वह ब्रह्म ही 'अपाश्रय' कहाता है ॥ २० ॥ जब चित्त सात्त्विकादि तीनों गुणोंकी वृत्तियोंको त्याग-कर स्वयं शान्त हो जाता अथवा योगाभ्याससे शान्त हो जाया करता है, तब वह आत्मतत्त्वको जान लेता और अविद्याजनित कर्मप्रवृत्तिसे निवृत्त हो जाता है ॥ २१ ॥ हे मुनियों ! पुरातत्त्वके जानकारोंने ऐसे लक्षणोंवाले छोटे-बड़े सब मिलाकर अठारह पुराण बताये हैं ॥ २२ ॥ उन अठारह पुराणोंमें ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव, लैङ्ग, गारुड़, नारदीय, भागवत, आग्नेय, स्कान्द, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, वामन, वराह, मात्स्य, कौर्म और ब्रह्माण्ड नामके हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥ हे ब्रह्मन् ! व्यासदेवके शिष्योंके शिष्य और उनके भी प्रशिष्यों द्वारा निर्मित तथा श्रोताओंके ब्रह्मतेजको बढ़ानेवाला वैदिक शाखाओंका विस्तार मैंने तुम्हें कह सुनाया ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे 'सामयिकी' भाषाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

शौनक उवाच

सूत जीव चिरं साधो वद नो वदतां वर । तमस्यपारे भ्रमतां नृणां त्वं पारदर्शनः ॥१॥
आहुश्चिरायुषमृषिं मृकण्डतनयं जनाः । यः कल्पान्ते उर्वरितो येन ग्रस्तमिदं जगत् ॥२॥
स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवर्षभः । नैवाधुनापि भूतानां सम्प्लवः कोऽपि जायते ॥३॥
एक एवार्णवे भ्राम्यन् ददर्श पुरुषं किल । वटपत्रपुटे तोकं शयानं त्वेकमद्भुतम् ॥४॥
एष नः संशयो भूयान् सूत कौतूहलं यतः । तं नश्छिन्धि महायोगिन् पुराणेष्वपि सम्मतः ॥५॥

सूत उवाच

प्रश्नस्त्वया महर्षेऽयं कृतो लोकभ्रमापहः । नारायणकथा यत्र गीता कलिमलापहा ॥६॥
प्राप्तद्विजातिसंस्कारो मार्कण्डेयः पितुः क्रमात् । छन्दांस्यधीत्य धर्मेण तपःस्वाध्यायसंयुतः ॥७॥
बृहद्व्रतधरः शान्तो जटिलो वल्कलाम्बरः । बिभ्रत् कमण्डलुं दण्डमुपवीतं समेखलम् ॥८॥
कृष्णाजिनं साक्षसूत्रं कुशांश्च नियमर्द्धये । अग्न्यर्कगुरुविप्रात्मस्वर्चयन् सन्ध्ययोर्हरिम् ॥९॥
सायं प्रातः स गुरवे भैक्ष्यमाहृत्य वाग्यतः । बुभुजे गुर्वनुज्ञातः सकृन्नो चेदुपोषितः ॥१०॥
एवं तपःस्वाध्यायपरो वर्षाणामयुतायुतम् । आराधयन् हृषीकेशं जिग्ये मृत्युं सुदुर्जयम् ॥११॥
ब्रह्मा भृगुर्भवो दक्षो ब्रह्मपुत्राश्च ये परे । नृदेवपितृभूतानि तेनासन्नतिविस्मिताः ॥१२॥
इत्थं बृहद्व्रतधरस्तपःस्वाध्यायसंयमैः । दध्यावधोक्षजं योगी ध्वस्तक्लेशान्तरात्मना ॥१३॥

(महामुनि मार्कण्डेयकी तपस्या और उन्हें वर प्राप्त होना) शौनकजी कहते हैं—हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ वक्ता श्रीसूतजी ! आप बहुत दिन जियें । हे साधो ! आप संसाररूपी घोर अन्धकारमें भटकते हुए पुरुषोंको मार्ग दिखाते हैं । अतएव अब और कुछ कहिए ॥ १ ॥ सम्पूर्ण जगत्को ग्रसनेवाले प्रलयकालमें भी बचे हुए ऋषिवर मार्कण्डेयको लोग चिरायु कहते हैं ॥ २ ॥ लेकिन वे भार्गवश्रेष्ठ मुनि तो इसी कल्पमें और हमारे ही कुलमें उत्पन्न हुए थे । उनके जन्मसे अबतक तो प्राणियोंका किसी भी प्रकारका कोई प्रलय हुआ नहीं है ॥ ३ ॥ तब उन्होंने प्रलयकालीन समुद्रमें अकेले ही विचरते हुए एक अतिशय विचित्र बालरूप पुरुषको वटपत्रके दोनेमें सोते हुए कैसे देखा ॥ ४ ॥ हे सूतजी ! यह हमें बड़ा भारी संशय है और इस विषयको जाननेके लिये हमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है । हे महायोगिन् ! आप पुराणवेत्ताओंमें माननीय हैं । अतएव हमारे इस संशयको दूर कर दीजिये ॥ ५ ॥ श्रीसूतजी कहने लगे—हे महर्षे ! यह आपने सब लोकोंका भ्रम दूर करनेवाला प्रश्न किया है । इसी प्रसंगमें श्रीनारायणकी कलिकल्मषनाशिनी कथाका भी गान किया गया है ॥ ६ ॥ जब श्रीमार्कण्डेयजीने अपने पितासे अन्य संस्कारोंके क्रमसे यज्ञोपवीत-संस्कार पा लिया तो वे तप तथा स्वाध्यायसे युक्त हो और संयमपूर्वक नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत लेकर धर्मानुसार वेदाध्ययन करते हुए अपने नियमकी पूर्णताके लिये जटा, वल्कलवसन, कमण्डलु, दण्ड, यज्ञोपवीत, मेखला, कृष्णमृगचर्म, अक्षमाला तथा कुशा धारणकर दोनों सन्ध्याओंको अग्नि, सूर्य, गुरु, ब्राह्मण एवं अपने आत्मामें भगवानकी अराधना करते हुए प्रातः और सायंकालके समयकी भिक्षा लाकर अपने गुरुदेवको अर्पण कर देते और उनकी आज्ञा पाकर केवल एक समय मौनभावसे भोजन करते थे । वे प्रायः उपवास ही करके रह जाते थे ॥ ७–१० ॥ हे शौनक ! इस तरह तप तथा स्वाध्यायमें संलग्न रहकर हजारों और लाखों वर्षतक श्रीहृषीकेशकी आराधना करते हुए उन्होंने अति दुर्जय मृत्युको भी परास्त कर दिया ॥ ११ ॥ उनके मृत्युविजयसे ब्रह्मा, भृगु, महादेव, दक्ष, ब्रह्माजीके अन्यान्य पुत्र एवं मनुष्य, देवता, पितर तथा अन्य सब प्राणियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १२ ॥ इस ढङ्गसे

तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं महायोगेन योगिनः । व्यतीयाय महान्कालो मन्वन्तरषडात्मकः ॥१४॥
एतत् पुरन्दरो ज्ञात्वा सप्तमेऽस्मिन् किलान्तरे । तपोविशङ्कितो ब्रह्मन्नारेभे तद्विघातनम् ॥१५॥
गन्धर्वाप्सरसः कामं वसन्तमलयानिलौ । मुनये प्रेषयामास रजस्तोकमदौ तथा ॥१६॥
ते वै तदाश्रमं जग्मुर्हिमाद्रेः पार्श्व उत्तरे । पुष्पभद्रा नदी यत्र चित्राख्या च शिला विभो १७
तदाश्रमपदं पुण्यं पुण्यद्रुमलताञ्चितम् । पुण्यद्विजकुलाकीर्णं पुण्यामलजलाशयम् ॥१८॥
मत्तभ्रमरसङ्गीतं मत्तकोकिलकूजितम् । मत्तबर्हिनटाटोपं मत्तद्विजकुलाकुलम् ॥१९॥
वायुः प्रविष्ट आदाय हिमनिर्झरशीकरान् । सुमनोभिः परिष्वक्तो ववावुत्तम्भयन् स्मरम् ॥२०॥
उद्यच्चन्द्रनिशावक्त्रः प्रवालस्तबकालिभिः । गोपद्रुमलताजालैस्तत्रासीत् कुसुमाकरः ॥२१॥
अन्वीयमानो गन्धर्वैर्गीतवादित्रयूथकैः । अदृश्यतात्तचापेषुः स्वःस्त्रीयूथपतिः स्मरः ॥२२॥
हुत्वाग्निं समुपासीनं ददृशुः शक्रकिङ्कराः । मीलिताक्षं दुराधर्षं मूर्तिमन्तमिवानलम् ॥२३॥
ननृतुस्तस्य पुरतः स्त्रियोऽथो गायका जगुः । मृदङ्गवीणापणवैर्वाद्यं चक्रुर्मनोरमम् ॥२४॥
सन्दधेऽस्त्रं स्वधनुषि कामः पञ्चमुखं तदा । मधुर्मनो रजस्तोक इन्द्रभृत्या व्यकम्पयन् ॥२५॥
क्रीडन्त्याः पुञ्जिकस्थल्याः कन्दुकैः स्तनगौरवात् । भृशमुद्विग्नमध्यायाः केशविस्रंसितस्रजः ॥२६॥
इतस्ततो भ्रमद्दृष्टेश्चलन्त्या अनुकन्दुकम् । वायुर्जहार तद्वासः सूक्ष्मं त्रुटितमेखलम् ॥२७॥

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करनेवाले योगिराज मार्कण्डेय तप, स्वाध्याय तथा संयम द्वारा राग-द्वेषादि मलोंसे मुक्त अन्तःकरणके द्वारा श्रीविष्णुभगवानके ध्यानमें मग्न हो गये ॥ १३ ॥ उन योगिराजको इस तरह महायोगसे चित्तका नियमन करते हुए छः मन्वन्तरका समय बीत गया ॥ १४ ॥ सातवें मन्वन्तरमें जब इन्द्रको इस बातका पता लगा तो उनकी तपस्यासे संशयाकुल होकर वे उनका तप खण्डित करनेका उद्योग करने लगे ॥ १५ ॥ तदनुसार उन्होंने मार्कण्डेयजीके पास गन्धर्व, अप्सरा, कामदेव, वसन्तऋतु, मलयपवन और रजोगुणके प्रिय पुत्र लोभ तथा मदको भेजा ॥ १६ ॥ हे भगवन्! वे सब हिमालयके उत्तर जहाँ पुष्पभद्रा नदी बहती और चित्रानामकी शिला विद्यमान थी, मार्कण्डेयजीके उस आश्रमपर जा पहुँचे ॥ १७ ॥ वह पुनीत आश्रम पवित्र वृक्ष तथा लताओंसे सम्पन्न था और पवित्र पक्षिसमूहसे पूर्ण, पवित्र एवं निर्मल जलाशयोंसे भरा हुआ था ॥ १८ ॥ उसमें मस्त भौंरे गुंजार कर रहे थे, मदमाते कोकिलकी ध्वनि हो रही थी, मत्त मयूररूपी नट मनोहर नृत्य करते हुए नाच रहे थे तथा मतवाले पक्षियोंके समुदायसे वह आश्रम भरा हुआ था ॥ १९ ॥ उनके प्रवेश करते ही वहाँ शीतल झरनोंके जलकणसे युक्त वायु चलनेलगा और वह सुगन्धित पुष्पोंका आलिङ्गन करके बहता हुआ लोगोंके मनमें कामोद्दीपन करने लगा ॥ २० ॥ चन्द्रमाके उदयसे युक्त प्रदोषकालके उपस्थित होनेपर नवीन पल्लवोंके गुच्छोंबाले वृक्ष, द्रुम तथा लतासमूहसे उपलक्षित वसन्तऋतु लहरा उठी ॥ २१ ॥ तदनन्तर गाने-बजानेवाले गन्धर्वोंके साथ हाथमें धनुष-बाण सम्हाले देवाङ्गनाओंका अधिनायक कामदेव स्वयं भी दिखायी पड़ा ॥ २२ ॥ कुछ क्षण बाद इन्द्रके उन किंकरोंने अग्निहोत्र करके नेत्र मूँदकर बैठे हुए मूर्तिमान् अग्निके सदृश अत्यन्त दुर्धर्ष श्रीमार्कण्डेयमुनिको देखा ॥ २३ ॥ उन्हें देखते ही अप्सराओंने उनके सामने नाचना, गन्धर्वोंने गाना तथा मृदंग, वीणा एवं पणवादि अति मनोहर बाजे बजाना आरम्भ किया ॥ २४ ॥ तभी कामदेवने अपने धनुषपर शोषण, दीपन, सम्मोहन, तापन और उन्मादनात्मक इन पाँच मुखोंके अस्त्रका सन्धान किया। उस समय वसन्त और लोभ आदि इन्द्रके अन्य सेवक भी मार्कण्डेयजी-के मनको चञ्चल करने लगे ॥ २५ ॥ हे महामुने! उस समय अपने स्तनके भारसे लचकते कटि-प्रदेशवाली पुञ्जिकस्थली अप्सराके गेंद खेलते-खेलते केशपाशसे एकाएक फूलोंकी माला खिसक पड़ी ॥ २६ ॥ वह सुन्दरी अपनी चञ्चल दृष्टिसे इधर-उधर निहारती हुई गेंदके पीछे-पीछे दौड़ रही

विससर्ज तदा बाणं मत्वा तं स्वजितं स्मरः । सर्वं तत्राभवन्मोघमनीशस्य यथोद्यमः ॥२८॥
त इत्थमपकुर्वन्तो मुनेस्तत्तेजसा मुने । दह्यमाना निववृतुः प्रबोध्याहिमिवार्भकाः ॥२९॥
इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः । यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि ॥३०॥
दृष्ट्वा निस्तेजसं कामं सगणं भगवान् स्वराट् । श्रुत्वानुभावं ब्रह्मर्षेर्विस्मयं समगात् परम् ॥३१॥
तस्यैवं युञ्जतश्चित्तं तपःस्वाध्यायसंयमैः । अनुग्रहायाविरासीन्नरनारायणो हरिः ॥३२॥
तौ शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ चतुर्भुजौ रौरववल्कलाम्बरौ ।
पवित्रपाणी उपवीतकं त्रिवृत् कमण्डलुं दण्डमृजुं च वैणवम् ॥३३॥
पद्माक्षमालामुत जन्तुमार्जनं वेदं च साक्षात्तप एव रूपिणौ ।
तपत्तडिद्वर्णपिशङ्गरोचिषा प्रांशू दधानौ विबुधर्षभार्चितौ ॥३४॥
ते वै भगवतो रूपे नरनारायणावृषी । दृष्ट्वोत्थायादरेणोच्चैर्ननामाङ्गेन दण्डवत् ॥३५॥
स तत्सन्दर्शनानन्दनिर्वृतात्मेन्द्रियाशयः । हृष्टरोमाश्रुपूर्णाक्षो न सेहे तावुदीक्षितुम् ॥३६॥
उत्थाय प्राञ्जलिः प्रह्व औत्सुक्यादाश्लिषन्निव । नमो नम इतीशानौ बभाषे गद्गदाक्षरः ॥३७॥
तयोरासनमादाय पादयोरवनिज्य च । अर्हणेनानुलेपेन धूपमाल्यैरपूजयत् ॥३८॥
सुखमासनमासीनौ प्रसादाभिमुखौ मुनी । पुनरानम्य पादाभ्यां गरिष्ठाविदमब्रवीत् ॥३९॥

थी । इतनेमें उसकी करधनी भी टूट गयी और वायुने उसकी महीन साड़ी उड़ा दी ॥ २७ ॥ इसी समय कामदेवने मार्कण्डेयमुनिको अपने अधीन समझकर उनपर बाण छोड़ा, परन्तु अभागे पुरुषके उद्यमकी भाँति उसका वह प्रयत्न व्यर्थ हो गया ॥ २८ ॥ हे मुने ! मार्कण्डेयजीका इस तरह अपकार करनेके कारण वे सब उनके तेजसे जलने लगे और जैसे कोई बालक सर्पको जगाकर भाग जाय, वैसे ही वे भयभीत होकर लौट गये ॥ २९ ॥ हे ब्रह्मन् ! श्रीमार्कण्डेयजी जो इन्द्रके अनुचरों द्वारा इस तरह विचलित किये जानेपर भी अहङ्कारके वशमें नहीं हुए। सो उनके समान महापुरुषोंके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३० ॥ उधर भगवान इन्द्र कामदेवको अपने साथियों सहित निस्तेज देख और उसके मुखसे ब्रह्मर्षि मार्कण्डेयजीकी महिमा सुनकर बहुत विस्मित हुए ॥ ३१ ॥ उन मार्कण्डेयजीको तप, स्वाध्याय तथा संयम द्वारा चित्तको संयत करते देखकर भगवान नरनारायण उनपर अनुग्रह करनेके लिये उनके समक्ष प्रगट होगये ॥ ३२ ॥ सुरवरवन्दित वे दोनों नर-नारायण चतुर्भुजी तथा शुक्ल एवं कृष्णवर्णके थे । उनके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे । वे दोनों परम पुरुष कृष्णमृगचर्म तथा वल्कल वस्त्र पहने थे । उनके हाथमें पवित्री, गलेमें तीन-तीन करके नौ तन्तुओंका यज्ञोपवीत, हाथमें कमण्डलु, बाँसका सीधा दण्ड, कमलगट्टोंकी माला, जीवोंको सामनेसे हटानेके लिये वस्त्रकी कूँची और स्वाध्यायके निमित्त वेद लिये हुए थे । वे चमचमाती हुई बिजलीकी भाँति पिशङ्गवर्णकी कान्तिसे युक्त होनेसे मूर्तिमान तप ही मालूम पड़ते थे और कदमें ऊँचे थे । ३३ ॥ ३४ ॥ हे मुनियों ! भगवानके स्वरूपभूत उन दोनों नर-नारायण नामके ऋषियोंको देखकर मार्कण्डेयजीने बड़े आदरसे उठकर उनको दण्डवत् किया ॥ ३५ ॥ उन प्रभुके दिव्य दर्शनजनित आनन्दसे उनके शरीर, इन्द्रिय तथा मन अत्यन्त शान्तिमग्न हो गये । उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और नेत्रोंमें जल भर आनेसे वे उन दोनोंकी ओर देख भी नहीं पाये ॥ ३६ ॥ तदनन्तर मानों उनका आलिङ्गन ही कर लेंगे, इस तरह अति उत्कण्ठासे उठ तथा अतिशय विनयपूर्वक हाथ जोड़कर वे उन परमेश्वरोंसे गद्गदवाणीमें बारम्बार 'नमस्कार है, नमस्कार है' यों कहने लगे ॥ ३७ ॥ तब उन्हें आसन देकर उन्होंने उनके पाँव पखारे और विविध प्रकारके अर्घ्य, अनुलेपन, धूप तथा माला आदिसे उनकी विधिवत् पूजा की ॥ ३८ ॥ सुखसे आसनपर बैठे हुए उन प्रसादप्रवण तथा पूज्यतम मुनीश्वरोंके चरणोंमें फिर प्रणाम करके वे कहने लगे ॥ ३९ ॥

मार्कण्डेय उवाच

किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः संस्पन्दते तमनु वाङ्मनइन्द्रियाणि ।
स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्वयोश्च स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥४०॥
मूर्ती इमे भगवतो भगवंस्त्रिलोक्याः क्षेमाय तापविरमाय च मृत्युजित्यै ।
नाना बिभर्ष्यवितुमन्यतनूर्यथेदं सृष्ट्वा पुनर्ग्रससि सर्वमिवोर्णनाभिः ॥४१॥
तस्यावितुः स्थिरचरेशितुरङ्घ्रिमूलं यत्स्थं न कर्मगुणकालरुजः स्पृशन्ति ।
यद् वै स्तुवन्ति निनमन्ति यजन्त्यभीक्ष्णं ध्यायन्ति वेदहृदया मुनयस्तदाप्त्यै ॥४२॥
नान्यं तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्तेः क्षेमं जनस्य परितो भिय ईश विद्मः ।
ब्रह्मा बिभेत्यलमतो द्विपरार्धधिष्ण्यः कालस्य ते किमुत तत्कृतभौतिकानाम् ॥४३॥
तद् वै भजाम्यृतधियस्तव पादमूलं हित्वेदमात्मच्छदि चात्मगुरोः परस्य ।
देहाद्यपार्थमसदन्त्यमभिज्ञमात्रं विन्देत ते तर्हि सर्वमनीषितार्थम् ॥४४॥
सत्त्वं रजस्तम इतीश तवात्मबन्धो मायामयाः स्थितिलयोदयहेतवोऽस्य ।
लीला धृता यदपि सत्त्वमयी प्रशान्त्यै नान्ये नृणां व्यसनमोहभियश्च याभ्याम् ॥४५॥
तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति ।
यत् सात्वताः पुरुषरूपमुशन्ति सत्त्वं लोको यतोऽभयमुतात्मसुखं न चान्यत् ॥४६॥

श्रीमार्कण्डेयजीने कहा—हे प्रभो ! मैं आपके प्रभावका क्या वर्णन करूँ ? अहो ! आपकी प्रेरणासे ही तो देहधारियोंके प्राण चेष्टा करते हैं । जिनके कारण वाणी, मन तथा इन्द्रियोंकी चेष्टायें होती हैं । ब्रह्मा एवं शिवके प्राणादिककी प्रवृत्ति भी एक आपके ही अधीन रहती है । आप अपना भजन करनेवाले भक्तोंकी आत्माके बन्धु हैं ॥ ४० ॥ हे प्रभो ! जैसे आपने मत्स्य-कूर्मादि विविध अवतार केवल विश्वकी रक्षाके निमित्त ही लिये थे, वैसे ही आपकी ये दोनों मूर्तियें त्रिलोकीके कल्याणार्थ तथा उसकी दुःखनिवृत्ति और मृत्युको जीतनेके लिये ही हैं । सम्पूर्ण विश्वको आप अपने ही से रचकर मकड़ीकी भाँति अपने हीमें लीन कर लिया करते हैं ॥ ४१ ॥ जिसको पानेके लिये वेदके मर्मज्ञ मुनिजन निरन्तर स्तुति, वन्दना, पूजन तथा ध्यान करते रहते हैं, जिनके आश्रित पुरुषोंको कर्म, गुण एवं कालजनित क्लेश छू भी नहीं पाते, उन अखिल चराचरका नियमन तथा पालन करनेवाले आपके चरणकमलोंको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४२ ॥ हे ईश ! दो परार्द्धपर्यन्त स्थितिवाले ब्रह्माजी भी आपके प्रेरित कराल कालसे डरते हैं । फिर उनके रचे हुए अन्य भौतिक प्राणियोंके विषयमें तो कहना ही क्या है ? अतएव सब ओरसे भयभीत प्राणियोंके लिये मोक्षस्वरूप आपके चरणोंकी शरणमें चले जानेसे उत्तम और कोई कल्याणकारी स्थान हमें नहीं मिलता ॥ ४३ ॥ इसलिए आत्मस्वरूपको आच्छादित करनेवाले देह आदि निष्फल, असत्य, नाशवान् पदार्थोंको छोड़कर मैं अपने गुरु सत्यज्ञानके स्वरूप आप परमेश्वरके चरणमूलका ही भजन करता हूँ । यदि कोई पुरुष आपका भजन करता है तो वह अपने अभिलषित पदार्थोंको भी आपसे ही पा लेता है ॥ ४४ ॥ हे ईश ! हे आत्मबन्धो ! यद्यपि सत्त्व, रज तथा तम—ये तीनों गुण आपकी मूर्तियाँ हैं और इन्हींसे आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयकी कारणस्वरूपा मायामयी लीलाओंको किया करते हैं । फिर भी मनुष्योंको शान्ति देनेवाली आपकी सत्त्वमयी मूर्ति ही है । जिनसे दुःख, मोह तथा भय प्राप्त होते हैं, वे अन्य मूर्तियाँ उन्हें कदापि शान्ति नहीं दे पातीं ॥ ४५ ॥ अतएव हे भगवन् ! कुशल पुरुष आपकी नारायण नामकी शुद्ध मूर्ति तथा आपके भक्तोंकी परमप्रिय नरनामकी शुद्ध मूर्तिका ही भजन किया करते हैं । क्योंकि सब भक्तजनको जिससे वैकुण्ठादि लोकोंको पाकर अभय तथा आत्मानन्दकी उपलब्धि होती है, उस सत्त्वमय स्वरूपको ही हम पाना

तस्मै नमो भगवते पुरुषाय भूम्ने विश्वाय विश्वगुरवे परदेवतायै ।
नारायणाय ऋषये च नरोत्तमाय हंसाय संयतगिरे निगमेश्वराय ॥४७॥
यं वै न वेद वितथाक्षपथैर्भ्रमद्धीः सन्तं स्वखेष्वसुषु हृद्यपि दृक्पथेषु ।
तन्माययाऽऽवृतमतिः स उ एव साक्षादाद्यस्तवाखिलगुरोरुपसाद्य वेदम् ॥४८॥
यद्दर्शनं निगम आत्मरहःप्रकाशं मुह्यन्ति यत्र कवयोऽजपरा यतन्तः ।
तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलं वन्दे महापुरुषमात्मनि गूढबोधम् ॥४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

सूत उवाच

संस्तुतो भगवानित्थं मार्कण्डेयेन धीमता । नारायणो नरसखः प्रीत आह भृगूद्वहम् ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

भो भो ब्रह्मर्षिवर्योऽसि सिद्ध आत्मसमाधिना । मयि भक्त्यानपायिन्या तपःस्वाध्यायसंयमैः ॥२॥
वयं ते परितुष्टाः स्म त्वद्बृहद्व्रतचर्यया । वरं प्रतीच्छ भद्रं ते वरदेशादभीप्सितम् ॥३॥

ऋषिरुवाच

जितं ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराच्युत । वरेणैतावतालं नो यद् भवान् समदृश्यत ॥४॥
गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम् । मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षगोचरः ॥५॥

चाहते हैं—अन्य रजोगुण-तमोगुणमय वस्तुकी हमें इच्छा नहीं है ॥ ४६ ॥ इसलिये जो सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप, जगद्गुरु, परमदेव, शुद्धस्वरूप, वाणीके नियामक एवं वेदमार्गके प्रवर्त्तक हैं, उन भगवान नारायण तथा नरश्रेष्ठ नर ऋषिको मेरा नमस्कार है ॥ ४७ ॥ आपकी मायासे मोहितबुद्धि पुरुष अपने इन्द्रिय, प्राण, हृदय तथा दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थोंमें विद्यमान रहनेपर भी, जिन्हें कपटपूर्ण इन्द्रियोंसे विक्षिप्तचित्त हो जानेके कारण नहीं देख पाता, उन्हीं आपको वह पुरुष आप अखिल गुरु परमेश्वरके द्वारा प्रवर्तित वेदका ज्ञान पाकर जान लेता है ॥ ४८ ॥ जिनके स्वरूपका रहस्य प्रगट करनेवाला ज्ञान वेदमें कहा गया है। जिनके स्वरूपको जाननेके लिये प्रयत्नशील ब्रह्मा और महादेव आदि मनीषीगण भी मोहित हो जाते हैं, सब मतोंके अनुकूल रूप तथा स्वभावयुक्त एवं देहादिमें छिपे विशुद्ध विज्ञानस्वरूप उन महापुरुषकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ४९ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(मार्कण्डेयजीका भगवानकी माया देखना) श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुनियों ! परम बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीके द्वारा इस प्रकार स्तूयमान नरके सखा नारायण प्रसन्न होकर उन भृगुनन्दनसे बोले ॥ १ ॥ श्रीभगवानने मार्कण्डेय मुनिसे कहा—हे ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ ! तुम चित्तकी समाधि, मुझमें होनेवाली अविनाशिनी भक्ति, तप, स्वाध्याय तथा संयम द्वारा सिद्धि प्राप्त कर चुके हो ॥ २ ॥ तुम्हारे बृहत् ब्रह्मचर्यसे हम तुमपर बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारा कल्याण हो। मुझ वरदायकोंके ईश्वरसे तुम जो चाहो सो वर माँग लो ॥ ३ ॥ मार्कण्डेय ऋषिने कहा—हे देवदेवेश्वर ! हे शरणागतका दुःख हरनेवाले श्रीअच्युत ! आपने जो मुझे वर देनेको कहा, यह आपकी महत्ता है। किन्तु जब आपने स्वयं दर्शन दे दिया तो हमें और वरोंकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४ ॥ ब्रह्मादिक देवता भी अपने योगपक्व मनसे जिनके श्रीयुक्त चरणकमलोंका दर्शन करके कृतकृत्य हो चुके हैं, वे ही आप साक्षात् भगवान

अथाप्यम्बुजपत्राक्ष पुण्यश्लोकशिखामणे । द्रक्ष्ये मायां यया लोकः सपालो वेद सद्भिदाम् ६

सूत उवाच

इतीडितोऽर्चितः काममृषिणा भगवान् मुने । तथेति स स्मयन् प्रागाद् बदर्याश्रममीश्वरः ॥७॥
तमेव चिन्तयन्नर्थमृषिः स्वाश्रम एव सः । वसन्नग्न्यर्कसोमाम्बुभूवायुवियदात्मसु ॥८॥
ध्यायन् सर्वत्र च हरिं भावद्रव्यैरपूजयत् । क्वचित् पूजां विसस्मार प्रेमप्रसरसम्प्लुतः ॥९॥
तस्यैकदा भृगुश्रेष्ठ पुष्पभद्रातटे मुनेः । उपासीनस्य सन्ध्यायां ब्रह्मन् वायुरभून्महान् १०
तं चण्डशब्दं समुदीरयन्तं बलाहका अन्वभवन् करालाः ।
अक्षस्थविष्ठा मुमुचुस्तडिद्भिः स्वनन्त उच्चैरभिवर्षधाराः ॥११॥
ततो व्यदृश्यन्त चतुःसमुद्राः समन्ततः क्ष्मातलमाग्रसन्तः ।
समीरवेगोर्मिभिरुग्रनक्रमहाभयावर्तगभीरघोषाः ॥१२॥
अन्तर्बहिश्चाद्भिरतिद्युभिः खरैः शतह्रदाभीरुपतापितं जगत् ।
चतुर्विधं वीक्ष्य सहात्मना मुनिर्जलाप्लुतां क्ष्मां विमनाः समत्रसत् ॥१३॥
तस्यैवमुद्वीक्षत ऊर्मिभीषणः प्रभञ्जनाघूर्णितवार्महार्णवः ।
आपूर्यमाणो वरषद्भिरम्बुदैः क्ष्मामप्यधाद् द्वीपवर्षाद्रिभिः समम् ॥१४॥
सक्ष्मान्तरिक्षं सदिवं सभागणं त्रैलोक्यमासीत् सह दिग्भिराप्लुतम् ।
स एक एवोर्वरितो महामुनिर्बभ्राम विक्षिप्य जटा जडान्धवत् ॥१५॥

मेरे नयनोंके समक्ष आ उपस्थित हुए ! ॥ ५ ॥ फिर भी हे पवित्रकीर्तिवालोंके शिरोमणि ! हे कमलदलनिभलोचन ! मैं आपकी वह माया देखना चाहता हूँ, जिससे मोहित होकर लोकपालों समेत सारा संसार वस्तु अर्थात् ब्रह्ममें भेद देखता है ॥ ६ ॥ सूतजी कहने लगे—हे मुने ! महर्षि मार्कण्डेयजी द्वारा इस तरह यथेच्छ स्तुत तथा पूजित हो भगवान 'तथास्तु' कहकर मुसकाते हुए बदरिकाश्रम चले गये ॥ ७ ॥ ऋषिश्रेष्ठ मार्कण्डेय अपने आश्रममें ही रहते और भगवानका चिन्तन करते हुए सूर्य, चन्द्रमा, जल, पृथिवी, वायु, आकाश तथा चित्तमें सर्वत्र श्रीहरिका ध्यान करते-करते भावनामय पदार्थोंसे उनकी मानसिक पूजा करने लगे। कभी-कभी तो वे प्रेमरसके प्रवाहमें डूबकर भगवानका पूजन भी भूल जाते थे ॥ ८ ॥ ९ ॥ हे भृगुश्रेष्ठ ! एक दिनकी बात है, वे सन्ध्याके समय पुष्पभद्रा नदीके तटपर उपासना करने बैठे। हे ब्रह्मन् ! इसी अवसरपर बड़े जोरोंकी हवा चलने लगी ॥ १० ॥ उस प्रचण्ड शब्द पूर्ण वायुके साथ भयंकर मेघ आकाशमें उमड़ आये और बिजलीकी कड़कके साथ खूब गर्ज-गर्जकर रथके अक्ष (धूरे) के समान मोटी धाराओंसे जल बरसाने लगे ॥ ११ ॥ फिर अति उग्र नाकों और भयानक भँवरों तथा गम्भीर निनादवाले चारों समुद्र वायुके वेगसे उठती तरङ्गोंसे चारों ओरकी पृथ्वीको ग्रसते हुए दिखायी पड़ने लगे ॥ १२ ॥ तब बाहर भीतरसे स्वर्गको भी डुबा देनेवाले जलसे, प्रचण्ड पवन तथा बिजलियोंसे अपने समेत चारों प्रकारके जीवोंयुक्त जगत्को व्याकुल एवं पृथिवीको जलमें डूबती देखकर मार्कण्डेयजी बहुत खिन्न तथा भयभीत हुए ॥ १३ ॥ उनके देखते-देखते ऊँची-ऊँची तरङ्गोंसे भयानक और आँधीके कारण उछलती तरंगोंवाले उस प्रलयकालीन महासमुद्रने बरसते हुए मेघोंसे और भी उमड़कर द्वीप, वर्ष तथा पर्वतों सहित सारे भूमण्डलको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १४॥ इस तरह थोड़ी ही देरमें पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, ग्रहगण तथा दिशाओं सहित सारी त्रिलोकी जलमें डूब गयी। बस, अकेले महामुनि मार्कण्डेयजी ही शेष रह गये। वे अपनी जटाएँ छितराकर जड़ और अन्धेकी तरह इधर-उधर घूमने लगे ॥१५॥

क्षुत्तृट्परीतो मकरैस्तिमिङ्गिलैरुपद्रुतो वीचिनभस्वता हतः ।
तमस्यपारे पतितो भ्रमन् दिशो न वेद खं गां च परिश्रमेषितः ॥१६॥
क्वचिद् गतो महावर्ते तरलैस्ताडितः क्वचित् । यादोभिर्भक्ष्यते क्वापि स्वयमन्योन्यघातिभिः १७
क्वचिच्छोकं क्वचिन्मोहं क्वचिद् दुःखं सुखं भयम् । क्वचिन्मृत्युमवाप्नोति व्याध्यादिभिरुतार्दितः
अयुतायुतवर्षाणां सहस्राणि शतानि च । व्यतीयुर्भ्रमतस्तस्मिन् विष्णुमायावृतात्मनः १९
स कदाचिद् भ्रमंस्तस्मिन् पृथिव्याःककुदि द्विजः । न्यग्रोधपोतं ददृशे फलपल्लवशोभितम् ॥२०॥
प्रागुत्तरस्यां शाखायां तस्यापि ददृशे शिशुम् । शयानं पर्णपुटके ग्रसन्तं प्रभया तमः ॥२१॥
महामरकतश्यामं श्रीमद्वदनपङ्कजम् । कम्बुग्रीवं महोरस्कं सुनासं सुन्दरभ्रुवम् ॥२२॥
श्वासैजदलकाभातं कम्बुश्रीकर्णदाडिमम् । विद्रुमाधरभासेषच्छोणायितसुधास्मितम् ॥२३॥
पद्मगर्भारुणापाङ्गं हृद्यहासावलोकनम् । श्वासैजद्वलिसंविग्ननिम्ननाभिदलोदरम् ॥२४॥
चार्वङ्गुलिभ्यां पाणिभ्यामुन्नीय चरणाम्बुजम् । मुखे निधाय विप्रेन्द्रो धयन्तं वीक्ष्य विस्मितः २५
तद्दर्शनाद् वीतपरिश्रमो मुदा प्रोत्फुल्लहृत्पद्मविलोचनाम्बुजः ।
प्रहृष्टरोमाद्भुतभावशङ्कितः प्रष्टुं पुरस्तं प्रससार बालकम् ॥२६॥
तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः सोऽन्तःशरीरं मशको यथाविशत् ।
तत्राप्यदो न्यस्तमचष्ट कृत्स्नशो यथा पुरामुह्यदतीव विस्मितः ॥२७॥

मुनिराज मार्कण्डेय भूख-प्याससे व्याकुल, मकर तथा तिमिङ्गिलोंसे पीडित और तरङ्ग तथा आँधीकी थपेड़से व्याकुल हो अपार अन्धकारमें गिर गये । तब दिशा-विदिशाओंमें भटकते हुए बहुत थक जानेके कारण उन्हें पृथिवी एवं आकाशका भी ज्ञान नहीं रह गया ॥ १६ ॥ उस समय वे कभी बड़े भँवरमें पड़ जाते, कभी उछलती तरङ्गोंसे प्रताडित होते और कभी आपसमें परस्पर घात-प्रतिघात करनेवाले जलजन्तुओंकी चपेटमें पड़ जाते थे ॥ १७ ॥ वे कभी शोक, कभी मोह, कभी दुःख, कभी सुख, कभी भय तथा कभी मृत्युके मुखमें पड़ जाते और कभी विविध व्याधियोंसे पीडित हो जाते थे ॥ १८ ॥ इस तरह भगवानकी मायासे मोहित होकर उस प्रलयकालीन समुद्रमें भटकते-भटकते सैकड़ों, हजारों एवं लाखों वर्षका समय बीत गया ॥ १९ ॥ एक दिन उन द्विजवरने उस प्रलयसमुद्रमें घूमते-घूमते पृथिवीके एक टीलेपर फल तथा नवीन पत्तोंसे शोभित एक छोटा-सा वटवृक्ष देखा ॥२०॥ उस वटके उत्तर-पूर्वकी शाखापर एक दोनेमें उन्होंने एक बालकको लेटे देखा, जो अपनी कान्तिसे सारे अन्धकार ग्रसे जा रहा था ॥ २१ ॥ वह बालक महामरकतमणिकी भाँति श्यामवर्णका था, उसका मुख अत्यन्त सुन्दर था, उसकी ग्रीवा शंखके सदृश थी, उसका वक्षःस्थल विशाल था, नासिका अतिशय मनोहर थी और भौंहें भी बहुत सुन्दर थीं ॥ २२ ॥ श्वास लेते समय हिलती हुई उसकी अलकें बहुत सुशोभित हो रही थीं, बाहरसे शंख सदृश और भीतरसे बलयाकार उसके कानोंमें दाडिम अर्थात् अनारके पुष्प सुशोभित थे । उसकी सुधानिभ मुसकान विद्रुममय अधरोंकी आभा पाकर कुछ लाल-लाल हो रही थी ॥ २३ ॥ उसके नेत्र कमलके भीतरी भागकी भाँति लाल थे । उसकी चितवन मनोहर मुसकानसे सुशोभित थी । गम्भीर नाभिसे युक्त तथा पीपलके पत्तेके समान उसका पेट श्वाससे हिलती हुई बलियोंके कारण चञ्चल हो रहा था ॥ २४ ॥ अपने पैरको सुन्दर अँगुलिया-वोंले हाथोंसे ऊपर उठा एवं मुखमें रखकर चूसते हुए उस बालकको देख द्विजराज मार्कण्डेय बहुत विस्मित हुए ॥ २५ ॥ उस बालकको देखते ही उनका सारा परिश्रम नष्ट हो गया । उनके हृदय तथा नेत्र आनन्दसे खिल उठे । उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया । उसके विचित्रभावसे शङ्कित होकर जैसे ही वे उससे प्रश्न करनेको उसके समक्ष गये, तैसे ही उस बालकके श्वाससे वे मच्छड़की तरह उसके उदरमें समा गये । वहाँ जाकर उन्होंने सारा जगत् उसी तरह देखा, जैसे प्रलयके पहले देखा था ।

खं रोदसी भगणानद्रिसागरान् द्वीपान् सवर्षान् ककुभः सुरासुरान् ।
वनानि देशान् सरितः पुराकरान् खेटान् व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः ॥२८॥
महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ कालं च नानायुगकल्पकल्पनम् ।
यत् किञ्चिदन्यद् व्यवहारकारणं ददर्श विश्वं सदिवावभासितम् ॥२९॥
हिमालयं पुष्पवहां च तां नदीं निजाश्रमं तत्र ऋषीनपश्यत् ।
विश्वं विपश्यञ्छ्वसिताच्छिशोर्वै बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ ॥३०॥
तस्मिन् पृथिव्याः ककुदि प्ररूढं वटं च तत्पर्णपुटे शयानम् ।
तोकं च तत्प्रेमसुधास्मितेन निरीक्षितोऽपाङ्गनिरीक्षणेन ॥३१॥

अथ तं बालकं वीक्ष्य नेत्राभ्यां धिष्ठितं हृदि । अभ्ययादतिसंक्लिष्टः परिष्वक्तुमधोक्षजम् ॥३२॥
तावत् स भगवान् साक्षाद् योगाधीशो गुहाशयः । अन्तर्दध ऋषेः सद्यो यथेहानीशनिर्मिता ॥३३॥
तमन्वथ वटो ब्रह्मन् सलिलं लोकसम्प्लवः । तिरोधायि क्षणादस्य स्वाश्रमे पूर्ववत् स्थितः ॥३४॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे मायादर्शनं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

———

दशमोऽध्यायः

सूत उवाच

स एवमनुभूयेदं नारायणविनिर्मितम् । वैभवं योगमायायास्तमेव शरणं ययौ ॥१॥

मार्कण्डेय उवाच

प्रपन्नोऽस्म्यङ्घ्रिमूलं ते प्रपन्नाभयदं हरे । यन्माययापि विबुधा मुह्यन्ति ज्ञानकाशया ॥२॥

इससे वे अतिशय विस्मित होकर मोहित हो गये ॥ २६ ॥ २७ ॥ आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, ग्रहगण, पर्वत, द्वीप, दिशाएँ, देवता, असुर, वन, देश, नदियाँ, पुर, आकर यानी खान, खेट अर्थात् कृषकोंके गाँव, घोष अर्थात् पशुशालाएँ, आश्रम, वर्ण तथा उनकी वृत्तियाँ, ॥ २८ ॥ पञ्चमहाभूत, भौतिक पदार्थ, अनेक युग और कल्पकी कल्पनाओं सहित काल तथा और जो व्यवहारका कारण होता है, उसके सहित सारे विश्वको उन्होंने वहाँ परमार्थ यानी सत्यके समान अलौकिक देखा ॥ २९ ॥ इसी तरह उन्होंने वहाँ हिमालय पर्वत, पुष्पभद्रा नदी, अपने आश्रम तथा उसमें रहनेवाले सब ऋषियोंको भी देखा । इस प्रकार समस्त जगत्को देखकर उस बालकके श्वास छोड़ते ही वे बाहर निकल आये और प्रलयसमुद्रमें जा गिरे ॥ ३० ॥ उस पृथ्वीके टीलेपर विद्यमान वह वटवृक्ष तथा उसके पत्तेपर सोता हुआ वह बालक भी उन्होंने देखा । तदनन्तर उस बालकके द्वारा प्रेमामृत भरी मुसकान सहित कटाक्षदृष्टि द्वारा देखे जानेपर अपने नेत्रोंसे हृदयमें बसे हुए उस बालकको देखकर उन अधोक्षज भगवानका आलिङ्गन करनेके लिये वे बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़े ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ इतनेमें जैसे भाग्यहीनकी की हुई सारी कल्पनायें व्यर्थ होती हैं, वैसे ही वे सर्वान्तर्यामी साक्षात् भगवान योगेश्वर उन ऋषिश्रेष्ठके आगेसे अन्तर्धान हो गये ॥ ३३ ॥ हे ब्रह्मन् ! उनके साथ-साथ वह वटवृक्ष तथा लोकोंको डुबानेवाला जल भी उसी समय विलीन हो गया और मार्कण्डेयजी फिर पहलेकी तरह अपने आश्रममें आ बैठे ॥ ३४ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(महर्षि मार्कण्डेयजीको शङ्करभगवानका वरदान प्राप्त होना) श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुने ! श्रीनारायणके रचे हुए योगमायाके वैभव देखकर मुनिवर मार्कण्डेयने उन्हींकी शरण गही ॥ १ ॥ श्रीमार्कण्डेयने कहा—हे हरे ! बड़े-बड़े ज्ञानी भी ज्ञानके समान प्रकाशित होनेवाली

सूत उवाच

तमेवं निभृतात्मानं वृषेण दिवि पर्यटन् । रुद्राण्या भगवान् रुद्रो ददर्श स्वगणैर्वृतः ॥३॥
अथोमा तमृषिं वीक्ष्य गिरिशं समभाषत । पश्येमं भगवन् विप्रं निभृतात्मेन्द्रियाशयम् ॥४॥
निभृतोदझषव्रातं वातापाये यथार्णवम् । कुर्वस्य तपसः साक्षात् संसिद्धिं सिद्धिदो भवान्॥५

श्रीभगवानुवाच

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत । भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥६॥
अथापि संवदिष्यामो भवान्येतेन साधुना । अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः ॥७॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा तमुपेयाय भगवान् स सतां गतिः । ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ॥८॥
तयोरागमनं साक्षादीशयोर्जगदात्मनोः । न वेद रुद्धधीवृत्तिरात्मानं विश्वमेव च ॥९॥
भगवांस्तदभिज्ञाय गिरीशो योगमायया । आविशत्तद्गुहाकाशं वायुश्छिद्रमिवेश्वरः ॥१०॥
आत्मन्यपि शिवं प्राप्तं तडित्पिङ्गजटाधरम् । त्र्यक्षं दशभुजं प्रांशुमुद्यन्तमिव भास्करम् ॥११॥
व्याघ्रचर्माम्बरधरं शूलखट्वाङ्गचर्मभिः । अक्षमालाडमरुककपालासिधनुः सह ॥१२॥
बिभ्राणं सहसा भातं विचक्ष्य हृदि विस्मितः । किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिः ॥१३॥
नेत्रे उन्मील्य ददृशे सगणं सोमयाऽऽगतम् । रुद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम शिरसा मुनिः ॥१४॥
तस्मै सपर्यां व्यदधात् सगणाय सहोमया । स्वागतासनपाद्यार्घ्यगन्धस्रग्धूपदीपकैः ॥१५॥

जिनकी मायासे मोहित हो जाया करते हैं, उन आपके शरणागतोंको अभयदायक चरणकमलोंकी मैं शरणमें हूँ ॥ २ ॥ श्रीसूतजी बोले—इस प्रकार एकाग्रचित्त उन मुनिवरको पार्वतजीके सहित नन्दीपर सवार हो और अपने गणोंसे घिरकर स्वर्गलोकमें विचरते हुए श्रीमहादेवजीने देखा ॥ ३ ॥ उन मुनिराजको देखकर पार्वतीजीने श्रीशङ्करसे कहा—हे भगवन् ! वायुके न रहने तथा मत्स्यसमूहके शान्त हो जानेपर जैसे समुद्र शान्त हो जाता है, वैसे ही जिसके देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण वशमें हो गये हैं, ऐसे इस ब्राह्मणको देखिये और इसके तपका प्रत्यक्ष फल सिद्ध कर दीजिए। क्योंकि आप सब सिद्धियोंके दाता हैं। श्रीभगवान बोले—ये महर्षि कोई भोग अथवा मोक्ष नहीं चाहते। क्योंकि ये अविनाशी भगवान·पुरुषोत्तमकी परा भक्ति प्राप्त कर चुके हैं ॥ ४–६ ॥ हे भवानी ! फिर भी मैं इन सज्जनके साथ कुछ बातचीत करूँगा। क्योंकि साधुजनोंका समागम पुरुषके लिये बहुत बड़ा लाभ माना जाता है ॥ ७ ॥ श्रीसूतजी कहते हैं—इस तरह कहकर सब विद्याओंके प्रवर्त्तक, सब प्राणियोंके प्रभु तथा साधुजनोंके एकमात्र आश्रय शङ्करभगवान उनके समीप गये ॥ ८ ॥ किन्तु अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको रोक रखनेवाले मार्कण्डेयजीको अपने शरीर तथा संसारका कुछ भी ज्ञान नहीं रहा। अतएव उन्हें जगत्के आत्मास्वरूप साक्षात् ईश्वर उन महादेव तथा पार्वतीके आगमनका कुछ भी पता नहीं चला ॥ ९ ॥ सर्वसमर्थ शङ्करभगवान यह रहस्य जानकर वायु जैसे छिद्रमें घुस जाता है, वैसे ही योगमायासे उनके हृदयाकाशमें प्रविष्ट हो गये ॥ १० ॥ तब बिजलीकी नाईं पिङ्गलवर्ण-जटाधारी, तीन नेत्र तथा दस भुजाओंवाले उदीयमान सूर्यके सदृश तेजस्वी, ऊँचे डील, व्याघ्रचर्मधारी तथा त्रिशूल, धनुष, बाण, खड्ग एवं ढाल सहित, अक्षमाला, डमरू, कपाल एवं परशुधारी श्रीशङ्करजीको अपने अन्तःकरणमें सहसा प्रकट देखकर मुनिवर मार्कण्डेयजी बहुत विस्मित हुए और 'यह कौन है ? यह कहाँसे आ गया ?' ऐसा सोचकर वे समाधिसे उपरत हो गये ॥ ११–१३ ॥ आँखें खोलनेपर उन्होंने त्रिलोकीके एकमात्र गुरु शङ्करजीको पार्वतीजी तथा अपने गणों समेत आये देखा। तब महामुनि मार्कण्डेयने उन्हें माथा झुकाकर नमस्कार किया ॥ १४ ॥ तदनन्तर उन्होंने स्वागत, आसन, पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, माला, धूप तथा दीपकादि द्वारा पार्वतीजी

अह चात्मानुभावेन पूर्णकामस्य ते विभो । करवाम किमीशान येनेदं निर्वृतं जगत् ॥१६॥
नमः शिवाय शान्ताय सत्त्वाय प्रमृडाय च । रजोजुषेऽप्यघोराय नमस्तुभ्यं तमोजुषे ॥१७॥

सूत उवाच

एवं स्तुतः स भगवानादिदेवः सतां गतिः । परितुष्टः प्रसन्नात्मा प्रहसंस्तमभाषत ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच

वरं वृणीष्व नः कामं वरदेशा वयं त्रयः । अमोघं दर्शनं येषां मर्त्यो यद् विन्दतेऽमृतम् १९
ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः । एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः ॥२०॥
सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्चन्त्युपासते । अहं च भगवान् ब्रह्मा स्वयं च हरिरीश्वरः ॥२१॥
न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते । नात्मनश्च जनस्यापि तद् युष्मान् वयमीमहि २२
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः । ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ॥२३॥
ब्राह्मणेभ्यो नमस्यामो येऽस्मद्रूपं त्रयीमयम् । बिभ्रत्यात्मसमाधानतपःस्वाध्यायसंयमैः ॥२४॥
श्रवणाद् दर्शनाद् वापि महापातकिनोऽपि वः । शुध्येरन्नन्त्यजाश्चापि किमु संभाषणादिभिः २५

सूत उवाच

इति चन्द्रललामस्य धर्मगुह्योपबृंहितम् । वचोऽमृतायनमृषिर्नातृप्यत् कर्णयोः पिबन् २६
सचिरं मायया विष्णोर्भ्रामितः कर्शितो भृशम् । शिववागमृतध्वस्तक्लेशपुञ्जस्तमब्रवीत् ॥२७॥

और गणों सहित शिवजीकी पूजा की ॥ १५ ॥ फिर बोले—"हे प्रभो ! हे ईश ! जिनके द्वारा सम्पूर्ण जगत्को सुख मिलता है और जो अपने प्रभावसे सर्वथा पूर्णकाम हैं, ऐसे आपका हम भला क्या प्रिय करें ॥ १६ ॥ निर्गुण, शान्त, सबके सुखदायक, सत्त्वस्वरूप तथा रजोगुण और तमोगुणसे युक्त होनेपर भी जो अघोर हैं, उन आप शङ्करभगवानको मैं नमस्कार करता हूँ। श्रीसूतजी कहते हैं—"इस प्रकार मार्कण्डेयजीके स्तुति करनेपर साधुजनोंके एकमात्र आश्रय एवं आदिदेव शङ्करभगवान अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रसन्नचित्तसे हँसते हुए बोले ॥ १७॥१८ ॥ श्रीशङ्करभगवानने कहा—हे महामुने ! जिसका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता और जिनके द्वारा मनुष्यको अमरपद मिलता है, ऐसे हम तीनों यानी ब्रह्मा, विष्णु और महादेव सब वरदानियोंमें प्रधान हैं। अतएव तुम हमसे इच्छित वर माँगो ॥ १९ ॥ जो ब्राह्मण, साधुस्वभाव, शान्त, निःसंग, सब प्राणियोंपर कृपालु, मेरे अनन्य भक्त, वैरहीन तथा समदर्शी होते हैं ॥ २० ॥ सब लोकों सहित सभी लोकपाल उनकी वन्दना, पूजा तथा उपासना किया करते हैं। वे ही नहीं, अपितु मैं, भगवान ब्रह्मा और साक्षात् विष्णुभगवान भी उनका भजन करते रहते हैं ॥ २१ ॥ क्योंकि वे मुझमें, विष्णुमें, ब्रह्माजीमें, अपनेमें और साधारण जनसमुदायमें कुछ भी भेद नहीं देखते। इसीलिये हम आपलोगोंका भजन करते हैं ॥ २२ ॥ जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं होते और केवल चेतनाशून्य देवता यानी देवमूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। क्योंकि वे तो बहुत दिनों तक आराधना करनेपर प्राणीको पवित्र करते हैं, परन्तु आप अपने दर्शनमात्रसे सबको पवित्र करदेते हैं ॥ २३ ॥ जो चित्तकी एकाग्रता, तप, स्वाध्याय तथा संयमादिसे हमारे वेद-त्रयीमय शरीर धारण करते हैं, उन ब्राह्मणोंको हमारा नमस्कार है ॥ २४ ॥ आप सरीखे साधुजनोंके नामश्रवण तथा दर्शनसे ही महापापी चाण्डाल भी पवित्र हो जाते हैं, तब आपसे सम्भाषण करने-वालोंके विषयमें क्या कहना है ? ॥ २५ ॥ सूतजी कहते हैं—हे शौनक ! चन्द्रभूषण श्रीशङ्करजीका धर्मके रहस्यसे ओत-प्रोत एवं अमृतसे सने वचन अपने श्रवणपुट द्वारा पुनः-पुनः पान करते हुए भी मुनिवर मार्कण्डेयको सन्तोष नहीं हुआ ॥ २६ ॥ वे बहुत दिनसे भगवान विष्णुकी मायासे भ्रान्त मन रहनेके कारण बहुत थक गये थे। इससे अब श्रीशङ्करभगवानके वचनामृतसे क्लेशपुञ्जके क्षीण

ऋषिरुवाच

अहो ईश्वरलीलेयं दुर्विभाव्या शरीरिणाम् । यन्नमन्तीशितव्यानि स्तुवन्ति जगदीश्वराः ।२८।
धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम् । आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च ।२९।
नैतावता भगवतः स्वमायामयवृत्तिभिः । न दुष्येतानुभावस्तैर्मायिनः कुहकं यथा ॥३०॥
सृष्ट्वेदं मनसा विश्वमात्मनानुप्रविश्य यः । गुणैः कुर्वद्भिराभाति कर्तेव स्वप्नदृग् यथा ।३१।
तस्मै नमो भगवते त्रिगुणाय गुणात्मने । केवलायाद्वितीयाय गुरवे ब्रह्ममूर्तये ॥३२॥
कं वृणे नु परं भूमन् वरं त्वद् वरदर्शनात् । यद्दर्शनात् पूर्णकामः सत्यकामः पुमान् भवेत् ३३
वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णाद् कामाभिवर्षणात् । भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि ॥३४॥

सूत उवाच

इत्यर्चितोऽभिष्टुतश्च मुनिना सूक्तया गिरा । तमाह भगवाञ्छर्वः शर्वया चाभिनन्दितः ॥३५॥
कामो महर्षे सर्वोऽयं भक्तिमांस्त्वमधोक्षजे । आकल्पान्ताद् यशः पुण्यमजरामरता तथा ।३६।
ज्ञानं त्रैकालिकं ब्रह्मन् विज्ञानं च विरक्तिमत् । ब्रह्मवर्चस्विनो भूयात् पुराणाचार्यतास्तु ते ।३७।

सूत उवाच

एवं वरान् स मुनये दत्त्वागात्त्र्यक्ष ईश्वरः । देव्यै तत्कर्म कथयन्ननुभूतं पुरामुना ॥३८॥
सोऽप्यवाप्तमहायोगमहिमा भार्गवोत्तमः । विचरत्यधुनाप्यद्धा हरावेकान्ततां गतः ॥३९॥
अनुवर्णितमेतत्ते मार्कण्डेयस्य धीमतः । अनुभूतं भगवतो मायावैभवमद्भुतम् ॥४०॥

हो जानेपर वे उनसे बोले ॥ २७ ॥ श्रीमार्कण्डेयजीने कहा—अहो ! ईश्वरकी लीला भी देहधारियोंके लिये दुर्बोध्य होती है । इसीसे तो आप सरीखे जगदीश्वर भी शासन करनेके योग्य मेरे जैसे जीवोंकी वन्दना तथा स्तुति कर रहे हैं । धर्मके उपदेष्टा लोग सब धर्मोंका तत्त्व ग्रहण करानेके लिये ही धर्मका आचरण तथा अनुमोदन करते और आचरणमें आनेवाले धर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥२८॥२९॥ हे भगवन् ! अपनी मायामयी वृत्तियें स्वीकार करके नमस्कारादि करनेसे आपका प्रभाव वैसे ही दूषित नहीं हो सकता, जिस तरह किसी मायावीकी मायासे उसके प्रभावमें कोई अन्तर नहीं आ पाता ॥ ३० ॥ जो स्वप्नद्रष्टाकी भाँति सम्पूर्ण विश्वको अपने मनसे रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो तथा उन गुणोंके किये हुए कार्योंके स्वयं कर्ताके समान ज्ञाता होते हैं, उन त्रिगुणात्मक होकर भी गुणोंके नियन्ता, केवल, अद्वितीय तथा ब्रह्मस्वरूप जगद्गुरु श्रीविष्णुभगवानको नमस्कार है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ हे भूमन् ! जिनके केवल दर्शनसे पुरुष सर्वानन्दमय तथा आप्तकाम हो जाता है, उन प्रियदर्शन आपसे मैं भला और क्या वर माँगूँगा ॥ ३३ ॥ फिर भी सब कामनाओंको बरसानेवाले आप पूर्ण प्रभुसे मैं एक यही वर माँगता हूँ कि भगवानमें, उनके भक्तोंमें तथा आपमें सदा मेरी अविचल भक्ति बनी रहे ॥ ३४ ॥ श्रीसूतजी कहते हैं—हे शौनक ! मार्कण्डेयजीके द्वारा इस तरह मधुर वाणीसे पूजित और स्तूयमान हो भगवान शंकरने श्रीपार्वतीजीकी सम्मतिसे कहा—॥ ३५ ॥ 'हे महर्षे ! भगवान अधोक्षजमें तुम्हारी भक्ति है, अतः तुम्हारी सब कामना पूर्ण होगी और तुम्हें कल्पान्त-तकके लिये स्थायी यश, पुण्य तथा अजरामरता प्राप्त हो जायगी ॥ ३६ ॥ हे ब्रह्मन् ! तुम ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होओ । तुम्हें भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालका वैराग्ययुक्त विज्ञान तथा पुराणका आचार्यत्व भी प्राप्त होगा' ॥ ३७ ॥ श्रीसूतजी बोले—हे मुने ! इस प्रकार मार्कण्डेयजीको वर देकर भगवान शङ्कर पार्वतीजीको उनके कर्म तथा जो कुछ ज्ञान उन्होंने पहले अनुभव किया था, वह सब सुनाते हुए वहाँसे चल दिये ॥ ३८ ॥ भृगुवंशश्रेष्ठ मार्कण्डेयजी महान् योगसम्पत्ति पाकर अब भी श्रीभगवानमें अनन्यभावसे अनुरक्त होकर विचरा करते हैं ॥ ३९ ॥ बुद्धिमान् मार्कण्डेयजीने इस प्रकार जो भगवानकी मायाका अतिशय अद्भुत वैभवका अनुभव किया था, वह सब मैंने तुम्हें बता

एतत् केचिद् विद्वांसो मायासंसृतिमात्मनः । अनाद्यावर्तितं नृणां कादाचित्कं प्रचक्षते ॥४१॥
य एवमेतद् भृगुवर्य वर्णितं रथाङ्गपाणेरनुभावभावितम् ।
संश्रावयेत् संशृणुयादु तावुभौ तयोर्न कर्माशयसंसृतिर्भवेत् ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

———

एकादशोऽध्यायः

शौनक उवाच

अथेममर्थं पृच्छामो भवन्तं बहुवित्तमम् । समस्ततन्त्रराद्धान्ते भवान् भागवततत्त्ववित् ।१।
तान्त्रिकाः परिचर्यायां केवलस्य श्रियः पतेः । अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पं कल्पयन्ति यथा च यैः ।२।
तन्नो वर्णय भद्रं ते क्रियायोगं बुभुत्सताम् । येन क्रियानैपुणेन मर्त्यो यायादमर्त्यताम् ॥३॥

सूत उवाच

नमस्कृत्य गुरून् वक्ष्ये विभूतीर्वैष्णवीरपि । याः प्रोक्ता वेदतन्त्राभ्यामाचार्यैः पद्मजादिभिः ४
मायाद्यैर्नवभिस्तत्त्वैः स विकारमयो विराट् । निर्मितो दृश्यते यत्र सचित्के भुवनत्रयम् ॥५॥
एतद् वै पौरुषं रूपं भूः पादौ द्यौः शिरो नभः । नाभिः सूर्योऽक्षिणी नासे वायुः कर्णौ दिशः प्रभोः
प्रजापतिः प्रजननमपानो मृत्युरीशितुः । तद्बाहवो लोकपाला मनश्चन्द्रो भ्रुवो यमः ॥७॥
लज्जोत्तरोऽधरो लोभो दन्ता ज्योत्स्ना स्मयो भ्रमः । रोमाणि भूरुहा भूम्नो मेघाः पुरुषमूर्धजाः ॥८॥

दिया ॥ ४० ॥ हे मुनिराज ! यह भगवानकी विचित्र माया थी, परन्तु यह रहस्य न जाननेवाले बहुतेरे लोग भगवानको किसी समय मार्कण्डेयजीको दिखानेके निमित्त रची हुई मायिक लीलाको अनादि कालतक क्रमशः सात बार हुआ प्रलय बताते हैं ॥ ४१ ॥ हे भृगुश्रेष्ठ ! इस तरह वर्णन किये हुए भगवानके प्रभावसे प्रभावित वह चरित्र जो पुरुष सुनता तथा सुनाता है; उन दोनों ही को कर्म-वासनाओं द्वारा जन्ममरणरूपी संसार-चक्रकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४२ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(भगवानके अङ्ग-उपाङ्ग आयुध तथा प्रत्येक मासमें रहनेवाले सूर्यके गण) इतना सुनकर शौनकजी कहने लगे—हे परमभागवत सूतजी ! आप सब शास्त्रोंके सिद्धान्तविषयक गूढ़ तत्त्वके ज्ञाता हैं । अतएव बहुज्ञोंमें श्रेष्ठ आपसे हम यह बात जानना चाहते हैं ॥ १ ॥ हे सूत ! आपका कल्याण हो । पाञ्चरात्र तन्त्रशास्त्रके ज्ञानी लोग केवल श्रीलक्ष्मीपतिकी आराधना करनेमें जिन-जिन तत्त्वोंसे और जैसे-जैसे उनके चरण आदि अङ्ग, गरुड़ आदि उपाङ्ग, सुदर्शनादि आयुध और कौस्तुभादि आभूषणोंकी कल्पना करते हैं । वह सब हम इसलिए करते हैं कि क्रियायोगकी कुशलताके द्वारा मरणधर्मा मनुष्य अमरपद पा सकें ॥ २।३ ॥ श्रीसूतजी कहते हैं—हे मुने ! अब मैं अपने गुरुदेवको नमस्कार करके जिनका ब्रह्मा आदि आचार्योंने वेद तथा शास्त्रोंके द्वारा निरूपण किया है, उन विष्णुभगवानकी विभूतियोंका वर्णन कर रहा हूँ ॥ ४ ॥ भगवानके जिस चेतनाधिष्ठित विश्वरूपमें यह सारी त्रिलोकी दिखायी पड़ती है । सोलह विकारोंसे युक्त वह विराट् पुरुष प्रकृति आदि नौ तत्त्वोंसे बना है ॥ ५ ॥ यह सारा ब्रह्माण्ड उस विराट् पुरुषका ही स्वरूप है । उन महाप्रभुका चरण, पृथिवी स्वर्ग सिर, आकाश नाभि, सूर्य नयन, वायु नासिका तथा दिशाएँ कान हैं ॥ ६ ॥ ऐसे ही उन ईश्वरके प्रजापति उपस्थ, मृत्यु गुदा, सब लोकपाल भुजाएँ, चन्द्रमा मन तथा यमराज भौंहें है ॥ ७ ॥ उस भूमा प्रभुके ऊपरका होंठ लज्जा, नीचेका होंठ लोभ, चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना दाँत,

यावानयं वै पुरुषो यावत्या संस्थया मितः। तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया ॥९॥
कौस्तुभव्यपदेशेन स्वात्मज्योतिर्बिभर्त्यजः। तत्प्रभाव्यापिनीं साक्षात् श्रीवत्समुरसाविभुः१०
स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्। वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत् स्वरम्॥११॥
बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले। मौलिं पदं पारमेष्ठ्यं सर्वलोकाभयङ्करम् ॥१२॥
अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः। धर्मज्ञानादिभिर्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते ॥१३॥
ओजःसहोबलयुतं मुख्यतत्त्वं गदां दधत्। अपां तत्त्वं दरवरं तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम् ॥१४॥
नभोनिभं नभस्तत्त्वमसिं चर्म तमोमयम्। कालरूपं धनुः शार्ङ्गं तथा कर्ममयेषुधिम् ॥१५॥
इन्द्रियाणि शरानाहुराकूतीरस्य स्यन्दनम्। तन्मात्राण्यस्याभिव्यक्तिं मुद्रयार्थक्रियात्मताम्
मण्डलं देवयजनं दीक्षा संस्कार आत्मनः। परिचर्या भगवत आत्मनो दुरितक्षयः ॥१७॥
भगवान् भगशब्दार्थं लीलाकमलमुद्वहन्। धर्मं यशश्च भगवांश्चामरव्यजनेऽभजत् ॥१८॥
आतपत्रं तु वैकुण्ठं द्विजा धामाकुतोभयम्। त्रिवृद् वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम् ॥१९॥
अनपायिनी भगवती श्रीः साक्षादात्मनो हरेः। विष्वक्सेनस्तन्त्रमूर्तिर्विदितः पार्षदाधिपः।
नन्दादयोऽष्टौ द्वाःस्थाश्च तेऽणिमाद्या हरेर्गुणाः ॥२०॥
वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्। अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते॥२१॥
स विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः। अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते ॥२२॥

भ्रम मुसकान, सब वृक्ष रोमावली तथा मेघ केशकलाप हैं ॥ ८ ॥ हे शौनकजी ! जैसे यह पुरुष अपने परिमाणसे सात बालिश्तका होता है, वैसे ही वह महापुरुष भी लोकस्थितिके अनुसार अपनी नापसे सात बालिश्तका है ॥ ९ ॥ वे अजन्मा महाप्रभु अपनी विशुद्ध आत्मज्योतिको कौस्तुभ रूपसे तथा उसकी सर्वव्यापिनी प्रभाको श्रीवत्सरूपसे सर्वदा अपने वक्षःस्थलपर धारण किये रहते हैं॥१०॥ उन्होंने अपनी विविध गुणमयी मायाको वनमालारूपसे धारण कर रखा है। छन्दोमय आच्छादन-वस्त्र तथा त्रिवृत्स्वर अर्थात् ओंकाररूपी यज्ञोपवीत पहने हैं ॥ ११ ॥ वे देवदेव सांख्य तथा योगरूपी मकराकृति कुण्डल एवं सब लोकोंको अभय देनेवाला ब्रह्मपदरूपी मुकुट धारण किये हैं ॥ १२ ॥ अव्याकृत अर्थात् मूल प्रकृति ही उनकी अनन्त यानी शेषनागकी शय्या है, जिसपर वे बैठे हैं। धर्म-ज्ञानादिसे युक्त सत्त्वगुण ही उन भगवानका पद्म कहा जाता है ॥ १३ ॥ वे मानसिक, ऐन्द्रियिक तथा शारीरिक शक्तिसे युक्त प्राणतत्त्वरूपी गदा, जलतत्त्वरूपी शंख, तेजस्तत्त्वरूपी सुदर्शन चक्र, आकाशके सदृश नीलवर्ण आकाशतत्त्वरूपी खड्ग, अन्धकाररूपी चर्म अर्थात् ढाल, कालरूपी शार्ङ्ग-धनुष एवं कर्मरूपी तरकस धारण किये हैं ॥ १४॥१५ ॥ इसी तरह इन्द्रियोंको भगवानके बाण, क्रियाशक्तियुक्त मनको उनका रथ, तन्मात्राओंको उनके रथका बाहर दिखलायी देनेवाला भाग कहते हैं। अभय आदि मुद्राओंसे उनकी तदनुकूल क्रियाशीलताका लोग वर्णन किया करते हैं ॥ १६ ॥ सूर्य अथवा अग्निमण्डलको भगवानके पूजनका स्थान, चित्तकी शुद्धि को मन्त्रदीक्षा एवं अपने पापोंका नाश करनेके लिये भगवानकी सेवा समझे ॥ १७ ॥ हे द्विजो ! भगवानने 'भग शब्दके अर्थ-को ही अपना क्रीडाकमल बनाया है। धर्म और यशको चमर एवं व्यजनरूपसे तथा अपने निर्भय धाम बैकुण्ठको उन्होंने छत्ररूपसे धारण कर रखा है। वेदत्रयरूपी गरुड़ उन यज्ञपुरुषका वहन करता है ॥ १८ ॥ १९ ॥ चिद्रूपी परमात्मा श्रीहरिकी अविचल शक्ति ही भगवती लक्ष्मी है। भगवानके पार्षदोंके नायक सर्वत्र विख्यात विष्वक्सेन पाञ्चरात्र आदि आगमरूप हैं और अणिमादि आठ द्वारपाल कहे गये हैं ॥ २० ॥ हे ब्रह्मन् ! वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार मूर्तियोंसे भगवान स्वयं स्थित रहते हैं। अतएव वे इन चार व्यूहोंके रूपमें उपासनाके योग्य कहे गये हैं ॥ २१ ॥ वे ही विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीय—इन चार वृत्तियोंके द्वारा क्रमशः अर्थ यानी बाह्य विषय,

अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम् । बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः ॥२३॥

द्विजऋषभ स एष ब्रह्मयोनिः स्वयंदृक् स्वमहिमपरिपूर्णो मायया च स्वयैतत् ।
सृजति हरति पातीत्याख्ययानावृताक्षो विवृत इव निरुक्तस्तत्परैरात्मलभ्यः ॥२४॥

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीततीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान् ॥२५॥

य इदं कल्य उत्थाय महापुरुषलक्षणम् । तच्चित्तः प्रयतो जप्त्वा ब्रह्म वेद गुहाशयम् ॥२६॥

शौनक उवाच

शुको यदाह भगवान् विष्णुराताय शृण्वते । सौरो गणो मासि मासि नाना वसति सप्तकः ॥२७॥
तेषां नामानि कर्माणि संयुक्तानामधीश्वरैः । ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्यात्मनो हरेः ॥२८॥

सूत उवाच

अनाद्यविद्यया विष्णोरात्मनः सर्वदेहिनाम् । निर्मितो लोकतन्त्रोऽयं लोकेषु परिवर्तते ॥२९॥
एक एव हि लोकानां सूर्य आत्मादिकृद्धरिः । सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः ॥३०॥
कालो देशः क्रिया कर्ता करणं कार्यमागमः । द्रव्यं फलमिति ब्रह्मन् नवधोक्तोऽजया हरिः ॥३१॥
मध्वादिषु द्वादशसु भगवान् कालरूपधृक् । लोकतन्त्राय चरति पृथग् द्वादशभिर्गणैः ॥३२॥

इन्द्रिय, आशय तथा ज्ञानरूपसे ध्यानगम्य किये जाते हैं ॥ २२ ॥ इस तरह अङ्ग, उपाङ्ग, आयुध तथा आभूषणोंसे युक्त चतुर्व्यूहरूपी षडैश्वर्यसम्पन्न भगवान श्रीहरि चार स्वरूप धारण करते हैं ॥ २३ ॥ हे द्विजवर ! वे भगवान वेदोंके उत्पत्तिस्थान, स्वयंप्रकाशशील और अपनी महिमासे परिपूर्ण रहते हैं। वे अपनी मायासे ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव–इन नामोंको धारण करके इस संसारकी रचना, पालन तथा संहार करते हैं। कभी भी उनका ज्ञान आवृत नहीं होने आता। यह सब होते हुए भी शास्त्रोंमें भिन्नके समान उनका वर्णन किया गया है। किन्तु सच तो यह है कि अपने भक्तोंको वे आत्मस्वरूपसे ही प्राप्त होते हैं ॥२४॥ हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुनके मित्र ! हे वृष्णिश्रेष्ठ ! हे पृथिवीके भार-स्वरूप भूपालोंका वंश भस्म करनेवाले ! हे अक्षुण्णपराक्रमी ! हे गोविन्द ! हे गोपाङ्गनाओंके समूह तथा नारदादि भक्तोंके द्वारा कीर्तित पवित्र कीर्तिवाले ! हे श्रवणमङ्गल ! आप हम सेवकोंकी रक्षा करें ॥ २५ ॥ हे शौनकजी ! प्रातःकाल उठकर जो पुरुष स्नानादिसे पवित्र हो भगवानमें चित्त लगाकर परम पुरुष परमात्माके इस स्वरूपका वर्णन तथा जप करेगा, वह अनायास अपने अन्तःकरणमें विराजमान परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त कर लेगा ॥ २६ ॥ यह सुनकर शौनकजी कहने लगे—हे सूतजी ! राजा परीक्षित्को कथा सुनाते और राजाके श्रवण करते समय श्रीशुकदेवजीने जो पञ्चम स्कन्धमें हर मासमें बदलनेवाला सूर्य, ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा, यक्ष, राक्षस तथा देवताओंका सात-सात-का गण बतलाया था, सो अपने-अपने स्वामियों अर्थात् सूर्यों सहित उन सबके नाम और कर्म हमें बताइए। क्योंकि हमें सूर्यका स्वरूप तथा श्रीहरिके व्यूहका वर्णन सुननेकी उत्कट अभिलाषा है ॥ २७।२८ ॥ इसपर सूतजी कहने लगे–सब देहधारियोंके आत्मा भगवान विष्णुकी अनादि अविद्या-से रचित लोकोंको व्यवहारमें प्रवृत्त करनेवाला सूर्य सब लोकोंमें चक्कर लगाता रहता है ॥ २९ ॥ सब लोकोंके आत्मा तथा आदिकर्ता एकमात्र श्रीहरि ही सूर्य हैं। समस्त वैदिक क्रियाओंके मूल होने-से ऋषियोंने उन्हींके गुण अनेक प्रकारसे गाया है ॥ ३० ॥ हे ब्रह्मन् ! उन श्रीहरिकी मायाका उपाधि-के कारण ही काल, देश, क्रिया अर्थात् यज्ञादिका अनुष्ठान कर्ता, कारण, स्रुगादि कर्म, योगादि वेद-मन्त्र, द्रव्य और व्रीहि आदि फलरूपसे नौ प्रकारका वर्णन किया जा चुका है ॥ ३१ ॥ वे कालरूप-धारी सूर्यभगवान लोकयात्राकी प्रवृत्तिके निमित्त चैत्रादि बारह महीनोंमें अपने भिन्न-भिन्न बारह गणों-

धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने । पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ॥३३॥
अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जिकस्थली । नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम् ॥३४॥
मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः । रथस्वप्न इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी ॥३५॥
वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्यस्तथा हुहूः । शुक्रश्चित्रस्वनश्चैव शुचिमासं नयन्त्यमी ॥३६॥
इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिराः । प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी ॥३७॥
विवस्वानुग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः । अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी ३८
पूषा धनञ्जयो वातः सुषेणः सुरुचिस्तथा । घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी ॥३९॥
क्रतुर्वर्चा भरद्वाजः पर्जन्यः सेनजित्तथा । विश्व ऐरावतश्चैव तपस्याख्यं नयन्त्यमी ॥४०॥
अथांशुः कश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी । विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खः सहोमासं नयन्त्यमी ॥४१॥
भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चमः । कर्कोटकः पूर्वचित्तिः पुष्यमासं नयन्त्यमी ॥४२॥
त्वष्टा ऋचीकतनयः कम्बलश्च तिलोत्तमा । ब्रह्मापेतोऽथ शतजिद् धृतराष्ट्र इषम्भराः ॥४३॥
विष्णुरश्वतरो रम्भा सूर्यवर्चाश्च सत्यजित् । विश्वामित्रो मखापेत ऊर्जमासं नयन्त्यमी ॥४४॥
एता भगवतो विष्णोरादित्यस्य विभूतयः । स्मरतां सन्ध्ययोर्नॄणां हरन्त्यंहो दिने दिने ॥४५॥
द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौ षड्भिरस्य वै । चरन् समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मतिम् ॥४६॥
सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैर्ऋषयः संस्तुवन्त्यमुम् । गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः ॥४७॥

के साथ घूमते हैं ॥ ३२ ॥ हे शौनक ! धातानामके सूर्य, कृतस्थली नामकी अप्सरा, हेति नामक राक्षस, वासुकि नामक सर्प, रथकृतनामा यक्ष, पुलस्त्य ऋषि और तुम्बुरु गन्धर्व—ये अपना काम करते हुए चैत्र मास बिताते हैं ॥ ३३ ॥ इसी तरह अर्यमा सूर्य, पुलह ऋषि, अथौजा यक्ष, प्रहेति राक्षस, पुञ्जिकस्थली अप्सरा, नारद गन्धर्व तथा कच्छनीर सर्प, ये अपने-अपने कार्यमें तत्पर रहते हुए वैशाख मास बिताते हैं ॥ ३४ ॥ मित्रनामक सूर्य, अत्रि ऋषि, पौरुषेय राक्षस, तक्षक सर्प, मेनका नाम्नी अप्सरा, हाहा गन्धर्व और रथस्वन नामका यक्ष ज्येष्ठ मास बिताते हैं ॥ ३५ ॥ वशिष्ठ ऋषि, वरुणनामक सूर्य, रम्भा अप्सरा, सहजन्य यक्ष, हूहू गन्धर्व, शुक्र नाग एवं चित्रस्वन राक्षस ये लोग आषाढ़ मास व्यतीत करते हैं ॥ ३६ ॥ इन्द्रनामक सूर्य, विश्वावसु गन्धर्व, श्रोता यक्ष, एलापत्र नाग, अङ्गिरा ऋषि, प्रम्लोचा नाम्नी अप्सरा एवं वर्य राक्षस—ये श्रावण मास बिताते हैं ॥ ३७ ॥ इसी प्रकार विवस्वान्नामक सूर्य, उग्रसेन गन्धर्व, व्याघ्र राक्षस, असाधारण यक्ष, भृगु ऋषि, अनुम्लोचा अप्सरा एवं शंखपाल नाग भाद्रपद मासको व्यतीत करते हैं ॥ ३८ ॥ इसी तरह पूषानामके सूर्य, धनञ्जय नाग, वात राक्षस, सुषेण गन्धर्व, सुरुचि यक्ष, घृताची अप्सरा एवं गौतम ऋषि माघ मासको व्यतीत करते हैं ॥ ३९ ॥ क्रतुनामका यक्ष, वर्चा राक्षस, भरद्वाज ऋषि, पर्जन्यनामक सूर्य, सेनजित् नामकी अप्सरा, विश्व गन्धर्व और ऐरावत गजराज ये फाल्गुन मासको व्यतीत करते हैं ॥ ४० ॥ अंशुनामका सूर्य, कश्यप ऋषि, तार्क्ष्य यक्ष, ऋतसेन गन्धर्व, उर्वशी अप्सरा, विद्युच्छत्रु राक्षस तथा महाशंख नाग मार्गशीर्ष मासका निर्वाह करते हैं ॥ ४१ ॥ भगनामके सूर्य, स्फूर्ज राक्षस, अरिष्टनेमि गन्धर्व, ऊर्ण यक्ष, आयु ऋषि, कर्कोटक नाग तथा पूर्वचित्ति अप्सरा पौष मासकी समाप्ति करते हैं ॥४२॥ इसी तरह त्वष्टा नामके सूर्य, जमदग्नि ऋषि, कम्बल नाग, तिलोत्तमा अप्सरा, ब्रह्मापेत राक्षस, शतजित् यक्ष तथा धृतराष्ट्र गन्धर्व आश्विन मासका अन्त करते हैं ॥ ४३ ॥ विष्णुनामके सूर्य, अश्वतर नाग, रम्भा अप्सरा, सूर्यवर्चा गन्धर्व, सत्यजित् यक्ष, विश्वामित्र ऋषि तथा मखापेत राक्षस—ये कार्तिक मासको व्यतीत करते हैं ॥ ४४ ॥ हे मुने ! ये सूर्यरूपी भगवान विष्णुकी विभूतियाँ कही गयी हैं। ये प्रतिदिन दोनों सन्ध्याके समय अपना स्मरण करनेवाले पुरुषोंके सब पाप नष्ट कर दिया करती हैं ॥ ४५ ॥ ये सूर्यदेव अपने छ गणोंके साथ बारहों मासोंमें सर्वदा विचरते हुए इस लोक

उन्नह्यन्ति रथं नागा ग्रामण्यो रथयोजकाः । चोदयन्ति रथं पृष्ठे नैर्ऋता बलशालिनः ॥४८॥
बालखिल्याः सहस्राणि षष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः । पुरतोऽभिमुखं यान्ति स्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम् ४९
एवं ह्यनादिनिधनो भगवान् हरिरीश्वरः । कल्पे कल्पे स्वमात्मानं व्यूह्य लोकानवत्यजः ५०

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे आदित्यव्यूहविवरणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

सूत उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे । ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्ये सनातनान् १
एतद् वः कथितं विप्रा विष्णोश्चरितमद्भुतम् । भवद्भिर्यदहं पृष्टो नराणां पुरुषोचितम् ॥२॥
अत्र सङ्कीर्तितः साक्षात् सर्वपापहरो हरिः । नारायणो हृषीकेशो भगवान् सात्वतां पतिः॥३॥
अत्र ब्रह्म परं गुह्यं जगतः प्रभवाप्ययम् । ज्ञानं च तदुपाख्यानं प्रोक्तं विज्ञानसंयुतम् ॥४॥
भक्तियोगः समाख्यातो वैराग्यं च तदाश्रयम् । पारीक्षितमुपाख्यानं नारदाख्यानमेव च ॥५॥
प्रायोपवेशो राजर्षेर्विप्रशापात् परीक्षितः । शुकस्य ब्रह्मर्षभस्य संवादश्च परीक्षितः ॥६॥
योगधारणयोत्क्रान्तिः संवादो नारदाजयोः । अवतारानुगीतं च सर्गः प्राधानिकोऽग्रतः ॥७॥
विदुरोद्धवसंवादः क्षत्तृमैत्रेययोस्ततः । पुराणसंहिताप्रश्नो महापुरुषसंस्थितिः ॥८॥

तथा परलोकमें सुमतिको विस्तृत करते हैं ॥ ४६ ॥ सभी ऋषि सूर्यकी प्रतिपादिका साम, ऋक् तथा यजुर्वेदकी श्रुतियोंसे इसकी स्तुति किया करते हैं। गन्धर्व उनका सुयश गाते और अप्सरायें उनके सामने नाचती हैं ॥ ४७ ॥ नागगण रथको मजबूतीसे बाँधते हैं, यक्ष रथमें साज लगाते और बलशाली राक्षस रथको पीछेसे ढकेलते हैं ॥ ४८ ॥ बालखिल्य नामके साठ हजार निर्मल स्वभाववाले ब्रह्मर्षि सूर्यके अभिमुख होकर उनके आगे-आगे चलते और स्तोत्रोंके द्वारा भगवानकी स्तुति करते हैं ॥ ४९ ॥ इस प्रकार आद्यन्तविहीन तथा अजन्मा भगवान हरि कल्प-कल्पमें स्वयं अपना विभाग करके सब लोगोंको पालते हैं ॥ ५० ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(श्रीमद्भागवतोक्त विषयोंकी संक्षिप्त अनुक्रमणी) श्रीसूतजी कहने लगे–हरिभक्तिरूपी महामहिम धर्मको नमस्कार है। जगत्कर्ता भगवान कृष्णको भी नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातन धर्म कहता हूँ ॥ १ ॥ हे विप्रो ! आपलोगोंने मुझसे जो पूछा था, तदनुसार मैंने भगवान विष्णुका मनुष्योंके पुरुषार्थसाधनस्वरूप यह अति अद्भुत चरित्र कह सुनाया ॥ २ ॥ इसमें सब पाप दूर करनेवाले, इन्द्रियोंके रचयिता, भक्तप्रतिपालक, साक्षात् भगवान नारायण श्रीहरिका ही कीर्तन किया गया है॥३॥ अब प्रथम स्कन्धके विषय बतलाते हुए कहते हैं कि इस स्कन्धमें संसारकी उत्पत्ति तथा प्रलयके स्थान निर्गुण परब्रह्म तथा उनका साक्षात्कार करानेवाले अपरोक्षज्ञान सहित तत्त्वज्ञानका निरूपण वर्णित है। उसके आश्रित वैराग्य तथा परीक्षित्की कथा एवं नारदाख्यानका वर्णन किया गया है ॥ ४॥ ५ ॥ इसके बाद ब्राह्मणके शापके कारण राजर्षि परीक्षित् और ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ शुकदेवजीका संवाद वर्णित है ॥ ६॥ दूसरे स्कन्धमें योगधारणके द्वारा ऊर्ध्वलोकोंकी प्राप्ति, नारद तथा ब्रह्माजीका संवाद, अवतारोंके चरित्र तथा महदादि क्रमके अनुसार प्रधानसे उत्पन्न सृष्टिका वर्णन किया गया है ॥ ७॥ तृतीय स्कन्धमें विदुर और उद्धवजीका संवाद, विदुर तथा मैत्रेयजीका संवाद, पुराणसंहिताके विषयमें प्रश्न, प्रलयकालमें परमात्माकी स्थिति,

ततः प्राकृतिकः सर्गः सप्त वैकृतिकाश्च ये । ततो ब्रह्माण्डसम्भूतिर्वैराजः पुरुषो यतः ॥९॥
कालस्य स्थूलसूक्ष्मस्य गतिः पद्मसमुद्भवः । भुव उद्धरणेऽम्भोधेर्हिरण्याक्षवधो यथा ॥१०॥
ऊर्ध्वतिर्यगवाक्सर्गो रुद्रसर्गस्तथैव च । अर्धनारीनरस्याथ यतः स्वायम्भुवो मनुः ॥११॥
शतरूपा च या स्त्रीणामाद्या प्रकृतिरुत्तमा । सन्तानो धर्मपत्नीनां कर्दमस्य प्रजापतेः ॥१२॥
अवतारो भगवतः कपिलस्य महात्मनः । देवहूत्याश्च संवादः कपिलेन च धीमता ॥१३॥
नवब्रह्मसमुत्पत्तिर्दक्षयज्ञविनाशनम् । ध्रुवस्य चरितं पश्चात् पृथोः प्राचीनबर्हिषः ॥१४॥
नारदस्य च संवादस्ततः प्रैयव्रतं द्विजाः । नाभेस्ततोऽनु चरितमृषभस्य भरतस्य च ॥१५॥
द्वीपवर्षसमुद्राणां गिरिनद्युपवर्णनम् । ज्योतिश्चक्रस्य संस्थानं पातालनरकस्थितिः ॥१६॥
दक्षजन्म प्रचेतोभ्यस्तत्पुत्रीणां च संततिः । यतो देवासुरनरास्तिर्यङ्नगखगादयः ॥१७॥
त्वाष्ट्रस्य जन्म निधनं पुत्रयोश्च दितेर्द्विजाः । दैत्येश्वरस्य चरितं प्रह्लादस्य महात्मनः ॥१८॥
मन्वन्तरानुकथनं गजेन्द्रस्य विमोक्षणम् । मन्वन्तरावताराश्च विष्णोर्हयशिरादयः ॥१९॥
कौर्मं धान्वन्तरं मात्स्यं वामनं च जगत्पते । क्षीरोदमथनं तद्वदमृतार्थे दिवौकसाम् ॥२०॥
देवासुरमहायुद्धं राजवंशानुकीर्तनम् । इक्ष्वाकुजन्म तद्वंशः सुद्युम्नस्य महात्मनः ॥२१॥
इलोपाख्यानमत्रोक्तं तारोपाख्यानमेव च । सूर्यवंशानुकथनं शशादाद्या नृगादयः ॥२२॥
सौकन्यं चाथ शर्यातेः ककुत्स्थस्य च धीमतः । खट्वाङ्गस्य च मान्धातुः सौभरेः सगरस्य च ॥२३॥
रामस्य कोसलेन्द्रस्य चरितं किल्बिषापहम् । निमेरङ्गपरित्यागो जनकानां च संभवः ॥२४॥

॥ ८ ॥ गुणक्षोभरूपी प्राकृत सर्ग, महत्तत्त्वादि सात विकृति, उनसे उत्पन्न सृष्टि तथा जिसमें विराट्-पुरुष व्याप्त है, उस ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका विवरण है ॥ ९ ॥ स्थूल-सूक्ष्म कालका रूप, पद्मकी उत्पत्ति, पृथिवीको समुद्रसे निकालते समय जैसे हिरण्याक्षका वध किया गया था वह वृत्तान्त, ऊर्ध्व अर्थात् देवता, तिर्यक् अर्थात् पशु-पक्षी आदि और अवाक्-सर्ग यानी मनुष्योंकी उत्पत्ति, रुद्रसर्ग और जिसके द्वारा स्वायम्भुव मनु तथा स्त्रियोंकी अत्युत्तम आद्या प्रकृति शतरूपाका जन्म हुआ था-उस अर्धनारीनरस्वरूपकी उत्पत्ति, कर्दम प्रजापतिका चरित्र, उनके द्वारा मुनियोंकी धर्म-पत्नियोंका जन्म, महात्मा भगवान कपिलका अवतार, मतिमान् कपिल तथा देवहूतिका संवाद एवं मरीचि आदि प्रजापतियोंकी उत्पत्ति, दक्षप्रजापतिके यज्ञका विध्वंस, ध्रुवचरित्र पृथु और प्राचीनबर्हिषकी कथा एवं नारदजीका संवाद, ये विषय चतुर्थस्कन्धमें कहे गये हैं। प्रियव्रतका उपाख्यान, नाभि, ऋषभ और भरतके चरित्र, द्वीप, वर्ष, समुद्र, पर्वत तथा नदियोंका वर्णन, ज्योतिश्चक्रका विस्तार एवं पाताल तथा नरककी स्थिति—ये सब विषय पञ्चमस्कन्धके हैं ॥१०-१६॥ हे विप्रों ! षष्ठस्कन्धमें प्रचेताओंके द्वारा दक्षका जन्म, उनकी पुत्रियोंकी सन्तति, उनसे देवता, असुर, मनुष्य, तिर्यक्, पर्वत और पक्षी आदिका जन्म, वृत्रासुरके जन्म तथा निधानका वृत्तान्त वर्णित है। सप्तम स्कन्धमें दितिके पुत्र हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष एवं दैत्यराज महात्मा प्रह्लादका चरित्र वर्णित है ॥ १७ ॥ १८ ॥ अष्टम स्कन्धमें चौदहों मन्वन्तरोंकी कथा, गजेन्द्रका मोक्ष, विभिन्न मन्वन्तरोंमें होनेवाले जगत्पति भगवान विष्णुके कूर्म, मत्स्य, नृसिंह, वामन तथा हयग्रीव आदि अवतार, अमृत पीनेके लिये देवताओं और दैत्यों द्वारा समुद्रमन्थन तथा देवासुरसंग्राम वर्णित है। नवमस्कन्धमें राजवंशोंका वर्णन, इक्ष्वाकुका जन्म, उनका वंश, महात्मा सुद्युम्नका चरित्र और इला तथा ताराके चरित्र कहे गये हैं। इसीमें सूर्यवंशका वृत्तान्त, शशाद तथा नृग आदि नृपतियोंका वर्णन, सुकन्याका चरित्र, शर्याति, ककुत्स्थ, खट्वाङ्ग, मान्धाता, सौभरि, सगर एवं कोसलेन्द्र भगवान रामका पापनाशक चरित्र वर्णित है। तदनन्तर निमिका

रामस्य भार्गवेन्द्रस्य निःक्षत्रकरणं भुवः । ऐलस्य सोमवंशस्य ययातेर्नहुषस्य च ॥२५॥
दौष्यन्तेर्भरतस्यापि शन्तनोस्तत्सुतस्य च । ययातेर्ज्येष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशोऽनुकीर्तितः ॥२६॥
यत्रावतीर्णो भगवान् कृष्णाख्यो जगदीश्वरः । वसुदेवगृहे जन्म ततो वृद्धिश्च गोकुले ॥२७॥
तस्य कर्माण्यपाराणि कीर्तितान्यसुरद्विषः । पूतनासुपयःपानं शकटोच्चाटनं शिशोः ॥२८॥
तृणावर्तस्य निष्पेषस्तथैव बकवत्सयोः । धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य च संक्षयः ॥२९॥
गोपानां च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः । दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम् ॥३०॥
व्रतचर्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः । प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणां चानुतापनम् ॥३१
गोवर्धनोद्धारणं च शक्रस्य सुरभेरथ । यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीडा च रात्रिषु ॥३२॥
शङ्खचूडस्य दुर्बुद्धेर्वधोऽरिष्टस्य केशिनः । अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्णयोः ॥३३॥
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरालोकनं ततः । गजमुष्टिकचाणूरकंसादीनां च यो वधः ॥३४॥
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः । मथुरायां निवसता यदुचक्रस्य यत् प्रियम् ।
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः ॥ ३५ ॥
जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो वधः । घातनं यवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम् ॥३६॥
आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात् । रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः ॥३७॥
हरस्य जृम्भणं युद्धे बाणस्य भुजकृन्तनम् । प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणं च यत् ३८
चैद्यपौण्ड्रकशाल्वानां दन्तवक्त्रस्य दुर्मतेः । शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः ॥३९॥

देहत्याग, जनकोंकी उत्पत्ति, ॥ १९–२४ ॥ परशुरामजीका पृथिवीको क्षत्रियहीन करना, चन्द्रवंशमें उत्पन्न पुरूरवा, ययाति, नहुष, भरत, शन्तनु तथा उनके पुत्र भीष्मका वृत्तान्त वर्णित है। इसीमें ययातिके ज्येष्ठ पुत्र यदुके वंशका भी वृत्तान्त वर्णित है, जिसमें भगवान जगदीश्वर 'कृष्ण' नामसे अवतीर्ण हुए और वसुदेवजीके घरमें जन्म लेकर गोकुलमें बढ़े थे ॥ २५–२७ ॥ दशम स्कन्धमें असुरोंके द्वेषी भगवान कृष्णके अपार कर्म वर्णित हैं। पूतनाके प्राणरूपी दुग्ध पीना, शैशवकालमें ही छकड़ा उलट देना, ॥ २८ ॥ तृणावर्तको चूर्ण करना, बकासुर, वत्सासुर तथा बन्धुओं समेत धेनुकासुर एवं प्रलम्बासुरको मारना, ॥ २९ ॥ चारों ओरसे बढ़ते हुए दावानलसे गोपोंको बचाना, कालियनागका दमन करना, नन्दजीको अजगरके मुखसे छुड़ाना ॥ ३० ॥ गोपकन्याओंका कात्यायनीव्रत करना, उनके यम-नियमादिसे श्रीअच्युतका प्रसन्न होना, यज्ञपत्नियोंपर भगवानकी कृपा होना और ब्राह्मणोंका पश्चात्ताप वर्णित है ॥ ३१ ॥ गोवर्धनोद्धार, इन्द्र तथा कामधेनुके द्वारा किये हुए कृष्णचन्द्रके पूजन, अभिषेक तथा रात्रिको गोपाङ्गनाओंके साथ रासक्रीड़ाका वर्णन है ॥ ३२ ॥ दुर्बुद्धि शंखचूड़, अरिष्टासुर एवं केशीका वध, अक्रूरका व्रजमें आगमन, बलराम और कृष्णचन्द्रका मथुराको प्रस्थान, ॥ ३३ ॥ व्रजकी गोपियोंका विलाप, भगवान द्वारा मथुरा नगरीका अवलोकन, कुवलयापीड हाथी, मुष्टिक एवं चाणूरादि मल्ल तथा कंसका वध और गुरु सान्दीपनिके मृतपुत्रको यमलोकसे वापस ले आनेका वृत्तान्त वर्णित है ॥ ३४ ॥ हे द्विजगण ! मथुरामें रहते समय उद्धव तथा बलरामजीके साथ भगवानने यदुवंशका जो-जो प्रिय कार्य किया था, वह सब वर्णित है ॥ ३५ ॥ तदुपरान्त जरासन्धकी सेनाका कई बार वध, कालयवनको मरवाना, द्वारकापुरी बसाना, ॥ ३६ ॥ स्वर्गसे कल्पवृक्ष तथा सुधर्मा सभा ले आना, युद्धमें शत्रुओंको मारकर श्रीकृष्णका रुक्मिणीको हरना, ॥ ३७ ॥ उषाहरणके अवसरपर युद्धमें श्री महादेवजीका जमुहाई लेने लगना और भगवानका बाणासुरकी भुजाओंको काटना, प्राग्ज्योतिषपुरके प्रभु भौमासुरको मारकर सोलह हजार कन्याओंका हर ले आना ॥ ३८ ॥ शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व एवं दुर्बुद्धि, दन्तवक्त्र, शम्ब-

माहात्म्यं च वधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम् । भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान् ॥४०॥
विप्रशापापदेशेन संहारः स्वकुलस्य च । उद्धवस्य च संवादो वासुदेवस्य चाद्भुतः ॥४१॥
यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता धर्मविनिर्णयः । ततो मर्त्यपरित्याग आत्मयोगानुभावतः ॥४२॥
युगलक्षणवृत्तिश्च कलौ नृणामुपप्लवः । चतुर्विधश्च प्रलय उत्पत्तिस्त्रिविधा तथा ॥४३॥
देहत्यागश्च राजर्षेर्विष्णुरातस्य धीमतः । शाखाप्रणयनमृषेर्मार्कण्डेयस्य सत्कथा ।
महापुरुषविन्यासः सूर्यस्य जगदात्मनः ॥ ४४ ॥
इति चोक्तं द्विजश्रेष्ठा यत् पृष्टोऽहमिहास्मि वः । लीलावतारकर्माणि कीर्तितानीह सर्वशः ॥४५॥
पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् । हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥४६॥

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् ।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः ॥४७॥
मृषा गिरस्ता ह्यसतीरसत्कथा न कथ्यते यद् भगवानधोक्षजः ।
तदेव सत्यं तदु हैव मङ्गलं तदेव पुण्यं भगवद्गुणोदयम् ॥४८॥
तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥४९॥
न तद् वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित् ।
तद् ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः ॥५०॥

रासुर, द्विविद, पीठ, मुर तथा पञ्चजन आदि असुरोंका प्रभाव और उनका वध, काशीको जलाना एवं पाण्डवोंको निमित्त बनाकर पृथिवीका भार उतारना, ये विषय दशम स्कन्धमें वर्णित हैं ॥ ३९ ॥ ४० ॥ एकादश स्कन्धमें विप्रशापके बहाने अपने कुलका संहार कराना और भगवान कृष्ण तथा उद्धवका अतिशय अद्भुत संवाद वर्णित है ॥ ४१ ॥ इसमें सारी आत्मविद्या एवं धर्मके निर्णयका निरूपण किया गया है। फिर अपने योगबलसे भगवानका यह मर्त्यलोक त्यागना वर्णित है ॥ ४२ ॥ द्वादश स्कन्धमें युगोंके लक्षण, उनके अनुसार कलियुगमें लोगोंकी विपरीत गति, चार तरहका प्रलय, प्राकृतिकी, नैमित्तिकी तथा नित्या, यह तीन प्रकारकी उत्पत्ति वर्णित है ॥ ४३ ॥ बुद्धिमान राजर्षि परीक्षित्का देहत्याग, व्यासजीके द्वारा किये हुए वैदिक शाखाओंका विस्तार मार्कण्डेयजीकी सुन्दर कथा, परमात्माके अङ्गोपाङ्गोंकी कल्पना तथा जगदात्मा सूर्यनारायणके व्यूह, इन सबका वर्णन है ॥ ४४ ॥ हे द्विजश्रेष्ठ ! आपलोगोंने मुझसे जो पूछा, वह सब मैंने कह सुनाया। इस प्रश्नोत्तरमें भगवानके सब लीलावतारोंमें किये कर्मोंका ही कीर्तन किया गया है ॥ ४५ ॥ यदि कोई भी मनुष्य गिरते, ठोकर खाते, दुःखपीड़ित होते अथवा छींकते हुए भी विवशभावसे उच्चस्वरमें 'हरये नमः' ऐसा कहता है तो वह सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ४६ ॥ जैसे सूर्य अन्धकारको तथा प्रचण्ड वायु मेघमालाको छिन्न-भिन्न कर डालता है, वैसे ही भगवान अनन्तका कीर्तन तथा उनके प्रभावको सुननेपर वे श्रीहरि उन लोगोंके हृदयोंमें प्रविष्ट होकर उनके सब दुःख दूर कर देते हैं ॥४७॥ जिस वाणीसे भगवान अधोक्षजका गुण न गाया जाय, वह वाणी भी मिथ्या ही है। जिस वचनसे भगवान श्रीकृष्णचन्द्रके गुणोंका उदय होता है, वही वाणी सत्य, परम मङ्गलमयी तथा परम पवित्र मानी जाती है ॥ ४८ ॥ जिसमें भगवान उत्तमश्लोकका सुयश गाया जाय वही वचन सुन्दर, नित्य नूतन, मनको निरन्तर आनन्दित करनेवाला एवं मनुष्योंके शोकसमुद्रका शोषक होता है ॥४९॥ जिसमें संसारको पवित्र करनेवाला श्रीहरिका सुयश तनिक भी नहीं गाया गया हो, वह वचन

स वाग्विसर्गो जनताघसम्प्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥५१॥
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् ॥५२॥
यशःश्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥५३॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥५४॥
यूयं द्विजाग्र्या बत भूरिभागा यच्छश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम् ।
नारायणं देवमदेवमीशमजस्रभावा भजताविवेश्य ॥५५॥
अहं च संस्मारित आत्मतत्त्वं श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् ।
प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः सदस्यृषीणां महतां च शृण्वताम् ॥५६॥
एतद् वः कथितं विप्राः कथनीयोरुकर्मणः । माहात्म्यं वासुदेवस्य सर्वाशुभविनाशनम् ॥५७॥
य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः । श्रद्धावान् योऽनुशृणुयात् पुनात्यात्मानमेव सः ५८
द्वादश्यामेकादश्यां वा शृण्वन्नायुष्यवान् भवेत् । पठत्यनश्नन् प्रयतस्ततो भवत्यपातकी ॥५९॥

कितना ही विचित्र पदोंसे विभूषित हो तो भी वह केवल कालरूपी नीच पुरुषों द्वारा सेवित तीर्थके सदृश है। हंसरूपी ज्ञानी पुरुष उसका सेवन नहीं करते। निर्मल स्वभावके साधुजन तो वहीं रहते हैं, जहाँ श्रीअच्युतके गुणोंका वर्णन होता रहता है ॥ ५० ॥ जिसके हर श्लोक, चाहे उसकी रचना सुसम्बद्ध न भी हो, श्रीअनन्तके सुयशसे युक्त रहते हैं, वह वाक्यरचना लोगोंके पापपुञ्ज नष्ट करनेवाली हुआ करती है और साधुपुरुष उसीको सुनते, गाते तथा कहते हैं ॥ ५१ ॥ सर्वथा निष्काम एवं पूर्ण आत्मज्ञान होते हुए भी यदि भगवद्भक्तिसे हीन हो तो वह प्राणी शोभा नहीं पाता। जिसका फल भगवानको अर्पित नहीं किया जाता वह कर्म चाहे कितना भी उत्तम क्यों न हो, शोभा नहीं पाता। क्योंकि वह सदा दुःखमय हुआ करता है ॥ ५२ ॥ वर्णाश्रमधर्मका पालन, तप तथा शास्त्रश्रवणादिमें जो घोर परिश्रम किया जाता है, उससे केवल यश और श्री ही मिलती है। किन्तु भगवान श्रीधरके चरणकमलोंकी सतत स्मृति तो भगवानके गुणानुवादके श्रवण-कीर्तन आदिसे ही रह सकती है—अन्यथा नहीं ॥ ५३ ॥ वह श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी सर्वदा रहनेवाली स्मृति सभी अमङ्गलोंका नाश कर देती है। वह शान्तिका विस्तार करती तथा चित्तशुद्धि, ईश्वरभक्ति एवं सानुभव ज्ञान तथा वैराग्य सहित तत्त्वज्ञान प्राप्त करा देती है ॥ ५४ ॥ हे विप्रवर ! आप बड़े भाग्यवान् हैं। क्योंकि आप सब देवताओंको त्यागकर उन सर्वनियन्ता, सर्वात्मा, श्रीनारायणको दृढ़तासे अपने अन्तःकरणमें स्थापित करके भक्तिभावसे उनका सदा भजन किया करते हैं ॥ ५५ ॥ आपने मुझे भी उस आत्मतत्त्वका स्मरण करा दिया, जो मैंने पूर्वसमयमें अनशन करते हुए राजा परीक्षित्‌की सभामें सुननेवाले महर्षियोंके समक्ष परमर्षि श्रीशुकदेवजीके मुखसे सुना था ॥ ५६ ॥ हे विप्रो ! जिनके उदार कर्म अतिशय कथनीय हैं, उन भगवान वासुदेवका सब अशुभोंका नष्ट कर देनेवाला माहात्म्य मैंने तुमसे कहा है ॥ ५७ ॥ जो पुरुष इसको एक प्रहर तथा एक क्षण भी अनन्य चित्तसे सुनाता तथा श्रद्धाके साथ सुनता है, वह अवश्य अपना चित्त पवित्र कर लेता है ॥ ५८ ॥ द्वादशी तथा एकादशीको इसे सुननेसे पुरुष दीर्घायु होता और यदि

पुष्करे मथुरायां च द्वारवत्यां यतात्मवान् । उपोष्य संहितामेतां पठित्वा मुच्यते भयात् ॥६०॥
देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः । यच्छन्ति कामान् गृणतः शृण्वतो यस्य कीर्तनात् ॥
ऋचो यजूंषि सामानि द्विजोऽधीत्यानुविन्दते । मधुकुल्या घृतकुल्याः पयःकुल्याश्च तत् फलम् ॥
पुराणसंहितामेतामधीत्य प्रयतो द्विजः । प्रोक्तं भगवता यत्तु तत् पदं परमं व्रजेत् ॥६३॥
विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् । वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्ध्येत पातकात् ६४

कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम् ।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्तिः परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसङ्गैः ॥६५॥

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम् ।
द्युपतिभिरजशक्रशङ्करायैर्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि ॥६६॥

उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मन्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय ।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने सुरऋषभाय नमः सनातनाय ॥६७॥

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥६८॥

इति श्रीमद्भागवते पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे द्वादशस्कन्धार्थनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

———

संयमपूर्वक निराहार रहकर इसका पाठ करे, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ ५९ ॥ इस संहिताका पुष्कर, मथुरा तथा द्वारकापुरीमें जितेन्द्रिय हो उपवास करता हुआ पाठ करे तो मनुष्य सब तरहके भयसे मुक्त हो जाता है ॥ ६० ॥ इसका संकीर्तन करनेसे देवता, मुनि, सिद्ध, पितर, मनुष्य तथा सब राजे इस ग्रन्थका कथन तथा श्रवण करनेवाले पुरुषको उसके सभी मनचाहे पदार्थ दे देते हैं ॥ ६१ ॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेदके पढ़नेपर विप्रको क्रमशः मधुकुल्या अर्थात् मधुकी नदी, घृतकुल्या और पयःकुल्याकी प्राप्तिकी बात कही गयी है, वह सब फल इसके अध्ययनसे ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६२ ॥ हे विप्रो ! इस पुराणसंहिताको एकाग्रचित्तसे पढ़कर पुरुष वह परम पद पा लेता है, जिसका साक्षात् भगवानने कथन किया है ॥ ६३ ॥ इसका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणको बुद्धिकी, क्षत्रियोंको समुद्रपर्यन्त पृथिवीकी तथा वैश्यको कोषाधिपत्यकी प्राप्ति होती है और शूद्र पापोंसे छुटकारा पा जाता है । इस श्रीमद्भागवतके सिवाय अन्य ग्रन्थोंमें कलिकलुषसमूहको नष्ट करनेवाले श्रीकृष्णका बारम्बार गुणगान नहीं किया गया है, किन्तु इसमें तो पद-पदपर प्रत्येक कथाके प्रसङ्गमें भगवान विश्वमूर्तिका ही वर्णन है ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयकारी रजोगुण आदि जिनकी शक्तियाँ हैं, ब्रह्मा, इन्द्र एवं महादेव आदि देवलोकाधिपति भी जिनका माहात्म्य पूर्णरूपसे नहीं जानते, उन अजन्मा तथा अनन्त आत्मतत्त्वरूपी श्रीअच्युतको मेरा नमस्कार है ॥ ६६ ॥ जिन भगवानने अपनेहीमें बुद्धिको प्राप्त प्रकृति आदिमें नौ शक्तियोंसे स्थावर-जङ्गमके आश्रमरूप इस जगत्की रचना की है, उन एकमात्र ज्ञानस्वरूप देवप्रवर सनातन पुरुषको नमस्कार है ॥ ६७ ॥ जिन्होंने अपने आत्मानन्दमें डूबकर सब भेदभावको सर्वथा त्याग दिया था, भगवानकी सुन्दर लीलाओंसे जिनकी स्थिरता आकृष्ट हो गयी थी और लोगोंपर कृपा करके जिन्होंने इस परमार्थप्रकाशक श्रीभागवत महापुराणको प्रकाशित किया, उन सर्वपापहारी व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीको मेरा नमस्कार है ॥ ६८ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे भाषाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सूत उवाच

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ १ ॥

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥ २ ॥

पुराणसंख्यासंभूतिमस्य वाच्यप्रयोजने । दानं दानस्य महात्म्यं पाठादेश्च निबोधत ॥३॥
ब्राह्मं दश सहस्राणि पाद्मं पञ्चोनषष्टि च । श्रीवैष्णवं त्रयोविंशच्चतुर्विंशति शैवकम् ॥४॥
दशाष्टौ श्रीभागवतं नारदं पञ्चविंशतिः । मार्कण्डं नव वाह्नं च दशपञ्च चतुःशतम् ॥५॥
चतुर्दश भविष्यं स्यात्तथा पञ्चशतानि च । दशाष्टौ ब्रह्मवैवर्तं लिङ्गमेकादशैव तु ॥६॥
चतुर्विंशति वाराहमेकाशीतिसहस्रकम् । स्कान्दं शतं तथा चैकं वामनं दश कीर्तितम् ॥७॥
कौर्मं सप्तदशाख्यातं मात्स्यं तत्तु चतुर्दश । एकोनविंशत् सौपर्णं ब्रह्माण्डं द्वादशैव तु ॥८॥
एवं पुराणसन्दोहश्चतुर्लक्ष उदाहृतः । तत्राष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतमिष्यते ॥९॥
इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे । स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् संप्रकाशितम्१०

(श्रीमद्भागवतादि भिन्न-भिन्न पुराणोंकी श्लोक-संख्या तथा श्रीमद्भागवतकी महिमा) सूतजी कहते हैं—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र तथा मरुद्गण दिव्य स्तोत्रोंसे जिसकी स्तुति करते और सामगान करनेवाले ऋषि अङ्ग, पद, क्रम तथा उपनिषदों सहित वेदोंसे जिसका गुणगान करते हैं, योगीजन ध्यान द्वारा चित्त स्थिर करके उसीमें लगाये हुए मनसे जिसको देखते हैं, देवता और असुर भी जिसका अन्त नहीं पाते, उन देवदेवको प्रणाम है ॥ १ ॥ जिनकी पीठ अमन्द (भारी) मन्दराचलकी शिलाओंकी नोकोंसे खुजलायी गयी थी। अतएव जो कुछ निद्रित-से हो गये थे, उन कच्छपरूपधारी भगवानका श्वासवायु तुम्हारी रक्षा करे। उनके तनिकसे संस्कारका अनुवर्तन कर लेनेसे जलकी तरङ्गों (ज्वार-भाटों) के रूपमें समुद्रका चढ़ाव-उतार आजतक बन्द नहीं हो सका है ॥ २ ॥ सूतजी कहते हैं—हे शौनकजी ! अब मैं पुराणोंकी संख्या, उनका सम्भूतिसमूह, श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय, प्रयोजन, दान और पाठादि करनेका माहात्म्य कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ३ ॥ ब्रह्मपुराणमें दसहजार श्लोक हैं। पद्मपुराणमें चौबीस हजार श्लोक हैं ॥ ४ ॥ श्रीमद्भागवतमें अठारह हजार, नारदपुराणमें पचीस हजार, मार्कण्डेयपुराणमें नौ हजार, अग्निपुराणमें पन्द्रह हजार चार सौ, भविष्यपुराणमें चौदह हजार पाँचसौ, ब्रह्मवैवर्तपुराणमें अठारह हजार, लिङ्गपुराणमें ग्यारह हजार श्लोक, वाराहपुराणमें चौबीस हजार, स्कन्दपुराणमें इक्यासी हजार एकसौ तथा वामनपुराणमें दसहजारश्लोक हैं। कूर्मपुराणमें सत्रह सहस्र श्लोक, मत्स्यपुराणमें चौदह हजार, गरुड़पुराणमें उन्नीस हजार और ब्रह्माण्डपुराणमें बारह हजार श्लोक हैं ॥ ५-८ ॥ इस तरह सम्पूर्ण पुराणसमूह कुल मिलाकर चार लाख श्लोकोंका है। उसमेंसे श्रीमद्भागवतपुराण अठारह हजार श्लोकोंका है ॥ ९ ॥ पहले भगवान विष्णुने अपने नाभिकमलपर बैठे और संसारसे भयभीत ब्रह्माजीसे अति करुणापूर्वक

आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम् । हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम् ॥११॥
सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् । वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम् ॥१२॥
प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम् । ददाति यो भागवतं स याति परमां गतिम् ॥१३॥
राजन्ते तावदन्यानि पुराणानि सतां गणे । यावन्न दृश्यते साक्षात् श्रीमद्भागवतं परम् ॥१४॥
सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते । तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद् रतिः क्वचित् ॥१५॥
निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा । वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ॥१६॥
क्षेत्राणां चैव सर्वषां यथा काशी ह्यनुत्तमा । तथा पुराणव्रातानां श्रीमद्भागवतं द्विजाः ॥१७॥

श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥१८॥

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा
तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा ।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यत-
स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि ॥१९॥

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे । य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे ॥२०॥

यह भागवतपुराण कहा था ॥ १० ॥ यह आदि, अन्त तथा मध्यमें वैराग्यपूर्ण कथाओंसे युक्त श्रीहरिकी लीला-कथामृतसे पूर्ण होनेके कारण साधु एवं समस्त सुरसमुदायको आनन्दित करता है ॥ ११ ॥ सब वेदान्तोंका सार जो ब्रह्म तथा आत्माकी एकतारूपी अद्वितीय वस्तु (परब्रह्म) है, वही इसका विषय है और उसकी सहायतासे प्राप्त होनेवाला कैवल्य मोक्षपदलाभ ही इसका हेतु है ॥ १२ ॥ जो कोई पुरुष भाद्रपदमासकी पूर्णिमा तिथिको सोनेके सिंहासनपर रखकर श्रीमद्भागवत दान देता है, वह परमगति पाता है ॥ १३ ॥ जबतक अमृतके सागरस्वरूप श्रीमद्भागवतका श्रवण नहीं किया जाता, तभीतक सज्जन पुरुषोंकी सभामें और-और पुराणोंकी शोभा होती है ॥ १४ ॥ यह श्रीमद्भागवत सब वेदान्तों (उपनिषदों) का सार माना जाता है । जो पुरुष इसके रसामृतसे आवृत है, उस प्राणीकी कहीं अन्यत्र प्रीति कदापि नहीं हो सकती ॥ १५ ॥ जैसे नदियोंमें गङ्गा, देवताओंमें विष्णु एवं वैष्णवोंमें शङ्करभगवान सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ है ॥ १६ ॥ हे विप्रो ! जैसे सब क्षेत्रोंमें काशी अत्युत्तम है, वैसे ही सब पुराणोंमें श्रीमद्भागवतका पद सबसे उच्च माना गया है ॥१७॥ यह श्रीमद्भागवतपुराण अत्यन्त निर्मल है। यह वैष्णवोंको बहुत प्रिय है। इसमें परमहंसोंको प्राप्य अतिशय विशुद्ध और उत्तम ज्ञानका वर्णन किया गया है। इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके सहित कर्मत्यागका निरूपण किया गया है। भक्तिभावसे इसका श्रवण, पठन एवं मनन करनेवाला पुरुष मोक्षपद पा लेता है ॥ १८ ॥ सबसे पहले जिसने इस अतुलित ज्ञान-प्रदीपको ब्रह्माजीके समक्ष प्रकट किया, फिर ब्रह्माके रूपसे नारदजीको एवं नारदरूपसे मुनिवर श्रीव्या-सजीको उपदेश किया और व्यासके रूपसे योगिराज शुकदेवजीको तथा शुकदेवरूपसे अतिशय कृपालु होकर राजा परीक्षितको सुनाया । उन शुद्ध, निर्मल, शोकनाशक एवं अमृतस्वरूप परम सत्य श्रीहरिका हम ध्यान करते हैं ॥ १९ ॥ जिन महापुरुषने बड़ी कृपा करके मोक्षके इच्छुक ब्रह्माजी-को यह महापुराण सुनाया था, उन सर्वजगत्के साक्षीस्वरूप वासुदेव श्रीकृष्णचन्द्रको प्रणाम है ॥२०॥

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे । संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत् ॥२१॥
भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते । तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो ॥२२॥
नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् । प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥२३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे वैयासिक्यामष्टादशसाहस्र्यां पारमहंस्यां संहितायां द्वादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इति द्वादशस्कन्धः समाप्तः

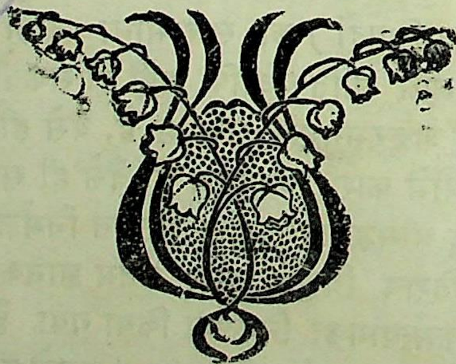
हरिः ॐ तत्सत्

जिन्होंने संसारसर्पसे डसे हुए राजा परीक्षित्को मुक्त किया, उन ब्रह्मस्वरूप योगिराज श्रीशुकदेवजीको भी नमस्कार है ॥ २१ ॥ हे देवेश ! हे प्रभो ! आप हमारे स्वामी हैं। अतएव ऐसा कुछ कीजिये कि जिससे मुझे जन्म-जन्ममें आपके श्रीचरणोंकी भक्ति प्राप्त रहे ॥ २२ ॥ जिनका नामकीर्तन सब पापोंको नष्ट कर देता और जिन्हें किया हुआ प्रणाम सब दुःख शमन कर देता है, उन श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे द्वादशस्कन्धे साहित्यशास्त्रि—पं० रामतेज-पाण्डेयकृत'सामयिकी'भाषाटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

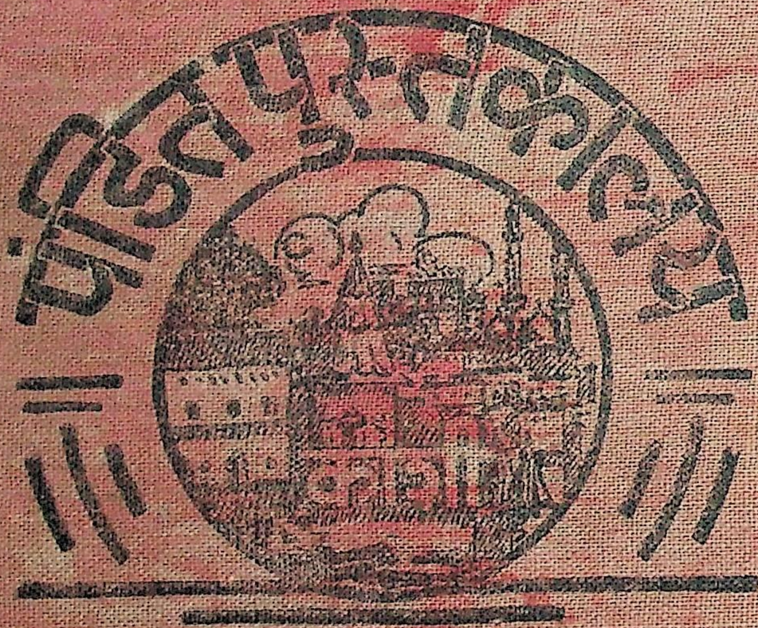
यदक्षरं पदभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ॥

श्रीनारायणार्पणमस्तु ।

मार्गशीर्ष शुक्ल ५ (रामविवाह) २००७



मुद्रक—मेवालाल गुप्त, बम्बई प्रिंटिंग काटेज, बनारस ।


पंडित पुस्तकालय
काशी